

॥ श्रीसीतारामचन्द्राभ्यां नमः ॥

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण (प्रथम खण्ड)



विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या	सर्ग	विषय	पृष्ठ-संख्या
१ श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणकी पाठविधि १ (श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणमाहात्म्यम्)	१		साथ विवाह होनेके प्रसङ्गका कुछ विस्तारके साथ वर्णन ४९	४९
१ कलियुगकी स्थिति, कलिकालके मनुष्योंके उद्धारका उपाय, रामायणपाठ, उसकी महिमा, उसके श्रवणके लिये उत्तम काल आदिका वर्णन ७	७	११	सुमन्त्रके कहनेसे राजा दशरथका सपरिवार अक्षरावके यहाँ जाकर वहाँसे शान्ता और ऋष्य-शृङ्गको अपने घर ले आना ५२	५२
२ नारद-सनत्कुमार-संवाद, सुदास या सौमदत्त नामक ब्राह्मणको रक्षसत्वकी प्राप्ति तथा रामायण-कथा श्रवणद्वारा उससे उद्धार १०	१०	१२	राजाका ऋषियोंसे यज्ञ करानेके लिये प्रस्ताव, ऋषियोंका राजाको और राजाका मन्त्रियोंको यज्ञकी आवश्यक तैयारी करनेके लिये आदेश देना ५४	५४
३ माघमासमें रामायण-श्रवणका फल—राजा सुमन्त्र और सत्यवतीके पूर्वजन्मका इतिहास १५	१५	१३	राजाका वसिष्ठजीसे यज्ञकी तैयारीके लिये अनुरोध, वसिष्ठजीद्वारा इसके लिये सेवकोंकी नियुक्ति और सुमन्त्रको राजाओंकी बुलाहटके लिये आदेश, समागत राजाओंका सत्कार तथा पत्नियोंसहित राजा दशरथका यज्ञकी दीक्षा लेना ५५	५५
४ चैत्रमासमें रामायणके पठन और श्रवणका माहात्म्य, कलिक नामक व्याध और उत्तङ्ग मुनिकी कथा १९	१९	१४	महाराज दशरथके द्वारा अश्वमेध यज्ञका साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठान ५८	५८
५ रामायणके नवाह श्रवणकी विधि, महिमा तथा फलका वर्णन २१	२१	१५	ऋष्यशृङ्गद्वारा राजा दशरथके पुत्रेष्टि यज्ञका आरम्भ, देवताओंको प्रार्थनासे ब्रह्माजीका रावणके वधका उपाय दृढ़ निकालना तथा भगवान् विष्णुका देवताओंको आश्वासन देना ६२	६२
सर्ग (बालकाण्डम्)		१६	देवताओंका श्रीहरिसे रावण-वधके लिये मनुष्य-रूपमें अवतीर्ण होनेको कहना, राजाके पुत्रेष्टि यज्ञमें अग्निकुण्डसे प्राजापत्य पुरुषका प्रकट होकर खीर अर्पण करना और उसे खाकर रणियोंका गर्भवती होना ६४	६४
१ नारदजीका वाल्मीकि मुनिको संक्षेपसे श्रीराम-चरित्र सुनाना २७	२७	१७	ब्रह्माजीकी प्रेरणासे देवता आदिके द्वारा विभिन्न वानरयूथपतियोंकी उत्पत्ति ६६	६६
२ रामायणकाव्यका उपक्रम—तमसाके तटपर क्रौञ्चवधसे संतप्त हुए महर्षि वाल्मीकिके शोकका श्लोकरूपमें प्रकट होना तथा ब्रह्माजीका उन्हें रामचरित्रमय काव्यके निर्माणका आदेश देना ३२	३२	१८	राजाओं तथा ऋष्यशृङ्गको विदा करके राजा दशरथका रणियोंसहित पुरीमें आगमन, श्रीराम, भरत, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्नके जन्म, संस्कार, शील-स्वभाव एवं सद्गुण, राजाके दरबारमें विश्वामित्रका आगमन और उनका सत्कार ६९	६९
३ वाल्मीकि मुनिद्वारा रामायण काव्यमें निबद्ध विषयोंका संक्षेपसे उल्लेख ३५	३५	१९	विश्वामित्रके मुन्त्रसे श्रीरामको साथ ले जानेकी मींग सुनकर राजा दशरथका दुःखित एवं मूर्च्छित होना ७२	७२
४ महर्षि वाल्मीकिका चौबीस हजार श्लोकोंमें युक्त रामायणकाव्यका निर्माण करके उसे लव-कुशको पढ़ाना, मुनिमण्डलीमें रामायणगान करके लव और कुशका प्रशंसित होना तथा अयोध्यामें श्रीरामद्वारा सम्मानित हो उन दोनोंका राम-दरबारमें रामायण-गान सुनाना ३८	३८	२०	राजा दशरथका विश्वामित्रको अपना पुत्र देनेसे इनकार करना और विश्वामित्रका कुपित होना ७४	७४
५ राजा दशरथद्वारा सुरक्षित अयोध्यापुरीका वर्णन .. ४१	४१	२१	विश्वामित्रके ऐशपूर्ण वचन तथा वसिष्ठका राजा दशरथको समझाना ७६	७६
६ राजा दशरथके शासनकालमें अयोध्या और वहाँके नागरिकोंकी उत्तम स्थितिका वर्णन ४३	४३	२२	राजा दशरथका स्वस्तिवाचनपूर्वक राम-लक्ष्मणको	
७ राजमान्त्रियोंके गुण और नीतिका वर्णन ४५	४५			
८ राजाका पुत्रके लिये अश्वमेधयज्ञ करनेका प्रस्ताव और मन्त्रियों तथा ब्राह्मणोंद्वारा उनका अनुमोदन ४७	४७			
९ सुमन्त्रका राजाको ऋष्यशृङ्ग मुनिको बुलानेकी सलाह देते हुए उनके अङ्गदेशमें जाने और शान्तासे विवाह करनेका प्रसङ्ग सुनाना ४८	४८			
१० अङ्गदेशमें ऋष्यशृङ्गके आने तथा शान्ताके				

सर्ग	विषय	पृष्ठ-संख्या
	मुनिके साथ भेजना, मार्गमें उन्हें विश्वामित्रसे बल और अतिबल नामक विद्याकी प्राप्ति ...	७७
२३	विश्वामित्रसहित श्रीराम और लक्ष्मणका सरयू-गङ्गा-संगमके समीप पुण्य आश्रममें रतको ठहरना ..	७९
२४	श्रीराम और लक्ष्मणका गङ्गापार होते समय विश्वामित्रजीसे जलमें उठती हुई तुमुलध्वनिके विषयमें प्रश्न करना, विश्वामित्रजीका उन्हें इसका कारण बताना तथा मलद, करुष एवं ताटका-वनका परिचय देते हुए उन्हें ताटकावधके लिये आज्ञा प्रदान करना	८१
२५	श्रीरामके पूछनेपर विश्वामित्रजीका उनसे ताटका-की उत्पत्ति, विवाह एवं शाप आदिका प्रसङ्ग सुनाकर उन्हें ताटकावधके लिये प्रेरित करना	८३
२६	श्रीरामद्वारा ताटकावध	८४
२७	विश्वामित्रद्वारा श्रीरामको दिव्यास्त्र-दान	८७
२८	विश्वामित्रका श्रीरामको अस्रोंकी संहार-विधि बताना तथा उन्हें अन्यान्य अस्रोंका उपदेश करना, श्रीरामका एक आश्रम एवं यज्ञस्थानके विषयमें मुनिके प्रश्न	८८
२९	विश्वामित्रजीका श्रीरामसे सिद्धाश्रमका पूर्ववृत्तान्त बताना और उन दोनों भाइयोंके साथ अपने आश्रमपर पहुँचकर पूजित होना	९०
३०	श्रीरामद्वारा विश्वामित्रके यज्ञकी रक्षा तथा राक्षसों-का संहार	९२
३१	श्रीराम, लक्ष्मण तथा ऋषियोंसहित विश्वामित्रका मिथिलाको प्रस्थान तथा मार्गमें संध्याके समय शोणभद्रतटपर विश्राम	९४
३२	ब्रह्मपुत्र कुशके चार पुत्रोंका वर्णन, शोणभद्र-तटवर्ती प्रदेशको वसुकी भूमि बताना, कुशनाभ-की सौ कन्याओंका वायुके कोपसे 'कुब्जा' होना	९५
३३	राजा कुशनाभद्वारा कन्याओंके धैर्य एवं क्षमा-शीलताकी प्रशंसा, ब्रह्मदत्तकी उत्पत्ति तथा उनके साथ कुशनाभकी कन्याओंका विवाह	९७
३४	गांधिकी उत्पत्ति, कौशिकीकी प्रशंसा, विश्वामित्रजी-का कथा बंद करके आधी रातका वर्णन करते हुए सबको सोनेकी आज्ञा देकर शयन करना .	९९
३५	शोणभद्र पार करके विश्वामित्र आदिका भङ्गसजी-के तटपर पहुँचकर वहाँ रात्रिवास करना तथा श्रीरामके पूछनेपर विश्वामित्रजीका उन्हें गङ्गाजीकी उत्पत्तिकी कथा सुनाना	१०१
३६	देवताओंका शिव-पार्वतीको सुरतक्रीडासे निवृत्त करना तथा उमा देवीका देवताओं और पृथ्वीको शाप देना	१०२
३७	गङ्गासे कार्तिकेयकी उत्पत्तिका प्रसङ्ग	१०४
३८	राजा सगरके पुत्रोंकी उत्पत्ति तथा यज्ञको तैयारी	१०६
३९	इन्द्रके द्वारा राजा सगरके यज्ञसम्बन्धी अश्वका	

सर्ग	विषय	पृष्ठ-संख्या
	अपहरण, सगरपुत्रोंद्वारा सारी पृथ्वीका भेदन तथा देवताओंका ब्रह्माजीको वह सब समाचार बताना	१०८
४०	सगरपुत्रोंके भावी विनाशकी सूचना देकर ब्रह्माजीका देवताओंको शान्त करना, सगरके पुत्रोंका पृथ्वीको खोदते हुए कपिलजीके पास पहुँचना और उनके रोषसे जलकर भस्म होना .	१०९
४१	सगरको आज्ञासे अंशुमान्का रसातलमें जाकर घोड़ेको ले आना और अपने चाचाओंके निधन-का समाचार सुनाना	१११
४२	अंशुमान् और भगीरथकी तपस्या, ब्रह्माजीका भगीरथको अभोष्ट खर देकर गङ्गाजीको धारण करनेके लिये भगवान् शंकरको राजी करनेके निमित्त प्रयत्न करनेकी सलाह देना	११३
४३	भगीरथकी तपस्यासे संतुष्ट हुए भगवान् शंकरका गङ्गाको अपने सिरपर धारण करके विन्दुसरोवरमें छोड़ना और उनका सात धाराओंमें विभक्त हो भगीरथके साथ जाकर उनके पितरोंका उद्धार करना	११४
४४	ब्रह्माजीका भगीरथकी प्रशंसा करते हुए उन्हें गङ्गाजलसे पितरोंके तर्पणकी आज्ञा देना और राजाका वह सब करके अपने नगरको जाना, गङ्गावतरणके उपाख्यानकी महिमा	११७
४५	देवताओं और दैत्योंद्वारा क्षीर-समुद्र-मन्थन, भगवान् रुद्रद्वारा हलाहल विषका पान, भगवान् विष्णुके सहयोगसे मन्दराचलका पातालसे उद्धार और उसके द्वारा मन्थन, धन्वन्तरि, अप्सरा, वारुणी, उषैःश्रवा, कौस्तुभ तथा अमृतकी उत्पत्ति और देवासुर-संग्राममें दैत्योंका संहार .	११८
४६	पुत्रवधसे दुःखी दितिका कश्यपजीसे इन्द्रहन्ता पुत्रकी प्राप्तिके उद्देश्यसे तपके लिये आज्ञा लेकर कुशप्लवमें तप करना, इन्द्रद्वारा उनकी परिचर्या तथा उन्हें अपवित्र-अवस्थामें पाकर इन्द्रका उनके गर्भके सात टुकड़े कर डालना	१२१
४७	दितिका अपने पुत्रोंको मरुद्गण बनाकर देवलोक-में रखनेके लिये इन्द्रसे अनुरोध, इन्द्रद्वारा उसका स्वीकृति, दितिके तपोवनमें ही इक्ष्वाकु-पुत्र विशालद्वारा विशाल नगरीका निर्माण तथा वहकि तत्कालीन राजा सुमतिद्वारा विश्वामित्र मुनिका सत्कार	१२३
४८	राजा सुमतिसे सत्कृत हो एक रात विशालामें रह-कर मुनियोंसहित श्रीरामका मिथिलापुरीमें पहुँचना और वहाँ सूने आश्रमके विषयमें पूछनेपर विश्वामित्रजीका उनसे अहल्याकी शाप प्राप्त होने-की कथा सुनाना	१२४
४९	पितृदेवताओंद्वारा इन्द्रको भेड़ेके अण्डकोशसे युक्त करना तथा भगवान् श्रीरामके द्वारा अहल्या-	

सर्ग	विषय	पृष्ठ-संख्या	सर्ग	विषय	पृष्ठ-संख्या
	का उद्धार एवं उन दोनों दम्पतिके द्वारा इनका सत्कार	१२७		नूतन देवसर्गके लिये उद्योग, फिर देवताओंके अनुरोधसे उनका इस कार्यसे विरत होना	१४४
५०	श्रीराम आदिका मिथिला-गमन, राजा जनकद्वारा विश्वामित्रका सत्कार तथा उनका श्रीराम और लक्ष्मणके विषयमें जिज्ञासा करना एवं परिचय पाना	१२८	६१	विश्वामित्रकी पुष्करतीर्थमें तपस्या तथा राजर्षि अम्बरीषका ऋचीकके मध्यम पुत्र शुनःशेपकी यज्ञ-पशु बनानेके लिये खरीदकर लाना	१४६
५१	शतानन्दके पूछनेपर विश्वामित्रका उन्हें श्रीरामके द्वारा अहल्याके उद्धारका समाचार बताना तथा शतानन्दद्वारा श्रीरामका अभिनन्दन करते हुए विश्वामित्रजीके पूर्वचरित्रका वर्णन	१३०	६२	विश्वामित्रद्वारा शुनःशेपकी रक्षाका सफल प्रयत्न और तपस्या	१४७
५२	महर्षि वसिष्ठद्वारा विश्वामित्रका सत्कार और कामधेनुको अभीष्ट वस्तुओंकी सृष्टि करनेका आदेश	१३२	६३	विश्वामित्रकी ऋषि एवं महर्षिपदकी प्राप्ति, मेनकाद्वारा उनका तपोभङ्ग तथा ब्रह्मर्षिपदकी प्राप्तिके लिये उनकी घोर तपस्या	१४९
५३	कामधेनुकी सहायतासे उत्तम अन्न-पानद्वारा सेना-सहित तृप्त हुए विश्वामित्रका वसिष्ठसे उनकी कामधेनुकी माँगना और उनका देनेसे असौकार करना	१३३	६४	विश्वामित्रका रम्भाको शाप देकर पुनः घोर तपस्याके लिये दीक्षा लेना	१५१
५४	विश्वामित्रका वसिष्ठजीकी गौको बलपूर्वक ले जाना, गौका दुःखों होकर वसिष्ठजीसे इसका कारण पूछना और उनकी आज्ञासे शक, यवन, पल्लव आदि घोरोंकी सृष्टि करके उनके द्वारा विश्वामित्रजीकी सेनाका संहार करना	१३५	६५	विश्वामित्रजीकी घोर तपस्या, उन्हें ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति तथा राजा जनकका उनकी प्रशंसा करके उनसे विदा ले राजमवनकी लौटना	१५२
५५	अपने सौ पुत्रों और सारी सेनाके नष्ट हो जाने-पर विश्वामित्रका तपस्या करके महादेवजीसे दिव्यास्त्र पाना तथा उनका वसिष्ठके आश्रमपर प्रयोग करना एवं वसिष्ठजीका ब्रह्मदण्ड लेकर उनके सामने खड़ा होना	१३६	६६	राजा जनकका विश्वामित्र और राम-लक्ष्मणका सत्कार करके उन्हें अपने यहाँ रखे हुए धनुषका परिचय देना और धनुष चढ़ा देनेपर श्रीरामके साथ उनके व्याहृक्क निश्चय प्रकट करना	१५५
५६	विश्वामित्रद्वारा वसिष्ठजीपर नाना प्रकारके दिव्यास्त्रोंका प्रयोग और वसिष्ठद्वारा ब्रह्मदण्डसे ही उनका शमन एवं विश्वामित्रका ब्राह्मणत्वकी प्राप्तिके लिये तप करनेका निश्चय	१३८	६७	श्रीरामके द्वारा धनुर्भङ्ग तथा राजा जनकका विश्वामित्रकी आज्ञासे राजा दशरथको बुलानेके लिये मन्त्रियोंकी भेजना	१५६
५७	विश्वामित्रकी तपस्या, राजा त्रिशङ्कुका अपना यज्ञ करानेके लिये पहले वसिष्ठजीसे प्रार्थना करना और उनके इनकार कर देनेपर उनकी पुत्रोंकी शरणमें जाना	१३९	६८	राजा जनकका संदेश पाकर मन्त्रियोंसहित महा-राज दशरथका मिथिला जानेके लिये उद्यत होना	१५८
५८	वसिष्ठ ऋषिके पुत्रोंका त्रिशङ्कुकी डाँट बताकर घर लौटनेके लिये आज्ञा देना तथा उन्हें दूसरा पुरोहित बनानेके लिये उद्यत देख शाप-प्रदान और उनके शापसे चाण्डाल हुए त्रिशङ्कुका विश्वामित्रजीकी शरणमें जाना	१४१	६९	दल-बलसहित राजा दशरथकी मिथिलायात्रा और वहाँ राजा जनकके द्वारा उनका स्वागत-सत्कार ..	१५९
५९	विश्वामित्रका त्रिशङ्कुकी आज्ञासन देकर उनका यज्ञ करानेके लिये ऋषि-मुनियोंको आमन्त्रित करना और उनकी बात न माननेवाले महोदय तथा ऋषिपुत्रोंको शाप देकर नष्ट करना	१४२	७०	राजा जनकका अपने भाई कुशध्वजको सांकाश्या नगरीसे बुलवाना, राजा दशरथके अनुरोधसे वसिष्ठजीका सूर्यवंशका परिचय देते हुए श्रीराम और लक्ष्मणके लिये सीता तथा ऊर्मिलाको वरण करना	१६१
६०	विश्वामित्रका ऋषियोंसे त्रिशङ्कुका यज्ञ करानेके लिये अनुरोध, ऋषियोंद्वारा यज्ञका आरम्भ, त्रिशङ्कुका सशरीर स्वर्गगमन, इन्द्रद्वारा स्वर्गसे उनके गिराये जानेपर दुःख हुए विश्वामित्रका		७१	राजा जनकका अपने कुलका परिचय देते हुए श्रीराम और लक्ष्मणके लिये क्रमशः सीता और ऊर्मिलाको देनेकी प्रतिज्ञा करना	१६३
			७२	विश्वामित्रद्वारा भरत और शत्रुघ्नके लिये कुशध्वजकी कन्याओंका वरण, राजा जनकद्वारा इसकी स्वीकृति तथा राजा दशरथका अपने पुत्रोंके मङ्गलके लिये नान्दीश्राद्ध एवं गोदान करना ..	१६५
			७३	श्रीराम आदि चारों भाइयोंका विवाह	१६७
			७४	विश्वामित्रका अपने आश्रमको प्रस्थान, राजा जनकका कन्याओंको भारी दहेज देकर राजा दशरथ आदिको विदा करना, मार्गमें शुभाशुभ शकुन और परशुरामजीका आगमन	१६९
			७५	राजा दशरथकी बात अनसुनी करके परशुरामका श्रीरामको वैष्णव-धनुषपर बाण चढ़ानेके लिये ललकारना	१७१

सर्ग	विषय	पृष्ठ-संख्या	सर्ग	विषय	पृष्ठ-संख्या
३६	श्रीरामका वैष्णव-धनुषको चढ़ाकर अमोघ बाणके द्वारा परशुरामके तपःप्राप्त पुण्यलोकको नाश करना तथा परशुरामका महेंद्र पर्वतको लौट जाना	१७२	१०	राजा दशरथका कैकेयीके भवनमें जाना, उसे कोपभवनमें स्थित देखकर दुःखी होना और उसको अनेक प्रकारसे सान्त्वना देना	२०४
३७	राजा दशरथका पुत्रों और वधुओंके साथ अयोध्यामें प्रवेश, शत्रुघ्नसहित भरतका मामाके यहाँ जाना, श्रीरामके वर्तावसे सबका संतोष तथा सीता और श्रीरामका भारस्वरिक प्रेम	१७४	११	कैकेयीका राजाको प्रतिज्ञाबद्ध करके उन्हें पहलेके दिये हुए दो वरोंका स्मरण दिलाकर भरतके लिये अभिषेक और रामके लिये चौदह वर्षोंका वनवास माँगना	२०७
(अयोध्याकाण्डम्)			१२	महाराज दशरथका विन्ता, विलाप, कैकेयीको फटकारना, समझाना और उससे वैसा वर न माँगनेके लिये अनुरोध करना	२०९
१	श्रीरामके सद्गुणोंका वर्णन, राजा दशरथका श्रीरामको युवराज बनानेका विचार तथा विभिन्न नरेशों और नगर एवं जनपदके लोगोंके मन्त्रणा-के लिये अपने दरबारमें बुलाना	१७७	१३	राजाका विलाप और कैकेयीसे अनुनय-विनय ..	२१६
२	राजा दशरथद्वारा श्रीरामके राज्याभिषेकका प्रस्ताव तथा समासदोहारा श्रीरामके गुणोंका वर्णन करते हुए उक्त प्रस्तावका महर्ष युक्तियुक्त समर्थन	१८१	१४	कैकेयीका राजाको सत्यपर दृढ़ रहनेके लिये प्रेरणा देकर अपने वरोंकी पूर्तिके लिये दुराग्रह दिखाना, महर्षि वसिष्ठका अन्तःपुरके द्वारपर आगमन और सुमन्त्रको महाराजके पास भेजना, राजाको आज्ञासे सुमन्त्रका श्रीरामको बुलानेके लिये जाना	२१८
३	राजा दशरथका वसिष्ठ और वामदेवजीको श्रीरामके राज्याभिषेककी तैयारी करनेके लिये कहना और उनका सेवकोंको तदनुरूप आदेश देना, राजा-की आज्ञासे सुमन्त्रका श्रीरामको राजसभामें बुला लाना और राजाका अपने पुत्र श्रीरामको हितकर राजनीतिकी बातें बताना	१८४	१५	सुमन्त्रका राजाकी आज्ञासे श्रीरामको बुलानेके लिये उनके महलमें जाना	२२३
४	श्रीरामको राज्य देनेका निश्चय करके राजाका सुमन्त्रद्वारा पुनः श्रीरामको बुलवाकर उन्हें आवश्यक बातें बताना, श्रीरामका कौसल्याके भवनमें जाकर माताको यह समाचार बताना और मातासे आशीर्वाद पाकर लक्ष्मणसे प्रेमपूर्वक वार्तालाप करके अपने महलमें जाना	१८८	१६	सुमन्त्रका श्रीरामके महलमें पहुँचकर महाराजका संदेश सुनाना और श्रीरामका सीतासे अनुमति ले लक्ष्मणके साथ रथपर बैठकर गाजे-बाजेके साथ मार्गमें स्त्री-पुरुषोंकी बातें सुनते हुए जाना ..	२२६
५	राजा दशरथके अनुरोधसे वसिष्ठजीका सीता-सहित श्रीरामको उपवासव्रतको दोषा देकर आना और राजाको इस समाचारसे अवगत कराना, राजाका अन्तःपुरमें प्रवेश	१९०	१७	श्रीरामका राजपथकी शोभा देखते और सुहृदोंकी बातें सुनते हुए पिताके भवनमें प्रवेश	२२९
६	सीतासहित श्रीरामका नियमपरगुण होना, हर्षमें भरे पुरवासियोंद्वारा नगरको सजावट, राजाके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना तथा अयोध्यापुरीमें जनपटवासी मनुष्योंकी भीड़का एकत्र होना ...	१९२	१८	श्रीरामका कैकेयीसे पिताके चिन्तित होनेका कारण पूछना और कैकेयीका कठोरतापूर्वक अपने माँगि हुए वरोंका वृत्तान्त बताकर श्रीरामको वनवासके लिये प्रेरित करना	२३१
७	श्रीरामके अभिषेकका समाचार पाकर स्त्रिय हुई मन्यराका कैकेयीको उभड़ाना, परंतु प्रसन्न हुई कैकेयीका उसे पुरस्काररूपमें आभूषण देना और वर माँगनेके लिये प्रेरित करना	१९४	१९	श्रीरामकी कैकेयीके साथ बातचीत और वनमें जाना स्वीकार करके उनका भाता कौसल्याके पास आज्ञा लेनेके लिये जाना	२३४
८	मन्यराका पुनः श्रीरामके राज्याभिषेकको कैकेयीके लिये अनिष्टकारी बताना, कैकेयीका श्रीरामके गुणोंको बताकर उनके अभिषेकका समर्थन करना, तत्पश्चात् कुब्जाका पुनः श्रीरामराज्यको भरतके लिये भयजनक बताकर कैकेयीको पड़काना ..	१९७	२०	राजा दशरथकी अन्य रानियोंका विलाप, श्रीराम-का कौसल्याजीके भवनमें जाना और उन्हें अपने वनवासकी बात बताना, कौसल्याका अचेत होकर गिरना और श्रीरामके उठा देनेपर उनकी ओर देखकर विलाप करना	२३६
९	कुब्जाके कुचक्रसे कैकेयीका कोपभवनमें प्रवेश ..	२००	२१	लक्ष्मणका रोष, उनका श्रीरामको वलपूर्वक राज्य-पर अधिकार कर लेनेके लिये प्रेरित करना तथा श्रीरामका पिताकी आज्ञाके पालनकी ही धर्म बताकर माता और लक्ष्मणको समझाना	२४०
			२२	श्रीरामका लक्ष्मणको समझाते हुए अपने वनवासमें दैवकी ही कारण बताना और अभिषेककी सामग्रीको हटा लेनेका आदेश देना	२४५
			२३	लक्ष्मणकी ओजधरी बातें, उनके द्वारा दैवका खण्डन और पुरुषार्थका प्रतिपादन तथा उनका	

सर्ग	विषय	पृष्ठ-संख्या	सर्ग	विषय	पृष्ठ-संख्या
	श्रीरामके अभियेकके निमित्त विरोधियोंसे लोहा लेनेके लिये उद्यत होना	२४७		भेजनेका आदेश, कैकेयीद्वारा इसका विरोध, सिद्धार्थका कैकेयीको समझाना तथा राजाका श्रीरामके साथ जानेकी इच्छा प्रकट करना	२४९
२४	विलाप करती हुई कौसल्याका श्रीरामसे अपनेको भी साथ ले चलनेके लिये आग्रह करना तथा पतिकी सेवा ही नारीका धर्म है, यह बताकर श्रीरामका उन्हें रोकना और वन जानेके लिये उनकी अनुमति प्राप्त करना	२५०	३७	श्रीराम आदिक वल्कल-वस्त्र धारण, सीताके वल्कल-धारणसे रनिवासको स्त्रियोंको खेद तथा गुरु वसिष्ठका कैकेयीको फटकारते हुए सीताके वल्कल-धारणका अनौचित्य बताना	२५४
२५	कौसल्याका श्रीरामकी वनयात्राके लिये मङ्गल-कामनापूर्वक स्वस्तिवाचन करना और श्रीरामका उन्हें प्रणाम करके सीताके भवनकी ओर जाना	२५३	३८	राजा दशरथका सीताको वल्कल धारण कराना अनुचित बतकर कैकेयीको फटकारना और श्रीरामका उनसे कौसल्यापर कृपादृष्टि रखनेके लिये अनुरोध करना	२५६
२६	श्रीरामको उदास देखकर सीताका उनसे इसका कारण पूछना और श्रीरामका पिताकी आज्ञासे वनमें जानेका निश्चय बताते हुए सीताको घरमें रहनेके लिये समझाना	२५६	३९	राजा दशरथका विलाप, उनकी आज्ञासे सुमन्तका रामके लिये रथ जोतकर लाना, कोषाध्यक्षका सीताको बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण देना, कौसल्याका सीताको पतिसेवाका उपदेश, सीताके द्वारा उसकी स्वीकृति तथा श्रीरामका अपनी मातासे पिताके प्रति दोषदृष्टि न रखनेका अनुरोध करके अन्य माताओंसे भी विदा माँगना	२६८
२७	सीताकी श्रीरामसे अपनेको भी साथ ले चलनेके लिये प्रार्थना	२५८	४०	सीता, राम और लक्ष्मणका दशरथकी परिक्रमा करके कौसल्या आदिको प्रणाम करना, सुमित्राका लक्ष्मणको उपदेश, सीतासहित श्रीराम और लक्ष्मणका रथमें बैठकर वनकी ओर प्रस्थान, पुरवासियों तथा रनिवासहित महाराज दशरथकी शोककुल अवस्था	२९०
२८	श्रीरामका वनवासके कष्टका वर्णन करते हुए सीताको वहाँ चलनेसे मना करना	२६०	४१	श्रीरामके वनगमनसे रनवासकी स्त्रियोंका विलाप तथा नगरनिवासियोंकी शोककुल अवस्था	२९४
२९	सीताका श्रीरामके समक्ष उनके साथ अपने वन-गमनका औचित्य बताना	२६२	४२	राजा दशरथका पृथ्वीपर गिरना, श्रीरामके लिये विलाप करना, कैकेयीको अपने पास आनेसे मना करना और उसे स्वाग देना, कौसल्या और सेवकोंकी सहायतासे उनका कौसल्याके भवनमें आना और वहाँ भी श्रीरामके लिये दुःखका ही अनुभव करना	२९५
३०	सीताका वनमें चलनेके लिये अधिक आग्रह, विलाप और श्वराहत देखकर श्रीरामका उन्हें साथ ले चलनेकी स्वीकृति देना, पिता-माता और गुरुजनोंकी सेवाका महत्त्व बताना तथा सीताको वनमें चलनेकी तैयारीके लिये घरकी वस्तुओंका दान करनेकी आज्ञा देना	२६४	४३	महारानी कौसल्याका विलाप	२९८
३१	श्रीराम और लक्ष्मणका संवाद, श्रीरामकी आज्ञासे लक्ष्मणका सुहृदोंसे पूछकर और दिव्य आयुध लाकर वनगमनके लिये तैयार होना, श्रीरामका उनसे ब्राह्मणोंको धन बाँटनेका विचार व्यक्त करना	२६७	४४	सुमित्राका कौसल्याको आश्वासन देना	२९९
३२	सीतासहित श्रीरामका वसिष्ठपुत्र सुवशको बुलाकर उनके तथा उनकी पत्नीके लिये बहुमूल्य आभूषण, रत्न और धन आदिका दान तथा लक्ष्मणसहित श्रीरामद्वारा ब्राह्मणों, ब्रह्मचारियों, सेवकों, प्रिजट ब्राह्मण और सुहृजनोंको धनका वितरण	२६९	४५	श्रीरामका पुरवासियोंसे घरत और महाराज दशरथके प्रति प्रेमभाव रखनेका अनुरोध करते हुए लौट जानेके लिये कहना, नगरके वृद्ध ब्राह्मणोंका श्रीरामसे लौट चलनेके लिये आग्रह करना तथा उन सबके साथ श्रीरामका तमसा-तटपर पहुँचना	३०१
३३	सीता और लक्ष्मणसहित श्रीरामका दुःखी नगर-वासियोंके मुखसे तरह-तरहकी बातें सुनते हुए पिताके दर्शनके लिये कैकेयीके महलमें जाना ..	२७२	४६	सीता और लक्ष्मणसहित श्रीरामका रात्रिमें तमसा-तटपर निवास, माता-पिता और अयोध्याके लिये चिन्ता तथा पुरवासियोंको सोते छोड़कर वनकी ओर जाना	३०३
३४	सीता और लक्ष्मणसहित श्रीरामका रनिवासहित राजा दशरथके पास जाकर वनवासके लिये विदा माँगना, राजाका शोक और मूर्च्छा, श्रीरामका उन्हें समझाना तथा राजाका श्रीरामको हृदयसे लगाकर पुनः मूर्च्छित हो जाना	२७५	४७	प्रातःकाल उठनेपर पुरवासियोंका विलाप करना और निराश होकर नगरकी लौटना	३०६
३५	सुमन्तके समझाने और फटकारनेपर भी कैकेयी-का टस-से-मस न होना	२७९			
३६	राजा दशरथका श्रीरामके साथ सेना और सजाना				

सर्ग	विषय	पृष्ठ-संख्या	सर्ग	विषय	पृष्ठ-संख्या
४८	नगरनिवासिनी स्त्रियोंका विलाप करना	३०७	अन्तःपुरकी रानियोंका आर्तनाद	३३४	
४९	ग्रामवासियोंकी बातें सुनते हुए श्रीरामका कोसल जनपदको लौघते हुए आगे जाना और वेदश्रुति, गोमती एवं स्याम्दिका नदियोंको पार करके सुमन्तसे कुछ कहना	३१०	५८	महाराज दशरथकी आज्ञासे सुमन्तका श्रीराम और लक्ष्मणके संदेश सुनाना	३३६
५०	श्रीरामका मार्गमें अयोध्यापुरीसे वनवासकी आज्ञा पाँगना और भृङ्गवेरपुरमें गङ्गातटपर पहुँचकर रात्रिमें निवास करना, वहाँ निषादराज गुहद्वार उनका भत्कार	३११	५९	सुमन्तद्वारा श्रीरामके शोकसे जड़-चेतन एवं अयोध्यापुरीकी दुरवस्थाका वर्णन तथा राजा दशरथका विलाप	३३८
५१	निषादराज गुहके समक्ष लक्ष्मणका विलाप	३१४	६०	कौसल्याका विलाप और सारथि सुमन्तका उन्हें समझाना	३४१
५२	श्रीरामकी आज्ञासे गुहका नाव मैगाना, श्रीरामका सुमन्तको समझा-झुझाकर अयोध्यापुरीको लौट जानेके लिये आज्ञा देना और माता-पिता आदिसे कहनेके लिये संदेश सुनाना, सुमन्तके वनमें ही चलनेके लिये आग्रह करनेपर श्रीरामका उन्हें युक्तिपूर्वक समझाकर लौटनेके लिये विवश करना, फिर तौनोंका नावपर बैठना, सीताकी गङ्गाजीसे प्रार्थना, नावसे पार उतरकर श्रीराम आदिका वत्सदेशमें पहुँचना और सायंकालमें एक वृक्षके नीचे रहनेके लिये जाना	३१६	६१	कौसल्याका विलापपूर्वक राजा दशरथको उपालम्भ देना	३४२
५३	श्रीरामका राजाको उपालम्भ देते हुए कैकेयीसे कौसल्या आदिके अनिष्टकी आशङ्का बताकर लक्ष्मणको अयोध्या लौटानेके लिये प्रयत्न करना, लक्ष्मणका श्रीरामके बिना अपना जीवन असम्भव बताकर वहाँ जानेसे इनकार करना, फिर श्रीरामका उन्हें वनवासकी अनुमति देना	३२३	६२	दुःखी हुए राजा दशरथका कौसल्याको हाथ जोड़कर मनाना और कौसल्याका उनके चरणोंमें पड़कर क्षमा माँगना	३४४
५४	लक्ष्मण और सीतासहित श्रीरामका प्रयागमें गङ्गा-यमुना-संगमके समीप भरद्वाज-आश्रममें जाना, मुनिके द्वारा उनका अतिथि-सत्कार, उनके चित्रकूट पर्वतपर ठहरनेका आदेश तथा चित्रकूटकी महत्ता एवं शोभाका वर्णन	३२५	६३	राजा दशरथका शोक और उनका कौसल्यासे अपने द्वारा मुनिकुमारके मारे जानेका प्रसङ्ग सुनाना ..	३४६
५५	भरद्वाजजीका श्रीराम आदिके लिये स्वातिवाचन करके उन्हें चित्रकूटका मार्ग बताना, उन सबका अपने ही बनाये हुए खेड़ेसे यमुनाजीको पार करना, सीताकी यमुना और व्याघ्रधटसे प्रार्थना; तौनोंका यमुनाके किनारेके मार्गसे एक कोसतक जाकर वनमें धूमना-फिरना, यमुनाजीके समतल तटपर रात्रिमें निवास करना	३२८	६४	राजा दशरथका अपने द्वारा मुनिकुमारके वधसे दुःखी हुए उनके माता-पिताके विलाप और उनके दिये हुए शापका प्रसंग सुनाकर कौसल्याके समीप रोते-बिलम्बते हुए आधी रातके समय अपने प्राणोंको त्याग देना	३४९
५६	वनकी शोभा देखते-दिखाते हुए श्रीराम आदिका चित्रकूटमें पहुँचना, वाल्मीकिजीका दर्शन करके श्रीरामकी आज्ञासे लक्ष्मणद्वारा पर्णशालाका निर्माण तथा उसकी वास्तुशान्ति करके उन सबका कुटीमें प्रवेश	३३१	६५	बन्दीजनोंका स्तुतिपाठ, राजा दशरथकी दिवंगत हुआ जान उनकी रानियोंका करुण विलाप ...	३५४
५७	सुमन्तका अयोध्याको लौटाना, उनके मुखसे श्रीरामका संदेश सुनकर पुरवासियोंका विलाप, राजा दशरथ और कौसल्याकी मूर्च्छा तथा		६६	राजाके लिये कौसल्याका विलाप और कैकेयीकी भर्त्सना, मन्त्रियोंका राजाके शवको तेलसे भरे हुए कढ़ाहमें सुलाना, रानियोंका विलाप, पुरोहित श्रीहानता और पुरवासियोंका शोक ...	३५६
			६७	मार्कण्डेय आदि मुनियों तथा मन्त्रियोंका राजाके बिना होनेवाली देशकी दुरवस्थाका वर्णन करके वसिष्ठजीसे किसीको राजा बनानेके लिये अनुरोध	३५८
			६८	वसिष्ठजीकी आज्ञासे पाँच दूतोंका अयोध्यासे केकय देशके राज्यगृह नगरमें जाना	३६१
			६९	भरतकी चिन्ता, मित्रोंद्वारा उन्हें प्रसन्न करनेका प्रयास तथा उनके पूछनेपर भरतका मित्रोंके समक्ष अपने देखे हुए भयंकर दुःस्वप्नका वर्णन करना	३६२
			७०	दूतोंका भरतको उनके नाना और मामाके लिये उपहारकी वस्तुएँ अर्पित करना और वसिष्ठजीका संदेश सुनाना, भरतका पिता आदिकी कुशल पूछना और नानासे आज्ञा तथा उपहारकी वस्तुएँ पाकर शत्रुघ्नके साथ अयोध्याकी ओर प्रस्थान करना	३६४
			७१	रथ और सेनासहित भरतकी यात्रा, विभिन्न स्थानोंको पार करके उनका उज्जिहाना नगरीके उद्यानमें पहुँचना और सेनाको धीरे-धीरे आनेकी आज्ञा दे स्वयं रथद्वारा तीव्र वेगसे आगे बढ़ते हुए साल वनको पार करके अयोध्याके निकट	

सर्ग	विषय	पृष्ठ-संख्या	सर्ग	विषय	पृष्ठ-संख्या
	जाना, चलोमें अयोध्याको दुखस्था देखते हुए उत्तरे बन्दन और सारथिसे अपना दुःखपूर्ण उद्गार प्रकट करते हुए राजभवनमें प्रवेश करना ३६६			दुःखी होना, होनामें आनेपर भरतका गुहसे श्रीराम आदिके भोजन और शयन आदिके विषयमें पूछना और गुहका उन्हें सब बातें बताना ... ३९९	
७२	भरतका कैकेयीको वनमें जाकर उसे प्रणाम करना, उसके द्वारा पिताके परलोकवासका समाचार या दुःखी हो विलाप करना तथा श्रीरामके विषयमें पूछनेपर कैकेयीद्वारा उनका श्रीरामके वनगमनके वृत्तान्तसे अवगत होना ३६९		८८	श्रीरामकी कुश-शय्या देखकर भरतका शोकपूर्ण उद्गार तथा स्वयं भी वल्कल और जटा धारण करके वनमें रहनेका विचार प्रकट करना ... ४००	
७३	भरतका कैकेयीको धिक्कारना और उसके प्रति महान् रोष प्रकट करना ३७२		८९	भरतका सेनासहित गङ्गा-पार करके परद्वारके आश्रमपर जाना ४०२	
७४	भरतका कैकेयीको कड़ी फटकार देना ३७४		९०	भरत और भरद्वाज मुनिकी भेंट एवं बातचीत तथा मुनिका अपने आश्रमपर ही ठहरनेका आदेश देना ४०४	
७५	कौसल्याके सामने भरतका शपथ खाना ... ३७७		९१	भरद्वाज मुनिके द्वारा सेनासहित भरतका दिव्य सत्कार ४०६	
७६	राजा दशरथका अन्योष्टिसंस्कार ३८१		९२	भरतका भरद्वाज मुनिसे जानेकी आज्ञा लेते हुए श्रीरामके आश्रमपर जानेका मार्ग जानना और मुनिको अपनी माताओंका परिचय देकर वहाँसे चित्रकूटके लिये सेनासहित प्रस्थान करना .. ४११	
७७	भरतका पिताके श्राद्धमें ब्राह्मणोंको बहुत धन- रत्न आदिका दान देना, तेरहवें दिन आस्थि- संचयका शेष कार्य पूर्ण करनेके लिये पिताकी चिताभूमिपर जाकर भरत और शत्रुघ्नका विलाप करना और वसिष्ठ तथा सुमन्तका उन्हें समझाना ३८२		९३	सेनासहित भरतकी चित्रकूट-यात्राका वर्णन . ४१४	
७८	शत्रुघ्नका रोष, उनका धुब्बाको धसीटना और भरतजीके कहनेसे उसे मूर्च्छित अवस्थामें छोड़ देना ३८४		९४	श्रीरामका सीताको चित्रकूटकी शोभा दिखाना ४१६	
७९	मन्त्री आदिका भरतसे राज्य ग्रहण करनेके लिये प्रस्ताव तथा भरतका अभिषेक-सामग्रीकी परिक्रमा करके श्रीरामको ही राज्यका अधिकारी बताकर उन्हें लौटा लानेके लिये चलनेके निमित्त व्यवस्था करनेकी सबको आज्ञा देना . ३८६		९५	श्रीरामका सीताके प्रति मन्दाकिनी नदीकी शोभाका वर्णन ४१८	
८०	अयोध्यासे गङ्गातटतक सुरम्ह शिविर और कूप आदिसे युक्त सुखद राजमार्गका निर्माण . ३८७		९६	वन-जन्तुओंके भागनेका कारण जाननेके लिये श्रीरामकी आज्ञासे लक्ष्मणका शाल-वृक्षपर चढ़कर भरतकी सेनाको देखना और उनके प्रति अपना रोषपूर्ण उद्गार प्रकट करना ४१९	
८१	प्रातःकालके मङ्गलवाद्य-धोषकों सुनकर भरतका दुःखी होना और उसे बंद करकर विलाप करना, वसिष्ठजीका सभामें आकर मन्त्री आदिकों बुलानेके लिये दूत भेजना ३८९		९७	श्रीरामका लक्ष्मणके रोषको शान्त करके भरतके सन्दावका वर्णन करना, लक्ष्मणका लज्जित हो श्रीरामके पास खड़ा होना और भरतकी सेनाका पर्वतके नीचे छवनों डालना ४२१	
८२	वसिष्ठजीका भरतको राज्यपर अधिकृत होनेके लिये आदेश देना तथा भरतका उसे अनुचित बताकर अस्वीकार करना और श्रीरामको लौटा लानेके लिये वनमें चलनेकी तैयारीके निमित्त सबको आदेश देना ३९०		९८	भरतके द्वारा श्रीरामके आश्रमकी सौजका प्रबन्ध तथा उन्हें आश्रमका दर्शन ४२३	
८३	भरतकी वनयात्रा और शृङ्गेरपुरमें रुक्मिणी . ३९२		९९	भरतका शत्रुघ्न आदिके साथ श्रीरामके आश्रमपर जाना, उनकी पर्णशालाको देखना तथा रोते-रोते उनके चरणोंमें गिर जाना, श्रीरामका उन सबको हृदयसे लगाना और मिलना ४२४	
८४	निपादराज गुहका अपने वन्धुओंको नदीकी रक्षा करते हुए युद्धके लिये तैयार रहनेका आदेश दे भेंटकी सामग्री ले भरतके पास जाना और उनसे आतिथ्य स्वीकार करनेके लिये अनुरोध करना ३९४		१००	श्रीरामका भरतको कुशल-प्रश्नके बहाने राजनीतिका उपदेश करना ४२७	
८५	गुह और भरतकी बातचीत तथा भरतका शोक ३९५		१०१	श्रीरामका भरतसे वनमें आगमनका प्रयोजन पूछना, भरतका उनसे राज्य ग्रहण करनेके लिये कहना और श्रीरामका उसे अस्वीकार कर देना ४३३	
८६	निपादराज गुहके द्वारा लक्ष्मणके सन्दाव और विलापका वर्णन ३९७		१०२	भरतका पुनः श्रीरामसे राज्य ग्रहण करनेका अनुरोध करके उनसे पिताकी मृत्युका समाचार बताना ४३५	
८७	भरतकी मूर्च्छासे गुह, शत्रुघ्न और माताओंका		१०३	श्रीराम आदिका विलाप, पिताके लिये जलाहुलि- दान, पिण्डदान और रोदन ४३६	

सर्ग	विषय	पृष्ठ-संख्या
१०४	वसिष्ठजीके साथ आती हुई कौसल्याका मन्दाकिनिके तटपर सुमित्रा आदिके समक्ष दुःस्वपूर्ण उद्गार, श्रीराम, लक्ष्मण और सीताके द्वारा माताओंकी चरण-चन्दना तथा वसिष्ठजीको प्रणाम करके श्रीराम आदिका सबके साथ बैठना	४३९
१०५	भरतका श्रीरामको अयोध्यामें चलकर राज्य ग्रहण करनेके लिये कहना, श्रीरामका जीवनकी अनित्यता बतलते हुए पिताको मृत्युके लिये शोक न करनेका भरतको उपदेश देना और पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये ही राज्य ग्रहण न करके वनमें रहनेका ही दृढ़ निश्चय बताना ..	४४१
१०६	भरतकी पुनः श्रीरामसे अयोध्या लौटने और राज्य ग्रहण करनेकी प्रार्थना	४४४
१०७	श्रीरामका भरतको समझाकर उन्हें अयोध्या जानेका आदेश देना	४४६
१०८	जाबालिका नास्तिकोंके मतका अवलम्बन करके श्रीरामको समझाना	४४८
१०९	श्रीरामके द्वारा जाबालिके नास्तिक मतका खण्डन करके आस्तिक मतका स्थापन	४४९
११०	वसिष्ठजीका सृष्टि-परम्पराके साथ इक्ष्वाकुकुलकी परम्परा बताकर ज्येष्ठके ही राज्याभिषेकका औचित्य सिद्ध करना और श्रीरामसे राज्य ग्रहण करनेके लिये कहना	४५२
१११	वसिष्ठजीके समझानेपर भी श्रीरामको पिताकी आज्ञाके पालनसे विरत होते न देखा भरतका धरना देनेकी तैयारी होना तथा श्रीरामका उन्हें समझाकर अयोध्या लौटनेकी आज्ञा देना	४५४
११२	ऋषियोंका भरतको श्रीरामकी आज्ञाके अनुसार लौट जानेकी सलाह देना, भरतका पुनः श्रीरामके चरणोंमें गिरकर चलनेकी प्रार्थना करना, श्रीरामका उन्हें समझाकर अपनी चरणपादुका देकर उन सबको विदा करना	४५६
११३	भरतका भरद्वाजसे मिलते हुए अयोध्याको लौट आना	४५८
११४	भरतके द्वारा अयोध्याको दुःस्वस्थका दर्शन तथा अन्तःपुरमें प्रवेश करके भरतका दुःखी होना ..	४६०
११५	भरतका नन्दिग्राममें जाकर श्रीरामकी चरण-पादुकाओंको राज्यपर अभिषिक्त करके उन्हें निवेदनपूर्वक राज्यका सब कार्य करना	४६२
११६	वृद्ध कुल्पातिसहित बहुत-से ऋषियोंका चित्रकूट छोड़कर दूसरे आश्रममें जाना	४६४
११७	श्रीराम आदिका अतिमुनिके आश्रमपर जाकर उनके द्वारा सत्कृत होना तथा अनसूयाद्वारा सीताका सत्कार	४६६
११८	सीता-अनसूया-संवाद, अनसूयाका सीताको	

सर्ग	विषय	पृष्ठ-संख्या
	प्रेमोपहार देना तथा अनसूयाके पूछनेपर सीताका उन्हें अपने स्वयंस्वीकृत कथा सुनाना ..	४६८
११९	अनसूयाकी आज्ञासे सीताका उनके दिये हुए वस्त्राभूषणोंको धारण करके श्रीरामजीके पास आना तथा श्रीराम आदिका यज्ञमें आश्रमपर रहकर प्रातःकाल अन्यत्र जानेके लिये ऋषियोंसे विदा लेना	४७१

(अरण्यकाण्डम्)

१	श्रीराम, लक्ष्मण और सीताका तापसेंकि आश्रममण्डलमें सत्कार	४७३
२	वनके भीतर श्रीराम, लक्ष्मण और सीतापर विराधका आक्रमण	४७४
३	विराध और श्रीरामकी यातचीत, श्रीराम और लक्ष्मणके द्वारा विराधपर प्रहार तथा विराधका इन दोनों पाइयोंको साथ लेकर दूसरे वनमें जाना	४७६
४	श्रीराम और लक्ष्मणके द्वारा विराधका वध ..	४७८
५	श्रीराम, लक्ष्मण और सीताका शरभङ्ग मुनिके आश्रमपर जाना, देवताओंका दर्शन करना और मुनिसं सम्मानित होना तथा शरभङ्ग मुनिका ब्रह्मलोक-गमन	४८०
६	वानप्रस्थ मुनियोंका राक्षसोंके अत्याचारसे अपनी रक्षाके लिये श्रीरामचन्द्रजीसे प्रार्थना करना और श्रीरामका उन्हें आश्वासन देना ..	४८३
७	सीता और भातासहित श्रीरामका सुतीक्ष्णके आश्रमपर जाकर उनसे बातचीत करना तथा उनसे सत्कृत हो रतमें वहीं ठहरना	४८५
८	प्रातःकाल सुतीक्ष्णसे विदा ले श्रीराम, लक्ष्मण, सीताका वहाँसे प्रस्थान	४८६
९	सीताका श्रीरामसे निरपराध प्राणियोंको न मारने और अहिंसा-धर्मका पालन करनेके लिये अनुरोध	४८८
१०	श्रीरामका ऋषियोंकी रक्षाके लिये राक्षसोंके वधके निमित्त की हुई प्रतिज्ञाके पालनपर दृढ़ रहनेका विचार प्रकट करना	४९०
११	पञ्चाप्सरसीर्थ एवं माण्डवर्णि मुनिकी कथा, विभिन्न आश्रमोंमें घूमकर श्रीराम आदिका सुतीक्ष्णके आश्रममें आना, वहाँ कुछ काल तक रहकर उनकी आज्ञासे अगस्त्यके भाई तथा अगस्त्यके आश्रमपर जाना तथा अगस्त्यके प्रभावका वर्णन	४९२
१२	श्रीराम आदिका अगस्त्यके आश्रममें प्रवेश, अतिथि-सत्कार तथा मुनिकी ओरसे उन्हें दिव्य अस्त्र-शस्त्रोंकी प्राप्ति	४९७
१३	महर्षि अगस्त्यका श्रीरामके प्रति अपनी	

सर्ग	विषय	पृष्ठ-संख्या	सर्ग	विषय	पृष्ठ-संख्या
	प्रसन्नता प्रकट करके सीताकी प्रशंसा करना, श्रीरामके पूछनेपर उन्हें पञ्चवटीमें आश्रम बनाकर रहनेका आदेश देना तथा श्रीराम आदिका प्रस्थान	५००	३०	श्रीरामके व्यङ्ग करनेपर खरका उन्हें फटकार-कर उनके ऊपर शालवृक्षका प्रहार करना, श्रीरामका उस वृक्षको काटकर एक तेजस्वी बाणसे खरको मार गिराना तथा देवताओं और महर्षियोंद्वारा श्रीरामकी प्रशंसा	५३४
१४	पञ्चवटीके मार्गमें जटायुका मिलना और श्रीरामको अपना विस्तृत परिचय देना	५०१	३१	रावणका अकम्पनकी सलाहसे सीताका अपहरण करनेके लिये जाना और मारीचके कहनेसे लङ्काको लौट आना	५३७
१५	पञ्चवटीके रमणीय प्रदेशमें श्रीरामकी आज्ञासे लक्ष्मणद्वारा सुन्दर पर्णशालाका निर्माण तथा उसमें सीता और लक्ष्मण-सहित श्रीरामका निवास	५०४	३२	शूर्पणखाका लङ्कामें रावणके पास जाना	५४०
१६	लक्ष्मणके द्वारा हेमन्त ऋतुका वर्णन और भरतकी प्रशंसा तथा श्रीरामका उन दोनोंके साथ गोदावरी नदीमें स्नान	५०६	३३	शूर्पणखाका रावणको फटकारना	५४२
१७	श्रीरामके आश्रममें शूर्पणखाका धाना, उनका परिचय जानना और अपना परिचय देकर उनसे अपनेको भार्याके रूपमें ग्रहण करनेके लिये अनुरोध करना	५०९	३४	रावणके पूछनेपर शूर्पणखाका उससे राम, लक्ष्मण और सीताका परिचय देते हुए सीताको भार्या बनानेके लिये उसे प्रेरित करना	५४४
१८	श्रीरामके टाल देनेपर शूर्पणखाका लक्ष्मणसे प्रणय याचना करना, फिर उनके भी टालनेपर उसका सीतापर आक्रमण और लक्ष्मणका उसके नाक, कान काट लेना	५११	३५	रावणका समुद्रतटवर्ती भ्रान्तकी शोभा देखते हुए पुनः मारीचके पास जाना	५४५
१९	शूर्पणखाके मुखसे उसकी दुर्दशाका वृत्तान्त सुनकर क्रोधमें भरे हुए खरका श्रीराम आदिके वधके लिये चौदह राक्षसोंको भेजना	५१३	३६	रावणका मारीचसे श्रीरामके अपराध बताकर उनकी पत्नी सीताके अपहरणमें सहायताके लिये कहना	५४८
२०	श्रीरामद्वारा खरके भेजे हुए चौदह राक्षसोंका वध	५१४	३७	मारीचका रावणको श्रीरामचन्द्रजीके गुण और प्रभाव बताकर सीताहरणके उद्योगसे रोकना ..	५४९
२१	शूर्पणखाका खरके पास आकर उन राक्षसोंके वधका समाचार बताना और रामका भय दिखाकर उसे युद्धके लिये उत्तेजित करना ...	५१६	३८	श्रीरामकी शक्तिके विषयमें अपना अनुभव बता-कर मारीचका रावणको उनका अपराध करनेसे मना करना	५५१
२२	चौदह हजार राक्षसोंकी सेनाके साथ खर-दूषणका जनस्थानसे पञ्चवटीकी ओर प्रस्थान	५१७	३९	मारीचका रावणको समझाना	५५४
२३	भयंकर उत्पातोंको देखकर भी खरका उनकी परवा नहीं करना तथा राक्षस-सेनाका श्रीराम-के आश्रमके समीप पहुँचना	५१९	४०	रावणका मारीचको फटकारना और सीताहरणके कार्यमें सहायता करनेकी आज्ञा देना	५५५
२४	श्रीरामका तात्कालिक शकुनोंद्वारा राक्षसोंके विनाश और अपनी विजयकी सम्भावना करके सीतासहित लक्ष्मणको पर्वतकी गुफामें भेजना और युद्धके लिये उद्यत होना	५२१	४१	मारीचका रावणको विनाशका भय दिखाकर पुनः समझाना	५५७
२५	राक्षसोंका श्रीरामपर आक्रमण और श्रीराम-चन्द्रजीके द्वारा राक्षसोंका संहार	५२४	४२	मारीचका सुवर्णमय मृगरूप धारण करके श्रीराम-के आश्रमपर जाना और सीताका उसे देखना ..	५५८
२६	श्रीरामके द्वारा दूषणसहित चौदह सहस्र राक्षसोंका वध	५२६	४३	कपटमृगको देखकर लक्ष्मणका संदेह, सीताका उस मृगको जीवित या मृत-अवस्थामें भी ले आनेके लिये श्रीरामको प्रेरित करना तथा श्रीराम-का लक्ष्मणको समझा-बुझाकर सीताको रक्षाका पार सौंपकर उस मृगको मारनेके लिये जाना ..	५६१
२७	अग्निराका वध	५२९	४४	श्रीरामके द्वारा मारीचका वध और उसके द्वारा सीता और लक्ष्मणके पुकारनेका शब्द सुनकर श्रीरामकी चिन्ता	५६४
२८	खरके साथ श्रीरामका घोर युद्ध	५३०	४५	सीताके मार्मिक वचनोंसे प्रेरित होकर लक्ष्मणका श्रीरामके पास जाना	५६६
२९	श्रीरामका खरको फटकारना तथा खरका भी उन्हें कटोर उतर देकर उनके ऊपर गदाका प्रहार करना और श्रीरामद्वारा उस गदाका खण्डन	५३२	४६	रावणका साधुवेषमें सीताके पास जाकर उनका परिचय पूछना और सीताका आतिथ्यके लिये उसे आमन्त्रित करना	५६८
			४७	सीताका रावणको अपना और पतिका परिचय देकर खनमें आनेका कारण बताना, रावणका उन्हें अपनी पट्टगनों बनानेकी इच्छा प्रकट	

सर्ग	विषय	पृष्ठ-संख्या
	करना और सोनाका उन फटकारना	५३१
४८	रावणके द्वारा अपने पराक्रमका वर्णन और सोनाद्वारा उसको कड़वा फटकार ..	५३४
४९	रावणद्वारा सोनाका अपहरण, सोनाका विलाप और उनके द्वारा जटायुका दर्शन ...	५३६
५०	जटायुका रावणको सोनाहरणके दुष्कर्मसे निवृत्त होनेके लिये समझाना और अन्तर्ग युद्धके लिये ललकारना ..	५३९
५१	जटायु तथा रावणका घोर युद्ध और रावणके द्वारा जटायुका वध ..	५४०
५२	रावणद्वारा सोनाका अपहरण	५४३
५३	सोनाका रावणको धिक्कारना	५४६
५४	सोनाका पत्नी धनरौके बीच अपन धारण और वस्त्रको गिराना, रावणका लङ्कामे पहुँचकर सोनाका अन्तःपुरमें रहना तथा जनस्थानमें आठ राक्षसोंके गुप्तचरोंके रूपमें रहनेके लिये भेजना ..	५४८
५५	रावणका सोनाको अपने अन्तःपुरका दर्शन कराना और अपनी भार्या वन जानक लिये समझाना ..	५५०
५६	सोनाका श्रीरामके प्रति अपना अनन्य अनुराग दिखाकर रावणको फटकारना तथा रावणकी आज्ञासे राक्षसोंका उन्हें अशक्ततादिप्रकार से जाकर डराना ..	५५३
	(प्रक्षिप्त सर्ग) — ब्रह्माका आज्ञासे देवराज इन्द्रका निद्रामहित लङ्कामे जाकर सोनाको दिव्य स्नान अर्पित करना और उनमें चित्त लेकर लौटना ..	५५५
५७	श्रीरामका लौटना, मार्गमें अपशकुन देखकर चिन्तित होना तथा लक्ष्मणसे मिलनेपर उन्हें उत्साहना दे सोनापर संकट आनेकी आशङ्का करना	५५७
५८	मार्गमें अनेक प्रकारका आशङ्का करते हुए लक्ष्मणसहित श्रीरामका आश्रममें आना और वहाँ सोनाको न पाकर व्यथित होना	५५८
५९	श्रीराम और लक्ष्मणकी बातचीत	५६०
६०	श्रीरामका विलाप करने हुए वृक्षों और पशुओंसे सोनाका पता पूछना, भ्रान्त होकर रोना और वारम्बार उसको खाने करना	६०२
६१	श्रीराम और लक्ष्मणके द्वारा सोनाको खोज और उनके न मिलनेसे श्रीरामको व्याकुलता	६०४
६२	श्रीरामका विलाप	६०६
६३	श्रीरामका विलाप	६०८
६४	श्रीराम और लक्ष्मणके द्वारा सोनाको खोज, श्रीरामका शोकद्वार, मृगोंद्वारा संकट पाकर दोनों भाइयोंका दक्षिण दिशकी ओर जाना, पर्वतपर व्रतध, सोनाके चित्रें हुए फूल, आभूषणोंके कण और बुद्धके चिह्न देखकर श्रीरामका देवता आदि-सहित मम्मल त्रिलोकपर रथ प्रज्ज करना ...	६१०
६५	लक्ष्मणका श्रीरामको समझा-बुझकर शान्त करना ..	६१४
६६	लक्ष्मणका श्रीरामको समझाना	६१६

सर्ग	विषय	पृष्ठ-संख्या
६७	श्रीराम और लक्ष्मणकी पक्षिगज जटायुसे भेंट तथा श्रीरामका उन्हें गलेसे लगाकर रोना	६१७
६८	जटायुका प्राण-त्याग और श्रीरामद्वारा उनका दाह संस्कार	६१९
६९	लक्ष्मणका अयोध्याको दण्ड देना तथा श्रीराम और लक्ष्मणका कबचक बाहुबन्धमें पहँकर चिन्तित होना ..	६२१
७०	श्रीराम और लक्ष्मणका परस्पर विचार करके कबचकी दोनों धुजाओंको काट डालना तथा कबचके द्वारा ठगका स्वागत	६२५
७१	कबचकी आत्मकथा, अपने शरीरका दाह हो जानपर उसका श्रीरामको सोनाका अन्वेषणमें सहायता देनेका आश्वासन	६२६
७२	श्रीराम और लक्ष्मणके द्वारा चिताकी आगमें कबचका दाह तथा ठमका दिव्य रूपमें प्रकट होकर उन्हें सुग्रीवसे मित्रता करनेके लिये कहना ..	६२८
७३	दिव्य रूपधारी कबचका श्रीराम और लक्ष्मणको ऋष्यमूक और पम्पासरोवरका मार्ग बताना तथा मत्स्य मुनिके वन एवं आश्रमका परिचय देकर प्रस्थान करना ..	६३०
७४	श्रीराम और लक्ष्मणका पम्पासरोवरके तटपर मत्स्यवनमें शिवोंका आश्रमपर जाना, ठमका सत्कार ग्रहण करना और उसके साथ मत्स्यवनको देखना, शिवोंका अपने शरीरकी आहुति दे दिव्य घामको प्रस्थान करना	६३३
७५	श्रीराम और लक्ष्मणकी बातचीत तथा उन दोनों भाइयोंका पम्पासरोवरके तटपर जाना	६३५

(किष्किन्धाकाण्डम्)

१	पम्पासरोवरके दर्शनसे श्रीरामको व्याकुलता, श्रीरामका लक्ष्मणसे पम्पाकी शोषा तथा वहाँकी इक्षीपन सामग्रीका वर्णन करना, लक्ष्मणका श्रीरामको समझाना तथा दोनों भाइयोंको ऋष्यमूककी ओर आगे देख सुग्रीव तथा अन्य वानरोंका भयभीत होना	६३९
२	सुग्रीव तथा वानरोंकी आशङ्का, हनुमान्जीद्वारा उसका निवारण तथा सुग्रीवका हनुमान्जीका श्रीराम लक्ष्मणका पास उनका भेद लेनेके लिये भेजना ..	६४८
३	हनुमान्जीका श्रीराम और लक्ष्मणसे वनमें आनेका कारण पूछना और अपना तथा सुग्रीवका परिचय देना, श्रीरामका उनके खचनोंकी प्रशंसा करके लक्ष्मणको अपनी ओरसे बात करनेके आग्रह देना तथा लक्ष्मणद्वारा अपनी प्रार्थना स्वीकृत होनेसे हनुमान्जीका प्रसन्न होना	६५०
४	लक्ष्मणका हनुमान्जीसे श्रीरामके वनमें आने और सोनाजोंके हरे जानेका वृत्तान्त बताना तथा इस कार्यमें सुग्रीवके सहयोगकी इच्छा प्रकट करना, हनुमान्जीका उन्हें आश्वासन देकर	

सर्ग	विषय	पृष्ठ संख्या	सर्ग	विषय	पृष्ठ संख्या
	उन दोनों भाइयोंको अपने साथ ले जाना	६५२		देखकर रोना	६९२
५	श्रीराम और सुग्रीवको मैत्री तथा श्रीरामद्वारा वाल्मीकिकी प्रतिज्ञा	६५४	२०	ताराका विलम्ब	६९४
६	सुग्रीवका श्रीरामको सीताजीके आभूषण दिखाना तथा श्रीरामका शोक एवं रोषपूर्ण चर्चन	६५७	२१	हनुमान्जीका ताराका समझाना और ताराका परितोके अनुगमनका हो निश्चय करना	६९५
७	सुग्रीवका श्रीरामको समझाना तथा श्रीरामका सुग्रीवको उनकी कार्यमिद्विका विश्राम दिलाना	६५८	२२	बालीकर सुग्रीव और अङ्गदसे अपने मनकी बात कहकर प्राणोंको त्याग देना	६९७
८	सुग्रीवका श्रीरामसे अपना दुःख निवेदन करना और श्रीरामका उन्हें आश्वासन देते हुए दोनों भाइयोंमें वैर होनेका कारण पूछना	६६०	२३	ताराका विलम्ब	६९९
९	सुग्रीवका श्रीरामचन्द्रजीको कालीके साथ अपने वैर होनेका कारण बताना	६६३	२४	सुग्रीवका शोकमग्न होकर श्रीरामसे प्राणत्यागके लिये आज्ञा माँगना, ताराका श्रीरामसे अपने वधके लिये प्रार्थना करना और श्रीरामका उसे समझाना ..	७०१
१०	भार्यके साथ वैरका कारण बतानेके प्रसङ्गमें सुग्रीवका बालीको मारने और बालीद्वारा अपने निष्कासित होनेका वृत्तान्त सुनना	६६५	२५	लक्ष्मणसहित श्रीरामका सुग्रीव, तारा और अङ्गदका समझाना तथा बालीका दाह-संस्कारके लिये आज्ञा प्रदान करना, फिर तारा आदि-सहित सब वानरोंका बालीके शवको श्मशान-भूमिमें ले जाकर अङ्गदके द्वारा उसका दाह-संस्कार कराना और उसे जलाज्जलि देना ...	७०५
११	सुग्रीवके द्वारा बालीके पराक्रमका वर्णन— बालीका दुन्दुभि दैत्यको मारकर उसको लाशका मलज्वनमें फेंकना, मलज्व मुनिका बालीको शाप देना, श्रीरामका दुन्दुभिके अस्थिसमूहको दूर फेंकना और सुग्रीवका उनसे साल-पेदनके लिये आग्रह करना	६६७	२६	हनुमान्जीका सुग्रीवके अभिषेकके लिये श्रीरामचन्द्रजीसे किष्किन्धामें पधारनेकी प्रार्थना, श्रीरामका पुराणमें न जाकर केवल अनुमति देना तथा सुग्रीव और अङ्गदका अभिषेक	७०९
१२	श्रीरामके द्वारा सात साल-वृक्षोंका भेदन, श्रीरामकी आज्ञासे सुग्रीवका किष्किन्धामें आकर बालीको ललकारना और युद्धमें उससे पराजित होकर मलज्वनमें भाग जाना, यहाँ श्रीरामका उन्हें आश्वासन देना और गलेमें पहचानके लिये गजपुष्पां लता डालकर उन्हें पुनः युद्धके लिये भेजना ...	६७३	२७	प्रत्यक्ष गिरिपर श्रीराम और लक्ष्मणकी परस्पर धामधौल ..	७११
१३	श्रीराम आदिका मार्गमें वृक्षों, विविध वस्तुओं, जलाशयों तथा समुद्रज आश्रमका दूरसे दर्शन करते हुए पुनः किष्किन्धापुरीमें पहुँचना	६७५	२८	श्रीरामके द्वारा वर्षा-ऋतुका वर्णन	७१४
१४	बाली-वधके लिये श्रीरामका आश्वासन पाकर सुग्रीवकी धिक्कट गर्जना	६७७	२९	हनुमान्जीके समझानेसे सुग्रीवका नीलको वानर मैनिकोंको एकत्र करनेका आदेश देना	७२०
१५	सुग्रीवकी गर्जना सुनकर बालीका युद्धके लिये निकलना और ताराका उसे रोककर सुग्रीव और श्रीरामके साथ मैत्री कर लेनेके लिये समझाना ..	६७९	३०	शरद-ऋतुका वर्णन तथा श्रीरामका लक्ष्मणको सुग्रीवके पास जानका आदेश देना ... ; ...	७२२
१६	बालीका ताराको डटकर लौटाना और सुग्रीवसे जुझना तथा श्रीरामके वाणसे घायल होकर पृथ्वीपर गिरना	६८१	३१	सुग्रीवपर लक्ष्मणका रोष, श्रीरामका उन्हें समझाना, लक्ष्मणका किष्किन्धाके द्वारपर जाकर अङ्गदको सुग्रीवके पास भेजना, वानरोंका भय तथा प्रभ और प्रभस्वका सुग्रीवको कर्तव्यका उपदेश देना	७२९
१७	बालीका श्रीरामचन्द्रजीको फटकरना	६८३	३२	हनुमान्जीका चिन्तित हुए सुग्रीवको समझाना	७३३
१८	श्रीरामका बालीको बातका उत्तर देते हुए उसे टिप्पणी दण्डका औचित्य बताना, बालीका निम्न होकर भगवान्से अपने अपराधके लिये क्षमा माँगते हुए अङ्गदकी रक्षाके लिये प्रार्थना करना और श्रीरामका उसे आश्वासन देना	६८७	३३	लक्ष्मणका किष्किन्धापुरीकी शोभा देखते हुए सुग्रीवका पहलमें प्रवेश करके क्रोधपूर्वक धनुषको टंकारना, भयभीत सुग्रीवका ताराको उन्हें ज्ञान करनेके लिये भेजना तथा ताराका समझा-बुझाकर उन्हें अन्तःपुरमें ले आना	७३५
१९	अङ्गदसहित ताराका भागे हुए वानरोंका बात करके बालीके समीप आना और उसको दुर्दशा		३४	सुग्रीवका लक्ष्मणके पास जाना और लक्ष्मणका उन्हें फटकरना	७४०
			३५	ताराका लक्ष्मणका वृत्त्युक्त वचनद्वारा ज्ञान करना	७४१
			३६	सुग्रीवका अपनी लक्ष्मण तथा श्रीरामको महता बताते हुए लक्ष्मणसे क्षमा माँगना और लक्ष्मणका उनकी प्रणामा करके उन्हें अपने साथ चलनेके लिये कहना	७४३
			३७	सुग्रीवका हनुमान्जीको वानरसेनाके संग्रहके लिये दंढारा दूत भेजनेकी आज्ञा देना, उन	

सर्ग	विषय	पृष्ठ-संख्या	सर्ग	विषय	पृष्ठ-संख्या
	दूतोंसे राजाको आज्ञा सुनकर समस्त वानरोंका किष्किण्यके लिये प्रस्थान और दूतोंका लौटकर सुग्रीवको भेंट देनेके साथ ही वानरोंका आगमनका समाचार सुनना	७४६		होनेके कारण सुग्रीवके कठोर दण्डसे डरनेवाले अङ्गद आदि वानरोंका उपवास करके प्राण त्याग देनेका निश्चय	७८१
३८	लक्ष्मणसहित सुग्रीवका भगवान् श्रीरामके पास आकर उनके चरणोंमें प्रणाम करना, श्रीरामका उन्हें समझाना, सुग्रीवका अपने किये हुए सैन्यसंग्रहविषयक अज्ञातको बताना और उसे सुनकर श्रीरामका प्रसन्न होना	७४६	५४	हनुमान्जीका भेदनांतिके द्वारा वानरोंको अपने पक्षमें करके अङ्गदको अपने साथ चलने के लिये समझाना	७८३
३९	श्रीरामचन्द्रजीका सुग्रीवके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना तथा विभिन्न वानर-युधपतियोंका अपने मेनाआक साथ आगमन	७४९	५५	अङ्गदसहित वानरोंका प्राणोपवेशन	७८४
४०	श्रीरामकी आज्ञासे सुग्रीवका सीताकी खोजके लिये पूर्व दिशामें वानरोंको भेजना और वहाँके स्थानोंका वर्णन करना	७५१	५६	सम्पत्तिमें वानरोंको भय, उनके मुखसे जटायुक वधकी बात सुनकर सम्पत्तिकी दुखी होना और अपनेको नीचे उतारनेके लिये वानरोंसे अनुरोध करना	७८६
४१	सुग्रीवका दक्षिण दिशाके स्थानोंका परिचय देने हुए वहाँ प्रमुख वानर वारोंको भेजना	७५६	५७	अङ्गदका सम्पत्तिकी पर्वत-शिखरसे नीचे उतारकर उन्हें जटायुकें मारे जानकर कृतान्त बताना तथा राम-सुग्रीवकी मित्रता एवं वाल्मीकिकी प्रसङ्ग सुनाकर अपने आश्रय उपवासका कारण निवेदन करना	७८७
४२	सुग्रीवका पश्चिम दिशाके स्थानोंका परिचय देने हुए सुषेण आदि वानरोंको वहाँ भेजना	७५९	५८	सम्पत्तिकी अपने पंख जलनकी कथा सुनाना, सोना और राक्षसका पता बताना तथा वानरोंकी सहायतासे समुद्रतटपर जाकर भाईको अलाजाल देना	७८९
४३	सुग्रीवका उत्तर दिशाके स्थानोंका परिचय देते हुए शतर्बलि आदि वानरोंको वहाँ भेजना	७६३	५९	सम्पत्तिकी अपने पुत्र सुग्रीवके पुण्यसे सुखी हुई सीता और राक्षसको देखनेकी घटनाका वृत्तान्त बताना ..	७९१
४४	श्रीरामका हनुमान्जीको अंगुली देकर भेजना ..	७६७	६०	सम्पत्तिकी आत्मकथा	७९३
४५	विभिन्न दिशाओंमें जाते हुए वानरोंका सुग्रीवके समक्ष अपने उत्साहमूलक वचन सुनाना ..	७६८	६१	सम्पत्तिकी निशाकर मुनिकी अपने पंखोंके जलनेका कारण बताना	७९४
४६	सुग्रीवका श्रीरामचन्द्रजीको अपने धूमण्डल-भ्रमणका वृत्तान्त बताना	७६९	६२	निशाकर मुनिकी सम्पत्तिकी सान्त्वना देते हुए उन्हें प्राची श्रीरामचन्द्रजीके कार्यमें सहायता देनेके लिये जंघित रहनेका आदेश देना ..	७९५
४७	पूर्व आदि तीन दिशाओंमें गये हुए वानरोंका निराश होकर लौट आना	७७१	६३	सम्पत्तिकी पंखयुक्त होकर वानरोंको उत्साहित करके उड़ जाना और वानरोंका वरुणसे दक्षिण दिशाकी ओर प्रस्थान करना	७९७
४८	दक्षिण दिशामें गये हुए वानरोंका सीताकी खोज आरम्भ करना	७७२	६४	समुद्रकी विशालता देखकर विषादमें पड़े हुए वानरोंकी आश्वासन दे अङ्गदका उनमें पृथक्-पृथक् समुद्र-लङ्घनके लिये उनकी शक्ति पूछना ..	७९८
४९	अङ्गद और गन्धमादनके आश्वासन देनेपर वानरोंका पुनः उत्साहपूर्वक अन्वेषण-कार्यमें प्रवृत्त होना	७७४	६५	बारी-बारीसे वानर-बौंगोंके द्वारा अपनी-अपनी गमन-शक्तिकी वर्णन, आम्बवान् और अंगदकी वानचोत तथा जाम्बवान्का हनुमान्जीको प्रेरित करनेके लिये उनके पास जाना	७९९
५०	भूखे-प्यासे वानरोंका एक गुफामें चुसकर वहाँ दिव्य वृक्ष, दिव्य सरोंवर, दिव्य भवन तथा एक वृद्धा तपस्विनीको देखना और हनुमान्जीका उससे उसका परिचय पूछना	७७५	६६	जाम्बवान्का हनुमान्जीको उनकी उत्पत्तिकथा सुनाकर समुद्रलङ्घनके लिये उत्साहित करना ..	८०१
५१	हनुमान्जीके पूछनेपर वृद्धा तपस्वीका अपना तथा उस दिव्य स्थानका परिचय देकर सब वानरोंको भोजनके लिये कहना	७७७	६७	हनुमान्जीकी समुद्र लङ्घनके लिये उत्साह प्रकट करना, जाम्बवान्के द्वारा उनकी प्रशंसा तथा वेगपूर्वक छलांग मारनेके लिये हनुमान्जीका महेन्द्र पर्वतपर बहना	८०४
५२	तापसी स्वयंप्रभाके पूछनेपर वानरोंका उस अपना वृत्तान्त बताना और उसके प्रभावमें गुफाके बाहर निकलकर समुद्रतटपर पहुँचना	७७९			
५३	लौटनेकी अवधि भौत जानेपर भी कार्य सिद्ध न				



श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणकी पाठविधि

वाल्मीकीय रामायणकी अनेक प्रकारकी पाठायण-विधियाँ हैं। श्रीरामसेवाग्रन्थ, अनुष्ठानप्रकाश, स्कन्दोक्त रामायण-माहात्म्य, बृहद्धर्मपुराण तथा शाङ्कर, रामानुज, मध्व, रामानन्द आदि विभिन्न सम्प्रदायोंकी अलग-अलग विधियाँ हैं, यद्यपि उनका अन्तर साधारण है। इसी प्रकार इसके सक्तम और निष्काम अनुष्ठानोंकी भी भेद हैं। सबपर चस्तुत विचार यहाँ सम्भव नहीं। वाल्मीकीयके पद्य प्रसिद्ध नवाह्न-पारायणकी ही विधि यहाँ लिखी जा रही है।

चैत्र, माघ तथा कार्तिक शुक्ल पञ्चमोंसे त्रयोदशोंतक इनके नवाह्न-पारायणकी विधि है^१। किसी पुण्यक्षत्र पवित्र तीर्थ, मन्दिरमें या अपने घरपर ही भगवान् विष्णु तथा नृसिंहोंके सीनधानमें वाल्मीकीरामायणकी पाठ करना चाहिये। इतदर्थ यथासम्भव कथा-स्थानकी भूमिकी संशोधन, मार्जन, रूपादि संस्कारोंसे सज्जितकर कदली-सूक्ष्म तथा ध्वजा-पताकी-वितानादिसे सज्जित कर देना चाहिये। मण्डपका पान १६ हाथ लम्बा-चौड़ा हो और उसकी बीचमें सर्वतोभद्रसे युक्त एक बड़ी हो। अन्य वेदियाँ कुण्ड तथा स्थाण्डिल आदि भी हों। मण्डपके दक्षिण-पश्चिम भागमें वक्ता (व्यास) एवं श्रोतृका आसन हों। व्यासामनक आग पुस्तकका आसन होना चाहिये। श्रोताओंका आसन भिन्न-भेद हो। व्यासकी आसन श्रोतासे तथा पुस्तककी आसन वक्तासे भी ऊँचा होना चाहिये^२। फिर प्रायश्चित्त तथा नित्यकर्म करके भगवान् श्रीरामकी प्रतिमा स्थापित करनी चाहिये अथवा पुस्तकपर ही सपरिकर-सपरिच्छिद श्रीसीतारामश्रीका अर्थात् भगवान् श्रीरामचन्द्र भगवतो मोनाजी लक्ष्मणजी भक्तजी, शत्रुघ्नजी, श्रीहनुमान्जी आदिका अन्वजन करना चाहिये। तत्पश्चात् समस्त उपकरणोंसे अलङ्कृत, पञ्च-पल्लवादिसे युक्त कलश स्थापितकर स्वस्त्ययनपूर्वक गणपतिपूजन, बटुक, क्षेत्रपाल, योगिनी, मातृका, नवग्रह, तुलसी, लोकपाल दिक्षपाल आदिका पूजन तथा नान्दश्राद्ध करके सपरिकर-सपरिच्छिद भगवान् रामकी पूजा करे।

तदनन्तर काल-तिथि गात्र-नाम आदि वास्तव्यः -

ॐ भूर्भुवः स्वरोम् । मधोपासदुर्गिहयपूर्वकं श्रीसीतारामप्रीतिवर्थं श्रीसीतालक्ष्मणभरतशत्रुघ्नहनुमत्समेतश्रीरामचन्द्र-प्रसादसिद्धयर्थं च श्रीरामचन्द्रप्रसादेन सर्वप्रोदुमिदुष्यर्थं श्रीरामचन्द्रपूजनमहं करिष्ये । श्रीवाल्मीकीयरामायणस्य पारायणं च

करिष्ये, तदङ्गभूतं कलशास्थापनं स्वस्त्ययनपाठं गणपतिपूजनं बटुकक्षेत्रपालयोगिनीमातृकानवग्रहतुलसीलोकपालदिक्षपालादि-पूजनं चाहं करिष्ये ।

—इस प्रकार संकल्प करके बाद पूजन करे।

ॐ अभ्युताय नमः, ॐ अनन्ताय नमः, ॐ गोविन्दाय नमः, ॐ नारायणाय नमः, ॐ मधुसूतनाय नमः, ॐ हृषीकेशाय नमः, ॐ माधवाय नमः, ॐ त्रिविक्रमाय नमः, ॐ दामोदराय नमः, ॐ धृक्नन्दाय नमः, ॐ कामनाय नमः, ॐ कथनरामाय नमः, ॐ केशवाय नमः, ॐ विष्णवे नमः, ॐ शीघरराय नमः, ॐ श्रीसीतारामाय नमः ।

इस प्रकार नमस्कार करके निम्न प्रकारसे पूजा करे—

श्रीसीतालक्ष्मणभरतशत्रुघ्नहनुमत्समेतं श्रीरामचन्द्रं ध्यायामि— भगवान् रामका ध्यान करे ।

.. आवाहयामि—आवाहन करे ।

श्रीसीतालक्ष्मणभरतशत्रुघ्नहनुमत्समेताय श्रीरामचन्द्राय नमः—रत्नसिंहासने समर्पयामि—सिंहासन अर्पण करे ।

.. पादौ समर्पयामि—पाद दे ।

.. अर्घ्यं समर्पयामि—अर्घ्य दे ।

.. खानीयं समर्पयामि—खान करावे ।

.. आचमनीयं समर्पयामि—आचमन करावे ।

.. चूर्णं समर्पयामि—चूर्ण अर्पण करे ।

.. यज्ञोपवीताभरणं समर्पयामि—यज्ञोपवीत-आभूषण दे ।

.. गन्धान् समर्पयामि—चन्दन-कुङ्कुम लगावे ।

.. अक्षतान् समर्पयामि—चावल चढ़ावे ।

.. पुष्पाणि समर्पयामि—पुष्पमाला दे ।

.. धूपधाम्राण्ययामि—धूप दे ।

.. दीपे दर्शयामि—दीपक दिखावे ।

.. नैवेद्यं फलानि च समर्पयामि—नैवेद्य और फल अर्पण करे ।

.. ताव्युलं समर्पयामि—पान दे ।

.. कर्पूरीगजने समर्पयामि—आरती करे ।

.. छत्रबाणरादि समर्पयामि—छत्र-सँवरदि अर्पण करे ।

.. पुष्पाञ्जलिं समर्पयामि—पुष्पाञ्जलि अर्पण करे ।

.. प्रदक्षिणानमस्करान् समर्पयामि—प्रदक्षिणा और नमस्कार करे ।

१ चैत्र माघ कार्तिक च मितं पक्षं च आचमनं, स्नातं मूमहोपुष्यं श्रोतव्यं च प्रयत्नः पञ्चम्या दिनमात्रेण रामायणकथनं नवाह्नप्रवर्तनं मन्त्रपाठं प्रयुज्यते ।

(रामयणग्रन्थ)

२ श्रोतृभ्यश्च तथा कर्तुम्यस्तद् ग्रन्थस्य चांशतः

(रामयणग्रन्थ)

तत्पश्चात् निम्न प्रकारसे पञ्चोपचारसे श्रांगमाश्रम-ग्रन्थकी पूजा करे—

ॐ सदा भवणमात्रेण पापिनो सहतिप्रदे ।

शुभे रामकथे तुभ्यं गन्धमद्य समर्पये ॥

—इति गन्धं समर्पयामि ।

ॐ बालादिमङ्गलाण्डेन सर्वलोकेसुखप्रद ।

रामायण महोदर पुष्पं तेऽद्य समर्पये ॥

—इति पुष्पाणि पुष्पमालां च समर्पयामि ।

ॐ यस्यैकश्लोकपाठस्य फलं सर्वफलधिकम् ।

तस्मै रामायणायास्त दशाङ्गं धूपमर्पये ॥

—इति धूपमाग्रापयामि ।

ॐ यस्य लोके प्रणेतारो बाल्मीक्यादिमहर्षयः ।

तस्मै रामचरित्राय धूतदीपं समर्पये ॥

—इति दीपं दर्शयामि ।

ॐ श्रूयते ब्रह्मणो लोके शतकोटिप्रविस्तरम् ।

रूपं रामायणस्यास्य तस्मै नैवेद्यमर्पये ॥

—इति नैवेद्यं समर्पयामि ।

पूजा करनेके बाद कर्पूरकी आरती करके चार बार प्रदक्षिणा कर पुष्पाञ्जलि अर्पण करे । फिर साष्टाङ्ग प्रणाम कर इस प्रकार नमस्कार करे—

बाल्मीकिगिरिसम्भूता रामसागरगामिनी ।

पुनरिति धुवनं पुण्या रामायणमहानदी ॥

श्लोकसारसभाकीर्णं सर्गकल्लोलसंकुलम् ।

काण्डग्राह्यमहापीनं बन्दे रामायणार्णवम् ॥

फिर देवता, ब्राह्मणादिकी पूजा कर पाठकर संकल्प करके ऋष्यादिन्यास करे । अनुष्ठानमङ्गलश्लोक अनुसार कामनाभेदसे यदि पूरी रामायणकी पाठ न हो सके तो अलग-अलग काण्डोंक अनुष्ठानकी भी विधि है । जैसे पुत्रकी कामनावाला बाल्मीकाण्ड पढ़े, लक्ष्मीकी इच्छावाला अयोध्याकाण्ड पढ़े । इसी प्रकार नगराज्यकी प्राप्तिकी इच्छावालोंको किष्किन्धाकाण्डकी, सभी कामनाओंकी इच्छावालोंको सुन्दरकाण्डकी और शत्रुनाशकी

कामनावालोंको लङ्काकाण्डकी पाठ करना चाहिये । 'बृहद्दर्मपुराण' के अनुसार इनकी अन्य भी सकाम उपयोग है । वह तथा उसके न्यासादिका प्रकार आगे लिखा जायगा ।

ॐ अस्य श्रीबाल्मीकीरामायणमहामन्त्रस्य भागवान् बाल्मीकिर्ऋषिः । अनुष्टुप् छन्दः । श्रीरामः परमात्मा देवता । अथयं सर्वभूतेभ्य इति बीजम् । अनुष्ठानेन तान् इन्धामिति शक्तिः । एतदस्वबलं दिव्यमिति कीलकम् । भगवाप्राराधनो देव इति तन्त्रम् । धर्मात्मा सत्यमश्रुत्यस्वम् । पुरुषार्थवतुष्टय-भिन्नार्थ पाठे विनियोगः ।

ॐ श्रीं रं आपस्तामपहतारमित्यनुष्टुप्भाष्यो नमः ।

ॐ ह्रीं रीं दानारामिति तर्जनीष्यो नमः । ॐ रो रं सर्व-सम्बन्धमिति मध्यमाष्यो नमः ।

ॐ श्रीं रं लोकापिराममित्यनामिकाष्यो नमः । ॐ श्रीं रीं श्रीराममिति कर्निष्ठिकाष्यो नमः ।

ॐ रीं रं भूयो भूयो नमाम्यहमिति कर्तलकरपुष्पाष्यो नमः ।

इन्हीं मन्त्रोंसे इसी प्रकार हृदयादि^१ न्यास करे । फिर—

ब्रह्मा स्वयम्भूर्मयवान् देवाश्चैव तपस्विनः ।

मिद्धि दिशन्तु मे सर्वे देवाः सर्विण्णास्त्वह ॥

—इति दिग्बन्ध ।

यों कहकर चारों ओर हाथ घुमाकर अन्तर्मे फिर इस प्रकार ध्यान करे—

वामे धूमिसुता पुरस्तु हनुमान् पश्चात् सुमिश्रासुतः

शत्रुघ्नो बस्तश्च पाशंदलयोर्वाय्वादिकोणेषु च ।

सुग्रीवश्च त्रिभीषणश्च सुवराट् तारासुतो जाम्बवान्

मध्ये नीलसरोजकोमलरुचिं रामं भजे श्यामलम् ॥

'आपस्तामपहतारं दातारं सर्वसम्बन्धाम् ।

लोकापिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम् ॥'

यह सम्पुटका मन्त्र है । इससे सम्पुटित पाठ करनेसे समस्त धन-कामनाओंकी मिद्धि होती है ।

फिर^२ निम्न प्रकारसे मङ्गलचरण करके पाठ आरम्भ करना चाहिये—

१ हृदयादि न्यासकी विधि यह है कि अनुष्टुप्भाष्यो नम के स्थानपर 'हृदय' नम कहकर पाँचों अङ्गुलियोंसे हृदयकी स्पर्श किया जाय । 'तर्जनीष्यो नम' के स्थानपर 'शिरसि स्वेता' कहकर मिरका अग्रभाग छुआ जाय । मध्यमाष्यो नम के स्थानपर 'शिखायै वीषट्' कहकर शिखाकी स्पर्श किया जाय । अनामिकाष्यो नम के बदले 'कक्षाय हुम्' कहकर दाहिने हाथसे जाय कंधे तथा बायें हाथसे दाहिने कंधेकी स्पर्श करे । 'कर्निष्ठिकाष्यो नम' के बदले 'नवप्रदाय वीषट्' कहकर नेत्रोंकी स्पर्श कर तथा 'कर्तलकरपुष्पाष्यो नमः' के बदले 'अस्त्राय फट्' कहकर तीन बार ताली बजाय ।

२ 'बृहद्दर्मपुराण'के अनुसार रामायणके पाठयणके पहले रामायणकवचकी भी पाठ कर लेना चाहिये । वह मङ्गलचरणके पहले होना चाहिये । वह ये कम प्रथम दिन इसका पाठ ना कर ही लेना चाहिये । कवच इस प्रकार है—

ॐ नमोऽष्टादशत्त्वरूपाय रामायणाय महामन्त्रमहाराय ॥ मित्रादेति मूलं दिग्दशानु । अनुक्रमणिकाकोऽपि मुखमन्त्रम् । अथ

गणपतिका ध्यान

शुक्लाम्बरधरं देवं शशिचर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत् सर्वविघ्नोपशान्तये ॥
वागीशान्नामं सुमनसं सर्वार्थनाम्पकमे
प नत्वा कृतकृत्याः सुखं नमामि गजाननम् ॥

गुप्तकी वन्दना

गुप्तब्रह्मा गुरुविष्णोर्गुर्देवो महेश्वरः ।
गुप्तः साक्षात् परं ब्रह्म तस्यै श्रीगुरवे नमः ॥
अखण्डमण्डलमकारं व्याप्तं येन सराधरम् ।
तत्पदे दर्शितं येन तस्यै श्रीगुरवे नमः ॥

सरस्वतीका स्मरण

शेधिर्युक्ता चतुर्भि स्फटिकमणिमयीमक्षमालां दधाना
हृत्तेजैकेन परं सितधपि च शुक्लं पुस्तकं चाधरेण ।
भासा कुन्देन्दुशङ्खस्फटिकमणिनिभा भासमानासमाना
सा मे आन्देवतेये निवसतु कृते सर्वदा सुप्रसन्ना ॥

वाल्मीकिजीकी वन्दना

कृजन्तं राम रामेति मधुरं मधुगन्धरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिं कविकिलम् ॥
यः पिबन् सततं रामचरितामृतमागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनि वन्दे श्रद्धेतनमकल्पयम् ॥

हनुमान्जीको नमस्कार

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम् ।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽर्जुनलाभजम् ॥
अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशैकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयह्वरम् ॥

उत्तमूढसिन्धोः सलिले सलीले
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।

आदाय तेनैव ददाह लङ्कुरं
नमामि तं ब्राह्मणराजनेयम् ॥

आञ्जनेधृतिपाटलानने

काञ्चनाढिकपर्णयविग्रहम्

प्राणिजातसमुत्पत्तवासिनं

भावयामि

पद्मपाननन्दनम् ॥

यत्र

यत्र

रघुनाथकीर्तनं

तत्र

तत्र

कृतमस्तकाञ्जलिम् ।

आध्यवासिपरिपूर्णलोचनं

मासुतिं

नयनं

राक्षसान्तकम् ॥

मनोजवं

मास्तनुत्यवेगं

जितेन्द्रियं

बुद्धिभक्तं

धरिहम् ।

सानरपृथग्मुखं

श्रीरामदूतं

शिरसा

नमामि ॥

श्रीरामके ध्यानका क्रम

वेदेहीमहिते सुहृदमन्त्रे हृमे महामण्डपे
मध्ये धुष्यकपासने धणिमये वीरासने संस्थितम् ।
अग्ने वासयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यानं भरतादिभिः धरिहृतं रामे भजे श्यामलम् ॥
वामे धूमिसुता पुरस्तु हनुमान् पश्चात् सुमित्रासुतः
शत्रुघ्नो भरतश्च वायुर्दलयोर्वाय्वादिकां पोषुः ॥
सुग्रीवश्च विभीषणश्च युवराट् तारासुतो जाम्बवान्
मध्ये नौलसरोजकोपलरुचिं रामे भजे श्यामलम् ॥

श्रीरामपरिकरको नमस्कार

रामं रामानुजं सीतां भरतं भरतानुजम् ।
सुग्रीवं वायुसुनुं च प्रणमामि पुनः पुनः ॥
नमोऽस्तु रामाय सलक्ष्मणाय देव्यै च तस्यै जनकात्मजायै ।
नमोऽस्तु लक्ष्मणाय निलेभ्यो नमोऽस्तु चन्द्रार्कमरूढेभ्यः ॥

रामायणको नमस्कार

चरितं रघुनाथस्य कृतकोटिप्रविस्तरम् ।
एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम् ॥
वाल्मीकिगिरिमिच्छुना रामायोनिधिसंगता ।
श्रीमद्भारतीयणी गङ्गा पुनाति भुवनत्रयम् ॥
वाल्मीकेर्पुनिमिहस्य कवितावनकारिणः ।
मृण्वन् रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥

पाठ आरम्भ करनेके बाद अध्यायके बीचमें रुकना नहीं चाहिये रुक जानेपर फिर उसी अध्यायको आरम्भसे पढ़ना चाहिये मध्यम स्वरमें स्पष्ट उच्चारण करते हुए श्रद्धा तथा प्रयत्नसे पाठ करना चाहिये । गीत गाकर, सिर हिलाकर, जम्दवाजोंसे तथा बिना अर्थ समझे पाठ करना ठीक नहीं है । संध्या-समय निम्नलिखित स्थलोंपर प्रतिदिन विश्राम करने जाना चाहिये ।

भङ्गापांश्यानिर्गुर्जिह्वायन् जानकीं तथा नृपयन्त्रं ज्वन् गन्धम् कन्दर्वाञ्जलिं देवतां इन्द्रयमवन् । सीतालक्ष्मणानुरागमश्रीरामतर्पणी प्रमाणी
तदुत्तमवन् भगवद्भक्ति उत्तिगवन् स मध्यमम् इत्तिमान् धर्मं पुनीतं पावनं मकारं रक्षन् । भारीधवचने प्रतिगलनामन्त्रं पादौ
नृप्रात्ममैत्रमर्थोऽवन्तु स्तनी । निणयो हनुपकृष्टवन्तु कङ्क कर्त्तं मन्मन्त्रैश्चन्द्रावन्तु स्वर्ग्यै । प्रथाञ्जने विभीषणगान्ध्या श्रीवा समवन्तु
गवणवधं स्वरूपमवन्तु कर्णौ । सीताङ्कुरां लक्ष्मणमवन्तु कर्मिके अमोघमन्त्रव संमन्त्रोऽवन्तु जावात्पानम् । नय करललक्ष्मणसंसाधोऽवन्तु
भाषिम् आचरणार्थे श्रीरामादिधर्म मवाङ्ग मवावन् इति रामायणकवचम्

(बृहद्वर्णपुराणम्, पूर्वखण्डम् २५ वा अध्याय)

प्रथम दिन	अयोध्याकाण्डके	६ वे	सर्गके समाप्तिपर प्रथम विग्रह
द्वितीय ..	"	८० वे	" " द्वितीय
तृतीय ..	अरण्यकाण्डके	२० वे	" " तृतीय
चतुर्थ ..	किष्किन्ध्याकाण्डके	४६ वे	" " चतुर्थ
पञ्चम	सुन्दरकाण्डके	४७ वे	पञ्चम
षष्ठ	युद्धकाण्डके	५८ वे	षष्ठ
सातम ..	"	९९ वे	सातम
अष्टम ..	उत्तरकाण्ड	३६ वे	अष्टम
नवम ..	"		

अन्तिम सर्गके बाद पुनः युद्ध-काण्डका अन्तिम सर्ग पढ़कर विश्राम करना चाहिये ।^१

इसके अन्य भी विश्रामस्थल हैं । एक पारायण-क्रम ऐसा भी है, जिसमें उत्तरकाण्डका पाठ नहीं किया जाना । उसके विश्रामस्थल क्रमशः इस प्रकार हैं—

प्रथम दिवस	अयोध्याकाण्डके	७० वे	सर्गके समाप्तिपर
द्वितीय ..	अयोध्याकाण्डके	६० वे	
तृतीय	"	११० वे	
चतुर्थ ..	अरण्यकाण्डके	६८ वे	
पञ्चम	किष्किन्ध्याकाण्डके	१९ वे	
षष्ठ	सुन्दरकाण्डके	५९ वे	
सातम	युद्धकाण्डके	५० वे	
अष्टम ..	"	१११ वे	
नवम	"	१३१ वे	

प्रतिदिन कथा-समाप्तिके समय निम्नांकित श्लोकोंके द्वारा महलाशासन करके पारायण पूरा करे ।

स्वस्ति प्रजाप्यः परिपालयतां
न्यायेन भार्गेज महीं महीशा ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥
काले वर्धतु धर्जन्यः पृथिवी सस्पजालिनी ।
देशोज्यं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्धयाः ॥
अपुत्राः पुत्रिणः सन्तु पुत्रिणः सन्तु पुत्रिणः ।
अधनाः सधनाः सन्तु जीवन्तु शतदां शतम् ॥

स्वस्ति रघुनाथस्य अतकोटिप्रविस्तरम् ।
एकैकमक्षरं प्रोक्तं महापातकनाशनम् ॥
शृण्वन् रामायणं ध्वज्या यः पार्श्वं यद्मेव वा ।
स याति ब्रह्मणः स्थानं ब्रह्मणा पूज्यते सदा ॥
रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेदसे ।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पत्नये नमः ॥
यन्मङ्गलं सहस्राक्षे सर्वदेवनमस्कृते ।
पुत्रनाम्ने समभवत् तत् ते भवतु मङ्गलम् ॥
यन्मङ्गलं सुपर्णस्य विनताकल्पयत् पुरा ।
अमृतं प्रार्थयानस्य तत् ते भवतु मङ्गलम् ॥
मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणात्मने ।
चक्रवर्तितनूजाय सावर्धमाय मङ्गलम् ॥
अमृतोत्पादने दैत्यान् ध्रुतो यज्ञधरस्य यत् ।
अदितिर्मङ्गलं प्रादात् तत् ते भवतु मङ्गलम् ॥
त्रीन् धिक्कमान् प्रक्रमतो विष्णोरमिततेजसः ।
यदासीधमङ्गलं राम तत् ते भवतु मङ्गलम् ॥
ऋषयः सागरा द्वीपा वेदा लोका दिशश्च ते ।
पङ्क्तानि महाबाहो दिशन्तु तव सर्वदा ॥
कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
शुद्धयाऽऽत्मना वा प्रकृतिस्वभावात् ।
करोमि यद् यत् सकलं परस्मै
भारवजायेति समर्थये तत् ॥

अलग-अलग काण्डोंके सक्रम^२ पाठका ऋष्यादिन्यास इस प्रकार है—

बालकाण्डका विनियोग

ॐ अस्य श्रीबालकाण्डमहाप्रथमोऽध्यायः । अनुष्टुप् छन्दः । दाशरथिः परमात्म्या देवता । श्री बीजम् । नमः शक्तिः । रामायेति कौलकम् । श्रीरामप्रीत्यर्थं बालकाण्डपारायणे विनियोगः ।

ऋष्यादिन्यास

ॐ ऋषयभ्युत्तरये नमः शिरसि । ॐ अनुष्टुप्छन्दसे नमः मुले । ॐ दाशरथिपरमात्मदेवतायै नमः बुद्धि । ॐ श्री बीजाय नमः शुद्धे । ॐ नमः शक्तये नमः पादयोः । ॐ रामाय

१ प्रथमं तु अयोध्याया पट्सर्गान्ते शुभा स्थितिः । तस्यैवाशान्तिमर्गान्ते द्वितीये दिवसे स्थितिः ॥ तथा विदातिमर्गान्ते चरण्यस्य तृतीयके । दिने चतुर्थे पट्चत्वारिंशत्सर्गे कथास्थितिः ॥ किष्किन्ध्यास्यस्य काण्डस्य पादोर्वाट्स्तराहता । मुभमचन्द्रार्चनान्ते सर्गान्ते सुन्दरस्थितिम् ॥ पञ्चमे दिवसे कुर्यादथ षष्ठे तथाच्यते । युद्धकाण्डस्य पञ्चदशसर्गान्ते विमला स्थितिः ॥ एकोनशतमख्याके सर्गान्तं सप्तमं दिने । युद्धस्यैव तु काण्डस्य विश्राम-सम्प्रकीर्तितः ॥ तथा चोत्तरकाण्डस्य पट्त्रिंशत्सर्गमूर्ध्नि । अष्टमे दिवसे कृत्वा स्थितिं च नवमे दिने ॥ अथ सभाय युद्धस्य चान्तं सर्गं पुनः पठेत् । रामराज्यकथां यमिन् सर्ववाञ्छितदायिनी । एवं पाठक्रमः पूर्वैरुक्तार्थैश्च विनिर्मितः ।

(अनुष्ठानप्रकाशः)

२ चतुर्दशमूर्ध्नि अलग अलग काण्डोंके पाठके प्रयोजन इस प्रकार चतुर्दशमे अंगे है—

कीलकाय नमः सर्वाङ्ग ।

करन्यास

ॐ सुप्रसन्नप अङ्गुष्ठाभ्यां नमः । ॐ शान्तमनसे तर्जनीभ्यां नमः । ॐ तत्त्वसन्धाय मध्यमाभ्यां नमः । ॐ जितेन्द्रियाय अनामिकाभ्यां नमः । ॐ धर्मज्ञाय मध्याक्षराय कनिष्ठिकाभ्यां नमः । ॐ राज्ञे दशरथ्ये जघिने करतलकरपुष्पाभ्यां नमः ।

इन्हीं मन्त्रोंसे पूर्वाक्त प्रकारसे इत्यादि न्यास कर निम्न प्रकारसे ध्यान करे—

श्रीराममाभिनजनापरधूसरश-

मानन्दशुद्धमखिलापरकन्दिकाङ्गिम् ।

सीताङ्गनामुधिलिले सतले सुमित्रा-

पुत्रान्विते धूमधनुःशरमाद्रिदेवम् ॥

ॐ सुप्रसन्नः शान्तमनः सत्यसंधो जितेन्द्रियः ।

धर्मज्ञो नयसाङ्गो राजा दशरथिर्जयी ॥

इस मन्त्रसे श्रीरामकी पूजा करे और इससे अथवा श्रीराममन्त्रसे सम्पुटित कर बालकाण्डका पाठ करे । इससे महेशान्ति, ईति भीति-हान्ति तथा पुत्रप्राप्ति सम्भव है ।

अयोध्याकाण्डका विनियोग तथा ऋष्यादिन्यास

ॐ अस्य श्रीअयोध्याकाण्डमहापञ्चस्य भगवान् ऋषिः । अनुष्टुप् छन्दः । भरतो दशरथिः परमात्मा देवता । ई बीजम् । नमः शक्तिः । भरतायति कीलकम् । मय भरतप्रसाद-सिद्धधर्ममयोध्याकाण्डपारायणे विनियोगः । ॐ ऋषिः ऋषये नमः शिरसि । ॐ अनुष्टुप्छन्दसे नमः मुखे । ॐ दशरथपरत-परमात्मदेवतायै नमः हृदि । ॐ ई बीजाय नमः गुह्ये । ॐ नमः शक्तये नमः पादयोः । ॐ भरताय कीलकाय नमः सर्वाङ्ग ।

करन्यास

ॐ भरताय नमस्तस्मै—अङ्गुष्ठाभ्यां नमः । ॐ सारजाय तर्जनीभ्यां नमः । ॐ महात्मने मध्यमाभ्यां नमः । ॐ तापसाय अनामिकाभ्यां नमः । ॐ अनिशान्ताय कनिष्ठिकाभ्यां नमः । ॐ शत्रुघ्नसहिताय च करतलकरपुष्पाभ्यां नमः ।

फिर इसी प्रकार इत्यादिका भी न्यास करक निम्नलिखित पंक्तिकानुसार ध्यान करना चाहिये—

श्रीरामपादद्वयपादुकान्तसंसर्गविने कमलायनाक्षम् ।
इयामे प्रसन्नवदनं कमलावदानशत्रुघ्नयुक्तपनिशं धरते नमामि ॥

भरताय नमस्तस्मै सारजाय महात्मने ।

तापसायानिशान्ताय शत्रुघ्नसहिताय च ॥

इस मन्त्रसे पञ्चोपचारद्वारा भरतजीको पूजा करे चाहे तो इसी मन्त्रसे लक्ष्मी-प्राप्तिकी इच्छासे अयोध्याकाण्डका सम्पुटित पाठ करे ।

अरण्यकाण्डका विनियोग एवं ऋष्यादिन्यास

ॐ अस्य श्रीअरण्यकाण्डमहापञ्चस्य भगवान् ऋषिः । अनुष्टुप् छन्दः । श्रीगणो दशरथिः परमात्मा महेन्द्रो देवता । ई बीजम् । नमः शक्तिः । इन्द्रायति कीलकम् । इन्द्रप्रसादसिद्धधर्म अरण्यकाण्डपारायणे मये विनियोगः । ॐ भगवदुपये नमः शिरसि । ॐ अनुष्टुप्छन्दसे नमः मुखे । ॐ दशरथश्रीराम-परमात्ममहेन्द्रदेवतायै नमः हृदि । ॐ ई बीजाय नमः गुह्ये । ॐ नमः शक्तये नमः पादयोः । ॐ इन्द्राय कीलकाय नमः सर्वाङ्ग ।

करन्यास

ॐ सहस्रनयनाय अङ्गुष्ठाभ्यां नमः । ॐ देवाय तर्जनीभ्यां नमः । ॐ सर्वदेवनमस्कृताय मध्यमाभ्यां नमः । ॐ दिव्यवज्र-धराय अनामिकाभ्यां नमः । ॐ महेन्द्राय कनिष्ठिकाभ्यां नमः । ॐ शचीपत्ये करतलकरपुष्पाभ्यां नमः ।

इन्हीं मन्त्रोंसे इत्यादिन्यास करके इस श्लोकसे ध्यान करना चाहिये ।

शचीपति सर्वसुरेश्वर्यो मर्वानिहर्तारमस्मिन्त्यशक्तिम् ।
श्रीरामसेवानिरतं महान्तं वन्दे महेन्द्रं धृतवज्रमाङ्गम् ॥

फिर—

सहस्रनयनं देवं सर्वदेवनमस्कृतम् ।

दिव्यवज्रधरं वन्दे महेन्द्रं च शचीपतिम् ॥

इस मन्त्रसे इन्द्रकी पूजा करे और यह इन्द्र-प्राप्ति आदिको कामनासे इसीसे सम्पुटित कर पाठ करे ।

किष्किन्ध्याकाण्डका ऋष्यादिन्यास

ॐ अस्य श्रीकिष्किन्ध्याकाण्डमहापञ्चस्य भगवान् ऋषिः । अनुष्टुप् छन्दः । सुग्रीवो देवता । सु बीजम् । नमः शक्तिः । सुग्रीवति कीलकम् । मय सुग्रीवप्रसादसिद्धधर्म किष्किन्ध्या-काण्डपारायणे विनियोगः । ॐ भगवदुपये नमः शिरसि । ॐ अनुष्टुप्छन्दसे नमः मुखे । ॐ सुग्रीवदेवतायै नमः हृदये ।

अनावृष्टिर्महापद्महयोद्वाप्रयोद्दिता

। आदिकाण्डं पठेयुर्दे दे मुख्यो ततो भयात् ॥

पुत्रजन्मविवाहादौ गुरुदशं एव च । पठेत्तु भूषणार्थे द्वितीयं काण्डमुत्तमम् ॥

कने राजकुले बर्हिजलगीडायुक्ते नर । पठेदरण्यकं काण्डं भूष्याद् वा स भक्त्यै ॥

मित्रलाभे मथ नष्टव्यस्य च गवेषणे । भूवा पठित्वा कैःकन्यै कण्ठं तन् फलं लभत् ॥

श्राद्धं दत्तकार्थं पठेत् सुन्दरकाण्डकम् । राजर्षे समुत्साहे जनार्दने विगर्हिते ॥

लङ्काकाण्डं पठेत् किं वा भूषणार्थं स मुक्ती भवेत् ।

यः पठेच्छत्रुयाद् वापि काण्डमभ्युदयोत्तरम् । अजन्तकं च कन्यां च जयौ परताऽत्र च ॥

प्राकार्यो लभते मक्ष भक्त्यर्थो भक्तिमय च ज्ञानार्थो लभते ज्ञाने ब्रह्मत्वोपलब्धकम् ॥

(बृहद्भागवत पूर्वखण्ड अध्याय २६ १९—२५)

ॐ सुं बीजाय नमः गुह्ये । ॐ नमः शक्तये नमः पादयोः । ॐ
सुग्रीवाय कौलकाय नमः सर्वाङ्गे ।

करन्यास

ॐ सूर्यावाय अङ्गुष्ठाभ्यां नमः । ॐ सूर्यतनयाय तर्जनीभ्यां
नमः । ॐ सर्वदानरपुङ्गवाय मध्यमाभ्यां नमः । ॐ बलवान्
अनामिकाभ्यां नमः । ॐ राघवसखाय कनिष्ठिकाभ्यां नमः । ॐ
वशी राज्य प्रपञ्चन् इति करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः ।

इन्हीं मन्त्रोंसे हृदयादिन्यास करके इस प्रकार ध्यान
करे—

सुग्रीवमर्कतनयं कपिलयदन्ध-
मारोपिताभ्युतपदाभ्युपमाक्षरेण ।
धाणिप्रहारकुशलं बलपौम्बाक्ष-
माशास्यदास्थनिपुणं हृदि भावयामि ॥

फिर सु सुग्रीवाय नमः तथा—

सुग्रीवः सूर्यतनयः सर्वदानरपुङ्गवः ।
बलवान् राघवसखा वशी राज्य प्रपञ्चन् ॥

इस मन्त्रसे सुग्रीवकी पूजाकर—चाहे तो इसी उल्लेखसे
किष्किन्धाकाण्डका सम्पुटित पाठ करे ।

सुन्दरकाण्डका विनियोग एवं ऋष्यादिन्यास

ॐ अस्य श्रीमत्सुन्दरकाण्डमहापञ्चस्य धगवान् हनुमान्
शशिः अनुष्टुप् छन्दः । श्रीजगन्माता सीता देवता । श्री बीजम् ।
स्वाहा शक्तिः । सीतायै कौलकम् । सीताप्रसादसिद्धयर्थं
सुन्दरकाण्डपारायणे विनियोगः । ॐ धगवदनुमन्तुवये नमः
शिरसि । अनुष्टुप् छन्दसे नमः सुरे । श्रीजगन्मातासीतादेवतार्थं
नमः हृदि । श्री बीजाय नमः गुह्ये । स्वाहा शक्तये नमः पादयोः ।
सीतायै कौलकाय नमः सर्वाङ्गे ।

करन्यास

ॐ सीतायै अङ्गुष्ठाभ्यां नमः । ॐ विदेहराजसुतायै तर्जनीभ्यां
नमः । रामसुन्दर्यै मध्यमाभ्यां नमः । हनुमता सयाभिनायै
अनामिकाभ्यां नमः । ॐ धूमिसुतायै कनिष्ठिकाभ्यां नमः । ॐ
शरणं धजे करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः ।

फिर इन्हीं मन्त्रोंसे हृदयादिन्यास करके इस प्रकार ध्यान
करे—

सीतायुदाम्बरगिता विधिसाम्पादिक्यु-
बन्धा त्रिलोकजननीं शतकरपकल्लरीम् ।
हेमरनेकमणिरञ्जितकोटिभारी-

पूजाकथैरनुदिनं सहितो नमामि ॥

सुन्दरकाण्डके पाठकी विशेष विधि है कि प्रतिदिन
एकांतरवृत्तिसे क्रमशः एक-एक सर्ग पाठ बढ़ाते हुए ग्यारहवें
दिन पाठ समाप्त कर दे । १२ वें दिन अर्वाशिष्ट दो सर्गों
साथ आरम्भके १० सर्ग पढ़े जायें, १३ वें दिन ११ से २३
तक इस तरह तान आवृत्तिके पाठसे समस्त कार्यकी सिद्धि
होती है । दूसरा क्रम है—प्रतिदिन ५ अध्याय पाठका ।
इसमें भी पूर्वकी धाँति १४ वें दिन अन्तके ३ तथा प्रारम्भके
दो सर्गका पाठ करे । सम्पुट पाठका मन्त्र है—'श्रीसीतायै
नमः १' ॥

लङ्काकाण्डका विनियोग एवं ऋष्यादिन्यास

ॐ अस्य श्रीपुष्पकाण्डमहापञ्चस्य विधीयता शशिः ।
अनुष्टुप् छन्दः । विधाता देवता । वं बीजम् । नमः शक्तिः ।
विधातेति कौलकम् । श्रीधातुप्रसादसिद्धयर्थं पुष्पकाण्डपारायणे
विनियोगः । ॐ विधीयताशक्तये नमः शिरसि । ॐ अनुष्टुप्-
छन्दसे नमः सुरे । ॐ विधातुदेवतार्थं नमः हृदि । ॐ वं
बीजाय नमः गुह्ये । ॐ नमः शक्तये नमः पादयोः । ॐ
विधातेति कौलकाय नमः सर्वाङ्गे ।

करन्यास

ॐ विधात्र नमः अङ्गुष्ठाभ्यां नमः । ॐ महादेवाय तर्जनीभ्यां
नमः । ॐ भक्तानामधयप्रदाय मध्यमाभ्यां नमः । ॐ
सर्वदेवप्रीतिकराय अनामिकाभ्यां नमः । ॐ धगवत्प्रियाय
कनिष्ठिकाभ्यां नमः । ॐ ईश्वराय करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः ।

फिर इन्हीं मन्त्रोंसे हृदयादिन्यास करके इस प्रकार ध्यान
करना चाहिये—

देवं विधानात्मनमकीर्तय भक्ताभ्यं श्रीपरमादिदेवम् ।
सर्वामरप्रीतिकरं प्रशान्तं चन्दे सदा भूतपति सुभूतिम् ॥

फिर—

विधानारे महादेवं भक्तानामधयप्रदम् ।
सर्वदेवप्रीतिकरं धगवत्प्रियायमीश्वरम् ॥

इस मन्त्रसे पञ्चोपचारद्वारा पूजाकर चाहे तो इसी मन्त्रसे
सम्पुटित पाठ करे । इससे शत्रुपर विजय प्राप्त होती एवं
अप्रतिष्ठा नष्ट होती है ।

पुनर्वसुसे प्रारम्भ कर आर्द्रातक २७ दिनोंमें भी पूर्ण
रामायण पाठकी विधि है । ४० दिनोंका भी एक पारायण
होता है । नवरात्रमें भी इसके नवाङ्कपाठका नियम है ।

• राममद्र महेशास एधुर्वोर नृपेत्तम । भी दशस्यान्तकास्माकं रक्षां देहि श्रियं च ते ।

इस मन्त्रके सम्पुटसे सुन्दरकाण्डका पाठ भी किया जा सकता है ।

श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणमाहात्म्यम्



प्रथमोऽध्यायः

कलियुगकी स्थिति, कलिकालके मनुष्योंके उद्धारका उपाय, रामायणपाठ, उसकी महिमा, उसके श्रवणके लिये उत्तम काल आदिका वर्णन

श्रीरामः शरणं समस्तजगतां
रामं विना का गती
रामेण प्रतिहन्यते कलिमलं
रामाय कार्य नमः ।
रामात् प्रपद्यते कालभीमभुजगो
रामस्य सर्वं वशं
रामे भक्तिरखण्डिता भवतु मे
राम त्वमेवाश्रयः * ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्रजी समस्त संसारको शरण देनेवाले हैं। श्रीरामके बिना दुसरी कौन सी गति है। श्रीराम कलियुगके समस्त दोषोंको नष्ट कर देते हैं, अतः श्रीरामचन्द्रजीको नमस्कार करना चाहिये। श्रीराममें कालकृपा घटकर रूप भी उरक्त है। जगत्का सब कुछ भगवान् श्रीरामके वशमें है। श्रीराममें मेरी अखण्ड भक्ति बनी रहे। हे राम ! आप ही मेरे आधार हैं ॥ १ ॥

चित्रकूटालयं राममिन्दिरानन्दमन्दिरम् ।
वन्दे च परमानन्दं भक्तानामभयप्रदम् ॥ २ ॥

चित्रकूटमें निवास करनेवाले, भगवनों लक्ष्मी (सोता) के आनन्दनिकेतन और भक्तोंका अभय देनेवाले परमानन्द-स्वरूप भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको मैं नमस्कार करता हूँ । २

ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा यस्यांश लोकसाधकाः ।
नमामि तेषु चिद्रूपं विशुद्धं परमं भजे ॥ ३ ॥

सम्पूर्ण जगत्के अथोष्ट मनोरथोंको सिद्ध करनेवाले (अथवा सृष्टि, पालन एवं मोक्षके द्वारा जगत्का व्यावहारिक भक्तोंको सिद्ध करनेवाले) ब्रह्मा विष्णु और महेश्वर आदि देवता जिनके अभिन्न अंगमात्र हैं, उन परम विशुद्ध सच्चिदानन्दमय परमात्मदेव श्रीरामचन्द्रजीको मैं नमस्कार करता हूँ तथा उन्हींके भजन-व्रतनमें मन लगाता हूँ ॥ ३ ॥

ऋषय ऊचुः

भगवन् सर्वमाख्याते यत् पृष्ठं विदुषा त्वया ।
संसारपाशबद्धानां दुःखानि सुबहूनि च ॥ ४ ॥
ऋषियोने कहा—भगवन् ! आप विद्वान् हैं, ज्ञानी हैं। हमने जो कुछ पृष्ठ था, वह सब आपने हमें बलीभाँति बतलाया है। संसार-बन्धनमें बँधे हुए जीवोंके दुःख बहुत हैं ॥ ४ ॥

एतत्संसारपाशस्यच्छेदकः कतमः स्मृतः ।
कलौ वेदोक्तमार्गाश्च नश्यन्तीति त्वयोदिताः ॥ ५ ॥
इस संसारबन्धनको छेद करनेवाला कौन है ? आपने कहा है कि कलियुगमें वेदोक्त मार्ग नष्ट हो जायेंगे ॥ ५ ॥
अधर्मान्तरतानां च यातनाश्च प्रकीर्तिताः ।
घोरे कलियुगे प्राप्ते वेदमार्गबहिष्कृते ॥ ६ ॥
पाखण्डत्वं प्रसिद्धं च सर्वैश्च परिकीर्तितम् ।

अधर्मपरतण पुण्योक्ते प्राप्ते होनेवाली यातनाओंका भी आपने वर्णन किया है। घोर कलियुग आनेपर जब वेदोक्त मार्ग लुप्त हो जायेंगे, उस समय पाखण्ड फैल जायगा—यह खान प्रसिद्ध है। प्रायः सभी लोगोंने ऐसी बात कही है ॥ ६ ॥

कामार्ता ह्रस्वदेहाश्च लुब्धा अन्योन्यतत्पराः ॥ ७ ॥
कलौ सर्वं भविष्यन्ति स्वल्पायुर्बहुपुत्रकाः ।

कलियुगके सभी लोग कामवेदनासे पीड़ित, नाटे शरीरके और लोभी होंगे तथा धर्म और ईश्वरका आश्रय छोड़कर आपसमें एक-दूसरेपर ही निर्भर रहनेवाले होंगे। प्रायः सब लोग धाड़ी आयु और अधिक संतानवाले होंगे † ॥ ७ ॥

श्रियः स्वयंभूषणपरा वेद्याखरणतत्पराः ॥ ८ ॥
पतिवाक्यमनादृत्य सदान्यगृहतत्पराः ।
दुःशीलेषु करिष्यन्ति पुरुषेषु सदा स्पृहाम् ॥ ९ ॥

* इस उल्लेखमें सम्बोधनार्थक यद्यपि विधानेयम् राम इत्येकं रूप आ गम्य है ।

† किस्ती किस्ती प्रियं स्वल्पायुर्बहुपुत्रका च मन्त्रं मन्त्रनयनेर्बहुपुत्रा पाठ है। इसके अनुसार कलियुगमें प्रायः सब लोग धाड़ी आयु और अधिक संतानवाले होंगे यका अर्थ सम्बन्धना चाहिये ।

उस युगकी स्त्रियाँ अपने ही शरीरके पोषणमें तत्पर और खंयाआके समान आचरणमें प्रवृत्त होंगी। वे अपने पतिकी आज्ञाका अनादर करके सदा दूरसेके घर जाया-आया करेंगी। दुष्टचारी पुरुषोंसे मिलनेकी सदैव अभिलाषा करेंगी ॥ ८-९ ॥

असद्वर्त्ता भविष्यन्ति पुरुषेषु कुलाङ्गनाः ।

परुषानुतभाषिण्यो देहसस्कारवर्जिताः ॥ १० ॥

उनमें कुलकी स्त्रियाँ भी परपुरुषोंके निकट ओझसे बातें करनेवाली होंगी, कठोर और असत्य बोलेंगी तथा शरीरको शुद्ध और सुमस्कृत बनाये रखनेके सद्गुणोंसे वञ्चित होंगी ॥ १० ॥

वाद्यालाश्च भविष्यन्ति कर्त्ता प्रायेण योषितः ।

भिक्षवश्चापि मित्रादिस्नेहसम्बन्धयन्विताः ॥ ११ ॥

कालियुगमें अधिकांश स्त्रियाँ वाचाल (व्यर्थ चक्कास करनेवाली) होंगी। भिक्षामें जीवन-निर्वाह करनेवाली संन्यासी भी मित्र आदिके स्नेह-सम्बन्धमें बँधे रहनेवाली होंगी ॥ ११ ॥

अन्नोपाधिनिमित्तेन शिष्यान् वदन्ति लोलुपाः ।

उभाभ्यामपि पाणिभ्यां शिरःकण्ठद्वयेन स्त्रियः ॥ १२ ॥

कुर्वन्त्यो गृहभर्तृणामाज्ञां भेत्यस्वतन्त्रिताः ।

वे भोजनके लिये चिन्तित होनेके कारण लोभवश शिष्योंका संग्रह करेंगी। स्त्रियाँ दोनों हाथोंसे सिर खूजलानी हुई गृहपतिकी आज्ञाका जान बूझकर उल्लङ्घन करेंगी ॥ १२ ॥

पाखण्डालापनिरताः पाखण्डजनसङ्गिनः ॥ १३ ॥

यदा द्विजा भविष्यन्ति तदा वृद्धिं गतः कलिः ।

जब ब्राह्मण पाखण्डी लोगोंके साथ रहकर पाखण्डपूर्ण बातें करने लगे, तब जानना चाहिये कि कालियुग खूब बढ़ गया ॥ १३ ॥

घोरे कलियुगे ब्रह्मन् जनानां पापकर्मिणाम् ॥ १४ ॥

मनःशुद्धिविहीनानां निष्कृतिश्च कथं भवेत् ।

ब्रह्मन्! इस प्रकार घोर कलियुग आनेपर सदा पाप-परायण रहनेके कारण जिनका अन्न-करण शुद्ध नहीं हो सकेगा, उन लोगोंकी मुक्ति कैसे होगी? ॥ १४ ॥

यथा तुष्यति देवेशो देवदेवो जगद्गुरुः ॥ १५ ॥

नतो वदस्व सर्वज्ञ सुत धर्मभृतां धर ।

धर्मात्माओमे श्रेष्ठ सर्वज्ञ सूतजी! देवार्धदेव देवेश्वर जगद्गुरु भगवान् श्रीरामचन्द्रजी जिस प्रकार मनुष्ट्र हो, वह उपाय हमें बताइये ॥ १५ ॥

वद सूत मुनिश्रेष्ठ सर्वमेतदशेषतः ॥ १६ ॥

कस्य नो जायते तुष्टिः सूत त्वद्वचनामृतम् ॥ १७ ॥

मुनिश्रेष्ठ सूतजी! इन सारी बातोंपर आप पूर्णरूपसे प्रकाश डालिये। आपके वचनामृतका पान करनेसे किसीको संतोष नहीं होता है ॥ १६-१७ ॥

सूत उवाच

शृणुध्वमृषयः सर्वे यदिष्टं वो वदाम्यहम् ।

गीतं सनत्कुमाराय नारदेन महात्मना ॥ १८ ॥

रामायणं महाकाव्यं सर्ववेदेषु सम्पतम् ।

सर्वपापप्रशमनं दुष्टग्रहनिवारणम् ॥ १९ ॥

सूतजीने कहा—मानवरों! आप सब लोग सुनिये। आपको जो सुन्ना अर्थात् है, वह मैं बताता हूँ। महात्मा नारदजीने सनत्कुमारको जिस रामायण नामक महाकाव्यका गान सुनाया था, वह समस्त पापोंका नाश और दुष्ट ग्रहोंकी बाधाका निवारण करनेवाला है। यह सम्पूर्ण वदार्थाकी सम्पत्तिके अनुकूल है ॥ १८-१९ ॥

दुःस्वप्ननाशनं धन्यं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ।

रामचन्द्रकथोपेतं सर्वकल्याणसिद्धिदम् ॥ २० ॥

उससे समस्त दुःस्वप्नोंका नाश हो जाता है। यह धन्यवादके योग्य तथा भोग और मोक्षरूप फल प्रदान करनेवाला है। उसमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी लीला-कथाका वर्णन है। वह काव्य अपने पाठक और श्रोताओंके लिये समस्त कल्याणमयी सिद्धियाँ देनेवाला है ॥ २० ॥

धर्मार्थकाममोक्षाणां हेतुभूतं महाफलम् ।

अपूर्वं पुण्यफलदं शृणुध्वं सुसमाहिताः ॥ २१ ॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंका साधक है, महान् फल देनेवाला है। यह अपूर्व काव्य पुण्यमय फल प्रदान करनेको शक्ति रखता है। आपसंग एकत्रप्रचित होकर इसे श्रवण करें ॥ २१ ॥

महापातकयुक्तो वा युक्तो वा सर्वपातर्कः ।

श्रुत्वा तदाहं दिव्यं हि काव्यं शुद्धिमवाप्नुयान् ॥ २२ ॥

रामायणेन चतन्ते सुतरां ये जगद्धिताः ।

त एव कृतकृत्याश्च सर्वशास्त्रार्थकोविदाः ॥ २३ ॥

महान् पातकों अथवा सम्पूर्ण उपपातकासे युक्त मनुष्य भी उस कृपिप्रणीत दिव्य काव्यका श्रवण करनेसे शुद्धि (अथवा सिद्धि) प्राप्त कर लेता है। सम्पूर्ण जगत्के हित-साधनमें लगे रहनेवाले जो मनुष्य सदा रामायणके अनुसार वर्तित्व करते हैं, वे ही सम्पूर्ण शास्त्रोंके मर्मको समझनेवाले और कृतार्थ हैं ॥ २२-२३ ॥

धर्मार्थकाममोक्षाणां साधनं च द्विजोत्तमाः ।

श्रोतव्यं च सदा भवत्या रामायणपरापृतम् ॥ २४ ॥

विप्रवरों! रामायण धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका साधन तथा परम अमृत रूप है, अतः सदा भक्तिभावसे उसका श्रवण करना चाहिये ॥ २४ ॥

पुरार्जितानि पापानि नाशमायान्ति यस्य वै ।

रामायणे महाप्रीतिस्तस्य वै भवति ध्रुवम् ॥ २५ ॥

जिस मनुष्यके पूर्वजन्मोपरार्जित सारे पाप नष्ट हो जाते हैं, उन्हींका रामायणके प्रति अधिक प्रेम होता है। यह

नष्टेन कृत है ॥ २५ ॥

रामायणे वर्तमाने पापपाशेन यन्त्रितः ।

अनादृत्य असंशयासक्तबुद्धिः प्रवर्तते ॥ २६ ॥

जो पापके अन्धनमें जकड़ा हुआ है, वह रामायणकी कथा-
रम्य होनेपर उसकी अवहलना करके दूसरी-दूसरी
मनकल्पितो बातोंमें फँस जाता है। उन भ्रमद्रोहियों
अपना बुद्धिके आसक्त होनेके कारण वह नदनुरूप ही वर्तक
अन्य लगता है ॥ २६ ॥

रामायणं नाम परं तु काव्यं

सुपुण्यं वै शृणुत द्विजेन्द्राः ।

यस्मिञ्छ्रुते जन्मजरादिनाशे

मधत्यदोषः स भरोऽच्युतः स्यात् ॥ २७ ॥

इमलिये द्विजेन्द्रगण । आपसोंग रामायण नामक परम
महाराजक इन्म काव्यका श्रवण करें, जिसके सुननेमें जन्म,
मृता और मृत्युके मयका नाश हो जाता है तथा श्रवण
करनेवाले मनुष्य पाप-दोषसे रहित हो अच्युतस्वरूप हो
जाता है ॥ २७ ॥

वरं श्रेष्ठं वरदं तु काव्यं

संतारयन्माशु च सर्वलोकम् ।

मकल्पितार्थप्रदमादिकाव्यं

श्रुत्वा च रामस्य पदं प्रयाति ॥ २८ ॥

रामायण काव्य अत्यन्त उत्तम, वरणीय और मनोआश्रित
कर देनेवाला है। वह उत्तमका पाठ और श्रवण करनेवाले
समस्त जगत्को शीघ्र ही संसारसागरमें पार कर देता है। उस
अदिकाव्यको सुनकर मनुष्य श्रीरामचन्द्रजीके परमपदका
गम कर लेता है ॥ २८ ॥

ब्रह्मेशविष्णुशिवशरीरभेदे-

विंशं भुजत्यन्ति च पाति यश्च ।

तमादिदेवं परमं श्रेष्ठम्-

माधाय चैनस्युपयाति मुक्तिम् ॥ २९ ॥

जो ब्रह्मा, रुद्र और विष्णु नामक भिन्न-भिन्न रूप धारण
करके विश्वकी सृष्टि, संहार और पालन करते हैं, उन
आदिदेव परमान्कृत परमात्मा श्रीरामचन्द्रजीको अपने
मन्दिरमें स्थापित करके मनुष्य मोक्षका भागी होता है।

यो नामजात्यादिविकल्पहीनः

परावराणां परमः परः स्यात् ।

चदान्तवेद्यः स्वमत्वा प्रकाशः

स वीक्ष्यते सर्वपुराणवेदैः ॥ ३० ॥

जो नाम तथा जाति आदि विकल्पासे रहित,
कार्य-कारणसे परे सर्वान्कृत, चदान्त शाश्वत द्वारा
ज्ञाननेयोग्य एवं अपने ही प्रकाशसे प्रकाशित होनेवाला
परमात्मा है, उसका समस्त वेदों और पुराणोंके द्वारा
माहात्म्यकार होता है (इस रामायणके अनुशीलनसे भी उसीकी

प्राप्ति होती है) ॥ ३० ॥

ऊर्जे माधे सिते पक्षे चैत्रे च द्विजसत्तमाः ।

नवाह्ना खलु श्रोतव्यं रामायणकथाभूतम् ॥ ३१ ॥

विप्रवरे । कार्तिक, माघ और चैत्रमासके शुक्ल
पक्षमें नौ दिनोंमें रामायणकी अमृतमयी कथाको श्रवण
करना चाहिये ॥ ३१ ॥

इत्येवं शृणुयाद् यस्तु श्रीरामचरितं शुभम् ।

सर्वान् कापानवाप्नोति परत्रामुत्र चेतमान् ॥ ३२ ॥

जो इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीके मङ्गलमय चरित्रका श्रवण
करता है, वह इस लोक और परलोकमें भी अपनी समस्त
उत्तम कामनाओंको प्राप्त कर लेता है ॥ ३२ ॥

त्रिसप्तकुलसंयुक्तः सर्वपापविषर्जितः ।

प्रयाति रामभवनं यत्र गत्वा न शोचते ॥ ३३ ॥

वह सब पापोंसे मुक्त हो अपनी इच्छास पोट्टियोंके साथ
श्रीरामचन्द्रजीके उस परमधाममें चला जाता है, जहाँ जाकर
मनुष्यको कभी शोक नहीं करना पड़ता है ॥ ३३ ॥

चैत्रे माधे कार्तिके च सिते पक्षे च वाचयेत् ।

नवाहस्तु महापुण्यं श्रोतव्यं च प्रयत्नतः ॥ ३४ ॥

चैत्र माघ और कार्तिकके शुक्लपक्षमें परम पुण्यमय
रामायण-कथाका नवाह-पारायण करना चाहिये तथा नौ
दिनोंतक इसे प्रयत्नपूर्वक सुनना चाहिये ॥ ३४ ॥

रामायणमादिकाव्यं स्वर्गप्रेक्षप्रदायकम् ।

तस्माद् घोरे कलियुगे सर्वधर्मवह्निज्वले ॥ ३५ ॥

नवभिर्दिनैः श्रोतव्यं रामायणकथाभूतम् ।

रामायण आदिकाव्य है। यह स्वर्ग और मोक्ष देने-
वाला है, अतः सम्पूर्ण धर्मोंसे रहित घोर कलियुग आनेपर
नौ दिनोंमें रामायणकी अमृतमयी कथाको श्रवण करना
चाहिये ॥ ३५ ॥

रामनामपरा ये तु घोरे कलियुगे द्विजाः ॥ ३६ ॥

त एव कृतकृत्याश्च न कलिर्वाघते हि तान् ।

ब्राह्मणों ! जो लोग भयंकर कलिकालमें श्रीराम-नामका
आश्रय लेते हैं, वे ही कृतार्थ होते हैं। कलियुग उन्हें बाधा
नहीं पहुँचाता ॥ ३६ ॥

कथा रामायणस्यापि नित्यं भवति यद्गुहे ॥ ३७ ॥

तद् गृहं तीर्थरूपं हि दुष्टानां पापनाशनम् ।

जिस घरमें प्रतिदिन रामायणकी कथा होती है, वह
तीर्थरूप हो जाता है। वहाँ जाके दुष्टोंके पापोंका नाश
होता है ॥ ३७ ॥

तावत्पापानि देहेऽस्मिन् निवसन्ति तपोधनाः ॥ ३८ ॥

यावन्न श्रूयते सम्यक् श्रीमद्रामायणं नरैः ।

तपोधनों ! इस शरीरमें तपोनिक पाप रहते हैं, जब-
तक मनुष्य श्रीरामायणकथाका धनीभूति श्रवण नहीं
करता ॥ ३८ ॥

दुर्लभैव कथा लोके श्रीपद्माम्बणोद्भवा ॥ ३९ ॥
कौटिल्यमसमुत्थेन पुण्येनैव तु लभ्यते ।

संसारमें श्रीरामायणकी कथा परम दुर्लभ ही है। जब कौटिल्य जन्मोंके पुण्योंका उदय होता है तभी उसकी प्राप्ति होती है ॥ ३९ ॥

ऊर्जे पाधे सिते पक्षे ध्वजे च द्विजस्तमा ॥ ४० ॥
यस्य श्रवणमात्रेण सौदासोऽपि विमोचितः ।

श्रेष्ठ ब्राह्मणों! कार्तिक, माघ और चैत्रके शुक्ल पक्षमें रामायणके श्रवणमात्रसे (राक्षसमावापन) सौदास भी शापमुक्त हो गये थे ॥ ४० ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे उत्तरखण्डे नारदसनत्कुमारसंवादे रामायणमाहात्म्ये कल्पानुकीर्तनं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥
इस प्रकार श्रीस्कन्दपुराणके उत्तरखण्डमें नारद-सनत्कुमार-संवादके अन्तर्गत रामायणमाहात्म्याविषयक कल्पका अनुकीर्तन नामक प्रथम अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

नारद-सनत्कुमार-संवाद, सुदास या सोमदत्त नामक ब्राह्मणको राक्षसत्वकी प्राप्ति तथा रामायण-कथा-श्रवणद्वारा उससे उद्धार

अथ कथु

कथं सनत्कुमाराय देवर्षिनारदो मुनिः ।
प्रोक्तवान् सकलान् धर्मान् कथं नो मिलितवुर्भौ ॥ १ ॥
कस्मिन् क्षेत्रे स्थितौ तात तावुर्भौ ब्रह्मवादिनौ ।
यदुक्तं नारदेनास्मै तत् त्वं ब्रूहि महामुने ॥ २ ॥

अर्षियोने पूछा—महामुने! देवर्षि नारदमुनिने सनत्कुमारजीसे रामायणसम्बन्धी सम्पूर्ण धर्माका किस प्रकार वर्णन किया था? इन दोनों ब्राह्मणादी महात्माओंका किस क्षेत्रमें मिलन हुआ था? तात! वे दोनों कहाँ ठहरे थे / नारदजीने उनसे जो कुछ कहा था वह सब आप हमलोगोंको बताइये ॥ १-२ ॥

सुत उवाच

सनकाद्या महात्मानो ब्रह्मणस्तनयाः स्मृताः ।
निर्धमा निरहंकाराः सर्वे ते ह्यूर्ध्वरतसः ॥ ३ ॥

सुतजीने कहा—मुनिधर्मो! सनकादि महात्म्य भगवान् ब्रह्मणोंके पुत्र मान गये हैं। उनमें ममता और अहंकारका तो नाम भी नहीं है। वे सब-कु-सब ऊर्ध्वरता (नैष्ठिक ब्रह्मचारी) हैं ॥ ३ ॥

तेषां नामानि वक्ष्यामि सनकश्च सनन्दनः ।
सनत्कुमारश्च तथा सनातन इति स्मृतः ॥ ४ ॥

मैं आपलोगोंसे उनका नाम बताता हूँ, मुनिये। सनक, सनन्दन, सनत्कुमार और सनातन—ये चारों सनकादि माने गये हैं ॥ ४ ॥

गातमशापनः प्राप्त, सौदासो राक्षसी तनुम् ॥ ४१ ॥
रामायणप्रभावेण विमुक्तिं प्राप्तवान् पुनः ।

मर्त्यामने महर्षि गौतमके शापसे राक्षस-शरीर प्राप्त किया था। वे रामायणके प्रभावसे ही पुनः उस शापसे छुटकारा पा सके थे ॥ ४१ ॥

यस्यैतच्छृणुयाद् भक्त्या रामभक्तिपरायणः ॥ ४२ ॥
स मुच्यते महापार्यः पुरुषः पातकादिभिः ॥ ४३ ॥

जो पुरुष श्रीरामचन्द्रजीका भक्तिका आश्रय ले प्रेमपूर्वक इस कथाका श्रवण करेगा, वह बड़े बड़े पापों तथा पातक आदिसे मुक्त हो जाता है ॥ ४२-४३ ॥

विष्णुभक्ता महात्मानो ब्रह्मध्यानपरायणाः ।

सहस्रसूर्यसंकाशाः सत्यवन्तो मुमुक्षवः ॥ ५ ॥
वे भगवान् विष्णुके भक्त और महात्मा हैं। महा ब्रह्मके चिन्तनमें लगे रहते हैं। बड़े सत्यवादी हैं। सहस्रों सूर्यके समान तेजस्वी एवं मोक्षके अभिलाषी हैं ॥ ५ ॥

एकदा ब्रह्मणः पुत्राः सनकाद्या महाजसः ।
मेरुभुजं सपाजमुर्वीक्षितुं ब्रह्मणः सभाम् ॥ ६ ॥
एक दिन वे महातेजस्वी ब्रह्मपुत्र सनकादि ब्रह्मणोंकी सभा देखनके लिये मेरु पर्वतके शिखरपर गये ॥ ६ ॥

तत्र गङ्गा महापुण्यां विष्णुपादोद्भवां नदीम् ।
निरीक्ष्य स्नानमुद्युक्ताः सीतारव्यां प्रथितौजसः ॥ ७ ॥

वहाँ भगवान् विष्णुके चरणोंसे प्रकट हुई परम पुण्यमयी गङ्गानदी, जिन्हें सीता भी कहते हैं, बह रही थी। उनका दर्शन करके वे तेजस्वी महत्मा उनके जलमें स्नान करनेको उद्यत हुए ॥ ७ ॥

एतस्मिन्नन्तरे विप्रा देवर्षिनारदो मुनिः ।
आजगापोष्ठरन् नाम हरेर्नारायणादिकम् ॥ ८ ॥

ब्राह्मणों! इनमेंमें ही देवर्षि नारदमुनि भगवान्के नारायण आदि नामोंका उच्चारण करते हुए वहाँ आ पहुँचे ॥ ८ ॥

नारायणात्पुनानन्त वामुदेव जनार्दन ।
यज्ञेश यज्ञपुरुष राम विष्णो नमोऽस्तु ते ॥ ९ ॥

इत्युष्टरन् हरेर्नाम पावथन्नखिलं जगत् ।
आजगाम स्तुवन् गङ्गा मुनिर्लोकिकपावनीम् ॥ १० ॥

वे 'नारायण! अच्युत! अनन्त! वामुदेव! जनार्दन! यज्ञेश! यज्ञपुरुष! राम! विष्णो! आपको नमस्कार

हैं।' इस प्रकार भगवन्नामका उच्चारण करके सम्पूर्ण अगलको पवित्र बनाते और एकमात्र श्लोकपावनी गङ्गाकी स्तुति करते हुए वहाँ आये ॥ ९-१० ॥

अथायान्तं समुद्दिश्य सनकाद्या महीजसः ।

यथार्हमर्हणं चक्रुर्वचनं सोऽपि तान् मुनीन् ॥ ११ ॥

उन्हें आते देख महानेजस्वी सनकादि मुनियोंने उनकी यथाचित्त पूजा की तथा नारदजीने भी उन मुनियोंको भक्तक झुकाया ॥ ११ ॥

अथ तत्र सभामध्ये नारायणपरायणम् ।

सनत्कुमारः प्रोवाच नारदं मुनिपुङ्गवम् ॥ १२ ॥

मदनन्तर वहाँ मुनियोंका सभामें सनत्कुमारजीने भगवान् नारायणके परम भक्त मुनिवर नारदसे इस प्रकार कहा ॥ १२ ॥

सनत्कुमार उवाच

सर्वज्ञोऽसि महाप्राज्ञ मुनीशानां च नारद ।

हरिभक्तिपरो यस्मात्स्वलो नास्त्यपरोऽधिक ॥ १३ ॥

सनत्कुमार बोले—महाप्राज्ञ नारदजी ! आप समस्त मुनीश्वरोंमें सर्वज्ञ हैं सदा श्रीहरिकी भक्तिमें नग्न रहने हैं, अतः आपसे बढ़कर दूसरा कोई नहीं है ॥ १३ ॥

येनेदमस्मिन् जाते जगत् स्थावरजङ्गमम् ।

गङ्गा पादोद्भवा यस्य कथं स ज्ञायते हरिः ॥ १४ ॥

अनुप्राहोऽस्मि यदि ते तत्त्वतो वक्तुमर्हसि ।

इसलिये मैं पूछता हूँ, जिनसे समस्त जगत्पर जगत्को उत्पत्ति हुई है तथा गङ्गाजी जिनके चरणोंमें प्रकट हुई है उन श्रीहरिके स्वरूपका ज्ञान कैसे होगा है ? यदि आपको जगत्सगोपर कृपा हो तो हमारे इस प्रश्नका यथार्थरूपमें विवेचन कीजिये ॥ १४ ॥

नारद उवाच

नमः पराय देवाय परात्परराय च ॥ १५ ॥

परात्परनिवासाय सगुणायगुणाय च ।

नारदजीने कहा—जो परमेश भी परतर है, उन परमेश्वर श्रीरामको नमस्कार है । जिनका निवास-स्थान (परमेश्वर) अकृष्टं भी अकृष्ट है तथा जो सगुण और निर्गुणरूप हैं उन श्रीरामको मेरा नमस्कार है ॥ १५ ॥

ज्ञानाज्ञानस्वरूपाय धर्माधर्मस्वरूपिणे ॥ १६ ॥

विद्याविद्यास्वरूपाय स्वस्वरूपाय ते नमः ।

ज्ञान-अज्ञान, धर्म अधर्म तथा विद्या और अविद्या—ये सब जिनके अपने ही स्वरूप हैं तथा जो सबके आत्मारूप हैं, उन आप परमेश्वरको नमस्कार है ॥ १६ ॥

यो दैत्यहन्ता नरकान्तकश्च

भुजाप्रमात्रेण च धर्मगोप्ता ॥ १७ ॥

भूभास्संघानविनोदकामं

नमामि देवं रघुवंशदीपम् ।

जो दैत्योंका विनाश और नरकोंका अन्त करनेवाले हैं, जो अपने हाथके संकतमात्रसे अधवा अधनी भुजाओंके बलसे धर्मका रक्षा करते हैं पृथ्वीक भारतका विनाश जिनका मनोरञ्जन मात्र है और जो उस मनोरञ्जनकी सदा अभिलाषा रखते हैं, उन रघुकुलदीप श्रीरामदेवको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १७ ॥

आविर्भूतश्चतुर्धा यः कपिभिः परिवारितः ॥ १८ ॥

हस्तवान् राक्षसानीकं रामं दाशरथिं भजे ।

जो एक होकर भी चार स्वरूपोंमें अवतीर्ण होते हैं, जिनोंने चानरोंको साथ लेकर राक्षससेनाका संतार किया है, उन दशरथमन्दन श्रीरामचन्द्रजीका मैं भज्य करता हूँ ॥

एवमादीन्यनेकानि चरितानि महात्मनः ॥ १९ ॥

तेषां नामानि संख्यातुं शक्यन्ते नाष्टकोटिभिः ।

भगवान् श्रीरामके ऐसे-ऐसे अनेक चरित्र हैं, जिनके नाम करोड़ों वर्षोंमें भी नहीं गिनाये जा सकते हैं ॥ १९ ॥

महिमानं तु यत्राप्यः पारं गन्तुं न शक्यते ॥ २० ॥

मनुषिश्च पुनीन्द्रश्च कथं तं क्षुल्लको भजेत् ।

जिनके नामकी महिमका मनु और पुनीन्द्र भी पार नहीं पा सकते वहाँ में-जैसे क्षुद्र जीवकी पहुँच कैसे हो सकती है ॥ २० ॥

यत्राप्यः स्मरणेनापि महापातकिनोऽपि ये ॥ २१ ॥

पावनत्वं प्रपद्यन्ते कथं स्तोष्यामि क्षुल्लधीः ।

जिनके नामके स्मरणमात्रसे बड़े-बड़े पातकी भी पावन बन जाते हैं, उन परमात्मका स्तवन में-जैसे तुच्छ क्षुल्लिवाल्ल प्राणी कैसे कर सकता है ॥ २१ ॥

रामायणपरा ये तु घारे कलियुगे द्विजाः ॥ २२ ॥

त एव कृतकृत्याश्च तेषां नित्यं नमोऽस्तु ते ।

जो द्विज घोर कलियुगमें रामायण-कथाका आश्रय लेते हैं वही कृतकृत्य हैं । उनके लिये तुम्हें सदा नमस्कार करना चाहिये ॥ २२ ॥

ऊर्जे घासि सिते पक्षे खेत्रे मासे तथैव च ॥ २३ ॥

नवाह्ना किल श्रोतव्यं रामायणकथायुतम् ।

सनत्कुमारजी । भगवान्की महिमाको जाननेके लिये कर्त्तिक माघ और चैत्रके शुक्ल पक्षमें रामायणकी अमृतमयी कथाका नवाह्न श्रवण करना चाहिये ॥ २३ ॥

गौतमशापतः प्राप्तः सुदासो राक्षसीं तनुम् ॥ २४ ॥

रामायणप्रभावेण विमुक्तिं प्राप्तवानसौ ।

ब्राह्मण सुदास गौतमके शापसे राक्षस-शरीरको प्राप्त हो गये थे; परन्तु रामायणके प्रभावसे ही उन्हें उस शापसे छुटकारा मिला था ॥ २४ ॥

सनत्कुमार उवाच

रामायणं केन प्रोक्तं सर्वधर्मफलप्रदम् ॥ २५ ॥

प्राप्तः कथं गौतमेन सौदासो भुनिसत्तम ।

रामायणप्रभावेण कथं भूयो विमोक्षितः ॥ २६ ॥

सनत्कुमारने पूछा—मुनिश्रेष्ठ ! सम्पूर्ण धर्मोंका फल देनेवाली रामायणकथाका किसने वर्णन किया है ? सौदासको गौतमद्वारा कैसे शाप प्राप्त हुआ ? फिर वे रामायणके प्रभावसे किस प्रकार शापमुक्त हुए थे ॥ २५-२६ ॥

अनुब्राह्मोऽस्मि यदि ते तत्त्वतो वक्तुमर्हसि ।

सर्वमेतद्दोषेण मुने नो वक्तुमर्हसि ॥ २७ ॥

शृण्वतां वदती चेव कथा पापविनाशिनी ।

मुने ! यदि आपका हमलोगोंपर अनुग्रह हो तो सब कुछ ठीक-ठीक बताइये । इन सारी बातोंसे हमें अवगत कराइये, क्योंकि भगवान्‌की कथा वक्ता और श्रोता दोनोंके पापोंका नाश करनेवाली है ॥ २७ ॥

नारद उवाच

शृणु रामायणं विप्र यद् वाल्मीकिमुखोद्गतम् ॥ २८ ॥

नवाह्ना खलु श्रोतव्यं रामायणकथामृतम् ।

नारदजीने कहा—ब्रह्मन् ! रामायणकी प्रादुर्भाव महर्षि वाल्मीकिके मुखसे हुआ है । तुम उसको श्रवण करो । रामायणकी अमृतमयी कथाका श्रवण नी दिनोंमें करना चाहिये ॥ २८ ॥

आस्ते कृतयुगे विप्रो धर्मकर्मविशारदः ॥ २९ ॥

सोमदत्त इति ख्यातो नाग्रा धर्मपरायण ।

सत्ययुगमें एक ब्राह्मण थे, जिन्हें धर्म कर्मका विशेष ज्ञान था । उनका नाम था सोमदत्त । वे सदा धर्मके पालनमें ही तत्पर रहते थे ॥ २९ ॥

विप्रस्तु गौतमारख्येन मुनिना ब्राह्मवादिना ॥ ३० ॥

आवितः सर्वधर्मांश्च गङ्गातीरे मनोरमे ।

पुराणशास्त्रकथनैस्तेनासौ बोधितोऽपि च ॥ ३१ ॥

श्रुतवान् सर्वधर्मान् च तेनोक्तानखिलानपि ।

(वे ब्राह्मण सौदास नामसे भी विख्यात थे ।) ब्राह्मणने ब्रह्मवादी गौतम मुनिसे गङ्गातीरे मनोरम तटपर सम्पूर्ण धर्मोंका उपदेश सुना था । गौतमने पुराणों और शास्त्रोंकी कथाओंद्वारा उन्हें तत्त्वोंका ज्ञान कराया था । सौदासने गौतमसे उनके बताये हुए सम्पूर्ण धर्मोंका श्रवण किया था ॥

कदाचित् परमेशस्य परिचर्यापरोऽभवत् ॥ ३२ ॥

तपस्थितायापितस्मै प्रणामं न चकार सः ।

एक दिनकी बात है, सौदास परमेश्वर शिवजीको आराधनामें लगे हुए थे । उसी समय वहाँ उनके गुरु गौतमजी आ पहुँचे, परन्तु सौदासने अपने निकट आये हुए गुरुको भी उठकर प्रणाम नहीं किया ॥ ३२ ॥

स तु शान्तो महाबुद्धिर्गौतमस्तेजसां निधिः ॥ ३३ ॥

शास्त्रोदितानि कर्माणि करोति स मुदं ययौ ।

परम बुद्धिमान् गौतम तेजकी निधि थे, वे शिष्यके चर्तव्यसे रुष्ट न होकर शान्त ही बने रहे । उन्हें यह जानकर प्रसन्नता हुई कि मेरा शिष्य सौदास शास्त्रोंके कर्मोंका

अनुष्ठान करता है ॥ ३३ ॥

यस्त्वर्चितो महादेवः शिवः सर्वजगद्गुरुः ॥ ३४ ॥

गुर्ववज्ञाकृतं पापं राक्षसत्वे नियुक्तवान् ।

उवाच प्राञ्जलिर्भूत्वा विनयेन च कोविदः ॥ ३५ ॥

किन्तु सौदासने जिनको आराधना की थी, वे सम्पूर्ण जगत्‌के गुरु महादेव शिव गुरुकी अवलोकनासे होनेवाले पापको न सह सक । उन्होंने सौदासको राक्षसकी योग्यता जिनका शाप दे दिया । तब विनयकलाकोविद ब्राह्मणने हाथ जोड़कर गौतमसे कहा ॥ ३४-३५ ॥

विप्र उवाच

भगवन् सर्वधर्मज्ञ सर्वदर्शिन् सुरेश्वर ।

क्षमस्व भगवन् सर्वपपराधः कृतो मया ॥ ३६ ॥

ब्राह्मण बोले—सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता । सर्वदर्शी ।

सुरेश्वर भगवन् मैंने वा अपराध किया है, वह सब आप क्षमा काजिये ॥ ३६ ॥

गौतम उवाच

ऊर्जे मासे सिते पक्षे रामायणकथामृतम् ।

नवाह्ना चेव श्रोतव्यं भक्तिभावेन सादरम् ॥ ३७ ॥

नात्यन्तिक भवेदेतद् हादशब्दं भविष्यति ।

गौतमने कहा—वत्स । कार्तिक मासके शुक्लपक्षमें तुम रामायणकी अमृतमयी कथाको भक्तिभावसे आदरपूर्वक श्रवण करो । इस कथाको नी दिनोंमें सुना चाहिये । ऐसा करनेसे यह शाप अधिक दिनोंतक नहीं रहेगा । खैराल बारह वर्षोंतक ही रह सकेगा ॥ ३७ ॥

विप्र उवाच

केन रामायणं प्रोक्तं चरितानि तु कस्य वै ॥ ३८ ॥

एतत् सर्वं महाप्राज्ञ संक्षेपाद् वक्तुमर्हसि ।

मनसा प्रीतिमापन्नो यवन्दे चरणौ गुरोः ॥ ३९ ॥

ब्राह्मणने पूछा—रामायणकी कथा किसने कही है ? तथा उसमें किसके चरित्रोंका वर्णन किया गया है ? महाप्रज्ञे ! यह सब संक्षेपसे बतानेको कृपा करें । मैं कहकर मन-ही-मन प्रसन्न हो सौदासने गुरुके चरणोंमें प्रणाम किया । ३८-३९

गौतम उवाच

शृणु रामायणं विप्र वाल्मीकिमुनिना कृतम् ।

यंन रामायतारेण राक्षसा रावणादयः ॥ ४० ॥

हनास्तु देवकार्ये हि चरितं तस्य तच्छृणु ।

कार्तिके च सिते पक्षे कथा रामायणस्य तु ॥ ४१ ॥

नवमेऽहनि श्रोतव्या सर्वपापप्रणाशिनी ।

गौतमने कहा—वत्सन् ! सुनो । रामायण-काव्यका निर्माण वाल्मीकि मुनिने किया है । जिन भगवान् श्रीरामने अवतार ग्रहण करके रावण आदि राक्षसोंका संहार किया और देवताओंका कार्य सँवाला था, उनके चरित्रोंका

नमः-काव्यमें वर्णन है। तुम उसीका श्रवण करो।
रामायणके शुरुपक्षमें नवें दिन अर्थात् प्रतिपदमें
रामायणकी कथा सुननी चाहिये। वह समस्त
का नाश करनेवाला है ॥ ४०-४१ ॥

इत्युक्त्वा धार्धमम्यग्नौ गौतमः स्वाश्रमं ययौ ॥ ४२ ॥
विप्रोऽपि दुःखमापन्नो राक्षसीं तनुमाश्रितः ।

यमा कहकर पूर्णकाम गौतम ऋषि अपने आश्रमको चले
गये। इधर सोमदन या सुगन्ध नामक आश्रममें दुःखमग्न
होकर राक्षस-शरीरका आश्रम लिया ॥ ४२ ॥

मुनोऽपि विप्रासात् नित्यं क्रोधपरायणः ॥ ४३ ॥
कृष्णक्षपाद्युतिर्भीमो बभ्राव विजने वने ।

व सदा भूख-प्याससे पीड़ित तथा क्रोधके बशीभूत
बहने थे। उनके शरीरका रंग कृष्ण पक्षकी रातके समान
जम्मा था। वे भयानक राक्षस होकर निर्जन वनमें भ्रमण
करने लगे ॥ ४३ ॥

दृग्वाश्च विविधास्तत्र मनुष्याश्च सरोसुप्तान् ॥ ४४ ॥
विहगान् प्लवगांश्चैव प्रसभस्तानभक्षयत् ।

वहाँ वे नाना प्रकारके पशुओं, मनुष्यों, साँप-बिच्छू
आदि जन्तुओं, पक्षियों और जलरोको बलपूर्वक पकड़कर
मर जाते थे ॥ ४४ ॥

अन्धेभिर्वहुभिर्विप्राः पीतरक्तकलेवरैः ॥ ४५ ॥
त्वादप्रेतकैश्च तेनासीद् भूर्भयंकरी ।

अंधारियों! उस राक्षसके द्वारा यह पृथ्वी बहुत-सी
जड़ियों तथा लाल-पीले शरीरवाले रक्तपायी प्रेतांसे परिपूर्ण
हो अत्यन्त भयंकर दिखायी देने लगी ॥ ४५ ॥

जनुवये स पृथिवीं शतयोजनविस्तराम् ॥ ४६ ॥
कृत्वातिदुःखितां पश्चाद्गुणान्तरमगात् पुनः ।

उः महीनमें ही सौ योजन विस्तृत भूभागको अत्यन्त
दुःखित करके वह राक्षस पुनः दूसरे किसी वनमें चला गया ॥

तत्रापि कृतवान् नित्यं नग्धासाशनं सदा ॥ ४७ ॥
जगाम नर्मदातीरे सर्वलोकभयंकरः ।

वहाँ भी वह प्रतिदिन नरमांसका भोजन करता रहा।
सम्पूर्ण लोकोंके मनमें भय उत्पन्न करनेवाला वह राक्षस
एक-घामता नर्मदाजीके तटपर जा पहुँचा ॥ ४७ ॥

एतस्मिन्नन्तरे प्राप्तः कश्चिद् विप्रोऽतिधार्मिकः ॥ ४८ ॥
कलिङ्गदेशसम्भूतो नाम्ना गर्ग इति स्मृतः ।

इसी समय कोई अत्यन्त धर्मात्मा ब्राह्मण उधर आ
निकला उसका जन्म कलिङ्गदेशमें हुआ था। लोगोंमें वह
गर्ग नामसे विख्यात था ॥ ४८ ॥

वहन् गङ्गाजलं स्कन्धे स्तुवन् विश्वेश्वरं प्रभुम् ॥ ४९ ॥
गाधन् नामानि रामस्य समायातोऽतिहर्षितः ।

कंधपर गङ्गाजल लिये भगवान् विश्वनाथको स्तुति तथा
श्रवणके नामोंका गान करता हुआ वह ब्राह्मण बड़े हर्ष और

उत्सहम करके उस पुण्य प्रदेशमें आया था ॥ ४९ ॥

तमायान्तं भुनि दृष्ट्वा सुदासो नाम राक्षसः ॥ ५० ॥

प्राप्तो नः पारणेत्युक्त्वा भुजाबुधाय तं वयौ ।

नेन कीर्तितनामानि श्रुत्वा दूरे व्यवस्थितः ॥ ५१ ॥

अशक्तस्तौ द्विजं हन्तुमिदमुद्ये स राक्षसः ।

गर्ग मुनिके आते देख राक्षस सुदास बोल उठा, 'हमें'
भोजन प्राप्त हो गया। ऐसा कहकर अपनी दोनों भुजाओंको
ऊपर उठाये हुए वह मुनिकी ओर चला, परन्तु उनके द्वारा
उच्चारित हानवाले भगवन्नामोंको सुनकर वह दूर ही खड़ा
रहा। उन ब्रह्मर्षिकों मागमें अभय होकर राक्षस उनसे इस
प्रकार बोला ॥ ५०-५१ ॥

राक्षस उवाच

अहो भद्र महाभाग नमस्तुभ्यं महात्मने ॥ ५२ ॥

नामस्मरणमात्रेण राक्षसा अपि दूरगाः ।

मया प्रभक्षिताः पूर्वं विप्राः कोटिसहस्रशः ॥ ५३ ॥

राक्षसने कहा—यह तो बड़े आश्चर्यकी बात है।

भद्र! महाभाग! आप महात्माको नमस्कार है। आप जो

भगवन्नामोंका स्मरण कर रहे हैं, इतनेसे ही राक्षस भी दूर

भाग आते हैं। मैंने पहले कोटि सहस्र ब्राह्मणोंका भक्षण

किया है ॥ ५२-५३ ॥

नामप्रावरणं विप्र रक्षति त्वां महाभयात् ।

नामस्मरणमात्रेण राक्षसा अपि भो वयम् ॥ ५४ ॥

परं शान्तिं समापन्ना महिमा कोऽव्युत्तस्य हि ।

ब्रह्मन्! आपका पास जो नामरूपी कवच है, वही

राक्षसोंके महान् भयसे आपको रक्षा करता है। आपके द्वारा

किये गये नामस्मरणमात्रमें हम राक्षसोंको भी परम शान्ति

प्राप्त हो गयी। यह भगवान् अव्युत्तकी कैसी यत्निमा है।

सर्वथा स्वं महाभाग रागादिरहितो द्विज ॥ ५५ ॥

रामकथाप्रभावेण पाह्यस्मात् पातकाधमात् ।

महाभाग ब्राह्मण! आप श्रीरामकथाके प्रभावसे सर्वथा

राग आदि दोषोंसे रहित हो गये हैं। अतः आप मुझे इस

अधम पातकसे बचाइये ॥ ५५ ॥

गुर्ववज्ञा मया पूर्वं कृता च मुनिस्तमः ॥ ५६ ॥

कृतश्रानुग्रहः पश्चाद् गुणोक्तमिदं वचः ।

मुनिश्रेष्ठ! मैंने पूर्वकालमें अपने गुरुकी अवहलना की

थी। फिर गुरुजीने मुझपर अनुग्रह किया और यह बात कही।

वाल्मीकिमुनिना पूर्वं कथा रामायणस्य च ॥ ५७ ॥

ऊर्जे मासे सिते पक्षे श्रोतव्यं च प्रयत्नतः ।

'पूर्वकालमें वाल्मीकि मुनिने जो रामायणकी कथा

कही है, उसका कार्तिकभासके शुरु पक्षमें प्रयत्नपूर्वक

श्रवण करना चाहिये' ॥ ५७ ॥

गुणोक्तं पुनः प्रोक्तं रम्यं तु शुभदं वचः ॥ ५८ ॥

नवाह्ना खलु श्रोतव्यं रामायणकथाभूतम् ।

इतना कहकर गुरुदत्तने पुनः यह सुन्दर एवं शुभदायक वचन कहा—‘रामायणकी अमृतमयी कथा नौ दिनमें सुननी चाहिये’ ॥ ५८ ॥

तस्माद् ब्रह्मन् महाभाग सर्वशास्त्रार्थकोविद ॥ ५९ ॥
कथाश्रवणमात्रेण पाह्यस्मात् पापकर्मणः ।

अतः सम्पूर्ण शास्त्रोंके तत्त्वको जाननेवाले महाभाग ब्राह्मण । आप मुझे रामायणकथा सुनाकर इस पापकर्मसे मेरी रक्षा कीजिये ॥ ५९ ॥

नारद उवाच

ततो रामायणं ख्यातं राममाहात्म्यमुत्तमम् ॥ ६० ॥
निशम्य क्षिप्स्वविष्टो बभूव द्विजसत्तमः ।
ततो विप्रः कृपाविष्टो रामनामधरायणः ॥ ६१ ॥
सुदासराक्षसं नाम चेदं वाक्यमथाब्रवीत् ।

नारदजी कहते हैं—उस समय वहाँ राक्षसके मुखमें रामायणका परिचय तथा श्रीरामके उत्तम माहात्म्यका वर्णन सुनकर द्विजश्रेष्ठ गार्ग आश्चर्यचकित हो उठे । श्रीरामका नाम ही उनके जायनका अवनम्य था वे ब्राह्मणदेवता ठीक राक्षसके प्रति दयासे द्रवित हो गये और सुदाससे इस प्रकार बोले ॥ ६०-६१ ॥

विप्र उवाच

राक्षसेन्द्र महाभाग पतितो धिक्पलाभवत् ॥ ६२ ॥
अस्मिन्नूर्जे सिते पक्षे रामायणकथां शृणु ।
शृणु त्वं राममाहात्म्यं रामभक्तिपरायण ॥ ६३ ॥

ब्राह्मणने कहा—महाभाग ! राक्षसराज ! तुम्हारी बुद्धि निर्मल हो गयी है । इस समय कर्तिकमासका शुक्ल पक्ष चल रहा है । इसमें रामायणकी कथा सुनो । राम-भक्तिपरायण राक्षस । तुम श्रीरामचन्द्रजीके माहात्म्यको श्रवण करो ॥ ६२-६३ ॥

रामध्यानपराणां च कः समर्थः प्रबाधितुम् ।
रामभक्तिपरो यत्र तत्र ब्रह्मा हरिः शिवः ॥ ६४ ॥
तत्र देवाश्च सिद्धाश्च रामायणपरा नराः ।

श्रीरामचन्द्रजीके ध्यानमें तत्पर रहनेवाले मनुष्योंको बाधा पहुँचानमें कौन समर्थ हो सकता है । जहाँ श्रीरामकी भक्त है, वहाँ ब्रह्मा, विष्णु और शिव विराजमान हैं । वहाँ देवता सिद्ध तथा रामायणका आश्रय लेनेवाले मनुष्य हैं ॥ ६४ ॥

तस्मादूर्जे सिते पक्षे रामायणकथां शृणु ॥ ६५ ॥
नवाह्ना खलु श्रोतव्यं सावधानः सदा भव ।

अतः इस कर्तिकमासके शुक्ल पक्षमें तुम रामायणको

कथा सुनो । नौ दिनोंतक इस कथाको सुननेका विधान है । अतः तुम सदा सावधान रहो ॥ ६५ ॥

इत्युक्त्वा कथयामास रामायणकथां मुनिः ॥ ६६ ॥
कथाश्रवणमात्रेण राक्षसत्वमपाकृतम् ।
विसृज्य राक्षसं भावमभवद् देवतोपमः ॥ ६७ ॥
कोटिसूर्यप्रतीकाशो नारायणसमप्रभः ।
शङ्खचक्रगटापाणिहरिः सद्य जगाम सः ॥ ६८ ॥
स्तुवन् तं ब्राह्मणं सम्यग् जगाम हरिमन्दिरम् ॥ ६९ ॥

ऐसा कहकर गार्ग मुनिन उसे रामायणकी कथा सुनायी । कथा सुनते ही उसका राक्षसत्व दूर हो गया । राक्षस-भावका परित्याग करके वह देवताओंके समान सुन्दर, करोड़ों सूर्योंके समान तेजस्वी और भगवान् नारायणके समान कान्तिमान् हो गया । अपनी चार भुजाओंमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म लिये वह श्रावस्तिक वैकुण्ठधाममें चला गया । ब्राह्मण गार्ग मुनिको भूरि-भूरि प्रशंसा करता हुआ वह भगवान्के उत्तम धाममें जा पहुँचा ॥ ६६-६९ ॥

नारद उवाच

तस्माच्छृणुध्वं विप्रेन्द्रा रामायणकथामृतम् ।
स तस्य महिमा तत्र ऊर्जे भासि च कीर्त्यते ॥ ७० ॥
नारदजी कहते हैं—विप्रवरों ! अतः आप-लोग भी रामायणकी अमृतमयी कथा सुनिये । इसके श्रवणकी मदा ही महिमा है, किन्तु कर्तिकमासमें विशेष बनायी गयी है ॥ ७० ॥

यन्नामस्मरणादेव महापातककोटिभिः ।
विमुक्तः सर्वपापेभ्यो नरो याति परं गतिम् ॥ ७१ ॥
रामायणके नामका स्मरण करनेसे ही मनुष्य करोड़ों महापातकों तथा समस्त पापोंमें मुक्त हो परमगतिको प्राप्त होता है ॥ ७१ ॥

रामायणेति यन्नाम सकृदप्युच्यते यदा ।
तदैव पापनिर्मुक्तो विष्णुलोकं स गच्छति ॥ ७२ ॥

मनुष्य ‘रामायण’ इस नामका जब एक बार भी उच्चारण करता है तथा वह समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है और अन्तमें भगवान् विष्णुके लोकमें चला जाता है ॥ ७२ ॥

ये पठन्ति सदाऽऽख्यानं भक्त्या शृण्वन्ति ये नराः ।
गङ्गास्नानाच्छतगुणं तेषां सजायते फलम् ॥ ७३ ॥

जो मनुष्य सदा भक्तिभावमें रामायण-कथाको पढ़ते और सुनते हैं, उन्हें गङ्गास्नानकी अपेक्षा सौगुना पुण्यफल प्राप्त होता है ॥ ७३ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणी उत्तरखण्डे नारदसन्त्कुमारसंवादे रामायणमाहात्म्ये राक्षसमोक्षणं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीस्कन्दपुराणके उत्तरखण्डमें नारद-सन्त्कुमारसंवादके अन्तर्गत वाल्मीकीय रामायणमाहात्म्यके प्रसङ्गमें राक्षसका उद्धार नामक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥



तृतीयोऽध्यायः

माघमासमें रामायण-श्रवणका फल—राजा सुमति और सत्यवतीके पूर्व-जन्मका इतिहास

समन्तकुमार उवाच

अद्य विप्र इदं प्रोक्तमितिहासं च नारद ।
रामायणस्य माहात्म्यं त्वं पुनर्वद विस्तरात् ॥ १ ॥
सनत्कुमारने कहा—वहार्थ नारदजी ! आपने यह
उक्त इतिहास सुनाया है । अब रामायणके माहात्म्यका पुनः
उत्तरपूर्वक वर्णन कीजिये ॥ १ ॥

अन्यमासस्य माहात्म्यं कथयस्व प्रमादतः ।
कस्य नो जायते तुष्टिर्मुने त्वह्वनामृतान् ॥ २ ॥
(आपने कार्तिक मासमें रामायणके श्रवणकी महिमा
कहा) अब कृष्णपूर्वक दूसरे मासका माहात्म्य बताइये ।
॥ आपके अह्वनामृतमें किसको संतोष नहीं होगा ? ॥

नारद उवाच

सर्वं यूयं महाभागाः कृतार्था नात्र संशयः ।
धनः प्रभावं रामस्य भक्तितः श्रोतुमुद्यताः ॥ ३ ॥
नारदजीने कहा—महान्यायो ! आप सब लोग निश्चय
हैं अथवा मायकशाली और कृतकृत्य हैं, इसमें संशय नहीं है,
क्योंकि आप भाक्तभावसे भगवान् श्रीरामकी महिमा सुननेके
लिये उद्यत हुए हैं ॥ ३ ॥

माहात्म्यश्रवणं यस्य राघवस्य कृतात्मनाम् ।
दुर्लभं प्राहुरत्यन्तं मुनयो ब्रह्मवादिनः ॥ ४ ॥
ब्रह्मवादी मुनियोंने भगवान् श्रीरामके माहात्म्यका श्रवण
पुण्यकामा पुरुषाके लिये परम दुर्लभ बताया है ॥ ४ ॥
मृणुध्वमृषयश्चिप्रमितिहासं पुरातनम् ।
सर्वपापप्रशमनं सर्वरोगविनाशनम् ॥ ५ ॥

महर्षियो ! अब आपलोग एक विचित्र पुरातन इतिहास
सुनिये, जो समस्त पापोंका निवारण और सम्पूर्ण रोगोंका
विनाश करनेवाला है ॥ ५ ॥

आसीत् पुरा द्वारे च सुमतिर्नाम धूपतिः ।
सोमवंशोद्भवः श्रीमान् सप्तद्वीपकनारथकः ॥ ६ ॥
पूर्वकालको यात है द्वारमें सुमति नाम प्रसिद्ध एक
गजा हो गये हैं । उनका जन्म चन्द्रवंशमें हुआ था । वे
श्रीरामपूजा और सानो द्वीपके एकमात्र सम्राट् थे ॥ ६ ॥

धर्मात्मा सत्यसम्पन्नः सर्वसम्पद्भिर्भूषितः ।
मदा रामकथासेवी रामपूजापरायणः ॥ ७ ॥
उनका मन सदा धर्ममें ही लग्न रहता था । वे सत्यवादी तथा
सब प्रकारकी सम्पत्तियाँ सुशोभित थे । सदा श्रीरामकथाके
सवन और श्रीरामकी ही समाधिधनमें संलग्न रहने थे ॥ ७ ॥

रामपूजापरायणं च सुश्रुपुरनहकृतिः ।
पूज्येषु पूजानिरतः समदर्शी गुणान्वितः ॥ ८ ॥
श्रीरामकी पूजा-अर्चामें लगे रहनेवाले भक्तोंकी वे

सदा सेवा करते थे । उनमें अहंकारका नाम भी नहीं था । वे
पूज्य पुरुषोंके पूजनमें तत्पर रहनेवाले, समदर्शी तथा
सद्गुणसम्पन्न थे ॥ ८ ॥

सर्वभूतहितः शान्तः कृतज्ञः कीर्तिमान् नृपः ।
तस्य भार्या महाभागा पूर्वलक्षणमयुता ॥ ९ ॥
राजा सुमति सभ्य प्रणियोजके हितैषी शान्त कृतज्ञ और
यशस्वी थे । उनकी परम सौभाग्यशालिनी पत्नी भी सभ्य
शुभ लक्षणोंमें सुशोभित थी ॥ ९ ॥

पतिव्रता पतिप्रणा नात्रा सत्यवती भुता ।
तावुभौ दम्पती नित्यं रामायणपरायणौ ॥ १० ॥
उसका नाम सत्यवती था । वह पतिव्रता थी । पतिमें ही
उसके प्राण धमते थे । वे दोनों पति-पत्नी सदा रामायणके ही
पढ़ने और सुननेमें संलग्न रहने थे ॥ १० ॥

अन्नदानरती नित्यं जलदानपरायणौ ।
तद्वगारामवाप्यादीनसंख्यातान् विनेननुः ॥ ११ ॥
सदा अन्नका दान करते और प्रतिदिन जलदानमें प्रवृत्त
रहते थे । उन्होंने अमूल्य पोस्त्रों, वस्त्रों और जावड़ियोंका
निर्माण कसया था ॥ ११ ॥

सोऽपि राजा महाभागो रामायणपरायणः ।
वाचयेच्छृणुयाद् वापि भक्तिभावेन भावितः ॥ १२ ॥
महाभाग राजा सुमति भी सदा रामायणके ही
अनुशीलनमें लगे रहने थे । वे भक्तिभावसे भावित हो
रामायणको ही वाचते अथवा सुनते थे ॥ १२ ॥

एवं रामपरं नित्यं राजानं धर्मकोविदम् ।
तस्य प्रियां सत्यवतीं देवा अपि सदास्तुवन् ॥ १३ ॥
इस प्रकार वे धर्मज्ञ नरेश सदा श्रीरामकी आराधनामें ही मग्न
रहते थे । उनकी प्यारी पत्नी सत्यवती भी ऐसी ही थी । देवता भी
उन दोनों दम्पतिकों सदा भूमि-धूरि प्रशंसा करते थे ॥ १३ ॥

विश्रुतां त्रिषु लोकेषु दम्पती तौ हि धार्मिकौ ।
आधर्यो बहुभिः शिष्यैर्द्रष्टुकामो विभाण्डकः ॥ १४ ॥
एक दिन उन त्रिभुवनविख्यात धर्मात्मा राजा-रानीकी
देखनके लिये विभाण्डक मुनि अपने ब्रह्म में शिष्योंके साथ
वहाँ आये ॥ १४ ॥

विभाण्डकं मुनिं दृष्ट्वा सुखमाप्तो जनेश्वरः ।
प्रत्युद्ययौ सपत्नीकं पूजाभिर्बहुविस्तरम् ॥ १५ ॥
मुनिवर विभाण्डकको आया देख राजा सुमतिको बड़ा
सुख मिला । वे पूजाकी विन्दुत सामग्रियों साथ लं पत्नीसहित
उनको अगवानीक लिये गये ॥ १५ ॥

कृतातिथ्यक्रियं शान्तं कृतासनपरिग्रहम् ।
निजासनगतो भूपः प्राञ्जलिर्मुनिपद्मवीन् ॥ १६ ॥

जब मुनिका अतिथि सत्कार सम्पन्न हो गया और वे शान्तभावसे आसनपर विश्रजमान हो गये, उस समय अपने आसनपर बैठे हुए भूपालने मुनिसे हाथ जोड़कर कहा ॥

राजोवाच

भगवन् कृतकृत्योऽद्य त्वदध्यागमनेन भोः ।

सतामागमनं सन्तः प्रशंसन्ति सुखावहम् ॥ १७ ॥

राजा बोले—भगवन् ! आज आपके शुभागमनमे मैं कृतार्थ हो गया, क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष सन्तोंके आगमनको सुखदायक बताकर उसको प्रशंसा करते हैं ॥ १७ ॥

यत्र स्यान्महतां प्रेम तत्र स्युः सर्वसम्पदः ।

तेजः कीर्तिर्धनं पुत्र इति प्राहुर्विपश्चितः ॥ १८ ॥

जहाँ महापुरुषोंका प्रेम होता है, वहाँ सारी सम्पत्तियाँ अपने-आप उपस्थित हो जाती हैं। वहाँ तेज, कीर्ति, धन और पुत्र सभी वस्तुएँ उपलब्ध होती हैं—ऐसा विद्वान् पुरुषोंका कथन है ॥ १८ ॥

तत्र वृद्धिं गमिष्यन्ति श्रेयांस्यनुदिनं मुने ।

यत्र सन्तः प्रकुर्वन्ति महतीं करुणां प्रभो ॥ १९ ॥

मुने ! प्रभो ! जहाँ सत-महात्मा बड़ी भारी कृपा करते हैं, वहाँ प्रतिदिन कल्याणमय साधनोंकी वृद्धि होती है ॥ १९ ॥

यो मूर्ध्नि धारयेद् ब्रह्मन् विप्रपादतलोदकम् ।

स स्नातो सर्वतीर्थेषु पुण्यवान् नात्र संशयः ॥ २० ॥

ब्रह्मन् ! जो अपने मस्तकपर ब्राह्मणोंका चरणोदक धारण करता है, उस पुण्यात्मा पुरुषने सब तीर्थोंमें स्नान कर लिया—इसमें संशय नहीं है ॥ २० ॥

यस्य पुत्राश्च दाराश्च सम्पदश्च समर्पिताः ।

समाज्ञापय शान्तात्मन् वयं किं करवाणि ते ॥ २१ ॥

शान्तस्वरूप महर्षे ! मेरे पुत्र, पत्नी तथा सारी सम्पत्ति आपके चरणोंमें समर्पित हैं। आज्ञा दीजिये, हम आपको क्या सेवा करें ? ॥ २१ ॥

इत्थं वदन्तं भूपं तं स निरीक्ष्य मुनीश्वरः ।

स्पृशन् करेण राजानं प्रत्युवाचातिहर्षितः ॥ २२ ॥

ऐसी बातें कहते हुए राजा सुमतिको ओर देखकर मुनीश्वर शिष्याण्डक बड़े प्रसन्न हुए, और उन्होंने अपने हाथसे राजाका स्पर्श करते हुए कहा ॥ २२ ॥

ऋषिरुवाच

राजन् यदुक्तं भवता तत्सर्वं त्वत्कुलोचितम् ।

विनयावनताः सर्वे परं श्रेयो भजन्ति हि ॥ २३ ॥

ऋषि बोले—राजन् ! तुमने जो कुछ कहा है, वह सब तुम्हारे कुलके अनुरूप है। जो इस प्रकार विनयसे झुक जाते हैं वे सब लोग परम कल्याणके भागी होते हैं ॥ २३ ॥

प्रीतोऽस्मि तव भूपाल सन्मार्गपरिवर्तिनः ।

स्वस्ति तेऽस्तु महाभाग यत्पृच्छामि तदुच्यताम् ॥ २४ ॥

भूपाल ! तुम सन्मार्गपर चलनेवाले हो। मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ, महाभाग ! तुम्हारा कल्याण हो। मैं तुमसे जो कुछ पूछता हूँ, उसे बताओ ॥ २४ ॥

हरिसंतोषकान्यासन् पुतणानि बहून्यपि ।

माघे मासि चोद्यतोऽसि रामायणपरायणः ॥ २५ ॥

तव चार्यापि साध्वीयं नित्यं रामपरायणा ।

किमर्थमेतद् वृत्तान्तं यथावद् बहुमहसि ॥ २६ ॥

यद्यपि भगवान् श्रीहरिको संतुष्ट करनेवाले बहुत-से पुत्राण भी थे, जिनका तुम पाठ कर सकते थे, तथापि इस भाग्यभाग्यमे सब प्रकारसे प्रयत्नशोल होकर तुम जो रामायणके ही परायणमे लगे हुए हो तथा तुम्हारी यह साध्वी पत्नी भी सदा जो श्रीरामकी ही आराधनामें रत रहती है, इसका क्या कारण है ? यह वृत्तान्त यथावत् रूपसे मुझे बताओ ॥ २५-२६ ॥

राजोवाच

शृणुष्व भगवन् सर्वं यत्पृच्छामि वदामि तत् ।

आश्चर्यं यद्वि लोकानामावयोश्चरितं मुने ॥ २७ ॥

राजाने कहा—भगवन् ! सुनिये, आप जो कुछ पूछते हैं, वह सब मैं बता रहा हूँ। मुने ! हम दोनोंका चरित्र सम्पूर्ण जगत्के लिये आश्चर्यजनक है ॥ २७ ॥

अहमासं पुरा शूद्रे मालतिर्नाम सत्तम ।

कुमार्गनिरतो नित्यं सर्वलोकाहिते रतः ॥ २८ ॥

साधुशिरोमणे ! पूर्वजन्ममें मैं मालति नामक शूद्र था। सदा कुमार्गपर ही चलता और सब लोगोंके अहित-साधनमें ही संलग्न रहता था ॥ २८ ॥

पिशुनो धर्माविद्वेधी देवद्रव्यापहारकः ।

महापातकिसंसर्गी देवद्रव्योपजीवकः ॥ २९ ॥

दूसरोंकी घुगली खानेवाला, धर्मद्रोही, देवतासम्बन्धी द्रव्यका अपहरण करनेवाला तथा महापातकियोंके संसर्गमें रहनेवाला था। मैं देव सम्पत्तिसँ ही जीविका चलाता था ॥

गोघ्नश्च ब्रह्महा चौरः नित्यं प्राणिवधे रतः ।

नित्यं निष्ठुरवक्ता च पापी वेश्यापरायणः ॥ ३० ॥

गोकत्या, ब्राह्मणहत्या और चोरी करना—यही अपना घधा था। मैं सदा दूसरे प्राणियोंकी हिरामें ही लगा रहता था। प्रतिदिन दूसरोंसे कठोर बातें बोलता, पाप करता और व्यक्तियोंमें आसक्त रहता था ॥ ३० ॥

किञ्चित् काले स्थितो होवमनादृत्य महद्दुःखः ।

सर्वबन्धुपरित्यक्तो दुःखी वनमुपागमम् ॥ ३१ ॥

इस प्रकार कुछ कालतक घरमें रहा, फिर बड़े लोगोंकी आशुका उत्पन्न करनेके कारण मेरे सभी भाई-बन्धुओंने मुझे त्याग दिया और मैं दुःखी होकर वनमें चला आया ॥ ३१ ॥

पृथमांसाशनं नित्यं तथा मार्गविरोधकृत् ।

एकाकी दुःखबहुलो न्यवसं निर्जने वने ॥ ३२ ॥

हैं प्रतिदिन मृगोंको मांस खाकर रहता था और कटे-
करे भोजनकर त्यागकर आन-जानका मांस अवलुब्ध कर देता
॥ इस तरह अकेला बहुत दुःख भोगता हुआ मैं उस
जन्म जनमें रहने लगा ॥ ३२ ॥

एकदा क्षुत्परिश्रान्तो निद्राघूर्णः पिपासितः ।
वसिष्ठस्याश्रमे देवादपश्ये निर्जने वने ॥ ३३ ॥

एक दिनकी बात है, मैं भूखा-प्यासा, थका-माँटा, निद्रासे
उत्थित हुआ एक निर्जन जनमें आया । वहाँ देवर्षियोंके
आश्रमपर घेरे दृष्टि पड़ी ॥ ३३ ॥

ब्रह्मकारिण्डवाकीर्णं तत्समीपे महत्तरः ।
पयंके वनपूर्यार्धशछादितं तन्मुनीश्वर ॥ ३४ ॥

उस आश्रमके निकट एक विशाल सगंवर था, जिसमें
जल और काण्डव आदि जलपक्षी छा रहे थे । मुनीश्वर ।
वह सगंवर चारों ओरसे वन्य पुष्प-समूहोंद्वारा आच्छादित
था ॥ ३४ ॥

अपियं तत्र पानीयं तन्तटे विगनश्रवः ।
उन्मूल्य वृक्षमूलानि मया क्षुध निवारिता ॥ ३५ ॥

वहाँ जाकर मैंने पानी पिचा और उमके तटपर बैठकर
जलनी थकावट दूर की । फिर कुछ वृक्षोंको जड़ें उखाड़कर
जलक द्वारा अपनी भूख बुझाई ॥ ३५ ॥

वसिष्ठस्याश्रमे तत्र निवासं कृतवानहम् ।
जीर्णस्फटिकसंधानं तत्र चाहमकारिषम् ॥ ३६ ॥

वसिष्ठके उस आश्रमके पास हों मैं निवास करने लगा ।
नी-फुटी स्फटिक शिलाओंको जोड़कर मैं वहाँ दीवार
बनाई की ॥ ३६ ॥

परिस्फूर्णेश्च काष्ठैश्च गृहं सम्यक् प्रकल्पितम् ।
तत्राहं व्याधसन्धस्थो हत्वा बहुविधान् मृगान् ॥ ३७ ॥

आर्जविकां च कुर्वाणो वत्सगणां च विंशतिम् ।
फिर पत्नी, तिनकी और काष्ठाद्वारा एक सुन्दर घर बना
लिया । उसी घरमें रहकर मैं व्याधोंकी घनिका आश्रय ले
नाना प्रकारके मृगोंको मारकर उनकी द्वारा बॉस वर्णनक
अपनी जीविका चलाता रहा ॥ ३७ ॥

अथेयमागता साध्वी विन्ध्यदेशसमुद्रवा ॥ ३८ ॥
निषादकुलसम्भूता नाम्ना कालीति विश्रुता ।

वन्धुवर्गैः परित्यक्ता दुःखिता जीर्णविग्रहा ॥ ३९ ॥

तदनन्तर घेरी ये साध्वी पत्नी वहाँ मेरे पास आयी ।
पूर्वजन्ममें इनका नाम काली था । काली निषादकुलकी कन्या
थी और विन्ध्यप्रदेशमें उत्पन्न हुई थी । उसके भाई-बन्धुओंने
उसे त्याग दिया था । वह दुःखसे पीड़ित थी । उसका शरीर
बूढ़ हो चला था ॥ ३८-३९ ॥

ब्रह्मन् क्षुनुदपरिश्रान्तं शोचन्ती धार्मिकीं क्रियाम् ।
देवयोगात् समायाता श्रमन्ती विजने वने ॥ ४० ॥

ब्रह्मन् । वह भूख-प्याससे शिथिल हो गया थी और

इस सोचमें पड़ी थी कि भोजनकर कार्य कैसे चलेगा ?
देवयोगमें धूमती-धामनी वह उसी निर्जन जनमें आ पहुँची,
जिसमें मैं रहता था ॥ ४० ॥

मासे ग्रीष्मे च तापार्ता ह्यन्तस्तापप्रपीडिता ।
इमां दुःखवतीं दृष्ट्वा जाता मे विपुला घृणा ॥ ४१ ॥

गर्मीका महोत्ता था । बाहर इसे घूप सता रही थी और
भीतर मानसिक मनाप अन्यन्त पीड़ा दे रहा था । इस दुःखिनी
नारीको देखकर मेरे मनमें बड़ी दया आयी ॥ ४१ ॥

मया दत्तं जलं चास्यं मांसं वनफलं तथा ।
गनश्रमा तु सा पृष्ट्वा मया ब्रह्मन् यथावत्तथम् ॥ ४२ ॥

मैंने इसे पानेके लिये जल तथा खानेके लिये मांस और
जंगलके फल दिये । ब्रह्मन् । काली जब विश्राम कर चुकी
तब मैंने उससे उसका यथावत् वृत्तान्त पूछा ॥ ४२ ॥

न्यवेदयत् स्वकर्माणि तानि शृणु महामुने ।
इयं काली तु नाम्ना वै निषादकुलसम्भवा ॥ ४३ ॥

महामुन । मेरे पुछनेपर उसने जो अपने जन्म-कर्म
निवेदन किये थे, उन्हें बतलाई हैं । सुनिये—उसका नाम
काली था और वह निषादकुलकी कन्या थी ॥ ४३ ॥

दायिकस्य सुता विद्वन् न्यवसद् विन्ध्यपर्वते ।
परस्वहारिणी नित्यं सदा पैशुन्यवादिनी ॥ ४४ ॥

विद्वन् । उसके पिताका नाम दायिक (या दायिक) था ।
वह उसका पुत्री थी और विन्ध्यपर्वतपर निवास करती थी ।
सदा दूसराका धन चुराना और चुराले खाना ही उसका काम
था ॥ ४४ ॥

वन्धुवर्गैः परित्यक्ता यतो हतवती पतिम् ।
कान्तारे विजने ब्रह्मन् मत्समीपमुपागता ॥ ४५ ॥

एक दिन उसने अपने पतिकी हत्या कर डाली, इसीलिये
भाई-बन्धुओंने उसे घरसे निकाल दिया । ब्रह्मन् । इस तरह
परित्यक्ता काली उस दुर्गाप एवं निर्जन जनमें मेरे पास आयी
था ॥ ४५ ॥

इत्ययं स्वकृतं कर्म सर्वं भद्रं न्यवेदयत् ।
वसिष्ठस्याश्रमे पुण्ये अहं जेयं च वै मुने ॥ ४६ ॥

दम्पतीभावपाश्रित्य स्थितौ मांसाशिनौ तदा ।
उम्मे अपनी सारी कर्मोंमें मुझे इसी रूपमें बताया थी ।
मुने ! तब वसिष्ठजीके उस पवित्र आश्रमके निकट मैं और
काली—दोनों पति-पत्नीका सम्बन्ध स्वीकार करके रहने और
मांसाहारसे ही जीवन-निर्वाह करने लगे ॥ ४६ ॥

उद्यमार्थं गतौ चैव वसिष्ठस्याश्रमे तदा ॥ ४७ ॥
दृष्ट्वा चैव समाजं च देवर्षीणां च सप्तम ।

रामायणपरा विप्रा माघे दृष्ट्वा दिने दिने ॥ ४८ ॥

एक दिन हम दोनों जीविकाके निमित्त कुछ ठगम करनेके
लिये वहाँ वसिष्ठजीके आश्रमपर गये । महात्मन् । वहाँ
देवर्षियोंका समाज जुटा हुआ था । वहाँ देखकर हमलोग

उधार गये थे। जहाँ माधवासमें प्रतिदिन ब्राह्मणलोग
गमायणका पाठ करते दिखायी देने थे ॥ ४७-४८ ॥

निराहारी च विक्रान्तौ क्षुत्पिपासाप्रपीडितौ ।
अनिच्छया गतौ तत्र वसिष्ठस्याश्रमं प्रति ॥ ४९ ॥
रामायणकथां श्रोतुं नवाह्ना चैत्र भक्तितः ।

तत्काल एव पञ्चत्वमाधयोरभयमुने ॥ ५० ॥

उस समय हमलोग निराहार थे और पुरुषार्थ करनेमें
तमर्थ होकर भी भूख प्याससे कष्ट पा रहे थे अतः बिना
इच्छाके ही वसिष्ठजीके आश्रमपर चले गये थे। फिर
लगातार नौ दिनोंतक भक्तिपूर्वक रामायणकी कथा सुननेके
लिये हम दोनों वहाँ जाते रहे मुने उन्हीं समय हम दोनोंकी
मृत्यु हो गयी ॥ ४९-५० ॥

कर्मणा तेन तुष्टात्मा भगवान् मधुसूदनः ।

स्वदूतान् प्रेषयामास मदहर्षणकारणतः ॥ ५१ ॥

हमारे उस कर्मसे भगवान् मधुसूदनका मन
प्रसन्न हो गया था, अतः उन्होंने हमें ले आनेके लिये
दूत भेजे ॥ ५१ ॥

आरोह्य भां विमाने तु जम्बुस्ते च परं पदम् ।

आवां समीपमापन्नौ देवदेवस्य चक्रिणः ॥ ५२ ॥

वे दूत हम दोनोंको विमानमें बिठाकर भगवान्के परम
पद (उत्तम धाम) में ले गये। हम दोनों देवाधिदेव
चक्रपाणिके निकट आ पहुँचे * ॥ ५२ ॥

भुक्तवन्ती महाभोगान् यावत्कालं शृणुष्व मे ।

युगकोटिसहस्राणि युगकोटिशतानि च ॥ ५३ ॥

उक्त्वा रामध्वने ब्रह्मलोकमुपागतौ ।

तावत्कालं च तत्रापि स्थित्वैन्द्रपदमागतौ ॥ ५४ ॥

जहाँ हमने जितने समयतक बड़े-बड़े भोग भोगे थे
यह बता रहे हैं। सुनिये—कोटि साहस्र और कोटि शत
युगीतक श्रीरामधाममें निवास करके हमलोग ब्रह्म-
लोकमें आये। वहाँ भी उतने ही समयतक रहकर हम
इन्द्रलोकमें आ गये ॥ ५३-५४ ॥

तत्रापि तावत्कालं च भुक्त्वा भोगाननुत्तमान् ।

ततः पृथ्वीं वयं प्राप्ताः क्रमेण मुनिसत्तम ॥ ५५ ॥

मुनिश्रेष्ठ! इन्द्रलोकमें भी उतने ही कालतक
परम उत्तम भोग भोगनेके पश्चात् हम क्रमशः इस पृथ्वी-
पर आये हैं ॥ ५५ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे उत्तरखण्डे नारदसनत्कुमारसंवादे रामायणमाहात्म्ये पाद्यफलानुकीर्तनं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीस्कन्दपुराणके उत्तरखण्डमें नारदसनत्कुमारसंवादके अन्तर्गत रामायणमाहात्म्यके प्रसङ्गमें माधवासमें
रामायणकथाश्रवणके फलका वर्णन नामक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥

अत्रापि सम्पदनुला रामायणप्रसादतः ।

अनिच्छया कृतेनापि प्राप्तमेवविधं मुने ॥ ५६ ॥

यहाँ भी रामायणक प्रसादसे हमें अनुल सम्पत्ति प्राप्त हुई
है। मुने। अनिच्छामें रामायणका श्रवण करनेपर भी हमें
ऐसा फल प्राप्त हुआ है ॥ ५६ ॥

नवाह्ना किल श्रोतव्यं रामायणकथामृतम् ।

यत्किभावेन धर्मात्मज्ञानमृत्युजरामहम् ॥ ५७ ॥

धर्मात्मन् यदि नौ दिनेष्वेक भक्ति भावमें रामायणकी
अमृतमयी कथा सुनी जाय तो वह जन्म, जरा और मृत्युका
नाश करनेवाली होती है ॥ ५७ ॥

अवशेनापि यत्कर्म कृते तु सुप्रहृत्फलम् ।

ददाति शृणु विप्रेन्द्र रामायणप्रसादतः ॥ ५८ ॥

विप्रवर - सुनिये, विवश होकर भी जो कर्म किया जाता
है, वह रामायणके प्रसादसे परम महान् फल प्रदान करता
है ॥ ५८ ॥

नारद उवाच

एतत्सर्वं निशम्यासौ विधाण्डको मुनीश्वरः ।

अभिनन्द्य महीपालं प्रययौ स्वतपोवनम् ॥ ५९ ॥

नारदजी कहते हैं—यह सब सुनकर मुनीश्वर
विधाण्डक राजा सुमतिको अभिनन्दन करके अपने
तपोवनको चले गये ॥ ५९ ॥

तस्माच्छृणुष्वे विप्रेन्द्रा देवदेवस्य चक्रिणः ।

रामायणकथा चैव कामधेनूपमा स्मृता ॥ ६० ॥

विप्रवर! अतः आपलोग देवाधिदेव चक्रपाणि भगवान्
श्रीहरिको कथा सुनिये। रामायणकथा कामधेनुक समान
अभीष्ट फल देनेवाली बतायी गयी है ॥ ६० ॥

माघे मासे सिते पक्षे रामायणं प्रयत्नतः ।

नवाह्ना किल श्रोतव्यं सर्वधर्मफलप्रदम् ॥ ६१ ॥

माघमासके शुक्ल पक्षमें प्रयत्नपूर्वक रामायणकी
नवाह्निकथा सुननी चाहिये। वह सम्पूर्ण धर्मोंका फल प्रदान
करनेवाली है ॥ ६१ ॥

य इदं पुण्यवाक्याने सर्वपापप्रणाशनम् ।

चाक्षयेच्छृणुयाद् वापि रामभक्तश्च जायते ॥ ६२ ॥

यह पवित्र वाक्यान् समस्त पापोंका नाश करनेवाला है।
जो इसे जाँचता अथवा सुनता है, वह भगवान् श्रीरामका
भक्त होता है ॥ ६२ ॥

* यहाँ जिस परम पदमें लौटनेका वर्णन है, वह ब्रह्मलोकसे भिन्न कोई उत्तम लोक था, जहाँ भगवान् मधुसूदनके सान्निध्य
तथा श्रीरामके दर्शन मुखका अनुभव होता था, इसे साक्षात् धैकुण्ठ या सत्केत नहीं मानना चाहिये क्योंकि वहाँमें पुनरावृत्ति नहीं होती।
अनिच्छासे कथा श्रवण करनेके कारण उन्हें अपुनरावृत्ति लोक नहीं मिला था।

चतुर्थोऽध्यायः

चैत्रमासमें रामायणके पठन और श्रवणका माहात्म्य, कलिक नामक व्याध और उत्तङ्क मुनिकी कथा

नारद उवाच

अन्यमासं प्रवक्ष्यामि शृणुध्वं सुसमाहिताः ।
सर्वपापहरं पुण्यं सर्वदुःखनिवर्हणम् ॥ १ ॥
ब्राह्मणक्षत्रियविशा शूद्राणां चैव घोषिताम् ।
समस्तकामफलदं सर्वव्रतफलप्रदम् ॥ २ ॥
दुःखप्रणाशनं धन्यं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ।
रामायणस्य माहात्म्यं श्रोतव्यं च प्रयत्नतः ॥ ३ ॥

नारदजी कहते हैं—महर्षिये ! अब मैं रामायणक पाठ और श्रवणक लिये उपर्यागी दूसर मासका वर्णन करना हूँ, एकाग्रचित्त होकर सुनो । रामायणका माहात्म्य समस्त पापोंको हर देनेवाला पुण्यजनक तथा सम्पूर्ण दुःखाकर निवारण करनेवाला है । यह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा स्त्री—इन सबको समस्त मनोवाञ्छित फल प्रदान करनेवाला है । उसमें सब प्रकारके व्रतोंका फल भी प्राप्त होता है यह दुःखप्रकी नाशक धनको प्राप्ति करानेवाला तथा भोग और मोक्षरूप फल देनेवाला है । अतः उसे प्रयत्नपूर्वक सुनना चाहिये ॥ १—३ ॥

अत्रैवोदाहरन्तीमपितिहासे पुरातनम् ।
पठतां शृण्वतां चैव सर्वपापप्रणाशनम् ॥ ४ ॥

इसी विषयमें विश्व पुरुष एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण करते हैं । यह इतिहास अपने पाठकों और श्रान्तोंके समस्त पापोंका नाश करनेवाला है ॥ ४ ॥

आसीत् पुरा कलियुगे कलिको नाम लुब्धकः ।
परदारपरद्रव्यहरणे सततं रतः ॥ ५ ॥

प्राचीन कलियुगमें एक कलिक नामवाला व्याध रहता था । वह सदा परायी स्त्री और पराये धनके अपहरणमें ही लगा रहता था ॥ ५ ॥

परनिन्दापरो नित्यं अन्तुर्पाडाकरस्तथा ।
हतवान् ब्राह्मणान् गावः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ६ ॥

दूसरीकी निन्दा करना उसका नित्यका काम था । वह सदा सभी अन्तुओंको पीड़ा दिया करता था । उसने कितने ही ब्राह्मणों तथा सैकड़ों, हजारों गौओंको हत्या कर डाली थी ॥ ६ ॥

देवस्वहरणे नित्यं परस्वहरणे तथा ।
तेन पापान्यनेकानि कृतानि सुमहान्ति च ॥ ७ ॥

पराये धनका तो वह निरन्तर अपहरण करता ही था देवताके धनको भी हड़प लेता था । उसने अपने जीवनमें अनेक बड़े बड़े पाप किये थे ॥ ७ ॥

न तेषां शक्यते वक्तुं संख्यां वत्सस्कोटिभिः ।
स कदाचिन्महापापो जन्तुनामन्तकोपमः ॥ ८ ॥

सौवीरनगरं प्राप्तः सर्वैश्वर्यसमन्वितम् ।
योषिर्दम्भिर्भूषिताभिश्च सरोभिर्विमलोदकैः ॥ ९ ॥
अलंकृतं विपणिभिर्ययौ देवपुरोपमम् ।

उसके पापोंको गणना करेड़ी वर्षोंमें भी नहीं की जा सकती थी । एक समय वह महापापी व्याध जो जीव-जन्तुओंके लिये यमराजके समान भयंकर था, सौवीरनगरमें गया । वह नगर सब प्रकारके वैभवमें सम्पन्न, वस्त्राभूषणोंमें विभूषित युवतियोंद्वारा सुशोभित स्वच्छ जलवाले सरावरासे अलंकृत तथा घाँत-घाँतकी दूकानोंसे सुसज्जित था । देवनगरके समान उसको शोभा हो रही थी । व्याध उस नगरमें गया ॥ ८-९ ॥

नस्योपवनमध्यस्थं रम्यं केशवमन्दिरम् ॥ १० ॥
छादितं हेमकलशैर्दृष्ट्वा व्याधो मुदं ययौ ।
हरप्यत्र सुवर्णानि वहूनीति विनिश्चितः ॥ ११ ॥

सौवीरनगरके उपवनमें भगवान् केशवका बड़ा सुन्दर मन्दिर था, जो सोनके अनेकानेक कलशासे ढका हुआ था, उसे देखकर व्याधको बड़ी प्रसन्नता हुई । उसने यह निश्चय कर लिया कि मैं यहाँसे बहुत-सा सुवर्ण चुराकर ले चलूँगा ॥ १०-११ ॥

जगाम रामभवनं कीनाशश्चैर्यलोलुपः ।
तत्रापश्यद् द्विजवरं शान्तं तत्त्वार्थकोषिदम् ॥ १२ ॥
परिचर्यापरं विष्णोस्तङ्कं तपसां निधिम् ।

एकाकिनं दयालुं च निःस्पृहं ध्यानलोलुपम् ॥ १३ ॥

ऐसा निश्चय करके वह चोरीपर रुदरू रहनेवाला व्याध श्रीरामके मन्दिरमें गया । वहाँ उसने शान्त, तत्त्वार्थवेत्ता और भगवान्की आराधनामें नत्पर उत्तङ्क मुनिका दर्शन किया जो तपस्याका निधि थे । वे अकेले ही रहते थे । उनके हृदयमें सबके प्रति दया धरा थी । वे सब आत्म निःस्पृह थे उनके मनमें केवल भगवान्के ध्यानका ही लोभ बना रहता था ॥ १२-१३ ॥

दृष्ट्वासौ लुब्धको येने तं चौर्यस्यान्तरादिणम् ।
देवस्य द्रव्यजातं तु समादाय भहानिधिः ॥ १४ ॥

उन्हें वहाँ उपस्थित देख व्याधने उनको चोरीमें विघ्न डालनेवाला समझा । तदनन्तर जब आधी रात हुई तब वह देवतासम्बन्धी द्रव्यसमूह लेकर चल्य ॥ १४ ॥

उत्तङ्कं हन्तुमारिभे उद्धातासिर्भदोद्धतः ।
पादेनाक्रम्य तद्वक्षो गले संगृह्य पाणिना ॥ १५ ॥

उस मदोन्मत्त व्याधने उत्तङ्क मुनिकी छातीको अपने एक पैरसे दबाकर हाथसे उनका गला पकड़ लिया और तलवार उठाकर उन्हें मार डालनेका उपक्रम किया ॥ १५ ॥

हन्तुं कृतमतिं व्याधं उत्तङ्को प्रेक्ष्य चाब्रवीत् ।

उत्तङ्गने देखा व्याध भुझे मार डालना चाहता है तो वे उससे इस प्रकार बोले ॥१५॥

उत्तङ्ग उवाच

भो भो साधो वृथा मां त्वं हनिष्यसि निरागसम् ॥ १६ ॥

उत्तङ्गने कहा—ओ भले मानुष ! तुम व्यर्थ ही मुझे मारना चाहते हो । मैं तो सर्वथा निरपराध हूँ ॥ १६ ॥

मया किमपराद्धं ते तद् वद त्वं च लुब्धक ।

कृतापराधिनो लोके हिंसा कुर्वन्ति यत्नतः ॥ १७ ॥

न हिंसन्ति वृथा सौम्य सज्जना अप्यप्रापिनम् ।

लुब्धक ! वृथाओ तो सही, मैंने तुम्हारा क्या अपराध किया है ? संसारमें लोग अपराधोंको ही प्रयत्नपूर्वक हिंसा करते हैं सौम्य । सज्जन निरपराधको व्यर्थ हिंसा नहीं करते हैं ॥ १७॥

विरोधिष्वपि भूर्खेषु निरीक्ष्यावस्थितान् गुणान् ॥ १८ ॥

विरोधं नाधिगच्छन्ति सज्जनाः शान्तचेतसः ।

शान्तचित्त साधु पुरुष अपने विरोधी तथा भूर्ख मनुष्योंमें भी सद्गुणोंको स्थिति देखकर उनके साथ विरोध नहीं रखते हैं ॥ १८॥

बहुधा वाच्यमानोऽपि यो नरः क्षमयान्वितः ॥ १९ ॥

तमुत्तमं नरं प्राहुर्विष्णोः प्रियतरं तथा ॥ २० ॥

जो मनुष्य बारम्बार दूसरोंकी गाली सुनकर भी क्षमाशील बना रहता है वह उत्तम कहलाता है उसे भगवान् विष्णुका अत्यन्त प्रियजन बताया गया है ॥ १९-२० ॥

सुजनो न याति वैरं पर हितनिरतो विनाशकालेऽपि ।

छेदेऽपि चन्दनतरुः सुरभीकरोति मुखं कुठारस्य ॥ २१ ॥

दूसरोंके हित-साधनमें लगे रहनेवाले साधुजन किसीके द्वारा अपने विनाशका समय उपस्थित होनेपर भी उसके साथ वैर नहीं करते । चन्दनका वृक्ष अपनेको कुटनेपर भी कुठारको धारको सुशोषित ही करता है ॥ २१ ॥

अहो विधिर्वै बलवान् बाधते बहुधा जनान् ।

सर्वसङ्गविहीनोऽपि बाध्यते तु दुरात्मना ॥ २२ ॥

अहो ! विघात बड़ा बलवान् है । वह स्नेहोंको नाना प्रकारसे कष्ट देता रहता है । जो सब प्रकारके संगमें रहित है, उसे भी दुरात्मा मनुष्य सताया करते हैं ॥ २२ ॥

अहो निष्कारणं लोके बाध्यन्ते दुर्जना जनान् ।

धीवराः पिशुना व्याधा लोकेऽकारणवैरिणः ॥ २३ ॥

अहो ! दुष्टजन इस संसारमें बहुत-से जीवोंको बिना किसी अपराधके ही पीड़ा देते हैं । मत्स्याह मर्कटियोंके, चुगलखोर सज्जनोंके और व्याध मृगोंके इस अगत्या अकारण वैरो होते हैं ॥ २३ ॥

अहो बलवती माया मोहयत्यखिलं जगत् ।

पुत्रमित्रकलत्रादीः सर्वदुःखेन योज्यते ॥ २४ ॥

अहो ! माया बड़ी प्रबल है । यह सम्पूर्ण जगत्को मांछमें

डाल देती है तथा स्त्री, पुत्र और मित्र आदिके द्वारा सबको सब प्रकारके दुःखोंमें संयुक्त कर देती है ॥ २४ ॥

परद्वय्यापहारेण कलत्रं पोषितं च यत् ।

अन्ते तन् सर्वमुत्सृज्य एक एव प्रयाति वै ॥ २५ ॥

मनुष्य पराये धनकर अपहरण करके जो अपनी स्त्री आदिका पोषण करता है वह किस कामका, क्योंकि अन्तमें उन सबको छोड़कर वह अकेला ही परमोक्तको राह लेता है ॥ २५ ॥

मम भाना मम पिता मम भार्या ममात्मजाः ।

ममेदमिति जन्तूनां ममता बाधते वृथा ॥ २६ ॥

'मेरी माता, मेरे पिता, मेरी पत्नी, मेरे पुत्र तथा मेरा यह घराना—इस प्रकार ममता व्यर्थ ही प्राणियोंको कष्ट देती रहती है ॥ २६ ॥

धावदर्पयति द्रव्यं तावद् भवति बान्धवः ।

अर्जितं तु धनं सर्वे भुञ्जन्ते बान्धवाः सदा ॥ २७ ॥

दुःखमेकतमो भूवस्तत्पापफलमश्नुते ।

मनुष्य जितकर कमाकर धन देता है, तभीतक लोग उसके भाई-बन्धु बने रहते हैं और उसके कमाये हुए धनको सारे कष्ट-बान्धव मदा भोगते रहते हैं, किन्तु मूर्ख मनुष्य अपने किये हुए पापके फलरूप दुःखको अकेला ही भोगता है ॥ २७॥

इति ब्रुवाणो तमूचि विमृश्य भयविह्वलः ॥ २८ ॥

कलिकः प्राञ्जलिः प्राह क्षमस्वेति पुनः पुनः ।

उत्तङ्गमुनि जब इस प्रकार कह-रहे थे, तब उनकी बातोंपर विचार करके कलिक नामक व्याध भयसे व्याकुल हो उठा और हाथ जोड़कर बारम्बार कहने लगा—'प्रभो ! मेरे अपराधको क्षमा कीजिये' ॥ २८॥

तत्सङ्गस्य प्रभावेण हरिसंनिधिमाव्रतः ॥ २९ ॥

गतपापो लुब्धकश्च सानुतापोऽभवद् ध्रुवम् ।

उन महाम्माक संगके प्रभावसे तथा भगवान्का सान्निध्य मिल जानसे उस लुब्धकके सारे पाप नष्ट हो गये तथा उसके मनमें निश्चय ही बड़ा पश्चात्ताप होने लगा ॥ २९॥

मया कृतानि पापानि महान्ति सुबहूनि च ॥ ३० ॥

तानि सर्वाणि नष्टानि विप्रैश्च तव दर्शनात् ।

वह बोला— विप्रवर मैंने जीवनमें बहुत-से बड़े-बड़े पाप किये हैं, किन्तु ये सब आपके दर्शनमात्रमें नष्ट हो गये ॥

अहं वै पापधीनित्यं महापापं समाचरम् ॥ ३१ ॥

कथं मे निष्कृतिर्भूयात् कं यामि शरणं विभो ।

'प्रभो ! मेरी बुद्धि सदा पापमें ही डूबी रहती थी । मैंने निरन्तर बड़े-बड़े पापका ही आचरण किया है उनमें मेरा उद्धार किस प्रकार होगा ? मैं किसको शरणमें जाऊँ ॥

पूर्वजन्मार्जितं पापैर्लुब्धकत्वमवाप्तवान् ॥ ३२ ॥

अत्रापि पापजालानि कृत्वा कां गतिमाप्नुयाम् ।

'पूर्वजन्मके किये हुए पापोंके फलसे मुझे व्याध होना पड़ा है, यहाँ मैंने पापोंके ही जाल बटोरि है । ये पाप

जन्म में किस गतिकी प्राप्ति होगी ? ॥ ३२ ॥

उने वाक्यं समाकर्ण्य कलिकस्य महात्मनः ॥ ३३ ॥

उनको नाम विप्रर्षिरिदं वाक्यमथाब्रवीत् ।

महामना कलिककी यह बात सुनकर अर्षि उनको इस प्रकार बोले ॥ ३३ ॥

उगड़ उवाच

माधु साधु महाप्राज्ञ मतिस्ते विमलोन्म्वला ॥ ३४ ॥

यस्मात् संसारदुःखानां नाशोपायमभीप्ससि ।

उतङ्गने कहा—महामते व्याध ! तुम धन्य हो, धन्य हो, तुम्हारी बुद्धि बड़ी निर्मल और उज्ज्वल है क्योंकि तुम संसारमाधुन्या दुःखोंक नाशका उपाय जानना चाहते हो ॥ ३४ ॥

चेत्रे मासि सिते पक्षे कथा रामायणस्य च ॥ ३५ ॥

नवाहा किल श्रोतव्या भक्तिभावेन सादरम् ।

यस्य श्रवणमात्रेण सर्वपापः प्रपुच्यते ॥ ३६ ॥

चैत्रमासके शुक्लपक्षमें तुम्हें भक्तिभावसे आदम्पूर्वक रामायणकी नवाह कथा सुननी चाहिये । उसके श्रवणमात्रसे प्रपुण्य समस्त पापोंसे छुटकारा पा जाता है ॥ ३५-३६ ॥

नस्मिन् क्षणेऽसौ कलिको लुब्धको धीतकल्मषः ।

गमयणकथां श्रुत्वा सद्यः पञ्चत्वपागतः ॥ ३७ ॥

उस समय कलिक व्याधके सारे पाप गए हो वह रामायणकी कथा सुनकर तत्काल मृत्युको भेंट हो गया ॥ ३७ ॥

अङ्गुः पतितं वीक्ष्य लुब्धकं तं वधापरः ।

अन्त दृष्ट्वा विस्मितश्च अस्तीषीन् कमलापतिम् ॥ ३८ ॥

व्याधको धरतोंपर पड़ा हुआ दृष्ट दृष्ट्वा उनको वड़े विस्मित हुए । फिर उन्होंने भगवान् कमलार्पतिकी नन्वन किया ॥ ३८ ॥

कथां रामायणस्यापि श्रुत्वा च धीतकल्मषः ।

निश्च्य विमानमारुह्य भुविमेतदथाब्रवीत् ॥ ३९ ॥

रामायणकी कथा सुनकर निष्पाप हुआ व्याध दिव्य चरित्र आरुह्य हो उनको भूमिसे इस प्रकार बोला ॥ ३९ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे उत्तरखण्डे नारदसन्त्कुमारसंवादे रामायणमाहात्म्ये चैत्रमासफलानुकीर्तने नाम चतुर्थाऽध्यायः ॥ ४ ॥

इति प्रकार श्रीस्कन्दपुराणके उत्तरखण्डमें नारद-सन्त्कुमारसंवादेके अन्तर्गत रामायणमाहात्म्यके प्रसंगमें चैत्रमासमें रामायण सुननेके फलकी वर्णन नामक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

रामायणके नवाहश्रवणकी विधि, महिमा तथा फलका वर्णन

सुत उवाच

रामायणस्य माहात्म्ये श्रुत्वा भीतो मुनीश्वरः ।

सनत्कुमार परब्रह्म नारदं मुनिसत्तमम् ॥ १ ॥

मुनजो कहते हैं—रामायणका यह माहात्म्य सुनकर मुनीश्वर सनत्कुमार बहुत अचम्बे हुए । उन्होंने मुनिश्वर

विमुक्तस्त्वत्प्रसादेन महापातकसंकटात् ।

तस्यात्रतोऽस्मि ते विद्वन् यत् कृतं तत् क्षमस्व मे ॥ ४० ॥

विद्वन् ! आपके प्रसादसे मैं महापातकोंके संकटसे मुक्त हो गया । अतः मैं आपके चरणोंमें प्रणाम करता हूँ, मैंने जो किया है, मेरे उस अपराधको आप क्षमा कीजिये ॥ ४० ॥

सुत उवाच

इत्युक्त्वा देवकुसुमैर्भुविश्रेष्ठपद्माकिरात् ।

प्रदक्षिणात्रये कृत्वा नमस्कारं चकार ह ॥ ४१ ॥

सूतजी कहते हैं—देवता काकर कलिकने भुविश्रेष्ठ उनकोपर दयकुसुमोंकी वर्षा की और तीन बार उनकी परिक्रमा करके उन्हें बारम्बार नमस्कार किया ॥ ४१ ॥

ततो विमानमारुह्य सर्वकापसमन्वितम् ।

अभ्यरोगणसंकीर्णं प्रपेदे हरिभन्दिरम् ॥ ४२ ॥

तत्पश्चात् अभ्यरोगणोंसे भरे हुए सम्पूर्ण मनोवाञ्छित भोगोंसे सम्पन्न विमानपर आरुह्य हो वह श्रीहरीके परम ग्राममें जा पहुँचा ॥ ४२ ॥

नम्याच्छृणुष्व विप्रेन्द्राः कथां रामायणस्य च ।

चेत्रे मासि सिते पक्षे श्रोतव्यं च प्रयत्नतः ॥ ४३ ॥

नवाहा किल रामस्य रामायणकथामृतम् ।

अतः विप्रवरों ! आप सब लोग रामायणकी कथा सुनें । चैत्रमासके शुक्लपक्षमें प्रयत्नपूर्वक रामायणकी अमृतमयी कथाकी नवाह-श्रवण अवश्य सुनना चाहिये ॥ ४३ ॥

तस्मादनुषु सर्वेषु हितकृद्भिरपूजकः ॥ ४४ ॥

ईप्सितं मनसा यद्यत् तदाप्नोति न संशयः ।

इसलिये रामायण सभी ऋतुओंमें हितकारक है । इसके द्वारा भगवान्की पूजा करनेवाले पुरुष मनसे जो-जो चाहता है, उसे निःसंदेह प्राप्त कर लेता है ॥ ४४ ॥

सनत्कुमार यत् पृष्टं तत् सर्वं गदितं मया ॥ ४५ ॥

रामायणस्य माहात्म्यं किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि ॥ ४६ ॥

सनत्कुमार ! तुमने जो रामायणका माहात्म्य पूछा था, वह सब मैंने घना दिया । अब और क्या सुनना चाहते हो ? ॥ ४५-४६ ॥

नारदजोसे पुनः जिज्ञासा की ॥ १ ॥

सनत्कुमार उवाच

रामायणस्य माहात्म्यं कथितं वै मुनीश्वर ।

इदानीं श्रोतुमिच्छामि विधिं रामायणस्य च ॥ २ ॥

सनत्कुमार बोले—मुनीश्वर ! आपने रामायणका

माहाव्य कहा । अब मैं उसकी विधि सुनना चाहता हूँ । २ ॥
 एतद्यापि महाभाग मुने तत्त्वार्थकोविद ।
 कृपया पर्याविष्टो यथावद् वक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥
 महाभाग मुने ! आप तत्त्वार्थ-ज्ञानमें कुशल हैं; अतः
 अत्यन्त कृपापूर्वक इस विषयका यथार्थरूपसे बतायें । ३ ॥

नारद उवाच

रामायणविधिं शैव शृणुष्व सुममाहिताः ।
 सर्वलोकेषु विख्यातं स्वर्गमोक्षविवर्धनम् ॥ ४ ॥
 नारदजीने कहा—महर्षियो ! तुमलोग एकाग्र-
 धित होकर रामायणकी वह विधि सुनो, जो सम्पूर्ण
 लोकोंमें विख्यात है । वह स्वर्ग तथा मोक्ष-सम्पत्तिकी
 वृद्धि करनेवाली है ॥ ४ ॥

विधानं तस्य वक्ष्यामि शृणुष्व गदतो मम ।
 रामायणकथां कुर्वन् भक्तिभावेन भावितः ॥ ५ ॥
 मैं रामायणकथा श्रवणका विधान बना रहा हूँ, तुम सब
 लोग उसे सुनो, रामायणकथाका अनुष्ठान करनेवाले वक्ता
 एवं श्रोताको भक्तिभावसे भावित होकर उस विधानका पालन
 करना चाहिये ॥ ५ ॥

येन घोर्येन पापाना कोटिकोटिः प्रणश्यति ।
 चैत्रे माघे कार्तिके च पञ्चम्यामथवाऽऽरभेत् ॥ ६ ॥
 इस विधिकी पालन करनेसे करोड़ों पाप नष्ट हो जाते हैं ।
 चैत्र, माघ तथा कार्तिकमासके शुक्लपक्षकी पञ्चमी तिथिकी
 कथा आरम्भ करनी चाहिये ॥ ६ ॥

संकरम्भं तु ततः कुर्यात् स्वस्तिवाचनपूर्वकम् ।
 अहोभिर्नवाभिः श्राव्यं रामायणकथामुतम् ॥ ७ ॥
 पहले स्वस्तिवाचन करके फिर यह संकरम्भ करे कि 'हम
 नौ दिनोंतक रामायणको अमृतमयी कथा सुनोगे' । ७ ॥
 अद्य प्रभृत्यहं राम शृणोमि त्वत्कथामुतम् ।
 प्रत्यहं पूर्णतामेतु तव राम प्रसादतः ॥ ८ ॥

फिर भगवान्से प्रार्थना करे—'श्रीराम ! आजसे प्रतिदिन
 मैं आपकी अमृतमयी कथा सुनूँगा । यह आपके कृपाप्रसादमें
 परिपूर्ण हो' ॥ ८ ॥

प्रत्यहं दन्तशुद्धिं च अपामार्गस्य शास्त्रया ।
 कृत्वा स्नायीत विधिवद् रामभक्तिपरायणः ॥ ९ ॥
 निरत्यप्रति अपामार्गकी शास्त्राये दन्तशुद्धि करके राम-
 भक्तिमें तत्पर हो विधिपूर्वक स्नान करे ॥ ९ ॥

स्वयं च क्षत्र्युभिः साह्यं शृणुयात् प्रयतेन्द्रियः ।
 स्नानं कृत्वा यथाचारं दन्तधावनपूर्वकम् ॥ १० ॥
 शुक्लाभ्यरमरः शुद्धो गृहमागत्य वाग्यतः ।
 प्रक्षाल्य पादावाचम्य स्मरेत्तारायणं प्रभुम् ॥ ११ ॥

अपनी इन्द्रियोंको संयममें रखकर भाई-बन्धुओंके साथ
 स्वयं क्षया सुने । पहले अपने कुलाचारके अनुसार
 दन्तधावनपूर्वक स्नान करके श्वेत वस्त्र धारण करे और शुद्ध

हो घर आकर मौनभावसे दोनों पैर धोनेके पश्चात् आचमन
 करके भगवान् नारायणका स्मरण करे ॥ १०-११ ॥

नित्यं देवार्चने कृत्वा पश्चात् संकल्पपूर्वकम् ।
 रामायणपुस्तकं च अर्चयेद् भक्तिभावतः ॥ १२ ॥
 फिर प्रतिदिन देवपूजन करके संकल्पपूर्वक भक्तिभावसे
 रामायणग्रन्थकी पूजा करे ॥ १२ ॥

आवाहनासनाद्यैश्च गन्धपुष्पादिभिर्व्रती ।
 ॐ नमो नारायणायैति पूजयेद् भक्तितत्परः ॥ १३ ॥
 व्रतो पुरुष आवाहन, आसन, गन्ध, पुष्प आदिके द्वारा
 'ॐ नमो नारायणाय' इस मन्त्रसे भक्तिपरायण होकर पूजन
 करे ॥ १३ ॥

एकवारं द्विवारं वा त्रिवारं वापि शक्तितः ।
 होमं कुर्यात् प्रयत्नेन सधर्षपापनिवृत्तये ॥ १४ ॥
 सम्पूर्ण पापोंको मित्रुनिके लिये अपनी शक्तिक अनुसार
 एक, दो या तीन बार प्रयत्नपूर्वक होम करे ॥ १४ ॥

एवं चः प्रयतः कुर्याद् रामायणविधिं तथा ।
 स याति विष्णुभवनं पुनरावृत्तिदुर्लभम् ॥ १५ ॥
 इस प्रकार जो मन और इन्द्रियोंका संयममें रखकर
 रामायणकी विधिकी अनुष्ठान करता है, वह भगवान्
 विष्णुके धाममें जाता है, वहाँसे लौटकर जहाँ फिर इस
 संसारमें नहीं आता ॥ १५ ॥

रामायणव्रतधरो धर्मकारी च सत्तमः ।
 चाण्डालं पतितं वापि वस्त्रान्नेनापि नार्चयेत् ॥ १६ ॥
 जो रामायणसम्बन्धी व्रतको धारण करनेवाला तथा
 धर्मान्ता है वह श्रेष्ठ पुरुष चाण्डाल अथवा पतित मनुष्यका
 वस्त्र और अन्नसे भी सत्कार न करे ॥ १६ ॥

नास्तिकान् धिक्त्रमर्यादान् निन्दकान् पिशुनानपि ।
 रामायणव्रतपरो वाङ्मन्त्रेणापि नार्चयेत् ॥ १७ ॥
 जो नास्तिक, धर्मधर्यादाको तोड़नेवाले, परनिन्दक और
 दुष्टखोर है उनका रामायणव्रतधारी पुरुष वाङ्मन्त्रसे भी
 आदर न करे ॥ १७ ॥

कुण्डाशिनं गायकं च तथा देवलकाशनम् ।
 भिषजं काव्यकर्तारं देवद्विजविरोधिनम् ॥ १८ ॥
 पराश्रलोलुपं चैव परस्त्रीनिरतं तथा ।
 रामायणव्रतपरो वाङ्मन्त्रेणापि नार्चयेत् ॥ १९ ॥

जो पतितके जीवित रहते ही परपुरुषके समागमसे
 मानाहारा उत्पन्न किया जाता है, उस जातज पुत्रकी कुण्ड
 करने है । इस कुण्डके यहाँ जो भाजन करना है जो गीत
 गायक जीविकी घलाता है, देवतापर चढ़ी हुई वस्तुका
 उपभोग करेवाला मनुष्यका अन्न खाता है, वैद्य है, लोगोंकी
 मिथ्या प्रशंसामें कविता लिखता है, देवताओं तथा
 ब्राह्मणोंका विरोध करता है, पराये अन्नका लोभी है और
 पर स्त्रीमें आमनक रहता है ऐसे मनुष्यका भी रामायणव्रतनी

न्य वार्षाभ्यासे भां अद्वय न करे । १८ १९ ।

इत्येवमादिभिः शुद्धो वशी सर्वहिते रतः ।

रामायणपरो भूत्वा परं सिद्धिं गमिष्यति ॥ २० ॥

इस प्रकार लोगोंमें दूर पावे दुष्ट होकर त्रितन्द्रिय एवं नवके हितमें तत्पर रहने हुए जो रामायणकी आश्रय लेता है, वह परमसिद्धिको प्राप्त होता है । २० ।

नास्ति गङ्गासमं तीर्थं नास्ति मातृसमो गुहः ।

नास्ति विष्णुसमो देवो नास्ति रामायणात् परम् ॥ २१ ॥

गङ्गाके समान तीर्थ, माताके तुल्य गुह भागवान् विष्णुके सदृश देवता तथा रामायणसे बड़कर कोई उतम ग्रन्थ नहीं है ॥ २१ ॥

नास्ति वेदसमं शास्त्रं नास्ति शान्तिमयं सुखम् ।

नास्ति शान्तिपरं ज्योतिर्नास्ति रामायणात् परम् ॥ २२ ॥

वेदके समान शास्त्र, शान्तिके समान सुख, शान्तिसे बड़कर ज्योति तथा रामायणसे उत्कृष्ट कोई काव्य नहीं है ॥

नास्ति क्षमासमं सारं नास्ति कीर्तिसमं धनम् ।

नास्ति ज्ञानसमो लाभो नास्ति रामायणात् परम् ॥ २३ ॥

क्षमाके सदृश बल, कीर्तिके समान धन, ज्ञानके सदृश लाभ तथा रामायणसे बड़कर कोई उतम ग्रन्थ नहीं है ॥ २३ ॥

तदन्ते वेदविदुषे गां दद्याच्च सदक्षिणाम् ।

रामायणं पुस्तकं च वस्त्रालंकरणादिकम् ॥ २४ ॥

रामायणकथाके अन्तमें वेदज्ञ ब्राह्मणको दक्षिणामहित गौका दान करे । उन्हें रामायणका पुस्तक तथा वस्त्र और आभूषण आदि दे ॥ २४ ॥

रामायणपुस्तकं यो वाचकाय प्रमच्छति ।

स याति विष्णुधवनं यत्र गत्वा न शोचति ॥ २५ ॥

जो वाचकको रामायणकी पुस्तक देता है, वह भगवान् विष्णुके धाममें जाता है जहाँ जाकर उसे कभी शोक नहीं करना पड़ता । २५ ।

नवाहजफलं कर्तुः शृणु धर्मविदां वर ।

पञ्चम्यां तु समारभ्य रामायणकथामृतम् ॥ २६ ॥

कथाश्रवणमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ।

धर्मार्त्ताओंमें श्रेष्ठ सनत्कुमार ! रामायणकी नवाहकथा सुननेसे यज्ञमानकी जो फल प्राप्त होता है उसे सुनो । पञ्चम्यां तिथिको रामायणकी अभ्युत्थन कथाका आरम्भ करके उसके श्रवणमात्रसे मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है । २६ ।

यदि ब्रह्मं कृते तस्य पुण्डरीकफलं लभेत् ॥ २७ ॥

व्रतधारी तु श्रवणं यः कुर्यात् स जितेन्द्रियः ।

अश्वमेधस्य यज्ञस्य द्विगुणं फलमश्नुते ॥ २८ ॥

चतुःकृत्वः श्रुते येन कथितं मुनिसत्तमाः ।

स लभेत् परमं पुण्यमग्निष्टोमाष्टसप्पलम् ॥ २९ ॥

यदि दो बार यह कथा श्रवण की गयी तो श्रोताको पुण्डरीकयज्ञका फल मिलता है । जो जितेन्द्रिय पुरुष

व्रतधारणपूर्वक रामायण कथाको श्रवण करता है, वह दो अश्वमेध यज्ञका फल पाता है । मुनिवरे ! जिसने चार बार इस कथाका श्रवण किया है, वह आठ अग्निष्टोमके परम पुण्यफलका भागी होता है ॥ २७—२९ ॥

पञ्चकृत्वो व्रतमिदं कृते येन महात्मना ।

अत्यग्निष्टोमजं पुण्यं द्विगुणं प्राप्नुवाश्रयः ॥ ३० ॥

जिस महात्मनस्की पुरुषने पाँच बार रामायणकथा-श्रवणका व्रत पूरा कर लिया है वह अत्यग्निष्टोम यज्ञके द्विगुण पुण्य-फलका भागी होता है ॥ ३० ॥

एवं व्रते स बह्वारं कुर्याद् यस्तु समाहितः ।

अग्निष्टोमस्य यज्ञस्य फलमष्टगुणं लभेत् ॥ ३१ ॥

जो एकाग्रचित्त होकर इस प्रकार छः बार रामायणकथाके व्रतका अनुष्ठान पूरा कर लेता है, वह अग्निष्टोमयज्ञके आठगुने फलका भागी होता है ॥ ३१ ॥

नारी वा पुरुषः कुर्यादष्टकृत्वो मुनीश्वराः ।

नरमेधस्य यज्ञस्य फलं पञ्चगुणं लभेत् ॥ ३२ ॥

मुनीश्वरो ! स्त्री हो या पुरुष, जो आठ बार रामायणकथाको सुन लेता है, वह नरमेधयज्ञका पाँचगुना फल पाता है ॥ ३२ ॥

नरो वाप्यथ नारी वा नववारं समाचरेत् ।

गोमेधस्यैव यज्ञं पुण्यं स लभेत् त्रिगुणं नरः ॥ ३३ ॥

जो स्त्री या पुरुष नौ बार इस व्रतका आचरण करता है, उसे तीन गोमेध-यज्ञका पुण्यफल प्राप्त होता है ॥ ३३ ॥

रामायणं तु यः कुर्याच्छान्तात्मा प्रयतेन्द्रियः ।

स याति परमानन्दं यत्र गत्वा न शोचति ॥ ३४ ॥

जो पुरुष शान्तचित्त और जितेन्द्रिय होकर रामायणयज्ञका अनुष्ठान करता है, वह उस परमानन्द-मय धाममें जाता है, जहाँ जाकर उसे कभी शोक नहीं करना पड़ता ॥ ३४ ॥

रामायणपरो नित्यं गङ्गास्नानपरायणः ।

धर्ममार्गप्रवक्तारो मुक्ता एवं न संशयः ॥ ३५ ॥

जो प्रतिदिन रामायणका पाठ अथवा श्रवण करता है, गङ्गा नहाना है और धर्ममार्गका उपदेश देता है, ऐसे लोग संसारसागरसे मुक्त हो जाते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ ३५ ॥

यतीनां ब्रह्मचारिणां प्रवीराणां च सप्तमाः ।

नवाह्ना किल श्रोतव्या कथा रामायणस्य च ॥ ३६ ॥

महात्माओ ! यतिगण, ब्रह्मचारियों तथा प्रवीरोंकी भी रामायणकी नवाहकथा सुननी चाहिये ॥ ३६ ॥

श्रुत्वा नरो रामकथामतिदीप्तोऽतिभक्तितः ।

ब्रह्मणः षट्सप्तमाद्यं सत्रैव परिमोदते ॥ ३७ ॥

रामकथाको अत्यन्त भक्तिपूर्वक सुनकर मनुष्य महान् नेत्रमे उदीप्त हो उठता है और ब्रह्मलोकमें जाकर वहीं आनन्दका अनुभव करता है ॥ ३७ ॥

तस्माच्छृणुध्वं विप्रेन्द्रा रामायणकथामृतम् ।

श्रोतॄणां च परं श्राव्यं पवित्राणामनुत्तमम् ॥ ३८ ॥

इसलिये विप्रेन्द्रगण । आपलोग रामायणकी अमृतमयी कथा सुनिये । श्रोताओंके लिये यह सर्वोत्तम श्रवणीय वस्तु है और पवित्रोंमें भी परम उत्तम है ॥ ३८ ॥

दुःस्वप्ननाशनं ह्यन्यं श्रोतव्यं च प्रयत्नतः ।

नरोऽत्र ब्रह्मपा युक्तः श्लोकं श्लोकार्द्धमेव च ॥ ३९ ॥

पठते मुच्यते सद्यो ह्युपपातककोटिभिः ।

सतामेव प्रयोक्तव्यं गुह्याद्गुह्यतमं तु यत् ॥ ४० ॥

दुःस्वप्नको नष्ट करनेवाली यह कथा अन्य है । इसे प्रयत्नपूर्वक सुनना चाहिये । जो मनुष्य ब्रह्मयुक्त होकर इसका एक श्लोक या आधा श्लोक भी पढ़ता है, वह तत्काल ही करोड़ों उपपातकोंसे मुक्तकारण पा जाता है । यह गुह्यमें भी गुह्यतम वस्तु है इसे सन्मुखोंको ही सुनाना चाहिये ॥ ३९-४० ॥

वाचयेद् रामभवने पुण्यक्षेत्रे च संसदि ।

ब्रह्मदेवतानां च दम्भाचाररतात्मनाम् ॥ ४१ ॥

लोकवञ्चकवृत्तीनां न ब्रूयादिदमुत्तमम् ।

भगवान् श्रीरामके मन्दिरमें अथवा किसी पुण्यक्षेत्रमें, गत्पुरुषोंको सभामें रामायणकथाका प्रवचन करना चाहिये जो ब्रह्मदेवों, पाखण्डपूर्ण आचारमें तत्पर तथा लोगोंको ठगनेवालों वृत्तिसे युक्त हैं, उन्हें यह परम उत्तम कथा नहीं सुनानी चाहिये ॥ ४१ ॥

त्यक्तकामादिदोषाणां रामभक्तिरतात्मनाम् ॥ ४२ ॥

गुरुभक्तिरतानां च यत्तव्यं मोक्षसाधनम् ।

जो काम आदि दोषोंका त्याग कर चुके हैं, जिनका मन रामभक्तिमें अनुरक्त रहता है तथा जो गुरुजनोंको सेवामें तत्पर हैं, उन्हींके समस्त यह मोक्षार्थ साधनभूत कथा बाँचनी चाहिये ॥ ४२ ॥

सर्वदेवमयो रामः स्मृतश्चातिप्रणोशनः ॥ ४३ ॥

सद्भक्तवत्सलो देवो भक्त्या तुष्यति नान्यथा ।

श्रीराम सर्वदेवमय मान गये हैं । वे आर्ति प्राणियोंकी पीड़ाका नाश करनेवाले हैं तथा ब्रह्म भक्तोंपर सदा हँस खेद रखते हैं । वे भगवान् भक्तिमें ही संतुष्ट होते हैं, दूसरे किसी उपायसे नहीं ॥ ४३ ॥

अवशेनापि यत्रापि कीर्तिते वा स्मृतेऽपि वा ॥ ४४ ॥

विमुक्तपातकः सोऽपि परमं पदमश्नुते ।

मनुष्य विवश होकर भी उनके नामका कीर्तन अथवा स्मरण कर लेनेपर समस्त पातकोंमें मुक्त हो परमपदका भागी होता है ॥ ४४ ॥

संसारधोरकान्तरदावाग्रिमधुसूदनः ॥ ४५ ॥

स्मृतॄणां सर्वपापानि नाशयत्याशु सत्तमाः ।

महात्माओ ! भगवान् मधुसूदन संसाररूपी भयकर एवं

दुर्गम वनको भस्म करनेके लिये दावानलके समान हैं । वे अपना स्मरण करनेवाले मनुष्योंके समस्त पापोंका शीघ्र ही नाश कर देते हैं ॥ ४५ ॥

तदर्थकमिदं पुण्यं काव्यं श्राव्यमनुत्तमम् ॥ ४६ ॥

श्रवणात् पठनात् वापि सर्वपापविनाशकम् ।
इस पवित्र काव्यके प्रतिपाद्य विषय वे ही हैं, अतः यह परम उत्तम काव्य सदा ही श्रवण करनेयोग्य है । इसका श्रवण अथवा पाठ करनेसे यह समस्त पापोंका नाश करनेवाला है ॥ ४६ ॥

यस्य रामरसे प्रीतिर्वर्तते धक्तिसंयुता ॥ ४७ ॥

स एव कृतकृत्यश्च सर्वशास्त्रार्थकोविदः ।
जिसके श्रीराम-रसमें प्रीति एवं भक्ति है, वही सम्पूर्ण शास्त्रोंके अर्थज्ञानमें निपुण और कृतकृत्य है ॥ ४७ ॥

सदर्जितं तपः पुण्यं तत्सत्यं सफलं द्विजाः ॥ ४८ ॥

यदर्थश्रवणे प्रीतिरन्यथा न हि वर्तते ।
ब्राह्मण ! उसके उपाजित की हुई तपस्वी पवित्र, सत्य और सफल है, क्योंकि राम रसमें प्रीति हुए बिना रामायणके अर्थ-श्रवणमें प्रेम नहीं होता है ॥ ४८ ॥

रामायणपरा ये तु रामनामपरायणः ॥ ४९ ॥

त एव कृतकृत्याश्च घोरे कलियुगे द्विजाः ।
जो द्विज इस भयंकर कलिकालमें रामायण तथा श्रीरामनामका महाराज लेते हैं वे ही कृतकृत्य हैं ॥ ४९ ॥

नवाह्ना किल श्रोतव्यं रामायणकथामृतम् ॥ ५० ॥

ते कृतज्ञा महात्मानस्तोभ्यो नित्यं नमो नमः ।
रामायणकी इस अमृतमयी कथाका नवाह्न श्रवण करना चाहिये । जो महात्मा ऐसा करते हैं, वे कृतज्ञ हैं । उन्हें प्रतिदिन मेरा बारम्बार नमस्कार है ॥ ५० ॥

रामनामैव नामैव नामैव मय जीवनम् ॥ ५१ ॥

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ।
श्रीरामका नाम—केवल श्रीराम—नाम ही मेरा जीवन है । कलियुगमें और किसी उपायसे जीवोंकी सद्गति नहीं होती नहीं होती, नहीं होती ॥ ५१ ॥

सूत उवाच

एवं सन्त्कुमारस्तु नारदेन महात्मना ॥ ५२ ॥

सप्यक् प्रबोधितः सद्यः परां निर्वृतिमाप ह ।
सूतजी कहते हैं—महात्मा नारदजीके द्वारा इस प्रकार अनोपदेश पाकर सन्त्कुमारजीको तत्काल ही परमानन्दकी प्राप्ति हो गयी ॥ ५२ ॥

तस्माच्छृणुध्वं विप्रेन्द्रा रामायणकथामृतम् ॥ ५३ ॥

नवाह्ना किल श्रोतव्यं सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
अतः विप्रेन्द्र ! तुम सब लोग रामायणकी अमृतमयी कथा सुनो । रामायणको नौ दिनोंमें ही सुनना चाहिये । ऐसा करनेवाला समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ५३ ॥

श्रुत्वा चैतन्महाकाव्यं वाचकं यस्तु पूजयेत् ॥ ५४ ॥
तस्य विष्णुः प्रसन्नः स्याच्छ्रुत्वा सह द्विजोत्तमाः ।

द्विजोत्तमो । इस महान् काव्यकी सुनकर जो वाचकको पूजा करता है, उसपर लक्ष्मणमणि भगवान् विष्णु प्रसन्न होत हैं ॥

वाचके प्रीतिमापन्ने ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ॥ ५५ ॥
प्रीता भवन्ति विघ्नेना नात्र कार्या विचारणा ।

विघ्नेन्द्राणां । वाचकके प्रसन्न होनेपर ब्रह्मा, विष्णु और महादेवकी प्रशंसा हो जाते हैं इस विषयमें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये ॥ ५५ ॥

रामायणवाचकाय गावो वासांसि काञ्चनम् ॥ ५६ ॥
रामायणपुस्तकं च दद्याद् वित्तानुसारतः ।

रामायणके वाचकको अपने वैश्वके अनुसार गौ, घोस, सुवर्ण तथा रामायणकी पुस्तक आदि वस्तुएं दानों चाहिये

तस्य पुण्यफलं वक्ष्ये शृणुध्वं सुममाहिता ॥ ५७ ॥
न चाद्यन्ते महास्तस्य भूतवेतालकादयः ।

तस्यैव सर्वश्रेयांसि वर्द्धन्ते चरिते श्रुते ॥ ५८ ॥

उस दानका पुण्यफल बतल रहा है, आपलोग एकाग्रचित्त होकर सुनें । उस दानको ग्रह तथा भूत-वेताल आदि कभी बाधा नहीं पहुँचाते श्रीरामचरित्रका श्रवण करनेपर श्रोतके सम्पूर्ण श्रेयकी वृद्धि होती है ॥ ५७-५८ ॥

न चाग्निर्वाधते तस्य न चौरादिभयं तथा ।
एतज्जन्मार्जितैः पापैः सद्य एव विमुच्यते ॥ ५९ ॥

सप्तवंशसमेतस्तु देहान्ते मोक्षमाप्नुयात् ।

इससे न तो अग्निको बाधा प्राप्त होती है और न चोर आदिका भय ही । वह इस जन्ममें उपार्जित किये हुए समस्त पापोंसे तत्काल मुक्त हो जाता है । वह इस ईश्वरका अन्न होनेपर अपनी सात पीढ़ियोंके साथ मोक्षका भोग होता है ॥ ५९ ॥

इत्येतद्गुः समाख्यातं नारदेन प्रभावितम् ॥ ६० ॥
सनत्कुमारमुनये पृच्छते भक्तितः पुरा ।

पूर्वकालमें सनत्कुमार मुनिके भक्तिपूर्वक पृष्ठनेपर नारदजीने उनसे जो कुछ कहा था वह सब मैं आपलोगोंको बतला दिया ॥ ६० ॥

रामायणमादिकाव्यं सर्ववेदार्थसम्पत् ॥ ६१ ॥
सर्वपापहरे पुण्यं सर्वदुःखनिवर्हणम् ।

समस्तपुण्यफलदं सर्वयज्ञफलप्रदम् ॥ ६२ ॥

रामायण आदिकाव्य है । यह सम्पूर्ण वेदार्थकी

सम्पत्तिके अनुकूल है । इसके द्वारा समस्त पापोंका निवारण हो जाता है । यह पुण्यमय काव्य सम्पूर्ण दुःखोंका विनाशक तथा समस्त पुण्यों और यज्ञोंका फल देनेवाला है ॥ ६१-६२ ॥

ये पठन्त्यत्र विबुधाः श्लोकं श्लोकार्द्धमेव च ।
न तेषां पापबन्धस्तु कदाचिदपि जायते ॥ ६३ ॥

जो विद्वान् इमके एक या आधे श्लोकका भी पाठ करते हैं, उनके कभी पापका बन्धन नहीं प्राप्त होता ॥ ६३ ॥

रामार्पितमिदं पुण्यं काव्यं तु सर्वकामदम् ।
भक्त्या शृण्वन्ति विद्वन्ति तेषां पुण्यफलं शृणु ॥ ६४ ॥

श्रीरामको समर्पित किया हुआ यह पुण्यकाव्य सम्पूर्ण कामनाभरका दानवाला है । जो लोग भक्तपूर्वक इसे सुनते और समझते हैं, उनको प्राप्त होनेवाले पुण्य-फलका वर्णन सुनो ॥ ६४ ॥

शतजन्मार्जितैः पापैः सद्य एव विधोचिताः ।
सहस्रकुलसंयुक्तैः प्रयान्ति परमं पदम् ॥ ६५ ॥

वे लोग सौ जन्मोंमें उपार्जित किये हुए पापोंसे तत्काल मुक्त हो अपनी हजारों पीढ़ियोंके साथ परमपदको प्राप्त होते हैं ॥ ६५ ॥

किं तीर्थैर्गोप्रदानैर्वा किं तपोभिः किमध्वरैः ।
अहन्यहनि रामस्य कीर्तनं परिशृण्वताम् ॥ ६६ ॥

जो प्रतिदिन श्रीरामका कीर्तन सुनते हैं, उनके लिये तीर्थ-सेवन, गोदान, तपस्या तथा यज्ञोंकी क्या आवश्यकता है ॥

चैत्रे माघे कार्तिके च रामायणकथामृतम् ।
नवैरहोभिः श्रोतव्यं रामायणकथामृतम् ॥ ६७ ॥

चैत्र, माघ तथा कार्तिकमें रामायणकी अमृतमयी कथाका नवाह-पाठश्रवण सुनना चाहिये ॥ ६७ ॥

रामप्रसादजनकं रामभक्तिविवर्धनम् ।
सर्वपापक्षयकरं सर्वसम्पदिवर्द्धनम् ॥ ६८ ॥

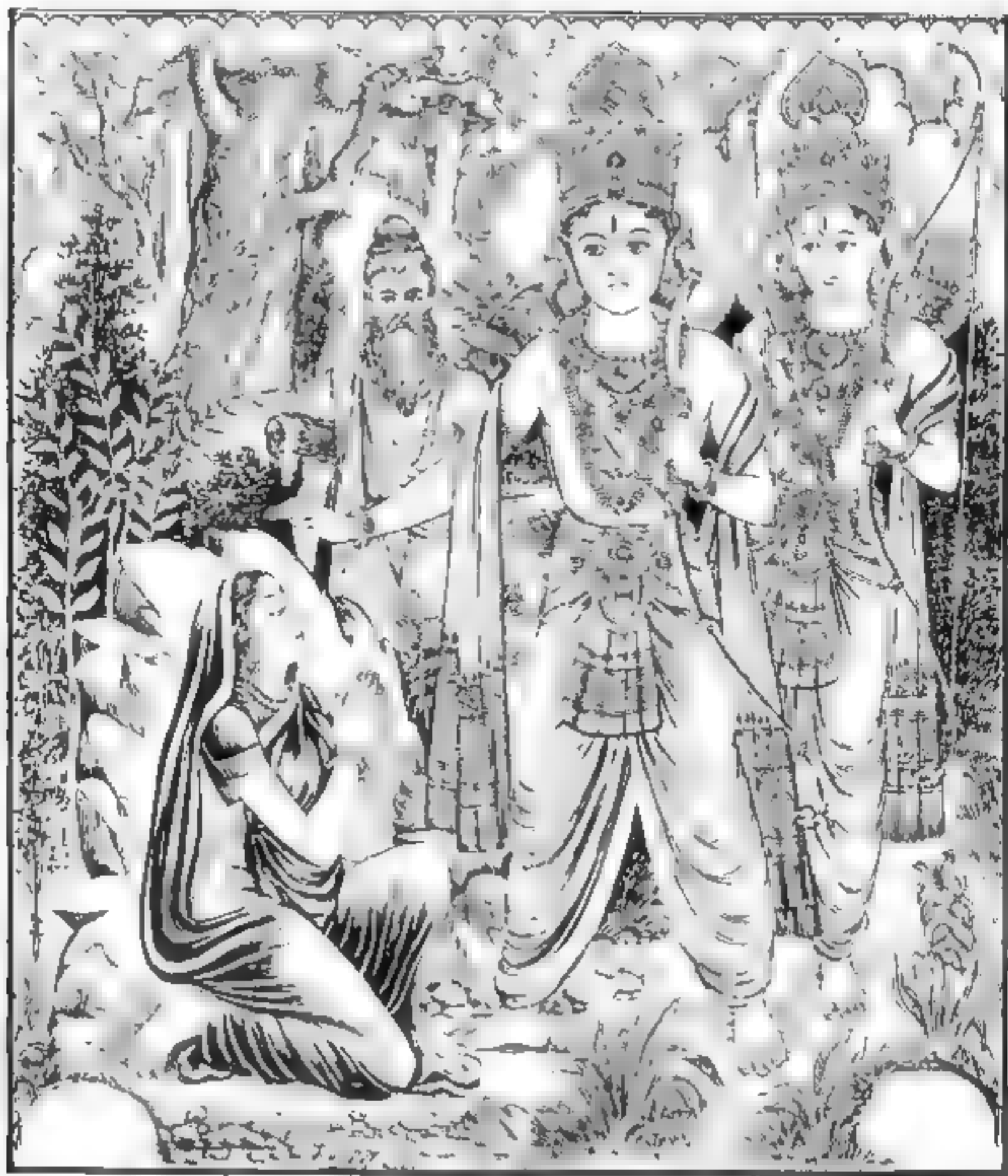
रामायण श्रीरामचन्द्रजीकी प्रसन्नता प्राप्त करनेवाला, श्रोगमभक्तिको बढ़ानेवाला, समस्त पापोंका विनाशक तथा सभी सम्पत्तियोंकी वृद्धि करनेवाला है ॥ ६८ ॥

यस्त्वेतच्छृणुयाद् वापि पठेद् वा सुममाहितः ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो विष्णुलोकं स गच्छति ॥ ६९ ॥

जो एकाग्रचित्त होकर रामायणको सुनता अथवा पढ़ता है वह सब पापोंसे मुक्त हो भगवान् विष्णुके लोकमें जाता है ॥ ६९ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे उत्तरखण्डे नारदसनत्कुमारसंवादे रामायणमाहात्म्ये फलानुकीर्तनं नाम षष्ठमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीस्कन्दपुराणके उत्तरखण्डमें श्रीनारद सनत्कुमार संवादेके अन्तर्गत रामायणमाहात्म्यके प्रसङ्गमें फलका वर्णन नामक पर्वका अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥



अहल्या-उद्धार

श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणम्

बालकाण्डम्

प्रथमः सर्गः

नारदजीका वाल्मीकि मुनिको संक्षेपसे श्रीरामचरित्र सुनाना

ॐ तपःस्वाध्यायनिरतं तपस्वी चाग्निदो वरम् ।

नारदं परिप्रच्छ वाल्मीकिर्मुनिपुङ्गवम् ॥ १ ॥

तपस्वी वाल्मीकिजीने तपस्या और स्वाध्यायमें लगे हुए विद्वानोंमें श्रेष्ठ मुनिवर नारदजीसे पूछा— ॥ १ ॥

को न्यस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान् ।

धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रतः ॥ २ ॥

'[मुने !] इस समय इस संसारमें गुणवान्, वीर्यवान्, धर्मज्ञ उपकार धाननेवाला, सत्यवाक्य और दृढव्रतिज्ञ कौन है ? ॥ २ ॥

चारित्र्येण च को युक्तः सर्वभूतेषु को हितः ।

विद्वान् कः कः समर्थश्च कश्चैकप्रियदर्शनः ॥ ३ ॥

'सदाचारसे युक्त, समस्त प्राणियोंका हितसंरक्षक, विद्वान्, सामर्थ्यशाली और एकमात्र प्रियदर्शन (सुन्दर) पुरुष कौन है ? ॥ ३ ॥

आत्मवान् को जितक्रोधो ह्युतिमान् कोऽनसूयकः ।

कस्य विध्यति देवाश्च आतरोषस्य संयुगे ॥ ४ ॥

'मनपर अधिकार रखनेवाला, क्रोधको जोकनेवाला, कान्तिमान् और किसीको भी निन्दा नहीं करनेवाला कौन है ? तथा संग्राममें कुपित होनेपर किससे देवता भी डरते हैं ? ॥ ४ ॥

एतदिच्छाम्याहं श्रोतुं परं कीदृशं हि मे ।

यहर्षे त्वं समर्थोऽसि ज्ञातुमेवंविधं नरम् ॥ ५ ॥

'महर्षे ! मैं यह सुनना चाहता हूँ, इसके लिये मुझ बड़ा उत्सुकता है और आप ऐसे पुरुषको जाननेमें समर्थ हैं' ॥ ५ ॥

श्रुत्वा चैतद्विस्तीर्णो वाल्मीकीर्नारदो वचः ।

श्रूयतामिति घामन्त्र्य प्रहृष्टो वाक्यमब्रवीत् ॥ ६ ॥

महर्षि वाल्मीकिके इस वचनको सुनकर तीनों लोकांका ज्ञान रखनेवाले नारदजीने उन्हें सम्बोधित करके कहा, अच्छा सुनिये और फिर प्रमत्ततापूर्वक बोलें— ॥ ६ ॥

बहवो दुर्लभाश्च ये त्वया कीर्तिता गुणाः ।

पुने वक्ष्याम्याहं बुद्ध्वा तैर्युक्तः श्रूयतां नरः ॥ ७ ॥

'मुने ! आपने जिन बहुत-से दुर्लभ गुणोंका वर्णन किया है, उनसे युक्त पुरुषको मैं विचार करके कहता हूँ, आप सुनें ॥ ७ ॥

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः ।

नियतात्मा महावीर्यो ह्युतिमान् धृतिमान् वशी ॥ ८ ॥

'इक्ष्वाकुके वंशमें उत्पन्न हुए एक ऐसे पुरुष हैं, जो लोगोंमें राम-नामसे विख्यात हैं, वे ही मनको वशमें रखनेवाले, महाबलवान्, कान्तिमान्, वीर्यवान् और जितेन्द्रिय हैं ॥ ८ ॥

बुद्धिमान् नीतिमान् चागमो श्रीमाञ्छत्रुनिबर्हणः ।

विपुलांसो महाबाहुः कम्बुग्रीवो महाहनुः ॥ ९ ॥

'वे बुद्धिमान्, नीतिज्ञ, वक्ता, शोभायमान तथा शत्रुसंहारक हैं। उनके कंधे मोटे और भुजाएँ बड़ी-बड़ी हैं। प्रवा शङ्खके समान और छोड़ी मांसल (पुष्ट) हैं ॥ ९ ॥

महोरस्को महेश्वासो गुरुजगुरिन्दमः ।

आजानुबाहुः सुशिराः सुललाटः सुविक्रमः ॥ १० ॥

'उनकी छाती चौड़ी तथा धनुष बड़ा है, गलेका नीचेकी हड्डी (हंसली) मांससे छिपी हुई है वे शत्रुओंका दमन करनेवाले हैं। भुजाएँ घुटनेतक लम्बी हैं, मस्तक सुन्दर है, ललाट भव्य और चाल मनोहर है ॥ १० ॥

समः समविभक्ताङ्गः स्निग्धवर्णः प्रतापवान् ।

पीनवक्षा विशालाक्षो लक्ष्मीवाञ्छुभलक्षणः ॥ ११ ॥

'उनका शरीर [अधिक ऊँचा या नाटा न होकर] मध्यम और सुडौल है, देहका रंग चिकना है वे बड़े प्रतापी हैं। उनका वक्ष स्थूल भरा हुआ है, आँखें बड़ी-बड़ी हैं। वे शोभायमान और शुभलक्षणोंसे सम्पन्न हैं ॥ ११ ॥

धर्मज्ञः सत्यसंधश्च प्रजानां च हिते रतः ।

यशस्वी ज्ञानसम्पन्नः शुचिर्विद्वयः समाधिमान् ॥ १२ ॥

धर्मके ज्ञाता, सत्यप्रतिज्ञ तथा प्रजाके हित साधनर्म लग्न रहनेवाले हैं। वे यशस्वी, ज्ञानी, पक्कि, जितेन्द्रिय और मनको एकाग्र रखनेवाले हैं ॥ १२ ॥

प्रजापतिसमः श्रीमान् धाता रिपुनिवृत्तः ।

रक्षिता जीवलोकस्य धर्मस्य परिरक्षिता ॥ १३ ॥

'प्रजापतिके समान पालक, श्रीसम्पन्न, वैरिविध्वंसक और जीवों तथा धर्मके रक्षक हैं ॥ १३ ॥

रक्षिता स्वस्य धर्मस्य स्वजनस्य च रक्षिता ।

वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः ॥ १४ ॥

'स्वधर्म और स्वजनोंके पालक, वेद-वेदाङ्गोंके तत्त्वज्ञता तथा धनुर्वेदमें प्रवीण हैं ॥ १४ ॥

सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान् प्रतिभानवान् ।

सर्वलोकप्रियः साधुरदीनात्मा विचक्षणा ॥ १५ ॥

'वे अखिल शास्त्रोंके तत्त्वज्ञ, स्मरणशक्तिसंयुक्त और प्रतिभासम्पन्न हैं। अच्छे विचार और उदार हृदयवाले वे श्रीरामचन्द्रजी चानक्षान करनेमें चतुर तथा समस्त लोकोंके प्रिय हैं ॥ १५ ॥

सर्वदाभिगतः सद्भिः समुद्र इव सिन्धुभिः ।

आर्यः सर्वममर्शव सदैव प्रियदर्शनः ॥ १६ ॥

'जैसे नदियाँ समुद्रमें मिलती हैं, उसी प्रकार सदा राममें साधु पुरुष मिलते रहते हैं। वे आर्य एवं सर्वमें समान भाव रखनेवाले हैं, उनका दर्शन सदा ही प्रिय मान्य होता है ॥ १६ ॥

स च सर्वगुणोपेतः कौमल्यानन्दवर्धनः ।

समुद्र इव गाम्भीर्यं धैर्येण हिमत्वानिव ॥ १७ ॥

'सम्पूर्ण गुणोंसे युक्त वे श्रीरामचन्द्रजी अपना माता कौमल्याक आनन्द बढ़ानेवाले हैं गाम्भीर्यतामें समुद्र और धैर्यमें हिमालयके समान हैं ॥ १७ ॥

विष्णुना सदृशो वीर्यं सोमवत्प्रियदर्शनः ।

कालाग्रिमदृशः क्रोधे क्षमया पृथिवीसमः ॥ १८ ॥

धनदेन समस्त्यागे सत्ये धर्म इवापरः ।

'वे विष्णुभागवान्के समान बलवान् हैं। उनका दर्शन चन्द्रमाके समान मनोहर प्रतीत होता है। वे क्रोधमें कालाग्रिके समान और क्षमामें पृथिवीके सदृश हैं, त्यागमें कुम्भर और सत्यमें द्वितोय धर्मराजके समान हैं ॥ १८ ॥

तमेवंगुणसम्पन्नं रामं सत्यपराक्रमम् ॥ १९ ॥

ज्येष्ठं ज्येष्ठगुणैर्युक्तं प्रियं दशरथः सुतम् ।

प्रकृतीनां हितैर्युक्तं प्रकृतिप्रियकाम्प्रया ॥ २० ॥

वीवराज्येन संयोज्यमैच्छन् प्रीत्या महोपतिः ।

'इस प्रकार उत्तम गुणोंसे युक्त और सत्यपराक्रम-वाले सदगुणशाली अपने प्रियतम ज्येष्ठ पुत्रके, जो प्रजाके हितमें सलग्न रहनेवाले थे, प्रजावर्गके हित करनेकी इच्छासे राजा दशरथने प्रेमवश युवसत्वपटपर

अभिषिक्त करना चाहा ॥ १९-२० ॥

तस्याभिषेकसम्भारान् दृष्ट्वा भार्याथ कैकयी ॥ २१ ॥

पूर्वं दत्तवरा देवी वरमेनमयाचन ।

विधासने च रामस्य भरतस्याभिषेचनम् ॥ २२ ॥

'तदनन्तर रामके राज्याभिषेककी तैयारियाँ देखकर रानी कैकेयीने, जिसे पहले ही वर दिया जा चुका था, राजासे यह वर माँगा कि उसका निर्वासन (वनवास) और भरतका राज्याभिषेक हो ॥ २१-२२ ॥

स सत्यवचनाद् राजा धर्मपाशेन संयतः ।

विधासयापास सुतं रामं दशरथः प्रियम् ॥ २३ ॥

'राजा दशरथने सत्य वचनके कारण धर्म-बन्धनमें बंधकर प्यार पुत्र रामको वनवास दे दिया ॥ २३ ॥

स जगाम वने वीरः प्रतिज्ञामनुपालयन् ।

पितुर्वचननिर्देशात् कैकेय्याः प्रियकारणात् ॥ २४ ॥

'कैकेयीका प्रिय करनेके लिये पिताकी आज्ञाके अनुसार रामकी प्रतिज्ञाका पालन करने हुए वीर रामचन्द्र वनकी चले ॥ २४ ॥

ते व्रजन्ते प्रियो भ्राता लक्ष्मणोऽनुजगाम ह ।

स्नेहाद् विनयसम्पन्नः सुमित्रानन्दवर्धनः ॥ २५ ॥

भ्रातरं दयितो भ्रातुः सौभ्रात्रमनुदर्शयन् ।

'तब सुमित्राके आनन्द बढ़ानेवाले विनयशील लक्ष्मणजने भी, जो अपन खड़े भाई रामका बहुत ही प्रिय थे अपन भुवभुत्वका परिचय देने हुए अतःवश तमको जानेवाले बन्धुपर रामका अनुसरण किया ॥ २५ ॥

रामस्य दयिता भार्या नित्यं प्राणसमा हिता ॥ २६ ॥

जनकस्य कुले जाता देवमायेव निर्मिता ।

सर्वलक्षणसम्पन्ना नारीणामुत्तमा बधूः ॥ २७ ॥

सीताप्यनुगमा रामे शशिने रोहिणी यथा ।

पौररनुगतो दूरं पित्रा दशरथेन च ॥ २८ ॥

'और जनकके कुलमें उत्पन्न सीता भी, जो अवतीर्ण हुई देवमायाकी भाँति सुन्दरी, ममस्त शुभलक्षणोंसे विभूषित, स्त्रियोंमें उत्तम, रामके प्राणोंके समान प्रियतमा पत्नी तथा सदा ही पतिके हित चाहनेवाली थी, रामचन्द्रजीके पाछे चली, जैसे चन्द्रमाके पीछे रोहिणी चलती है। उस समय पिता दशरथ [ने अपना सारथि भेजकर] और पुत्रासी मनुष्योंने [स्वयं साथ जाकर] दूरतक उनका अनुसरण किया ॥ २६-२८ ॥

शृङ्गवेरपुरे सून गङ्गाकूले व्यसर्जयत् ।

गुहमासाद्य धर्मात्मा निषादाधिपति प्रियम् ॥ २९ ॥

'फिर शृङ्गवेरपुरमें गङ्गा-तटपर अपने प्रिय निषादराज गुह्यके पास पहुँचकर धर्मात्मा श्रीरामचन्द्रजीने सारथिकों [अयोध्याके लिये] बिदा कर दिया ॥ २९ ॥

गुहेन सहितो रामो लक्ष्मणेन च सीतया ।

ते वनेन वने गत्वा नदीस्तीर्त्वा बहूदकाः ॥ ३० ॥

चित्रकूटमनुप्राप्य भरद्वाजस्य शासनात् ।
रथमावसथ कृत्वा रममाणा वने त्रयः ॥ ३१ ॥
देवगन्धर्वसंकाशास्तत्र ते न्यवसन् सुखम् ।

निपादगज गुह, लक्ष्मण और सीताक साथ राम—ये
तीनों एक-दूसरे वनमें गये । माग्य बहुत जलोन्धारी
अनेकों मन्दिरोंका पाग करके [भारद्वाजके आश्रमपर पहुँचे
और गुहका वहाँ छड़] भरद्वाज मुनिकी आज्ञाने चित्रकूट
पर्वतपर गये । वहाँ से तीनों देवता और गन्धर्वोंके समान
वनमें माना प्रकारकी लीलाएँ करते हुए एक गमणोद्य पर्वकूटी
बनाकर उसमें सानन्द रहने लगे ॥ ३०-३१ ॥

चित्रकूट गते रामे पुत्रशोकातुरस्तदा ॥ ३२ ॥
राजा दशरथः स्वर्गं जगाम विलपन् सुतम् ।

'रामके चित्रकूट चले आनपर पुत्रशोकसे पीड़ित राजा
दशरथ उस समय पुत्रके लिये [उसका नाम ले-लेकर]
बिलाप करते हुए स्वर्गगायी हुए ॥ ३२ ॥

गते तु तस्मिन् भरतो वसिष्ठप्रमुखैर्हितैः ॥ ३३ ॥
नियुज्यमानो राज्याय नैच्छत् राज्यं महाबलः ।

स जगाम वनं वीरो रामपादप्रसादकः ॥ ३४ ॥

'उनके स्वर्गगमनके पश्चात् वसिष्ठ आदि प्रमुख
ब्राह्मणोंद्वारा संन्यसनात्मक लिये नियुक्त किये जानेपर
भी महाबलशाली वीर भरतने राज्यकी कामना न करके
पूज्य रामको प्रसन्न करनेके लिये वनको ही प्रस्थान
किया ॥ ३३-३४ ॥

गत्वा तु स महात्मानं रामं सत्यपराक्रमम् ।
अयाचद् भ्रातरे राममर्यादापुनश्चतः ॥ ३५ ॥
स्वमेव राजा धर्मज्ञ इति रामे बचोऽब्रवीत् ।

'वहाँ पहुँचकर सत्यवनायुक्त भगवान् अपने बड़े भाई
सत्यपराक्रमी महान्मा रामसे याचना की और यों कहा—
धर्मज्ञ ! आप ही राजा हों ॥ ३५ ॥

रामोऽपि परमादारः सुमुखः सुमहायशाः ॥ ३६ ॥
न वैच्छत् पितुरादेशाद् राज्यं रामो महाबलः ।

पादुकं चास्य राज्याय न्यासं दत्त्वा पुनः पुनः ॥ ३७ ॥
निर्वर्तयामास ततो भरते भरताग्रजः ।

'परन्तु महान् यशस्वी परम उदार प्रसन्नमुख महाधर्मी
रामने भी पिताके आदेशका पालन करते हुए राज्यकी
अधिकलाभ न की और उन भरताग्रजने राज्यके लिये न्यास
(चिह्न) रूपमें अपनी सजाके भागको देकर उन्हें बार-बार
आग्रह करके लौटा दिया ॥ ३६-३७ ॥

स काममनवाप्यथ रामपादालुपस्पृशन् ॥ ३८ ॥
नन्दिग्रामेऽकरोद् राज्यं रामागमनकाङ्क्षया ।

'अपनी अपूर्ण इच्छाको लेकर ही भरतने रामके चरणोंका
स्पर्श किया और रामके आगमनको प्रार्थना करने हुए वे
नन्दिग्राममें राज्य करने लगे ॥ ३८ ॥

गते तु भरते श्रीमान् सत्यसेधो जितेन्द्रियः ॥ ३९ ॥
रामस्तु पुनरालक्ष्य नागरस्य जनस्य च ।

तत्रागमनमेकाग्रो दण्डकान् प्रविवेश ह ॥ ४० ॥
भरतके लौट आनपर सत्यप्रतिज्ञा जितेन्द्रिय श्रीमान्
रामने वहाँपर पुनः नागरिक जनोक्त आना-जाना देखकर
[उनमें वचनेके लिये] एकाग्रभावसे दण्डकारण्यमें प्रवेश
किया ॥ ३९-४० ॥

प्रविश्य तु महारण्यं रामो राजीवलोचनः ।
विराधं राक्षसं हत्वा शरभङ्गं ददर्श ह ॥ ४१ ॥
सुतीक्ष्णं चाप्यगस्त्यं च अगस्त्यभ्रातरे तथा ।

उस महान् वनमें पहुँचनेपर कमललोचन रामने विराध
नामक राक्षसको मारकर शरभङ्ग, सुतीक्ष्ण, अगस्त्य मुनि
तथा अगस्त्यके भ्राताका दर्शन किया ॥ ४१ ॥

अगस्त्यवचनाश्रितं जगार्हदं शरासनम् ॥ ४२ ॥
स्वर्द्धं च परधर्मीतस्तूणी चाक्षयसायकी ।

फिर अगस्त्य मुनिक कहनेसे उन्होंने ऐन्द्र धनुष, एक
कद्द और दो तूणों, जिनमें बाण कभी नहीं घटते थे,
प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण किये ॥ ४२ ॥

वसतस्तस्य रामस्य वने वनचरैः सह ॥ ४३ ॥
ऋषयोऽभ्यागमन् सर्वे वधाधासुररक्षसाम् ।

'एक दिन वनमें वनचरोंके साथ रहनेवाले श्रीरामके पास
असुर तथा राक्षसोंके बंधके लिये निवेदन करनेवाले वहाँके
सभी ऋषि आये ॥ ४३ ॥

स तेषां प्रतिशुश्राव राक्षसानां तदा वने ॥ ४४ ॥
प्रतिज्ञातश्च रामेण वधः संयति रक्षसाम् ।

ऋषीणापत्रिकल्पानां दण्डकारण्यवासिनाम् ॥ ४५ ॥

'उस समय वनमें श्रीरामने दण्डकारण्यवासियों अत्रिके
समान तेजस्वी उन ऋषियोंकी राक्षसोंके मारनेका वचन दिया
और संध्याममें उनके बंधकी प्रतिज्ञा की ॥ ४४-४५ ॥

तेन तत्रैव वसता जनस्थाननिवासिनी ।
विरूपिता शूर्पणखा राक्षसी कामरूपिणी ॥ ४६ ॥

'वहाँ ही रहते हुए श्रीरामने इच्छानुसार रूप बनाने-
वाली जनस्थाननिवासिनी शूर्पणख नामकी राक्षसीको
[लक्ष्मणके द्वारा उसको नाक काटकर] कुरूप कर दिया ॥

नतः शूर्पणखावाक्यादुद्युक्तान् सर्वराक्षसान् ।
खरं त्रिशिरसं चैव दूषणं चैव राक्षसम् ॥ ४७ ॥

विजधान रणे रामस्तेषां चैव पदानुगान् ।

तब शूर्पणखाके कहनेसे बहुतों करनेवाले सभी
राक्षसोंकी और खर, दूषण, त्रिशिर तथा उनके पृष्ठपोषक
असुरोंकी समस्त युद्धमें मार डाला ॥ ४७ ॥

वने तस्मिन् निवसता जनस्थाननिवासिनाम् ॥ ४८ ॥
रक्षसां निहतान्वासन् सहस्राणि चतुर्दश ।

'उस वनमें निवास करते हुए उन्होंने जनस्थानवासी

चौदह हजार राक्षसोंका वध किया ॥ ४८ ॥

ततो ज्ञातिवधं श्रुत्वा रावणः क्रोधमुर्चितः ॥ ४९ ॥

सहायं वरकाभास मारीचं नाम राक्षसम् ।

‘तदनन्तर अपने कुटुम्बका वध सुनकर रावण नामक राक्षस क्रोधसे मूर्च्छित हो उठा और उसने मारीच राक्षससे सहायता माँगी ॥ ४९ ॥

चार्यमाणः सुबहुशो मारीचेन स रावणः ॥ ५० ॥

न विरोधो बलवता क्षमो रावण तेन ते ।

अनादृत्य तु तद्वाक्यं रावणः कालचोदितः ॥ ५१ ॥

जगाम सहमारीचस्तस्माश्रमपदं तदा ।

‘यद्यपि मारीचने यह कहकर कि ‘रावण ! उस बलवान् रामके साथ तुम्हारा विरोध ठीक नहीं है रावणको अनेकों बार मना किया, परंतु कालकी प्रेरणासे रावणने मारीचके वाक्योंको गाल दिया और उसके साथ ही रामके आश्रमपर गया ॥ ५०-५१ ॥

तेन पाथाविना दूरमपवाह्य नृपात्मजौ ॥ ५२ ॥

अहार भायौ रामस्य गृध्रं हत्वा जटायुषम् ।

‘मायाजी मारीचके द्वारा उसने दोनों राजकुमारोंको आश्रमसे दूर हटा दिया और स्वयं रामको पत्नी सीताका अपहरण कर लिया, [जाने समय मार्गमें विघ्न डालनेके कारण] उसने जटायुनामक गृध्रका वध किया ॥ ५२ ॥

गृध्रं च निहतं दृष्ट्वा हतौ श्रुत्वा च मैथिलीम् ॥ ५३ ॥

राघवः शोकसंतप्तो बिललापाकुलेन्द्रियः ।

‘तत्पश्चात् जटायुको आहत देखकर और (उसीके मूलमें) सीताका हरण सुनकर रामचन्द्रजी शोकमें पीड़ित होकर विराप करने लगे, उस समय उनको मभी इन्द्रियों व्याकुल हो उठी थीं ॥ ५३ ॥

ततस्तेनैव शोकं गृध्रं दग्ध्वा जटायुषम् ॥ ५४ ॥

मार्गमाणो बने सीता राक्षसं संदर्श ह ।

कलशं नाम रूपेण विकृतं घोरदर्शनम् ॥ ५५ ॥

तं निहत्य महाबाहुर्ददाह स्वर्गतश्च सः ।

‘फिर उसी शोकमें पड़े हुए उन्होंने जटायु गृध्रका आग्र-संस्कार किया और खनमें मानाको दंडित हुए कवच नामक राक्षसको देखा, जो शरीरमें विकृत तथा भयंकर दीगर्जनवाला था । महाबाहु रामने उसे मारकर उमर में ही दाह किया, अतः वह स्वर्गमें चला गया ॥ ५४-५५ ॥

स चास्य कथयामास शबरो धर्मचारिणीम् ॥ ५६ ॥

श्रमणां धर्मनिपुणामभिगच्छेति राघव ।

‘जाने समय ठमने रामसे धर्मचारिणी शबरीका पता चतलाया और कहा—‘सुन्दर ! आप धर्मपरायणा संन्यासिनी शबरीके आश्रमपर जाइये ॥ ५६ ॥

सोऽध्यगच्छन्महानेजाः शबरो शत्रुसूदनः ॥ ५७ ॥

शबरी पृजितः सम्यग् रामो दशरथात्मजः ।

‘शत्रुहन्ता महान् नेजस्यो दशरथकुमार राम शबरीके यहाँ गये, उसने इनका चलोभाति पूजन किया ॥ ५७ ॥

पश्चात्तरे हनुमता सङ्गतो वानरेण ह ॥ ५८ ॥

हनुमद्वचनार्थं सुग्रीवेण समागतः ।

‘फिर वे पष्पाससके तटपर हनुमान् नामक वानरसे मिले और उन्हींके कहनेसे सुग्रीवसे भी मेल किया ॥ ५८ ॥

सुग्रीवाय च तत्सर्वं शंसद्रामो महाबलः ॥ ५९ ॥

आदितस्तद् यथावृत्तं सीतायाश्च विशेषतः ।

‘तदनन्तर महाबलवान् रामने आदिसे ही लेकर जो कुछ हुआ था वह और विशेषतः सीताका वृत्तान्त सुग्रीवसे कह सुनाया ॥ ५९ ॥

सुग्रीवश्चापि तत्सर्वं श्रुत्वा रामस्य वानरः ॥ ६० ॥

बकार वरुणं रामेण प्रीतश्चैवाग्निसाक्षिकम् ।

‘वानर सुग्रीवने रामकी सारी बातें सुनकर उनके साथ प्रेमपूर्वक अग्निको साक्षा वनाकर मित्रता की ॥ ६० ॥

ततो वानरराजेन वीरानुकथने प्रति ॥ ६१ ॥

रामायाचंदितं सर्वं प्रणयाद् दुःखितेन च ।

‘उसके बाद वानरराज मुग्रीवने खहबड़ा बालीके साथ वीर भूमेकी मारी बात रामसे दुःखों होकर बतलायी ॥ ६१ ॥

प्रतिज्ञाते च रामेण तदा बालिवधं प्रति ॥ ६२ ॥

बालिनश्च बलं तत्र कथयामास वानरः ।

सुग्रीवः शङ्कितश्चासीन्नित्यं वीर्येण राघवे ॥ ६३ ॥

‘उस समय रामने बालीको मारनेकी प्रतिज्ञा की, तब वानर मुग्रीवने वहाँ बालीके बलका वर्णन किया, क्योंकि सुग्रीवको रामके बलके विषयमें बराबर शङ्का बनी रहनी थी ॥ ६२-६३ ॥

राघवप्रत्ययार्थं तु दुन्दुभेः कायमुत्तमम् ।

दर्शयामास सुग्रीवो महापर्वतसन्निभम् ॥ ६४ ॥

‘रामकी प्रतीतिके लिये उन्होंने दुन्दुभि दैत्यका महान् पर्वतके समान विशाल शरीर दिखलाया ॥ ६४ ॥

उत्स्पथित्वा महाबाहुः प्रेक्ष्य चास्थि महाबलः ।

पादाङ्गुष्ठेन चिक्षेप सम्पूर्णं दशयोजनम् ॥ ६५ ॥

‘महाबली महाबाहु श्रीरामने तनिक मुसकरका उस आस्थिमूहको देखा और पीरके अंगुठसे उसे दस योजन दूर फेंक दिया ॥ ६५ ॥

विभेदं च पुनस्तालान् सप्तकेन महेषुणा ।

गिरिं रसातलं चैव जनयन् प्रत्ययं तदा ॥ ६६ ॥

‘फिर एक ही महान् बाणसे उन्होंने अपना विश्वास दिलाते हुए मात तालवृक्षोंको और पर्वत तथा रसातलको बाँध डाला ॥ ६६ ॥

ततः प्रीतमनास्तेन विश्वस्तः स महाकपिः ।

किष्किन्ध्यां रामसहितो जगाम च गुह्यं तदा ॥ ६७ ॥

‘तदनन्तर रामके इस कार्यसे महाकपि सुग्रीव

नन-हो मन प्रमत्त हुए और उन गमन दिशामें हो गया । फिर वे उनका साथ किष्किन्धी गुहामें गये ॥ ६७ ॥

ततोऽमर्जद्वरिवरः सुग्रीवो हेषपिङ्गलः ।

नेन नादेन महता निर्जंगम हरेश्चरः ॥ ६८ ॥

अनुमान्य तदा तारो सुग्रीवेण समागतः ।

निजघार च तत्रैव श्रेणीकेन राघवः ॥ ६९ ॥

‘तहापर सुवर्णके समान पिङ्गलवर्णवाले खोरकर सुग्रीवने गर्जना की, उस महानादकी सुनकर खानराज खाली अपने पत्नी रागकी आश्रममें देकर तत्काल घरमें बाहर निकला और सुग्रीवमें भिड़ गया । वहाँ रामने चालीको एक ही कणसे मार गिराया ॥ ६८-६९ ॥

ततः सुग्रीववचनात्तुवा वालिनमाहवे ।

सुग्रीवमेव तद्राज्ये राघवः प्रत्यपादयत् ॥ ७० ॥

‘सुग्रीवके कथनानुसार उस सप्रथम खालीको मारकर उसके राज्यपर रामने सुग्रीवको ही बिठा दिया ॥ ७० ॥

स च सर्वान् समानीय खनरान् वानरबन्धः ।

दिशः प्रस्थापयामास दिदृक्षुर्जनकात्मजाम् ॥ ७१ ॥

‘तब उन खानराजने भी सभी वानरको मुलाकर जानकाका पता लगानेके लिये उन्हें चारों दिशाओंमें भजा ।

ततो गृध्रस्य वचनात् सम्यातर्हनुमान् बली ।

शतयोजनविस्तीर्णं पुष्पवे लवणार्णवम् ॥ ७२ ॥

‘तत्पश्चात् सम्यगतिनामके गृध्रके कहनेसे खलवान् हनुमान्जी सी योजन विस्तारवाले अगर समुद्रको कुदकर लौट गये ॥ ७२ ॥

तत्र लङ्का समासाद्य पुरीं रावणपालिताम् ।

ददर्श सीता ध्यायन्नीलशोकघनिकां गताम् ॥ ७३ ॥

‘वहाँ रावणपालित लङ्कापुरीमें पहुँचकर उन्होंने अशोक चटिकामें सीताको चिन्तामग्न देखा ॥ ७३ ॥

निवेदयित्वाभिज्ञानं प्रवृत्तिं विनिवृत्त च ।

समाभ्रातृ च वीदेही धर्दयामास तोरणम् ॥ ७४ ॥

‘तब उन विदेहान्दिनीको अपनी पहचान देकर रामका संदेश सुनाया और उन्हें सान्त्वना देकर उन्होंने चटिकाका द्वार तोड़ डाला ॥ ७४ ॥

पञ्च सेनाग्रान् हत्वा सप्त यन्त्रिसुतानपि ।

शूरभक्षे च निष्पिष्य ग्रहणं समुपागमन् ॥ ७५ ॥

‘फिर पाँच सेनापतियों और सात यन्त्रिकुमारोंकी हत्या कर और अक्षकुमारको भी कनूयार निकाला उनका सट व [जान-बूझकर] धकड़े गये ॥ ७५ ॥

अस्त्रेणोन्मुक्तमात्मानं ज्ञात्वा पैनामहाद् वरात् ।

धर्षयन् राक्षसान् वीरो यन्त्रिणस्तान् यदुच्छया ॥ ७६ ॥

‘ब्रह्माबाके छरदानसे अपनेको ब्रह्मपशसे छूटा हुआ जानकर भी खोर हनुमान्जीने अपनेकी बाँधनेवाले इन राक्षसोंका अपराध श्वच्छानुसार सह लिया ॥ ७६ ॥

ततो दग्ध्वा पुरीं लङ्कापते सीतां च मैघालीम् ।

रामाय प्रियभाष्यानु पुनरायान्महाकपिः ॥ ७७ ॥

‘तत्पश्चात् मिथिलेशकुमारी सीताके [स्थानके] अतिरिक्त समस्त लङ्काको जलाकर वे महाकपि हनुमान्जी रामका प्रिय संदेश सुनानेके लिये लङ्कासे लौट आये ॥ ७७ ॥

सोऽभिगम्य महात्मानं कृत्वा रामं प्रदक्षिणम् ।

न्यवेदयद्यमेयात्मा दृष्टा *सीतेति तत्त्वतः ॥ ७८ ॥

अपार्णमत बुद्धिशाली हनुमान्जीने वहाँ जा महात्मा रामकी प्रदक्षिणा करके भी स्वयं निवेदन किया—‘मैंने सीताजीका दर्शन किया है’ ॥ ७८ ॥

ततः सुग्रीवसहितो गत्वा तीरं महोदधेः ।

समुद्रं क्षोभयामास शरैरादित्यसंनिधैः ॥ ७९ ॥

‘इसके अनन्तर सुग्रीवक साथ भगवान् रामने महासागरके तटपर जाकर सूर्यके समान तेजस्वी भाणसे समुद्रके क्षुब्ध किया ॥ ७९ ॥

दर्शयामास चात्मानं समुद्रः सरितां पतिः ।

समुद्रवचनाच्चैव नर्तं सेतुमकारयत् ॥ ८० ॥

‘तब यदोपांत समुद्रने अपनेको प्रकट कर दिया, फिर समुद्रके ही कर्तनसे रामने नलसे पुनर्निर्माण कराया ॥ ८० ॥

तेन गत्वा पुरीं लङ्कां हत्वा रावणमाहवे ।

रामः सीतामनुप्राप्य परां ब्रीडामुपागमन् ॥ ८१ ॥

‘इसी पुष्पसे लङ्कापुरीमें जाकर रावणको मारा, फिर सीताके मिलनेपर रामकी बड़ी लज्जा हुई ॥ ८१ ॥

तामुवाच ततो रामः परमं जनसंसदि ।

अभूधमाणा सा सीता विवेश ज्वलनं सती ॥ ८२ ॥

‘तब भरी सभामें भीताक प्रति वे मर्मभेदी वचन कहने लगे । उनकी इस बातको न सह सकनेके कारण साध्वी सीता अग्निमें प्रवेश कर गयी ॥ ८२ ॥

ततोऽग्निवचनात् सीतां हात्वा विगतकल्मषाम् ।

कर्मणा तेन महता त्रैलोक्ये सचराचरम् ॥ ८३ ॥

‘इसके बाद आगके कहनेसे उन्होंने सीताको निष्कलङ्क माना । महात्मा रामचन्द्रजीके इस महान् कर्मसे देवता और ऋषियोंमहित चरकर त्रिभुवन संतुष्ट हो गया ॥ ८३ ॥

वर्भै रामः सम्प्रतपुः पूजितः सर्वदेवतैः ॥ ८४ ॥

अभिषिच्य च लङ्कायां राक्षसेन्द्रं विधीषणम् ।
कृतकृत्यस्तदा रामो विज्वरः प्रभुमोद ह ॥ ८५ ॥

‘फिर सभी देवताओंसे पूजित होकर राम बहुत ही प्रसन्न हुए और राक्षसराज विधीषणकी लङ्काके राज्यपर अभिषिक्त करके कर्तव्य हो गये । उस समय निश्चिन्त होनेके कारण स्वयं आनन्दका ठिकाना न रहा ॥ ८४-८५ ॥

देवताभ्यो वरं प्राप्य समुत्थाप्य च वानरान् ।

अयोध्यां प्रस्थितो रामः पुष्यकेण सुहृद्वृतः ॥ ८६ ॥

'यह सब हो जानेपर राम देवताओंसे चर पाकर और मरे हुए जानकों को जीवन दिलाकर अपने मर्षा मर्षियोंके साथ पुष्पकविमानपर चढ़कर अयोध्याके लिये प्रस्थित हुए । ८६ ।
भरद्वाजाश्रमं गत्वा रामः सत्यपराक्रमः ।
भरतस्यान्तिके रामो हनुमन्तं व्यसर्जयत् ॥ ८७ ॥

'भरद्वाज मुनिके आश्रमपर पहुँचकर सबको आराम देनेवाले सत्यपराक्रमी रामने भरतके पास हनुमन्तको भेजा । ८७ ॥
पुनराख्यायिकां जल्पन् मुग्धैवसहितमन्दा ।
पुष्पकं तत् समारुह्य नन्दिग्रामं ययौ तदा ॥ ८८ ॥

'फिर सुग्रीवके साथ कथा बताते हुये पुष्पकरुद्ध हो वै नन्दिग्रामको गये ॥ ८८ ॥

नन्दिग्रामे जटां हित्वा भ्रातृभिः सहितोऽनघः ।
रामः सीतामनुप्राप्य राज्यं पुनर्वाप्तवान् ॥ ८९ ॥

'निष्पाप रामचन्द्रजीने नन्दिग्राममें अपने जटा कटाकर भाइयोंके साथ, सौतकको धानके अन्तर, पुनः अपना राज्य प्राप्त किया है ॥ ८९ ॥

प्रहृष्टमुदितो लोकस्तुष्टः पुष्टः सुधार्मिकः ।
निरामयो हारोगश्च दुर्भिक्षभयवर्जितः ॥ ९० ॥

'अब रामके राज्यमें लोग प्रसन्न, सुखी, संतुष्ट, पुष्ट, धार्मिक तथा रोग-व्याधिमें मुक्त रहेंगे, उन्हें दुर्भिक्षका भय न होगा । ९० ।

न पुत्रभरणं केचिद् द्रक्ष्यन्ति पुरुषाः क्वचित् ।
नार्यश्चाविधवा नित्यं भविष्यन्ति पतिव्रताः ॥ ९१ ॥

'कोई कहीं भी अपने पुत्रकी मृत्यु नहीं देखेंगे, स्त्रियाँ विधवा न होंगी, सदा ही पतिव्रता होंगी ॥ ९१ ॥

न चाग्रिजं भयं किञ्चिन्नाप्सु मज्जन्ति जन्तवः ।
न वातजं भयं किञ्चिन्नापि ज्वरकृतं तथा ॥ ९२ ॥

'आग लगनेका किञ्चित् भी भय न होगा, कोई प्राणी जलमें नहीं डूबेगा, वात और ज्वरका भय थोड़ा भी नहीं रहेगा ॥ ९२ ॥

न चापि क्षुद्रयं तत्र न तस्करभयं तथा ।
नगराणि च राष्ट्राणि धनधान्ययुतानि च ॥ ९३ ॥

'नगरों में चोरीका डर भी जाता रहेगा, सभी नगर और नगराणि च राष्ट्राणि धनधान्ययुतानि च ॥ ९३ ॥

नित्यं प्रमुदिताः सर्वे यथा कृतयुगे तथा ।
'क्षुधा तथा चोरीका डर भी जाता रहेगा, सभी नगर और

राष्ट्र धन-धान्यसम्पन्न होंगे । सत्ययुगकी भाँति सभी लोग सदा प्रसन्न रहेंगे ॥ ९३ ॥

अश्वमेधशतैर्गृह्णा तथा बहुमुवर्णकैः ॥ ९४ ॥
गवां कोटशयुतं दत्त्वा विद्वद्भ्यो विधिपूर्वकम् ।

असंख्यं धनं दत्त्वा द्वाहाणेभ्यो महायशाः ॥ ९५ ॥
राजवंशाञ्छतगुणान् स्थापयिष्यति राधवः ।

चानुवर्ण्य च लोकेऽस्मिन् म्ये स्वे धर्मे नियोक्ष्यति ॥ ९६ ॥

'महामहाम्यो राम बहुत से मुवर्णोंकी दक्षिणायाँ सौ अश्वमेध पढ़ करेंगे, उनमें विधिपूर्वक विद्वानोंकी दस हजार काँड (एक खुरब) ली और द्वाहाणोंको अपरिमित धन देंगे तथा सींगुने राजवंशोंको स्थापना करेंगे । संसारमें चारों वर्णोंको वे अपने-अपने धर्ममें नियुक्त रखेंगे ॥ ९४—९६ ॥

दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च ।
रामो राज्यमुपासित्वा ब्रह्मलोकं प्रयास्यति ॥ ९७ ॥

'फिर ग्यारह हजार वर्षोंतक राज्य करनेके अनन्तर श्रीरामचन्द्रजी अपने परमधामको पधारेंगे ॥ ९७ ॥

इदं पवित्रं पापघ्नं पुण्यं वेदैश्च सम्मितम् ।
यः पठेद् रामचरितं सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ९८ ॥

'वेदोंके सम्पन्न पवित्र, पापनाशक और पुण्यमय इस रामचरितके जो पढ़ेंगे, वह सब पापोंसे मुक्त हो जायेंगे ॥ ९८ ॥

एतदाख्यानमायुष्यं पठन् रामायणं नरः ।
सपुत्रर्षात्रः सगणः प्रेत्य स्वर्गे महीयते ॥ ९९ ॥

'आयु बढ़ानेवाली इस रामायण-कथाको पढ़नेवाला मनुष्य मृत्युके अनन्तर पुत्र, र्षात्र तथा अन्य परिजनवर्गके साथ ही स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होगा ॥ ९९ ॥

पठन् द्विजो वागुपभत्वमीयात्
स्यात् क्षत्रियो भूमिपतित्वमीयात् ।

वणिग्जनः पण्यफलत्वमीया-
ज्जनश्च शूद्रोऽपि महत्त्वमीयात् ॥ १०० ॥

'इसे ब्राह्मण पढ़े तो विद्वान् हो, क्षत्रिय पढ़ता हो तो पृथ्वीका राज्य प्राप्त करे, वैश्यकी व्यापारमें लाभ हो और शूद्र भी प्रतिष्ठा प्राप्त करे' ॥ १०० ॥

इत्यादि श्रीमद्वाल्मीकीय अदिकाव्ये वालकाण्डे प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकीरचित आरामायणे अष्टकाव्यक वालकाण्डमें प्रथमः सर्गः पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयः सर्गः

रामायणकाव्यका उपक्रम—तमसाके तटपर क्राञ्चवधसे संतप्त हुए महर्षि वाल्मीकिके शोकका श्लोक-रूपमें प्रकट होना तथा ब्रह्माजीका उन्हें रामचरित्रभय काव्यके निर्माणका आदेश देना

नारदस्य तु तद् वाक्यं श्रुत्वा वाक्यविशारदः ।

पूजयामास धर्मात्मा सहशिष्यो महामुनिम् ॥ १ ॥

देवर्षि नारदजीके उपयुक्त वचन सुनकर वणीविशारद

धर्मात्मा ज्ञात वाल्मीकिजीने अपने शिष्योंसहित उन

वन्मुनिका योजन किया ॥ १ ॥

यथावत् पूजितस्तेन देवर्षिनारदस्तथा ।

आपृच्छयेवाध्यनुज्ञातः स जगाम विहायसम् ॥ २ ॥

बाल्मीकिजीसे यथावत् सम्मानित हो देवर्षि नारदजीन
जनक लिये उनमें अज्ञा योगी और उनमें अनुमान मिल
जनपर वे आकाशमार्गसे चले गये ॥ २ ॥

स मुहूर्तं गतं तस्मिन् देवलोकं मुनिस्तदा ।

जगाम तमसानीरं जाह्नव्यास्त्वविदुरतः ॥ ३ ॥

उनके देवलोक यथानक दो ही घड़ी बाद बाल्मीकिजी
तमसा नदीके तटपर गये, जो गङ्गाजीसे अधिक दूर नहीं
था ॥ ३ ॥

स तु तीरं समासाद्य तमसाया मुनिस्तदा ।

शिष्यमाह स्थितं पार्श्वं दृष्ट्वा तीर्थपकटं दमम् ॥ ४ ॥

तमसाके तटपर पहुँचकर वहाँके घाटको घोंघड़से गहिन
दृष्ट मुनिने अपने पास खड़े हुए शिष्यसे कहा— ॥ ४ ॥

अकटंममिदं तीर्थं भरद्वाज निशमय ।

गमर्णाथं प्रसन्नायु सन्मनुष्यमनो यथा ॥ ५ ॥

‘भरद्वाज ! देखो, यहाँका घाट खड़ा सुन्दर है। इसमें
जोखड़का नाम नहीं है। यहाँका जल वैसा ही स्वच्छ है, जैसा
मनुरुक्मका मन होता है ॥ ५ ॥

यस्यतां कलशमता दीयतां बल्कलं मम ।

उदयेवावगाहिष्ये तमसातीर्थमुत्तमम् ॥ ६ ॥

‘तात ! यहाँ कलश रखा दो और मुझे मेरा बल्कल दो।

२ तमसाके इसी उनमें तीर्थमें स्नान करूँगा’ ॥ ६ ॥

एवमुक्तो भरद्वाजो बाल्मीकेन महात्मना ।

प्रायच्छत मुनेस्तस्य बल्कलं निपतो गुरोः ॥ ७ ॥

महात्मा बाल्मीकिके ऐसा कहनेपर नियमपरायण शिष्य
भरद्वाजने अपने गुरु मुनिवर बाल्मीकिको बल्कल-
दण्ड दिये ॥ ७ ॥

स शिष्यहस्तादग्राह्य बल्कलं नियतं द्विधः ।

विचचार ह पश्यन्तत् सर्वतो विपुलं वनम् ॥ ८ ॥

शिष्यके हाथमें बल्कल लेकर वे जिनैन्द्रिय
मुनि यहाँके विशाल वनकी शोभा देखते हुए सब ओर
‘चरणे लगे ॥ ८ ॥

तस्याभ्याशे तु मिथुने चरन्मनपायिनम् ।

ददर्श भगवास्तत्र कौञ्जयोश्चारुनिःस्वनम् ॥ ९ ॥

उनके पास ही कौञ्ज पक्षियोंका एक जोड़ा, ओ कभी
एक-दूसरेसे अलग नहीं होता था, विचर रहा था। वे दोनों
पक्षी बड़ी मधुर बोली बोलते थे। भगवान् बाल्मीकिने
पक्षियोंके उस जोड़के चर्चा देखा ॥ ९ ॥

तस्मात् तु मिथुनादेकं पुमांसं प्रापनिश्चयः ।

जघान वैगनिल्यो निषादस्तस्य यज्यतः ॥ १० ॥

उसमें समय पापपूर्ण विचार रखनेवाले एक निरानन्दमें

जो समस्त जन्तुओंका अकस्मत् कैरी था, चर्चा आकर
पक्षियोंके उस जोड़ेमेंसे एक—नर पक्षीको मुनिक देखते
देखते बाणसे मार डाला ॥ १० ॥

तं शोणितपरीताङ्गं चेष्टमानं महीतले ।

भार्या तु निहतं दृष्ट्वा रुगव कसृणा गिरम् ॥ ११ ॥

वह पक्षी खूनसे लथपथ होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा और
पत्थर फड़फड़ाता हुआ तड़पने लगा। अपने पत्नीकी हत्या हुई
देख उसकी भार्या कौञ्जी करुणाजनक स्वयं सौत्कार कर
उठी ॥ ११ ॥

विपुक्ता पतिना तेन द्विजेन सहचारिणा ।

तत्प्रशीर्षेण मतेन पत्त्रिणा सहितेन वै ॥ १२ ॥

उत्तम पंखोंमें युक्त वह पक्षी सदा अपनी भार्याके
साथ-साथ विचरता था। उसके मस्तकका रंग तबिके समान
स्मरु था और वह कामसे मतवाला हो गया था। ऐसे पतिसे
विपुक्त होकर कौञ्जी बड़ी दुःखसे रो रही थी ॥ १२ ॥

तथासिधं द्विजं दृष्ट्वा निषादेन निपातितम् ।

ऋषधर्मात्मनस्तस्य कारुण्यं सम्पद्यत ॥ १३ ॥

निषादने जिसे मार गिराया था, उस नर पक्षीकी वर
दुर्दशा देख उन धर्मात्मा ऋषिकों बड़ी दया आयी ॥ १३ ॥

ततः करुणावेदित्वादधर्माग्रिमिनि द्विजः ।

निशाम्य स्तुतीं कौञ्जीमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १४ ॥

स्वभावतः करुणाक्त अनुभव करनेवाले ब्रह्मर्षिने ‘यह
अधर्म हुआ है ऐसा निश्चय करके रोता हुई कौञ्जीकी ओर
दखने हुए निषादसे इस प्रकार कहा— ॥ १४ ॥

मा निषाद प्रतिष्ठां स्वप्नमयः श्लाघनीः सभाः ।

ह्यन् कौञ्जमिथुनादेकमवधोः काममोहितम् ॥ १५ ॥

निषाद ! तुझे निव्य-निरन्तर—कभी भी शक्ति
न मिले; क्योंकि मुने इस कौञ्जके जोड़ेमेंसे एकको, जो
कामसे मोहित हो रहा था, बिना किसी अपराधके ही
हत्या कर डाला ॥ १५ ॥

तस्यैतत् श्रुतश्चिन्ता बभूव हृदि वीक्षतः ।

शोकार्तेनास्य शकुनेः किमिदं व्याहृतं मया ॥ १६ ॥

ऐसा कहकर जब उन्होंने इसपर विचार किया, तब उनके
मनमें यह चिन्ता हुई कि अजो इस पक्षीके शोकमें पाड़ित
होकर मैंने यह क्या कहा डाला ॥ १६ ॥

चिन्तयन् स महाप्राज्ञश्चकार पतिमान्धतिम् ।

शिष्यं ब्रह्मब्रीद् वाक्यमिदं स मुनिपुङ्गवः ॥ १७ ॥

यहाँ सोचते हुए महाप्राज्ञों और भगवन् धृष्टिमान् मुनिवर
बाल्मीकि एक निश्चयपर पहुँच गये और अपने शिष्यसे इस
प्रकार बोले— ॥ १७ ॥

पादबद्धोऽक्षरसमस्तन्त्रोलयसमन्वितः ।

शोकार्तेन प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा ॥ १८ ॥

तात ! शोकसे पीड़ित हुए मेरे मुखसे जो वाक्य

निकल पड़ा है यह चार चरणोंमें आवद्ध है। इसके प्रत्येक चरणमें चरण-चरण (यानी अट-आठ) अक्षर हैं तथा इसे वाष्पके लक्ष्यपर गाया भी जा सकता है; अतः मंत्र यह कवन श्लोकरूप (अर्थात् श्लोक नामक छन्दमें आवद्ध काव्यरूप या यश-स्वरूप) होना चाहिये, अन्यथा नहीं ॥ १८ ॥

शिष्यस्तु तस्य श्रुत्वो मुनेर्वाक्यमनुत्तमम् ।

प्रतिजग्राह संतुष्टस्तस्य तुष्टोऽभवन्मुनिः ॥ १९ ॥

मुनिकी यह उत्तम बात सुनकर उनके शिष्य भरद्वाजको बड़ी प्रसन्नता हुई और उसने उनका समर्थन करते हुए कहा— 'हाँ, आपका यह वाक्य श्लोकरूप ही ज्ञान वाक्य है।' शिष्यके इस कथनसे मुनिकी विशय संतुष्ट हुआ ॥ १९ ॥

सोऽभिधेयं ततः कृत्वा तीर्थे तस्मिन् यथाविधि ।

तमेव चिन्तयन्नर्थमुपावर्तत वै मुनिः ॥ २० ॥

तत्पश्चात् उन्होंने उत्तम तीर्थमें विधिपूर्वक स्नान किया और उसी ध्येयका विचार करते हुए वे आश्रमकी ओर लौट पड़े ॥ २० ॥

भरद्वाजस्ततः शिष्यो विनीतः श्रुत्वा नृपोः ।

कलशं पूर्णमादाय पृष्ठतोऽनुजगाम ह ॥ २१ ॥

फिर उनका विनीत एवं शास्त्रज्ञ शिष्य भरद्वाज भी वह जलमें भरा हुआ कलश लेकर पृष्ठतोके पीछे पोंछ चला ।

स प्रविश्याश्रमपदं शिष्येण सह धर्मवित् ।

उपविष्ट कथाश्चान्याश्चकार ध्यानमास्थितः ॥ २२ ॥

शिष्यके साथ आश्रममें पहुँचकर धर्मज्ञ ऋषि वाल्मीकिजी आमनपर बैठे और दूसरी दूसरी बातें करने लगे, परंतु उनका ध्यान उस श्लोककी ओर ही लगा था ॥ २२ ॥

आजगाम ततो ब्रह्मा लोककर्ता स्वयं प्रभुः ।

चतुर्मुखा महातेजा द्रष्टुं न मुनिपुङ्गवम् ॥ २३ ॥

इतनेहीमें अखिल विश्वकी सृष्टि करनेवाले, सर्वसमर्थ, महालज्जका चतुर्मुख ब्रह्माजी मुनिवर वाल्मीकिसे मिलनेके लिये स्वयं उनके आश्रमपर आये ॥ २३ ॥

वाल्मीकिरथं तं दृष्ट्वा सहस्रोत्थाय वारयतः ।

प्राञ्जलिः प्रयतो भूत्वा तस्यौ परमविस्मितः ॥ २४ ॥

उन्हें देखते ही महार्थ वाल्मीकि सहसा उठकर खड़े हो गये। वे मन और इन्द्रियाँको धारमें रक्कर अन्यथा विस्मित हो हाथ जोड़े चुपचाप कुछ कालतक खड़े ही रह गये, कुछ बोले न सक ॥ २४ ॥

पूजयामास तं देवं पाशाध्यासनवन्दनैः ।

प्रणम्य विधिवच्चैनं पृष्ट्वा चैव निरामयम् ॥ २५ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने पाद्य, अर्घ्य, आमन और स्तुति आदिक द्वारा भगवान् ब्रह्माजीका पूजन किया और उनके चरणोंमें विधिवत् प्रणाम करके उनसे कुशल-समाचार पूछा ॥ २५ ॥

अथोपविश्य भगवानामने पद्मासिते ।

वाल्मीकये च ऋषये संदिदेशासनं तनः ॥ २६ ॥

भगवान् ब्रह्माने एक परम उत्तम आसनपर विशजमान होकर वाल्मीकि मुनिकी भी आमन-ग्रहण करनेकी आज्ञा दी ॥ २६ ॥

ब्रह्मणा समनुजातः सोऽप्युपाविशदासने ।

उपविष्टे तदा तस्मिन् साक्षात्लोकपितामहे ॥ २७ ॥

तद्भूतेनैव मनसा वाल्मीकिर्यथास्थितः ।

पापात्मना कृतं कष्टं वैग्रहणादुद्धिना ॥ २८ ॥

यत् तादृशं चासुर्यं क्रीडं हन्यादकारणात् ।

ब्रह्माजीकी आज्ञा पाकर वे भी आमनपर बैठे। उस समय साक्षात् लोकपितामह ब्रह्मा नामने बैठे हुए थे तो भी वाल्मीकिका मन उस क्रीडा पक्षीयाना घटनाकी ओर ही लगा रहा। वे उसीके विषयमें सोचने लगे— 'ओह! जिसकी क्रीडा वैराधकी ग्रहण करनेमें हो लगा रहती है, उस पापात्मा व्याधने बिना किसी अधराधके ही कैसे मनोहर कलत्र करनेवाले क्रीडा पक्षीके प्राण ले लिये' ॥ २७-२८ ॥

शोचन्नेव पुनः क्रीडामुपश्लोकमिमं जगौ ॥ २९ ॥

पुनरन्तर्गतमना भूत्वा शोकपराधनः ।

यही सोचते-साचते उन्होंने क्रीडाके अमर्तनादकी सुनकर निपादकी लक्ष्य करके जो श्लोक कहा था, उसीको फिर ब्रह्माजीके सामने दुहराया। उस सुनते ही फिर उनके मनमें अपने दिखे हुए आपके अनौचित्यका ध्यान आया। तब वे शोक और चिन्तामें डूब गये ॥ २९ ॥

तमुवाच ततो ब्रह्मा प्रहसन् मुनिपुङ्गवम् ॥ ३० ॥

श्लोक एवास्त्वयं बद्धो नात्र कार्यं विचारणा ।

मच्छन्दोऽप्येव ते ब्रह्मन् प्रवृत्तयं सरस्वती ॥ ३१ ॥

ब्रह्माजी उनको मन-स्थितिकी समझकर हँसने लगे और मुनिवर वाल्मीकिसे इस प्रकार बोले— 'ब्रह्मन्! तुम्हारे मुँहसे निकला हुआ यह छन्दोबद्ध वाक्य श्लोकरूप ही होगा। इस विषयमें तुम्हें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये। मेरे मन्त्ररूप अथवा प्रेरणामें ही तुम्हारे मुँहमें ऐसी वाणी निकली है ॥ ३०-३१ ॥

राघस्य चरितं कृत्वा कुरु तमुधिसत्तय ।

धर्मात्मनो भगवतो लोके राघस्य धीमतः ॥ ३२ ॥

वृत्तं कथय धीरस्य यथा ते नारदाचूतम् ।

'मुनिब्रह्म! तुम श्रीरामके सम्पूर्ण चरित्रका वर्णन करो। परम बुद्धिमान् भगवान् श्रीराम ममामें मन्त्रमें बड़े धर्मात्मा और धर्म पुरुष हैं। तुमने नारदाजीके मुखमें जैसा मन्त्र है, उसीके अनुसार उनके चरित्रका चित्रण करो ॥ ३२ ॥

रहस्यं च प्रकाशं च यद् वृत्तं तस्य धीमतः ॥ ३३ ॥

राघस्य सहस्रोमित्रे राक्षसानां च सर्वशः ।

वैदेह्याश्चैव यद् वृत्तं प्रकाशं यदि वा रहः ॥ ३४ ॥

वहाप्याप्यविदितं सर्वं विदितं ते भविष्यति ।

'बुद्धिमान् श्रीरामका जो गुण या प्रकट चनाल है तथा

‘क्षमण, सांता और राक्षसोंक जो सम्पूर्ण गुण का प्रकट चरित्र हैं
उ मय अज्ञात होनेपर भी तुम्हें ज्ञान हो जायेगा ॥ ३३-३४ ॥
न ते वागनुता काव्यं काचिदत्र भविष्यति ॥ ३५ ॥
कुल रामकथां पुण्यां श्लोकबद्धां मनोरमाम् ।

‘इस काव्यमें अद्विष्ट तुम्हारी कोई भी बात छुटी नहीं
जागी इत्यलिये तुम श्रीगणेशजीकी परम पावन एवं मनोरम
कथाको श्लोकबद्ध करके लिखो ॥ ३५ ॥

यावन् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीनले ॥ ३६ ॥
तावद् रामायणकथां स्तंभेषु प्रचरिष्यति ।

‘इस पृथ्वीपर जबतक नदियों और पर्वतोंकी सहा रहेगी
तबतक संसारमें रामायणकथाका प्रचार होता रहेगा ॥ ३६ ॥

यावद् रामस्य च कथा त्वत्कृता प्रचरिष्यति ॥ ३७ ॥
तावदुर्ध्वपथश्च त्वं मल्लोकेषु निवस्यसि ।

‘जबतक तुम्हारी बनायी हुई श्रीरामकथाका स्तंभमें प्रचार
रहेगा, तबतक तुम इच्छानुसार ऊपर नीचे तथा मेरे स्तंभमें
निवास करोगे ॥ ३७ ॥

इत्युक्त्वा भगवान् ब्रह्मा तत्रैवान्तरधीयत ।
ततः सशिष्यो भगवान् मुनिर्विस्मयमाययौ ॥ ३८ ॥

ऐसा कहकर भगवान् ब्रह्माजी वहाँ अन्तर्धान हो गये ।
उनके वहीं अन्तर्धान होनेसे शिष्योन्मत्त भगवान् ब्रह्मकी
मुनिकों बड़ा विस्मय हुआ ॥ ३८ ॥

तस्य शिष्यास्ततः सर्वे जगुः श्लोकमिमं पुनः ।
मुहुर्मुहुः प्रीयमाणाः प्राहुश्च भृशविस्मिताः ॥ ३९ ॥

तदनन्तर उनके सभी शिष्य अत्यन्त प्रसन्न होकर
बार-बार इस श्लोकका गान करने लगे तथा परम विस्मित
हो परस्पर इस प्रकार कहने लगे— ॥ ३९ ॥

समाक्षरैश्चतुर्भिर्धः पादैर्गीतो महर्षिणा ।
सोऽनुव्याहरणाद् भूयः श्लोकः श्लोकत्वमागतः ॥ ४० ॥

‘हमारे गुरुदेव महर्षिने कौण्ड पक्षिके दुःखसे

दुःखों होकर जिस समान अक्षरोंवाले चार चरणोंसे युक्त
वाक्यका गान किया था, वह था तो उनके हृदयका
श्लोक, किन्तु इनकी वाणीद्वारा उच्चारित होकर श्लोकरूप
हो गया ॥ ४० ॥

तस्य बुद्धिरियं जाता महर्षेर्भावितात्मनः ।
कृत्वा रामायणं काव्यमीदृशीं करवाण्यहम् ॥ ४१ ॥

इधर शुद्ध अन्तःकरणवाले महर्षि बाल्मीकिके मनमें यह
चिन्ता हुआ कि मैं ऐसे ही श्लोकोंमें सम्पूर्ण
रामायणकाव्यकी रचना करूँ ॥ ४१ ॥

उदात्तवृत्तार्थपदमनोरमै-

स्तदास्थ रामस्य चकार कीर्तिमान् ।

समाक्षरैः श्लोकशतैर्यशस्विनो

यशस्करं काव्यमुदारदर्शनः ॥ ४२ ॥

यह सोचकर उदार दृष्टिवाले उन यशस्वी महर्षिने भगवान्
श्रीगणेशजीके चरित्रको लेकर हजारों श्लोकोंसे युक्त
महाकाव्यकी रचना की, जो उनका यशको बढ़ानेवाला है ।
इसमें श्रीरामके उदार चरित्रको प्रतिपादन करनेवाले मनोहर
पदोन्मत्त प्रयोग किया गया है ॥ ४२ ॥

तदुपगतसमाससंश्रियों

सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।

रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं

दशशिरसश्च बद्धं निशामयथ्यम् ॥ ४३ ॥

महर्षि बाल्मीकिने बनाय हुआ इस काव्यमें तत्पुरुष आदि
सन्नामों, दीर्घ-गुण आदि संधियों और प्रकृति-प्रत्ययके
सम्बन्धका यथायोग्य निर्वाह हुआ है । इसकी रचनामें समता
(पतत्-प्रकर्ष आदि दोषोंका अभाव) है, पदोंमें माधुर्य है
और अर्थमें प्रसन्न-गुणकी अधिकता है । भावुकजनो ! इस
प्रकार आश्चर्य पैदातिके अनुकूल बने हुए इस रघुवर चरित्र
और रावण-वधके प्रसङ्गको ध्यान देकर सुनो ॥ ४३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीबाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें दूसरा सर्ग पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयः सर्गः

बाल्मीकि मुनिद्वारा रामायणकाव्यमें निबद्ध विषयोका संक्षेपसे उल्लेख

श्रुत्वा वस्तु समग्रे तद्धर्मार्थसहितं हितम् ।
व्यक्तमन्वेषते भूयो यद् वृत्तं तस्य धीमनः ॥ १ ॥

नारदजीके मुखसे धर्म, अर्थ एवं कामरूपी फलमें युक्त,
हितकर (मोक्षदायक) तथा प्रकट अर्थात् गुप्त— सम्पूर्ण
रामचरित्रकी, जो रामायण महाकाव्यकी प्रधान

कथावस्तु था, सुनकर महर्षि बाल्मीकि जी बुद्धिमान् श्रीरामके
इस जीवनवृत्तका पुनः मलीर्षीति साक्षात्कार करनेके
लिये प्रयत्न करने लगे ॥ १ ॥

उपस्पृश्योदकं सम्यङ्मुनिः स्थित्वा कृताञ्जलिः ।
प्राचीनाग्रेषु दर्भेषु धर्मणात्वेष्टते गतिम् ॥ २ ॥

वे पूर्वाग्र कुशोंके आसनपर बैठ गये और विधिवत् आचमन करके हाथ जोड़े हुए स्थिर भावसे स्थित हो योगधर्म (समाधि) के द्वारा श्रीराम आदिके चरित्रोंका अनुसंधान करने लगे ॥ २ ॥

रामलक्ष्मणसीताभी राजा दशरथेन च ।
सभार्येण सराष्ट्रेण यत् प्राप्तं तत्र तत्त्वतः ॥ ३ ॥
हसितं भाषितं चैव गतिर्यावच्च चेष्टितम् ।
तत् सर्वं धर्मवीर्येण यथावत् सम्प्रपश्यति ॥ ४ ॥

श्रीराम-लक्ष्मण-सीता तथा राज्य और रानियोंमहित राजा दशरथसे सम्बन्ध रखनेवाली जितनी बातें थीं—हँसना, बोलना, चलना और राज्यपालन आदि जितनी चेष्टाएँ हुई—उन सबका महर्षिने अपने योगधर्मके बलसे मलो भाँति साक्षात्कार किया ॥ ३-४ ॥

स्त्रीतृतीयेन च तथा यत् प्राप्तं चरता घने ।
सत्यसंधेन रामेण तत् सर्वं जान्त्वैक्षत ॥ ५ ॥

मृत्युप्रतिज्ञा श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मण और सीताके साथ घनमें विधरते समय जो-जो लौलार्हें की थीं, वे सब उनको पूर्णमें आ गयीं ॥ ५ ॥

ततः पश्यति धर्मात्मा तत् सर्वं योगमास्थितः ।
पुरा यत् तत्र निर्वृतं पाणावामलकं यथा ॥ ६ ॥

योगका आश्रय लेकर उन धर्मात्मा महर्षिने पूर्वकालमें जो-जो घटनाएँ घटित हुई थीं, उन सबको वहाँ हाथपर रखे हुए आँखलेकी तरह प्रत्यक्ष देखा ॥ ६ ॥

तत् सर्वं तत्त्वतो दृष्ट्वा धर्मेण स महामतिः ।
अभिरामस्य रामस्य तत् सर्वं कर्तुमुद्यतः ॥ ७ ॥

सबके मनको प्रिय लगनेवाले भगवान् श्रीरामके सम्पूर्ण परिप्राक्ता योगधर्म (समाधि) के द्वारा यथार्थरूपमें निरीक्षण करके महाबुद्धिमान् महर्षि वाल्मीकिने उन सबको महाकाव्यका रूप देनेकी चेष्टा की ॥ ७ ॥

कामार्थगुणसंयुक्तं धर्मार्थगुणविस्तरम् ।
समुद्रमिव रत्नाढ्यं सर्वश्रुतियनोहरम् ॥ ८ ॥

स यथा कथितं पूर्वं नाग्देन महात्मना ।
रघुवंशस्य चरितं चकार भगवान् भुनिः ॥ ९ ॥

महात्मा नागदजीने पहले जैसा वर्णन किया था, उसीके क्रमसे भगवान् वाल्मीकि भुनिने रघुवंशविभूषण श्रीरामके चरित्रावयवक रामायण काव्यका निमाण किया जैसे समुद्र सब रत्नोंकी निधि है, उसी प्रकार यह महाकाव्य गुण, अलङ्कार एवं ध्वनि आदि रत्नोंका भण्डार है। इतना ही नहीं, यह सम्पूर्ण श्रुतियोंके सारभूत अर्थका प्रतिपादक होनेके कारण सबके कानोंकी प्रिय लगनेवाला तथा सभीके चित्तको आकृष्ट करनेवाला है। यह धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूपी गुणों (फलों) से युक्त तथा इनका विस्तारपूर्वक प्रतिपादन एवं दान करनेवाला है ॥ ८-९ ॥

जन्म रामस्य सुमहद्वीर्यं सर्वानुकूलताम् ।
लोकस्य प्रियतां क्षान्तिं सौम्यतां सत्यशीलताम् ॥ १० ॥

श्रीरामके जन्म, उनके महान् पराक्रम, उनकी सर्वानुकूलता, लोकप्रियता, क्षमा, सौम्यभाव तथा सत्य-शीलताका इस महाकाव्यमें महर्षिने वर्णन किया ॥ १० ॥

नाना धिजाः कथाक्षान्त्या विश्वामित्रसहायने ।
जानक्याश्च विवाहं च धनुषश्च विभेदनम् ॥ ११ ॥

विश्वामित्रजीके साथ श्रीराम-लक्ष्मणके जानपर जो उनके द्वारा नाना प्रकारको विचित्र लौलार्हें तथा अद्भुत बातें घटित हुईं, उन सबका इसमें महर्षिने वर्णन किया। श्रीराम-द्वारा मिथिलामें धनुषक तोड़े जाने तथा जानकानन्दिनी सीता और उर्मिला आदिके विवाहका भी इसमें चित्रण किया ॥

रामरामविवादं च गुणान् दाशरथेस्तथा ।
तथाभिषेकं रामस्य कैकेय्या दुष्टथावताम् ॥ १२ ॥

विघातं चाभिषेकस्य रामस्य च विवासनम् ।
राज्ञः शोकं विलापं च परलोकस्य चाश्रयम् ॥ १३ ॥

प्रकृतीनां विवादं च प्रकृतीनां विसर्जनम् ।
निषादाधिपसंवादं सुतोषावर्तनं तथा ॥ १४ ॥

श्रीराम-परशुराम-संवाद, दशरथनन्दन श्रीरामके गुण, उनके अभिषेक, कैकेयीकी दुष्टता, श्रीरामके राज्याभिषेकमें विघ्न, उनके वनवास, राजा दशरथके शाक-विलाप और परलोक-गमन, प्रजाआक विवाद, साथ जानेवाली प्रजाओंको मार्गमें छाड़ने, निषादराज गुाक साथ बात करने तथा मृत सुमन्तको अयोध्या लौटाने आदिका भी इसमें उल्लेख किया ॥ १२-१४ ॥

गङ्गायाश्चापि संतारं धरद्वाजस्य दर्शनम् ।
धरद्वाजाभ्यनुज्ञानाच्चित्रकूटस्थ दर्शनम् ॥ १५ ॥

वास्तुकर्म निवेशं च भरतागमनं तथा ।
प्रसादनं च रामस्य पितुश्च सलिलक्रियाम् ॥ १६ ॥

पादुकाग्रयाभिषेकं च नन्दिग्रामनिवासनम् ।
दण्डकारण्यगमनं विराधस्य वधं तथा ॥ १७ ॥

दर्शनं शरभङ्गस्य सुतीक्ष्णेन समागमम् ।
अनसूयासमाख्यां च अङ्गरागस्य चार्पणम् ॥ १८ ॥

दर्शनं चाप्यगस्त्यस्य अनुषो ग्रहणं तथा ।
शूर्पणख्याश्च संवादं विरूपकरणं तथा ॥ १९ ॥

वधं खरप्रतिशिरसोरुत्थानं रावणस्य च ।
मारीचस्य वधं चैव वैदेह्या हरणं तथा ॥ २० ॥

राघवस्य विलापं च गृध्रराजनिवर्तणम् ।
कबन्धदर्शनं चैव यम्पायाश्चापि दर्शनम् ॥ २१ ॥

शबरीदर्शनं चैव फलमूलाशनं तथा ।
प्रलापं चैव यम्पायां हनुमदर्शनं तथा ॥ २२ ॥

ऋष्यभूकस्य गमनं सुग्रीवेण समागमम् ।
प्रत्ययोत्पादनं सख्यं वाल्मिसुग्रीवविग्रहम् ॥ २३ ॥

बालिप्रमथनं चैव सुग्रीवप्रतिपादनम् ।
 नाराविलापं समग्रं वर्षरात्रनिवासनम् ॥ २४ ॥
 कोपं रावणसिंहस्य बलानामुपसंग्रहम् ।
 दिशः प्रस्थापनं चैव पृथिव्याश्च निवेदनम् ॥ २५ ॥
 अङ्गुलीयकदानं च ऋक्षस्य विलम्बदर्शनम् ।
 प्रायोपवेशनं चैव सम्पातेश्चापि दर्शनम् ॥ २६ ॥
 पर्वतासोहणं चैव सागरस्यापि लङ्घनम् ।
 समुद्रवचनासौव मैनाकस्य च दर्शनम् ॥ २७ ॥
 राक्षसीतर्जनं चैव छायाग्राहस्य दर्शनम् ।
 सिंहिकायाश्च निधनं लङ्कापल्लवदर्शनम् ॥ २८ ॥
 राज्ञी लङ्काप्रवेशं च एकस्यापि विचिन्तनम् ।
 आपानभूमिगमनमवरोधस्य दर्शनम् ॥ २९ ॥
 दर्शनं रावणस्यापि पुष्पकस्य च दर्शनम् ।
 अशोकवनिकायानं सीतायाश्चापि दर्शनम् ॥ ३० ॥
 अभिज्ञानप्रदानं च सीतायाश्चापि भाषणम् ।
 राक्षसीतर्जनं चैव त्रिजटास्वप्रदर्शनम् ॥ ३१ ॥
 मणिप्रदानं सीताया वृक्षभङ्गं तथैव च ।
 राक्षसीविद्रव्यं चैव किंकराणां निवर्हणम् ॥ ३२ ॥
 ग्रहणं वायुसूत्रेण लङ्कादाहाभिगर्जनम् ।
 प्रतिप्लवनमेवाथ मधुसूतां हरणं तथा ॥ ३३ ॥
 राघवाभ्यासनं चैव मणिनिर्यातनं तथा ।
 संगमं च समुद्रेण नलसेतोश्च ज्वननम् ॥ ३४ ॥
 प्रतारं च समुद्रस्य राज्ञी लङ्कावरोधनम् ।
 विभीषणेन संसर्गं वयोपायनिवेदनम् ॥ ३५ ॥
 कुम्भकर्णस्य निधनं मंथनादनिसर्हणम् ।
 रावणस्य विनाशं च सीतावाग्निमरेः पुरे ॥ ३६ ॥
 विभीषणाभिषेकं च पुष्पकस्य च दर्शनम् ।
 अयोध्यायाश्च गमनं भरद्वाजसमागमम् ॥ ३७ ॥
 प्रेषणं वायुपुत्रस्य भरतेन समागमम् ।
 राधाभिषेकाभ्युदयं सर्वसैन्यविसर्जनम् ।
 स्वराष्ट्रङ्गनं चैव वैदेह्याश्च विसर्जनम् ॥ ३८ ॥
 अनागतं च यत् किञ्चिद् रामस्य वसुधातले ।
 तत्प्रकारोत्तरे काव्ये बाल्मीकिर्भगवानृषिः ॥ ३९ ॥

श्रीराम आदिका गङ्गाके पार जाना, भरद्वाज मुनिक प्रदर्शन करना, भरद्वाज मुनिकी आज्ञा लेकर चित्रकूट जाना और वहाँकी नैसर्गिक शोभाका अवलोकन करना, चित्रकूटम कुटीरा बनाना, उसमें निवास करना वहाँ भरतका श्रीरामसे मिलनेके लिये आना, उन्हें अयोध्या लौट चलनेके लिये प्रसन्न करना (मनाना), श्रीरामद्वारा पितृको बल्लज्जाल दान भरतद्वारा अयोध्याके राजसिंहासनपर श्रीगमकन्द्रजीकी श्रेष्ठ पादुकाओंका अभिषेक एवं स्थापन, नन्दग्राममें भरतका निवास, श्रीरामका दण्डकाण्डमें गमन, उनके द्वारा विराधका वध, शरभङ्गमुनिका दर्शन, सुतक्ष्णके साथ समागम,

अनसूयाके साथ सीतादेवीकी कुछ कालतक स्थिति, उनके द्वारा सीताको अङ्गराग-समर्पण, श्रीराम आदिके द्वारा अगस्त्यका दर्शन, उनके लिये हुए वैष्णव अनुष्ठान ग्रहण, शूर्पणखाका संवाद श्रीरामकी आज्ञासे लक्ष्मणद्वारा उसका विरूपकरण (उसकी नाक और कानका छेदन), श्रीरामद्वारा खर-दूषण और त्रिशङ्गका वध शूर्पणखाके उत्तेजित करनेसे रावणका श्रीरामसे बदल्य लेनेके लिये उठना, श्रीरामद्वारा मार्गचक्रा वध, रावणद्वारा विदेहनादिनी साताका हरण, सीताके लिये श्रीरघुनाथजीका विलाप, रावणद्वारा गृधराज जटायुका वध, श्रीराम और लक्ष्मणकी कबन्धसे भेंट, उनके द्वारा पम्पामरोवरका अवलोकन, श्रीरामका शबरीसे मिलना और उसके लिये हुए फल मूलको ग्रहण करना, श्रीरामका सीताके लिये प्रलाप पम्पामरोवरके निकट हनुमान्जीसे भेंट, श्रीराम और लक्ष्मणका हनुमान्जीके साथ श्रृङ्गमूक पर्वतपर जाना वहाँ सुग्रीवके साथ भेंट करना, उन्हें अपने बालका विधायन दिलाना और उनसे मित्रता स्थापित करना, चाली और सुग्रीवका युद्ध श्रीरामद्वारा बालोका विनाश, सुग्रीवको राज्य-समर्पण, अपने पति चालीके लिये साराका विलाप, शरत्कालमें सीताकी श्रांति करानेके लिये सुग्रीवकी प्रतिज्ञा श्रीरामका खरसातके दिनोंमें भास्वयान् पर्वतके प्रखण्ड नामक शिखरपर निवास, रघुकुलमिह श्रीरामका सुग्रीवके प्रति क्रोध-प्रदर्शन, सुग्रीवद्वारा सीताकी खोजके लिये वानरसेनाका संग्रह, सुग्रीवका सम्पूर्ण दिशा-ओम खानोंकी भेजना और उन्हें पृथ्वीके द्वीप-समुद्र आदि विभागोंका परिचय देना श्रीरामका सीताके विश्वासके लिये हनुमान्जीको अपनी अंगूठा देना वानरोंको प्ररक्ष विल (स्वयंप्रभा गुफा) का दर्शन, उनका प्रायोपवेशन (प्राणत्यागके लिये अनशन), कम्पानोसे उनकी भेंट और बातचीत, समुद्रलङ्घनके लिये हनुमान्जीका महेन्द्र पर्वतपर चढ़ना, समुद्रको लंघिना, समुद्रके कठनसे ऊपर उठे हुए मैनाकका दर्शन करना इनको राक्षसीका डाँटना, हनुमान्द्वारा छायाग्राहिणी सिंहिकाका दर्शन एवं निधन, लङ्काके आधारभूत पर्वत (त्रिकूट) का दर्शन, रात्रिक समय लङ्कामें प्रवेश, अकेल होानेके कारण अपने कर्तव्यका विचार करना, रावणके मद्यपान-स्थानमें जाना, उसके अस्-पुरकर स्त्रियोंको देखना, हनुमान्जीका रावणको देखना, पुष्पकविमानका निरीक्षण करना, अशोक-वटिकामें जाना और सीताजीके दर्शन करना, पहचानके लिये सीताजीको अंगूठा देना और उनसे बातचीत करना, राक्षसियोंद्वारा सीताको डाँट-फटकार, त्रिजटाको श्रीरामके लिये शुभसूचक स्वप्नका दर्शन, सीताका हनुमान्जीको चूड़ामणि प्रदान करना, हनुमान्जीका अशोकवाटिकाके वृक्षोंको तोड़ना, राक्षसियोंका भागना, रावणके सेवकोंका हनुमान्जीके दृग सहार वायुनन्दन हनुमान्का बन्दी होकर

गवणकी सभामें जाना, उनके द्वारा गर्जन और लड़का दाह, फिर लीमनों द्वारा समुद्रको लाना, वानरोंका मधुवनमें आकर मधुरान करना हनुमान्जीका श्रीरामचन्द्रजीको आस्थासहित दना और सोताजीका दी हुई चूड़ामणि समर्पित करना येनामहित मुरीवके साथ श्रीरामकी लङ्कायात्राके समय समुद्रमें भेट, नलका समुद्रपर सेतु बंधना, उसी सेतुक द्वारा वानरसेनाका समुद्रक पार जाना, रामको वानरोंका लङ्कापर चारों ओरमें घेरा डालना, विभीषणके साथ श्रीरामका मैत्री सम्बन्ध होना, विभीषणका श्रीरामको शयणके बंधका उपाय बताना कुम्भकर्णका निधन, मघनादका वध, गवणका विनाश, सीताको प्राप्ति, शत्रुनगरी लङ्कामें

विभीषणका अभिषेक, श्रीरामद्वारा पुष्पकविमानका अवलोकन, उसके द्वारा दल-बलसहित उनका अयोध्याके लिये प्रस्थान, श्रीरामका भरद्वाजमुनिसे मिलना, वायुपुत्र हनुमान्को दूत बनाकर भरतके पास भेजना तथा अयोध्यामें आकर भरतसे मिलना श्रीरामका राज्याभिषेकका उत्सव, फिर श्रीरामका सारी वानर-सेनाको विदा करना अपने राष्ट्रको प्रजाको प्रभुत्व रखना तथा उनको प्रसन्नताके लिये हो विदहनन्दिनी सीताको वनमें त्याग देना इत्यादि वृत्तान्तोंको एवं इस पृथ्वीपर श्रीरामका जो कुछ भक्तिव्य चरित्र था उसको भी भगवान् वाल्मीकि मुनिने अपने तत्कृत महाकाव्यमें अंकित किया ॥ १५—३९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें तीसरा सर्ग पूरा हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थः सर्गः

महर्षि वाल्मीकिका चौबीस हजार श्लोकोंसे युक्त रामायणकाव्यका निर्माण करके उसे लव-कुशको पढ़ाना, मुनिमण्डलीमें रामायणगान करके लव और कुशका प्रशंसित होना तथा अयोध्यामें श्रीरामद्वारा सम्मानित हो उन दोनोंका रामदरबारमें रामायणगान सुनाना

प्राप्तराजस्य रामस्य वाल्मीकिर्भगवानृषिः ।

चकार चरितं कृत्स्नं विचित्रपदमर्थवत् ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने जब वनसे लौटकर राज्यका शासन अपने हाथमें ले लिया, उसके बाद भगवान् वाल्मीकि मुनिने उनके सम्पूर्ण चरित्रके आधारपर विचित्र पद और अर्थसे युक्त रामायण काव्यका निर्माण किया ॥ १ ॥

चतुर्विंशत्सहस्राणि श्लोकानामुक्तवानृषिः ।

तथा सर्गशतान् पञ्च षट्काण्डानि तथोत्तरम् ॥ २ ॥

इसमें महर्षिने चौबीस हजार श्लोक, पाँच सौ सर्ग तथा उत्तरसहित सात काण्डोंका प्रतिपादन किया है ॥ २ ॥

कृत्वा तु तन्महाप्राज्ञः सप्तविध्यं सहोत्तरम् ।

चिन्तयामास को ज्वेतत् प्रयुञ्जीयादिति प्रभुः ॥ ३ ॥

भविष्य तथा उत्तरकाण्डसहित समस्त रामायण पूर्ण कर लेनेके पश्चात् सामर्थ्यशाली, महाज्ञानी महर्षिने सोचा कि कौन ऐसा शक्तिशाली पुरुष होगा जो इस महाकाव्यको पढ़कर जनसमुदायमें सुना सके ॥ ३ ॥

तस्य चिन्तयमानस्य महर्षेर्भवितात्मनः ।

अगृहीतो ततः पादौ मुनिवेणुं कुशीलवी ॥ ४ ॥

शुद्ध अन्तःकरणवाले उन महर्षिक इस प्रकार विचार करते ही मुनिवेणुमें रहनवाले राजकुमार कुश और लव आकर उनके चरणोंमें प्रणाम किया ॥ ४ ॥

कुशीलवी तु धर्मज्ञौ राजपुत्रौ वशस्विनौ ।

प्रातरी स्वरसम्पन्नौ दृढश्रमवासिनौ ॥ ५ ॥

स तु मेधाविनौ दृढा वेदेषु परिनिष्ठितौ ।

वेदोपबृंहणार्थाय तावत्राहृत्य प्रभुः ॥ ६ ॥

काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महम् ।

पौलस्त्यवधमित्येवं चकार चरितव्रतः ॥ ७ ॥

राजकुमार कुश और लव दोनों भाई धर्मके ज्ञाता और वशस्वी थे। उनका स्वर बड़ा ही मधुर था और वे मुनिके आश्रमपर ही रहते थे। उनकी धारणाशक्ति अद्भुत थी और वे दोनों ही वेदोंमें पारंगत हो चुके थे। भगवान् वाल्मीकिने उनकी ओर देखा और उन्हें सुयोग्य समझकर उनमें व्रतकर पालन करनेवाले उन महर्षिने वेदार्थका विस्तारके साथ ज्ञान करनेके लिये उन्हें सीताके चरित्रसे युक्त सम्पूर्ण रामायण नामक महाकाव्यका जिसका दूसरा नाम पौलस्त्यवध अथवा दशाननवध था, अध्ययन कराया ॥ ५—७ ॥

पाठ्ये मेवे च मधुरं प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम् ।

जानिधिः सप्तभिर्युक्तं तन्त्रीलयसमन्वितम् ॥ ८ ॥

रसैः शृङ्गारकरुणाहास्य रौद्रभयानकैः ।

वीरादिभी रसैर्युक्तं काव्यमेतदगायताम् ॥ ९ ॥

वह महाकाव्य पढ़ने और गानेमें भी मधुर, हुत, मध्य और विलम्बित—इन तीनों गतियोंमें अन्वित, षड्ज आदि सानों स्वरोसे युक्त, चीणा बजाकर स्वर और तालके साथ गाने योग्य तथा शृङ्गार, करुण हास्य, रौद्र, भयानक तथा वीर अदि सभों रसोंमें अनुप्राणित है। दोनों भाई कुश और लव उस महाकाव्यको पढ़कर उसका गान करने लगे ॥ ८-९ ॥

तौ तु गान्धर्वतत्त्वज्ञौ स्थानमूर्च्छनकोविदौ ।

प्रातरी स्वरसम्पन्नौ गन्धर्वविद्व रूषिणौ ॥ १० ॥

वे दोनों भाई गान्धर्व विद्या (संगीत शास्त्र) के

मन्त्रं स्थान' और मन्त्रोंके जानकार मधुर स्वरसे सम्पन्न तथा मन्त्रोंके समान मनोहर रूपवाले थे ॥ १० ॥

रूपलक्षणसम्पन्नो मधुरस्वरभाषिणौ ।

विष्वादिर्विद्योत्थिता विष्वा राघदेहात् तथापरौ ॥ ११ ॥

सुन्दर रूप और शुभ लक्षण उनकी सहज सम्पत्ति थे वे दोनों भाई बड़े मधुर स्वरो से बातलाप करते थे जैसे 'विन्धस्व प्रणिविम्ब प्रकट हने हैं' उम्मी प्रकार श्रांगमक शरीरमें उत्पन्न हुए वे दोनों राजकुमार दूसरे युगल श्रांगम ही प्रतीत माने थे ॥ ११ ॥

नौ राजपुत्री कास्वर्चेन धर्म्यपारध्यायमुनयम् ।

वाचोविधेयं तत्सर्वं कृत्वा काव्यपनिन्दितौ ॥ १२ ॥

ऋषीणां च द्विजातीनां साधूनां च समागमे ।

यथोपदेशो तत्त्वज्ञौ जगन् सुसमाहितौ ॥ १३ ॥

वे दोनों राजपुत्र सब लोगोंकी प्रशंसाके पात्र थे, उन्होंने उस धर्मानुकूल उत्तम उपाख्यानमय सम्पूर्ण काव्यको जिह्वा पर लिखा था और अब कभी ऋषियों, ब्राह्मणों तथा साधुओंका समागम होता था, उस समय उनके बीचमें बैठकर वे दोनों तत्त्वज्ञ बालक एकाग्रचित्त हो रामायणका गान किया करते थे ॥ १२-१३ ॥

महात्मानौ महाभागौ सर्वलक्षणलक्षितौ ।

तौ कदाचित् समेतानामृषीणां व्यावितात्मनाम् ॥ १४ ॥

मध्ये सभं समीपस्थाविदे काव्यमगायनाम् ।

तच्छ्रुत्वा मुनयः सर्वे बाष्पपर्याकुलेक्षणाः ॥ १५ ॥

साधु साध्विति तावच्चुः परं विस्मयमागताः ।

ते प्रीतमनसः सर्वे मुनयो धर्मवत्सलाः ॥ १६ ॥

एक दिनकी बात है, बहुत-से शुद्ध अन्तःकरणवाले महर्षियोंकी मण्डली एकत्र हुई थी । उन्हींमें महान् सौभाग्यशाली तथा समस्त शुभ लक्षणोंमें सुशोभित महात्मन्सों कुछ और लक्ष भी उपस्थित थे । उन्होंने बीच-सभामें उन महात्माओंके समीप बैठकर उस रामायण काव्यका गान किया । उस मुनिकर सभी मुनिकाक नेत्रोंमें आँसु भर आये और वे अत्यन्त

विस्मय-विभूष होकर उन्हें साधुवाद देने लगे । मुनि धर्मवत्सल तो होने ही हैं वह धार्मिक उपाख्यान सुनकर उन सबके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ १४—१६ ॥

प्रशंससुः प्रशस्तव्यौ गायमानौ कुशीलयौ ।

अहो गीतस्य माधुर्यं श्लोकानां च विशेषतः ॥ १७ ॥

वे रामायण-कथाके गायक कुमार कुछ और लक्ष्यकी, जो प्रशंसाके ही योग्य थे, इस प्रकार प्रशंसा करने लगे—'अहो ! इन बालकोंके गीतमें कितना माधुर्य है । श्लोकोंकी मधुरता तो और भी अद्भुत है ॥ १७ ॥

धिरनिर्वृतमप्येनत् प्रत्यक्षमिव दर्शितम् ।

प्रविश्य तावुभौ सुष्ठु तथाभावभगायनाम् ॥ १८ ॥

सहितौ मधुरं रक्तं सम्पन्नं स्वरसम्पदा ।

'यद्यपि इस काव्यमें वर्णित घटना बहुत दिनों पहले हो चुकी है तो भी इन दोनों बालकोंने इस सभामें प्रवेश करके एक साथ ऐसे सुन्दर भावसे स्वरसम्पन्न, रगयुक्त मधुरगान किया है कि वे पहलेकी घटनाएँ भी प्रत्यक्ष-सी दिखायी देने लगी हैं—मानो अभी-अभी आँखोंके सामने घटित हो रही हों ॥ १८ ॥

एवं प्रशस्यमानौ तौ तपः श्लाघ्यैर्महर्षिभिः ॥ १९ ॥

संरक्ततरयत्यर्थं मधुरं तावगायनाम् ।

इस प्रकार उत्तम तपस्यासे युक्त महर्षिगण उन दोनों कुमारोंको प्रशंसा करने और वे उनमें प्रशंसित होकर अत्यन्त मधुर रागसे रामायणका गान करते थे ॥ १९ ॥

प्रीतः कश्चिन्मुनिस्ताभ्यां संस्थितः कलशं ददौ ॥ २० ॥

प्रसन्नो धत्स्वकलं कश्चिद् ददौ ताभ्यां महायशः ।

अन्यः कृष्णाजिनमृदाद् यज्ञसूत्रं तथापरः ॥ २१ ॥

उनके गानसे संतुष्ट हुए किसी मुनिने उठकर उन्हें पुरस्कारके रूपमें एक कलश प्रदान किया । किसी दूसरे महायशस्वी महर्षिने प्रसन्न होकर उन दोनोंका धत्स्वकल वस्त्र दिया । किसीने काला मृगचर्म भेंट किया तो किसीने यज्ञोपवीत । २०-२१ ॥

१ स्थान शब्दसे यहाँ मन्त्र, मध्यम और ताररूप त्रिविध स्वरोंकी उत्पत्तिको स्थान बताया गया है । हृदयकी ग्रन्थिमें ऊपर और कर्णोत्पत्तिकसे नीचे जो प्राणिके सञ्चारका स्थान है, उसको स्थान कहते हैं । इसके तीन भेद हैं—हृदय कण्ठ और मिर । उन्हींमें पुनः तीन तीन भेद होते हैं—मन्त्र मध्य और तार । जैसा कि शार्ङ्गदुस्त्याका वचन है—

चतुर्थ्य हृदयमध्य कर्णोत्पत्तिककण्ठश्च प्राणसञ्चारणस्थानं स्थानमित्यभिधीयते ॥
उत्तर कण्ठ शिरश्छेदि तत्पुनस्त्रिविधं भवेत् मन्त्र मध्य च तार च ॥

२ जहाँ स्वर नृत्य होता है उस स्थानको मूर्छना कहते हैं । जैसा कि कहा गया है—

यत्रैव स्युः स्वराः पूर्णा मूर्छना संत्युदाहृता ।

हेतुयन्तं करकं अनुसृत्य बाष्पा अदिके वादनका मूर्छना करते हैं - वादने मूर्छना प्राप्ता ।

कश्चित् कमण्डलुं प्रादान्मौञ्जीमन्यो महामुनिः ।
 वृसीमन्यस्तदा प्रादात् कौपीनमपरो मुनिः ॥ २२ ॥
 नाभ्यां ददौ तदा हृष्टः कुठारमपरो मुनिः ।
 काषायमपरो वस्त्रं धीरमन्यो ददौ मुनिः ॥ २३ ॥

एकने कमण्डलु दिया तो दूसरे महामुनिने मुञ्जकी माला
 भेंट की तीसरेने आमन और चौथेने कौपीन प्रदान किया ।
 किसी अन्य मुनिने हर्षमे भरकर उन दोनों खालकाके लिये
 कुठार अर्पित किया । किसीने गेरुआ वस्त्र दिया तो किसी
 मुनिने धीर भेंट किया ॥ २२—२३ ॥

जटाबन्धनमन्यस्तु काष्ठरज्जुं मुदान्वितः ।
 यज्ञभाण्डमृषिः कश्चित् काष्ठभारं तथापरः ॥ २४ ॥
 औदुम्बरी वृसीमन्यः स्वस्ति केचित् तदावदन् ।
 आयुष्यमपरे ब्राह्ममुदा तत्र महर्षयः ॥ २५ ॥
 ददुश्चैवं वरान् सर्वे मुनयः सत्यवादिनः ।

किसी दूसरेने आनन्दमग्न होकर जटा बांधनेके लिये रस्से
 दी तो किसीने समिधा बांधकर लानेके लिये डोरी प्रदान की ।
 एक ऋषिने यज्ञपात्र दिया तो दूसरेने काष्ठभार समर्पित
 किया । किसीने गूलरकी लकड़ीका बना हुआ पात्र अर्पित
 किया । कुछ लोग उस समय आशीर्वाद देने लगे—
 'बन्धो ! तुम दोनोंका कल्याण हो ।' दूसरे महर्षि
 प्रसन्नतापूर्वक बोल उठे—'तुम्हारी आयु बढ़े ।' इस प्रकार
 सभी सत्यवादी मुनियोंने उन दोनोंको नाना प्रकारके वर
 दिये ॥ २४-२५ ॥

आश्चर्यमिदमाख्यानं मुनिना सम्प्रकोर्तितम् ॥ २६ ॥
 परं कवीनामाधारं संपाप्तं च यथाक्रमम् ।

महर्षि वाल्मीकिद्वारा वर्णित यह आश्चर्यमय काव्य
 परबतों कवियोंके लिये श्रेष्ठ आधारशिल है ।
 श्रीरामचन्द्रजीके सम्पूर्ण चरित्रका क्रमशः वर्णन करने हुए
 इसकी समाप्ति की गयी है ॥ २६ ॥

अभिगीतमिदं गीतं सर्वगीतिषु कोविदो ॥ २७ ॥
 आयुष्यं पुष्टिजननं सर्वश्रुतिमनोहरम् ।

सम्पूर्ण गीतोंके विशेषज्ञ राजकुमारो ! यह काव्य आयु
 एवं पुष्टि प्रदान करनेवाला तथा सबके कान और मनको
 मोहनेवाला मधुर संगीत है । तुम दोनोंने बड़े सुन्दर ढंगसे
 इसका गान किया है ॥ २७ ॥

प्रशस्त्यभारौ सर्वत्र कदाचित् तत्र गायको ॥ २८ ॥
 रथ्यासु राजमार्गेषु ददर्श धरताम्रजः ।
 स्ववेश्म चानीय ततो भ्रातरौ स कुशीलवौ ॥ २९ ॥
 पूजयामास पूजार्हौ रामः शत्रुनिबर्हणः ।
 आसीनः काञ्चने दिव्ये स च सिंहासने प्रभुः ॥ ३० ॥
 उपोपविष्टैः सचिवैर्भ्रातृभिश्च समन्वितः ।
 दृष्ट्वा तु रूपसम्पन्नौ विनीतौ भ्रातरावुभौ ॥ ३१ ॥

उवाच लक्ष्मणं रामः शत्रुघ्नं भरतं तथा ।
 श्रूयतामेतदाख्यानमनयोर्देववर्चसोः ॥ ३२ ॥
 विचित्रार्थपदं सम्यगाथको समञ्जोदयत् ।

एक समय सर्वत्र प्रशंसित होनेवाले राजकुमार कुश और
 लव अयोध्याकी गलियों और सहकोर रायायणके
 इलाकोंका गान करने हुए विचर रहे थे । इसी समय उनके
 ऊपर भरतके बड़े भाई श्रंगमकी दृष्टि पड़ी । उन्होंने उन
 समादरयोग्य वस्तुओंको अपने घर बुलाकर उनका यथोचित
 सम्मान किया । तदनन्तर शत्रुघ्नका संहार करनेवाले श्रीराम
 सुवर्णमय दिव्य भिहामनपर विराजमान हुए । उनके मन्त्री
 और भाई भी उनके पास ही बैठे थे । उन सबके साथ सुन्दर
 रूपवाले उन दोनों विनयशील भाइयोंकी ओर देखकर
 श्रीरामचन्द्रजीने भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्नसे कहा—'ये
 देवताके समान नेजन्मी दोनों कुमार विचित्र अर्थ और पदोंमें
 युक्त मधुर काव्य बड़े सुन्दर ढंगसे गाकर सुनाते हैं । तुम सब
 श्रंग इसे सुनो ।' यों कहकर उन्होंने उन दोनों भाइयोंको
 गानेकी आज्ञा दी ॥ २८—३२ ॥

तौ चापि मधुरं रक्तं स्वचित्तायतनि स्वनम् ॥ ३३ ॥
 तन्त्रीलयवदत्यर्थं विश्रुतार्थमगायताम् ।

ह्लादयत् सर्वगात्राणि मनांसि हृदयानि च ।
 श्रोत्राश्रयसुखं गेयं तद् वभौ जनसंसदि ॥ ३४ ॥

आज्ञा पाकर वे दोनों भाई खीणाके लयके साथ
 अपने मनके अनुकूल तार (उच्च) एवं मधुर स्वरमें राग
 अलापते हुए रायायणकाव्यका गान करने लगे । उनका
 उच्चरण इतना स्पष्ट था कि सुनते ही अर्थका बोध हो
 जाता था । उनका गान सुनकर श्रोताओंके समस्त अङ्गोंमें
 हर्षजनित रोमाञ्च हो आया तथा उन सबके मन और
 आत्मामें आनन्दको तरंगें ठठने लगीं । उस जनसभामें
 होनवाला वह गान सबको श्रवणान्द्रियोंको अत्यन्त सुखद
 प्रताप होता था ॥ ३३-३४ ॥

इमौ मुनी पार्थिवलक्षणान्वितौ
 कुशीलवौ चैव महातपस्विनौ ।
 ममापि तद् भूतिकरं प्रचक्षते
 महानुभावं चरितं निबोधत ॥ ३५ ॥

उन समय श्रीरामने अपने भाइयोंका ध्यान आकृष्ट करते
 हुए कहा—'ये दोनों कुमार मुनि होकर भी राजोचित
 लक्षणोंसे सम्पन्न हैं । संगीतमें कुशल होनेके साथ ही महान्
 तपस्वी हैं । ये जिस चरित्रका—प्रबन्धकाव्यका गान करते
 हैं, वह शब्दार्थालङ्कार, उत्तम गुण एवं सुन्दर रीति आदिसे
 युक्त होनेके कारण अत्यन्त प्रभावशाली है । मेरे लिये भी
 अभ्युदयकारक है, ऐसा वृद्ध पुरुषोंका कथन है अतः तुम
 सब श्रंग ध्यान देकर इसे सुनो ॥ ३५ ॥

सन्तु तौ रामवचःप्रचोदिता-

वगायता भार्गविधानसम्पदा ।

अ चापि रामः परिवर्ततः शर्न-

र्तुभूययासक्तमना बभूव ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे अतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमे चौथा सर्ग पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमः सर्गः

राजा दशरथद्वारा सुरक्षित अयोध्यापुरीका वर्णन

मया पूर्वमियं येषामासीत् कुलम् असुधरा ।

प्रजापतिमुपाश्रय नृपाणां जयशालिनाम् ॥ १ ॥

यथा स सागरो नाम सागरो येन खानिनः ।

षष्टिपुत्रसहस्राणि यं यान्तं पर्यवारयन् ॥ २ ॥

इक्ष्वाकुणामिदं तेषां राज्ञो वंशे महात्मनाम् ।

महदुत्पन्नमारुह्यानं रामायणमिति श्रुतम् ॥ ३ ॥

यह सारी पृथ्वी पूर्वकालमें प्रजापति मनुमें लेकर अन्तक

त्रिस वंशके विजयशाली नरेशोंके अधिकारमें रही है

तन्होंने समुद्रको खुदवाया था और जिनहं याज्ञकालमें साठ

हजार पुत्र लेकर चलते थे, वे महाप्रतापी राजा सगर जिनके

कुलमें उत्पन्न हुए, इन्हीं इक्ष्वाकुवंशी महात्मा राजाओंकी

कुलपरम्परामें रामायण नामसे प्रसिद्ध इस महान् ऐतिहासिक

कृतव्यकी अवतरणा हुई है ॥ १-३ ॥

तदिदं वर्तयिष्यावः सर्वं निखिलमादितः ।

धर्मकामार्थसहितं श्रोतव्यमनसूयता ॥ ४ ॥

हम दोनों आदिस अन्तक इस सार काव्यका पूर्णरूपसे

गान करेंगे । इसके द्वारा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सारे

पुरुषार्थोंकी सिद्धि होती है, अन आपलोग दायदृष्टिका

परित्याग करके इसका श्रवण करें ॥ ४ ॥

कोशलो नाम मुदितः स्फीतो जनपदो महान् ।

निविष्टः सरयुतीरे प्रभूतधनधान्यवान् ॥ ५ ॥

कोशल नामसे प्रसिद्ध एक बहुत बड़ा जनपद है, जो

सरयू नदीके किनारे धमा हुआ है । वह प्रचुर धन-धान्यसे

सम्पन्न, सुखी और समृद्धिशाली है ॥ ५ ॥

अयोध्या नाम नगरी तत्रासीत्लोकविश्रुता ।

मनुना धानवेन्द्रेण या पुरी निर्मिता स्वयम् ॥ ६ ॥

उसी जनपदमें अयोध्या नामकी एक नगरी है, जो समस्त

लोकमें विख्यात है । उस पुरीका स्वयं महाराज मनुन

जनवाद्या और बसाया था ॥ ६ ॥

तदनन्तर श्रीरामको आज्ञासे प्रेरित हो वे दोनों भाई

भार्गविधानकी^१ रीतिसे रामायणका गान करने लगे । सभामें

बैठे हुए भगवान् श्रीराम भी धीरे-धीरे उनका गान सुननेमें

तन्मय हो गये ॥ ३६ ॥

आयता दश च द्वे च योजनानि महापुरी ।

श्रीमती त्रीणि विस्तीर्णा सुविभक्तमहापथा ॥ ७ ॥

वह शोभाशालिनी महापुरी बारह योजन लम्बी और तीन

योजन चौड़ी थी । वहाँ बाहरके जनपदोंमें जानेका जो विशाल

राजमार्ग था, वह उभयपार्श्वमें विविध वृक्षावलियोंसे

विभूषित होनेके कारण सुस्पष्टतया अन्य मार्गोंसे विभक्त जान

पड़ता था ॥ ७ ॥

राजमार्गेण महता सुविभक्तेन शोभिता ।

मुक्तपुष्पावकीर्णेन जलसिक्तेन नित्यशः ॥ ८ ॥

सुन्दर विभागपूर्वक बना हुआ महान् राजमार्ग उस पुरीकी

शोभा बढ़ा रहा था । उसपर खिले हुए फूल बिखेर जाते थे

तथा प्रतिदिन उसपर जलकर छिड़काव होता था ॥

तां तु राजा दशरथो महाराष्ट्रविवर्धनः ।

पुरीमावासयामास दिवि देवपतिर्यथा ॥ ९ ॥

जैसे स्वर्गमें देवराज इन्द्रने अमरवतीपुरी बसायी थी,

उसी प्रकार धर्म और न्यायके बलसे अपने महान् राष्ट्रकी

वृद्धि करनेवाले राजा दशरथने अयोध्यापुरीको महलकी

अपेक्षा विशेषरूपसे बसाया था ॥ ९ ॥

कपाटतोरणवतीं सुविभक्तान्तरापणाम् ।

सर्वयन्त्रायुधवतीमुपिता सर्वशिल्पिभिः ॥ १० ॥

यह पुरी बड़े बड़े फाटकी और किवाड़ोंसे सुशोभित थी ।

उसके भीतर पथक-पथक बाजारें थीं । वहाँ सब प्रकारके

यन्त्र और अस्त्र शस्त्र संचित थे । उस पुरीमें सभी कलाओंके

शिल्पी निवास करते थे ॥ १० ॥

सूतमागधसम्बाधां श्रीमतीमतुलप्रभाम् ।

उद्याद्गालवजयतीं शतघ्नीशतसंकुलाम् ॥ ११ ॥

स्तुति-पाठ करनेवाले सूत और वंशावलीका बरतान

करनेवाले मागध वहाँ भरे हुए थे । वह पुरी सुन्दर शोभासे

सम्पन्न थी उसकी सुपमाकी कहीं तुलना नहीं थी । वहाँ

१ गान दो प्रकारके होते हैं—घर्ग और देशी । घिन्न-घिन्न देशोंकी प्राकृत भाषामें गाये जानेवाले गानको देशी कहते हैं और सम्पूर्ण राष्ट्रमें प्रसिद्ध संस्कृत आदि भाषाका आश्रय लेकर गाया हुआ गान मार्गिक नामसे प्रसिद्ध है । कुमार कुश और लव संस्कृत भाषाका आश्रय लेकर इसीकी रीतिमें गा रहे थे ।

ऊँची ऊँची अट्टालिकाएँ थीं, जिनके ऊपर ध्वज फहराते थे ।
सैकड़ों शालग्रियों (तोपों) से वह पुरी ख्यात थी ॥ ११ ॥

वधूनाटकसंघैश्च संयुक्तां सर्वतः पुरीम् ।

उद्यानाम्रवणोपेतां महतीं सालमेखलाम् ॥ १२ ॥

उस पुरीमें ऐसी बहुत-सी नाटक-मण्डलियाँ थीं, जिनमें केवल स्त्रियाँ ही नृत्य एवं अभिनय करती थीं । उस नगरमें चारों ओर उद्यान तथा आँगोंके बगीचे थे । लम्बाई और चौड़ाईकी दृष्टिसे यह पुरी बहुत विशाल थी तथा सालोंके वन उसे सब ओरसे घेरे हुए थे ॥ १२ ॥

दुर्गगम्भीरपरिखां दुर्गामन्धदुर्गासदाम् ।

वाजिधारणसम्पूर्णां गोभिरुष्टैः खरैस्तथा ॥ १३ ॥

उसके चारों ओर गहरी खाई खुदी थी, जिसमें प्रवेश करना या जिसे लूटना असम्भव था । वह नगर दूसरोंके लिये सर्वथा दुर्गम एवं दुर्जय थी । घोड़े, हाथी, गाय-बैल, ऊँट तथा गदहे आदि उपयोगी पशुओंसे वह पुरी भरी-पूरी थी ॥ १३ ॥

सामन्तराजसंघैश्च बलिकर्मभिरायुताम् ।

नानादेशनिवासैश्च वणिग्भिरुपशोभिताम् ॥ १४ ॥

कर देनेवाले सामन्त और शोक समुदाय उसे सदा घेरे रहते थे । विभिन्न देशोंके निवासी वैश्य उस पुरीकी शोभा बढ़ाते थे ॥ १४ ॥

प्रासादै रत्नविकृतैः पर्वतैरिव शोभिताम् ।

कूटागारैश्च सम्पूर्णामिन्द्रस्येवामरावतीम् ॥ १५ ॥

वहकि महलोका निर्माण नाना प्रकारके रत्नोंसे हुआ था । वे गगनधुन्वी प्रासाद पर्वतोंके समान जान पड़ते थे । उनसे इस पुरीकी कड़ी शोभा हो रही थी । बहुसंख्यक कूटागारों (गुफागृहों अथवा स्त्रियोंके प्रीतिभवनों) से परिपूर्ण यह नगरी इन्द्रकी अमरावतीके समान जान पड़ती थी ॥ १५ ॥

चित्रामष्टापदाकारां चरनारीगणायुताम् ।

सर्वरत्नसमाकीर्णां विमानगृहशोभिताम् ॥ १६ ॥

उसकी शोभा चित्र थी । उसके महलोंपर सोनेका पानी चढ़ाया गया था (अथवा वह पुरी द्यूतफलकके आकारमें बसायी गयी थी) । श्रेष्ठ एवं सुन्दर नारियोंके समूह उस पुरीकी शोभा बढ़ाते थे वह सब प्रकारके रत्नोंसे भरी-पूरी तथा सतमहले प्रासादोंसे सुशोभित थी ॥ १६ ॥

गृहगणानामविच्छिद्रां समभूमी निवेशिताम् ।

शालितण्डुलसम्पूर्णांमिक्षुकाण्डरसोदकाम् ॥ १७ ॥

पुरवासियोंके घरोंसे उसकी आवादी इतने घनी हो

गयी थी कि कहीं थोड़ा-सा भी अवकाश नहीं दिखायी देता था । उस समतल भूमिपर बसाया गया था । वह नगरी जड़हन घानके चावलोंसे भरपूर थी । वहाँका जल इतना मीठा या स्वादिष्ट था, मानो ईश्वरका रस हो ॥ १७ ॥

दुन्दुभीभिर्मृदङ्गैश्च वीणाभिः पणवैस्तथा ।

नादितो भृशमत्यर्थं पृथिव्यां तामनुत्तमाम् ॥ १८ ॥

भूमण्डलवृत्ति यह सर्वोत्तम नगरी दुन्दुभि, मृदङ्ग, वीणा, पणव आदि वाद्योंकी मधुर ध्वनिसे अत्यन्त गूँजती रहती थी ॥ १८ ॥

विमानमिव सिद्धानां तपसाधिगतं दिवि ।

सुनिवेशितवेश्मान्तां नरोत्तमसमायुताम् ॥ १९ ॥

देवलोकमें तपस्यासे प्राप्त हुए सिद्धोंके विमानकी भाँति उस पुरीका भूमण्डलमें सर्वोत्तम स्थान था । वहाँके सुन्दर महल बहुत अच्छे ढंगसे बनाये और बसाये गये थे । उनके भीतरी भाग बहुत ही सुन्दर थे बहुत स श्रेष्ठ पुरुष उस पुरीमें निवास करते थे ॥ १९ ॥

ये च वार्णानि विध्यन्ति विविक्तमपरापरम् ।

शब्दवैर्ध्वं च वितते लघुहस्ता विशारदाः ॥ २० ॥

सिंहव्याघ्रवराहाणां घत्तानां नदतां वने ।

हन्तारो निशितैः शस्त्रैर्वलाद् बाहुबलैरपि ॥ २१ ॥

तादृशानां सहस्रैस्तामभिपूर्णो महारथैः ।

पुरीमावासयामास राजा दशरथस्तदा ॥ २२ ॥

जो अपने समूहमें विद्वद्भक्त असहाय हो गया हो, जिसके आगे पीछे कोई न हो (अर्थात् जो पिता और पुत्र दोनोंसे हीन हो) तथा जो शब्दवैधा वागद्वारा वेधने योग्य हो अथवा युद्धमें हाथकर भाग जा रहे हो, ऐसे पुरुषोंपर जो लोग वार्णोंका प्रहार नहीं करते, जिनके संधे-संध्याये हाथ शीघ्रता-पूर्वक लक्ष्यवध करनेमें समर्थ हैं, अस्त्र-शस्त्रोंके प्रयोगमें कुशलता प्राप्त कर चुके हैं तथा जो वनमें गर्जते हुए मतवाले सिंहों, व्याघ्रों और सूअरोंकी सीखे शस्त्रोंमें एवं भुजाओंके बलसे भी बलपूर्वक पार डालनेमें समर्थ हैं, ऐसे सहस्रों महारथों कीरसे असोभ्यापुरी भरी-पूरी थी । उसे महाराज दशरथने बसाया और पात्र था ॥ २०—२२ ॥

तामग्निमद्विर्गुणवद्विरावृतां

द्विजोत्तमैर्वेदवङ्गपारमैः ।

सहस्रदैः सत्यरतमहात्मभि-

र्महर्षिकल्पैर्ऋषिभिश्च केवलैः ॥ २३ ॥

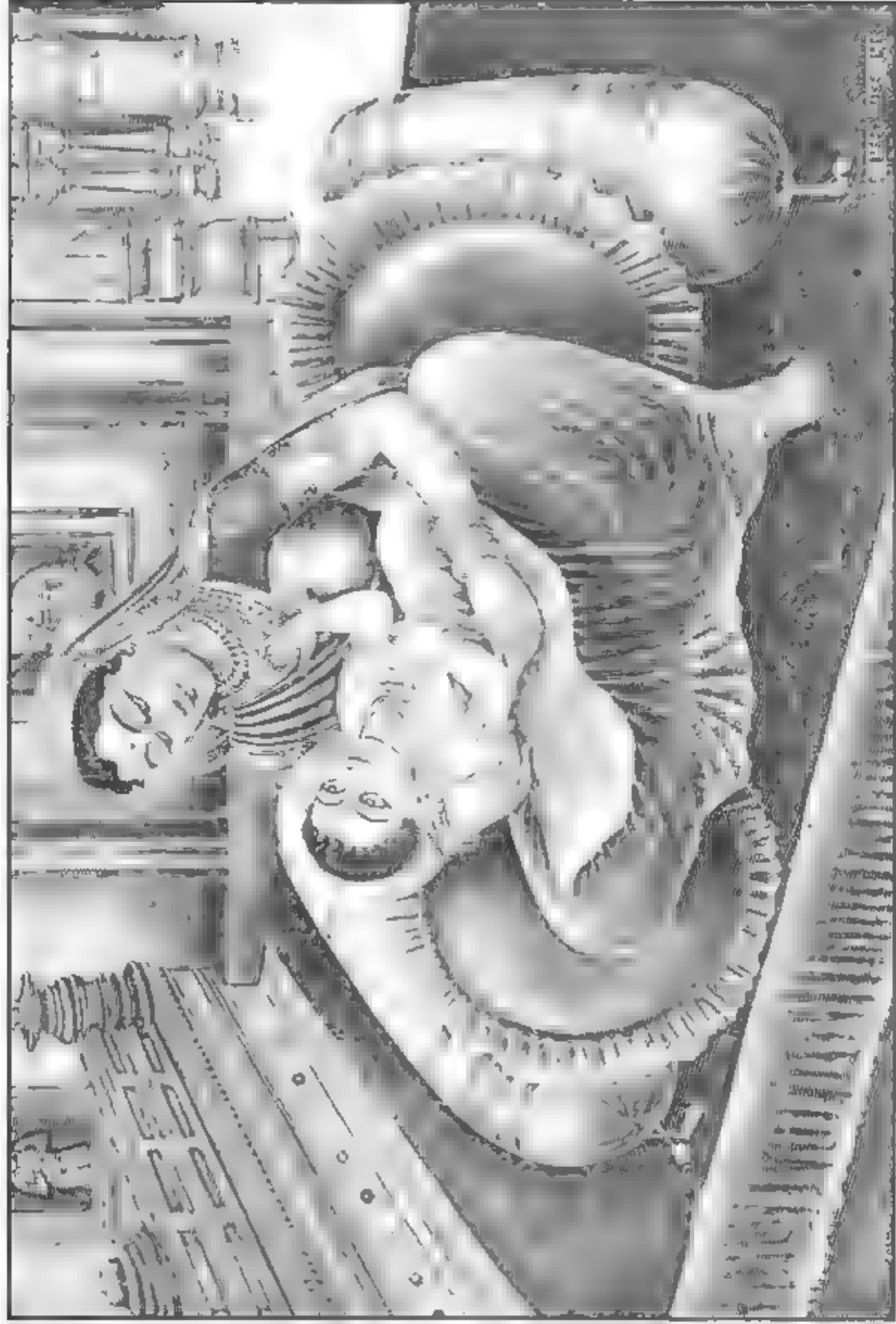
अग्निहोत्र, शम-दम आदि उत्तम गुणोंसे सम्पन्न तथा उहाँ अङ्गान्वित सम्पूर्ण वेदोंके पारङ्गन विद्वान् श्रेष्ठ ब्राह्मण

१ गोविन्दराजकी टीकामें अष्टापदक अर्ध शालिक या द्यूतफलक किया गया है । वह चौकी जिसपर पासा बिछाया या खेला जाय, द्यूतफलक कहलाता है पुरीकें वीर्यम राजमहल था । उसके चारों ओर सत्रवर्धियाँ थीं और बीचमें खाली जगहें थीं यही 'अष्टापदाकार' का भाव है ।



वाल्मीकिका शोक

Vālmiki aggrieved



माता कौसल्याकी गोदमें परब्रह्म श्रीराम

Supreme Brahma Sri Rāma in the lap of Kausalyā



Janaka hails Visvâmitra



श्रीरामद्वारा धनुष उठाना

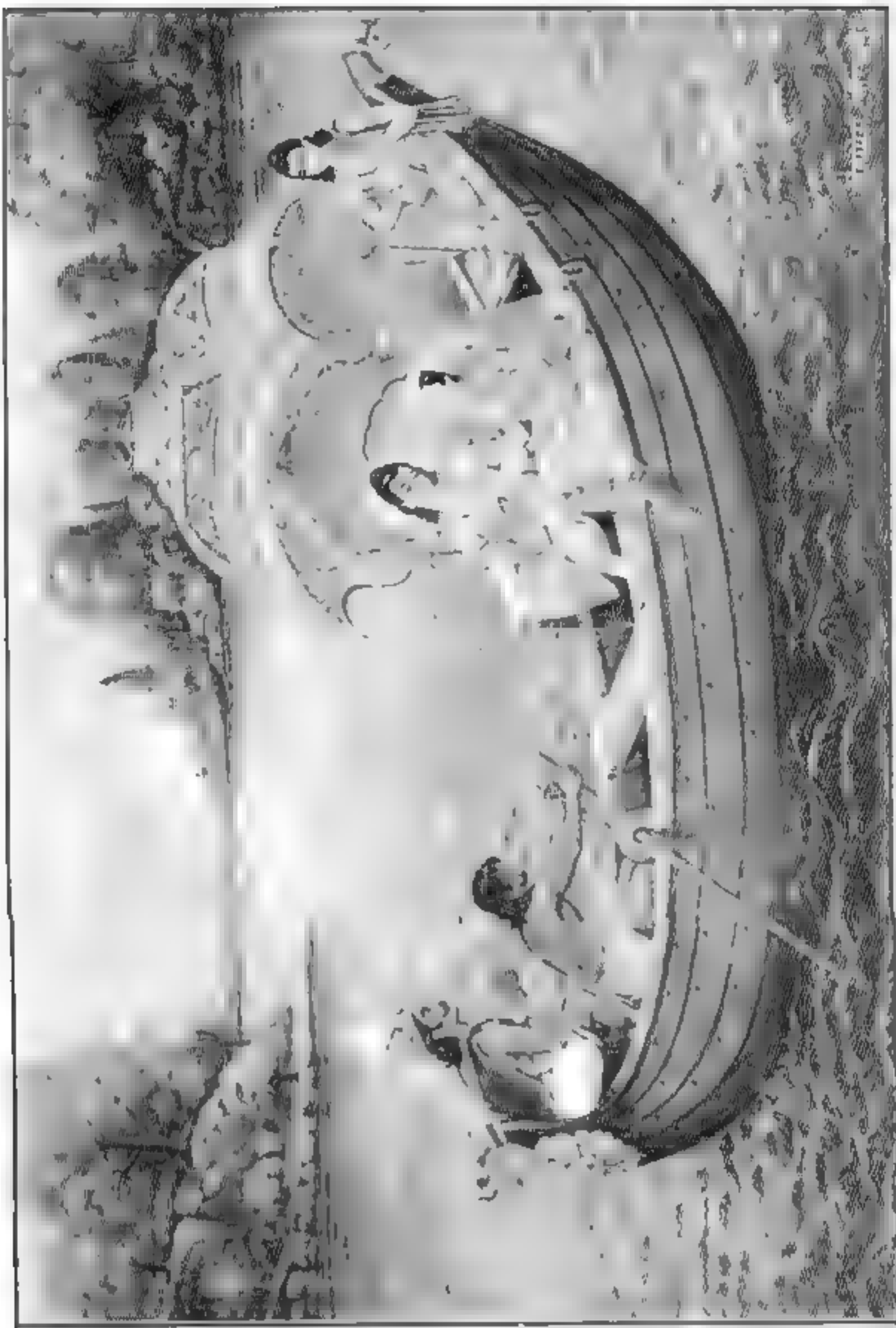
Sri Rāma lifts the bow



गीताप्रेम, गोग्रुपुर

चारों भाई वर वेष्टामें

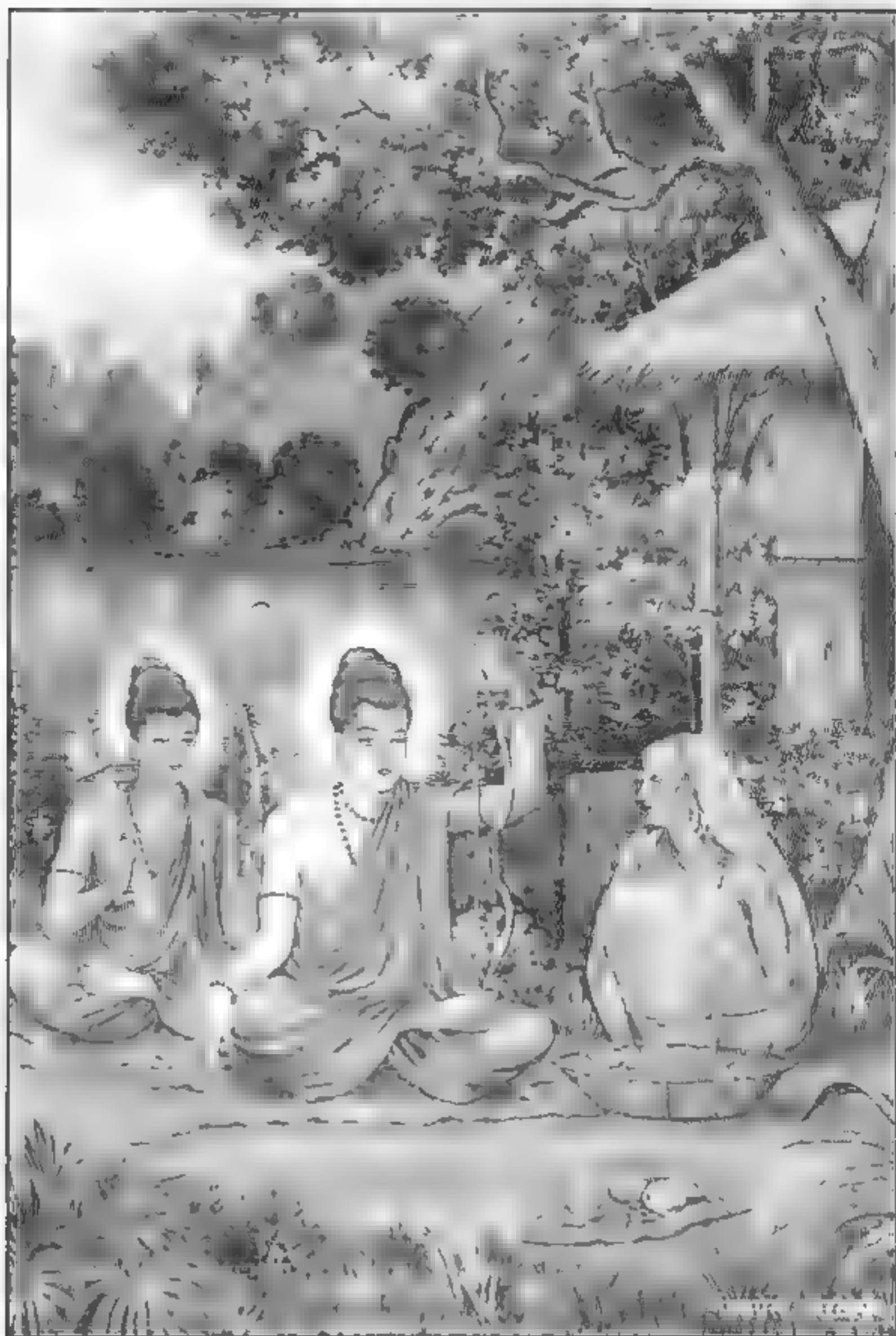
Four brothers in bridal apparel





चित्रकूटमें भगवन्का प्रणिपात

Bharata prostrating at Citrakuta



शरणीके अतिथि

Guests to Śabari

नगर सदा घेर रहते थे वे सहस्राक्ष दान करनेवाले । तथा ऋषियोंसे अयोध्यापुरी सुशोभित थी तथा राजा दशरथ
अन्यमें नगर रहनेवाले थे । ऐसे महर्षिकल्प भक्तत्वाओं । उनकी रक्षा करते थे ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे बालकाण्डे षष्ठः सर्गः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यगमायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें पंचविंश सर्ग पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठः सर्गः

राजा दशरथके शासनकालमें अयोध्या और वहाँके नागरिकोंकी उत्तम स्थितिका वर्णन

अन्य पुर्यामयोध्यायां वेदविन् सर्वसंग्रहः ।
दूरदर्शो महानेजाः पौरजानपदप्रियः ॥ १ ॥
इवाकृणामतिरथो यज्वा धर्मपरो वशी ।
नराधिकृत्यो राजर्षिस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ॥ २ ॥
बलवान् निहनापित्रो मित्रवान् विजितेन्द्रियः ।
धनेश्व संसर्गेश्वान्वैः शक्रवैश्रवणोपमः ॥ ३ ॥
यथा मनुर्पहानेजा लोकस्य परिरक्षिता ।
तथा दशरथो राजा लोकस्य परिरक्षिता ॥ ४ ॥

उस अयोध्यापुरीमें रहकर राजा दशरथ प्रजावर्गके पालन करते थे । वे वेदोंके विद्वान् तथा सभी उपग्रामों वस्तुओंका संग्रह करनेवाले थे । दूरदर्शी और महान् तेजस्वी थे । नगर और जनपदकी प्रजा उनसे बहुत प्रेम रखती थी । वे इवाकृकुलके अतिरथी^१ वीर थे । यज्ञ करनेवाले धर्मपरायण और जितेन्द्रिय थे । महर्षियोंके समान दिव्य गुण-धामन् राजर्षि थे । उनकी तीनों लोकमें ख्याति थी । वे बलवान्, शत्रुहीन, मित्रोंसे युक्त एवं इन्द्रियावजयो थे । धन और अन्य वस्तुओंके संचयकी दृष्टिसे इन्द्र और कुबेरके समान जान पड़ते थे । जैसे महान्तेजस्वी प्रजापति मनु सम्पूर्ण जगत्की रक्षा करते थे, ठीक प्रकार महाराज दशरथ भी करते थे । १—४ ।

नेन सत्याभिसंधेन प्रियर्गमनुतिष्ठता ।
पालिता सा पुरी श्रेष्ठा इन्नेणेवामरावती ॥ ५ ॥

धर्म, अर्थ और कामका सम्पादन करनेवाले कर्मोंका अनुष्ठान करते हुए वे सत्यप्रतिज्ञा वंश उस श्रेष्ठ अयोध्यापुरीका हमी तरह पालन करते थे, जैसे इन्द्र भगवत्परीकर ॥ ५ ॥

तस्मिन् पुरश्चरे हृष्टा धर्मात्मानो बहुभुताः ।
नरास्तुष्टा धने स्वेः स्वेरलब्ध्याः सत्यवादिनः ॥ ६ ॥

इस उत्तम नगरमें निवास करनेवाले सभी मनुष्य प्रमत्त, धर्मोक्ता, बहुभुत, निर्लभ, सत्यवादी तथा अपने-अपने धनसे अनुष्ट रहनेवाले थे ॥ ६ ॥

नाल्पसंनिवयः कश्चिदासीत् तस्मिन् पुरोत्तमे ।
कुटुम्बी यो ह्यसिद्धार्थोऽगवाश्चधनधान्यवान् ॥ ७ ॥

उस श्रेष्ठ पुरीमें कोई भी ऐसा कुटुम्बी नहीं था, जिसके पास कुटुम्ब वस्तुओंका संग्रह अधिक मात्रामें न हो, जिसके धर्म, अर्थ और काममें पुरुषार्थ सिद्ध न हो गये हों तथा जिसके पास गाय-बैल, घोड़े, धन-धान्य आदिक्र अभाव हो ॥ ७ ॥

कामी वा न कटयो वा नृशंसः पुरुषः क्वचित् ।
द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नाविद्वान् न च नास्तिकः ॥ ८ ॥
अयोध्यामें कहीं भी कोई कामी, कुपण, क्रूर, मूर्ख और नास्तिक मनुष्य देखनेको भी नहीं मिलता था ॥ ८ ॥

सर्वे नराश्च नार्यश्च धर्मशीलाः सुसंयताः ।
मुदिताः शीलवृत्ताभ्यां महर्षय इवामलाः ॥ ९ ॥
वहाँके सभी स्त्री-पुरुष धर्मशील, संयमी, सदा प्रसन्न रहनेवाले तथा शील और सदाचारकी दृष्टिसे महर्षियोंकी भाँति निर्मल थे ॥ ९ ॥

नाकुण्डली नामकुटी नास्त्वयी नाल्पभोगवान् ।
नामृष्टो न नलिप्राज्ञो नासुगन्धश्च विद्यते ॥ १० ॥
वहाँ कोई भी कुण्डल, मुकुट और पुष्पहारसे शून्य नहीं था । किसीके पास भोग-सामग्रीकी कमी नहीं थी । कोई भी ऐसा नहीं था, जो नहा-धोकर साफ-सुथरा न हो, जिसके अङ्गोमें चन्दनका लेप न हुआ हो तथा जो सुगन्धसे वञ्चित हो ॥ १० ॥

नामृष्टभोजी नादाना नाप्यनङ्गदनिष्कधृक् ।
महस्ताभरणो वापि दृश्यते नाप्यनात्मवान् ॥ ११ ॥

अपवित्र अन्न भोजन करनेवाला, दान न देनेवाला तथा मनको कायमें न रखनेवाला मनुष्य तो वहाँ काई दिखायो ही नहीं देता था । कोई भी ऐसा पुरुष देखनेमें नहीं आता था, जो चाजुबन्द, निष्क (स्वर्णपटक या मोहर) तथा हाथका आभूषण (कड़ा आदि) धारण न किये हो ॥

नानाहिताग्निर्नायज्वा न क्षुद्रो वा न तस्करः ।
कश्चिदासीदयोध्यायो न चावृणो न संकरः ॥ १२ ॥

अयोध्यामें कोई भी ऐसा नहीं था, जो अग्निहोत्र और यज्ञ न करता हो; जो क्षुद्र, चोर, सदाचारशून्य अथवा वर्णमकर हो ॥ १२ ॥

१ जो इस हजार महर्षियोंके साथ अकला ही कुछ कर्ममें समर्थ हो वह अतिरथी कहलाता है ।

स्वकर्मनिरता नित्यं ब्राह्मणा विजितेन्द्रियाः ।

दानाध्ययनशीलाश्च संयताश्च प्रतिग्रहे ॥ १३ ॥

वहाँ निवास करनेवाले ब्राह्मण सदा अपने कर्ममें लगे रहते, इन्द्रियोंको वशमें रखते, दान और स्वाध्याय करने तथा प्रतिग्रहसे बचे रहते थे ॥ १३ ॥

नास्तिको नानृती वापि न कश्चिदबहुभुतः ।

नासूयको न चाशक्तो नाविद्वान् विद्यते कश्चित् ॥ १४ ॥

वहाँ कहीं एक भी ऐसा द्विज नहीं था, जो नास्तिक, असत्यवादी, अनेक शास्त्रिक ज्ञानमें रक्षित, दूसरोंके दोष ढूँढ़नेवाला, साधनमें असमर्थ और विद्याहीन हो ॥ १४ ॥

नाथद्वङ्गविदप्राप्तिं नाप्नोती नासहस्रदः ।

न दीनः क्षिप्रचित्तो वा व्यथितो वापि कश्चन ॥ १५ ॥

उस पुण्यमें वेदके छहों ब्रह्मोंको न जाननेवाला बनहोन, भ्रातृसौते कम दान देनेवाला, दीन, विक्षिप्त नित्त अथवा दुःखी भी कोई नहीं था ॥ १५ ॥

कश्चिज्जरो वा नारी वा नाश्रीमान् नाप्यस्त्ववान् ।

द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नापि राजन्यभक्तिमान् ॥ १६ ॥

अयोध्यामें कोई भी स्त्री या पुरुष ऐसा नहीं देखा जा सकता था, जो श्रीहीन, रूपरहित तथा राजभक्तिमें शून्य हो ॥ १६ ॥

वर्णेष्वप्यचतुर्थेषु देवतातिथिपूजकाः ।

कृतज्ञाश्च सदान्याश्च शूरा विक्रमसंयुताः ॥ १७ ॥

ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंके लोग देवता और अतिथियोंके पूजक, कृतज्ञ, उदार, शूरवीर और पराक्रमी थे ॥ १७ ॥

दीर्घायुषो नराः सर्वे धर्म सत्यं च संश्रिताः ।

सहिताः पुत्रपौत्रैश्च नित्यं स्त्रीभिः पुरोक्षमे ॥ १८ ॥

उस श्रेष्ठ नगरमें निवास करनेवाले सब मनुष्य दीर्घायु तथा धर्म और सत्यका आश्रय लेनेवाले थे। वे सदा स्त्री-पुत्र और पौत्र आदि परिवारके साथ सुखसे रहते थे ॥ १८ ॥

क्षत्रं ब्राह्ममुखं चासीद् वैश्याः क्षत्रमनुव्रताः ।

शूद्राः स्वकर्मनिरतास्त्रीन् वर्णानुपचारिणः ॥ १९ ॥

क्षत्रिय ब्राह्मणोंका मुँह जोहते थे, वैश्य क्षत्रियोंकी आज्ञाका पालन करते थे और शूद्र अपने कर्तव्यका पालन करते हुए उपर्युक्त तीनों वर्णोंकी सेवामें संलग्न रहते थे ॥ १९ ॥

सा तेनेक्ष्वाकुनाथेन पुरी सुपरिरक्षिता ।

यथा पुरस्तात्पुनना मानवेन्द्रेण क्षीयता ॥ २० ॥

इक्ष्वाकुकुलके स्वामी राजा दशरथ अयोध्यापुरीकी रक्षा उसी प्रकार करते थे जैसे बुद्धिमान् महाराज मनुने पूर्वकात्म्ये उसकी रक्षा की थी ॥ २० ॥

येषां नामभिः कल्पानां पेशलानामपर्विणाम् ।

सम्पूर्णा कृतविद्यानां गुहा केसरिणामिव ॥ २१ ॥

शौर्यकी अधिकताके कारण अप्रिके समयान दुर्धर्ष,

कुटिलतासे रहित, अपमानको सहन करनेमें असमर्थ तथा अस्व-शस्त्रोंके ज्ञाना बाँझाओंके समुदायसे वह पुरी उसी तरह भरी पूरी रहनी थी, जैसे पर्वतोंकी गुफा सिंहोंके समूहसे परिपूर्ण होती है ॥ २१ ॥

काम्बोजविषये जातैर्बाह्यीकैश्च हयोत्तमैः ।

वनायुजैर्नदीजैश्च पूर्णा हरिहयोत्तमैः ॥ २२ ॥

काम्बोज और बाह्यीक देशमें उत्पन्न हुए उत्तम घोड़ोंसे, वनायु देशके अश्वोंमें तथा विन्धुनदके निकट पैदा होनेवाले दरियाई घोड़ोंसे, जो इन्द्रके अश्व उच्चैः श्रवाके समान श्रेष्ठ थे, अयोध्यापुरी भरी रहती थी ॥ २२ ॥

विन्ध्यपर्वतर्जमनैः पूर्णा हिमवतैरपि ।

मदान्वितैरतिबलैर्मतिर्द्धैः पर्वतोपमैः ॥ २३ ॥

विन्ध्य और हिमालय पर्वतोंमें उत्पन्न होनेवाले अत्यन्त बलशाली पर्वताकार मदमत्त गजराजोंसे भी वह नगरी परिपूर्ण रहती थी ॥ २३ ॥

ऐरावतकुलीनैश्च महापद्मकुलैस्तथा ।

अञ्जनादपि निष्कान्तैर्वाग्मिनादपि च द्विपैः ॥ २४ ॥

ऐरावतकुलमें उत्पन्न, महापद्मके वंशमें पैदा हुए तथा अञ्जन और वाग्मि नामक दिग्गजोंसे भी प्रकट हुए हाथी उस पुरीकी पूर्णतामें सहायक हो रहे थे ॥ २४ ॥

भद्रैर्मन्त्रैर्मृगैश्चैव भद्रमन्त्रमृगैस्तथा ।

भद्रमन्त्रैर्भद्रमृगैर्मृगमन्त्रैश्च सा पुरी ॥ २५ ॥

नित्यमनैः सदा पूर्णा नागीरचलसंनिधैः ।

सा योजने द्वे च भूयः सत्त्वनामा प्रकाशते ।

यस्यां दशरथो राजा वसन्मृगदपाल्म्यत् ॥ २६ ॥

हिमालय पर्वतपर उत्पन्न भद्रजातिके, विन्ध्यपर्वतपर उत्पन्न हुए मन्त्रजातिके तथा सहायपर्वतपर पैदा हुए मृग जातिके हाथी भी वहाँ मौजूद थे। भद्र, मन्त्र और मृग इन तीनोंके मेलसे उत्पन्न हुए संकरजातिके, भद्र और मन्त्र—इन दो जातियोंके मेलसे पैदा हुए संकर जातिके, भद्र और मृग जातिके संयोगसे उत्पन्न संकरजातिके तथा मृग और मन्त्र—इन दो जातियोंके सम्मिश्रणसे पैदा हुए पर्वताकार गजराज भी, जो सदा मदोन्मत्त रहते थे, उस पुरीमें भरे हुए थे। (तीन योजनके विस्तारवाली अयोध्यामें) दो योजनकी भूमि तो ऐसी थी, जहाँ पहुँचकर किसीके लिये भी युद्ध करना असम्भव था, इसलिये वह पुरी 'अयोध्या' इस सत्य एवं सार्थक नामसे प्रकाशित होती थी, जिसमें रहने हुए राजा दशरथ इस जगत्का (अपने राज्यका) पालन करते थे ॥ २५-२६ ॥

तां पुरीं स महातजा राजा दशरथो महान् ।

शशास शमितामित्रो नक्षत्राणीव चन्द्रमा ॥ २७ ॥

वैसे चन्द्रमा मन्त्रलोकका शासन करते हैं, उसी प्रकार महातजस्वी महाराज दशरथ अयोध्यापुरीका शासन

जन्ते थे। उन्होंने अपने समस्त शत्रुओंको मर्द कर दिया था ॥ २७ ॥

नो सत्यनामो दुष्टतोरणार्गला
गृहं किंचिन्नैरुपशोभितां शिवाम् ।
पुंगवयोध्यां नृसहस्रसंकुलां
शशास वै शाकसमो महीपतिः ॥ २८ ॥

जिसका अधोदध्या नाम सत्य एवं सार्थक था, जिसके दरवाजे और अर्गल सुदृढ़ थे, जो विविध गृहोंसे सदा सुशोभित होनी थी, सहस्रों मनुष्योंसे भरी हुई उस कल्याणमयी पुरीका इन्द्रतुल्य तेजस्वी राजा दशरथ न्यायपूर्वक शासन करते थे ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें छठे सर्ग पूरा हुआ ॥ ६ ॥

सप्तमः सर्गः

राजमन्त्रियोंके गुण और नीतिका वर्णन

नस्थामात्या गुणैरासन्निक्षाकोः सुपद्मात्मनः ।
मन्त्रशास्त्रेद्विज्ञाश्च नित्यं प्रियहिते रताः ॥ १ ॥
अष्टौ बभूवुर्वीरस्य तस्यामात्या यशस्विनः ।
शुचयश्चानुरक्ताश्च राजकृत्येषु नित्यशः ॥ २ ॥

इक्ष्वाकुवंशो और महामना महाराज दशरथके मन्त्रिजनोंचित गुणोंसे सम्पन्न आठ मन्त्री थे, जो मन्त्रके तत्वको जाननेवाले और वातों सेष्टा देखकर ही मन्त्रके भावको समझ लेनेवाले थे। वे सदा ही राजाके प्रिय एवं हितमें लगे रहने थे। इसीलिये उनका यश बहुत फैला हुआ था। वे सभी शुद्ध आचार-विचारसे युक्त थे और राजकाय कार्योंमें निरन्तर संलग्न रहने थे ॥ १-२ ॥

धृष्टिर्जयन्तो विजयः सुराष्ट्रो राष्ट्रवर्धनः ।
अकोपो धर्मपालश्च सुमन्त्रश्चाष्टमोऽर्थवित् ॥ ३ ॥

उनके नाम इस प्रकार हैं—धृष्टि, जयन्त, विजय, सुराष्ट्र, राष्ट्रवर्धन, अकोप, धर्मपाल और आठवें सुमन्त्र, जो अर्थशास्त्रके ज्ञाता थे ॥ ३ ॥

ऋत्विजौ द्वावधिमनौ तस्यास्ताम्रविसत्तमौ ।
वसिष्ठो वामदेवश्च मन्त्रिणश्च तथापरे ॥ ४ ॥
शुचिर्ज्ञोऽप्यथ नाथालिः काश्यपोऽप्यथ गौतमः ।

धार्कपङ्कजस्तु दीर्घाप्सुस्तथा कात्यायनो द्विजः ॥ ५ ॥
शुचिर्गोमं श्रेष्ठतमं वसिष्ठ और वामदेव—ये दो महर्षि राजाके माननीय ऋत्विज् (पुण्डित) थे, इनके मित्रा मुयज, आश्रालि, काश्यप, गौतम, दीर्घायु मन्त्रेण्डिय और विप्रवर काल्याणम भी महाराजके मन्त्री थे ॥ ४-५ ॥

एतैर्ब्रह्मर्षिभिर्बिन्यधृत्विजस्तस्य परीरकाः ।
विद्याविनीता ह्रीमन्तः कुशला निघनेन्द्रियाः ॥ ६ ॥
श्रीमन्तश्च महात्मानः शास्त्रज्ञा दृढविक्रमाः ।
कीर्तिमन्तः प्रणिहिता यथावचनकारिणः ॥ ७ ॥
तेजःक्षयायशःप्राप्ताः स्मितपूर्वाभिधाविणः ।
क्रोधात् कामार्थहीनोर्वा न ब्रध्नन्तं वचः ॥ ८ ॥

इन ब्रह्मर्षियोंके साथ राजाके पूर्वपरम्परागत ऋत्विज् भी

सदा मन्त्रोंका कार्य करते थे। वे सब-के-सब विद्वान् होनेके कारण विनयशील, संलग्न, कार्यकुशल, जितेन्द्रिय, श्रीमन्त्र, महाम्ना, शास्त्रविद्याके ज्ञाता, सुदृढ़ पराक्रमी, यशस्वी, समस्त राजकार्योंमें सावधान, राजाकी आज्ञाके अनुसार कार्य करनेवाले तेजस्वी, क्षमाशील, कीर्तिमान् तथा मुमकुराकर बात करनेवाले थे। वे कभी काम, क्रोध या स्वार्थके वशोन्मत्त होकर झूठ नहीं बोलते थे ॥ ६-८ ॥

तेषामविदितं किंचित् स्वेषु नास्ति परेषु वा ।
क्रियमाणं कृतं वापि चारेणापि चिकीर्षितम् ॥ ९ ॥

अपने सब शत्रुपक्षक राजाओंकी कोई भी बात उनसे छिपी नहीं रहती थी। दूसरे राजा क्या करते हैं, क्या कर चुके हैं और क्या करना चाहते हैं—ये सभी बातें गुप्तचरोंद्वारा उन्हें मालूम रहती थीं ॥ ९ ॥

कुशला व्यवहारेषु सौहृदेषु परीक्षिताः ।
प्राप्तकालं यथा दण्डं धारयेयुः सुतेष्वपि ॥ १० ॥

वे सभी व्यवहारकुशल थे। उनके सौहार्दको अनेक अवसरोंपर परीक्षा ली जा चुकी थी वे मौका पड़नेपर अपने पुत्रको भी उचित दण्ड देनेमें भी नहीं हिचकते थे ॥ १० ॥
कोशसंग्रहणे युक्ता बलस्य च परिग्रहे ।

अहिते चापि पुरुषं न हिंम्युरविदूषकम् ॥ ११ ॥
कायके संघय तथा सन्तुष्टिणी मन्त्रोंके संग्रहमें सदा लगे रहने थे। शत्रुने भी यदि अपराध न किया हो तो वे उसकी हिंसा नहीं करते थे ॥ ११ ॥

वीराश्च नियतोत्साहा राजशास्त्रमनुष्ठिताः ।
शुचीनो रक्षितारश्च नित्यं विषयवामिनाम् ॥ १२ ॥

उन सबमें सदा शौर्य एवं उत्साह भरा रहना था, वे राजनीतिके अनुसार कार्य करते तथा अपने राज्यके भीतर रहनेवाले सत्पुरुषोंकी सदा रक्षा करते थे ॥ १२ ॥

ब्रह्मक्षत्रमहिंसन्तस्ते कोशं सभपूरयन् ।
सुतीक्ष्णदण्डाः सम्प्रेक्ष्य पुरुषस्य बलाबलम् ॥ १३ ॥

ब्राह्मणों और क्षत्रियोंको कष्ट न पहुँचाकर न्यायोचित

धनसे राजाका खजाना भरते थे। वे अपराधी पुरुषके चलाचलका देवकर उसके प्रति तीक्ष्ण अथवा मृदु दण्डकी प्रयोग करते थे ॥ १३ ॥

शुचीनामेकबुद्धीनां सर्वेषां सम्प्रजानताम् ।
नासीत्युरे वा राष्ट्रे वा भृषावादी नरः कश्चित् ॥ १४ ॥
कश्चिन्न सुष्टुस्तत्रासीत् परदाररतिर्नरः ।
प्रशान्तं सर्वमेवासीद् राष्ट्रं पुरवरं च तत् ॥ १५ ॥

उन सबके भाव शुद्ध और विचार एक थे। उनकी आनकारोंमें अनोभ्यापरी अथवा कांसकराज्यके भानर कहां एक भी मनुष्य ऐसा नहीं था, जो मिथ्यावादी दृष्ट और परस्त्रीलम्पट हो। सम्पूर्ण राष्ट्र और नगरमें पूर्ण शान्ति छाई रहती थी ॥ १४-१५ ॥

सुधाससः सुवेपाश्च ते च सर्वे शुचिप्रताः ।
हितार्थाश्च नरेन्द्रस्य जाग्रतो नयचक्षुषा ॥ १६ ॥

उन मन्त्रियोंके वस्त्र और वेप स्वच्छ एवं सुन्दर होते थे। वे उत्तम प्रतका पालन करनेवाले तथा राजाके हिनेपी थे। नीतिरूपी नेत्रोंसे देखते हुए सदा सजग रहते थे ॥ १६ ॥

गुरोर्गुणगृहीताश्च प्रख्याताश्च पराक्रमः ।
विदेशेषुपि विज्ञानाः सर्वतो बुद्धिनिश्चयाः ॥ १७ ॥

अपने गुणोंके कारण वे सभी मन्त्री गुरुतुल्य समादरणीय राजाके अनुग्रहपात्र थे। अपने पराक्रमोंके कारण उनकी सर्वत्र ख्याति थी। विदेशोंमें भी सब लोग उन्हें जानते थे। वे सभी भाषाओंमें बुद्धिदाय भलोंधर्मात् विचार करनेके किमो निश्चयपर पहुँचते थे ॥ १७ ॥

अभितो गुणवन्तश्च न चासन् गुणवर्जिताः ।
संधिविग्रहतत्त्वज्ञाः प्रकृत्या सम्पदान्विताः ॥ १८ ॥

समस्त देशों और कालोंमें वे गुणवान् ही सिद्ध होते थे, गुणांगन नहीं राध और विग्रहोंके उपयोग और अवसरका उन्हें अच्छे तरह ज्ञान था। वे स्वभावसे ही सम्पत्तिशाली (दैवी सम्पत्तिसे युक्त) थे ॥ १८ ॥

मन्त्रसंवरणे शक्ताः शक्ताः सूक्ष्मासु बुद्धिषु ।
नीतिशास्त्रविशेषज्ञाः सन्तते प्रियवादिनः ॥ १९ ॥

उनमें राजकोय मन्त्रणाको गुप्त रखनेकी पूर्ण शक्ति थी। वे मृदुमयिपथका विचार करके कुशल थे। नीतिशास्त्रमें उनकी विशेष जानकारी थी तथा वे सदा ही प्रिय

लगनेवाली बात बोलते थे ॥ १९ ॥

इंदुर्शस्त्रैरमार्यश्च राजा दशरथोऽनघः ।
उपयन्तो गुणोपेनैरन्वशासद् वसुन्धराम् ॥ २० ॥

ऐसे गुणवान् मन्त्रियोंके साथ रहकर निष्पाप राजा दशरथ उस भूमण्डलका शासन करते थे ॥ २० ॥

अवेक्ष्यमाणश्चरेण प्रजा धर्मेण रक्षयन् ।
प्रजानां पालनं कुर्वन्नधर्मं परिवर्जयन् ॥ २१ ॥

वे गुप्तचरोंके द्वारा अपने और शत्रु-राज्यके कृत्योंपर दृष्टि रखते थे, प्रजाका धर्मपूर्वक पालन करते थे तथा प्रजापालन करते हुए अधर्मसे दूर ही रहते थे ॥ २१ ॥

विश्रुनस्त्रिषु लोकेषु वदान्यः सत्यसंगरः ।
स तत्र पुरुषव्याघ्रः शशास पृथिवीमिमाम् ॥ २२ ॥

उनके तीनों लोकोंमें प्रसिद्धि थी। वे उदार और सत्यप्रतिज्ञ थे। पुरुषसिंह राजा दशरथ अयोध्यामें ही रहकर इस पृथ्वीका शासन करते थे ॥ २२ ॥

नाध्यगच्छद्द्विशिष्टं वा तुल्यं वा शत्रुमात्मनः ।
पित्रवाव्रतसामन्तः प्रतापहतकण्टकः ॥ २३ ॥

स शशास जगद् राजा दिवि देवपतिर्यथा ॥ २४ ॥

उन्हें कभी अपनेसे बड़ा अथवा अपने समान भी कोई शत्रु नहीं मिला। उनके मित्रोंकी संख्या बहुत थी। सभी सामन्त उनके चरणोंमें मस्तक झुकाते थे। उनके प्रतापसे राज्यके सारे कण्टक (शत्रु एवं चोर आदि) नष्ट हो गये थे। जैसे देवराज इन्द्र स्वर्गमें रहकर तीनों लोकोंका पालन करते हैं, उसी प्रकार राजा दशरथ अयोध्यामें रहकर सम्पूर्ण जगत्का शासन करते थे ॥ २३ ॥

तैर्मन्त्रिभिर्यन्त्रहितेन विविधै-
र्वृतोऽनुरक्तः कुशलः समर्थः ।

स पार्थिवो दीप्तिमवाप युक्त-
स्नेजोपयैर्गर्भीभरिवोदितोऽकः ॥ २४ ॥

उनके मन्त्री यन्त्रणाको गुप्त रखने तथा राज्यके हित-माधनमें संलग्न रहते थे। वे राजाके प्रति अनुरक्त, आयकुशल और शक्तिशाली थे। जैसे सूर्य अपनी तेजामयी किण्णाक साथ उदित होकर प्रकाशित हात है, उसी प्रकार राजा दशरथ उन तेजस्वी मन्त्रियोंके धिरे रहकर बड़ी शोभा पाते थे ॥ २४ ॥

इत्यार्ष श्रीमहाभारतवाण्यां बाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीबाल्मीकीनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें सप्तवां सर्ग पूरा हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमः सर्गः

राजाका पुत्रके लिये अश्वमेधयज्ञ करनेका प्रस्ताव और पत्नियों तथा ब्राह्मणोंद्वारा उनका अनुमोदन तथा चर्चप्रभावस्य धर्मज्ञस्य महात्मनः ।

मुनाथं तप्यमानस्य नासीद् वंशकरः सुतः ॥ १ ॥

नमूर्ण धर्माका जाननेवाले महात्मा राजा दशरथ ऐसे प्रत्यक्ष होते हुए भी पुत्रके लिये सदा चिन्तित रहते थे, — वंशको चलायेवाला कोई पुत्र नहीं था ॥ १ ॥

चिन्तयानस्य तस्यैव बुद्धिगसोमहात्मनः ।

मुनाथं वाजिमंथेन किमर्थं न यजाभ्यहम् ॥ २ ॥

उसके लिये चिन्ता करने-करते एक दिन उन महा-
त्मा के भरोसे मनमें यह चिन्ता हुआ कि मैं पुत्रप्राप्तिके लिये
अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान क्यों न करूँ ? ॥ २ ॥

म निश्चिनां मतिं कृत्वा यष्टुष्यमिति बुद्धिमान् ।

पत्निभिः सह धर्मात्मा सर्वेऽपि कृतात्मभिः ॥ ३ ॥

ननोऽब्रवीन्महातेजाः सुमन्त्रे पत्तिस्ततम् ।

शीघ्रमानय मे सर्वान् गुरुस्तान् सपुणेहितान् ॥ ४ ॥

अपने समस्त शुद्ध बुद्धिवाले मन्त्रियोंके साथ
परायणपूर्वक यज्ञ करनेका ही निश्चित विचार करके उन
महातेजस्वी, बुद्धिमान् एवं धर्मात्मा राजाने सुमन्त्रमें
कहा— 'मन्त्रिवर ! तुम मेरे समस्त गुरुजनों एवं पुणेहितोंको
यहाँ शाघ बुला ले आओ' ॥ ३-४ ॥

ततः सुमन्त्रस्त्वरितं गत्वा त्वरितविक्रमः ।

यमानयत् स तान् सर्वान् समस्तान् वेदपाठ्यान् ॥ ५ ॥

तब शीघ्रतापूर्वक पराक्रम प्रकट करनेवाले सुमन्त्र तुरंत
जाकर उन समस्त वेदविद्वाक पाठगत मन्त्रियोंको वहाँ बुला
लाये ॥ ५ ॥

सुयज्ञं वामदेवं च जाबालिमथ काश्यपम् ।

पुरोहितं वसिष्ठं च ये ज्ञाप्यन्ते द्विजोत्तमाः ॥ ६ ॥

तान् पूजयित्वा धर्मात्मा राजा दशरथस्तदा ।

इमे धर्माधर्महितं दानं यथा वचनमब्रवीत् ॥ ७ ॥

सुयज्ञ वामदेव जगन्नि काश्यप दक्षयुग्मकेत वसिष्ठ
तथा और भी जो श्रेष्ठ ब्राह्मण थे, उन सबको पूजा करके
धर्मात्मा राजा दशरथने धर्म और अधर्ममें युक्त यह मधुर
वचन कहा— ॥ ६-७ ॥

यम लालयमानस्य सूनार्थं नास्ति ये सुखम् ।

तस्यैव हयमंथेन यथाभीति मतिर्मम ॥ ८ ॥

'महापिया ! मैं सदा पुत्रके लिये विलाप करना रहता हूँ ।
इसके बिना इस राज्य आदिसे मुझे सुख नहीं मिलता; अतः
मैंने यह निश्चय किया है कि मैं पुत्र प्राप्तिके लिये अश्वमेधद्वारा
भगवान्का यजन करूँ ॥ ८ ॥

तदहं यष्टुमिच्छामि शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ।

कथं प्राप्स्याम्यहं कामं बुद्धिप्रविचिन्त्यताम् ॥ ९ ॥

मेरी इच्छा है कि शास्त्रान्त विधिमें इस यज्ञका

अनुष्ठान करूँ अतः किस प्रकार मुझे मंगे मनोवाञ्छित वस्तु
प्राप्त होंगी ? इसका विचार आपलोग यहाँ करें' ॥ ९ ॥

ततः सार्धं तद्वाक्यं ब्राह्मणाः प्रत्यपूजयन् ।

वसिष्ठप्रमुखाः सर्वे पार्थिवस्य मुखरितम् ॥ १० ॥

राजाके उस वाक्यके वसिष्ठ आदि सब ब्राह्मणोंने बहुत
अच्छ करके उनके मुखमें बाँध गये पूर्वोक्त वचनको
प्रशंसा की ॥ १० ॥

ऊचुश्च धर्मप्रीताः सर्वे दशरथं वचः ।

सम्भाराः सम्भ्रियन्तां ते नृगश्च विमुच्यताम् ॥ ११ ॥

सरस्वाश्रोतरे तीरे यज्ञभूमिर्विधीयताम् ।

सर्वथा प्राप्स्यसे पुत्रानभिप्रेतांश्च पार्थिव ॥ १२ ॥

यस्य ते धार्मिको बुद्धिरियं पुत्रार्थमागता ।

फिर वे सभी आनन्द प्रयत्न होकर राजा दशरथसे बोले—

'महाशय ! यज्ञ-सामग्रीका संग्रह किया जाय । भूमण्डलमें
भ्रमणके लिये यज्ञमन्त्रों अथ छेड़ काय तथा सरयूके उत्तर
तटपर यज्ञभूमिका निर्माण किया जाय । तुम यज्ञद्वारा सर्वथा
अपने इच्छाके अनुसृत पुत्र प्राप्त कर सोगे, क्योंकि पुत्रके लिये
तुम्हारे इत्यमं ऐसी धार्मिक बुद्धिका उदय हुआ है' ॥ ११-१२ ॥

ततस्तुष्टोऽभवद् राजा श्रुत्वा तद् द्विजभाषितम् ॥ १३ ॥

अपत्यानब्रवीद् राजा हर्षव्याकुलं लोचनः ।

सम्भाराः सम्भ्रियन्तां मे गुरुणां वचनादिह ॥ १४ ॥

समर्थाधिष्ठितश्चायः सोपाध्यायो विमुच्यताम् ।

सरस्वाश्रोतरे तीरे यज्ञभूमिर्विधीयताम् ॥ १५ ॥

शान्तयश्चापि सर्वान् यथाकल्पं यथाविधि ।

शक्यः प्राप्तुमर्थं यज्ञं सर्वेणापि महोक्षिता ॥ १६ ॥

नापराधो भवेत् कष्टो यद्यस्मिन् क्रतुसप्तमे ।

छिद्रं हि भृगयन्ते स्म विद्वांसो ब्रह्मराक्षसाः ॥ १७ ॥

ब्राह्मणोंका यह कथन सुनकर राजा बहुत संतुष्ट हुए ।
उपसे उनके नेत्र चञ्चल हो उठे । वे अपने मन्त्रियोंसे
घाते गुरुजनोंके आज्ञाके अनुसार यज्ञकी सामग्री यहाँ
एकत्र करे जाय । शान्तशाली लोगके संरक्षणमें उपाध्याय-
गर्भित अश्वको छोड़ा जाय । सरयूके उत्तर तटपर यज्ञभूमिका
निर्माण हो । शास्त्रान्त विधिके अनुसार ब्रह्मराक्षसोंका
विनाश किया जाय (जिससे विघ्नोका निवारण हो) । यदि
इस श्रेष्ठ यज्ञमें कष्टप्रद अपराध बन जानेका भय न हो तो
सभी राजा इसका सम्पादन कर सकते हैं परंतु ऐसा होना
कठिन है, क्योंकि विद्वान् ब्रह्मराक्षस यज्ञमें विघ्न डालनेके
लिये छिद्र ढूँढ़ा करते हैं ॥ १३-१७ ॥

विधिहीनस्य यज्ञस्य सद्यः कर्ता विनश्यति ।

तद्यथा विधिपूर्वं ये क्रतुरेष संपाद्यते ॥ १८ ॥

तथा विधानं क्रियतां सपर्याः साधनेष्विति ।

‘विधिहीन यज्ञका अनुष्ठान करनेवाला यजमान तत्काल नष्ट हो जाता है; अतः मेरा यह यज्ञ जिस तरह विधिपूर्वक सम्पन्न हो सके, वैसा उपाय किया जाय। तुम सब लोग ऐसे धाधन प्रस्तुत करनेमें समर्थ हो’ ॥ १८ ॥

तथेति चाह्वयन् सर्वे मन्त्रिणः प्रतिपूजिताः ॥ १९ ॥
पार्थिवेन्द्रस्य तद् वाक्यं यथापूर्वं निशम्य ते ।

राजाके द्वारा सम्मानित हुए समस्त मन्त्रों पूर्ववत् उनके वचनोंको सुनकर बोले—‘बहुत अच्छा, ऐसा ही होगा’ ॥ १९ ॥

तथा द्विजास्ते धर्मज्ञा वर्धयन्तो नृपोत्तमम् ॥ २० ॥
अनुज्ञातास्ततः सर्वे पुनर्जम्बुधरागतम् ।

इस प्रकार वे सभी धर्मज्ञ ब्राह्मण भी नृपश्रेष्ठ दशम्यको बधाई देते हुए उनको आज्ञा लेकर जैसे आये थे, वैसे ही फिर लौट गये ॥ २० ॥

विसर्जयित्वा तान् विप्रान् सचिवानिदमब्रवीत् ॥ २१ ॥
ऋत्विग्भिर्मुखादिष्टो यथावत् कतुराप्यताम् ।

इत्यार्ये श्रीमद्वाल्मीकीये आदिकाव्ये वालकाण्डेऽष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षराघवपा आदिकाव्यके वालकाण्डमें आठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८ ॥

नवमः सर्गः

सुमन्त्रका राजाको ऋष्यशृङ्ग मुनिको बुलानेकी सलाह देते हुए उनके अङ्गदेशमें जाने और शान्तासे विवाह करनेका प्रसङ्ग सुनाना

एतच्छ्रुत्वा रहः सुतो राजानमिदमब्रवीत् ।
श्रूयतां तत् पुरावृत्तं पुराणे च यथा श्रुतम् ॥ १ ॥

पुत्रके लिये अश्वमेध यज्ञ करनेकी बात सुनकर सुमन्त्रने राजासे एकान्तमें कहा—‘महाराज ! एक पुरानी इतिहास सुनिये । मैंने पुराणमें भी इसका वर्णन सुना है ॥ १ ॥

ऋत्विग्भिर्मुखादिष्टोऽयं पुरावृत्तो मया श्रुतः ।
सनत्कुमारो भगवान् पूर्वं कथितवान् कथाम् ॥ २ ॥
ऋषीणां संनिधौ राजस्तत्र पुत्रागमे प्रति ।

ऋत्विजोंने पुत्र-प्राप्तिके लिये इस अश्वमेधरूप उपदेश किया है, परन्तु मैंने इतिहासके रूपमें कुछ विशेष बात सुनी है । राजन् ! पूर्वकारमें भगवान् सनत्कुमारने ऋत्विगोंके निकट एक कथा सुनायी थी । वह आपको पुत्रप्राप्तिसे सम्बन्ध रखनेवाली है ॥ २ ॥

काश्यपस्य च पुत्रोऽस्ति विभाण्डक इति श्रुतः ॥ ३ ॥
ऋष्यशृङ्ग इति ख्यातस्तस्य पुत्रो भविष्यति ।
स यने नित्यसंवृद्धो भुविर्धनचरः सदा ॥ ४ ॥

‘उन्होंने कहा था, भुविकरो ! महर्षि काश्यपके विभाण्डक नामसे प्रसिद्ध एक पुत्र है । उनके भी एक पुत्र होगा जिसकी लोगोंने ऋष्यशृङ्ग नामसे प्रसिद्ध होगी । व ऋष्यशृङ्ग मुनि सदा वनमें ही रहेंगे और वनमें ही सदा लालन-पालन पाकर

उन ब्राह्मणोंके विद्या करने राजाने मन्त्रियोंसे कहा—‘पुराणोंके उपदेशके अनुसार इस यज्ञको विधिवत् पूर्ण करना चाहिये’ ॥ २१ ॥

इत्युक्त्वा नृपशार्दूलः सचिवान् समुपस्थितान् ॥ २२ ॥
विसर्जयित्वा स्वं वैश्यं प्रविशेश महामतिः ।

वहाँ उपस्थित हुए मन्त्रियोंसे ऐसा कहकर परम बुद्धिमान् नृपश्रेष्ठ दशम्य उन्हें विदा करके अपने महलमें चले गये ॥

ततः स गत्वा ताः पत्नीर्नरेन्द्रो हृदयंगमाः ॥ २३ ॥
उवाच दीक्षां विशत यक्ष्येऽहं सुतकारणात् ।

वहाँ जाकर नरेशने अपनी प्यारी पत्नियोंसे कहा—‘देविया ! दीक्षा ग्रहण करो मैं पुत्रके लिये यज्ञ करूँगा ॥ तासीं तेनानिकान्तेन वचनेन सुवर्धसाम् ।

पुत्रपथान्यशोधयन् पथानीव हिमात्यये ॥ २४ ॥

उस पनाहर वचनसे उन सुन्दर कान्तिवाली पत्नियोंके मुखरुमल वसनश्रुतमें विकसित होनवाले पङ्कजांक समान खिल उठे और अन्यन्त शोभा पाने लगे ॥ २४ ॥

वे बड़े होंगे ॥ ३ ॥

नान्यं जानाति विप्रेन्द्रो नित्यं पिप्रनुवर्तनात् ।
द्विविधं ब्रह्मचर्यस्य भविष्यति महात्मनः ॥ ५ ॥
लोकेषु प्रथितं राजन् विप्रेष्ठ कथितं सदा ।

‘सदा पिताक ही साथ रहनेके कारण विप्रवर ऋष्यशृङ्ग दूसरे किमीको नहीं जानेंगे । राजन् ! लोकमें ब्रह्मचर्यके दो रूप विख्यात हैं और ब्राह्मणोंने सदा उन दोनों स्वरूपोंका वर्णन किया है । एक तो है दण्ड, मेखला आदि धारणरूप मुख्य ब्रह्मचर्य और दूसरा है ऋतुकालमें पत्नी सम्भारारूप गौण ब्रह्मचर्य । उन महात्माके द्वारा उक्त दोनों प्रकारके ब्रह्मचर्योंका फलन होगा ॥ ५ ॥

तस्यैवं वर्तमानस्य कालः समधिगतः ॥ ६ ॥
अग्निं शुश्रूषमाणस्य पितरं च यशस्विनम् ।

‘इस प्रकार रहते हुए मुनिका समय अग्नि तथा यशस्वी पिताके सेवामें ही व्यतीत होगा ॥ ६ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु रोमपादः प्रतापवान् ॥ ७ ॥
अङ्गेषु प्रथितो राजा भविष्यति महाबलः ।

तस्य व्यतिक्रमाद् राज्ञो भविष्यति सुदारुणा ॥ ८ ॥
अनावृष्टिः सुघोरा वै सर्वलोकभयावहा ।

‘उसी समय अङ्गदेशमें रोमपाद नामक एक बड़े प्रतापी

और बलवान् राजा होंगे, उनके द्वारा धर्मका उत्कर्ष हो जानेके कारण उस देशमें धर्म अनावृष्टि हो जायगा, जो सब लोगोंकी अत्यन्त पराधीन कर देगी ॥ ७-८ ॥

अनाद्युष्ट्यां तु वृत्तायां राजा दुःखसमन्विताः ॥ ९ ॥
ब्राह्मणाञ्जुतसेवद्भान् समानीय प्रवक्ष्यति ।
भवन्तः श्रुतकर्माणो लोकचारित्रवेदिनः ॥ १० ॥
समादिशन्तु नियमं प्रार्थयन्तं यथा भवत् ।

“वर्षा बाद हो जानसे राजा रोमपादकी भी बहुत दुःख होगा । वे शास्त्रज्ञानमें बड़े-बड़े ब्राह्मणोंको बुलाकर फाँटेंगे—“विप्रवरौ ! आपलोग वेद-शास्त्रोंके अनुसार कर्म करनेवाले तथा लोगोंके आचार-व्यवहारको जाननेवाले हैं अतः कृपा करके मुझ ऐसा कोई नियम बनानेमें जिसमें मैं पापका प्रायश्चित्त हो जाय ॥ ९-१० ॥

इत्युक्तास्ते ततो राजा सर्वे ब्राह्मणसत्तमाः ॥ ११ ॥
वक्ष्यन्ति ते महीपाले ब्राह्मणा वेदपारगाः ।

“राजाके ऐसा कहनेपर वे वेदोंके पारङ्गम विद्वान्—मभी श्रेष्ठ ब्राह्मण उन्हें इस प्रकार सलाह देंगे— ॥ ११ ॥

विभाण्डकसुतं राजन् सर्वोपायविहानय ॥ १२ ॥

आनाय्य तु महीपाल ऋष्यभृङ्गं सुसक्तम् ।

विभाण्डकसुतं राजन् ब्राह्मणं वेदपारगम् ।

प्रयच्छ कन्यां शान्तां वै विधिना सुसमाहितम् ॥ १३ ॥

“राजन् ! विभाण्डकके पुत्र ऋष्यभृङ्ग वेदोंके पारंगम विद्वान् हैं । भूयाल ! आप मभी उपायोंमें उन्हें यहाँ ले आइये । बुलाकर उनका भलीभाँति सत्कार फाँजिये । फिर एकप्रवृत्ति हो वैदिक विधिके अनुसार उनका साथ अपनी कन्या शान्तिका विवाह कर दाँजिये ॥ १२-१३ ॥

तेषां तु वञ्चने श्रुत्वा राजा चिन्तां प्रपत्स्यते ।

केनोपायेन वै शक्यमिहानेतुं स वीर्यवान् ॥ १४ ॥

उनकी बात सुनकर राजा इस चिन्तामें पड़ जायगा कि किस उपायसे उन शक्तिशाली महर्षिको यहाँ लाना जा सकता है ॥ १४ ॥

ततो राजा विनिश्चित्य सह मन्त्रिभिरात्मवान् ।

पुरोहितममार्त्तांश्च प्रार्थयिष्यति सत्कृतान् ॥ १५ ॥

इत्यर्थं श्रोत्रपायायण वाल्मीकीये आदिकाण्डे दशमः सर्गः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रोत्रपायायण वाल्मीकीये आदिकाण्डे दशमः सर्गः पूरा हुआ ॥ १ ॥

—★—

दशमः सर्गः

अङ्गदेशमें ऋष्यभृङ्गके आने तथा शान्ताके साथ विवाह होनेके प्रसङ्गका कुछ विस्तारके साथ वर्णन

सुमन्त्रशोदितो राजा प्रोयाचेदं वचस्तदा ।

यथर्ष्यभृङ्गस्त्वानीतो येनोपायेन मन्त्रिभिः ।

तन्मे निगदितं सर्वं शृणु मे मन्त्रिभिः सह ॥ १ ॥

“फिर वे सुमन्त्रों ने राजा मन्त्रियोंके साथ निश्चय करके अपने पुरोहित और मन्त्रियोंको सत्कारपूर्वक यहाँ भेजेंगे ॥ १५ ॥

ते तु राजो वचः श्रुत्वा व्यथिता चिन्ताननाः ।

न गच्छेम ऋषेर्धीता अनुनेष्यन्ति तं भूषम् ॥ १६ ॥

“राजाकी बात सुनकर वे मन्त्री और पुरोहित मुँह लटककर दुःख हो यों कहने लगे कि ‘हम महर्षिसे डरते हैं, इसलिये वहाँ नहीं जायेंगे ।’ यों कहकर वे राजासे बड़ी अनुनय-विनय करेंगे ॥ १६ ॥

वक्ष्यन्ति चिन्तयित्वा ते तस्योपायांश्च तान् क्षमान् ।

आनेष्यामो वयं विप्रं न च दोषो भविष्यति ॥ १७ ॥

इसके बाद सोच-विचारकर वे राजाको योग्य उपाय बतायेंगे और कहेंगे कि ‘हम उन ब्राह्मणकुमारकी किसी उपायसे यहाँ ले आयेंगे । ऐसा करनेसे कोई दोष नहीं घटित होगा’ ॥ १७ ॥

एवमङ्गाधिपेनैव गणिकार्थिकैश्चैः सुतः ।

आनीतोऽवर्षयद् देव शान्तां वाम् प्रदीयते ॥ १८ ॥

“इस प्रकार वेदशास्त्रोंकी सहायतासे अङ्गराज मुनिकुमार ऋष्यभृङ्गकी अपन यहाँ बुलायेंगे उनके आते ही इन्द्रदेव उस राज्यमें तर्का करेंगे । फिर राजा उन्हें अपनी पुत्री शान्ता भयर्पित कर देंगे ॥ १८ ॥

ऋष्यभृङ्गस्तु जामानां पुत्रोस्तत्र विधास्यति ।

सनत्कुमारकथितमेवावद् व्याहृतं मया ॥ १९ ॥

“इस तरह ऋष्यभृङ्ग आपके जामाता हुए । वे ही आपके लिये पुत्रोंको सुलभ करानेवाले यज्ञकर्मका सम्पादन करेंगे यत्र सनत्कुमारकी कही हुई बात मैं आपसे निवेदन का रहा ॥ १९ ॥

अथ हृष्टो दशरथः सुमन्त्रं प्रत्यभाषत ।

यथर्ष्यभृङ्गस्त्वानीतो येनोपायेन सोच्यताम् ॥ २० ॥

यह सुनकर राजा दशरथको बड़ी प्रसन्नता हुई । उन्होंने सुमन्त्रसे कहा—‘मुनिकुमार ऋष्यभृङ्गको यहाँ जिस प्रकार और जिस उपायसे बुलाया गया, वह स्पष्ट-रूपसे बताओ’ ॥ २० ॥

इत्यर्थं श्रोत्रपायायण वाल्मीकीये आदिकाण्डे दशमः सर्गः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रोत्रपायायण वाल्मीकीये आदिकाण्डे दशमः सर्गः पूरा हुआ ॥ १ ॥

—★—

दशमः सर्गः

अङ्गदेशमें ऋष्यभृङ्गके आने तथा शान्ताके साथ विवाह होनेके प्रसङ्गका कुछ विस्तारके साथ वर्णन

राजाकी आज्ञा पाकर उस समय सुमन्त्रने इस प्रकार

कहना आरम्भ किया—“राजन् ! रोमपादके मन्त्रियोंने

ऋष्यभृङ्गका वहाँ जिस प्रकार और जिस उपायसे बुलाया

था, वह सब मैं बता रहा हूँ। आप मन्त्रियोंसहित भेटे बात सुनिये ॥ १ ॥

गेयपादमुवाचेदे सहायात्यः पुरोहितः ।
उपायो विरपायोऽयमस्माभिरभिचिन्तितः ॥ २ ॥

“उस समय अमात्योसहित पुरोहितने राजा रोमपादसे कहा—‘महाराज ! हमलोगोंने एक उपाय सोचा है, जिसे काममें लानेसे किसी भी विघ्न-बाधाके आनेकी सम्भावना नहीं है ॥ २ ॥

श्रव्यशृङ्गे वनधरस्तपःस्वाध्यायसंयुतः ।
अनधिज्ञस्तु नारीणां विषयाणां सुखस्य च ॥ ३ ॥

“श्रव्यशृङ्ग मुनि सदा वनमें ही रहकर तपस्वी और स्वाध्यायमें लगे रहते हैं। वे स्त्रियोंका पदचानलनक नहीं है और विषयोंके सुखमें भी सर्वथा अनभिज्ञ हैं ॥ ३ ॥

इन्द्रियाधीरधिमतेर्नगच्छितप्रमाधिभिः ।
पुरमानायायायायः क्षिप्रं व्याध्यवसीयताम् ॥ ४ ॥

“हम मनुष्योंके चित्तमें मध डालनेवाले मनाकाजिह्व विषयोंका प्रलोभन देकर उन्हें अपने नगरमें ले आयेगे; अतः इसके लिए शीघ्र प्रयत्न किया जाय ॥ ४ ॥

गणिकास्तत्र गच्छन्तु रूपवत्यः सलक्ष्णताः ।
प्रलोभ्य विविधोपायैरानेष्यन्तीह सत्कृताः ॥ ५ ॥

“यदि सुन्दर अधभूषणोंसे विभूषित मनोहर रूपवाली वेश्याएँ यहां जायें तो वे भीतर आतंक उपायोंसे उन्हें लुभाकर इस नगरमें ले आयेगी; अतः इन्हें सत्कारपूर्वक भेजना चाहिये ॥ ५ ॥

श्रुत्वा तथेति राजा च प्रत्युवाच पुरोहितम् ।
पुरोहितो मन्त्रिणाश्च तदा चक्रुश्च ते तथा ॥ ६ ॥

“यह सुनकर राजाने पुरोहितका उत्तर दिया, ‘बहुत अच्छा, आपलोग ऐसा ही करें।’ आका पाकर पुरोहित और मन्त्रियोंने इस समय समीचीन व्यवस्था की ॥ ६ ॥

वाग्मुख्यास्तु तच्छ्रुत्वा वनं प्रविशिशुभंहन ।
आश्रमस्याविदूरेऽस्मिन् यत्नं कुर्वन्ति दर्शने ॥ ७ ॥

“सब नगरवाले मुख्य-मुख्य वेश्याएँ राजाकी आज्ञा सुनकर उसे मशान् चले गयीं और मुनिके आश्रममें थोड़ा ही दूरपर ठहरकर उनके दर्शनका उद्योग करने लगीं ॥ ७ ॥

ऋषेः पुत्रस्य धीरस्य नित्यमाश्रमधासिनः ।
पितुः स नित्यसंदृष्टो नानिच्छकाम चाश्रमान् ॥ ८ ॥

“मुनिकुमार श्रव्यशृङ्ग बड़े ही धीर स्वभावके थे। सदा आश्रममें ही रहा करते थे। उन्हें सर्वदा अपने पिताके पान रहनमें ही अधिक सुख मिलना था। अतः वे कभी आश्रमक बाहर नहीं निकलते थे ॥ ८ ॥

न तेन जन्मप्रभृति दृष्टपूर्वं तपस्विना ।
स्त्री वा पुमान् वा यद्यान्यत् सत्त्वं नगरराष्ट्रजम् ॥ ९ ॥

“उन तपस्वी ऋषिकुमारने जन्मसे लेकर उस

समयतक पहले कभी न तो कोई स्त्री देखी थी और न पिताके सिवा दूसरे किसी पुरुषका ही दर्शन किया था। अगर या राष्ट्रक गाँवमें उत्पन्न हुए दूसरे दूसरे प्राणियोंको भी वे नहीं देख पाये थे ॥ ९ ॥

ततः कदाचित् तं देशभाजगाम यदुच्छया ।
विधाण्डकसुनस्तत्र ताश्चापश्यद् वराहनाः ॥ १० ॥

“तदनन्तर एक दिन विधाण्डककुमार श्रव्यशृङ्ग अकस्मान् घुमते-फिरते उस स्थानपर चले आये जहाँ वे वेश्याएँ ठहरी हुई थीं, वहाँ उन्होंने उन सुन्दरी स्त्रियोंको देखा ॥ १० ॥

ताश्चित्रवेद्याः प्रमदा गायन्त्यो मधुरस्वरम् ।
ऋषिपुत्रपुपागम्य सर्वा वचनमनुवन् ॥ ११ ॥

“उन प्रमदाओंका वेष बड़ा ही सुन्दर और अद्भुत था। वे मोठे स्वरमें गा रही थीं। ऋषिकुमारको आका देख सभी उनके पास चली आयीं और इस प्रकार पूछने लगीं— ॥ ११ ॥

कस्त्वं किं वर्तसे ब्रह्मज्जातुमिच्छामहे वयम् ।
एकस्त्वं विजने दूरे वने धरसि शंस नः ॥ १२ ॥

“ब्रह्मन् ! आप कौन हैं ? क्या करते हैं ? तथा इस निजन वनमें आश्रममें इतने दूर आकर अकेले क्यों विचर रहे हैं ? यह हमें बताइये। हमलोग इस बातको जानना चाहती हैं ॥ १२ ॥

अदृष्टरूपास्तगस्तेन काव्यरूपा वने स्थिताः ।
हार्दन्तस्य मतिर्ज्ञाना आस्थातुं पितरं स्वकम् ॥ १३ ॥

“श्रव्यशृङ्गने वनमें कभी स्त्रियोंका रूप नहीं देखा था और वे स्त्रियाँ तो अत्यन्त कमवय रूपसे सुजातिभर थीं; अतः उन्हें देखकर उनके मनमें बड़ा उत्पन्न हो गया। इसलिये उन्होंने उनसे अपने पिताका परिचय देनेका विचार किया ॥

पिता विधाण्डकोऽस्माकं तस्याहं सुत आगमः ।
श्रव्यशृङ्ग इति ख्याते नाम कर्म च मे भुवि ॥ १४ ॥

“वे बोले—‘मेरे पिताका नाम विधाण्डक मुनि है। मैं आका आगम पुत्र हूँ। मेरा श्रव्यशृङ्ग नाम और तपस्या आदि कर्म इस भूमण्डलमें प्रसिद्ध हैं ॥ १४ ॥

इहाश्रमपदोऽस्माकं समीपे शुभदर्शनाः ।
करिष्ये श्रेष्ठ पूजां ते सर्वेषां विधिपूर्वकम् ॥ १५ ॥

“यहाँ पास ही मेरा आश्रम है। आपलोग देखनेमें परम सुन्दर हैं। (अथवा आपको दर्शन में लिये शुभकारक है)। आप मेरे आश्रमपर चलें। वहाँ मैं आप सब लोगोंको विधिपूर्वक पूजा करूँगा ॥ १५ ॥

ऋषिपुत्रवधः श्रुत्वा सर्वासां मतिरास वै ।
तदाश्रमपदं द्रष्टुं जग्मुः सर्वास्ततोऽङ्गनाः ॥ १६ ॥

“ऋषिकुमारकी यह बात सुनकर सब उनसे सहमत हो गयीं। फिर वे सब सुन्दरी स्त्रियाँ उनका आश्रम देखनेके

स्नियं वार्तां गयीं ॥ १६ ॥

मन्तानां तु ततः पूजामृषिपुत्रश्चकार ह ।

इदमर्घ्यामिदं पाद्यमिदं मूलं फलं च नः ॥ १७ ॥

वार्ता जानेपर ऋषिकुमारने 'यह अर्घ्य है, यह पाद्य है तथा यह भोजनके लिये फल-मूल प्रस्तुत हैं' ऐसा कहने हुए उन मन्त्रका विधिवत् पूजन किया ॥ १७ ॥

प्रतिगृह्य तु तां पूजां सर्वा एव समुत्सुकाः ।

ऋषर्भिताश्च शीघ्रं तु गमनाय प्रति दधुः ॥ १८ ॥

'ऋषिकों पूजा स्वीकार करके वे सभी वार्तासिद्धों आनेका उत्सुक हुईं। उन्हें विभाण्डक मुनिका भय न था, इमलिये उन्होंने शीघ्र ही ऋषि चली आनेका निवेदन किया ॥ १८ ॥

अस्माकमपि मुख्यानि फलानामानि हे द्विज ।

गृहाण विप्र भद्रं ते भक्षयस्व च पा चिरम् ॥ १९ ॥

हे बाल्मीकि—'ब्रह्मन्! हमारे पास भी ये उत्तम उत्तम फल हैं। विप्रवर! इन्हें ग्रहण कीजिये। आपका कल्याण हो। इन फलोंका शीघ्र ही खा लीजिये। विलम्ब न कीजिये' ॥

ननस्तास्तं समालिङ्ग्य सर्वा हर्षसमन्विताः ।

मोटकान् प्रददुस्सर्पे भक्ष्यांश्च विविधाञ्जुमान् ॥ २० ॥

'ऐसा कहकर उन मन्त्रन हर्षमें भरकर ऋषिका अलिङ्गन किया और उन्हें खानेवाग्य भोजन प्रार्थितके उत्तम पदार्थ तथा बहुत-सी मिठाइयाँ दीं ॥ २० ॥

गानि चास्वाद्य तेजस्वी फलानीति स्म मन्यन्ते ।

अनास्वादितपूर्वाणि वने नित्यनिवासिनाम् ॥ २१ ॥

'उनका रसास्वादन करके उन तेजस्वी ऋषिने समझा कि वे भी फल हैं; क्योंकि उस दिनके पहले उन्होंने कभी वैसे पदार्थ नहीं खाये थे। धन्य, सदा वनमें रहनवालाके लिये वनों वस्तुओंके स्वाद लेनेका अवसर हो कहीं है ॥ २१ ॥

आपृच्छ च तदा विप्रं व्रतचर्यां निवेद्य च ।

गच्छन्ति स्मापदेशात्ता भ्रीतास्तस्य पिनु स्त्रियः ॥ २२ ॥

'तत्पश्चात् उनके पिता विभाण्डक मुनिक डरसे दूरी हुए वे स्त्रियाँ व्रत और अनुष्ठानकी बात बता उन ब्राह्मण-कुमारसे पूछकर ठसी बहाने वार्तामें चली गयीं ॥ २२ ॥

गतास्तु तास्तु सखास्तु काश्यपस्यारत्पजा द्विजः ।

अस्वस्थहृदयश्चासीद् दुःखाच्च परिवर्तते ॥ २३ ॥

'उन सबके चले जानेपर काश्यपकुमार ब्राह्मण ऋष्यभृङ्ग मन-ही-मन व्याकुल हो ठसे और बड़े दुःखमें उधर-उधर टहलने लगे ॥ २३ ॥

ततोऽप्यरेक्षुस्ते देशयाजगाम स धीर्यसान् ।

विभाण्डकसुतः श्रीमान् मनसाचिन्तयन्मुहुः ॥ २४ ॥

मनोज्ञा यत्र ता दृष्टा वारमुख्याः स्वलङ्कृताः ।

तदनन्तर दूसरे दिन फिर मनमें उन्होंने बारम्बार चिन्तन करते हुए शक्तिशाली विभाण्डककुमार आंखों

अध्वभृङ्ग उसी स्थानपर गये, जहाँ पहले दिन उन्होंने सब और आभूषणोंसे सजी हुई उन मनोहर रूपवाली वेश्याओंका देखा था ॥ २४ ॥

दुर्ध्रुव च ततो विप्रमायान्तं हृष्टमानसाः ॥ २५ ॥

उपसृत्य ततः सर्वास्तास्तमूचुरिदं वचः ।

एहाश्रमपदं सोम्य अस्माकमिति धात्रुधन् ॥ २६ ॥

ब्राह्मण ऋष्यभृङ्गके आते देख सुनत हो उन वेश्याओंका हृदय प्रसन्ननामे खिल उठा। वे सब-की-सब उनके पास जाकर इनमें इस प्रकार कहने लगीं—'श्रीध्व! आओ, आज हमारे आश्रमपर चलो ॥ २५-२६ ॥

चित्राण्यत्र बहूनि स्युर्मूलानि च फलानि च ।

तत्राप्येष विशिष्टेण विधिर्हि भविता ध्रुवम् ॥ २७ ॥

यद्यपि यहाँ नाना प्रकारके फल-मूल बहुत मिलते हैं तथापि यहाँ भी निश्चय हो इन सबका विशेषरूपमें प्रबन्ध हो सकता है ॥ २७ ॥

श्रुत्वा तु वचनं तासां सर्वासां हृदयङ्गमम् ।

गमनाय प्रति चक्रे ते च निन्युस्तथा स्त्रियः ॥ २८ ॥

'उन सबके मनोहर वचन सुनकर ऋष्यभृङ्ग उनके साथ जानेको तैयार हो गये और वे स्त्रियाँ उन्हें अङ्गदेवमें ले गयीं ॥ २८ ॥

तत्र चानीयमाने तु विप्रे तस्मिन् महात्मनि ।

ववर्ष सहसा देवो जगत् प्रह्लादयस्तदा ॥ २९ ॥

'उन महात्मा ब्राह्मणके अङ्गदशमें आते ही इन्द्रने सम्पूर्ण जगत्का प्रयत्न करते हुए सहसा पानी बरसाना आरम्भ कर दिया ॥ २९ ॥

वर्षेणैवागते विप्रं तापसे स जराधिपः ।

प्रत्युत्स्य मुनिं प्रहः शिरसा च महीं गतः ॥ ३० ॥

'वर्षासे ही राजाको अनुमान हो गया कि वे तापस्वी ब्राह्मणकुमार आ गये। फिर बड़ी विनयके साथ राजान उनकी अगवानों की ओर पृश्नोंपर मलक टेककर उन्हें माहाङ्ग प्रणाम किया ॥ ३० ॥

अर्घ्यं च प्रददौ तस्मै न्यायतः सुसमाहितः ।

तत्रे प्रमादं विप्रेन्द्रान्धा विप्रं मन्युराविशेत् ॥ ३१ ॥

फिर एकाग्रचित्त होकर उन्होंने ऋषिको आर्घ्य निवेदन किया तथा उन विप्रशिरोमणिसे वरदान माँगा, भगवन्! आप और आपके पिताजीका कृपाप्रसाद मुझे प्राप्त हो। ऐसा उन्होंने इमलिये किया कि कहीं कण्टपूर्वक यहानिक साथ जानेका रहस्य जान लेनपर विप्रवर ऋष्यभृङ्ग अथवा विभाण्डक मुनिक मनम में प्रति आशय न हो ॥ ३१ ॥

अन्न-पुरं प्रवेश्याम्ये कन्यां दत्त्वा यथाविधि ।

शान्तां शान्तेन मनसा राजा हर्षयकाप सः ॥ ३२ ॥

'तत्पश्चात् ऋष्यभृङ्गको अन्न-पुरमें ले जाकर उन्होंने शान्तचित्तसे अपनी कन्या शान्ताकर उनके साथ विधिपूर्वक

वित्तह कर दिया । ऐसा करके राजाको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥

एवं स व्यवसत् तत्र सर्वकार्यः सुपूजितः ।

ऋष्यशृङ्गो महानेजाः शान्तया सह भार्यया ॥ ३३ ॥

इस प्रकार महापूजित हो ऋष्यशृङ्ग राजासे पूजित हो सम्पूर्ण मनोवाञ्छित भोग प्राप्त कर अपनी धर्मपत्नी शान्ताके साथ बरतें गये ॥ ३३ ॥

इत्यादि श्रीमद्वाल्मीकीय आदिकाव्य वाल्मीकाण्ड दशम सर्गः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यभट्टायण आदिकाव्यके वाल्मीकाण्डमें दसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १० ॥

एकादशः सर्गः

सुमन्त्रके कहनेसे राजा दशरथका सपरिवार अङ्गराजके यहाँ जाकर वहाँसे शान्ता और ऋष्यशृङ्गको अपने घर ले आना

भूय एव हि राजेन्द्र शृणु मे वचन हितम् ।

प्रथा स देवप्रवरः कथयामास बुद्धिमान् ॥ १ ॥

तदनन्तर सुमन्त्रने फिर कहा—“राजेन्द्र ! आप पुन मुझसे अपने लिये वह बात सुनयें । जिस देवताजन्म श्रेष्ठ बुद्धिमत् सनत्कुमारजीने ऋषियोंको सुनाया था ॥ १ ॥

इक्ष्वाकुर्गा कुले जातो भविष्यति सुधार्यक ।

नाम्ना दशरथो राजा धोमान् सत्यप्रतिश्रवः ॥ २ ॥

“उन्होंने कहा था—इक्ष्वाकुवंशमें दशरथ नामसे प्रसिद्ध एक परम धार्मिक सत्यप्रतिज्ञ राजा होंगे ॥ २ ॥

अङ्गराजेन सख्यं च तस्य राज्ञो भविष्यति ।

कन्या चास्य महाभागा शान्ता नाम भविष्यति ॥ ३ ॥

पुत्रस्त्वङ्गस्य राजस्य रोमपाद इति श्रुत ।

तं स राजा दशरथो गमिष्यति महायशः ॥ ४ ॥

अनपत्योऽस्मि धर्मात्प्रदशान्ताभर्ता यम क्रतुम् ।

आहरेत् त्वयाऽऽश्रमः संनानार्थं कुलस्य च ॥ ५ ॥

“उनकी अङ्गराजके साथ मित्रता होगी । अङ्गराजके एक परम सौभाग्यशालिनी कन्या होंगी, जिसका नाम होगा ‘शान्ता’ । अङ्गराजके राजकुमारका नाम होगा ‘रोमपाद’ । महायशस्वी राजा दशरथ उनके पास जायेंगे और कहेंगे—‘भर्ताभर्त ! मैं संतानहीन हूँ । यदि आप आज्ञा दें तो शान्ताके पति ऋष्यशृङ्ग मुझे खल्कर मेरा चक्र कर दें । इससे मुझे पुत्रको प्राप्ति होगी और मेरा वंशका रक्षक हो आयेगा’ ॥ ३—५ ॥

श्रुत्वा राजाऽथ तद् वचनं मनसा स विचिन्तय च ।

प्रदास्यते पुत्रवन्तं शान्ताभर्तारमात्मवान् ॥ ६ ॥

“राजाको यह बात सुनकर मन-हो-मन तमपर विचार करके मनस्वी गता रोमपाद इत्यादि पुत्रवन्त प्रदत्त करके उनके साथ चले गये ॥ ६ ॥

प्रतिगृह्य च तं विप्रं स राजा विगतन्वरः ।

आहरिष्यति ते यज्ञं प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ ७ ॥

“ब्राह्मण ऋष्यशृङ्गको पाकर राजा दशरथको सारी चिन्ता दूर हो गयी और वे प्रसन्नचित्त होकर इस यज्ञका अनुष्ठान करेंगे ॥ ७ ॥

तं च राजा दशरथो वशास्कायः कृताञ्जलिः ।

ऋष्यशृङ्गं द्विजश्रेष्ठं वर्तयिष्यति धर्मवित् ॥ ८ ॥

यज्ञार्थं प्रसवाद्यै च स्वर्गार्थं च नमस्कृतः ।

लभते च स तं कामं द्विजमुख्याद् विशाम्यति ॥ ९ ॥

यज्ञको इच्छा करनेवाले धर्मज्ञ राजा दशरथ हाथ जोड़कर द्विजश्रेष्ठ ऋष्यशृङ्गका यज्ञ पूरा और स्वर्गके लिये यज्ञ करींगे तथा वे प्रजापालक नरेश उन श्रेष्ठ ब्रह्मर्षिसे अपनी अर्थाष्ट वस्तु प्राप्त कर लेंगे ॥ ८-९ ॥

पुत्राश्चास्य भविष्यन्ति चत्वारोऽपि भविष्यन्तः ।

वंशप्रतिष्ठानकराः सर्वभूतेषु विप्रुताः ॥ १० ॥

“राजाके चार पुत्र होंगे, जो अभेद्य पराक्रमी, वंशकी प्रथाका ब्रह्मनेवाने और सर्वत्र विख्यात होंगे ॥ १० ॥

एवं स देवप्रवरः पूर्वं कथितवान् कथाम् ।

सनत्कुमारो भगवान् पुरा देवयुगे प्रभुः ॥ ११ ॥

“महाराज ! पहले सत्ययुगमें शक्तिशाली देवप्रवर भगवान् सनत्कुमारजीने ऋषियोंके समक्ष ऐसी कथा कही थी ॥ ११ ॥

स त्वं पुरुषशार्दूल समानय सुसत्कृतम् ।

स्वयमेव महाराज गत्वा सखलवाहनः ॥ १२ ॥

‘सुप्रसिद्ध महापुत्र ! स्वयमेव आप स्वयं ही मेरा और सत्कारिक साथ अङ्गराजके जाकर पुनिकुमार ऋष्यशृङ्गको सत्कारपूर्वक बहने ले आइये’ ॥ १२ ॥

सुमन्त्रस्य वचः श्रुत्वा इष्टो दशरथोऽभवत् ।

अनुमान्य समिष्टं च सूतवाक्यं निशाम्य च ॥ १३ ॥

सान्त पुरः सहामात्यः प्रययौ यत्र स द्विजः ।

सुमन्त्रका वचन सुनकर राजा दशरथको बड़ा हर्ष हुआ । उन्होंने सुनिश्चय ब्रह्मर्षिजीका भा सुमन्त्रकी बातें सुनीं और उनसे आज्ञा लेकर रत्नवाहकी रानियों तथा मन्त्रियोंके साथ अङ्गराजके लिये प्रस्थान किया, जहाँ विप्रवर ऋष्यशृङ्ग निवास करते थे ॥ १३ ॥

वनानि सरितश्चैव व्यतिक्रम्य शनैः शनैः ॥ १४ ॥

अभिचक्राम तं देशं यत्र वै धुनिपुङ्गवः ।

पार्श्वे अनेकानक वनं और नदियोंको पार करके वे

धीर-धीरे तस देशम् आ पहुँच, जहाँ मुनिवर ऋष्यभृङ्ग
विराजमान थे ॥ १४ ॥

आसाद्य तं द्विजश्रेष्ठं रोमपादसर्पापगम् ॥ १५ ॥
ऋषिपुत्रं दृढदर्शितो दीप्यमानमिवानलम् ।

वहाँ पहुँचनेपर उन्हे द्विजश्रेष्ठ ऋष्यभृङ्ग रोमपादक पास
में बैठे दिखायी दिये । वे ऋषिकुमार प्रज्वलित अग्नि के
ममान तेजस्वी जान पहुँचे थे ॥ १५ ॥

नतो राजा यथायोग्यं पूजां यत्नं विशंचतः ॥ १६ ॥
परिवृत्तात् तस्य वै राज्ञः प्रहृष्टेनान्तरात्मना ।

रोमपादेन चारुभातपुष्पिप्राप धीमते ॥ १७ ॥
मख्ये सम्बन्धकं धैव तदा तं प्रत्यपूजयत् ।

तदनन्तर राजा रोमपादेने मित्रता के नाते अत्यन्त प्रसन्न
हृदयसे महाराज दशरथका शास्त्रोक्त विधिके अनुसार विशेष
नम्रसे पूजन किया और बुद्धिमान ऋषिकुमार ऋष्यभृङ्गका
राजा दशरथ के साथ अपनी मित्रताकी याद बनाया । उसपर
उन्होंने भी राजाका सम्मान किया ॥ १६-१७ ॥

एवं सुसत्कृतस्तेन सहोषित्वा नरर्षभः ॥ १८ ॥
सप्ताष्टदिवसान् राजा राजानमिदमब्रवीत् ।

शान्ता तव सुता राजन् सह भर्त्रा विशाम्पते ॥ १९ ॥
मदीयं नगरं यातु कार्यं हि महदुद्यतम् ।

इस प्रकार भलोभाँति आदर-सत्कार पाकर नरश्रेष्ठ
राजा दशरथ रोमपाद के साथ वहाँ सात-आठ दिनोत्क
रहे । इसके बाद वे अङ्गराजसे बोले— 'प्रजापालक नरेश ।
मुझारी पुत्री शान्ता अपने पति के साथ मेरे नगरमें घटार्षण
करें; क्योंकि वहाँ एक महान् आवश्यक कार्य उपस्थित
होआ है' ॥ १८-१९ ॥

तथेति राजा संश्रुत्य गमनं तस्य धीमतः ॥ २० ॥
यथाह खल्वनं विप्रं गच्छ त्वं सह भार्यया ।

ऋषिपुत्रः प्रतिश्रुत्य तद्यत्याह नृपं तदा ॥ २१ ॥
राजा रोमपादने 'यहूत अच्छा' कहकर उन बुद्धिमान्

महर्षिका जाना स्वीकार कर लिया और ऋष्यभृङ्गसे कहा—
'श्रियस्व ! आप इन्का के साथ महाराज दशरथ के यहाँ
'इधे ।' राजाकी आज्ञा पाकर उन ऋषिपुत्रन 'तथास्तु' कहकर
राजा दशरथको अपने चलनकी स्वीकृति दे दी ॥ २१ ॥

स नृपेणाध्यनुज्ञातः प्रययौ सह भार्यया ।
नाख्योन्याश्रिते कृत्वा ब्राह्मणेन्द्रिण्य चोरसा ॥ २२ ॥

नन्दनदृष्टारथो रोमपादश्च वीर्यवान् ॥ २३ ॥
नतः सुहृदमापुच्छय प्रस्थितो रघुनन्दनः ॥ २३ ॥

राजा रोमपादकी अनुमति ले ऋष्यभृङ्गने पति के साथ
जल्दसे प्रस्थान किया । इस समय शक्तिशाली राजा रोमपाद
और दशरथने एक दृमोक्त हाथ जोड़कर स्नेहपूर्वक आनोमें
लगायी तथा अभिनन्दन किया । फिर मित्रसं चिन्ता ले

रघुकुलनन्दन दशरथ वहाँसे प्रस्थित हुए ॥ २२-२३ ॥

पौरैषु प्रेषयामास दूतान् वै शीघ्रगामिनः ।

क्रियतां नगरं सर्वं क्षिप्रमेव स्वलंकृतम् ॥ २४ ॥
धूपितं सिक्तसम्पृष्टं घताकाभिरलंकृतम् ।

उन्होंने पुरवासियों के पास अपने शीघ्रगामी दूत भेजे और
कहलाया कि 'समस्त नगरको शीघ्र ही सुसज्जित किया
जाय । सबत्र धूपक से सुगन्ध फैले । नगरको सड़कोंको
झण्ड बुहारकर उनपर पानाका छिड़काव कर दिया जाय तथा
सारा नगर ध्वज-घताकाओंसे अलंकृत हो । ॥ २४ ॥

नतः प्रहृष्टाः पौरास्ते श्रुत्वा राजानमागतम् ॥ २५ ॥
तथा चक्रुः तत् सर्वं राजा यत् प्रेषितं तदा ।

राजाका आगमन सुनकर पुरवासी बड़े प्रसन्न हुए ।
महाराजसे उनके लिये जो मदें भजा था उनका उन्होंने उस
समय पूर्णरूपसे पालन किया ॥ २५ ॥

नतः स्वलंकृतं राजा नगरं प्रविवेश ॥ २६ ॥
राक्षदुन्दुभिनिर्हृदि पुरस्कृत्वा द्विजर्षभम् ।

तदनन्तर राजा दशरथन इन्द्र और दुन्दुभि आदि वाद्योंकी
ध्वनिके साथ विप्रवर ऋष्यभृङ्गके आगे करके अपने
मजे-सजाये नगरमें प्रवेश किया ॥ २६ ॥

नतः प्रमुदिताः सर्वे दृष्ट्वा वै नागरां द्विजम् ॥ २७ ॥
प्रवेशयमानं सत्कृत्य नरेन्द्रेणोन्नतकर्मणा ।

यथा दिवि सुरेन्द्रेण सहस्राक्षेण काश्यपम् ॥ २८ ॥
उन द्विजकुमारका दर्शन करके सभी नगरनिवासी बहुत
प्रसन्न हुए । उन्होंने इन्द्र के समान पराक्रमी नरेन्द्र दशरथ के

साथ पुरीन प्रवेश करने हुए ऋष्यभृङ्गका उसी प्रकार सत्कार
किया, जैसे देवताओंने स्वर्गमें सहस्राक्ष इन्द्र के साथ प्रवेश
करते हुए कश्यपनन्दन वायवजोंका सपादर किया था ॥

अन्तःपुरं प्रवेशयानं पूजां कृत्वा च शास्त्रतः ।
कृतकृत्यं तदात्मानं घने तस्योपवाहनात् ॥ २९ ॥

ऋषिको अन्तःपुरमें ले जाकर राजाने शास्त्रविधिके
अनुसार उनका पूजन किया और उनके निकट आ जानेसे
अपनेको कृतकृत्य मना ॥ २९ ॥

अन्तःपुराणि सर्वाणि शान्तां दृष्ट्वा तथागताम् ।
सह भर्त्रा विशालाक्षीं प्रीत्यानन्दमुपागमन् ॥ ३० ॥

विशाललोचना शान्ताको इस प्रकार अपने पति के साथ
उपस्थित दृष्ट आन पुरकी सभी रानियोंको वहाँ प्रसन्नना हुई
वे आनन्दमग्न हो गयीं ॥ ३० ॥

पूज्यमाना तु ताभिः सा राजा चैव विशेषतः ।
उग्रस तत्र सुखिना कञ्चित् कालं सहद्विजा ॥ ३१ ॥

शान्ता भी उन रानियोंमें तथा विशेषतः महाराज दशरथ के
द्वारा आदर-सत्कार पाकर वहाँ कुछ कालतक अपने पति
विप्रवर ऋष्यभृङ्ग के साथ बड़े सुखसे रही ॥ ३१ ॥

इत्यार्ष श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे एकादश सर्गः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्माण आरम्भमायण आदिकाव्य के बालकाण्डमें प्यारहवीं सर्ग पूरा हुआ ॥ ११ ॥



शास्त्रोक्त विधिसे अनुसार क्रमशः शान्तिर्कर्म—पुण्याहवाचन आदिका विस्तारपूर्वक अनुष्ठान किया जाय जिसमें विघ्नाका निवारण हो ॥ १६ ॥

शक्यः कर्तुमयं यज्ञः सर्वेणापि यद्दीक्षिता ।
नापराधो भवेत् कष्टो यद्यस्मिन् कर्तुमन्तमे ॥ १७ ॥

‘यदि इस श्रेष्ठ यज्ञमें कष्टप्रद अपराध बन जानेका भय न हो तो सभी राजा इसका सम्पादन कर सकते हैं ॥ १७ ॥

छिद्रं हि मृगयन्त्येते विद्वांसो ब्रह्मराक्षसाः ।
विधिहीनस्य यज्ञस्य सद्यः कर्ता विनश्यति ॥ १८ ॥

परंतु ऐसा होना कठिन है, क्योंकि ये विद्वान् ब्रह्म-
राक्षस यज्ञमें विघ्न डालनेके लिये छिद्र ढूँढ़ा करते हैं ।
विधिहीन यज्ञका अनुष्ठान करनेवाला यज्ञघान नष्ट हो जाता है ॥ १८ ॥

तद् यथा विधिपूर्वमे कर्तुरेष समाप्यते ।
तथा विधाने क्रियतां समर्थाः कर्णोष्ठिह ॥ १९ ॥

‘अतः मेरा यह यज्ञ जिस तरह विधिपूर्वक सम्पूर्ण हो

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रृंगारान्मोक्तनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें बारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १२ ॥

त्रयोदशः सर्गः

राजाका वसिष्ठजीसे यज्ञकी तैयारीके लिये अनुरोध, वसिष्ठजीद्वारा इसके लिये सेवकोंकी नियुक्ति और सुमन्त्रको राजाओंकी खुलाहटके लिये आदेश, समागत राजाओंका सत्कार तथा पत्नियोंसहित राजा दशरथका यज्ञकी दीक्षा लेना

पुनः प्राप्ते वसन्ते तु पूर्णः संवत्सरोऽभवत् ।
प्रसवार्थं गतो यष्टुं हयमंथेन वीर्यवान् ॥ १ ॥

वर्तमान वसन्त ऋतुके शीतनपर जब पुनः दुग्ध वसन्त
आया, तबतक एक वर्षका समय पूरा हो गया । उस समय
शक्तिशाली राजा दशरथ संतानके लिये अश्वमध यज्ञकी
दीक्षा लेनेके निमित्त वसिष्ठजीके समीप गये ॥ १ ॥

अधिकांश वसिष्ठे च न्यायनः प्रणिपूज्य च ।
अब्रवीत् प्रश्रितं वाक्यं प्रसवार्थं द्विजोत्तमम् ॥ २ ॥

वसिष्ठजीको प्रणाम करके राजाने न्यायनः उनका पूजन
किया और पुत्र-प्राप्तिका उद्देश्य लेकर उन द्विजश्रेष्ठ मुनिसे
यह विनयपूरक बात कही ॥ २ ॥

यज्ञो मे क्रियतां ब्रह्मन् यथोक्तं भुनिपूज्य ।
यथा न विद्याः क्रियन्ते यज्ञाङ्गेषु विधीयताम् ॥ ३ ॥

‘ब्रह्मन् ! मुनिप्रवर ! आप शास्त्रविधिक अनुसार
गा यज्ञ करावे और यज्ञके अङ्गभूत अश्व-सेवाएँ आदिमें
ब्रह्मराक्षस आदि जिन्हें गरुड विघ्न न डाल सकें, वेसा
उपाय कीजिये ॥ ३ ॥

भवान् स्निग्धः सुहृन्मह्यं गुरुञ्च परमो महान् ।
लोहव्यो भवता संस्र भागे यज्ञस्य चोद्यतः ॥ ४ ॥

सके वेसा उपाय किया जाय । तुम सब लोग ऐसे साधन
प्रप्तुत करनेमें समर्थ हो ॥ १९ ॥

तथेति च ततः सर्वे मन्त्रिणः प्रत्यपूजयन् ।
पार्थिवेन्द्रस्य तद् वाक्यं यथाज्ञप्तमकुर्वन् ॥ २० ॥

तब ‘बहुत अच्छा’ कहकर सभी मन्त्रियोंने राजराजेश्वर
दशरथके उस कथनका आदर किया और उनकी आज्ञाके
अनुसार सारी व्यवस्था की ॥ २० ॥

नतो द्विजास्ते धर्मज्ञमस्तुवन् पार्थिववर्धभम् ।
अनुज्ञातास्ततः सर्वे पुनर्जग्मुर्यथागतम् ॥ २१ ॥

रूपक्षाम् उन ब्राह्मणोंने भी धर्मज्ञ मुपश्रेष्ठ दशरथकी
प्रशंसा की और उनकी आज्ञा पाकर सब जैसे आये थे वैसे
ही फिर चले गये ॥ २१ ॥

गतेषु तेषु विप्रेषु मन्त्रिणस्तान् नराधिपः ।
विस्मर्जयित्वा स्वं वेश्म प्रविशेश महामतिः ॥ २२ ॥

उन ब्राह्मणोंके चले जानेपर मन्त्रियोंको भी विदा करके वे
महाबुद्धिमान् वेश अपने महलमें गये ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रृंगारान्मोक्तनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें बारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १२ ॥

—★—

त्रयोदशः सर्गः

राजाका वसिष्ठजीसे यज्ञकी तैयारीके लिये अनुरोध, वसिष्ठजीद्वारा इसके लिये सेवकोंकी

नियुक्ति और सुमन्त्रको राजाओंकी खुलाहटके लिये आदेश, समागत राजाओंका

सत्कार तथा पत्नियोंसहित राजा दशरथका यज्ञकी दीक्षा लेना

पुनः प्राप्ते वसन्ते तु पूर्णः संवत्सरोऽभवत् ।

प्रसवार्थं गतो यष्टुं हयमंथेन वीर्यवान् ॥ १ ॥

वर्तमान वसन्त ऋतुके शीतनपर जब पुनः दुग्ध वसन्त
आया, तबतक एक वर्षका समय पूरा हो गया । उस समय
शक्तिशाली राजा दशरथ संतानके लिये अश्वमध यज्ञकी
दीक्षा लेनेके निमित्त वसिष्ठजीके समीप गये ॥ १ ॥

अधिकांश वसिष्ठे च न्यायनः प्रणिपूज्य च ।
अब्रवीत् प्रश्रितं वाक्यं प्रसवार्थं द्विजोत्तमम् ॥ २ ॥

वसिष्ठजीको प्रणाम करके राजाने न्यायनः उनका पूजन
किया और पुत्र-प्राप्तिका उद्देश्य लेकर उन द्विजश्रेष्ठ मुनिसे
यह विनयपूरक बात कही ॥ २ ॥

यज्ञो मे क्रियतां ब्रह्मन् यथोक्तं भुनिपूज्य ।
यथा न विद्याः क्रियन्ते यज्ञाङ्गेषु विधीयताम् ॥ ३ ॥

‘ब्रह्मन् ! मुनिप्रवर ! आप शास्त्रविधिक अनुसार
गा यज्ञ करावे और यज्ञके अङ्गभूत अश्व-सेवाएँ आदिमें
ब्रह्मराक्षस आदि जिन्हें गरुड विघ्न न डाल सकें, वेसा
उपाय कीजिये ॥ ३ ॥

भवान् स्निग्धः सुहृन्मह्यं गुरुञ्च परमो महान् ।
लोहव्यो भवता संस्र भागे यज्ञस्य चोद्यतः ॥ ४ ॥

तब ‘बहुत अच्छा’ कहकर सभी मन्त्रियोंने राजराजेश्वर
दशरथके उस कथनका आदर किया और उनकी आज्ञाके
अनुसार सारी व्यवस्था की ॥ २० ॥

नतो द्विजास्ते धर्मज्ञमस्तुवन् पार्थिववर्धभम् ।
अनुज्ञातास्ततः सर्वे पुनर्जग्मुर्यथागतम् ॥ २१ ॥

रूपक्षाम् उन ब्राह्मणोंने भी धर्मज्ञ मुपश्रेष्ठ दशरथकी
प्रशंसा की और उनकी आज्ञा पाकर सब जैसे आये थे वैसे
ही फिर चले गये ॥ २१ ॥

गतेषु तेषु विप्रेषु मन्त्रिणस्तान् नराधिपः ।
विस्मर्जयित्वा स्वं वेश्म प्रविशेश महामतिः ॥ २२ ॥

उन ब्राह्मणोंके चले जानेपर मन्त्रियोंको भी विदा करके वे
महाबुद्धिमान् वेश अपने महलमें गये ॥ २२ ॥

कारिगरा, नटी, नर्तकी, विशुद्ध शास्त्रवेत्ता आ तथा बहुश्रुत पुरुषोंको बुलाकर उनसे कहा — 'तुम लोग महागजकी आजाने यज्ञकर्मके लिये आवश्यक प्रबन्ध करो ॥ ६—८ ॥

इष्टका बहुसाहस्री शीघ्रमानीयनामिति ।
उपकार्या क्रियन्तां च राज्ञो बहुगुणान्विताः ॥ ९ ॥

'शीघ्र ही कई हजार ईंट लायी जायें, राजा आकर टहनिके लिये उनके योग्य अन्न-पान आदि अनेक उपकरणोंमें युक्त बहुत-से महल बनाये जायें ॥ ९ ॥

ब्राह्मणावसथाश्चैव कर्तव्याः शतशः शुभाः ।
भक्ष्यान्नपानैर्बहुभिः समुपेता सुनिष्ठिताः ॥ १० ॥

'ब्राह्मणोंके रहनेके लिये भी सैकड़ों सुन्दर घर बनये जान चाहिये, ये सभी गृह बहुत-से भोजनीय अन्न पान आदि उपकरणोंसे युक्त तथा आधे-पानी आदिके निवृत्तियोंमें समर्थ हों ॥ १० ॥

तथा पौरजनस्यापि कर्तव्याश्च सुविस्ताराः ।
आगतानां सुदराश्च पार्थिवानां पृथक् पृथक् ॥ ११ ॥

'इसी तरह पुरवासियोंके लिये भी विस्तृत मकान बनने चाहिये, दूरसे आये हुए भूपालोंके लिये पृथक्-पृथक् महल बनाये जायें ॥ ११ ॥

राजिवारणशालाश्च तथा शय्यागृहाणि च ।
भटानां महदावासा वैदेशिकनिवासिनाम् ॥ १२ ॥

'घाड़े और हाथियोंके लिये भी शालाएँ बनायी जायें, साधारण लोगोंके सोनेके लिये भी घरोंकी व्यवस्था हो, विदेशी सैनिकोंके लिये भी बड़ा-बड़ी छावनियाँ बननी चाहिये ॥ १२ ॥

आवासा बहुभक्ष्या चैव सर्वकामैरुपस्थिताः ।
तथा पौरजनस्यापि जनस्य बहुशोभनम् ॥ १३ ॥
दातव्यमन्नं विधिवन् सत्कृत्य न तु लीलया ।

आ घर बनाये जायें, उनमें खाने पानेकी प्रचुर सामग्री संचित रहे। उनमें सभी मनोवाञ्छित पदार्थ सुरक्षित हो तथा नगरवासियोंको भी बहुत सुन्दर अन्न भोजनके लिये देना आदि। अतः भी विधिवन् सत्कारपूर्वक दिया जाय, अलंकरण करने नहीं ॥ १३ ॥

सर्वे वर्णा यथा पूजां प्राप्नुवन्ति सुसन्कृताः ॥ १४ ॥
न चावज्ञा प्रयोक्तव्या कामक्रोधवशादपि ।

'ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये, जिससे सभी वर्णोंके लोग भलीभाँति सत्कृत हो सम्मान प्राप्त करें। काम और क्रोधक वशाभूत होकर भी क्रियाका अनादर नहीं करना चाहिये ॥ १४ ॥

यज्ञकर्मसु ये व्यग्राः पुरुषाः शिल्पिनस्तथा ॥ १५ ॥
तेषामपि विशेषेण पूजा कार्या यथाक्रमम् ।

'जो शिल्पी भनुष्य यज्ञकर्मकी आवश्यक तैयारीमें लगे हों, उनका तो बड़े छोटका खयाल रखकर विशेषरूपसे

समदर करना चाहिये ॥ १५ ॥

ये म्युः सम्पूजिता सर्वे वसुभिर्भोजनेन च ॥ १६ ॥
यथा सर्वं सुविहितं न किञ्चित् परिहीयते ।

तथा भवन्तः कुर्वन्तु प्रीतियुक्तेन चेनसा ॥ १७ ॥

'जो भैरव वा कारिगर धन और भोजन आदिके द्वारा सम्मानित किये जाते हैं वे सब परिश्रमपूर्वक कार्य करते हैं उनका किया हुआ भाग कार्य सुन्दर ढंगसे सम्पन्न होता है। इनका कोई काम बिगड़ने नहीं पाता, अतः तुम सब लोग प्रसन्नचित्त होकर ऐसा ही करो ॥ १६-१७ ॥

ततः सर्वे सपागम्य वसिष्ठमिदमब्रुवन् ।
यथेष्टं तत् सुविहितं न किञ्चित् परिहीयते ॥ १८ ॥
यथोक्तं तत् करिष्यामो न किञ्चित् परिहास्यते ।

तब वे सब लोग वसिष्ठजीसे मिलकर बोले—'आपकी आज्ञा अंगीकार है, इसके अनुसार ही करनेके लिये अच्छी व्यवस्था की जायगी, कोई भी काम बिगड़ने नहीं पायेगा। आपने जैसा कहा है हम लोग वैसा ही करेंगे, उसमें कोई झुटि नहीं आने देगे ॥ १८ ॥

ततः सुमन्त्रमाहूय वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत् ॥ १९ ॥
निमन्त्रयस्व नृपतीन् पृथिव्यां ये च धार्मिकाः ।

ब्राह्मणान् क्षत्रियान् वैश्याञ्शूद्रांश्चैव सहस्रशः ॥ २० ॥

तदनन्तर वसिष्ठजीने सुमन्त्रको बुलाकर कहा—'इस पृथ्वीपर जो-जो धार्मिक राजा ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और सहस्रों शूद्र हैं उन सबको इस यज्ञमें आनेके लिये निमन्त्रित करो ॥ २० ॥

समानयस्व सत्कृत्य सर्वदेशेषु मानवान् ।
मिथिलाधिपतिं शूरं जनकं सत्यवादिनम् ॥ २१ ॥

तमानय महाभागं स्वयमेव सुसत्कृतम् ।
पूर्वं सम्बन्धिनं ज्ञात्वा ततः पूर्वं ब्रवीमि ते ॥ २२ ॥

सब देशोंके अच्छे लोगोंको सत्कारपूर्वक यहाँ ले आओ, मिथिलाके श्रीमन् शूरवार महाभाग जनक सत्यवादी मरदा है। उनको अपना पूजना सम्बन्धों जानकर तुम स्वयं ही जाकर उन्हें बड़े आदर-सत्कारक साथ यहाँ ले आओ, इसीलिये पहले तुम्हें यह बात बता देता हूँ ॥ २१-२२ ॥

तथा काशपतिं सिन्धुं सततं प्रियवादिनम् ।
सहजं देवमंकाशं स्वयमेवानयस्व ॥ २३ ॥

इसी प्रकार काशक राजा अपने लहो मित्र हैं और मरदा प्रिय वचन बोलनेवाले हैं। वे मरदाधारी तथा देवनाओंके मुख्य तेजस्वी हैं, अतः उन्हें भी स्वयं ही जाकर ले आओ ॥ २३ ॥

तथा केकयराजानं वृद्धं परमधार्मिकम् ।
अशुरं राजसिंहस्य सपुत्रं तमिहानय ॥ २४ ॥

केकयदेशके वृद्ध राजा बड़े धर्मात्मा हैं, वे राजसिंह महागज नरेशके अशुर हैं; अतः उन्हें भी पुत्रमहित यहाँ ले आओ ॥ २४ ॥

अङ्गेश्वरं महेश्वरं रोमपादं सुसक्तम् ।
वयस्यं राजसिंहस्य सपुत्रं तमिहानय ॥ २५ ॥

‘अङ्गदेशके स्वामी महाधनुर्धर राजा रोमपाद हमसे पहचानके भिन्न हैं अन उन्हे पुत्रमहित यहाँ सत्कारपूर्वक ले आओ ॥ २५ ॥

तथा कोसलराजानं भानुमनं सुसक्तम् ।
धगाधाधिपतिं शूरं सर्वशास्त्रविशारदम् ॥ २६ ॥
प्राप्तिज्ञं परमोदारं सत्कृतं पुनर्वर्धभम् ।

कोशलराज भानुमान्को भी सत्कारपूर्वक ले आओ । मगधदेशके राजा प्राप्तिज्ञको जो शूरवीर सर्वशास्त्रविशारद परम उदार तथा पुरुषार्थमें श्रेष्ठ हैं, स्वयं जाकर सत्कारपूर्वक बुला ले आओ ॥ २६ ॥

राज्ञः शासनपादाय शोदयस्व नृपर्वभान् ।
प्राचीनान् सिन्धुर्मावीरान् सौराष्ट्र्यांश्च पार्थिवान् ॥ २७ ॥

‘महाराजको आज्ञा लेकर तुम पूवदेशके श्रेष्ठ नरेशोंको तथा सिन्धु-मावीर एवं सौराष्ट्र देशके प्रभावोंको यहाँ आनेके लिये निमन्त्रण दो ॥ २७ ॥

दक्षिणात्यान् नरेन्द्रांश्च समस्ताननयस्व ह ।
सन्ति स्त्रिंथाश्च ये चान्ये राजानः पृथिवीतले ॥ २८ ॥
तानानय यथा क्षिप्रं सानुगान् सहस्रान्ववान् ।

एतान् दूतैर्महामागेरानयस्व नृपाज्ञया ॥ २९ ॥
‘दक्षिण भारतके समस्त नरेशोंको भी आमन्त्रित करो । इस भूतलपर और भी जो जो नरेश महाराजक प्रति कह रहते हैं, उन सबको सेवकों और सगे-सम्बन्धियोंमहित यथामम्मव शीघ्र बुला लो । महाराजको आज्ञासे बड़भागी दूतोंद्वारा इन सबके पास बुलावा भेज दो ॥ २८-२९ ॥

वसिष्ठवाक्यं श्रुत्वा सुमन्त्रस्त्वरितं तदा ।
व्यादिशत् पुरुषांस्तत्र राजामानयने शुभान् ॥ ३० ॥

वसिष्ठका यह वचन सुनकर सुमन्त्रने तुरत ही अच्छे पुरुषोंको राजाओंकी बुलावटके लिये आज्ञा आदेश दे दिया ॥ स्वधमेव हि अर्मान्मा प्रयातो धुनिशासनान् ।
सुमन्त्रस्त्वारितो भूत्वा समानेतु महामनिः ॥ ३१ ॥

पदम श्रुदिमान् धर्मात्मा सुमन्त्र वसिष्ठ मुनिको आज्ञासे स्वाम-स्वाम राजाओंकी बुलानेके लिये स्वयं ही गये ॥ ते च कर्मान्तिकाः सर्वे वसिष्ठाय महर्षये ।
सर्वं निवेदयन्ति स्म यज्ञे यत्पुण्यकल्पितम् ॥ ३२ ॥

यज्ञकर्मकी अवस्थाके लिये जो सेवक नियुक्त किये गये थे, इन सबको आकर उस समयके यज्ञसम्बन्ध जो-जो कार्य समाप्त हो गया था, उस सबको सूचना महर्षि वसिष्ठको दी ॥ ३२ ॥

ततः प्रीतो द्विजश्रेष्ठस्तान् सर्वान् मुनिरब्रवीत् ।
इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे त्रयोदशः सर्गः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रोतव्योक्तिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें तेरहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १३ ॥

अब्रजया न दातव्यं कस्यचिल्लीलयपि सा ॥ ३३ ॥
अब्रजया कृतं हन्याद् दातारं मात्र संशयः ।

यह सुनकर वे द्विजश्रेष्ठ मुनि बड़े प्रसन्न हुए और उन सबसे बोल— भद्र पुरुषों ! कियोंको जो कुछ दना हो, उस अब्रजलता या अनन्दरपुष्पक नहीं देना चाहिये; क्योंकि अनन्दरपुष्पक दिया हुआ दान दाताको नष्ट कर देता है— इसमें संशय नहीं है ॥ ३३ ॥

ततः कैश्चिदहोरात्ररूपयाती महीक्षितः ॥ ३४ ॥
बहूनि रत्नान्वादाय राज्ञो दशरथस्य ह ।

तदनन्तर कुछ दिनोंके बाद राजा लोग महाराज दशरथके लिये बहुत-से रत्नोंका भेट लेकर आयाध्यामें आये ॥ ३४ ॥ ततो वसिष्ठः सुप्रीतो राजानमिदमब्रवीत् ॥ ३५ ॥

उपयाता नरव्याघ्र राजानस्तव शासनात् ।
मयापि सत्कृताः सर्वे यथाहं राजसत्तम ॥ ३६ ॥

इससे वसिष्ठजीको बड़ी प्रसन्नता हुई । उन्होंने राजासे कहा—‘पुरुषोत्तम ! तुम्हारी आज्ञासे राजालोग यहाँ आ गये । नृपश्रेष्ठ ! मैंने भी यथायोग्य उन सबका सत्कार किया है ॥ यज्ञियं च कृतं सर्वं पुर्यः सुसमाहितः ।
निर्यातु च भवान् यष्टु यज्ञायतनमन्तिकात् ॥ ३७ ॥

‘हमारे कार्यकर्ताओंने पूर्णतः सावधान रहकर यज्ञके लिये सारी तैयारी की है । अब तुम भी यज्ञ करनेके लिये यज्ञमण्डपके समीप चलो ॥ ३७ ॥

सर्वकामैस्सहस्रैस्त्वेतं वै समन्ततः ।
द्रुमर्हसि राजेन्द्र मनसेव विनिर्मितम् ॥ ३८ ॥

राजेन्द्र ! यज्ञमण्डपमें सब ओर सभी वाञ्छनीय वस्तुएँ एकत्र कर दी गयी हैं । आप स्वयं चलकर देखें । यह मण्डप इतना शीघ्र तैयार किया गया है, मानो मनके संकल्पसे ही बन गया हो ॥ ३८ ॥

तथा वसिष्ठवचनादुष्यशृङ्गस्य शोभयोः ।
दिवसे शुभनक्षत्रे निर्यातो जगतीपतिः ॥ ३९ ॥

मुनिवर वसिष्ठ तथा ऋष्यशृङ्ग दोनोंके आदेशसे शुभ नक्षत्रवाल दिवसका राजा दशरथ यज्ञके लिये राजभवनमें निकल ॥ ३९ ॥

ननो वसिष्ठप्रपुत्राः सर्वे एव द्विजोत्तमाः ।
ऋष्यशृङ्गं पुरस्कृत्य यज्ञकार्यारम्भस्तदा ॥ ४० ॥

यज्ञघाटे गताः सर्वे यथाशास्त्रं यथाविधि ।
श्रीमांश्च सह पत्नीभी राजा दीक्षामुपाविशत् ॥ ४१ ॥

नत्यश्नात् चांमष्ट आदि सभी श्रेष्ठ द्विजोंने यज्ञमण्डपमें जाकर ऋष्यशृङ्गको आगे करके शास्त्रोक्त विधिके अनुसार यज्ञकर्मका आरम्भ किया । पत्नियोंसहित श्रीमान् अवध-नरेशने यज्ञकी दीक्षा ली ॥ ४०-४१ ॥

चतुर्दशः सर्गः

महाराज दशरथके द्वारा अश्वमेध यज्ञका साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठान

अथ संवत्सरे पूर्णे तस्मिन् प्राप्ते तुरङ्गमे ।
सरथ्वाश्वोत्तरे तीरे राज्ञो यज्ञोऽध्यवर्तत ॥ १ ॥

इधर वर्ष पूरा होनेपर यज्ञसम्बन्धी अश्व भूमण्डलमें प्रमण करके लौट अथा । फिर सरयू नदीके उत्तर तटपर राजाका यज्ञ आरम्भ हुआ ॥ १ ॥

ऋष्यशृङ्गे पुरस्कृत्य कर्म चक्रुर्ध्रुवर्षभाः ।
अश्वमेधे महायज्ञे राज्ञोऽस्य सुमहात्मनः ॥ २ ॥

महामनस्वी राजा दशरथके उस अश्वमेध नामक महायज्ञमें ऋष्यशृङ्गको आगे करके श्रेष्ठ ब्राह्मण यज्ञसम्बन्धी कर्म करने लगे ॥ २ ॥

कर्षं कुर्वन् विधिवद् याजका संदपारगाः ।
यथाविधि चक्षान्पायं परिक्रामन्ति शास्त्रतः ॥ ३ ॥

यज्ञ करानेकले सभी ब्राह्मण वेदोंके पारङ्गत विद्वान् थे, अतः वे न्याय तथा विधिके अनुसार सब कर्माकार उचित गतिमें सम्पादन करते थे और शास्त्रके अनुसार किस क्रममें किस समय कौन गी क्रिया करनी चाहिये, इसको स्मरण रखते हुए प्रत्येक कर्ममें प्रवृत्त होते थे ॥ ३ ॥

प्रवर्ष्य शास्त्रतः कृत्वा तथैवोपसदं द्विजाः ।
चक्रुश्च विधिवत् सर्वमधिकं कर्म शास्त्रतः ॥ ४ ॥

ब्राह्मणोंने प्रवर्ष्य (अश्वमेधके अङ्गभूत कर्मावशेष) का शास्त्र (विधि, मांसीरग और कल्पसूत्र) के अनुसार सम्पादन करके उपसद नामक ईष्ट-विशेषका भी शास्त्रके अनुसार ही अनुष्ठान किया । तत्पश्चात् शास्त्रीय उपदेशसे अधिक आ अतिदेशनः प्राप्त कर्म है, उस सबका भी विधिवत् सम्पादन किया ॥ ४ ॥

अधिपूज्य तदा हृष्टाः सर्वे चक्रुर्पथाविधि ।
प्रातःसवनपूर्वाणि कर्माणि मुनिपुङ्गवाः ॥ ५ ॥

तदनन्तर तनन्त कर्मोंके अङ्गभूत देवताओंका पूजन करके तबसे भी हुए उन सभी मुनिवर्गने विधिपूर्वक प्रातःसवन आदि (अर्थात् प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन तथा तृतीय सवन) कर्म किये ॥ ५ ॥

ऐन्द्रश्च विधिवद् दत्तो राजा चाभियुतोऽनघः ।
मथ्यन्ति च सवनं प्रावर्तत यथाकथम् ॥ ६ ॥

इन्द्रदेवताको विधिपूर्वक हविष्यका भाग अर्पित किया गया । पार्थनिवर्तक राजा सोम (सोमलता)* का रस निकाला गया । फिर क्रमशः माध्यन्दिनसवनका कार्य आरम्भ हुआ ॥ ६ ॥

तृतीयसवनं चैव राज्ञोऽस्य सुमहात्मनः ।
चक्रुस्ते शास्त्रतो दृष्ट्वा यथा ब्राह्मणपुङ्गवाः ॥ ७ ॥

तत्पश्चात् उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने शास्त्रसे देख-भातकर मनस्वी राजा दशरथके तृतीय सवनकर्मका भी विधिवत् सम्पादन किया ॥ ७ ॥

आह्वयाञ्चक्रे तत्र शक्रादीन् विबुधैर्यजमान् ।
ऋष्यशृङ्गादथो मन्त्रैः शिक्षाक्षरमन्त्रिनैः ॥ ८ ॥

ऋष्यशृङ्ग आदि महर्षियोंने वहाँ अभ्यासकलमें सीख गये अक्षरोंमें युक्त—स्वर और वर्णसे सम्पन्न मन्त्रोंद्वारा इन्द्र आदि श्रेष्ठ देवताओंका आवाहन किया ॥ ८ ॥

गतिभिर्धरैः शिग्धैर्मन्त्राह्वानैर्यथाहृतः ।
होतारो ददरावाह्य हविर्भागान् दिवीकसाम् ॥ ९ ॥

मधुर एवं मनोरम सामगानके लयमें गाये हुए आह्वान-मन्त्रोंद्वारा देवताओंका आवाहन करके होताओंने उन्हें उनके योग्य हविष्यके भाग समर्पित किये ॥ ९ ॥

न चाहुतमभूत् तत्र स्वलितं वा न किञ्चन ।
दृश्यते ब्रह्मयत् सर्वं क्षेमयुक्तं हि चक्रे ॥ १० ॥

उस यज्ञमें कोई अयोग्य अथवा विपरीत आहुति नहीं पड़ी । कहीं कोई भूल नहीं हुई—अनजानमें भी कोई कर्म दृष्टने नहीं पाया क्योंकि वहाँ सारा कर्म मन्त्रोच्चारणपूर्वक सामग्न होता दिखायी देता था । महर्षियोंने सब कर्म क्षेमयुक्त एवं निर्विघ्न परिपूर्ण किये ॥ १० ॥

न तेष्ठुहःसु आन्तो वा क्षुधितो वा न दुश्यते ।
नाबिद्वान् ब्राह्मणः कश्चिन्नाशतानुचरस्तथा ॥ ११ ॥

यज्ञके दिनोंमें कोई भी ऋत्विक् थका-मोटा या भूखा-प्यासा नहीं दिखायी देता था । उसमें कोई भी ब्राह्मण ऐसा नहीं था जो विद्वान् न हो अथवा जिनके सोसे कम शिष्य या सेवक रहे हों ॥ ११ ॥

ब्राह्मणा भुञ्जते नित्यं नाधवन्तश्च भुञ्जते ।
तापसा भुञ्जते चापि श्रमणाश्चैव भुञ्जते ॥ १२ ॥

उम यज्ञमें प्रतिदिन ब्राह्मण भोजन करते थे (सत्रिय और वैश्य भी भोजन पाते थे) तथा शूद्रोंको भी भोजन उपलब्ध होता था । तपस और श्रमण भी भोजन करते थे ॥

वृक्षाश्च व्याधिताश्चैव स्त्रीबालाश्च तथैव च ।
अनिशं भुञ्जमानानां न तृप्तिरूपलभ्यते ॥ १३ ॥

झूड़े, रोगी, स्त्रियाँ तथा बच्चे भी यथेष्ट भोजन पाते थे । भोजन इतना स्वादिष्ट होता था कि निरन्तर खाने रहनेपर

* इस विषयमें सूत्रकारका वचन है—सोमं राजानं दृष्टि निधाय दृष्टिद्विरभिहन्त्यात् अर्थात् 'यज्ञ सोम (सोमलता) को पत्थरपर रखकर.....पत्थरसे कुँचे ।

भी किसीका मन नहीं भरता था ॥ १३ ॥

दीयतां दीयतामन्नं वासांसि विविधानि च ।

इति संचोदितास्तत्र तथा चक्रुरनेकशः ॥ १४ ॥

'अन्न हो, नाना प्रकारके वस्त्र हो' अधिकारियोंकी ऐसी आज्ञा पाकर कार्यकर्ता लोग बागम्वार वस्त्र हो करते थे ॥ १४ ॥

अन्नकुटांश्च दृश्यन्ते बहवः पर्वतोपधाः ।

दिवसे दिवसे तत्र सिद्धस्य विधिवन् तदा ॥ १५ ॥

घरों प्रतिदिन विधिवत् पक हुए अन्नके बहुत-से पर्वत-जैसे ढेर दिखायी देते थे ॥ १५ ॥

नानादेशादनृप्राप्ताः पुरुषाः श्रीगणास्तथा ।

अन्नपानैः सुविहितास्तस्मिन् यज्ञे महात्मनः ॥ १६ ॥

महामन्त्री राजा दशरथके उस यज्ञमें नाना देशोंसे आये हुए स्त्री-पुरुष अन्न-पानद्वारा भलीभाँति तृप्त किये गये थे ॥ १६ ॥

अन्नं हि विधिवत्स्वादु प्रशंसन्ति द्विजवर्षाः ।

अहो सुप्ताः स्म भद्रं ते इति शुश्राव राघवः ॥ १७ ॥

श्रेष्ठ ब्राह्मण 'भोजन विधिवत् बन गया मया है। बहुत स्वादिष्ट है'—ऐसा कहकर अन्नकी प्रशंसा करते थे। भोजन करके उठे हुए लोगोंके मुखसे राजा सदा यहाँ सुनते थे कि 'हमलोग खूब तृप्त हुए। आपकी कल्याण हो' ॥ १७ ॥

स्वलंकृतांश्च पुरुषा ब्राह्मणान् पर्यवेधयन् ।

उपासन्ते च तानन्ये सुपृष्टमणिकुण्डलाः ॥ १८ ॥

नख आभूषणोंसे अलंकृत हुए पुरुष ब्राह्मणोंका भोजन परोगते थे और उन लोगोंकी आ दूसरे श्रेष्ठ सहायता करते थे, उनका भी विशुद्ध माँगमय कुण्डल धारण कर रखे थे ॥ १८ ॥

क्रमान्तरे तथा विप्रा हेतुवादान् बहूनिपि ।

ब्राह्म. स्वाग्निनो धीमन् परम्यरजिमीधया ॥ १९ ॥

एक सवन समाप्त करके दूसरे सवनके आरम्भ होनेसे पूर्व जो अन्नदाता मिलता था, उसमें उनमें वक्ता धीर ब्राह्मण एक-दूसरे की जीतोंकी इच्छासे बहुत गूँथिल्लाह उपस्थित करते हुए शान्तिार्थ करते थे ॥ १९ ॥

दिवसे दिवसे तत्र संस्तरे कुशला द्विजाः ।

सर्वकर्माणि चक्रुस्ते यथाशास्त्रं प्रचोदिताः ॥ २० ॥

उस यज्ञमें नियुक्त हुए कर्मकुशल ब्राह्मण प्रतिदिन शास्त्रके अनुसार सब कार्योंका सम्पादन करते थे ॥ २० ॥

नायङ्गुविद्वान्नासीज्राग्रतो नाग्रहश्रुतः ।

मदस्यास्तस्य च राजो नावाटकुशलो द्विजः ॥ २१ ॥

राजाके उस यज्ञमें कोई भी मदस्य ऐसा नहीं था, जो

ध्याकरण आदि छहों अङ्गोंका ज्ञाता न हो, जिसने ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन न किया हो तथा जो बहुश्रुत न हो। वहाँ कोई ऐसा द्विज नहीं था, जो वाद-विवादमें कुशल न हो ॥ २१ ॥

प्राप्ते यूपोत्प्रेष्ये तस्मिन् बहू ब्रह्मन् स्वादिरास्तथा ।

तावन्तो बिल्वसहिताः पर्णिनश्च तथा परे ॥ २२ ॥

जब यूप सड़ा करनेका समय आया, तब बिल्वकी लकड़ोंके छ यूप गाड़ गये। उनमें ही खैरके यूप खड़े किये गये तथा पल्लवोंके भी उतने ही यूप थे, जो बिल्वनिर्मल यूपोंके साथ खड़े किये गये थे ॥ २२ ॥

इलेष्वातकमधो दिष्टो देवदारुमयस्तथा ।

द्वावेव तत्र विहिता ब्राह्म्यस्तपरिग्रहाः ॥ २३ ॥

बहेड़ेके वृक्षका एक यूप अश्वमेध यज्ञके लिये विहित है। देवदारुके बन हुए यूपका भी विधान है, परन्तु उसकी भाज्या न एक है न छः। देवदारुके दो ही यूप विहित हैं। उनमें बहि फैलनेपर जितनी दूरी होती है, उतनी ही दूरपर वे दोनों स्थापित किये गये थे ॥ २३ ॥

कारिताः सर्व एवमे शास्त्रज्ञैर्यज्ञकोविदैः ।

शोभार्थं तस्य यज्ञस्य काञ्चनालंकृता भवन् ॥ २४ ॥

यज्ञकुशल शास्त्रज्ञ ब्राह्मणोंने ही इन सब यूपोंका निर्माण कराया था। उस यज्ञकी शोभा बढ़ानेके लिये उन सबमें सोना जड़ा गया था ॥ २४ ॥

एकविंशतियूपास्ते एकविंशत्यरत्नयः ।

वासांभिरैकविंशद्विरेकैकं समलंकृताः ॥ २५ ॥

पूर्वोक्त इक्कीस यूप इक्कीस-इक्कीस अरत्न^१ (पाँच सौ चार अङ्गुल) ऊँचे बनाये गये थे। उन सबकी पृथक् पृथक् इक्कीस कपड़ोंसे अलंकृत किया गया था ॥ २५ ॥

विन्यस्ता विधिवन् सर्वे शिल्पिभिः सुकृता दुवाः ।

अष्टास्रयः सर्व एव इलक्षणरूपमथन्विताः ॥ २६ ॥

कारोमरोद्गात्र अच्छाँ सगड़ बनाये गये थे सभी सुदृढ़ यूप विधिपूर्वक स्थापित किये गये थे। वे सबके-सब आठ कोणोंसे सुशोभित थे। उनकी आकृति सुन्दर एवं चिकनी थी ॥ २६ ॥

आच्छादिनास्ते वासाभिः पूर्वोर्ध्वोश्च पूजिताः ।

सप्तवर्ष्यो दीप्तिमन्नो विराजन्ते मथा दिवि ॥ २७ ॥

उन्हें चस्मासे ढक दिया गया था और पुष्प-चन्दनसे उनकी पूजा की गयी थी। जैसे आकाशमें तेजस्वी सप्तर्षियोंकी शोभा होती है, उसी प्रकार यज्ञमण्डपमें वे दीप्तिमान् यूप सुशोभित होते थे ॥ २७ ॥

इष्टकाश्च यथान्याथ कारिनाश्च प्रमाणतः ।

चितोऽग्निब्राह्मणैस्तत्र कुशलं शिल्पकर्षणि ॥ २८ ॥

सूत्रग्रन्थोंमें बताया अनुसार ठोक मापसे ईंटें तैयार करायी गयी थी। उन ईंटोंके द्वारा यज्ञमन्त्रार्थों शिल्पिकर्ममें कुशल प्राप्ताणाने अग्निका चयन किया था ॥ २८ ॥

स चित्त्यो राजसिंहस्य संचितः कुशलैर्द्विजैः ।

गरुडो स्वप्नपक्षो वै त्रिगुणोऽष्टादशात्मकः ॥ २९ ॥

राजसिंह महाराज दशरथके यज्ञमें चयनद्वारा सम्पादित अग्निकी कर्मकाण्डकुशल ब्राह्मणोंद्वारा शास्त्रविधिक अनुसार स्थापना की गयी। उम अग्निकी आकृति दानों पक्ष और पुच्छ फैलाकर नीचे देखते हुए पृथ्वीमुख खड़े हुए गरुड़की सी प्रतीत होती थी। मानका ईंटोंमें पंखका निर्माण होनेसे उम गरुड़के पंख मुखर्जमय दिखायी देने थे प्रकृत-अवस्थामें चित्त्य अग्निके छ पंखार होने हैं किन्तु अश्वमेध यज्ञमें उसका प्रस्तार तौनगुना हो जाता है। इसीलिये यह मान्यकृति त्रिगुण अष्टादश प्रस्तारमें युक्त थी ॥ २९ ॥

निष्कृतास्तत्र पञ्चवस्ततद्दृश्यं दैवतम् ।

उरगाः पक्षिणश्चैव यथाशास्त्रं प्रचोदिताः ॥ ३० ॥

तहाँ पुरोक्त यूपोंमें शस्त्रविहित पशु, सर्प और पक्षी विभिन्न देवताओंके उद्देश्यसे बाँधे गये थे ॥ ३० ॥

शामिन्ने तु हव्यस्तत्र तथा जलचराश्च ये ।

ऋषिभिः सर्वमेवेतन्नियुक्तं शास्त्रनस्तदा ॥ ३१ ॥

शामिन्ने कर्ममें यज्ञिय अश्व तथा कुर्म आदि जलचर जन्तु जो दाहा जाय गय थे ऋषियोंने उन सबको शास्त्रविधिक अनुसार पुरोक्त यूपोंमें बाँध दिया ॥ ३१ ॥

पशूनां त्रिशतं तत्र यूपेषु नियतं तदा ।

अश्वमत्तोन्नयं तत्र राज्ञो दशरथस्य ह ॥ ३२ ॥

उस समय इन यूपोंमें तीन सौ पशु बाँधे हुए थे तथा राजा दशरथका वह उन्नय अश्वमत्त भी वहाँ बाँधा गया था ।

कौमल्या तं हव्यं तत्र परिचर्यं समन्ततः ।

कृपाणीर्वससारंने ऋषिभिः परमया मुदा ॥ ३३ ॥

रानी कौमल्याने वहाँ प्रोक्षण अर्गादिके द्वारा सब ओरसे नम अश्वका सम्भार करके बड़ी प्रसन्नताके साथ तीन मन्त्रारोमों ठसका स्पर्श किया ॥ ३३ ॥

पतत्रिणा तदा सार्धं सुस्थितेन च चेतसा ।

अवसद् रजनीमकां कौमल्या धर्मकाम्यया ॥ ३४ ॥

तदनन्तर कौमल्या देवोंन सुस्थिर चित्तमें धर्म-पालनकी इच्छा रखकर उम अश्वक निकट एक शान निवास किया ॥ ३४ ॥

होताध्वर्युस्तथोदाता हस्तेन समयोजयन् ।

पहिष्या परिवृत्त्याथ यावात्तामपरां तथा ॥ ३५ ॥

तत्पश्चात् होता, अध्वर्यु और उदाताने राजाकी (क्षत्रिय-

जातीय) महिषी 'कौमल्या', (वैश्यजातीय स्त्री) 'यावाता' तथा (शूद्रजातीय स्त्री) 'परिवृत्ति'—इन सबके हाथसे उस अश्वका स्पर्श कराया^१ ॥ ३५ ॥

पतत्रिणास्तस्य वषामुद्धृत्य नियतेन्द्रियः ।

प्रवृत्तिकपरमसम्पन्नः अपयामास शास्त्रतः ॥ ३६ ॥

इसके बाद परम चतुर जितेन्द्रिय ब्राह्मकने विधि-पूर्वक अश्वकन्दके गूदेकी निकालकर शास्त्रोक्त रीतिसे पकाया ॥ ३६ ॥

धूमगन्धं वषायास्तु जिघ्रति स्म नराधिपः ।

यथाकालं यथान्धाये निर्णुदन् पापमात्मनः ॥ ३७ ॥

तत्पश्चात् उस गूदकी आहुति दी गयी। राजा दशरथने अपने पापको दूर करनेके लिये ठोक समयपर आकर विधिपूर्वक उसके धूपकी गन्धको सूँघा ॥ ३७ ॥

हव्यस्य चानि घ्राह्यानि तानि सर्वाणि ब्राह्मणाः ।

अग्नौ प्रास्यन्ति विधिवत् समस्ताः षोडशर्त्विजः ॥ ३८ ॥

उस अश्वमेध यज्ञके अङ्गभूत जो-जो हवनीय पदार्थ थे, उन सबको लेकर समस्त षोडश ब्राह्मण अग्निये विधिवत् आहुति देने लगे ॥ ३८ ॥

प्लक्षशाखासु यज्ञानामन्येषां क्रियते हविः ।

अश्वमेधस्य यज्ञस्य वेतसो भाग इष्यते ॥ ३९ ॥

अश्वमेधके अनिरिक्त अन्य यज्ञोंमें जो हवि दी जाती है, वह प्लक्षरकी शाखाओंमें रखकर दी जाती है; परंतु अश्वमेध यज्ञका हविष्य वेतकी चटाईमें रखकर देनेका नियम है ॥ ३९ ॥

त्र्यहोऽश्वमेधः संख्यातः कल्पसूत्रेण ब्राह्मणैः ।

चतुष्टोममहस्तस्य प्रथमं परिकल्पितम् ॥ ४० ॥

उक्त्यर्थे द्वितीयं संख्यातमतिरात्रं तथोत्तरम् ।

कारितास्तत्र सप्तवो विहिताः शास्त्रदर्शनात् ॥ ४१ ॥

कल्पसूत्र और ब्राह्मणग्रन्थोंके द्वारा अश्वमेधके तीन मन्वनीय दिन बताये गये हैं। उनमेंमें प्रथम दिन जो सवन होता है, उसे चतुष्टोम (अष्टोष्टोम) कहा गया है। द्वितीय दिवस माध्य मन्वाको उक्त्यर्थ नाम दिया गया है तथा तीसरे दिन जिस सवनकी अनुष्ठान होता है, उसे 'अतिरात्र' कहते हैं। उममें शास्त्रोक्त दृष्टिसे विभिन्न बहुत से दुग्धर-दुग्धर क्रतु भी सम्पन्न किये गये ॥ ४०-४१ ॥

ज्योतिष्टोमायुषी र्वषपतिरात्रौ च निर्मितौ ।

अभिजिह्विश्चजिह्वेषामोर्ध्वामौ महाक्रतुः ॥ ४२ ॥

ज्योतिष्टोम, आयुष्टोम यज्ञ, दो बार अतिरात्र यज्ञ पविर्वा अभिजित्, छठ विषजित् तथा सातवें-आठवें आर्षोर्ध्वाम—ये सब-के-सब महत्क्रतु माने गये हैं, जो

अश्वमेधके उत्तर कालमें सम्पादित हुए ॥ ४२ ॥

प्राचीं होत्रे ददौ राजा दिशं स्वकुलवर्धनः ।

अश्वमेधे प्रतीचीं तु ब्रह्मणे दक्षिणां दिशम् ॥ ४३ ॥

अपने कुलकी वृद्ध करनेवाले राजा दशरथने यह पुण्य होनेपर होताका दक्षिणारूपमें अश्वमेधमें पूर्व दिशाका भाग राज्य सौंप दिया, अश्वमेधको पश्चिम दिशा तथा ब्रह्मणको दक्षिण दिशाका राज्य दे दिया ॥ ४३ ॥

उद्गात्रे तु तथोदीचीं दक्षिणीं विनिर्मिता ।

अश्वमेधे महायज्ञे स्वयंभूविहिते पुरा ॥ ४४ ॥

इसी तरह उद्गात्राको उत्तर दिशाकी सारी भूमि दे दी। पूर्वकालमें भगवान् ब्रह्मजीने त्रिमूर्ति अनुष्ठान किया था तब अश्वमेध नामक महायज्ञमें ऐसी ही दक्षिणाका विधान किया गया है* ॥ ४४ ॥

क्रतुं समाप्य तु तदा न्यायतः पुरुषबंधः ।

ब्रह्मविभ्यो हि ददौ राजा धर्मं तां कुलवर्धनः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार विधिपूर्वक यज्ञ समाप्त करके अपने कुलकी वृद्ध करनेवाले पुरुषाश्रमोंमें राजा दशरथने ब्रह्मविजोंको सारी पृथ्वी दान कर दी ॥ ४५ ॥

एव दत्त्वा ब्रह्मोऽभूच्छ्रीमानिक्ष्वाकुनन्दनः ।

ब्रह्मविजस्त्वद्भुवन् सर्वे राजानं गतकिञ्चिदपि ॥ ४६ ॥

यों दान देकर इक्ष्वाकुकुलनन्दन श्रीमान् महायज्ञ दशरथके मर्यादा सीमा न रहा, परंतु समस्त ब्रह्मविज् उन निष्पाप नरशसे इस प्रकार चले— ॥ ४६ ॥

भवानेव महीं कृत्स्नामेको रक्षितुमर्हसि ।

न भूम्या कार्यमस्माकं नहि शक्ताः स्वपालने ॥ ४७ ॥

'महाराज ! अकेले आप ही इस सम्पूर्ण पृथ्वीको रक्षा करनेमें समर्थ हैं, हममें इतना पालनकी शक्ति नहीं है, जल-भूमिसे हमारा कोई प्रयोजन नहीं है ॥ ४७ ॥

रत्नाः स्वाध्यायकरणे वयं नित्यं हि भूमिप ।

निष्क्रयं किञ्चिदेव प्रयच्छन् भवानिति ॥ ४८ ॥

भूमिपाल ! हम तो सदा वेदांक स्वाध्यायमें ही लगे रहते हैं (इस भूमिका पालन हमसे नहीं हो सकता); अतः आप हमें यहाँ हम भूमिका कुछ निष्क्रय (मूल्य) ही दें ॥ ४८ ॥

मणिमत्तं सुवर्णं वा गावो यद्वा समुद्यतम् ।

तन् प्रयच्छ नृपश्रेष्ठ धरण्या न प्रयोजनम् ॥ ४९ ॥

नृपश्रेष्ठ ! मणि, रत्न, सुवर्ण, गौ अथवा जो भी वस्तु यहाँ उपस्थित हो, वही हमें दक्षिणारूपमें दे दीजिये। इस धरतीमें हमें कोई प्रयोजन नहीं है ॥ ४९ ॥

एवमुक्त्वा

नरपतिर्ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ।

गयां शतसहस्राणि दत्त तेभ्यो ददौ नृपः ॥ ५० ॥

दशकोटि सुवर्णस्य रजतस्य चतुर्गुणम् ।

वेदांक परागमों विद्वान् ब्राह्मणोंके ऐसा कहनेपर राजाने उन्हें दस लाख गौएँ प्रदान कीं। दस करोड़ स्वर्णमुद्रा तथा उमसे चौगुनी रजतमुद्रा अर्पित कीं ॥ ५० ॥

अर्हत्वजस्तु ततः सर्वे प्रददुः सहिता वसु ॥ ५१ ॥

ऋष्यशृङ्गाय पुनये वसिष्ठाय च धीमते ।

तब उस समय सब ब्रह्मविजोंने एक साथ होकर वह सारा धन मुनिभर ऋष्यशृङ्ग तथा वसिष्ठाय सौंप दिया ॥

ततस्ते न्यायतः कृत्वा प्रविभार्गं द्विजोत्तमाः ॥ ५२ ॥

सुप्रीतमनसः सर्वे प्रत्यक्षमुदिता भूशम् ।

तदनन्तर उन दानों धर्षणियोंके महायोगसे उस धनका न्यायपूर्वक वितरण करके वे सभी श्रेष्ठ ब्राह्मण मन ही मन बड़े प्रसन्न हुए और बोले—महाराज ! इस दक्षिणासे हम-लोग बहुत संतुष्ट हैं ॥ ५२ ॥

ततः प्रसर्पकेभ्यस्तु हिरण्यं सुसमाहितः ॥ ५३ ॥

जाम्बूनदं खोटिसंख्यं ब्राह्मणेभ्यो ददौ तदा ।

इनके बाद एकप्रचित्त होकर राजा दशरथने अभ्यागत ब्राह्मणोंको एक करोड़ जाम्बूनद सुवर्णको मुद्राएँ बाँटीं।

दरिद्राय द्विजायाश्च हस्ताभरणमुत्तमम् ॥ ५४ ॥

कर्मचिद् यत्प्रमानाय ददौ राघवनन्दनः ।

[सारा धन दे देनेके बाद जब कुछ नहीं बच रहा, तब] एक दरिद्र ब्राह्मणने आकर राजामें धनकी याचना की। उस समय उन रघुकुलनन्दन नरेशान् उससे अपने हाथका उत्तम आभूषण उतारकर दे दिया ॥ ५४ ॥

ततः प्रीतेषु विधिवद् द्विजेषु द्विजवत्सलः ॥ ५५ ॥

प्रणामपकरोत् तेषां हर्षव्याकुलितेन्द्रियः ।

तत्पश्चात् जब सभी ब्राह्मण विधिवत् संतुष्ट हो गये, उस समय उनपर स्नेह रखनेवाले नरेशान् उन सबको प्रणाम किया। प्रणाम करने समय इनको भागी इन्द्रियाँ हर्षमें विह्वल हो रही थीं ॥ ५५ ॥

तस्याशिपोऽथ विविधा ब्राह्मणीः समुदाहृताः ॥ ५६ ॥

उदारस्य नृवीरस्य धरण्या घतितस्य च ।

पृथ्वीपर पड़े हुए उन उदार नरवीरको ब्राह्मणोंने नाना प्रकारके आशीर्वाद दिये ॥ ५६ ॥

ततः प्रीतमना राजा प्राप्य यज्ञमनुत्तमम् ॥ ५७ ॥

पापापहं स्वर्नयनं दुस्तरं पार्थिववर्धनैः ।

तदनन्तर उस परम उत्तम यज्ञका पुष्पफल पाकर राजा

* 'प्रक्षार्तिश्वमेधमयजते, राजपतिर अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान किया, इस श्रुतिक द्वारा यह सूचित होता है कि पूर्वकालमें ब्रह्मजीने इस महायज्ञका अनुष्ठान किया था' इसमें दक्षिणाग्रयण प्रत्येक दशरथके दानका विधान ऋष्यशृङ्गद्वारा किया गया है। यथा—'प्राचींदिशं दक्षिणां ददानीं प्राचीं दिशोऽनुक्षिणां ब्रह्मणः प्रतीच्याश्वमेधस्यशृङ्गान्' ॥

दशरथके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई। वह यज्ञ उनके सब पापोंका नाश करनेवाला तथा उन्हें स्वर्गलोकमें पहुँचानेवाला था। साधारण राजाओंके लिये ठम यज्ञको आदिसे अन्ततक पूर्ण कर लेना बहुत ही कठिन था ॥ ५३ ॥

ततोऽब्रवीदृष्यभृङ्गं राजा दशरथस्तदा ॥ ५४ ॥
कुलस्य वर्धनं तत् तु कर्तुमर्हसि सुप्रतः ।

यज्ञ सम्पन्न होनेपर राजा दशरथने ऋष्यभृङ्गसे कहा—‘तबसे बातचीत पालन करनेवाले मुनीश्वर ! अब जो कर्म मेरी कुलपरम्पराको ब्रह्मानेवाला हो, उसका सम्पादन आपको करना चाहिये’ ॥ ५४ ॥

तर्धत च स राजानमुवाच द्विजस्तमः ।

भविष्यति सुता राजंश्चत्वारस्ते कुलोद्भवाः ॥ ५५ ॥

इत्यार्ष श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे सप्तदशः सर्गः ॥ १४ ॥

इस प्रकार भगवान् श्रीमद्वाल्मीकीय आदिकाव्यके बालकाण्डमें सप्तदश सर्ग पूरा हुआ ॥ १४ ॥

पञ्चदशः सर्गः

ऋष्यभृङ्गद्वारा राजा दशरथके पुत्रेष्टि यज्ञका आरम्भ, देवताओंकी प्रार्थनासे ब्रह्माजीका रावणके वधका उपाय छूट निकालना तथा भगवान् विष्णुका देवताओंको आश्वासन देना

मेधायी तु ततो ध्यात्वा स किञ्चिद्विदमुत्तरम् ।

लब्धसंज्ञस्ततस्तु वेदज्ञो नृपमब्रवीत् ॥ १ ॥

महात्मा ऋष्यभृङ्ग बड़े मेधावी और वेदोंके ज्ञाता थे। उन्होंने थोड़ी देरतक ध्यान लगाकर अपने भावों कर्तव्यका निश्चय किया। फिर ध्यानसे विरत हो वे राजासे इस प्रकार बाल— ॥ १ ॥

इष्टिं तेऽहं करिष्यामि पुत्रीयां पुत्रकारणात् ।

अथर्वशिर्षमि श्रोतमन्त्रैः सिद्धां विधानतः ॥ २ ॥

‘याराज ! मैं आपको पुषकी प्राप्ति करानेके लिये अधर्ववेदके मन्त्रोंसे पुत्रेष्टि नामक यज्ञ करूँगा। वेदोक्त विधिके अनुसार अनुष्ठान करनेपर वह यज्ञ अवश्य सफल होगा’ ॥ २ ॥

ततः प्राकभादिष्टिं सां पुत्रीयां पुत्रकारणात् ।

जुह्वाग्रां च तेजस्वीं घन्त्रदृष्टेन कर्मणा ॥ ३ ॥

यह कहकर उन तेजस्वी ऋषिने पुत्रप्राप्तिके उद्देश्यसे पुत्रेष्टि नामक यज्ञ आरम्भ किया और श्रोतविधिके अनुसार अर्घ्यमें आहुति डाली ॥ ३ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ।

भागप्रतिप्रार्थार्थं वै सम्भवेता यथाविधि ॥ ४ ॥

तब देवता, सिद्ध गन्धर्व और महार्षिगण विधिके अनुसार अपना-अपना भाग ग्रहण करनेके लिये उस यज्ञमें एकत्र हुए ॥ ४ ॥

ताः समेत्य यथान्यायं तस्मिन् सदसि देवताः ।

अब्रुर्वैल्लोककर्तारं ब्रह्माणं वचनं ततः ॥ ५ ॥

तब द्विजश्रेष्ठ ऋष्यभृङ्ग ‘तथास्तु’ कहकर राजासे बोले—‘यज्ञन् ! आपके चार पुत्र होंगे, जो हम कुलके भावको बहन करनेमें समर्थ होंगे’ ॥ ५५ ॥

स तस्य वाक्यं मधुरं निश्रय्य

प्रणम्य तस्मै प्रयतो नृपेन्द्रः ।

जगाम हर्षं परमं महात्मा

तपस्यभृङ्गं पुनरभ्युवाच ॥ ५६ ॥

उनका यह मधुर वचन सुनकर राजा और इन्द्रियोंको सयममें रखनेवाले महामन्त्री महाराज दशरथ उन्हें प्रणाम करके बड़े हर्षको प्राप्त हुए तथा उन्होंने ऋष्यभृङ्गको पुनः पुत्रप्राप्ति करानेवाले कर्मकी अनुष्ठान करनेके लिये प्रेरित किया ॥ ५६ ॥

उस यज्ञ-सभामें क्रमशः एकत्र होकर (दूसरोंकी दृष्टिसे अदृश्य रहते हुए) सब देवता लोककर्ता ब्रह्माजीसे इस प्रकार बोले— ॥ ५ ॥

भगवंस्त्वत्प्रसादेन रावणो नाम राक्षसः ।

मर्तान् नो बाधते वीर्याच्छासितुं ते न शक्नुमः ॥ ६ ॥

भगवन् ! रावण नामक राक्षस आपका कृपाप्रसाद फकर अपने बलसे हम सब लोगोंको बड़ा कष्ट दे रहा है। हममें इतनी शक्ति नहीं है कि अपने पराक्रमसे उसको दबा सकें ॥ ६ ॥

त्वया तस्मै वरो दत्तः प्रीतेन भगवंस्तदा ।

मानयन्तश्च ते नित्यं सर्वे तस्य क्षमापदे ॥ ७ ॥

‘प्रभो ! आपने प्रमत्त होकर उसे वर दे दिया है। तबसे हमलोग उस वरका सदा समादर करते हुए उसके सारे अपराधोंको सहते चले आ रहे हैं ॥ ७ ॥

उद्वजयति लोकांस्त्रीनुच्छिन्नान् देष्टि दुर्मतिः ।

शक्रं त्रिदशराजानं प्रध्वंयितुमिच्छति ॥ ८ ॥

‘उसने सौनों लोकोंके प्राणियोंका नाशो दम कर रखा है। वह दुष्टात्मा जिनको कुछ ऊँची स्थितिमें देखता है, उन्हींके साथ द्वेष करने लगता है। देवराज इन्द्रको धरास्त करनेकी अभिलाषा रखता है ॥ ८ ॥

ऋषीन् यक्षान् सगन्धर्वान् ब्राह्मणान्सुरांस्तदा ।

अतिक्रमयति दुर्धर्षो वरदानेन मोहितः ॥ ९ ॥

‘आपके वरदानसे मोहित होकर वह इतना उद्विग्न हो गया है कि ऋषियों यक्षों, गन्धर्वों असुरों तथा ब्राह्मणोंको

पोंडा देता और उनका अपमान करता फिरता है ॥ ९ ॥

नैनं सूर्यः प्रतपति पार्श्वे चाति न मारुतः ।

चलार्मिमाली तं दृष्ट्वा समुद्रोऽपि न कम्पने ॥ १० ॥

'सूर्य उसको ताप नहीं पहुँचा सकता । वायु उसके पास जाकर नहीं चलता तथा जिरकी उन्हाल करके सदा ऊपर-नीचे होती रहती है, वह समुद्र भी रावणको देखकर धक्के मार खड़ा-सा हो जाता है—उसमें कम्पन नहीं होता ॥ १० ॥

तन्महप्रो भयं तस्माद् राक्षसाद् घोरदर्शनान् ।

वधार्थं तस्य भगवन्नुपायं कर्तुमर्हसि ॥ ११ ॥

'वह राक्षस तेरा नाम भी बड़ा भयंकर है । उसमें तूमें मरान् भय प्राप्त हो रहा है, अतः भगवन् उसका वध करने लिये आपको कोई-न-कौई उपाय अवश्य करना चाहिये ।

एवमुक्तः सूरैः सर्वैश्चिन्तयित्वा तनोऽब्रवीत् ।

हन्तार्यं विदितस्तस्य वधोपायो दुर्गतमनः ॥ १२ ॥

तेन गन्धर्वयक्षाणां देवानां च रक्षमाम् ।

अवध्योऽस्मीति वायुक्ता तथेत्युक्तं च तन्मया ॥ १३ ॥

समस्त देवताओंके ऐसा कहनेपर ब्रह्माजी कुछ सोचकर बोले—'देवताओं ! लो, उस दुर्गमक वधका उपाय मेरी क्षमतामें आ गया । उसने सब मागत समय यह बात कही थी कि मैं गन्धर्व, यक्ष, देवता तथा राक्षसोंके हाथसे न मारा जाऊँ मैंने भी 'तथानु' कहकर उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली ॥ १२ १३ ॥

नाकीर्तयदज्ज्ञानान् तद् रक्षो भानुषांस्तदा ।

तस्मान् स भानुषद् वध्यो मृत्युर्नान्योऽस्य विद्यते ॥ १४ ॥

मनुष्योंको तो यह सुख समझता था, इसलिये इनके प्रति अवज्ञाका होनेके कारण उनमें अवध्य होनेका धरदान नहीं माँगा । इसलिये अब मनुष्यक हाथमें ही उसका वध होगा । मनुष्यक मित्रा दुसरा कोई उसका मृत्युक कारण नहीं है ॥ १४ ॥

एतच्छ्रुत्वा प्रियं वाक्यं ब्रह्मणा समुदाहृतम् ।

देवा महर्षयः सर्वे ब्रह्मसंभवंमता ॥ १५ ॥

ब्रह्माजीकी कही हुई यह प्रिय बात सुनकर उस समय समस्त देवता और महर्षि बड़े प्रसन्न हुए ॥ १५ ॥

एतस्मिन्नन्तरं विष्णुरुपयानो महाद्युतिः ।

शङ्खचक्रगदापाणि पीतवामा जगत्पतिः ॥ १६ ॥

पीतनये सभारुद्रा भास्करस्तोयदं यथा ।

तप्तहाटककेयूरो बन्धमानः सुरोत्तमः ॥ १७ ॥

ब्रह्मणा च समागत्य तत्र तस्थी सभाहितः ।

इसी समय महान् सेनारुद्र जगत्पति भगवान् विष्णु भी मेघके ऊपर स्थित हुए सूर्यको भाँति गरुडपर बसा हो बात आ पहुँचे । उनके शरीरपर पीताम्बर और हाथमें शङ्ख चक्र गदा आदि आयुध शोभा फेर रहे थे । उनकी दोनों भुजाओंमें लसते हुए मुकुटके धन केयूर

प्रकाशित हो रहें थे । उस समय सम्पूर्ण देवताओंने उनकी उन्हाली की और वे ब्रह्माजीसे मिलकर भावधानीके साथ सभामें घिराजमान हो गये ॥ १६-१७ ॥

तमद्भुवन् सुराः सर्वे समधिष्ठय संनताः ॥ १८ ॥

त्वां नियोक्ष्यामहे विष्णो लोकानां हितकाम्यया ।

तब समस्त देवताओंने यिनीत भावसे उनकी स्तुति करने कहा—'महर्ष्यापी परमेश्वर ! हम तीनों लोकोंके हितकी कामनामें आगेके ऊपर एक महान् कार्यका भार दे रहे हैं ॥ १८ ॥

गजो दशार्थस्य त्वमयोध्याधिपतेर्विभो ॥ १९ ॥

धर्मजस्य वदान्यस्य महर्षिसमतेजसः ।

अस्य भार्यामु निसृष्टुं ह्रीर्भ्रूकोर्न्युपमासु च ॥ २० ॥

विष्णो पुत्रत्वपागच्छ कृत्वाऽऽत्मानं चतुर्विधम् ।

तत्र त्वं मानुषो भूत्वा प्रवृद्धं लोककण्टकम् ॥ २१ ॥

अवध्यो देवर्तविष्णो समरे जहि रावणम् ।

'प्रभो ! जगत्पति राजा दशार्थ धर्मज, उदार तथा महर्षियोंके समान तेजस्वी हैं । उनके तीन शत्रियाँ हैं जो हो, श्री और कीर्ति—इन तीन देवियोंके समान हैं । विष्णु-देव ! आप अपने चार स्वरूप बनाकर राजाकी उन तीनों शत्रियोंके गर्भसे पुत्ररूपमें अवतार ग्रहण कीजिये । इस प्रकार मनुष्यरूपमें प्रकट होकर आप संसारके लिये प्रबल कष्टकरुण रावणको, जो देवताओंके लिये अवध्य है ममरभूमिमें मर डालिये ॥ १९ २० २१ ॥

स हि दवान् मगन्धर्वान् सिद्धांश्च ऋषिसत्तमान् । २२ ॥

राक्षसो रावणो मूर्खो वीर्यद्रिकण बाधते ।

'वह मूर्ख राक्षस रावण अपने बड़े हुए पराक्रमसे देवता, गन्धर्व, सिद्ध तथा श्रेष्ठ महर्षियोंको बहुत कष्ट दे रहा है ॥ २२ ॥

ऋषयश्च ततस्तेन गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥ २३ ॥

क्रौडन्तो नन्दनवने रौद्रेण विनिघातिताः ।

'उस रौद्र निशाचरने ऋषियोंको तथा नन्दनवनमें क्रौडित करवाने गन्धर्वों और अप्सराओंको भी स्वर्गमें भूमिपर गिरा दिया है ॥ २३ ॥

वधार्थं वयमायातास्तस्य ये मुनिभिः सह ॥ २४ ॥

मिद्धगन्धर्वयक्षाश्च तमस्त्वां शरणं गताः ।

इसलिये मुनियोंसहित हम सब सिद्ध, गन्धर्व, यक्ष तथा देवता उसके वधके लिये आपकी शरणमें आये हैं ॥ २४ ॥

त्वं गतिः परमा देव सर्वेषां नः परतप ॥ २५ ॥

वधाय देवशत्रूणां नृणां लोके मनः कुरु ।

शत्रुओंको संतप देनवाले देव ! आप ही हम सब शत्रुओंकी परमगति हैं, अतः इन देवद्रोहियोंका वध करनेके लिये आप मनुष्यलोकमें अवतार लेनका निश्चय कीजिये ॥ २५ ॥

एवं स्तुतस्तु देवेशो विष्णुस्त्रिदशपुंगवः ॥ २६ ॥
पितामहपुरोगास्तान् सर्वलोकनमस्कृतः ।

अब्रवीत् त्रिदशान् सर्वान् समेतान् धर्मसंहितान् ॥ २७ ॥

उनके इस प्रकार स्तुति करनेपर सर्वलोकवर्धन देवप्रवर देवाधिदेव भगवान् विष्णुने वहाँ एकत्र हुए उन समस्त ब्रह्मा आदि धर्मपरायण देवताओंसे कहा— ॥ २६-२७ ॥

भयं त्यजत भद्रं वो हितार्थं युधि रावणम् ।

सपुत्रपौत्रं सामास्यं समन्त्रिज्ञातिबान्धवम् ॥ २८ ॥

हत्वा कुरुं दुःशयं देवर्षीणां भयावहम् ।

दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च ॥ २९ ॥

वत्सामि भानुषे लोके पालयन् पृथिवीमिमाम् ।

'देवगण ! तुम्हारा कल्याण हो । तुम भयको त्याग दो । मैं तुम्हारा हित करनेके लिये रावणको एवं, पौत्र, आपात, मन्त्री और बन्धु-बान्धवोंसहित युद्धमें मार डालूँगा । देवताओं तथा ऋषियोंको भय देनेवाले उस क्रूर एवं दुर्धर्ष राक्षसका नाश करके मैं ग्यारह हजार वर्षोंतक इस पृथ्वीका भक्षण करता हुआ मनुष्यलोकमें निवास करूँगा' ॥ २८-२९ ॥

एव दत्त्वा वरं देवो देवानी विष्णुरात्मवान् ॥ ३० ॥

मानुष्ये चिन्तयामास जन्मभूमिमथात्मनः ।

देवताओंको ऐसा वर देकर मनस्वी भगवान् विष्णुने मनुष्यलोकमें पहले अपने जन्मभूमिके सम्बन्धमें विचार किया ॥ ३० ॥

ततः पञ्चपलाशाक्षः कृत्वाऽऽत्मानं चतुर्विधम् ॥ ३१ ॥

पितरं संखयामास तदा दशरथं नृपम् ।

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये चालकाण्डे पञ्चदश सर्गः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यक चालकाण्डमें पंद्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १५ ॥

षोडशः सर्गः

देवताओंका श्रीहरिसे रावणवधके लिये मनुष्यरूपमें अवतीर्ण होनेको कहना, राजाके पुत्रेष्टि यज्ञमें अप्रिकुण्डसे प्राजापत्य पुरुषका प्रकट होकर खीर अर्पण करना और उसे

खाकर रानियोका गर्भवती होना

ततो मारायणो विष्णुर्नियुक्तः सुरसत्तमैः ।

जानन्नपि सुरानेवै इलक्ष्णं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

तदनन्तर उन श्रेष्ठ देवताओंद्वारा इस प्रकार रावणवधके लिये नियुक्त होनेपर सर्वव्यापी मारायणने रावणवधके उपायको जानते हुए भी देवताओंसे यह मधुर वचन कहा— ॥ १ ॥

उपायः को वधे तस्य राक्षसाधिपतेः सुराः ।

यमहं तं समास्थाय निहन्यामृषिकण्टकम् ॥ २ ॥

'देवगण ! राक्षसराज रावणके वधके लिये कौन-सा उपाय है, जिसका आश्रय लेकर मैं मरुर्षियोंके त्रिपु कण्टकरूप उस निशाचरवध करूँ ?' ॥ २ ॥

इसके बाद कमलनयन श्रीहरिने अपनेको चार स्वरूपोंमें प्रकट करके राजा दशरथको पिता बमानका निश्चय किया ॥

ततो देवर्षिगन्धर्वाः सरुद्राः साप्सरोगणाः ।

स्तुतिभिर्दिव्यरूपाधिस्तुष्टुवर्मधुसूदनम् ॥ ३२ ॥

तब देवता, ऋषि, गन्धर्व, रुद्र तथा अप्सराओंने दिव्य स्तुतियोंके द्वारा भगवान् मधुसूदनका स्तवन किया ॥ ३२ ॥

तमुद्धते रावणमुग्रतेजसं

प्रवृद्धदं प्रिदशेश्वरद्विषम् ।

विरावणं साधुतपस्विकण्टकं

तपस्विनामुद्धर तं भयावहम् ॥ ३३ ॥

वे कहने लगे—'प्रभो ! रावण बड़ा ठण्ड है । उसका तेज अत्यन्त उग्र और घमण्ड बहुत बढ़ा-चढ़ा है । वह दशराज इन्द्रसे सदा द्वेष रखता है । तीनों लोकोंको रुलाता है, राधुओं और तपस्वी जनोंके लिये तो वह बहुत बड़ा कण्टक है; अतः आपसेको भय देनेवाले उस भयानक राक्षसकी आप जड़ उखाड़ डालिये ॥ ३३ ॥

तमेव हत्वा सबलं सबान्धवं

विरावणं रावणमुग्रपौरुषम् ।

स्वर्लोकमागच्छ गतज्वरश्चिरं

सुरेन्द्रगुप्तं गतदोषकल्मषम् ॥ ३४ ॥

'उपेन्द्र ! सारे जगत्को रुलानेवाले उस उग्र पराक्रमी रावणको सैन्य और बन्धु बान्धवोंसहित नष्ट करके अपनी स्वाभाविक निश्चिन्ताके साथ अपने ही द्वारा सुरक्षित उस चिरन्तन वैकुण्ठधाममें आ जाइये, जिसे राग-द्वेष आदि दोषोंका कलुष कभी छू नहीं पाता है' ॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये चालकाण्डे पञ्चदश सर्गः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यक चालकाण्डमें पंद्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १५ ॥

षोडशः सर्गः

देवताओंका श्रीहरिसे रावणवधके लिये मनुष्यरूपमें अवतीर्ण होनेको कहना, राजाके पुत्रेष्टि यज्ञमें अप्रिकुण्डसे प्राजापत्य पुरुषका प्रकट होकर खीर अर्पण करना और उसे

खाकर रानियोका गर्भवती होना

ततो मारायणो विष्णुर्नियुक्तः सुरसत्तमैः ।

जानन्नपि सुरानेवै इलक्ष्णं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

तदनन्तर उन श्रेष्ठ देवताओंद्वारा इस प्रकार रावणवधके लिये नियुक्त होनेपर सर्वव्यापी मारायणने रावणवधके उपायको जानते हुए भी देवताओंसे यह मधुर वचन कहा— ॥ १ ॥

उपायः को वधे तस्य राक्षसाधिपतेः सुराः ।

यमहं तं समास्थाय निहन्यामृषिकण्टकम् ॥ २ ॥

'देवगण ! राक्षसराज रावणके वधके लिये कौन-सा उपाय है, जिसका आश्रय लेकर मैं मरुर्षियोंके त्रिपु कण्टकरूप उस निशाचरवध करूँ ?' ॥ २ ॥

एवमुक्ताः सुराः सर्वे प्रत्यूवर्षिष्णुमव्ययम् ।

मानुषं रूपमास्थाय रावणं जहि संयुगे ॥ ३ ॥

उनके इस तरह पूछनेपर सब देवता उन अविनाशी भगवान् विष्णुमें बोल— प्रभो ! आप मनुष्यका रूप धारण करके युद्धमें रावणको मार डालिये ॥ ३ ॥

स हि तेपे तपस्तीव्रं दीर्घकालमरिंदमः ।

येन तुष्टोऽभवद् ब्रह्मा लोककृत्लोकपूर्वजः ॥ ४ ॥

'उस अत्रुदमन निशाचरने दीर्घकालतक तीव्र तपस्या की थी, जिससे सब लोगोंके पूर्वज लोकस्रष्टा ब्रह्माजी उसपर प्रमत्त हो गये ॥ ४ ॥

संतुष्टः प्रददी तस्मै राक्षसाय वरं प्रभुः ।
नानाविधेभ्यो भूतेभ्यो भयं नान्यत्र घानुषान् ॥ ५ ॥

‘उसपर संतुष्ट हुए भगवान् ब्रह्माने उस राक्षसको यह व
दिया कि तुम्हें नाना प्रकारके प्राणियोंमें मनुष्यके सिवा और
किसीसे भय नहीं है ॥ ५ ॥

अमृताताः पुरा तेन वरदाने हि घानवाः ।
एवं पितामहात् तस्माद् वरदानेन गर्विनः ॥ ६ ॥

‘पूर्वकालमें वरदान लेने समय उस राक्षसने मनुष्योंको
दुर्गल समझकर उनकी अवहेलना कर दी थी। इस
प्रकार पितामहमें मिले हुए वरदानके कारण इनका घमण्ड
बढ़ गया है ॥ ६ ॥

उत्सादयति लोकांस्त्रां स्त्रियश्चाप्युपकर्षति ।
तस्मात् तस्य वधो दुष्टो भानुषेभ्यः परतप ॥ ७ ॥

‘शत्रुभेदको मना देनेवाले देव यह सभी लोकोंको
पोछा देगा और स्त्रियोंका भी अपहरण कर लेगा है, अतः
उसका वध मनुष्यक हाथसे ही निश्चित हुआ है । ७ ।

इत्येतद् वचनं श्रुत्वा सुराणां विष्णुरात्मवान् ।
पितरं रोधयामास तदा दशरथं नृपम् ॥ ८ ॥

समस्त जानात्माओंको वशमें रखनेवाले भगवान् विष्णुन
देवताओंकी यह बात सुनकर अवतारकालमें राजा दशरथको
हो पिता बनानेकी इच्छा की ॥ ८ ॥

स चाप्यपुत्रो नृपनिस्तस्मिन् काले महाश्रुतिः ।
अजयत् पुत्रियाविष्टि पुत्रेप्सुररिसूदनः ॥ ९ ॥

उसी समय वे शत्रुसूदन महानजस्वी नरेश पुत्रहान होनेक
कारण पुत्रप्राप्तिकी इच्छासे पुत्राष्ट यज्ञ कर रहे थे ॥ ९ ॥

स कृत्वा निश्चयं विष्णुरायन्ध्रं च पितामहम् ।
अन्नधानं गतो देवैः पूज्यमानो महर्षिभिः ॥ १० ॥

उन्हें पिता बनानेका निश्चय करके भगवान् विष्णु
पितामहकी अनुमति से देवताओं और महर्षियोंमें पूजित हो
धनमें अन्नधान हो गये ॥ १० ॥

ततो वै यजमानस्य पावकादनुलप्रथम् ।
प्रादुर्भूतं यज्ञं भूतं महावीर्यं महाबलम् ॥ ११ ॥

तत्पश्चात् गुप्रष्टि यज्ञं कर्तुं हुए राजा दशरथके यज्ञमें
आग्निकृतने एक विशालकाम पुरुष प्रकट हुआ। उसके
गर्भात्में दाना प्रकाश था, जिसकी कहीं तुलना नहीं थी।
उसका बल-पराक्रम महान् था ॥ ११ ॥

कृष्णं रक्ताम्बरधरं रक्तस्य दुन्दुभिस्वनम् ।
स्त्रिगर्ह्यक्षतनुजइमभुप्रवरमूर्धजम् ॥ १२ ॥

उसकी अङ्गकान्ति काल रंगकी थी। उसने अपने
शरीरपर लाल वस्त्र धारण कर रक्ता था। उसका मुख भा
लाल ही था। उसकी आवासे दुन्दुभके समान गम्भीर ध्वनि
प्रकट होती थी। उसके रोम, दाढ़ी-मूँछ और बड़े-बड़े केश
धकने और सिंहके समान थे ॥ १२ ॥

शुभलक्षणसम्पन्नं दिव्याभरणभूषितम् ।
शैलभृङ्गसमुत्सेधं दृप्तशार्दूलविक्रमम् ॥ १३ ॥

यह शुभ लक्षणांस सम्पन्न, दिव्य आभूषणोंसे विभूषित,
शैलशिखरके समान ऊँचा तथा गर्वीले सिंहके समान
बलनेवाला था ॥ १३ ॥

दिवाकरसपाकारं दीप्मानलशिखोपमम् ।
तमजाम्बूनदमयीं राजतान्तपरिच्छिदाम् ॥ १४ ॥

दिव्यपायससम्पूणी पात्री पत्नीमिव प्रियाम् ।
प्रगृह्य विपुला दोष्ठी स्वयं मायाभयीभिः ॥ १५ ॥

उसकी आकृति सूर्यके समान तेजोमयी थी। यह
प्रज्वालित अग्निकी लपटाके समान देदीप्यमान हो रहा
था, उसका हाथम तपाये हुए जाम्बूनद नामक सुवर्णकी
बनी हुई परत थी, जो चांदीके ठकनसे ठंकी हुई थी
यह (परत) धाली बहुत बड़ी थी और दिव्य खीरमें
भरी हुई थी। उसे उस पुरुषने स्वयं अपनी दोनों भुजाओंपर
इस तरह ठन्दा रखा था, मानो कोई रसिक अपनी प्रियतमा
पत्नीको अङ्गमें छिपे हुए हो वह अद्भुत परत मायाभयी-सी
जान पड़ती थी ॥ १४-१५ ॥

समवेक्ष्यान्नवीद् वाक्यमिदं दशरथं नृपम् ।
प्राजापत्यं नरं विद्धि भाभिहाभ्यागतं नृप ॥ १६ ॥

उसने राजा दशरथकी ओर देखकर कहा : ‘नेरेश !
मुझे प्रजापतिलोकका पुरुष जानो। मैं प्रजापतिकी ही आज्ञासे
यहाँ आया हूँ ॥ १६ ॥

ततः परं तदा राजा प्रत्युवाच कृताञ्जलिः ।
भगवन् स्वागतं तेऽस्तु किमहं करवाणि ते ॥ १७ ॥

तब राजा दशरथने हाथ जोड़कर उससे कहा—
‘भगवन् ! आपका स्वागत है। कहिये, मैं आपको क्या
सेवा करूँ ? ॥ १७ ॥

अथो पुनरिदं वाक्यं प्राजापत्यो नरोऽब्रवीन् ।
राजन्नर्चयता देवानद्य प्राप्तमिदं त्वया ॥ १८ ॥

फिर उस प्राजापत्य पुरुषने पुनः यह बात कही—
‘राजन् ! तुम देवताओंकी आराधना करते हो इसीलिये तुम्हें
आज यह वस्तु प्राप्त हुई है ॥ १८ ॥

इदं तु नृपशार्दूल पायसं देवनिर्मितम् ।
प्रजाकरं गृहाण त्वं धन्यमारोग्यवर्धनम् ॥ १९ ॥

‘नृपश्रेष्ठ ! यह देवताओंकी बनायी हुई खीर है, जो
संतानको प्राप्ति करनेवाली है। तुम इसे ग्रहण करो। यह धन
और आरोग्यके भी वृद्धि करनेवाली है ॥ १९ ॥

भार्याणामनुरूपाणामश्रीतेति प्रयच्छ वै ।
तासु त्वं लब्धसे पुत्रान् यदर्थं यजसे नृप ॥ २० ॥

‘राजन् ! यह खीर अपनी योग्य पत्नियोंको दो और
कहो—‘तुमलोग इसे खाओ।’ ऐसा करनेपर उनके गर्भमें
आपका अनेक पुत्रोंकी प्राप्ति होगी, जिसके लिये तुम यह

यज्ञ कर रहे हों ॥ २० ॥

तथेति नृपतिः प्रीतिः शिरसा प्रतिगृह्य ताम् ।

पात्री देवान्नसम्पूर्णा देवदत्तां हिरण्मयीम् ॥ २१ ॥

अभिवाद्य च तद्भूतमद्भुतं प्रियदर्शनम् ।

मुदा परमया युक्तश्चकाराभिप्रदर्शयाम् ॥ २२ ॥

राजाने प्रसन्नतापूर्वक 'बहुत अच्छा' कहकर उस दिव्य पुरुषकी दी हुई देवान्नसे परिपूर्ण मानकी थालीको लेकर उसे अपने मस्तकपर धारण किया । फिर उस अद्भुत एवं प्रिय-
दर्शी पुरुषको प्रणाम करके वह आनन्दक साथ उसको परिक्रमा की ॥ २१-२२ ॥

ततो दशरथः प्राप्य पायसं देवनिर्मितम् ।

बभूव परमप्रीतः प्राप्य विभामिन्द्राधनः ॥ २३ ॥

ततस्तद्भूतप्रस्थं भूतं परमभास्वरम् ।

संवर्तयाम्वा तत् कर्म तत्रैवान्तरथोद्यत ॥ २४ ॥

इस प्रकार देवताओं की बनायी हुई उस लौकिक पाकर राजा दशरथ बहुत प्रसन्न हुए, मानो निर्धनका धन मिल गया हो । इराक खाट वह परम तेजस्वी अद्भुत पुरुष अपनी वह काम पूरा करके वहीं अन्तर्धान हो गया ॥ २३-२४ ॥

हर्षरश्मिभिरुद्भोजे तस्यान्तःपुरमाद्यधौ ।

शास्त्रद्वयाभिरामस्य चन्द्रस्यैव नभोऽंशुभिः ॥ २५ ॥

उस समय राजाके अन्तःपुरकी स्त्रियाँ हर्षास्त्रासय
बनी हुई आनन्दमयी किरणोंमें प्रकाशित हो लोक उसी
तरह शोभा देने लगीं, जैसे शास्त्रालोक नयनाभिराम
चन्द्रमाकी रम्य रश्मियोंसे उद्भासित होनेवाला आकाश
सुशोभित होता है ॥ २५ ॥

सोऽन्तःपुरं प्रविश्यैव कौसल्यामिदमब्रवीत् ।

पायसं प्रतिगृहीत् पुत्रीयं त्विदमात्मनः ॥ २६ ॥

राजा दशरथ वह थाली लेकर अन्तःपुरमें गये और
कौसल्यासे बोले—'देवि ! यह अपने लिये पुत्रको प्राप्ति
करानेवाली स्त्री ग्रहण करो' ॥ २६ ॥

कौसल्यायै नरपतिः पायसायै ददौ तदा ।

अर्घ्यायै ददौ चापि सुमित्रायै नराधिपः ॥ २७ ॥

ऐसा कहकर नरपति उस समय उस स्त्रीके आधा भाग

इत्यर्थ श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये वाल्मीकाण्डे षोडश सर्गः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके वाल्मीकाण्डमें षोडहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १६ ॥

सप्तदशः सर्गः

ब्रह्माजीकी प्रेरणासे देवता आदिके द्वारा विभिन्न चानरयूथपतियोंकी उत्पत्ति

पुत्रत्वं तु गते विष्णी राजस्तस्य महात्मनः ।

उवाच देवताः सर्वाः स्वयम्भूर्धगवानिदम् ॥ १ ॥

जब भगवान् विष्णु महात्मनस्का राजा दशरथके
पुत्रभावकी प्राप्ति हो गये, तब भगवान् ब्रह्माजीने सम्पूर्ण

महाराजों कोसत्याको दे दिया फिर बचे हुए आधका आधा
भाग शनैः सुमित्राको अर्पण किया ॥ २७ ॥

कैकेय्यै चावशिष्टार्घ्यं ददौ पुत्रार्थकारणात् ।

प्रददौ चावशिष्टार्घ्यं पायसस्यामनोपमम् ॥ २८ ॥

अनुचितस्य सुमित्रायै पुनरेव महामतिः ।

एवं तासां ददौ राजा भार्याणां पायसं पृथक् ॥ २९ ॥

उन दोनोंको देनेक बाद जितनी स्त्री बच रही, उसका
आधा भाग तो उन्होंने पुत्रप्राप्तिके उद्देश्यसे कैकेयीको दे
दिया । तत्पश्चात् उस स्त्रीका जो अवशिष्ट आधा भाग था,
उस अमृतेषम भागकी महाबुद्धिमान् नरेशने कुछ सोच-
विचारकर पुनः सुमित्राको ही अर्पित कर दिया, इस प्रकार
राजाने अपनी सभी स्त्रियोंको अलग-अलग स्त्री बाँट दीं ॥

तार्क्ष्यं पायसं प्राप्य नोन्द्रस्योत्तमस्थियः ।

सम्मानं येनैरे सर्वाः प्रहर्षोदितचेतसः ॥ ३० ॥

महाराजकी उन सभी साध्वी स्त्रियोंने उनके हाथसे वह
स्त्री पाकर अपना सम्मान समझा । उनके चित्तमें अत्यन्त
हर्षोल्लास छि गया ॥ ३० ॥

ततस्तु ताः प्राप्य समुत्तमस्थियो

महीपतेभ्यमपायसं पृथक् ।

हुताशनादित्यसमानतेजसो-

ऽधिरणं गर्भान् प्रतिपेदिरे तदा ॥ ३१ ॥

उस उन्नत शीर्षकी स्त्रीकर महाराजकी उन तीनों साध्वी
महाराजियोंने शीघ्र ही पृथक् पृथक् गर्भ धारण किया । उनके
वें गर्भ अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी थे ॥ ३१ ॥

ततस्तु राजा प्रतिवीक्ष्य ताः स्त्रियः

प्रसूतगर्भाः प्रतिलब्धपानसः ।

बभूव हृष्टस्त्रिदिवे यथा हरिः

सुरेन्द्रसिद्धर्षिगणाभिपूजितः ॥ ३२ ॥

तदनन्तर अपनी उन स्त्रियोंकी गर्भवती देख कर राजा
दशरथकी बड़ा प्रसन्नता हुई । उन्होंने समझा मेरा मनोरथ साफल्य
हो गया । जैसे स्वर्गमें इन्द्र, सिद्ध तथा ऋषियोंसे पूजित हो श्रीमरि
प्रसन्न होते हैं, उसी प्रकार घृत्नन्में देवेन्द्र सिद्ध तथा महर्षियोंसे
सम्मानित हो राजा दशरथ संतुष्ट हुए थे ॥ ३२ ॥

देवताओंमें इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

सत्यसंघस्य वीरस्य सर्वेषां नो हितैधिणः ।

विष्णोः सहायान् बलिनः सृजध्वं कामरूपिणः ॥ २ ॥

मायाविदश्च शूराश्च वायुवेगसम्पान् जवे ।
नयजान् बुद्धिसम्पन्नान् विष्णुतुल्यपराक्रमान् ॥ ३ ॥
असंहार्यानुपायज्ञान् दिव्यसंहननान्वितान् ।
सर्वास्त्रगुणसम्पन्नान्मृतप्राशनानिव ॥ ४ ॥

देवगण । भगवान् विष्णु सत्यप्रतिज्ञ, चार और हम सब लोगोंके हितैशी हैं । तुमलोग उनके सहायकरूपसे ऐस पुराणकी सृष्टि करो, जो बलवान्, इच्छानुसार रूप धारण करनेमें समर्थ, माया जाननेवाले, शूरावर, वायुके समान वेगशाली, नीलिज्ञ, बुद्धिमान्, विष्णुतुल्य पराक्रमी, किसीसे परास्त न होनेवाले, तरह-तरहके उपायोंके जानकार, दिव्य शरीरधारी तथा अमृतभाजी इत्यादि के समान सब प्रकारकी अस्त्रविद्याके गुणोंमें सम्पन्न हों ॥ २—४ ॥

अप्सरसु च मुख्यासु गन्धर्वीणां तनूषु च ।
यक्षपन्नगकन्यासु ऋक्षविद्याधरोषु च ॥ ५ ॥
किन्नरीणां च गात्रेषु वानरीणां तनूषु च ।
सुजयं हरिस्त्वये पुत्रास्तुल्यपराक्रमान् ॥ ६ ॥

प्रधान-प्रधान अप्सराओं, गन्धर्वोंकी स्त्रियों, यक्ष और नागोंकी कन्याओं, रीछाकी स्त्रियों, विद्याधरियों, किन्नरियों तथा वानरियोंके गर्भसे वानररूपमें अपने हैं तुल्य पराक्रम पुत्र उत्पन्न करो ॥ ५-६ ॥

पूर्वमेव मया सृष्टे जाम्बवान्क्षपुङ्गवः ।
जम्बमाणस्य सहसा मम वक्रादजायत ॥ ७ ॥

मैंने पहले ही जम्बवज जाम्बवान्को सृष्टि कर रक्की है । एक बार मैं जैभाई ले रहा था, उसी समय वह मेझमा मेरे मूँहसे प्रकट हो गया ॥ ७ ॥

ते तथोक्ता भगवता तत् प्रतिश्रुत्य शासनम् ।
जनयामासुरेव ते पुत्रान् वानररूपिणः ॥ ८ ॥

भगवान् ब्रह्मके ऐसा कहनेपर देवताओंने उनकी आज्ञा स्वीकार की और वानररूपमें अनकानक पुत्र उत्पन्न किए ।
श्रुत्वा च महात्मान् मिद्विद्याधरांरगाः ।

धारणाश्च सुवान् वीगान् समुज्ज्वलनशक्तिम् ॥ ९ ॥

गङ्गाणां, ऋषि, मिद्ध, विद्याधर, नाग और चारणोंनि भी सबमें विचरनेवाले वानर-भालोंके रूपमें चार पुत्रोंको जन्म दिया ॥ ९ ॥

वानरेन्द्र महेंद्राधपित्तो वालिनमात्मजम् ।

सुग्रीवं जनयामास तपनस्तपती वरः ॥ १० ॥

देवगण इन्द्रने वानरगज कालीकी पुत्ररूपमें उत्पन्न किया जो महन्द्र पर्वतके समान विशालकाय और अलिप्त था । तपनवालीमें श्रेष्ठ भगवान् सुग्रेव सशक्तके जन्म दिया ॥ १० ॥

बृहस्पतिस्त्वजनयत् तारे नाम महाकपिम् ।

सर्ववानरमुख्यानां बुद्धिमन्तमनुत्तमम् ॥ ११ ॥

बृहस्पतिने तारे नामक महाकाय वानरको उत्पन्न किया, जो भगवत वानर महादेवीमें गरम बुद्धिमान् और श्रेष्ठ था ॥ ११ ॥

धनदस्य सुतः भीमान् वानरो गन्धमादनः ।

विश्वकर्मा त्वजनयत्तले नाम महाकपिम् ॥ १२ ॥

तजस्वी वानर गन्धमादन कुबेरका पुत्र था । विश्वकर्माने तले नामक महान् वानरको जन्म दिया ॥ १२ ॥

पावकस्य सुतः भीमान् नीलोऽग्निसदृशप्रभः ।

तेजसा यशसा वीर्यादत्यरिच्यत वीर्यवान् ॥ १३ ॥

आग्रेके समान तेजस्वी भीमान् नील साक्षात् अग्निदेवका ही पुत्र था । यह पराक्रमी वानर तेज यश और बल-वीर्यमें सबसे बड़ा था ॥ १३ ॥

रूपद्रक्षिणासम्पन्नावधिनी रूपसम्पत्ता ।

येन च द्विविदं चैव जनयामासतुः स्वयम् ॥ १४ ॥

रूप-वैभवमें सम्पन्न, सुन्दर रूपवाले दोनों अश्विनी-कुमारोंने स्वयं ही मैंसे और द्विविदको जन्म दिया था । १४

वरुणो जनयामास सुषेणं नाम वानरम् ।

शरभं जनयामास पर्जन्यस्तु महाबलः ॥ १५ ॥

वरुणने सुषेण नामक वानरको उत्पन्न किया और महाबलने पर्जन्यने शरभको जन्म दिया ॥ १५ ॥

मास्तस्यौरसः श्रीमान् हनुमान् नाम वानरः ।

वज्रसंहननोपेतो वैनतेयसप्तो जवे ॥ १६ ॥

हनुमान् नामवाले ऐश्वर्यशाली वानर वायुदेवताके औरस पुत्र थे । उनका शरीर वज्रके समान सुदृढ़ था । वे तेज चलनेमें गरुड़के समान थे ॥ १६ ॥

सर्ववानरमुख्येषु बुद्धिमान् बलवानपि ।

ते सृष्टा बहुसाहस्रा दशग्रीववधोद्यताः ॥ १७ ॥

सभी श्रेष्ठ वानरोंमें-वे सबसे अधिक बुद्धिमान् और बलवान् थे । इस प्रकार कई हजार वानरोंकी उत्पत्ति हुई । वे सभी गवणकर बंध करनके लिये उद्यत रहत थे ॥ १७ ॥

अग्रमेयवला वीरा विक्रान्ताः कायरूपिणः ।

ते गजाचलसकाशा वपुष्मन्तो महाबलाः ॥ १८ ॥

उनके बलकी कोई सीमा नहीं थी । वे वीर, पराक्रमी और इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले थे । गजगजों और पर्वतोंके समान महाकाय तथा महाबली थे ॥ १८ ॥

ऋक्षवानरगोपुच्छाः क्षिप्रमेवाभिजज्ञिरे ।

यस्य देवस्य यदूपं वेधो यश्च पराक्रमः ॥ १९ ॥

अजायत समं तेन तस्य तस्य पृथक् पृथक् ।

गोलाङ्गुलेषु धोत्पन्ना किञ्चिदुन्नतविक्रमाः ॥ २० ॥

रीछ, वानर तथा गोलाङ्गुल (लंगूर) आदिके चार शीघ्र ही उत्पन्न हो गये । जिन देवताका जैसा रूप वेन और पराक्रम था, उससे वसीक समान पृथक्-पृथक् पुत्र उत्पन्न हुआ । लंगूरोंमें जो दृढ़ता उत्पन्न हुआ, वे दृढ़तास्थानका अपेक्षा भी कुछ अधिक पराक्रमी थे ॥ १९-२० ॥

ऋक्षीषु च तथा जाता वानराः किन्नरीषु च ।

दद्या महर्विगन्धर्वास्नाश्चर्यश्रया यशस्विनः ॥ २१ ॥

नागाः किंपुरुषाश्चैव सिद्धविद्याधरोरगाः ।

बहवो जनयामासुर्हृष्टास्तत्र सहस्रशः ॥ २२ ॥

बहुत जानर सँछ जाँतकों मायकोंमें तथा कुछ किन्नरियोंसे उत्पन्न हुए । देवता, महर्षि, गन्धर्व, गरुड़, यक्षस्त्री यक्ष, नाग, किम्पुरुष, सिद्ध, विद्याधर तथा सर्प जातिके बहुसंख्यक जाँतकान् अत्यन्त रूपमें भरकर मदमों पुत्र उत्पन्न किये ।

चायणाश्च सुतान् वीरान् समञ्जुर्वनचारिणः ।

जनरान् सुमहाकायान् सर्वान् वै वनचारिणः ॥ २३ ॥

दण्डताओंका गुण गानवाले वनवासी चारणानि बहुत-से भी, विशालकाय जानपुत्र उत्पन्न किये वे सब जगन्नी फल-मूल खानेवाले थे ॥ २३ ॥

अप्सरसु च मुख्यासु तथा विद्याधरांश्च ।

नागकन्यासु च तथा गन्धर्वीणां तमूषु च ।

कामरूपसलोनेता यथाकर्मावधारिणः ॥ २४ ॥

गुह्य-पूज्य अप्सराओं, विद्याधरियों, नागकन्याओं तथा गन्धर्व-पीलियोंके गभमें भी इच्छानुसार रूप और बलसे युक्त तथा स्वेच्छानुसार सखत्र विचरण करनेमें समर्थ जानरपुत्र उत्पन्न हुए ॥ २४ ॥

विहङ्गान्मूलसदृशा दर्पेण च बलेन च ।

शिलाग्रहरणा, सर्वे सर्वे पर्वतधोधिनि ॥ २५ ॥

वे हार् और बलसे मिह और व्याघ्रके समान थे । पथ्यकी चहानासे प्रहार करने और पर्वत उठाकर लड़ते थे ॥ २५ ॥

नखदंष्ट्रायुधाः सर्वे सर्वे सर्वास्त्रकीविदाः ।

विचालयेयुः शैलेन्द्रान् भेदयेयुः स्थिरान् द्रुपान् ॥ २६ ॥

वे सभी नख और दाँतोंमें भी शस्त्रोंका काम लेते थे । उन गन्धर्वों सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंका ज्ञान था । वे पर्वतोंको भी हिलान सकते थे और स्थिरपावसे खड़े हुए वृक्षोंको भी नाड़ हाथोंकी शक्ति रखते थे । २६ ॥

क्षोभयेयुश्च वंगेन समुद्रं सरितां पतिम् ।

दारयेयुः क्षितिं पदध्याप्याप्रवेयुर्महार्णवान् ॥ २७ ॥

अपन बगसे सरिताओंके स्वामी समुद्रको भी क्षुब्ध कर सकते थे । राम पैगवे पूर्वोंका चिह्नार्ण कर उदयको शक्ति भी । वे महासागरोंको भी लाँघ सकते थे ॥ २७ ॥

नधम्मलं विजयेयुश्च गृहीयुरपि तोयदान् ।

गृहीयुरपि घातङ्गान् मत्तान् प्रव्रजतो वने ॥ २८ ॥

वे माहों ना आकाशमें घूम जाते, बादलोंके हाथोंसे प्रवृद्ध ले तथा वनमें वंगसे चलते हुए मत्तवाले गजराजोंको भी बन्दी बना ले ॥ २८ ॥

नर्दमानाश्च नादेन घातयेयुर्धङ्गमान् ।

ईदृशां प्रभूतानि हरीणां कामरूपिणाम् ॥ २९ ॥

जते शतसहस्राणि युथपानां महात्मनाम् ।

ते प्रधानेषु यूथेषु हरीणां हरियूथपाः ॥ ३० ॥

घोर शब्द करने हुए आकाशमें उड़नेवाले पक्षियोंको भी वे अपन सिंहनादसे गिरा सकते थे । ऐसे बलशाली और इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले महाकाय जानर युथपति कराड़ोंको सम्भामें उत्पन्न हुए थे । वे जानरोंके प्रधान यूथोंके भी युथपति थे ॥ २९-३० ॥

बभूवुर्युथपश्रेष्ठान् वीरांश्चाजनयन् हरीन् ।

अन्ये ब्रह्मवतः प्रस्थानुपतस्युः सहस्रशः ॥ ३१ ॥

उन युथपतियोंने भी ऐसे वीर जानरोंको उत्पन्न किया था, जो यूथपति भी श्रेष्ठ थे । वे और ही प्रकारके जानर थे—इन प्राकृत जानरोंमें विन्ध्यका थ । उनमेंसे सभकों जानर युथपति ब्रह्मवन् पर्वतके शिखरोंपर निवास करने लगे ॥ ३१ ॥

अन्ये नानाविधाज्जलान् काननानि च भेजिरे ।

सूर्यपुत्रं च सप्रीव शक्रपुत्रं च कालिनम् ॥ ३२ ॥

भ्रातराबुधतस्थुस्ते सर्वे च हरियूथपाः ।

नलं नीलं हनुमन्तमन्धाक्ष हरियूथपान् ॥ ३३ ॥

ते ताक्ष्यबलसम्पन्नाः सर्वे युद्धविशारदाः ।

विचरन्तोऽर्दयन् सर्वान् सिंहव्याघ्रमहोरगान् ॥ ३४ ॥

भूमरोंने नाना प्रकारके पर्वतों और जगन्तीका आश्रय लिखा । इन्द्रकुमार बाना और सूर्यनन्दन सुप्राव ये दोनों भाई थे । समस्त शत्रुयुथपति उन दोनों भाइयोंको भेजामें उन्मथित रहते थे । इसी प्रकार वे नल-नील, हनुमान् तथा अन्य जानर सारदारोक्त आश्रय लभ थे । वे सभी गरुड़के समान बलशाली तथा युद्धकी कलामें निपुण थे । वे वनमें विचरने समय मिह व्याघ्र और खंड-बहु नाग आदि समस्त वनजन्तुओंको रीत हासते थे ॥ ३२-३४ ॥

महाबलो महाबाहुर्बालो विपुलचक्रमः ।

जुगोप भुजवीर्येण ब्रह्मगोपुच्छवानमन् ॥ ३५ ॥

महान्तु बालो महान् बलसे सम्पन्न तथा विशेष पराक्रमी थे । उन्होंने अपने बाहुबलसे खंभों, लंगूरों तथा अन्य जानरोंको रक्षा की थी ॥ ३५ ॥

नैरियं पृथिवीं शूरेः सपर्वतवन्नार्णवा ।

कीर्णां विविधमंस्थानैर्नानाव्यञ्जनलक्षणाः ॥ ३६ ॥

उन सबके शरीर और पार्थक्यमूचक लक्षण नाना प्रकारके थे । वे शूराव जानर पर्वत वन और समुद्रमहिला समस्त भूषण्डलमें फैल गये ॥ ३६ ॥

नैर्मधवुन्दावलकूटसंनिधे-

महाबलैर्वानरयूथपाधिपैः ।

बभूव

भूर्भीमशरीररूपैः

समाधुता

रामसहायहेतोः ॥ ३७ ॥

वे जानरयुथपति मधसमूह तथा पर्वतशिखरके समान विज्ञात्काम्य थे । उनकी बल महान् था । उनके शरीर और रूप भयंकर थे । भगवान् श्रीरामकी सहायताके लिये प्रकट हुए उन जानर वीरोंसे यह सारी पृथ्वी भर गयी थी ॥ ३७ ॥

इत्यादि श्रीमद्वाल्मीकीये वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीमद्वाल्मीकीयनिर्णय आर्यमाराण आदिकव्यके बालकाण्डमें सप्तहर्षो सर्ग पूरा हुआ ॥ १७ ॥

अष्टादशः सर्गः

राजाओं तथा ऋष्यशृङ्गको विदा करके राजा दशरथका रानियोसहित पुरीमें आगमन, श्रीराम, भरत, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्नके जन्म, संस्कार, शील-स्वभाव एवं सद्गुण, राजाके दरबारमें विश्वामित्रका आगमन और उनका संस्कार

निर्वृते तु कर्ता तस्मिन् हयमंथे महामनः ।

प्रतिगृह्यामरा भागान् प्रतिजग्मुर्ध्यागतम् ॥ १ ॥

महामना राजा दशरथका यज्ञ समाप्त होनेपर देवतान्त्रंग अपना-अपना भाग ले जैसे आये थे, वैसे लौट गये ॥ १ ॥

समाप्तदीक्षानियमः पत्नीगणसमन्वितः ।

प्रविवेश पुरीं राजा सभृत्सचलवाहनः ॥ २ ॥

दीक्षाका नियम समाप्त होनेपर राजा अपनी पत्नियोंको साथ ले रोचक सैनिक और सवागियासहित पुरीमें प्रविष्ट हुए ॥ २ ॥

यथाहं पूजितास्तेन राज्ञा च पृथिवीधराः ।

मुदिताः प्रययुर्देशान् प्रणम्य मुनिपुङ्गवम् ॥ ३ ॥

भिन्न-भिन्न देशोंके राजा भी (जो उनके यज्ञमें सम्मिलित होनेके लिये आये थे) महाराज दशरथद्वारा यथावत् सम्मानित हो मुनिवर वासिष्ठ तथा ऋष्यशृङ्गका प्रणाम करके प्रसन्नतापूर्वक अपने-अपने देशको चले गये ॥ ३ ॥

श्रीमतां गच्छतां तेषां स्वगृह्णणि पुरात् ततः ।

बलानि राज्ञां शुभ्राणि प्रवृष्टानि चकाशिरे ॥ ४ ॥

अयोध्यापुरीसे अपने घरको जाने हुए उन श्रीमान् नरेशोंके शुभ सैनिक अत्यन्त हर्षमग्न होनेके कारण खड़ी शोभा पा रहे थे ॥ ४ ॥

गतेषु पृथिवीशेषु राजा दशरथः पुनः ।

प्रविवेश पुरीं श्रीमान् पुरस्कृत्य द्विजोत्तमान् ॥ ५ ॥

उन राजाओंके विदा हो जानेपर श्रीमान् महाराज दशरथने श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको आग करके अपनी पुरीमें प्रवेश किया ॥ ५ ॥

शान्तया प्रययौ सार्धमृष्यशृङ्गः सुपूजितः ।

अनूगम्यमानो राजा च सानुयात्रेण धीमता ॥ ६ ॥

राजाद्वारा अत्यन्त सम्मानित हो ऋष्यशृङ्ग मुनि भी शान्तके साथ अपने स्थानका चले गये । उस समय यंत्रकों-सहित ब्रह्मिष्ठान् महाराज दशरथ कुछ दूरतक उनके पीछे-पीछे उनके गर्जुवाने गये थे ॥ ६ ॥

एवं विस्तृत्य तान् सर्वान् राजा सभृत्पुणधानसः ।

उवाच सुखतस्तत्र पुत्रोत्पत्तिं विचिन्तयन् ॥ ७ ॥

इरा प्रकार जन सब अनिधियोंको विदा करके संकल्पमनोरथ हुए राजा दशरथ पुत्रोत्पत्तिकी प्रतीक्षा करते हुए वहाँ बड़े सुखमें रहने लगे ॥ ७ ॥

ततो यज्ञे समाप्ते तु ऋतूनां षट् समत्यधुः ।

ततश्च द्वादशे मासे चैत्रे नाक्षत्रिकं त्रिधौ ॥ ८ ॥

नक्षत्रैर्जदतिदेवत्ये स्तोत्रसंस्थेषु यज्ञसु ।

अत्रेष्ट कर्कटे लग्ने वाक्यताविन्दुना सह ॥ ९ ॥

प्रोद्यमाने जगन्नाथे सर्वलोकनमस्कृतम् ।

कौसल्याजनयद् रामं दिव्यलक्षणसंयुतम् ॥ १० ॥

यज्ञ-समाप्तिक पश्चात् जब छः ऋतुएँ बीत गयीं, तब आग्रहवत् मासमें चैत्रक शुक्लपक्षकी मघमा तिथियोंको पुनर्वसु नक्षत्र एवं कर्क लग्नेमें कौसल्यादेवीने दिव्य लक्षणोंसे युक्त, सर्वलोकचर्चित जगदीश्वर श्रीगणेशको जन्म दिया । उस समय (सूर्य, मङ्गल, शनि, गुरु और शुक्र— ये) भाँव ग्रह अपने-अपने उस स्थानमें विद्यमान थे तथा लग्नेमें चन्द्रमाके साथ बृहस्पति विराजमान थे ॥ ८—१० ॥

विष्णोरथै महाभागं पुत्रमैक्ष्वाकुनन्दनम् ।

लोहिताक्षं महाबाहुं रक्तोष्ठं दुन्दुभिस्वनम् ॥ ११ ॥

वे विष्णुस्वरूप हविष्य या खीरके आधे भागसे प्रकट हुए थे, कौसल्याके महाभाग पुत्र श्रीराम इक्ष्वाकुकुलका आनन्द बढ़ानेवाले थे । उनके नेत्रोंमें कुछ-कुछ लालिमा थी, उनके आँठ लाल, मुँजाएँ बड़ी-बड़ी और स्वर दुन्दुभिके शब्दके समान गम्भीर था ॥ ११ ॥

कौसल्या शशुभे तेन पुत्रेणापिततेजसा ।

यथा खरेण देवानामदितिर्वज्रपाणिना ॥ १२ ॥

उस अमिततेजस्वी पुत्रसे महारानी कौसल्याकी बड़ी शोभा हुई, ठीक वसी तरह, जैसे सुरश्रेष्ठ वज्रपाणि इन्द्रसे देवमाता अदिति सुशोभित हुई थी ॥ १२ ॥

भरतो नाम कैकेय्यां जज्ञे सत्यपराक्रमः ।

साक्षाद् विष्णोश्चतुर्भागः सर्वं समुदितो गुणैः ॥ १३ ॥

तदनन्तर कैकेय्यास सत्यपराक्रमी भरतका जन्म हुआ, जो साक्षात् भगवान् विष्णुके (स्वरूपभूत मायस—खीरके) चतुर्थांशमें भी न्यून भागमें प्रकट हुए थे । ये समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न थे ॥ १३ ॥

अथ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्राजययत् सुतौ ।

वीरौ सर्वान्निकुशालौ विष्णोरर्धसमन्वितौ ॥ १४ ॥

इसके बाद रानी सुमित्राने लक्ष्मण और शत्रुघ्न—इन दो पुत्रोंको जन्म दिया । ये दोनों वीर साक्षात् भगवान् विष्णुके अर्धभागसे सम्पन्न और सब प्रकारके अस्त्रोंकी विद्यामें कुशल थे ॥ १४ ॥

पुष्यं जातस्तु भरतो यौनलग्ने प्रसन्नधीः ।

सार्धं जातौ तु सौमित्रौ कुलीरेऽभ्युदिते रवौ ॥ १५ ॥

✓ भरत सदा प्रसन्नचित रहते थे । उनका जन्म पुष्य नक्षत्र तथा यौन लग्नेमें हुआ था । सुमित्राके दोनों पुत्र आदिलेवा नक्षत्र और कुकललग्ने उत्पन्न हुए थे । उस समय सूर्य अपने उस स्थानमें विराजमान थे ॥ १५ ॥

राज्ञः पुत्रा महात्मानश्चत्वारो जज्ञिरे पृथक् ।
गुणवन्तोऽनुरूपाश्च रुच्या प्रोष्ठपदोपमाः ॥ १६ ॥

राजा दशरथके ये चारों महामनस्वी पुत्र पृथक्-पृथक्
गुणोंमें सम्पन्न और सुन्दर थे । ये भाद्रपदा नामक चार तारोंके
समान कान्तिमान् थे^१ ॥ १६ ॥

जगुः कलं च गन्धर्वा ननृतुश्चाप्सरोगणाः ।
देवदुन्दुभयो नेदुः पुष्पवृष्टिश्च खात् पतत् ॥ १७ ॥

इनके अन्धके समय गन्धर्वानि मधुर गीत गाये ।
आप्सराने नृत्य किया । देवताओंका दुन्दुभियाँ खजने लगीं
तथा आकाशमें फूलोंकी वर्षा होने लगी ॥ १७ ॥

उत्सवश्च महानासीदयोध्यायां जनाकुलः ।
रथ्याश्च जनसम्बाधा मदनर्तकसंकुलाः ॥ १८ ॥

अयोध्यामें बहुत बड़ा उत्सव हुआ । मनुष्योंकी भारी
भीड़ एकत्र हुई । गीतियों और सङ्कत स्वरोंसे खनारखच भरों
भी । बहुत से नट और नर्तक वहाँ अपनी कलाएँ दिखा
रहे थे ॥ १८ ॥

गायनैश्च विराविण्म्यो वादनैश्च तथापरैः ।
विरेजुर्विपुलास्तत्र सर्वरत्नसमन्विताः ॥ १९ ॥

वहाँ सब ओर गाने-खजानेवाले तथा दूसरे स्वरोंके शब्द
गूँज रहे थे । दोन-दु-खियोंके लिये लुटाये गये सब प्रकारके
रत्न वहाँ बिखरे पड़े थे ॥ १९ ॥

प्रदेयांश्च ददौ राजा सुतमागधवन्दिनाम् ।
ब्राह्मणेभ्यो ददौ विसं गोधनानि सहस्रशः ॥ २० ॥

राजा दशरथने सुत, मागध और वन्दोजनोंको देने
योग्य पुरस्कार दिये तथा ब्राह्मणोंको धन एवं सहस्रों
गोधन प्रदान किये ॥ २० ॥

अतीत्यैकादशाहं तु नामकर्म तथाकरोत् ।
ज्येष्ठे रामं महात्मानं भरतं कैकयीसुतम् ॥ २१ ॥

सौमित्रि लक्ष्मणमिति शत्रुघ्नमपरं तथा ।
यसिष्ठः परमप्रीतो नामानि कुन्ते तदा ॥ २२ ॥

बारह दिन बीतनेपर महाराजन बालकोंका नामकरण-
संस्कार किया^२ । उस समय यद्विं वसिष्ठने प्रसन्नताके साथ
मन्त्रके नाम रखे । उन्होंने ज्येष्ठ पुत्रका नाम 'राम' रखा ।
श्रीराम महात्मा (परमात्मा) थे । कैकेयिकुमारका नाम भरत
तथा शत्रुघ्नका एक पुत्रका नाम लक्ष्मण और दूधरका शत्रुघ्न
निहित किया ॥ २१ २२ ॥

ब्राह्मणान् भोजयामास पौरजानपदानपि ।
अददद् ब्राह्मणानां च रत्नौघममलं बहु ॥ २३ ॥

राजाने ब्राह्मणों, पुरवासियों तथा जनपदवासियोंको
भी भोजन कराया । ब्राह्मणोंको बहुत-से उज्ज्वल रत्नमूह
दान किये ॥ २३ ॥

तेषां जन्मक्रियादीनि सर्वकर्माण्यकारयत् ।
तेषां कंतुरिव ज्येष्ठो रामो रतिकरः पितुः ॥ २४ ॥

महर्षि वसिष्ठने समय-समयपर राजासे उन बालकोंके
जातकर्म आदि सभी संस्कार करवाये थे । उन सबमें
श्रीरामचन्द्रजी ज्येष्ठ होनेके साथ ही अपने कुलकी
कीर्ति-ध्वजाको पहनानवाली पताकाके समान थे । वे अपने
पिताकी प्रसन्नताको बढ़ानेवाले थे ॥ २४ ॥

बभूव धूमो भूतानां स्वयम्भूरिव सम्पतः ।
सर्वे वेदविद्, शूराः सर्वे लोकहिने रताः ॥ २५ ॥

सभी धूतोंके लिये वे स्वयम्भू ब्रह्माजीके समान विशेष
प्रिय थे । राजाके सभी पुत्र वेदोंके विद्वान् और शूरवीर थे ।
मन्त्र-के-सत्र लोकहितकारों कार्योंमें संलग्न रहते थे ॥ २५ ॥

सर्वे ज्ञानोपसम्पन्नाः सर्वे समुदिता गुणैः ।
तेषामपि महानेजा रामः सत्यपराक्रमः ॥ २६ ॥
इष्टः सर्वस्य लोकस्य शशाङ्क इव निर्मलः ।
गजस्कन्धेऽधपृष्ठे च रथचर्यासु सम्पतः ॥ २७ ॥
धनुर्वेदि च निरतः पितुः शुश्रूषणे रतः ।

सभी ज्ञानवान् और सम्पन्न सद्गुणोंमें सम्पन्न थे । उनमें भी
मत्स्यपत्रमी श्रीरामचन्द्रजी सबसे अधिक तेजस्वी और सब
लोगोंके विशेष प्रिय थे । वे निष्कलङ्क चन्द्रमाके समान शोभा
दाते थे । उन्हान हाथके कंधे और घोंड़की पीठपर बैठने तथा
रथ हाँकनेकी कलामें भी सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त किया था ।
वे सदा धनुर्वेदका अभ्यास करते और पिताजीकी सेवामें लगे
रहते थे ॥ २६-२७ ॥

बाल्यान् प्रभृति सुखिण्यो लक्ष्मणो लक्ष्मिवर्धनः ॥ २८ ॥
रामस्य लोक रामस्य भ्रातृज्येष्ठस्य नित्यशः ।

सर्वप्रियकरस्तस्य रामस्यापि शरीरतः ॥ २९ ॥

लक्ष्मीकी धूर्द्ध करनेवाले लक्ष्मण बाल्यावस्थासे ही
श्रीरामचन्द्रजीके प्रति अत्यन्त अनुराग रखते थे । वे अपने
ग्रह भाई लोकार्वाणम श्रीरामका सदा ही प्रिय करते थे और
शरीरसे भी उनकी सेवामें ही जुटे रहते थे ॥ २८-२९ ॥

१ प्रोष्ठपदा कहने हैं । भाद्रपदा नक्षत्रको । उसके दो भेद हैं—पूर्यभाद्रपदा और उत्तरभाद्रपदा । इन दोनोंमें दो-दो तारे हैं । यह
ज्ञात ज्योतिष-शास्त्रमें प्रसिद्ध है । (च० ति०)

२ रामायणतिलकके निर्मातान धूर्द्धके एकादशाह शब्दका सुतकके अन्तिम दिनका उपलक्षण माना है । उनका कहना है कि यदि
ऐसा न माना जाय तो सौत्रियस्य द्वादशाह सुतकम् (सौत्रियको बारह दिनोंका सुतक लगना है) इस स्मृतिवाक्यसे विरोध होगा, अतः
उपजन्मक बारह दिन बीत जानक बाद तेरहवें दिन राजाने नामकरण संस्कार किया—ऐसा मानना चाहिये ।

लक्ष्मणो लक्ष्मिसम्पन्नो बहिःप्राण इवापरः ।

न च तेन विना निद्रां लभते पुरुषोत्तमः ॥ ३० ॥

पृष्ठमन्नमुपानेतमश्नाति न हि तं विना ।

श्रीभ्रातृसम्पन्न लक्ष्मण श्रीरामचन्द्रजीके लिये बाहर विचरनेवाला दूसरे प्राणोंके समान था । पुरुषोत्तम श्रीरामकी उनके बिना नींद भी नहीं आती थी । यदि उनके पास उत्तम भोजन लाया जाता तो श्रीरामचन्द्रजी उत्तमसं लक्ष्मणकी दिये बिना नहीं खाते थे ॥ ३० ॥

यदा हि हयमारुहो भृगुयां याति राघवः ॥ ३१ ॥

अर्धेन पृष्ठतोऽभ्येति सधनुः परिपालयन् ।

भरतस्यापि शत्रुघ्नो लक्ष्मणावरजो हि सः ॥ ३२ ॥

प्राणीः प्रियतरौ नित्यं तस्य चासीन् तथा प्रियः ।

जब श्रीरामचन्द्रजी घाड़पर चढ़कर शिकार खेलनेके लिये जाते, तब समय लक्ष्मण धनुष लेकर उनके शरिरकी रक्षा करते हुए पीछे-पीछे जाते थे । इसी प्रकार लक्ष्मणके छोटे भाई शत्रुघ्न भरतजीको प्राणोंमें भी अधिक प्रिय थे और वे भी भरतजीको सदा प्राणोंमें भी अधिक प्रिय मानते थे ॥ ३१-३२ ॥

स चतुर्भिर्महाभारैः पुत्रैर्दशरथः प्रियैः ॥ ३३ ॥

बभूव परमप्रीतो देवैरिव पितामहः ।

इन चार महान् भाग्यशाली प्रिय पुत्रोंसे राजा दशरथकी बड़ी प्रसन्नता प्राप्त होती थी, ठीक वैसे ही जैसे चार देवताओं (दिव्यशाली) से ब्रह्माजीको प्रसन्नता होती है ॥ ३३ ॥

ते यदा ज्ञानसम्पन्नाः सर्वे समुदिता मुनीः ॥ ३४ ॥

ह्रीमन्तः कीर्तिमन्तश्च सर्वज्ञा दीर्घदर्शिनः ।

तेषामेवप्रभावाणां सर्वेषां दीप्तिनेजसाम् ॥ ३५ ॥

पिता दशरथो हृष्टो ब्रह्मा लोकाधिपो यथा ।

वे सब बालक जब समझदार हुए, तब समस्त सद्गुणोंमें सम्पन्न हो गये । वे सभी राजाशाली, यशस्वी, सर्वज्ञ और दूरदर्शी थे, ऐसे प्रभावशाली और अत्यन्त तेजस्वी उन सभी पुराणी प्राणियों राजा दशरथ लाकृष्ण ब्रह्माकी भाँति बहुत प्रसन्न थे ॥ ३४-३५ ॥

ते अपि भनुजब्बाघा खदिकाध्ययने रताः ॥ ३६ ॥

पितृशत्रुघ्नशरणा धनुर्वेदे च निष्ठिताः ।

वे पुरुषोत्तम राजकुमार प्रतिदिन वेदोंके अध्ययन, पिताकी सेवा तथा धनुर्वेदके अभ्यासमें दल-बिन रहते थे ॥ ३६ ॥

अथ राजा दशरथस्तेषां दारक्रियां प्रति ॥ ३७ ॥

चिन्तयामास धर्मात्मा सागाध्यायः सत्रान्यथः ।

तस्य चिन्तायमानस्य मन्त्रिष्यथे महात्मनः ॥ ३८ ॥

अभ्यागच्छन्महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः ।

एक दिन धर्मात्मा राजा दशरथ पुरहित तथा बन्धु-बालादीके साथ बैठकर पुत्रोंके विवाहके विषयमें विचार कर रहे थे । मन्त्रियोंके बीचमें विचार करते हुए उन महामुनि

नरशंके यहाँ महातजस्वी महामुनि विश्वामित्र पधारे ॥ ३७ ॥

स राजा दर्शनाकाङ्क्षी द्वाराध्यक्षानुवाच ह ॥ ३९ ॥

शीघ्रमारब्धात मां प्राप्तं कीशिकं गाधिनः सुतम् ।

वे राजासे मिलना चाहते थे । उन्होंने द्वारपालोंसे कहा— तुमलाग शीघ्र जाकर महागजकी यह सूचना दी कि कुशिकवशी गंधिपुत्र विश्वामित्र आये हैं ॥ ३९ ॥

तच्छ्रुत्वा घञ्जनं तस्य राजो वैश्यं प्रददुवु ॥ ४० ॥

सम्भ्रान्तमनसः सर्वे तेन वाक्येन चोदिताः ।

उनकी यह बात सुनकर वे द्वारपाल दौड़ हुए राजाके दरबारमें गये । वे सब विश्वामित्रके उस वाक्यमें प्रसन्न होकर मन-हो-मन खबरोंसे हुए थे ॥ ४० ॥

ते गत्वा राजभवनं विश्वामित्रमुपि तदा ॥ ४१ ॥

प्राप्तमावेदयामासुर्नृपाधेक्षवाकले तदा ।

राजाके दरबारमें पहुँचकर उन्होंने इक्ष्वाकुकुलसन्तान अवधनरेशसे कहा— 'महाराज । महर्षि विश्वामित्र पधारे हैं' ॥ ४१ ॥

तेषां तद् घञ्जनं श्रुत्वा सपुरोधाः समाहितः ॥ ४२ ॥

प्रत्युजगाम संहृष्टो ब्रह्माणपिव वासवः ।

उनकी वह बात सुनकर राजा सावधान हो गये । उन्होंने पुरोहितको साथ लेकर बड़े हर्षके साथ उनकी अगवानों की, मानो देवराज इन्द्र ब्रह्माजीका स्वागत कर रहे हों ॥ ४२ ॥

स दृष्ट्वा ज्वलितं दीप्या तापसं संशितव्रतम् ॥ ४३ ॥

प्रहृष्टवदनो राजा ततोऽर्घ्यमुपहारयत् ।

विश्वामित्रजी कन्दार व्रतका पालन करनेवाले तपस्वी थे । वे अपन तेजमें प्रज्वलित हो रहे थे । उनका दर्शन करके राजाका मुख प्रसन्नतासे खिल उठा और उन्होंने महर्षिकी अर्घ्य निवेदन किया ॥ ४३ ॥

स राजाः प्रतिगृह्यार्घ्यं शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ॥ ४४ ॥

कुशलं चाव्ययं चैव पर्यपृच्छन्नराधिपम् ।

राजाका वह अर्घ्य शास्त्रोंमें विधिके अनुसार स्वीकार करके महर्षिने उनसे कुशल-सङ्गल पूछा ॥ ४४ ॥

पुरे कोशे जनपदे बान्धवेषु सहस्रं च ॥ ४५ ॥

कुशलं कीशिकां गङ्गा पर्यपृच्छन् सुधार्मिकः ।

धर्मात्मा विश्वामित्रने क्रमशः राजाके नगर, राजाना, राज्य, यन्त्र, बान्धव तथा मित्रधर्म आदि विषयमें कुशल-प्रश्न किया— ॥ ४५ ॥

अपि ते मेनता सर्वे सामन्तरिषवो जिताः ॥ ४६ ॥

देवं च मानुषं चैव कर्म ते साध्वनुष्ठितम् ।

'राजन् । आपके राज्यकी सीमाके भिन्न रहनेवाले शत्रु राजा आपके समक्ष नतमस्तक तो हैं ? आपने उनपर विजय तो प्राप्त की है न ? आपके यज्ञयाग आदि देवकर्म और अग्नि-सत्कर आदि मनुष्यकर्म तो अच्छी तरह सम्पन्न होते हैं न ?' ॥ ४६ ॥

वसिष्ठं च समागम्य कुशलं मुनिपुङ्गव ॥ ४७ ॥
ब्रह्मर्षीश्च तान् यथान्यायं ब्रह्मभाग उवाच ॥

इसके बाद महाभाग मुनिवर विश्वामित्रने वसिष्ठजी तथा
अन्यान्य ब्रह्मर्षियोंसे मिलकर उन सबका यथावत् कुशल-
समाचार पूछा ॥ ४७ ॥

ते सर्वे हृष्टमनस्तस्य राज्ञो निवेशनम् ॥ ४८ ॥
विविशुः पूजितास्तेन निवेदुश्च यथार्हतः ।

फिर वे सब लोग प्रसन्नचित्त होकर राजाके दरबारमें गये
और उनके द्वारा पूजित हो यथान्याय आसनोपर बैठे ॥ ४८ ॥
अथ हृष्टमना राजा विश्वामित्रं महामुनिम् ॥ ४९ ॥
उवाच परमेश्वरो हृष्टस्तपविपूजयन् ।

तदनन्तर प्रसन्नचित्त परम उदार राजा दशरथने पुलकित
होकर महामुनि विश्वामित्रको प्रदंडा करते हुए कहा ॥ ४९ ॥
यथापुनस्त्य सम्प्राप्तिर्विद्या वर्षमनूदके ॥ ५० ॥
यथा सनुशदारेषु पुत्रजन्माप्रजस्य वै ।
प्रशस्त्रस्य यथा लाभो यथा हर्षो महोदय ॥ ५१ ॥
तथैवागमनं मन्ये स्वागतं ते महामुने ।

कं च ते परमं कामं करोमि किम् हर्षितः ॥ ५२ ॥

'महामुने ! जैसे किसी मरणधर्मी मनुष्यको अमृतकी
प्राप्ति हो जाय, निर्जल प्रदेशमें पानी भरस जाय, किसी
संतानहीनको अपने अनुरूप पत्नीके गर्भसे पुत्र प्राप्त हो जाय,
खोया हुई निधि मिल जाय तथा किसी महान् उदयमें हर्षका
उदय हो उसी प्रकार आपका यहाँ शुभागमन हुआ है । ऐसा मैं
मानता हूँ । आपका स्वागत है । आपके मनमें कौन-सा उत्तम
कामना है, जिसको मैं आपके साथ पूर्ण करूँ ? ॥ ५०—५२ ॥
पात्रभूतोऽसि मे ब्रह्मन् दिष्ट्या प्राप्तोऽसि मानव ।

अद्य मे सफलं जन्म जौवितं च सुजीवितम् ॥ ५३ ॥

'ब्रह्मन् ! आप मुझसे सब प्रकारकी सेवा लेने योग्य
उत्तम पात्र हैं । मानव ! मेरा अहोभाग्य है, जो आपने
यहाँतक पधारनेका कह उठाया । आज मेरा जन्म सफल
और जीवन धन्य हो गया ॥ ५३ ॥

यत्प्राप्त्विप्रेक्ष्यमद्राक्षं सुप्रभाता निशा भम ।

पूर्वं राजर्षिशब्देन तपसा द्योतितप्रभः ॥ ५४ ॥

ब्रह्मर्षिस्त्वमनुप्राप्तः पूज्योऽसि बहुधा मया ।

तदद्भुतमभूत् विप्र पवित्रं परमं धम ॥ ५५ ॥

इत्यादि श्रीमद्भगवत्पादोक्तं आदिकाव्ये वाल्मीकीयस्य सर्गः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यभट्टायण आदिकाव्यके वाल्मीकीयस्य अठारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १८ ॥

एकोनविंशः सर्गः

विश्वामित्रके मुखसे श्रीरामको साथ ले जानेकी माँग सुनकर राजा दशरथका दुःखित एवं मूर्छित होना

तत्कृत्वा राजसिंहस्य वाक्यमद्भुतविस्तरम् ।

हृष्टोऽपि महतेजा विश्वामित्रोऽभ्यभाषत ॥ १ ॥

'मेरी बीबी हुई शत सुन्दर प्रजात दे रही, जिससे मैंने
आज आप ब्राह्मणश्रेष्ठोंका दर्शन किया । पूर्वकालमें
आप राजर्षि शब्दसे उपलक्षित होत थे, फिर तपस्यासे अपनी
अद्भुत प्रभाको प्रकाशित करके आपने ब्रह्मर्षिका पद पाया,
अतः आप राजर्षि और ब्रह्मर्षि दोनों ही रूपोंमें मेरे पूजनीय
हैं । आपका जो यहाँ मेरे समक्ष शुभागमन हुआ है, यह परम
पवित्र और अद्भुत है ॥ ५४-५५ ॥

शुभक्षेत्रगतश्चाहं तव संदर्शनात् प्रभो ।

ब्रूहि यन् प्रार्थितं तुभ्यं कार्यमागमनं प्रणि ॥ ५६ ॥

"प्रभो ! आपके दर्शनसे आज मेरा घर तीर्थ हो गया ।
मैं अपने आपको पुण्यक्षेत्रोंकी यात्रा करके आया हुआ
मानता हूँ । बताइये, आप क्या चाहते हैं ? आपके
शुभागमनका शुभ उद्देश्य क्या है ? ॥ ५६ ॥

इच्छाम्यनुगृहीतोऽहं त्वदर्थं परिवृद्धये ।

कार्यस्य च विमर्शं च गन्तुमर्हसि सुव्रत ॥ ५७ ॥

'उत्तम प्रजाका पालन करनेवाले महर्षे ! मैं चाहता हूँ कि
आपको कृपामें अनुगृहीत होकर आपको अभीष्ट मनोरथको जान
लूँ और अपने अभ्युदयके लिये उसकी पूर्ति करूँ । 'कार्यं सिद्धं
हंगा या नही' ऐसे संशयको अपने मनमें स्थान न दीजिये ।

कर्ता चाहयशेषेण देवर्षे हि भवान् मम ।

धम चायमनुप्राप्तो महानभ्युदयो हिज ।

तदागमनजः कृत्स्नो धर्मश्चानुत्तमो हिज ॥ ५८ ॥

'आप जो भी आज्ञा देंगे, मैं उसका पूर्णरूपसे पालन
करूँगा क्योंकि सम्माननीय अतिथि होनेका नाते आप मुझ
गृहस्थके लिये देवता हैं । ब्रह्मन् ! आज आपके आगमनसे
मुझे यथार्थ धर्मोक्ता उत्तम फल प्राप्त हो गया । यह मेरे महान्
अभ्युदयका अवसर आया है ॥ ५८ ॥

इति हृदयसुखं निश्चम्य वाक्यं

भुतिसुखमात्यवता विनीतमुक्तम् ।

प्रथितगुणधरा गुणर्विशिष्टः

परमश्रुतिः परमं जगाम हर्षम् ॥ ५९ ॥

मनस्वी संशयके कहे हुए ये विनययुक्त वचन, जो हृदय
और कानोंको सुख देनेवाले थे, सुनकर विख्यात गुण और
यशस्वाले, राम-राम आदि सद्गुणोंसे सम्पन्न महर्षि विश्वामित्र
बहुत प्रसन्न हुए ॥ ५९ ॥

इत्यादि श्रीमद्भगवत्पादोक्तं आदिकाव्ये वाल्मीकीयस्य सर्गः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यभट्टायण आदिकाव्यके वाल्मीकीयस्य अठारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १८ ॥

इम प्रकार बोले ॥ १ ॥

मदुशं राजशार्दूल तवैव भुवि नान्यतः ।

महावंशप्रसृतस्य वसिष्ठव्यपदेशिनः ॥ २ ॥

यजसिंह ! ये बातें आपके ही योग्य हैं । इस पृथ्वीपर दूसरा मुखसे ऐसी उदार वचन निकलनेकी सम्भावना नहीं है । क्यों न हो आप महान् कुलमें उत्पन्न हैं और वसिष्ठ-जैसे ऋषि आपके उपदेशक हैं ॥ २ ॥

यम् तु मे हृदतः वाक्यं तस्य कार्यस्य निश्चयम् ।

कुरुष्व राजशार्दूल भव सत्यप्रतिश्रवः ॥ ३ ॥

अच्छा, अब जो बात मेरे हृदयमें है, उसे सुनिये । यशस्तु ! सुनकर उस कार्यका अवश्य पूर्ण करनेका निश्चय कर लिये । आपने मेरा कार्य सिद्ध करनेकी प्रतिज्ञा की है । इस बातका सत्य कर दिखाइये ॥ ३ ॥

अहं नियमपालिष्ठे सिद्धयर्थं पुरुषवर्षभ ।

तस्य विघ्नकरी द्वौ तु राक्षसौ कामरूपिणौ ॥ ४ ॥

‘पुरुषप्रवर ! मैं निश्चिके लिये एक नियमका अनुष्ठान करता हूँ । उसमें इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले दो राक्षस विघ्न डाल रहे हैं ॥ ४ ॥

ज्ञते तु बहुशश्रोणे सभापत्यां राक्षसाविमौ ।

पार्श्वश्च सुवातुश्च वीर्यवन्तौ सुशिक्षितौ ॥ ५ ॥

‘मेरे इस नियमका अधिकांश कार्य पूर्ण हो चुका है । अब उसको समाप्तिक समय वे दो राक्षस आ घमके हैं । उनके नाम हैं पार्श्व और सुवातु । वे दोनों बलवान् और सुशिक्षित हैं ॥ ५ ॥

तौ मामभिरुधिरौघेणे वेदि तामभ्यवर्षणाम् ।

अवधूते सधाभूते तस्मिन् नियमनिश्चये ॥ ६ ॥

कृतश्रयो निरुत्साहस्तस्माद् देशादपाक्रमे ।

‘उन्होंने मेरी यज्ञवेदीपर रक्त और मांसकी वर्षा कर दी है । इस प्रकार उस समाप्तप्राय नियममें विघ्न पड़ जानेके कारण मेरा परिश्रम व्यर्थ गया और मैं उत्साहहीन होकर उस स्थानसे चला आया ॥ ६ ॥

न च मे क्रोधमुत्तमं बुद्धिर्भवति पार्थिव ॥ ७ ॥

‘पृथ्वीनाथ ! उनके ऊपर अपने क्रोधका प्रयोग करूँ—उन्हें शाप दे दूँ, ऐसा विचार मेरे मनमें नहीं आता है ॥ ७ ॥

तथाभूता हि सा चर्या न क्षापस्तत्र मुच्यते ।

स्वापुत्रं राजशार्दूल रामं सत्यपराक्रमम् ॥ ८ ॥

काकपक्षधरं वीरं ज्येष्ठं मे दातुमर्हसि ।

‘न्यायिक वह नियम ही ऐसा है, जिसको आरम्भ कर देनेपर किसीको शाप नहीं दिया जाता, अतः नृपश्रेष्ठ ! आप अपने काकपक्षधारी, सत्यपराक्रमी, शूरवीर ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामको मुझे दे दें ॥ ८ ॥

शक्तो ह्येष मया मुनो दिव्येन स्वेन तेजसा ॥ ९ ॥

राक्षसा ये विकर्तारस्तेष्वपि विनाशने ।

श्रेयश्चास्मै प्रदास्यामि बहुरूपं न संशयः ॥ १० ॥

‘ये मुझमें सुरक्षित रहकर अपने दिव्य तेजसे उन विघ्नकारी राक्षसोंका नाश करनेमें समर्थ हैं । मैं इन्हें अनेक प्रकारका श्रेय प्रदान करूँगा, इसमें संशय नहीं है ॥ ९-१० ॥

त्रयाणामपि लोकानां येन स्थितिं गमिष्यति ।

न च तौ राममासाद्य शक्तौ स्थातुं कथंचन ॥ ११ ॥

‘उस श्रेयको पाकर ये दोनों लोकोंमें विग्नान होंगे । श्रीरामक सामने आकर वे दोनों राक्षस किसी तरह ठहर नहीं सकते ॥ ११ ॥

न च तौ राघवादन्यो हन्तुमुत्सहन्ते पुमान् ।

वीर्योत्सिक्तौ हि तौ पापी कालपाशवशं गतौ ॥ १२ ॥

रामस्य राजशार्दूल न पर्याप्तौ महात्मनः ।

इन रघुनन्दनक सिखा दूसरा कोई पुरुष उन राक्षसोंको मारनेका साहस नहीं कर सकता । नृपश्रेष्ठ ! अपने बलका धमण्ड स्वनवाले वे दोनों पापी निशान्वर कालपाशके अधीन हो गये हैं; अतः महात्मा श्रीरामके सामने नहीं टिक सकते ॥

न च पुत्रगतं स्नेहं कर्तुमर्हसि पार्थिव ॥ १३ ॥

अहं ते प्रतिजानामि हनौ तौ विद्धि राक्षसौ ।

भूषाल ! आप पुत्रविषयक स्नेहको सामने न लाइये । मैं आपमें प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ कि उन दोनों राक्षसोंको इनके हाथसे मरा हुआ ही समझिये ॥ १३ ॥

अहं चेष्टि महात्मानं रामं सत्यपराक्रमम् ॥ १४ ॥

वसिष्ठोऽपि महातेजा ये खेमे तयसि स्थिताः ।

‘सत्यपराक्रमी महान्या श्रीराम क्या है—यह मैं जानता हूँ । महातेजस्वी वसिष्ठजी तथा वे अन्य तपस्वी भी जानते हैं ॥ १४ ॥

यदि ते धर्मलाभं तु यशश्च परमं भुवि ॥ १५ ॥

स्थिरमिच्छसि राजेन्द्र रामं मे दातुमर्हसि ।

‘राजेन्द्र ! यदि आप इस भूमण्डलमें धर्म-लाभ और उत्तम यशको स्थिर रखना चाहते हों तो श्रीरामको मुझे दे दीजिये ॥ १५ ॥

यद्यभ्यनुज्ञां काकुत्स्थ ददते तव मन्त्रिणः ॥ १६ ॥

वसिष्ठप्रमुखाः सर्वे ततो रामं विमर्जय ।

‘काकुत्स्थनन्दन ! यदि वसिष्ठ आदि आपके सभी मन्त्री आपको अनुमति दें तो आप श्रीरामको मेरे साथ विदा कर दीजिये ॥ १६ ॥

अभिप्रेतममंसक्तमात्मजं दातुमर्हसि ॥ १७ ॥

दशरान्ने हि यज्ञस्य रामे राजीवलोचनम् ।

मुझे रामकी ले जाना अभ्यष्ट है । ये भी बड़े होनेके कारण अब आसन्निरहित हो गये हैं; अतः आप यज्ञके अकटिष्ठ दम दिनोंक लिये अपने पुत्र कमलनयन श्रीरामको मुझे दे दीजिये ॥ १७ ॥

नात्येति कालो यज्ञस्य यथायं मम राघव ॥ १८ ॥

तथा कुरुष्व भद्रं ते मा च शोके मनः कृथाः ।

‘रघुनन्दन ! आप ऐसा कीजिये जिससे मेरे बहकन समय व्यतीत न हो जाय । आपका कल्याण हो । आप अपने मनको शोक और चिन्तामें न डालिये ॥ १८ ॥

इत्येवमुक्त्वा धर्मात्मा धर्मार्थसहितं वचः ॥ १९ ॥
धिरराम महातेजा विश्वामित्रो महामतिः ।

यह धर्म और अर्थसे युक्त वचन कहकर धर्मात्मा, महा-
तेजस्वी, परमबुद्धिमान् विश्वामित्रजी क्षुब्ध हो गये ॥ १९ ॥
स तन्निशम्य राजेन्द्रो विश्वामित्रवचः शुभम् ॥ २० ॥
शोकेन महताविष्टश्चाल च मुमोह च ।

विश्वामित्रका यह शुभ वचन सुनकर महाराज दशरथकी
पुत्र विप्लवकी आशङ्कासे परान् दुःख हुआ । वे उममें

इत्यर्थे श्रीमद्भाल्मीकीय आदिकाव्ये बालकाण्डे एकोनविंशः सर्गः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीबाल्मीकीनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १९ ॥

विंशः सर्गः

राजा दशरथका विश्वामित्रको अपना पुत्र देनेसे इनकार करना और विश्वामित्रका कुपित होना

तद्युक्त्वा राजशार्दूलो विश्वामित्रस्य भाषितम् ।

मुहूर्तमिष नि संज्ञं सज्ञायानिदमवर्त्तात् ॥ १ ॥

विश्वामित्रजीका वचन सुनकर नृपश्रेष्ठ दशरथ दा-
शरथीके लिये सज्ञाशून्य रहे हो गये फिर सचेत होकर
इस प्रकार बोले— ॥ १ ॥

ऊनवीडशवर्षो मे रामो राजीवलोचनः ।

न युद्धयोग्यतामस्य पश्यामि सह रक्षसैः ॥ २ ॥

‘महर्षे ! मेरा कमलनयन राम अभी पूरे सोलह वर्षका
भी नहीं हुआ है । मैं इसमें रक्षकोंके साथ युद्ध करनेकी
योग्यता नहीं देखता ॥ २ ॥

इयमक्षौहिणी सेना यस्याहं पतिरीश्वरः ।

अनया सहितो गत्वा योद्धाहं तैर्निशाचरैः ॥ ३ ॥

‘यह मेरी आक्षौहिणी सेना है, जिसका मैं पालक और
स्थापा भी हूँ । इस सेनाके साथ मैं स्वयं ही चलकर उन
निशाचरोंके साथ युद्ध करूँगा ॥ ३ ॥

इमे शूराश्च विक्रान्ता भृत्या मेऽर्द्धविशारदाः ।

योग्या रक्षोगणैर्घातुं न रामं नेतुमर्हसि ॥ ४ ॥

‘ये मेरे शूरीर सैनिक, जो आधाविद्यामें कुशल
और पराक्रमी हैं, रक्षकोंके साथ जुझनेकी योग्यता रखते
हैं, अतः इन्हें ही ले जाइये; रामको ले जाना उचित
नहीं होगा ॥ ४ ॥

अहमेव धनुष्याणिगोप्ता समरपूर्यनि ।

यावत् प्राणान् परिध्यामि तावद् योत्स्ये निशाचरैः ॥ ५ ॥

‘मैं स्वयं ही हाथमें धनुष ले युद्धक मुहान्तर रखकर
आपके यज्ञकी रक्षा करूँगा और जबतक इस शस्त्रमें प्राण
रहेगे तबतक निशाचरोंके साथ लड़ता रहूँगा ॥ ५ ॥

पंडित हो सहसा कोप उठे और बेक्रोश हो गये ॥ २० ॥

लब्धसंज्ञस्तदोत्थाय व्यधोदत भवान्वितः ॥ २१ ॥

इति हृदयमनोविदारणं

मुनिवचनं तदतोव शुश्रुवान् ।

नरपतिरभवन्महान् महात्मा

व्यथितमनाः प्रचञ्चाल चासनात् ॥ २२ ॥

थोड़ी देर बाद जब उन्हें होश हुआ, तब वे भयभीत हो
विषाद करने लगे । विश्वामित्र मुनिका वचन राजाके हृदय
और मनको विदीर्ण करनेवाला था उसे सुनकर उनके मनमें
बड़ी व्यथा हुई । वे महामात्री महाराज अपने आसनसे
विचलित हो घुँचलत हो गये ॥ २१-२२ ॥

विचलित हो घुँचलत हो गये ॥ २१-२२ ॥

इत्यर्थे श्रीबाल्मीकीय आदिकाव्ये बालकाण्डे एकोनविंशः सर्गः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीबाल्मीकीनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीबाल्मीकीनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीबाल्मीकीनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीबाल्मीकीनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीबाल्मीकीनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीबाल्मीकीनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीबाल्मीकीनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीबाल्मीकीनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीबाल्मीकीनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीबाल्मीकीनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीबाल्मीकीनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीबाल्मीकीनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीबाल्मीकीनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीबाल्मीकीनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीबाल्मीकीनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीबाल्मीकीनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीबाल्मीकीनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीबाल्मीकीनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीबाल्मीकीनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीबाल्मीकीनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीबाल्मीकीनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीबाल्मीकीनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीबाल्मीकीनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीबाल्मीकीनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीबाल्मीकीनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीबाल्मीकीनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीबाल्मीकीनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीबाल्मीकीनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीबाल्मीकीनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीबाल्मीकीनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीबाल्मीकीनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १९ ॥

‘‘इमं वृद्धापमं बड़ो कठिनाइमें मुझे पुत्रको प्राप्त हुई है
अतः आप रामको न ले जाइये ॥१०॥

चतुर्णामात्मजानां हि प्रीतिः परमिका मम ॥ ११ ॥
ज्येष्ठ धर्मप्रधाने च न रामे नेतुमर्हसि ।

धर्मप्रधान राम में चारों पुत्रोंमें ज्येष्ठ है; इसलिये
उपर में प्रेम सबसे अधिक है; अतः आप रामको
न ले जाइये ॥ ११ ॥

किं वीर्या राक्षसास्ते च कस्य पुत्राश्च के च ते ॥ १२ ॥
कथं प्रमाणाः के चेतान् रक्षन्ति मुनिपुङ्गव ।

कथं च प्रतिकर्तव्यं तेषां रामेण रक्षन्तम् ॥ १३ ॥

वे राक्षस कैसे पराक्रमी हैं, किम्के पुत्र हैं और
कौन हैं? इनका झोलझोल कैसा है? मुनेश्वर! उनकी
मत्ता कौन करते हैं? राम इन राक्षसोंका मामला कैसे कर
सकना है? ॥ १२-१३ ॥

पामकैर्वा बलैर्ब्रह्मन् मया वा कूटयोधिनम् ।
मयं ये शंस भगवन् कथं तेषां मया रणे ॥ १४ ॥

म्यातव्यं दुष्टधावानां वीर्योत्सिक्ता हि राक्षसाः ।

‘ब्रह्मन्! मेरे सैनिकोंको या स्वयं मुझे ही उन पायायोधों
-क्षसोंका प्रतीकार कैसे करना चाहिये? भगवन्! वे
मारो बर्तें आप मुझ बताइये। उन दुष्टोंके साथ युद्धमें
मुझे कैसे खड़ा हूँ चाहिये? क्योंकि राक्षस कड़े
बलाभिमानों होते हैं ॥ १४ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा विश्वामित्रोऽश्वधापत ॥ १५ ॥
पीलस्यवंशप्रभवो रावणो नाम राक्षसः ।

य ब्रह्मणा दसवर्षलोकेषु बाधते भृशम् ॥ १६ ॥
महाबलो महावीर्यो राक्षसैर्बहुभिर्वृतः ।

श्रूयते च महाराज रावणो राक्षसाधिपः ॥ १७ ॥
माक्षाद्विश्रवणभ्राता पुत्रो विश्रवसो मुनेः ।

राजा दशरथको इस बातको सुनकर विश्वामित्रजी
बोले—‘महाराज! रावण नाममें प्रसिद्ध एक राक्षस है, जो
महर्षि पुलस्त्यक के कुलमें उत्पन्न हुआ है। उस ब्रह्म-
जन्ममें ब्रह्मणो नामसे प्रसिद्ध है। उससे मराने चाहना ही
महापराधी है। दसवर्षके महाकालमें यह हुआ वह
पैशाच्य तो है। लोकोंके निवासियोंकी अत्यन्त कष्ट दे रहा है।
सुना जाता है कि राक्षसराज रावण विश्वक्र मुनिका अर्द्ध पुत्र
तथा साक्षात् कुबेरका भाई है ॥१५—१७॥

यदा न खलु यज्ञस्य विघ्नकर्ता महाबलः ॥ १८ ॥
तेन सचोदितो तौ तु राक्षसां च महाबलौ ।

पारीचक्षु सुबाहुश्च यज्ञविघ्ने कर्मिण्यतः ॥ १९ ॥

यह महाबली निशाचर इन्ज रतत हुए भी स्वयं आकर
यज्ञमें विघ्न नहीं डालता। (अपने लिये इस बृद्ध कार्य सम्पन्न
है), इसलिये उसको प्रेरणासे दो महान् बलवान् राक्षस मारीच
और सुबाहु यज्ञमें विघ्न डालते हैं ॥ १८-१९ ॥

इत्युक्तो मुनिना तेन राजोवाच मुनि तदा ।

नहि शक्तोऽस्मि संग्रामे स्थातुं तस्य दुरात्मनः ॥ २० ॥

विश्वामित्र मुनिके ऐसा कहनेपर राजा दशरथ उनसे इस
प्रकार बोले—‘मुनिवर! मैं उस दुरात्मा रावणके सामने
युद्धमें नहीं ठहर सकता ॥ २० ॥

स त्वं प्रसादं धर्मज्ञ कुम्भ मम पुत्रके ।

मम चैवाल्पभाग्यस्य देवतं हि भवान् गुरुः ॥ २१ ॥

‘धर्मज्ञ महर्षे! आप में पुत्रपर तथा मुझ भन्दभागी
दशरथपर भी कृपा कीजिये; क्योंकि आप मेरे देखना
तथा गुरु हैं ॥ २१ ॥

देवदानवगन्धर्वा दक्षाः पतंगपन्नगाः ।

न शक्ता रावणं सोढुं किं पुनर्मानवा युधि ॥ २२ ॥

‘युद्धमें रावणका संग तो देवता, दानव, गन्धर्व, यक्ष
गन्ध और नाग भी नहीं सह सकते, फिर मनुष्योंकी तो बात
ही क्या है ॥ २२ ॥

स तु वीर्यवतां वीर्यमादत्ते युधि रावणः ।

तेन चाहं न शक्तोऽस्मि संयोद्धुं तस्य वा बलैः ॥ २३ ॥

सबलौ वा मुनिश्रेष्ठ सहितौ वा ममात्तरजैः ।

‘मुनिश्रेष्ठ! रावण समराङ्गणमें बलवानोंके बलका
अपहरण कर लेता है, अतः मैं अपनी सेना और युवकों
साथ रहकर भी उससे तथा उसके सैनिकोंसे युद्ध करनेमें
असमर्थ हूँ ॥ २३ ॥

कथमप्यमरप्रख्यं संग्रामाणामकोविदम् ॥ २४ ॥

बाले मे तनयं ब्रह्मन् नैव दास्यामि पुत्रकम् ।

‘ब्रह्मन्! यह मेरा देवोपम पुत्र युद्धको कलासे सर्वथा
अनभिज्ञ है। इसको अवस्था भी अभी बहुत थोड़ी है
इसलिये मैं इसे किसी तरह नहीं दूँगा ॥ २४ ॥

अथ कालोपयो युद्धे सुतो सुन्दोपसुन्दयोः ॥ २५ ॥

यज्ञविघ्नकरो तौ ते नैव दास्यामि पुत्रकम् ।

पारीचक्षु सुबाहुश्च वीर्यवन्तौ सुशिक्षितौ ॥ २६ ॥

‘पारीच और सुबाहु सुप्रसिद्ध दैत्य सुन्द और
उपसुन्दके पुत्र हैं। वे दोनों युद्धमें यमराजके समान
हैं। यदि वे ही आपके यज्ञमें विघ्न डालनेवाले हैं तो
मैं उनका मामला करना लिये अपने पुत्रको नहीं दूँगा
क्योंकि वे दोनों प्रबल पराक्रमी और युद्धविषयक उत्तम
शिक्षासे सम्पन्न हैं ॥ २५-२६ ॥

तयोरन्यतरं योद्धुं दास्यामि ससुहृदगणः ।

अन्यथा त्वनृन्ध्यामि भवन्तं सख्यान्धवः ॥ २७ ॥

‘मैं उन दोनोंमेंसे किसी एकके साथ युद्ध करनेके
लिये अपने सुहृदोंके साथ चलेगा; अन्यथा—यदि
आप मुझे न ले जाना चाहें तो मैं भाई-बन्धुओंसाथ
आपसे अनुनय-विनय करूँगा कि आप रामको छोड़
दें ॥ २७ ॥

इति नरपतिस्तम्पनाद् द्विजेन्द्र
कुशिकसुतं सुमहान् विवेशमन्युः ।
सुहृत् इव मखेऽग्निराज्यसिक्तः
समभघदुन्ज्वलितो महर्षिवह्निः ॥ २८ ॥
राजा दशरथके ऐसे वचन सुनकर विप्रवर कुशिकनन्दन

विश्वामित्रके मनमें महान् क्रोधका आवेश हो आया, जैसे
यज्ञशालामें अग्निको मली-मौलि आहुति देकर घीकी
घरासे अभिषिक्त कर दिया जाय और वह प्रज्वलित
हो उठे उसी तरह अग्नितुल्य तेजस्वी महर्षि विश्वामित्र भी
क्रोधसे जल उठे ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे विंशः सर्गः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्वरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २० ॥

एकविंशः सर्गः

विश्वामित्रके रोषपूर्ण वचन तथा वसिष्ठका राजा दशरथको समझाना

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य स्नेहपर्याकुलाक्षरम् ।
समन्युः कौशिको वाक्यं प्रत्युवाच महीपतिम् ॥ १ ॥

राजा दशरथकी बातके एक-एक अक्षरमें पुत्रके प्रति स्नेह
भरा हुआ था, उसे सुनकर महर्षि विश्वामित्र कृपित हो उनसे
इस प्रकार बोले— ॥ १ ॥

पूर्वमर्थं प्रतिस्मृत्य प्रतिज्ञां हातुमिच्छसि ।
राघवाणामयुक्तोऽयं कुलस्थास्य विपर्ययः ॥ २ ॥

'राजन् ! पहले मेरे भांगे हुई वस्तुके देनेकी प्रतिज्ञा
करके अब तुम उसे लौटना चाहते हो । प्रतिज्ञाका यह त्याग
शत्रुताशयोंके योग्य तो नहीं है । यह चर्ताव तो इस कुलके
विनाशकर सूचक है ॥ २ ॥

यदीदं ते क्षमं राजन् ममिष्यामि यथागतम् ।
मिथ्याप्रतिज्ञः काकुत्स्थ सुखो भव सुहृद्वृतः ॥ ३ ॥

'नरेश्वर ! यदि तुम्हें ऐसा हो उचित प्रतीत होता है तो मैं
जैसे आया था, वैसे ही लौट जाऊँगा । काकुत्स्थकुलके रख !
अब तुम अपनी प्रतिज्ञा झूठी करके हितैषी सुहृदोंसे धिरे
रहकर सुखी रहो' ॥ ३ ॥

तस्य रोषपरीतस्य विश्वामित्रस्य धीमतः ।
चञ्चल वसुधा कृत्वा देवानां च भयं महत् ॥ ४ ॥

श्रुदिमान् विश्वामित्रके कृपित भाते ही सारी पृथ्वी कांप
उठी और देवताओंके मनमें महान् भय समा गया ॥ ४ ॥

व्रत्तरूपं तु विज्ञाय जगत् सर्वं महानृषिः ।
नृपतिं सुव्रतो धीरो वसिष्ठो वाक्यमब्रवीन् ॥ ५ ॥

उनके रोषमें भरे संसारको व्रत हुआ जान उतम
व्रतका पालन करनेवाले धीरविर महर्षि वसिष्ठने राजामें
इस प्रकार कहा— ॥ ५ ॥

इक्ष्वाकुणां कुले जान साक्षाद् धर्म इवापरः ।
धृतिमान् सुव्रतः श्रीमान् न धर्मं हातुमर्हसि ॥ ६ ॥

'महाराज ! आप इक्ष्वाकुवंशी राजाओंके कुलमें साक्षात्
दुर्गरे धर्मके समान उत्पन्न हुए हैं धैर्यवान्, उतम व्रतके
पालक तथा श्रीसम्पन्न हैं । आपको अपने धर्मका परित्याग
नहीं करना चाहिये ॥ ६ ॥

त्रिषु लोकेषु विख्यातो धर्मात्मा इति राघवः ।
स्वधर्मं प्रतिपद्यस्व नाधर्मं वोढुमर्हसि ॥ ७ ॥

'रघुकुलभूषण दशरथ बड़े धर्मात्मा हैं' यह बात तीनों
लोकोमें प्रसिद्ध है । अतः आप अपने धर्मका ही पालन
कीजिये; अधर्मका घर सिरपर न ठठाइये ॥ ७ ॥

प्रतिश्रुत्य करिष्येति उक्तं वाक्यमकुर्वतः ।
इष्टापूर्तवधो भूयात् तस्माद् रामं विसर्जय ॥ ८ ॥

मैं अमुक कार्य करूँगा' ऐसी प्रतिज्ञा करके भी जो
उस वचनका पालन नहीं करता, उसके यज्ञ-यागादि इष्ट तथा
खावली-तालाब बनवाने आदि पूर्ण कर्मोंके पुण्यका नाश हो
जाता है, अतः आप श्रीरामको विश्वामित्रजीके साथ भेज
दीजिये ॥ ८ ॥

कृतास्त्रमकृतास्त्रं वा नैनं शक्यन्ति राक्षसाः ।
गुप्तं कुशिकपुत्रेण ज्वलनेनामृतं यथा ॥ ९ ॥

'ये अस्त्रविद्या जानते हैं या न जानते हैं, राक्षस इनका
सामना नहीं कर सकते । जैसे प्रज्वलित अग्निद्वारा सुरक्षित
अमृतपर कोई हाथ नहीं लगा सकता, उसी प्रकार
कुशिकनन्दन विश्वामित्रसे सुरक्षित हुए श्रीरामका ये राक्षस
कुछ भी बिगाड़ नहीं सकते ॥ ९ ॥

एष विग्रहवान् धर्म एष धीर्यवतां वरः ।
एष विद्याधिको लोके तपसश्च परायणम् ॥ १० ॥

'ये श्रौतम तथा महर्षि विश्वामित्र साक्षात् धर्मकी मूर्ति हैं ।
ये बन्धुबानोंमें श्रेष्ठ हैं । विद्याके द्वारा ही ये संसारमें सबसे
बड़े-चढ़े हैं । तपस्याक तो ये विशाल भण्डार ही हैं ॥ १० ॥

एषोऽस्त्रान् विविधान् वेति त्रैलोक्ये सचराचरे ।
नैवमन्यः पुमान् वेति न च वेत्स्यन्ति केचन ॥ ११ ॥

'सगंधर प्राणियोंमेंही तीनों लोकोंमें जो नाना प्रकारके
अस्त्र हैं, उन सबको ये जानते हैं । इन्हें मेरे सिवा दूसरा
कोई पुरुष न तो अच्छे तरह जानता है और न कोई
जानेगा ही ॥ ११ ॥

न देवा नर्षयः केचिन्नामरा न च राक्षसाः ।
गन्धर्वयक्षप्रवराः सकिन्नरमहोरगाः ॥ १२ ॥

दत्तता ऋषि, राक्षस गन्धर्व, यक्ष, किन्नर तथा बड़े बड़े
जग भी इनके प्रभावको नहीं जानते हैं ॥ १२ ॥

अर्वाञ्चाणि कुशाक्षस्य पुत्राः परमधार्मिकाः ।

अशिकाय पुरा दत्ता यदा राज्यं प्रशासति ॥ १३ ॥

प्रायः सभी अस्त्र प्रजापति कुशाक्षके परम धर्मात्मा पुत्र
हैं । उन प्रजापतिने पूर्वकालमें कुशिकनन्दन विश्वामित्रको जब
वै वे राज्यशासन करते थे, समर्पित कर दिया था ॥ १३ ॥

तेऽपि पुत्राः कुशाक्षस्य प्रजापतिसुतासुताः ।

नेकरूपा महावीर्या दीप्तिमन्तो जयावहाः ॥ १४ ॥

कुशाक्षके वे पुत्र प्रजापति दक्षको दो पुत्रियोंको समाने
हैं । उनके अनेक रूप हैं । वे सब के सब महान् शक्तिशाली
प्रकाशमान और विजय दिलानेवाले हैं ॥ १४ ॥

जया च सुप्रभा खेद दक्षकन्ये सुमध्यमे ।

न भुनेऽर्वाणि शस्त्राणि शते परधर्माश्रयम् ॥ १५ ॥

'प्रजापति दक्षकी दो सुन्दरी कन्याएँ हैं, उनके नाम हैं
जया और सुप्रभा । उन दोनोंने एक सौ परम प्रकटशमान
अस्त्र-शस्त्रोंको उत्पन्न किया है ॥ १५ ॥

पञ्चाशतं सुतोल्लेभे जया लब्धवरा वरान् ।

वधायासुरसैन्यानामप्रमेयानरूपिणः ॥ १६ ॥

'उनमेंसे जयाने सर फाकर पचास श्रेष्ठ पुत्रोंको प्राप्त किया
है, जो अपरिमित शक्तिशाली और रूपरहित हैं । वे
मन्त्र-के-सब असुरोंको सेनाओंका सध करनेके लिये
प्रकट हुए हैं ॥ १६ ॥

मुप्रभाजनयन्त्रापि धुत्रान् पञ्चाशतं पुनः ।

महाराज् नाम दुर्धर्षान् दुराक्रामान् बलीयसः ॥ १७ ॥

'फिर सुप्रभाने भी सत्कार नामक पचास पुत्रोंको जन्म
दिया जो अत्यन्त दुर्जय हैं । उनपर आक्रमण करना किसीके
लिये भी सर्वथा कठिन है तथा वे सब-के-सब अत्यन्त
बलिवृद्ध हैं ॥ १७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे एकविंशः सर्गः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीवामनकिनिर्मित आर्यगमायणा आदिकाव्यके बालकाण्डमें इकोसर्वा सर्ग पूरा हुआ ॥ २१ ॥

द्वाविंशः सर्गः

राजा दशरथका स्वस्तिवाचनपूर्वक राम-लक्ष्मणको मुनिके साथ भेजना, मार्गमें उन्हें विश्वामित्रसे
बला और अतिबला नामक विद्याकी प्राप्ति

नथा वसिष्ठे ब्रुवति राजा दशरथः स्वयम् ।

ग्रहपुत्रद्वन्द्वे रामभाजुद्वन्द्वे सलक्ष्मणम् ॥ १ ॥

कृतस्वस्त्ययने धाम्ना पित्रा दशरथेन च ।

पुरोधसा वसिष्ठेन महर्त्तरपिपन्नितम् ॥ २ ॥

वसिष्ठके ऐसा कहनेपर राजा दशरथका मुख प्रसन्नतासे
मिल उठा । उन्होंने स्वयं ही लक्ष्मणसहित श्रीरामको अपने
सम ब्रह्मदाया फिर माता कैशल्या, पिता दशरथ और

तानि शस्त्राणि केन्येव यथावत् कुशिकात्मजः ।

अपूर्वाणां च जनने शक्ते भूयश्च धर्मवित् ॥ १८ ॥

'वे धर्मज्ञ कुशिकनन्दन उन सब अस्त्र-शस्त्रोंको अच्छी
तरह जानते हैं । जो अस्त्र अवतक उत्पल्लब्ध नहीं हुए हैं,
उनको भी उत्पन्न करनेको इनमें पूर्ण शक्ति है ॥ १८ ॥

तेनास्य मुनिपुण्यस्य धर्मज्ञस्य महात्मनः ।

न किञ्चिदस्यविदितं भूतं धन्यं च राघव ॥ १९ ॥

'रघुनन्दन ! इसलिये इन मुनिश्रेष्ठ धर्मज्ञ महात्मा
विश्वामित्रजीमें भूत या भविष्यकी कोई बात छिपी नहीं
है ॥ १९ ॥

एवंवीर्यो महातेजा विश्वामित्रो महायशः ।

न रामगमने राजन् संशयं गन्तुमर्हसि ॥ २० ॥

'राजन् ! वे महातेजस्वी, महायशस्वी विश्वामित्र ऐसे
प्रभावशाली हैं । अतः इनके साथ रामको भेजनेमें आप
किसी प्रकारका संदेह न करें ॥ २० ॥

तेषां निग्रहणे शक्तः स्वयं च कुशिकात्मजः ।

तत्र पुत्रहितार्थाय त्वामुपेत्याधियाचते ॥ २१ ॥

'महर्षि कौशिक स्वयं भी उन राक्षसोंका संहार करनेमें
समर्थ हैं, किंतु ये आपके पुत्रका कल्याण करना चाहते हैं,
इसीलिये यहाँ आकर आपसे याचना कर रहे हैं ॥ २१ ॥

इति मुनिवचनात् प्रसन्नचित्तो

रघुवृषभश्च मुमोद पार्थिवाम्बुयः ।

गयनमभिरुचो राघवस्य

प्रथितयशः कुशिकात्मजाय बुद्ध्या ॥ २२ ॥

महर्षि वसिष्ठके इस वचनसे विख्यात यशवाले
रघुकुलशिरोमणि नृपश्रेष्ठ दशरथका मन प्रसन्न हो गया । वे
आनन्दमग्न हो गये और बुद्धिसे विचार करनेपर
विश्वामित्रजीकी प्रमत्तताके लिये उनके साथ श्रीरामका जाना
उन्हे रुचिके अनुकूल प्रतीत होने लगा ॥ २२ ॥



पुरोहित वसिष्ठने स्वस्तिवाचन करनेक पश्चात् उनका
यात्रामन्त्रांशो मङ्गलकार्य सम्पन्न किया—श्रीरामको
मङ्गलसूचक मन्त्रोंसे अभिषन्वित किया गया ॥ १-२ ॥

स पुत्रं मूर्धन्यपाद्याय राजा दशरथस्तदा ।

ददौ कुशिकपुत्राय सुप्रीतेनान्तरात्मना ॥ ३ ॥

तदनन्तर राजा दशरथने पुत्रका भस्तरक सूँघकर अत्यन्त
प्रसन्नचित्तसे उसको विश्वामित्रको सौंप दिया । ३ ।

ततो वायुः सुखस्पर्शो नीरजस्को बवौ तदा ।
विश्वामित्रगतं रामं दृष्ट्वा राजीवलोचनम् ॥ ४ ॥
पुण्यवृष्टिर्महत्यासीद् देवदुन्दुभिनिःस्वनैः ।
शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषः प्रयाते तु महात्मनि ॥ ५ ॥

उस समय घुल्लरहित सुखदायिनी वायु चलने लगी । कमलनयन श्रीरामको विश्वामित्रजीक सन्ध जाते देख देवताओंने आकाशसे यहाँ फूलोंकी घड़ी भारी वर्षा की । देवदुन्दुभियं बजने लगी । गगना श्रीरामको यात्राके समय शङ्खों और नगाड़ोंकी ध्वनि होने लगी ॥ ४-५ ॥

विश्वामित्रो वयावमे ततो रामो महायशः ।
काकपक्षधरो धन्वी ते च सौमित्रिरज्जगात् ॥ ६ ॥

आगे-आगे विश्वामित्र, उनके पीछे काकपक्षधरो महायशस्वी श्रीराम तथा उनके पीछे सुमित्राकुमार लक्ष्मण जा रहे थे ॥ ६ ॥

कलापिनी धनुष्पाणी शोभयानौ दिशो दक्ष ।
विश्वामित्रं महात्मानं त्रिशीर्षाविव पन्नगौ ॥ ७ ॥

उन दोनों भाइयोंने पीठपर तरकस बाँध रखे थे । उनके हाथोंमें धनुष शीशा गा रहे थे तथा वे दोनों दसों दिशाओंको सुशीर्षित करते हुए महात्मा विश्वामित्रके पीछे तीन-तीन फनवाले दो सर्पोंके समान चल रहे थे । एक ओर कंधेपर धनुष, दूसरी ओर पीठपर तृणार और बीचमें मस्तक । इन्होंने तीनोंकी तीन फनसे उपकार दी गयी है ॥ ७ ॥

अनुजग्मतुरक्षुद्रौ पितामहमिवाश्विनौ ।
अनुयानौ श्रिया दीप्तौ शोभयन्तावनिन्दितौ ॥ ८ ॥

उनका स्वभाव उच्च एवं उदार था । अपनी अनुपम कान्तिसे प्रकाशित हाववाले वे दोनों अनिन्द्य सुन्दर राजकुमार सब ओर शोभाका प्रसार करते हुए विश्वामित्रजीके पीछे उसी तरह जा रहे थे, जैसे ब्रह्माजीके पीछे दोनों आश्विनकुमार चलते हैं ॥ ८ ॥

तदा कुशिकपुत्रं तु धनुष्पाणी खलंकृतौ ।
अश्वगोधाङ्गुलित्राणी खड्गवन्तौ महाद्युतौ ॥ ९ ॥
कुमारौ चारुवपुषौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
अनुयातौ श्रिया दीप्तौ शोभयेतामनिन्दितौ ॥ १० ॥
स्थाणुं देवमिवाचिन्त्यं कुमाराविव पावकी ।

वे दोनों भाई कुमार श्रीराम और लक्ष्मण बल और आभूषणोंमें अश्वगो अलंकृत थे । उनके हाथोंमें धनुष थे । तन्त्रोंने अपने हाथोंको अङ्गुलियोंमें गोहरीक चमड़ेके बने हुए दस्ताने पहन रखे थे । उनके कान्तिप्रदशरीर तलवारों लटक रहीं थीं । उनके अश्व बड़े मनोहर थे । वे महानेजस्वी श्रेष्ठ वीर अद्भुत कान्तिसे उद्भासित हो सब ओर अपनी शोभा फैलाते हुए कुशिकपुत्र विश्वामित्रका अनुसरण कर रहे थे । उस समय वे दोनों वीर अकिन्त्य शक्तिशाली स्थाणुदेव (महादेव) के पीछे चलनेवाले दो आग्रिकुमार स्कन्द और

विशाखकी भाँति शोभा पाते थे ॥ ९-१० ॥

अध्यध्वोजनं गत्वा सरय्या दक्षिणे तटे ॥ ११ ॥
रामेति मधुरा वाणीं विश्वामित्रोऽप्यभाषत ।

गृहाण वत्स सलिलं मा भूत् कालस्य पर्ययः ॥ १२ ॥

अयोध्यासे डेढ़ याजन दूर जाकर सरयूके दक्षिण तटपर विश्वामित्रने मधुर वाणीमें रामका सम्बोधन किया और कहा—'वत्स राम ! अब सरयूक जलसे आचमन करो । इस आवश्यक कार्यमें विलम्ब न हो ॥ ११-१२ ॥

मन्त्रग्रामं गृहाण त्वं बलामतिबलं तथा ।
न श्रमो न ज्वरो वा ते न रूपस्य विपर्ययः ॥ १३ ॥

'बल्य और अतिबल्य नामसे प्रसिद्ध इस मन्त्र-समुदायका ग्रहण करो । इसके प्रभावमें तुम्हें कभी श्रम (थकावट) का अनुभव नहीं होगा । ज्वर (रोग या विन्नाजनिज कष्ट) नहीं होगा । तुम्हारे रूपमें किसी प्रकारका विकार या उल्टा फेर नहीं होने पायेगा ॥ १३ ॥

न च सुप्तं प्रपत्तं वा धर्षयिष्यन्ति नैर्ऋताः ।
न बह्वोः सदृशो वीर्ये पृथिव्यामस्ति कश्चन ॥ १४ ॥

'सोते समय अथवा अभावधानोंको क्लेशस्थामें भी राक्षस तुम्हारे ऊपर आक्रमण नहीं कर सकेंगे । इस भूतलपर बाहुबलमें तुम्हारी समानता करनेवाला कोई न होगा ॥ १४ ॥

त्रिषु लोकेषु वा राम न भवेत् सदृशस्तव ।
बलामतिबलं चैव पठतस्तात राघव ॥ १५ ॥

'तात ! रघुकुलनन्दन राम ! बल्य और अतिबल्यका अभ्यास करनेसे तौनों लोकोंमें तुम्हारे समान कोई नहीं रह जायगा ॥ १५ ॥

न सौभाग्ये न दाक्षिण्ये न ज्ञाने बुद्धिनिश्चये ।
नोत्तरे प्रतिवक्तव्ये सप्तो लोके तवानघ ॥ १६ ॥

अनघ ! सौभाग्य, चानुर्य, ज्ञान और बुद्धिसम्बन्धी निश्चयमें तथा किन्हींके प्रश्नका उत्तर देनेमें भी कोई तुम्हारी तुलना नहीं कर सकेगा ॥ १६ ॥

एतद्विद्याद्वये लब्धे न भवेत् सदृशस्तव ।
बला जातिबला चैव सर्वज्ञानस्य यातरौ ॥ १७ ॥

'इन दोनों विद्याओंके प्राप्त हो जानेपर कोई तुम्हारी नमानता नहीं कर सकेगा क्योंकि ये बल्य और अतिबल्य नामक विद्याएँ सब प्रकारके ज्ञानकी जननी हैं ॥ १७ ॥

क्षुत्पिपासे न ते राम भविष्येते नरोत्तम ।
बलामतिबलं चैव पठतस्तात राघव ॥ १८ ॥

गृहाण सर्वलोकस्य गुप्तये रघुनन्दन ।

'नरश्रेष्ठ श्रीराम ! तात रघुनन्दन ! बल्य और अति-बल्यका अभ्यास कर लेनापर तुम्हें भूख-प्यासका भी कष्ट नहीं होगा; अन्तः रघुकुलको आनन्दित करनेवाले राम ! तुम सम्पूर्ण जगत्को रक्षाके लिये इन दोनों विद्याओंको ग्रहण करो ॥ १८ ॥

॥ इन्द्रधनुःप्रदानं यज्ञश्चाथ भवेद् भुवि ।

જ્ઞાને વિદ્યે તેજ સપન્થિતે ॥ ૧૧ ॥

१२-३-३९ आका अध्ययन कर लेम्पर इस भूतलपर
१३-३-३९ जलपर हागा। ये दोनों विद्यापै क्रमार्जको
१४-३-३९ २५१९।

॥१॥ नमः काकुत्स्थ सदुशस्त्वं हि पार्थिव ।

ॐ नमः शिवाय ॥ सर्वं त्वय्यंते नाश संशयः ॥ २० ॥

— मन्त्रं चने दक्षस्ये भविष्यतः ।

मन इन दोनोंको तुम्ह देनका विचार
करना । तुम्हीं इनके योग्य पात्र हो । यद्यपि
तुम्हें इनके प्राप्ति करने योग्य बहुत-से गुण हैं अथवा
तुम्हें गुण विद्यमान हैं, इसमें संशय नहीं है तथापि मैं
तुम्हें इनके अर्जन किया है । अतः मेरी तपस्या
— ईश्वर से तुम्हारे लिये बहुरूपिणी होगी अतः
तुम्हें इनके अर्जन करोगी ॥ २० ॥

॥ २१ ॥

उत्तर मे विद्ये महर्षिभाषितान्मनः ।

उस दिन प्रथम काव्य रचित हो गये। उनका मुख
- १५७ - ३५१। उन्होंने उस शब्द अन्तःकरणकर्ता

इत्यर्थे श्रीमद्भगवत् श्रीवाल्मीकीये आदिकाव्ये खाल्काण्डे द्वाविंशः सर्गः ॥ २२ ॥

३३ प्रकाश श्रीवाल्मीकिनेर्मित्त आर्षरामायण आदिकाव्यकं वाङ्मङ्गलमे वाईसर्वा सर्ग पूरा हुआ ॥ २२ ॥

महर्षये ये देवा विद्यां ग्रहण क्री ॥२१३॥

विद्यासम्पन्नो रामः शशभे भीमविक्रमः ॥ २२ ॥

सहस्ररश्मिर्भगवाञ्छरदीप्त दिवाकरः ।

विद्यासे सम्पन्न होकर भयङ्कर पराक्रमी श्रीराम सहस्रों
किरणोंसे युक्त शरत्कालीन भगवान् सूर्यके समान शोभा
पाने लगे ॥२३॥

गुरुकार्याणि सर्वाणि नियुज्य कुशिकात्मजे ।

ऊर्ध्वस्ता रजनीं तत्र सरख्यां समुखं प्रथः ॥ २३ ॥

तत्पश्चात् श्रीरामेन विश्वामित्रजीकी सारी गुरुजनोदित
सर्वाएँ करके हर्षकृत अनुभव किया। भिर ये तीनों वहाँ
सरयूके तटपर उनमें सुखपूर्वक रहे ॥ २३ ॥

दशरथनृपसुनुसत्तमाभ्यां

तृणशयनेऽनुचिते सद्बोधिनाभ्याम् ।

कृषिकमुत्तवचोऽनुल्ललिताभ्या

सुखमित्य सा विद्वद्भा विभायरी च ॥ २४ ॥

राजा दशरथके ये दोनों श्रेष्ठ राजकुमार उस समय वहाँ तृणकी शय्यापर, जो उनके योग्य नहीं थी, सोये थे। महर्षि विश्वामित्र अपनी बाणीद्वारा उन दोनोंके प्रति लाड़-प्यार प्रकट कर रहे थे। इससे उन्हें वह रात बड़ा सुखमयी सा प्रसार हुई।

त्रयोविंशः सर्गः

वृद्धमित्रमहित श्रीराम और लक्ष्मणका सरयू-गङ्गासंगमके समीप पुण्य आश्रममें रातको ठहरना

॥ अथां तु शर्वर्या विश्वामित्रो महामुनिः ।

अध्यायनं काकत्थौ श्यानी पर्णसस्तरे ॥ १ ॥

जब मन घँसो और प्रभात हुआ, तब महामुनि
रामजी लज्जा और पलकें बिछौनपर सोये हुए इन दोनों
• • • • राजकुमारोंसे कहा— ॥ १ ॥

कालवन्ध्या सप्रजा राम पूर्वा संध्या प्रवर्तते ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ २ ॥

कश्चित् राम ! तुम्हारे-जैसे पुत्रको पाकर भहारानों
मनुष्यजननी कभी जानें हैं। यह देखो, प्रातःकालकी
समय हो रहा है। ठीक और प्रतिदिन किये जानेवाले

परमोद्धारं वक्ष्ये श्रुत्वा नरोत्तमो ।

चत्वारः कृतोदकौ धीरौ जैपतुः परमं जयम् ॥ ३ ॥

— रुद्रम अपनीय मन्त्र गायत्रीका जप करने लगे ॥ ३ ॥

सुखसहक्री महावीर्यो विश्वामित्रं सपोधनम् ।

गयनायाभितस्थतुः ॥ ४ ॥

नित्यकर्म सयाप्त करके महापराक्रमी श्रीराम और लक्ष्मण
अन्वन् प्रसन्न हो तपोधन विश्वामित्रकी प्रणाम करके वहाँसे
आगे जानकी उद्यन हो गये ॥४॥

तौ प्रयान्तौ महावीर्यौ दिव्यां त्रिपथगां नदीम् ।

दशशते ततस्तत्र सद्यथाः संगमे शुभे ॥ ५ ॥

जाने जाते उन महाबली राजकुमारोंने गङ्गा और सरयूके
मुह मङ्गलपर पहुँचकर वहाँ दिश्व त्रिपथगा नदी गङ्गाजीका
दशन किया ॥ ५ ॥

तत्राश्रमपदं पुण्यमुदीणां आसितात्मनाम् ।

बहवर्षसहस्राणि तप्यतां परमं तपः ॥ ६ ॥

महामकं पात्रं हो शुद्ध अन्न-करणावान्ने महर्षिणांका एक
पवित्र आश्रम था, जहाँ वे कई हजार वर्षोंसे तीव्र तपस्या
करते थे ॥ ६ ॥

तं दृष्ट्वा परमप्रितो राघवो पुण्यमाश्रयम् ।

ऊचतुस्तं महात्मानं विश्वामित्रमिदं वचः ॥ ७ ॥

उस पवित्र आश्रमको देखकर रघुकुलरत्न श्रीराम और लक्ष्मण बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने महात्मा विश्वामित्रसे यह बात कही— ॥ ७ ॥

कस्यायमाश्रमः पुण्यः को न्वस्मिन् वसते पुमान् ।

भगवज्ज्ञेयमिच्छावः परं कौतूहलं हि नौ ॥ ८ ॥

‘भगवन् ! यह किसका पवित्र आश्रम है ? और इसमें कौन पुरुष निवास करता है ? यह हम दोनों सुनना चाहते हैं ।

इसके लिये हमारे मनमें बड़ी उत्कण्ठा है ॥ ८ ॥

तयोस्तद् वचनं श्रुत्वा प्रहस्य भुविपुङ्गवः ।

अब्रवीच्छ्रुत्यतो राम यस्यायं पूर्व आश्रमः ॥ ९ ॥

उन दोनोंका यह वचन सुनकर भुविपुङ्गव विश्वामित्र हेमन्ते हुए बोले—‘राम ! यह आश्रम पहले जिसके अधिकारमें

रहा है, उसका परिचय देता है, सुनो ॥ ९ ॥

कन्दर्पो मुनिमानासीत् काम इत्युच्यते बुधः ।

तपस्यन्तमिह स्थाणु नियमेन समाहितम् ॥ १० ॥

विद्वान् पुरुष जिसे काम कहते हैं, वह कन्दर्प पूर्वकालमें मुनिमान् था—शरीर धारण करके विचरता था । उन दिनों

भगवान् स्थाणु (शिव) इसी आश्रममें चित्तका एकाग्र करके नियतापुष्पक तमसा करते थे ॥ १० ॥

कृतोज्ञाहं तु वेदंशं गच्छन्तं समरुद्रणम् ।

धर्मयामास दुर्मथा हुंकृतश्च महात्मना ॥ ११ ॥

‘एक दिन समाधिमें डूबकर देवेश शिव मरुद्गणोंक साथ कहीं जा छे थे । उसी समय दुर्गोद्ध कायन उनपर आक्रमण किया । यह देख महात्मा शिवने हुंकार करके उसे रोका ।

अवध्यातश्च रुद्रेण चक्षुषा रघुनन्दन ।

व्यशीर्यन्त शरीगतं स्वात् सर्वगात्राणि दुर्मते ॥ १२ ॥

‘रघुनन्दन ! भगवान् रुद्रेण रोगधरी दृष्टिसे अवहेलनापूर्वक उसकी ओर देखा, फिर तो उस दुर्गोद्धके सारे अङ्ग उसके शरीरमें जीर्ण जीर्ण होकर गिर गये ॥ १२ ॥

तत्र गात्रं हतं तस्य निर्दग्धस्य महात्मनः ।

अशरीरः कृतः काम क्रोधाद् देवेश्वरेण ह ॥ १३ ॥

वहाँ दग्ध हुए महात्मना कन्दर्पकर शरीर नष्ट हो गया । देवेश्वर रुद्रेण अपने क्रोधसे कामकी अङ्गहोन कर दिया ।

अनङ्ग इति विख्यातस्तदाप्रभृति राघव ।

स चाङ्गविषयः श्रीमान् यथाङ्गं स मुपोच ह ॥ १४ ॥

‘राम ! तभीसे वह ‘अनङ्ग’ नामसे विख्यात हुआ । शाष्पाशाकी कन्दर्पने वहाँ अपना अङ्ग छाड़ा था, वह प्रदंश आहूतदंशक नामसे विख्यात हुआ ॥ १४ ॥

तस्यायमाश्रमः पुण्यस्तस्मै मुनयः पुरा ।

शिष्या धर्मपरा खीर तेषां धापं न विद्यते ॥ १५ ॥

‘यह उन्हीं महादेवजीका पुण्य आश्रम है । खीर । ये मुनिलोग पूर्वकालमें उन्हीं स्थाणुक धर्मपरायण शिष्य थे । इनका सारा पाप नष्ट हो गया है ॥ १५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे त्रयोविंशः सर्गः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें तेईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २३ ॥

इहाद्य रजनीं राम वसेष शुभदर्शन ।

पुण्ययोः सरितोर्मध्ये श्वस्तरिष्यामहे वयम् ॥ १६ ॥

‘शुभदर्शन राम ! आजकी रातमें हमलोग यहीं इन पुण्य-सन्निता सरिताओंके बीचमें निवास करें । कल सबेरे इन्हें पार करेंगे ॥ १६ ॥

अभिगच्छामहे सर्वे शुचयः पुण्यपाश्रमम् ।

इह वासः परोऽस्माकं सुखं वत्स्यामहे निशाम् ॥ १७ ॥

स्नाताश्च कृतजप्याश्च हुतहव्या नरोत्तम ।

‘हम सब स्नेह पवित्र होकर इस पुण्य आश्रममें चलें । यहाँ रहना हमारे लिये बहुत उत्तम होगा नरश्रेष्ठ यहाँ ध्यान करके जप और हवन करनेके बाद हम रातमें बड़े सुखसे रहेंगे ॥ १७ ॥

तेषां संवदतां तत्र तपोदीर्घेण चक्षुषा ॥ १८ ॥

विज्ञाय परमप्रीता मुनयो हर्षमागमन् ।

वे लोग वहाँ इस प्रकार आपसमें बातचीत कर ही रहे थे कि उस आश्रममें निवास करनेवाले भूनि तपस्याद्वारा प्राप्त हुई दूर दृष्टिसे उनका आगमन जानकर मन-हो-मन बड़े प्रसन्न हुए । उनके हृदयमें हर्षज्वलित उल्लास छा गया ॥ १८ ॥

अर्घ्यं पाद्यं तथाऽऽतिथ्यं निवेद्य कुशिकात्पजे ॥ १९ ॥

रामलक्ष्मणयोः पश्चादकुर्वन्नतिथिक्रियाम् ।

उनोंने विश्वामित्रजीको अर्घ्य, पाद्य और अतिथि-सन्कारकी सामग्री अर्पित करनेके बाद श्रीराम और लक्ष्मणका भी अतिथ्य किया ॥ १९ ॥

सत्कारं समनुप्राप्य कथाभिरभिरञ्जयन् ॥ २० ॥

यथार्हमजपन् संध्यापुष्यवस्ते समाहिताः ।

यथार्थान् सन्कार करके उन मुनियों इन अतिथियोंका भक्ति-भक्तिकी कथा-वार्ताओंद्वारा मनोरञ्जन किया । फिर उन मन्त्रियोंने एकाग्रचित्त होकर यथावत् संध्यावन्दन एवं जप किया ॥ २० ॥

तत्र वामिभिरानीता मुनिभिः सुव्रतैः सह ॥ २१ ॥

न्यवसन् सुसुखं तत्र कामाश्रमपदे तथा ।

तदनन्तर वहाँ रहनेवाले भुनियोने अन्य उत्तम वतधारो मुनियोंके साथ विश्वामित्र आदिको शयनक लिये उपयुक्त स्थानमें पहुँचा दिया । सम्पूर्ण कामनाओंकी पूर्ति करनेवाले उस पुण्य आश्रममें उन विश्वामित्र आदिने बड़े सुखसे निवास किया ॥ २१ ॥

कथाभिरभिरापाभिरभिरामौ नृपात्मजौ ।

रमयामास धर्मात्मा कौशिको मुनिपुङ्गवः ॥ २२ ॥

धर्मात्मा मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रने उन मनोहर राजकुमारोंका सुन्दर कथाओंद्वारा मनोरञ्जन किया ॥ २२ ॥

यक्षिण्या घोरया राम उत्सादिनमसहया ।
एतत् सर्वमाख्यातं यथैतद् दारुणं वनम् ।
यस्या चोत्सादितं सर्वमद्यापि न निवर्तते ॥ ३२ ॥

राम उस अमरुत एक घबानक यक्षिणीने इस

इत्यर्थे श्रीमद्रामायणे बालकाण्डे आदिकाण्डे पञ्चविंशः सर्गः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीबाल्मीकिर्निर्मित आर्यरामायण आदिकाण्डे बालकाण्डे चौथीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २४ ॥

पञ्चविंशः सर्गः

श्रीरामके पृछनेपर विश्वामित्रजीका उनसे ताटकाकी उत्पत्ति, विवाह एवं शाप आदिका
प्रसङ्ग सुनाकर उन्हें ताटका-बधके लिये प्रेरित करना

अथ तस्याप्रभेदस्थ मुनेर्वचनमुत्तमम् ।
श्रुत्वा पुरुषशार्दूलं प्रत्युवाच शुभां गिरम् ॥ १ ॥

अपरिमित प्रभावशाली विश्वामित्र मुनिका यह उत्तम
वचन सुनकर पुरुषारंभ श्रीरामने यह शुभ बात कही— ॥

अल्पवीर्या यदा यक्षी श्रूयते मुनिपुङ्गव ।
कथं नागसहस्रस्य धारयत्यबला बलम् ॥ २ ॥

मुनिश्रेष्ठ ! जब वह यक्षिणी एक अबला सुनी जाती है,
तब तो उसकी शक्ति थोड़ी ही होगी चाहिये; फिर वह एक
हजार हाथियोंका बल कैसे धारण करती है ? ॥ २ ॥

इत्युक्तं वचनं श्रुत्वा राघवस्यामितीजसः ।
हर्षयज्जलक्षणाया चाचा सलक्ष्मणधरिदयम् ॥ ३ ॥

विश्वामित्रोऽब्रवीद् वाक्यं शृणु येन बलोत्कटा ।
वरदानकृते वीर्ये धारयत्यबला बलम् ॥ ४ ॥

आमित्र तेजस्वी श्रीरघुनाथक कहें हुए इस वचनका
सुनकर विश्वामित्रजी अपनी मध्य चाचीदास लक्ष्मणमण्डित

शत्रुदमन श्रीरामको हर्ष प्रदान करते हुए बोले— 'रघुनन्दन ।

जिस कारणसे ताटका अधिक बलशालिनी हो गयी है, वह

जताता है, सुनो । उसमें वरदानजनित बलका उदय हुआ है,

अतः वह अबला होकर भी बल धारण करती है (सबला
हो गयी है) ॥ ३-४ ॥

पूर्वमाभीन्यहायक्षः सुकेतुर्नाम वीर्यवान् ।
अनपत्यः शुभाचारः स च तेपे महत्तपः ॥ ५ ॥

पूर्वकालकी बात है, सुकेतु नामसे प्रसिद्ध एक महान्
यक्ष थे । वे बड़े पण्डितों और सदाचारों थे; परंतु उन्हें कोई

मेतान नहीं थी; इसलिये उन्होंने बड़ी भारी तपस्या की ॥ ५ ॥

पितामहस्तु सुप्रीतस्तस्य यक्षपतेस्तदा ।
कन्यारत्ने हृदौ राम ताटका नाम नामतः ॥ ६ ॥

श्रीराम ! यक्षराज सुकेतुकी उस तपस्यासे ब्रह्माजीका
वही प्रमत्तता हुई । उन्होंने सुकेतुका एक कन्यारत्न प्रदान

किया, जिसका नाम ताटका था ॥ ६ ॥

देवको उजाड़ कर डाला है । यह वन ऐसा भयङ्कर क्यों है,
यह सारा रहस्य मैंने तुम्हें बता दिया । उस यक्षिणीने ही इस
मारे देवको उजाड़ दिया है और वह आज भी अपने उम्र क्रूर
कर्ममें निवृत्त नहीं हुई है' ॥ ३२

ब्रह्माजीने ही उस कन्याको एक हजार हाथियोंके समान
बल दे दिया, परन्तु उन महायशस्वी पितामहने उस यक्षको
पुत्र नहीं ही दिया (उसके संकल्पके अनुसार पुत्र प्राप्त हो
जानेपर उसके द्वारा जनताका अत्यधिक ठगोड़न होता, यही
सोचकर ब्रह्माजीने पुत्र नहीं दिया) ॥ ७ ॥

तां तु बालां विवर्धन्ती रूपयौवनशालिनीम् ।
जम्भपुत्राय सुन्दाय ददौ भार्या यशस्विनीम् ॥ ८ ॥

'धीरे-धीरे वह यक्ष-बालिका बढ़ने लगी और बढ़कर
रूप-यौवनसे सुशोभित होने लगी । उस अवस्थामें सुकेतुने
अपनी उस यशस्विनी कन्याको जम्भपुत्र सुन्दके हाथमें
उसकी पत्नीके रूपमें दे दिया ॥ ८ ॥

कस्यचित्त्वथ कालस्य यक्षी पुत्रं व्यजायत ।
मारीचं नाम दुर्धर्षं यः शपाद् राक्षसोऽभवत् ॥ ९ ॥

'कुछ कालके बाद उस यक्षी ताटकाने मारीच नामसे
प्रसिद्ध एक दुर्जय पुत्रको जन्म दिया, जो अगस्त्य मुनिके
शापसे राक्षस हो गया ॥ ९ ॥

सुन्दे तु निहते राम अगस्त्यमुपिस्तमम् ।
ताटका सहपुत्रेण प्रघर्षयितुमिच्छति ॥ १० ॥

'श्रीराम ! अगस्त्यने ही शाप देकर ताटकापति सुन्दको
भी मार डाला । उसके मारे जानेपर ताटका पुत्रमार्हेत जाकर
मुनिवर अगस्त्यका भी मौतके बाद उतार देनेकी इच्छा करने
लगा ॥ १० ॥

भक्षार्थं जातसंरम्भा गर्जन्ती साध्यधावत ।
आपनन्ती तु तां दृष्ट्वा अगस्त्यो भगवानृषिः ॥ ११ ॥

राक्षसत्वं भजत्येति मारीचं व्याजहार सः ।
'वह कुपित हो मुनिको खा जानेके लिये गर्जना करती हुई

दीड़ी । उसे आती देख भगवान् अगस्त्य मुनिने मारीचसे
कहा— 'तू देवयोनि-रूपका परित्याग करके राक्षसभावको
प्राप्त हो जा' ॥ ११ ॥

अगस्त्यः परमार्थस्ताटकापि शप्तवान् ॥ १२ ॥
पुरुवादी महायक्षी विकृता विकृतानना ।

इदं रूपं विहायाशु दारुणं रूपमस्तु ते ॥ १३ ॥

‘फिर अत्यन्त अमर्षम भरे हुए ऋषिने ताटकाको भी शाप दे दिया - ‘तू विकराल मुखवाली सर्पाक्षिणी राक्षसी हो जा, तू है तो महायक्षी, परन्तु अब शोच्य हो इस रूपको त्यागकर तेरा भयङ्कर रूप हो जाय’ ॥ १२-१३ ॥

सैषा शापकृतामर्षा ताटका प्रोक्षभूर्च्छिता ।

देशमुत्सादयत्येनमगस्त्यार्थरितं शुभम् ॥ १४ ॥

‘इस प्रकार शाप मिलनेके कारण ताटकाका अमर्ष और भी बढ़ गया। वह ब्राधमे मुक्ति हो उठी और तब दिनों अगस्त्यजी जाही रहते थे, उस सुन्दर देशको उजाड़ने लगी ॥ १४ ॥

एतां राघव दुर्वृत्तां यक्षीं परमदारुणाम् ।

गोष्ठाद्गणहितार्थाय जहि दुष्टपराक्रमाम् ॥ १५ ॥

‘भृगुनन्दन ! तूमे गौओं और ब्राह्मणोंके हित करनेके लिये दुष्ट पराक्रमवाली इस परम भयङ्कर दुष्टाक्षिणी यक्षीका वध कर डालो ॥ १५ ॥

नदीनां शापसंसृष्टां कश्चिदुत्सहते पुमान् ।

निहतुं त्रिषु लोकेषु त्वामृते रघुनन्दन ॥ १६ ॥

‘रघुकुलकी आनन्दित करनेवाले बोर ! इस आपग्रस्त नदीकाका मारनेके लिये तीनों लोकमें तुझसे सिवा दूसरा कोई पुरुष समर्थ नहीं है ॥ १६ ॥

नहि ते क्षीयधकृते घृणा कार्या नरोत्तम ।

चातुर्वर्ण्यहिताय हि कर्तव्यं राजसूनुना ॥ १७ ॥

‘नरेश्वर ! तूमे स्त्री-हत्याका विचार करके इसके प्रति दया न दिखाना। एक राजपुत्रको चारों वर्णोंके हितके लिये स्त्रीहत्या भी करना पड़े तो उससे गृह नहीं मोड़ना चाहिये ॥ १७ ॥

नृशंसमनृशंसं वा प्रजारक्षणकारणात् ।

पातकं वा सदीपं वा कर्तव्यं रक्षता सदा ॥ १८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे पञ्चविंशः सर्गः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें पचासवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २५ ॥

षड्विंशः सर्गः

श्रीरामद्वारा ताटकाका वध

धुनेर्वचनमङ्गीकृतं श्रुत्वा नरवरात्पथजः ।

राघवः प्राकृलिर्भूत्वा प्रत्युवाच दुःखव्रतः ॥ १ ॥

भूमिके ये वल्गाहभरे वननं सुनकर दृष्ट्वापूर्वकं उनम प्रतप्ता पालन करनेवाले राजकुमार श्रीरामने हाथ जँड़कर उत्तर दिया— ॥ १ ॥

पितुर्वचननिर्देशात् पितुर्वचनगौरवात् ।

ब्रह्मणे कीशिकस्येति कर्तव्यमविशङ्कया ॥ २ ॥

अनुशिष्टोऽस्ययोध्यायां गुरुमध्ये महात्मना ।

पित्रा दशरथेनाहं भावतेये हि तद्वचः ॥ ३ ॥

‘प्रजापालक नरेशको प्रजाजनोंकी रक्षाके लिये क्रूरतापूर्ण या क्रूरतारहित, पातकयुक्त अथवा सदाप कर्म भी करना पड़े तो कर लेना चाहिये यह बात उसे सदा ही ध्यानमें रखनी चाहिये ॥ १८ ॥

राज्यभारनियुक्तानामेव धर्मः सनातनः ।

अधर्ष्यो जहि काकुत्स्थ धर्मो ह्यस्यां न विद्यते ॥ १९ ॥

‘जिन्हेके ऊपर राज्यके पालनका भार है, उनका तो यह मन्तव्य धर्म है ककुत्स्थकुलमन्दन ! ताटका महापापिनी है। उसमें धर्मका लेशमात्र भी नहीं है; अतः उसे मार डालो ॥ १९ ॥

श्रूयते हि पुरा ऋको विरोचनसुतां नृप ।

पृथिवीं हन्तुमिच्छन्तीं मन्यराभ्यसूदयत् ॥ २० ॥

‘नरेश्वर ! सुना जाता है कि पूर्वकालमें विरोचनकी पुत्री मन्यरा साठ पृथ्वीका नाश कर डालना चाहती थी, उसके इस विचारको जानकर इन्द्रने उसका वध कर डाला ॥ २० ॥

विष्णुना च पुरा राम भृगुपत्नी पतिव्रता ।

अनिन्दे लोकमिच्छन्तीं काव्यमाता निषूदिता ॥ २१ ॥

‘श्रोतम् ! प्राचीन कालमें शक्राचार्यकी माता तथा भृगुकी पतिव्रता पत्नी त्रिभुवनकी इन्द्रसे शून्य कर देना चाहती थीं। यह जानकर भगवान् विष्णुने उनकी मार डाली ॥ २१ ॥

एतैश्चान्यैश्च बहुभ्यो राजपुत्रैर्महात्मभिः ।

अधर्मसहिता नायौ हताः पुरुषसत्तमैः ।

तस्मादेतां घृणां त्यक्त्वा जहि मच्छासनावृष ॥ २२ ॥

‘इन्होंने तथा अन्य बहुत-से महामन्स्वी पुरुषप्रवर राजकुमारोंने पापचारिणी स्त्रियाका वध किया है। नरेश्वर ! अतः तूमे भी मरों आज्ञासे दया अथवा घृणाको त्यागकर इस राक्षसीको मार डालो ॥ २२ ॥

‘वाल्मीकि ! अयोध्यामें मेरे पिता महामना महाराज दशरथने अन्य गुरुजनोंके बीच मुझे यह उपदेश दिया था कि वेदाः । तूमे पिताके कहनेसे पिताके वचनोंका गौरव रखनेके लिये कुशिकमन्दन विश्वामित्रकी आज्ञाका निःशङ्क होकर पालन करना। कभी भी उनकी बातको अवहेलना न करना ॥ २-३ ॥

सोऽहं पितुर्वचः श्रुत्वा शासनाद् ब्रह्मवादिनः ।

करिष्यामि न संदेहस्ताटकावधमुत्तमम् ॥ ४ ॥

‘अतः मैं पिताजीके उस उपदेशको सुनकर आप

व्यवादी महात्माकी आज्ञामें ताटकावधमन्वन्ती कार्यका
र्यम मानकर कहेगा—इसमें संदेह नहीं है ॥ ४ ॥

गोत्राण्यणकितार्थाय देशस्य च हिताय च ।

न च र्छेदाप्रमेयस्य वचने कर्तुमुद्यतः ॥ ५ ॥

तो, ब्राह्मण तथा समूचे देशकी हित करनेके लिये मैं
आप जैसे अनुपम प्रभावशाली महात्माके आदेशका पालन
करनेको सब प्रकारसे तैयार हूँ ॥ ५ ॥

एवमुक्त्वा धनुर्मध्ये बद्ध्वा मुष्टिपरिदपः ।

ज्याघोषमकरोत् तीव्रं दिशः शब्देन नादयन् ॥ ६ ॥

ऐसा कहकर शत्रुदमन श्रीरामने धनुषके मध्यभागमें मुष्टी
बन्धकर उसे जोरसे पकड़ा और उसकी प्रत्यङ्गापर तीव्र
टड्कार दी । उसकी आवाजमें सम्पूर्ण दिशाएँ गूँज उठीं ॥ ६ ॥

न च शब्देन वित्रस्तास्साटकावनवाप्तिनः ।

ताटका च सुसंकुद्धा तेन शब्देन मोहिता ॥ ७ ॥

उस शब्दसे ताटकावनमें रहनेवाले समस्त प्राणी घबरा
उठे । ताटका भी उस टड्कार-शब्दसे पहले तो किकर्तव्य-
विमुक्त हो उठी; परंतु फिर कुछ सोचकर अत्यन्त क्रोधमें
भर गयी ॥ ७ ॥

न शब्दमभिनिध्याय राक्षसी क्रोधमूर्च्छिता ।

श्रुत्वा चाभ्यद्रवत् क्रुद्धा यत्र शब्दो विनिःसृतः ॥ ८ ॥

उस शब्दको सुनकर वह राक्षसी क्रोधसे अचेत-सा हो
गयी थी । उसे सुनते ही वह जहाँसे आवाज आयी थी, उसी
दिशाकी ओर रोषपूर्वक दौड़ी ॥ ८ ॥

नां दृष्ट्वा राघवः क्रुद्धो विकृतो विकृताननाम् ।

प्रमाणेनातिवृद्धो च लक्ष्मणं सोऽभ्यभाषत ॥ ९ ॥

उसके शरीरकी ठँकाई बहुत अधिक थी । उसकी
मुखाकृति विकृत दिखायी देती थी । क्रोधमें भरी हुई
उस विकराल राक्षसीकी ओर दृष्टिपात करके श्रीरामने
लक्ष्मणसे कहा— ॥ ९ ॥

पश्य लक्ष्मण याक्षण्या भैरवं दारुणं वपुः ।

भिद्येरन् दर्शनादस्या भीरुणां हृदयानि च ॥ १० ॥

‘लक्ष्मण । देखो तो सही, इस याक्षणीका शरीर कैसा
दारुण एवं भयङ्कर है । इसके दर्शनात्तने भीरु पुरुषोंके हृदय
विदीर्ण हो सकते हैं ॥ १० ॥

एतां पश्य दुराधर्षी मायाबलसमन्विताम् ।

विनिवृत्तां कगेप्यष्ट हनकर्णाग्रनासिकाम् ॥ ११ ॥

‘मायाबलसे सम्पन्न होनेके कारण यह अत्यन्त दुर्जय हो
गयी हैं । देखो, मैं अभी इसके कान और नाक काटकर इसे
पाँछे लौटनेके विषय किये देता हूँ ॥ ११ ॥

न होनागुल्हाहं हन्तुं स्त्रीस्वभावेन रक्षिताम् ।

वीर्यं चास्या गतिं चैव हन्यामिति हि मे मतिः ॥ १२ ॥

‘यह अपने स्त्रीस्वभावके कारण रक्षित है; अतः मुझे इस
मारनेमें उत्साह नहीं है । मेरा विचार यह है कि मैं इसके

बल-पराक्रम तथा यमनशक्तिको नष्ट कर दूँ (अर्थात् इसके
नाथ-पैर काट डालूँ)’ ॥ १२ ॥

एवं ब्रुवाणे रामे तु ताटका क्रोधमूर्च्छिता ।

उद्यम्य बाहुं गर्जन्ती राममेवाभ्यधावत् ॥ १३ ॥

श्रीराम इस प्रकार कह ही रहे थे कि क्रोधसे अचेत हुई
ताटका वहाँ आ पहुँची और एक सर्त उठाकर गर्जना करती
हुई उन्हींकी ओर झपटी ॥ १३ ॥

विश्वामित्रस्तु ब्रह्मर्षिर्हुंकारेणाभिधत्स्य ताम् ।

स्वस्ति राघवयोरस्तु जयं र्छेदाभ्यधावत् ॥ १४ ॥

यह देवता ब्रह्मर्षि विश्वामित्रने अपने हुंकारके द्वारा उसे
डिटकर कहा— ऋषुकुलके इन दोनों राजकुमारोंका कल्याण
हो । इनकी विजय हो ॥ १४ ॥

उद्धुन्वाना रजो घोरं ताटका राघवावुभौ ।

रजोपथेन महता मुहूर्त्तं सा व्यमोहयत् ॥ १५ ॥

तब ताटकाने उन दोनों रघुवंशी वीरोंपर भयङ्कर धूल
ढड़ाना आरम्भ किया । वहाँ धूलका विशाल बादल-सा छा
गया । उसके द्वारा उसने श्रीराम और लक्ष्मणको दो बड़ीतक
मोहमें डाल दिया ॥ १५ ॥

ततो मायां समास्थाय शिलावर्षेण राघवौ ।

अवाकिरन् सुमहता ततश्चक्रोष राघवः ॥ १६ ॥

तत्पश्चान् मायाका आश्रय लेकर वह उन दोनों भाइयोंपर
पत्थरोंको बड़ी भारी वर्षा करने लगी । यह देख रघुनाथजी
उसपर कुपित हो उठे ॥ १६ ॥

शिलावर्षं महत् तस्याः शरवर्षेण राघवः ।

प्रतिवार्योपधावन्त्याः करौ विच्छेद पत्रिभिः ॥ १७ ॥

रघुवीरने अपनी वाणवर्षाके द्वारा उसकी बड़ी भारी
शिलानृष्टिकों रोककर अपनी ओर आती हुई उस निशचरीके
दोनों हाथ तीसरे सायकासे काट डाले ॥ १७ ॥

ततश्छिन्नभुजां भ्रान्तामभ्याशे परिगर्जतीम् ।

सामिश्रिकरोत् क्रोधाद्भूतकर्णाग्रनासिकाम् ॥ १८ ॥

दोनों भुजाएँ कट जानेमें थकी हुई ताटका उनके निकट
खड़ी होकर जोर-जोरसे गर्जना करने लगी । यह देख
सुमित्राकुमार लक्ष्मणन क्रोधमें भरकर उसके नाक-कान काट
लिये ॥ १८ ॥

कामरूपधरा सा तु कृत्वा रूपाण्यनेकशः ।

अन्तर्धानं गता यक्षी मोहयन्ती स्वपायया ॥ १९ ॥

परंतु वह तो इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली यक्षिणी
थी अतः अनेक प्रकारके रूप बनाकर अपनी मायासे श्रीराम
और लक्ष्मणको मोहमें डालती हुई अदृश्य हो गयी ॥ १९ ॥

अश्मवर्षं विमुञ्चन्ती भैरवं विचचार सा ।

ततस्तावद्वपुर्वर्षणं कीर्यमाणौ समन्ततः ॥ २० ॥

दृष्ट्वा गार्धिसुतः श्रीमानिन्दे वचनमब्रवीत् ।

अलं ते घृणया राघ पापैवा दुष्टचारिणी ॥ २१ ॥

यज्ञविप्रकरी यक्षी पुरा वर्धेत मायया ।
संध्यातां तावदेवैषा पुरा संध्या प्रवर्तते ॥ २२ ॥
रक्षांसि संध्याकाले तु दुर्धर्षाणि भवन्ति हि ।

अब वह पयस्वीकी भयङ्कर वर्षा करती हुई अश्वत्थामे
विचरने लगी । श्रीराम और सहस्रनाभ चारों ओरसे प्रसरोक्तों
घट्टि होते देख तेजस्वी गाधिनन्दन विश्वामित्रने इस प्रकार
कहा— 'श्रीराम इसके ऊपर तुम्हारा दया करना व्यर्थ है
यह लक्ष्मी पापिनी और दुर्गन्धारी है सदा यज्ञोंमें विघ्न डाल
करती है । यह अपनी मायासे पुनः प्रकल हो उठे, इसके
पादों से इस मा. का. का. अर्घ्य संध्या का. आना चाहता है,
इसमें पहले ही यह कार्य हो जाना चाहिये, क्योंकि संध्याके
समय राक्षस दुर्जय हो जाते हैं' ॥ २०—२२ ॥

इत्युक्तः स तु तां यक्षीमश्मकृद्वाभिवर्धयिषीम् ॥ २३ ॥
दर्शयन्वाक्यदेधित्वं नां करोम स सायकः ।

विश्वामित्रजोंके ऐसा कहनेपर श्रीरामने शकटवर्षी बाण
चलाकर शक्तिवर्षा करने पर हुए बाण मात्र प्रसरोक्तों वहाँ
कार्त्तिकसे उस यक्षिणीका सब ओरसे अथरुझ कर दिया ॥
सा रूद्र बाणजालेन भाषावलसमन्विता ॥ २४ ॥
शर्मिदुशस्य काकुत्स्थं लक्ष्मणं च विनेह्यी ।
तामायतन्ती वेगेन विक्रान्तामशनीपिव ॥ २५ ॥
शरणोरासं विध्वाध सा पणत ममार च ।

उसके बाण समूहसे धीरे धीरे मायाबलसे युक्त यह
यक्षिणी जोर-जोरसे गर्जना करती हुई श्रीराम और लक्ष्मणके
ऊपर दूट पड़ी । उस चलचल हुए इन्द्रके वज्रकी भाँति वेगसे
आती देख श्रीरामने एक बाण भाँटकर उसको छाती की
हालसे । तब तादका पृथ्वीपर गिरी और मर गयी ॥
तां हतो धीमसकाशां दृष्ट्वा सुरपतिस्तदा ॥ २६ ॥
सायु साध्विति काकुत्स्थं सुराध्याप्यभिपूजयन् ।

उस पयस्वी राक्षसोंको मारी गयी देख देवराज इन्द्र तथा
देवताओंने श्रीरामको साधुवाद देते हुए उनकी मराहट की ॥
उवाच परमप्रीतः सप्तसाक्षः पुरन्दरः ॥ २७ ॥
सुराश्च सर्वे संहृष्टा विश्वामित्रमथाब्रुवन् ।

उस समय सहस्रलोचन इन्द्र तथा समस्त देवताओंने
अत्यन्त प्रसन्न हो कर श्रीरामको साधुवाद देते हुए कहा — ।
धूने कीशिक भद्रं ते सेन्द्राः सर्वे मरुहणाः ॥ २८ ॥
तपिनाः कर्मणानेन स्नेहं दर्शय राघवे ।

'मुने । कुशिकनन्दन । आपका कल्याण हो । आपने इस
काश्यप इन्द्रमार्गित सम्पूर्ण देवताओंको सन्तुष्ट किया है । अब
राक्षसोंकी तरह श्रीरामपर आप अपना स्नेह प्रकट कीजिये ॥
प्रजापते कृशाश्वस्य पुत्रान् सत्यपराक्रमान् ॥ २९ ॥
तपोबलभूतो ब्रह्मन् राघवाय निवेदय ।

'ब्रह्मन् ! प्रजापति कृशाश्वके अश्व-रूपधारी पुत्रोंका,
ओ सत्यपराक्रमी तथा तपोबलमे सम्पन्न है, श्रीरामको
समर्पित कीजिये ॥ २९ ॥

पात्रभूतश्च ते ब्रह्मस्तवानुगमने रतः ॥ ३० ॥
कर्तव्यं सुमहन् कर्म सुराणां राजसूना ।

'विप्रवर । ये आपके अस्रदानके सुयोग्य पात्र हैं तथा
आपके अनुसरण (सेवा-शुश्रूषा) में तत्पर रहते हैं ।
राजकुमार श्रीरामके द्वारा देवताओंका महान् कार्य सम्पन्न
होनेवाला है' ॥ ३० ॥

एवमुक्त्वा सुराः सर्वे जम्बूद्वीपं विहायसम् ॥ ३१ ॥
विश्वामित्रं पूजयन्तस्ततः संध्या प्रवर्तते ।

ऐसा कहकर सभी देवता विश्वामित्रजोंको प्रशंसा करते
हुए प्रसन्नतापूर्वक आकाशमार्गसे चले गये । तत्पश्चात्
संध्या हो गयी ॥ ३१ ॥

ततो मुनिवरः प्रीतस्ताटकावयतोषितः ॥ ३२ ॥
मूर्ध्नि राममुपाधाय इदं वचनमब्रवीत् ।

तदनन्तर शारकावधसे संतुष्ट हुए मुनिवर विश्वामित्रने
श्रीरामचन्द्रजोंका मस्तक सँघकर उनसे यह बात
कही— ॥ ३२ ॥

इहाद्य रजनीं राम वसाम शुभदर्शन ॥ ३३ ॥
सः प्रभाते गमिष्यामस्तदाश्रमपदं व्रम ।

'शुभदर्शन राम ! आजकी रातमें हमलोग यहाँ निवास
करें । कल सबेरे अपने आश्रमपर चलेंगे' ॥ ३३ ॥

विश्वामित्रवचः श्रुत्वा हृष्टो दशरथात्मजः ॥ ३४ ॥
उवाच रजनीं तत्र ताटकाया वने सुखम् ।

विश्वामित्रजोंकी यह बात सुनकर दशरथकुमार श्रीराम
बड़े प्रसन्न हुए । उन्होंने ताटकावनमें रहकर वह रात्रि बड़े
सुखसे व्यतीत की ॥ ३४ ॥

भुक्तशायं वनं तच्च तस्मिन्नेव तदाहनि ।
रमणीयं विबभ्राज यथा क्षेत्रगं धनम् ॥ ३५ ॥

उसी दिन वह वन शायभुक्त होकर रमणीय शोभासे
सम्पन्न हो गया और क्षेत्रधनकी भाँति अपनी मनोहर छटा
दिखाने लगा ॥ ३५ ॥

निहत्य तां यक्षसुतां स रामः
प्रशस्थमानः सुरसिद्धसेधैः ।

उवाच तस्मिन् मुनिना स्पष्टं
प्रघातवेलेन प्रतिबोध्यमानः ॥ ३६ ॥

यसकन्या ताटकाका वध करके श्रीरामचन्द्रजों देवताओं
तथा सिद्धसमूहोंकी प्रशंसाके पात्र बन गये । उन्होंने
प्रातःकालकी प्रतीक्षा करते हुए विश्वामित्रजोंका साथ
ताटकावनमें निवास किया ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीपद्ममायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे षड्विंशः सर्गः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीपद्ममायणे वाल्मीकीये आदिकाव्यके बालकाण्डमें छव्वीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २६ ॥

सप्तविंशः सर्गः

विश्वामित्रद्वारा श्रीरामको दिव्यास्त्र-दान

अथ तौ राजनीमुख्य विश्वामित्रो महायशः ।
 प्रथम्य राघवं साक्यमुवाच धधुरस्वरम् ॥ १ ॥
 मन्त्रकावचमयं खड्गं रत्नं विनाकरं महायशस्वी विश्वामित्र
 जन्मन ह्यु मीढे स्वर्गं श्रीरामचन्द्रजोस बान्ध— ॥ १ ॥
 धग्निष्ठोऽस्मि धर्मे ते राजपुत्र महायशः ।
 ज्ञेयः परमया युक्तो ददाम्यस्त्राणि सर्वशः ॥ २ ॥
 'महायशस्वी राजकुमार ! तुम्हारा कल्याण हो ।
 मन्त्रकावचके कारण मैं तुमपर बहुत संतुष्ट हूँ, अतः बड़े
 प्रसन्नताके साथ तुम्हें सब प्रकारके अस्त्र दे रहा हूँ ॥ २ ॥
 देवासुररक्षणान् चापि सगन्धर्वोरगान् भुवि ।
 योगिभान् प्रसह्याजौ वर्शकृत्य जयिष्यसि ॥ ३ ॥
 इनके प्रभावसे तुम अपने शत्रुओंको—चाहे वे देवता
 असुर, गन्धर्व अथवा नाग हों क्यों न हों, रणभूमिमें बल-
 पूर्वक अपने अधोन करके ठामपर विजय पा जाओगे ॥ ३ ॥
 नानि दिव्यानि धर्मे ते ददाम्यस्त्राणि सर्वशः ।
 दण्डवत्कृतं महद् दिव्यं तव दाम्यामि राघव ॥ ४ ॥
 धर्मचक्रं ततो वीर कालचक्रं तथैव च ।
 विष्णुचक्रं तथात्पुष्पमन्दं चक्रं तथैव च ॥ ५ ॥
 'रघुनन्दन ! तुम्हारा कल्याण हो । आज मैं तुम्हें वे सभी
 दिव्यास्त्र दे रहा हूँ । खार ! मैं तुमको दिव्य एवं महान्
 दण्डचक्र, धर्मचक्र, कालचक्र, विष्णुचक्र तथा अत्यन्त
 भयकर ऐन्द्रचक्र दूँगा ॥ ४-५ ॥
 यत्प्रमत्तं नरश्रेष्ठ दीर्घं क्षुल्वरं तथा ।
 अस्त्रं ब्रह्माशिरश्चैव ऐषीकमपि राघव ॥ ६ ॥
 ददामि ते महाबाहो ब्राह्मणस्त्रमनुत्तमम् ।
 'नरश्रेष्ठ राघव ! इन्द्रका चक्रास्त्र, शिवका श्रेष्ठ त्रिशुल
 तथा ब्रह्माजीका ब्रह्माशिर नामक अस्त्र भी दूँगा । महाबाहो !
 साथ ही तुम्हें ऐषाकास्त्र तथा परम उत्तम ब्रह्मास्त्र भी प्रदान
 करता हूँ ॥ ६ ॥
 गदं ह्ये चैव काकुत्स्थ मोदकोशिखरी शुभे ॥ ७ ॥
 प्रसीमे नरशार्दूल प्रयच्छामि नृपात्मज ।
 धर्मपाशमहं राम कालपाशौ तथैव च ॥ ८ ॥
 तास्तौ पाशमस्त्रं च ददाम्यहमनुत्तमम् ।
 'काकुत्स्थकुलभूषण ! इनके सिवा दो अत्यन्त उज्ज्वल
 और सुन्दर गदाएँ, जिसके नाम मोदकी और दिन्तुमें हैं मैं
 तुम्हें अर्पण करता हूँ ; पुरुषार्थरत्न राजकुमार राम ! धर्मपाश
 कालपाश और वरुणपाश भी सड़े उत्तम अस्त्र हैं । इन्हें भी
 आज तुम्हें अर्पित करता हूँ ॥ ७-८ ॥
 अशनौ ह्ये प्रयच्छामि शृण्वादे रघुनन्दन ॥ ९ ॥
 ददामि चास्त्रं पैनाकमस्त्रं नारायणं तथा ।
 'रघुनन्दन ! सुखी और मोक्षी दो प्रकारके अशनि तथा

पिनाक एवं नारायणास्त्र भी तुम्हें दे रहा हूँ ॥ ९ ॥
 आप्रेयमस्त्रं दयितं शिखरं नाम नामतः ॥ १० ॥
 कापत्यं प्रथमं नाम ददामि तव खानध ।
 अग्रिका प्रिय आप्रेय-अस्त्र जो शिखरास्त्रके नामसे भी
 प्रसिद्ध है तुम्हें अर्पण करता हूँ । अन्ध ' अरुनोयें प्रधान जो
 नायव्यास्त्र है, वह भी तुम्हें दे रहा हूँ ॥ १० ॥
 अस्त्रं हयशिरो नाम कौञ्चमस्त्रं तथैव च ॥ ११ ॥
 शक्तिहयं च काकुत्स्थ ददामि तव राघव ।
 'ककुत्स्थकुलभूषण राघव ! हयशिरो नामक अस्त्र
 कौञ्च-अस्त्र तथा दो शक्तिहयोंको भी तुम्हें देना हूँ ॥ ११ ॥
 कङ्कालं मुसलं घोरं कापालमथ किङ्किणीम् ॥ १२ ॥
 यथार्थं रक्षसां यानि दद्याम्येतानि सर्वशः ।
 कङ्काल, घोर मुसल, कपाल तथा किङ्किणी आदि
 सब अस्त्र, जो राक्षसोंके वधमें उपयोगी होते हैं, तुम्हें
 दे रहा हूँ ॥ १२ ॥
 वैद्याधरं महारत्नं च नन्दनं नाम नामतः ॥ १३ ॥
 असिरत्नं महाबाहो ददामि नृपरात्मज ।
 महाबाहु राजकुमार नन्दन नामसे प्रसिद्ध विद्याधरीका
 महान् अस्त्र तथा उत्तम खड्ग भी तुम्हें अर्पित करता हूँ ।
 गान्धर्वमस्त्रं दयितं मोहनं नाम नामतः ॥ १४ ॥
 प्रस्वापनं प्रशमनं दधि सौम्यं च राघव ।
 रघुनन्दन ! गन्धर्वोंका प्रिय सम्मोहन नामक अस्त्र
 प्रस्वापन, प्रशमन तथा सौम्य अस्त्र भी देता हूँ ॥ १४ ॥
 वर्षणं शोषणं चैव संतापनविलापने ॥ १५ ॥
 मादनं चैव दुर्धर्षं कन्दर्पदयितं तथा ।
 गान्धर्वमस्त्रं दयितं मानवं नाम नामतः ॥ १६ ॥
 ऐशाचमस्त्रं दयितं मोहनं नाम नामतः ।
 प्रतीच्छ नरशार्दूल राजपुत्र महायशः ॥ १७ ॥
 'महायशस्वी पुरुषसिंह राजकुमार ! वर्षण, शोषण,
 संतापन, विलापन तथा क्रमदेवक प्रिय दुर्जय अस्त्र मादन,
 गन्धर्वोंका प्रिय मानवास्त्र तथा पिशाचोंका प्रिय मोहनास्त्र भी
 मुझसे ग्रहण करो ॥ १५-१७ ॥
 नामसं नरशार्दूल सौमनं च महाबलम् ।
 संवर्तं चैव दुर्धर्षं मौमलं च नृपात्मज ॥ १८ ॥
 सत्यमस्त्रं महाबाहो तथा मायामयं घाम् ।
 सौरं तेजःप्रभं नाम परतेजोऽप्यकर्षणम् ॥ १९ ॥
 'नरश्रेष्ठ राजपुत्र महाबाहु राम ! तामस, महाबली
 मौमन, संवर्त, दुर्जय, मौसल, सत्य और मायामय उत्तम
 अस्त्र भी तुम्हें अर्पण करता हूँ । सूर्यदेवताका तेजःप्रभ
 नामक अस्त्र, जो शत्रुके तेजका नाश करनेवाला है, तुम्हें
 अर्पित करता हूँ ॥ १८-१९ ॥

सोमाखं शिशिरं नाम त्वाष्टमखं सुदारुणम् ।
दारुणं च भगव्यापि शीतेषुमथ मानवम् ॥ २० ॥

‘सोम देवताका शिशिर नामक अख, स्वष्टा (विश्वकर्मा) का अत्यन्त दारुण अख, भगदेवताका भी भयकर अख तथा मनुका शीतषु नामक अख भी तुम्हें देता हूँ ॥ २० ॥

एषान् राम महाबाहो कामरूपान् महाबलान् ।
गुहाण परमोदारान् क्षिप्रमेव नृपात्मज ॥ २१ ॥

महाबाहु राजकुमार श्रीराम ! ये सभी अख इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले महान् बलमें सम्पन्न तथा परम उदार हैं । तुम शीघ्र ही इन्हें ग्रहण करो ॥ २१ ॥

स्थितस्तु ब्राह्मणो भूत्वा शुचिर्गुणिकस्तदा ।
दृष्टीं राघवाय सुप्रीतो भन्तप्रापमनुत्तमम् ॥ २२ ॥

ऐसा कहकर मुनियर विश्वामित्रजी उस समय ज्ञान आदिमें शुद्ध हो पूर्वाभिरुचि होकर बैठ गये और अत्यन्त प्रसन्नताके साथ इन्होंने श्रीरामचन्द्रजीको उन सभी उत्तम आत्माका ज्ञादेश दिया ॥ २२ ॥

राजर्षिग्रहणं येषां दैवतेरपि दुर्लभम् ।
तान्यस्त्राणि तदा विप्रो राघवाय न्यवेदयत् ॥ २३ ॥

जिन आत्माका पूर्णरूपमें समझ करना देवताओंके लिये भी दुर्लभ है, उन राजर्षिके विप्रवर विश्वामित्रजीने श्रीरामचन्द्रजीको समर्पित कर दिया ॥ २३ ॥

उपतस्तु मुनेस्तस्य विश्वामित्रस्य धीमतः ।

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे सप्तविंशः सर्गः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें सप्तविंशः सर्ग पूरा हुआ ॥ २७ ॥

अष्टाविंशः सर्गः

विश्वामित्रका श्रीरामको अस्त्रोकी संहारविधि बताना तथा उन्हें अन्यान्य अस्त्रोका उपदेश करना, श्रीरामका एक आश्रम एवं यज्ञस्थानके विषयमें मुनिसे प्रश्न

प्रतिगृह्य ततोऽस्त्राणि प्रहृष्टवदनः शुचिः ।
गच्छन्नेव च काकुत्स्थो विश्वामित्रमथाब्रवीत् ॥ १ ॥

उन अस्त्रोको ग्रहण करके परम पवित्र श्रीरामका मुख परप्रतापसे खिल उठा था । वे चञ्चले-चञ्चले हो विश्वामित्रसे बोले— ॥ १ ॥

गृहीतास्त्रोऽस्मि भगवन् दुराथर्षः सुररषि ।
अस्त्राणां स्वर्हमित्युक्तमि संहारान् मुनिपुङ्गव ॥ २ ॥

‘भगवन् ! आपकी कृपासे इन अस्त्रोको ग्रहण करके मैं देवताओंके लिये भी दुर्जय हो गया हूँ । मुनिश्रेष्ठ ! अब मैं अस्त्रोकी संहारविधि बताना चाहता हूँ ॥ २ ॥

एषे भुवति काकुत्स्थो विश्वामित्रो महातपाः ।
संहारान् व्याजहाराथ धृतिमान् सुव्रतः शुचिः ॥ ३ ॥

काकुत्स्थकुलतिलक श्रीरामके ऐसा कहनेपर महातपस्वी धीरवान्, उत्तम व्रतधारी और पवित्र विश्वामित्र मुनिने उन्हें

उपतस्थुर्महार्हाणि सर्वाण्यस्त्राणि राघवम् ॥ २४ ॥
ऊर्ध्वं मुदिता रामं सर्वे प्राञ्जलवस्तदा ।

इमे च परमोदार किंकरास्तव राघव ॥ २५ ॥
यद्यदित्थसि भद्रे ते तत्सर्वं करिष्याम वै ।

वृद्धिमान् विश्वामित्रजीने ज्यों ही जप आरम्भ किया त्यों ही वे सभी परम पुज्य दिव्यास्त्र स्वन आकर श्रीरघुनाथजीके पास उपस्थित हो गये और अत्यन्त हर्षमें आकर उस समय श्रीरामचन्द्रजीसे हाथ जोड़कर कहने लगे—‘परम उदार रघुनन्दन ! आपका कल्याण हो । हम सब आपके किङ्कर हैं । आप हमसे जो-जो सेवा लेना चाहेंगे, वह सब हम करनेको तैयार रहेंगे’ ॥ २४-२५ ॥

ततो रामः प्रसन्नत्वा तैरित्युक्तो महाबलैः ॥ २६ ॥
प्रतिगृह्य च काकुत्स्थः समालभ्य च पाणिना ।

मानसा मे भविष्यध्वमिति तान्यभ्यचोदयत् ॥ २७ ॥

उन महान् प्रभावशाली अस्त्रोंके इस प्रकार कहनेपर श्रीरामचन्द्रजी मन-ही मन बहुत प्रसन्न हुए और उन्हें ग्रहण करनेके पक्षान् हाथसे उनका स्पर्श करके बोले—‘आप सब मेरे मनमें निवास करें’ ॥ २६-२७ ॥

ततः प्रीतमना रामो विश्वामित्रे महामुनिम् ।
अभिवाद्य महानेजा गमनायोपचक्रमे ॥ २८ ॥

तदनन्तर महानजस्वी श्रीरामने प्रसन्नचित्त होकर महामुनि विश्वामित्रको प्रणाम किया और आगकी यात्रा आरम्भ की ।

अस्त्रोको संहारविधि का उपदेश दिया ॥ ३ ॥
सत्यवन्तं सत्यकीर्तिं धृष्टं रथसमेव च ।

प्रतिहारनरं नाम पराष्टमुखमवाङ्मुखम् ॥ ४ ॥
लक्ष्यालक्ष्याविमौ चैव दुष्टनाभसुनाभकौ ।

दशाक्षशतवक्त्रौ च दशशीर्षशतोदरी ॥ ५ ॥
पद्मनाभमहानाभौ दुन्दुनाभस्वनाभकौ ।

ज्योतिषं शकुनं चैव वैरास्यविमलामुभौ ॥ ६ ॥
योगेश्वरविनिद्रौ च दैत्यप्रमथनौ तथा ।

शुचिबाहुर्महार्हाहुर्निष्कलिर्विरुद्धस्तथा ।
सार्चिमाली धृतिमाली धृतिमान् रुचिरस्तथा ॥ ७ ॥

पित्र्यः सौमनसश्चैव विधूतमकराशुभौ ।
परवीरं रतिं चैव धनधान्यौ च राघव ॥ ८ ॥

कामरूपं कामरुचिं मोहमावरणं तथा ।
जम्भकं सर्पनाथं च धन्यानवरुणौ तथा ॥ ९ ॥

कृशाश्वतनयान् राम भास्वरान् कामरूपिणः ।

प्रतोच्छ मम भद्रं ते पात्रभूतोऽसि राघव ॥ १० ॥

नदनन्तर वे बोले—'रघुकुलनन्दन राम ! तुम्हारा कल्याण हो । तुम अस्त्रविद्याके सुयोग्य पात्र हो; अतः नज्राङ्गुल अस्त्रोंको भी ग्रहण करो—सत्यवान्, सत्यकीर्ति, धृष्ट, रभस, प्रतिहारतर, प्राङ्मुख, अवाङ्मुख, लक्ष्म अलक्ष्म, दुर्नाभ, सुनाभ, दशगक्ष, शतवक्त्र, दशशार्प, इनादर, पञ्चनाभ, महानाभ, दुन्दुनाभ, स्वनाभ, ज्योतिष, शकुन्, नैरास्य, विमल, दैत्यनाशक योगधर और विनिद्र रात्रिवाह, महाबाहू निष्कलि त्रिरत्न सार्वभौम, धूम्रमात्री क्षत्रिमान्, रुचिर, पित्र्य सौमनस विभूत भकर पञ्चोर रति, धन, धान्य, कामरूप, कामरुचि, मोह, आवरण, जूष्मक, मर्पनाथ पञ्चान और वृण—ये सभी प्रजपति कृशाश्वक पुत्र हैं वे इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले तथा परम तेजस्वी हैं तुम इन्हें ग्रहण करो' ॥ ४—१० ॥

बाहमित्येव काकुत्स्थः प्रहृष्टेनान्तरात्मना ।

दिव्यभास्वरदेहाश्च मूर्तिमन्तः सुखप्रदाः ॥ ११ ॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर श्रीरामचन्द्रजीने प्रसन्न मनसे उन अस्त्रोंको ग्रहण किया । उन मूर्तिमान् अस्त्रोंके शरीर दिव्य तेजसे उज्ज्वलित हो रहे थे । वे अस्त्र जगत्को सुख देनेवाले थे ॥ ११ ॥

केचिदङ्गारसदृशाः केचिद् धूमोपमास्तथा ।

अङ्गारसदृशाः केचित् प्रह्लाज्जालपुटास्तथा ॥ १२ ॥

उनमेंसे कितने ही अङ्गारोंके समान तेजस्वी थे । कितने ही धूमके समान काले प्रतीत होते थे तथा कुछ अस्त्र सूर्य और चन्द्रमाके समान प्रकाशमान थे । वे सब-के-सब हाथ जाड़कर श्रीरामक समक्ष खड़े हुए ॥ १२ ॥

रामं प्राञ्जलयो भूत्वाबुधन् मधुरभाषिणः ।

इमे स्म नःशार्ङ्गल शार्ङ्गि किं करदाम ते ॥ १३ ॥

उन्होंने अञ्जलि बाँध मधुर वाणीसे श्रीरामसे इस प्रकार कहा—'गुरुपति ! हमलोग आपके पास हैं । आज्ञा भीजिये, हम आपको क्या सेवा करें ?' ॥ १३ ॥

गण्यतामिति तानाह यथेष्टं रघुनन्दनः ।

मानसाः कार्यकालेषु साहाय्यं मे करिष्यथ ॥ १४ ॥

तब रघुकुलनन्दन रामने उनसे कहा—'इस समय तो भागलोग अपने अभीष्ट स्थानको जायँ 'गन्' आवश्यकताके समय मेरी मनमें स्थित होकर सदा मेरी सहायता करते रहें' ॥ १४ ॥

अथ ते रामयामन्य कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ।

एवमस्त्विति काकुत्स्थमुक्त्वा जग्मुर्वथागतम् ॥ १५ ॥

तत्पश्चात् वे श्रीरामकी परिक्रमा करके उनसे विदा ले उनकी आज्ञाके अनुसार कार्य करनेकी प्रतिज्ञा करके जैसे आये थे, वैसे चले गये ॥ १५ ॥

स च तान् राघवो ज्ञात्वा विश्वामित्रं महामुनिम् ।

गच्छन्नेवाथ मधुरं इलक्ष्णं वचनमब्रवीत् ॥ १६ ॥

किमेतन्प्रेषसंकाशं पर्वतस्याविदूरतः ।

वृक्षखण्डमिदो भर्ति परं कौतूहलं हि मे ॥ १७ ॥

इस प्रकार उन अस्त्रोंका ज्ञान प्राप्त करके श्रीगुनाधजीने चलते-चलते ही महामुनि विश्वामित्रसे मधुर वाणीसे पूछा—'भगवन् ! सामनेवाले पर्वतके पास ही जो यह भद्राको घटाके समान सघन वृक्षसे भरा स्थान दिखायी देता है, क्या है ? उसके विषयमें जाननेके लिये मेरे मनमें बड़ी लक्ष्णता हो रही है ॥ १६-१७ ॥

दर्शनीयं मुगाकीर्णं धनोहरमसीव च ।

नानाप्रकारैः शकुनैर्वल्गुभाषैरलंकृतम् ॥ १८ ॥

'यह दर्शनीय स्थान मुर्गोंके झुंडसे भरा हुआ होनेके कारण अत्यन्त धनोहर प्रतीत होता है । नाना प्रकारके पक्षी अपनी मधुर शब्दावलीसे इस स्थानकी शोभा बढ़ाते हैं । निःसृताः स्मो मुनिश्रेष्ठ कान्ताराद् रोमहर्षणात् ।

अनया त्ववगच्छामि देशस्य सुखवत्तया ॥ १९ ॥

'मुनिश्रेष्ठ । इस प्रदेशकी इस सुखमयी स्थितिसे यह जान पड़ता है कि अब हमलोग उस रोमाञ्चकारी दुर्गम ताटकावनसे बाहर निकल आये हैं ॥ १९ ॥

सर्वं मे शंस भगवन् कस्याग्रमपदं त्विदम् ।

सम्प्राप्ता यत्र ते पापा ब्रह्मघ्ना दुष्टचारिणः ॥ २० ॥

तव यज्ञस्य विधाय दुरात्मानो महामुने ।

भगवन्तस्य को देशः सा यत्र तव याज्ञिकी ॥ २१ ॥

रक्षितव्या क्रिया ब्रह्मन् यथा बध्याश्च राक्षसाः ।

एतत् सर्वं मुनिश्रेष्ठ श्रोतुमिच्छाम्यहं प्रभो ॥ २२ ॥

'भगवन् ! मुझे सब कुछ बताइये । यह किमकी आश्रम है ? भगवन् महामुने । जहाँ आपकी यज्ञक्रिया हो रही है, जहाँ वे पापी दुराचारी ब्रह्महत्या, दुरात्मा राक्षस आपके यज्ञमें विघ्न डालनेके लिये आया करते हैं और जहाँ भूरी यज्ञकी रक्षा तथा राक्षसोंके बधका कार्य करना है, उस आपके आश्रमका कौन-सा देश है ? ब्रह्मन् ! मुनिश्रेष्ठ प्रभो । यह सब मैं सुनना चाहता हूँ ॥ २०—२२ ॥

इत्यर्थं श्रीमद्रामायणे बाल्योक्तये आदिकाण्डे अष्टाविंशः सर्गः ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीबाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाण्डके बालकाण्डमें अष्टाद्विंश सर्ग पूरा हुआ ॥ २८ ॥



एकोनविंशः सर्गः

विश्वामित्रजीका श्रीरामसे सिद्धाश्रमका पूर्ववृत्तान्त बताना और उन दोनों भाइयोंके साथ अपने आश्रमपर पहुँचकर पूजित होना

अथ तस्याप्रमेयस्य वचनं परिपृच्छतः ।

विश्वामित्रो महातेजा व्याख्यातुमुपचक्रमे ॥ १ ॥

अपराधित प्रभावशाली भगवान् श्रीरामका वचन सुनकर महातेजस्वी विश्वामित्रने उनके प्रश्नका उत्तर देना अवश्य किया— ॥ १ ॥

इह राम महाबाहो विष्णुर्देवनमस्कृतः ।

वर्षाणि सुबहूनीह तथा भुगक्षतानि च ॥ २ ॥

तपश्चरणभोगार्थमुवासर सुमहातपाः ।

एष पूर्वाश्रमो राम धामनस्य महात्मनः ॥ ३ ॥

‘महाबाहू श्रीराम ! पूर्वकालमें यहाँ देववन्दित भगवान् विष्णुने बहुत वर्षों एवं सो ग्रासक प्रस्ताके लिये निवास किया था । उन्होंने यहाँ बहुत बड़ा तपस्या की थी । यह स्थान महात्मा धामनका—धामन अवतार धारण करनेकी उद्यत हुए श्रीविष्णुका अवतार, ग्रहणसे पूर्व आश्रम था ॥ २-३ ॥

सिद्धाश्रम इति ख्यातः सिद्धो ह्यत्र महातपोः ।

एतस्मिन्नेव काले तु राजा वैरोचनिर्वर्त्तिः ॥ ४ ॥

निर्जित्व दैवतगणान् सेन्द्रान् सहमरुद्वृणान् ।

कावयामास तत्रान्यं त्रिषु लोकेषु विभ्रतः ॥ ५ ॥

‘इसकी सिद्धाश्रमक नामसे प्रसिद्ध थी, क्योंकि यहाँ गतात्परस्वी विष्णुकी मूर्ति आम हुई थी । जब से तपस्या करने थे, तभी समय विरोचनकुमार राजा बल्लिने इन्द्र और मरुद्वृणोंसहित समस्त देवताओंको पराजित करके उनका राज्य अपने अधिकारमें कर लिया था । वे तीनों लोकामें विजयवादी हो गये थे ॥ ४-५ ॥

यज्ञं चकार सुप्रज्ञानसुरेन्द्रो महाबलः ।

बलेन यजमानस्य देवाः साप्तिपुरोगमाः ।

समागम्य स्वयं चैव त्रिषुमुमुग्हिताश्रये ॥ ६ ॥

‘उन महाबली महान् असुरराजने एक यज्ञका आयोजन किया । यज्ञ बलि यज्ञमें लगे हुए थे, इधर आगि आदि देवता स्वयं इस आश्रममें पधारकर भगवान् विष्णुसे मिले ॥ ६ ॥

वर्त्तिर्वैरोचनिर्विष्णो यजते यज्ञमुत्तमम् ।

असमाप्रवृत्ते तस्मिन् स्वकार्यमधिपद्यताम् ॥ ७ ॥

‘सर्वव्यापी परमेश्वर ! विरोचनकुमार बलि एक ठोका यज्ञका अनुष्ठान कर रहे हैं । उनका वह यज्ञ-मन्त्रकी नियम पूर्ण होनेसे पहले ही हमें अपना कार्य सिद्ध कर लेना चाहिये ॥ ७ ॥

ये चैनपथिवर्तन्ते याधिनार इतस्ततः ।

यद्य यत्र यथावच्च सर्वं तेभ्यः प्रयच्छति ॥ ८ ॥

‘इस समय जो भी याचक इधर-उधरसे आकर उनके यहाँ याचनाके लिये उपस्थित होते हैं, वे गो, भूमि और मुक्करी आदि सम्पत्तियोंमेंसे जिस वस्तुको भी लेना चाहते हैं, उनके वे सभी वस्तुएँ राजा बलि यथावत्-रूपसे अर्पित करते हैं ॥ ८ ॥

स त्वं सुरहितार्थाय मायायोगमुपाश्रितः ।

वामनत्वं गतो विष्णो कुरु कल्याणमुत्तमम् ॥ ९ ॥

‘अन्तः विष्णो ! आप देवताओंके हितके लिये अपनी योगमायाका आश्रय लें वामनरूप धारण करके उस यज्ञमें जाइये और हमारा उत्तम कल्याण-साधन कीजिये ॥ ९ ॥

एतस्मिन्नन्तरे राम कश्यपोऽग्निसमप्रभः ।

अदित्या सहितो राम दीप्यमान इवोज्ज्वा ॥ १० ॥

देवीसहायो भगवान् दिव्यं वर्षमहम्वकम् ।

व्रतं सपाप्य वरदं तुष्टाव मधुसूदनम् ॥ ११ ॥

‘श्रीराम ! इसी समय आपके समान तेजस्वी महर्षि कश्यप धर्मपत्नी अदितिके साथ अपने सेजसे प्रकाशित हुए यहाँ आए । वे एक महत्त्व दिव्य वर्षादिक चालू रहनेवाले महान् व्रतको अदितिदेवीके साथ ही समाप्त करके आये थे । उन्होंने वरदायक भगवान् मधुसूदनकी इस प्रकार स्तुति की— ॥ १०-११ ॥

तपोमयं तपोराशिं तपोपूर्तिं तपात्थकम् ।

तपसा त्वां सुतप्तेन पश्यामि पुरुषोत्तमम् ॥ १२ ॥

‘भगवन् ! आप तपोमय हैं । तपस्याकी राशि हैं । तप आपका स्वरूप है । आप ज्ञानस्वरूप हैं । मैं भस्त्रीभानि कर्मका करके उसके प्रभावमें आप पुरुषोत्तमका दर्शन कर रहा हूँ ॥ १२ ॥

शरीरे तव पश्यामि जगत् सर्वमिदं प्रभो ।

त्वमनादिरनिर्देश्यस्त्वामहं शरणं गतः ॥ १३ ॥

‘प्रभो ! मैं इस सारे जगत्को आपके शरीरमें स्थित देखता हूँ । आप अनन्त हैं । देवता, काल और वस्तुको सोमासे परे होनेके कारण आपको इदमित्यस्वरूपसे निर्देश नहीं किया जा सकता । मैं आपकी शरणमें आया हूँ ॥ १३ ॥

तमुवाच हरिः प्रीतः कश्यपं गतकल्मषम् ।

वरं वरय भद्रं ते वराहोऽसि मनो मय ॥ १४ ॥

‘कश्यपजीके सारे पाप धुल गये थे । भगवान् श्रीहरिने अत्यन्त प्रसन्न होकर उनसे कहा— ‘महर्षे ! तुम्हारा कल्याण हो । तुम अपने इच्छाके अनुसार कोई वर माँगो, क्योंकि तुम मेरे विचित्रमें वर पानेक योग्य हो ॥ १४ ॥

क्वत्वा वचने तस्य मारीचः कश्यपोऽब्रवीत् ।

अदित्या देवतानां च मम धैर्यानुयायिनम् ॥ १५ ॥

वरं वरं सुप्रीतो दातुमर्हसि सुव्रत ।

पुत्रस्य गच्छ भगवन्नदित्या मम आनघ ॥ १६ ॥

भागवान्का यह वचन सुनकर मरीचिनन्दन कश्यपने कहा—

‘उत्तम व्रतका पावन करनेवाले सहायक परमेश्वर ।

अपूर्ण देवताओंकी, आदितिकी तथा मेरी भी आपसे एक ही कामके लिये बारम्बार याचना है । आप अत्यन्त प्रमत्त होकर मुझे नर एवं सौ वर प्रदान करें । भगवन् । निम्नाप नारायणदत्त ।

आप मेरे और आदितिके पुत्र हो जायें ॥ १५-१६ ॥

अना भव यवीयास्त्वे शकस्यासुरमृदन ।

शाकतानां तु देवानां साहाय्यं कर्तुमर्हसि ॥ १७ ॥

‘असुरमृदन ! आप इन्द्रके छोटे भाई हैं और शकसे मेट्टिन हुए इन देवताओंकी सहायता करें ॥ १७ ॥

अयं सिद्धाश्रमो नाम प्रसादान् ते भविष्यति ।

सिद्धे कर्मणि देवेश उतिष्ठ भगवन्नितः ॥ १८ ॥

‘देवेश्वर ! भगवन् ! आपको कुशल यह स्थान सिद्धाश्रमके नामसे विख्यात होगा । अब आपका नपरूप कार्य सिद्ध हो गया है; अतः यहाँसे उठें ॥ १८ ॥

अथ विष्णुर्महातेजा अदित्यां सम्प्राप्यत ।

वामने रूपमास्थाय वरं च निमुपागमत् ॥ १९ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी भगवान् विष्णु आदितिदेवोंके पास प्रकट हुए और वामनरूप धारण करके विराचनकुमार पालके पास गये ॥ १९ ॥

जीन् घटानथ भिक्षित्वा प्रतिगृह्य च मेदिनीम् ।

आक्रम्य लोकैर्लोकार्थो सर्वलोकत्रिणे रतः ॥ २० ॥

भक्षेन्नाय पुनः प्रादान्नियम्य बलिमोजसा ।

त्रैलोक्यं स महातेजाशुक्रं शकवशं पुनः ॥ २१ ॥

‘सम्पूर्ण लोकोंके हितमें तत्पर रहनेवाले भगवान् विष्णु बलिके अधिकारसे त्रिलोकोंका राज्य ले लेना चाहते थे। अतः उन्होंने तीन पग भूमिके लिये याचना करके उनसे भूमिदान ग्रहण लिया और तीन पग भूमि का आग्रह करके उन्हें पुनः देवराज इन्द्रसे लौटा दिया । महातेजस्वी भगवान् अपनी उक्तिसे बलिदा निग्रह करके त्रिलोकोंका पुनः उद्धार अर्पण कर दिया ॥ २०-२१ ॥

तर्नैव पूर्वमाक्रान्त आश्रमः श्रमनाशनः ।

मयापि भवस्या तस्यैव वामनस्योपभुज्यते ॥ २२ ॥

‘उन्हीं आश्रमोंने पूर्वकालमें यहाँ निवास किया था, इन्हीं यहाँ यह आश्रम सब प्रक्रमके श्रम दुःख इत्यादि का

नाश करनेवाला है । उन्हीं भगवान् वामनमें भक्ति होनेके कारण मैं भी इस स्थानको अपने उपयोगमें लाता हूँ ॥ २२ ॥

एनमाश्रममायान्ति राक्षसा विघ्नकारिणः ।

अत्र ते पुण्यव्याघ्र हन्तव्या दुष्टधारिणः ॥ २३ ॥

इमो आश्रमपर मेरे यज्ञमें विघ्न डालनेवाले राक्षस आते हैं । पुरुषमिह ! यहाँ तुम्हें उन दुराचारियोंका वध करना है ॥ २३ ॥

अद्य गच्छामहे राम सिद्धाश्रममनुत्तमम् ।

तदाश्रमपदं तात तदाप्येतद् यथा मम ॥ २४ ॥

‘श्रीराम ! अब हमलोग उस परम उत्तम सिद्धाश्रममें पहुँच रहे हैं । तात ! वह आश्रम जैसे मेरा है, वैसे ही तुम्हारा भी है ॥ २४ ॥

इत्युक्त्वा परमप्रीतो गृह्य रामं सलक्ष्मणम् ।

प्रविशन्नाश्रमपदं व्यरोचत महामुनिः ।

शशिव गतनीहारः पुनर्वसुसमन्वितः ॥ २५ ॥

ऐसा कहकर महामुनिने बड़े प्रमत्त श्रीराम और लक्ष्मणके हाथ बँकड़ लिये और उन दोनोंके साथ आश्रममें प्रवेश किया । उस समय पुनर्वसु नामक दो नक्षत्रोंके बीचमें स्थित नुषारकित चन्द्रमाके भक्ति उनकी शोभा हुई ॥ २५ ॥

तं दृष्ट्वा मुनयः सर्वे सिद्धाश्रमनिवासिनः ।

अपत्योत्पत्य सहसा विश्वामित्रमपूजयन् ॥ २६ ॥

यथाहं चकिरे पूजां विश्वामित्राय धीमते ।

तथैव राजपुत्राभ्यामकुर्वन्नतिथिक्रियाम् ॥ २७ ॥

विश्वामित्रजीको आया देख सिद्धाश्रममें रहनेवाले सभी तपस्वी उछलते-कूदते हुए सहसा उनके पास आये और मदने निष्क्रिय उन बुद्धिमान् विश्वामित्रजीको यथोचित पूजा की । इमो प्रकट उन्होंने इन दोनों राजकुमारोंका भी अतिथि-मन्त्र कर दिया ॥ २६-२७ ॥

मुहूर्तमथ विश्रान्ता राजपुत्रावरिदमौ ।

प्राञ्जली मुनिशार्दूलमृच्छतु रघुनन्दनौ ॥ २८ ॥

दो महान्तक विश्राम करनेके बाद रघुकुलको आनन्द देनेवाले राजपुत्र राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मण हाथ जोड़कर मुनिवर विश्वामित्रसे बोले— ॥ २८ ॥

अद्यैव दीक्षो प्रविश भद्रं ते मुनिपुंगव ।

सिद्धाश्रमोऽयं सिद्धः स्यात् सत्यमस्तु वधस्तव । ॥ २९ ॥

‘मुनिश्रेष्ठ ! आप आज ही यज्ञकी दीक्षा ग्रहण करें । आपका कल्याण हो । यह सिद्धाश्रम वास्तवमें यथानाम तथागुण सिद्ध हो और राक्षसोंके वधके क्रियामें आपकी

शक्ति बड़े बान सबी हो ॥ २९ ॥

एवमुक्तो महातेजा विश्वामित्रो महर्षिः ।
प्रविवेश तदा दीक्षी नियतो नियतेन्द्रियः ॥ ३० ॥
कुमारावपि तां रात्रिमुषित्वा सुसमाहितौ ।
प्रभातकाले चोत्थाय पूर्वा संध्यामुपास्य च ॥ ३१ ॥
प्रशुचीं परमं जाप्यं समाप्य नियमेन च ।
हुताग्निहोत्रमासीनं विश्वामित्रमवन्दताम् ॥ ३२ ॥
उनके ऐसा कहनेपर महातेजस्वी महर्षि विश्वामित्र

जितेन्द्रियभावसे नियमपूर्वक यज्ञकी दीक्षामें प्रविष्ट हुए। वे दोनों राजकुमार भी सावधानोंके साथ यत ज्यत्नेत करके सवेरे उठे और स्नान आदिसे शुद्ध हो प्रातःकालके संध्यापासना तथा नियमपूर्वक सर्वश्रेष्ठ गायत्रीमन्त्रका जप करने लगे। जप पूरा होनेपर उन्होंने अग्निहोत्र करके बैठे हुए विश्वामित्रजीके चरणोंमें वन्दना की ॥ ३०—३२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे धर्मसूक्तिकीये आदिकाण्डे एकोनविंशः सर्गः ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाल्मीकीयनिर्मित आर्यरामायण आदिकाण्डके बालकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २९ ॥

त्रिंशः सर्गः

श्रीरामद्वारा विश्वामित्रके यज्ञकी रक्षा तथा राक्षसोंका संहार

अथ त्रींशेऽध्याये राजपुत्रावरिदमौ ।
देशे काले च साव्यशावत्रूणां कौशिकं वचः ॥ १ ॥
तदनन्तर देश और कालके जाननेकाले राजदमन
राक्षकुमार श्रीराम और लक्ष्मण जो देश और कालके अनुसार
बोलने योग्य वचनक मर्मज्ञ थे, कौशिक मुनिसे इस
प्रकार बोले— ॥ १ ॥

भगवद्भक्षेत्पिच्छाद्यो यस्मिन् काले निशाचरौ ।
संरक्षणीयौ तौ कृतिं नातिवर्तेत तत्क्षणम् ॥ २ ॥

'भगवन् ! अब हम दोनों यह मुनका चाहते हैं कि किम
समय उन दोनों निशाचरोंका आक्रमण होता है ? जब कि
हमें उन दोनोंको यज्ञभूमिमें आनेसे रोकना है। कौशिक मुनिसे
हो, असावधानोंमें ही वह समय हाथसे निकल जाय, अतः
उसे बता दोजिय' ॥ २ ॥

एवं कुर्याणौ काकुत्स्थौ त्वग्माणौ युयुत्सवा ।
सर्वे ते मुनयः प्रीता प्रशशसुर्नृपात्मजौ ॥ ३ ॥

ऐसी बात कहकर युद्धकी इच्छासे उत्तावल हुए उन
दोनों ककुत्स्थवंशी राजकुमारोंकी ओर देखकर वे सब
मुनि बड़े प्रसन्न हुए और उन दोनों बन्धुओंकी भूमि पूरी
प्रशंसा करने लगे ॥ ३ ॥

अद्यप्रभृति बहूनां रक्षतां राघवी युवाम् ।
दीक्षा गतो ह्येष मुनिर्मानित्वं च गर्मिष्यति ॥ ४ ॥

वे बोले—'ये मुनिवर विश्वामित्रजी यज्ञकी दीक्षा
ले चुके हैं; अतः अब मौन रहेंगे। आप दोनों रघुवंशी
वीर सावधान होकर आजमें छः रातातक इनके यज्ञकी
रक्षा करते रहें' ॥ ४ ॥

तौ तु तद्वचनं श्रुत्वा राजपुत्रौ यशस्विनौ ।
अनिद्रं षडहोरात्रं तपोवनपरक्षताम् ॥ ५ ॥

मुनियोंका यह वचन सुनकर वे दोनों यशस्वी राजकुमार
लगातार छः दिन और छः राततक उस तपोवनको रक्षा करते

रहे; इस बीचमें उन्होंने नींद भी नहीं ली ॥ ५ ॥
उपासांचक्रतुर्वीरौ यतौ परमधन्विनौ ।

रक्षतुर्मुनियरं विश्वामित्रमरिदमौ ॥ ६ ॥

यज्ञोंका दमन करनेवाले वे परम धनुर्धर वीर सतत
सावधान रहकर मुनिवर विश्वामित्रके पास खड़े हो उनकी
(और इनके यज्ञकी) रक्षामें लगे रहे ॥ ६ ॥

अथ काले गते तस्मिन् षष्ठेऽहनि तदागते ।
सोमिप्रिमन्नवीद् रामो यत्नो भव समाहितः ॥ ७ ॥

इस प्रकार कुछ काल बीत जानेपर जब छठा दिन आया
तब श्रीरामने सुमित्रकुमार लक्ष्मणसे कहा— सुमित्रानन्दन !
तुम अपने चिन्तकों एकाग्र करके सावधान हो जाओ ॥ ७ ॥

रामस्यैव ब्रुवाणस्य स्वरितस्य युयुत्सवा ।
प्रज्ज्वाल ततो वेदिः सोपाध्यायपुरोहिता ॥ ८ ॥

युद्धकी इच्छासे शीघ्रता करते हुए श्रीराम इस प्रकार कह
हा रहे थे कि उपाध्याय (ब्रह्मा) पुरोहित (उपद्रष्टा) तथा
अन्यान्य ऋत्विजोंमें धिरी हुई यज्ञकी वेदी सहसा प्रज्वलित
हो उठी (वेदीका यह जलना राक्षसोंके आगमनका सूचक
उत्पात था) ॥ ८ ॥

सदर्भवमसलुका ससमित्सुसुपोद्यवा ।
विश्वामित्रेण सहिता वेदिर्ज्ज्वाल सन्विजा ॥ ९ ॥

इसके बाद कुश, चमस, रुक्, समिधा और फूलोंके
द्वारेमें मुशोभिषित होनेवाली विश्वामित्र तथा ऋत्विजोंसहित जो
यज्ञकी वेदी थी, उसपर आहवनीय अग्नि प्रज्वलित हुई
(अग्निकर यह प्रज्वलन यज्ञके उद्देश्यसे हुआ था) ॥ ९ ॥

मन्त्रवच्च यथान्यायं यज्ञोऽसौ सम्प्रवर्तते ।
आकाशे च महाज्ज्वलः प्रादुरासीद् भयानकः ॥ १० ॥

फिर तो शास्त्रीय विधिके अनुसार वेद-मन्त्रोंके उच्चारण-
पूर्वक उस यज्ञका कार्य आरम्भ हुआ। इसी समय आकाशमें
बड़े जोरका ज्वल हुआ, जो बड़ा ही भयानक था ॥ १० ॥

आचार्य रगनं मेघो यथा प्रावृषि दृश्यते ।
नथा मायां विकुर्वाणो राक्षसावभ्यधावनम् ॥ ११ ॥
मारीचश्च सुबाहुश्च सयारनुचरास्तथा ।
आगम्य भीमसेकाशा रुधिरौघानवासृजन् ॥ १२ ॥

जैसे वर्षाकालमें मेघोंको घटा सारे आकाशको घेरकर
ज्याया हुई दिखायो देतो है उसी प्रकार मार्गच और मृगदु
नामक राक्षस सब और अपनी माया फैलाते हुए यज्ञ-
नगड़ियों और दौड़ आ गे थे उनका अदृश भी साथ था ।
उन भयंकर राक्षसों ने वहाँ आकर रक्तकी धाराएँ बरसाना
आरम्भ कर दिया ॥ ११-१२ ॥

नो तेन रुधिरौघेण वेदीं वीक्ष्य संपुक्षिनाम् ।
महसाभिद्रुतो रामस्तानपश्यत् ततो दिवि ॥ १३ ॥
नावापतन्ती सहसा दृष्ट्वा राजीवलोचनः ।
लक्ष्मणो त्वधिसम्योक्ष्य रामो वचनमब्रवीत् ॥ १४ ॥

रक्तक उस प्रवाहसे यज्ञ-वेदीके आस-पासकी भूमिका
भीगी हुई देख श्रीरामचन्द्रजी सहसा दौड़े और इधर-उधर
दृष्टि डालनेपर उन्होंने उन राक्षसोंके आकाशमें स्थित देखा ।
मारीच और सुबाहुको सहसा आते देख कमलनयन श्रीरामने
लक्ष्मणको आगे देखकर कहा— ॥ १३-१४ ॥

पश्य लक्ष्मण दुर्मृतान् राक्षसान् पिशिताशनान् ।
मानवास्त्रसमाधूताननिलेन यथा घनान् ॥ १५ ॥
कर्णधारो न संदेहो नोत्सहे हन्तुर्मादृशान् ।

'लक्ष्मण ! वह देखा मोममक्षय करनेवाले दुराचारी
राक्षस आ पहुँचे । मैं मानवराक्षसों को मराने के लिये प्रकट मत
भगाऊँगा, जैसे वायुके वेगसे बादल हिंस्र भिन्न हो जाते हैं ।
अब इस क्षणमें नरिन्द्र भी मदह नही है ऐसे कर्णधारों में
मारना नहीं चाहता ॥ १५ ॥

इत्युक्त्वा वचनं रामश्चापे संधाय वंगवान् ॥ १६ ॥
मानव परमोदारमखं परमधास्वगम् ।
विक्षेप परमकुक्षो मारीचोरसि राघव ॥ १७ ॥

ऐसा कहकर वेगशाली श्रीरामने अपने धनुषपर परम
ठंडा सायास्त्रका संधान किया । वह अखंड अमर्यन्त नेत्रमयी
था । श्रीरामने वहाँ शेषों परकर मारीचको छातीमें उस
बाणका प्रहार किया ॥ १६-१७ ॥

स तेन परमाखण्डे मानवेन समाहृतः ।
सम्पूर्ण योजनज्ञातं क्षिप्तः सागरसम्प्लवे ॥ १८ ॥

तब उनमें मानवास्त्रका महारा आघात लगनेसे मार्गच पूं
ली योजनकी दूरीपर समुद्रके जलमें आ गया ॥ १८ ॥

विक्षेपेन विधूर्णन्तं शीतिषुबलपीडितम् ।
निरस्ते दृश्य मारीचं रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ १९ ॥

शीतपु नामक मानवास्त्रसे पीड़ित हो मारीच अचत-सा
इत्यर्थे श्रीमद्रामायणे आख्यातार्थे आदिकाण्डे त्रिंशः सर्गः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीबालमार्कान्देय आर्यभट्टायण आदिकाण्डे बालकाण्डे त्रिंशः सर्गः पूरा हुआ ॥ ३० ॥

होकर चकर काटता हुआ दूर चला जा रहा है । यह देख
श्रीरामने लक्ष्मणसे कहा— ॥ १९ ॥

पश्य लक्ष्मण शीतिषु मानवं मनुसंहितम् ।
मोहयित्वा नमत्येनं न च प्रार्थयिष्यते ॥ २० ॥

'लक्ष्मण ! देखो, मनुक द्वारा प्रयुक्त शीतिषु नामक
मानवास्त्र इस राक्षसको मृष्टित करके दूर स्थित हो रहा है,
किन्तु उसके प्राण नहीं ले रहा है ॥ २० ॥

इमानपि वधिष्यामि निर्घणान् दुष्टचारिणः ।
राक्षसान् पापकर्मस्थान् यज्ञघ्नान् रुधिराशनान् ॥ २१ ॥

अब यज्ञमें विघ्न डालनेवाले इन दूसरे निर्दय, दुराचारी,
पापकर्मों वाले रक्तधारी राक्षसोंको भी मैं मार गिराता हूँ ॥ २१ ॥

इत्युक्त्वा लक्ष्मणो आशु लाघवं दर्शयन्निव ।
विगृह्य सुपहृष्टास्त्रमाग्रेण रघुनन्दनः ॥ २२ ॥

सुबाहुरासि चिक्षेप स विद्धः प्रापतद् भुवि ।
शोधान् वाधव्यपादाय निजघान महायशः ।

राघवः परमोदारो मुनीनां मुदमावहन् ॥ २३ ॥

लक्ष्मणसे ऐसा कहकर रघुनन्दन श्रीरामने अपने हाथकी
फुर्ती दिखाते हुए-से शीघ्र हो महान् आग्रयास्त्रका संधान
करके उसे सुबाहुके छातीपर चलाया । उसकी चौट लगाते
ही वह मरकर पृथ्वीपर गिर पड़ा । फिर महायशस्वी परम
ठंडा रघुवानने वाधव्यपाद लेकर शेष निशाचरोंको भी सहार
कर डाला और मुनियोंको परम आनन्द प्रदान किया ॥

स हत्वा राक्षसान् सर्वान् यज्ञघ्नान् रघुनन्दनः ।
ऋषिभिः पूजितस्तत्र यथेन्द्रो विजये पुरा ॥ २४ ॥

इस प्रकार रघुकुलनन्दन श्रीराम यज्ञमें विघ्न डालनेवाले
समस्त राक्षसोंका वध करके वहाँ ऋषियोंद्वारा उन्नी प्रकार
मन्त्रान्वित हुए जन्म पूर्वकालमें देवराज इन्द्र अमरुगेपर विजय
पाकर मर्त्ययात्राया पूजित हुए थे ॥ २४ ॥

अथ यज्ञे समाप्ते तु विश्वामित्रो महामुनिः ।
निरीतिका दिशो दृष्ट्वा काकुत्स्थमिदमब्रवीत् ॥ २५ ॥

यज्ञ समाप्त होनेपर महामुनि विश्वामित्रने सम्पूर्ण
दिशाओंको विघ्न-वाधाओंमें रक्षित देख श्रीगोमन्त्रजीसे
कहा— ॥ २५ ॥

कृतार्थोऽस्मि महाकाहो कृतं गुरुवचस्त्वया ।
सिद्धाश्रममिदं सत्यं कृतं वीर महायशः ।

स हि गये प्रशस्येवं ताभ्यां संध्यामुपागमत् ॥ २६ ॥

'महाकाहो ! मैं तुम्हें पाकर कृतार्थ हो गया । तुमने
गुरुको आज्ञाका पूर्णरूपसे पालन किया । महायशस्वी वीर
तुमने इस सिद्धाश्रमका नाम सार्थक कर दिया ।' इस प्रकार
श्रीरामचन्द्रजीके अज्ञाता करके मुनिने उन दोनों भाइयोंके
साथ संध्यापामना की ॥ २६ ॥

एकत्रिंशः सर्गः

श्रीराम, लक्ष्मण तथा ऋषियोंसहित विश्वामित्रका मिथिलाको प्रस्थान तथा मार्गमें संध्याके समय शोणभद्रतटपर विश्राम

अथ तौ रजनीं तत्र कृतार्थौ रामलक्ष्मणौ ।
ऊचतुर्भुविनौ वीरौ ग्रहयेनान्तरात्मना ॥ १ ॥

तदनन्तर (विश्वामित्रके यज्ञका रक्षा करके) कृतकृत्य हुए श्रीराम और लक्ष्मणने इस यज्ञशालामें ही रात गुन विनायी । उस समय वे दोनों वीर बड़े प्रसन्न थे । उनकी हृदय क्षीणतामसे परिपूर्ण था ॥ १ ॥

प्रभातार्थां तु दार्व्यां कृतपीर्यादिकक्रियौ ।
विश्वामित्रपुत्रीशान्यान् सहितार्वाभजग्मनुः ॥ २ ॥

रात घोंतनगर जब प्रातःकाल आया, तब वे दोनों भाई गुणहस्तालके बिल-निनयभय निगूना हो विश्वामित्र मुनि तथा शान्य ऋषियोंके पास भाग्य-साध गये ॥ २ ॥

आभवाद्य मुनिश्रेष्ठ ज्वलन्तामिव पावकम् ।
कञ्चनः परयोदारे वाक्यं मधुरभाषिणौ ॥ ३ ॥

वहाँ जाकर उन्होंने प्रज्वालित आगके समान तेजस्वी मुनिश्रेष्ठ । विश्वामित्रकी प्रणाम किया और मधुर भाषामें यह पास उदारे वचन कहा— ॥ ३ ॥

हमौ स्म मुनिशार्दूल किकरौ समुपागतौ ।
आज्ञापय मुनिश्रेष्ठ शासनं कस्यवाच किम् ॥ ४ ॥

'मुनिप्रवर ! हम दोनों किङ्करी आपका सवार्म उपस्थित हैं । मुनिश्रेष्ठ ! आज्ञा दीजिये, हम क्या सेवा करें ?' ॥ ४ ॥
एवमुक्ते तयोर्वाक्ये सर्व एव महर्षयः ।

विश्वामित्रं पुरश्चक्षुः रामं वचनमब्रुवन् ॥ ५ ॥

उन दोनोंके ऐसा कहनेपर वे सभी महर्षि विश्वामित्रका आगे करके श्रीगणचन्द्रजीसे बोले— ॥ ५ ॥
मैथिलस्य नरश्रेष्ठ जनकस्य भविष्यति ।
यज्ञः परमभार्यपुस्तत्र यास्यामहे वयम् ॥ ६ ॥

'नरश्रेष्ठ ! मिथिलाके राजा जनकके परम धर्ममय यज्ञ शाला में जानेपात्र है । हममें हम सब लोग जायेंगे ॥ ६ ॥
त्वं चैव नरशार्दूल सहात्माभिर्गामिष्यासि ।
अद्भुतं च धनुरात्रं तत्र त्वं द्रष्टुमर्हसि ॥ ७ ॥

पुरुषसिंह ! तुम्हें भी हमारे साथ वहाँ चलना है । वहाँ एक बड़ा ही अद्भुत धनुषरज है । तुम्हें उसे देखना चाहिये ॥ ७ ॥

तद्विधुं ध्रुवं नरश्रेष्ठ दत्तं सदासि देवतैः ।
अग्रमेवकलं घोरं भस्मे परमभास्वरम् ॥ ८ ॥

'पुरुषप्रवर ! पहले कभी यज्ञमें पधारे हुए देवताओं के शवके किसी पूर्वपुरुषको वह धनुष दिया था । वह कितना प्रबल और घाती है, इसका कोई माप-तौल नहीं है । वह बहुत ही प्रकाशमान एवं चमकदार है ॥ ८ ॥

नास्य देवा न गन्धर्वा नासुरा न च राक्षसाः ।
कर्तुं पारोपणी शक्ता न कथञ्चन मानुषाः ॥ ९ ॥

'मनुष्योंको तो बात ही क्या है । देवता, गन्धर्व, असुर तथा राक्षस भी किसी तरह उसकी प्रत्यक्षा नहीं कर पाते ॥ ९ ॥

धनुषस्तस्य वीर्यं हि जिज्ञासन्तो महोक्षितः ।
न शेकुरारोपयितुं राजपुत्रा महाबलाः ॥ १० ॥

'उस धनुषको शक्ति का पता लगानेके लिये कितने ही महोद्यत् राजा और राजकुमार आए, किन्तु कोई भी उसे चढ़ा न सका ॥ १० ॥

तद्धनुरनृशार्दूल मैथिलस्य महात्मनः ।
तत्र द्रक्ष्यसि काकुत्स्थ यज्ञं च धरमाद्भुतम् ॥ ११ ॥

'ककुत्स्थकुलचन्दन पुरुषसिंह राम ! वहाँ चलनेसे तुम महात्मा मिथिलानरेशक उस धनुषको तथा उनके परम अद्भुत यज्ञको भी देख सकागे ॥ ११ ॥

तद्विधुं यज्ञफलं तेन मैथिलेनोत्तमं धनुः ।
धाक्षितं नरशार्दूल सुनार्थं सर्वदेवतैः ॥ १२ ॥

'नरश्रेष्ठ ! मिथिलानरेशने अपने यज्ञके फलरूपमें उस उत्तम धनुषको मांगा था; अतः सम्पूर्ण देवताओं तथा भगवान् शङ्करने उन्हें वह धनुष प्रदान किया था । उस धनुषका मध्यभाग जिसे मुठ्ठामें पकड़ा जाता है, बहुत ही सुन्दर है ॥ १२ ॥

आयागभुतं नृपतेस्तस्य वैश्वमनि राघव ।
अर्चितं विविधैर्गन्धैर्धूपैश्चागुरुगन्धिभिः ॥ १३ ॥

'रघुचन्दन ! राजा जनकके महलमें वह धनुष पूजनीय देवताकी प्रति प्रतिष्ठित है और नाना प्रकारके गन्ध, धूप तथा अगुरु आदि मुगन्धित पदार्थोंसे उसकी पूजा होती है ॥ १३ ॥

एवमुक्त्वा मुनिवरः प्रस्थानमकरोत् तदा ।
सर्पिसङ्घः सकाकुत्स्थ आपन्न्य वनदेवता ॥ १४ ॥

ऐसा करके मुनिवर विश्वामित्रजीने वन देवताओंसे आज्ञा ली और ऋषिमण्डली तथा राम-लक्ष्मणके साथ वहाँसे प्रस्थान किया ॥ १४ ॥

स्वस्ति वोऽस्तु गमिष्यामि सिद्धः सिद्धाश्रमादहम् ।
उत्तरे जाह्नवीनरे हिमवन्तं शिलोहयम् ॥ १५ ॥

चलते समय उन्होंने वनदेवताओंसे कहा— 'मैं अपना यज्ञकार्य सिद्ध करके इस सिद्धाश्रमसे जा रहा हूँ । गङ्गाके उत्तर तटपर होता हुआ हिमालयपर्वतकी उपत्यकामें जाऊँगा । आपन्मोगोक्ष कल्याण हो' ॥ १५ ॥

इत्युक्त्वा मुनिशार्दूलः कौशिकः स तपोधनः ।

उत्तरा दिशमुद्दिश्य प्रस्थातुमुपचक्रधे ॥ १६ ॥

ऐसा कहकर तपस्याक धनी मुनिश्रेष्ठ कौशिकने उत्तर दिशाको ओर प्रस्थान आरम्भ किया ॥ १६ ॥

न ब्रजन्तं मुनिवरमन्वगादनुसारिणाम् ।

एकदशतमात्रं तु प्रयागे ब्रह्मवादिनाम् ॥ १७ ॥

उस समय—प्रस्थापके समय यात्रा करते हुए मुनिवर विश्वामित्रके पीछे इतना साथ जाँवत ब्रह्मवादी मर्त्यव्यक्ती नौ गाहियाँ चली ॥ १७ ॥

पृगपक्षिगणाश्च सिद्धाभमनिवासिनः ।

अनुजग्मुर्महात्मानं विश्वामित्रं तपोधनम् ॥ १८ ॥

सिद्धाश्रममें निवास करनेवाले पृग और पक्षी भी तपोधन विश्वामित्रके पीछे-पीछे जाने लगे ॥ १८ ॥

निवर्तयामास ततः सर्षिसङ्गः स पक्षिणः ।

ते गत्वा दूर्गमध्वानं लम्बमाने दिवाकरे ॥ १९ ॥

वासं चक्रुर्मुनिगणाः शोणाकुले समाहिताः ।

तेऽस्तं गते दिनकरे स्नात्वा हुतहुताशनाः ॥ २० ॥

कुछ दूर जानपर ऋषिमण्डलीसहित विश्वामित्रने उन पक्षु पक्षियोंके लोंटा दिया । फिर दुरतकवध मार्ग तै कर छेत्तेके बाद जब सूर्य अस्ताचलकी ओर रगे, तब उन ऋषियोंने पूर्ण सावधान रहकर शोणभटके तटपर यज्ञघराला । जब सूर्यदिव अस्त हो गये, तब स्नान करके उन

इत्यर्थे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे एकत्रिंशः सर्गः । ३१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आरंभरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें इकतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशः सर्गः

ब्रह्मपुत्र कुशके चार पुत्रोंका वर्णन, शोणभद्र-तटवर्ती प्रदेशको वसुकी भूमि बताना, कुशनाभकी सौ कन्याओंका वायुके कोपसे 'कुब्जा' होना

ब्रह्मयोनिर्महत्तासीत् कुशो नाम महातपाः ।

आश्रितव्रतधर्मजः सज्जनप्रतिपूजकः ॥ १ ॥

(विश्वामित्रजी कहते हैं—) श्रीशम ! पूर्वकालमें कुश नामसे प्रसिद्ध एक महातपस्वी राजा हो गये हैं । वे साशान्त ब्रह्मजाके पुत्र थे । उनका प्रत्येक व्रत एवं संकल्प बिना किसी रुश या कठिनाईके ही पूर्ण होता था । वे धर्मके ज्ञान अपुरुषार्थीका आदर करनेवाले और महान् थे ॥ १ ॥

स महात्मा कुशीनायां पुत्रायां सुमहाबलान् ।

पितृर्था जनयामास चतुरः सद्युजान् सुतान् ॥ २ ॥

सर्वने अभिहोत्रक कार्य पूर्ण किया ॥ १९-२० ॥

विश्वामित्रं पुरस्कृत्य निषेदुर्मितौजसः ।

गमोऽपि सहस्राभिर्त्रिमुनीस्तानभिपूज्य च ॥ २१ ॥

अग्रतो निषसादाथ विश्वामित्रस्य धीमतः ।

इसके बाद वे सभी अमिततेजस्वी ऋषि मुनिवर विश्वामित्रको आगे करके बैठे फिर लक्ष्मणसहित श्रीराम भी उन ऋषियोंका आदर करने हुए बुद्धिमान विश्वामित्रजीके सामने बैठ गये ॥ २१ ॥

अथ रामो महातेजा विश्वामित्रं तपोधनम् ॥ २२ ॥

पप्रच्छ मुनिशार्दूलं कौतूहलसमन्वितम् ।

तत्पश्चात् महातेजस्वी श्रीरामने तपस्याके धनी मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रसे कौतूहलपूर्वक पूछा— ॥ २२ ॥

भगवन् को न्वयं देशः समृद्धवनशोभितः ॥ २३ ॥

श्रोतुमिच्छामि भद्रं ते वसुमहर्षि तत्त्वतः ।

भगवन् ! यह हरे-भरे समृद्धिशाली वनसे सुशोभित देश कौन-सा है ? मैं इसका परिचय सुनना चाहता हूँ । आपका कल्याण हो । आप मुझे ठीक-ठीक इसका रहस्य बताइये ॥

भद्रितो रामवाक्येन कथयामास सुव्रतः ।

तस्य देशस्य निखिलभूमिमध्ये महानपाः ॥ २४ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके इस प्रश्नसे प्रेरित होकर व्रतका बालन करनेवाले महानपस्वी विश्वामित्रने ऋषिमण्डलीके बीच उस देशका पूर्णरूपमें परिचय देना प्रारम्भ किया । २४ ॥

उत्तम कृत्स्न ब्रह्मपुत्र विदर्भदेशकी राजकुमारी ठरकी पत्नी था । उन्मय गर्भमें उन महात्मा वंशजने चार पुत्र उत्पन्न किये, जो उन्नीक समान थे ॥ २ ॥

कुशाम्बं कुशनाभं च अमूर्तरजसं वसुम् ।

दाक्षिण्यकान् महोत्साहान् क्षत्रधर्मचिकीर्षया ॥ ३ ॥

नानुवाच कुशः पुत्रान् धर्मिष्ठान् सत्यवादिनः ।

क्रियतां चालनं पुत्रा धर्मं प्राप्स्यथ पुष्कलम् ॥ ४ ॥

उनका नाम इस प्रकार हैं—कुशाम्ब, कुशनाभ, अमूर्तरजस तथा वसु । ये सब-के-सब सैजस्वी तथा

१ रामायणनिरोधणि नामक श्याख्यक विमर्शने अमूर्तरजस मत माना है । महाभारतके अनुभाष इन्का नाम अमूर्तरजस या अमूर्तरज्या था । तमः ० २ १७ यह इनके द्वारा धर्मोपनय नामक नगर वर्णनके उल्लेख है । यह नगर धर्मोपनय नामक तीर्थभूत धर्म था । यह वन गयाक आस-पासका ही प्रदेश है । अमूर्तरजस पुत्र मचन हा गया नामक नगर बसाया था । अतः धर्मोपनय और गयाको एकता सिद्ध होती है । महाभारत वनपर्व (८४। १) में गयाके ब्रह्ममण्डलको धर्मोपनयसे सुशोभित बताया गया है ।

महान् उत्साही थे। राजा कुशने 'प्रजारक्षणरूप' क्षत्रिय-धर्मके पालनको इच्छासे अपने उन धर्मिष्ठ तथा सत्यवादी पुत्रोंसे कहा—'पुत्रो! प्रजाका पालन करो, इससे तुम्हें धर्मका पूरा-पूरा फल प्राप्त होगा' ॥ ३-४ ॥

कुशस्थ वचनं श्रुत्वा चत्वारो लोकसप्तमाः ।

निवेशं चक्रिरे सर्वे पुराणा नृवरास्तदा ॥ ५ ॥

अपने पिता महाराज कुशकी यह बात सुनकर उन चारों लोकसप्तमाणि नाश्रेष्ठ राजकुमारोंने उस समय अपने अपने जिये धृषक-धृषक नगर निर्माण कराया ॥ ५ ॥

कुशाम्बस्तु महातेजाः कौशाम्बीमकरोत् प्रसीम् ।

कुशनाभस्तु धर्मात्मा पुर चक्रे महोदयम् ॥ ६ ॥

महातेजस्वी कुशाम्बन कौशाम्बी पुर बसायी (जिसे आजकाल 'कोसम्' कहते हैं)। धर्मात्मा कुशनाभने 'महोदय' नामक नगरका निर्माण कराया ॥ ६ ॥

असूर्तरजसो नाम धर्मारण्यं महामातः ।

चक्रे पुरवर्षे राजा वसुनाम गिरिजनम् ॥ ७ ॥

परम ब्रह्मिष्ठमान् असूर्तरजसने 'धर्मारण्य' नामक एक श्रेष्ठ नगर बसाया तथा राजा वसुने 'गिरिजन' नगरका स्थापना करे ॥ ७ ॥

एषा वसुपती नाम वसोस्तस्य महात्मनः ।

एते शैलवराः पञ्च प्रकाशन्ते समन्ततः ॥ ८ ॥

महात्मा वसुकी यह 'गिरिजन' नामक राजधानी वसुपतीके नामसे प्रसिद्ध हुई इसके चारों ओर ये पाँच श्रेष्ठ पर्वत सुशोभित होते हैं ॥ ८ ॥

सुमागधी नदी रम्या भागधान् विश्रुताऽऽययौ ।

पञ्चानां शैलमुख्यानां मध्ये मालेख शोषणे ॥ ९ ॥

यह रमणीय (मोन) नदी दक्षिण-पश्चिमकी ओरसे बहती हुई मगध देशमें आती है, इमलिये यहाँ 'सुमागधा' नामसे विख्यात हुई है। यह इन पाँच श्रेष्ठ पर्वतोंके बीचमें मालकी भाँति सुशोभित हो रही है ॥ ९ ॥

सैषा हि मागधी राम वसोस्तस्य महात्मनः ।

पूर्याभिधरिता राम सुशेव्रा सस्यमालिनी ॥ १० ॥

श्रीराम! इस प्रकार 'मागधी' नामसे प्रसिद्ध हुई यह राम नदी पूर्णक महात्मा वसुसे सम्बन्ध रखती है। गगनन्दन 'यह दक्षिण पश्चिमसे आकर पूर्वोत्तर दिशाकी ओर प्रवाहित हुई है। इसके दोनों तरफ सुन्दर अत्र (उपजाऊ खेत) हैं, अतः यह सदा हस्य-हालाओंसे अलंकृत (हरी-भरी खेतोंसे सुशोभित) रहती है ॥ १० ॥

कुशनाभस्तु राजर्षिः कन्याशतमनुत्तमम् ।

जनयामास धर्मात्मा धृताब्जां रघुनन्दन ॥ ११ ॥

रघुकुलको आनन्दित करनेवाले श्रीराम! धर्मात्मा राजर्षि कुशनाभने कृताब्ज अप्सराके गर्भसे परम उत्तम सौ कन्याओंको जन्म दिया ॥ ११ ॥

तास्तु यौवनशालिन्यो रूपवत्यः स्थलंकृताः ।

उद्यानभूमिमागम्य प्राक्षीव शनहृदाः ॥ १२ ॥

गायन्त्यो नृत्यमानाश्च वादयन्त्यस्तु राघव ।

आमोद परमं जम्बुवराधरणभूषिताः ॥ १३ ॥

वे सब-की-सब सुन्दर रूप-लावण्यसे सुशोभित थीं। धीरे धीरे युवावस्थाने आकर उनके सौन्दर्यको और भी बढ़ा दिया। गम्भीर एक दिन वल्लभ और आधूषणाम विभूषित हो वे सभी राजकन्याएँ उद्यान-भूमिमें आकर वर्षाकृतुमें प्रकाशित होनेवाली विद्युन्मालाओंकी भाँति शोभा माने लगीं, सुन्दर अलङ्कारोंमें अलंकृत हुईं वे अङ्गनाएँ गातीं, बजाती और नृत्य करती हुईं वहाँ परम आमोद-प्रमोदमें मग्न हो गयीं ॥ १२-१३ ॥

अथ ताश्चास्सर्वाङ्ग्यो रूपेणाप्रतिभा भुवि ।

उद्यानभूमिमागम्य तास इव घनान्तरे ॥ १४ ॥

उनके सभी अङ्ग बढ़े मनोहर थे। इस धूलपर उनके रूप-सौन्दर्यको कहें भी तुलना नहीं थी। उस उद्यानमें आकर वे बादलके ओटमें कुछ कुछ छिपी हुई तारिकाजैके समान शोभा पा रही थीं ॥ १४ ॥

ताः सर्वा गुणसम्पन्ना रूपयौवनसंयुताः ।

दृष्ट्वा सर्वात्मको वायुर्गिदे वचनमब्रवीत् ॥ १५ ॥

उस समय उत्तम गुणोंसे सम्पन्न तथा रूप और यौवनसे सुशोभित उन सब राजकन्याओंका देखकर सर्वस्वरूप वायु देवने उनसे इस प्रकार कहा— ॥ १५ ॥

अहं च कामये सर्वा भार्या मम भविष्यथ ।

मानुषस्यज्यतां भावो दीर्घमायुरवाप्स्यथ ॥ १६ ॥

'सुन्दरियों' मैं तुम सबको अपनी प्रेयसीके रूपमें प्राप्त करना चाहता हूँ। तुम सब मेरे भार्याएँ बनोगी। अब मनुष्यभावका त्याग करो और मुझे अङ्गीकार करके देवजन्माओंकी भाँति दीर्घ आयु प्राप्त कर लो ॥ १६ ॥

चले हि यौवनं नित्यं मानुषेषु विशेषतः ।

अक्षयं यौवनं प्राप्ता अमर्यश्च भविष्यथ ॥ १७ ॥

'विशेषतः' मानव-शरीरमें जवानों कभी स्थिर नहीं रहती—प्रतिक्षण क्षीण होती जाती है। मेरे साथ सम्बन्ध हा

(अंक १२ : ४३) धर्मारण्यार्ध पितृ पूजन-से महता बलायी गयी है।

१ महाभारत समापर्व (२१।१-१०) में इन पाँच पर्वतोंके नाम उस प्रकार वर्णित हैं—(१) विपुल, (२) वरह, (३) वृषभ (शुक्रभ), (४) ऋषिगिरि (मन्दर) तथा (५) चैत्यक।

तानेपर तुमलोग अक्षय यौवन प्राप्त करके भ्रमर हो जाओगी ।
तस्य तद् वचनं श्रुत्वा बाधोरहितकर्मणः ।

अपहास्य ततो साक्यं कन्याशतमथाब्रवीत् ॥ १८ ॥

अनायास हो महान् कर्म करनेवाले वायुदेवका यह कथन
सुनकर वे सौ कन्याएँ अवहेलनापुष्टक प्रेमकर श्रोन्तो ।

अन्तश्चरसि भूतानां सर्वेषां सुगन्तवः ।

प्रभावज्ञाश्च ते सर्वाः किमर्थमवमन्यसे ॥ १९ ॥

‘सुरश्रेष्ठ ! आप प्राणवायुके रूपमें समस्त प्राणियोंके
भीतर विचरते हैं (अतः सबके मनकी बातें जानते हैं
आपको यह मालूम होगा कि हमारे मनमें आपके प्रति कोई
आकर्षण नहीं है) । हम सब बहिर्ने आपके अनुपम
प्रभावको भी जानती हैं (तो भी हमारा आपके प्रति अनुगम
नहीं है) । ऐसी दशामें यह अनुचित प्रस्ताव करके आप
हमारा अपमान किसलिये कर रहे हैं ? ॥ १९ ॥

कुशनाभसुता देव समस्ताः सुरसन्तपः ।

स्थानाच्छावधितुं देवं रक्षामस्तु तपो वयम् ॥ २० ॥

देव ! देवशिरोमणे ! हम सब-को-सब राजर्षि
कुशनाभकी कन्याएँ हैं । देवता होनेपर भी आपको शाय देकर
वायुपदसे भ्रष्ट कर सकती हैं, किंतु ऐसा करना नहीं चाहती,
क्योंकि हम अपने तपको सुरक्षित रखती हैं ॥ २० ॥

मा भूत् स कालो दुर्मेधः पितरं सत्यवादिनम् ।

अवमन्य स्वधर्मेण स्वयं वरमुपास्पहे ॥ २१ ॥

‘दुर्मेत ! यह समय कभी न आवे, जब कि हम अपने
गन्धर्वादी पिताको अपमानना करके कामवश या अन्यन्त
अधर्मपूर्वक स्वयं ही वर दूँहने लगें ॥ २१ ॥

पिता हि प्रभुरस्माकं दैवतं परमं च सः ।

यस्य नो दास्यति पिता स नो भर्ता भविष्यति ॥ २२ ॥

भ्रमरलोगोंपर हमारे पिताजीको प्रभुत्व है, वे हमारे लिये

इत्यर्थे शीघ्रव्रामायणे बालर्माकाये आदिकाव्ये बालकाण्डे त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीबाल्मीकिनिर्मित आर्षव्रामायणे आदिकाव्यके बालकाण्डमें बनींयहाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशः सर्गः

राजा कुशनाभद्वारा कन्याओंके धैर्य एवं क्षमाशीलताकी प्रशंसा, ब्रह्मदनकी उत्पत्ति
तथा उनके साथ कुशनाभकी कन्याओंका विवाह

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा कुशनाभस्य धीमतः ।

शिरोभिश्चुरणो स्पृष्ट्वा कन्याशतमभाषत ॥ १ ॥

बुद्धिमान् महामोक्ष कुशनाभका यह वचन सुनकर उन सौ
कन्याओंने पिताके चरणार्थ मिट्टी रखकर प्रणाम किया और
इस प्रकार बोली — ॥ १ ॥

वायु, सर्वात्मको राजन् प्रधर्षयितुमिच्छति ।

अशुभं मार्गमास्थाप्य न धर्मं प्रत्यवेक्षते ॥ २ ॥

राजन्, शत्रुत्र संचार करनेवाले वायुदेव अशुभ मार्गका

सर्वश्रेष्ठ देवता हैं । पिताजी हमें जिसके हाथमें दे देंगे, वही
हमारा पति होगा ॥ २२ ॥

तासां तु वचनं श्रुत्वा हरिः परमकोपनः ।

प्रविश्य सर्वगात्राणि वधञ्च भगवान् प्रभु ॥ २३ ॥

अरत्रिमात्राकृतयो भग्नगात्रा भयार्दिताः ।

उनको यह वचन सुनकर वायुदेव अत्यन्त क्रुपित हो उठे ।

उन ऐश्वर्यशाली प्रभु उनको भीतर प्रविष्ट हो सब अङ्गोंको
मोड़कर टूटा कर दिया । शरीर गूढ़ जानके कारण वे कुबड़ी
हो गयीं । उनको आकृति मुट्टी बंध हुए एक साथके बराबर
हो गयीं । वे भयसे व्याकुल हो उठीं ॥ २३ ॥

ताः कन्या वायुना भग्ना विविशुर्नृपतेर्गृहम् ।

प्रविश्य च सुसम्भ्रान्ताः सलज्जाः सास्त्रलोचनाः ॥ २४ ॥

वायुदेवके द्वारा कुबड़ी का हुई उन कन्याओंने राजभवनमें
प्रवेश किया । प्रवेश करके वे लज्जित और उद्विग्न हो गयीं ।
उनके नेत्रासे आँसुओंकी धाराएँ बहने लगीं ॥ २४ ॥

स च ता दयिता भग्नाः कन्याः परमशोभनाः ।

दृष्ट्वा दीनास्तदा राजा सम्भ्रान्त इदमब्रवीत् ॥ २५ ॥

अपनी परम सुन्दर प्यारी पुत्रियाँको कुब्जताके कारण
अत्यन्त दयनीय दशामें पड़ों देख राजा कुशनाभ धबरा गये
और इस प्रकार बोले— ॥ २५ ॥

किमिदं कथ्यतां पुत्र्यः को धर्ममवमन्यते ।

कुब्जाः केन कृताः सर्वाश्चेष्टन्त्यो नाधिभाषथ ।

एवं राजा विनिःश्वस्य समाधिं संदधे ततः ॥ २६ ॥

‘पुत्रियो ! यह क्या हुआ ? बंताओ ! कौन प्राणी धर्मकी
अवहेलना करता है ? किमने तुम्हें कुबड़ी बना दिया, जिससे
तुम तड़प रही हो, किन्तु कुछ बताती नहीं हो ।’ यों कहकर
राजाने स्त्रियों साँस खींची और उनका उत्तर सुननेके लिये वे
मावधान होकर बैठ गये ॥ २६ ॥

अवलम्बन करके हमपर बलान्कार करना चाहते थे । धर्मपर
उनको दुष्टि नहीं थी ॥ २ ॥

पितृमृत्युः स्म भद्रं ते स्वच्छन्दे न वयं स्थिताः ।

पितरं नो सुणीष्टु त्वं यदि नो दास्यते तव ॥ ३ ॥

हमने उनसे कहा—‘देव ! आपको कल्याण हो, हमारे
पिता विद्यमान हैं, हम स्वच्छन्द नहीं हैं । आप पिताजीके पास
जाकर हमारा कारण बतलजिये । यदि वे हमें आपको सौंप देंगे
तो हम आपको हो आयेगी ॥ ३ ॥

तेन धापानुबन्धेन वचनं न प्रतीच्छता ।

एवं ब्रुवन्त्यः सर्वाः स्म वायुनाभिहता भृशम् ॥ ४ ॥

परंतु उनका मन तो पापमें बंधा हुआ था । उन्होंने हमारी बात नहीं मानी । हम सब अर्चनं ये जो धर्मसंगत बातें कह रही थीं तो भी उन्होंने हम गहरी चोट पहुंचायी — बिना अपराधके ही हमें पीड़ा दी ॥ ४ ॥

तासां तु वचनं श्रुत्वा राजा परमधार्मिकः ।

प्रत्युपाच महतेजाः कन्याशतमनुममम् ॥ ५ ॥

उनकी बात सुनकर परम धर्मात्मा महातेजस्वी राजाने उन अपनी परम उन्नत भी कन्याओंको इस प्रकार उत्तर दिया — ॥ ५ ॥

क्षान्त क्षमावतां पूज्यः कर्तव्यं सुमहत् कृतम् ।

ऐकमत्यमुपागम्य कुलं चावक्षिते मम ॥ ६ ॥

'पुत्रियो ! क्षमाशील महापुरुष हो जिसे कर सकते है, वही क्षमा तुमने भी की है । यह तुम लोगोंके द्वारा महान् कार्य सम्पन्न हुआ है । तुम ममम् एकमत होकर जो मेरे लक्षकों गंगाधर को दृष्टि रखा है — कामभावकी आपन मममे क्षमा नहीं दिया है — यह भी तुमने बहुत बड़ा काम किया है ॥ ६ ॥

अलंकारो हि नारीणां क्षमा तु पुरुषस्य वा ।

दुष्करं तच्च वै क्षान्तं त्रिदशेषु विदोषतः ॥ ७ ॥

यादृशी चः क्षमा पुत्र्यः सत्तांसामविशेषतः ।

'स्त्री ही या पुरुष, उसके लिये क्षमा ही आभूषण है । पुत्रियो ! तुम सब लोगोंमें गम्यारूपमें वही क्षमा या सतिष्णुता है वह विदोषतः देवताओंके लिये भी दुष्कर ही है ॥ ७ ॥

क्षमा तान क्षमा सत्यं क्षमा यज्ञाश्च पुत्रिकाः ॥ ८ ॥

क्षमा यज्ञः क्षमा धर्मः क्षमायां विद्युत जगत् ।

'पुत्रियो ! क्षमा दान । क्षमा सत्य है क्षमा यज्ञ है क्षमा यज्ञ है और क्षमा धर्म है, क्षमापर भी यह सम्पूर्ण जगत् टिका हुआ है ॥ ८ ॥

दिमृज्य कन्याः काकुत्स्थ राजा प्रितशक्तिम् ॥ ९ ॥

तन्नामो भव्ययापास प्रदानं सह मन्त्रिभिः ।

देशे काले च कर्तव्यं मदृशे प्रतिपातम् ॥ १० ॥

काकुत्स्थकुलजन्म श्रीराम । देवतुल्य परक्रमी राजा ब्रह्मपाशम् कन्या भोगे लेगा कहकर उन्हें राजा तुममें जानेकी आज्ञा दे दी और मन्त्रिणां कन्याको जाननेवाले उन ब्रह्मणे क्षाय मन्त्रियोंके साथ बैठकर कन्याओंके विवाहके विषयमें विचार आरम्भ किया । विवाहणीय विषय यह था कि 'किस देशमें किस समय और किस मुहूर्तमें अर्के साथ उनका विवाह किया जाय ?' ॥ ९-१० ॥

एतस्मिन्नेव काले तु चूली नाम महाद्युतिः ।

ऊर्ध्वरीताः शुभाचारो ब्राह्मं तप उपागमत् ॥ ११ ॥

उन्हीं दिनों चूली नामसे प्रसिद्ध एक महातेजस्वी, सदाचारी एवं ऊर्ध्वरीता (मैष्टिक ब्रह्मचारी) मुनि वेदोक्त तपका अनुष्ठान कर रहे थे (अथवा ब्रह्मचिन्तनरूप तपस्यामें संलग्न थे) ॥ ११ ॥

तपस्यन्तमृषिं तत्र गन्धर्वो पर्युपासते ।

सोमश नाम भद्रं ते कर्मलातनया तदा ॥ १२ ॥

श्रीराम तुम्हारा भला भो उम ममय एक गन्धर्वकुमारी आने गकर उन तपस्यों मुनियों उपासना । आत्महकी इच्छामें मवा, करवा था । उसका नाम था सोमश । वह कर्मलाकी पुत्री थी ॥ १२ ॥

सा च तं प्रणता भूत्वा शुश्रूषणपरायणा ।

उवास काले धर्मिष्ठा तस्यान्तुष्टोऽभवत् गुरुः ॥ १३ ॥

वह प्रतिदिन भूमिका प्रणाम करके उनकी सेवामें लगी रहती थी तथा धर्ममें स्थित रहकर समय समयपर सेवाके लिये उपस्थित रहती थी । इसमें उसके ऊपर व गौरवशाली मुनि बहुत संतुष्ट हुए ॥ १३ ॥

स च तां कालयोगेन प्रोवाच रघुनन्दन ।

परितुष्टोऽस्मि भद्रं ते किं करोमि तव प्रियम् ॥ १४ ॥

रघुनन्दन उम ममय आनन्द चूर्जन उस गन्धर्वकन्यासे कहा — 'शुभे ! तुम्हारा कल्याण हो, मैं तुमपर बहुत संतुष्ट हूँ । बोलो, तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य सिद्ध करूँ ॥ १४ ॥

परितुष्टं मुनि ज्ञात्वा गन्धर्वो मधुरस्वरम् ।

उवाच परमप्रोता वाक्यज्ञा वाक्यकोविदम् ॥ १५ ॥

मुनिकों संतुष्ट जानकर गन्धर्व कन्या बहुत प्रसन्न हुई वह वाक्यनको कला जानने थी । उसने वाणिके मर्मज्ञ मुनिसे मधुर स्वरमें इस प्रकार कहा — ॥ १५ ॥

लक्ष्म्या समुदितो ब्राह्मया ब्रह्मभूतो महातपाः ।

ब्राह्मेण तपसा युक्तं पुत्रमिच्छामि धार्मिकम् ॥ १६ ॥

'महर्षे ! आप ब्राह्मी सम्पत्ति (ब्रह्मतेज) से सम्पन्न होकर ब्रह्मस्वरूप हो गये हैं । अतएव आप महान् तपस्वी हैं । मैं आपसे ब्राह्म तप (ब्रह्म-ज्ञान एवं वेदोक्त तप) से युक्त धर्मात्मा पुत्र प्राप्त करना चाहती हूँ ॥ १६ ॥

अपतिश्चास्मि भद्रं ते भार्या चास्मि न कस्यचित् ।

ब्राह्मेणोपगतायाश्च दानुमर्हसि मे सुतम् ॥ १७ ॥

'मुन ! आपका भला हा । मेरे कोई पति नहीं है । मैं न तो किसीकी पत्नी हुई हूँ और न आने होऊँगी । आपकी सेवामें आयी हूँ, आप अपने ब्रह्म बल (तप शक्ति) से मुझे पुत्र प्रदान करें ॥ १७ ॥

तस्याः प्रसन्नो ब्रह्मर्षिर्ददी ब्राह्ममनुममम् ।

ब्रह्मदत्त इति स्थानं भानसं चूलिनः सुतम् ॥ १८ ॥

उम गन्धर्वकन्याकी सेवामें संतुष्ट हुए ब्रह्मर्षि चूलिन उसे प्रसन्न उनमें ब्रह्म तपमें सम्पन्न पुत्र प्रदान किया । वह उनके मानसिक संकल्पसे प्रकट हुआ भानस पुत्र था । उसका

राम 'ब्रह्मदत्त' हुआ ॥ १८ ॥

स राजा ब्रह्मदत्तस्तु पुरीमध्यवसत् तदा ।

क्राम्पिल्यां पय्या लक्ष्म्या देवराजो यथा दिवम् ॥ १९ ॥

(कुशनाभके यहाँ जब कन्याओंके विवाहका विचार चल रहा था) उस समय राजा ब्रह्मदत्त उनमें लक्ष्म्यासे सम्पन्न हो 'क्राम्पिल्या' नामक नगरमें उसी तरह निवास करने थे, जैसा स्वर्गकी अमरवसतीपुरीमें देवराज इन्द्र ॥ १९ ॥

स बुद्धिं कृतवान् राजा कुशनाभः सुधार्मिकः ।

ब्रह्मदत्ताय काकुत्स्थ दातुं कन्याशतं तदा ॥ २० ॥

ककुत्स्थकुलभूषण श्रौरास ! तव परम धर्मात्मा राजा कुशनाभने ब्रह्मदत्तके साथ अपनी सौ कन्याओंको व्यास-सन्तका निक्षेप किया ॥ २० ॥

नम्राहूय महातेजा ब्रह्मदत्तं महीपतिः ।

ददीं कन्याशतं राजा सुप्रीतेनास्तरात्मना ॥ २१ ॥

महातेजस्वी भूपाल राजा कुशनाभने ब्रह्मदत्तको खुलाकर अत्यन्त प्रसन्न चित्तसे उन्हें अपनी सौ कन्याएँ सौंप दीं ॥ २१ ॥

यथाक्रमं तदा पाणिं जग्राह रघुनन्दन ।

ब्रह्मदत्तो महीपालस्तासां देवपतिर्यथा ॥ २२ ॥

रघुनन्दन ! उस समय देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी पृथ्वीपति ब्रह्मदत्तने क्रमशः उन सभी कन्याओंका पाणिग्रहण किया ॥ २२ ॥

स्पृष्टमात्रे तदा पाणौ विकुब्जा विगतज्वराः ।

युक्तं परमया लक्ष्म्या चर्भौ कन्याशतं तदा ॥ २३ ॥

इत्यर्थे श्रौण्डामायणे बाल्मीकीये आदिकाण्डे त्रचस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३३ ॥
इस प्रकार श्रौण्डामायणिमें अन्वगमायण आदिकाण्डे बालकाण्डमें तैत्तिरीयसर्ग पूरा हुआ ॥ ३३ ॥

चतुस्त्रिंशः सर्गः

गाधिकी उत्पत्ति, कौशिकीकी प्रशंसा, विश्वामित्रजीका कथा बंद करके आधी रातका वर्णन करते हुए सबको सोनेकी आज्ञा देकर शयन करना

कृतोद्वाहे गते तस्मिन् ब्रह्मदत्ते च राघव ।

अपुत्रः पुत्रलाभाय मां त्रीमिष्टमकल्पयत् ॥ १ ॥

रघुनन्दन ! विवाह करके जब राजा ब्रह्मदत्त चले गये, तब पुत्रहीन मन्तराज कुशनाभने श्राद्ध पुत्रकी प्राप्तिके लिये पुत्रीके लक्ष्मी अर्पण किया ॥ १ ॥

इष्टया तु वर्तमानाया कुशनाभं महीपतिम् ।

इवाञ्च परमादारः कुशो ब्रह्ममुत्तमता ॥ २ ॥

उस वकल होते समय गम्भीर उदार ब्रह्मकुमार महाराज कुशने भूपाल कुशनाभसे कहा— ॥ २ ॥

पुत्रस्ते सदृशः पुत्र भविष्यति सुधार्मिकः ।

गाधिं प्राप्स्यसि नैव त्वं कौर्नि लोके च शश्वतीम् ॥ ३ ॥

'बेटा ! तुम्हें अपने समान ही परम धर्मात्मा पुत्र प्राप्त होगा । तुम 'गाधि' नामक पुत्र प्राप्त करोगे और उमकें इग

विवाहकालमें उन कन्याओंके हाथोंका ब्रह्मदत्तके हाथसे स्पर्श होते ही वे सब-की-सब कन्याएँ कुब्जत्व-दोषसे रहित, नरोग तथा उत्तम शोभासे सम्पन्न प्रतीत होने लगीं ॥ २३ ॥

स दृष्ट्वा वायुना मुक्ताः कुशनाभो महीपतिः ।

अभूव परमप्रीतो हर्षं लेभे पुनः पुनः ॥ २४ ॥

बानरोगके रूपमें आवे हुए वायुदेवने उन कन्याओंको ठण्ड दिया—यह देख पृथ्वीपति राजा कुशनाभ बड़े प्रसन्न हुए और बारम्बार हर्षका अनुभव करने लगे ॥ २४ ॥

कृतोद्वाहं तु राजानं ब्रह्मदत्तं महीपतिम् ।

सदारं प्रेषयामास सोपाध्यायगणं तदा ॥ २५ ॥

भूपाल राजा ब्रह्मदत्तके विवाह-कार्य सम्पन्न हो जानेपर महाराज कुशनाभने उन्हें पत्नियों तथा पुरोहितोंसहित आदरपूर्वक विदा किया ॥ २५ ॥

सोमदापि सुतं दृष्ट्वा पुत्रस्य सदृशीं क्रियाम् ।

यथान्यायं च गन्धर्वीं स्नुषास्ताः प्रत्यनन्दत ।

स्पृष्ट्वा स्पृष्ट्वा च ताः कन्याः कुशनाभं प्रशस्य च ॥ २६ ॥

गन्धर्वी सोमदाने अपने पुत्रको तथा उसके योग्य विवाह-सम्बन्धकों देखकर अपनी उन पुत्रवधुओंका यथोचितरूपसे अभिनन्दन किया । उसने एक-एक करके उन सभी राजकन्याओंको हृदयसे लगाया और महाराज कुशनाभकी सराहना करके वहाँसे प्रस्थान किया ॥ २६ ॥

तुम्हें संसारमें अक्षय कौर्नि उपलब्ध होगी ॥ ३ ॥

एवमुक्त्वा कुशो राम कुशनाभं महीपतिम् ।

जगामाकाशमाविश्य ब्रह्मलोकं सनातनम् ॥ ४ ॥

श्रौण्डाम ! पृथ्वीपति कुशनाभसे ऐसा कहकर तत्पक्षि कुश अकाशमें प्रविष्ट हो सनातन ब्रह्मलोकको चले गये ॥ ४ ॥

कस्यचित् त्वय कालस्य कुशनाभस्य धीमतः ।

अजे परमधर्मिष्ठो गाधिरित्येव नामतः ॥ ५ ॥

कुछ कालके पश्चात् बुद्धिमान् राजा कुशनाभके यहाँ परम धर्मात्मा 'गाधि' नामक पुत्रका जन्म हुआ ॥ ५ ॥

स पिता यम काकुत्स्थ गाधिः परमधार्मिकः ।

कुशवशप्रसूतोऽस्य कौशिको रघुनन्दन ॥ ६ ॥

ककुत्स्थकुलभूषण रघुनन्दन ! वे परम धर्मात्मा राजा

गाधि मेरे पिता थे मैं कुशके कुलमें उत्पन्न होनेके कारण
'कौशिक' कहलाता हूँ ॥ ६ ॥

पूर्वजा भगिनी चापि मम राघव सुव्रता ।

नाम्ना सत्यवती नाम ब्रह्मीके प्रतिपादिता ॥ ७ ॥

राघव । मेरे एक ज्येष्ठ बहिन भी थी, जो उत्तम व्रतका
पालन करनेवाली थी। उसका नाम सत्यवती था। वह
ब्रह्मीक मुनिके छात्रों की थी ॥ ७ ॥

मञ्जरीरा गता स्वर्ग भर्तारपनुवर्तिनी ।

कौशिकी परभोदारा प्रवृत्ता च महानदी ॥ ८ ॥

अपने पति का अनुसरण करनेवाली सत्यवती शरीरसहित
स्वर्गलोकगयी कही गयी थी। वही परम बड़ा महानदी
गौशिकीके रूपमें भी प्रकट होकर इस भूतलपर प्रवाहित
होती है ॥ ८ ॥

दिव्या पुण्योत्कृता रम्या द्विषवन्तमुपाश्रिता ।

लोकस्य हितकार्याय प्रवृत्ता भगिनी मम ॥ ९ ॥

मेरी वह बहिन जगत्के हितके लिये दिव्यालयक आश्रय
लेकर, नदीरूपमें प्रवर्तित हुई वह पुण्यमूर्तिका दिव्य नदी
कही समीप है ॥ ९ ॥

ततोऽहं द्विषवत्पाश्वं यमामि निषतः सुखम् ।

भगिन्या स्नेहयुक्तः कौशिक्या रघुनन्दन ॥ १० ॥

रघुनन्दन । मेरी अपनी बहिन कौशिकीके प्रति बहुत स्नेह
है, अतः मैं दिव्यालयके निकट उसीके तटपर निरामृतके बड़े
सुखसे निवास करता हूँ ॥ १० ॥

सा तु सत्यवती पुण्या सत्ये धर्मे प्रतिष्ठिता ।

पतिव्रता महाभगा कौशिकी सरिता धरा ॥ ११ ॥

पूण्यवती सत्यवती सत्य धर्ममें प्रतिष्ठित है। वह परम
सौभाग्यशालिनी पतिव्रता देवी यहाँ सरिताओंमें श्रेष्ठ
कौशिकीके रूपमें विद्यमान है ॥ ११ ॥

अहं हि नियमाद् राम हित्वा तां समुपागतः ।

सिद्धाश्रममुपगमः सिद्धोऽस्मि तव तेजसा ॥ १२ ॥

श्रीराम । मैं चक्रसामन्त्री नियमको सिद्धिके लिये
नी अपनी बहिनका सानिध्य छोड़कर सिद्धाश्रम (बक्सर)
में आया था। अब तुम्हारे तेजमें मुझे वह सिद्धि प्राप्त
ही गयी है ॥ १२ ॥

एषा राम यमोत्पत्तिः स्वस्य वंशस्य कीर्तिना ।

देशस्य हि महाबाहो यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ १३ ॥

महानाबू श्रीराम । तुमने मुझसे जो पूछा था, उसके
उत्तरमें मैंने तुम्हारे शोभप्रदशक्तियों के प्रचित्र परिचय देने हुए, यह
अपनी तथा अपने कुलकी उत्पत्ति बताया है ॥ १३ ॥

गतोऽर्धरात्रः काकुत्स्थ कथाः कथयतो मम ।

निद्रामध्येहि भद्रं ते मा भूद् विघ्नोऽय्वनीह नः ॥ १४ ॥

काकुत्स्थ । मेरी कथा कहते-कहते आधी रात बीत
गयी। अब थोड़ी देर नौद ले लें। तुम्हारा कल्याण हो।
मैं चाहता हूँ कि अधिक जागरणके कारण हमारी यात्रामें
विघ्न न पड़े ॥ १४ ॥

निष्यन्दास्तरवः सर्वे निलीना भृगुपक्षिणः ।

नैशेन तमसा व्याप्ता दिशश्च रघुनन्दन ॥ १५ ॥

सारे वृक्ष निष्कम्प जाग पड़ते हैं—इनका एक पक्षी भी
नहीं हिलता है। पशु पक्षी अपने अपने वासस्थानमें छिपकर
वसें लगे हैं। रघुनन्दन । रात्रिके अन्धकारसे सम्पूर्ण दिशाएँ
व्याप्त हो रही हैं ॥ १५ ॥

शनेर्विसृज्यते संख्या नभो नेत्रैरिवावृतम् ।

नक्षत्रतारागहनं ज्योतिर्भिरवभासते ॥ १६ ॥

धौं धीरे संख्या दूर चली गयी। नक्षत्रों तथा ताराओंसे
भरा हुआ आकाश (सहस्राक्ष इन्द्रकी धौंति) सहस्रों
ज्योतिर्मय नेत्रोंमें व्याप्त-सा होकर प्रकाशित हो रहा है।

उत्तिष्ठते च शीतांशुः शशी लोकतमोनुदः ।

ह्लादयन् प्राणिनां लोके मनांसि प्रभया स्वया ॥ १७ ॥

सम्पूर्ण लोकका अन्धकार दूर करनेवाले शीतरीश्म
रश्मि अपना प्रभामें जगत्के प्राणियोंके मनको आह्लाद
प्रदान करते हुए उदित हो रहे हैं * ॥ १७ ॥

नैशानि सर्वभूतानि प्रचरन्ति ततस्ततः ।

वक्षराक्षससङ्गाश्च रौद्राश्च पिशिताशनाः ॥ १८ ॥

रातमें विचरनेवाले ममम प्राणी—वक्ष-राक्षसोंके समुदाय
तथा भयंकर पिशाच इधर-उधर विचर रहे हैं ॥ १८ ॥

एवमुक्त्वा महानेजा विरराम महामुनिः ।

साधुसाध्विनि ते सर्वे मुनयो हृष्यपूजयन् ॥ १९ ॥

ऐसा कहकर महानेजस्वी महामुनि विश्वामित्र चुप हो
गये। उम समय सभी मुनियोंने साधुवाद देकर
विश्वामित्रजाकी धृति-धूरि प्रशंसा की— ॥ १९ ॥

कुशिकानामयं वंशो महान् धर्मपरः सदा ।

ब्रह्मोपमा महात्मानः कुशवंश्या नरोत्तमाः ॥ २० ॥

'कुशपुत्रोक्त यह वंश सदा ही महान् धर्मपरायण
रहा है। कुशवंशी महात्मा श्रेष्ठ मानव ब्रह्माजीके समान
तेजस्वी हुए हैं ॥ २० ॥

विशेषेण चयानेव विश्वामित्र महायशः ।

कौशिकी सरितां श्रेष्ठा कुलोद्योतकरी तव ॥ २१ ॥

'महायशस्वी विश्वामित्रजी ! अपने वंशमें सबसे बड़े
महात्मा उत्पन्न हो रहे हैं तथा सरिताओंमें श्रेष्ठ कौशिकी भी
आपके कुलकी कीर्तिकी प्रकाशित करनेवाली है' ॥ २१ ॥

मुदितैर्मुनिशार्दूलैः प्रशस्तः कुशिकात्मजः ।

निद्रामुपागमच्छीपानस्तंगत इवांशुमान् ॥ २२ ॥

इस प्रकार आनन्दमग्न हुए उन मुनिवराद्वारा प्रदत्तित श्रमणान् कौशिकमुनि अस्त हुए सूर्यकी भाँति नींद लेने लगे ॥ २२ ॥

गणोऽपि सहस्रोमित्रिः किञ्चिदागतविस्मयः ।

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे चतुस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीनान्मोर्किर्निर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें चौतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३४ ॥

पञ्चविंशः सर्गः

शोणभद्र पार करके विश्वामित्र आदिका गङ्गाजीके तटपर पहुँचकर वहाँ रात्रिवास करना तथा श्रीरामके पूछनेपर विश्वामित्रजीका उन्हें गङ्गाजीकी उत्पत्तिकी कथा सुनाना

अगस्त्य रात्रिशेषं तु शोणाकुले महर्षिभिः ।

निशाया सुप्रभाताया विश्वामित्रोऽभ्यभाषत ॥ १ ॥

महर्षियाभिहित विश्वामित्रने रात्रिके शेषभागमें शोणभद्रके तटपर शयन किया । अब रात खोती और प्रभात हुआ, तब वे श्रीरामचन्द्रजीसे इस प्रकार बोले— ॥ १ ॥

सुप्रभाता निशा राय पूर्वा सध्या प्रवर्तने ।

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते गमनायाभिरोचय ॥ २ ॥

'श्रीराम ! रात खोत गयी । सबेरा हो गया । तुम्हारा कल्याण हो, उठो, उठो और चलनेकी तैयारी करो' ॥ २ ॥

तत्प्रवृत्ता वचनं तस्य कृतपूर्वाह्नकक्रियः ।

गमने रोचयामास वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ ३ ॥

मुनिकी बात सुनकर पूर्वोह्नकालके नित्यनियम पूरा करके श्रीराम चलनेकी तैयारी हो गये और इस प्रकार बोले— ॥ ३ ॥

अयं शोणः शुभजलोऽगाधः पुलिनमण्डितः ।

कतरेण पथा ब्रह्मन् संतर्षिष्यामहे वयम् ॥ ४ ॥

'ब्रह्मन् ! शुभ जलसे परिपूर्ण तथा अगने तटोंमें मुशोषित होनेवाला यह शोणभद्र तो अभाऊ जन्म पड़ना है । हमलोग किस मार्गमें चलकर इस पार करेंगे ?' ॥ ४ ॥

एवमुक्तास्तु रामेण विश्वामित्रोऽप्रवादिदम् ।

एव धन्या भयोहिष्ठो येन यन्ति महर्षयः ॥ ५ ॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर विश्वामित्र बोले— 'जिस मार्गमें भालर्षिगण शोणभद्रको पार करते हैं, हमका भी गहनसे ही निश्वास कर रखा है, वह मार्ग यह है' ॥ ५ ॥

एवमुक्ता महर्षयो विश्वामित्रेण धामता ।

पश्यन्तस्ते प्रयाता र्व वनानि विविधानि च ॥ ६ ॥

पड़गान् विश्वामित्रक ऐसा कहनेपर वे महर्षि कना प्रकारके वनोंका शोभा देखते हुए वहाँसे प्रस्थित हुए ॥ ६ ॥

ते गत्वा नृगमध्वानं गतेऽर्धदिवसे तदा ।

आह्वयी सरितां श्रेष्ठां ददृशुर्मुनिसेविताम् ॥ ७ ॥

बहुत दूरका मार्ग है वह रत्नगर टोपहर हात-हात उन सब लोगोंने मुनिजनसेवित, सरिताओंमें श्रेष्ठ गङ्गाजीक

प्रशस्य मुनिशार्दूलं निद्रां समुपसेवते ॥ २३ ॥

यह कथा सुनकर लक्ष्मणसाहित श्रीरामकी भी कुछ विस्मय हो आया । वे भी मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रकी सराहना करके नींद लेने लगे ॥ २३ ॥

तटपर पहुँचकर ठन्का दर्शन किया ॥ ७ ॥

तां दृष्ट्वा पुण्यसलिलां हंससारससेविताम् ।

बभ्रुवुपुनयः सर्वे मुदिताः सहस्राधवाः ॥ ८ ॥

इसमें तथा सारसोंमें सेवित पुण्यसलिला भागीरथीका दर्शन करके श्रीरामचन्द्रजीके साथ समस्त मुनि बहुत प्रसन्न हुए ॥ ८ ॥

तस्यास्तीरे तदा सर्वे चक्रुर्वासपरिग्रहम् ।

गतः स्नात्वा यथान्यायं संतर्प्य पितृदेवताः ॥ ९ ॥

हुत्वा चैवाग्निहोत्राणि प्राश्य आमृतवद्धविः ।

विविशुर्जाह्नवीतीरे शुष्पा मुदितमानसाः ॥ १० ॥

विश्वामित्रं महात्मानं परिवार्य समन्ततः ।

उस समय सबने गङ्गाजीके तटपर डेरा डाला । फिर विधिवत् स्नान करके देवताओं और पितरोंका तर्पण किया । उसके बाद अग्निहोत्र करके अमृतके समान मोठे हविष्यका भोजन किया । तदनन्तर वे सभी कल्याणकारी महर्षि प्रमर्शचक्र हो महात्मा विश्वामित्रको चारों ओरसे घेरकर गङ्गाजीके तटपर बैठ गये ॥ ९-१० ॥

विष्टिताश्च यथान्यायं राघवो च यथाहृतः ।

सम्प्रहृष्टमना रामो विश्वामित्रमथाब्रवीत् ॥ ११ ॥

जब वे सब मुनि स्थिरभावसे विराजमान हो गये और श्रीराम तथा लक्ष्मण भी यथायोग्य स्थानपर बैठ गये, तब श्रीरामने प्रमर्शचक्र होकर विश्वामित्रजीसे पूछा— ॥ ११ ॥

यगवज्ज्रेनुपिच्छामि गङ्गां त्रिपथगां नदीम् ।

त्रैलोक्यं कथमाक्रम्य गता नदनदीपतिम् ॥ १२ ॥

भगवन् ! मैं यह सुनना चाहता हूँ कि तीन मार्गोंसे प्रवर्तित होनेवाली नदी ये गङ्गाजी किस प्रकार तीरा लोकोंमें घुसकर नदी और नदियोंके स्वामी समुद्रमें जा मिली हैं ?

खेदितो रामवाक्येन विश्वामित्रो महापुनिः ।

वृद्धिं जन्म च गङ्गायां वक्तुमेवोपचक्रमे ॥ १३ ॥

श्रीरामके इस प्रश्नद्वारा प्रेरित हो महापुनि विश्वामित्रन गङ्गाजीको उत्पत्ति और वृद्धिकी कथा कहना आरम्भ किया— ॥ १३ ॥

शैलेन्द्रो हिमवान् राम धातुनामाकरो महान् ।

तस्य कन्याद्वयं राम रूपेणप्रतिमं पुत्रि ॥ १४ ॥

'श्रीराम ! हिमवान् नामक एक पर्वत है, जो समस्त पर्वतोंका राजा तथा सब प्रकारके धातुओंका बहुत बड़ा खजाना है। हिमवान्को दो कन्याएँ हैं, जिनके सुन्दर रूपको इस भूतलपर कहीं तुलना नहीं है ॥ १४ ॥

या मेरुद्वहिता राम तयोर्माता सुमध्यमा ।

नाम्ना मेना मनोज्ञा वै पत्नी हिमवतः प्रिया ॥ १५ ॥

'मेरु पर्वतकी मनोहारिणी पुत्री मेना हिमवान्की प्रिया पत्नी है। सुन्दर कटिप्रदशाम्बो मेना ही उन दोनों कन्याओंकी जवनी है ॥ १५ ॥

तस्यां गङ्गेयमभवत्पुत्रो हिमवतः सुता ।

उभा नाम द्वितीयाभूत् कन्या तस्यैव राघव ॥ १६ ॥

'रघुनन्दन ! मेनाके गर्भसे जो पहली कन्या उत्पन्न हुई, वही यं गङ्गाजी है। ये हिमवान्की ज्येष्ठ पुत्री है। हिमवान्की ही दूसरी कन्या, जो मेनाके गर्भसे उत्पन्न हुई, उमा नामसे प्रसिद्ध है ॥ १६ ॥

अथ ज्येष्ठा सुराः सर्वे देवकार्यचिकीर्षया ।

शैलेन्द्रं वारयामासुर्गङ्गा त्रिपथगा नदीम् ॥ १७ ॥

कुछ कार्योंके पश्चात् सब देवताओंने देवकार्योंके भिक्षाके निमित्त ज्येष्ठकन्या गङ्गाजीको, जो आगे चलकर स्वर्गसे त्रिपथगा नदीके रूपमें अवतीर्ण हुई, गिरिराज हिमालयसे मर्णा ॥ १७ ॥

ततो धारणा हिमवास्तनया लोकपावनीम् ।

स्वच्छन्दपथगा गङ्गा प्रैलोक्यहितकाप्यया ॥ १८ ॥

'हिमवान्ने त्रिभुवनका हित करनेकी इच्छासे स्वच्छन्द पथपर विचरनेवाली अपनी लोकपावनी पुत्री गङ्गाको स्वच्छन्दक उल्लेख दे दिया ॥ १८ ॥

प्रतिगृह्य त्रिलोकार्थं त्रिलोकहितकाङ्क्षिणः ।

गङ्गाप्राप्य तेऽगच्छन् कुमार्थनाम्नरात्पना ॥ १९ ॥

इत्यर्थे श्रीवद्भगवत्पणे बालकाण्डे आदिकाण्डे बालकाण्डे पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीवद्भगवत्पणे आदिकाण्डे बालकाण्डे पञ्चत्रिंशः सर्ग पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशः सर्गः

देवताओंका शिव पार्वतीको सुरतक्रीडासे निवृत्त करना तथा उमा देवीका देवताओं और पृथ्वीको शाप देना

इत्युक्तं पुनी तस्मिन्पुत्री राघवलक्ष्मणी ।

प्रसिद्धा कथा वीराघ्नानुमुनिपुङ्गवम् ॥ १ ॥

ज्येष्ठकन्याकी बात समाप्त होनेपर श्रीराम और लक्ष्मण दोनों वरुण उनकी कड़ी हुई कथाका अभिमान करने के लिये एक-दूसरेसे इस प्रकार कहा — ॥ १ ॥

धर्मयुक्तं हि ब्रह्मन् कथितं परमं त्वया ।

दुहितुः प्रियवस्य ज्येष्ठाया वक्तुमर्हसि ।

विष्णुः स्मिन्ब्रह्मास्मि दिव्यमानुषसम्भवम् ॥ २ ॥

'तौनो लोकोंके हितको इच्छावाले देवता त्रिभुवनकी भलाईके लिये जो गङ्गाजीको लेकर मन-हो-मन कुमार्थनाका अनुभव करते हुए चले गये ॥ १९ ॥

या चान्या शैलद्वहिता कन्याऽऽसीदरघुनन्दन ।

उमे सुव्रतमास्थाय तपस्तेपे तपोधना ॥ २० ॥

'रघुनन्दन ! गिरिराजकी जो दूसरी कन्या उमा थी, ये उत्तम एवं कठोर व्रतका पालन करती हुई और तपस्यामें लग गयीं। उन्होंने तपोमय धनका संचय किया ॥ २० ॥

उद्येण तपसा युक्ता ददौ शैलवरः सुताम् ।

रुद्रापाप्रतिरूपाय उमा लोकनमस्कृताम् ॥ २१ ॥

गिरिराजने उग्र तपस्यामें संलग्न हुई अपनी वह विश्ववन्दनी पुत्री उमा अनुपम प्रभावशाली भगवान् रुद्रकी ध्यात दो ॥ २१ ॥

एते ते शैलराजस्य सुते लोकनमस्कृते ।

गङ्गा च सरिता श्रेष्ठा उमादेवी च राघव ॥ २२ ॥

'रघुनन्दन ! इस प्रकार सरिताओंमें श्रेष्ठ गङ्गा तथा भगवती उमा—ये दोनों गिरिराज हिमालयकी कन्याएँ हैं। सारा संसार इनके चरणोंमें घूमकर झुकाता है ॥ २२ ॥

एतन् ते सर्वमास्पृशत यथा त्रिपथगामिनी ।

स्वं गता प्रथमं तात गति गतिमर्ता वर ॥ २३ ॥

सेषा सुरनदी रम्या शैलेन्द्रतनया तदा ।

सुरलोकं समाकृत्वा विषाया जलवाहिनी ॥ २४ ॥

'गतिशोलमें श्रेष्ठ तात श्रीराम ! गङ्गाजीकी उत्पत्तिके विषयमें ये सारी बातें मैंने तुम्हें बता दीं। ये त्रिपथ-गामिनी कैसी हुई ? यह भी मून लो पहल लो ये आकाश-पार्श्वमें गयी थीं। तत्पश्चात् ये गिरिराजकुमारी गङ्गा रमणीया देवनदीके रूपमें देवलोकमें आरुढ़ हुई थीं। फिर जलरूपमें प्रवाहित हो लोगोंके पाप दूर करती हुई रसातलमें पहुँची थीं ॥ २३-२४ ॥

'ब्रह्मन् ! आपने यह बड़ी उत्तम धर्मयुक्त कथा सुनायी।

अब आप गिरिराज हिमवान्की ज्येष्ठ पुत्री गङ्गाके दिव्यलोक तथा मनुष्यलोकमें मन्वन्त होनेका वृत्तान्त विस्तारके साथ सुनाइये; क्योंकि आप विस्तृत वृत्तान्तके ज्ञाता हैं ॥ २ ॥

त्रोन् पथो हेतुना केन प्लावयेल्लोकपावनी ।

कथं गङ्गा त्रिपथगा विश्रुता सरितुत्तमा ॥ ३ ॥

'लोकको पवित्र करनेवाली गङ्गा किस कारणसे तीन मार्गोंमें प्रवाहित होती है ? सरिताओंमें श्रेष्ठ गङ्गाकी

‘त्रययगा’ नामसे प्रसिद्धि क्यों हुई ? ॥ ३ ॥

त्रिषु लोकेषु धर्मज्ञ कर्मभिः कैः समन्विता ।
नथा ब्रुवति काकुत्स्थे विश्वामित्रस्तपोधन ॥ ४ ॥
निखिलेन कथां सर्वाम्पविमथ्ये न्यवेदयत् ।

‘धर्मज्ञ महर्ष ! तैनों आकाश के अपने तीन धाराओंके द्वारा कौन-कौन-से कार्य करती हैं ?’ श्रीरामचन्द्रजीके इस प्रकार पृष्ठपर तपोधन विश्वामित्रने मुनिमण्डलीके बीच गङ्गाजीसे सम्बन्ध रखनेवाली सारी बातें पूर्णरूपसे कह सुनायीं— ॥ ४ ॥

पुरा राम कृतोद्वाहः शितिकण्ठो महानपाः ॥ ५ ॥
दृष्ट्वा च भगवान् देवीं मैथुनायोपचक्रमे ।

‘श्रीराम ! पूर्वकालमें महानपस्वी भगवान् नीलकण्ठने उमादेवीके साथ विवाह करके उनकी नववधूक रूपसे अपने निकट आयी देख उनके साथ रति-क्राह्य आमम्भ करी ॥ ५ ॥

तस्य संकीर्णमानस्य महोदेवस्य धीमतः ।
शितिकण्ठस्य देवस्य दिव्यं वर्णशतं गतम् ॥ ६ ॥

परम बुद्धिमान् महान् देवता भगवान् नीलकण्ठक उमादेवीके साथ क्रौञ्च-विहार करने से दिव्य वर्ण वन गये ॥

न चापि तन्मयो राम तस्यापामरीत् परन्तप ।
सर्वे देवाः समुद्युक्ताः पितामहपुंगवमाः ॥ ७ ॥

इन्हींआका संताप देनेवाले श्रेष्ठन । इन्ने वर्णनिक विहारके बाद भी महादेवजीके हमाटयक गर्भमें कोई पुत्र नहीं हुआ । यह देख ब्रह्म आदि सभी देवता उन्हें रोकनेका उद्योग करने लगे ॥ ७ ॥

यद्विहोन्मद्यते भूतं कस्तत् प्रतिसहिष्यति ।
अभिगम्य सुराः सर्वे प्रणिपत्येदमब्रुवन् ॥ ८ ॥

इन्होंने सोचा—इतने दारुणकालके पश्चात् यादें रुटक तेजसे उमादेवीके गर्भमें कोई महान् प्राणी प्रकट हो भी जाय तो कौन उसके तेजको सहन करेगा ? यह निन्नाकर सब देवता भगवान् शिवक पास जा उन्हें प्रणाम करके रो पड़े— ॥ ८ ॥

देवदेव महोदेव लोकम्यास्य हिते रत ।
सुराणां प्रणिप्रातेन प्रसात् कर्तुमर्हसि ॥ ९ ॥

‘देव लोकके हितमें समस्त महात्मा रह रहके मत् २३ ।
देवता आगत वर्णोंमें मस्तक झुकाने हैं । इससे प्रसन्न होकर भाव इन देवताओंपर कृपा कर ॥ ९ ॥

न लोका भारयिष्यन्ति तव तेजः सुरेणम ।
ब्राह्मण तपसा युक्तो देव्या सह तपश्चर ॥ १० ॥

‘सुरश्रेष्ठ ! ये लोक आपके तेजको नहीं धारण कर सकेंगे, अतः आप स्वभाव नियून हो कदकचित तपस्याम युक्त होकर उमादेवीके साथ तप कीजिये ॥ १० ॥

त्रैलोक्यहितकामार्थं तेजस्तेजमि धाम्य ।
रक्ष सर्वानिमल्लोकान् नालोकं कर्तुमर्हसि ॥ ११ ॥

‘तैनों लोकोंके हितको कामनासे अपने तेज (वीर्य) को तेजस्वरूप अपने-आपमें ही धारण कीजिये । इन सब लोकोंकी रक्षा कीजिये । लोकोंका विनाश न कर डालिये’ ।

देवतानां वचः श्रुत्वा सर्वलोकभूतेश्वरः ।
वाढमित्यब्रवीत् सर्वान् पुनश्चेदमुवाच ह ॥ १२ ॥

देवताओंकी यह बात सुनकर सर्वलोकभूतेश्वर शिवने ब्रह्म अच्छा करके उनकी अनुरोध स्वीकार कर लिया, फिर उनमें इस प्रकार कहा— ॥ १२ ॥

धारयिष्यामि तेजस्तेजसेव सहोमया ।
प्रिदशाः पृथिवी चैव निर्वाणमधिगच्छतु ॥ १३ ॥

देवताओं ! उमासहित मैं अर्थात् हम दोनों अपने तेजसे ही तेजको धारण कर लेंगे । पृथ्वी आदि सभी लोकोंके निवासों आदि स्थाप करे ॥ १३ ॥

यदिदं क्षुधितं स्थानान्मम तेजो ह्यनुपमम् ।
धारयिष्यति कस्तन्ये ब्रुवन्तु सुरसन्तमाः ॥ १४ ॥

किन्तु सुरश्रेष्ठगण ! यदि मेरा यह सर्वोत्तम तेज (वीर्य) क्षुब्ध होकर अपने स्थानमें स्थानित हो जाय तो उसे कौन धारण करेगा ?—यह मुझे खलाओ ॥ १४ ॥

एवमुक्तास्ततो देवाः प्रत्युत्तुर्वृषभध्वजम् ।
यत्तेजः क्षुधितं दृष्ट्वा तद्भग धारयिष्यति ॥ १५ ॥

‘उनके ऐसा कहनेपर देवताओंने वृषभध्वज भगवान् शिवसे कहा—‘भगवान् ! आज आपका जो तेज क्षुब्ध होकर गिरा, उसे यह पृथ्वीदेवी धारण करेगी’ ॥ १५ ॥

एवमुक्तः सुरपतिः प्रमुपोच महाबलः ।
तेजसा पृथिवी येन स्थाप्रा सगिरिकानना ॥ १६ ॥

देवताओंका यह कथन सुनकर महाबली देवश्वर शिवने अपना तेज छेड़ा, जिससे पर्वत और खनोसहित यह सारी पृथ्वी व्याप्त हो गयी ॥ १६ ॥

ततो देवाः पुनरिदमब्रुवन् क्षापि हुताशनम् ।
आविश न्व महोतेजो रौद्र वायुसमन्वितः ॥ १७ ॥

तब देवताओंने अग्निदेवसे कहा—‘अग्ने ! तुम वायुके सहयोगसे भगवान् शिवके इस महान् तेजको अपने भीतर ग्राह ल’ ॥ १७ ॥

तर्दप्रना पुनर्व्याप्तं संजातं श्वेतपर्वतम् ।
दिव्यं शरवणं चैव पावकादित्यसनिभम् ॥ १८ ॥

अग्निसे व्याप्त होनेपर वह तेज श्वेत पर्वतके रूपमें परिणत हो गया । साथ ही वहाँ दिव्य शरकड़ोंका जन जे प्रकट हुआ जो अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी प्रतीत होता था ॥ १८ ॥

यत्र जातो महोतेजः कार्तिकेयोऽग्निसंभवः ।
अथोपां च शिवं चैव देवाः सखिगणास्तथा ॥ १९ ॥

पूजयाधामुत्तमार्थं सुप्रीतमनसस्तदा ।
तयो वनमें अग्निजनित महोतेजस्वी कार्तिकेयका

प्रादुर्भाव हुआ। तदनन्तर ऋषियोंसहित देवताओंने अत्यन्त प्रसन्नचित्त होकर देवी उमा और भगवान् शिवका बड़े भक्तिभावसे पूजन किया ॥ १९ ॥

अथ शैलसुता राम त्रिदशानिदमब्रवीत् ॥ २० ॥
समन्युरशपत् सर्वान् क्रोधसंरक्तलोचना ।

‘श्रीराम ! इसके बाद गिरिराजन्दिनी उमाके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये। उन्होंने समस्त देवताओंको रोषपूर्वक शाप दे दिया। वे बोली— ॥ २० ॥

यस्माद्विरागिता चाह संगता पुत्रकाम्यया ॥ २१ ॥
अपत्यं स्वेण दारेषु नोत्पद्यितुमर्हथ ।

अद्यप्रभृति युष्माकमप्रजाः सन्तु पत्ययः ॥ २२ ॥

‘देवताओ ! मैंने पुत्र-प्राप्तिकी इच्छासे पतिके साथ समागत किया था, परंतु तुमने मुझे एक दिया। अतः अन्य ज्ञातगोत्र भी अपनी पत्नियोंमें संतान उत्पन्न करने योग्य नहीं रह जाओगे। अतएव तुम्हारी पत्नियाँ संतानोत्पादन नहीं कर सकेंगी—संतानहीन हो जायेंगी’ ॥ २१-२२ ॥

एवमुक्त्वा सुरान् सर्वाध्याशाप पृथिवीमपि ।

अवने नैकरूपा त्वं बहुभार्या भविष्यसि ॥ २३ ॥

‘सब देवताओंसे मेला करके उमादेवीने पृथिव्याको भी शाप दिया—‘भूमे ! तू एक रूप नहीं रह जायगी। तू

इत्यर्थे श्रीमद्रामायणे बाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे षट्त्रिंशः सर्गः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यभट्टायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें छत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २६ ॥

सप्तत्रिंशः सर्गः

गङ्गासे कार्तिकेयकी उत्पत्तिका प्रसङ्ग

तायमाने तदा मेवे सेन्द्राः साप्रिपुरोगमाः ।

सेनापतिमभीप्सन् पितामहमुपागमन् ॥ १ ॥

जब महादेवजी तपस्या कर रहे थे, उस समय इन्द्र और अग्नि आदि सम्पूर्ण देवता अपने लिये सेनापतिनकी इच्छा लेकर, ब्रह्माओंके पास आये ॥ १ ॥

ततोऽब्रुवन् सुराः सर्वे भगवन्तं पितामहम् ।

प्रणिपत्य सुराराम सेन्द्राः साप्रिपुरोगमाः ॥ २ ॥

देवताओंको आगम देनेवाले श्रीराम ! इन्द्र और अग्निरहित रामरत्न देवताओंने भगवान् ब्रह्माओंसे प्रणाम करके इस प्रकार कहा— ॥ २ ॥

येन सेनापतिर्दिव दत्तो भगवता पुरा ।

स तपः परमास्थाय तप्यते स्म सहोमया ॥ ३ ॥

‘प्रभो ! पूर्वकालमें जिन भगवान् महेश्वरने हमें (ने) गुरुपसे) सेनापति प्रदान किया था, ये उमादेवीके साथ उत्तम तपस्य आश्रय लेकर तपस्या करते हैं ॥ ३ ॥

यदत्रानन्तरं कार्यं लोकानां हितकाम्यया ।

संविद्यस्व विद्यानज्ञ त्वं हि नः धर्मा गतिः ॥ ४ ॥

बहुतेकी भार्या होगी ॥ २३ ॥

न च पुत्रकृतां प्रीतिं मत्क्रोधकलुषीकृता ।

प्राप्स्यसि त्वं सुदुर्मेधो मम पुत्रमनिच्छती ॥ २४ ॥

‘छोटी बुद्धिकाला पृथ्वी ! तू चाहती थी कि मेरे पुत्र न हो। अतः मेरे क्रोधसे कलुषित होकर तू भी पुत्रजनित सुख या प्रसन्नताका अनुभव न कर सकेगी’ ॥ २४ ॥

तान् सर्वान् पीडितान् दृष्ट्वा सुरान् सुरपतिस्तदा ।

गमनायोपचक्राम दिशं वरुणपालिताम् ॥ २५ ॥

‘उन सब देवताओंको उमादेवीके शापसे पीडित देख देखकर भगवान् शिवने उस समय पश्चिम दिशाकी ओर पम्थान कर दिया ॥ २५ ॥

स गत्वा तप आतिष्ठत् पार्श्वे तस्योत्तरे गिरेः ।

हिमवत्प्रभवे शृङ्गे सह देव्या महेश्वरः ॥ २६ ॥

वहाँमे जाकर हिमालय पर्वतके उत्तर भागमें उमाके एक शिखरपर उमादेवीके साथ भगवान् महेश्वर तप करने लगे ॥

एव ते विस्तरौ राम शैलपुत्र्या निवेदितः ।

गङ्गायाः प्रभवो चन्द्र शृणु मे सहलक्ष्मण ॥ २७ ॥

‘लक्ष्मणसहित श्रीराम ! यह मैंने तुम्हें गिरिराज हिमवान्की छोटी पुत्री उमादेवीका विस्तृत वृत्तान्त बताया है। अब मुझसे गङ्गाके प्रादुर्भावकी कथा सुनो’ ॥ २७ ॥

विधि-विधानके ज्ञाता पितामह ! अब लोकहितके लिये जो कर्तव्य प्राप्त हो, उसको पूर्ण कीजिय, क्योंकि आप ही हमारे परम आश्रय हैं’ ॥ ४ ॥

देवतानां वचः श्रुत्वा सर्वलोकपितामहः ।

सान्त्वयन् मधुरैर्वाक्यैस्त्रिदशानिदमब्रवीत् ॥ ५ ॥

देवताओंको यह बात सुनकर सम्पूर्ण लोकोंके पितामह ब्रह्माजीने मधुर वाक्योंद्वारा उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा— ।

शैलपुत्र्या यदुक्तं तन्न प्रजाः स्वासु पतिषु ।

तस्या वचनमद्भिर्ह सत्यमेव न संशयः ॥ ६ ॥

‘देवताओ ! गिरिराजकुमारी पार्श्वानेने जो शाप दिया है, उसके अनुसार तुम्हें अपनी पत्नियोंके गर्भसे अब कोई संतान नहीं होगी। उमादेवीकी वाणी अमोघ है, अतः वह सत्य होकर ही रहेगी; इसमें संशय नहीं है ॥ ६ ॥

इयमाकाशगङ्गा च यस्यां पुत्रं हुताशनः ।

जनयिष्यति देवानां सेनापतिमरिदमम् ॥ ७ ॥

‘ये है उमाकी बड़ी बहिन अम्काशगङ्गा, जिनके गर्भमें शङ्करजीक उन तेजकी स्थापित करके अग्निदेव एक ऐसे

वृत्रको जन्म देंगे, जो देवताओंक शत्रुओंका दमन करनेमें समर्थ सेनापति होगा ॥ ७ ॥

ज्येष्ठा शैलन्द्रदुहिता मानविष्यति तं सुतम् ।

अमायास्तद्वपुस्तं भविष्यति न संशयः ॥ ८ ॥

ये गङ्गा गिरिराजको ज्येष्ठ पुत्री हैं, अतः अपनी छोटी चरित्रके उस पुत्रको अपने ही पुत्रके समान मानेंगे । अमाओं भी यह बहुत प्रिय लगेगा । इसमें संशय नहीं है ॥ ८ ॥

नक्षुस्वा वचने तस्य कृतार्था रघुनन्दन ।

प्रणिपत्य सुराः सर्वे पितामहमपूजयन् ॥ ९ ॥

रघुनन्दन । ब्रह्माजीका यह वचन सुनकर सब देवता जनक्य हो गये । उन्होंने ब्रह्माजीको प्रणाम करके उनका पूजन किया ॥ ९ ॥

ने गत्वा परधं राम कैलासं धातुमण्डितम् ।

अग्निं नियोजयामासुः पुत्रार्थं सर्वदेवताः ॥ १० ॥

श्रीराम ! विविध धातुओंसे अलंकृत उत्तम कैलास मन्दिर जाकर उन सम्पूर्ण देवताओंने अग्निदेवको पुत्र उत्पन्न करनेके कार्यमें नियुक्त किया ॥ १० ॥

देवकार्यमिदं देव समाधत्स्व हुताशन ।

शैलपुत्र्या महातेजो गङ्गाया तेज उत्सृज ॥ ११ ॥

वे खोलें—‘देव ! हुताशन ! यह देवताओंका कार्य है, इसे सिद्ध कीजिये । भगवान् रुद्रके उस महान् तेजको अब आप गङ्गाकीमें स्थापित कर दीजिये’ ॥ ११ ॥

देवतानां प्रतिज्ञाय गङ्गायभ्येत्य पावकः ।

गर्भं धारय चै देवि देवतानामिदं प्रियम् ॥ १२ ॥

तब देवताओंने ‘बहुत अच्छा’ कहकर अग्निदेव गङ्गाजीके निकट आये और बोले—‘देवि ! आप इस गर्भको धारण करें । यह देवताओंका प्रिय कार्य है’ ॥ १२ ॥

इत्येतद् वचनं श्रुत्वा दिव्यं रूपमधारयत् ।

र तस्या महिमां दृष्ट्वा समन्तादवशीर्यत ॥ १३ ॥

अग्निदेवको यह बात सुनकर गङ्गादेवीने दिव्यरूप धारण किया । उनकी यह महिमा—यह रूप-विषय दृष्टकर अग्निदेवने उस रुद्र-तेजको उनके भव ओर विश्व दिना ॥ १३ ॥

ममन्तव्यतां देवीमभ्यर्चिष्यत पावकः ।

सर्वस्वोत्तमं पूर्णानि गङ्गाया रघुनन्दन ॥ १४ ॥

(रघुनन्दन । अग्निदेवने जब गङ्गादेवीको सब आरसे उस रुद्र-तेजका अभिर्षित कर दिया, तब गङ्गाजीके शरीर स्नान समस्त परिपूर्ण हो गये ॥ १४ ॥

नमुवाच ततो गङ्गा सर्वदेवपुरोगमम् ।

अशक्ता धारणी तेव तेजस्तव समुद्धतम् ॥ १५ ॥

गङ्गामानाश्रिता तेन सम्प्रव्यथितचेतसा ।

तब गङ्गाने समस्त देवताओंके अग्रगण्य अग्निदेवसे इस प्रकार कहा—‘देव ! आपके द्वारा स्थापित किये गये इस

बड़ हुए तेजको धारण करनेमें मैं असमर्थ हूँ । इसकी आँचसे जल रही हूँ और मेरी चेतना व्यथित हो गयी है । ॥ १५ ॥

अथाब्रवीदिदं गङ्गा सर्वदेवहुताशनः ॥ १६ ॥

इह हैमवते पार्श्वे गर्भोऽयं संनिवेश्यताम् ।

तब सम्पूर्ण देवताओंके हविष्यको भोग लगानेवाले अग्निदेवने गङ्गादेवीसे कहा—‘देवि ! हिमालय पर्वतके पार्श्वभागमें इस गर्भको स्थापित कर दीजिये’ ॥ १६ ॥

श्रुत्वा स्वभ्रिवद्यो गङ्गा तं गर्भपतिभास्वरम् ॥ १७ ॥

उत्ससर्ज महातेजाः ओतोभ्यो हि तदानय ।

निष्पाप रघुनन्दन ! अग्रिकर यह बात सुनकर महातेजस्विनी गङ्गाने उस अत्यन्त प्रकाशमान गर्भको अपने ओतोंमें निकालकर यथोचित स्थानमें रख दिया ॥ १७ ॥

यदस्या निर्गतं तस्मात् तप्तजाम्बूनदप्रथम् ॥ १८ ॥

काञ्चने धरणीं प्राप्ते हिरण्यमनुलप्रथम् ।

ताम्रं काष्ठायसं चैव तैश्चन्द्र्यादेवाधिजायत ॥ १९ ॥

गङ्गाके गर्भसे जो तेज निकल्य, वह तपाने हुए जाम्बूनद नामक सुवर्णके समान कान्तिमान् दिखायी देने लगा (गङ्गा सुवर्णमय मेरुगिरिमें प्रकट हुई है, अतः उनका बालक भी वैसे ही रूप-रंगका हुआ) । पृथ्वीपर वहाँ वह तेजस्वी गर्भ स्थापित हुआ, वहाँकी भूमि तब प्रत्येक वस्तु सुवर्णमयी हो गयी । उसके आस-पासका स्थान अनुपम प्रभासे प्रकाशित होनेवाला रजत हो गया । उस तेजकी नाश्वरतासे ही दूरवर्ती भूभागकी वस्तुएँ तबि और लोहेके रूपमें परिणत हो गयीं ॥ १९ ॥

मले तस्याभवत् तत्र त्रपु सीसकमेव च ।

तदेतद्गुणी प्राप्य नानाधातुरवर्धत ॥ २० ॥

उस तेजस्वी गर्भका जो मल था, वही वहाँ रौंदा और सीसा हुआ । इस प्रकार पृथ्वीपर पड़कर वह तेज नाना प्रकारके धातुओंके रूपमें वृद्धिको प्राप्त हुआ ॥ २० ॥

निक्षिप्तमात्रे गर्भे तु तेजोभिरभिरञ्जितम् ।

सर्वं पर्वतसंनद्धं सौवर्णमभक्षद् वनम् ॥ २१ ॥

पृथ्वीपर उस गर्भके रखे जाते ही उसके तेजसे व्याप्त होकर पर्वतोंके श्वेतपर्वत और उसमें सम्यन्ध रखनेवाला सारा वन सुवर्णमय होकर जगमगाने लगा ॥ २१ ॥

जातरूपमिति ख्यातं तदाप्रभृति राघव ।

सुवर्णं पुरुषव्याघ्र हुताशनसद्यप्रथम् ।

तृणवृक्षलतागुल्यं सर्वं भवति काञ्चनम् ॥ २२ ॥

पुरुषमिह रघुनन्दन ! तभीसे अग्रिके समान प्रकाशित होनेवाले सुवर्णका नाम जातरूप हो गया; क्योंकि इसी समय सुवर्णका तेजस्वी रूप प्रकट हुआ था । उस गर्भके सम्पर्कसे वहाँका तृण, वृक्ष, लता और गुल्य—सब कुछ सोनेका हो गया ॥ २२ ॥

तं कुमारं ततो जातं सेन्द्राः सह मरुद्व्याः ।

क्षीरसम्भावनार्थाय कृत्तिकाः समयोजयन् ॥ २३ ॥

तदनन्तर इन्द्र और मरुदणोंसहित सम्पूर्ण देवताओंने वहाँ उत्पन्न हुए कुमारको दूध पिलानेके लिये छोड़ो कुनिकाओंको नियुक्त किया ॥ २३ ॥

ताः क्षीरं जातमात्रस्य कृत्वा समयमुत्तमम् ।
ददुः पुत्रोऽयमस्माकं सर्वासांमति निश्चिताः ॥ २४ ॥

तब उन कुनिकाओंने 'यह हम सबका पुत्र है' ऐसी उमम शर्त रखकर और इस बातका निश्चित विश्वास लेकर उस जवजात बालकको अपना दूध प्रदान किया ॥ २४ ॥

नतस्तु देवताः सर्वाः कार्तिकेय इति ब्रुवन् ।
पुत्रस्त्रिलोक्यविख्यातो भविष्यति न संशयः ॥ २५ ॥

उस समय सब देवता बोले—'यह बालक कार्तिकेय महाशयोंगा और तुमलोगोंका त्रिभुवनावस्थात पुत्र होगा—इसमें संशय नहीं है' ॥ २५ ॥

तेषां तन् वचनं श्रुत्वा स्कन्दं गर्भपरिस्रवे ।
आपयन् परया लक्ष्म्या दीप्यमानं यथानलम् ॥ २६ ॥

देवताओंका यह अनुकूल वचन सुनकर शिव और गार्ग्यीसे स्कन्दन (स्फुरित) तथा गङ्गाद्वारा गर्भस्त्राव होनेपर प्रकट हुए अग्निसे समान उत्तम प्रभासे प्रकाशित होनेवाले उस बालकको कुनिकाओंने नक्षत्राया ॥ २६ ॥

स्कन्द इत्यब्रुवन् देवाः स्कन्दे गर्भपरिस्रवे ।
कार्तिकेयं महाबाहुं काकुत्स्थ जलनोपमम् ॥ २७ ॥

काकुत्स्थपुत्रोऽयं श्रीराम ! अग्निमुग्न नेत्रस्वी महाबाहु कार्तिकेय गर्भस्त्रावकाक्रम्य स्कन्दनं ह्ये य इति कथ्ये देवताओंने तब स्कन्द काकर पुकारा ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे सप्तत्रिंशः सर्गः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें सौतमर्षी सर्ग पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

अष्टात्रिंशः सर्गः

राजा सगरके पुत्रोंकी उत्पत्ति तथा यज्ञकी तैयारी

तौ कथौ कौशिकौ रामे निवृत्तौ मधुराक्षराम् ।
पुनरेवापरे काव्यं काकुत्स्थमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

विश्वामित्रजीने मधुर अक्षरोंसे युक्त वह कथा श्रावणको सुनाकर फिर उनसे दूसरा प्रसङ्ग इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥
अयोध्याधिपतिवीर पूर्वपासीप्रराधियः ।

सगरो नाम धर्मात्मा प्रजाकायः स चाग्रजः ॥ २ ॥

'वीर ! पहलेकी बात है, अयोध्यामें सगर नामसे प्रसिद्ध एक धर्मात्मा राजा राज्य करते थे। उन्हें कोई पुत्र नहीं था, अतः वे पुत्र-प्राप्तिके लिये सदा उत्सुक रहा करते थे ॥ २ ॥

वैदर्भदुहिता राम केशिनी नाम नामतः ।

यैष्ठा सगरपत्नी सा धर्मिष्ठा सत्यवादिनी ॥ ३ ॥

'श्रीराम ! विदर्भराजकुमारों केशिनी राजा सगरकी ज्येष्ठ पत्नी थी। वह बड़ी धर्मात्मा और सत्यवादिनी थी ॥ ३ ॥

प्रादुर्भूतं ततः क्षीरं कृत्तिकानामनुत्तमम् ।

वण्णो वडाननां भूत्वा जग्राह स्तनजं पयः ॥ २८ ॥

तदनन्तर कुनिकाओंके स्तनोंमें परम उत्तम दूध प्रकट हुआ। उस समय स्कन्दने अपने छ पुत्र प्रकट करके उन छात्रोंका एक साथ ही स्तनपान किया ॥ २८ ॥

गृहीत्वा क्षीरमेकाह्ना सुकुमारवपुस्तदा ।

अजघत् स्वेन क्षीरेण दैत्यसैन्यगणान् विभुः ॥ २९ ॥

एक ही दिन दूध पीकर उस सुकुमार शरीरवाले शक्तिशाली कुमारने अपने पराक्रमसे दैत्योंकी सारा सेनाओंपर विजय प्राप्त की ॥ २९ ॥

सुरसेनागणपतिमध्यविह्वलमहापुतिम् ।

नतस्तथयगः सर्वे समेत्याग्निपुरोगमाः ॥ ३० ॥

तत्पश्चात् अग्नि आदि सब दैवताओंने मिलकर उन महा नेत्रस्वी स्कन्दका देवसेनापतिके पदपर अभिषेक किया ॥

एव ते नाम गङ्गाया विस्तरोऽभिहितो मया ।

कुमारमध्वश्रुत्वा धन्यः पुण्यस्तथैव च ॥ ३१ ॥

'श्रीगम ! यह मैंने तुम्हें गङ्गाजाके चारित्रको विस्तारपूर्वक बताया है, साथ ही कुमार कार्तिकेयके जन्मका भी प्रसङ्ग सुनाया है, जो श्रोताका धन्य एवं पुण्यात्मा बनानेवाला है।

भक्तश्च यः कार्तिकेये काकुत्स्थ भुवि मानवः ।

आयुष्यान् पुत्रपौत्रैश्च स्कन्दसालोक्यतां व्रजेत् ॥ ३२ ॥

काकुत्स्थ ! इस पृथ्वीपर जो मनुष्य कार्तिकेयमें भक्तिभाव रखता है वह इस लोकमें दीर्घायु तथा पुत्र-पौत्रोंमें सम्पन्न हो मृ-त्युके पश्चात् स्कन्दके लोकमें जाता है ॥ ३२ ॥

अग्निहोत्रेभेदुहिता सुपर्णधगिनी तु सा ।

द्वितीया सगरस्थासीन् पत्नी सुमतिसंज्ञिता ॥ ४ ॥

'सगरकी दूसरी पत्नीका नाम सुमति था। वह अग्निहोत्रेमि कश्यपकी पुत्री तथा मरुदकी बहिन थी ॥ ४ ॥

नाध्या सह महाराजः पत्नीध्या तप्तवास्तपः ।

हिमवन्तं समासाद्य भृगुप्रसवणे गिरौ ॥ ५ ॥

'महाराज सगर अपनी उन दोनों पत्नियोंके साथ हिमालय पर्वतपर आकर भृगुप्रसवण नामक शिखरपर तपस्या करने लगे ॥ ५ ॥

अथ वर्षशते पूर्णे तपसाऽऽराधितो मुनिः ।

सगराय वरं प्रादाद् भृगुः सत्यव्रतं वरः ॥ ६ ॥

'सौ सर्व पूर्ण होनपर उनकी तपस्याद्वारा प्रसन्न हुए सत्य-व्रतियोंमें श्रेष्ठ महर्षि भृगुने राजा सगरको वर दिया ॥ ६ ॥

अपत्यलाभः सुमहान् भविष्यति तवानध ।
कीर्तिं चाप्रतिमां लोके प्राप्स्यसे पुरुषर्षभ ॥ ७ ॥

निष्पाप नरेश ! तुम्हें बहुत-से पुत्रोंको प्राप्ति होंगी ।
पुण्यप्रवर ! तुम इस संसारमें अनुपम कीर्ति प्राप्त करोगे ॥
एका जनयिता तात पुत्रं वंशकरे तव ।
षष्टिं पुत्रसहस्राणि अपरा जनयिष्यति ॥ ८ ॥

तात ! तुम्हारी एक पत्नी तो एक ही पुत्रको जन्म देगी,
तुम अपनी वंशपरम्पराका विस्तार करनेवाला होगे तथा दूसरी
पत्नी साठ हजार पुत्रोंकी जननी होगी ॥ ८ ॥

भाषमाणे महात्माने राजपुत्रो प्रसाद्य तम् ।
ऊचतुः परमप्रीते कृताञ्जलिपुटे तदा ॥ ९ ॥

'महात्मा भृगु जब इस प्रकार कह रहे थे, उस समय उन
दोनों राजकुमारियों (रानियों) ने उक्त प्रसन्न करके स्वयं भी
अत्यन्त आनन्दित हो दोनों हाथ जोड़कर पूजा— ॥ ९ ॥

एकः कस्याः सुतो ब्रह्मन् का बहुजनयिष्यति ।
श्रोतुमिच्छासहे ब्रह्मन् सत्यमस्तु वचस्तव ॥ १० ॥

'ब्रह्मन् ! किस रानीके एक पुत्र होगा और कौन बहुत-से
पुत्रोंकी जननी होगी ? हम दोनों यह सुनना चाहती हैं ।
आपकी वाणी सत्य हो ॥ १० ॥

नयोस्तद् वचने श्रुत्वा भृगुः परमधार्मिकः ।
उवाच परमा खाणो स्वच्छन्दोऽत्र विधीयताम् ॥ ११ ॥

एकही वंशकरे वाला बहुतों का महाबलीः ।
कीर्तिपन्तो महोत्साहः का का के वरपिच्छति ॥ १२ ॥

उन दोनोंकी यह बात सुनकर परम धर्मात्मा भृगुने उनमें
वाणीमें कहा— दोनो ! तुम लोग यहाँ अपनी इच्छा प्रकट
करो । तुम्हें वंश चलायेंवाला एक ही पुत्र प्राप्त हो अथवा महान्
बलवान्, यशस्वी एवं अत्यन्त उत्सव करनेवाला बहुत-से पुत्र । उन दो
वाणीमें किस वरको कौन-सी रानी ग्रहण करना चाहती है ? ॥

पुनस्तु वचनं श्रुत्वा केशिनी रघुनन्दन ।
पुत्रं वंशकरं राम उवाह नृपसनिधौ ॥ १३ ॥

'रघुकुलनन्दन श्रीराम ! मुनिका यह वचन सुनकर
केशिनीने राजा सगरके समीप वंश चलायेंवाले एक ही
पुत्रको वर ग्रहण किया ॥ १३ ॥

षष्टिं पुत्रसहस्राणि सुपर्णधरिणी तदा ।
महोत्साहान् कीर्तिपन्तो उवाह सुपतिः सुतान् ॥ १४ ॥

तब गरुड़की बहिन सुगतीने महान् उत्साही और यशस्वी
साठ हजार पुत्रोंको जन्म देनेका वर प्राप्त किया ॥ १४ ॥

प्रदक्षिणपथे कृत्वा शिवमभिप्रणम्य तम् ।
जगाम स्वपुरे राजा सभार्यो रघुनन्दन ॥ १५ ॥

'रघुनन्दन ! तदनन्तर रानियोंसहित राजा सगरने महर्षिको
परिक्रमा करके उनके चरणोंमें मस्तक झुकाया और अपने
नगरको प्रस्थान किया ॥ १५ ॥

अथ काले गते तस्य ज्येष्ठा पुत्रे व्यजायत ।
असमञ्ज इति ख्यातं केशिनी सगरात्मजम् ॥ १६ ॥

'कुछ काल व्यतीत होनेपर बड़ी रानी केशिनीने सगरके
असम पुत्र 'असमञ्ज' को जन्म दिया ॥ १६ ॥

सुपतिस्तु नख्याघ्न गर्भनुम्बं व्यजायत ।
षष्टिः पुत्रसहस्राणि तुभ्यभेदाद् विनि-सृताः ॥ १७ ॥

'पुरुषमिह ! (छोटी रानी) सुपतिने तृतीये आकारका
एक गर्भापण्ड उत्पन्न किया । उसके फोड़नेसे साठ हजार
बालक निकले ॥ १७ ॥

घृतपूर्णेषु कुम्भेषु घात्र्यस्तान् समवर्षयन् ।
कालेन महता सर्वे यौवनं प्रतिपेदिरे ॥ १८ ॥

'उन्हें घोंसे भर हुए बर्तनोंमें रखकर घाघ्रों उनका
फलन-पोषण करने लगीं । धीरे-धीरे जब बहुत दिन बीत
गये, तब वे सभी बालक युवावस्थाका प्राप्त हुए ॥ १८ ॥

अथ दीर्घेण कालेन रूपयौवनशालिनः ।
षष्टिः पुत्रसहस्राणि सगरस्याभवंस्तदा ॥ १९ ॥

'इस तरह दीर्घकालके पश्चात् राजा सगरके रूप और
युवावस्थामें सुशोभित होनेवाले साठ हजार पुत्र पैदा हो गये ।
सब ज्येष्ठो नरश्रेष्ठ सगरस्यात्मसम्भवः ।
सात्वान् गृहीत्वा तु जले सरय्या रघुनन्दन ॥ २० ॥

प्रक्षिप्य प्राहसन्नित्यं मज्जनस्तान् निरीक्ष्य वै ।
'नरश्रेष्ठ रघुनन्दन ! सगरका ज्येष्ठ पुत्र असमञ्ज नगरके
बालकका पकड़कर सरयुके जलमें फेंक देता और जब वे
दुबन लगते तब उनकी आर देखकर हँसा करता ॥ २० ॥

एवं पापसमाचारः सज्जनप्रतिबाधकः ॥ २१ ॥
पौराणामहिते युक्तः पित्रा निर्वासितः पुरात् ।

'इस प्रकार पापाचारमें प्रवृत्त होकर जब वह सत्पुरुषोंको
पादा देने और नगर-निवासियोंका अहित करने लगा, तब
पिताने उसे नगरसे बाहर निकाल दिया ॥ २१ ॥

तस्य पुत्रोऽशुमान् नाम असमञ्जस्य वीर्यवान् ॥ २२ ॥
सम्मतः सर्वलोकेऽस्य सर्वस्यापि प्रियंवदः ।

'असमञ्जके पुत्रका नाम था अशुमान्, वह बड़ा ही
पराक्रमी, सबसे अधिक बलवान् बोलनेवाला तथा सब लोगोंको
प्रिय था ॥ २२ ॥

ततः कालेन महता धतिः समभिजायत ॥ २३ ॥
सगरस्य नरश्रेष्ठ यजयमिति निश्चिता ।

नरश्रेष्ठ ! कुछ कालके अनन्तर महाराज सगरके मनमें
यह निश्चित विचार हुआ कि 'मैं यज्ञ करूँ' ॥ २३ ॥

स कृत्वा निश्चयं राजा सोपाध्यायगणस्तदा ।
यज्ञकर्मणि वेदज्ञो यष्टुं समुपचक्रमे ॥ २४ ॥

'यह दृढ़ निश्चय करके वे वेदवेत्ता नरेश अपने
उपाध्यायोंके साथ यज्ञ करनेकी नैयागोंमें लग गये ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीपद्ममयणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डेऽष्टाविंशः सर्गः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार श्रीबाल्मीकीजीके आदिमहाकाव्य बालकाण्डमें अष्टाविंशः सर्ग पूरा हुआ ॥ ३८ ॥

एकोनचत्वारिंशः सर्गः

इन्द्रके द्वारा राजा सगरके यज्ञसम्बन्धी अश्वका अपहरण, सगरपुत्रोंद्वारा सारी पृथ्वीका भेदन तथा देवताओंका ब्रह्माजीको यह सब समाचार बताना

विश्वामित्रवचः श्रुत्वा कथान्ते रघुनन्दनः ।

उवाच परमप्रीतो मुनि दीप्तिमिधानलम् ॥ १ ॥

विश्वामित्रजीकी कही हुई कथा सुनकर श्रीरामचन्द्रजी बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कथाके अन्तमें आश्रितृत्वं तेजस्वी विभामित्र मुनिसे कहा— ॥ १ ॥

श्रानुमिच्छामि भद्रं ते विस्तरेण कथाभिमाप् ।

पूर्वजो मे कथं ब्रह्मन् यज्ञं वै समुपाहरत् ॥ २ ॥

‘ब्रह्मन् ! आपका कल्याण हो । मैं इस कथाको विस्तारके साथ सुनना चाहता हूँ । मेरे पूर्वज महाराज सगरने किस प्रकार यज्ञ किया था ?’ ॥ २ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा कौतूहलसमन्वितः ।

विश्वामित्रस्तु काकुत्स्थमुवाच प्रहसन्निव ॥ ३ ॥

उनकी यह बात सुनकर विश्वामित्रजीको बड़ा कौतूहल हुआ। वे यह सोचकर कि मैं जो कुछ कहना चाहता हूँ, उन्हींके लिये ये प्रश्न कर रहा हूँ, जार-जोरसे हँस पड़े। मैंने कहा— ॥ ३ ॥

श्रुत्वा विस्तरो राम सगरस्य महात्मनः ।

शक्ररश्मिश्रो नाग्रा हिपयानिति विश्रुतः ॥ ४ ॥

विन्यपर्वतमामाहा निरीक्षेते परस्परम् ।

तयोर्मध्ये समभवद् यज्ञः स पुरुषोत्तम ॥ ५ ॥

राम ! तुम महात्मा सगरके यज्ञका विस्तारपूर्वक वर्णन करो। पुरुषोत्तम ! जङ्गलके अश्वः हिपयान् नामके विश्वामित्र पर्वत विन्याचलतक पहुँचकर तथा विन्याचलत हिमवान्तक पहुँचकर दोनों एक-दूसरेके देखते हैं (इन दोनोंके बीचमें दूरता कोई ऐसा ऊँचा पर्वत नहीं है, जो दोनोंके पारस्परिक दर्शनमें बाधा उपस्थित कर सके)। इन्हीं दोनों पर्वतोंके बीच आर्वाचनकी पुण्यभूमिमें उस यज्ञका अनुष्ठान हुआ था ॥ ४ ५ ॥

स हि देशो भरव्याघ्र प्रशस्तो यज्ञकर्मणि ।

तस्याश्वययी काकुत्स्थ बृहधन्वा महारेध ॥ ६ ॥

अंशुमानकरोत् तात सगरस्य यत्ने स्थितः ।

‘पुरुषसिंह ! वही देश यज्ञ कर्मके लिये उत्तम मान गया है। तात काकुत्स्थनन्दन ! राजा सगरकी आज्ञासे यज्ञिय अश्वको रक्षाकर भार सुदृढ़ धनुर्धर महारथी अंशुमान् लीआर किया था ॥ ६ ॥

तस्य पर्वणि तं यज्ञं यजमानस्य वासवः ॥ ७ ॥

राक्षसी तनुमास्थाय धात्रियाम्भमपाहरत् ।

‘परन्तु कबके दिन यज्ञमें लगे हुए राजा सगरके यज्ञसम्बन्धी धाँड़ेको इन्द्रन राक्षसका रूप धारण करके चुरा लिया ॥ ७ ॥

हियमाणे तु काकुत्स्थ तस्मिन्ने महात्मनः ॥ ८ ॥

उपाध्यायगणाः सर्वे यजमानमथाबुवन् ।

अयं पर्वणि वेगेन यज्ञियाश्वोऽपनीयते ॥ ९ ॥

हर्तविं सहि काकुत्स्थ हयशैवोपनीयताम् ।

यज्ञविद्वद् भवत्येतत् सर्वेषामशिवाय नः ॥ १० ॥

तत् तथा क्रियतां राजन् यज्ञोऽच्छिद्रः कुनो भवेत् ।

‘काकुत्स्थ ! महामना सगरके उस अश्वका अपहरण होते समय समस्त ब्रह्मिजनोंने यजमान सगरसे कहा—

‘काकुत्स्थनन्दन ! आज पर्वक दिन कोई इस यज्ञसम्बन्धी अश्वको सुराकर बड़े वेगसे लिये जा रहा है। आप धोरको मारिये और घोड़ा खपस लाइये, नहीं तो यज्ञमें विश्व पड़ जायगा और वह हम सब लोगोंके लिये अमङ्गलकर कारण होगा। राजन् ! आप ऐसा प्रयत्न कीजिये, जिससे यह यज्ञ बिना किसी विघ्न-बाधाके परिपूर्ण हो’ ॥ ८—१० ॥

सोपाध्यायवचः श्रुत्वा तस्मिन् मदमि पार्थिवः ॥ ११ ॥

षष्टिं पुत्रसहस्राणि वाक्यमेतदुवाच ह ।

गतिं पुत्रा न पश्यामि रक्षसां पुरुषवर्षभाः ॥ १२ ॥

यज्ञपूर्वमहाभार्गुरास्थितो हि महाक्रतुः ।

‘उस वृद्ध-सभामें बैठे हुए राजा सगरने उपाध्यायोंको बात सुनकर अपने साठ हजार पुत्रोंसे कहा— ‘पुरुषप्रवर पुत्रा ! यह मदान् यज्ञ वेदमन्त्रोंसे भवित्र धन्य करणवाले महाभाग महाम्नाओंद्वारा सन्नादित हो रहा है; अतः यहाँ राक्षसोंको पहुँच हा, ऐसा मुझे नहीं दिखायी देता (अतः यह अश्व चुरानेवाला कोई देवकांतिका पुत्र्य होगा) ॥ ११ ॥

तद् गच्छथ विचिन्वध्वे पुत्रका भद्रमस्तु च ॥ १३ ॥

समुद्रमालिनीं तवै पृथिवीमयुगच्छथ ।

एकैकं योजनं पुत्रा विस्तारमभिगच्छत ॥ १४ ॥

यावत् तुरगसदृशंस्तावत् स्वनतं मेदिनीम् ।

तथैव हयहन्तारं मार्गधाणां ममाज्ञया ॥ १५ ॥

अतः पुत्रो ! तुमलोग जाओ, घोंड़ोंको खोज करो। कुन्हाए कल्याण हो। समुद्रसे घिरा हुई इस सारी पृथ्वीको खान डालो। एक-एक याजन विस्तृत भूमिकों बाँटकर उसका चपा चपा मार डालो। जयतक घोड़ोंका घना न लग जाय, तबतक भरी आज्ञासे इस पृथ्वीको खादते लो। इस खादतक एक ही लक्ष्य है—उस अश्वके चोरको तूँड निकालना ॥ १३—१५ ॥

दीक्षितः पौत्रसहितः सोपाध्यायगणस्त्वहम् ।

इह स्थास्यामि भद्रं चो यावत् तुरगदर्शनम् ॥ १६ ॥

‘मैं यज्ञको दोला ले चुका हूँ, अतः स्वयं तम दूँड़नेक लिये नहीं जा सकता; इसलिये अबतक उस अश्वका

दर्शन न हो, सबतक मैं उपाध्यायी और पाँच अंशुमान्के
सब वशी रहूँगा ॥ १६ ॥

ते सर्वे हृष्टमनसो राजपुत्रा महाबलाः ।

जग्मुर्महीतलं राम पितुर्वधनयन्त्रिताः ॥ १७ ॥

श्रीराम । पिताक आदेशरूपी बन्धनमें बँधकर वे सभी
जगत्की राजकुमार मन-ही-मन तर्पका अनुभव करते हुए
धूलपर बिचरने लगे ॥ १७ ॥

गत्वा तु पृथिवीं सर्वामदृष्टा तं महाबलाः ।

योजनायापविस्तारमेकैको धरणीतलम् ।

विभिदु पुनर्व्याघ्रा वज्रस्पर्शसमर्भुजैः ॥ १८ ॥

सारी पृथ्वीका खरर लगानेके बाद भी उस अश्वको न
देखकर उन महाबली पुनर्गमिह राजपुत्रान प्रत्येकके द्विगम्ये
एक-एक योजन भूमिका छँटवारा करके अपनी भुजाओंद्वारा
उसे खादनी आरम्भ किया । इनको उन भुजाओंकर स्पर्श
वक्रक स्पर्शकी भाँति दुस्मह था ॥ १८ ॥

शूलैरशनिकल्पैश्च हलैश्चापि सुदारुणैः ।

विश्रम्भाना वसुमती ननाद रघुनन्दन ॥ १९ ॥

रघुनन्दन । उस समय वज्रनुच्य इत्थं आर अचन
दरुण हलैद्वारा सब ओरसे विदारण की जाती हुई वसुधा
आतनाद करन लगी ॥ १९ ॥

नागानां बध्यमानानामसुराणां च राघव ।

गश्मसाना दुराधर्ष सत्त्वानां निनदोऽभवन् ॥ २० ॥

रघुवीर । उन राजकुमारोंद्वारा मारे जाते हुए नागा
अभूरी, राक्षसी तथा दूसरे-दूसरे प्राणियोंका भयकर आतनाद
नृजन लगा ॥ २० ॥

योजनानां सहस्राणि षष्टि तु रघुनन्दन ।

विभिदुर्भरणीं राम रसातलमनुत्तमम् ॥ २१ ॥

इत्यर्थं श्रीमद्रामायणे बालकाण्डे अष्टकाख्ये बालकाण्डे एकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीबालकीर्तिनिमित्त आगरामायण आदिकाख्ये बालकाण्डे उनतर्लामर्वा मर्ग पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशः सर्गः

सगरपुत्रोंके भावी विनाशकी सूचना देकर ब्रह्माजीका देवताओंको शान्त करना, सगरके पुत्रोंका
पृथ्वीको खोदते हुए कपिलजीके पास पहुँचना और उनके रोषसे जलकर भस्म होना

देवतानां वचः श्रुत्वा भगवान् वै पितामहः ।

प्रत्युवाच मुनेप्रणान् कृतान्तबलयोगितान् ॥ १ ॥

देवताओंको बात सुनकर भगवान् ब्रह्माजीन कितने हैं
प्राणियोंका अस्त करनेवाले सगरपुत्रोंके बलसे मोहित एवं
भयभीत हुए उन देवताओंसे इस प्रकार कहा — ॥ १ ॥

यस्येयं वसुधा कृत्स्ना वासुदेवस्य धीमनः ।

महिषी माधवस्येवा स एव भगवान् प्रभुः ॥ २ ॥

कपिल रूपधास्याथ धारयत्यनिश धराम् ।

तस्य कोपाग्निना तथा भक्षिष्यन्ति नृपात्मजाः ॥ ३ ॥

रघुकुलको आनन्दित करनेवाले श्रीराम । उन्होंने साठ
हजार राजपुत्रोंकी भूमि खोद डाली । मानो वे सर्वोत्तम
रसातलका अनुसंधान कर रहे हों ॥ २१ ॥

एवं पर्वतसम्बाधं जम्बूद्वीपं नृपात्मजाः ।

खनन्तो नृपशार्दूल सर्वतः परिचक्रमुः ॥ २२ ॥

नृपश्रेष्ठ राम ! इस प्रकार पर्वतोंसे युक्त जम्बूद्वीपकी
भूमि खोदते हुए वे राजकुमार सब ओर चकर लगाने
लगे ॥ २२ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सासूराः सहपन्नगाः ।

सम्भ्रान्तमनसः सर्वे पितामहमुपागमन् ॥ २३ ॥

इसी समय गन्धर्वों, अमुरों और नागोंसहित सम्पूर्ण
देवता मन-ही-मन धक्का उठे और ब्रह्माजीके पास गये ॥

ते प्रमाद्य महात्मानं विषण्णवदनास्तदा ।

ऊचुः परमसंजस्ताः पितामहोपिदे वचः ॥ २४ ॥

उनके मुखपर विषाद छा रहा था । वे भयसे अत्यन्त
मंत्रल हो गये थे । उन्होंने महात्मा ब्रह्माजीको प्रसन्न करके
इस प्रकार कहा — ॥ २४ ॥

भगवन् पृथिवीं सर्वां खन्यते सगरात्मजैः ।

बहवश्च महात्मानो बध्यन्ते जलचारिणः ॥ २५ ॥

‘भगवन् । सगरके पुत्र इस सारी पृथ्वीको खादे डालते
हैं और बहुत-से महात्माओं तथा जलचारी जीवोंका वध कर
रह हैं ॥ २५ ॥

अथ यज्ञहरोऽस्याकमनेनाश्वोऽपनीयते ।

इति ते सर्वभूतानि हिसन्ति सगरात्मजाः ॥ २६ ॥

‘यह हमारे यज्ञमें विघ्न डालनेवाला है । यह हमारा अश्व
चुराकर ले जाता है’ ऐसा कहकर वे सगरके पुत्र समस्त
प्राणियोंको हिंसा कर रहे हैं ॥ २६ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सासूराः सहपन्नगाः ।

सम्भ्रान्तमनसः सर्वे पितामहमुपागमन् ॥ २७ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सासूराः सहपन्नगाः ।
सम्भ्रान्तमनसः सर्वे पितामहमुपागमन् ॥ २७ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सासूराः सहपन्नगाः ।
सम्भ्रान्तमनसः सर्वे पितामहमुपागमन् ॥ २७ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सासूराः सहपन्नगाः ।
सम्भ्रान्तमनसः सर्वे पितामहमुपागमन् ॥ २७ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सासूराः सहपन्नगाः ।
सम्भ्रान्तमनसः सर्वे पितामहमुपागमन् ॥ २७ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सासूराः सहपन्नगाः ।
सम्भ्रान्तमनसः सर्वे पितामहमुपागमन् ॥ २७ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सासूराः सहपन्नगाः ।
सम्भ्रान्तमनसः सर्वे पितामहमुपागमन् ॥ २७ ॥

आदि शब्दोंसे यह बात सुस्पष्ट ज्ञात होती है ।) इसी प्रकार दूरदर्शी पुरुषोंने सगरके पुत्रोंका भावी विनाश भी देखा ही है, अतः इस विषयमें शोक करना अनुचित है ॥ ४ ॥

पितामहवचः श्रुत्वा त्रयस्त्रिंशदरिदमाः ।

देवाः परमसंहृष्टाः पुनर्जगुर्मयथागतम् ॥ ५ ॥

ब्रह्माजीकी यह कथन सुनकर शत्रुओंका दमन करनेवाले तीनों देवता बड़े हर्षमें भरकर जैसे आये थे, उसी तरह पुन लौट गये ॥ ५ ॥

सगरस्य च पुत्राणां प्रादुरासीन्महास्वनः ।

पृथिव्यां भिरामानायां निष्ठांतसमनिःस्वनः ॥ ६ ॥

सगरपुत्रोंके हृदयों पर पृथ्वी खोदी जा रही थी, उस साथ उससे राजागणों समान कड़ा धक्कर शब्द होना था ॥

ततो भित्त्वा मही सर्वां कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ।

संज्ञिताः सगरा सर्वे पितरं चाक्यमब्रुवन् ॥ ७ ॥

इस तरह सारी पृथ्वी खोदकर तथा उसकी पाँचमा करके वे सभी सगर पुत्र पिताके पास खाली हाथ लौट आये और बोले— ॥ ७ ॥

परिक्लान्ता मही सर्वा सम्भवन्तश्च सूदिताः ।

देवदानवरक्षोभिः पिशाचोरगपन्नगाः ॥ ८ ॥

न च पश्यामहेऽद्य ते अश्महर्तारमेव च ।

किं करिष्याम भद्रं ते कुक्षिस्थ विचार्यताम् ॥ ९ ॥

‘पिताजी ! हमने सारी पृथ्वी छान डाली । देवता, दानव, राक्षस, पिशाच और नाग आदि यह-वह बलवान् प्राणियोंको मार डाला फिर भी हमें न तो कहीं छोड़ा दिखायी दिया और न घोंटूका चुपानेवाला ही । आपकी भत्ता तो । अब हम क्या करें ? हम विषयमें आप ही काई उपाय सोचिये’ ॥ ८ ॥

तेषां तत् कथनं श्रुत्वा पुत्राणां राजसन्तपः ।

सप्तपुत्रवीर्यं चाक्य सगरो रघुनन्दन ॥ १० ॥

‘पुनन्दन ! पुराणों यह कथन सुनकर राजाओंमें श्रेष्ठ सगरने उनसे कृपित होकर कहा— ॥ १० ॥

भूयः खनत भद्रं वो विभेद्य जसुधातलम् ।

अश्महर्तारमासाद्य कृतार्थाश्च निवर्तत ॥ ११ ॥

‘जाओ फिरसे सारी पृथ्वी खाना और इसे विभेद्य करके घोंटूका खानका भा लेंगे । खनतक पहुँचकर काम पूरा होनेपर ही लौटना’ ॥ ११ ॥

पितृवचनमासाद्य सगरस्य महात्मनः ।

वाष्टिः पुत्रसहस्राणि रसातलमभिप्रवन् ॥ १२ ॥

अपने महात्मा पिता सगरकी यह आज्ञा शिरोधार्य करके वे साठ हजार राजकुमार रसातलका और बड़े (और शीघ्रमें गतकर पृथ्वी खोदने लगे) ॥ १२ ॥

खन्यमाने ततस्तस्मिन् ददुशुः पर्वतोपमम् ।

दिशागजं विरूपाक्षं धारयन्तं महीतलम् ॥ १३ ॥

इस खुदाईके समय ही उन्हें एक पर्वताकार दिग्गज

दिखायी दिया जिसका नाम विरूपाक्ष है । वह इस भूतलकी धारण किये हुए था ॥ १३ ॥

सर्वतनयानां कृत्वा पृथिवीं रघुनन्दन ।

धारयामास शिरसा विरूपाक्षो महागजः ॥ १४ ॥

रघुनन्दन ! महान् गजराज विरूपाक्षने पर्वत और यनोंमहिन इस सम्पूर्ण पृथ्वीको अपने मस्तकपर धारण कर रहा था ॥ १४ ॥

यदा पर्वणि काकुत्स्थ विश्रमार्थं महागजः ।

खेदाच्छालयते शीर्षं भूमिकम्पस्तदा भवेत् ॥ १५ ॥

काकुत्स्थ ! वह महान् दिग्गज जिस समय धक्कर विश्रामके लिये अपने मस्तकको इधर उधर हटाना था, उस समय भूकम्प होन लगता था ॥ १५ ॥

ते ते प्रदक्षिणं कृत्वा दिशापालं महागजम् ।

मानयन्तो हि ते राय जगुर्मित्वा रसानलम् ॥ १६ ॥

श्रीराम ! पूर्व दिशाकी रक्षा करनेवाले विशाल गजराज विरूपाक्षकी परिक्रमा करके उसका सम्मान करते हुए वे भग्नपुत्र रसातलका भेदन करके आगे बढ़ गये ॥ १६ ॥

ततः पूर्वा दिशं भित्त्वा दक्षिणां विभिदुः पुनः ।

दक्षिणस्यामपि दिशि ददुशुस्ते महागजम् ॥ १७ ॥

पूर्व दिशाकी भेदन करनेके पश्चात् वे पुनः दक्षिण दिशाकी भूमिको खोदने लगे । दक्षिण दिशामें भी उन्हें एक महान् दिग्गज दिखायी दिया ॥ १७ ॥

महापदां महात्मानं सुमहत्पर्वतोपमम् ।

शिरसा धारयन्तं वां विस्मयं जगुस्तपम् ॥ १८ ॥

उसका नाम था महापदा । महान् पर्वतके समान ऊँचा वह विशालकाय गजराज अपने मस्तकपर पृथ्वीको धारण करता था । उसे देखकर उन राजकुमारोंको बड़ा विस्मय हुआ ।

ते ते प्रदक्षिणं कृत्वा सगरस्य महात्मनः ।

वाष्टिः पुत्रसहस्राणि पश्चिमां विभिदुर्दिशम् ॥ १९ ॥

महात्मा सगरके वे साठ हजार पुत्र उस दिग्गजकी परिक्रमा करके पश्चिम दिशाकी भूमिको भेदन करने लगे ।

पश्चिमायामपि दिशि महान्तमवलोपमम् ।

दिशागजं सीमनसं ददुशुस्ते महाबलीः ॥ २० ॥

पश्चिम दिशामें भी उन महाबली सगरपुत्रोंने महान् पर्वताकार दिग्गज सीमनसका दर्शन किया ॥ २० ॥

ते ते प्रदक्षिणं कृत्वा पृष्टा चापि निरामयम् ।

खनन्तः समुपाक्रान्ता दिशं सोमवतीं तदा ॥ २१ ॥

उसकी भी परिक्रमा करके उसकी कुशल-समाचार पूछकर वे सभी राजकुमार पृथ्वी खोदते हुए उत्तर दिशामें जा पहुँचे ॥ २१ ॥

उत्तरस्थां रघुश्रेष्ठ ददुशुर्हिमपाण्डुरम् ।

भद्रं चद्रेण वपुषा धारयन्तं महीमिमाम् ॥ २२ ॥

रघुश्रेष्ठ ! उत्तर दिशामें उन्हें हिमके समान श्वेतभद्र

॥ २२ ॥
 ध्वजो धारण किये हुए था ॥ २२ ॥
 स्यात्ततः सर्वे कृत्वा चर्चं प्रदक्षिणम् ।
 पुत्रसहस्राणि विभिदुर्बसुधातलम् ॥ २३ ॥
 उसका कुशल-समाचार सुनकर राजा सगरके वे सभी
 पुत्र उसकी परिक्रमा करके पश्चान् धूमि खेदनेक
 क्रमसे जुट गये ॥ २३ ॥
 प्रागुत्तरां गत्वा सागराः प्रथिनां दिशम् ।
 न्यायध्यायन् सर्वे पृथिवीं सगरात्मजाः ॥ २४ ॥
 मन्तर सुधिरण्यात् पूर्वोत्तर दिशामे जाकर उन
 सागरोंमें एक साथ होकर रागपूर्वक पृथक्-पृथक्
 ॥ २४ ॥
 ते तु सर्वे महात्मानो धीमतेषां महात्मनाः ।
 कपिलं तत्र वामदेवं सनातनम् ॥ २५ ॥
 वे सब बड़े महात्मानों, धीमतेषां महात्मनाः
 कपिलजी राजकुमारोंमें वहाँ सनातन वामदेवस्वरूप भगवान्
 कपिलजी देखा ॥ २५ ॥
 तस्यै च तस्य देवस्य चरन्तमविदुस्तः ।
 प्रथममुत्कं प्राप्ताः सर्वे ते रघुनन्दन ॥ २६ ॥
 राजा सगरके यज्ञका वह छोड़ा भी भगवान् कपिलके
 पास ही चर रहा था । रघुनन्दन । उसे देखकर उन सबको
 अनुगम हुई प्राप्त हुआ ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायण आत्मोक्तीये आदिकाण्डे अन्वारिंशः सर्गः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीव्यासोक्तिनिमित्त आरामायण आदिकाण्डे अन्वारिंशः सर्ग पूरा हुआ ॥ ४० ॥

एकचत्वारिंशः सर्गः

सगरकी आज्ञासे अंशुमानका रमातलयें जाकर घोड़ेको ले आना और
 अपने चाचाओंके निधनका समाचार सुनाना

पुत्रीक्षरगतमज्जात्वा सगरो रघुनन्दन ।
 नगरभग्नवीद् राजा दीप्यमानं स्वतेजसा ॥ १ ॥
 रघुनन्दन । 'पुत्रीको गये बहुत दिन हो गये'—ऐसा
 जानकर राजा सगरने आगे पीछे अंशुमानसे, जो अपने तेजसे
 दीप्यमान हो रहा था, इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥
 शूरश्च कुनविद्यश्च धृतिस्तुल्योऽसि तेजसा ।
 पित्राणां गतिमन्विच्छ यन् चाश्वाऽपमर्हन् ॥ २ ॥
 'बन्धु ! तू शूरवीर, विद्वान् तथा अपने पुत्रोंके मुख्य
 तेजस्वी हो । तू भी अपने चाचाओंके पथक अनुसरण करे
 और तब कोकरा गया लगाओ तिमने घेर यज्ञ-सम्बन्धी
 अक्षक अपहरण कर लिया है ॥ २ ॥
 अन्तर्धीमानि सन्तानि वीर्यवानि महानि च ।
 नानां तु प्रतिघातायै सासि गृहीष्टं कार्मुकम् ॥ ३ ॥
 'बन्धु ! तुम्हारे भीतरके धीमे बच्चे बहुत बड़े बलवान् और तेजस्वी हैं

ते ते अज्ञहन् ज्ञात्वा क्रोधपद्माकुलक्षणाः ।
 खनिप्रलाङ्गलधरा नानावृक्षशिलाधराः ॥ २७ ॥
 भगवान् कपिलको अपने यज्ञमें धिन्न डालनेवाला जानकर
 उनकी आँखें क्रोधसे लाल हो गयीं । उन्होंने अपने हाथोंमें खतों,
 हल और नाना प्रकारके वृक्ष एवं पत्थरोंके टुकड़े ले रखे थे
 अध्यधावन्त संकुद्धास्तिष्ठ तिष्ठेति आश्रुवन् ।
 अस्माकं त्वं हि तुरगे यज्ञियं हनवानसि ॥ २८ ॥
 दुर्मेधस्त्वं हि सम्प्राप्तान् विद्धि न सागरात्मजान् ।
 वे अत्यन्त रोषमें चकर उनकी आँखें लोढ़े और बाले—
 'अरे ! खड़ा रह, खड़ा रह । तू ही हमारे यज्ञके धोड़को यहाँ
 चुग लाया है । दुर्बुद्धे ! अब हम आ गये । तू समझ ले, हम
 महागज सगरके पुत्र हैं ॥ २८ ॥
 श्रुत्वा तद् वचनं तेषां कपिलो रघुनन्दन ॥ २९ ॥
 रोषेण महताविष्टो हुङ्कारमकरोत् तदा ।
 रघुनन्दन ! उनकी बात सुनकर भगवान् कपिलको बड़ा
 रोष हुआ और उस रोषके आवेशमें ही उनके मुँहसे एक
 हुंकार निकल पड़ा ॥ २९ ॥
 ततस्तेनाग्रमेयेण कपिलेन महात्मना ।
 भस्मगशीकृताः सर्वे काकुत्स्थ सगरात्मजाः ॥ ३० ॥
 श्रीराम ! उस हुंकारके साथ ही इन अनन्त प्रभावशाली
 महात्मा कपिलने उन सभी सगरपुत्रोंको आलाकर राखका
 ढेर कर दिया ॥ ३० ॥

अतः उनसे टकर लेंके लिये तुम तलवार और धनुष भी
 लेंके जाओ ॥ ३ ॥
 अभिवाद्याभिवाद्यास्त्वं हन्ता विघ्नकरानपि ।
 मिद्वार्थः सनिघ्नस्व यम यज्ञस्य दारणः ॥ ४ ॥
 'जो बन्दनीय पुरुष हो, उन्हें प्रणाम करना और जो तुम्हारे
 मार्गमें धिन्न डालनेवाले हैं, उनको मार डालना । ऐसा करके
 तू सफ़लमनार्थ होकर लाने और मर इस यज्ञको पूर्ण करे ओ
 एवंभुक्तोऽशुमान् सम्यक् सगरेण महात्मना ।
 धनुरादाय खड्गं च जगाम लघुविक्रमः ॥ ५ ॥
 महात्मा सगरके ऐसा कहनपर शीघ्रतापूर्वक पराक्रम
 कर दिखानेवाला धीमे अशुमान् धनुष और तलवार
 लेकर चले दिया ॥ ५ ॥
 स स्वातं पितृभिर्मार्गपन्तर्धीमं महात्मभिः ।
 प्रापद्यन् नरश्रेष्ठ तेन राजाभिचोदितः ॥ ६ ॥

नरश्रेष्ठ ! उसके महामनस्वी चाचाओं ने पृथ्वी के भीतर जो मार्ग बना दिया था, उसीपर वह राजा सगर में प्रेरित होकर गया ॥ ६ ॥

देवदानवरक्षोभिः पिशाचपतगोरगैः ।
पूज्यमानं महातेजा दिशागजपश्यत् ॥ ७ ॥

वहाँ उस महातेजस्वी योगी ने एक दिग्गज की देखा, जिसकी देवता, दानव, राक्षस, पिशाच, पक्षी और नाग—सभी पूजा कर रहे थे ॥ ७ ॥

स तं प्रदक्षिणं कृत्वा पृष्ठा चैव निराधयम् ।
पितृन् स परिपश्यन् साजिह्वारमेव च ॥ ८ ॥

उसकी परिक्रमा करके कुशल-मङ्गल पूछकर अशुमान् उस दिग्गज से अपने चाचाओं का समाचार तथा अश्व नुरीनेवालेका पता पूछा ॥ ८ ॥

दिशागजस्तु तच्छ्रुत्वा प्रत्युवाच महाभति ।
आसमक्षं कृतार्थस्त्वं सहाश्रुः शीघ्रमेध्यसि ॥ ९ ॥

उसका प्रश्न सुनकर परम बुद्धिमान् दिग्गज ने इस प्रकार तब ही कहा—अमानज कुमार ! तुम अपना कथं गिद्ध करके घातेसहित लौट आओगे ॥ ९ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा सर्वानिव दिशागजान् ।
यथाक्रमेण यथान्याये प्रष्टुं संपुपचक्रमे ॥ १० ॥

उसकी यह बात सुनकर अशुमान् क्रमशः सभी दिग्गजों से न्यायानुसार उक्त प्रश्न पूछना आरम्भ किया ॥

तैश्च सर्वैर्दिशापालैर्वाक्यज्जवाक्यकोविदैः ।
पूजितः साहस्यैवागन्तारीत्यभिद्योदितः ॥ ११ ॥

वाक्य के समझने तथा योग्यता से कुशल उन समस्त दिग्गजों ने अशुमान् की सल्लाह किया और यह शुभ कामना प्रकट की कि तुम घातेसहित लौट आओगे ॥ ११ ॥

तैषां तद् वचनं श्रुत्वा जगाम लघुविक्रमः ।
धम्मराशिकृता यत्र पितरस्तस्य सागराः ॥ १२ ॥

उनकी यह आशीर्वाद सुनकर अशुमान् शीघ्रतापूर्वक पैर बल्लान्त हुआ तब स्थानपर जा पहुँचा, जहाँ उसके चाचा सगरपुत्र शलक छह हुए पड़े थे ॥ १२ ॥

स दुःस्वप्नशपापवन्धस्त्रयस्त्रयसुप्तमदा ।
कुज्जोश पर्यवर्तन्तु ब्रधान् नेपां सुदुःखितः ॥ १३ ॥

उनके लघाने असमजपुत्र अशुमान् को बड़ा दुःख हुआ । वह शोक के मशीभूत हो अत्यन्त आतंथावसे फुट-फुटकर रोने लगा ॥ १३ ॥

यज्ञिय च हयं तत्र चरन्तमविदूरतः ।
ददर्श पुरुषव्याघ्रो दुःस्वशोकसमन्वितः ॥ १४ ॥

दुःख-शोक में डूबे हुए पुरुषसिंह अशुमान् ने अपने गङ्गा-सागर की अभिका भी वहाँ पास ही चरत देखा ॥ १४ ॥

स तैर्षा राजपुत्राणां कर्तुकामो जलक्रियाम् ।
स जलार्थो महातेजा न चापश्यजलाशयम् ॥ १५ ॥

महानजस्वी अशुमान् ने उन राजकुमारों को जलाशय तक लिये जल की इच्छा की; किंतु वहाँ कहीं भी कोई जलाशय नहीं दिखायी दिया ॥ १५ ॥

विस्मयं निपुणां दृष्टिं ततोऽपश्यन् खगाधिपम् ।
पितृणां मानुलं राघं सुपर्णमनिलोपमम् ॥ १६ ॥

श्रीराम ! तब उसने दूरतक्की वस्तुओं को देखने में समर्थ अपनी दृष्टिको फैलाकर देखा । उस समय उसे वायुके समान वेगवान् पक्षिगण गरुड़ दिखायी दिये, जो उसके चाचाओं (सगरपुत्रों) के मामा थे ॥ १६ ॥

स चैनमब्रवीद् वाक्यं खनतेयो महाबलः ।
या शूचः पुरुषव्याघ्र यद्योऽयं लोकसम्भतः ॥ १७ ॥

महबलस्त्री विनतानन्दन गरुड़ ने अशुमान् से कहा— पुरुषासह ! शोक न करो । इन राजकुमारों का कथं सम्पूर्ण जगत् के मङ्गल के लिये हुआ है ॥ १७ ॥

कपिलेनाग्रमेयेण दग्धा हीमे महाबलाः ।
सलिलं नार्हसि प्राज्ञ दानुपेधां हि लौकिकम् ॥ १८ ॥

‘विद्वन् । अनन्त प्रभावशाली महात्मा कपिल ने इन महाबलों राजकुमारों का दग्ध किया है । इनके लिये तुम्हें लौकिक जल के अञ्जलि देना उचित नहीं है ॥ १८ ॥

गङ्गा हिमवनो ज्येष्ठा दुष्टिता पुरुषवर्ध ।
तस्यां कुरु महाकाहो पितृणां सलिलक्रियाम् ॥ १९ ॥

‘नरश्रेष्ठ ! महायाता ! हिमवान् की जो ज्येष्ठ पुत्री गङ्गाजी है, उन्हीं के जल से अपने इन चाचाओं का तर्पण करो ॥ १९ ॥

धम्मराशीकृतानेनान् भ्रातयेल्लोकपावनी ।
तया ह्यिन्नमिदं धम्म गङ्गया लोककान्तया ।

यष्टि पुत्रमहस्त्राणि स्वर्गलोकं गमिष्यति ॥ २० ॥

जिम समय लोकपावनी गङ्गा शलक के घेर हाकर गिरे हुए उन साठ हजार राजकुमारों को अपने जल में आग्राहित करेगी, उन्हीं समय उन सबको स्वर्गलोक में पहुँचा देगी । लोककामनीया गङ्गा के जल से पीयी हुई यह धम्मराशि इन सबको स्वर्गलोक में भेज देगी ॥ २० ॥

निर्गच्छाशुं महाभाग संगृह्य पुरुषवर्ध ।
यज्ञं पेतायहे वीर निर्वर्तयिनुमर्हसि ॥ २१ ॥

‘महाभाग ! पुरुषप्रवर ! वीर ! अब तुम घोंड़ा लेकर आओ और अपने पितामह का यज्ञ पूर्ण करो ॥ २१ ॥

सुपर्णवचनं श्रुत्वा सोऽशुमानतिवीर्यवान् ।
त्वरितं हयमादाय पुनरायान्महातपाः ॥ २२ ॥

गरुड़की यह बात सुनकर अत्यन्त पराक्रमी महातपस्वी अशुमान् घोड़ा लेकर तुरन्त लौट आया ॥ २२ ॥

ततो राजानमामाद्य दीक्षितं रघुनन्दन ।
न्यवेदयद् यथाकृतं सुपर्णवचनं तथा ॥ २३ ॥

रघुनन्दन ! यज्ञ में दीक्षित हुए राजा के पास आकर उसने माग समाचार निवेदन किया और गरुड़की वनायी हुई बात

जो कह सुनायो ॥ २३ ॥

नचुस्त्वा घोरसंकाशं वाक्यमंशुपतो नृपः ।

यज्ञं निर्वर्तयामास यथाकल्पं यथाविधि ॥ २४ ॥

अंशुमान् के मुखसे यह भयंकर समाचार सुनकर राजा सगरने

जन्मकर्म नियमके अनुसार अपना यज्ञ विधिजन पूर्ण किया ॥ २४ ॥

मधुरं स्वर्गमच्छीमानिष्टयज्ञो महीपतिः ।

गङ्गायाश्चागमे राजा निश्चयं नाध्यगच्छत ॥ २५ ॥

यज्ञ समाप्त करके पृथ्वीपति मन्तराज सगर अपने

इत्यार्षे श्रीपद्मपादयो वाल्मीकीयं आदिकाव्यं बालकाण्डे एकचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमे इकतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४१ ॥

द्विचत्वारिंशः सर्गः

अंशुमान् और भगीरथकी तपस्या, ब्रह्माजीका भगीरथको अभीष्ट घर देकर गङ्गाजीको धारण करनेके लिये भगवान् शङ्करको राजी करनेके निमित्त प्रयत्न करनेकी सलाह देना

कालधर्मं गते राम सगरे प्रकृतीजनाः ।

गजानं रंध्ययामासुंशुपन्तं सुधार्मिकम् ॥ १ ॥

श्रीराम ! सगरकी मृत्यु हो जानपर प्रजाजनाने परम

धर्मत्मा अंशुमान्को राजा बनानेका रुचि प्रकट की ॥ १ ॥

स राजा सुमहानासीदंशुमान् रघुनन्दन ।

तस्य पुत्रो महानासीद् दिलीप इति विश्रुतः ॥ २ ॥

रघुनन्दन ! अंशुमान् बड़े प्रतापी राजा हुए । उनके पुत्रका

नाम दिलीप था । वह भी एक महान् पुरुष था ॥ २ ॥

तस्मै राज्यं समादिश्य दिलीपे रघुनन्दन ।

विषयच्छिखरे रामे तपस्तपे सुदारुणम् ॥ ३ ॥

रघुकुलको आनन्दित करनेवाले वीर ! अंशुमान्

दिलीपको राज्य देकर हिमान्तक रमणीय शिखरपर चले गए

और यहाँ अत्यन्त कठोर तपस्या करने लगे ॥ ३ ॥

शुश्रूषाच्छतसाहस्रं वर्षाणि सुमहायशाः ।

तपोवनगतो राजा स्वर्गं लब्धे तपोधनः ॥ ४ ॥

महान् यशस्वी राजा अंशुमान्ने उस तपोवनमें जाकर

पचास हजार वर्षोंका तप किया । तपस्याके धनने सम्पन्न हुए

इस नरेशने नहीं शरीर त्यागकर स्वर्गलोक प्राप्त किया ॥ ४ ॥

दिलीपस्तु महातेजाः धृत्वा पैतामहं वधम् ।

दक्षोपहतया बुद्ध्या निश्चयं नाध्यगच्छत ॥ ५ ॥

अपने पितामहोंके वधका वृत्तान्त सुनकर महातेजस्वी

दिलीप भी बहुत दुःखी रहते थे । अपनी बुद्धिसे बहुत

साधने-पितारनेके बाद भी वे किसी निश्चयपर नहीं पहुँच

सके । ५ ॥

कथं गङ्गावतरणं कथं तेषां जलक्षयः ।

नारदेषु कथं चैतानिति चिन्ताधरोऽभवत् ॥ ६ ॥

वे सदा इसी चिन्तामें डूबे रहते थे कि किस प्रकार

पृथ्वीपर गङ्गाजीको उतरना सम्भव होगा । कैसे गङ्गाजीके

राजधानीको लौट आये । वहाँ आनेपर उन्होंने गङ्गाजीको ले आनेके विषयमें बहुत विचार किया, किन्तु वे किसी निश्चयपर न पहुँच सके ॥ २५ ॥

अगत्वा निश्चयं राजा कालेन महता महान् ।

त्रिशद्वर्षसहस्राणि राज्यं कृत्वा दिवं गतः ॥ २६ ॥

दीर्घकालतक विचार करनेपर भी उन्हें कोई निश्चित

उपाय नहीं सूझा और तीस हजार वर्षोंतक राज्य करके वे

स्वर्गलोकको चले गये ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीपद्मपादयो वाल्मीकीयं आदिकाव्यं बालकाण्डे एकचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमे इकतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४१ ॥

उन्हें जन्मजल ही जायेगी और किस प्रकार मैं अपने उन पितरोंका उद्धार कर सकूँगा ॥ ६ ॥

तस्य चिन्तयतो नित्यं धर्मेण विदितरत्नमः ।

पुत्रो भगीरथो नाम जज्ञे परमधार्मिकः ॥ ७ ॥

प्रतिदिन इसी सब चिन्ताओंमें पड़े हुए राजा दिलीपको, जो

अपने धर्माचरणमें बहुत विख्यात थे, भगीरथ नामक एक

परम धर्मात्मा पुत्र प्राप्त हुआ ॥ ७ ॥

दिलीपस्तु महातेजा यज्ञैर्बहुभिरिष्टवान् ।

त्रिशद्वर्षसहस्राणि राज्यं कृत्वा दिवं गतः ॥ ८ ॥

महातेजस्वी दिलीपने बहुत-से यज्ञोंका अनुष्ठान तथा तीस

हजार वर्षोंतक राज्य किया ॥ ८ ॥

अगत्वा निश्चयं राजा तेषामुद्धरणं प्रति ।

व्याधिना नरशार्दूल कालधर्ममुपेयिवान् ॥ ९ ॥

पुरुषसिंह ! उन पितरोंके उद्धारके विषयमें किसी

निश्चयका न पहुँचकर राजा दिलीप राममें पाण्डित हो मृत्युका

प्राप्त हो गये ॥ ९ ॥

इन्द्रलोकं गतो राजा स्वार्जितेनैव कर्मणा ।

राज्ये भगीरथं पुत्रमभिषिच्य नरवधः ॥ १० ॥

पुत्र भगीरथको राज्यपर अर्पणित्त करके नरश्रेष्ठ

राजा दिलीप अपने किये हुए पुण्यकर्मके प्रभावसे

इन्द्रलोकमें गये ॥ १० ॥

भगीरथस्तु राजर्षिधार्मिको रघुनन्दन ।

अवपत्यो महाराजः प्रजाकामः स च प्रजाः ॥ ११ ॥

मन्त्रिष्वाधाय तद् राज्यं गङ्गावतरणे रतः ।

तपो दीर्घं समातिष्ठद् गोकर्णे रघुनन्दन ॥ १२ ॥

रघुनन्दन ! धर्मात्मा राजर्षि महाराज भगीरथक कोई

मेतन नहीं थी । वे संतान-प्राप्तिकी इच्छा रखते थे तो भी

प्रजा और राज्यकी रक्षाका भार मन्त्रियोंपर रखकर

गङ्गाजीको पृथ्वीपर उतारनेके प्रयत्नमें लग गये और
गोवर्णतोर्थमें बड़ी भारी तपस्या करने लगे ॥ ११-१२ ॥
ऊर्ध्वबाहुः भञ्जतपा मासाहारो जितेन्द्रियः ।
तस्य वर्षसहस्राणि घोरे तपसि तिष्ठतः ॥ १३ ॥
अतीतानि महाबाहो तस्य राज्ञो महात्मनः ।

महाबाहो ! वे अपनी दोनों मुझपर ऊपर उठाकर
गङ्गाधारा रखने करते और इन्द्रियोंको कायमें रखकर
एक-एक महिनेका आहार ग्रहण करते थे । इस प्रकार घोर
तपस्यामें लगे हुए महात्मा राजा भगीरथके एक हजार वर्ष
व्यतीत हो गये ॥ १३ ॥

सुग्रीवो भगवान् ब्रह्मा प्रजानां प्रभुरीश्वरः ॥ १४ ॥
ततः सुरगर्जः सार्धमुपागम्य पितामहः ।
भगीरथं महात्मानं तप्यमानमथाब्रवीत् ॥ १५ ॥

इससे प्रजाओं के स्वामी भगवान् ब्रह्माजी उनपर बहुत
प्रसन्न हुए । पितामह ब्रह्माजी देवताओंके साथ वहाँ आकर
नासाग्रमें लगे हुए महात्मा भगीरथसे इस प्रकार कहा ॥

भगीरथ महाराज प्रीतस्तेऽहं जनाधिप ।
तपसा च सुतप्तेन वर वरय सुव्रत ॥ १६ ॥

'महाराज भगीरथ ! तुम्हारा इस कर्म तपस्यासे मैं बहुत
प्रसन्न हूँ । श्रेष्ठ वरका या मन करनेवाले नरेश्वर । मुझे कोई
कर भगीरथ' ॥ १६ ॥

तमुक्त्वैव महातेजाः सर्वलोकपितामहम् ।
भगीरथो महाबाहुः कृमच्छल्लिपुटः स्थितः ॥ १७ ॥

तब महामंजुषी महाबाहु भगीरथ साथ जोड़कर उनके
साथों लटके हो गये और उन सर्वलोकपितामह ब्रह्मासे इस
प्रकार बोले ॥ १७ ॥

यदि मे भगवान् प्रीतो यद्यस्ति तपस-फलम् ।
रजाम्पात्मजाः सर्वे भवन्तः सलिलपात्रयुः ॥ १८ ॥

भगवान् ! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं और यदि इस
नासाग्रका कोई उत्तम फल है तो सागरके सभी पुत्रोंको मेरे
हाथमें गङ्गाजीका जल प्राप्त हो ॥ १८ ॥

गङ्गायाः सलिलक्षिप्ते भस्मन्येषां महात्मनाम् ।
स्वर्गं गच्छन्त्यस्यन्तं सर्वे च प्रपितामहाः ॥ १९ ॥

इत्यर्थे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकव्ये वाल्मीकिः । सर्गः ॥ ४२ ॥
इस प्रकार श्रीमहात्मीकीयसामायणे आदिकव्यके वाल्मीकिः बाल्मीकिः सर्ग पूरा हुआ ॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशः सर्गः

भगीरथकी तपस्यासे संतुष्ट हुए भगवान् शङ्करका गङ्गाको अपने सिरपर धारण करके
विन्दुसरोवरमें छोड़ना और उनका सात धाराओंमें विभक्त हो भगीरथके
साथ जाकर उनके पितरोंका उद्धार करना

देवदेवे गते तस्मिन् सोऽद्भुताग्रनिर्णीहिनाम् ।
कृत्वा धनुमतीं राम वत्सरं समुपासत ॥ १ ॥

इन पहाड़ोंकी भस्मराशिके गङ्गाजीके जलसे भीम
जानेपर मैं उन सभी प्रपितामहोंको अक्षय स्वर्गलोक मिले ॥
देव याचे ह संतत्ये नावसीदेत् कुल च नः ।

इक्ष्वाकूणां कुले देव एष मेऽस्तु वरः परः ॥ २० ॥
देव ! मैं संततिके लिये भी आपसे प्रार्थना करता
हूँ । हमारे कुलको परम्परा कभी नष्ट न हो 'भगवान्'
मेरे द्वारा माँगा हुआ उत्तम वर सम्पूर्ण इक्ष्वाकुवंशके लिये
लगाना चाहिये' ॥ २० ॥

उक्तवाक्ये तु राजानं सर्वलोकपितामहः ।
प्रत्युवाच शुभो वाणीं मधुरा मधुराक्षराम् ॥ २१ ॥
राजा भगीरथके ऐसा कहनेपर सर्वलोकपितामह
ब्रह्माजीने मधुर अक्षरोवाली परम कल्याणमयी भीठी
वाणीमें कहा— ॥ २१ ॥

मनोरथो महानेय भगीरथ महारथ ।
एवं भवतु भद्रं ते इक्ष्वाकुकुलवर्धन ॥ २२ ॥
इक्ष्वाकुवंशको वर्द्ध करनेवाले महारथो भगीरथ ।
तुम्हारा कल्याण हो । तुम्हारा यह महान् मनोरथ इसी रूपमें
पूर्ण हो ॥ २२ ॥

इयं हैमवती ज्येष्ठा गङ्गा हिमवतः सुता ।
तां वै धारयितुं राजन् हरस्तत्र नियुज्यताम् ॥ २३ ॥
'राजन् ! ये हैं हिमालयकी ज्येष्ठ पुत्री हैमवती गङ्गाजी ।
इनका धारण करनेके लिये भगवान् शङ्करको तैयार करो ॥
गङ्गायाः पतनं राजन् पृथिवी न सहिष्यते ।

तां वै धारयितुं राजन् नान्य मय्यामि शूलिनः ॥ २४ ॥
'महाराज ! गङ्गाजीके गिरनेका वेग यह पृथ्वी नहीं सह
सकेगी । मैं त्रिशूलधारी भगवान् शङ्करके सिवा और किसीको
ऐसा नहीं देखता, जो इन्हे धारण कर सके' ॥ २४ ॥
तमेवमुक्त्वा राजानं गङ्गां चाभाष्य लोककृत् ।

जगाम त्रिदिवं देवैः सर्वैः सह मरुद्गणैः ॥ २५ ॥
राजासे ऐसा कहकर लोकस्रष्टा ब्रह्माजीने भगवतो
शङ्करसे भी भगीरथपर अनुग्रह करनेके लिये कहा । इसके
बाद वे सम्पूर्ण देवताओं तथा मरुद्गणोंके साथ स्वर्गलोकको
चले गये ॥ २५ ॥

श्रीराम देवार्थिदेव ब्रह्माजीके चले जानेपर राजा भगीरथ
पृथ्वीपर केवल ओम्कारके अप्रभाराको टिकाये हुए खड़े हो

एक वरपत्न्यक भगवान् शङ्करको उपासनामे लगं रहं ॥ १ ॥

अथ संवत्सरे पूर्णे सर्वलोकमस्कुतः ।

उमापतिः पशुपती राजानमिदमब्रवीत् ॥ २ ॥

वपे पूग हानपर सर्वलोकवन्दित उमावल्लभ भगवान्
पशुपतिन प्रकट हाकर राजामे इम प्रकर कहा— ॥ २ ॥

प्रानस्तेऽहं नश्रेष्ठ करिष्यामि तव प्रियम् ।

शिरसा धारयिष्यामि शैलराजसुतामहम् ॥ ३ ॥

नरश्रेष्ठ ! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ । तुम्हारा प्रिय कर्ण
अभय करूँगा । मैं गिरिराजकुमारी गङ्गादेवीको अपने
मस्तकपर धारण करूँगा ॥ ३ ॥

नता हैमवती ज्येष्ठा सर्वलोकमस्कुता ।

नदा सगतिमहदूपं कृत्वा खेगं च दुःसहम् ॥ ४ ॥

आकाशदपमद् राम शिखे शिखिशिरस्युत ।

श्रीराम । वाङ्मयजीकी स्वीकृति मिल जानेपर हिमालयको
ज्येष्ठ पुत्री गङ्गाजी, जिनके घरणामे सारा संसार मस्तक
इकाता है, बहुत बड़ा रूप धारण करके अपने वेगको
दुम्भह बनाकर आकाशमे भगवान् शङ्करक श्रवणमान
मस्तकपर गिरी ॥ ४ ॥

अचिन्तयच्च सा देवी गङ्गा परमदुर्धरा ॥ ५ ॥

विशाम्यहं हि पातालं स्रोतसा गृहा शङ्करम् ।

उस समय परम दुर्धर गङ्गादेवीने यह सोच था कि मैं
अपने प्रवर प्रवाहके साथ शङ्करजीके लिये-दिये पातालमे
घुस जाऊँगी ॥ ५ ॥

नस्यावलम्पन ज्ञात्वा क्लृप्तस्तु भगवान् हरः ॥ ६ ॥

निरोधवाचिन्ते दृष्टिं चक्रे त्रिनयनमतेक्ष ।

बनक इस अवकाशका जानकर त्रिनयनारी भगवान् हर
कृपित हो ठह और उन्होंने उस समय गङ्गाकी अदृश्य कर
इन्का विचार किया ॥ ६ ॥

सा तस्मिन् पतिता पुण्या पुण्ये रुद्रस्य मूर्धनि ॥ ७ ॥

हिमवन्धनिमे राम जटामण्डलमहरे ।

सा कर्थाद्यच्चती गन्तुं नाशक्तान् यत्नमास्थिता ॥ ८ ॥

पुण्यस्वरूपा गङ्गा भगवान् रुद्रक पवित्र मस्तकपर गिरी ।
इन्का वह मस्तक जटामण्डलरूपा गुफामे मुशाभित
जिहवाकाह समान गान पड़ता था । उसपर गिरकर विजय प्रयत्न
करनेपर भी किसी तरह के गुश्कार न जा सका ॥ ७-८ ॥

नव मा निर्गमे लेभे जटामण्डलमम्भनः ।

नरवाचधमद् नेष्टो सबत्सगणान् वहन् ॥ ९ ॥

भगवान् शिखे जटा जटामे दल्लकर किनर अकर
॥ गङ्गादेवी जटामे चिक्कलरूपा मार्ग न पा सकी और बहुत
धर्मरूपक तस जटामे ही घटकनी रहीं ॥ ९ ॥

नामपहयत् पुनस्तत्र तपः परममास्थितः ।

स तेन तोषितश्चासां दत्यन्तं रघुनन्दन ॥ १० ॥

रघुनन्दन ! भगीरथने दया, गङ्गाजी भगवान् शङ्करक

जटामण्डलमे अदृश्य हो गयीं हैं, तब वे पुनः वहीं भारी
तपस्यामे लग गये । उस तपस्याद्वारा उन्होंने भगवान् शिखेको
बहुत सन्तुष्ट कर लिया ॥ १० ॥

विससर्ज ततो गङ्गा हरो बिन्दुमरः प्रति ।

तस्यां विमुज्यमानायां सप्त स्रोतांसि जज्ञिरे ॥ ११ ॥

सब महादेवजीमे गङ्गाजीकी बिन्दुसरोवरमे ल जाकर छड़
दिया । वहाँ छूटते ही उनके सात धाराएँ हो गयीं ॥ ११ ॥
झादिनी पावनी चैव नलिनी च सधैव च ।

निलः प्राचीं दिशं जग्मुर्गङ्गाः शिवजलाः शुभाः ॥ १२ ॥

झादिनी, पावनी और नलिनी—ये कन्याणमय जलसे
मङ्गलभन गङ्गाजी तीन मङ्गलधर्या धाराएँ पूर्व दिशाकी ओर
बहने लगीं ॥ १२ ॥

सुचक्षुश्च सीता च सिन्धुश्च महानदी ।

निलश्चैता दिशं जग्मुः प्रतीचीं तु दिशं शुभाः ॥ १३ ॥

सुचक्षु, सीता और महानदी सिन्धु—ये तीन शुभ धाराएँ
पश्चिम दिशाकर ओर प्रवाहित हुईं ॥ १३ ॥

सप्तमी धान्यगान् तामां भगीरथरथे तदा ।

भगीरथोऽपि राजर्षिर्दिव्यं स्यन्दनमास्थितः ॥ १४ ॥

प्राधादशे महानंजा गङ्गा तं चाप्यनुमज्जन् ।

गगनाच्छंकरशिरस्ततो धरणिमागता ॥ १५ ॥

उनकी अपेक्षा जो मातवी धारा थी, वह महाराज
भगीरथके रथके पीछे-पीछे चलने लगी । महानंजना राजर्षि
भगीरथ भी दिव्य रथपर आरुढ़ हो आगे-आगे चले और
गङ्गा उन्होंने घथकर अनुसरण करने लगीं । इस प्रकार वे
आकाशमे भगवान् शङ्करक मस्तकपर और वहाँसे इस
पृथ्वीपर आयी थीं ॥ १५ ॥

असर्पत जलं तत्र तौघशब्दपुरस्कृतम् ।

पत्न्यकच्छपमङ्गश्च शिशुमारगणैस्तथा ॥ १६ ॥

पतद्भिः पतिर्नैष्ठ्य अपरोक्षत वसुंधरा ।

गङ्गाजीकी वह जलराशि मरान् कलकाह नाटक साथ
तौघ गतिसे प्रवाहित हुई । पत्न्य, कच्छप और शिशुमार
(सुम) झुंड-के-झुंड उसमें गिरने लगे । उन गिरे हुए
जटामण्डलान्न वसुंधराकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ १६ ॥

ततो देवर्षिगन्धर्वा यश्मिद्वगणास्तथा ॥ १७ ॥

व्यलोकयन्त ते तत्र गगनाद् तां गतां तदा ।

विमानैर्नगराकारैर्हयैर्गजैश्चरैस्तदा ॥ १८ ॥

रुदनन्तर देखता, ऋषि, गन्धर्व, यक्ष और सिद्धगण
नगरके समान आकारवाले विमानों, घोड़ों तथा गजराजोंपर
बैठकर आकाशमे पृथ्वीपर गयीं हुई गङ्गाजीकी शोभा
निहारने लगे ॥ १७-१८ ॥

पाणिप्लवगताश्चापि देवतास्तत्र विष्टिताः ।

नदद्गुणमिमं स्त्रके गङ्गावत्तरमुत्तमम् ॥ १९ ॥

दिदुक्ष्वो देवगणाः समीयुरभितौजसः ।

देवतालोग आश्चर्यचकित होकर वहाँ खड़े थे। जगत्में गङ्गावतरणके इस अद्भुत एवं उत्तम दृश्यको देखनका इच्छासे अमित तेजस्वी देवताओंका समूह वहाँ जुटा हुआ था ॥ १९ ॥

सम्पतद्धिः सुरगणैस्तेषां चाभरणोजसा ॥ २० ॥
शतादित्यमिवाभाति गगनं गततोयदम् ।

तीव्र गतिसे आते हुए देवताओं तथा उनके दिव्य आभूषणोंके प्रकाशसे खज्जिका मेघाच्छिन्न निर्मल आकाश इस तरह प्रकाशित हो रहा था, गगनो तटमें सैकड़ों सूर्य उदित हो गये हो ॥ २० ॥

शिशुभासेरगगणैर्मनिरपि च चञ्चलः ॥ २१ ॥
विशुद्धिरिव विशिर्षासकाशमभवत् तदा ।

शिशुमार, सर्प तथा बच्चल मत्स्यसमूहोंके ठछलनेसे गङ्गाजीके जलमें ऊपरका आकाश ऐसा जान पड़ता था, मानो वहाँ बच्चल चपलाओंका प्रकाश सब ओर व्याप्त हो रहा हो ॥ २१ ॥

पाण्डुरैः सलिलोत्पीडैः कीर्यमाणैः सहस्रधा ॥ २२ ॥
शारदाधैरिखाकीर्णैः गगनं हंससम्प्लवैः ।

घायु आदिसी सहस्रों टुकड़ोंमें बँट हुए पैन आकाशमें सब ओर फैल रहे थे। पानी शम्भुके जल बादल अथवा हंस बड़ (हे हो) ॥ २२ ॥

कविद् हृततरं याति कुटिलं कविदायनम् ॥ २३ ॥
विनतं कविदुद्धृतं कविद् याति शनैः शनैः ।

गलितलेख सलिलं कविदभ्याहते पुनः ॥ २४ ॥

गङ्गाजीकी यह धारा कहीं तेज, कहीं देवी और कहीं चौड़ी शक्ति बहती थी। कहीं बिलकुल नीचेकी ओर गिरती और कहीं ऊँचेकी ओर उठी हुई थी। कहीं समतल भूमिपर वह धीरे-धीरे बहती थी और कहीं कहीं अचानक ही जटिल तरंग गायत्री बारम्बार टकरा लभती रहती थी ॥ २३-२४ ॥

साहस्रध्वजं गत्वा पपात वसुधां पुनः ।
तच्छिन्नाशरीरं भ्रष्टं भूमितले पुनः ॥ २५ ॥
व्यरोक्षत तदा तोयं निर्मलं गतकल्मषम् ।

गङ्गाजी यह जल बार-बार ऊँचे मार्गपर उठता और पुनः नीची भूमिपर गिरता था। आकाशसे भगवान् शङ्करके मालकपर तथा वहाँसे गिरा पृथ्वीपर गिरा हुआ वह निर्मल एवं पवित्र गङ्गाजल उस समय बड़ी शोभा पा रहा था ॥ २५ ॥

तत्रार्चिगणगन्धर्वा वसुधातलशसिनः ॥ २६ ॥
भस्माह्वयितं तोयं पवित्रमिति पस्पृशुः ।

उस समय भुतलनिवासी ऋषि और गन्धर्व यह सोचकर कि भगवान् शङ्करके मस्तकसे गिरा हुआ यह जल बहुत पवित्र है, उसमें आचमन करने लगे ॥ २६ ॥

शापान् प्रपतिता ये च गगनाद् वसुधातलम् ॥ २७ ॥
कृत्वा तत्राभिषेकं ते बभूवुर्गतकल्मषाः ।

धूतपापाः पुनस्तेन तोयेनाथ शुभाव्विताः ॥ २८ ॥
पुनराकाशमाविश्य स्वाँल्लोकान् प्रतिपेदिरे ।

जो शापग्रस्त होकर आकाशसे पृथ्वीपर आ गये थे, वे गङ्गाके जलमें स्नान करके निर्ध्यात हो गये तथा उस जलसे पाप धुल जानेके कारण पुनः शुभ पुण्यसे संयुक्त हो आकाशमें पहुँचकर अपने लोकोंको पा गये ॥ २७-२८ ॥

मुमुदे मुदितो लोकस्तेन तोयेन भास्वता ॥ २९ ॥
कृताभिषेको गङ्गायां बभूव गतकल्मषः ।

उस प्रकाशमान जलमें सम्पर्कसे आनन्दित हुए सम्पूर्ण जगत्को मनुके लिये बड़ी प्रसन्नता हुई। सब लोग गङ्गामें स्नान करके पापहीन हो गये ॥ २९ ॥

भगीरथो हि राजर्षिर्दिव्यं स्यन्दनमास्थितः ॥ ३० ॥
प्रायादग्रे महाराजस्तं गङ्गां पृष्ठतोऽन्वगात् ।

(उस पहले बना आये हैं कि) राजर्षि महाराज भगीरथ दिव्य रथपर आरुढ़ हो आगे आगे चल रहे थे और गङ्गाजी उनके पीछे-पीछे जा रही थी ॥ ३० ॥

देवाः सर्षिगणाः सत्रं दैत्यदानवराक्षसाः ॥ ३१ ॥
गन्धर्वयक्षप्रवराः सकिंनरमहोरगाः ।

सर्पाश्चाप्सरसो राम भगीरथरथानुगाः ॥ ३२ ॥
गङ्गामन्वगमन् प्रीताः सर्वे जलचराश्च ये ।

श्रोतव्य ! उस समय समस्त देवता, ऋषि, दैत्य, दानव, राक्षस, गन्धर्व, यक्षप्रवर, किन्नर, बड़े-छोटे नाग, सर्प तथा अप्सरा—ये सब लोग बड़ी प्रसन्नताके साथ राजा भगीरथके रथके पीछे गङ्गाजीके साथ-साथ चल रहे थे। सब प्रकारके जलजन्तु भी गङ्गाजीको उस जलगांधीके साथ सानन्द जा रहे थे ॥ ३१-३२ ॥

यतो भगीरथो राजा ततो गङ्गा यशस्विनी ॥ ३३ ॥
जगाम सरितां श्रेष्ठा सर्वपापप्रणाशिनी ।

जिस ओर राजा भगीरथ जाते, उसी ओर समस्त पापोंकी नाश करनेवाली सरिताओंमें श्रेष्ठ यशस्विनी गङ्गा भी जाती थी ॥ ३३ ॥

ततो हि यजमानस्य अहोरज्जुतकर्मणः ॥ ३४ ॥
गङ्गा सम्भावयाभासं यज्ञवाटं महात्मनः ।

उस समय मार्गमें अद्भुत पराक्रमी महामना राजा अहु यज्ञ कर रहे थे। गङ्गाजी अपने जल प्रवाहसे उनके यज्ञमण्डपको बहा ले गयी ॥ ३४ ॥

तस्यावलेपने ज्ञात्वा क्रुद्धो जहृश्च राघव ॥ ३५ ॥
अपिब्रूत् तु जलं सर्वं गङ्गायाः परमाद्भुतम् ।

गघुन्दन ! राजा जहू इसे गङ्गाजीका गर्व समझकर क्रुण्ठित हो उठे फिर तो उन्होंने गङ्गाजीके उस समस्त जलको पी लिया। यह भयानक लिये बड़ी अद्भुत बात हुई ॥ ३५ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वा ऋषयश्च सुविस्मिताः ॥ ३६ ॥
पूजयन्ति महात्मानं जहृं पुरुषसत्तमम् ।

नव देवता, गन्धर्व तथा ऋषि अत्यन्त विस्मित होकर
पुरुषप्रवर महात्मा जह्नुकी स्तुति करने लगे ॥ ३६ ॥

गङ्गां चापि नयन्ति स्म दुहितृत्वे महान्मनः ॥ ३७ ॥
ननमृष्टो महातेजाः श्रोत्राभ्यामसृजन् प्रभुः ।

नम्राजह्नुसुता गङ्गा प्रोच्यते जाह्नवीति च ॥ ३८ ॥

उन्होंने गङ्गाजीको उन महात्मा नरेशको कन्या बना दिया ।

अर्थात् उन्हें यह विश्वास दिलाया कि गङ्गाजीका प्रकट
करके आप इनके पिता कहलायेंगे ।) इससे सामर्थ्यशाली
महानरेश्वरी तब बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने अपने कानोंके

छेदद्वारा गङ्गाजीको पुनः प्रकट कर दिया, इसलिये गङ्गा
जह्नुकी पुत्री एवं जाह्नवी कहलाती है ॥ ३७-३८ ॥

जगाम च पुनर्गङ्गा भगीरथरथानुगा ।

सागरं चापि सम्भाषा सा सरित्प्रवरा तदा ॥ ३९ ॥

रसात्ममुपागच्छन् सिद्धुषर्थं तस्य कर्मणः ।

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीवामदेविकनिर्मित आदिरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमे तैनालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

ब्रह्माजीका भगीरथकी प्रशंसा करते हुए उन्हें गङ्गाजलसे पितरोंके तर्पणकी आज्ञा देना और
राजाका वह सब करके अपने नगरको जाना, गङ्गावतरणके उपाख्यानकी महिमा

स गत्वा सागरं राजा गङ्गयानुगतस्तदा ।

प्रविक्षेप तलं धुमेर्यत्र ते भस्ममात्कृताः ॥ १ ॥

भस्मन्यथाप्लुते राम गङ्गायाः सलिलेन वै ।

सर्वलोकप्रभुर्ब्रह्मा राजानमिदमब्रवीन् ॥ २ ॥

श्रीराम ! इस प्रकार गङ्गाजीको साथ लिये राजा
भगीरथने समुद्रतक जाकर रसातलमें जहाँ उनके पूर्वज भस्म
हूए थे, प्रवेश किया । वह भस्मराशि जब गङ्गाजीके जलमें
आप्लावित हो गयी तब सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी भगवान्
ब्रह्माने वहाँ पधारकर राजासे इस प्रकार कहा — ॥ १-२ ॥

तारिता नरशार्दूल दिवं याताश्च देववत् ।

पट्टिः पुत्रसहस्राणि सगरस्य महान्मनः ॥ ३ ॥

‘नरश्रेष्ठ ! मत्स्या राजा सगरके साठ हजार पुत्रोंका
मृगं तज्जार कर दिया । अब वे देवताओंकी भाँति स्वर्ग-
लोकों जा पावेंगे ॥ ३ ॥

सागरस्य जलं लोकं चावस्थास्यति पार्थिव ।

सागरस्यात्मजाः सर्वे दिवि स्थास्यन्ति देववत् ॥ ४ ॥

भूपाल ! इस संसारमें जबतक सागरकी जल मौजूद
रहेगा; तबतक सगरके सभी पुत्र देवताओंकी भाँति
स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित रहेंगे ॥ ४ ॥

इयं च दुहिता ज्येष्ठा तव गङ्गा भविष्यति ।

त्वत्कृतेन च नम्राथ लोकं स्थास्यति विश्रुता ॥ ५ ॥

‘ये गङ्गा तुम्हापे भी ज्येष्ठ पुत्री होकर रहेंगी और

वहाँसे गङ्गा फिर भगीरथके रथका अनुसरण करती हुई
खली । उस समय सरिताओंमें श्रेष्ठ जाह्नवी समुद्रतक जा
पहुँची और राजा भगीरथके पिताक उद्धाररूपी कार्यकी
सिद्धिके लिये रसातलमें गयी ॥ ३९ ॥

भगीरथोऽपि राजर्षिर्गङ्गामादाय यत्नतः ॥ ४० ॥
पितामहान् भस्मकृतानपश्यत् गतचेतनः ।

राजर्षि भगीरथ भी यत्नपूर्वक गङ्गाजीको साथ ले वहाँ
गये । उन्होंने शपसे भस्म हुए अपने पितामहोंको अचेत-सा
होकर देखा ॥ ४० ॥

अथ तदस्मना राशिं गङ्गासलिलमुत्तमम् ।

प्रावधत् पूनपाप्यानः स्वर्गं प्राप्ता रघूत्तम ॥ ४१ ॥

रघुकुलके श्रेष्ठ धीर ! तदनन्तर गङ्गाके ठस ठस जलने
सागर-पुत्रोंकी ठस भस्मराशिको आप्लावित कर दिया और वे
सभी राजकुमार निष्पाप होकर स्वर्गमें पहुँच गये ॥ ४१ ॥

तुम्हारे नामपर रखे हुए भगीरथी नामसे इस जगत्में
चिख्यात होंगे ॥ ५ ॥

‘गङ्गा त्रिपथगा नाम दिव्या भगीरथीति च ।

त्रीन् पथो भावयन्तीति तस्मात् त्रिपथगा स्मृता ॥ ६ ॥

‘त्रिपथगा’ दिव्य और भगीरथी—इन तीनों नामोंसे
गङ्गाकी प्रशंसा होगी । ये आकाश पृथ्वी और पानाल तीनों
पथोंको पाँवत्र करता हुई गमन करती है इसलिये त्रिपथगा
माना गया है ॥ ६ ॥

पितामहानां सर्वेषां त्वमत्र मनुजाधिप ।

कुम्भं सलिलं राजन् प्रतिज्ञामपवर्जय ॥ ७ ॥

नरेश्वर ! महाराज ! अब तुम गङ्गाजीके जलसे यहाँ
अपने सभी पितामहोंका तर्पण करो और इस प्रकार अपनी
तथा अपने पूर्वजद्वारा की हुई प्रतिज्ञाको पूर्ण कर लो । ७ ।

पूर्वकेण हि ते राजस्तेनातिवशसा तदा ।

धर्मिणा प्रवरेणाथ नैव प्राप्नो मनोरथः ॥ ८ ॥

‘राजन् ! तुम्हारे पूर्वज धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महायज्ञस्वी
राजा सगर भी गङ्गाकी यहाँ स्थाना चाहते थे, किन्तु उनका यह
मनोरथ नहीं पूर्ण हुआ ॥ ८ ॥

तथैवाशुमता यत्स लोकं प्रतिपतेजसा ।

गङ्गां प्रार्थयता नेतुं प्रतिज्ञां नापवर्जिता ॥ ९ ॥

राजर्षिणा गुणवता भद्रर्षिसमतेजसा ।

मनुल्यनपसा चैव सत्रधर्मस्थितेन च ॥ १० ॥

‘वत्स । इसी प्रकार लोकमें अर्पितम प्रभावशाली, उनमें गुणविशिष्ट, महर्षितुल्य नेत्रस्वी, मेरे समान तपस्वी तथा क्षत्रिय-धर्मपरायण राजर्षि अंशुमान्ने भी गङ्गाको यहाँ लानेको इच्छा की परन्तु वे इस पृथ्वीपर इन्हें लानेको प्रतिज्ञा पूरी न कर सके ॥ ९-१० ॥

दिलीपेन महाभाग तव पित्रानितेजसा ।

पुनर्न शक्तिता नेतुं गङ्गां प्रार्थयतानघ ॥ ११ ॥

‘निष्पाप महाभाग । तुम्हारे अत्यन्त तेजस्वी पिता दिलीप भी गङ्गाका यहाँ लानेका इच्छा करने लगे थे इस कार्यमें सफल न हो सके ॥ ११ ॥

सा त्वया संपत्तिकान्ता प्रतिज्ञा पुरुषवर्ध ।

प्राप्नोऽसि धरमे लाके यशः परमसम्पत्तम् ॥ १२ ॥

‘पुरुषप्रवर ! तुमने गङ्गाको भूतलपर लानेको वह प्रतिज्ञा पूर्ण कर ली, इससे संसारमें तुम्हें परम उत्तम एवं महान् यशस्वी प्राप्ति हुई है ॥ १२ ॥

तच्च गङ्गावतरणे त्वया कृतपरिदम ।

अनेन च भवान् प्राप्नो धर्मस्वायतनं ममत् ॥ १३ ॥

‘शत्रुदमन ! तुमने जो गङ्गाजीकी पृथ्वीपर उतरनेका कार्य पूरा किया है, इससे उस महान् ब्रह्मलोकपर अधिकार प्राप्त कर लिया है, जो धर्मका आश्रय है ॥ १३ ॥

प्राचक्ष्यस्व त्वमात्मानं नरोत्तम सदोक्षिते ।

शरीराले पृथ्वीश्रेष्ठ शूचिः पुण्यफलो भव ॥ १४ ॥

‘नरश्रेष्ठ । पुरुषप्रवर ! गङ्गाजीका जल सदा ही सानक साध्य है। तूमें क्या भी इसमें स्नान करो और पवित्र होकर गुणलक्ष फल प्राप्त करो ॥ १४ ॥

पितामहानां सर्वेषां कुरुष्व सलिलस्क्रियाम् ।

स्वस्ति तेऽस्तु गर्भिध्यामि स्य लोकं गम्यतां नृप ॥ १५ ॥

‘वेश्वर ! तूमें अपने सभी पितामहोंका तर्पण करो। तुम्हारा कल्याण हो। अब मैं अपने लोकका जाऊँगा। तूमें भी आगो राजधानीका लौट जाओ ॥ १५ ॥

इत्येवमुक्त्वा देवेशः सर्वलोकपितामहः ।

ब्रह्मगर्भं नद्यगच्छद् देवलोकं महायशः ॥ १६ ॥

‘एसा कहकर सर्वलोकपितामह महायशस्वी देवेश ब्रह्माजी जैसे आगे थे, वैसे ही देवलोकको लौट गये ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आपरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें चौधचत्वारिंशः सर्ग पूरा हुआ ॥ ४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

देवताओं और दैत्योंद्वारा क्षीर समुद्र मन्थन, भगवान् रुद्रद्वारा हालाहल विषका पान, भगवान् विष्णुके सहयोगसे मन्दराचलका पातालसे उद्धार और उसके द्वारा मन्थन, धन्वन्तरि, अप्सरा,

धारुणी, उषीःश्रवा, कौस्तुभ तथा अमृतकी उत्पत्ति और देवासुर-संग्राममें दैत्योंका संहार

विश्वामित्रवचः श्रुत्वा राघवः सहस्रक्षमणः ।

विस्मये धरमे गत्वा विश्वामित्रमद्याव्रवीत् ॥ १ ॥

यगीरथस्तु राजर्षिः कृत्वा सलिलमुत्तमम् ।

यथाक्रमे यथान्यायं सागराणां महायशः ॥ १७ ॥

कृतोदकः शुची राजा स्वपुरं प्रविवेश ह ।

समुद्धार्यो नरश्रेष्ठ स्वराज्यं प्रशशास ह ॥ १८ ॥

‘नरश्रेष्ठ ! महायशस्वी राजर्षि राजा भगारथ भी गङ्गाजीके उत्तम जलसे क्रमशः सभी सागर-पुत्रोंका विधिवत् तर्पण करके पवित्र हो अपने नगरको चले गये। इस प्रकार सफलमनोग्य होकर वे अपने राज्यका शासन करने लगे ।

प्रमुमोद च लाकस्ते नृपभासाद्य राघव ।

नष्टशोकः समुद्धार्यो बभूव विगतज्वरः ॥ १९ ॥

‘रघुनन्दन ! अपने राजाको पुनः सामने पाकर प्रजावर्गको बड़ी प्रसन्नता हुई। मयका शाक जाता रहा। मयक मनोरथ पूर्ण हुए और चिन्ता दूर हो गयी ॥ १९ ॥

एव ते राम गङ्गायां विस्तरोऽभिहितो मया ।

स्वस्ति प्राप्नुहि भद्र ते संध्याकालोऽतिवर्तते ॥ २० ॥

‘श्रीराम, यह गङ्गाजीकी कथा मैंने तुम्हें विस्तारके साथ कह सुनायी। तुम्हारा कल्याण हो। अब जाओ, मङ्गलमय संध्याचन्दन आदिका सम्पादन करो देखो, संध्याकाल बीता जा रहा है ॥ २० ॥

धन्यं यशस्यमायुष्यं पुत्र्यं स्वर्ग्यधयापि च ।

यः प्राचयति विप्रेषु क्षत्रियेष्वितरेषु च ॥ २१ ॥

प्रीयन्ते पितरस्तस्य प्रीयन्ते देवतानि च ।

इदमारुह्यानमायुष्यं गङ्गावतरणं शुभम् ॥ २२ ॥

‘यह मङ्गावतरणका मङ्गलमय उपलब्धन आयु, यश, यश, आयु, पुत्र और स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला है। जो ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा दूसरे वर्णके लोगोंको भी यह कथा सुनाता है, उसके ऊपर देवता और पितर प्रसन्न होते हैं ॥ २१-२२ ॥

यः शृणोति च काकुत्स्थ सर्वान् कामानवाप्नुयात् ।

सर्वे पापाः प्रणश्यन्ति आयुः कीर्तिश्च वर्धते ॥ २३ ॥

‘ककुत्स्थकुलभूषण ! जो इसका श्रवण करता है, वह सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेता है। उसके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं और आयुकी वृद्धि एवं कीर्तिकी विस्तार होता है ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आपरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें चौधचत्वारिंशः सर्ग पूरा हुआ ॥ ४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

देवताओं और दैत्योंद्वारा क्षीर समुद्र मन्थन, भगवान् रुद्रद्वारा हालाहल विषका पान, भगवान् विष्णुके सहयोगसे मन्दराचलका पातालसे उद्धार और उसके द्वारा मन्थन, धन्वन्तरि, अप्सरा,

धारुणी, उषीःश्रवा, कौस्तुभ तथा अमृतकी उत्पत्ति और देवासुर-संग्राममें दैत्योंका संहार

विश्वामित्रवचः श्रुत्वा राघवः सहस्रक्षमणः ।

विस्मये धरमे गत्वा विश्वामित्रमद्याव्रवीत् ॥ १ ॥

विश्वामित्रजीकी बातें सुनकर रुद्रमणसाङ्गत श्रीरामचन्द्रजीको

बड़ा विस्मय हुआ वे मुनिसे इस प्रकार बोले— १ ।

अन्यद्भुतमिदं ब्रह्मन् कथितं परमं त्वया ।
महावतरणं पुण्यं सागरस्यापि पूरणम् ॥ २ ॥
ब्रह्मन् ! आपने महाजलके स्वर्गसे उत्तम और समुद्रक
पूराकी यह बड़ी उत्तम और अत्यन्त अद्भुत कथा सुनायी ॥
क्षणाभूतेश नो रात्रिः संवृत्तये परंतप ।
इमां चिन्तयतोः सर्वां निखिलेन कथां तव ॥ ३ ॥
काम-क्रोधोदि शत्रुओंको संताप देनेवाले महर्षे ।
नाना कही हुई इस समूह कथाएँ पूरणमें विचार करने
में हम दोनों घड़ियोंकी यह रात्रि एक क्षणक समान बीत
गयी है ॥ ३ ॥
तस्य सा शर्वरो सर्वा घम सौमित्रिणा सह ।
जगाम चिन्तयानस्य विश्वामित्र कथां शुभाम् ॥ ४ ॥
'विश्वामित्रजी । लक्ष्मणके साथ इस शुभ कथापर विचार
करने शुरू हो गये यह मागी बात जानो है' ॥ ४ ॥
ततः प्रभाते विमले विश्वामित्रं तपोधनम् ।
उवाच राघवो वाक्यं कृतान्निकमरिदमः ॥ ५ ॥
नान्ध्यात् निर्मल प्रभातकाल उपस्थित होनेपर तपोधन
'विश्वामित्रजी' उवाच निम्नकागम निकल आ चुके तब शत्रुदमन
श्रीराघवन्दजीने उनके पास जाकर कहा— ॥ ५ ॥
तया भगवती रात्रिः श्रौतव्यं परमं श्रुतम् ।
तस्मात्सरितां श्रेष्ठां पुण्यी त्रिपथगां नदीम् ॥ ६ ॥
'मुने । यह पूजनयोग रात्रि चलो गयी । सुनने योग्य
सर्वोराम कथा मैंने सुन ली । अब हमलोग सरिताओंमें श्रेष्ठ
पुण्यश्रोतस्त्रिपथगांमनी नदी महाजलके इस धार चल
वाग्या हि सुखास्तीर्णा ऋषीणां पुण्यकर्मणाम् ।
भगवन्तामिह प्रापे ज्ञात्वा त्वरिमागता ॥ ७ ॥
'सदा पुण्यकर्ममें तत्पर रहनेवाले ऋषयोंको यह बात
वर्णित है । इसपर मुक्तक आगमन किया है । आप परमपूज्य
महादेवकी यहाँ उपस्थित जानकर क्रोधयात्रा भेजी हुई यह बात
कही तीव्र गतिमें यहाँ आयी है' ॥ ७ ॥
तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राघवस्य महात्मनः ।
यत्नारं कारथायाम् सर्वमद्भुतं कौशिकः ॥ ८ ॥
प्राप्तात्मा रघुनन्दनका यह वचन सुनकर विश्वामित्रजीने
उनके शशिगोमतिन श्रीराघव-लक्ष्मणको पत्र करवाया ॥ ८ ॥
उत्तरं तीरमासाद्य सम्पूज्यर्विगणौ ततः ।
गङ्गाकुले निविष्टाभौ विशालां तदुदु पुरीम् ॥ ९ ॥
नान्ध्यात् स्वयं भा उत्तर तटपर पहुँचकर उन्होंने यहाँ
गङ्गाकुले ऋषियोंको सत्कार किया । फिर सब लोग
गङ्गासाक किनारे उड़कर विशाला नामक धुरीको शोभा
देवाने लगे ॥ ९ ॥
ततो मुनिवरस्तृणै जगाम सहस्रधत्तः ।
विशालो नगरीं रम्यां दिव्यां स्वर्गोपमां तटा ॥ १० ॥
तदनन्तर श्रोगम-लक्ष्मणको साथ ले मुनिवर विश्वामित्र

तुरंत उस दिव्य एवं रमणीय नगरी विशालाकी ओर चल दिये,
जो अपनी सुन्दर शोभासे स्वर्गके समान जान पड़ती थी ॥
अथ रामो महाप्राज्ञो विश्वामित्रं महामुनिम् ।
पप्रच्छ प्रञ्जलिभूत्वा विशालापुनमां पुरीम् ॥ ११ ॥
उस समय परम बुद्धिमान् श्रीरामने हाथ जोड़कर
उस उत्तम विशाला पुरीके विषयमें महामुनि विश्वामित्रमें
पूछा— ॥ ११ ॥
कतपो राजवंशोऽयं विशालायां महामुने ।
श्रोतुमिच्छामि भद्रं ते परं कौतूहलं हि मे ॥ १२ ॥
'महामुने । आपका कल्याण हो । मैं यह सुनना चाहता
हूँ कि विशालामें कौन-सा राजवंश राज्य कर रहा है ? इसका
लिये मुझे बड़ी उत्कण्ठा है' ॥ १२ ॥
तस्य तद् वचनं श्रुत्वा रामस्य मुनिपुङ्गवः ।
आख्यातुं तत्समागमे विशालायाः पुरातनम् ॥ १३ ॥
श्रीरामके यह वचन सुनकर मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रने
विशाला पुरीके प्राचीन इतिहासकी वर्णन आरम्भ किया— ॥
श्रूयतां राम शक्रस्य कथां कथयतः श्रुताम् ।
अस्मिन् देशे हि यद् वृत्ते शृणु तत्त्वेन राघव ॥ १४ ॥
'रघुकुलनन्दन श्रीराम ! मैंने इन्द्रके मुखसे विशाला-
पुरीके वैभवका प्रतिपादन करनेवाली जो कथा सुनी है उसे
श्रुत कर रहा हूँ सुने । इस देशमें जो वृत्तान्त घटित हुआ है, उसे
यथार्थरूपसे श्रवण करो ॥ १४ ॥
पूर्वं कृतयुगे राम दितेः पुत्रा महाबलाः ।
अदितेश्च महाभागा वीर्यवन्तः सुधार्मिकाः ॥ १५ ॥
'श्रीराम । पहले सत्ययुगमें दितिके पुत्र दैत्य बड़ बलवान्
थे और अदितिके परम धर्मात्मा पुत्र महाभाग देवता भी बड़े
शक्तिशाली थे ॥ १५ ॥
ततस्तेषां नख्याद्य बुद्धिरासीन्महात्मनाम् ।
अमरा विजराश्चैव कथं स्थामो निराधराः ॥ १६ ॥
'पुरुषसिंह ! उन महामना दैत्यो और देवताओंके
मनमें यह विचार हुआ कि हम कैसे अजर-अमर और
निराधर हों ? ॥ १६ ॥
तेषां चिन्तयतां तत्र बुद्धिरासीत् विपश्चिताम् ।
क्षीरोदमथनं कृत्वा रसे प्राप्याम तत्र वै ॥ १७ ॥
'इस प्रकार चिन्तन करते हुए उन विचारशील देवताओं
और दैत्योंकी बुद्धिमें यह बात आयी कि हमलोग यदि
आरससागरके मन्थन करें तो उसमें निश्चय ही अमृतमय रस
प्राप्त कर लेंगे ॥ १७ ॥
ततो निश्चित्य मथनं योक्त्र कृत्वा च वासुकिम् ।
मन्थाने भन्दरं कृत्वा ममन्थुरभिर्नौजसः ॥ १८ ॥
'समुद्रमन्थनका निश्चय करके उन अभिततजस्वी देवताओं
और दैत्योंने वामुकि नागकी रस्सी और मन्दराचलको मथानों
बनाकर क्षीर-सागरको मथना आरम्भ किया ॥ १८ ॥

अथ वर्षसहस्रेण योक्त्रसर्पशिरांसि च ।

व्यमन्तोऽतिविषं तत्र ददंशुर्दशनैः शिला ॥ १९ ॥

‘तदनन्तर एक हजार वर्ष बीतनेपर रस्सी बने हुए सर्पों के बहुसंख्यक मुख अत्यन्त विष उगलने हुए वहीं मन्दराचलकी शिलाओंको अपने दाँतोंसे ढँसने लगे ॥ १९ ॥

उत्पत्ताप्रसंकारां हालाहलमहाविषम् ।

तेन दृष्टे जगत् सर्वं सदेवासुरमानुषम् ॥ २० ॥

‘अतः उस समय वहाँ अत्यन्त समान टाढ़क हालाहल नामक महाभयभर विष ऊपरकी उठा। उसने देवता, असुर और मनुष्यांसहित सम्पूर्ण जगत्को दृष्ट करके आगम किया ॥ २० ॥

अथ देवा मदादेवं शङ्करं शरणार्थिनः ।

माम् पशुपतिं कदा प्राप्तिं प्राप्नोति तुष्टवुः ॥ २१ ॥

‘यह देव देवतान्त्रिक ज्ञानार्थी होकर सबका कल्याण करनेवाले महान् तेषता पशुपति रुद्रकी शरणमें गये और आर्ति-आर्ति की स्तुति लगाकर उनकी स्तुति करने लगे ॥

पुनर्भुक्तास्ततो देवदेवदेवधरः प्रभुः ।

प्रादुर्गासीत् ततोऽपि शङ्खचक्रधरो हरिः ॥ २२ ॥

‘देवताओंके इस प्रकार पुकारनेपर देवदेवधर भगवान् शिव वहाँ प्रकट हुए। फिर वहाँ शङ्ख-चक्रधार भगवान् श्रीहरि भी उपस्थित हो गये ॥ २२ ॥

उप्राचैर्न स्मिते कृत्वा रुद्रे शूलधरं हरिः ।

देवतेर्षध्यायाने तु यत्पूर्वं समुपस्थितम् ॥ २३ ॥

तत् स्वदीप्यं सुरक्षेष्टं सुराणामग्रतो हि यत् ।

अथपूजाधिर स्थित्वा गृहाणेद विषं प्रभी ॥ २४ ॥

‘श्रीहरिने त्रिधातुधारी भगवान् रुद्रसे भुक्तकरकर कहा—

मूर्ध्नि । दयन और मनुष्यान्धत करनेपर जो वस्तु मयसे पहलू में है वह आपका भाग है, क्योंकि आप मय देवताओंमें प्रथमगण्य हैं। प्रभी । अथपूजाक रूपमें प्राप्त हुए इस विषको आग वहाँ खड़े होकर ग्रहण करें ॥ २३-२४ ॥

इत्युक्त्वा च सुरक्षेष्टस्तर्जवान्तरभीयत ।

दृष्टवान्नी भयं दृष्ट्वा श्रुत्वा वाक्यं तु शार्ङ्गिणः ॥ २५ ॥

हालाहलं विषं शोरे संजग्राहगुणापमम् ।

देवान् विमुच्य देवेशो जगाम भगवान् हरः ॥ २६ ॥

‘ऐसा कहकर देवाशिराणि विष्णु वहाँ अन्तर्धान हो गये। देवताओंका मन देखकर और भगवान् विष्णुकी पूर्वाक्त बात सुनकर देवधर भगवान् रुद्रने उस बार हालाहल विषको अमलके समान मानकर अपने कण्ठमें घाग कर लिया तथा देवताओंको छिटा करके वे अपने भाजकों चले गये ॥ २५-२६ ॥

ततो देवामुगः सर्वं भगवन् रघुनन्दन ।

प्रविवेशाथ पातालं मन्थानः पर्वतात्मजः ॥ २७ ॥

‘रघुनन्दन ! तत्पश्चात् देवता और असुर सब मिलकर

क्षौरमागरका मन्थन करने लगे। उस समय पथानी बना हुआ उसम पर्वत मन्दर पातालमें घुस गया ॥ २७ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वास्तुष्टुधुमंधुसूदनम् ।

त्वं गतिं सर्वभूतानां विशेषेण दिवौकसाम् ॥ २८ ॥

पालयासान् महाबाहो गिरिमुद्धर्तुमर्हसि ।

‘तब देवता और गन्धर्व भगवान् मधुसूदनकी स्तुति करने लगे—‘महाबाहो ! आप ही सम्पूर्ण प्राणियोंको गति हैं। विशेषण- देवताओंके अवलम्बन तो आप ही हैं। आप हमारे रक्षा करें और इस पर्वतको उठावें ॥ २८ ॥

इति श्रुत्वा हृषीकेशः कामठं रूपमास्थितः ॥ २९ ॥

पर्वतं पृष्ठतः कृत्वा शिश्ये तत्रोदधी हरिः ।

‘यह सुनकर भगवान् हृषीकेशने कच्छपका रूप धारण कर लिया और उस पर्वतका अपनी पीठपर रखकर वे श्रीहरि वही समुद्रके भीतर सो गये ॥ २९ ॥

पर्वताग्रं तु श्लोकात्मा हस्तेनाक्रम्य केशवः ॥ ३० ॥

देवानां मध्यतः स्थित्वा भगवन् पुरुषोत्तमः ।

‘फिर त्रिधातु पुरुषोत्तम भगवान् केशव उस पर्वतशिखरका शीर्षसे पकड़कर देवताओंके बीचमें खड़े हो खड़े ही समुद्रका मन्थन करने लगे ॥ ३० ॥

अथ वर्षसहस्रेण आयुर्वेदमयः पुमान् ॥ ३१ ॥

उदतिष्ठन् सुधर्मात्मा सदृष्टः सकंमण्डलुः ।

पूर्वं धन्वन्तरिर्नाम अप्सराश्च सुवर्चसः ॥ ३२ ॥

‘तदनन्तर एक हजार वर्ष बीतनेपर उस क्षौरमागरसे एक आयुर्वेदमय धर्मात्मा पुरुष प्रकट हुए, जिनके एक हाथमें दण्ड और दूसरेमें त्रिशूल था। उनकी नाम धन्वन्तरि था। उनके प्राकट्यके बाद सागरसे सुन्दर कान्तिचाली बहुत-सी अप्सराएँ प्रकट हुई ॥ ३१-३२ ॥

अप्सु निर्मथनादेव रसात् तस्माद् भरस्त्रियः ।

उत्पद्यन्नुजश्रेष्ठं तस्मादप्सरसोऽभवन् ॥ ३३ ॥

‘नाश्रेष्ठ । मन्थन करनेसे ही अप् (बल) में उसके रससे वे सुन्दरी स्त्रियाँ उत्पन्न हुई थीं, इसीलिये अप्सरा कहलायी ॥

पट्टिः कीटयोऽध्वस्तासामप्सरणां सुवर्चमाम् ।

असंख्येयास्तु काकुत्स्थ यास्तासां परिचारिकाः ॥ ३४ ॥

‘काकुत्स्थ ! उन सुन्दर कान्तिचाली अप्सराओंकी संख्या साठ करोड़ थीं और जो उनकी परिचारिकाएँ थीं, उनकी गणना नहीं की जा सकती। वे सब असंख्य थीं ॥ ३४ ॥

न ताः स्म प्रतिगृह्णन्ति सर्वे ते देवदानवाः ।

अग्रतिग्रहणादेव ता वै साधारणाः स्मृताः ॥ ३५ ॥

‘उन अप्सराओंकी सम्स्त देवता और दानव कोई भी अपनी पत्नी रूपसे ग्रहण न कर सके, इसीलिये वे साधारणा (सामान्या) मानी गयीं ॥ ३५ ॥

वरुणस्य ततः कन्या वारुणी रघुनन्दन ।

उत्पन्नान् महाभागी मार्गमाणा परिग्रहम् ॥ ३६ ॥

रघुनन्दन ! तदनन्तर धरुणकी कन्या चारुणी, जो सुसकी
अभिप्रायिनी देवी थी, प्रवृत्त हुई और अपनेकी स्वीकार
करनवाले पुरुषकी खोज करने लगी ॥ ३६ ॥

द्विने पुत्रा न तौ राम जगदुर्वृत्त्यात्मजाम् ।

अदितेस्तु सुता वीर जगदुस्तामनिन्दिताम् ॥ ३७ ॥

घोर श्रीराम ! दैत्योंने ठस करुणकन्या सुराकी नहीं ग्रहण
किया परन्तु अदितिके पुत्रोंने इस आनन्द सुन्दरीकी ग्रहण
कर लिया ॥ ३७ ॥

असुरास्तोन दैतेयाः सुरास्तेनादितेः सुताः ।

नष्टा प्रमुदिताश्चासन् वारुणीग्रहणात् सुराः ॥ ३८ ॥

मुझसे रहित होनेके कारण ही दैत्य 'असुर' कहलाये
गये और सुरा-ग्रहणक कारण ही अदितिके पुत्रोंको 'सुर' मजा
दिया। वारुणिका ग्रहण करनेसे दैत्यतात्याग रूपसे उत्पन्न हुए
आनन्दमग्न हो गये ॥ ३८ ॥

उच्चैःश्रवा हयश्रेष्ठो मणिराज च कीर्तुधम् ।

अतिष्ठन्नश्रेष्ठ तथैवायमनुत्तमम् ॥ ३९ ॥

'नरश्रेष्ठ ! तदनन्तर घोड़ोंमें उत्तम तथै-श्रवा, मणिराज
कीर्तुध तथा परम उत्तम अमृतका प्राकट्य हुआ ॥ ३९ ॥

अथ तस्य कृते राम महानासीत् कुलक्षयः ।

अदितेस्तु ततः पुत्रा दितिपुत्रानयोधयन् ॥ ४० ॥

'श्रीराम ! उस अमृतके लिये देवताओं और असुरोंके
कुलका मजान् सहार हुआ। अदितिके पुत्र दितिके पुत्रोंके
साथ युद्ध करने लग ॥ ४० ॥

एकलाभगमन् सर्वे असुरा राक्षसेः सह ।

इत्यर्थे श्रीमहापादणे बालभोक्तेषु आदिक्काण्डे बालकाण्डे षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित अर्घ्यरायण आदिकाण्डके बालकाण्डमें पैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशः सर्गः

पुत्रवधसे दुःखी दितिका कश्यपजीसे इन्द्रहन्ता पुत्रकी प्राप्तिके उद्देश्यसे तपके लिये आज्ञा लेकर

कुशाग्रधर्म तप करना, इन्द्रद्वारा उनकी परिचर्या तथा उन्हें अपवित्र अवस्थामें

पाकर इन्द्रका उनके गर्भके सात टुकड़े कर डालना

हनेषु तेषु पुत्रेषु दितिः परमदुःखिता ।

मारीचं कश्यप नाम भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

अपनी इन पुत्रोंके बारे जानिये दितिके बहुत दुःख हुआ।
वे अपने पति मरीचिनन्दन कश्यपके पास आकर बोली— ॥

हन्तपुत्रास्मि भगवन्स्त्व पुत्रमंशावर्त्त ।

शक्रहन्तारमिच्छामि पुत्रं दीर्घतपोर्वितम् ॥ २ ॥

'भगवन् ! आपके महाबली पुत्र देवताओंमें मेरे पुत्रोंको
मार डाला; अतः मैं दीर्घकालके तपस्यासे उपाजित एक ऐसा
'पुत्र' चाहती हूँ जो इन्द्रका वध करनेमें समर्थ हो ॥ २ ॥

आज्ञा तपश्चरिष्यामि गर्भे मे दातुमर्हसि ।

इधर शक्रहन्तारं त्वभन्जातुमर्हसि ॥ ३ ॥

युद्धभामीन्पहाघोरं वीरं त्रैलोक्यमोहनम् ॥ ४१ ॥

समस्त असुर राक्षसोंके साथ मिलकर एक हो गये।
वीर ! देवताओंके साथ इनका महाघार संग्राम होने लगा, जो
तीनों लोकोंको मोहमें डालनेवाला था ॥ ४१ ॥

यदा श्रमं गतं सर्वं तदा विष्णुर्महाबलः ।

अमृतं सोऽहरन् तूष्णीं भाषामास्थाय मोहिनीम् ॥ ४२ ॥

'जब श्रम गतं सर्व तदा विष्णुर्महाबलः।
अमृत सोऽहरन् तूष्णीं भाषामास्थाय मोहिनीम् ॥ ४२ ॥
'जब देवताओं और असुरका वह सारा समूह
क्षीण हो चला, तब महाबली भगवान् विष्णुने मोहिनी
भाषाकर आश्रय लेकर तुरंत ही अमृतका अपहरण कर
लिया ॥ ४२ ॥

ये गताधिमुखं विष्णुमक्षरं पुरुषोत्तमम् ।

सम्पिष्टास्ते तदा युद्धे विष्णुना प्रभविष्णुना ॥ ४३ ॥

'जो दैत्य बलपूर्वक अमृत छीन लानेके लिये अविनाशी
पुरुषोत्तम भगवान् विष्णुके सम्मुख गये, उन्हें प्रभवशाली
भगवान् विष्णुने उस समय युद्धमें पीस डाला ॥ ४३ ॥

अदितेरात्मजा वीरा दितेः पुत्रान् निजधिरे ।

अस्मिन् घोरे महायुद्धे दैतेयादित्ययोर्धृशम् ॥ ४४ ॥

देवताओं और दैत्योंके उस घोर महायुद्धमें अदितिके
वीर पुत्रोंने दितिके पुत्रोंका विशाल संहार किया ॥ ४४ ॥

निहत्य दितिपुत्रास्तु राज्यं प्राप्य पुरंदरः ।

शशास मुदितो लोकान् सर्पिसङ्घान् सचारणान् ॥ ४५ ॥

'दैत्योंका वध करनेके पश्चात् त्रिलोकीका राज्य पाकर
देवराज इन्द्र बड़े प्रसन्न हुए और ऋषियों तथा चारणोंमहित
समस्त लोकोंका शासन करने लगे ॥ ४५ ॥

हनेषु तेषु पुत्रेषु दितिः परमदुःखिता ।

मारीचं कश्यप नाम भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

अपनी इन पुत्रोंके बारे जानिये दितिके बहुत दुःख हुआ।
वे अपने पति मरीचिनन्दन कश्यपके पास आकर बोली— ॥

हन्तपुत्रास्मि भगवन्स्त्व पुत्रमंशावर्त्त ।

शक्रहन्तारमिच्छामि पुत्रं दीर्घतपोर्वितम् ॥ २ ॥

'भगवन् ! आपके महाबली पुत्र देवताओंमें मेरे पुत्रोंको
मार डाला; अतः मैं दीर्घकालके तपस्यासे उपाजित एक ऐसा
'पुत्र' चाहती हूँ जो इन्द्रका वध करनेमें समर्थ हो ॥ २ ॥

आज्ञा तपश्चरिष्यामि गर्भे मे दातुमर्हसि ।

इधर शक्रहन्तारं त्वभन्जातुमर्हसि ॥ ३ ॥

'मैं तपस्या करूँगी, आप इसके लिये मुझे आज्ञा दें और
मेरे गर्भमें ऐसा पुत्र प्रदान करें जो सब कुछ करनेमें समर्थ
तथा इन्द्रका वध करनेवाला हो' ॥ ३ ॥

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा मारीचः कश्यपस्तदा ।

प्रत्युवाच महातेजा दिति परमदुःखिताम् ॥ ४ ॥

उसको यह बात सुनकर महातेजस्वी मरीचिनन्दन
कश्यपने उस परम दुःखिनी दितिको इस प्रकार उत्तर
दिया— ॥ ४ ॥

एवं भवतु भद्रं ते शुचिर्भव तपोधने ।

जनयिष्यसि पुत्रं त्वं शक्रहन्तारमहमे ॥ ५ ॥

तपोधने ! ऐसा ही हो। तुम शौचावास्था पालन

करो। तुम्हारा भक्त हो। तुम ऐसे पुत्रको जन्म दोगी, जो
युद्धमें इन्द्रको मार सके ॥ ५ ॥

पूर्णे वर्षसहस्रे तु शुचिर्यदि भविष्यति।

पुत्रं त्रैलोक्यहन्तारं मत्तस्थं जनयिष्यासि ॥ ६ ॥

‘यदि पूरे एक सहस्र वर्षतक पवित्रतापूजक रह सकोगी
तो तुम मुझमें त्रिलोकनाथ इन्द्रका वध करनेमें समर्थ पुत्र
प्राप्त कर लोगी’ ॥ ६ ॥

एवमुक्त्वा महातेजाः पाणिना सम्ममार्ज ताम्।

तामालभ्य ततः स्वस्ति इत्युक्त्वा तपसे ययौ ॥ ७ ॥

ऐसा कहकर महातेजस्वी करचप्पे दितिके शरीरपर
हाथ डेरा। फिर तनका स्पर्श करके कता—‘तुम्हारा कल्याण
हो।’ ऐसा कहकर वे तपस्याके लिये चले गये ॥ ७ ॥

गते तस्मिन् ऋश्रेष्ठ दितिः परमहर्षिता।

कुशाक्षरं समासाद्य तपस्तेषु सुदारुणम् ॥ ८ ॥

ऋश्रेष्ठ! उनके चले जानेपर दिति अत्यन्त हर्ष और
द्रोहाहर्ष भरकर कुशाक्ष नामक तपोवनमें आयी और
अत्यन्त कठोर तपस्या करने लगी ॥ ८ ॥

तपस्तस्यां हि कुर्वन्तां परिचर्यां चकार ह।

सहस्राक्षो ऋश्रेष्ठ पद्या गुणसम्पदा ॥ ९ ॥

‘गुरुश्रवण श्रीगम्’ दितिके तपस्या करने समय सत्कलाचन
इन्द्र विनय भरी उत्तम गुणसम्पन्निता युक्त हो उनकी सत्ता-
गुण कहने लगे ॥ ९ ॥

अग्निं कुशान् काष्ठमयः फलं मूलं तथैव च।

न्ययद्यत् सहस्राक्षो यज्वान्यदपि काङ्क्षितम् ॥ १० ॥

गदसाक्ष इन्द्र अपनी भीनी दितिके लिये अग्नि, कुशा,
काष्ठ जल फल मूल तथा अन्योन्य अभिलषित अन्तुओंको
मा लाकर देती थे ॥ १० ॥

गात्रसीवाह्निश्चैव श्रमाधनयनैस्तथा।

शास्त्रं सर्वेषु कालेषु दितिं परिचचार ह ॥ ११ ॥

दृढ़ घीमीको शारीरिक सेवाएँ करते, उनके पैर दबाकर
तनकी धकपट मित्राते तथा ऐसी ही अन्य आवश्यक
सेवाओंद्वारा वे हर समय दितिकी परिचर्या करते थे ॥ ११ ॥

पूर्णे वर्षसहस्रे सा दृशोने रघुनन्दन।

दितिः परममहृष्टा सहस्राक्षमधायत्तात् ॥ १२ ॥

रघुनन्दन! जब सहस्र वर्ष पूर्ण होनेमें कुल दन वप
साकी रह गये, तब एक दिन दितिने अत्यन्त हर्षमें भरकर
सहस्रलाचन इन्द्रसे कहा ॥ १२ ॥

तपश्चरन्त्या वर्षाणि दश वीर्यवतां वर।

अवशिष्टानि भर्तृ ते धामरं द्रक्ष्यसे ततः ॥ १३ ॥

‘चलवानोंमें श्रेष्ठ वीर! अब मेरी तपस्याके केवल दस
वर्ष और शेष रह गये हैं। तुम्हारा भला हो। दस वर्ष बाद

तुम अपने हँसवाले भाईको देख सकोगे ॥ १३ ॥

यमहं त्वत्कृते पुत्र तमाधास्ये जयोत्सुकम्।

त्रैलोक्यविजयं पुत्र सह भोक्ष्यासि विश्वर ॥ १४ ॥

‘वत्स! मैंने तुम्हारे विनाशके लिये जिस पुत्रकी याचना
की थी, वह अब तुम्हें जितनेके लिये उत्सुक हूँगा, उस
समय मैं उसे शान्त कर दूँगा—तुम्हारे प्रति उसे वैर-भावसे
रहित तथा धातृ-मनसे युक्त बना दूँगा फिर तुम उसके साथ
रहकर उन्हींके द्वारा की हुई विभूषण विजयका मुख निश्चिन्त
होकर भोगना ॥ १४ ॥

याचितेन सुरश्रेष्ठ पित्रा तव महात्मना।

वरो वर्षसहस्रान्ते मम दनः सुते प्रति ॥ १५ ॥

‘सुरश्रेष्ठ! मेरे प्रार्थना करनेपर तुम्हारे महात्मा पिताने
एक हजार वर्षके बाद पुत्र होनेका मुझे धर दिया है’ ॥ १५ ॥
इत्युक्त्वा च दितिस्तत्र प्राप्ते मध्यं दिनेश्वरे।

निद्रयापह्ना देवी पादौ कृत्वाथ शीघ्रतः ॥ १६ ॥

ऐसा कहकर दिति नौदसे अचेत हो गयी। उस समय
सुरेश्वर आकाशके मध्य भागमें आ गये थे—दापहरका समय
हुँ गया था। देवी दिति आसनपर बैठी-बैठी प्रपत्नी लेने
लगीं सिर झुक गया और केश पैरोंमें जा लगे। इस प्रकार
निद्रावस्थामें उन्होंने पैरोंको सिरसे लगा लिया ॥ १६ ॥

दृष्ट्वा तामशुचिं शक्रः पादयोः कृतमूर्धजाम्।

शिरस्थाने कृत्वा पादौ जहम च मुमोद च ॥ १७ ॥

उन्होंने अपने केशोंको पैरोंपर डाल रखा था। सिरको
टिकानेके लिये दोनों पैरोंको ही आधार बना लिया था। यह
देख दितिकी अर्धवत्त हुई जान इन्द्र हँसे और थड़े प्रसन्न
हुए ॥ १७ ॥

तस्याः शरीरविधरं प्रविवेश पुन्दरः।

गर्भं च सजधा राम विच्छेद परमात्मवान् ॥ १८ ॥

श्रीगम्! फिर तो सन्त मावधान रहनेवाले इन्द्र भाला
दितिके कटने प्रविष्ट हो गये और उग्रमें स्थित हुए गर्भक
उन्होंने सात टुकड़े कर डाले ॥ १८ ॥

विद्यमानस्तनो गर्भो वञ्छेण शतपर्वणा।

रुतोद सुव्वरं राम ततो दितिरबुध्यत ॥ १९ ॥

श्रीगम्! उनके द्वारा सौ पर्वोंवाले वज्रसे विदीर्ण किये
जाने समय वह गर्भस्थ बालक और-बाँससे रोने लगा। इससे
दितिकी निद्रा टूट गयी—वे जागकर उठ बैठी ॥ १९ ॥

मा रुदो मा रुदश्चेति गर्भं शक्रोऽभ्यभाषत।

विभेदं च महतेजा रुदनमपि चासवः ॥ २० ॥

तब इन्द्रने उस रोते हुए गर्भसे कहा—‘भाई! मत रो,
मत रो’ परन्तु महातेजस्वी इन्द्रने रोते रहनेपर भी उस गर्भके
टुकड़े कर ही डाले ॥ २० ॥

न हन्तव्यं न हन्तव्यमित्येव दितिरब्रवीत् ।
निष्पत्तौ ततः शक्रो मातुर्वचनगौरवात् ॥ २१ ॥

उस समय दितिने कहा—‘इन्द्र ! बहकों न मारो, न मारो ।’ भाताके वचनका गौरव मानकर इन्द्र महत्तम उदगम
ज्जल आये ॥ २१ ॥

प्राञ्जलिर्वज्रसहितो दिनि शक्रोऽभ्यभाषत ।
अशुचिर्देवि सुप्तसि पादयोः कृतमूर्धजा ॥ २२ ॥

इत्यार्ये श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये वाल्मीकाण्डे षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आषाढमास्य आदिनाञ्चक वाल्मीकाण्डमे छियालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ । ४६ ।

सप्तचत्वारिंशः सर्गः

दितिका अपने पुत्रोको मरुद्वण बनाकर देवलोकमें रखनेके लिये इन्द्रसे अनुरोध, इन्द्रद्वारा उसकी स्वीकृति, दितिके तपोवनमें ही इक्ष्वाकु-पुत्र विशालद्वारा विशाला नगरीका निर्माण तथा वहाँके तत्कालीन राजा सुपतिद्वारा विश्वामित्र मुनिका सत्कार

सप्तधा तु कृते गर्भे दितिः परमदुःखिता ।
सहस्राक्षं दुराथं वाक्यं सानुनयाव्रवीत् ॥ १ ॥

इन्द्रद्वारा अपने गर्भके सात टुकड़े कर दिये जानपर देका
दितिका बहुत दुःख हुआ । वे दुःखों को मरुद्वण इन्द्रसे
अनुनयपूर्वक बोली— ॥ १ ॥

ममापराधात् गर्भोऽयं सप्तधा शकलीकृतः ।
नापराधी हि देवेश तयात्र बलसूदन ॥ २ ॥

‘देवेश ! बलसूदन ! मैं ही अपराधसे इस गर्भके सात
टुकड़े हुए हैं । इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है ॥ २ ॥

प्रियं त्वत्कृतमिच्छामि मम गर्भविषयं ।
भक्तौ सप्त सप्तानो स्थानपाला भवन्तु ते ॥ ३ ॥

इस गर्भको नाब करनेके निमित्त तुम्हने जो कृतपापुर्ण कर्म
किया है, वह तुम्हारे और मेरे लिये भी जिस तरह प्रिय हो
जाय, जैसी भी उसका परिणाम तुम्हारे और मेरे लिये सफल
हो जाय, वैसा उपाय मैं करना चाहती हूँ । मेरे गर्भके वे भाता
सप्त सात व्यक्ति होकर सप्तों मरुद्वणोंके स्थानोंका पालन
करनेवाले हो जायें ॥ ३ ॥

यात्सल्यव्या इमे सप्त धरन्तु दिवि पुत्रक ।
मास्ता इति विख्याता दिव्यरूपा भमात्मजाः ॥ ४ ॥

वेदा । ये मेरे दिव्य रूपधारी पुत्र ‘मारुत’ नामसे
प्रसिद्ध होकर आकाशमें जो भुविख्यात सप्त वातकन्य
हैं उनमें लिये ॥ ४ ॥

ब्रह्मलोकं चरत्वेक इन्द्रलोकं तथापरः ।
दिव्यवायुरिति स्थानसूतीयोऽपि महायशाः ॥ ५ ॥

‘ऊपर जो सात मरुत बताये गये हैं, वे सप्त-मातक
गण हैं । इस प्रकार उनकास मरुत सम्पन्न चाहिये । इनमेंसे)

तदनगमं लब्ध्वा शक्रहन्तारमाहवे ।
अभिन्दे सप्तधा देवि तन्ये त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥ २३ ॥

फिर कृत्रसहित इन्द्रने हाथ जोड़कर दितिसे कहा—
देवि ! तुम्हारे सिरके बाल पैरोंसे लगे थे । इस प्रकार तुम
अपवित्र अवस्थामें माँयी थीं । यहाँ छिद्र पाकर मैंने इस
‘इन्द्रहन्ता’ बालकके सान टुकड़े कर डाले हैं । इमालिये माँ
तुम मेरे इस अपराधको क्षमा करो ॥ २३-२३ ॥

इत्यार्ये श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये वाल्मीकाण्डे छियालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ । ४६ ।

जो प्रथम गण है, वह ब्रह्मलोकमें लिये, दूसरा इन्द्रलोकमें
लिये और तथा तीसरा महायशस्वी मरुद्वण दिव्य वायुके
नामसे विख्यात हो अन्नरिक्षमें बना करे ॥ ५ ॥

चत्वारन्तु सुरभेष्ट दिशो वै तव शासनान् ।
संस्मरिष्यन्ति भद्रं ते कालेन हि भमात्मजाः ॥ ६ ॥

त्वत्कृतेनैव नाम्ना वै धारुता इति विश्रुताः ।
‘सुरभेष्ट । तुम्हारा कल्याण हो । मेरे साथ चार पुत्रोंके गण
तुम्हारे आश्रम समय-नुसार सम्पूर्ण दिशाओंमें संचार करेंगे ।
तुम्हारे जो गण हुए माँसे (तुमने जो ‘मा रुत’ कहाकर उन्हें
गर्भमें बना किया था, उसी ‘मा रुतः’—इस वाक्यसे) वे
मरु-के-मरु मारुत कहलायेंगे । मारुत नाममें ही उनकी
प्रसिद्धि होगी ॥ ६ ॥

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा सहस्राक्षः पुन्दरः ॥ ७ ॥
उवाच प्राञ्जलिर्वाक्यमितीदं बलसूदनः ।

दितिका वह वचन सुनकर बल दैत्यको मारनेवाले
सहस्राक्ष इन्द्रने हाथ जोड़कर यह बात कही— ॥ ७ ॥

सर्वमेतद् यथांशं ते भविष्यति न संशयः ॥ ८ ॥
विचरिष्यन्ति भद्रं ते देवरूपाम्नात्मजाः ।

‘मा । तुम्हारा कल्याण हो । तुमने जैसा कहा है, वह सब
वैसा ही होगा; इसमें संशय नहीं है । तुम्हारे ये पुत्र देवरूप
होकर विचरेंगे ॥ ८ ॥

एवं तौ निश्चयं कृत्वा मातापुत्री तपोवनं ॥ ९ ॥
जग्यन्त्वित्तिव राम कृतार्थाविति नः श्रुतम् ।

श्रीराम । उस तपोवनमें ऐसा निश्चय करके वे दोनों
माता-पुत्री—दिति और इन्द्र कृतकृत्य हो स्वर्गलोककों चले
गये—ऐसा हमने सुन रखा है ॥ ९ ॥

एष देशः स काकुत्स्थ महेन्द्राध्युषितः पुरा ॥ १० ॥
दिति यत्र तपःसिद्धामेवं परिचचार सः ।

काकुत्स्थ ! यही वह देश है, जहाँ पूर्वकालमें रहकर
देवराज इन्द्रने तपः सिद्धि की परिचर्या की थी ॥ १० ॥

इक्ष्वाकोस्तु नरव्याघ्र पुत्रः परमधार्मिकः ॥ ११ ॥
अलम्बुवायामुत्पन्नो विशाल इति विश्रुतः ।

तैत्त चासीद्विह स्थाने विशालेति पुरी कृता ॥ १२ ॥

पुरुषसिंह ! पूर्वकालमें महाराज इक्ष्वाकुके एक परम
धर्मात्मा पुत्र थे, जो विशाल नामसे प्रसिद्ध हुए । उनका जन्म
अलम्बुवा नामसे हुआ था । उन्होंने इस स्थानपर विशाल
नामसे पुरी बसायी थी ॥ ११-१२ ॥

विशालस्य सुतो राम हेमचन्द्रो महाबलः ।

सुचन्द्र इति विख्यातो हेमचन्द्रादनन्तरः ॥ १३ ॥

श्रीराम ! विशालके पुत्रका नाम था हेमचन्द्र, जो बड़े
बलवान् थे । हेमचन्द्रके पुत्र सुचन्द्र नामसे विख्यात हुए ॥

सुचन्द्रतनयो राम धृमाश्व इति विश्रुतः ।

धृमाश्वतनयश्चापि सुव्रतः समपहृत ॥ १४ ॥

श्रीरामचन्द्र ! सुचन्द्रके पुत्र धृमाश्व और धृमाश्वक पुत्र
संजय हुए ॥ १४ ॥

सुव्रतस्य सुतः श्रीमान् सहदेवः प्रतापवान् ।

कुशाश्वः सहदेवस्य पुत्रः परमधार्मिकः ॥ १५ ॥

संजयके अतापी पुत्र श्रीमान् सहदेव हुए । सहदेवके परम
धर्मात्मा पुत्रका नाम कुशाश्व था ॥ १५ ॥

कुशाश्वस्य महातेजाः सोमदत्तः प्रतापवान् ।

सोमदत्तस्य पुत्रस्तु काकुत्स्थ इति विश्रुतः ॥ १६ ॥

कुशाश्वके महातेजस्वी पुत्र प्रतापी सोमदत्त हुए और
सोमदत्तके पुत्र काकुत्स्थ नामसे विख्यात हुए ॥ १६ ॥

तस्य पुत्रो महातेजाः समप्रत्येष पुरीमिमाम् ।

आवसत् परमप्रण्वः सुमतिर्नाम दुर्जयः ॥ १७ ॥

काकुत्स्थके महातेजस्वी पुत्र सुमति नामसे प्रसिद्ध हैं जो
परम कान्तिमान् एवं दुर्जय वीर हैं । वे ही इस समय इस
पुरीमें निवास करते हैं ॥ १७ ॥

इक्ष्वाकोस्तु प्रसादेन सर्वे वैशालिका नृपाः ।

दीर्घायुषो महात्मानो वीर्यवान् सुधार्मिकाः ॥ १८ ॥

महाराज इक्ष्वाकुके प्रसादसे विशालके सभी नरेश
दीर्घायु, महान्या पराक्रमी और परम धार्मिक होते
आये हैं ॥ १८ ॥

इहाद्य रजनीमेकां सुखं स्वप्स्यामहे वयम् ।

द्यः प्रभाते नरश्रेष्ठ जनकं ब्रह्मर्हसि ॥ १९ ॥

नरश्रेष्ठ ! आज एक रात हमलोग यहीं सुषुप्तपूर्वक शयन
करेंगे, फिर कल प्रातः काल यहाँसे चलकर तुम मिथिलामें
रजा जनकके दर्शन करेंगे ॥ १९ ॥

सुमतिस्तु महातेजा विश्वामित्रपुपागतम् ।

श्रुत्वा नरवरश्रेष्ठः प्रत्यागच्छन्महायशः ॥ २० ॥

नरश्रेष्ठ ! आज एक रात हमलोग यहीं सुषुप्तपूर्वक शयन
करेंगे, फिर कल प्रातः काल यहाँसे चलकर तुम मिथिलामें
रजा जनकके दर्शन करेंगे ॥ २० ॥

पूजां च परमां कृत्वा सोपाध्यायः सखायवः ।

प्राञ्जलिः कुशलं पृष्ट्वा विश्वामित्रमश्नान्नीत् ॥ २१ ॥

अपने पुरोहित और बन्धु-बान्धवोंके साथ रजाने
विश्वामित्रजीकी उत्तम पूजा करके हाथ जोड़ उनका कुशल-
समाचार पूछा और उनसे इस प्रकार कहा— ॥ २१ ॥

धन्योऽस्यनुगृहीतोऽस्मि यस्य मे विषये मुने ।

सम्प्राप्तो दर्शनं चैव नास्ति धन्यतरो मय ॥ २२ ॥

‘मुने ! मैं धन्य हूँ । आपका मुझपर बड़ा अनुग्रह
है ; क्योंकि आपने स्वयं मेरे राज्यमें पधारकर मुझे
दर्शन दिया । इस समय मुझमें बढ़कर धन्य पुरुष दूसरा
कोई नहीं है ॥ २२ ॥

इत्थाने श्रीमद्वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकीजीर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें सैतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४७ ॥

अष्टचत्वारिंशः सर्गः

राजा सुमतिसे सत्कृत हो एक रात विशालामें रहकर मुनियोंसहित श्रीरामका मिथिलापुरीमें
पहुँचना और वहाँ मुने आश्रमके विषयमें पूछनेपर विश्वामित्रजीका उनसे
अहल्याको शाप प्राप्त होनेकी कथा सुनाना

पृष्ठा तु कृगालं तत्र परस्परसमागमे ।

कथान्ते सुमतिर्वान्ये व्याजहार महामुनिम् ॥ १ ॥

वहाँ परस्पर सभागमके समय एक-दूसरेका
कृगाल गृह्य पृष्ठकर बातचीतके अन्तमें राजा सुमतिने
महामुनि विश्वामित्रसे कहा ॥ १ ॥

इमौ कुमारी भद्रं ते देवतुल्यपराक्रमौ ।

गजसिंहगती श्रीरौ शार्दूलवृषभोपमौ ॥ २ ॥

‘ब्रह्मन् ! आपका कल्याण हो । ये दोनों कुमार
देवताओंके तुल्य पराक्रमी जान पड़ते हैं । इनकी चाल-ढाल
हाथी और सिंहकी गतिके समान है । ये दोनों वीर सिंह और

सौंदर्य समान प्रतीत होते हैं ॥ २ ॥

पद्मपत्रविशालाक्षौ स्वङ्गनूणधनुर्धरो ।

अश्विनाविव रूपेण समुपस्थितयोवनौ ॥ ३ ॥

इनके बड़े-बड़े नेत्र विकसित कमलदलक समान शोभा पाते हैं। ये दोनों तलवार ताकम और धनुष धारण किय हुए हैं। अपने सुन्दर रूपके द्वारा दोनों अश्विन कुमारों को स्थित करते हैं तथा युवावस्थाक निकट आ पहुँचे हैं ॥ ३ ॥

पद्मकयैव गां प्राप्नौ देवलोकादिवापरा ।

कथं पद्भ्यामिह प्राप्नौ किमर्थं कस्य वा पुने ॥ ४ ॥

'इन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता है, मानों दो देवकुमार देवलोकादि देवलोकसे पृथ्वीपर अब गये हों। मुने! ये दोनों किसके पुत्र हैं और कैसे, किसलिये यहाँ पैदल हो आये हैं?' ॥ ४ ॥

धूपयन्ताविमं देशं चन्द्रसूर्यादिवाम्बरम् ।

परस्परं सदृशौ प्रमाणेद्भिनचेष्टितैः ॥ ५ ॥

'जैसे चन्द्रमा और सूर्य अस्काद्वारे शोभा बढ़ाने हैं, उमों प्रकार ये दोनों कुमार इस देशको सुशोभित कर रहे हैं। शरीरकी ऊँचाई मनोभावमूचक संकेत तथा चेष्टा (बोलचाल) में ये दोनों एक-दूसरेक समान हैं ॥ ५ ॥

किमर्थं च नरश्रेष्ठौ सम्प्राप्तौ दुर्गमे पथि ।

वरायुधधरो वीरौ श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ ६ ॥

'श्रेष्ठ आयुध धारण करनेवाले ये दोनों नरश्रेष्ठ और इस दुर्गम मार्गमें किसलिये आये हैं? यह मैं यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ ॥ ६ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा यथावत् न्यतंदसत् ।

सिद्धाश्रमनिवासं च राक्षसानां वधं यथा ।

विश्वामित्रवज्रः श्रुत्वा राजा परमविस्मितः ॥ ७ ॥

सुमतिका यह वचन सुनकर विश्वामित्रजीने उनके सब वृत्तान्त यथाथरूपसे निश्चय किया। विश्वामित्रम विचार्य और राक्षसोंके वधका प्रसङ्ग भी यथावत् रूपसे कह सुनाया। विश्वामित्रजीकी बात सुनकर राजा सुमतिको बड़ा विस्मय हुआ ॥

अतिथी परमं प्राप्नौ पुत्रौ दशरथस्य तौ ।

पुत्रायामास विधिवत् सत्कारार्हौ महाबली ॥ ८ ॥

उन्होंने परम आदरणीय अतिथिक रूपमें आय हुए उन दोनों महाबली दशरथ-पुत्रोंका विधिपूर्वक आतिथ्य-सत्कार किया ॥ ८ ॥

ततः परमसत्कारं सुधतेः प्राप्य राघवौ ।

उद्य तत्र निशामेकां जग्मनुर्मिथिलां ततः ॥ ९ ॥

सुमतिसे उत्तम आदर-सत्कार पाकर ये दोनों गुरुवरा कुमार वहाँ एक रात रहे और सबर ३३३ मिथिल शब्दों का चण दिये ॥ ९ ॥

ना दृष्ट्वा मुनयः सर्वे जनकस्य धुरीं शुभाम् ।

भाषु साध्विति शसन्तो मिथिलां सम्पूजयन् ॥ १० ॥

मिथिलार्थमें पहुँचकर जनकपुरीकी सुन्दर शोभा देख सभी महर्षि साधु-साधु कहकर उनकी धुरि-धुरि प्रशंसा करने लगे ॥ १० ॥

मिथिलोपवने तत्र आश्रमं दृश्य राघवः ।

पुराणं निर्जनं रम्यं वप्रच्छ मुनिपुङ्गवम् ॥ ११ ॥

मिथिलार्थके तपवनमें एक पुराना आश्रम था, जो अत्यन्त रमणीय प्रेक्ष्य भी सुनसान दिखायी देता था। उसे देखकर श्रोतमचन्द्रजीने मुनिवर विश्वामित्रजीसे पूछा— ॥ ११ ॥

इदमाश्रमसंकाशं किं न्विदं मुनिवर्जितम् ।

श्रोतुमिच्छामि भगवन् कस्यायै पूर्वं आश्रमः ॥ १२ ॥

'भगवन्! यह कैसा स्थान है, जो देखनेमें तो आश्रम-जैसा है किन्तु एक भी मुनि यहाँ दृष्टिगोचर नहीं होता है। मैं यह सुनना चाहता हूँ कि पहले यह आश्रम किसका था?' ॥

तच्छ्रुत्वा राघवोक्तं वाक्यं वाक्यविशारदः ।

प्रत्युवाच महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः ॥ १३ ॥

श्रोतमचन्द्रजीका यह प्रश्न सुनकर प्रवचनकुशल महातेज्वा महामुनि विश्वामित्रने इस प्रकार उत्तर दिया— ॥

हन्त ते कथयिष्यामि शृणु तत्त्वेन राघव ।

वस्येनदाश्रमपदं शर्म कोपान्महात्मनः ॥ १४ ॥

'रघुनन्दन! पूर्वकालमें यह जिस महात्माका आश्रम था और जिन्होंने क्रोधपूर्वक इसे इत्थ दे दिया था, उनका तथा उनका इस आश्रमका सब कृतान्त तुमसे कहना है। तुम यथाथरूपसे इसको सुने ॥ १४ ॥

गीतमस्य नरश्रेष्ठ पूर्वमासीन्महात्मनः ।

आश्रमो दिव्यसंकाशं सुरैरपि सुपूजितः ॥ १५ ॥

'नरश्रेष्ठ! पूर्वकालमें यह स्थान महात्मा गीतमका आश्रम था। उस समय यह आश्रम बड़ा ही दिव्य जान पड़ता था। देवता भी इसको पूजा एवं प्रशंसा किया करते थे ॥ १५ ॥

स चात्र तप आतिष्ठदहल्यासहितः पुरा ।

वर्षपुणान्यनेकानि राजपुत्र महायशः ॥ १६ ॥

'महायशस्वी राजपुत्र! पूर्वकालमें महर्षि गीतम अपनी पत्नी अहल्याके साथ रहकर यहाँ तपस्या करते थे। उन्होंने बहुत वर्षोंतक यहाँ तप किया था ॥ १६ ॥

तस्यान्तरं विदित्वा च सहस्राश्रुः शचीपतिः ।

मुनिवेषधरो भूत्वा अहल्यामिदमब्रवीत् ॥ १७ ॥

'एक दिन जब महर्षि गीतम आश्रमपर नहीं थे, उपयुक्त अवसर नमझकर शचीपति इन्द्र गीतम मुनिका घेप धारण किये वहाँ आये और अहल्यासे इस प्रकार बोले— ॥

ऋतुकालं प्रनीक्षन्ते नार्थिनः सुसमाहिते ।

संगमे त्वहमिच्छामि त्वया सह सुमध्यमे ॥ १८ ॥

'भद्र! सत्त्वधान रहनेवाली सुन्दरी! रतिको इच्छा रखनेवाले प्रार्थी पुरुष ऋतुकालकी प्रतीक्षा नहीं करते हैं। मुन्दर कटिप्रदेशवाली सुन्दरी! मैं (इन्द्र) तुम्हारे साथ

समागम्य करना चाहता हूँ ॥ १८ ॥

मुनिवेषं सहस्राक्षं विज्ञाथ रघुनन्दन ।

मतिं चकार दुर्मेधा देवराजकुतूहलात् ॥ १९ ॥

‘रघुनन्दन । महर्षि गौतमका वेष धारण करके आये हुए इन्द्रको पहचानकर भी उस दुर्बुद्ध नाथने ‘अहा ! देवराज इन्द्र मुझे चाहते हैं इस कौतूहलवश उनके साथ समागम्य करना चाहते हैं । इस कौतूहलवश उनके साथ समागम्य करना करके वह प्रत्याव सौकार कर लिया ॥ १९ ॥

अथाब्रवीत् सुरश्रेष्ठ कृतार्थेनान्तरात्मना ।

कृताधास्मि सुरश्रेष्ठ राक्ष्ण शीघ्रमित- प्रभो ॥ २० ॥

आत्मानं प्री च देवेश सर्वथा रक्ष गौतमात् ।

‘रक्षित पश्चात् उसने देवराज इन्द्रसे सतुष्टचित्त होकर कहा—‘सुरश्रेष्ठ । मैं आपके समागम्य कृतार्थ हो गया । प्रभो ! अब आप शीघ्र मझमें चले जाइये । देवेश । महर्षि गौतमके कागसे आप अपनी और मेरी भी सब प्राणभे रक्षा कीजिये’ ॥ २० ॥

इन्द्रस्तु प्रहसन आबधमहत्त्वामितमब्रवीत् ॥ २१ ॥

सुश्रोणि धरितुष्टोऽस्मि नमिष्यामि यथागतम् ।

तब इन्द्रने अहम्परा ईसात हुए कहा—‘सुन्दरी । मैं भी सतुष्ट हो गया । अब जैसे आपा था, ठीकी तरह चला आऊँगा’ ॥ २१ ॥

एवै रंगम्य न तदा निश्चक्रामोदजात् ततः ॥ २२ ॥

एत शम्भुमान् स्वरन् राम शङ्कितो गौतमं प्रति ।

‘श्रीगम । इस प्रकार अहल्यास समागम करके इन्द्र अब उस कुन्तीमें जाकर निकल, तब गौतमके आ जानेकी आशङ्कामें बड़ी उतावलेक साथ बाणपुत्रक भागनेका प्रयत्न करने लगे ॥ २२ ॥

गौतमं स ददर्शथ प्रविशन्तं महापुनिम् ॥ २३ ॥

देवदानवदुर्ध्वं तपोबलसमन्वितम् ।

तीर्थोदकपरिनिष्ठं दीप्यमानमिवानलम् ॥ २४ ॥

गृहीतगमिधं तत्र सकुशं मुनिपुङ्गवम् ।

‘जानकीमें उन्होंने देवता, देवताओं और दानवोंके लिये भी दुर्ध्व, तपोबलसम्पन्न, महापुनि गौतम हाथमें गमिधा लिये आश्रममें प्रवेश कर रहे हैं । उनका शरीर तीर्थक जालगी भीगा हुआ है और वे प्रज्वलित अग्निके समान जलम हो रहे हैं ॥ २३-२४ ॥

द्वा सुरपतिरस्त्रो विधणवदन्तोऽभवत् ॥ २५ ॥

अथ दृष्ट्वा सहस्राक्षं मुनिवेषधरे मुनिः ।

दुर्गतं वृत्तमप्यग्रे गोषाद् वचनमब्रवीत् ॥ २६ ॥

‘उनपर दृष्टि पड़ते ही देवराज इन्द्र भयसे धरें डटे । उनके मुखपर विषाद छा गया । दुष्टाचारी इन्द्रको मुनिका वेष धारण किये देख सदाचारसम्पन्न मुनिवर गौतमजीने रोषमें भरकर कहा— ॥ २५-२६ ॥

मम रूपं समास्थाय कृतवानसि दुर्मते ।

अकर्तव्यमिदं यत्पाद विफलस्त्वं भविष्यसि ॥ २७ ॥

‘‘दुर्मते ! तुने मेरा रूप धारण करके यह न करके योग्य रूपकमें किया है, इसीलिये तु विफल (अष्टकोपमें रहित) हो जायगा’ ॥ २७ ॥

गौतमेनेवमुक्तस्य सुरोषेण महात्मना ।

येनतुर्वपणीं श्रुत्वा सहस्राक्षस्य तन्मृणात् ॥ २८ ॥

रोषमें भरे हुए महात्मा गौतमके ऐसा कहते ही सहस्राक्ष इन्द्रके दोनों अष्टकोप उसी क्षण पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ २८ ॥

तथा शप्त्वा च वै शक्रं धार्धामपि च शप्तवान् ।

इह वर्षसहस्राणि बहूनि निवसिष्यसि ॥ २९ ॥

वातधक्षा निराहारा तप्यन्ती भस्मशायिनी ।

अदृश्या सर्वभूतानामाश्रमेऽस्मिन् वसिष्यसि ॥ ३० ॥

यदा त्वेनद् वनं धोरं रामो दशरथात्मजः ।

आगमिष्याति दुर्ध्वस्तदा पूता भविष्यसि ॥ ३१ ॥

तस्यानिधेयं दुर्वृत्ते लोभमोहविचर्जिता ।

मत्सकाशं धृदा युक्ता स्वं वपुर्धारयिष्यमि ॥ ३२ ॥

इन्द्रको इस प्रकार शपथ देकर गौतमने अपनी पत्नीको भी शपथ दिया — दुष्टाचारी नू भी यहाँ कई हजार वर्षोंतक केवल इन्हीं पौकर या उपवास करके कष्ट उठाती हुई राखने पड़ी रहोगी । सम्पन्न प्राणियोंमें अदृश्य रहकर इस आश्रममें निवास करोगी जब दुर्ध्व दशरथ कुमार राम इस धोर वनमें प्रवेश करोगे इस समय नू पवित्र होगी । इनका आतिथ्य-मन्त्र कराने पर त्याग-मोह आदि दोष दूर हो जायेंगे और नू प्रसन्नहृदयके मेरे पास पहुँचकर अपना पूर्व शरीर धारण कर लेगी’ ॥ २९-३२ ॥

एवमुक्त्वा महातेजा गौतमो दुष्टचारिणीम् ।

इमपाश्रयमुत्सृज्य सिद्धचारणं सेविते ।

हिमवच्छिखरे रम्ये तपस्तेषां महातपाः ॥ ३३ ॥

‘अपनी दुष्टचारिणी पत्नीसे ऐसा कहकर महातेजस्वी महातपस्वी गौतम इस आश्रमको छोड़कर चले गये और सिद्धो तथा चरणोंसे सेवित हिमालयके रमणीय शिखरपर गङ्गा तपस्या करने लगे’ ॥ ३३ ॥

इत्यादि श्रीमहाभाषणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये वाल्मीक्याहंष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभाषणे आर्षरामायण आदिकाव्यके वाल्मीक्याहंष्टचत्वारिंशः सर्ग पूरा हुआ ॥ ४८ ॥



एकोनपञ्चाशः सर्गः

पितृदेवताओंद्वारा इन्द्रको भेड़ेंके अण्डकोशसे युक्त करना तथा भगवान् श्रीरामके द्वारा अहल्याका उद्धार एवं उन दोनों दम्पतिके द्वारा इनका सत्कार

अफलस्तु ततः शक्रो देवानप्रिपुरोगमान् ।
अश्वीन् अस्तनयनः सिद्धगन्धर्वचारणान् ॥ १ ॥

तदनन्तर इन्द्र अण्डकापसे रहित होकर बहुत डर गये ।
तब नेत्रोंमें आँसू छा गये । वे अग्नि अदि देवताओं, सिद्ध
गन्धर्वों और चारणोंसे इस प्रकार बोले ॥ १ ॥

कूर्चता तपस्यो विघ्नं गौतमस्य महात्मनः ।
क्रोधमुत्पाद्य हि मया सुवर्कार्यमिदं कृतम् ॥ २ ॥

देवताओं ! महात्मा गौतमकी तपस्यासे विघ्न होकर मैंने
क्रोधसे उसे कुछ निपाया है । मया करके मैं यह
तपस्याओंका कार्य ही गिरा दिया है ॥ २ ॥

अफलं शिष्यं कृतस्तेन क्रोधान् सा च निराकृता ।
शापमोक्षेण महता तपोऽस्यापहृतं मया ॥ ३ ॥

मुनिने क्रोधपूर्वक भाँसे जाप देकर मैंने अण्डकापसे
निराकर दिया और अपनी पत्नीका भी परिहास कर दिया
इसमें मेरे द्वारा उनकी तपस्याका अपहरण हुआ है ॥ ३ ॥

नमो सुरवराः सर्वे सर्पिसहस्राः सचारणाः ।
सुवर्कार्यकरं मया सफलं कर्तुमर्हथ ॥ ४ ॥

(गोद ये इनकी तपस्यासे निरा नहीं होकर तो वे
देवताओंका राज्य ही छोड़ लें । अतः ऐसा करके) मैंने
तपस्याओंका ही कार्य गिरा दिया है । इसलिये अष्ट
देवताओं ! तुम सब लोग, ऋषिसमुदाय और चारणगण

गोचर भूते अण्डकापसे युक्त करनका प्रयत्न करें ॥ ४ ॥

ज्ञानक्रनोर्वचः श्रुत्वा देवाः साविपुरोगमाः ।
पितृदेवानुपेत्याहूः सर्वे सह भरुहूणः ॥ ५ ॥

दृष्ट्वा यत् वचनं सुनन्त महद्भयमासादन् आस्र
मास्र समस्त देवता कश्यपहस्त आदि पितृदेवताओंके
सम आकर बोले ॥ ५ ॥

अयं मेघः सवृषणः शक्रो ह्यवृषणः कृतः ।
पथस्य वृषणौ गता शक्रायाश्च प्रयच्छत ॥ ६ ॥

'पितृगण ! यह भयानक भयानक अण्डकापसे युक्त
मेघ और इन्द्र अण्डकापसे रहित कर दिया गया है । अतः हम
सब देवता अण्डकापोंकी लेकर आप लोग ही इन्द्रको
परितो कर दें ॥ ६ ॥

अफलस्तु कृतो मेघः परां तुष्टिं प्रदास्यति ।
भवती हर्षणाथै च ये च दास्यन्ति मानवाः ।

अक्षयं हि फलं तेषां युयं दास्यथ पुष्कलम् ॥ ७ ॥

'अण्डकापसे रहित किया हुआ यह मेघ इस स्थानमें
आपलोगोंका परा सन्तान प्रदान करेगा । अतः जो मनुष्य
आपलोगोंका प्रयत्नकर लेंगे अण्डकापसे रहित भेड़ा

दान करेंगे, उन्हें आपलोग उस दानका उत्तम एवं पूर्ण
फल प्रदान करेंगे ॥ ७ ॥

अग्रेस्तु वचनं श्रुत्वा पितृदेवाः समागताः ।
उपाद्य मेघवृषणौ सहस्राक्षे न्यवेशयन् ॥ ८ ॥

आगेकी यह बात सुनकर पितृदेवताओंने एकत्र हो
कर अण्डकापको उग्राडकर इन्द्रके शरीरमें उचित
स्थानपर जोड़ दिया ॥ ८ ॥

तदाप्रभृति काकुत्स्थ पितृदेवाः समागताः ।
अफलान् भुञ्जते मेघान् फलैस्तेवामयोजयन् ॥ ९ ॥

ककुत्स्थनन्दन आगम । तभीसे वहाँ आये हुए समस्त
पितृदेवता अण्डकापसे रहित भेड़ाको ही उपयोगमें लाते हैं
आर दानाओंका उनके दानजानने फलोंके भागों बनाने हैं ॥

इन्द्रस्तु मेघवृषणस्तदाप्रभृति राघव ।
गौतमस्य प्रभावेण तपसा च महात्मनः ॥ १० ॥

रघुनन्दन ! हमों समयसे महात्मा गौतमके तपस्याजानित
प्रभावसे इन्द्रको भेड़ाके अण्डकाप धारण करने पड़े ॥ १० ॥

तदागच्छ महातेज आश्रमं पुण्यकर्मणः ।
तार्यन्ता महाभागपहन्त्या देवर्षिणीम् ॥ ११ ॥

महातेजस्वी आगम ! अब तुम पुण्यकर्मा महर्षि गौतमके
इस आश्रमपर चलो और इन देवर्षिणी महाभाग
अहल्याका उद्धार करें ॥ ११ ॥

विश्वामित्रवचः श्रुत्वा राघवः सहलक्ष्मणः ।
विश्वामित्रं पुरस्कृत्य आश्रमं प्रविवेश ॥ १२ ॥

विश्वामित्रजोंका यह वचन सुनकर लक्ष्मणसहित श्रीरामने
उन महर्षिकों आगे करके उस आश्रममें प्रवेश किया ॥ १२ ॥

दृष्ट्वा च महाभागं तपसा द्योतितप्रभान् ।
लोकेरपि समागम्य दुर्निरीक्ष्यां सुरासुरैः ॥ १३ ॥

वहाँ जाकर उन्होंने देखा—महामोक्षाप्यशान्तिना अहल्या
अपनी तपस्यासे द्योतितमान हो रही हैं । इस स्थिति में मनुष्य
तथा सम्पूर्ण देवता और असुर भी वहाँ आकर उन्हें देख
नहीं सकते थे ॥ १३ ॥

प्रयत्नाग्निमितां धाम्ना दिव्यां मायामयीमिव ।
धूमेनाभिधरीताङ्गी दीप्ताग्निप्रशिखामिव ॥ १४ ॥

मनुष्यागृतां साध्नां पूर्णचन्द्रप्रभामिव ।
मद्योऽम्बसो दुराधर्षा दीप्तां सूर्यप्रभामिव ॥ १५ ॥

उनका स्वरूप दिव्य था । विघाताने बड़े प्रयत्नसे उनके
अङ्गोंका निर्माण किया था । वे मायामयी—सी प्रतीत होती
थीं । धूममें घिरी हुई प्रज्वलित अग्निजिह्वा—सी जान पड़ती
थीं । आँने और वादलोंसे ढकी हुई पूर्ण चन्द्रमाकी प्रभा—सी

दिखायी देते थीं तथा जलके भीतर उद्घामित होनेवाली
सूर्यकी दुर्घर्ष प्रभाके समान दृष्टिगोचर होना थीं ॥ १४-१५ ॥

सा हि गौतमवाक्येन दुर्निरीक्ष्या बभूव ह ।

त्रयाणामपि लोकानां यावद् रामस्य दर्शनम् ।

शापस्यान्तमुपागम्य तेषां दर्शनमागता ॥ १६ ॥

✓ गौतमके शापवश श्रीरामचन्द्रजीका दर्शन होनेमें
पहले तीनों लोकोंके किसे भी प्राणीक लिये उनका
दर्शन होना कठिन था । श्रीरामका दर्शन मिल जानेसे
जब उनका शापका अन्त हो गया, तब वे उन सबको
दिखायी देने लगीं ॥ १६ ॥

राघवो तु तदा तस्याः पादौ अगृह्णतुर्मदा ।

स्मरन्ती गौतमवचः प्रतिजग्राह सा हि तौ ॥ १७ ॥

पादापत्न्यं तथाऽऽनिध्यं चकार सुसमाहिता ।

प्रतिजग्राह काकुत्स्थो विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ १८ ॥

उस समय श्रीराम और लक्ष्मणने वही प्रसन्नताके साथ
अहल्याके दोनों धरणाका स्पर्श किया । महर्षि गौतमके
चरणोंका स्पर्श करके अहल्याने वही राखधाराके साथ उन
दोनों भाइयोंका अङ्गुलीय भाँतिथके रूपमें आरज्य और
भाष्य, अर्घ्य आदि अर्पित करके उनका अनिध्य-सत्कार
1174 श्रीरामचन्द्रजीने शापको पादापत्न्य-अनुसार अहल्याका
पद आनिध्य ग्रहण किया ॥ १७-१८ ॥

पुष्पवृष्टिर्महत्यामोद् देवदुन्दुभिनिःस्वनैः ।

गन्धर्वाप्सरसा चैव महानासीन् समुत्सवः ॥ १९ ॥

उस समय देवताओंकी दुन्दुभि बज उठी । साथ ही
आकाशमें फूलोंकी बड़ा भारी वर्षा होने लगी । गन्धर्वों और
अप्सरओंका महान् उत्सव मनाया जाने लगा ॥ १९ ॥

साधु साध्विति देवास्तामहल्यां सम्पूजयन् ।

तपोबलविशुद्धाङ्गी गौतमस्य वशानुगाम् ॥ २० ॥

महर्षि गौतमके अर्घ्यन रहनेवाली अहल्या अपने
तप शक्तिसे विशुद्ध स्वरूपका प्राप्त हुई— यह देख सम्पूर्ण
देवता उन्हें साधुवाद देने हुए उनकी भूमि भूमि
प्रशंसा करने लगे ॥ २० ॥

गौतमोऽपि महातेजा अहल्यासहितः सुखी ।

रामं सम्पूज्य विधिवन् तपस्तेपे महातपाः ॥ २१ ॥

महानेजस्वी महातपस्वी गौतम भी अहल्याकी अपने साथ
पाकर सुखी हो गये । उन्होंने श्रीरामको विधिवन् पूजा करके
तपस्या आरम्भ की ॥ २१ ॥

रामोऽपि परमां पूजां गौतमस्य महामुनेः ।

सकाशाद् विधिवन् प्राप्य जगाम मिथिलां ततः ॥ २२ ॥

महामुनि गौतमकी ओरसे विधिपूर्वक उत्तम पूजा—
आदर-सत्कार पाकर श्रीराम भी मुनिभ्रा विश्वामित्र जीके साथ
मिथिलापुरीको चले गये ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये वालकाण्डे एकोनपञ्चाशः सर्गः ॥ ४९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकीनिर्मित आर्यरामायण आदिनाट्यक वालकाण्डमें उनपचासवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४९ ॥

पञ्चाशः सर्गः

श्रीराम आदिका मिथिला-गमन, राजा जनकद्वारा विश्वामित्रका सत्कार तथा उनका
श्रीराम और लक्ष्मणके विषयमें जिज्ञासा करना एवं परिचय पाना

ततः प्रागुत्तरां गत्वा रामः संमित्रिणा सह ।

विश्वामित्रं पुरस्कृत्य यज्ञवादमुपागमम् ॥ १ ॥

तदनन्तर लक्ष्मणसहित श्रीराम विश्वामित्रजीको आगे
• एवं महर्षि गौतमके आश्रममें ईशान-राजकी आर उल्ल और
निधिलानेशिव, यज्ञमण्डपमें जा पहुँचे । १

रामस्तु मृगिशार्दूलध्रुवाच्च महलक्ष्मणः ।

साध्वो यज्ञसमृद्धिर्हि जनकस्य महात्मनः ॥ २ ॥

बहूनाह सहस्राणि नानादशनिवासिनाम् ।

ब्राह्मणानां महाभाग वेदाध्ययनशालिनाम् ॥ ३ ॥

वहाँ लक्ष्मणसहित श्रीरामन मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रस
की— 'महाभाग । महात्मा जनकक यज्ञका समारोह
तो बहुत सुन्दर दिखायी दे रहा है । यहाँ जना देशोंके
निवासी सहस्रों काङ्गण जुटे हुए हैं, जो वेदके स्वाध्यायमें
शोभा पा रहे हैं ॥ २-३ ॥

ऋषिवाटशः दृश्यन्ते शकटीशतसंकुलाः ।

देशो विधाधनां ब्रह्मन् यत्र वत्स्यामहे वयम् ॥ ४ ॥

ऋषियोंके बाड़े संकड़ों संकड़ोंसे भरे दिखायी दे रहे हैं ।
ब्रह्मन् ! अब ऐसा कोई स्थान निश्चिन काँजिये, जहाँ हमन्हीं
भी ठहरें ॥ ४ ॥

रामस्य वचनं श्रुत्वा विश्वामित्रो महामुनिः ।

निष्ठासमकरोद् देशं विविक्तं सलिलान्वितं ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्रजीका यह वचन सुनकर महामुनि विश्वामित्रने
एकसुत स्थानमें डेरा डाला, जहाँ पानीका सुभीता था ॥ ५ ॥

विश्वामित्रमनुप्राप्तं श्रुत्वा नृपवरस्तदा ।

शतानन्दं पुरस्कृत्य पुरोहितमनिन्दितः ॥ ६ ॥

अनिन्द्य (उनमें) आचार-विचारवाले नृपश्रेष्ठ महाराज
जनकने जब सुना कि विश्वामित्रका पधार है, तब वे तुरंत
अपने पुरोहित शतानन्दको आगे करके [अर्घ्य लिये

‘त्राणतथावसे’ उनको स्वागत करनेको चल दिव] ॥ ६ ॥

ऋत्विजोऽपि महात्मानस्त्वर्घ्यादाय सत्वरम् ।

प्रत्युजगाम सहसा विनयेन समन्वितः ॥ ७ ॥

विश्वामित्राय धर्मेण ददौ धर्मपुरस्कृतम् ।

उन्के साथ अर्घ्य लिये महात्मा ऋत्विज् भी शीघ्रतापूर्वक चले । राजा विनोदभावसे सहसा आगे बढ़कर महर्षिको भगवान् की तथा धर्मशालक अनुमा विश्वामित्रको धर्मयुक्त अर्घ्य समर्पित किया ॥ ७ ॥

प्रतिगृह्य तु तां पूजां जनकस्य महात्मनः ॥ ८ ॥

पप्रच्छ कुशलं राज्ञो यजम्य च निरामयम् ।

महात्मा राजा जनकको वह पूजा ग्रहण करके मुनिन उनका कुशल-समाचार पूछा तथा उनका यज्ञको निबाध स्थितिके विषयमें जिज्ञासा की ॥ ८ ॥

स ताक्षाय मुनीन् पृष्ट्वा सांपाध्यायपुरोधसः ॥ ९ ॥

यथाहंभर्षिभिः सर्वैः समागच्छन् प्रहृष्टवन् ।

उन्के साथ जो मुनि, उपाध्याय और पुरोहित आये थे उनके भी कुशल-सङ्गत पूछकर विश्वामित्रजी वड़ हर्षक साथ उन सभी महर्षियोंसे यथायोग्य मिले ॥ ९ ॥

अथ राजा मुनिभ्रष्टं कृताञ्जलिर्भाषत ॥ १० ॥

आसने भगवान्मासां सर्वधर्मुनिपूज्यः ।

इसके बाद राजा जनकने मुनिवर विश्वामित्रसे हाथ जोड़कर कहा—‘भगवन् ! आप इन मुनीश्वरोंके साथ आसनपर विराजमान होइये’ ॥ १० ॥

जनकस्य सचः श्रुत्वा निषसाद महामुनिः ॥ ११ ॥

पुरोध्या ऋत्विजश्चैव राजा च सहस्रान्निधिः ।

आसनेषु यथान्यायमुपविष्टाः समन्ततः ॥ १२ ॥

सह सान्ति सुनन्त महामुनि विश्वामित्र आसनपर बैठ गये । फिर पुरोहित, ऋत्विज् तथा पन्थियोंके राजा भी सब आग यथायोग्य आसनपर विराजमान हो गये ॥ ११-१२ ॥

ब्रह्मा स नृपतिस्तत्र विश्वामित्रमथाब्रवीत् ।

अथ यज्ञसम्पत्तिर्मे सफलं देवनेः कृता ॥ १३ ॥

तत्पश्चात् राजा जनकने विश्वामित्रजीको और देवकः कहा ‘भगवन् ! आज देवताओंने मेरे यज्ञको आयोजना सफल कर दी ॥ १३ ॥

अथ यज्ञफलं प्राप्ते भगवद्दर्शनान्धया ।

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यस्य मे मुनिपूज्यः ॥ १४ ॥

यज्ञोपसदनं ब्रह्मन् प्राप्तोऽसि मुनिभिः सह ।

‘वाञ्छा पुन्य धर्मोंके दर्शनमें मैं यज्ञका फल पा लिया । ब्रह्मन् ! आप मुनियोंके श्रेष्ठ हैं । अल्पने इतने महर्षियोंके साथ मैं यज्ञाण्डपरी पदार्थों किया इतने में धन्य हो गया । यह मेरे ऊपर आपका बहुत बड़ा अनुग्रह है ॥ १४ ॥

इदंशाहं तु ब्रह्मर्षे दोक्षामाहुर्मनीषिणः ॥ १५ ॥

ततो भार्गार्धिनो देवान् इष्टुमर्हसि कौशिक ।

ब्रह्मर्षे ! मुनीोंने ऋत्विजोंका कहना है कि ‘मेरी यज्ञदोक्षाक बाग्रह दिन ही शेष रह गये हैं’ । अतः कौशिकनन्दन ! बाग्रह दिनोंके बाद यहाँ भाग ग्रहण करनेके लिये आये हुए देवताओंका दर्शन कौशियोग’ ॥ १५ ॥

इत्युक्त्वा मुनिशार्दूलं प्रहृष्टवदनस्तदा ॥ १६ ॥

पुनस्तं परिप्रच्छ प्राञ्जलिः प्रयतो नृपः ।

मुनिवर विश्वामित्रसे ऐसा कहकर ठस समय प्रसन्नमुख हुए जिनेन्द्रिय राजा जनकने पुनः उनसे हाथ जोड़कर पूछा— ॥ १६ ॥

इमीं कुमारो यत्र ते देवतुल्यपराक्रमौ ॥ १७ ॥

गजतुल्यगती वीरौ शार्दूलवृषभापमौ ।

पद्मपत्रविशालाक्षौ खड्गनूणीधनुर्धरौ ।

अश्विनाशिव रूपेण समुपस्थितयौवनौ ॥ १८ ॥

यदुच्छयं वा गां प्राप्नो देवलोकदिवापमौ ।

कथं पदभ्यामिह प्राप्नो किमर्थं कस्य वा मुने ॥ १९ ॥

वरायुधधरौ वीरौ कस्य पुत्रौ महामुने ।

भूययन्ताविमं देशं चन्द्रसूर्याविधाम्बरम् ॥ २० ॥

परस्परस्य सदृशौ प्रमाणेद्भित्तोर्दृष्टैः ।

काकपक्षधरौ वीरौ श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ २१ ॥

‘महामुने ! आपका कल्याण हो । देवताके समान पराक्रमी और सुन्दर आयुध धारण करनेवाले ये दोनों वीर राजकुमार जो हाथोंके समान मन्दगतिसे चलते हैं, मित्र और मित्रके समान जान पड़ते हैं, प्रफुल्लित कमलदलके समान सुशोभित हैं, तलवार, तलवार और धनुष धारण किये हुए हैं, अपने मनाहर रूपसे अश्विनीकुमारोंको भी लज्जित कर रहे हैं, जिन्होंने अभी-अभी यौवनावस्थामें प्रवेश किया है तथा जो स्वच्छानुसार देवलोकसे उतरकर पृथ्वीपर आये हुए ये देवताअंकि समान जान पड़ते हैं, किमर्थे पुत्र हैं ? और यहाँ कैसे, किसलिये अथवा किम उद्देश्यमें पैदल ही पधारे हैं ? जैसे चन्द्रमा और सूर्य आकाशकी शोभा बढ़ाते हैं, उसी प्रकार ये अपनी उपस्थितिके इस देशको विभूषित कर रहे हैं । ये दोनों एक-दूसरेसे बहुत मिलते-जुलते हैं । इनके चारोंरकी ऊँचाई, सकल और चोटाई प्रायः एक-सी है । मैं इन दोनों काकपक्षधारी वीरोंका परिचय एवं वृत्तान्त अथार्थ-रूपसे सुनना चाहता हूँ’ ॥ १७—२१ ॥

तस्य तद् सचनं श्रुत्वा जनकस्य महात्मनः ।

न्यवेदयदमेयान्मा पुत्रौ दशरथस्य तौ ॥ २२ ॥

महात्मा जनककसे यह प्रश्न सुनकर अमित आत्मबलसे सम्पन्न विश्वामित्रजीने कहा—‘राजन् ! ये दोनों महाराज दशरथके पुत्र हैं’ ॥ २२ ॥

सिद्धाश्रमनिवासं च राक्षसानां वधं तथा ।

तत्रागघनमव्यग्रं विशालायाश्च दर्शनम् ॥ २३ ॥

अहल्यादर्शनं चैव गौतमेन समागमम् ।

महाधनुषि जिज्ञासां कर्तुमागमनं तथा ॥ २४ ॥

इसके बाद उन्होंने उन दोनोंके सिद्धाश्रममें निवास, राक्षसोंके वध, बिना किसी ध्वजहटके मिथिलातक आगमन, विशालपुरीके दर्शन, अहल्याके साक्षात्कार तथा महर्षि गौतमके साथ समागम आदिक्रम विन्यासपूर्वक, वर्णन किया ।

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे पञ्चाशः सर्गः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीमहात्मीकीयनिर्णित आर्यसमाख्यान आदिकाव्यके बालकाण्डमें पंचासवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशः सर्गः

शतानन्दके पूछनेपर विश्वामित्रका उन्हें श्रीरामके द्वारा अहल्याके उद्धारका समाचार बताना तथा शतानन्दद्वारा श्रीरामका अभिनन्दन करते हुए विश्वामित्रजीके पूर्वचरित्रका वर्णन

तस्य तद् वचने श्रुत्वा विश्वामित्रस्य धीमतः ।

ह्यारोमा महातेजाः शतानन्दो महामयाः ॥ १ ॥

परम बुद्धिमान् विश्वामित्रजीको यह बात सुनकर महातेजस्वी महातपस्वी शतानन्दजीका शर्ममें रोमाञ्च हो आया ॥ १ ॥

गौतमस्य सुतो ज्येष्ठस्तपसा ह्यतितप्रभः ।

गामरीर्दानावेव परं विस्मयमागतः ॥ २ ॥

वे गौतमके ज्येष्ठ पुत्र थे । तपस्यासे उनकी कानि प्रकाशित हो गयी थी । वे श्रीगामरुद्रजीके शान्तमाधन से बहुत विरिक्त हुए ॥ २ ॥

एतौ निषण्णौ सम्प्रेक्ष्य शतानन्दो नृपात्मजी ।

सुहृत्परीतौ मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रमथाब्रवीत् ॥ ३ ॥

उन दोनों राजकुमारोंका सुकपूँक ब्रत देख शतानन्दने मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रजीसे पूछा— ॥ ३ ॥

अपि ते मुनिशार्दूल मम माता यशस्विनी ।

दर्शिता राजपुत्राय तपोदीर्घमुपागता ॥ ४ ॥

‘मुनिप्रवर ! मेरी यशस्विनी माता अहल्या बहुत दिनोंसे तपस्या कर रही थीं । क्या आपने राजकुमार शत्रुघ्नको उनके दर्शन कराया ? ॥ ४ ॥

अपि रामे महातेजा मम माता यशस्विनी ।

कन्येस्माहरत् पूजो पूजाई सर्वदाहिनाम् ॥ ५ ॥

‘क्या मेरी महातेजास्विनी एवं यशस्विनी माता अहल्या वनमें होनेवाले फल-फल आदिसे समस्त देवधारिणोंके लिये पूजनाय शत्रुघ्नचन्द्रजीका पूजन (अन्न-सत्कार) किया था ? ॥ ५ ॥

अपि रामाय कथितं धम् वृत्तं तद् पुगतनम् ।

मम मातुर्महानेजो देवेन दुरनुष्ठितम् ॥ ६ ॥

‘महातेजस्वी भू ! क्या आपने श्रीरामसे वह प्राचीन वृत्तान्त कहा था, जो मेरी माताके प्रति देवराज इन्द्रद्वारा किये गये छल-कपट एवं दुष्टचरित्रद्वारा घटित हुआ था ? ॥ ६ ॥

फिर अन्तमें यह भी बताया कि ‘ये आपके यहाँ रखे हुए महान् धनुषके सम्बन्धमें कुछ जाननेको इच्छामें यहाँतक आये हैं ।

एतन् सर्वं महातेजा जनकाय महात्मने ।

निवेद्य विररामाथ विश्वामित्रो महामुनिः ॥ १५ ॥

महात्मा राजा जनकसे ये सब बातें निवेदन करके महातेजस्वी महामुनि विश्वामित्र चुप हो गये ॥ १५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे पञ्चाशः सर्गः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीमहात्मीकीयनिर्णित आर्यसमाख्यान आदिकाव्यके बालकाण्डमें पंचासवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५० ॥

अपि कौशिक भद्रं ते गुरुणा मम संगता ।

मम माता मुनिश्रेष्ठ रामसंदर्शनादितः ॥ ७ ॥

मुनिश्रेष्ठ कौशिक ! आपका कल्याण हो । क्या श्रीगमचन्द्रजीके दर्शन आदिक्रम प्रभावसे मेरी माता शोषमुक्त हो पिताजीसे जा मिली ? ॥ ७ ॥

अपि मे गुरुणा रामः पूजितः कुशिकात्मज ।

इहागतो महातेजाः पूजो प्राप्य महात्मनः ॥ ८ ॥

‘कुशिकनन्दन ! क्या मेरे पिताने श्रीरामका पूजन किया था ? क्या उन महात्माको पूजा महण करके ये महातेजस्वी श्रीराम यहाँ पधार हैं ? ॥ ८ ॥

अपि शान्तेन ममसा गुरुर्मे कुशिकात्मज ।

इहागतेन रामेण पूजितेनाभिवादितः ॥ ९ ॥

‘विश्वामित्रजी ! क्या यहाँ आकर मेरे माता-पिताद्वारा सम्मानित हुए श्रीरामने मेरे पूज्य पिताका शान्त चित्तसे अभिवादन किया था ? ॥ ९ ॥

तच्छ्रुत्वा वचने तस्य विश्वामित्रो महामुनिः ।

प्रत्युवाच शतानन्दं वाक्यज्ञो वाक्यकोविदम् ॥ १० ॥

शतानन्दका यह प्रश्न सुनकर सोलनकी कन्या जाननेवाले महामुनि विश्वामित्रने वाक्यान्त करनेमें कुशल शतानन्दको इस प्रकार उत्तर दिया— ॥ १० ॥

नानिक्तास्तं मुनिश्रेष्ठ धत्कर्तव्यं कृतं मया ।

संगता मुनिना पत्नी भार्गवणेश रेणुका ॥ ११ ॥

‘मुनिश्रेष्ठ ! मैंने कुछ उठा नहीं रखा है । मेरी जो कन्या था, उसे मैंने पूरा किया । महर्षि गौतमसे उनकी पत्नी अहल्या उसी प्रकार जा मिली हैं, जैसे भृगुवंशी ब्रह्मर्षिसे रेणुका मिली है ॥ ११ ॥

तच्छ्रुत्वा वचने तस्य विश्वामित्रस्य धीमतः ।

शतानन्दो महातेजा रामं वचनमब्रवीत् ॥ १२ ॥

बुद्धिमान् विश्वामित्रको यह बात सुनकर महातेजस्वी शतानन्दः श्रीगमचन्द्रजीसे यह बात कही— ॥ १२ ॥

स्वागतं ते नरश्रेष्ठ दिव्या प्राप्तोऽसि राघव ।

विश्वामित्रं पुरस्कृत्य महर्षिमपराजितम् ॥ १३ ॥

नरश्रेष्ठ ! आपका स्वागत है । रघुनन्दन ! मेरा अहोभाग्य जो आपने किमोमें पराजित न होकर महर्षि विश्वामित्रको भाग करके यहाँतक पधारनेका कष्ट उठाया ॥ १३ ॥

अचिन्त्यकर्मा तपसा ब्रह्मर्षिगणप्रथः ।

विश्वामित्रो महातेजा वन्द्येन परमां गतिम् ॥ १४ ॥

महर्षि विश्वामित्रके कर्म अचिन्त्य है । ये तपस्यामें सर्वोपरि प्राप्ति हुए हैं । इनको जानना है । ये जगत्के परम आश्रय हितो) है ॥ १४ ॥

नास्ति धन्यतरो राम त्वनोऽन्यो भुवि कश्चन ।

गोमा कुशिकपुत्रस्तं येन तप्तं महत्तपः ॥ १५ ॥

श्रीराम ! इस पृथ्वीपर आपसे बड़कर धन्यमिधन्य पुरुष दूसरा कोई नहीं है ; क्योंकि कुशिकनन्दन विश्वामित्र आपके श्वक है, जिन्होंने बड़ी भारी तपस्या का रे ॥

भूयतां चाभिधास्यामि कौशिकस्य महात्मनः ।

यथाबलं यथातत्त्वं तप्तं निगदतः भूधु ॥ १६ ॥

मैं महात्मा कौशिकके बल और स्वरूपका यथार्थ वर्णन करता हूँ । आप ध्यान देकर मुझमें यह सब सुनिये ॥ १६ ॥

राजाऽऽसीदेव यथात्मन दीर्घकालपरितप्तः ।

धर्मज्ञः कृतविद्यश्च प्रजानां च हिने रतः ॥ १७ ॥

य विश्वामित्र फलें एक धर्मात्मा राजा थे । इन्होंने जन्मोंके दमनपूर्वक दीर्घकालतक राज्य किया था । ये धर्मज्ञ और निदान् हानक साथ ही प्रजावर्गोंके हित साधनमें तपस्वरतने थे ॥ १७ ॥

प्रजापतिसूतस्त्वासीत् कशो नाम महापतिः ।

कुशस्य पुत्रो बलवान् कुशनामः सुधार्मिकः ॥ १८ ॥

प्रार्चनकालमें कुश नामसे प्रसिद्ध एक राजा हुआ है । प्रजापतिके पुत्र थे । कुशके बलवान् पुत्रका नाम कुशनाम हुआ । वह बहुत ही धर्मात्मा था ॥ १८ ॥

कुशनाभसुतस्त्वासीत् गाधिरित्यथ विश्रुतः ।

गाधः पुत्रो महातेजा विश्वामित्रो गृह्णामि ॥ १९ ॥

'कुशनाभ' पुत्र गाधि नामसे विख्यात थे । उनकी गाधिके महापतिगर्भी पुत्र मैं महामुनि विश्वामित्र हूँ ॥ १९ ॥

विश्वामित्रो महातेजाः पाल्क्यामास मेदिनीम् ।

बहुवर्षसाहस्राणि राजा राज्यमकारयन् ॥ २० ॥

'महातेजगी' राजा विश्वामित्रने कई हजार वर्षोंतक इस पृथ्वीका राज्य तथा राज्यका शासन किया ॥ २० ॥

कदाचित् तु महातेजा योजयित्वा बलुश्चिनीम् ।

अर्क्षहिणीपरिवृतः परिचक्राम मेदिनीम् ॥ २१ ॥

एक समयको बात है महातेजस्वी राजा विश्वामित्र सैन्य एकत्र करके एक अर्क्षहिणी सेनाके साथ पृथ्वीपर विचरने लगे ॥ २१ ॥

नगराणि च राष्ट्राणि सरितश्च महागिरीन् ।

आश्रयान् क्रमशो राजा विचरन्नाजगाम ह ॥ २२ ॥

वसिष्ठस्याश्रमपदं नानापुष्पलताहुमम् ।

नानाभूगणार्क्षीर्णं मिन्दुचारणसेवितम् ॥ २३ ॥

वे अनेकानेक नगरो, राष्ट्रो, नदियो, बड़े-बड़े पर्वतो और आश्रमों क्रमशः विचरते हुए महर्षि वसिष्ठके आश्रमपर आ पहुँचे । जो नाना प्रकारके पुष्पो, लताओ और वृक्षों से भरा था । सना प्रकारके भृग (वन्यपशु) वहाँ सब ओर फैले हुए थे तथा सिद्ध और चाण्डाल आश्रममें निवास करने थे ।

देवदानवगन्धर्वैः किन्नरैश्च शोभितम् ।

प्रशान्तहरिणाकीर्णं द्विजसङ्घनिषेवितम् ॥ २४ ॥

ब्रह्मर्षिगणसंकीर्णं देवर्षिगणसेवितम् ।

देवता, दानव, गन्धर्व और किन्नर उसकी शोभा बढ़ाते थे । शान्त भृग वहाँ भरे रहते थे । बहुत-से ब्राह्मणों, ब्रह्मर्षियों और देवर्षियोंके समुदाय उसका सेवन करते थे ॥

तपश्चरणसमिद्धैरग्निकर्तृर्महात्मभिः ॥ २५ ॥

सतत संकुलं श्रीमद्ब्रह्मकर्तृर्महात्मभिः ।

अर्चार्क्षार्क्षीर्णं शीर्णपर्णाशनस्तथा ॥ २६ ॥

फलमृताशनैर्दानैर्जिनदोषजितेन्द्रियैः ।

ऋषिभिर्वाल्मीकैश्च जपहोमपरायणैः ॥ २७ ॥

अर्चार्क्षार्क्षीर्णं समन्तादुपशोभितम् ।

वसिष्ठस्याश्रमपदं ब्रह्मलोकमिवापरम् ।

ददर्श जयतां श्रेष्ठो विश्वामित्रो महाबलः ॥ २८ ॥

तपस्यासे सिद्ध हुए अग्निके समान तेजस्वी महात्मा तथा ब्रह्मोंके समान महावर्त्म महात्मा सदा उस आश्रममें भर रहते थे । उनमेंसे कोई जल पीकर रहता था तो कोई रुखा पीकर । किन्तु हा महात्मा फल-मूल खाकर अथवा सुखे पत्ते खाकर रहते थे । राग आदि दोषोंको जीतकर मन और इंद्रिय पर कायू रखनेवाले बहुत-से ऋषि जप-होममें लगे रहते थे । बालखिल्य मुनिगण तथा अन्यान्य वैद्यानस महात्मा सब आरस उस आश्रमको शोभा बढ़ाते थे । इन सब विज्ञापकओंके कारण महर्षि वसिष्ठका वह आश्रम दूसरे ब्रह्मलोकके समान जान पड़ता था । विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ महाबल विश्वामित्रने उसका दर्शन किया ॥ २५—२८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्ये बालकाण्डे एकापञ्चाश सर्गः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीबालमोक्षनामने श्रीरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें इत्यावनर्त्ता सर्ग पूरा हुआ ॥ ५१ ॥



द्विपञ्चाशः सर्गः

महर्षि वसिष्ठद्वारा विश्वामित्रका सत्कार और कामधेनुको अभीष्ट
वस्तुओंकी सृष्टि करनेका आदेश

तं दृष्ट्वा परमप्रीतो विश्वामित्रो महाबलः ।

प्रणतो विनयाद् वीरो वसिष्ठं जपतां वरम् ॥ १ ॥

जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ वसिष्ठका दर्शन करके महाबली
वीर विश्वामित्र बड़े प्रसन्न हुए और विनयपूर्णक उन्नत उन्नत
चरणोंमें प्रणाम किया ॥ १ ॥

स्वागतं तव वेल्युक्तो वसिष्ठेन महात्मना ।

आसन चास्य भगवान् वसिष्ठो व्यादिदेश ॥ २ ॥

मह मादगा वसिष्ठेन कस—'राजन् ! तुम्हारा स्वागत
है।' ऐसा कहकर भगवान् वसिष्ठने उन्हें बैठाकर स्थान
आसन दिया ॥ २ ॥

तपविष्टाय च तदा विश्वामित्राय धीमतः ।

सथाभ्यायं मुनिवरः फलमूलमुपाहरत् ॥ ३ ॥

जब तपस्विमान् विश्वामित्र आसनपर विराजमान
हुए, तब मुनिवर वसिष्ठने उन्हें विधिपूर्वक फल-मूलका
तपाहार आर्पित किया ॥ ३ ॥

धर्मिगृहं तु तां पूजा वसिष्ठान् राजसत्तमः ।

तयोऽग्निहोत्रशिष्येषु कुशलं पर्यपृच्छत् ॥ ४ ॥

विश्वामित्रो महातेजा जनस्पर्धागणे तदा ।

सर्वत्र कुशलं प्राह वसिष्ठो राजसत्तमम् ॥ ५ ॥

वसिष्ठजीसे यह आतिथ्य-सत्कार ग्रहण करके
राजद्वारागणों महातेजसों विश्वामित्रने उनका तब अभिवादन
दिया। और कृता-शुद्ध आदिवा कुशल-समाचार
पूछा। फिर वसिष्ठजीने उन नृपश्रेष्ठसे सबकुशल
होनेकी बात पताची ॥ ४-५ ॥

सुरक्षेपविष्टं राजानं विश्वामित्रं महातपाः ।

पप्रच्छ जगतां श्रेष्ठो वसिष्ठो ब्रह्मणाः सुतः ॥ ६ ॥

फिर जब वरुणेश्वरोंमें श्रेष्ठ ब्रह्मकुमार महानपस्वों
वसिष्ठने वहाँ मुसपूर्वक बैठे हुए राजा विश्वामित्रसे इस
प्रकार पूछा— ॥ ६ ॥

कश्चित्ते कुशलं राजन् कश्चिद् धर्मेण रक्षयन् ।

प्रजाः पालयसे राजन् राजवृत्तेन धार्मिक ॥ ७ ॥

"राजन् ! तुम सकुशल तो हो न ? धर्मोत्सा नरेश ! क्या
तुम धर्मपूर्वक प्रजाका प्रसन्न रखने हुए राजवृत्ति रीति नीतिमें
प्रजा-वर्गीक पालन करते हो ? ॥ ७ ॥

कश्चित्ते सम्भृता सुत्या, कश्चित् तिष्ठन्ति शासने ।

कश्चित्ते विजिताः सर्वे रिपवो विपुसूदन ॥ ८ ॥

"शत्रुसूदन ! क्या तुमने अपने शत्रुओंका अच्छी तरह
भरण पोषण किया है ? क्या वे तुम्हारी आज्ञाके अधीन रहते
हैं ? क्या तुमने समस्त शत्रुओंका विजय पा ली है ? ॥ ८ ॥

कश्चिद् बलेषु कोशेषु मित्रेषु च परंतप ।

कुशलं ते नरव्याघ्र पुत्रपौत्रे तथानघ ॥ ९ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले पुरुषसिंह मित्राण नरेश !
क्या तुम्हारा भेजा कोश, मित्रवर्ग तथा पुत्र पौत्र आदि सब
सकुशल है ? ॥ ९ ॥

सर्वत्र कुशलं राजा वसिष्ठं प्रत्युदाहरत् ।

विश्वामित्रो महातेजा वसिष्ठं विनयान्वितम् ॥ १० ॥

"तब महानजम्बी राजा विश्वामित्रने विनयशील
महर्षि वसिष्ठको उत्तर दिया—'हाँ भगवन् ! मेरे वहाँ
सर्वत्र कुशल है ?' ॥ १० ॥

कृत्वा तां सुचिरं कालं धर्मिष्ठो ताः कथास्तदा ।

मुदा परमया युक्तो प्रीयतां तां परस्परम् ॥ ११ ॥

"तबशान् वे दोनों धर्मोत्सा पुरुष बड़ी प्रसन्नताके साथ
काल दानक परस्पर वार्तालाप करते रहे। उस समय एकका
हृदयके साथ बड़ा प्रेम हो गया ॥ ११ ॥

ततो वसिष्ठो भगवान् कथान्ते रघुनन्दन ।

विश्वामित्रमिदं वाक्यमुवाच प्रहसन्निव ॥ १२ ॥

"रघुनन्दन ! बातचीत करनेके पश्चात् भगवान् वसिष्ठने
विश्वामित्रसे हँसते हुए-स इस प्रकार कहा— ॥ १२ ॥

आतिथ्ये कर्तुमिच्छामि बलस्यास्य महाबल ।

तव चेवाग्रमेघस्य यथाहं सप्रतीच्छ - मे ॥ १३ ॥

"महाबली नरेश ! तुम्हारा प्रभाव असीम है। मैं तुम्हारा
और तुम्हारी इन भक्तियों यथायोग्य आतिथ्य सत्कार करना
चाहता हूँ। तुम मेरे इस अनुरोधको स्वीकार करो ॥ १३ ॥

सत्क्रियां हि भवानेतां प्रतीच्छतु मया कृताम् ।

राजस्त्वभतिथिश्रेष्ठः पूजनीयः प्रयत्नतः ॥ १४ ॥

"राजन् ! तुम अतिथियोंमें श्रेष्ठ हो, इसलिये यज्ञपूर्वक
तुम्हारा सत्कार करना मेरा कर्तव्य है। अतः मेरे द्वारा किये
गये इस सत्कारको तुम ग्रहण करो ॥ १४ ॥

एवमुक्तो वसिष्ठेन विश्वामित्रो महामतिः ।

कृतमित्यब्रवीद् राजा पूजावाक्येन मे त्वया ॥ १५ ॥

"वसिष्ठके ऐसा कहनेपर महाबुद्धिमान् राजा विश्वामित्रने
कहा—'मुने ! आपके सत्कारपूर्ण वचनोंसे ही मेरा पूर्ण
सत्कार हो गया ॥ १५ ॥

फलमूलेन भगवन् विद्यते यत् तवाश्रमे ।

पादोनक्षमनोयेन भगवद्दर्शनेन च ॥ १६ ॥

"भगवन् ! आपके आश्रमपर जो विद्यमान है, उन
फल-मूल, पाद और आचमनीय आदि वस्तुओंसे मेरा
शत्रुभक्ति आदर-सत्कार हुआ है। सबसे बढ़कर जो

आपका दर्शन हुआ, इन्हांसे मेरी पूजा हो गयी ॥ १६ ॥

सर्वथा च महामाज्ञं पूजार्हेण सुपूजितः ।

नमस्तेऽस्तु भविष्यामि धर्मप्रेणेक्षस्य चक्षुषा ॥ १७ ॥

महाज्ञानी महर्षि! आप सर्वथा मेरे पूजनीय हैं
न भी आपने मेरा धर्मीभौत पूजन किया। आपकी नमस्कार
ह। अब मैं यहसे जाऊंगा। आप मेरी पूर्ण दृष्टिसे मेरी
आदृष्टिसे ॥ १७ ॥

एवं ब्रुवन् राजानं वसिष्ठं पुनरेव हि ।

नमन्त्रयत् धर्मतया पुनः पुनरुदारधीः ॥ १८ ॥

ऐसा कहते हुए राजा विश्वामित्रसे उदारचरित्र धर्मतया
धर्मप्रेम निमन्त्रण स्वीकार करनेके लिये बारम्बार आग्रह
किया ॥ १८ ॥

वाढमित्येव गाधेपो वसिष्ठं प्रत्युवाच ह ।

यथाप्रियं भगवतस्तथास्तु मुनिपुङ्गव ॥ १९ ॥

तब गाधिनन्दन विश्वामित्रने उन्हें उत्तर देते हुए
कहा — 'बहुत अच्छा। मुझे आपका आज्ञा स्वीकार है।
मानप्रवर। आप मेरे पूज्य हैं। आपकी जैसी रुचि
ह — आपका जो प्रिय लगे, वही हो' ॥ १९ ॥

एवमुक्तस्तथा तेन वसिष्ठो जयनां वरः ।

आजुहाव ततः प्रीतः कलमार्थी धृतकल्मषाम् ॥ २० ॥

'राजाके ऐसा कहनेपर जब करनकाण्डमें श्रेष्ठ मुनिवर
जैसा सब प्रसन्न हुए, उन्होंने अपनी उस चित्कल्पने

इत्यर्थे श्रीमद्रामायण बालकाण्डे त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीबालमार्कण्डेयनिर्मित आर्यभट्टायण आदिकाव्यक बालकाण्डमें वाचनार्थ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५२ ॥

त्रिपञ्चाशः सर्गः

कामधेनुकी सहायतासे उत्तम अन्न-पानद्वारा सेनासहित तृप्त हुए विश्वामित्रका वसिष्ठसे
उनकी कामधेनुको माँगना और उनका देनेसे अस्वीकार करना

एवमुक्ता वसिष्ठेन शकला शत्रुमुदन ।

क्षितधे कामधुक् कामान् यस्य यम्यधितं यथा ॥ १ ॥

'शत्रुमुदन। महर्षि वसिष्ठके ऐसा कहनेपर क्षितकला
गया उस कामधेनु जिसकी जैसी इच्छा थी, उसके लिये
वही भी सामग्री जुटा दी ॥ १ ॥

इक्षुन् मधुस्तथा लाजान् मेरुशोऽथ वरासखान् ।

गानानि च महार्हाणि धक्ष्यांश्चोद्यावचानपि ॥ २ ॥

'इक्षु, मधु, लाजा, मेरु, श्रेष्ठ आम्र, पानक रस आदि
नाना प्रकारके शत्रुमुत्पन्न धक्ष्य-पदार्थ प्रस्तुत कर दिये ॥ २ ॥

अथगाव्यस्योदनस्यात्र राशयः पर्वतोपमाः ।

मृगान्यस्त्रानि स्रूपांश्च दधिकुरुष्यामन्तर्ध्वं च ॥ ३ ॥

'गरम-गरम भातके पर्वतके सदृश कर लग गये। मिष्टान्न
(मीठ) और दाल भी तैयार हो गयी। दूध, दही और घीकी
भी नमूने बरत चली ॥ ३ ॥

होम-धेनुके बुलिया, जिसके पाप (अधवा मैल) धुल गये
थे (वह कामधेनु थी) ॥ २० ॥

एहोहि शबले क्षिप्रं शृणु चापि खचो मय ।

सबलस्यास्य राजर्षेः कर्तुं व्यवसितोऽस्यहम् ।

भोजनेन महार्हेण सत्कारं संविद्यत्स्य मे ॥ २१ ॥

'(उसे बुलकर शबलेने कहा —) 'शबले! शीघ्र
आओ, आओ और मेरी यह बात सुनो — मैंने सेनासहित इन
राजर्षिक महासज्जनोंके योग्य उत्तम भोजन आदिके द्वारा
आतिथ्य-सत्कार करनेका निश्चय किया है। तुम मेरे इस
धनोपकारके सफल करो ॥ २१ ॥

यस्य यस्य यथाकामं यद्वरसेषुभिपूजितम् ।

तत् सर्वं कामधुग् दिव्ये अभिवर्ष कृते मम ॥ २२ ॥

'यद्वरसे भोजनोपकारोंके जिसको जो-जो पसंद हो, उसके
लिये वह सब प्रस्तुत कर दो। दिव्य कामधेनी! आज
मेरे कहनेसे इन अतिथियोंके लिये अभोज्य वस्तुओंकी
वर्षा करो ॥ २२ ॥

रसेनाग्नेन पानेन लेह्यचोष्येण संयुतम् ।

अन्नानां निचयं सर्वं सुजस्य शबले त्वर ॥ २३ ॥

'शबले! सरस पदार्थ, अन्न, पान लेह्य (चटनी
आदि) और चोष्य (चूसनेकी वस्तु) से युक्त भाति भातिके
अन्नोंका ढेर लगा दो। सभी आवश्यक वस्तुओंकी सृष्टि कर
दो। शीघ्रता करो — विलम्ब न होने पावे' ॥ २३ ॥

नानास्वादुरसानां च स्वाण्डवानां तथैव च ।

भोजनानि सुपूर्णानि गौडानि च सहस्रशः ॥ ४ ॥

'भात-भातिके सुस्वादु रस, स्वाण्डव तथा नाना प्रकारके
भोजन-तम भरी हुई चटनीकी सहस्रों थालियाँ सज गयीं ॥ ४ ॥

सर्वमासीत् सुसंतुष्टं हृष्टपुष्टजनायुतम् ।

विश्वामित्रबले राम वसिष्ठेन सुतर्पितम् ॥ ५ ॥

श्रीराम! महर्षि वसिष्ठने विश्वामित्रजीकी सारी सेनाके
लोगोंका धर्मीभाति तृप्त किया। उस सेनामें बहुत-से
हृष्ट-पुष्ट सैनिक थे। उन सबको वह दिव्य भोजन पाकर
बड़ा संतोष हुआ ॥ ५ ॥

विश्वामित्रो हि राजर्षिर्हृष्टपुष्टस्तदाभवत् ।

सान्तःपुरवसे राजा सज्जगणपुरोहितः ॥ ६ ॥

'राजर्षि विश्वामित्र भी इस समय अन्तःपुरकी रानियो,
ब्राह्मणों और पुरोहितोंके साथ बहुत ही हृष्ट-पुष्ट हो गये ॥ ६ ॥

सामात्यो मन्त्रिसहितः सभृत्यः पूजितस्तदा ।

युक्तः परमहर्षेण वसिष्ठमिदमब्रवीत् ॥ ७ ॥

‘अमात्य, मन्त्री और भृत्योंसहित पूजित हो वे बहुत प्रसन्न हुए और वसिष्ठजीसे इस प्रकार बोले— ॥ ७ ॥

पूजितोऽहं त्वया ब्रह्मन् पूजार्हेण सुसत्कृतः ।

श्रूयतामभिधास्यामि वाक्यं वाक्यविशारद ॥ ८ ॥

‘ब्रह्मन् । आप स्वर्ग मेरे पूजनीय हैं तो भी आपन मेरा पूजन किया, भलीभाँति स्वागत-सत्कार किया । बातचीत करनेमें कुशल महर्षे । अब मैं एक बात कहती हूँ, तने सुनिये ॥ ८ ॥

गया शतसहस्रेण दीयतां शबला भय ।

रत्नं हि भगवन्नेतत् राजदारी च पार्थिवः ॥ ९ ॥

तस्मान्नो शबला देति ममेषा धर्मतो द्विज ।

‘भगवन् । आप मुझसे एक लाख गौएँ लेकर यह नित्यकवरी गाय मुझे दे दीजिये, क्योंकि यह गौ रत्नरूप है और यह रत्न रत्नका अधिकारी यही होता है । ब्रह्मन् ! मेरे इस कथनपर स्थान देकर मुझे यह शबला गौ दे दीजिये, क्योंकि यह धर्मतः मेरी ही वस्तु है ॥ ९ ॥

एवमुक्तस्तु भगवान् वसिष्ठो मुनिपुङ्गव ॥ १० ॥

विश्वामित्रेण धर्मात्मा श्रुत्वात्तं घृणीपतिम् ।

‘विश्वामित्रक ऐसा कहनेपर धर्मात्मा मुनिवर भगवन् नरसिंह राजाको उत्तर देते हुए बोले— ॥ १० ॥

नाहं ह्यसहस्रेण नापि कोटिभर्तृर्गवाम् ॥ ११ ॥

राजन् दास्यामि शबलां राक्षसीं रजतस्य वा ।

न पश्यामिगमर्हस्यं मत्सकाशदर्दिनम् ॥ १२ ॥

‘शत्रुओंका दामन करनेवाले नरेश्वर । मैं एक रत्न या गौ की कतौट अथवा चोरीके डेर लेकर भी बदलेमें इस शबला गौको नहीं दूँगा । यह मेरे पाससे अलग होने योग्य नहीं है ॥ १२ ॥

शाश्वतीं शबलां यज्ञीं कीर्तिरात्मवतो यथा ।

अस्या हव्यं च कव्यं च प्राणायामा तथैव च ॥ १३ ॥

‘जैसे मनकी पुरखकी अक्षय कीर्ति कभी उससे अलग नहीं रह सकती, उसी प्रकार यह सदा भर साथ भव्य-कव्य-प्राणायाम और जीवन निर्वाह इगोपर निर्भर है ॥ १३ ॥

आद्यन्तमग्निहोत्रं च कलिहोमस्तथैव च ।

स्नाताकारवधत्कारी विद्याश्च विविधास्तथा ॥ १४ ॥

‘मेरे अग्निहोत्र, कलि, होम, स्नाता, वधत्कार और भीती-भीतकी विद्याएँ इस कामधेनुके ही अधीन हैं ॥ १४ ॥

आयत्तमत्र राजर्षे सर्वमतत्र संशयः ।

सर्वस्वमेतत् सत्येन गम्य तुष्टिकरी तथा ॥ १५ ॥

कारणैर्बहुभी राजन् न दास्ये शबलां तव ।

‘राजर्षे । मेरा यह सब कुछ इस गौके ही अधीन है,

इसमें संशय नहीं है, मैं सच कहता हूँ—यह गौ ही मेरा सर्वस्व है और यही मुझे सब प्रकारसे मनुष्ट करनेवाली है । राजन् ! बहुत-से ऐसे कारण हैं, जिनसे बाध्य होकर मैं यह शबला गौ आपको नहीं दे सकता ॥ १५ ॥

वसिष्ठेनैवमुक्तस्तु विश्वामित्रोऽब्रवीत् तदा ॥ १६ ॥

संरक्ष्यतरमत्यर्थं वाक्यं वाक्यविशारदः ।

‘वसिष्ठजीके ऐसा कहनेपर विश्वामित्र अत्यन्त क्रोधपूर्वक इस प्रकार बोले— ॥ १६ ॥

हैरण्यकक्षप्रवेद्यान् सुवर्णाङ्गशभूषितान् ॥ १७ ॥

ददामि कुञ्जराणां ते सहस्राणि चतुर्दश ।

‘मुने । मैं आपको चौदह हजार ऐसे हाथी दे रहा हूँ,

जिनके कमनेवाले रस्स, गलक आभूषण और अङ्गुली भी सोनक यन् होंगे और उन सबसे वे हाथी विभूषित होंगे ॥

हैरण्मयानां रथानां च श्वेताश्वानां चतुर्युजाम् ॥ १८ ॥

ददामि ते शतान्यष्टौ किंकिणीकविभूषितान् ।

हयानां देशजातानां कुलजानां महोजसाम् ।

सहस्रमेकं दश च ददामि तव सुव्रत ॥ १९ ॥

नानावर्णविभक्तानां वयःस्थानां तथैव च ।

ददाम्येकां गवां कोटिं शबला दीयतां भय ॥ २० ॥

उपम व्रतका पालन करनेवाले सुगोष्ठ । इनके सिवा मैं आठ भी सुवर्णमय रथ प्रदान करूँगा, जिनमें शोभाके लिये सोनक धेनु लगे होंगे और हर एक रथमें चार चार सफेद गलक बाँट जुत हुए होंगे तथा अच्छे जाति और उत्तम देशमें उत्पन्न महानेज्मी ग्यारह हजार घोड़े भी आपकी सेवामें अर्पित करूँगा । इतना ही नहीं, नाना प्रकारके रङ्गवाली नयी अवस्थाकी एक करोड़ गौएँ भी दूँगा, परन्तु यह शबला गौ मुझे दे दीजिये ॥ १८—२० ॥

धावदिच्छामि रत्नानि हिरण्यं वा द्विजोत्तम ।

तावद् ददामि ते सर्वं दीयतां शबला भय ॥ २१ ॥

‘द्विजश्रेष्ठ । इनके अतिरिक्त भी आप जितने रत्न या सुवर्ण लेना चाहें, वह सब आपको देनेके लिये मैं तैयार हूँ, किंतु यह चितकवरी गाय मुझे दे दीजिये ॥ २१ ॥

एवमुक्तस्तु भगवान् विश्वामित्रेण धीमता ।

न दास्यामीति शबलां प्राह राजन् कथंचन ॥ २२ ॥

‘बुद्धिमान् विश्वामित्रक ऐसा कहनेपर भगवान् वसिष्ठ बोले ‘राजन् ! मैं यह चितकवरी गाय तुम्हें किसी तरह भी नहीं दूँगा ॥ २२ ॥

एतदेव हि मे रत्नपेतदेव हि मे धनम् ।

एतदेव हि सर्वस्वमेतदेव हि औचितम् ॥ २३ ॥

‘यही मेरा रत्न है, यही मेरा धन है, यही मेरा सर्वस्व है और यही मेरा औचित्य है ॥ २३ ॥

दर्शश्च पूर्णमासश्च यज्ञाश्चैवाप्तदक्षिणाः ।

एतदेव हि मे राजन् विविधाश्च क्रियास्तथा ॥ २४ ॥

मैंने दर्श, पाण्ड्याय, अचर दक्षिणावाले यज्ञ
रूप भक्ति-धार्तिके पुण्यकर्म—यह गौ ही है। इसीपर हा
नच कुछ निर्भर है ॥ २४ ॥

अनोमलाः क्रियाः सर्वं भय राजन् न संशयः ।

इत्यर्थं श्रापत्रयापणं वात्स्याकीये आदिकाण्ये बालकाण्डे त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्राव्यास्वीकिनिर्जित आदिकाण्ये आदिकाण्ये बालकाण्डे त्रिपञ्चाशः सर्ग पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

चतुःपञ्चाशः सर्गः

विश्वामित्रका वसिष्ठजीकी गौको बलपूर्वक ले जाना, गौका दु खी होकर वसिष्ठजीसे इसका
कारण पूछना और उनकी आज्ञासे शक, धवन, पल्लव आदि वीरोंकी सृष्टि करके उनके
द्वारा विश्वामित्रजीकी सेनाका संहार करना

कामधेनुं वसिष्ठोऽपि यदा न लज्जते मुनिः ।

महाम्यं शकलां राम विश्वामित्रोऽन्त्रकर्षत ॥ १ ॥

श्रीराम 'जब वसिष्ठ मुनि किन्ना कह भी इस कामधेनु
को लेनेके लिये तैयार न हुए, तब राजा विश्वामित्र उस
बलपूर्वक गौकी धेनुको बलपूर्वक बर्षाट ले चले ॥ १ ॥

नायपाजा तु शकला राम राजा महात्मना ।

दुःखिता चिन्तयामास रुदन्ती शोककशिंता ॥ २ ॥

रघुनन्दन ! महामनस्वी राजा विश्वामित्रके द्वारा इस प्रकार
— गौको जाना दुःख तो शकलाकुल ही मन हो मन से बड़े
और अत्यन्त दुःखित हो विचार करने लगी— ॥ २ ॥

परिस्वक्ता वसिष्ठेन किमहं सुमहात्मना ।

एतद् राजधूर्तदीना ह्रियेय भृशदुःखिता ॥ ३ ॥

'आहो ! क्या महात्म्य वसिष्ठने मुझे त्याग दिया है, कं
रा राजाके मित्रता भङ्ग होन और अत्यन्त दुःखिया गौको इस
प्रकार बलपूर्वक लिये जा रहे हैं ? ॥ ३ ॥

किं तद्यापकृते तस्य महर्षिर्धावितात्मनः ।

यन्धामनामसं द्रष्टुं भक्तां त्यजति धार्मिकः ॥ ४ ॥

'परिस्वक्ता' अन्तःकरणवाले उन महर्षिका मैंने क्या अपराध
किया है कि वे धर्मात्मा मुनि मुझ निष्पराध और अपना भक्त
मानकर भी त्याग रहे हैं ? ॥ ४ ॥

इति संघिन्तयित्वा तु निःशस्य च पुनः पुनः ।

जगाम वेगेन तदा वसिष्ठं परमीजमम् ॥ ५ ॥

निर्भूय तांस्तदीं धृत्वाशतशः शत्रुसूदन ।

शत्रुसूदन ! यह सोचकर वह गौ कायमार लेके राम
— गौ और राजाक उन सैकड़ी सैनिकोंको इटककर उन
समस्त महात्मन् वसिष्ठ मुनिके पास बड़े वेगसे जा पहुँचा
जगामानिलक्षणेन पादमुले महात्मनः ॥ ५ ॥

शकला सा रुदन्ती च कोशन्ती चंदमव्रवीत् ।

वसिष्ठस्याग्रतः स्थित्वा रुदन्ती मर्धानः स्वना ॥ ६ ॥

'बहु' अत्यन्त गौ कायुक समान वेगसे उन महात्मके
पादोंके समीप गयी और उनके पादोंके तबों हो मेरे

बहुना किं प्रलापेन न दास्ये कामदाहिनीम् ॥ २५ ॥

नन्धर ! मेरे सारे शुभ कर्मोंका मूल यही है, इसमें
संशय नहीं है। बहुत व्यर्थ बात करनेसे क्या लाभ। मैं इस
कामधेनुको कदापि नहीं दूँगा ॥ २५ ॥

इत्यर्थं श्रापत्रयापणं वात्स्याकीये आदिकाण्ये बालकाण्डे त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्राव्यास्वीकिनिर्जित आदिकाण्ये आदिकाण्ये बालकाण्डे त्रिपञ्चाशः सर्ग पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

चतुःपञ्चाशः सर्गः

विश्वामित्रका वसिष्ठजीकी गौको बलपूर्वक ले जाना, गौका दु खी होकर वसिष्ठजीसे इसका
कारण पूछना और उनकी आज्ञासे शक, धवन, पल्लव आदि वीरोंकी सृष्टि करके उनके
द्वारा विश्वामित्रजीकी सेनाका संहार करना

समस्त गण्धर्व स्वयं रोतां-चोत्कार करती हुई उनसे इस
प्रकार बोली— ॥ २५-२६ ॥

भगवन् किं परित्यक्ता स्वयाहं ब्रह्मणः सुत ।

यस्माद् राजभट्टा मां हि नयन्ते स्वत्सकाशतः ॥ ६ ॥

'भगवन् ! ब्रह्मकुमार ! क्या आपने मुझे त्याग
दिया, जो ये राजाके सैनिक मुझे आपके पाससे दूर लिये
जा रहे हैं ? ॥ ६ ॥

एवमुक्तास्तु ब्रह्मर्षिरिदं वचनमब्रवीत् ।

शोकसेनप्रहृष्टा स्वसारमिव दुःखिताम् ॥ ७ ॥

उनके ऐसा कहनेपर ब्रह्मर्षि वसिष्ठ शाकसे संतप्त
हृदयवाली दुःखिया बहिनके समान उस गौसे इस प्रकार
बोली— ॥ ७ ॥

न त्वां त्यजामि शकले, नापि मेऽपकृते त्वया ।

एष त्वां नयने राजा खलान्धनो महाबलः ॥ ८ ॥

'शकले ! मैं तुम्हारा त्याग नहीं करूँगा। तुमने मेरा कोई
अपराध नहीं किया है। ये महाबलवान् राजा अपने बलसे
मतवाले होकर तुमको मुझसे छीनकर ले जा रहे हैं ॥ ८ ॥

नहि तुल्ये बलं यद्वा राजा त्वह्य विशेषतः ।

ब्रह्मी राजा क्षत्रियश्च पृथिव्याः परिरिव च ॥ ९ ॥

'मेरा बल इसके समान नहीं है। विशेषतः आजकल ये
राजाक पदपर प्रतिष्ठित है। राजा, क्षत्रिय तथा इस पृथ्वीक
पाशक कुंजके कारण ये खलवान् हैं ॥ ९ ॥

इयमक्षोहिणी पूर्णा भजवाजिरथारुक्ता ।

हस्तिध्वजसमाकीर्णा मेनासी बलवन्तरः ॥ १० ॥

'इसके पास हाथी, घोड़े और रथोंसे भरी हुई यह
अक्षोहिणी मेना है जिसमें हाथियोंके होठोंपर लप रूप
ध्वज भव और फहरा रहे हैं। इस सेनाके कारण भी ये
मुझसे प्रबल हैं ॥ १० ॥

एवमुक्ता वसिष्ठेन प्रत्युवाच विनीतवत् ।

वचने वचनज्ञा सा ब्रह्मर्षिमनुलप्रभम् ॥ ११ ॥

वसिष्ठजीके ऐसा कहनेपर वातचीतके धर्मको समझने-

वाली उस कामधेनुने उन अनुधम तेजस्वी ब्रह्मर्षिसे यह
विनययुक्त बात कही— ॥ १३ ॥

न बलं क्षत्रियस्याहुर्ब्राह्मणा बलवन्तराः ।

ब्रह्मन् ब्रह्मबलं दिव्यं क्षात्राच्च बलवन्तरम् ॥ १४ ॥

“ब्रह्मन् ! क्षत्रियका बल कोई बल नहीं है, ब्राह्मण ही
क्षत्रिय आदिसे अधिक बलवान् होने है। ब्राह्मणका बल
दिव्य है। वह क्षत्रिय बलसे अधिक प्रबल होता है ॥ १४ ॥

अप्रमेयं बलं तुभ्यं न त्वया बलवन्तरः ।

विश्वामित्रो महावीर्यसंज्ञस्तव दुरासदम् ॥ १५ ॥

“आपका बल अप्रमेय है। महापराक्रमी विश्वामित्र
आपसे अधिक बलवान् नहीं है। आपका तेज दुर्धर्ष है।
निरुद्धस्त्वया महातेजस्वं ब्रह्मबलसम्भूताम् ।

तस्य दुर्धं बलं यत् नाशयामि दुरात्मनः ॥ १६ ॥

“महातेजस्वी महर्षे ! मैं आपका ब्रह्मबलसे धारपण
हुई हूँ। अतः आप केवल मुझे क्षात्रा द दीजिये। मैं
इस दुरात्मा राजाके बल, प्रबल और अभिमानका अभी
चूर्ण किये देती हूँ ॥ १६ ॥

इत्युक्तस्तु तथा राम वसिष्ठस्तु महावशाः ।

सुप्तस्वेति तदोवाच बलं परबलार्दनम् ॥ १७ ॥

‘श्रीराम ! कामधेनुके ऐसा कहनेपर महावशस्वी
वसिष्ठने कहा ‘इत शत्रु सेनाको नष्ट करनेवाले सैनिकोंकी
सृष्टि करो’ ॥ १७ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा सुरभिः सासुजान् तथा ।

तस्या हुंभारवोत्सृष्टाः पङ्कजाः शतशो नृप ॥ १८ ॥

‘राजकुमार ! उनका वह आदेश सुनकर उस गौने उस
समय जैसा ही किया उसके हुंकार करते हो सैकड़ों पङ्कज
जातिके वीर पैदा हो गये ॥ १८ ॥

इत्यार्षे श्रीमहात्मनो वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे चतुःपञ्चाशः सर्गः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें चौवनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५४ ॥

पञ्चपञ्चाशः सर्गः

अपने सौ पुत्रों और सारी सेनाके नष्ट हो जानेपर विश्वामित्रका तपस्या करके महादेवजीसे

दिव्यास्त्र पाना तथा उनका वसिष्ठके आश्रमपर प्रयोग करना एवं वसिष्ठजीका

ब्रह्मदण्ड लेकर उनके सामने खड़ा होना

ततस्तानाकुलान् तृष्टा विश्वामित्रास्त्रभोहितान् ।

वरिष्ठश्रोत्रधामास कामधुक् सृज योमतः ॥ १ ॥

‘विश्वामित्रः अस्त्रोंसे घायल होकर उड़े व्याकुल हुआ
देख वरिष्ठजीने फिर व्याज्रा हो—‘कामधेनु ! अब
योगबलसे दूसरे सैनिकोंकी सृष्टि करो’ ॥ १ ॥

तस्या हुंकारतो जाताः काम्बोजा रक्सिन्निभाः ।

रुघुसंश्राध सप्यूता बर्बराः शस्त्रपाणयः ॥ २ ॥

‘तब उस गौने फिर हुंकार किया, उसके हुंकारमें सूर्यके समान

नाशयन्ति बलं सर्वं विश्वामित्रस्य पश्यतः ।

स राजा परमकुट्टः क्रोधविस्फारितेक्षणः ॥ १९ ॥

‘वे सब विश्वामित्रके देखते-देखते उनकी सारी सेनाका
नाश करने लगे इससे राजा विश्वामित्रको बड़ा क्रोध हुआ।
वे रोपसे आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगे ॥ १९ ॥

पङ्कवान् नाशयामास शस्त्रैरुन्नायचैरपि ।

विश्वामित्रार्दिनान् दृष्ट्वा पङ्कवाञ्जलशस्तदा ॥ २० ॥

भूय एवासृजद् घोराञ्जकान् यवनमिश्रितान् ।

तैरासीत् सङ्गता घृमिः शर्कर्यवनमिश्रितः ॥ २१ ॥

‘तबान छोट-बड़े कई तरहके अस्त्रोंका प्रयोग करके उन
पङ्कजाका संसार कर डाला विश्वामित्रद्वारा उन सैकड़ों पङ्कजोंको
पीड़ित एवं नष्ट हुआ देख उस समय उस शत्रुला गौने पुनः
यवनमिश्रित शक जातिके भयंकर वीरोंको उत्पन्न किया उन
यवनमिश्रित शकोंमें वहाँकी सारी पृथ्वी भर गयी ॥ २०-२१ ॥

प्रभावद्विर्महावीर्यैर्हर्मकिजल्कसंनिभैः ।

तीक्ष्णासिपट्टिशधरैर्मवर्णाभ्यरावृतैः ॥ २२ ॥

निर्दग्धं तद्बलं सर्वं प्रदीपैरिव पावकैः ।

ततोऽस्त्राणि महानेजा विश्वामित्रो मुमोच ह ।

तैस्ते यवनकाम्बोजा बर्बराश्चाकुलीकृताः ॥ २३ ॥

‘वे वीर महापराक्रमी और तेजस्वी थे। उनके शरीरकी
कान्ति सुवर्ण तथा केसरके समान थी। वे सुनहरे वस्त्रोंसे
अपने शरीरको ढँके हुए थे। उन्होंने हाथोंमें तल्वें खड्ग और
पाटिश ले रखे थे। प्रज्वलित अग्निके समान उद्भासित
होनेवाले उन वीरोंने विश्वामित्रकी सारी सेनाको भस्म करना
आरम्भ किया। तब महातेजस्वी विश्वामित्रने उनपर बहुत-से
अस्त्र छोड़े। उन अस्त्रोंकी चोट खाकर वे यवन, काम्बोज
और बर्बर जातिके योद्धा व्याकुल हो उठे’ ॥ २२-२३ ॥

तेजस्वी काम्बोज उत्पन्न हुए। धनमें शस्त्रधारों बर्बर प्रकट हुए।

योनिदेशाश्च यवनाः शकृद्देशाच्छकाः स्मृताः ।

रोमकूपेषु म्लेच्छाश्च हारीताः सकिरातकाः ॥ ३ ॥

‘योनिदेशमें यवन और शकृद्देश (गोबरके स्थान) से
शक उत्पन्न हुए। रोमकूपमें म्लेच्छ, हारीत और किरात
प्रकट हुए ॥ ३ ॥

तैस्तन्निर्घृदितं सर्वं विश्वामित्रस्य तत्क्षणात् ।

सपदातिगजं सार्धं सगंधं रघुनन्दन ॥ ४ ॥

मनुन्दन । उन सब बाँटें पैदल, हाथी, घोड़े
रथमार्गिन विश्वामित्रको सारी सेनाका तत्काल संहरा
कर डाला ॥ ४ ॥

दृष्ट्वा निधूदितं सैन्यं वसिष्ठेन महात्मना ।
विश्वामित्रसुतानां तु शतं नानाविधायुधम् ॥ ५ ॥
अध्यधावत् सुसंकुचं वसिष्ठे जपता वरम् ।
हुकारेणैव तान् सर्वान् निर्ददाह महानृचिः ॥ ६ ॥

महात्मा वसिष्ठद्वारा अपनी सेनाका सहर हुआ देख
विश्वामित्रके सौ पुत्र अत्यन्त क्रोधमें भर गये और बन्ना
ज्जकार अस्त्र-भस्त्र लेकर जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ वसिष्ठ-
नृत्तर दृष्ट पड़े । तब उन महर्षिने हुंकारमात्रसे उन सबको
जन्नाकर धम्म कर डाला ॥ ५-६ ॥

॥ साश्वरथपादात्ता वसिष्ठेन महात्मना ।
पर्माकुता मुहूर्तेन विश्वामित्रसुतास्तथा ॥ ७ ॥

महात्मा वसिष्ठद्वारा विश्वामित्रके वे सभ्य पुत्र दो ही
पर्वतों प्राङ्, राध और पैदल सैनिकोंमार्गिन जल्जकर धम्म कर
डाले गये ॥ ७ ॥

दृष्ट्वा विनाशितान् सर्वान् बलं च सुमहायशाः ।
मर्त्राण्डं चिन्तयाविष्टो विश्वामित्रोऽभवत् तदा ॥ ८ ॥

अपने समस्त पुत्रों तथा सारी सेनाका विनाश
देख महायशस्वी विश्वामित्र स्तब्ध हो बड़ा चिन्तामें
पड़ गये ॥ ८ ॥

अमुद्र इव निर्वङ्गो भग्नशृङ्ग इवारागः ।
अग्रस्त इवादिपः सद्यो निष्प्रभतां गतः ॥ ९ ॥

अमुद्रके समान उनका सग्य वेग शास्त्र हो गया । जिसके
ते लोड़ लिये गये ही ठम सपके समान तथा शङ्खस्त
वर्धने भाँत वे तत्काल ही निस्तब्ध हो गये ॥ ९ ॥

हनपुत्रबल्लो दीनो लूनपक्ष इव द्विजः ।
हनसर्वधलोमसाहो निर्वन्दं समप्रहत ॥ १० ॥

पुत्र और सेना दोनोंके भारे जानेसे वे पंख कटे हुए
गर्जके समान टपन हो गये । उनका सारा बल और उत्साह
नष्ट हो गया । वे मन-ही-मन बहुत श्लथ हो गये ॥ १० ॥

यः पुत्रपक्षं राज्याय पालयेति नियुज्य च ।
गुह्यार्थं क्षत्रधर्मेण चतुर्ध्वजध्वजतः ॥ ११ ॥

उनके एक ही पुत्र बचा था, उसके तन्हाते राजाके पदपर
अभिषेक करने राजाकी रक्षाके लिये नियुक्त का निश्चय और
गोप्य-धर्मके अनुसार पुत्रोंके पालनको आज्ञा देकर वे
जर्म हो गये ॥ ११ ॥

स गत्वा हिमवत्पार्श्वं किनरोरगमेवितम् ।
महादेवप्रसादाथै तपस्तेये महातपाः ॥ १२ ॥

हमालयके पार्श्वभागमें, जो किन्नरों और नागोंमें संश्रित
है, वहाँ जाकर महादेवजीकी प्रसन्नताके लिये महान्
तपस्याका आश्रम ले वे तपमें ही संलग्न हो गये ॥ १२ ॥

केनचित् स्वयं कालेन देवेशो नृपधध्वजः ।
दर्शयामास वरदो विश्वामित्रे महामुनिम् ॥ १३ ॥

'कुछ कालके पश्चात् वरदायक देवेश्वर भगवान्
नृपधध्वज (शिव) ने महामुनि विश्वामित्रको दर्शन
दिया और कहा— ॥ १३ ॥

किमर्थं तप्यसे राजन् ब्रूहि यत् ते विवक्षितम् ।
वरदोऽस्मि वगे धम्ने काङ्क्षिनः सोऽभिधीयताम् ॥ १४ ॥

"राजन् ! किसलिये तप करते हो ? बताओ क्या कहना
चाहते हो / मैं तुम्हें वर देनेके लिये आया हूँ । तुम्हें जो वर
पना अभीष्ट हो, उसे कहो" ॥ १४ ॥

एवमुक्तस्तु देवेन विश्वामित्रो महातपाः ।
प्रणिपत्य महादेवं विश्वामित्रोऽब्रवीदिदम् ॥ १५ ॥

'महादेवजीके ऐसा कहनेपर महातपस्वी विश्वामित्रने उन्हें
प्रणाम करके इस प्रकार कहा— ॥ १५ ॥

यदि तुष्टो महादेव धनुर्वेदो ममानघ ।
साङ्गोपाङ्गोपनिषदः सरहस्यः प्रदीयताम् ॥ १६ ॥

"निष्पाप महादेव । यदि आप संतुष्ट हो तो अस्त्र, उपाङ्ग,
उपनिषद् और महर्षिर्मार्गिन धनुर्वेद मुझे प्रदान कीजिये ।
यानि देवेषु चास्त्राणि दानवेषु महर्षिषु ।

गन्धर्वयक्षारक्ष-सु प्रतिधान्तु ममानघ ॥ १७ ॥
तव प्रसादाद् भवतु देवदेव यमेप्सितम् ।

"अनघ ! देवताओं, दानवों, महर्षियों, गन्धर्वों, यक्षों
तथा राक्षसोंके पास जो-जो अस्त्र हैं, वे सब आपकी कृपासे
मेरे हृदयमें स्फुरित हो जायें । देवदेव ! यही मेरा मनोरथ है,
औ मुझे प्राप्त होना चाहिये" ॥ १७-१८ ॥

एवमस्त्विति देवेशो वाक्यमुक्त्वा गतस्तदा ॥ १८ ॥
प्राप्य चास्त्राणि देवेशाद् विश्वामित्रो महाबलः ।

दर्पेण महता युक्तो दर्पपूर्णोऽभवत् तदा ॥ १९ ॥
तव 'एवमस्तु' कहकर देवेश्वर भगवान् शङ्कर वहाँसे
चले गये । देवेश्वर महादेवसे वे अस्त्र पाकर महाबली
विश्वामित्रको बड़ा घमंड हो गया । वे अधिमानमें भर गये ॥

विवर्धमानो वीर्येण समुद्र इव पर्वणि ।
हतं मेने तदा राम वसिष्ठपृथिविसत्तयम् ॥ २० ॥

जैसे पर्वणियोंको समुद्र बढ़ने लगता है, उसी प्रकार वे
पराक्रमद्वारा अपनको बहुत बड़ा-बड़ा मानने लगे श्रीराम ।
उन्हांमें मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठको उन्हे सभ्य बना हुआ ही समझा ॥

ततो गत्वाऽऽश्रमपदे भुमोचास्त्राणि पार्थिवः ।
यैस्तान् तपोवनं नाप निर्दग्धं चास्त्रमेजसा ॥ २१ ॥

फिर तो वे पृथ्वीपति विश्वामित्र वसिष्ठके आश्रमपर जाकर
धर्मों भौतिक अन्तोंका प्रयोग करने लगे । जिनाके तपसे वह
सारा तपोवन दग्ध होने लगा ॥ २१ ॥

उदीर्यमाणपक्षं तद् विश्वामित्रस्य धीमतः ।
दृष्ट्वा विप्रद्रुता भीता मुनयः शतशो दिशः ॥ २२ ॥

'बुद्धिमान् विश्वामित्रके उस बर्तते हुए अस्त्र-तेजस्व
देखकर वहाँ रहनेवाले सैकड़ों मुनि भयभीत हो सम्पूर्ण
दिशाओंमें भाग चले ॥ २२ ॥

वसिष्ठस्य च ये शिष्या ये च ये पृगपक्षिणः ।

विद्वन्ति भयाद् भीता नानादिभ्यः सहस्रशः ॥ २३ ॥

'वसिष्ठजीके जो शिष्य थे, जो वहर्कि पक्षु और
पक्षी थे, वे सहस्रों प्राणों भयभीत हो नाना दिशाओंकी
ओर भाग गये ॥ २३ ॥

वासिष्ठस्याश्रमपदे शून्यभासोऽपहात्मनः ।

मूर्धनमिव निःशब्दमारीर्द्धिरिणमनिभम् ॥ २४ ॥

'महात्मा वसिष्ठजी वह आश्रम सुन हो गया। दो
ती धड़ोंमें ऊसर भूमिक समान उस स्थानपर सत्राटा
जा गया ॥ २४ ॥

वदती च वसिष्ठस्य मा धीरिति मुहुर्मुहुः ।

नाशायाम्यद्य गांधेय नीहारमिव भास्करः ॥ २५ ॥

'वसिष्ठजी बार-बार कहने लगे—'इसे मत, मैं अभी
दुर्ग गांधीपुत्रों ने नष्ट किये देता है। ठाक उसी तरह जैसे

सूर्य कुहलसेको मिटा देता है' ॥ २५ ॥

एवमुक्त्वा महामेजा वसिष्ठो जपतां वरः ।

विश्वामित्रे तदा वाक्यं सरोषमिदमब्रवीत् ॥ २६ ॥

'जपनेवालोंमें ऋषि महामेजस्वी वसिष्ठ ऐसा कहकर उस
समय विश्वामित्रजीसे रोषपूर्वक बोले— ॥ २६ ॥

आश्रमे धिरसंवृद्धं यद् विनाशितवानसि ।

दुर्गचारो हि यन्मूढस्तस्मात् त्वं न भविष्यसि ॥ २७ ॥

"अरे ! तूने चिरकालसे पाले-पोसे तथा हरे-धरे किये
हए इस आश्रमका नष्ट कर दिया—उजाड़ डाला, इसलिये
तु दुर्गचारा और धिक्कशून्य है और इस पापके कारण तू
कुशलसे नहीं रह सकता' ॥ २७ ॥

इत्युक्त्वा परमकुब्जो दण्डमुद्यम्य सत्वरः ।

विधूम इव कालाग्रियं दण्डमिवापरम् ॥ २८ ॥

एसा कहकर ये अत्यन्त क्रुद्ध हो घूमरहित कालाग्रिके
समान उद्योग हो ठठे और दूसरे दण्डदण्डके समान धूमकर
डंडा हाथमें उठाकर तुरंत उनका सामना करनेके लिये
तैयार हो गये ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहालक्ष्मीकीर्तन आर्पणमायण आदिकाव्यक बालकाण्डमें पञ्चपञ्चाशः सर्ग पूरा हुआ ॥ ५५ ॥

षट्पञ्चाशः सर्गः

विश्वामित्रद्वारा वसिष्ठजीपर नाना प्रकारके दिव्यास्त्रोका प्रयोग और वसिष्ठद्वारा ब्रह्मदण्डसे ही
उनका शमन एवं विश्वामित्रका ब्राह्मणत्वकी प्राप्तिके लिये तप करनेका निश्चय

एवमुक्ते वसिष्ठेन विश्वामित्रो महाबलः ।

आग्नेयमक्षयिणीस्य तिस्र तिस्रेति चाब्रवीत् ॥ १ ॥

वसिष्ठजी ने ऐसा बर्होंपर महाबली विश्वामित्र आग्नेयास्त्र
लेकर बोले—'अरे बड़ा रह, बड़ा रह' ॥ १ ॥

ब्रह्मदण्डं समुद्यम्य कालदण्डमिवापरम् ।

वसिष्ठो भगवान् क्रोधादिदं वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

इस समय द्वितीय कालदण्डके समान ब्रह्मदण्डका
हवाकर भगवान् वसिष्ठने क्रोधपूर्वक इस प्रकार कहा— ॥

क्षत्रियस्यो सिंघानोऽस्म्यथ यद् बलं तद् विदशंय ।

नाशायाम्यद्य ते दपै क्षत्रस्य तव गांधेय ॥ ३ ॥

'क्षत्रियाधम ! ते, यह मैं खड़ा हूँ। तेरे पास जो बल हो,
तसे दिया। गांधीपुत्र ! आज तेरे अस्त्र-शस्त्रोंके शून्यकर
नष्ट मैं अभी धूलमें मिला दूंगा ॥ ३ ॥

ऊ च ते क्षत्रियबलं ऊ च ब्रह्मबलं महत् ।

पश्य ब्रह्मबलं दिव्यं मम क्षत्रियपासन ॥ ४ ॥

'क्षत्रियकुलबलें ऊँ । कहीं तेरा क्षत्रियबल और कहीं महान्
ब्रह्मबल । मेरे दिव्य ब्रह्मबलके देख ले ॥ ४ ॥

तस्यास्त्रं गांधीपुत्रस्य घोरधात्रेणमुत्तमम् ।

ब्रह्मदण्डेन तच्छान्तमग्नेर्वेग इवाभ्यसा ॥ ५ ॥

गांधीपुत्र विश्वामित्रका वह उत्तम एवं भयंकर आग्नेयास्त्र
वसिष्ठजी ने ब्रह्मदण्डमें उसी प्रकार शान्त हो गया जैसे पानी
पहननेसे जलती हुई आगका वेग ॥ ५ ॥

वारुणो धैव रौद्रे च ऐन्द्रं पाशुपते तथा ।

ऐरीक चापि चिक्षेप कुपितो गांधिनन्दनः ॥ ६ ॥

तब गांधीपुत्र विश्वामित्रने कुपित होकर वारुण, रौद्र, ऐन्द्र,
पाशुपत और ऐरीक नामक अस्त्रोंका प्रयोग किया ॥ ६ ॥

मानवं मोहने धैव गांधर्वं स्वापनं तथा ।

जृष्णीं मादने धैव संतापनविलापने ॥ ७ ॥

शोषणो दारणो धैव सन्नमस्तं सुदुर्जयम् ।

ब्रह्मपाशो कालपाशो वारुणो पाशमेव च ॥ ८ ॥

पिनाकमस्तं दयितं शुष्कार्द्रं अशनी तथा ।

दण्डास्त्रमथ पैशाचं क्रौञ्चमस्तं तथैव च ॥ ९ ॥

धर्मवक्तं कालवक्तं विधुवक्तं तथैव च ।

वायव्ये मथने धैव अस्त्रं ह्यशिरस्तथा ॥ १० ॥

शक्तिद्वयं च चिक्षेप कङ्कालं मुसलं तथा ।

वैद्याधरं महास्तं च कालास्त्रमथ वारुणम् ॥ ११ ॥

त्रिशूलमस्तं घोरं च कापालमथ कङ्कणम् ।

एतान्वस्त्राणि चिक्षेप सर्वाणि रघुनन्दन ॥ १२ ॥

गधुनन्दन । उसके पश्चात् क्रमशः मन्त्र्य, मोहन, गान्धर्व,
नन्दिन, जम्भान, मादन, संतापन, विलापन, शोषण, विदारण,
मृदङ्गय वज्रास्त्र, ब्रह्मपाश, कालपाश, वारुणपाश, पद्मप्रिय
मृगशाल, मृषी-गाली दो प्रकारका अश्विन दण्डास्त्र
रत्नाश्व, क्रोधाश्व, धर्मचक्र, कालचक्र, विष्णुचक्र
त्रयव्यास मन्थनास्त्र, हर्षाश्व, दो प्रकारकी शक्ति, ककुत्स्थ,
मुग्ध, महान् वैद्याधरास्त्र, दारुण कालाश्व, भयंकर
त्रिशूलास्त्र, कापालास्त्र और कङ्कणास्त्र—ये सभी अस्त्र
: २७१ भविष्यर्क के रूप में चलाये ॥ ७—१२ ॥

कमिष्ठे जपनां श्रेष्ठे तदद्भुतमिवाभवत् ।

नानि सवर्णिषा दृष्टेन प्रसूते ब्रह्मणाः सूतः ॥ १३ ॥

अपने कालोंमें श्रेष्ठ महर्षि ब्रह्मिष्ठपर इतने आस्थाका प्रभाव
 वह एक अद्भुत-सी घटना थी, परन्तु ब्रह्मक पुत्र ब्रह्मिष्ठजीन
 उन सभी अस्मर्तों केवल अपने हठसे ही नष्ट कर दिया ॥

नयुः शान्तेषु ब्रह्मास्त्रे शिष्यत्वात् गाधिनन्दनः ।

महत्प्रयत्नं दृष्ट्वा देवाः साग्न्यपूरोगमाः ॥ १४ ॥

नययंयश्च सम्भ्राज्या गन्धर्वाः समहोसगाः ।

ब्रह्मोक्त्यभासीत् संक्रमणं ब्रह्मास्त्रं समुदीरितं ॥ १५ ॥

उन सब आध्यात्मिक ज्ञानों को जानिएगा गांधीनन्दन विद्यामित्र
ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया। ब्रह्मास्त्रको उद्योग देवता माय
आदि देवता, देवीर्षि, गन्धर्व और षडेन्द्रिय नगः भी
इज्जत पावे। ब्रह्मास्त्रके ऊपर उठते हो तमो लोकोक्ति
प्राप्तो शरीर तले । १४-१५।

ननुप्यस्त्रं महाघोरं आहत्य आह्वयणं तेजसा ।

अस्मिन्ने प्रहसते सर्वे ब्रह्मदण्डेन राघव ॥ १६ ॥

गायत्री ! त्वंसिद्धिं ज्ञाने अपने ब्रह्मनेत्रके प्रभावसे उम
महाभयंकर ब्रह्मास्त्रकी भी ब्रह्मदण्डके द्वारा हो शान्त
कर दिया ॥ १६ ॥

सप्तार्थं प्रसमानस्य वसिष्ठस्य महात्मनः ।

त्रैलोक्यमोहनं गीतं रूपमासीत् सुदारुणम् ॥ १७ ॥

उस शिष्यास्त्रयी ज्ञानी करते समय भद्राक्ष वासप्रती वर
गोदमप तानों सौकोको गोदों ज्ञाननेवाला और अन्यन्त
भयकर जगो पड़ता था ॥ १७ ॥

सोमकूपेषु सर्वेषु वसिष्ठस्य महात्मनः ।

मरीच्य इव निष्पेतुरमेर्धूपाकुलार्चिषः ॥ १८ ॥

महात्मा वसिष्ठके समस्त रोमकुपोमस किरणोंकी भाँति धूमयुक्त आगकी लपटें निकलने लगीं ॥ १८ ॥

प्राज्वलत् ब्रह्मदण्डश्च वसिष्ठस्य करोद्यतः ।

विभूष इव कालाभेर्यमदण्ड इवापरः ॥ १९ ॥

कर्मद्वजांक हाथम उठा हुआ द्वितीय ब्रह्मदण्डके समान वह ब्रह्मदण्ड धूमगर्हित कालाग्निके समान प्रज्वलित हो रहा था ॥

ततोऽस्तुतन् मुनिगणा वसिष्ठं जपतां वरम् ।

अयोध ते खलं ब्रह्मन्तेजो धारय तेजसा ॥ २० ॥

उस समय समस्त मुनिगण मन्त्र जपनेवालोंमें श्रेष्ठ वसिष्ठ मुनिके स्तुति करते हुए बोले—'ब्रह्मन् ! आपका बल अमाव्य है। आप अपने नेत्रोंके अपने ही शक्तिके समष्ट लीजिये ॥

निगृहीतस्त्वया ब्रह्मन् विश्वामित्रो महाबलः ।

अमोघं ते बलं श्रेष्ठं लोकाः सन्तु गतव्यथाः ॥ २१ ॥

‘महात्मन्त्रं विश्वामित्र आपसे पराजित हो गये । मुनिश्रेष्ठ ! आपका बल अमोघ है । अब आप शान्त हो जाइये, जिससे लगाकर व्यथा दूर हो’ ॥ २१ ॥

एवमुक्तो महानेजाः शर्म चक्रे भगवत्कः ।

विश्वापित्रो विनिकृतो विनिःश्वस्येदयब्रवीत् ॥ २१ ॥

परमपियंक ऐसा कहनेपर महानेजस्वी महाबली वसिष्ठजी
ज्ञान हो गये और पराजित विश्वामित्र लम्बी साँस खींचकर
ये बोले— ॥ ३३ ॥

धिग् बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजोबलं बलम् ।

एकेन ब्रह्मदण्डेन सर्वास्त्राणि हृतानि मे ॥ २३ ॥

सत्रियकं बलकं धिक्कार है । अहंतेजसे प्राप्त होनेवाला बल ही वास्तवमें बल है, क्योंकि आज एक ब्रह्माण्डने मेरे सभी अणु नष्ट कर दिये ॥ २३ ॥

तदेतन्म प्रसर्माध्याहं प्रसत्रेन्द्रियमानसः ।

नपो महन् समास्थाय यत् वै ब्रह्मन्वकारणम् ॥ २४ ॥

‘इस घटनाका प्रत्यक्ष देखकर अब मैं अपने मन और इन्द्रियाओं निमग्न काके रस महान् तपका अनुष्ठान करूँगा, जो मेरे लिये ब्राह्मणत्वकी प्राप्तिका कारण होगा’ ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे मातृर्माकाय आदिकाव्ये कालकाण्डे षट्षष्ठांश सर्गः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार क्षीणात्प्रातिनिधिग अंगसाधारण आदिकान्यके शालाकाण्डमे छापनवां सर्ग पूरा हुआ ॥ ५६ ॥

सप्तपञ्चाशः सर्गः

विधामिप्रकी तपस्या, राजा त्रिशङ्कु अपना यज्ञ करानेके लिये पहले वसिष्ठजीसे प्रार्थना करना और उनके इन्कार कर देनेपर उन्हींके पुत्रोंकी शरणमें जाना

ननः संतप्रादयः स्वरत्रियहमात्मनः ।

विनि.शस्य विनि.शस्य कृतवर्गे महान्यना ॥ १ ॥

स दक्षिणां दिशं गत्वा महिष्या सह राघव ।

तनय परमं धीरं विश्वामित्रो महातथाः ॥ २ ॥

श्रीराम ! तदनन्तर विश्वामित्र अपनी पराजयको याद करके मन-ही मन संतप्त होने लगे । महात्मा वसिष्ठके साथ वैर बाँधकर महानपस्वी विश्वामित्र बारम्बार लम्बी साँस खींचते हुए अपनी रानीके साथ दक्षिण दिशामें जाकर अत्यन्त ठक्कड़ एवं शय्यकर तपस्या करने लगे ॥ १-२ ॥

फलमूलाशानो दान्तश्रुत्वा परमं तपः ।

अथास्य जज्ञिरे पुत्राः सत्यधर्मपरायणाः ॥ ३ ॥

हविष्यन्तो ययुष्यन्तो तूहनेनो महारथः ।

वहाँ गन और इन्द्रियोंको वशमें करके वे फल-मूलक आहार करते तथा उत्तम तपस्यामें लगे रहते थे । वहाँ उनके हविष्यन्त, ययुष्यन्त, दूहनेत्र और महारथ नामक चार पुत्र उदात्त हुए, जो सत्य और धर्ममें लय रहनेवाले थे ॥ ३ ॥

पूर्णे वर्षसहस्रे तु ब्रह्मा लोकपितामहः ॥ ४ ॥

आप्रवीणभूरे वाक्यं विश्वामित्रं तपोधनम् ।

जिता राजर्षिलोकास्ते तपसा कुशिकात्मजः ॥ ५ ॥

अनेन तपसा स्वी हि राजर्षिरिति विद्यते ।

एक हजार वर्ष पूरे हो जानेपर लोकपितामह ब्रह्माजीने तपस्याके धनी विश्वामित्रको दर्शन देकर मधुर वाणीमें कहा— 'कुशिकानन्दन ! तुमने तपस्याके द्वारा राजर्षियोंके लोकोंपर विजय पायी है । इस तपस्याके प्रभावसे हम तुम्हें महाराजर्षि समझते हैं' ॥ ४-५ ॥

एतमुक्त्वा महातेजा जगाम सह वैद्यतः ॥ ६ ॥

त्रिविष्टपं ब्रह्मलोकं लोकानां परमेश्वरः ।

गड कहकर सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी ब्रह्माजी दयनाओंक साथ स्वर्गलोक होते हुए ब्रह्मलोकको चले गये ॥ ६ ॥

विश्वामित्रोऽपि तच्छ्रुत्वा ह्रिया किञ्चिदवाङ्मुखः ॥ ७ ॥

दुःखेन महात्माबिष्टः समन्युरित्यवचीत् ।

तपश्च सुमहत् तर्हि राजर्षिरिति मां विदुः ॥ ८ ॥

तेजाः सर्तुगणाः सर्वे नास्ति मन्ये तपः फलम् ।

उनकी बात सुनकर विश्वामित्रका मुख लज्जामें कुछ झुक गया । ने नके दुःखमें व्यथित हो दोषापूर्वक मन ही मन यों कहने लगे— 'आहो ! मैंने इतना बड़ा तप किया तो भी अधिपतिमहित सम्पूर्ण देवता मुझे राजर्षि हो समझते हैं, सम्मान होता है, इस तपस्याका कोई फल नहीं हुआ' ॥

एवं त्रिभुज्य मनसा भूय एव महातपाः ॥ ९ ॥

तपश्चकार धर्मात्मा काकुत्स्थ परमात्मवान् ।

श्रीराम ! मनमें ऐसा सोचकर अपने मनको वशमें रखनेवाले धर्मात्मा काकुत्स्थ पुनः धार्य तपस्यामें लग गये ॥ ९ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु सत्यवादी जितेन्द्रियः ॥ १० ॥

त्रिशङ्कुरिति विख्यात इक्ष्वाकुकुलवर्धनः ।

इसी समय इक्ष्वाकुकुलकी कर्ति ख्दानेवाले एक सत्यवादी और जितेन्द्रिय राजा राज्य करते थे । उनका

नाम था त्रिशङ्कु ॥ १० ॥

तस्य बुद्धिः समुत्पन्ना यजेयमिति राघव ॥ ११ ॥

गच्छेयं स्वशरीरेण देवतानां परां गतिम् ।

रघुनन्दन ! उनके मनमें यह विचार हुआ कि 'मैं ऐसा कोई यज्ञ करूँ, जिससे अपने इस शरीरके साथ ही देवताओंकी परम गति स्वर्गलोकको जा पहुँचूँ' ॥ ११ ॥

वसिष्ठं स समाहूय कथयामास चिन्तितम् ॥ १२ ॥

अशक्यमिति धारयुक्तो वसिष्ठेन महात्मना ।

तब उन्होंने वसिष्ठजीको बुलाकर अपना यह विचार उन्हें कह सुनाया । महात्मा वसिष्ठने उन्हें बताया कि 'ऐसा होना असम्भव है' ॥ १२ ॥

प्रत्याख्यातो वसिष्ठेन स ययौ दक्षिणां दिशम् ॥ १३ ॥

ततस्तत्कर्मसिद्धयर्थं पुत्रांस्तस्य गतो नृपः ।

जब वसिष्ठने उन्हें कोरा उत्तर दे दिया, तब वे राजा उस कर्मकी सिद्धिके लिये दक्षिण दिशामें उनके पुत्रोंके पास चले गये ॥ १३ ॥

वसिष्ठो दीर्घनपसस्तपो यत्र हि तेपिरे ॥ १४ ॥

त्रिशङ्कुस्तु महातेजाः शतं परमभास्वरम् ।

वसिष्ठपुत्रान् ददौ तप्यमानान् धनस्त्रिनः ॥ १५ ॥

वसिष्ठजीके वे पुत्र जहाँ दीर्घकालसे तपस्यामें प्रवृत्त होकर तप करने थे, उस स्थानपर पहुँचकर महातेजस्वी त्रिशङ्कुने दत्ता कि धनको वशमें रखनेवाले वे सौ परमतेजस्वी वसिष्ठकुमार तपस्यामें संलग्न हैं ॥ १४-१५ ॥

सोऽभिगम्य महात्मानः सर्वानेव गुरोः सुतान् ।

अभिवाद्यानुपूर्वेण ह्रिया किञ्चिदवाङ्मुखः ॥ १६ ॥

अब्रवीत् स महात्मानः सर्वानेव कृताञ्जलिः ।

उन सभी महात्मा गुरुपुत्रोंके पास जाकर उन्होंने क्रमशः उन्हें प्रणाम किया और लज्जामें अपने मुखको कुछ नीचा किये हाथ जोड़कर उन सब महात्माओंसे कहा—

शरणं वः प्रपन्नोऽहं शरणधाञ्छरणं गतः ॥ १७ ॥

प्रत्याख्यातो हि धर्मो वो वसिष्ठेन महात्मना ।

यष्टुकामो महायज्ञं तदनुज्ञातुमर्हथ ॥ १८ ॥

'गुरुपुत्रो ! आप शरणागतवत्सल हैं । मैं आपलोगोंकी शरणमें आया हूँ, आपका कल्याण हा । महात्मा वसिष्ठने मेरा यज्ञ कराने अग्र्योकार कर दिया है । मैं एक महान् यज्ञ करना चाहता हूँ । आपलोग उसके लिये आज्ञा दें ॥

गुरुपुत्रानहं सर्वान् नमस्कृत्य प्रसादये ।

शिरसा प्रणतो याचे ब्राह्मणांस्तपसि स्थितान् ॥ १९ ॥

ते मां भवन्तः सिद्धयर्थं याजयन्तु समाहिताः ।

सशरीरो यथाहं वै देवलोकमवाप्नुयाम् ॥ २० ॥

'मैं सम्स्त गुरुपुत्रोंको नमस्कार करके प्रसन्न करना चाहता हूँ । आपलोग तपस्यामें संलग्न रहनेवाले ब्राह्मण हैं । मैं आपके चरणोंमें मस्तक रखकर यह याचना करता हूँ कि

अनन्तोग एकाग्रचित्त हो मझसे मेरी अभीष्टसिद्धिके लिये पूजा करके यज्ञ करावे, जिससे मैं इस शत्रुके साथ ही देवलोकमें जा सकूँ ॥ १९-२० ॥

प्रत्याख्यातो वसिष्ठेन गतिमन्यो तपोधनाः ।

गुरुपुत्रानुते सर्वान् नाहं पश्यामि कांचन ॥ २१ ॥

तपोधनो ! महात्मा वसिष्ठके अर्चनकर कर देनगर अथ

मैं अपने लिये समस्त गुरुपुत्रोंकी शरणमें जानेके सिवा दूसरी कोई गति नहीं देखता ॥ २१ ॥

इक्ष्वाकूणां हि सर्वेषां पुरोधः परमा गतिः ।

तस्मादनन्तरं सर्वे भवन्तो दैवतं यम ॥ २२ ॥

‘समस्त इक्ष्वाकुवंशियोंके लिये पुरोहित वसिष्ठजी ही परम-गति हैं । उनके बाद आप सब लोग ही यें परम देवता हैं’ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्ष रामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें सत्तावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

अष्टपञ्चाशः सर्गः

वसिष्ठ ऋषिके पुत्रोंका त्रिशङ्कुको डोंट बनाकर घर लौटनेके लिये आज्ञा देना तथा उन्हें दूसरा पुरोहित बनानेके लिये उद्यत देख शाप-प्रदान और उनके शापसे चाण्डाल

हुए त्रिशङ्कुका विश्वामित्रजीकी शरणमें जाना

ननश्चिशङ्कोर्वचनं भुत्वा क्रोधसमन्वितम् ।

ऋषिपुत्रद्वारं राम राजानमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

प्रत्याख्यातोऽसि दुर्मधो गुरुणा सत्यवादिना ।

मे कथं समनिक्रम्य शास्त्रान्तरमुपेयिवान् ॥ २ ॥

‘तपोधन ! राजा त्रिशङ्कुका यह वचन सुनकर क्रोधित भूतिके वे भी पुत्र कुपित हो उनसे इस प्रकार बाल—द्वन्द्वे । तुम्हारे सत्यवादों गुरुने जब तुम्हें मना कर दिया है, तब तुम्हें उनका अन्तर्हृत् करके दूसरे शास्त्रोंका आश्रय कैसे लिया ? ॥ १-२ ॥

इक्ष्वाकूणां हि सर्वेषां पुरोधः परमा गतिः ।

न चातिक्रामितुं शक्यं वचनं सत्यवादिनः ॥ ३ ॥

‘समस्त इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रियोंके लिये पुरोहित वसिष्ठजी ही परमगति हैं । उन सत्यवादी महात्माकी बातोंको कोई अन्यथा नहीं कर सकता । ॥ ३ ॥

भगव्यापतिं सोवाच वसिष्ठो भगवानुधिः ।

न त्वय वै समाहर्तुं कर्तुं शक्ताः कथंचन ॥ ४ ॥

जिस यज्ञकर्मकी उन भगवान् वासिष्ठमुनिने आग्रह्य करवाया है, इसे हमलोग कैसे कर सकते हैं ॥ ४ ॥

प्राणिशस्त्रं नरश्रेष्ठ गम्यतो स्वपुरं पुनः ।

याजने भगवाश्चात्तर्ललाक्यस्यापि धार्थिव ॥ ५ ॥

अतथानं कथं कर्तुं तस्य शक्यामहे कथम् ।

नरश्रेष्ठ ! तूमें अभी नादान हो, अपने नगरको लौट जाओ । पृथ्वीनाथ ! गगवान् वसिष्ठ लोगों लांकाका पक्ष करानेमें समर्थ हैं । हमलोग उनका अग्रमान कैसे कर सकेंगे ॥ ५ ॥

मेधां तद् वचनं भुत्वा क्रोधपर्याकुलाश्रमम् ॥ ६ ॥

स राजा पुनरेवतानिदं वचनमब्रवीत् ।

प्रत्याख्यातो भगवता गुरुपुत्रैस्तथैव हि ॥ ७ ॥

अन्यां गतिं गमिष्यामि स्वस्ति वोऽन्तु तपोधना ।

गुरुपुत्रोंका वह क्रोधपूर्ण वचन सुनकर राजा त्रिशङ्कुने पुनः उनसे इस प्रकार कहा—‘तपोधनो ! भगवान् वसिष्ठने तो मुझे तुम्हारा ही दिया था, आप गुरुपुत्रोंका भी मेरी प्रार्थना नहीं स्वाकार कर रहे हैं, अतः आपका कल्याण हो, अब मैं दूसरे किसीकी शरणमें जाऊँगा’ ॥ ६-७ ॥

ऋषिपुत्रास्तु तच्छ्रुत्वा वाक्यं धीराभिसंहितम् ॥ ८ ॥

शेषः परमसक्रुद्धाश्चण्डालत्वं गमिष्यसि ।

इत्युक्त्वा ते महात्मानो विविशुः स्वं स्वमाश्रमम् ॥ ९ ॥

त्रिशङ्कुका यह यें अभिसंधिपूर्ण वचन सुनकर महर्षिके पुत्रोंने अत्यन्त कुपित हो उन्हें शाप दे दिया—‘अरे ! जा नू चाण्डाल हो जायगा ।’ ऐसा कहकर वे महात्मा अपने-अपने आश्रममें प्रविष्ट हो गये ॥ ८-९ ॥

अथ राज्ञो व्यतीतायां राजा चाण्डालनां गतः ।

नीलवस्त्रधरो नीलः पुरुषो ध्वस्तमूर्धजः ॥ १० ॥

चिन्त्यमास्त्याङ्गरागश्च आधसाधरणोऽभवत् ।

तदनन्तर गत व्यतीत होते ही राजा त्रिशङ्कु चाण्डाल हो गये । उनके शरीरका रङ्ग नीला हो गया । कपड़ भी नीले हो गये । प्रत्येक अङ्गमें रुक्षता आ गयी । मिरके बाल छोटे-छोटे हो गये । और शरीरमें चिन्ताकी राख-सी लिपट गयी । विभिन्न अङ्गोंमें यथास्थान लांकाके गहने पड़ गये ॥ १० ॥

न दृष्ट्वा मन्त्रिणः सर्वे तज्य चाण्डालरूपिणम् ॥ ११ ॥

प्राद्वन् सहितं राम पीरा येऽस्यानुगामिनः ।

एको हि राजा काकुत्स्थ जगाम परमात्मवान् ॥ १२ ॥

दहृष्यान् दिवारात्रे विश्वामित्रं तपोधनम् ।

श्रीगण ! अपने राजाको चाण्डालके रूपमें देखकर सब मन्त्री और पुरवासी जो उनका साथ आये थे, उन्हें छोड़कर भाग गये । ककुत्स्थमन्दन ! वे धीरस्वभाव नरेश दिन रात चिन्ताकी आगमें जलने लगे और अकेले ही तपोधन विश्वामित्रकी शरणमें गये ॥ ११-१२ ॥

विश्वामित्रस्तु ते दृष्ट्वा राजानं विफलीकृतम् ॥ १३ ॥
 चाण्डालरूपिणं राम मुनिः कारुण्यमागतः ।
 कारुण्यात् स महानेजा वाक्यं परमधार्मिकः ॥ १४ ॥
 इदं जगद् भद्रं ते राजानं धीरदर्शनम् ।
 किमागमनकार्यं ते राजपुत्र महाबल ॥ १५ ॥
 अयोध्याधिपते चौर शपासुण्डालतां गतः ।

श्रीराम ! विश्वामित्रने देखा राजाका जावन निष्फल हो
 गया है। उन्हें चाण्डालरूप रूपमें देखकर उन महानेजाकी पाम
 धर्मात्मा मुनि ने क्षमामें करुणा भर आगो। वे दयासे प्रवित
 होकर भगवत् । राजा की दनवाके गता विश्वामुत्रे इस प्रकार
 बोले 'महाबल राजकुमार ! तुम्हारा भला हो यहाँ किम
 कामसे गुस्सारा आना हुआ है। चौर अयोध्यानेजा ! जल
 पड़ा है तुम आपसे चाण्डालभावको प्राप्त हुए हो' ॥

अथ तद्वाक्यमाकर्ण्य राजा चाण्डालतां गतः ॥ १६ ॥
 अत्रापीन प्रपन्नलिखितं वाक्यं वाक्यकोविदम् ।

विश्वामित्रको यात मुनिकर चाण्डालभावको प्राप्त हुए और
 वाणीके भाग्यको समझनेवाले राजा विश्वामुत्रे अथ जोड़कर
 वाक्याधकाविद विश्वामित्र मुनिस इस प्रकार कहा— ॥

प्रत्यारण्यातोऽस्मि गुरुणा गुरुपुत्रैस्तथैव च ॥ १७ ॥
 अनवाप्यैव ते कामं मया प्राप्तो विपर्ययः ।

'महर्षे ! मुझे गुरु तथा गुरुपुत्रों ने दुःख दिया। मैं जिस
 मनोऽर्थात् वस्तुको पाना चाहता था, उस न पाकर इच्छक
 विपरीत अनर्थका भागी हो गया ॥ १७ ॥

सहारीरो दिवं चायागिति मे सौम्यदर्शन ॥ १८ ॥
 यथा चेष्टे कतुपातं तस्य नावाप्यते फलम् ।

'सौम्यदर्शन मुनीश्वर ! मैं चाहता था कि इसी शरीरसे
 स्वर्गको जाऊँ, परंतु यह इच्छा पूर्ण न हो सकी। मैंने
 शोकपूर्ण थड़ किये हैं, किंतु उनका भी कोई फल नहीं
 मिल रहा है ॥ १८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये वाल्मीकाण्डोऽष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार श्रीमद्वाल्मीकीनिर्यत आरामायणे आदिकाव्यके वाल्मीकाण्डमें अष्टावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

एकोनषष्टितमः सर्गः

विश्वामित्रका विश्वामुत्रे आश्वासन देकर उनका यज्ञ करानेके लिये ऋषि-मुनियोंको आमन्त्रित
 करना और उनकी बात न माननेवाले महोदय तथा ऋषिपुत्रोंको शाप देकर नष्ट करना

उक्तवाक्यं तु राजानं कृपया कुशिकाभजः ।
 अत्रापीनधुरं वाक्यं साक्षाच्छृण्वन्मतां गतम् ॥ १ ॥

[शतानन्दजी कहते हैं—श्रीराम !] साक्षात्
 चाण्डालरूप स्वरूपको ग्रहण हुए राजा विश्वामुत्रे पूर्वोक्त
 वचनको सुनकर कुशिकनन्दन विश्वामित्रजीने दयामें इक्षित
 होकर उनसे भयुर वाणीमें कहा— ॥ १ ॥

इक्ष्वाकी स्वागतं वत्स जानामि त्वां सुधार्मिकम् ।

अनृतं नातृपूर्वं मे न च वक्ष्ये कदाचन ॥ १९ ॥
 कृच्छ्रेऽपि गतः सौम्य क्षत्रधर्मेण ते शपे ।

'सौम्य ! मैं क्षत्रियधर्मको शपथ खाकर आपसे कहना हूँ
 कि बड़े-से-बड़े सङ्कटमें पड़नेपर भी न तो पहले कभी मैंने
 मिथ्या वाचन किया है और न भविष्यमें हो कभी करूँगा ॥

यज्ञैर्वहुविधैर्मिष्टं प्रजा धर्मेण पालिताः ॥ २० ॥
 गुरुवश्च महात्मानः शीलवृत्तेन तोषिताः ।

धर्मे प्रयतमानस्य यज्ञं चाहन्तुमिच्छतः ॥ २१ ॥
 परितोषं न गच्छन्ति गुरुवो मुनिपुङ्गव ।

दैवमेव परं मन्ये पौन्यं तु निरर्थकम् ॥ २२ ॥

'मैंने नाना प्रकारके यज्ञोंको अनुष्ठान किया, प्रजाजनोंकी
 धर्मपूर्वक रक्षा की और शील एवं सदाचारके द्वारा महात्माओं
 तथा गुरुजनोंको संतुष्ट रखनेका प्रयास किया। इस समय भी
 मैं यज्ञ करना चाहता था; अनः मेरा यह प्रयत्न धर्मके लिये
 ही था। मुनिभवर ! तो भी मेरे गुरुजन मुझपर संतुष्ट न हो
 सके। यह देखकर मैं दैवको ही बड़ा मानना हूँ। पुराणार्थ तो
 निरर्थक जान पड़ता है ॥ २०—२२ ॥

दैवेनाक्रम्यते सर्वं दैवं हि परमा गतिः ।
 तस्य मे परमार्तस्य प्रसादमभिकाङ्क्षतः ।

कर्तुमर्हसि भद्रं ते दैवोपहतकर्मणः ॥ २३ ॥

'दैव स्वपर आक्रमण करता है। दैव ही सबके परमगति
 है। मुने ! मैं अन्यन्त आर्त होकर आपको कृपा चाहता हूँ
 दैवने मेरे पुरुषार्थको दवा दिया है। आपका भला हो। आप
 मुझपर अवश्य कृपा करें ॥ २३ ॥

नान्यां गतिं गमिष्यामि नान्यच्छरणमस्ति मे ।
 दैवं पुरुषकारेण निवर्तयितुमर्हसि ॥ २४ ॥

'अब मैं आपके सिवा दूसरे किसीकी शरणमें नहीं
 जाऊँगा। दूसरा कोई मुझे शरण देनेवाला है भी नहीं। आप
 ही अपन पुरुषार्थमें मेरे दुर्दैवको पलट सकते हैं' ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये वाल्मीकाण्डोऽष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार श्रीमद्वाल्मीकीनिर्यत आरामायणे आदिकाव्यके वाल्मीकाण्डमें अष्टावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये वाल्मीकाण्डोऽष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये वाल्मीकाण्डोऽष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये वाल्मीकाण्डोऽष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये वाल्मीकाण्डोऽष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये वाल्मीकाण्डोऽष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये वाल्मीकाण्डोऽष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये वाल्मीकाण्डोऽष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये वाल्मीकाण्डोऽष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये वाल्मीकाण्डोऽष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये वाल्मीकाण्डोऽष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये वाल्मीकाण्डोऽष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये वाल्मीकाण्डोऽष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये वाल्मीकाण्डोऽष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये वाल्मीकाण्डोऽष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥

दुष्कर्म महर्षियोंको मैं आमन्त्रित करता हूँ। फिर तुम
अनन्दपूर्वक यज्ञ करना ॥ ३ ॥

गुरुशापकृतं रूपं यदिदं त्वयि वर्तते ।
अनेन सह रूपेण सशरीरो गमिष्यसि ॥ ४ ॥
रूपप्राप्त्यहं मन्ये स्वर्गं तत्र नराधिप ।

यन्मं क्रीशिकमागम्य शरण्यं शरणागतः ॥ ५ ॥

‘गुरुके शापसे तुम्हें जो यह नवीन रूप प्राप्त हुआ
है इसके साथ ही तुम संदेह स्वर्गलोकको जाओगे।
—श्वर ! तुम जो शरणागतवत्सल विश्वामित्रकी शरणमें
आ गये, इससे मैं यह समझता हूँ कि स्वर्गलोक तुम्हारे
रूपमें आ गया है’ ॥ ४-५ ॥

एवमुक्त्वा महातेजाः पुत्रान् परमधार्मिकान् ।

व्यादिदेश महाप्राज्ञान् यज्ञसम्भारकारणान् ॥ ६ ॥

ऐसा कहकर महातेजस्वी विश्वामित्रने अपने परम
धर्मपरायण महाज्ञानी पुत्रोंको यज्ञकी सामग्री जुटानेकी
आज्ञा दी ॥ ६ ॥

सर्वाङ्गिष्वान् समाहूय वाक्यमेतदुवाच ह ।

मन्त्रान्धीन् सवासिष्ठानानघध्वं भमाज्ञया ॥ ७ ॥

सशिष्यान् सुहृदश्चैव सत्विजः सुवह्श्रुतान् ।

तत्पश्चात् समस्त शिष्यांको बुलाकर उनसे यह बात
कही—‘तुमन्धग मरी आज्ञास अनेक विषयोंक ज्ञाता समस्त
मन्त्रे मुनियोंको, जिनमें कमिष्ठके पुत्र भी सम्मिलित हैं उनके
शिष्यों, सुहृदों तथा ऋत्विजोंसहित बुला लाओ ॥ ७ ॥

यदन्यो वचनं ब्रूयान्महाकथयत्वोदितः ॥ ८ ॥

नन् सर्वमखिलंनोक्तं भमारब्धेयमनादृतम् ।

‘जिसमें मेरा संदेश देकर खल्लास गया हो वह अथवा
दूसरा कोई यदि इस यज्ञक विषयमें कोई अवज्ञानपूर्ण बात
कहे तो मुझसे वह सब पूरा-पूरा मुझसे आकर कहना’ ॥

नस्य नन् वचनं श्रुत्वा दिशो जग्मुस्तटाज्ञया ॥ ९ ॥

भ्राजामुन्ध तेषांभ्यः सर्वभ्यो ब्रह्मवादिनाम् ।

न च शिष्या समागत्य मुनि ज्वलितनजसम् ॥ १० ॥

इच्छुः वचनं सर्वं सर्वेषां ब्रह्मवादिनाम् ।

उनकी आज्ञा मानकर सभी शिष्य चाहे दिशाओमें खड़े
गये। फिर तो सब दिशांमें ब्रह्मवादी मुनि आने लगे।
‘विश्वामित्रके वे शिष्य तब प्रज्वलित तेजवाले महर्षिक पास
सबसे पहले लौट आये और समस्त ब्रह्मवादीयोंने जो बातें
कही थीं, उन्हें सबने विश्वामित्रवासे कह सुनाया ॥ ९-१० ॥

श्रुत्वा ते वचनं सर्वं समायाति द्विजातयः ॥ ११ ॥

सर्वदेशेषु चागच्छन् वर्जयित्वा महादयम् ।

‘वे लोग— गुरुदेव ! आपका आदेश या संदेश सुनकर
प्रायः सम्पूर्ण देशोंमें रहनेवाले सभी ब्राह्मण आ रहे हैं।
कवल महादय नामक ऋषि तथा कमिष्ठ-पुत्राको छोड़कर
सभी महर्षि यज्ञों आनेके लिये प्रस्थान कर चुके हैं ॥ ११ ॥

वासिष्ठं वच्छतं सर्वं क्रोधपर्याकुलाक्षरम् ॥ १२ ॥

यथाह वचनं सर्वं शृणु त्वं मुनिपुङ्गव ।

‘मुनिश्रेष्ठ ! वसिष्ठके जो सौ पुत्र हैं, उन सबने
क्रोधभरी वाणीमें जो कुछ कहा है, वह सब आप
सुनिये ॥ १२ ॥

क्षत्रियो याजको यस्य चण्डालस्य विशेषतः । १३ ॥

कथं सदसि भोक्तारो हविस्तस्य सुरर्षयः ।

ब्राह्मणा वा महात्मानो भुक्त्वा चाण्डालभोजनम् ॥ १४ ॥

कथं स्वर्गं गमिष्यन्ति विश्वामित्रेण पालिताः ।

वे कहते हैं—‘जो विशयतः चण्डाल है और जिसका
यज्ञ करनेवाला आचार्य क्षत्रिय है, उसके यज्ञमें देवर्षि
अथवा महात्मा ब्राह्मण हविष्यका भोजन कैसे कर सकते
हैं ? अथवा चण्डालका अन्न खाकर विश्वामित्रसे पालित हुए
ब्राह्मण स्वर्गमें कैसे जा सकेंगे ?’ ॥ १३-१४ ॥

एतद् वचनं श्रुत्वा मुचुः संरक्तलोचनाः ॥ १५ ॥

वासिष्ठा मुनिशर्दूल सर्वं सहमहोदयाः ।

मुनिप्रवर ! महादयके साथ वसिष्ठके सभी पुत्रोंने
क्रोधसे लल आँखें करके ये उपर्युक्त निष्ठुरतापूर्ण बातें
कही थीं, ॥ १५ ॥

तेषां तद् वचनं श्रुत्वा सर्वेषां मुनिपुङ्गवः ॥ १६ ॥

क्रोधसंरक्तनयनः सरोधमिदमब्रवीत् ।

उन सबको वह बात सुनकर मुनिवर विश्वामित्रके दोनों
नेत्र क्रोधसे लल हो गये और वे शेषपूर्वक इस प्रकार
बोले— ॥ १६ ॥

यद् दूषयन्त्यदुष्टे मां तप उग्रं समास्थितम् ॥ १७ ॥

भस्मीभूता दुरात्मानो भविष्यन्ति न सशयः ।

‘मैं उग्र तपस्यामें लगा हूँ और शेष या दुर्भावनासे रहित
हूँ तो भी जो मुझपर टापागपण करने हैं वे दुरात्मा भस्मीभूत
ही जायेंगे, इसमें संशय नहीं है ॥ १७ ॥

अद्य ते कालपाशेन नीता खल्वस्वतक्षयम् ॥ १८ ॥

सप्तजातिशतान्येव मृतयाः सम्भवन्तु ते ।

श्रमांसनियताहारा मृष्टिका नाम निर्घृणा ॥ १९ ॥

‘आज कालपाशसे बँधकर वे यमलोकमें पहुँचा
दिये गये। अब ये सात सौ जन्मोंतक मुर्दोंकी रखवाली
करनेवाली, निश्चितरूपसे कुत्तेका भोजन खानेवाली
मृष्टिक नामक प्रसिद्ध निर्दय चण्डाल-जातिमें जन्म
ग्रहण करें ॥ १८-१९ ॥

विकृताश्च विरूपाश्च लोकाननुचरन्त्विमान् ।

महोदयश्च दुर्बुद्धिर्पापदूष्य हादूषयत् ॥ २० ॥

दूषितः सर्वलोकेषु निघादत्वे गमिष्यति ।

प्राणान्निपातनिरतो निरनुक्रोशतां गतः ॥ २१ ॥

दीर्घकालं मय क्रोधाद् दुर्गतिं वर्तयिष्यति ।

‘वे लोग विकृत एवं विरूप होकर इन लोकोंमें बिचरे।

साथ ही दुर्बुद्धि महोदय भी जिसने मुझ दोषहोनोंको भी दुष्टित किया है भोगे क्रोधसे दीर्घकालतक मम लोंगोमें निन्दित, दूसरे प्राणियोंकी हिंमामें तत्पर और दयाशून्य निपादचोन्निकों प्राप्त करके दुर्गति भोगेगा ॥ २०-२१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे सत्योक्तोये आदिकाव्ये बालकाण्डे एकोनषष्टितमः सर्गः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डने उनसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

षष्टितमः सर्गः

विश्वामित्रका ऋषियोंसे त्रिशङ्कुका यज्ञ करानेके लिये अनुरोध, ऋषियोंद्वारा यज्ञका आरम्भ, त्रिशङ्कुका सशरीर स्वर्गगमन, इन्द्रद्वारा स्वर्गसे उनके गिराये जानेपर क्षुब्ध हुए विश्वामित्रका नूतन देवसर्गके लिये उद्योग, फिर देवताओंके अनुरोधसे उनका इस कार्यसे विरत होना

तपोबालाहताञ्जिताः वासिष्ठान् समहर्षणान् ।

त्राधिगच्छे महातेजा विश्वामित्रोऽभ्यभाषत ॥ १ ॥

[वातात्मजजी कहने है—श्रीराम । महादयसांजन तपिष्ठके मुत्रोंको ध्यान तपोवत्से नष्ट हुआ जान महातेजस्वी विश्वामित्रने ऋषियोंके बीचमें इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

अयमिक्ष्वाकुदायादन्निशङ्कुरिति विश्रुतः ।

धर्म्मिष्ठश्च सदान्वितः सां चैव क्षरणं गतः ॥ २ ॥

'गुणिकों • ये इक्ष्वाकुवंशमें उत्पन्न राजा त्रिशङ्कु हैं । ये विश्रुत हैं कि क्षत्रिय कहें ही धर्म्मसाध और दानों रहे हैं तथा इस समय धर्मो क्षरणमें आये हैं ॥ २ ॥

स्वेनानेन शरीरेण देवलोकजिगीषया ।

यथापि स्वशरीरेण देवलोकं गमिष्यति ॥ ३ ॥

तथा प्रवर्त्यतां यज्ञो भवद्विष्टः यथा सह ।

'इनकी इच्छा है कि मैं अपने इसी शरीरसे देवलोकपर आधिकार प्राप्त करूँ । अतः आपकाग यों साथ रहकर ऐसे यज्ञका अनुष्ठान करे जिससे इन्हें इस शरीरमें ही देवलोककी प्राप्ति हो सके' ॥ ३ ॥

विश्वामित्रवचः श्रुत्वा सर्व एव महर्षयः ॥ ४ ॥

कृणुः सम्यक्ताः सहसा धर्मज्ञा धर्मसंहितम् ।

अयं कुशिकदायादो मुनिः परमकोपनः ॥ ५ ॥

यदाह वचनं सम्यगेतन् कार्यं न संशयः ।

विश्वामित्रजीकी यह बात सुनकर धर्मको जाननेकारने सभी तपिष्ठोंमें सहसा एकत्र होकर आपसमें धर्मयुक्त परामर्श किया—आद्यों । कुशिकके पुत्र विश्वामित्र मुनि बड़ा क्रोधी है । ये जो बात कह रहे हैं, तमका लीक तरहसे पालन करना चाहिये । इसमें संशय नहीं है ॥ ४-५ ॥

अग्निक्लृप्तो हि भगवान् शाप दास्यति रोषतः ॥ ६ ॥

तस्मान् प्रवर्त्यतां यज्ञः सशरीरो यथा दिवि ।

गच्छेद्विश्वामित्रोऽपि तेजसा ॥ ७ ॥

'ये भगवान् विश्वामित्र अग्निक्लृप्त तेजस्वी हैं । यदि

एतावदुक्त्वा वचनं विश्वामित्रो महातपाः ।

विश्वाम महातेजा ऋषिमध्ये महामुनिः ॥ २२ ॥

ऋषियोंके बीचमें ऐसा कहकर महातपस्वी, महातेजस्वी एवं महामुनि विश्वामित्र घुम छे गये ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे सत्योक्तोये आदिकाव्ये बालकाण्डे एकोनषष्टितमः सर्गः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डने उनसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

इनको बात नहीं मानी गयी तो ये रीत्यपूर्वक शाप दे देंगे । हमलिये ऐसे यज्ञका आरम्भ करना चाहिये, जिससे विश्वामित्रके तेजस में इक्ष्वाकुनन्दन त्रिशङ्कु सशरीर स्वर्गलोकमें जा सकें' ॥ ६-७ ॥

ततः प्रवर्त्यतां यज्ञः सर्वे समधिनिष्ठतः ।

एवमुक्त्वा महर्षयः संजहुस्ताः क्रियास्तदा ॥ ८ ॥

इस तरह विचार करके इन्होंने सर्वसम्पत्तिस यह निश्चय किया कि 'यज्ञ आरम्भ किया जाय ।' ऐसा निश्चय करके महर्षियोंने उस समय अपना-अपना कार्य आरम्भ किया । याज्ञकश्च महातेजा विश्वामित्रोऽभवत् कर्ता ।

ऋत्विजश्चानुपूर्व्येण मन्त्रवचनकोविदाः ॥ ९ ॥

अङ्गुः सर्वाणि कर्माणि यथाकल्पं यथाविधि ।

महातेजस्वी विश्वामित्र स्वयं ही उस यज्ञमें याज्ञक (अध्वर्यु) हुए । फिर क्रमशः अनेक मन्त्रवेत्ता ब्राह्मण ऋत्विज हुए, जिन्होंने कल्पशास्त्रके अनुसार विधि एवं मन्त्रोच्चारणपूर्वक सारे कार्य सम्पन्न किये ॥ ९ ॥

ततः कालेन महता विश्वामित्रो महातपाः ॥ १० ॥

वकारावाहनं तत्र ध्यागार्थं सर्वदेवताः ।

नाभ्यागमस्तदा तत्र ध्यागार्थं सर्वदेवताः ॥ ११ ॥

तदनन्तर बहुत समयतक यत्नपूर्वक मन्त्रपाठ करके महातपस्वी विश्वामित्रने अपना-अपना भाग ग्रहण करनेके लिये सम्पूर्ण देवताओंको आवाहन किया; परन्तु उस समय वहाँ ध्यान लेनके लिये वे सब देवता नहीं आये ॥ १०-११ ॥

ततः कोपसमाविष्टो विश्वामित्रो महामुनिः ।

सुखमुद्यम्य सकोधश्चिशङ्कुमिदमब्रवीत् ॥ १२ ॥

इससे महामुनि विश्वामित्रको बड़ा क्रोध आया और उन्होंने सुवा उठाकर रोवके साथ राजा त्रिशङ्कुसे इस प्रकार कहा— ॥ १२ ॥

पश्य मे तपसो वीर्यं स्वार्जितस्य नरेश्वर ।

एष त्वां स्वशरीरेण नयामि स्वर्गयोजसा ॥ १३ ॥

नरेश्वर । अब तुम मेरे द्वारा उपार्जित तपस्याका बल
इसी । मैं अभी तुम्हें अपनी शक्तिसे सशरीर स्वर्गलोकमें
पहुँचाता हूँ ॥ १३ ॥

दुष्प्रापं स्वशरीरेण स्वर्गं गच्छ नरेश्वर ।
स्वार्जिते किञ्चिदप्यस्ति मया हि तपसः फलम् ॥ १४ ॥
गजस्त्वं तेजसा तस्य सशरीरो दिवं ब्रज ।

‘राजन् । आज तुम अपने इस शरीरक साथ ही दुर्लभ
स्वर्गलोकको जाओ । नरेश्वर । यदि मैंने तपस्याका कुछ भी
फल प्राप्त किया है तो उसके प्रभावसे तुम सशरीर
स्वर्गलोकको जाओ’ ॥ १४ ॥

उक्तवाक्यं मुनी तस्मिन् सशरीरो नरेश्वरः ॥ १५ ॥
दिवं जगाम काकुत्स्थ मुनेनां पश्यतां तदा ।

श्रीराम । विश्वामित्र मुनिक इतना कहने ही गजा त्रिशङ्कु
गण मुनियोंक देखते-देखते उस समय अपने शरीरक साथ
ही स्वर्गलोकको चले गये ॥ १५ ॥

स्वर्गलोकं गतं दुष्टा त्रिशङ्कुं पाकशासनः ॥ १६ ॥
सह सर्वैः सुरगणैरिदं वचनमब्रवीत् ।

त्रिशङ्कुका स्वर्गलोकमें पहुँचा हुआ देख समस्त
देवताओंके साथ पाकशासन इत्रने उनसे इस प्रकार
कहा— ॥ १६ ॥

त्रिशङ्को गच्छ भूयस्त्वं नासि स्वर्गकृतालयः ॥ १७ ॥
गुरुशापहतो मूढ पत भूमिमवाधिशराः ।

मुख त्रिशङ्कु । तु फिर यहाँ लौट जा तू लिये स्वर्गमें
ग्यान नहीं है । तू मुझक शापसे मट्ट हो चुका है, अतः नीच
मूढ किसे पुनः पृथ्वीपर गिर जा’ ॥ १७ ॥

एवमुक्त्वा महन्टण त्रिशङ्कुपतन् पुनः ॥ १८ ॥
विक्रोशमानस्त्राहीनि विश्वामित्रं तपोधनम् ।

इन्द्रक इतना कहते ही राजा त्रिशङ्कु तपोधन विश्वामित्रको
पुकारते-‘नाहि-नाहि’ करे रट लगाते हुए पुनः स्वर्गसे
नीचे गिरे ॥ १८ ॥

नत्कुम्भा वचनं तस्य क्रोशमानस्य कौशिक ॥ १९ ॥
रोधयाहारयत् तं त्रिष्टु तिष्ठेति श्लाघ्यताम् ।

य वचन श्रित्यते हुए त्रिशङ्कुको यह करुण प्रकार सुनकर
कौशिक गुरुको घना क्रोध हुआ । वे त्रिशङ्कुमें बोले—
‘राजन् ! क्यों उठर जा क्यों उठर जा’ (उनके ऐसा कहनपर
त्रिशङ्कु चीखने लगे रह गये) ॥ १९ ॥

ऋषिमध्ये यं तेजस्वी प्रजापतिरिवामरः ॥ २० ॥
भृजव दक्षिणमार्गस्थान् सप्तर्षीनपरान् पुनः ।

नक्षत्रयशमपरमसुजत क्रोधमूर्च्छित ॥ २१ ॥

तत्पश्चात् तेजस्वी विश्वामित्र ऋषिमण्डलक बीच दूसरे
प्रजापतिके समान दक्षिणमार्गके स्थिते नये सप्तर्षियोंके सृष्टि
की तथा क्रोधसे भरकर उन्होंने नवीन नक्षत्रोंके भी निर्माण
कर डाला ॥ २०-२१ ॥

दक्षिणां दिश्यास्थाय ऋषिमध्ये महायशः ।

सृष्ट्वा नक्षत्रवंशं च क्रोधेन कलुषीकृतः ॥ २२ ॥
अन्यमिन्द्रं करिष्यामि लोको धास्यादनिन्द्रकः ।

देवतान्यपि स क्रोधात् अष्टं समुपचक्रमे ॥ २३ ॥

वे महायशस्वी मुनि क्रोधसे कलुषित हो दक्षिण दिशामें
ऋषिमण्डलके बीच नूतन नक्षत्रमाताओंकी सृष्टि करके यह
विचार करने लगे कि मैं दुम्भ इन्द्रकी सृष्टि करूँगा अथवा
मेरे द्वारा रचित स्वर्गलोक बिना इन्द्रके ही रहेगा । ऐसा
निश्चय करके उन्होंने क्रोधपूर्वक नूतन देवताओंकी सृष्टि
आरम्भ की ॥ २२-२३ ॥

ततः परममभ्रान्ताः सर्षिसङ्गाः सुरासुराः ।

विश्वामित्रं महात्मानमूचुः सानुनयं वचः ॥ २४ ॥

इससे समस्त देवता, असुर और ऋषि-समुदाय बहुत
भयगये और सभी वहाँ आकर महात्मा विश्वामित्रसे
विनयपूर्वक बोले— ॥ २४ ॥

अयं राजा महाभाग गुरुशापपरिक्षतः ।

सशरीरो दिवं यातुं नार्हत्येव तपोधन ॥ २५ ॥

महाभाग ये राजा त्रिशङ्कु गुरुके शापसे अपना पुण्य
मट्ट करके चाण्डाल हो गये हैं, अतः तपोधन ! ये सशरीर
स्वर्गमें जानेके क्यापि अधिकारी नहीं हैं ॥ २५ ॥

तेषां तद् वचनं श्रुत्वा देवानां मुनिपुङ्गवः ।

अब्रवीन् सुमहद् वाक्यं कौशिकः सर्वदेवताः ॥ २६ ॥

उन देवताओंकी यह बात सुनकर मुनिवर कौशिकने
सम्पूर्ण देवताओंसे परमोत्कृष्ट वचन कहा — ॥ २६ ॥

सशरीरस्य भद्रं वस्त्रिशङ्कोरस्य भूषणैः ।

आरोहणं प्रतिज्ञातं नानृतं कर्तुमुत्सहे ॥ २७ ॥

देवगण ! आपका कल्याण हो । मैंने राजा त्रिशङ्कुको
सदह स्वर्ग भेजनेकी प्रतिज्ञा कर ली है, अतः उसे मैं छूटो
नहीं कर सकता ॥ २७ ॥

स्वर्गोऽस्तु सशरीरस्य त्रिशङ्कोरस्य शाश्वतः ।

नक्षत्राणि च सर्वाणि मामकानि ध्रुवाण्यथ ॥ २८ ॥

वायव्यलोका धरिष्यन्ति तिष्ठन्वेतानि सर्वशः ।

यत् कृतानि सुराः सर्वे तदनुज्ञातुमर्हथ ॥ २९ ॥

इन महायज्ञ त्रिशङ्कुको सदा स्वर्गलोकका सुरक्ष प्राप्त होला
रहे । मैंने जिन नक्षत्रोंका निर्माण किया है वे मध्य सदा मौजूद
रहे । जबतक संसार रहे, तबतक ये सभी धर्म, जिनकी मेरे
द्वारा सृष्टि हुई है, सदा बनी रहे । देवताओ आप सब लोग
इन बातोंका अनुमोदन करें ॥ २८-२९ ॥

एवमुक्त्वाः सुराः सर्वे प्रत्यूषुर्मुनिपुङ्गवम् ।

एवं भवतु भद्रं ते तिष्ठन्वेतानि सर्वशः ॥ ३० ॥

गगने सान्धनेकानि वैश्वानरपथाद् बहिः ।

नक्षत्राणि मुनिश्रेष्ठ तेषु ज्योतिःषु जाज्वलन् ॥ ३१ ॥

अवाकिशरास्त्रिशङ्कुश्च तिष्ठत्वमरसंनिभः ।

अनुयास्यन्ति चैतानि ज्योतीषि नृपसत्तमम् ॥ ३२ ॥
कृतार्थं कीर्तिमन्तं च स्वर्गलोकगतं यथा ।

उनके ऐसा कहनेपर सब देवता मुनिवर विश्वामित्रसे बोले—“महर्षे ! ऐसा ही है। ये सभी वस्तुएँ क्यों रहे और आपका कल्याण हो, मुनिश्रेष्ठ ! आपके रचे हुए अनेक नक्षत्र आकाशमें फैलानेपरसे बाहर प्रकाशित होने और उन्हीं ज्योतिर्मय नक्षत्रोंके बीचमें सिर नीचा किये शिरगुरु भी प्रकाशमान रहेंगे। वहाँ इनकी स्थिति देवताओंके समान होगी और वे सभी नक्षत्र इन कृतार्थ की यशस्वी नृपश्रेष्ठका सार्गिक पुरुषकी भाँति अनुसरण करते रहेंगे ॥ ३०—३२ ॥

इत्थान् श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीयै आदिकाण्डे बह्विधतः सर्गः ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाण्डके बालकाण्डमें साठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६० ॥

एकषष्टितमः सर्गः

विश्वामित्रकी पुष्कर तीर्थमें तपस्या तथा राजर्षि अम्बरीषका ऋचीकके मध्यम पुत्र
शुनःशेपको यज्ञ-पशु बनानेके लिये खरीदकर लाना

विश्वामित्रो महातेजाः प्रस्थितान् वीक्ष्य तावृषीन् ।
अत्रयोश्रशर्मून् सर्वास्तान् वनवासिनः ॥ १ ॥

[शतानन्दजी कहने हैं—] पुरुषसिंह श्रीगण । यज्ञमें आये हुए उन सब वनवासी ऋषियोंको वहाँसे जाने देख गृहलक्ष्मी विश्वामित्र उनसे कहा— ॥ १ ॥

पराविप्रः प्रचुरोऽयं दक्षिणामास्थितो दिशम् ।
दिशामर्थो प्रपत्त्यामस्तत्र तपस्यामहे तपः ॥ २ ॥

‘महर्षियो ! इस दक्षिण दिशामें रहनेसे हमारी तपस्यामें महान् बिम्ब आ पड़ा है; अतः अब हम दूसरी दिशामें चले जाएँगे और वहाँ रहकर तपस्या करेंगे ॥ २ ॥

पश्चिमायां विशालाम्बो पुष्करेषु महात्मनः ।
सुखं तपश्चरिष्यामः सुखं तद्धि तपोवनम् ॥ ३ ॥

‘विशाल पश्चिम दिशामें जो महात्म ब्रह्मर्षिक तीन पुष्कर हैं, वहाँके पास रहकर हम सुखपूर्वक तपस्या करेंगे, क्योंकि वह तपोवन बहुत ही सुखद है ॥ ३ ॥

एवमुक्त्वा महातेजाः पुष्करेषु महामुनिः ।
तव इमं दुराधर्षं तपे मूलकलाशनः ॥ ४ ॥

ऐसा कहकर वे महातेजस्वी मातागुन पुष्करमें चले गये और वहाँ पञ्च भूतका भोजनकरके उग्र एवं दुर्गन्ध तपस्या करने लगे ।

एतास्मिन्नेव काले तु अयोध्याधिपतिर्महान् ।
अम्बरीष इति स्थातो यष्टु समुपचक्रमे ॥ ५ ॥

इन्हीं दिनों अयोध्यामें महाराज आकाश एक यज्ञकी तैयारी करने लगे ॥ ५ ॥

तस्य सै यजमानस्य पशुमिन्द्रो जहार ह ।
अण्डे तु पशौ विप्रो राजानमिदमब्रवीत् ॥ ६ ॥

विश्वामित्रस्तु धर्मात्मा सर्वदेवैरभिष्टुतः ॥ ३३ ॥
ऋषिमध्ये महानेजा वाक्वमित्येव देवताः ।

इसके बाद सम्पूर्ण देवताओंने ऋषियोंके बीचमें ही महानेजस्वी धर्मान्धा विश्वामित्र मुनिकी स्तुति की। इससे प्रसन्न होकर उन्होंने ‘बहुत अच्छा’ कहकर देवताओंका अनुरोध स्वीकार कर लिया ॥ ३३ ॥

ततो देवा भगवत्यानो ऋषयश्च तपोवनतः ।
जम्बुद्वीपागतं सर्वं यज्ञस्यान्ते नरोत्तम ॥ ३४ ॥

अश्रेष्ठ श्रीगण ! तदनन्तर यज्ञ समाप्त होनेपर सब देवता और तपोवन महर्षि जैसे आये थे, उसी प्रकार अपने-अपने स्थानको लौट गये ॥ ३४ ॥

जब वे यज्ञमें लगे हुए थे, उस समय इन्द्रने उनके यज्ञपशुकी चुग लिया। पशुके खों जोपर पुसहितजीने राजासे कहा— ॥ ६ ॥

पशुरथ्याहृतो राजन् प्रणष्टस्तव दुर्नयात् ।
अगश्चितारं राजानं धृतिं दोषा नरेक्षर ॥ ७ ॥

राजन् ! जो पशु यहाँ लाया गया था, वह आपका दुर्नीतिक कारण हो गया, नरेक्षर ! जो राजा यज्ञ-पशुकी क्षा नती करता, उसे अनेक प्रकारके दोष नष्ट कर डालते हैं ॥ ७ ॥

प्रायश्चित्तं भवद्भ्येतन्नरं वा पुरुषवर्षभ ।
आनयस्व पशुं शीघ्रं यावत् कर्म प्रवर्तते ॥ ८ ॥

‘पुरुषप्रवर ! जबतक कर्मका आरम्भ होता है, उसके पहले ही खोये हुए पशुको लाज कराकर उसे शीघ्र यहाँ ले आओ। अथवा उसके प्रातर्निधिरूपसे किसी पुरुष पशुको खरीद लाओ। वही इस पापका महान् प्रायश्चित्त है ॥ ८ ॥

उपाध्यायवचः श्रुत्वा स राजा पुरुषवर्षभः ।
अन्विषेयं महाबुद्धिः पशुं गोभिः सहस्रशः ॥ ९ ॥

पुर्वाहृतको यह बात सुनकर महाबुद्धिमान् पुरुषश्रेष्ठ राजा अध्ययनने राजागो गोओंके मूल्पर सरोदनके लिये एक पुरुषका अन्वेषण किया ॥ ९ ॥

देशाञ्जनपदांस्तान् नगराणि वनानि च ।
आश्रमाणि च पुण्यानि मार्गधाणो महीपतिः ॥ १० ॥

स पुत्रसहितं ताव सभार्यं रघुमन्दन ।
भृगुदुहं समासीनमुचीकं संदर्श ह ॥ ११ ॥

तात रघुमन्दन ! विभिन्न देशों, जन्पटों, नगरी, वनों तथा पवित्र आश्रमोंमें खोज करते हुए राजा अम्बरीष भृगुदुह

मन्त्रपर पहुँचे और वहाँ उन्होंने पत्नी तथा पुत्रों के साथ बैठे हुए अश्वीक मुनिको दर्शन किया ॥ १०-११ ॥

तपुवाच महातेजाः प्रणम्याभिप्रसाद्य च ।

महर्षि तपसा दीपे राजर्षिरमितप्रथः ॥ १२ ॥

अमित कान्तिमान् एवं महातेजस्वी राजर्षि अम्बराषणे शय्यासे उहीमे होनवाले महर्षि ऋचांककी प्रणाम किया और उन्हें प्रसन्न करके कहा ॥ १२ ॥

पृष्ट्वा सर्वत्र कुशलमूर्धाकं तमिदं वचः ।

गवां शतसहस्रेण विक्रीणीषे सुतं यदि ॥ १३ ॥

पशोरर्धे महाभाग कृतकृत्योऽस्मि भार्गव ।

पढ़ते तो उन्होंने ऋचांक मुनिसँ उनकी सभी वस्तुआक ज्ञापने कुशल-समाचार पूछा, ठमके बाद इन प्रकार कहा—'महाभाग भृगुनन्दन । यदि आप एक लाख गौएँ लेकर अपने एक पुत्रको पशु बनानेके लिये बर्च तो मैं कृतकृत्य हो जाऊँगा ॥ १३ ॥

मर्धं परिगता देशा यज्ञिये न लभे यशुम् ॥ १४ ॥

शानुमहीसि भूल्भ्येन सुतमेकमितो मम ।

मैं सारे देशोंमें घूम आया; परन्तु कहीं भी यज्ञोपवीतों पशु नहीं पा सका । अतः आप उचित मूल्य लेकर यहाँ मुझे अपने एक पुत्रको दे दीजिये' ॥ १४ ॥

एवमुक्तो महातेजा ऋचीकस्त्वब्रवीद् वचः ॥ १५ ॥

नाहं ज्येष्ठं नरश्रेष्ठ विक्रीणीयां कथञ्चन ।

उनके ऐसा कहनेपर महातेजस्वी ऋचांक बोले—'नर-श्रेष्ठ । मैं अपने ज्येष्ठ पुत्रको तो किसी तरह नहीं बेदूँगा' ॥

ऋचीकस्य वचः श्रुत्वा तेषां माता महात्मनाम् ॥ १६ ॥

इवाच नरशार्ङ्गलमम्बरीषमिदं वचः ।

ऋचीक मुनिकी बात सुनकर उन महात्मा पुत्रोंकी माताने भृगुसिंह अम्बरीषसे इस प्रकार कहा— ॥ १६ ॥

अधिक्रेयं सुतं ज्येष्ठं भगवानाह भार्गव ॥ १७ ॥

ममर्षि दयितं विद्वि कनिष्ठं शुनकं प्रभो ।

तस्मात् कनीयसं पुत्रं न दास्ये तव पार्थिव ॥ १८ ॥

इत्यर्धे श्रीमद्भगवत्पुत्रेण आदिकाव्ये बालकाण्डे एकषष्टितमः सर्गः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीमद्भगवत्पुत्रेण आदिकाव्यके बालकाण्डमें एकषष्टितमः सर्ग पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

द्विषष्टितमः सर्गः

विश्वामित्रद्वारा शुन.शेपकी रक्षाका सफल प्रयत्न और तपस्या

शुनःशेपं नरश्रेष्ठं गृहीत्वा तु महायशः ।

ज्यश्रमात् पुष्करे राजा मध्याह्ने रघुनन्दन ॥ १ ॥

[शतानन्दजी बोले—] नरश्रेष्ठ रघुनन्दन । महायशस्वी राजा अम्बरीष शुन.शेपको साथ लेकर पुष्करके समीप गेजकर तीर्थमें आये और वहाँ विश्राम करने लगे ॥ १ ॥

'प्रभो ! भगवान् भार्गव कहते हैं कि ज्येष्ठ पुत्र कदापि बेचनेवाग्य नहीं है परन्तु आपको भालूम होना चाहिये जो सबसे छोटा पुत्र शुनक है, वह मुझे भी बहुत ही प्रिय है । अतः पृथ्वीनाथ मैं अपना छोटा पुत्र आपको कदापि नहीं दूँगी । प्रायेण हि नरश्रेष्ठ ज्येष्ठाः पितृषु वल्लभाः ।

मातृणां च कनीयांसस्तस्माद् रक्ष्ये कनीयसम् ॥ १९ ॥

'नरश्रेष्ठ ! प्रायः जेठे पुत्र पिताओंको प्रिय होते हैं और छोटे पुत्र माताओंको । अतः मैं अपने कनिष्ठ पुत्रकी अवश्य रक्षा करूँगी' ॥ १९ ॥

उक्तवाक्ये मुनी तस्मिन् मुनिपत्न्यां तथैव च ।

शुनःशेपः स्वयं राम मध्यमे वाक्यमब्रवीत् ॥ २० ॥

श्रीराम । मुनि और उनकी पत्नीक ऐसा कहनेपर मझले पुत्र शुनःशेपने स्वयं कहा— ॥ २० ॥

पिता ज्येष्ठमधिक्रेयं माता चाह कनीयसम् ।

विक्रेयं मध्यमं मन्थे राजपुत्र नयस्व माम् ॥ २१ ॥

'राजपुत्र ! पिताने ज्येष्ठको और माताने कनिष्ठ पुत्रको बेचनेके लिये अयोग्य बतलाया है । अतः मैं समझता हूँ इन दोनोंको दृष्टिमें मझला पुत्र ही बेचनेके योग्य है । इसलिये तुम मुझे ही ले चले' ॥ २१ ॥

अथ राजा महाबाहो वाक्यान्ते ब्रह्मवादिनः ।

हिरण्यस्य सुवर्णस्य कोटिभ्यो रत्नराशिभिः ॥ २२ ॥

गवां शतसहस्रेण शुनःशेपं नरेश्वरः ।

गृहीत्वा परमप्रीतो जगाम रघुनन्दन ॥ २३ ॥

महाबाहु रघुनन्दन । ब्रह्मवादी मझले पुत्रके ऐसा कहनेपर राजा अम्बराष बड़े प्रसन्न हुए और एक कराड़ स्वर्णमुद्रा, रत्नोंके ढेर तथा एक लाख गौओंके बदले शुनःशेपको लेकर वे घरकी ओर चले ॥ २२-२३ ॥

अम्बरीषस्तु राजर्षी रश्ममारोप्य सत्वरः ।

शुनःशेपं महातेजा जगामाशु महायशः ॥ २४ ॥

महातेजस्वी महायशस्वी राजर्षि अम्बरीष शुनःशेपको रघुपर बिनाकर यहाँ उनाखलीक साथ साथ गतिसे चले ।

इत्यर्धे श्रीमद्भगवत्पुत्रेण आदिकाव्ये बालकाण्डे एकषष्टितमः सर्गः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीमद्भगवत्पुत्रेण आदिकाव्यके बालकाण्डमें एकषष्टितमः सर्ग पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

तस्य विश्रममाणस्य शुनःशेपो महायशः ।

पुष्करे ज्येष्ठमागम्य विश्वामित्रं वदति ॥ २ ॥

तप्यन्तपृथिविभिः सार्धं मातुलं परमातुरः ।

विषण्णवदनो दीनस्तृष्णाया च श्रमेण च ॥ ३ ॥

पपाताह्ये मुने राम वाक्यं चेदमुवाच ह ।

श्रीराम ! जब वे विश्राम करने लगे, उस समय

महायशस्वी शुन शेष ज्येष्ठ पुष्करमे आकर ऋषियोंके साथ
तपस्या करते हुए अपने मामा विश्वामित्रसे मिला । वह अत्यन्त
आनुर एवं दीन हो रहा था । उसके मुखपर विषाद छा गया
था । वह भूख-प्यास और परिश्रमसे दीन हो मुनिकी गोदमें
गिर पड़ा और इस प्रकार बोला— ॥ २-३ ॥

न मेऽस्ति माता न पिता ज्ञातयो बान्धवाः कुलः ॥ ४ ॥
आतुमर्हसि यो सौम्य धर्मेण मुनिपुङ्गव ।

‘मौण । मुनिपुङ्गव । न मे माता है, न पिता, फिर
भार्य्य व भू-बन्धुगणों को सकते हैं (मैं अयत्नाग हूँ अन) आप
ही धर्मके द्वारा मेरी रक्षा कीजिये ॥ ४ ॥

आता त्वं हि नरभेष्ट सर्वयो त्वं हि भावनः ॥ ५ ॥

राजा च कृतकार्यः स्यात्तु वीर्यापूरव्ययः ।

स्वर्गलोकप्राप्तीयां तपस्तप्त्वा ह्यनुत्तमम् ॥ ६ ॥

‘नरभेष्ट । आप सबके रक्षक तथा अपीष्ट कलुषों प्राप्ति
करनेवाले हैं । ये राजा क्षम्यणीय कृतार्थ हो जायें और मैं भी
विक्रमरहित दीर्घायु होकर सर्वोत्तम तपस्या करके स्वर्गलोक
प्राप्त कर लूँ—ऐसी कृपा कीजिये ॥ ५-६ ॥

स मे बाधो ह्यनाथस्य भव भव्येन चेतसा ।

मितेन पुत्र धर्मात्मस्मात्तुमर्हसि कित्त्विषात् ॥ ७ ॥

धर्मात्मन् । आप अपने निर्मलचित्तसे मुझ अनाथक
नाथ (असहायके संरक्षक) हो जायें । जैसे पिता अपने
पुत्रकी रक्षा करता है, उसी प्रकार आप मुझ इस पापमूलक
विपरीतसे बचाइये ॥ ७ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा विश्वामित्रो महातपाः ।

सान्त्वयित्वा बहुविधं पुत्रानिदमुवाच ह ॥ ८ ॥

शुन-शेषकी यह बात सुनकर महातपस्वी विश्वामित्र
हो बाना प्रकारसे सान्त्वना दे अपने पुत्रोंसे इस प्रकार
बोले— ॥ ८ ॥

यत्कृते पितरः पुत्राञ्जनयन्ति ह्युभार्थिनः ।

परलोकाद्विनाशाय तस्य कालोऽयमागतः ॥ ९ ॥

‘बन्धो ! शुभकरे आभिलाषा रखनेवाले पितर जिस
पारलौकिक विनाश उद्देश्यसे पुत्रों को जन्म देते हैं उसकी
पूर्विक्रय यह समय आ गया है ॥ ९ ॥

अयं मुनिसुतो बालो मत्तः क्षरणमिच्छति ।

अस्य जीवितमात्रेण प्रियं कृत्स्नं पुत्रकाः ॥ १० ॥

‘मुनी । यह बालक मुनिकुमार भूमसे अपनी रक्षा चाहता
है, शुभलक्षण अपना जीवितमात्र देकर इसका प्रिय करो ॥ १० ॥

सर्वं शुक्रतज्जगणः सर्वं धर्मपरायणाः ।

पशुभुजा नरेन्द्रस्य हृत्प्रियमग्नेः प्रयच्छतः ॥ ११ ॥

‘पशु सख-कै-सख गुण्यात्मा और धर्मपरायण हो । अतः
राजाके यज्ञमें पशु-वनकर-अग्निदेवको हृत्प्रदान करो ॥ ११ ॥

बाधयोश्च शुनःशेषो यज्ञश्चाविघ्नतो भवेत् ।

देवतारस्तर्पिताश्च स्युर्मम चापि कृते खचः ॥ १२ ॥

‘इससे शुन शेष सनाथ होगा, राजाका यज्ञ भी बिना
किसी विघ्नवाधाके पूर्ण हो जायगा, देवता भी तृप्त होंगे और
तुम्हारे द्वारा मेरे आज्ञाकर पालन भी हो जायगा ॥ १२ ॥

मुनेस्तद् वचनं श्रुत्वा मधुच्छन्दादयः सुताः ।

साभिधानं नरभेष्ट सर्लोलमिदमब्रुवन् ॥ १३ ॥

‘नरभेष्ट । विश्वामित्र मुनिका यह वचन सुनकर उनके
मधुच्छन्द और पुत्र आभिधान और अचलनापूर्वक इस
प्रकार बोले— ॥ १३ ॥

कथमात्मसुतान् हित्वा त्रायसेऽन्यसुते धिधो ।

अकार्यमिव पश्यामः शुभांसमिव भोजने ॥ १४ ॥

‘प्रभो ! आप अपने बहुत-से पुत्रोंको त्यागकर दूसरेके
एक पुत्रकी रक्षा कैसे करते हैं ? जैसे पवित्र भोजनमें कुत्ताका
मांस पड़ जाय तो वह अम्राह्य हो जाता है, उसी प्रकार जहाँ
अपने पुत्रोंकी रक्षा आवश्यक हो वहाँ दूधरक पुत्रकी रक्षाके
कार्यको हम अकर्तव्यको कंठमें ही देखते हैं ॥ १४ ॥

तेषां तद् वचनं श्रुत्वा पुत्राणां मुनिपुङ्गवः ।

क्रोधसंरक्तनयनो व्याहर्तुमुपचक्रमे ॥ १५ ॥

उन पुत्रोंकर वह कथन सुनकर मुनिवर विश्वामित्रके नेत्र
क्रोधसे लल हो गये । वे इस प्रकार कहने लगे— ॥ १५ ॥

विःसाध्वसमिदं प्रोक्तं धर्मादपि विगर्हितम् ।

अतिक्रम्य तु मद्वक्त्रं दारुणं रोमहर्षणम् ॥ १६ ॥

शुभांसभोजिनः सर्वे चासिद्धा इव जातिषु ।

पूर्णं वर्षसहस्रं तु पृथिव्यामनुवत्स्यथ ॥ १७ ॥

‘अर ! तुमलोगोंने निर्भय होकर ऐसी बात कही है, जो
धर्मसे ग्रहत एवं निन्दित है । मेरा आज्ञाका उल्लङ्घन करके
जो यह दारुण एवं रोमाञ्जकारो वान तुमन मुँहसे निकाली है,
इस अपराधके कारण तुम सब लोग भी कर्मिष्ठके पुत्रोंकी
भक्ति कृतका पांस खानवाला मुष्टिक आदि जातियोंमें जन्म
कर पर एक हजार वर्षोंतक इस पृथ्वीपर रहोगे ॥ १७ ॥

कृत्वा शापसमायुक्तान् पुत्रान् मुनिवरस्तदा ।

शुनःशेषमुवाचार्तं कृत्वा रक्षां निरामयाम् ॥ १८ ॥

इस प्रकार अपने पुत्रोंको शाप देकर मुनिवर विश्वामित्रने
उस समय शापान् शुन शेषकी विविध रक्षा करके उससे इस
प्रकार कहा— ॥ १८ ॥

पवित्रपाशैराबद्धो रक्तमाल्यानुलेपनः ।

वैष्णवं यूपमासाद्य चाग्निभरप्रमुदाहर ॥ १९ ॥

इमे च गाधे द्वे दिव्ये गायेत्रा मुनिपुत्रक ।

अम्बरोषस्य यज्ञेऽस्मिस्तनः सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ २० ॥

‘मुनिकुमार । अम्बरोषके इस यज्ञमें जब तुम्हें कुश
आदि पवित्र पाशोंमें अधिकतर लाल फूलोंकी माला और
लाल चन्दन धारण करा दिया जाय, उस समय तुम
विष्णुदेवता-मन्त्रोंकी यूपक पास जाकर वाणीद्वारा अग्निको
(इन्द्र और विष्णुको) स्तुति करना और इन दो दिव्य

गाथाओंका गान करना : इससे तुम मनोवाञ्छित सिद्धि प्राप्त कर लोगे' ॥ १९-२० ॥

शुनःशेषो गृहोत्था ते द्वे गाथे सुसमाहितः ।

स्वस्था राजसिंहं तमम्बरीषमुवाच ॥ २१ ॥

शुन-शेषने एकाग्रचित्त होकर उन दोनों गाथाओंको ग्रहण किया और राजसिंह अम्बरीषके पास जाकर उनसे शीघ्रता पूर्वक कहा— ॥ २१ ॥

राजसिंह महाबुद्धे शीघ्रं गच्छावहे वयम् ।

निवर्तयस्व राजेन्द्र दीक्षां च समुदाहर ॥ २२ ॥

'राजेन्द्र ! परम बुद्धिमान् राजसिंह ! अब हम दोनों शीघ्र चले । उत्तम यज्ञकी दीक्षा ले और यज्ञकार्य सम्पन्न करें' ॥

तद् वाक्यमृषिपुत्रस्य श्रुत्वा हर्षममन्वितः ।

जगाम नृपतिः शीघ्रं यज्ञजाटमनन्वितः ॥ २३ ॥

श्रुतिकुमारका यह वचन सुनकर राजा अम्बरीष आलस्य छोड़ हर्षसे उत्कूल हो शीघ्रतापूर्वक यज्ञशालामें गये ॥

सदस्यानुमते राजा पवित्रकनलक्षणम् ।

पशुं स्तनाम्बरं कृत्वा धूपं ते समबन्धयत् ॥ २४ ॥

यहाँ सदस्यों की अनुमति ले राजा अम्बरगर्भन शून-दापको कुशक पवित्रपात्रमें बाँधकर उसे पशुक लक्षणसे सम्पन्न

कर दिया और यज्ञ-पशुको रत्नल वस्त्र पहिनाकर धूपमें बंध दिया ॥ २४ ॥

स बद्धो वाग्धिरग्रयाभिरभितुष्टाव वै सुरौ ।

इन्द्रमिन्द्रानुजं चैव यथावन्मुनिपुत्रकः ॥ २५ ॥

बंध हुए मुनिपुत्र शुन शेषने उत्तम वाणीद्वारा इन्द्र और उपेन्द्र इन दोनों देवताओंको यथावत् स्तुति की ॥ २५ ॥

ततः प्रीतः सहस्राक्षो रहस्यस्तुतितोषितः ।

दीर्घमायुस्तदा प्रादाच्छुनःशेषाय वामनः ॥ २६ ॥

उस रहस्यभूत स्तुतिसे संतुष्ट होकर सहस्र नेत्रधारी इन्द्र बड़े प्रसन्न हुए । उस समय उन्होंने शुन शेषका दीर्घायु प्रदान की ॥ २६ ॥

स च राजा नरश्रेष्ठ यज्ञस्य च समाप्तवान् ।

फलं बहुगुणं राम सहस्राक्षप्रसादजम् ॥ २७ ॥

नरश्रेष्ठ श्रीगण ! राजा अम्बरीषने भी देवराज इन्द्रकी कृपासे उस यज्ञका बहुगुणसम्पन्न उत्तम फल प्राप्त किया ॥ विश्वामित्रोऽपि धर्मात्मा धृयस्तेषु महातपाः ।

पुष्करेषु नरश्रेष्ठ दशवर्षशतानि च ॥ २८ ॥

पुष्पप्रवर ! इसके बाद महातपस्वी धर्मात्मा विश्वामित्रने भी पुष्कर तीर्थमें पुनः एक हजार वर्षाधिक तीव्र तपस्या की ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये कालकाण्डे त्रिषष्टितमः सर्गः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यभट्टायण आदिकाव्यके कालकाण्डमें वामनोर्वी सर्ग पूरा हुआ । ६२ ॥

त्रिषष्टितमः सर्गः

विश्वामित्रको ऋषि एवं महर्षिपदकी प्राप्ति, मेनकाद्वारा उनका तपोभङ्ग तथा ब्रह्मर्षिपदकी प्राप्तिके लिये उनकी घोर तपस्या

पूर्ण धार्यसहस्रे तु ध्रुतस्मान्न महामुनिम् ।

अभ्यगच्छन् सुराः सर्वं तपः फलचिकीर्षवः ॥ १ ॥

[ज्ञानानन्दजी कहते हैं—श्रीगण ।] जब एक हजार वर्ष पूरे हो गये, तब उन्होंने वनवास समाप्तकर स्नान किया । स्नान कर लेनपर महामुनि विश्वामित्रक पास सम्पूर्ण देवता उनही तपस्याका फल दनकी इच्छामें आये । १ ॥

अब्रह्मात् सुमहानेजा ब्रह्मा सुगन्धिरं वचः ।

ब्राह्मिन्बर्गसि भट्टे ते श्वार्जितं कर्मविः शुभं ॥ २ ॥

उस समय महानेजनों ब्रह्माजीन मधुर वाणीमें कहा— 'मुने ! तुमका कल्याण हो । अब तुम अपने द्वारा उपाजित शुभकर्मके प्रभापसे ऋषि हो गये' ॥ २ ॥

तपवमुक्त्वा देवशक्तिदिवं पुनरभ्यगात् ।

विश्वामित्रो महानेजा धृयस्तेषु महत् तपः ॥ ३ ॥

उनसे ऐसा कहकर तेजस्वर ब्रह्माजी पुनः स्वर्गका गुरु गये ॥ इत्थं महातपस्वी विश्वामित्र पुनः बड़े भारी तपस्यामें लग गये ॥ ३ ॥

ततः कालेन महता मेनका धरमाप्सराः ।

पुष्करेषु नरश्रेष्ठ स्नातुं समुपचक्रमे ॥ ४ ॥

नरश्रेष्ठ ! महान्तर बहुत समय व्यतीत होनपर परम सुन्दरी अम्बा मेनका पुष्कण्ड श्रेष्ठ श्री ब्रह्मर्षिजीन सेवासे करन लगी ।

तां ददर्श महानेजा मेनकां कुशिकात्मजः ।

रूपेणाप्रणिमो नत्र विद्युर्न जलदे यथा ॥ ५ ॥

महानेजस्वी कुशिकनन्दन विश्वामित्रने वहाँ उस मेनकाको देखा । उसके रूप और लावण्यकी कहीं तुलना नहीं थी । जैसे चांदलमें बिजली भ्रमकती हो, उन्हीं प्रकार वह पुष्करके जलमें रोभा पा रही थी ॥ ५ ॥

कन्दर्पदर्पवशगो मुनिस्तपिदमब्रवीत् ।

अप्सरः स्वागतं तेऽस्तु वस चेह ममाक्षमे ॥ ६ ॥

उसे देखकर विश्वामित्र मुनि कामके अधीन हो गये और उससे इस प्रकार बोले—'अप्सर ! तेरा स्वागत है, तू मेरे इस आश्रममें निवास कर ॥ ६ ॥

अनुगृह्णीष्व भद्रं ते भदनेन विमोहितम् ।

इत्युक्ता सा वरारोहा तत्र वासमथाकरोत् ॥ ७ ॥

‘तेरा भला हो । मैं कामसे मोहित हो रहा हूँ । मुझपर क्रिया कर ।’ उनके ऐसा कहनेपर सुन्दर कटिप्रदेशवाली मेनका वहाँ निवास करने लगी ॥ ७ ॥

तपसो हि महाविघ्नो विश्वामित्रमुपागमत् ।
तस्यां वसन्त्यां वर्षाणि पञ्च पञ्च च राधव ॥ ८ ॥
विश्वामित्राभये सौम्ये सुखेन व्यतिचक्रयुः ।

इस प्रकार तपस्याका बहुत बड़ा विघ्न विश्वामित्रकीक पास जाने दुर्गस्थित हो गया । सुनन्दन । मेनका की विश्वामित्र की वर आश्रमपर रहते हुए दस वर्ष बड़े सुखसे बाते ॥

अथ काले गते तस्मिन् विश्वामित्रो महामुनिः ॥ ९ ॥
संग्रीह इव संगृह्णन्निष्कारोक्तपरायणः ।

इतना समय नीचे जानेपर महामुनि विश्वामित्र लाञ्छित हो गये । चिन्ता और शोकमें डूब गये ॥ ९ ॥

गुह्यैर्मुनेः समुत्पन्ना सामर्था रघुनन्दन ॥ १० ॥
रात्रे सुराणां कर्मतत् तपोऽप्यहरणं महत् ।

सुनन्दन । मुनिसे मनमें संगृह्णन्क यह निचार उत्पन्न हुआ कि ‘रात रात देवताओंकी कस्तूर है । उन्होंने हमारे तपस्य का अपहरण करनेके लिये यह महान् प्रयास किया है ॥

अतोरात्रापदेशेन गताः सेवत्सरा दश ॥ ११ ॥
काममोहाभिभूतस्य विघ्नोऽयं प्रत्युपस्थितः ।

‘मैं कामकलित मादुरस एसा भ्रष्टावृत्त हो गया कि मैं दस रातें एक दिन-रातक सभामें बाँत गये । यह मेरा तपस्यामें बहुत बड़ा विघ्न उपस्थित हो गया’ ॥ ११ ॥

स निश्चयान् मुनिवर्गं पशुनात्वेन तु विभत् ॥ १२ ॥
परा विचारका मुनिवर्ग विश्वामित्र लम्बा रात्रि रात्रिने हुए

पशुनात्से दुःखित हो गये ॥ १२ ॥
भातामध्वरस दृष्ट्वा खेधन्ती प्राञ्जलि स्थिताम् ।

मेनका राध्वरसदेविमुक्त कुशिकात्मजः ॥ १३ ॥
इतरे पर्वते राध विश्वामित्रो जगाम ह ।

इस रातको मेनका इत्यादि भयभीत हो घर-घर काँपनी हुई साथ जाइके उनके सामने खड़ी हो गयी । उसका आर देखकर कुशिकनन्दन विश्वामित्रने मधुर वचनोंद्वारा ठोसे धिक्का कर दिया और स्वयं वे उत्तर पर्वत (हिमवान्) पर चले गये ॥ १३ ॥

स कृत्या नैष्ठिकीं बुद्धिं जेतुकायो महावशाः ॥ १४ ॥
कौशिकानामारमासाद्य तपस्तेये दुरासदम् ।

कर्त्ता उन महावशाकी बुद्धि जेतुकायो महावशाः ॥ १४ ॥
कौशिकानामारमासाद्य तपस्तेये दुरासदम् ।

कर्त्ता उन महावशाकी बुद्धि जेतुकायो महावशाः ॥ १४ ॥
कौशिकानामारमासाद्य तपस्तेये दुरासदम् ।

तस्य वर्षमहस्त्राणि घोरं तप उपासतः ॥ १५ ॥
उत्तरे पर्वते राम देवतानामभूद् भयम् ।

श्रीराम । जहाँ उत्तर पर्वतपर एक हजार वर्षोंतक घोर तपस्यामें लगे हुए विश्वामित्रसे देवताओंकी बड़ा भय हुआ ।

आमन्त्रयन् समागम्य सर्वे सर्षिगणाः सुराः ॥ १६ ॥
महर्षिशब्दं लभतां साध्वयं कुशिकात्मजः ।

मन्त्र देवता और ऋषि परस्पर मिलकर सलाह करने लगे—‘ये कुशिकनन्दन विश्वामित्र महर्षिकी पदवी प्राप्त करें, यही इनके लिये उत्तम बात होगी’ ॥ १६ ॥

देवतानां वचः श्रुत्वा सर्वलोकपितामहः ॥ १७ ॥
भद्रवीन्यधुरं वाक्यं विश्वामित्रे तपोधनम् ।

महर्षे स्वागतं वत्स तपसोऽग्रेण तोषितः ॥ १८ ॥
महत्त्वमुषिमुख्यत्वं वदामि तव कौशिक ।

देवताओंकी बात सुनकर सर्वलोकपितामह ब्रह्माजी तपोधन विश्वामित्रके पास जा मधुर वाणीमें बोले—‘महर्षे । तुम्हारा स्वागत है । वत्स कौशिक । मैं तुम्हारी उग्र तपस्यासे बहुत मनोरुह हूँ और तुम्हारे महता एवं प्रशंसनीय श्रद्धा प्रदान करता हूँ ॥ १७-१८ ॥

ब्रह्मणस्तु वचः श्रुत्वा विश्वामित्रस्तपोधनः ॥ १९ ॥
प्राञ्जलिः प्रणतो भूत्वा प्रत्युवाच पितामहम् ।

ब्रह्मर्षिशब्दमतुलं स्वार्जितं कर्मभिः सुधैः ॥ २० ॥
यदि मे भगवन्नाह ततोऽहं विजितेन्द्रियः ।

ब्रह्माजीका यह वचन सुनकर तपोधन विश्वामित्र हाथ जाड़कर प्रणाम करने के ठनसे बोले—‘भगवन् ! यदि अपने द्वारा उपार्जित शुभकर्मोंके फलसे मुझे आप ब्रह्मर्षिका अनुपम पद प्रदान कर सकें तो मैं अपनेको जितेन्द्रिय समझूँगा’ ॥ २० ॥

तमुवाच ततो ब्रह्मा न नावन् त्वं जितेन्द्रियः ॥ २१ ॥
यतस्व मुनिशार्दूल इत्युक्त्वा त्रिदिवं गतः ।

तब ब्रह्माजीने उनसे कहा—‘मुनिश्रेष्ठ ! अभी तुम जितेन्द्रिय नहीं हुए हो । इसके लिये प्रयत्न करो ।’ ऐसा कहकर वे स्वर्गप्रकको चले गये ॥ २१ ॥

विप्रस्थितेषु देवेषु विश्वामित्रो महामुनिः ॥ २२ ॥
ऊर्ध्वग्राहुरिदालम्बो वायुभक्षस्तपश्चरन् ।

देवताओंके चले जानेपर महामुनि विश्वामित्रने धुनः धोर तपस्या आरम्भ की । वे दोनों भुजाएँ ऊपर उठाये बिना किसी आधारके खड़े होकर केवल वायु पीकर रहते हुए तपमें संलग्न हो गये ॥ २२ ॥

घर्मे पञ्चतपा भूत्वा वर्षास्याकाशसंश्रयः ॥ २३ ॥
शिशिरे सलिलेशावो रात्र्यहानि तपोधनः ।

एवं वर्षमहस्त्रं हि तपो घोरमुपागमत् ॥ २४ ॥
गर्भेकं दिनेमं पञ्चाग्रिक संवनं करते, वर्षाकालमें खुले आकाशके नीचे रहते और जाइके समस्त रात-दिन पानीमें खड़े रहते थे । इस प्रकार उन तपोधनने एक हजार वर्षोंतक घोर तपस्या की ॥ २३-२४ ॥

तस्मिन् संतप्यमाने तु विश्वामित्रे महामुनौ ।
मतापः सुपह्नासरीन् सुराणां वासवस्य च ॥ २५ ॥

तस्मिन् संतप्यमाने तु विश्वामित्रे महामुनौ ।
मतापः सुपह्नासरीन् सुराणां वासवस्य च ॥ २५ ॥

तस्मिन् संतप्यमाने तु विश्वामित्रे महामुनौ ।
मतापः सुपह्नासरीन् सुराणां वासवस्य च ॥ २५ ॥

तस्मिन् संतप्यमाने तु विश्वामित्रे महामुनौ ।
मतापः सुपह्नासरीन् सुराणां वासवस्य च ॥ २५ ॥

महामुनि विश्वामित्रक इमं प्रकृतं तपस्या कर्तुं
समयं देवताओं और इन्द्रके मनमें बड़ा भारी संतप
हुआ । २५ ।

रघुपाथसमं शक्रः सर्वं सह मरुद्वर्गः ।

इत्यर्थे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे त्रिषष्टितमः सर्गः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें त्रिसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६३ ॥

चतुःषष्टितमः सर्गः

विश्वामित्रका रम्भाको शाप देकर पुनः घोर तपस्याके लिये दीक्षा लेना

मृगकार्यमिदं रम्भे कर्तव्यं सुग्रहन् स्वया ।

लोभने कौशिकस्येह काममोहसमन्वितम् ॥ १ ॥

(इन्द्र बोले—) रम्भे ! देवताओंका एक बहुत बड़ा
कार्य उपस्थित हुआ है । इसे तुम्हें ही पूरा करना है । तू महर्षि
विश्वामित्रको इस प्रकार लुभा, जिसमें वे काम और माहक
बसोपृत हो जायें । १ ।

तथोक्ता साध्वरा राम सहस्राक्षेण धीमता ।

ब्रीहिता प्राञ्जलिवाक्यं प्रत्युवाच सुरेश्वरम् ॥ २ ॥

श्रीराम ! बुद्धिमान् इन्द्रके ऐसा कहकर वह अप्सरा
प्रजात हो हाथ जोड़कर देवेश्वर इन्द्रसे बोली । २ ।

अयं सुरपते घोरो विश्वामित्रो महामुनिः ।

क्रोधमुत्स्रक्ष्यते घोरं मयि देव न संशयः ॥ ३ ॥

'सुरपते ! ये महामुनि विश्वामित्र बड़ भयंकर हैं ।
तब ! इसमें संदेह नहीं कि ये मझपर भयानक क्रोधका
प्रयोग करेंगे । ३ ।

क्तो हि मे भयं देव प्रभादं कर्तुमर्हसि ।

एषमुक्तमवाच राम सभयं धीतया तदा ॥ ४ ॥

तामुवाच सहस्राक्षो वेपथुना कृताञ्जलिम् ।

मा धीमती रम्भे भद्रं ते कुरुष्व मम शासनम् ॥ ५ ॥

'भक्त ! देवेश्वर ! मुझे ठनसे बड़ा डर लगता है, आप
मझपर कृपा करें ।' आराम । इसी हुई रम्भके इस प्रकार उत्तर— रम्भे
तू भय न कर, तेरा भला हो, तू मेरा आज्ञा मान ल । ४-५ ॥

कोकिलो हृदयग्राही माधवे रुचिर्भुमे ।

भाहं कन्दर्पसहितः स्थास्यामि तव पार्श्वतः ॥ ६ ॥

प्रेमागता मममं क्रयं हि प्रत्येकं लक्षं नयन्त्यस्वाम्यं परमं
मन्दर शोभा कारण कर लेता है, अपनी मधुर काकलाम
सवके हृदयको गीतचनवान् कोकिल और कामदेवके हाथ में
भी तर पास रहेंगा ॥ ६ ॥

त्वं हि रूपं बहुगुणं कृत्वा धर्मधात्वगम् ।

नृपतिं कौशिकं भद्रे भेदयस्व तपस्विनम् ॥ ७ ॥

भद्रे ! तू अपने परम कान्तिमान् रूपको हाव-भाव आदि

उवाचात्पहितं वाक्यमहितं कौशिकस्य च ॥ २६ ॥

ममस्त मरुद्वर्गोसहित इन्द्रे तस समय रम्भ अप्सरामें
ऐसी चान कही जो अपने लिये हिनकर और विश्वामित्रक
लिये अहितकर हो ॥ २६ ॥

त्रिविधं गुणोपमं सम्पन्नं कर्कशं उग्रं दृगं विश्वामित्रं पुनिका
तपस्यासे विचलित कर दे' ॥ ७ ॥

सा श्रुत्वा वचनं तस्य कृत्वा रूपमनुनमयम् ।

लोभयामास ललिता विश्वामित्रं शुचिस्मिता ॥ ८ ॥

देवराजका यह वचन सुनकर उस मधुर पुसकानवाली
सुन्दरी अप्सराने परम उत्तम रूप बनाकर विश्वामित्रका
लुभाना आरम्भ किया ॥ ८ ॥

कोकिलस्य तु शृश्राव वल्गु व्याहरतः स्वनम् ।

सम्प्रहृष्टेन मनसा स चैनाभन्वर्वक्षत ॥ ९ ॥

विश्वामित्रने मोठी बोली बोल्नेकाले कोकिलको मधुर
कतकली सुनी । उन्होंने प्रसन्नचित्त होकर जब उस और
दृष्टिगत किया, तब सापने रम्भा खड़ी दिखायी दी । ९ ।

अथ तस्य च शब्देन गीतेनाप्रतिमेन च ।

दर्शनेन च रम्भाया मुनिः संदेहमागतः ॥ १० ॥

कोकिलके कलमव, रम्भाके अनुपम गीत और
अप्रत्याशित दर्शनसे मुनिके मनमें संदेह हो गया ॥ १० ॥

सहस्राक्षस्य तत्सर्वं विज्ञाय मुनिपुङ्गवः ।

रम्भां क्रोधसमाविष्टः शशाप कौशिकात्मज ॥ ११ ॥

देवराजका वह सारा कुचक्र उनको समझमें आ गया
फिर ना मुनिद्वारा विश्वामित्रने क्रोधम भरका रम्भाका शाप दते
हुए कही— ॥ ११ ॥

रम्भां लोभयसे रम्भे कामक्रोधजघेयिणम् ।

दशवर्षसहस्राणि शैली स्थास्यसि दुर्भगे ॥ १२ ॥

'दुर्भगे रम्भे ! मैं काम और क्रोधपर विजय पाना चाहता
हूँ और तू आकर मुझे लुभायों है । अब तुम अपराधिक कागण
तू दस हजार वर्षोंतक पन्थरकी प्रतिमा बनकर खड़ी रहगी ।

ब्राह्मणः सुमहानेजास्तपोबलसमन्वितः ।

उद्धरिष्यति रम्भे त्वां भक्तक्रोधकलुषीकृताम् ॥ १३ ॥

'रम्भे ! शापका समय पूरा हो जानेके बाद एक महान्
नजन्वी और तपावलसम्पन्न ब्राह्मण (बहार्जीक पुत्र बर्मह)
मेरे क्रोधसे कलुषित तेरा उद्धार करेंगे' ॥ १३ ॥

एवमुक्त्वा महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः ।

अशक्नुवन् धारयितुं कोपं संतापमात्मनः ॥ १४ ॥

ऐसा कहकर महातेजस्वी महामुनि विश्वामित्र अपना क्रोध
न रोक सकनेके कारण मन ही-मन संतप्त हो उठे ॥ १४ ॥
तस्य शापेन महता रम्भा शैली तदाभवत् ।

पद्यः श्रुत्वा च कन्दर्पो महर्षेः स च निर्गतः ॥ १५ ॥

मुनिके इस महाशापसे रम्भा तत्काल पर्यन्तकी प्रतिमा बन
गयी। महर्षिको यह शापयुक्त वचन सुनकर कन्दर्प और इन्द्र
वहाँसे हिसक गये ॥ १५ ॥

योगेन च महान्जास्तपोऽपहरणे कृते ।

इन्द्रियैरजितै राम न लभे शान्तिमात्मनः ॥ १६ ॥

श्रीराम ! योगसे तपस्याका शय हो गया और इन्द्रियों
आगतक कायुर्ग न आ सकी, यह विचारकर उन महातजस्वी
मुनिके चित्तको शान्ति नहीं मिलती थी ॥ १६ ॥

मधुवास्य मर्ताशुक्ला तपोऽपहरणे कृते ।

नैव क्रोधो गमिष्यामि न च वक्ष्ये कथंचन ॥ १७ ॥

तपस्याका अपहरण हो जानेपर उनके मनमें यह विचार
तलात हुआ कि अबमें १ तो क्रोध करूँगा और न बिगो
भी अवस्थामें मुझसे कुछ बोलूँगा ॥ १७ ॥

इत्यर्थे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे अनुषष्टितमः सर्गः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार श्री-॥६४॥भोक्तिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें चौसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६४ ॥

पञ्चषष्टितमः सर्गः

विश्वामित्रकी ग़ोर तपस्या, उन्हें ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति तथा राजा जनकका उनकी
प्रशंसा करके उनसे विदा ले राजभवनको लौटना

अथ त्रैलोक्यी राम दिशं त्यक्त्वा महामुनिः ।

पूर्वा दिशमनुप्राप्य तपस्तेपे सुदारुणाम् ॥ १ ॥

(शतानन्दजी कहते हैं—)श्रीराम ! पूर्वोक्त प्रतिज्ञाक
अनन्तर महामुनि विश्वामित्र उत्तर दिशाको व्यापकर पूरा पदार्थमें
चल गये और वहाँ रहकर अत्यन्त कठोर तपस्या करने लगे ।

मौन वर्षमहत्स्य कृत्वा व्रतमनुत्तमम् ।

चकाराप्रतिमं राम तपः परमदुष्करम् ॥ २ ॥

रघुनन्दन ! एक महत् वर्षावधिक तप्य उनमें मौन व्रत
धारण करके वे परम दुष्कर तपस्यामें लग रहे । उनके उस
तपकी कहीं तुलना न थी ॥ २ ॥

पूर्ण वर्षसहस्रे तु काष्ठभूते महामुनिम् ।

विश्वैर्बर्हगिराधूत क्रोधो नन्तरमाविशत् ॥ ३ ॥

एक हजार वर्ष पूर्ण होनेतक वे महामुनि काष्ठको आति
निष्ठेष्ट की रहे । बीच-बीचमें ऊपर बहुत-से विश्वोंका
आक्रमण हुआ, परंतु काष्ठ उनके भीतर नहीं घुसने पाया ॥

स कृत्वा निश्चयं राम तप आतिष्ठताव्ययम् ।

तस्य वर्षसहस्रस्य व्रते पूर्णे महाव्रतः ॥ ४ ॥

भोक्तुमारब्धवानत्र तस्मिन् काले रघुनम ।

इन्द्रो विजातिर्भूत्वा तं सिद्धमन्नमयाचत ॥ ५ ॥

अथवा नोच्छ्वसिष्यामि संवत्सरशतान्यपि ।

अहं हि शोषयिष्यामि आत्मानं विजितेन्द्रियः ॥ १८ ॥

'अथवा सौ वर्षोंतक मैं खास भी न लूँगा । इन्द्रियोंको
जितकर इस शरीरको सुखा डालूँगा ॥ १८ ॥

तावद् यावद्धि मे प्राप्तं ब्राह्मण्यं तपसार्जितम् ।

अनुच्छ्वसन्नभुजानस्तिष्ठेयं शाश्वतीः समाः ॥ १९ ॥

'जबतक अपनी तपस्यासे उपार्जित ब्राह्मणत्व मुझे प्राप्त न
होगा, तबतक चाहे अनन्त वर्ष भीत जायें, मैं बिना खाये-
पीये सड़ा रहूँगा और साँसतक न लूँगा ॥ १९ ॥

नहि मे तप्यमानस्य क्षयं यास्यन्ति भूतयः ।

एवं वर्षसहस्रस्य दीक्षां स मुनिपुङ्गवः ।

चकाराप्रतिमां लोके प्रनिज्ञां रघुनन्दन ॥ २० ॥

'तपस्या करते समय मेरे शरीरके अवयव कदापि नष्ट
नहीं होंगे।' रघुनन्दन ! ऐसा निश्चय करके मुनियार
विश्वामित्रने पुनः एक हजार वर्षोंतक तपस्या करनेके लिये
दीक्षा ग्रहण की । उन्होंने जो प्रतिज्ञा की थी, उसकी संभारमें
कहीं तुलना नहीं है ॥ २० ॥

इत्यर्थे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे अनुषष्टितमः सर्गः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार श्री-॥६४॥भोक्तिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें चौसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६४ ॥

श्रीराम ! अपने निश्चयपर अटल रहकर उन्होंने अक्षय
तपका अनुष्ठान किया । उनका एक सहस्र वर्षोंका व्रत पूर्ण
होनेपर वे महान् व्रतधारी महर्षि व्रत समाप्त करके अन्न ग्रहण
करनेका उद्योग हुए । रघुकुलभूषण ! इसी समय इन्द्रने
ब्राह्मणके क्षेत्रमें आकर उनसे तैयार अन्नकी याचना की ।

तस्मै दत्त्वा तदा सिद्धे सर्वे विश्वाय निश्चितः ।

नि शेषितेऽत्रे भगवानभुक्त्वैव महातपाः ॥ ६ ॥

तब उन्होंने वह साग तैयार किया हुआ भोजन उस
ब्राह्मणको देनेका निश्चय करके दे डाला । उस अन्नमेंसे कुछ
भी रोष नहीं था । इन्तलिये वे महातपस्वी भगवान् विश्वामित्र
बिना खाये पीये ही रह गये ॥ ६ ॥

न किञ्चिदवदद् विभ्रे मौनव्रतमुपास्थितः ।

नयैवासीत् पुनर्मौनमनुच्छ्वासं चकार ह ॥ ७ ॥

फिर भी उन्होंने उस ब्राह्मणसे कुछ कहा नहीं । अपने
मौन-वक्तव्य यथार्थरूपमें पालन किया । इसके बाद पुनः
पहलेकी ही भाँति खासोच्छ्वासमें रहित मौनव्रतका अनुष्ठान
आरम्भ किया ॥ ७ ॥

अथ वर्षमहत्वं च नोच्छ्वसन् मुनिपुङ्गवः ।

तस्यानुच्छ्वसमानस्य मूर्ध्नि धूपो व्यजायत ॥ ८ ॥

पूरे एक हजार वर्षात्क उन मुनिश्रेष्ठने ससितक
मही ली। इस तरह सौंस न लेनेके कारण उनके मस्तकमें
धुआँ उठने लगा ॥ ८ ॥

ब्रह्मलोक्यं येन सम्प्रान्तमातापितमिवाभवत् ।
ततो देवर्षिगन्धर्वाः पन्नगोरगरक्षमाः ॥ ९ ॥
मोहितास्तपसा तस्य तेजसा मन्दरहमयः ।
कश्मलोपहृताः सर्वे पितामहमथाब्रुवन् ॥ १० ॥

उगमसे तीनों लोकोंके प्राणी घबरा उठे, सभी संकम-सं
शये लगे। उस समय देवता, ऋषि, गन्धर्व, नाग, सर्प और
पन्नग सब मुनिकी तपस्यासे मोहित हो गये। उनके तेजसे
धनकी कान्ति फीकी पड़ गयी। वे सब-के-सब दुःखसे
आकुल हो पितामह ब्रह्माजीसे बोले— ॥ ९-१० ॥

बहुभिः कारणैर्देव विश्वामित्रो महामुनिः ।
लोभितः क्रोधितश्चैव तपसा चाभियर्धते ॥ ११ ॥

देव ! अनेक प्रकारके निमित्तोंद्वारा महामुनि विश्वामित्रको
लाग और क्रोध दितानकी चेष्टा की गयी, किंतु वे अपने
तपस्याके प्रभावसे निरन्तर आगे बढ़ते जा रहे हैं ॥ ११ ॥

नह्यस्य वृजिनं किञ्चित् दृश्यते सूक्ष्ममप्युत ।
न दीयते यदि त्वस्य मनसा यत्तर्हीप्सितम् ॥ १२ ॥
विनाशयति त्रैलोक्यं तपसा सचगचरम् ।

व्याकुलाश्च दिशः सर्वा न च किञ्चित् प्रकाशते ॥ १३ ॥

हमें उनमें कोई छंटा सा भी दोष नहीं दिखती देना ।
यदि इनमें इनकी मनचाही वस्तु नहीं दी गयी तो वे अपनी
तपस्यासे चराचर प्राणियोंमहित तीनों लोकोंका नाश कर
दालेंगे। इस समय सारी दिशाएँ धूमसे आच्छादित हो गयीं
हैं कहीं कुछ भी सुझता नहीं है ॥ १२-१३ ॥

सागराः क्षुभिताः सर्वे विक्षीर्यन्ते च पर्वताः ।
प्रकम्पन्ते च बभूवुः पायुर्वर्तीह संकुलः ॥ १४ ॥

समुद्र खुवा हो उठे हैं, सारे पर्वत विदारण हुए जाते
हैं, पर्वती हलमग हो रही हैं और प्रचण्ड आंधी चलने
लगी है ॥ १४ ॥

ब्राह्मन् न प्रतिजानीमो नास्तिको जायते जनः ।
गगनूहगिब्र त्रैलोक्यं सम्प्रभुभितमानसम् ॥ १५ ॥

'ब्राह्मन्' : हमें इस उग्रदृशके निवारणका कोई उपाय नहीं
गमनामें आता है। सब लोग नास्तिकहो धर्मि कथानुष्ठानसे
रुका हो रहे हैं। तीनों लोकोंके प्राणियोंका मन झुक्य हो गया
है, सभी भिक्वर्तगणिमूढ़-से हो रहे हैं ॥ १५ ॥

धात्करो निम्नभक्षश्च महर्ष्यस्य तेजसा ।
बुद्धिं न कुक्ले पावप्राप्तो देव महामुनिः ॥ १६ ॥
नायत् प्रसादो भगवन्नग्निरूपो महाबुनिः ।

'महर्षि विश्वामित्रके तेजसे सूर्यकी प्रभा फीकी पड़ गयी
है। भगवन् । ये महाकान्तिमान् मुनि अभिस्वरूप हो रहे हैं
देव ! महामुनि विश्वामित्र जलनके अग्निके विनाशका विचार

नहीं करते तबतक ही इन्हें प्रसन्न कर लेना चाहिये ॥ १६ ॥
कालाग्निना यथा पूर्वं त्रैलोक्यं दह्यतेऽखिलम् ॥ १७ ॥
देवराज्यं चिकीर्षन् दीयतामस्य यन्मनः ।

जैसे पूर्वकालमें प्रलयकालिक अग्निने सम्पूर्ण
त्रिलोकोको दग्ध कर डाला था, उसी प्रकार ये भी सबको
जलाकर धूम कर देंगे। यदि ये देवताओंका राज्य प्राप्त
करना चाहें तो वह भी इन्हें दे दिया जाय। इनके मनमें जो
भी अभिलषा हो, उसे पूर्ण किया जाय ॥ १७ ॥

ततः सुरगणाः सर्वे पितामहपुरोगमाः ॥ १८ ॥
विश्वामित्रं महात्मानं वाक्यं मधुरमब्रुवन् ।

तदनन्तर ब्रह्मा आदि सब देवता महात्मा विश्वामित्रके
पास जाकर मधुर वाणीसे बोले— ॥ १८ ॥

ब्रह्मर्षे स्वागतं तेऽस्तु तपसा त्वं सुतोषिताः ॥ १९ ॥
ब्राह्मण्यं तपसोमेण प्राप्नोष्वानसि कौशिक ।

'ब्रह्मर्षे ! तुम्हारा स्वागत है, हम तुम्हारी तपस्यासे बहुत
संतुष्ट हुए हैं। कुशिकनन्दन ! तुमने अपनी उग्रतपस्यासे
ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया ॥ १९ ॥

दीर्घमायुश्च ते ब्रह्मन् ददामि समरुद्रणः ॥ २० ॥
स्वस्ति प्राप्नुहि भद्रं ते गच्छ सौम्य यथासुखम् ।

ब्रह्मन् ' मन्दपाण्डित्य से तुम्हें दीर्घायु प्रदान करता हूँ
तुम्हारा कल्याण हो। सौम्य ! तुम मङ्गलके भागी बनो और
तुम्हारी जहाँ इच्छा हो वहाँ मुखपूर्वक जाओ' ॥ २० ॥

पितामहवचनः श्रुत्वा सर्वेषां त्रिदिवीकसाम् ॥ २१ ॥
कृत्वा प्रणामं भुदितो व्याजहार महामुनिः ।

पितामह ब्रह्माजीका यह वान सुनकर महामुनि विश्वामित्रने
अत्यन्त प्रसन्न होकर सम्पूर्ण देवताओंको प्रणाम किया
और कहा— ॥ २१ ॥

ब्राह्मण्यं यदि मे प्राप्तं दीर्घमायुस्तर्धैव च ॥ २२ ॥
ऌकारोऽथ वषट्कारो वेदाश्च वरयन्तु माम् ।

क्षत्रवेदविदां श्रेष्ठो ब्राह्मवेदविदामपि ॥ २३ ॥
ब्रह्मपुत्रो वसिष्ठो मामेव वदतु देवताः ।

यद्येव परमः कामः कृतो यान्तु सुर्यधाः ॥ २४ ॥

देवगण ! यदि मुझे (आपकी कृपासे) ब्राह्मणत्व मिल
गया और दीर्घ आयुकी भी प्राप्ति हो गयी तो ऌकार
वषट्कार और सारा वेद स्वयं आकर मेरा वरण करें। इसके
सिवा जो क्षत्रिय-वेद (धनुर्वेद आदि) तथा ब्रह्मवेद (ऋक्
आदि चारों वेद) के ज्ञानओमें भी सबसे श्रेष्ठ हैं, वे ब्रह्मपुत्र

वसिष्ठ स्वयं आकर मुझसे ऐसा कहें (कि तुम ब्राह्मण हो
गये), यदि ऐसा हो जाय तो मैं समझूँगा कि मेरा उत्तम
मनोरथ पूर्ण हो गया। उस अवस्थामें आप सभी श्रेष्ठ देवगण
यहाँमि जा सकते हैं' ॥ २२-२४ ॥

ततः प्रसादितो देवैर्वसिष्ठो जपतां धरः ।
सख्यं चकार ब्रह्मर्षिरिवमस्त्विति चाब्रवीत् ॥ २५ ॥

तब प्रसादितो देवैर्वसिष्ठो जपतां धरः ।
सख्यं चकार ब्रह्मर्षिरिवमस्त्विति चाब्रवीत् ॥ २५ ॥

तब देवताओंने मन्त्रजप करनेवालोंमें श्रेष्ठ वशिष्ठ मुनिकों प्रसन्न किया। इसके बाद ब्रह्मर्षि वसिष्ठने 'एवमस्मि' कहकर विश्वामित्रका ब्रह्मर्षि होना स्वीकार कर लिया और उनके साथ मित्रता स्थापित कर ली ॥ २५ ॥

ब्रह्मर्षिस्त्वे न संदेहः सर्वं सम्पद्यते तव ।

इत्युक्त्वा मेघनाथापि सर्वा जगुर्यथागतम् ॥ २६ ॥

'मुने ! तुम ब्रह्मर्षि हो गये, इसमें संदेह नहीं है। तुम्हारा सब आत्मीयताका सम्कार सम्पन्न हो गया।' ऐसा कहकर सम्पूर्ण देवता वंशों भागों में वैसे लौट गये ॥ २६ ॥

विश्वामित्रोऽपि धर्मात्मा लब्ध्वा ब्राह्मण्यभूतमम् ।

पुनयाभासं ब्रह्मर्षि वसिष्ठं जपतां वरम् ॥ २७ ॥

इस प्रकार जन्म ब्राह्मणत्व प्राप्त करके चर्माता विश्वामित्रजीने भी मन्त्र-जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ ब्रह्मर्षि कीसङ्गत पूजा किया ॥ २७ ॥

कृतकामो भवति सर्वां चत्वारं तपसि स्थितः ।

एतं स्वदेन ब्राह्मण्यं प्राप्तं राम महात्मना ॥ २८ ॥

इस तरह अपना मनोरथ सफल करके तपस्पाई लगे रहकर ही ये सम्पूर्ण भूधोपर विचरने लगे। श्रीराम। इस प्रकार उन्होंने तपस्या करके इन महात्मानों ब्राह्मणत्व प्राप्त किया ॥ २८ ॥

एव राम मुनिश्रेष्ठ एव विग्रहवांस्तपः ।

एव धर्मः परो नित्यं धीर्धर्मश्च परमपणम् ॥ २९ ॥

रामन्दन ! ये विश्वामित्रजी समस्त मुनियोंमें श्रेष्ठ हैं, ये तपस्यामें मुक्तिमान् स्वर्गा हैं, राम धर्मक साक्षात् विग्रह हैं और परमपणकी परम निधि हैं ॥ २९ ॥

एवमुक्त्वा महातेजा विरराम द्विजोत्तमः ।

शतानन्दध्वजः श्रुत्वा राधलक्ष्मणसंनिधौ ॥ ३० ॥

जनकः प्राञ्जलिर्वाक्यम्याच कुशिकात्मजम् ।

ऐसा कहकर महातेजस्वी विध्वर शतानन्दजी चुप हो गये। शतानन्दजीके मुखसे यह कथा सुनकर महाराज जनकने श्रीराम और लक्ष्मणके समीप विश्वामित्रजीमें हाथ जोड़कर कहा— ॥ ३० ॥

धन्योऽज्यन्तुगृहीतोऽस्मि यस्य ये मुनिपुङ्गव ॥ ३१ ॥

यज्ञं जाकुल्यमर्द्धितः प्राप्तधार्मासं कोशिक ।

प्राप्तोऽहं त्वया ब्रह्मन् दर्शनं महापुने ॥ ३२ ॥

'मुनिप्रवर कोशिक ! आप कृतकामकुलन्दन श्रीराम और लक्ष्मणके साथ मेरे यज्ञमें घाते, इससे मैं धन्य हो गया। आपने मुझपर बड़ी कृपा की। महामुने ! ब्रह्मन् ! आपने दर्शन देकर मुझे परितृप्त कर दिया ॥ ३१-३२ ॥

गुणा बहुविधाः प्राप्तस्तव संदर्शनान्वया ।

विस्तरेण च वै ब्रह्मन् कीर्त्यमानं महत्तपः ॥ ३३ ॥

श्रुतं मया महातेजो रामेण च महात्मना ।

सदस्यैः प्राप्य च सदः श्रुतास्ते ब्रह्मो गुणाः ॥ ३४ ॥

'आपके दर्शनमें मुझे बहुत लाभ हुआ, अनेक प्रकारके गुण उपलब्ध हुए। ब्रह्मन् आज उस सभामें जाकर मैंने महात्मा राम तथा अन्य सदस्योंके साथ आपके महान् तेज (प्रभाव) का वर्णन सुना है, यहुन में गुण सुने हैं ब्रह्मन् शतानन्दजीने आपके महान् तपका वृत्तान्त विस्तरपूर्वक बताया है ॥

अप्रमेयं तपस्तुभ्यमप्रमेयं च ते जलम् ।

अप्रमेया गुणाश्चैव नित्यं ते कुशिकात्मज ॥ ३५ ॥

'कुशिकन्दन ! आपकी तपस्या अप्रमेय है, आपका जल अनन्त है तथा आपके गुण भी सदा ही माप और सम्पन्ने पर हैं ॥ ३५ ॥

तृप्तिगर्भ्यभूतानां कथानां नास्ति मे विभो ।

कर्मकाले मुनिश्रेष्ठ लब्धते रविमण्डलम् ॥ ३६ ॥

'प्रभो ! आपकी आश्चर्यमयी कथाओंके श्रवणसे मुझे तृप्ति नहीं होती है किन्तु मुनिश्रेष्ठ ! यज्ञका समय हो गया है, सूर्यदेव उतरने लगे हैं ॥ ३६ ॥

धः प्रभाते महातेजो ब्रह्मर्षीसि मां पुनः ।

स्वागतं जपतां श्रेष्ठ भामनुज्ञानुमर्हसि ॥ ३७ ॥

'जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी मुने ! आपका स्वागत है। कल प्रातःकाल फिर मुझे दर्शन दे, इस समय मुझे आज्ञा प्रदान करें' ॥ ३७ ॥

एवमुक्ते मुनिवरः प्रशस्य पुरुषवर्धनम् ।

विमसर्जाशु जनकं प्रीते प्रीतमनास्तदा ॥ ३८ ॥

उत्तमों ऐसा कहनेपर मुनिवर विश्वामित्रजी मन-ही मन बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने प्रीतियुक्त नरश्रेष्ठ राजा जनककी प्रशंसा करके शीघ्र ही उन्हें विदा कर दिया ॥ ३८ ॥

एवमुक्त्वा मुनिश्रेष्ठं वेदेहो मिथिलाधिपः ।

प्रदक्षिणं चकाराशु सोपाध्यायः सखान्धवः ॥ ३९ ॥

उस समय मिथिलाप्रति विदेहराज जनकने मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रमें पूर्वोक्त बात कहकर अपने उपाध्याय और वन्धु-बान्धवोंके साथ उनको शीघ्र ही परिक्रमा की। फिर वहमें वे चल दिये ॥ ३९ ॥

विश्वामित्रोऽपि धर्मात्मा सहस्रारः सलक्ष्मणः ।

स्ववासयधिवक्तव्यं पूज्यमानो महात्मभिः ॥ ४० ॥

तत्पश्चात् धर्मात्मा विश्वामित्र भी महात्माओंसे पूजित होकर श्रीराम और लक्ष्मणके साथ अपने विश्राम स्थानपर लौट आये ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणं वाल्मीकीयं आदिकाव्यं बालकाण्डे पञ्चपट्टिनम् सर्गं ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहात्म्यकीवराभाषणे आदिकाव्यके बालकाण्डमें पैंसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६५ ॥



षट्षष्टितमः सर्गः

राजा जनकका विश्वामित्र और राम-लक्ष्मणका सत्कार करके उन्हें अपने यहाँ रखे हुए धनुषका परिचय देना और धनुष चढ़ा देनेपर श्रीरामके साथ उनके ब्याहका निश्चय प्रकट करना

ततः प्रभाते विमले कृतकर्मा नराधिपः ।
विश्वामित्रं महात्मानमाजुहाय सराधकम् ॥ १ ॥
नमर्चयित्वा भर्मात्मा शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ।
राधवी च महात्मानौ तदा साक्ष्यमुवाच ह ॥ २ ॥

तदनन्तर दूसरे दिन निर्मल प्रभातकाल आनेपर धर्मात्मा राजा जनकने अपना निर्य निर्यम पूरा करके श्रीराम और लक्ष्मणसहित महात्मा विश्वामित्रजीको बुलाया और शास्त्रों के सिद्धिके अनुसार मुनि तथा उन दोनों महामनस्को गजकुमारोंका पूजन करके इस प्रकार कहा— ॥ १-२ ॥

भगवन् स्वागतं तेऽस्तु किं करोषि तवानघ ।
धनानांजाययन् मायाजाय्यो भवता इहम् ॥ ३ ॥

‘भगवन् ! आपका स्वागत है । निर्यप महर्षे ! आप मुझ आज्ञा दीजिये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ; क्योंकि मैं आपका आज्ञापालक हूँ’ ॥ ३ ॥

एवमुक्तः स धर्मात्मा जनकेन महात्मना ।
प्रत्युवाच मुनिश्रेष्ठो साक्ष्यं वाक्यविशारदः ॥ ४ ॥

महात्मा जनकके ऐसा कहनेपर कोलनमें कुशल धर्मात्मा मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रने इनसे यह बात कही — ॥ ४ ॥

पुत्रौ दशरथस्येयो क्षत्रियो लोकविश्रुतौ ।
द्रष्टुकामौ धनुःश्रेष्ठं यदेतत्त्वयि तिष्ठति ॥ ५ ॥

‘महाराज ! राजा दशरथके ये दोनों पुत्र विश्वविख्यात क्षत्रिय वीर हैं और आपके यहाँ जो यह श्रेष्ठ धनुष रखा है, उसे देखनेकी इच्छा रखते हैं’ ॥ ५ ॥

एतन् दर्शय भद्रं ते कृतकामौ नृपात्मजौ ।
दर्शनादस्य धनुषो यथेष्टं प्रतियास्यतः ॥ ६ ॥

आपका कल्याण हो, यह धनुष इन्हें दिखा दीजिये । इससे इनको इच्छा पूरी हो जायगी फिर ये दोनों गजकुमार इस धनुषके दर्शनमात्रसे भोग्य हो इच्छानुसार अपने राजधानीको लौट जायेंगे’ ॥ ६ ॥

एवमुक्तस्तु जनकः प्रत्युवाच महामुनिम् ।
भूगतापस्य धनुषो यदर्शयिह तिष्ठति ॥ ७ ॥

मुनिके ऐसा कहनेपर राजा जनक महामुनि विश्वामित्रसे बोले—‘मुनिर ! इस धनुषका वृत्तान्त सुनिये । जिस उद्देश्यके यह धनुष यहाँ रखा गया, वह सब बताता है ।

देवराज इति ख्यातो निमेज्यशो महीपतिः ।
न्यासोऽयं तस्य भगवन् हस्ते दत्तो महात्मनः ॥ ८ ॥

भगवन् ! निमिके ज्येष्ठ पुत्र राजा देवराजक नामसे विख्यात थे । उन्हीं महात्माके हाथमें यह धनुष घगहरके रूपमें दिया गया था ॥ ८ ॥

दक्षयज्ञवधे पूर्वं धनुरायम्य वीर्यवान् ।
विध्वंस्य त्रिदशान् रोषात् सलीलमिदमब्रवीत् ॥ ९ ॥
यस्माद् धार्गार्थिनो भागे नाकल्पयत मे सुराः ।
वरादानि महार्हाणि धनुषा शान्तयामि व ॥ १० ॥

‘कहते हैं, पूर्वकालमें दक्षयज्ञविध्वंसक समय परम पराक्रमी भगवान् शङ्करने खेल-खेलमें ही रोषपूर्वक इस धनुषको उठाकर यज्ञ-विध्वंसके पक्षान् देवताओंसे कहा— देवगण ! मैं यज्ञमें भाग प्राप्त करना चाहता था, किन्तु तुमलोगोंने नहीं दिया । इसलिये इस धनुषसे मैं तुम सब ल्रगोंके परम पूजनीय श्रेष्ठ अङ्ग—मस्तक काट डालूँगा’ ।

ततो विमनसः सर्वे देवा वै मुनिपुङ्गव ।
प्रमादयन्त देवेशे तेषां प्रीतिः शभवद् भवः ॥ ११ ॥

‘मुनिश्रेष्ठ ! वह सुनकर सम्पूर्ण देवता उदास हो गये और स्तुतिक द्वारा देवाधिदेव महादेवजीको प्रसन्न करने लगे अन्तमें उनपर भगवान् शिव प्रसन्न हो गये’ ॥ ११ ॥

प्रीतियुक्तस्तु सर्वेषां ददौ तेषां महात्मनाम् ।
तदेतद् देवदेवस्य धनूरत्नं महात्मनः ॥ १२ ॥

न्यासभूतं तदा न्यस्तमस्माकं पूर्वजे विभौ ।

प्रसन्न होकर उन्होंने उन सब महामनस्वी देवताओंको यह धनुष अर्पण कर दिया । वहीं यह देवाधिदेव महात्मा भगवान् शङ्करका धनुष-रत्न है, जो मेरे पूर्वज महाराज देवराजके पास भगेश्वरके रूपमें रखा गया था ॥ १२ ॥

अथ मे कृषतः क्षेत्रं लाङ्गलादुत्थिता ततः ॥ १३ ॥
क्षेत्रं शोधयन्ता लब्ध्वा नाप्राप्नोति विश्रुता ।

भूतलादुत्थिता सा तु ध्ववर्धत ममात्मजा ॥ १४ ॥

एक दिन मैं यज्ञके लिये भूमिशोधन करने समय खेतमें बल घला रहा था । उसी समय हलके अप्रभवासे जोनी गयी भूमि (हराई या सीता) से एक कन्या प्रकट हुई । सीता (हलद्वारा खोंची गयी रेखा) से उत्पन्न होनेके कारण उसका नाम सीता रखा गया । पृथ्वीसे प्रकट हुई वह मेरी कन्या क्रमशः बढ़कर समानो हुई ॥ १३-१४ ॥

वीर्यशुल्केति मे कन्या स्थापितेयमयोनिजा ।
भूतलादुत्थिता तां तु वर्धमानां ममात्मजाम् ॥ १५ ॥

वरयापामुगगत्य गजानो मुनिपुङ्गव ।

‘अपनी इस अयोनिजा कन्याके विषयमें मैंने यह निश्चय किया कि जो अपने पराक्रमसे इस धनुषको चढ़ा देगा, उसीके साथ मैं उसका ब्याह करूँगा । इस तरह इस वीर्यशुल्का (पराक्रमरूप शुल्कवाली) बनावकर अपने घरमें रख छोड़ा है । मुनिश्रेष्ठ ! भूतलसे प्रकट होकर दिनों-दिन

बढ़नेवाली मेरी पुत्री सोताको कई राजाओं ने वहाँ आकर
भोगा ॥ १५ ॥

तेषां वरयतां कन्यां सर्वेषां पृथिवीक्षिताम् ॥ १६ ॥
वीर्यशुल्केति भगवन् न ददामि सुतामहम् ।

‘परन्तु भगवन् ! कन्याका वरण करनेवाले उन सभी
राजाओंको मैंने यह बात दिया कि मेरी कन्या वीर्यशुल्का है
(उचित पराक्रम प्रकट करनेपर ही कोई पुरुष उसके साथ
विवाह करनेका अधिकारी हो सकता है) । यही कारण है कि
मैंने आज तक किसीको अपनी कन्या नहीं दी ॥ १६ ॥

ततः सर्वे नृपतयः समेत्य मुनिपुङ्गव ॥ १७ ॥
मिथिलामप्युपागम्य वीर्यं जिज्ञासवस्तदा ।

‘मुनिपुङ्गव ! तब सभी राजा मिलकर मिथिलामें आये
और पूछने लगे कि राजकुमारों सोताका प्रसन्न करनेके लिये
कौन-सा पराक्रम विभिन्न किया गया है ॥ १७ ॥

तेषां जिज्ञासयानानां वीर्यं धनूस्पाहतम् ॥ १८ ॥
न शोक्नोमि तस्य धनुषस्तोलनेऽपि वा ।

‘मैंने पराक्रमी जिज्ञासा करनेवाले उन राजाओंके सामने
यह दिखानीका धनुष रख दिया, परन्तु वे लोग इसे उठाने या
हिलानेमें भी समर्थ न हो सके ॥ १८ ॥

तेषां वीर्यवतां वीर्यफलं ज्ञात्वा महाभुने ॥ १९ ॥
प्राप्ताल्लयाता नृपतयस्तन्निबोध तपोधन ।

‘महाभुने ! उन पराक्रमी नरेशोंकी शक्ति बहुत थोड़ी
जानकर मैंने उन्हें कन्या देनेमें इन्कार कर दिया । तपोधन !
इसके बाद जो बातें बटी, उसे भी आप सुन लीजिये ॥

ततः परमकोपेन राजानो मुनिपुङ्गव ॥ २० ॥
अस्वयन् मिथिलां सर्वे वीर्यसंदेहमागताः ।

‘मुनिपुङ्गव ! मैंने इन्कार करनेपर वे सब राजा अत्यन्त
क्रोधित हो उठे और अपने पराक्रमके विषयमें संशयास्पन्न हो
मिथिलाको चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये ॥ २० ॥

इत्यर्थे श्रीभारतमायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे षष्ठ्यष्टितमः सर्गः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकीजीनेर्मित आर्षरामायणे आदिकाव्यके बालकाण्डमें छठाठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६६ ॥

सप्तषष्ठितमः सर्गः

श्रीरामके द्वारा धनुर्धर तथा राजा जनकका विश्वामित्रकी आज्ञासे राजा
दशरथको बुलानेके लिये मन्त्रियोंको भेजना

जनकस्य चचः श्रुत्वा विश्वामित्रो महामुनिः ।

धनुर्दर्शय रामाय इति होवाच धार्मिकम् ॥ १ ॥

जनकजी यह बात सुनकर महामुनि विश्वामित्र बोले—

‘राजन् ! आप श्रीरामको अपना धनुष दिखाइये ॥ १ ॥

ततः स राजा जनकः सचिवान् व्यादिदेश ह ।

धनुरानीयतां दिव्यं गन्धमास्थानुलेपितम् ॥ २ ॥

तब राजा जनकने मन्त्रियोंको आज्ञा दी—‘चन्दन और

आत्मानमवधूतं मे विज्ञाय नृपपुङ्गवाः ॥ २१ ॥
रोषेण महताविष्टाः पीडयन् मिथिलां पुरीम् ।

‘मैंने द्वारा अपना तिरस्कार हुआ मानकर उन श्रेष्ठ नरेशोंने
अत्यन्त क्रोध हो मिथिलापुरीको सब ओरसे पीड़ा देना प्रारम्भ
कर दिया ॥ २१ ॥

ततः संवत्सरे पूर्णे क्षयं यातानि सर्वशः ॥ २२ ॥
साधनानि मुनिश्रेष्ठ ततोऽहं भृशदुःखितः ।

‘मुनिश्रेष्ठ ! पूरे एक वर्षतक वे घेरा डाले रहे । इस वीर्यमें
युद्धके सारे साधन क्षीण हो गये । इससे मुझे बड़ा दुःख हुआ ।

ततो देवगणान् सर्वास्तपसाहं प्रसादयम् ॥ २३ ॥
दक्षश्च परमप्रीताक्षतुरङ्गबलं सुराः ।

‘तब मैंने तपस्वीके द्वारा समस्त देवताओंको प्रसन्न
करनेकी चेष्टा की । देवता बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने मुझे
चतुर्गिणी सेना प्रदान की ॥ २३ ॥

ततो भग्नो नृपतयो हन्यमाना दिशो ययुः ॥ २४ ॥
अस्त्रीयां वीर्यसंदिग्धाः सामात्याः पापकारिणः ।

‘फिर तो हमारे सैनिकोंको घात खाकर वे सभी पापाचारी
राजा जो बलहीन थे अथवा जिनके बलवान् होनेमें संदेह
था, मान्यहीनचित्त भागकर विभिन्न दिशाओंमें चले गये ।

तदेतन्मुनिशार्दूल धनुः परमभास्वरम् ॥ २५ ॥
रामलक्ष्मणयोश्चापि दर्शयिष्यामि सुव्रत ।

‘मुनिश्रेष्ठ ! यही वह परम प्रकाशमान धनुष है । उत्तम
व्रतका पालन करनेवाले महर्षे ! मैं उसे श्रीराम और
लक्ष्मणको भी दिखाऊँगा ॥ २५ ॥

यद्यस्य धनुषो रामः कुर्यादारोपणं मुने ।
सुतामयोनिजां सीतां दद्यां दाशरथेरहम् ॥ २६ ॥

‘मुने ! यदि श्रीराम इस धनुषकी प्रत्यक्षा चक्रा दें
तो मैं अपनी अयोनिजा कन्या सोताको इन दशरथकुमारोंके
हाथमें दे दूँ ॥ २६ ॥

मालाओंसे सुशोभित वह दिव्य धनुष यहाँ ले आओ ॥ २ ॥

जनकेन सप्तादिष्टाः सचिवाः प्रविशन् पुरम् ।

तद्धनुः पुरतः कृत्वा निर्जग्मुरमितौजसः ॥ ३ ॥

राजा जनकको आज्ञा पाकर वे अमित तेजस्वी मन्त्री नगरमें
गये और उस धनुषको आगे करके पुरीसे बाहर निकले ॥ ३ ॥

नृणां शतानि यद्वाशद् व्यायतानां महात्मनाम् ।

यज्ञुषामष्टचक्रा तां समूहस्ते कथंजन ॥ ४ ॥

वह धनुष आठ पहियोवाली लोहकी बहुत बड़ी संदूकमें गला गया था। उस मोटे ताजे पाँच हजार महायन्त्री वीर किसी तरह छेड़कर बर्तनक ला सका ॥ ४ ॥

नामादाय सुमधुषामायसी यत्र तद्धनुः ।
सुरोपमे ते जनकपुत्रनुपतिमन्त्रिणः ॥ ५ ॥

लोहकी वह संदूक, जिसमें धनुष रखा गया था, लाकर उन मन्त्रियोंने देवोपम राजा जनकसे कहा— ॥ ५ ॥

इदं धनुर्वरं राजन् पूजितं सर्वराजभिः ।
मिथिलाधिप राजेन्द्र दर्शनीयं यदीच्छसि ॥ ६ ॥

'राजन् ! मिथिलामने ! राजेन्द्र ! यह समस्त राजाओं द्वारा सम्मानित श्रेष्ठ धनुष है। यदि आप इन दोनों राजकुमारोंको दिखाना चाहते हैं तो दिखाइये' ॥ ६ ॥

तेषां नृपो ययः श्रुत्वा कृताञ्जलिरभाषत ।
विश्वामित्रं महामानं त्राकुभौ रामलक्ष्मणौ ॥ ७ ॥

उनको ज्ञात धनुषकर राजा जनकने हाथ जोड़कर महात्म्य विश्वामित्र तथा दोनों भाई श्रीगम और लक्ष्मणसे कहा— ॥

इदं धनुर्वरं ब्रह्मञ्जनकैरभिपूजितम् ।
राजाभिस्तु महावीर्यैरशक्तैः पूरितं तदा ॥ ८ ॥

'ब्रह्मन् ! यही वह श्रेष्ठ धनुष है, जिसका जनकवशो नरेशोंने सदा ही पूजन किया है तथा जो इसे उठानेमें समर्थ न हो सके, उन महापराक्रमी नरेशोंने भी इसका पूर्वकालमें सम्मान किया है ॥ ८ ॥

नैनन् सुरगणाः सर्वे सासुरा न च राक्षसाः ।
गन्धर्वयक्षप्रवराः सकिन्नरमहोरगाः ॥ ९ ॥

'हम समस्त देवता, अस्त्र, राक्षस, गन्धर्व, बड़े-बड़े क्षत्र, किन्नर और महाराज भी यही खड़ा सकें हैं ॥ ९ ॥

क गतिर्मानुषाणां च धनुषोऽस्य प्रपूरणे ।
आरोपणे समायोगे वेपने तोलने तथा ॥ १० ॥

फिर इस धनुषको खींचने, चढ़ाने, इसपर बाण संधान, काने, इसका प्रत्यक्षामर टङ्कर देने तथा इसे उठाकर इधर उधर हिलानेमें मनुष्योंकी कर्मा शक्ति है ? ॥ १० ॥

तदेतद् धनुषां श्रेष्ठमानांतं मुनिपुङ्गव ।
दर्शयैतन्महाभाग अनयो राजपुत्रयोः ॥ ११ ॥

मुनिप्रवर ! यह श्रेष्ठ धनुष यहाँ लपटा गया है। महाभाग ! आप इसे इन दोनों राजकुमारोंको दिखाइये' ॥

विश्वामित्रः सरामस्तु श्रुत्वा जनकभाषितम् ।
वत्स राम धनुः पश्य इति राघवमब्रवीत् ॥ १२ ॥

विश्वामित्रने जनकका यह कथन सुनकर रघुनन्दनसे कहा— 'वत्स राम ! इस धनुषको देखो' ॥ १२ ॥

मार्ध्वैर्बध्नात् राघो यत्र निष्ठति तद्धनुः ।
मञ्जुषा तामषाश्रुत्या क्षुद्रा अनुरथाब्रवीत् ॥ १३ ॥

मार्ध्वैर्बध्नात् आश्रुत्या श्रीरामने जिसमें वह धनुष था उस संदूककी खालकर उसे धनुषको देखा और कहा ।

इदं धनुर्वरं दिव्यं संस्पृशापीह पाणिना ।
यत्नवांश्च भविष्यामि तोलने पूरणेऽपि सा ॥ १४ ॥

'अच्छ अत्र मैं इसे दिव्य एवं श्रेष्ठ धनुषमें हाथ लगाता हूँ। मैं इसे उठाने और चढ़ानेका भी प्रयत्न करूँगा' ॥ १४ ॥

साहमित्यब्रवीद् राजा मुनिश्च समभाषत ।
लीलया स धनुर्मध्ये जग्राह वचनान्मुनेः ॥ १५ ॥

पश्यतां नृसहस्राणां बहूनां रघुनन्दनः ।
आरोपयत् स धर्मात्मा सलीलमिव तद्धनुः ॥ १६ ॥

तब राजा और मुनिने एक स्वरसे कहा— 'हाँ, ऐसा ही करो।' मुनिकी आज्ञामें रघुकुलनन्दन धर्मात्मा श्रीरामने उस धनुषको बीचसे पकड़कर लोलापूर्वक उठा लिया और खल-सा करते हुए उसपर प्रत्यक्षा चढ़ा दी उस समय कई हजार मनुष्योंकी दृष्टि उनपर लगी थी ॥ १५-१६ ॥

आरोपयित्वा र्मावीं च पूरयामास तद्धनुः ।
तद् बभूवु धनुर्मध्ये नरश्रेष्ठो महामयाः ॥ १७ ॥

प्रत्यक्षा चक्षत्र महामयास्वी नश्रेष्ठ श्रीरामने ज्यों ही उस धनुषको कानतक झोचा त्यों ही वह बीचसे डी टूट गया ॥

तस्य शब्दो महानासीन्निर्घातसपनिःस्वनः ।
भूमिकम्पश्च सुपहान् पर्वतस्येव दीर्यतः ॥ १८ ॥

टूटते समय उससे जग्रातक सम्मान बढ़ा भारी आवाज हुई। ऐसा जन पड़ा मानो पर्वत फट पड़ा हो। उस समय महान् भूकम्प आ गया ॥ १८ ॥

निपेतुश्च नराः सर्वे तेन शब्देन मोहिताः ।
वज्रयित्वा मुनिवरं राजानं तौ च राघवौ ॥ १९ ॥

मुनिवर विश्वामित्र, राजा जनक तथा रघुकुलभूषण दोनों भाई श्रीगम और लक्ष्मणको छोड़कर शेष जितने लोग वहाँ खड़े थे, वे सब धनुष टूटनेक उस भयेकर शब्दसे भूडित होकर गिर पड़े ॥ १९ ॥

प्रत्याश्रुते जने तस्मिन् राजा विगतसाध्वसः ।
उवाच प्राञ्जलिर्वाक्यं वाक्यज्ञो मुनिपुङ्गवम् ॥ २० ॥

थोड़ी देरमें जब सबको घेन हुआ, तब निर्भय हुए राजा जनकने जो वाक्यम कृशक और वाक्यक मर्मको समझने-वाले थे, हाथ जोड़कर मुनिवर विश्वामित्रसे कहा— ॥ २० ॥

भगवन् दुष्टवीर्यां मे रामो दशरथात्मजः ।
अत्यद्भुतमचिन्त्यं च अनर्किन्तमिदं मया ॥ २१ ॥

'भगवन् ! मैंने दशरथनन्दन श्रीरामका पराक्रम आज अपनी आँखों देखा लिया। महादेवजीके धनुषको चढ़ाना—यह अत्यन्त अद्भुत, अचिन्त्य और अतर्कित घटना है ॥ २१ ॥

जनकानां कुले कीर्तिमाहरिष्यात् मे सुता ।
सीता भर्तारम्यासाद्य रामं दशरथात्मजम् ॥ २२ ॥

'मेरी पुत्री सीता दशरथकुमार श्रीरामको पतिरूपमें प्राप्त करके जनकवंशको कीर्तिक विस्तार करेगी ॥ २२ ॥

मम सत्या प्रतिज्ञा सा वीर्यशुल्केति कौशिक ।

सीता प्राणीर्बहुमता देया समाय मे सुता ॥ २३ ॥

‘कुशिकनन्दन ! मैंने सीताको वीर्यशुल्क (पराक्रमरूप) शुल्कसे ही प्राप्त होनेवाली) बताकर जो प्रतिज्ञा की थी, वह आज सत्य एवं सफल हो गयी । सीता मेरे लिये प्राणोंमें भी बढ़कर है । अपनी यह पुत्री मैं श्रीरामको समर्पित करूँगा ॥

भक्तानांनुगतं ब्रह्मशीघ्रं गच्छन्तु मन्त्रिणः ।

मम कौशिक भद्रं ते अयोध्या त्वरिता रथैः ॥ २४ ॥

राजानं प्रश्रितैर्वाञ्छितानयन्तु पुरं भय ।

प्रदानं वीर्यशुल्कायाः कथयन्तु च सर्वशः ॥ २५ ॥

बहान् । कुशिकनन्दन ! आपको कल्याण हो । यदि आपसी आजा हो तो मेरे मन्त्री रथपर सवार होकर बड़ा इत्ता-लीके साथ ग्रीध ही अयोध्याको जायें और विनययुक्त गणनोंद्वारा महाराज दशरथको मेरे मनमें लिखा लानें । साथ ही यहाँका सब समाचार बताकर यह सिखें कि जिसके लिये पराक्रमरूप ही शुल्क नियत किया गया था, उसे इसी

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे सप्तषष्ठितमः सर्गः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्णीत आर्यसमायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें सप्तषष्ठी सर्ग पूरा हुआ ॥ ६७ ॥

अष्टषष्ठितमः सर्गः

राजा जनकका संदेश पाकर मन्त्रियोंसहित महाराज दशरथका मिथिला जानेके लिये उद्यत होना

जनकस्य समादिष्टा दूतास्ते ब्रह्मवाहनाः ।

त्रिरात्रभुविता भारी लेऽयोध्या प्राविशन् पुरीम् ॥ १ ॥

राजा जनककी आज्ञा पाकर जनक दूत अयोध्याके लिये प्रस्थित हुए । रातमें ब्रह्मवाहक धक जानक कारण तीन रात विश्राम करके चौथे दिन वे अयोध्यापुरीमें आ पहुँचे ॥ १ ॥

ते राजवचनाद् गत्वा रामवेश्म प्रवेशिताः ।

ददृशुर्दयसकाशं वृद्धं दशरथं नृपम् ॥ २ ॥

राजाकी आज्ञासे उनका राजमहलमें प्रवेश हुआ । वहाँ जाकर उन्होंने देखतुल्य तेजस्वी वृद्ध महाराज दशरथका दर्शन किया ॥ २ ॥

बद्धाक्षलिपुटाः सर्वे दूता विगतसाध्वसाः ।

राजानं प्रश्रितं वाक्यमब्रुवन् षयुगक्षरम् ॥ ३ ॥

मिथिलो जनको राजा सान्निहोत्रपुरस्कृतः ।

मुहुर्मुहुर्मधुरया स्नेहसरक्तया गिरा ॥ ४ ॥

कुशलं चाव्ययं चैव सोपाध्यायपुरोहितम् ।

जनकस्त्वा महाराज पुच्छते सपुरःसरम् ॥ ५ ॥

उन सभी दूतोंने दोनो हाथ जोड़ निर्भय हो राजासे मधुर भाषीमें यह विनययुक्त बात कही—‘महाराज ! मिथिलापति राजा जनकने आग्रहोत्रकी अग्रिकों सामने रखकर स्नेहयुक्त मधुर भाषीमें सेवकोंसहित आपको तथा आपके उपाध्याय और पुरोहितोंका वारम्बार कुशल-मङ्गल पूछ है ॥ ३—५ ॥

जनककुमारों सीताकर विवाह श्रीरामचन्द्रजीके साथ होने जा रहा है ॥ २४-२५ ॥

मुनिगुप्तौ च काकुत्स्थौ कथयन्तु नृपाय वै ।

प्रीतियुक्तं तु राजानमानयन्तु सुशीघ्रगाः ॥ २६ ॥

‘ये लोग महाराज दशरथसे यह भी कह दें कि आपके दोनों पुत्र श्रीराम और लक्ष्मण विश्वामित्रजीके द्वारा सुरक्षित हो मिथिलामें पहुँच गये हैं । इस प्रकार प्रीतियुक्त हुए राजा दशरथको ये शीघ्रगामों सचिव जल्दी यहाँ बुला लायें ।

कौशिकस्तु तथेत्याह राजा चाभाष्य मन्त्रिणः ।

अयोध्यां प्रेषयामास धर्मात्मा कृतज्ञासनान् ।

यथावृत्तं समाख्यानुमानेतु च नृपं तथा ॥ २७ ॥

विश्वामित्रन ‘तथास्तु’ कहकर राजाकी बातका समर्थन किया । तब धर्मात्मा राजा जनकने अपनी आज्ञाका पालन करनेवाले मन्त्रियोंको समझा-बुझाकर यहाँका ठीक-ठीक समाचार महाराज दशरथको बनाने और उन्हें मिथिलापुरीमें ले आनेके लिये भेज दिया ॥ २७ ॥

पुष्टा कुशलमव्ययं वैदेहो मिथिलाधिपः ।

कौशिकानुमते वाक्यं भवन्तमिदमब्रवीत् ॥ ६ ॥

‘इस प्रकार व्यग्रतारहित कुशल पुच्छकर मिथिलापति विदेहराजने महर्षि विश्वामित्रकी आज्ञासे आपको यह संदेश दिया है ॥ ६ ॥

पूर्वं प्रतिज्ञा विदिता वीर्यशुल्का मयात्थजा ।

राजानश्च कृतामर्षा निर्वीर्या विमुखीकृताः ॥ ७ ॥

‘राजन् ! आपको मेरी पहले की हुई प्रतिज्ञाका हाल मालूम होगा । मैंने अपनी पुत्रीके विवाहके लिये पराक्रमका ही शुल्क नियत किया था । उसे सुनकर कितने ही राजा अमर्षमें भरे हुए आये, किंतु यहाँ पराक्रमहीन सिद्ध हुए और विमुख होकर घर लौट गये ॥ ७ ॥

सर्वं मय सुता राजन् विश्वामित्रपुरस्कृतैः ।

यदृच्छयागते राजन् निर्जिता तव पुत्रकैः ॥ ८ ॥

‘नरेवर ! मेरी इस कन्याको विश्वामित्रजीके साथ अकस्मात् घूमते फिरते आये हुए आपके पुत्र श्रीरामने अपने पराक्रमसे जीत लिया है ॥ ८ ॥

तच्च रत्नं वनुर्दिव्यं मध्ये भग्नं महात्मना ।

रामेण हि महाबाहो महत्यां जनसंसदि ॥ ९ ॥

‘महाबाहो ! महात्मा श्रीरामने महान् जनसमुदायके मध्य मेरे यहाँगये हारमस्वरूप दिव्य धनुषकी जीहसे तोड़ डाला है । ९ ॥

अस्य देवा मया सीता वीर्यशुल्का महात्मने ।

प्रतिज्ञां तर्तुमिच्छामि तदनुजानुमहंसि ॥ १० ॥

अतः मैं इन महात्मा श्रीरामचन्द्रजीका अपना वीर्यशुल्का का भोज प्रदान करूँगा। ऐसा करके मैं अपनी प्रतिज्ञा को पूरा होना चाहता हूँ। आप इसके लिये मुझे आज्ञा देनेका कृपा करें ॥ १० ॥

यापाभ्यायो महाराज पुरोहितपुरस्कृतः ।

शीघ्रमागच्छ धर्म ते द्रष्टुमर्हसि राघवी ॥ ११ ॥

महाराज ! आप अपने गुरु एवं पुरोहितके साथ यहाँ शीघ्र पधारें और अपने दोनों पुत्र रघुकुलभूषण श्रीराम और लक्ष्मणको देखें। आपका धर्म हो ॥ ११ ॥

प्रातर्ज्ञां मया राजन्द्र निचनंयिनुमहंसि ।

पुत्रयोरुभयोरेव प्रीतिं त्वमुपलप्स्यसे ॥ १२ ॥

‘राजेन्द्र ! यहाँ पधारकर आप मेरी प्रतिज्ञा पूर्ण करें। यहाँ आनेसे आपको अपने दोनों पुत्रोंके विवाहबानत आनन्दका प्राप्ति होगी ॥ १२ ॥

एव विद्वद्भाषिपतिमंधरं वाक्यमब्रवीत् ।

विश्वामित्राभ्यनुज्ञातः शतानन्दपते स्थितः ॥ १३ ॥

राजन् ! इस तरह विद्वद्राजन आगच्छ पास यह मधुर वचन भोजिया ॥ १३ ॥ १३ ॥ ‘विश्वामित्रजी की आज्ञा और शतानन्दजीकी सम्मति से मैं आया हूँ’ ॥ १३ ॥

दुतवाक्ये तु तच्छ्रुत्वा राजा परमहर्षितः ।

वरिष्ठं वामदेवं च मन्त्रिणशुभमब्रवीत् ॥ १४ ॥

सदेशावहक मन्त्रिणां सह वचनं सुनकर राजा दशरथ बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने महर्षि वसिष्ठ, वामदेव तथा अन्य मन्त्रियोंसे कहा— ॥ १४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डोऽष्टषष्ठितमः सर्गः ॥ ६८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकीजीके रामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें अष्टषष्ठितमः सर्ग पूरा हुआ ॥ ६८ ॥

एकोनसप्ततितमः सर्गः

दल बलसहित राजा दशरथकी मिथिला-यात्रा और वहाँ राजा जनकके द्वारा उनका स्वागत-सत्कार

नारो रात्रौ व्यतीनायां सोपाध्यायः सवान्धवः ।

राजा दशरथो हृष्टः सुमन्त्रमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

तदनन्तर रात्रि व्यतीनां सोपाध्याय और शयनकालमें राजा दशरथ हृष्ट भवकर सुमन्त्रसे इस प्रकार बोले ॥ १ ॥

भाल सर्वे घनाभ्यक्षा धनमाहात्म्यं पुष्कलम् ।

तज्जगन्ममे सुविहिता नानास्त्वसमन्विताः ॥ २ ॥

आज हमारे सभी धनभ्यक्ष (खानेकी) वस्तुएं तथा धन-स्त्वक नाना प्रकारके वस्त्रोंमें सम्यक् ही सजसे आते चले। इनकी रक्षाके लिये हर तरफकी मुख्यवस्था होनी चाहते

गुप्तः कुशिकपुत्रेण कौसल्यानन्दवर्धनः ।

लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा विदेहेषु वसत्यसी ॥ १५ ॥

कुशिकनन्दन विश्वामित्रसे सुगन्त हो कौसल्याका आनन्दवर्धन करनेवाले श्रीराम अपने छोटे भाई लक्ष्मणके साथ विदेहदेशमें निवास करते हैं ॥ १५ ॥

दृष्टवीयंस्तु काकुत्स्थो जनकेन महात्मना ।

सम्पदानं सुतायाम्नु राघवीं कर्तुमिच्छति ॥ १६ ॥

वहाँ महात्मा राजा जनकने ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामके परम्पराको प्रत्यक्ष देखा है। इसलिये वे अपना पुत्री सीताका विवाह रघुकुलभूषण रामके साथ करना चाहते हैं ॥ १६ ॥

यदि वो रोचते कृतं जनकस्य महात्मनः ।

पुरीं गच्छामहे शीघ्रं मा भूत् कालम्य धर्मयः ॥ १७ ॥

‘यदि आपलोगोंकी इच्छा एवं सम्मति हो तो हमलोग शीघ्र ही महात्मा जनककी मिथिलापुरीको चलें। इसमें विलम्ब न हो’ ॥ १७ ॥

मन्त्रिणो वादयित्वाहुः सह सर्वमहर्षिभिः ।

सुर्योत्थानाब्रवीद् राजा श्वो यात्रेति च मन्त्रिणः ॥ १८ ॥

यह सुनकर समस्त महर्षियोंसहित मन्त्रियोंने ‘बहुत अच्छा’ कहकर एक स्वरसे कहनेकी सम्मति दी। राजा बड़े प्रसन्न हुए और मन्त्रियोंसे बोले— ‘कल सवेर ही यात्रा कर डेनो चाहिये’ ॥ १८ ॥

मन्त्रिणाम्नु नरेन्द्रस्य रात्रि परमसत्कृताः ।

ऊचुः प्रमुदिताः सर्वे गुणैः सर्वे समन्विताः ॥ १९ ॥

महाराज दशरथके सभी मन्त्री समस्त सद्गुणोंमें सम्पन्न थे। राजा ने उनका बड़ा सत्कार किया। अतः वादात चलनेकी बात सुनकर उन्होंने बड़े आनन्दसे वह रात्रि व्यतीत की।

चतुरङ्गबलं चापि शीघ्रं निर्यातु सर्वशः ।

मयाज्ञासमकालं च यानं युध्यमनुत्तमम् ॥ ३ ॥

‘सारी चतुरङ्गबल सेना भी यहाँसे शीघ्र ही कूट कर दे। अभी मेरी आज्ञा सुनते ही सुन्दर-सुन्दर पालकियों और अच्छे-अच्छे घोड़े आदि वाहन तैयार होकर खल दें’ ॥ ३ ॥

वसिष्ठो वामदेवश्च जाह्नविरथ कश्यपः ।

मार्कण्डेयाम्नु दीर्घायुर्मरिचः कात्यायनसश्वा ॥ ४ ॥

एते द्विजाः प्रधान्वये स्यन्दने योजयस्व मे ।

यथा कालान्ययो न स्याद् दूता हि त्वरयन्ति माम् ॥ ५ ॥

वसिष्ठ, वामदेव, जाह्नव, कश्यप, दीर्घजीवी, मार्कण्डेय

मुनि तथा कात्यायन—ये सभी महर्षि आगे-आगे चले । मेरा
रथ भी तैयार करो । देर नहीं होनी चाहिये । राजा जनकके दूत
मुझे जल्दी करनेके लिये प्रेरित कर रहे हैं ॥ ४-५ ॥

वयनाम् नरेन्द्रस्य सेना च चतुरङ्गिणी ।

राजानमृषिभिः साधै ब्रजन्तं पृष्ठतोऽन्वयात् ॥ ६ ॥

राजान्नी इस आज्ञाके अनुसार चतुरङ्गिणी सेना तैयार हो
गयी और ऋषियोंके साथ यात्रा करते हुए महाराज दशरथके
पीछे-पीछे चली ॥ ६ ॥

गत्या चतुराहं मार्गं विदेहानभ्युपेयिवान् ।

राजा च जनकः श्रीपादभ्रुत्वा पूजामकल्पयत् ॥ ७ ॥

चार दिनकर मार्ग तब करके वे सब लोग विदेह-देशमें
जा पहुँचे । उनके आगमनका समाचार सुनकर श्रीमान् राजा
जनकने स्वागत-सत्कारकी तैयारी की ॥ ७ ॥

ततो राजानभासाद्य वृद्धं दशरथं नृपम् ।

मुदितो जनको राजा प्रहर्षं परमं ययौ ॥ ८ ॥

तापश्चात् आनन्दभास हुए राजा जनक वृद्ध महाराज
दशरथके पास पहुँचे । जैसे मिलकर उन्हें कभी दर्प हुआ ।

तवाद्यं वन्दनं श्रेष्ठो नरश्रेष्ठ मुदान्वितम् ।

स्वागतं ते नरश्रेष्ठ दिव्या प्राप्नोऽसि राधव ॥ ९ ॥

राजाओंमें श्रेष्ठ आश्वत्थामनरेशने आनन्दमय हुए पुरुषप्रवर
राजा दशरथसे कहा—'नरश्रेष्ठ रघुनन्दन ! आपका स्वागत
है । मेरे लड़े भाग्य, जो आप यहाँ पहुँचे ॥ ९ ॥

पुत्रयोःकर्मयोः प्रीतिं लप्स्यसे वीर्यनिर्जिताम् ।

विष्टया प्राप्तो महानेजा वसिष्ठो भगवानृषिः ॥ १० ॥

महत् सर्वोक्तिस्त्वैर्देवैरिव शतकतुः ।

'भगवन् यहाँ आने दोनों पुत्रोंकी प्रीति प्राप्त करोगे, जो
उन्होंने अपने पराक्रमसे जोनकर पायी है । महानेजकी
भगवान् वसिष्ठ मुनिने भी हमारे सोभायसे जो यहाँ आने सेना
विस्था है । वे इन सभी श्रेष्ठ ऋषियोंके साथ कैसी ही प्रीति
पा रहे हैं, जैसे देवताओंके साथ इन्द्र सुदीर्घाधित होते हैं ॥

दिव्या मे निर्जिता विष्टा दिष्टया मे पूजित कुलम् ॥ ११ ॥

राघव, सह सम्प्रभ्रातृ वीर्यश्रुतिर्मात्रले ।

'सोभायसे मेरी सारी विष्ट-काद्यायें परजित हो गयीं
रघुकुलके महाराज महान् कलम सम्पन्न और पराक्रमसे
सबसे श्रेष्ठ होते हैं । इस कुलके साथ सम्बन्ध होनेके कारण
आज मैं कुलका सम्पन्न बहू गया ॥ ११ ॥

सुः प्रभाने नरेन्द्र त्वं संवर्तयितुमर्हसि ॥ १२ ॥

यज्ञस्थानो नरश्रेष्ठ त्रिवाहमृषिसन्तमैः ।

'नरश्रेष्ठ नरेन्द्र ! कलम रखें इन सभी महर्षियोंके साथ

उपस्थित हो मेरे यज्ञकी समारंभिक खाद आप श्रीरामके
विवाहका शुभकार्य सम्पन्न करें ॥ १२ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा ऋषिमध्ये नराधिपः ॥ १३ ॥

वाक्यं वाक्यविदां श्रेष्ठः प्रत्युवाच महीपतिम् ।

ऋषियोंकी भण्डालीमें राजा जनकको यह बात सुनकर
बोल्नेकी कला जन्मनेवाले विद्वानोंमें श्रेष्ठ एवं वाक्य-
परमज्ञ महाराज दशरथने मिथिलानरेशको इस प्रकार
उत्तर दिया— ॥ १३ ॥

प्रतिग्रहो दातृवशः श्रुतमेतन्मया पुरा ॥ १४ ॥

यथा वक्ष्यसि धर्मज्ञ तत् करिष्यामहे वयम् ।

'धर्मज्ञ ! मैंने पहलेसे यह सुन रखा है कि प्रतिग्रह
दातृके अधीन होता है । अतः आप जैसा कहेंगे, हम वैसा
ही करेंगे ॥ १४ ॥

तद् धर्मिष्ठं वक्षस्यं च वचनं सत्यवादिनः ॥ १५ ॥

श्रुत्वा विदहाधिपतिः परं विस्मयभागतः ।

सत्यवादी राजा दशरथका यह धर्मानुकूल तथा
यज्ञार्थक वचन सुनकर विदहराज जनकका बड़ा
विस्मय हुआ ॥ १५ ॥

ततः सर्वे धुनिगणाः परस्परसमागमे ॥ १६ ॥

हर्षेण महता युक्तास्तां रात्रिमखसन् सुखम् ।

तदनन्तर सभी महर्षि एक-दूसरेसे मिलकर बहुत प्रसन्न
हुए और गहन उद सुगमसे वन गन विचार्य, ॥ १६ ॥

अथ रामो महानेजा लक्ष्मणेन सर्वं ययौ ॥ १७ ॥

विश्वामित्रं पुरस्कृत्य धितुः पादाबुपस्पृशन् ।

इधर महानेजकी श्रीराम विश्वामित्रजोंको आगे करके
लक्ष्मणके साथ पिताजोंके पास गये और उनके चरणोंका
मार्ज किया ॥ १७ ॥

राजा च राघवो पूत्री निशाम्य परिहर्षितः ॥ १८ ॥

उवास परमप्रीतो जनकेनाभिपूजितः ।

राजा दशरथने भी जनकके द्वारा आदर-सत्कार पाकर
बड़ी प्रसन्नताका अनुभव किया तथा अपने दोनों रघुकुल-
गत पुत्रोंकी मङ्गलता देखकर उन्हें आनन्दित हुआ । व रातमें
बड़े सुखसे वहाँ रहे ॥ १८ ॥

जनकोऽपि महानेजाः क्तिधा धर्मेण तत्त्ववित् ।

यज्ञस्य च सुताभ्यां च कृत्वा रात्रिमुवास ह ॥ १९ ॥

महानेजकी तत्त्वज्ञ राजा जनकने भी धर्मके अनुसार
यज्ञकार्य सम्पन्न किया तथा अपनी दोनों कन्याओंके
लिये महाराजाका सम्पादन करके सुन्नसे वह रात्रि
न्यतात की ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये वाल्मीकिप्रोक्ते एकोनसप्ततितमः सर्गः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यशामायण आदिकाव्यके वाल्मीकिप्रोक्ते अहत्तरवीं सर्ग पुरा हुआ ॥ ६९ ॥

सप्ततितमः सर्गः

राजा जनकका अपने भाई कुशध्वजको सांकाश्या नगरीसे बुलवाना, राजा दशरथके अनुरोधसे वसिष्ठजीका सूर्यवंशका परिचय देते हुए श्रीराम और लक्ष्मणके लिये सीता तथा अर्मिलाको खरण करना

नमः प्रभाते जनकः कृतकर्मा महर्षिभिः ।
उवाच वाक्ये वाक्यजः शतानन्दं पुणेहितम् ॥ १ ॥

तदनन्तर जब सवेरा हुआ और राजा जनक महर्षियोंके मन्त्रागसे अपना यज्ञ-कार्य समाप्त कर चुके, तब वे वाक्यागर्जित नरेश अपने पुणेहित शतानन्दजीसे इस प्रकार बोले— ॥ १ ॥

आता मम महानजा श्रीरामानन्तिधार्मिकः ।
कुशध्वज इति ख्यातः पुरिमध्यवसच्छुभाय ॥ २ ॥
वार्याफलकपर्यन्ता पिबन्निक्षुभर्तो नदीम् ।
साकाश्यां पुण्यसंकाशा विमानमिव पुष्पकम् ॥ ३ ॥

ब्रह्मन् ! मर महानजस्वी और पराक्रमी भाई कुशध्वज जो अत्यन्त धर्मात्मा हैं, इस समय इक्षुभर्तो नदीका जल पीने हुए ठमके किनारे खड़े हुई कल्याणामयी सांकाश्या नगरमें निवास करते हैं। उससे आगे ओरके परकोटेमें मस्तके गिर्य शत्रुओंके निवारणमें समर्थ बड़े-बड़े सन्त्र लगाये गये हैं। यह पुरी पुष्पक विमानके समान विस्तृत तथा पुण्यमय उपलब्ध होनेवाले स्वर्गलोकके सदृश सुन्दर है ॥ २-३ ॥

तमह द्रष्टुमिच्छामि यज्ञगोप्ता स मे मतः ।
प्रीति सोऽपि महतेजा इमां भोक्ता मया सह ॥ ४ ॥

‘वहाँ रहनेवाले अपने भाइयों इस शुभ अवसरपर मैं यहाँ ठाम्बित देखना चाहता हूँ- क्योंकि मेरी दृष्टिमें वे मेरे इस यज्ञके संरक्षक हैं। महानजस्वी कुशध्वज भी मेरे साथ श्रीसीता-रामके विवाहसम्बन्धी इस मङ्गल महारोहका सुख ठठानेगे’ ॥ ४ ॥

एवमुक्तं तु वचने शतानन्दस्य संनिधौ ।
आगताः संक्षिप्तव्यव्राजजनकम्बान् समादिशन् ॥ ५ ॥

राजाके इस प्रकार कहनेपर शतानन्दजीके समक्ष कुछ और स्वभाविक वृत्त आये और राजा जनकने उन्हें पूर्वाक्त आदिज सुनाया ॥ ५ ॥

शासनात् तु नरेन्द्रस्य प्रचयः शीघ्रवर्जिभिः ।
समानेनैव नरव्याघ्रे विष्णुमिन्द्राजया यथा ॥ ६ ॥

राजाकी आज्ञासे वे श्रेष्ठ दूत भेज करनेवाले शीघ्रपर सवार हो पुण्यसिद्ध कुशध्वजको युक्त नानेक लिये खल लिये। मागी इन्द्रकी आज्ञासे उनसे दूत भेजवान् विष्णुके शूलानों से रक्षे हैं ॥ ६ ॥

सांकाश्यां ते सभापम्य ददृशुश्च कुशध्वजम् ।
व्यवेद्यन् वधायुनं जनकस्य च चिन्तितम् ॥ ७ ॥

सांकाश्यामें पहुँचकर उन्होंने कुशध्वजम भेंट की और

मिथिलाका यथार्थ सप्ताचार एवं जनकका अधिप्राय भेंट विवेदन किया ॥ ७ ॥

तद्युनं नृपतिः श्रुत्वा दूतश्रेष्ठैर्महाजयैः ।
आजया तु नरेन्द्रस्य आजगाम कुशध्वजः ॥ ८ ॥

उन महाव्रजशाली श्रेष्ठ दूतोंके मुखसे मिथिलाका सारा वृत्तान्त सुनकर राजा कुशध्वज महाराज जनककी आज्ञाके अनुसार मिथिलामें आये ॥ ८ ॥

स ददर्श महात्मानं जनकं धर्मवत्सलम् ।
सोऽभिवाद्य शतानन्दं जनकं चातिधार्मिकम् ॥ ९ ॥
राजाहं परमं दिव्यमासने सोऽध्यरोहत ।

वहाँ उन्होंने धर्मवत्सल महात्मा जनकका दर्शन किया। फिर शतानन्दजी तथा अत्यन्त धार्मिक जनकको प्रणाम करके वे राजाके योग्य परम दिव्य मिह्रासनपर विराजमान हुए ॥ ९ ॥

उपविष्टावुभौ तौ तु आतरावमितदुती ॥ १० ॥
प्रेषयामासतुर्वीरौ मन्त्रिश्रेष्ठं सुदामनम् ।

गच्छ मन्त्रिपते शीघ्रमिक्ष्वाकुमपितप्रभम् ॥ ११ ॥
आत्मर्जः सह दुर्धर्षमानयस्व समन्त्रिणम् ।

सिंहवत्स्नपर बैठ हुए उन दोनों अमिमतजस्वी वीर-बन्धुओंने मन्त्रिप्रवर सुदामनका भेजा और कहा— ‘मन्त्रिप्रवर ! आप शीघ्र ही अमिमतजस्वी इक्ष्वाकुकुलभूषण महाराज दशरथके पास जाइये और पुरी तथा मन्त्रियोंसहित उन दुर्जय नरेशको वहाँ घुम्ना लाइये’ ॥ १०-११ ॥

आपकार्या म गत्वा तु रघुणां कुलवर्धनम् ॥ १२ ॥
ददर्श शिरसा खनमभिवाद्योदमब्रवीत् ।

आज्ञा पाकर मन्त्रा सुदामन महाराज दशरथके समक्ष जाकर रघुकुलकी कीर्ति ब्रह्मनेवाले उन नरेशसे मिले और मस्तक झुकाकर उनके प्रणाम करनेके पश्चात् इस प्रकार बोले— ।

अयोध्याधिपते वीर वीरहे मिथिलाधिपः ॥ १३ ॥
स त्वां द्रष्टुं व्यवसितः सोपाध्यायपुणेहितम् ।

श्रीर अयोध्यानरेश ! मिथिलापति विदेहगज जनक इस समय उपाध्याय और पुणेहितसहित आपका दर्शन करने चाहते हैं ॥ १३ ॥

मन्त्रिश्रेष्ठवचः श्रुत्वा राजा सर्विगणस्तथा ॥ १४ ॥
सबन्धुरगमत् तत्र जनको यत्र वर्तते ।

मन्त्रिप्रवर ! सुदामनकी बात सुनकर राजा दशरथ ऋषियों और बन्धु-बान्धवोंके साथ उस स्थानपर गये जहाँ राजा जनक विद्यमान थे ॥ १४ ॥

राजा च मन्त्रिसहितः सोपाध्यायः सवान्धवः ॥ १५ ॥
वाक्यं वाक्यविदो श्रेष्ठो वन्देहमिदमब्रवीत् ।

मन्त्री, उपाध्याय और भाई-बन्धुआमंत्रित राजा सोपाध्याय और वाक्यविदों के साथ जानेवाले विद्वानों में श्रेष्ठ थे, विदेहराज जनकसे इस प्रकार बोले— ॥ १५ ॥

विदितं मे महाराज इक्ष्वाकुकुलदेवसम् ॥ १६ ॥
यत्ता सर्वेषु कृत्येषु वसिष्ठो भगवानृषिः ।

‘महाराज ! आपको तो विदित ही ज्ञाता कि इक्ष्वाकुकुलके देवता थे महार्थ अस्मिन् । हमारे यहाँ सभी कार्यों में वे भगवान्, वसिष्ठ भूनि ही कर्तव्यका उपदेश करते हैं और इसीसे आज्ञाका पालन किया जाता है ॥ १६ ॥

विधागिभ्राथ्याजः सह सर्वैर्गर्हपिभिः ॥ १७ ॥
एष वक्ष्यति धर्मात्मा वसिष्ठो मे यथाक्रमम् ।

यदि सम्पूर्ण महापौराणिक विद्यामित्रजीकी आज्ञा ही तो मे भर्मात्मा तबिल ही पदले में कुल-परम्पराका क्रमशः परिचय दूँगे ॥ १७ ॥

तृणगीभूते दशरथे वसिष्ठो भगवानृषिः ॥ १८ ॥
उवाच वाक्यं वाक्यज्ञो वन्देहं सपुरोधसम् ।

ती कटकर जब राजा दशरथ चुप हो गये, तब वाक्यवेत्त भगवान्, वसिष्ठ भूनि पुरोहितसहित विदेहराजसे इस प्रकार बोल— ॥ १८ ॥

अव्यक्तप्रभवो ब्रह्मा शाश्वतो नित्य अव्ययः ॥ १९ ॥
तस्मान्मरौचिः स्रवज्ञे मरौचिः कश्यपः सुतः ।

विवस्वान् कश्यपाग्रजे मनुर्ववस्वतः स्मृतः ॥ २० ॥
‘ब्रह्मा’की तुलनिका कारण अव्यक्त है—ये स्वयम्भू

हैं । तब, शाश्वत और अविनाश है । उनसे मरौचिकी उत्पत्ति हुई । मरौचिके पुत्र कश्यप हैं, कश्यपसे विवस्वान्का और विवस्वान्से मनुर्ववस्वत मनुका जन्म हुआ ॥ १९-२० ॥

भनूः प्रजापतिः पूर्वमिक्ष्वाकुश्च मनोः सुतः ।
तामिक्ष्वाकुपयोध्यायां राजानं विद्धि पृथक्कम् ॥ २१ ॥

‘मनु’ पहले प्रजापति थे, तबसे इक्ष्वाकु नामक पुत्र हुआ । तब इक्ष्वाकुका ही भाग्य अयोध्याका प्रथम राजा समझे ॥

इक्ष्वाकौस्तु सुतः श्रीमान् कुक्षिरत्येव विश्रुतः ।
कुक्षोरधापजः श्रीमान् विकुक्षिस्तपछतः ॥ २२ ॥

इक्ष्वाकुके पुत्रका नाम कुक्षि था । वे बड़े तेजस्वी थे । कुक्षिसे विकुक्षि नामक कान्तिमान् पुत्रका जन्म हुआ ॥

विकुक्षेस्तु महातेजा बाणः पुत्रः प्रतापवान् ।
बाणस्य तु महातेजा अनरण्यः प्रतापवान् ॥ २३ ॥

‘विकुक्षि’के पुत्र महातेजस्वी और प्रतापी बाण हुए । बाणके पुत्रका नाम अनरण्य था । वे भी बड़े तेजस्वी और प्रतापी थे ॥ २३ ॥

अनरण्यात् पृथुर्जज्ञे त्रिशङ्कुः पृथोरपि ।
त्रिशङ्कोरध्वन् पुत्रो धुन्धुमारो महावशाः ॥ २४ ॥

‘अनरण्य’से पृथु और पृथुसे त्रिशङ्कुका जन्म हुआ । त्रिशङ्कुके पुत्र महावशाका धुन्धुमार थे ॥ २४ ॥

धुन्धुमारान्महातेजा युवनाश्वो महारथः ।
युवनाश्वसुतश्चार्मान्माथाना पृथिवीपतिः ॥ २५ ॥

धुन्धुमारसे महातेजस्वी महारथी युवनाश्वका जन्म हुआ । युवनाश्वके पुत्र माथाना हुए, जो समस्त धूमण्डलके स्वामी थे ॥ २५ ॥

माथानुसु सुतः श्रीमान् सुसन्धिरुदपछतः ।
सुसन्धेरपि पुत्रो ह्य धुवसन्धिः प्रसेनजित् ॥ २६ ॥

माथानुसु नामक कान्तिमान् पुत्रका जन्म हुआ । सुसन्धिक भी दो पुत्र हुए धुवसन्धि और प्रसेनजित् ॥

यशस्वी धुवसन्धेस्तु भरतो नाम नामतः ।
भरतात् तु महातेजा असितो नाम वायतः ॥ २७ ॥

धुवसन्धिसे भरत नामक यशस्वी पुत्रका जन्म हुआ । भरतसे महातेजस्वी असितकी उत्पत्ति हुई ॥ २७ ॥

यस्यैने प्रतिराजान उदपछन्त शत्रवः ।
हृदयास्तालजङ्घाश्च शूराश्च शशबिन्दवः ॥ २८ ॥

‘राजा असितके साथ हैहय, तालजङ्घ और शशबिन्दु— इन तीन राजवंशोंके लोग शत्रुता रखने लगे थे ॥ २८ ॥

तांश्च स प्रतियुध्यन् वै युद्धे राजा प्रवासितः ।
हिमवन्तमुपागम्य भार्याभ्यां सहितस्तदा ॥ २९ ॥

‘युद्ध’में इन तीनों शत्रुओंका सामना करते हुए राजा असित प्रवासित हो गये । वे अपनी दो रानियोंके साथ हिमालयपर आकर रहने लगे ॥ २९ ॥

असितोऽल्पबल्यो राजा कालधर्ममुपेयिवान् ।
द्वे चास्य भार्ये गर्भिण्यौ बभूवतुरिति श्रुतिः ॥ ३० ॥

‘राजा असितके पास बहुत थोड़ी सेना शेष रह गयी थी वे हिमालयपर ही मृत्युका प्राप्त हो गये उस समय उनकी दोनों रानियाँ गर्भवती थीं, ऐसा सुना गया है ॥ ३० ॥

एका गर्भविनाशार्थं सपत्न्यै सगरं ददौ ।
‘उनमेंसे एक रानीने अपनी सौतका गर्भ नष्ट करनेके

लिये उसे विवयुक्त भोजन दे दिया ॥ ३० ॥

ततः शैलवरे रम्ये बभूवाभिरतो मुनिः ॥ ३१ ॥
भार्गवइच्छवन्तो नाम हिमवन्तमुपाश्रितः ।

तत्र चैका महाभागा भार्गवं देववर्चसम् ॥ ३२ ॥
वचन्दे पद्मपत्राक्षी काङ्क्षन्ती सुतमुत्तमम् ।

तपुषि साध्युपागम्य कालिन्दीं साध्यवादनम् ॥ ३३ ॥
‘उस समय उस रमणीय एवं श्रेष्ठ पर्वतपर भृगुकुलमें

उत्पन्न हुए महामुनि ध्यवन तपस्यामें लगे हुए थे । हिमालयपर ही उनका आश्रम था । उन दोनों रानियोंमेंसे एक (जिसे जहर दिया गया था) कालिन्दीनामसे प्रसिद्ध थी ।

विक्रमित कमलदलके समान नेत्रोंवाली महाभागा कालिन्दी एक उत्तम पुत्र धनेकी इच्छा रखती थी । उसने देवतुल्य

तजस्वी भृगुनन्दन च्यवनके पास जाकर उन्हें प्रणाम किया ॥

म तामभ्यवदत् विप्रः पुत्रेप्सुं पुत्रजन्धनि ।

नव कुक्षौ महाभागे सुपुत्रः सुमहाबलः ॥ ३४ ॥

महावीर्यो महातेजा अधिरात् संजनिष्यति ।

गरेण सहितः श्रीमान् मा शुचः कमलेशणे ॥ ३५ ॥

उस समय ब्रह्मर्षि च्यवनने पुत्रको अभिलाषा रखनेवाली

जन्तुशरीर पुनः जन्मक विषयमें कहा महाभागे तुम्हारे

पुत्रमें एक गद्गल बलवान् महातेजस्वी और महापराक्रमी

रत्नम पुत्र है, वह नान्तिमान् बालक थाइ ही दिनामें गर

(जहर) के साथ उत्पन्न होगा। अतः कमललोत्तरे नृप

पुत्रके लिये चिन्ता न करो ॥ ३४ ३५ ॥

च्यवन च नमस्कृत्य राजपुत्रीं पतिव्रता ।

पत्या विरहिता तस्मात् पुत्रं देवी स्वजायत ॥ ३६ ॥

'वह विधवा राजकुमारी कालिन्दी बड़ी पतिव्रता

थी। पतिर्षि च्यवनको नमस्कार करके वह देवी अपने

आश्रमपर लौट आयी। फिर समय आनेपर उसने एक

पुत्रको जन्म दिया ॥ ३६ ॥

मपत्या तु गरस्तस्य तनो गर्भजिघांसया ।

सत तेन गरेणैव संजातः सगरोऽभवत् ॥ ३७ ॥

'तमकी मीतने उसके गर्भको नष्ट कर देनेके लिये जो गर

(विण) दिया था उसके साथ ही उत्पन्न होनेके कारण वह

राजकुमार 'सगर' नामसे विख्यात हुआ ॥ ३७ ॥

सगरस्यासमञ्जस्तु असमञ्जादथाशुमान् ।

निक्षीपेऽक्षुभतः पुत्रो दिलीपस्य भर्गोरथः ॥ ३८ ॥

सगरके पुत्र असमंज और असमंजके पुत्र अशुमान् हुए।

अशुमान्के पुत्र दिलीप और दिलीपके पुत्र भर्गोरथ हुए ॥

भर्गोरथात् ककुत्स्थश्च ककुत्स्थश्च रघुमथ्या ।

रघोस्तु पुत्रस्तेजस्वी प्रवृद्धः पुरुषादकः ॥ ३९ ॥

'भर्गोरथसे ककुत्स्थ और ककुत्स्थसे रघुका जन्म हुआ।

इत्यार्षे श्रीमश्विनायणे काल्मीकिर्ये आदिकाव्ये बालकाण्डे सप्ततितमः सर्गः ॥ ७० ॥

इस प्रकार श्रीकाल्मीकिनिर्मित आद्यपरायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें सप्ततितमः सर्ग पूरा हुआ ॥ ७० ॥

एकसप्ततितमः सर्गः

राजा जनकका अपने कुलका परिचय देने हुए श्रीराम और लक्ष्मणके लिये क्रमशः

सीता और ऊर्मिलाको देनेकी प्रतिज्ञा करना

एष सुवाणे जनकः प्रत्युवाच कृताञ्जलिः ।

भोतुगर्हसि भद्र ते कुल नः परिकीर्तितम् ॥ १ ॥

प्रदाने हि मुनिश्रेष्ठ कुलं निरवशेषनः ।

यत्नोऽप्ये कुरुगानेन तज्जिघांस महाभते ॥ २ ॥

महर्षि श्रीश्रेष्ठ नम इत्ये प्रकार इक्ष्वाकुवंशका परिचय दे

ते, तब राजा जनकने हाथ जोड़कर इनसे कहा

भूतगर्ह ! आपका भला हो। अब हम जो प्रार्थना कर रहे

हैं, तबसे पुत्र प्रवृद्ध हुए जो शापसे राक्षस हो गये थे,

कल्पावपादीऽप्यभवत् तस्माज्जातस्तु शङ्खणः ।

सुदर्शन शङ्खणस्य अग्निवर्णः सुदर्शनात् ॥ ४० ॥

वे ही कल्पावपाद नामसे भी प्रसिद्ध हुए थे। उनसे

शङ्खण नामक पुत्रका जन्म हुआ था शङ्खणके पुत्र सुदर्शन

और सुदर्शनके अग्निवर्ण हुए ॥ ४० ॥

शीघ्रगम्भ्रवर्णस्य शीघ्रगस्य भरुः सुतः ।

परोः प्रशुश्रुकस्त्वासीदम्भ्रगिषः प्रशुश्रुकात् ॥ ४१ ॥

अग्निवर्णके शीघ्रग और शीघ्रगके पुत्र भरु थे। भरुसे

प्रशुश्रुक और प्रशुश्रुकसे अम्बरोषकी उत्पत्ति हुई ॥ ४१ ॥

अम्बरोषस्य पुत्रोऽभून्नहुषश्च महीपतिः ।

नहुषस्य ययातिस्तु नाभागस्तु ययातिजः ॥ ४२ ॥

नाभागस्य बभूवज्ज अजाद् दशरथोऽभवत् ।

अस्माद् दशरथाजानौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ ४३ ॥

'अम्बरोषके पुत्र राजा नहुष हुए। नहुषके ययाति और

ययातिके पुत्र नाभाग थे। नाभागके अज हुए। अजसे

दशरथका जन्म हुआ। इन्होंने महाराज दशरथसे ये दोनों भाई

श्रोतम और लक्ष्मण उत्पन्न हुए हैं ॥ ४२-४३ ॥

आदिवंशविशुद्धानां राज्ञां परमधर्मिणाम् ।

इक्ष्वाकुकुलजानानां वीराणां सत्यवादिनाम् ॥ ४४ ॥

इक्ष्वाकुवंशमें उत्पन्न हुए राजाओंका वंश आदिकाव्यमें

ही शुद्ध रहा है। ये सब-के-सब परम धर्मात्मा, वीर और

सत्यवादी होने आये हैं ॥ ४४ ॥

रामलक्ष्मणयोरर्थे त्वत्सुते वरये नृप ।

सदृशाभ्यां नरश्रेष्ठ सदृशे दातुमर्हसि ॥ ४५ ॥

श्रेष्ठ नरेश्वर ! इसी इक्ष्वाकुकुलमें उत्पन्न हुए श्रीराम

और लक्ष्मणके लिये मैं आपकी दो कन्याओंका वरण करता

हूँ। ये आपकी कन्याओंके योग्य हैं और आपकी कन्याएँ

इन्के योग्य हैं। अतः आप इन्हें कन्यादान करें ॥ ४५ ॥



एकसप्ततितमः सर्गः

राजा जनकका अपने कुलका परिचय देने हुए श्रीराम और लक्ष्मणके लिये क्रमशः

सीता और ऊर्मिलाको देनेकी प्रतिज्ञा करना

एष सुवाणे जनकः प्रत्युवाच कृताञ्जलिः ।

भोतुगर्हसि भद्र ते कुल नः परिकीर्तितम् ॥ १ ॥

प्रदाने हि मुनिश्रेष्ठ कुलं निरवशेषनः ।

यत्नोऽप्ये कुरुगानेन तज्जिघांस महाभते ॥ २ ॥

महर्षि श्रीश्रेष्ठ नम इत्ये प्रकार इक्ष्वाकुवंशका परिचय दे

ते, तब राजा जनकने हाथ जोड़कर इनसे कहा

भूतगर्ह ! आपका भला हो। अब हम जो प्रार्थना कर रहे

हैं, तबसे पुत्र प्रवृद्ध हुए। महामते। कर्त्तव्य पुत्रके लिये

कन्यादानक समय अपने कुलका पूर्णरूपका परिचय देना

आवश्यक है; अतः आप सुननेकी कृपा करें ॥ १-२ ॥

गजाभ्युन् त्रिषु लोकेषु त्रिश्रुतः स्वेन कर्मणा ।

निधि परमधर्मात्मा सर्वसन्धवता वरः ॥ ३ ॥

'प्राचीन कालमें निधि नामक एक परम धर्मात्मा राजा हुए

हैं, जो सम्पूर्ण वैश्वज्ञानी महापुरुषोंमें श्रेष्ठ तथा अपने

पराक्रमसे तीनों लोकोंमें विख्यात थे ॥ ३ ॥

तस्य पुत्रो मिथिर्नाम जनको मिथिपुत्रकः ।

प्रथमो जनको राजा जनकादप्युदावसुः ॥ ४ ॥

‘उनके मिथि नामक एक पुत्र हुआ । मिथिके पुत्रत्व नाम जनक हुआ । ये ही हमारे कुलमें पहला जनक हुए हैं (इन्हींके नामपर हमारे धर्मराज प्रत्येक राजा ‘जनक’ कहलाता है) । जनकसे उदावसुका जन्म हुआ ॥ ४ ॥

उदावसोस्तु धर्मात्मा जातो वै नन्दिवर्धनः ।

नन्दिवर्धमुतः शूरः सुकेतुर्नाम नागतः ॥ ५ ॥

‘उदावसुसे धर्मात्मा नन्दिवर्धन उत्पन्न हुए । नन्दिवर्धनके भूखीर पुत्रत्व नाम सुकेतु हुआ ॥ ५ ॥

सुकेतोराध धर्मात्मा देवरातो महाबलः ।

देवरातस्य राजर्षेर्गृहस्थ इति स्मृतः ॥ ६ ॥

‘सुकेतुके भी देवरात नामक पुत्र हुआ । देवरात महान् वीर्यवान्, तीव्र धर्मात्मा थे । राजर्षि गृहस्थ बृहस्पति नामसे प्रसिद्ध एक पुत्र हुआ ॥ ६ ॥

बृहस्पतस्य शूरोऽभूत्पुत्राधीरः प्रतापवान् ।

महावीरस्य धूमिगान् सुधृतिः सत्यविक्रमः ॥ ७ ॥

‘बृहस्पतिके पुत्र महावीर हुए, जो शूर और प्रतापी थे । महावीरके सुधृति नाम, जो धैर्यवान् और सत्यपराक्रमी थे ।

सुधृतेराध धर्मात्मा धृष्टकेतुः सुधार्मिकः ।

धृष्टकेतोऽपि राजर्षेर्गृहस्थ इति विश्रुतः ॥ ८ ॥

‘सुधृतिके भी धर्मात्मा धृष्टकेतु हुए, जो परम धार्मिक थे । राजर्षि धृष्टकेतुसे पुत्र धर्मराज नामसे विख्यात हुआ ।

धर्मराजस्य मरुः पुत्रो मरुः पुनः प्रतीन्धकः ।

प्रतीन्धकस्य धर्मात्मा राजा कीर्तिरथः सुतः ॥ ९ ॥

‘धर्मराजके पुत्र मरु, मरुके पुत्र प्रतीन्धक तथा प्रतीन्धकके पुत्र धर्मात्मा राजा कीर्तिरथ हुए ॥ ९ ॥

पुनः कीर्तिरथस्यापि देवमीड इति स्मृतः ।

देवमीडस्य विबुधो विबुधस्य महीधकः ॥ १० ॥

‘कीर्तिरथके पुत्र देवमीड नामसे विख्यात हुए । देवमीडके विबुध और विबुधके पुत्र महीधक हुए ॥ १० ॥

महीधकसुतो राजा कीर्तिरातो महाबलः ।

कीर्तिरातस्य राजर्षेर्गृहस्थोऽपि व्यजायत ॥ ११ ॥

‘महीधकके पुत्र महामुनी राजा कीर्तिरथ हुए । राजर्षि कीर्तिरथके महाराजा नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ११ ॥

महाराजास्तु धर्मात्मा स्वर्णरोमा व्यजायत ।

स्वर्णरोमास्तु राजर्षेर्गृहस्थोऽपि व्यजायत ॥ १२ ॥

‘महाराजामें धर्मात्मा स्वर्णरोमाका जन्म हुआ । राजर्षि स्वर्णरोमासे हस्वरोमा उत्पन्न हुए ॥ १२ ॥

तस्य पुत्रद्वयं राजो धर्मराज महात्मनः ।

ज्येष्ठोऽहमनुजो भ्राता मम वीरः कुशध्वजः ॥ १३ ॥

‘धर्मराज महाराज राजा हस्वरोमाके दो पुत्र उत्पन्न हुए,

जिनमें ज्येष्ठ तो मैं ही हूँ और कनिष्ठ मेरा छोटा भाई वीर कुशध्वज है ॥ १३ ॥

यं तु ज्येष्ठं पिता राज्ये सोऽभिषिच्य पिता मम ।

कुशध्वजं समावेश्य भारं मयि वनं गतः ॥ १४ ॥

‘मेरे पिता मुझे ज्येष्ठ पुत्रको राज्यपर अभिषिक्त करके कुशध्वजका साथ भार मुझे सौंपकर वनमें चले गये ॥ १४ ॥

वृद्धे पितरि स्वयांते धर्मेण धुरमावहम् ।

भ्रातरं देवसकाशं स्नेहान् पश्यन् कुशध्वजम् ॥ १५ ॥

‘वृद्ध पिताके स्वर्णरोमा हो जानेपर अपने देवतुल्य भाई कुशध्वजको स्नेह-दर्शने देखता हुआ मैं इस राज्यका भार धर्मके अनुसार वहन करने लगा ॥ १५ ॥

कस्यचिच्चक्ष कालस्य सांकाश्यादागतः पुरात् ।

सुधन्वा वीर्यवान् राजा मिथिलामवरोधकः ॥ १६ ॥

‘कुछ कालके अनन्तर पराक्रमी राजा सुधन्वाने सांकाश्य नगरसे आकर मिथिल्यको चारों ओरसे घेर लिया ॥ १६ ॥

म स मे प्रेषयामास शीघ्रं धनुरनुत्तमम् ।

सीता स कन्या पद्माक्षी मया वै दीयतामिति ॥ १७ ॥

‘उसने मेरे पास दूत भेजकर कहाया कि ‘तुम शिवजीके परम उत्तम धनुष तथा अपनी कमलनयनी कन्या सीताको मेरे हवाले कर दो’ ॥ १७ ॥

तस्याप्रदानान्तरार्धं युद्धमासीन्मया सह ।

स हनोऽभिमुखो राजा सुधन्वा तु मया रणे ॥ १८ ॥

‘महर्षे ! मैंने उसको पाँच पौरे नहीं की । इसलिये मेरे साथ उसका युद्ध हुआ । उस संध्यामें मम्युद्ध युद्ध करता हुआ राजा सुधन्वा मेरे हाथसे मारा गया ॥ १८ ॥

निहत्य तं मुनिश्रेष्ठ सुधन्वानं नराधिपम् ।

सांकाश्ये भ्रातरं शूरभयपिञ्जं कुशध्वजम् ॥ १९ ॥

‘मुनिश्रेष्ठ ! राजा सुधन्वाका वध करके मैंने सांकाश्य नगरके राज्यपर अपने शूरवीर भ्राता कुशध्वजको अभिषिक्त कर दिया ॥ १९ ॥

कनीयानेष मे भ्राता अहं ज्येष्ठो महामुने ।

ददामि परमप्रीतो वध्यां ते मुनिपुङ्गव ॥ २० ॥

‘महामुने ! ये मेरे छोटे भाई कुशध्वज हैं और मैं इनका बड़ा भाई हूँ । मुनिश्रेष्ठ ! मैं बड़ा प्रसन्नताके साथ आपको दो बहुमूल्य प्रदान करता हूँ ॥ २० ॥

सीतां रामाय भद्रं ते ऊर्मिलां लक्ष्मणाय वै ।

वीर्यशुल्का मम सुता सीतां सुरसुतोपमाम् ॥ २१ ॥

द्वितीयापूर्मिलां चैव त्रिवंदामि न संशयः ।

ददामि परमप्रीतो वध्यां ते मुनिपुङ्गव ॥ २२ ॥

‘आपका भला हो ! मैं सीताको श्रीरामके लिये और ऊर्मिलाको लक्ष्मणके लिये समर्पित करता हूँ । पराक्रमी वीरको वीर्यशुल्का (शर्त) दूँगा, उस देवकन्याके समान सुन्दरी अपनी प्रथम पुत्री सीताको श्रीरामके लिये तथा दूसरी

‘वा ऊर्मिलाको लक्ष्मणके लिये दे रहा हूँ। मैं इस बातको तीन बार दुहराता हूँ, इसमें संशय नहीं है। मुनिप्रवर ! मैं परम जनत्र होकर आपको यो बहुत दे रहा हूँ ॥ २१-२२ ॥

रामलक्ष्मणयो राजन् गोदानं कारयस्व ह ।
पितृकार्यं च भद्रं ते ततो वैवाहिकं कुरु ॥ २३ ॥

(वसिष्ठजीसे ऐसा कहकर राजा जनकने महाराज दशरथसे कहा—) ‘राजन् ! अब आप श्रीराम और लक्ष्मणके मङ्गलके लिये इनसे गोदान करवाइये, आपका प्राण ही नान्दीमुख आदि का कार्य भी सम्पन्न कीजिये।

इत्यर्थ श्रीमहापायण बाल्योक्तोये आदिकाव्ये बालकाण्डे एकसप्ततितमः सर्गः ॥ ७१ ॥

इस प्रकार श्रीनाल्मीकिविर्मित आयरापायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें इकहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७१ ॥

द्विसप्ततितमः सर्गः

विश्वामित्रद्वारा भरत और शत्रुघ्नके लिये कुशध्वजकी कन्याओंका वरण, राजा जनकद्वारा इसकी स्वीकृति तथा राजा दशरथका अपने पुत्रोंके मङ्गलके लिये नान्दीश्राद्ध एवं गोदान करना

ममुक्तवन्तं खेतं विश्वामित्रो महामुनिः ।

व्वाच वचनं वीरं वसिष्ठमहिमो नृपम् ॥ १ ॥

विंहराज जनक जब अपनी बान समाप्त कर चुके, तब वसिष्ठसहित महामुनि विश्वामित्र उन की ओर नग्नासे इस प्रकार बोले ॥ १ ॥

अचिन्त्यान्यप्रमेयाणि कुलानि नरपुङ्गव ।

इक्ष्वाकुणां विदेहानां नैषां तुल्याऽस्ति कश्चन ॥ २ ॥

‘नरश्रेष्ठ ! इक्ष्वाकु और विदेह दोनों ही राजाओंके वंश भवितव्य हैं। दोनोंके ही प्रभावकी कोई सीमा नहीं है। इन दोनोंकी समानता करनेवाला दूसरा कोई राजवंश नहीं है ॥

मदृशा धर्मसम्बन्धः सदृशा रूपसम्पदा ।

रामलक्ष्मणयो राजन् मीना चार्मिलया सह ॥ ३ ॥

‘राजन् ! इन दोनों कुलोंमें जो यह धर्म सम्बन्ध स्थापित होने जा रहा है, सर्वथा एक-दूसरेके योग्य है। रूप-वैभवकी दृष्टिसे भी समान योग्यताका है, क्योंकि उर्मिलामरित मीना श्रीराम और लक्ष्मणके अनुकूल है ॥ ३ ॥

वक्तव्यं च नरश्रेष्ठ क्षयतां वचनं मम ।

धाता पृथोधान् धर्मज्ञ एव राजा कुशध्वजः ॥ ४ ॥

अस्य धर्मान्वितो राजन् रूपेणाप्रतिभं भुवि ।

सुताद्वये नरश्रेष्ठ पन्थर्थं वरयामहे ॥ ५ ॥

धर्मस्य कुमारस्य शत्रुघ्नस्य च धीमतः ।

वरये ते सुते राजसम्योर्ध्वं महात्मनोः ॥ ६ ॥

नरश्रेष्ठ ! इसके बाद मुझे भी कुछ कहना है; आप भते जाते सुनिये। राजन् ! आपका छोटे भाई जो वे धर्मज्ञ राजा कुशध्वज बैठे हैं, इन भभाव्या नरशके भी दो कन्याएँ हैं, जो इस धर्माच्छल्य अनुपम सुन्दरी हैं। नरश्रेष्ठ ! भूपाल ! मैं आपसे उन दोनों कन्याओंका कुमार भरत और शत्रुघ्न

इसके बाद विवाहका कार्य आरम्भ कीजियेगा। २३ ॥

यथा हाद्य महाबाहो तृतीयदिवसे प्रभो ।

फलगुन्यापुनरे राजसंस्मिन् वैवाहिकं कुरु ।

रामलक्ष्मणयोर्ध्वं दानं कार्यं सुखोदयम् ॥ २४ ॥

‘महाबाहो ! प्रभो ! आज मध्य नक्षत्र है। राजन् ! आजके तीसरे दिन इनके फाल्गुनी नक्षत्रमें वैवाहिक कार्य कीजियेगा आज श्रीराम और लक्ष्मणके अभ्युदयके लिये (गो, भूमि, तिल और सुवर्ण आदिका) दान कराना चाहिये, क्योंकि वह भवितव्यम् सुख देनवाला होता है’ ॥ २४ ॥

शत्रुघ्न इन दोनों महामनस्वी राजकुमारोंके लिये इनकी धर्मपत्नी बनानेके उद्देश्यसे वरण करता है ॥ ४-६ ॥

पुत्रा दशरथस्यमे रूपयौवनशालिनः ।

लोकपालसमाः सर्वे देवतुल्यपराक्रमाः ॥ ७ ॥

‘राजा दशरथके ये सभी पुत्र रूप और यौवनसे मुजोभित, लोकपालोंके समान तेजस्वी तथा देवताओंके तुल्य पराक्रमी हैं ॥ ७ ॥

उभयोरपि राजेन्द्र सम्बन्धेनानुबध्यताम् ।

इक्ष्वाकुकुलसम्बन्धं भवतः पुण्यकर्मणः ॥ ८ ॥

‘राजेन्द्र ! इन दोनों भाइयों (भरत और शत्रुघ्न) को भी कन्यादान करके आप इस समस्त इक्ष्वाकुकुलका अपने सम्बन्धसे बाँध लीजिये। आप पुण्यकर्मा पुरुष हैं, आपके चित्तमें व्यग्रता नहीं आनी चाहिये (अर्थात् आप यह सोचकर व्यग्र न हो कि ऐसा महान् सम्राटके साथ मैं एक ही समय चार वैवाहिक सम्बन्धका विवाह कैसे कर सकता हूँ ?)’ ॥ ८ ॥

विश्वामित्रवचः श्रुत्वा वसिष्ठस्य भते तदा ।

जनकः प्राञ्जलिर्याक्यमुवाच मुनिपुङ्गवी ॥ ९ ॥

वसिष्ठजीकी सम्मतिक अनुभार विश्वामित्रजीका यह वचन सुनकर उस समय राजा जनकने हाथ जोड़कर उन दोनों मुनिवरोंसे कहा— ॥ ९ ॥

कुलं धन्यमिदं मन्दे येषां तौ मुनिपुङ्गवी ।

मदृशं कुलसम्बन्धं यदाज्ञापयतः स्वयम् ॥ १० ॥

‘मुनिपुङ्गवों ! मैं अपने इस कुलको धन्य मानता हूँ, जिनमें आप दोनों इक्ष्वाकुवंशके योग्य समझकर इसके साथ सम्बन्ध जोड़नेके लिये स्वयं आज्ञा दे रहे हैं ॥ १० ॥

एवं भक्तु भद्रे वः कुशध्वजसुते इमे ।

पत्न्यौ भजेतां सहितौ शत्रुघ्नभरताबुधौ ॥ ११ ॥

'आपका कल्याण हो । आप जैसा कहने हैं, ऐसा ही हो ।
ये सदा साथ रहनेवाले दोनों भाई परत और शत्रु
कुशाध्वजकी इन दोनों कन्याओं (मेंसे एक-एक) को
अपनी-अपनी धर्मपत्नीके रूपमें ग्रहण करें ॥ ११ ॥

एकाह्वा राजपुत्रीणां चतसृणां महामुने ।
पाणीन् गृह्णन्तु चत्वारो राजपुत्रा महाबलाः ॥ १२ ॥

'महामुने ! ये चारों महाबली राजकुमार एक ही दिन
दोनों चारों राजकुमारियोंका धाणिग्रहण करें ॥ १२ ॥

अतो दिवसे ब्राह्मन् फल्गुनीध्या मनोविणः ।
शेवाहिकं प्रणमन्ति भगा यत्र प्रजापतिः ॥ १३ ॥

'ब्राह्मन् ! अगले दो दिन फाल्गुनी नामक नक्षत्रसे युक्त
है । इनमें (पहले दिन तो पूर्वा फाल्गुनी है, और) दूसरे दिन

(क्षीणी नामक) उग्र फाल्गुनी नामक नक्षत्र होगा, जिसके
हेतुसे प्रजापति भग (तथा अर्च्यमा) है । मनोवीं पुरुष उस

नक्षत्रमें वैरागिक भावें बना बहुत उत्तम बनाते हैं ॥ १३ ॥
एवमुक्त्वा चक्र, सौम्ये प्रत्युत्थाय कृताञ्जलिः ।

उभौ मुनिवरी राजा जनको चाक्षयमवर्त्तत् ॥ १४ ॥

इस प्रकार सौम्य (मनोहर) वचन कहकर राजा जनक
हठकर खड़ा हो गया और उन दोनों मुनियोंसे साथ जाकर
आये - ॥ १४ ॥

यतो यमः कृतो महो विष्णोऽस्मि भवतोस्तथा ।

इमान्प्राप्तवपुस्तानि आस्यतां मुनिपुङ्गवौ ॥ १५ ॥

'आपकीजैसे कन्याओंका विवाह निश्चित करके
मेरे साथ महात्मा धर्मका गणपति कर दिया, मैं आप दोनोंसे
शिष्य हूँ । मुनिवरों ! इन श्रेष्ठ आसनापर आप दोनों
विराजमान हों ॥ १५ ॥

यथा दशरथस्यैव तथायोग्या पुरी मम ।

प्रभुत्वे नास्ति संदेहो यथाहं कर्तुमर्हम् ॥ १६ ॥

'आपके लिये जैसी राजा दशरथकी अगोष्ठा है, वैसी ही
राजसी मिथिलापुत्री भी है । आपका दशरथ दुर्ग अधिकार
है, इसमें संदेह नहीं; अतः आप हमें यथायोग्य अग्रा प्रदान
करते रहें ॥ १६ ॥

तथा ब्रुवति चतुर्ह जनके रघुनन्दनः ।

राजा दशरथो ह्यहं प्रत्युवाच महीपतिम् ॥ १७ ॥

त्रिदशरुज जनकके ऐसा कहनेपर रघुकुलवत्स आनन्द
अज्ञानेवाले राजा दशरथको प्रसन्न होकर उन मिथिलानरेशको
इस प्रकार उत्तर दिया— ॥ १७ ॥

युवामसंख्येयगुणौ भ्रातरौ निर्धलेश्वरौ ।

ग्रहण्यो राजसङ्काशं भवद्भ्यामभिपूजिताः ॥ १८ ॥

'मिथिलेश्वर ! आप दोनों भाइयोंके गुण असंख्य हैं,
आपलोगोंने ऋषियों तथा राजसमूहका भरोसाही सत्कार
किया है ॥ १८ ॥

स्वस्ति प्राप्नुहि भद्रे ते गमिष्यामः स्वमालम्बम् ।

आद्वकर्मणि विधिवद्विधास्य इति चाब्रवीत् ॥ १९ ॥

आपका कल्याण हो, आप मङ्गलके धारणी हों । अब हम
अपने विश्रामस्थानको जायेंगे जहाँ जाकर मैं विधिपूर्वक
नन्दामुखश्राद्धका कार्य सम्पन्न करूँगा । यह बात भी राजा
दशरथने कहा ॥ १९ ॥

तमापृष्ट्वा नरपति राजा दशरथस्तदा ।

पुनीन्द्रौ तौ पुरस्कृत्य जगामाशु महायशः ॥ २० ॥

तदनन्तर मिथिलानरेशकी अनुमति ले महायशस्वी राजा
दशरथ मुनिश्रेष्ठ विष्णुमित्र और वसिष्ठको आगे करके तुरंत
अपने आश्रमस्थानपर चले गये ॥ २० ॥

स गत्वा निलयं राजा आद्वं कृत्वा विधानतः ।

प्रभातं काल्यमुत्थाय चक्रे गोदानमुत्तमम् ॥ २१ ॥

इसपर जाकर राजा दशरथने (अपराह्णकालमें)
विधिपूर्वक आभ्युदयिक श्राद्ध सम्पन्न किया तत्पश्चात् (सत
बोलेनपर) प्रातःकाल उठकर राजाने तत्कालावधि उत्तम
गोदान-कर्म किया ॥ २१ ॥

गवौ शतमहस्रं च ब्राह्मणेभ्यो वराधिपः ।

एकैकशो ददौ राजा पुत्रानुद्दिश्य धर्मतः ॥ २२ ॥

राजा दशरथने अपने एक-एक पुत्रके मङ्गलके लिये
धर्मानुसार एक-एक लाख गौ ब्राह्मणोंको दान कीं ॥ २२ ॥

सुवर्णभूषयः सण्णत्राः सवत्साः काश्यपोहनाः ।

गवां शतसहस्राणि सत्वारि पुरुषर्षभः ॥ २३ ॥

विनमन्यसु सुबहु द्विजेभ्यो रघुनन्दनः ।

ददौ गोदानमुद्दिश्य पुत्राणां पुत्रवत्सलः ॥ २४ ॥

उन सबके सींग सोनेसे भरे हुए थे । उन सबके
साथ बछड़े और कामिकें दुग्धपात्र थे । इस प्रकार
पुत्रवत्सल रघुकुलनन्दन पुरुषार्थशार्माणि राजा दशरथने
चार लाख गौओंका दान किया तथा और भी बहुत-
सा धन पुत्रोंके लिये गोदानके उद्देश्यसे ब्राह्मणोंको
दिया ॥ २३-२४ ॥

स सुतैः कृतगोदानैर्वृतः सञ्जपतिस्तदा ।

लोकपालंरिवाधाति वृतः सौम्यः प्रजापतिः ॥ २५ ॥

गोदान-कर्म सम्पन्न करके आये हुए पुत्रोंसे घिरे हुए राजा
दशरथ उस समय लोकपालसे घिरकर बैठ हुए शान्तस्वभाव
प्रजापति ब्रह्माके समान ओभा पा रहे थे ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे बालकाण्डे अष्टिकाव्ये बालकाण्डे द्विसप्ततितमः सर्गः ॥ ७२ ॥

इस प्रकार श्रीबालमीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें बहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७२ ॥

त्रिसप्ततितमः सर्गः

श्रीराम आदि चारों भाइयोंका विवाह

यस्मिंस्तु दिवसे राजा चक्रे गोदानमुत्तमम् ।

तस्मिंस्तु दिवसे वीरो युधाजित् समुपैयवान् ॥ १ ॥

पुत्रः केकयराजस्य साक्ष्यद्वयतयातुलः ।

दृष्ट्वा पृष्ट्वा च कुशलं राजानामिदमब्रवीत् ॥ २ ॥

राजा दशरथने जिस दिन अपने पुत्रोंके विवाहके निमित्त उत्तम गोदान किया, उसी दिन परमके सगे भाया-भक्त्याराजकुमार और युधाजित् वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने महाराजकी दर्शन करा कुशल-मङ्गल पूछा और इस प्रकार कहा— ॥ १-२ ॥

केकयाधिपती राजा स्वहात् कुशलमब्रवीत् ।

येषां कुशलकांक्षाऽस्मि तेषां सम्प्रत्यनामयम् ॥ ३ ॥

स्वर्त्तार्य मम राजेन् इष्टुकामो महीपतिः ।

नृधर्मपुपयातोऽहमयोध्यां रघुनन्दन ॥ ४ ॥

रघुनन्दन ! केकयादेवके महाराजने बड़े खेदके साथ आपको कुशल-समाचार पूछा है और आप भी हमारे यहाँके जिन-जिन लोगोंका कुशलचाना जानना चाहते होंगे, वे सब इस समय स्वस्थ और सामन्द हैं। राजेन्द्र ! केकवाले-मम भावों भरतको देखना चाहते हैं। अतः इन्हें लेनेके लिये ही मैं अयोध्या आया था ॥ ३-४ ॥

श्रुत्वा स्वाहमयोध्यायां विवाहार्थं तवतमजान् ।

मिथिलाभुपत्यातास्तु त्वया सह महीपते ॥ ५ ॥

स्वरथाभ्युपयानोऽहं इष्टुकामः स्वसुः सुतम् ।

‘मस्तु पृथ्वीनाथ । आयोध्यामें यह सुनकर कि ‘आपका सभी पुत्र विवाहके लिये आपका साथ मिथिल पधार है, मैं भूत यहाँ चल आया; क्योंकि मेरे मनमें अपनी बहिनके बालकी देखनेकी बड़ी इच्छा थी’ ॥ ५ ॥

अथ राजा दशरथः प्रियामिधिमृथास्थितम् ॥ ६ ॥

दृष्ट्वा परमसत्कारैः पूजनाहमपूजयत् ।

महाराज दशरथने अपने शिष्य अर्निधिका उपस्थित देख यह इच्छाके साथ उनकी आश्रयगत को, क्योंकि वे सम्मान पानेके ही योग्य थे ॥ ६ ॥

तत्कामुयितो रात्रिं सह पुत्रमहात्मभिः ॥ ७ ॥

प्रभाते पुनरुत्थाय कृत्वा कर्माणि तत्त्वचित् ।

अधीक्षादा पुरस्कृत्य यज्ञवाटमुपागमत् ॥ ८ ॥

तदनुसार अपने महामन्त्री पुत्रोंके साथ सह रात व्यतीत करके वे तत्पश्चात् नरेश प्रातःकाल उठे और नित्यकर्म करके श्राद्धयागों आगे किसे जनकको यज्ञशालामें आ पहुँचे ॥

एते मुहूर्ते विजये सर्वाभरणभूषिते ।

प्राहृभिः सहितो रामः कृतकौतुकमङ्गल ॥ ९ ॥

वसिष्ठ पुरतः कृत्वा महर्षीन्परानधि ।

वसिष्ठो भगवानेत्य वेदेहमिदमब्रवीत् ॥ १० ॥

तत्पश्चात् विवाहके योग्य विजय नामक मुहूर्त आनेपर दृढके अनुरूप समस्त वेष-भूषामें अलंकृत हुए भाइयोंके साथ श्रीरामचन्द्रजी भी वहाँ आये। वे विवाहकालांचित मङ्गलचार पढ़ कर चुके थे तथा वसिष्ठ भूषित एवं अन्यान्य महर्षियोंका आगे करके उन माण्डपमें पधार थे। उस समय भागवान् वसिष्ठने विदशराज जनकके पास जाकर इस प्रकार कहा— ॥ ९-१० ॥

राजा दशरथो राजन् कृतकौतुकमङ्गलः ।

पुत्रैर्नरवरभ्रेष्ठो दातार्यभिकाङ्क्षते ॥ ११ ॥

राजन् ! नरेशमें श्रेष्ठ महाराज दशरथ अपने पुत्रोंका वैवाहिकसूत्र-वस्त्रमरूप मङ्गलचार सम्पन्न करके उन मन्त्रोंके साथ पधार हैं और भोग आनेके लिये दातार्यके आदिशकी प्रतीक्षा कर रहे हैं ॥ ११ ॥

दातृप्रतिग्रहीतृभ्यां सर्वार्थाः सम्भवन्ति हि ।

स्वधर्मं प्रतिपद्यस्व कृत्वा वैवाह्यमुत्तमम् ॥ १२ ॥

‘क्योंकि दाता और प्रतिग्रहीता (दान ग्रहण करनेवाले) का संयोग होनेपर ही समस्त दान-धर्मोंका सम्पादन सम्भव होता है; अतः आप विवाह-कालोपयोगी शुभ कर्मोंका अनुष्ठान करके उन्हें चुलाइये और कन्यादानरूप स्वधर्मका पालन कीजिये’ ॥ १२ ॥

इत्युक्तः परमोदारो वसिष्ठेन महात्मना ।

प्रत्युवाच महातेजा वाक्यं परमधर्मवित् ॥ १३ ॥

महात्मा वसिष्ठके ऐसा कहनेपर परम उदार, परम धर्मज्ञ और महानेज्मों राजा जनकने इस प्रकार उत्तर दिया— ॥ १३ ॥

कः स्थितः प्रतिहारो मे कस्याज्ञां सम्प्रतीक्षते ।

स्वगृहे को विचारनेज्मि यथा राज्यमिदं तव ॥ १४ ॥

कृतकौतुकसर्वस्वा वेदिमूलमुपागताः ।

मम कन्या मुनिश्रेष्ठ वीणा बह्वैरिवार्चिषः ॥ १५ ॥

‘मुनिश्रेष्ठ ! महाराजके लिये मैं यहाँ कौन-सा पहरेदार खड़ा है ? किसे अगदशकी प्रतीक्षा करने है। अपने धर्म आनन्द लिये क्या सोच विचार है / यह जैम मेरा राज्य है, उसे ही आपका है। मेरी कन्याओंका वैवाहिक सूत्र-वस्त्रमरूप मङ्गलकृत्य सम्पन्न हो चुका है अतः वे यज्ञवेदीके पास आकर बैठी हैं और अग्निकी प्रज्वलित शिखाओंके सम्मान प्रकाशित हो रही हैं ॥ १४-१५ ॥

सद्योऽहं त्वत्प्रतीक्षोऽस्मि वेद्यामस्यो प्रतिष्ठितः ।

अविघ्नं क्रियतां सर्वं किमर्थं हि विलम्ब्यते ॥ १६ ॥

इस समय तो मैं आपकी ही प्रतीक्षार्थ वेदीपर बैठा हूँ आप निविघ्नतापूर्वक सब कार्य पूर्ण कीजिये। विलम्ब किसलिये करते हैं ? ॥ १६ ॥

तद् वाक्यं जनकेनोक्तं श्रुत्वा दशरथस्तदा ।

प्रवेशयाभासं सुतान् सर्वानृषिगणानपि ॥ १७ ॥

वसिष्ठजीक मुखसे राजा जनकका कहौ हुई बात सुनकर
मन्त्रराज दशरथ उस समय अपने पुत्रों और सम्पूर्ण
मन्त्रियोंको महलके भीतर ले आये ॥ १७ ॥

ततो राजा विदेहानां वसिष्ठमिदमब्रवीत् ।

कारयस्व श्रूषे सर्वापृषिभिः सह धार्मिक ॥ १८ ॥

रामस्य लोकरामस्य क्रिया वैवाहिकीं प्रभो ।

तदनन्तर विदेहराजने वसिष्ठजीसे इस प्रकार कहा—
'धर्माणां महर्षे । प्रभो । आप श्रूषियोंके साथ लेकर
लोकरामराम श्रौतगणके विवाहकी सम्पूर्ण क्रिया कराइये' ॥

तपेद्युक्त्वा तु जनकं वसिष्ठो भगवानृषि ॥ १९ ॥

विश्वामित्रं पुरस्कृत्य राजानन्दं च धार्मिकम् ।

प्रणामय्य तु विधिवत् वेदिं कृत्वा महानपा ॥ २० ॥

आलम्बकारं तां वेदिं गन्धपुष्पैः समन्ततः ।

सुधर्षणपालिकाभिः चित्रकुम्भैश्च साङ्गुरैः ॥ २१ ॥

अङ्गुगण्डैः शराणैश्च धूपपात्रैः सधूपकैः ।

शङ्खपात्रैः स्रग्भिः पात्रैरप्यादिभूजितैः ॥ २२ ॥

लाङ्गुलीभिः पात्रीभिरक्षतैरपि संस्कृतैः ।

दर्पैः समैः समस्तैर्य विधिवन्धनपुष्पकम् ॥ २३ ॥

अग्निमाधाय तं वंशा विधिमन्त्रपुरस्कृतम् ।

गृहाधामौ महातेजा वसिष्ठो मुनिपूङ्गवः ॥ २४ ॥

तब जनकजीसे 'सुत जनक' कहकर महालपस्वी
धर्माणां वसिष्ठ जीने वसिष्ठ और धर्मराज राजानन्दजीसे
आज्ञा करके निवार-मण्डपके मध्यभागमें विधिपूर्वक वेदी
बनायी और गन्ध तथा पुष्पों के द्वारा उसे चारों ओरों गन्ध
रत्नान् लज्जायां राधे ही चतुर्-सी साण-पात्रोंके, धूपके
अङ्गुगण्डे, शङ्ख, शरा, अक्षत, अङ्गु, जम्बू, लङ्का, अर्घ्य आदि
धूपपात्र, लाङ्का (लौका) से भरे हुए पात्र तथा धाँये हुए
अक्षत आदि समस्त सामग्रियोंको भी यथास्थान रख दिया ।
तत्पश्चात् मन्त्रराजस्वी मुनिवर वसिष्ठजीने वसुधै-वराय
कृशान्ते नर के चारों ओर विद्वान् मन्त्राचार्य करत हुए
विधिपूर्वक अग्नि स्थापना किया और विधिपूर्वक प्रधानता देने हुए
मन्त्रपाठपूर्वक प्रणमन आदिमें इतने किया ॥ १९—२४ ॥

ततः सीतां समानीय सर्वाभरणभूषिताम् ।

रामक्षमन्त्रैः संस्थाप्य राघवाभिमुखे तदा ॥ २५ ॥

अब्रवीज्जनको राजा कौसल्यानन्दवर्धनम् ।

इयं सीता मम सुता सहधर्मचरी तव ॥ २६ ॥

प्रतीच्छ वीरो यद्वै ते पाणिं गृहीष्य पाणिना ।

पतिव्रता महाभाग्यं छायेचानुगता सदा ॥ २७ ॥

तदनन्तर राजा जनकने सब प्रकारके आभूषणोंसे
विभूषित सीताका ले आकर उसके समक्ष श्रीगणेशजीके

सामने विनम्र दिसा और माना कौसल्याका आनन्द बढ़ानेवाले
उन श्रीगणेशे कहा—'रघुनन्दन । तुम्हारा कल्याण हो । यह
मेरी पुत्री माता नुनारी महर्षिमणिके रूपमें उपस्थित है, इसे
स्वीकार करो और इसका हाथ अपने हाथमें लो । यह परम
पतिव्रता महान् माभाग्यवती और छायाकी भाँति सदा तुम्हारे
पाँछे चलनेवाली होगी' ॥ २५—२७ ॥

इत्युक्त्वा प्राक्षिपद् राजा मन्त्रपूतं जलं तदा ।

साधुसाध्विति देवानामृषीणां वदतां तदा ॥ २८ ॥

यह कहकर राजा ने श्रीगणेशके हाथमें मन्त्रसे पवित्र
हुआ संकल्पका जल छेंड दिया, तब समय दशरथजी
और श्रूषियोंके मुखसे जनकके लिये साधुवाद सुनायी
देने लग्य ॥ २८ ॥

देवदुर्धनिर्घोषः पुष्पवर्षो महानभूत् ।

एव दत्त्वा सुता सीतां मन्त्रोदकपुरस्कृताम् ॥ २९ ॥

अब्रवीजनको राजा हर्षणाभिपरिप्लुतः ।

लक्ष्मणागच्छ यद्वै ते ऊर्मिलापुद्गतां मेया ॥ ३० ॥

प्रतीच्छ पाणिं गृहीष्य मा भूत् कालस्य पर्ययः ।

देवताओंके नगाड़े बजने लगे और आकाशसे फूलोंकी
बड़ी भारी वर्षा हुई, इस प्रकार मन्त्र और संकल्पके जलके
साथ अपनी पुत्री सीताका दान करके हर्षमग्न हुए राजा
जनकने लक्ष्मणसे कहा—'लक्ष्मण ! तुम्हारा कल्याण हो ।
आओ, मैं ऊर्मिलीको तुम्हारे मेघामें दे रहा हूँ, इस स्वीकार
करो । इसका हाथ अपने हाथमें लो । इसमें विलम्ब नहीं
होना चाहिये' ॥ २९—३० ॥

तपेद्युक्त्वा जनको भरतं चाभ्यभाषत ॥ ३१ ॥

गृहाण पाणिं पाण्डव्याः पाणिना रघुनन्दन ।

लक्ष्मणसे ऐसा कहकर जनकने भरतसे कहा—
'रघुनन्दन ! पाण्डवोंका हाथ अपने हाथमें लो' ॥ ३१ ॥

शत्रुघ्नं चापि धर्मात्मा अब्रवीन्मिथिलेश्वरः ॥ ३२ ॥

श्रुतकीर्तिसंहाबद्धो पाणिं गृहीष्य पाणिना ।

सर्वे भवन्तः सौम्याश्च सर्वे सुधरितव्रताः ॥ ३३ ॥

पत्नीभिः सन्तु काकुत्स्था मा भूत् कालस्य पर्ययः ।

फिर धर्मात्मा मिथिलेश्वरने शत्रुघ्नको सम्बोधित करके
कहा—'महाबाहो ! तुम अपने हाथसे श्रुतकीर्तिका
पाणिग्रहण करो, तुम चारों भाई शान्तस्वभाव हो, तुम सबमें
उत्तम व्रतका धर्तीभाँति आचरण किया है । ककुत्स्थकुलके
भूषणरूप तुम चारों भाई पत्नीसे संयुक्त हो जाओ । इस
कारणमें विलम्ब नहीं होना चाहिये' ॥ ३२—३३ ॥

जनकस्य चचः श्रुत्वा पाणीन् पाणिभिरस्पृशन् ॥ ३४ ॥

चत्वारस्तैः चतसृणां वसिष्ठस्य मते स्थिताः ।

अग्निं प्रदक्षिणं कृत्वा वेदिं राजानमेव च ॥ ३५ ॥

श्रूषींश्चापि महान्मनः सहभार्या रघूद्वहा ।

यद्योक्तं ततश्चक्रुर्विवहं विधिपूर्वकम् ॥ ३६ ॥

राजा जनकका यह वचन सुनकर उन चारों राजकुमारों ने
चाहें राजकुमारियोंके हाथ अपने हाथमें लिये। फिर
शंखध्वजोंकी सम्पत्तिसे इन रघुकुलज महामनस्यों
राजकुमारोंने अपनी-अपनी पत्नीके साथ अग्नि, वेदों, राजा
दशरथ तथा ऋषि-मुनियोंकी परिक्रमा की और वेदोक्त
वधिके अनुसार वैवाहिक कार्य पूर्ण किया ॥ ३४—३६ ॥

पुष्पवृष्टिर्महत्यासीदन्तरिक्षात् सुधास्वरा ।
दिव्यदुर्धुभिनिर्घोषगीतवादिभ्रानि-स्वने ॥ ३७ ॥

ननुगुष्माप्सरःसङ्घा गन्धर्वांश्च जगुः कलम् ।
विवाहे रघुमुख्यानां तदङ्गुलमदृश्यत् ॥ ३८ ॥

उस समय आकाशमें फूलोंकी बड़ी भारी वर्षा हुई, जो
सुधावाली लगती थी दिव्य दुर्धुभिवादी गन्धर्व ध्वनि दिव्य
गीतोंके मनाहुर शब्द और दिव्य वाद्योंके मधुर ध्वनिके साथ
सुगन्धी-सुह्रद अप्सराएँ नृत्य करने लगीं और गन्धर्व मधुर

इत्यार्य श्रीमदापायणे चाल्सीकीये आदिकाव्ये चालकाण्डे त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥ ७३ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रकीनिर्मित आर्यराघवचरण आदिकाव्यके चालकाण्डमें त्रिसप्ततितमः सर्ग पूरा हुआ ॥ ७३ ॥

चतुःसप्ततितमः सर्गः

विश्वामित्रका अपने आश्रमको प्रस्थान, राजा जनकका कन्याओंको भारी दहेज देकर राजा
दशरथ आदिको विदा करना, मार्गमें शुभाशुभ शकुन और परशुरामजीका आगमन

अथ रात्र्यां व्यतीतायां विश्वामित्रो महामुनिः ।
भाषायां तौ च राजानौ जगामोत्तरपर्वतम् ॥ १ ॥

तदनन्तर जब रात जाती और सुबह हुआ, तब महामुनि
विश्वामित्र राजा जनक और महाराज दशरथ दोनों राजाओंमें
पहुँचकर उनकी स्वीकृति ले उत्तरपर्वतपर (हिमालयकी
आश्रमाभूत पर्वतपर, जहाँ ऋषिकोंके रहकर उनका आश्रम
था, वहाँ) चले गये ॥ १ ॥

विश्वामित्रे गते राजा बहेरु मिथिलाधिपम् ।
भाषायां जगामाह राजा दशरथः पुरीम् ॥ २ ॥

विश्वामित्रोंके चले जानेपर महाराज दशरथ भी
विदेहराज मिथिलानरेशके आश्रममें लौट कर आये अपनी पुत्र-
अपनीभार्याओं के लिये तैयार हो गये ॥ २ ॥

अथ राजा विदेहानां ददौ कन्याधनं बहु ।
गव्यां शतसहस्राणि बहूनि मिथिलेश्वरः ॥ ३ ॥

कम्बलाणां च मुख्यानां क्षौपान् कोट्यध्वराणि च ।
रत्नरश्मिरथपादाभौ दिव्यरूपे स्वालोक्यमानम् ॥ ४ ॥

उस समय विदेहराज जनकने अपनी कन्याओंके विविध
सज्जामें बहुत अगिरह भन दिया। उन मिथिल-नरेशने कई
धन्य गौएँ, बिलनी ही अच्छी-अच्छी फाल्सीने तथा करोंडोंकी
सम्ख्यामें देवासी और सूती जख दिए धनि-धनि-ऊँ
रत्नरश्मि सजे हुए बहुरा-स दिव्य हाथी, घोड़े, रथ और
गदगद सेनिक भेंट किये ॥ ३-४ ॥

गीत गाने लगे। उन रघुवशाश्वतमणि राजकुमारोंके विवाहमें
यह अद्भुत दृश्य दिखाया दिया ॥ ३७-३८ ॥

इदृशे वर्तमाने तु तुर्योद्गुह्यनिनादिते ।
त्रिरग्निं ते परिक्रम्य कुरुर्भार्या महौजसः ॥ ३९ ॥

शहनाई आदि बाजोंके मधुर घोषसे गूँजते हुए उस
वर्तमान विवाहोत्सवमें उन महानरेश्वरों राजकुमारोंने अग्निकी
तीन बार परिक्रमा करके पत्नियोंको स्वीकार करने हुए
विवाहकर्म सम्पन्न किया ॥ ३९ ॥

अथापकार्यं जग्मुस्ते सभार्या रघुनन्दनाः ।
राजाध्यनुयया पश्यन् सर्पिस्तप्तुः सखान्धव ॥ ४० ॥

तदनन्तर रघुकुलके आनन्द प्रदान करनेवाले वे चारों
भाई अपनी पत्नियोंके साथ जनवासीमें चले गये। राजा
दशरथ भी ऋषियों और वन्यु चन्धर्वोंके साथ पुत्रों और
पुत्र वधुओंका देखने हुए उनके चोंच-फोंछे गये ॥ ४० ॥

इत्यार्य श्रीमदापायणे चाल्सीकीये आदिकाव्ये चालकाण्डे त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥ ७३ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रकीनिर्मित आर्यराघवचरण आदिकाव्यके चालकाण्डमें त्रिसप्ततितमः सर्ग पूरा हुआ ॥ ७३ ॥

इत्यार्य श्रीमदापायणे चाल्सीकीये आदिकाव्ये चालकाण्डे त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥ ७३ ॥

इत्यार्य श्रीमदापायणे चाल्सीकीये आदिकाव्ये चालकाण्डे त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥ ७३ ॥

इत्यार्य श्रीमदापायणे चाल्सीकीये आदिकाव्ये चालकाण्डे त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥ ७३ ॥

इत्यार्य श्रीमदापायणे चाल्सीकीये आदिकाव्ये चालकाण्डे त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥ ७३ ॥

इत्यार्य श्रीमदापायणे चाल्सीकीये आदिकाव्ये चालकाण्डे त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥ ७३ ॥

इत्यार्य श्रीमदापायणे चाल्सीकीये आदिकाव्ये चालकाण्डे त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥ ७३ ॥

इत्यार्य श्रीमदापायणे चाल्सीकीये आदिकाव्ये चालकाण्डे त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥ ७३ ॥

इत्यार्य श्रीमदापायणे चाल्सीकीये आदिकाव्ये चालकाण्डे त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥ ७३ ॥

इत्यार्य श्रीमदापायणे चाल्सीकीये आदिकाव्ये चालकाण्डे त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥ ७३ ॥

इत्यार्य श्रीमदापायणे चाल्सीकीये आदिकाव्ये चालकाण्डे त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥ ७३ ॥

इत्यार्य श्रीमदापायणे चाल्सीकीये आदिकाव्ये चालकाण्डे त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥ ७३ ॥

इत्यार्य श्रीमदापायणे चाल्सीकीये आदिकाव्ये चालकाण्डे त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥ ७३ ॥

इत्यार्य श्रीमदापायणे चाल्सीकीये आदिकाव्ये चालकाण्डे त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥ ७३ ॥

करते हुए पुरुषसिंह महाराज दशरथके चारों ओर भयंकर
चोंलें व्यालनेवाले पक्षी चहचहाने लगे और भूमिपर विचरने-
वाले समस्त मृग उन्हें दौड़ने रखकर जाने लगे ॥ ८-९ ॥

तान् दृष्ट्वा राजशार्दूलो वसिष्ठं पर्यपृच्छत् ।
असीम्या पक्षिणो घोरा मृगाश्चापि प्रदक्षिणाः ॥ १० ॥
किमिदं हृदयोत्कथि मनो मम विप्रेदति ।

उन सबको देखकर राजसिंह दशरथने वसिष्ठजीसे
पूछा — 'मुनिवर ! एक ओर तो ये भयंकर पक्षी ओर दृष्ट
नहीं रहे हैं और दूसरी ओर ये मृग इमें दौड़ने और बहने
जा रहे हैं, यह अरण्य और शुभ दो प्रकारका शकुन कैसा ?
यह भी हृदयको कथित करने देता है । मम मन विप्रेदमे
क्या जाता है ॥ १० ॥

राजो दशरथसिंहसङ्गता वाक्यं महामुनिः ॥ ११ ॥
तथाक्ता मधुरा वाणी भूयतामस्य बन् फलम् ।

उपास्थित भये घोरे दिव्यं पक्षिमुग्राञ्च्युतम् ॥ १२ ॥
मृगाः प्रशमयन्त्येते संतापस्त्यज्यतामसम् ।

राजा दशरथजी यह बचन सुनकर महर्षि वसिष्ठ
मधुर वाणीसे कहा — राजा ! इस शकुनका जो फल है उस
शुनिने — आकाशमें पक्षियोंके मुखों से जो बात निकल रही है, वह
क्याती है कि इस समय कोई घोर भय उपास्थित होनेवाला है, योंतु
तब दौड़ने रखकर जानेवाले ये मृग उस भयंकर शकुन से जानकी
सुनना दे रहे हैं, इसलिये अरण्य यह विस्तार लाइये ॥

मेघो संघटतां तत्र वायुः प्रागुर्वभूव ह ॥ १३ ॥
काम्यघनं तैर्दिनीं सघां पातयश्च महामुनान् ।

तमसा स्मृतः सूर्यः सर्वे नापेदिपुर्दिशः ॥ १४ ॥
गत्पन्ना चावृत सर्वं समूहमिव तद्यत्नम् ।

इस श्रेणीमें इस प्रकार बात हो की गयी थी कि तब यह
जोमेघों की छाँटो उठी वह सब पृथ्वीको कण्ठसे हूँ नहूँ-बहूँ
नृणां भगवांसी करने लगी सूर्य प्रत्यक्षतः आच्छन्न हो
गये । पृथ्वीको दिशाओंका ज्ञान न रहा । घूलसे एक जवनेके
जलपण सब माँटी सना पृच्छित हो हो गयी ॥ १३-१४ ॥

वरिष्ठं ऋषयश्चान्ये राजा च ससूतस्तदा ॥ १५ ॥
सर्गज्ञा इव तत्रासन् सर्वमन्यद्विद्वतनम् ।

तस्मिंस्तमसि घोरे नु भस्मच्छलेव सा जयः ॥ १६ ॥

उन समय केवल वसिष्ठ मुनि, अन्योन्य ऋषियों तथा
पुत्रोपहित राजा दशरथजी ही चेत रह गया था शेष सभी
श्लोक अचेत हो गये थे । उस घोर अन्धकारमें राजाको वह
सैना घूलसे आच्छादित-सो हो गयी थी ॥ १५-१६ ॥

वर्द्धा भीमसंकाशं जटामण्डलधारिणम् ।
भार्गव आमदन्त्येयं राजा राजसिमर्दनम् ॥ १७ ॥

इत्यादि श्रीमद्भागवतके कल्याणकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे जन्मसप्तमिर्गमः सर्गः ॥ ७४ ॥
इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षणमायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें चौहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७४ ॥

कैलासमिव दुर्धर्षं कालाग्निमिव दुःसहम् ।
ज्वलन्तमिव तेजोभिर्दुर्निरीक्ष्यं पृथग्जनैः ॥ १८ ॥
स्कन्धे चासग्न्य परशुं धनुर्धनुर्गणोपमम् ।

प्रगृह्य शरमुग्रं च त्रिपुरात्रं यथा शिवम् ॥ १९ ॥

उस समय राजा दशरथने देखा — क्षत्रिय राजाओंका
मान मर्दन करनेवाले भृगुकुलमन्दन जमदग्निकुमार परशुराम
साधनेमें आ रहे हैं । वे सबके भयानक-से दिखायी देते थे ।
उन्हेन मन्त्रद्वारा बड़ा बड़ा जगण कर रखी थीं वे
कैलासमक समान दुर्धर्ष और कालाग्निक समान दुःसह प्रताप
रहते थे । तेजामण्डलद्वारा जगम्बल्यमान-से हो रहे थे ।
माधारण श्रेणोंके लिये उनको ओर देखना भी कठिन था । वे
कंधपर शरमा रख और हाथमें विशुद्गणाँके समान दीप्तिमान्
शनय एवं भयंकर बाण लिय त्रिपुरविनाशक भाग्यवान् शिवके
समान जान पड़ते थे ॥ १७-१९ ॥

तं दृष्ट्वा भीमसंकाशं ज्वलन्तमिव पावकम् ।
वसिष्ठप्रमुखा विप्रा अपहोमपरायणाः ॥ २० ॥
संगता धुनयः सर्वे संजजलपुरथो मिथः ।

प्रवर्णित अग्निके समान भयानक-से प्रताप होनेवाले
परशुरामको दर्शयित्व दत्त जप और हाथमें नाथर मन्त्रेवाले
गोमय अग्नि मण्डो प्राणार्थ एकत्र हो पम्पर इस प्रकार बात
करने लगे — ॥ २० ॥

कश्चिन् पितृवधामयीं क्षत्रं नोत्सादयिष्यति ॥ २१ ॥
पूर्वं क्षत्रवधं कृत्वा गतपन्पुर्गतज्वरः ।

क्षत्रस्योत्सादनं भूयो न खल्वस्य चिकीर्षितम् ॥ २२ ॥

भग्न अपने पिताके वधमें अपर्णके वशीभूत हो ये
क्षत्रियोंका चरण नहीं कर सकते ? पूर्वकांक्षित क्षत्रियोंका
अध करके इन्होंने अपना क्रोध उतार लिया है । अब इनको
बदला लेनेकी चिन्ता दूर हो चुकी है । अतः फिर क्षत्रियोंका
मेहर करना इनके लिये अपीष्ट नहीं है, यह निश्चयपूर्वक
कहा जा सकता है ॥ २१-२२ ॥

एषमुक्त्वाघ्यंमादाय भार्गवं भीमदर्शनम् ।
ऋषयो राम रामेति मधुरं वाक्यमब्रुवन् ॥ २३ ॥

ऐसा कहकर ऋषियोंने भयंकर दिखायी देनेवाले
भृगुमन्दन परशुरामको अर्घ्य लेकर दिया और 'राम ! राम !'
कहकर उनसे मधुर वाक्यमें बातचीत की ॥ २३ ॥

प्रतिगृह्य तु तां पूजामुपिदन्तां प्रतापवान् ।
रामं दाशरथिं रामो आमदन्त्योऽभ्यधाधत् ॥ २४ ॥

ऋषियोंकी दौ हुई उस पूजाको स्वीकार करके प्रतापी
जमदग्निपुत्र परशुरामने दशरथमन्दन श्रीरामसे इस प्रकार
कहा ॥ २४ ॥

पञ्चसप्ततितमः सर्गः

राजा दशरथको ज्ञान अनमनी करक परशुरामका श्रावणको वैष्णव-धनुषपर
बाण छड़ानेके लिये ललकारना

गमे दशरथे वीर वीर्य ने भूपनेऽधुनम् ।
धनुषो धंदने धंश निखिलेन मया धुनम् ॥ १ ॥

महामहानन्दन श्रीराम ! वीर ! मुना जना है कि तुम्हारा
पातकम अदुन है । मुझा इरादा शिख धनुषके तोड़ने के लिये
जारा समाचार भी मेरे कामार्थ पहुँच चुका है ॥ १ ॥

ननुदुनमस्मिन्नां स धंदने धनुषस्तथा ।
तत्त्वत्वाहमनुप्राप्ते धनुर्गुह्यापरं शुभम् ॥ २ ॥

यस धनुषका मोहना अदुन ओं अचिन्त्य है, उसके
दुनको जान सुनकर मैं एक दूसरा उत्तम धनुष लकर
आया हूँ ॥ २ ॥

नदिदे धोरमकाशे जामदग्न्यं महद्वनः ।
पुत्रवत्स दामोदरं स्वदन्तं दुर्धनं च ॥ ३ ॥

यह है वह जामदग्निकुमार परशुरामका ध्यकर और
बड़ा ल धनुष । मुझ इसे खोजकर इसके ऊपर बाण चढ़ाओ
और अपनी धार लगाओ ॥ ३ ॥

नददे ने बलं दृष्टा धनुषोऽयमस्य पुणः ।
इहपुत्रं प्रवक्ष्यामि वक्ष्यन्त्याध्यामहं तव ॥ ४ ॥

इस धनुषके बखाने में मैं तुम्हारा बल कैसे है ? यह
दुनकर मैं तुम्हें ऐसा द्रव्यदृष्ट प्रदान करूँगा, जो तुम्हारा
जातकाल लिये स्पष्टणय होगा ॥ ४ ॥

नन्व तत् वचने अथा राजा दशरथस्तदा ।
त्रिपुण्ड्रकक्षतो तीनः प्राकृत्स्निकवक्ष्यमध्वरात् ॥ ५ ॥

परशुरामजीवर वह वचन सुनकर उस समय राजा
१५ मुझसे अपने हाथ में वह द्रव्यदृष्ट ले
कर लगे ॥ ५ ॥

तदा धनुः प्रदानमस्तु ब्रह्मणश्च महानपाः ।
बालानां मम पुत्राणामधय तानुमर्हसि ॥ ६ ॥

भार्याबापा कुलं ज्ञानः स्वाध्यायश्चनडात्मिनाम् ।
महामाक्षे प्रतिज्ञाय इत्थं प्रोक्ष्यस्वानसि ॥ ७ ॥

जान ! आप कायर और क्रम दग्धा दानवान
जानकी अन्त्यागके करम दुपत्र रूप हैं और स्वयं भी महान
पुत्रों का रक्षक हैं । अत्रिगण पर अज्ञात प्रकट करके
आप जान लें चुके हैं । इनमें से धार वाला पुत्रों को आप

१६ मुझसे ले लें । मैं आपसे प्रतिज्ञा करता हूँ ॥ ६-७ ॥

म त्व धमपरो भूत्वा कश्यपाय धनुषगन् ।
नन्व धनुषाणाम्य महोदहकनः ॥ ८ ॥

१७ नन्व आप धमसे नन्व हो करधनुषोंके लिये
१८ मैं आपसे महोदहकन पर अश्रम कनका

गहने हैं ॥ ८ ॥
यय सर्वविनाशाय सम्प्राप्तस्त्वं महामुने ।

न चैकास्मिन् हने रामे सर्वे जीवामहे वयम् ॥ ९ ॥
महामुने ! (इस प्रकार राजात्म्यागकी प्रतिज्ञा करके
मैं) आप मेरा सर्वनाश करने के लिये कैसे आ गये ?

(यदि कहें—मेरा रोप तो केवल रामपर है तो) एकमात्र
रामके भार जानपर ही हम सब लोग अपने जीवनका
धर्मत्याग कर देंगे ॥ ९ ॥

द्रुवत्येवं दशरथे जामदग्न्यः प्रतापवान् ।
अनादृत्य तु तदवाक्यं राममेवाध्यधावत ॥ १० ॥

राजा दशरथ इस प्रकार कहते ही रह गये; परंतु प्रतापी
परशुरामने उनके उन वचनोंकी अजललना करके रामसे ही
यत्नर्चन जारी रखी ॥ १० ॥

इमे हे धनुषी श्रेष्ठे दिव्ये लोकाभिपूजिते ।
दृढ बलवतां मुग्धे मुकुते विश्वकर्मणा ॥ ११ ॥

ये बाले—महानन्दन ! ये ही धनुष सबसे श्रेष्ठ और
दिव्य थे । साथ समय इस सम्मानकी दृष्टिसे देखना
था । स्वयम् विश्वकर्मने इन्हें बनाया था । ये बड़े प्रबल
और दृढ़ थे ॥ ११ ॥

अनुसृष्टे सुगेकं अम्बकाय युयुत्सवे ।
त्रिपुण्ड्रं नरश्रेष्ठ धमं काकुत्स्थ यत्त्वया ॥ १२ ॥

नरश्रेष्ठ ! इससे एकको देवताओंने त्रिपुरासुरसे युद्ध
करने के लिये भगवान् अहुरको दे दिया था । काकुत्स्थनन्दन ।
इसमें त्रिपुण्ड्र भस्म हुआ था, वह बड़े धनुष था, जिसमें
मम बड़े हुला है ॥ १२ ॥

इदं हिनीयं दुर्धवं विष्णोर्दत्तं सुरोत्तमैः ।
नदिदे धंशवं राम धनुः परपूरजयम् ॥ १३ ॥

और दुग्गा दुर्धव धनुष यह है, जो मेरे हाथमें है । इसे
अष्ट देवताओंने भगवान् विष्णुको दिया था । श्रीराम !
शत्रुनगरोंपर विजय पानेवाला वही यह वैष्णव धनुष है ॥

ममानसारं काकुत्स्थ रीद्रेण धनुषा त्विदम् ।
नदा तु देवताः सर्वाः पृच्छन्ति स्म पितामहम् ॥ १४ ॥

शितिकण्ठस्य विष्णोश्च बलाबलनिरीक्षया ।
ककुत्स्थनन्दन । यह भी शिवजीके धनुषके समान ही

प्रबल है । उन दिनों ममसे देवताओंने भगवान् शिव और
विष्णु बलबलकी परीक्षाके लिये पितामह ब्रह्माजीसे पूछा
था कि 'इन दोनों देवताओंमें कौन अधिक बलशाली है ॥

अभिप्रायं नु विज्ञाय देवतानां पितामहः ॥ १५ ॥
विमर्शं जनयापाम तयोः सत्यवतां धरः ।

'देवताओंके इस अभिप्रायको जानकर सत्यवादियोंमें श्रेष्ठ पितामह ब्रह्माजीने उन दोनों देवताओं (शिव और विष्णु) में विरोध उत्पन्न कर दिया ॥ १५ ॥

विरोधे तु महद् बुद्धमभवद् रोमहर्षणम् ॥ १६ ॥
शितिकण्ठस्य विष्णोश्च परस्परजघ्निषिणोः ।

'विरोध पैदा होनेपर एक-दूसरेको जीननेकी इच्छावाले शिव और विष्णुमें बड़ा भारी युद्ध हुआ, जो रोंगटे खड़े कर देनेवाला था ॥ १६ ॥

तदा तु जुष्मिन् शैवं धनुर्भीमपराक्रमम् ॥ १७ ॥
हुंकारेण महादेवः समिभानोऽथ त्रिलोचनः ।

'तब समय भगवान् विष्णुने हनुमत्मात्रसे शिवजीके भयंकर बलशाली धनुषकी शिथिल तथा त्रिनेत्रधारी महादेवजीको भी स्तम्भित कर दिया ॥ १७ ॥

देवीस्तदा समागम्य सर्विसङ्गः सञ्चारणैः ॥ १८ ॥
शान्तिनी प्रहाम तत्र जग्मनुस्ती सुरेजयो ।

'तब ऋषिसमूहों तथा चारणांसहित देवताओंने आकर तब दोनों श्रेष्ठ देवताओंमें शान्तिके लिये याचना की, फिर वे दोनों वहाँ आना हो गये ॥ १८ ॥

जुग्मिन् तद् धनुर्मुष्टा शैवं विष्णुपराक्रमैः ॥ १९ ॥
आभर्क मेनिरे विष्णु देवाः सर्विगणास्तथा ।

'भगवान् विष्णुके पराक्रमसे शिवजीके इस धनुषकी शिथिल तथा दूर प्रविर्गताहित देवताओंने भगवान् विष्णुको श्रेष्ठ माना । धनुः रुद्धस्तु सकुल्लो विदेहेषु महायशाः ॥ २० ॥
देवराजस्य राजर्षदौ हसो ससायकम् ।

'मनुष्यर कुपित हुए महायशस्वी रुद्रों आणसहित अपने धनुष बितरहृदयके गुजर्षि देवराजके हाथमें दे दिया ॥ २० ॥

इदं च वैष्णवं राम धनुः परपुरंजयम् ॥ २१ ॥
क्रौञ्चीके भार्गवे प्राठाद् विष्णुः स न्यासगुणगम् ।

'श्रीराम ! बालुगरीपर विजय पानेवाले इस वैष्णव धनुषको भगवान् विष्णुने भृगुजी ऋषीकपुत्रिसे उत्तम शरालङ्कारके रूपमें दिया था ॥ २१ ॥

प्रह्वीकस्तु महातेजाः पुत्रस्याप्रतिकर्मणः ॥ २२ ॥
पितुर्मम वदो दिव्य जयदशैर्पहात्मनः ।

फिर महातेजस्वी ऋषीकने प्रतीकार (प्रतिशोध) की

इत्यादि श्रीमहात्मीयके आदिकाव्ये बालकाण्डे पञ्चमप्रतिमः सर्गः ॥ ७५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्याभारतके आदिकाव्यके बालकाण्डमें पचहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७५ ॥

षट्सप्ततितमः सर्गः

श्रीरामका वैष्णव धनुषको चढ़ाकर अयोध काणके द्वारा परशुरामके तपःप्राप्त पुण्यलोकोंका नाश करना तथा परशुरामका महेन्द्रपर्वतको लौट जाना

श्रुत्वा तु जामतग्न्यस्य वाक्ये दाशरथिसदा ।

गौरवाद्यन्वितकथः पितुः राममथाब्रवीत् ॥ १ ॥

भावनामें रहित अपने पुत्र एवं मेरे पिता महात्मा जामदग्निके अधिकारमें यह दिव्य धनुष दे दिया ॥ २२ ॥

न्यस्तशस्त्रे पितरि मे तपोबलसमन्विते ॥ २३ ॥
अर्जुनो विदधे मृत्युं प्राकृतां बुद्धिर्मास्थितः ।

'तपोबलमें सम्पन्न मेरे पिता जामदग्नि अस्त्र-शस्त्रोंके परित्याग करके जब ध्यानस्थ होकर बैठे थे, उस समय प्राकृत बुद्धिका आश्रय लेनवाले कृतवीर्यकुमार अर्जुनन उनके मार डाला ॥ २३ ॥

बधमप्रतिस्वम् तु पितुः श्रुत्वा सुदारुणम् ।
क्षत्रमुत्सादयं रोषाज्जातं जातमनेकशः ॥ २४ ॥

'पिताके इस अत्यन्त भयंकर वधका, जो उनके योग्य नहीं था, समाचार सुनकर मैंने रोषपूर्वक बारंबार उत्पन्न हुए क्षत्रियांका अनेक बार मोहार किया ॥ २४ ॥

पृथिवीं चारिक्तां प्राप्य कश्यपाय महात्मने ।
यज्ञस्यान्तेऽददं राम दक्षिणां पुण्यकर्मणे ॥ २५ ॥

'श्रीराम ! फिर सारी पृथ्वीपर अधिकार करके मैंने एक यज्ञ किया और उस यज्ञके समाप्त होनेपर पुण्यकर्मी महात्मा कश्यपको दक्षिणरूपमें यह सारी पृथ्वी दे डाली ॥ २५ ॥

दत्त्वा महेन्द्रनिलयस्तपोबलसमन्वितः ।
श्रुत्वा तु धनुषो भेदं ततोऽहं हनुमागतः ॥ २६ ॥

'पृथ्वीका दान करके मैं महेन्द्रपर्वतपर रहने लगा और वहाँ तबका करके तपोबलमें सम्पन्न हुआ । वहाँमें शिवजीके धनुषके लड़ जानका समान्य सुनकर मैं शीघ्रतापूर्वक वहाँ आया हूँ ॥ २६ ॥

तदेवं वैष्णवं राम पितुर्पतामहं महत् ।
क्षत्रधर्मं पुरस्कृत्य गृहीष्ट धनुरुत्तमम् ॥ २७ ॥

योजयस्व धनुःश्रेष्ठे शरं परपुरंजयम् ।
यदि शक्तोऽसि काकुत्स्थ इन्द्रं दास्यामि ते ततः ॥ २८ ॥

श्रीराम ! इस प्रकार यह महान् वैष्णवधनुष मेरे पिता-पितामहोंके अधिकारमें रहता बल आया है; अब तुम शत्रुधर्मके मामलेमें रुझकर यह उत्तम धनुष हाथमें लो और इस श्रेष्ठ धनुषपर एक ऐसी वाण चढ़ाओ, जो शत्रुनगरीपर विजय पानेमें समर्थ हो यदि नुम ऐसा कर सके तो मैं तुम्हें इन्द्र युद्धका अवसर दूँगा ॥ २७-२८ ॥

इत्यादि श्रीमहात्मीयके आदिकाव्ये बालकाण्डे पञ्चमप्रतिमः सर्गः ॥ ७५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्याभारतके आदिकाव्यके बालकाण्डमें पचहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७५ ॥

षट्सप्ततितमः सर्गः

श्रीरामका वैष्णव धनुषको चढ़ाकर अयोध काणके द्वारा परशुरामके तपःप्राप्त पुण्यलोकोंका नाश करना तथा परशुरामका महेन्द्रपर्वतको लौट जाना

श्रुत्वा तु जामतग्न्यस्य वाक्ये दाशरथिसदा ।

गौरवाद्यन्वितकथः पितुः राममथाब्रवीत् ॥ १ ॥

दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्रजी अपने पिताके सौख्यका ध्यान

रखकर संकल्पवश वहाँ कुछ बोल नहीं रहे थे, परंतु

उमदाग्रकुमार परशुरामजीकी उपर्युक्त बात सुनकर उस समय व मौन न रह सके। उन्होंने परशुरामजीसे कहा— ॥ १ ॥

कृतवानसि यत् कर्म श्रुतवानस्मि भार्गव ।

अनुरुध्यामहे ब्रह्मन् पितुरानुष्यमास्थितः ॥ २ ॥

‘भृगुनन्दन ! ब्रह्मन् ! आपने पिताके श्रृणसे ऊर्ध्व षणकी—पिताके मारनेवालाका वध करके वैरका बदला चुकानेकी भावना लेकर जो क्षत्रिय-संहारकी कर्म किया है, उसे मैंने सुना है और हमलोग आपके उस कर्मका अनुपादन भी करते हैं (क्योंकि वीर पुरुष वैरका प्रतिशोध लेते ही हैं) ॥ २ ॥

वीर्यहीनमिवाशक्तं क्षत्रधर्मेण भार्गव ।

अवजानासि मे तेजः पश्य मेऽद्य पराक्रमम् ॥ ३ ॥

भार्गव ! मैं क्षत्रियधर्मसे युक्त हूँ (इसलिये आप ब्राह्मण-देवताके समक्ष विमान रहकर कुछ खोल नहीं रहा हूँ, ता भी आप मुझे पराक्रमहीन और अस्मद्ध-सा मानकर मेरा तिरस्कार कर रहे हैं। अच्छा, अब मेरा तेज और पराक्रम देखिये ॥ ३ ॥

इत्युक्त्वा राघवः क्रुद्धो भार्गवस्य वरायुधम् ।

शरं च प्रतिजग्राह इस्तल्लघुपराक्रमः ॥ ४ ॥

ऐसा कहकर शीघ्र पराक्रम करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीन कृपित हो परशुरामजीके हाथसे वह उत्तम धनुष और बाण ले लिया (साध हो उससे अपनी वैष्णवी शक्तिको भी वापस ले लिया) ॥ ४ ॥

आरोप्य स धनुं रामः शरं सज्यं चकार ह ।

नामदग्न्यं ततो रामं रामः क्रुद्धोऽब्रवीद्विदम् ॥ ५ ॥

उस धनुषको घड़ाकर श्रीरामने उसकी प्रत्यक्षापर बाण गव, फिर आपत होकर उन्होंने जमदग्निकुमार परशुरामजीसे इस प्रकार कहा ॥ ५ ॥

ब्राह्मणांऽसीति पूज्यो मे विश्वामित्रकृतेन च ।

तस्माच्छक्तो न ते राम मोक्तुं प्राणहरं शरम् ॥ ६ ॥

‘(भृगुनन्दन) राम ! आप ब्राह्मण होनेके नाते मेरे पूज्य हैं तथा विश्वामित्रजीके साथ भी आपका सम्बन्ध है—इन सब कारणोंसे मैं इस प्राण संहारक बाणको आपके शरीरपर नहीं छोड़ सकता ॥ ६ ॥

उमा सा मरुतिं राम तपोबालममर्जितान् ।

लोकानप्रनिगान् चापि हनिष्यामीति मे मतिः ॥ ७ ॥

य इष्यै वैष्णवो दिव्यः शरः परपुरजयः ।

घातः पतति वीर्येण बलदपविनाशनः ॥ ८ ॥

राम ! मेरा विचार है कि आपको जो सर्वत्र शीघ्रतापूर्वक मारने-मारनेकी क्षमता प्राप्त हुई है उसे अथवा आपन अपने तपोबालसे जिन अानुपम पुण्यलोकोंको प्राप्त किया है उनको तो नष्ट कर दान्दू क्योंकि अपने पराक्रमसे दिव्यशक्त बलके धमकके धुर धुर कर तोवालत्र यह दिव्य वैष्णव बाण, जो

शत्रुओंकी नगरेपर विजय दिलानेवाला है, कभी निष्फल नहीं जाता है’ ॥ ७-८ ॥

वरायुधधरं रामं ब्रह्मं सर्विगणाः सुराः ।

पितामहं पुरस्कृत्य समेतास्तत्र सर्वशः ॥ ९ ॥

उस समय उस उत्तम धनुष और बाणको धारण करके खड़े हुए श्रीरामचन्द्रजीके देखनेके लिये सम्पूर्ण देवता और ऋषि ब्रह्मजीको आगे करके वहाँ एकत्र हो गये ॥ ९ ॥

गन्धर्वाप्सरसश्चैव सिद्धचारणाकिन्नराः ।

यक्षराक्षसनागाश्च तद् ब्रह्मं महदद्भुतम् ॥ १० ॥

गन्धर्व, अप्सराएँ, सिद्ध, चाण, किन्नर, यक्ष, राक्षस और नाग भी उस अत्यन्त अद्भुत दृश्यको देखनेके लिये वहाँ आ पहुँचे ॥ १० ॥

जडीकृते तदा लोके रामे वरधनुषरि ।

निर्वीर्यो जामदग्न्योऽसौ रामो रामपुर्दक्षतः ॥ ११ ॥

जब श्रीरामचन्द्रजीने वह श्रेष्ठ धनुष हाथमें ले लिया, उस समय सब लोग आश्चर्यसे जड़वत् हो गये, (परशुरामजीका वैष्णव तेज निकलकर श्रीरामचन्द्रजीमें मिल गया। इसलिये) वीर्यहीन हुए जमदग्निकुमार रामने दशरथनन्दन श्रीरामकी ओर देखा ॥ ११ ॥

नेजोधिर्गतवीर्यत्वाज्जामदग्न्यो जडीकृतः ।

राघ कमलनयनाक्षौ मन्दं मन्दमुवाच ह ॥ १२ ॥

तेज निकल जानेसे वीर्यहीन हो जानेके कारण जड़वत् बने हुए जमदग्निकुमार परशुरामने कमलनयन श्रीरामसे धीरे-धीरे कहा— ॥ १२ ॥

काश्यपाय मया क्ता यदा पूर्वं असुंधरा ।

विषये मे न वस्तव्यमिति मां काश्यपोऽब्रवीत् ॥ १३ ॥

‘रघुनन्दन ! पूर्वकालमें मैंने काश्यपजीको जब वह पृथिवी दान करे था, तब उन्होंने मुझसे कहा था कि ‘तुम्हें मेरे राज्यमें नहीं रहना चाहिये’ ॥ १३ ॥

सोऽहं गुम्बचः कुर्वन् पृथिव्यां न यसे निशाम् ।

तदाप्रभृति काकुत्स्थ कृता मे काश्यपस्य ह ॥ १४ ॥

‘ककुत्स्थकुलनन्दन ! तभीसे अपने गुरु काश्यपजीकी इस आज्ञाका पालन करता हुआ मैं कभी रातमें पृथिवीपर नहीं निवास करता हूँ क्योंकि यह बात सर्वविदित है कि मैंने काश्यपके सामने रातको पृथिवीपर न रहनेकी प्रतिज्ञा कर रखी है ॥ १४ ॥

तामिमां मरुतिं वीरं हन्तुं नार्हसि राघव ।

मनोजवं गपिष्यामि महेन्द्रं पर्वनोत्तमम् ॥ १५ ॥

‘इसलिये वीर राघव ! आप मेरी इस गमनशक्तिको नष्ट न करें। मैं मनके समान वेगसे अभी महेन्द्र नामक श्रेष्ठ पर्वतपर खला जाऊँगा ॥ १५ ॥

लोकास्त्वप्रतिमां राम निर्जितास्तपसा मया ।

जहि ताञ्छरमुख्येन मा भूत् कालस्य पर्ययः ॥ १६ ॥

‘परंतु श्रीराम ! मैंने अपनी तपस्यासे जिन अनुपम लोकोंपर विजय पायी है, उन्हींको आप इस श्रेष्ठ वाणसे नष्ट कर दें; अब इसमें विलम्ब नहीं होना चाहिये ॥ १६ ॥

अक्षय्यं मधुहन्तारं जानामि त्वां सुरेश्वरम् ।
धनुषोऽस्य परमशक्तिं स्वस्ति तेऽस्तु परंतप ॥ १७ ॥

‘शत्रुओंको संताप देनेवाले वीर ! आपने जो इस धनुषको चढ़ा दिया, इससे मुझे निश्चितरूपसे ज्ञान हो गया कि आप मधु दैत्यादि मायनगाल अभिनाशो दशरथ विष्णु हैं आपका कल्याण हो ॥ १७ ॥

एतैः सुरगणाः सर्वे निरीक्षणे समागताः ।
त्वाद्यप्रतिमकर्माणामप्रतिङ्मुखमाहवे ॥ १८ ॥

ये सब देवता धक्का होकर आपकी ओर देख रहे हैं । आपका नाम अनुपम है, युद्धमें आपको सामना करनेवाला दूसरा कोई नहीं है ॥ १८ ॥

न श्रेयं तत्र काकुत्स्थः ब्रीडा भवितुमर्हति ।
त्वया श्रीलोकमनाक्षेपेन यत्नं विमुक्तोक्तः ॥ १९ ॥

ककुत्स्थकुलपूषण ! आपके सामने जो मेरी असमर्थता धक्का हुई—यह मेरे स्थिति रक्ताजम्क नहीं हो सकती, क्योंकि आप त्रिलोकाधीश श्रीहरिने मुझे गराजित किया है । शरमप्रतिवे राम मोक्षमार्गसि सुव्रत ।

शरणाक्षो गमिष्यामि महेन्द्रं पर्वतोत्तमम् ॥ २० ॥

‘आम्र बनका रामन करनेवाले श्रीराम ! अब आप

हमारा श्रीपदामरण चारुपीकीय आदिकाख्य बालकाण्डे षट्धर्माध्याय सर्ग ॥ ७६ ॥

१. प्रवेश श्रीधाम्मोक्तिर्निर्मित अर्धरामायणे अष्टिकाख्यके धान्दकापदमं विज्ञानरत्नं सर्ग पूरा हुआ ॥ ७६ ॥

सप्तसप्ततितमः सर्गः

राजा दशरथका पुरी और वधूओंके साथ अयोध्यामें प्रवेश, शत्रुघ्नसहित भरतका मामाके यहाँ जाना, श्रीरामके बर्तावसे सबका संतोष तथा सीता और श्रीरामका पारस्परिक प्रेम

गते गते प्रशान्तात्मा रामो दशरथिर्धनुः ।
शरुणासाध्रमेयाय ददौ हस्ते महाबलाः ॥ १ ॥

जमदीशकुमार परशुरामजीके चले जानेपर महायशस्वी दशरथनन्दन श्रीरामने जान्नाश्रित हुक्कर अपार उत्कृष्टताके वरुणाके हाथमें वह धनुष दे दिया ॥ १ ॥

अभिवाद्य ततो रामा वसिष्ठप्रमुखान्पुत्रीन् ।
पितरं विक्कलं दृष्ट्वा प्रोत्वाच्च रघुनन्दनः ॥ २ ॥

तत्पश्चात् वसिष्ठ आदि ऋषियोंको प्रणाम करके रघुनन्दन श्रीरामने अपने पिताकी विक्कल देखकर उनसे कहा— ॥ २ ॥

प्रापदग्घ्वां गतो रामः प्रयातु चतुरङ्गिणी ।
अयोध्याधिमुखी रोना त्वया नाथेन पालिता ॥ ३ ॥

‘पिताजी ! जमदीशकुमार परशुरामजी चले गये । अब आपके अधिनायकत्वमें मुक्तिस्त यह चतुरङ्गिणी सप्त

अपना अनुपम जाण छेड़िये, इसके छूटनेके बाद ही मैं श्रेष्ठ महन्द्र पर्वतपर जाऊँगा’ ॥ २० ॥

तथा ब्रुवति रामे तु जामदग्न्ये प्रतापवान् ।
रामो दशरथिः श्रीपार्श्वक्षेप शरमुत्तमम् ॥ २१ ॥

जमदग्निनन्दन परशुरामजीके ऐसा कहनेपर प्रतापी दशरथनन्दन श्रीरामान् रामचन्द्रजीने यह उनमें वाण छेड़ दिया ॥ २१ ॥

स हनान् दृश्य रामेण स्वैल्लोकान्तपमार्जितान् ।
जामदग्न्यो जगामाशु महेन्द्रं पर्वतोत्तमम् ॥ २२ ॥

अपनी तपस्याद्वारा उपार्जित किये हुए पुण्यलोकोंको श्रीरामचन्द्रजीके धलाये हुए इस वाणसे नष्ट हुआ देखकर परशुरामजी शोष ही उनमें महेन्द्र पर्वतपर चले गये ॥ २२ ॥

ततो विनिमिराः सर्वा दिशश्चोपदिशस्तथा ।
सुराः सर्पिगणा रामे प्रशङ्गसुन्दरायुधम् ॥ २३ ॥

उनके जल से सम्पन्न दिशाओं तथा उपदिशाओंका अन्धकार दूर हो गया । उस समय ऋषियोंसहित देवता उत्तम आयुधधारी श्रीरामके धूरि-धूरि प्रशंसा करने लगे ॥ २३ ॥

रामे दशरथिं रामो जामदग्न्यः प्रपूजितः ।
ततः प्रदक्षिणीकृत्य जगामात्यगतिं प्रभुः ॥ २४ ॥

नन्दनन्तर दशरथनन्दन श्रीरामने जमदग्नि कुमार परशुरामका पूजन किया । उनसे पूजित हो प्रभावशाली परशुराम दशरथ कुमार रामकी परिक्रमा करके अपने धामको चले गये ॥ २४ ॥

हमारा श्रीपदामरण चारुपीकीय आदिकाख्य बालकाण्डे षट्धर्माध्याय सर्ग ॥ ७६ ॥

१. प्रवेश श्रीधाम्मोक्तिर्निर्मित अर्धरामायणे अष्टिकाख्यके धान्दकापदमं विज्ञानरत्नं सर्ग पूरा हुआ ॥ ७६ ॥

अन्धकारों अन्ध प्रस्थान करें ॥ ३ ॥

गमय्य वचनं श्रुत्वा राजा दशरथः सुतम् ।
काकुत्था सम्परिभृज्य मूर्ख्युपाधाय राघवम् ॥ ४ ॥

गतो राम इति श्रुत्वा हृष्टः प्रमुदितो नृपः ।
पुनर्जातं तदा मेने पुत्रभात्मानमेव च ॥ ५ ॥

शरमस्त यह वचन सुनकर राजा दशरथने अपने पुत्र रघुनाथजीको दोनों भुजाओंसे खींचकर छातीसे लगा लिया और उनकी मस्तक सँघा । ‘परशुरामजी चले गये’ यह सुनकर राजा दशरथके बड़ा हर्ष हुआ, वे आनन्दमग्न हो गये । उस समय उन्होंने अपना और अपने पुत्रका पुनर्जन्य

हुआ माना ॥ ४-५ ॥

सोदयामास तां सेनां जगामाशु ततः पुरीम् ।
पताकाध्वजिनीं रम्यां तूर्योदघुष्टनिनादिताम् ॥ ६ ॥

नन्दनन्तर उन्होंने सेनाको नगरको ओर कूँव करनेकी

आज्ञा दी और वहाँमें चलकर बड़ी शीघ्रताके साथ वे अयोध्यापुरीमें जा पहुँचे। उस समय उस पुरीमें सब ओर ध्वजा-पताकाएँ फहरा रही थीं। सजावटमें नगरको रमणीयता यह गयी थी और भौतिक-धौतिक चीजोंको ध्वनिसे सारे अयोध्या गूँज उठी थी ॥ ६ ॥

मित्तराजपथारम्या प्रकीर्णकुसुमोत्कराम् ।
राजप्रवेशसुमुखैः पौर्णमङ्गलपाणिभिः ॥ ७ ॥
सम्पूर्णं प्राविशद् राजा जनीर्ध्रं समलंकृतम् ।
पौरैः प्रसूदनो दूरं द्विजैश्च पुरवासिभिः ॥ ८ ॥

महाकोपर जगज्जगत् सिद्धकाश हुआ था, जिसमें पुराका सुगन्ध शोभा बढ़ गयी थी। यत्र-तत्र डेर-डेर-डेर फूल बिखरे गये थे। पुरवासी मनुष्य हाथोंमें माङ्गलिक चन्दुई लेकर राजाके प्रवेशमार्गपर घूमनेपुल होकर सड़ें थे। इन सबसे भरी पुरी तथा पुरी जनसमुदायसे अलंकृत हुई अयोध्या-पुरीमें राजान प्रवेश किया। नगरिकों तथा पुरवासियों द्वारा दूरतक आगे जाकर महाराजको आगवानी की थी ॥ ७-८ ॥

पुत्रैरनुगतः श्रीमाडश्रीमद्विभक्तं यत्नायशाः ।
प्रविशेश गृहं राजा हिमवत्सदृशं प्रियम् ॥ ९ ॥

अपने कान्तिमान् पुत्रोंके साथ महायशस्वी श्रामान् राजा दशरथने अपने प्रिय राजभवनमें, जो हिमालयके समान सुन्दर एवं गगनचुम्बो था, प्रवेश किया ॥ ९ ॥

ननन्द स्वजने राजा गृहे कार्यैः सुपूजितः ।
कौसल्या च सुमित्रा च कैकेयी च सुमध्यामा ॥ १० ॥
वधूप्रतिग्रहे युक्ता याश्चान्या राजयोषितः ।

राजमहलमें स्वजनोद्धार मनेकाञ्छित चन्दुओंसे परम पूजित हो राजा दशरथने बड़े आनन्दका अनुभव किया। गादरानी कौसल्या सुमित्रा सुन्दर काट-रक्षिताएँ कैकेयी तथा जो अन्य राजपत्नियाँ थीं, वे सब बहूओंको उत्तमस्कृत्य कार्यमें जुट गयीं ॥ १० ॥

ततः सीता महाभागामूर्मिला च यशस्विनीम् ॥ ११ ॥
कुशध्वजसुतं चोभं जगदनुपयोषितम् ।
मातृशालाग्रभारम् शोभिना क्षीभश्रावसम् ॥ १२ ॥

तदनन्तर राजपत्नियोंकी टोली ब्रिथान परम सौभाग्यवती सीता, यशस्विनी लक्ष्मणा तथा कुशध्वजको दाने वन्द्य थीं ॥ ११ ॥ और भूतकर्मिणी मन्त्रिण्ये उनमें और शकुन्तला गीत गानों हुई सब प्रभुओंके करमें ले गयीं। वे प्रवेशार्थक दौड़करने सुनोभित तथा रक्षिता सौभाग्यवती थीं ॥ १२ ॥

तेजतयतनान्याशु सर्वास्ताः प्रत्यपूजयन् ।
अभिजातपितृश्रीश्च सर्वा राजसुतास्तदा ॥ १३ ॥
रेमिरे मुदिताः सर्वा भर्तृभिर्मुदिता रहः ।

उन सबने देवमाध्यामों ले जाकर उन बहूओंसे देवताओंका पूजन कराया। तदनन्तर नववयुस्वरूप आया

हुई उन सभी राजकुमारियोंने बन्दनीय सास-ससुर आदिके चरणोंमें प्रणाम किया और अपने-अपने पतिके साथ एकान्तमें रहकर वे सब-की-सब बड़े आनन्दसे समय व्यतीत करने लगीं ॥ १३ ॥

कृतदाराः कृतास्त्राश्च सधनाः ससहजनाः ॥ १४ ॥
शुश्रूषमाणाः पितरं वर्तयन्ति नरर्षभाः ।
कस्यचिस्त्वथ कालस्य राजा दशरथः सुतम् ॥ १५ ॥
भरतं कैकेयीपुत्रमब्रवीद् रघुनन्दनः ।

श्रीराम आदि पुरुषश्रेष्ठ चारों भाई अस्त्रविद्यामें निपुण और विचरित्व शक्ति धन और धनिके साथ शत्रु हार पितृकी सेवा करने लगे। कुछ कालके बाद रघुकुलनन्दन राजा दशरथने अपने पुत्र कैकेयीकुमार भरतसे कहा— ॥

अयं कैकेयराजस्य पुत्रो वसति पुत्रक ॥ १६ ॥
त्वां नेतुमागतो वीरो युधाजिन्धातुल्यस्तव ।

वेदा ! ये तुम्हारे मामा कैकेयराजकुमार वीर युधाजित् तुम्हें लेनेके लिये आये हैं और कई दिनोंसे यहाँ ठहरे हुए हैं ॥ १६ ॥

श्रुत्वा दशरथस्वेतद् भरतः कैकेयीसुतः ॥ १७ ॥
गमनायाभिचक्राम शत्रुघ्नसहितस्तदा ।

दशरथजीकी यह बात सुनकर कैकेयीकुमार भरतने उस समय शत्रुघ्नके साथ मामाके यहाँ जानेका विचार किया ॥

आपृच्छ पितरं शूरो रामं चाङ्गिष्ठकारिणाम् ॥ १८ ॥
मातृश्रापि नरश्रेष्ठः शत्रुघ्नसहितो ययौ ।

वे नश्रेष्ठ शूरोर भरत अपने पिता राजा दशरथ आनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीराम तथा सभी मातृओंसे पूछकर उनके आज्ञा ले शत्रुघ्नसहित वहाँमें चले दिये ॥ १८ ॥

युधाजित् प्राप्य भरतं महाबुधं प्रहर्षितः ॥ १९ ॥
स्वपुरं प्राविशद् वीरः पिता तस्य सुनोष ह ।

शत्रुघ्नसहित भरतको साथ लेकर वीर युधाजित्ने बड़े हर्षके साथ अपने नगरमें प्रवेश किया इसमें उनके पिताको बड़ा सन्तोष हुआ ॥ १९ ॥

गते च भरते रामो लक्ष्मणश्च महाबलः ॥ २० ॥
पितरं देवसंकाशं पूजयामासतुस्तदा ।

भरतके चले जानेपर महाबली श्रीराम और लक्ष्मण उन दिनों अपने देवोपम पिताकी सेवा-पूजामें संलग्न रहने लगे ॥

पितुराज्ञां पुरस्कृत्य पौरकार्याणि सर्वशः ॥ २१ ॥
चकार रामः सर्वाणि प्रियाणि च हितानि च ।

पिताकी आज्ञा शिरोधार्य करके वे नगरवासियोंके सब काम देखने तथा उनके समस्त प्रिय तथा हितकर कार्य करने लगे ॥ २१ ॥

मातृभ्यो मातृकार्याणि कृत्वा परधयान्वितः ॥ २२ ॥
गुरुणां गुरुकार्याणि काले कालेऽन्ववैक्षत ।

वे अपनेको बड़े संयममें रखते थे और समय-समयपर माताओंके लिये उनके आवश्यक कार्य पूर्ण करके गुरुजनकों भारो-से भारी कार्योको भी सिद्ध करनेका ध्यान रखते थे ॥

एवं दशरथः प्रीतो ब्राह्मणा नैगमास्तथा ॥ २३ ॥
रामस्य शीलवृत्तेन सर्वे विषयवासिनः ।

उनके इस वर्तनसे राजा दशरथ, वैदवेन्द्र ब्राह्मण तथा वैश्यवर्ग बड़े प्रसन्न रहते थे; श्रीरामके उत्तम शील और अद्भुत व्यवहारोंसे उस राज्यके भीतर निवास करनेवाले सभी मनुष्य बहुत संतुष्ट होते थे ॥ २३ ॥

तैवागतिपथा लोके रामः सत्यधराक्रमः ॥ २४ ॥
स्वयम्भूरिव भूतानां बभूव गुणवत्तरः ।

राजाके इन नामों गुणोंसे सत्यधराक्रमों श्रीराम ही लोकमें अन्यन्त यशस्वी तथा महान् गुणवान् हुए—ठीक उमा तरह जैसे सप्तमा भूतोंमें स्वयम्भू कहा हो अन्यन्त यशस्वी और महान् गुणवान् है ॥ २४ ॥

रामश्च सीतया सार्धं विजहार बभूवतु ॥ २५ ॥
मनस्वी तद्दृष्टमनास्तस्या हृदि समर्पितः ।

श्रीरामचन्द्रजी मदा सीताके हृदयमन्दिरमें विराजमान रहते थे तथा मनस्वी श्रीरामका मन भी सीतामें ही लग्न रहता था; श्रीरामने सीताके साथ अनेक अनुभूतिक विहार किया ॥

प्रिया तु सीता रामस्य दाराः पितृकृता इति ॥ २६ ॥

गुणाद्रूपगुणाद्यानि प्रीतिर्भूयोऽभिवर्धते ।

तस्याश्च धर्मा द्विगुणं हृदये परिवर्तते ॥ २७ ॥

सीता श्रीरामको बहुत ही प्रिय थीं; क्योंकि वे अपने पिता राजा जनकद्वारा श्रीरामके हृदयमें पतोरूपसे समर्पित की गयी थीं । सीताके पातिव्रत्य आदि गुणसे तथा उनके सौन्दर्यगुणसे भी श्रीरामका उनके प्रति अधिकाधिक प्रेम बढ़ता रहता था, इसी प्रकार सीताके हृदयमें भी उनके पति श्रीराम अपने गुण और सौन्दर्यके कारण द्विगुण प्रीतिपात्र बनकर रहते थे ।

अन्तर्गतमपि व्यक्तमाख्याति हृदये हृदा ।

तस्य भूयो विज्ञेयेण मैथिली जनकात्मजा ।

देवताभिः सप्ता रूपे सीता श्रीरिव रूपिणी ॥ २८ ॥

जनकनन्दिनी मिथिलेशकुमारी सीता श्रीरामके हार्दिक अभिप्रायको भी अपने हृदयसे ही और अधिकरूपसे जान लेती थीं तथा स्पष्टरूपसे बता भी देती थीं । वे रूपमें देवाङ्गनाओंके समान थीं और मूर्तिमती लक्ष्मी-सी प्रतीत होती थीं ॥ २८ ॥

तया स राजर्विमुक्तोऽधिकामया

समेयित्वानुत्तमराजकन्यया ।

अतीव रामः शुरुमे मुदान्वितो

विभुः प्रिया विष्णुरिवामरेश्वरः ॥ २९ ॥

श्रेष्ठ राजकुमारी सीता श्रीरामकी ही कामना रखती थीं और श्रीराम भी एकमात्र उन्हींको चाहते थे; जैसे लक्ष्मीके साथ देवश्वर भगवान् विष्णुकी शोभा होती है उसी प्रकार इन सीतादेवीके साथ राजर्वि दशरथकुमार श्रीराम परम प्रसन्न रहकर बड़ी शोभा पाने लगे ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे सप्तसप्ततितमः सर्गः ॥ ७७ ॥

इस प्रकार श्रीमद्वाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें सप्तहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७७ ॥

बालकाण्डं सम्पूर्णम्

श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणम्

अयोध्याकाण्डम्

प्रथमः सर्गः

श्रीरामके सद्गुणोंका वर्णन, राजा दशरथका श्रीरामको युवराज बनानेका विचार तथा विभिन्न नरेशों और नगर एवं जनपदके लोगोंको मन्त्रणाके लिये अपने दरबारमें बुलाना

गच्छता मानुलकुलं भरतेन तदानघः ।

शत्रुघ्नो नित्यशत्रुघ्नो नीतः प्रीतिपुरस्कृतः ॥ १ ॥

(पहले यह बताया जा चुका है कि) भरत अपने मामाके यहाँ जाने समय काम आदि शत्रुओंको सदाके लिये नष्ट कर देनेवाले निर्याप शत्रुघ्नका भी प्रेमवश अपन साथ लेते गये थे ॥ १ ॥

स तत्र न्यवसत् भ्रात्रा सह सत्कारसत्कृतः ।

मानुलेनाश्रयन्तिना पुत्रस्तेहेन स्मालितः ॥ २ ॥

यहाँ भाईसहित उनका बड़ा आदर भोजन हुआ और वे वहाँ सुगतपूर्वक रहने लगे। उनके मामा युधाजिन्, जो आशुधुधके अधिपति थे उन दोनोंपर पुत्रसे भी अधिक अदर रखते और बड़ा स्नान प्यार करते थे ॥ २ ॥

तत्रापि निवसन्तौ तौ तर्धभाणौ च कामतः ।

भ्रातरौ स्मरन्तौ चारौ युद्धं दशरथ नृपम् ॥ ३ ॥

यद्यपि मामाके यहाँ उन दोनों नार भाइयोंके सभी इच्छाएँ पूर्ण करके उन्हें पूर्णतः तृप्त किया जाता था तथा तथापि वहाँ रहते हुए भी उन्हें अपने वृद्ध पिता महाराज दशरथकी याद कभी नहीं भूलती थी ॥ ३ ॥

राजापि तौ महातेजाः सस्मार प्रोचन्तौ सुतौ ।

इथी भरतशत्रुघ्नौ महेन्द्रवरुणोपमौ ॥ ४ ॥

महातेजस्वी राजा दशरथ भी परदेशमें गये हुए महेन्द्र और वरुणके समान पराक्रमों वापने उन दोनों पुत्र भग्न और शत्रुघ्नका सदा स्मरण किया करते थे ॥ ४ ॥

सर्व एव तु तस्यैष्टाश्रित्वारः पुरुषयंभाः ।

स्वशरीराद् धिनिर्वृताश्चत्वार इव बाहवः ॥ ५ ॥

उसमें शरीरसे प्रकट हुई चारों भुजाओंके समान वे सब चारों ही धूर्त्तशरीरमार्ण पुत्र महाराजको बहुत ही प्रिय थे ॥ तेषामपि महातेजाः तस्यो रतिकरः पितुः ।

स्वधाम्भूरिव भूतानां बभूव गुणवत्तरः ॥ ६ ॥

परंतु उनमें भी महातेजस्वी श्रीराम सबको अपेक्षा अधिक

गुणवान् होनेके कारण समस्त प्राणियोंके लिये ब्रह्माजोंकी भाँति पिताके लिये विशेष प्रीतिवर्धक थे ॥ ६ ॥

स हि देवैरुदीर्णस्य रावणस्य वधार्थिभिः ।

अर्धितो मानुषे लोके जज्ञे विष्णुः सनातनः ॥ ७ ॥

इसका एक कारण और भी था—वे साक्षात् सनातन विष्णु थे और परम प्रचण्ड रावणके वधकी अभिलाषा रखनेवाले देवताओंकी प्रार्थनापर मनुष्यरूपमें अवतीर्ण हुए थे ॥ ७ ॥

कौमल्या शुशुभे तेन पुत्रेणामिततेजसा ।

पथा चरेण देवानामदितिर्वज्रपाणिना ॥ ८ ॥

उन अमित तेजस्वी पुत्र श्रीरामचन्द्रजीस महारानी कौमल्याकी वसो ही शोभा होती थी जैसे वज्रधारी देवराज इन्द्रमें देवमाता अदिति सुशोभित होती है ॥ ८ ॥

स हि रूपोपपन्नश्च वीर्यवाननसूयकः ।

धुमावनुपमः सूनृगुणीर्दशरथोपमः ॥ ९ ॥

श्रीराम बड़े ही रूपवान् और पराक्रमी थे। वे किसीके दोष नहीं देखते थे। भूमण्डलमें उनको समता करनेवाला कोई नहीं था। वे अपने गुणोंसे पिता दशरथके समान एवं योग्य पुत्र थे ॥ ९ ॥

स च निर्व्यग्रशान्तात्मा धृदुपूर्व च भावते ।

उद्धयमानोऽपि धनुषं नोत्तरं प्रतिपद्यते ॥ १० ॥

वे सदा शान्त चित्त रहते और सान्त्वनापूर्वक मीने बचन बोलते थे; यदि उनमें कोई कन्डोर बात भी कह देता तो वे उसको ठमर नहीं देते थे ॥ १० ॥

कदाचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति ।

न स्मरत्यपकाराणां शतयष्ट्यात्पचलया ॥ ११ ॥

कभी कोई एक बार भी उपकार कर देता तो वे उसका उस एक ही उपकारसे सदा संतुष्ट रहते थे और मनको वशमें रखनेके कारण किसीके सेकड़ों अपराध करनेपर भी उसके अपराधोंको याद नहीं रखते थे ॥ ११ ॥

शीलवृद्धैर्जानवृद्धैर्वयोवृद्धैश्च सज्जनैः ।
कथयन्नास्त वै नित्यमस्त्रयोऽन्यान्तरेषुपि ॥ १२ ॥

अस-शस्त्रोंके अध्यासके लिये उपयुक्त समयमें भी
वीन नीचमें अवसर निकालकर वे उत्तम चरित्रमें, ज्ञानमें
तथा अवस्थामें बड़े छोड़े मनुष्योंके साथ ही मद्रा बातचीत
करते (और उनसे शिक्षा लेते थे) ॥ १२ ॥

बुद्धिमान्, मधुराभाषी पूर्वभाषी प्रियवत्तः ।
वीर्यवान् च वीर्येण मत्ता स्वेन विर्मितः ॥ १३ ॥

वे बड़े बुद्धिमान् थे और सदा सींठे चपन धोलते थे ।
अपने पाल आये हुए मनुष्योंमें पहले स्वयं ही बात करते
और ऐसा बात मनुष्योंमें निकलते जा उन्हें प्रिय लग्न चल और
भाकराते सम्पन्न होनेपर भी अपने महान् पराक्रमके कारण
तन्के कभी गर्व नहीं होता था ॥ १३ ॥

न धानुतकथां विद्वान् ब्रह्मणा प्रतिपूजकः ।
अनुरक्तः प्रभाभिश्च प्रभाश्लाघनुरज्यते ॥ १४ ॥

द्वारा बात तो उनके गुत्तरों कभी निकलती ही नहीं थी ।
वे विद्वान् थे और सदा कुछ पुरुषोंपर सम्मान किया करते थे ।
प्रणाम और आगेके प्रति और आगेमकर प्रजाके प्रति बड़ा
आनन्द था ॥ १४ ॥

सानुकीर्णो जितकीर्णो ब्राह्मणप्रतिपूजकः ।
दीनानुकाथो धर्मज्ञो नित्यं प्रवृत्तवानुर्ध्वः ॥ १५ ॥

वे परम दयालु श्रावकों जीतव्याल और श्रावणोंके
गुणारी थे उनके मनमें दीन दुःखियोंके प्रति बन्ने दया थी ।
वे धर्मके रहस्योंको जाननेवाले, इन्धियोंको सदा बड़ा
रसनेवाले और बाहर-भीतरसे परम पावक थे ॥ १५ ॥

बुद्धोन्मत्तमतिः क्षात्र स्वधर्मं बहु मन्यते ।
मन्यते परया प्रीत्या महत् स्वर्गफलं ततः ॥ १६ ॥

अपने कुलीमिल आनन्द, दया, उन्नता और शरणगत-
रक्षा आदिमें ही उनका मन लगता था । वे अपने अत्रिय
धर्मको अधिक महत्व देते और मानते थे । वे उस स्थिर-
धर्मके पालनमें महान् स्वर्ग (परम धर्म) की प्राप्ति मानते थे;
अतः बड़ी प्रमत्तगन्त साथ उममें संलग्न रहते थे ॥ १६ ॥

माधोपसि एतो यथा न विरुद्धकथारुचिः ।
इतरोगमयुक्तीनां वक्ता वत्सल्यनिर्यथा ॥ १७ ॥

अमहत्त्वकारी निष्पन्न कर्ममें उनकी कभी प्रवृत्ति नहीं
होती थी; शरत्तन्त्रु माधोको मन्त्रमें उनकी रुचि नहीं थी
वे अपने न्याययुक्त पक्षके समर्थनमें बुराव्यतिके समान
एक-से-एक बड़कर युक्तिगाँ देते थे ॥ १७ ॥

अरोगस्तरूपो वाय्मी व्युष्मान् देशकालवित् ।
लोकं पुरस्कारज्ञः साधुरेको विनिर्मितः ॥ १८ ॥

उनका शरीर नारोग था और अवस्था तरुण । वे अच्छे
नर्तक, सुन्दर शरीरवा मृगाभित तथा देश-कालके तत्त्वको
समझनेवाले थे । उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था कि

विधानाने संसारमें ममस्त पुरुषके सारनन्वको समझनेवाले
साधु पुरुषके रूपमें एकमात्र आगमको ही प्रकट किया है ।

स तु श्रेष्ठगुणयुक्तः प्रजानां पार्थिवारुजः ।
वहिक्षर इव प्राणो बभूव गुणतः प्रियः ॥ १९ ॥

राजकुमार आगम श्रेष्ठ गुणोंसे युक्त थे । वे अपने
सद्वृत्तोंके कारण प्रजाजनोंको बाहर विचरनेवाले प्राणकी भाँति
प्रिय थे ॥ १९ ॥

सर्वविद्याव्रतस्त्रातो यथावत् साङ्गवेदवित् ।
इष्टस्य च पितुः श्रेष्ठो बभूव भरताम्रजः ॥ २० ॥

भरतके बड़े भाई आगम सम्पूर्ण विद्याओंके व्रतमें
निरागत और छोटे अङ्गसहित सम्पूर्ण वेदोंके यथार्थ ज्ञाता
थे । कणविद्यामें तो वे अपने पितासे भी बढ़कर थे ॥ २० ॥

कन्याणां मिजनः साधुरदीनः सत्यवागुजः ।
वृद्धैर्भविनीतश्च द्विर्जैर्धर्मार्थदर्शिभिः ॥ २१ ॥

वे कन्याणांकी जन्मभूमि, साधु, दैन्यरहित, सत्यवादी
और सरल थे, धर्म और अर्थके ज्ञाना वृद्ध ब्राह्मणोंके द्वारा
उन्हें उत्तम शिक्षा प्राप्त हुई थी ॥ २१ ॥

धर्मकामार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान् प्रतिधानवान् ।
लौकिके समपाचारे कृतकल्पो विशारदः ॥ २२ ॥

उन्हें धर्म, काम और अर्थके तत्त्वका सम्यक् ज्ञान था ।
वे स्मरणशक्तिसं सम्पन्न और प्रतिभाशाली थे । वे लोक-
व्यवहारोंके सम्पादनमें समर्थ और समर्थोचित धर्माचरणमें
कुशल थे ॥ २२ ॥

निभृतः संवृताकारो गुप्तयन्त्रः सहायवान् ।
अमोघक्रोधहर्षश्च त्यागसंयमकालवित् ॥ २३ ॥

वे विनयशील, अपने आकार (अभिप्राय) को
छिपानेवाले मन्त्रको गुप्त रखनेवाले और उनमें सहायकोंसे
सम्पन्न थे । उनका क्रोध अथवा हर्ष निष्फल नहीं होता
था । वे वस्तुओंके त्याग और सम्राट्क अवसरको फलीभाँति
जानते थे ॥ २३ ॥

वृद्धभक्तिः स्थिरप्रज्ञो नासद्ग्राही न दुर्वचः ।
निस्तन्त्रोरप्रयत्नश्च स्वदोषपरदोषवित् ॥ २४ ॥

गुरुजनोंके प्रति उनकी दृढ़ भक्ति थी । वे स्थिरप्रज्ञ थे
और असद्वस्तुओंको कभी ग्रहण नहीं करते थे । उनके
मुत्तसे कभी दुर्वचन नहीं निकलता था । वे आलस्यरहित,
प्रमादरहित तथा अपने और प्रगये मनुष्योंके दोषोंको अच्छी
प्रकार जाननेवाले थे ॥ २४ ॥

शास्त्रज्ञश्च कृतज्ञश्च पुरुषान्तरकोविदः ।
यः प्रग्रहानुग्रहयोर्यथान्याये विचक्षणः ॥ २५ ॥

वे शास्त्रोंके ज्ञाता, उपकारियोंके प्रति कृतज्ञ तथा
पुरुषोंके तारतम्यको अथवा दूसरे पुरुषोंके मनोभावको
जाननेमें कुशल थे । यथायोग्य निग्रह और अनुग्रह करनेमें
वे पूर्ण चतुर थे ॥ २५ ॥

मत्संग्रहानुग्रहणे स्थानविश्रितग्रहस्य च ।

आयकर्मण्युपायज्ञः सदृष्टव्ययकर्मवित् ॥ २६ ॥

उन्हें सत्पुरुषोंके संग्रह और पापों तथा दुष्ट पुरुषोंके विग्रहक अवसरोक्ता ठाक-ठाक ज्ञान था । धनको आयक उपायको वे अच्छे तरह जानते थे (अर्थात् फुल्लोंको मट्ट न करके उनसे रस लेनेवाले भ्रमरोंकी भाँति वे प्रजाओंको कष्ट दिये बिना ही उनसे स्वाधोचित धनको संग्रह करनेमें कुशल थे) तथा शास्त्रागत व्यय कर्मको भी उन्हें ठाक-ठाक ज्ञान था ॥ २६ ॥

श्रेष्ठं चाश्रममूहेषु प्राप्तो व्यामिश्रकेषु च ।

अर्थधर्मौ च संगृह्य सुखतन्त्रो न चालसः ॥ २७ ॥

वृद्धाने सयं प्रकारक अश्रममूहों तथा संस्कृत, प्राकृत और भाषाओंसे निश्चित नाटक आदिक ज्ञानमें निपुणता प्राप्त की थी । वे अर्थ और धर्मका संग्रह (पालन) करते हुए ननुकुल कामकाय संयत्न करते थे और कभी आलस्यको पास नहीं फटकने देते थे ॥ २७ ॥

वैद्वानिकाणां शिल्पानां विज्ञानार्थविभागवित् ।

आमोहे विनये चैव युक्तो सागणवाजिनाम् ॥ २८ ॥

वहार (क्रोडा या मनसङ्गन) के तप्यागम्य आनेवाले लोगों, वाद्य और पित्रकारी आदि शिल्पक भी वे विभागज्ञ थे । अर्थक विभाजनका भी उन्हें सम्यक् ज्ञान था । वे शोधियों और सोदोषर खट्टों और उनके धानि-धौतिकों चालाकी शिक्षा देनेमें भी निपुण थे ॥ २८ ॥

धनुर्वेदविदां श्रेष्ठो लोकेऽतिरथसम्पतः ।

अभियासा प्रहर्ता च सेनानयविशारदः ॥ २९ ॥

श्रीरामचन्द्रजी इस संकल्पे धनुर्वेदके सभी विद्वानोंमें श्रेष्ठ थे । आंतर्यों वार भी उनका विदेश सम्मान करते थे । धनुस्त्रिपाद आक्रमण और प्रहार करनेमें वे विशेष कुशल थे । सेना-सञ्चालनकी नीतिमें उन्होंने अधिक निपुणता प्राप्त की थी ॥ २९ ॥

अग्रध्वजश्च सग्रामे कक्षैरपि सुरासुरैः ।

अनसूयो जितकोधो न दुर्मो न च मत्सरी ॥ ३० ॥

सग्राममें कृणित होकर आये हुए समस्त देवता और भस्म भी इनकी पराजय नहीं कर सकते थे । उनमें दोषदृष्टिका मत्सरी अभाव था । वे क्रोधको जीन शक थे । दुर्मो और

ईर्ष्याका उनमें उत्पन्न अभाव था ॥ ३० ॥

नायज्ञेयश्च भूतानां न च कालवशानुगः ।

एवं श्रेष्ठगुणैर्युक्तः प्रजानां पार्थिवात्मजः ॥ ३१ ॥

सम्पत्स्त्रिप् लोकेषु ससुधायाः क्षमागुणैः ।

बुद्ध्या बृहस्पतेस्तुल्यो वीर्ये चापि शचीपतेः ॥ ३२ ॥

किसी भी प्राणोंके मनमें उनके प्रति अवहेलनाका भाव नहीं था । वे बरल्लके वशुमें होकर उसका पीछे-पीछे चन्द्रवर्त नहीं थे (काल ही उनका पीछे चलता था) इस प्रकार उनमें गुणोंमें युक्त होनेके कारण राजकुमार श्रीराम समस्त प्रजाओं तथा तीनों लोकोंके प्राणियोंके लिये आदरणीय थे । वे अपने क्षमामयन्त्रों गुणोंके द्वारा पृथ्वीकी सभानता करते थे । बुद्धिमें बृहस्पति और बल-पराक्रममें शचीपति इनके तुल्य थे ॥ ३१-३२ ॥

तथा सर्वप्रजाकान्तैः प्रीतिसंजनैः पितुः ।

गुणैर्विरूढो रामो दीप्तः सूर्य इवांशुभिः ॥ ३३ ॥

जैसे सूर्यदेव अपने किरणोंमें प्रकाशित होते हैं । उसी प्रकार श्रीरामचन्द्रजी समस्त प्रजाओंको प्रिय लगाने-कले तथा पिताकी प्राप्ति बढ़ानेवाले सदुणोंमें सुशोभित हुए थे ॥ ३३ ॥

तमेवंचतुसम्पन्नमप्रधृष्टपराक्रमम् ।

लोकनाथोपमं नाथमकामयत मेदिनी ॥ ३४ ॥

ऐसे सदाचारसम्पन्न, अजेय पराक्रमी और लोकपालोंके समान तेजस्वी श्रीरामचन्द्रजीकी पृथ्वी (भूदेवी और भूमण्डलकी प्रजा) ने अपना स्वामी बनानेकी कामना की ।

एतस्तु बहुभिर्युक्तं गुणैरनुपमैः सुतम् ।

दृष्ट्वा दशरथो राजा चक्रे चिन्तां परंतपः ॥ ३५ ॥

अपने पुत्र श्रीरामकी अनेक अनुपम गुणोंसे युक्त देखकर दशरथजीको संताप देनेवाले राजा दशरथ मन ही मन कुछ विचार करना आरम्भ किया ॥ ३५ ॥

अथ राजो बभूवैव बृद्धस्य चिरजीविनः ।

प्रीतिंया कथं रामो राजा स्यान्मयि जीवति ॥ ३६ ॥

उन चिरजीवी वृद्ध महाराज दशरथके हृदयमें यह चिन्ता हुई कि किम प्रकार मैं जीते जो श्रीरामचन्द्र राजा हो जायें और उनके राज्याधिपत्यसे प्राप्त होनेवाली यह प्रसन्नता मुझे कैसे सुलभ हो ॥ ३६ ॥

१ आश्रमों अधिका विधान इस प्रकार देखा जात है—

कर्ममहात्म्ये चार्धेन मनुर्भोजनं वा पुनः पादभर्त्सितमिवापि व्ययं ननुद्वयं तव ॥ (महाभ. संभा. ५।७१)

मादृशा कष्टनं न चोद्यते इयं मृगं प्रपन्नं एकं चोद्यते या अथ अधवा तीन चोद्यते भागसे तुष्टता प्राप्त होवें शक्य जाता है ।

२ नीच लोग भी मनुजोंके लिये अथवा विभाजन करनेवाला मनुष्य इहलोक और परलोकमें भी सुखा होता है । व बरतुएं

३—धर्म, यज्ञ, अर्थ, आत्मा और कर्तव्य । यथा—

समाय यथासंज्ञाय कर्माय सन्नतय च गृह्यो विधेयं विनमिहामुत्र च मोदन ॥ (श्रीमद्भा. ८।११।३७)

एषा ह्यस्य परा प्रीतिर्हृदि सम्परिवर्तते ।

कदा नाम सुतं द्रक्ष्याम्यभिषिक्तमहं प्रियम् ॥ ३७ ॥

उनके हृदयमें यह इतना अभिलाषा वारम्बार चक्कर लगाने लगी कि जब मैं अपने प्रिय पुत्र श्रीरामका राज्याभिषेक देखूंगा ॥ ३७ ॥

वृद्धिकामो हि लोकस्य सर्वभूतानुकम्पकः ।

सतः प्रियतमो लोके पत्रं च इव वृष्टिमान् ॥ ३८ ॥

वे सोचते हों कि 'श्रीराम सब लोगोंक अभ्युदयकी कामना करने और अभ्युपनी जीवोंपर दया रखते हैं। वे लोकमें दया करनेवाले मेघकी भाँति मुझसे भी बढ़कर प्रिय हो गये हैं ॥ ३८ ॥

यमकाकस्रभो वीर्यं बृहस्पतिसमो मती ।

महीधरस्रभो धृत्या मत्तश्च गुणवन्तरः ॥ ३९ ॥

'श्रीराम बल-पराक्रमों सब और दुष्टके समान, बुद्धिमें बृहस्पतिके समान और धैर्यमें पर्वतके समान हैं। गुणोंमें तो मैं तुझसे सर्वथा बढ़-बढ़ है ॥ ३९ ॥

महीमर्हमिमा कृत्स्नामर्थितमृन्महात्मजम् ।

अनंन गणसा दृष्ट्वा तथा सारंगवाप्नुयाम् ॥ ४० ॥

'मैं इसी समय अपने बेटे श्रीरामको इस सारी धूधोंका राजा करत इस गणसमय मृगम भयत प्राप्त करने तथा मा जीवनोंकी मोक्ष है ॥ ४० ॥

इत्येवं विविधैर्गणैर्गन्धर्वाथिखट्वाधुर्धुम् ।

शिष्टैर्गणैर्गणैश्च लोक लोकोत्तरेर्गुणैः ॥ ४१ ॥

मे समीक्ष्य तत्र राजा युक्तं सपुद्गिर्गुणैः ।

निक्षिप्य सन्निहैः सार्यं दीवराज्यमभ्यन्यत ॥ ४२ ॥

इस प्रकार विचारकर तथा अपने पुत्र श्रीरामका उन-उन गण प्रकारके विष्णुअण राजगोष्ठित असंख्य तथा लोकोत्तर गुणोंसे, जो अन्य राजाओंमें दुर्लभ हैं, विभूषित देख राजा दशरथने मनियोग साध सल्लस करके उन्हें युवराज मनानेका निश्चय कर लिया ॥ ४१-४२ ॥

दिव्यन्तारिक्षे भूमौ च घोरमुत्पलजं ययम् ।

संचलक्ष्मणं मेधावी शरीरे चात्मनो जयम् ॥ ४३ ॥

वृद्धिमान् महाराज दशरथने मन्त्रोंको स्वर्ग, अन्तरिक्ष तथा भूतलों। वृष्टिगोचर होनेवाले दृष्टान्तोंका धार भय भूषित किया और अपने शरीरमें वृद्धवस्थाके आगमनकी भी बात बतानी ॥ ४३ ॥

पूर्णाचन्द्रानरस्याध शोकापनुद्गमात्मनः ।

लोके रामस्य युनुषे समिपयत्वं महात्मनः ॥ ४४ ॥

पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर मुक्तचाल महात्मा श्रीराम

समस्त प्रजाके प्रिय थे। लोकमें उनका सर्वप्रिय होना राजाके अपने अन्तरिक शोकको दूर करनेवाला था, इस बातको राजाके अच्छे तरह समझा ॥ ४४ ॥

आत्मनश्च प्रजानां च श्रेयसे च प्रियेण च ।

प्राप्ते काले स धर्मात्मा भक्त्या त्वरितवान् नृपः ॥ ४५ ॥

तदनन्तर उपयुक्त समय आनेपर धर्मात्मा राजा दशरथने अपने और प्रजाके कल्याणके लिये मन्त्रियोंको श्रीरामके राज्याभिषेकके लिये शीघ्र सैधारी करनेकी आज्ञा दी। इस उतावलासे उनके हृदयका प्रेम और प्रजाका अनुराग भी कागम था ॥ ४५ ॥

नानानगरवास्तव्यान् पृथग्जानपदानपि ।

समानिनाय मेदिन्यां प्रधानान् पृथिवीपतिः ॥ ४६ ॥

उन भूपालोंने भिन्न-भिन्न नगरोंमें निवास करनेवाले प्रधान प्रधान पुरुषों तथा अन्य जनपदोंके मामन्त राजाओंको भी मन्त्रियोंद्वारा अध्याप्य बुलवा लिया ॥ ४६ ॥

तान् वेष्टयानाभरणैर्व्याहै प्रतिपूजितान् ।

दृष्ट्वालेकतो राजा प्रजापतिरिव प्रजाः ॥ ४७ ॥

उन सबको ठहरानेके लिये घर देकर नाना प्रकारके आभूषणोंद्वारा उनका यथायोग्य सत्कार किया। तत्पश्चात् स्वयं भी आलोकन होकर राजा दशरथ उन सबसे बरी प्रकार मिले, जैसे प्रजापति ब्रह्मा प्रजावर्गसे मिलते हैं ॥ ४७ ॥

न तु केकयराजानं जनकं वा मराधिपः ।

त्वय्या घानयामास पश्चान्तौ श्रोष्यतः प्रियम् ॥ ४८ ॥

जल्दीवाजोंके कारण राजा दशरथने केकथनरेशको तथा मिथिलापति जनकको भी नहीं बुलवाया। * उक्तनि मोचा वे दोनों मन्त्रियों इस प्रिय समाचारको पाँछे सुन लेंगे ॥ ४८ ॥

अक्षोपविष्टे नृपती तस्मिन् परपूरादने ।

ततः प्रविशिशुः शेषा राजानो लोकसम्पत्ताः ॥ ४९ ॥

तदनन्तर शत्रुनगरोंको पराजित करनेवाले राजा दशरथ जब दरबारमें आ बैठे, तब (केकयराज और जनकको छोड़कर) शेष सभी लोकप्रिय नरेशोंने राजसभामें प्रवेश किया ॥ ४९ ॥

अथ राजविनीर्षु विविधेषु सनेषु च ।

राजानमेवाभिमुखा विवेदुर्नियता नृपाः ॥ ५० ॥

वे सभी नरेश राजाद्वारा दिये गये नाना प्रकारके मित्रासनापर उन्हाँकी और पैर करके विनीतभावसे बैठे थे ॥

स लब्धमानं विनयांस्वर्तनृपैः

पुगलैर्वर्जानपदैश्च मानवैः ।

उपोषविष्टं नृपनिर्वृतो बभौ

सहस्रवक्षुर्भगवानिवापरैः ॥ ५१ ॥

* केकथनरेशोंके साथ परत-शत्रु भी आ जाते। इन सबके तथा तथा जनकके रहनेसे श्रीरामका राज्याभिषेक सम्पन्न हो जाता और वे जनक नहीं जाने पाते—इसके दुर्गो दृष्टान्तसे तथा दशरथका इन सबका नहीं बुलानेको वृद्धि दे दो।

मुझसे सम्मानित होकर विनोदभावसे उनको आम पास
होए मामन नेउठो तथा नगर और जनपदके निवास मन्त्रियोंसे

बिरे हुए महाराज दशरथ उस समय देवताओंके बीचमें विराजमान
सहस्रनेत्रियों भगवान् इन्द्रके समान शोभा पा रहे थे ॥ १ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयं अयोध्याकाण्डः प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिर्षभेन आर्यरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें पहला सर्ग पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयः सर्गः

गजा दशरथद्वारा श्रीरामके राज्याभिषेकका प्रस्ताव तथा सभासदोंद्वारा श्रीरामके गुणोंका वर्णन
करते हुए उक्त प्रस्तावका सहर्ष युक्तियुक्त समर्थन

नतः परिवर्द्ध सर्वामामन्य वसुधाधिपः ।
जितमूर्ध्वर्षणं सैवमुवाच प्रथितं वचः ॥ १ ॥
दुःखमिच्छाम्यस्येन गम्भीरानुनादिना ।
स्वरेण यद्वता राजा जीमूत इव नादयन् ॥ २ ॥

उस समय राजसभामें बैठे हुए सबलिंगोंको सम्बोधित
करके महाराज दशरथने मंत्रके समान शब्द करते हुए
दुःखपिपी ध्वनिक सदृश अत्यन्त गम्भीर एवं गूँगाते हुए
उस स्वरसे सबको आनन्दका चढ़ानेवाली यह द्वितकारक
वात कही ॥ १-२ ॥

राजलक्षणायुक्तेन कान्तेनानुपमेन च ।
उवाच रसयुक्तेन स्वरेण नृपतिर्नृपान् ॥ ३ ॥
गजा दशरथका स्वर राजलक्षणा और गम्भीरता
आदि गुणोंसे युक्त था, अत्यन्त कमनाय और अनुपम था ।
वे इस अद्भुत रसमय स्वरसे समस्त नरशोंको सम्बोधित
करके बोले— ॥ ३ ॥

विदितं भवतामेतद् यथा मे राज्यमुत्तमम् ।
पूर्वकार्मण राजेन्द्र, सुतवन् परिपालितम् ॥ ४ ॥

'राजनो ! आपलोगोंको यह तो विदित ही है कि मेरे
पूर्वज राजाधिराजोंने इस श्रेष्ठ राज्यका (यज्ञोंको प्रजाका)
'जन प्रकार पुत्रोंको भोजन पालन किया था ॥ ४ ॥

यज्जामिभवाकुर्वाभः सर्वैर्नन्दैः प्रणिपालितम् ।
श्रयसा यातुमिच्छामि सुखाहंमस्थिते जगत् ॥ ५ ॥

समस्त इक्ष्वाकुवंशी नरजान नियुक्त प्रणिपालन किया
है, इस सुख भागनके योग्य सम्पूर्ण जगत्को अब मैं भी
अन्याणका भागी बनाना चाहता हूँ ॥ ५ ॥

मयाध्याचरितं पूर्वं प्रस्थानधनुगच्छता ।
प्रजा नित्यधनिवेषा यक्षाक्षयधिरक्षिताः ॥ ६ ॥

'मैंने पूर्वज जिन नगरोंपर चलते आये हैं, त्योंका
अनुसरण करते हुए मैंने भी सदा आगरूक रहकर समस्त
मण्डलमोक्त नगरोंपर रक्षा की है ॥ ६ ॥

इदं शरीरं कुन्तस्य लोकस्य वर्गना हिनम् ।
पाण्डुरस्यातपत्रस्य स्त्रियायां जरितं यथा ॥ ७ ॥

अमरता संसारका हित-साधन करने हुए मैंने इस शरीरको
जैसे राजपुत्रकी छायामें बृद्ध किया है ।

प्राप्य वर्षमहस्त्राणि बहून्यावृषि जीवतः ।
जीर्णस्यास्य शरीरस्य विश्रान्तिमभिरोक्षये ॥ ८ ॥
'अनक सहस्र (साठ हजार) वर्षोंको आयु पाकर
जीवित रहने हुए अपने इस जगज्जीर्ण शरीरको अब मैं विश्राम
देना चाहता हूँ ॥ ८ ॥

राजप्रभावजुष्टो च दुर्वहामजितेन्द्रियः ।
परिश्रान्तोऽस्मि लोकस्य शुर्वो धर्मधुर वहन् ॥ ९ ॥
'जगत्के धर्मधुरक संरक्षणका भारों पर राजाओंके शौर्य
आदि प्रभावोंसे ही उठाना सम्भव है । अजितेन्द्रिय पुरुषोंके
लिये इस बाँझको ढोना अत्यन्त कठिन है । मैं दीर्घकालसे
इस भारी भारको वहन करते-करते थक गया हूँ ॥ ९ ॥

सोऽहं विश्राममिच्छामि पुत्रं कृत्वा प्रजाहिते ।
संनिकृष्टानिमान् सर्वाननुपान्य द्विजर्षभान् ॥ १० ॥

इसलिये यहाँ पास बैठे हुए इन सम्पूर्ण श्रेष्ठ द्विजोंको
अनुमति लेकर प्रजाजनोंके हितके कार्यमें अपने पुत्र श्रीरामको
नियुक्त करके अब मैं राजकार्यसे विश्राम लेना चाहता हूँ ॥ १० ॥

अनुजातो हि मां सर्वगुणैः श्रेष्ठो मयात्मजः ।
पुरन्दरसमो वीर्यं रायः परपुरंजयः ॥ ११ ॥

'मेरे पुत्र श्रीराम मेरा अपेक्षा सभी गुणोंमें श्रेष्ठ हैं ।
शत्रुओंकी नगरीपर विजय पानेवाले श्रीरामचन्द्र बल-
पराक्रममें देवराज इन्द्रके समान हैं ॥ ११ ॥

ते चन्द्रमिव पुष्येण युक्तं धर्मभृतां वरम् ।
यौवराज्ये नियोक्तास्मि प्रातः पुरुषपुङ्गवम् ॥ १२ ॥

'पुष्य-नक्षत्रसे युक्त चन्द्रमाकी भाँति समस्त कार्यके
साधनमें कुशल तथा धर्मात्मकोंमें श्रेष्ठ उन पुरुषशरोर्भाज
श्रीरामचन्द्रको मैं कल प्रातःकाल पुष्य नक्षत्रमें युवराजके
पदपर नियुक्त करूँगा ॥ १२ ॥

अमुरुषः स को नाथो लक्ष्मीवर्त्तलक्ष्यणाग्रजः ।
त्रैलोक्यमपि नाथेन येन स्यान्नाशवत्तरम् ॥ १३ ॥

लक्ष्मणके बड़े भाई श्रीमान् राम आपलोगोंके लिये
योग्य स्वामी सिद्ध होंगे, उनके-जैसे स्वामीसे सम्पूर्ण त्रिलोकी
भी परम सनाथ हो सकती है ॥ १३ ॥

अनेन श्रेयसा सदाः संयोज्येऽहमिमां महीम् ।
गन्तव्यं भविष्यामि सुते तस्मिन् निवेद्य वै ॥ १४ ॥

ये श्रीराम कल्याणम्वरुथ हैं, इनका शोध ही अधिक करके मैं इस भूमण्डलको उत्कल कल्याणकर भागी बनाऊँगा। अपने पुत्र श्रीरामपर राज्यका भार रखकर मैं सर्वथा केशरहित—निश्चिन्त हो जाऊँगा ॥ १४ ॥

यदि मेऽनुरुपायं मया साधु सुमन्त्रितम् ।

भवन्तो मेऽनुमन्यन्तां कथं वा करवाण्यहम् ॥ १५ ॥

'यदि मेरा यह प्रस्ताव आपलोगोंको अनुकूल जान पड़े और यदि मैं यह अच्छी बात साँची हूँ तो आपलोग इसमें कुछ गूढ़ गहरी अनुमति दें अथवा यह बताव कि मैं किस प्रकारसे कार्य करूँ ॥ १५ ॥

यद्यप्येषा मम प्रीतिर्हितमन्यद् विचिन्त्यताम् ।

अन्या मध्यस्थान्ता नु विमर्शभ्यधिकोदया ॥ १६ ॥

'कतपि बात श्रीरामक राज्याधिकारका विचार में लिये अधिक प्रसन्नताका विचार है तथापि यदि इसमें और अधिक भी कुछ सबके लिये हितकर बात हो तो आपलोग उसे साँचे, क्योंकि मध्यस्थ पुरुषोंका निर्णय एकवर्षीय पुरुषको अपेक्षा मन्त्राधीन होता है कारण कि वह पूर्वपक्ष और अन्तर्पक्षको लक्ष्य करके किया गया होनेके कारण अधिक अभ्युद्य करनेवाला होता है ॥ १६ ॥

इति भूवर्णं पूर्णिमाः प्रत्यनन्दन् नृगा नृपम् ।

सृष्टिपत्तौ महामघं नर्दन्त इव वर्हिणः ॥ १७ ॥

राजा दशरथ जब ऐसी बात कह रहे थे, उस समय वहाँ उपस्थित नरोंने अत्यन्त प्रसन्न होकर उन महाराजका उसी प्रकार अभिनन्दन किया, जैसे मोर मयूर बेकायब पैलाने हुए धर्षा करनेवाले गहनेधरका अभिनन्दन करते हैं ॥ १७ ॥

स्त्रियोऽनुनादः सजज्ञे ततो हर्षसमीरितः ।

गर्वाभादनुगुणसंवादो येदिनी कथयन्निव ॥ १८ ॥

तत्पक्षाल समस्त जनसमुदायकी सहमयी हर्षध्वनि गुन्गी पड़ी। वह दमनी प्रबल थी कि समस्त पृथ्वीकी कैयती हुई-सी जान पड़ी ॥ १८ ॥

तस्य धर्माधीविदुषो भावपाशाय सर्वदाः ।

प्राहाणा बलमुत्पाद्य पौरजानपदे सह ॥ १९ ॥

सारेण ते मन्त्रयिन् समतागतबुद्धयः ।

तच्छुश्रू मनसा ज्ञात्वा क्षुब्धं दशरथं नृपम् ॥ २० ॥

धर्म और अर्थक ज्ञाता महाराज दशरथके अभिप्रायको पूर्णरूपसे जानकर सम्पूर्ण ब्राह्मण और सेनापति नगर और जनापदके प्रधान-प्रधान व्यक्तियोंके साथ मिलकर परस्पर सलाह करनेके लिये बैठे और परमेश्वर के कृपे से सब एक ही निश्चयपर पहुँच गये, तब क्षुब्ध राजा दशरथसे इस प्रकार बोले— ॥ १९-२० ॥

अनेकवर्षसाहसो बुद्धस्त्वमसि पार्थिव ।

स रामं युवराजानमभिषिञ्चन् पार्थिवम् ॥ २१ ॥

'पृथ्वीराज ! आपकी अवस्था कई हजार वर्षोंकी हो

गयी। आप बूढ़ हो गये। अतः पृथ्वीक यालनमें समर्थ अपने पुत्र श्रीरामका अवश्य ही युवराजक पदपर अभिषेक कीजिये ॥ २१ ॥

इच्छामो हि महाबाहुं रघुवीरं महाबलम् ।

गजेन महता धान्ते रामं छत्राशुताननम् ॥ २२ ॥

'रघुकुलक वीर महाबलवान् महाबाहु श्रीराम महान् गजराजपर बैठकर यात्रा करने हों और उनके ऊपर श्वेत छत्र गना हुआ हो—इस रूपमें हम उनको झंकी करना चाहते हैं ॥ २२ ॥

इति तद्वचनं श्रुत्वा राजा तेषां मनःप्रियम् ।

अजानन्निव जिज्ञासुरितं वचनमब्रवीत् ॥ २३ ॥

उनको यह बात राजा दशरथके मनको प्रिय लगानेवाली थी, इसे सुनकर राजा दशरथ अजानन-में बनकर उन सबके मनोभावको जाननेकी इच्छासे इस प्रकार बोले— ॥ २३ ॥

सुर्वतद् वचनं यन्मे राघवं पतिपिच्छथ ।

राजानः संशयोऽयं मे तदिदं ब्रूत तत्त्वतः ॥ २४ ॥

'राजागण ! मेरे यह बात सुनकर जो आपलोगोंने श्रीरामका राजा बनानेकी इच्छा प्रकट की है इसमें गूढ़ यह संशय हो रहा है जिसे आपके समझ उपस्थित करना है। आप इसे सुनकर इसका यथार्थ उत्तर दें ॥ २४ ॥

कथं नु यदि धर्मेण पृथिवीमनुशासति ।

भवन्तो द्रष्टुमिच्छन्ति युवराजं महाबलम् ॥ २५ ॥

यै धर्मपूर्वक इस पृथ्वीका निरन्तर पालन कर रहा है फिर नरें करने हुए आपलोग महाबली श्रीरामको युवराजके रूपमें क्यों देखना चाहते हैं ? ॥ २५ ॥

ते तमूर्ध्वमहात्मानः पौरजानपदेः सह ।

बहवो नृप कल्याणगुणाः सन्ति सुतस्य ते ॥ २६ ॥

यह सुनकर वे महात्मा नरेश नगर और जनपदके लोगोंके साथ राजा दशरथसे इस प्रकार बोले—'महाराज ! आपके पुत्र श्रीराममें बहुत-से कल्याणकारी सद्गुण हैं ॥ २६ ॥

गुणान् गुणवतो देव देवकल्पस्य धीमतः ।

प्रियानानन्दनान् कुम्भान् प्रवक्ष्यामोऽद्य ताञ्छृणु ॥ २७ ॥

'देव ! देवताओंके तुल्य बुद्धिमान् और गुणवान् श्रीरामचन्द्रजीके सारे गुण सबको प्रिय लगानेवाले और आनन्ददायक हैं हम इस समय उनका यत्किंचित् वर्णन कर रहे हैं, आप उन्हें सुनिये ॥ २७ ॥

दिव्यगुणैः शक्रसमो रामः सत्यपराक्रमः ।

इक्ष्वाकुभ्योऽपि सर्वेभ्यो ह्यनिरिक्तो विशाम्यते ॥ २८ ॥

प्रजानाथ ! सत्यपराक्रमी श्रीराम देवराज इन्द्रके समान दिव्य गुणोंसे सम्पन्न हैं। इक्ष्वाकुकुलमें भी ये भवमें श्रेष्ठ हैं ॥ २८ ॥

रामः सत्पुरुषो लोके सत्यः सत्यपरायणः ।

माक्षाद् गमाद् विनिर्धनो धर्मश्चापि श्रिया सह ॥ २९ ॥

‘श्रीराम संसारमें सत्यवादी, सत्यपरायण और सत्पुरुष हैं। साक्षात् श्रीरामने ही अर्थके साथ धर्मको भी प्रतिष्ठित किया है ॥ ३९ ॥

प्रजामुखत्वे चन्द्रस्य वसुधायाः क्षमागुणैः ।

वृद्ध्या बृहस्पतेस्तुल्यो वीर्ये साक्षाच्छर्चापतेः ॥ ३० ॥

ये प्रजाको मुख देनेमें चन्द्रमाकी और क्षमारूपी गुणमें चन्द्रमाकी समानता करत हैं। बुद्धिम बृहस्पति और वल-
क्रममें साक्षात् शर्चापति इन्द्रके समान हैं ॥ ३० ॥

धर्मज्ञः सत्यमंधश्च शीलवाननसुखकः ।

ज्ञान, सान्त्वयिता इलक्षणः कृतज्ञो विजितेन्द्रियः ।

मृदुश्च स्थिरचित्तश्च सदा भव्योऽनसुखकः ।

श्रेयवादी च भूतानां सत्यवादी च राघवः ॥ ३१ ॥

श्रीराम धर्मज्ञ, सत्यप्रतिज्ञ, शीलवान्, अतोषदशी, शान्त, दीन-दुःखियोंकी सान्त्वना प्रदान करनेवाले, मृदुभाषी, कृतज्ञ, जितेन्द्रिय, कोपल स्वभाववाले, स्थिरबुद्धि, सदा कल्याणकारी, असुखरहित, सम्स्त प्राणियोंके प्रति श्रेय वचन बोलनवाले और सत्यवादी हैं ॥ ३१-३२ ॥

बहुभूतानां वृन्दानां ब्राह्मणानामुपासिता ।

मनास्यहानुला कर्तृर्तिथशस्तेजश्च वर्धते ॥ ३३ ॥

वे बहुभूत विद्वान्, बड़े-बड़ों तथा ब्राह्मणोंके उपासक हैं—सदा ही उनकी संग किया करते हैं, इत्यलिये इस जगत्में श्रीरामकी अतृप्त कीर्ति, चर और तेजका विस्तार हो रहा है ॥

देवासुर मनुष्याणां सर्वांश्चेष्टु विशारदः ।

सम्यग् विद्याव्रतम्व्रतानां यथावन् साङ्गवेदविन् ॥ ३४ ॥

देवता, असुर और मनुष्योंके सम्पूर्ण अस्त्रोंका उन्हें अंशरूपमें ज्ञान है। वे साङ्ग वेदके यथार्थ विद्वान् और सम्पूर्ण विद्याओंमें भलीभाँति निष्णात हैं ॥ ३४ ॥

गान्धर्वं च भुवि श्रेष्ठो बभूव भरताग्रजः ।

कल्याणाभिजन, साधुरदीनात्मा महामतिः ॥ ३५ ॥

‘घरतके बड़े भाई श्रीराम गान्धर्ववद (संगीतशास्त्र) में भी रथ भूतलपर सबसे श्रेष्ठ हैं। कल्याणका तो वे जन्मभूमि हैं।

यहां रहमाण साधु पुरुषोंके समान हैं, हृदय अक्षर और बुद्धि अक्षर हैं ॥ ३५ ॥

द्विजैर्वाभिविनीतश्च श्रेष्ठैर्धर्माधर्मेनपुनः ।

यदा व्रजति संघामे प्राधार्थे नगरस्य वा ॥ ३६ ॥

गत्वा सौमित्रिर्साहितो नाविजित्य निवर्तते ।

धर्म और अर्थके प्रतिपादनमें कुशल श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने उन्हें यत्न दिक्ता दी है। वे ग्राम अथवा नगरकी रक्षाके लिये यत्नशाली साथ जब संग्रामभूमिमें जाते हैं, उस समय वहाँ जाकर किजय प्राप्त किये बिना पीछे नहीं लौटते ॥ ३६ ॥

संग्रामात् पुनरागत्य कुञ्जरेण रथेन वा ॥ ३७ ॥

वीरान् स्वजनवर्जित्य कुशलं परिपृच्छति ।

पुत्रशुभेषु दारेषु प्रेष्यशिष्यगणेषु च ॥ ३८ ॥

‘संग्रामभूमिमें हाथी अथवा रथके द्वारा पुनः अयोध्या लौटनपर वे पुनरागमियोंमें स्वजनोंकी भाँति प्रश्नदिन उनमें पुत्रों अग्रिहोत्रकी अभिर्यो, शिष्यों सबका और शिष्योंका कुशल-समाचार पृच्छते रहते हैं ॥ ३७-३८ ॥

निश्चिन्तनानुपूर्व्या च पिता पुत्रानिर्वारसान् ।

शुश्रूषन्ते च वः शिष्या, कश्चिद् वर्मसु दंशिताः ॥ ३९ ॥

इति वः पुत्रव्याघ्रः सदा रामोऽभिभाषते ।

‘जैसे पिता अपने औरस पुत्रोंका कुशल-समाचार पूछता है उसी प्रकार वे समस्त पुत्रार्थियोंमें क्रमशः उनका सारा समाचार पूछा करते हैं। पुरुषमित्र श्रीराम ब्राह्मणोंमें सदा पूछते रहते हैं कि ‘आपके शिष्य आपत्तियोंकी सेवा करते हैं न?’ शिष्योंसे यह जिज्ञासा करते हैं कि ‘आपका मन्त्रक कवच आदिमें सुसज्जित हो आपकी सेवामें तत्पर रहते हैं न?’ ॥ ३९ ॥

व्यसनेषु मनुष्याणां भृशं भवति दुःखितः ॥ ४० ॥

उत्सवेषु च सर्वेषु पितेव पशितुष्यति ।

‘नगरके मनुष्योंपर संकट आनेपर वे बहुत दुःखी हो जाते हैं और उन सबके घरोंमें सब प्रकारके उत्सव होनेपर उन्हें पिताकी भाँति प्रसन्नता होती है ॥ ४० ॥

सत्यवादी महेश्वासो वृद्धमेवो जितेन्द्रियः ॥ ४१ ॥

स्मितपूर्वाभिभाषी च धर्म सर्वात्मनाश्रितः ।

सम्यग्योक्ता श्रेयसां च न विगृह्यकथास्तुतिः ॥ ४२ ॥

‘वे सत्यवादी, महान् धनुर्धर, वृद्ध पुरुषोंके सेवक और जितेन्द्रिय हैं। श्रीराम पहले मुसकृतकर वार्तालाप आरम्भ करते हैं। उन्होंने सम्पूर्ण हृदयसे धर्मका आश्रय ले रखा है वे कल्याणका सम्यक् आयोजन करनेवाले हैं, निन्दनीय बातोंकी चर्चामें उनकी कभी रुचि नहीं होती है ॥ ४१-४२ ॥

उत्तरोत्तरयुक्तो च वक्ता साक्षस्पतिर्यथा ।

सुधरायतताम्राक्षः साक्षाद् विष्णुरिव स्वयम् ॥ ४३ ॥

‘उत्तरोत्तर उत्तम युक्ति देते हुए वार्तालाप करनेमें वे साक्षान् बृहस्पतिके समान हैं। उनकी भाँति मुन्दर हैं और विद्वान् और कुण्डलान्विता लिये हुए हैं। वे साक्षान् विष्णुकी भाँति शोभा पाते हैं ॥ ४३ ॥

रामो लोकाभिगमोऽयं शौर्यवीर्यपराक्रमैः ।

प्रजापालनसंयुक्तो च रागोपहतेन्द्रियः ॥ ४४ ॥

‘सम्पूर्ण लोकोंको आनन्दित करनेवाले ये श्रीराम शूरता, वीरता और पराक्रम आदिक द्वारा सदा प्रजाका पालन करनेमें लगे रहते हैं। उनकी इन्द्रियों राग आदि दोषोंसे दूषित नहीं होती है ॥ ४४ ॥

शक्तस्त्रैलोक्यमप्येष धोक्तुं किं नु महीमिमाम् ।

नास्य क्रोधः प्रसादश्च निरर्थोऽस्ति कदाचन ॥ ४५ ॥

‘इस पृथ्वीकी तो बात ही क्या है, वे सम्पूर्ण त्रिलोकोंकी भी रक्षा कर सकते हैं। उनका क्रोध और प्रसाद कभी

व्यर्थ नहीं होता है ॥ ४५ ॥

हृत्येष विधमाद् वध्यानवधेषु न कुप्यति ।

युनक्त्यर्थैः प्रहृष्टश्च तमसौ यत्र तुष्यति ॥ ४६ ॥

‘जो शास्त्रके अनुसार प्राणदण्ड पानेके अधिकारी है, उनका ये नियमपूर्वक वध कर डालते हैं तथा जो शास्त्र दृष्टिमें अवश्य है, उनपर ये कदापि कुपित नहीं होते हैं’ जिनपर ये संतुष्ट होते हैं, उस क्षणमें भरकर धनसे परिपूर्ण कर देते हैं ॥ ४६ ॥

दानैः सर्वप्रजाकान्तैः प्रीतिसंजननैर्नृणाम् ।

गुणैर्विरोचते रामो दीप्तः सूर्य इवांशुभिः ॥ ४७ ॥

समस्त प्रजाओंके, लिये कर्मनीय तथा मनुष्योंके आनन्द बढ़ानेवाले मन और इन्द्रियोंके समय आदि सद्गुणोंद्वारा श्रीराम जैसे ही शोभा पाते हैं, ऐसे तेजस्वी सूर्य अपनी किरणोंसे सुशोभित होते हैं ॥ ४७ ॥

तत्सर्वगुणसम्पन्नं रामं सत्प्रपराक्रमम् ।

लोकपालोपमं नाद्यमकामयत मेदिनी ॥ ४८ ॥

‘ऐसे सर्वगुणसम्पन्न, लोकपालोंके, समान प्रभावशाली एवं गजराजकृष्ण श्रीरामको इस पृथ्वीकी जनता अपना स्वामी बनाना चाहती है ॥ ४८ ॥

छत्वा शीर्यांस जातस्ते दिग्भ्यासी तव राघवः ।

दिक्पथा पुत्रगुणैर्युक्तो मारीच इव कश्यपः ॥ ४९ ॥

‘दृष्टारे सौभाग्यसे आपके बेटे पुत्र श्रीरघुनाथजी प्रजाकर कल्याण करनेमें समर्थ हो गये हैं तथा अणक सौभाग्यमें वे मरीचिनन्दन व श्यपकी भांति पुत्राक्षित गुणोंमें सम्पन्न हैं ।

अलमारीधन्याश्च रामश्च विदितात्मनः ।

देवासुरमनुष्येषु सगन्धर्वोरगेषु च ॥ ५० ॥

आशीमते जनः सर्वो राष्ट्रे पुरवरे तथा ।

अभ्यन्तरश्च बाह्यश्च पौरजानपदो जनः ॥ ५१ ॥

इत्यादि श्रीमद्भारतमहाकाव्ये आदिकाण्डेऽथोद्धाकाण्डे द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

इस प्रश्न ॥ श्रीभारतमहाकाव्ये आदिकाण्डे अथोद्धाकाण्डे द्वितीयः सर्गः पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयः सर्गः

राजा दशरथका वसिष्ठ और धामदेवजीको श्रीरामके राज्याभिषेककी तैयारी करनेके लिये कहना और उनका सेवकोंको तदनुरूप आदेश देना; राजाकी आज्ञासे सुमन्त्रका श्रीरामको

राजसभामें बुला लाना और राजाका अपने पुत्र श्रीरामको

हितकर राजनीतिकी बातें बताना

संभाषणवर्णनानि प्रगृहीतानि सर्वशः ।

प्रतिगृह्यान्वर्षात् राजा तेभ्यः प्रियहितं वचः ॥ १ ॥

सभामण्डपमें कमलपुष्पकी सी आकृतिवाली अपनी आज्ञावर्णियोंको सिरसे लगाकर सब प्रकारसे महाराजके प्रलापका समर्थन किया, उनकी वह पद्याञ्जलि स्वाकार करके राजा दशरथ उन सबसे प्रिय और हितकर वचन

‘देवताओं अमृतों, मनुष्यों, गन्धर्वों और नागोंमेंसे प्रत्येक वर्गके लोग तथा इस राज्य और राजधानीमें भी बाहर-भीतर आने-जानेवाले नगर और जनपदके सभी लोग सुविख्यात शीलस्वभाववाले श्रीरामचन्द्रजीके लिये सदा ही बल, आशेष और आयुको शुभ कामना करते हैं ॥ ५०-५१ ॥

स्त्रियो वृद्धास्तस्म्यश्च साथं प्रातः समाहिताः ।

सर्वा देवान्नमस्यन्ति रामस्वार्थं मनस्विनः ।

तेषां तद् याचितं देव त्वत्प्रसादात्समृद्धयताम् ॥ ५२ ॥

‘इस नगरकी बूढ़ी और युवती—सब तरहकी स्त्रियाँ सबेरे और सांस्कृतिकमें एकाग्रचित्त होकर परम उदार श्रीरामचन्द्रजीके युवराज होनेके लिये देवताओंसे समस्कारपूर्वक प्रार्थना किया करती हैं । देव ! उनकी वह प्रार्थना आपके कृपा-प्रसादसे अब पूर्ण होनी चाहिये ॥ ५२ ॥

राममिन्दीवरइयाम् सर्वशत्रुनिबर्हणम् ।

पश्यामो यौवराज्यस्थं तव राजौनमात्मजम् ॥ ५३ ॥

‘नृपश्रेष्ठ ! जो नीलकमलके समान इयामकान्तिसे सुशोभित तथा समस्त शत्रुओंका संहार करनेमें समर्थ है आपके उन ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामको हम युवराज-परमर विराजमान देखना चाहते हैं ॥ ५३ ॥

ते देवदेवोपपमात्मजं ते

सर्वस्य लोकस्य हिते निविष्टम् ।

हिताय नः क्षिप्रमुदारजुष्टं

मुदामिषेत् वरद त्वमर्हसि ॥ ५४ ॥

‘अतः वरदायक महाराज ! आप देवाधिदेव श्रीविष्णुके समान पराक्रमी सम्पूर्ण लोकोंके हितमें सदाप्रसन्न रहनेवाले और महापुरुषोंद्वारा स्तुति अपने पुत्र श्रीरामचन्द्रजीका जितना आप हो मकं प्रसन्नतापूर्वक राज्याभिषेक कीजिये, इसीमें हमलोगोंका हित है ॥ ५४ ॥

बाल— ॥ १ ॥

अहोऽस्मि परमप्रीतः प्रभावश्चानुलो भव ।

यन्मे ज्येष्ठं प्रियं पुत्रं यौवराज्यस्थमिच्छथ ॥ २ ॥

‘अहो ! आपलोग जो मेरे परमप्रिय ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामको युवराजक पदपर प्रतिष्ठित देखना चाहते हैं इसमें मुझे खड़ी प्रसन्नता हुई है तथा मेरा प्रभाव अनुपम हो गया है ॥ २ ॥

इति प्रत्यर्चितान् राजा ब्राह्मणानिदमब्रवीत् ।
वसिष्ठं वामदेवं च तेषामवोपशृण्वताम् ॥ ३ ॥

इस प्रकारकी बातोंसे पुरोहितों तथा अन्योन्य सभासदोंका स्तुति करके राजा ने उनसे मुनित हुए हैं वामदेव और वसिष्ठ आदि ब्राह्मणोंसे इस प्रकार कहा— ॥ ३ ॥

चतुरः श्रीमानयं मासः पुण्यः पुष्पितकाननः ।
योधराज्याय रामस्य सर्वमेवोपकल्प्यताम् ॥ ४ ॥

‘यह चैत्रमास यज्ञ सुन्दर और पवित्र है, इसमें सार का ठाकन लिये ठहरे है अतः इस समय श्रीगणेशका पुनरावृत्तिपर अभिषेक करनेके लिये आपलोग सब साथमें एकत्र कराइये ॥ ४ ॥

गङ्गास्तूपरमे वाक्ये जनघोषो महानभूत् ।
शनेस्तस्मिन् प्रदाने च जनघोषे जनाधिपः ॥ ५ ॥
वसिष्ठो मुनिशार्दूल राजा वचनमब्रवीत् ।

राजाकी यह बात समाप्त होनेपर सब लोग हथके कारण महान् कोलाहल करने लगे । धीरे-धीरे उस जनघर्षके श्रवण शान्ति पर प्रजापालक ने भी दक्षरघने मुनिप्रवर कांसिष्ठसे यह बात कही— ॥ ५ ॥

अभिषेकाय रामस्य यत् कर्म सपरिच्छदम् ॥ ६ ॥
नदत्त भगवन् सर्वमाज्ञापयितुमर्हसि ।

भगवन् ! श्रीरामके अभिषेकके लिये जो कर्म निश्चित है, उस सङ्गीतार्थ यज्ञार्थ और सज्ज हो उस चरित्र तैयार करनेके लिये सेवकोंको आज्ञा दीजिये नचकूला । धूमिपालस्य वसिष्ठो मुनिस्तनयः ॥ ७ ॥
आदिदेशाप्रता राज्ञः स्थितान् युक्तान् कृताञ्जलीन् ।

महाराजकी यह वचन सुनकर मुनिवर कनिष्ठने राजाके सामने ही हाथ जोड़कर खड़े हुए आज्ञापालनके लिये तैयार हो जाने सेवकोंसे कहा— ॥ ७ ॥

सुवर्णादीनि रत्नानि बलीन् सर्वापघोरपि ॥ ८ ॥
गङ्गातट्यानि लाजाश्च पृथक् च मधुसर्पिणी ।
आणानि च आम्रांसि रथं सर्वायुधान्यपि ॥ ९ ॥

सुवर्णरत्न और गङ्गा के चौराहे के पृथक् पृथक् मधुसर्पिणी । आम्रांसि रथं सर्वायुधान्यपि ॥ ९ ॥
अनुराज्यस्य चैव गजं च शुभलक्षणम् ।
चामरद्वयजने चोभे ध्वज छत्रं च पाण्डुरम् ॥ १० ॥

शत्रु च हातकुम्भानां कृष्णानामग्निकर्मसाम् ॥ ११ ॥
हृदयस्य मुषम सभ्रं व्याघ्रचर्म च ॥ १२ ॥
वज्रान्यत् किञ्चिदेष्टव्यं तत् सर्वमुपकल्प्यताम् ।
उपस्थापयत प्रातरन्यगारे महीपतेः ॥ १३ ॥

सुवर्ण आदि रत्न, देवपूजनके सामग्री, सब प्रकारकी ओषधियाँ, शत्रु पुष्पोंकी मालाएँ, खोल, अण्डाण आदि सामान्य ग्राह्य और भी, नये वस्त्र, रथ, सब प्रकारके अस्त्र शस्त्र चतुर्द्विणी सेना उनमें लक्षणोंसे युक्त हाथी, चमरी गायको घेड़ोंके बालोंसे बने हुए दो व्यजन, ध्वज, छत्र, अग्निके समान देदीप्यमान सोनेके मौ

कलश, सुवर्णसे भरे हुए सोंगोवाला एक साँड़, समूचा व्याघ्रचर्म तथा और जो कुछ भी बाजनीय वस्तुएँ हैं, उन सबको एकत्र करो और प्रातः काल महाराजकी अग्निशालामें पहुँचा दो ॥ ८—१३ ॥

अन्नःपुण्यं द्वाराणि सर्वस्य नगरस्य च ।
चन्दनस्त्रिभिरर्च्यन्तां धूपंश्च आणहारिभिः ॥ १४ ॥

अन्न-पुण्य तथा समस्त नगरके सभी दरवाजाका चन्दन और मालाओंसे सजा दो तथा वहाँ ऐसे धूप सुलगा दो जो अपनी सुगन्धसे लोगको आकर्षित कर लें ॥ १४ ॥

प्रशस्तमन्त्रे गुणवद् दधिक्षीरोपसेधनम् ।
द्विजानां शतमाहस्यं यत्प्रकामफलं भवेत् ॥ १५ ॥

‘दही, दूध और घी आदिसे संयुक्त अत्यन्त ऊनम एवं गुणकारी अन्न तैयार कराओ, जो एक लाख ब्राह्मणोंके भोजनके लिये पर्याप्त हो ॥ १५ ॥

सत्कृत्य द्विजमुख्यानां च प्रभाते प्रदीयताम् ।
घृते दधि च लाजाश्च दक्षिणाश्चापि पुष्कलाः ॥ १६ ॥

‘कल प्रातः काल श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको सत्कार करके उन्हें यह अन्न प्रदान करो; साथ ही घी, दही, खीर और पर्याप्त दक्षिणाएँ भी दो ॥ १६ ॥

सूर्योऽभ्युदितमात्रे श्वे भवितु स्वस्तिवाचनम् ।
ब्राह्मणाश्च निमन्त्र्यन्ता कलयन्तामासनानि च ॥ १७ ॥

‘कल सूर्योदय होते ही स्वस्तिवाचन होगा इसके लिये ब्राह्मणोंको निमन्त्रित करो और उनके लिये आसनोंका प्रबन्ध कर लो ॥ १७ ॥

आवृध्यन्तां पताकाश्च राजमार्गश्च सिध्यताम् ।
सर्वे च तालापधरा गणिकाश्च खलंकृताः ॥ १८ ॥
कक्ष्यां द्वितीयाभासाद्य तिष्ठन्तु नृपवेश्मनः ।

‘नगरमें सब ओर पताकाएँ फहराया जायें तथा राजमार्गपर लिङ्काल करवाया जाय । समस्त तालजीवी (संगीतनिपुण) पुण्य और सुन्दर वेष-भूषणसे विभूषित शराङ्गनाग (नर्तकियाँ) गजमालकी दूसरी कक्षा (हज़ीरी) में पहुँचकर खड़े रहें ॥ १८ ॥

देवायतनचैत्येषु स्नातृभक्ष्याः सदाक्षिणाः ॥ १९ ॥
उपस्थापयितव्याः स्युर्मांसघोर्याः पृथक्पृथक् ।
‘देव-मन्दिरोंमें तथा चैत्यवृक्षाके नीचे या चौगहोंपर जो पूजनार्थ डेयना हैं उन्हें पृथक् पृथक् भक्ष्य भोज्य पदार्थ एवं दक्षिणा प्रस्तुत करने चाहिये ॥ १९ ॥

शीर्षांसि वज्रगोधाश्च संनद्धा भृष्टवाससः ॥ २० ॥
महाराजाङ्गनं शूराः प्रविशन्तु महोदयम् ।

‘लंबी तलवार लिये और गोघाचर्मके बने दस्ताने पहने और कमर कमकर तैयार रहनवाले शूर-वीर योद्धा स्वच्छ वस्त्र धारण किये महाराजके महान् अभ्युदयशाली अंगनमें प्रवेश करें ॥ २० ॥

एवं व्यादिश्य विशौ तु क्रियास्तत्र विनिष्ठौ ॥ २० ॥
लक्रतुश्चैव यच्छेषं पार्थिवाय विवेक्य च ।

संस्कारोंको इस प्रकार कार्य करकेका आदेश देकर दोनों
प्राणायाम और कामदेवोंने पुरोहितका हाथ सम्पन्न कर
योग्य क्रियाओंको स्वयं पूर्ण किया । राजाके बनाये हुए
कार्यके अतिरिक्त भी जो शेष आवश्यक कर्तव्य था उसे भी
उन दोनोंने राजासे पूछकर स्वयं ही सम्पन्न किया ॥ २० ॥
कृतमित्येव राजानामभिगम्य जगन्निधिम् ॥ २१ ॥
मधोक्तवचनं प्रीतौ हर्षयुक्तौ विजोत्तमौ ।

तदनन्तर महाराजाके पास जाकर प्रसन्नता और हर्षसे भरे
हृदय से दोनों श्रेष्ठ विजयोंके — 'राजन्' आगेने श्रेष्ठ राजा
सा, तबसे अनुसार सब कार्य सम्पन्न हो गया ॥ २१ ॥
ततः सुमन्त्रं ह्युत्तिमान् राजा वचनमब्रवीत् ॥ २२ ॥
रामः कृतात्मा भवता श्रीप्रमानीयतार्पित ।

राजके बाद तेजस्वी राजा दशरथने सुमन्त्रसे कहा—
'सखे । पवित्रात्मा श्रीगमकों तुम शीघ्र यहाँ चले लाओ ॥'
स तर्धनि प्रतिज्ञाय सुमन्त्रो राजशामनाम् ॥ २३ ॥
राजैः सप्तानगान्यर्कं रथेन रक्षितौ चरम् ।

तब 'जो आशा' कहकर सुमन्त्र गये तथा राजाके
आदेशानुसार शेषोंमें श्रेष्ठ श्रीरामका श्वपद पिठाकर ले
आये ॥ २३ ॥

अथ तत्र सहासीनाभ्यन्तः दशरथ नृपम् ॥ २४ ॥
प्राच्योदीच्या प्रनोच्याश्च दक्षिणास्याश्च भूमिमाः ।
भूमिमाश्चोर्ध्वं चैव चान्ये यन्दीप्तान्स्थामिनः ॥ २५ ॥
गुप्तास्त्राज्यकरे सर्वे ते देवा वासवो यथा ।

उस राजभवनमें राधा बैठे हुए पूर्व, उत्तर, पश्चिम और
दक्षिणके भूपाल, इन्द्र, आर्य तथा वनों और पर्वतान
पर्वतोंके अन्यान्य मनुष्य सब के-सब उन समय राजा
दशरथकी तभी प्रकार उपासना कर रहे थे जैसे देवता
देवराज इन्द्रको ॥ २५ ॥

तेनैव यज्जो स राजर्षिर्मन्त्राभिष्व चामयः ॥ २६ ॥
प्रागादन्धो दशरथो ददर्शावान्तमात्मजम् ।
गायर्षराजप्रतिमं लोकं निरुत्थानपौरुषम् ॥ २७ ॥

उनके बीच अष्टाधिकारके भोक्ता बैठे हुए राजा दशरथ
महादेवोंके भय दशरथ इन्द्रकी प्रति आधा घर पर थे,
जन्होंने वहाँमें अपने पुत्र श्रीरामको अपने पास आते देखा
औ महादेवोंके समान तेजस्वी थे, उनका पौरुष समस्त
समायमें विद्यमान था ॥ २६-२७ ॥

दीर्घबाहुं महासत्त्वं मनपातङ्गमामिनम् ।
चन्द्रकान्ताम्बुं रामपतीव प्रियदर्शनम् ॥ २८ ॥
स्पर्धादार्यगुणैः पुत्रा दृष्टिचिन्तापहाणिणम् ।
धर्माभितप्राः पर्जन्यं हृदयन्तमिव प्रजाः ॥ २९ ॥

उनकी बृहत् बड़ी और बल महान् था । वे भक्तोंके

महाराजके समान बड़ी मल्लोंके साथ चल रहे थे । उनका
मुख चन्द्रमाने भी अधिक कान्तिमान् था । श्रीरामका दर्शन
सबको अत्यन्त प्रिय लगता था । वे अपने रूप और उदारता
के कारण सबके दिलोंमें अत्यन्त प्रिय होते थे
जैसे घूमने लगे हुए प्राणियोंके मध्य आनन्द प्रदान करता है,
उसी प्रकार वे समस्त प्रजाओंके परम आहार देते रहते थे ।
न तनयं समायान्तं पश्यमानो नराधिपः ।
अवतार्य सुमन्त्रम् राघवं स्यन्दनोत्तमान् ॥ ३० ॥
पितुः समीपं गच्छन्तं प्राञ्जलिः पृष्ठनोऽन्वगात् ।

आने हुए श्रीरामचन्द्रको और एकटक देखते हुए राजा
दशरथको तब नहीं हानो था । सुमन्त्रने उस श्रेष्ठ रथसे
श्रीरामचन्द्रजीका उतारा और जब वे पिताके समीप जाने
लगे तब सुमन्त्र भी उनके पीछे-पीछे हाथ जोड़ कर गये ।
य तं कैलासशृङ्गाय प्रासादं रघुनन्दनः ॥ ३१ ॥
आकरोद् नृप इष्टं सप्तमा तेन राघवः ।

तब राजमहाराज कैलासशिखरके समान हाथ्यारु और
इन्द्र था महादेवकी आज्ञानुसार कामदेवोंने श्रीराम महाराजकी
दर्शन करनेके लिये सुमन्त्रके साथ मकरा तसपर चढ़ गये ॥
च प्राञ्जलिर्गर्भिण्यं प्रणमः पितुरन्तिके ॥ ३२ ॥
नाथ त्वं श्रावयन् राजो वन्दे सगणौ पितुः ।

श्रीराम दोनों हाथ जोड़कर विनीतभावसे पिताके पास गये
और अपना नाम सुनते हुए उत्ताने उनके दोनों करणोंमें
प्रणाम किया ॥ ३०-३१ ॥

नं दृष्ट्वा प्रणतं पार्श्वं कृताञ्जलिपुटं नृपः ॥ ३३ ॥
गुह्याङ्गुलैः समाकुर्व्य सखजे प्रियमात्पजम् ।

श्रीरामकी पान आकर हाथ जोड़ प्रणाम करते देख
राजाने उनके दोनों हाथ पकड़ लिये और अपने प्रिय पुत्रोंके
जब स्निग्ध स्पर्शसे लगा लिया । ॥ ३३ ॥

नम्यं चाभ्युद्यते सख्यद्वयणिकाञ्जनभूषितम् ॥ ३४ ॥
दितेश राजा रुचिरं रामाय परमामनम् ।

उस समय राजाने उन श्रीरामचन्द्रजीको मणिजटित
भूषणसे घूँसित एक परम सुन्दर सिंहासनपर बैठानेकी
आज्ञा दी, जो पहिलेसे उनके लिये वहाँ उपस्थित किया
गया था ॥ ३४ ॥

नशाऽऽसनवरं प्राप्य क्यदीपयत राघवः ॥ ३५ ॥
स्वयं च प्रभया मेरुपुटये विप्लवो रविः ।

जैसे निर्मल सूर्य उदयकालमें मेरुपर्वतको अपनी
किरणोंमें उद्गमित कर देते हैं, उसी प्रकार श्रीरघुनाथजी उस
श्रेष्ठ आनन्दको ग्रहण करके अपनी ही प्रभासे उसे प्रकाशित
कर लगे ॥ ३५ ॥

तेन विभ्राजिता तत्र सा सभापि व्यरोक्षत ॥ ३६ ॥
विपलग्रहनक्षत्रा शार्दूली ह्यौषधेन्दुना ।

उन्से प्रकाशित हुई वह सभा भी वहाँ शोभा पा रही थी ।

होकर उसी तरह जिस निर्मल ब्रह्म और नक्षत्रोंसे भर हुआ
शम्भु कालका आकाश चन्द्रमामें दृष्टासित हो उठता है ॥

• प्रपद्यमाना नृपतिस्तुतोऽथ प्रियमात्मजम् ॥ ३७ ॥

अलकतमित्राभ्यामनादशतलसंस्थितम् ।

जन्म मुन्दर वैश्व-भूषामें अलंकृत हुए अपने हों
निर्विघ्नकर उन्नत देखकर मनुष्यका बड़ी सेवाय प्राप्त होता
है, तन्मो प्रकार अपने शोभाशाली प्रिय पुत्र उन श्रीरामका
देखकर राजा बड़े प्रसन्न हुए ॥ ३७ ॥

यत् तं सुस्थितमाधाध्य पुत्रं पुत्रवत्तं वरः ॥ ३८ ॥

तत्पुत्रं च तं राजा देवेन्द्रमित्र कश्यपः ।

जैसे कश्यप देवराज इन्द्रका पुत्रवत् है, तन्मो प्रकार
पुत्रवत्तम ब्रह्म राजा दृष्टव्य मित्रात्मनपर बैठ हुए अपने पुत्र
श्रीरामकी सम्प्राप्ति करके उनमें इस प्रकार बोले— ॥

न्यहायामसि मे पत्न्या सदृश्या मदृशः सुतः ॥ ३९ ॥

तत्पुत्रस्य गुणज्योतिं मम रामात्मजः प्रियः ।

त्वया यतः प्रजाश्रेयाः स्वगुणानुरक्षिताः ॥ ४० ॥

नम्यतां त्वं पुण्ययोगेन योऽस्मत्प्रवृत्तिः ।

वेदा मुक्तका जन्म मेंसे बड़ी महारानी कौसल्याका
प्रपन्न पुत्र है, यह जानते सबका अनुकर ही नमस्कार हुआ
है, तन्मो तू मुझसे मुझसे भी बड़ेकर हो, अतः मेरे
पुत्रवत्तम तू तूने अपने गुणोंसे इन समस्त प्रजाओंको
समस्त का भिक्षा के समान करके मुक्तकरकर अपने
पुण्ययोगसे मुक्त करके ३७-४० ॥

क्रासमस्यं प्रकृत्यन्त निर्णीता गुणवानिति ॥ ४१ ॥

गुणत्वव्याप तु म्रतात् पुत्र वक्ष्यामि ते हितम् ।

भूयो त्रिनयनमन्धाय धनं निन्यं जितेन्द्रियः ॥ ४२ ॥

अतः । कल्पिते तुल्य जन्मावस्य तं गच्छन्तं तं और मुक्तका
सिन्धुओं जनों सबका निगम है नयानि मे खेदवश सदुप-
क्रम्यत्र हातपर भी तुम्हें कुछ हितको बताने बनाना है । तुम
और भी आभार विनयका आश्रय लेकर भद्रा जितेन्द्रिय
जन्म रतो ॥ ४१-४२ ॥

कामक्रोधममृशानि त्यजन्व व्यसनानि च ।

परोक्षया वर्तमानो नृप्या प्रत्यक्षया तथा ॥ ४३ ॥

काम और क्रोधमें उन्मत्त प्रसन्नगणे दुःखमनांका
सदृश त्याग कर दो, पराक्षवर्तनसे (अर्थात् गुप्तचरोंद्वारा
गथायें बातोंका पता लगाकर) तथा प्रत्यक्षवर्तनसे (अर्थात्
संप्रत्यक्ष सामन आकर कहनेवाली जनताके मुखमें ठमक
गुणाधीनको प्रत्यक्ष देख-सुनकर) ठाक-ठाक व्याध-
विचारमें तन्मो रतो ॥ ४३ ॥

अमात्यप्रभृतीः सर्वाः प्रजाश्रेष्ठानुरक्षय ।

कोष्ठागारायुधागारैः कृत्वा सन्निचयान् बहून् ॥ ४४ ॥

इष्टानुरक्तप्रकृतिर्यः पालयति मेदिनीम् ।

तस्य नन्दन्ति मित्राणि लब्ध्वायुतमिवामरा ॥ ४५ ॥

'मन्त्री, सेनापति आदि समस्त अधिकारियों तथा
प्रजाजनोंको महा प्रसन्न रखना । जो राजा कोष्ठागार
(भण्डारगृह) तथा शस्त्रागार आदिकें द्वारा उपयोगी
शस्त्र-आदि बहुत बड़ा संग्रह करके मन्त्री सेनापति और प्रजा
आदि समस्त प्रकृतियोंको प्रिय मानकर उनके अपने प्रति
अनुरक्त प्रसन्न रखने हुए पृथ्वीका पालन करता है, उसके
मित्र उसी प्रकार आनन्दित होते हैं, जैसे अमृतका पाकर
देवता प्रसन्न हुए थे ॥ ४४-४५ ॥

तस्मात् पुत्र त्वमात्मानं नियध्यैव सभाधर ।

नचकृत्वा सुहृदन्तस्य रामस्य प्रियकारिणः ॥ ४६ ॥

त्वर्णिताः शीघ्रमागत्य कौसल्यायै न्यवेदयन् ।

'इन्द्रियों के देता ! तू अपने चित्तको बड़में रखकर
इस प्रकारक उनमें आचरणोंका पालन करते रहो ।' राजाकी
ये बातें सुनकर श्रीरामचन्द्रजीको प्रिय करनेवाले सुहृदोंने
तुरंत मन्त्र कौसल्याके पास जाकर उन्हें यह शुभ समाचार
निवेदन किया ॥ ४६ ॥

सा हिरण्यं च गाञ्छेव रत्नानि विविधानि च ॥ ४७ ॥

व्यादिदेव प्रियाल्लेभ्यः कौसल्या प्रमदोत्तमा ।

नागियोंमें श्रेष्ठ कौसल्याने वह प्रिय संवाद सुनानेवाले
उन सुहृदोंको तरह-तरहके रत्न, सुवर्ण और गौएँ पुरस्कार-
रूपमें दीं ॥ ४७ ॥

अद्याभिवर्त्त राजानं रथमारुह्य राघवः ।

ययौ स्वं द्युनिमद् वेश्म जनीधै प्रतिपूजितः ॥ ४८ ॥

इसके बाद श्रीरामचन्द्रजी राजाको प्रणाम करके रथपर
बैठे और प्रजाजनोंमें सम्मानित होते हुए वे अपने शोभाशाली
भवनमें चले गये ॥ ४८ ॥

ते चापि पौरा नृपतेर्वजस्त-

चक्रुन्वा तदा लाभयिवेष्टमाशु ।

नरेन्द्रमामन्त्र्य गृहाणि गत्वा

देवान् समानर्चुरभिप्रहृष्टाः ॥ ४९ ॥

नगरनिवासों मनुष्योंने राजाको बातें सुनकर मन-ही-मन
यह अनुभव किया कि हमें शीघ्र ही अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति
होगी फिर भी महाराजकी आज्ञा लेकर अपने घरोंकी राय
और अत्यन्त हर्षसे चरकर अभीष्ट-सिद्धिके उपलक्ष्यमें
देवताओंकी पूजा करने लगे ॥ ४९ ॥

इत्यनेन भीमद्रापायणो वाल्मीकीयैः आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे तृतीयः सर्गः । ३ ॥

यन् प्रकार श्रीकृष्णोक्तिनिर्दिष्ट आयोगमायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें तीसरा सर्ग पूरा हुआ ॥ ३ ॥



चतुर्थः सर्गः

श्रीरामको राज्य देनेका निश्चय करके राजाका सुमन्त्रद्वारा पुनः श्रीरामको बुलवाकर उन्हें आवश्यक बातें बताना, श्रीरामका कौसल्याके भवनमें जाकर माताको यह समाचार बताना और मातासे आशीर्वाद पाकर लक्ष्मणसे प्रेमपूर्वक वार्तालाप करके अपने महलमें जाना

गतेषुध नृपो धूषः पौरैषु सह मन्त्रिभिः ।
गन्धर्विष्वक् ततश्चक्रे निश्चयः स निश्चयम् ॥ १ ॥
अ एव पुष्पो भविता शोऽभिषेच्यस्तु मे सुतः ।

राघो राजीवपद्माक्षो सुवराज इति प्रभुः ॥ २ ॥

रामसभासे पुरोहितोंके चले जानेपर कर्षीसिद्धिके योग्य देश कालके नियमको जाननेके लिये प्रभावशाली नरेशने पुनः मन्त्रियोंके साथ सलाह करके यह निश्चय किया कि 'कल ही पुष्प गन्धर्व होगा, अतः कल ही मुझे अपने पुत्र कमलनयन श्रीरामका युवराजके पदपर अभिषेक कर देना चाहिये' ॥

अथानर्गुहमाविश्य राजा दशरथस्तदा ।

सुतमापचयामास रामं पुनरिहानय ॥ ३ ॥

तदनन्तर अन्तःपुरमें जाकर महाराज दशरथने सुतको बुलाया और आका बो — 'जओ, श्रीरामको एक बार फिर यहाँ बुला लाओ' ॥ ३ ॥

प्रतिगृह्य तु तद्वाक्यं सुतः पुनरुपाचर्य ।

रामस्य भवनं गीत्वा राममानयिन् पुनः ॥ ४ ॥

उसकी आज्ञा शिरोधार्य करके सुमन्त्र श्रीरामको शान्त सुता कानक लिये पुनः उनके महलमें गये ॥ ४ ॥

ज्ञात्वा स्वीरावेदितां तस्य रामायागमनं पुनः ।

श्रुत्वा चापि रामस्तं प्राप शङ्कान्धिमोऽभवत् ॥ ५ ॥

ज्ञातगमने श्रीरामको सुमन्त्रके पुनः आगमनको रूचना हो। तनका अगमन सुनते ही श्रीरामके मनमें शङ्का हो गयी ॥ ५ ॥

प्रपश्य सैनं स्मृतां रामो वचनमब्रवीत् ।

पतागमनकर्म्यं ते भूयस्तद्ब्रूहाशेषतः ॥ ६ ॥

उन्हें जोरत सुनकर श्रीरामने तनसे कही उतावलोंके साथ पूछा— 'आपको पुनः यहाँ आनेकी क्या आवश्यकता पड़ी?' यह पूर्णरूपसे बताइये ॥ ६ ॥

तस्युवाच ततः सुतो राजा त्वां द्रष्टुमिच्छति ।

श्रुत्वा प्रभार्य तत्र त्वं गमनावेतराय वा ॥ ७ ॥

तब सुतने उनसे कहा— 'महाराज आपसे मिलना चाहते हैं। मेरी इस बातको सुनकर यहाँ जाने या न जानेका निर्णय आप अपने करें' ॥ ७ ॥

ज्ञातं सुनयचः श्रुत्वा रामोऽपि त्वरयान्वितः ।

प्रययौ राजभवनं पुनर्द्वं नरेश्वरम् ॥ ८ ॥

रामका यह वचन सुनकर श्रीरामचन्द्रजी महाराज दशरथका पुनः दर्शन करनेके लिये तुरंत उनके महलकी ओर चल दिये ॥

तं श्रुत्वा समनुप्राप्तं रामं दशरथो नृपः ।

प्रवेशयामास गृहं विवक्षुः प्रियमुत्तमम् ॥ ९ ॥

श्रीरामको आया हुआ सुनकर राजा दशरथने उनसे प्रिय तथा उत्तम बात करनेके लिये उन्हें मन्त्रालयके भीतर बुला लिया ॥ ९ ॥

प्रविशन्नेव च श्रीमान् राघवो भवनं पितुः ।

ददर्श पितरं दूरान् प्रणिपत्य कृताञ्जलिः ॥ १० ॥

पिताके भवनमें प्रवेश करते ही श्रीमान् राघुनाथजीने उन्हें देखा और दूरसे ही हाथ जोड़कर वे उनके चरणोंमें पड़ गये ॥ १० ॥

प्रणमन्तं तमुत्थाप्य सम्परिषृज्य भूमिषः ।

प्रदिश्य चासनं चासौ रामं च पुनरब्रवीत् ॥ ११ ॥

प्रणाम करते हुए श्रीरामको उठाकर महाराजने छातीसे लगा लिया और उन्हें बैठनेके लिये आमन देकर पुनः उनसे इस प्रकार कहना आरम्भ किया— ॥ ११ ॥

राम वृद्धोऽस्मि दीर्घायुर्भुक्ता भोगा यथेप्सिताः ।

अत्रवद्धिः कृतुर्गतेर्यथेष्टं भूरिदक्षिणीः ॥ १२ ॥

'श्रीराम ! अब मैं बूढ़ा हुआ। मेरी आयु बहुत अधिक हो गयी। मैंने बहुत-से मनोवाञ्छित भोग भोग लिये अन्न और बहुत-सी दक्षिणाओंसे युक्त सैकड़ों यज्ञ भी कर लिये ॥ १२ ॥

जातमिष्टमपत्यं मे स्वमहानुपमं भुवि ।

दत्तमिष्टमधीतं च मया पुनस्तत्तम ॥ १३ ॥

'पुरुषोत्तम ! तुम मेरे परम प्रिय अभोष्ट संतानके रूपमें प्राप्त हुए जिसको इस भूमण्डलमें कहीं उपमा नहीं है, मैंने दान, यज्ञ और स्वाध्याय भी कर लिये ॥ १३ ॥

अनुभूतानि चेष्टानि मया वीर सुखान्यपि ।

देवर्षिपितृविप्राणामनृणोऽस्मि तथाऽऽत्मनः ॥ १४ ॥

'वीर ! मैंने अभोष्ट सुखाका भी अनुभव कर लिया। मैं देवता, ऋषि, पितर और ब्राह्मणोंके तथा अपने ऋणसे भी उद्धरण हो गया ॥ १४ ॥

न किञ्चिन्मम कर्तव्यं तवान्यत्राभिषेचनात् ।

आतो यत्त्वामहं ब्रूयं तन्मे त्वं कर्तुमर्हसि ॥ १५ ॥

'अब तुम्हें युवराज पदपर अभिषेक करनेका सिवा और काई कर्तव्य मेरे लिये शेष नहीं रह गया है, अतः मैं नूमसे जो कुछ कहूँ, मेरी इस आज्ञाका तुम्हें पालन करना चाहिये ॥ १५ ॥

अथ प्रकृतयः सर्वास्त्वामिच्छन्ति नराधिपम् ।

अतस्त्वां युवराजानमभिषेक्ष्यामि पुत्रक ॥ १६ ॥

बेटा ! अब सारे प्रजा तुम्हें अपना राजा बनाना चाहते हैं अतः मैं तुम्हें युवराजपदपर अभिषिक्त करूँगा ॥ १६ ॥

अपि चाद्याशुभान् राम स्वप्नान् पश्यामि राघव ।

सन्निधाता दिवोल्लास्य पतन्ति हि भहास्त्रिणा ॥ १७ ॥

'रघुकुलमन्दन श्रीराम ! आजकल मुझे बड़े बुरे सपने दिखवाती देते हैं, दिनमें तन्मयताके मग्न-मग्न थड़ा भयंकर शब्द करनेवाली शक्तियाँ भी गिर रही हैं ॥ १७ ॥

अथष्टकं च मे राम नक्षत्रं दाम्ज्जगद्गते ।

आवेत्यन्ति दिव्याः सूर्याङ्गारकराह्वयि ॥ १८ ॥

श्रीराम ! ज्योतिर्विद्योका कहना है कि घेर जन्मनक्षत्रको सूर्य, मङ्गल और राहु नामक भयंकर ग्रहोंने आक्रान्त कर लिया है ॥ १८ ॥

प्रायेण च निमित्तानामीकृशानां समुद्रवे ।

राजा हि मृत्युमाप्नोति घोरं चापदमुच्छति ॥ १९ ॥

'ऐसे अशुभ लक्षणोंका प्राकट्य होनेपर प्रत्यः राजा घोर आपत्तिमें पड़ जाता है और अन्तर्लोकत्वा उसकी मृत्यु भी हो जाती है ॥ १९ ॥

तद् घातनेन मे घेनो न विभुहति राघव ।

तावदेवामिच्छिष्य चला हि प्राणिनां मतिः ॥ २० ॥

'अतः स्मृन्मन्दन ! जबतक मेरे चित्तमें मोह नहीं छा जाता, तबतक ही तूम युवराज-पदपर अपना अभिषेक करा लो; क्योंकि प्राणियोंकी बुद्धि चञ्चल होती है ॥ २० ॥

अथ चन्द्रोऽभ्युपगमत् पुष्यात् पूर्वं पुनर्वसुम् ।

अथ पुष्ययोगं नियतं वक्ष्यन्ते देवचिन्तकाः ॥ २१ ॥

आज चन्द्रमा पुष्यसे एक नक्षत्र पहलें पुनर्वसुपर विराजमान हैं, अतः निश्चय ही कल के पुष्य नक्षत्रपर रहेगे—ऐसा ज्योतिषी कहते हैं ॥ २१ ॥

तत्र पुष्योऽभिविहस्य घनस्त्वरयतीव माम् ।

अस्त्वाहमभिषेक्ष्यामि यौवराज्ये परंतप ॥ २२ ॥

'इरावत्ये तम पुष्य नक्षत्रमें ही तूम अपना अभिषेक करा लो । राजाओंको सताप देनेवाले वीर ! मेरा मन इस कायमें बहुत शाश्वत करनेको कहता है, इस कारण कल अवश्य ही मैं तुम्हारा युवराजपदपर अभिषेक कर दूँगा ॥ २२ ॥

तस्मान् त्वयाद्यप्रभृति निज्ञेयं नियतात्मना ।

साह चक्ष्मापवस्तव्या दुर्धप्रस्तरशायिना ॥ २३ ॥

'अतः तूम इस सपरमे लेखर सारे रात हृन्निद्रयसयम-गृहेक रहते हुए तम सीताके साथ उपवास करा और कुशका राज्यापद सोओ ॥ २३ ॥

मृत्तदक्षप्रयत्नास्त्वा रक्षन्वद्य समन्ततः ।

अथानि बह्विघ्नानि कार्यापयेवविधानि हि ॥ २४ ॥

आज तुम्हारे सुख सावधान रहकर सब ओरसे तुम्हारी

रक्षा करें क्योंकि इस प्रकारके शुभ कार्योंमें बहुत से विघ्न आनेकी सम्भावना रहती है ॥ २४ ॥

विश्रोबितश्च भरतो यावदेव पुरादितः ।

तावदेवामिषेकस्ते प्राप्तकालो भवो मम ॥ २५ ॥

'जबतक भरत इस सगरसे बाहर अपने मामाके यहाँ निवास करते हैं तबतक ही तुम्हारा अभिषेक हो जाना मुझे उचित प्रतीत होता है ॥ २५ ॥

कामं खलु सतां वृत्ते भ्राता ते भरतः स्थितः ।

ज्येष्ठानुवर्ती धर्मात्मा सानुक्रोशो जितेन्द्रियः ॥ २६ ॥

किं नु चित्तं मनुष्याणामनित्यमिति मे मतम् ।

सतां च धर्मनित्यानां कृतशोभि च राघव ॥ २७ ॥

'इसमें संदेह नहीं कि तुम्हारे भाई भरत सत्पुरुषोंके आचार-व्यवहारमें स्थित हैं, अपने भड़े भाईका अनुसरण करनेवाले, धर्मात्मा, दयालु और जितेन्द्रिय हैं तथापि मनुष्योंका चित्त प्रायः स्थिर नहीं रहता—ऐसा मेरा मत है । मनुन्दन धर्मपरायण मनुष्योंका मन भी विभिन्न कारणोंसे राग-द्वेषादिसे संयुक्त हो जाता है ॥ २६-२७ ॥

इत्युक्तः सोऽध्यनुज्ञातः शोषाविन्यभिषेचने ।

क्रजेति रामः पितरमभिवाद्याभ्ययाद् गृहम् ॥ २८ ॥

राजाके इन प्रकार कहने और कल होनेवाले राज्याभिषेकके निमित्त व्रतपालनके लिये जानेकी आज्ञा देनेपर श्रीरामचन्द्रजी पिताको प्रणाम करके अपने महलमें गये ॥ २८ ॥

प्रविश्य चात्मनो वेश्म राज्ञाऽऽदिष्टेऽभिषेचने ।

तत्क्षणादेव निष्क्रम्य मातुरन्तःपुरं ययौ ॥ २९ ॥

राजाने राज्याभिषेकके लिये व्रतपालनके निमित्त आ आज्ञा दी थी, उसे सीताको बतानेके लिये अपने महलके भीतर प्रवेश करके जब श्रीरामने वहाँ सीताको नहीं देखा तब वे तत्काल ही वहाँसे निकलकर माताके अन्तःपुरमें चले गये ॥ २९ ॥

तत्र तां प्रवणामेव मातरं क्षीमवासिनीम् ।

वाग्यतां देवतागारे ददर्शायाचनीं श्रियम् ॥ ३० ॥

वहाँ जाकर उन्होंने देखा माता कौसल्या देशी वस्त्र धारण में । देवमन्दिरमें बैठकर देवताकी आराधनामें लगी हैं और पुत्रके लिये राजलक्ष्मियोंकी याचना कर रही हैं ॥ ३० ॥

प्रागेव चागता तत्र सुमित्रा लक्ष्मणस्तथा ।

सीता चानयिता श्रुत्वा प्रियं रामाभिषेचनम् ॥ ३१ ॥

श्रीरामके राज्याभिषेकका प्रिय समाचार सुनकर सुमित्रा और लक्ष्मण वहाँ पहलेसे ही आ गये थे तथा बादमें सीता वहाँ बुला ली गयी थीं ॥ ३१ ॥

तस्मिन् कालेऽपि कौसल्या नस्थावामीलितेक्षणा ।

सुमित्रयान्वास्यमाना सीतया लक्ष्मणेन च ॥ ३२ ॥

श्रीरामचन्द्रजी जब वहाँ पहुँचे, उस समय थी कौसल्या नेत्र बंद किये ध्यान लगाये बैठी थीं और सुमित्रा,

सीता तथा लक्ष्मण जनके सेवामे खड़े थे ॥ ३२ ॥
श्रुत्वा पुण्ये च पुत्रस्य श्रीवराज्येऽभिषेचनम् ।
प्राणायामेन पुरुषं ध्यायमाना जनार्दनम् ॥ ३३ ॥

पुण्य नक्षत्रके योगमें पुत्रके युवराजपदपर अभिषिक्त होनेको बात सुनकर वे उसकी मङ्गलकामनासे प्राणायामके द्वारा परमपुरुष नारायणका ध्यान कर रही थीं ॥ ३३ ॥
तथा सनियमाधेन सोऽभिगम्याभिवाद्य च ।

इत्याद्य वचनं रामो हर्षयस्तामिदं वरम् ॥ ३४ ॥

इस प्रकार नियममें लगी हुई माताके निकट उसी अवस्थामें जाकर श्रीरामने उनका प्रणाम किया और उन्हें हर्ष प्रदान करते हुए यह श्रेष्ठ बात कही— ॥ ३४ ॥

आम्ब पित्रा नियुक्तोऽस्मि प्रजापालनकर्षणि ।

भविता सोऽभिषक्तो मे यथा मे शासन पितुः ॥ ३५ ॥

सीतायाप्युपवसत्पुत्रा राजनीये मया सह ।

एवमुक्तपुपाभ्याम् । स हि मागुक्तवान् पिता ॥ ३६ ॥

माँ ! पिताजीने मुझे प्रजापालनके कर्गमें नियुक्त किया है, काल में आभयक होगे । जैसा कि मेरे लिये पिताजीका आदेश है, उसके अनुसार सीताको भी मेरे साथ इस राज्यमें उपवास करना ही— उपचारोंमें ऐसी ही बात चलनी थी, जिसे पिताजीने मुझसे कहा है ॥ ३५-३६ ॥

घाति घान्यथ भोग्यानि शोभाविन्यभिषेचने ।

नानि मे मङ्गलात्म्या विदेहाक्षेव कारय ॥ ३७ ॥

आतः कल होनेवाले अभिषेकके निमित्तसे आज मेरे और सीताके लिये जो-जो मङ्गलकार्य आवश्यक हो वे सब करायें ॥ ३७ ॥

एतच्चूत्वा तु कौगल्पा शिवात्माभिकाङ्क्षितम् ।

हर्षायाकाले वाक्यमिदं राममभाषत ॥ ३८ ॥

चिरकालसे माताके हृदयमें जिस वात्कई अभिकांक्षा थी, उसको पूर्णको क्षुब्ध करनवाली यह बात सुनकर माता भीलक्ष्मणने आनन्दके आँसु बहाते हुए गहव कण्ठसे इस प्रकार कहा— ॥ ३८ ॥

यथा राग चिरं जीव हतास्ते परित्याज्यः ।

ज्ञातीन् मे त्वं श्रिया युक्तः सुमित्रायास्तु नन्दय ॥ ३९ ॥

'बेटा श्रीराम ! चिरकालसे होओ। तुम्हारे मार्गमें

इत्यर्थ श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽथोद्धाकाण्डे चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

इस प्रकार आकाश-मार्गमें मांशरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें चौथा सर्ग पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमः सर्गः

राजा दशरथके अनुरोधसे वसिष्ठजीका सीतासहित श्रीरामको उपवासव्रतकी दीक्षा देकर आना और राजाको इस समाचारसे अवगत कराना; राजाका अन्तःपुरमें प्रवेश

संविष्य राम नृपतिः शोभाविन्यभिषेचने ।

पुरोहितं सभाहूय वसिष्ठमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

विश्र डालनेवाले शत्रु मष्ट हो जायें। तुम राजलक्ष्मीसे युक्त होकर मेरे और सुमित्राके बन्धु-बान्धवोंको आनन्दित करो ॥ ३९ ॥

कल्याणे वत नक्षत्रे मथा जातोऽसि पुत्रक ।

यंन त्वया दशरथो गुणैराराधितः पिता ॥ ४० ॥

'बेटा ! तुम मेरे द्वारा किसी मङ्गलमय नक्षत्रमें उत्पन्न हुए थे, जिससे तुमने अपने गुणोंद्वारा पिता दशरथको प्रसन्न कर लिया ॥ ४० ॥

अयोधं वत मे क्षान्तं पुरुषे पुष्करेक्षणे ।

येयमिक्ष्वाकुराजश्रीः पुत्र त्वां संश्रयिष्यति ॥ ४१ ॥

'बड़े हर्षके बात है कि मैंने कमलनयन भगवान् विष्णुकी प्रमदनाके लिये जो व्रत-उपवास आदि किया था वह आज सफल हो गया। बेटा ! उसीके फलसे यह इक्ष्वाकु कुलकी राजलक्ष्मी तुम्हें प्राप्त होनेवाली है' ॥ ४१ ॥

इत्येवमुक्तो मात्रा तु रामो भ्रातरमब्रवीत् ।

प्राञ्जलिं प्रहृषासीनमभिवीक्ष्य समयत्रिव ॥ ४२ ॥

माताके ऐसा कहनेपर श्रीरामने विनीतभावसे हाथ जोड़कर खड़े हुए अपने भाई लक्ष्मणको ओर देखकर पुरस्कारते हुए-से कहा— ॥ ४२ ॥

लक्ष्मणोऽहं मया सार्धं प्रशाधि त्वं वसुंधराम् ।

द्वितीयं मेऽन्तरात्मानं त्वामिदं श्रीरूपस्थिता ॥ ४३ ॥

'लक्ष्मण ! तुम मेरे साथ इस पृथ्वीके राज्यका शासन (पालन) करो। तुम मेरे द्वितीय अन्तरात्मा हो। यह राजलक्ष्मी तुम्हींको प्राप्त हो रही है ॥ ४३ ॥

सीपित्रे बुद्धिश्च भोगास्त्वमिष्टान् राज्यफलानि च ।

जीवितं चापि राज्यं च त्वदर्शमधिकामये ॥ ४४ ॥

'सुमित्रानन्दन ! तुम अभीष्ट भोगों और राज्यके श्रेष्ठ फलोंका उपभोग करो। तुम्हारे लिये ही मैं इस जीवन तथा राज्यको अभिलषा करता हूँ' ॥ ४४ ॥

इत्युक्त्वा लक्ष्मणं रामो मातरावभिवाद्य च ।

अभ्यनुज्ञाय सीतां च ययौ स्वं च निवेशनम् ॥ ४५ ॥

लक्ष्मणसे ऐसा कहकर श्रीरामने दोनों माताओंको प्रणाम किया और सीताको भी साथ चलनेको आज्ञा दिलाकर वे उनको लिये हुए अपने महलमें चले गये ॥ ४५ ॥

इत्यर्थ श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽथोद्धाकाण्डे चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

इस प्रकार आकाश-मार्गमें मांशरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें चौथा सर्ग पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमः सर्गः

राजा दशरथके अनुरोधसे वसिष्ठजीका सीतासहित श्रीरामको उपवासव्रतकी दीक्षा देकर आना और राजाको इस समाचारसे अवगत कराना; राजाका अन्तःपुरमें प्रवेश

संविष्य राम नृपतिः शोभाविन्यभिषेचने ।

पुरोहितं सभाहूय वसिष्ठमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

उधर महाराज दशरथ जब श्रीरामवन्दनको दूसरे दिन होनेवाले अभिषेकके विषयमें आवश्यक संदेश दे चुके, तब

अपने पुरोहित वसिष्ठजीको बुलाकर बोले— ॥ १ ॥

गच्छोपवासं काकुत्स्थं कारयामास तपोधन ।

अपने राज्यलाभाय बंधा सह यतव्रत ॥ २ ॥

निरामपूर्वक जनका पालन करनेवाले तपोधन ! आप जंगल और विघ्ननिवारणरूप कन्याणकी सिद्धि तथा राज्यकी प्राप्ति के लिये बहुसङ्गित श्रीरामसे उपवासव्रतका पालन कराइये ॥ ३ ॥

नथेति च स राजानमुक्त्वा वेदविदां वरः ।

मयं वमिष्ठो भगवान् ययौ रामनिवेशनम् ॥ ३ ॥

उपवासयितुं वीरं मन्त्रविम्बन्त्रकोविदम् ।

ब्राह्मं रथवरं युक्तमास्थाय सुधनव्रतः ॥ ४ ॥

तब राजा 'तथानु' कहकर वेदवेत्ता विद्वानोंमें श्रेष्ठ तथा इनमें व्रतधारी स्वयं भगवान् वसिष्ठ मन्त्रवेत्ता वीर श्रीरामको श्रद्धास-व्रतकी दीक्षा देनेके लिये ब्राह्मणके चतुर्मुखोन्मत्त गुण-जुताये श्रेष्ठ रथपर आरुढ़ हो श्रीरामके महत्त्वको और चला लिये ॥ ३-४ ॥

स रामभवनं प्राप्य पाण्डुराभ्रघनप्रभम् ।

मित्रः कक्ष्या रथनेत्रं विवेश मुनिमन्त्रपः ॥ ५ ॥

श्रीरामका भवन शत छाट्ठाक समान उज्ज्वल था । भवके पास पहुँचकर मुनिव्रत वसिष्ठन इमकी वन उद्यानद्वारमें रथके द्वारा ही प्रवेश किया ॥ ५ ॥

तमागतमृषिं रामस्वरश्चिष ससम्प्रभम् ।

मानयिष्यन् स यानाहं निश्चक्राम निवेशनात् ॥ ६ ॥

वहाँ पहुँचते हुए उन सम्माननीय महर्षिके सम्मान करनेके लिये श्रीरामचन्द्रजी बड़ी उतावलीक साथ वेगपूर्वक धरसे आगे निकले ॥ ६ ॥

अभ्येत्य स्वरमागच्छेत् रथाभ्याशं मनीषिणः ।

नतोऽवतारयाभाम परिगृह्य रथान् स्वयम् ॥ ७ ॥

इन मनीषी महर्षिके रथके समाप्त शांतिपूर्वक आकर श्रीरामने स्वयं उनका हाथ पकड़कर उन्हें रथमें नीचे उतारा ॥

यं चेत्ये प्रश्नितं वृष्टा सम्भाष्याभिप्रसाद्य च ।

प्रियाहं हव्यन् राममित्युवाच पुरोहितः ॥ ८ ॥

श्रीराम प्रश्न कचन सुननेके शाय्य थे । उन्हें इतना विनोत ऐंगरुह पुरोहितजीने कहा । वन्द्य पुत्राग और ३४ प्रमथ करके इनकी हृष बढ़ाते हुए इस प्रकार कहा— ॥ ८ ॥

प्रमथस्ते पिता राम यत्तं राज्यमधाप्स्यासि ।

अपराधं भवानहं करोतु सह सीतया ॥ ९ ॥

श्रीराम ! तुम्हारे पिता तुमपर बहुत प्रमथ है, क्योंकि तुम्हें राज्य प्राप्त होगा, अतः आजकी रातमें तुम वधु सीताके साथ निधन करो ॥ ९ ॥

प्रातस्स्वामिभिर्दंष्ट्रा हि यौवराज्ये नराधिपः ।

पिता दशरथः प्रीत्या ययानि नहुषो यथा ॥ १० ॥

मधुनन्दन ! जैसे नहुषने ययातक अभिषेक किया था,

उसी प्रकार तुम्हारे पिता महाराज दशरथ कल प्रातःकाल बड़े प्रेमसे तुम्हारा युवराज-पदपर अभिषेक करेंगे ॥ १० ॥

इत्युक्त्वा स तदा राममुपवासं यतव्रतः ।

मन्त्रवत् कारयामास वेदेह्या सहितं शुचि ॥ ११ ॥

ऐसा कहकर उन व्रतधारी एवं पवित्र महर्षिने मन्त्रोच्चारणपूर्वक मीनासहित श्रीरामकी उम समय उपवास-व्रतकी टोखा दी ॥ ११ ॥

ततो यथावद् रामेण स राज्ञो गुरुरर्चितः ।

अभ्यनुजाप्य काकुत्स्थं ययौ रामनिवेशनात् ॥ १२ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजीने महाराजके भी गुरु वसिष्ठका यथावत् पूजन किया, फिर वे भूमि श्रीरामकी अनुमति ले उनके महत्त्वमें बाहर निकले ॥ १२ ॥

सुहृद्विलसन्नं रामोऽपि सहासीनः प्रियंवदः ।

सभाजितो विवेशाय ताननुजाप्य सर्वशः ॥ १३ ॥

श्रद्धा भी वहाँ प्रियवचन बोलनेवाले सुहृदांक साथ कुछ देरतक बैठे रहे, फिर उनमें सम्मानित हो उन सबकी अनुमति ले पुनः अपने महत्त्व भीतर चले गये ॥ १३ ॥

हृष्टनारीनरयुते रामवेदेषु तदा बभौ ।

यथा भतहितगणं प्रफुल्लनलिनं सरः ॥ १४ ॥

उस समय श्रीरामका भवन हर्षोत्फुल्ल नर-नारियोंसे भरा हुआ था और मतवाले पक्षियोंके कलरवोंसे युक्त खिले हुए कमलवाले तालवृक्षके समान शोभा पा रहा था ॥ १४ ॥

स राजभवनप्रस्थात् तस्माद् रामनिवेशनात् ।

निर्गत्य ददृशे मार्गं वसिष्ठो जनसंवृतम् ॥ १५ ॥

राजभवनमें श्रेष्ठ श्रीरामके महत्त्वसे बाहर आकर वसिष्ठजीने सारे मार्ग मनुष्योंकी भीड़में घरे हुए देखे ॥ १५ ॥

वृन्दवृन्दैरयोध्यायां राजमार्गाः समन्ततः ।

बभूवुरभिसम्वाधाः कुतूहलजनेर्वृताः ॥ १६ ॥

अयोध्याकी मड़कोंपर सब ओर सुड-क-सुड मनुष्य, जो श्रीरामका राजाभिषेक देखनेके लिये इकट्ठा थे, खचाखच भरे हुए थे, सारे राजमार्ग उनसे घिरे हुए थे ॥ १६ ॥

जनकुन्दोर्मिसंघर्षहर्षस्वनवृतस्मदा ।

बभूव राजमार्गस्य सागरस्येव निःस्वनः ॥ १७ ॥

जनसमुदायरूपी लहरोंके परस्पर टकरानेसे उस समय जो हर्षध्वनि प्रकट होती थी, उससे व्याप्त हुआ राजमार्गका कोलाहल समुद्रकी गर्जनाकी भाँति सुनायो देता था ॥ १७ ॥

सिक्तसम्पृष्टरथ्या हि तथा च वनमालिनी ।

आसौदयोध्या तदहः समुच्छिन्नगृहध्वजा ॥ १८ ॥

उस दिन वन और उपवनोकी पंक्तियोंसे सुशोभित हुई अयोध्यापुरीके घर घरमें ऊँची-ऊँची ध्वजाएँ फहरा रही थीं-वहाँकी सभी मलियों और सड़कोंको झाड़ें बुझाकर वहाँ छिड़काव किया गया था ॥ १८ ॥

तदा ह्ययोध्यानिलयः सखीबालाकुलो जनः ।

रामाभिषेकमाकाङ्क्षन्नाकाङ्क्षुदयं रवेः ॥ १९ ॥

स्त्रियों और बालकोंसहित अयोध्यावासी जनसमुदाय श्रीरामके राज्याभिषेकको देखनेकी इच्छामें उस समय शीघ्र सूर्योदय होनेकी कामना कर रहा था ॥ १९ ॥

प्रजालंकारभूते च जनस्मानन्दवर्धनम् ।

भक्त्युक्तोऽभूज्जनो इष्टं तमयोध्यामहोत्सवम् ॥ २० ॥

भक्त्युक्तोंका वह महान् उत्सव प्रजाओंके लिये अलंकार-रूप और सब लोगोंके आनन्दको बढ़ानेवाला था, वहकि सभी मनुष्य उसे देखनेके लिये उत्कण्ठित हो रहे थे ॥ २० ॥

एवं तज्जनसम्बन्धं राजमार्गं पुरोहितः ।

व्युहन्निव जनौघं तं शनैः राजकुलं ययौ ॥ २१ ॥

इस प्रकार मनुष्योंको भीड़से भरे हुए राजमार्गपर पहुँचाकर पुरोहित जी उस जनसमुदायको एक ओर करने हुए-म धीरे-धीरे राजमहलको ओर गये ॥ २१ ॥

सिताभ्रशिवप्रस्थं प्रासादमधिरुह्य च ।

समीपाद्य नरेन्द्रेण शक्रेणैव बृहस्पतिः ॥ २२ ॥

उस जगद स्वर्गके सामान सुशोभित होनेवाले महलके ऊपर चढ़कर वसिष्ठजी राजा दशरथसे उसी प्रकार मिले, जैसे बृहस्पति देवराज इन्द्रसे मिल रहे हो ॥ २२ ॥

तत्रागतमभिप्रेक्ष्य हित्वा राजामर्गं नृपः ।

पप्रच्छ स्वमतं तस्मै कृताभित्यभिवेदयत् ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्वरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें पंचवीं सर्ग पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठः सर्गः

सीतासहित श्रीरामका नियमपरायण होना, हर्षमें भरे पुरवासियोंद्वारा नगरकी सजावट, राजाके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना तथा अयोध्यापुरीमें जनपदवासी मनुष्योंकी भीड़का एकत्र होना

गते पुरोहिते रामः स्नातो नियतमानसः ।

सह पत्न्या विशालाक्ष्या नारायणमुपागमत् ॥ १ ॥

पुरोहितजीके गले जानपर यन्त्रों संगममें रहनेवाले श्रीरामने स्नान करके अपनी विशालाक्षीसना पत्नीके साथ श्रीनारायणकी उपासना आरम्भ की ॥ १ ॥

अगुह्य शिरसा पाश्रीं हविषो विधिवत् सतः ।

गङ्गे देवताचार्यं पूज्य पञ्चलिस्तनले ॥ २ ॥

तन्होंने हविष्य पात्रको सिर झुकाकर नमस्कार किया और गङ्गाजिती अग्निमें गङ्गान् देवता (शयशक्ती नारायण) की प्रार्थनाके लिये विधिपूर्वक उस हाथध्वजों आहुति दी ।

उन्हें आया देख राजा सिंहासन छोड़कर खड़े हो गये और पूछने लगे—'युन ! क्या आपने मेरा अभिप्राय सिद्ध किया ?' वसिष्ठजीने उत्तर दिया—'हाँ ! कर दिया' ॥ २३ ॥

तेन चैव तदा तुल्यं सहासीनाः सभासदः ।

आसनेभ्यः समुत्सुः पूजयन्तः पुरोहितम् ॥ २४ ॥

उनके साथ ही उस समय वहाँ बैठे हुए अन्य सभासद भी पुरोहितका समादर करने हुए अपने-अपने आसनोंसे उठकर खड़े हो गये ॥ २४ ॥

गुरुणा त्वध्वनुज्ञातो मनुजौघं विसृज्य तम् ।

विवेशान्तःपुरं राजा सिंहो गिरिगुहामिव ॥ २५ ॥

तदनन्तर गुरुजीकी आज्ञा ले राजा दशरथने उस जनसमुदायको विदा करके पर्वतकी कन्दरामें धूमनेवाले सिंहके समान अपने अन्तःपुरमें प्रवेश किया ॥ २५ ॥

तदप्रत्यवेष्टप्रयदाजनाकुलं

महेन्द्रवेशप्रतिमं निवेशनम् ।

व्यदीपयश्चरु विवेश पार्थिवः

शशीव तारागणसंकुलं नभः ॥ २६ ॥

सुन्दर वेश-भूषा धारण करनेवाली सुन्दरियोंसे भरे हुए इन्द्रमदनके समान उस मनोहर राजभवनको अपनी शोभासे प्रकाशित करने हुए राजा दशरथने उसके भीतर उसी प्रकार प्रवेश किया, जैसे चन्द्रमा ताराओंसे भरे हुए आकाशमें घटार्पण करते हैं ॥ २६ ॥

शेषं च हविषस्तस्य प्राश्याशास्यात्मनः प्रियम् ।

ध्यायन्नारायणं देवं स्वास्तीर्णं कुशमस्तरे ॥ ३ ॥

वाग्धतः सह वैदेह्या भूत्वा नियतमानसः ।

श्रीमन्वाचनने विष्णोः शिष्ये नरहरात्मजः ॥ ४ ॥

नरध्वान् अपने प्रिय मनोरथकी सिद्धिका संकल्प लेकर उन्होंने उस यज्ञशेष हविष्यका भक्षण किया और मनको संयममें रखकर मौन हो वे राजकुमार श्रीराम विदेहनन्दिनी माताके साथ भगवान् विष्णुक सुन्दर मन्दिरमें श्रीनारायण देवका ध्यान करते हुए वहाँ अच्छी तरह बिछोई हुई कुशकी चटाईपर साथ ॥ ३-४ ॥

१. ऐसा माना जाता है कि गङ्गा नारायण शब्दसे श्रीरामायणको वह अर्चा-मूर्ति अभिप्रेत है जो कि पूर्वजोंके समयसे ही तीर्थकायक अयोध्यामें उपास्य देवताके रूपमें रही । बादमें श्रीरामजीन वह मूर्ति विभाषणको दे दी थी जिसमें वह वर्तमान श्रीरामायणमें गाँवों । इसकी विस्तृत कथा पद्मपुराणमें है ।

एकयामावशिष्टायां राज्ञां प्रतिविबुध्य सः ।

अलंकारविधिं सध्यकृत् कारयामास चैश्वर्यः ॥ ५ ॥

जब तीन पहर बीतकर एक ही पहर रात शेष रह गयी, तब वे शायनसे उठ बैठे । उस समय उन्होंने सभामण्डपका मजानेके लिये सेवकोंको आज्ञा दी ॥ ५ ॥

तत्र शृण्वन् सुखा वाचः सूनमागधवन्दिनाम् ।

पूर्वा संध्यामुपसीनो जज्ञाप सुसमाहितः ॥ ६ ॥

वहाँ सुन, पागध और बंदियेकी श्रवणसुखद वाणों सुनते हुए श्रीरामने प्रातःकालिक संध्योपासन की; फिर आर्पचित होकर वे अर्प करने लगे ॥ ६ ॥

नृणां प्रणतश्च शिरसा मधुसूदनम् ।

विपलक्ष्मीसंवीतो वाचयामास स द्विजान् ॥ ७ ॥

तदनन्तर रेशमी बस धारण किये हुए श्रीरामने मस्तक झुकाकर भगवान् मधुसूदनको प्रणाम और उनका स्तवन किया; इसके बाद ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराया ॥ ७ ॥

तेषां पुण्याहघोषोऽथ गम्भीरमधुरस्तथा ।

अयोध्यां पुरयामास सूर्यघोषानुनादितः ॥ ८ ॥

उन ब्राह्मणोंका पुण्याहवाचनसम्बन्धी गम्भीर एवं मधुर घोष नाना प्रकारके वाद्योंकी ध्वनिसे व्याप्त होकर सारी अयोध्यागुंमें फैल गया ॥ ८ ॥

कृतोपवासं तु तदा र्वदेहा सह राघवम् ।

अयोध्यानिलयः श्रुत्वा सर्वः प्रमुदितो जनः ॥ ९ ॥

उस समय अयोध्यावासों मनोरंजने जब यह सुन कि श्रीरामचन्द्रजीने सीताके साथ उपवास-वन आरम्भ कर दिया है, तब उन सबको बड़ी प्रमत्तता हुई ॥ ९ ॥

नतः घोरजनः सर्वः श्रुत्वा रामाभिषेचनम् ।

प्रभातां रजनीं दृष्ट्वा चक्रे शोभयितुं पुरीम् ॥ १० ॥

सबसे घोरजन श्रीरामके राज्याभिषेकका समाचार सुनकर समस्त पुरवासी अयोध्यापुरीको सजानमें लग गये ॥ १० ॥

सिताश्रांशस्वराभेषु देवतायतनेषु च ।

अनुष्णेषु रथ्यासु चैत्येष्टुल्लोकेषु च ॥ ११ ॥

नानापण्यसमृद्धेषु वणिजामापणेषु च ।

कुटुम्बिनी समुत्तेषु शीघ्रसु धवनेषु च ॥ १२ ॥

सभासु चैव सर्वासु वृक्षेष्टुल्लक्षितेषु च ।

ध्वजा समुच्चिताः साधु पताकाश्चापवन्तथा ॥ १३ ॥

जिनके शिखरोंपर श्वेत बादल विश्राय करते हैं, उन पर्वतोंके शान्त गगनचुम्बी देवमन्दिरों, वीरहो, मल्लिका, यक्षकुक्षी, समस्त रथाओं, अट्टालिकाओं, नाना प्रकारकी अचनेयों, वस्तुओंमें भरी हुई व्यापारियोंकी बड़ी-बड़ी दुकानों तथा कुटुम्बी गृहस्थाक सुन्दर सम्पत्तिशाली धवनोंमें और दूरसे दिखायी देनेवाले वृक्षोंपर भी ऊँची ध्वजाएँ लगायी गयीं और उनमें पताकाएँ फहरायी गयीं ॥ ११—१३ ॥

नटनर्तकमङ्गलानां गायकानां च गायताम् ।

मनःकर्णसुखा वाचः शुश्राव अनन्ता ततः ॥ १४ ॥

उस समय वहाँको जनता सब ओर नदों और नर्तकोंके समूहों तथा गानेवाले गायकोंकी मन और कानोंको सुख देनेवाली वाणी सुनती थी ॥ १४ ॥

रामाभिषेकयुक्ताश्च कथाश्रक्तुर्मिथो जनाः ।

रामाभिषेके सम्भाषे चत्वरेषु गृहेषु च ॥ १५ ॥

श्रीरामके राज्याभिषेकका शुभ अवसर प्राप्त होनेपर प्रायः सबश्रेष्ठ वीराणां और धर्मों भी आपसमें श्रीरामके राज्याभिषेकको ही चर्चा करते थे ॥ १५ ॥

बाला अपि क्रीडमाना गृहद्वारेषु सङ्कुशः ।

रामाभिषेकसंयुक्ताश्चकुरेव कथा मिथः ॥ १६ ॥

बच्चोंके दरवाजोंपर खड़े हुए झुंड-क-झुंड बालक भी आपसमें श्रीरामके राज्याभिषेककी ही बातें करते थे ॥ १६ ॥

कृतपुष्पोपहारश्च धूपगन्धाधिवासितः ।

राजमार्गं कृतं श्रौष्यान् घोरै ररामाभिषेचने ॥ १७ ॥

पुष्पमियान श्रीरामके राज्याभिषेकके समय राजमार्गपर फूलोंकी भेंट चढ़ाकर वहाँ सब आर धूपकी धुगन्ध फैला दी, रक्षा करके उनका राजमार्गका बहुत सुन्दर बना दिया ॥

प्रकाशकरणार्थं च निशागमनशङ्कया ।

दीपवृक्षास्तथा चक्रनुरध्यासु सर्वशः ॥ १८ ॥

राज्याभिषेक ज्ञान-ज्ञान रात हो जानेकी आशङ्कामें प्रकाशकी व्यवस्था करनके लिये पुष्पमियोंने सब आर नुक्कड़ों के शीशों पर, शृङ्खलें भरी अनेक शालाओंमें युक्त दीपमण्डल खड़े कर दिये ॥ १८ ॥

अलंकारं पुरस्तेवं कृत्वा तत् पुरवासिनः ।

आकाङ्क्षमाणा रामस्य यौवराज्याभिषेचनम् ॥ १९ ॥

समेत्य सङ्कुशः सर्वे चत्वरेषु सभासु च ।

कथयन्तो मिथस्तत्र प्रशंसोर्जनाधिपम् ॥ २० ॥

इस प्रकार नगरको सजाकर श्रीरामके युवराजपदपर अभिषेककी अभिलाषा रखनेवाले समस्त पुरवासी वीरहो और सभाओंमें झुंड-क-झुंड एकत्र हो वहाँ परस्पर बातें करते हुए महाराज दशरथकी प्रशंसा करने लगे— ॥ १९-२० ॥

अहो महत्त्वा राजायमिश्वाकुकुलनन्दनः ।

ज्ञात्वा वृद्धं स्वमात्मानं रामं राज्येऽभिषेक्षयति ॥ २१ ॥

'अहो ! इश्वाकुकुलको आनन्दित करनवाले ये राजा दशरथ बड़े महात्मा हैं, जो कि अपने-आपको बूढ़ा हुआ जानकर श्रीरामका राज्याभिषेक करने जा रहे हैं ॥ २१ ॥

सर्वे हानुगृहीताः स्म यत्रो रामो भरीपतिः ।

छिराय भविता गोप्ता दृष्टलोकपरावरः ॥ २२ ॥

भगवान्का हम सब श्रेष्ठोंपर बड़ा अनुग्रह है कि श्रीरामचन्द्रजी हमारे राजा होने और चिरकालतक हमारी रक्षा करने रहेंगे क्योंकि वे समस्त लोकोंके निवासियोंमें जो

मलाई या बुराई है, उसे अच्छी तरह देख चुक है ॥ २२ ॥

अनुद्धतमना विद्वान् धर्मात्मा भ्रातृवत्सलः ।

यथा च भ्रातृषु स्निग्धस्तथास्मास्वपि राघवः ॥ २३ ॥

‘श्रीरामका मन कभी उद्धत नहीं होता। वे विद्वान्, धर्मात्मा और अपने भाइयोंपर स्नेह रखनेवाले हैं। उनका अपने भाइयोंपर जैसा स्नेह है, वैसा ही हमलोगोंपर भी है ।

चिरं जीवतु धर्मात्मा राजा दशरथोऽनघः ।

यात्रसादेनाभिषिक्तं रामं दृश्यामहे वयम् ॥ २४ ॥

धर्मात्मा एवं निष्पाप राजा दशरथ चिरकालतक जीवित रहे, जिनके प्रसादसे हमें श्रीरामके राज्याभिषेकका दर्शन सुलभ होगा ॥ २४ ॥

एवमिदं कथयता योगिनी शुश्रुवुः परे ।

तिग्मयो विश्रुतवृत्तान्ताः प्राप्ता जानपदा जनाः ॥ २५ ॥

अभिषेकका वृत्तान्त सुनकर नाच दिशाओंसे ठम जनपदक लोग भी चला पड़े थे, उन्होंने उपर्युक्त बातें कहनवाले पुरवासियोंकी कभी बातें सुनीं ॥ २५ ॥

ते तु दिग्म्याः पुरीं प्राप्ता द्रष्टुं रामाभिषेकनम् ।

रामस्य पुर्यामासुः पुरीं जानपदा जनाः ॥ २६ ॥

इत्यार्ष श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीभाल्मीकिनिर्मित आर्यारामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें छठा सर्ग पूरा हुआ ॥ ६ ॥

सप्तमः सर्गः

श्रीरामके आभिषेकका समाचार पाकर खिन्न हुई मन्थराका कैकेयीको उभाड़ना, परंतु प्रसन्न हुई कैकेयीका उसे पुरस्काररूपमें आभूषण देना और घर मांगनेके लिये प्रेरित करना

ज्ञातिदासी यतो जाता कैकेय्या तु सहोषिता ।

प्रासादां चन्द्रसेकाशमारुहो यदुच्छ्रया ॥ १ ॥

राजी कैकेयीके पास एक दासी थी, जो उसके मायकेसे आयी हुई थी वह सदा कैकेयीके ही साथ रहा करती थी। हरकत गन्ध काढ़ा हुआ था ? उसके दश और माता पिता कोन थे ? इनका गता किमीका नहीं था। आभिषेकमें एक दिन पहले वह खेचकसे ही कैकेयीके चन्द्रमाके समान कान्तिमान् महलकी छतपर आ चली ॥ १ ॥

सिक्तशजपथां कुत्त्रां प्रकीर्णकमलोत्पलाम् ।

अयोध्यां मन्थरा तस्मात् प्रासाददन्वयैक्षत ॥ २ ॥

उस दासीका नाम था—मन्थरा। उसने उस महलकी छतमें देखा—अयोध्याकी सड़कपर छिड़काव किया गया है और सारी पुरीमें गन्ध तत्र खिले हुए कमल और उत्पल निर्गौर मरे हैं ॥ २ ॥

पताकाभिर्वराहीभर्षजैश्च समलंकृताम् ।

सिक्ता चन्दनतोयैश्च शिरःस्नानजनैर्युगाम् ॥ ३ ॥

सब ओर बहुमूल्य पताकाएँ फाड़ रही हैं। ध्वजओंसे इस पुरीमें अपूर्व शोभा हो रही है राजमार्गोंपर चन्दननिर्मिश्रित

वे सब-के-सब श्रीरामका राज्याभिषेक देखनेके लिये अनेक दिशाओंसे अयोध्यापुरीमें आये थे। इन जनपद-निवासी मनुष्योंमें श्रीरामपुरीकी अपनी उपस्थितिसे घर दिया था ॥ २६ ॥

जनौघैस्तेर्विसर्पद्भिः शुश्रुवे तत्र निःस्वनः ।

पर्वमूदीर्घवेगस्य सागरस्येव निःस्वनः ॥ २७ ॥

वहाँ मनुष्योंकी भीड़ भीड़ बढ़नेसे जो जनरव सुनायी देता था, वह पर्वोंके दिन बढ़ हुए वेगवाले महासागरकी गर्जनाके समान जान पड़ता था ॥ २७ ॥

ततस्तदिन्द्रक्षयसंनिधेः पुरं

दिदृक्षुर्भिरजानपदैस्त्याहितैः ।

समन्ततः सस्वनमाकुलं चर्षां

समुद्रयादोभिरिवार्णवोदकम् ॥ २८ ॥

उस समय श्रीरामके आभिषेकका उत्सव देखनेके लिये पधारे हुए जनपदवासियों मनुष्योंद्वारा राव ओरसे भरा हुआ वह इन्द्रगुणक समान नगर अत्यन्त कोलाहलपूर्ण होनेके कारण भकर, नक्र निभिद्गल आदि विशाल जल-जन्तुओंसे परिपूर्ण महासागरके समान प्रतीत होता था ॥ २८ ॥

जलका छिड़काव किया गया है तथा अयोध्यापुरीके सब लोग उत्पन्न लगाकर सिरके ऊपरसे स्नान किये हुए हैं ॥ ३ ॥

पाल्यमोदकहस्तैश्च द्विजेन्द्रैरधिनादिताम् ।

शुद्धदेवगृहद्वारां सर्ववादित्रनादिताम् ॥ ४ ॥

सम्प्रहृजनाकीर्णं ब्रह्मघोषनिनादिताम् ।

प्रहृष्टवरहस्तैश्च सम्प्रणर्दितगोवृषाम् ॥ ५ ॥

श्रीरामके दिये हुए माल्य और मोदक हाथमें लिये श्रेष्ठ जाह्नव्य हर्षनाद कर रहे हैं, देवमन्दिरोंके दरवाजे चून और चन्दन आदिसे लापकर सफेद एवं सुन्दर बनाये गये हैं, सब प्रकारके बाजोंकी मनोहर ध्वनि हो रही है, अत्यन्त हर्षमें भरे हुए मनुष्योंसे सारा नगर परिपूर्ण है और चारों ओर वेदपाठकोंकी ध्वनि गूँज रही है, श्रेष्ठ हाथी और घोड़े हर्षसे उत्फुल्ल दिखायी देते हैं तथा गाय-बैल प्रसन्न होकर रेंप रहे हैं ॥ ४-५ ॥

हृष्टप्रमुदिनैः पौरैरभिक्षितध्वजमालिनीम् ।

अयोध्यां मन्थरा दृष्ट्वा परं विस्मयमागता ॥ ६ ॥

सारे नगरनिवासी हर्षजनित रोमाञ्चसे युक्त और अत्यन्त प्रसन्न हैं तथा नगरमें सब ओर श्रेणीबद्ध ऊँचे-ऊँचे

ध्वज फहर रहे हैं। अयोध्याकी ऐसी शोभाको देखकर मन्थराको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ ६ ॥

या हर्षोत्फुल्लनयना पाण्डुरक्षीमवासिनीम् ।

अविदूरे स्थिता दृष्ट्वा धात्रीं पप्रच्छ मन्थरा ॥ ७ ॥

उसने पासक ही कोड़ेपर रामको धायको खड़ी देखा, उसके नेत्र प्रसन्नतासे झिले हुए थे और शरीरपर पोंले गमकी रेशमों साड़ी शोभा पा रही थी। उस देखकर मन्थराने उससे पूछा— ॥ ७ ॥

उत्तमेनाभिसंयुक्ता हर्षेणार्क्षपरा सती ।

राममाता धनं किं नु जनेभ्यः सम्प्रयच्छति ॥ ८ ॥

अतिमात्रं प्रहर्षः किं जनभ्याम्य च शंस मे ।

कारप्रियवति किं वापि सम्प्रहृष्टो गृहीपतिः ॥ ९ ॥

‘धाय ! आज श्रीरामचन्द्रजीकी माता अपने किसी अष्टोत्तमजीके साधनमें सत्कार हो अत्यन्त हर्षमें भयकर भोगोंको धन क्यों बाँट रही हैं ? आज यद्यपि सभी मनुष्योंको इतनी अधिक प्रसन्नता क्यों है ? इसका कारण भूल बताओ । आज महाराज दशरथ अत्यन्त प्रसन्न होकर कौन-सा कर्म करायेंगे’ ॥ ८-९ ॥

विदीर्घमाणा हर्षेण धात्री तु पयसा मुदा ।

आचक्षतेऽथ कुब्जार्थं भूयसीं गण्डे श्रियम् ॥ १० ॥

धृः पुष्ट्येण जितक्रोधं यौवराज्येन खानघम् ।

गजा दशरथो सम्प्रभिक्षता हि राघवम् ॥ ११ ॥

श्रीरामकी धाय तो हर्षसे फूलों नहीं समानों थी, उसने कुब्जाके पूछनेपर वह आनन्दक साथ उसे बताया— कुब्ज ! रघुनाथजीको बहुत बड़ी सम्पत्ति प्राप्त होनेवाली है। कल महाराज दशरथ पुत्र्य नक्षत्रके योगसे क्रोधके जोतनेवाले, पापहीन, रघुकुलनन्दन श्रीरामको युवराजके पदपर अभिषिक्त करेंगे ॥ १०-११ ॥

घाव्यास्तु वचनं श्रुत्वा कुब्जा क्षिप्रमपघितः ।

कामासन्निवेशकारात् प्रासादादखरोहत ॥ १२ ॥

धायका यह वचन सुनकर कुब्जा मन-हो-मन खुद गयी और उस कैलास-दिग्गजकी भाँति दशरथ के गणमनुजों प्रगाढरी मुरत हो मोचे खतर मची ॥ १२ ॥

या दहमाना क्रोधेन मन्थरा पापदर्शिनी ।

शयानां च कैकेयीगिहं वचनमवर्षीत् ॥ १३ ॥

मन्थराको इसमें कैकेयीके अनिष्ट दिखायी देता था, वह क्रोधसे जल गयी थी। उसने महत्त्व गढ़ा हुई कैकेयीके पास जाकर इन प्रचार बताए— ॥ १३ ॥

अनष्टं भूते किं ज्ञेये भये त्वापभिवर्षते ।

अपूनामर्षाधनं नाम्नामवयुध्यसे ॥ १४ ॥

‘मूर्ख ! उत ! क्या सो रही है ? तुझपर बड़ा भारी भय आ रहा है। ठीक ! तेरे ऊपर विपत्तिका पहाड़ टूट पड़ा है, फिर भी तूझे अपनी इस दुःस्थितिका बोध नहीं होता ?’ ॥

अनिष्टे सुभगाकारे सौभाग्येन विकल्थसे ।

चल हि तव सौभाग्यं नद्याः स्रोत इवोष्णाने ॥ १५ ॥

‘तेरे प्रियतम तेरे सामने ऐसा आकार बनाये आते हैं मानो मात सौभाग्य तुझे ही अर्पित कर देते हों, परन्तु पीट पीछे वे तरा अनिष्ट करते हैं। तू उन्हें अपनेमें अनुरक्त जानकर सौभाग्यको डोंग लोका करती है, परन्तु जैसे ग्रीष्म ऋतुमें नदीका प्रवाह सुखता चला जाता है, उसी प्रकार तेरा वह सौभाग्य अब अस्थिर हो गया है—तेरे हाथसे चला जाना चाहता है’ ॥ १५ ॥

एवमुक्ता तु कैकेयी रुष्टया परुषं वचः ।

कुब्जया पापदर्शिन्त्या विवादधगमत् परम् ॥ १६ ॥

इष्टम भी अनिष्टका दर्शन करानेवाली रीषधरी कुब्जाके इस प्रकार कठोर वचन कहनपर कैकेयीके मनमें बड़ा दुःख हुआ ॥ १६ ॥

कैकेयी त्वन्नवीन् कुब्जां कश्चित् क्षेमं न मन्थरे ।

विषण्णवदनं हि त्वां लक्षये भृशदुःखिताम् ॥ १७ ॥

उस समय कैकेयरामकुमारोंने कुब्जासे पूछा— ‘मन्थरे ! कोई अमङ्गलका बात तो नहीं हो गयी, क्योंकि तब मुखपर विषाद छत्र रहा है और तू मुझे बहुत दुःखी दिखायी देती है’ ॥ १७ ॥

मन्थरा तु वचः श्रुत्वा कैकेय्या मधुराक्षरम् ।

उवाच क्रोधसंयुक्ता वाक्यं वाक्यविशारदा ॥ १८ ॥

सा विषण्णतरा भूत्वा कुब्जा तस्यां हितैषिणी ।

विषादयन्ती प्रोवाच भेदयन्ती च राघवम् ॥ १९ ॥

मन्थरा वाक्चोत करनेमें बड़ी कुशल थी, वह कैकेयीके माते वचन सुनकर और धा खिन्न हो गयी। उसके प्रति अपनी निर्दिष्टा प्रकट करती हुई कुपित हो उठी और कैकेयीके मनमें श्रीरामके प्रति भेदभाव और विषाद उत्पन्न करती हुई इस प्रकार बोली— ॥ १८-१९ ॥

अक्षयं सुमहद् देवि प्रवृत्तं त्वद्विनाशनम् ।

रामं दशरथो राजा यौवराज्येऽभिषेक्ष्यति ॥ २० ॥

‘देवि ! तुझसे सौभाग्यके महान् विनाशका कार्य आरम्भ हो गया है जिसका कोई प्रतीकार नहीं है। कल महाराज दशरथ श्रीरामको युवराजके पदपर अभिषिक्त कर देंगे ।

सास्वयगाधे भये भग्ना दुःखशोकसमन्विता ।

दहमानानलेनेव त्वद्विनाशमिहागता ॥ २१ ॥

‘यह समाचार पाकर मैं दुःख और शोकसे व्याकुल हो अगाध भयके समुद्रमें डूब गयी हूँ, चिन्ताकी आगसे मानो जली जा रही हूँ और तुझसे हितकी बात बतानेके स्थिति यहाँ आयो हूँ’ ॥ २१ ॥

तव दुःखेन कैकेयि मम दुःखं महद् भवेत् ।

त्वद्वृद्धौ मम वृद्धिश्च भवेद्विह न संशयः ॥ २२ ॥

‘कैकेयनन्दिनि ! यदि तुझपर कोई दुःख आया तो उससे

मुझे भी बड़े भारी दुःखमें पड़ना होगा। तुम्हारी उन्नतिमें ही मेरी भी उन्नति है, इसमें संशय नहीं है ॥ २२ ॥

नराधिपकुले जाता महिषी त्वं महीपतेः ।

उमत्वं राजधर्माणां कथं देवि न दृश्यसे ॥ २३ ॥

‘देवि तुम राजाओंके कुलमें उत्पन्न हुई हो और एक महाराजकी महारानी हो फिर भी राजधर्मोंकी उन्नतिमें कैसे नहीं समझ रही हो ? ॥ २३ ॥

धर्मदात्री शक्तो धर्मा श्लाघ्यावादी च दारुणः ।

शुद्धभाषणं जानीष्ये तेनैवमतिमं धिता ॥ २४ ॥

‘तुम्हारे स्त्रीजी धर्मदात्री बाते तो बहुत करते हैं, परंतु मैं बड़े शक्त। मैंने निकली-चुपड़ी बाते करते हैं, परंतु तदर्थके बड़े दूर है। तुम समझती हो कि वे सारी बाते शुद्ध भावसे ही कहती हैं, इसीलिये आज उनके द्वारा तुम सेतारह लगी गयी ॥ २४ ॥

अर्थास्थितः प्रयुक्तानस्त्वयि सान्त्वयनार्थकम् ।

अर्थनैवाह ते भर्ता कौसल्या योजयिष्यति ॥ २५ ॥

‘तुम्हारे पति तुम्हें व्यर्थ सान्त्वना देनेके लिये यहाँ अर्थास्थित होना है वे हा अब राणी कौसल्याको अर्थसे सम्पन्न करने जा रहे हैं ॥ २५ ॥

अपवाह्य तु दुष्टात्मा भरते तथ बन्धुषु ।

काल्ये स्थापयिता रामं राज्ये निहतकण्टके ॥ २६ ॥

‘उनका हृदय इतना दुषित है कि भरतको तो उन्होंने तुम्हारे मायके भेज दिया और कल सबों ही अवसरके निष्कण्टक राज्यपर वे श्रीरामका अभिषेक करेंगे ॥ २६ ॥

शत्रुः पतिप्रवादेन माधेव हितकाप्यया ।

आशीषिष इवाङ्गन बाले परिधृतस्त्वया ॥ २७ ॥

‘बाले ! जैसे माता हितकी कामनासे पुत्रको पोषण करती है, तभी प्रकार ‘पति’ कहलानेवाला शत्रु च्यवित्का तुमने पोषण किया है, वह बाल्यमें शत्रु निकला। जिस कोई आज्ञावश गणेशों अपनी गद्दी छोड़कर तुमका काल्य कर, तभी प्रकार तुमने इन गणेशों यथावत् करनवाला महाराजका अपने अङ्गमें स्थान दिया है ॥ २७ ॥

यश्चा हि कुर्मन्निष्ठुर्वा सर्पा वा प्रमुपक्षितः ।

राज्ञा दहरधेनाद्य सपुत्रा त्वं तथा कृता ॥ २८ ॥

‘उपक्षित शत्रु अथवा सर्प जीता बर्नाव कर सकता है, राजा दहरधेनाद्य सपुत्रा त्वं तथा कृता ॥ २८ ॥

पापनानुत्तमान्धनं बाले नित्यं सुखोचिता ।

रामे स्थापयता राज्ये सानुबन्धा इता ह्यसि ॥ २९ ॥

‘बाले ! तुम सदा सुख भागनेके योग्य हो, परंतु मनमं पाप (दुर्भावना) रखकर ऊपरसे झूठी सान्त्वना देनेवाले

महाराजने अपने राज्यपर श्रीरामको स्थापित करनेका विचार करके आज सगे सम्बन्धियोंमहिल तुमको मानो माँतके मुखमें डाल दिया है ॥ २९ ॥

सा प्राप्तकालं कैकेयि क्षिप्रं कुरु हितं तव ।

प्रायस्व पुत्रमात्मानं मां च विस्मयदर्शने ॥ ३० ॥

‘कैकेयराजकुमारों ! तुम दुःखजनक बात सुनकर भी मेरी ओर इस तरह देख रही हो मानो तुम्हें प्रसन्नता हुई हो और मेरी बातोंमें तुम्हें विस्मय हो रहा हो, परंतु यह विस्मय छोड़ो और जिसे करनेका समय आ गया है अपने उस हितकार कार्यको शीघ्र करो तथा ऐसा करके अपनी, अपने पुत्रों और मेरी भी रक्षा करो ॥ ३० ॥

मन्थराया वचः श्रुत्वा शयनात् सा शुभानना ।

उत्तस्थौ हर्षसम्पूर्णा चन्द्रलेखेव शारदी ॥ ३१ ॥

‘मन्थराकी यह बात सुनकर सुन्दर मुखवाली कैकेयी महत्ता शय्यासे उठ बैठी। उसका हृदय हर्षसे भर गया। वह शरत्पूर्णिमाके चन्द्रमण्डलकी भाँति उदीत हो उठी ॥ ३१ ॥

अतीव सा तु संतुष्टा कैकेयी विस्मयान्विता ।

दिव्यमाभरणं तस्यै कुब्जायै प्रददौ शुभम् ॥ ३२ ॥

‘कैकेयी मन-हो-मन अत्यन्त संतुष्ट हुई। विस्मयविमुक्त हो मुसकरीते हुए उठने कुब्जाको पुरस्कारके रूपमें एक बहुत सुन्दर दिव्य आभूषण प्रदान किया ॥ ३२ ॥

दत्त्वा त्वाभरणं तस्यै कुब्जायै प्रमदोत्तमा ।

कैकेयी मन्थरां हृष्टा पुनरेवाब्रवीदिदम् ॥ ३३ ॥

इदं तु मन्थरे महामाख्यातं परमं प्रियम् ।

एतन्मे प्रियमाख्यातं किं वा भूयः करोमि ते ॥ ३४ ॥

‘कुब्जाको वह आभूषण देकर हर्षसे भरी हुई रमणी-शिरोमणि कैकेयीने पुनः मन्थरासे इस प्रकार कहा— ‘मन्थरे ! यह तूने मुझे बड़ा ही प्रिय समाचार सुनाया। तूने मेरे लिये जो यह प्रिय संवाद सुनाया, इसके लिये मैं तेरा और कौन-सा उपकार करूँ ॥ ३३-३४ ॥

रामे वा भरते चाहं विशेषं नोपलक्षये ।

तस्मात् तुष्टास्मि यद् राजा रामं राज्येऽभिषेक्ष्यति ॥ ३५ ॥

‘मैं भी राम और भरतमें कोई भेद नहीं समझती। अतः यह जानकर कि राजा श्रीरामका अभिषेक करनेवाले हैं, मुझे बड़ी खुशी हुई है ॥ ३५ ॥

न मे परं किंचिदितो वरं पुनः

प्रियं प्रियार्हं सुवचं वचोऽमृतम् ।

तथा ह्यवोधस्त्वमतः प्रियोत्तरं

वरं परं ते प्रददामि तं कृणु ॥ ३६ ॥

‘मन्थरे ! तू मुझसे प्रिय वस्तु पानेके योग्य है। मेरे लिये श्रीरामके अभिषेकसम्बन्धी इस समाचारसे बढ़कर दूसरा

कई प्रिय एवं अमृतके समान मधुर कचन नहीं कहा जा सका। ऐसी परम प्रिय बात तुमने कहा है, अतः अब यह प्रिय सवाद मुनानेके बाद तू कोई श्रेष्ठ वर माँग ले, मैं उसे अवश्य दूँगा ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽथोऽध्याकाण्डे सप्तमः सर्गः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनेर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके अथोऽध्याकाण्डमें सातवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३ ॥

अष्टमः सर्गः

मन्थराका पुनः श्रीरामके राज्याभिषेकको कैकेयीके लिये अनिष्टकारी बताना, कैकेयीका श्रीरामके गुणोंको बताकर उनके अभिषेकका समर्थन करना तत्पश्चात् कुब्जाका पुनः श्रीरामराज्यको भरतके लिये भयजनक बताना कैकेयीको भड़काना

मन्थरा स्वभ्यसूर्य्यनामुत्सृज्याभरणं हि तत् ।
उवाचेह ततो वाक्यं क्षोपदुःखसमन्विता ॥ १ ॥

यह सुनकर मन्थरा ने कैकेयीको निन्दा करके उसके दिव्य वस्त्र, अभूषणको उतार कर फेंक दिया और कोप तथा दुःखसे भरकर वह इस प्रकार बोली— ॥ १ ॥

हर्षं किमर्थमस्थाने कृतवत्यासि बालिशे ।
शाकसागरमध्यस्थं नात्मानमवशुध्यसे ॥ २ ॥

'रानी ! तुम बड़ी नादान हो। महारानी ! तुमने यह प्रसन्नता कैसे हो रही है ? तुम्हें शोकके स्थानपर प्रसन्नता कैसे हो रही है ? अरे ! तुम शाकके समूहमें डूबी हुई हो, जो भी तुम्हें अपनी इस विपत्तावस्थाका बोध नहीं हो रहा है ॥ २ ॥

मनसा प्रसहामि त्वां देवि दुःखार्दिता सती ।
यच्छोचितव्यं हृष्टासि प्राप्य त्वं स्वसने महत् ॥ ३ ॥

देवि ! गहान् संकटमें पड़नेपर जहाँ तुम्हें शोक होना चाहिये, वहाँ हर्ष हो रहा है। तुम्हारी यह अवस्था देखकर मुझे मन-ही-मन बड़ा हेश सहन करना पड़ता है। मैं दुःखमें व्याकुल हुई जाती हूँ ॥ ३ ॥

शोचापि दुर्भतित्वं ते का हि प्राज्ञा प्रहर्षयेन् ।
अरेः सपत्नीपुत्रस्य वृद्धिं मृत्योरिवागताम् ॥ ४ ॥

'मूर्ख ! तुम्हारी दुर्गतिके लिये ही अधिक शोक होगा है। प्रीति ! सौतल्ला भेटा जन्म होता है। वह भीतलों माँके लिये साक्षात् मृत्युके समान है। भला उसका अभ्युदयका अवसर आया देखो और खुशिमती रही अपने मनमें हर्ष मानेगी ॥

भरतार्दत्तं रामस्य राज्यमाधारणाद् भयम् ।
तद् विविच्य विगण्णामपि भयं भीताद्भि जायते ॥ ५ ॥

'यह राज्य भरत और राम दोनोंके लिये साधारण भाग्यवस्तु है। इसपर दोनोंके समान अधिकार है, इसलिये दोनोंको भयानक ही भय है। यही सोचकर मैं विगण्डमें डूबी जाती हूँ, क्योंकि भयभातसे ही भय प्राप्त होता है। अर्थात् ठाण्ड जिसे भय है, वही राज्य प्राप्त कर देनेपर जब संकट हो जायगा, तब अपने भयके हेतुको उखाड़ फेंकेगा ॥ ५ ॥

लक्ष्मणो हि महाबाहू रामे सर्वात्मना गतः ।
शत्रुघ्नश्चापि भरतं काकुत्स्थं लक्ष्मणो यथा ॥ ६ ॥

'महाबाहू लक्ष्मण सम्पूर्ण हृदयसे श्रीरामचन्द्रजीके अनुगत हैं। जैसे लक्ष्मण श्रीरामके अनुगत हैं, उसी तरह शत्रुघ्न भी भरतका अनुसरण करनेवाले हैं ॥ ६ ॥

प्रत्यासन्नक्रमेणापि भरतस्यैव भामिनि ।
राज्यक्रमो विसृष्टस्तु तयोस्तावदधीशसोः ॥ ७ ॥

'भामिनि ! उत्पत्तिके क्रमसे श्रीरामके बाद भरतका ही पहले राज्यपर अधिकार हो सकता है (अतः भरतसे भय होना स्वाभाविक है)। लक्ष्मण और शत्रुघ्न तो छोटे हैं, अतः उनके लिये राज्यप्राप्तिकी सम्भावना दूर है ॥ ७ ॥

विदुषः क्षत्रचारित्र्ये राजस्य प्राप्तकारिणः ।
मयात् प्रवेपे रामस्य चिन्तयन्ती तवात्मजम् ॥ ८ ॥

'श्रीराम समस्त शास्त्रोंके ज्ञाता हैं, विशेषतः क्षत्रिय-चारित्र्य (राजनैति) के पण्डित हैं तथा सम्योचित कर्तव्यका पालन करनेवाले हैं, अतः उनका तुम्हारे पुत्रके प्रति जो कृतापूर्ण बर्ताव होगा, उसे सोचकर मैं भयसे काँप उठती हूँ ॥ ८ ॥

सुभगा किल कीसल्या यस्याः पुत्रोऽभिषेक्ष्यते ।
योवराज्येन महता श्वः पुष्येण द्विजोत्तमैः ॥ ९ ॥

'काम्यवम कीसल्या तो भीभाग्यवती है, जिनके पुत्रका कल पुष्यनक्षत्रके योगमें श्रेष्ठ आर्यणोंद्वारा युवराजके महान् पदपर अभिषेक होने जा रहा है ॥ ९ ॥

प्राप्तां वसुपतीं प्रीतिं प्रतीतां हनविद्विषम् ।
उपस्थास्यसि कीसल्या दासीवत् त्वं कृताञ्जलिः ॥ १० ॥

वे भूमण्डलका निष्कण्टक राज्य पाकर प्रसन्न होंगी, क्योंकि वे राजाकी विश्वासपात्र हैं और तुम दासीकी भाँति हाथ जोड़कर उनके सेवामें उपस्थित होओगी ॥ १० ॥

एवं च त्वं सहास्याभिस्तस्याः प्रेष्या भविष्यसि ।
पुत्रश्च तव रामस्य प्रेष्यत्वं हि गमिष्यसि ॥ ११ ॥

इस प्रकार हमलोगोंके साथ तुम भी कीसल्याकी दासी बनोगी और तुम्हारे पुत्र भरतको भी श्रीरामचन्द्रजीकी गुलामी करनी पड़ेगी ॥ ११ ॥

हृष्टाः खलु भविष्यन्ति रामस्य परमाः स्त्रियः ।

अग्रहृष्टा भविष्यन्ति स्त्रुवास्ते भरतक्षये ॥ १२ ॥

'श्रीरामचन्द्रजीके अन्तःपुत्री परम सुन्दरी स्त्रियाँ— सीतादेवी और उनकी सखियाँ निश्चय ही बहुत प्रसन्न होंगी और भरतके प्रभुत्वका नाश होनेसे तुम्हारी बहुतों शोकमग्न हो जायेंगी' ॥ १२ ॥

तां दृष्ट्वा परमप्रीतां सुवन्तीं मन्थरां ततः ।

रामस्यैव गुणान् देवी कैकेयी प्रशशंस ह ॥ १३ ॥

मन्थराको अत्यन्त अप्रसन्नताके कारण इस प्रकार बहरी बहकी जाने करती देख देवी कैकेयीने श्रुतमकं गुणोंकी ही प्रशंसा करते हुए कहा— ॥ १३ ॥

धर्मज्ञो गुणवान् दान्तः कृतज्ञः सत्यवाञ्छुर्बुध ।

रामो राजसुतो ज्येष्ठो यौवराज्यमनोऽर्हति ॥ १४ ॥

'कुलदे ! श्रीराम धर्मिक ज्ञाता, गुणवान्, जितन्द्रिय, कृतज्ञ, सत्यवादी और पवित्र हृदयक साथ ही महाराजके ज्येष्ठ पुत्र हैं; अतः युवराज होनेके योग्य वे ही हैं ॥ १४ ॥

भ्रातृन् भृत्यांश्च दीर्घायुः पितृवत् पालयिष्यति ।

संतप्यसे कथं कुलजे श्रुत्वा रामाभिषेचनम् ॥ १५ ॥

'वे दीर्घायुकी होकर अपने भाइयों और भृत्यां पालाकी भाँति पालन करेंगे। कुलदे ! उनके अभिषेककी बात सुनकर तू इतनी जल क्यों रही है ? ॥ १५ ॥

भरतश्चापि रामस्य धूर्तं बर्चशान्ताम् धरम् ।

पितृप्रेतामहं राज्यमवाप्स्यति नरवर्धनः ॥ १६ ॥

'श्रीरामकी राज्यप्राप्तिके ली वष बाद नरसेष्ठ भरतको भी निश्चय ही अपने पिता-पितामहोंका राज्य मिलेगा ॥ १६ ॥

सा स्वमभ्युदये प्राप्ते दह्यामानेव मन्थरे ।

भविष्यति न कल्प्याणे किमिदं धर्तव्यसे ॥ १७ ॥

'मन्थरे ! ऐसे अभ्युदयकी प्राप्ति संभव, जब कि भविष्यती कल्याण-हीन न्याय दिवादी द रहा है, तू इस प्रकार जलती हुई-सी सतप्त क्यों हो रही है ? ॥ १७ ॥

यथा वै भरतो मान्यस्तथा भृत्योऽपि राघवः ।

कौसल्यानोऽतिरिक्तं च मम शुश्रूषणे बहू ॥ १८ ॥

'मैं लिये जैसे भरत आदरके पात्र हैं, वैसे ही बलिक हमसे भी बहुत आराध हैं, क्योंकि वे कौसल्याम भी बहुत कर मेरी बहुत सेवा किया करते हैं ॥ १८ ॥

राज्यं यदि हि रामस्य भरतश्चापि सन् तदा ।

धन्यते हि यथाऽऽप्तवान् यथा भ्रातृस्तु राघवः ॥ १९ ॥

'यदि श्रीरामको राज्य मिल रहा है तो उसे भरतको मिला हुआ समझो क्योंकि श्रीरामचन्द्र अपने भाइयोंको भी अपने ही रागान समझते हैं ॥ १९ ॥

कैकेय्या चक्षुर्न श्रुत्वा मन्थरा भृशतुःखिता ।

दीर्घपुण्यो विनिःश्वस्य कैकेयीमिममवर्षात् ॥ २० ॥

'कैकेयीकी यह बात सुनकर मन्थराका बड़ा दुःख हुआ ।

वह लंबी और गरम साँस खींचकर कैकेयीसे बोली —

अनर्थदर्शिनी मौख्याभ्रात्मानमवबुध्यसे ।

शोकव्यसनविस्तीर्णे मज्जन्ती दुःखसागरे ॥ २१ ॥

'रानी ! तुम मूर्खताका अनर्थको ही अर्थ समझ रहे हो। तुम्हें अपनी स्थितिक पता नहीं है। तुम दुःखके उन्मत्तसागरमें डूब रही हो, जो शोक (इष्ट वियोगकी चिन्ता और व्यसन (अनिष्टको प्राप्तिके दुःख) से महान् विस्तारक प्राप्त हो रहा है ॥ २१ ॥

भविता राघवो राजा राघवस्य च यः सुतः ।

राजवंशान्तु भरतः कैकेयि परिहास्यते ॥ २२ ॥

'कैकेयराजकुमारों ! जब श्रीरामचन्द्र राजा हो जायेंगे, तब उनके बाद उनका जो पुत्र होगा, उसको राज्य मिलेगा। धन्य तो राजपरम्परासे अलग हो जायेंगे ॥ २२ ॥

नहि राजः सुताः सर्वे राज्ये तिष्ठन्ति भामिनि ।

स्थाप्यमानेषु सर्वेषु सुमहाननयो भवेत् ॥ २३ ॥

'भामिनि ! राजाके सभी पुत्र राज्याभिषेकपर नही बैठते हैं; यदि सबको बिठा दिया जाय तो बड़ा भार अनर्थ हो जाय ॥ २३ ॥

नस्माज्ज्येष्ठे हि कैकेयि राज्यतन्त्राणि पार्थिवाः ।

स्थापयन्त्यनवच्छाद्भिः गुणवन्तिस्त्रिगुणैः ॥ २४ ॥

'परमसुन्दरी कैकेयनन्दिनि ! इसीलिये राजालोक राजकाजका भार ज्येष्ठ पुत्रपर ही रखते हैं। यदि ज्येष्ठ पुत्र गुणवान् न हो तो दूसरे गुणवान् पुत्रको भी राज्य सौंप देना पड़ेगा ॥ २४ ॥

असावत्यन्तर्निर्भ्रमस्तत्र पुत्रो भविष्यति ।

अनाथवत् सुखेभ्यश्च राजवशाच्च वत्सले ॥ २५ ॥

'पुत्रवत्सले ! तुम्हारा पुत्र राज्यके अधिकारसे तो बहुत दूर हटा हो दिया जायगा वह अनाथकी भाँति ममका सुखोंसे भी वञ्चित हो जायगा ॥ २५ ॥

साहं स्वदर्थं सम्प्राप्ता त्वं तु मां नावबुध्यसे ।

सर्पान्निबद्धी या मे त्वं प्रदेयं दानुमर्हसि ॥ २६ ॥

'इसलिये मैं तुम्हारे ही हितकी बात मुझसेके लिये यहाँ आया हूँ परन्तु तुम मेरा अभिप्राय तो समझती नहीं उलटते मोदका अभ्युदय सुनकर मुझे पारिवर्तिक देने लगी हो ।

ध्रुव तु भरतं रामः प्राप्य राज्यमकण्टकम् ।

देशान्तरं नापयिता लोकान्तरमद्यापि वा ॥ २७ ॥

'यदि रक्षो, यदि श्रीरामको निष्कण्टक राज्य मिल गया तो वे भरतको अवश्य ही इस देशमें बाहर निकाल देंगे अथवा उन्हें परलोकमें भी पहुँचा सकते हैं ॥ २७ ॥

बाल एव तु मातुल्यं भरतो नायितस्त्वया ।

सन्निकर्षाच्च सौहार्दं जायते स्थावरेऽपि वा ॥ २८ ॥

'छोटी अवस्थामें ही तुमने भरतको माताके धर भेज दिया। निष्कट रहनेसे सौहार्द उत्पन्न होता है। यह बात

स्थावर योनियोंमें भी देखी जाती है (लम्बा और वृक्ष आदि एक-दूसरेके निकट होनेपर परस्पर आन्वह्यन-पादमें बढ़ हो जाते हैं। यदि भरत यहाँ होते तो राजाका उनमें भी समानरूपसे बढ़ बढ़ता; अतः वे उन्हें भी आधा राज्य दे दते) ॥ २८ ॥

भरतानुवशात् सोऽपि शत्रुघ्नस्तत्समं गतः ।

लक्ष्मणो हि यथा रामं तथायं भरतं गतः ॥ २९ ॥

‘भरतके अनुरोधसे शत्रुघ्न भी उनके साथ ही चले गये (यदि वे यहाँ होते तो भरतका काम बिगड़ने नहीं पाता। क्योंकि—)

जैसे लक्ष्मण रामके अनुगामी हैं, ठसी प्रकार शत्रुघ्न भरतका अनुसरण करनेवाले हैं ॥ २९ ॥

श्रूयते हि ह्यः कश्चिच्छेतव्यो वनजीवने ।

सैनिकर्षाक्षिषाकाभिर्भोजितः परमाद् भयान् ॥ ३० ॥

‘सुना जाता है, जंगलकी लकड़ी बेचकर जीविका कमानेवाले कुछ लोगोंने किसी वृक्षको काटनेका निश्चय किया, परन्तु वह वृक्ष कंटोली झाड़ियोंसे घिरा हुआ था, इसलिए वे उसे काट नहीं सक। इस प्रकार उन कंटोली झाड़ियोंने निकट रहनेके कारण उस वृक्षको महान् अप्सर वन लिये ॥ ३० ॥

गोप्ता हि रामं सौमित्रिर्लक्ष्मणं चापि राघवः ।

अश्विनोरिव सौभ्रात्र तयोर्लोकेषु विश्रुतम् ॥ ३१ ॥

‘सौमित्राकुमार लक्ष्मण श्रीरामकी रक्षा करते हैं और श्रीराम उनकी। उन दोनोंका उत्तम भ्रातृ प्रेम दोनों अश्विनोक्तुमारोंकी भाँति तीनों लोकामें प्रसिद्ध है ॥ ३१ ॥

तस्मात्त लक्ष्मणे राघः पार्यं किञ्चित् करिष्यति ।

गमस्तु भरते पार्यं कुयदिव न संशयः ॥ ३२ ॥

इसलिये श्रीराम लक्ष्मणका तो किञ्छिन् भी अनिष्ट नहीं करेगा, परन्तु भरतका अनिष्ट किये बिना वे रह नहीं सकते इसमें संशय नहीं है ॥ ३२ ॥

तस्माद् राजगृहादेव यत्र गच्छतु राघवः ।

एतन्नि रोजते भद्रं भृशं चापि हितं तव ॥ ३३ ॥

अतः श्रीरामचन्द्र महाराजका महलमें ही सीधे वनका गन्तव्य है—भृश तो राही अच्छा जान पड़ता है और इसीमें तुम्हारा परम हित है ॥ ३३ ॥

एतं ते ज्ञानिपक्षस्य श्रेयशैव भविष्यति ।

यदि चेद् भरतो धर्मान् पित्र्यं राज्यमवाप्स्यति ॥ ३४ ॥

यदि भरत धर्मोन्मुख अपने पिताका राज्य प्राप्त कर लेंगे ॥ तुम्हारा और तुम्हारे पक्षके अन्य सब लोगोका भी

कल्याण होगा ॥ ३४ ॥

स ते सुखोचितो बालो रामस्य सहजो रिपुः ।

समुद्धार्यस्य नष्टार्थो जीविष्यति कथं वशे ॥ ३५ ॥

‘सौतेल्य भाई होनेके कारण जो श्रीरामका सहज शत्रु है वह मुक्त भोगनेके योग्य तुम्हारा बालक भरत राज्य और धनसे घञ्जित हो राज्य पाकर समृद्धिशाली बने हुए श्रीरामके वशमें रहकर कैसे जीवित रहेगा ॥ ३५ ॥

अभिहतमिस्वारण्ये सिंहेन गजयूथपम् ।

प्रच्छाद्यमानं रामेण भरते भ्रातुमर्हसि ॥ ३६ ॥

‘जैसे वनमें सिंह हार्थियोंके युथपतिपर आक्रमण करता है और वह भागा फिरता है, ठसी प्रकार राजा राम भरतका तिरस्कार करेंगे; अतः उस तिरस्कारसे तुम भरतको रक्षा करो ॥ ३६ ॥

दर्पाग्निशकुना पृथं त्वया सौभाग्यवत्तया ।

रामपाता सपत्नी ते कथं वैरं न चापयेत् ॥ ३७ ॥

‘नुमन पहल पतिव्रत अत्यन्त प्रेम प्राप्त होनेके कारण घनेडमें आकर जिनका अनादर किया था, वे ही तुम्हारी सौत श्रीराममाता कोसलका पुत्रको राज्यप्राप्तिसे परम सौभाग्य-दर्शकनी हो उठी हैं; अब वे तुमसे अपने वैरका बदला क्यों नहीं लेंगी ॥ ३७ ॥

यदा च रामः पृथिवीमवाप्स्यते

प्रभूतरत्नाकरशैलसंयुताम् ।

तदा गमिष्यस्य शुभं पराध्वं

सहैव दीना भरतेन भामिनि ॥ ३८ ॥

‘भामिनि! जब श्रीराम अनेक समुद्रों और पर्वतोंसे युक्त समस्त भूमण्डलका राज्य प्राप्त कर लेंगे, तब तुम अपने पुत्र भरतक साथ ही दीन-हीन होकर अशुभ पराध्वका पात्र बन जाओगी ॥ ३८ ॥

यदा हि रामः पृथिवीमवाप्स्यते

ध्रुवं प्रणष्टो भरतो भविष्यति ।

अतो हि संचिन्तय राज्यमात्पजे

परस्य संवास्य विवासकारणम् ॥ ३९ ॥

‘यदि रखा, जब श्रीराम इस पृथ्वीपर अधिकार प्राप्त कर लेंगे, तब निश्चय ही तुम्हारे पुत्र भरत नष्टप्राय हो जायेंगे। अतः ऐसा कोई उपाय सोचो, जिससे तुम्हारे पुत्रको तो राज्य मिले और शत्रुभूत श्रीरामका वनवास हो जाय ॥ ३९ ॥

इन्द्रार्थे श्रीमद्भगवद्गीता आदिकाव्येऽथोऽध्याकाण्डेऽष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनेर्मित आर्षभगवद्गीता आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें आठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८ ॥

नवमः सर्गः

कुब्जाके कुचक्रसे कैकेयीका कोपभवनमें प्रवेश

एवमुक्ता तु कैकेयी क्रोधेन ज्वलितानना ।

दीर्घमुष्णं विनिःश्वस्य मन्थरामिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

मन्थराके ऐसा कहनेपर कैकेयीका मुख क्रोधसे तमतमा उठा । वह लंबी और गरम सांस खींचकर उससे इस प्रकार बोली— ॥ १ ॥

अद्य रामपितः क्षिप्रं वनं प्रस्थापयाम्यहम् ।

शौचराज्येन भरतं क्षिप्रमद्याभिषेचये ॥ २ ॥

तुम्हारे । मैं श्रीरामको शीघ्र ही यहाँसे वनमें भेजुंगी और शुरुत ही युवराजके पदपर भरतका अभिषेक कराऊँगी ॥ २ ॥

इदं त्वितानीं सम्पश्य केनोपायेन साधये ।

भरतः प्राप्नुयाद् राज्यं न तु रामः कथंचन ॥ ३ ॥

‘परंतु इस समय यह तो साधा कि किस उपायसे अपना अभिप्रेत साधा करें ? भरतको राज्य प्राप्त हो जाय और श्रीराम इसे किसी तरह भी न पा सकें—यह काम कैसे बन ?’ ॥ ३ ॥

एवमुक्ता तु सा देव्या मन्थरा पापदर्शिनी ।

रामार्थमुपहिंसन्ती कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥ ४ ॥

देवी कैकेयीके ऐसा कहनेपर पापका मार्ग दिखानेवाली मन्थरा श्रीरामके स्वार्थपर कुठाराघात करती हुई वहाँ कैकेयीसे इस प्रकार बोली— ॥ ४ ॥

हृत्प्रेतानीं प्रपश्य स्व कैकेयि श्रूयतां वचः ।

यथा मे भरतो राज्यं पुनः प्राप्स्यति केवलम् ॥ ५ ॥

‘कुकर्णमर्दिनि ! अच्छा, अब देखो कि मैं क्या करता हूँ ? तुम मेरी बात सुनो, जिससे केवल तुम्हारे पुत्र भरत ही राज्य प्राप्त करेंगे (श्रीराम नहीं) ॥ ५ ॥

किं न शरसि कैकेयि स्मरन्ती या निगूहसे ।

पशुव्याप्तानगात्माधी मत्तस्त्वं श्रोतुमिच्छसि ॥ ६ ॥

‘कैकेयि ! क्या तुम्हें स्मरण नहीं है ? या स्मरण होनपर भी मुझसे छिप रही हो ? जिसकी तूम मुत्तसे अनक बार चर्चा करती रहती हो अपन उसा प्रशंसनको तूम मुत्तसे सुनना चाहती हो ? इसका क्या कारण है ?’ ॥ ६ ॥

मयोद्यमानं यदि मे श्रोतुं छन्दो विलसिनि ।

भूयतामभिधास्यामि श्रुत्वा चेतद् विद्योयताम् ॥ ७ ॥

‘जिम्हामिनि ! यदि मेरी ही मुँहसे सुनकर तुम्हारे लिये तुम्हारा आग्रह है तो बताओ हूँ, सुनो और मुत्तकर इनको अनुसर करके करो’ ॥ ७ ॥

शुक्लैश्च वस्त्रैश्च तस्या मन्थरायास्तु कैकेयी ।

किंचिदुत्थाय शयनात् स्वास्तीर्णादितमब्रवीत् ॥ ८ ॥

मन्थराका यह नवन सुनकर कैकेयी अच्छे तरहसे खिंचे हुए उस पलंगसे कुछ उठकर उससे भी बोली— ॥ ८ ॥

कथयस्व यथोपायं केनोपायेन मन्थरे ।

भरतः प्राप्नुयाद् राज्यं न तु रामः कथंचन ॥ ९ ॥

मन्थरे ! मुझसे यह उपाय बताओ । किस उपायसे भरतकी नो राज्य मिल जायगा किंतु श्रीराम उसे किसी तरह नहीं पा सकेंगे ॥ ९ ॥

एवमुक्ता तदा देव्या मन्थरा पापदर्शिनी ।

रामार्थमुपहिंसन्ती कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥ १० ॥

देवी कैकेयीके ऐसा कहनेपर पापका मार्ग दिखानेवाली मन्थरा श्रीरामके स्वार्थपर कुठाराघात करती हुई उस समय कैकेयीसे इस प्रकार बोली— ॥ १० ॥

पुरा देवासुरे युद्धे सह राजर्षिभिः पतिः ।

अगच्छन् त्वामुपादाय देवराजस्य साहाय्यकः ॥ ११ ॥

‘देवि ! पूर्वकालकी बात है कि देवासुर-संग्रामके अवसरपर राजर्षियोंके साथ तुम्हारे पतिदेव तुम्हें साथ लेकर देवराजकी सहायता करनेके लिये गये थे ॥ ११ ॥

दिशमास्थाय कैकेयि दक्षिणां दण्डकान् प्रति ।

वैजयन्तमिनि ख्यातं पुरं यत्र निमिध्वजः ॥ १२ ॥

स शम्बर इति स्थानतः शतपायो महासुरः ।

इदी शक्रस्य संग्रामं देवसङ्गरनिर्जितः ॥ १३ ॥

कैकेयराजकुमारों दक्षिण दिशामें दण्डकाण्यके भीमर वैजयन्त नामसे विख्यात एक नगर है जहाँ शम्बर नामसे प्रसिद्ध एक महान् अमर रहता था वह अपनी ध्वजामें निमि (द्वेल पतङ्ग) का चिह्न धारण करता था और मैकड़ों भागाओंका जलधार था । देवताओंके समुद्र भी उसे पराजित नहीं कर पाये थे । एक बार उसने इंद्रके साथ युद्ध छेड़ दिया । १२-१३ ॥

तस्मिन् महति संग्रामे पुरुषान् क्षतविक्षतान् ।

रात्रौ प्रसुप्तान् ध्वनिं स्म तरसापास्य राक्षसाः ॥ १४ ॥

‘उस महान् संग्राममें क्षत-विक्षत हुए पुरुष जब रातमें चक्कर से जाते, उस समय राक्षस उन्हें इनके बिस्तरसे धक्के से जाते और मार डालते थे ॥ १४ ॥

तत्राकरोन्महायुद्धं राजा दशरथस्तदा ।

असुरैश्च महाबाहुः शस्त्रैश्च शकतीकृतः ॥ १५ ॥

उन दिनों महाबाहु राजा दशरथन भी वहाँ असुरोंके साथ बड़ा घाटी युद्ध किया । उस युद्धमें असुरोंने अपने अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा उनको इतोरका जर्जर कर दिया ॥ १५ ॥

अपचाह्य त्वया देवि संग्रामाप्रवृत्तेनः ।

तत्रापि विक्षतः शस्त्रैः पतिस्ते रक्षितस्त्वया ॥ १६ ॥

‘देवि ! जब राजाकी चेतना लुप्त-सी हो गयी, उस समय व्याधिक्रम करती हुई तुमने अपने पतिको रणभूमिसे दूर हटाकर उनकी रक्षा की । जब वहाँ भी राक्षसोंके शस्त्रोंसे वे घायल हो गये, तब तुमने पुनः वहाँसे अन्यत्र ले जाकर उनकी रक्षा की ॥ १६ ॥

तुष्टेन तेन दत्तौ ते द्वौ वरौ शुभदर्शिने ।

स त्वयोक्तः पतिर्देवि यदेच्छेयं तदा वरम् ॥ १७ ॥

गृहीयां तु तदा भर्तस्तथेत्युक्तं महात्मना ।

अनभिजा ह्यहं देवि त्वर्षेण कथितं पुरा ॥ १८ ॥

‘शुभदशने ! इससे संतुष्ट होकर महाराजने तुम्हें दो वरदान देनेको कहा—देवि ! उस समय तुमने अपने पतिस कहा—‘आणनाथ ! जब मेरी इच्छा होगी, तब मैं इन वरोंको माँग लूँगी । उस समय उन महारानी ने मन्थानु कहकर तुम्हारी बात मान ली थी । देवि ! मैं इस कथाको नहीं जानता थी । पूर्वकालमें तुम्होंने मुझसे यह वृत्तान्त कहा था ॥ १८ ॥

कथंवा तव तु स्नेहाभ्यनसा धार्षति मया ।

गयाभिषेकसम्भारान्निगृह्य विनिवर्तय ॥ १९ ॥

‘तबसे तुम्हारे स्नेहवश मैं इस बातको मन-हो-मन सदा याद रखती आयी हूँ । तुम इन वरोंके प्रभावसे स्वामीका वराने करके श्रीरामके अभिषेकके आयोजनको पलट दो ।

मी च यावत्तु भर्तारं भरतस्याभिषेचनम् ।

प्रजाजने च रामस्य वर्षाणि च चतुर्दश ॥ २० ॥

‘तुम इन दोनों वरोंको अपने स्वामीसे माँगो । एक वरके द्वारा भरतका राज्यअभिषेक और दूसरेके द्वारा श्रीरामका चौदह वरगतकक शतकम माँग लो ॥ २० ॥

चतुर्दश हि वर्षाणि रामे प्रजाजिते वनम् ।

प्रजाभाषगतस्त्रेहः स्थिरः पुत्रो भविष्यति ॥ २१ ॥

‘जब श्रीराम चौदह वर्षक लिये वनमें चले जायेंगे । तब वनमें रागवर्षमें तुम्हारे पुत्र भरत समस्त प्रजाके हृदयमें अपने लिये स्नेह पैदा कर लेंगे और इस राज्यपर स्थिर हो जायेंगे ।

क्रोधागारं प्रविश्याद्य कृद्धेवावपतेः सुते ।

शेषानन्तर्हितायां त्वं भूमौ मलिनवापिनी ॥ २२ ॥

‘अश्वर्षातकुमारी ! तुम इस समय मैले कल पहन लो और ओपपवनमें प्रवेश करके कुपत-सी हाकर बिना बिन्दुके जो घूमिपर लेट जाओ ॥ २२ ॥

या स्पेनं प्रत्युदीक्षेथा या चैनमभिभाषथाः ।

रुन्ती पार्थिवं दृष्ट्वा जगत्या शोकलालसा ॥ २३ ॥

‘राजा आये तो उनकी ओर आँखें ठसाकर न देखो और मैं उनके मोह जात हो करों । महाराजको देखते ही रोनी हुई गोकमला ही भरतपर स्नेहने लगे ॥ २३ ॥

दयिता त्वं सदा भर्तुश्च मे नास्ति संशयः ।

त्वत्कृते च महाराजो विशेदपि हताशनम् ॥ २४ ॥

‘इसमें तनिक भी संशय नहीं कि तुम अपने पतिको सदा ही नड़ी प्यारी रही हो । तुम्हारे लिये महाराज आगमें भी प्रवेश कर सकते हैं ॥ २४ ॥

न त्वां क्रोशयितुं शक्नो न कुजां प्रत्युदीक्षितुम् ।

तव प्रियार्थं राजा तु प्राणानपि परित्यजेत् ॥ २५ ॥

‘जो न तो तुम्हें दुःखित कर सकते हैं और न कुपित अवस्थामें तुम्हें दण्ड हो सकते हैं । राजा दशरथ तुम्हारा प्रिय करनेके लिये अपने प्राणोंका भी त्याग कर सकते हैं ॥ २५ ॥

न ह्यतिक्रामितुं शक्नस्तव वाक्यं महोपतिः ।

मन्दस्वभावे बुध्यस्व सौभाग्ययलभात्मनः ॥ २६ ॥

‘महाराज तुम्हारे बात किसी तरह टाल नहीं सकते । मुझे ! तुम अपने सौभाग्यके बलका स्मरण करो ॥ २६ ॥

पणिमुक्तोसुवर्णानि रत्नानि विविधानि च ।

दद्याद् दशरथो राजा मा स्म तेषु मनः कृथाः ॥ २७ ॥

‘राजा दशरथ तुम्हें मुक्तकम डालनेके लिये मणि, मोती, सुवर्ण तथा भूति भूतिक रत्न देनेको चेष्टा करो, किन्तु तुम उनकी ओर मन न बलाना ॥ २७ ॥

यी ती देवासुरे युद्धे वरौ दशरथो ददौ ।

तौ स्मरय मत्तभागे सोऽर्थो न त्वा क्रमेदति ॥ २८ ॥

‘महाभाग ! देवासुर-संग्रामके अवसरपर राजा दशरथने ये जो दो वर दिये थे उनका उन्हें स्मरण दिलाया । वरदानके रूपमें माँगा गया वह तुम्हारा अभीष्ट मनोरथ सिद्ध हुए बिना नहीं रह सकता ॥ २८ ॥

यदा तु ते वरं दद्यात् स्वयमुत्थाप्य राघवः ।

व्यवस्थाप्य महाराजं त्वयिमं वृणुया करम् ॥ २९ ॥

‘रघुकुलनन्दन राजा दशरथ जब स्वयं तुम्हें भरतसे उठाकर वर देनेको उद्यत हो जायें, तब उन महाराजको मत्स्यकी शपथ दिलाकर खूब पक्का करके उनसे वर माँगना ॥ २९ ॥

रामप्रजजनं हरे नव वर्षाणि पञ्च च ।

भरतः कियन्तां राजा दृष्टिर्ध्या पार्थिववर्ष ॥ ३० ॥

‘वर माँगते समय कहना कि नृपश्रेष्ठ ! आप श्रीरामको चौदह वर्षक लिये बहुत दूर वनमें भेज दीजिये और भरतको भूमण्डलका राजा बनाइये ॥ ३० ॥

चतुर्दश हि वर्षाणि रामे प्रजाजिते वनम् ।

रुहश्च कनमूलश्च शेषं स्थास्यति ते सुतः ॥ ३१ ॥

‘श्रीरामके चौदह वर्षक लिये वनमें चले जानेपर तुम्हारे पुत्र भरतका राज्य सन्तुष्ट हो जायगा और प्रजा आदिको वरामें कर लेनेमें पक्षी उनकी जड़ जम जायगा । फिर चौदह वर्षक बाद भी वे अजोवन स्थिर बने रहेंगे ॥ ३१ ॥

रामप्रजजनं छेद देवि याचस्व मे वरम् ।

एवं सेत्स्यन्ति पुत्रस्य सर्वार्थास्तव कामिनि ॥ ३२ ॥

‘देवि ! तुम राजासे श्रीरामके वनवासका वर अवश्य माँगो । पुत्रके लिये राज्यकी कामना करनेवाली कैकयि ! ऐसा करनेसे तुम्हारे पुत्रके सभी मनोरथ सिद्ध हो जायेंगे ॥ ३२ ॥

एवं प्रजाजितश्चैव रामोऽसौ भविष्यति ।

भरतश्च गताधिप्रस्तव राजा भविष्यति ॥ ३३ ॥

‘इस प्रकार वनवास मिल जानपर ये राम राम नहीं रह जायेंगे (इनका आज जो प्रभाव है वह भविष्यमें नहीं रह सकेगा) और तुम्हारे भरत भी शत्रुहीन राजा होंगे ॥ ३३ ॥

येन कालेन रामश्च वनात् प्रत्यागमिष्यति ।

अन्तर्द्विहश्च पुत्रस्ते कनमूलो भविष्यति ॥ ३४ ॥

जिस समय श्रीराम वनसे लौटेंगे, उस समयतक तुम्हारे पुत्र भरत भानर और बाहरसे भी दृढमूल हो आयेंगे ॥ ३४ ॥

संगृहीतमनुष्यश्च सुहृद्भिः साकमात्यवान् ।

प्राप्तकालं नु मन्येऽहं राजानं कीर्तसाध्वसा ॥ ३५ ॥

राधाभिषेकसंकल्पात्रिगुह्यं विनिवर्तय ।

उनके पास सैनिक-बलका भी संग्रह हो जायगा-जितो-जय तो वे हैं हा, अपने मुहर्दके साथ रहकर दृढमूल हो जायेंगे। इस समय मेरी मान्यताके अनुसार राजाके श्रीरामके राज्याभिषेकके संकल्पमें हटा देनेका समय आ गया है, अतः तुरा निर्णय होकर राजाको अपने चक्षुओंने बांध

रखे और उन्हें श्रीरामके आभांकल संकल्पमें हटा दो ॥

अनर्थमर्थरूपेण ग्राहिता सा ततस्तथा ॥ ३६ ॥

हृष्टा प्रतीता कैकेयी मन्थरामिदमवसीत् ।

सा हि वाक्येन कृञ्जाया, किशोरीचोत्पद्य गता ॥ ३७ ॥

कैकेयी धिक्मयं प्राप्य परं परमदर्शना ।

ऐसी बातें कहकर मन्थराने कैकेयीको बुद्धिमें अनर्थको

अर्थरूपमें लेना दिया। कैकेयीको उसको बातपर विश्वास हो गया और वह मन ही मन बहुत प्रसन्न हुई। यद्यपि वह बहुत समझदार थी, तो भी कुत्साके कहनेसे तन्दन

शक्तिकाकी तरह कुम्हारपर चली गयी—अनुचित काम करनेकी रीति हो गयी। इसे मन्थराका बौद्धपर बड़ा आश्चर्य हुआ और वह उससे इस प्रकार बोली— ॥ ३६-३७ ॥

प्रज्ञा ते नावजानामि श्रेष्ठे श्रेष्ठार्थिप्रापिनि ॥ ३८ ॥

पुष्पव्याससि कुब्जानामुत्तमा बुद्धिनिष्ठये ।

त्वमेव नु ममार्थेषु नित्ययुक्ता हिनैषिणी ॥ ३९ ॥

जितकी बात सतायी कुम्हार कुम्हरे। तू एक श्रेष्ठ

महारी है। मैं तेरी बुद्धिकी अवलोकन नहीं करूँगी। बुद्धिके द्वारा किसी कार्यका निश्चय करनेमें तू इस पृथ्वीपर सभा

कुम्हारोंमें उत्तम है। केवल तू ही मेरी हिनैषिणी है और सदा मानमान रहकर मेरा कार्य मिट्ट करनमें लगती रहती

हूँ ॥ ३८-३९ ॥

नाहं समतपःपुत्रेयं कुब्जे राजाश्वकीर्षितम् ।

शक्तिं नु सस्थिता कुब्जाः वक्राः परमपापिकाः ॥ ४० ॥

कुम्हरे! यदि तू न होतो तो राजा जो घट्टयन्त्र रचना

करते हैं, वह क्यापि मेरी समझमें नहीं आता। तेरे विद्या

जितगी कुम्हारों हैं वे केवल कार्यवाही, देखी मेरी और यही पापिनो होते हैं ॥ ४० ॥

स्वं पशामिव वानेन संनता प्रियदर्शना ।

वरस्तेऽभिनिविष्टे वै यावत् स्वस्थात् समुन्नतम् ॥ ४१ ॥

तू तो वानके द्वारा झुकायी हुई कन्धकोका भाँते कुछ

अधस्तादांदरं शान्तं सुनाधमिव लज्जितम् ।

प्रतिपूर्णं च जघनं सुपीनौ च मयोधरौ ॥ ४२ ॥

वक्र-स्थलसे नीचे सुन्दर नाभिसे युक्त जो उदर है, वह

मानों वक्र-स्थलको ऊँचाई देखकर लज्जित-सा हो गया है, इमालिय शान्त—कदा प्रनांत होता है तब जघन विस्तृत है और दोनों स्तन सुन्दर एवं स्थूल हैं ॥ ४२ ॥

विपलेन्दुसमं वक्रमहो राजसि मन्थरे ।

जघनं तव निर्मृष्टं रशनादापभूषितम् ॥ ४३ ॥

मन्थरे! तेरा मुख निर्मल चन्द्रमाके समान अद्भुत

शोभा पा रहा है। करघनाकी लकड़ियोंसे विभूषित तेरी कटिका

अप्रभाग बहुत ही स्वच्छ—रंगदिसे रहित है ॥ ४३ ॥

जङ्घे भृशमुपन्यस्ते पादौ च व्यायतावुभौ ।

त्वपायताभ्यां सविश्रम्यां मन्थरे क्षीमवामिनी ॥ ४४ ॥

अग्रतो भयं गच्छन्ती राजसेऽतीव शोभने ।

मन्थरे! तेरी पिण्डाल्याँ परम्पर अधिक झटी हुई हैं और दोनों पैर बड़े-बड़े हैं। तू विशाल ऊँटों (जोंबों) से

सुशोभित होती है। शोभने! जब तू रेशमी साड़ी पहनकर मेरे आगे आगे चलती है, तब तेरी बड़ी शोभा होती है।

आसन् याः शम्भरे मायाः सहस्रमसुराधिपे ॥ ४५ ॥

हृदये ते निविष्टास्ता भूयश्चान्याः सहस्रशः ।

तदव स्थगु यद् दीर्घं रथघोणमिवायनम् ॥ ४६ ॥

मतयः क्षत्रविद्याश्च मायाश्चान् वसन्ति ते ।

असुरराज शम्भरके जिन सहस्रों मायाओंका ज्ञान है, वे सब तेरे हृदयमें स्थित हैं; इनके अलावे भी तू हजारों

प्रकारकी मायाएँ जानती है। इन मायाओंका समुदाय ही तेरा यह बड़ा-सा कुम्हड़ है जो रथके चक्र (अग्रभाग) के

समान बड़ा है। इसीसे तेरी मति स्थिति और बुद्धि, क्षत्रविद्या (राजनीति) तथा नाना प्रकारकी मायाएँ निवास करती हैं ॥

अत्र तेऽहं प्रयोक्ष्यामि मालां कुब्जे हिग्नययोम् ॥ ४७ ॥

अभिषिक्ते च धरमे राघवे च वने गते ।

जात्येन च सुवर्णेन सुनिष्ठमेन सुन्दरि ॥ ४८ ॥

लब्धार्था च प्रतीता च लेपयिष्यामि ते स्थगु ।

सुन्दरी कुम्हरे! यदि भरतका राज्याभिषेक हुआ और

श्रीराम वनको चले गये तो मैं सफलत्वमें एक समुष्ट होकर अच्छी जातिके खूब तपावे हुए मोनेको वनो हुई सुन्दर

स्वर्णमाला तेरे इस कुम्हड़को पहनाऊँगी और इसपर चन्दमकर लेप लगाऊँगी ॥ ४७-४८ ॥

मुखे च तिलकं चित्रं जातरूपयचे शुभम् ॥ ४९ ॥

कारयिष्यामि ते कुब्जे शुभान्याधरणानि च ।

परिधाय शुभे वस्त्रे देवतैश्च चरिष्यामि ॥ ५० ॥

कुम्हरे! तेरे मुख (लकड़) पर सुन्दर और विचित्र

मोनेका टीका लगावा दूँगी और तू बहुत से सुन्दर अभूषण

एवं दो उत्तम वस्त्र (लहंगा और दुपट्टा) धारण करने

दवाहनाके समान विचरण करती ॥ ४९-५० ॥

चन्द्रमाह्वयमानेन मुखेनाप्रतिमानना ।

गमिष्यसि गतिं मुख्यां गर्वयन्ती द्विषज्जने ॥ ५१ ॥

‘चन्द्रमासे होइ लगानेवाले अपने मनोहर मुखद्वारा तु
गयी सुन्दर लगगी कि तेरे मुखको कहीं समता नहीं रह
जायगी तथा शत्रुओंके घनेमें अपने सौभाग्यपर गर्व प्रकट
करती हुई तू सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त कर लगी ॥ ५१ ॥

नक्षपि कुब्जाः कुब्जायाः सर्वाभरणभूषिताः ।

धातौ परिवरिष्यन्ति यद्येव स्वं सदा मम ॥ ५२ ॥

‘जैसे तू सदा मेरे चरणोंकी सेवा किया करती है, वसी
प्रकार समस्त आभूषणोंमें विभूषित बहुत मो कुब्जायी नुझ
कुब्जाकी भी चरणोंकी सदा परिचर्या किया करगो ॥ ५२ ॥

इति प्रशस्यमाना सा कैकेयीपिदमव्रवीत् ।

शयानो शयने शुभ्रे वेद्यामभिज्ञिरामिव ॥ ५३ ॥

जब इस प्रकार कुब्जाकी प्रशंसा की गयी, तब उसने
शरीर पर प्रज्वलित अग्नि दिखाकर समान शुभ्र शय्यापर शयन
करनेवाली कैकेयीसे इस प्रकार कहा— ॥ ५३ ॥

गतोदके सेतुबन्धो न कल्याणि विश्रायते ।

उत्तिष्ठ कुरु कल्याणं राजानमनुदर्शय ॥ ५४ ॥

‘कल्याणि ! नदीका पानी निकल जानेपर उसके लिये
बाँध नहीं बाँधा जाता, (यदि रामका अभिषेक हो गया तो
तुम्हारा घर माँगल व्यर्थ होगा, अब आनन्द समय न
बिताओ) चल्दी उठो और अपना कल्याण करो। कोप
भवयमें जाकर राजाको अपनी अवस्थान्तर परिचय दो ॥

तथा प्रोत्साहिता वृषी गत्वा मन्धरया सह ।

क्रोधागारं विशालाक्षी सौभाग्यमदगर्विता ॥ ५५ ॥

अनेकशतसाहस्रं मुक्ताहारं वराङ्गना ।

अवपुष्य वराहार्णि शुभान्याभरणानि च ॥ ५६ ॥

मन्धराके इस प्रकार प्रोत्साहन देनेपर सौभाग्यकी मदमें
गर्व करनेवाली विशालाक्षीकोनना सुन्दरी कैकेयी नुझो उसके
साथ ही कोपभावमें जाकर रामकी लगनकर संनियोक
हार तथा दूसरे-दुसरे सुन्दर बहुमूल्य आभूषणोंको अपने
शरीरमें उतार उतारकर फैकने लगी ॥ ५५-५६ ॥

नक्ष जेमोषमा तत्र कुब्जावाक्यवशंगता ।

सविष्य भूमौ कैकेयी मन्धरापिदमव्रवीत् ॥ ५७ ॥

सोंके समान सुन्दर कामिवाली कैकेयी कुब्जाकी
आलोके वशीभूत हो गयी थी, अतः वह भरतीपर लटककर
मन्धरासे इस प्रकार बोली— ॥ ५७ ॥

इह वा मां भूतां कुब्जे नृपायावेदयिष्यसि ।

वनं तु रायमे प्राप्ते भरतः प्राप्यते क्षितिम् ॥ ५८ ॥

सुप्रणोम न मे त्वर्थो न त्वेनं च भोजनैः ।

एत मे जीवितस्मान्नो रामो यदाभिधिच्यते ॥ ५९ ॥

‘कुब्जे ! मुझे न तो सुवर्णसे, न रत्नोंसे और न

भक्ति-भक्तिके भोजनोंसे ही काँड़ प्रयोजन है, यदि श्रीरामका
राज्याभिषेक हुआ तो यह मेरे जीवनका अन्त होगा। अब या
तो श्रीरामके वनमें चले जानेपर भरतका इस धूलतलका राज्य
प्राप्त होगा अथवा तू यहाँ महाराजकी मेरी मृत्युका समाचार
सुनायगो ॥ ५८-५९ ॥

अथो पुनस्तां महिषीं महोक्षितो

वज्रोभिरत्यर्थमहापराक्रमैः ।

उवाच कुब्जा भरतस्य भातरं

हितं वज्रो राममुपेत्य चाहितम् ॥ ६० ॥

नदनन्तर कुब्जा महाराज दशरथकी रानी और भरतकी
माता कैकेयीसे अत्यन्त क्रूर वचनोंद्वारा पुन ऐसी बात कहने
लगी, जो शौचिक दृष्टिसे भरतके लिये हितकर और
श्रीरामके लिये अहितकर थी— ॥ ६० ॥

प्रपत्न्यते राज्यमिदं हि राघवो

यदि भुवं स्वं ससुता च तप्यसे ।

ततो हि कल्याणि यतस्व तत् तथा

यथा सुतस्ते भरतोऽधिषेक्ष्यते ॥ ६१ ॥

‘कल्याणि ! यदि श्रीराम इस राज्यको प्राप्त कर लगे तो
निश्चय ही अपने पुत्र भरतसहित तुम भारी संतापमें पड़
जाओगी अतः ऐसा प्रयत्न करो, जिससे तुम्हारे पुत्र भरतका
राज्याभिषेक हो जाय ॥ ६१ ॥

तथातिविद्धा महिषीति कुब्जया

समाहता वागिषुभिर्मुहुर्मुहुः ।

विधाय हस्तौ हृदयेऽतिविस्मिता

शशस कुब्जां कृपिता पुनः पुनः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार कुब्जाने अपने वचनरूपी बाणाका बारबार
प्रहार करके जब रानी कैकेयीको अत्यन्त घायल कर दिया
तब वह अत्यन्त विस्मित और कुपित हो अपने हस्तधर हो गी
हथ रखकर कुब्जासे बारबार इस प्रकार कहने लगी— ॥

यमस्य वा मां विषयं गतापितो

निशम्य कुब्जे प्रतिवेदयिष्यसि ।

वनं गते वा सुखिराय राघवे

सम्पूङ्कामो भरतो भविष्यति ॥ ६३ ॥

‘कुब्जे ! अब या तो रामचन्द्रके अधिक कालके लिये
वनमें चले जानेपर भरतका मनोरथ सफल होगा या तू मुझे
बर्हस यमनेकम नरकी गयी सुनकर महाराजसे यह समाचार
निवेदन करगो ॥ ६३ ॥

अहं हि नैवाम्मरणानि न स्वजो

न चन्दनं नञ्जनपानभोजनम् ।

न किञ्चिद्विद्यामि न चेह जीवने

न चेदितो गच्छति राघवो वनम् ॥ ६४ ॥

‘यदि राम यहाँसे वनकी नहीं गये तो मैं न तो
भक्ति-भक्तिके विचारोंसे, न फूलोंके हार, न चन्दन, न अञ्जन,

न पान, न भोजन और न दूसरी ही कोई वस्तु लेना चाहेगी। उस दशामें तो मैं यहाँ इस जीवनको भी नहीं रखना चाहूँगी ॥ ६४ ॥

अथैवमुक्त्वा वचनं सुदारुणं
निधाय सर्वाधरणानि भामिनी ।

असंस्कृतामातरणेन धेदिनीं
तदाधिशिष्ये पतितेव किनरी ॥ ६५ ॥

ऐसे अत्यन्त कोप वचन कहकर कैकेयीने सारे आभूषण तनार दिये और जिन्ना विस्तारके हो पार बताला जमाना र लट गयी। तब तबसे वह स्वर्गमें भूतलमें गिरी हुई किसी

इन्धार्थे श्रीमद्भारवटी कालपीकीये आदिकाव्येऽथोऽध्याकाण्डे नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीभारवटीकीनिर्मित आरामायण आदिकाव्यके अथोऽध्याकाण्डमें नवौं सर्ग पूरा हुआ ॥ ९ ॥

दशमः सर्गः

राजा दशरथका कैकेयीके भवनमें जाना, उसे कोपभवनमें स्थित देखकर दुःखी होना और उसको अनेक प्रकारसे सान्त्वना देना

विदर्शिता यदा देवी कञ्जया पापया भृशम् ।
तदा शैते स्म सा भूमौ दिग्धविद्धेव किनरी ॥ १ ॥

पापिनी कुञ्जाने जब देवी कैकेयीको बहुत बल्लही जाने सम्पत्ता ही, तब वह विपन्न वारसे बिछर गई किन्नरीके समान छत्रीपर झोपने लगी ॥ १ ॥

निश्चित्य मनसा कृत्यं सा सम्यगिति भामिनी ।
मन्थरारी शनैः सर्वमाचक्षे विप्रक्षणा ॥ २ ॥

मन्थराके बनाय हुए समस्त कामका वह बहुत उत्सह है। ऐसा गा ही गी निश्चय हरके जानचौतमें खुशाल भामिनी कैकेयीने मन्थरासे धीरे-धीरे अपना सारा मन व्यक्त करा दिया ॥ २ ॥

सा दीना निश्चयं कृत्वा मन्थरावाक्यमोहिता ।
जागकन्येव निश्चय दीर्घमुष्णं च भामिनी ॥ ३ ॥

मुहूर्तं चिन्तयायाम मार्गमात्मसुखायहम् ।
मन्थराक वचनमे मोहित एवं हो गई भामिनी कैकेयी

पूनीत निश्चय करके जागकन्याकी भाँति गरम और लंबा रात सोचने लगी और नो पड़ोतक अपने लिये सुखदायक मार्गक विचार करती रही ॥ ३ ॥

सा सुहृत्कार्यकाया च तं निशम्य विनिश्चयम् ॥ ४ ॥
बभूव परमप्रीता सिद्धिं प्राप्येव मन्थरा ।

और तब मन्थरा जो कैकेयिका हित चाहन्वाली मुहूर्त थी और उसीके मनेरथको सिद्ध करनकी अभिलाषा रखती थी, कैकेयीने उस निश्चयका सुनकर बहुत प्रसन्न हुई माना उसे कोई बहुत बड़ी सिद्धि मिल गयी हो ॥ ४ ॥

अथ सा कपिता देवी सम्यक्कृत्वा विनिश्चयम् । ५ ॥
सन्निवेशावला भूमौ निवेश्य भृङ्गाटि पृष्ठम् ।

किन्नरीके समान जान पड़ती थी ॥ ६५ ॥

उदीर्णसंरम्पतमोवृत्तानना

तदावमुक्तांसममभ्यभूषणा

नरेन्द्रपत्नी विमना बभूव सा

तमोवृता घौरिव मग्ननारका ॥ ६६ ॥

उसका मुख बड़े हुए अपर्यरूपी अन्धकारसे आच्छादित

हो रहा था। उसके अङ्गमें उत्पन्न पुष्पहार और आभूषण उतर

चुके थे। उस दशामें उदास मनवाली राजरानी कैकेयी

जिसके भार डूब गये हो, उस अन्धकारच्छन्न आकाशके

समान प्रतीत होती थी ॥ ६६ ॥

इत्यादि श्रीभारवटी कालपीकीये आदिकाव्येऽथोऽध्याकाण्डे नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीभारवटीकीनिर्मित आरामायण आदिकाव्यके अथोऽध्याकाण्डमें नवौं सर्ग पूरा हुआ ॥ ९ ॥

—★—

दशमः सर्गः

राजा दशरथका कैकेयीके भवनमें जाना, उसे कोपभवनमें स्थित देखकर दुःखी

होना और उसको अनेक प्रकारसे सान्त्वना देना

मदनन्तर रायमें धरी हुई देवी कैकेयी अपने कर्तव्यका धर्तीभाँति निश्चय कर मुखमण्डलमें स्थित भौंहोंको टेढ़ी करके धरतीपर सो गयी। और क्या करती अवस्था ही तो थी ॥ ६५ ॥

तत्क्षित्राणि धात्यानि दिव्यान्याधरणानि च ॥ ६ ॥
अपविद्धानि कैकेय्या तानि भूमिं प्रपेदिरे ।

तदनन्तर उस कैकेयराजकुमारीने अपने विचित्र पुष्पहारों और दिव्य आभूषणोंको उतारकर फेंक दिया। वे सारे आभूषण धरतीपर यत्र-तत्र पड़े थे ॥ ६ ॥

तथा तान्यपविद्धानि धात्यान्याधरणानि च ॥ ७ ॥
अशोधयन्त वमुषां नक्षत्राणि यथा नभः ।

वैसे छिटक हुए तारे आकाशकी शोभा बढाते हैं, उसी प्रकार फेंके हुए वे पुष्पहार और आभूषण वहाँ भूमिकी शोभा बढा रहे थे ॥ ७ ॥

क्रोधागारे च पलिता सा बभौ पलिनाम्बरा ॥ ८ ॥
एकवेणीं दृढां बद्ध्वा गतसत्त्वेव किनरी ।

पलिन वस्त्र पहनकर और सारे केशोंको दृढतापूर्वक एक ही वेणीमें बाँधकर कोपभवनमें पड़ी हुई कैकेयी बल्लहीन अथवा अचेत हुई किन्नरीके समान जान पड़ती थी ॥ ८ ॥

आज्ञाप्य तु महाराजो राघवस्याभिषेचनम् ॥ ९ ॥
अपस्थानमनुज्ञाप्य अविवेश निवेशनम् ।

तब महाराज दशरथ मन्त्री आदिकों श्रीरामके राज्याभिषेकको तैयारीके लिये आज्ञा दे सकको यथासमय उपस्थित होनेके लिये कहकर रनिवासमें गये ॥ ९ ॥

अथ रामाभिषेको वै प्रसिद्ध इति जज्ञिवान् ॥ १० ॥
प्रियाङ्गो प्रियमाख्यातुं विवेशान्तःपुरं वशी ।

उन्होंने सोचा—आज ही श्रीरामके अभिषेककी बात

अथ रामाभिषेको वै प्रसिद्ध इति जज्ञिवान् ॥ १० ॥

प्रियाङ्गो प्रियमाख्यातुं विवेशान्तःपुरं वशी ।

प्रसिद्ध की गयी है, इसलिये यह समाचार अभी किसी रानीको नहीं मालूम हुआ होगा; ऐसी विचारकर जितेन्द्रिय राजा दशरथने अपनी प्यारी रानीको यह प्रिय संवाद सुनानेके लिये अन्तःपुरमें प्रवेश किया ॥ १० ॥

स कैकेय्या गृहं श्रेष्ठं प्रविवेश महायशः ॥ ११ ॥
पाण्डुराभ्रमिवाकाशं राहुयुक्तं निशाकरः ।

उन महायशस्वी नरेजाने पहले कैकेयीके श्रेष्ठ भवनमें प्रवेश किया, मानो श्वेत वटलोंमें युक्त राहुयुक्त आकाशमें चन्द्रमाने पदार्पण किया हो ॥ ११ ॥

शुक्लवर्णसमायुक्तं क्रौञ्चहस्तनायुतम् ॥ १२ ॥
वादिप्रखसंघुष्टं कुब्जावाभनिकायुतम् ।

लतागृहैश्चित्रगृहैश्चमृकाशोकशोभितं ॥ १३ ॥

उस भवनमें सोने, मोर, क्रौञ्च और हंस आदि पक्षी कलरव कर रहे थे, वहाँ काष्ठोंका मधुर घोंघ गूँज रहा था, बहुत-सी कुब्जा और बौनी दासियाँ घरी हुई थीं चम्पा और अशोकसे सुशोभित बहुत-से लताभवन और चित्रमन्दिर उस महलकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ १२-१३ ॥

दान्तराजतसौवर्णैः सौवर्णवेदिकाभिः समायुतम् ।
नित्यपुष्पफलैर्गन्धैर्वापीधिरुपशोभितम् ॥ १४ ॥

हाथोंदाँत चाँदी और सोनेकी वस्त्र हुई ध्वजियोंसे सयुक्त तम भवनको नित्य फूलने-फलनेवाले वृक्ष और बहुत-सी आबद्धियाँ सुशोभित कर रही थीं ॥ १४ ॥

दान्तराजतसौवर्णैः संवृतं परमासनैः ।
विविधैरन्नपानैश्च भक्ष्यैश्च विविधैरपि ॥ १५ ॥
उपपन्नं महाहैश्च भूषणैस्त्रिदिव्योपमम् ।

उसमें हाथोंदाँत, चाँदी और सोनेके बने हुए उत्तम गीहारासन रखे गये थे। नाना प्रकारके अन्न, पान और भाँति-भाँतिके भक्ष्य-भोग्य पदार्थोंसे वह भवन भरा-पूरा था। अद्भुत रूप आभूषणोंसे सम्यक् कैकेयीका वह भवन वहाँके समान शोभा पा रहा था ॥ १५ ॥

स प्रविश्य महाराजः स्वमन्तःपुरमुद्दिमत् ॥ १६ ॥
न ददर्श तत्र राजा कैकेयीं शयनोत्तमे ।

अपने उस समुद्रजाली अन्तःपुरमें प्रवेश करके महायज्ञ राजा दशरथने पहिली इनमें शय्यापर रानी कैकेयीको नहीं देखा ॥ १६ ॥

स क्रामवलयसंयुक्तो रत्नार्थी मनुजाधिपः ॥ १७ ॥
अपश्यन् दयितो भार्यां पप्रच्छ विवसाद च ।

कामवलयसे संयुक्त वे नरेश रानीकी प्रसन्नता बहानेकी अभिलाषामें भीतर गये थे। वहाँ अपनी प्यारी पत्नीको न देखकर उनके मनमें बड़ा विषाद हुआ और वे उनके विषयमें पूछ-छाछ करने लगे ॥ १७ ॥

नहि तस्य पुरा तेजो तां विलामत्यवर्तत ॥ १८ ॥
न च राजा गृहं शून्यं प्रविवेश कदाचन ।

ततो गृहगतो राजा कैकेयीं पर्यपृच्छत ॥ १९ ॥
यथापुरमविज्ञाय स्वार्थलिप्सुमपण्डिताम् ।

इससे पहले रानी कैकेयी राजाके आगमनकी उस बेल्हामें कहीं अन्यत्र नहीं जाती थीं, राजाने कभी सुने भवनमें प्रवेश नहीं किया था, इसीलिये वे घरमें आकर कैकेयीके जाँघमें पड़ने लगे उन्हें यह मालूम नहीं था कि वह मूर्खों कोई स्वार्थ मिट्ट करना चाहती है अतः उन्होंने पहलेकी ही भाँति प्रतिहारोंसे उसके विषयमें पूछा ॥ १८-१९ ॥

प्रतिहारी त्वधोवाच संनस्ता तु कृताञ्जलिः ॥ २० ॥
देव देवी भृशं क्रुद्धा क्रोधागारमधिभृता ।

प्रतिहारी बहुत डरी हुई थी। उसने हाथ जोड़कर कहा 'देव! देवी कैकेयी अत्यन्त कुपित हो कोपभवनकी ओर दौड़ी गयी हैं ॥ २० ॥

प्रतीहार्या वचः श्रुत्वा राजा परमदुर्मनाः ॥ २१ ॥
विवसाद पुनर्भूयो लुलितव्याकुलेन्द्रियः ।

प्रतिहारोंकी यह बात सुनकर राजाका मन बहुत उदास हो गया उनका इन्द्रियाँ चञ्चल एवं व्याकुल हो उठीं और वे पुनः अधिक विषाद करने लगे ॥ २१ ॥

तत्र तां पतितां भूमौ शयानामतथोचिताम् ॥ २२ ॥
प्रतप्त इव दुःखेन सोऽपश्यज्जगतीपतिः ।

कोपभवनमें वह भूमिपर पड़ी थी और इस तरह लेटी हुई थी, जो उसके लिये योग्य नहीं था। राजाने दुःखके कारण संतप्त-से होकर उसे इस अवस्थामें देखा ॥ २२ ॥

सकृद्धस्तरुणो भार्या प्राणोभ्योऽपि गरीयसीम् ॥ २३ ॥
अपापः पापसंकरुणं ददर्श घस्णीतले ।

लतामिव विनिष्कृतां पतितां देवतामिव ॥ २४ ॥

राजा वृद्ध थे और उनकी वह पत्नी तरुणी थी, अतः वे उसे अपने प्राणोंसे भी बढ़कर मानते थे। राजाके मनमें कोई पाप नहीं था; परंतु कैकेयी अपने मनमें पापपूर्ण सकल लिये हुए थी। उन्होंने उसे कटी हुई लताकी भाँति पृथ्वीपर पड़ी देखा—मानो कोई देवाङ्गना स्वर्गसे भूतलपर गिर पड़ी हो ॥ २३-२४ ॥

किञ्चरीमिव निर्धूतां च्युतामप्सरसं यथा ।
मायामिव परिभ्रष्टां हरिणीमिव संघताम् ॥ २५ ॥

वह स्वर्गभ्रष्ट किन्नरी, देवलोकसे च्युत हुई अप्सरा, लक्ष्मभ्रष्ट माया और जालमें बँधी हुई हरिणोंके समान जान पड़ती थी ॥ २५ ॥

करेणुमिव दिग्धेन विद्धी भृगयुना वने ।
महागज इवारण्ये स्नेहान् परमदुःखिनाम् ॥ २६ ॥

परिमृज्य च धाणिभ्यामपि संव्रस्तचेतनः ।
कामी कमलपत्राक्षीमुवाच अनितामिदम् ॥ २७ ॥

ऐसे कोई महान् गजराज वनमें व्याघ्रके द्वारा विपर्लभ व्याणसे विद्ध होकर गिरा हुई अत्यन्त दुःखित हथिनीका

झंझक स्पर्श करना है, उसी प्रकार कभी राजा दशरथने महान् दुःखमें पड़ी हुई कमलनयनी भार्या कैकेयीको स्नेहपूर्वक दोनों हाथोंसे स्पर्श किया। उस समय उनके मनमें सब औरसे यह भय समा गया था कि न जाने यह क्या कहेंगी और क्या करेगी? व उसको अङ्गोपर हाथ फेरत हुए उसमें इस प्रकार बोले— ॥ २६-२७ ॥

न तेऽहमभिजानामि क्रोधमात्थनि संश्रितम् ।

देवि केनाभियुक्तसि केन वासि विमानिता ॥ २८ ॥

‘देवि । तुम्हारा क्रोध मुझपर है, ऐसा तो मुझे विश्वास नहीं होता। फिर किसने तुम्हारा तिरस्कार किया है? किमन्तु द्वारा तुम्हारी निन्दा की गयी है? ॥ २८ ॥

यदिदं मम दुःखाय शेषे कल्याणि धांसुषु ।

धूमौ शेषे किमर्थं त्वं मयि कल्याणचेतसि ॥ २९ ॥

भूतोपहतचित्तेन मम चित्तप्रमाथिनि ।

‘कल्याणि । तुम जो इस तरह मुझे दुःख देनेके लिये घूलमें लोट रही हो, इसका क्या कारण है? मेरे चित्तको मथ डालनेवाली सुन्दरी । मेरे मनमें तो मरता तुम्हारे कल्याणको ही भावना रहती है। फिर मेरे रहते हुए तुम किम लिये घरतीपर सो रहीं हो? जान पड़ता है तुम्हारे चित्तपर किमी पिशाचने अधिकार कर लिया है ॥ २९ ॥

सन्ति मे कुशला वैद्यास्त्वभितुष्टाश्च सर्वशः ॥ ३० ॥

सुखितां त्वां करिष्यान्ति व्याधिमाचक्ष्य मामिनि ।

‘मामिनि ! तुम अपना रोग बताओ। मेरे यहाँ बहुत-से चिकित्साकुशल वैद्य हैं जिन्हें मैंने सब प्रकारसे सन्तुष्ट कर रखा है, वे तुम्हें सुखी कर देंगे ॥ ३० ॥

कस्य वापि प्रियं कार्यं केन वा विप्रियं कृतम् ॥ ३१ ॥

कः प्रियं लभनामद्य को वा सुमहदप्रियम् ।

‘अथवा कहो, आज किसका प्रिय करना है? या किसने तुम्हारा अप्रिय किया है? तुम्हारे किस उपकारको आज प्रिय मनोगत प्राप्त हो अथवा किस अपकारको अत्यन्त अप्रिय—कठोर दण्ड दिया जाय? ॥ ३१ ॥

मा रौतमोर्मा च कार्षीस्त्वं देवि सम्परिशोषणम् ॥ ३२ ॥

अवध्यो वध्यतां को वा वध्यः को वा विमुच्यताम् ।

दरिद्रः को भवेदाकपो द्रव्यवान् वाप्यकिञ्चनः ॥ ३३ ॥

‘देवि । तुम न रोओ, अपनी देहको न सुखओ; आज तुम्हारी इच्छाके अनुसार किम अवश्यका वध किया जाय? अथवा किस प्राणदण्ड पानेयोग्य अपराधीको भी मुक्त कर दिया जाय? किम दरिद्रको धनवान् और किम धनवान्को कंगाल बना दिया जाय? ॥ ३२-३३ ॥

अहं च हि मदीयाश्च सर्वे तव वशानुराः ।

न ते कंचिदभिप्रायं व्याहन्तुमहमुत्सहे ॥ ३४ ॥

आत्थनो जीवितेनापि ब्रूहि यन्मनसि स्थितम् ।

‘मैं और मेरे सभी सेवक तुम्हारे आज्ञाके अधीन हैं तुम्हारे किसी भी मनोरथको मैं भंग नहीं कर सकता—उसे पूरा करके ही रहूँगा चाहे उसके लिये मुझे अपने प्राण ही क्यों न देने पड़ें; अतः तुम्हारे मनमें जो कुछ हो, उसे स्पष्ट कहो ॥ ३४ ॥

अलयात्पनि जाननी न मां शङ्कितुमर्हसि ॥ ३५ ॥

करिष्यामि तव प्रीतिं सुकृतेनापि ते शपे ।

‘अपन बलको जानते हुए भी तुम्हें मुझपर संदेह नहीं करना चाहिये मैं अपने सत्कर्माँकी शपथ खाकर कहता हूँ, जिससे तुम्हें प्रसन्नता हो, वही करूँगा ॥ ३५ ॥

यावदावर्तते चक्रं तावती मे वसुंधरा ॥ ३६ ॥

द्राविडाः सिन्धुसौवीराः सौराष्ट्रा दक्षिणापथाः ।

वङ्गाङ्गमगधा मत्स्या समृद्धाः काशिकोसलाः ॥ ३७ ॥

‘जहाँतक मूर्यका चक्र घूमता है, वहाँतक सारी पृथ्वी मेरे अधिकारमें है। द्रविड़, सिन्धु-सौवीर, सौराष्ट्र, दक्षिण भारतके सारे प्रदेश तथा अङ्ग, वङ्ग, मगध, मत्स्य, काशी और कोसल—इन सभी समृद्धिशाली देशोंपर मेरा आधिपत्य है ॥ ३७ ॥

तत्र जातं बहु द्रव्यं धनधान्यमजाविकम् ।

ततो वृणोषु कैकेयि यद् यत् त्वं मनसेच्छसि ॥ ३८ ॥

‘केकयराजनन्दिनि ! उनमें पैदा होनेवाले धान-धान्यके द्रव्य, धन-धान्य और बकरों—घेंड़ आदि जो भी तुम मनसे लेना चाहती हो, वह मुझसे माँग ले ॥ ३८ ॥

किमायासेन ते धीरु उतिष्ठोतिष्ठ शोभने ।

तत्त्वं मे ब्रूहि कैकेयि यतस्ते भयमागतम् ।

तत् ते व्यपनयिष्यामि नीहारमिथ रश्मिवान् ॥ ३९ ॥

‘भार ! इतना क्लेश ठठाने—प्रयास करनेकी क्या आवश्यकता है? शोभने । उठो, उठो । कैकेयि ! ठीक-ठीक बनाओ तुम्हें किससे कौन सा भय प्राप्त हुआ है? जैसे अंशुमाली मूर्य कुहरा दूर कर देते हैं उसी प्रकार मैं तुम्हारे भयका संबंध निवारण कर दूँगा ॥ ३९ ॥

तद्योक्ता सा समामस्ता वक्तुकामा तदप्रियम् ।

परिपीडयितुं ध्रुवो भर्तारमुपधक्त्रमे ॥ ४० ॥

राजाके ऐसा कहनपर कैकेयीको कुछ सान्त्वना मिली। अब उसे अपने स्वामीसे वह अप्रिय बात कहनेकी इच्छा हुई उसने धनिकों और अधिक पीड़ा देनेकी तैयारी की ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽथोद्याकाण्डे दशमः सर्गः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अथोद्याकाण्डमें दसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १० ॥



एकादशः सर्गः

कैकेयीका राजाको प्रतिज्ञाबद्ध करके उन्हें पहलेके दिये हुए दो वरोंका स्मरण दिलाकर भरतके लिये अभिषेक और रामके लिये चौदह वर्षोंका वनवास माँगना

तं पन्थशरर्विद्धं कामवेगवशानुगम् ।
उवाच पृथिवीपालं कैकेयी दारुणी वधः ॥ १ ॥
भूपाल दशरथ कामदेवके बाणोंसे घाँड़ित तथा कामदेवके वशीभूत हो उसीका अनुसरण कर रहा थे । उनसे कैकेयीने यह कठार वचन कहा— ॥ १ ॥
नास्मि विप्रकुता देव केनचिन्नाश्रमानिता ।
अभिप्रायस्तु मे कश्चित् तमिच्छामि त्वया कृतम् ॥ २ ॥
'देव । न तो किसीने मेरा अपकार किया है और न किसीके द्वारा मैं अपमानित या निन्दित हो गई हूँ । मेरा कोई एक अभिप्राय (मांग) है और मैं आपको द्वारा इसका पूर्ण चाहती हूँ ॥ २ ॥
प्रतिज्ञा प्रतिजानीषु यदि त्वं कर्तुमिच्छसि ।
अथ ते व्याहरिष्यामि यथाभिप्रायार्थितं मया ॥ ३ ॥
'यदि आप उसे पूर्ण करना चाहते हो तो प्रतिज्ञा कीजिये । इसके बाद मैं अपना वास्तविक अभिप्राय आपसे कहूँगी ॥ ३ ॥
तामुवाच महाराजः कैकेयीभीषदुत्तमयः ।
कामो हस्तेन संगृह्य मूर्धजेषु भुवि स्थिताम् ॥ ४ ॥
महाराज दशरथ कामके अधीन हो रहे थे । वे कैकेयीका बात सुनकर किनित् मुखरावे और पृथ्वीपर पड़ी हुई उस लकीर कशीको हाथसे पकड़कर— उनके तिरको अपनी गोदमें रखाकर उससे इस प्रकार बोले— ॥ ४ ॥
असंलिप्तं न जानासि स्वतः प्रियतरसे मम ।
मनुजो मनुजव्याघ्राद् रामादन्यो न विद्यते ॥ ५ ॥
अपने सौभाग्यपर गर्व करनेवाले कैकेयी । क्या तुम्हें मनुष्य नहीं है ! कः पशुओं के अतिरिक्त दूसरा कोई ऐसा मनुष्य नहीं है, जो मुझे तुमसे अधिक प्रिय हो ॥ ५ ॥
तेनाजस्येन सुरभ्येन शश्वदेण महात्मना ।
शपे ते जीवनाहंणं ब्रूहि यन्मनसेप्सितम् ॥ ६ ॥
'जो प्राणोंके द्वारा भी आराधनीय है और जिन्हें जोतना किसीके लिये भी असम्भव है, उन प्रमुख चीर गदाला श्रीरामकी शपथ याग्य कहना है कि तुम्हारी कामना पूर्ण होगी; अतः तुम्हारे मनकी जो इच्छा हो उसे बताओ ॥ ६ ॥
यं मुहूर्तमपर्यस्तु न जीवे तमहं सुखम् ।
तेन रामेण कैकेयि शपे ते वचनक्रियाम् ॥ ७ ॥
कैकेयी । जिन्हें दो बड़ी भी न देखनेपर निश्चय हो मैं जीवित नहीं रह सकूँगी, उन श्रीरामकी शपथ स्मरण कहता हूँ कि तुम जो कहोगी, उसे पूर्ण करूँगा ॥ ७ ॥

आत्मना चात्मजैश्चान्यैर्वृणे यं मनुज्यर्थम् ।
तेन रामेण कैकेयि शपे ते वचनक्रियाम् ॥ ८ ॥
'कैकेयनन्दिनि ! अपने तथा अपने दूसरे पुत्रोंको निश्चय करके भी मैं जिन नरश्रेष्ठ श्रीरामका वरण करनेको उद्यत हूँ, उनकी शपथ स्मरण कहता हूँ कि तुम्हारी कही हुई बात पूरी करूँगा ॥ ८ ॥
भद्रे हृदयमप्येतदनुमृश्योद्धरस्व मे ।
एतत् समीक्ष्य कैकेयि ब्रूहि यत् साधु मन्यसे ॥ ९ ॥
'भद्रे ! कैकेयरजकुमारी ! मेरा यह हृदय भी तुम्हारे वचनोंकी पूर्तिके लिये मत्वर है । ऐसा मानकर तुम अपनी इच्छा व्यक्त करके इस दुःखसे मेरा उद्धार करो । श्रीराम मयको अधिक प्रिय हैं—इस बातपर दृष्टिमान करके तुम्हें जो अच्छा जान पड़े, वह कहो ॥ ९ ॥
बलमात्मनि पश्यन्तो न विशङ्कितुमर्हसि ।
करिष्यामि तव प्रीतिं सुकृतेनापि ते शपे ॥ १० ॥
अपने बलको देखने हुए भी तुम्हें मुझपर शङ्का नहीं करनी चाहिये । मैं अपने सत्कर्मोंकी शपथ स्मरण प्रतिज्ञा करता हूँ कि तुम्हारा प्रिय कार्य अवश्य सिद्ध करूँगा ।
सा तदर्थमना देवी तमभिप्रायमागतम् ।
निर्माध्यस्थ्याद्य हर्षाद्य वधावे दुर्लभं वच ॥ ११ ॥
रानी कैकेयीका मन स्वार्थकी सिद्धिमें ही लगा हुआ था । उसके हृदयमें भरतके प्रति पक्षपान था और राजाको अपने वशमें देखकर हर्ष हो रहा था; अतः यह सोचकर कि अब मेरे लिये अपना मतलब साधनेका अवसर आ गया है वह राजासे ऐसी बात बाली जिसे मुझसे निकालना (शत्रुके लिये भी) कठिन है ॥ ११ ॥
तेन वाक्येन संगृह्य तमभिप्रायमात्मनः ।
व्याजहार महाघोरमभ्यगतमिवान्तकम् ॥ १२ ॥
राजाके उस शपथयुक्त वचनसे उसके बड़ा हर्ष हुआ था । उसने अपने उस अभिप्रायको जो पास आये हुए धमराजके ममान अत्यन्त प्रयत्न था, इन शब्दोंमें व्यक्त किया— ॥
यथा क्रमेण शपसे वरं मम वदासि च ।
तच्छृण्वन्तु त्रयस्त्रिंशद् देवाः सेन्द्रपुरोगमाः ॥ १३ ॥
'राजन् ! आप जिस तरह क्रमशः शपथ स्मरण मुझे वर देनेको उद्यत हुए हैं, उसे इन्द्र आदि तैंतीस देवता सुन लें ।
चन्द्रादित्यौ नभश्चैव ग्रहा रात्र्यहनी दिशः ।
जगत् पृथिवी चैवं सगन्धर्वाः सराक्षसाः ॥ १४ ॥
निशाचराणि भूतानि गृहेषु गृह्देवताः ।
यानि चान्यानि भूतानि जन्तीषुर्भाषितं तव ॥ १५ ॥

‘चन्द्रमा, सूर्य, आकाश, ग्रह, यत्, दिन, दिश, जगत्, यह पृथ्वी, गन्धर्व, राक्षस, रातमें विक्रनेवाले प्राणी, घरोमें रहनेवाले गृहदेवता तथा इनके अतिरिक्त भी जितने प्राणी हों, वे सब आपके कथनको जान लें— आपको बालोंके साक्षी बनें ॥ १४-१५ ॥

सत्यसंधो महातेजा धर्मजः सत्यवाक्शुचिः ।

अरं मम दशत्येष सर्वे भूणवन्तु दैवताः ॥ १६ ॥

‘सब देवता सुनो! महातेजस्वी, सत्यप्रतिज्ञ, धर्मके ज्ञाता, सत्यवादी तथा शुद्ध आचार विचारवाले ये महाराज मुझे वर दे रहे हैं ॥ १६ ॥

इति देवी भर्गुनासं परिगृह्याभिवास्य च ।

ततः परमुवाचेदं वरदं काममोहितम् ॥ १७ ॥

इस प्रकार काममोहित होकर वर देनेको ठगता हुआ महाधनुर्धर राजा दशरथको अपनी मूर्खीमें करके देवी कैकेयीने पहले उनको प्रशंसा की, फिर इस प्रकार कहा— ॥ १७ ॥

अर राजन् पुन वृत्तं तस्मिन् देवासुरे रणे ।

तत्र त्वां व्यावच्छिन्नमृत्यु जीवितमन्तरा ॥ १८ ॥

‘राजन्! इस मुनी की बातका याद कीजिये, अब कि देवासुरसंग्राम हो रहा था। वहाँ शत्रुने आपका घायल करके मिया दिया था, केवल प्राण नहीं लिये थे ॥ १८ ॥

तत्र चापि मया देव यत् त्वं समभिरक्षितः ।

वापत्या यत्तमानायास्ततो मे प्रददौ वरौ ॥ १९ ॥

‘देव! उस गृहस्थलमें सारी रात जागकर अनेक प्रकारके प्रयत्न करने जो मैंने आपके जीवनकी रक्षा की थी तबसे संग्राम झांका आगने मुझे दो वर दिये थे ॥ १९ ॥

तौ दत्तौ च वरौ देव निक्षेपी गृहघाम्यहम् ।

तवैव पृथिवीपाल सकारशो रघुनन्दन ॥ २० ॥

‘देव! पृथ्वीपाल रघुनन्दन! आपके दिये हुए वे दोनों वर मैंने धरोहरके रूपमें आपके ही पास रख दिये थे। आज इस समय कहींकी मैं स्त्रोज करती हूँ ॥ २० ॥

सत्ता प्रतिशुल्य धर्मेण न चेद् दास्यसि मे वरम् ।

अदीव हि प्रहास्यामि जीवितं त्वद्विमानिता ॥ २१ ॥

‘इस प्रकार धर्मरत प्रतिज्ञा करने यदि आप मेरे उन गरीबी नहीं देंगे तो मैं अपनेको आपके द्वारा अपमानिता हुई समझकर आज ही आपकी परित्याग कर दूंगी ॥ २१ ॥

शत्रुप्रेण तदा राजा कैकेय्या स्वयशो कृतः ।

प्रचक्षन्द दिनाशाय पार्श्वं भृगु इवात्मनः ॥ २२ ॥

जैसे भृगु नरसिंहलियेकी वाणीमात्रसे अपने ही बिनाशके लिये उसके जालमें फँस जाता है, उसी प्रकार कैकेयीके

कड़ीभूत हुए राजा दशरथ उस समय पूर्वकालके वरदान-वाक्यका स्मरण करनेमात्रसे अपने ही बिनाशके लिये प्रतिज्ञाके बन्धनमें बंध गये ॥ २२ ॥

ततः परमुवाचेदं वरदं काममोहितम् ।

वरौ देयौ त्वया देव तदा दत्तौ भहीपते ॥ २३ ॥

तौ तावदहमदीव वक्ष्यामि भृगु मे वचः ।

अभिषेकसमारम्भो राघवस्योपकल्पितः ॥ २४ ॥

अनेनैवाभिषेकेण भरतो मेऽभिधिच्यताम् ।

तदनन्तर कैकेयीने काममोहित होकर वर देनेके लिये उद्यत हुए राजासे इस प्रकार कहा— ‘देव! पृथ्वीनाथ! उन दिनों आपने जो दो वर देनेकी प्रतिज्ञा की थी, उन्हें अब मुझे देना चाहिये। उन दोनों वरोंको मैं अभी बताऊँगी—आप मेरी बात सुनिये—यह जो श्रीरामके राज्याभिषेकको तैयारो की गयी है, इसी अभिषेक-सामग्रीद्वारा मेरे पुत्र भरतका अभिषेक किया जाय ॥ २३-२४ ॥

यो द्वितीयो वरो देव दत्तः प्रीतेन मे त्वया ॥ २५ ॥

तदा देवासुरे युद्धे तस्य कालोऽव्ययागतः ।

‘देव! आपने उस समय देवासुरसंग्राममें प्रसन्न होकर मेरे लिये जो दूसरा वर दिया था, उसे प्राप्त करनेका यह समय भी अभी आया है ॥ २५ ॥

नव पञ्च च वर्त्तणि दण्डकारण्यमाश्रितः ॥ २६ ॥

चीराजिनधरो धीरो रामो भवतु तापसः ।

भरतो भजतामद्य यौवराज्यमकण्टकम् ॥ २७ ॥

‘धोर स्वभाववाले श्रीराम तपस्वीके वेशमें वल्कल तथा मृगचर्म धारण करके चौदह वर्षोंतक दण्डकारण्यमें जाकर रहें। भरतको आज निष्कण्टक युवराजपद प्राप्त हो जाय ॥

एव मे परमः कामो क्षतमेव वरं वृणे ।

अद्य चैव हि पश्येयं प्रयान्तं राघवं वने ॥ २८ ॥

‘यही मेरी सर्वश्रेष्ठ कामना है मैं आपसे पहलेका दिया हुआ वर ही भंगितो हूँ। आप ऐसी व्यवस्था करें, जिससे मैं आज ही श्रीरामको वनकी ओर जाते देखूँ ॥ २८ ॥

स राजराजो भव सत्यसंगरः

कुलं च शीलं च हि जन्म रक्ष च ।

परमं वासे हि वदन्त्यनुत्तमं

तपोधनाः सत्यवचो हितं नृणाम् ॥ २९ ॥

‘आप राजाओंके राजा हैं, अतः सत्यप्रतिज्ञ बनिये और उस सत्यके द्वारा अपने कुल, शील तथा जन्मकी रक्षा काजिये। तपस्वी पुरुष कहते हैं कि सत्य बोलना सबसे श्रेष्ठ धर्म है। वह परलोकमें निवास होनेपर मनुष्योंके लिये परम कल्याणकारी होता है ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽथोऽध्याकाण्डे एकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके अथोऽध्याकाण्डमें ग्यारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११ ॥

द्वादशः सर्गः

महाराज दशरथकी चिन्ता, विलाप, कैकेयीको फटकारना, समझाना और उससे वैसा कर न माँगनेके लिये अनुरोध करना

ततः श्रुत्वा महाराजः कैकेय्या दारुणं वचः ।
चिन्तामभिसमापेदे मुहुर्तं प्रतताप च ॥ १ ॥
कैकेयीका यह कठोर वचन सुनकर महाराज दशरथको
बड़ी चिन्ता हुई । वे एक मुहुर्तक अत्यन्त नताप करते रहे
कि नु मेऽयं दिवास्वप्नश्चित्तमोहोऽपि वा भव ।

अनुभूतोपसर्गो वा मनसो वायुपद्मवः ॥ २ ॥
उन्होंने सोचा—‘क्या दिनमें ही यह मुझे स्वप्न दिखायी दे
रहा है ? अथवा मेरे चित्तका मोह है ? या किसी भूत (जग
आदि) के आवेशसे चित्तम विकलता आ गयी है ? या
आधि-व्याधिके कारण यह कोई मनका हो उपद्रव है’ ॥ २ ॥
इति संचिन्त्य तद् राजा नाध्यगच्छत् तदासुखम् ।
प्रतिलुप्य ततः संज्ञां कैकेयीवाक्यतापितः ॥ ३ ॥

यही सोचते हुए उन्हें अपने प्रमत्त कारणका पता नहीं
लगा । उस समय राजाको मूर्च्छित कर देनेवाला महान् दुःख
प्राप्त हुआ । तत्पश्चात् होशमें आनेपर कैकेयीको बातको याद
करके उन्हें पुनः संताप होने लगा ॥ ३ ॥

व्यथितो विह्वलश्चैव व्याधौ दृष्ट्वा यथा मृगः ।
असंवृतायामासीनो जगत्या दीर्घमुच्छ्वसन् ॥ ४ ॥
मण्डले पन्नगो रुद्धो मन्त्रैरिव महाविषः ।

जैसे किसी व्याधिनको देखकर मृग व्यथित हो जाता है,
उसी प्रकार वे नरेश कैकेयीको देखकर पीड़ित एवं व्याकुल
हो उठे । अस्तररहित खाली घूमिपर बैठ हुए राजा नेत्रों में
खींचने लगे, मानो कोई महा विषैला सर्प किसी मण्डलमें
मन्त्रोंद्वारा अवरुद्ध हो गया हो ॥ ४ ॥

अहो धिगिति सामर्थो वाचमुक्त्वा नराधिपः ॥ ५ ॥
मोहमापेदिवान् भूयः शोकोपहतचेतनः ।

राजा दशरथ रोषमें भरकर ‘अहो ! धिक्कार है’ यह
काहकर पुनः मूर्च्छित हो गये । शोकके कारण उनकी चेतना
लुप्त-सी हो गयी ॥ ५ ॥

चिरेण तु नृपः संज्ञां प्रतिलुप्य सुदुःखितः ॥ ६ ॥
कैकेयीमब्रवीत् कुब्जो निर्दहन्निव तेजसा ।

बहुत देरके बाद जब उन्हें फिर चेत हुआ, तब वे नरेश
अत्यन्त दुःखी होकर कैकेयीको अपने तेजसे दग्ध-सी करत
हुए क्रोधपूर्वक उससे बोले— ॥ ६ ॥

नुशंसे दुष्टचारित्रे कुलस्यास्य विनाशिनि ॥ ७ ॥
किं कृतं तव रामेण पापे पापं मयापि वा ।

‘दयाहीन दुष्टचारिणी कैकेय्य ! तू इस कुलका विनाश
करनेवाली डाइन है । पापिनि ! वना, मैंने अथवा श्रीरामने
तेरा क्या बिगाड़ा है ?’ ॥ ७ ॥

सदा ते जननीतुल्यां वृत्तिं वहति राघवः ॥ ८ ॥
तस्यैव त्वमनर्थाय किंनिमित्तमिहोद्यता ।

‘श्रीरामचन्द्र तो तेरे साथ सदा सगी माताका-सी बर्ताव
करते आये हैं, फिर तू किस लिये उनका इस तरह अनिष्ट
करनेपर उताव हो गयी है’ ॥ ८ ॥

त्वं ययाऽऽत्मविनाशाय भवनं स्वं निवेशिता ॥ ९ ॥
अविज्ञानाश्रुपसुता स्यात्ता तीक्ष्णविषा यथा ।

‘मालूम होता है—मैंने अपने विनाशके लिये ही तुझे
अपने घरमें रखकर रक्ता था । मैं नहीं जानता था कि तू
राजकन्याके रूपमें सीखे विषवाली नागिन है’ ॥ ९ ॥

जीवलोको यदा सर्वो रामस्याह गुणस्तवम् ॥ १० ॥
अपराधं कमुद्दिश्य त्यक्ष्यामीष्टमहं सुतम् ।

‘जब सारा जीव-जगत् श्रीरामके गुणोंकी प्रशंसा करता
है, तब मैं किस अपराधके कारण अपने उस प्यारे पुत्रको
त्याग दूँ ?’ ॥ १० ॥

कौसल्यां च सुमित्रां च त्यजेयमपि वाञ्छितम् ॥ ११ ॥
जीवितं चात्पनो रामं न त्वेव पितृवत्सलम् ।

‘मैं कौसल्या और सुमित्राको भी छोड़ सकता हूँ,
राजलक्ष्मणका भी परित्याग कर सकता हूँ, परन्तु अपने
प्राणस्वरूप पितृभक्त श्रीरामको नहीं छोड़ सकता’ ॥ ११ ॥

परा भवति मे प्रीतिर्दृष्ट्वा तनयमग्रजम् ॥ १२ ॥
अपश्यतस्तु मे रामं नष्टं भवति चेतनम् ।

‘अपने ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामको देखते ही मेरे हृदयमें परम-
प्रेम उमड़ आता है, परन्तु जब मैं श्रीरामको नहीं देखता हूँ,
तब मेरी चेतना नष्ट होने लगती है’ ॥ १२ ॥

तिष्ठेल्लोको विना सूर्य सस्य वा सलिलं विना ॥ १३ ॥
न तु रामे विना देहे तिष्ठेत्तु मम जीवितम् ।

‘सम्भव है सूर्यके बिना यह संसार टिक सके अथवा
पानोंके बिना खेती ठपक सके, परन्तु श्रीरामके बिना मेरे
शरीरमें प्राण नहीं रह सकते’ ॥ १३ ॥

तदलं त्यज्यतामेव निश्चयः पापनिश्चये ॥ १४ ॥
अपि ते चरणौ मूर्ध्ना स्पृशाम्येव प्रसीद मे ।

‘अतः ऐसा कर माँगनेसे कोई लाभ नहीं । पापपूर्ण निश्चय-
वाली कैकेय्य ! तू इस निश्चय अथवा दुराग्रहको त्याग दे । यह लो,

मैं तेरे पैरपर अपना मस्तक रखता हूँ । मुझपर प्रसन्न हो जा
पापिनि ! तूने ऐसी परम कृतापूर्ण बात किस लिये सोची है ?’

अथ जिज्ञाससे मां त्वं भरतस्य प्रियाप्रिये ।
अस्तु यत्तत्त्वया पूर्वं व्याहृतं राघवं प्रति ॥ १६ ॥

‘यदि यह जानना चाहती है कि भरत मुझे प्रिय है या अप्रिय तो रघुनन्दन भरतके सम्बन्धमें तु पहले जो कुछ कह चुकी है, वह पूर्ण हो अर्थात् तेरे प्रथम वर्णके अनुसार मैं भरतका राज्याभिषेक स्वीकार करता हूँ ॥ १६ ॥

स मे ज्येष्ठसुतः श्रीमान् धर्मज्येष्ठ इतीव मे ।

तत् त्वया प्रियवादिन्या सेवार्थं कथितं भवेत् ॥ १७ ॥

‘तु पहले कहा करती थी कि ‘श्रीराम मेरे बड़े बेटे हैं, वे शर्माधारणों भी सबसे बड़े हैं ।’ परन्तु अब मालूम हुआ कि तु ऊपर-ऊपरसे धिक्कारी गुपड़ी बातें किया करती थी और यह बात तुने श्रीरामसे अपनी सेवा करानेके लिये ही कही होगी ॥

तस्मै शोकसंतप्ता संतापयसि मां भृशम् ।

आविष्टासि गृहे शून्ये सा त्वं परवशं गता ॥ १८ ॥

‘आज श्रीरामके अभिषेककी बात सुनकर तु उठकेसे गीता हो उठी है और मुझे भी बहुत संताप दे रहा है, इससे जान पड़ता है कि इस तुने धरमे तुझपर भूत आदिना आवेश हो गया है, आगे तु यवश होकर ऐसी बातें कह रही है ।

इक्ष्वाकूणां कुले त्वेति सम्प्राप्तः सुमहानयम् ।

अमघो नमसाम्यग्रे यत्र ते विकृता मतिः ॥ १९ ॥

‘देखि । न्यायहीन इक्ष्वाकुवंशमें यह बड़ा भारी अन्याय आकर प्रयोजित हुआ है, जहाँ तेरी बुद्धि इस प्रकार विकृत हो गयी है ॥ १९ ॥

यदि किञ्चिदयुक्तं वा विशिष्यं वा पुरा यम ।

अकारोस्त्वै विद्यालक्षि तेन न ग्रहयामि ते ॥ २० ॥

‘विद्यालक्षणे । आजमे पहले तुने कभी कोई ऐसा आचरण नहीं किया है, जो अनुचित अथवा मेरे लिये अप्रिय हो; इसीलिये तेरी आजकी बातपर भी मुझे विश्वास नहीं होता है ॥ २० ॥

अनु ते राघवस्तुल्यो धरतेन महात्मना ।

आहूतो हि स्य बाले त्वं कथाः कथयसे मम ॥ २१ ॥

‘तेरे लिये तो श्रीराम भी महात्मा भरतके ही तुल्य हैं । बाले । तु बहुत बार बातचीतके प्रसंगमें स्वयं ही यह बात मुझसे कहती रही है ॥ २१ ॥

तस्य शर्मात्मनो द्वेष्टि जने घातं यदात्मिनः ।

कथं रोषपरी भीरु नव शर्माणि पादु ज ॥ २२ ॥

‘भीरु स्वभाववाली देखि । उनकी शर्मात्मा और यशस्वी श्रीरामका भीरुता पाँके लिये जनतामें तुझे कैसे अच्छा लगता है ? ॥ २२ ॥

आत्यन्तसूक्ष्मस्य तस्य धर्मं कृतात्मनः ।

कथं रोचयसे वासपरण्ये भृशदात्मने ॥ २३ ॥

‘नो अत्यन्त सूक्ष्मस्य और धर्ममें दृढ़तापूर्वक मन लगाये रखनेवाले हैं, तभी श्रीरामको वनवास देना तुझे कैसे रुचिकर जान पड़ता है ? अहो । तेरा हृदय बड़ा कठोर है ॥ २३ ॥

रोचयस्यभिरामस्य राघवस्य शुभलोचने ।

तव शुश्रूषमाणस्य किमर्थं क्षिप्रवासनम् ॥ २४ ॥

‘सुन्दर नेत्रोवाली कैकेयि । जो सदा तेरी सेवा-शुश्रूषामें लगे रहते हैं, उन नयनाभिराम श्रीरामको देशनिकाला देने की इच्छा तुझे किस लिये हो रही है ? ॥ २४ ॥

रामो हि भरताद् भूयस्तव शुश्रूषते सदा ।

विशेषं त्वयि तस्मात् तु भरतस्य न लक्षये ॥ २५ ॥

‘यै देखता हैं धरममें अधिक श्रीराम ही सदा तेरी सेवा करने हैं । भरत उनसे अधिक नरी सेवामें रहने हो, ऐसा मैंने कभी नहीं देखा है ॥ २५ ॥

शुश्रूषां गौरवं चैव प्रमाणी वचनक्रियाम् ।

कस्तु भूयस्तरं कुर्यादन्यत्र पुरुषवर्धनात् ॥ २६ ॥

‘नरश्रेष्ठ श्रीरामसे बढ़कर दूसरा कौन है जो गुरुजनोंकी सेवा करने, उन्हें गौरव देने, उनकी बातोंकी मान्यता देने और उनकी आज्ञाकर तुरत पालन करनेमें अधिक तत्परता दिखाना हो ॥ २६ ॥

बहूनां स्त्रीसहस्राणां बहूनां चोपजीविनाम् ।

परिवासेऽप्यकादो वा राघवे नोपपद्यते ॥ २७ ॥

‘मेरे यहाँ कई सहस्र स्त्रियाँ हैं और बहुत-से उपजीवी भृत्यजन हैं, परन्तु किसीके मुँहसे श्रीरामके सम्बन्धमें सच्ची या झूठी किसी प्रकारकी शिकायत नहीं सुनी जाती ॥ २७ ॥

सान्त्वयन् सर्वभूतानि रामः शुद्धेन चेतसा ।

गृह्णाति मनुजव्याघ्रः प्रियैर्विषयवासिनः ॥ २८ ॥

‘पुरुषसह श्रीराम समस्त प्राणियोंको शुद्ध हृदयसे सान्त्वना देते हुए प्रिय आचरणोंद्वारा राज्यकी समस्त प्रजाओंको अपने वशमें किये रहते हैं ॥ २८ ॥

सत्येन श्लोकाश्रयति द्विजान् दानेन राघवः ।

गुरुजुश्रूषया वीरो धनुषा युधि शत्रवान् ॥ २९ ॥

‘वीर श्रीरामचन्द्र अपने सात्विक भावसे समस्त लोकोंको दानके द्वारा द्विजोंको, सेवासे गुरुजनोंको और धनुष-बाणद्वारा युद्धस्थलमें शत्रु-सैनिकोंको जीतकर अपने अधीन कर लेते हैं ॥ २९ ॥

सत्यं दानं तपस्यागो मित्रता शौचमार्जवम् ।

विद्या च गुरुशुश्रूषा धृवाण्येतानि राघवे ॥ ३० ॥

‘सत्य, दान, तप, त्याग, मित्रता, पवित्रता, सरलता, विद्या और गुरु-शुश्रूषा—ये सभी सद्गुण श्रीराममें स्वरूपसे रहते हैं ॥ ३० ॥

नस्मिन्नार्जवसम्पन्ने देवि हेचोपमे कथम् ।

पापमाशंससे रामे महर्षिसमतेजसि ॥ ३१ ॥

‘देवि । महर्षियोंके सधान तेजस्वी उन सीधे-सादे देव तुल्य श्रीरामको तु क्या अनिष्ट करना चाहती है ? ॥ ३१ ॥

न स्मराम्यप्रियं वाक्यं लोकस्य प्रियवादिनः ।

स कथं त्वत्कृते रामे वक्ष्यामि प्रियप्रियम् ॥ ३२ ॥

‘श्रीराम सब लोंगोसे प्रिय बोलते हैं। उन्होंने कभी किसीको अधिप्य बचन कहा हो, ऐसा मुझे याद नहीं पड़ता। ऐसे सर्वप्रिय रामसे मैं तेरे लिये अधिप्य बात कैसे कहूँगा ? ॥ ३२ ॥

क्षमा यस्मिन्तपस्यागः सत्यं धर्मः कृतज्ञता ।

अप्यहिंसा च भुक्तानां तमुने का गतिर्मम ॥ ३३ ॥

‘जिनमें क्षमा, तप, त्याग, सत्य, धर्म, कृतज्ञता और अहिंसा जो ब्रह्मचर्य प्रति दया भरी हुई है, उन श्रीरामके बिना मेरी क्या गति होगी ? ॥ ३३ ॥

मम सृष्टस्य कैकेयि गतान्तस्य तपस्विनः ।

दीने लालप्यधानस्य कारुण्यं कर्तुमर्हसि ॥ ३४ ॥

कैकेयि । मैं बूढ़ा हूँ। मौतक किन्तु बँटा हूँ। मेरी अवस्था शोकनीय हो रही है और मैं दीनभावसे तेरे सामने गिरगिरा रहा हूँ। तब मुझपर दया करनी चाहिये ॥ ३४ ॥

पृथिव्यां सागरान्नाथो धत् किञ्चित्प्रियगम्यते ।

ननु सर्वं तव दास्यामि परं च त्वं मन्युमाविश ॥ ३५ ॥

‘समुद्रपर्यन्त पृथ्वीपर जो कुछ मिल सकता है, वह सब मैं तुझे दे दूँगा, परंतु तू ऐसे दुराग्रहमें न पड़, जो मुझे मौतक तुझमें हकलनवाला हो ॥ ३५ ॥

अञ्जलिं कुर्मि कैकेयि पादौ चापि स्पृशामि ते ।

शरणं भव रामस्य माधर्म्यं मामिह स्पृशेत् ॥ ३६ ॥

‘कैकेयनन्दिनि । मैं हाथ जोड़ता हूँ और तेरे पैरों पड़ता हूँ। तू श्रीरामको शरण दे, जिससे यहाँ मुझ पाप न लगे ॥

इति दुःखाभिसंतप्तं क्षिप्यन्तमघातनम् ।

पूर्णमानी महाराजं शोकैर्न समधिष्ठितम् ॥ ३७ ॥

पारं शोकार्णवस्याशु शार्धयन्तं पुनः पुनः ।

प्रत्युवाचाथ कैकेयी रौद्रा रौद्रतरं वचः ॥ ३८ ॥

महाराज दशरथ इस प्रकार दुःखमें सतप्त होकर विलम्ब कर रहे थे। उनकी चेतना धार-धार लुप्त हो जाती थी। उनका भास्वात्मिक चक्षुर आ रहा था और वे शोकमग्न हो उस शोकसागरसे पीछा पार होकर लिये बारंबार अनुनय-विनय कर रहे थे, तो भी कैकेयीका हृदय नहीं पिघला। वह और भी शोकपूर्ण रूप धारण करके अत्यन्त क्रोध से आगे बढ़े। इस प्रकार उनसे होने लगी— ॥ ३७-३८ ॥

यदि दत्त्वा नरो राजन् पुनः प्रत्यनुत्पद्यसे ।

धार्मिकत्वे कथं वीरं पृथिव्यां कथयिष्यसि ॥ ३९ ॥

‘राजन् । यदि तू सरदान देकर आप फिर उनके लिये पश्चात्ताप करते हैं तो वीर न बंध। इस धूमण्डलमें आप अपनी धार्मिकताका बिहोरा कैसे धोत सकेंगे ? ॥ ३९ ॥

यदा समेता बहवस्तवया राजर्षयः सह ।

क्षययिष्यन्ति धर्मं न तत्र किं प्रतिवक्ष्यसि ॥ ४० ॥

धर्मके शाही महाराज ! जब बहुत-से राजर्षि एकत्र ना कर आगत साथ मुझ दिय हुए सरदानक विषयमें बानसोंन

करेंगे, उस समय वहाँ आप उन्हें क्या उत्तर देंगे ? ॥ ४० ॥

यस्याः प्रसादे जीवामि सा च मामभ्यपालयत् ।

तस्याः कृता मया मिथ्या कैकेय्या इति वक्ष्यसि ॥ ४१ ॥

‘यही कहूँगे न, कि जिनके प्रसादसे मैं जीवित हूँ, जिसने (बहुत बड़े संकटसे) मेरी रक्षा की, उसी कैकेयीको वर देनेके लिये की हुई प्रतिज्ञा मैंने झूठी कर दी ॥ ४१ ॥

किंस्त्वयं त्वं नरन्त्राणां करिष्यसि नराधिप ।

यो दत्त्वा चरमार्थं पुनरन्यानि भाषसे ॥ ४२ ॥

‘महाराज । आज ही सरदान देकर यदि आप फिर इससे विपरीत बात कहेंगे तो अपने कुलके राजाओंके साथ कलंकका टोंका लगायेंगे ॥ ४२ ॥

शौन्यः श्येनकपोर्नाथे स्वभासे पक्षिणे ददौ ।

अलर्कश्चश्रुयी दत्त्वा जगाम गतिमुत्तमाम् ॥ ४३ ॥

‘राजा शौन्यने बाज और कबूतरके झगड़ेमें (कबूतरके प्राण बचानेकी प्रतिज्ञाकी पूर्ण करनेके लिये) बाज नामक पक्षीको अपने शरीरका मांस काटकर दे दिया था। इसी तरह राजा अलर्कने (एक अंधे ब्राह्मणको) अपने दोनों नेत्रोंका दान करके परम उत्तम गति प्राप्त की थी ॥ ४३ ॥

सागरः समर्थं कृत्वा न खेलामतिवर्तते ।

समर्थं मानृतं कार्यः पूर्ववृत्तमनुस्मरन् ॥ ४४ ॥

‘समुद्रने (देवताओंके समक्ष) अपनी नियत सीमाको न लँघनकी प्रतिज्ञा करे थी, सो अबतक वह उसका उल्लंघन नहीं करता है। आप भी पूर्ववर्ती महापुरुषोंके बर्तावको सदा ध्यानमें रखकर अपनी प्रतिज्ञा झूठी न करें ॥ ४४ ॥

स त्वं धर्मं परित्यज्य रामं राज्येऽभिषिच्य च ।

सह कौसल्याया नित्यं रन्तुमिच्छसि दुर्मते ॥ ४५ ॥

‘(परंतु आप मेरी बात क्या सुनेंगे ?) दुर्बुद्ध भरोसा। आप तो धर्मको तिलज्जालि देकर श्रीरामको राज्यपर अधिपति करके गनी कौसल्याके साथ मदा मौज उड़ाना चाहते हैं ॥ ४५ ॥

धत्तवधर्मो धर्मो वा सत्यं वा यदि वानृतम् ।

यन्तया संश्रुतं मह्यं तस्य नास्ति व्यतिक्रमः ॥ ४६ ॥

‘अब धर्म हो या अधर्म, झूठ हो या सच, जिस बातके लिये आपन मुझमें प्रतिज्ञा कर ली है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता ॥ ४६ ॥

अहं हि विषमार्थं पीत्वा बहु तवाग्रतः ।

पश्यतस्ते परिष्यामि रामो यद्यभिषिच्यते ॥ ४७ ॥

‘यदि श्रीरामकर राज्याभिषेक होगा तो मैं आपके सामने आपके देखते-देखते आब हूँ बहुत-सा विष पाकर मर जाऊँगी ॥ ४७ ॥

एकाहपि पश्येयं यद्यहं राममातरम् ।

अञ्जलिं प्रतिगृह्णन्तीं श्रेयो ननु मूर्तिर्मम ॥ ४८ ॥

‘यदि मैं एक दिन भी राममाता कौसल्याकी राममाता

होनेके नाते दूसरे लोगोंसे अपनेको हाथ जोड़वाती देख लूंगी
तो उस समय मैं अपने लिये मर जाना ही अच्छा समझूंगी ।
भरतेनात्मना चाहें शपथ से मनुजाधिप ।

यथा नान्येन तुष्येयमृते रामविवासेनात् ॥ ४९ ॥

‘नरेश्वर ! मैं आपके सामने अपनी और भरतकी शपथ
काकर कहती हूँ कि श्रीरामको इस देशमें निकाल देनेक
सिवा दूसरे किसी वरसे मुझे संतोष नहीं होगा’ ॥ ४९ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं कैकेयी विरराम ह ।

विलसन् च राजानं न प्रतिलयाजहार सा ॥ ५० ॥

इतना कहकर कैकेयी चुप हो गयी । राजा बहुत
रोग-मिद्धमिद्धासे, किन्तु उसने उसको किसी बातका जवाब
नहीं दिया ॥ ५० ॥

श्रुत्वा तु राजा कैकेय्या वाक्यं परमशोभनम् ।

गमस्य च वने वासमैश्वर्यं भरतस्य च ॥ ५१ ॥

नाभ्यभाषत कैकेयीं गृहं व्याकुलेन्द्रियः ।

प्रेक्षतानिमित्तो वेणीं प्रियामप्रियवादिनीम् ॥ ५२ ॥

‘श्रीरामका जगवास हो और भरतका राज्याभिषेक’
कैकेयीके मुखसे यह परम अमङ्गलकारी वचन सुनकर
राजाको सारा इन्द्रिया व्याकुल हो उठी । वे एक गृहन्तक
कैकेयीसे कुछ ा बोले । उस अप्रिय वचन चलनेवाले प्यारी
रानीको और केवल एकटक दृष्टिसे देखते रहे ॥ ५१-५२ ॥

नो हि वचसमां वाचमाकर्ण्य हृदयाप्रियाम् ।

दुःखशोकमयीं श्रुत्वा राजा न सुखितोऽभवत् ॥ ५३ ॥

मनको अप्रिय लगनेवाली कैकेयीका यह वचनके समान
कठोर तथा दुःख शोकमयी वाणी सुनकर राजाका बड़ा दुःख
हुआ । उनको सुख शान्ति छिन गयी ॥ ५३ ॥

स देव्या व्यवसायं च घोरं च शपथं कृतम् ।

ध्यात्वा रामेति निःश्वस्य चिन्तनमकरिवापनत् ॥ ५४ ॥

तेवी कैकेयीक तरा घोर निश्चय और किय हुए शपथकी
और भ्रान्त जाते ही वे ‘सा राम !’ कहकर लकी साँसे ओंचने
हुए कंठे ब्रूकर भाँति गिर पड़े ॥ ५४ ॥

नष्टचित्तो घयोभक्तो विपरीतो यथातुरः ।

हृत्तेजा यथा सर्पो बभूव जगतीपतिः ॥ ५५ ॥

उनकी चेतना लुप्त-सी हो गयी । वे उन्मादभस्त-से
प्रतीत होने लगे । उनकी प्रकृति विपरीत-सी हो गयी ।
वे शरीर-से जाग पड़ते थे । इस प्रकार भृंगल दशरथ
भन्धसे जिसका तेज हर लिया गया हो उस सर्पके समान
निर्दोष हो गये ॥ ५५ ॥

दीनधाऽनुरथा वाचा इति होवाच कैकेयीम् ।

अनर्थार्थममर्थार्थं केन त्वमुपदेशिता ॥ ५६ ॥

तदनन्तर उन्होंने दीन और अनुराग वाणीमें कैकेयीसे इस
प्रकार कहा ‘अभी तुझ अनर्थ ही अर्थ-सा प्रतीत हो रहा
है, किसने तुझे इसका उपदेश दिया है ?’ ॥ ५६ ॥

भूतोपहतचित्तेव ब्रुवन्ती मां न रुज्जसे ।

शीलव्यसनमेतन् मे नाभिजानाम्यहं पुरा ॥ ५७ ॥

‘जान पड़ना है, तेरा चित्त किसी भूतके आश्रयसे दूषित
हो गया है । पिशाचमन नागीकी भाँति मेरे साधने ऐसी बातें
कानो हुई तू लज्जित क्या नहीं होती ? मुझे पहले इस
बातका पता नहीं था कि तेरा यह कुलाङ्गोचित शील इस
तरह नष्ट हो गया है ॥ ५७ ॥

वालायास्तत् त्विदानीं ते लक्षये विपरीतवत् ।

कुतो वा ते भयं आतं या स्वमेवविधं वरम् ॥ ५८ ॥

राष्ट्रे भगवमासीनं वृणीषे राघवं वने ।

विरमतेन धावेन स्वमेतेनानुतेन च ॥ ५९ ॥

‘वालावस्थामें जो तेरा शील था, उसे इस समय मैं
विपरीत-सा देख रहा हूँ । तुझे किस बातका भय हो गया है जो
इस तरहका वर माँगती है ? भरत राज्य सिंहासनपर बैठे और
श्रीराम वनमें गये—यही तू माँग रही है । यह बड़ा असम्य तथा
ओछा विचार है । तू अब भी इससे विरत हो जा ॥ ५९ ॥

यदि भर्तुः प्रियं कार्यं लोकस्य भरतस्य च ।

नृशंसे पापसंकल्पे क्षुद्रे दुष्कृतकारिणि ॥ ६० ॥

‘कूट स्वभाव और पापपूर्ण विचारवाली नाँच दुरत्कारिणि,
यदि अपने पतिके, सारे जगत्कर और भरतका भी प्रिय करना
चाहती है तो इस दुष्कृत संकल्पको त्याग दे ॥ ६० ॥

किं नु दुःखमस्तीकं वा भयं रामे च पश्यसि ।

न कथंचिदृते रामाद् भरतो राज्यमावसेत् ॥ ६१ ॥

‘तू पृष्ठामें या श्रीराममें कौन-सा दुःखदायक या अप्रिय
बताव देस रही है (कि ऐसा नाँच कर्म करनेपर उतारू हो
गयी है) : श्रीरामके बिना भरत किसी तरह राज्य लेना
स्वीकार नहीं करेगा ॥ ६१ ॥

रामादपि हि तं मन्ये धर्मतो बलवत्तरम् ।

कथं द्रक्ष्यामि रामस्य वनं गच्छेति भाषिते ॥ ६२ ॥

मुग्धवर्णो विवर्णो तु यथैवेन्दुमुपप्लवम् ।

‘क्योंकि मेरी अभ्यसने धर्मपालनकी दृष्टिसे भरत श्रीरामसे
थो बड़े चहुँ है श्रीराममें यह कह देनेपर कि तूम वनको
जाओ जब उनके मुखकी कान्ति राक्षस चन्द्रमाकी भाँति
फोकी पड़ जायगी, उस समय मैं कैसे उनके उस उदास
मुखको और देख सकूँगा ? ॥ ६२ ॥

तां तु मे सुकृतां बुद्धिं सुहृदिः सह निश्चिताम् ॥ ६३ ॥

कथं द्रक्ष्याम्यपावतां परैरिव हतां वपुम् ।

‘मैंने श्रीरामके अपिषेक्ता निश्चय सुहृदोंके साथ
विचार करके किया है, मेरी यह बुद्धि शुभ कर्ममें प्रवृत्त
हुई है अब मैं इसे शत्रुओंद्वारा पराजित हुई मेनकी भाँति
पलटी हुई कैसे देखूँगा ? ॥ ६३ ॥

किं मां वक्ष्यन्ति राजानो नानादिग्ध्यः समागताः ॥ ६४ ॥

बालो यनायमेष्वकाशिरं राज्यमकारयत् ।

‘नाना दिशाओंसे आये हुए राजालोंग मुझे रक्ष्य करके
खेदपूर्वक कहेंगे कि इस मुख इक्ष्वाकुवंशी राजाने कैसे
दीर्घकालतक इस राज्यका पालन किया है ? ॥ ६४ ॥

यदा हि बहवो वृद्धा गुणवन्तो बहुश्रुताः ॥ ६५ ॥
परिप्रक्ष्यन्ति काकुत्स्थं वक्ष्यामीह कथं तदा ।

कैकेय्याः क्षिप्रधानेन पुत्रः प्रव्राजितो मया ॥ ६६ ॥

‘जब बहूनों में बहुश्रुत गुणवान् एवं वृद्ध पुरुष आकर
मुझसे पूछेंगे कि श्रीगम कहां हैं ? तब मैं उनमें कैसे यह
कहेगा कि कैकेयोंक दयाव दत्तपर मैंने अपने बेटेको घरसे
निकाल दिया ॥ ६५-६६ ॥

यदि सत्यं ब्रवीम्यन्तु तदसत्यं भविष्यति ।

किं मां वक्ष्यति कौसल्या राघवे वनमास्थिते ॥ ६७ ॥

किं चेनां प्रनिवक्ष्यामि कुत्वा विप्रियमीदृशम् ।

‘चांद कहूँ कि श्रीगमको वनवास देकर मैंने सत्यका
पालन किया है तो इसके पहले मैं उन्हें राज्य देनेका बात
कहा चुका हूँ, वह असत्य हो जायगी । यदि राम वनको चल
गये तो कौसल्या मुझे क्या कहेंगी ? उसका ऐसा महान्
अपकार करके मैं उसे क्या उत्तर दूंगा ॥ ६७ ॥

यदा वक्ष्ये कौसल्या दामीव च सर्वतोऽथ च ॥ ६८ ॥

धार्याजिद् भगिनीवचं भातृवक्षोपतिष्ठति ।

सततं प्रियकामा मे प्रियपुत्रा प्रियंवदा ॥ ६९ ॥

न मया सत्कृता देवी सत्कारार्हा कृते तव ।

हाय ! जिसका पुत्र मुझे सबसे अधिक प्रिय है, वह
प्रिय वचन बोलनवाली कौसल्या जब-जब दामो, समीप
पत्नी, बहिन और माताको भाँति मेरा प्रिय करनेकी इच्छासे
मेरी सेवामें नपमिष्ठ होती थी, तब तब उस सत्कार
पात्रगण्य होंका भी मैंने तो ही कारण कभी सत्कार
नहीं किया ॥ ६८-६९ ॥

इदानीं तत्तपति मां यन्मया सुकृतं त्वयि ॥ ७० ॥

शपथश्चानुपेतं भुक्तमभिधातुरम् ।

‘ऐरे साथ जो मैंने इतना अच्छा बर्ताव किया, वह बात
भाकर इस समय मुझे उसी प्रकार संताप दे रहा है जैसे
अपराध (हानिकारक) प्राज्ञोंसे युक्त गायक हुआ अन्न
किसी रागीको काट देता है । ७० ॥

विप्रकारे च सपथ्य सम्प्रभार्गं वनस्य च ॥ ७१ ॥

सुमित्रा प्रेक्ष्य वै भीता कथं मे विश्वमिष्यति ।

श्रीगमके अभिगमका निवारण और उनका वनकी ओर
गन्धान देखकर निश्चय ही सुमित्रा भयभीत हो जायगी, फिर
यह कैसे मेरा विश्वास करेगी ? ॥ ७१ ॥

कृपणं चत वेदेही श्रोष्यति ह्यमप्रियम् ॥ ७२ ॥

मां च पञ्चत्वमापन्नं शप्यं च वनमाश्रितम् ।

हाय ! बेचारी भीताको एक ही क्षण दो दुःखद एवं अप्रिय
समस्याएँ मूर्च्छने पड़ेंगे—श्रीगमका वनवास और मेरी मृत्यु ॥

वेदेही चत मे प्राणाश्शोचन्ती क्षपविष्यति ॥ ७३ ॥

हीना हिमवतः पार्श्वे किनरेणोष किनरी ।

‘जब वह श्रीगमक लिये शोक करने लगेगी, उस समय
मेरे प्राणोंका नाश कर डालूँगा—उसका शोक देखकर मेरे
प्राण इस शोकमें नहीं रह सकेंगे । उसकी दशा हिमालयके
पार्श्वभागमें अपन स्वामी किन्नरोंमें बिछुड़ी हुई किन्नरीक
समान हो जायगी ॥ ७३ ॥

नहि राममहं दृष्ट्वा प्रवसन्तं भगवने ॥ ७४ ॥

धिरे जीवितुमाशंसे रुदन्ती चापि मैथिलीम् ।

सा नूनं विधवा राज्यं सपुत्रा कारयिष्यसि ॥ ७५ ॥

मैं श्रीगमको विशाल वनमें निवास करते और
विधिवत्कुमारों को रोती देख अधिक कालतक जीवित
रहना नहीं चाहता । ऐसी दशामें तू निश्चय ही विधवा होकर
बेटेका साथ अयोध्याका राज्य करना ॥ ७४-७५ ॥

सती त्वामहमत्यन्तं व्यवस्थाप्यसती समीपम् ।

रूपिणीं विषसंयुक्तां पीत्वेव मदिरां नरः ॥ ७६ ॥

‘आह ! मैं तुझ अत्यन्त सती-साध्वी समझता था, परंतु
तू बड़ी दुष्टा निकली; ठीक उसी तरह जैसे कोई मनुष्य
देखनेमें सुन्दर मदिराको पीकर पीछे उसके द्वारा किये गये
विकारमें यह समझ पाता है कि इसमें विष मिला हुआ था ।

अनृतेर्वत मां सान्त्वैः सान्त्वयन्ती स्म मायसे ।

गीतशब्देन संरुध्य लुब्धो मृगमिवावधीः ॥ ७७ ॥

अबतक जो तू सान्त्वनापूर्ण मीठे वचन बोलकर मुझे
आश्वासन देती हुई बातें किया करती थी, वे तेरी कड़ी हुई
सारी बातें झूठे थीं । जैसे व्याध हरिणको मधुर संगीतसे
आकृष्ट करके उसे मार डालता है, उसी प्रकार तू भी पहले
मुझे लुभाकर अब मेरे प्राण ले रही है ॥ ७७ ॥

अनार्य इति मामार्याः पुत्रविक्रायकं शुवम् ।

विकरिष्यन्ति रथ्यासु सुगणं ब्राह्मणं यथा ॥ ७८ ॥

श्रेष्ठ पुरुष निश्चय ही मुझे नीच और एक नारीक मोहनेमें
पड़कर बटका घब देनवाला कहकर शराबी ब्राह्मणकी भाँति
मेरी राह-बाट और गल्ले-कूचोंमें निन्द्य करेंगे ॥ ७८ ॥

अहो दुःखमहो कृष्णं यत्र वाचः क्षमे तव ।

दुःखमेवविधे प्राप्तं पुरा कृतमिवाशुभम् ॥ ७९ ॥

‘अहो ! कितना दुःख है । कितना कष्ट है ! जहाँ मुझे
तेरी ये बातें सहन करने पड़ती हैं, मानो वह मेरे पूर्वजन्मके
किये हुए पापका ही अशुभ फल है, वो मुझपर ऐसा महान्
दुःख आ पड़ा ॥ ७९ ॥

चिरं खलु मया पापे त्वं पापेनाभिरक्षिता ।

अज्ञानादुपसम्पन्ना रज्जुसद्वन्धनी यथा ॥ ८० ॥

‘पापिनि ! मुझे पापोंने बहुत दिनोंसे तेरी रक्षा की और
अज्ञानवश तुझे गले लगाया, किन्तु तू आज मेरे गलेमें पड़ी
हुई फाँसोंकी रस्सों बन गयी ॥ ८० ॥

रममाणस्त्वया सार्धं मृत्युं त्वो नाभिलक्षये ।

बालो रहसि हस्तेन कृष्णसर्पमिवास्पृशम् ॥ ८१ ॥

'जैसे बालक एकान्तमें खेलता-खेलता काले नागको हाथमें पकड़ ले, उसी प्रकार मैंने एकान्तमें तेरे साथ क्रीड़ा करते हुए तेरा आंगिकृष्ण किया है, परंतु उस समय मुझे यह न सूझा कि तू ही एक दिन मेरे मृत्युका कारण बनगो ।

तं तु मां जीवलोकोऽयं नूनमाक्रोष्टुमर्हति ।

मया ह्यपिगुणं पुत्रं स महात्मा दुःख्यया ॥ ८२ ॥

'हाय ! मुझ दुःख्यात्मा जात-गो हो अपन महात्मा पुत्रको मितुहांव बना दिया । मुझे यह सादा संसार निश्चय ही निश्चारेण—गारिह्या देगा, जो उज्यत ही होगा ॥ ८२ ॥

तारिणो बत कामात्मा राजा दशरथो मृशम् ।

श्रीकृते च प्रियं पुत्रं वनं प्रस्थापयिष्यति ॥ ८३ ॥

'लोग मेरे निन्दा करते हुए कहेंगे कि राजा दशरथ बड़ा ही भ्रष्ट और नरमो है, जो एक स्त्रीको सतृप्त करनेके लिये अपने प्यारे पुत्रको वनमें भेज रहा है ॥ ८३ ॥

चेदैष्ट ब्रह्मचर्यैश्च गुर्भाभ्योपकर्शितः ।

भोगकाले महत्कृच्छ्रं पुनरेव प्रपन्न्यते ॥ ८४ ॥

'हाय ! अकालक तो श्रीराम चेदैष्ट अध्ययन करने ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करने तथा अनेकानेक गुरुवनोक्तों सेतामें सलस्य रत्नके कसस्य दुबले-होते चले आये हैं । अब जब इनके लिये सुखभोगका समय आया है, तब ये वनमें जाकर गहलू कष्टमें पड़ेंगे ॥ ८४ ॥

नालं द्वितीयं वचनं पुत्रो मां प्रतिभाषितुम् ।

स वनं प्रव्रजेत्युक्तो बाढभित्तयेव वक्ष्यति ॥ ८५ ॥

'अपने पुत्र श्रीरामसे यदि मैं कह दूँ कि तुम वनको चले जाओ तो वे तूना 'बहुत अच्छा कहकर मेरे आज्ञाको स्वीकार कर लेंगे । परं पुत्र राम दूसरी बातें जान कहकर मुझे प्रतिकूल हस्त नहीं दे सकत ॥ ८५ ॥

यदि मे राधवः कुर्याद् वनं गच्छेति चोदितः ।

प्रतिकूलं प्रिय मे स्यात् त्वं वत्स' करिष्यति ॥ ८६ ॥

'यदि मेरे मन जानकी आज्ञा दे देना भी श्रीरामचन्द्र प्रसक्त विग्राहक जाते वनमें नहीं जाते तो वही मेरे लिये भिन्न कार्य होगा, किंतु मेरा बेदा ऐसा नहीं कर सकता ॥

गच्छे कि वनं प्राप्ते सर्वलोकस्य धिक्कृतम् ।

मृत्युरक्ष्मणीयं मां नयिष्यति यमक्षयम् ॥ ८७ ॥

'यदि रघुनन्दन राम वनको चले गये तो सब लोगोके धिक्कारण वन हुए मुझ अक्षय अपराधोंको मृत्यु अवश्य यामोक्षमें पहुंचा देगी ॥ ८७ ॥

मृने मयि गते रामे वनं मनुजपुङ्गवे ।

इष्टे मय जने शेषे कि पापं प्रतिपत्स्यसे ॥ ८८ ॥

'यदि नरश्रेष्ठ श्रीरामके वनमें चले जानेपर मेरे मृत्यु हो गयो तो शेष जो मेरे प्रियजन (कौसल्या आदि) यहाँ

रहेंगे, उनपर तू कौन-सा अत्याचार करेगी ? ॥ ८८ ॥

कौसल्या मां च रामं च पुत्री च यदि हास्यति ।

दुःखान्यसहतीं देवी मापेक्षानुगमिष्यति ॥ ८९ ॥

'देवी कौसल्याको यदि मुझसे, श्रीरामसे तथा शेष दोनों पुत्र लक्ष्मण और शत्रुघ्नसे विछाह हो जायगा तो वह इतने बड़े दुःखको सहन नहीं कर सकगी, अतः मेरे ही पोंछे वह भी परलोक सिधार जायगी (सुमित्राका भी यही हाल होगा) ॥ ८९ ॥

कौसल्यां च सुमित्रां च मां च पुत्रैस्त्रिभिः सह ।

प्रक्षिप्य नरके सा त्वं कैकेयि मुखिता भव ॥ ९० ॥

'कैकेयि ! इस प्रकार कौसल्याको, सुमित्राको और तीनों पुत्रोंके साथ मुझे भी नरक-तुल्य महान् शोकमें डालकर तू स्वयं सुखी होना ॥ ९० ॥

मया रामेण च त्यक्तं शाश्वतं सत्कृतं गुणैः ।

इक्ष्वाकुकुलमक्षोभ्यपाकुलं पालयिष्यसि ॥ ९१ ॥

'अनेकानेक गुणोंसे सत्कृत, शाश्वत तथा क्षोभग्रहित यह इक्ष्वाकुकुल जब मुझसे और श्रीरामसे परित्यक्त होकर शाकसे व्याकुल हो जायगा, तब उस अवस्थामें तू इसका पालन करेगी ॥ ९१ ॥

प्रियं चेद् भरतस्यैतद् रामप्रव्राजनं भवेत् ।

मा स्म मे भरतः कार्त्वीन् प्रेतकृत्यं गतायुधः ॥ ९२ ॥

'यदि भरतको भी श्रीरामका यह वनमें भेजा जाना प्रिय लगता हो तो मेरे मृत्युके बाद वे मेरे शरीरका दाह-संस्कार न करे ॥ ९२ ॥

पृते मयि गते रामे वनं पुरुषपुङ्गवे ।

सेदानीं विधवा राज्यं सपुत्रा कारयिष्यमि ॥ ९३ ॥

'पुरुषशिरोमणि श्रीरामके वन-गमनके पश्चात् मेरे मृत्यु हो जानेपर अब विधवा होकर तू जेटके साथ अयाध्याका राज्य करेगी ॥ ९३ ॥

त्वं राजपुत्रि दैवेन न्यवसो मम वेश्मनि ।

अकीर्तिष्ठातुला लोके पुनः परिभवश्च ये ।

सर्वभूनेषु चावज्ञा यथा पापकृतस्तथा ॥ ९४ ॥

'राजकुमारी ! तू मेरे दुर्भाग्यसे मेरे घरमें आकर बस गयी । नर कारण संसारमें पापाचारोंकी भाँति मुझे निश्चय ही अनुपम अपयश, तिरस्कार और समस्त प्राणियोंसे अवहेलना प्राप्त होगी ॥ ९४ ॥

कथं रथैर्विभुर्यात्वा गजाश्चैश्च मुहुर्मुहुः ।

पद्भ्यां रामो महारण्ये वत्सो मे विचरिष्यति ॥ ९५ ॥

'मेरे पुत्र सामर्थ्यशाली राम बारबार रथों, हाथियों और घोड़ोंसे यज्ञ किया करते थे । वे ही अब उस विशाल वनमें गिटल कैम चलेंगे ? ॥ ९५ ॥

यस्य चाहारसमये सूदाः कुण्डलधारिणः ।

अहंपूर्वाः पचन्ति स्म प्रसन्नाः पानभोजनम् ॥ ९६ ॥

स कथं नु कथायाणि तित्तानि कटुकानि च ।

भक्षयन् वन्यमाहारं सुतो मे वर्तयिष्यति ॥ ९७ ॥

'भोजनके समय जिनके लिये कुण्डलधरों रसोइये प्रसन्न होकर 'पहले मैं बनाऊँगा' ऐसा कहते हुए खाने-पीनेकी वस्तुएँ तैयार करने थे व ही मेरे पुत्र रामचन्द्र वनमें कर्मल, जल और कड़वे फलोंका आहार करते हुए किस तरह निर्वाह करेंगे ॥ ९६-९७ ॥

महार्हवस्त्रसम्पन्नो भूत्वा चिन्मुखोचितः ।

कावायपरिधानस्तु कथं रामो भविष्यति ॥ ९८ ॥

'जो सदा बहुमूल्य वस्त्र पहना करते थे और जिनका चिरकालसे सुखमें ही समय बीता है, वे ही श्रीराम वनमें गेरू वस्त्र पहनकर कैसे रह सकेंगे ? ॥ ९८ ॥

कस्येह दास्यते वाक्यमयं विधमयोरितम् ।

रामस्यारण्यगमने भरतस्याभिषेकनम् ॥ ९९ ॥

'श्रीरामका वनगमन और भरतका अभिषेक—ऐसा कठोर वाक्य तब किसकी प्रणामसे अपने मुहमें निकाला है धिगस्तु योचितो नाम शठः स्वार्थपरायणाः ।

न व्रक्षीमि स्त्रियः सर्वा भरतस्यैव मानरम् ॥ १०० ॥

'स्त्रियोंकी भिक्षा है, क्योंकि वे शठ और स्वार्थपरायण हैं ॥ है, परन्तु मैं सभी स्त्रियोंके लिये ऐसा नहीं कह सकता कवल भरतकी माताकी ही निन्दा करता हूँ ॥ १०० ॥

अनर्थभाक्तेऽर्थपरे नृशमे

ममानुतापाय निवेदितासि ।

किमप्रियं पश्यसि मन्निभिनं

हितानुकारिण्यथवापि रामे ॥ १०१ ॥

'अनर्थप है अर्थवद्धि रखनेवाली क्रूर कैकेयी । तू मुझे बताए देनेके लिये ही इस घरमें बसायी गयी है । अरे ! मेरे ब्राह्मण तू अपना धर्म सा अग्रिम होना देख रही है । अथवा गलब निरकार हिन करनेवाले श्रीराम ही तूझ कौन-सी गुराई दिक्कतें देती है ॥ १०१ ॥

परित्यजेष्टुः पितरोऽपि पुत्रान्

भार्याः पत्नीश्चापि कृतानुरागाः ।

कृतम् हि सर्वं कृतं जगत् स्याद्

दृष्ट्वैव रामं व्यसने निपन्नम् ॥ १०२ ॥

'श्रीरामको सकटके समुद्रमें डूबा हुआ देखकर तो पिता अपने पुत्रको त्याग देंगे । अनुरागिणी स्त्रियाँ भी अपने पतिपत्नीको त्याग देंगी । इस प्रकार यह सारा जगत् ही कुपित-विपरीत व्यवहार करनेवाला हो जायगा ॥ १०२ ॥

अहं पुनर्देवकुमाररूपं

मलकृतं तं सुतमात्रजन्तम् ।

नन्वापि पश्यन्निव दर्शनं

भवामि दृष्ट्वैव पुनर्ध्रुवेव ॥ १०३ ॥

'देवकुमारके समान कमनाय रूपवाले अपने पुत्र

श्रीरामको जब वस्त्र और आभूषणोंसे विभूषित हाकर सामने आते देखता हूँ तो मेरांस उन्को शोभा निहारकर निहान हो जाता हूँ । उन्हें देखकर ऐसा आनन्द महता है मनो मैं फिर ज्ञान हो गया ॥ १०३ ॥

विना हि सूर्येण भवेत् प्रवृत्ति-

रवर्धना वज्रधरेण वापि ।

रामं तु गच्छन्तमितः सपीठ्य

जीवेन्न कश्चिन्विनि चेतना मे ॥ १०४ ॥

'कदाचित् सूर्यके बिना भी समस्तका काम चल जाय, वज्रधरों इन्द्रके वर्षा न कनपर भी प्राणियोंका जीवन सुरक्षित रह जाय, परन्तु रामकी यहमि वनकी ओर जाते देखकर कोई भी जाति नहीं रह सकता—मरी ऐसी धारणा है ॥ १०४ ॥

विनाशकामामहिनाममित्रा-

मावासयं भृत्यमिवात्मनस्त्वाम् ।

छिरं जताङ्गेन धृतासि सर्पे

महाविषा तेन हनोऽस्मि मोहात् ॥ १०५ ॥

'अरे ! तू मेरा विनाश चाहनेवाली, अहित करनेवाली और शत्रुरूप है । जैसे कोई अपना ही मृत्युको धरमे स्थान दे दे उसी प्रकार मैंने तुझे घरमें बसा लिया है । खेदको खात है कि मैंने मोहवश तूझ महाविषैली नागिनकी चिरकालसे अपने अङ्गमें धारण कर रखा है; इसीलिये आज मैं मारा गया ।

यथा च रामेण सलक्ष्मणेन

प्रशस्तु हीनो भरतस्त्वया सह ।

पुरं च राष्ट्रं च निहत्य बान्धवान्

ममाहितानां च भवामिहर्विणी ॥ १०६ ॥

'मुझसे, श्रीराम और लक्ष्मणसे हीन होकर भरत समस्त बान्धवोंका विनाश करके मेरे साथ इस नगर तथा राष्ट्रका शासन करे तथा तू मेरे शत्रुओंका हर्ष बढ़ानेवाली हो ॥

नृशंसकुले व्यसनप्रहारिणि

प्रसह्य वाक्यं यदिहाद्य भावसे ।

न नाम ते तेन मुखात् पतन्धधो

विशीर्यमाणा दशनाः सहस्रधा ॥ १०७ ॥

'क्रूरतापूर्ण चर्ताव करनेवाली कैकेयी ! तू सकटमें पड़े हुएपर प्रहार कर रही है । अरे ! जब तू दुराग्रहपूर्वक आज ऐसी कठोर बातें मेहमें निकालती है उस समय तेरे दोनोंक हजारी टुकड़े होकर मेहसे नीचे क्यों नहीं गिर जाते ? ।

न किञ्चिदाहहितमप्रियं वक्षो

न वेत्ति रामः परुषाणि प्राषितुम् ।

कथं तु रामे ह्यभिरामवादिनि

ब्रवीषि दोषान् गुणानित्यसम्पते ॥ १०८ ॥

'श्रीराम कभी किसीमें कोई अहितकारक या अप्रिय वचन नहीं करते हैं । वे कष्टवचन बोलना जानते ही नहीं हैं ।

उनका अपने गुणोंके कारण सदा-सर्वदा सम्पन्न होता है।
उन्हीं मनोहर वचन बोलनेवाले श्रीराममें तू दोष कैसे बना रहो
है ? क्योंकि वनवास उर्साको दिया जाता है, जिसके बहुत-से
दोष सिद्ध हो चुके हों ॥ १०८ ॥

प्रताप्य वा प्रज्वल वा प्रणश्य वा

सहस्रशो वा स्फुटितां महीं व्रज ।

न ते करिष्यामि वचः सुदारुणं

यमाहितं कैकयराजपांसने ॥ १०९ ॥

'ओ कैकयरामके कुल्की जाती-जाती कलकू । तू
धाने गलानिमें हूँ जा अथवा भागमें जलकर खाक हो जा
या बिब खाकर प्राण दे दे अथवा पृथ्वीमें हजारों दरों
खाकर लगीमें समा जा, परतु मेरा अहित करनेवाली तेरी यह
अत्यन्त कलार बात मैं कदापि नहीं मानूँगा ॥ १०९ ॥

भूतोपमां नित्यमसन्धिर्यवदां

प्रनुष्टुभावां स्वकुलोपघातिनीम् ।

न जीविषु त्वां विषहेऽमनोरमां

विधक्षमाणां हृदयं सवन्धनम् ॥ ११० ॥

'तू छुके समान घात करनेवाली है । बातें तो माँटी-माँटी
करती है, परतु वे सदा झुठी और सझावनासे रहित हानी हैं
तेरे नृदगात्र भाव अत्यन्त दुषित है तथा तू अपने कुल्की भी
बाधा करनेवाली है । इतना ही नहीं, तू प्राणोन्महित मेरे
हृदयको भी जलाने भस्म कर डालना चाहती है, इसीलिए

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयं अध्याकाण्डे द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें बारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १२ ॥

त्रयोदशः सर्गः

राजाका विलाप और कैकेयीसे अनुनय-विनय

अतदहं महाराज शयानमन्योऽस्मिन् ।

यथातिभिव पुण्यान्ते देवल्लोकात् परिच्युतम् ॥ १ ॥

अनर्थक्यासिद्धार्थां ह्यभीता भयदर्शिनी ।

पुनराकारयामास तमेव वरमङ्गना ॥ २ ॥

महायज्ञ दशरथ उस अयोग्य और अनुचित अवस्थामें
पृथ्वीपर पड़े थे । उस समय वे पुण्य समाप्त होनेपर
देवलोकसे गढ़ हुए राजा यथारिक्त समान जान पड़ते थे ।
उनको वैसी दश देव अनर्थकी साक्षात् मूर्ति कैकेयी,
जिसका प्रयोजन अभीतक सिद्ध नहीं हुआ था, जो
लोकपवादका भय छोड़ चुकी थी और श्रीरामस परतक
लिसे भय देखती थी, पुनः उसी वरके लिये राजाका
तत्त्वोद्घात करके कहने लगी— ॥ १-२ ॥

त्वं कथमेव महाराज सत्यवादी बृहन्नतः ।

यम जेद वरं कस्माद् विधारयिषुमिच्छसि ॥ ३ ॥

'महाराज ! आप तो हीन मारा करते थे कि मैं बड़ा

मेरे मनको नहीं धातों है । तू ज पापिनीका जीवित रहना मैं नहीं
सह सकता ॥ ११० ॥

न जीवितं मेऽस्ति कुतः पुनः सुखं

विनात्मजेनात्मघतां कुतो रतिः ।

यमाहितं देवि न कर्तुमर्हसि

स्पृशामि पादावपि ते प्रसीद मे ॥ १११ ॥

'देवि । अपने बेटे श्रीरामके बिना मेरा जीवन नहीं रह
सकता, फिर कहाँसे सुख हो सकता है ? आत्मज्ञ पुरुषोंको
भी अपने पुत्रसे विछाड़ हो जानेपर कैसे चैन मिल सकता
है ? अतः तू मेरा अहित न कर मैं तेरे पैर छूता हूँ तू
पुत्रपर प्रसन्न हो जा' ॥ १११ ॥

स भूमिपालो विलपप्रनाथवत्

स्त्रिया गृहीतो हृदयेऽतिमाप्रथा ।

यपात देव्याश्चरणौ प्रसारिता-

वुधावसम्प्राप्य सथाऽऽतुरस्तथा ॥ ११२ ॥

इस प्रकार महाराज दशरथ मर्यादाका उल्लङ्घन
करनेवाली उस हठाली स्त्रीके वशमें पड़कर अनाथकी भाँति
विलाप कर रहें थे । वे देवी कैकेयीके फैलाये हुए दोनों
चरणोंको छूना चाहते थे, परतु उन्हें न पाकर बीचमें ही
मूर्च्छित होकर गिर पड़े । ठीक उसी तरह, जैसे कोई रोगी
किसी वस्तुका छूना चाहता है, किन्तु दुर्बलताके कारण
वर्तनिक न पहुँचकर बीचमें ही अचेत होकर गिर जाता है ।

सत्यवादी और दृढ़प्रतिज्ञ हैं, फिर आप मेरे इस वरदानको
क्यों हजम कर जाना चाहते हैं ?' ॥ ३ ॥

एवमुक्तस्तु कैकेय्या राजा दशरथस्तदा ।

प्रत्युवाच ततः क्रुद्धो मुहूर्तं विह्वलचित्तः ॥ ४ ॥

कैकेयीके ऐसा कहनेपर राजा दशरथ दो घड़ीतक
व्याकुल्की सी अवस्थामें रहे । तत्पश्चात् कुपित होकर उसे
इस प्रकार उत्तर देने लगे— ॥ ४ ॥

मृते पयि गते रामे वनं यनुजपुङ्गवे ।

हन्तानार्ये यमामित्रे सकाया सुखिनी भव ॥ ५ ॥

'ओ मीन ! तू मेरी शत्रु है । नश्वर श्रीरामके वनमें चले
जानेपर जब मेरी मृत्यु हो जायगी, उस समय तू
सफलमनोरथ होकर सुखसे रहना ॥ ५ ॥

स्वर्गेऽपि खलु रामस्य कुशलं दैवतैरहम् ।

प्रत्यादेशादभिहितं धारयिष्ये कथं वत ॥ ६ ॥

'हाय ! स्वर्गमें भी जब देवता मुझसे श्रीरामका कुशल-

ममाचार, पूछेंगे, उस समय मैं उन्हें क्या उत्तर दूंगा ? यदि कहूँ, उन्हें क्षम्यें भेज दिया तो उसके बाद से लोग जो मेरे प्रति धिकागपूर्ण बात कहेंगे उसे कैसे सह सकूंगा ? इसके लिये मुझे बड़ा खेद है । ६ ॥

कैकेय्याः प्रियकामेन रामः प्रव्राजितो वनम् ।

यदि सत्यं ब्रवीम्येतत् सत्यस्य भविष्यति ॥ ७ ॥

‘कैकेयीका प्रिय करनेकी इच्छासे उसके माँग हुए श्रमजनक अनुसार मैंने श्रीरामको वनमें भेज दिया यदि ऐसा कहूँ और इसे सत्य बतलाऊँ तो पगे वह पहली बात असत्य हो आधमी, जिसके द्वारा मैंने रामको राज्य देनेका आश्वासन दिया है । ७ ॥

अपुत्रेण मया पुत्रः श्रमेण महता महान् ।

रामो लब्धो महानेजाः स कथं त्यज्यते मया ॥ ८ ॥

‘मैं पहले पुत्रहीन था, फिर महान् परिश्रम करके मैंने जिन महातजस्वी महापुरुष श्रीरामको पुररूपमें प्राप्त किया है, उनका मेरे द्वारा त्याग कैसे किया जा सकता है ? ॥ ८ ॥

शूरश्र कृतयिद्यश्च जितक्रोधः क्षमापरः ।

कथं कमलपत्राक्षो मया रामो विवास्यते ॥ ९ ॥

‘जो शूरवीर, विद्वान्, क्रोधको जीतनेवाले और क्षमापरायण है, उन कमलनयन श्रीरामको मैं देशनिकात्रा कैसे दे सकता हूँ ? ॥ ९ ॥

कथमिन्दीवरश्चामे वीर्यशालुं महाबलम् ।

अभिराममहं रामं स्थापयिष्यामि दण्डकान् ॥ १० ॥

‘जिनकी अङ्गकान्ति नीलकमलके समान इयाम है, भुजाएँ विशाल और बल महान् हैं, उन नयनाभिराम श्रीरामको मैं दण्डकवनमें कैसे भेज सकूंगा ? ॥ १० ॥

सुरक्षानामुचितस्यैव दुःखैरनुचितस्य च ।

तु खे नामानुपश्येथे कथं रामस्य धीमन ॥ ११ ॥

‘जो सदा सुख भागनके ही योग्य है, कदापि दुःख भागनेके योग्य नहीं है, उन बुद्धिमान् श्रीरामको दुःख उठाने में कैसे देख सकता हूँ ? ॥ ११ ॥

यादे दुःखमकुत्सा तु मम संक्रमणं भवेत् ।

भदुःखार्हस्य रामस्य मतः सुखमवाप्नुयाम् ॥ १२ ॥

‘जो दुःख भागनके योग्य नहीं है, उन श्रीरामको यह अन्यायका दूरा दिने बिना ही यदि मैं इस संसारसे विदा हो जाना तो मुझे बड़ा सुख मिलता ॥ १२ ॥

नृजीमे पापसंकल्पे राधे सत्यपराक्रमम् ।

किं विप्रिरेण कैकेयि प्रियं योजयसे मम ॥ १३ ॥

अकीर्तिरतुला लोके ध्रुवं परिभविष्यति ।

‘ओ पापपूर्ण विचार रखनेवाली पापाणहृदया कैकेयि ! सत्यपराक्रमी श्रीराम मुझे बहुत प्रिय हैं, तु मुझसे उनके विछोह क्यों कर रही है ? अरी ! ऐसा करनेसे निश्चय ही संसारमें तेरी यह अपकीर्ति फैलगी, जिसकी कड़ा मुल्ना नहीं है ॥ १३ ॥

तथा विलम्बतस्तस्य परिभ्रमितचेतसः ॥ १४ ॥

अस्तमध्यागमत् सूर्यो रजनी चाभ्यवर्तत ।

‘इस प्रकार विलम्ब करते करते राजा दशरथका चित्त अत्यन्त व्याकुल हो उठा इनमें ही सूर्यदेव अस्ताचलकी चले गये और प्रदोषकाल आ पहुँचा ॥ १४ ॥

सा त्रियामा तदार्तस्य चन्द्रमण्डलमण्डिता ॥ १५ ॥

राज्ञो विलम्बमानस्य न कृपयास्ततः शर्वरी ।

‘वह तीन पहलवाली रात यद्यपि चन्द्रमण्डलकी चारुचन्द्रिकासे आलोकित हो रही थी, तो भी उस समय अर्त होकर विलम्ब करते हुए राजा दशरथके लिये प्रकाश या तल्स्त्रस न दे सकी ॥ १५ ॥

सर्द्वोष्णा विनिःश्वस्य वृद्धो दशरथो नृपः ॥ १६ ॥

विललापार्तवद् दुःखं गगनासक्तलोचनः ।

‘वृद्ध राजा दशरथ निरन्तर गरम उच्छ्वास लेते हुए आकाशकी ओर दृष्टि लगाय आर्तकी भाँति दुःखपूर्ण विलाप करने लगे— ॥ १६ ॥

न प्रभातं त्वयेच्छामि निशे नक्षत्रभूषिते ॥ १७ ॥

क्रियतां मे दद्या भद्रे मयायं रचितोऽञ्जलिः ।

‘नक्षत्रमालाओंसे अलंकृत कल्याणमयी रात्रिदेवि ! मैं नहीं चाहता कि तुम्हारे द्वारा प्रभात काल लाया जाय मुझपर दया करो । मैं तुम्हारे सामने हाथ जोड़ता हूँ ॥ १७ ॥

अथवा गम्यतां शीघ्रं नाहमिच्छामि निर्घणाम् ॥ १८ ॥

नृशंसां कैकेयीं द्रष्टुं यत्कृते स्थसनं मम ।

‘अथवा शीघ्र भीत जाओ; क्योंकि जिसके कारण मुझे भारी संकट प्राप्त हुआ है उस निर्दय और क्रूर कैकेयीको अब मैं नहीं देखना चाहता ॥ १८ ॥

एषमुक्त्वा ततो राजा कैकेयीं संयताञ्जलिः ॥ १९ ॥

प्रसादयामास पुनः कैकेयीं राजधर्मवित् ।

‘कैकेयीसे ऐसा कहकर राजधर्मके ज्ञाता राजा दशरथने पुनः हाथ जोड़कर उसे मनाने या प्रसन्न करनेकी चेष्टा आरम्भ की— ॥ १९ ॥

साधुवृत्तस्य दीनस्य त्वद्वत्तस्य गतायुषः ॥ २० ॥

प्रसादः क्रियतां भद्रे देवि राजो विशेषतः ।

‘कल्याणमयी देवि ! जो सदाचारी, दीन, तैरे आश्रित, गतायु (मरणासन्न) और विशेषतः राजा है—ऐसे मुझ दशरथपर कृपा कर ॥ २० ॥

शून्ये न खलु सुश्रोणि भयेदं समुदाहनम् ॥ २१ ॥

कुरु साधुप्रसादं मे बाले सहृदया ह्यसि ।

‘सुन्दर कटिप्रदेशवाली केकयनन्दिनि ! मैंने जो यह श्रीरामको राज्य देनेकर बात कही है, वह किसी सूने घरमें नहीं, भरी सभामें घोषित की है, अतः बाले ! तू बड़ी सहृदय है इसलिये मुझपर अलौकिक कृपा कर (जिससे सभासदी द्वारा मेरा उपहास न हो) ॥ २१ ॥

प्रसीद देवि रामो मे त्वहत्तं राज्यमव्ययम् ॥ २२ ॥
लभतामसितापाङ्गे वशः परमवाप्यसि ।

‘देवि ! प्रसन्न हो जा । कजरारे नेत्रप्रान्तवाली प्रिये ! मेरे शीराम तेरे ही दिये हुए इस अक्षय राज्यको प्राप्त करें, इससे तुझे उत्तम यशको प्राप्ति होगी ॥ २२ ॥

मम रामस्य लोकस्य गुरुणा भरतस्य च ।
प्रियमेतद् गुरुभोगि कुरु चारुमुखेक्षणो ॥ २३ ॥

‘पृथुल नितम्बवाली देवि ! सुमुखि ! सुलेश्वर ! यह प्रसन्न मुझपर, शीरामपर समस्त प्रजावर्गका, गुरुजनका तथा भरतको भी प्रिय होगा, अतः इसे पूर्ण कर’ ॥ २३ ॥

विशुद्धभावस्य हि दुष्टभावा
तीनस्य ताम्राश्रुकलस्य राज्ञः ।

शुक्ला विशिष्टं करुणं विलापं
भर्तृनुदीमा न चकार वाक्यम् ॥ २४ ॥

राजाके हृदयका भाव अत्यन्त शुद्ध था उनके अर्गुभर नेत्र झाले हुए थे और वे राज्यभावना विशिष्ट करुणाजनक विलाप कर रहे थे, किन्तु मनमें दृष्टिगत विचार रखनेवालों निष्ठुर ईश्वरीय पतिते राम विष्णुपति के मुखपर भी उनकी

इत्यार्य श्रीमद्भारतमहाकाव्ये आदिकाव्येऽथोद्धाकाण्डे त्रयोदशः सर्गः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीभारतमहाकाव्ये आदिकाव्यक अथोद्धाकाण्डमें तत्तर्वा सर्ग पूरा हुआ ॥ १३ ॥

★

चतुर्दशः सर्गः

कैकेयीका राजाको सत्यपर दृढ़ रहनेके लिये प्रेरणा देकर अपने शरीरकी पूर्तिके लिये दुराग्रह दिखाना, महर्षि वसिष्ठका अन्तःपुरके द्वारपर आगमन और सुमन्त्रको महाराजके पास भेजना, राजाकी आज्ञासे सुमन्त्रका श्रीरामको बुलानेके लिये जाना

पुत्रशोकार्दित पाषा विसृज्य पतितं भुवि ।
विश्वेप्रमानमुन्नेक्ष्य ऐक्ष्याकषिदयत्नवान् ॥ १ ॥

इक्ष्वाकुन्मदन राजा दशरथ पुत्रशोकसे पीड़ित हो गुश्वापद अघात पहुँचे और बदनसे छटागटा रहे थे, लगे हुए अग्रभागसे देखकर पण्डितों कैकेयी इस प्रकार बोली— ॥ १ ॥

पार्श्वं कुलं च किमिदं मम संभृत्य संभवम् ।
शोषे क्षिणितले रश्मिः स्थित्या स्थानं त्वयर्हसि ॥ २ ॥

‘महाराज ! आपने मुझ से वर देनेकी प्रतिज्ञा की थी और जब मैंने उन्हें माँगा, तब आप इस प्रकार सन्न होकर पृथ्वीपर गिर पड़े, मानो कोई पाप करके पछता रहे हो, यह क्या बात है ? आपकी संपूर्णता मर्यादाय स्थिर रहनी चाहिये ॥ २ ॥

आहुः सत्यं हि परम धर्मं धर्मविदो जनाः ।
रश्मिमाश्रित्य च मया त्वं धर्मं प्रतिचोदितः ॥ ३ ॥

धर्मज्ञ पुरुष सत्यको ही सबसे श्रेष्ठ धर्म बतलाते हैं, उस राज्यका महाराज लेकर मैंने आपको धर्मका पालन करनेके लिये ही प्रेरित किया है ॥ ३ ॥

आज्ञाकर पालन नहीं किया ॥ २४ ॥

ततः स राजा पुनरेव मुच्छितः
प्रियामतुष्टां प्रतिकूलभाषिणीम् ।
समीक्ष्य पुत्रस्य विद्यासनं प्रति
क्षितौ विसंज्ञो निपपात दुःखितः ॥ २५ ॥

(इतनी अनुनय-विनयके बाद भी) जब प्रिया कैकेयी किसी तरह संतुष्ट न हो सकी और बराबर प्रतिकूल बातें ही मुँहसे निकालती गयी, तब पुत्रक वनवासकी बात सोचकर राजा पुनः दुःखके मारे मुच्छित हो गये और मृध-वृध शोकके पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ २५ ॥

इतीव राज्ञो व्यथितस्य सा निशा
जगाम धीरं श्रुततो मनस्विनः ।

विबोध्यमानः प्रतिबोधनं तदा
निवारयामास स राजसत्तमः ॥ २६ ॥

इस प्रकार व्यथित होकर चयंकर उच्छ्वास लेंते हुए मनस्वी राजा दशरथकी यह रात धीरे-धीरे बीत गयी । प्रातःकाल राजाको जगानेके लिये मनोहर वाद्योंके साथ मङ्गलगान होने लगा, परन्तु उन राजशिरोमणिके तत्काल मनाही भेजकर वह सब बंद करा दिया ॥ २६ ॥

संभृत्य शैव्यः श्येनाय स्वां तनुं जगतीपतिः ।
प्रदाय पक्षिणे राजा जगाम गतिमुत्तमाम् ॥ ४ ॥

‘पृथ्वीपति राजा शैव्यने आज पक्षीको अपना शरीर देनेकी प्रतिज्ञा करके उसे दे ही दिया और देकर उसमें गति प्राप्त कर ली ॥ ४ ॥

तथा ह्यलर्कस्तेजस्वी ब्राह्मणे वेदपारगे ।
याचमाने स्वके नेत्रे उद्धृत्याविमना ददौ ॥ ५ ॥

‘इसी प्रकार तेजस्वी राजा अलर्कने बंदोंके पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मणके उसका शयना करनेपर मनमें खेद न लाते हुए अपनी दोनों आँखें निकालकर दे दी थीं ॥ ५ ॥

सगितां तु पतिः स्वस्यां मर्यादां सत्यमन्वितः ।
सत्यानुरोधात् समये वेलो स्वां नातिवर्तते ॥ ६ ॥

‘सत्यको प्राप्त हुआ समुद्र सत्यका ही अनुमरण करनेके कारण पर्व आदिके समय भी अपनी छोटो-सी सीमातट—भूमिक्रम भी उल्लङ्घन नहीं करता ॥ ६ ॥

सत्यमेकपदं ब्रह्म सत्ये धर्मः प्रतिष्ठितः ।
सत्यमेवाक्षया वेदाः सत्येनावाप्यते परम् ॥ ७ ॥

‘मत्स्य ही प्रणवरूप शब्दब्रह्म है, सत्यमें हूँ धर्म प्रणिहित है, सत्य ही अविनाशी वेद है और सत्यमें ही परब्रह्मकी प्राप्ति होती है ॥ ७ ॥

सत्यं समनुवर्तस्व यदि धर्मं धृता भक्तिः ।
स वरः सफलो मेऽस्तु वरदो ह्यसि सतम ॥ ८ ॥

‘इसलिये यदि आपकी बुद्धि धर्ममें स्थित है तो सत्यका अनुसरण कीजिये। साधुशरीरमण! मेरा माँगा हुआ वह वर सफल होना चाहिये; क्योंकि आप स्वयं ही उस वरके दाता हैं ॥ ८ ॥

धर्ममैवाधिकामार्थं मम चेवाभिधोदनात् ।
प्रधाजय सुते राम मित्रः खलु त्वां ब्रवीम्यहम् ॥ ९ ॥

‘धर्मके ही अभीष्ट फलकी सिद्धिके लिये तथा मेरी प्रणाम थी आप अपने पुत्र श्रीरामका चरम निकाल दाय्य। मैं अपने इस कथनको तीन बार दुहराती हूँ ॥ ९ ॥

समये च भमार्यमे यदि त्वं न करिष्यासि ।
अमरस्ते परित्यक्ता परित्यक्ष्यामि जीवितम् ॥ १० ॥

‘आप! यदि मुझसे की हुई इस प्रतिज्ञाका आप पालन नहीं करेंगे तो मैं आपसे परित्यक्त (उपासक) होकर आपके सामने ही अपने प्राणका परित्याग कर दूँगी ॥ १० ॥

एवं प्रधोदितो राजा कैकेय्या निर्विंशङ्कया ।
नाशकत् पाशमुन्मोक्तुं बलिरिन्द्रकृतं यथा ॥ ११ ॥

इस प्रकार कैकेयीने जब नि-शङ्क होकर राजाको प्रार्थन किया, तब वे उस सत्यरूपी बन्धनको बँसे ही नहीं खोल सके — इस बन्धनसे अपनेको उसी तरह नहीं मुक्त कर सके जैसा राजा बलि इन्द्रप्रति कायनके पाशसे अपनेको मुक्त करनेमें असमर्थ हो गये थे ॥ ११ ॥

उद्भ्रान्तवदयश्चापि विवर्णवदनाऽभवत् ।
स धुर्यो हि परित्यक्तः युगचक्रान्तरे यथा ॥ १२ ॥

ऐसे पहियाफ बाँवमें पी-सकर बर्षोंसे निकलनेको चष्टा करनेवाले गाड़ीके चालकी भाँति इनका हृदय उद्भ्रान्त हो उठा था और इनके मुखको कान्ति भी फाँको पड़ गयी थी ॥

विकल्पाभ्यां च मेघाभ्यामपश्यन्निव भूमिपः ।
कच्छाद् धर्षेण संस्तभ्य कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥ १३ ॥

अपने विकृत चेहरेसे कुछ भी उप-नम असमर्थ न होकर पृथक् दशरथने बाँनी कठिनाईसे धीरे धारण करके अपने तनयको संभाला और कैकेयीसे इस प्रकार कहा— ॥ १३ ॥

पतले मन्त्रकृत् पाणिरागी पापे भया धृतः ।
मत्स्यजापि स्वजं धीव तव पुत्रं सह त्वया ॥ १४ ॥

‘पापनि! मैंने अनेक समोष ‘साहूँह से गुण्याधि यौगवाया हस्तम्’ इत्यादि वैदिक मन्त्रका पाठ करके तब जिस हाथको पकड़ा था, उसे आज छाँड़ रहा हूँ। माघ ही सेरे और अपने हाथ उत्पन्न हुए तैरे पुत्रका भी त्याग करता हूँ ॥ १४ ॥

प्रयाता रजनी देवि सूर्यस्योदयनं प्रति ।
अभिषेकाय हि जनस्त्वरयिष्यति मां पुत्रम् ॥ १५ ॥

‘देवि! रात बीत गयी। सूर्योदय होते ही सब लोग निधाय ही श्रीरामका राज्याभिषेक करनेके लिये भुझे दीघाला करनेको कहेंगे ॥ १५ ॥

रामाभिषेकसम्पारस्तदर्थमुपकल्पितं ।
रामः कारयितव्यो मे मृतस्य सलिलक्रियाम् ॥ १६ ॥
सपुत्रया त्वया नैव कर्तव्या सलिलक्रिया ।

‘उम समय जो सामान श्रीरामके अभिषेकके लिये जुटाया गया है, उसके द्वारा मेरे मरनेके बाद श्रीरामके हाथसे मुझ जलाकुल दिलका देना पगनु अपने पुत्रसहित तू मेरे लिये जन्मजलि न देना ॥ १६ ॥

व्याहन्तास्यशुभाचारे यदि रामाभिषेचनम् ॥ १७ ॥
न शक्नोऽद्यास्म्यहं द्रष्टुं दृष्ट्वा पूर्वं तथामुखम् ।

हनहवीं तश्चानन्दं पुनर्जनमवाप्स्यमुखम् ॥ १८ ॥

‘पापाचारिणी! यदि तू श्रीरामके अभिषेकमें विघ्न डालोगी (तो तुझे मेरे लिये जलाकुल देनेका कोई अधिकार न होगा)। मैं पहले श्रीरामके राज्याभिषेकके समाचारसे जो जन-समुदायका हर्षोल्लाससे परिपूर्ण उन्नत मुख देख चुका हूँ, वैसा देखनेके पश्चात् आज पुनः उसी जनताके हर्ष और आनन्दमें शून्य, नीचे रुटके हुए मुखको मैं नहीं देख सकूँगा ॥ १७-१८ ॥

तां तथा ब्रुवन्तस्तस्य भूमिपस्य महात्मनः ।
प्रधाता शर्वरी पुण्या चन्द्रनक्षत्रमालिनी ॥ १९ ॥

महान्या राजा दशरथके कैकेयीसे इस तरहकी बातें करते-करते ही चन्द्रमा और नक्षत्रमालाओंसे अलंकृत वह पुण्यमयी रजनी बीत गयी और प्रभात काल आ गया ॥ १९ ॥

ततः पापसमाचारा कैकेयीं पार्थिवं पुनः ।
उवाच परमं वाक्यं वाक्यज्ञा रोषमुच्छिता ॥ २० ॥

तदनन्तर कालचक्रके घर्षणसे समझनेवाली पापाचारिणी कर्कश रोषसे मुर्च्छित-सी होकर राजासे पुनः कठोर वाणीसे बोली— ॥ २० ॥

किमिदं वाक्यं राजन् वाक्यं गरुजोपमम् ।
आनाययितुमर्हति पुत्रं राममिहार्हसि ॥ २१ ॥

स्थाप्य राज्ये मम सुतं कृत्वा रामं बनेजग्म् ।
नि सपत्न्या च मां कृत्वा कृतकृत्यो भविष्यासि ॥ २२ ॥

राजन्! आप विश और शूल आदि रोगोंके समान कष्ट देनेवाले ऐसे बचन क्यों बोल रहे हैं (इन बातोंसे कुल होने-जानेवाला नहीं है)। आप बिना किसी क्लेशके अपने पुत्र श्रीरामको यहाँ बुलवाइय मेरे पुत्रको राज्यपर प्रणिहित कीजिये और श्रीरामको जनमें भेजकर मुझे निष्कण्टक बनाइयें; तभी आप कृतकृत्य हो सकेंगे ॥ २१-२२ ॥

स तुभ्य इव तीक्ष्णेन प्रतीदेन ह्योत्तमः ।

राजा प्रचोदितोऽधीक्ष्य कैकेय्या वाक्यमब्रवीत् ॥ २३ ॥

तीखे कोड़ेकी मारसे पोंडित हुए उत्तम अध्वकी भाँति कैकेयीद्वारा बारबार प्रेरित होनेपर व्यथित हुए राजा दशरथने इस प्रकार कहा— ॥ २३ ॥

धर्मबन्धेन बद्धोऽस्मि नष्टा च मम चेनना ।

ज्येष्ठ पुत्रं प्रियं तामं द्रष्टुमिच्छामि धार्मिकम् ॥ २४ ॥

‘मैं धर्मके बन्धनमें बँधा हुआ हूँ मेरी चेतना लुप्त होती जा रही है इसलिये इस समय मैं अपने धर्मपरायण परम प्रिय ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामको देखना चाहता हूँ ॥ २४ ॥

सतः प्रभातां रजनीमुदिते च दिवाकरे ।

पुण्ये नक्षत्रयोगे च पुनर्ते च समागते ॥ २५ ॥

वसिष्ठो गुणसम्पन्नः शिष्यैः परिवृतस्तथा ।

उपगृह्णाद् सप्मारान् प्रविवेश पुरोत्तमम् ॥ २६ ॥

उधर जब रात बीती प्रभात हुआ, सूर्यदेवका उदय हो गया और गुणनक्षत्रके योगमें अभिषेकका शुभ मुहूर्त आ पहुँचा, तब समय शिर्गासे धरे हुए शुभगुणसम्पन्न महर्षि वसिष्ठ अधिषेककी आवश्यकता सामग्रियोंका संप्रदाय करके शीघ्रतापूर्वक उस श्रेष्ठ पुरीमें आये ॥ २५-२६ ॥

सिक्तसम्भारजितपशून् पताकोत्तमभूषिताम् ।

संहृष्टमनुजोपेतां समृद्धविपणापणाम् ॥ २७ ॥

जब पुण्यवेत्तापि अगोरगायकों सहिते झाड़ू-बूँदकर साफ की गयी थीं और उनपर जलका छिड़काव हुआ था। सारी गुरी उत्तम पताकाओंसे सुशोभित थी। वहाँके सभी मनुष्य हर्ष और उत्साहमें भरे हुए थे। बाजार और दुकानें इस तरह सजी हुई थीं कि उनकी समृद्धि देखने ही बनती थी ॥ २७ ॥

मनोत्सवसमायुक्तां राघवाख्यं समुत्सुकाम् ।

चन्दनाभुस्त्युपैश्च सर्वतः परिभूषिताम् ॥ २८ ॥

सब ओर महान् उत्सव हो रहा था। सारी नगरी श्रीरामचन्द्रोंके अधिषेकके लिये उत्सुक थी चारों ओर चन्दन, अगर और भूपरकी सुगन्ध व्याप्त हो रही थी ॥ २८ ॥

तां धुरीं समतिक्रम्य पुरंदरपुरोपमाम् ।

मृदुशब्द-पुरं श्रीमान् नानाध्वजगणायुतम् ॥ २९ ॥

द्वन्द्वगरी अमरावतीके समान कोष्ठा घानेवाली उस पुरीकी पार करके श्रीमान् वसिष्ठजीने राजा दशरथके अन्तर्मुखा दर्शन किया। जहाँ सत्स्रो ध्वजारों फहरा रही थी ॥ २९ ॥

पौरजानपदहारीणं ब्राह्मणस्यशोभितम् ।

यष्टिपट्टिः सुसम्पूर्णं सन्ध्याः परभार्चिते ॥ ३० ॥

नगर और जापदके लोग वहाँ भर हुए थे। बत्तन-सं ब्राह्मण उस स्थानकी शान्ति बढ़ाते थे। छड़ीदार गजसंघक तथा सजी-सजाये सुन्दर घोड़े वहाँ अधिक संख्यामें ठगथित थे ॥ ३० ॥

तदन्तःपुरमासाद्य व्यतिचक्राम तं जनम् ।

वसिष्ठः परमप्रीतः परमर्विभिरावृतः ॥ ३१ ॥

श्रेष्ठ महर्षियोंसे धिरे हुए वसिष्ठजी परम प्रसन्न हो उस अन्तःपुरमें पहुँचकर उस जन-समुदायको लाँचकर आगे बढ़ गये ॥ ३१ ॥

स त्वपश्यद् विनिष्क्रान्तं सुमन्त्रं नाम सारथिम् ।

द्वारे मनुजसिंहस्य सचिवं श्रियदर्शनम् ॥ ३२ ॥

वहाँ उन्होंने मल्हारजके सुन्दर सचिव तथा सारथि सुमन्त्रको अन्तःपुरके द्वारपर उपस्थित देखा, जो उसी समय घोंतरसे निकले थे ॥ ३२ ॥

तमुवाच महातेजाः सूनपुत्रं विशारदम् ।

वसिष्ठः क्षिप्रमाचक्ष्व नृपतेर्मामिहागतम् ॥ ३३ ॥

तब महातेजस्वी वसिष्ठने परम चतुर सूनपुत्र सुमन्त्रसे कहा— सून! तू मल्हारजको शीघ्र ही मेरे आगमनकी सूचना दो ॥ ३३ ॥

इमे गङ्गोदकधृत्यः सागरेभ्यश्च काञ्चनाः ।

औदुम्बरं भद्रपीठमभिषेकार्थमाहृतम् ॥ ३४ ॥

‘(उन्हे बताओ कि श्रीरामके राज्याभिषेकके लिये सारी सामग्री एकत्र कर ली गयी है) ये गङ्गाजलसे भरे करुण्ड रखे हैं, इन सोनेके कलशोंमें समुद्रीसे लाया हुआ जल भरा हुआ है। यह गुल्मकी लकड़ीका बना हुआ भद्रपीठ है जो अभिषेकके लिये लाया गया है (इसीपर बिठाकर श्रीरामका अभिषेक होगा) ॥ ३४ ॥

सर्वबीजानि गन्धाश्च रत्नानि विविधानि च ।

क्षौद्रं वधि घृतं लाजा दर्भाः सुमनसः पयः ॥ ३५ ॥

अष्टौ च कन्या रुचिरा मत्तश्च वरधारणः ।

चतुरश्रो रथः श्रीमान् निखिंशो धनुस्तपम् ॥ ३६ ॥

वाहनं नरसंयुक्तं छत्रं च शशिसंनिभम् ।

श्वेते च वाल्म्यजने भृङ्गारं च हिरण्ययम् ॥ ३७ ॥

हेमदामपिनद्धश्च ककुषान् पाण्डुरो वृषः ।

केसरी च चतुर्दंष्ट्रो हरिभ्रेष्ठो महाबलः ॥ ३८ ॥

सिंहासनं व्याघ्रतनुः समिधश्च हुताशनः ।

सर्वे वादिरसङ्गाश्च वेद्याश्चालङ्कृताः स्त्रियः ॥ ३९ ॥

आचार्या ब्राह्मणा गावः पुण्याश्च मृगपक्षिणः ।

पौरजानपदभ्रेष्ठा नैगमाश्च गणैः सह ॥ ४० ॥

एते चान्ये च बहवः प्रीयपाणाः प्रियंवदाः ।

अभिषेकाय रामस्य सह तिष्ठन्ति पार्थिवैः ॥ ४१ ॥

‘सब प्रकारके बीज, गन्ध, भाँति-भाँतिके रत्न, मधु, दही, घी, लावा या खोल, कुश, फूल, दुध, आठ सुन्दरी कन्याएँ, मत्त गजराज, चार घोड़ोंवाला रथ, चमचमाता हुआ खड्ग, उत्तम धनुष, मनुष्योंद्वारा छोपी जानेवाली सवारी (पालकी आदि), चन्द्रमाके समान श्वेत छत्र, सफेद चँवर, सोनेकी शारी, सुवर्णको मालासे अलंकृत ऊँचे डोलवाला श्वेत-

पीतवर्णक वृषभ, चार दाढ़वाला सिंह, महाबलवान् उत्तम अश्व, सिंहासन, व्याघ्रचर्म, समिधाएँ, अग्नि, सब प्रकारके बाजे, चाराहनाएँ, शृङ्गारयुक्त सौभाग्यवर्ता त्विया, आचार्य, ब्राह्मण, गौ, पवित्र पशु-पक्षी, नगर और जनपदके श्रेष्ठ पुरुष अपने-से-से गणसहित प्रसिद्ध प्रसिद्ध व्यापारी—ये तथा और भी बहुत-से प्रियवादी मनुष्य बहुसंख्यक राजाआक साथ प्रसन्नतापूर्वक श्रीरामके अभियेकके लिये सज्ज उपस्थित हैं ॥ ३५—४१ ॥

त्वरयस्व महाराज यथा समुदिनेऽहनि ।

पुष्ट्यै नक्षत्रयोगे च रामो राज्यमवाप्नुयान् ॥ ४२ ॥

तुम महाराजसे शांति करनेके लिये कहो, जिससे अब सूर्योदयके पश्चात् पुष्ट नक्षत्रके योगमें श्रीराम राज्य प्राप्त कर लें ॥ ४२ ॥

इति तस्य वचः श्रुत्वा सुनपुत्रो महाबलः ।

स्तुवन् नृपतिशार्दूलं प्रतिवेश निवेशनम् ॥ ४३ ॥

नक्षत्रज्योतिषके ये वचन सुनकर महाबली सुनपुत्र गुणगाने राजसिंह दशार्धकी स्तुति करने हुए उनके भवाम प्रवेश किया ॥ ४३ ॥

तं तु पूर्वोदितं वृद्धं द्वारस्था राजसम्पत्ताः ।

न शोकरभिर्भोगेभ्यु राज्ञः प्रियचिकीर्षयः ॥ ४४ ॥

राजाका प्रिय करनेकी इच्छा रखनेवाले और उनके द्वारा सम्पन्नित द्वारपाल उन वृद्ध सचिवकी भीतर जानमें रोक न सक; क्योंकि उनके लिये पहलेसे ही महाराजकी आज्ञा थी कि ये किसी समय भी भीतर आनम रोक न जायें ॥ ४४ ॥

तं समीपस्थितो राजस्तापवस्थामज्जिवान् ।

धार्मिकः परमसुहृद्भाभरभिष्टोतु प्रसक्तमे ॥ ४५ ॥

सुमन्त्र राजाके पास जाकर खड़े हो गये । उन्हें उनकी उस अवस्थाका पता नहीं था; इसलिए वे आनन्द सतोषदायक वचनोंद्वारा उनकी स्तुति करनेका उद्यत हुए ॥ ४५ ॥

ततः स्तुतो बध्नापूर्वं पार्थिवस्य निवेशने ।

सुमन्त्रः प्राञ्जलिर्भूत्वा तुष्टाश्च जगतीपतिम् ॥ ४६ ॥

सुत सुमन्त्र राजाके उस महलमें पहलेकी ही भाँति हाथ जोड़कर उन महाराजकी स्तुति करने लगे— ॥ ४६ ॥

यथा वन्दति तेजस्वी सागणे भास्करोदये ।

प्रीतः प्रीतेन धनया तथा नन्दय नस्ततः ॥ ४७ ॥

महाराज । जैसे सूर्योदय होनेपर तेजस्वी समुद्र स्वयं तर्पणकी तरंगोंसे ढल्लमिल हो हममें स्नानको इच्छावाले मनुष्योंको आनन्दित करता है, उसी प्रकार आप स्वयं प्रसन्न हो प्रसन्नतापूर्ण हृदयसे हम सेवकोंको आनन्द प्रदान कीजिये ॥ ४७ ॥

इन्द्रमस्यां तु खेलायामभितुष्टाव मातलिः ।

सोऽज्ययद् दानवान् सखास्तथा स्वां बोधयाम्यहम् ॥ ४८ ॥

देवसाराधि मातालिने इमी खेलायामे देवराज इन्द्रको स्तुति

की थी, जिससे उन्होंने समस्त दानवोंपर विजय प्राप्त कर ली, उसी प्रकार मैं भी स्तुति-वचनोंद्वारा आपको जगा रहा हूँ ॥ वेदाः सहाङ्गा विद्याश्च यथा ह्यात्मभुवं प्रभुम् ।

ब्रह्माणं बोधयन्त्यद्य तथा स्वां बोधयाम्यहम् ॥ ४९ ॥

‘छहों अङ्गोंसहित चाणें वेद तथा समस्त विद्याएँ जैसे स्वयम्भू भगवान् ब्रह्मको जगती हैं, उसी प्रकार आज मैं आपको जगा रहा हूँ ॥ ४९ ॥

आदित्यः सह चन्द्रेण यथा भूतधरा शुभाम् ।

बोधयत्यद्य पृथिवीं तथा स्वां बोधयाम्यहम् ॥ ५० ॥

‘जैसे चन्द्रमाके साथ सूर्य समस्त भूतोंकी आधारभूता इस शुभ-स्वरूपा पृथ्वीको जगाया करते हैं, उसी प्रकार आज मैं आपको जगा रहा हूँ ॥ ५० ॥

उत्तिष्ठ सुमहाराज कृतकौतुकमङ्गलः ।

विराजमानो वपुषा मेघोरिव दिवाकरः ॥ ५१ ॥

‘महाराज । उठिये और उत्सवकार्तिक मङ्गलकृत्य पूर्ण करके वस्त्राभूषणोंसे सुशोभित शरीरसे सिंहासनपर विराजमान होइये । फिर मेघ पर्वतसे ऊपर उठनेवाले सूर्यदेवके समान आपकी शोभा होनी रहे ॥ ५१ ॥

सोमसूर्यौ च काकुत्स्थ शिवर्व्रवणावपि ।

वरुणाक्षप्रिरिन्द्रश्च विजयं प्रदिशन्तु मे ॥ ५२ ॥

‘ककुत्स्थ-कुलनन्दन । चन्द्रमा, सूर्य, शिव, कुबेर, वरुण, अग्नि और इन्द्र आपको विजय प्रदान करें ॥ ५२ ॥

गता भगवती रात्रिः कृते कृत्यमिदं तव ।

बुध्यस्व नृपशार्दूलं कुरु कार्ययनन्तरम् ॥ ५३ ॥

‘राजसिंह । भगवती रात्रिदेवी विदा हो गयीं । आपने तिनके लिये आज्ञा दी थी, आपका वह मारा कार्य पूर्ण हो गया । इस बातको आप जान लें और इसके बाद जो अभियेकका कार्य शेष है, उसे पूर्ण करें ॥ ५३ ॥

उदतिष्ठत रामस्य समप्रयधिषेचनम् ।

पौरजानपदाश्चापि नैगमश्च कृताञ्जलिः ॥ ५४ ॥

‘श्रीरामके अभियेककी सारी तैयारी हो चुकी है । नगर और जनपदके लोग तथा मुख्य-मुख्य व्यापारी भी हाथ जोड़े हुए उपस्थित हैं ॥ ५४ ॥

स्वयं वसिष्ठो भगवान् ब्राह्मणैः सह तिष्ठति ।

क्षिप्रमाज्ञाप्यतां राजन् राघवस्याभिषेचनम् ॥ ५५ ॥

‘राजन् । ये भगवान् वसिष्ठ मुनि ब्राह्मणोंके साथ द्वारपर खड़े हैं; अतः श्रीरामके अभियेकका कार्य आरम्भ करनेके लिये शीघ्र आज्ञा दीजिये ॥ ५५ ॥

यथा ह्यपालाः पशवो यथा सेना ह्यनायका ।

यथा चन्द्रं विना रात्रिर्यथा गावो विना वृषम् ॥ ५६ ॥

एवं हि भविता राष्ट्रं यत्र राजा न दृश्यते ।

‘जैसे चरवाहोंके बिना पशु, सेनापतिके बिना सेना, चन्द्रमाके बिना रात्रि और साँड़के बिना गौओंकी शोभा नहीं

होती, ऐसी ही दशा उस राष्ट्रको हो जाती है, जहाँ राजाका दर्शन नहीं होता है' ॥ ५६ ॥

एवं तस्य वचः श्रुत्वा सान्त्वपूर्वमिवार्थवत् ॥ ५७ ॥
अभ्यकीर्यत शोकेन भूय एव महीपतिः ।

सुमन्त्रके इस प्रकार कहे हुए सान्त्वनापूर्ण और मार्थक वचनको सुनकर राजा दशरथ पुनः शोकमें ग्रस्त हो गये ॥

ततस्तु राजा तं सुतं सप्तहर्षः सुतं प्रति ॥ ५८ ॥
शोकरतेक्षणः श्रीमानुत्तीक्ष्योवाच धार्मिकः ।

आवर्धेस्तु खलु भर्माणि मम भूयो निकृन्तसि ॥ ५९ ॥

इस समय पुत्रके विनाशकी समाख्यानसे उनकी प्रयत्ननाश हो चुके थे। शोकके कारण उनके नेत्र ललल हो गये थे। उन भर्माणां श्रीमान् बरेशने एक बार दुःख उठाकर सुतकी ओर देखा और इस प्रकार कहा—'तुम ऐसी बातें सुनाकर मेरे धर्म-स्थानोंपर और अधिक आघात क्यों कर रहे हो' ॥ ५८-५९ ॥

सुमन्त्रः कर्मण श्रुत्वा मुष्टां पीने च पार्श्विकम् ।

भ्रमूहीताङ्गलि, किञ्चित् तस्माद् देशादपाकमत् ॥ ६० ॥

राजाके ये कर्मण वचन सुनकर और उनकी दोन-दशापर दृष्टिपात करके सुमन्त्र हाथ जोड़े हुए उस स्थानसे कुछ पीछे हट गये ॥ ६० ॥

यदा वक्तुं स्वयं विन्यास्य दशशक्त महीपतिः ।

तदा सुमन्त्रं मन्त्रज्ञा कैकेयी प्रत्युवाच ह ॥ ६१ ॥

जब सुमन्त्र और हीनताके कारण राजा स्वयं कुछ भी न कह सके, तब मन्त्रणान्तर्ज्ञान रखनेवाली कैकेयीने सुमन्त्रको इस प्रकार वसति दिया— ॥ ६१ ॥

सुमन्त्र राजा रजनीं रामहर्षसमुत्सुकः ।

प्रजागमपरिभ्रान्तो निद्रावशमुपागतः ॥ ६२ ॥

'सुमन्त्र ! राजा रातभर श्रीरामके शब्दार्थमयैकजनि हर्षके कारण ललकणित होकर जागने लगे हैं, अधिक जागरणसे थका आनेके कारण इस समय उन्हें नींद आ गयी है ॥ ६२ ॥

तद् गच्छ त्वरितं सुत राजपुत्रं यशस्विनम् ।

राममानय भद्रं ते नात्र कार्या विचारणा ॥ ६३ ॥

'अतः सुत ! तुम्हारा भल हो। तूम तुरन्त जाओ और गशस्वी राजकुमार श्रीरामको मातृं वृत्त लाओ। इस विषयमें तुम्हें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये' ॥ ६३ ॥

अश्रुत्वा राजवचनं कथं गच्छामि भामिनि ।

तच्छ्रुत्वा भान्तपतो आवर्धे राजा मन्त्रिणामवर्जितम् ॥ ६४ ॥

तब सुमन्त्रने कहा—'भामिनि ! मैं महाराजकी आज्ञा सुने बिना कैसे जा सकता हूँ ? मन्त्रीकी बात सुनकर राजाने उनसे कहा— ॥ ६४ ॥

सुमन्त्र रामं द्रक्ष्यामि शीघ्रमानय सुन्दरम् ।

स मन्यमानः कल्याणं हृदयेन ननन्द च ॥ ६५ ॥

सुमन्त्र ! मैं सुन्दर श्रीरामको देखना चाहता हूँ। तूम शीघ्र उन्हें यहाँ ले आओ।' उस समय श्रीरामके दर्शनसे ही कल्याण मानने हुए राजा मन ही-मन आनन्दका अनुभव करने लगे ॥ ६५ ॥

निर्जगाम च स प्रीत्या त्वरितो राजशासनात् ।

सुमन्त्रश्चिन्तयामास त्वरितं चोदितस्तया ॥ ६६ ॥

इधर सुमन्त्र राजाकी आज्ञासे तुरन्त प्रसन्नतापूर्वक वहाँसे चल दिये। कैकेयीने जो तुरन्त श्रीरामको बुला खानेकी आज्ञा दी थी, उस याद कण्ठके वे सोचने लगे—'पता नहीं, यह उन्हें बुलानेके लिये इतनी जल्दी क्यों मचा रहो है ? ॥ ६६ ॥

व्यक्तं रामाभिषेकार्थे इहायास्यति धर्मराट् ।

इति सूतो मतिं कृत्वा हर्षेण महता ध्रुवः ॥ ६७ ॥

निर्जगाम महानेजा राघवस्य दिदृक्षया ।

सागरहृदसंकाशात्सुमन्त्रोऽन्तःपुराच्छुभात् ।

निष्क्रम्य जनसम्भाष्य ददर्श द्वारमग्रतः ॥ ६८ ॥

'जान पड़ना है, श्रीरामचन्द्रके अभिषेकके लिये ही यह जल्दी कर रही है। इस कार्यमें धर्मराज राजा दशरथको अधिक आयास करना पड़ना है (शायद इसीलिये वे बाहर नहीं निकलते)।' ऐसा निश्चय करके महातेजस्वी सुत सुमन्त्र फिर बड़ हर्षके साथ श्रीरामके दर्शनकी इच्छासे चल पड़े। समुद्रके अन्तर्वर्ती जलशायक समान उस सुन्दर अन्तःपुरसे निकलकर सुमन्त्रने द्वारके सामने मनुष्योंकी भाँति भीड़ एकत्र हुई देखी ॥ ६७-६८ ॥

ततः पुरस्तात् सहसा विनिःसृतो

महीपतेर्द्वारगतान् विलोकयन् ।

ददर्श पौरान् विविधान् महाधना-

नुपस्थितान् द्वारमुपेत्य विष्टितान् ॥ ६९ ॥

राजाके अन्तःपुरसे सहसा निकलकर सुमन्त्रने द्वारपर एकत्र हुए लोगोंकी ओर दृष्टिपात किया। उन्होंने देखा, बहुसंख्यक पुरवासों वहाँ उपस्थित थे और अनेकानेक महाधनी पुरुष राजद्वारपर आकर खड़े थे ॥ ६९ ॥

इत्यर्थे श्रीमद्वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीमद्वाल्मीकीनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें चौदहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १४ ॥



पञ्चदशः सर्गः

सुमन्त्रका राजाकी आज्ञासे श्रीरामको ते तु तां रजनीमुख्य ब्राह्मणा वेदपारगाः ।

उपतस्थुरूपस्थाने सह राजपुरोहिताः ॥ १ ॥

वे वेदोंके पाख्खत ब्राह्मण तथा राजपुरोहित वह रत विताकर प्रातः काल (राजाके प्रसंगके अनुसार) राजद्वारपर उपस्थित हुए थे ॥ १ ॥

अमात्या बलमुख्याश्च मुख्या ये निगमस्य च ।

गद्यवस्याभिषेकार्थे प्रीयमाणा सुसंगताः ॥ २ ॥

मन्त्री, सेनाके मुख्य-मुख्य अधिकारी और बड़े-बड़े सेठ-साहूकार श्रीरामचन्द्रजीके अभिषेकके लिये वहाँ प्रसन्नताके साथ वहाँ एकत्र हुए थे ॥ २ ॥

उदिते विमले सुर्ये पुष्ये चाभ्यागतेऽहनि ।

लग्ने कर्कटके प्राप्ते जन्म रामस्य च स्थिते ॥ ३ ॥

अभिषेकाय रामस्य द्विजेन्द्रस्यकल्पितम् ।

काञ्चना जलकुम्भाश्च भद्रपीठं स्वलंकृतम् ॥ ४ ॥

रथश्च सम्यगास्तीर्णो भास्वना व्याघ्रचर्मणा ।

गङ्गायामुनयोः पुण्यात् संगमादाहृतं जलम् ॥ ५ ॥

निर्मल सूर्योदय होनेपर दिनमें जब पुष्य नक्षत्रका योग आया तथा श्रीरामके जन्मकर कर्क लग्न उपास्थित हुआ, उस समय श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने श्रीरामके अभिषेकके लिये सारी सामग्री एकत्र करके उसे जैचक्र रख दिया । जलमें धरे हुए सोनेके बल्लभ, भलोभाँति सजाया हुआ भद्रपीठ, चमकाल व्याघ्रचर्मसे अच्छे तरह आवृत रथ, गङ्गा-यमुनाके पवित्र मङ्गलसे लाया हुआ जल—ये सब वस्तुएँ एकत्र कर ली गयी थीं ॥ ३—५ ॥

माश्चान्याः सगिताः पुण्या हृताः कृपाः सर्गसि च ।

प्राग्वाहःशोर्ध्ववाहाश्च निर्यग्वाहाश्च क्षीरिणः ॥ ६ ॥

ताभ्यश्चैवाहृतं तोये समुद्रभ्यश्च सर्वशः ।

क्षीरं तथैव घृतं राजा दर्भाः सुमनसः पयः ॥ ७ ॥

अष्टौ च कन्या रुचिरा भक्तश्च बरवाराणां ।

सजलाः क्षीरिभिश्चपत्रा घटाः काञ्चनराजनाः ॥ ८ ॥

पशोत्पल्लयुता भान्ति घृणाः धर्मवारिणा ।

इनके सिवा जो अन्य नदियाँ, पवित्र नलाशय, कृप और मरीचर हैं तथा जो पुरेकी और बहनवाली (गन्धर्वी और कावरी आदि) नदियाँ हैं, ऊपरकी और प्रवाहवाले जो (प्रवाहवर्त आदि) झरोखर हैं तथा दक्षिण और उत्तरकी ओर गङ्गागङ्गाजी जो (गण्डकी एवं शोणभद्र आदि) नदियाँ हैं, जिनमें दूधके समान निर्मल जल भरा रहता है, उन सबमें और समस्त समुद्रोंसे भी लया हुआ जल वहाँ संग्रह करके रखा गया था । इनके अतिरिक्त दूध, दही, घी, मधु, लावा इत्यादि पुरे, आठ सुन्दर बन्ध्याएँ, मत्स्य राजगज और दुधवाल वृक्षाके पल्लवोंसे बने हुए सोने-चाँदीके जलपूर्ण

बुलानेके लिये उनके महलमें जाना

कलश भी वहाँ विराजमान थे, जो उनमें जलसे भरे होनेके साथ ही पद्म और उत्पलसे संयुक्त होनेके कारण बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ ६—८ ॥

चन्द्राशुविक्रमप्रख्यं पाण्डुरं रत्नभूषितम् ॥ ९ ॥

सजं तिष्ठति रामस्य बालव्यजनमुत्तमम् ।

श्रीरामके लिये चन्द्रपाकी किरणोंके समान विकसित कान्तिमें युक्त श्वेत पौनवर्णिका रत्नजडित उत्तम चंद्रा सुसज्जितरूपसे रखा हुआ था ॥ ९ ॥

चन्द्रमण्डलसंकाशमातपत्रं च पाण्डुरम् ॥ १० ॥

सजं द्युतिकरं श्रीमदभिषेकपुरस्सरम् ।

चन्द्रमण्डलके समान सुसज्जित श्वेत छत्र भी अभिषेक-सामग्रीके साथ शोभा पा रहा था, जो परम सुन्दर और प्रकाश फैलानेवाला था ॥ १० ॥

पाण्डुरश्च वृषः सजः पाण्डुराश्च संस्थितः ॥ ११ ॥

सुसज्जित श्वेत वृषभ और श्वेत अश्व भी खड़े थे ॥ ११ ॥

क्षत्रिणाणि च सर्वाणि खन्दिनश्च तथापरे ।

इक्ष्वाकूणां यथा राज्ये सम्भ्रियेताभिषेचनम् ॥ १२ ॥

तथाजातीयमादाय राजपुत्राभिषेचनम् ।

ते राजवचनात् तत्र समवेता महीपतिम् ॥ १३ ॥

सब प्रकारके काजे मौजूद थे । स्तुति-पाठ करनेवाले चन्द्रों तथा अन्य मागध आदि भी उपस्थित थे । इक्ष्वाकुवंशी राजाओंके राज्यमें जैसी अभिषेक-सामग्रीका संग्रह होना चाहिये, राजकुमारोंके अभिषेककी वैसी ही सामग्री साथ लेकर वे सब लोग महाराज दशरथकी आज्ञाके अनुसार वहाँ उनके दर्शनके लिये एकत्र हुए थे ॥ १२-१३ ॥

अपश्यन्तोऽष्टवन् को नु राज्ञो नः प्रतिवेदयेत् ।

न पश्यामश्च राजानमुदितश्च दिवाकरः ॥ १४ ॥

पौषराज्याभिषेकश्च सज्जो रामस्य धीपतः ।

राजाको द्वारपर न देखकर वे कहने लगे—‘कौन महाराजके पास जाकर हमारे आगमनकी सूचना देगा तब महाराजकी यहाँ नाग देखने हैं सूर्योदय हो गया है और बुद्धिमान् श्रीरामके योगराज्याभिषेककी सारी सामग्री जुट गयी है’ ॥ १४ ॥

इति तेषु ब्रूवाणेषु सर्वास्ताश्च महीपतीन् ॥ १५ ॥

अबकीन् तानिदं वाक्यं सुमन्त्रो राजसत्कृतः ।

वे सब लोग जब इस प्रकारकी बातें कर रहे थे, उसी समय राजाद्वारा सम्मानित सुमन्त्रने वहाँ खड़े हुए उन समस्त भूपतियोंसे यह बात कही— ॥ १५ ॥

रामे राज्ञो नियोगेन त्वग्या प्रस्थितो ब्राह्म ॥ १६ ॥

पूज्या राज्ञो भवन्तश्च रामस्य तु विशेषतः ।

अयं पृच्छामि वचनात् सुखमायुज्यतामहम् ॥ १७ ॥

‘मैं महाराजकी आज्ञासे श्रीरामको बुलानेके लिये तुरंत जा रहा हूँ। आप सब लोग महाराजके तथा विशेषतः श्रीरामचन्द्रजीके पूजनीय हैं। मैं उन्हींको औरसे आप सम्स्त चिरंजीवी पुरुषोंके कुशल समाचार पूछ रहा हूँ। आपन्हाग सुखसे हैं न?’ ॥ १६-१७ ॥

राज्ञः सम्प्रतिबुद्धस्य जानागमनकारणम् ।

इत्युक्तवान्त-पूरद्वारमाजगाम पुराणविन् ॥ १८ ॥

ऐसा कहकर और जगे हुए होनेपर श्रीमद्वाल्मीकी बाहर न आनेका कारण बताकर पुरातन वतानाईका जाननवाले मुमन्त्र पुनः अन्त गुरुके द्वारपर लौट आये ॥ १८ ॥

सदा सत्तः च तद् वेश्यं सुमन्त्रः प्रविवेश ह ।

गुह्याख्यं तदा वंशं प्रविश्य स विशास्यतेः ॥ १९ ॥

यह राजभवन सुमन्त्रके लिये सदा खुला रहता था। हमने भीतर प्रवेश किया और प्रवेश करनेके महाराजके चेष्टाकी स्तुति की ॥ १९ ॥

शयनीयं नरेन्द्रस्य तदासाधं व्यतिष्ठत् ।

सोऽत्यासाद्य तु तद् वेश्यं तिरस्कारिण्यन्तरा ॥ २० ॥

आशोर्भिर्गुणयुक्ताभिरभितृष्टाव राघवम् ।

तदनन्तर वे राजाके शयनगृहके पास जाकर रुके हो गये। तब उनके आसपास निकल पड़नेका जहाँ खोनेमें बैठकर चिक्का आकर रह गया था, वह देखे वे गुणवर्णनपूर्वक आशोर्भिर्गुणयुक्त भवनोत्तारा शयनगृहके निकल आने लगे— ॥ २० ॥

सोमसूयो च काकुत्थश्चिखिष्यवणावपि ॥ २१ ॥

चरुणश्चाधिरिन्द्रश्च विजयं प्रतिशन्तु ते ।

‘ककुत्स्थनन्दन। चरुण, सूर्य, शिव, कुन्नेर, चरुण, भाँस और इन्द्र आपकी विजय प्रदान करें ॥ २१ ॥

गता भगवती राज्ञिरहः शिखमुपस्थितम् ॥ २२ ॥

सूड्यस्य राजशालुः कृतं कार्यमनन्तरम् ।

भगवती गति विन्ता हो गयी। अब कस्त्याणखकप दिन जामिथत हुआ है। गजराह। निद्रा त्यागकर जग जाइये और अब जो कार्य प्राप्त है, उसे कीजिये ॥ २२ ॥

आज्ञाणां बलमुख्याश्च वैगमाक्षगतास्त्विह ॥ २३ ॥

दशमे तेऽभिजातान्ते प्रविबुद्धस्य राघव ।

‘आज्ञा, सेनाके मुख्य अधिकारी और बड़े-बड़े श्रेष्ठ राजाकार यहाँ आ गये हैं। वे सब लोग आपका दर्शन चाहते हैं। शकुन्तल! जागिये ॥ २३ ॥

स्तुवन्तं ते तदा सूतं सुमन्त्रं भन्नकोविदम् ॥ २४ ॥

प्रतिबुद्धं ततो राजा इदं वचनमब्रवीत् ।

सम्प्रण करनेमें कुशल सूत सुमन्त्र जब इस प्रकार स्तुति करने लगे, तब राजाने जागकर ठहरे यह बात कही ॥

राममानय सूतेति यदस्पृष्टिहो मया ॥ २५ ॥

किमिदं कारणं येन मयाज्ञा प्रतिवाह्यते ।

न खैव सम्प्रसूतोऽहमानयेहाशु राघवम् ॥ २६ ॥

‘सूत! श्रीरामको बुला लो—यह जो मैंने तुमसे कहा था, उसका पालन क्यों नहीं हुआ? ऐसा क्यों-सा कारण है जिससे मेरी आज्ञाका उल्लंघन किया जा रहा है? मैं सोचा नहीं हूँ। तुम श्रीरामको शीघ्र यहाँ बुला लाओ’ ।

इति राजा दशरथः सूतं तत्रान्वयशात् पुनः ।

म राजवचनं श्रुत्वा शिरसा प्रतिपूज्य तम् ॥ २७ ॥

निर्जगाम नृपावासान्वयमानः प्रियं महत् ।

प्रपन्नो राजपारी च पताकायजशोभितम् ॥ २८ ॥

इस प्रकार राजा दशरथने जब सूतको फिर उपदेश दिया, तब वे राजाकी वह आज्ञा सुनकर सिर झुकाकर उसका सम्मान करते हुए राजभवनसे बाहर निकल गये। वे मन-ही-मन अपना महान् प्रिय हुआ मानने लगे। राजभवनसे निकलकर सुमन्त्र ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित गजगाँवपर आ गये ॥ २७-२८ ॥

इष्टः प्रमुदितः सूतो जगामाशु विलोकयन् ।

स सूतस्तत्र शूभ्राय रामाधिकरणाः कथाः ॥ २९ ॥

अभिषेचनसंयुक्ताः सर्वलोकस्य इष्टवन् ।

व हर्ष और उल्लासमें भरकर सब ओर दृष्टि डालते हुए शोचतापूर्वक आगे बढ़ने लगे। सूत सुमन्त्र वहाँ मार्गमें सब लोगोंके मुँहसे श्रीरामके राज्याधिकारकी आनन्ददायिनी बातें सुनते जा रहे थे ॥ २९ ॥

नमो ददर्श रुचिरे कैलाससदृशप्रभम् ॥ ३० ॥

रामवेश्म सुमन्त्रस्तु शक्रवेश्मसमप्रभम् ।

महाकपाटपिहिते चित्तिर्दिशतशोभितम् ॥ ३१ ॥

तदनन्तर सुमन्त्रको श्रीरामका सुन्दर भवन दिखायी दिया, जो कैलासभवनके समान छैन प्रभास प्रकाशित हो रहा था। वह इन्द्रभवनके समान दीप्तिमान् था। उसका फाटक विशाल चिवाड़ोंमें बंद था। उसके भीतरका छोटा सा द्वार हो खुला हुआ था। सैकड़ों चोटिकाएँ उस भवनको शोभा बढ़ा रही थी ॥ ३०-३१ ॥

काञ्चनप्रतिर्षेकाग्रं मणिविह्वमतोरणम् ।

शारदाप्रघनप्रख्यं दीप्तं मेरुगुहासमम् ॥ ३२ ॥

उसका मुख्य अवप्रभाग सोनेकी देव-प्रतिमाओंसे अलंकृत था। उसके बाहर फाटकमें मणि और मृग जड़े हुए थे। वह सारा भवन शरद् ऋतुके बादलोंकी भाँति श्वेत कान्तिमें युक्त, दीप्तिमान् और मेरुपर्वतकी कन्दराके समान आभायमान था ॥ ३२ ॥

मणिधिवरमाल्यानां सुमहद्भिरलंकृतम् ।

मुक्तापणिधिराकीर्णं चन्दनागुरुभूषितम् ॥ ३३ ॥

मुद्रपर्णितर्मन पुष्पाङ्गी मालाओंके बीच बीचमें पिंगरी हुई बहुमूल्य मणियोंमें वह भवन सजा हुआ था। दीवारोंमें जड़ी हुई मुक्तामणियोंसे व्याप्य होकर जगमगा रहा था (अथवा वहाँ मोती और मणियोंके भण्डार भरे हुए थे)। चन्दन और

अगरको सुगन्ध उसको शोभा बढ़ा रही थी ॥ ३३ ॥
गन्धान् मनोज्ञान् विसृजद् दार्दुरं शिखरं यथा ।
सारसैश्च मयूरैश्च विनदिद्विर्विश्रजितम् ॥ ३४ ॥

वह भवन मलयखल्के समीपवर्ती दूर नामक चन्दनगिरिके शिखरको भाँति मध और ममोहर सुगन्ध बिखार रहा था । कलशव करते हुए सारस और मयूर आदि पक्षों उसकी शोभावृद्धि कर रहे थे ॥ ३४ ॥

सुकुतेहमृगाकीर्णपृत्कीर्ण भक्तिभिस्तथा ।
मनश्छुक्षुश्च धृतानामादृत तिग्मतजसा ॥ ३५ ॥

शोने आदिको मुन्दर वृक्षों वने हुई भेड़ियोंकी मृत्नियन् वह व्याप्त था । शिल्पिधाने डमकों टाँकारोंमें बढ़ी सुन्दर नकाशी की थी । वह अपनी उत्कृष्ट शोभासे समस्त प्राणियोंके मन और नेत्रोंको आकृष्ट कर लेता था ॥ ३५ ॥

चन्द्रभास्करसंकाश कुबेरभवनोपमम् ।
महेन्द्रधामप्रतिमं नानापक्षिसमाकुलम् ॥ ३६ ॥

चन्द्रगा और सूर्यके समान तेजस्वी, कुबेर-भवनके समान अक्षय सम्पत्तिसे पूर्ण तथा इन्द्रधामके समान भव्य एवं मनोरम उस श्रीरामभवनमें नाना प्रकारके पक्षी चक्रर रहे थे ॥

पेरुभृङ्गसमं सुतो रामवेश्म ददर्श ह ।
उपस्थितैः सभाकीर्णं जनैरञ्जलिकारिभिः ॥ ३७ ॥

सुमन्त्रने देखा—श्रीरामका महल पेरु-भर्वत्क शिखरको भाँति शोभा पा रहा है । हाथ जोड़कर श्रीरामकी चन्दन करणके लिये प्रार्थित हुए अमंख्य मनुष्योंमें वह भी हुआ है ॥ ३७ ॥

उपादाय समाक्रान्तैस्तदा जानपदैर्जनैः ।
रामाभिषेकसुपुर्वस्त्वुष्वै सभलंकृतम् ॥ ३८ ॥

भौत-भौतिके उपहार लेकर जनपद निवासी मनुष्य उस राग्य वहाँ पहुँचे हुए थे । श्रीरामक अभिषेकका समाचार सुनकर इनके मुख प्रसन्नतासे खिल उठे थे । वे उस कमलको हाथोंके लिये उत्कण्ठित थे । उन यत्नको उपस्थितिस भवनों बढ़ी शोभा हो गयी थी ॥ ३८ ॥

महामेघसमप्रग्व्यधुदयं सुविराजितम् ।
नानारत्नसभाकीर्णं कुब्जैर्कराद्यं चावृतम् ॥ ३९ ॥

जल बिजाल राजभवन महान् मेघतण्डुल समान तथा और सुन्दर शोभासे सम्पन्न था । उसको टाँकारोंमें नाना प्रकारके रत्न अट्टे गये थे और कुबेरों सेवकों ने उसे ढका हुआ था ॥ ३९ ॥

सं व्राजियुक्तेन रथेन सारथिः ।
समाकुलं राजकुलं विराजयन् ।

वस्तीश्वरा राजगृहाभिपानिना
पुरस्य सर्वस्य मनासि हर्षयन् ॥ ४० ॥

सारथि सुमन्त्र राजभवनकी ओर जानवाले वरुध (गाइकी चहर या मौकियाँक बन हुए आकरणा) से युक्त

तथा अच्छ घाँड़ोंमें जुते हुए रथक द्वारा मनुष्योंकी धाड़से भरे राजमार्गकी शोभा बढ़ाते तथा सम्पन्न नगर-निवासियोंके मनको आनन्द प्रदान करते हुए श्रीरामके भवनके पास आ पहुँचे ॥ ४० ॥

ततः समासाद्य महाधनं महत्
प्रहृष्टरंभा स बभूव सारथिः ।

पुर्णमयूरैश्च समाकुलोत्खणं
गृहं सराहस्यं शचीपतेरिव ॥ ४१ ॥

उत्तम वस्तुके भूत करणके अधिकारी श्रीरामका वह महान् मयूर-समस्त विजाल भवन शत्रुघ्न इन्द्रके भवनकी भाँति सुशोभित राजा था । इधर-उधर फैल हुए पुष्प और मयूरोंमें उसकी शोभा और भी बढ़ गयी थी । वहाँ पहुँचकर सारथि सुमन्त्रके शरीरमें अधिक हर्षके कारण रंभाञ्ज हो आया ॥ ४१ ॥

स तत्र कैलासनिभाः स्वलंकृताः
प्रविश्य कक्ष्यास्त्रिदशालयोपमाः ।

प्रियान् वरान् रामघते स्थितान् वक्षुः
व्यधोह्यं सुद्वान्तमुपस्थितौ रथी ॥ ४२ ॥

वहाँ कैलास और स्वर्गके समान दिव्य शोभासे युक्त, सुन्दर सज्जे हुए अनक झौंझियोंको लोंघकर श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञामें चलनेवाले वहाँसे श्रेष्ठ मनुष्योंको वचनमें छाड़ते हुए स्थलाहृत सुमन्त्र अन्तःपुरके द्वारपर उपस्थित हुए ॥ ४२ ॥

स तत्र शुश्राव च हर्षयुक्ता
रामाभिषेकार्यकुलां जनानाम् ।

नरेन्द्रसूनुगभिषङ्गलार्थाः
सर्वस्य लोकस्य गिरः प्रहृष्टाः ॥ ४३ ॥

उस स्थानपर उन्होंने श्रीरामके अभिषेक-सम्बन्धी कर्म करनेवाले लोगको हर्षभरे भावें सुनीं, जो राजकुमार श्रीरामके लिये सब ओरसे महत्त्वकायना सूचित करती थीं । इसी प्रकार उन्होंने अन्य सब लोगोंकी भी हर्षाल्लाससे परिपूर्ण बातोंओंको श्रवण किया ॥ ४३ ॥

महेन्द्रसद्यप्रतिमं च वेश्म
रामस्य रथ्यं मृगपक्षिजुष्टम् ।

ददर्श मेरोरिव मृङ्गमुखं
विभ्राजमानं प्रधया सुमन्त्रः ॥ ४४ ॥

श्रीरामका वह भवन इन्द्रसदनकी शोभाको शिरस्कृत कर रहा था मृगों और पक्षियोंमें मग्न होकर वाग्म्य उसकी रमणीयता और भी बढ़ गयी थी । सुमन्त्रने उस भवनका देखा । वह अपनी प्रभासे प्रकाशित होनेवाले मेरुगिरिके ऊँचे शिखरकी भाँति सुशोभित हो रहा था ॥ ४४ ॥

उपस्थितैरञ्जलिकारिभिश्च
सोपायनेर्जानपदैर्जनैश्च ।

कोट्या परार्धैश्च विमुक्तयानैः
समाकुलं द्वारपदं ददर्श ॥ ४५ ॥

तं वैश्रवणसंकाशमुपविष्टं स्वलंकृतम् ।
ददर्श सुतः पर्यङ्गे सौवर्णे सोत्तरच्छटे ॥ ८ ॥

वहाँ पर्यङ्गक सुमन्वन देखा श्रीरामचन्द्रजी वस्त्राभरणोंमें
अलंकृत हो कुंवरके समान जान पड़ने लगे और चिह्नोंमें
युक्त सोनके पलंगपर विराजमान हैं ॥ ८ ॥

वराहरुधिराभेण शुचिना च सुगन्धिना ।
अनुलिप्तं परार्धेन चन्दनं परंतपम् ॥ ९ ॥
स्थितया पार्श्वतश्चापि बालव्यजनहस्तया ।

उपेतं सीतया भूयश्चिप्राया शशिने धया ॥ १० ॥

शङ्खोंको संताप देनेवाले रघुनाथजीके श्रीअङ्गोंमें
वराहरुके हाथकी धौल लाल, पवित्र और सुगन्धित उत्तम
चन्दनका लेप लगा हुआ है और देवी सीता उनके फल
बैठकर अपने हाथसे चर्चर डुला रही हैं। सीताके अत्यन्त
समीप बैठे हुए श्रीराम चिप्रासे संयुक्त चन्द्रमाको भाँति
शाभा पाते हैं ॥ ९-१० ॥

नं तपन्तमिवादित्यमुपपन्नं स्वनेजसा ।
ववन्दे वरदं वन्दो विनयज्ञो विनीतवन् ॥ ११ ॥

विनयके ज्ञाना वन्दो सुमन्त्रने तपते हुए सूर्यको भाँति
अपने निम्न प्रकाशमें सम्पन्न रहकर अधिक प्रकाशित
होनेवाले धरदायक श्रीरामको विनीतभावसे प्रणाम किया ॥

प्राक्षालिः सुमुखं दृष्ट्वा विहारशयनासने ।
राजपुङ्गववाचेत् सुमन्त्रो राजसत्कृतः ॥ १२ ॥

विहारकालिक शयनके लिये जो आसन था उस
पलंगपर बैठे हुए प्रसन्न मुखवाले राजकुमार श्रीरामका दर्शन
करके राजा दशरथद्वारा सम्मानित सुमन्त्रने हाथ जोड़कर इस
प्रकार कहा— ॥ १२ ॥

कोसल्या सुप्रजा राम पिता त्वां द्रष्टुमिच्छति ।
महिषाभि हि कैकेय्या गम्यतां तत्र मा घिरम् ॥ १३ ॥

'श्रीराम ! आपकी पाकर महारानी कामत्या सर्वश्रेष्ठ
रोमानवाली हो गयी हैं। इस समय रानी कैकेयीके साथ बैठ
कर आपके पिताजी आपका देखना चाहते हैं अतः वहाँ
गिरम्, गिरम् न कोजिये' ॥ १३ ॥

एवमुक्त्वानु संहृष्टो नरसिंहो महाश्रुतिः ।
नतः सम्भामसाम्भ्रात सीतामिदमुवाच ह ॥ १४ ॥

सुमन्त्रके ऐसा कहनेपर महान्तजसो नरश्रेष्ठ श्रीरामने
आनाजीका सम्मान करते हुए प्रसन्नतापूर्वक उनमें इस
प्रकार कहा— ॥ १४ ॥

दवि देवश देवी च समागम्य मदन्तरे ।
मन्त्रयन्ते ध्रुवे किञ्चिदभिषेचनसहितम् ॥ १५ ॥

दाँव ! जान पड़ता है, पिताजी और माता कैकेय
दाता मिलकर मेरे गिरामे ही कुछ विषस कर रहे
हैं। निश्चय ही मेरे अभिषेकके सम्बन्धमें ही कोई बात
बना होगी ॥ १५ ॥

लक्षयित्वा ह्यभिप्रायं प्रियकामा सुदक्षिणा ।
संचोदयति राजानं धर्त्यभसितेक्षणा ॥ १६ ॥

'मेरे अभिषेकके विषयमें राजाके अभिप्रायको लक्ष्य
करके उनका प्रिय करनेकी इच्छावाली परम उदार एवं समर्थ
कज्जर नेरुवाली कैकेयी मेरे अभिषेकके लिये ही राजाको
प्रतिन कर रही होगी ॥ १६ ॥

सा प्रहृष्टा महाराजे हितकामानुवर्तिनी ।
जननी चार्थकामा मे कैकेयाधिपते सुता ॥ १७ ॥

मेरी माता कैकेयराजकुमारी इस सम्भारागमें बहुत प्रसन्न
हुई होगी। वे महाराजका हित चाहनेवाली और उनकी
अनुवर्तिनी हैं। साथ ही वे मेरा भी भला चाहती हैं। अतः
वे महाराजको अभिषेक करनेके लिये जान्ती करनेकी कह
रही होगी ॥ १७ ॥

दिष्ट्वा खलु महाराजो महिष्या प्रियया सह ।
सुमन्त्रं प्राहिणोद् दूनमर्थकामकरं मम ॥ १८ ॥

'सौभाग्यकी बात है कि महाराज अपनी धारै रानीके
साथ बैठे हैं और उन्होंने मेरे अभीष्ट अर्थको सिद्ध करनेवाले
सुमन्त्रको ही दूत बनाकर भेजा है ॥ १८ ॥

यादृशी परिषत् तत्र तादृशो दूत आगतः ।
ध्रुवमर्ध्व मां राजा चौवरज्येऽभिषेक्ष्यति ॥ १९ ॥

'जैसा वहाँ अन्तरङ्ग परिषद् बैठती है, वैसे ही दूत
सुमन्त्रजी वहाँ पधार हैं। अवश्य आज ही महाराज मुझे
युवराजके पदपर अभिषेक करेंगे ॥ १९ ॥

हन्त शौघमितो गत्वा द्रक्ष्यामि च महीपतिम् ।
सह त्वं परिवारेण सुखमास्व यमस्य च ॥ २० ॥

'अतः मैं प्रसन्नतापूर्वक यहाँसे शीघ्र जाकर महाराजका
दर्शन करूँगा। तुम परिवारके साथ यहाँ सुखपूर्वक बैठो
और आनन्द करो' ॥ २० ॥

पतिसम्मानिता सीता भर्तारमसितेक्षणा ।
आ द्वारमुपवप्राज मङ्गलान्यभिदध्युषी ॥ २१ ॥

पतिक द्वारा इस प्रकार सम्मानित होकर कज्जारे नेत्रोंवाली
सीता उन्का मङ्गल-चिन्तन करती हुई स्वामीके साथ-
साथ द्वारतक उन्हें पहुँचानेके लिये गयी ॥ २१ ॥

गन्धं द्विजानिभिर्जुष्टं राजसूयाभिषेचनम् ।
कर्तुमर्हति ते राजा वासवस्यैव लोककृत् ॥ २२ ॥

उस समय वे बोली—'आर्यपुत्र ! ब्राह्मणोंके साथ
रहकर आपका युवराजपदपर अभिषेक करके महाराज दूसरे
समयमें राजसूय-यज्ञमें सम्राटके पदपर आपका अभिषेक
करना चाह्य है। लोक उसी तरह जैसे लोकसाहा ब्रह्माने
देवगन्ध इन्द्रका अभिषेक किया था ॥ २२ ॥

दीक्षितं व्रतसम्पन्नं वराजिनधरं शुचिम् ।
कुरङ्गशृङ्गाणि च पश्यन्ती त्वां भजाम्यहम् ॥ २३ ॥

'आप राजसूय-यज्ञमें दीक्षित हो तदनुकूल व्रतका पालन

करनेमें तत्पर, श्रेष्ठ मृगचर्मधारो, पवित्र तथा हृथमें
मृगका गूँह धारण करनेवाले हों और इस रूपमें आपका
दर्शन करती हुई मैं आपकी सेवामें संलग्न रहूँ—यहां
मेरी शुभ-कामना है ॥ २३ ॥

पूर्वा दिशं वज्रधरो दक्षिणां पातु ते यमः ।

वरुणः पश्चिमाभाशां धनेशस्तूनां दिशम् ॥ २४ ॥

‘आपकी पूर्व दिशामें यमधारी इन्द्र, दक्षिण दिशामें
यमगुप्त, पश्चिम दिशामें वरुण और उत्तर दिशामें कुबेर
रक्षा करें’ ॥ २४ ॥

अथ सीतामनुज्ञाय कृतकौतुकममूलः ।

निशुक्लाम सुमन्त्रेण सह रामो निवेशनात् ॥ २५ ॥

तदनन्तर सीताकी अनुमति ले उत्सवकारिक मङ्गलकृत्य
पूर्ण करके श्रीरामचन्द्रजी सुमन्त्रक साथ अपने महलमें बाहर
निकले ॥ २५ ॥

पर्वतादिव निष्काम्य सिंहो गिरिगुहाशयः ।

लक्ष्मणो द्यौरि सोऽप्ययत् प्रह्लादुल्लिपुटं स्थितम् ॥ २६ ॥

पर्वतकी गुफामें शयन करनेवाला सिंह जैसे पर्वतमें
निकलकर आता है, उसी प्रकार महलमें निकलकर
श्रीरामचन्द्रजीने द्वारपर लक्ष्मणका उपास्थित देखा, जो
निःसीताभावमें हाथ जोड़े खड़े थे ॥ २६ ॥

अथ यथमकक्ष्यायां समागच्छन् सुहजर्नः ।

स सर्वानभिर्धिनो हृष्टा मध्येत्य प्रतिनन्द्य च ॥ २७ ॥

ततः पानकसंकाशमासरोहं रथोत्तमम् ।

षेयाद्यं पुरुषव्याघ्रो राजितं राजनन्दनः ॥ २८ ॥

महान्तर मध्यम कक्षामें आकर वे मित्रोंमें मिले।
पितृ, प्राचीं जनोंको उपस्थित देख उन सबमें मित्कर
उहें गेमुष्ट करके पुरयमित राजकुमार श्रीराम व्याघ्रचर्ममें
आबूत, शोभाशाली तथा अग्निक समान तेजस्वी उत्तम
रथपर आरुढ़ हुए ॥ २७-२८ ॥

तेजनादमसभ्याम् गणिहेमविभूषितम् ।

गुणान्तामिव चक्षुर्वि प्रभया मेखवर्चसम् ॥ २९ ॥

तम रथकी लघ्वराज्य मेंधकी गम्भीर गजनाक समान
प्रणीत होनी थी। उसमें स्याक्की संकीर्णता नहीं थी।
यह विश्रुत था और भणि एवं सुवर्णसे विभूषित था।
रामकी कान्ति सुतर्णभय मेखवर्चसके समान जान पड़ती थी।
यह रथ अपनी प्रगासे रोगोंकी आँखोंमें चकाचीध-सा
पेदा कर देता था ॥ २९ ॥

करेणुशिशुकल्पेभ्य युक्तं परमवार्जिभिः ।

हरिमुक्तं सहस्राक्षो रथपिन्द्र इवाशुगम् ॥ ३० ॥

उसमें लक्ष्म घोंड़े जुते हुए थे, जो अधिक पुष्ट होनेक
कारण हाथोंके बच्चोंके समान प्रतीत होने थे जैसे महल
नगरासी इन्द्र ही रंगके घोड़ोंसे युक्त शीघ्रगामी रथपर सवार
होते हैं, उसी प्रकार श्रीराम अपने उस रथपर आरुढ़ थे ॥

प्रययौ तूर्णमास्थाय राघवो ज्वलितः स्त्रिया ।

स पर्जन्य इवाकाशे स्वनवानभिनादयन् ॥ ३१ ॥

निकेतान्त्रिर्ययौ श्रीमान् महाभ्रादिव चन्द्रमाः ।

अपनी सहज शोभासे प्रवर्ताशत श्रीरघुनाथजी उस
रथपर आरुढ़ हो तुरंत बहसि चले दिये। वह तेजस्वी
रथ आकाशमें गरजनेवाले मेघकी भाँति अपनी चर्चर
ध्वनिमें सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित करता हुआ महान्
मेघवर्षासे निकलनेवाले चन्द्रमाके समान श्रीरामके उस
पवनसे बाहर निकले ॥ ३१ ॥

विभ्रधामरपाणिस्तु लक्ष्मणो राघवानुजः ॥ ३२ ॥

गुणोप भ्रातरं प्राप्ता रथमास्थाय पृष्ठतः ।

श्रीरामके छोटें भाई लक्ष्मण भी लक्ष्मणें विचित्र चर्चर लिये
उस रथपर बैठ गये और पीछेमें अपने ज्येष्ठ भ्राता श्रीरामकी
रक्षा करने लगे ॥ ३२ ॥

ततो हलहलाशब्दस्तुमुलः समजायत ॥ ३३ ॥

तस्य निष्कममाणस्य जनीधस्य समन्ततः ।

पितृ तो सब ओरमें मनुष्योंकी भारी धौड़ निकलने लगी।
उस समय उस जन-समूहके चालमें सहसा भयंकर
कोलाहल मच गया ॥ ३३ ॥

ततो हयवरा मुख्या नागाश्च गिरिसंनिभाः ॥ ३४ ॥

अनुजम्पुस्तथा रामं पानशोऽथ सहस्रशः ।

श्रीरामके पाँडे-पीछे अन्ध-अन्ध पीछे और पर्वतोंके
समान विद्रावकाय श्रेष्ठ गजराज सैकड़ों और हजारोंकी
संख्यामें चलने लगे ॥ ३४ ॥

अग्रतश्चास्य संनद्धाश्चन्दनागुरुभूषिताः ॥ ३५ ॥

खड्गचापधराः शूरा जम्पुराशंसवो जनाः ।

उनके आगे-आगे कवच आदिसे सुसज्जित तथा चन्दन
और अगुरुमें विभूषित हो खड्ग और धनुष धारण किये
बहुत-से गुरवार तथा मङ्गलाशंसो मनुष्य—बन्दी आदि
चले रहे थे ॥ ३५ ॥

ततो वादिप्रशब्दाश्च स्तुतिशब्दाश्च चन्दिनाम् ॥ ३६ ॥

सिंहनादाश्च शूराणां ततः शुश्रुविरे पथि ।

हृष्यवातायनस्थाधिभूषिताभिः समन्ततः ॥ ३७ ॥

कीर्यमाणः सुपुष्पोर्धैर्ययौ स्त्रीधिररिदमः ।

तदनन्तर मार्गमें बाघोंकी ध्वनि, बन्दोजनोंके स्तुतिपाठके
शब्द तथा शूराओंके सिंहनाद सुनायी देने लगे, महलोंकी
खिड़कियोंमें बैठे हुई वस्त्राभूषणसे विभूषित बनिताएँ सब
आरम्य अनुदमन श्रीरामपर देख-के-देख सुन्दर पुष्प बिखेर रही
थीं। इस अवस्थामें श्रीराम आगे बढ़ते चले जा रहे थे ॥

रामं सर्वानवधाङ्गयो रामपिप्रीवया ततः ॥ ३८ ॥

ज्वरोधिरभ्येहेम्यस्थाः क्षितिस्थाश्च चचन्दिरे ।

उस समय अङ्गुलिकाओं और चूतलपर खड़ी हुई
सर्वान्धजुन्य युवतियों श्रीरामका प्रिय करनेकी इच्छामें श्रेष्ठ

बचनोद्वासा इनकी स्तुति गाने लगी ॥ ३८ ॥

नूनं नन्दति ते माता कौसल्या मातृवन्दन ॥ ३९ ॥

पश्यन्ती सिद्धयात्रं त्वां पित्र्यं राज्यमुपस्थितम् ।

'माताको आनन्द प्रदान करनेवाले रघुवीर ! आपकी यह यात्रा सफल होगी और आपका पौतक राज्य प्राप्त होगा इस अवस्थामें आपको देखती हुई आपका माता कौसल्या निश्चय ही आनन्दित हो रही होंगी ॥ ३९ ॥

सर्वसीमन्तिनीभ्यश्च सीतां सीमन्तिनीं व्रजाम् ॥ ४० ॥

अमन्यन्त हि ता नार्या रामस्य हृदयप्रियाम् ।

नया सुधरितं देव्या पुरा नूनं महत् तपः ॥ ४१ ॥

रोहिणीव शशाङ्केन रामर्भयोगमाप या ।

'वे नार्या श्रीरामकी हृदयवत्सला सीमन्तिनी सीताको वसाराकी समस्त सीमायोजना निर्यास ग्रह मानता हुई कहन लगी—'उन देवी सीताने पूर्वकालमें निश्चय ही बहुत धारो तप किया होगा तथा उनका चन्द्रमामें मयुक्त हुई रोहिणीकी भांति श्रीरामका संयोग प्राप्त किया है' ॥ ४०-४१ ॥

इति प्रासादभूङ्गेषु प्रमदाभिर्नरान्तमः ।

शुश्राव राजमार्गस्थः प्रियां साध उदाजनाः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार राजमार्गपर रथपर बैठ हुए श्रीरामचन्द्रजी प्रासादशिखरोंपर वीर्य हुई युवती स्त्रियोंके द्वारा कही गयी व प्रिया की बातें सुन रहे थे ॥ ४२ ॥

य राघवस्तत्र नदा प्रलापा-

ञ्जुश्राव लोकस्य समागतस्य ।

आत्माश्रिकाग विविधाश्च वाच-

प्रहृष्टरूपस्य पुरे जनस्य ॥ ४३ ॥

उक्त समय अयोध्यामें आये हुए दूर-दूरके लोग अत्यन्त उत्साह भरे हुए श्रीरामचन्द्रजीके विषयमें जो कानूनाप और तरह-तरहकी बातें करते थे, अपने विषयमें कही गयीं उन सभी बातोंको श्रीरामचन्द्रजी सुनते जा रहे थे ॥ ४३ ॥

एष श्रियं गच्छति गच्छोऽहं

राजप्रसादाद् विपुला गमिष्यन् ।

पुनर्य सर्वमपृङ्क्तकामा

येनामने नो भविता प्रशास्ता ॥ ४४ ॥

इत्यादि श्रीपद्मावली वाम्योकीये आदिकाव्ययोध्याकाण्ड षोडश सर्ग ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीकीर्तिमत आपराभाषण आदिकार्यके अयोध्याकाण्डगे सालहर्षा सर्ग पूरा हुआ ॥ १६ ॥

सप्तदशः सर्गः

श्रीरामका राजपथकी शोभा देखते और सुहृदोंकी बातें सुनते हुए पिताके भवनमें प्रवेश

य रामो रक्षभास्त्राय सम्पदहृष्टसुहृज्जनः ।

पताकाध्वजसापन्न महर्हांगुरुपूषितम् ॥ १ ॥

अपश्यन्नगरीं श्रीमान् नानाजनसमन्वितम् ।

य गृहप्रसक्ताक्षैः पाण्डुरस्यशोभितम् ॥ २ ॥

राजमार्गं ययौ रामो मध्येनगुरुपूषितम् ।

वे कहते थे—'इस समय ये श्रीरामचन्द्रजी महाराज दशरथकी कृपासे बहुत बड़ी सम्पत्तिके अधिकारी होने जा रहे हैं। अब हम सब लोगोंकी समस्या कमनाएँ पूर्ण हो जायंगी, क्योंकि ये श्रीराम हमारे शासक होंगे ॥ ४४ ॥

लाभो जनस्यास्य पदेव सर्वं

प्रपत्यते राष्ट्रमिदं धिरास्य ।

न ह्यप्रियं किञ्चन जातु कुक्षित्

पश्येन्न दुःखं मनुजाधिपेऽस्मिन् ॥ ४५ ॥

यदि यह सारा राज्य धिरकालके लिये इनके हाथमें आ जाय तो इस जगत्को समस्त जनताके लिये यह महान् लाभ होगा। इनके राजा होनेपर कभी किसीका अप्रिय नहीं होगा और किसीको कोई दुःख भी नहीं देखना पड़ेगा ॥ ४५ ॥

य घोषवद्विभुः हयैः सनातै-

पुरःसरैः स्वस्तिकसूतमागधीः ।

महीयमानः प्रवरैश्च वादकै-

राभिष्टुतो वैश्रवणो यथा ययौ ॥ ४६ ॥

दिर्नहिनात हुए घोड़ों, चिन्घाड़ते हुए शायियों, जय-जयकार करते हुए आगे-आगे चलनेवाले ध्वजियों, स्तुतिपाठ करनेवाले सुतो, वैश्वी विमदावलि बलानेवाले मागधी तथा सर्वश्रेष्ठ गुणगायकोंके तुमुल घोषके बीच उन जन्तों अदिसे पूजित एवं प्रशंसित होते हुए श्रीरामचन्द्रजी कुच्छक समान चल रहे थे ॥ ४६ ॥

करंशुमातङ्गरथाश्चमकुलं

महाजनार्घैः परिपूर्णचत्वरम् ।

प्रभूतरत्नं बहुपण्यसंचयं

ददर्श रामो विमलं महापथम् ॥ ४७ ॥

यात्रा करते हुए श्रीरामने उस विशाल राजमार्गको देखा, जो हार्थानयो, मन्वाने हार्थया, रथों और घोड़ोंसे खचान्वत भरा हुआ था। उनके प्रत्येक चोंगहपर मनुष्योंकी भारी भीड़ इकट्ठी हो रही थी। उसके दोनों पार्श्वभागोंमें प्रचुर रत्नान भरी हुई दुकानें थीं तथा विक्रयक योग्य और भी बहुत-से श्रेष्ठोंके हेर वहाँ दिखायी देते थे। यह राजमार्ग बहुत साफ-सुथरा था ॥ ४७ ॥

सप्तदशः सर्गः

श्रीरामका राजपथकी शोभा देखते और सुहृदोंकी बातें सुनते हुए पिताके भवनमें प्रवेश

य रामो रक्षभास्त्राय सम्पदहृष्टसुहृज्जनः ।

पताकाध्वजसापन्न महर्हांगुरुपूषितम् ॥ १ ॥

अपश्यन्नगरीं श्रीमान् नानाजनसमन्वितम् ।

य गृहप्रसक्ताक्षैः पाण्डुरस्यशोभितम् ॥ २ ॥

राजमार्गं ययौ रामो मध्येनगुरुपूषितम् ।

इस प्रकार रामान् रामचन्द्रजी अपने सुहृदोंको आनन्द प्रदान करते हुए रथपर बैठ राजमार्गके बीचसे चले जा रहे थे, उन्होंने देखा—सारा नगर ध्वजा और पताकाओंसे सुशोभित हो रहा है, चारों ओर बहुमूल्य अगुरु नामक धूपकी सुगन्ध छा रही है और सब ओर असंख्य मनुष्योंकी

भीड़ दिखायी देती है। वह राजमार्ग श्वेत वादलोंके समान उज्ज्वल भव्य पथनीमें सुशोभित तथा अगुरुकी मुग्धमें व्याप्त हो रहा था ॥ २ ॥

चन्दनानां च मुख्यानामगुरुणां च संचयैः ॥ ३ ॥

उत्तमानां च गन्धानां श्रीमर्कशाखरस्य च ।

अविद्धाभिश्च मुक्ताभिस्तर्प्य स्फाटिकैरपि ॥ ४ ॥

शोभमानममम्यार्थं तं राजपथमुत्तमम् ।

संवृतं विविधैः पुष्पैर्भक्ष्यैरुमावचरपि ॥ ५ ॥

ददर्श तं राजपथं दिवि देवपतिर्यथा ।

दध्यक्षतस्त्रयिलोजैर्धूपैरागुरुचन्दनैः ॥ ६ ॥

गान्धर्वाद्योपगन्धैश्च सदाभ्यर्चितचत्वरम् ।

आत्मी श्रीगीके चन्दनो, अगुरु नामक धूपों, उत्तम गन्धद्रव्यों अलसों या सन आदिके रेशोंसे बने हुए कपड़ों तथा रेशमी चर्राके छेद, अनविधे मोती और उत्तमोत्तम स्फटिक गज तम विष्णुत एवं उत्तम राजमार्गको शोभा बढ़ा रहे थे। वह नाना प्रकारके पुष्पों तथा भोजित-भोजितके भक्ष्य पदार्थोंसे भरा हुआ था। उसके घौरातोंकी दृष्टि, अक्षत, त्रिविध्य, लाक्षा, धूप, अगुरु, चन्दन, नाना प्रकारके पुष्पहार और गन्धाद्रव्योंसे सदा पूजा की जाती थी। स्वर्गलोकमें घने हुए देवराज इन्द्रकी भाँति रघुलक्ष्म श्रीरामने उस राजमार्गको देख ॥ ३—६ ॥

आशौर्वादान् बहुशृण्वन् सुहृद्भिः सम्पदोत्तमान् ॥ ७ ॥

यथाहं चापि सम्पूज्य सखानिव नरान् ययौ ।

वे अपने सुपदोंके सुखसे कहे गये बहुत-से आशौर्वादान्का सुनने और यथायोग्य उन सब लोगोंका सम्मान करते हुए चले जा रहे थे ॥ ७ ॥

पितामहेराजपरिभं तर्षव प्रपितामहेः ॥ ८ ॥

अष्टोपादाय तं मार्गमभिषिक्तोऽनुपालय ।

(उनके हिलेयी गुरु कहते थे—) 'रघुनन्दन ! तुम्हारे पितामह और प्रपितामह (नादे और गरददे) जिसपर चलते आये हैं, आज सती मार्गको ग्रहण करके युवराज-पदपर अधिष्ठातृ हो शत्रु हम सब लोगोंका निरन्तर पालन करें' ॥

यथा स्व पौत्रिणाः पित्रा यथा सर्वैः पितामहैः ।

नतः सुखमयं सर्वं रामे यत्क्याम राजनि ॥ ९ ॥

(पित्र वे आपसमें कहने लगे—) 'भाइयो ! श्रीरामक पिता तथा तागत पितामहोंद्वारा जिस प्रकार हमलोगोंका पालन पापण हुआ है श्रीरामक राजा होनेपर हम उम्मेद भी अधिक करती रहेंगे ॥ ९ ॥

अलमस्य हि भूमेन पर्यार्थिरले च नः ।

यदि पश्याम निर्गन्तं रामे राज्ये प्रतिष्ठितम् ॥ १० ॥

'यदि हम राज्यपर प्रतिष्ठित हुए श्रीरामको पितृके घरसे निकलते हुए देख लें—यदि राजा समका दर्शन कर लें तो अब हमे इहलोकके भोग और परमार्थस्वरूप मोक्ष

लेकर क्या करना है ॥ १० ॥

नतो हि नः प्रियतरं नान्यत् किञ्चिद् भविष्यति ।

यथाभिषेको रामस्य राज्येनापिततेजसः ॥ ११ ॥

'अमिन तेजस्वी श्रीरामका यदि राज्यपर अभिषेक हो जाय तो वह हमारे लिये जैसा प्रियतर कार्य होगा उससे बढ़कर दूसरा कोई परम प्रिय कार्य नहीं होगा' ॥ ११ ॥

एताश्चान्याश्च सुहृदामुदासीनः शुभाः कथाः ।

आत्ममण्डूजनी शृण्वन् ययौ रामो महापथम् ॥ १२ ॥

सुहृदोंके मुँहसे निकली हुई वे तथा और भी कई तरहकी अपनी प्रशंसासे सम्बन्ध रखनेवाली सुन्दर बातें सुनते हुए श्रीरामचन्द्रजी राजपथपर बढ़े चले जा रहे थे ॥ १२ ॥

न हि तस्मान्मनः कश्चिच्छ्रुषी वा जरोत्तमात् ।

नरः शक्रोत्पपाक्रुष्मतिक्रान्तेऽपि राघवे ॥ १३ ॥

(जो श्रीरामकी ओर एक बार देख लेता, वह उन्हें देखना ही रह जाता था) श्रीमधुनाथजीके दूर चले जानेपर भी कोई उन पुरुषोत्तमकी ओरसे अपना मन या दृष्टि नहीं हटा पाता था ॥ १३ ॥

यश्च रामं न पश्येत्तु ये च रामो न पश्यति ।

निन्दितः सर्वलोकेषु स्वात्माप्येनं विगर्हति ॥ १४ ॥

उस समय जो श्रीरामको नहीं देखता और जिसे श्रीराम नहीं देख लेने से, वह समस्त लोकोंमें निन्दित सम्झा जाता था तथा स्वयं उसकी अन्तरात्मा भी उसे धिक्कारती थी ॥

सर्वेषु स हि धर्मात्मा वर्णानां कुर्वते दयाम् ।

चतुर्णां हि वयःस्थानां तेन ते तमनुव्रताः ॥ १५ ॥

धर्मात्मा श्रीराम चारों वर्णोंके सभी मनुष्योंपर उनकी अवस्थाके अनुरूप दया करते थे, इसलिये वे सभी उनके भक्त थे ॥ १५ ॥

अनुपयथान् देवपथांश्चैत्याश्चायतनानि च ।

प्रदक्षिणं परिहरज्जगाम नृपतेः सुतः ॥ १६ ॥

राजकुमार श्रीराम श्रीरहो, देवमार्गों, चैत्यक्षेत्रों तथा देवमन्दिरोंको अपने दाहिने छाड़ते हुए आगे बढ़ रहे थे ।

स राजकुलपासाद्य मेघसङ्कोपमैः शुभैः ।

प्रासादशृङ्गैर्विबधैः कैलासशिखरोपमैः ॥ १७ ॥

आकाशचन्द्रिर्गगनं विमानैरिव धाण्डुरैः ।

वर्धमानगृहैश्चापि रत्नजालपरिष्कृतैः ॥ १८ ॥

तन् पृथिव्यां गृहवरं महेंद्रसदनोपमम् ।

राजपुत्रः पिनुर्वश्य प्रविशेश श्रिया ज्वलन् ॥ १९ ॥

राजा दशरथका भवन मेघसमूहाके समान शोभा पानेवाले, सुन्दर अनेक रूप रखवाले कैलासशिखरके समान लम्बवर्त प्रासादशिखरों (अट्टालिकाओं) से सुशोभित था उसमें खोंका जालोंसे विभूषित तथा विमानाकार त्रीडागृह भी बने हुए थे जो अपनी श्वेत आभासे प्रकाशित होते थे । वे अपनी ऊँचाईसे आकाशका भी लौघते हुए-से प्रतीत होते

ये, ऐसे गृहोंसे युक्त वह श्रेष्ठ भवन इस पुत्रलभ इन्द्रसदनके समान शोभा पाता था । उस राजभवनके पास पहुँचकर अपनी शोभासे प्रकाशित होनेवाले राजकुमार श्रीरामने पिताके मन्त्रालयमें प्रवेश किया ॥ १७—१९ ॥

स कक्ष्या धन्विभिर्गुप्राप्तिस्रोऽतिक्रम्य वार्त्ताभिः ।
पदातिरपरे कक्ष्ये द्वे जगाम नरोत्तमः ॥ २० ॥

उन्होंने धनुर्धर घोंगेद्वारा सुरक्षित मन्त्रालयके तीन दृशीद्वारोंका तो धोड़ जने हुए मध्यमे ही पार किया फिर दो कक्षीद्वारों के पुरुषानाम राम पैदल हो गये ॥ २० ॥

स सर्वाः समतिक्रम्य कक्ष्या दशरथात्मजः ।
संनिवर्त्य जनं सर्वं शुद्धान् पुरमस्यगान् ॥ २१ ॥

इत्यर्थे श्रीराममायणं धान्वीकौथ आदिकार्येऽयोध्याकाण्डे सप्तदश सर्ग ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीरामने निमित्त आयेगा मायण आदिकार्यके अयोध्याकाण्डमें सप्तदश सर्ग पूरा हुआ ॥ १७ ॥

—★—

अष्टादशः सर्गः

श्रीरामका कैकेयीसे पिताके चिन्तित होनेका कारण पूछना और कैकेयीका कठोरतापूर्वक अपने भाँगे हुए धरोका वृत्तान्त बनाकर श्रीरामको वनवासके लिये प्रेरित करना

स वदशांस्ते रामो विषण्णं पितरं श्रुथे ।
कैकेय्या सहिते दीनं मुखेन परिशुच्यता ॥ १ ॥

मन्त्रालयमें जाकर श्रीरामने पिताका कैकेयीके साथ एक सुन्दर आसनपर बैठे देखा । वे विषममूर्त दुःख हुए थे उनका मुँह सूख गया था और वे बड़े दयनीय दिखाया दन थे ।
स पितुश्चरणौ पूर्वमभिवाद्य विनीतकम् ।

ततो वचन्दे चरणौ कैकेय्याः सुसमाहितः ॥ २ ॥

निकट पहुँचनेपर श्रीरामने विनीतभावमें पहले अपने पिताके चरणोंमें प्रणाम किया, उसके बाद बड़ी सावधानोंके साथ उन्होंने कैकेयीके चरणोंमें भी मस्तक झुकाया ॥ २ ॥

रामस्तुक्त्वा तु वचनं वाचस्पत्याकुलेक्षणः ।
शशान्क नृपान्दीनो नैक्षिन्तु नाभिभाषितम् ॥ ३ ॥

इस समय दीनरूपमें यह हुए राजा दशरथ एक बार राम ।' ऐसा कहकर रुक हो गये (इसमें आगे उनमें बोल नहीं गया) । इनके चेहरेमें आँसू भर आये अतः वे श्रीरामकी भाव व तो ऐसा सक और न उनमें कोई बात हो कर सके ॥

तदगूरी वरपतेर्वृष्टा सखे भयावहम् ।
रामोऽपि भयमापन्नः पथा स्पृष्टेव पन्नगम् ॥ ४ ॥

राजाका वह अभूतपूर्व भयकर रूप देखकर श्रीरामके भी भय हो गया, मानों उन्होंने पैरों किम्बो सर्पको छु लिया हो ॥

हृदिभैरवप्रहृष्टैस्त शोकसंतापकश्चितम् ।
नि क्षमन्ते महाराजं व्यथिताकुलचेतसम् ॥ ५ ॥

जमिमास्तिनयक्षोभ्यं क्षुब्धन्तपिव माणवम् ।
उपप्लविकादित्यमुक्तानुनमृषिं यथा ॥ ६ ॥

गोपाका इन्द्रियोंमें प्रयोजन नहीं थी, वे शोक और

उम प्रकार सारी हृद्यद्वियोंका पार करके दशरथनन्दन श्रीराम साथ आये हुए सब लोकोका लौटाकर स्वयं अन्त-पुरमें गये ॥ २१ ॥

तस्मिन् प्रविष्टे पिनुर्गन्तिकं तदा
जनः स सर्वो मुदितो नृपात्मजे ।

प्रतीक्षते तस्य पुनः स्व निर्गमं
यथोदयं चन्द्रमसः सरित्पतिः ॥ १२ ॥

जब राजकुमार श्रीराम पिताके पास जावके लिये अन्त-पुरमें प्रविष्ट हुए तब आनन्दमग्न हुए सब लोग बाहर गये जाकर उनके पुनः निकलनेकी प्रतीक्षा करने लगे, ठीक ठीकी तरह जैसे चन्द्रिका आकाशमें समुद्र चन्द्रायकी प्रतीक्षा करना रहता है

इत्यर्थे श्रीराममायणं धान्वीकौथ आदिकार्येऽयोध्याकाण्डे सप्तदश सर्ग ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीरामने निमित्त आयेगा मायण आदिकार्यके अयोध्याकाण्डमें सप्तदश सर्ग पूरा हुआ ॥ १७ ॥

श्रीरामका कैकेयीसे पिताके चिन्तित होनेका कारण पूछना और कैकेयीका कठोरतापूर्वक अपने भाँगे हुए धरोका वृत्तान्त बनाकर श्रीरामको वनवासके लिये प्रेरित करना

मनापसे दुर्बल हो रहे थे, बारबार लंबी साँसें भरते थे तथा उनके स्तनमें बड़ी व्यथा और व्याकुलता थी । वे ऐसे दीखते थे मानों नरहमाल्यओंसे उपलक्षित अक्षोभ्य समुद्र क्षुब्ध हो उठे हों, सूर्यको राहुने उस लिया हो अथवा किसी महर्षिने झूठ बोल दिया हो ॥ ६ ॥

अचिन्त्यकल्पं नृपतेस्तं शोकमुपधारयन् ।
वभूव सरब्धतरः समुद्र इव पर्वणि ॥ ७ ॥

राजाका वह शोक सम्भावनासे परे था । इस शोकका क्या कारण है — यह साचने हुए श्रीरामचन्द्रजी पूर्णिमाके समुद्रकी भाँति अत्यन्त विक्षुब्ध हो उठे ॥ ७ ॥

चिन्तयामास चतुरो रायः पितुर्हिते रतः ।
किंस्विदर्थेन नृपतिर्न मां प्रत्यभिनन्दति ॥ ८ ॥

पिताके चिन्तनमें तत्पर रहनेवाले परम चतुर श्रीराम सोचने लगा कि 'आज ही ऐसा क्या बात हो गयी' जिससे महाराज मुझसे प्रसन्न होकर बोलने नहीं हैं ॥ ८ ॥

अन्यदा मां पिता दृष्ट्वा कुपितोऽपि प्रसीदति ।
तस्य मामह्य सम्प्रेक्ष्य किमायासः प्रवर्तते ॥ ९ ॥

'और दिन तो पिताजी कुपित होनेपर भी मुझे देखते ही प्रसन्न हो जाते थे, आज मेरी ओर दृष्टिपात करके इन्हें ऐसा क्यों हो रहा है' ॥ ९ ॥

स दीन इव शोकार्ता विषण्णवदनद्युतिः ।
कैकेयीमभिवाद्यैव रामो वचनमब्रवीत् ॥ १० ॥

यह सब सोचकर श्रीराम दीन-से हो गये, शोकसे कान्त हो उठे 'विषाद' कारण उनका मुखकी कान्त फीकी पड़ गयी वे कैकेयीको प्रणाम करके उसीमें पड़ने लगे — ॥

कश्चिन्मया नापराद्धमज्ञानाद् येन मे पिता ।

कुपितस्तन्मयाचक्ष्य त्वमेवैनं प्रसादय ॥ ११ ॥

‘मा ! मुझसे अनजानमें कोई अपराध तो नहीं हो गया, जिससे पिताजी मुझपर नाराज हो गये हैं । तुम यह बात मुझे बताओ और तुम्हीं इन्हें मना दो ॥ ११ ॥

अप्रसन्नमनाः किं नु सदा मां प्रति वत्सलः ।

विषण्णवदनो दीनः नाहं मां प्रति भाषते ॥ १२ ॥

‘मे तो सदा गुले पार करने थे आज इनका मन अप्रसन्न पड़ो हो गया / देखता हूँ, ये आज मुझसे बोलत-तक नहीं है, इनके मुखपर शिवाद् छा रहा है और ये अभ्यन्त दुःखी हो रहे हैं ॥ १२ ॥

शारीरो मानसो वापि कतिदेनं न चाधते ।

संतप्तो चाभितापो वा दुर्लभं हि सदा सुखम् ॥ १३ ॥

कोई शारीरिक व्याधिजनित संतप अथवा मनस्सिक अभिताप (चिन्ता) तो इन्हें पीड़ित नहीं कर रहा है ? क्योंकि मनुष्यको सदा सुख-ही-सुख मिल—ऐसा सुयोग प्रलय दुर्लभ होता है ॥ १३ ॥

कश्चिन्न किञ्चित् धरमे कुमारे प्रियदर्शने ।

शत्रुघ्ने वा महासत्त्वे मातृणां वा ममाशुभम् ॥ १४ ॥

‘प्रियदर्शन कुमार भरत, महाबली शत्रुघ्न अथवा मेरी माताओंका तो कोई अम्भुल नहीं हुआ है ? ॥ १४ ॥

अतोवयन् महाराजमकुर्वन् वा पितुर्वचः ।

भुर्तुर्मपि नेच्छेयं जीवितुं कुपिते नृपे ॥ १५ ॥

‘महाराजको असन्तुष्ट करके अथवा इनको आज्ञा न मानकर इन्हें कुपित कर देनेपर मैं दा बड़ों भी जीवित रहना नहीं चाहूँगा ॥ १५ ॥

घतोपमो नरः पश्येन् प्रादुर्भाधमिहात्मनः ।

कथं तस्मिन् न वर्तेत प्रत्यक्षे सति दैवते ॥ १६ ॥

‘मनुष्य जिसके कारण इस जगत्में अपना प्रादुर्भाव (जन्म) देखता है उस प्रत्यक्ष दैवता पिताके जीत जो वह तबक अनुकूल वर्तव्य क्यों न करेगा ? ॥ १६ ॥

कनिसे पतये किञ्चित्भिमानीनात् पिता मम ।

उत्तो भवत्या रोपेण येनास्य लुल्लभं मनः ॥ १७ ॥

‘कहीं तुमने तो अभियान या रोषके कारण मेरे पिताजीसे कोई कड़ोर बात नहीं बोल डाली, जिससे इनका मन दुःखी हो गया है ? ॥ १७ ॥

एतत्प्रत्यक्ष मे हेति तत्त्वेन परिपृच्छतः ।

किंनिमित्तमापूर्वोऽयं विकारो मनुजार्थिने ॥ १८ ॥

‘देव ! मैं सभी बात पृच्छता हूँ, बताओ, किस कारणसे महाराजक मनमें आज इतना विकार (संताप) है ? इनकी ऐसी अवस्था तो पहले कभी नहीं देखी गयी थी ॥ १८ ॥

एतन्मया तु कुरुषी राष्ट्रवर्ण महात्मना ।

व्याधेद् सुनिर्लज्जा धृष्टमात्महितं वचः ॥ १९ ॥

महात्मा श्रीरामके इस प्रकार पृच्छनेपर अत्यन्त निर्लज्ज कंकयी बड़ी हिठाईक साथ अपने मतलबकी बात इस प्रकार बोली— ॥ १९ ॥

न राजा कुपितो राम व्यसनं नास्य किञ्चन ।

किञ्चिन्मनोगतं त्वस्य त्वद्वयाग्नानुभाषते ॥ २० ॥

‘राम ! महाराज कुपित नहीं हैं और न इन्हें कोई कष्ट ही हुआ है । इनके मनमें कोई बात है, जिससे तुम्हारे डरसे ये कह नहीं पा रहे हैं ॥ २० ॥

प्रियं त्वामप्रियं सक्तं वाणी नास्य प्रवर्तते ।

तद्वदर्थं त्वया कार्यं घटनेनाश्रुते मम ॥ २१ ॥

‘तुम इनके प्रिय हो, तुमसे कोई अप्रिय बात कहनेके लिये इनकी जवान नहीं खुलती, किंतु इन्होंने जिस कार्यके लिये मेरे सामने प्रतिज्ञा की है, उसका तुम्हें अवश्य पालन करना चाहिये ॥ २१ ॥

एव मह्यं वरं दत्त्वा पुरा मामभिपूज्य च ।

स पश्चात् तप्यते राजा ययान्यः प्राकृतस्तथा ॥ २२ ॥

‘इन्होंने पहले तो मेरा सत्कार करते हुए मुझे मुहमंगा जग्दान दे दिया और अब ये दूसरे गैवार मनुष्योंको भीत उसके लिये पश्चात्ताप करते हैं ॥ २२ ॥

अतिसुज्य ददानीति वरं मम विशाम्यतिः ।

स निरर्थं गतजले सेतुं बन्धितुमिच्छति ॥ २३ ॥

‘ये प्रजानाथ पहले ‘मैं दूँगा’—ऐसी प्रतिज्ञा करके मुझे वर दे चुके हैं और अब उसके निवारणके लिये व्यर्थ प्रयत्न कर रहे हैं, पानी निकल जानेपर उसे रोकनेके लिये बाँध बाँधनेको निरर्थक चेष्टा करते हैं ॥ २३ ॥

धर्ममूलमिदं राम विदितं च सतामपि ।

तत् सत्यं न त्यजेद् राजा कुपितस्त्वत्कृते यथा ॥ २४ ॥

‘राम ! सत्य ही धर्मकी जड़ है, यह सत्पुरुषोंका भी निश्चय है । कहीं ऐसा न हो कि ये महाराज तुम्हारे कारण मुझपर कुपित होकर अपने उस सत्यको ही छोड़ देंगे । जैसे भी इनके सत्यका पालन हो, वैसे तुम्हें करना चाहिये ॥ २४ ॥

यदि तद् वक्ष्यते राजा शुभं वा यदि वाशुभम् ।

करिष्यामि नत, सर्वमारण्यास्यामि पुनस्त्वहम् ॥ २५ ॥

‘यदि राजा जिस बातका कहना चाहते हैं, वह शुभ हो या अशुभ तुम सर्वथा उसका पालन करो तो मैं सारी बात पुनः तुमसे कहूँगी ॥ २५ ॥

यदि त्वभिहितं राजा त्वयि तन्न विपत्स्यते ।

ततोऽहमभिधास्यामि न होष त्वयि वक्ष्यति ॥ २६ ॥

‘यदि राजाको कहीं हुई बात तुम्हारे कानोंमें पहुँकर वहाँ नष्ट न हो जाय—यदि तुम इनको प्रत्येक आज्ञाका पालन कर सका तो मैं नूममें सब कुछ खालकर बता दूँगी, ये स्वयं नूमसे कुछ नहीं कहेंगे ॥ २६ ॥

एतत् तु वचनं श्रुत्वा कैकेय्या सम्पुटहृतम् ।

उवाच व्यथितो रामस्तां देवीं नृपसन्निधौ ॥ २३ ॥

कैकेयोको कहाँ हुई यह बात सुनकर श्रीरामके मनमें बड़ी व्यथा हुई उन्होंने राजाके समीप ही देवी कैकेय्यासे इस प्रकार कहा— ॥ २३ ॥

अहो धिक् भार्गवे देवि वक्तुं मामीदृशं वचः ।

अहं हि वधनाद् राज्ञः पतेयमपि पावके ॥ २४ ॥

भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे ।

नियुक्तो गुरुणा पित्रा नृपेण च हिनेन च ॥ २५ ॥

तद् ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकाङ्क्षितम् ।

करिष्ये प्रतिजाने च रामो हिनाभिधावते ॥ २६ ॥

‘अहो ! भिक्षार है । देवि ! तुम्हें मेरी प्रति ऐसी बात सुझाव नहीं निकालनी चाहिये । मैं महाराजके कहनमें आगमें भी झुल सकता हूँ, तीव्र विषका भी भक्षण कर सकता हूँ और समुद्रमें भी गिर सकता हूँ । महाराज मेरे गुरु पिता और हितैषी हैं, मैं उनकी आज्ञा पक्कम क्या नहीं कर सकता ? इसलिये देवि ! राजाको जो अपेक्षा है, वह बात मुझे बताओ । मैं प्रतिज्ञा करता हूँ, उसे पूर्ण करूँगा । राम को सबकी बात नहीं करता है’ ॥ २४—३० ॥

तमार्जवसमायुक्तमनस्य सत्यवादिनम् ।

उवाच रामे कैकेयी वचनं धृशदारुणम् ॥ ३१ ॥

श्रीराम सरल स्वभावसे युक्त और सत्यवादी थे, उनकी बात सुनकर आनार्यो कैकेयीने अत्यन्त दारुण वचन कहना आरम्भ किया— ॥ ३१ ॥

पुत्रं देवासुरे युद्धे पित्रा ते मम राघव ।

रक्षितेन घरी दत्तौ सशल्येन महारणे ॥ ३२ ॥

रघुनन्दन ! पटलकी बात है, देवासुरसंग्राममें तुम्हारे पिता कायुओंके आणसे विध मये थे, इस महासमयमें मैंने दत्तकी रक्षा की थी उससे घनघ्न हाथों से हान मुझ दा वर दिये थे ॥ ३२ ॥

तत्र मे चाञ्चितो राजा भरतस्याभिषेकवम् ।

गमने दण्डकारण्ये नव चाद्यं राघव ॥ ३३ ॥

राम ! इन्होंनेसे एक बरके द्वारा तो मैंने महाराजसे यह आज्ञा की है कि भरतका राज्याभिषेक हो और दूसरा यह कि मैंने है कि तुम्हें आज ही दण्डकारण्यमें भेज दिया जाय ॥

यदि सत्यप्रतिज्ञं त्वं पितरं कर्तुमिच्छसि ।

आत्मानं च नरक्षेत्रे मम व्याकथयिष्ये शृणु ॥ ३४ ॥

‘नरक्षेत्रे । यदि तुम अपने पिताको सत्यप्रतिज्ञा बनाना चाहते हो और अपनेको भी सत्यवादी सिद्ध करनेकी इच्छा

रखते हो तो मेरी यह बात सुनो ॥ ३४ ॥

सन्निदेशे पितुस्तिष्ठ यथानेन प्रतिश्रुतम् ।

त्वयारण्यं प्रवेष्टव्यं नव वर्षाणि पञ्च च ॥ ३५ ॥

‘तुम पिताकी आज्ञाके अधीन रहो, जैसी इन्होंने प्रतिज्ञा की है उसके अनुसार तुम्हें चौदह वर्षके लिये वनमें प्रवेश करना चाहिये ॥ ३५ ॥

भरतस्याभिषिष्येत यदेतदभिषेकनम् ।

त्वदर्थं विहितं राजा तेन सर्वेण राघव ॥ ३६ ॥

‘रघुनन्दन ! राजाने तुम्हारे लिये जो यह अभिषेकका यथामान सुनाया है उसे सबके द्वारा यहाँ भरतका अभिषेक किया जाय ॥ ३६ ॥

सप्त सप्त च वर्षाणि दण्डकारण्यमाश्रितः ।

अभिषेकमिदं त्यक्त्वा जटाचीरधरो भव ॥ ३७ ॥

‘और तुम इस अभिषेकको त्यागकर घोटह खर्बंतक दण्डकारण्यमें रहते हुए जटा और चीर धारण करो ॥ ३७ ॥

भरतः कोसलपतेः प्रशास्तु वसुधामिमाम् ।

नानारत्नसमाकीर्णा सवाजिरथसंकुलाम् ॥ ३८ ॥

‘कोसलनरेशको इस वसुधाका, जो नाना प्रकारके रत्नोंसे भरी-पूरी और घोंड़े तथा रथोंसे व्याप्त है, भरत शासन करे ॥ ३८ ॥

एतेन त्वां नरेन्द्रेऽयं काश्यपेन समापृतः ।

शोके संक्लिष्टवदनो न सक्तोति निरीक्षितुम् ॥ ३९ ॥

‘यस इतनी ही बात है, ऐसा करनेसे तुम्हारे वियोगका कष्ट सहन करना पड़ेगा, यह सोचकर महाराज कण्ठमें डूब रहे हैं । इसी शोकसे इनका मुख सूख गया है और इन्हे तुम्हारी ओर देखनेका साहस नहीं होता ॥ ३९ ॥

एतत् कुरु नरेन्द्रस्य वचनं रघुनन्दन ।

सत्येन महता राम तारयस्व नरेश्वरम् ॥ ४० ॥

‘रघुनन्दन राम ! तुम राजाको इस आज्ञाका पालन करो और इनके महान् सत्यकी रक्षा करके इन नरेशको संकटसे उबार लो ॥ ४० ॥

इतीव तस्यां धनुषं वदस्यां

न चैव रामः प्रविशेश शोकम् ।

प्रविष्यथे चापि महानुभावो

राजा च पुत्रव्यसनाभितप्तः ॥ ४१ ॥

कैकेयोके इस प्रकार कठोर वचन कहनेपर भी श्रीरामके हृदयमें शोक नहीं हुआ, परंतु महानुभाव राजा दशरथ पुत्रके भावी वियोगजनित दुःखसे संतप्त एवं व्यथित हो उठे ॥ ४१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽष्टाध्याकाण्डेऽष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अष्टाध्याकाण्डमें अष्टादशवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १८ ॥

एकोनविंशः सर्गः

श्रीरामकी कैकेयीके साथ बातचीत और वनमें जाना स्वीकार करके उनका माता
कौसल्याके पास आजा लेनेके लिये जाना

तदप्रियमभिप्रद्यो वचनं भरणीपमम् ।

श्रुत्वा न विव्यथे राघः कैकेयीं चेदमब्रवीत् ॥ १ ॥

वह अप्रिय तथा मृत्युक समान कष्टदायक वचन सुनकर
श्री राममनन श्रीगम ध्यातन नहीं हुए । इन्होंने कैकेयीसे
इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

एवमस्तु गमिष्यामि वनं वस्तुगहं त्वितः ।

जटाधोरधरो राजः प्रतिज्ञामनुपालयन् ॥ २ ॥

‘मा । बहुत अच्छा ! ऐसा ही हो । मैं महाराजको
प्रतिज्ञाका पालन करनेके लिये जटा और चौर धारण करके
वनमें राजाके निर्माण अवश्य यहाँसे चला जाऊँगा ॥ २ ॥

इदं तु ज्ञातुमिच्छामि किमर्थं मां महोपतिः ।

नाभिन्नन्दति दुर्भागो यथापूर्वमरिदमः ॥ ३ ॥

‘परंतु मैं यह जानना चाहता हूँ कि आज दुर्जय तथा
राजकुमार दमन कानवाल महाराज मुझसे पहले-से नगर
प्रसन्नतापूर्वक खोलते क्यों नहीं हैं ? ॥ ३ ॥

मन्युर्न च त्वया कार्यां देखि ब्रूमि तवाग्रतः ।

घातार्थानि भव सुप्रीता वनं चोरजटाधरः ॥ ४ ॥

‘देखि ! मैं तुम्हारे सम्मने ऐसी बात पूछ रहा हूँ, इसलिये
तुम्हें क्रोध नहीं करना चाहिये । निश्चय चौर और जटा धारण
करते-से मैं वनको चला आऊँगा, तुम प्रसन्न रहो ॥ ४ ॥

हितेन गुणैः पित्रा कृतज्ञेन नृपेण च ।

निघृज्यमानो विस्मय्य किं न कुर्यामहं प्रियम् ॥ ५ ॥

‘राजा मेरे हितार्थी, गुण, पिता और कृतज्ञ है । इनकी आज्ञा
एतन्पर मैं इनका कौन-सा ऐसा प्रिय कार्य है, जिसे निःशङ्क
होकर न कर सकूँ ? ॥ ५ ॥

आशीर्कं घानसं त्वेकं हृदये दहने मम ।

स्वयं यज्ज्ञातु मा राजा भरतस्याभिषेचनम् ॥ ६ ॥

‘लेतु मेरे माँको एक ही हार्दिक दुःख अधिक अल्प
रहा है कि स्वयं महाराजन मुझसे भरतके अभिषेकको
जान नहीं सकती ॥ ६ ॥

अहं हि सातां राज्यं च प्राणानिष्टान् धनानि च ।

हामे भ्रात्रे स्वयं सृष्ट्वा भरताय प्रचोदितः ॥ ७ ॥

‘मैं केवल तुम्हारे कहनसे भी अपने भाई भरतके लिये
हरे राज्यको, सोनाको, ध्यारे प्राणोंको तथा सारी सम्पत्तिको
भी प्रसन्नतापूर्वक कार्य ही दे सकता हूँ ॥ ७ ॥

किं पुनर्गृहेन्द्रेण स्वये पित्रा प्रचोदितः ।

तव च प्रियकामार्थं प्रतिज्ञामनुपालयन् ॥ ८ ॥

‘फिर यदि स्वयं महाराज—मेरे पिताजी आज्ञा दे और
आज भी तुम्हारा प्रिय कार्य करनेके लिये तो मैं प्रतिज्ञाका

पालन करने हुए उस कार्यको क्यों नहीं करूँगा ? ॥ ८ ॥

तथाश्वासय ह्योभन्तं किं त्विदं यन्महीपतिः ।

वसुधासक्तनयनो मन्दमश्रूणि मुञ्चति ॥ ९ ॥

‘तुम मेरे औरसे विश्वास दिलाकर इन लज्जाशील
महाराजको आश्वामन दो । ये पृथ्वीनाथ पृथ्वीको और दुष्ट
किये घोर-घोर अमि क्यों बका रहे हैं ? ॥ ९ ॥

गच्छन्तु र्वतानयितुं दूताः शीघ्रजयैर्हयैः ।

भरतं मातुलकुलादद्यैव नृपशासनात् ॥ १० ॥

‘आज ही महाराजको आज्ञासे दूत शीघ्रगामी घोड़ोंपर
सवार होकर भरतको मायाके यहाँसे बुलानेके लिये
चले जायें ॥ १० ॥

दण्डकारण्यमेवोऽहं गच्छाम्येव हि सत्वरः ।

अविचार्य पितुर्वाक्यं समा वस्तुं चतुर्दश ॥ ११ ॥

‘मैं अभी पिताकी बातपर कोई विचार न करके सीधे
अपगतिक वनमें रहनेके लिये तुरंत दण्डकारण्यको चला ही
जाता हूँ ॥ ११ ॥

सा हृष्टा तस्य तद् वाक्यं श्रुत्वा रामस्य कैकेयी ।

प्रस्थानं भदधाना सा त्वरयामास राघवम् ॥ १२ ॥

श्रीरामकी यह बात सुनकर कैकेयी बहुत प्रसन्न हुई उसे
विधान हो गया कि ये वनको चले जायेंगे । अतः श्रीरामको
जल्दी जानेको प्रेरणा देती हुई वह बोली— ॥ १२ ॥

एवं भवतु यास्यन्ति दूताः शीघ्रजयैर्हयैः ।

भरतं मातुलकुलादिहावर्तयितुं नराः ॥ १३ ॥

‘तुम ठीक कहते हो, ऐसा ही होना चाहिये । भरतको
मायाके यहाँसे बुला लानेके लिये दूतलोग शीघ्रगामी घोड़ोंपर
सवार होकर अवश्य जायेंगे ॥ १३ ॥

तव त्वहं क्षमे मन्ये नोत्सुकस्य विलम्बनम् ।

राम तस्मादिमः शीघ्रं वनं त्वं गन्तुमर्हसि ॥ १४ ॥

‘परंतु राम ! तुम वनमें जानेके लिये स्वयं ही उत्सुक
जान पड़ते हो, अतः तुम्हारा विस्मय करना मैं ठीक
नहीं समझती । जितना शीघ्र सम्भव हो, तुम्हें यहाँसे वनको
चल देना चाहिये ॥ १४ ॥

ब्रीहान्वितः स्वयं यच्च नृपस्त्वं नाभिभाषते ।

नैनन् किंचिन्नरश्रेष्ठ मन्युरेवोऽपनीयताम् ॥ १५ ॥

‘नरश्रेष्ठ ! राजा लज्जित होनेके कारण जो स्वयं तुमसे
नहीं कहते हैं, यह कोई विचारणीय बात नहीं है । अतः
इसके दुःख तुम अपने मनमें निक्काल दो ॥ १५ ॥

यावत्त्वं न वने यातः पुरादस्मादतित्वरम् ।

पिता तावत्र ते राम स्वास्यते भोक्ष्यतेऽपि वा ॥ १६ ॥

‘श्रीराम । तुम जबतक अत्यन्त उतावलीके साथ इस नगरसे वनको नहीं चले जाते, तबतक तुम्हारे पिता स्नान अथवा भोजन नहीं करेंगे’ ॥ १६ ॥

धिकष्टमिति निश्चय्य राजा शोकपग्निनः ।

मूर्च्छितो न्यपतत् तस्मिन् पर्यङ्के हेमभूषित ॥ १७ ॥

कैकेयिका यह बात सुनकर शाकस इय हुए राजा दशरथ स्त्री साथ खींचकर बोले—‘धिकार है । हाथ । कड़ा कष्ट हुआ ।’ इतना कहकर वे मूर्च्छित हो उस सुवर्णभूषित पर्यङ्कपर गिर पड़े ॥ १७ ॥

रामोऽप्युत्थाप्य राजानं कैकेय्याभिप्रचोदितः ।

कशयेव हतो बाजी वने गन्तुं कृतस्वरः ॥ १८ ॥

इस समय श्रीरामने राजाको उठाकर धीरे लिया और कैकेयीसे पेरित हो काँड़का बाँट स्नान हुए काँड़का भाँट के शोधनापूर्वक वनको जानेके लिये तैयार हो उठे ॥ १८ ॥

नदप्रियमनार्याया वचने दारुणोदयम् ।

श्रुत्वा गतव्यथो रामः कैकेयीं वाक्यपन्नवीन् ॥ १९ ॥

अनार्या कैकेयीके उस अप्रिय एवं दारुण वचनको सुनकर भी श्रीरामके मनमें व्यथा नष्ट हुई । वे कैकेयीसे बोले— ॥ १९ ॥

बाह्मर्ष्यसो देवि लोकमावस्तुमुन्महे ।

विद्धि मामर्थाशस्तुल्यं विपत्तं धर्ममास्थितम् ॥ २० ॥

देवि । मैं धनका तपामक हाकर संन्यासमें रहा । वन जाऊँगा तुम विश्वास रखो । मैं भी प्रयत्नका ही धर्म निमित्त धर्मके आश्रय ले रहा हूँ ॥ २० ॥

यत् तत्रमवदः किञ्चिच्छक्यं कर्तुं प्रिय मया ।

प्राणानपि परित्यज्य सर्वथा कृतमेव तत् ॥ २१ ॥

‘पूज्य पिताजीका जो भी प्रिय कार्य मैं कर सकता हूँ उस प्राण तक भी करूँगा । तुम उने मरुंधा में दूँगा हुआ ही समझो’ ॥ २१ ॥

न हानो धर्मचरणो किञ्चिदपि पङ्कजम् ।

यथा गिरिं शृश्रुषा तस्य वा वचनाक्रिया ॥ २२ ॥

‘पिताजीके सेवा अथवा उनकी आज्ञाका पालन करना मेरा भावपूर्ण धर्म है । उसमें बहुतकर संन्यास दूँगा काँड़ धर्मकागण नहीं है’ ॥ २२ ॥

अन्तोऽप्यप्रभवता भवन्ता वचनादहम् ।

वनं वन्याणि विजने वर्गाणीह चतुर्दश ॥ २३ ॥

‘गच्छादि पूजा पिताजीने स्वयं मुझमें नहीं करी है, तथापि न मरुंधा ही कहनेसे चन्द्रावतीके इस भूतलपर निजके वनमें निवास करूँगा’ ॥ २३ ॥

व न्युने यदि कैकयि किञ्चिदशंसमे गुणान् ।

यत् राजानमर्थावस्थे ममश्चन्तरा सती ॥ २४ ॥

कैकयि । तुम्हारा मुखपर पृष्ठ आधिकार है । मैं तुम्हारा प्रत्येक आज्ञाका पालन कर सकता हूँ, फिर भी तुमने स्वयं

मुझसे न कहकर इस कार्यके लिये महाराजसे कहा—इन्को कष्ट दिया । इसमें जान पड़ता है कि तुम मुझमें कोई गुण नहीं देखती हो ॥ २४ ॥

यावन्मातरपापुच्छे सीता खानुनयाम्यहम् ।

ततोऽर्हत्तु गमिष्यामि दण्डकानां पहाद् वनम् ॥ २५ ॥

अच्छ ! अब मैं माता कीमल्यासे आज्ञा ले लूँ और सीताको भी समझा-बुझा लूँ, इसका बाद आज्ञा की विशाल दण्डकवनकी यात्रा करूँगा ॥ २५ ॥

भरतः पालयेद् राज्यं शश्रुषेष्ट पितुर्वथा ।

तथा भवत्या कर्तव्यं स हि धर्मः सनातनः ॥ २६ ॥

‘तुम ऐसा प्रयत्न करना, जिससे भरत इस राज्यका पालन और पिताजीको सेवा करते रहें; क्योंकि यही सनातन धर्म है’ ॥ २६ ॥

रामस्य तु वचः श्रुत्वा भृशं दुःखगतः पिता ।

शोकादगच्छन् वक्तुं प्ररुदोद महास्वनम् ॥ २७ ॥

श्रीरामका यह वचन सुनकर पिताका बहुत दुःख हुआ । वे शाकक आवगसे कुछ बोल न सके, केवल फूट-फूटकर रोने लगे ॥ २७ ॥

वन्दित्वा अरणीं राजो विमंजस्य पितुस्तदा ।

कैकेय्याश्चाप्यनार्याया निष्पत्तं महाद्भुतिः ॥ २८ ॥

महामहन्वी श्रीराम उस समय अनेक पड़े हुए पिता महाराज दशरथ तथा अनार्या कैकेयीके भी चरणोंमें प्रणाम करके उस भवनसे निकल । ॥ २८ ॥

स रामः पितरं कृत्वा कैकेयीं च प्रदक्षिणम् ।

निष्काम्यान्-पुरात् तस्मात् स्वं ददर्श मुहजनम् ॥ २९ ॥

पिता दशरथ और माता कैकेयीको परित्रमा करके उस अन्न-पुरसे बाहर निकलकर श्रीराम अपने सहयोगी मिले । मैं वाक्यपरिपूर्णाक्षः पृष्ठोऽनुगताम ह ।

लक्ष्मणः पश्यकुक्षुः सुमित्रानन्दवर्धनः ॥ ३० ॥

सुमित्राका आनन्द बड़ानेवाले लक्ष्मण उस अन्यायको देखकर अत्यन्त कुपित हो उठे थे, तथापि दोनों नेत्रोंमें आँसु भरकर वे सुपराप श्रीरामचन्द्रजीके पीछे-पीछे चले गये ॥

आधिपेन्निकं भाण्डं कृत्वा रामः प्रदक्षिणम् ।

शर्नर्जगाम सापेक्षो दुष्टिं तत्राविद्यालयम् ॥ ३१ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके मनमें अथ वन जानकी आकाङ्क्षा उदय हो गया था, अतः अधिपकके लिये एकत्र की हुई मामयियाको प्रदक्षिणा करते हुए वे धीरे-धीरे आगे बढ़ गये । उनकी आँखें उन्होंने दृष्टिपान नहीं किया । ॥ ३१ ॥

न चान्य महतीं लक्ष्मीं राज्यनाशोऽपकर्षति ।

लोककान्तस्य कान्तत्वाच्छीतरश्मेरिव क्षयः ॥ ३२ ॥

श्रीराम आँखनाशी कान्तिमें युक्त थे, इसलिये उस समय राज्यका न मिलना उन लोककान्तोंमें श्रीरामको पहनी जगाम कोई अन्तर न हानि सका; जैसे चन्द्रमाका क्षीण

होना उसकी सहज शोभाका अपकर्ष नहीं कर पाता है ॥
न वने गन्तुकामस्य त्यजतश्च धसुधराम् ।
सर्वलोकानिगम्येव लक्ष्यते चित्तविक्रिया ॥ ३३ ॥

वे वनमें जानेको उत्सुक थे और मार्ग पृथ्वीका राज्य छोड़ रहे थे; फिर भी उनके चित्तमें सर्वलोकानों का जीवनयुक्त महात्माकी भाँति कोई विकार नहीं देखा गया ॥ ३३ ॥

प्रतिषिध्य शुभं छत्रं व्यजने च स्वलंकृते ।
विसर्जयित्वा स्वजनं रथं पौगस्तथा जनान् ॥ ३४ ॥
धारयन् मनसा दुःखमिन्द्रियाणि निगूह्य च ।

प्रविवेशात्मवान् वैश्यं मातुरप्रियदर्शितान् ॥ ३५ ॥
श्रीरामने अपने ऊपर सुन्दर छत्र लगानेको मनाही कर दी । हुलावे जानेवाले सुसज्जित रथ पर भी रोक दिये । वे रथको लौटाकर स्वजन तथा पृथ्वीमें मनुष्यका भी धिया फेंके (आत्मीय जनोंके दुःखमें होनेवाले) दुःखको मनमें ही दबाकर इन्द्रियाँको काबूमें करके यह आग्रय सामाचार सुनानेके लिये माता कौसल्याक महलमें गये । उस समय उन्होंने मनको पुनः वशमें कर रक्ती था ॥ ३४-३५ ॥

सर्वोऽप्यभिजनः श्रीमाश्रितः सत्यवादिनः ।
नालक्ष्यत रामस्य कंचिदाकारमानने ॥ ३६ ॥
जो शोभाशाली मनुष्य सदा सत्यवादी श्रीमान् रामके निकट रहा करते थे, उन्हें भी उनके मुखपर कोई विकार नहीं देखा ॥ ३६ ॥

इत्यर्थे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽथोऽध्याकाण्डे एकोनविंशः सर्गः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अथोऽध्याकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १९ ॥

★

विंशः सर्गः

राजा दशरथकी अन्य रानियोंका विलाप, श्रीरामका कौसल्याजीके भवनमें जाना और उन्हें अपने वनवासकी बात बताना, कौसल्याका अचेत होकर गिरना और श्रीरामके उठा देनेपर उनकी ओर देखकर विलाप करना

तस्मिन्स्तु प्रसूज्याधो निष्कामति कृताञ्जली ।
आर्तशब्दो महान् गजे स्त्रीणामप्यपरे तदा ॥ १ ॥

उधर, पुण्डरीक श्रीराम हाथ बाँड़ हुए ज्यों ही कैकेयिके राजसभा खाल निकलने लगा, त्यों ही अन्तःपुरमें रहनेवाली राजमाँदशरथका महान् आलमल प्रकट हुआ ॥ १ ॥

मृत्योश्चोदितः पित्रा सर्वस्यान्तःपुरस्य च ।
गतिश्च शरणं चासीत् स रामोऽद्य प्रवत्स्यति ॥ २ ॥

वे कह रही थीं— हाय ! मैं पिता के आदेश में दशरथ भा रामसे अन्तःपुरक आवश्यक कार्यों पर लगे रहने पर था, जो हमलोगोंके सहारे और रक्षक थे, वे श्रीराम आज वनको चले जायेंगे ॥ २ ॥

उचितं च महाबाहून् जहाँ हर्षयात्मवान् ।
शारदः समुदीर्णाश्चन्द्रस्तेज इवात्मजम् ॥ ३७ ॥

मनका वशमें रखनेवाले महाबाहू श्रीरामने अपनी स्वाभाविक प्रसन्नता उसी तरह नहीं छोड़ी थी, जैसे शरद-कालका सदाँत किरणोंवाला चन्द्रमा अपने सहज तेजका परित्याग नहीं करता है ॥ ३७ ॥

वाचा मधुरया रामः सर्वं सम्मानयञ्जनम् ।
मातुः समीपं धर्मात्मा प्रविवेश महायशाः ॥ ३८ ॥

महायशस्वी धर्मात्मा श्रीराम मधुर वाणीसे सब लोगोंका सम्मान करत हुए अपनी माताके समीप गये ॥ ३८ ॥
तं गुणीः सपतां प्राप्तो भ्राता विपुलविक्रमः ।

समिन्निरनुवन्नाज धारयन् दुःखमात्मजम् ॥ ३९ ॥
उस समय गुणीमें श्रीरामका ही समानता करनेवाले महापराक्रमी भ्राता सुमित्राकुमार लक्ष्मण भी अपने मानसिक दुःखका मनमें ही धारण किये हुए श्रीरामके पास पहुँचे गये ॥

प्रविश्य वैश्वातिभृशं मुदा युते
समीक्ष्य तौ धार्थाविपत्तिप्रागताम् ।

न चैव रामोऽत्र जगाम विक्रियां
सुहृज्जनस्यात्मविपत्तिशङ्कया ॥ ४० ॥

अत्यन्त अमन्दसे भरे हुए उस भवनमें प्रवेश करके लौकिक दृष्टिसे अपने अभीष्ट अर्थका विनाश हुआ देखकर भी हितैषी सुहृदोंके प्राणोंपर संकट आ जानेको आशङ्कते श्रीरामने वहाँ अपने मुखपर कोई विकार नहीं प्रकट होने दिया ॥ ४० ॥

कौसल्यायां यथा युक्तो जनन्यां वर्तते सदा ।
तथैव वर्तनेऽस्मासु जन्मप्रभृति राघवः ॥ ३ ॥

वे लघुनाथजी वनमें ही अपनी माता कौसल्याके प्रति सदा जैसा बर्ताव करते थे, वैसा ही हमारे माथ भी करते थे ।
न कुध्यत्यभिज्ञाधोऽपि क्रोधनीयानि वर्जयन् ।

क्रुद्धान् प्रमादयन् सर्वान् स इतोऽद्य प्रवत्स्यति ॥ ४ ॥
'जो कठोर बात कह देनेपर भी क्रुपित नहीं होते थे,

दुसरेक समय क्रोध उत्पन्न करनेवालों वाले महों मालने थे तथा जो सभी तरह हुए अलोक्योंको मन किया करते थे वे ही श्रीराम आज यहाँ वनको चले जायेंगे ॥ ४ ॥

अश्रुद्विवन्तं नो राजा जीवलोकां धरत्ययम् ।
यो गतिं सर्वभूतानां परित्यजति राघवम् ॥ ५ ॥

'बड़े खेदको बात है कि हमारे महारुजकी बुद्धि मार गयी, ये इस समय सम्पूर्ण जाँब-जगतका विनाश करनेपर नुस्ते हुए हैं, तभी तो ये सम्स्त प्राणियोंके जीवनधार श्रीरामका परित्याग कर रहे हैं' ॥ ५ ॥

इति सर्वा महिष्यस्ता विवस्ता इव धेनवः ।

पतिमाधुकुशश्चापि सखनं चापि चक्रुः ॥ ६ ॥

इस प्रकार सम्स्त रानियाँ अपने पनिको कोसने लगीं और खड़बोस बिछड़ो हुई गोओंको तगड़ उध मगम क्रन्दन करने लगीं ॥ ६ ॥

स हि ज्ञान्तःपुरे घोरमार्तशब्दं भीषतिः ।

पुत्रशोकाभिसंतप्तः श्रुत्वा व्यालीयतामने ॥ ७ ॥

अन्तःपुरका वह धयदूर आवनाद सुनकर महारुज दशरथने पुत्रशोकसे मत्त हो लज्जाके मार बिछीनमें हो अपनेको छिपा लिया ॥ ७ ॥

रामस्तु भृशमायस्तो निःश्वसन्निव कुञ्जरः ।

जगाम सहिनो भ्रात्रा मातुरन्तःपुरं वशे ॥ ८ ॥

इधर जितेन्द्रिय श्रीरामचन्द्रजी स्वजनोके दुःखसे अधिक म्लिन्न होकर हाथोंके समान लंबी साँस खींचते हुए भाई लक्ष्मणके साथ माताके अन्तःपुरमें गये ॥ ८ ॥

सोऽपश्यत् पुरुषं तत्र वृद्धं परमपूजितम् ।

अपक्षिष्टं गृहहारि तिष्ठतश्चापगन् बहून् ॥ ९ ॥

वहाँ उन्होंने उस घरेके दरवाजपर एक परम पूजित वृद्ध पुरुषको बैठा हुआ देखा और दूसरे भी बहुत से मनप्य वहाँ खड़े दिखायी दिये ॥ ९ ॥

दृष्ट्वैव तु तदा रामं ते सर्वे समुपस्थिताः ।

जयेन जयतां श्रेष्ठं वर्धयन्ति स्म राघवम् ॥ १० ॥

वे सब-के-सब विजयी करारमें श्रेष्ठ रघुनन्दन श्रीरामको दस्तते ही जय-जयकार करते हुए उनकी संज्ञामें उपस्थित हुए और उन्हें बचाई देने लगे ॥ १० ॥

प्रविश्य प्रथमो कक्षो द्वितीयाथो ददर्श सः ।

ब्राह्मणान् वेदसम्यग्ज्ञानं वृजान् राजगर्भमत्कृतान् ॥ ११ ॥

पहले कमरेका पार करके जब वे दूसरोंमें पहुँचे, तब वहाँ उन्हें राजाके द्वारा सम्मानित बहुत से वेदज्ञ ब्राह्मण दिखायी दिये ॥ ११ ॥

प्रणम्य रामस्नानं वृज्यांस्तीयाथो ददर्श सः ।

निग्रो घालाश्च वृद्धाश्च द्वाररक्षणानपराः ॥ १२ ॥

उन वृद्ध ब्राह्मणोंको प्रणाम करके श्रीरामचन्द्रजी जब नाखरी झोलीमें पहुँचे, तब वहाँ उन्हें द्वारवाले कार्यमें लगे दूढ़ बहुत-सी नवगणिका एवं वृद्ध अवस्थावाली स्त्रियाँ दिखायी दी ॥ १२ ॥

बध्निन्वा प्रहृष्टास्ताः प्रविश्य च गृहं स्त्रियः ।

न्यवेदयन्त त्वरिते राममातुः प्रियं तदा ॥ १३ ॥

उन्हें देखकर उन स्त्रियोंको बड़ा हर्ष हुआ। श्रीरामका

बधाई देकर उन स्त्रियोंने तत्काल महलके भीतर प्रवेश किया और तुरंत ही श्रीरामचन्द्रजीको माताको उनके आगमनका प्रिय समाचार सुनाया ॥ १३ ॥

कौसल्यापि तदा देवी रात्रि स्थित्वा समाहिता ।

प्रधाने चाकरोत् पूजा विष्णोः पुत्रहर्तिषिणी ॥ १४ ॥

उन समय देवी कौसल्या पुत्रको मङ्गलकामनासे रातभर जागकर मन्त्र एकाध्वनि हो भगवान् विष्णुकी पूजा कर रही थीं ॥ १४ ॥

सा क्षौपवसना हृष्टा नित्यं व्रतपराधना ।

अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवत् कृतमङ्गला ॥ १५ ॥

वे रेशमी वस्त्र पहनकर बड़ी प्रसन्नताके साथ निरन्तर व्रतपराधना होकर मङ्गलकृत्य पूर्ण करनेके पश्चात् मन्त्रोच्चारण-पूर्वक उस समय अग्निमें आहुति दे रही थीं ॥ १५ ॥

प्रविश्य तु तदा रामो मातुरन्तःपुरं शुभम् ।

ददर्श मातरं तत्र हावयन्तीं हुताशनम् ॥ १६ ॥

उसी समय श्रीरामने माताके शुभ अन्तःपुरमें प्रवेश करके वहाँ माताको देखा। वे अग्निमें हवन करा रही थीं ॥ १६ ॥

देवकार्यनिमित्तं च तत्रापश्यत् समुद्यतम् ।

दध्यक्षतधृतं चैव मोदकान् हविषस्तथा ॥ १७ ॥

लाजान् माल्यानि शुक्रानि पाथसं कृसरं तथा ।

समिधः पूर्णकुम्भांश्च ददर्श रघुनन्दनः ॥ १८ ॥

रघुनन्दनने देखा तो वहाँ देव-कार्यके लिये बहुत-सी स्रमणों संग्रह करके रखी हुई है। दही, अक्षत, धी, मोदक, हविष्य, धानका लवण, सफेद माला, खीर, खिचड़ी समिधा और घरे हुए कलश—ये सब वहाँ दृष्टिगोचर हुए ॥ १७-१८ ॥

तां शुक्रक्षौमसंवीतां व्रतयोगेन कर्षिताम् ।

तर्पयन्ती ददर्शाहिर्देवतां वरवर्णिनीम् ॥ १९ ॥

उनमें कान्तिवाली माता कौसल्या सफेद रंगकी रेशमी माड़ी पहन हुए थीं। वे व्रतके अनुष्ठानसे दुर्बल हो गयी थीं और इष्टदेवताका तपण कर रही थीं इस अवस्थामें श्रीरामने उन्हें देखा ॥ १९ ॥

सा चिरस्यात्मजं दृष्ट्वा मातुनन्दनमागतम् ।

अधिरुक्ताय संहृष्टा किशोरं बह्बुवा यथा ॥ २० ॥

माताका अत्यन्त बहनेवाले प्रिय पुत्रको बहुत देरके बाद आगमन परस्थित देवी कौसल्यादेवी बड़े हर्षमें भरकर उसकी आर चले। माता काई घाड़ी अपने बछड़की देखकर बड़े हर्षमें उसका पाथ आयी हो ॥ २० ॥

स मातरमुपस्कान्तामुपसंगृह्य राघवः ।

परिप्लुक्तश्च बाहुभ्यामवघ्रातश्च मूर्धनि ॥ २१ ॥

श्रीरघुनन्दनजीने निकट आयी हुई माताके चरणोंमें प्रणाम किया और माता कीमल्लाने उन्हें दोनों भुजाओंमें कसकर छातीसे लगा लिया तथा बड़े प्यारसे उनका मस्तक सँधा ॥

तपुवाच दुराधर्मे राघवे सुतमात्मनः ।

कौसल्या पुत्रवात्सल्यादिदं प्रियहितं वचः ॥ २२ ॥

उस समय कौसल्यादेवीने अपने दुर्जय पुत्र श्रीरामचन्द्रजीमें पुत्रवैभवदा यह प्रिय एवं हितकर बात कही— ॥ २२ ॥

बृद्धतां धर्मशीलानां राजर्षीणां महात्मनाम् ।

प्राप्नुह्यायुश्च कीर्तिं च धर्मं चाप्युचितं कुले ॥ २३ ॥

‘बेटा । तुम धर्मशील, वृद्ध एवं महात्मा राजर्षियोंके समान आयु, कर्ति और कुलमें उचित धर्म प्राप्त करो ॥ २३ ॥

सत्यप्रतिज्ञं पितरं राजानं पश्य राघव ।

अद्यैव त्वां स धर्मात्मा पौत्रराज्येऽभिषेक्ष्यति ॥ २४ ॥

रघुनन्दन ! अब तुम आकर अपने सत्यप्रतिज्ञ पिता राजाका दर्शन करो । वे धर्मात्मा नरेश आज ही तुम्हारा युवराजके पदपर अभिषेक करेंगे ॥ २४ ॥

तममासनमालभ्य भोजनं निमन्त्रितः ।

मातरं राघव किञ्चित् प्रसार्याञ्जलिमद्वयीत् ॥ २५ ॥

यह कहकर माताने उन्हें बैठनेके लिये आसन दिया और भोजन करनेको कहा । भोजनके लिये निमन्त्रित होकर श्रीरामने उस आसनकर स्पर्शमात्र कर लिया । फिर वे अञ्जलि फैलाकर मातासे कुछ कहनेको उद्यत हुए ॥ २५ ॥

स स्वभावविनीतश्च गौरवाच्च तथाननः ।

प्रस्थितो दण्डकारण्यमाग्रहपुष्पचक्रमे ॥ २६ ॥

वे स्वभावसे ही विनयशील थे तथा माताके गौरवसे भी उनके सामने नतमस्तक हो गये थे । उन्हें दण्डकारण्यको प्रस्थान करना था, अतः वे उसके लिये आज्ञा लेनेका उपक्रम करने लगे ॥ २६ ॥

देवि नूनं न जानीषे महद् भयमुपस्थितम् ।

इदं तव च दुःखाय वीरहा लक्ष्मणस्य च ॥ २७ ॥

उन्होंने कहा—‘देवि । निश्चय ही तुम्हें मालूम नहीं है, तुम्हारे ऊपर महान् भय उपस्थित हो गया है । इस समय मैं जो बात कहने जा रहा हूँ, उस सुनकर तुमको सौतका और लक्ष्मणको भी दुःख होगा; तथापि कहूँगा ॥ २७ ॥

गतिस्थं दण्डकारण्यं कियनेनासनेन मे ।

विष्टरामनयोग्यो हि कालोऽयं घामुपस्थितः ॥ २८ ॥

‘अब तो मैं दण्डकारण्यमें जाऊँगा, अतः ऐसे बहुमूल्य आरामकी मुझ क्या आवश्यकता है ? अब मेरे लिये यह कुशाकी चरार्थपर बैठनेका समय आया है ॥ २८ ॥

अतुर्दश हि वर्षाणि वत्स्यामि विजने वने ।

चन्दमूलफलैर्जीवन् हिंसा मुनिवदामिव ॥ २९ ॥

‘मैं राजभोग्य वस्तुका त्याग करके मुनिकी भाँति चन्द, मूल और फलोंमें जीवन निर्वाह करना हुआ चौदह वर्षोंतक निर्जन वनमें निवास करूँगा ॥ २९ ॥

भरताय महाराजो पौत्रराज्यं प्रयच्छति ।

मां पुनर्दण्डकारण्यं विवासयति तापसम् ॥ ३० ॥

‘महाराज युवराजका पद भरतको दे रहे हैं और मुझे तपस्वी बनकर दण्डकारण्यमें भेज रहे हैं ॥ ३० ॥

स वटं चाष्टीं च वर्षाणि वत्स्यामि विजने वने ।

आसेवमानो वन्यानि फलमूलैश्च वर्तयन् ॥ ३१ ॥

अब चौदह वर्षोंतक निर्जन वनमें रहूँगा और जंगलमें सुलभ होनेवाले वल्कल आदिको धारण करके फल-मूलक आहारसे ही जीवन-निर्वाह करता रहूँगा ॥ ३१ ॥

सा निकृतेन सालस्य यष्टिः परशुना वने ।

पपात सहसा देवी देवतेन दिवश्च्युता ॥ ३२ ॥

यह अग्रिय बात सुनकर वनमें परसेसे काटी हुई शालवृक्षकी शाखाके समान कौसल्या देवी सहसा पृथ्वीपर गिर पड़ी, मानो स्वर्गसे कोई देवद्वारा भूतलपर आ गिरी हो । तामदुःखोचितो दृष्ट्वा पतितो कदलीमिव ।

रामस्तुत्यापयामास पातरं गतचेतसम् ॥ ३३ ॥

जिन्होंने जीवनमें कभी दुःख नहीं देखा था—जो दुःख भोगनेके योग्य थीं हो नहीं उठीं माना कौसल्याको कटी हुई कदलीकी भाँति अचेत-अवस्थामें भूमिपर पड़ी देख श्रीरामने हाथका सहारा देकर उठाया ॥ ३३ ॥

उपायत्योत्थितां दीनां घड्वामिव चाहिताम् ।

पांसुगुण्ठितसर्वाङ्गीं विममर्श च पाणिना ॥ ३४ ॥

वैसे कोई घोड़ी पहले बड़ा भारी बोझ ढो चुकी हो और थकावट दूर करनेके लिये घाटीपर लोट पोटकर उठो हो, उसी तरह उठी हुई कौसल्याजीके समस्त अङ्गोंमें धूल लिपट गयी थी और वे अत्यन्त दीन दशाको पहुँच गयी थीं । उस अवस्थामें श्रीरामने अपने हाथसे उनके अङ्गोंकी धूल पोछी ॥ ३४ ॥

सा राघवमुपासीनमसुखार्तां सुखोचिता ।

उवाच पुरुषव्याघ्रमुपस्पृण्वति लक्ष्मणे ॥ ३५ ॥

कौसल्याजीने जीवनमें पहले सदा सुख ही देखा था और उम्मेक योग्य थीं, परन्तु उस समय वे दुःखमें कातर हो उठी थीं । उन्होंने लक्ष्मणक सुनते हुए अपने पास बैठे पुरुषमिह श्रीरामसे इस प्रकार कहा— ॥ ३५ ॥

यदि पुत्र न जायेथा मय शोकाय राघव ।

न स्म दुःखमतो भूयः पश्येयमहमप्रजाः ॥ ३६ ॥

‘बेटा रघुनन्दन । यदि तुम्हारा जन्म न हुआ होता तो मुझे इस एक ही बातका शोक रहना आज जो मुझपर इतना भारी दुःख आ पड़ा है, इसे बन्ध्या होनेपर मुझे नहीं देखना पड़ना ॥ ३६ ॥

एक एव हि बन्ध्यायाः शोको भवति मानसः ।

अप्रजास्सीति संतापो न हान्यः पुत्र विद्यते ॥ ३७ ॥

‘बेटा । बन्ध्याको एक मानसिक शोक होता है । उसके मनमें यह संताप बना रहता है कि मुझ कोई संतान नहीं है, इसका सिद्धा दूसरा कोई दुःख ठमे नहीं होता ॥ ३७ ॥

न दृष्टपूर्वं कल्याणं सुखं वा पतिपौरुषे ।

अपि पुत्रे विपश्येयमिति रामास्थितं भया ॥ ३८ ॥

‘बेटा राम ! पतिके प्रभुत्वकालमें एक ज्येष्ठ पत्नीको जो कल्याण या सुख प्राप्त होना चाहिये, वह मुझे पहले कभी नहीं देखनेको मिला । सोचती थी पुत्रक राज्यमें मैं सब सुख देख लूँगी और इसी आशासे मैं अवतक जीती रही ॥ ३८ ॥

सा बहून्यमनोज्ञानि वाक्यानि हृदयच्छिदाम् ।

अहं श्रोष्ये सपत्नीनायवगणां परा मनी ॥ ३९ ॥

‘यही रानी होकर भी मुझे अपनी बातोंसे हृदयको धिन्धी कर देनेवाली छोटी सी बातें बहुत से अप्रिय वचन सुनने पड़ेगे ॥ ३९ ॥

अतो दुःखतरं किं नु प्रमदानां भविष्यति ।

मम शोको विलापश्च यादृशोऽयमनन्तकः ॥ ४० ॥

‘स्त्रियोंके लिये इससे बड़कर महान् दुःख और क्या होगा; अतः मेरा शोक और विलाप जैसा है, उसका कभी अन्त नहीं है ॥ ४० ॥

त्वयि संनिहितेऽप्येवमहपासे निराकृता ।

किं पुनः प्रेषिते तात ध्रुवं परणमेव हि ॥ ४१ ॥

‘तात ! तुम्हारे निकट रहनेपर भी मैं इस प्रकार सीतासे निरस्कृत रही हूँ, फिर तुम्हारे परदेश चले जानेपर मेरी क्या दशा होगी ? उस दशामें तो मेरा परण ही निश्चित है ॥ ४१ ॥

अत्यन्तं निगृह्णानस्मि भर्तुर्नित्यमसम्पत्ता ।

परिवारेण कैकेय्याः समा वाप्यथवावरा ॥ ४२ ॥

पतिकी ओरसे मुझे सदा अत्यन्त तिरस्कार अथवा कड़ों पट्टकार ही मिली है, कभी प्यार और सम्मान नहीं प्राप्त हुआ है । मैं कैकेयीकी दासियोंके बराबर अथवा उससे भी गरीबीसे समझी जाती हूँ ॥ ४२ ॥

यो हि मां सेवते कश्चिदपि वाप्यनुवर्तते ।

कैकेय्याः पुत्रपत्नीक्ष्य स जनो नाभिभाषते ॥ ४३ ॥

‘जो कोई मेरी सेवामें रहता या मेरा अनुसरण करता है, वह भी कैकेयीके चनेको दण्डपर दण्ड हो जाना है मुझसे बात नहीं करता है ॥ ४३ ॥

नित्यक्रोधतया तस्याः कथं नु स्मरवादि सत् ।

कैकेय्या वदने ब्रह्म पुत्र शश्यामि दुर्गता ॥ ४४ ॥

‘बेटा ! इस दुर्गतिमें पहुँचकर मैं सदा ज्ञेयों स्वभावके कारण कदुमूलक बोलनेवाली उस कैकेयीके मुखको कैसे देख सकूँगी ॥ ४४ ॥

दश भस्त्रं च वर्षाणि जानस्य तव राघव ।

अनीतानि प्रकाङ्क्षन्त्या भया दुःखपरिक्षयम् ॥ ४५ ॥

राघुनन्दन ! तुम्हारे उपनयनरूप द्वितीय जन्म लिये सत्रह वर्ष बीत गये (अर्थात् तुम अब सत्ताईस वर्षके हो गये) । भवतक मैं यही आशा लगाये चली आ रही थी कि अब मेरा दुःख दूर हो जायगा ॥ ४५ ॥

तदक्षयं महद्दुःखं नोत्सहे सहितुं क्षिरान् ।

विप्रकारं सपत्नीनामेव जीर्णापि राघव ॥ ४६ ॥

‘राघव ! अब इस बूढ़ापेमें इस तरह सौतीका तिरस्कार और उससे होनेवाले महान् अक्षय दुःखको मैं अधिक कालतक नहीं सह सकती ॥ ४६ ॥

अपश्यन्ती तव मुखं परिपूर्णशशिप्रभम् ।

कृपणा वर्तयिष्यामि कथं कृपणाजीविका ॥ ४७ ॥

‘पूर्ण चन्द्रमाके समान तुम्हारे मनोहर मुखको देखे बिना मैं दुःखिनो दयनीय जीवनवृत्तिसे रहकर कैसे निर्वाह करूँगी ॥ ४७ ॥

उपवासैश्च योगैश्च बहुभिश्च परिभ्रमैः ।

दुःखसंवर्धितो मोघं त्वं हि दुर्गता भया ॥ ४८ ॥

‘बेटा ! (यदि तुझे इस देशसे निकल ही जाना है तो) मुझ धान्यहीनाने बारबार उपवास, दैवताओंका ध्यान तथा बहुत से परिश्रमजनक उपाय करके व्यर्थ ही तुम्हारा इतने कष्टमें फलन-पोषण किया है ॥ ४८ ॥

स्थिरं नु हृदयं मन्ये मयेदं यत्र दीर्यते ।

प्रावृषीव महानद्याः स्पृष्टं कूलं नवाम्भसा ॥ ४९ ॥

‘मैं समझती हूँ कि निश्चय ही यह मेरा हृदय बड़ा कठोर है जो तुम्हारे विद्रोहकी बात सुनकर भी वर्षाकालके नूतन जलके प्रवाहसे टकराये हुए महानदीके किनारेकी भाँति फट नहीं जाता है ॥ ४९ ॥

मयैव नूनं मरणं न विद्यते

न चावकाशोऽस्ति यमक्षये मम ।

यदन्तकांऽद्यैव न मां जिहीर्षति

प्रसह्य सिंहो रुदती मृगीमिव ॥ ५० ॥

निश्चय ही मेरे लिये कहीं मौत नहीं है, यमराजके घरमें भी मेरे लिये जगह नहीं है, तभी तो जैसे किसी रेंती हुई मृगीको सिंह जबरदस्ती उठा ले जाता है उसी प्रकार यमराज मुझे आज ही उठा ले जाना नहीं चाहता है ॥ ५० ॥

स्थिरं हि नूनं हृदयं ममायसं

न भिद्यते यद् भुवि नो विदीर्यते ।

अनेन दुःखेन च देहमपि

ध्रुवं हाकाले मरणं न विद्यते ॥ ५१ ॥

‘अवश्य ही मेरा कठोर हृदय लोहेका बना हुआ है, जो पृथिवीपर पड़नेपर भी न तो फटता है और न टूट टूट हो जाता है । इसी दुःखसे व्याप्त हुए इस शरीरके भी टुकड़े-टुकड़े नहीं हो गये हैं । निश्चय ही मृत्युकाल आये बिना किसीका मरण नहीं होता है ॥ ५१ ॥

इदं तु दुःखं यदनर्थकानि मे

व्रतानि दानानि च संयमाश्च हि ।

तपश्च तप्रे यदपत्यकाम्यया

सुनिष्कले बीजमिवोष्णमूषरे ॥ ५२ ॥

‘सबसे अधिक दुःखको बात तो यह है कि पुत्रके सुखके लिये मेरे द्वारा किये गये व्रत, दान और संयम सब व्यर्थ हो गये। मैंने संतानकी हित-कामनासे जो तप किया है, वह भी ऊसरमें बोये हुए बीजकी भाँति निष्फल हो गया। ५२।

अदि ह्यकाले धरणं यदुच्छया

लभेत कश्चिद् गुरुदुःखकर्षितः ।

गताहमद्यैव

परेतसंसर्द

विना स्वया धेनुनिवात्मजेन वै ॥ ५३ ॥

‘यदि कोई मनुष्य गरी दुःखमें परितः हो असमयमें भी अपनी इच्छासे अनुसार मृत्यु पा सके तो मैं तुम्हारे बिना अपने बछड़ेसे बिछुड़ो हुई गाय-हा भाँति आज ही यमराजकी सभामें खली जाऊँ ॥ ५३ ॥

अद्यापि किं जीवितमद्य मे वृथा

स्वया विना चन्द्रनिभाननप्रभ ।

अनुधजिष्यामि वने स्वर्ध्व गौ-

सुदुर्बला वत्सपिवाधिकाङ्क्षया ॥ ५४ ॥

इत्यर्थे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽथोघ्याकाण्डे विंशः सर्गः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यराമായणे आदिकाव्यके अथोघ्याकाण्डमें बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २० ॥

एकविंशः सर्गः

लक्ष्मणका रोष, उनका श्रीरामको बलपूर्वक राज्यपर अधिकार कर लेनेके लिये प्रेरित करना तथा श्रीरामका पिताकी आज्ञाके पालनको ही धर्म बताकर माता और लक्ष्मणको समझाना

तथा तु विलयन्ती तां कौसल्या राममातरम् ।

उवाच लक्ष्मणो दीनस्तत्कालसदृशं वचः ॥ १ ॥

इस प्रकार विलाप करती हुई श्रीराममाता कौसल्यासे अत्यन्त दुःखी हुए लक्ष्मणने उस समयक योग्य बात कही - ॥ १ ॥

न रोचते ममाप्येतदर्थं यद् राघवो वनम् ।

त्यक्त्वा राज्यधियं गच्छेत् स्त्रिया वाक्यवशगतः ॥ २ ॥

विपरीतश्च वृद्धश्च विषयैश्च प्रघर्षितः ।

नृपः किमिव न श्रूयासौलमानः समन्वयः ॥ ३ ॥

‘कही माँ ! मुझे भी यह अच्छा नहीं लगता कि श्रीराम राज्यलक्ष्मीका परित्याग करके वनमें जायें। महाराज तो इस समय बीबी की बातमें आ गये हैं, इसलिये उनकी प्रकृति बिगड़ती हो गयी है। एक तो वे वृद्ध हैं, दूसरे विषयोंसे उन्मत्त वृद्धोंमें कर लिया है, अन्तः कामदेवके बशीभूत हुए वे संशय-केरवी स्त्रीकी प्रेरणामें क्या नहीं कर सकते हैं ? ॥ २-३ ॥

वास्यापरार्थं घृघ्यामि नापि दोषं तथाविधम् ।

येन निर्धारयते राष्ट्राद् वनवासाय राघवः ॥ ४ ॥

‘मैं श्रीरामाशुजीका ऐसा कोई अपराध या दोष नहीं देखता, जिससे इन्हें राज्यसे निकालना जय्य और वनमें रहनेके

‘चन्द्रमाके समान मनोहर मुख-कान्तिकाले श्रीराम । यदि मेरी मृत्यु नहीं होती है तो तुम्हारे बिना यहाँ व्यर्थ कुत्सित जीवन क्यों बिताऊँ ? बैठो ! जैसे गौ दुर्बल होनेपर भी अपने बछड़ेके स्तनसे उसके पीछे-पीछे चली जाती है उसी प्रकार मैं भी तुम्हारे साथ ही वनको चलूँ बलूँगी ॥ ५४ ॥

भृशमसुखमपर्विता तदा बहु

विललाप समीक्ष्य राघवम् ।

व्यसनमुपनिशाप्य सा महत्

सुतामिव बहुमवेक्ष्य किंनरी ॥ ५५ ॥

आनेवाले भारों दुःखको सहनेमें असमर्थ हो महान् संकटका विचार करके सत्यके ध्यानमें बैठे हुए अपने पुत्र श्रीरामाशुजीको ओर देखकर माता कौसल्या उस समय बहुत विलाप करने लगीं, मानो कोई किन्नरी अपने पुत्रके बन्धनमें पड़ा हुआ देखकर बिलख रही हो ॥ ५५ ॥

इत्यर्थे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽथोघ्याकाण्डे विंशः सर्गः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यराമായणे आदिकाव्यके अथोघ्याकाण्डमें बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २० ॥

लिये विवश किया जाय ॥ ४ ॥

न तं पश्याम्यहं लोके परोक्षमपि यो नरः ।

स्वमित्रोऽपि निरस्तोऽपि योऽस्य दोषमुद्राहरेत् ॥ ५ ॥

‘मैं संसारमें एक मनुष्यको भी ऐसा नहीं देखता, जो अत्यन्त शत्रु एवं निरस्कृत होनेपर भी परोक्षमें भी इनका कोई दोष बता सके ॥ ५ ॥

देवकल्पमृजुं दानं रिपूणामपि वत्सलम् ।

अवेक्षमाणः को धर्मं त्यजेत् पुत्रमकारणम् ॥ ६ ॥

‘धर्मपर दृष्टि रखनेवाला कौन ऐसा राजा होगा, जो देवताके समान शुद्ध, सरल चित्तोद्भूत और शत्रुओंपर भी स्नेह रखनेवाले (श्रीराम-जैसे) पुत्रका अकारण परित्याग करेगा ? ॥ ६ ॥

तदिदं वचनं राज्ञः पुनर्बाल्यमुपेयुषः ।

पुत्रः को हृदये कुर्याद् राजधृतिमनुस्मरन् ॥ ७ ॥

‘जो पुन बालभाव (विवकशून्यता) को प्राप्त हो गये हैं ऐसे राजाके इस वचनको राजनीतिका ध्यान रखनेवाला कौन पुत्र अपने हृदयमें स्थान दे सकता है ? ॥ ७ ॥

यावदेव न जानाति कश्चिदर्थपिमं नरः ।

तावदेव मया सार्धमात्मस्थं कुरु शासनम् ॥ ८ ॥

‘रघुनन्दन ! जबतक कोई भी मनुष्य आपके वनवासकी

बालको नहीं जानता है, सबसक हो, आप मेरी सहायतासे इस राज्यके शासनको आगड़ोर अपने हाथमें ले लीजिये ॥ ८ ॥

मया धार्ष्ट्यं सधनुषा तव गुप्तस्य राघव ।

कः समर्थोऽधिकं कर्तुं कृतान्तस्येव तिष्ठतः ॥ ९ ॥

‘रघुवीर ! अब मैं धनुष लिये आपके पास रहकर आपकी रक्षा करता रहूँ और आप कान्तके समान युद्धके लिये इंतज़ार करें, उस समय आपसे अधिक पौरुष प्रकट करनेमें कौन समर्थ हो सकता है ? ॥ ९ ॥

निर्मनुष्याभिधां सर्वामयोध्यां मनुजवर्ध ।

करिष्यामि शरैस्तीक्ष्णैर्यदि स्थास्यति विप्रिये ॥ १० ॥

‘नरश्रेष्ठ ! यदि मगरके लोग खिलेधमें लड़ें होंगे तो मैं अपने तीखे ज़ाणोंसे मारो अयोध्याको मनुष्योंसे खूनी कर दूँगा ॥ १० ॥

भरतस्यास्य पक्ष्यो वा यो चास्य हितमिच्छति ।

सर्वास्तांश्च वधिष्यामि मृदुर्हि परिभूयते ॥ ११ ॥

‘जो जो भरतका पक्ष लेगा अथवा केवल जो उनकी कति भाहेगा, उन सबका मैं चब कर डालूँगा; क्योंकि जो कोमल या नम्र होता है, उसका सभी निरस्कार करते हैं ॥

प्रोत्साहितोऽयं कैकेय्या संतुष्टो यदि न-पिता ।

अभिप्रभूतो निःसङ्गं वध्यतां वध्यतामपि ॥ १२ ॥

‘यदि कैकेयीक प्रोत्साहन देनेपर उसके ऊपर संतुष्ट हो पिताजी हमसे शत्रु बन रहे हैं तो हमें भी मोह-ममता छोड़कर इन्हें कैद कर लेना या मार डालना चाहिये ॥ १२ ॥

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमज्ञानतः ।

उत्पन्नं प्रतिपन्नस्य कार्यं भवति शासनम् ॥ १३ ॥

‘क्योंकि यदि गुरु भी धर्ममें आकर कर्मका कर्तव्यका ज्ञान खाँके और कुमारपर चलने लगे तो उसे भी दण्ड देना आवश्यक हो जाता है ॥ १३ ॥

बालमेष किमाश्रित्य हेतुं वा पुरुषोत्तम ।

मान्निष्ठमिति कैकेय्ये उपस्थितमिदं तव ॥ १४ ॥

पुरुषोत्तम ! राजा किस बालक सहारा लेकर अथवा किस कारणको सामने रखकर आपको न्यायतः प्राप्त हुआ यह राजा अब वैयक्तियों को देने चाहते हैं ? ॥ १४ ॥

त्वया धीव मया धीव कृत्वा धर्ममुत्तमम् ।

कास्य शक्तिः श्रिये दातुं भरतायारिशासन ॥ १५ ॥

शत्रुदमन श्रीराम ! आपकी और मेरी साथ मारो धीर ब्रह्मका इनकी क्या शक्ति है कि यह राज्यलक्ष्मी से भरतको दे दें ? ॥ १५ ॥

अनुरक्तोऽस्मि भावेन भ्रातरं देवि तत्त्वतः ।

मत्वेन धनूषा धीव दत्तनेष्टेन ते शपे ॥ १६ ॥

देवि ! (बहो माँ !) मैं सत्य, धनुष, दान तथा यज्ञ को शपथ लाकर तुमसे सच्ची बात कहता हूँ कि मेरा अपने पुत्र्य भ्राता श्रीरामसे हार्दिक अनुरक्त है ॥ १६ ॥

दीप्तमग्निमरण्यं वा यदि रामः प्रवेक्ष्यति ।

प्रविष्टं तत्र भी देवि त्वं पूर्वमवधारय ॥ १७ ॥

‘देवि ! आप विश्वास रखें, यदि श्रीराम जलतो हुई आगमें या घोर वनमें प्रवेश करनेवाले होंगे तो मैं इनसे भी पहले उसमें प्रविष्ट हो जाऊँगा ॥ १७ ॥

हरामि कीर्त्याद् दुःखं ते तपः सूर्य इवोदितः ।

देवी पश्यतु मे वीर्यं राघवश्चैव पश्यतु ॥ १८ ॥

इस समय आप, रघुनाथजी तथा अन्य सब लोग भी मेरे पराक्रमको देखें । जैसे सूर्य उदित होकर अन्धकारका नाश कर देता है, उसी प्रकार मैं भी अपनी शक्तिसे आपके सब दुःख दूर कर दूँगा ॥ १८ ॥

हविष्ये पितरं वृद्धं कैकेय्यासक्तमानसम् ।

कृपणं च स्थिरं बाल्ये वृद्धभावेन गर्हितम् ॥ १९ ॥

‘जो कैकेयीमें आसक्तचित्त होकर दीन बन गये हैं, बालभाव (अविवेक) में स्थित हैं और अधिक मुढ़ापेके कारण निन्दित हो रहे हैं, उन वृद्ध पिताको मैं अवश्य मार डालूँगा ॥ १९ ॥

एतत् तु वचनं श्रुत्वा लक्ष्मणस्य महात्मनः ।

उवाच रामं कौसल्या रुदती शोकलालसा ॥ २० ॥

महामनस्वी लक्ष्मणके ये ओजस्वी वचन सुनकर शोकमग्न कौसल्या श्रीरामसे रोती हुई बोलीं— ॥ २० ॥

भ्रातुस्ते वदतः पुत्र लक्ष्मणस्य श्रुतं त्वया ।

वदत्रानन्तरं तत्त्वं कुरुष्व यदि रोचते ॥ २१ ॥

‘बेटा ! तुम्हें अपने भाई लक्ष्मणकी कही हुई सारी बातें सुन लीं, यदि जैचे तो अब इसके बाद तुम जो कुछ करना उचित समझो, उसे करो ॥ २१ ॥

न बाधार्थं वचः श्रुत्वा सपत्न्या भयं भाषितम् ।

विहाय शोकसंतप्तो गन्तुमर्हसि मामितः ॥ २२ ॥

‘मेरी सौतकी कही हुई अधर्मयुक्त बात सुनकर मुझ शोकमें सतप्त हुई माताको छोड़कर तुम्हें यहाँसे नहीं जाना चाहिये ॥ २२ ॥

धर्मज्ञ इति धर्मिष्ठ धर्मं चरितुमिच्छसि ।

शुश्रूष मापिहस्थस्त्वं खर धर्ममनुत्तमम् ॥ २३ ॥

‘धर्मिष्ठ ! तुम धर्मको जाननेवाले हो, इसलिये यदि धर्मका पालन करना चाहो तो यहाँ रहकर मेरी सेवा करो और इस प्रकार परम उत्तम धर्मका आचरण करो ॥ २३ ॥

शुश्रूषुर्जननीं पुत्र स्वगृहे नियतो वसन् ।

परेण तपसा युक्तः काश्यपस्त्रिदिवं गतः ॥ २४ ॥

‘वन्स ! अपने घरमें नियमपूर्वक रहकर माताकी सेवा करनेवाले काश्यप उत्तम तपस्यासे युक्त हो स्वर्गलोकांमें चले गये थे ॥ २४ ॥

यथैव राजा पूज्यस्ते गौरवेण तथा ब्रह्मम् ।

त्वां साह नानुजानामि न भक्तव्यमितो वनम् ॥ २५ ॥

जैसे गौरवके कारण राजा तुम्हारे पूज्य है, उसी प्रकार मैं भी हूँ मैं तुम्हें वन जानेकी आज्ञा नहीं देता, अतः तुम्हें यहाँसे वनको नहीं जाना चाहिये ॥ २५ ॥

त्वद्वियोगाग्र ये कार्य जीविनेन सुखेन च ।

त्वया सह मम श्रेयस्तुणानामपि भक्षणम् ॥ २६ ॥

‘तुम्हारे साथ तिनके बचाकर रहना भी मेरे लिये श्रेयस्कर है, परन्तु तुम्हें मिलान हो जानपर न मुझे इस जीवनसे कोई प्रयोजन है और न सुखसे ॥ २६ ॥

एति त्वं चात्यसि वनं त्वत्त्वा यां शोकलालसाम् ।

अत्र प्रायश्चित्ताभ्यासे न च शिक्षामि जीवितुम् ॥ २७ ॥

‘यदि तू मझे शाक्यों दूखी हुई शोककर वनको चले जाओगे तो मैं तपस्या करके प्राण त्याग दूँगी, जीविन नहीं रह सकूँगी ॥ २७ ॥

तत्तत्त्वं प्राप्स्यसे पुत्र निरपे लोकाविश्रुतम् ।

ब्रह्महत्याभिव्याधमात्, समुद्रः सरिता पतिः ॥ २८ ॥

‘बेटा ! ऐसा होपर तू संसारप्रसिद्ध वह नरककुल्य काष्ठ पाओगे, जो ब्रह्महत्याके समान है और जिसे सरिताओंके स्वामी समुद्रन अपने अधर्मके फलरूपसे प्राप्त किया था’ * ॥ २८ ॥

विलपन्ती तथा दीनां कौसल्या जननीं ततः ।

उवाच रामो धर्मात्मा वचनं धर्मसंहितम् ॥ २९ ॥

माता कौसल्याको इस प्रकार दीन होकर विलप करती देखा धर्मात्मा श्रीरामचन्द्रने यह धर्मयुक्त वचन कहा - ॥

नास्ति शक्तः पितुर्वाक्यं समतिक्रामितुं मम ।

प्रसादये त्वां शिरसा गन्तुमिच्छाम्यहं वनम् ॥ ३० ॥

‘माता ! मैं तुम्हारे चरणोंमें सिर झुककर तुम्हें प्रसन्न करना चाहता हूँ । मुझमें पिताजी की आज्ञाका उल्लंघन करनेकी शक्ति नहीं है, अतः मैं वनका ही जाना चाहता हूँ ॥ ३० ॥

ऊर्ध्वगता च पितुर्वाक्यं कुर्वता वनचारिणा ।

गौर्जता जानताधर्षं कण्डुना च विपश्चिता ॥ ३१ ॥

‘वन्धवासी विज्ञान् कण्डु मुनिन पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये शायी गगड़ते हुए भी गौका वध कर डाला था ॥ ३१ ॥

अस्माकं तु कुले पूर्वं सगरस्याज्ञया पितुः ।

स्ववद्विः सार्गाभूमिषवाप्तः सुमहान् वधः ॥ ३२ ॥

‘तुम्हारे कुलमें भी पहले सगरके पुत्र ऐसे हो गये हैं जो पिताकी आज्ञासे पृथ्वी क्षोभते हुए बुरी तरहमें मारे गये ॥

जाश्वदन्त्येन रामेण रेणुका जननी स्वयम् ।

कृता परशुनारण्ये पितुर्वचनकारणात् ॥ ३३ ॥

‘जमदग्निं पुत्र परशुरामने पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये हो वनमें फरसेमें अपनी माता रेणुकाका गला काट डाला था ॥ ३३ ॥

एतैरन्यैश्च बहुभिर्देवि देवसर्मैः कृतम् ।

पितुर्वचनभङ्गात् करिष्यामि पितुर्हितम् ॥ ३४ ॥

‘देवि ! इन्होंने तथा और भी बहुत-से देवमुन्य मनुष्योंने इत्याहके साथ पिताके आदेशका पालन किया है, अतः मैं भी कायरता छोड़कर पिताका हित-साधन करूँगा ॥ ३४ ॥

न खल्वेतन्मर्यकेन क्रियते पितृशासनम् ।

एतैरपि कृतं देवि ये मया परिकीर्तिताः ॥ ३५ ॥

‘देवि ! केवल मैं ही इस प्रकार पिताके आदेशका पालन नहीं कर रहा हूँ ; जिनको मैंने अभी चर्चा की है उन सबने भी पिताके आदेशका पालन किया है ॥ ३५ ॥

नाहं धर्ममपूर्वं ते प्रतिकूलं प्रवर्तये ।

पूर्वरथमपिप्रेतो गतो मार्गोऽनुगम्यते ॥ ३६ ॥

‘भा ! मैं तुम्हारे प्रतिकूल किसी भी धर्मका प्रचार नहीं कर रहा हूँ । पूर्वकालके धर्मोंका पुरुषोंको भी यह अभ्योष्ट था । मैं तो उनके चले हुए मार्गका ही अनुसरण करता हूँ ॥ ३६ ॥

तदेतन् तु मया कार्यं क्रियते भुवि नान्यथा ।

पितुर्हि वचनं कुर्वन् न कश्चिन्नाम हीयते ॥ ३७ ॥

‘इस भूमण्डलपर जो सबके लिये करनेयोग्य है, वही मैं भी करने जा रहा हूँ । इसके विपरीत कोई न करनेयोग्य काम नहीं कर रहा हूँ, पिताका आज्ञाका पालन करनेवाला कोई भी पुरुष धर्मसे भ्रष्ट नहीं होता ॥ ३७ ॥

तामेवमुक्त्वा जननीं लक्ष्मणं पुनरब्रवीत् ।

वाक्यं वाक्यविदां श्रेष्ठः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ॥ ३८ ॥

अपनी मातासे ऐसा कहकर वाक्यवेत्ताओंमें श्रेष्ठ समस्त धनुर्धरशरोमणि श्रीरामने पुनः लक्ष्मणसे कहा— ॥ ३८ ॥

तव लक्ष्मण जानामि मयि स्नेहमनुत्तमम् ।

विक्रमं चैव सत्त्वं च तेजश्च सुदुरासदम् ॥ ३९ ॥

‘लक्ष्मण ! मेरे प्रति तुम्हारा जो परम उत्तम स्नेह है, उसे मैं जानता हूँ तुम्हारे पराक्रम, धैर्य और दुर्धर्य तेजका भी मुझे ज्ञान है ॥ ३९ ॥

मम मातुर्महद् दुःखमतुलं शुभलक्षणम् ।

अभिप्रायं न विज्ञाय सत्यस्य च शमस्य च ॥ ४० ॥

‘शुभलक्षण लक्ष्मण ! मेरी माताको जो अनुपम एवं महान् दुःख हो रहा है वह सत्य और शमके विषयमें मेरे अभिप्रायको न समझनेके कारण है ॥ ४० ॥

* किसी कल्पमें समुद्रने अपनी माताका दूध दिया था, उससे पिप्पलाह नामक वृक्षविन वन अधर्मका दण्ड देनेके लिये उसके ऊपर एक कल्याण प्रयोग किया । इसमें समुद्रके नरकवासिमुन्य महान् दुःख भोगना पड़ा था ।

धर्मो हि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम् ।

धर्मसंश्रितमप्येतत् पितुर्वचनमुत्तमम् ॥ ४१ ॥

‘संसारमें धर्म ही सबसे श्रेष्ठ है। धर्ममें ही सत्यको प्रतिष्ठा है। पिताजीका यह वचन भी धर्मके आश्रित होनेके कारण परम उत्तम है ॥ ४१ ॥

संश्रुत्य च पितुर्वाक्यं मानुषां ब्राह्मणस्य च ।

न कर्तव्यं वृथा वीर धर्मपराश्रित्य तिष्ठता ॥ ४२ ॥

‘वीर ! धर्मका आश्रय लेकर रहनेवाले पुरुषको पिता, माता अथवा ब्राह्मणक वचनका पालन करनेकी प्रतिज्ञा करके उस मिथ्या नहीं करना चाहिये ॥ ४२ ॥

सोऽहं न शक्यामि पुनर्नियोगमतिवर्तिनुम् ।

पितुर्हि वचनाद् वीर कैकेय्याहं प्रचोदिन ॥ ४३ ॥

‘वीर ! अतः मैं पिताजीकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं कर सकती; क्योंकि पिताजीक कहनमें ही कैकेय्योने मुझ वनमें जानेकी आज्ञा दी है ॥ ४३ ॥

तदेतां विद्युजानाथी क्षत्रधर्माश्रिता मतिम् ।

धर्ममाश्रय मा तैक्ष्ण्यं मदबुद्धिरनुगम्यताम् ॥ ४४ ॥

‘इसलिये केवल क्षात्रधर्मका अवलम्बन करनेवाली इस आखी बुद्धिका त्याग करो, धर्मका आश्रय लो, कठोरता छोड़ो और मेरे विचारक अनुसर लो’ ॥ ४४ ॥

तमेवमुक्त्वा सौहार्दाद् भ्रातरं लक्ष्मणाग्रजः ।

उवाच भूषः कीसल्यां प्राञ्जलिः शिरसा नतः ॥ ४५ ॥

अपने भाई लक्ष्मणसे सौहार्दवश ऐसी अत कहकर उनके लड़े भ्राता श्रीरामने पुनः कीसल्याके चरणोंमें मन्मक झुकाया और हाथ जोड़कर कहा— ॥ ४५ ॥

अनुमन्यस्व मां देवि गमिष्यन्ममिहो वनम् ।

शाशितासि मम प्राणीः कुरु स्वस्त्वयनानि मे ॥ ४६ ॥

‘देवि ! मैं यहाँसे वनको जाऊँगा। तुम मुझे आज्ञा दो और स्वमित्राचन कराओ। यह बात मैं अपने प्राणोंकी शपथ दिलाकर कहता हूँ ॥ ४६ ॥

गोर्णप्रतिज्ञश्च वनत् पुनरेष्याम्यहं पुरीम् ।

गयातिरिव राजर्षिः पुरा हित्वा पुनर्दिधम् ॥ ४७ ॥

‘जैसे गुरुकालमें राजर्षि ययति स्वर्गलोकका त्याग करके पुनः भूतलपर उतर आये थे, उसी प्रकार मैं भी प्रतिज्ञा पूर्ण करने पुनः वनसे अयोध्यापुरीको लौट आऊँगा ॥ ४७ ॥

शोकः संधार्यतां मातर्हृदये साधु मा शुचः ।

वनवासविहेष्यामि पुनः कृत्वा पितुर्वचः ॥ ४८ ॥

मा ! शोकको अपने हृदयमें ही अच्छी तरह दबाय रमो। शोक न करो। पिताकी आज्ञाका पालन करके मैं फिर वनवासमें यहाँ लौट आऊँगा ॥ ४८ ॥

त्वया मया च वैदेह्या लक्ष्मणन सुमित्रया ।

पितुर्नियोगे स्थानच्छप्रेष धर्मः सनातनः ॥ ४९ ॥

(सुमित्रा, मुल्लवी, सीतानन्द, लक्ष्मणजी और मत्ता

सुमित्राको भी पिताजीकी आज्ञामें ही रहना चाहिये यही सनातन धर्म है ॥ ४९ ॥

अप्य सम्पत्स्य सम्भारान् दुःखं हृदि निगूह्य च ।

वनवासकृता बुद्धिर्मम धर्म्यानुवर्त्यताम् ॥ ५० ॥

‘मा ! यह अधिनककी सामग्री ले जाकर रख दो। अपने मनका दुःख मनमें ही दबा लो और वनवासके सम्बन्धमें जो मेरा धनानुकूल विचार है उसका अनुसरण करो— मुझ जानेकी आज्ञा दो’ ॥ ५० ॥

एतद् वचस्तस्य निशम्य माता

सुधर्म्यमव्यग्रमविक्रमं च ।

मृतेषु संज्ञां प्रतिलभ्य देवी

समीक्ष्य रामं पुनरित्युवाच ॥ ५१ ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी यह धर्मानुकूल तथा व्यग्रता और अकृन्दतासे रहित ध्यान सुनकर जैसे मरे हुए मनुष्यमें प्राण आ जाय उसी प्रकार देवी कीसल्या मुन्हा त्यागकर होशमें आ गयी तथा अपने पुत्र श्रीरामकी ओर देखकर इस प्रकार कहने लगी— ॥ ५१ ॥

यथैव ते पुत्र पिता तथाहं

गुरुः स्वधर्मेण सुहृत्तया च ।

न त्वानुजानामि न मां विहाय

सुदुःखितामर्हसि पुत्र गन्तुम् ॥ ५२ ॥

‘बेटा ! धर्म और सौहार्दके नाते जैसे पिता तुम्हारे लिये आदरणीय गुरुजन है, वैसे ही मैं भी हूँ। मैं तुम्हें वनमें जानेकी आज्ञा नहीं देती। वन ! मुझ दुःखियाको छोड़कर तुम्हें कहीं नहीं जाना चाहिये ॥ ५२ ॥

किं जीवितेनेह विना त्वया मे

लोकेन वा किं स्वधयामृतेन ।

श्रेयो मुहूर्तं तव संनिधानं

ममैव कृत्स्नादपि जीवलोकात् ॥ ५३ ॥

‘तुम्हारे बिना मुझे यहाँ इस जीवनसे क्या लाभ है ? इन स्वजनार्थ देवता तथा पितरोंकी पूजासे और अमृतसे भी क्या लेना है ? तुम दो घड़ी भी मेरे पास रहो तो वन में लिये सम्पूर्ण संसारके राज्यसे भी बढ़कर सुख देनेवाला है’ ॥

नररिषोल्काभिरपोह्यमानो

महागजो ध्वान्तधधिप्रविष्टः ।

भूयः प्रजज्वाल विलापमेव

निशम्य रामः कर्तुं जनन्याः ॥ ५४ ॥

जैसे कोई विशाल गजराज किसी अन्धकूपमें पड़ जाय और लोग उस जन्तु लुआटास मार मारकर पीड़ित करने लगे, उस दशमें वह क्रोधमें जल उठे, उसी प्रकार श्रीराम भी माताका बारंबार करुण-विलाप सुनकर (इसे स्वधर्म-फलनमें बाधा मानकर) आवेशमें भर गये। (वनमें जानेका ही दृढ़ निश्चय कर लिया) ॥ ५४ ॥

स मातरं चैव विसंज्ञकल्पा-

मार्तं च सौमित्रिषभिप्रतप्तम् ।

धर्मे स्थितो धर्म्यमुखाच्च वाक्यं

यथा स एवाहीति तत्र कर्तुम् ॥ ५५ ॥

उन्होंने धर्ममें ही दृढ़तापूर्वक स्थित रहकर अचेत-सौ ही रही मातासे और आर्त एवं संतप्त हुए सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे भी ऐसी धर्मनिकूल बात कही जैसी उस अवसरपर वे ही कह सकते थे ॥ ५५ ॥

अहं हि ते लक्ष्मण नित्यमेव

जानामि भक्तिं च पराक्रमं च ।

मम

त्वभिप्रायमसनिरीक्ष्य

मात्रा सहाध्यर्तसि मा सुदुःखम् ॥ ५६ ॥

‘लक्ष्मण ! मैं जानता हूँ, तुम सदा ही मुझमें भक्ति रखते हो और तुम्हारा पराक्रम कितना महान् है, यह भी मुझमें छिपा नहीं है, तथापि तुम मेरे अभिप्रायकी ओर ध्यान न देकर माताजीके साथ स्वयं भी गुट्टे पोंडा दे रहे हो । इस तरह गुट्टे अत्यन्त दुःखमें न डालो ॥ ५६ ॥

धर्मार्थकामाः सलु जीवत्येके

समीक्षिता धर्मफलमेदयेव ।

ये तत्र सर्वे स्युरसंशये मे

भार्येव सख्याभिमतता सपुत्रा ॥ ५७ ॥

‘इस जीवजगतमें पूर्वकृत धर्मके फलकी प्राप्ति के अवसरोंपर जो धर्म, अर्थ और काम तीनों देखे गये हैं, वे सब-के-सब जहाँ धर्म है, वहाँ अवश्य प्राप्त होते हैं । इसमें संशय नहीं है; ठीक ठीक तरह जैसे भार्या धर्म, अर्थ और काम तीनोंको राखन होती है, वह पतिके वशोभूत या अनुकूल रहकर अतिथि-सत्कार आदि धर्मके पालनमें सहायक होती है । प्रेयसी रूपसे कामका साधन बनती है और पुत्रवती होकर उत्तम लोककी प्राप्तिरूप अर्थकी साधक होती है ॥ ५७ ॥

यन्मिस्तु सर्वे स्युरसनिविष्टा

धर्मो यतः स्यात् तदुपक्रमेत् ।

देव्यो भवत्यर्धपरो हि लोके

कागात्मना स्वल्पमि न प्रचारता ॥ ५८ ॥

‘जिस धर्ममें धर्म आदि सब गुरुपार्थका समावेश न हो सकती नहीं करना चाहिये । जिसमें धर्मकी सिद्धि होती हो, उसीका आरम्भ करना चाहिये । जो केवल अर्थपरायण होता है, वह लोकमें सबके द्वेषका पात्र बन जाता है तथा धर्मविरुद्ध काममें अत्यन्त आसक्त होना प्रशंसा नहीं, निन्दाकी बात है ॥ ५८ ॥

गुरुश्च राजा च पिता च बृद्ध

क्रोधात् प्रज्ञर्षादिववापि कामात् ।

यद् व्यादिशेत् कार्यपक्षेभ्य धर्मं

कस्ते न कुर्यादनुशंसवृत्तिः ॥ ५९ ॥

‘महासज हमलोगोंके गुरु, राजा और पिता होनेके साथ ही बड़े बड़े माननीय पुरुष हैं । वे क्रोधसे, हर्षसे अथवा कामसे प्रेरित होकर भी यदि किसी कार्यके लिये आज्ञा दें तो हमें धर्म समझकर ठमका पालन करना चाहिये । जिसके आचरणमें क्रूरता नहीं है, ऐसा कौन पुरुष पिताकी आज्ञाके पालनरूप धर्मका आचरण नहीं करेगा ॥ ५९ ॥

न तेन शक्नोमि पितुः प्रतिज्ञा-

यिषी न कर्तुं सकलां यथावत् ।

स ह्यावयोस्तात गुरुर्निधोगे

देव्याश्च भर्ता स गतिश्च धर्मः ॥ ६० ॥

‘इसलिये मैं पिताकी इस सम्पूर्ण प्रतिज्ञाका यथावत् पालन करनेमें मूढ़ नहीं होड सकता । तब लक्ष्मण ! वे हम दोनोंका आज्ञा देनेमें समर्थ गुरु हैं और माताजीके तो वे ही पति, गति तथा धर्म हैं ॥ ६० ॥

तस्मिन् पुनर्जीवति धर्मराजे

विशेषतः स्वे पथि वर्तमाने ।

देवी भया सार्थमितोऽभिगच्छंत

कथंस्विदन्या विधवेव नारी ॥ ६१ ॥

‘वे धर्मके प्रवर्तक महाराज अभी जीवित हैं और विशेषतः अपने धर्ममय मार्गपर स्थित हैं, ऐसी दशामें माताजी जैसे दूसरी कोई विधवा स्त्री बेटेके साथ रहती है, उस प्रकार मैं साथ वहासे वनमें कैसे चल सकती हूँ ? ॥

सा चानुमन्यस्व वनं व्रजन्तं

कुरुषु नः स्वस्त्ययनानि देवि ।

समाप्ते पुनराव्रजेयं

यथा हि सत्पतेन पुनर्व्याप्तिः ॥ ६२ ॥

‘अतः देवि ! तुम मुझे वनमें जानेकी आज्ञा दो और हमारे मङ्गलके लिये स्वस्तिवाचन कराओ, जिससे वनवासकी अवधि समाप्त होनपर मैं फिर तुम्हारे सेवामें आ जाऊँ । जैसे राजा यथानि सत्यके प्रभावसे फिर स्वर्गमें लौट आये थे ॥ ६२ ॥

यशो हाहं केवलराज्यकारणा-

न्न पुष्टतः कर्तुमलं महोदयम् ।

अदीर्घकालेन तु देवि जीविते

वृणेऽश्वरामघ्य महीमधर्मतः ॥ ६३ ॥

‘केवल धर्महीन राज्यके लिये मैं महान् फलदायक धर्मपालनरूप सुयशको पोंछे नहीं डकेल सकता । या ! जीवन अधिक कालतक रहनेवाला नहीं है, इसके लिये मैं आज अधर्मपूर्वक इस तुच्छ पृथ्वीका राज्य लेना नहीं चाहता ॥ ६३ ॥

प्रसादयन्नरवृषभः स मातरं

पराक्रमाज्जिगमिषुरेव दण्डकान् ।

अथानुजं घृशमनुशास्य दर्शनं

चकार तां हृदि जननीं प्रदक्षिणाम् ॥ ६४ ॥

इस प्रकार नरेश्वर श्रीरामचन्द्रजीन धैर्यपूर्वक दण्डकारण्यमें जानेकी इच्छामें माताको प्रसन्न करनेका प्रयत्न किया तथा अपने छोटे भाई लक्ष्मणको भी

अपने विचारके अनुसार भलीभाँति धर्मका रहस्य समझाकर मन ही मन माताको प्रोत्साहित करनेका संकल्प किया ॥ ६४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्यस्याध्याकाण्डे एकविंशः सर्गः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें इसीसर्ग पूरा हुआ ॥ २१ ॥

द्वाविंशः सर्गः

श्रीरामका लक्ष्मणको समझाते हुए अपने वनवासमें दैवको ही कारण बताना और अभिवेककी सामग्रीको हटा लेनेका आदेश देना

अथ तं व्यधया दीनं सविशेषमपवर्धितम् ।

मरोपमिष नानेन रोषविस्फारितेक्षणम् ॥ १ ॥

आसाद्य रामः सौमित्रि सुहृदं भ्रातरं प्रियम् ।

उवाचेह स धैर्येण धारयन् सत्त्वमात्मवान् ॥ २ ॥

(श्रीरामके राज्याभिषेकमें विघ्न पहुँचनेके कारण)

सुमित्राकुमार लक्ष्मण मानसिक व्यथासे बहुत दुःखी थे ।

उनके मनमें विशेष अपरध भइ हुआ था । वे रोषसे भरे हुए

राजराजकी भाँति क्रोधसे आँखें फाड़-फाड़कर देख रहे थे ।

अपने मनको वशमें रखनेवाले श्रीराम धैर्यपूर्वक चित्तको

निर्विकाररूपसे कलममें रखते हुए अपने हितैषी सुहृद् प्रिय

भाई लक्ष्मणके पास जाकर इस प्रकार बोले— ॥ १-२ ॥

निगूह्य रोषं शोकं च धैर्यमाश्रित्य केवलम् ।

अवमानं निरस्येन गृहीत्वा हर्षमुन्मथम् ॥ ३ ॥

उपकुप्यं यदैतन्मे अभिवेकाद्यमुन्मथम् ।

सर्वं निवर्तय क्षिप्रं कुरु कार्यं निरव्ययम् ॥ ४ ॥

लक्ष्मण ! केवल धैर्यका आश्रय लेकर अपने मनक

क्रोध और शोकको दूर करो, चित्तसे अपमानकी भावना

विकार हो और हृदयमें भलीभाँति हर्ष भरकर मैं

अभिवेकके लिये यह जो उत्तम सामग्री एकत्र की गयी है,

इसे शीघ्र हटा दो और ऐसा कार्य करो, जिससे मैं

वनगमनमें बाधा ठपठिपत न हो ॥ ३-४ ॥

सौमित्रे योऽभिवेकार्थं मम सञ्चारसम्भ्रमः ।

अभिवेकनिवृत्त्यर्थं सोऽस्तु सञ्चारसम्भ्रमः ॥ ५ ॥

'गुणिज्ञानन्दन । अवगत अभिवेकके लिये सामग्री

जुटानेमें जो तुम्हारा उन्माह था यह इसे रोकने और मैं वन

जानेकी तैयारी करनेमें होना चाहिये ॥ ५ ॥

यथा भवभिवेकार्थं मानसं परितप्यते ।

माता नः सा यथा न स्यात् सत्विशङ्का तथा कुरु ॥ ६ ॥

मेरे अभिवेकके कारण जिसके चित्तमें संताप हो रहा है

इस हमारी माता कैकेयीको जिससे किसी तरहकी शङ्का न रह

जाय, वही काम करो ॥ ६ ॥

तस्याः शङ्कापर्यं दुःखं मुहूर्तमपि नोत्सहे ।

धनसि प्रतिसंजात सौमित्रेऽहमुपेक्षितुम् ॥ ७ ॥

'लक्ष्मण ! उसके मनमें संदेहके कारण दुःख उत्पन्न हो, इस बातको मैं दो घड़ोंके लिये भी नहीं सह सकता और न इसको उपेक्षा ही कर सकता हूँ ॥ ७ ॥

न बुद्धिपूर्वं नाबुद्धं स्मरामीह कदाचन ।

मानूयां वा पितुर्वाहं कृतमल्पं च विप्रियम् ॥ ८ ॥

मैंने यहाँ कभी ज्ञान-वृद्धकर या अनजानमें माताजीका

अथवा पिताजीका कोई छेदा-सा भी अपराध किया हो, ऐसा

याद नहीं आता ॥ ८ ॥

सत्यः सत्याभिसंधश्च नित्यं सत्यपराक्रमः ।

परलोकधयाद् भीतो निर्भयोऽस्तु पिता मम ॥ ९ ॥

'पिताजी सदा सत्यवादी और सत्यपराक्रमी रहे हैं ।

वे परलोकके भयसे सदा डरते रहते हैं; इसलिये मुझे

वही काम करना चाहिये, जिससे मैं पिताजीका पारलौकिक

भय दूर हो जाय ॥ ९ ॥

तस्यापि हि भवेदस्मिन् कर्मण्यप्रतिसङ्गते ।

सत्यं नेति मनस्तापस्तस्य तापस्तपेक्ष माम् ॥ १० ॥

'यदि इस अभिवेकसम्बन्धी कार्यको रोक नहीं दिया गया

तो पिताजीको भी मन ही मन यह सोचकर संताप होगा कि

मेरी बात सही नहीं हुई और उनका घर मनस्ताप मुझे सदा

समझ करता रहगा ॥ १० ॥

अभिवेकविधानं तु तस्मात् संहृत्य लक्ष्मण ।

अन्वगेवाहमिच्छामि वनं गन्तुमितः पुरः ॥ ११ ॥

'लक्ष्मण ! इन्हीं सब कारणोंसे मैं अपने अभिवेकका

कार्य रोककर शीघ्र ही इस नगरमें वनको खोज जाना

चाहता हूँ ॥ ११ ॥

यम प्रव्राजनादद्य कृतकृत्या नृपात्मजा ।

सुते धरतमव्यग्रमभिवेचयतां ततः ॥ १२ ॥

'आज मैंने खले जानेसे कृतकृत्य हुई राजकुमारों

कैकेयी अपने पुत्र भरतका निर्भय एवं निश्चिन्त होकर

अभिवेक कगचे ॥ १२ ॥

मयि वीराजिनधरे जटामण्डलधारिणि ।

गतेऽरण्यं च कैकेय्या भविष्यति मनः सुखम् ॥ १३ ॥

'मैं बल्कल और मृगधर्म धारण करके सिरपर जटाजूट

बाँधे जब जनकी बला जाऊँगा, तभी कैकेयीके मनको सुख प्राप्त होगा ॥ १३ ॥

बुद्धिः प्रणीता येनेयं मनश्च सुसमाहितम् ।

ते नु नाहामि संक्रेष्टुं प्रव्रजिष्यामि मा चिरम् ॥ १४ ॥

‘जिस विधानाने कैकेयीको ऐसी बुद्धि प्रदान की है तथा जिसकी प्रेरणासे उसका मन मुझे वन भ्रमणमें अन्यत्र दृढ़ हो गया है, उसे विफलमनोरथ करके कह देना मेरे लिये उचित नहीं है ॥ १४ ॥

कृतान्त एव सीमित्रे ब्रह्मव्यो भव्यवासने ।

राज्यस्य च वितीर्णस्य पुनरेव निवर्तने ॥ १५ ॥

‘भूमिभ्रातृकुमार ! मेरे इस प्रवासमें तथा पिताद्वारा दिये हुए राज्यके फिर हाथसे निकल जानेमें देवकी ही कारण समझना चाहिये ॥ १५ ॥

कैकेय्याः प्रतिपत्तिर्हि कथं स्थाम्यम वेदने ।

यदि तस्या न भावोऽयं कृतान्तविहितो भवेत् ॥ १६ ॥

‘मेरी समझसे कैकेयीका यह विपरीत मनोभाव देवकी ही विधान है । यदि ऐसा न होगा तो यह मुझे वनमें भ्रमण छोड़ देनेका विचार क्यों करूँगी ॥ १६ ॥

जानासि हि यथा सीम्य न भानुषु यमान्तरम् ।

भूतपूर्वं विदोषो वा तस्या मयि सुतेऽपि वा ॥ १७ ॥

‘सीम्य ! तुम तो जानते ही हो कि मेरे मनमें पहले भी कभी माताओंके प्रति भद्रभाव नहीं हुआ और कैकेयी भी पहले मुझमें या अन्ते मुझमें कोई अन्तर नहीं समझती थीं ॥

सोऽभिषेकनिवृत्त्यर्थं प्रयासार्थंश्च दुर्वचः ।

उपेक्षापरं तु तस्या नान्यत् त्वान् समर्थये ॥ १८ ॥

‘मेरे अभिषेकको रोकने और मुझे वनमें भ्रमणके लिये हटाने राजाकी प्रेरित कारणोंके निमित्त जिन पर्यंकर और कटुप्रशंसा प्रयोग किए गए हैं, उन्हें साधारण मनुष्योंके लिये भी गृहीते निकलना कठिन है । उसका ऐसा चष्टाम मैं देवके भिन्न दूसरे किसी कारणका समर्थन नहीं करूँगी ॥ १८ ॥

कथं प्रकृतिसम्पन्ना राजपुत्री तयागुणा ।

भूयान् सा प्राकृतेषु श्री भर्त्योदये भर्तृमनिधौ ॥ १९ ॥

‘यदि ऐसी बात न होती तो कैसे उसमें स्वभाव और श्रेष्ठ गुणोंसे युक्त राजकुमारी कैकेयी एक साधारण स्त्रीमें भौन आने पीतक समान मुझे छोड़ा देनेवाली बात कैसे कहती— गुण कहेंगे उनके लिये रामकी वनमें भ्रमणका प्रस्ताव कैसे स्वीकृत करती ॥ १९ ॥

यदचिन्त्यं तु सत् तैव भूतेष्वपि न हन्यते ।

ज्यक्तं मयि च तस्यां च पतितो हि विपर्ययः ॥ २० ॥

‘जिसके विषयमें कभी कुछ साचा न गया हो, वही वैधर्य विधान है । प्राणिजगत्में अथवा उनके अधिष्ठाता देवताओंमें भी कोई ऐसा नहीं है, जो उस देवके विधानको भेद उसके अन्तः निक्षेप हो उसीकी प्रेरणासे मुझमें और

कैकेयीमें यह भारी उल्ट फेर हुआ है (मेरे हाथमें आया हुआ राज्य चला गया और कैकेयीकी बुद्धि बदल गयी) ॥

कश्च देवेन सीमित्रे योद्धुमुत्सहते पुमान् ।

यस्य नु ग्रहणं किञ्चित् कर्मणोऽन्यत्र दृश्यते ॥ २१ ॥

‘सुमित्रानन्दन ! क्योंकि सुख-दुःखादिरूप फल प्राप्त होनेपर ही जिसका ज्ञान होता है, कर्मफलमें अन्यत्र कहीं भी जिसका पता नहीं चलता, उस देवके साथ कौन पुरुष युद्ध कर सकता है ? ॥ २१ ॥

सुखदुःखे भयक्रोधा लाभालाभी भवाभवौ ।

यस्य किञ्चित् तथाभूतं ननु देवस्य कर्म तत् ॥ २२ ॥

‘सुख-दुःख, भय-क्रोध (शोक), लाभ-हानि, उत्पत्ति और विनाश तथा इम प्रकारके और भी जितने परिणाम प्राप्त होत हैं जिनका कोई कारण समझमें नहीं आता, वे सब देवकी ही कर्म हैं ॥ २२ ॥

श्रूययोऽप्युपनयसो देवेनाभिप्रचोदिताः ।

उत्सृज्य नियमांसीव्रान् भ्रश्यन्ते काममन्युभिः ॥ २३ ॥

‘उपनयस्वी ऋषि भी देवसे प्रेरित होकर अपने ही नियमोंको छोड़ बैठने और काम-प्रलोभके द्वारा विवश हो पर्यादासे ग्रह हो जाते हैं ॥ २३ ॥

असंकल्पितमेवेह यदकस्मान् प्रवर्तते ।

निवर्त्यागव्यमार्गमर्धेन नु देवस्य कर्म तत् ॥ २४ ॥

‘जो ज्ञान विना साधे विचारे अकस्मान् मिथ्या आ पड़ती है और प्रयत्नद्वारा आरम्भ किये हुए कार्यको रोककर एक नया ही कारण उपस्थित कर देती है, अथवा वह देवकी ही विधान है ॥ २४ ॥

एतया तत्त्वया बुद्ध्या संस्तभ्यात्मानमात्मना ।

व्याहतेऽप्यभिषेकं मे परितापो न विद्यते ॥ २५ ॥

‘इस तात्त्विक बुद्धिके द्वारा स्वयं ही मनको स्थिर कर लेनेके कारण मुझे अपने अभिषेकमें विघ्न पड़ जानेपर भी दुःख या संताप नहीं हो रहा है ॥ २५ ॥

तस्मादपरितापः संस्त्वप्यनुविधाव माम् ।

प्रतिमहारय क्षिप्रमाभिषेचनिकी क्रियाम् ॥ २६ ॥

‘इसी प्रकार तुम भी मेरे विचारका अनुसरण करके संतापशून्य हो राज्याभिषेकके इस आयोजनकी शीघ्र खबर दे दो ॥ २६ ॥

एभिरेव घटैः सर्वैरभिषेचनसम्पूतैः ।

मम लक्ष्मण तापस्ये व्रतज्ञाने भविष्यति ॥ २७ ॥

‘लक्ष्मण ! राज्याभिषेकके लिये सैजोकर रखे गये इन्हीं सब कलशोंद्वारा मेरा तापस-व्रतके संकल्पके लिये आवश्यक छान होगा ॥ २७ ॥

अथवा किं मर्यतेन राज्यव्रत्यमयेन तु ।

उद्धृतं मे स्वयं तांश्च व्रतादेशं करिष्यति ॥ २८ ॥

‘अथवा राज्याभिषेकसम्बन्धी महत्त्व द्रव्यमय इस

कलशजलकी मुझे क्या आवश्यकता है? स्वयं मेरे द्वारा अपने हाथसे निकाला हुआ जल हो मेरे वनादेशका माध्यक हास ॥ २८ ॥

मा च लक्ष्मण सेनाय कार्त्तिलक्ष्म्या विपर्यये ।

राज्यं वा वनवासो वा वनवासो महोदयः ॥ २९ ॥

‘लक्ष्मण ! लक्ष्मीक इस उल्ट-फेरक विषयमें नुम कोई चिन्ता न करो । मेरे लिये राज्य अथवा वनवास दोनों समान हैं, बल्कि विशेष विचार करनेपर वनवास ही महान् अभ्युदयकारी प्रतीत होता है ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्वाविंशः सर्गः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिमित्त आर्यगमायण आदिकाव्यक अयोध्याकाण्डमें द्वाविंश सर्ग पूरा हुआ ॥ २२ ॥

त्रयोविंशः सर्गः

लक्ष्मणकी ओजधरी जाने, उनके द्वारा दैवका खण्डन और पुरुषार्थका प्रतिपादन तथा उनका श्रीरामके अधिपेक्षके निमित्त विरोधियोंसे लोहा लेनेके लिये उद्यत होना

इति श्रुत्वा रामे तु लक्ष्मणोऽवाविश्वरा इव ।

ध्यात्वा प्रथमं जगापाशु सहसा दैवदर्पयोः ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्रजी जैसे इस प्रकार कह रहे थे, उस समय लक्ष्मण सिर झुकाये कुछ साचते रहे; फिर सहसा शीघ्रता-पूर्वक जे दुस्त और हथके चाचको स्थितिमें आ गये (श्रीरामके राज्याधिपेक्षमें विघ्न पड़नेके कारण उन्हें दुःख हुआ और उनकी गर्भमें दृढ़ता देखकर प्रसन्नता हुई) ॥ १ ॥

तदा तु बद्ध्वा धुकुटी धृषोर्मध्ये नरर्षभ ।

निशङ्कास महासर्पो विलस्य इव रोषितः ॥ २ ॥

तबसे लक्ष्मणने उस समय ललाटमें भीहोंको चढ़ाकर लकी साँस छोचना आरम्भ किया, मानो विलमें बैठे हुए महान् सर्प रोषमें भरकर फुंकार मार रहा हो ॥ २ ॥

तस्य दृढतिर्षीक्ष्यं तद् धुकुटीसहिनं तदा ।

अथौ सुखस्य सिंहस्य मुखस्य सदृशं मुखम् ॥ ३ ॥

तनी हुई भीलक साथ उस समय उनका मुख कृपित हुए भद्रक मुखके समान जान पड़ता था, उसकी ओर देखना अहित हो रहा था ॥ ३ ॥

अपयक्तां विधुन्वन्तु हस्तौ हस्तमिवात्पनः ।

तिर्यग्मुखं शरीरे च पातयित्वा शिरोधराम् ॥ ४ ॥

अप्राक्ष्णा वीक्षमाणस्तु तिर्यग्भ्रातरमब्रवीत् ।

जैसे हाथी अपनी सूँड हिलाया करता है, ठगरी प्रकार से अपने दाहिने हाथको हिलाने और गर्दनको आगेमें ऊपर-तले और, जगल-जगल सब ओर घुमाते हुए नेत्रोंके त्रयभागसे टेढ़ी नजरोंद्वारा अपने भाई आग्रामको देखकर लसे बोले— ॥ ४ ॥

अव्याने सम्प्रमो यस्य जातो वै सुप्रहानयम् ॥ ५ ॥

धर्मदोषप्रसङ्गेन लोकस्थानतिशङ्कया ।

न लक्ष्मणास्मिन् धम राज्यविघ्ने

माता यत्नीयस्यभिज्ञाङ्गिनाम्ना ।

दैवाभिपन्ना न पिता कथंचि-

जानासि दैव हि तथाप्रभावम् ॥ ३० ॥

‘लक्ष्मण ! मेरे राज्याधिपेक्षमें जो विघ्न आया है, इसमें मेरी सबसे छोटी भाना कारण है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि वह दैवक अधोन थी । इसी प्रकार पिताजी भी किसी तरह इसमें कारण नहीं हैं नुम तो दैव और उसके अद्भुत प्रभावको जानते ही हो, बड़ी कारण है ॥ ३० ॥

कथं होतदसम्भ्रान्तस्त्वद्विधो वक्तुमर्हति ॥ ६ ॥

यथा होवमशौण्डीरं शौण्डीरः क्षत्रियवर्षभः ।

किं नाम कृपणं दैवमशक्तमभिज्ञंससि ॥ ७ ॥

भैया ! आप समझते हैं कि यदि पिताकी इस आज्ञाका पालन करनेके लिये मैं वनको न जाऊँ तो धर्मिक विरोधका प्रमद उदयस्थित होता है । इसके सिवा लोगोंके मनमें यह बड़ी भारी शङ्का उठ खड़ी होगी कि जो पिताकी आज्ञाका उल्लङ्घन करता है, वह यदि राजा हो हो जाय तो हमारा धर्मपूर्वक पालन कैसे करेगा ? साध हो आप यह भी सोचते हैं कि यदि मैं पिताकी इस आज्ञाका पालन नहीं करूँ तो दूसरे लोग भी नहीं करेंगे । इस प्रकार धर्मकी अवहलना होनेसे जगत्क विनाशका भय उपस्थित होगा । इन सब दोषों और शङ्काओंका निराकरण करनेके लिये आपके मनमें वनगमनक प्रति जो यह बड़ा भारी सम्भ्रम (उत्तापलापन) आ गया है, यह सर्वथा अनुचित एवं भ्रममूलक ही है, क्योंकि आप असमर्थ ‘दैव’ नामक कुछ वस्तुको प्रवक्तृ बना रहे हैं । दैवका निराकरण करनेमें समर्थ आप-जैसा क्षत्रियशरोमणि और यदि भ्रममें नहीं पड़ गया होता तो ऐसी बात कैसे कह सकता था ? अतः असमर्थ पुरुषोंद्वारा ही अपनाय जान योग्य और योग्यक निकट कुछ भी करनेमें असमर्थ ‘दैव’ की आप साधारण मनुष्यके समान इतनी स्तुति या प्रशंसा क्यों कर रहे हैं ? ॥ ५—७ ॥

पापयोः स्ते कथं नाम तयोः शङ्का न विद्यते ।

सन्ति धर्मोपधासक्ता धर्मान्धन् किं न सुध्यसे ॥ ८ ॥

‘धर्मान्धन् ! आपको उन दोनों पापियोंपर संदेह क्यों नहीं होता ? समागमें किन्ने ही ऐसे पापासक्त मनुष्य हैं, जो दुर्मार्गको ठगनेके लिये धर्मका ढोंग बनाये रहते हैं, क्या आप

उन्हें नहीं जानते हैं ? ॥ ८ ॥

तयोः सुचरितं स्वार्थं शाठ्यात् परिजिहीर्षतोः ।

यदि नैवं व्यवसितं स्याद्धि प्रागेव राधव ।

तयोः प्रागेव दत्तश्च स्याद् वरः प्रकृतश्च सः ॥ ९ ॥

‘रघुनन्दन । वे दोनों अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये शाठ्यादि धर्मक बहाने आप-जैसे सचित्र पुरुषका परित्याग करना चाहते हैं । यदि उनका ऐसा विचार न होता तो जो कार्य भाग हुआ है, वह पहले ही हो गया होता । यदि भरतानुवासी बात सची होती तो आपके अभिप्रेतता कार्य प्रारम्भ होनेसे पहले ही इस तरहका वर दे दिया गया होता ॥ ९ ॥

लोकविहिंस्रमारब्धं त्वदन्यस्याभिषेचनम् ।

नोरसहै सहितुं वीर तत्र मे क्षन्तुमर्हसि ॥ १० ॥

(गुणवान् ज्येष्ठ पुत्रके रहते हुए छोटका अभिषेक करना) यह लोकविरुद्ध कार्य है, जिसका आज आरम्भ किया गया है । आपको सिवा दूसरे किसीका राज्याभिषेक हो, यह मुझसे सहन नहीं होनेका । इसके लिये आप मुझे क्षमा करेंगे ॥ १० ॥

येनैवमागता द्वैधं तव बुद्धिर्महामते ।

सोऽपि धर्मो मम द्वेष्टो यत्प्रसङ्गाद् विमुह्यसि ॥ ११ ॥

‘महामते । पिताके जिस वचनको धनकर आप मोहमें पड़े हुए हैं और जिसके कारण आपकी बुद्धिमें दुविधा उत्पन्न हो गयी है, मैं उसे धर्म माननेका पक्षपाती नहीं हूँ, ऐसे धर्मका तो मैं चार विरोध करता हूँ ॥ ११ ॥

कथं स्वैः कर्मणा शक्तः कैकेयीवशवर्तिनः ।

करिष्यमि पितुर्वाक्यमधर्मिष्ठं विगर्हितम् ॥ १२ ॥

‘आप अपने पराक्रमसे सब कुछ करनेमें समर्थ होकर भी कैकेयिके वशमें रहनेवाला पिताके अधर्मपूर्ण एवं निन्दित वचनका पालन कैसे करेंगे ? ॥ १२ ॥

यत्तु किंलिख्यात् भेदः कृतोऽप्येवं न गृह्यते ।

जायते तत्र मे तुल्यं धर्मसङ्गश्च गर्हितः ॥ १३ ॥

‘प्राधान्यकी झूठी कल्पनाका पाप करके आपके अभिप्रेतसे राजा अन्धकारा गया है फिर भी आप इस रूपमें नहीं जादग करत हैं । इसके लिये मैं मनमें बड़ा दुःख होता है । ऐसा कण्टारपूर्ण धर्मके प्रति होशियारी आसक्ति निन्दित है ॥ १३ ॥

तथापि धर्मसंयोगो लोकस्यास्य विगर्हितः ।

मनसापि कथं कामं कुर्यात् त्वां कामकृतयोः ।

तयोर्स्वार्थानयोर्नित्यं शत्रवोः पितृभिधानयोः ॥ १४ ॥

‘ऐसे प्राखण्डपूर्ण धर्मके पालनमें जो आपकी प्रवृत्ति हो रही है, वह धर्मके जनसमुदायकी दृष्टिमें निन्दित है । आपको सिवा दूसरा कोई पुरुष सदा पुरुषका अहित करनेवाले, पिता-माता नामधारी उन कामाचारी शत्रुओंके मनोरथको

मनमें भी कैसे पूर्ण कर सकता है (उसकी पूर्तिका विचार भी मनमें कैसे लज सकता है ?) ॥ १४ ॥

यद्यपि प्रतिपत्तिस्ते दैवी जापि तयोर्मतम् ।

तथाप्युपेक्षणीयं ते न मे तदपि रीजते ॥ १५ ॥

‘माता-पिताके इस विचारको कि—‘आपका राज्याभिषेक न हो’ जो आप दैवकी प्रेरणाका फल मानते हैं, यह भी मुझे अच्छा नहीं लगता । यद्यपि वह आपका मत है, तथापि आपको उसकी उपेक्षा कर देनी चाहिये ॥ १५ ॥

विह्वलो वीर्यहीनो यः स दैवमनुवर्तते ।

वीराः सम्भावितात्मानो न दैवं पर्युपासते ॥ १६ ॥

‘जो कायर है, जिसमें पराक्रमका नाम नहीं है, वही दैवका भरोसा करता है । सारा संसार जिन्हें आदरकी दृष्टिसे देखता है, वे शक्तिशाली वीर पुरुष दैवको उपासना नहीं करते हैं ॥ १६ ॥

दैवं पुरुषकारेण यः समर्थः प्रबाधितुम् ।

न दैवेन विपन्नार्थः पुरुषः सोऽवसीदति ॥ १७ ॥

‘जो अपने पुरुषार्थसे दैवको दबानेमें समर्थ है, वह पुरुष दैवके द्वारा अपने कार्यमें बाधा पड़नेपर खेद नहीं करता—शिथिल होकर नहीं बैठता ॥ १७ ॥

इक्ष्यन्ति त्वद्य दैवस्य पौरुषं पुरुषस्य च ।

दैवमानुषयोरद्य व्यक्ता व्यक्तिर्भविष्यति ॥ १८ ॥

‘आज संसारके लोभ देखेंगे कि दैवको शक्ति बाड़ी है या पुरुषका पुन्यार्थ । आज दैव और मनुष्यमें कौन बलवान् है और कौन दुर्बल—इसका स्पष्ट निर्णय हो जायगा ॥ १८ ॥

अद्य मे पौरुषवर्त दैवं इक्ष्यन्ति चै जनाः ।

यैर्दवादाहत तेऽद्य दुष्टं राज्याभिषेचनम् ॥ १९ ॥

‘जिन लोगोंने दैवके बलसे आज आपके राज्याभिषेकको गृह्त हुआ देखा है, वे ही आज मेरे पुरुषार्थसे अवश्य ही दैवका भी विनाश देख लेंगे ॥ १९ ॥

अत्यङ्गुशमिवोद्धातं गजं मदजलोद्धतम् ।

प्रधावितमहं दैवं पौरुषेण निवर्तये ॥ २० ॥

‘जो अङ्गुशकी परवा नहीं करना और रस्से या साँकलको भी तोड़ देता है मदकी घात बहानेवाले उस मत गजराजकी धाँत वेगपूर्वक दौड़नेवाले दैवको भी आज मैं अपने पुरुषार्थसे पीछे हटा दूँगा ॥ २० ॥

लोकपालाः समस्तास्ते नाद्य रामाभिषेचनम् ।

न च कुत्त्रास्त्रयो लोका विहन्तुः किं पुनः पिता ॥ २१ ॥

‘समस्त लोकपाल और दोनों लोकोंके सम्पूर्ण प्राणी आज श्रीरामके राज्याभिषेकको नहीं रोक सकते, फिर केवल पिताजिन्हें तो बात ही क्या है ? ॥ २१ ॥

यैर्विवाहस्तवारण्ये धिथो राजन् समर्थितः ।

अरण्ये ते विवस्यन्ति चतुर्दश समास्तथा ॥ २२ ॥

‘राजन् ! जिन लोगोंने आपसमें आपके जनवासका समर्थन किया है, वे स्वयं चोटहूँ अयोध्या के नामसे जाकर छिपे रहेंगे ॥ २२ ॥

अहं तदाशौ धक्ष्यामि पितुस्तस्याश्च या तव ।

अभिषेकविधातेन पुत्रराज्याय वर्तते ॥ २३ ॥

‘मैं पिताको और जो आपके अभिषेकमें त्रिभूत डालकर अपने पुत्रको राज्य देनेके प्रयत्न कर रही हूँ, उस केकेयोंको भी उस आशाको जलाकर भस्म कर डालूँगा ॥ २३ ॥

महत्तेन विरुद्धाथ न स्याद् दैवबलं तथा ।

प्रभविष्यति दुःखाय चथोऽं पौरुषं मम ॥ २४ ॥

जो मेरे बलके विरोधमें खड़ा होगा, उसे मेरा धैर्यकर पुरुषार्थ जैसा दुःख देनेमें समर्थ होगा, वैसा दैवबल उसे सुख नहीं पहुँचा सकेगा ॥ २४ ॥

ऊर्ध्वं वर्षमहस्त्रान्ते प्रजापाल्यमनन्तरम् ।

आर्यपुत्राः करिष्यन्ति वनवासं गते त्वयि ॥ २५ ॥

‘राहस्यी वर्ष वीतनक पश्चात् जब आप अवस्थाक्रमसे वनमें निवास करनेके लिये जायेंगे, उस समय आपके बाद आपके पुत्र प्रजापालनरूप कार्य करेंगे (अर्थात् उस समय भी दूसरोंको इस राज्यमें दखल देनेका अवसर नहीं प्राप्त होगा) ॥ २५ ॥

पूर्वराजर्विद्वन्त्या हि वनवासोऽभिधीयते ।

प्रजा निक्षिप्य पुत्रेषु पुत्रवत् परिपालने ॥ २६ ॥

‘पुरातन राजर्वियोंकी आचारपरम्पराके अनुसार प्रजाका पुत्रवत् पालन करनेके निमित्त प्रजावर्गको पुत्रोंके हाथमें सौंपकर वृद्ध राजाका वनमें निवास करना उचित बताया जाता है ॥ २६ ॥

स चेत् राजन्यनेकाग्रैः राज्यविभ्रमहाङ्गुया ।

नैवमिच्छसि धर्मात्मा राज्यं राम त्वमात्मनि ॥ २७ ॥

धर्मात्मा श्रीगम ! हमारे महाराज खानप्रस्थधर्मक चलनमें किसी प्रकार का भ्रम नहीं है, इसका उद्योग यदि आप या समझने हों कि उनकी भाग्यवत् विन्दु राज्य प्रकरण कर उनके समस्त जनता विद्रोही हो जायेंगे, अतः राज्य अपने हाथमें नहीं रख सकेंगे और इसी कारण यदि आप अपने ऊपर राज्यका भार नहीं लेना चाहते हैं अथवा वनमें चले जाना चाहते हैं तो इस शास्त्रको छोड़ देंजिये ॥ २७ ॥

प्रतिजाने च ते धीर मा भूव वीरलोकभाक् ।

राज्यं च तव रक्षेयमहं वेलेन सागरम् ॥ २८ ॥

वीर ! मैं प्रीति करता हूँ कि जैसे तटभूमि समुद्रको गले रहती है, उसी प्रकार मैं आपकी और आपके राज्यकी रक्षा करूँगा। यदि ऐसा न करे तो वीरलोकका भागी न रहूँगा ॥ २८ ॥

यद्गुणरभिर्विद्वन् तत्र त्वं व्यापुनो भव ।

अहमेको महीपालानलं वारयितुं बलान् ॥ २९ ॥

इसलिये आप यद्गुणरभि अभिषेक-सामग्रीसे अपना अभिषेक होने देंजिये। इस अभिषेकके कार्यमें आप तत्पर हो जाइये। मैं अकेला ही बलपूर्वक समस्त विरोधी भूपालोंको रोक रखनेमें समर्थ हूँ ॥ २९ ॥

न शोभार्थाविमौ बाहू न धनुर्भूषणाय मे ।

नामिराज्यनार्थाय न शराः स्तम्भहेनवः ॥ ३० ॥

ये मेरी दाने भुजाएँ केवल शोभाके लिये नहीं हैं। मेरे इस धनुषका आभूषण नहीं बनेगा। यह तलवार केवल कमरमें बांधे रखनेके लिये नहीं है तथा इन बाणोंके खम्भे नहीं बनेंगे ॥ ३० ॥

अमित्रमथनार्थाय सर्वमेतदुत्तुष्टयम् ।

न चाहं कामयेऽत्यर्थं यः स्याच्छत्रुर्पतो मम ॥ ३१ ॥

मैं सब चीजें वस्तुएँ शत्रुओंका दमन करनेके लिये ही हूँ जिनमें मैं अपना शत्रु समझता हूँ उसे कदापि जोषित करने देना नहीं चाहता ॥ ३१ ॥

असिना तीक्ष्णधारेण विद्युच्छालितवर्चसा ।

प्रगृहीतेन चै शत्रुं वज्रिणं वा न कल्पये ॥ ३२ ॥

जिस समय मैं इस तीखी धारवाली तलवारको हाथमें लेता हूँ, यह विजलकी तरह चञ्चल प्रभासे चमक उठती है इसके द्वारा अपने किसी भी शत्रुको वह वज्रधारी इन्द्र ही क्यों न हो, मैं कुछ नहीं समझता ॥ ३२ ॥

खड्गनिष्पेषनिष्पिष्टगहना दुश्चरा च मे ।

हरत्यश्वरथिहस्तोरुशिराभिर्भविता मही ॥ ३३ ॥

‘असि मेरे खड्गक प्रहारसे पीस डाले गये हाथों, घाड़े और रथियोंके हाथ जब और भस्मकीद्वारा पटी हुई यह पृथ्वी ऐसा गहन हो जायगी कि इसपर चलना-फिरना कठिन हो जायगा ॥ ३३ ॥

खड्गधारहता मेऽद्य दीप्यमाना इवाग्रयः ।

पतिष्यन्ति द्विजो भूमौ मेघा इव सविद्युतः ॥ ३४ ॥

मेरी तलवारकी धारसे कटकर रक्तसे लथपथ हुए शत्रु ब्रजनी हुई आगक समान जान पड़ेंगे और बिजलीसहित मेघोंके समान आज पृथ्वीपर गिरेंगे ॥ ३४ ॥

बद्धगोधाकुलित्राणे प्रगृहीतशरासने ।

कथं पुरुषमानी स्याद् पुरुषाणां धियं स्थिते ॥ ३५ ॥

अपने हाथोंमें मोहक चर्मस बने हुए दस्तानोंकी बाँधकर जब हाथोंमें धनुष ले मैं युद्धके लिये खड़ा हो जाऊँगा, उस समय पुरुषोंमें कोई भी मेरे सामने कैसे अपने पौरुषपर अभिमान कर सकेगा ? ॥ ३५ ॥

बहुभिर्भुक्तमत्यस्यत्रेकेन च बहुजनान् ।

विनियोक्ष्याम्यहं बाणावृत्ताजिगजधर्मसु ॥ ३६ ॥

‘मैं बहुत-से बाणोंद्वारा एकको और एक ही बाणसे बहुत-से योद्धाओंको धराशायी करता हुआ मनुष्यों, बाढ़ों और हाथियोंके मर्मस्थानोंपर बाण मारूँगा ॥ ३६ ॥

अथ मेऽस्त्रप्रपातस्य प्रभावः प्रभविष्यति ।

राज्ञश्चाप्रभुतां कर्तुं प्रभुत्वं च तव प्रभो ॥ ३७ ॥

‘प्रभो ! आज राजा दशरथको प्रभुताको मिटाने और आपके प्रभुत्वकी स्थापना करनेके लिये अस्त्रबलसे सम्पन्न मुझ लक्ष्मणका प्रभाव प्रकट होगा ॥ ३७ ॥

अथ चन्दनसारस्य केयूराभोक्षणास्य च ।

वसुनां च विमोक्षस्य सुहृदो पालनस्य च ॥ ३८ ॥

अनुष्णादिभी खाहू राम कर्म करिष्यतः ।

अपिपेवनविग्रम्य कर्तृणां मे निवारणे ॥ ३९ ॥

‘श्रीराम ! आज मेरे ये दोनों भुजार्थी, जो चन्दनकर लेप लगाने, चाबूतद पढ़ाने, भोजन दान करने और सुहृदोंके पालनमें सँलगा रहनेके योग्य हैं, आपको राज्याभिषेकमें सिद्ध राज्यवासाका गन्तव्य लिये अपने अनुसृत पत्रक्रम प्रकट करेंगे ॥ ३८ ३९ ॥

प्रवीहि कोऽपीव यथा वियुज्यतां

तवासुहृत् प्राणयशःसुहृज्जनैः ।

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रयोविंशः सर्गः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदि काव्यके अयोध्याकाण्डमें तेईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २३ ॥

चतुर्विंशः सर्गः

विलाप करती हुई कौसल्याका श्रीरामसे अपनेको भी साथ ले चलनेके लिये आग्रह करना तथा पतिकी सेवा ही नारीका धर्म है, यह बताकर श्रीरामका उन्हें रोकना और वन जानेके लिये उनकी अनुमति प्राप्त करना

त सार्धैश्च व्यर्त्तसन् पिनूर्विशपालने ।

कौसल्या चाप्यसंस्मृत्वा वचो धर्मिष्ठमब्रवीत् ॥ १ ॥

कौसल्याने अब देखा कि श्रीरामने पतिकी आज्ञाके पालन ही एक निश्चय कर लिया है, तब ही मैं भी उसे रोकती हुई गृहद आश्रममें धर्मात्मा श्रीरामसे इस प्रकार बोली— ॥

अनुष्ठुवाणो धर्मात्मा सर्वभूतप्रियंवदः ।

याय जातो दशरथात् कथमुज्जन वर्तयेत् ॥ २ ॥

‘दाय ! जिसने जीवनमें कभी दुःख नहीं देखा है, जो समस्त प्राणियोंसे सदा प्रिय वचन बोलता है, जिसका वचन महाराज दशरथसे मेरे द्वारा हुआ है, वह मेरा धर्मात्मा पुत्र उच्छृण्वसे—खेतमें गिरे हुए अनाजक एक-एक दानक बीनकर कैसे जीवन-निर्वाह कर सकेगा ? ॥ २ ॥

घस्य भृत्याश्च दासाश्च मृष्टान्यन्नानि भुञ्जते ।

कथं स भोक्ष्यते राधो वने मूलफलान्ययम् ॥ ३ ॥

‘जिनके भृत्य और दास भी शुद्ध स्वादिष्ट अन्न खाते हैं, वे ही श्रीराम वनमें फल-मूल्यक आहार कैसे करेंगे ? ॥

क शनन्मृदुदधेत्पूज्या कस्य वा न भवेद् भयम् ।

गुणवान् दयितो राजः काकुत्स्थो यद् विवास्यते ॥ ४ ॥

‘जो सद्गुणसम्पन्न और महाराज दशरथके प्रिय है,

यथा तवेयं वसुधा वशा भवेत्

तथैव मां शाधि तवास्मि किंकरः ॥ ४० ॥

‘प्रभो ! बतल्राहये, मैं आपके किस शत्रुको अभी प्राण, यश और सुहृदोंसे सदाके लिये बिलग कर दूँ। जिस उपायसे भी यह पृथ्वी आपके अधिकारमें आ जाय, उसके लिये मुझे आज्ञा दीजिये, मैं आपका दास हूँ ॥ ४० ॥

विमुन्य बाध्यं परितान्त्वय चासकृत्

स लक्ष्मणं राघववंशवर्धनः ।

उवाच पित्रोर्वचने व्यवस्थितं

निबोध मामेष हि सौम्य सत्यधः ॥ ४१ ॥

रघुवंशकी वृद्धि करनेवाले श्रीरामने लक्ष्मणकी ये बातें सुनकर उनके आँसू पोंछे और उन्हें बारंबार सान्त्वना देते हुए कहा—‘सौम्य ! मुझे तो तुम भाता-पिताकी आज्ञाके पालनमें ही दृढतापूर्वक स्थित समझो। यही सत्पुरुषका मार्ग है ॥ ४१ ॥

उन्हीं ककुत्स्थ-कुल-भूषण श्रीरामको जो वनवास दिया जा रहा है इस सुनकर कौन इसपर विश्वास करेगा ? अथवा ऐसी बात सुनकर किसका भय नहीं होगा ? ॥ ४ ॥

नूनं तु बल्ल्वाल्लोके कृतान्तः सर्वपादिशन् ।

लोके रामाधिरामस्त्वं वनं यत्र गमिष्यसि ॥ ५ ॥

‘श्रीराम ! निश्चय ही इस जगत्में दैव सबसे बड़ा व्यवधान है उसकी आज्ञा सबके ऊपर चलती है—वही सबको सुख-दुःखसे सन्तुष्ट करता है, क्योंकि उसीके प्रभावमें आकर तुम्हारे-जैसा लोकप्रिय मनुष्य भी वनमें जानेको उद्यत है ॥ ५ ॥

अयं तु मामात्मभवस्तवादर्शनमास्तः ।

विलापदुःखसमियो रुदिताश्रुहुताहुतिः ॥ ६ ॥

चिन्तावाष्पमहाधूमस्तवागमनचिन्तजः ।

कर्शयित्वाधिकं पुत्र निःश्वासायाससम्भवः ॥ ७ ॥

त्वया विहीनामिह मां शोकाग्निस्तुलो महान् ।

प्रधक्ष्यति यथा कस्यं चित्रभानुर्हिमात्यये ॥ ८ ॥

‘परंतु बेटा ! तुमसे बिछुड़ जानेपर यहाँ मुझे शोककी अनुपम एवं बहुत बड़ी हुई आग उसी तरह जलाकर भस्म कर डालेगा, जैसा प्रोणस्तुम दावानल सूखी लकड़ियों और

घास-फूसको जलन डालता है। शोकको यह आग मेरे अपने हो मनम प्रकट हुई है। मुझे न देख पावको सम्मानना का वयु बनकर इस आश्रित को उहीम कर रही है। विस्मयजानत दुःख हो इसमें ईधनका काम कर रहा है। रामम जो अश्रुपान हान है वे हो मानो इसमें दो हुई पावकी आश्रित न। चिन्ताक कारण जो गरम-गरम इच्छास ठठ रहा है, वही इसका महान् घम है। तुम दूर देशमें जाकर फिर किस तरह आओगे—इस प्रकाशकी चिन्ता ही इस शोकाग्रि को जन्म दे रही है। सोस केका जो प्रथम है उन्नामे इस आगकी प्रतिक्रिया तुम्हें हो रही है। तुम्हें इसे बुझाने के लिये जल जो तुम्हारे पास यह आग मुझे अधिक सुखाकर जला डालगा ॥ ६—८ ॥

कथं हि धेनुः स्व वत्सं गच्छन्तमनुगच्छति ।
अहं त्वानुगमिष्यामि यत्र वत्स गमिष्यसि ॥ ९ ॥

वत्स । धेनु आगे जात हुए अपने बछड़क पीछे-पीछे कैसे चली जाती है, उसी प्रकार मैं भी तुम वहीं भी जाओगे तुम्हारे पीछे-पीछे चली चलूँगी ॥ ९ ॥

यथा निर्गदितं मात्रा तद् वाक्यं पुण्यवधः ।
श्रुत्वा रामोऽब्रवीद् वाक्यं मानसं भृशदुःखिताम् ॥ १० ॥

माता कीसल्याने जैसे जो कुछ कहा, उस वचनको सुनकर पुरुषोत्तम श्रीरामने अत्यन्त दुःखमें डूबो हुई अपनी माँस पुनः इस प्रकार कहा— ॥ १० ॥

कैकेय्या वञ्चितो राजा भविष्याद्यथाश्रिते ।
भवत्या च परित्यक्तो न नूनं वर्तयिष्याति ॥ ११ ॥

माँ ! कैकेयीने राजाके साथ धोखा किया है। इधर मैं वनको चला जा रहा हूँ। इस दशाम यदि तुम भी उनका परित्याग कर रागी तो निश्चय ही वे जाँसल महो रह सकेंगे ॥

भर्तुः किल परित्यागो नृशंसः केवलं स्त्रियाः ।
स भवत्या न कर्तव्यो मनसापि विगर्हितः ॥ १२ ॥

'पति का परित्याग नारीक लिये बड़ा ही क्रूरतापूर्ण क्रम है। सत्पुरुषोंने इसकी बड़ी निन्दा की है; अतः तुम्हें नो पत्नी जात कभी मनमें भी नहीं लानो चाहिये। १२

यावज्जीवति काकुत्स्थः पिता मे जगत्पतिः ।
शुश्रूषा क्रियतां नावन् स हि धर्म सनातनः ॥ १३ ॥

मेरे पिता काकुत्स्थकुल-भूषण महाराज दशरथ जीवित हैं, तबतक तुम उन्हाँको सदा करो। पावको संथा हो उनके लिये सनातन धर्म है ॥ १३ ॥

एवमुक्ता तु रामेण कीसल्या शुभदर्शना ।
तथैत्युवाच सुप्रीता रामपट्टिकारिणाम् ॥ १४ ॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर शुभ कर्मापर दृष्टि रखनेवाले देवी कीसल्याने अत्यन्त प्रसन्न होकर अनायास ही महान् क्रम करनेवाले श्रीरामसे कहा— 'अच्छा वेदा । ऐसा हो करूँगी ॥

एवमुक्तस्तु वचने रामो धर्मभृतां वरः ।
भूयस्तामब्रवीद् वाक्यं मानसं भृशदुःखिताम् ॥ १५ ॥

माँ ! इस प्रकार स्वाकृतिसूचक बात कहनेपर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ श्रीरामने अत्यन्त दुःखमें पड़ी हुई अपनी मानास पुनः इस प्रकार कहा ॥ १५ ॥

मया चैव भवत्या च कर्तव्यं वचनं पितुः ।
राजा भर्ता गुरुः श्रेष्ठः सर्वपार्श्वधरः प्रभुः ॥ १६ ॥

'माँ ! पिताजीकी आज्ञाका पालन करना मेरा और तुम्हारा—दोनोंका कर्तव्य है, क्योंकि राजा हम सब लोगोंके स्वामी, श्रेष्ठ गुरु, ईश्वर एवं प्रभु है ॥ १६ ॥

इमानि तु महारण्ये विहत्य नव पञ्च च ।
वर्षाणि परमप्रीत्या स्थास्यामि वचने तव ॥ १७ ॥

'इन चौदह वर्षोंतक मैं विशाल वनमें घूम-फिरकर लूट आऊँगा और बड़े प्रेमसे तुम्हारी आज्ञाका पालन करता रहूँगा ॥ १७ ॥

एवमुक्ता प्रियं पुत्रं ब्राम्हणपूर्णानना तदा ।
उवाच परमार्ता तु कीसल्या सुतवत्सला ॥ १८ ॥

उनके ऐसा कहनेपर पुत्रवत्सला कीसल्याके मुखपर पुनः आँसुओंकी धारा बह चली। वे उस समय अत्यन्त आर्त होकर अपने प्रिय पुत्रसे बोलीं— ॥ १८ ॥

आसां राम स्पृष्टानां वस्तु मध्ये न मे क्षमम् ।
नय मामपि काकुत्स्थ वने वन्यां मृगीमिव ॥ १९ ॥

यदि ते गमने बुद्धिः कृता पितरपेक्षया ।
'वेदा राम ! अब मुझसे इन सौतेलके बीचमें नहीं रहा जायगा। काकुत्स्थ ! यदि पिताकी आज्ञाका पालन करनेकी इच्छासे तुमने वनमें जानेका ही निश्चय किया है तो मुझे भी वनवासिनी हरिणीकी भाँति वनमें ही ले चलो ॥ १९ ॥

तां तथा रुदनीं रामो रुदन् वचनमब्रवीत् ॥ २० ॥
जोवन्त्या हि स्त्रिया भर्ता देवतं प्रभुरेव च ।

भवत्या मम चैवाद्य राजा प्रभवति प्रभुः ॥ २१ ॥

यह कहकर माता कीसल्या रोने लगीं। उन्हें उस तरह रोती देख श्रीराम भी रो पड़े और उन्हें सान्त्वना देते हुए बोले—

'माँ ! उनके जीते-जी हमका पति ही उसका लिये देवता और ईश्वरके समान है। महाराज तुम्हारे और मेरे दोनोंका प्रभु हैं ॥ २०-२१ ॥

न ह्यनाथा वर्य राजा लोकनाथेन धीमता ।
भरतश्चापि धर्मात्मा सर्वभूतप्रियंवदः ॥ २२ ॥

भवतीधनुवर्तेत स हि धर्मरतः सदा ।
'जबतक बुद्धिमत् जगदीश्वर महाराज दशरथ जीवित हैं, तबतक हमें अपनेको अनाथ नहीं समझना चाहिये। भरत भी बड़े धर्मात्मा हैं। वे समस्त प्राणियोंके प्रति प्रिय वचन बोलनेवाले और सदा ही धर्ममें तत्पर रहनेवाले हैं, अतः वे तुम्हारा अनुसरण—तुम्हारी सेवा करेंगे ॥ २२ ॥

यथा पथि तु निष्कान्ते पुत्रशोकैकं पार्थिवः ॥ २३ ॥
श्रमं नावाप्नुयान् किञ्चिदप्रपन्ना तथा कुरु ।

यथा पथि तु निष्कान्ते पुत्रशोकैकं पार्थिवः ॥ २३ ॥
श्रमं नावाप्नुयान् किञ्चिदप्रपन्ना तथा कुरु ।

‘मैं चले जानेपर जिस तरह भी महाराजको पुत्रशोकक कारण कोई विशेष कष्ट न हो, तुम सावधानीके साथ वेशा ही प्रयत्न करना ॥ २३ ॥

शरुणश्चाप्ययं शोको यथैनं न विनाशयेत् ॥ २४ ॥
राशो बृद्धस्य सततं हितं कर समाहिता ।

‘कहीं ऐसा न हो कि यह शरुण शोक इनकी जीवनलाञ्छा ही समाप्त कर डाले । जैसे भी सम्भव हो, तुम सदा सावधान रहकर बृद्ध महाराजके हित-साधनमें लगे रहना ॥ २४ ॥

व्रतोपवासनिरता या नारी परमोत्तमा ॥ २५ ॥
भर्तारं नानुवर्तेत सा च पापगतिर्धवेत् ।

‘उत्कृष्ट गुण और जाति आदिकों दृष्टिसे परम उत्तम तथा व्रत उपवासमें तत्पर होकर भी जो नारी पतिकी सेवा नहीं करती है, उसे पापियोंकी मिलनेवाली गति (नरक आदि) की प्राप्ति होती है ॥ २५ ॥

भर्तुः शुश्रूषया नारी लभते स्वर्गमुत्तमम् ॥ २६ ॥
अपि या निर्ममस्कारा निवृत्ता देवपूजनात् ।

‘जो अन्योन्य देवताओंकी वन्दना और पूजासे दूर रहती है, वह नारी भी केवल पतिकी सेवामार्गमें उत्तम स्वर्गलोकको प्राप्त कर लेती है ॥ २६ ॥

शुश्रूषामैव कुर्वीत भर्तुः प्रियहिने रता ॥ २७ ॥
एष धर्मः स्त्रिया नित्योपदेष्टोके श्रुतः स्मृतः ।

‘अतः नारीको चाहिये कि वह पतिके प्रिय एवं हितसाधनमें तत्पर रहकर सदा उसकी सेवा ही करे, यह स्त्रीका वेद और लोकमें प्रसिद्ध नित्य (सनातन) धर्म है । इसीका श्रुतियों और स्मृतियोंमें भी वर्णन है ॥ २७ ॥

अग्निकार्येषु च सदा सुमनोभिश्च देवताः ॥ २८ ॥
पूज्यास्ते सत्कृते देवि ब्राह्मणाश्चैव सत्कृताः ।

‘देवि । तुम्हें मेरी सत्कृत-कामनासे सदा अग्निहोत्रके अवसरोपर पुष्पोसे देवताओंका तथा सत्कारपूर्वक ब्राह्मणोंका भी पूजन करते रहना चाहिये ॥ २८ ॥

एवं कालं प्रतीक्षस्व ममागमनकाङ्क्षिणी ॥ २९ ॥
नियता नियताङ्गारा भर्तुःशुश्रूषणे रता ।

‘इस प्रकार तुम नियमित आहार करके नियमोंका पालन करती हुई स्वामीकी सेवामें लगे रहो और मेरे आगमनको इच्छा रखकर समयकी प्रतीक्षा करो ॥ २९ ॥

प्राप्यसे परमं कार्यं ययि पर्यागते सति ॥ ३० ॥
यदि धर्मभृता श्रेष्ठो भारयिष्यति जीवितम् ।

‘यदि धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महाराज जीवित रहेंगे तो मैं लौट आनेपर तुम्हारी भी शुभ कामना पूर्ण होगी ॥ ३० ॥

एवमुक्ता तु रामेण बाष्पपयाङ्कुलेक्षणा ॥ ३१ ॥
कौसल्या पुत्रशोकार्ता रामे वचनमब्रवीत् ।

श्रीरामक ऐसा कहनेपर कौसल्याके नेत्रोंमें आँसु छलक आये । वे पुत्रशोकमें पीड़ित होकर श्रीरामचन्द्रजीमें बोली ॥

गमने सुकृतां बुद्धिं न ते शक्नोमि पुत्रक ॥ ३२ ॥
विनिवर्तयितुं वीर नूनं कालो दुरत्ययः ।

‘बेटा । मैं तुम्हारे वनमें आनेके निश्चित विचारको नहीं पलट सकती । वीर ! निश्चय ही कालकी आशाका उल्काघटन करना अत्यन्त कठिन है ॥ ३२ ॥

गच्छ पुत्र त्वमेकाग्रो भद्रं तेऽस्तु सदा विभो ॥ ३३ ॥
पुनस्त्वयि निवृत्ते तु भविष्यामि भतङ्गमा ।

‘सामर्थ्यशाली पुत्र ! अब तुम निश्चित होकर वनको जाओ, तुम्हारा सदा ही कल्याण हो । जब फिर तुम वनमें लौट आओगे, उस समय मेरे सारे क्लेश—सब संताप दूर हो जायेंगे ॥ ३३ ॥

प्रत्यागते महाभागे कृतार्थे चरितव्रते ।
पितुरानुण्यतां प्राप्ते स्वपिथे परमं सुखम् ॥ ३४ ॥

‘बेटा ! जब तुम वनवासका महान् व्रत पूर्ण करके कृतार्थ एवं महान् सौभाग्यशाली होकर लौट आओगे और ऐसा करके पिताके ऋणसे उद्धार हो जाओगे, तभी मैं उत्तम सुखकी नौद सो सकूँगी ॥ ३४ ॥

कृतान्तस्य गतिः पुत्र दुर्विधाव्या सदा भुवि ।
यस्त्वां संचोदयति मे वच आविश्य राघव ॥ ३५ ॥

‘बेटा ! बहुत-बहुन ! इस भूतलपर दैवकी गतिकों समझना बहुत ही कठिन है, जो मेरी बात काटकर तुम्हें वन जानेके लिये प्रेरित कर रहा है ॥ ३५ ॥

गच्छेदानीं महाबाहो क्षेमेण पुनरागतः ।
नन्दयिष्यामि मां पुत्र साग्रा श्लक्षणेन चारुणा ॥ ३६ ॥

‘बेटा ! महाबाहो ! इस समय जाओ, फिर कुशलपूर्वक लौटकर सान्त्वनाभरे मधुर एवं मनोरंजक वचनोंसे मुझे आनन्दित करना ॥ ३६ ॥

अपीदानीं स कालः स्याद् वनात् प्रत्यागतं पुनः ।
यत् त्वां पुत्रक पश्येयं जटावल्कलधारिणम् ॥ ३७ ॥

‘वत्स ! क्या वह समय अभी आ सकता है, जब कि जटा-वल्कल धारण किये वनसे लौटकर आये हुए तुमको फिर देख सकूँगी ॥ ३७ ॥

तथा हि रामं वनवासनिश्चितं
ददर्श देवी परमेण चेतसा ।
उवाच रामं शुभलक्षणं वचो

बभूव च स्वस्त्ययनाभिकारिणी ॥ ३८ ॥
देवी कौसल्याने जब देखा कि इस प्रकार श्रीराम वनवासका दृढ़ निश्चय कर चुके हैं, तब वे परम आदरयुक्त हृदयसे उनका शुभमूचक आशीर्वाद देने और उनके लिये स्वस्तिवाचन करानेकी इच्छा करने लगीं ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽथोध्यकाण्डे चतुर्विंशः सर्गः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके अथोध्यकाण्डमें चौबीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २४ ॥

पञ्चविंशः सर्गः

कौसल्याका श्रीरामकी वनयात्राके लिये मङ्गलकामनापूर्वक स्वस्तिवाचन करना और श्रीरामका उन्हें प्रणाम करके सीताके भवनकी ओर जाना

सा विनीष तपायाममुपस्पृश्य जलं शुचि ।

चकार माता रामस्य मङ्गलानि मनस्विनी ॥ १ ॥

तदनन्तर उस तपस्वीजनक शोकका घनम निकालकर श्रीरामकी मनस्विनी माता कौसल्याने पवित्र जलमें आचमन किया, फिर वे यात्राकालिक मङ्गलकृत्योंका अनुष्ठान करने लगीं ॥ १ ॥

न शक्यसे वारयितुं गच्छंदासीं रघूत्तम ।

शीघ्रं च विनिवर्तस्व वतन्व च सती क्रमे ॥ २ ॥

(इसके बाद वे आशावाद देती हुई बोलतीं—)
रघुकुलभूषण ! अब मैं तुम्हें रोक नहीं सकती, इन समय जाओ, सत्पुरुषोंके मार्गपर स्थिर रहो और शीघ्र ही वनसे लौट आओ ॥ २ ॥

यं पालयसि धर्मं त्वं प्रीत्या च नियमेन च ।

स वै राघवशार्दूल धर्मस्त्वामभिरक्षन्तु ॥ ३ ॥

'रघुकुलमिह ! तुम नियमपूर्वक प्रसन्नताके साथ जिस धर्मका पालन करते हो, वही सब ओरसे तुम्हारे रक्षा करे ॥ ३ ॥

येभ्यः प्रणमसे पुत्र देवेषुयतनेषु च ।

ते च त्वामभिरक्षन्तु वने सह महर्षिभिः ॥ ४ ॥

'वेदा ! देवस्थानों और मन्दिरोंमें जाकर तुम जिसको प्रणाम करते हो वे सब देवता महर्षियोंके साथ वनमें तुम्हारे रक्षा करें ॥ ४ ॥

यानि वृत्तानि तेऽस्त्राणि विश्वमित्रेण धीमता ।

तानि त्वामभिरक्षन्तु गुर्णैः समुदितं सदा ॥ ५ ॥

'तुम सद्गुणोंसे प्रकाशित हो, बुद्धिमान् विश्वामित्रजीने तुम्हें जो-जो अस्त्र दिये हैं वे सब क मय मद मय अन्तर्में तुम्हारी रक्षा करें ॥ ५ ॥

पितृशुश्रूषया पुत्र पातृशुश्रूषया तथा ।

सत्येन च महाबाहो चिरं जीवाभिरक्षितः ॥ ६ ॥

महाबाहु पुत्र ! तुम पिताकी शुश्रूषा, मानाकी सेवा तथा सत्यके पालनसे सुरक्षित होकर चिरंजीवी बने रहो ॥ ६ ॥

समित्कुशपवित्राणि वेद्यश्चायतनानि च ।

स्थण्डिलानि च विप्राणां शैला वृक्षा क्षुपा हृदाः ।

पतङ्गाः पद्मगाः सिंहास्वा रक्षन्तु नरोत्तम ॥ ७ ॥

'नरश्रेष्ठ ! समिधा, कुशा, पवित्रा, वेदिया, मन्दिर, आद्यणोंके देवपूजनस्थानों स्थान, पर्वत, वृक्ष, क्षुप (छापी शाखावाले वृक्ष), जलाशय, पक्षी, सर्प और सिंह वनमें तुम्हारी रक्षा करें ॥ ७ ॥

स्वस्ति साध्याश्च विश्वे च मरुतश्च महर्षिभिः ।

स्वस्ति धाता विधाता च स्वस्ति पूषा भगोऽर्घमा ॥ ८ ॥

साध्य, विश्वेदेव तथा महर्षियोंसहित मरुदण तुम्हारा कल्याण करो धाता और विधाता तुम्हारे लिये मङ्गलकारो हो, पूषा, भग और अर्घमा तुम्हारा कल्याण करें ॥ ८ ॥

लोकपालाश्च ते सर्वे वासवप्रमुखास्तथा ।

ऋतवः षट् च ते सर्वे मासाः संवत्सराः क्षपाः ॥ ९ ॥

दिनानि च भुङ्क्ताश्च स्वस्ति कुर्वन्तु ते सदा ।

श्रुति स्मृतिश्च धर्मश्च पातु त्वां पुत्र सर्वतः ॥ १० ॥

'वे इन्द्र आदि समस्त लोकपाल, छहों ऋतुएँ, सभी मास, संवत्सर रात्रि दिन और भुङ्कते सदा तुम्हारा मङ्गल करो, ऋतु, श्रुति स्मृति और धर्म भी सब ओरसे तुम्हारी रक्षा करें ॥ ९-१० ॥

स्कन्दश्च भगवान् देवः सोमश्च बृहस्पतिः ।

सप्तर्षयो नारदश्च ते त्वां रक्षन्तु सर्वतः ॥ ११ ॥

'भगवान् स्कन्ददेव, सोम, बृहस्पति, सप्तर्षिगण और नारद—ये सभी सब ओरसे तुम्हारे रक्षा करें ॥ ११ ॥

ते चापि सर्वतः सिद्धा दिशश्च सदृगीश्वराः ।

स्तुता यथा वने तस्मिन् पान्तु त्वां पुत्र नित्यशः ॥ १२ ॥

'वेदा ! वे प्रसिद्ध सिद्धगण, दिशाएँ और दिक्पाल भैरी की हुई स्तुतिसं संतुष्ट हो उस वनमें सदा सब ओरसे तुम्हारी रक्षा करें ॥ १२ ॥

शैलाः सर्वे समुद्राश्च राजा वरुण एव च ।

ह्योन्नरिक्षं पृथिवी, वायुश्च सचराचरः ॥ १३ ॥

नक्षत्राणि च सर्वाणि ग्रहाश्च सह दैवतैः ।

अहोरात्रे तथा संध्ये पान्तु त्वां वनमाश्रितम् ॥ १४ ॥

'समस्त पर्वत, समुद्र, राजा वरुण, झुलाक, अन्तरिक्ष पृथिवी, वायु, चराचर प्राणी, समस्त नक्षत्र, देवताओंसहित ग्रह, दिन और रात तथा दोनों संध्याएँ—ये सब-के-सब वनमें जानपर सदा तुम्हारी रक्षा करें ॥ १३-१४ ॥

ऋतवश्चापि षट् चान्ये मासाः संवत्सरास्तथा ।

कलाश्च काष्ठाश्च तथा तव शर्म दिशन्तु ते ॥ १५ ॥

'छः ऋतुएँ, अन्यान्य मास, संवत्सर, कला और काष्ठा—ये सब तुम्हें कल्याण प्रदान करें ॥ १५ ॥

महावनेऽपि वरतो मुनिवेषस्थ धीमतः ।

तथा देवाश्च दैत्याश्च भवन्तु सुखदाः सदा ॥ १६ ॥

'मुनिका वेष धारण करके उस विशाल वनमें विचरते हुए तुझ बुद्धिमान् पुत्रके लिये समस्त देवता और दैत्य सदा सुखदायक हों ॥ १६ ॥

राक्षसानां पिशाचानां रौद्राणां क्रूरकर्मणाम् ।

क्रव्यादानां च सर्वेषां पा घ्नन् पुत्रक ते भयम् ॥ १७ ॥

'वेदा ! तुम्हें भयकर राक्षसों, क्रूरकर्मी पिशाचों तथा

समस्त मांसपक्षी जन्तुओंसे कभी भय न हो ॥ १७ ॥

प्लवगा वृश्चिका दंशा मशकाश्चैव कानने ।

सरीसृपाश्च कीटाश्च भा भूवन् गहने तव ॥ १८ ॥

‘वनमें जो घेदक या चानर, किच्छू, हाँस, भच्छर, पर्वतीय सर्प और कीड़े होते हैं वे उस गहन वनमें तुम्हारे लिये हिंसक न हों ॥ १८ ॥

महाहिपाश्च सिंहाश्च व्याघ्रा आक्षाश्च दंष्ट्रिणः ।

महिषाः मृद्भिणो रौद्रा न ते दुष्टान् पुत्रक ॥ १९ ॥

‘पुत्र ! बड़े-बड़े हाथी, सिंह, व्याघ्र, रौद्र, दाढ़वाले अन्य जीव तथा विशाल सींगवाले भयंकर धैर्य वनमें तुमसे द्रोह न करें ॥ १९ ॥

नृमांसभोजना रौद्रा ये चान्ये सर्वजानयः ।

मा च त्वां हिंसिषुः पुत्र यया सम्पूजितास्त्वह ॥ २० ॥

‘बन्स ! इनके सिवा जो सभी जातियोंमें नरमांसभक्षक भयंकर प्राणी हैं, वे मेरे द्वारा यहाँ पूजित होकर वनमें तुम्हारे हिंसा न करें ॥ २० ॥

आगमास्ते शिवाः सन्तु सिध्यन्तु च पराक्रमाः ।

सर्वसम्पत्तयो राम स्वस्तिमान् गच्छ पुत्रक ॥ २१ ॥

‘बेटा राम ! सभी मार्ग तुम्हारे लिये मङ्गलकारी हों। तुम्हारे पराक्रम सफल हों तथा तुम्हें सब सम्पत्तियाँ प्राप्त होंगी रहीं। तुम सकुशल प्राप्त करो ॥ २१ ॥

स्वस्ति तेऽस्तवान्तरिक्षेभ्यः पार्थिवेभ्य पुन पुनः ॥ २२ ॥

सर्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो ये च ते परिपन्थिनः ॥ २३ ॥

‘तुम्हें आकाशवासी प्राणियोंसे भूतलके जाँत्र-जन्तुओंसे, समस्त देवताओंसे तथा जो तुम्हारे शत्रु हैं, उनमें भी सदा कल्याण प्राप्त होगा रहे ॥ २२ ॥

शुक्रः सोमश्च सूर्यश्च धनदोऽथ यथस्तथा ।

यान्तु त्वामर्चिता राम दण्डकारण्यवासिनम् ॥ २३ ॥

श्रीराम ! शुक्र, सोम, सूर्य, कुबेर तथा यम—ये मुझसे पूजित हो दण्डकारण्यमें निवास करते समय सदा तुम्हारी रक्षा करें ॥ २३ ॥

अग्निर्वायुस्तथा धूमो यन्माश्रयिमुखच्युताः ।

उपस्पर्शनकालं तु यान्तु त्वां रघुनन्दन ॥ २४ ॥

रघुनन्दन ! आग और आचमनके समय अग्नि, वायु, धूम तथा ऋषियोंके मुखसे निकले हुए मन्त्र तुम्हारी रक्षा करें ॥ २४ ॥

सर्वलोकप्रभुर्ब्रह्मा भूतकर्तृ तथर्षयः ।

ये च शेषाः सुगस्ते तु रक्षन्तु वनवासिनम् ॥ २५ ॥

‘समस्त लोकोंके स्वामी ब्रह्मा, जगत्के कर्मणभूत परब्रह्मा, ऋषिगण तथा उनके अतिरिक्त जो देवता हैं, वे सब-के-सब वनवासके समय तुम्हारी रक्षा करें ॥ २५ ॥

इति वाल्मीकिः सुगणान् गन्धर्वापि यशस्विनी ।

स्तुतिभिश्चामुख्यपाधिरानचायतलोचना ॥ २६ ॥

ऐसा कहकर विशाललोचना यशस्विनी रानी कौसल्याने पुष्पमात्र और गन्ध आदि उपचारोंसे तथा अनुकूल स्तुतियोंद्वारा देवताओंका पूजन किया ॥ २६ ॥

ज्वलनं समुपादाय ब्राह्मणेन महात्मना ।

हावघातमास विधिना राममङ्गलकारणात् ॥ २७ ॥

उन्होंने श्रीरामको मङ्गल-कामनासे अग्निको लाकर एक मङ्गल्य ब्राह्मणके द्वारा उभमें विधिपूर्वक होम करवाया । वृत्तं श्वेतानि पाल्यानि समिधश्चैव सर्वपान् ।

उपसम्पादयामास कौसल्या परमाङ्गना ॥ २८ ॥

श्रेष्ठ नारें महारानी कौसल्याने घी, श्वेत पुष्प और माया, समिधा तथा सरसों आदि वस्तुएँ ब्राह्मणके समीप रखवा दीं ॥ २८ ॥

उपाध्यायः स विधिना हुत्वा शान्तिमनामयम् ।

हुनहव्यावशेषेण धातुं बलिमकल्पयत् ॥ २९ ॥

पुण्ड्रितर्जने समस्त उपद्रवोंकी शान्ति और आयोग्यके उद्देश्यमें विधिपूर्वक अग्रिम होम करके हवनसे बचे हुए त्विष्यके द्वारा हाथको घेदीमें बाहर दसों दिशाओंमें इन्द्र आदि लोकपालोंके लिये बलि अर्पित की ॥ २९ ॥

मधुदध्यक्षतर्पणैः स्वस्तिवाच्यं द्विजांस्ततः ।

वाचयामास रामस्य वने स्वस्त्ययनक्रियाम् ॥ ३० ॥

तदनन्तर मन्त्रिवाचनके उद्देश्यमें ब्राह्मणोंको मधु, दही, अक्षत और घृत अर्पित करके ‘वनमें श्रीरामका सदा मङ्गल हो इस कामनासे कौसल्याजीने उन सबसे स्वस्त्ययनसम्बन्धी मन्त्रोंका पाठ करवाया ॥ ३० ॥

ततस्तस्यै द्विजेन्द्राय राममाता यशस्विनी ।

दक्षिणां प्रददौ काव्यी राघवं चेदमब्रवीत् ॥ ३१ ॥

इसके बाद यशस्विनी श्रीराममाताने उन विप्रवर पुण्ड्रितर्जनोंकी उनकी इच्छाके अनुसार दक्षिणा दी और श्राद्धपूनायकोंसे इस प्रकार कहा— ॥ ३१ ॥

यथ्यङ्गलं सहस्राक्षे सर्वदेवनमस्कृते ।

वृत्रनाशे समभवत् तत् ते भवतु मङ्गलम् ॥ ३२ ॥

‘युजामुक्त काश करनके निमित्त सर्वदेवबन्धित सहस्रनेत्रधारी इन्द्रकी जो मङ्गलभय आशीर्वाद प्राप्त हुआ था, वही मङ्गल तुम्हारे लिये भी हो ॥ ३२ ॥

यथ्यङ्गलं सुपर्णस्य विनताकल्पयत् पुरा ।

अमृतं प्रार्थयानस्य तत् ते भवतु मङ्गलम् ॥ ३३ ॥

पूर्वकालमें विनतादेवीने अमृत लानकी इच्छावाले अपने पुत्र गरुडके लिये जो मङ्गलकृत्य किया था, वही मङ्गल तुम्हें भी प्राप्त हो ॥ ३३ ॥

अमृतोत्पादने दैत्यान् घ्नतो वज्रधरस्य यत् ।

अदितिर्मङ्गलं प्रादान् तत् ते भवतु मङ्गलम् ॥ ३४ ॥

‘अमृतकी उत्पत्तिके समय दैत्योंका संहार करनेवाले वज्रधर इन्द्रके लिये माता अदितिने जो मङ्गलभय आशीर्वाद

दिया था, वही मङ्गल तुम्हारे लिये भी सुलभ हो ॥ ३४ ॥
 त्रिविक्रमान् प्रक्रमतो विष्णोरनुलतेजसः ।
 यदासीन्मङ्गलं राम तत् ते भवन् मङ्गलम् ॥ ३५ ॥
 श्रीराम ! तौन पगांको बढ़ाते हुए अनुपम तेजस्वी
 भगवान् विष्णुके लिये जो मङ्गलशस्त्रों को गयी थी, वही
 मङ्गल तुम्हारे लिये भी प्राप्त हो ॥ ३५ ॥
 श्रवयः सागरा द्वीपा वेदा लोका दिशश्च ते ।
 मङ्गलानि महाबाहो दिशन् शुभमङ्गलम् ॥ ३६ ॥
 'महाबाहो ! ऋषि, समुद्र, द्वीप, वेद, समस्त लोक
 और दिशाएँ तुम्हें मङ्गल प्रदान करें। तुम्हारा सदा शुभ
 मङ्गल हो' ॥ ३६ ॥
 इति पुत्रस्य शेषाश्च कृत्वा शिरसि धामिनी ।
 गन्धैश्चापि समालम्ब्य राममायनलोचना ॥ ३७ ॥
 औषधीं च सुसिद्धार्थं विशल्यकरणौ शुभाम् ।
 चकार रक्षां कौसल्या मन्त्रैरभिजजाप च ॥ ३८ ॥
 इस प्रकार आङ्गोवाट देकर विशाललोचना भामिनी
 कौसल्याने पुत्रके मस्तकपर अक्षत रखकर चन्दन और रेश्मे
 लगायी तथा सब मनोरथोंको सिद्ध करनेवाली विशल्यकरण
 नामक शृंग औषधि लेकर रक्षाके उद्देश्यसे मन्त्र भङ्गते हुए
 उसको श्रीरामके हाथमें बाँध दिया; फिर उसमें उत्कर्ष लानेके
 लिये मन्त्रका जप भी किया ॥ ३७-३८ ॥
 उवाचापि प्रहृष्टेव सा दुःस्वप्नशर्वतिनी ।
 वाक्पत्रेण न भावेन वाचा संसज्जमानया ॥ ३९ ॥
 तदनन्तर दुःस्वप्नके अधान हुई कौसल्याने ऊपरसे प्रसन्न-
 माँ होकर मन्त्रोंके स्पष्ट उच्चारण भी किया। उस समय
 वे वाणोमात्रसे ही मन्त्रोच्चारण कर सकीं, हृदयसे नहीं
 (क्योंकि हृदय श्रीरामके वियोगकी सम्भावनासे व्यथित था,
 इसीलिये)। वे खंदमे गड़द लड़खड़ाती हुई वाणमें मन्त्र
 बोल रही थीं ॥ ३९ ॥
 आनम्य मूर्ध्नि चाग्राय परिहृज्य यशस्विनी ।
 अवदत् पुत्रमिष्टार्थो गच्छ राम यथासुखम् ॥ ४० ॥
 अरोगं सर्वसिद्धार्थमयोध्यां पुनरागतम् ।
 पश्यामि त्वां सुखं वत्स संधितं राजवत्सपु ॥ ४१ ॥
 इसके बाद उनके भक्तवक्त्रों कुछ झुकाकर यशस्विनी
 मातानें सूँघा और बेटेको हृदयसे लगाकर कहा—
 वत्स राम ! तुम सफलमनोरथ होकर सुखपूर्वक बनका
 जाओ जब पुणकाम होकर शेरगहन मकुडाल अर्न्तध्यामे
 लौटोगे, उस समय तुम्हें राजमार्गपर स्थित देखकर
 सुखी होऊँगी ॥ ४०-४१ ॥

प्रणष्टुः स्वसंकल्पा हर्षविद्योतितानना ।
 द्रक्ष्यामि त्वां वनान् प्राप्तं पूर्णचन्द्रमिदोदितम् ॥ ४२ ॥
 'उस समय मेरे दुःखपूर्ण संकल्प मिट जायेंगे, मुखपर
 हर्षजलित उल्लास छा जायगा और मैं वनसे आये हुए तुमको
 पूर्णमासीके रातमें उदित हुए पूर्ण चन्द्रमाकी भाँति देखूँगी ॥
 भद्रासनगतं राम वनवासादिहागतम् ।
 द्रक्ष्यामि च पुनस्त्वां तु तीर्णवन्तं पितुर्वधः ॥ ४३ ॥
 श्रीगण ! वनवाससे यहाँ आकर पिताकी प्रतिज्ञाको पूर्ण
 करके जब तुम राजसिंहासनपर बैठोगे, उस समय मैं पुनः
 प्रसन्नतापूर्वक तुम्हारा दर्शन करूँगी ॥ ४३ ॥
 मङ्गलैरुपसम्पन्नो वनवासादिहागतः ।
 वध्वाश्च मम नित्यं त्वं कामान् संवर्धयामि भोः ॥ ४४ ॥
 'अब जाओ और वनवाससे यहाँ लौटकर राजोचित
 मङ्गलमय वस्त्राभूषणोंमें विभूषित हो तुम सदा मेरी बहुत
 संताकों समस्त कामनाएँ पूर्ण करते रहो ॥ ४४ ॥
 पर्यार्क्षिता देवगणाः शिवादयो
 महर्षयो भूतगणाः सुरोरगाः ।
 अभिप्रयातस्य वनं चिराय ते
 हितानि काङ्क्षन्तु दिशश्च राघव ॥ ४५ ॥
 'रघुनन्दन ! मैं सदा जिनका पूजन और सम्मान किया
 है, वे शिव आदि देवता, महर्षि, भूतगण, देवोपम नाग और
 सम्पूर्ण दिशाएँ ये सब-के-सब वनमें जानेपर चिरकालतक
 तुम्हारे हितसाधनको कतमना करते रहें ॥ ४५ ॥
 अतीव चाश्रुप्रतिपूर्णचोलना
 समाप्य च स्वस्थयनं यथाविधि ।
 प्रदक्षिणं चापि चकार राघवं
 पुनः पुनश्चापि निरीक्ष्य सखजे ॥ ४६ ॥
 इस प्रकार माताने नेत्रोंमें अत्यन्त आँसू भरकर
 विधिपूर्वक वह स्वस्तिवाचन कर्म पूर्ण किया। फिर श्रीरामकी
 परिक्रमा की और बारबार उनकी ओर देखकर उन्हें छातीसे
 लगायी ॥ ४६ ॥
 तथा हि देव्या च कृतप्रदक्षिणो
 निपीड्य मातुश्चरणौ पुनः पुनः ।
 जगाध सीतानिलयं महायशः
 स राघवः प्रज्वलितस्तया श्रिया ॥ ४७ ॥
 देवी कौसल्याने जब श्रीरामकी प्रदक्षिणा कर ली, तब
 महायशस्वी रघुनाथजी बारबार माताके चरणोंको दबाकर
 प्रणाम करके माताकी मङ्गलकामनाजनित उत्कृष्ट शोभासे
 सम्पन्न हो सीताजीके मन्त्रको ओर चल दिये ॥ ४७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चविंशः सर्गः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीबाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें पचासवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २५ ॥

षड्विंशः सर्गः

श्रीरामको उदास देखकर सीताका उनसे इसका कारण पूछना और श्रीरामका पिताकी आज्ञासे वनमें जानेका निश्चय बताते हुए सीताको घरमें रहनेके लिये समझाना

अधियाद्य तु कौसल्यां रामः सम्प्रस्थितो वनम् ।

कृतस्वस्त्ययनो मात्रा धर्मिष्ठे धर्म्यनि स्थितः ॥ १ ॥

धर्मिष्ठ मार्गपर स्थित हुए श्रीराम माताद्वारा स्वस्तिवाचन-
कर्म सम्पन्न हो जानेपर कौसल्याको प्रणाम करके वहाँनि
वनके लिये प्रस्थित हुए ॥ १ ॥

विराजयन् राजसुतो राजमार्गं नरैर्वृतम् ।

हृदयान्याममन्येव जनस्य गुणवत्तया ॥ २ ॥

उस समय मनुष्योंकी भीड़से भरे हुए राजमार्गको
प्रकाशित करते हुए राजकुमार श्रीराम अपने सद्गुणोंके कारण
लोगोंके मनको मथने-से लगे (ऐसे गुणवान् श्रीरामको
जनकास दिया जा रहा है, यह मोचकर वहाँके लोगोंका जो
कचोटने लगा) ॥ २ ॥

वैदेही चापि तत् सर्वं न शुभाव तपस्विनी ।

तदेव हृदि तस्याश्च यौवराज्याभिषेचनम् ॥ ३ ॥

तपस्विनी विदेहनन्दिनी सीताने अर्धानक वह सारा हाल
नहीं सुना था उनके हृदयमें यही बात समायी हुई थी कि
मेरे पतिका युवराजपदपर अभिषेक हो रहा होगा ॥ ३ ॥

देवकार्यं स्म सा कृत्वा कृतज्ञा हृष्टचेतना ।

अभिज्ञा राजधर्माणां राजपुत्री प्रतीक्षति ॥ ४ ॥

विदेहराजकुमारी सीता सामयिक कर्तव्यों तथा
राजधर्मोंको जानती थी, अतः देवताओंको पूजा करके
प्रसन्नचित्तसे श्रीरामके आगमनकी प्रतीक्षा कर रही थी ॥ ४ ॥

प्रधिवेशाथ रामस्तु स्ववेश्य सुविभूषितम् ।

प्रहृष्टजनसम्पूणी ह्रिया किञ्चिदवाङ्मुखः ॥ ५ ॥

इतनेमें ही श्रीरामने अपने पलीपीति सजे-सजाये
अन्न पुरमें, जो प्रसन्न मनुष्योंसे घरा हुआ था, प्रवेश किया ।
उस समय लज्जासे उनका मुख कुछ नाचा हो रहा था ॥ ५ ॥

अथ सीता समुत्पत्य धेपयाना च तं पतिम् ।

अपश्यच्छोकसंतप्तं चिन्ताव्याकुलितेन्द्रियम् ॥ ६ ॥

सीता उन्हें देखते ही आसनसे उठकर खड़ी हो गयी ।
उनकी अवस्था देखकर कांपने लगी और चिन्तासे व्याकुल
इन्द्रियोंवाले अपने उन शोकसंतप्त पतिको निहारने लगी ।

तां दृष्ट्वा स हि धर्मात्मा न शशाक मनोगतम् ।

तं शोकं राघवः सोढुं ततो विवृततां गतः ॥ ७ ॥

धर्मात्मा श्रीराम सीताको देखकर अपने मानसिक
शोकका वेग सहन न कर सके, अतः उनका वह शोक प्रकट
हो गया ॥ ७ ॥

विवर्णवदनं दृष्ट्वा तं प्रस्विन्नममर्षणम् ।

आह दुःखाधिसंतप्ता किमिदानीमिदं प्रभो ॥ ८ ॥

उनका मुख उदास हो गया था । उनके अङ्गोंसे पसीना
निकल रहा था वे अपने शोकको टबाये रखनेमें असमर्थ
हो गये थे । उन्हें इस अवस्थामें देखकर सीता दुःखसे संतप्त
हो उठी और बोली— 'प्रभो ! इस समय यह आपकी कैसी
दशा है ? ॥ ८ ॥

अद्य बार्हस्पतः श्रीमान् युक्तः पुष्येण राघव ।

प्राच्यते ब्राह्मणैः प्राज्ञैः केन त्वमसि दुर्मनाः ॥ ९ ॥

रघुनन्दन ! आज बृहस्पति देवता-सम्बन्धी मङ्गलमय
पुष्यनक्षत्र है, जो अभिषेकके योग्य है । उसका पुष्यनक्षत्रके
योगमें विद्वान् ब्राह्मणोंने आपका अभिषेक बताया है । ऐसे
समयमें जब कि आपको प्रसन्न होना चाहिये था, आपका
मन इतना उदास क्यों है ? ॥ ९ ॥

न ते हानशलाकेन जलफेननिघ्नेन च ।

आवृते वदनं वल्गुं छत्रेणाधिविराजते ॥ १० ॥

मैं देखती हूँ, इस समय आपका मनोहर मुण्ड
जलके फेनके समान उज्ज्वल तथा सौ तालियोंवाले
छत्रसे आच्छादित नहीं है, अतएव अधिक शोभा
नहीं पा रहा है ॥ १० ॥

व्यजनाभ्यां च मुख्याभ्यां शतपत्रनिधेक्षणम् ।

चन्द्रहंसप्रकाशाभ्यां वीज्यते न तवाननम् ॥ ११ ॥

'कमल' जैसे सुन्दर नेत्र धारण करनेवाले आपके इस
मुखपर चन्द्रमा और हंसके समान श्वेत वर्णवाले दो श्रेष्ठ
चैवरीद्वार हवा नहीं की जा रही है ॥ ११ ॥

धामिनो वन्दिनश्चापि प्रहृष्टास्त्वो नरर्षभ ।

स्तुवन्तो नाद्य दृश्यन्ते मङ्गलैः सूतयागधाः ॥ १२ ॥

'नरश्रेष्ठ ! प्रवचनकुशल वन्दी, सूत और मागधजन
आज अत्यन्त प्रसन्न हो अपने माङ्गलिक वचनोंद्वारा आपकी
स्तुति करते नहीं दिखायी देते हैं ॥ १२ ॥

न ते क्षौद्रं च दधि च ब्राह्मणा वेदपारगाः ।

मूर्ध्नि भूर्धाधिविक्तस्य ददति स्म विधानतः ॥ १३ ॥

'वेदांक पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मणोंने आज मूर्धाधिविक्त हुए
आपके मस्तकपर तोंधोंदिक्कामिश्रित मधु और दधिका विधि-
पूर्वक अभिषेक नहीं किया ॥ १३ ॥

न त्वां प्रकृतयः सर्वाः श्रेणीमुख्याश्च भूषिताः ।

अनुव्रजितुमिच्छन्ति पौरजानपदस्तथा ॥ १४ ॥

'मन्त्रो-सनापति आदि सारी प्रकृतियाँ, सखाभूषणोंसे
विभूषित मुख्य-मुख्य सैठ-साहूकार तथा नगर और
जनपदके लोग आज आपके पीछे पीछे चलनेकी इच्छा नहीं
कर रहे हैं । (इसका क्या कारण है ?) ॥ १४ ॥

चतुर्विंशसम्पन्नैर्हवैः काञ्चनभूषणैः ।

मुख्यः पुष्परथो युक्तः किं न गच्छन्ति तेऽग्रतः ॥ १५ ॥

‘सुनहरे साज-बाजसे सजे हुए चार वंगशाली घोड़ोंसे जुता हुआ श्रेष्ठ पुष्परथ (पुष्पभूषित केवल धमणापयोगी रथ) आज आपके आगे-आगे क्यों नहीं चल रहा है ? ॥

न हस्ती चाम्रतः श्रीमान् सर्वलक्षणपूजितः ।

प्रयाणे लक्ष्यते वीर कृष्णपेद्यगिरिप्रभः ॥ १६ ॥

‘वीर ! आपकी यात्राके समय समस्त शुभ लक्षणोंसे प्रशंसित तथा कान्ते मेघवाले पवनके समान विशालकाय तैजस्वी गजराज आज आपके आगे क्यों नहीं दिखायी देता है ? ॥ १६ ॥

न च काञ्चनचित्रं ते पश्यामि प्रियदर्शन ।

भद्रासने पुरस्कृत्य यान्तं वीर पुरःसरम् ॥ १७ ॥

प्रियदर्शन वीर ! आज आपके सुवर्णजटित भद्रासनको सादर हाथमें लेकर अग्रगामी संवक आगे जाता क्यों नहीं दिखायी देता है ? ॥ १७ ॥

अभिषेको यदा सज्जः किमिदानीमिदं तव ।

अपूर्वो मुखवर्णश्च न प्रहर्षश्च लक्ष्यते ॥ १८ ॥

‘जब अभिषेक्का सारी तैयारी हो चुकी है, ऐसे समयमें आपकी यह क्या दशा हो रही है ? आपके मुखकी कान्ति ठड़ गयी है। ऐसा पहले कभी नहीं हुआ था। आपके चेहरेपर प्रसन्नताका कोई चिह्न नहीं दिखायी देता है। इसका क्या कारण है ? ॥ १८ ॥

इतीव विलपन्ती तां प्रोवाध रघुनन्दनः ।

सीते तत्रभवांस्तातः प्रव्राजयति मां वनम् ॥ १९ ॥

इस प्रकार विलाप करती हुई सीतासे रघुनन्दन आरामसे कहा— सीते ! आज पूज्य पिताजी भुङ्गे वनमें भेज रहे हैं ॥

कुले महति सम्भृते धर्मज्ञे धर्मचारिणि ।

शृणु जानकि येनेदं क्रमेणाद्यागतं मम ॥ २० ॥

महान् कुलर्म उत्पन्न, धर्मको जन्मनेवाली तथा धर्मपरायणे जनकनन्दिनि ! जिस कारण यह वनवास आज भुङ्गे प्राप्त हुआ है, वह क्रमशः बताता हूँ, सुनो ॥ २० ॥

राजा सत्यप्रतिज्ञेन पित्रा दशरथेन वै ।

कैकेय्यै मम मात्रे तु पुरा वृत्ता महावरी ॥ २१ ॥

‘मेरे सत्यप्रतिज्ञ पिता महाराज दशरथने माता कैकेय्यको पहले कभी दो महान् कर दिये थे ॥ २१ ॥

तयाद्य मम सज्जोऽस्मिन्निधिवेके नृपोद्यते ।

प्रचोदितः स समयो धर्मेण प्रतिनिर्जितः ॥ २२ ॥

हृद्यर जब महाराजके उद्योगसे मेरे राज्यनिधिवेकका तैयारी होने लगी, तब कैकेय्यने उस वरदानकी प्रतिज्ञाको याद दिलाया और महाराजको धर्मनः अपने कावुमें कर लिया ॥

चतुर्दश हि वर्षाणि वस्तव्यं दण्डके भया ।

पित्रा मे भरतश्चापि यौवराज्ये नियोजितः ॥ २३ ॥

‘इससे विवश होकर पिताजीने भरतको तो युवराजके पदपर नियुक्त किया और मर लिये दूसरा वर स्वीकार किया जिसके अनुसार भुङ्गे चौदह वर्षावक दण्डकारण्यमें निवास करना होगा ॥ २३ ॥

सोऽहं स्वामागतो ब्रह्मं प्रस्थितो विजने वनम् ।

भरतस्य समीपे ते नाहं कथ्यः कदाचन ॥ २४ ॥

ऋद्धियुक्ता हि पुरुषा न सहन्ते परस्तवम् ।

तस्मान्न ते गुणा, कथ्या भरतस्याग्रतो मम ॥ २५ ॥

इस समय मैं निर्जन वनमें जानेके लिये प्रस्थान कर चुका हूँ और तुमसे मिलनेके लिये यहाँ आया हूँ। तुम भरतके समीप क्यों मेरी प्रशंसा न करना, क्योंकि ऋद्धिगाली पुरुष दूसरकी स्तुति नहीं सहन कर पाते हैं। इसीलिये कहता हूँ कि तुम भरतके सामने मेरे गुणोंकी प्रशंसा न करना ॥ २४-२५ ॥

अहं ते नानुवक्तव्यो विशेषेण कदाचन ।

अनुकूलनया शक्यं सर्मापे तस्य वर्तितुम् ॥ २६ ॥

विशेषतः तुम्हें भरतके समक्ष अपनी सखियोंके साथ भी वपेवर मेरी खर्चा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि उनके मनके अनुकूल बर्ताव करके ही तुम उनके निकट रह सकती हो ॥ २६ ॥

तस्मै दत्तं नृपतिना यौवराज्यं सनातनम् ।

स प्रसाद्यस्त्वया सीते नृपतिश्च विशेषतः ॥ २७ ॥

‘सीते ! राजाने उन्हें सदाके लिये युवराज्यपद दे दिया है, इसलिये तुम्हें विशेष प्रयत्नपूर्वक उन्हें प्रसन्न रखना चाहिये क्योंकि अब वे ही राजा होंगे ॥ २७ ॥

अहं चापि प्रतिज्ञां तां गुरोः समनुपालयन् ।

वनमर्द्यव चास्थामि स्थिरीभव मनस्विनि ॥ २८ ॥

‘मैं भी पिताजीकी उस प्रतिज्ञाका पालन करनेके लिये आज ही वनको चला जाऊँगा। मनस्विनि ! तुम धैर्य धारण करके रहना ॥ २८ ॥

याते च भयि कल्याणि वनं मुनिनिषेक्षितम् ।

ब्रतोपवासपरया भवितव्यं त्वयानघे ॥ २९ ॥

‘कल्याणि ! निष्याप सीते ! मेरे मुनिजनसेवित वनको चल जानेपर तुम्हें प्रायः व्रत और उपवासमें संलग्न रहना चाहिये ॥ २९ ॥

कल्पमुत्थाय देवानां कृत्वा पूजां यथाविधि ।

वन्दितव्यो दशरथः पिता मम जनेश्वरः ॥ ३० ॥

‘प्रतिदिन सबेरे उठकर देवताओंकी विधिपूर्वक पूजा करके तुम्हें मेरे पिता महाराज दशरथकी वन्दना करनी चाहिये ॥ ३० ॥

माता च मम कौसल्या वृद्धा संतापकर्षिता ।

धर्ममेवाग्रतः कृत्वा स्वनः सम्मानमर्हति ॥ ३१ ॥

‘मेरी माता कौसल्याकी भी प्रणाम करना चाहिये एक

नो वे बूढ़ो हुई, दूसरे दुःख और संतापने उन्हें दुर्बल कर दिया है, अतः धर्मको ही सामने रखकर तुमसे वे विशेष सम्मान पानेके योग्य हैं ॥ ३१ ॥

वन्दितव्याश्च ते नित्यं याः शेषा मम मातरः ।

स्नेहप्रणयसम्भोगैः सया हि मम मातरः ॥ ३२ ॥

‘जो मेरी शेष माताएँ हैं, उनके चरणोंमें भी तुम्हें प्रतिदिन प्रणाम करना चाहिये क्योंकि स्नेह, उत्कृष्ट प्रेम और पालन-पोषणकी दृष्टिसे मर्धा मताएँ मेरे लिये ममम् हैं ॥ ३२ ॥

भ्रातृपुत्रसभी चापि द्रष्टव्या च विशेषतः ।

त्वया भरतशत्रुघ्नौ प्राणौः प्रियतरौ मम ॥ ३३ ॥

‘भरत और शत्रुघ्न मुझे प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय हैं, अतः तुम्हें उन दोनोंको विशेषतः अपने भाई और पुत्रके सम्मान देखना और मानना चाहिये ॥ ३३ ॥

विप्रियं च न कर्तव्यं भरतस्य कदाचन ।

स हि राजा च वैदेहि देशस्य च कुलस्य च ॥ ३४ ॥

‘विदेहनान्दिनि! तुम्हें भरतको इच्छाके विरुद्ध कोई काम नहीं करना चाहिये; क्योंकि इस समय वे मेरे देश और कुलके राजा हैं ॥ ३४ ॥

आराधिता हि शीलेन प्रयत्नैश्चोपमेविताः ।

राजानः सम्प्रसीदन्ति प्रकुप्यन्ति विपर्यये ॥ ३५ ॥

‘अनुकूल आचरणके द्वारा आराधना और प्रयत्नपूर्वक सेवा करनेपर राजा लोग प्रसन्न होते हैं तथा विपरीत बर्ताव करनेपर वे कुपित हो जाते हैं ॥ ३५ ॥

और्गम्यानपि पुत्रान् हि त्वजन्यहितकारिणः ।

समर्थान् सम्प्रगृह्णन्ति जनानपि नराधिपाः ॥ ३६ ॥

‘जो अहित करनेवाले हैं वे अपने औरस पुत्र ही क्यों न हों, राजा उन्हें त्याग देते हैं और आत्माय न होनेपर भी जो सामर्थ्यावान् होते हैं, उन्हें वे अपना बना लेते हैं ॥ ३६ ॥

सा त्वं वसंह कल्याणि राज्ञः समनुवर्तिनी ।

भरतस्य रत्ना धर्म सत्यव्रतपरायणा ॥ ३७ ॥

‘अतः कल्याणि! तुम राजा भरतके अनुकूल बर्ताव करती हुई धर्म तथा सत्यव्रतमें तत्पर रहकर यहाँ निवास करो ॥ ३७ ॥

अहं गमिष्यामि महावनं प्रिये

त्वया हि वस्तव्यमिहैव भाषिनि ।

यथा व्यलीकं कुरुषे न कस्यचित्-

तथा त्वया कायमिदं वचो मम ॥ ३८ ॥

‘प्रिये! अब मैं इस विमान वनमें चला जाऊँगा भाषिनि! तुम्हें यहाँ निवास करना होगा। तुम्हारे बर्तावसे किन्तुका कष्ट न हो इसका ध्यान राखते हुए तुम्हें यहाँ मेरी इस आज्ञाका पालन करते रहना चाहिये ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽथोऽध्याकाण्डे षड्विंशः सर्गः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिनाटक अथाध्याकाण्डमें छव्यासर्ग पूरा हुआ ॥ २६ ॥

★ —

सप्तविंशः सर्गः

सीताकी श्रीरामसे अपनेको भी साथ ले चलनेके लिये प्रार्थना

एवमुक्ता तु वैदेही प्रियार्हा प्रियवादिनी ।

प्रणयादेव सकृद्धा भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर प्रियवादिनी विदेहकुमारन मीताजी, जो सब प्रकारसे अपने स्वामीका प्यार पानेयोग्य थीं, प्रेमसे ही कुछ कुपित होकर पतिसे इस प्रकार बोलीं— ॥ १ ॥

किमिदं भाषसे राम वाक्यं लघुतया ध्रुवम् ।

त्वया यदपहास्यं मे श्रुत्वा नरवरोत्तम ॥ २ ॥

‘नरश्रेष्ठ श्रीराम! आप मुझे ओंछी समझकर यह क्या कह रहे हैं? आपका ये बातें सुनकर मुझे बहुत हैसो आती है ॥ २ ॥

वीराणां राजपुत्राणां शस्त्रास्त्रविदुषां नृप ।

अनहंभयशस्यं च न श्रोतव्यं त्वयेरितम् ॥ ३ ॥

‘नरेश्वर! आपने जो कुछ कहा है, वह अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता वीर राजकुमारोंके योग्य नहीं है। वह अपयशका टीका लगानेवाला होनेके कारण सुननेयोग्य भी नहीं है ॥ ३ ॥

आर्यपुत्र पिता माता भ्राता पुत्रस्तथा स्नुषा ।

स्वानि पुण्यानि भुञ्जानाः स्वं स्वं भाग्यमुपासते ॥ ४ ॥

‘आर्यपुत्र! पिता, माता, भाई, पुत्र और पुत्रवधू—ये सब पुण्यादि कर्मोंका फल भागते हुए अपने-अपने भाग्य (शुभाग्भ कर्म) के अनुसार जीवन-निवाह करते हैं ॥ ४ ॥

भर्तुर्भाग्यं तु नार्यका प्राप्नोति पुरुषर्षभ ।

अतश्चैवाहमादिष्टा वने वस्तव्यमित्यपि ॥ ५ ॥

‘पुरुषप्रवर! केवल पत्नी ही अपने पतिके भाग्यका अनुसरण करती है, अतः आपके साथ ही मुझे भी वनमें रहनेकी आज्ञा मिल गयी है ॥ ५ ॥

न पिता नात्मजो वात्मा न माता न सखीजनः ।

इह प्रेन्य च नारीणां पतिरेको गतिः सदा ॥ ६ ॥

‘नारियोंके लिये इस लोक और परलोकमें एकमात्र पति ही सदा आश्रय देनेवाला है। पिता, पुत्र, माता, सखियाँ तथा अपना यह शरीर भी ठसका सच्चा सहायक नहीं है ॥ ६ ॥

यदि त्वं प्रस्थितो दुर्गं वनमद्यैव राघव ।

अग्रतस्ते गमिष्यामि मृदन्ती कुशकण्टकान् ॥ ७ ॥

रघुनन्दन ! यदि आप आज हो दुर्गम वनका ओर प्रस्थान कर रहे हैं तो मैं रास्तेके कुछ और कट्टोंको कुचलतो हुई आपके आगे-आगे चलूँगी ॥ ७ ॥

इष्ट्या रोषं बहिष्कृत्य भुक्तशेषमिवोदकम् ।

नय मां वीर विस्मयः पापे मयि न विद्यते ॥ ८ ॥

‘अतः वीर ! आप इष्ट्या^१ और रोषको^२ दूर करके पीनसे^३ बचे हुए जलकी भाँति मुझे निश्चिन्त होकर साथ ल चलिये । मुझमें ऐसा कोई पाप—अपराध नहीं है, जिसके कारण आप मुझे यहाँ त्याग दें ॥ ८ ॥

प्रासादाग्रे विमानैर्वा वैशाखसगनेन वा ।

सर्वावस्थागता धनुः पादच्छाया विशिष्यते ॥ ९ ॥

‘ऊँचे-ऊँचे महलोंमें रहना, विमानोंपर चढ़कर घूमना अथवा अणिमा आदि सिद्धियोंके द्वारा आकाशमें विचरना—इन सबकी अपेक्षा स्त्रियोंके लिये सभी अवस्थाओंमें पतिक चरणोंकी छायामें रहना विशेष मङ्गल रखता है ॥ ९ ॥

अनुशिष्टास्मि मात्रा च पित्रा च विविधाश्रयम् ।

नास्मि सम्प्रति वक्तव्या वर्तितव्यं यथा मया ॥ १० ॥

‘मुझे किसके साथ कैसा वताव करना चाहिये, इस विषयमें मेरी माता और पितान मुझे अनक प्रकारसे शिक्षा दी है । इस समय इसके विषयमें मुझे कोई उपदेश देनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ १० ॥

अहं दुर्गं गमिष्यामि वनं पुरुषवर्जितम् ।

नानापुगगणाकीर्णं शार्दूलगणसेवितम् ॥ ११ ॥

‘अतः नाना प्रकारके अन्य पशुओंसे व्याप्त तथा सिंहों और ज्वालोंसे सेवित उस निर्जन एवं दुर्गम वनमें मैं अवश्य चलूँगी ॥ ११ ॥

सुखं वने निवस्यामि यथैव धवने पितुः ।

अधित्तयन्ती त्रील्लोकांश्चिन्नघन्ती पतिव्रतम् ॥ १२ ॥

‘मैं तो जैसे अपने पिताके घरमें रहती थी, उसी प्रकार उस वनमें भी सुखपूर्वक निवास करूँगी । वहाँ तीनो लोकोंके ऐश्वर्यको भी कुछ न समझती हुई मैं सदा पानव्रत धर्मका चिन्तन करती हुई आपकी सेवामें लगी रहूँगी ॥ १२ ॥

शुश्रूषमाणा ते नित्यं नियता ब्रह्मचारिणी ।

सह रस्ये त्वया वीर वनेषु मधुगन्धिषु ॥ १३ ॥

‘वीर ! नियमपूर्वक रहकर ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करूँगी और सदा आपकी सेवामें तत्पर रहकर आपहोंक साथ मोली-मोली सुगन्धसे भरे हुए वनोंमें विचरूँगी ॥ १३ ॥

त्वं हि कर्तुं वने शक्नो राम सम्परिपालनम् ।

अन्यस्यापि जनस्यहं किं पुनर्मम मानद ॥ १४ ॥

‘दूसरोंको मान देनवाले श्रीराम ! आप तो वनमें रहकर दूसरे स्त्रियोंकी भी रक्षा कर सकते हैं, फिर मेरी रक्षा करना आपके लिये कौन बड़ा काम है ? ॥ १४ ॥

साहं त्वया गमिष्यामि वनमद्य न संशयः ।

नाहं शक्या महाभाग निवर्तयितुमुद्यता ॥ १५ ॥

‘महाभाग ! अतः मैं आपके साथ आज अवश्य वनमें चलूँगी । इसमें संशय नहीं है । मैं हर तरह चलनेकी तैयार हूँ । मुझे किसी तरह भी रोका नहीं जा सकता ॥ १५ ॥

फलभूलाशना नित्यं भक्षिष्यामि न संशयः ।

न ते दुःखं करिष्यामि निवसन्ती त्वया सदा ॥ १६ ॥

‘वहाँ बलवत् मैं आपको कोई कष्ट नहीं दूँगी, सदा आपके साथ रहूँगी और प्रतिदिन फल मूल खाकर ही निर्वाह करूँगी । मेरे इन कथनमें किसी प्रकारके भद्देहके लिये स्थान नहीं है ॥ १६ ॥

अग्रतस्ते गमिष्यामि भोक्ष्ये भुक्तवति त्वयि ।

इच्छामि परतः शैलान् पल्लवतानि सरोमि च ॥ १७ ॥

इष्टुं सर्वत्र निर्भोता त्वया नाथेन धीमता ।

आपके आगे-आगे चलूँगी और आपके भोजन कर लेनेपर जो कुछ बचेगा उसे ही खाकर रहूँगी । प्रभो ! मेरी बड़ी इच्छा है कि मैं आप बुद्धिमान् प्राणनाथके साथ निर्भय हो वनमें सर्वत्र घूमकर पर्वतों छोट-छोट तालाबों और सरोवरोंको देखूँ । ॥ १७ ॥

हमकारण्डवाकीर्णाः पद्मिनीः साधुपुष्पिताः ॥ १८ ॥

इच्छेयं सुखिनी ब्रह्म त्वया वीरेण संगता ।

‘आप मेरे वीर स्वामी हैं । मैं आपके साथ रहकर मुखपूर्वक उन सुन्दर सरोवरोंकी शोभा देखना चाहती हूँ, जो श्रेष्ठ कमलपुष्पोंसे सुशोभित हैं तथा जिनमें हंस और कारण्डव आदि पक्षी भरे रहते हैं ॥ १८ ॥

अभिषेकं करिष्यामि तामु नित्यमनुव्रता ॥ १९ ॥

सह त्वया विशालाक्ष रस्ये परमनन्दिनी ।

विशाल नेत्रवाले आर्यपुत्र ! आपके चरणोंमें अनुरक्त रहकर मैं प्रतिदिन उन सरोवरोंमें स्नान करूँगी और आपको साथ वहाँ मद्य और विचरूँगी, इससे मुझे परम आनन्दका अनुभव होगा ॥ १९ ॥

एवं वर्षसहस्राणि शतं वापि त्वया सह ॥ २० ॥

व्यतिक्रमं न वेत्स्यामि स्वर्गोऽपि हि न मे मतः ।

१. श्री होकर यह वनमें जानेका भावस कैसे करती है ? इस विचारमें इष्ट्या होती है

२. यह मेरी जान नहीं मान रहा है । यह मानकर मेरा प्रकट होता है । इन शब्दोंका त्याग अपेक्षित है ।

३. जैसे किसी जलहीन बंजर पथमें स्त्रियाँ अपने पीनसे बचे हुए पानीको साथ ल चलते हैं, उसी प्रकार मुझे भी आप साथ ले चलें—यह सीताका अनुरोध है ।

‘इस तरह सैकड़ों या हजारों वर्षोंतक धीरे यदि आपके साथ रहनेका सौभाग्य मिले तो मुझे कभी कष्टका अनुभव नहीं होगा। यदि आप साथ न हों तो मुझे स्वर्गलोककी प्राप्ति भी अभीष्ट नहीं है ॥ २० ॥

स्वर्गेऽपि च विना वासो भविता यदि राघव ।
त्वया विना नरध्याय नाहं तदपि रोधये ॥ २१ ॥

‘पुरुषसिंह रघुनन्दन ! आपके बिना यदि मुझे स्वर्गलोकका निवास भी मिल रहा हो तो यह मेरे लिये रुचिकर नहीं हो सकता मैं उसे लेना नहीं चाहूँगी ॥ २१ ॥

अहं गमिष्यामि वने सुदुर्गमं
मृगायुतं वानरवारणैश्च ।
वने निवसामि यथा पितुर्गृहे
तवैव पादावुपगृह्य सम्पता ॥ २२ ॥

‘प्राणनाथ ! अतः उस अत्यन्त दुर्गम वनमें, जहाँ सहस्रों मृग, वानर और हाथी निवास करते हैं, मैं अवश्य चलूँगी और आपके ही घरणोंकी सेवामें रहकर आपके अनुकूल चलती हुई उस वनमें उसी तरह सुखमें रहूँगी जैसे पिताक घरमें रहा करती थी ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तविंशः सर्गः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यसामयण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें सनाईसर्वा सर्ग पूरा हुआ ॥ २७ ॥

अष्टाविंशः सर्गः

श्रीरामका वनवासके कष्टका वर्णन करते हुए सीताको वहाँ चलनेसे मना करना

स एवं ह्यवतीं सीतां धर्मज्ञां धर्मवत्सलः ।
न नेतुं कुरुते बुद्धिं वने दुःखानि चिन्तयन् ॥ १ ॥

धर्मको जाननेवाली सीताके इस प्रकार कहनेपर भी धर्मवत्सल श्रीरामने वनमें होनेवाले दुःखोंको सोचकर उन्हें साथ ले जानेका विचार नहीं किया ॥ १ ॥

सान्त्वयित्वा ततस्तां तु वाच्यदूषितलोचनाम् ।
निवर्तनार्थे धर्मात्मा वाक्यमेतदुवाच ह ॥ २ ॥

सीताके नेत्रोंमें आँसू भर हुए थे। धर्मात्मा श्रीराम उन्हें वनवासके विचारसे निवृत्त करनेके लिये सान्त्वना देते हुए इस प्रकार बोले— ॥ २ ॥

सीते महाकुलीनासि धर्मं च निरता सदा ।
इहात्वरत्न धर्मं त्वं यथा मे मनसः सुखम् ॥ ३ ॥

‘सीते ! तुम अत्यन्त उत्तम कुलमें उत्पन्न हुई हो और सदा धर्मके आचरणमें ही लगी रहती हो; अतः यहाँ रहकर धर्मका पालन करो, जिससे मेरे मनको संतोष हो ॥ ३ ॥

सीते यथा त्वां वक्ष्यामि तथा कार्यं त्वयाचले ।
वने दोषा हि बहवो वसतस्तान् निबोध मे ॥ ४ ॥

‘सीते ! मैं तुमसे जैसा कहूँ, वैसा ही करना तुम्हारा कर्तव्य है। तुम अचल हो, वनमें निवास करनेवाले

अनन्यभावामनुरक्तचेतसं

त्वया वियुक्तां धरणाय निश्चिताम् ।

नयस्व मां साधु कुरुषु वाचनां

नातो मया ते गुस्ता भविष्यति ॥ २३ ॥

‘मेरे हृदयका सम्पूर्ण प्रेम एकमात्र आपको ही अर्पित है, आपके सिवा और कहीं मेरा मन नहीं जाना, यदि आपसे वियोग हुआ तो निश्चय ही मेरी मृत्यु हो जायगी। इसलिये आप मेरे वाचना सफल करें, मुझे साथ लें चले, यहाँ अच्छा होगा, मेरा रहनेसे आपपर कोई भार नहीं पड़ेगा’ ।

तथा ह्युवाणापि धर्मवत्सलां

न च स्म सीतां नुवरो निनीषति ।

उवाच र्जनो बहु संनिवर्तने

वने निवासस्य च दुःखितां प्रति ॥ २४ ॥

धर्ममें अनुरक्त रहनेवाली सीताके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर भी नरश्रेष्ठ श्रीरामका उन्हें साथ ले जानेकी इच्छा नहीं हुई वे उन्हें वनवासके विचारमें निवृत्त करनेके लिये वर्र्किक कष्टोंका अनेक प्रकारसे विस्तारपूर्वक वर्णन करने लगे ॥ २४ ॥

मन्यन्ते बहून् मे दोषा प्राप्ता होते हैं, उन्हें बता रहा हूँ, मुझसे सुनो ॥ ४ ॥

सीते विमुच्यतामेषा वनवासकृता मतिः ।
बहुदोषं हि कान्तारं वनमित्यभिधीयते ॥ ५ ॥

‘सीते ! वनवासके लिये धलनेका यह विचार छोड़ दो, वनको अनेक प्रकारके दोषोंसे व्याप्त और दुर्गम बताया जाता है ।

हितबुद्ध्या खलु वयो मर्यादभिधीयते ।
सदा सुखं न जानामि दुःखमेव सदा वनम् ॥ ६ ॥

‘तुम्हारे हितकी भावनामें ही मैं ये सब बातें कह रहा हूँ। जहाँतक मेरी जानकारी है, वनमें सदा सुख नहीं मिलता। वहाँ तो सदा दुःख ही मिलता करता है ॥ ६ ॥

गिरिनिर्झरसम्भृता गिरिनिर्दरिवासिनाम् ।
मिहानां निनदा दुःखाः श्रोतुं दुःखमतो वनम् ॥ ७ ॥

‘पर्वतोंमें गिरनेवाले झरनोंके शब्दको सुनकर उन पर्वतोंकी कन्दराओंमें रहनेवाले सिंह दहाड़ने लगते हैं। उनको वह गर्जना सुनकर बड़ी दुःखदायिनी प्रतीत होती है, इसलिये वन दुःखमय ही है ॥ ७ ॥

क्रीडमानाश्च विस्रज्या मत्ताः शून्ये तथा मृगाः ।
दृष्ट्वा सपथिवर्तने सीते दुःखमतो वनम् ॥ ८ ॥

सीते ! मुने वनमें निर्धन होकर ज़ोंडा करनेवाले मतवाले जंगली पशु मनुष्यको देखते ही उसपर चारों ओरसे दूट पड़ते हैं; अतः वन दुःखसे भरा हुआ है ॥ ८ ॥

सप्राहाः सरितश्चैव पङ्कवत्यस्तु दुस्तराः ।
भूतैरपि गर्जेर्नित्यमतो दुःखतरं वनम् ॥ ९ ॥

‘वनमें जो नदियाँ होती हैं, उनके घाँवर प्राण निवास करने हैं, उनमें कोचड़ अधिक होनेके कारण उन्हें पार करना अत्यन्त कठिन होता है । इसके सिवा वनमें मतवाले हाथी सदा घूमते रहते हैं । इस सब कारणोंसे वन बहुत ही दुःखदायक होता है ॥ ९ ॥

लताकण्टकसंकीर्णाः कृकवाकूपनादिताः ।
निरपाश्च सुदुःखाश्च मार्गा दुःखमतो वनम् ॥ १० ॥

वनके मार्ग लताओं और काँटोंसे भरे रहते हैं । वहाँ जंगली मुँगे खोला करते हैं, उन मार्गोंपर चलनेमें बड़ा कष्ट होता है तथा वहाँ आस-पास जल नहीं मिलता, इससे वनमें दुःख-हीन-दुःख है ॥ १० ॥

मुष्यते पर्णशय्यासु स्वयंभद्रासु धूलले ।
रात्रिषु श्रमखिन्नं तस्माद् दुःखमतो वनम् ॥ ११ ॥

‘दिनभरके परिश्रमसे थके-माँटे मनुष्यको रातमें जमीनके ऊपर अपने-आप गिरे हुए सूखे पत्तों के बिछौनेपर सोना पड़ता है, अतः वन दुःखसे भरा हुआ है ॥ ११ ॥

अहोरात्रं च संतोषः कर्तव्यो नियतात्मना ।
फलैर्वृक्षावपलितैः सीते दुःखमतो वनम् ॥ १२ ॥

‘सीते ! वहाँ मनको बशमें रखकर वृक्षोंसे स्वतः गिरे हुए फलोंके आहारपर ही दिन-रात संतोष करना पड़ता है, अतः वन दुःख देनेवाला ही है ॥ १२ ॥

उपवासश्च कर्तव्यो यथा प्राणेन मैथिलि ।
जटाधारश्च कर्तव्यो वत्कलाभरधारणम् ॥ १३ ॥

‘मिथिलेशकुमारी ! अपनी शक्तिके अनुसार उपवास करना, सिरपर जटाका भार होना और वत्कला वस्त्र धारण करना—यही जहाँकी जीवनशैली है ॥ १३ ॥

देवतानां पितृणां च कर्तव्यं विधिपूर्वकम् ।
प्राप्तानामर्पितधीनां च नित्यं प्रतिपूजनम् ॥ १४ ॥

‘देवताओंका, पितरोंका तथा आये हुए अतिथियोंका प्रतिदिन शास्त्रानुसृतिके अनुसार पूजन करना—यह वनवासीका प्रधान कर्तव्य है ॥ १४ ॥

कार्यस्त्रिभिर्वेकश्च काले काले च नित्यशः ।
अरतां नियमेनैव तस्माद् दुःखतरं वनम् ॥ १५ ॥

‘वनवासीको प्रतिदिन नियमपूर्वक तीनो समय काम करना होता है । इसलिये वन बहुत ही कष्ट देनेवाला है ॥ उपहारश्च कर्तव्यः कुसुमैः स्वयमाहृतैः ।
आर्पण विधिना चेष्टां सीते दुःखमतो वनम् ॥ १६ ॥

‘सीते ! वहाँ स्वयं चुनकर लाये हुए फूलोंद्वारा वेदोक्त

विधिसे चंदेपर देवताओंकी पूजा करनी पड़ती है । इसलिये वनको कष्टप्रद कहा गया है ॥ १६ ॥

यथाश्रम्येन कर्तव्यः संतोषस्तेन मैथिलि ।
यताहारैर्वनचरैः सीते दुःखमतो वनम् ॥ १७ ॥

‘मिथिलेशकुमारी ! वनवासियोंको जब जैसा आहार मिल जाय उसीपर संतोष करना पड़ता है । अतः वन दुःखरूप ही है ॥ १७ ॥

असीव वातसिमिरं बुभुक्ष्णं चाति नित्यशः ।
भयानि च महान्ध्रं ततो दुःखतरं वनम् ॥ १८ ॥

वनमें प्रचण्ड आँधी, धीरे अन्धकार, प्रतिदिन भूखाका कष्ट तथा और भी बड़े-बड़े भय प्राप्त होते हैं, अतः वन अत्यन्त कष्टप्रद है ॥ १८ ॥

सरीसृपाश्च बहवो बहुरूपाश्च भामिनि ।
चरन्ति पथि ते दर्पात् ततो दुःखतरं वनम् ॥ १९ ॥

‘भामिनि ! वहाँ बहुत-से पहाड़ी सर्प, जो अनेक प्रकारके रूपवाले होते हैं दर्पवश बीच रास्तेमें विचरते रहते हैं । अतः वन अत्यन्त कष्टदायक है ॥ १९ ॥

नदीनील्यना सर्पा नदीकुटिलगामिनः ।
तिष्ठन्त्याकृत्य पन्थानमतो दुःखतरं वनम् ॥ २० ॥

‘जो नदियोंमें निवास करते और नदियोंके समान ही कुटिल गतिसे चलते हैं, ऐसे बहुरूपवाले सर्प वनमें रास्तेको घेरकर पड़े रहते हैं; इसलिये वन बहुत ही कष्टदायक है ॥ २० ॥

पतङ्गा वृश्चिकाः कीटा वंशाश्च मशकैः सह ।
बाधन्ते नित्यमवले सर्वं दुःखमतो वनम् ॥ २१ ॥

‘अवले ! पतंगे, किच्छू, काँड़े, झँस और मच्छर यहाँ सदा कष्ट पहुँचाते रहते हैं, अतः सारा वन दुःखरूप ही है ॥ २१ ॥

हुमाः कण्टकिनश्चैव कुशाः काशाश्च भामिनि ।
वने व्याकुलशारखाग्राम्नेन दुःखमतो वनम् ॥ २२ ॥

‘भामिनि ! वनमें काँटेदार वृक्ष, कुश और कास होते हैं जिनकी शाखाओंका अग्रभाग सब आर फैले हुए होते हैं; इसलिये वन विशेष कष्टदायक होता है ॥ २२ ॥

काधकेशाश्च बहवो भयानि विविधानि च ।
अरण्यवासे वसतो दुःखमेव सदा वनम् ॥ २३ ॥

‘शत्रुमें निवास करनेवाले मनुष्यको बहुत से शारीरिक श्रमा और नाना प्रकारके भयोंका सामना करना पड़ता है, अतः वन सदा दुःखरूप ही होता है ॥ २३ ॥

क्रोधलोभौ विमोक्तव्यौ कर्तव्या तपसे मतिः ।
न धेनव्यं च धेनव्ये दुःखं नित्यमतो वनम् ॥ २४ ॥

‘वहाँ क्रोध और लोभको त्याग देना होता है, तपस्यामें मन लगाना पड़ता है और जहाँ भयका स्थान है, वहाँ भी भयभीत न होनेको आवश्यकता होती है; अतः वनमें

सदा दुःख-ही-दुःख है ॥ २४ ॥

तदले ते वनं गत्वा क्षेमं नहि वनं तव ।

विमृशत्रिव पश्यामि बहुदोषकरं वनम् ॥ २५ ॥

‘इसलिये तुम्हारा वनमें जाना ठीक नहीं है । वहाँ जाकर तुम सकुशल नहीं रह सकतों । मैं बहुत साव-विचारकर देखता और समझता हूँ — कि वनमें रहना अनेक दोषोंका उत्सादक बहुत ही कहदायक है ॥ २५ ॥

वनं तु नेतुं न कृता प्रतिवृत्ता

बभूव रामेण तदा भ्रष्टात्मना ।

न तस्य सीता वचनं वकार तं

ततोऽब्रवीद् राममिदं सुदुःखिता ॥ २६ ॥

जब महात्मा श्रीरामने उस समय सीताको वनमें ले जानेका विचार नहीं किया, तब सीताने भी उनकी उस बातको नहीं माना । वे अन्यन्त दुःखी होकर श्रीरामसे इस प्रकार बोलीं ।

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽथोऽध्याकाण्डेऽष्टाविंशः सर्गः ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें अट्ठाईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशः सर्गः

सीताका श्रीरामके समक्ष उनके साथ अपने वनगमनका औचित्य बताना

एतत् तु वचनं श्रुत्वा सीता रामस्य दुःखिता ।

प्रसक्ताश्रुमुखी पन्दमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी यह बात सुनकर सीताको बड़ा दुःख हुआ, उनके मुखपर आँसुओंकी धारा बह चली और वे धीरे-धीरे इस प्रकार कहने लगीं— ॥ १ ॥

ये त्वया कीर्तिता दोषा वने वस्तव्यतां प्रति ।

गुणानित्येव तान् विद्धि तव स्नेहपुरस्कृता ॥ २ ॥

‘प्राणनाथ ! आपने वनमें रहनेके जो-जो दोष वक्तये हैं, वे सब आपका स्नेह पाकर मेरे लिये गुणरूप हो जायेंगे, इस बातको आप अच्छी तरह समझ लें ॥ २ ॥

भृगाः सिंहा गजाश्चैव शार्दूलाः शरभास्तथा ।

धमराः सुमराश्चैव ये चान्ये वनधारिणः ॥ ३ ॥

अदृष्टपूर्वरूपत्वात् सर्वे ते तव राघव ।

रूपं दृष्ट्वापसर्पयुस्तव सर्वे हि विभ्यति ॥ ४ ॥

‘रघुनन्दन ! भृग, सिंह, हाथी, शेर, शरभ, धमरी गाय, नीलगाय तथा जो अन्य जंगली जाँव हैं, वे सब-के-सब आपका रूप देखकर भाग जायेंगे, क्योंकि ऐसा प्रभावशाली स्वरूप उन्होंने पहले कभी नहीं देखा होगा । आपसे तो सभी डरते हैं; फिर वे पशु क्यों नहीं डरेंगे ? ॥ ३-४ ॥

त्वया च सह गन्तव्यं मया गुरुजनाज्ञया ।

त्वद्वियोगेन ये राम त्यक्तव्यमिह जीवितम् ॥ ५ ॥

‘श्रीराम ! मुझे गुरुजनोंकी आज्ञासे निश्चय हो आपके साथ चलना है, क्योंकि आपका वियोग हो जानेपर मैं यहाँ अपने जीवनकर परित्याग कर दूँगी ॥ ५ ॥

नहि मां त्वत्समीपस्थामपि शक्नोऽपि राघव ।

सुराणामीश्वरः शक्तः प्रधर्षयितुमोजसा ॥ ६ ॥

‘रघुनाथजी ! आपके समीप रहनेपर देवताओंके राजा इन्द्र भी बलपूर्वक मेरा तिरस्कार नहीं कर सकते ॥ ६ ॥

एतिहीना तु या नारी न सा शक्यति जीवितुम् ।

कामपेक्षंविधे राम त्वया मम निदर्शितम् ॥ ७ ॥

‘श्रीराम ! पतिव्रता स्त्री अपने पतिसे वियोग होनेपर जीवित नहीं रह सकेगी, ऐसी बात आपने भी मुझे पली-भरीत दर्शायी है ॥ ७ ॥

अद्यापि च महाप्राज्ञ ब्राह्मणानां मया श्रुतम् ।

पुरा पितृगृहे सत्यं वस्तव्यं किल मे वने ॥ ८ ॥

‘महाप्राज्ञ ! यद्यपि वनमें दोष और दुःख ही भरे हैं, तथापि अपने पिताके घरपर रहते समय मैं ब्राह्मणोंके मुखसे पहले यह बात सुन चुकी हूँ कि ‘मुझे अवश्य ही वनमें रहना पड़ेगा’ यह बात मेरे जीवनमें सत्य होकर रहेगी ॥ ८ ॥

लक्ष्मिण्यो द्विजातिभ्यः श्रुत्वाहं वचनं गृहे ।

वनवासकृतोत्साहा नित्यमेव महाबल ॥ ९ ॥

‘महाबली वीर ! हस्तरंखा देखकर भविष्यकी बातें जान लेनेवाले ब्राह्मणोंके मुखसे अपने घरपर ऐसी बात सुनकर मैं सदा ही वनवासके लिये उत्साहित रहती हूँ ॥ ९ ॥

आदेशो वनवासस्य प्राप्तव्यः स मया किल ।

सा त्वया सह भर्त्राहं यास्यामि प्रिय नान्यथा ॥ १० ॥

‘प्रियतम ! ब्राह्मणसे ज्ञात हुआ वनमें रहनेका आदेश एक-न-एक दिन मुझे पूरा करना हो पड़ेगा, यह किसी तरह पलट नहीं सकता । अतः मैं अपने स्वामी आपके साथ वनमें अवश्य चलूँगी ॥ १० ॥

कृतादेशः भविष्यामि गमिष्यामि त्वया सह ।

कालश्चायं समुत्पन्नः सत्यवान् भवतु द्विजः ॥ ११ ॥

‘ऐसा होनेसे मैं उस भाम्यके विधानको भोग लूँगी । उसके लिये यह समय आ गया है, अतः आपके साथ मुझे चलना ही है; इससे उस ब्राह्मणकी बात भी सच्ची हो जायगी ॥ ११ ॥

वनवासे हि जानामि दुःखानि बहुधा किल ।

प्राप्यन्ते नियतं वीर युर्वैरकृतात्पथिः ॥ १२ ॥

वीर मैं जानती हूँ कि वनवाममें अवश्य हो बहुत-से दुःख प्राप्त होते हैं; परंतु वे उन्हींको दुःख जान पड़ते हैं जिनकी हठियारी और मन अपने वशमें नहीं है ॥ १२ ॥

कन्यया च पितुर्गृहि वनवासः श्रुतो मया ।

भिक्षिण्याः क्षमयताया मम मानुसिहाग्रतः ॥ १३ ॥

'पिताके घरपर कुमारी अवस्थामें एक शान्तिपरायणा भिक्षुकीके मुखमें भी मैंने अपने वनवामको खत मुनो था उसने मेरी माताके सामने ही ऐसी बात कही थी ॥ १३ ॥

प्रसादितश्च वै पूर्व त्वं मे बहुविधं प्रभो ।

गमने वनवासस्य काङ्क्षितं हि सह त्वया ॥ १४ ॥

'प्रभो । यहाँ आनेपर भी मैंने पतने ही कई बार आपके कुछ कालतक वनमें रहनेके लिये प्रार्थना की थी और आपकी राजी थी कर लिया था । इससे आप निश्चिन्त रूपमें जान लें कि आपके साथ वनको चलना मुझे पहलेसे ही अभ्यर्थ है ॥ १४ ॥

कृतक्षणाहं भद्रे ते गमनं प्रति राघव ।

वनवासस्य शूरस्य मम चर्या हि रोचते ॥ १५ ॥

रघुनन्दन ! आपका धन्य हो । मैं वहीं वनमेंके लिये पहलेसे ही आपकी अनुमति प्राप्त कर चुकी हूँ । अपने शूरवीर वनवासों पतिकरी सेवा करना मेरे लिये अधिक रुचिकर है ॥ १५ ॥

शुद्धात्मन् प्रेमभावाद्धि भविष्यामि विकल्पया ।

भर्तारमनुगच्छन्ती भर्ता हि परदेवनम् ॥ १६ ॥

'शुद्धात्मन् ! आप मेरे स्वामी हैं, आपके पीछे प्रेमभावसे वनमें जानपर मेरे पाप दूर हो जायेंगे; क्योंकि स्वामी ही स्वामके लिये सबसे बड़ा देवता है ॥ १६ ॥

प्रेत्यभावे हि कल्याणः संगमो मे सदा त्वया ।

श्रुतिर्हि श्रूयते पुण्या ब्राह्मणानां यशस्विनाम् ॥ १७ ॥

आपके अनुगमनसे परलोकमें भी मेरा कल्याण होगा और सदा आपके साथ मेरा संगम बना रहेगा । इस विषयमें यशस्वी ब्राह्मणोंके मुखसे एक पवित्र श्रुति मन्त्रें जाती हैं (जो इस प्रकार है—) ॥ १७ ॥

इहलोके च पितृभिर्या स्त्री यस्य महाबल ।

अद्भिर्दत्ता स्वधर्मेण प्रेत्यभावेऽपि तस्य सा ॥ १८ ॥

'महाबली वीर ! इस लोकमें पिता आदिक द्वारा जो कन्या जिस पुरुषको अपने धर्मके अनुसार जल्दसे संकल्प

करके दे दी जाती है, वह मरनेके बाद परलोकमें भी उसीकी स्त्री होती है ॥ १८ ॥

एवमस्मात् स्वको नारी सुवृत्ता हि पतिव्रताम् ।

नाभिरोचयसे नेतुं त्वं मां केनेह हेतुना ॥ १९ ॥

मैं आपकी धर्मपत्नी हूँ, उत्तम व्रतका पालन करनेवाली और पतिव्रता हूँ, फिर क्या कारण है कि आप मुझे यहाँसे अपने साथ ले चलना नहीं चाहते हैं ॥ १९ ॥

भक्तां पतिव्रतां दीनां धां सयां सुखदुःखयोः ।

नेतुमर्हसि काकुत्स्थ समानसुखदुःखिनीम् ॥ २० ॥

ककुत्स्थकुलभूषण ! मैं आपकी भक्त हूँ पतिव्रत्यका पालन करती हूँ आपके चिछोहके भयसे दीन हो रही हूँ तथा आपको सुख-दुःखमें समान रूपसे साथ बैठानेवाली हूँ मुझे सुख मिले या दुःख, मैं दोनों अवस्थाओंमें सम रहूँगी—हर्ष या शोकक वशीभूत नहीं होऊँगी । अतः आप अवश्य ही मुझे साथ ले चलनेकी कृपा करें ॥ २० ॥

यदि मां दुःखितामेवं वनं नेतुं न शक्नुसि ।

विषमग्निं जलं बाह्यास्थाये मृत्युकारणात् ॥ २१ ॥

'यदि आप इस प्रकार दुःखमें पड़ी हुई मुझ सेविकाको अपने साथ वनमें ले जाना नहीं चाहते हैं तो मैं मृत्युके लिये विष खा लूँगी, आगमें कूद पड़ूँगी अथवा जलमें डूब जाऊँगी' ॥ २१ ॥

एवं बहुविधं तं सा याचते गमनं प्रति ।

नानुमेने महाबाहुस्तां नेतुं विजयं वनम् ॥ २२ ॥

इस तरह कमक प्रकारसे सीताजी वनमें जानेके लिये याचना कर रही थीं तथापि महाबाहु श्रीरामने उन्हें अपने साथ विजय वनमें ले जानेकी अनुमति नहीं दी ॥ २२ ॥

एवमुक्ता तु सा चिन्तां मेधिली समुपागता ।

श्रापयन्तीव गामुष्णैरशुभिन्यनश्वरैः ॥ २३ ॥

इस प्रकार उनके अश्वोकार कर देनेपर मिथिलेशकुमारी सीताको बड़ी चिन्ता हुई और वे अपने नेत्रोंसे गरम गरम आँसू बहाकर भरताको धिगोने-सी रूगी ॥ २३ ॥

चिन्तयन्ती तदा तां तु निवर्तयितुमात्पवान् ।

क्रोधाविष्टां तु वैदेहीं काकुत्स्थो बहूसान्दयत् ॥ २४ ॥

उस समय विदेहनान्दिनी जानकीको चिन्तित और कुपित देख मनको वशमें रखनेवाले श्रीरामचन्द्रजीने उन्हें वनवामके विचारसे निवृत्त करनेके लिये भीति भीतकी बातें कहकर समझाया ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकोनविंशः सर्गः ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिमाव्यके अयोध्याकाण्डमें उनतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २९ ॥

त्रिंशः सर्गः

सीताका वनमें चलनेके लिये अधिक आग्रह, विलाप और धवराहट देखकर श्रीरामका उन्हें साथ ले चलनेकी स्वीकृति देना, पिता-माता और गुरुजनोंकी सेवाका महत्त्व बताना तथा सीताको वनमें चलनेकी तैयारीके लिये घरकी वस्तुओंका दान करनेकी आज्ञा देना

सान्त्वयमाना तु रामेण मैथिली जनकात्मजा ।

वनवासनिमित्तार्थं भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीरामके समझानेपर मिथिलेशकुमारी जनकी वनवासकी आज्ञा प्राप्त करनेके लिये अपने पतिसे फिर इस प्रकार बोली ॥ १ ॥

सा तमुत्तमसंविज्ञा सीता विपुल्वक्षसम् ।

प्रणयाद्याधिमानाश्च परिचिक्षेप राधवम् ॥ २ ॥

सीता अत्यन्त डरी हुई थी। वे प्रेम और स्वाभिमानक कारण विशाल वक्षस्थलवाले श्रीगमचन्द्रजापर आक्षेप-सा करती हुई कहने लगी— ॥ २ ॥

किं त्वामन्यत वंदेहः पिता मे मिथिलाधिपः ।

राम जामातरं प्राप्य स्थिरं भुक्त्वविग्रहम् ॥ ३ ॥

‘श्रीराम ! क्या मेरे पिता मिथिलानरेश विदेहराज जनकने आपको जामातारूपमें पाकर कभी यह भी समझा था कि आप केवल शरीरसे ही पुरुष हैं, कार्य-कलापसे तो स्त्री ही हैं ॥ ३ ॥

अनृतं वत लोकोऽप्यमज्ञानाद् यदि वक्ष्यति ।

तेजो नास्ति परं रामे तपतीव दिवाकरे ॥ ४ ॥

‘नाथ ! आपके मुझे छोड़कर चले जानेपर संसारके लोग अज्ञानवश यदि यह कहने लगें कि सूर्यके समान तपनवाले श्रीरामचन्द्रमें तेज और पराक्रमका अभाव है तो इनको यह असत्य धारणा मेरे लिये कितने दुःखकी बाज होगी ॥ ४ ॥

किं हि कृत्वा विषण्णस्त्वं कुतो वा भयमस्ति ते ।

यत् परित्यक्तुकामस्त्वं मायनन्यपरायणाम् ॥ ५ ॥

‘आप क्या सोचकर विषादमें पड़े हुए हैं अथवा किममें आपको भय हो रहा है, जिसके कारण आप अपनी पत्नी मुझ सीताका, जो एकमात्र आपके ही आश्रित है, परित्याग करना चाहते हैं ॥ ५ ॥

द्युमत्सेनसुतं वीरं सत्यवन्तमनुव्रताम् ।

सावित्रीमिव मां विद्धि त्वयात्मवशवर्तिनीम् ॥ ६ ॥

‘जैसे सावित्री द्युमत्सेनकुमार वीरवर सत्यवानकी ही अनुगामिनी थी, उसी प्रकार आप मुझे भी अपनी ही आज्ञाके अधीन समझिये ॥ ६ ॥

न त्वहं मनसा त्वन्यं द्रष्टास्मि त्वदूतेऽन्ध ।

त्वया राधव गच्छेद्यं यथान्या कुलपांसनी ॥ ७ ॥

‘निष्पाप रघुनन्दन ! जैसी दूसरी कोई कुलकलङ्किनी स्त्री परपुरुषपर दृष्टि रखती है, वैसी मैं नहीं हूँ। मैं तो आपके सिवा किसी दूसरे पुरुषको मनसे भी नहीं देख सकती।

इसलिये आपके साथ ही चलूँगी (आपके बिना अकेली यहाँ नहीं रहूँगी) ॥ ७ ॥

स्वयं तु भार्या कौमार्यं चिरमध्युषितां सतीम् ।

शैलूष इव मां राम परेभ्यो दातुमिच्छसि ॥ ८ ॥

‘श्रीराम ! जिसका कुमारवस्थामें ही आपके साथ विवाह हुआ है और जो चिरकालतक आपके साथ रह चुकी है, उसे मुझे अपनी सती-साध्वी पत्नीको आप आगनकी कमाई खानेवाले नटकी भाँति दूसरोंके हाथमें सौंपना चाहते हैं ? ॥ ८ ॥

यस्य पथ्यंचरामात्य यस्य चार्थेऽवरुध्यसे ।

त्वं तस्य भव वश्यश्च विधेयश्च सदानघ ॥ ९ ॥

‘निष्पाप रघुनन्दन ! आप मुझे जिसके अनुकूल चलनेकी शिक्षा देंगे हैं और जिसके लिये आपका राग्याभिषेक रोक दिया गया है, उस घरतक सदा ही वशवर्ती और आज्ञा-पालक बनकर आप ही रहिये, मैं नहीं रहूँगी ॥ ९ ॥

स मामनादाय वनं न त्वं प्रस्थितुमर्हसि ।

तपो वा यदि वारण्यं स्वर्गं वा स्यात् त्वया सह ॥ १० ॥

इसलिये आपका मुझे अपने साथ लिये बिना वनकी ओर प्रस्थान करना उचित नहीं है यदि तपस्या करनी हो, वनमें रहना हो अथवा स्वर्गमें जाना हो तो सभी जगह मैं आपके साथ रहना चाहती हूँ ॥ १० ॥

न च मे प्रविता तत्र कश्चित् पथि परिश्रमः ।

पृष्ठतस्तत्र गच्छन्त्या विहारशयनेष्विव ॥ ११ ॥

‘जैसे वगोचमे घूमने और पलंगपर सोनेमें कोई कष्ट नहीं होता, उसी प्रकार आपके पीछे पीछे वनके मार्गपर चलनेमें भी मुझे कोई परिश्रम नहीं जान पड़ेगा ॥ ११ ॥

कुशकाशशरेणीका ये च कष्टकिनो हुमाः ।

नृलाजिनसमस्यर्शा मार्गे यम सह त्वया ॥ १२ ॥

‘यहाँमें जो कुश-कास, सरकहे, सोंक और कौटेदार वृक्ष मिलेंगे, उनका स्पर्श मुझे आपके साथ रहनेमें रुई और भृंगजैसे समान सुखद प्रताप होगा ॥ १२ ॥

महावातसमुद्भूतं धन्यामवकरिष्यति ।

रजो रमण तन्मन्ये परार्ध्यमिव चन्दनम् ॥ १३ ॥

‘प्राणवल्लभ ! प्रचण्ड आंधीसे उड़कर मेरे शरीरपर जो धूल भड़ेगी, उसे मैं उत्तम चन्दनके समान समझूँगी ॥ १३ ॥

शाद्वलेषु यदा शिश्ये वनान्तर्वनगोचरा ।

कुशाम्बरणयुक्तेषु किं स्यात् सुखतरं ततः ॥ १४ ॥

‘जब वनके भीतर रहूँगी, तब आपके साथ घासोंपर भी

सो लूगी। रंग बिरंगे कालोंमें और मलायम बिछिनोस युक्त फलोंपर क्या उससे अधिक सुख हो सकता है ? ॥ १४ ॥
परं मूलं फलं यत्तु अल्पं वा यदि वा बहु ।

दास्यसे स्वयमाहृत्य तन्मेऽमृतसोपमम् ॥ १५ ॥

आप अपने हाथसे लेकर थोड़ा या बहुत फल, मूल या पत्ता जो कुछ दे देंगे वही मेरे लिये अमृत-रसके समान होगा ॥ १५ ॥

न मातुर्न पितुस्तत्र स्मरिष्यामि न वेश्मनः ।

आर्तवान्युपभुञ्जाना पुण्याणि च फलानि च ॥ १६ ॥

‘कतुक अनुकूल जो भी फल-फल प्राप्त होंगे, उन्हें खाकर रखौंगी और पाता पत्ता अथवा महलका कभी याद नहीं करूंगी ॥ १६ ॥

न च तत्र ततः किञ्चिद् द्रष्टुमर्हसि विप्रियम् ।

यत्कृते न च ते शोको न भविष्यामि दुर्भरा ॥ १७ ॥

‘वहाँ रहते समय मेरा कोई भी प्रतिकूल व्यवहार आप नहीं देख सकेंगे। मेरे लिये आपको कोई कष्ट नहीं उठाना पड़ेगा। मेरा निर्वाह आपके लिये दुर्भर नहीं होगा ॥ १७ ॥

यस्त्वया सह स स्वर्गो निरयो यस्त्वया विना ।

इति जानन् परी प्रीतिं गच्छ राम यथा सह ॥ १८ ॥

‘आपके साथ अहाँ भी रहना पड़े, वहाँ मेरे लिये स्वर्ग है और आपके बिना जो कोई भी स्थान हो, वह मेरे लिये नरकके समान है। श्रीराम ! मेरे इस निश्चयको जानकर आप मेरे साथ अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक वनको चले ॥ १८ ॥

अथ मामेवमव्यथां वनं नैव नयिष्यसे ।

विधमहीव पास्यामि या वशं द्विषतां गमम् ॥ १९ ॥

‘मुझे वनवासक कष्टसे कोई ध्वराहट नहीं है। यदि इस दशामें भी आप अपने साथ मुझे वनमें नहीं ले चलेंगे तो मैं आज ही विष पी लूंगी, परंतु शत्रुओंके अधीन होकर नहीं रहूंगी ॥ १९ ॥

पश्चादपि हि दुःखेन यम नैवास्ति जीवितम् ।

उज्झितायास्त्वया नाथ तदैव मरणं वरम् ॥ २० ॥

नाथ ! यदि आप मुझे त्यागकर वनको चले जायेंगे तो पीछे भी इस भागें दुःखके कारण मेरा जातिन रहना सम्भव नहीं है; ऐसी दशामें मैं इसी समय आपके जाने ही अपना प्राण त्याग देना अच्छा समझती हूँ ॥ २० ॥

इमं हि सहितुं शोकं पुहूर्नमपि नोत्सहे ।

किं पुनर्दश वर्षाणि त्रीणि चैकं च दुःखिता ॥ २१ ॥

‘आपके विरहका यह शोक मैं दो घड़ी भी नहीं मर सकूंगी। फिर मुझ दुःखियासे यह चौदह वर्षाधिक कैसे बहा जायगा ?’ ॥ २१ ॥

इति सा शोकसंतप्ता विलप्य कसुरां बहु ।

चुक्रोश पतिमायस्ता भृशमालिङ्ग्य सख्यम् ॥ २२ ॥

इस प्रकार बहुत देरतक करुणाजनक विलाप करके

शोकसे संतप्त हुई सोता दिग्धिल हो अपने पतिको जोरसे पकड़कर—उनका गाढ़ आलिङ्गन करके फूट-फूटकर रोने लगी ॥ २२ ॥

सा विद्धा बहुधर्वाख्यैर्दिग्धरिच गजाङ्गना ।

चिरसंनियतं वाप्यं भुमं चाग्निमिषारणि ॥ २३ ॥

जैसे कई हथिनों विषम लुझे हुए बहुसंख्यक बाणोंद्वारा घायल कर दी गया हों, उसी प्रकार सोता श्रीरामचन्द्रजीके पुरातन अनैकामेक वचनाद्वारा धर्माहत हो ठही थी अतः जैसे अरण्य आग प्रकट करती है उसी प्रकार वे बहुत देरसे रोके हुए आँसुओंको बरसाने लगी ॥ २३ ॥

तस्याः स्फटिकसंकाशं वारि संतापसम्भवम् ।

नेत्राभ्यां परिमुन्नाय पङ्कजाभ्यामिवोदकम् ॥ २४ ॥

उनके दोनों नेत्रोंसे स्फटिकके समान निर्मल संतापजनित अश्रुजल झर रहा था, माने दो कमलोंसे जलकी धारा गिर रही हो ॥ २४ ॥

तत्सितामलचन्द्रार्धं मुखमायतलोचनम् ।

पर्यशुष्यत वाक्येण जलोद्भूतमिवाम्बुजम् ॥ २५ ॥

बड़े-बड़े नेत्रोंसे सुशोभित और पूर्णिमाके निर्मल चन्द्रमाक समान कान्तिमान् उनका वह मनोहर मुख संतापजनित नापके कारण पानीसे बाहर निकाले हुए कमलके समान सुख-सा गया था ॥ २५ ॥

तां परिदृज्य बाहुभ्यां विसंज्ञामिव दुःखिताम् ।

उवाच वचनं रामः परिविश्वासयंस्तदा ॥ २६ ॥

सोताजी दुःखके भारे अचेत-सी हो रही थीं। श्रीरामचन्द्रजीने उन्हें दोनों हाथोंसे मेथान्तर हृदयमें लगा लिया और उस समय उन्हें मान्त्वना देते हुए कहा— ॥ २६ ॥

न देवि बत दुःखेन स्वर्गमप्यधिरोचये ।

नहि येऽस्ति भयं किञ्चित् स्वयम्भोरिव सर्वतः ॥ २७ ॥

‘देवि ! तुम्हें दुःख देकर मुझे स्वर्गका सुख मिलता हो तो मैं उसे भी लेना नहीं चाहूँगा। स्वयम्भू ब्रह्माजीकी भाँति मुझे किसीसे किञ्चित् भी भय नहीं है ॥ २७ ॥

तव सर्वमभिप्रायमविज्ञाय शुभानने ।

वासं न रोचयेऽरण्ये शक्तिमानपि रक्षणे ॥ २८ ॥

‘शुभानने ! यद्यपि वनमें तुम्हारी रक्षा करनेके लिये मैं सर्वथा समर्थ हूँ ना भी तुम्हारे हार्दिक अभिप्रायको पूर्णरूपसे जाने बिना तुमको वनवासिनी बनाना मैं उचित नहीं समझता था ॥ २८ ॥

यत् सृष्टासि मया सार्धं वनवासाय मैथिलि ।

न विहातुं मया शक्या प्रीतिरात्थवना यथा ॥ २९ ॥

मिथिलेशकुमारी ! जब तुम मेरे साथ वनमें रहनेके लिये ही उत्पन्न हुई हो तो मैं तुम्हें छोड़ नहीं सकता, ठीक उसी तरह जैसे आत्मज्ञानी पुरुष अपनी स्वाभाविक प्रसन्नताका त्याग नहीं करत ॥ २९ ॥

धर्मस्तु गजनासोरु सद्भिराचरितः पुरा ।
तं चाहमनुवर्तिष्ये यथा सूर्यं सुवर्चसम् ॥ ३० ॥

‘हाथीकी सूँड़के समान जाँघवाले जनककिशोरी !
पूर्वकालके सत्पुरुषोंने अपनी पत्नीके साथ रहकर जिस
धर्मक आचरण किया था, उसीका मैं भी तुम्हारे साथ
रहकर अनुसरण करूँगा तथा जैसे सुवर्चस (संज्ञा)
अपने पति सूर्यका अनुगमन करती है, उसी प्रकार तुम
भी मेरा अनुसरण करो ॥ ३० ॥

न स्वात्सवं न गच्छेयं वनं जनकनन्दिनि ।
वचनं तन्नयति मां पितुः सत्योपबृंहितम् ॥ ३१ ॥

‘जनकनन्दिनि ! यह तो किसी प्रकार सम्भव ही नहीं है
कि मैं वनको न जाऊँ, क्योंकि पिताजीका वह सत्ययुक्त वचन
ही मुझे वनकी ओर ले जा रहा है ॥ ३१ ॥

एव धर्मश्च सुश्रोणि पितुर्मातुश्च वक्ष्यता ।
आशां चाहं व्यतिक्रम्य नाहं जीवितुमुत्सहे ॥ ३२ ॥

‘सुश्रोणि ! पिता और माताकी आज्ञाके अधीन रहना
पुत्रका धर्म है, इसलिये मैं उनकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके
जीवित नहीं रह सकता ॥ ३२ ॥

अस्वाधीनं कथं दैवं प्रकारैरभिराध्यते ।
स्वाधीनं समतिक्रम्य घातरं पितरं गुरुम् ॥ ३३ ॥

‘जो अपनी सेवाके अधीन है, उन प्रत्यक्ष देवता यात,
पिता एवं गुरुका उल्लङ्घन करके जो सेवाके अधीन नहीं है,
उस अप्रत्यक्ष देवता दैवकी विभिन्न प्रकारसे किम तरह
आराधना की जा सकती है ॥ ३३ ॥

यत्र त्रयं त्रयो लोकाः पवित्रं तत्समं भुवि ।
नान्यदस्ति शुभापाङ्गे तेनेदमभिराध्यते ॥ ३४ ॥

‘सुन्दर नेत्रप्रान्तवाली सीत ! जिनका आराधना करनेपर
धर्म, अर्थ और काम तीनों प्राप्त होते हैं तथा तीनों लोकोंकी
आराधना सम्भव हो जाती है, उन माना, पिता और गुरुके
समान दूसरा कोई पवित्र देवता इस भूतलपर नहीं है
इसलिये भूतलके निवासी इन तीनों देवताओंकी आराधना
करते हैं ॥ ३४ ॥

न सत्यं दानमानौ वा यज्ञो वाप्याप्तदक्षिणाः ।
तथा बलकराः सीते यथा सेवा पिनुर्मता ॥ ३५ ॥

‘सीते ! पिताकी सेवा करना कल्याणकी प्राप्तिका जैसा
प्रबल साधन माना गया है, वैसा न सत्य है, न दान है, न
मान है और न पर्याप्त दक्षिणावाले यज्ञ ही है ॥ ३५ ॥

स्वर्गो वनं वा धान्यं वा विद्या पुत्राः सुखानि च ।
गुरुवृत्त्यनुरोधेन न किञ्चिदपि दुर्लभम् ॥ ३६ ॥

‘गुरुजनोकी सेवाका अनुसरण करनेसे स्वर्ग, वन-धान्य,
विद्या, पुत्र और सुख—कुछ भी दुर्लभ नहीं है ॥ ३६ ॥
देवगन्धर्वगोलोकान् ब्रह्मलोकस्तथापरान् ।
प्राप्नुवन्ति महात्मानो मातापितृपरारयणाः ॥ ३७ ॥

‘माता-पिताकी सेवामें लगे रहनेवाले महात्मा पुरुष
देवलोक, गन्धर्वलोक, ब्रह्मलोक, गोलोक तथा अन्य
लोकोंकी भी प्राप्ति कर लेते हैं ॥ ३७ ॥

स मा पिता यथा शास्ति सत्यधर्ममध्ये स्थितः ।
तथा वर्तितुमिच्छामि स हि धर्मः सनातनः ॥ ३८ ॥

‘इसलिये सत्य और धर्मक मार्गपर स्थित रहनेवाले पूज्य
पिताजी मुझे जैसा आज्ञा दे रहे हैं, मैं वैसा ही वर्तित्व करना
चाहता हूँ, क्योंकि वह सनातनधर्म है ॥ ३८ ॥

यम सञ्जायतिः सीते नेतुं त्वां दण्डकावनम् ।
यसिष्यामीति सा त्वं पापनुयातुं सुनिश्चिता ॥ ३९ ॥

‘सीते ! मैं आपके साथ वनमें निवास करूँगा—ऐसा
कहकर तुमने मेरे साथ चलनेका दृढ़ निश्चय कर लिया है
इसलिये तुम्हें दण्डकावन ले चलनेके सम्बन्धमें जो मेरा
पहला विचार था, वह अब बदल गया है ॥ ३९ ॥

सा हि दिष्टानवच्छाङ्गि वनाय मदिरक्षणो ।
अनुगच्छस्व मां भीरु सहधर्मधरी धव ॥ ४० ॥

‘मदभर नेत्रावाली सुन्दरी ! अब मैं तुम्हें वनमें चलनेके
लिये आज्ञा देता हूँ । भीरु ! तुम मेरी अनुगमिनी बनो और
मेरे साथ रहकर धर्मकी आचरण करो ॥ ४० ॥

सर्वथा सदृशं सीते यम स्वस्य कुलस्य च ।
व्यवसायमनुक्रान्ता कान्ते त्वमतिशोभनम् ॥ ४१ ॥

‘प्राणवत्त्वमे सीते ! तुमने मेरे साथ चलनेका जो यह
पग्य सुन्दर निश्चय किया है, यह तुम्हारे और मेरे कुलके
सर्वथा योग्य ही है ॥ ४१ ॥

आरभस्व शुभश्रोणि वनवासक्षमाः क्रियाः ।
नेदानीं त्वदूते सीते स्वर्गोऽपि मम रोचते ॥ ४२ ॥

‘सुश्रोणि ! अब तुम वनवासके योग्य दान आदि
कर्म प्रारम्भ करो । सीते ! इस समय तुम्हारे इस प्रकार
दृढ़ निश्चय कर लेनेपर तुम्हारे बिना स्वर्ग भी मुझे अच्छा
नहीं लगता है ॥ ४२ ॥

ब्राह्मणेभ्यश्च रत्नानि भिक्षुकेभ्यश्च भोजनम् ।
देहि चाशंयमानेभ्यः संत्वरस्व च मा विरम् ॥ ४३ ॥

‘ब्राह्मणोंको रत्नस्वरूप उत्तम वस्तुएँ दान करो और भोजन
योग्यवाले भिक्षुओंको भोजन दो शीघ्रता करो, विलम्ब नहीं
होना चाहिये ॥ ४३ ॥

भूषणानि महार्हाणि वरवस्त्राणि यानि च ।
रमणीयाश्च ये केचित् क्रीडार्थाश्चाप्युपस्कराः ॥ ४४ ॥

‘शयनीयानि यानानि यम घान्यानि यानि च ।
देहि स्वधृत्पवर्गस्य ब्राह्मणानामनन्तरम् ॥ ४५ ॥

‘तुम्हारे पास जितने बहुमूल्य आभूषण हों, जो-जो
अच्छे-अच्छे वस्त्र हों, जो कोई भी रमणीय पदार्थ हों तथा
मनोरञ्जनके जो-जो सुन्दर सामग्रीयों हों, मेरे और तुम्हारे
उपयोगमें आनेवाले जो उत्तमोत्तम शय्याएँ, सवारियों तथा

अन्य वस्तुएँ हो, उनमेंसे ब्राह्मणोंको दान करनेके पक्षान् जो
धरें उन सबको अपने सेवकोंको बाँट दो' ॥ ४४ ॥

अनुकूलं तु सा भर्तृर्जात्वा गमनमात्मनः ।

क्षिप्रं प्रमुदिता देवी दातुमेव प्रचक्रमे ॥ ४६ ॥

'स्वामीने वनमें मेरा जाना स्वीकार कर लिया—मेरा
वनगमन उनके मनके अनुकूल हो गया यह जानकर देवी
सीता बहुत प्रसन्न हुई और शीघ्रतापूर्वक सब वस्तुओंका दान
करनेमें जुट गयी ॥ ४६ ॥

इन्हीं शीघ्रतापूर्वक वस्तुओंके आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रिंशः सर्गः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आश्वमेधिकाव्य आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें तीसरा सर्ग पूरा हुआ ॥ ३० ॥

एकत्रिंशः सर्गः

श्रीराम और लक्ष्मणका संवाद, श्रीरामकी आज्ञासे लक्ष्मणका सुहृदोंसे पूछकर और दिव्य
आयुध लाकर वनगमनके लिये तैयार होना, श्रीरामका उनसे ब्राह्मणोंको धन
बाँटनेका विचार व्यक्त करना

एवं श्रुत्वा स संवादं लक्ष्मणः पूर्वमागतः ।

वाच्यपर्याकुलमुखः शोकं सोढुमशक्नुवन् ॥ १ ॥

जिस समय श्रीराम और सीतामें बाल्मिकी हो रहा
था, लक्ष्मण वहाँ पहलेसे ही आ गये थे। उन दोनोंका
ऐसा संवाद सुनकर उनका मुखमण्डल आँसुओंसे भीग
गया। भाईके विस्तृत शोक अब उनके लिये भी असह्य
हो उठा ॥ १ ॥

स भ्रातृश्ररणौ गाढं निषोद्ध रघुनन्दनः ।

सीतामुवाचातिथशां राघवं च महाव्रतम् ॥ २ ॥

रघुकुलकी आनन्दित करनेवाले लक्ष्मणने ज्येष्ठ
भ्राता श्रीरामचन्द्रजीके दोनों पैर जोरसे पकड़ लिये और
अत्यन्त यशस्विनी सीता तथा महान् व्रतधारी श्रीरघुनाथजीसे
कहा— ॥ २ ॥

यदि गन्तुं कृता बुद्धिर्वनं भगवतायुतम् ।

अहं स्वानुगमिष्यामि वनमग्रे भनुर्धरः ॥ ३ ॥

'आर्य ! यदि आपने सहस्वी वन्य पशुओं तथा हार्थियोंसे
भरे हुए वनमें जानेका निश्चय कर ही लिया है तो मैं भी
आपका अनुसरण करूँगा। अनुव हाथमें लेकर आगे-
आगे चलूँगा ॥ ३ ॥

यथा सपेनोऽरण्यानि रम्याणि विचरिष्यामि ।

पक्षिभिर्मृगपृथैश्च संघुष्टानि समन्ततः ॥ ४ ॥

'आप मेरे साथ पक्षियोंके कलरव और भ्रमरसमूहोंके
गुञ्जारवसे गूँजते हुए रमणीय वनोंमें सब ओर विचरण
कीजियेगा ॥ ४ ॥

न देवल्लोकाक्रमणं सामरत्वमहं वृणे ।

ऐश्वर्यं चापि लोकानां कायये न त्वया विना ॥ ५ ॥

'मैं आपके बिना स्वर्गमें जाने, अथवा होने तथा सम्पूर्ण

ततः प्रहृष्टा प्रतिपूर्णमानसा

यशस्विनी भर्तृरक्षेक्ष्य भाषितम् ।

धनानि रत्नानि च दातुमङ्गना

प्रचक्रमे धर्मधृतां मनस्विनी ॥ ४७ ॥

तदन्तर अपना मनोरथ पूर्ण हो जानेसे अत्यन्त हर्षमें
भरी हुई यशस्विनी एवं मनस्विनी सीता देवी स्वामीके
आदेशपर विचार करके धर्मात्मा ब्राह्मणोंको धन और रत्नोंका
दान करनेके लिये उद्यत हो गयीं ॥ ४७ ॥

लेकोंका ऐश्वर्य प्राप्त करनेकी भी इच्छा नहीं रखता' ॥ ५ ॥

एवं ब्रुवाणः सौमित्रिर्वनवासाय निश्चितः ।

रामेण बहुभिः सान्त्वैर्निषिद्धः पुनरब्रवीत् ॥ ६ ॥

वनवासके लिये निश्चित विचार करके ऐसी बात
कहनेवाले सुमित्राकुमार लक्ष्मणको श्रीरामचन्द्रजीने बहुत-से
सान्त्वनापूर्ण वचनोंद्वारा समझाकर जब वनमें चलनेसे मना
किया, तब ये फिर बोले— ॥ ६ ॥

अनुज्ञातस्तु भवता पूर्वमेव यदस्थ्यहम् ।

किमिदानीं पुनरपि क्रियते मे निवारणम् ॥ ७ ॥

'यह ! आपने तो पहलेसे ही मुझे अपने साथ
रहनेकी आज्ञा दे रखी है, फिर हम समय आप मुझे क्यों
रोकते हैं ? ॥ ७ ॥

यदर्थं प्रतिवेधो मे क्रियते गन्तुमिच्छतः ।

एतद्विष्णुमि विज्ञातुं संशयो हि ममानघ ॥ ८ ॥

निष्ठाप रघुनन्दन ! जिस कारणसे आपके साथ
चलनेकी इच्छावाले मुझको आप मना करते हैं, उस
कारणका मैं जानना चाहता हूँ मैंने हृदयमें इसके लिये बड़ा
संशय हो रहा है ॥ ८ ॥

ततोऽब्रवीन्महातेजा रामो लक्ष्मणमग्रतः ।

स्थितं प्रागापिनं धीरं याधमानं कृताङ्गलिम् ॥ ९ ॥

ऐसा कहकर धीर-धीर लक्ष्मण आगे जानेके लिये
तैयार हो भगवान् श्रीरामके सामने खड़े हो गये और
हाथ जोड़कर याचना करने लगे। तब महातजस्वी श्रीरामने
उनसे कहा— ॥ ९ ॥

स्त्रिंशो धर्मरतो धीरः सततं सत्यथे स्थितः ।

प्रियः प्राणसप्तो वश्यो विजेयश्च सरवा च मे ॥ १० ॥

'लक्ष्मण ! तू मेरे स्नेही, धर्मपरायण, धीर-धीर

तथा सदा सन्मार्गमे स्थित रहनेवाले हो। मुझे प्राणोंके समान प्रिय हो तथा मेरे चशमें रहनेवाले आज्ञापालक और सखा हो ॥ १० ॥

मयाद्य सह सौमित्रे त्वयि गच्छति तद्वनम् ।

को भविष्यति कौसल्यां सुमित्रां वा यशस्विनीम् ॥ ११ ॥

‘सुमित्रानन्दन ! यदि आज मेरे साथ तुम भी वनको चल दोगे तो परमयशस्विनी माता कौसल्या और सुमित्राको सेवा कौन करेगा ? ॥ ११ ॥

अभिवर्षति कामैर्यः पर्जन्यः पृथिवीमिव ।

स कामपाशपर्यस्तो महातेजा महींपतिः ॥ १२ ॥

‘जैसे मेघ पृथ्वीपर जलकी वर्षा करता है, उसी प्रकार जो सबकी कामनाएँ पूर्ण करते थे, वे महातेजस्वी महाराज दशरथ अब कैकेयीके प्रेमपाशमें बँध गये हैं ॥ १२ ॥

सा हि राज्यमिदं प्राप्य नृपस्याश्रपतेः सुता ।

दुःखितानां सपत्नीनां न करिष्यति शोभनम् ॥ १३ ॥

‘कैकयराज अधपतिकी पुत्री कैकेयी महाराजके इस राज्यको पाकर मेरे वियोगके दुःखमें डूबो हुई अपनी सीताके साथ अच्छा बर्ताव नहीं करेंगी ॥ १३ ॥

न धरिष्यति कौसल्यां सुमित्रां च सुदुःखिताम् ।

भरतो राज्यमासाद्य कैकेय्यां पर्यवस्थितः ॥ १४ ॥

‘भरत भी राज्य पाकर कैकेयीके अधीन रहनेके कारण दुःखिया कौसल्या और सुमित्राका भरण-पोषण नहीं करेंगे ॥ १४ ॥

तामार्थां स्वयमेवेह राजानुग्रहणेन वा ।

सौमित्रे भर कौसल्यामुक्तमर्थमप्यु चर ॥ १५ ॥

‘अतः सुमित्राकुमार ! तुम यहाँ रहकर अपने प्रयत्नमें अथवा राजाकी कृपा प्राप्त करके माता कौसल्याका पालन करो, मेरे बताये हुए इस प्रयोजनको ही सिद्ध करो ॥ १५ ॥

एवं मयि च ते भक्तिर्भविष्यति सुदर्शिता ।

धर्मज्ञगुरुपूजार्थां धर्मश्चाप्यतुलो महान् ॥ १६ ॥

‘ऐसा करनेसे मेरे प्रति जो तुम्हारी भक्ति है, वह भी भलीभाँति प्रकट हो जायगी तथा धर्मज्ञ गुरुजनोंकी पूजा करनेसे जो अनुपम एवं महान् धर्म होता है, वह भी तुम्हें प्राप्त हो जायगा ॥ १६ ॥

एवं कुरुष्व सौमित्रे भक्तते रघुनन्दन ।

अस्माभिर्विप्रहीणतया मातुर्नो न भवेत् सुखम् ॥ १७ ॥

‘रघुकुलको आनन्दित करनेवाले सुमित्राकुमार ! तुम मेरे लिये ऐसा ही करो, क्योंकि हमलोगोंमें बिछुड़ी हुई हमारा माँको कभी सुख नहीं होगा (वह सदा हमारा ही चिन्तामें डूबी रहेगी) ॥ १७ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः इलक्ष्मणा गिरा ।

प्रत्युवाच तदा रामे वाक्यज्ञो वाक्यकोविदम् ॥ १८ ॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर बानचौतके मर्मको समझनेवाले लक्ष्मणने उस समय बातका तात्पर्य समझनेवाले श्रीरामको मधुर वाणीमें उत्तर दिया— ॥ १८ ॥

तवैव तेजसा वीर भरतः पूजयिष्यति ।

कौसल्यां च सुमित्रां च प्रयतो नास्ति संशयः ॥ १९ ॥

‘वीर ! आपके ही तेज (प्रभाव) से भरत माता कौसल्या और सुमित्रा दोनोंका पवित्र भावसे पूजन करेंगे, इसमें संशय नहीं है ॥ १९ ॥

यदि दुःस्थो न रक्षेत भरतो राज्यमुत्तमम् ।

प्राप्य दुर्मनसा वीर गर्वेण च विशेवतः ॥ २० ॥

तमहं दुर्मतिं क्रूरं वधिष्यामि न संशयः ।

तत्पक्षानपि तान् सर्वोत्तमोक्तमपि किं तु सा ॥ २१ ॥

कौसल्या विधूयादार्या सहस्रं मद्विधानपि ।

यस्याः सहस्रं प्रापाणां सम्प्राप्तमुपजीविनाम् ॥ २२ ॥

‘वीरवर ! इस उत्तम राज्यको पाकर यदि भरत क्रूर रास्तेपर चलेगे और दुर्मित हृदय एवं क्रिपितः घमण्डके कारण माताओंको रक्षा नहीं करेंगे तो मैं उन दुर्बुद्धि और क्रूर भरतका तथा उनके पक्षका समर्थन करनेवाले उन सब लोगोंका वध कर डालूँगा, इसमें संशय नहीं है। यदि सारी त्रिलोकी उनका पक्ष करने लगे तो उसे भी अपने प्राणोंसे हाथ धोना पड़ेगा, परंतु बड़ी माता कौसल्या तो स्वयं ही मेरे जैसे सख्तों मनुष्योंका भी भरण कर सकती है, क्योंकि उन्हें अपने आश्रितोंका पालन करनेके लिये एक सहस्र गाँव मिले हुए हैं ॥ २०—२२ ॥

तदात्मभरणे चैव मय मातुस्तथैव च ।

पर्याप्ता मद्विधानां च भरणाय मनस्विनी ॥ २३ ॥

‘इसलिये वे भगस्वनों कौसल्या स्वयं ही अपना, मेरी माताका तथा मेरे-जैसे और भी बहुत-से मनुष्योंका भरण-पोषण करनेमें समर्थ है ॥ २३ ॥

कुरुष्व मामनुचरं वैद्यम्यं नेह विद्यते ।

कृतार्थोऽहं भविष्यामि तव चार्थः प्रकल्प्यते ॥ २४ ॥

‘अतः आप मुझको अपना अनुगामी बना लीजिये। इसमें कोई धर्मकी हानि नहीं होगी, मैं कृतार्थ हो जाऊँगा तथा आपका भी प्रयोजन मेरे द्वारा सिद्ध हुआ करेगा ॥

अनुगदाय सगुणं खनित्रपिटकाधारः ।

अग्रतस्ते गमिष्यामि पन्थानं तव दर्शयन् ॥ २५ ॥

‘प्रत्यक्षासहित अनुष लेकर खंती और पिटारी लिये आपको रास्ता दिखाना हुआ मैं आपके आगे-आगे चलूँगा ॥

आहरिष्यामि ते नित्यं मूलानि च फलानि च ।

वन्यानि च तथान्थानि स्वाहाहर्षणि तपस्विनाम् ॥ २६ ॥

‘प्रतिदिन आपके लिये फल-मूल लाऊँगा तथा तपस्वीजनोंके लिये वनमें मिलनेवाली तथा अन्यान्य हवन-सामग्री जुटाता रहूँगा ॥ २६ ॥

धवांस्तु सह वैदेह्या गिरिसान्बु रस्य से ।
अहं सर्वं करिष्यामि जायनः स्वपतञ्च ते ॥ २७ ॥

‘आप विदेहकुमारोंके साथ पर्वतशिखरापर भ्रमण करेंगे ।
वहाँ आप जागते हों या सोते, मैं हर समय आपके सभी
आवश्यक कार्य पूर्ण करूँगा’ ॥ २७ ॥

रामस्वनेन वाक्येन सुप्रीतः प्रत्युवाच तम् ।
ब्रजापृच्छस्व सौमित्रे सर्वमेव सुहृज्जनम् ॥ २८ ॥

लक्ष्मणको इस बातसे श्रीरामचन्द्रजीकी बड़ी प्रसन्नता हुई
और उन्होंने उनसे कहा—‘सुमित्रानन्दन । जाओ, माता
आदि सभी मुहूर्तसे मिलकर अपनी जनयात्राके व्यवहार पूछ
लो—उनकी आज्ञा एवं अनुमति ले लें ॥ २८ ॥

ये छ राजा ददौ दिव्ये महाम्बा वज्रः स्वयम् ।
जनकस्य महायज्ञे धनुषी रौद्रदर्शने ॥ २९ ॥
अभेद्ये कवचे दिव्ये तूणी साक्षयसायको ।
आदित्यविमलाभी हौ स्वह्रौ हंमपरिष्कुनी ॥ ३० ॥
सत्कृत्य निहितं सर्वमेतदाचार्यस्थानि ।
सर्वमायुधमादाय क्षिप्रमाब्रज लक्ष्मण ॥ ३१ ॥

‘लक्ष्मण ! राजा जनकके महान् यज्ञमें स्वयं महाम्बा
वरुणने उन्हें जो देखनेमें भयकर दो दिव्य धनुष दिये थे
साथ ही, जो दो दिव्य अभेद्य कवच, असह्य बाणासे भरे हुए
दो तरकस तथा सूर्यकी भाँति निर्मल टोपिस दमकने हुए जो
दो सुवर्णभूषित सङ्ग प्रदान किये थे (वे सभी दिव्यास्त्र
मिथिलानरेशने मुझे दहेजमें दे दिये थे), उन सबका
आचार्यदेवकं घरमें सत्कारपूर्वक रखा गया है । तुम उन साँगे
आयुधोंको लेकर शीघ्र लौट आओ’ ॥ २९—३१ ॥

स सुहृज्जनमामन्त्र्य वनवासाय निश्चितः ।
इक्ष्वाकुगुरुमागम्य जग्राहायुधपुनमम् ॥ ३२ ॥

आज्ञा पाकर लक्ष्मणजी गये और सुहृज्जनोंकी अनुमति
लेकर वनवासके लिय निश्चितरूपसे तैयार श्री इक्ष्वाकुगुरुके

गृह वसिष्ठजीके यहाँ गये । वहाँसे उन्होंने उन उत्तम
आयुधोंको ले लिया ॥ ३२ ॥

तद् दिव्यं राजशार्दूलः सत्कृतं माल्यभूषितम् ।
रामाय दर्शयामास सौमित्रिः सर्वमायुधम् ॥ ३३ ॥
क्षत्रियांशरामाणि सुमित्राकुमार लक्ष्मणान् सत्कारपूर्वक रखे
हुए उन माल्यभूषित समस्त दिव्य आयुधोंको लाकर उन्हें
श्रीरामको दिखाया ॥ ३३ ॥

तमुवाचात्मवान् रामः प्रीत्या लक्ष्मणमागतम् ।
कालं त्वयागत सौम्य काङ्क्षिते षप लक्ष्मण ॥ ३४ ॥
तब मनस्वी श्रीरामने वहाँ आये हुए लक्ष्मणसे प्रसन्न
होकर कहा—‘सौम्य ! लक्ष्मण ! तुम ठीक समयपर आ
गये । इसी समय तुम्हारा आना मुझे अभीष्ट था ॥ ३४ ॥
अहं प्रदातुमिच्छामि यदिदं मामकं धनम् ।
ब्राह्मणेभ्यस्तपस्विभ्यस्त्वया सह परंतप ॥ ३५ ॥

‘शत्रुओंको संताप देनेवाले वीर ! मेरा जो यह धन
है, इसे मैं तुम्हारे साथ रहकर तपस्वी ब्राह्मणोंको बाँटना
चाहता हूँ ॥ ३५ ॥

वमन्तीह दृढं भक्त्या गुरुषु द्विजस्तथाः ।
तेषामपि च मे पूय सर्वेषां चोपजीविनाम् ॥ ३६ ॥
‘गुरुजनोंके प्रति सुदृढ़ भक्तिभावसे युक्त जो श्रेष्ठ ब्राह्मण
यहाँ मेरे पास रहने हैं, उनको तथा समस्त आश्रितजनोंको भी
मुझे अपना यह धन बाँटना है ॥ ३६ ॥

वसिष्ठपुत्रं तु सुयज्ञमार्यं
त्वमानयाशु प्रवरं द्विजानाम् ।
अपि प्रयास्यामि वने समस्ता-
नभ्यर्च्य शिष्टानपरान् द्विजातीन् ॥ ३७ ॥

‘वसिष्ठजीके पुत्र जो ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ आर्य सुयज्ञ हैं, उन्हें
तुम शीघ्र यहाँ बुला लाओ । मैं इन सबका तथा और जो ब्राह्मण
रह गये हों उनका भी सत्कार करके वनको आऊँगा’ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकत्रिंशः सर्गः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आदिशायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें इकतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशः सर्गः

सीतासहित श्रीरामका वसिष्ठपुत्र सुयज्ञको बुलाकर उनके तथा उनकी पत्नीके लिये बहुमूल्य
आभूषण, रत्न और धन आदिका दान तथा लक्ष्मणसहित श्रीरामद्वारा ब्राह्मणों, ब्रह्मचारियों,
सेवकों, त्रिजट ब्राह्मण और सुहृज्जनोंको धनका वितरण

ततः शासनमाज्ञाय भ्रातुः प्रियकरं हितम् ।
गत्वा स प्रविवेशाशु सुयज्ञस्य निवेशनम् ॥ १ ॥

तदनन्तर अपने भाई श्रीरामकी प्रियकारक एवं हितकर
आज्ञा पाकर लक्ष्मण वहाँसँ चल दिये । उन्होंने शीघ्र ही
गुरुपुत्र सुयज्ञके घरमें प्रवेश किया ॥ १ ॥

तं विप्रमन्यमारस्थं वन्दित्वा लक्ष्मणोऽब्रवीत् ।
सखेऽध्यागच्छ पश्य त्वं वेश्म दुष्करकारिणः ॥ २ ॥
उस समय विप्रवार सुयज्ञ अग्रिशालमें बैठे हुए थे ।
लक्ष्मणने उन्हें प्रणाम करके कहा ‘सखे दुष्करकर्म करनेवाले
श्रीरामचन्द्रजीके घरपर आओ और उनका कार्य देखो’ ॥ २ ॥

ततः संध्यामुपास्थाय गत्वा सौमित्रिणा सह ।

ब्रह्मं स प्राविशाल्लक्ष्म्या रम्यं रामनिवेशनम् ॥ ३ ॥

सुयज्ञने मध्याह्नकालवने संध्यापासना पूरी करके लक्ष्मणके साथ जाकर श्रीरामके रमणीय भवनमें प्रवेश किया, जो लक्ष्मीसे सम्पन्न था ॥ ३ ॥

तमागतं वेदविदं प्राञ्जलिः सीतया सह ।

सुयज्ञमभिचक्राम राघवोऽग्निमिवार्चितम् ॥ ४ ॥

होमकालमें पूजित अग्निके समान तेजस्वी वेदवेत्ता सुयज्ञको आया जान सीतासहित श्रीरामने हाथ जोड़कर उनकी अगवाणी की ॥ ४ ॥

जातरूपमयमुत्थरङ्गैः कुण्डलैः शुभैः ।

सहेमसूत्रैर्मणिभिः केयूँर्वलयैरपि ॥ ५ ॥

अन्यथा रत्नैर्वाहुभिः काकुत्स्थः प्रत्यपूजयत् ।

तन्वक्ष्यान् ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामने सोनक बने हुए श्रेष्ठ अङ्गदों, सुन्दर कुण्डलों, सुवर्णमय सूत्रों, पियायों हुई मणियों, केयूरों, वलयों तथा अन्य बहुत-से रत्नोंद्वारा उनका पूजन किया ॥

सुयज्ञं स तदोवाच रामः सीताप्रचोदितः ॥ ६ ॥

हारं च हेमसूत्रं च भार्यायै सौम्य हारय ।

रशनां चाथ सा सीता दातुमिच्छति ते सखी ॥ ७ ॥

इसके बाद सीताको प्रेरणासे श्रीरामने सुयज्ञसे कहा— 'सौम्य ! तुम्हारे पत्नीव्रते सखी सीता तुम्हें अपना हार, सुवर्णसूत्र और कण्ठधनी देना चाहती है, इन वस्तुओंको अपनी पल्लके लिये ले जाओ ॥ ६-७ ॥

अङ्गदानि च चित्राणि केयूरगणि शुभानि च ।

प्रयच्छति सखी तुभ्यं भार्यायै गच्छती वनम् ॥ ८ ॥

'वनको प्रस्थान करनेवाली तुम्हारे सौकर्य सखी सीता तुम्हें तुम्हारे पत्नीके लिये विचित्र अङ्गद और सुन्दर केयूर भी देना चाहती है ॥ ८ ॥

पर्यङ्कमध्यास्तरणं नानारत्नविभूषितम् ।

तमपीच्छति वेदेहो प्रतिष्ठापयितुं त्वयि ॥ ९ ॥

उत्तम बिछौनोंमें युक्त तथा नाना प्रकारके रत्नोंमें विभूषित जो परलंग है, उसे भी विदेहनन्दिनी सीता तुम्हारे ही घरमें भेंट देना चाहती है ॥ ९ ॥

नागः शत्रुजयो नाथ मातुलोऽयं ददौ मम ।

तं ते निष्कसहस्रेण ददामि द्विजपुङ्गव ॥ १० ॥

त्रिप्रवर । शत्रुजय नामक जो हाथी है, जिसे मेरे मामाने मुझे भेंट किया था, उसे एक हजार अश्वरथियोंके साथ मैं तुम्हें अर्पित करता हूँ ॥ १० ॥

इत्युक्तः स तु रामेण सुयज्ञः प्रतिगृह्य तत् ।

रामलक्ष्मणसीतानां प्रयुयोजाशिवः शिवाः ॥ ११ ॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर सुयज्ञने वे सब वस्तुएँ ग्रहण करके श्रीराम, लक्ष्मण और सीताके लिये भङ्गलमय आशीर्वाद प्रदान किये ॥ ११ ॥

अथ भ्रातरमध्यस्थं प्रियं रामः प्रियंवदम् ।

सौमित्रि तमुवाचेदं ब्रह्मोव त्रिदशेश्वरम् ॥ १२ ॥

तदनन्तर श्रीरामने शान्तभावमें खड़े हुए और प्रिय वचन बोलनेवाले अपने प्रिय भ्राता सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे उसी तरह निर्ग्राहित बात कही, जैसे ब्रह्मा देवराज इन्द्रसे कुछ कहते हैं ॥ १२ ॥

अगस्त्यं कौशिकं चैव तावुभौ ब्राह्मणोत्तमौ ।

अर्चयाहूय सौमित्रे रत्नैः सम्यपिवाम्युभिः ॥ १३ ॥

तर्पयन् महाबाहो गौसहस्रेण राघव ।

सुवर्णरजतैश्च मणिभिश्च महाधनैः ॥ १४ ॥

'सुमित्रानन्दन ! अगस्त्य और विश्वामित्र दोनों उत्तम ब्राह्मणोंके बुद्धकर सम्प्राप्त उनको पूजा करो महाबाहु रघुनन्दन । जैसे मेघ जलको सर्गाद्वारा खेतोंको तुल करती है, उसी प्रकार तुम उन्हें सहस्र गौओं, सुवर्णमुद्राओं, रजतद्रव्यों और बहुमूल्य मणियोंद्वारा संतुष्ट करो ॥ १३-१४ ॥

कौसल्यां च य आशीर्भिर्भक्तः पर्युपतिष्ठति ।

आचार्यस्तेतिरीयाणामभिरूपश्च वेदवित् ॥ १५ ॥

तस्य यानं च दासीश्च सौमित्रे सम्प्रदापय ।

कौशेयानि च वस्त्राणि यावत् तुष्यति स द्विजः ॥ १६ ॥

'लक्ष्मण ! यजुर्वेदीय तैत्तिरीय शाखाका अध्ययन करनेवाले ब्राह्मणोंके जो आचार्य और सम्पूर्ण वेदोंके विद्वान् हैं, साथ ही जिसमें दानप्राप्तिकी योग्यता है तथा जो माना कौसल्याके प्रति भक्तिभाव रखकर प्रतिदिन उनके पास आकर उन्हें आशीर्वाद प्रदान करते हैं, उनको सवारी, दास-दासी, रेशमी वस्त्र और जितन धनसे वे ब्राह्मणदेवता संतुष्ट हों, उतना धन स्वयंसे दिलवाओ ॥ १५-१६ ॥

सुतश्चित्ररथश्चार्यः सचिवः सुचिरोचितः ।

तोषयन् महाहैश्च रत्नैर्वस्त्रैर्यनैस्तथा ॥ १७ ॥

पशुकाभिश्च सर्वाभिर्गवां दशशतं च ।

चित्ररथ नामक मृग शत्रु मचिव भी हैं । वे सुदुर्लभकालसे यहाँ राजकुलकी सेवामें रहने हैं इनका भी तुम बहुमूल्य रत्न, वस्त्र और धन देकर संतुष्ट करो । साथ ही, इन्हें उत्तम श्रेणीके अज आदि सभी पशु और एक सहस्र गौएँ अर्पित करके पूर्ण संतोष प्रदान करो ॥ १७ ॥

ये चेमे कठकालापा बहवो दण्डपाणवाः ॥ १८ ॥

नित्यस्वाध्यायशौलत्वाभ्रान्यत् कुर्वन्ति किञ्चन ।

अलमा स्वादुकामाश्च महतां चापि सम्मताः ॥ १९ ॥

नेषामशीतियानानि रत्नपूर्णानि दापय ।

शालिवाहसहस्रं च हे शते भद्रकास्तथा ॥ २० ॥

'मुझसे सम्बन्ध रखनेवाले जो कठकाला और कलाप-शाखाके अध्ययन करनेवाले दण्डधारी ब्रह्मचारी हैं, वे सदा स्वाध्यायमें ही संलग्न रहनेके कारण दूसरा कोई कार्य नहीं कर पाते । पिछा माँगनेमें आलस्यो है परन्तु स्वादिष्ट अन्न खानेको

इच्छा रखते हैं। महान् पुरुष भी उनका सम्मान करने हैं। उनके लिये रत्नाक बोझा में लड़े हुए अस्सी ऊँट अण्डनों चण्डलका भार होनेवाले एक सहस्र बेल तथा भद्रक नामक धान्यविशेष (चने, मूँग आदि) का भार लिये हुए दो सौ बेल और दिल्वाओ ॥ १८—२० ॥

व्यञ्जनार्थं च सौमित्रे गोसहस्रमुपाकुरु ।

येरवलीनां महासङ्घः कौसल्यां सम्पुर्णस्थितः ।

तेषां सहस्रं सौमित्रे प्रत्येकं सम्पदापय ॥ २१ ॥

‘सुमित्राकुमार ! उपर्युक्त वस्तुओं के सिवा उनके लिये दही, घी आदि व्यञ्जन के निमित्त एक सहस्र गौएँ भी हँकवा दो। माता कौसल्या के पास मेरवलाधारों ब्रह्मचारियों का बहुत बड़ा समुदाय आया है। उनमेंसे प्रत्येकको एक-एक हजार स्वर्णमुद्राएँ दिल्वा दो ॥ २१ ॥

अम्मा यथा नो नन्देत्त कौमल्या मम दक्षिणाम् ।

तथा द्विजार्तीम्तान् सर्वास्तैर्लक्ष्मणार्चय सर्वशः ॥ २२ ॥

‘लक्ष्मण ! तब समस्त ब्रह्मचारी ब्राह्मणोंको मेरद्वारा दिलायी हुई दक्षिणा देवकर जिस प्रकार मरी माता कौमल्या आनन्दित हो उठे, उसी प्रकार तुम तब सबको सब प्रकार से पूजा करो ॥ २२ ॥

ततः पुण्यशार्दूलस्तद् धनं लक्ष्मणः स्वयम् ।

यद्योक्तं ब्राह्मणेन्द्राणामददाद् धनदो यथा ॥ २३ ॥

इस प्रकार आज्ञा प्राप्त होनेपर पुरुषसिंह लक्ष्मण ने स्वयं ही कुयेरकी भाँति श्रीराम के कथनानुसार उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको उस धनका दान किया ॥ २३ ॥

अथाब्रवीद् वाक्यगतांस्तिष्ठतश्चोपजीविनः ।

स प्रदाय बहुद्रव्यमेकैकस्योपजीवनम् ॥ २४ ॥

लक्ष्मणस्य च यद् वेश्म गृहं च धदिदं मम ।

अशून्यं कार्यमेकैकं यावदागमनं मम ॥ २५ ॥

इसके बाद वहाँ खड़े हुए अपने आश्रित सेवकोंको जिनका गला आँसुओंसे रँधा हुआ था, मुत्तकर श्रीराम ने उनमेंसे एक-एकको चाँदह वर्षांतक जीविका चलानेवांग्य बहुत सा द्रव्य प्रदान किया और उन सबसे कह्य—‘जबतक मैं वनसे लौटकर न आऊँ, तबतक तुमलोग लक्ष्मण के और मेरे इस घरको कभी सुना न करना—छाड़कर अन्यत्र न जाना ॥ २४-२५ ॥

इत्युक्त्वा ह्युत्थितं सर्वं जनं तमुपजीविनम् ।

उवाचेद् धनाध्यक्षं धनमानीयतां मम ॥ २६ ॥

वे साथ में एक श्रीराम के जनगमन से बहुत दुःखी थे। उनमें उपर्युक्त बात कहकर श्रीराम अपने धनाध्यक्ष (तज्जीर) से बोले—‘खजाने में मेरा जितना धन है, वह सब ले आओ ॥

ततोऽस्य धनमाजहः सर्वं एवोपजीविनः ।

स राशिः सुगर्हास्तत्र दर्शनीयो ह्यदृश्यत ॥ २७ ॥

यह सुनकर सभी सेवक उनका धन ढो-ढोकर ले आने

लगे। वहाँ उस धनको बहुत बड़ी राशि एकत्र हुई दिखायी देने लगी, जो देखने ही योग्य थी ॥ २७ ॥

ततः स पुरुषव्याघ्रस्तद् धनं सहलक्ष्मणः ।

द्विजेभ्यो बालवृद्धेभ्यः कृपणेभ्यो ह्युदापयत् ॥ २८ ॥

तब लक्ष्मणसाहन पुरुषसिंह श्रीराम ने बालक और बृद्ध ब्राह्मणों तथा दान-भुक्तियोंको वह सारा धन बँटवा दिया।

तत्रास्मौ च पिङ्गलो गार्ग्यस्त्रिजटो नाम वै द्विजः ।

क्षनवृत्तिर्वने नित्यं फलकुहाललाङ्गली ॥ २९ ॥

उन दिनी वहाँ अयोध्याके आस-पास धनमें त्रिजट नामवाले एक गर्मगात्रा ब्राह्मण रहते थे। उनके पास जीविकाका कोई साधन नहीं था, इसलिए उपवास आदिके कारण उनके अंगोरका रंग पाल्त्र पड़ गया था। वे सदा फाल, कुहाल और हल लिये वनमें फल-मूलको तलाशमें घूमा करते थे ॥ २९ ॥

तं वृद्धं तरुणी भार्या बालानादाय दारकान् ।

अब्रवीद् ब्राह्मणं वाक्यं स्त्रीणां भर्ता हि देवतार ॥ ३० ॥

अपास्य फाले कुहाले कुरुष्व चवनं मम ।

रामं दर्शय धर्मज्ञं यदि किञ्चिदवाप्यसि ॥ ३१ ॥

वे स्वयं तो बृद्धे ही चले थे, परन्तु उनकी पत्नी अभी तरुणी थी। उसने छोटे बच्चोंको लेकर ब्राह्मणदेवता से यह बात कही—‘ब्राह्मण ! (चन्द्राप) त्रियोक लिये पाँच ग्री दयता है, अन मुझ आँखों आदेश दनका कोई अधिकार नहीं है, तबतक मैं आपकी धनक हूँ। इसलिए त्रियोक यहाँ अनुरोध करता हूँ कि—) आप यह फाल और कुहाल फेंककर मेरा कहना क्रिये। धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्रजीसे मिलिये। यदि अण्य ऐसा करे तो वहाँ अवश्य कुछ पा जायेंगे ॥ ३०-३१ ॥

स भार्याया वचः श्रुत्वा शाटीमाच्छाद्य दुःखदाम् ।

स प्रतिष्ठित पन्थाने यत्र रामनिवेशनम् ॥ ३२ ॥

पत्नीकी बात सुनकर ब्राह्मण एक फटी धोती, जिससे पुश्किलसे ढाँरेर ढक पाता था, पहनकर उस मार्गपर चल दिये, जहाँ श्रीरामचन्द्रजीका महल था ॥ ३२ ॥

भूखङ्गिरःसमं दीप्या त्रिजटं जनसंसदि ।

आपञ्चमायाः कक्ष्याथा नैते कश्चिदवारयन् ॥ ३३ ॥

भृगु और अङ्गिरा के समान तेजस्वी त्रिजट जनसमुदायके बीचसे होकर श्रीराम-भवनको पाँचवीं डीहीदीतक चले गये, परन्तु उनके लिये किसीने रोक-टोक नहीं की ॥ ३३ ॥

स राममासाद्य तदा त्रिजटो वाक्यमब्रवीत् ।

निर्धनो बहुपुत्रोऽस्मि राजपुत्र महाबल ॥ ३४ ॥

क्षनवृत्तिर्वने नित्यं प्रत्यवेक्षस्व मामिति ।

उस समय श्रीराम के पास पहुँचकर त्रिजटने कहा—‘महाबल राजकुमार ! मैं निर्धन हूँ, मेरे बहुत-से पुत्र हैं, जीविका नष्ट हो जानेसे सदा वनमें ही रहता हूँ, आप मुझपर कृपादृष्टि कीजिये ॥ ३४ ॥

तमुवाच ततो रामः परिहाससमन्वितम् ॥ ३५ ॥

गत्वा सहस्रमप्येकं न च विश्राणितं मया ।

परिक्षिपसि दण्डेन यावत्तावदवाप्यसे ॥ ३६ ॥

तब श्रीरामने विनोदपूर्वक कहा—'ब्रह्मन् ! मेरे पास असंख्य गौरें हैं, इनमेंसे एक सहस्रका भी मैंने अभी तक किसीको दान नहीं किया है। आप अपना डंडा जितनी दूर फेंक सकेंगे वहाँतककी सारी गौरें आपका मिल जायेंगे ॥

स शार्दी परितः कट्यां सम्भ्रान्तः परिवेष्ट्य ताम् ।

आविध्य दण्डं चिक्षेप सर्वप्राणेन वेगतः ॥ ३७ ॥

यह सुनकर उन्होंने बड़ी तेजोंके साथ धोनोंके घस्लेके सब ओरसे कमरमें लपेट लिया और अपनी सारी शक्ति लगाकर डंडेको बड़े वेगसे धुमाकर फेंका ॥ ३७ ॥

स तीर्त्वा सरयूधरं दण्डस्तस्य कराच्युतः ।

गोव्रजे बहुमाहस्त्रे पपातोक्षणसंनिधौ ॥ ३८ ॥

ब्राह्मणके हाथसे छूटा हुआ वह डंडा सरयूके उस पार जाकर हजारों गौआमें भर हुए गोष्ठमें एक साँड़के पास गिरा ॥ ३८ ॥

तैः परिष्वज्य धर्मात्मा आ तस्मात् सरयूतटात् ।

आनथापास सा गावस्त्रिजटस्माभ्रमं प्रति ॥ ३९ ॥

धर्मात्मा श्रीरामने त्रिजटको छातीमें लगा लिया और उस सरयूतटमें लेकर उस पार गिरे हुए डंडेके स्थानतक जितनी गौरें थीं, उन सबको मैगवाकर त्रिजटके आश्रमपर भेज दिया ॥

उवाच च तदा रामस्ते गार्ग्यभधिसान्त्वयन् ।

मन्युर्न खलु कर्तव्यः परिहासो ह्ययं मय ॥ ४० ॥

उस समय श्रीरामने गार्ग्यशर्मा त्रिजटको सान्त्वना देने हुए कहा—'ब्रह्मन् ! मैंने विनोदमें यह बात कही थी, आप इसके लिये बुरा न मानियेगा ॥ ४० ॥

इदं हि तेजस्तव यद् दुरत्ययं

तदेव जिज्ञासितुमिच्छता मया ।

इमं भवानर्थमभिप्रचोदितो

वृणीष्व किंचेदपरं व्यवस्यसि ॥ ४१ ॥

'आपका यह जो दुर्लभ तेज है, इसीको जाननेकी इच्छासे मैंने आपको यह डंडा फेंकनेके लिये प्रेरित किया

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्वाविंशः सर्गः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें अंतीमवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशः सर्गः

सीता और लक्ष्मणसहित श्रीरामका दुःखी नगरवासियोंके मुखसे तरह-तरहकी बातें सुनते हुए पिताके दर्शनके लिये कैकेयीके महलमें जाना

दत्त्वा तु सह वैदेह्यं ब्राह्मणेभ्यो धनं बहु ।

जग्मतुः पितरं द्रष्टुं सीतया सह राघवी ॥ १ ॥

विदेहकुमारी सीताके साथ श्रीराम और लक्ष्मण ब्राह्मणोंको बहुत-सा धन दान करके वन जानेके लिये उद्यत

था, यदि आप और कुछ चाहते हों तो माँगिये ॥ ४१ ॥

ब्रवीषि सत्येन न ते स्व यन्त्रणां

धनं हि यद्यन्यम विप्रकारणात् ।

भवत्सु सम्यक्प्रतिपादनेन

मयार्जितं धैव यशस्करं भवेत् ॥ ४२ ॥

मैं सच कहता हूँ कि इसमें आपके लिये कोई संकोचकी बात नहीं है। मेरे पास जो जो धन है, वह सब ब्राह्मणोंके लिये ही है। आप-जैसे ब्राह्मणोंको शास्त्रीय विधिके अनुसार दान देनेस मेरे द्वारा उपार्जित किया हुआ धन मेरे यशकी वृद्धि करनेवाला होगा ॥ ४२ ॥

ततः सभार्यस्त्रिजटो महामुनि-

गवायनीकं प्रतिगृह्य मोदितः ।

यशोबलप्रीतिसुखोपवृंहिणी-

स्तदाशिवः प्रत्यवदन्यहात्मनः ॥ ४३ ॥

गौओंके उस महान् समूहको पाकर पत्नीसहित महामुनि त्रिजटको बड़ी प्रसन्नता हुई, वे महात्मा श्रीरामको यश, बल, प्रीति तथा सुख बढ़ानेवाले आशीर्वाद देने लगे ॥ ४३ ॥

स चापि रामः प्रतिपूर्णपौस्यो

महाधने धर्मबलैरुपार्जितम् ।

नियोजयामास सुहज्जने धिराद्

यथार्हसम्मानवचः प्रचोदितः ॥ ४४ ॥

तदनन्तर पूर्ण पण्डित श्रीराम धर्मबलसे उपार्जित किये हुए उस महान् धनको लोगोंके यथायोग्य सम्मानपूर्ण खचनेमें प्रेरित हो बहुत देरतक अपने सुहृदोंमें बाँटते रहे ॥ ४४ ॥

द्विजः सुहृद् धृत्यजनोऽथवा तदा

दरिद्रपिक्षावरणश्च यो भवेत् ।

न तत्र कश्चित् बभूव तर्पितो

यथार्हसम्माननदानसम्भ्रमैः ॥ ४५ ॥

उस समय वहाँ कोई भी ब्राह्मण, सुहृद्, सेवक, दरिद्र अथवा भिक्षुक ऐसा नहीं था, जो श्रीरामके यथायोग्य सम्मान, दान तथा आदर-सत्कारसे तृप्त न किया गया हो ॥

ये पिताका दर्शन करनेके लिये गये ॥ १ ॥

ततो गृहीते प्रेष्याध्यामशोभेतां तदायुधैः ।

मालादामभिरासक्ते सीतया समलंकृते ॥ २ ॥

उनके साथ दो सेवक श्रीराम और लक्ष्मणके वे धनुष

आदि आयुध लेकर चले, जिन्हें फूलको मालाआस सजाया गया था और संताजोंने पुजाके लिये चढ़ाये हुए चन्दन आदिसे अलंकृत किया था। उन दोनोंके आयुधोंका उस समय बड़ी शोभा हो रही थी ॥ २ ॥

ततः प्रासादहृष्याणि विमानशिखराणि च ।

अभिरुद्ध जनः श्रीमानुदासीनो व्यलोकयन् ॥ ३ ॥

उस अवसरपर धनी लोग प्रासादों (निमजिले महलों), हृष्यगृहों (राजभवन) तथा विमानों (मन मन्दिर महलों) की ऊपरी छतापर चढ़कर उदासीन भावसे उन दोनोंका ओर देखने लगे ॥ ३ ॥

न हि रथ्याः सुशक्यन्ते गन्तुं बहुजनाकुला ।

आरुह्य तस्मात् प्रासादाद् टीनाः पश्चान्न राघवम् ॥ ४ ॥

उस समय सहके मनुष्योंकी भीड़से भरी थी। इसलिये उनपर सुगमतापूर्वक चढ़ना कठिन हो गया था। अतः अधिकोश मनुष्य प्रासादों (निमजिले महलों) पर चढ़कर वहाँसे दुखी होकर श्रीरामचन्द्रजीकी ओर देख रहे थे ॥ ४ ॥

पदाति सानुजं दृष्ट्वा ससीत च जनास्तदा ।

अचुर्वहजना याचः शोकोपहतचेतसः ॥ ५ ॥

श्रीरामको अपने छोटे भाई लक्ष्मण और पत्नी सीताके साथ पैदल जाते देख बहुतसे मनुष्योंका हृदय शक्यसे व्याकुल हो उठा। वे खेदपूर्वक कहने लगे— ॥ ५ ॥

यं यान्नमनुयाति स्म चतुरङ्गबलं महन् ।

तमेकं सीतया सार्धमनुयाति स्म लक्ष्मणः ॥ ६ ॥

'हाय ! यात्राके समय जिनके पीछे विशाल चतुरङ्गी सेना चलती थी, वे ही श्रीराम आज अकेले जा रहे हैं और उनके पीछे सीताके साथ लक्ष्मण चल रहे हैं ॥ ६ ॥

ऐश्वर्यस्य रमज्ञः सन् कामानां चाकरो महान् ।

नेच्छत्येकानृतं कर्तुं वचनं धर्मगौरवात् ॥ ७ ॥

'जो ऐश्वर्यके सुखका अनुभव करनेवाले तथा भोग्य वस्तुओंके महान् भण्डार थे—जहाँ 'मदः' कामनाएँ पैदा होती थीं वे ही श्रीराम आज धर्मका गौरव रखनेके लिये पिताकी बात झूठी करना नहीं चाहते हैं ॥ ७ ॥

या न शक्या पुरा ब्रह्म भूतैरगकाशगिरिभिः ।

तामद्य सीतां पश्यन्ति राजमार्गगता जनाः ॥ ८ ॥

'ओह ! पहले जिसे आकाशमें विचरनेवाले प्राणी भी नहीं देख पाते थे, उसी संताको इस समय सड़कापर खड़े हुए लोग देख रहे हैं ॥ ८ ॥

अङ्गरागोच्चितां सीतां रक्तचन्दनसेविनीम् ।

वर्षघुष्णां च शीतं च नेष्यत्याशु विवर्णताम् ॥ ९ ॥

'सीता अङ्गराग-सेवनके श्रेष्ठ हैं, लाल चन्दनका सेवन करनेवाली हैं। अब सर्दी, गर्मी और मर्दों शीघ्र ही इनके अङ्गोंकी कान्ति फीकी कर देंगे ॥ ९ ॥

अद्य नूनं दशरथः सत्त्वमाविश्य पाषते ।

नहि राजा प्रियं पुत्रं विद्यामयितुमर्हति ॥ १० ॥

निश्चय ही आज राजा दशरथ किमो पिशाचके आवेशमें पड़कर अनुचित बान कह रहे हैं क्योंकि अपनी स्वाभाविक ग्यानमें रहनेवाला कोई भी राजा अपने प्यारे पुत्रको घरसे निकाल नहीं सकता ॥ १० ॥

निर्गुणस्यापि पुत्रस्य कथं स्याद् विनिवासनम् ।

किं पुनर्यस्य लोकोऽयं जिनी धृतेन केवलम् ॥ ११ ॥

'पुत्र यदि गुणहीन हो तो भी उसे घरसे निकाल देनेका भाव्य कैसे हो सकता है ? फिर जिसके केवल चित्रसे ही घर माग संसार बशीबूत हो जाता है उसको वनवास देनेकी तो बान ही कैसे की जा सकती है ? ॥ ११ ॥

आनुशंस्यमनुक्रोशः श्रुतं शीलं दमः शमः ।

राघवं शोभयन्त्येते बह्वगुणाः पुरुषवर्षभम् ॥ १२ ॥

'कृतज्ञताका अभाव, दया, विद्या, शील, दम (इन्द्रिय-संयम) और शम (मनोनिग्रह)—ये छः गुण नरश्रेष्ठ श्रीरामको सदा ही सुशोभित करते हैं ॥ १२ ॥

तस्मान् तस्योपघातेन प्रजाः परमपीडिताः ।

आदिकानीव सत्त्वानि शीघ्रे सलिलसंक्षयात् ॥ १३ ॥

अतः इनके ऊपर आघात करने—इनके राज्याधिकारमें विघ्न डालनेसे प्रजाको उस तरह महान् क्लेश पहुँचा है, जैसे गर्मीमें जलाशयका पानी सूख जानेसे उसके भीतर रहनेवाले जीव तड़पने लगते हैं ॥ १३ ॥

पीडया पीडितं सर्वं जगदस्य जगत्पतेः ।

मूलस्येवोपघातेन वृक्षः पुष्पफलोपगः ॥ १४ ॥

'इन जगदीश्वर श्रीरामकी व्यथासे सम्पूर्ण जगत् व्यथित हो उठा है, जैसा जड़ काट देनेसे पुष्प और फलसहित सारा वृक्ष सूख जाता है ॥ १४ ॥

मूलं होष मनुष्याणां धर्मसारो महाद्युतिः ।

पुष्पं फलं च पत्रं च शाखाश्चास्येतरे जनाः ॥ १५ ॥

'ये महान् तेजस्वी श्रीराम सम्पूर्ण मनुष्योंके मूल हैं, धर्म ही इनका बल है। जगत्के दूसरे प्राणी पत्र, पुष्प, फल और शाखाएँ हैं ॥ १५ ॥

ते लक्ष्मण इव क्षिप्रं सपत्न्यः सहबान्धवाः ।

गच्छन्तमनुगच्छामो येन गच्छति राघवः ॥ १६ ॥

'अतः हमलोग भी लक्ष्मणकी भाँति पत्नी और बन्धुबान्धवाक साथ शीघ्र ही इन जानेवाले श्रीरामके ही पीछे पीछे चलेंगे। जिस मार्गसे श्रीरामनाथजी जा रहे हैं, उसीका हम भी अनुसरण करें ॥ १६ ॥

उद्यानानि परित्यज्य क्षेत्राणि च गृहाणि च ।

एकदुःखसुखा गममनुगच्छाम धर्मिकम् ॥ १७ ॥

'वाग-बागें, घर-हारे और खेतों-घरों—सब छोड़कर धर्मका श्रीरामका अनुगमन करें। इनके दुःख-सुखके साथी बनें ।

समुद्धृतनिधानानि परिध्वस्ताजिराणि च ।
उपात्तधनधान्यानि हृतभाराणि सर्वशः ॥ १८ ॥
रजसाप्यवकीर्णानि परित्यक्तानि दैवतैः ।
मूषकैः परिधातुं हि रुद्धैरायुतानि च ॥ १९ ॥
अपेतोदकधृमानि हीनसम्पार्जनानि च ।
प्रणष्टवर्तिकर्मैः श्यामन्त्रहोमजपानि च ॥ २० ॥
दुष्कालेनैव धनानि धिश्रभाजनवन्ति च ।
अस्मत्स्यक्तानि कैकेयी वंशमानि प्रतिपद्यताम् ॥ २१ ॥

‘हम अपने घरोंकी गड़ौ हुई निधि निकालें। आगन्तकों फर्श खोद डालें। साग घन-घान्य साथ ले लें। साग आवश्यक वस्तुएँ हटा लें। इनमें चारों ओर घुल भर जाय। देवता इन घरोंको छोड़कर भाग जायें। चूहे बिलसे बाहर निकलकर इनमें छतां आर दीड़ लगाने लगें और उनमें घे घर भर जायें। इनमें न कभी आग जले, न पानी रहे और न झाड़ू ही लगे। यज्ञ-कलिवैश्वदेव, यज्ञ-मन्त्रपाठ होम और जप बंद हो जाय। भस्मी बड़ा घारी अकाल पड़ गया हो, इस प्रकार वे सारे धन दह जायें। इनमें टूटे बर्तन बिखरे पड़ हों और हम सदाके लिये इन्हें छोड़ दें—ऐसी दशामें इन घरोंके कैकेयी आकर अधिकार कर लें ॥ १८—२१ ॥

वनं नगरमेवास्तु येन गच्छति राक्षसः ।
अस्माभिश्च परित्यक्तं पुरं सम्पद्यतां वनम् ॥ २२ ॥

‘जहाँ पहुँचनेके लिये ये श्रीरामचन्द्रजी जा रहे हैं, वह वन ही नगर हो जाय और हमारे छोड़ दनपर यह नगर भी वनके रूपमें परिणत हो जाय ॥ २२ ॥

बिलानि दंष्ट्रिणः सर्वे सानूनि भृगुपर्षिणः ।
त्यजन्त्वस्मद्भयाद्भीना गजाः सिंहा वनान्धपि ॥ २३ ॥

‘वनमें हमलोगोंके भयसे सर्प अपने बिल छोड़कर भाग जायें। पक्षनपर रहनेवाले भृगु और पक्षी इसके शिखरोंको छोड़ दें तथा हाथी और सिंह भी वन घनोंको त्यागकर दूर चले जायें ॥ २३ ॥

अस्मत्स्यक्तं प्रपद्यन्तु सेव्यमानं त्यजन्तु च ।
नृणामांसफलादानां देशं व्यालभृगद्विजम् ॥ २४ ॥

प्रपद्यतां हि कैकेयी सपुत्रा सह बान्धवैः ।
राघवेण वयं सर्वे वने वत्स्याम निर्वृताः ॥ २५ ॥

वे सर्प आदि उन स्थानोंमें चले जायें, जिन्हें हमलोगोंमें छोड़ रखा है और उन स्थानोंको त्याग दें, जिनका हम सेवन करते हैं। यह देश घास चरनेवाले पशुओं, मांसभक्षी हिंसक जन्तुओं और फल खानेवाले पक्षियोंका निवासस्थान बन जाय। यहाँ सर्प, पशु और पक्षी रहने लगें। हम दशामें पुत्र और मनु-बान्धवोंसहित कैकेयी इमें अपने

अधिकारमें कर लें। हम सब लोग वनमें श्रीरघुनाथजीके साथ बड़े आनन्दसे रहेंगे ॥ २४-२५ ॥

इत्येवं विविधा बाधो नानाजनममोरिताः ।
शुश्राव राघवः श्रुत्वा न विचक्रेऽस्य मानसम् ॥ २६ ॥

स तु वैश्वं पुनर्मातुः कैलासशिखरप्रभम् ।
अभिचक्राम धर्मात्मा धत्तमातङ्गविक्रमः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीने बहुत-से मनुष्योंके मुँहसे निकली हुई तरह तरहकी बातें सुनीं, किन्तु मुत्तका भी उनके मनमें कोई धिक्कार नहीं हुआ। मातङ्गल राजगजके समान परक्रमी धर्मात्मा श्रीराम पुनः माता कैकेयीके कैलासशिखरके सदृश शुभ भवनमें गये ॥ २६-२७ ॥

विनीतवीरपुरुषं प्रविश्य तु नृपालयम् ।
सदृशवस्थितं हीनं सुमन्त्रमविदूरतः ॥ २८ ॥

विभवशाली श्रीरामचन्द्रजीने पुनर्मातुसे युक्त उग्र राजभवनमें प्रवेश करके उत्तम देवः—सुमन्त्र पास ही दुःखी होकर खड़े हैं ॥ २८ ॥

प्रतीक्षमाणोऽभिजनं तदार्त-
भनार्तरूपः प्रहसन्निवाद्यः ।

जगाम रामः पितरं दिदृक्षुः
पितुर्निर्दिशं विधिवधिकीर्तुः ॥ २९ ॥

पूर्वजोंको निवासभूमि अवधके मनुष्य वहाँ शोकमें आतुर होकर खड़े थे। उन्हें देखकर भी श्रीराम स्वयं शोकसे पीड़ित नहीं हुए—उनके शरीरपर व्याका कोई चिह्न प्रकट नहीं हुआ। वे पिताको आज्ञाका विधिपूर्वक पालन करनेकी इच्छासे उनका दर्शन करनेके लिये हँसने हुए-से आगे बढ़े ॥ २९ ॥

तत्पूर्वर्षक्ष्वाकसुतो महात्मा
रामो गमिष्यन् नृपमार्तरूपम् ।

व्यनिष्ठत प्रेक्ष्य तदा सुमन्त्र
पितुर्महात्मा प्रतिहारणार्थम् ॥ ३० ॥

क्ष्वाककुलरूपमें पड़े हुए राजाके पास जानेवाले महान्धा महापना इक्ष्वाकुकुलनन्दन श्रीराम वहाँ पहुँचनेसे पहले सुमन्त्रको देखकर पिताके पास अपने आगमनकी सूचना भेजनेके लिये उस समय वहाँ ठहर गये ॥ ३० ॥

पितुर्निर्देशेन तु धर्मवत्सलो
धनप्रवेशो कृतबुद्धिनिश्चयः ।

स राघवः प्रेक्ष्य सुमन्त्रमब्रवी-
श्रिवंदयस्वागमनं नृपाय मे ॥ ३१ ॥

पिताके आदेशमें वनमें प्रवेश करनेका बुद्धिपूर्वक निश्चय करके आगे हुए धर्मवत्सल श्रीरामचन्द्रजी सुमन्त्रको आगे देखकर बोले—‘आप महाराजको मेरे आगमनकी सूचना दें’ ॥ ३१ ॥

इत्यार्ये श्रीमद्रामायणे वान्यांकोये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रयाविंश सर्गे ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रीवान्शीविनिर्मित आर्षरामायण आदिकव्यके अयोध्याकाण्डमें त्रिंशत्तम सर्ग पूरा हुआ ॥ ३३ ॥

चतुस्त्रिंशः सर्गः

सीता और लक्ष्मणसहित श्रीरामका रानियोंसहित राजा दशरथके पास जाकर वनवासके लिये विदा माँगना, राजाका शोक और मूर्च्छा, श्रीरामका उन्हें समझाना तथा राजाका श्रीरामको हृदयसे लगाकर पुनः मूर्च्छित हो जाना

ततः कमलपत्राक्षः श्यामो निरुपमो महान् ।
उवाच रामस्तं सूतं पितुर्गच्छाहि मामिति ॥ १ ॥
स रामप्रेषितः क्षिप्रं संतापकलुषेन्द्रियम् ।
प्रविश्य नृपतिं सूतो निःश्वसन् ददर्श ह ॥ २ ॥

अब कमलपत्राक्ष श्यामसुन्दर उपनर्गहत महापुरुष श्रीरामने सूत सुमन्त्रसे कहा—‘आप पिताजीको मेरे आगमनकी सूचना दे दीजिये’ तब श्रीरामको प्रेरणामे शीघ्र ही भीतर जाकर साथी सुमन्त्रने राजाका दर्शन किया। उनके सारी इन्द्रियाँ संतापसे कलुषित हो रही थीं। वे लम्बी साँस खींच रहे थे ॥ १-२ ॥

उपरक्तमिवादित्यं भस्मच्छन्नमिवानलम् ।
तटाकमिव निस्तोयमपश्यजगतीपतिम् ॥ ३ ॥
आबोध्य च महाप्राज्ञः परमाकुलत्वेननम् ।
राममेवानुशाचन्तं सूतः प्राक्षालिग्रवीत् ॥ ४ ॥

सुमन्त्रने देखा, पृथ्वीपति महाराज दशरथ गहगन्त नृत्य राखसे ढकी हुई आग तथा जलशून्य तालाबक समान आँखें हो रहे हैं। उनका चित्त अत्यन्त व्याकुल है और वे श्रीरामका ही ध्यान कर रहे हैं। तब महाप्राज्ञ सूतने महाराजको सम्बोधित करके हाथ जोड़कर कहा ॥ ३-४ ॥

तं वधयित्वा राजानं पूर्वं सूतो जवाश्लिषा ।
भयविक्रवया वाचा मन्दया उल्लक्षणाग्रवीत् ॥ ५ ॥

पहले तो सूत सुमन्त्रने विजयसूचक आशावांछ देते हुए महाराजको अभ्युदय-कामना की, फिर धयसे व्याकुल मन्द-मधुर वाणीद्वारा यह बात कही— ॥ ५ ॥

अयं स पुनपष्यामि द्वारि तिष्ठति ते सुतः ।
ब्राह्मणेभ्यो धनं दत्त्वा सर्वं धेवापजीविनाम् ॥ ६ ॥
स त्वां पश्यतु भद्रं ते रामः सत्यपराक्रमः ।
सर्वान् सुतद आपृच्छ्य त्वां हीदानीं दिदृक्षते ॥ ७ ॥
गमिष्यति महागण्यं ते पश्य जगतीपते ।
वृतं राजगुणीः सर्वराटित्यपिब रक्षिभिः ॥ ८ ॥

पृथ्वीनाथ! आपका पुत्र ये सत्यपराक्रमी पुरुषलोक श्रीराम ब्राह्मणों तथा आश्रम सेवकोंको अपना मारा धन देकर द्वारपर खड़े हैं। आपका कल्याण हो, ये अपने सब सुहृदोंसे मिलकर—उनसे विदा लेकर इस समय आपका दर्शन करना चाहते हैं। आज्ञा हो तो यहाँ आकर आपका दर्शन करें। राजन्! अब ये विशाल वनमें चल जायेंगे अतः किरणोंसे युक्त सूर्यकी भाँति समस्त राजोचित गुणसम्पन्न इन श्रीरामको आप भी जो भङ्कर देख लीजिये ॥

स सत्यवाक्यो धर्मात्मा गाम्भीर्यात् सागरोपमः ।
आकाश इव निष्पङ्क्तो नरेन्द्रः प्रत्युवाच तम् ॥ ९ ॥
यह सुनकर समुद्रके समान गम्भीर तथा आकाशकी भाँति निर्मल, सत्यवादी धर्मात्मा महाराज दशरथने उन्हें उत्तर दिया— ॥ ९ ॥

सुमन्त्रानय मे दारान् ये केचिदिह माधकाः ।
दारैः परिक्षितः सर्वैर्द्रुमिच्छामि राघवम् ॥ १० ॥
‘सुमन्त्र! यहाँ जो कोई भी मेरी स्त्रियाँ हैं, उन सबको बुन्नाओ। उन सबके साथ मैं श्रीरामको देखना चाहता हूँ’ ॥

सोऽन्तःपुरमतीत्यैव स्त्रियस्ता वाक्यमब्रवीत् ।
आर्यो ह्वयति वो राजा गम्यतां तत्र मा चिरम् ॥ ११ ॥
तब सुमन्त्रने बड़े वगसे अन्तःपुरमें जाकर सब स्त्रियोंसे कहा—‘देवियों! आपलोगोंको महाराज बुला रहे हैं, अतः वहाँ शीघ्र चलें’ ॥ ११ ॥

एवमुक्ताः स्त्रियः सर्वाः सुमन्त्रेण नृपाज्ञया ।
प्रचक्रमुस्तद् भवनं भर्तुराज्ञाय शासनम् ॥ १२ ॥
मुद्राको आज्ञामें सुमन्त्रक ऐसा कहनेपर वे सब रानियाँ स्वामीका आदेश समझकर उस भवनकी ओर चलीं ॥ १२ ॥

अर्धसप्तशतास्तत्र प्रपदास्ताम्रलोचनाः ।
कीसल्यां परिवार्याथ शनैर्जग्मुर्धृत्प्रताः ॥ १३ ॥
कुछ-कुछ लाल मेन्त्रावाली साढ़े तीन सौ पाँतवना युवती गिर्या मन्त्रगना कीसल्याको सब ओरसे घेरकर धीरे-धीरे उस भवनमें गयीं ॥ १३ ॥

आगतेषु च दग्धेषु सपथैश्च महीपतिः ।
उवाच राजा तं सूतं सुमन्त्रानय ये सुतम् ॥ १४ ॥
उन सबके आ जानेपर उन्हें देखकर पृथ्वीपति राजा दशरथने सूतसे कहा—‘सुमन्त्र! अब मेरे पुत्रको ले आओ’ ॥ १४ ॥

स सूतो रामयादाय लक्ष्मणं धैथिलीं तथा ।
जगामाभिमुखस्तूर्णं सकाशं जगतीपतेः ॥ १५ ॥
आज्ञा पाकर सुमन्त्र गये और श्रीराम, लक्ष्मण तथा सीताको साथ लेकर शीघ्र ही महाराजके पास नज़द आये ॥ १५ ॥

स राजा पुत्रमायान्तं दृष्ट्वा चारात् कृताञ्जलिम् ।
उत्पतातासनान् तूर्णमार्तः स्त्रीजनसंवृतः ॥ १६ ॥
महाराज दूरसे ही अपने पुत्रको हाथ जोड़कर आते देख सहस्य अपने आसनसे उठ खड़े हुए। उस समय स्त्रियोंसे घिर हुए वे नरेश शोकसे आर्त हो रहे थे ॥ १६ ॥

सोऽभिदुःखं वेगेन रामं दृष्ट्वा विशास्यतिः ।

तमसम्प्राप्य दुःखार्तः पपात ध्रुवि मूर्च्छितः ॥ १७ ॥

श्रीरामको देखते ही वे प्रजापालक महाराज बड़े वेगसे उनकी ओर दौड़े किन्तु उनके पास पहुँचने के पहले ही दुःखसे व्याकुल हो पृथ्वीपर गिर पड़े और मूर्च्छित हो गये ॥ १७ ॥

तं रामोऽभ्यपतत् क्षिप्रं लक्ष्मणश्च महारथः ।

विसंज्ञमिव दुःखेन सशोकं नृपतिं तथा ॥ १८ ॥

उस समय श्रीराम और महारथी लक्ष्मण बड़ी तेजीसे चलकर दुःख के कारण अचेत-से हुए शोकमग्न महाराज के पास जा पहुँचे ॥ १८ ॥

स्त्रीसहस्रनिनादश्च संजज्ञे राजवेश्मनि ।

हा हा रामेति सहसा धूयणध्वनिमिश्रितः ॥ १९ ॥

इतनेहीमें उस राजघराने के भीतर सहसा आधूषणोंकी ध्वनिके साथ सहस्रों स्त्रियोंका 'हा राम ! हा राम !' यत्न आर्तनाद गूँज उठा ॥ १९ ॥

तं परिपूज्य बाहुभ्यां तावुभौ रामलक्ष्मणौ ।

पर्यङ्के सीतया सार्धं रुदन्तः समवशयन् ॥ २० ॥

श्रीराम और लक्ष्मण दोनों बाईं भी सीताके साथ से पड़े और उन तीनों महाराजको दोनों भुजाओंमें उठाकर पलंगपर बिठा दिया ॥ २० ॥

अथ रामो मुहूर्तस्य लब्धसंज्ञं महोपतिम् ।

उवाच प्राञ्जलिर्वाप्यशोकार्णवपरिप्लुतम् ॥ २१ ॥

शोकाश्रुके सागरमें डूबे हुए महाराज दशरथको दो बड़ोंमें जब फिर चेत हुआ, सब श्रीरामने हाथ जोड़कर उनसे कहा— ॥ २१ ॥

आपुच्छे त्वां महाराज सर्वेषामोश्चरोऽसि नः ।

प्रस्थितं दण्डकारण्यं पश्य त्वं कुशलेन पाम् ॥ २२ ॥

'महाराज ! आप हमलोगोंके स्वामी हैं। मैं दण्डकारण्यको जा रहा हूँ और आपस आज्ञा लेने आया हूँ। आप अपनी कल्याणमयी दृष्टिमें मेरी ओर देखिये ॥ २२ ॥

लक्ष्मणं जानुजानीहि सीता चान्वेत्तु मां वनम् ।

कारणैर्बहुभिस्तथैर्वायमाणौ न चेच्छतः ॥ २३ ॥

अनुजानीहि सर्वान् नः शोकमुत्सृज्य मानदः ।

लक्ष्मणं मां च सीता च प्रजापतिरिवात्मजान् ॥ २४ ॥

'मेरे साथ लक्ष्मणको भी वनमें जानेकी आज्ञा दीजिये। साथ ही यह भी स्वीकार कीजिये कि दोनों भी मेरे साथ वनको जायें। मैंने बहुत-से सचे कारण बताकर इन दोनोंको शोकनेकी चेष्टा की है परन्तु ये यहाँ रहना नहीं चाहते हैं; अतः दूसरोंको मान देनेवाले नरेश ! आप शोक छोड़कर हम सबको—मुझको, लक्ष्मणको और सीताको भी उम्मी तरह वनमें जानेकी आज्ञा दीजिये, जैसे ब्रह्माजीने अपने पुत्र सनकादिकोंको तपके लिये वनमें जानेकी अनुमति दी थी' ॥ २४ ॥

प्रतीक्षपाणमव्यग्रमनुज्ञां

जगतीपतेः ।

उवाच राजा सम्यक्ष्य वनवासाय राघवम् ॥ २५ ॥

इस प्रकार ज्ञानभावसे वनवासके लिये राजाकी आज्ञाकी प्रतीक्षा करन हुए श्रीरामचन्द्रजीकी ओर देखकर महाराजने उनसे कहा— ॥ २५ ॥

अहं राघव कैकेय्या वरदानेन मोहितः ।

अयोध्यायां त्वमेवाद्य भव राजा निगृह्य माम् ॥ २६ ॥

रघुनन्दन ! मैं कैकेयोंकी दिये हुए वरके कारण मोहमें पड़ गया हूँ। तब मैं कैद काके स्वयं ही अब अयोध्याके राजा बन जाओ ॥ २६ ॥

एवमुक्ते नृपतिना रामो धर्मभृतां वरः ।

प्रत्युवाचाञ्जलिं कृत्वा पितरं वाक्यकोविदः ॥ २७ ॥

महाराजके ऐसा कहनेपर वात्सील्य करनेमें कुशल धर्मका अंगमें श्रेष्ठ श्रीरामने दोनों हाथ जोड़कर पिताको इस प्रकार उत्तर दिया— ॥ २७ ॥

भवान् वर्षसहस्राय पृथिव्या नृपते पतिः ।

अहं त्वग्नये वक्त्यामि न मे राज्यस्य काङ्क्षिता ॥ २८ ॥

'महाराज ! आप सहस्रों वर्षोंतक इस पृथ्वीके अधिपति बने रहें। मैं तो अब वनमें ही निवास करूँगा। मुझे राज्य मन्के इच्छा नहीं है ॥ २८ ॥

नव पञ्च च वर्षाणि वनवासे विहत्य ते ।

पुनः पादौ ग्रहीष्यामि प्रतिज्ञान्ते नराधिप ॥ २९ ॥

नरेश ! चौदह वर्षोंतक वनमें घूम-फिरकर आपकी प्रतीक्षा पुनः कर लेनके पञ्चान् मैं पुनः आपके युगल चरणोंमें मस्तक झुकाऊँगा ॥ २९ ॥

स्तन्नार्तः प्रियं पुत्रं सत्यपाशेन संयुतः ।

कैकेय्या चोद्यमानस्तु मिथो राजा तमब्रवीत् ॥ ३० ॥

राजा दशरथ एक तो सत्यके बन्धनमें बंधे हुए थे, दूसरे एकान्तमें कैकेयी उन्हें श्रीरामको वनमें तुरन्त भेजनेके लिये तैयार कर रही थीं। इस अवस्थामें व आर्तभावमें रोते हुए बर्तों अपने प्रिय पुत्र श्रीरामसे बोले— ॥ ३० ॥

अद्यमे वृद्धये तात पुनरागमनाय च ।

गच्छन्वादिष्टमव्यग्रः पन्थानमकुतोभयम् ॥ ३१ ॥

'तात ! तूने कल्याणके लिये, वृद्धिके लिये और फिर श्रेष्ठ आनेके लिये ज्ञान्ताभावमें जाओ। तुम्हारा मार्ग विघ्न-बाधाओंमें रहित और निर्भय हो ॥ ३१ ॥

न हि सत्यात्पनमताम धर्माधिपनस्तव ।

संनिवर्तयितुं बुद्धिः शक्यते रघुनन्दन ॥ ३२ ॥

अद्य त्विदानीं रजनीं पुत्र मा गच्छ सर्वथा ।

एकाहं दर्शनेनापि साधु तावद्यराध्यहम् ॥ ३३ ॥

बेटा रघुनन्दन ! तूने सत्यस्वरूप और धर्मात्मा हो। तुम्हारे विचारकों चल्टना तो असम्भव है, परन्तु रातभर और एक आँकड़ा देखनेके लिये मैंने अपनी आँखें रोक

दो। केवल एक दिन भी तो तुम्हें देखनेका सुख उठा लूँ ॥

यातरं मां च सम्पश्यन् वसेमामह्य शर्वरीम् ।

तर्पितः सर्वकार्यस्त्वं श्वः काल्ये साधयिष्यसि ॥ ३४ ॥

अपनी माताको और मुझे इस अवस्थामें देखकर आजकी इस रातमें यहाँ रह जाओ। मेरे द्वारा सम्पूर्ण अभिलषित वस्तुओंमें तुम हाकर कल प्रातः कल यत्नसि जना ॥ ३४ ॥

दुष्करं क्रियते पुत्र सर्वथा राघव प्रिय ।

त्वया हि भस्त्रिधार्थं तु वनमेवमुपाश्रितम् ॥ ३५ ॥

‘मेरे प्रिय पुत्र श्रीराम ! तुम सर्वथा दुष्कर कार्य कर रहे हो। मेरा प्रिय करनक लिये ही तुमने इस प्रकार वनका आश्रय लिया है ॥ ३५ ॥

न चैतन्मे प्रियं पुत्र शपे सत्येन राघव ।

छन्नया घलितस्त्वस्मि स्त्रिया भस्माश्रिकल्पया ॥ ३६ ॥

वञ्चना या तु लब्धा मे तां स्वं निस्तर्तुमिच्छामि ।

अनया वृत्तमादिन्या कैकेय्याभिप्रचोदितः ॥ ३७ ॥

‘परंतु बेटा रघुनन्दन ! मैं सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ कि यह मुझे प्रिय नहीं है। मुझे तुम्हारा वनमें जाना अच्छा नहीं लगता। यह मेरी स्त्री कैकेयी राक्षसमें छिपी हुई आगक समान भवकर है। इसने अपने क्रूर अभिप्रायको छिपा रखा था। इसीने आज मुझे मेरे अपाण्ड सकरूपमें विचलित कर दिया है। कुलोचित सदाचारका विनाश करनवाले इस कैकेयीने मुझे वरदानक लिये प्रेरित करके मेरे साथ बहुत बड़ा धोखा किया है। इसके द्वारा जो वञ्चना मुझे प्राप्त हुई है उसीको तुम धार करना चाहते हो ॥ ३६-३७ ॥

न चैतदाश्रयतमे यत् त्वं ज्येष्ठः सुतो मम ।

अपानुनकथं पुत्र पितरं कर्तुमिच्छसि ॥ ३८ ॥

‘पुत्र ! तुम अपने पिताको सत्यवादी बनाना चाहते हो। तुम्हारे लिये यह कोई अधिक आश्चर्यकी बात नहीं है, क्योंकि तुम गुण और अवस्था दोनों ही दुर्ध्याम मे ज्येष्ठ पुत्र हो ॥ ३८ ॥

अथ रामस्सदा भुत्वा पितुरार्तस्य भाषितम् ।

लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा दीनो वचनमब्रवीत् ॥ ३९ ॥

अपने शोकाकुल पिताका यह कथन सुनकर उस समय छोट भाई लक्ष्मणसहित श्रीरामने दुःखी हाकर कहा— ॥ ३९ ॥

प्राप्स्यामि यानद्य गुणान् को मे श्रुतान् प्रदास्यति ।

अपक्रमणमेवातः सर्वकार्यमहं कृणे ॥ ४० ॥

‘महाराज ! आज यात्रा करके मैं जिन गुणों (लभों) को

पाऊँगा, उन्हें कल कौन मुझे देगा ?* अतः मैं सम्पूर्ण कामनाओंके बदले आज यहाँसे निकल जाना ही अच्छा समझता हूँ और इसीका वरण करता हूँ ॥ ४० ॥

इयं सराष्ट्रा सजना धनधान्यसमाकुला ।

मया विसृष्टा वसुधा भरताय प्रदीयताम् ॥ ४१ ॥

राष्ट्र और यहाँके निवासी मनुष्योंमहित धन-धान्यसे सम्पन्न यह सारी पृथ्वी मैंने छोड़ दी। आप इसे धर्मको दे दें ॥ ४१ ॥

वनवासकृता बुद्धिर्न च मेऽद्य घलिष्यति ।

यस्तु युद्धे करो दनः कैकेय्यै वरद त्वया ॥ ४२ ॥

दीयतां निर्विकलेनैव सत्यस्त्वं भव पार्थिव ।

‘मेरा वनवासविषयक निश्चय अब घटान नहीं सकेंगा।

वरदायक नरेश ! आपने देवामुर-संग्राममें कैकेयीको जो वर देनेकी प्रतिज्ञा की थी, उसे पूर्णरूपमें दीजिये और सत्यवादी बनिये ॥ ४२ ॥

अहं निदेशं भवनो यथोक्तमनुपालयन् ॥ ४३ ॥

चतुर्दश समा वत्स्ये वने वनचरैः सह ।

मा विमर्शो वसुपती भरताय प्रदीयताम् ॥ ४४ ॥

‘मैं आपकी उक्त आज्ञाका पालन करता हुआ चौदह वर्षातक वनमें वनचरों प्रणिधियोंके साथ निवास करूँगा। आपके मनमें कोई अन्यथा विचार नहीं होना चाहिये। आप यह सारी पृथ्वी भरतको दे दीजिये ॥ ४३-४४ ॥

नहि मे काङ्क्षितं राज्यं सुखमात्मनि वा प्रियम् ।

यथानिदेशं कर्तुं त्वं तवैव रघुनन्दन ॥ ४५ ॥

‘रघुनन्दन ! मैंने अपने मनको सुख देने अथवा स्वजनाका प्रिय करनक उद्देश्यसे राज्य लेनका इच्छा नहीं की थी। आपको आज्ञाका यथावत् रूपमें पालन करनके लिये ही मैंने उसे ग्रहण करनेकी अभिलाषा की थी ॥ ४५ ॥

अपगच्छतु ते दुःखं मा भूर्बाध्यपरिप्लुतः ।

नहि क्षुध्यति दुर्धरः समुद्रः सरिता पतिः ॥ ४६ ॥

आपका दुःख दूर हो जाय, आप इस प्रकार ओसू न लहनें। मजिन्न का स्वामी दुर्धर समुद्र क्षुब्ध नहीं होता है—अपनी मर्यादाकर त्याग नहीं करता है (इसी तरह आपको भी क्षुब्ध नहीं होना चाहिये) ॥ ४६ ॥

नैवाहं राज्यमिच्छामि न सुखं न च भेदिनीम् ।

नैव सर्वानियान् कामान् न स्वर्गं न च जीविनुम् ॥ ४७ ॥

‘मुझे न तो इस राज्यकी, न सुखकी, न पृथ्वीकी, न इन सम्पूर्ण भोगोंकी, न स्वर्गकी और न जीविकी ही इच्छा है ॥ ४७ ॥

* ‘प्राप्स्यामि...’ इस आशय इच्छाका अर्थ कर भा हो सकता है कि आज यहाँ रहकर जिन उन्मानम अभीष्ट पदार्थोंको मैं पाऊँगा उन्हें कलसे कौन देगा ?

त्वामहं सत्यमिच्छामि नानृतं पुरुषर्षभ ।

प्रत्यक्षं तव सत्येन सुकृतेन च ते शपे ॥ ४८ ॥

'पुरुषशिरामणे । मेरे मनमें यदि कोई इच्छा है तो यहाँ कि आप सत्यवादी बनें । आपका कचन मिथ्या न होने पावे । वह ज्ञान मैं आपको सामने सत्य और शुभ कर्मों की अपेक्षा स्वीकार करता हूँ ॥ ४८ ॥

न च शक्यं मया तान् स्थातुं क्षणमपि प्रभो ।

स शोकं धारयस्व मे नहि मेऽस्ति विपर्ययः ॥ ४९ ॥

'तान् । प्रभो ! अब मैं यहाँ एक क्षण भी नहीं ठहर सकता । अतः आप इस शोकको अपने धौतर हो देवा लें । मैं अपने निश्चयके विपरीत कुछ नहीं कर सकता ॥ ४९ ॥

अर्थितो ह्यस्मि कैकेय्या वनं गच्छति राघव ।

मया चोक्तं ब्रजापीति तत्सत्यमनुपालये ॥ ५० ॥

रघुनन्दन ! कैकेय्याने मुझसे यह वाचना की कि 'राम ! तुम वनको चले जाओ' मैंने वचन दिया था कि 'अवश्य जाऊँगा' उस सत्यका मुझे पालन करना है ॥ ५० ॥

या चोत्कण्ठां कथा देव वने रस्यामहे वयम् ।

प्रशान्तहरिणाकीर्णं नानाशकुनिनादिने ॥ ५१ ॥

'देव । वीचमें हमें देखने या हमसे मिलनेके लिये आप उत्कण्ठित न रहेंगे । शान्तमध्याह्निक भूगोम धरे हुए और धीमे-धीमेके पालिका कलशकामे गूँजते हुए उस वनमें हमलोग बड़े आनन्दसे रहेंगे ॥ ५१ ॥

पिता हि देवता तान् देवतानामपि स्मृतम् ।

तस्माद् देवतमित्येव कारिष्यामि पितुर्वचः ॥ ५२ ॥

'तान् । पिता देवताओंके भी देवता माने गये हैं । अतः मैं देवता समझकर ही पिता (आप) की आज्ञाका पालन करूँगा ॥ ५२ ॥

चतुर्दशसु वर्षेषु गतेषु नृपसत्तम ।

पुनर्दृक्ष्यामि यां ग्रामं संतापोऽयं विपुच्यताम् ॥ ५३ ॥

'नृपश्रेष्ठ ! अब यह संताप छोड़िये । चौदह वर्ष बीत जानेपर आप फिर मुझे आया हुआ देखेंगे ॥ ५३ ॥

येन संस्तम्भनीयोऽयं सर्वो बाध्यकलो जनः ।

स त्वं पुरुषशार्दूल किमर्थं विक्रियां गतः ॥ ५४ ॥

'पुरुषसिंह ! यहाँ जितने लोग आँसू बहा रहे हैं, इन सबको धैर्य बंधाना आपका कर्तव्य है; फिर आप स्वयं ही इतने विकल कैसे हो रहे हैं ? ॥ ५४ ॥

पुरं च राष्ट्रं च भूमीं च केवलम्

मया विमुष्टा भरताय दीयताम् ।

अहं निदेशं भवतोऽनुपालयन्

यने गमिष्यामि चिराय सेवितुम् ॥ ५५ ॥

'यह नगर, यह राज्य और यह सारी पृथ्वी मैंने छोड़ दी । आप यह सब कुछ भरतको दे दीजिये । अब मैं आपके आदेशका पालन करता हुआ दीर्घकालतक वनमें निवास

करनेके लिये यहाँसे यात्रा कर रहा हूँ ॥ ५५ ॥

मया विमुष्टा भरताय दीयताम् ।

सर्शलखण्डां सपुगेपकाननाम् ।

शिवास्तु सीमास्वनुशास्तु केवलम्

त्वया यदुक्तं नृपते तथास्तु तत् ॥ ५६ ॥

'मेरा छोड़ा हुआ पर्वतखण्डों, नगरों और उपवनोपहिन इस सारी पृथ्वीका भरत कल्याणकारिणी मर्यादाओंमें स्थित रहकर पालन करें । नरेश्वर ! आपने जो वचन दिया है, वह पूर्ण हो ॥ ५६ ॥

न मे तथा पार्थिव धीयते मनो

महत्सु कामेषु न चात्पनः प्रिये ।

यथा निदेशे तव शिष्टसम्पदे

व्यर्पतु दुःखं तव मत्कृतेऽनघ ॥ ५७ ॥

'पृथ्वीनाथ ! निष्पाप महाराज ! सत्पुरुषोंद्वारा अनुमोदित आपको आज्ञाका पालन करनेमें मेरा मन जैसा लगता है वैसा बड़े-बड़े भागोंमें तथा अपने किसी प्रिय पदार्थमें भी नहीं लगता अतः मेरा लिये आपके मनमें जो दुःख है वह दूर हो जाना चाहिये ॥ ५७ ॥

तदद्य नैवानघ राज्यमव्ययं

न सर्वकामान् वसुधां न ममिच्छामि ।

न चिन्तितं त्वामनुतेन योजयन्

वृणीय सत्यं व्रतमस्तु ते तथा ॥ ५८ ॥

'निष्पाप नरेश ! आज आपको मिथ्यावादी बनाकर मैं असत्य राज्य, सब प्रकारके भाग, वसुधाका आधिपत्य, मिथिलेशकुमारों सोता तथा अन्य किसी अभिलषित पदार्थको भी स्वीकार नहीं कर सकता । मेरी एकमात्र इच्छा यही है कि 'आपकी प्रतिज्ञा सत्य हो' ॥ ५८ ॥

फलानि मूलानि च भक्षयन् वने

गिरींश्च पश्यन् सरितः सरांसि च ।

यने प्रविश्यैव विचित्रपादपं

सुखी भविष्यामि तवास्तु निर्वृतिः ॥ ५९ ॥

'मैं विचित्र वृक्षासे युक्त वनमें प्रवेश करके फल-मूलका भोजन करता हुआ वहलिक पर्वतों, नदियों और समुद्रोंको देख-देखकर सुखी होऊँगा; इसीलिये आप अपने मनको शान्त काजिये' ॥ ५९ ॥

एवं स राजा व्यसनाभिपन्न-

सापेन दुःखेन च पीड्यमाणः ।

आलिङ्ग्य पुत्रं सुविनष्टसंज्ञो

भूमिं गतो नैव चिचेष्ट किञ्चित् ॥ ६० ॥

श्रमके ऐसा कहनपर पुत्र-विच्छेदके संकटमें पड़े हुए राजा दशमधने दुःख और संतापसे पीड़ित हो उन्हीं छातीमें लगाया और फिर अचेत होकर व पृथ्वीपर गिर पड़ा उस समय उसका शरीर बड़का भारी कुछ भी चंचल न कर सका ॥ ६० ॥

देव्यः समस्ता रुन्दुः समंता-

स्तां वर्जयित्वा नरदेवपत्न्याम् ।

रुन्दन् सुमन्त्रोऽपि जगाम मूर्च्छां

हृहाकृतं तत्र बभूव सधम् ॥ ६१ ॥

इत्याद्यं श्रोयद्राधावणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षट्त्रिंशः सर्गः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रावण्योक्तिनिमित्त आर्पणप्रायणे आदिकाव्यक अयोध्याकाण्डस्य चोत्तमर्वा सर्ग पूरा हुआ ॥ ३४ ॥

पञ्चत्रिंशः सर्गः

सुमन्त्रके समझाने और फटकारनेपर भी कैकेयीका टस-से-मस न होना

नतो विभूष सहसा शिरो निःश्वस्य चासकृत् ।

पाणिं पाणीं विनिक्षिप्य दन्तान् कटकटाव्य च ॥ १ ॥

लोचने कोपसरत्ने वणी पूर्वाक्षिप्तं जहन् ।

कोपाभिभूतः सहसा संतापमशुभं गतः ॥ २ ॥

धनः समीक्षमाणश्च मृतो दशरथस्य च ।

कम्पयन्नैव कैकेय्या हृदयं चाकर्षः शिर्षः ॥ ३ ॥

तदनन्तर होठोंमें आनपर सागथ सुमन्त्र सहसा उठकर खड़े हो गये। उनके मनमें बड़ा संताप हुआ, जो अमहत्त्वकारी था। वे क्रोधके मारे कर्पण करने लगे। उनके शिरी और मुखको पहली स्वाभाविक कान्ति बदल गयी। वे क्रोधसे आँखें बन्द करके देना इच्छा किए बिना नीचे की ओर आगम्य लम्बा साँस खींचकर हाथोंमें हाथ मलकर दंत कटकटाकर मृत दशरथके धनको विलम्बित अवस्था देखने हुए अपने सचनरूपों भाव शान्ति के कण्ठके हृदयका कम्पित-सा करने लगे— ॥ १—३ ॥

वाक्यवज्रैर्गुणैर्निभिन्दन्नैव चाशुभैः ।

कैकेय्याः सर्वमयाणि सुमन्त्रः प्रत्यभाषत ॥ ४ ॥

अपने अशुभ एवं अनुपम सचनरूपों वज्रमें कैकेय्याक मारे सर्वस्थानाकी विद्रोह-से करने हुए सुमन्त्रने उससे इस प्रकार कहना आगम्य किया— ॥ ४ ॥

सस्यास्तव पतिस्यक्तो राजा दशरथः स्वधम् ।

धर्मा सर्वस्य जगतः स्थावरस्य चरस्य च ॥ ५ ॥

महाकार्यतमं किञ्चिन्नव देवाङ्गं विद्यते ।

पतिर्हीनो स्वामहं मन्ये कुलघ्नीमपि शान्ततः ॥ ६ ॥

देवि। अब तुमने सम्पूर्ण चराचर जगत्के स्वामी स्वयं अपने पति महाराज दशरथका भी त्याग कर दिया, तब इस जगत्में कोई ऐसा कुकर्मे महा है, जिससे नुष न कर सको, मैं तो समझता हूँ कि तुम पतिको हत्या करनेवाले तो हो हो, अन्ततः कुलघातिनी भी हो ।

यन्महोदधिमिवाजय्यं दुष्प्रकर्म्यामिवाचलम् ।

महोदधिमिवाक्षोभ्यं संतापयामि कर्मभिः ॥ ७ ॥

‘ओह। जो देवराज इन्द्रके समान अजय, धर्मके समान अकम्पनीय और महासागरके समान क्षोभरहित

यह देख राजानी कैकेयीको छोड़कर वहाँ एकत्र हुई अन्य सभी गानियाँ ये पड़ीं। सुमन्त्र भी ऐसे-ऐसे मूर्च्छित हो गये तथा वहाँ सब ओर हाहाकार मच गया ॥ ६१ ॥

है, उन महाराज दशरथकी भी तुम अपने कर्मसे संतप्त कर रही हो ॥ ७ ॥

मावयंस्था दशरथं भर्तारं वरदं पतिम् ।

भर्तुरिच्छा हि नारीणां पुत्रकोटया विशिष्यते ॥ ८ ॥

राजा दशरथ तुम्हारे पति, पालक और वरदाना हैं। तुम इनका अपमान न करो। नारीचोंके लिये पतिकी इच्छाका महत्त्व कराड़ों पुत्रोंसे भी अधिक है ॥ ८ ॥

यथावयो हि राज्यानि प्राप्नुवन्ति नृपक्षये ।

इक्ष्वाकुकुलनाथेऽस्मिस्त लोपयितुमिच्छसि ॥ ९ ॥

इस कृतम राजाका परलोकवास हो जानेपर उसके पुत्रोंका अवस्थानका विचार करने का ज्येष्ठ पुत्र जान है, वह ही राज्य प्राप्त है। राजकुलके इस परम्परागत आचारको तुम इन इक्ष्वाकुवंशके स्वामी महाराज दशरथके जाने-जी ही मिटा दना चाहती हो ॥ ९ ॥

राजा भवन्तु ते पुत्रो भरतः शान्तु मेदिनीम् ।

वयं तत्र गमिष्यामो यत्र रामो गमिष्यति ॥ १० ॥

तुम्हारे पुत्र भगत राजा हो जायें और इस पृथ्वीका शासन करें, किंतु हमलोग तो वहीं चले जायेंगे जहाँ श्रम्य जायेंगे ॥ १० ॥

न च ते विषये कश्चिद् ब्राह्मणो वस्तुयहीति ।

तादृशं त्वममर्यादमद्य कर्म करिष्यसि ॥ ११ ॥

नूनं सर्वं गमिष्यामो भार्गव रामनिषेवितम् ।

तुम्हारे राज्यमें कोई भी ब्राह्मण निवास नहीं करेगा- यदि तुम आज वैसा मर्यादाहीन कर्म करोगी तो निश्चय ही हम सब लोग तुम्ही मागपर चले जायेंगे, जिसका आंगमनें संवन किया है ॥ ११ ॥

त्यक्ता या आन्धवे सर्वैर्ब्राह्मणैः साधुभिः सदा ॥ १२ ॥

का प्रीति राज्यलाभेन तव देवि भविष्यति ।

तादृशं त्वममर्यादं कर्म कर्तुं चिकीर्षसि ॥ १३ ॥

‘सम्पूर्ण बन्धु-बान्धव और सदाचारों ब्राह्मण भी तुम्हारा त्याग कर देंगे। देवि। फिर इस राज्यको पाकर तुम्हें क्या आनन्द मिलेगा। ओह। तुम ऐसा मर्यादाहीन कर्म करना चाहती हो ॥ १२-१३ ॥

आश्चर्यमिव पश्यामि यस्यास्ते कृतमिदृशम् ।

आचरन्त्या न विदुता सद्यो भवति मेदिनी ॥ १४ ॥

‘मुझे तो यह देखकर आश्चर्य सा हो रहा है कि तुम्हारे इतने बड़े अत्यचार करनेपर भी पृथ्वी तुरंत फट क्यों नहीं जाती ? ॥ १४ ॥

महाब्रह्मर्षिसृष्टा वा ज्वलन्तो भीषदर्शनाः ।

धिग्वाग्दण्डा न हिंसन्ति रामप्रव्राजने स्थिताम् ॥ १५ ॥

‘अथवा बड़े-बड़े ब्रह्मर्षिक धिक्कारपूर्ण वाग्दण्ड (शाप) जो देखनेमें भयंकर और जलकर भस्म कर देनेवाले होते हैं, श्रीगमको धामसे निकलनेके लिये तैयार खड़ी हुई तुम-जैसी पापघ्नहृदयोंका सर्वनाश क्या नहीं कर डालते हैं ? ॥ १५ ॥

आम्रं छित्त्वा कुठारेण निष्कं परिचरेत् तु कः ।

यश्चैनं पयसा सिञ्चेन्नेवाथ मधुरो भवेत् ॥ १६ ॥

‘भला आमका कुल्हाड़ेमें काटकर उसको जगह नोमका सेवन क्यों करोगे ? जो आमका जगह नोमका हो दूधमें सींचता है, उसके लिये भी यह नोम मीठा फल बनवाना नहीं हो सकता (अतः वरदानक ब्रह्मने श्रीगमको वनवास देकर कैकेयोंके चिन्तकों संगृष्ट करना राजाके लिये कभी सुखद परिणामका जनक नहीं हो सकता) ॥ १६ ॥

आभिजात्य हि ते मन्ये यथा यानुत्तर्यथ च ।

न हि निष्प्राणं स्रजेत् क्षौद्रं लोके निगदितं वचः ॥ १७ ॥

कैकेयि । मैं समझता हूँ कि तुम्हारी भावना अपने कुलके अनुरूप जैसा स्वभाव था, वैसा ही तुम्हारा भी है लोकमें कहीं जानेवाली यह कहावत सत्य हो है कि नोमम मधु नहीं टपकता ॥ १७ ॥

तव भातुरसद्ग्राहं विद्य पूर्व यथा श्रुतम् ।

पितुस्ते वरदः कश्चिद् ददौ वरमनुत्तमम् ॥ १८ ॥

‘तुम्हारी मानक दुराग्रहकी बात भी हम जानते हैं । इसके विषयमें पहल जन्म सुना गया है वह बताया जाना है तब समय किसी वर देनेवाले साधुने तुम्हारे पिताको अत्यन्त उत्तम वर दिया था ॥ १८ ॥

सर्वभूतस्तु तस्मात् संजज्ञे वसुधाधिपः ।

तेन तिर्यगतानां च भूतानां विदितं वचः ॥ १९ ॥

‘उस वरके प्रभावमें कैकेयनरेश समस्त प्राणिप्राणी बोलने समझने लगे । तिर्यक् योनियों पड़े हुए प्राणियोंकी बातें भी उनकी समझमें आ जानी थीं ॥ १९ ॥

ततो जृम्भस्य शयने विरुताद् धुरिवर्चसः ।

पितुस्ते विदितो भावः स तत्र बहुयुगहमन् ॥ २० ॥

‘एक दिन तुम्हारे महातेजस्वी पिता शय्यापर लेटे हुए थे । उसी समय जृम्भ नामक पक्षीकी आवाज उनके कानोंमें पड़ी । उसकी बोलीका अभिप्राय उनकी सम्झमें आ गया । अतः वे वहाँ कई वार हैंमें ॥ २० ॥

तत्र ते जननी कुन्दा मृत्युशमभोषती ।

हासं ते नृपते सौम्य जिज्ञासामीति चाब्रवीत् ॥ २१ ॥

‘उसी शय्यापर तुम्हारी माँ भी सोयी थी । वह यह समझकर कि राजा मेरे ही हैंमें उड़ा रहे हैं, कुपित हो उठी और मल्लमें मौनकर फाँसी लगानेकी इच्छा रखती हुई बोलो—‘नोम्य नरेश्वर । तुम्हारे हैंमेंका क्या कारण है, यह मैं जानना चाहती हूँ ॥ २१ ॥

नृपश्रोवाच तां देवीं हासं शंसामि ते यदि ।

ततो मे मरणं सद्यो भविष्यति न संशयः ॥ २२ ॥

‘तब राजाने उस देवीसे कहा—‘शुनी । यदि मैं अपने हैंमेंका कारण बता दूँ तो उस क्षण मेरी मृत्यु हो जायगी, इसमें संशय नहीं है ॥ २२ ॥

भाता ते पितरं देवि पुनः केकयमब्रवीत् ।

शंस मे जीव वा वा न मां त्वं प्रहमिष्यसि ॥ २३ ॥

देवि ! यह सुनकर तुम्हारी रानी माताने तुम्हारे पिता केकयराजसे फिर कहा—‘तुम जीओ या मरो, मुझे कारण बता दो । भविष्यमें तुम फिर मेरी हैंसी नहीं उड़ा सकोगे ॥ २३ ॥

प्रियया च तथोक्तः स केकयः पृथिवीपतिः ।

तर्मे ते वरदापार्थ कथयामास तत्त्वतः ॥ २४ ॥

अपनी प्यारी रानीके ऐसा कहनेपर केकयनरेशने उस वर देनेवाले साधुके पास जाकर सारा समाचार ठीक-ठाक कह सुनाया ॥ २४ ॥

ततः स वरदः साधू राजानं प्रत्यभाषत ।

प्रियतां ध्वंसनां वयं या शंसीस्त्वं महीपते ॥ २५ ॥

‘तब उस वर देनेवाले साधुने राजाको उत्तर दिया—‘महाराज रानी वर या घरसे निकल जाय तुम कदापि यश जान ठमे न बनाना ॥ २५ ॥

य तच्छ्रुत्वा वचस्तस्य प्रसन्नमनसो नृपः ।

मानरं ते निरस्याशु विजहार कुबेरवत् ॥ २६ ॥

‘प्रसन्न चित्तवाले उस साधुका यह वचन सुनकर केकयनरेशने नृपमान मानक तुरन्त धर्म में निकल दिया श्री स्वयं कुबेरके समान विहार करने लगे ॥ २६ ॥

तथा त्वमपि राजानं दुर्जनावर्ति पथि ।

अमद्ग्राहमिमं मोहान् कुरुष्व पापदर्शिनी ॥ २७ ॥

तब भी इसी प्रकार दुर्जनाके मार्गपर स्थित हो पापपर हो दुर्गृह रखकर मोहकश राजासे यह अनुचित आग्रह कर रती तो ॥ २७ ॥

सत्यश्चात्र प्रवादोऽयं लौकिकः प्रतिधाति मा ।

पितृन् समनुजायन्ते नरा भातरमङ्गवाः ॥ २८ ॥

‘आज मुझे यह लोकाक्ति सोलह आने सब मान्य होत्यों है कि पुत्र पिताके समान होते हैं और कन्याएँ फलके समान ॥ २८ ॥

नैवं भव गृहाणेदं यदाह वसुधाधिपः ।

भर्तुरिच्छामुपास्वेह जनस्यास्य गतिर्भव ॥ २९ ॥

तुम ऐसी न बनो—इस लोकाधिको अपने जीवनम
चरितार्थ न करो । राजाने जो कुछ कहा है, उसे स्वीकार
करो (श्रीरामका राज्याभिषेक होने दो) । अपने पतिको
इच्छाका अनुसरण करके इस जन-समुदायको यहाँ शाण
दनेवाली बनो । २९ ॥

मा स्वं प्रोत्साहिता पापेर्दशराजमथप्रभम् ।

भर्तारं लोकभर्तारमसद्गुर्ममुपादध ॥ ३० ॥

'पापपूर्ण विचार रम्भनेवाले लोकाधिक कहकांसे आकर
तुम देवराज इन्द्रके तुल्य तेजस्वी अपने लोक-प्रतिपालक
स्वामीको अनुचित कर्म न लगाओ ॥ ३० ॥

नहि मिथ्या प्रतिज्ञातं करिष्यति तवानघः ।

श्रीमान् दशरथो राजा देवि राज्ञिबलोन्नतः ॥ ३१ ॥

'देवि । कमलनयन श्रीमान् राजा दशरथ आपसे दूर रहन
है । वे अपनी प्रतिज्ञा झुठी नहीं करेंगे ॥ ३१ ॥

ज्येष्ठो वदान्यः कर्मण्यः स्वधर्मस्यापि रक्षिता ।

रक्षिता जीवलोकस्य बली रामोऽभिपिच्यताम् ॥ ३२ ॥

श्रीरामचन्द्रजी अपने भाइयोंमें ज्येष्ठ उदार, कर्मन
स्वधर्मक पालक, जीवजगत्के रक्षक और बलवान् हैं ।
इनका इस राज्यपर अभिषेक होने दो ॥ ३२ ॥

परिवादो हि ते देवि महौल्लोके चरिष्यति ।

यदि रामो वनं याति विहाय पितरं नृपम् ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षट्त्रिंशः सर्गः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिर्निर्मित आर्यभट्टायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें पैंतासवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशः सर्गः

राजा दशरथका श्रीरामके साथ सेना और स्वजाना भेजनेका आदेश, कैकेयीद्वारा इसका विरोध,
सिद्धार्थका कैकेयीको समझाना तथा गजका श्रीरामके साथ जानेकी इच्छा प्रकट करना

ततः सुमन्त्रमैक्ष्वाकः पीडितोऽत्र प्रतिज्ञया ।

सबाष्पमतिनिःश्वस्य जगाददं पुनर्वचः ॥ १ ॥

तब इसकाकुलनन्दन राजा दशरथ वहाँ अपनी प्रतिज्ञाम
पीडित हो आँसु बहाते हुए मन्त्रा मंत्रि स्वयंकर सुमन्त्रम
फिर इस प्रकार बोले— ॥ १ ॥

सुत रत्नमुसम्पूर्णा चतुर्विधबला चम्पुः ।

राघवस्यानुयात्रार्थं क्षिप्रं प्रतिविधीयताम् ॥ २ ॥

'सुत । तुम शीघ्र ही रत्नोंमें भरी-पूरी चतुर्विधों सेनाको
श्रीरामके पाँछे-पाँछे जानेकी आज्ञा दो ॥ २ ॥

रूपराजीवाश्च वादिन्यो घण्टजश्च महाधनाः ।

शोभयन्तु कुमारस्य वहिनीः सुप्रसारिताः ॥ ३ ॥

रूपसे आजोविका चालने और मरस उठन बोलनेवाली
स्त्रियाँ तथा महाधनी एवं विक्रययोग्य इवोंका प्रयागन

'देवि ! यदि श्रीराम अपने पिता राजा दशरथको छोड़कर
वनको चले जायेंगे तो समारमे तुम्हारे बड़ी निन्दा होगी ।

स्वराज्यं राघवः पानु भव त्वे विगतज्वरा ।

नहि ते राघवादन्यः क्षमः पुरवरे वसन् ॥ ३४ ॥

'अनः श्रीरामचन्द्रजी ही अपने राज्यका पालन करें
और तुम निश्चित होकर बैठो । श्रीरामके सिवा दूसरा
कई राजा इस श्रेष्ठ नगरमें रहकर तुम्हारे अनुकूल आचरण
नहीं कर सकना ॥ ३४ ॥

रामे हि धीवराज्यस्थे राजा दशरथो वनम् ।

प्रवेक्ष्यति महद्वासः पूर्ववृत्तमनुस्मरन् ॥ ३५ ॥

श्रीरामक युवराजपदपर प्रतिष्ठित हो जानेके बाद
महाधनुर्धर राजा दशरथ पूर्वजाके वृत्तान्तका स्मरण करके
स्वयं वनमें प्रवेश करेंगे ॥ ३५ ॥

इति सान्त्वञ्च तीक्ष्णश्च कैकेयी राजसंसदि ।

भूयः संक्षोभयामास सुमन्त्रस्तु कृताञ्जलिः ॥ ३६ ॥

नैव सा क्षुभ्यते देवी न च स्म परिदूयते ।

न चास्या मुखवर्णस्य लक्ष्यते विक्रिया तदा ॥ ३७ ॥

उस प्रकार सुमन्त्रने हाथ जोड़कर कैकेयीको उस
राजभवनमें सान्त्वनापूर्ण तथा तीखे वचनोंसे भी बारम्बार
विकारित करनेको चेष्टा की; किंतु वह उस-से-भय न
हुई । देवी कैकेयीक मनमें न तो क्रोध हुआ और न दुःख
हो । उस समय उसका चेहरेके रंगमें भी कोई फर्क पड़ता
नहीं दिखायी दिया ॥ ३६-३७ ॥

कानन कुशल वेश्य राजकुमार श्रीरामकी सेनाओंको
मुशोभित करें ॥ ३ ॥

ये चैनमुपजीवन्ति रमते यैश्च धीर्यतः ।

तेषां बहुविधं दत्त्वा तानथ्यत्र नियोजय ॥ ४ ॥

'जो श्रीरामके पास रहकर जीवन-निर्वाह करते हैं तथा
जिन मस्त्रसे वे उनका पराक्रम देखकर प्रसन्न रहते हैं, उन
सबको अनेक प्रकारका धन देकर उन्हें भी इनके साथ
जानेकी आज्ञा दे दो ॥ ४ ॥

आयुधानि च मुख्यानि नागराः शकटानि च ।

अनुगच्छन्तु काकुत्स्थं व्याधाश्वारण्यकोविदाः ॥ ५ ॥

'मुख्य-मुख्य आयुध, नगरके निवासी, छकड़े तथा वनके
भोग्य रहस्यकी जाननेवाले व्याध ककुत्स्थकुलभूषण
श्रीरामके पाँछे-पाँछे जायें ॥ ५ ॥

निग्नन् भृगुगान् कुञ्जरान्श्च पिबंश्चारण्यकं मधु ।

नदीश्च त्रिविधाः पश्यन् न राज्यं संस्पर्शति ॥ ६ ॥

'वे रास्तेमें आधे हुए भृगो एवं हाथियोंको पंछे लौटाने जंगली मधुका पान करने और नाना प्रकारका सर्पियोंको देखते हुए अपने राज्यका स्पर्श नहीं करेंगे ॥ ६ ॥

धान्यकोशश्च यः कश्चिद् धनकोशश्च धामकः ।

तौ राममनुगच्छेतां वसन्तं निर्जने वने ॥ ७ ॥

'श्रीराम निर्जन वनमें निवास करनेके लिये आ रहे हैं अतः मेरा खजाना और अन्नभण्डार—ये दोनों वस्तुएँ इनके साथ जायें ॥ ७ ॥

यजन् पुण्येषु देशेषु विमुञ्जंश्चापदक्षिणाः ।

ऋषिभिश्चापि संगम्य प्रवत्स्यति सुखं वने ॥ ८ ॥

'ये धनके पावन प्रदंशमें यज्ञ करेंगे, उनमें आचार्य आदिको पर्याप्त दक्षिणा देंगे तथा ऋषियोंसे मिलकर वनमें सुखपूर्वक रहेंगे ॥ ८ ॥

भरतश्च महाबाहुरयोध्यां पालयिष्यति ।

सर्वकार्मः पुनः श्रीमान् रामः संसाध्यतामिति ॥ ९ ॥

'महाबाहु भरत अयोध्याका पालन करेंगे। श्रीमान् रामको सम्पूर्ण मनोवाञ्छित भोगोंसे सम्पन्न करने सहस्रों भेजा जाय' ॥ ९ ॥

एवं ब्रुवति काकुत्स्थे कैकेय्या ध्यमागतम् ।

मुखं चाप्यगमच्छोषं स्वरश्चापि व्यरुध्यत ॥ १० ॥

जब महाराज दशरथ ऐसी बातें कहने लगे, तब कैकेयीको बड़ा घबराहटा हुआ। उसका मुँह सूख गया और उसका स्वर भी रुँध गया ॥ १० ॥

सा विषण्णा च संव्रस्ता मुखेन परिशुष्यता ।

राजानमेवाभिमुखी कैकेयी वाक्यमब्रवीत् ॥ ११ ॥

वह कैकेयराजकुमारा विषादग्रस्त एवं श्लथ हाकन सुनने मुँहमें राजाकी ओर ही मुँह करके बोलती— ॥ ११ ॥

राज्यं गतधनं साधो पीतपण्डां सुगमिव ।

निरास्वाद्यतमं शुन्यं भरतो नाभिपत्स्यते ॥ १२ ॥

'श्रेष्ठ महाराज ! जिसका सम्पन्न भाग पहलेसे ही पी लिया गया हो, उस आम्बादरहित युगको जैसे उसका मखन करने-वाले लोग नहीं ग्रहण करने हैं, उसी प्रकार इस धनहीन और सूने राज्यको जो कदापि मखन करनेवाला नहीं रहे जायगा, भरत कदापि नहीं ग्रहण करेंगे ॥ १२ ॥

कैकेय्या मुक्तलज्जायां वदन्त्यामतिदारुणम् ।

राजा दशरथो वाक्यमुवाचायतलोचनाम् ॥ १३ ॥

कैकेयी लज झंडकर जब वह अत्यन्त दारुण वचन बोलने लगी, तब राजा दशरथ उस विशाललज्जावती कैकेयीसे इस प्रकार कहा— ॥ १३ ॥

बहन्तं किं तुदसि मां नियुज्य घुरि माहिते ।

अनार्ये कृत्यमारब्धं किं न पूर्वमुपारुधः ॥ १४ ॥

'अनार्य ! अहितकारिण ! तू रामको धनबास देनेक दुबल भारमें लगाकर जब मैं उस भारको ढो रहा हूँ, उस अवस्थामें क्यों अपने बचावका चाबुक मारकर मुझ पोंछा दे रही है ? इस समय जो कार्य तुने आरम्भ किया है अर्थात् श्रीरामके साथ संन्या और मायामी धेजनेमें जो प्रतिबन्ध लगाया है इसका निर्य तुने पहले ही क्या नहीं प्रार्थना की थी ? (अर्थात् पहले ही यह क्यों नहीं कह दिया था कि श्रीरामको अकेले वनमें जाना पड़ेगा, उनका साथ सेना आदि सम्पत्ति नहीं जा सकती) ॥ १४ ॥

तस्यैतत् क्रोधसंयुक्तमुक्तं श्रुत्वा वराह्वना ।

कैकेयी द्विगुणं क्रुद्धा राजानमिदमब्रवीत् ॥ १५ ॥

राजाकर वह क्रोधयुक्त वचन सुनकर सुधरी कैकेयी उसके अपेक्षा दुना क्रोध करके उससे इस प्रकार बोली— ॥ १५ ॥

तर्कव यशो सगरो ज्येष्ठपुत्रमुपारुधत् ।

असमञ्ज इति ख्यातं तथायं गन्तुमर्हति ॥ १६ ॥

'महाराज ! आपका ही वंशमें पहले राजा सगर हो गये हैं, जिन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र असमञ्जको निकालकर उसके लिये रुज्यका दरवाजा सदाके लिये बंद कर दिया था। इसी तरह इनको भी यहाँसे निकल जाना चाहिये ॥ १६ ॥

एवमुक्तो धिगित्येव राजा दशरथोऽब्रवीत् ।

ग्रीहिन्श्च जनः सर्वः सा च तत्रावबुध्यत ॥ १७ ॥

उसके ऐसा कहनेपर राजा दशरथने कहा—'धिक्कार है।' वहाँ जितने लोग बैठ थे सभी लाजमें गड़ गये, किन्तु कैकेयी अपने कथनके अनौचित्यको अथवा राजाद्वारा दिये गये धिक्कारके औचित्यको नहीं समझ सकी ॥ १७ ॥

तत्र वृद्धो महापात्रः सिद्धार्थो नाम नामतः ।

शुचिर्वहुमतो राजः कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥ १८ ॥

उस समय वहाँ राजाके प्रधान और वयोवृद्ध मन्त्री सिद्धार्थ बैठ थे। वे बड़े ही शुद्ध स्वभाववाले और राजाके विशेष आदरणीय थे। उन्होंने कैकेयीसे इस प्रकार कहा— ॥ १८ ॥

असमञ्जो गृहीत्वा तु क्रीडितः पथि दारकान् ।

सरख्यां प्रक्षिपन्नप्सु रमते तेन दुर्मतिः ॥ १९ ॥

'दाव ! असमञ्ज बड़ी दुष्ट बुद्धिके राजकुमार था। वह मारुतों के समान हुए जोरकरके पकड़कर नम्रयुक्त तरुमें फेंक देता था और ऐसे ही कार्योमें अपना मनोरञ्जन करता था ॥ १९ ॥

तं दृष्ट्वा नागराः सर्वे क्रुद्धा राजानमब्रुवन् ।

असमञ्जं वृणीष्विकमस्मान् वा राष्ट्रवर्धन ॥ २० ॥

‘उसको यह करतुत देखकर सभी नगरनिवासियों कोपित हो
राजाके पास जाकर बाल—‘रघुको वृद्धि करनेवाला
महाराज ! या तो आप अवन असमझका लकर रहिये या
इन्हें निकासकर हमें इस नगरमें रहने दें’ ॥ २० ॥

तानुवाच ततो राजा किंनिमित्तमिदं भयम् ।
लाक्षापि राजा सम्पृष्टा वाक्यं प्रकृतयाऽब्रुवन् ॥ २१ ॥

‘तब राजाने इनसे पूछा—‘तुम्हें असमझसे किस कारण
भय हुआ है ?’ राजाके पूछनपर उन प्रजाजनोंने यह बात
कही— ॥ २१ ॥

क्रीडतस्त्वेवं नः पुत्रान् बालानुद् भ्रान्तवतसः ।
सरय्वो प्रक्षिपन्मौर्यादनुत्तां प्रीतिमश्रुते ॥ २२ ॥

महाराज ! यह हमारे खेलते हुए छोटे-छोटे बच्चोंका
पकड़ लेते हैं और जब वे बहुत बचरा जाते हैं, तब उन्हें
सरयूमें फेंक देते हैं । मुखंतावश ऐसा करके इन्हें अनुपम
आनन्द प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

स तासां वचनं श्रुत्वा प्रकृतीनी नगाधिपः ।
तं तन्वाज्ञाहितं पुत्रं तासां प्रियचिकीर्षया ॥ २३ ॥

‘उन प्रजाजनोंनेको यह बात सुनकर राजा सगमने उनका
प्रिय करनेकी इच्छासे अपने उन अहितकारक दुष्ट पुत्रको
त्याग दिया ॥ २३ ॥

तं याने दीघघारोप्य सभायै सपरिच्छदम् ।
यावज्जीवं विद्यास्योऽयमिति नानन्वशान् पिता ॥ २४ ॥

‘पिताने अपने उस पुत्रको पला और आवश्यक
सामग्रीमहित शीघ्र स्थपर लिजकर अपने सबकांक्ष अज्ञा
दी—‘इस जीवनभरक लिये राज्यसे काहर निकाल दो’ ॥

स फालघटिक गृहा गिरिदुर्गाण्यलोकयत् ।
दिशः सर्वाभ्वनुचरन् स यथा पापकर्मकृत् ॥ २५ ॥

इत्येनमत्यजद् राजा सगरौ वै मुधार्मिकः ।
रघुः किमकरोत् पापं धर्मवधुपरुध्यते ॥ २६ ॥

असमझने फाल और पिटागी लेकर पर्वतको दुर्गम
गुफाओंका ही अपने निवासके योग्य देखा और कन्द आदिक
लिये वह सम्पूर्ण दिशाओंमें विचरने लगा । वह जैसा कि
बनाया गया है पापचारी था, इसलिये फल धार्मिक राजा
सगमने इसको त्याग दिया था । श्रीगमन ऐसा कीव-य
अपराध किया है, जिसके कारण इन्हें इस नगर राज्य पानमें
गंका जा रहा है ? ॥ २५-२६ ॥

नहि कंचन पश्यामी राघवस्यागुणं वयम् ।
दुर्लभो ह्यस्य निरयः शशाङ्कस्यैव कल्पवधम् ॥ २७ ॥

‘हमलोग तो श्रीगमचन्द्रजीमें कोई अलगुण नहीं देखते हैं।

जैसे (शुरुपक्षकी द्वितीयाके) चन्द्रमार्ग मलिनताका
दर्शन दुर्लभ है, उसी प्रकार इनमें कोई पाप या अपराध
देखनेसे भी नहीं मिल सकता ॥ २७ ॥

अथवा देवि त्वं कंचिद् दोषं पश्यसि राघवे ।
तमद्य ब्रूहि तत्त्वेन तदा रामो विद्यास्यते ॥ २८ ॥

‘अथवा देवि ! यदि तुम्हें श्रीगमचन्द्रजीमें कोई दोष
दिखाया देता हो तो आज तुम्हें ठीक-ठाक बताओ । तब
मझमें श्रीगमको निकास दिया जा सकता है ॥ २८ ॥

अदुष्टस्य हि सत्यागः सत्यध्वे निरतस्य च ।
निर्दोहपि शक्रस्य धृतिं धर्मविरोधवान् ॥ २९ ॥

जिसमें कोई दुष्टता नहीं है, जो सदा सन्मार्गमें ही स्थित
है, ऐसे पुरुषका त्याग धर्ममें विरुद्ध माना जाता है । ऐसा
धर्मविरोधी कर्म तो इन्द्रक भी तेजको दग्ध कर देगा ॥ २९ ॥

तदलं देवि रामस्य श्रिया विहतया त्वया ।
लोकतोऽपि हि ते रक्ष्य परिवादः शुभानने ॥ ३० ॥

‘अनः देवि ! श्रीगमचन्द्रजीके राज्याभिषेकमें विघ्न
झलनेसे तुम्हें कोई लाभ नहीं होगा । शुभानने ! तुम्हें
अक्रान्तिसे भी बचनेकी चेष्टा करनी चाहिये’ ॥ ३० ॥

श्रुत्वा तु सिद्धार्थवचो राजा श्रान्ततरस्वरः ।
शोकोपहतया वाचा कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥ ३१ ॥

सिद्धार्थको जान सुनकर राजा दशरथ अत्यन्त धके
हुए स्वरसे शोकाकुल घाणोंमें कैकेयीसे इस प्रकार
बोले— ॥ ३१ ॥

एतद्वचो नेच्छसि पापरूपे
हितं न जानासि ममात्मनोऽथवा ।

आस्थाप्य मार्गं कृपणं कुचेष्टा
चेष्टा हि ते साधुपथादपेता ॥ ३२ ॥

‘पार्षणि ! क्या तुझे यह बात नहीं रुची ? तुझे मेरा या
अपने हितका भी चिन्तकृत ज्ञान नहीं है ? तू दुःखद मार्गको
आश्रय लेकर ऐसी कुचेष्टा कर रही है । तेरी यह सारी चेष्टा
साधु पुरुषोंके मार्गके विपरीत है ॥ ३२ ॥

अनुव्रजिष्याम्यहमद्य रामं
राजो परित्यज्य सुखं धनं च ।

सर्वं च राजा भगतव च त्वं
यथासुखं भुङ्क्ष्व विराय राज्यम् ॥ ३३ ॥

‘अब मैं भी यह राज्य, धन और सुख छोड़कर श्रीरामके
पाछे चला जाऊँगा । ये सब लोग भी उन्होंने साथ जायेंगे ।
तू अकल्मे राजा भरतके साथ चिरकालिनक सुखपूर्वक राज्य
भोगती रह’ ॥ ३३ ॥

इत्यर्थ श्रीमद्रामायण बालपांकीच आदिकाव्ययोऽध्याकाण्डे चत्विंशः सर्गः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीबालमोक्षानन्द अष्टमोऽध्याकाण्डे अष्टमोऽध्याकाण्डे चत्विंशः सर्गः पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशः सर्गः

श्रीराम आदिका बल्कल-वस्त्र-धारण, सीताके बल्कल-धारणसे रनिवासकी स्त्रियोंको खेद तथा गुरु वसिष्ठका कैकेयीको फटकारते हुए सीताके बल्कल-धारणका अनौचित्य बताना

महामात्रवचः श्रुत्वा रामो दशरथं तदा ।

अभ्यधापय धार्यं तु विनयज्ञो विनोतयन् ॥ १ ॥

प्रधान मन्त्रीकी पूर्वोक्त बात सुनकर विनयके ज्ञान श्रीरामने उस समय राजा दशरथसे विनोत होकर कहा— ॥

त्यक्तभोगस्य मे राजन् वने चन्येन जीवनः ।

किं कार्यमनुयात्रेण त्यक्तसङ्गस्य सर्वतः ॥ २ ॥

‘राजन् ! मैं भोगोंका परित्याग कर चुका हूँ। मुझे जंगलके फल-मूलोंसे जीवन-निर्वाह करना है। जब मैं सब ओरसे आर्मांक छोड़ चुका हूँ, तब मुझे मेनासे क्या प्रयोजन है ? ॥ २ ॥

यो हि दत्त्वा द्विपश्रेष्ठं कक्ष्याद्यो कुरुते मनः ।

रज्जुस्त्रेहेन किं तस्य त्यजतः कुञ्जरोनमम् ॥ ३ ॥

‘जो श्रेष्ठ गजराजका दान करके उसके रस्सेमें मन लगाना है—लोभवश रस्सेको रख लेना चाहना है, वह अच्छा नहीं करता, क्योंकि उतम हाथीका त्याग करनेवाले पुच्छको उलक रस्सेमें आसक्ति रखनेकी क्या आवश्यकता है ? ॥ ३ ॥

तथा मम सतां श्रेष्ठ किं ध्वजिन्ध्रा जगत्पते ।

सर्वाण्येवानुजानामि चीराण्येवानयन्तु मे ॥ ४ ॥

‘सत्पुरुषामें श्रेष्ठ महाराज ! इसी तरह मुझे सेना लेकर क्या करना है ? मैं ये सारी वस्तुएँ धरतको अर्पित करनेकी अनुमति देना हूँ। धेरें लिये तो (माना कैकेयियों की दासियाँ) चीर (चिथड़े या बल्कल-वस्त्र) ला दें ॥ ४ ॥

खनित्रपिटके चोभे समानयत्त गच्छत ।

चतुर्दश वने वासं वर्षाणि वसतो मम ॥ ५ ॥

‘दासियों ! जाओ खनी और पिटारी अथवा कुदारी और खिची ये दोनों वस्तुएँ लाओ चौरदश वर्षोंतक वनमें रहनेके लिये ये चीजें उपयोगी हो सकती हैं ॥ ५ ॥

अथ चीराणि कैकेयी स्वयमाहृत्य राघवम् ।

ववाह परिधत्स्वेति जनोद्ये निरपत्रणा ॥ ६ ॥

कैकेयी लाज-संकोच छोड़ चुकी थी। वह स्वयं ही जाकर बहुत-सी चीर ले आयी और जनसमुदायमें श्रीरामचन्द्रजीसे बोली, ‘लो, पहन लो’ ॥ ६ ॥

स चीरे पुरुषव्याघ्रः कैकेय्याः प्रतिगृह्य ते ।

सूक्ष्मवस्त्रमवक्षिप्य भुनियस्वाण्यवस्तु ह ॥ ७ ॥

पुरुषसिंह श्रीरामने कैकेयीके हाथमें दो चीर ले लिये और अपने महान वस्त्र उतारकर मुनियोंके से वस्त्र धागा कर लिये ॥ ७ ॥

लक्ष्मणश्चापि तत्रैव विहाय वसने शुभे ।

तापसाच्छादने चैव जग्राह पितुरग्रतः ॥ ८ ॥

इसी प्रकार लक्ष्मणने भी अपने पिताके सामने हो दोनों सुन्दर वस्त्र उतारकर तपस्वियोंके-से बल्कल-वस्त्र पहन लिये ॥ ८ ॥

अथात्यपरिधानार्थं सीता कौशेयवासिनी ।

सम्यंश्च चीरं संप्रस्ता पृषती चागुरामिव ॥ ९ ॥

सा व्यपत्रपमाणेव प्रगृह्य च सुदर्पनाः ।

कैकेय्या कुशचीरे ते जानकी शुभलक्षणा ॥ १० ॥

अश्रुसम्पूर्णनेत्रा च धर्मज्ञा धर्मदर्शिनी ।

गन्धर्वराजप्रतिमं धर्तारमिदमब्रवीत् ॥ ११ ॥

कथं नु चीरं बध्नन्ति मुनयो वनवासिनः ।

इति ह्यकुशला सीता सा मुपोह भुहुर्मुहुः ॥ १२ ॥

तदनन्तर रेशमी-वस्त्र पहनने और धर्मपर ही दृष्टि रखनेवाली धर्मज्ञा शुभलक्षणा जनकनन्दिनी सीता अपने पहननेके लिये भी चीरवस्त्रको प्रस्तुत देख ठसी प्रकार हड़ गयीं जैसे मृगो बिछे हुए आलको देखकर भयभीत हो जाती है। ये कैकेयोंके हाथमें दो बल्कल वस्त्र लेकर लज्जित-सी हो गयीं। उनके मनमें बड़ा दुःख हुआ और नेत्रोंमें आँसु भर आये। उस समय उन्होंने गन्धर्वराजके समान तेजस्वी पतिसे इस प्रकार पूछा—‘नाथ ! वनवासी मुनिलोग चीर कैसे बाँधते हैं ?’ वह कहकर उसे धारण करनेमें कुशल न होनेके कारण साँता बारम्बार मोहमें पड़ जाती थी—मूल कर बैठती थी ॥ ९—१२ ॥

कृत्वा कण्ठे स्म सा चीरमेकमादाय पाणिना ।

तस्थौ ह्यकुशला तत्र व्रीडिता जनकात्मजा ॥ १३ ॥

चीर-धारणमें कुशल न होनेसे जनकनन्दिनी सीता लज्जित हो एक बल्कल गलेमें डाल दूसरा हाथमें लेकर चुपचाप खड़ी रही ॥ १३ ॥

तस्मास्तत् क्षिप्रमागत्य रामो धर्मभृतां धरः ।

चीरं बध्नन् सीताया, कौशेयस्योपरि स्वयम् ॥ १४ ॥

तब धर्मान्माओंमें श्रेष्ठ श्रीराम जल्दीसे उनके पास आकर स्वयं अपने हाथोंसे उनके रेशमी वस्त्रक ऊपर बल्कल-वस्त्र बाँधने लगे ॥ १४ ॥

रामे प्रेक्ष्य तु सीताया बध्नन्तं चीरमुत्तमम् ।

अन्तःपुरचरा नार्यो मुमुचुर्वाति नेत्रजम् ॥ १५ ॥

सीताको उत्तम चीरवस्त्र पहनाते हुए श्रीरामकी ओर देखकर रनवासकी स्त्रियाँ अपने नेत्रोंसे आँसु बहाने लगीं ॥

अचुश्च परमायत्ता रामं अवलिततेजसम् ।

वत्स नैव नियुक्तेर्य वनवासे धनस्विनी ॥ १६ ॥

वे सब अत्यन्त म्लिन्न होकर उदीप्त तेजवाले श्रीरामसे

बोलीं—'बेटा ! भगवन्सिनी सीताको इस प्रकार बनावसको आज्ञा नहीं दी गयी है ॥ १६ ॥

पितुर्वाक्यानुरोधेन गतम् विजनं वनम् ।

सावद् दर्शनमस्या नः सफलं भवन् प्रभो ॥ १७ ॥

'प्रभो ! तुम पिताका आज्ञाका पालन करनेके लिये जयन्तक विजन वनमें जाकर राजा नन्दक दुर्भिक्षी दशरथ हमारा जीवन सफल होन दो ॥ १७ ॥

लक्ष्मणेन सहायेन वनं गच्छस्व पुत्रक ।

मेयमर्हति कल्याणि वस्तु तापसवद् वने ॥ १८ ॥

'बेटा ! तुम लक्ष्मणको अपना साथी बनाकर उनके साथ वनको जाओ परन्तु यह कल्याणी सीता तथा सौमित्र भूमिकी भूमि वनमें निवास करनेके योग्य नहीं है ॥ १८ ॥

कुरु नो याचनां पुत्र सीता तिष्ठन् भूमिनी ।

धर्मनित्यं स्वयं स्थातुं न हीदानीं त्वमिच्छामि ॥ १९ ॥

'पुत्र ! तुम हमारे यह याचना सफल करो । भूमिनी सीता यहीं रहे । तुम तो नित्य धर्मपरायण हो अतः स्वयं इस समय यहाँ नहीं रहना चाहते हो (परन्तु सीताको तो रहने दो) ॥ १९ ॥

तासामेवविधा वाचः शृण्वन् दशरथात्मजः ।

खल्वन्येव तथा चीरं सीतया तुल्यशीलया ॥ २० ॥

चीरे गृहीते तु तथा सखाषो नृपतेगुरुः ।

निवार्य सीतां कैकेयी वसिष्ठो वाक्यप्रवर्धनः ॥ २१ ॥

माताओंकी ऐसी बात सुनने हुए भी दशरथनन्दन श्रीराम सीताको खल्कल-बस्त्र पहना हो दिया परन्तु समान शीलस्वभाववाली सीताके खल्कल धारण कर जंगल राज्यके गुरु वसिष्ठजीके नेत्रोंमें आँसु भर आया । उन्होंने सीताको रोककर कैकेयीसे कहा— ॥ २०-२१ ॥

अतिप्रवृत्ते दुर्मेधे कैकेयि कुलपांसनि ।

वञ्छयित्वा तु राजानं न प्रमाणं श्रुतिष्ठामि ॥ २२ ॥

'मर्यादाका उल्लङ्घन करके अधर्मकी ओर पैर बढ़ाने-वाली दुर्दीप्त कैकेयी ! तुम कैकेयराजके कुलको जानो-जानती कलङ्क है । अरी ! राजाको धोखा देकर अब तुम सीताके भीतर नहीं रत्न चान्तों है ? ॥ २२ ॥

न गन्तव्यं वने देव्या सीतया शीलवर्जिते ।

अनुप्रास्यति रामस्य सीता प्रकृतमात्मनम् ॥ २३ ॥

'शीलका परित्याग करनेवाली दुष्ट ! देवी सीता वनमें नहीं जायेंगी । रामके लिये प्रसन्न हुए राजसिंहासनपर ये ही बैठेंगी ॥ २३ ॥

आत्मा हि क्षराः सर्वेषां क्षारसंग्रहवर्तिनाम् ।

आत्मेर्यामिति रामस्य पालयिष्यति मेदिनीम् ॥ २४ ॥

'सम्पूर्ण गृहस्थोंकी पत्नियों उनका आधार अङ्ग है । इस तरह सीता देवी भी श्रीरामको आत्म्य हैं; अतः उनको जगह से ही इस राज्यका पालन करेंगी ॥ २४ ॥

अथ यास्यति वैदेही वनं रामेण संगता ।

वयमत्रानुयास्यामः पुरं चेदं गमिष्यति ॥ २५ ॥

अन्तर्पालाश्च यास्यन्ति सदरो यत्र राघवः ।

सहोपजीव्यं राष्ट्रं च पुरं च सपरिच्छदम् ॥ २६ ॥

'यदि विदहनन्दिनी सीता श्रीरामके साथ वनमें जायेंगी तो हमलोग भी इनके साथ चले जायेंगे । यह सारा नगर भी यहाँ जायगा और अन्तःपुरके रक्षक भी चले जायेंगे । अपनी पत्नीके साथ श्रीरामचन्द्रजी जहाँ निवास करेंगे, वहाँ इस राज्य और नगरके लोग भी धन-दौलत और आवश्यक सामान लेकर चले जायेंगे ॥ २५-२६ ॥

भरतश्च शत्रुघ्नश्चैव वनेचरः ।

वने वपन्ने काकुत्स्थमनुवत्स्यति पूर्वजम् ॥ २७ ॥

भरत और शत्रुघ्न भी चौरखस्र धारण करके वनमें रज्जों और बर्तन पिकाम करनेवाले अपन बड़े भाई श्रीरामको सेवा करेंगे ॥ २७ ॥

तनः शून्या गतजनो वसुधा पादपैः सह ।

त्वमेका शाधि दुर्वृत्ता प्रजानामहिते स्थिता ॥ २८ ॥

'फिर तू वृक्षोंके साथ अकेली रहकर इस निर्जन एवं सूनी पृथ्वीका राज्य करना । तू बड़ी दुराचारिणी है और प्रजाका अहित करनेमें लगी हुई है ॥ २८ ॥

न हि तद् भविता राष्ट्रं यत्र रामो न भूपतिः ।

तद् वनं भविता राष्ट्रं यत्र रामो निवत्स्यति ॥ २९ ॥

'यदि रक्ष, श्रीराम जहाँकि राजा न होंगे, वह राज्य राज्य नहीं रह जायगा—जंगल हो जायगा तथा श्रीराम जहाँ निवास करेंगे, वह वन एक स्वतन्त्र राष्ट्र बन जायगा ॥ २९ ॥

न ह्यदनां महीं पित्रा भरतः शास्तुमिच्छति ।

न्यायं वा पुत्रवद् वस्तुं यदि जानो महीपतेः ॥ ३० ॥

'यदि भरत राजा दशरथसे पैदा हुए हैं तो पिताके प्रसन्नतापूर्वक दिये बिना इस राज्यका कदापि लेना नहीं चाहता तथा नर साथ पुत्रवत् वर्तान करनेके लिये भी यहाँ बैठ रहनेको इच्छा नहीं करते ॥ ३० ॥

यद्यपि त्वं क्षितितलाद् गगनं श्रोतमिष्यसि ।

पितृवंशचरित्रज्ञः सोऽन्यथा न करिष्यति ॥ ३१ ॥

'तू पृथ्वी छेड़कर आसमानमें उड़ जाय तो भी अपने पितृकुलके आचार-व्यवहारको जाननेवाले भरत उसके विरुद्ध कुछ नहीं करेंगे ॥ ३१ ॥

तत् स्वया पुत्रगर्धिन्या पुत्रस्य कृतमप्रियम् ।

लोकं नहि स विद्येत यो न राममनुव्रतः ॥ ३२ ॥

'तूने पुत्रका प्रिय करनेकी इच्छासे वास्तवमें उसका अप्रिय हो किया है क्योंकि हमारेमें कोई ऐसा पुरुष नहीं है जो श्रीरामका भक्त न हो ॥ ३२ ॥

द्रक्ष्यस्यर्धेव कैकेयि पशुव्यालमृगद्विजान् ।

गच्छतः सह रामेण पादपांश्च तदुन्मुखान् ॥ ३३ ॥

कैकेयि ! तू आज ही देखेगी कि बनकरे जाते हुए श्रीरामके साथ पशु, सर्प, मृग और पक्षी भी चले जा रहे हैं। औरकरी तो बात ही क्या, वृक्ष भी उनके साथ जानकरे उत्सुक हैं ॥ ३३ ॥

अथोत्तमान्याभरणानि देवि

देहि स्नुषायै व्यपनीय चीरम् ।

न चीरमस्याः प्रविधीयतेति

न्यवारयत् तद् वसनं वसिष्ठः ॥ ३४ ॥

देवि ! सीता तेरो पुत्रवधू है। इनके शरीरमें बल्कल-वस्त्र हटाकर तू इन्हें पहननेके लिये उत्तमानम वस्त्र और आभूषण दे। इनके लिये बल्कल-वस्त्र देना कदापि उचित नहीं है।' ऐसा कहकर वसिष्ठने उसे जानकीको बल्कल-वस्त्र पहनानेसे मना किया ॥ ३४ ॥

एकस्य रामस्य वने निवास-

स्त्वया वृतः कैकयरामपुत्रि ।

विभूषितेयं प्रतिकर्मनित्या

वसत्वरण्ये सह राघवेण ॥ ३५ ॥

चे फिर बोले—कैकयरामकुमारो ! तूने अकल ओगमके लिये ही बनवासका घर माँगा है (सीताके लिये नहीं); अतः ये

राजकुमारों वस्त्राभूषणोंमें विभूषित होकर सदा मृदुल धारण करके वनमें श्रीरामचन्द्रजीके साथ निवास करें ॥ ३५ ॥

यानैश्च मुख्यैः परिचारकैश्च

सुसंवृता गच्छन् राजपुत्री ।

वर्त्मश्च सर्वैः सहितैर्विधानै-

र्नैव वृता ते वरसम्प्रदाने ॥ ३६ ॥

राजकुमारों सीता मुख्य-मुख्य सेवकों तथा सखीरियोंके साथ सब प्रकारके वस्त्रों और आभूषणोंके उपकरणोंसे समपन्न होकर वनकी यात्रा करें। तूने वर माँगत समय पहले सीताके वनवासकी कोई चर्चा नही की थी (अतः इन्हें बाल्यवस्त्र नहीं पहनना पड़ेगा) ॥ ३६ ॥

तस्मिंस्तथा जायति विप्रमुख्ये

गुरौ नृपस्याप्रतिप्रभावे ।

नैव स्म सीता विनिवृत्तभावा

प्रियस्य भर्तुः प्रतिकारकामा ॥ ३७ ॥

ब्राह्मणशिशोर्मणि अप्रतिम प्रभावशाली राजगुरु महर्षि वसिष्ठके ऐसा कहनेपर भी सीता अपने प्रियतम पतिके सम्पन्न ही वेश-भूषा धारण करनेकी इच्छा रखकर उस चौर-धारणमें विरत नहीं हुई ॥ ३७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽथोद्ध्याकाण्डे सप्तत्रिंशः सर्गः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अथोद्ध्याकाण्डमें नौमवीं सर्ग पूरा हुआ ॥ ३७ ॥



अष्टात्रिंशः सर्गः

राजा दशरथका सीताको बल्कल धारण कराना अनुचित बताकर कैकेयीको फटकारना और श्रीरामका उनसे कीसल्यापर कृपादृष्टि रखनेके लिये अनुरोध करना

तस्यां चीरं वसानायां राधवत्यापनायवत् ।

प्रश्रुत्कोश जनः सर्वो धिक् त्वां दशरथं त्विति ॥ १ ॥

सीताजी सनाथ होकर भी जब अनाथकी धर्ति खोरवस्त्र धारण करने लगी, तब सब लोग चिन्तित-चिन्तितकर कहने लगे—'राजा दशरथ ! तुम्हें धिक्कार है।' ॥ १ ॥

तेन तत्र प्रणाटेन दुःखितः स महीपतिः ।

चिच्छेद जीविते श्रद्धां धर्मं यशसि चात्मनः ॥ २ ॥

स निःश्वस्योष्णार्मैश्चाकम्भा भार्यापिदमब्रवीत् ।

कैकेयि कुशचीरेण न सीता गन्तुमर्हति ॥ ३ ॥

वहाँ होनेवाले उस कोलाहलमें दुःखी हो इत्यत्रकुशेश महाराज दशरथने अपने जीवन, धर्म और यशकी उत्कट इच्छा त्याग दी। फिर वे गरम साँस स्वीकृति अपनी भार्या कैकेयीसे इस प्रकार बोले—'कैकेयि ! सीता कुश-चौर (बल्कल-वस्त्र) पहनकर वनमें जानेके योग्य नहीं है ॥

सुकुमारी च बाल्यं च सततं च सुखोचिता ।

नैव वनस्य योग्येति सत्यमाह गुरुर्मम ॥ ४ ॥

यह सुकुमारी व बालिका है और सदा मुग्धा है पत्नी है। या गुरुजी रोक करत है कि यह सीता वनमें जाने योग्य नहीं है ॥

इयं हि कस्यापि करोति किञ्चित्

तपस्विनी राजवरस्य पुत्री ।

या चीरमामाद्य जनस्य मध्ये

स्थिता विसंज्ञा भ्रमणीव काचित् ॥ ५ ॥

राजाओंमें श्रेष्ठ जनककी यह तपस्विनी पुत्री क्या किसीको भी कुछ बिगाड़ती है? जो इस प्रकार जन-नन्दनयक बीच क्रियें किञ्चनव्यविमृष्ट शिक्षकोंके समान चार धारण करके रहती है? ॥ ५ ॥

योग्यपास्वाजनकस्य कन्या

नैव प्रतिज्ञा यम दत्तपूर्वा ।

यथासुखं गच्छन् राजपुत्री

वनं समग्रा सह सर्वरतैः ॥ ६ ॥

'जनकमन्दिनी अपने चोर-वस्त्र उतार डाले। 'यह इस रूपमें बन जाय' ऐसी कोई प्रतिज्ञा मैंने पहले नहीं की है और न किसीको इस तरहका वचन ही दिया है। अतः भोजकुमारी सीता सभर्ण वस्त्रालंकारोंमें सम्यक् हो सब प्रकारक रत्नक साथ जिस तरह भी वह सुखी रह सके, उसी तरह बनका जा सकती है ॥ ६ ॥

अजीवनार्हेण मया वृशसा
कृता प्रतिज्ञा नियमेन तावत् ।
त्वया हि बाल्यात् प्रतिपन्नमेतत्
तथा दहेत् सेणुमिवात्मपुष्पम् ॥ ७ ॥
मैं जीवित रहनयोग्य नहीं हूँ। मैंने तो वचनोंमें बंधकर एक तो या ही नियम (शपथ) पुत्रक वडी कृति प्रतिज्ञा कर डाली है। दूसरे नून अपनी नादानाक कण्ठ सीताका इस तरह चौर पहनाना प्रारम्भ कर दिया। जिस प्रकार बाँसका फूल उसीको सुखा डालता है, उसी प्रकार मेरे को हुई प्रतिज्ञा मुझको भस्म किये डालती है ॥ ७ ॥

रामेण यदि ते पापे किञ्चित्कृतमशोभनम् ।
अपकारः य इह ते वेदेहा दर्शितोऽद्यमे ॥ ८ ॥
'नोच यापिनि ! यदि श्रीरामने तेरा कोई अपराध किया है तो (उन्हे तो तू समझा दे ही चुकी) विदेहनन्दिनी सीताने ऐसा दण्ड मानेयोग्य तेरा कौन-सा अपकार कर डाला है ? ॥ ८ ॥

पुगीवोत्फुल्लनयना मृदुशील मन्स्विनी ।
अपकारं कपिषु ते कगेति जनकात्मजा ॥ ९ ॥
'जिसके नेत्र हरिणोंके नेत्रोंके समान खिले हुए हैं, जिसका स्वभाव अत्यन्त कोमल एवं मधुर है, वह मन्स्विनी जनकमन्दिनी तेरा कौन-सा अपराध कर रही है ? ॥ ९ ॥
ननु पर्याप्तमेवं ते पापे रामविदासनम् ।
किमेधिः कृपणभूयः पातकैरपि ते कर्तुं ॥ १० ॥

'यापिनि ! तूने श्रीरामको बनवास देकर ही पूरा पाप क्या लिया है। अब सीताको भी वनमें भेजने और वस्त्रक पहनाने आदिका अत्यन्त दुःखद कार्य करके फिर तू इनने पातक किसलिये बढ़ाए गये हैं ? ॥ १० ॥

प्रतिज्ञानं यथा तावत् त्वयोक्तं देवि भूषणम् ।
रामं यदभिषेकाय त्वमिहागतमब्रवीः ॥ ११ ॥
'देवि ! श्रीराम जब अभिषेकक लिये यहाँ आये थे, उस समय तूने उनसे जो कुछ कहा था उसे मनुकर मैंने उनको लिये ही प्रतिज्ञा की थी ॥ ११ ॥

तस्येतत् सप्ततिक्रम्य निरयं गन्तुमिच्छसि ।
मंथिलीपि या हि स्वमीक्ष्यसे जीरवासिनीम् ॥ १२ ॥
'उसका डल्लहून करके जो तू मंथिलशकुमारी ज्ञानवशसे भी वस्त्रक-वस्त्र पहने देखना चाहती है, इससे बन पहना है, तुझे नरकमें ही जानेकी इच्छा तो गरी है ॥ १२ ॥

एवं ब्रुवन्तं पितरं रामः सम्प्रस्थितो वनम् ।
अवाकिारममासीनमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १३ ॥
रामा दशरथ सिर नीचा किये बैठे हुए जब इस प्रकार ब्रह्मदे उन्से समझ बनकी ओर जाते हुए श्रीरामने पितासे इस प्रकार कहा— ॥ १३ ॥

इयं धार्मिक कौसल्या मम माता यशस्विनी ।
वृद्धा चाक्षुःशीला च न च त्वां देव गहति ॥ १४ ॥
मया विहोनीं वरद अपत्री शोकसागरम् ।
अदृष्टपूर्वव्यसनां भूयः सम्भन्तुमर्हसि ॥ १५ ॥
'धर्मात्मन् ! ये मेरे यशस्विनी माता कौसल्या अब वृद्ध हो चली हैं। इनका स्वभाव बहुत ही उच्च और उदार है। देख ! यह कभी आपको निन्दा नहीं करती हैं। इन्होंने पहले कभी ऐसा भारी संकट नहीं देखा होगा। कदाचक मरेश ! ये मेरे न रहनेसे शोकके समुद्रमें डूब जायेंगी। अतः आप सदा इनका अधिक सम्मान करते रहें ॥ १४-१५ ॥

पुत्रशोकं यथा नर्च्छेत् त्वया पूज्येन पूजिता ।
मां हि सचिन्तयन्ती सा त्वयि जीवेत् नयस्विनी ॥ १६ ॥
आप पूज्यतम पतिसे सम्मानित हो जिस प्रकार यह पुत्रशोकका अनुभव न कर सके और मेरा चिन्तन करती हुई भी आपके आश्रयमें हो ये मेरी तपस्विनी माता जीवन धारण करें, ऐसा प्रयत्न आपको करना चाहिये ॥ १६ ॥

इमां महेन्द्रोपम जातमर्धिनौ
नश्वा विधातुं जननीं ममार्हसि ।
यथा वनस्थे मयि शोककर्षिता
न जीविते न्यस्य यमक्षयं त्रजेत् ॥ १७ ॥
'इन्द्रके समान तेजस्वी महाराज ! ये निरन्तर अपने विष्टुडे हुए छेदकी दुःखनक लिये अनुमत्त गयीं कहां गया न तो मेरे वनमें रहने समय ये शोकसे कातर हो अपने प्राणोंका त्याग करके यमलोकमें चली जायें। अतः आप मेरी माताको सदा ऐसी ही परिस्थितिमें रखें, जिससे उक्त आशङ्कक स्थिति अवकाश न रहे जाय' ॥ १७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे ब्राह्मसूक्तिय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टात्रिंश सर्ग ॥ ३८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यभट्टायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें अष्टात्रिंश सर्ग पूरा हुआ ॥ ३८ ॥

एकोनचत्वारिंशः सर्गः

राजा दशरथका विलाप, उनकी आज्ञासे सुमन्त्रका रामके लिये रथ जोतकर लाना, कोषाध्यक्षका सीताको बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण देना, कौसल्याका सीताको पतिसेवाका उपदेश, सीताके द्वारा उसकी स्वीकृति तथा श्रीरामका अपनी मातासे पिताके प्रति दोषदृष्टि न रखनेका अनुरोध करके अन्य माताओंसे भी विदा माँगना

रामस्य तु वचः श्रुत्वा मुनिवेषधरं च तम् ।

समीक्ष्य सह भार्याभी राजा विगतचेतनः ॥ १ ॥

श्रीरामकी बात सुनकर और उन्हें मुनिवेष धारण किये देख खियोमहित राजा दशरथ जोकसे अचेत हो गये ॥ १ ॥

नैनं दुःखेन संतप्तः प्रत्यक्षत राघवम् ।

न चैनमभिसम्प्रेक्ष्य प्रत्यभासत दुर्मनाः ॥ २ ॥

दुःखसे संतप्त होनेके कारण वे श्रीरामकी ओर धर आँख देख भी न सके और देखकर भी मनमें दुःख होनेके कारण उन्हें कुछ उत्तर न दे सके ॥ २ ॥

स मुहूर्तमिवासंजो दुःखितश्च महीपतिः ।

विललाप महाबाहु राममेवानुचिन्तयन् ॥ ३ ॥

दो घड़ीतक अचेत-स रहनेके बाद जब उन्हें होश हुआ, तब वे महाबाहु श्रेष्ठ श्रीरामका ही चिन्तन करते हुए दुःखी होकर विलाप करने लगे— ॥ ३ ॥

मन्ये खलु मया पूर्वं विवर्त्ता बहवः कृताः ।

प्राणिनो हिंसिता वापि तन्मामिदमुपस्थितम् ॥ ४ ॥

'मालूम होता है, मैंने पूर्वजन्ममें अवश्य ही बहुत-सी गैरोंका उनके खड्गोंसे विवर्त्त कर दिया है अथवा अनेक प्राणियोंको हिंसा की है, इसीसे आज मैं ऊपर यह संकट आ पड़ा है ॥ ४ ॥

न त्वेवानागते काले देहाच्च्यवति जीवितम् ।

कैकेय्या क्षिप्रमानस्य मृत्युर्मम न विद्यते ॥ ५ ॥

'समय पूरा हुए बिना किमोंके शरीरसे प्राण नहीं निकलने, तथा तो कैकेयीक द्वारा इतना क्रुद्ध पाँपपर भी मेरी मृत्यु नहीं हो रही है ॥ ५ ॥

योऽहं पावकसंकाशं पश्यामि ध्रुतः स्थितम् ।

विहाय वसने सूक्ष्मे तापमाच्छादमात्मजम् ॥ ६ ॥

'ओह ! अपने आग्निके समान तेजस्वी पुत्रको यहीन वस्त्र त्यागकर तपस्वियोंके-मे वस्त्र-वस्त्र धारण किये सामन खड़ा देखा रहा हूँ (फिर था मेरे प्राण नहीं निकलते हैं) ॥

एकस्याः खलु कैकेय्याः कृतेऽयं विद्यते जनः ।

स्वार्थे प्रयतमानायाः संश्रित्य निकृतिं त्विमां ॥ ७ ॥

'इस बरदानरूप शत्रुताका आश्रय लेकर अपने स्वार्थ-साधनके प्रयत्नमें लगी हुई एकमात्र कैकेयीके कारण ये सब लोग महान् कष्टमें पड़ गये हैं ॥ ७ ॥

एवमुक्त्वा तु वचनं बाष्पेण विहतेन्द्रियः ।

रामेति सकृदेवोक्त्वा व्याहर्तुं न शक्नोति सः ॥ ८ ॥

'ऐसी धान कहते कहते रामक नेत्रोंमें आँसु भर आये । उनकी इन्द्रियां शिथिल हो गयीं और वे एक ही बार 'हे राम !' कहकर मूर्च्छित हो गये । आगे कुछ न बोल सके ॥

संज्ञां तु प्रतिलभ्यैव मुहूर्तात् स महीपतिः ।

नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यां सुमन्त्रमिदमब्रवीत् ॥ ९ ॥

दो घड़ी बाद होनामें शान्ति ही वे महागज आँसु भरे नेत्रोंसे देखते हुए सुमन्त्रसे इस प्रकार बोले— ॥ ९ ॥

औपवाहो रथं युक्त्वा त्वमायाहि ह्योत्तमैः ।

प्रापयेनं महाभागमिनो जनपदात् परम् ॥ १० ॥

'तुम स्वारीक योग्य एक रथको उसमें उत्तम घोड़े जोतकर यहाँ ले आओ और इन महाभाग श्रीरामको उसपर बिठाकर इस जनपदसे बाहरतक पहुँचा आओ ॥ १० ॥

एवं मन्ये गुणवतां गुणानां फलमुच्यते ।

पित्रा मात्रा च यत्प्राप्तुर्वीरे निर्वास्यते वनम् ॥ ११ ॥

'अपने श्रेष्ठ वीर पुत्रको स्वयं मत्ता-पिता ही जब घरसे निकलकर वनमें भेज रहे हैं, तब ऐसा मालूम होता है कि शास्त्रमें गुणवान् पुत्रोंके गुणोंका यही फल बताया जाता है ॥ ११ ॥

राज्ञो वचनमाज्ञाय सुमन्त्रः शीघ्रविक्रमः ।

योजयित्वा ययौ तत्र रथमश्वैरलंकृतम् ॥ १२ ॥

राजाकी आज्ञा शिरोधार्य करके शीघ्रगामी सुमन्त्र गये और उत्तम घोड़ोंमें सुशोभित रथ जोतकर ले आये ॥ १२ ॥

तं रथं राजपुत्राय सतः कनकभूषितम् ।

आचक्ष्वेऽञ्जलिं कृत्वा युक्तं परमवाजिभिः ॥ १३ ॥

फिर सत सुमन्त्रने हाथ जोड़कर कहा—'महाराज ! राजकुमार श्रीरामके लिये उत्तम घोड़ोंसे जुता हुआ सुवर्ण-भूषित रथ तैयार है ॥ १३ ॥

राज्ञा सत्वरमाहूय व्याप्तं विससंचये ।

उवाच देशकालज्ञो निश्चितं सर्वतः शुचिः ॥ १४ ॥

तब देश और कालको समझनेवाले, सब ओरसे शुद्ध (इहलोक और परलोकसे उद्धरण) राजा दशरथने तुरंत ही धन-संग्रहके व्यापारमें नियुक्त कोषाध्यक्षको बुलाकर यह निश्चित बात कही— ॥ १४ ॥

वासंसि च वराहर्षिणि भूषणानि महानि च ।

वर्धयेतानि संख्याय वैदेह्याः क्षिप्रमानय ॥ १५ ॥

'तुम विदेहकुमारी सीताके पहननेयोग्य बहुमूल्य वस्त्र और महान् आभूषण जो चौदह वर्षोंके लिये पर्याप्त हैं

गिनकर शोध ले आओ' ॥ १५ ॥

नरेन्द्रेणैवमुक्तस्तु गत्वा कोशगृहं ततः ।

प्रायच्छत् सर्वमाहुन्य सीतार्य क्षिप्रमेव तत् ॥ १६ ॥

महाराजक ऐसा कहनेपर कोषाध्यक्षन सहजानमें जा वहमें सब चीजें लाकर शोध ही सीताको भ्रमर्पित कर दीं ॥ १६ ॥

सा सुजामा सुजातानि वैदेही प्रस्थिता वनम् ।

भूषयामास गात्राणि तैर्विचित्रैर्विभूषणैः ॥ १७ ॥

उत्तम कुलमें उत्पन्न अथवा अयोनिजा और कन्यामक लिये प्रस्थित विदेहकुमारों सीताने सुन्दर सज्जणोंमें युक्त अपने सभी अङ्गोंको उन विचित्र आभूषणोंमें विभूषित किया ॥ १७ ॥

स्वराजयत वैदेही वेश्म तत् सुविभूषिता ।

वद्यतोऽशुमतः काले खं प्रधेव विवस्वनः ॥ १८ ॥

उन आभूषणोंसे विभूषित हुई विदेहनान्दनों सीता उस घरको उसी प्रकार सुशोभित करने लगीं, जैसे प्रातःकाल उगते हुए अशुमाली सूर्यको प्रभा आकाशको प्रकाशित करती है ॥ १८ ॥

तां भुजाभ्यां परिपुज्य श्वश्रूवचनमब्रवीत् ।

अनाचरन्तीं कृपणं पूज्यपादाय धैर्यिलीम् ॥ १९ ॥

उस समय सास कौसल्याने कभी दुःखद बर्ताव न करनेवाली मिथिलेशकुमारों सीताका अपने दोनों पुत्रोंमें कसकर छातीसे लगा लिया और उनके भस्तकको सूँघकर कहा— ॥ १९ ॥

असत्यः सर्वलोकेऽस्मिन् सततं सत्कृताः प्रियैः ।

भर्तारं नानुमन्यन्ते विनिपातयतं स्त्रियः ॥ २० ॥

'बेटी ! जो स्त्रियाँ अपने प्रियतम पतिके द्वारा सदा सम्मानित होकर भी संकटमें पहुँचनेपर उसका आदर नहीं करती हैं, वे इस सम्पूर्ण जगत्में असती (दुष्ट, क नामसे पुकारी जाती हैं) ॥ २० ॥

एव स्वभावो नारीणामनुभूय पुरा सुखम् ।

अल्पामप्यापदं प्राप्य दुष्यन्ति प्रजहत्यपि ॥ २१ ॥

दुष्ट स्त्रियोंका यह स्वभाव होना है कि पहले तो वे पतिक द्वारा यथष्ट सुख भोगती हैं, परन्तु जब वह थोड़ी-सी भी विपत्तिमें पहुँचता है, तब उसपर दोषरोपण करती और उसका साथ छोड़ देती हैं ॥ २१ ॥

असत्यशीला विकृता दुर्गा अहृदयाः सदा ।

असत्यः पापसंकल्पाः क्षणमात्रविगणितः ॥ २२ ॥

जो झूठ झोझनेवाली, विकृत चेष्टा करनेवाली, दुष्ट पुरुषोंसे ससर्ग रखनेवाली, पतिके प्रति सदा हृदयहीनताका परिचय देनेवाली, कुलटा, पापक ही मनमूढ़े अधिनवाली और छोटी-सी बातके लिये भी क्षणमात्रमें पनिका आगमें विग्न हो जानेवाली हैं, वे सब-की-सब असती या दुष्ट कही गयी हैं ॥

न कुलं न कृतं विद्या न हतं नापि संग्रहः ।

स्त्रीणां गृह्णाति हृदयमनित्यहृदया हि ताः ॥ २३ ॥

'उत्तम कुल, किया हुआ उपकार, विद्या, भूषण आदिका दान और संग्रह (पतिके द्वारा स्नेहपूर्वक अपनाया जाना), यह सब कुछ दुष्ट स्त्रियोंके हृदयको नहीं बशमें कर पाता है, क्योंकि उनका चित्त अव्यवस्थित होता है ॥ २३ ॥

साध्वीनां तु स्थितानां तु शीले सत्ये श्रुते स्थिते ।

स्त्रीणां पवित्रं परमं पतिरेको विशिष्यते ॥ २४ ॥

'इसके विपरीत जो सत्य, सदाचार, शास्त्रोंकी आज्ञा और कुशाग्रिम मर्यादाओंमें स्थित रहती हैं, उन साध्वी-स्त्रियोंके लिये एकमात्र पति ही परम पवित्र एवं सर्वश्रेष्ठ देवता है ॥

स त्वया नाधमन्नख्यः पुत्रः प्रप्राजितो वनम् ।

तव देवसमस्त्वेष निर्धनः सधनोऽपि था ॥ २५ ॥

'इसलिये तुम मेरे पुत्र श्रीरामका, जिन्हें वनवासकी आज्ञा मिली है, कभी अनादर न करना। ये निर्धन हो या धनी, तुम्हारे लिये देवताके तुल्य हैं ॥ २५ ॥

विज्ञाय वचनं सीता तस्या धर्मार्थसंहितम् ।

कृत्वाञ्जलिमुवाचेत श्वश्रूमभिमुखे स्थिता ॥ २६ ॥

सासके धर्म और अर्थयुक्त वचनोंका तात्पर्य भलीभाँति समझकर उनके सामने खड़ी हुई सीताने हाथ जोड़कर उनमें इस प्रकार कहा— ॥ २६ ॥

करिष्ये सर्वमेवाहमर्या यदनुशास्ति माम् ।

अभिज्ञास्मि यथा भर्तुर्वर्तितव्यं श्रुतं च मे ॥ २७ ॥

'आवे ! आप मेरे लिये जो कुछ उपदेश दे रही हैं, मैं उसका पूर्णरूपसे पालन करूँगी। स्वामीके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये यह मुझे भलीभाँति विदित है, क्योंकि इस विषयको मैंने पहलेसे ही सुन रखा है ॥ २७ ॥

न मामसज्जनेनार्या समानयितुमर्हति ।

धर्माद् विचलितुं नाहमलं चन्द्रादिव प्रभा ॥ २८ ॥

'पूजनीया माताजी ! आपको मुझे असती स्त्रियोंके समान नहीं मानना चाहिये; क्योंकि जैसे प्रभा चन्द्रमासे दूर नहीं हो सकती उसी प्रकार मैं पवित्रत धर्मसे विचलित नहीं हो सकती ॥ २८ ॥

नातन्त्री चाद्यते वीणा नाद्यक्रो विद्यते रथः ।

नापतिः सुखमेधेन या स्यादपि शतात्मजा ॥ २९ ॥

'जैसे बिना तारकी वीणा नहीं बज सकती और बिना पालकके रथ नहीं चल सकता है, उसी प्रकार नारी सौ बेटोंका माना होनेपर भी बिना पतिके सुखी नहीं हो सकती ॥

मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः ।

अमितस्य तु दातारं भर्तारं का न पूजयेत् ॥ ३० ॥

पिता, भ्राता और पुत्र—ये परिमित सुख प्रदान करते हैं, परन्तु पति अपरिमित सुखका दाता है—उसकी सेवामें इहलोक और परलोक दोनोंमें कल्याण होता है अतः उसे कौन स्वी है, जो अपने पतिका सत्कार न करे ॥

साहमेवंगता श्रेष्ठा श्रुतधर्मपरावरा ।

आर्ये किमवमन्येयं स्त्रिया भर्ता हि दैवतम् ॥ ३१ ॥

'आर्ये । मैंने श्रेष्ठ स्त्रियो—माता आदिके मुखसे नारीके मामान्य और विशेष धर्मोंका अवगण किया है । इस प्रकार पातिव्रत्यका महत्त्व जानकर भी मैं भर्तिका क्यों अपमान करूँगी ? मैं जानती हूँ कि पति ही स्त्रीका देवता है ॥ ३१ ॥

सीताया वचनं श्रुत्वा कौसल्या हृदयङ्गमम् ।

शुद्धमन्वा मुमोक्षाशु सहसा दुःखहर्षजम् ॥ ३२ ॥

सीताका यह मन्त्राद श्रुत सुनकर शुद्ध अन्तःकरणवाली देवी कौसल्याके नेत्रोंसे सहसा दुःख और हर्षक आँसु बहने लगे ।

तां प्राञ्जलिरभिप्रेक्ष्य भानुमध्येऽतिसत्कृताम् ।

रामः परमधर्मात्मा मातरं वाक्यमब्रवीत् ॥ ३३ ॥

तब परम धर्मात्मा श्रीरामने माताओंके बीचमें अत्यन्त सम्मानित होकर खड़ी हुई माना कौमल्यका और देव्य तथ जाह्नकर कहा — ॥ ३३ ॥

अम्ब मा दुःखिता भूत्वा पश्यंस्त्वं पितरं मम ।

क्षयोऽपि वनवासस्य क्षिप्रमेव भविष्यति ॥ ३४ ॥

'माँ ! (इन्हींके कारण मेरे पुत्रका वनवास हुआ है; ऐसा समझकर) तुम मेरे पिताजीके और दुःखित होकर न देखना । वनवासकी अवधि भी जल्द ही समाप्त हो जायगी ॥ ३४ ॥

सुप्तायास्तं गमिष्यन्ति नव वर्षाणि पञ्च च ।

सप्तप्रविह सम्प्राप्तं मां द्रक्ष्यसि सुहृद्वृतम् ॥ ३५ ॥

'ये सौदह वर्ष तो तुम्हारे सोते सोते निकल जायेंगे, फिर एक दिन दसहोंगे कि मैं अपने मृतदाने चिरा हुआ सीता और लक्ष्मणके साथ सम्पूर्णरूपसे यहाँ आ पहुँचा हूँ ॥ ३५ ॥

एतावदभिनीतार्थमुक्त्वा स जननीं वचः ।

प्रयः शतशतार्था हि ददर्शावक्ष्य मातरः ॥ ३६ ॥

ताश्चापि स तथैवातां मातृदंशरथात्पजः ।

धर्मयुक्तमिदं वाक्यं निजगाद कृताञ्जलिः ॥ ३७ ॥

मानासे इस प्रकार अपना निश्चित अभिप्राय बताकर दशरथनन्दन श्रीरामने अपने अन्य भाद तीन माँ माताओंकी ओर दृष्टिपत किया और उनके भी कौसल्याकी ही भाँति शोकाकुल पाया । तब उन्होंने हाथ जोड़कर उन सयमे यह धर्मयुक्त बात कही— ॥ ३६-३७ ॥

संघासात् परुषं किञ्चिदज्ञानादपि यत् कृतम् ।

तन्मे समुपजानीत सर्वाक्षामन्नयामि वः ॥ ३८ ॥

'माताओ ! सदा एक साथ रहनेके कारण मैंने जो कुछ कठोर वचन कहा, दिय ही अथवा अनजानमें मैं मुझसे जो अपराध बन गये हों, उनके लिये आप मुझे क्षमा कर दें । मैं आप सब माताओंसे विदा माँगता हूँ ॥ ३८ ॥

वचनं राघवस्येतद् धर्मयुक्तं समाहितम् ।

शुश्रूवुन्ताः स्त्रिय सर्वा, शोकोपहतचेतसः ॥ ३९ ॥

राजा दशरथकी उन सभी स्त्रियोंने श्रीरघुनाथजीका यह वचन धन्यकारी धर्मयुक्त वचन सुना सुनकर उन सबका चित्त शोकसे व्याकुल हो गया ॥ ३९ ॥

जज्ञेऽथ तासां मनादः कौञ्चीनामिव निःस्वनः ।

मानवेन्द्रम्य भार्याणामेवं वदति राघवे ॥ ४० ॥

श्रीरामके ऐसी बात कहने समय महाराज दशरथकी रानियाँ कुंजरियोंके समान विलाप करने लगीं । उनका वह आतनाद उस राजघरनेमें सब और गूँज उठा ॥ ४० ॥

मुरजपणवमंघधोववद्

दशरथवेऽमबभूव यत् पुरा ।

विलपितपरिदवनाकुलं

व्यसनगतं तदधृत् सुदुःखितम् ॥ ४१ ॥

राजा दशरथका जो भवन पहले मुरज, पणव और मेघ आदि वाद्योंके गर्भात् ओपसे गूँजता रहता था, वही विलाप और रोदनसे व्याप्त हो संकटमें पड़कर अत्यन्त दुःखमय प्रतीत होने लगा ॥ ४१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयं अध्याकाण्ड एकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यशायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें उन्नालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशः सर्गः

सीता, राम और लक्ष्मणका दशरथकी परिक्रमा करके कौमल्य आदिको प्रणाम करना, सुमित्राका लक्ष्मणको उपदेश, सीतासहित श्रीराम और लक्ष्मणका रथमें बैठकर वनकी ओर प्रस्थान, पुरवासियों तथा रानियोंसहित महाराज दशरथकी शोकाकुल अवस्था

अथ रामश्च सीता च लक्ष्मणश्च कृताञ्जलिः ।

उपसंगृह्य राजानं चक्रुर्दोनाः प्रदक्षिणम् ॥ १ ॥

तदनन्तर राम, लक्ष्मण और सीताने हाथ जोड़कर दोनोंभावसे राजा दशरथके चरणोंका स्पर्श करके उनका दक्षिणावर्त परिक्रमा की ॥ १ ॥

तं चापि समनुजाप्य धर्मज्ञः सह सीतया ।

राघवः शोकसम्मृष्टो जननीमभ्यवादयत् ॥ २ ॥

उनसे विदा लेकर सीतासहित धर्मज्ञ रघुनाथजीने माताका कष्ट देखकर शोकसे व्याकुल हो उनके चरणोंमें प्रणाम किया ॥ २ ॥

अन्वक्षं लक्ष्मणो भ्रातुः कौसल्यामभ्यवाटयत् ।

अपि मातुः सुमित्राया जग्राह चरणौ पुनः ॥ ३ ॥

श्रीरामके बाद लक्ष्मणने भी चढ़ने माता कौसल्याको प्रणाम किया, फिर अपनी माता सुमित्राके भी दोनों पैर धकड़े । ३ ॥

तं वन्दमानं रुदती माता सौमित्रिमब्रवीत् ।

हितकामा महाबाहुं पूज्युपाध्याय लक्ष्मणम् ॥ ४ ॥

अपने पुत्र महाबाहु लक्ष्मणको प्रणाम करने देखा उनका हित चाहनेवाली माता सुमित्राने बेटका भस्त्रक सुंधकर कहा— ॥ ४ ॥

सुष्टस्वो वनवासाय स्वनुक्तः सुहृजने ।

रामे प्रमादं वा कार्षीः पुत्र भ्रातरि गच्छति ॥ ५ ॥

‘वत्स ! तुम अपने सुहृद् श्रीरामके परम अनुरागी हो, इसलिये मैं तुम्हें वनवासक लिये विदा करने में अपने बड़े भाईके वनमें इधर-उधर जाते समय तुम उनकी सेवामें कभी प्रमाद न करना ॥ ५ ॥

व्यसनी वा समृद्धो वा गतिरेव तत्त्वतः ।

एष लोके सतां धर्मो यज्येष्टवृक्षगो भवेत् ॥ ६ ॥

‘ये संकटमें हों या समृद्धमें, ये ही दुम्हारी परम गति हैं । निष्पाप लक्ष्मण ! संसारमें सत्पुरुषोंका यही धर्म है कि सर्वदा अपने बड़े भाईकी आज्ञाके अधीन रहें ॥ ६ ॥

इदं हि वृत्तमुचितं कुलस्यास्य सनातनम् ।

दानं दीक्षा च यज्ञेषु तनुत्यागो मृष्टेषु हि ॥ ७ ॥

‘दान देना, यज्ञमें दीक्षा ग्रहण करना और युद्धमें शरीर त्यागना—यही इस कुलका उचित एवं सनातन आचार है’ ॥ ७ ॥

लक्ष्मणो त्वेवमुक्त्वासी संमिद्धे प्रियराघवम् ।

सुमित्रा गच्छ गच्छेति पुनः पुनरुवाच तप् ॥ ८ ॥

अपने पुत्र लक्ष्मणसे ऐसा कहकर सुमित्राने वनवासके लिये निश्चित विचार रखनेवाले सर्वप्रिय श्रीरामचन्द्रजीसे कहा—‘बेटा ! जाओ, जाओ (तुम्हारा मार्ग भङ्गलभ्य हो) ।’ इसके बाद वे लक्ष्मणसे फिर बोलीं— ॥ ८ ॥

रामे वृषारथे विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम् ।

अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तान् यथासुखम् ॥ ९ ॥

बेटा ! तुम श्रीरामको ही अपने पिता महागज दशरथ ममही, जनकनान्दीनी सीताको ही अपनी पत्नी सुमित्रा मम और वनको ही अयोध्या जग्या अत्र मुक्तपुत्रक यहाँमें प्रस्थान करो’ ॥ ९ ॥

ततः सुमन्त्रः काकुत्स्थे प्राञ्जलिर्विक्रययत्रवाम् ।

विनीतो विनयज्ञश्च मातलिखामस्य यथा ॥ १० ॥

इसके बाद जैसे मातलि इन्द्रसे कोई बात कहते हैं, उसी प्रकार विनयके ज्ञाता सुमन्त्रने काकुत्स्थकुलधुवण श्रीरामसे विनयपूर्वक हाथ जोड़कर कहा— ॥ १० ॥

रथमारोह भद्रं ते राजपुत्र महत्प्रशः ।

क्षिप्रं त्वां प्रापयिष्यामि यत्र मां राम वक्ष्यसे ॥ ११ ॥

‘महायशस्वी राजकुमार श्रीराम ! आपका कल्याण हो आप इन रथपर चढ़िये । आप मुझसे जहाँ कहेंगे, वहीं मैं शीघ्र आपको पहुँचा दूँगा ॥ ११ ॥

अनुदंश हि स्वर्गणि वस्तव्यानि घने त्वया ।

तान्युपक्रमितव्यानि यानि द्वेष्ट्या प्रचोदितः ॥ १२ ॥

आपको जिन शीतल वपौतिक वनमें रहना है, उनकी गणना आजसे ही आरम्भ हो जानी चाहिये; क्योंकि देखो वैज्याने आज ही आपको वनमें जानके लिये प्रेरित किया है’ ॥ १२ ॥

तं रथं सूर्यसंकाशं सीता हृष्टेन चेतसा ।

आरुरोह वरारोहा कृत्वालंकारमात्मनः ॥ १३ ॥

तब सुन्दरी सीता अपने अङ्गमें ठूठम अलंकार धारण करके प्रसन्न चित्तसे उस सूर्यके समान तेजस्वी रथपर आरूढ़ हुई ॥ १३ ॥

वनवासं हि संख्याय वासांस्याभरणानि च ।

भर्तारमनुगच्छन्त्ये सीतार्यं शशुरो ददौ ॥ १४ ॥

पतिके साथ जानेवाली सीताके लिये उसके शशुरने वनवासका वर्षमर्यादा गिनकर उसके अनुसार ही वस्त्र और आभूषण दिये थे ॥ १४ ॥

तथैवायुधजातानि भ्रातृभ्यां कवचानि च ।

रथोपस्थे प्रविन्यस्य सधर्म कठिनं च यत् ॥ १५ ॥

इसी प्रकार महाराजने दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणके लिये जो बहुत-से अस्त्र-शस्त्र और कवच प्रदान किये थे उन्हें रथके पिछले भागमें रखकर उन्होंने चमड़ेसे मढ़ी हुई पिटाओं और कन्नी या कुदारी भी उमोपर रख दी ॥ १५ ॥

अथो ज्वलनसंकाशं घामीकरविभूषितम् ।

तमारुरुहनुस्मृणौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ १६ ॥

इसके बाद दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण उस अग्निके समान दीप्तिमान् सुवर्णभूषित रथपर शीघ्र ही आरूढ़ हो गये ॥ १६ ॥

सीतातृतीयानारुहान् दृष्ट्वा रथमचोदयत् ।

सुमन्त्रः सम्मतानश्चान् वायुवेगसमाश्रये ॥ १७ ॥

जिनमें सीताको संख्या तीसरी थी, उन श्रीराम आदिको रथपर आरूढ़ हुआ देख साराथि सुमन्त्रने रथको आगे बढ़ाया । इसमें जुते हुए वायुके समान वेगशाली उल्लस बोड़ोंको हाँकी ॥ १७ ॥

प्रधाते तु महारण्यं चिररात्राय राघवे ।

वधूव नगरे मूर्च्छा कलमूर्च्छा जनस्य च ॥ १८ ॥

जब श्रीरामचन्द्रजी सुदार्ढ्यकालक लिये महान् वनकी ओर जाने लगे, उस समय समस्त पुरवासियों, सैनिकों तथा दर्शकरूपमें आये हुए बाहरी लोगोंको भी मूर्च्छा आ गयी ॥

तत् समाकुलसम्भ्रान्तं पतसंकुपितद्विषम् ।

हयसिञ्चितनिर्घोषं पुष्पासीन्यहास्वनम् ॥ १९ ॥

उस समय सारी अयोध्यामें महान् कोलाहल मच गया । सब लोग ध्वाकुल होकर घबरा उठे । ममचाले हाथी श्रीरामके वियोगमें कुपित हो उठे और इधर-उधर भगते हुए घोड़ोंके हिंसहिंसाने एवं उनके आभूषणोंके खनखनानेकी आवाज सब ओर गूँजने लगी ॥ १९ ॥

ततः सवालवृद्धा सा पुरी परमपीडिता ।

राममेवाभिदुद्राव यमर्तिः सलिलं यथा ॥ २० ॥

अयोध्यापुराके आबाल वृद्ध सब लोग अत्यन्त पीड़ित होकर श्रीरामके ही पीछे दीड़े, मानो धूपसे पीड़ित हुए प्राणी पानीकी ओर भागे जाने लगे ॥ २० ॥

पार्श्वतः पृष्ठतश्चापि लम्बमानास्तदुन्मुखाः ।

बाष्पपूर्णमुखाः सर्वे तमूचुर्भूशनि स्वनाः ॥ २१ ॥

उनमेंसे कुछ लोग रथके पीछे और अगल-बगलमें लटक गये । सभी श्रीरामके लिये तत्कण्ठित थे और सबके मुखपर आँसुओंकी धारा बह रही थी । वे सब-के-सब उच्चस्वरसे कहने लगे— ॥ २१ ॥

संयच्छ वाजिनां दृष्टीन् सुत माहि शनैः शनैः ।

मुखं द्रक्ष्याम रामस्य दुर्दर्शं नो भविष्यति ॥ २२ ॥

'सुत ! घोड़ोंकी लगाय खींचो । रथको धीरे-धीरे ले चलो । हम श्रीरामका मुख देखेंगे; क्योंकि अब इस मुखका दर्शन हमलोगोंके लिये दुर्लभ हो जायगा ॥ २२ ॥

आयसं हृदयं नूनं राममातुरसंशयम् ।

यद् देवगर्भप्रतिमे वनं याति न भिद्यते ॥ २३ ॥

निश्चय ही श्रीरामचन्द्रजीकी माताका हृदय लोहेका बना हुआ है, इसमें तनिक भी संशय नहीं है । तभी तो देव-कुमारके समान तेजस्वी पुत्रके वनकी ओर जाने समय फट नहीं जाता है ॥ २३ ॥

कृतकृत्या हि वंदेही छायेवानुगता पतिम् ।

न जहाति रता धर्मं मेरुपर्वतप्रभा यथा ॥ २४ ॥

विदेहवन्दिनी सोना कृतार्थ हो गयी क्योंकि वे पतिव्रत धर्ममें तत्पर रहकर छायाकी भाँति पतिके पीछे पीछे चली आ रही हैं । ये श्रीरामका साथ इसी प्रकार नहीं छोड़ती हैं जैसे सूर्यकी प्रभा मेरुपर्वतका त्याग नहीं करती है ॥ २४ ॥

अहो लक्ष्मणा सिद्धार्थः सततं प्रियवादिनम् ।

भ्रातरं देवसंकाशं यस्त्वं परिचरिष्यसि ॥ २५ ॥

'अहो लक्ष्मण ! तुम भी कृतार्थ हो गये; क्योंकि तुम सदा प्रिय वचन बोलनेवाले अपने देवतुल्य भाईको वनमें सेवा करोगे ॥ २५ ॥

महत्येषा हि ते बुद्धिरेव चाभ्युदयो महान् ।

एव स्वर्गस्य मार्गश्च यदेनमनुगच्छसि ॥ २६ ॥

'सुन्दरी यह बुद्धि विशाल है । तुम्हारा यह महान्

अभ्युदय है और तुम्हारे लिये यह स्वर्गका मार्ग मिल गया है; क्योंकि तुम श्रीरामका अनुसरण कर रहे हो' ॥ २६ ॥

एवं वदन्तस्ते सोढुं न शेकुर्वाप्यभागनम् ।

नरास्तमनुगच्छन्ति प्रियमिक्ष्वाकुनन्दनम् ॥ २७ ॥

ऐसे बातें कहते हुए वे पुरवासी मनुष्य उमड़े हुए आँसुओंका घेरा न मार सकें वे लोग मयके प्रेमपान इक्ष्वाकु-कुलनन्दन श्रीरामचन्द्रजीके पीछे-पीछे चल जा रहे थे ॥ २७ ॥

अथ राजा वृतः स्त्रीभिर्दीनाभिर्दीनचेतनः ।

निर्जगाम प्रियं पुत्रं द्रक्ष्यामीति ह्रुवन् गृहात् ॥ २८ ॥

उसी समय दयनीय दशाको प्राप्त हुई अपनी स्त्रियोंसे घिरे हुए राजा दशरथ अत्यन्त दीन होकर 'मैं अपने प्यारे पुत्र श्रीरामको देखूँगा' ऐसा कहते हुए महलसे बाहर निकल आये ॥ २८ ॥

शुश्रुवे चाग्रतः स्त्रीणां रुदतीनां महास्वनः ।

यथा नादः करेणूनां बद्धे महति कुञ्जरे ॥ २९ ॥

उन्होंने अपने आगे रोती हुए स्त्रियोंका महान् आर्तनाद सुना वह वैसा ही जान पड़ता था जैसे बड़े हाथी यूथपतिके बाँध लिये जानेपर हथिनियोंका चीत्कार सुनायी देता है ॥

पिता हि राजा काकुत्थः श्रीमान् सप्रसदा बभौ ।

परिपूर्णः शशी काले ग्रहेणोपध्रुतो यथा ॥ ३० ॥

उस समय श्रीरामके पिता काकुत्स्थवंशी श्रीमान् राजा दशरथ उसी तरह खिन्न ज्ञान भड़ने थे, जैसे पर्वतके समान गह्रसे ग्रस्त होनेपर पूर्ण चन्द्रमा श्रीहीन प्रतीत होते हैं ॥ ३० ॥

स च श्रीमानचिन्त्यात्मा रामो दशरथात्मजः ।

सूतं संचोदयामास त्वरितं साहसतामिति ॥ ३१ ॥

यह देख आचिन्त्यस्वरूप दशरथनन्दन श्रीमान् भगवान् रामने सुमन्त्रको प्रेरित करते हुए कहा—'आप रथको तजोमे चलाइये' ॥ ३१ ॥

रामो याहीति तं भूते तिष्ठेति च जनस्तथा ।

उभयं नाशकत् सूतः कर्तुमध्वनि चोदितः ॥ ३२ ॥

एक ओर श्रीरामचन्द्रजी सारथिसे रथ हाँकनेके लिये कहते थे और दूसरी ओर माग जनममुदाय उन्हें उबर जानेके लिये उकता था । इस प्रकार दुविधामें पड़कर सारथी सुमन्त्र उस मार्गपर दानोंमेंसे कुछ न उबर सके—न तो रथको आगे बढ़ा सके और न सर्वथा रोक ही सके ॥ ३२ ॥

विर्गच्छति महाबाहो रामे धीरजनाश्रुभिः ।

पतिर्नरभ्यर्चयितुं प्रणनाश महीरजः ॥ ३३ ॥

महाबाहु श्रीरामके नगरमें निकलते समय पुरवासियोंके नेत्रोंमें गिर हुए आँसुओंद्वारा भागकर धरतीकी उड़ती हुई धूल शान्त हो गयी ॥ ३३ ॥

रुदिताश्रुपरिधौ हाहाकृतमचेतनम् ।

प्रघाणे राधकस्थासीत् पुरं परमपीडितम् ॥ ३४ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके प्रस्थान करत समय सारा नगर अत्यन्त

पीड़ित हो गया। सब रोने और आंसू बहाने लगे तथा सभी हाहाकार करते-करते अचेत से हो गये ॥ ३४ ॥

सुखाद्य नमनैः स्त्रीणामस्त्रपायाससम्भवम् ।

मीनसंक्षोभचलितैः सलिलं पङ्कजैरिव ॥ ३५ ॥

नारियाँ नेत्रोंसे उसी तरह रोदजनित अश्रु झर रहे थे जैसे मछलियोंके उद्वलनमें हिलत हुए कमल-द्वारा जलकणोंके बर्षा होन लगती है ॥ ३५ ॥

दृष्ट्वा तु नृपतिः स्त्रीषामेकचित्तगतं ध्रुम् ।

निपपातैश्च दुःखेन क्लृप्तमूल इव ध्रुवः ॥ ३६ ॥

श्रीमान् राजा दशरथ सारी अयोध्यापुर्णके स्त्रियोंको एक-मा आकुलचित्त देखकर अन्यन्त दुःखके कारण जड़म कटे हुए सूक्ष्मकी भाँति धूमिपर गिर पड़े ॥ ३६ ॥

ततो हलहलाशब्दो जज्ञे रामस्य पृष्ठतः ।

नराणां प्रेक्ष्य राजानं सीदन्तं भुञ्जदु खितम् ॥ ३७ ॥

उस समय राजाको अन्यन्त दुःखमें मग्न हो कष्ट पाने देव श्रीरामके पीछे जाने हुए मनुष्योंका पुनः महान् कोलाहल प्रकट हुआ ॥ ३७ ॥

हा रामेति जनाः केचिद् रामयानेति चापरे ।

अन्तःपुरसमृद्धं च क्रोशन्तं पर्यदेवथन् ॥ ३८ ॥

अन्तःपुरकी रानियाँके सहित मजा दशरथके उच्चस्वरसे विलाप करत देख कोई 'हा राम !' कहकर और कोई 'हा राममाता !' की पुकार मचाकर करुणाक्रन्दन करने लगे ॥

अन्वीक्षमाणो रामस्तु विषण्णं भ्रान्तचेतसम् ।

राजानं मानरं चैव ददर्शानुगतौ धृष्टिः ॥ ३९ ॥

उस समय श्रीरामचन्द्रजीने पीछे घूमकर देखा तो उनके विषादग्रस्त तथा भ्रान्तचित्त पिता राजा दशरथ और दुःखन झुकी हुई माता कौसल्या दोनों ही मागपर अपने पाछ आने हुए दिखायी दिये ॥ ३९ ॥

स बद्ध इव पाशेन किशोरो धातरं यथा ।

धर्मपाशेन संयुक्तः प्रकाशं नाभ्युदक्षत ॥ ४० ॥

जैसे रस्तीमें बंधा हुआ धाँड़का चत्ता अपना माका नहीं देख पाता उसी प्रकार धर्मके बन्धनमें बंधे हुए श्रीरामचन्द्रजी अपनी माताकी ओर स्पर्शरूपसे न देख सक ॥ ४० ॥

पदातिनौ च यानार्हावदुःखार्हौ सुरसेचिनौ ।

दृष्ट्वा संवोदयामास शीघ्रं याहीति सारथिम् ॥ ४१ ॥

जो सवारीपर चलने योग्य, दुःख भोगनेके अयोग्य और भुक्त भागनक ही योग्य थे, उन माता-पिताको पीढ़त हैं अपने पीछ-पीछे आते देख श्रीरामचन्द्रजीने सारथीको शीघ्र रथ हाँकनेके लिए प्रेरित किया ॥ ४१ ॥

नहि तत् पुरुषध्याघो दुःखजं दर्शनं पितुः ।

मातुश्च सहितुं शक्तस्तोत्तैर्नुत्र इव द्विपः ॥ ४२ ॥

जैसे अङ्गुशसे पीड़ित किया हुआ गजराज उन कष्टको नहीं सहन कर पाता है, उसी प्रकार पुत्रसिंह

श्रीरामके लिये माता पिताको इस दुःखद अवस्थामें देखना असह्य हो गया ॥ ४२ ॥

प्रत्यगारमिवायान्तो सवत्सा वत्सकारणात् ।

बद्धवत्सा यथा धेनू राममाताभ्यधावत ॥ ४३ ॥

जैसे बंधे हुए बछड़ावाली सवत्सा गौ शामको घरकी ओर लौटते समय बछड़ेके खेहसे दौड़ी चली आती है, उसी प्रकार श्रीरामकी भुक्ता कौसल्या उनकी ओर दौड़ी आ रही थीं ॥ ४३ ॥

तथा रुदन्ती कौसल्या रवं तमनुधावतीम् ।

क्रोशन्ती राम रामेति हा सीते लक्ष्मणेति च ॥ ४४ ॥

रामलक्ष्मणसीतार्थं श्रवन्ती चारि नेत्रजम् ।

असकृन् प्रीक्षत स तां नृत्यन्तीपिच मातरम् ॥ ४५ ॥

'हा राम ! हा राम ! हा सीते ! हा लक्ष्मण !' की रट लगती और रती हुई कौसल्या उस रथके पीछे दौड़ रही थीं व श्रीराम लक्ष्मण और सीताके लिये नेत्रोंसे आंसू बहा रही थीं एवं इधर-उधर नाचती-चकर लगानी सी झोल रही थीं । इस अवस्थामें माता कौसल्याको श्रीरामचन्द्रजीने बरबार देखा ॥ ४४-४५ ॥

तिष्ठेति राजा चुक्रोश याहि याहीति रघवः ।

सुमन्त्रस्य बभूवत्सा चक्रयोरिव चान्तरा ॥ ४६ ॥

राजा दशरथ चिल्लाकर कहते थे—'सुमन्त्र, रुहो !' किन्तु श्रीरामचन्द्रजी कहते थे—'आगे बढ़िये, शीघ्र आगे जाइये ।' उन दो प्रकारके आदेशोंमें पड़े हुए चंचार सुमन्त्रका मन उस समय दो पहियोंके बीचमें फँसे हुए मनुष्यका-सा हो रहा था ॥ ४६ ॥

नाश्रीषमिति राजानमुपालब्धोऽपि वक्ष्यसि ।

चिरं दुःखस्य पापिष्ठमिति रामस्तमब्रवीत् ॥ ४७ ॥

उस समय श्रीरामने सुमन्त्रसे कहा—'यहाँ अधिक विलम्ब करना घरे और पिताजीके लिये दुःख ही नहीं, महान् दुःखका कारण होगा; इसलिये रथ आगे बढ़ाइये । नौटनेपर महाराज ठलाहना दें तो कह दोजियेगा, मैंने आपका बात नहीं सुनी' ॥ ४७ ॥

स रामस्य वचः कुर्वन्ननुज्ञाय च तं जनम् ।

ब्रजनोऽपि हृषाज्जगन् शोदयामास सारथिः ॥ ४८ ॥

अन्तमें श्रीरामके ही आदेशका पालन करते हुए सारथिने पाछेसे आनेवाले स्त्रियोंसे जानेकी आज्ञा ली और म्यत चलते हुए घोड़ोंका भी तीव्रगतिसे चलनेके लिये हाँका ॥ ४८ ॥

न्यवर्तत जनो राजो रामं कृत्वा प्रदक्षिणम् ।

मनसाप्याशुवेगेन न न्यवर्तत मानुषम् ॥ ४९ ॥

राजादशरथके साथ आनेवाले लोग मन-ही-मन श्रीरामको परिक्रम करके शरीरमात्रसे लौटे (मनसे नहीं लौटे); क्योंकि वह उनके रथकी अपेक्षा भी तीव्रगामी था

दूसरे मनुष्योंका समुदाय शीघ्रगाम्भी मन और शरीर दोनोंसे ही नहीं लौटा (वे सब लोग श्रौण्मके पीछे-पीछे दौड़े चले गये) ॥ ४९ ॥

समिच्छेत् पुनरायातं नैनं दूरयनुव्रजेत् ।

इत्यमात्या महाराजमूर्चदशरथं वचः ॥ ५० ॥

इधर मन्त्रियोंने महाराज दशरथसे कहा—‘राजन् । जिसके लिये यह इच्छा की जाय कि वह पुन शीघ्र लौट आये, उसके पीछे दूरतक नहीं जाना चाहिये’ ॥ ५० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽथोऽध्याकाण्डे चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अथोऽध्याकाण्डमें चालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४० ॥

एकचत्वारिंशः सर्गः

श्रीरामके वनगमनसे रनवासकी स्त्रियोंका विलाप तथा नगरनिवासियोंकी शोकाकुल अवस्था

तस्मिन् पुम्बध्याधे निष्क्रामति कृताञ्जली ।

आर्तशब्दो हि संजज्ञे स्त्रीणामन्नःपुं ये महान् ॥ १ ॥

पुरुषसिद्ध श्रौण्मने माना आर्मात्रिन पिताक लिये दुरम हो हाथ जोड़ रखे थे, उसी अवस्थामें जब वे रथद्वारा नगरसे बाहर निकलने लगे, तब समय रनवासकी स्त्रियोंमें बड़ा हाहाकार भव गयी ॥ १ ॥

अनाथस्य जनस्यास्य दुर्बलस्य तपस्विनः ।

यो गतिः शरणं चासीत् स नाथः क्व नु गच्छति ॥ २ ॥

वे रौतों हुई कहने लगीं—‘हाथ ! जो हम अनाथ, दुर्बल और शौचनीय जनाका गति (सब सुखोंका प्राप्ति करनेवाला) और शरण (समस्त आपत्तियोंसे रक्षा करने वाले) थे वे हमारे नाथ (मातृरथ गृह करनेवाला) श्रौण्म कहाँ चले जा रहे हैं ? ॥ २ ॥

न क्रुध्यत्यभिशास्तोऽपि क्रोधनीयानि वर्जयन् ।

क्रुद्धान् प्रसादयन् सर्वान् समदुःखः क्व गच्छति ॥ ३ ॥

‘जो किसीक द्वारा झुठ्ठा कलंक लगाये जानेपर भी क्रोध नहीं करते थे, क्रोध दिलानेवाली बातें नहीं कहते थे और लुठे हुए सभी लोगोंको घनाकर प्रमत्त कर लेते थे, वे दूसरोंके दुःखमें समवेदना प्रकट करनेवाले राम कहाँ जा रहे हैं ? ॥ ३ ॥

कौसल्यायां महातेजा यथा मातरि वर्तते ।

तथा यो वर्ततेऽस्मासु महात्मा क्व नु गच्छति ॥ ४ ॥

‘जो महातेजस्वी महात्मा श्रौण्म अपनी माता कौसल्याके साथ जैसा वर्ताव करते थे, वैसा ही वर्तक हमारे साथ भी करते थे, वे कहाँ चले जा रहे हैं ? ॥ ४ ॥

कैकेय्या क्षिप्रयमानेन राज्ञा सखोदितो वनम् ।

परित्राता जनस्यास्य जगतः क्व नु गच्छति ॥ ५ ॥

‘कैकेय्योके द्वारा हेतुमें डाले गये महाराजके वन जानके लिये कहनेपर हमलोगोंको अथवा समस्त जगतके रक्षा

तेषां वचः सर्वगुणोपपन्नः

प्रमित्रगात्रः प्रविषण्णरूपः ।

निशम्य राजा कृपणः सभार्यो

व्यवस्थितस्तं सुतमीक्षमाणः ॥ ५१ ॥

सर्वगुणसम्पन्न राजा दशरथका शरीर पसीनेसे भीगा रहा था । वे बियादके मूर्तिमान् स्वरूप जान पड़ते थे । अपने मन्त्रियोंको उपर्युक्त बात सुनकर वे वहीं खड़े हो गये और गर्वियोंमहित अत्यन्त दौनभावसे पुत्रकी ओर देखने लगे ॥

करनेवाले श्रौण्मवार कहाँ चले जा रहे हैं ? ॥ ५ ॥

अहो निश्चेतनो राजा जीवलोकस्य संक्षयम् ।

धर्म्यं सत्यव्रतं रामं वनवासे प्रवत्स्यति ॥ ६ ॥

‘अहो ! ये राजा बड़े बुद्धिहीन हैं, जो कि जीवजगत्के आश्रयभूत, धर्मपरायण सत्यव्रतों श्रौण्मको वनवासके लिये देशनिकाल दे रहे हैं’ ॥ ६ ॥

इति सर्वा महिष्यस्ता विवत्सा इव धेनवः ।

रुदुर्ध्वं दुःखानां सखरं च विचक्रुः ॥ ७ ॥

इस प्रकार वे मय-की-मय गनियों बलझीम बिचड़ी हुई गी-आँकी तरह दुःखमें आन होकर रोने और ठसभरसे क्रन्दन करने लगीं ॥ ७ ॥

स तपन्तःपुं घोरमार्तशब्दं महीपतिः ।

पुत्रशोकाभिमन्तम् श्रुत्वा घासीन् सुदुःखितः ॥ ८ ॥

अन्त-पुरमें वह घोर आतनाद सुनकर पुत्रशोकसे संतप्त हुए महाराज दशरथ बहुत दुःखी हो गये ॥ ८ ॥

नाग्निहोत्राण्यभूयन्त नापन्नं गृहमेधिनः ।

अकुर्वन् न प्रजाः कार्यं सूर्यश्चान्तरधीयत ॥ ९ ॥

व्यसृजन् कवलान् नागा गावो वत्सान् न पाययन् ।

पुत्रं प्रथमजं लब्ध्वा जननी नाभ्यनन्दत ॥ १० ॥

उस दिन आग्निहोत्र बंद हो गया, गृहस्थोंके घर भोजन नहीं बना, प्रजाओंन कोई काम नहीं किया, सूर्यदेव अस्ताचलकते चल गये, तथियोंने मुँहमें लिया हुआ चारा छोड़ दिया, गी-आँन बलझीको दूध नहीं पिलाया और पहले-पहले पुत्रको जन्म देकर भी कोई माता प्रसन्न नहीं हुई ॥

त्रिशङ्कुर्लोहिताङ्गश्च बृहस्पतिबुधावपि ।

दारुणाः सोममभ्येत्य ग्रहाः सर्वे व्यवस्थिताः ॥ ११ ॥

त्रिशङ्कु, मङ्गल, गुरु, बुध तथा अन्य समस्त ग्रह शुक्र, शनि आदि रातमें वक्रगतिस चन्द्रमाके पास पहुँचकर दारुण (क्रूरप्रान्तियुक्त) होकर स्थित हो गये ॥ ११ ॥

नक्षत्राणि गताचीणि ग्रहाश्च गततेजसः ।
विशारदाश्च सधूमाश्च नभसि प्रचकाशिते ॥ १२ ॥

नक्षत्रोंकी कान्ति पोंकी पड़ गयी और ग्रह निस्तेज हो गये । वे सब-के-सब आकाशमें विपरीत मार्गपर स्थित हो धूमाच्छन्न प्रतीत हो रहे थे ॥ १२ ॥

कालिकानिलवेगेन महोदधिरिक्षोब्धितः ।
रामे वने प्रव्रजिते नगरे प्रचञ्चाल तत् ॥ १३ ॥

आकाशमें छापी हुई मेघमाला वायुके वेगसे उमड़ें हुए समुद्रके समान प्रतीत होती थी । श्रीरामके वनको जाने समय वह सारा नगर जोर-जोरसे हिलने लगा (वहाँ भूकम्प आ गया) ॥ १३ ॥

दिशः पर्याकुलाः सर्वास्तिमिरेणेव संवृताः ।
न ग्रहो नापि नक्षत्रं प्रचकाशे न किञ्चन ॥ १४ ॥

समस्त दिशाएँ व्याकुल हो उठीं, उनमें अन्धकार-सा छा गया । न कोई ग्रह प्रकाशित होता था, न नक्षत्र ॥ १४ ॥

अकस्मात्प्रारः सर्वा जनो दैन्यमुपागमत् ।
आहारे वा विहारे वा न कश्चिदकरोन्मनः ॥ १५ ॥

सहसा सारे नागरिक दैन्य-दशाको प्राप्त हो गये । किर्मने भी आहार या विहारमें मन नहीं लगाया ॥ १५ ॥

शोकपर्यायसंतप्तः सततं दीर्घमुच्छ्वसन् ।
अयोध्यायां जनः सर्वश्चक्रोऽजगतीपतिम् ॥ १६ ॥

अयोध्यावासी सब लोग शोकपरम्परासे संतप्त हो निरन्तर लंबी साँस खींचते हुए सजा दशरथको कोसने लगे ॥ १६ ॥

बाष्पपर्याकुलमुखो राजमार्गगतो जनः ।
न हृष्टो लभ्यते कश्चित् सर्वः शोकपरायणः ॥ १७ ॥

सड़कपर निकला हुआ कोई भी मनुष्य प्रसन्न नहीं ।
इत्यर्थे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आयोगमायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें इकतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ । ४१ ॥

द्विचत्वारिंशः सर्गः

राजा दशरथका पृथ्वीपर गिरना, श्रीरामके लिये विलाप करना, कैकेयीको अपने पास आनेसे मना करना और उसे त्याग देना, कौसल्या और सेवकोंकी सहायतासे उनका कौसल्याके भवनमें आना और वहाँ भी श्रीरामके लिये दुःखका ही अनुभव करना

यावत् तु निर्यतस्तस्य रजोरूपमदृश्यत ।
नैवेक्ष्वाकुवरस्तावत् संजहारात्पञ्चक्षुषी ॥ १ ॥

वनकी ओर जाते हुए श्रीरामके रथकी धूल जबतक दिखायी देती रही, तबतक इक्ष्वाकुवंशके स्वामी राजा दशरथने वधरसे अपनी आँख नहीं हटायी ॥ १ ॥

यावद् राजा प्रियं पुत्रं पश्यन्त्यत्यन्तधार्मिकम् ।
तावद् व्यवर्धतवास्य धरण्या पुत्रदर्शने ॥ २ ॥

वे महाराज अपने अत्यन्त धार्मिक प्रिय पुत्रको जबतक देखते रहे, तबतक पुत्रको देखनेके लिये उनका शरीर मानो

दिखायी देता था । सबका मुख आँसुओंसे धोगा हुआ था और सभी शोकमग्न हो रहे थे ॥ १७ ॥

न वाति पवनः शीतो न शशी सौम्यदर्शनः ।
न सूर्यस्तपते लोकं सर्वं पर्याकुलं जगत् ॥ १८ ॥

शीतल वायु नहीं चलती थी । चन्द्रमा सौम्य नहीं दिखायी देता था । सूर्य भी जगत्को उन्मत्त मात्रामें ताप था प्रकाश नहीं दे रहा था । सारा सनातन हो व्याकुल हो उठा था ॥ १८ ॥

अनर्थिनः सुताः स्त्रीणां धर्मारे धानरस्तथा ।
सर्वे सर्वं परित्यज्य राममेवान्वचिन्तयन् ॥ १९ ॥

कालक माँ-बापको भूल गये । पतियोंको स्त्रियोंकी याद नहीं आती थी और भाई भाईका स्मरण नहीं करते थे—सभी मन्त्र कुछ छोड़कर केवल श्रीरामका ही चिन्तन करने लगे ।

ये तु रामस्य सुहदः सर्वे ते भूञ्चेतसः ।
शोकभारेण चाक्रान्ताः शयनं नैव धेजिरे ॥ २० ॥

जो श्रीरामके मित्र थे, वे सब तो और भी अपनी सुध-बुध खो बैठे थे । शोकके भारसे आक्रान्त होनेके कारण वे रातमें सोयतक नहीं ॥ २० ॥

ततस्त्वयोध्या रहिता महात्मना
पुरन्दरेणेव भी सपर्वता ।

चञ्चाल घोरं भयशोकदीपिता
सनागयोधाश्वगणा ननाद च ॥ २१ ॥

इस प्रकार सारी अयोध्यापुरी श्रीरामसे रहित होकर भय और शोकमें प्रज्वलित-सी होकर उसी प्रकार घोर हलन्वलम्में पड़ गयी जैसा दशरथ इन्द्रसे रहित हुई मेरुपर्वत सहित यह पृथ्वी डगमगाने लगती है । हाथी, घोड़े और सैनिकोंसहित उस नगरमें भयकर आर्तनाद होने लगा ॥ २१ ॥

इत्यर्थे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आयोगमायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें इकतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ । ४१ ॥

राजा दशरथका पृथ्वीपर गिरना, श्रीरामके लिये विलाप करना, कैकेयीको अपने पास आनेसे मना करना और उसे त्याग देना, कौसल्या और सेवकोंकी सहायतासे उनका कौसल्याके भवनमें आना और वहाँ भी श्रीरामके लिये दुःखका ही अनुभव करना

यावत् तु निर्यतस्तस्य रजोरूपमदृश्यत ।
नैवेक्ष्वाकुवरस्तावत् संजहारात्पञ्चक्षुषी ॥ १ ॥

वनकी ओर जाते हुए श्रीरामके रथकी धूल जबतक दिखायी देती रही, तबतक इक्ष्वाकुवंशके स्वामी राजा दशरथने वधरसे अपनी आँख नहीं हटायी ॥ १ ॥

यावद् राजा प्रियं पुत्रं पश्यन्त्यत्यन्तधार्मिकम् ।
तावद् व्यवर्धतवास्य धरण्या पुत्रदर्शने ॥ २ ॥

वे महाराज अपने अत्यन्त धार्मिक प्रिय पुत्रको जबतक देखते रहे, तबतक पुत्रको देखनेके लिये उनका शरीर मानो

पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ३ ॥
तस्य दक्षिणपन्थागान् कौसल्या बाहुमङ्गना ।
परं चाम्यान्वगान् पार्श्वं कैकेयी सा भुमध्यगा ॥ ४ ॥

उस समय उन्हें सहारा देनेके लिये उनकी धर्मपत्नी कौसल्या देवी दाहिनी बांहके पास आयी और मुन्दरो केजेयो उनके बाधभागमें जा पहुँची ॥ ४ ॥

तां नयेन च सम्पन्नो धर्मेण विनयेन च ।

उवाच राजा कैकेयीं समीक्ष्य व्यधितेन्द्रियः ॥ ५ ॥

कैकेयीको देखते ही नय, विनय और धर्मसे सम्पन्न राजा दशरथकी समस्त इन्द्रिया ध्यायित हो ठठो; वे खोल ठठे— ॥ ५ ॥

कैकेयि मामकाङ्गानि मा स्माक्षीः पापनिश्चये ।

नहि त्वां द्रष्टुमिच्छामि न भार्या न च बान्धवी ॥ ६ ॥

‘पापपूर्ण विचार रखनेवाली कैकेयि । तू मेरे अङ्गोंका स्पर्श न कर । मैं तुझे देखना नहीं चाहता । तू न तो मेरी भार्या है और न बान्धवी ॥ ६ ॥

ये च स्वामनुर्जिवन्ति नाहं तेषां न ते मम ।

केवलार्थपरां हि त्वां त्यक्तधर्मां त्यजाम्यहम् ॥ ७ ॥

‘जो तेरा आश्रय लेकर जीवन-निर्वाह करते हैं, मैं उनका स्वामी नहीं हूँ और वे मेरे पारजन नहीं हैं । तूने कबल धर्ममें आसक्त होकर धर्मका त्याग किया है, इसलिए मैं तेरा परित्याग करता हूँ ॥ ७ ॥

अगृह्णां यद्य ते पाणिपद्मि पर्यणयं च यत् ।

अनुजानामि तत् सर्वधर्मल्लोके परत्र च ॥ ८ ॥

‘मैंने जो तेरा पाणिग्रहण किया है और तुझे साथ लेकर अग्निकी परिक्रमा की है, तेरे साथका वह मारा सम्बन्ध इस लोक और परलोकके लिये भी त्याग देता हूँ ॥ ८ ॥

भरतश्चेत् प्रतीतः स्याद् राज्यं प्रार्थ्यनदव्ययम् ।

यन्मे स दद्यात् पित्रर्थं मा मां न हन्यमागमत् ॥ ९ ॥

‘तेरा पुत्र भरत भी यदि इस विघ्न-बाधासे रहित राज्यको पाकर प्रसन्न हो तो वह मेरे लिये श्राद्धमें जो कुछ गिरह या जल आदि दान करे, वह मुझे प्राप्त न हो’ ॥ ९ ॥

अथ रेणुसमुद्ध्वस्तं समुत्थाप्य नराधिपम् ।

व्यधर्तत तदा देखी कौसल्या शोककर्शिता ॥ १० ॥

तदनन्तर शोकसे कातर हुई कौसल्या देवी उस समय धरतीपर लैटनेके कारण धूलसे व्याप्त हुए महाराजको उठाकर उनके साथ राजभवनकी ओर लौटी ॥ १० ॥

हत्वेव ब्राह्मणं कामान् स्पृष्ट्वाग्निविष पाणिना ।

अन्वतप्यत धर्मात्मा पुत्रं संचिन्त्य राघवम् ॥ ११ ॥

जैसे कोई जान-बूझकर स्वेच्छापूर्वक ब्राह्मणकी हत्या कर डाले अथवा हाथसे प्रज्वलित अग्निका स्पर्श कर ले और ऐसा करके सतप्त होता रहे, उसी प्रकार धर्मात्मा शुक दशरथ अपने ही दिले हुए वरदानके कारण धर्ममें गये हुए श्रीगणेश चिन्तन करके अनृत हो रहे थे ॥ ११ ॥

निवृत्त्यैव निवृत्त्यैव सीदतो रथवर्त्मसु ।

राज्ञो नातिबभौ रूपं प्रस्तस्यांशुमनो यथा ॥ १२ ॥

राजा दशरथ बारबार पोंछे लौटकर रथके मार्गोंपर देखन्वत् कह उठाते थे । उस समय उनका रूप राहुग्रस्त सूर्यकी भाँति अधिक शोभा नहीं पाता था ॥ १२ ॥

विललाप स दुःस्वार्तः प्रियं पुत्रमनुस्मरन् ।

नगरान्तमनुभ्रामं वृद्धा पुत्रमधाव्रवीत् ॥ १३ ॥

वे अपने प्रिय पुत्रका बारबार स्मरण करके दुःखसे आतुर हो विलाप करने लगे । वे बेटेका नगरकी सीमापर पहुँचा हुआ समझकर इस प्रकार कहने लगे— ॥ १३ ॥

वाहनानां च मुख्यानां वहतां न ममात्यजम् ।

पदानि पथि दृश्यन्ते स महात्मा न दृश्यते ॥ १४ ॥

‘हाय । मेरे पुत्रको वनकी ओर ले जाते हुए श्रेष्ठ वाहनों (घोड़ों), के पर्दाच्छा तो मागेंगे दिखावाँ देते हैं, परन्तु उन महात्मा श्रीगणेश दर्शन नहीं हो रहा है ॥ १४ ॥

यः सुखेनोपधानेषु होते चन्दनरूषितः ।

सौज्यमानो महार्हाभिः सौधिर्मम सुतोत्तमः ॥ १५ ॥

स नूनं क्वचिदेवाद्य वृक्षमूलमुपाश्रितः ।

काष्ठं वा यदि वारिमानमुपधाय शयिष्यते ॥ १६ ॥

‘जो मेरे श्रेष्ठ पुत्र श्रीगणेश चन्दनसे चर्चित हो तकियोंका महाम लेकर उनमें शय्याओंपर मुखसे सोते थे और उत्तम अन्तर्गतमें विभूषित मुन्दरो शिखा जिन्हे धारण हुकाली थी वे निश्चय ही आज कहीं वृक्षकी जड़का आश्रय ले अथवा किसी काष्ठ या पत्थरका शिरक नीचे रखकर भूमिपर ही शयन करेंगे ॥ १५ ॥

उत्थास्यति च भेदिन्याः कृपणः पासुगुण्ठितः ।

विनि श्रसन् प्रस्रवणात् करेणूनामिवर्धभः ॥ १७ ॥

‘फिर अङ्गमें धूल लपटे टोककी भाँति लेशी सौंस खींचते हुए वे इस शयन-भूमिमें उम्मे प्रकार उठेंगे जैसे किसी झरनेक पाससे गजराज उठता है ॥ १७ ॥

इक्ष्यन्ति नूनं पुरुषा दीर्घबाहु वनेवराः ।

राममुत्थाप्य गच्छन्ति लोकनाथमनाद्यवत् ॥ १८ ॥

‘निश्चय ही वनमें रहनेवाले मनुष्य लोकनाथ महाबाहु श्रीगणेशको वक्षसि अनाथकी भाँति उठकर जाते हुए देखेंगे ॥

सा नूनं जनकस्येष्टा सुता सुखसदोचिता ।

कण्टकाक्रमणङ्गाम्ना वनमद्य गमिष्यति ॥ १९ ॥

‘जो सदा सुख भोगनेके ही योग्य है, वह जनककी प्यारी पुत्री सीता आज अवश्य ही कंटोंपर पैर पड़नेसे व्यथाका अनुभव करती हुई वनको जायगी ॥ १९ ॥

अनभिज्ञा वनानां सा नूनं भयमुपैष्यति ।

क्षुपदानदिनं श्रुत्वा गम्भीरं रोमहर्षणम् ॥ २० ॥

‘वह वनके कष्टोंसे अनभिज्ञ है । वहाँ व्याध आदि हिसक जन्तुओंका गम्भीर तथा रोमाञ्चकारी यजन-तर्जन सुनकर निश्चय ही भयभीत हो जायगी ॥ २० ॥

मकाभा भव कैकेयि विधवा राज्यमावस ।

नहि ते पुण्यव्याघ्रं विना जीवितुमुत्साहे ॥ २१ ॥

‘अरे कैकेयो ! तू अपनी कामना सफल कर ले और विधवा होकर राज्य भोग । मैं पुरुषसिंह श्रीरामके बिना जीवित नहीं रह सकता’ ॥ २१ ॥

इत्येवं विलपन् राजा जनोघेनाधिसंयुतः ।

अपस्मात् इवारिष्टं प्रविवेश गृहोत्तमम् ॥ २२ ॥

इस प्रकार विलाप करते हुए राजा दशरथने मरघटसे नहाकर आये हुए पुरुषकी भाँति मनुष्याकी भारी धाँड़से घिरकर अपने शोकपूर्ण उत्तम भवनमें प्रवेश किया ॥ २२ ॥

शून्यचत्वरसेशान्तां संयुतापणवेदिकाम् ।

ज्ञानदुर्बलदुःखानां नात्माकीर्णमहापथात् ॥ २३ ॥

तामवेक्ष्य पुरीं सर्वां राममेवानुचिन्तयन् ।

विलपन् प्राविशद् राजा गृहं सूर्य इवाम्बुदम् ॥ २४ ॥

उन्होंने देखा, अयोध्यापुरीके प्रत्येक घरका आँगन चबूतरा और भीतरी भाग भी मूना हो रहा है (क्योंकि उन घरके सब लोग श्रीरामके पीछे चले गये थे)। काजप-शाट वंद है जो लोग नगरमें हैं वे भी अत्यन्त ज्ञान दुर्बल और दुःखमें आतुर हो रहे हैं तथा बड़ी-बड़ी सहकोपर में अधिक आदमी जाते-आते नहीं दिखायी देते हैं। सारे नगरकी यह अवस्था देखकर श्रीरामके लिये ही चिन्ता और विनयप करने हुए राजा उसी तरह मालक भीतर गये जैसे मृग मधोकी घटामें छिप जाते हैं ॥ २३-२४ ॥

महद्बुदमिवाक्षोभ्यं सुपर्णेन हतोरगम् ।

रामेण रहितं वेदम वेदेष्टुं लक्ष्मणेन च ॥ २५ ॥

श्रीराम, लक्ष्मण और सोनासे रहित यह राजभवन उस महान् अक्षोभ्य जलाशयके समान जान पड़ता था जिसके भीतरके नागकी गरुड़ उठा ले गये हों ॥ २५ ॥

अथ गद्गदशब्दस्तु विलपन् वसुधाधिपः ।

वयाच्च मृदु भन्दार्थं कथने दीनमस्वरात् ॥ २६ ॥

उस समय विलाप करते हुए राजा दशरथने गद्गद वाणीमें द्वारपालोंमें यह मधुर, अम्यष्ट दोनतायुक्त और स्वाभाविक स्वरसे रहित बात कही— ॥ २६ ॥

कौमल्यया गृहं शीघ्रं राममातुर्नयन्तु माय् ।

नहान्यत्र भयाश्वासो हृदयस्य भविष्यति ॥ २७ ॥

‘मुझे शोध हो श्रीराम-माता कौमल्यके घरमें पहुँचा दो, क्योंकि मेरे हृदयकी और कहीं शान्ति नहीं मिल सकती’ ॥

इति सुवन्तं राजानमनयन् द्वारदर्शिनः ।

कौमल्यया गृहं तत्र न्यवेक्ष्यत विनीतवत् ॥ २८ ॥

ऐसी बात कहते हुए राजा दशरथकी द्वारपालोंने बड़ी विनयक साथ उसी कौमल्यके भवनमें पहुँचाया और

फलंगपर सुल द्या ॥ २८ ॥

ततस्तत्र प्रविष्टस्य कौसल्याया निवेशनम् ।

अधिरुद्धापि शयनं वधूव लुलितं मनः ॥ २९ ॥

वहाँ कौमल्यकी घबनमें प्रवेश करके फलंगपर आरुढ़ हो जानेपर भी राजा दशरथका मन खल्ल एवं मलिन हो रहा ॥ २९ ॥

पुत्रवृथविहीनं च स्तुभया च विवर्जितम् ।

अपश्यद् भवनं राजा नष्टचन्द्रमिवाम्बरम् ॥ ३० ॥

दोनों पुत्र और पुत्रवधू सोनासे रहित यह भवन राजाको चन्द्रहीन आकाशकी भाँति श्रीहीन दिखायी देने लगा ॥ ३० ॥

तच्च दृष्ट्वा महाराजो भुजमुद्यम्य कीर्यवान् ।

उच्चैःस्वरेण प्राक्रोशन्ना राम विजहासि नौ ॥ ३१ ॥

सुखिता जल तं कालं जीविष्यन्ति नरोत्तमाः ।

परिभ्रजन्तो ये रामं प्रक्षयन्ति पुनरागतम् ॥ ३२ ॥

उसे देखकर पराक्रमी महाराजने एक खाँह ऊपर उठाकर उच्चस्वरसे विलाप करते हुए कहा—‘हा राम ! तू हम दोनों घाना-पिनाकी त्याग दे रहे हों। जो नरश्रेष्ठ धीरह वर्षोंकी अवधिनक जीवित रहेंगे और अयोध्यामें पुनर्लौटे हुए श्रीरामकी वृद्धयमें लगाकर देखेंगे, वे ही वास्तवमें मुन्नी होंगे’ ॥ ३१-३२ ॥

अथ रात्र्यां प्रपन्नायां कालरात्र्यामिवात्मनः ।

अर्धरात्रे दशरथ कौसल्यामिदमब्रवीत् ॥ ३३ ॥

तदनन्तर अपनी कालरात्रिके समान यह रात्रि आनेपर राजा दशरथने आधी रात होनेपर कौसल्यासे इस प्रकार कहा— ॥ ३३ ॥

न त्वां पश्यामि कौमल्ये साधु यां पाणिना स्पृश ।

रामे मेऽनुगता दृष्टिगद्यापि न निवर्तते ॥ ३४ ॥

‘कौमल्ये’ यहाँ दृष्ट श्रीरामकी ही साध चली गयी और वह अबन्क नहीं लौटता है, अतः मैं तुम्हें देख नहीं पाता हूँ। एक बार अपने हाथमें मेरे शरीरका स्पर्श तो करो’ ॥ ३४ ॥

तं राममेवानुविचिन्तयन्तं

समीक्ष्य देवी शयने नरेन्द्रम् ।

उपोपविश्याधिकमार्गरूपा

विनिश्चसन्तं विललाप कृच्छ्रम् ॥ ३५ ॥

शय्यपर पड़े हुए महाराज दशरथकी श्रीरामकी ही चिन्तन करने और लम्बो साँस खींचते देख देवी कौमल्य अत्यन्त व्यथित हो उनके पास आ बैठी और बड़े कष्टसे विलाप करने लगी ॥ ३५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायण वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें बयालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४२ ॥



त्रिचत्वारिंशः सर्गः

महारानी कौसल्याका विलाप

ततः समीक्ष्य शयने सन्नं शोकेन पार्थिवम् ।

कौसल्या पुत्रशोकार्ता तमुवाच भर्तृपतिम् ॥ १ ॥

शय्यापर पड़े हुए राजाको पुत्रशोकसे व्याकुल देख
पुत्रके ही शोकसे पीड़ित हुई कौसल्याने उन महाराजसे
कहा— ॥ १ ॥

राधसे नरशार्दूले विषं मुक्त्वाहिजिह्वागा ।

विचरिष्यति कैकेयी निर्मुक्तेष्व हि पत्रगौ ॥ २ ॥

'नरश्रेष्ठ श्रीरामपर अपना विष ठंडेलकर देहों चालसे
चलनेवाली कैकेयी कैकुल छोड़कर नूतन शरणमें प्रकट हुई
सर्पिणको भाँति अब स्वच्छन्द विचरेगी ॥ २ ॥

विवास्य रामं सुभगा लब्धकामा सभाहिना ।

प्रासयिष्यति मां भूयो दुष्टाहिरिव वेश्मनि ॥ ३ ॥

'जैसे घरमें रहनेवाला दुष्ट सपे खाँका भय देना रहता है,
उसी प्रकार श्रीरामचन्द्रको बनवास देकर सफलभ्रमार्थ हुई
सुभगा कैकेयी सदा सावधान होकर मुझे प्रास देने रहगी

अथास्मिन् नगरे रामश्चरन् भिक्षं गृहे बसेत् ।

कामकारो वरं दातुमपि दासं समान्यजम् ॥ ४ ॥

'यदि श्रीराम इस नगरमें भोजन मँगते हुए भी घरमें रहने
अथवा मेरे पुत्रको कैकेयीका दास भी बना दिया गया होना
तो मैंसा वरदान मुझे भी अभ्यर्छ होता (क्योंकि उस दशमे
मुझे भी श्रीरामका दर्शन होना मना श्रीरामके बनवासका
वरदान तो कैकेयीने मुझे दुःख देनेके लिये ही माँगा है) ,

पातयित्वा तु कैकेय्या रामं स्थानाद् यथेष्टतः ।

प्रविश्यो रक्षसो भागः पर्वणीवाहिनाग्निना ॥ ५ ॥

कैकेयीने अपनी इच्छाके अनुसार श्रीरामको उनके
स्थानसे भ्रष्ट करके घना हो किया है 'जैसे किमी अग्निहोत्रने
पर्वके दिन देवताओंको उनके भागसे वर्जित करके राजसोंको
वह भाग अर्पित कर दिया हो ॥ ५ ॥

नागराजगतिर्वीरो महाबाहुर्यनुर्धरः ।

वनमाविशते नूनं सभार्यः सहलक्ष्मणः ॥ ६ ॥

'गजराजके समान मन्द गतिसे चलनेवाले वीर महाबाहु
धनुर्धर श्रीराम मिश्रय ही अपनी पत्नी और लक्ष्मणके साथ
वनमें प्रवेश कर रहे होंगे ॥ ६ ॥

वने त्वदृष्टदुःखानां कैकेय्यनुमते त्वया ।

त्यक्तानां वनवासाय कान्धावस्था भविष्यति ॥ ७ ॥

'महाराज ! जिन्होंने जीवनमें कष्टों दुःख नहीं देखे थे, उन
श्रीराम, लक्ष्मण और सीताका आपने कैकेयीको वानोमें
आकर वनमें भेज दिया । अब उन वंशजोंको वनवासके कष्ट
भोगनेके सिवा और क्या अवस्था होगी ? ॥ ७ ॥

ते रत्नहीनास्तमगाः फलकाले विवासिताः ।

कथं वत्स्यन्ति कृपणाः फलमूलैः कृताशनाः ॥ ८ ॥

'रत्नतुल्य उत्तम वस्तुआंस वर्जित वे तीनों तरुण सुखरूप
फल भोगनेके समय घरमें निकाल दिये गये । अब वे बेघार
फल-मूलका भोजन करके कैसे रह सकेंगे ? ॥ ८ ॥

अपीदानीं स कालः स्यात्पयः शोकक्षयः शिवः ।

सहभार्य सह भ्रात्रा पश्येयमिह रघवम् ॥ ९ ॥

'क्या अब फिर मेरे शोकको नष्ट करनेवाला यह शुभ
समय आयेगा, जब मैं सीता और लक्ष्मणके साथ वनसे
लौटें हुए श्रीरामको देखूँगी ? ॥ ९ ॥

भुत्वोपोस्थिनी वीर्यं कदायोध्या भविष्यति ।

यशस्विनीं हृष्टजना सूचिभूतध्वजमालिनी ॥ १० ॥

कब वह शुभ अवसर प्राप्त होगा जब कि 'वीर श्रीराम और
लक्ष्मण वनमें लौट आयें यह सुनते ही यशस्विनी अयोध्यापुरीके
सब लोग हर्षसे उल्लसित हो उठेंगे और घर-घर फहराये गये
ऊँचे ऊँचे ध्वज-समूह पुरीको शोभा बढ़ाने लगेंगे ॥ १० ॥

कदा प्रेक्ष्य नरव्याघ्रावरण्यात् पुनरागतौ ।

भविष्यति पुरीं हृष्टा समुद्र इव पर्वणि ॥ ११ ॥

'नरश्रेष्ठ श्रीराम और लक्ष्मणको पुनः वनसे आया हुआ
देख यह अयोध्यापुरी पूर्णमास उमड़ते हुए समुद्रकी भाँति
कब हर्षोत्सवसे परिपूर्ण होगी ? ॥ ११ ॥

कदायोध्यां महाबाहुः पुरीं वीरः प्रवेक्ष्यति ।

पुरस्कृत्य रथे सीतां वृषभो गोवधूमिव ॥ १२ ॥

'जैसे साँड़ गायको आगे करके चलता है, उसी प्रकार
वीर महाबाहु श्रीराम रथपर सीताको आगे करके कब
अयोध्यापुरीमें प्रवेश करेंगे ? ॥ १२ ॥

कदा प्राणिसहस्राणि राजमार्गे भयत्पजौ ।

लाजैरवकरिष्यन्ति प्रविशन्तावरिदम् ॥ १३ ॥

'कब सहस्रों सहस्रों मनुष्य पुरीमें प्रवेश करते और
गजमार्गसे चलते हुए मेरे दोनों शत्रुदमन पुत्रोंपर लावा
(खील) को वर्षा करेंगे ? ॥ १३ ॥

प्रविशन्तौ कदायोध्यां द्रक्ष्यामि शुभकुण्डलौ ।

उदयायुधनिखिंशौ सश्रृङ्गाविव पर्वतौ ॥ १४ ॥

'उत्तम आयुध एवं खड्ग'लिये शिखरयुक्त पर्वतोंके समान
प्रतांत होनेवाले श्रीराम और लक्ष्मण सुन्दर कुण्डलोंसे
अलंकृत हो कब अयोध्यापुरीमें प्रवेश करने हुए मेरे नेत्रोंके
समक्ष प्रकट होंगे ? ॥ १४ ॥

कदा सुमनसःकन्या द्विजातीनां फलानि च ।

प्रदिशन्त्यः पुरीं हृष्टाः करिष्यन्ति प्रदक्षिणाम् ॥ १५ ॥

'कब ब्राह्मणोंकी कन्याएँ हर्षपूर्वक फूल और फल अर्पण
करने हों अयोध्यापुरीको परिक्रमा करेंगी ? ॥ १५ ॥

कदा परिणतो बुद्ध्या वयसा चामरप्रभाः ।

अभ्युपैष्यति धर्मात्मा सुवर्षं इव लालयन् ॥ १६ ॥

‘कब ज्ञानमें बढ़े-बढ़े और अवस्थामें देवताओंके समान तेजस्वी धर्मात्मा श्रीराम उत्तम वर्णकी भाँति जनसमुदायका लालन करते हुए यहाँ पधारेंगे ? ॥ १६ ॥

निःसंशयं मया मन्ये पुरा कीर कदर्यया ।

पातुकायेषु वत्सेषु घातुणां शानिना स्तना ॥ १७ ॥

‘वीर !’ इसमें संदेह नहीं कि पूर्व जन्ममें मुझे नञ्च आचार-विचारवाली माँग बड़इके दूध पानेके लिये उद्यत होते ही उनकी माताओंके स्तन काट दिये होंगे ॥ १७ ॥

साहं गौरिव सिंहेन विवत्ता वत्सला कृता ।

कैकेया पुरुषव्याघ्र बालवत्सेव गीर्वाणान् ॥ १८ ॥

‘पुरुषमिश्र !’ जैसे किसी सिंहने छोटै बड़इकली वत्सला गौको बलपूर्वक बड़इने हान कर दिया था उसी प्रकार कैकेयन मुझे बलात् अपने घेँटेसे विलस कर दिया है ॥ १८ ॥

नहि तावद्गुणैर्जुष्टं सर्वज्ञास्त्रविशारदम् ।

एकपुत्रा विना पुत्रमहं जीविनुभुत्सहे ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनर्मित आयोगमयज आदिकाव्यक अयोध्याकाण्डमें तैत्तिरीयसर्ग पूरा हुआ ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

सुमित्राका कौसल्याको आश्वासन देना

विलपन्ती तथा तां तु कौसल्यां प्रपदोत्तमाम् ।

इदं धर्मे स्थिता धर्म्यं सुमित्रा वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

मात्रियामे श्रेष्ठ कौमल्याको इस प्रकार विलाप करती देख धर्मपरायणा सुमित्रा यह धर्मयुक्त बात बाली — ॥ १ ॥

तवार्यं सदगुणैर्युक्तः स पुत्रः पुण्योत्तमः ।

किं ते विलपितेनैवं कृपणं रुदितेन वा ॥ २ ॥

‘आर्य !’ तुम्हारे पुत्र श्रीराम उत्तम गुणासे युक्त और पुण्यामें श्रेष्ठ हैं । उनके लिये इस प्रकार विलाप करना और दान्त-पूर्वक रोना व्यर्थ है, इस तरह रोने-धोनेसे क्या लाभ ? ॥ २ ॥

यस्तवार्यं गतः पुत्रस्त्यक्त्वा राज्यं महाबलः ।

साधु कुर्वन् महान्मानं पितरं सत्यवादिनम् । ३ ॥

शिष्टैरावरिते सपथकशश्वत् प्रेत्य फल्लोद्भवे ।

राजो धर्मे स्थितः श्रेष्ठो न स शोच्यः कदाचनः ॥ ४ ॥

‘अहिन ।’ जो राज्य छोड़कर अपने महात्मा पिताको धर्माभाँति सत्यवादी बनानेके लिये जनमे चले गये हैं, वे तुम्हारे महाबली श्रेष्ठ पुत्र श्रीराम उम उत्तम धर्ममें स्थित हैं जिसका सत्पुरुषोंने सर्वदा और सपथक प्रकारसे पावन किया है तथा जो परलोकमें भी सुखमय फल प्रदान करनेवाला है ऐसे धर्मात्माके लिये कदापि शोक नहीं करना चाहिये ॥

वर्तते चोत्तमां वृत्तिं लक्ष्मणोऽस्मिन् सदानघः ।

दयावान् सर्वभूतेषु लक्ष्मस्तस्य महात्मनः ॥ ५ ॥

‘निष्पाप लक्ष्मण समस्त प्राणियोंके प्रति दयालु हैं । वे

‘जो उत्तम गुणोंमें युक्त और सम्पूर्ण ज्ञानोंमें प्रवीण हैं, उन अपने पुत्र श्रीरामके बिना मैं इकलौते बेटेवाली माँ जीवित नहीं रह सकती ॥ १९ ॥

न हि मे जीविने किञ्चिन् सामर्थ्यमिह कल्प्यते ।

अपश्यन्त्याः प्रियं पुत्रं लक्ष्मणं च महाबलम् ॥ २० ॥

अब प्यारे पुत्र श्रीराम और महाबली लक्ष्मणको देखे बिना मुझमें जीवित रहनेको कुछ भी शक्ति नहीं है । २० ।

अयं हि मां दीपयतेऽद्य वैद्वि-

स्तनूजशोकप्रभवो महाहितः ।

महीमिमां रश्मिभिस्तनमग्रधो

यथा निदाघे भगवान् दिवाकरः ॥ २१ ॥

‘जैसे प्राण्य ऋतुमें ठण्डा प्रभावले भगवान् सूर्य अपनी किरणोंद्वारा इन पृथ्वीका अधिक ताप देने हैं, उसी प्रकार यह पुत्रशोकजनित महान् अहितकारक अग्नि आज मुझे जलाये दे रहो है ॥ २१ ॥

सदा श्रीरामके प्रति उत्तम बर्तन करते हैं, अतः उन महात्मा लक्ष्मणके लिये यह लाभकी ही बात है ॥ ५ ॥

अरण्यवासे यद् दुःखं जानन्त्येव सुखोचिता ।

अनुगच्छति वंदही धर्मात्मानं तवात्मजम् ॥ ६ ॥

‘विदेहनन्दिनी सीता भी जो सुख भोगनेकी ही योग्य है, वनवासके दुःखको भलीभाँति सोच समझकर ही तुम्हारे धर्मात्मा पुत्रका अनुसरण करती है ॥ ६ ॥

कीर्तिभूतां पताकां यो लोके भ्रमयति प्रभुः ।

धर्मः सन्यत्रनपरः किं न प्राप्तस्तवात्मजः ॥ ७ ॥

‘जो प्रभु संसारमें अपनी कीर्तिमयी पताका फहरा रहे है और सदा सन्यत्रनक पालनमें तत्पर रहने हैं उन धर्मस्वरूप पुत्र पुत्र श्रीरामको कौन-सा श्रेय प्राप्त नहीं हुआ है । ७

व्यक्तं रामस्य विज्ञाय शौचं माहात्म्यमूतमम् ।

न गात्रमंशुभिः सूर्यः संतापयितुमर्हति ॥ ८ ॥

‘श्रीरामको पवित्रता और उत्तम माहात्म्यको जानकर निश्चय ही सूर्य अपनी किरणोंद्वारा उनके शरीरको संशय नहीं कर सकते ॥ ८ ॥

शिवः सर्वेषु कालेषु काननेभ्यो विनिःसृतः ।

राधवं युक्तशीतोष्णं सेविष्यति सुखोऽनिलः ॥ ९ ॥

‘सभी समयोंमें वनासे निकली हुई उचित सरदी और गर्मामें युक्त सुखद एवं भङ्गलमय वायु श्रीरघुनाथजीकी सेवा करती ॥ ९ ॥

शयानमनघं पात्रीं पितेवाभिपरिपूजन् ।

धर्मघ्नः संस्पृशच्छीतश्चन्द्रमा ह्लादधिष्यति ॥ १० ॥

रात्रिकालमें धूम्र कष्ट दूर करनेवाले शीतल चन्द्रमा सोते हुए निष्पाप श्रीरामको अपने किरणरूपी करोंमें आन्विष्टन और स्पर्श करके उन्हें आह्लाद प्रदान करेंगे ॥ १० ॥

दयौ चास्त्राणि दिव्यानि धाम्ये ब्रह्मा महीजसे ।

दानयेन्द्रं हतं दृष्ट्वा तिमिध्वजसुतं रणे ॥ ११ ॥

'श्रीरामके द्वारा रणभूमिमें तिमिध्वज (शम्बर) के पुत्र दानवराज सुबाहुको मारा गया देख विश्वामित्रजीने उन महातेजस्वी वीरको बहुत-से दिव्यास्त्र प्रदान किये थे ॥ ११ ॥

स शूरः पुंस्त्वय्याद्यः स्वबाहुबलमाश्रितः ।

असंश्रुतो ह्यरण्येऽसौ वेश्मनीय निवस्यते ॥ १२ ॥

'वे पुरुषसिंह श्रीराम बड़े शूरवीर हैं। वे अपने ही बाहुबलका आश्रय लेकर जैसे महलमें रहते थे, उसी तरह वनमें भी निहर होकर रहेंगे ॥ १२ ॥

यस्तेषुपथमासाद्य विनाशं यान्ति शत्रवः ।

कथं न पृथिवी तस्य शासने स्थमुपहन्ति ॥ १३ ॥

'जिनके बाणोंका लक्ष्य बनकर सभी शत्रु विनाशको प्राप्त होते हैं, उनके उग्रसममें यह पृथ्वी और यहाँके प्राणी कैसे नहीं रहेंगे ? ॥ १३ ॥

या श्रीः शौर्यं च रामस्य या च कल्याणमस्वता ।

विधुत्तारण्यवासः स्वं क्षिप्रं राज्यमवाप्स्यति ॥ १४ ॥

'श्रीरामकी जैसी क्षारीरिक शोभा है, जैसा पराक्रम है और जैसी कल्याणकारिणी शक्ति है, उससे ज्ञान पड़ता है कि वे वनवाससे लौटकर शीघ्र ही अपना राज्य प्राप्त कर लेंगे ॥

सूर्यस्यापि भवेत् सूर्यो ह्यग्रेरग्निः प्रभोः प्रभुः ।

अग्न्याः श्रीश्च भवेदग्न्या कीर्त्या, कीर्तिः, क्षमाक्षमा ॥

दैवतं देवतानां च भूतानां भूतसत्तमः ।

तस्य के ह्यगुणा देवि वने वाप्यथवा पुरे ॥ १५ ॥

देवि ! श्रीराम सूर्यके भी सूर्य (प्रकाशक) और अग्निके भी अग्नि (दाहक) हैं। वे प्रभुके भी प्रभु, लक्ष्मीकी भी उत्तम लक्ष्मी और क्षमाकी भी क्षमा हैं। इतना ही नहीं—वे देवताओंके भी देवता तथा भूतोंके भी उत्तम भूत हैं। वे वनमें रहे या नगरमें, इनके लिये कौन-से चराचर प्राणी दोषावह हो सकते हैं ॥ १५-१६ ॥

पृथिव्या सह वैदेह्या अग्न्या च पुरुषधंधः ।

क्षिप्रं तिसुभिरेताभिः सह रामोऽभिषेक्ष्यते ॥ १७ ॥

'पुरुषश्रीरामणि श्रीराम शीघ्र ही पृथ्वी, सीता और लक्ष्मी—इन तीनोंके साथ राज्यपर अभिषिक्त होंगे ॥ १७ ॥

दुःखजं विभुजत्यश्रु निष्कामन्तमुदीक्ष्य यम् ।

अयोध्यायी जनः सर्वः शोकवेगसमाहतः ॥ १८ ॥

कुशचीरधरं वीरं गच्छन्तमपराजितम् ।

सीतेवानुगता लक्ष्मीस्तस्य किं नाम दुर्लभम् ॥ १९ ॥

जिनको नगरमें निकलते देख अयोध्याका सारा जनसमुदाय शोकके वेगसे आहत हो नेत्रोंमें दुःखके आँसू बहा रहा है, कुश और चीर धारण करके वनको जाते हुए जिन अपराजित निर्यात्रियों को शोक रोले-पाँछ सीताके रूपमें साक्षात् लक्ष्मी हो गयी है, उनके लिये क्या दुर्लभ है ? ॥

धनुर्महवरो यस्य ज्ञाणस्वङ्गसम्भूत् स्वयम् ।

लक्ष्मणो ब्रजति ह्यग्रे तस्य किं नाम दुर्लभम् ॥ २० ॥

जिनके आगे धनुर्धर्मियोंमें श्रेष्ठ लक्ष्मण स्वयं बाण और स्वङ्ग आदि अस्त्र लिये जा रहे हैं, उनके लिये जगत्में कौन-सी वस्तु दुर्लभ है ? ॥ २० ॥

निवृत्तवनवासं तं ब्रह्मासि पुनरागतम् ।

अहि शोकं च मोहं च देवि मत्वं ब्रवीमि ते ॥ २१ ॥

'देवि, मैं तुमसे मन्त्र कहती हूँ। तुम वनवासकी अवधि पूर्ण होनेपर यहाँ लौट हुए श्रीरामको फिर देखोगी इसलिये तुम शोक और मोह छोड़ दो ॥ २१ ॥

शिरसा चरणावेतौ चन्द्रमानमनिन्दिते ।

पुनर्दक्षयसि कल्याणि पुत्रं चन्द्रमिषोदितम् ॥ २२ ॥

'कल्याणि ! आनन्दिते ! तुम नवोदित चन्द्रमाके समान अपने पुत्रको पुनः अपने चरणोंमें बसकर रखकर प्रणाम करने देखोगी ॥ २२ ॥

पुनः प्रविष्टं दृष्ट्वा तमधिषिक्तं महाश्रियम् ।

समुत्स्रक्ष्यसि नेत्राभ्यां शीघ्रमानन्दजं जलम् ॥ २३ ॥

'राजभवनमें प्रविष्ट होकर पुनः राजपदपर अधिषिक्त हुए अपने पुत्रको बड़ी भारी राजलक्ष्मीसे सम्पन्न देखकर तुम शीघ्र ही अपने नेत्रोंसे आनन्दक आँसू बहाओगी ॥ २३ ॥

या शोको देवि दुःखं वा न रामे दृष्यतेऽशिवम् ।

क्षिप्रं द्रक्ष्यसि पुत्रं त्वं ससीतं सहलक्ष्मणम् ॥ २४ ॥

'देवि ! श्रीरामके लिये तुम्हारे मनमें शोक और दुःख नहीं होना चाहिये क्योंकि उनमें कोई अशुभ बात नहीं दिखायी देना। तुम सीता और लक्ष्मणक साथ अपने पुत्र श्रीरामको शीघ्र ही यहाँ उपस्थित देखोगी ॥ २४ ॥

त्वयाशेषो जनश्चायं समाश्वास्यो यतोऽनघे ।

किमिदानीमिदं देवि करोषि हृदि विक्रमम् ॥ २५ ॥

'पापरहित देवि ! तुम्हें तो इन सब लोगोको धैर्य सिखाना चाहिये फिर स्वयं ही इस समय अपने हृदयमें इनका दुःख क्यों काती हो ? ॥ २५ ॥

नार्हा त्वं शोचितुं देवि यस्यास्ते राघवः सुतः ।

नहि रामात् परो लोके विद्यते सत्पथे स्थितः ॥ २६ ॥

'देवि ! तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये; क्योंकि तुम्हें अधिकुलानन्दन राम वैया वेट पिला है। श्रीरामसे बढ़कर सन्तानमें स्थिर रहनेवाला मनुष्य संसारमें दूसरा कोई नहीं है ॥ २६ ॥

अभिवाद्यमानं तं दृष्ट्वा ससुहृदं सुतम् ।

मुदाश्रु मोक्षयसे क्षिप्रं मेघरेखेव वार्षिकी ॥ २७ ॥

‘कब्र ज्ञानमें बड़े-छंदों और अवस्थामें देखताओंक समान तेजस्वी धर्मात्मा श्रीराम उत्तम वर्णार्क भोजि जनसमुदायका लालन करते हुए यहाँ पधारंगे ? ॥ १६ ॥

निःसंशयं मया मन्ये पुरा वीर कदंबया ।

पातुकामेषु वत्सेषु धाम्पूणा शानिताः स्तनः ॥ १७ ॥

‘वीर ! इसमें संदेह नहीं कि पूर्व जन्ममें मुझ नीच आचार विचारवाली नारान बछड़ाक दूध पानेक लिये उद्यत होते ही उनकी माताओंक स्तन काट दिये होंगे ॥ १७ ॥

साहं गौरिख सिंहेन विवल्मा वत्सला कृता ।

कैकेय्या पुरुषव्याघ्र बालवल्मेव गौर्वलान् ॥ १८ ॥

‘पुरुषसिंह ! जैसे किसी सिंहेने छोटस बछड़ाकारि कमला गौको बलपुत्रक बछड़ेमें होय कर दिया है उसी प्रकार मैं अपने मुझे बलात् अपने बेटेसे विलग कर दिया हूँ ॥ १८ ॥

नहि तावद्गुणैर्जुष्टं सर्वशाल्वविशाम्दम् ।

एकपुत्रा विना पुत्रमहं जीवितुमुत्सहं ॥ १९ ॥

इत्यार्ये श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें तैनालोंसर्वाँ सर्ग पूरा हुआ । ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

सुमित्राका कौसल्याको आश्वासन देना

विलपन्ती तथा तां तु कौसल्यां प्रमदन्तमाम् ।

इदं धर्मे स्थिता धर्म्यं सुमित्रा वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

नारियार्यं श्रेष्ठ कौसल्याका इस प्रकार विलप्य करती देख धर्मपरायणा सुमित्रा यह धर्मयुक्त बात बोली— ॥ १ ॥

तवार्ये सदगुणैर्युक्तः स पुत्रः पुरुषोत्तमः ।

किं ते विलपितनरं कृपणं रुदितेन वा ॥ २ ॥

आर्ये ! तुम्हारे पुत्र श्रीराम उत्तम गुणोंमें युक्त और पुरुषार्थमें श्रेष्ठ है । उनके लिये इस प्रकार विलप्य करना और दीनता-पूर्वक रोना व्यर्थ है, इस तरह रोने-घोनेसे क्या लाभ ?

यस्तवार्ये गतः पुत्रस्त्यक्त्वा राज्यं महाबलः ।

साधु कुर्वन् महान्मानं पितरं सत्यवादिनम् ॥ ३ ॥

शिष्टैराचरिते सम्यक्शक्तं प्रेत्य फलोदये ।

रामो धर्मे स्थितः श्रेष्ठो न भव शोच्यः कदाचन ॥ ४ ॥

‘बहिन ! जो राज्य छोड़कर अपने महत्त्वा पिताको भलीभाँति सत्यवादी बनानेके लिये खनमें चले गये है, वे तुम्हारे महाबली श्रेष्ठ पुत्र श्रीराम इस ठनम धर्ममें स्थित है त्रिमका भक्तपुत्रोंने सर्वदा और सम्यक् प्रशंस्य मान्य किया है तथा जो परलोकमें भी सुव्रतपथ फल प्रदान करनेवाला है ऐसे धर्मात्माके लिये कदापि शोक नहीं करना चाहिये ॥

वर्तते द्योतमां वृत्तिं लक्ष्मणोऽस्मिन् सदानधः ।

दद्यावान् सर्वभूतेषु लाभस्तस्य महात्मनः ॥ ५ ॥

‘निष्पाप लक्ष्मण समस्त प्राणियोंके प्रति दयालु हैं । वे

‘जो ठनम गुणोंसे युक्त और सम्पूर्ण शास्त्रोंमें प्रवीण है, उन अपने पुत्र श्रीरामके बिना मैं इकलौते बेटेवाली माँ ऊँचित नहीं रह सकती ॥ १९ ॥

न हि मे जीविते किञ्चित् सामर्थ्यमिह कल्प्यते ।

अपश्यन्त्याः प्रियं पुत्रं लक्ष्मणं च महाबलम् ॥ २० ॥

‘अब प्यारे पुत्र श्रीराम और महाबली लक्ष्मणको देखे बिना मुझमें जीवित मनकी कुछ भी शक्ति नहीं है ॥ २० ॥

अयं हि मां दीपयतेऽद्य सङ्गि-

स्तनूजशोकप्रभवो महाहितः ।

महोमिमां रश्मिभिस्तप्तप्रभो

यथा निदाघे भगवान् दिवाकरः ॥ २१ ॥

जैसे घोंघ ऋतुमें उत्कृष्ट प्रभावाले भगवान् सूर्य अपनी किरणोंद्वारा इस पृथ्वीको अधिक ताप देने हैं उसी प्रकार यह पुत्रदौकजनित मजान् अहितकारक अग्नि आज मुझे जलाय दे रहा है ॥ २१ ॥

मदा श्रीरामके प्रति ठनम वर्ताव करतें हैं, अतः उन महात्मा लक्ष्मणके लिये यह लाभकी ही बात है ॥ ५ ॥

अरण्यवासे यद् दुःखं जानन्त्येव सुखोचिता ।

अनुगच्छति सैतही धर्मात्मानं तवात्मजम् ॥ ६ ॥

‘विदेहनन्दिनी माता’ भी जो सुख भोगनेके ही योग्य है, वनवासक दुःखको भलाभाँति साच समझकर ही तुम्हारे धर्मात्मा पुत्रका अनुसरण करती है ॥ ६ ॥

कीर्तिभूतां पताकां यो लोकं भ्रमयति प्रभुः ।

धर्मः सत्यव्रतपरः किं न प्राप्तस्तवात्मजः ॥ ७ ॥

‘जो प्रभु संसारमें अपनी कीर्तिमयी पताका फहरा रहे है और मदा सत्यव्रतके पालनमें तप्य रहते हैं उन धर्मस्वरूप पुत्रका पुत्र श्रीरामको कीर्ति-मा श्रय प्राप्त नहीं हुआ है ॥ ७ ॥

व्यक्तं रामस्य विज्ञाय शौचं माहात्म्यमुत्तमम् ।

न गात्रमंशुधिः सूर्यः संतापयितुमर्हति ॥ ८ ॥

‘श्रीरामकी पवित्रता और ठनम माहात्म्यको जानकर निश्चय ही सूर्य अपनी किरणोंद्वारा उनके शरीरको संताप नहीं कर सकते ॥ ८ ॥

शिखः सर्वेषु कालेषु काननेभ्यो विनिःसृतः ।

गाम्भवं युक्तशीतोष्णं सेविष्यति सुखोऽनिलः ॥ ९ ॥

‘सभी समयमें कनास निकलने हुई उचित सरदी और गरमोंसे युक्त सुकद एवं भङ्गलमय वायु श्रीरघुनाथजीकी सेवा करती ॥ ९ ॥

श्याममनघं रात्रौ पितेवाधिपरिपुजन् ।

धर्मघ्नः संस्पृशच्छीतशुभ्रमा ह्लादयिष्यति ॥ १० ॥

रात्रिकालमें धूपकर कष्ट दूर करनेवाले शीतल चन्द्रमा सोते हुए निष्पाप श्रीरामको अपने किरणरूपों वरगमे आलस्य और स्पर्श करके उन्हें आह्लाद प्रदान करेंगे ॥ १० ॥

दत्तौ चास्त्राणि दिव्यानि यस्मै ब्रह्मा महोजसे ।

दानवेन्द्रं हतं दृष्ट्वा निमिष्वजसुतं रणे ॥ ११ ॥

श्रीरामके द्वारा रणभूमिमें निमिष्वज (शम्बर) के पुत्र दानवराज सुबाहुको मारा गया देख विस्मयितजाने उन महातेजस्वी वीरको बहुत से दिव्यास्त्र प्रदान किये थे ॥ ११ ॥

स घूरः पुरुषव्याघ्रः स्वबाहुबलमाश्रितः ।

असंव्रस्तो ह्यरण्येऽसौ वेश्मनीव निवस्यते ॥ १२ ॥

‘वे पुरुषसिंह श्रीराम वड़े शूरवीर हैं। वे अपने ही बाहुबलका आश्रय लेकर जैसे महलमें रहते थे वैसे तरह वनमें भी निडर होकर रहेंगे ॥ १२ ॥

यस्येवमुपशमासाद्य विनाशं यान्ति शत्रवः ।

कथं न पृथिवी तस्य शासने स्थातुमर्हति ॥ १३ ॥

‘जिनके बाणोंका लक्ष्य बनकर सभी शत्रु विनाशकों प्राप्त होते हैं, उनके शासनमें यह पृथ्वी और यहाँके प्राणी कैसे नहीं रहेंगे ? ॥ १३ ॥

या श्रीः शौर्यं च रामस्य या च कल्याणसत्त्वता ।

निवृत्तागण्यवासः स्वं क्षिप्रं राज्यमवाप्स्यति ॥ १४ ॥

‘श्रीरामकी जैसी शौर्यशोभा है जैसा पराक्रम है और जैसी कल्याणकारिणी शक्ति है उसमें जान पड़ता है कि वे वनवाससे लौटकर शीघ्र ही अपना राज्य प्राप्त कर लेंगे ।

सूर्यस्यापि भवेत् सूर्यो ह्यग्रेऽग्निः प्रभोः प्रभुः ।

श्रियाः श्रीश्च भवेदग्न्या कीर्त्याः कीर्तिः क्षमाक्षमा ॥

दैवतं देवतानां च भूतानां भूतसत्तमः ।

तस्य के ह्यगुणा देवि वने वाप्यथवा पुरे ॥ १५ ॥

‘देवि ! श्रीराम सूर्यके भी सूर्य (प्रकाशक) और अग्निके भी अग्नि (दाहक) हैं। वे प्रभुके भी प्रभु, लक्ष्मीकी भी उत्तम लक्ष्मी और क्षमाकी भी क्षमा हैं। इतना ही महों—वे देवताओंके भी देवता तथा भूतोंके भी उत्तम भूत हैं। वे वनमें रहे या नगरमें, उनके लिये कौन-से चराचर प्राणी दोषावह हो सकते हैं ॥ १५-१६ ॥

पृथिव्या सह वैदेह्या श्रिया च पुरुषवर्धनः ।

क्षिप्रं तिसृभिरेताभिः सह रामोऽभिवेक्ष्यते ॥ १७ ॥

‘पुरुषशिरोमणि श्रीराम शीघ्र ही पृथ्वी, सीता और लक्ष्मी—इन तीनोंके साथ राज्यपर अभिषिक्त होंगे ॥ १७ ॥

दुःखजं विसृज्यश्रु निष्कामन्तमुदीक्ष्य यम् ।

अयोध्यायां जनः सर्वः शोकवेगसमाहतः ॥ १८ ॥

कुशचीरघरं घोरं गच्छन्तमपराजितम् ।

सीतेवानुगता लक्ष्मीस्तस्य किं नाम दुर्लभम् ॥ १९ ॥

जिनको नगरसे निकलते देख अयोध्याका सारा जनमनुष्य झटके वगसे अहम हो नेत्रोंमें दुःखके आसू बहा रहा है कुश और चीर घात करके वनको जाते हुए जिन अपराजित नित्यविजयों वीरक पाँछे-पीछे सीताके रूपमें माक्षान् लक्ष्मी हो गयी है, उनके लिये क्या दुर्लभ है ? ॥

धनुर्ग्रहवरो यस्य बाणखड्गास्त्वभूत् स्वयम् ।

लक्ष्मणो व्रजति ह्यग्रे तस्य किं नाम दुर्लभम् ॥ २० ॥

जिनके आगे धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ लक्ष्मण स्वयं बाण और खड्ग आदि अस्त्र लिये जा रहे हैं, उनके लिये जगत्में कौन-सा वस्तु दुर्लभ है ? ॥ २० ॥

निवृत्तवनवासं तं ब्रह्मासि पुनरागतम् ।

जहि शोकं च मांहं च देवि सत्यं ब्रवीमि ते ॥ २१ ॥

देवि ! मैं तुमसे सत्य कहता हूँ। तुम वनवासकी अवधि पूरा होनेपर यहाँ लौटें हुए श्रीरामको फिर देखोगी इसलिये तुम शोक और मांह छोड़ दो ॥ २१ ॥

शिरसा चरणावेनौ वन्दमानमनिन्दिते ।

पुनर्दृश्यसि कल्याणि पुत्रं वन्दमिबोदितम् ॥ २२ ॥

‘कल्याणि ! अनिन्दिते ! तुम नबोदित वन्दमाके समान अपने पुत्रको पुनः अपने चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम करते देखोगी ॥ २२ ॥

पुनः प्रविष्टं दृष्ट्वा तमभिषिक्तं महाश्रियम् ।

समन्त्रक्षयमि नेत्राभ्यां शीघ्रमानन्दजं जलम् ॥ २३ ॥

राजभवनमें प्रविष्ट होकर पुनः राजपदपर अभिषिक्त हुए अपने पुत्रका बड़ा भाग्य राजलक्ष्मीमें सम्पन्न देखाकर तुम शीघ्र ही अपने नेत्रोंमें आनन्दके आँसू बहाओगी ॥ २३ ॥

मा शोको देवि दुःखं वा न रामे दृष्यतेऽशिवम् ।

क्षिप्रं द्रक्ष्यसि पुत्रं त्वं समीपं सहलक्ष्मणम् ॥ २४ ॥

देवि ! श्रीरामके लिये तुम्हारे मनमें शोक और दुःख नहीं होना चाहिये, क्योंकि उनमें कोई अशुभ बात नहीं दिखायी देती। तुम सीता और लक्ष्मणके साथ अपने पुत्र श्रीरामको शीघ्र ही यहाँ उपस्थित देखोगी ॥ २४ ॥

त्वयाशेषो जनश्रयः समाप्तास्यो यतोऽनघे ।

किमिदानीमिदं देवि करोषि हृदि विह्वलय ॥ २५ ॥

‘पापरहित देवि ! तुम्हें तो इन सब लोगोकी धैर्य संधान चाहिये, फिर स्वयं ही इस समय अपने हृदयमें इतना दुःख क्यों करती हो ? ॥ २५ ॥

नार्हा त्वं शोचितुं देवि यस्यास्ते राघवः सुतः ।

नहि रामात् परो लोके विद्यते सत्यध्वे स्थितः ॥ २६ ॥

‘देवि ! तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये, क्योंकि तुम्हें रघुकुलनन्दन राम—जैसा बेटा मिला है। श्रीरामसे बढ़कर सन्मार्गमें स्थिर रहनेवाला मनुष्य संसारमें दूसरा कोई नहीं है ॥ २६ ॥

अधिवादयमानं तं दृष्ट्वा ससुहृदं सुतम् ।

मुदाश्रु मोक्षसे क्षिप्रं मेघरेखेव वार्षिकी ॥ २७ ॥

जैसे वर्षाकालके मध्यांकी घटा जलका दृष्टि करनी है। उसी प्रकार तुम सुहृदोर्महित अपने पुत्र श्रीरामको अपने चरणोंमें प्रणाम करने देख इन्द्र हो आनन्दपूर्वक आँसुआँकी वर्षा करंगी ॥ २७ ॥

पुत्रस्ते वरदः क्षिप्रमयोध्यां पुनरागतः ।
कराभ्यां मृदुपीनाभ्यां चरणौ पीडयिष्यति ॥ २८ ॥

‘तुम्हारे वरदायक पुत्र पुनः शीघ्र ही अयोध्यामें आकर अपने माटू माटू कोमल हाथोंद्वारा तुम्हारे दोनों पैरोंका दबावने अभिवाद्य नमस्सन्त शूर ससुहृदे सुनम् ।

मुदास्त्रैः प्रोक्षसे पुत्रं मेधरात्रिगिवाचलम् ॥ २९ ॥

‘जैसे मेधमाला पर्वतको नहलाती है, उसी प्रकार तुम अभिवादन करके नमस्कार करन हुए सुहृदोर्महित अपने शूर-वीर पुत्रका आनन्दके आँसुआँसे अभिषेक करोगी ॥

आश्वासयन्ती विविधैश्च वाक्यै-

वर्कयोपचारे कुशलानवद्या ।

इत्यादि औपद्रवाथणें आत्मौर्जीयें आदिकाव्येज्योध्याकाण्डे चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्रीचान्दोर्जीनामने आर्षंगामायण आदिकव्यक अयोध्याकाण्डमें चौवान्दोसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

श्रीरामका पुरवासियोंसे भरत और महाराज दशरथके प्रति प्रेम-भाव रखनेका अनुरोध करते हुए लौट जानेके लिये कहना; नगरके वृद्ध ब्राह्मणोंका श्रीरामसे लौट चलनेके लिये आग्रह करना तथा उन सबके साथ श्रीरामका तपसातटपर पहुँचना

अनुस्मृता महात्मानं रामं सत्यपराक्रमम् ।

अनुजग्मुः प्रयान्तं तं वनवासाय मानवाः ॥ १ ॥

उत्तर समयपरमक्रिया महात्मा श्रीराम जब वनकी ओर जाने लगे, उस समय उनके प्रति अनुराग रखनवाले बहुत-से अयोध्यावासी मनुष्य वनमें निवास करनेके लिये उनका पीछ-पीछ चल दिये ॥ १ ॥

निवर्तितेऽर्त्ताव बलात् सुहृदधर्मेण राजनि ।

येन ते संन्यवर्तन्त रामस्यानुगता रथम् ॥ २ ॥

त्रिविक्र जल्दी लौटनेको कामना की आज उस स्वजनको मूलक नहीं पहुँचाना चाहिये — इत्यादि रूपमें बताये गये सुहृदधर्मके अनुसार जब राजा दशरथ वनद्वारा लौट दिये गये, तब भी जो श्रीरामजीके रथके पीछ-पीछ जा रहे थे वे अयोध्यावासी अपने घरकी ओर नहीं लौटे ॥ २ ॥

अयोध्यानितयानां हि पुरुषाणां महायशा ।

अधुव गुणमध्यमः पूर्णचन्द्र इव प्रियः ॥ ३ ॥

क्योंकि अयोध्यावासी पुरुषोंके लिये सद्गुणसम्पन्न महायशस्वी श्रीराम पूर्ण चन्द्रमाके समान प्रिय हो गये थे ।

स वाच्यमानः काकुत्स्थस्ताभिः प्रकृतिभिस्तदा ।

कुर्वाणः पितरं सत्यं वनमेवावपद्यत ॥ ४ ॥

उन प्रजाजनोंने श्रीरामसे घा लौट चलनेके लिये कहन

रामस्य तो मातरमेवमुक्त्वा

देवी सुमित्रा विरराम रामा ॥ ३० ॥

बातचीत करनेमें कुशल, दोपरहित तथा रमणीय रूपवाली देवी सुमित्रा इस प्रकार तरह-तरहकी बातोंसे श्रीराममाता कोमल्याको आश्वासन देती हुई उपर्युक्त बातें कहकर चुप हो गयीं ॥ ३० ॥

निश्मयः सलक्ष्मणमातृवाक्यं

रामस्य मैतुर्नरदेवपत्न्याः ।

सद्यः शरीरे विननाश शोकः

शरद्गतो मेघ इवाल्पतोयः ॥ ३१ ॥

लक्ष्मणको माताका यह वचन सुनकर महाराज दशरथकी पत्नी तथा श्रीरामकी माता कोशल्याका साथ शोक उनके शरीर (धन) में ही तत्काल विलीन हो गया । ठीक उसी तरह, जैसे शरद् ऋतुका थोड़े जलवाला बादल शीघ्र ही छिन्न-भिन्न हो जाना है ॥ ३१ ॥

प्राथना की; किंतु वे पितृके सत्यको रक्षा करनेके लिये वनकी ओर ही बढ़ते गये ॥ ४ ॥

अवेक्षमाणः सस्नेहं चक्षुषा प्रपिबन्निव ।

उवाच रामः सस्नेहं ताः प्रजाः स्वाः प्रजा इव ॥ ५ ॥

वे प्रजाजनोंको इस प्रकार स्नेहभरी दृष्टिसे देख रहे थे मानते मैत्रोसे उन्हें पी रहे हों । उस समय श्रीरामने अपनी संतानके समान प्रिय उन प्रजाजनोसे स्नेहपूर्वक कहा — ॥

या प्रीतिर्बहुमानश्च मध्ययोध्यानिवासिनाम् ।

मन्त्रियार्थं विशेषेण भरते सा विधीयताम् ॥ ६ ॥

‘अयोध्यानिवासियोंका मैं प्रति जो प्रेम और आदर है, वह मैं ही प्रमत्तताके लिये भरतके प्रति और अधिकरूपमें भेजा चाहिये ॥ ६ ॥

स हि कल्याणचारित्र्यः कैकेयानन्दवर्धनः ।

करिष्यति यथावद् वः प्रियाणि च हितानि च ॥ ७ ॥

‘उनका चरित्र बड़ा ही सुन्दर और सबका कल्याण करनेवाला है । कैकेयोंका आनन्द बढ़ानेवाले भरत आप लोगोंका यथावत् प्रिय और हित करेंगे ॥ ७ ॥

जानवृद्धो वयोवालो मृदुवोर्यगुणान्वितः ।

अनुरूपः स वो भर्ता भविष्यति भयापहः ॥ ८ ॥

‘वे अवस्थामें छोटें होनपर भी ज्ञानमें बड़े हैं । पराक्रमोन्वित

गुणोंसे सम्पन्न होनेपर भी स्वभावके बड़े कोमल हैं। वे आपलोगोंके लिये योग्य राजा होंगे और प्रजाके भयका निवारण करेंगे ॥ ८ ॥

स हि राजगुणैर्युक्तो युवराजः समीक्षितः ।

अपि चापि मया शिष्टैः कार्यं वो भर्तृशासनम् ॥ ९ ॥

‘वे मुझसे भी अधिक राजोचित गुणोंसे युक्त हैं इसीलिये महाराजने उन्हें युवराज बनानेका निश्चय किया है; अतः आपलोगोंको अपने स्वामी भरतकी आज्ञाका सदा पालन करना चाहिये ॥ ९ ॥

न संतप्येद् यथा चासौ वनवासं गते मयि ।

महाराजस्तथा कार्यो मम प्रियचिकीर्षथा ॥ १० ॥

‘मेरे मनमें चले जानेपर महाराज दशरथ जिम् प्रकार भी शोकसे मतलब न होने पाये, इस बातके लिये आपलोग सदा चेष्टा रखें। मेरा प्रिय करनेकी इच्छामें आपका मेरी इस प्रार्थनापर अवश्य ध्यान देना चाहिये’ ॥ १० ॥

यथा यथा दाशरथिर्धर्ममेवाश्रितो भवेत् ।

तथा तथा प्रकृतयो रामं पतिमकामयन् ॥ ११ ॥

दशरथनन्दन श्रीरामने ज्यों-ज्यों धर्मका आश्रय लेनेके लिये हो दृढ़ता दिखायी, त्यों-त्यों प्रजाजनके मनमें उन्हींको अपना स्वामी बनानेकी इच्छा प्रचलित होती गयी ॥

आप्येण पिहितं दीनं रामः सीमिप्रिणा सह ।

चकपेव गुणैर्बद्धं जनं पुरनिवासिनम् ॥ १२ ॥

समस्त पुरवासी अत्यन्त दीन होकर आसू बहा रहे थे और लक्ष्मणसहित श्रीराम मानो अपने गुणोंमें अधिकार उन्हें खींच लिये जा रहे थे ॥ १२ ॥

ते द्विजास्त्रिविधे वृद्धा ज्ञानेन वयसौजसा ।

वयःप्रकम्पशिरसो दूरादुचुरिदं वचः ॥ १३ ॥

उनमें बहुत-से ब्राह्मण थे, जो ज्ञान, अथवा और तपोबल—तीनों ही दृष्टियोंसे बड़े थे। वृद्धावस्थाक कारण किननोंके तो सिर काँप रहे थे वे दूरसे ही इस प्रकार बोले — ।

बहन्तो जवना रामं भो भो आत्मास्तुरंगमाः ।

निवर्तध्वं न गन्तव्यं हिता भवत भर्तारि ॥ १४ ॥

‘अरे ! ओ तेज चलनेवाले अच्छी जातिके घोड़े ! तुम बड़े वेगशाली हो और श्रीरामको वनकी ओर लिये जा रह हो लौटो अपने स्वामीके हितकी बना। तुम्हें वनमें नहीं जाना चाहिये ॥ १४ ॥

कर्णवन्ति हि भूतानि विशेषेण तुरङ्गमाः ।

यूथं तस्मात्त्रिवर्तध्वं याचनां प्रनिवेदिताः ॥ १५ ॥

‘यों तो सभी प्राणियोंके वन होते हैं, परंतु घोड़ोंके वन बड़े होते हैं; अतः तुम्हें हमारी याचनाका ज्ञान तो हो ही गया होगा; इसलिये धरकी ओर लौट चलो ॥ १५ ॥

धर्मतः स विशुद्धात्मा धीरः शुभदृढव्रतः ।

उपवाह्यस्तु वो भर्ता नापवाह्यः पुराद् वनम् ॥ १६ ॥

‘तुम्हारे स्वामी श्रीराम विशुद्धात्मा, धीर और ऊनम अनका दृढ़तासे पालन करनेवाले हैं, अतः तुम्हें इनका उपवहन करना चाहिये—इन्हें बाहरसे नगरके समीप ले चलना चाहिये। नगरसे वनकी ओर इनका अपवहन करना—इन्हें ल जाना तुम्हारे लिये कदापि उचित नहीं है’ ॥ १६ ॥

एवमार्तप्रलापांस्तान् वृद्धान् प्रलम्पतो द्विजान् ।

अवेक्ष्य सहसा रामो रथादवततार ह ॥ १७ ॥

वृद्ध ब्राह्मणोंका इस प्रकार आर्तभावमें प्रलाप करते देख श्रीरामचन्द्रजी सहसा रथसे नीचे उतर गये ॥ १७ ॥

पद्भ्यामेव जगामाथ ससीतः सहलक्ष्मणः ।

संनिकृष्टपद्व्यासो रामो वनपरायणः ॥ १८ ॥

वे सीत और लक्ष्मणके साथ पैदल ही चलने लगे। ब्राह्मणोंका साथ न छूटे इसलिये वे अपना पैर बहुत निकट रखते थे— लंबे डगसे नहीं चलते थे। वनमें पहुँचना ही उनकी यात्राका परम लक्ष्य था ॥ १८ ॥

द्विजातीन् हि पदातीस्तान् रामश्चारित्रवत्सलः ।

न शशाक घृणाचक्षुः परिमोक्तुं रथेन सः ॥ १९ ॥

श्रीरामचन्द्रजीक चात्रिमें वात्सल्य गुणों प्रधानता थी वनकी दृष्टिमें दया भरी हुई थी। इमिलिय वे रथके द्वारा चलकर उन पैदल चरनेवाले ब्राह्मणोंको पीछे छोड़नेका माहस न कर सके ॥ १९ ॥

गच्छन्तमेव तं दृष्ट्वा रामं सम्भ्रान्तमानसाः ।

ऊचुः परमसंतप्ता रामं वाक्यमिदं द्विजाः ॥ २० ॥

श्रीरामको अब भी वनकी ओर ही जाते देख वे ब्राह्मण मन-ही मन घबरा उठे और अत्यन्त संताप होकर उनमें इस प्रकार बोले— ॥ २० ॥

ब्राह्मण्यं कुन्त्रमेतत् त्वां ब्रह्मण्यमनुगच्छति ।

द्विजस्कन्धाधिरूढाम्त्वामप्रयोज्यनुयान्त्वमी ॥ २१ ॥

‘रघुनन्दन ! तुम ब्राह्मणोंके हितकी हो, इसीसे यह सारा ब्राह्मण-समाज तुम्हारे पीछे-पीछे चल रहा है। इन ब्राह्मणोंके कंधापर चढ़कर अग्रिमव भी तुम्हारा अनुसरण कर रहे हैं ॥ २१ ॥

वाजपेयसपुत्रानि च्छात्राण्येतानि पश्य नः ।

पृष्ठतोऽनुप्रयातानि मेघानिव जलात्पथे ॥ २२ ॥

‘वर्षा ऋतुनपर शरद् ऋतुमें दिखायी देनेवाले सफेद घाटलांक समान हमारे इन श्वेत छत्रोंकी ओर देखो, जो तुम्हारे पीछे-पीछे चल पड़े हैं। वे हमें वाजपेय यज्ञमें प्राप्त हुए थे ॥ २२ ॥

अनवाप्तघ्नस्य रश्मिसंतापितस्य ते ।

एभिश्छायां करिष्यामः स्वैश्छत्रैर्वाजपेयकः ॥ २३ ॥

‘तुम्हें राजकीय श्वेतछत्र नहीं प्राप्त हुआ, अतएव तुम सूर्यदेवकी किरणोंमें संताप हो रहे हो। इस अवस्थामें हम वाजपेय-यज्ञमें प्राप्त हुए इन अपने छत्रोंद्वारा तुम्हारे लिये

छाया करेंगे ॥ २३ ॥

या हि नः सततं बुद्धिर्वेदमन्त्रानुमारिणी ।

त्वत्कृते सा कृता वत्स वनवासानुमारिणी ॥ २४ ॥

'वत्स ! हमारी जो बुद्धि सदा वेदमन्त्रों के पाँके चलती थी—उन्हींके चिन्तनमें लगी रहती थी, वही तुम्हारे लिये वनवासका अनुमरण करनेवाली हो गयी है ॥ २४ ॥

हृदयेषुवतिष्ठन्ते वेदा ये नः परं धनम् ।

वत्सन्त्य पिङ्गहेषुव दाराभारिप्ररक्षिताः ॥ २५ ॥

'जो हमारे परम धन वेद हैं, वे हमारे हृदयोंमें स्थित हैं। हमारा किर्या अपने चरित्रवत्तमं मुक्तिवत् रहकर धर्ममें ही रहेंगी ॥ २५ ॥

पुनर्न निश्चयः कार्यस्त्वक्तौ सुकृता मतिः ।

त्वयि धर्मव्यपेक्षे तु किं स्याद् धर्मपथे स्थितम् ॥ २६ ॥

'अब हमें अपने कर्तव्यके निश्चयमें पुनः कुछ निश्चय नहीं करना है। हमने तुम्हारे साथ कामका विचार स्थिर कर लिया है। तो भी हमें इतना अवश्य कहना है कि जब तुम व ब्रह्मण्यका आज्ञाके पालनरूपों धर्मकी ओरसे निरपेक्ष हो जाओगे, तब दूसरा कौन प्राणी धर्ममार्गपर स्थित रह सकेगा ॥ २६ ॥

यावन्नि नो निवर्तस्व हंसशुक्रशिरोरुहः ।

शिरोभिर्निभृताचारः पर्यापतनपांसुलैः ॥ २७ ॥

'सदाचारका पोषण करनेवाले श्रीराम ! हमारे सिरके बाल एककर हमके समान सफेद हो गये हैं और पृथ्वीपर पड़कर भाग्यप्रणाम करनेमें इनमें धूल भर गयी है। हम अपने ऐसे मस्तकोंको झुकाकर तुममें याचना करने हैं कि तुम शरको लौट आना (वे तत्त्वज्ञ ब्रह्मण यह जानते थे कि श्रीराम साक्षात् धर्मात्मान् विष्णु हैं। इसीलिये उनका श्रीरामके प्रति प्रणाम करना दोषकी बात नहीं है) ॥ २७ ॥

बभूवी वितसा यज्ञा द्विजाती य इहागताः ।

तेषां समाप्तिरायत्ता तव वत्स निवर्तने ॥ २८ ॥

'(इतनेपर भी जब श्रीराम नहीं रुके, तब वे ब्राह्मण बोले—) वत्स ! जो लोग यहाँ आये हैं, इनमें बहुत-से ऐसे ब्राह्मण हैं, जिन्होंने यज्ञ आगम्य कर दिया है; अब इनके

इत्यार्षे श्रीपद्मपायण राज्ञीकीर्त्ये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार श्रीबाल्मीकिविरचित आर्यभट्टायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें पैतालौसवीं सर्ग पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशः सर्गः

सीता और लक्ष्मणसहित श्रीरामका रात्रिमें तमसा-तटपर निवास, माता-पिता और अयोध्याके लिये चिन्ता तथा पुरवासियोंको सोते छोड़कर वनकी ओर जाना

ततस्तु तमसातीरे रम्यमाश्रित्य राघवः ।

सीतामुद्रीक्ष्य सौमित्रिमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

तदनन्तर तमसाके रमणीय तटका आश्रय लेकर श्रीरामने सीताकी ओर देखकर सौमित्रकुमार लक्ष्मणसे इस प्रकार

यज्ञोक्ती समाप्ति तुम्हारे लौटनेपर ही निर्भर है ॥ २८ ॥

भक्तिमन्नीह भूतानि जङ्गमाजङ्गमानि च ।

याचमानेषु तेषु त्वं भक्तिं भक्तेषु दर्शय ॥ २९ ॥

'संसारके स्थावर और जड़म सभी प्राणी तुम्हारे प्रति भक्ति रखते हैं। वे सब तुमसे लौट चलनेकी प्रार्थना कर रहे हैं। अपने उन भक्तोंपर तुम अपना स्नेह दिखाओ ॥ २९ ॥

अनुगन्तुमशक्तास्त्वां मूलैरुद्धतवेगिनः ।

उन्नता वायुवेगेन विक्रोशन्तीव पादपाः ॥ ३० ॥

'ये वृक्ष अपनी जड़ोंके कारण अत्यन्त वेगहीन हैं, इसीसे तुम्हारे पाँव नहीं चले सकेंगे, परन्तु वायुके वेगसे इनमें जो मनननाहत पैदा होती है उनके द्वारा ये ऊँचे वृक्ष मानो तुम्हें पुकार रहे हैं—तुम लौट चलनेकी प्रार्थना कर रहे हैं ॥ ३० ॥

निश्चेष्टाहारसंचारा वृक्षैकस्थाननिश्चिताः ।

पक्षिणोऽपि प्रयाचन्ते सर्वभूतानुकम्पिनम् ॥ ३१ ॥

'जो सब प्रकारको चेष्टा छोड़ चुके हैं, चारा चुगनेके लिये भी कहीं उड़कर नहीं जाते हैं और निश्चितरूपमें वृक्षोंके एक स्थानपर ही पड़े रहते हैं व पक्षी भी तुममें लौट चलनेके लिये प्रार्थना कर रहे हैं, क्योंकि तुम सभीसे प्राणियोंपर कृपा करनेवाले हो ॥ ३१ ॥

एवं विक्रोशतां तेषां द्विजातीनां निवर्तने ।

ददृशे तमसा तत्र वारयन्तीव राघवम् ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीरामसे लौटनेके लिये पुकार मचाते हुए उन ब्राह्मणोंपर मानो कृपा करनेके लिये मार्गमें तमसा नदी दिखायी दी, जो अपने तिर्यक्-प्रवाह (तिरछी धारा) से श्रीरामनाथजीको संकलते हुई-सी प्रतीत होती थी ॥ ३२ ॥

ततः सुमन्त्रोऽपि रथाद् विमुच्य

श्रान्तान् हयान् सम्पगित्वा शीघ्रम् ।

पीतोदकास्तोमपरिप्लुताङ्गा-

वक्षस्यद् वै तमसाविन्दुरे ॥ ३३ ॥

वहाँ पहुँचनेपर सुमन्त्रने भी धके हुए घोड़ोंको शीघ्र ही रथमें खोलकर उन सबको टहलाया, फिर अपनी पिल्लाया और नहलाया तत्पश्चात् तमसाके निकट ही खरोंके लिये छोड़ दिया ॥ ३३ ॥

कहा— ॥ १ ॥

इयमद्य निशा पूर्वा सौमित्रे प्रहिता वनम् ।

वनवासस्य भद्रं ते न चोत्कण्ठितनुमर्हसि ॥ २ ॥

सुमित्रानन्दन ! तुम्हारा कल्याण हो। हमलोग जो

वनकी ओर प्रस्थित हुए हैं, हमारे उस वनवामकी आज यह पहल्वे रात प्राप्त हुई है; अतः अब तुम्हें नगरके लिये उत्कण्ठित नहीं होना चाहिये ॥ २ ॥

पश्य शून्यान्धरण्यानि रुदन्तीव समन्ततः ।

यथा निलयमायद्भिर्निलीनानि मृगद्विजैः ॥ ३ ॥

'इन सुने वनोंकी ओर तो देखो, इनमें अन्य पशु-पक्षी अपने-अपने स्थानपर आकर अपनी झोली बाल रहे हैं। उनके शब्दसे सारी वनस्थली व्याप्त हो गयी है, मानो ये सारे वन हमें इस अवस्थामें देखकर विव्रण ही सब ओरसे घेर रहे हैं ॥ ३ ॥

अथायोध्या तु नगरी राजधानी पितुर्मम ।

सखीपुंसा गतानस्माज्जोधिष्यति न संशयः ॥ ४ ॥

'आज मेरे पिताकी राजधानी अयोध्या नगरी वनमें आये हुए हमलोगोंके लिये समस्त नर-नारियोंमन्त्रित शोक जंगों, इसमें संशय नहीं है ॥ ४ ॥

अनुरक्ता हि मनुजा राजाने बहुधिर्गुणैः ।

त्वां च धां च नरव्याघ्र शत्रुप्रधरतौ तथा ॥ ५ ॥

'पुरुषसिंह ! अयोध्याके मनुष्य बहुत-से सदगुणोंके कारण महाराजमें, तुममें, मुझमें तथा भरत और शत्रुघ्नमें भी अनुरक्त हैं ॥ ५ ॥

पितरं जानुशोचामि यातरं च यशस्विनीम् ।

अपि नान्धा भवेतो नो रुदन्तौ तावभीक्ष्णशः ॥ ६ ॥

'इस समय मुझे पिता और यशस्विनी माताके लिये बड़ा शोक ही रहा है; क्यों ऐसा न हो कि वे मिरन्दर रोते रहनेके कारण अंधे हो जायें ॥ ६ ॥

भरतः खलु धर्मात्मा पितरं यातरं च मे ।

धर्मार्थकामसहितैर्वाक्यैस्तथासयिष्यति ॥ ७ ॥

'परंतु भरत बड़े धर्मात्मा हैं। अवश्य ही वे धर्म, अर्थ और काम तीनोंके अनुकूल वचनोंद्वारा पिताजीका और मेरी माताको भी सान्त्वना देंगे ॥ ७ ॥

भरतस्यानुशंसत्वं संखिन्त्याह पुनः पुनः ।

नानुशोचामि पितरं यातरं च महाभुज ॥ ८ ॥

'महाकाहो ! जब मैं भरतके कांभल स्वभावका बार-बार स्मरण करता हूँ, तब मुझे माता-पिताके लिये अधिक चिन्ता नहीं होती ॥ ८ ॥

त्वया कार्यं नरव्याघ्र मामनुव्रजता कृतम् ।

अन्वेष्टव्या हि वैदेह्या रक्षणार्थं सहायता ॥ ९ ॥

'नरश्रेष्ठ लक्ष्मण ! तुमने मेरे साथ आकर बड़ा ही महत्वपूर्ण कार्य किया है, क्योंकि तुम न आते तो मुझ विदाहकुमारों सीताको रक्षाके लिये कोई सहायक ढूँढ़ना पड़ता ॥ ९ ॥

अद्विरेव हि सौमित्रे वत्स्याध्यह्य निशामिमाम् ।

एतद्धि रीचते यद्वा अन्येऽपि विविधे सति ॥ १० ॥

'सुमित्रानन्दन ! यद्यपि यहाँ नाना प्रकारके जंगली

फल-मूल मिल सकते हैं तथापि अरुन्धती यह रात मैं केवल जल पीकर ही बिताऊँगा यहाँ मुझे अच्छा जान पड़ता है ॥ १० ॥

एवमुक्त्वा तु सौमित्रि सुमन्त्रमपि राघवः ।

अप्रमत्तस्त्वग्धेषु भव सौम्येत्सुवाच ॥ ११ ॥

लक्ष्मणसे ऐसा कहकर श्रीरामचन्द्रजीने सुमन्त्रसे भी कहा— 'सौम्य ! अब आप घोंडाकी रक्षापर ध्यान दें, उनकी ओरसे अस्मावधान न हो' ॥ ११ ॥

सोऽजान् सुमन्त्रः संयध्य सूर्योऽस्तं समुपागते ।

प्रभूतयवसान् कृत्वा बभूव प्रत्यनन्तरः ॥ १२ ॥

सुमन्त्रने सूर्यास्त हो जानेपर घोंडाको लेकर बाँध दिया और उनका आगे बहुत-सा चारा डालकर वे श्रीरामके पास आ गये ॥ १२ ॥

आस्य तु शिवां संख्यां दृष्ट्वा रात्रिमुपागताम् ।

रामस्य शयनं चक्रे सुतः सौमित्रिणा सह ॥ १३ ॥

फिर (वर्णानुकूल) कल्याणमयी संख्यांपासना करके रात आयी दख लक्ष्मणसहित सुमन्त्रने श्रीरामचन्द्रजीके शयन करनेयोग्य स्थान और आसन ठीक किया ॥ १३ ॥

तां शय्यां तपसातीरे वीक्ष्य वृक्षदलैर्वृणाम् ।

रामः सौमित्रिणा सार्धं सभार्यः संश्लिपेत् ॥ १४ ॥

तपसाके तटपर वृक्षक पत्तोंसे बनाई वह शय्या देखकर श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मण और सीताके साथ उसपर बैठे ॥ १४ ॥

सभार्यं सम्प्रसुप्तं तु श्रान्तं समीक्ष्य लक्ष्मणः ।

कथयामास सूनाय रामस्य विविधान् गुणान् ॥ १५ ॥

घोंड़ी देखते सीतासहित श्रीरामको धक्कर सोया हुआ दख लक्ष्मण सुमन्त्रसे उनके नाना प्रकारके गुणोंका वर्णन करने लगे ॥ १५ ॥

जाघतोरेव तां रात्रिं सौमित्रेरुदितो रविः ।

सुतस्य तपसातीरे रामस्य श्रुतो गुणान् ॥ १६ ॥

सुमन्त्र और लक्ष्मण रामकाके किनारे श्रीरामके गुणोंकी वर्णा करते हुए रातभर जागते रहे। इतनेहीमें सूर्योदयका समय निकट आ पहुँचा ॥ १६ ॥

गोकुलप्रकुलतीरायास्तपसाया विदूरतः ।

अथसन् तत्र तां रात्रिं रामः प्रकृतिभिः सह ॥ १७ ॥

तपसाकय वह तट गीओंके समुदायसे भरा हुआ था। श्रीरामचन्द्रजीने प्रजाजनोंके साथ वहीं रात्रिमें निवास किया। वे प्रजाजनोंसे कुछ दूरपर सोये थे ॥ १७ ॥

उत्थाय च महातेजाः प्रकृतीस्ता निशाम्य च ।

अब्रवीद् भ्रातरं रामो लक्ष्मणे पुण्यलक्षणम् ॥ १८ ॥

महातेजस्वी श्रीराम तड़के हो उठे और प्रजाजनोंको सोते देख पवित्र लक्षणावाले घाई लक्ष्मणसे इस प्रकार बोले— ॥

अस्मद्व्यपेक्षान् सौमित्रे निर्व्यपेक्षान् गृहेष्वपि ।

वृक्षभूलेषु संसक्तान् पश्य लक्ष्मण साम्प्रतम् ॥ १९ ॥

‘सुमित्राकुमार लक्ष्मण ! इन पुरवासियोंकी ओर देखो, ये इस समय वृक्षाको जड़में सटकर सो रहे हैं, इन्हें कबल उभरने चाह है। ये अपने घाँगी औरसे भी पूर्ण निरपेक्ष हो गये हैं ॥

यथैते निधमं पौगः कुर्वन्त्यस्मिन्नवतने ।

अपि प्राणान् न्यसिष्यन्ति न तु त्वक्ष्यान्ति निश्चयम् ॥

हमें लौटा ले चलनेके लिये ये जैसा उद्योग कर रहे हैं इससे जान पड़ता है, ये अपना प्राण त्याग देंगे; किंतु अपना निश्चय नहीं छोड़ेंगे ॥ २० ॥

यावदेव तु संसृप्तास्तावदेव वयं लघु ।

रथमारुह्य गच्छामः पन्थानमकुतोभयम् ॥ २१ ॥

‘अब जबतक ये सो रहे हैं तभीतक हमलोग रथपर सवार होकर शीघ्रतापूर्वक वहाँसे चल दें। फिर हमें इस मार्गपर और किसीके आनेका भय नहीं रहेगा ॥ २१ ॥

अतो भूयोऽपि नेदानीमिक्ष्वाकुपुरवासिनः ।

स्वपेयुरनुरक्ता मा वृक्षमूलेषु संश्रिताः ॥ २२ ॥

‘अयोध्यावासी हमलोगोंके अनुरागी हैं। अब हम यहाँसे निकल चलेंगे, तब उन्हें फिर अब इस प्रकार वृक्षोंके जड़में सटकर नहीं सोना पड़ेगा ॥ २२ ॥

पौरा ह्यात्मकृताद् दुःखाद् विप्रमोच्या नृपात्मजैः ।

न तु खल्वत्यना योज्या दुःखेन पुत्रात्मिनः ॥ २३ ॥

‘राजकुमारोंका यह कर्तव्य है कि वे पुरवासियोंको अपने द्वारा होनेवाले दुःखसे मुक्त करें, न कि अपना दुःख देकर उन्हें और दुःखो बना दें ॥ २३ ॥

अग्रवीरलक्ष्मणो रामं साक्षाद् धर्मपिथ स्थितम् ।

रोचते मे तथा प्रज्ञ क्षिप्रमारुह्यतामिति ॥ २४ ॥

यह सुनकर लक्ष्मणने साक्षात् धर्मके समान विराजमान भगवान् श्रीरामसे कहा—‘परम बुद्धिमान् आर्य ! मुझ आपकी राय पसंद है। शीघ्र ही रथपर सवार होइये’ ॥ २४ ॥

अथ रामोऽब्रवीत् सूतं शीघ्रं संयुज्यतां रथः ।

गमिष्यामि ततोऽरण्यं गच्छ शीघ्रपिनः प्रभो ॥ २५ ॥

तब श्रीरामने सुमन्त्रसे कहा—‘प्रभो ! आप जाइये और शीघ्र ही रथ जोतकर तैयार कीजिये। फिर मैं जल्दी ही यहाँमें वनकी ओर चलेगा’ ॥ २५ ॥

सूतस्ततः संत्वरितः स्यन्दनं तैर्हयोत्तमैः ।

योजयित्वा तु रामस्य प्राञ्जलिं प्रत्यवेदयत् ॥ २६ ॥

आज्ञा पाकर सुमन्त्रने उन उत्तम घोड़ोंको तुरंत ही रथमें जोत दिया और श्रीरामके पास हाथ जोड़कर निवेदन किया— ॥ २६ ॥

अयं युक्तो महाबाहो रथस्ते रथिनां वर ।

त्वरयाऽऽरोह भद्रं ते ससीतः सहलक्ष्मणः ॥ २७ ॥

महाबाहो ! रथियोंमें श्रेष्ठ यों ! आपका कल्याण हो। आपका यह रथ जुता हुआ तैयार है। अब सीता और

लक्ष्मणके साथ शीघ्र इसपर सवार होइये’ ॥ २७ ॥

ते स्यन्दनमधिष्ठाय राघवः सपरिच्छदः ।

शीघ्रगामाकुलावती नमसामतरन्नदीम् ॥ २८ ॥

श्रीरामचन्द्रजी स्वयंके साथ रथपर बैठकर तीव्र-गतिस वहनवाला भेवगमें भरो हुई तमसा नदीको उस पार गये।

स संतीर्य महाबाहुः श्रीमाञ्जिवावमकण्टकम् ।

प्रापद्यत महामार्गमभयं भयदर्शनात् ॥ २९ ॥

नदीको पार करके महाबाहु श्रीमान् राम ऐसे महान् मार्गपर जा पड़े, जो कल्याणप्रद कण्टकरहित तथा सर्वत्र भय देखनेवालोंके लिये भी भयसे रहित था ॥ २९ ॥

मोहनार्थं तु पौगणां सूतं रामोऽब्रवीद् वचः ।

उदङ्मुखः प्रयाहि त्वं रथमारुह्य सारथे ॥ ३० ॥

मुहूर्तं त्वरितं गत्वा निवर्तय रथं पुनः ।

यथा न विदुः पौग भां तथा कुरु समाहितः ॥ ३१ ॥

इस समय श्रीरामने पुरवासियोंको धुलावा देनेके लिये सुमन्त्रसे यह बात कही—‘सारथे ! (हमलोग तो यहीं उत्तर जाते हैं,) परंतु आप रथपर आरुढ़ होकर पहले उत्तर दिशाको ओर जाइये। दो घड़ोंतक तीव्र गतिमें उत्तर जाकर फिर दृष्टे मार्गसे रथको यहाँ लौटा लाइये। जिस तरह भी पुरवासियोंको मेरा पता न चले, वैसा एकाग्रतापूर्वक प्रयत्न कीजिये’ ॥ ३०-३१ ॥

रामस्य तु वचः श्रुत्वा तथा चक्रे च सारथिः ।

प्रत्यागम्य च रामस्य स्यन्दनं प्रत्यवेदयत् ॥ ३२ ॥

श्रीरामजोकर यह वचन सुनकर सारथिने वैसा ही किया और लौटकर पुनः श्रीरामके सेवामें रथ उपस्थित कर दिया ॥

तौ सभ्रयुक्ते तु रथं समास्थितौ

तदा ससीतौ रघुवंशवर्धनौ ।

प्रचोदयामास ततस्तुरंगधान्

स सारथिर्येन पथा तपोवनम् ॥ ३३ ॥

तत्पश्चान् सीतामहित श्रीराम और लक्ष्मण, जो रघुवंशकी वृद्धि करनेवाले थे, लौटाकर लाये गये उस रथपर चढ़े। तदनन्तर सारथिने घोड़ोंको उस मार्गपर बढ़ा दिया, जिससे तपोवनमें पहुँचा जा सकता था ॥ ३३ ॥

ततः समास्थाय रथं महारथः

ससारथिर्दाशरथिर्वनं ययौ ।

उदङ्मुखं ते तु रथं चकार

प्रधाणमाकुल्यनिमित्तदर्शनात् ॥ ३४ ॥

तदनन्तर सारथिबर्हित महारथी श्रीरामने यात्राकारिकक मङ्गलमूचक शकुन देखनेके लिये पहलू तो उस रथको उत्तर्गाममुख खड़ी किया, फिर वे उस रथपर आरुढ़ होकर वनकी ओर चल दिये ॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यगमायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें छियालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४६ ॥

सप्तचत्वारिंशः सर्गः

प्रातःकाल उठनेपर पुरवासियोंका विलाप करना और निराश होकर नगरको लौटना

प्रधातायां तु शर्वयी पौरास्ते राघवं विना ।

शोकोपहतनिश्चेष्टा बभूवुर्हतचेतसः ॥ १ ॥

इधर रात बीतनेपर जब सबेरा हुआ तब अयोध्यावासी मनुष्य श्रीरघुनाथजीको न देखकर अचेत हो गये। शोकसे व्याकुल होनेके कारण उनसे कोई भी चेष्टा करते न बनी ॥ १ ॥

शोकजाश्रुपण्डिता वीक्षमाणास्ततस्ततः ।

आलोकमपि रामस्य न पश्यन्ति स्म दुःखिनाः ॥ २ ॥

वे शोकजनित आँसू बहाते हुए अभ्यन्त म्लिन्न हो गये तथा इधर उधर उनका खोज करने लगे परन्तु उन दुःखी पुरवासियोंको श्रीराम किधर गये इस बातका पता देनेवाला कोई चिह्नतक नहीं दिखायी दिया ॥ २ ॥

ते विषादादतथेदना रहिनास्तेन धीमना ।

कृपणाः करुणा वाचो वर्तन्ति स्म यनीधिनाः ॥ ३ ॥

बुद्धिमान् श्रीरामसे विलग होकर वे अत्यन्त दीन हो गये। उनके मुखपर विषादजनित वेदना स्पष्ट दिखायी देती थी। वे मनामर्षी पुरवासों करुणाभरे वचन बोलते हुए विलाप करने लगे— ॥ ३ ॥

धिगस्तु खलु निद्रां तां यथापहतचेतसः ।

नाद्य पद्यामहे रामं पृथ्वस्त्वं महाभुजम् ॥ ४ ॥

हाय ! हमारी उस निद्राको धिक्कार है, जिससे अचेत हो जानेके कारण हम उस समय विशाल बहावाले महाबाहु श्रीरामके दर्शनसे वञ्चित हो गये हैं ॥ ४ ॥

कथं रामो महाबाहुः स तथावितथक्रियः ।

भक्तो जनप्रधित्यज्य प्रवासं तापमो गतः ॥ ५ ॥

'जिनकी कोई भी क्रिया कभी निष्फल नहीं होती, वे तापसवपधागी महाबाहु श्रीराम हम भक्तजन'को छोड़कर परदेश (वन) में कैसे चले गये ? ॥ ५ ॥

यो नः सदा पालयति पिता पुत्रानिवोरसान् ।

कथं रघुणां स श्रेष्ठस्यस्त्वा नो विपिनं गतः ॥ ६ ॥

'जैसे पिता अपने औरस पुत्रोंका पालन करता है, उसी प्रकार जो सदा हमारा रक्षा करने थे वे हैं रघुकुलभृश श्रावण आज हमें छोड़कर वनको क्यों चले गये ? ॥ ६ ॥

इहैव निघ्नं याम महाप्रस्थानमेष वा ।

रामेण रहितानां नो किमर्थं जीवितं हितम् ॥ ७ ॥

'अब हमलोग यहाँ प्राण दे दें या मरनेका निश्चय करके उत्तर दिशाकी ओर चले दें। श्रीरामसे रहित होकर हमारा जीवन-धारण किमर्थसे हितकर हो सकता है ? ॥ ७ ॥

सन्ति शुष्काणि काष्ठानि प्रभूतानि महानि च ।

तैः प्रज्वाल्य चितां सर्वे प्रविशामोऽथवा व्रयम् ॥ ८ ॥

'अथवा यहाँ बहुत-से बड़े-बड़े सूखे काष्ठ पड़े हैं, उनसे

चिता जलाकर हम सब लोग इसीमें प्रवेश कर जायें ॥ ८ ॥

किं वक्ष्यामो महाबाहुरनसूयः प्रियंवदः ।

नौतः स गघवोऽस्थाभिरिति वक्तुं कथं क्षमम् ॥ ९ ॥

(यदि हमसे कोई श्रीरामका वृत्तान्त पूछेगा तो हम उसे क्या उत्तर देंगे ?) क्या हम यह कहेंगे कि जो किसका दोष नहीं देखते और सबसे प्रिय वचन बोलते हैं उन महाबाहु श्रीरघुनाथजीको हमने धनमें पहुँचा दिया है ? हाय ! यह अयोग्य बात हमारा मुँहमें कैसे निकल सकती है ? ॥ ९ ॥

सा नूनं नगरी दीना दृष्टव्यमान् राघवं विना ।

भविष्यति निरानन्दा सखीबालवयोऽधिका ॥ १० ॥

'श्रीरामके बिना हमलोगोंको लौटा हुआ देखकर स्त्री, बालक और वृद्धोसहित सारे अयोध्यावासी निश्चय ही दीन और आनन्दहीन हो जायेंगे ॥ १० ॥

निर्यातास्तेन वीरेण सह नित्यं महात्मना ।

विहीनास्तेन च पुनः कथं द्रक्ष्याम तां पुरीम् ॥ ११ ॥

'हमलोग वीरवर महात्मा श्रीरामके साथ सर्वदा निवास करनेके लिये निकले थे। अब उनसे बिछुड़कर हम अयोध्यापुरीको कैसे देख सकेंगे ? ॥ ११ ॥

इतीव बहुधा वाचो ब्राह्ममुद्यम्य ते जनाः ।

विलपन्ति स्म दुःखार्ता हनवत्सा इवाग्रयणाः ॥ १२ ॥

इस प्रकार अनेक तरहकी बातें कहते हुए वे समस्त पुरवासों अपनी भुजा डठाकर विलाप करने लगे। वे बड़बड़ाते बिड़बुड़े हुई अग्रगामियों गौओंको भाँति दुःखसे व्याकुल हो रहे थे ॥ १२ ॥

ततो मार्गानुसारेण गत्वा किञ्चित् ततः क्षणम् ।

मार्गनाशाद् विषादेन महता समधिप्लुताः ॥ १३ ॥

फिर हमलोग रथको लोक देखते हुए सध के-सब कुछ दृग्गतक गये, किन्तु क्षणभरम मार्गका चिह्न न मिलनेके कारण वे महान् शोकमें डूब गये ॥ १३ ॥

रथमार्गानुसारेण न्यवर्तन्त मनस्विनः ।

किमिदं किं करिष्यामो देवेनोपहता इति ॥ १४ ॥

उस समय यह कहते हुए कि 'यह क्या हुआ ? अब हम क्या करें ? देवने हम भार डाला वे मनस्वी पुरुष रथको लोकका अनुसरण करते हुए अयोध्याको और लौट पड़े ।

नदा यथागतेनैव मार्गेण क्लान्तचेतसः ।

अयोध्यामगमन् सर्वे पुरीं व्यधितसज्जनाम् ॥ १५ ॥

उनका चित्त क्लान्त हो रहा था। वे सब जिस मार्गसे गये थे उसीमें लौटकर अयोध्यापुरीमें जा पहुँचे जहाँकि सभी सत्पुरुष श्रीरामके लिये व्यथित थे ॥ १५ ॥

आलोक्य नगरीं तां च क्षधव्याकुलमानसाः ।

आकर्तयन्त तेऽग्रिणि नयनैः शोकपीडितैः ॥ १६ ॥

उस नगरीको देखकर उनका हृदय दुःखसे व्याकुल हो उठा। वे अपने शोकपूर्णित नेत्रोंद्वारा आँसुओंका वर्षा करने लगे। १६ ॥

एषा रामेण नगरी रहिता पातिशोभते ।

आपगा गरुडेनेव हृदादुद्धृतपत्रगा ॥ १७ ॥

(वे बोले—) 'जिसके गहरे कुण्डसे जहाँका नाग गरुड़क द्वारा निकाल लिया गया हो वह नदी जैसा नैऋत्य हो जाती है, उसी प्रकार श्रीरामसे रहित हुई यह अयोध्यानगरी अब अधिक शोभा नहीं पाती है' ॥ १७ ॥

सन्द्रहीनमिवाकाशं तोयहीनमिवार्णवम् ।

अपश्यन् निह्वानन्दं नगरे ते विचेतसः ॥ १८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकीनामक आर्यरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें सैतान्तासर्ग पूरा हुआ। ४७ ॥

अष्टचत्वारिंशः सर्गः

नगरनिवासिनी स्त्रियोका विलाप करना

तेषामेवं विषण्णानां घण्टितानामतीव च ।

बाष्पविप्लुतनेत्राणां सशोकानां भूपूर्वया ॥ १ ॥

अभिमुख्य निवृत्तानां रामं नगरवासिनाम् ।

उद्गतानीव सत्त्वानि बभूवुरमनस्विनाम् ॥ २ ॥

इस प्रकार जो विषादग्रस्त, अत्यन्त पीड़ित, शोकग्रस्त तथा प्राण स्वाग देनेकी इच्छासे युक्त हो नेत्रोंसे आँसु बहा रह थे, श्रीरामचन्द्रजीके साथ जाकर भी जो उन्हें लिये बिना लौट आये थे और इसीलिये जिनको चिन्त ठिकाने नहीं था, उन नगरवासियोंकी ऐसी दशा हो रही थी मानो उनके प्राण निकल गये हों ॥ १-२ ॥

स्वं स्वं नित्यमागम्य पुत्रदारैः समावृताः ।

अश्रूणि मुमुक्षुः सर्वे बाष्पेण पिहितानना ॥ ३ ॥

वे सब अपने-अपने घरमें आकर पत्नों और पुत्रोंसे घिरे हुए आँसु बहाने लगे। उनका मुख अश्रुधारोंसे आच्छादित थे ॥ ३ ॥

न बाह्विष्यन् न बाधोदन् वणिजो न प्रसारयन् ।

न खाशोभन्त पण्यानि नापथन् गृहमेधिनः ॥ ४ ॥

उनका बाजारमें हथका कोई चिह्न नहीं दिखाया देता था तथा भनमें भी आनन्दका अभाव ही था। धनियोंने अपना दुकानें नहीं खोलीं। क्रय विक्रयकी वस्तुएँ बाजारमें फैलायीं जानपर भी उनकी शोभा नहीं हुई। उहे जाकर निध प्रदत्त नहीं आये। उस दिन गृहस्थाक घरमें खूबसे नष्ट जले—रसोई नहीं बनी ॥ ४ ॥

नष्टं दृष्ट्वा नाभ्यनन्दन् विपुलं वा धनागमम् ।

पुत्रं प्रथमजं लब्ध्वा जननी नाप्यनन्दत ॥ ५ ॥

खोयी हुई वस्तु मिल जानेपर भी किसीको प्रसन्नता नहीं

उन्होंने देखा, सारा नगर चन्द्रहीन आकाश और जलहीन समुद्रके समान आनन्दशून्य हो गया है। पुराकी यह दुर्वस्था देख वे अचत-से हो गये ॥ १८ ॥

ने तानि केहमानि बह्मभनानि

दुःखेन दुःखोपहता विशन्तः ।

नव प्रजग्मुः स्वजनं परं वा

निरीक्ष्यमाणः प्रविनष्टहर्षाः ॥ १९ ॥

उनके हृदयका सारा उल्लास नष्ट हो चुका था। वे दुःखमें पीड़ित हो उन मगान् वैधत्तसम्पन्न गृहोंमें बड़े क्लेशके साथ प्रविष्ट हो सबका देखन शुरू भी अपने और परायेकी पहचान न कर सके ॥ १९ ॥

हुई, विपुल धन-राशि प्राप्त हो जानेपर भी किसीने उसका अभिन्नन्दन नहीं किया। जिसने प्रथम बार पुत्रको जन्म दिया था, वह माता भी आनन्दित नहीं हुई ॥ ५ ॥

गृहे गृहे रुदत्यश्च भर्तारं गृहमगतम् ।

व्यगर्हयन्त दुःखार्ता वाग्भिस्तोत्रैर्ग्वि द्विपान् ॥ ६ ॥

प्रत्येक घरकी स्त्रियाँ अपने पतिर्योंकी श्रीरामके बिना ही लौटकर आये देख रो पड़ीं और दुःखसे आतुर हो कठोर वचनोंद्वारा उन्हें कोसने लगीं, मानो महावत अङ्कुशोंसे शायियोंको मार रहे हों ॥ ६ ॥

किं नु तेषां गृहः कार्यं किं दारैः किं धनेन वा ।

पुत्रैर्वापि सुखैर्वापि ये न पश्यन्ति राघवम् ॥ ७ ॥

वे बोलीं—'जो लोग श्रीरामको नहीं देखते, उन्हें घर-द्वार, लो-पुत्र, धन-दौलत और सुख-भोगोंसे क्या प्रयत्न है ? ॥ ७ ॥

एकः सत्पुरुषो लोके लक्ष्मणः सह सीतया ।

योऽनुगच्छति काकुत्स्थं रामं परिचरन् वने ॥ ८ ॥

'समागमें एकमात्र लक्ष्मण ही सत्पुरुष हैं, जो सीताके साथ श्रीरामको संन्या करनेक लिये उनका पीछे-पीछे वनमें जा रहे हैं ॥ ८ ॥

आपगाः कृतपुण्यास्तः पशिन्यश्च सरांसि च ।

येषु चास्यन्ति काकुत्स्थो विगाह्य सलिलं शुचि ॥ ९ ॥

उन नदियों, कपलपूर्णित बावड़ियों तथा सरोवरोंमें अवश्य ही बहुत पुण्य किया जागा, जिनके पवित्र जलमें स्नान करके श्रीरामचन्द्रजी आगे आयेंगे ॥ ९ ॥

शोभयिष्यन्ति काकुत्स्थमतव्यो रण्यकाननाः ।

आपगाश्च महानृपाः सानुपन्नश्च पर्वताः ॥ १० ॥

जिनमें रमणाय वृक्षावलिर्भा शोभा पाते हैं, वे सुन्दर
वनश्रेणियाँ, बड़े कछारवाली नौदर्याँ और शिखरोसे सम्यग्र
पर्वत श्रीरामको शोभा बढ़ावेगे ॥ १० ॥

काननं चापि शैले वा च रामोऽनुगमिष्यति ।

प्रियातिथिमिव प्राप्तं नैन शक्यन्त्यनर्चिनुम् ॥ ११ ॥

‘श्रीराम जिस वन अथवा पर्वतपर जायेंगे, वहाँ उन्हें
अपने प्रिय आतिथिकों भाँस आया हुआ देख वे वन और
पर्वत इनकी पूजा किसे बिना नहीं रह सकेंगे ॥ ११ ॥

विचित्रकुसुमापीडा बहुमञ्जरिधारिणः ।

राधवं दर्शयिष्यन्ति नगा भ्रमरशालिनः ॥ १२ ॥

विचित्र फूलोंके मुकुट पहने और बहुत-सो मञ्जरियाँ
धारण किये भ्रमरोंसे मुड़ाभन वृक्ष वनमें श्रीरामचन्द्रजीको
अपनी शोभा दिखायेंगे ॥ १२ ॥

अकाले चापि मुख्यानि पुष्पाणि च फलानि च ।

दर्शयिष्यन्त्यनुकोशाद् गिर्यो राममागतम् ॥ १३ ॥

‘यहाँके पर्वत अपने वहाँ पधार हुए श्रीरामको अत्यन्त
आदरके कारण असमयमें भी ठहल-उपम फूल और फल
दिखावेगे (भेंट करेंगे) ॥ १३ ॥

प्रस्रविष्यन्ति तोयानि विमलानि महीधराः ।

विदर्शयन्तो विविधान् ध्रुवक्षित्रांश्च निर्झरान् ॥ १४ ॥

वे पर्वत आश्चर्य-गाना प्रकारके विचित्र झरन दिखाते हुए
श्रीरामके लिये निर्मल जलके झ्रोत बहावेगे ॥ १४ ॥

पादपाः पर्वताग्रेषु रमयिष्यन्ति राघवम् ।

यत्र रामो भयं भात्र नास्ति तत्र परमधः ॥ १५ ॥

स हि शूरो महाबाहुः पुत्रो दशरथस्य च ।

पुरा भवति नोऽदृग्दनुगच्छाम राघवम् ॥ १६ ॥

‘पर्वत-शिखरोंपर लहलहाते हुए वृक्ष श्रीरघुनाथजीको
मनोरंजन करेंगे । जहाँ श्रीराम हैं वहाँ न तो कोई भय है और
न किसीके डर पराध्व हो ही सकता है क्योंकि दशरथजन्म
महाबाहु श्रीराम बड़े शूरवीर हैं । अब कथनक वे हमलोंमें
बहुत दूर नहीं निकल जाते, इसके पहले ही हमें उनके पास
पहुँचकर पीछे लौट जाना चाहिये ॥ १५-१६ ॥

पादच्छाया सुखं भर्तुस्तादृशस्य महात्मनः ।

स हि नाथो जनम्यास्य स गतिः स परायणम् ॥ १७ ॥

‘उनके-जैसे महात्मा एवं स्वामीके चरणोंकी छाया ही
हमारे लिये परम सुखद है । वे ही हमारे रक्षक, गति और
परम आश्रय हैं ॥ १७ ॥

यद्ये परिचरिष्यामः सीतां यूयं च राघवम् ।

इति पौगण्डियोभर्तुन् दुःखान्स्तत्तदनुवन् ॥ १८ ॥

‘हम स्त्रियाँ सीताजीकी सेवा करेंगी और तुम सब
लोग श्रीरघुनाथजीकी सेवामें लगे रहना ।’ इस प्रकार
पुत्राभियाँकी स्त्रियाँ दुःखमें आनुर हो अपने पनियोंमें
उपर्युक्त बातें कहने लगीं ॥ १८ ॥

युष्माकं राघवोऽरण्ये योगक्षेमं विधास्यति ।

सीता नारीजनस्यास्य योगक्षेमं करिष्यति ॥ १९ ॥

(वे पुनः बोलें—) ‘वनमें श्रीरामचन्द्रजी आपलोगोंका
योगक्षेम मिट्ट करंगे और सीताजी हम नारियोंके योगक्षेमका
निवाह करेंगी ॥ १९ ॥

को न्यनेनाप्रनीतेन सोत्कण्ठितजनेन च ।

सम्प्रोयेतामनोज्ञेन चासेन हतधेतसा ॥ २० ॥

‘यहाँका निवास प्रीति और प्रतीतिसे रहित है । यहाँके
सब लोग श्रीरामके लिये उत्कण्ठित रहते हैं । किसीको
यहाँका रहना अच्छा नहीं लगता तथा यहाँ रहनेसे मन अपनी
मुघ-बुध से बैठता है । भला, ऐसे निवाससे किसको
प्रसन्नता होगी ? ॥ २० ॥

कैकेय्या यदि चेद् राज्यं स्यादधर्म्यमनायवन् ।

न हि नो जीविनेनार्थः कुतः पुत्रैः कुतो धनैः ॥ २१ ॥

‘यदि हम राज्यपर कैकेयोंका अधिकार हो गया तो
यह अनाध-सा हो जायगा । हममें धर्मकी मर्यादा नहीं
रहने पायेगी । ऐसे राज्यमें तो हमें जीवित रहनेकी ही
आवश्यकता नहीं मान पड़ने, फिर यहाँ धन और पुत्रोंसे
क्या लेना है ? ॥ २१ ॥

यया पुत्रश्च भर्ता च त्यक्तावधर्म्यकारणान् ।

कं सा परिहरेदन्धं कैकेयी कुलपांसनी ॥ २२ ॥

‘जिसने राज्य-कैधवक लिये अपने पुत्र और पतिको
त्याग दिया वह कुलकर्त्ताहूनी कैकेयी दूसरे किसका
न्याय नहीं करेंगी ? ॥ २२ ॥

कैकेय्या न वयं राज्ये भूतका हि वसेमहि ।

जीवन्या जानु जीवन्त्यः पुत्रैरपि शपामहे ॥ २३ ॥

‘हम अपने पुत्रोंको शपथ खाकर कहती हैं कि जबतक
कैकेयी जीवित रहेंगी, तबतक हम जीते-जी कभी हमके
राज्यमें नहीं रह सकेंगी, घने हो यहाँ हमारा पालन-पोषण
होना रहे (फिर भी हम यहाँ रहना नहीं चाहेंगे) ॥ २३ ॥

या पुत्रं पार्थिवेन्द्रस्य प्रवासयति निर्घृणा ।

कस्तां प्राप्य सुखं जीवेदधर्म्या दुष्टचारिणीम् ॥ २४ ॥

जिस निर्दय स्वभाववाली नारीने महाराजके पुत्रको
राज्यमें आकर निकलवा दिया है, उस अधर्मपरायणा
दुष्टचारिणी कैकेयीके अधिकाग्र रहकर कौन सुखपूर्वक
जीवन व्यतीत कर सकता है ? ॥ २४ ॥

उपहृतमिदं सर्वमनालक्ष्यमनायकम् ।

कैकेय्यास्तु कृते सर्वं विनाशमुपधास्यति ॥ २५ ॥

कैकेयीके कारण यह सारा राज्य अनाध एवं यज्ञरहित
होकर उपद्रवक केन्द्र बन गया है, अतः एक दिन सबका
विनाश हो जायगा ॥ २५ ॥

नहि प्रव्रजिने रामे जीविष्यति महीपतिः ।

पुने दशम्ये व्यक्तं विलोपस्तदनन्तरम् ॥ २६ ॥

उस नगरीको देखकर उनका हृदय दुःखसे व्याकुल हो
उठा। वे अपने शोकपीड़ित नेत्रोंद्वारा आँसुओंकी वर्षा
करने लगे ॥ १६ ॥

एषा रामेण नगरो रहिता नानिशोधने ।

आपगा गरुडेनेव हुदादुदधुतपत्रगा ॥ १७ ॥

(वे बोले—) 'जिसके गहरे कुण्डसे वहाँका नाग
गरुड़के द्वारा निकाल लिया गया हो वह नदी जैसे शोधनीय
हो जाती है, उसी प्रकार श्रीरामसे रहित हुई यह
अयोध्यानगरी अब अधिक शोभा नहीं पाती है' ॥ १७ ॥

चन्द्रहीनमिवाकाशं तामहीनमिवाणवम् ।

अपश्यन् निहतानन्दं नगरं ते विचेतसः ॥ १८ ॥

इत्यर्थे श्रीमद्वामाचणे आदिवाक्येऽयोध्याकाण्डे सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यगमायण आदिकाव्यक अयोध्याकाण्डमें सैतान्तोमर्वा सर्ग पूरा हुआ ॥ ४७ ॥

अष्टचत्वारिंशः सर्गः

नगरनिवासिनी स्त्रियोंका विलाप करना

तेषामेवं विषण्णानां पीडितामामतीत्य च ।

आप्यविप्लवनेत्राणां सशोकानां मुपूर्यया ॥ १ ॥

अभिगम्य निवृत्तानीं रामं नगरवासिनाम् ।

वदन्तानीव सत्त्वानि बभूवुरमनस्विनाम् ॥ २ ॥

इस प्रकार जो विषादग्रस्त, अत्यन्त पीड़ित, शोकमग्न
तथा प्राण त्याग देनेकी इच्छासे युक्त हो नेत्रोंसे आँसु बहा रहे
थे, श्रीरामचन्द्रजीके साथ जाकर भी जो उन्हें लिये बिना लौट
आये थे और इसीलिये जिनका चित्त ठिकाने नहीं था, उन
नगरवासियोंकी ऐसी दशा हो रही थी मानो उनके प्राण
निकल गये हों ॥ १-२ ॥

स्वं स्वं निलयमागम्य पुत्रदारैः समावृताः ।

अश्रूणि मुमुक्षुः सर्वे आच्येण पिहितमनसाः ॥ ३ ॥

वे सब अपने-अपने घरमें आकर पत्नी और पुत्रोंमें
घिरे हुए आँसु बहाने लगे। उनके मुख अश्रुधारासे
आच्छादित थे ॥ ३ ॥

न चाहृष्यन् न वामोदन् वणिजो न प्रसारयन् ।

न आशोभन्त पण्यानि नापन्नन् गृहमंधिनः ॥ ४ ॥

उनके शरीरमें हर्षका कोई चिह्न नहीं दिखायी देता था
तथा मनमें भी आनन्दका अभाव हो था। वेद्योंने अपने
दुकान नहीं खोलीं। क्रय-विक्रयकी वस्तुएँ बाजारमें फैलायीं
जानेपर भी उनकी शोभा नहीं हुई (उनके व्यवसाय प्रवृत्ति
नहीं आये)। उस दिन गृहस्थोंक घरमें धूलें नहीं
जले—रसोई नहीं बनी ॥ ४ ॥

नष्टं दुष्टं नाभ्यनन्दन् विपुलं वा अनागमम् ।

पुत्रं प्रथमजं लब्ध्वा जननी नाप्यनन्दत ॥ ५ ॥

स्त्रियों हुई वस्तु मिल जानेपर भी किसीको प्रसन्नता नहीं

उन्होंने देखा, सारा नगर चन्द्रहीन आकाश और खलहीन
ममूदके समान आनन्दशून्य हो गया है। पुत्रोंकी यह दुरवस्था
देख वे अचेत-से हो गये ॥ १८ ॥

ते तानि वेश्मानि महाधनानि

दुःस्वेन दुःखोपहता विशन्तः ।

नैव प्रजग्मुः स्वजनं पां वा

निरीक्ष्यमाण्यः प्रविनष्टहर्षाः ॥ १९ ॥

उनके हृदयका सारा उल्लास नष्ट हो चुका था। वे
दुःखमें पीड़ित हो उन महान् वैभवसम्पन्न गृहोंमें बड़े क्लेशके
साथ प्रविष्ट हो मरुका देवता हुए भी अपने और परायेकी
पहचान न कर सके ॥ १९ ॥

हुई विपुल धन-राशि प्राप्त हो जानेपर भी किसीने उसका
अभिमानन नहीं किया। जिसने प्रथम बार पुत्रको जन्म दिया
था, वह माता भी अनन्दिता नहीं हुई ॥ ५ ॥

गृहे गृहे रुदत्यश्च धनारं गृहमागतम् ।

व्यगर्हयन्त दुःखार्ता वाग्धिस्तोत्रैरिव द्विषाम् ॥ ६ ॥

प्रत्येक घरका स्त्रियाँ अपने पतियोंको श्रीरामके बिना ही
लौटकर आये देख रहे पड़ीं और दुःखसे व्यातुर हो कठोर
वचनोंद्वारा उन्हें कोसने लगीं, मानो महाव्रत अङ्कुरोंसे
हार्थियोंको भार रहे हों ॥ ६ ॥

किं नु तेषां गृहैः कार्यं किं दारैः किं धनेन वा ।

पुत्रैर्वापि सुखैर्वापि ये न पश्यन्ति राघवम् ॥ ७ ॥

वे बान्त्रे—'जो लोग श्रीरामको नहीं देखते, उन्हें
घर-दार, स्त्री-पुत्र, धन-दौलत और सुख-भोगोंसे क्या
प्रयोजन है ? ॥ ७ ॥

एकः सत्पुण्यो लोके लक्ष्मणः सह सीतया ।

योऽनुगच्छति काकुत्स्थं रामं परिवरन् वने ॥ ८ ॥

'संसारमें एकमात्र लक्ष्मण ही सत्पुरुष हैं, जो सीताके
साथ श्रीरामको सेवा करनेके लिये उनके पीछे-पीछे
वने में जा रहे हैं ॥ ८ ॥

आपगाः कृतपुण्यास्ताः पशिन्यश्च सरांसि च ।

येषु याम्यानि काकुत्स्थो विगाह्य सलिलं शुचि ॥ ९ ॥

'उन नदियों, कमलमण्डित चार्वाङ्गियों तथा सरोवरोंमें
अवश्य ही बहुत पुण्य किया होगा, जिनके पवित्र जलमें
स्नान करके श्रीरामचन्द्रजी आये जायेंगे ॥ ९ ॥

शोभयिष्यन्ति काकुत्स्थमटव्यो रम्यकाननाः ।

आपगाश्च महानूपाः सानुमन्तश्च चर्वताः ॥ १० ॥

जिनमें रमणाय वृक्षावलियाँ शोभा पाती हैं, वे सुन्दर वनश्रेणियाँ, बड़े कछारवाली नदियाँ और शिखरोंमें सम्पन्न पर्वत श्रीरामकी शोभा बढ़ावेंगे ॥ १० ॥

काननं चापि शैलं वा यं रामोऽनुगमिष्यति ।

प्रियातिथिमिव प्राप्तं नैनं शक्यन्त्यनर्चितुम् ॥ ११ ॥

‘श्रीराम जिस वन अथवा पर्वतपर जायेंगे, वहाँ उन्हें अपने प्रिय आतिथिकों की भाँति आया हुआ देखें वे वन और पर्वत उनकी पूजा किये बिना नहीं रह सकेंगे ॥ ११ ॥

विचित्रकुसुमापीडा बहुमञ्जरिधारिणः ।

राघवं दर्शयिष्यन्ति नगा ध्रुवशालिनः ॥ १२ ॥

‘विचित्र फूलोंके मुकुट पहने और बहुत-सी मञ्जरियाँ धारण किये ध्रुवशाली वृक्ष वनमें श्रीरामचन्द्रजीको अपनी शोभा दिखायेंगे ॥ १२ ॥

अकाले चापि पुष्पानि पुष्पाणि च फलानि च ।

दर्शयिष्यन्त्यनुक्रोशाद् गिरयो राममागतम् ॥ १३ ॥

‘वहाँके पर्वत अपने यहाँ पधारें हुए श्रीरामको अत्यन्त आनन्दके कारण असमयमें भी उन्म-उन्म फूल और फल दिखायेंगे (पेट करेंगे) ॥ १३ ॥

प्रस्रविष्यन्ति तोयानि विमलानि महीधराः ।

विदर्शयन्तो विविधान् भूयश्चित्रांश्च निर्झरान् ॥ १४ ॥

‘वे पर्वत चारोंपार नामा प्रकारके विचित्र झरने दिखाने हुए श्रीरामके लिये निर्मल जलके झोंक बढ़ावेंगे ॥ १४ ॥

पादपाः पर्वताग्रेषु रमयिष्यन्ति राघवम् ।

यत्र राघो भयं नात्र नान्ति तत्र पराभवः ॥ १५ ॥

स हि शूरो महाबाहुः पुत्रो दशरथस्य च ।

पुरा भवति नोऽद्गदनुगच्छाम राघवम् ॥ १६ ॥

‘पर्वत-शिखरोंपर लहलहाते हुए वृक्ष श्रीरघुनाथजीका मनोरंजन करेंगे । जहाँ श्रीराम हैं वहाँ न तो कोई भय है और न किसीके द्वारा पराभव ही हो सकता है; क्योंकि दशरथचन्द्रन महाबाहु श्रीराम बड़े शूरवीर हैं । अतः जबतक वे हमयोग्यमें बहुत दूर नहा निकल जाते उसके पतले ही हमें डरक पथ पहुँचकर पीछे लग जाना चाहिये ॥ १५-१६ ॥

पादच्छाया सुखं भर्तुस्तादृशस्य महात्मनः ।

स हि नाथो जनस्यास्य स गतिः स परायणम् ॥ १७ ॥

‘उत्कृष्ट-जैसे महात्मा एवं स्वामीके चरणोंकी छाया ही हमारे लिये परम सुखद है । वे ही हमारे रक्षक, भक्ति और परम आश्रय हैं ॥ १७ ॥

वयं परिचरिष्यामः सीतां यूयं च राघवम् ।

इति पौरस्त्रियोऽर्चतुन् दुःखार्तास्तत्तद्व्रुवन् ॥ १८ ॥

‘हम स्त्रियाँ सीताजीकी सेवा करेंगी और तुम सब लोग श्रीरघुनाथजीकी सेवामें लगें रहना ।’ इस प्रकार पुरवासियोंकी स्त्रियाँ दुःखमें आतुर हो अपने पतियोंमें उपर्युक्त बात कहने लगीं ॥ १८ ॥

युष्माकं राघवोऽरण्ये योगक्षेमं विधास्यति ।

सीता नारीजनभ्यास्य योगक्षेमं करिष्यति ॥ १९ ॥

(वे पुनः बोले—) ‘वनमें श्रीरामचन्द्रजी आपलोगोंका योगक्षेम निरूप करेगा और सीताजी हम नारियोंके योगक्षेमका निर्वह करेंगी ॥ १९ ॥

को ज्वनेनाप्रतीतन सोत्कण्ठितजनेन च ।

सम्प्रायेतामनोज्ञेन वासेन हतचेतसा ॥ २० ॥

‘यहाँकर निवास प्राँति और प्रतीतिमें रहित है । यहाँके सब लोग श्रीरामक लिये उत्कण्ठित रहते हैं । किसीको यहाँका राज्य अच्छा नहीं लगता तथा यहाँ रहनेमें मन अपनी सुध-बुध सों बैठता है । भला, ऐसे निवासमें किसको प्रसन्नता होगी ? ॥ २० ॥

कैकेय्या यदि चेद् राज्यं स्यादधर्म्यमनाथवत् ।

न हि नो जीवितेनार्थः कुतः पुत्रैः कुतो धनैः ॥ २१ ॥

‘यदि इस राज्यपर कैकेयीका अधिकार हो गया तो यह अनाथ-सा हो जायगा । इसमें धर्मको मर्यादा नहीं रहने पायेगी । ऐसे राज्यमें तो हमें जीवित रहनेकी ही आवश्यकता नहीं जान पड़ती, फिर यहाँ धन और पुत्रोंसे क्या लेना है ? ॥ २१ ॥

यथा पुत्रश्च भर्ता च त्यक्तावधर्म्यकारणात् ।

कं सा परिहोदन्वं कैकेयी कुलपासनी ॥ २२ ॥

‘जिसने राज्य-वैभवके लिये अपने पुत्र और पतिको त्याग दिया वह कुलकर्त्तृनी कैकेयी दूसरे किसका त्याग नहीं करेगी ? ॥ २२ ॥

कैकेय्या न वयं राज्ये भूतका हि वसेमहि ।

जीवन्या जानु जीवन्त्यः पुत्ररपि शपामहे ॥ २३ ॥

‘हम अपने पुत्रोंकी उत्पत्ति खाकर कहती हैं कि जबतक कैकेयी जीवित रहगी तबतक हम जीते जी कभी उसके राज्यमें नहीं रह सकेंगी, भले ही यहाँ हमारा धाम्न-पोषण होता रहे (फिर भी हम यहाँ रहना नहीं चाहेंगे) ॥ २३ ॥

या पुत्रे पार्थिवेन्द्रस्य प्रवासयति निर्धृणा ।

कर्मां प्राप्यं सुखं जीवेदधर्म्या दुष्टचारिणीम् ॥ २४ ॥

‘जिस निर्दय स्वभाववाली नारीने महाराजके पुत्रको राज्यमें बाहर निकाल दिया है उस अधर्मपरायणा दुष्टचारिणी कैकेयीके अधिकारमें रहकर कौन सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकता है ? ॥ २४ ॥

उपद्रुतमिदं सर्वमनालम्भमनायकम् ।

कैकेय्यास्तु कृते सर्वं विनाशमुपयास्यति ॥ २५ ॥

‘कैकेयीके कारण यह सारा राज्य अनाथ एवं यत्नरहित होकर उपद्रवका केन्द्र बन गया है, अतः एक दिन सबका विनाश हो जायगा ॥ २५ ॥

नहि प्रव्रजिते रामे जीविष्यति महीपतिः ।

मृते दशरथे व्यक्तं विलोपस्तदनन्तरम् ॥ २६ ॥

‘श्रीरामचन्द्रजोंक बनवासी हो जानेपर महाराज दशरथ जोषित नहीं रहेंगे। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि राजा दशरथको मृत्युके पश्चात् इस राज्यका स्तोत्र हो जायगा ॥ २६ ॥

ते विषं पिबन्तस्त्रोद्ध्व क्षीणपुण्याः सुदुःखिताः ।

राघवं धानुगच्छध्वमश्रुतिं चापि गच्छन्त ॥ २७ ॥

‘इसलिये अब तुमलोग यह समझ लो कि अब हमारे पुण्य समाप्त हो गये। यहाँ रहकर हमें अन्यन्त दुःख ही भोगना पड़ेगा। ऐसी दशा में मैं तो जहर पीकर पी जाओ या श्रीरामका अनुसरण करो अथवा किसी ऐसे देशमें चले चलो, जहाँ कर्त्तव्योंका नाम भी न सुनायी पड़े ॥ २७ ॥

मिथ्याप्रव्राजितो रामः सभार्यः सहलक्ष्मणः ।

भरते संनिवद्धाः स्मः सौनिके पशवो यथा ॥ २८ ॥

झूठे धरती कह्यना करके पत्नी और लक्ष्मणके साथ श्रीरामको देशनिकाला दे दिया गया और हमें मरमक साथ बाँध दिया गया। अब हमारी दशा कसाईके घर बँधे हुए पशुओंके समान हो गयी है ॥ २८ ॥

पूर्णचन्द्राननः श्यामो गूढजन्तुरिदमः ।

आजानुबाहुः पराक्षो रामो लक्ष्मणपूर्वजः ॥ २९ ॥

पूर्वाभिभाषी मधुरः सत्यवादी महाबलः ।

सौम्यश्च सर्वलोकस्य चन्द्रवत् प्रियदर्शनः ॥ ३० ॥

‘लक्ष्मणके प्यह्र भ्राता श्रीरामका मुख पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर है। उनके शरीरको कान्ति श्याम, गलेऔं हँसली मांससे ढकी हुई, भुजाएँ धुतनेनक लंबी और नेत्र कमलके समान सुन्दर हैं। वे सामने आनेपर पहले ही बातचीत छेड़ते हैं तथा मोठे और सत्य वचन बोलते हैं। श्रीराम शत्रुओंका दमन करनेवाले और महान् बलवान् हैं। समस्त जगत्के लिये सौम्य (कोमल स्वभाववाले) हैं। उनकी दृशन चन्द्रमाके समान प्यारे हैं ॥ २९-३० ॥

नूनं पुरुषशार्दूलो मत्तमातङ्गविक्रमः ।

शोभयिष्यत्यरण्यानि विचरन् स महारथः ॥ ३१ ॥

‘निश्चय ही मत्तवाले गजराजके समान पराक्रमी पुरुषसह महारथी श्रीराम भुनलग विचरते हुए वनस्थानोंको शोभा दिलायेंगे ॥ ३१ ॥

तास्तथा विलपन्त्यस्तु नगरे नागरस्त्रियः ।

शुकुशुर्दुःखसंतप्ता मृत्योरिव भयागमे ॥ ३२ ॥

नगरमें नागरिकोंकी स्त्रियाँ इस प्रकार विलाप करती हुई दुःखसे संतप्त हो इस तरह जोर जोरसे रोने लगीं मानो उनपर मृत्युका भय आ गया हो ॥ ३२ ॥

इत्येवं विलपन्तीनां स्त्रीणां वेदमसु राघवम् ।

जगामास्ते दिनकरो रजनीं चाभ्यसर्जत ॥ ३३ ॥

अपने-अपने घरेमें श्रीरामके लिये स्त्रियाँ इस प्रकार दिनभर विलाप करती रहीं, धीरे-धीरे सूर्यदेव अस्ताचलको चले गये और रात हो गयी ॥ ३३ ॥

नष्टज्वलनसंतापः प्रशान्ताध्यायसत्कथा ।

निमिरेणानुलिप्तेषु तदा सा नगरी बभौ ॥ ३४ ॥

उस समय किसीके घरमें अग्निहोत्रके लिये भी आग नहीं जल्ले। स्वाध्याय और कथावार्ता भी नहीं हुई। सारी अयोध्यापुरी अन्धकारसे पुली हुई-सी प्रतीत होती थी ॥ ३४ ॥

उपशान्तवणिकपण्या नष्टहर्षा निराश्रया ।

अयोध्या नगरी चासीप्रहृतारभिवाम्बरम् ॥ ३५ ॥

वनियोंको दुकानें बंद होनेके कारण वहाँ चहल-पहल नहीं था। सारी पुंगोंकी हैमी खुशी छिन गयी थी, श्रीरामरूपी आश्रयस रहित अयोध्यानगरी जिनके लगे छिप गये हैं उस आकाशके समान श्रीहीन जान पड़ती थी ॥ ३५ ॥

तदा स्त्रियो रामनिर्मितमातुरा

यथा सुते भ्रातरि वा विवासिते ।

विलप्य दीना रुरुर्दुर्विद्येतसः

सुतेर्हितासामधिकोऽपि सोऽप्यवत् ॥ ३६ ॥

उस समय नगरवासिनी स्त्रियाँ श्रीरामके लिये इस तरह शोकानुर हो रही थीं, मानो उनके सगे बेटे या भाईको देशनिकाल दे दिया गया हो। वे अत्यन्त दीनभावसे विलप्य करके रोने लगीं और रोते-रोते अचेत हो गयीं, क्योंकि श्रीराम उनके लिये पुत्रों (तथा भाइयों) से भी बढ़कर थे ॥ ३६ ॥

प्रशान्तगीतांतसवनृत्यवादना

विभ्रष्टहर्षा पिहितापणोदया ।

तदा ह्ययोध्या नगरी बभूव सा

महार्णवः संक्षपितोदको यथा ॥ ३७ ॥

वहाँ गाने, बजाने और नाचनेके उत्सव बंद हो गये, मयका उन्साह जाता रहा, बाजारकी दुकानें नहीं खुलीं, इन सब कारणोंसे उस समय अयोध्यानगरी जलहीन समुद्रके समान सुनसान लग रही थी ॥ ३७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टचत्वारिंशः सर्गः । ४८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें अड़तालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४८ ॥



एकोनपञ्चाशः सर्गः

ग्रामवासियोंकी बातें सुनते हुए श्रीरामका कोसल जनपदको लौघने हुए आगे जाना और वेदश्रुति, गोमती एवं स्यन्दिका नदियोंको पार करके सुमन्त्रसे कुछ कहना

राघोऽपि रात्रिशेषेण तेनैव महत्करम् ।

जगाम पुरुषव्याघ्रः पितुराज्ञामनुस्मरन् ॥ १ ॥

उधर पुरुषसिंह श्रीराम भी पिताको आज्ञाकर बारबार स्मरण करते हुए उभे शीघ्र रात्रिमें ही बहुत दूर निकल गये ।

तथैव गच्छतस्तस्य व्यपायाद् रजनी शिवा ।

उपास्य तु शिवो संघ्यां शिवयानत्यगाहत ॥ २ ॥

उसी तरह चलते-चलते उनको वह कल्याणमयी रजनी भी व्यतीत हो गयी । सबेर होनेपर महत्कर्मयी मध्योपामना करके वे विभिन्न जनपदोंको लौघते हुए चल दिये ॥ २ ॥

ग्रामान् विकृष्टसीमान्तान् पुष्पितानि वनानि च ।

पश्यन्नतिययौ शीघ्रं शनैरिव हयोत्तमैः ॥ ३ ॥

जिनकी सीमाके पासकी भूमि ओत दी गयी थी, उन ग्रामों तथा फूलोंसे सुशोभित वनोंको देखते हुए वे उन उत्तम घोड़ोंद्वारा शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़े जा रहे थे तथापि सुन्दर दृश्योंके देखनेमें तन्मय रहनेके कारण उन्हें उम रथकी गति घोमी-सी ही जान पड़ती थी ॥ ३ ॥

शृण्वन् वाचो मनुष्याणां ग्रामसंवासवासिनाम् ।

राजानं धिग् दशार्थं कामस्य वशमास्थितम् ॥ ४ ॥

मार्गमें जो बड़े और छोटे गाँव मिलते थे, उनमें निवास करनेवाले मनुष्योंकी निम्नाङ्गित बातें उनके कानोंमें पड़ रही थीं—'अहो ! कामके वशमें पड़े हुए राजा दशरथको धिक्कार है । ॥ ४ ॥

हा नृशंसाद्य कैकेयी पापा पापानुबन्धिनी ।

तीक्ष्णा सम्प्रिश्रमर्यादा तीक्ष्णकर्षणि वर्तते ॥ ५ ॥

'हाय ! हाय ! पापशोला, पापसक्त, क्रूर तथा धर्ममर्यादाका त्याग करनेवाली कैकेयीको तो दया छू भी नहीं गयी है, वह क्रूर अब निष्ठुर कर्ममें ही लगी रहती है ॥ ५ ॥

या पुत्रमीदृशं राज्ञः प्रवासयति धर्मिकम् ।

वनवासे महाप्राज्ञं सानुकोशं जितेन्द्रियम् ॥ ६ ॥

'जिसने महाराजके ऐसे धर्मात्मा, महाज्ञानी, दयालु और जितेन्द्रिय पुत्रको वनवासके लिये घरमें निकालवा दिया है ॥ ६ ॥

कथं नाम महाभागा सीता जनकनन्दिनी ।

सदा सुखेषुभिरता दुःखान्यनुभविष्यति ॥ ७ ॥

'जनकनन्दिनी महाभागा सीता, जो सदा सुखोंमें ही रह रही थीं, अब वनवासके दुःख कैसे भोग सकेंगी ? ॥ ७ ॥

अहो दशरथो राजा निःसंहः स्वमुतं प्रति ।

प्रजानाममघं रामं परित्यक्तुमिहच्छति ॥ ८ ॥

'अहो ! क्या राजा दशरथ अपने पुत्रके प्रति इतने स्नेहमग्न हो गये, जो प्रजाओंके प्रति कोई अपराध न करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीका यहाँ परित्याग कर देना चाहते हैं' ॥ ८ ॥

एता वाचो मनुष्याणां ग्रामसंवासवासिनाम् ।

शृण्वन्नतिययौ वीरः कोसलान् कोसलेन्दुरः ॥ ९ ॥

छोटे-बड़े गाँवोंमें रहनेवाले मनुष्योंको ये बातें सुनते हुए, वीर कोसलरूपित श्रीराम कोसल जनपदकी सीमा लौघकर आगे बढ़ गये ॥ ९ ॥

ततो वेदश्रुतिं नाम शिखवारिवह्नां नदीम् ।

ज्जीर्याभिमुखं प्राधादगस्त्याध्युषितां दिशम् ॥ १० ॥

तदनन्तर शीतल एवं सुखद जल अहानेवासी वेदश्रुति नामक नदीको पार करके श्रीरामचन्द्रजी अगस्त्यसेवित दक्षिणदिशक ओर बढ़ गये ॥ १० ॥

गत्वा तु सुचिरं कालं ततः शीतवहां नदीम् ।

गोमतीं गोयुतानूपामतरत् सागरद्वयाम् ॥ ११ ॥

दीर्घकालतक चलकर उन्होंने समुद्रगापिनी गोमती नदीको पार किया, जो शीतल जलकर स्रोत बहाती थी उसके कछारमें बहुत-सी गोएँ बिचरती थीं ॥ ११ ॥

गोमतीं चाप्यतिक्रम्य राघवः शीघ्रगैर्हयैः ।

मयूरहंसाभिस्तौ ततार स्यन्दिकां नदीम् ॥ १२ ॥

शाग्रगायी घोड़ोंद्वारा गोमती नदीको लौघ करके श्रीगुनाधर्जने मोंरी और हंसाके कलरवाँसे व्याप्त स्यन्दिका नामक नदीको भी पार किया ॥ १२ ॥

स महीं मनुना राज्ञा दत्तामिक्ष्वाकवे पुरा ।

स्फीतां राष्ट्रवृतां रामो वेदहीमन्वदर्शयत् ॥ १३ ॥

वहाँ जाकर श्रीरामने घन-घन्यामें सम्पन्न और अनेक अग्रन्तर जनपदोंमें विग हुई भूमिका सीताका दर्शन कराया जिसे पृथक्कालमें राजा मयून इक्ष्वाकुको दिया था ॥ १३ ॥

सुत इत्येव साभाष्य सारथिं तमभोक्ष्णशः ।

हंसमत्तस्वरः श्रीयानुवाच पुरुषोत्तमः ॥ १४ ॥

फिर श्रीराम पुरुषोत्तम श्रीरामने 'सुत !' कहकर सारथिकों के कारण सन्बोधित किया और मदमत्त हंसके समान मधुर स्वरमें इस प्रकार कहा— ॥ १४ ॥

कदाहं पुनरागम्य सरय्याः पुष्पिते वने ।

मृगायां पर्यटिष्यामि यात्रां पित्रा च संगतः ॥ १५ ॥

'सुत ! मैं कब पुनः लौटकर माता-पितासे मिलूँगा और सरयूके पशुवन्ती पुष्पित वनमें मृगाओंके लिये भ्रमण करूँगा ? ॥ १५ ॥

नात्यर्थमभिकाङ्क्षामि मृगयां सम्युत्तरे ।
रतिहोषातुला लोके राजर्षिगणसम्पत्ता ॥ १६ ॥
'मैं सरयूके बनमें शिकार खोलनेकी बहुत अधिक
अभिलाषा नहीं रखता । यह लोकमें एक प्रकारकी अनुपम
क्रोड़ा है, जो राजर्षियोंके समुदायको अभिमत है ॥ १६ ॥
राजर्षीणां हि लोकेऽस्मिन् रत्यर्थं मृगया वने ।
काले कृतां तां मनुजैर्धन्यनामभिकाङ्क्षिताम् ॥ १७ ॥
'इस लोकमें वनमें जाकर शिकार खोलना राजर्षियोंकी

क्रोड़ाके लिये प्रचलित हुआ था । मनः मनुष्योंद्वारा
उस समय की गयी यह क्रोड़ा अन्य धनुर्धरोंको भी
अर्भाह हुई ॥ १७ ॥
स तमध्वानमैक्ष्वाकः सूरतं मधुरया गिरा ।
तं तमर्थमभिप्रेत्य ययौ चाक्यमुदीरयन् ॥ १८ ॥
इक्ष्वाकुनन्दन श्रीगमचन्द्रजी सिधिस विषयोंको लेकर
मूनमें मधुर वागीमें व्रपयुक्त धाने करने हुए उस मार्गपर
चढ़ते चले गये ॥ १८ ॥

इत्यार्यं श्रीमद्रामायणे ब्रह्मसंहितायां आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकोनपञ्चाशः सर्गः ॥ ४९ ॥

इस प्रकार श्रीबाल्मीकिनिर्मित आर्यभट्टाचार्य आदिकाव्य अयोध्याकाण्डमें उनचासवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४९ ॥

पञ्चाशः सर्गः

श्रीरामका मार्गमें अयोध्यापुरीमें वनवासकी आज्ञा माँगना और भृङ्गवेरपुरमें गङ्गातटपर पहुँचकर
रात्रिमें निवास करना, वहाँ निषादराज गृहद्वारा उनका सत्कार

विशालान् कोसलान् रम्यान् यात्वा लक्ष्मणपूर्वजः ।
अयोध्यामुन्मुखो धीमान् प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ॥
इम प्रकार विशाल और रमणीय कोसलदेशको समाको
पार करके लक्ष्मणके बड़े भाई बुद्धिमान् श्रीगमचन्द्रजीने
अयोध्याको ओर अपना मुख किया और हाथ जोड़कर
कहा — ॥ १ ॥
आपृच्छे त्वां पुरिश्रेष्ठे काकुत्स्थपत्न्यालिते ।
दैवतानि च यानि त्वां पालयन्त्यावसन्ति च ॥ २ ॥
'काकुत्स्थवंशों राजाआसे परिपालित पुरोहितोंमणि
अयोध्या । मैं तुमसे तथा जो-जो देवता तुम्हारी रक्ष करके
और तुम्हारे भीतर निवास करते हैं, उनमें भी वनमें जानकों
आज्ञा चाहता हूँ ॥ २ ॥

निवृत्तवनवासस्त्वामनुणो जगतीपतेः ।
युनर्द्रक्ष्यामि माश्रयं पित्रा च सह संगतः ॥ ३ ॥
'वनवासको अर्वाध पूरी करके महाराजके ऋणमें ठरुण
हो मैं पुनः लौटकर तुम्हारा दर्शन करूँगा और अपने
माता-पितासे भी मिलूँगा ॥ ३ ॥
ततो रुचिरताम्राक्षो भुजमुद्यम्य दक्षिणाम् ।
अश्रुपूर्णमुखो द्यौनोऽब्रवीज्जनपदं जनम् ॥ ४ ॥
इसके बाद सुन्दर एवं अरुण नेत्रवाले श्रीरामने दहिनी
भुजा उठाकर नमस्ते अंगु चराने हुए दु रा हाकर जनपदके
लोगोंसे कहा — ॥ ४ ॥

अनुक्रोशो दया रीतिर्यथाहं मयि च कृतः ।
धिरं दुःखस्य पापीयो गम्यतामर्थसिद्धये ॥ ५ ॥
'आपने मुझपर बड़ी कृपा की और यथाचित दया
दिखायी । मेरे लिये आपलोगोंने बहुत देरतक कष्ट सहन
किया । इस तरह आपका देरतक दुःखमें पड़े रहना अच्छा
नहीं है, इसलिये अब आपलोग अपना अपना कर्म

करनेके लिये जाइये ॥ ५ ॥
तेऽभिवाद्य महात्मानं कृत्वा चापि प्रदक्षिणाम् ।
विलपन्तो नरा घोरं व्यतिष्ठुश्च क्वचित् क्वचित् ॥ ६ ॥
यह सुनकर उन मनुष्योंने महात्मा श्रीरामको प्रणाम करके
उनको परिक्रमा की और घोर विलाप करते हुए वे जहाँ-तहाँ
खंडे हो गये ॥ ६ ॥
तथा विलपतां तेकामनुमानां च शयवः ।
अचश्चुर्विषयं प्रायाद् यथाकं क्षणदामुखे ॥ ७ ॥
उनकी आँखें अभी श्रीरामके दर्शनसे तृप्त नहीं हुई थीं
और वे पूर्वोक्त रूपसे विलाप कर ही रहे थे, इतनेमें
श्रीरामनाथजी उनको दृष्टिसे ओझल हो गये, जैसे सूर्य
प्रदोषकालमें छिप जाते हैं ॥ ७ ॥
ततो धान्यधनोपेतान् दानशीलजनाब्धिवान् ।
अकुतश्चिद्भयान् रम्यांश्चैत्ययूपसमावृतान् ॥ ८ ॥
उद्यानाप्रवणोपेतान् सम्पन्नसलिलाशयान् ।
तुष्टपुष्टजनार्कीणान् गोकुलाकुलसेवितान् ॥ ९ ॥
रक्षणीयान् नरेन्द्राणां ब्रह्मघोषाभिनादितान् ।
रथेन पुरुषव्याघ्रः कोसलानत्यवर्तत ॥ १० ॥
इसके बाद पुरुषोत्तम श्रीराम रथके द्वारा ही उस कोसल
जनपदको लौट गये जो धन धान्यसे मग्न और युज्ययुक्त
था । वहाँके सब लोग दानशील थे । उस जनपदमें झण्डोंसे कोई
भय नहीं था । वहाँके भूभाग रमणीय एवं चैत्य-वृक्षों तथा
यज्ञसम्बन्धी यूपोंसे व्याप्त थे बहुत से उद्यान और आमोंके
वन उस जनपदको शोभा देते थे । वहाँ जलसे भरे हुए
बहुत से जलाशय सुशोभित थे । सारा जनपद हृष्ट-पुष्ट
मनुष्योंसे घरा था; गाँवोंके समूहोंसे व्याप्त और सेवित था
वहाँके आमोंकी बहुत-से नरेश रक्षा करते थे तथा वहाँ
वेदमन्त्रोंकी ध्वनि गूँजती रहती थी ॥ ८—१० ॥

मध्येन भुदिते स्फीते रम्योद्यानसमाकुलम् ।

राज्यं भोज्यं नरेन्द्राणां ययौ धृतिमतां वरः ॥ ११ ॥

कोसलदेशसे आगे बढ़नेपर धैर्यवानांमं श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र-
जी मध्यमार्गसे ऐस राज्यमें होकर निकले, जो सुख-
सुविधासे युक्त, धन-धान्यसे सम्पन्न, रमणीय उद्यानोंमें व्याप्त
तथा सामन्त नरेशोंके उपभागमें आनवाला था ॥ ११ ॥

तत्र त्रिपथगां दिव्यां शीतलोद्यामशंवलां ।

ददर्श राघवो गङ्गां रम्यामधिनिषविताम् ॥ १२ ॥

उस राज्यमें श्रीरघुनाथजीने त्रिपथगामिनौ दिव्य नदी
गङ्गाका दर्शन किया, जो शीतल जलसे भरी हुई सखारोंसे सज्ज
तथा रमणीय थी । बहुत-से भर्तार्य उनका सेवन करते थे ॥

आश्रमैरविदूरस्थैः श्रीमद्विः समलंकृताम् ।

कालेऽप्यसरोभिर्हृष्टाभिः सेविताम्भोहुतां शिवाम् ॥ १३ ॥

उनके तटपर थोड़ी थोड़ी दुग्धा बहने में मुन्दर आश्रम
बने थे, जो उन देवन्दोंकी शोभा बढ़ाने थे । समय समयपर
हर्षभरी अप्सराएँ भी उतरकर उनके जलकुण्डिका सेवन करती
हैं । वे गङ्गा सखका कल्याण करनेवाली हैं ॥ १३ ॥

देवदानवगन्धर्वैः किन्नरैरुपशोभिताम् ।

भागगन्धर्वपक्षीभिः सेवितां सततं शिवाम् ॥ १४ ॥

देवता, दानव, गन्धर्व और किन्नर उन शिवस्वरूपा
भागीरथीकी शोभा बढ़ाते हैं । नागा और गन्धर्वाकी पक्षियाँ
उनके जलका सदा सेवन करती हैं ॥ १४ ॥

देवाक्रीडशताकीर्णा देवोद्यानयुता नदीम् ।

देवार्थमाकाशगतां विख्यातां देवपथिनीम् ॥ १५ ॥

गङ्गाके दोनों तटोंपर देवताओंके सैकड़ों पर्वतीय
क्रीडास्थल हैं । उनके किनारे देवताओंके बहुत-से उद्यान भी
हैं । वे देवताओंकी क्रीडाके लिये आकाशमें भी विद्यमान हैं
और वहाँ देवपथिनीके रूपमें विख्यात हैं ॥ १५ ॥

जलाघाताद्गहासोर्ध्वं फेननिर्मलहामिनीम् ।

कचिद् धेणीकृतजलां कचिदाखर्वशोभिताम् ॥ १६ ॥

प्रसरणस्थलोंमें गङ्गाके जलके टकरानेसे जो श्वेत होता है,
वही मानो उनका ठम अङ्गनाम है । जलमें जो फेन प्रकट
होता है, वही उन दिव्य नदीका निर्मल हाम है । कहीं तो
उनका जल धेणीके आकारका है और कहीं वे घोंघोंमें
सुशोभित होती हैं ॥ १६ ॥

कचिन् स्तिमितगम्भीरां कचिद् वेगसमाकुलाम् ।

कचिद् गम्भीरनिघोषां कचिद् धैरवनिःस्वनाम् ॥ १७ ॥

कहीं उनका जल निश्चल एवं गहरा है । कहीं वे मजान्
वेगसे व्याप्त हैं । कहीं उनके जलसे मृदङ्ग आदिके समान
गम्भीर घोष प्रकट होता है और कहीं वज्रपात आदिके समान
भयंकर नाद सुनायी पड़ता है ॥ १७ ॥

देवसंघाद्भूतजलां निर्मलैरुत्पलसंकुलाम् ।

कचिदाभोगपुलिनां कचिन्निर्मलबालुकाम् ॥ १८ ॥

उनके जलमें देवताओंके समुदाय गोते लगाते हैं ।
कहीं-कहीं उनका जल नील कमलों अथवा कुमुदोंमें
आच्छादिन होता है । कहीं विशाल पुलिनका दर्शन होता है
तो कहीं निर्मल बालुका-रशिका ॥ १८ ॥

हंससारससंघुष्टां चक्रवाकोपशोभिताम् ।

सदामर्तेश्च विहगैरधिपशोभनिन्दिताम् ॥ १९ ॥

हंसों और सारसोंके कलरव वहाँ गूँजते रहते हैं । चक्रवे
उन देवन्दोंकी शोभा बढ़ाने हैं । सदा मदमन रहनेवाले
विहगम उनका जलपर मैडराते रहते हैं वे उत्तम शोभासे
सम्पन्न हैं ॥ १९ ॥

कचिन् तीररुहैर्वक्ष्मालाभिरिव शोभिताम् ।

कचिन् फुल्लोत्पलच्छत्रां कचिन् पशवनाकुलाम् ॥ २० ॥

कहीं तटवर्ती वृक्ष मालाकार होकर उनकी शोभा बढ़ाते
हैं । कहीं तो उनका जल मिले हुए उत्पलोंमें आच्छादित है
और कहीं कमलबननेसे व्याप्त ॥ २० ॥

कचिन् कुमुदखण्डैश्च कुड्मलैरुपशोभिताम् ।

नानापुष्परजोध्वलां समदामिव च कचिन् ॥ २१ ॥

कहीं कुमुदमग्न तथा कहीं कालिकाएँ उन्हें सुशोभित
करती हैं । कहीं नाना प्रकारके पुष्पोंके, परागोंसे व्याप्त होकर
वे मदमन नारोंके समान प्रतीत होती हैं ॥ २१ ॥

व्यपेतमलसंधाती मणिनिर्मलदर्शनाम् ।

दिशागर्जवर्नगर्जमर्तेश्च वरवारणीः ॥ २२ ॥

देवराजोपवाहीश्च संनदितवनान्तराम् ।

वे मलममूह (पापराशि) दूर कर देती हैं । उनका जल
इतना स्वच्छ है कि मणिके समान निर्मल दिखायी देता है
उनके तटवर्ती खनक घोंघरी भाग मदमन दिग्गजों जंगली
हाथियाँ तथा देवराजोंके सखारोंमें आनवाले श्रेष्ठ गजराजोंसे
कोत्प्रहलपूर्ण बना रहता है ॥ २२ ॥

प्रमदामिव यत्नेन भूषितां भूषणोत्तमैः ॥ २३ ॥

फलपुष्पैः किसलयैर्वृतां गुल्मैर्द्विजैस्तथा ।

विष्णुपादच्युतां दिव्यामपापां पापनाशिनीम् ॥ २४ ॥

वे फलों फूलों चन्द्रवों गुल्मों तथा पक्षियोंसे आवृत
होकर उत्तम आभूषणोंमें यत्नपूर्वक विभूषित हुई युवतीके
समान शोभा पाती हैं । उनका प्राकट्य भगवान् विष्णुके
चरणोंमें हुआ है । उनमें पापका लेश भी नहीं है । वे दिव्य
नदी गङ्गा जीवोंके समस्त पापोंका नाश कर देनेवाली हैं ॥

शिंशुमारैश्च नकैश्च पुजंगैश्च समन्विताम् ।

शंकरस्य जटाजूटाद् भ्रष्टां सागरतेजसा ॥ २५ ॥

समुद्रमहिषीं गङ्गां सारसकौञ्चनादिताम् ।

आससाद् महाबाहुः शृङ्गवेरपुरं प्रति ॥ २६ ॥

उनके जलमें सैस, चाँड़ियाल और सर्प निवास करते हैं ।
सागरवंशी राजा भगोरथके तपोमय तेजसे जिनका शंकरजीके
जटाजूटसे अवतरण हुआ था, जो समुद्रकी रानी हैं तथा

जिनके निकट मारस और कौञ्च पक्षी कन्वरव करते रहते हैं
उन्ही देवगद्दी गङ्गाके पास मन्त्राङ्गु श्रीगमज्जो पहुँचे । गङ्गाका
वह धारा शृङ्गवेरपुरमे बह रहा थी ॥ २५-२६ ॥

तामूमिं कलिलवर्तामन्ववेक्ष्य महारथः ।
सुमन्त्रमब्रवीत् सूनमिहवाद्य वसामहे ॥ २७ ॥

जिनके आवर्त (थेंवर) लहरासे व्याप्त थे, उन गङ्गाजीका
दर्शन करके महारथी श्रीरामन सारथि सुमन्त्रस कहा—
'सुत ! आज हमलोग यहीं रहेंगे' ॥ २७ ॥

अविदूरादयं नद्या बहुपुष्पप्रवालवान् ।
सुमहानिङ्गदीवृक्षो वसाधोऽग्रव सागर्थे ॥ २८ ॥

सारथे ! गङ्गाजीक समीप ही जों यह बहुत-से फूलों
और नये नये पल्लवानों से सुशोभित महान् इङ्गदीका वृक्ष है
इसके सोचे आज रातमे हम निवास करेगे ॥ २८ ॥

प्रेक्षापि सरितां श्रेष्ठो सम्पान्यमलिलो जिवाम् ।
देवमानवगन्धर्वमृगपन्नगपक्षिणाम् ॥ २९ ॥

'जिनका जल देवताओं, मनुष्यों, गन्धर्वों, सर्पों, पशुओं
तथा पक्षियोंके लिये भी समादरणीय है, उन कल्याणस्वरूपा
सरिताओंमें श्रेष्ठ गङ्गाजीका भी मुझे यहाँसे दर्शन होता
रहेगा । २९ ।

लक्ष्मणश्च सुमन्त्रश्च खाहमित्येव राघवम् ।
उक्त्वा तमिङ्गदीवृक्षं तदोपययन्तुर्हयैः ॥ ३० ॥

तब लक्ष्मण और सुमन्त्र भी श्रीगमचन्द्रजीसे बहुत
अच्छा कहकर अर्धद्वारा उस इङ्गदी वृक्षके समीप गये ।
रामोऽभिधातुं तं रम्यं वृक्षमिक्ष्वाकुनन्दनः ।

रथादवतरत् तस्मा सभायः सहलक्ष्मणः ॥ ३१ ॥

उस रमणीय वृक्षके पास पहुँचकर इक्ष्वाकुनन्दन
श्रीगम अपनी पत्नी सीता और भाई लक्ष्मणके साथ रथमे
उतर गये ॥ ३१ ॥

सुमन्त्रोऽप्यवर्तायाथ मां चयित्वा हयानमान् ।
वृक्षमूलगतं राममुपतस्थे कृताञ्जलिः ॥ ३२ ॥

फिर सुमन्त्र भी उतरकर उसमे घोड़ोंका खाना दिया और
वृक्षको जड़या घेरे हुए श्रीगमचन्द्रजीके पास जाकर व रथ
जाड़कर खड़े हो गये ॥ ३२ ॥

तत्र राजा गुहो नाम राघवस्यान्यसमयः सखा ।
निषादजात्यो बलवान् स्थपतिश्चेति विश्रुतः ॥ ३३ ॥

शृङ्गवेरपुरमे गुहनामका राजा राज्य करता था । वह
श्रीरामचन्द्रजीका प्राणाक समान प्रिय मित्र था । उसका जन्म
निषादकुलमें हुआ था । वह शारीरिक शक्ति और सैनिक
शक्तिको दुष्टिसे भी बलवान् था तथा वहकि निषादोंका
मुख्यव्यक्त राजा था ॥ ३३ ॥

स श्रुत्वा पुरुषव्याघ्रे रामे विषयपागतम् ।
वृद्धैः पण्डितैः सार्वजनिकविश्रुतः ॥ ३४ ॥

उसने जब सुना कि पुरुषसिंह श्रीराम मेरे राज्यमें यहाँ

हैं, तब वह बड़े मन्त्रियों और बन्धु-बान्धवोंसे धिया
हुआ वहाँ आया ॥ ३४ ॥

ततो निषादाधिपति दृष्ट्वा दुरादुपस्थितम् ।
सह सौमित्रिणा रामः समागच्छद् गुहेन स ॥ ३५ ॥

निषादराजको दूरसे आया हुआ देख श्रीरामचन्द्रजी
लक्ष्मणक साथ आगे बढ़कर उसमें मिले ॥ ३५ ॥

तमार्तः सम्परिभृज्य गुहो राघवमब्रवीत् ।
यथायोध्या तथेदं ते राम किं करवाणि ते ॥ ३६ ॥

इंद्रजं हि महाबाहो कः प्राप्स्यत्यतिथिं प्रियम् ।
श्रीगमचन्द्रजीका बलकल आदि धारण किये देख गुहको

यहाँ दुःख हुआ । उसने श्रीगुहाराजको हृदयमें लगाकर
कहा—'श्रीराम ! आपके लिये जैसे अयोध्याका राज्य है
उसी प्रकार यह राज्य भी है । क्याइसे, मैं आपकी क्या
सेवा करूँ ? महाबाहो ! आप-जैसा प्रिय अतिथि किसको
सुलभ होगा ?' ॥ ३६ ॥

ततो गुणवदन्नाद्यमुपादाय पृथग्विधम् ॥ ३७ ॥
अर्घ्यं चापानयच्छीघ्रे वाक्यं चेदमुवाच ह ।

स्वागतं ते महाबाहो तवेयमखिला मही ॥ ३८ ॥
यद्यं प्रेष्या भवान् धर्ता साधु राज्यं प्रशस्य नः ।

भक्ष्यं भोज्यं च पेयं च लेह्यं चैतदुपस्थितम् ।
शयनानि च मुख्यानि वार्जिनां स्वादनं च ते ॥ ३९ ॥

फिर भनि-भर्तृवत् उनमे अन्न लेकर वह स्वामे
उपस्थित हुआ । उसने शीघ्र ही अर्घ्य निवेदन किया और इस
प्रकार कहा —'महाबाहो ! आपका स्वागत है । यह सारी
भूमि, जो मेरे अधिकारमें है, आपकी ही है । हम आपके
सेवक हैं और आप हमारे स्वामी, आजसे आप ही हमारे इस
राज्यका भलीभाँति शासन करें । यह भक्ष्य (अन्न आदि),
भोज्य (खाँग आदि), पेय (पानकरम आदि) तथा लेह्य
(चटनी आदि) आपकी सेवामें उपस्थित है, इसे स्वीकार
करें । ये इतमोन्नत शय्याएँ हैं तथा आपके थोड़िके खानेके
लिये खने और बाम आदि भी प्रस्तुत हैं—ये सब सामग्री
प्राप्त करें' ॥ ३७—३९ ॥

गुहमेवं ब्रुवाणं तु राघवः प्रत्युवाच ह ।
अर्चिताश्च हृष्टाश्च धवता सर्वदा वयम् ॥ ४० ॥

पद्भ्यामभिगमाद्यैव स्नेहसदर्शनेन च ।
गुहक ऐसा कहनेपर श्रीगमचन्द्रजीने उसे इस प्रकार उत्तर
दिया—'सन्ने ! तुम्हारे यहाँतक पैदल आने और स्नेह

दिखानेसे ही इधारा सदाक लिये भलीभाँति पूजन—
स्वागत-सत्कार हो गया । तुमसे मिलकर हमें बड़ी प्रसन्नता
हुई है' ॥ ४० ॥

भुजाभ्यां साधुवृत्ताभ्यां पीडयन् वाक्यमब्रवीत् ॥ ४१ ॥
द्विष्ट्या त्वां गुह पश्यामि हारोगं सह बान्धवैः ।

अपि ते कुशलं राष्ट्रे मित्रेषु च वनेषु च ॥ ४२ ॥

फिर श्रीरामने अपनी दोनों गोल-गोल भुजाओंसे गुहका अच्छी तरह आलिंगन करते हुए कहा—'गुह ! सीतामयका बात है कि मैं आज तुम्हें वन्धु बान्धवोंके साथ स्वस्थ एवं मगन देख रहा हूँ, वन्धो ! तुम्हारे राज्यमें मित्रोंके यहाँ तथा वनोंमें सर्वत्र कुशल तो है ? ॥ ४१-४२ ॥

यत् त्विदं भवता किञ्चित् प्रीत्या समुपकल्पितम् ।
सर्वं तदनुजानामि नहि वर्ते प्रतिमहे ॥ ४३ ॥

'तुमने प्रेमवश यह जो कुछ सामग्री प्रस्तुत की है इस स्वीकार करके मैं तुम्हें क्षीप्त ले जानेकी आज्ञा दता हूँ, क्योंकि इस समय दुश्मनोंकी ही हई कोई भी वस्तु मैं यहाँ नहीं करता—अपने उपयोगमें नहीं लाता ॥ ४३ ॥

कुशचीरजिनधरं फलमूलाशनं च घाम् ।
विद्धि प्रणिहितं धर्मं तापसं वनगोचरम् ॥ ४४ ॥

'बल्कल और मृगचर्म धारण करके फल-मूलका आहार करता हूँ और धर्ममें स्थित रहकर तापस्वशमें वनके भीतर ही बिचरता हूँ। इन दिनों तुम मुझे इसी नियममें स्थित जानो ॥ ४४ ॥

अश्वानां खादनेनाहमर्थो नान्येन केनचित् ।
एतावतात्र भवता भविष्यामि सुपूजितः ॥ ४५ ॥

'इन सामग्रियोंमें जो घोड़ोंके खाने-पीनेकी वस्तु है, उसीकी इस समय मुझे आवश्यकता है दूसरे किसी वस्तुको नहीं। घोड़ोंको खिला-पिला देनेमात्रसे तुम्हारे द्वारा मेरा पूर्ण सत्कार हो जायगा ॥ ४५ ॥

एते हि दयिता राज्ञः पितुर्दशरथस्य मे ।
एतैः सुविहितैरश्वैर्भविष्याम्यहमर्चितः ॥ ४६ ॥

'ये घोड़े मेरे पिता महाराज दशरथके बहुत प्रिय हैं। इनके खाने-पीनेका सुन्दर प्रबन्ध कर देनेमें मेरा धर्मोर्ध्वनि पूजन हो जायगा' ॥ ४६ ॥

इत्यार्ष श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चाशः सर्गः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें पञ्चमर्वा सर्ग पूरा हुआ ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशः सर्गः

निषादराज गुहके समक्ष लक्ष्मणका विलाप

तं जाग्रतपदभ्येन भ्रातुरर्थाय लक्ष्मणम् ।
गुहः संतापसंतप्तो राघवं क्षाक्यमग्रवीन् ॥ १ ॥

लक्ष्मणको अपने धाड़के लिये स्वाभाविक अनुगमन जागते देख निषादराज गुहको बड़ा संताप हुआ। उसने रघुकुलमन्दन लक्ष्मणसे कहा— ॥ १ ॥

इयं तात सुखा शय्या स्वदर्शमुपकल्पिता ।
प्रत्याश्वसिहि साध्वस्यां राजपुत्र यथामुखम् ॥ २ ॥

'तात ! राजकुमार ! तुम्हारे लिये यह आराम देनवाला शय्या तैयार है, इसपर भुवपूर्वक सोकर भलीभाँति

अश्वानां प्रतिपानं च खादनं चैव सोऽन्वशात् ।

गुहस्तत्रैव पुरुषास्त्वरितं दीयतामिति ॥ ४७ ॥

तब गुहने अपने संवकाको इसी समय यह आज्ञा दी कि तुम घोड़ोंके खाने-पीनेके लिये आवश्यक वस्तुएँ शीघ्र लाकर दो ।

ततश्चीरोत्तरासङ्गः संध्यामन्वास्य पश्चिमाम् ।
जलमेवाटटे भोज्यं लक्ष्मणोनाहते स्वयम् ॥ ४८ ॥

तत्पश्चात् बल्कलका उत्तरांश-वस्त्र धारण करनेवाले श्रीरामने सायंकालकी संध्योपासना करके भोजनके नामपर स्वयं लक्ष्मणका लाया हुआ केवल जलमात्र पी लिया ।

तस्य भूपो शयानस्य पादौ प्रक्षाल्य लक्ष्मणः ।
समार्चय्य ततोऽभ्येत्य तस्थौ वृक्षमुपाश्रितः ॥ ४९ ॥

फिर पदोंसहित श्रीराम भूमिपर ही तृणकी शय्या बिछाकर सोये। उस समय लक्ष्मण उनके दोनों चरणोंको धो-पोछकर वनोंमें कुछ दूरपर हट आये और एक वृक्षका महाश लेकर बैठ गये ॥ ४९ ॥

गुहोऽपि सह सुतेन सौमित्रिमनुभाषयन् ।
अन्वजाग्रत् ततो राममप्रपत्तो धनुर्धरः ॥ ५० ॥

गुह भी साथधानाके साथ धनुष धारण करके सुमन्त्रके साथ बैठकर नृमन्त्राकुमार लक्ष्मणसे बातचीत करता हुआ श्रीरामकी रक्षाके लिये रातभर जागता रहा ॥ ५० ॥

तथा शयानस्य ततो यशस्विनो
मनस्विनो दशरथेर्महात्मनः ।

अदृष्टदुःखस्य सुखोचितस्य सा
तदा व्यतीता सुचिरेण शर्वरी ॥ ५१ ॥

इस प्रकार सोये हुए यशस्वी मनस्वी दशरथमन्दन महात्मा श्रीरामको जिनहोन कभी दुःख नहीं देखा था तथा जो सुख योगनेके ही योग्य थे, वह रात उस समय (नींद न आनेके कारण) बहुत देरके बाद व्यतीत हुई ॥ ५१ ॥

विश्राम कर लो ॥ २ ॥
उचिनोऽयं जनः सर्वः क्लेशानां त्वं सुखोचितः ।

गुप्त्यर्थं जागरिष्यामः काकुत्स्थस्य वयं निशाम् ॥ ३ ॥

'यह (मैं) सेवक तथा इसके साथके सब लोग वनवासी होनेके कारण सब प्रकारके क्लेश सहन करनेके योग्य हैं (क्योंकि हम सबको कष्ट सहनेका अभ्यास है), परंतु तुम मुखमें ही पले हो, अतः इसीके योग्य हो (इसलिये सो जाओ)। हम सब लोग श्रीरामचन्द्रजीकी रक्षाके लिये गतधर जागते रहेंगे ॥ ३ ॥

नहि रामात् प्रियतमो मयास्ते भुवि कश्चन ।

ब्रवीत्येव च ते सत्यं सत्यमेव च ते शपे ॥ ४ ॥

‘मैं सत्यकी हो शपथ खाकर तुमसे सत्य कहता हूँ कि इस भूलपर मुझे श्रीरामसे बहुरूप प्रिय दूसरा कोई नहीं है ॥ ४ ॥

अस्य प्रसादाशशमे लोकंऽस्मिन् सुमहद् यशः ।

धर्मावाप्तिं च विपुलामर्थकार्यां च पुष्कलां ॥ ५ ॥

‘इस श्रीरामाधर्मीक प्रसादसे ही मैं इस लोकमें महान् यश, विपुल धर्म-लाभ तथा प्रचुर अर्थ एवं भोग्य वस्तु पानेकी आशा करता हूँ ॥ ५ ॥

सोऽहं प्रियमखं रामं शयाने सह सीतया ।

रक्षिष्यामि धनुष्याणिः सर्वथा ज्ञानिभिः सह ॥ ६ ॥

‘अतः मैं अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ हाथमें धनुष लेकर सीतासहित भाग्य हुए प्रिय-सखा श्रीरामको सब प्रकारसे रक्षा करूँगा ॥ ६ ॥

न मेऽस्यविदिनं किञ्चित् बनेऽस्मिश्चरतः सदा ।

चतुरङ्गं ह्यनिबलं सुमहत् संतरेमहि ॥ ७ ॥

‘उस वनमें सदा विचरने रहनेके कारण मुझमें यहाँकी कोई बात छिपी नहीं है । हमलोग यहाँ शत्रुकी अत्यन्त शक्तिशालिनी विशाल चतुरङ्गी सेनाकी ओर अनावस हा जीत लेंगे ॥ ७ ॥

लक्ष्मणस्तु तदोवाच रक्ष्यमाणास्त्वयानघ ।

नात्र भीता वयं सर्वे धर्ममेवानुपश्यता ॥ ८ ॥

कथं दशरथो धूमौ शयाने सह सीतया ।

शक्यः निद्रा मया लब्धुं जीवितं वा सुखानि वा ॥ ९ ॥

यह सुनकर लक्ष्मणने कहा—‘निष्पाप निपादराज ! तुम धर्मपर ही दृष्टि रखते हुए हमारा रक्षा करन लो इसमेंनिय इस स्थानपर हम सब लागोंके लिये कोई भय नहीं है । फिर भी जब महाराज दशरथक ज्येष्ठ पुत्र मानक साथ भूमिपर शयन कर रहे हैं, तब मेरे लिये उनमें शय्यापर सोकर नौद लेना, जाँधन-धारणके लिये खादिष्ट अन्न खाना अथवा दूसरे-दूसरे सुखोंको भोगना कैसे सम्भव हो सकता है ? ॥ ८-९ ॥

यो न देवासुरैः सर्वैः शक्यः प्रसहिनुं युधि ।

न पश्य सुखसंसुप्तं तृणेषु सह सीतया ॥ १० ॥

देखो ! सम्पूर्ण देवता और असुर मिलकर भी मुझमें जिनके बरगको नहीं सह सकते, वे ही श्रीराम इस समय सीताके साथ निनकाक ऊपर सुखसे सो रहे हैं ॥ १० ॥

यो मन्त्रतपसा लब्धो विविधैश्च घगर्क्रमैः ।

एको दशरथस्यैव पुत्रः सदृशलक्षणः ॥ ११ ॥

अस्मिन् प्रव्रजिते राजा न चिरे वर्तयिष्यति ।

विधवा पेदिनी नूनं क्षिप्रमेव धविष्यति ॥ १२ ॥

‘गायत्री आदि मन्त्रोंके जप, कृच्छ्रचान्द्रायण आदि तप तथा नाना प्रकारके घगर्क्रम (यज्ञानुष्ठान आदि प्रयत्न)

करनेसे जो महाराज दशरथको अपने समान उत्तम लक्षणोंसे युक्त ज्येष्ठ पुत्रके रूपमें प्राप्त हुए हैं, उन्हों इन श्रीरामके वनमें आ जानेसे अब राजा दशरथ अधिक कालतक जीवन धारण नहीं कर सकेंगे जान पड़ता है, निश्चय ही वह पृथ्वी अथ शीघ्र विधवा हो जायगी ॥ ११-१२ ॥

विनष्टं सुमहानादं भ्रमेणोपरताः स्त्रियः ।

निर्घोषोपरतं तात मन्ये राजनिवेशनम् ॥ १३ ॥

‘तात रत्नवामकी स्त्रियाँ बड़े जोरसे आर्तभाट करके अधिक श्रमक कारण अब चुप हो गयी होंगी, मैं समझता हूँ, राजभवनका हाहाकार और खोत्कार अब शान्त हो गया होगा ॥ १३ ॥

कौसल्या चैव राजा च तथैव जननी मम ।

नाशमे यदि जीवन्ति सर्वे ते शर्वरीमिमाम् ॥ १४ ॥

‘महागनी कौसल्या, राजा दशरथ तथा मेरी माता मुमित्रा—ये सब लोग आजकी राततक जीवित रहेंगे या नहीं, यह मैं नहीं कह सकता ॥ १४ ॥

जीवेदपि हि मे माता शत्रुप्रस्थान्ववेक्षया ।

तद् दुःखं यदि कौसल्या वीरसूक्तिं शिष्यति ॥ १५ ॥

‘शत्रुप्रको बाट देखनेके कारण सम्भव है मेरी माता जीवित रह जाय, परंतु यदि वीरजननी कौसल्या श्रीरामके स्वरहमें नष्ट हो जायगी तो वह हमलोगोंके लिये बड़े दुःखकी बात होगी ॥ १५ ॥

अनुरक्तजनाकोर्णा सुखालोकप्रियावहा ।

राजव्यसनसंसृष्टा सा पुरो विनशिष्यति ॥ १६ ॥

‘जिसमें श्रीरामके अनुगामी मनुष्य धरे हुए हैं तथा जो सदा सुत्रका दर्शनरूप प्रिय वस्तुकी प्राप्ति कंगनेवाली रही है, वह अयोध्यापुरी राजा दशरथके निधनजनित दुःखसे युक्त होकर नष्ट हो जायगी ॥ १६ ॥

कथं पुत्रं महात्मानं ज्येष्ठपुत्रमपश्यतः ।

शरीरं धारयिष्यन्ति प्राणा राज्ञो महात्मनः ॥ १७ ॥

‘अपने ज्येष्ठ पुत्र महात्मा श्रीरामको न देखनेपर महामना राजा दशरथके प्राण उनके शरीरमें कैसा टिके रह सकेंगे । विनष्टे नृपतौ पश्चात् कौसल्या विनशिष्यति ।

अनन्तरं च मातापि मम नाशमुपैष्यति ॥ १८ ॥

‘महाराजके नष्ट होनेपर देवी कौसल्या भी नष्ट हो जायगी । तदनन्तर मेरी माता मुमित्रा भी नष्ट हुए बिना नहीं रहेंगी ।

अतिक्रान्तमतिक्रान्तमनवाप्य मनोरथम् ।

राज्ये रामपनिक्षिप्य पिता मे विनशिष्यति ॥ १९ ॥

‘(महाराजकी इच्छा थी कि श्रीरामको राज्यपर अभिषिक्त कर्त्ते) अपने उस मनोरथको न पाकर श्रीरामको राज्यपर स्थापित किये बिना ही ‘हाय ! मेरा सब कुछ नष्ट हो गया, नष्ट हो गया’ ऐसा कहते हुए मेरे पिताजी अपने प्राणोंका परित्याग कर देंगे ॥ १९ ॥

सिद्धार्थाः पितरं वृत्तं तस्मिन् काले ह्युपस्थिते ।

प्रेतकार्येषु सर्वेषु संस्कारिष्यन्ति राघवम् ॥ २० ॥

‘उनकी उस मृत्युका समय उपस्थित होनेपर जो स्नान रहेंगे और मरे मरे हुए पिता रघुकुलशिरोमणि दशरथका सभी प्रेतकार्योंमें संस्कार करेंगे, वे ही सफलमनोरथ और भाग्यशाली हैं ॥ २० ॥

रम्यचत्वरसंस्थानां संविभक्तमहापथाम् ।

हर्म्यप्रासादसम्पन्नां गणिकावरशोभिनाम् ॥ २१ ॥

रथाश्वगजसम्बाधां तुर्यनादनिनादिताम् ।

सर्वकल्याणसम्पूर्णां हृष्टपुष्टजनाकुलाम् ॥ २२ ॥

आराधोद्यानसम्पन्नां समजोत्सवशालिनीम् ।

सुखिता विचरिष्यन्ति राजधानीं पितुर्मम ॥ २३ ॥

‘(यदि पिताजी जीवित रहे तो) रमणीय चबूतरों और चौखटोंके सुन्दर भ्यानोंसे युक्त, पृथक् पृथक् बने हुए विशाल राजमार्गोंसे अलंकृत धनिकोंकी अट्टालिकाओं और देवमन्दिरों एवं राजध्वजांसे सम्पन्न, श्रेष्ठ चाण्डालोंसे सुशोभित, रथों, घोड़ों और हाथियोंके आवागमनसे भरी हुई, विविध बाघोंकी ध्वनियोंसे निनादित, समस्त कल्याणकारी वस्तुओंसे भरपूर, हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे सेवित, पुष्पवाटिकाओं और उद्यानोंसे विभूषित तथा सामाजिक उत्सवोंसे सुशोभित हुई मेरे पिताकी राजधानी अयोध्यापुरीमें जो लोग विचरेंगे वास्तवमें वे ही सुखी हैं ॥ २१—२३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽथोऽध्याकाण्डे एकपञ्चाशः सर्गः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें इक्यावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५१ ॥

द्विपञ्चाशः सर्गः

श्रीरामकी आज्ञासे गुहका नाव मैंगाना, श्रीरामका सुमन्त्रको समझा-बुझाकर अयोध्यापुरी लौट जानेके लिये आज्ञा देना और माता-पिता आदिसे कहनेके लिये संदेश सुनाना, सुमन्त्रके वनमें ही चलनेके लिये आग्रह करनेपर श्रीरामका उन्हें युक्तिपूर्वक समझाकर लौटनेके लिये विवश करना, फिर तीनोंका नावपर बैठना, सीताकी गङ्गाजीसे प्रार्थना, नावसे पार उतरकर श्रीराम आदिका वत्सदेशमें पहुँचना और सायंकालमें एक वृक्षके नीचे रहनेके लिये जाना

प्रभातायां तु शर्वरी पृथुवक्षा महायशः ।

उवाच रामः सौमित्रिं लक्ष्मणं शुभलक्षणम् ॥ १ ॥

जब रात बीती और प्रभात हुआ, उस समय विशाल उक्षत्राले महायशस्वी श्रीरामने शुभलक्षणसम्पन्न सुमन्त्रकुमार लक्ष्मणसे इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

भास्करोदयकालोऽसौ गता भगवती निशा ।

असौ सुकृष्णो विहगः कोकिलस्तात कूजति ॥ २ ॥

‘जात ! भगवती रात्रि व्यतीत हो गयी । अब सूर्योदयका समय आ पहुँचा है । वह अव्यक्त काले रंगका पक्षी कोकिल

अपि जीवेद् दशरथो वनवासात् पुनर्वयम् ।

प्रत्यागम्य महात्मानमपि पश्याम सुव्रतम् ॥ २४ ॥

‘क्या मेरे पिता महारत्न दशरथ हमलोगोंके लौटनेके जीवित रहेंगे ? क्या वनवासमें लौटकर उन उनमें अन्धारी महात्माका हम फिर दर्शन कर सकेंगे ? ॥ २४ ॥

अपि सत्यप्रतिज्ञेन सार्षं कुशलिना वयम् ।

निवृत्ते वनवासेऽस्मिन्नयोध्यां प्रविशेयहि न ॥ २५ ॥

‘क्या वनवासकी इस अन्तर्धिके सभाष होनेपर हमलोग सत्यप्रतिज्ञा श्रीरामके साथ कुशलपूर्वक अयोध्यापुरीमें प्रवेश कर सकेंगे ? ॥ २५ ॥

पत्तिवयमनस्य दुःखार्तस्य महात्मनः ।

तिष्ठतो राजपुत्रस्य शर्वरी सात्यवर्तत ॥ २६ ॥

इस प्रकार दुःखमें आर्त होकर विलाप करते हुए महात्मा राजकुमार लक्ष्मणकी वह सारी रान जागते हो खींची । २६ ।

तथा हि सत्यं ब्रुवति प्रजाहिते

नरेन्द्रसुनौ गुम्फाहटाद् गुहः ।

भुमोजं वार्षं व्यसनाभिपीडितो

ज्वरातुरो नाग इव व्यधातुरः ॥ २७ ॥

प्रजाके हितमें सत्य ब्रह्मण्येकाले राजकुमार लक्ष्मण जब बड़े भाईके प्रति सौहार्दवश उपर्युक्तरूपसे मथार्थ बात कह रहे थे, उस समय उसे सुनकर निषादराज गुह दुःखमें पीड़ित हो उठा और व्यथामें व्याकुल हो ज्वरसे आतुर हुए हार्थकी भाँति आँसु बहाने लगा ॥ २७ ॥

कुह-कुह बोल रहा है ॥ २ ॥

बहिर्णानां च निर्घोषः श्रूयते नदतां वने ।

नराम जाह्नवीं सौम्य शीघ्रगं सागरङ्गमाम् ॥ ३ ॥

‘वनमें अव्यक्त शब्द करनेवाले मयुरोंकी केका वाणी भी सुनायी देती है; अतः सौम्य । अब हमें सीधे गतिसे बहनेवाली समुद्रगामिनी गङ्गाजीके पार छतरना चाहिये ॥

विज्ञाय रामस्य वचः सौमित्रिर्मित्रनन्दनः ।

गुहमायन्य सूतं च सोऽतिष्ठद् भ्रातुरग्रतः ॥ ४ ॥

मित्रोंकी आनन्दित करनेवाले सुमित्राकुमार लक्ष्मणने

श्रीरामचन्द्रजीके कंधनका अभिषाय समझकर गुह और सुमन्त्रको बुलाकर पार उतरनको व्यवस्था करनेके लिये कहा और स्वयं वे भाईके सामने आकर खड़े हो गये ॥ ४ ॥

स तु रामस्य बन्धनं निशम्य प्रतिगृह्य च ।

स्थपतिस्तूर्णमाहूय सचिवानिदमब्रवीत् ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्रजीका बन्धन सुनकर उनका आदेश दिशेधार्य करके निषादगजने तुरंत अपने सचिवोंको बुलाया और इस प्रकार कहा— ॥ ५ ॥

अस्पृहाहनसंयुक्तां कर्णग्राहवतीं शुभाम् ।

सुप्रतारां दुवां तीर्थे शीघ्रं नावपुपाहर ॥ ६ ॥

‘तुम घाटपर शीघ्र ही एक ऐसी नाव ले आओ, जो मजबूत होनेके साथ ही सुगमनापूर्वक खेनेयोग्य हो’ उनमें डौंड लगा हुआ हा कर्णधार बँटा हो तथा वह नाव देखनमें सुन्दर हो’ ॥ ६ ॥

तं निशम्य गुहादेशं गुहामात्यो गतो महान् ।

उपोह्य रुचिरां नावं गुहाय प्रत्यवेदयत् ॥ ७ ॥

निषादराज गुहका वह आदेश सुनकर उसका महान् मन्त्री गया और एक सुन्दर नाव घाटपर पहुँचाकर उसने गुहको इसको सूचना दी ॥ ७ ॥

ततः स प्राञ्जलिर्भूत्वा गुहो राघवमब्रवीत् ।

उपस्थितेयं नौदेव भूयः किं करवाणि ते ॥ ८ ॥

तब गुहने हाथ जोड़कर श्रीरामचन्द्रजीसे कहा—‘देव ! यह नौका उपस्थित है, बताइये, इस समय आपको और क्या सेवा करूँ ? ॥ ८ ॥

तवामरसुतप्रख्यं तर्तुं सागरगाभिनीम् ।

नौरियं पुरुषव्याघ्रं शीघ्रमारोह सुप्रत ॥ ९ ॥

‘देवकुमारके समान तेजस्वी तथा उत्तम व्रतक पालन करनेवाले पुरुषसिंह श्रीराम ! समुद्रगाभिनी गङ्गातटका पार करनेके लिये आपको सेवाने यह नाव आ गयी है, अब आप शीघ्र इसपर आरुढ़ होइये’ ॥ ९ ॥

अथोवाच महातेजा रामो गुहमिदं वचः ।

कृतकामोऽस्मि भवता शीघ्रमारोप्यतामिति ॥ १० ॥

तब महातेजस्वी श्रीराम गुहसे इस प्रकार बोले—‘सखे ! तुमने मेरा सारा मंगल्य पूर्ण कर दिया अब शीघ्र ही सब सामान नावपर चढ़ाओ’ ॥ १० ॥

ततः कलापान् संनह्य खड्गौ बध्वा च धन्विनी ।

जगत्पुर्येन तां गङ्गां सीतया सह राघवी ॥ ११ ॥

यह कहकर श्रीराम और लक्ष्मणने कवच धारण करके तरकस एवं तलवार बाँधे तथा धनुष लेकर वे दोनों भाई जिस मार्गसे सब लोग घाटपर जाया करते थे, उसीमें सीताक साथ गङ्गाजीके तटपर गये ॥ ११ ॥

राममेव तु धर्मजमुपागत्य विनीतवन् ।

किमहं करवाणीति सूतः प्राञ्जलिर्ब्रवीत् ॥ १२ ॥

उस समय धर्मके ज्ञाता भगवान् श्रीरामके पास जाकर सारथि सुमन्त्रने विनोतभावसे हाथ जोड़कर पूछा—‘प्रभो अब मैं आपको क्या सेवा करूँ ?’ ॥ १२ ॥

ततोऽब्रवीद् दाशरथिः सुमन्त्रं

स्पृशन् करेणोत्तमदर्शनेन ।

सुमन्त्रं शीघ्रं पुनरेव चाहि

राज्ञः सकाशे भव चाप्रमत्तः ॥ १३ ॥

तब दशरथनन्दन श्रीरामने सुमन्त्रको उत्तम दाहिने हाथसे स्पर्श करते हुए कहा—‘सुमन्त्रजी ! अब आप शीघ्र ही पुनः महाराजके पास लौट जाइये और वहाँ सावधान होकर रहिये’ ॥ १३ ॥

निवर्तस्वेत्युवाच नयेनावद्धि कृतं मम ।

रथे विहाय पद्भ्यां तु गमिष्यामो महावनम् ॥ १४ ॥

उन्होंने फिर कहा—‘इतनी दूरतक महाराजकी आज्ञासे मैं रथद्वारा यात्रा की है अब हमलाग रथ छोड़कर पैदल ही महान् वनकी यात्रा करेंगे; अतः आप लौट जाइये’ ॥

आत्मानं त्वभ्यनुजातयवेक्ष्यार्तः स सारथिः ।

सुमन्त्रः पुरुषव्याघ्रमेक्ष्वाकमिदमब्रवीत् ॥ १५ ॥

अपनेको धर नौटनेकी आज्ञा प्राप्त हुई देख सारथि सुमन्त्र शोकसे व्याकुल हो उठे और इक्ष्वाकुनन्दन पुरुषसिंह श्रीरामसे इस प्रकार बोले— ॥ १५ ॥

नतिक्रान्तमिदं लोके पुरुषेणेह केनचित् ।

तव सभ्रातृभार्यस्य वासः प्राकृतवद् बने ॥ १६ ॥

‘रघुनन्दन ! जिसकी प्रेरणासे आपको भाई और पत्नीके साथ माध्याग्न मनुष्योंको भोजन करनेकी विवश होना पड़ा है उस देवका इस समारम्भमें किसी भी पुरुषने उत्सङ्ग नही किया ॥ १६ ॥

न मन्ये ब्रह्मधर्मं वा स्वधीते वा फलोदयः ।

मार्दवार्जवयोर्वापि त्वां चेद् व्यसनमागतम् ॥ १७ ॥

‘जब आप-जैसे महान् पुरुषपर यह संकट आ गया, तब मैं समझना है कि ब्रह्मधर्म-पालन, वेदोंके स्वाध्याय, दयालुता अथवा सरलतामें भी किसी फलकी सिद्धि नहीं है ॥ १७ ॥

सह राघवं वैदह्या भ्रात्रा चैव बने वसन् ।

त्वं गतिं प्राप्स्यसे वीर श्रील्लोकांस्तु जयत्रिव ॥ १८ ॥

‘वीर रघुनन्दन ! (इस प्रकार पिताके सत्यकी रक्षाके लिये) विदेहनन्दिनी सीता और भाई लक्ष्मणके साथ वनमें निवास करने हुए आप तीनों लोकोंपर विजय प्राप्त करनेवाले महान्पुरुष नागयणको भोजन उत्कर्ष (महान् यज्ञ) प्राप्त करेंगे ।

वयं खलु हता राम ये त्वया श्रुपवञ्चिताः ।

कैकेय्य चशमेध्याय- पापाया दुःखभागिनः ॥ १९ ॥

‘श्रीराम ! निश्चय ही हमलाग हर तरहसे मारे गये, क्योंकि आपने हम पुरुषसिंहोंको अपने साथ न ले जाकर अपने दर्शनजनित सुखसे वञ्चित कर दिया । अब हम पापिनी

कैकेयीके वशमें पड़ेंगे और दुःख भोगते रहेंगे ॥ १९ ॥

इति ब्रुवन्नात्मसमं सुमन्त्रः सारथिस्तदा ।

दृष्ट्वा दूरगतं रामं दुःस्वार्तो रुद्धे चिरम् ॥ २० ॥

आत्माके समान प्रिय श्रीरामचन्द्रजीमें ऐसी बात कहकर उन्हें दूर जानको उद्यत देख सारथि सुमन्त्र दुःखसे व्याकुल होकर देरतक रोते रहे ॥ २० ॥

ततस्तु विगते बाधे सूतं स्पृष्टोदकं शुचिम् ।

रामस्तु मधुरं वाक्यं पुनः पुनरुवाच तम् ॥ २१ ॥

असुओंका प्रवाह रुकनेपर आचमन करके पवित्र हुए सारथिसे श्रीरामचन्द्रजीने धारवा मधुर वाणीमें कहा— ॥

इक्ष्वाकूणां त्वया तुल्यं सुहृदं नोपलक्षये ।

यथा दशरथो राजा मां न शोचेत् तथा कुरु ॥ २२ ॥

‘सुमन्त्रजी ! मेरी दृष्टिमें इक्ष्वाकुवंशियाका हित करनेवाला सुहृद् आपके समान दूसरा कोई नहीं है । आप ऐसा प्रयत्न करें, जिससे महाराज दशरथको मेरे लिये शोक न हो ॥ २२ ॥

शोकोपहतचेताश्च वृद्धश्च जगतीपतिः ।

कामभारावसन्नश्च तस्मादेतद् ब्रवीमि ते ॥ २३ ॥

‘पृथिवीपति महाराज दशरथ एक तो बूढ़ हैं, दूसरे उनका सारा मनोरथ चूर-चूर हो गया है; इसलिये उनका हृदय शोकसे पीड़ित है । यही कारण है कि मैं आपको उनको सँभालके लिये कहता हूँ ॥ २३ ॥

यद् यथा ज्ञापयेत् किञ्चित् स महात्मा महीपतिः ।

कैकेय्याः प्रियकामार्थं कार्यं तदविकाङ्क्षया ॥ २४ ॥

‘वे महामनस्वी महाराज कैकेयीका प्रिय करनेकी इच्छासे आपको जो कुछ जैसी भी आज्ञा दें, उसका आप आदरपूर्वक पालन करें—यही मेरा अनुरोध है ॥ २४ ॥

एतदर्थं हि राज्यानि प्रशासति नराधिपाः ।

यदेवा सर्वकृत्येषु मनो न प्रतिहन्यते ॥ २५ ॥

‘राजालोग इसीलिये राज्यका पालन करते हैं कि किसी भी कार्यमें इनके मनकी इच्छा पूर्तिमें विघ्न न डाला जाय ।

यद् यथा स महाराजो नालीकमधिगच्छति ।

न च ताप्यति शोकेन सुमन्त्र कुरु तत् तथा ॥ २६ ॥

‘सुमन्त्रजी ! जिस किसी भी कार्यमें जिस किसी तरह भी महाराजको अप्रिय बातमें विघ्न होनेका अनन्तर न आवे तथा वे शोकमें दुबले न हों वह आपको उम्मे प्रकार करना चाहिये ॥ २६ ॥

अदृष्टदुःखं राजानं वृद्धमायं जितेन्द्रियम् ।

ब्रूयास्त्वमभिवाद्यैव मम हेतोरिदं वचः ॥ २७ ॥

जिन्होंने कभी दुःख नहीं देखा है, उन आयं, जितेन्द्रिय और वृद्ध महाराजको मेरी ओरसे प्रणाम करके यह बात कहियेगा ।

न चाहमनुशोचामि लक्ष्मणो न च शोचति ।

अयोध्यायाश्च्युताश्च्युताश्चेति वने वस्यामहेति वा ॥ २८ ॥

‘हमलोग अयोध्यासे निकल गये अथवा हमें वनमें रहना पड़ेगा इस बातको लेकर न तो मैं कभी शोक करता हूँ और न लक्ष्मणको हो इसका शोक है ॥ २८ ॥

चतुर्दशसु वर्षेषु निवृत्तेषु पुनः पुनः ।

लक्ष्मणं मां च सीतां च द्रक्ष्यसे शीघ्रमागतान् ॥ २९ ॥

‘चौदह वर्ष समाप्त होनेपर हम पुनः शीघ्र ही लौट आयेगा और उस समय आप मुझे, लक्ष्मणको और सीताको भी फिर देखेंगे ॥ २९ ॥

एवमुक्त्वा तु राजानं मातरं च सुमन्त्र मे ।

अन्याश्च देखी, सहिताः कैकेयीं च पुनः पुनः ॥ ३० ॥

‘सुमन्त्रजी ! महाराजसे ऐसा कहकर आप मेरी मातासे उनके साथ वीठो हुई अन्य दखियों (माताओं) से तथा कैकेयीसे भी बारबार मेरा कुशल-समाचार कहियेगा ।

आरोग्यं ब्रूहि कौसल्यामथ पादाभिवन्दनम् ।

सीताया मम चार्यस्य वचनरत्नलक्ष्मणस्य च ॥ ३१ ॥

‘माता कौसल्यासे कहियेगा कि तुम्हारा पुत्र स्वस्थ एवं प्रसन्न है । इसके बाद सीताको ओरसे, मुझ ज्येष्ठ पुत्रको ओरसे तथा लक्ष्मणकी ओरसे भी माताकी चरणवन्दना कह दीजियेगा ॥ ३१ ॥

ब्रूवाश्चापि महाराजं भरतं क्षिप्रमागच्छ ।

आगतश्चापि भरतः स्थाप्यो नृपमते पदे ॥ ३२ ॥

‘तदनन्तर मेरी ओरसे महाराजसे भी यह निवेदन कीजियेगा कि आप भरतको शीघ्र ही बुलवा लें और जब वे आ जायें, तब अपने अग्रोष्ठ युवराजपदपर उनका अधिष्ठान कर दें ॥ ३२ ॥

भरतं च पण्डित्य यौवराज्येऽभिविद्य च ।

अस्मत्संतापजं दुःखं न त्वामभिधविष्यति ॥ ३३ ॥

‘भरतको छातीमें लगाकर और युवराजके पदपर अभिषिक्त करके आपका हमलोगोंके कियोगसे होनेवाला दुःख दवा नहीं सकेगा ॥ ३३ ॥

भरतश्चापि वक्तव्यो यथा राजनि वर्तसे ।

तथा मातुषु वर्तथाः सर्वास्वेवाविशेषतः ॥ ३४ ॥

‘भरतसे भी हमारा यह संदेश कह दीजियेगा कि महाराजके प्रांत जैसा तुम्हारा बनाव है, वैसा ही समानरूपसे सभी माताओंके प्रति होना चाहिये ॥ ३४ ॥

यथा च तव कैकेयी सुमित्रा चाविशेषतः ।

तथैव देवी कौसल्या मम माता विशेषतः ॥ ३५ ॥

‘तुम्हारा दृष्टिमें कैकेयीका जो स्थान है, वही समानरूपसे सुमित्रा और मेरी माता कौसल्याका भी होना उचित है इन सबमें कोई अन्तर न रहना ॥ ३५ ॥

तातस्य प्रियकायेन यौवराज्यमवेक्षता ।

लोकयोरुभयोः शक्यं नित्यदा सुखमेधितुम् ॥ ३६ ॥

पिताजीका प्रिय कदनमें इच्छासे युवराजपदको स्वीकार

तर्कः यदि तुम राजकाजकी देखभाल करने रहोगे तो इहलोक और परलोकमें सदा ही सुख पाओगे ॥ ३६ ॥

निवर्त्यमानो रामेण सुमन्त्रः प्रनिकोधितः ।

तत्सर्वं वचनं श्रुत्वा स्नेहात् काकुत्स्थमब्रवीत् ॥ ३७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने सुमन्त्रको लौटाते हुए जब इस प्रकार समझाया, तब उनको सारी बातें सुनकर वे श्रीराममें स्नेह-पूर्वक बोले— ॥ ३७ ॥

यदहं नोपचारेण ब्रूयां स्नेहाद्विद्वजम् ।

भक्तिपानिति तन् तावद् वाक्यं त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥ ३८ ॥

कथं हि त्वद्विहीनोऽहं प्रणिधास्यामि न पुरीम् ।

सर्वं तावत् वियोगेन पुत्रशोकात्तुर्गमिव ॥ ३९ ॥

सात ! सेवकका स्वामीक प्रति जो सत्कारपूर्ण बर्ताव होना चाहिये, उसका यदि मैं आपसे जान करतें समय फालन न कर सकूँ, यदि मेरे मुखसे स्नेहवश कोई घृष्टापूर्ण बात निकल जाय तो 'यह मेरा भक्त है' ऐसा समझकर आप मुझ क्षमा कीजियेगा । जो आपके वियोगसे पुत्रशोकसे आतुर हुँ घातकी भाँति संताप हो रहा हूँ, उस असोध्यपुर्णमें मैं आपको साथ लिये बिना कैसे लौटकर जा सकूँगा ? ॥ ३८-३९ ॥

सराधमपि तावन्मे रथं दृष्ट्वा तदा जनः ।

विना रामं रथं दृष्ट्वा विदीर्येतापि सा पुरी ॥ ४० ॥

'आते समयसे लोगोंने मेरे रथमें श्रीरामको विगजमान देखा था, अब इस रथको श्रीराममें सहन देखकर उन लोगोंका और उस अयोध्यापुरीका भी हृदय विदारण हो जायगा ॥

देन्य हि नगरी गच्छेद् दुष्टा शून्यमिमं रथम् ।

सुतावशेषं स्वं सैन्यं हतवीरमिवाहवे ॥ ४१ ॥

जैसे युद्धमें अपने स्वामी और रथोंक मरे जानेपर जिसमें केवल सारथि शेष रह गया हो ऐसे रथको देखकर उसका अपनी सेना अन्यथा दयनीय अवस्थामें पड़ जाती है, उसी प्रकार मेरे इस रथको आपसे मुना देखकर सारी अयोध्या नगरी दान दशाको प्राप्त हो जायगी ॥ ४१ ॥

दूरेऽपि निवसन्ति त्वां मानसेनाग्रतः स्थितम् ।

चिन्तयन्तोऽद्य नूनं त्वां निराहाराः कृताः प्रजाः ॥ ४२ ॥

'आप दूर रहकर भी प्रजाके हृदयमें निवास करनेक कारण सदा उसके सामने ही रहते रहते हैं । निश्चय ही इस समय प्रजावर्गके सब लोगोंने आपका ही चिन्तन करने हुए खाना-पाना छोड़ दिया होगा ॥ ४२ ॥

दुष्टं तद् वी त्वया राम यादृशं त्वत्प्रवासने ।

प्रजानां संकुलं वर्तं त्वच्छोककलान्तचेनमाम् ॥ ४३ ॥

श्रीराम ! जिस समय आप वनको जाने लगे, उस समय आपके शोकसे व्याकुलचित्त हुँ प्रजाने जैसा आर्तनाद एवं शोध प्रकट किया था उसे तो आपने देखा ही था ॥ ४३ ॥

आर्तनादो हि यः पौरैरुत्पुक्तस्तदभवासाने ।

सरथं मां निशाम्यैव कुर्युः शतगुणं ततः ॥ ४४ ॥

'आपके अयोध्यामें निकलते समय पुष्पासियोंने जैसा आर्तनाद किया था आपके बिना मुझे खाली रथ लिये लौटा देख वे उससे भी सौगुना हाहाकार करेंगे ॥ ४४ ॥

अहं किं चापि वक्ष्यामि देवी तव सुतो मया ।

नीतोऽसौ पानुलकुलं संतापं वा कथा इति ॥ ४५ ॥

असत्यमपि नैवाहं ब्रूयां वचनमीदृशम् ।

कथमप्रियमेवाहं ब्रूयां सुत्यमिदं वचः ॥ ४६ ॥

'वधा मैं महारानी कोसल्यासे जाकर कहूँगा कि मैंने आपके चटका मामाक घर पहुँचा दिया है ? इसलिये आप संताप न करें, यह बात प्रिय होनेपर भी असत्य है, अतः ऐसा असत्य वचन भी मैं कभी नहीं कह सकता । फिर यह अप्रिय सत्य भी कैसे मुना सकूँगा कि मैं आपके पुत्रको वनमें पहुँचा आया ॥ ४५-४६ ॥

पथं तावन्नियोगस्थास्त्वद्व्युजनवाहिनः ।

कथं रथं त्वया हीनं प्रवाह्यन्ति ह्योनमाः ॥ ४७ ॥

'ये उनमें घोंठे मेरी आज्ञाके अधीन रहकर आपके व्युजनाका भार वहन करते हैं (आपके व्युजनोसे हीन रथका वे वहन नहीं करते हैं), ऐसी दशामें आपसे सूने रथको ये कैसे खींच सकेंगे ? ॥ ४७ ॥

तत्र शक्याम्यहं गन्तमयोध्यां त्वदुत्तेजनधः ।

वनवासानुयानाय मामनुज्ञातुमर्हसि ॥ ४८ ॥

'अतः निष्पाप रघुनन्दन ! अब मैं आपके बिना अयोध्या लौटकर नहीं जा सकूँगा । मुझे भी वनमें चलनेकी ही आज्ञा दीजिये ॥ ४८ ॥

यदि मे वाचमानस्य त्यागमेव करिष्यसि ।

यश्चेऽग्निं प्रवेक्ष्यामि त्यक्तमात्रं इह त्वया ॥ ४९ ॥

'यदि इस तरह वाचना करनेपर भी आप मुझे त्याग ही देंगे तो मैं आपके द्वारा परित्यक्त होकर यहाँ रथमहित अग्निमें प्रवेश कर जाऊँगा ॥ ४९ ॥

भविष्यन्ति धने यानि तपोविघ्नकराणि ते ।

रथेन प्रतिवाधिष्ये तानि सर्वाणि राघव ॥ ५० ॥

'रघुनन्दन ! वनमें आपकी तपस्यामें विघ्न डालनेवाले जा-जा जन्तु उपस्थित होंगे, मैं इस रथके द्वारा उन सबको दूर भगा दूँगा ॥ ५० ॥

त्वत्कृतेन मया प्राप्तं रथचर्याकृतं सुखम् ।

आशमे त्वत्कृतेनाहं वनवासकृतं सुखम् ॥ ५१ ॥

श्रीराम ! आपकी कृपासे मुझे आपको रथपर बिठाकर यज्ञतक लानेका सुख प्राप्त हुआ । अब आपके ही अनुग्रहसे मैं आपके साथ वनमें रहनेका सुख भी पानेकी आशा करता हूँ ॥ ५१ ॥

प्रसीदेच्छामि तेऽरण्ये भवितुं प्रत्यनन्तरः ।

प्रीत्याचिहितमिच्छामि धनं मे प्रत्यनन्तरः ॥ ५२ ॥

'आप प्रसन्न होकर आज्ञा दीजिये । मैं वनमें आपके पास

ही रहना चाहता हूँ। मेरी इच्छा है कि आप प्रसन्नतापूर्वक कह दें कि तुम वनमें मेरे साथ ही रहो ॥ ५२ ॥

इमेऽपि च हया वीर यदि ते वनवासिनः ।

परिचर्यां करिष्यन्ति प्राप्स्यन्ति परमां गतिम् ॥ ५३ ॥

वीर । ये छोड़े भी यदि वनमें रहते समय आपकी सेवा करेंगे तो इन्हें परमगति की प्राप्ति होगी ॥ ५३ ॥

तव शुश्रूषणं मूर्धा करिष्यामि वने वसन् ।

अयोध्यां देवलोकं वा सर्वथा प्रजहाम्यहम् ॥ ५४ ॥

भ्रमो । मैं वनमें रहकर अपने मिरसे (सारे शरीरसे) आपकी सेवा करूँगा और इस मुखके आगे अयोध्या तथा देवलोकका भी सर्वथा त्याग कर दूँगा ॥ ५४ ॥

नहि शक्या प्रवेष्टुं सा मयायोध्या त्वया विना ।

राजधानीं महेन्द्रस्थं यथा दुष्कृतकर्मणा ॥ ५५ ॥

‘जैसे सदाचाहीन प्राणी इन्द्रकी राजधानी स्वर्गमें नहीं प्रवेश कर सकता, उसी प्रकार आपकी विना मैं अयोध्यापुरीमें नहीं जा सकता ॥ ५५ ॥

वनवासे क्षयं प्राप्ते ममैव हि मनोरथः ।

यदनेन रथेनैव त्वां सहये पुरीं पुनः ॥ ५६ ॥

मेरी यह अभिलाषा है कि जब वनवासकी अन्तिमि समाप्त हो जाय, तब फिर इसी रथपर बिठाकर आपको अयोध्यापुरीमें ले चलूँ ॥ ५६ ॥

चतुर्दश हि वर्षाणि सहितस्य त्वया वने ।

क्षणभूतानि यास्यन्ति शतसंख्यानि चान्यथा ॥ ५७ ॥

‘वनमें आपके साथ रहनेसे ये चौदह वर्ष मेरे लिये चौदह क्षणोंके समान बीत जायेंगे अन्यथा चौदह सौ वर्षके समान भारी जान पड़ेंगे ॥ ५७ ॥

भृत्यवत्सलं तिष्ठन्तं भर्तृपुत्रगतं पथि ।

भक्तं भृत्ये स्थितं स्थित्वा न मा त्वं हानुमर्हसि ॥ ५८ ॥

‘अतः भक्तवत्सल ! आप मेरे स्वामीके पुत्र हैं। आप जिस पथपर चल रहे हैं उसीपर आपकी सेवाके लिये साथ चलनेका मैं भी तैयार खड़ा हूँ। मैं आपके प्रति भक्त रहना हूँ, आपका भृत्य हूँ और भृत्यजनचित्त पर्याप्तके भानर स्थित हूँ, अतः आप मेरा परित्याग न करें’ ॥ ५८ ॥

एवं बहुविधं दीनं याचमानं पुनः पुनः ।

रामो भृत्यानुकम्पी तु सुमन्त्रपिदमब्रवीत् ॥ ५९ ॥

इस तरह अनेक प्रकारसे दीन बचन कहकर बागवा याचना करनेवाले सुमन्त्रसे सेवकोंपर कृपा करनेवाले श्रीरामने इस प्रकार कहा— ॥ ५९ ॥

जानामि परमां भक्तिमहं ते भर्तृवत्सल ।

भृणु चापि यदर्थं त्वां प्रेषयामि पुरीभितः ॥ ६० ॥

‘सुमन्त्रजी ! आप स्वामीके प्रति स्नेह रखनेवाले हैं। मुझमें आपकी जो उत्कृष्ट भक्ति है, उसे मैं जानता हूँ, फिर भी जिस कार्यके लिये मैं आपको यहाँसे अयोध्यापुरीमें भेज

रहा हूँ, उसे सुनिये ॥ ६० ॥

नगरीं त्वां गतं दृष्ट्वा जननी मे यक्षीयसी ।

कैकेयी प्रत्ययं गच्छेदिति रामो वनं गतः ॥ ६१ ॥

‘जब आप नगरको लौट जायेंगे, तब आपको देखकर मेरी छोटी माता कैकेयीका यह विश्वास हो जायगा कि राम वनको चले गये ॥ ६१ ॥

विपरीते तुष्टिहीना वनवासं गते मयि ।

राजानं नानिशाङ्केन मिथ्यावादीति धार्मिकम् ॥ ६२ ॥

‘इसके विपरीत यदि आप नहीं गये तो उसे संतोष नहीं होगा। मेरे वनवासों हो जानेपर भी वह धर्मपरायण महाराज दण्डवत्के प्रति मिथ्यावादी होनेका संदेह करे, ऐसा मैं नहीं चाहता ॥ ६२ ॥

एव मे प्रथमः कल्पो यदप्या मे यक्षीयसी ।

भरतारक्षितं स्फीतं पुत्रराज्यमवाप्स्यते ॥ ६३ ॥

‘आपका भोजनेय मेरा मुख्य उद्देश्य यही है कि मेरी छोटी माता कैकेयी भरतद्वारा सुरक्षित समृद्धिशाली राज्यको हस्तगत कर लें ॥ ६३ ॥

मम प्रियार्थं राज्ञश्च सुमन्त्र त्वं पुरीं व्रज ।

संदिष्टश्चापि यानर्थास्तांस्तान् ब्रूयास्तथा ॥ ६४ ॥

‘सुमन्त्रजी ! मेरा तथा महाराजका प्रिय करनेके लिये आप अयोध्यापुरीको अवश्य पधारिये और आपको जिनके लिये जो संदेश दिया गया है, वह सब वहाँ जाकर उन लोगोंसे कह दीजिये’ ॥ ६४ ॥

इत्युक्त्वा वचनं सूतं सान्त्वयित्वा पुनः पुनः ।

गुहं वचनमङ्गीको रामो हेतुमदब्रवीत् ॥ ६५ ॥

ऐसा कहकर श्रीरामने सुमन्त्रको बाग्वार सान्त्वना दी इसके बाद उन्होंने गुहसे उत्साहपूर्वक यह युक्तियुक्त बात कही— ॥ ६५ ॥

नेदानीं गुह योग्योऽयं वासो मे सजने वने ।

अवश्यमाश्रमे वाम, कर्तव्यस्तद्वतो विधिः ॥ ६६ ॥

निषादराज गुह ! इस समय मेरे लिये ऐसे वनमें रहना उचित नहीं है जहाँ जनपदके लोगोंका आना-जाना अधिक होता हो अब अवश्य मुझे निर्जन वनके आश्रममें ही वास करना होगा। इसके लिये बटा धारण आदि आवश्यक विधिक मुझे पालन करना चाहिये ॥ ६६ ॥

सोऽहं गृह्णीत्वा नियमं तपस्विजनभूषणम् ।

हितकामः पितुर्भूय सीताया लक्ष्मणस्य च ॥ ६७ ॥

अतः कृत्वा गमिष्यामि न्यप्रोथक्षीरमानय ।

तत्क्षीरं राजपुत्राय गुहः क्षिप्रमुपाहरत् ॥ ६८ ॥

‘अतः फल-मूलका आहार और पृथ्वीपर शयन आदि नियमोंको ग्रहण करके मैं साना और लक्ष्मणकी अनुमति लेकर पिताका हित करनेकी इच्छासे मिरपर तपस्वी जनोके आभूषणरूप जटा धारण करके यहाँसे वनको जाऊँगा। मेरे

केशोंको जटाका रूप देनेके लिये तुम सहज दूध लव दो ।
गुहने तुरंत ही बड़का दूध लाकर श्रीरामको दिया ॥ ६७-६८ ॥
लक्ष्मणस्यात्मनश्चैव रामस्तेनाकरोजटाः ।
दीर्घबाहुर्नरव्याघ्रो जटिलन्वमधारयन् ॥ ६९ ॥

श्रीरामने उसके द्वारा लक्ष्मणको तथा अपनी जटाएँ बनायीं ।
महाबाहु पुरुषसिंह श्रीराम तत्काल जटाधारी हो गये ॥ ६९ ॥
तौ तदा वीरसम्पन्नौ जटामण्डलधारिणौ ।
अशोभेनामुषिसर्मा भ्रातरौ गमललक्ष्मणौ ॥ ७० ॥

उस समय वे दोनों भाई श्रीराम-लक्ष्मण वनकल
वस्त्र और जटामण्डल धारण करके प्रियार्थके समान
शोभा पाने लगे ॥ ७० ॥

ततो वैखानसं मार्गमास्थितः सहलक्ष्मणः ।
व्रतमादिष्टवान् रामः सहायं गुहमब्रवीन् ॥ ७१ ॥

तदनन्तर खानप्रस्थमार्गका आश्रय लेकर लक्ष्मणमहि
श्रीरामने खानप्रस्थोचित व्रतको ग्रहण किया । तत्पश्चात् वे
अपने सहायक गुहसे बोले— ॥ ७१ ॥

अग्रमत्तो बले कोशे दुर्गे जनपदे तथा ।
भवेद्या गुह राज्ये हि दुरारक्षतमं यतम् ॥ ७२ ॥

'निषादराज ! तुम सेना, सज्जाना, किला और राज्यके
विकसमें सदा सावधान रहना, क्योंकि राज्यको रक्षक व्रत
बड़ा कठिन माना गया है' ॥ ७२ ॥

ततस्तं समनुज्ञाय गुहमिक्ष्वाकुनन्दनः ।
जगाम तूर्णमव्यग्रः सभार्यः सहलक्ष्मणः ॥ ७३ ॥

गुहको इस प्रकार आज्ञा देकर उससे विदा ले
इक्ष्वाकुकुलनन्दन श्रीरामचन्द्रजी पत्नी और लक्ष्मणक साथ
तुरंत ही वहाँसे चल दिये । उस समय उनका चित्तमं तनिक
भी व्यग्रता नहीं थी ॥ ७३ ॥

स तु दृष्ट्वा नदीतीरे नावमिक्ष्वाकुनन्दनः ।
तितीर्षुः शीघ्रगां गङ्गामिदं वचनमब्रवीन् ॥ ७४ ॥

नदीक तटपर लगी हुई नावको देखकर इक्ष्वाकुनन्दन
श्रीरामने शीघ्रगाभी गङ्गानदीक पार जानेकी इच्छामें
लक्ष्मणको सम्बोधित करके कहा— ॥ ७४ ॥

आरोह त्वं नरव्याघ्र स्थितां नावमिमां शनैः ।
सीतां चारोपयान्त्रक्षं परिगृह्य मनस्विनाम् ॥ ७५ ॥

'पुरुषसिंह ! यह सामने नाव खड़ी है । तुम मनस्विनी
सीताको पकड़कर धीरेसे उसपर बिठा दो, फिर स्वयं भी
नावपर बैठ जाओ' ॥ ७५ ॥

स भ्रातुः शासनं श्रुत्वा सर्वमप्रतिकूलयन् ।
आरोप्य मेघिलीं पूर्वमारुरोहात्मवास्ततः ॥ ७६ ॥

भाईका यह आदेश सुनकर मनको बड़ाई रखनेवाले
लक्ष्मणन पुणतः उसके अनुकूल कलते हुए पहलें
मिथिलेशकुमारी श्रीसीताको नावपर बिठाया, फिर स्वयं भी
उसपर आरुढ़ हुए ॥ ७६ ॥

अथारोह तेजस्वी स्वयं लक्ष्मणपूर्वजः ।
ततो निषादाधिपतिर्गुहो ज्ञातीनघोदयत् ॥ ७७ ॥

सबके अन्तर्ग लक्ष्मणक बड़े भाई तेजस्वी श्रीराम स्वयं
नौकापर बैठे । तदनन्तर निषादराज गुहने अपने भाई-
बन्धुओंको नौका खेनेका आदेश दिया ॥ ७७ ॥

गन्धर्वाऽपि महातेजा नावमारुह्य तां ततः ।
ब्रह्मवत्क्षत्रवर्धय जज्ञापु हितमात्मनः ॥ ७८ ॥

महातेजस्वी श्रीरामचन्द्रजी भी उस नावपर आरुढ़
होनेके पश्चात् अपने हितके उद्देश्यसे ब्राह्मण और
शत्रियके अपनेयोग्य 'देवी नाव' इत्यादि वैदिक मन्त्रका
उप करने लगे ॥ ७८ ॥

आचम्य च यथाशास्त्रं नदीं तां सह सीतया ।
प्रणमन्तीतिसंतुष्टो लक्ष्मणश्च महारथः ॥ ७९ ॥

फिर शास्त्रावधिक अनुसार आचमन करके सीताके साथ
उद्गमन प्रसन्नचित्त होकर गङ्गाजीको प्रणाम किया । महारथी
लक्ष्मणने भी उन्हें मस्तक झुकाया ॥ ७९ ॥

अनुज्ञाय सुमन्त्रं च सखलं चैव तं गुहम् ।
अस्थाय नावं रामस्तु चोदयामास नाविकान् ॥ ८० ॥

इसके बाद श्रीरामने सुमन्त्रको तथा सेनासहित गुहको भी
जानेकी आज्ञा दे नावपर चलीभाँति बैठकर मत्स्यहोकी उसे
चलानेका आदेश दिया ॥ ८० ॥

ततस्मैश्चालिता नौका कर्णधारसमाहिता ।
शुभस्पर्शवेगाभिहता शीघ्रं सलिलमत्यगात् ॥ ८१ ॥

तदनन्तर मन्त्रग्रहोंने नाव चलायी । कर्णधार सावधान
होकर उसका संचालन करता था । वेगसे सुन्दर छँड़
चलानेक कारण यह नाव बड़ी तेजीसे पानीपर बढ़ने लगी ।

मध्यं तु सभनुप्राप्य भागीरथ्यास्त्वनिन्दिता ।
वैदेहो प्राञ्जलिर्भूत्वा तां नदीमिदमब्रवीत् ॥ ८२ ॥

भागीरथीको बीच धारामें पहुँचकर सती साध्वी विदेह-
नन्दिनी सातान हाथ जोड़कर गङ्गाजीसे यह प्रार्थना की— ।

पुत्रो दशरथस्यायं महाराजस्य धीमतः ।
निदेशं पालयत्वेनं गङ्गे त्वदभिरक्षितः ॥ ८३ ॥

'देवि गङ्गे ! ये परम बुद्धिमान् महाराज दशरथके पुत्र हैं
और पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये वनमें आ रहे हैं ।
ये आपसे सुरक्षित होकर पिताकी इस आज्ञाका पालन कर
सके—ऐसी कृपा काजिये' ॥ ८३ ॥

चतुर्दश हि वर्षाणि समप्राणयुष्य कानने ।
भ्रात्रा सह यथा चैव पुनः प्रत्यागमिष्यति ॥ ८४ ॥

वनमें पूरे चौदह वर्षोंतक निवास करके वे मेरे तथा
अपने भाईक साथ पुनः अयोध्यापुरीको लौटेंगे ॥ ८४ ॥

ततस्त्वां देवि सुभगे क्षेमेण पुनरागता ।
यक्ष्ये प्रमुदिता गङ्गे सर्वकामसमुद्दिनी ॥ ८५ ॥

'श्रीभाग्यशालिनी देवि गङ्गे ! उस समय वनमें पुनः

कुशलपूर्वक लौटनेपर सम्पूर्ण मनोरथोंमें सम्यक् हुई मैं बड़ा प्रसन्नताके साथ आपकी पूजा करूँगी ॥ ८५ ॥

त्वं हि त्रिपथगे देवि ब्रह्मलोकं समक्षमे ।

धार्या चोदधिराजस्य लोकेऽस्मिन् सम्प्रदृश्यसे ॥ ८६ ॥

‘स्वर्ग, भूतल और पाताल—तीनों मार्गोंपर विचरनेवाले देवि ! तुम यहाँसे ब्रह्मलोक तक फैली हुई हो और इन लोकोंमें समुद्रराजकी पत्नीके रूपमें दिखायी देती हो ॥ ८६ ॥

सा त्वां देवि नमस्यामि प्रशंसामि च शोभने ।

प्राप्तराज्ये नख्याग्रे शिखेन पुनरागते ॥ ८७ ॥

‘शोभाशालिनी देवि ! पुरुषसिंह श्रीराम जब पुनः वनसे सकुशल लौटकर अपना राज्य प्राप्त कर लेंगे तब मैं सोना पुनः आपको समस्त झुकाऊँगी और आपकी स्तुति करूँगी ॥

गवां शतसहस्रं च वस्त्राण्यन्नं च पेशलम् ।

ब्राह्मणेभ्यः प्रदास्यामि तव प्रियचिकीर्षया ॥ ८८ ॥

‘इतना ही नहीं, मैं आपको प्रिय करनेको इच्छामें ब्राह्मणोंको एक लाख गौएँ, बहुत से वस्त्र तथा उन्नमोन्नम अन्न प्रदान करूँगी ॥ ८८ ॥

सुराघटसहस्रेण मांसभृतीदनेन च ।

यक्ष्ये त्वां प्रीयतां देवि पुनं पुनस्यागता ॥ ८९ ॥

‘देवि ! पुनः अयोध्यापुरीमें लौटनेपर मैं सहस्रों देवदुर्लभ पदार्थोंसे तथा राजकीय भागमें रहित पृथ्वी, वस्त्र और अन्नके द्वारा भी आपको पूजा करूँगी । आप मुझपर प्रसन्न हो* ॥ ८९ ॥

यानि त्वन्तीरवासिनि दैवतानि च सन्ति हि ।

तानि सर्वाणि यक्ष्यामि तीर्थान्यायतनानि च ॥ ९० ॥

‘आपके किनारे जो-जो देवता, तीर्थ और मन्दिर हैं, उन सबका मैं पूजन करूँगी ॥ ९० ॥

पुनरेव महाबाहुर्मया भ्रात्रा च संगतः ।

अयोध्यां वनवासात् तु प्रविशत्कनघोऽनघे ॥ ९१ ॥

‘निम्हाप गङ्गे ! ये महाबाहु पापरहित मेरे पतिदेव मेरे तथा अपने भाईके साथ वनवाससे लौटकर पुनः अयोध्या नगरमें प्रवेश करें’ ॥ ९१ ॥

तथा सम्पाद्यपाणा सा सीता गङ्गापनिन्दिता ।

दक्षिणा दक्षिणं तीरं क्षिप्रमेवाभ्युपागमत् ॥ ९२ ॥

पतिके अनुकूल रहनेवाले सती-साध्वी सीता इस प्रकार गङ्गाजीसे प्रार्थना करती हुई शीघ्र ही दक्षिणतटपर जा पहुँची ॥ ९२ ॥

तीरं तु समनुग्राह्य नायं हित्वा नरर्षभः ।

प्रातिष्ठत सह भ्रात्रा वैदेह्या च परंपरः ॥ ९३ ॥

किनारे पहुँचकर शत्रुओंको संताप देनेवाले नरश्रेष्ठ श्रीरामने नाव छोड़ दी और भाई लक्ष्मण तथा विदेहनन्दिनी सीताके साथ आगेको प्रस्थान किया ॥ ९३ ॥

अथाब्रवीन्महाबाहुः सुमित्रानन्दवर्धनम् ।

भव संरक्षणार्थाय सजने विजनेऽपि वा ॥ ९४ ॥

अवश्यं रक्षणं कार्यं मद्विधविजने वने ।

अग्रतो गच्छ सौमित्रे सीता त्वामनुगच्छतु ॥ ९५ ॥

पृष्ठतोऽनुगमिष्यामि सीतां त्वां धानुपालयन् ।

अन्योन्यस्य हि नो रक्षा कर्तव्या पुरुषवर्षभ ॥ ९६ ॥

तदनन्तर महाबाहु श्रीराम सुमित्रानन्दन लक्ष्मणसे बोले—‘सुमित्राकुमार ! अब तुम सजन या निर्जन वनमें सीताको रक्षाके लिये सावधान हो जाओ, हम जैसे लोगोंकी निर्जन वनमें नागोंको रक्षा अवश्य करना चाहिये अतः तुम आगे-आगे चलो, सीता तुम्हारे पीछे-पीछे चले और मैं सीताको तथा तुम्हारे रक्षा करता हुआ सबसे पीछे चार्हूँगा पृष्ठप्रदेश । हम दोनोंको एक दूसरेका रक्षा करना चाहिये ।

न हि तावदनिकान्तासुकरा काचन क्रिया ।

अद्य दुःखं तु र्वदेहो वनवासस्य वेत्स्यति ॥ ९७ ॥

‘अबतक कोई भी दुष्कर कार्य समाप्त नहीं हुआ है—इस समयमें ही काँटनाइयाँका सामना आरम्भ हुआ है । आज विदेहकनूरा सीताकी वनवासके वास्तविक कष्टका अनुभव होगा ॥ ९७ ॥

प्रणष्टजनसम्बन्धं क्षेत्रारामविवर्जितम् ।

विषयं च प्रपातं च वनमष्ट प्रवेक्ष्यति ॥ ९८ ॥

‘अब ये ऐसे वनमें प्रवेश करेंगी, जहाँ मनुष्योंके आन-जास्का कोई चिह्न नहीं दिखायी देगा, न घान आदिके खन होगा न दृक्-कनक लिये बगोंचे । जहाँ ऊँची नीची भूमि होगी और गड़वे मिलेंगे जिसमें गिरनेका भय रहेगा’ ॥ ९८ ॥

श्रुत्वा रामस्य वचनं वनस्थे लक्ष्मणोऽग्रतः ।

अनन्तरं च सीताया राघवो रघुनन्दनः ॥ ९९ ॥

श्रीरामचन्द्रजीका यह वचन सुनकर लक्ष्मण आगे बढ़े । उनके पीछे सीता स्वल्पे जगती तथा सीताके पीछे रघुकुलनन्दन श्रीराम थे ॥ ९९ ॥

गतं तु गङ्गापरपारभाशु

रामं सुमन्त्रः सततं निरीक्ष्य ।

अध्वप्रकर्षाद् विनिवृत्तदृष्टि-

मुमुच चायं स्थितस्तपस्वी ॥ १०० ॥

श्रीरामचन्द्रजी शीघ्र गङ्गाजीके उस पार पहुँचकर जबतक दिखायी दिये तबतक सुमन्त्र निरन्तर उन्हींकी ओर दृष्टि

* इस श्लोकमें आये हुए ‘सुगन्धसहस्रेण’ को व्युत्पत्ति इस प्रकार है—सुगन्ध देव्यु न घटते न सन्नोन्नयर्थ, तेषां सहस्रं तेन सहस्रसंख्याकसुगन्धसहस्रेणेत्यर्थ । ‘मांसभृतीदनेन’ का व्युत्पत्ति इस प्रकार समझनी चाहिये—मांसभृतीदनेन सा नास्ति असौ राजभागे यस्यां सा पून भू पृथ्वी च उत वस्त्रं च आदने च एतयोः सम्बन्धः नन च ना वक्ष्ये

लगाये देखते रहें। जब वनके मार्गमें बहुत दूर निकल जानेके कारण वे दृष्टिमें ओझल हो गये तब नन्वे मृगान्तक इन्धम वहाँ व्यथा हुई। वे नेत्रोंसे आँसू बहाने लगे ॥ १०० ॥

म लोकपालप्रतिमप्रभाव-

स्तीर्त्वा महात्मा सरदो महानदीम् ।

ततः समृद्धाञ्जुभसम्यमालिनः

क्रमेण वत्सान् मुदितानुपागमत् ॥ १०१ ॥

लोकपालोंके सन्मान प्रभावजालों वरदायक महात्मा श्रीराम महानदी गङ्गाको पार करके क्रमशः समृद्धिजालों वत्सदेश-(प्रयाग-) में जा पहुँचे, जो सुन्दर धन-धान्यमें

इत्यादि श्रीमद्वाल्मीकिनिर्मित अयोध्याकाण्डे द्विपञ्चाशः सर्गः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित अयोध्याकाण्डे अयोध्याकाण्डमें ब्रह्मचर्य मर्ग पूरा हुआ ॥ ५२ ॥

त्रिपञ्चाशः सर्गः

श्रीरामका राजाको उपालम्भ देने हुए कैकेयीसे कौसल्या आदिके अनिष्टकी आशङ्का बताकर लक्ष्मणको अयोध्या लौटानेके लिये प्रयत्न करना, लक्ष्मणका श्रीरामके बिना अपना जीवन असम्भव बनाकर वहाँ जानेसे इनकार करना, फिर श्रीरामका उन्हें वनवासकी अनुमति देना

स तं वृक्षं सपासाद्य संध्यामन्वास्य पश्चिमात् ।

रामो रमयतां श्रेष्ठ इति होवाच लक्ष्मणम् ॥ १ ॥

उस वृक्षके नीचे पहुँचकर आनन्द प्रदान करनेवाला मैं श्रेष्ठ श्रीरामसे सायंकालके संध्यापानना करके लक्ष्मणसे इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

अद्यैव प्रथमा रात्रिर्याना जनपटाद् बहिः ।

या सुमन्त्रेण सहिता तो नोत्कण्ठितुमर्हसि ॥ २ ॥

सुमित्रानन्दन ! आज हमे अपने जनपदमें बाहर यत्र पहली रात प्राप्त हुई है, जिसमें सुमन्त्र हमारे साथ नहीं हैं। इस रातको पाकर मुझे नगरको सुख-सुविधाओंके लिये उत्कण्ठित नहीं होना चाहिये ॥ २ ॥

जागर्तव्यमनन्दिध्यामद्यप्रभृति रात्रिषु ।

योगक्षेमा हि सौताया वर्तते लक्ष्मणावयोः ॥ ३ ॥

‘लक्ष्मण ! आजमें हम दोनों भाइयोंका आत्म्य छोड़कर रातमें जागना होगा; क्योंकि सौताके योगक्षेम हम दोनोंके ही अधीन हैं ॥ ३ ॥

रात्रि कथंचिदवेषां संमित्रे वर्तयामहे ।

अपवर्तामहे भूयाद्यास्तीर्य स्वयमर्जितैः ॥ ४ ॥

‘सुमित्रानन्दन ! यह रात हमलोग क्रिपे तरह विनोदों और स्वयं संग्रह करके ल्याये हुए तिनकों और पनेकों शय्या बनाकर उसे भूमिपर बिछाकर उसपर किमी तरह सो लेंगे ।

सम्यक् धा । वहकि लंग बड़े हट-पुट थे । १०१ ॥

तो तत्र इत्वा चतुरो महामृगान्

वराहमुद्यं पुषतं महासुतम् ।

आदाय मेध्यं त्वरितं सुभुक्षिनी

वासाय काले ययत्तुर्वनस्पतिम् ॥ १०२ ॥

वहाँ उन दोनों भाइयोंने मृगाया-विनोदके लिये वराह इन्ध पशु और महासुत— इन चार महामृगापर वाणाका प्रहार किया। तत्पश्चात् जब उन्हें भूख लगी, तब पवित्र कन्द-मूल आदि लेकर सायंकालके समय उठानेके लिये (वे संताजोंके साथ) एक वृक्षके नीचे चले गये ॥ १०२ ॥

स तु संविश्य मेदिन्यां महार्हशयनोचितः ।

इमाः सौमित्रये रामो व्याजहार कथाः शुभाः ॥ ५ ॥

जो बहुमूल्य शय्यापर सोनेके योग्य थे, वे श्रीराम भूमिपर ही बैठकर सुमित्रकुमार लक्ष्मणसे ये शुभ बातें कहने लगे— ॥ ५ ॥

ध्रुवमहा महाराजो दुःखं स्वपिति लक्ष्मण ।

कृतकामा तु कैकेयी तुष्टा भवितुमर्हति ॥ ६ ॥

‘लक्ष्मण ! आज महाराज निश्चय ही बड़े दुःखसे सो रहे होंगे परन्तु कैकेयी सफलमनोश्च हानके कारण बहुत संतुष्ट होंगी ॥ ६ ॥

सा हि देवी महाराजं कैकेयी राज्यकारणात् ।

अपि न च्यावयेत् प्राणान् दुष्टा भरतमागतम् ॥ ७ ॥

कहाँ ऐसी न हो कि रानी कैकेयी भरतको आया देख राज्यके लिये महाराजको प्राणोंसे भी विपुल कर दे । ७ ।

अनाद्यश्च हि वृद्धश्च यथा र्ध्व विना कृतः ।

किं करिष्यति कामात्या कैकेय्या वशमागतः ॥ ८ ॥

महाराजका कोई रक्षक न होनेके कारण वे इस समय अनाथ हैं, वृद्ध हैं और उन्हें मेरे विरोगका सामना करना पड़ा है। उनका कामना मनमें ही रह गयी तथा वे कैकेयीके वशमें पड़ गये हैं, ऐसी दशामें वे बेचारे अपनी रक्षाके लिये क्या करेंगे ? ॥ ८ ॥

इदं व्यसनमालोक्य राजश्च मतिविभ्रमम् ।

काम एवार्थधर्माभ्यां गरीयानिति ये मतिः ॥ ९ ॥

'अपने ऊपर आये हुए इस संकटको और राजाकी मतिभ्रान्तिको देखकर मुझे ऐसा मान्यता है कि अर्थ और धर्मकी अपेक्षा कामका ही गौरव अधिक है ॥ ९ ॥

को ह्यविद्वानपि पुमान् प्रमदायाः कृते त्यजेत् ।

छन्दानुवर्तिनं पुत्रं तातो मामिव लक्ष्मण ॥ १० ॥

'लक्ष्मण ! पिताजीने जिस तरह मुझे त्याग दिया है, उस प्रकार अत्यन्त अज्ञ होनेपर भी कौन ऐसा पुरुष होगा, जो एक स्त्रियोंके लिये अपने आशाकारी पुत्रका परित्याग कर दे ? ॥ १० ॥

सुखी चम सुधार्यश्च भरतः कैकेयीसुतः ।

मुदितान् कोसलानेको यो भोक्ष्यत्यधिराजवत् ॥ ११ ॥

'कैकेयीकुमार भरत हो सुखी और सौभाग्यवती स्त्रियोंके पति हैं, जो अकेले ही इष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे भरे हुए कोसलदेशका सम्राट्त्व भी पालन करेंगे ॥ ११ ॥

स हि राज्यस्य सर्वस्य सुखमेकं भविष्यति ।

ताते तु वधसातीते मयि चारण्यमाश्रिते ॥ १२ ॥

'पिताजी अत्यन्त क्रुद्ध हो गये हैं और मैं वनमें चला आया हूँ, ऐसी दशामें केवल भरत ही समस्त राज्यके श्रेष्ठ सुखका उभोग करेंगे ॥ १२ ॥

अर्थधर्मौ परित्यज्य यः काममनुवर्तते ।

एवमापद्यते क्षिप्रं राजा दशरथो यथा ॥ १३ ॥

'सच है, जो अर्थ और धर्मका परित्याग करके केवल कामका अनुसरण करता है, वह उसी प्रकार शीघ्र ही आपन्निमें पड़ जाता है, जैसे इस समय महाराज दशरथ पड़े हैं ॥ १३ ॥

मन्ये दशरथान्ताय मम प्रव्राजनाय च ।

कैकेयी सौम्य सम्प्राप्ता राज्याय भरतस्य च ॥ १४ ॥

'सौम्य ! मैं समझता हूँ कि महाराज दशरथके प्राणोंका अन्त करने, मुझे देशान्तर देने और भरतको राज्य दिलानेके लिये ही कैकेयी इस राजभवनमें आयी थी ॥ १४ ॥

अपीदानीं तु कैकेयी सौभाग्यभदमोहिता ।

कौसल्यां च सुमित्रां च सा प्रबाधेत मत्कृते ॥ १५ ॥

इस समय भी सौभाग्यके मन्दसे मोहित हुई कैकेयी में कारण कौसल्या और सुमित्राको कष्ट पहुँचा सकती है ।

मातास्मत्कारणाद् देवी सुमित्रा दुःखपावसेत् ।

अयोध्यामित एव त्वं काले प्रविश लक्ष्मण ॥ १६ ॥

'हमलोगोंके कारण तुम्हारी माता सुमित्रादेवीको बड़े दुःखके साथ वहाँ रहना पड़ेगा अतः लक्ष्मण ! तुम यहाँसे काल प्रातःकाल अयोध्याको लौट जाओ ॥ १६ ॥

अहमेको गमिष्यामि सीतया सह दण्डकान् ।

अनाथाया हि नाथस्त्वं कौसल्याया भविष्यसि ॥ १७ ॥

'मैं अकेला ही सीताके साथ दण्डकवनमें जाऊँगा ।

तुम वहाँ मेरी असहाय माता कौसल्याके सहायक हो जाओगे ॥ १७ ॥

क्षुद्रकर्मा हि कैकेयी द्वेषादन्यायमाचरेत् ।

परिदद्याद्भिर्धर्मज्ञ गरं ते मम मातरम् ॥ १८ ॥

'धर्मज्ञ लक्ष्मण ! कैकेयीके कर्म बड़े खान्टे हैं। वह द्वेषवश अन्याय भी कर सकती है तुम्हारी और मेरी माताका जहर भी दे सकती है ॥ १८ ॥

नूनं ज्ञात्यन्तरे तान् स्त्रियः पुत्रैर्विपोजिताः ।

जनन्या मम सौमित्रे तदद्यैतदुपस्थितम् ॥ १९ ॥

'तान् सुमित्राकुमार ! निश्चय ही पूर्वजन्ममें मेरी माताने कुछ स्त्रियोंका उनके पुत्रोंमें विभाग करवा होगा, उसी पापका यह पुत्र विछेदरूप फल आज उन्हें प्राप्त हुआ है ॥ १९ ॥

मया हि चिरपुष्टेन दुःखसंवर्धितेन च ।

विप्रयुज्यत कौसल्या फलकाले धिगस्तुमाम् ॥ २० ॥

'मेरी माताने चिरकालतक मेरा पालन-पोषण किया और स्वयं दुःख सहकर मुझे बड़ा किया। अब जब पुत्रमें प्राप्त होनेवाले सुखरूपी फलके भोगनेका अवसर आया, तब मैंने माता कौसल्याको अपनेसे विलग कर दिया। मुझे धिक्कर है ! ॥ २० ॥

या स्म सौमन्तिनी काञ्चिज्जनयेत् पुत्रमीदृशम् ।

सौमित्रे योऽहमन्वाया दधि शोकमनन्तकम् ॥ २१ ॥

'सुमित्रानन्दन ! कोई भी सौभाग्यवती स्त्री कभी ऐसे पुत्रको जन्म न दे, जैसा मैं हूँ; क्योंकि मैं अपनी माताको अनन्त शोक दे रहा हूँ ॥ २१ ॥

मन्ये प्रीतिविशिष्टा सा मनो लक्ष्मण सारिका ।

यत्तस्याः श्रूयते वाक्यं शुक पादमरेर्दश ॥ २२ ॥

'लक्ष्मण ! मैं तो ऐसा मानता हूँ कि माता कौसल्यामें पुत्रसे अधिक प्रेम उनकी पाली हुई वह सारिका ही करती है, क्योंकि उसके मुखसे माँको सदा यह बात सुनायी देती है कि 'ऐ तोते ! तू शत्रुक पैरको काट खा' (अर्थात् हमें पालनेवाली माता कामन्त्याके शत्रुके पक्षियों को चोख मार दे। वह पक्षियों होकर माताका इतना ध्यान रखती है और मैं उनका पुत्र होकर भी उनके लिये कुछ नहीं कर पाता) ॥ २२ ॥

शोचन्त्याक्षुण्णभाग्याया न किञ्चिदुपकुर्वता ।

पुत्रेण किमपुत्राया मया कार्यमरिदम् ॥ २३ ॥

'शत्रुदमन ! जो मेरे लिये शोकमग्न रहती है, मन्दभागिनी मो हो रही है और पुत्रका कोई फल न पानेके कारण निपूनी-सी हो गयी है उस मेरी माताको कुछ भी ठपकार न करनेवाले मुझ-जैसे पुत्रसे क्या प्रयोजन है ? ॥

अल्पधाम्ना हि मे घाता कौसल्या रहिता मया ।

ज्ञेते परधदुःखार्ता पतिता शोकसागरे ॥ २४ ॥

'मुझसे बिछड़ जानेके कारण माता कौसल्या वास्तवमें

मन्दभागिनी हो गया है और शोकके समुद्रमें पड़कर अत्यन्त दुःखसे आतुर हो उसीमें शयन करती है ॥ २४ ॥

एको ह्यहमयोध्यां च पृथिवीं चापि लक्ष्मण ।

तरेणमिषुभिः कृद्धो ननु वीर्यप्रकारणम् ॥ २५ ॥

लक्ष्मण । यदि मैं कुपित हो जाऊँ तो अपने बाणोंद्वारा अकाल्य ही अयोध्यापुरी तथा समस्त भूमण्डलको निष्कण्टक बनाकर अपने अधिकारमें कर लूँ, परन्तु पारलौकिक तिन-माधनों बल-पराक्रम कागण नहीं होता है (इसीलिये मैं ऐसा नहीं कर रहा हूँ) ॥ २५ ॥

अधर्मध्वभीनश्च परलोकस्य जानघ ।

तेन लक्ष्मण नाद्याहमात्मानमभिवेद्यते ॥ २६ ॥

‘निष्ठाप लक्ष्मण । मैं अधर्म और परलोकके दुर्गमें दुग्ता हूँ इसीलिये आज अयोध्याके राजद्वार अपना अभियेक नहीं करती हूँ ॥ २६ ॥

एतदन्यथा करुणं विलम्बं विजने बहु ।

अश्रुपूर्णमुखो दीनो निशि तृष्णामुपाविशत् ॥ २७ ॥

यह तथा और भी बहुत-सी बातें कहकर श्रीरामने उस निजन वनमें करुणाजनक विलाप किया । सत्यश्रुति से उस रातमें चुपचाप बैठ गये । उस समय उनके मुखपर आँसुओंकी धारा बह रही थी और दीनता छा रही थी ॥ २७ ॥

विलापोपरतं रामे गतार्चिषमिवानलम् ।

समुद्रमिव निर्वङ्गमाश्वासयत लक्ष्मणः ॥ २८ ॥

विलापसे निवृत्त होनेपर श्रीराम ज्वलारहित आग्न और वेगशून्य समुद्रके समान शान्त प्रतीत होते थे । उस समय लक्ष्मणने उन्हें आश्वासन देते हुए कहा— ॥ २८ ॥

ध्रुवमद्य पुरी राम अयोध्याऽऽयुधिनां सर ।

निष्प्रभा स्थिति निष्क्रान्ते गतचन्द्रेण शर्वरी ॥ २९ ॥

अस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ श्रीराम ! आपके निकल आनेमें निश्चय ही आज अयोध्यापुरी चन्द्रहीन रात्रिके समान निम्नज हो गयी ॥

नैतदीपयिकं राम यदिदं परिणयसे ।

विषादयसि सीतां च यो र्वेव पुरुषबंध ॥ ३० ॥

‘पुरुषानम श्रीराम । आप जो इस तरह संलग्न हो रहे हैं, यह आपके लिये कदापि उचित नहीं है । आप ऐसा करके

सीताके और मुझको भी खेदमें डाल रहे हैं ॥ ३० ॥

न च सीता त्वया हीना न चाहमपि राघव ।

मुहूर्तमपि जीवावो जलाभ्यस्तथाविवोद्धृतौ ॥ ३१ ॥

‘रघुनन्दन । आपके बिना सीता और मैं दोनों दो बड़ी भी जालिन नहीं रह सकते । टोंक उसी तरह जैसे जलसे निकाले हुए मत्स्य नहीं जीते हैं ॥ ३१ ॥

नहि तातं न शत्रुघ्नं न सुमित्रां परंतप ।

द्रष्टुमिच्छेयमद्याहं स्वर्गं चापि त्वया विना ॥ ३२ ॥

‘शत्रुओंको तप देनवाले रघुवीर ! आपके बिना आज मैं न तो पिताजीको न भाई शत्रुघ्नको न मामा सुमित्राको और न स्वर्गलोकको ही देखना चाहता हूँ ॥ ३२ ॥

ततस्तत्र समासीनौ नातिदूरे निरीक्ष्य ताम् ।

न्यग्रोधे सुकृतां शय्यां भेजाते धर्मवत्सलौ ॥ ३३ ॥

तदनन्तर वहाँ बैठे हुए धर्मवत्सल सीता और श्रीरामने थोड़ी ही दूरपर वटवृक्षके नीचे लक्ष्मणद्वारा सुन्दर ढंगसे निर्मित हुई शय्या देखकर उसीका आश्रय लिया (अर्थात् वे दोनों वहाँ जाकर सो गये) ॥ ३३ ॥

स लक्ष्मणस्थानमपुष्कलं बभौ

निशय्य चैवं वनवासमादरात् ।

सभाः समस्ता विटथे परंतपः

प्रपद्य धर्मं सुचिराय राघवः ॥ ३४ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले रघुनाथजीने इस प्रकार वनवासके प्रति आदरपूर्वक कहें हुए लक्ष्मणके अत्यन्त उन्नम वचनोंके सुनकर स्वयं भी दीर्घकालके लिये वनवास-रूप धर्मका स्वाकार करके सम्पूर्ण वर्णोक्त लक्ष्मणको अपने साथ वनमें रहनेकी अनुमति दे दी ॥ ३४ ॥

नतस्तु तस्मिन् विजने महाबली

महावने राघववंशवर्धनौ ।

न तौ धर्मं सम्भ्रममभ्युपेयतु-

यर्थेव सिद्धौ गिरिसानुगोचरौ ॥ ३५ ॥

तदनन्तर उस महान् निर्जन वनमें रघुवंशकी वृद्धि करनेवाले वे दोनों महाबली वार पर्वतशिखरपर विचरनेवाले दो सिंहोंके समान कभी भय और डङ्गको नहीं प्राप्त हुए ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे कात्स्न्योक्तोऽयं आदिकाव्यऽयोध्याकाण्डे त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें तिरपनचा सर्ग पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

चतुःपञ्चाशः सर्गः

लक्ष्मण और सीतासहित श्रीरामका प्रयागमें गङ्गा-यमुना-संगमके समीप भरद्वाज-आश्रममें

जाना, मुनिके द्वारा उनका अतिथिसत्कार, उन्हें चित्रकूट पर्वतपर ठहरनेका

आदेश तथा चित्रकूटकी महत्ता एवं शोभाका वर्णन

न तु तस्मिन् महावृक्षे उषित्वा रजनीं शुभाम् ।

विषलेऽभ्युदिते सूर्ये तस्माद् देशात् प्रतस्थिरे ॥ १ ॥

उस महान् वृक्षके नीचे वह सुन्दर रात बिताकर वे सब श्रेष्ठ

निर्मल सूर्यादिकालमें उस स्थानसे आगेको प्रस्थित हुए ॥ १ ॥

यत्र भागीरथी गङ्गा यमुनाभिप्रवर्तते ।
जम्बुस्तं देशमुद्दिश्य विगाहा सुमहद् वनम् ॥ २ ॥

जहाँ भागीरथी गङ्गासे यमुना मिलती है उस स्थानपर जानेके लिये वे महान् वनके भीतरसे होकर यात्रा करने लगे ॥ २ ॥

तेभूमिभागान् विविधान् देशाश्चापि मनोहरान् ।
अदृष्टपूर्वान् पश्यन्तस्तत्र तत्र यशस्विनः ॥ ३ ॥

वे तीनों यशस्वी यात्री मार्गमें जहाँ तहाँ जो फल्य कथा देखनेमें नहीं आये थे, ऐसे अनेक प्रकारके भू भाग तथा मनोहर प्रदेश देखते हुए आगे बढ़ रहे थे ॥ ३ ॥

यथा क्षेमेण सम्पश्यन् पुष्पितान् विविधान् रुमान् ।
निर्वृत्तमात्रे दिवसे रामः सौमित्रिमब्रवीत् ॥ ४ ॥

मुखपूर्वक आरामसे उठते-बैठते यात्रा करने हुए उन तीनोंने फूलोंसे सुशोभित भाँति-भाँतिके वृक्षोंका दर्शन किया । इस प्रकार जब दिन प्रायः सम्पन्न हो चला, तब श्रीरामने लक्ष्मणसे कहा— ॥ ४ ॥

प्रयागमभितः पश्य सौमित्रे घूममुत्तमम् ।
अग्नेर्भगवतः केतुं भन्ये संनिहितो मुनिः ॥ ५ ॥

'सुमित्रानन्दन ! यह देखो, प्रयागके पास भगवान् अग्निदेवको ध्वजारूप उत्तम घूम उठ रहा है । मालूम होता है, मुनिवर भरद्वाज यहीं हैं ॥ ५ ॥

नूनं प्राप्ताः स्म सम्भेदं गङ्गायमुनयोर्वयम् ।
तथाहि श्रूयते शब्दो वारिणोर्वारिधर्षजः ॥ ६ ॥

'निश्चय ही हमलोग गङ्गा-यमुनाके सङ्गमके पास आ पहुँचे हैं, क्योंकि दो नदियोंके जलके परस्पर टकरानेमें जो शब्द प्रकट होता है, वह सुनायी दे रहा है ॥ ६ ॥

दाक्षिणि परिभिन्नानि वनजैरुपजीविभिः ।
छिन्नाश्चाप्याश्रमे चैते दृश्यन्ते विविधा रुपाः ॥ ७ ॥

'वनमें उत्पन्न हुए फल-मूल और काष्ठ आदिस जीविक चलातेवाले लोगोंने जो लकड़ियाँ काटी हैं, वे दिखायी देती हैं तथा जिनकी लकड़ियाँ काटी गयी हैं, वे नाना प्रकारके वृक्ष भी आश्रमके समीप दृष्टिगोचर हो रहे हैं ॥ ७ ॥

धन्विनौ तौ सुखं गत्वा लब्धमाने दिवाकरे ।
गङ्गायमुनयोः संधौ प्रापनुर्निलयं पुनः ॥ ८ ॥

इस प्रकार वानघोष करने हुए वे दोनों अनुधर और श्रीराम और लक्ष्मण सुखान्त होते होते गङ्गा यमुनाके सङ्गमके समीप मुनिवर भरद्वाजके आश्रमपर आ पहुँचे ॥ ८ ॥

रामस्त्वाश्रममासाद्य आसयन् भृगुपक्षिणः ।
गत्वा भुहूर्नपध्वानं भरद्वाजमुपागमत् ॥ ९ ॥

श्रीरामचन्द्रजी आश्रमकी सीमामें पहुँचकर अपने अनुधर वेशके द्वारा वहकि भृगु-पक्षियोंको डरते हुए दो ही घड़ीमें तौ करनेयोग्य मार्गसे चलकर भरद्वाज मुनिके समीप आ पहुँचे ॥ ९ ॥

ततस्त्वाश्रममासाद्य पुनर्दर्शनकाङ्क्षिणौ ।
सीतयानुगतौ वीरौ दूरादेवावतस्थतुः ॥ १० ॥

आश्रममें पहुँचकर महर्षिके दर्शनकी इच्छावाले सीतायानुगतौ वीरौ दूरादेवावतस्थतुः ॥ १० ॥

स प्रविश्य महात्मानमुषि शिष्यगणैर्वृतम् ।
संशितव्रतमेकाग्रं तपसा लब्धचक्षुषम् ॥ ११ ॥

हुताग्निहोत्रं दृष्ट्वैव महाभागः कृताञ्जलिः ।
रामः सौमित्रिणा सार्धं सीतया साध्यवाद्यत् ॥ १२ ॥

(दूर खड़े हो महर्षिके शिष्यसे अपने आगमनकी सूचना दियेकर भीतर आनेकी अनुमति प्राप्त कर लीके बाद) पर्ण-शालामें प्रवेश करके उन्होंने तपस्याके प्रभावसे तीनों कालोंकी मारी बाने देखनेकी दिव्य दृष्टि प्राप्त कर लेनेवाले एकाग्रचित्त तथा तीक्ष्ण वनधारी महात्मा भरद्वाज ऋषिकी दर्शन किया जो अग्निहोत्र करके शिष्योंमें धिर हुए आसनपर विराजमान थे । महर्षिकी देखने की लक्ष्मण और सीतासहित महाभाग श्रीरामने हाथ जोड़कर उनके चरणोंमें प्रणाम किया ॥ ११-१२ ॥

न्यवेदयत् चात्मानं तस्यै लक्ष्मणपूर्वजः ।
पुत्री दशरथस्यावां भगवन् रामलक्ष्मणौ ॥ १३ ॥

भार्या ममेवं कल्याणी वैदेही जनकात्मजा ।
मां चानुयाता विजनं तपोवनमनिन्दिता ॥ १४ ॥

तत्पश्चात् लक्ष्मणके बड़े भाई श्रीरघुनाथजीने उनसे इस प्रकार अपना परिचय दिया—'भगवन् ! हम दोनों राजा दशरथके पुत्र हैं । मेरा नाम राम और इनका लक्ष्मण है तथा ये विद्वद्वाज जनककी पुत्री और मेरी कल्याणमयी पत्नी सती साध्वी सीता हैं, जो विजन तपोवनमें भी मेरा साथ देनेके लिये आयी हैं ॥ १३-१४ ॥

पित्रा प्रव्राज्यमानं मां सौमित्रिरनुजः प्रियः ।
अयमन्वगमद् भ्राता वनपेय घृतव्रतः ॥ १५ ॥

'पिताकी आज्ञासे मुझे वनकी ओर आते देखे ये मेरे प्रिय अनुज भाई सुमित्राकुमार लक्ष्मण भी वनमें ही रहनेका व्रत लेकर मेरे पीछे-पीछे चले आये हैं ॥ १५ ॥

पित्रा नियुक्ता भगवन् प्रवेक्ष्यामस्तपोवनम् ।
धर्ममेवाचरिष्यामस्तत्र मूलफलाशनाः ॥ १६ ॥

'भगवन् ! इस प्रकार पिताकी आज्ञासे हम तीनों तपोवनमें जायेंगे और वहाँ फल-मूलका आहार करते हुए धर्मका ही आचरण करेंगे ॥ १६ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राजपुत्रस्य धीमतः ।
उपावयत् धर्मात्मा गामर्घ्यमुदकं ततः ॥ १७ ॥

परम बुद्धिमान् राजकुमार श्रीरामका यह वचन सुनकर धर्मात्मा भरद्वाज मुनिने उनके लिये आतिथ्यसत्कारके रूपमें एक गौ तथा अर्घ्य-जल समर्पित किये ॥ १७ ॥

नानाविधानन्नरसान् वन्यमूलफलाभ्यान् ।
तेभ्यो दत्तौ तप्ततपा वासं चैवाध्यकल्पयत् ॥ १८ ॥

उन तपस्वी महात्माने उन सबकी नाना प्रकारके अन्न, रस और जगलों फल-मूल प्रदान किये। साथ ही उनके तहस्रके लिये स्थानकी भी व्यवस्था की ॥ १८ ॥

पृगपक्षिभिरासीनो मुनिभिश्च सम्पन्नतः ।
रामभागात्तपश्चर्च्य स्वागतेनागतं मुनिः ॥ १९ ॥
प्रतिगृह्य तु तामर्थामुपविष्टं स राघवम् ।

भरद्वाजोऽब्रवीद् वाक्यं धर्मयुक्तमिदं तदा ॥ २० ॥

महर्षिके चारों ओर भृग, पक्षी और ऋषि-मुनि बैठे थे और उनके बीचमें वे विराजमान थे। उन्होंने अपने आश्रमपर अतिथिरूपमें पधारं हुए श्रीरामका स्वागतपूर्वक सत्कार किया। उनके उस सत्कारको प्रहण करके श्रीरामचन्द्रजी तब आसनपर विराजमान हुए, तब भरद्वाजजीने उनसे यह धर्मयुक्त वचन कहा— ॥ १९-२० ॥

चिरस्य खलु काकुत्स्थ पश्याप्यहमुपागतम् ।
श्रुतं तव मया चैव विवासनमकारणम् ॥ २१ ॥

काकुत्स्थकुलभूषण श्रीराम ! मैं हम आश्रमपर दौर्ब-
कालसे तुम्हारे शुभागमनकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ। आज मेरा मनोरथ सफल हुआ है। मैंने यह भी सुना है कि तुम्हें अस्कारण ही वनवास दे दिया गया है ॥ २१ ॥

अवकाशो विविक्तोऽयं महानद्योः समागमे ।
पुण्यश्च रमणीयश्च वसतिह भवान् सुखम् ॥ २२ ॥

‘गङ्गा और यमुना—इन दोनों महानदियोंके संगमके पासका यह स्थान बड़ा ही पवित्र और एकान्त है। यहाँको प्राकृतिक छटा भी मनोरम है, अतः तुम यहीं सुखपूर्वक निवास करो’ ॥ २२ ॥

एवमुक्तस्तु वचनं भरद्वाजेन राघवः ।
प्रत्युवाच शुभं वाक्यं रामः सर्वहिते रतः ॥ २३ ॥

भरद्वाज मुनिके ऐसा कहनेपर समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले रघुकुलनन्दन श्रीरामने इन शुभ वचनोंके द्वारा उन्हें उत्तर दिया— ॥ २३ ॥

भगवन्नित आसन्नः पौरजानपदो जनः ।
सुदर्शमिह मां प्रेक्ष्य मन्येऽहमिषमाश्रमम् ॥ २४ ॥

आगमिष्यति वंदेही मां चापि प्रेक्षको जनः ।
अनेन कारणेनाहमिह वासं न रोषये ॥ २५ ॥

‘भगवन् ! मेरे नगर और जनपदके लोग यहाँसे बहुत निकट पहुँचे हैं अतः मैं सम्पन्न हूँ कि यहाँ मुझमें मिलना सुगम समझकर लोग इस आश्रमपर मुझे और सोताको

देखनके लिये प्रायः आते-जाते रहेंगे; इस कारण यहाँ निवास करना मुझे ठीक नहीं जान पड़ता ॥ २४-२५ ॥

एकान्ते पश्य भगवन्नाश्रमस्थानमुत्तमम् ।
रमते यत्र वंदेही सुखार्हा जनकात्मजा ॥ २६ ॥

‘भगवन् ! किसी एकान्त प्रदेशमें आश्रमके योग्य उत्तम स्थान देखिये (मोचकर बताइये) जहाँ सुख भागनेके योग्य विदेहराजकुमारो जानकी प्रसन्नतापूर्वक रह सकें’ ॥ २६ ॥

एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं भरद्वाजो महामुनिः ।
राघवस्थ तु तद् वाक्यमर्थप्राप्तकमब्रवीत् ॥ २७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीका यह शुभ वचन सुनकर महामुनि भरद्वाजजीने उनके उक्त उद्देश्योंके सिद्धिका बोध करानेवाली बात कही— ॥ २७ ॥

दशकोश इतस्नात गिरिर्यस्मिन् निवस्यसि ।
महर्षिसेवितः पुण्यः पर्वतः शुभदर्शनः ॥ २८ ॥

‘तात ! यहाँसे दस कोस (अन्य व्याख्याके अनुसार ३० कोस)* की दूरीपर एक सुन्दर और महर्षियोंद्वारा सेवित पवित्र पर्वत है, जिसपर तुम्हें निवास करना होगा। गोलाङ्गुलानुचरितो जानरक्षीनिषेवितः ।

चित्रकूट इति ख्यातो गन्धमादनसंनिभः ॥ २९ ॥

‘उसपर बहुत-से लंगूर विचरते रहते हैं। वहाँ जानर और गेंछ भी निवास करते हैं। वह पर्वत चित्रकूट नामसे विख्यात है और गन्धमादनके समान मनोरम है ॥ २९ ॥

यावता चित्रकूटस्य नरः शृङ्गाण्यवेक्षते ।
कल्याणानि समाधत्ते न पापे कुरुते मनः ॥ ३० ॥

‘जब मनुष्य चित्रकूटके शिखरोक्त दर्शन कर लेता है, तब कल्याणकारी पुण्य कर्मोंका फल पा लेता है और कभी पापमें मन नहीं लगाता है ॥ ३० ॥

ऋषयस्तत्र बहवो विहित्य शरदां शतम् ।
तपसा दिवभारुद्धाः कपालशिरसा सह ॥ ३१ ॥

‘वहाँ बहुत-से ऋषि, जिनके सिरके बाल वृद्धावस्थाके कारण खोपड़ोंकी भाँति सफेद हो गये थे तपस्याद्वारा सैकड़ों वर्षोंतक क्रीड़ा करके स्वर्गलोकको चले गये हैं ॥ ३१ ॥

प्रविबिक्तमहं मन्ये तं वासं भवतः सुखम् ।
इह वा वनवासाय वस राम मया सह ॥ ३२ ॥

‘उसी पर्वतकी मैं तुम्हारे लिये एकान्तवासके योग्य और सुखद मानता हूँ अथवा श्रीराम ! तुम वनवासके उद्देश्यसे मेरे साथ इस आश्रमपर ही रहो’ ॥ ३२ ॥

* रामायणश्रीमणिकृत दश कोसका अर्थ नव कोस है और दश च दश च दश च ऐसी व्युत्पत्ति करके एकत्रोपके नियमानुसार एक ही दशका प्रयोग होना भी उसे ३० मय्याका प्रोत्पन्न मानने है। प्रयागसे चित्रकूटकी दूरी लगभग २८ कोस मानी जाती है जो उपर्युक्त संख्यासे घिलती जाती है। आधुनिक मापके अनुसार प्रयागसे चित्रकूट ८० मील है। इस हिसाबसे चालीस कोसकी दूरी हुई। परन्तु पहलका कथमान आधुनिक मान्यमे कुछ बड़ा रहा होगा तभी यह अन्तर है।

स रामं सर्वकामैस्तं भरद्वाजः प्रियान्तिथिम् ।

सभार्यं सह च भ्रात्रा प्रतियग्राहं हर्षयन् ॥ ३३ ॥

ऐसा कहकर भरद्वाजजीने पत्नी और भ्रातासाहब प्रिय अतिथि श्रीरामका हर्ष बढ़ाने हुए सब प्रकारकी मनोवार्त्ता सुनवस्तुओंद्वारा उन सबका अतिथ्यसत्कार किया ॥ ३३ ॥

तस्य प्रयागे रामस्य तं महर्षिपुत्रेयुषः ।

प्रपञ्चा रजनीं पुण्या चित्रा कथयतः कथाः ॥ ३४ ॥

प्रयागमें श्रीगमचन्द्रजी महर्षिके पास बैठकर त्रिचित्र बातें करते रहे, इतनेमें ही पुण्यमयी रात्रिका आगमन हुआ ।

सीतानुतीयः काकुत्स्थः परिभ्रातः सुखोचितः ।

भरद्वाजाश्रमे रम्ये तां रात्रिमवसत् सुखम् ॥ ३५ ॥

वे सुख भोगनेयोग्य होनेपर भी परिश्रममें बहने तक गये थे, इमलिये भरद्वाज मुनिके उस भर्ताह्व आश्रममें श्रीरामने लक्ष्मण और सीताके साथ सुखपूर्वक वह रात्रि व्यतीत की ।

प्रभातार्थां तु शर्वर्या भरद्वाजमुपागमत् ।

उवाच नरशार्दूलो मुनिः ज्वलिततेजसम् ॥ ३६ ॥

तदनन्तर जब रात बीती और प्रातःकाल हुआ, तब पुरुषसिंह श्रीराम प्रज्वलित तेजवाले भरद्वाज मुनिके पास गये और बोले— ॥ ३६ ॥

शर्वरीं भगवन्नृद्य सत्यशीलं तवाश्रमम् ।

उषिताः स्मोऽहं वसतिमनुजानातु नो भवान् ॥ ३७ ॥

‘भगवन् ! आप स्वभावतः सत्य बोलनेवाले हैं । आज हमलोगोंने आपके आश्रममें बड़े आगमन रात बितायी है अब आप हमें आगेके गन्तव्य-स्थानपर जानेके लिये अश्व प्रदान करें’ ॥ ३७ ॥

रात्र्यां तु तस्यां व्युष्टाया भरद्वाजोऽब्रवीदिदम् ।

मधुमूलफलोपेतं चित्रकूटं ब्रजेति ह ॥ ३८ ॥

चासमौषधिकं मन्ये तव राम महाबल ।

रात बीतने और सबेरा होनेपर श्रीरामके इस प्रकार पूछनेपर भरद्वाजजीने कहा— महत्त्वपूर्ण श्रीगम । तुम मधुर

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽथोऽध्याकाण्डे चतु पञ्चाशः सर्गः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यगमायण आदिकालके अथोऽध्याकाण्डमें चौवनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५४ ॥

पञ्चपञ्चाशः सर्गः

भरद्वाजजीका श्रीराम आदिके लिये स्वास्तिवाचन करके उन्हें चित्रकूटका मार्ग बताना, उन सबका

अपने ही बनाये हुए बेड़ेमें यमुनाजीको पार करना, सीताकी यमुना और श्यामवटसे

प्रार्थना, तीनोंका यमुनाके किनारेके मार्गसे एक कोसतक जाकर वनमें

धूमना-फिरना, यमुनाजीके समतल तटपर रात्रिमें निवास करना

उषित्वा रजनीं तत्र राजपुत्रावरिदम् ।

महर्षिमभिवाद्याथ जम्पनुस्तं गिरिं प्रति ॥ १ ॥

उस आश्रममें रातभर रहकर शत्रुओंका दमन करनेवाले वे दोनों राजकुमार महर्षिको प्रणाम करके चित्रकूट पर्वतपर

फल-मूलसं सम्पन्न चित्रकूट पर्वतपर जाआ मैं उसीको तुम्हारे लिये उपयुक्त निवासस्थान मानता हूँ ॥ ३८ ॥

नानानगगणोपेतः

किञ्चरोरगमेवितः ॥ ३९ ॥

मधुरनादाधिरतो

गजराजनिपेवितः ।

गम्यतां भवता ईलश्चित्रकूटः स विश्रुतः ॥ ४० ॥

‘वह भूविख्यात चित्रकूट पर्वत माना प्रकाशक वृक्षोंमें हरा-भरा है वहाँ बहने-से किन्नर और सर्प निवास करते हैं, मोरोंके कल्लवस वह और भी रमणीय प्रतीत होता है बहुत-से गजगज उस पर्वतका संवन करते हैं । तुम वहाँ चले जाओ ।

पुण्यञ्च रमणीयञ्च बहुमूलफलायुतः ।

तत्र कुञ्जरयूथानि भृगयूथानि चैव हि ॥ ४१ ॥

विचरन्ति वनान्तं तु तानि द्रक्ष्यसि राघव ।

सरित्प्रस्रवणप्रस्थान् दरीकन्दरनिर्झरान् ।

चरतः सौम्या भार्घी नन्दिष्यन्ति मनस्तव ॥ ४२ ॥

‘वह पर्वत परम पवित्र, रमणीय तथा बहुसंख्यक फल-मूलसं सम्पन्न है । वहाँ झुंड के-झुंड बाघों और हिमन वनके भीतर विचरते रहते हैं । रघुनन्दन ! तुम उन सबको प्रत्यक्ष देखोगे । मन्दाकिनी नदी, अनेकानेक झरझोत, पर्वतशिखर, गुफा, कन्दरा और झरने भी तुम्हारे देखनेमें आवेंगे । वह पर्वत मोताके साथ विचरते हुए तुम्हारे मनको आनन्द प्रदान करेगा ॥ ४१-४२ ॥

प्रहृष्टकोयष्टिभकोकिलस्वर्न-

त्रिनोदयन्ते च सुखं परं शिवम् ।

मृगैश्च भर्तृवंहुभिश्च कुञ्जरैः

सुरम्यमासाद्य समावसाश्रयम् ॥ ४३ ॥

हर्षमें भर हुए टिट्ठिम और कोकिलोंके कल्लवोंद्वारा वह पर्वत यात्रियोंको मनोरञ्जन-सा करता है । वह परम सुखद एवं कल्याणकारक है, मदमत्त मृगों और शत्रुसंख्यक भनधारोंके साथयाने उमकी रमणीयताको और बड़ा दिया है । तुम उसी पर्वतपर जाकर बेरा डालने और उग्रमें निवास करो’ ॥ ४३ ॥



पञ्चपञ्चाशः सर्गः

भरद्वाजजीका श्रीराम आदिके लिये स्वास्तिवाचन करके उन्हें चित्रकूटका मार्ग बताना, उन सबका

अपने ही बनाये हुए बेड़ेमें यमुनाजीको पार करना, सीताकी यमुना और श्यामवटसे

प्रार्थना, तीनोंका यमुनाके किनारेके मार्गसे एक कोसतक जाकर वनमें

धूमना-फिरना, यमुनाजीके समतल तटपर रात्रिमें निवास करना

उषित्वा रजनीं तत्र राजपुत्रावरिदम् ।

महर्षिमभिवाद्याथ जम्पनुस्तं गिरिं प्रति ॥ १ ॥

उस आश्रममें रातभर रहकर शत्रुओंका दमन करनेवाले वे दोनों राजकुमार महर्षिको प्रणाम करके चित्रकूट पर्वतपर

जानेको उद्यत हुए ॥ १ ॥

तेषां स्वमन्यथने चैव महर्षिं स चकार ह ।

प्रस्थितान् प्रेक्ष्य तांश्चैव पिता पुत्रानिवोरसान् ॥ २ ॥

उन तीनोंको प्रस्थाप करते देख महर्षिन उनके लिये उसी

प्रकार स्वस्तिवाचन किया जैसे पिता अपने औरम पुत्रों को यात्रा करते देख-उनके लिये स्फुल्लमुचक आशीर्वाद देता है ॥ २ ॥

ततः प्रचक्रमे वक्तुं वचनं स महामुनिः ।

भरद्वाजो महातेजा रामं सत्यपराक्रमम् ॥ ३ ॥

तदनन्तर महामुनि भरद्वाजने सत्य पराक्रमी श्रीगमसे इस प्रकार कहना आरम्भ किया— ॥ ३ ॥

गङ्गायमुनयोः संधिमासाद्य भनुजर्षभौ ।

कालिन्दीमनुगच्छेतां नदीं पश्चान्युत्थाश्रिताम् ॥ ४ ॥

‘नरश्रेष्ठ ! तुम दोनों आई गङ्गा और यमुनाके संगमपर पहुँचकर जिनमें पश्चिममुखी होकर गङ्गा मिली है, इन महानदी यमुनाके निकट जाना ॥ ४ ॥

अथामाद्य तु कालिन्दीं प्रतिस्थोत्त-समागताम् ।

नस्यास्तीक्ष्णं प्रचरितं प्रकामं प्रेक्ष्य राघव ।

तत्र यूयं प्रवे कृत्वा तरतांशुमतीं नदीम् ॥ ५ ॥

‘रघुनन्दन ! तदनन्तर गङ्गाजोके जलके वेगसे अपने प्रवाहक प्रतिकूल दिशामें मुड़ी हुई यमुनाके सम पहुँचकर-राजाके आने-जानके कारण उसके पदचिह्नमें चिह्नित हुए अवतरण-प्रदेश (पार करनेके लिये उपयोगी यात्र) का अच्छी तरह देख-धाराप्रकार वहाँ जाना और एक बड़ा जनाक उम्मेक द्वारा सूर्यकन्या यमुनाके उस पार उतर जाना ॥ ५ ॥

ततो न्यग्रोधमामाद्य महान्तं हरितच्छदम् ।

परीतं बहुभिवृक्षैः श्यामं मिहोपसेविनम् ॥ ६ ॥

तस्मिन् सीताञ्जलिं कृत्वा प्रयुञ्जानाशिषां क्रियाम् ।

समासाद्य च ते वृक्षं वरेद् घातकमेत वा ॥ ७ ॥

तत्पश्चात् आगे जानेपर एक बहुत बड़ा वरगटक वृक्ष मिलेगा, जिसके पत्ते हरे रंगके हैं। वह चारों ओरम बहुसंख्यक दूसरे वृक्षोंद्वारा घिरा हुआ है। उस वृक्षका नाम श्यामवट है। उसको छायाके नीचे बहुत-से मिह पुरुष निवास करते हैं वहाँ पहुँचकर सीता दोनों साथ जाकर उस वृक्षमें आशीर्वादकी याचना करे यहाँकी इच्छा से तो उस वृक्षके पाम जाकर कुछ काल तक वहाँ निवास करे अथवा व्रतमें आगे बढ़ जाय ॥ ६-७ ॥

क्रोशयात्रे ततो गत्वा नीलं प्रेक्ष्य च काननम् ।

सल्लकीवदरीमिश्रं रम्यं वंशैश्च घामुनैः ॥ ८ ॥

‘श्यामवटके एक कोस दूर जानेपर तुम्हें नीलवर्णका दर्शन होगा, वहाँ सल्लकी (चीड़) और वरक भी पैड़ मिले हुए हैं यमुनाके नदीपर उत्पन्न हुए वानिक कारण वह और भी रमणीय दिखायी देता है ॥ ८ ॥

स पन्थाश्चित्रकूटस्य गतस्य बहुशो मया ।

रम्यो मार्तव्यकूटश्च दार्वशीव विवर्जितः ॥ ९ ॥

‘यह वही स्थान है जहाँसे चित्रकूटकी रास्ता जाता है। मैं उस मार्गमें कई बार गया हूँ वहाँकी भूमि कोपल और दुर्गम रमणीय है। ऊपर कभी टाढ़ानलका भय नहीं होता है ॥ ९ ॥

इति पन्थानमादिश्य महर्षिः संन्यस्ततः ।

अभिवाद्य मथेत्युक्त्वा रामेण विनिवर्तितः ॥ १० ॥

इस प्रकार मार्ग बताकर जब महर्षि भरद्वाज लौटने लगे, तब श्रीगमने ‘तथास्मि’ कहकर उनके चरणोंमें प्रणाम किया और कहा—‘अब आप आश्रमको लौट जाइये’ ॥ १० ॥

उपावृत्ते मुनौ तस्मिन् रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ।

कृतपुण्याः स्म भद्रं ते मुनिर्यत्रोऽनुकम्पते ॥ ११ ॥

उन महर्षिके लौट जानेपर श्रीगमने लक्ष्मणसे कहा—
सुमित्रानन्दन तुम्हारा कल्याण हो। वे मुनि हमारे ऊपर जो इतनी कृपा रखते हैं, इससे जान पड़ता है कि हमलोगोंने पहले कभी महान् पुण्य किया है ॥ ११ ॥

इति तौ पुरुषव्याघ्रौ मन्त्रयित्वा मनस्विनौ ।

सीतामेवाग्रतः कृत्वा कालिन्दीं जामतुर्नदीम् ॥ १२ ॥

इस प्रकार बातचीत करते हुए वे दोनों मनस्वी पुरुषसिंह सीताको ही आगे करके यमुना नदीके तटपर गये ॥ १२ ॥

अथासाद्य तु कालिन्दीं शोघ्रस्रोतस्विनीं नदीम् ।

चिन्तामार्पेदरे सधौ नदीजलतितोर्ववः ॥ १३ ॥

वहाँ कालिन्दीका स्रोत अच्छी तीव्रगतिसे प्रवाहित हो रहा था वहाँ पहुँचकर वे इस चिन्तामें पड़े कि कैसे नदीको पार किया जाय; क्योंकि वे तुरंत ही यमुनाजाके जलको पार करना चाहते थे ॥ १३ ॥

तौ काष्ठसंघाटमथो जक्रतुः सुमहाप्रवाम् ।

शुष्कवृक्षैः समाकीर्णमुशीरैश्च समावृतम् ॥ १४ ॥

ननो वैनसशाखाश्च जम्बुशाखाश्च वीर्यवान् ।

चकार लक्ष्मणांश्छत्वा सीतायाः सुखमासनम् ॥ १५ ॥

फिर उन दोनों भाइयोंने जंगलके सूखे काष्ठ बटोरकर उन्हें द्वारा एक बहुत बड़ा जेहा तैयार किया। वह जेड़ा सूखे बोंसोंमें व्याप्त था और उसके ऊपर खस बिछाया गया था। तदनन्तर पराक्रमी लक्ष्मणने बैठ और जामुनकी रक्षावर्तिका काटकर सीताके बैठनेके लिये एक सुखद आसन तैयार किया ॥ १४-१५ ॥

तत्र श्रियमिवाचिन्त्यां रामो दाशरथिः प्रियाम् ।

इषत्स लज्जमानां तामध्यारोपयत् प्रथम् ॥ १६ ॥

पार्श्वे तत्र च वंदेह्या वसने धूवणानि च ।

प्रवे कठिनकार्जं च रामश्चक्रे समाहितः ॥ १७ ॥

दशरथनन्दन श्रीगमने लक्ष्मणके समान अचिन्त्य प्रेक्ष्य-वाली अपनी प्रिया सीताको जो कुछ लज्जित-सी हो रही थी, उस जेड़पर चढ़ा दिया और उनके बगलमें धन्य एवं आभूषण रख दिये; फिर श्रीगमने बड़ी सावधानीके साथ खन्ती (कुदारी) और चकरेके चमड़ेसे भड़ी हुई पिटरोंको भी बेंडेपर ही रखा ॥ १६-१७ ॥

आरोप्य सीतां प्रथमं संघाटं परिगृह्य तौ ।

ततः प्रवेरमुर्वती प्रीती दशरथात्मजी ॥ १८ ॥

इस प्रकार पहल सेताको चढ़ाकर वे दोनों भाई दशरथकुमार श्रीगम और लक्ष्मण उस बेंड़को पकड़कर खेने लगे। उन्होंने बड़े प्रयत्न और प्रसन्नताके साथ नदीको पार करना आरम्भ किया ॥ १८ ॥

कालिन्दीमध्यमायाता सीता त्वेनामचन्दन ।

स्थितिं देवि तरामि त्वां पारयेन्मे पतिव्रतम् ॥ १९ ॥

यमुनाको बीच धारण आनपर सांतान उनर प्रणाम किया और कहा — देवि । इस बेंड़द्वारा मैं आपके पार जा रहा हूँ, आप ऐसी कृपा करें, जिससे हमलोग सकुशल पार हो जायें और मैं पतिव्रत अपनी वनवासविषयक प्रतिज्ञाको निर्विघ्न पूर्ण करें ॥ १९ ॥

यश्चे त्वां गोसहस्रेण सुराघटशतेन च ।

स्थितिं प्रत्यागते रामे पुरीमिश्रवाकुपालिनाम् ॥ २० ॥

इश्रवाकुवंशी वीणाद्वारा पालिन अयोध्यागम्य श्रीरघूपायजांक सकुशल लौट आनपर मैं आपके चित्तपर एक सहस्र गौओका दान करूँगी और सैकड़ों देवदुर्लभ पदार्थ अर्पित करके आपको पूजा सम्पन्न करूँगी ॥ २० ॥

कालिन्दीमध्य सीता तु वाचमाना कृताञ्जलिः ।

तीरमेवाभिसम्प्राप्ता दक्षिणं खरवर्णिनी ॥ २१ ॥

इस प्रकार सुन्दरी सीता हाथ जोड़कर यमुनाजंसे प्रार्थना कर रही थी, इतनेहीमें वे दक्षिण तटपर जा पहुँची ॥ २१ ॥

ततः प्लवेनंशुमर्भो शीघ्रगामूर्धिमालिनीम् ।

तीरजैर्बहुभिर्वृक्षैः संतेर्ययमुनां नदीम् ॥ २२ ॥

इस तरह उन दोनोंने उसी बेंड़द्वारा बहुमूल्यक तटवर्ती वृक्षांसे सुशोभित और तरङ्गमालाआम अलङ्कृत शीघ्रगामिनी सूर्य-कन्या यमुना नदीका पार किया ॥ २२ ॥

ते तीर्णाः प्लवमुत्सृज्य प्रस्थाप यमुनावनात् ।

एयामं न्यग्रोधमामदुः शीतलं हृतिच्छदम् ॥ २३ ॥

पार उत्तरकर उन्होंने बेंड़को तो वहीं तटपर छोड़ दिया और यमुना-तटवर्ती वनमें प्रस्थान करके वे हर-हर फलोंसे सुशोभित शीतल छायावाले इयामखटके पास जा पहुँच ॥ २३ ॥

न्यग्रोधं समुपागम्य खेदेहो वाध्यचन्दन ।

नमस्तेऽस्तु महावृक्ष पारयेन्मे पतिव्रतम् ॥ २४ ॥

खटके समीप पहुँचकर विदेहनन्दिनी सीताने उसे मस्तक झुकाया और इस प्रकार कहा—‘महावृक्ष ! आपको नमस्कार है आप ऐसी कृपा कर जिससे मैं पतिव्रत अपनी वनवासविषयक व्रतको पूर्ण करें ॥ २४ ॥

कौसल्यां चैव पश्येम सुपित्रां च यशस्विनीम् ।

इति सीताञ्जलिं कृत्वा पर्यगच्छन्मनस्विनी ॥ २५ ॥

‘तथा हमलोग वनसे सकुशल लौटकर माता कौसल्या तथा यशस्विनी सुमित्रादेवीका दर्शन कर सकें।’ इस प्रकार कहकर मनोमानी सीताने हाथ जोड़ हुए उस वृक्षको

परिक्रमा करें ॥ २५ ॥

अवलोक्य ततः सीतामाधाचभ्तीमभिन्दिताम् ।

दयितो च विधेयां च रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ २६ ॥

भद्रा अपनी आज्ञाक अधीन रहनेवाली प्राणप्यारी मनो-साध्वी सीताको इयामवनसे आशीर्वादकी याचना करती देख श्रीगमने लक्ष्मणसे कहा— ॥ २६ ॥

सीतामादाय गच्छ त्वमग्रतो भरतानुज ।

पृष्ठतोऽनुगमिष्यामि सायुधो द्विपदां वर ॥ २७ ॥

भरतके छोट भाई नरेश लक्ष्मण ! तुम सीताको साथ लेकर अग्रे-आगे चलो और मैं धनुष धारण किये पीछेसे तुमलोगोंकी रक्षा करता हुआ चलूँगा ॥ २७ ॥

यद् यन् फलं प्रार्थयते पुण्यं वा जनकात्मजा ।

तन् तन् प्रयच्छे खेदेह्या यत्रास्या रमते मनः ॥ २८ ॥

विदेहकुलनन्दिनी जनकदुल्लारी सीता जो-जो फल या फूल मांगे अथवा जिस वस्तुको पाकर इनका मन प्रसन्न रहे वह भग्न उन्हें देते रहें ॥ २८ ॥

एकैकं पादपं गुल्मं लतां वा पुष्पशालिनीम् ।

अदृष्टरूपां पश्यन्ती रामं प्रयच्छ सावला ॥ २९ ॥

अवलम्ब सांता एक-एक वृक्ष, झाड़ू अथवा पहलकों न देखी हुई पुष्पशोभित लताको देखकर उसके विषयमें श्रीगमचन्द्रांसे पृष्ठती थी ॥ २९ ॥

रमणीयान् बहुविधान् पादपान् कुसुमोत्करान् ।

सीतावचनसरब्ध आनयाभास लक्ष्मणः ॥ ३० ॥

तथा लक्ष्मण सीताके कथनानुसार तुरंत ही घोंट-घोंटके वृक्षांकी मनाहर आखाएँ और फूलोंके गुच्छे ला लाकर उन्हें देने लगे ॥ ३० ॥

विचित्रवालुकजलां हंससारसनादिताम् ।

रेमे जनकराजस्य सुता प्रेक्ष्य तदा नदीम् ॥ ३१ ॥

उस समय जनकराजाकिशोरी सीता विचित्र वालुका और जलशशिसे सुशोभित तथा हंस और सारसोंके कल्लदम मुखारत यमुना नदीका देखकर बहुत प्रसन्न होना था, ३१ ।

क्रोशमात्रं ततो गत्वा भ्रातरौ राघवलक्ष्मणौ ।

बहून् मेध्यान् मृगान् हत्वा धेरतुर्यमुनावने ॥ ३२ ॥

इस तरह एक कोसकी यात्रा करके दोनों भाई श्रीगम और लक्ष्मण (प्राणिशोक हितके लिये) मार्गमें मिले हुए हिमक पशुओंका बध करते हुए यमुना-तटवर्ती वनमें लिङ्गने लगे ॥ ३२ ॥

विहृत्य ते बर्हिणपूगनादिने

शुभे खने वारणवानरायुते ।

समं नदीवप्रपुण्यं सत्वरं

निवाममाजगमुदीनदर्शनाः ॥ ३३ ॥

उत्तर दृष्टिवाले वे सीता, लक्ष्मण और श्रीगम मोरोंके

झुंडोंकी भीड़ी बोलोंमें गैजत तथा लक्ष्मणों और वनरोंमें समतल तटपर आ गये और रानमें उन्होंने वहीं निवास भी हुए इस सुन्दर वनमें धूम धिक्कर झट्ट झट्ट चमकाने लगे । क्रिया । ३३ ।

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षट्पञ्चाशः सर्गः । ५५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिजीकर्मित आरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें षट्पनचा सर्ग पूरा हुआ । ५५ ॥

षट्पञ्चाशः सर्गः

वनकी शोभा देखते-दिखाते हुए श्रीराम आदिका चित्रकूटमें पहुँचना, वाल्मीकिजीका दर्शन करके श्रीरामकी आज्ञासे लक्ष्मणद्वारा पर्णशालाका निर्माण तथा उसकी वास्तुशान्ति करके उन सबका कुटीमें प्रवेश

अथ रात्र्यां व्यातीतायामवमुपमनन्तरम् ।

प्रबोधयामास शनैर्लक्ष्मणं रघुपुङ्गवम् ॥ १ ॥

तदनन्तर रात्रि व्यतीत होनपर रघुकुलद्विरार्षण श्रीरामने अपने आगमके बाद वहाँ सोये हुए लक्ष्मणको धीरेसे जगाया (और इस प्रकार कहा—) ॥ १ ॥

सीमित्रे शृणु वन्यानां वल्गु व्याहरतां स्वनम् ।

सम्प्रतिष्ठामहे कालः प्रस्थानस्य परंतप ॥ २ ॥

‘शत्रुओंकी सताप वनकाले सुमित्राकुमार ! याँतों बोलों बोलनेवाले शुक-पिक आदि जंगली पक्षियोंका कलमच सुनो । अब हमलोग यहाँसे प्रस्थान करें, क्योंकि प्रस्थानके योग्य समय आ गया है’ ॥ २ ॥

प्रसुप्तस्तु ततो भ्रात्रा समये प्रनिबोधितः ।

जहौ निद्रां च तन्द्रां च प्रसन्नं च परिश्रमम् ॥ ३ ॥

सोये हुए लक्ष्मणने अपने बड़े भाईद्वारा तोंक समयपर जगा दिये जानपर निद्रा, आलस्य तथा रात्रि चरनेका थकावटको दूर कर दिया ॥ ३ ॥

तत उत्थाय ते सर्वं स्पृष्ट्वा नद्याः शिखं जलम् ।

पन्थानमृषिभिर्जुष्टं चित्रकूटस्य तं ययुः ॥ ४ ॥

फिर सब लोग उठे और समुदा नदीके शीतल जलमें स्नान आदि करके ऋषि-मुनियोंद्वारा संविन चित्रकूटके उस मार्गपर चल दिये ॥ ४ ॥

ततः सम्प्रस्थितः काले रामः सीमित्रिणा सह ।

सीतां कमलपत्राक्षीमिव वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥

उस समय लक्ष्मणक साथ वहाँसे प्रस्थित हुए आगमने कमलनयनी सीतासे इस प्रकार कहा— ॥ ५ ॥

आदीमानिव वैदेहि सर्वतः पुष्पितान् नगान् ।

स्त्रीः पुष्पं किंशुकान् पश्य मालिन शिशिरागत्यये ॥ ६ ॥

‘वैदेहि राजनन्दिनी ! इस वनमें ऋतुमें सब ओरसे गिल्ल हुए इन फलाश-वृक्षाओं तो देखो । ये अपने ही पुष्पोंमें पुष्पमालाधारी-से प्रतीत होते हैं और उन फूलोंकी अमृत प्रभाके कारण प्रज्वलित होने-से दिव्याग्नी वन है ।

पश्य भक्तशतकान् विल्वान् नरैरनुपसेवितान् ।

फलपुष्परसनान् नूनं शक्याम जीविषुम् ॥ ७ ॥

देखें ये भिल्लावे और बेलक पेड़ अपने फूलों और फलोंके घास्ने झुके हुए हैं । दूसरे मनुष्योंका यहाँतक अपना सम्भव न होनेसे ये उनके द्वारा उपयोगमें नहीं लभे गये हैं; अतः निश्चय हो इन फलोंसे हम जीवन-निर्वाह कर सकेंगे’ ॥ ७ ॥

पश्य द्रोणप्रमाणानि लम्बधानानि लक्ष्मण ।

मधूनि मधुकारीधिः सम्भृतानि नगे नगे ॥ ८ ॥

(फिर लक्ष्मणसे कहा—) ‘लक्ष्मण ! देखो, यहाँक एक-एक वृक्षमें मधुमक्खियोंद्वारा लगाये और पुर किये गये मधुके छल कैसे लटक रहे हैं । इन सबमें एक-एक द्रोण (लगभग सोलह सैर) मधु भरा हुआ है ॥ ८ ॥

एव क्रोशति नल्पहस्तं शिखी प्रनिकृजति ।

रमणीये वनोद्देशे पुष्पसंस्तरसंकटे ॥ ९ ॥

‘वनकी यह भाग बड़ा ही रमणीय है, यहाँ फूलोंकी वर्षा-सी हो रही है और सारी भूमि पुष्पोंसे आच्छादित दिखायी देती है । इस वनप्रान्तमें यह बातक ‘पी कहाँ’ ‘पी कहाँ’ को रट लगा रहा है । उधर वह मोंग बोल रहा है मानो पपोंको बातका उत्तर दे रहा हो ॥ ९ ॥

पातङ्गवृथानुसृतं पक्षिसंघानुनादितम् ।

चित्रकूटमिमं पश्य प्रवृद्धशिखरं गिरिम् ॥ १० ॥

‘यह रहा चित्रकूट पर्वत—इसका शिखर बहुत ऊँचा है । झुंड-क-झुंड हाथी उसी ओर जा रहे हैं और जहाँ बहुत-से पक्षी चक्कर रहे हैं ॥ १० ॥

समभूमितले रम्ये हर्म्यबहुभिरावृते ।

पुण्ये रंस्थामहे तात चित्रकूटस्य करानने ॥ ११ ॥

तात ! जहाँकी भूमि समतल है और जो बहुत-से वृक्षोंमें भरा हुआ है चित्रकूटके उर परवित्र आनन्द रमणीय बड़े आनन्दमें विचरेंगे’ ॥ ११ ॥

ननमौ पाटसागेण गच्छन्ती सह सीतया ।

रम्यमासेदनुः शैलं चित्रकूटं मनोरमम् ॥ १२ ॥

सीताक साथ दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण पैदल ही यात्रा करते हुए यथासमय रमणीय एवं मनोरम पर्वत चित्रकूटपर जा पहुँच ॥ १२ ॥

तं तु पर्वतमासाद्य नानार्पक्षिगणायुतम् ।

बहुमूलफलं रम्यं सम्यग्सरसोदकम् ॥ १३ ॥

यह पर्वत नाना प्रकारके पक्षियोंसे परिपूर्ण था। वहाँ फल-मूलोंकी बहुतायत थी और स्वादिष्ट जल पर्याप्त मात्रामे उपलब्ध होता था। इस रमण्य नौलके समीप आकर श्रीरामने कहा— ॥ १३ ॥

मनोजोड्यं गिरिः सौम्य नानाहुमल्लतायुतः ।

बहुमूलफलो रम्यः स्वर्जीवः प्रतिभाति मे ॥ १४ ॥

‘सौम्य’ यह पर्वत बड़ा मनोहर है। नाना प्रकारके वृक्ष और लताएँ इसकी शोभा बढ़ाती हैं। यहाँ फल-मूल भी बहुत हैं, यह रमण्य तो है ही। मुझे जान पड़ता है कि यहाँ बड़े सुखसे जीवन-निर्वाह हो सकता है ॥ १४ ॥

मुनयश्च महात्मानो वसन्त्यस्मिच्छालोच्चये ।

अयं वासो भवेत् तात वयमत्र वसेमहि ॥ १५ ॥

‘इस पर्वतपर बहुत-से महात्मा मुनि निवास करने हैं। तात! यहाँ हमारा वासस्थान होनेयोग्य है। हम यहीं निवास करेंगे’ ॥ १५ ॥

इति सीता च रामश्च लक्ष्मणश्च कृताञ्जलिः ।

अधिगम्याश्रमं सर्वे वाल्मीकिमभिवादनम् ॥ १६ ॥

ऐसा निश्चय करके सीता, श्रीराम और लक्ष्मणने हाथ जोड़कर महर्षि वाल्मीकिके आश्रममें प्रवेश किया और सबने उनके चरणोंमें मस्तक झुकाया ॥ १६ ॥

तान् महर्षिः प्रमुदितः पूजयामास धर्मोक्तम् ।

आस्यतामिति बोधाय स्वागतं तं निवेद्य च ॥ १७ ॥

धर्मको जाननेवाले महर्षि उनके आगमनसे बहुत प्रसन्न हुए और ‘आपलोगोंका स्वागत है। आइये, बैठिये’ ऐसा कहते हुए उन्होंने उनका आदर-सत्कार किया ॥ १७ ॥

ततोऽब्रवीन्महाबाहुर्लक्ष्मणं लक्ष्मणाग्रजः ।

सेनिवेद्य यद्यान्यायमात्मानमुषधे प्रभुः ॥ १८ ॥

तदनन्तर महाबाहु भगवान् श्रीरामने महर्षिको अपना यथोचित परिचय दिया और लक्ष्मणसे कहा— ॥ १८ ॥

लक्ष्मणानय दारुणि दुर्दानि च वराणि च ।

कुसुमावसथ सौम्य वासे मेऽभिरतं मनः ॥ १९ ॥

सौम्य लक्ष्मण! तुम जंगलमें अच्छी-अच्छी मजबूत लकड़ीयाँ ले आओ और रत्नेक लिये एक कुटी तैयार करो।

यहाँ निधाम करनेको मेरा जी चाहता है’ ॥ १९ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा सौमित्रिर्विविधान् द्रुमान् ।

आजहार ततश्चक्रे पर्णशालामरिदमः ॥ २० ॥

श्रीरामकी यह बात सुनकर शत्रुदमन लक्ष्मण अनेक प्रकारके वृक्षोंकी डारियाँ काट लाये और उनके द्वारा एक पर्णशाल तैयार की ॥ २० ॥

तां निहितां बद्धकटो दृष्ट्वा रामः सुदर्शनाम् ।

शुश्रूवमाणमेकाग्रमिदं वचनमब्रवीत् ॥ २१ ॥

यह कुटी बाहर-भीतरसे लकड़ीकी ही दीवारसे सुस्थिर बनायी गयी थी और उसे ऊपरसे छा दिया गया था, जिससे वर्षा आदिक निवारण हो। वह देखनेमें बड़ी सुन्दर लगती थी। उसे तैयार हुई देखकर एकाग्रचित्त होकर अपनी बात सुननेवाले लक्ष्मणसे श्रीरामने इस प्रकार कहा— ॥ २१ ॥

ऐणेयं मांसमाहृत्य शालां यक्ष्यामहे वयम् ।

कर्तव्यं वास्तुशमनं सौमित्रे धिरजीविभिः ॥ २२ ॥

‘सुमित्रकुमार! हम गजकन्दका गूदा लेकर इसीसे पर्णशालके अधिष्ठाना देवताओंका पूजन करेंगे,^१ क्योंकि दीर्घ जीवनकी इच्छा करनेवाले पुरुषोंका वास्तुशान्ति अवश्य करनी चाहिये ॥ २२ ॥

पुनं हत्वाऽऽनय क्षिप्रं लक्ष्मणोऽह शुभेक्षण ।

कर्तव्यः शास्त्रदृष्टो हि विधिधर्ममनुस्मर ॥ २३ ॥

‘कल्याणदर्शी लक्ष्मण! तुम ‘गजकन्द’ नामक कन्दको^२ उखाड़कर या खादकर शीघ्र यहाँ ले आओ क्योंकि शास्त्रोक्त विधिका अनुष्ठान हमारे लिये अवश्यकर्तव्य है। तुम धर्मका हो सदा चिन्तन किया करो’ ॥ २३ ॥

भ्रातुर्वचनमाज्ञाय लक्ष्मणः परवीरहा ।

चकार च यद्योक्तं हि तं रामः पुनरब्रवीत् ॥ २४ ॥

पाईको इस बातको समझकर शत्रुवारीक्षा बध करनेवाले लक्ष्मणने उनके कथनानुसार कार्य किया। तब श्रीरामने पुनः उनसे कहा— ॥ २४ ॥

ऐणेयं श्रपयस्वतच्छालां यक्ष्यामहे वयम् ।

त्वर सौम्यपुहूर्नोऽयं ध्रुवश्च दिवसो ह्ययम् ॥ २५ ॥

‘लक्ष्मण! इस गजकन्दको पकाओ। हम पर्णशालाके अधिष्ठाना देवताओंका पूजन करेंगे। जल्दी करो। यह

१. यहाँ ‘ऐणेयं मांसम्’ का अर्थ है— गजकन्द नामक कन्द-विशेषका गूदा। इस प्रसंगमें मांसपरक अर्थ नहीं लेना चाहिये क्योंकि ऐसा अर्थ लेनेपर हित्वा मुनिवदानिहम् (२-२०, २९) फलानि मुच्यन्ति च धक्ष्यन् वने (२-३४, २९) तथा ‘धर्ममेवाचरिष्यामस्तत्र मूलफलाशना’ (२-५४, १६) इत्यादि रूपमें को हुई श्रमणको प्रतिज्ञाओंसे विराध पड़ता। इन वचनोंमें निरामिष रहने और फल-मूल आकर धर्माचरण करनेकी ही बात कही गयी है। तथा द्विर्नधिषायत (श्रीराम दो तरहकी बात नहीं कहते हैं, एक बार जो कह दिया, वह अटल है) इस कथनक अनुसार श्रमणको प्रतिज्ञा टलानेवाली नहीं है।

२. मदनमाल-निघण्टुक अनुसार ‘गृण’ का अर्थ गजकन्द है।

सीम्यमुहूर्त है और यह दिन भी 'धुव' संज्ञक है (अतः इसीमें यह शुभ कार्य होना चाहिये) ॥ २५ ॥

स लक्ष्मणः कृष्णं पूर्णं हत्वा मेध्यं प्रतापवान् ।

अथ चिक्षेप सौमित्रि' समिद्धे जनवेदमि ॥ २६ ॥

प्रतापो सुमित्राकुमार लक्ष्मणन पाँचड़ और काल छिल्लके वाले गजकन्दको उखाड़कर प्रत्यक्षित आगमें जाल दिया ॥

तत् तु पक्षं सथाज्ञाथ निष्टुप्तं छिन्नशोणितम् ।

लक्ष्मणः पुरुषव्याघ्रमथ राघवमब्रवीन् ॥ २७ ॥

रक्तविकारका नाश करनेवाले^१ उस गजकन्दको चलीधानि पका हुआ जानकर लक्ष्मणने पुरुषसिंह श्रीरघुनाथजीमें कहा— ॥

अयं सर्वः समस्ताङ्गः भूतः कृष्णामृगो मया ।

देवता देवसंकाश यजस्व कुशलो ह्यसि ॥ २८ ॥

देवोपम तेजस्वी श्रीरघुनाथजी ! यह काले छिल्लकेवाला गजकन्द, जो बिगड़े हुए सभी अङ्गोंको ठीक करनेवाला है,^२ मेरेद्वारा सम्पूर्णतः पका दिया गया है। अब आप वास्तुदेवताओंका यजन कीजिये, क्योंकि आप इस कर्ममें कुशल हैं ॥ २८ ॥

रामः स्नात्वा तु नित्यतो गुणवाक्पकांविदः ।

संप्रहंणाकरोत् सर्वान् पन्थान् सत्रावसानिकान् ॥ २९ ॥

सदृगममात्र तथा अपक्रमके ज्ञाता श्रीरघुनाथजीने न्यान करके शौच-संतोषादि नियमाक पावनपुत्रक मध्यस्थ उन सभी मन्त्रोंका पात्र एवं जप किया, जिनसे वास्तुयज्ञकी पूर्ति हो जाती है ॥ २९ ॥

इष्टा देवगणान् सर्वान् विवेशावसथं शुचिः ।

बभूव च मनोह्रादो रामस्यामिततेजसः ॥ ३० ॥

समस्त देवताओंका पूजन करके पवित्र भावसे श्रोगमनं पर्णकुटीमें प्रवेश किया। उस समय अमिततेजस्वी भ्रातृमके मनमें बड़ी आह्लाद हुआ ॥ ३० ॥

वैश्वदेवबलिं कृत्वा रीद्रं वैष्णवमेव च ।

वास्तुसंशमनीयानि मङ्गलानि प्रवर्तयन् ॥ ३१ ॥

नत्पश्चात् बलिर्वैश्वदेव कर्म, रुद्रयाग तथा वैष्णवयाग करके

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षट्पञ्चाशः सर्गः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यभट्टायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें छपनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५६ ॥



१ 'उत्तगात्रयराक्षिण्यो धाम्करश्च धुव' स्थिरम् (धुवर्तव्यतामांशः)

अर्थात् सीमा उभय ओर सर्वत्र नरक्षेत्र तथा स्थिरान् — य धुव एवं स्थिर संज्ञक है इसमें गृहशान्ति या धाम्मुशान्ति आदि कार्य अच्छे माने गये हैं ।

२ 'छिन्नशोणितम्' का व्युत्पत्ति इस प्रकार है— छिन्न इत्येतत् रक्तविकारकम् गजकन्दं यत् स तम् गजकन्दं रोगविकारका नाशक है यह वैश्वकर्म प्रसिद्ध है मरुतयान् विषादकं यद्वदगादकुट्टवन्ता आदि वचनसे भी यह कर्मदोष तथा कुष्ठ आदि रक्तविकारका नाशक सिद्ध होता है

३ 'समस्ताङ्ग' की व्युत्पत्ति ये सम्यक्ते चरित्ये— सम्यक् धर्मान् अर्थात् अङ्गान् यत् स

श्रोगमनं वास्तुदोषको शान्तिके लिये मङ्गलपात्र किया ॥ ३१ ॥

जपं च न्यायतः कृत्वा स्नात्वा नद्यो यथाविधि ।

पापसंशयनं रामश्चकार कलिमुत्तमम् ॥ ३२ ॥

नद्योमें विधिपूर्वक स्नान करके न्यायतः गायत्री आदि मन्त्राक्त जप करनेके अनन्तर श्रीरामने पक्षसूना आदि दोंपा की शान्तिके लिये उत्तम कलिकर्म सम्पन्न किया ॥ ३२ ॥

वेदिस्थलविधानानि चैत्यान्यायतनानि च ।

आश्रमस्थानुरूपानि स्थापयामास राघवः ॥ ३३ ॥

रघुनाथजीने अपनी छाटी-सी कुटीके अनुरूप ही वेदिस्थल (आठ टिकपालोंके लिये बलि-समर्पणके स्थानों), चैन्यो (गणेश आदिक स्थानों) तथा आयतनों (विष्णु आदि देवोंके स्थानों) का निर्माण एवं स्थापना की ॥ ३३ ॥

तां वृक्षपर्णच्छदनां मनोज्ञां

यथाप्रदेशं सुकृतां निवानाम् ।

वासाय सर्वे विविशुः समेताः

सभो यथा देवगणाः सुधर्मा ॥ ३४ ॥

वह मनोहर कुटी उपयुक्त स्थानपर बनी थी। उसे वृक्षोंके पर्णसे छाया गया था और उसके भीतर प्रचण्ड वायुसे बचनेका पूरा प्रबन्ध था। सत्त, लक्ष्मण और श्रीराम सबने एक साथ उसमें निज-जगके लिये प्रवेश किया। ठीक वैसे ही, जैसे देवतालोक सुधर्मा सभामें प्रवेश करते हैं ॥ ३४ ॥

सुरम्यमासाद्य तु चित्रकूटं

नदीं च तां माल्यवतीं सुनीधाम् ।

ननन्द हृष्टो पृगपक्षिजुष्टो

अहौ च दुःखं पुरविप्रवासात् ॥ ३५ ॥

चित्रकूट पर्वत बड़ा ही रमणीय था। वहाँ उनमें तीर्थों (नीर्थस्थान, सौंदी और घाटों) से सुशोभित माल्यवती (मन्दाकिनी) नदी बह रही थी, जिसका बहुत-से पशु-पक्षी भोजन करते थे। उस पर्वत और नदीका मालिन्ध्य पाकर श्रीरामचन्द्रजीको बड़ा हर्ष और आनन्द हुआ। वे नगरसे दूर वनमें आनेके कारण होनेवाले कष्टको भूल गये ॥ ३५ ॥

सप्तपञ्चाशः सर्गः

सुमन्त्रका अयोध्याको लौटना, उनके मुखसे श्रीरामका संदेश सुनकर पुरवासियोंका विलाप,
राजा दशरथ और कौसल्याकी मूर्च्छा तथा अन्तःपुरकी रानियोंका आर्तनाद

कथयित्वा तु दुःखार्तः सुमन्त्रेण चिरं सह ।

रामे दक्षिणकूलस्थे जगाम स्वगृहं गृहः ॥ १ ॥

इधर, जब श्रीराम मङ्गलक दक्षिणतटपर उतर गये, तब गृह दु खमें व्यकुल हो सुमन्त्रके साथ बड़ी देगतक कनचन करता रहा । इसके बाद वह सुमन्त्रका साथ ले अपने घरको चला गया ॥ १ ॥

भरद्वाजाभिगमने प्रयागे च सभाजनम् ।

आ गिरेर्गमने तेषां तत्रस्थैरभिलक्षितम् ॥ २ ॥

श्रीरामचन्द्रजीका प्रयागमें भरद्वाजके आश्रमपर जाना, मुनिके द्वारा मन्त्रा पाना तथा चित्रकूट पर्वतपर पहुँचना— ये सब वृत्तान्त शृङ्गवरके निवासो गुप्तचरोंने देख और लौटकर गृहको इन बातोंमें अवगत करवा ॥ २ ॥

अनुज्ञातः सुमन्त्रोऽथ योजयित्वा ह्योत्तमान् ।

अयोध्यामेव नगरीं प्रययौ गाढदुर्मनाः ॥ ३ ॥

इन सब बातोंको जानकर सुमन्त्र गृहसे विदा ले अपने उत्तम घोड़ोंको रथमें जोतकर अयोध्याकी ओर ही लौट पड़े । उस समय उनके मनमें बड़ा दुःख हो रहा था ॥ ३ ॥

स वनानि सुगन्धानि सरितश्च सरांसि च ।

पश्यन् यतो ययौ शीघ्रं ग्रामाणि नगराणि च ॥ ४ ॥

वे मार्गमें सुगन्धित वनों, नदियों, सरोवरों, गाँवों और नगरोंको देखते हुए बड़ी सावधानीक साथ शीघ्रतापूर्वक जा रहे थे ॥ ४ ॥

ततः सायाह्नसमये द्वितीयेऽहनि सारथिः ।

अयोध्यां समनुप्राप्य निरानन्दां ददर्श ह ॥ ५ ॥

शृङ्गवरपुरमें लौटनेक दूसरे दिन सायंकालमें अयोध्या पहुँचकर तन्नाम देखा, मारी पूरी आनन्दशून्य हो गयी है ।

स शून्यामिव निःशब्दां दृष्ट्वा परमदुर्मनाः ।

सुमन्त्रश्चिन्तयाभास शोकवेगसमाहतः ॥ ६ ॥

वहाँ कहीं एक शब्द भी सुनायी नहीं देता था । मार्ग पुरों ऐसी मौन्य श्री, मानो मनुष्यान् मुने ही गयी हो । अयोध्याको ऐसी दशा देखकर सुमन्त्रके मनमें बड़ा दुःख हुआ । वे शोकके वेगसे पीड़ित हो इस प्रकार चिन्ता करने लगे— ॥

कश्चिन्न सगजा साक्षा सजना सजनाधिपा ।

रामसंतापदु खेन दग्धा शोकाग्निना पुरी ॥ ७ ॥

'कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि श्रीरामके विरहजनित संतापके दु खमें व्यथित हो माँही छोड़े, मनुष्य और महाराजमन्त्रित सारा अयोध्यापुरी शोकाग्निसे दग्ध हो गयी हो' ॥ ७ ॥

इति चिन्तापरः सूतो वाजिभिः शीघ्रयायिभिः ।

नगरद्वारमासाद्य स्वरितः प्रविवेश ह ॥ ८ ॥

इसी चिन्तामें पड़े हुए सारथि सुमन्त्रने शीघ्रगामी घोड़ोंद्वारा नगरद्वारपर पहुँचकर तुरत ही पुरीके भीतर प्रवेश किया ॥ ८ ॥

सुमन्त्रमभिधावन्तः शतशोऽथ सहस्रशः ।

क राम इति पृच्छन्तः सूतमभ्यव्रजन् नराः ॥ ९ ॥

सुमन्त्रको देखकर सैकड़ों और हजारों पुत्रासी मनुष्य दौड़े आये और 'श्रीराम कहा है ?' यह पूछते हुए उनके रथके साथ-साथ दौड़ने लगे ॥ ९ ॥

तेषां शशंस गङ्गायामहमापृच्छथ राघवम् ।

अनुज्ञातो निवृत्तोऽस्मि धार्मिकेण महात्मना ॥ १० ॥

हे तीर्णा इति विज्ञाय ज्ञाप्यपूर्णमुखा नराः ।

अहो धिगिति निःश्वस्य हा रामेति विच्युक्कशुः ॥ ११ ॥

उस समय सुमन्त्रने उन लोगोंमें कहा—'सज्जनो ! मैं गङ्गाजीके किनारेतक श्रीरघुनाथजीके साथ गया था । वहाँसे उन धर्मनिष्ठ महात्माने मुझे लौट जानेको आज्ञा दी । अतः मैं उनसे विदा लेकर यहाँ लौट आया हूँ । 'वे तीनों व्यक्ति गङ्गाके उन पार चले गये' यह जानकर सब लोगोंके मुखपर अस्मिओंकी धाराएँ बह चलीं । 'अहो हमें धिक्कार है ।' ऐसा कहकर वे लुब्धों समित् खोचते और 'हा राम !' की पुकार मचाते हुए जोर-जोरसे करुणारुन्दन करने लगे ॥ १०-११ ॥

शुश्राव च वचस्तेषां वृन्दं वृन्दं च तिष्ठताम् ।

हताः स्म खलु ये नेह पश्याम इति राघवम् ॥ १२ ॥

सुमन्त्रने उनकी बातें सुनीं वे झुड़-के झुड़ खड़ होकर कह रहे थे—'हाय ! निश्चय ही हमलोग मारे गये; क्योंकि अब हम यहाँ श्रीरामचन्द्रजीको नहीं देख पायेंगे ॥ १२ ॥

दानयज्ञविवाहेषु समाजेषु महत्सु च ।

न प्रक्षयामः पुनर्जातु धार्मिकं राममन्तरा ॥ १३ ॥

'दान, यज्ञ, विवाह तथा बड़े-बड़े सामाजिक उत्सवोंके समय अब हम कभी धर्मात्मा श्रीरामको अपने बीचमें खड़ा हुआ नहीं देख सकेंगे ॥ १३ ॥

किं समर्थं जनम्याम्य किं प्रियं किं सुखावहम् ।

इति रामेण नगरं धिमेव घटिपालितम् ॥ १४ ॥

अमुक पुरुषके लिये कौन-सी वस्तु उपयोगी है ? क्या करनेसे उसका प्रिय होगा ? और कैसे किस-किस वस्तुसे उसे सुख मिलेगा, इत्यादि बातोंका विचार करते हुए श्रीरामचन्द्रजी पिताकी भाँति इस नगरका पालन करते थे ॥

वातायनगतानां च स्त्रीणामन्वन्तरापणम् ।

राममेवाधितप्तानां शुश्राव परिदेवनाम् ॥ १५ ॥

वाजामके वाँचसे निकलते समय सारथिके कानोंमें स्त्रियोंके

रौनेको आवाज सुनायी तो जा महलाको खिड़कियाँ बँटकर श्रीरामके लिये ही संताप हो विलाप कर रही थीं ॥ १५ ॥

स राजमार्गमध्येन सुमन्त्रः पिहिताननः ।

यत्र राजा दशरथस्तदेवोपययौ गृहम् ॥ १६ ॥

राजमार्ग-बीचमें जात हुए सुमन्त्रने करहुमें अपना मुँह ठक लिया । वे रथ लेकर ठसी भवनकी ओर गये, जहाँ राजा दशरथ मौजूद थे ॥ १६ ॥

सोऽवतीर्य रथाच्छीघ्रं राजवेश्म प्रविश्य च ।

कक्ष्याः सप्ताभिजक्राम महाजनसमाकुलाः ॥ १७ ॥

राजमहलक पास पहुँचकर वे शीघ्र ही रथसे उतर पड़े और भीतर प्रवेश करके बहुत-से मनुष्योंसे भरी हुई सात छयादियोंको पार कर गये ॥ १७ ॥

हर्षैर्विमानैः प्रासादैर्गवेष्वथ समागतम् ।

हाहाकारकृता नायौ रामदर्शनकर्षिताः ॥ १८ ॥

धनियोंकी अट्टालकाओं, सनमाँजलें मकानों तथा राजभवनोमें बैठी हुई स्त्रियाँ सुमन्त्रको लौटा हुआ देख श्रीरामके दर्शनसे बञ्चित हानक दुःखमें दुर्बल हो हाहाकर कर उठीं ॥ १८ ॥

आयतैर्विमलैर्नैरभ्रवोगपरिप्लवैः ।

अन्योन्यमभिबीक्षन्तेऽव्यक्तमार्तनगः स्त्रियः ॥ १९ ॥

उनके कज्जल आदिसे रहित बड़े-बड़े नेत्र आँसुआके वेगमें हुबे हुबे हुए थे । वे स्त्रियाँ अत्यन्त आर्त होकर अभ्यन्त-भावसे एक-दूसरीकी ओर देख रही थीं ॥ १९ ॥

ततो दशरथस्त्रीणां प्रासादेभ्यस्तनस्तनः ।

रामशोकाभितप्तानां मन्दं शुश्राव जल्पितम् ॥ २० ॥

तदनन्तर राजमहलोंमें जहाँ-तहाँसे श्रीरामके शोकमें संतप्त हुई राजा दशरथकी रानियोंके मन्दस्वरमें कहें गये वचन सुनायी पड़े ॥ २० ॥

सह रामेण निर्यातो विना राममिहागतः ।

सूतः किं नाम कौसल्या क्रोशन्तीं प्रतिवक्ष्यति ॥ २१ ॥

‘ये सारथि सुमन्त्र श्रीरामके साथ यहाँसँ गये थे और उनके बिना ही यहाँ लौटे हैं’ ऐसी दशरथ वरुणवन्दन करने हुई कौसल्याको ये क्या उत्तर देंगे ? ॥ २१ ॥

यथा च मन्ये दुर्जयमेवं न सुकरं ध्रुवम् ।

आच्छिद्य पुत्रे निर्याति कौसल्या यत्र जीवति ॥ २२ ॥

‘मैं समझती हूँ, जैसे जीवन दुःखजनित है, निश्चय ही उसी प्रकार इसका नाश भी सुकर नहीं है; तभी तो न्यायतः प्राप्त हुए अभियेकको न्यायकर पुत्रके वनमें चल जानपर भी कौसल्या अभितप्त जीवित हैं’ ॥ २२ ॥

सत्यरूपं तु तत् साकथं राजस्त्रीणां निशामयन् ।

प्रदीप्त इव शोकेन विवेश सहसा गृहम् ॥ २३ ॥

रानियोंकी वह सच्ची बात सुनकर शोकसे दग्ध से होत हुए सुमन्त्रने सहसा राजभवनमें प्रवेश किया ॥ २३ ॥

स प्रविश्याष्टमीं कक्ष्यां राजानं दीनभातुरम् ।

पुत्रशोकपरिधुनपश्यत् धाण्डुरे गृहे ॥ २४ ॥

आठवीं इगोड़ीमें प्रवेश करके उन्होंने देखा, राजा एक धुंत भवनमें बैठे और पुत्रशोकसे मन्त्रित होन एवं आतुर हो रहे हैं ॥ २४ ॥

अभिगम्य तमासीनं राजानमभिवाद्य च ।

सुमन्त्रो रामवचनं यथोक्तं प्रत्यवेदयत् ॥ २५ ॥

सुमन्त्रने वहाँ बैठे हुए महाराजके पास जाकर उन्हें प्रणाम किया और उन्हें श्रीरामचन्द्रजीकी कहें हुई बात ज्यों-की-त्यों सुना दी ॥ २५ ॥

स तूष्णीमेव न चकृत्वा राजा विव्रुतमानसः ।

मूर्च्छितो न्यपनद् भूमौ रामशोकाभिपीडितः ॥ २६ ॥

राजने चुपचाप हो वह सुन लिया, मुनकर उनका हृदय द्रवित (व्यस्कुल) हो गया । फिर वे श्रीरामके शोकमें अत्यन्त पीड़ित हो मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ २६ ॥

ननोऽन्त-पुरमाविद्धं मूर्च्छिते पृथिवीपतौ ।

उच्छिद्य साहू शुक्रोश नृपतौ पतिते क्षितौ ॥ २७ ॥

महाराजके मूर्च्छित हो जानेपर सारा अन्त-पुर दुःखसे व्याधित हो उठा । राजाके पृथ्वीपर गिरते ही सब लोग शनो काहें उठाकर जोर-जोरमें चींकार करने लगे ॥ २७ ॥

सुमित्रया तु सहिता कौसल्या पतिते पतिम् ।

उत्थापयामास तदा कथनं घेदमन्नधीत् ॥ २८ ॥

उस समय कौसल्याने सुमित्राकी सहायतासे अपने गिरे हुए पतिको उठाया और इस प्रकार कहा— ॥ २८ ॥

इमं तस्य महाभाग दूतं दुष्करकारिणः ।

वनवासादनुप्राप्तं कम्पाभ्रं प्रतिभाषसे ॥ २९ ॥

‘महाभाग ! ये सुमन्त्रजी दुष्कर कर्म करनेवाले श्रीरामके दूत होकर—उनका संदेश लेकर वनवाससे लौटे हैं । आप इनसे बात क्यों नहीं करते हैं ? ॥ २९ ॥

अटोभभनसं कृत्वा व्यपन्नपसि राघव ।

उनिष्ट सुकृतं तेऽस्तु शोके न स्यात् सहायता ॥ ३० ॥

‘रघुनन्दन ! पुत्रको वनवास दे देना अन्याय है । यह अन्याय करके आप लज्जित क्यों हो रहे हैं ? उठिये, आपकी अपने भयके पालनका पुण्य प्राप्त हो । जब आप इस तरह शोक करेंगे, तब आपके सहायकोंका समुदाय भी आपके साथ ही नष्ट हो जायगा ॥ ३० ॥

देव यस्या भयाद् रामं नानुपृच्छसि सारथिम् ।

नेह निद्रति कंकेयी विश्रब्धं प्रतिभाष्यताम् ॥ ३१ ॥

‘देव ! आप जिसके भयसे सुमन्त्रजीसे श्रीरामका समाचार नहीं पूछ रहे हैं, वह कंकेयी यहाँ मौजूद नहीं है अतः निर्भय होकर बात कीजिये’ ॥ ३१ ॥

सा तथोक्त्वा महाराजं कौसल्या शोकालालसा ।

धरण्या निपफाताशु बाष्पविप्लुतधाधिणी ॥ ३२ ॥

महाराजसे ऐसा कहकर कौसल्याका गला भर आया ।
औंसुओके कारण उनसे बोला नहीं गया और वे शोकसे
व्याकुल होकर तुरंत ही पृथ्वीपर गिर पड़ीं ॥ ३२ ॥

विलपन्ती तथा दुष्टा कौसल्या पतिता भुवि ।
पति जावेक्ष्य ताः सर्वाः समन्ताद् रुन्दुः स्त्रियः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार विलाप करती हुई कौसल्याको भूमिपर पड़ी
देख और अपने पतिकी मूर्च्छित दशापर दृष्टिपात करके सभी
रानियाँ उन्हें चारों ओरसे घेरकर रोने लगीं ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽथोऽध्याकाण्डे सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें सत्तावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

अष्टपञ्चाशः सर्गः

महाराज दशरथकी आज्ञासे सुमन्त्रका श्रीराम और लक्ष्मणके संदेश सुनाना

प्रत्याश्वस्तो यदा राजा मोहात् प्रत्यागतस्मृतिः ।

तदाजुहाव तं सूतं रामकृतान्तकारणात् ॥ १ ॥

मूर्च्छा दूर होनेपर जब राजाको चेत हुआ तब सुमन्त्र
चित्त होकर उन्होंने श्रीरामका वृत्तान्त सुननेके लिये सारथि
सुमन्त्रको सापने बुलाया ॥ १ ॥

तदा सूतो महाराजं कृताञ्जलिर्हस्तैः ।

राममेवानुशोचन्तं दुःखशोकसमन्वितम् ॥ २ ॥

उस समय सुमन्त्र श्रीरामके ही शोक और चिन्तामें
निरन्तर डूबे रहनेवाले दुःख-शोकसे व्याकुल महाराज
दशरथके पास हाथ जोड़कर खड़े हो गये ॥ २ ॥

वृद्धं परमसंतप्तं नवग्रहमिव द्विपम् ।

विनिःश्वसन्तं ध्यायन्तमस्वस्थमिव कुञ्जरम् ॥ ३ ॥

राजा तु रजसा सूतं श्वस्ताङ्गं समुपस्थितम् ।

अश्रुपूर्णमुखं दीनमुवाच परमार्तवत् ॥ ४ ॥

जैसे जंगलसे तुरंत पकड़कर लाया हुआ हाथी अपने
मृथपति गजराजका चिन्तन करके लंबी माँम खींचना
और अत्यन्त संतप्त तथा अस्वस्थ हो जाता है, उसी
प्रकार बड़े राजा दशरथ श्रीरामके लिये अत्यन्त सन्तप्त
हो लंबी साँस खींचकर उनकीका ध्यान करने हुए अस्वस्थ-
से हो गये थे । राजाने देखा, सारथिकका सारा शरीर
भूलसे भर गया है । यह मामने खड़ा है । इसके मुखपर
औंसुओकी धारा बह रही है और यह अत्यन्त दीन दिखायी
देता है । उस अवस्थामें राजाने अत्यन्त आर्त होकर
उससे पूछा— ॥ ३-४ ॥

क नु वत्स्यति धर्मात्मा वृक्षमूलमुपाश्रितः ।

सोऽत्यन्तसुखितः सूत किमश्निष्यति राघवः ॥ ५ ॥

'सूत ! धर्मात्मा श्रीराम वृक्षकी जड़का सतप्ता ले कहां
निवास करेंगे ? जो अत्यन्त सुखमें पड़े थे, वे मरे लाड़ले
राम वहाँ क्या खाँचेंगे ? ॥ ५ ॥

ततस्तमन्तःपुरनादमुत्थितं

समीक्ष्य वृद्धास्तरुणाश्च मानवाः ।

स्त्रियश्च सर्वा रुन्दुः समन्ततः

पुरं तदासीत् पुनरेव संकुलम् ॥ ३४ ॥

अन्तःपुरसे उठे हुए उस आर्तनादको देख-सुनकर
नगरके बृद्ध और जवान पुरुष रो पड़े सारी स्त्रियाँ भी
रोने लगीं । वह सारा नगर उस समय सब ओरसे पुन
जोकसे व्याकुल हो उठा ॥ ३४ ॥

दुःखस्यानुचितो दुःखं सुमन्त्र शयनोचितः ।

भूमिपालात्पजो भूमौ शेते कथमनाथवत् ॥ ६ ॥

'सुमन्त्र ! जो दुःख भोगनेके योग्य नहीं हैं, उन्हीं
श्रीरामको भारी दुःख प्राप्त हुआ है । जो राजोचित शय्यापर
शयन करनेयोग्य हैं, वे राजकुमार श्रीराम अनाथकी भाँति
भूमिपर कैसे सोते होंगे ? ॥ ६ ॥

यं धान्तमनुयान्ति स्य पदातिरथकुञ्जराः ।

स वत्स्यति कथं रामो विजनं वनमाश्रितः ॥ ७ ॥

'जिनके यात्रा करते समय पीछे-पीछे पैदलों, रथियों और
हाथीसवारोंकी सेना चलती थी, वे ही श्रीराम निर्जन वनमें
पहुँचकर वहाँ कैसे निवास करेंगे ? ॥ ७ ॥

व्यालैर्मृगैराचरितं कृष्णसर्पनिषेवितम् ।

कथं कुमारौ खंदेह्या सार्धं वनमुपाश्रितौ ॥ ८ ॥

'जहाँ अजगर और व्याघ्र-सिंह आदि हिसक पशु विचरते
हैं तथा काले सर्प जिनका सेवन करते हैं, उसी वनका आश्रय
लनेवाले मेरे दोनों कुमार सीताके साथ वहाँ कैसे रहेंगे ? ॥ ८ ॥

सुकुमार्या तपस्विन्या सुमन्त्र सह सीतया ।

राजपुत्रौ कथं पार्दिवस्तु रथाद् गतौ ॥ ९ ॥

'सुमन्त्र ! परम सुकुमारी तपस्विनी सीताके साथ वे
दोनों राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मण रथसे उतरकर पैदल
कैसे गये होंगे ? ॥ ९ ॥

सिद्धार्थः खलु सूत त्वं येन दृष्टौ ममात्मजौ ।

वनान्तं प्रविशन्तौ तावन्निनाविव मन्दरम् ॥ १० ॥

'सारथे ! तुम कृतकृत्य हो गये; क्योंकि जैसे दोनों
अश्विनेकुमार मन्दराचलके वनमें जाते हैं, उसी प्रकार
वनके भीतर प्रवेश करते हुए मेरे दोनों पुत्रोंको तुमने अपनी
आँखोंमें देखा है ॥ १० ॥

किमुवाच वचो रामः किमुवाच च लक्ष्मणः ।

सुमन्त्र वनमासाद्य किमुवाच च मैथिली ॥ ११ ॥

‘सुमन्त्र ! वनमें पहुँचकर श्रीरामने तुमसे क्या कहा ? लक्ष्मणने भी क्या कहा ? तथा मिथिलशकुमारों सीताने क्या संदेश दिया ? ॥ ११ ॥

आसितं शयितं भुक्तं सूत रामस्य कीर्तय ।
जीविष्याम्यमर्तेन ययातिरिव साधुषु ॥ १२ ॥

‘सूत ! तुम श्रीरामके बैठने, सोने और खाने-पानसे सम्बन्ध रखनवाली बातें बताओ जैसा स्वर्गमें गिरे हुए राजा ययाति सत्पुरुषोंके बीचमें उपस्थित होनेपर सम्प्राप्त प्रभावसे पुनः सुखी हो गये थे, उसी प्रकार तुम-जैसे साधुपुरुषक मुखमें पुत्रका वृत्तान्त सुनने में सुवर्णवक जीवन धारण कर सकूँगा’ ॥ १२ ॥

इति सूतो नरेन्द्रेण घोदितः सञ्जमानया ।
उवाच वाचा राजानं स बाष्पपरिबद्धया ॥ १३ ॥

महाराजके इस प्रकार पृष्ठपद सारथि सुमन्त्रने आँसुओंसे रँधी हुई गद्गद वाणीद्वारा उनसे कहा— ॥

अब्रवीन्मे महाराज धर्ममेवानुपालयन् ।
अञ्जलिं राघवः कृत्वा शिरसाभिप्रणम्य च ॥ १४ ॥

सूत महचचनात् तस्य तानस्य विदितात्मनः ।
शिरसा घन्दनीयस्य वन्द्यो पादौ महात्मनः ॥ १५ ॥

सर्वमन्त-पुरं वाच्यं सूत महचचनात् त्वया ।
आरोग्यमविशेषेण यथार्हमभिवादनम् ॥ १६ ॥

‘महाराज ! श्रीरामचन्द्रजीने धर्मका ही निरन्तर पालन करते हुए दोनों हाथ जोड़कर और मस्तक झुकाकर कहा है—‘सूत ! तुम मेरी ओरसे आत्मज्ञानी तथा वन्दनीय मेरे महात्मा पिताके दोनों चरणोंमें प्रणाम कहना तथा अन्तःपुरमें सभी माताओंको मेरे आरोग्यका सप्ताचार देते हुए उनसे विशेषरूपसे मेरा यथाचित प्रणाम निश्चय करना ॥

माता च मम कौसल्या कुशलं चाभिवादनम् ।
अप्रमादे च यत्कव्या द्रव्याश्चैनामिदं वचः ॥ १७ ॥

धर्मवित्था यथाकालमन्यगारपरा भव ।
देवि देवस्य पादौ च देववत् परिपालय ॥ १८ ॥

‘इसके बाद मेरी माता कौसल्यासे मेरा प्रणाम करके बताना कि मैं कुशलमें हूँ और धर्मपालनमें मायधान रहना हूँ।’ फिर उनको मेरा यह संदेश सुनाना कि ‘मा ! तुम सदा धर्ममें तत्पर रहकर यथासमय अग्निशालाके सेवन (अग्निहोत्र-कार्य) में संलग्न रहना। देवि ! महाराजको देवताके समान मानकर उनके चरणोंकी सेवा करना ॥

अभिमानं च मानं च त्यक्त्वा वर्तस्व मातृषु ।
अनुराजानभार्या च कैकेयीमम्ब कारय ॥ १९ ॥

‘अभिमान^१ और मानको^२ त्यागकर सभी माताओंके

प्रति समान बर्ताव करना—उनके साथ हिल-मिलकर रहना। अम्बे ! जिसमें राजाका अनुराग है उस कैकेयीको भी श्रेष्ठ मानकर उसका सत्कार करना ॥ १९ ॥

कुमारे भरते वृत्तिर्वर्तितव्या च राजवत् ।
अध्यज्येष्टा हि राजानो राजधर्ममनुस्मर ॥ २० ॥

‘कुमार भरतके प्रति राजोचित बर्ताव करना। राजा छोटी उम्रक हों तो भी वे आदरणीय ही होते हैं—इस राजधर्मको याद रखना’ ॥ २० ॥

भरतः कुशलं वाच्यो वाच्यो महचनेन च ।
सर्वास्तेव यथान्धाये वृत्तिं वर्तस्व मातृषु ॥ २१ ॥

‘कुमार भरतसे भी मेरा कुशल-समाचार बताकर उनसे मेरी ओरसे कहना—‘भैया ! तुम सभी माताओंके प्रति न्यायोचित बर्ताव करते रहना ॥ २१ ॥

यत्कव्यञ्च महाबाहुरिक्ष्वाकुकुलनन्दनः ।
पितरं यौवराज्यस्थो राज्यस्थमनुपालय ॥ २२ ॥

‘इक्ष्वाकुकुलका आनन्द बट्टानेवाले महाबाहु भरतसे यह भी कहना चाहिये कि युवराजपदपर अभिषिक्त होनेके बाद भी तुम राज्यसिंहासनपर विराजमान पिलाजीकी रक्षा एवं स्वयं संलग्न रहना ॥ २२ ॥

अतिक्रान्तवया राजा मा स्मैनं व्यपरोरुधः ।
कुमारराज्ये जीवस्व तस्यैवाज्ञाप्रवर्तनात् ॥ २३ ॥

‘राजा बहुत बूढ़े हो गये हैं—ऐसा मानकर तुम उनका विरोध न करना—उन्हें राजसिंहासनसे न उतारना। युवराज-पदपर ही प्रतिष्ठित रहकर उनकी आज्ञाका पालन करते हुए ही जीवन-निर्वाह करना ॥ २३ ॥

अब्रवीच्छापि मां भूयो भुशमश्रूणि वर्तयन् ।
मातेव मम माता ते ब्रह्म्या पुत्रगार्धिनी ॥ २४ ॥

इत्येवं मां महाबाहुर्ब्रुवन्नेव महायशः ।
रामो राजीवपत्राक्षो भुशमश्रूण्यवर्तयन् ॥ २५ ॥

फिर उन्होंने नेत्रोंसे बहुत आँसू बहाते हुए मुझसे भरतसे कहनेके लिये ही यह संदेश दिया—‘भरत ! मेरी पुत्रवत्सला माताका अपनी ही माताके समान समझना। मुझसे इतना ही कहकर महाबाहु महायशस्वी कमलनयन श्रीराम बड़े वेगसे आँसुओंकी वर्षा करने लगे ॥ २४-२५ ॥

लक्ष्मणस्तु सुर्मकुञ्जो निःशसन् वाक्यमब्रवीत् ।
कैनायमपराधेन राजपुत्रो विवासितः ॥ २६ ॥

‘परन्तु लक्ष्मण उस समय अत्यन्त क्रुपित हो लम्बी नास खींचते हुए बोले—‘सुमन्तजी ! किस अपराधके कारण महाराजने इन राजकुमार श्रीरामको देशनिकाल दे दिया है ? ॥ २६ ॥

राजा तु खलु कैकेय्या लघु चाश्रुत्य शासनम् ।

कृतं कार्यमकार्यं वा ययं धेनाभिपीडिताः ॥ २७ ॥

'राजाने कैकेयोंका आदेश सुनकर झटसे उसे पूर्ण करनेकी प्रतिज्ञा कर ली। उनका यह कार्य उचित हो या अनुचित, परंतु हमलोगोंको उसके कारण कष्ट भोगना ही पड़ता है ॥ २७ ॥

यदि भ्राजितो रामो लोभकारणकास्तिम् ।

वरदाननिमित्तं वा सर्वथा दुष्कृतं कृतम् ॥ २८ ॥

'श्रीरामको वनवास देना कैकेयोंके लोभके कारण हुआ हो अथवा राजाके दिये हुए वरदानके कारण, मेरी दृष्टिमें यह सर्वथा पाप ही किया गया है ॥ २८ ॥

इदं तावद् यथाकामभीष्टस्य कृते कृतम् ।

रामस्य तु परित्यागे न हेतुमुपलक्ष्ये ॥ २९ ॥

'यह श्रीरामको वनवास देनेका कार्य राजाकी स्वेच्छा-चारिताके कारण किया गया हो अथवा ईश्वरकी प्रेरणासे, परंतु मुझे श्रीरामके परित्यागका कोई समुचित कारण नहीं दिखायी देता है ॥ २९ ॥

असमीक्ष्य समारब्धं विरुद्धं बुद्धिलाघवान् ।

जनयिष्यति संक्रोशं राघवस्य विद्यासनम् ॥ ३० ॥

'बुद्धिकी कमी अथवा तुच्छताके कारण उचित-अनुचितका विचार किए बिना ही जो यह राम वनवासरूनी शार्वभिरुद्ध कार्य आगम्य किया गया है, यह अवश्य ही निन्दा और दुःखका जनक होगा ॥ ३० ॥

अहं तावन्महाराजे पितृत्वं नोपलक्ष्ये ।

भ्राता भर्ता च बन्धुश्च पिता च मम राघवः ॥ ३१ ॥

'मुझे इस समय महाराजमें पिताका भाव नहीं दिखायी देता। अब तो रघुकुलनन्दन श्रीराम ही मेरे भाई, स्वामी, बन्धु-बान्धव तथा पिता हैं ॥ ३१ ॥

सर्वलोकप्रियं त्यक्त्वा सर्वलोकहिते रतम् ।

सर्वलोकोऽनुरज्येत कथं चानेन कर्मणा ॥ ३२ ॥

'जो सम्पूर्ण लोकोंके हितमें तत्पर होनेके कारण सब

उत्पार्थे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें अष्टावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

एकोनषष्टितमः सर्गः

सुमन्त्रद्वारा श्रीरामके शोकसे जड़-चेतन एवं अयोध्यापुरीकी दुरवस्थाका वर्णन तथा राजा दशरथका विलाप

मम स्वस्था निवृत्तस्य न प्रावर्तन्त कर्मणि ।

अधामश्च विमुञ्चन्तो रामे सम्प्रास्थिते वनम् ॥ १ ॥

वभाभ्यां राजपुत्राभ्यामथ कृत्वाहमञ्जलिम् ।

प्रस्थितो रथमास्थाय तददुःखमपि धारयन् ॥ २ ॥

सुमन्त्रने कहा - 'जब श्रीरामचन्द्रजी कञ्जी ओर प्रस्थित

लोगोंके प्रिय हैं, उन श्रीरामका परित्याग करके राजाने जो यह कृतलापूर्ण पापकृत्य किया है, इसके कारण अब सारा संसार उनमें कैसे अनुरक्त रह सकता है ? (अब उनमें राजोचित गुण कहाँ रह गया है ?) ॥ ३२ ॥

सर्वप्रजाभिरामं हि रामं प्रव्रज्य धार्मिकम् ।

सर्वलोकविरोधेन कथं राजा भविष्यति ॥ ३३ ॥

'जिनमें समस्त प्रजाका मन रमता है, उन धर्मात्मा श्रीरामको देशान्तराला देकर समस्त लोकोंका विरोध करनेके कारण अब वे कैसे राजा हो सकेंगे ? ॥ ३३ ॥

जानकी तु महाराज निःश्वसन्ती तपस्विनी ।

भूतोपहतचित्तेव विहिता विस्मृता स्थिता ॥ ३४ ॥

'महाराज ! तपस्विनी जनकनन्दिनी सीता तो लंबी साँस खींचती हुई इस प्रकार निश्छेष्ट खड़ी थीं, मानो उनमें किसी भूतका आवेश हो गया हो। वे भुंशी मौ जान पड़ती थीं ॥

अदृष्टपूर्वव्यसना राजपुत्री यशस्विनी ।

तेन दुःखेन रुदती नैव मां किञ्चिदब्रवीत् ॥ ३५ ॥

'उन यशस्विनी राजकुमारोंने पहले कभी ऐसा संकट नहीं देखा था। वे पतिके ही दुःखसे दुःखी होकर रो रही थीं। उन्होंने मुझसे कुछ भी नहीं कहा ॥ ३५ ॥

उन्मीक्षमाणा भर्तारं मुखेन परिशुष्यता ।

मुमोक्ष सहसा बाष्पं प्रयान्तमुपवीक्ष्य सा ॥ ३६ ॥

'मुझे इधर आनेके लिये उद्यत देख वे मूखे मुझसे पतिकी ओर देखती हुई सहसा आँसू बहाने लगी थीं ॥ ३६ ॥

तथैव रामोऽश्रुमुखः कृताञ्जलिः

स्थितोऽब्रवील्लक्ष्मणाबाहुपालितः ।

तथैव सीता रुदती तपस्विनी

निरीक्षते राजरथं तथैव माम् ॥ ३७ ॥

'इस प्रकार लक्ष्मणकी भुजाओंसे मुखित श्रीराम उस समय हाथ जोड़े खड़े थे। उनके मुखपर आँसुओंकी धारा बह रही थी। भर्मास्वनी सीता भी रोती हुई कभी आपके इस रथकी ओर देखती थीं और कभी मेरी ओर ॥ ३७ ॥



एकोनषष्टितमः सर्गः

सुमन्त्रद्वारा श्रीरामके शोकसे जड़-चेतन एवं अयोध्यापुरीकी दुरवस्थाका वर्णन तथा राजा दशरथका विलाप

मम स्वस्था निवृत्तस्य न प्रावर्तन्त कर्मणि ।

अधामश्च विमुञ्चन्तो रामे सम्प्रास्थिते वनम् ॥ १ ॥

वभाभ्यां राजपुत्राभ्यामथ कृत्वाहमञ्जलिम् ।

प्रस्थितो रथमास्थाय तददुःखमपि धारयन् ॥ २ ॥

सुमन्त्रने कहा - 'जब श्रीरामचन्द्रजी कञ्जी ओर प्रस्थित

हुए, तब मैंने उन दोनों राजकुमारोंको हाथ जोड़कर प्रणाम किया और उनके वियोगके दुःखको हृदयमें धारण करके रथपर आरुढ़ हो उधरसे लौटा लौटते समय मेरे जोड़े नेत्रोंसे गरम-गरम आँसू बहाने लगे। रस्ता चलनेमें उनका मन नहीं लगता था ॥ १-२ ॥

गृहेन सार्धं तत्रैव स्थितोऽस्मि दिवमान् बहून् ।

आशया यदि मां रामः पुनः शब्दापयेदिति ॥ ३ ॥

‘मैं गृहके साथ कई दिनोंतक वहाँ इस आशय टट्टर रहा कि सम्भव है, श्रीराम फिर मुझे बुला लें ॥ ३ ॥

विषये ते महाराज महाव्यसनकर्षिताः ।

अपि वृक्षाः परिम्लाना सपुष्पाङ्गुरकोरकाः ॥ ४ ॥

‘महाराज ! आपके राज्यमें वृक्ष भी इस महान् संकटसे कुशकाय हो गये हैं, फूल अङ्गुर और खलियासदृश मुरझा गये हैं ॥ ४ ॥

उपतप्तोदका नद्यः पल्वलानि सरांसि च ।

परिशुष्कपलाशानि वनान्युपवनानि च ॥ ५ ॥

‘नदियाँ, छोटे जलशायों तथा बड़े संगमरमरोंके जल गरम हो गये हैं। वनों और उपवनोके पत्ते सुख गये हैं ॥ ५ ॥

न च सर्पानि सन्त्वानि व्याला न प्रचरन्ति च ।

रामशोकाधिभूतं तन्निष्कृजमभवद् वनम् ॥ ६ ॥

‘वनके जाँत्र जन्तु आहारके लिये भी कहाँ नहीं जात हैं। अजगर आदि सर्प भी जहाँ-कहाँ-तहाँ पड़े हैं, आगे नहीं बढ़ते हैं। श्रीरामके शोकसे पीड़ित हुआ वह सारा वन नोरख-सा हो गया है ॥ ६ ॥

लीनपुष्करपत्राश्च नद्यश्च कलुषोदकाः ।

संतप्तपद्माः पथिन्यो लीनमौनविहगमाः ॥ ७ ॥

‘नदियोंके जल मलिन हो गये हैं। उनमें फैले हुए कमलोंके पत्ते गल गये हैं। सरोवरोंके कमल भी सूख गये हैं। उनमें रहनेवाले मत्स्य और पक्षी भी मरुप्राय हो गये हैं ॥

जलजानि च पुष्पाणि माल्यानि स्थलजानि च ।

नातिभान्त्यल्पगन्धानि फलानि च यथापुष्पम् ॥ ८ ॥

‘जलमें उत्पन्न होनेवाले पुष्प तथा स्थलसे पैदा होनेवाले फूल भी बहुत थोड़ी भुगन्धमें युक्त होनेके कारण अधिक शोभा नहीं पात है तथा फल भी पूर्ववत् नहीं दृष्टिगोचर होते हैं ॥ ८ ॥

अत्रोद्यानानि शुन्यानि प्रलीनविहगानि च ।

न चाभिरामानारामान् पश्यामि मनुजर्वभ ॥ ९ ॥

‘नरश्रेष्ठ ! अयोध्याके उद्यान भी सूने हो गये हैं, उनमें रहनेवाले पक्षी भी कहीं छिप गये हैं। यद्यपि बगीचे भी मुझे पहलुकी भाँति मनोहर नहीं दिखायी देते हैं ॥ ९ ॥

प्रविशन्तमयोध्यायां न कश्चिदभिनन्दति ।

नरा राममपश्यन्तो निःश्वसन्ति मुहुर्मुहुः ॥ १० ॥

‘अयोध्यामें प्रवेश करते समय मुझसे किर्याने प्रयत्न होकर बात नहीं की। श्रीरामका न देखकर लोग बारम्बार लंछा साँसें खींचने लगे ॥ १० ॥

देव राजरथं दृष्ट्वा बिना राममिहागतम् ।

दूरादश्रुमुखः सर्वा राजमार्गे गतो जनः ॥ ११ ॥

‘देव ! सड़कपर आये हुए सब लोग राजाका रथ

श्रीरामके बिना ही यहाँ लौट आया है। यह देखकर दूरसे ही आँसू बहाने लगे थे ॥ ११ ॥

हर्ष्यविमर्षः प्रासादरवेक्ष्य रथमागतम् ।

हाहाकारकृता नार्यो रामादर्शनकर्षिताः ॥ १२ ॥

अदृष्टालंकायां विमानों और प्रासादापर बैठी हुई स्त्रियाँ बहाने रथको सुना हो लौटा देखकर श्रीरामको न देखनेके कारण व्यथित हो उठीं और हाहाकार करने लगीं ॥ १२ ॥

आयतविमर्षनेत्रैश्चक्षुष्वेव गग्निमूर्तेः ।

अन्योन्यधर्षिणीक्षन्तेऽव्यक्तमार्गतराः स्त्रियः ॥ १३ ॥

‘उनके कज्जल आँसुसे रहित बड़े-बड़े नेत्र आँसुओंके संगम हुंसे हुए थे। वे स्त्रियाँ अत्यन्त आर्त होकर अव्यक्त भावसे एक-दूसरोंको आँर देख रही थीं ॥ १३ ॥

नामित्राणां न मित्राणामुदासीनजनस्य च ।

अहमर्ततया कंचिद् विशेषं नोपलक्षये ॥ १४ ॥

‘शत्रुओं, मित्रों तथा उदासीन (मध्यस्थ) मनुष्योंको भी मैंने समानरूपसे दुःखी देखा है। किसीके शोकमें मुझे कुछ अन्तर नहीं दिखायो दिया है ॥ १४ ॥

अप्रहृष्टमनुष्या च दीननागतुरंगमा ।

आर्तस्वरपरिम्लाना विनिःश्वसितनिःस्वनाः ॥ १५ ॥

निरानन्दा महाराज रामप्रभ्राजनातुराः ।
कौसल्या पुत्रहीनेव अयोध्या प्रतिधाति ये ॥ १६ ॥

‘महाराज ! अयोध्याके मनुष्योंका हृव छिन गया है। वहँकि घोड़े और हाथी भी बहुत दुःखी हैं। सारी पुरी आर्तनादसे मलिन दिखायी देती है। लंगोकी लंबी-लंबी साँसें हो इस नगरीका उच्छ्वास बन गयी हैं। यह अयोध्यापुरी श्रीरामके वनवाससे व्याकुल हुई पूर्ववियोगिनी कौसल्याकी भाँति मुझे आनन्दशून्य प्रतीत हो रही है ॥ १५-१६ ॥

सूतस्य वचनं श्रुत्वा वाचा परमदीनया ।

बाष्पोपहतया सूतमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १७ ॥

सुमन्त्रक वचन सुनकर राजाने उनसे अश्रु-गद्गद परम दोन वाणीमें कहा— ॥ १७ ॥

कैकेय्या विनियुक्तेन पापाभिजनभाषया ।

मया न मन्त्रकुशलैर्वृद्धैः सह समर्थितम् ॥ १८ ॥

‘सूत ! जो पापों कुल और पापपूर्ण दशमें उत्पन्न हुई है तथा जिसके विचार भी पापस धरे हैं, उस कैकेयीक कहनम आकर मैंने सत्सह देवम कुशल वृद्ध पुरुषोंके साथ बैठकर इस विषयमें कोई परामर्श भी नहीं किया ॥ १८ ॥

न सुहृद्भिर्न चापार्थ्यमन्त्रयित्वा सनेगमैः ।

मयाधर्म्यः सम्मोहात् स्त्रीहेतोः सहमा कृतः ॥ १९ ॥

‘सुहृदों, मित्रियों और वेदवेत्ताओंसे सलाह लिये बिना ही मैंने मोहवश केवल एक धीकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये सहमा यह अनर्थमय कार्य कर डाला है ॥ १९ ॥

भवितव्यतया नूनमिदं वा व्यसनं महत् ।
कुलस्यास्य विनाशाय प्राप्तं सुत यदृच्छया ॥ २० ॥

‘सुमन्त्र ! होनहारवश यह भारी विपत्ति निश्चय ही इस
कुलका विनाश करनेके लिये अवस्थान् आ पहुँची है ।

सुत यद्यस्ति ते किञ्चिन्मयापि सुकृतं कृतम् ।
त्वं प्रापयाशु मां रामं प्राणाः संत्वरयन्ति माम् ॥ २१ ॥

‘सारथे ! यदि मैंने तुम्हारा कभी कुछ थोड़ा-सा भी
उपकार किया हो तो तुम मुझे शीघ्र ही श्रीरामके पास पहुँचा
दो । मेरे प्राण मुझे श्रीरामके दर्शनके लिये अंग्रता करनेका
प्रेरणा दे रहे हैं ॥ २१ ॥

यद्यद्यापि ममैवाज्ञा निवर्तयतु राघवम् ।
न शक्यामि विना रामं मुहूर्तमपि जीवितुम् ॥ २२ ॥

‘यदि आज भी इस राज्यमें मेरी हो आज्ञा चलती हो तो तुम
मेरे ही आदेशसे जाकर श्रीरामको वनमें लौटा ल आओ क्योंकि
अब मैं उनके बिना दो घड़ी भी जीवित नहीं रह सकूँगा ॥ २२ ॥

अथवापि महाबाहुर्गतो दूरं भविष्यति ।
मामेव रथमारोप्य शीघ्रं रामाय दर्शय ॥ २३ ॥

‘अथवा महाबाहु श्रीराम तो अब दूर चल गये होंगे इसलिये
मुझे ही रथपर बिठाकर ले खलो और शीघ्र ही रामका दर्शन कराओ ।

यत्तदष्टौ महेश्वरः कासौ लक्ष्मणपूर्वजः ।
यदि जीवामि साध्वेनं पश्येयं सीतया सह ॥ २४ ॥

‘कुन्दकलीके समान छेत दाँतोंवाले, लक्ष्मणके बड़े भाई
महाधनुर्धर श्रीराम कहाँ हैं ? यदि सोताक साथ भली भाँति
उनका दर्शन कर लूँ, तभी मैं जीवित रह सकूँगा ॥ २४ ॥

लोहिताक्षं महाबाहुयामुक्तमणिकुण्डलम् ।
रामं यदि न पश्येयं गमिष्यामि यमक्षयम् ॥ २५ ॥

‘जिनके लाल नेत्र और बड़ी-बड़ी भुजाएँ हैं तथा जो
मणियोंके कुण्डल धारण करते हैं, उन श्रीरामको यदि मैं नहीं
देखूँगा तो अवश्य यमलोकको चल जाऊँगा ॥ २५ ॥

अतो नु किं दुःखतरं योऽहमिक्ष्वाकुनन्दनम् ।
इषामवस्थामापन्नो नेह पश्यामि राघवम् ॥ २६ ॥

‘इससे बढ़कर दुःखकी बात और क्या होगी कि मैं इस
मरणसत्र अवस्थामें पहुँचकर भी इक्ष्वाकुकुलनन्दन राघवन्त
श्रीरामको यहाँ नहीं देख रहा हूँ ॥ २६ ॥

हा राम रामानुज हा हा वंदेहि तपस्विनि ।
न मां जानीत दुःखेन प्रियमाणमनाश्वनम् ॥ २७ ॥

‘हा राम ! हा लक्ष्मण ! हा विदेहराजकुमारो तपस्विनी
सीते ! तुम्हें पता नहीं होगा कि मैं किस प्रकार दुःखमें
अनाथकी भाँति भर रहा हूँ ॥ २७ ॥

स तेन राजा दुःखेन भृशमपित्तचेतनः ।

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽष्टाध्याकाण्डे एकोनषष्टितमः सर्गः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके अष्टाध्याकाण्डमें उनमठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

अवगाढः सुदुष्पारं शोकसागरमव्रवीत् ॥ २८ ॥

राजा उस दुःखसे अत्यन्त अचेत हो रहे थे, अतः वे उस
परम दुर्लभ्य शोकसमुद्रमें निमग्न होकर बाले— ॥ २८ ॥

रामशोकमहावेगः सीताविरहपारगः ।
असितोर्मिमहावर्तो बाष्पवेगजलाविलः ॥ २९ ॥

बाहुविक्षेपमीनोऽसौ विकन्दितमहास्वनः ।
प्रकीर्णकेशशैवालः कैकेयीवडवामुखः ॥ ३० ॥

धमाश्रुवेगप्रभवः कुब्जावाक्यमहाग्रहः ।
वरवेलो नृशसाया रामप्रस्राजनायतः ॥ ३१ ॥

यस्मिन् जन निमग्नोऽहं कौमल्ये राघवं विना ।
दुस्तरो जीवना देवि ययार्यं शोकसागरः ॥ ३२ ॥

देवि कौमल्ये मैं श्रीरामके बिना जिस शोक समुद्रमें डूबा
हुआ हूँ, उस जैन जो पार करना मेरे लिये अत्यन्त कठिन है
श्रीरामका शोक ही इस समुद्रका महान् वेग है । सोताका बिछोड़ ही
उसका दूसरा छोर है । लंबी-लंबी साँसें उसकी लहरें और
बड़ी बड़ी भेजे हैं । अँभुआका वगपूर्वक उमड़ा हुआ प्रवाह ही
उसका मन्थन जल है । मेरा हाथ पटकना ही उसमें उछलनी हुई
मछलियोंका चिन्ताम है । करुण-क्रन्दन ही उसकी मशान् गर्जना
है । ये विखरें हुए केश ही उसमें उपलब्ध होनेवाले संसार हैं ।
कैकेयी वडवामुख है । वह शोक समुद्र मेरी वगपूर्वक होनेवाली
अश्रुवर्षासे उत्पन्नका मूल कारण है । मन्थराके कुटिलतापूर्ण
वचन ही इस समुद्रके बड़-बड़ घाव हैं । क्रूर कैकेयीके मार्ग
हुए तो वन को उसका ही लट है तथा श्रीरामका वनवास ही उस
शोक-सागरका महान् विस्तार है ॥ २९—३२ ॥

अशोधनं योऽहमिहाद्य राघवं
दिदृक्षमाणो न लभे सलक्ष्मणम् ।

इतीव राजा विलपन् महाधृताः
पयात तूर्णं शयने स मूर्च्छितः ॥ ३३ ॥

मैं लक्ष्मणसहित श्रीरामको देखना चाहता हूँ, परंतु इस
समय उन्हें यहाँ देख नहीं पाता हूँ—यह मेरे बहुत बड़
पापको फल है । इस तरह विलपन करने हुए महायशस्वी
राजा दशरथ तुरंत ही मूर्च्छित होकर शय्यापर गिर पड़े ।

इति विलपति पार्थिवे प्रणष्टे
करुणतरं द्विगुणं च रामहेतोः ।

वचनमनुनिशम्य तस्य देवी
धयमगमत् पुनरेव राममाता ॥ ३४ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके लिये इस प्रकार विलपन करते हुए
राजा दशरथके मूर्च्छित हो जानेंपर उनके उस अत्यन्त
करुणाजनक वचनको सुनकर राममाता देवी कौमल्याको
पुनः दुगुना धय हो गया ॥ ३४ ॥

षष्ठितमः सर्गः

कौसल्याका विलाप और सारथि सुमन्त्रका उन्हें समझाना

ततो भूतोपसृष्टेय वेपमाना पुन पुनः ।

धरणी गतसत्त्वेष कौसल्या सुतमब्रवीत् ॥ १ ॥

तदनन्तर जैसे उनमें भूतका आवरण हो गया हो इस प्रकार कौसल्या देवी कागजार काँपने लगीं और अचन-साँ होकर पृथ्वीपर गिर पड़ीं। उसी अवस्थामें उन्होंने सारथिसे कहा— ॥ १ ॥

नय मां यत्र काकुत्स्थः सीता यत्र च लक्ष्मणः ।

तान् बिना क्षणमप्यद्य जीवितुं नोत्सहे हृदयम् ॥ २ ॥

‘सुमन्त्र ! जहाँ श्रीराम हैं, जहाँ सीता और लक्ष्मण हैं, वहाँ मुझे भी पहुँचा दो। मैं उनके बिना अब एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकती ॥ २ ॥

निवर्तय रथं शीघ्रं दण्डकान् नय मामपि ।

अथ तान् नानुगच्छामि गमिष्यामि यमक्षयम् ॥ ३ ॥

जल्दी रथ लौटाओ और मुझे भी दण्डकारण्यमें ले सलो। यदि मैं उनके पास न जा सकी तो यमलोककी यात्रा करूँगी ॥ ३ ॥

ब्राह्मवेगोपहतया स वाचा सज्जमानया ।

इदमाश्वासयन् देवीं सृतः प्राञ्जलिरब्रवीत् ॥ ४ ॥

देवी कौसल्याकी बात सुनकर सारथि सुमन्त्रने हाथ जोड़कर उन्हें समझाते हुए आँसुओंके वासे अवरुद्ध हुई गद्गदवाणीमें कहा— ॥ ४ ॥

त्यज शोकं च मोहं च सम्भ्रमं दुःखजं तथा ।

व्यवधूय च संतापं वने वत्स्यति राघवः ॥ ५ ॥

‘महाशायी ! यह शोक, मोह और दुःखजनित व्याकुलता छोड़िये श्रीरामचन्द्रजी इस समय सारा संताप भूलकर वनमें निवास करते हैं ॥ ५ ॥

लक्ष्मणाश्चापि रामस्य पादौ परिचरन् वने ।

आराधयति धर्मज्ञः परलोकं जितेन्द्रियः ॥ ६ ॥

‘धर्मज्ञ एवं जितेन्द्रिय लक्ष्मण भी उस वनमें श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंकी सेवा करते हुए अपना परलोक बना रहे हैं ॥ ६ ॥

विजनेऽपि वने सीता वासं प्राप्य गृहेष्विव ।

विस्मर्य लभतेऽर्थात् रामेऽप्यन्यस्तमानसा ॥ ७ ॥

‘सीताका मन भगवान् श्रीराममें ही लगा हुआ है। इसलिये निर्जन वनमें रहकर भी घरकी ही भाँति प्रेम एवं प्रसन्नता पाली तथा निर्भय रहती है ॥ ७ ॥

नास्या दैत्यं कृतं किञ्चित् सुसूक्ष्ममपि लक्ष्यते ।

उचितेषु प्रवासानां वैदेही प्रतिभाति मे ॥ ८ ॥

‘वनमें रहनेके कारण उनके मनमें कुछ थोड़ा-सा भी दुःख नहीं दिखायी देता। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है, मानो विदेहराजकुमारी सीताका परदशमें रहनेका पहलमें

ही अभ्यास हो ॥ ८ ॥

नगरोपवनं गत्वा यथा स्व रमते पुरा ।

तथैव रमते सीता निर्जनेषु वनेष्वपि ॥ ९ ॥

‘जैसे यहाँ नगरके उपवनमें आकर वे पहले घूमा करती थीं, ठसी प्रकार निर्जन वनमें भी सीता सानन्द विचरती हैं ॥ ९ ॥

बालेव रमते सीताबालचन्द्रनिधानना ।

रामा रामे हृदीनात्मा विजनेऽपि वने सती ॥ १० ॥

‘पूरा चन्द्रपाक समान धनोहर मुखवाली रमणी-शिशुमणि उदारहृदया सती-साध्वी सीता उस निर्जन वनमें भी श्रीरामके समीप बालिकाके समान खेलती और प्रसन्न रहती हैं ॥ १० ॥

तद्गतं हृदयं यस्यास्तदधीनं च जीवितम् ।

अयोध्या हि भवेदस्या रामहीना तथा वनम् ॥ ११ ॥

‘उनका हृदय श्रीराममें ही लगा हुआ है। उनका जीवन भी श्रीरामके ही अधीन है, अतः रामके बिना अयोध्या भी उनके लिये वनके समान ही होगी (और श्रीरामके साथ रहनेपर वे वनमें भी अयोध्याके समान ही सुखकर अनुभव करेंगी) ॥ ११ ॥

परिपृच्छति वैदेही ग्रामांश्च नगराणि च ।

गतिं दृष्ट्वा नदीनां च पादपान् विविधानपि ॥ १२ ॥

‘विदेहनन्दिनी सीता मार्गमें मिलनेवाले गाँवों, नगरों, नदियोंके प्रवाहों और नाना प्रकारके वृक्षोंका देखकर उनका परिचय पूछ करती हैं ॥ १२ ॥

राघं वा लक्ष्मणं वापि दृष्ट्वा जानाति जानकी ।

अयोध्या क्रोशमात्रे तु विहारमिव साश्रिता ॥ १३ ॥

‘श्रीराम और लक्ष्मणको अपने पास देखकर जानकीको यहो जान पड़ता है कि मैं अयोध्यासे एक कोशकी दूरीपर मानो धूपने-फिरनेके लिये ही आयी हूँ ॥ १३ ॥

इदमेव स्मराम्यस्याः सहस्रैखोपजल्पितम् ।

कैकयीसंश्रितं जल्पं नेदानीं प्रतिभाति माम् ॥ १४ ॥

‘सीताके सम्बन्धमें मुझे इतना ही स्मरण है। उन्होंने कैकयीको लक्ष्य करके जो महारा कोड बात कह दी थी, वह इस समय मुझे याद नहीं आ रही है ॥ १४ ॥

ध्वंसयित्वा तु तद् वाक्यं प्रमादात् पर्युपस्थितम् ।

ह्लादनं वचनं सूतो देव्या मधुरमब्रवीत् ॥ १५ ॥

इस प्रकार धूलसे निकली हुई कैकयीविषयक उस आनन्दकी पलटकर मार्गश्च सुमन्त्रने देवी कौसल्याके हृदयको आह्लाद प्रदान करनेवाला मधुर वचन कहा— ॥ १५ ॥

अध्वना वातवेगेन सम्भ्रमेणातपेन च ।

न विगच्छति वैदेहाश्चन्द्राशुभदृशी प्रभा ॥ १६ ॥

‘मागमें चलनेकी भकावट, वायुके वेग, भयदायक

घस्तुओंको देखनेके कारण होनेवाली घबराहट तथा धूपसे भी
विदेहराजकुमारीको चन्द्रकिरणोंके समान कमनीय कान्ति
उनसे दूर नहीं होती है ॥ १६ ॥

सदृशं शतपत्रम् पूर्णचन्द्रोपमप्रभम् ।

वदन् तद् वदान्याया वंदेहा न विकम्पते ॥ १७ ॥

'उदारहृदया सीताको विकसित कमलके समान सुन्दर
तथा पूर्ण चन्द्रमाके समान आनन्ददायक कान्तिस युक्त मुख
कभी मलिन नहीं होता है ॥ १७ ॥

अलत्तरसरक्ताभावलत्तरसवर्जितौ ।

अद्यापि चरन्तौ तस्या पराकोशसमप्रभौ ॥ १८ ॥

जिनमें महाशरके रंग नहीं लग रहे हैं, सीताके वे दोनों
चरण आज भी महाशरके समान ही लाल तथा कमलकांशके
समान कान्तिमान् हैं ॥ १८ ॥

नूपुरोत्कृष्टलीलेख खेले गच्छति भाभिनी ।

इदानीमपि वंदेही तद्भागान्यस्तपूषणा ॥ १९ ॥

'श्रीरामचन्द्रजीके प्रति अनुरागके कारण उन्होंने
प्रसन्नताके लिये जिनसे आपभूषणोंका परिग्रहण नहीं किया है
वे विदेहराजकुमारी धामिनी सीता इस समय भी अपने
नूपुरोंकी इनकारसे हमोंके कलनादका तिरस्कार-स्त करती
हुई लीलाविलासयुक्त गतिसे चलती हैं ॥ १९ ॥

गजं वा वीक्ष्य सिंहं वा व्याघ्रं वा वनमाश्रिता ।

नाहारयति सत्रासं बाहू रामस्य संश्रिता ॥ २० ॥

'वे श्रीरामचन्द्रजीके बाहुबलका शरोसा करके वनमें रहती
हैं और हाथी, बाघ अथवा सिंहको भी देखकर कभी घब

नहीं मानती हैं ॥ २० ॥

न शोच्यास्ते न चात्था ते शोच्यो नापि जनाधिपः ।

इदं हि चरितं लोके प्रतिष्ठास्यति शाश्वतम् ॥ २१ ॥

'अतः आप आराम, लक्ष्यण अथवा सीताके लिये
शोक न करें, अपने और महाराजके लिये भी चिन्ता
छोड़ें । श्रीरामचन्द्रजीका यह पावन चरित्र समागमें सदा
ही स्थिर रहेगा ॥ २१ ॥

विधूय शोकं परिहृष्टमानसा

महर्षिधाते पथि सुख्यवस्थिताः ।

वने रता वन्यफलाशनाः पितुः

शुभो प्रतिज्ञां प्रतिपालयन्ति ते ॥ २२ ॥

'वे दोनों ही शोक छोड़कर प्रसन्नचित्त हो महर्षियोंके
मार्गपर दृढ़तापूर्वक स्थित हैं और वनमें रहकर फल-
मूलका भोजन करते हुए पिताकी उत्तम प्रतिज्ञाका पालन
कर रहे हैं ॥ २२ ॥

तथापि सूतेन सुयुक्तत्वादिना

निवार्यमाणा सुतशोककर्शिता ।

न चैव देवी विरगम कृजितात्

प्रियेति पुत्रेति च राघवेति च ॥ २३ ॥

इन प्रकार युक्तयुक्त वचन कहकर साराथ सुपन्नने
पुत्रशोकसे पीड़ित हुई कौसल्याको चिन्ता करने और रामसे
रोक तो भी देवी कौसल्या विलापसे विरत न हुई । वे 'हा
प्यार !' 'हा पुत्र !' और 'हा रघुनन्दन !' की रट लगाती हुई
करुणानन्दन करती ही रहीं ॥ २३ ॥

इत्यर्थे श्रीमद्वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षष्ठिनमः सर्गः ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकीनिर्मिते आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें साठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६० ॥

एकषष्टितमः सर्गः

कौसल्याका विलापपूर्वक राजा दशरथको उपालम्भ देना

वने गते धर्मगते रामे रमयन्तौ वरे ।

कौसल्या मृदनी चार्ता भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

प्रयाजनोंको आनन्द प्रदान करनेवाले पुरुषार्थ श्रेष्ठ
धर्मशायण आरामक वनमें चले जानकर आज हमसे गेता हुई
कौसल्याने अपने पतिसे इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

यद्यपि त्रिषु लोकेषु प्रथिते ते यत्नद् यशः ।

सानुकोशो वदान्यश्च प्रियवादी च राघवः ॥ २ ॥

महाराज ! यद्यपि तानों लोकोंमें आपका महान्
यश फैला हुआ है,—सब लोग यही जानते हैं कि—
रघुकुलमोक्ष दशरथ बड़े दयालु, उदार और प्रिय वचन
बोलनेवाले हैं ॥ २ ॥

कथं नरवरश्रेष्ठ पुत्रौ तौ सह सीतया ।

दुःखिनी सुखसंवृद्धौ वने दुःखं सहिष्यन् ॥ ३ ॥

नरेशमें श्रेष्ठ आर्यपुत्र ! तथापि आपने इस बातका
विचार नहीं किया कि मुखम पल्ल हुए आपको वे दोनों पुत्र
माताके साथ वनवासका कष्ट कैसे सहन करेंगे ॥ ३ ॥

सा नूनं तरुणी इयामा सुकुमारी सुखोचिना ।

कथमुष्णं च शीतं च पथिली विसहिष्यते ॥ ४ ॥

'वह सोलह-अठारह वर्षकी सुकुमारी तरुणी मिथिलेश-
कुमारी सीता, जो सुख भागनेक ही योग्य है, वनमें सर्दो-
गरमोंका दुःख कैसे सहेंगी ? ॥ ४ ॥

भुक्त्वाशनं विशालाक्षो सुपदशान्वितं शुभम् ।

वन्यं नैवारमाहारं कथं सीतोपभोक्ष्यते ॥ ५ ॥

'विशाललाक्ष्मण सीता सुन्दर व्यञ्जनोसे युक्त सुन्दर
खादिए अन्न भाजन किया करनी थीं, अब वह जंगलको
निजीक चावलका सूखा भात कैसे खायेंगी ? ॥ ५ ॥

गीतवादित्रनिर्घोषं श्रुत्वा शुभसमन्विता ।

कथं कथ्यादसिंहानां शब्दं श्रोष्यन्त्यशोभनम् ॥ ६ ॥

‘जो भाङ्गलिका वस्तुआसे सम्पन्न रहकर सदा गीत और काहकी मधुर ध्वनि सुना करता थी, वही जंगलमें मोसभश्री सिंहाका अशोभन (अमङ्गलकारी) शब्द कैसे सुन सकेगी ? ॥ ६ ॥

महेन्द्रध्वजसंकाशः कः नु शोते महाभुजः ।

भुजं परिघसंकाशमुपाधाय महाबलः ॥ ७ ॥

‘जो इन्द्रध्वजक समान सम्पन्न लोककाक लिये उन्मत्त प्रदान करानेवाले थे वे महाबली महाबाहु श्रावण अंगसे परिघ जैसी पींटी बाँहका तकिया लगाकर कहाँ सोते होंगे ? ॥ ७ ॥

परावर्णं सुकेशान्तं पद्मनिःश्वासमुत्तमम् ।

कदा ब्रक्ष्यामि रामस्य चदनं पुष्करेक्षणम् ॥ ८ ॥

जिसकी कानि कमलके समान हैं, जिसके ऊपर सुन्दर केश शोभा पाते हैं, जिसकी प्रत्येक साँसमें कमलकी-सी सुगन्ध निकलती है तथा जिसमें विकसित कमलके सदृश सुन्दर नेत्र सुशोभित होते हैं, श्रीरामके उस मनाहर मुखको मैं कब देखूँगी ? ॥ ८ ॥

वज्रसारमयं नूनं हृदयं मे न संशयः ।

अपश्यन्त्या न तं यद् वै फलनीदं सहस्रधा ॥ ९ ॥

‘मेरा हृदय निश्चय ही लोहका बना हुआ है, इसमें संशय नहीं है, क्योंकि श्रीरामको न देखनेपर भी मैं इस हृदयके सहस्रों टुकड़े नहीं हो जाते हैं ॥ ९ ॥

यत् त्वया करुणं कर्म व्यपोह्य मम बन्धवाः ।

निरस्ताः परिधावन्ति सुखार्हाः कृपणा वने ॥ १० ॥

‘आपने यह बड़ा ही निर्ययनापूर्ण कर्म किया है कि बिना कुछ मान-विचार किये मेरे बन्धुवाका (कैकयीके कननम्) बिकाल दिया है, जिसके कारण वे सुख भोगके योग्य होनेपर भी दौन होकर वनमें दौड़ रहे हैं ॥ १० ॥

यदि पञ्चदशे वर्षे राघवः पुनरेष्यति ।

जह्याद् राज्यं च कोशं च धरतीं नोपलक्ष्यते ॥ ११ ॥

‘यदि पंद्रहवें वर्षमें श्रीरामचन्द्र पुनः वनसे लौटें तो धरत उनका लिये राज्य और खजाना छोड़ देंगे, ऐसी सम्भावना नहीं दिग्रायी देती ॥ ११ ॥

भोजयन्ति किल श्राद्धं केचिन् म्वानेव बन्धवान् ।

नतः पश्चान् समीक्षन् कृतकार्या द्विजोत्तमान् ॥ १२ ॥

तत्र ये गुणवन्तश्च विद्वंसश्च द्विजातयः ।

न पश्चान् तैर्ऽभिषमन्ते सुधापि सुगंधपाः ॥ १३ ॥

‘कहते हैं, कुछ लोग श्राद्धमें पहले अपने बन्धुवां (दीर्घित्र आदि) को ही भोजन करा देने हैं, उसके बाद कृतकृत्य होकर निमित्त श्रेष्ठ ब्राह्मणोंका और ध्यान देते हैं । परंतु वहाँ जो गुणवान् एवं विद्वान् देवकुल्य उत्तम ब्राह्मण होते हैं, वे पीछे अमृत भी परोसा गया

तो तो ठमको स्वाकार नहीं करते हैं ॥ १२-१३ ॥

ब्राह्मणेषुपि सूनेषु भुक्तशेषं द्विजोत्तमाः ।

नाभ्युपेनुमन्ते प्राजाः भृङ्गच्छेदमिव वर्षभाः ॥ १४ ॥

‘यद्यपि पहले पंक्तिमें भी ब्राह्मण ही भोजन करके उठे जाते हैं तथापि जो श्रेष्ठ और विद्वान् ब्राह्मण हैं, वे अपमानके भयसे उस भुक्तशेष अवशको ठसी तरह ग्रहण नहीं कर पाते जैसे अन्धे बैल अपने सींग कटानेको नहीं तैयार होते हैं ॥ १४ ॥

एवं कनीयसा भ्रात्रा भुक्तं राज्यं विशाम्यते ।

भ्राता ज्येष्ठो वरिष्ठश्च किमर्थं नाकमन्यते ॥ १५ ॥

‘महाराज ! इसी प्रकार ज्येष्ठ और श्रेष्ठ भ्राता अपने छोटे भाईके भोगे हुए राज्यको कैसे ग्रहण करेंगे ? वे उसका निरम्कार (त्याग) क्यों नहीं कर देंगे ? ॥ १५ ॥

न परेणाहुते भक्ष्यं व्याघ्रः खादिमुमिच्छति ।

एवमेव नरव्याघ्रः परलीलं न मंथते ॥ १६ ॥

‘जैसे बाघ गीदड़ आदि दूसरे जन्तुओंके लावे या क्षाये हुए भक्ष्य पदार्थ (शिकार) को खाना नहीं चाहता, इसी प्रकार पुरुषसिंह श्रीराम दूसरोंके चाटे (भोगे) हुए राज्य-भोगको नहीं स्वाकार करेंगे ॥ १६ ॥

हविराज्यं पुरोडाशः कुशा यूपश्च खादिराः ।

नैतानि यानयामानि कुर्वन्ति पुनरध्वरे ॥ १७ ॥

‘हविष्य, घृत, पुरोडाश, कुश और खदिर (खैर) के यूप—ये एक यज्ञके उपयोगमें आ जानेपर ‘यानयाम’ (उपभुक्त) हो जाते हैं; इसलिये विद्वान् इनका फिर दूसरे यज्ञमें उपयोग नहीं करते हैं ॥ १७ ॥

तथा ह्युत्तमिदं राज्यं हतसारां सुरामिव ।

नाभिषन्तुमलं रामो नष्टसोममिवाध्वरम् ॥ १८ ॥

‘इसी प्रकार निःसार मृग और भुक्तावशिष्ट यज्ञसम्बन्धी सोमरसकी भाँति इस भोगे हुए राज्यको श्रीराम नहीं ग्रहण कर सकते ॥ १८ ॥

नैवविधममत्कारं राघवो धर्षयिष्यति ।

बलवानिष शार्दूलो बालधेरभिषर्जितम् ॥ १९ ॥

‘जैसे बलवान् शेर किसीके द्वारा अपनी पैँछका पकड़ा जाना नहीं सह सकता उसी प्रकार श्रीराम ऐसे अपमानको नहीं सह सकेंगे ॥ १९ ॥

नैतस्य सहिता लोका भवे कुर्वर्महामुधे ।

अधर्मं त्विह धर्मात्मा लोकं धर्मेण योजयेत् ॥ २० ॥

‘समस्त लोक एक साथ होकर यदि महाममरमें आ जायें तो भी वे श्रीरामचन्द्रजीके मनमें धर्म उत्पन्न नहीं कर सकते, तथापि इस तरह राज्य लेनेमें अधर्म मानकर उन्होंने इसपर अधिकार नहीं किया । जो धर्मात्मा समस्त जगत्को धर्ममें लगाते हैं, वे स्वयं अधर्म कैसे कर सकते हैं ? ॥ २० ॥

नन्वसौ काञ्चनैर्बाणैर्महावीर्यो महाभुजः ।

युगान्त इव भूतानि सागरानपि निर्दहत् ॥ २१ ॥

‘वे महापराक्रमी महाबाहु श्रीराम अपने सुवर्णभूषित बाणोंद्वारा सारे समुद्रोंको भी उसी प्रकार दग्ध कर सकत है, जैसे संघर्षक अभिदेव प्रलयकालमें सम्पूर्ण प्राणियोंको भस्म कर डालते हैं ॥ २१ ॥

स तादृशः सिंहबलो बृवभाक्षो नरर्षभः ।

स्वयमेव हतः पित्रा जलजेनात्पजो यथा ॥ २२ ॥

‘सिंहके समान बल और बैलके समान बड़े-बड़े नेत्रवाला वैसा नरश्रेष्ठ वीर पुत्र स्वयं अपने पिताके ही हाथों द्वारा मारा गया (राज्यमें वञ्चित कर दिया गया) । ठीक उसी तरह, जैसे मत्स्यका बच्चा अपने पिता मत्स्यके द्वारा ही खा लिया जाता है ॥ २२ ॥

द्विजातिचरितो धर्मः शास्त्रे दृष्टः सनातनैः ।

यदि ते धर्मनिरते त्वया पुत्रे विवामिते ॥ २३ ॥

‘आपके द्वारा धर्मपरायण पुत्रको देशनिकलत्र दे दिया गया, अतः यह प्रश्न डठता है कि सनातन ऋषियोंने वेदमें जिसका साक्षात्कार किया है तथा श्रेष्ठ द्विज जिसे अपने आचरणमें लाये हैं, वह धर्म आपको दृष्टिमें नृत्य है या नहीं ॥ २३ ॥

गतिरेका पतिनार्था द्वितीया गतिरात्मजः ।

तृतीया ज्ञातयो राजंश्चतुर्थी नैव विद्यते ॥ २४ ॥

‘राजन् । नारीके लिये एक सहस्र उसका पति है, दूसरा उसका पुत्र है तथा तीसरा सहस्र उसके पिता-भाई आदि बन्धु-बान्धव हैं, चौथा कोई सहस्र उसके लिये नहीं है ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽध्याकाण्डे एकषष्टितमः सर्गः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके अध्याकाण्डमें एकसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

द्विषष्टितमः सर्गः

दुःखी हुए राजा दशरथका कौसल्याको हाथ जोड़कर मनाना और
कौसल्याका उनके चरणोंमें पड़कर क्षमा माँगना

एवं तु क्रुज्या राजा राममात्रा सशोकया ।

भ्रावितः परुषं वाक्यं चिन्तयामास दुःखितः ॥ १ ॥

शोकमग्न हो कुपित हुई श्रीराममाना कौसल्यान जब राजा दशरथको इस प्रकार कठोर बचन सुनाया तब वे दुःखित होकर बड़ी चिन्तामें पड़ गये ॥ १ ॥

चिन्तयित्वा स च नृपो मोहव्याकुलितेन्द्रियः ।

अथ दीर्घेण कालेन संज्ञामास परंतपः ॥ २ ॥

चिन्तित होनेके कारण राजाकी सारी इन्द्रियाँ मोहमे आच्छन्न हो गयीं तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् शत्रुओंको संताप देनेवाले राजा दशरथको घैत हुआ ॥ २ ॥

तत्र त्वं भव नैवासि रामश्च वनमाहितः ।

न वनं गन्तुमिच्छामि सर्वथा हा हता त्वया ॥ २५ ॥

‘इन सहारोंमेंसे आप तो मरे हैं ही नहीं (क्योंकि आप मौतके अधीन हैं) । दूसरा सहारा श्रीराम हैं, जो वनमें भेजा दिये गये (और बन्धु-बान्धव भी दूर हैं अतः तीसरा सहारा भी नहीं रहा) । आपको सेवा छोड़कर मैं श्रीरामके पास वनमें जाना नहीं चाहती हूँ, इगलिये सर्वथा आपके द्वारा मारो ही गयीं ॥ २५ ॥

हतं त्वया राष्ट्रमिदं सराज्यं

हताः स्म सर्वाः सह भन्निभिश्च ।

हता सपुत्रास्मि हताश्च पौराः

सुतश्च भार्या च तव प्रहृष्टौ ॥ २६ ॥

‘आपने श्रीरामको वनमें भेजकर इस राष्ट्रका तथा अभि-पायके अन्य राज्योंका भी नाश कर डाला, मन्त्रियोंसहित सारी प्रजाका वध कर डाला । आपके द्वारा पुत्रसहित मैं भी मारी गयी और इस नगरके निवासो भी नष्टप्राय हो गये केवल आपके पुत्र भरत और पत्नी कैकेयी दो ही प्रसन्न हुए हैं ॥ २६ ॥

इमां गिरं दारुणशब्दसंहितां

निशम्य रामेति मुमोह दुःखितः ।

ततः स शोकं प्रविवेश पार्थिवः

स्वदुष्कृतं चापि पुनस्तथास्मरत् ॥ २७ ॥

कौसल्याको यह कठोर शब्दोंसे युक्त बाणी सुनकर राजा दशरथको बड़ा दुःख हुआ । वे ‘हा राम !’ कहकर मूर्च्छित हो गये । राजा शोकमें डूब गये । फिर उसी समय उन्हें अपने एक पुत्रने दुष्कर्मका स्मरण हो आया, जिसके कारण उन्हें यह दुःख प्राप्त हुआ था ॥ २७ ॥

स संज्ञामुपलभ्यैव दीर्घमुष्णं च निःशसन् ।

कौसल्यां पार्श्वतो दृष्ट्वा ततश्चिन्तामुपागमत् ॥ ३ ॥

होशमें आनेपर उन्होंने गरम-गरम लूनी साँस ली और कौसल्याको बगलमें घेरी हुई देख वे फिर चिन्तामें पड़ गये ॥ ३ ॥

तस्य चिन्तयमानस्य प्रत्यभात् कर्म दुष्कृतम् ।

यदनेन कृतं पूर्वपज्ञानाच्छब्दवेधिना ॥ ४ ॥

चिन्तामें पड़-पड़े हो उन्हें अपने एक दुष्कर्मका स्मरण हो आया, जो इन शब्दवर्षी बाण चलानेवाले नरेशक द्वारा पहले अनजानमें बन गया था ॥ ४ ॥

अयनास्तेन शोकेन रामशोकेन च प्रभुः ।
द्वाभ्यामपि महाराजः शोकाभ्यामधिगम्यते ॥ ५ ॥

उस शाकस्य तथा श्रीगमके शाकसे भी गुजरात प्रमत्त बड़ी
बढ़ना हुई। इन दोनों ही शोकाने महाराज संतप्त होने लगे ॥
दहामानन्तु शोकाभ्यां कौसल्यामाह दुःखिनः ।

बपमानोऽर्धालिं कृत्वा प्रमादार्थमवाहमुखा ॥ ६ ॥

उन दोनों शोकसे दग्ध होत हुए दुःखी राजा दहमथ नीचे
मेंड़ किये धर-धर काँपने लगे और कौसल्याको मनानेके
लिम्पे हाथ जोड़कर बोले— ॥ ६ ॥

प्रमादये स्वां कौसल्ये रन्निनोऽयं मयाञ्जलिः ।

वत्सला जानुशंसा च त्वं हि नित्यं परेषुपि ॥ ७ ॥

'कौसल्ये ! मैं तुमसे निहोरा करना हूँ, तुम प्रमत्त हो
जाओ। देखो, मैंने ये दाँते हाथ जोड़ लिये हैं। तुम तो
दूसरीपर भी सदा वत्सल्य और दया दिखानेवाली हो (फिर
मेरे प्राण क्या कठोर हो गये ?) ॥ ७ ॥

भर्ता तु खलु नारीणां गुणवान् निर्गुणोऽपि वा ।

धर्मं विप्रशमानानां प्रत्यक्षं देवि देवतम् ॥ ८ ॥

'देवि ! पति गुणवान् हो या गुणहीन, धर्मका विचार
करनवाली सती नारियके लिये वह प्रत्यक्ष देवता है ॥ ८ ॥

सा त्वं धर्मपरा नित्यं दृष्टलोकपरावरा ।

नार्हसे विप्रियं वक्तुं दुःखितापि सुदुःखिनम् ॥ ९ ॥

'तुम तो सदा धर्ममें तत्पर रहनेवाली और लोकमें
भल-बुरेकी समझनेवाली हो। यद्यपि तुम भी दुःखिन हो
नर्थापि मैं भी महान् दुःखमें पड़ा हुआ हूँ अतः तुम मुझसे
कठोर वचन नहीं कहना चाहिये' ॥ ९ ॥

नद वाक्यं करुणं राज्ञः श्रुत्वा दीनस्य भाषितम् ।

कौसल्याव्यमुज्जद् वाष्पं प्रणालीव भकोदकम् ॥ १० ॥

दुःखी हुए राजा दहमथके मुखसे कह गये उस करुणाजनक
वचनको सुनकर कौसल्या अपने नेत्रोंसे आँसू बहाने लगीं, मानो
छलकों नालीसे नूतन (बर्फका) जल गिर रही हो ॥ १० ॥

सा मूर्ध्नि बद्ध्वा रुदती राज्ञः पराभिवाञ्जलिम् ।

सम्प्रमादब्रवीत् ब्रस्ता स्वग्माणाक्षरं वचः ॥ ११ ॥

वे अधर्मक भयसे ये पड़ी और राजाके जुड़े हुए
कमलसदृश हाथोंको अपने सिगमें सटाकर बखरावके रूपण
शोभतापूर्वक एक-एक अक्षरका उच्चारण करती हुई वार्त्ता—
प्रसीद शिरसा याचे धूर्मा निर्पानितामि ते ।

याधिनास्मि हता देव क्षन्तव्याह नहि त्वया ॥ १२ ॥

'देव ! मैं आपके सामने पृथ्वीपर पड़ी हूँ। आपके
चरणोंमें मस्तक रखकर याचना करती हूँ। आप प्रमत्त हो।
यदि आपने उलटते मुझसे ही याचना की, तब तो मैं मारी
गयी। मुझसे अपराध हुआ हो तो भी मैं आपसे क्षमा पानेक

योग्य हूँ, प्रहार पानेक नहीं ॥ १२ ॥

नैषा हि सा स्त्री भवति श्लाघनीयेन धीमता ।

उभयोर्लोकयोर्लोकं पत्या या सम्प्रसाद्यते ॥ १३ ॥

'पति अपनी स्त्रीके लिये इहलोक और परलोकमें भी
प्रशंसणीय है। इस जगन्मम जो स्त्री अपने बुद्धिमान् पतिके द्वारा
प्रमत्तों जाती है वह कुल-स्त्री कहलानेके योग्य नहीं है ॥ १३ ॥

जानामि धर्मं धर्मज्ञ स्वां जाने सत्यवादिनम् ।

पुत्रशोकान्नया तनुं मया किमपि भाषितम् ॥ १४ ॥

'धर्मज्ञ महाराज ! मैं स्त्री-धर्मको जानती हूँ और वह भी
जानती हूँ कि आप सत्यवादी हैं। इस समय मैंने जो कुछ भी
न कहने योग्य बात कह दी है वह पुत्रशोकसे पीड़ित होनेके
करण में मुझसे निकल गयी है ॥ १४ ॥

शोको नाशयते धैर्यं शोको नाशयते श्रुतम् ।

शोको नाशयते सर्वं नास्ति शोकसमो रिपुः ॥ १५ ॥

शोक धैर्यका नाश कर देता है। शोक शास्त्रज्ञानको भी
लुप्त कर देता है तथा शोक सब कुछ नष्ट कर देता है; अतः
शोकके समान दूसरा कोई शत्रु नहीं है ॥ १५ ॥

शक्यमापतितः सोढुं प्रहारो रिपुहस्ततः ।

सोढुमापतितः शोकः समुक्ष्मोऽपि न शक्यते ॥ १६ ॥

शत्रुके हाथमें अपने ऊपर पड़ा हुआ शस्त्रोंका प्रहार सह
लिया जा सकता है परन्तु देववश प्राप्त हुआ थोड़ा-सा भी
शोक नहीं सह जा सकता ॥ १६ ॥

वनवामाथ रामस्य पञ्चरात्रोऽत्र गण्यते ।

यः शोकहतहर्षायाः पञ्चवर्षेषामो मम ॥ १७ ॥

'श्रीरामका वनमें गये आज पाँच रातें बीत गयीं। मैं यही
चिन्तित हूँ कि शाकन में हर्षको नष्ट कर दिया है अतः ये पाँच
रातें मैंने लिये पाँच वर्षाक समान प्रतीत हुई हैं ॥ १७ ॥

ते हि चिन्तयमानायाः शोकोऽयं हृदि वर्धते ।

नदीनामिव वेगेन समुद्रसलिलं महत् ॥ १८ ॥

'श्रीरामका जो चिन्तन करनेके कारण मेरे हृदयका यह
शोक बढ़ता जा रहा है जैसे नदियोंके वेगसे समुद्रका जल
बहुत बढ़ जाता है' ॥ १८ ॥

एवं हि कथयन्वास्तु कौसल्यायाः शुभं वचः ।

मन्दरशिखरभृत् सूर्यो रजनीं श्लाघ्यवर्तत ॥ १९ ॥

अथ प्रह्लादितो वाक्येदेव्या कौसल्यया नृपः ।

शोकेन च समाक्रान्तो निद्राया वशमेयिवान् ॥ २० ॥

कौसल्या इस प्रकार शुभ वचन कह ही रही थी कि
सूर्यकी चक्रेण मन्द पड़ गयी और रात्रिकाल आ पनीना। देखी
कौसल्याका इन बातोंसे राजाको बड़ी प्रसन्नता हुई। साथ ही
वे श्रीरामके शोकसे भी पीड़ित थे। इस हर्ष और शोककी
अवस्थामें उन्हें नींद आ गयी ॥ १९-२० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्विपष्ठितमः सर्गः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित श्रीरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें बान्दवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६२ ॥

त्रिषष्टितमः सर्गः

राजा दशरथका शोक और उनका कौसल्यासे अपने द्वारा मुनिकुमारके मारे जानेका प्रसङ्ग सुनाना

प्रतिबुद्धो मुहुर्तेन शोकोपहतचेतनः ।

अथ राजा दशरथः स त्रिन्तामभ्यपश्यत् ॥ १ ॥

राजा दशरथ दो हो बड़ीक बाद फिर आग ठठे । उस समय उनका हृदय शोकसे व्याकुल हो रहा था । वे मन-ही-मन चिन्ता करने लगे ॥ १ ॥

रामलक्ष्मणयोश्चैव विवासाद् वासवोपमम् ।

आपेदे द्वपसर्गस्तं तपः सूर्यमिवासुग्म् ॥ २ ॥

श्रीराम और लक्ष्मणके वनमें चले जानेसे इन इन्द्रनुत्य तेजस्वी महाराज दशरथको शोकने उसी प्रकार घर दवाया था, जैसे राहुका अन्धकार सूर्यको छक देता है ॥ २ ॥

सभायै हि गते रामे कौसल्या कौसलेभरः ।

विषक्षुरसितापाङ्गी स्मृत्वा दुष्कृतमात्मनः ॥ ३ ॥

पत्नीसहित श्रीरामके वनमें चले जानेपर कौसल्यनेज दशरथने अपने पुरातन पापका स्मरण करके कजगरे नेत्रोवाली कौसल्यासे कहनेका विचार किया ॥ ३ ॥

स राजा रजनीं षष्ठीं रामे प्रजाजिते वनम् ।

अर्धरात्रे दशरथः सोऽस्मरद् दुष्कृते कृतम् ॥ ४ ॥

उस समय श्रीरामचन्द्रजीके वनमें गये छठे रात बीत रही थी । अब आधी रात हुई, सब राजा दशरथको उस पहलके किये हुए दुष्कर्मका स्मरण हुआ ॥ ४ ॥

स राजा पुत्रशोकार्तः स्मृत्वा दुष्कृतमात्मनः ।

कौसल्या पुत्रशोकार्तामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥

पुत्रशोकसे पीड़ित हुए महाराजने अपने उस दुष्कर्मको याद करके पुत्रशोकसे व्याकुल हुई कौसल्याम इस प्रकार कहना आरम्भ किया— ॥ ५ ॥

यदाधरति कल्याणि शुभं वा यदि वाशुभम् ।

तदेव लभते भद्रे कर्ता कर्मजभात्यनः ॥ ६ ॥

कल्याणि ! मनुष्य शुभ या अशुभ जो भी कर्म करता है भद्रे ! अपने उसी कर्मके फलस्वरूप सुख या दुःख कर्ताको प्राप्त होते हैं ॥ ६ ॥

गुरुलाघवमर्थानामारम्भे कर्मणां फलम् ।

दोषं वा यो न जानाति स बाल इति होच्यते ॥ ७ ॥

‘जो कर्माका आरम्भ करते समय उनके फलोंको गुरुता या लघुताको नहीं जानता, उनमें होनेवाले लाभान्तरों गुण अथवा हानिरूपी दोषको नहीं समझता वह मनुष्य बालक (मूर्ख) कहा जाता है ॥ ७ ॥

कश्चिदाश्रयणं छित्त्वा पलाशांश्च निविज्जति ।

पुष्पं दृष्ट्वा फले गृधुः स शोचति फलागमे ॥ ८ ॥

‘कोई मनुष्य पलाशका सुन्दर फूल देखकर मन-ही-मन

यह अनुमान करके कि इसका फल और भी मनोहर तथा सुस्वादु होगा, फलको अर्धभलापामे आमके बगोथेको काटकर वहाँ पलाशक पीटे लगाता और सींचता है, वह फल लगनेक समय पक्षान्ताप करता है (क्योंकि हमसे अपने आशाके अनुकूल फल वह नहीं पाता है) ॥ ८ ॥

अविज्ञाय फलं यां हि कर्म त्वेवानुधावति ।

स शोचेत् फलवेलायां यथा किशुकसेचकः ॥ ९ ॥

‘जो क्रियमाण कर्मके फलका ज्ञान या विचार न करके केवल कर्मका आर हो दीड़ता है, उसे उसका फल मिलनेके समय उसी तरह शोक होता है, जैसा कि आम काटकर पलाश सींचनेवालेको हुआ करता है ॥ ९ ॥

सोऽहमाश्रयणं छित्त्वा पलाशांश्च न्यधेधयम् ।

रामं फलागमे त्यक्त्वा पश्चाच्छोचामि दुर्मतिः ॥ १० ॥

‘मैंने भी आमका वन काटकर पलाशोंको ही सींचा है, इस कर्मके फलकी प्राप्तिके समय अब श्रीरामको खोकर मैं पक्षान्ताप कर रहा हूँ । मेरी बुद्धि कैसी खोटी है ? ॥ १० ॥

लब्धशब्देन कौसल्ये कुमारेण धनुष्मता ।

कुमार शब्दवेधोति भया पापमिदं कृतम् ॥ ११ ॥

‘कौसल्ये ! पिताके जीवनकालमें जब मैं केवल राजकुमार था एक अच्छे धनुर्धरक रूपमें मेरी ख्याति फैल गयी थी । सब लोग यही कहते थे कि ‘राजकुमार दशरथ शब्द-वेधो बाण चलाना जानते हैं ।’ इसी ख्यातिमें पड़कर मैं यह एक पाप कर डाला था (जिसे अभी बताऊँगा) ॥

तदिदं मेऽनुसम्प्राप्तं देवि दुःखं स्वयंकृतम् ।

सम्प्राप्तादिह बालेन यथा स्याद् भक्षितं विषम् ॥ १२ ॥

देवि ! मैं अपने ही किये हुए कुकर्मका फल मुझे इस महान् दुःखक रूपमें प्राप्त हुआ है । जैसे कोई बालक अज्ञानवश विष खा ले तो उसे भी वह विष मार ही डालता है उसी प्रकार मोह या अज्ञानवश किये हुए दुष्कर्मका फल भी यहाँ मुझे भोगना पड़ रहा है ॥ १२ ॥

यथान्यः पुरुषः कश्चित् पलाशैर्मोहितो भवेत् ।

एवं यथाप्यविज्ञातं शब्दवेध्यमिदं फलम् ॥ १३ ॥

जैसे दूसरा कोई गैवार मनुष्य पलाशके फलोंपर ही मोहित हो उसके बड़े फलका नहीं जानता उसी प्रकार मैं भी ‘शब्द-वेधो बाण चलाना’ को प्रशंसा सुनकर उसपर खट्खट हो गया । उसका इसी ऐस करुणापूर्ण पापकर्म बन सकता है और ऐसा भयकर फल प्राप्त हो सकता है इसका ज्ञान मुझे नहीं हुआ ।

देव्यनूदा त्वमध्वो युवराजो भवाम्यहम् ।

ततः प्रावृडनुप्राप्ता मय कामविचर्धिनी ॥ १४ ॥

‘देवि ! तुम्हारा विवाह नहीं हुआ था और मैं अभी युवराज ही था, इन्हीं दिनोंकी बात है। मेरी कामधायनाका बढ़ानेवाली वर्षा ऋतु आयी। १४

अपास्य हि रम्यान् भीमास्तपसा च जगदंशुभिः ।

परेताञ्छरितां भीमां रविगच्छते दिशम् ॥ १५ ॥

‘सूर्यदेव पृथ्वीके रक्षकों सुलाकर और जगतकों अपनी किरणोंसे भलाभाति मतप्रकाशक जिसमें यमराजवर्ग प्रसन्न विचरा करते हैं, उस भयंकर दक्षिण दिशामें संचरण करते थे ॥ १५ ॥

उष्णामन्मदधे सद्यः स्निग्धा ददृशेरे घनाः ।

ततो जहृषिरे सर्वे धेकसारङ्गबर्हिणः ॥ १६ ॥

‘सब ओर सजल मेघ दृष्टिगोचर होन लगे और गर्भी तत्काल शान्त हो गयीं, हमसे समस्त मेढकों, बालकों और मयूरोंमें हर्ष छल गया ॥ १६ ॥

झिन्नपक्षोत्तराः खालाः कृच्छ्रादिच पतत्रिणः ।

वृष्टिस्तावधूताग्रान् पाटपानभिषेदिरे ॥ १७ ॥

पक्षियोंकी पंखें ऊपरसे धोम गयी थीं। वे नहा उठे थे और बड़ी कठिनाईसे उन वृक्षोंतक पहुँच पाते थे, जिनकी झलियोंके अग्रभाग वर्षा और वायुके झोंकसे झुम रहे थे ॥ १७ ॥

पतितेनाम्भसाऽऽच्छन्नः पतमानेन चासकृत् ।

आवभौ मत्तसारङ्गस्तोयराशिस्त्रिवाचलः ॥ १८ ॥

‘गिरे हुए और बास्वार गिरते हुए जलसे आच्छादित हुआ मतवाला हाथी सरङ्गरहित अशान्त समुद्र तथा भोगे घबतके समान प्रतीत होता था ॥ १८ ॥

माण्डुरारुणवर्णानि स्रोतांसि विमलान्यपि ।

सुस्तुयुर्गिरिधालुभ्यः सभ्यस्मानि भुजंगवत् ॥ १९ ॥

पर्वतोंसे गिरनेवाले श्वेत या इमं निमल होमपर भी पर्वतीय धानुओंक सम्यक्कन धन नाल और भस्मयुक्त होकर सर्पोंकी भाँति कुटिल गतिसे बह रहे थे ॥ १९ ॥

तस्मिन्नतिसुखे काले धनुष्मानिषुमान् रथी ।

व्याधामकृतमंकल्पः सरयुषन्वगां नदीम् ॥ २० ॥

‘वर्षा ऋतुक ठम अस्यन्त सुखद सुशवनं समयमें मैं धनुष-बाण लेकर रथपर सवार हो दिक्कर सैलनेक लिये सरयू नदीक तटपर गया ॥ २० ॥

निपाने महिषे रात्रौ गजं बाध्यागतं मृगम् ।

अन्यद् वा धापदं किञ्चिज्जिघासुरजितेन्द्रियः ॥ २१ ॥

मेरी इन्द्रियों मेरे वशमें नहीं थीं। मैं सोचा था कि पानों पीनेके घाटपर रातके समय जब कोई उपद्रवकारों भेमा, मतवाला हाथी अथवा सिंह-व्याघ्र आदि दूसरा कोई हिंसक वस्तु आवगा तो उस मरूंगा ॥ २१ ॥

अधान्यकारे त्वश्रीर्ध्वं जले कुम्भस्य पूयंतः ।

अचक्षुर्विषये घोषं वारणास्पृश नदंतः ॥ २२ ॥

‘उस समय वहाँ सब ओर अन्धकार छा रहा था। मुझे अकम्पात् पानीमें घड़ा भरनकी आज्ञा सुनायी पड़ी। मेरी दृष्टि तो वहाँतक पहुँचती नहीं थी, किंतु वह आज्ञा मुझे हाथीके पानी पीते समय होनेवाले शब्दके सम्मान आन पड़ी ॥ २२ ॥

ततोऽहं शरमुद्धृत्य दीपयाशीविषोपमम् ।

शब्दं प्रति गजप्रेप्सुर्भिलक्ष्यमपातयम् ॥ २३ ॥

‘तब मैंने यह समझकर कि हाथी ही अपनी सूँड़में पानी ग्राह रहा होगा; अतः वही मेरे बाणका मिशाना बनेगा। तत्कमसे एक तीर निकाला और उस शब्दको लक्ष्य करके फला दिया। वह दीपमान् बाण विषधर सर्पक समान भयंकर था ॥ २३ ॥

अमुञ्चं निशितं बाणमहमाशीविषोपमम् ।

तत्र बाणुपसि व्यक्ता प्रादुरासीद् वनौकसः ॥ २४ ॥

हा हेति पतनस्तोये बाणाद् व्यधितमर्मणः ।

तस्मिन्निपतिते भूमौ बाणधूत् तत्र मानुषी ॥ २५ ॥

‘वह उप-कालकी वला थी। विपैले सर्पके सदृश उस तीसरे बाणको मैंने ज्यों ही छाँड़ा, त्यो ही वहाँ पानीमें गिरते हुए किसी वनवासोका हाहकार मुझे स्पष्टरूपसे सुनायी दिया। मेरे बाणसे उसका मर्ममें बड़ो पाँड़ा हो रही थी। उस पृष्ठक घटशायी हो जानपर वहाँ यह मानव-बाणी प्रकट हुई—सुनार्यो देन लगी— ॥ २४-२५ ॥

कथमस्मद्विधे शस्त्रं निपतेश्च तपस्विनि ।

प्रविशितो नदीं रात्रावुदाहारोऽहमागतः ॥ २६ ॥

‘आह ! मेरे-जैसे तपस्वीपर शस्त्रक प्रहार कैसे सम्भव हुआ ? मैं तो नदीक इस एकान्त तटपर रातमें पानी लेनेके लिये आया था ॥ २६ ॥

इषुणाभिहतः केन कस्य वापकृतं मया ।

अपेहि न्यासदण्डस्य वने वन्येन जीवतः ॥ २७ ॥

कथं नु शस्त्रेण वधो मद्विषस्य विधीयते ।

जटाभारधरस्यैव तत्कलाजिनवाससः ॥ २८ ॥

को वधेन ममार्थी स्यात् किं वास्यापकृतं मया ।

एवं निष्फलमारब्धो केवलानर्थसंहितम् ॥ २९ ॥

‘‘किसने मुझे बाण मारा है ? मैंने किसका क्या धिगाड़ा था ? मैं तो सभी जोंवाका पाँड़ा टनकी क्षणिका त्याग करके ऋषि-जीवन बिताता था, वनमें रहकर जंगली फल-मूलोंसे ही जोविका खाता था। मुझ-जैसे निरपराध मनुष्यका शस्त्रसे वध को किया जा रहा है ? मैं बल्लक और मृगचर्म पहननेवाला जटाधारी तपस्वी हूँ। मेरा वध करनेमें किसने अपना क्या लाभ सोचा होगा ? मैंने मातृशालका क्या अपराध किया था ? मेरी हत्याका प्रयत्न व्यर्थ ही किया गया ! इससे किसीके कुछ लाभ नहीं होगा, केवल अनर्थ ही हाथ लगेगा ॥ २७—२९ ॥

न क्वचित् साधु मन्येत यथैव गुरुतत्परात् ।
 नेमं तथानुशोचामि जीवितक्षयमात्मनः ॥ ३० ॥
 मातरं पितरं चोभावनुशोचामि ममृधे ।
 तदेतन्निधुनं वृद्धं चिरकालपूतं पया ॥ ३१ ॥
 मयि पञ्चत्वमापत्ते कर्तुं क्षतिं वर्नेयिष्यति ।
 वृद्धौ च मातापितरावहं चैकेषुणा हतः ॥ ३२ ॥
 केन स्म निहताः सर्वे सुबालेनाकृतात्मना ।

‘इस हत्याके संसारमें कहीं भी कोई ठमो तरह अच्छा नहीं समझेगा, जैसे गुरुपत्नीगामीको । मुझे अपने इस जीवनके नष्ट होनेकी उतनी चिन्ता नहीं है, मेरे माँ जानेसे मेरे माता पिताको जो कष्ट होगा उम्माक स्थिति मुझे बाग्यार डाक हो रहा है । मैंने इन दोनों वृद्धोंका बहुत समयसे पालन-पोषण किया है; अब मेरे शरीरके न रहनेपर ये किम प्रकार जीवन निर्वाह करेंगे ? घातकन एक ही बाणसे मुझे और मेरे वृद्ध माता-पिताको भी मौतके मुग़म डाल दिया किस शिवकज्ञान और अजितेन्द्रिय पुरुषने हम मरने लगेका एक साथ ही बध कर डाला ?’ ॥ ३०—३२ ॥

तां गिरं करुणं श्रुत्वा मम धर्मानुकाङ्क्षिणः ॥ ३३ ॥
 कराभ्यां सशरं चार्पं व्यधितस्यापतद् भुवि ।

‘ये करुणाधरे वचन मुनिकर ने मनमें बड़े व्यथा हुई, कहाँ तो मैं धर्मकी अभिलाषा रखनेवाला था और कहाँ यह अधर्मका कार्य बन गया । उस समय मेरे हाथोंमें धनुष और बाण इकट्ठा कर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ३३ ॥

तस्याहं करुणं श्रुत्वा ऋषेर्विलपतां निशि ॥ ३४ ॥
 सम्भ्रान्तः शोकवेगेन भृशमासं विद्येतनः ।

‘रातमें विलाप करते हुए अधिका बह करुण बचन सुनकर मैं शोकके वेगमें धबक उठा मेरी चेतना अत्यन्त विलुप्त-सी होने लगी ॥ ३४ ॥

तं देशमनुमागम्य दोनसत्त्वः सुदुर्मनाः ॥ ३५ ॥
 अपश्यमिषुणा तीरे सरथास्नापसं हतम् ।

अवकीर्णजटाधरं प्रविद्धकलशोदकम् ॥ ३६ ॥
 पांसुशोणितदिग्धाहं शयानं शल्यवेधिनम् ।

स भामुद्वीक्ष्य नेत्राभ्यां प्रस्तपस्वस्थचेतनम् ॥ ३७ ॥
 इत्युवाच त्वः कूरं दिग्भ्रान्तिव तेजसा ।

मेरे हृदयमें दोनता छा गया, मन बहुत दुःखों का गया । असूक्त किनारे उस स्थानपर जाकर मैंने देखा एक तपस्वी बाणसे घायल होकर पड़े हैं । उनकी जटाएँ बिखरी हुई हैं, घड़ेका बल गिर गया है तथा सारा शरीर धूल और खूनमें सना हुआ है । वे बाणसे बिधे हुए पड़े थे । उनकी अवस्था देखकर मैं डर गया, मेरा चित्त ठिकाने नहीं था । उन्होंने दोनों नेत्रोंसे मेरी ओर इस प्रकार देखा, मानो अपने तेजसे मुझे भस्म कर देना चाहते हों । वे कठोर वाणीमें यह बोले— ॥ ३५—३७ ॥

किं तवापकृतं राजन् वने निवसता मया ॥ ३८ ॥
 त्विहोर्मध्यो गुर्वर्थे यदहं ताद्वितस्त्वया ।

‘राजन् ! वनमें रहते हुए मैंने तुम्हारे कौन-सा अपराध किया था, जिससे तुमने मुझे बाण मारा ? मैं तो माता-पिताके लिये पानों लेनेका इच्छासे यहाँ आया था ॥ ३८ ॥
 एकदम खलु बाणेन धर्मण्यभिहते मयि ॥ ३९ ॥
 द्वावभ्यो निहतौ वृद्धौ माता जनयिता च मे ।’

‘तुमने एक ही बाणसे मेरा धर्म विदीर्ण करके मेरे दोनों अन्धे और वृद्ध माता पिताको भी मार डाला ॥ ३९ ॥
 तौ नूनं दुर्बलावभ्यो मत्प्रतीक्षौ पिपासितौ ॥ ४० ॥
 चिरमाशां कृतां कष्टां तृष्णां संधारयिष्यतः ।

‘वे दोनों बहुत दुर्बले और अन्धे हैं । निश्चय ही प्याससे पीड़ित होकर वे मेरी प्रतीक्षामें बैठ होंगे । वे देरतक मेरे आगमनका आश लगाये दुःखदायिनी प्यास लिये बाट जंगलमें रहेंगे ॥ ४० ॥

न नूनं तपसो वाग्निं फलयोगः श्रुतस्य वा ॥ ४१ ॥
 पिता यन्मां न जानीते शयानं पतितं भुवि ।

‘अवश्य ही मेरी तपस्या अथवा शास्त्रज्ञानका कोई फल यहाँ प्रकट नहीं हो रहा है क्योंकि पिताजीका यह नहीं मान्यूम है कि मैं पृथ्वीपर गिरकर मृत्युशय्यापर पड़ा हुआ हूँ ।

जानन्नपि च किं कुर्यादशक्तश्चापरिक्रमः ॥ ४२ ॥
 भिद्यमानमिवाशक्तस्त्रातुमन्यो नरो नगम् ।

‘यदि जान भी लें तो क्या कर सकते हैं, क्योंकि अस्मत्तर्क है और चले फिर भी नहीं सकते हैं, जैसे वायु आदिके द्वारा तोड़ जाने हुए वृक्षका कोई दूसरा वृक्ष नहीं खड़ा सकता । उसी प्रकार मैं पिता भी मेरी रक्षा नहीं कर सकते ॥ ४२ ॥

पितृमृतमेव मे गत्वा शीघ्रमाचक्ष्व राघव ॥ ४३ ॥
 न त्वामनुदहेत् कुन्दो वनधमिरिर्वेधितः ।

‘अतः रघुकुलनरेश ! अब तुम्हें जाकर शीघ्र ही मेरे पिताको यह समाचार सुना दो । (यदि स्वयं वक्त दोगे तो) जैसा प्रवृत्तित आग्रि समूचे वनको जला डालती है उस प्रकार वे क्रोधमें भरकर तुमको भस्म नहीं करेंगे ॥ ४३ ॥

इयमेकपदी राजन् भूतो मे पितुराश्रयः ॥ ४४ ॥
 तं प्रसादय गत्वा त्वं न त्वा संकुपितः शपेत् ।

‘राजन् ! यह पगहड़ी ठाँवर ही गयी है, जहाँ मेरे पिताका आश्रम है । तुम जाकर उन्हें प्रसन्न करो, जिससे वे कुपित होकर तुम्हें शाप न दें ॥ ४४ ॥

विशल्यं कुरु मां राजन् पर्य मे निशितः शरः ॥ ४५ ॥
 रुणाद्धि मृदु सोत्सेधं तीरमाश्रुरयो यथा ।

‘राजन् ! मेरे शरीरमें इस बाणको निकाल दो । यह तीखा बाण मेरे धर्मस्थानको उसी प्रकार पीड़ा दे रहा है, जैसे नदीके जलका वेग उसके कोमल बालूकामय किनारे तक को छिन्न-भिन्न कर देता है ॥ ४५ ॥

सशल्यः क्षिप्रमेव प्राणैर्विशल्यो निवशिष्यति ॥ ४६ ॥
इति मामविशश्रित्ता तस्य शल्यापकर्षणे ।
दुःखितस्य च दीनस्य मम शोकातुरस्य च ॥ ४७ ॥
लक्षयामास स ऋषिश्चिन्तां मुनिमुनस्तदा ।

'मुनिकुमारकी यह बात सुनकर मेरे मनमें यह चिन्ता समायी कि यदि बाण नहीं निकालता हूँ तो उन्हें इंद्र शोक है और निकाल देता हूँ तो ये अभी प्राणमें भी हाथ धो बैठने हैं। इस प्रकार बाणको निकालनेके विषयमें मुझे दीन-दुःखी और शोकाकुल दशरथकी इस चिन्ताको उस समय मुनिकुमारने लक्ष्य किया ॥ ४६ ४७ ॥

ताम्यमानं स मां कृच्छ्रादुवाच परमार्थवित् ॥ ४८ ॥
सीदमानो विवृत्ताङ्गोऽचेष्टमानो गतः क्षयम् ।
संस्तभ्य शोकं धैर्येण स्थिरचित्तो भवाम्यहम् ॥ ४९ ॥

'यथार्थ बातको समझ लेनेवाले तब महर्षिने मुझे अत्यन्त ग्लानिमें पड़ा हुआ देखा बड़े कष्टसे कहा— 'राजन्! मुझे बड़ा कष्ट हो रहा है। मेरे आँखें चढ़ गयी हैं, अङ्ग-अङ्गमें तड़पन हो रही है। मुझसे कोई चेष्टा नहीं बन पाती। अब मैं मृत्युके समीप पहुँच गया हूँ, फिर भी धैर्यके द्वारा शोकको राकड़कर अपने चित्तको स्थिर करता हूँ (अब मेरी बात सुनो) ॥ ४८-४९ ॥

ब्रह्महत्याकृते तार्य हृदयादपनीयताम् ।
न द्विजातिरहं राजन् मा भूत् ते मनसो व्यथा ॥ ५० ॥

'मुझसे ब्रह्महत्या हो गयी—इस चिन्ताको अपने हृदयसे निकाल दो। राजन्! मैं ब्राह्मण नहीं हूँ, इमलिये

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रिषष्टितमः सर्गः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यभारत आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें त्रिषष्टितमो सर्ग पूरा हुआ ॥ ६३ ॥

चतुःषष्टितमः सर्गः

राजा दशरथका अपने द्वारा मुनिकुमारके वधसे दुःखी हुए उनके माता-पिताके विलाप और उनके दिये हुए शापका प्रसंग सुनाकर कौसल्याके समीप रोते-विलखते हुए आधी रातके समय अपने प्राणोंको त्याग देना

वधमप्रतिरूपं तु महर्षस्तस्य शयनः ।
विलपन्नेव धर्मात्मा कौसल्यामिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

उन महर्षिके अनुरजित वधका स्मरण करके धर्मात्मा रघुकुलनरेशान अपने पुत्रके लिये विलाप करते हुए हाँ रानी कौसल्यामें इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

तदज्ञानान्महत्कार्यं कृत्वा संकुलितचिन्तितः ।
एकस्त्वचित्तयं बुद्ध्या कथं नु सुकृतं भवेत् ॥ २ ॥

देखि! अनजानमें यह भ्रष्टान् पाप कर हास्यके कारण मेरी सारी इन्द्रियाँ व्याकुल हो रही थीं। मैं अकेला ही बुद्धि लगाकर सोचने लगा, अब किस उपायसे मेरा कल्याण हो ? ॥ २ ॥

तुम्हारे मनमें ब्राह्मणवधको लेकर कोई व्यथा नहीं होने चाहिये ॥ ५० ॥

गुहायामस्मि वैश्येन जातो परवराधिप ।
इतीव वदनः कृच्छ्राद् बाणाधिहतमर्मणः ॥ ५१ ॥
विघूर्णतो विसेष्टस्य वैपश्मानस्य भूतले ।
तस्य त्वाताम्यमानस्य तं बाणमहमुद्धरम् ।
स मापुद्गीक्ष्य संभ्रमो जहौ प्राणांस्तपोधनः ॥ ५२ ॥

'वरप्रेष्ठ! मैं वैश्य पिताद्वारा शूद्रजातीय माताके गर्भसे उत्पन्न हुआ हूँ। बाणसे मर्ममें आघात पहुँचनेके कारण वे बड़े कष्टसे इतना ही कह सके। उनकी आँखें घुम रही थीं। उनमें कोई चेष्टा नहीं बनती थी। वे पृथ्वीपर पड़े-पड़े छटपटा रहे थे और अत्यन्त कष्टका अनुभव करते थे। उस अवस्थामें मैंने उनके शरीरसे उस बाणको निकाल दिया। फिर तो अत्यन्त मयभौत हो तब तपोधनने मेरी ओर देखकर अपने प्राण त्याग दिये ॥ ५१-५२ ॥

जलाद्रैगात्रं तु विलाप्य कृच्छ्रे
मर्मघ्नं संततमुच्छ्वसन्तम् ।
ततः सरय्यां तपहं शयानं
समीक्ष्य पदे सुभृशं विवर्णः ॥ ५३ ॥

'पानीमें गिरनेके कारण उनका सारा शरीर भीग गया था। मर्ममें आघात लगनेके कारण बड़े कष्टसे विलाप करके और बारबार उच्छ्वस्य लेकर उन्होंने प्राणांका त्याग किया था। कल्याणी कौसल्ये उस अवस्थामें सरयुके तटपर मेरे पड़े मुनिपुत्रको देखकर मुझे बड़ा दुःख हुआ ॥ ५३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रिषष्टितमः सर्गः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यभारत आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें त्रिषष्टितमो सर्ग पूरा हुआ ॥ ६३ ॥

ततस्तं घटपादाव पूर्णं परमवारिणा ।
आश्रमं तपहं प्राप्य यथारूपान्तपथं गतः ॥ ३ ॥

'तदनन्तर उस घड़ेका ठठाकर मैंने सरयुके उत्तम जलसे भरा और उसे लेकर मुनिकुमारके बताये हुए मार्गसे उनके आश्रमपर गया ॥ ३ ॥

तत्राह दुर्बलावन्तौ वृद्धावपरिणायकौ ।
अपश्यं तस्य पितरौ लूनपक्षगविव द्विजौ ॥ ४ ॥

'वहाँ पहुँचकर मैंने उनके दुबले, अश्वे और बूढ़े माता-पिताको देखा, जिनका दूसरा कोई सहायक नहीं था। उनकी अवस्था पंख कटे हुए दो पक्षियोंके समान थी ॥ ४ ॥

तन्निमित्ताभिरासीनौ कथाभिरपरिश्रमौ ।

तामाशां मत्कृते हीनावुपासीनावनाथवत् ॥ ५ ॥

'वे अपने पुत्रकी ही चर्चा करते हुए उसके आनेकी आशा लगाये बैठे थे। उस चर्चके कारण उन्हें कुछ परेशान या थकावटका अनुभव नहीं होता था। यद्यपि मेरे कारण उनकी वह आशा धूलम मिल चुकी थी तो भी वे उसीके आगे बैठे थे। अब वे दोनों सर्वथा अनाथ-से हो गये थे ॥ ५ ॥

शोकोपहतचित्तश्च भयसंभ्रस्तचेतनः ।

तस्याश्रमपदं गत्वा भूयः शोकमहं गतः ॥ ६ ॥

'मेरा हृदय पहलेसे ही शोकके कारण घबराया हुआ था। भयसे मेरा होश ठिकाने नहीं था। मुझे आश्रमपर पहुँचकर मेरा वह शोक और भी अधिक हो गया ॥ ६ ॥

पक्षशब्दं तु मे भुत्वा मुनिर्वक्ष्यमभाषत ।

किं चिरायसि मे पुत्र पानीयं क्षिप्रमानय ॥ ७ ॥

'मेरे पैरोंकी आहट सुनकर वे मुनि इस प्रकार बोले—
'बेटा ! देर क्यों लगा रहे हो ? शीघ्र पानी ले आओ ॥ ७ ॥

यन्निमित्तमिदं तात सलिले क्रीडितं स्वया ।

वत्कण्ठिता ते मातेयं प्रविश क्षिप्रमाश्रमम् ॥ ८ ॥

'तात ! जिस कारणसे तुमने बड़ी देरतक जलमें क्रीड़ा की है, उसी कारणसे लेकर तुम्हारी यत्र माना तुम्हारे लिये वत्कण्ठित हो गयी है, अतः शीघ्र ही आश्रमके भीतर प्रवेश करो ॥ ८ ॥

यद् व्यलीकं कृतं पुत्र भ्रात्रा ते यदि वा मया ।

न तत्पन्नसि कर्तव्यं त्वया तात तपस्विना ॥ ९ ॥

'बेटा ! तात ! यदि तुम्हारी माताने अथवा मैंने तुम्हारा कोई अप्रिय किया हो तो उसे तुम्हें अपने मनमें नहीं लाना चाहिये; क्योंकि तुम तपस्वी हो ॥ ९ ॥

त्वं गतिस्त्वगतीनां च सक्षुम्बं हीनचक्षुषाम् ।

समासक्तास्त्वयि प्राणा कथं त्वं नाभिधापसे ॥ १० ॥

'हम असहाय हैं, तुम्हीं हमारे सहायक हो। हम अन्धे हैं, तुम्हीं हमारे नेत्र हो। हमलोगोंके प्राण तुम्हींमें अटक हुए हैं। बताओ, तुम बोलते क्यों नहीं हो ?' ॥ १० ॥

मुनिमव्यक्तया वाचा तमहं सज्जमानया ।

हीनव्यञ्जनया प्रेक्ष्य भीतचित्तं हवाद्भुवम् ॥ ११ ॥

'मुनिको देखते ही मेरे मनमें भय-भा समा गया। मेरी जवान लड़खड़ाने लगी। किन्तु अक्षरोंका उच्चारण नहीं हो पाता था। इस प्रकार अस्पष्ट वाणीमें मैंने बोलनेका प्रयास किया। ॥ ११ ॥

धनसः कर्म चेष्टाभिरभिसंस्तभ्य वाञ्छलम् ।

आचक्षुः त्वहं तस्मै पुत्रव्यसनजं मयम् ॥ १२ ॥

'मानसिक भयसे बाहरी चेष्टाओंसे दबाकर मैंने कुछ कहनेकी क्षमता प्राप्त की और मुनिपर पुत्रकी मृत्युत्तं जो संकट आ पड़ा था, वह उनपर प्रकट करते हुए कहा— ॥

क्षत्रियोऽहं दशरथो नाहं पुत्रो महात्मनः ।

सज्जनावमतं दुःखमिदं प्राप्तं स्वकर्मजम् ॥ १३ ॥

'महात्मन् मैं आपका पुत्र नहीं, दशरथ नामका एक क्षत्रिय हूँ। मैंने अपने कर्मवश यह ऐसा दुःख पाया है, जिसकी सत्पुरुषोंने सदा निन्दा की है ॥ १३ ॥

भगवंश्चापहस्तोऽहं सरयूतीरमागतः ।

त्रिघांसुः क्षापदं किञ्चित्त्रिषाने चागतं गजम् ॥ १४ ॥

'भगवन् ! मैं धनुष-बाण लेकर सरयूके तटपर आया था। मेरे आनेका उद्देश्य यह था कि कोई जंगली जिनके पशु अथवा हाथी घाटपर पानी पीनेके लिये आवे तो मैं उसे मारूँ ॥ १४ ॥

ततः श्रुतो मया शब्दो जले कुम्भस्य पूर्यतः ।

द्विषोऽप्यमिति यत्वाहं बाणेनाभिहतो मया ॥ १५ ॥

'शोड़ा देर बाद मुझे जलमें बड़ा धरनेका शब्द सुनाया पड़ा। मैंने भयझा कोई हाथी आकर पानी पी रहा है, इसलिये उसपर बाण चला दिया ॥ १५ ॥

गत्वा तस्यास्ततस्तीरमपश्यमिषुणा हृदि ।

विनिर्भिन्नं गतप्राणं शयानं भुवि तापसम् ॥ १६ ॥

'फिर सरयूके तटपर जाकर देखा कि मेरा बाण एक भयभीतकी छात्राय लगा है और वे भूतप्राय होकर धरतीपर पड़े हैं ॥ १६ ॥

ततस्तस्यैव वचनादुपेत्य परितप्यतः ।

स मया सहसा बाण उद्धृतो मर्मनस्तदा ॥ १७ ॥

'उस वकसे उन्हें बड़ी पोंझ हो रही थी, अतः उस समय उन्होंने कहनेमें मैंने सहसा वह बाण उनके मर्म-स्थानसे निकाल दिया ॥ १७ ॥

स धोदधृतेन बाणेन सहसा स्वर्गमास्थितः ।

भगवन्तावुभौ शोचन्नन्थाधिति विलप्य च ॥ १८ ॥

'बाण निकलनेके साथ ही वे तत्काल स्वर्ग सिंघार गये। मरने समय उन्होंने आप दोनों पूजनीय अंधे पिता-माताके लिये बड़ा शोक और विलाप किया था ॥ १८ ॥

अज्ञानाद् भवतः पुत्रः सहसाभिहतो मया ।

शेषमेव गते यत् स्यात् तत् प्रसीदतु मे मुनिः ॥ १९ ॥

'इस प्रकार अनजानमें मेरे हाथसे आपके पुत्रका वध हो गया है। ऐसी अवस्थामें मेरे प्रति जो शाप या अनुग्रह शेष हो, उसे देनेके लिये आप महर्षि मुझपर प्रसन्न हों ॥ १९ ॥

स तच्छ्रुत्वा वचः क्रूरं मया तदघशंसिना ।

नाशकत् तौत्रपायासं स कर्तुं भगवानृषिः ॥ २० ॥

'मैंने अपने मुँहसे अपना पाप प्रकट कर दिया था, इसलिये मेरी क्रूरतामें मर्मा हुई वह बात सुनकर भी वे पूज्यपाद महर्षि मुझे क्रूर दण्ड—भस्म हो जानेका शाप नहीं दे सके ॥ २० ॥

स वाग्यपूर्णवदनो निःश्वसज्जोकमुच्छ्रितः ।

यामुवाच महानृजाः कृताञ्जलिमुपस्थितम् ॥ २१ ॥

‘उनके मुखपर आँसुओंकी धारा बह चली और वे शोकसे मुँकित होकर दोघ नि श्वास लेने लगे । मैं हाथ जोड़ उनके सामने खड़ा था । उस समय उन महानिजस्वी मुनिने मुझसे कहा— ॥ २१ ॥

यद्येतदशुभे कर्म न स्म मे कथयेः स्वयम् ।

फलेन्मूर्धा स्म ते राजन् सद्यः शतसहस्रधा ॥ २२ ॥

‘राजन् । यदि यह अपना पापकर्म तुम स्वयं यहाँ आकर न बताते तो शीघ्र ही तुम्हारे मस्तकके सैकड़ों-हजारों टुकड़े हो जाते ॥ २२ ॥

क्षत्रियेण वधो राजन् ज्ञानप्रस्थे विशेषतः ।

ज्ञानपूर्वं कृत्वा स्थानाच्छावयेदपि वज्रिणाम् ॥ २३ ॥

‘नरेश्वर ! यदि क्षत्रिय जान-बूझकर विशेषतः किसी ज्ञानप्रस्थीका वध कर डाले तो वह वज्रधारी इन्द्र ही क्यों न हो वह उसे अपने स्थानसे भ्रष्ट कर देता है ॥ २३ ॥

सप्तधा तु भवेन्मूर्धा मुनी तपसि निष्ठानि ।

ज्ञानाद् विसृजतः शस्त्रं तादृशे ब्रह्मवादिनि ॥ २४ ॥

‘तपस्थामें लगे हुए वैसे ब्रह्मवादी मुनिपर जान-बूझकर शस्त्रका प्रहार करनेवाले पुरुषक मस्तकके सात टुकड़े हो जाते हैं । २४ ॥

अज्ञानाद्धि कृतं यस्मादिदं ते तेन जीवसे ।

अपि ह्यकुशलं न स्याद् राघवाणां कुतो भवान् ॥ २५ ॥

‘तुमने अनजानमें यह पाप किया है, इसीलिये अभीतक जीवित हो । यदि जान-बूझकर किया होता तो समस्त रघुवंशियोंका कुल ही भष्ट हो जाना, अकेले तुम्हारे तो बात ही क्या है ?’ ॥ २५ ॥

नय नौ नृपं तं देशमिति मां चाध्यभाषत ।

अद्य तं द्रष्टुमिच्छामः पुत्रं पश्चिमदर्शनम् ॥ २६ ॥

‘उन्होंने मुझसे यह भी कहा—‘नरेश्वर ! तुम हम दोनोंका उस स्थानपर ले चलें, जहाँ हमारा पुत्र मरा पड़ा है । इस समय हम उसे देखना चाहते हैं । यह हमारे लिये ठमका अन्तिम दर्शन होगा’ ॥ २६ ॥

रुधिरेणावसिक्ताङ्गं प्रकीर्णजिनवाससम् ।

शयानं भुवि निःसंज्ञं धर्मराजवशं गतम् ॥ २७ ॥

अथाहमेकस्मिन् देशे नीत्वा तौ भृशदुःखिनौ ।

अस्पर्शयमहं पुत्रं तं मुनि सह भार्यया ॥ २८ ॥

‘तब मैं अकेला ही अत्यन्त दुःखमें पड़े हुए उन दम्पतिको उस स्थानपर ले गया, जहाँ उनका पुत्र कालक अर्घ्यन होकर पृथ्वीपर अचेत पड़ा था । उसके सारे अङ्ग खूनमें लथपथ हो रहे थे, भृगुधर्म और वस्त्र बिखरे पड़े थे । मैंने पत्नीसहित मुनिको उनका पुत्रके शरीरका स्पर्श कराया ॥ २७-२८ ॥

तौ पुत्रमात्मनः स्पृष्ट्वा तभासाद्य तपस्विनौ ।

निपेततुः शरीरेऽस्य पिता चैनपुत्राच्च ह ॥ २९ ॥

वे दोनों तपस्वी अपने-अपने उस पुत्रका स्पर्श करके उसके

अत्यन्त निकट जाकर उसके शरीरपर गिर पड़े । फिर पिताने पुत्रको सम्बोधित करके उससे कहा— ॥ २९ ॥

नभिवाटयसे माद्य न च माधभिभाषसे ।

किं च शेषे तु भूर्मा त्वं वत्स किं कुपितो ह्यसि ॥ ३० ॥

‘बेटा ! आज तुम मुझे न तो प्रणाम करते हो और न मुझसे बोल्ते हो । तुम धरतीपर क्यों सो रहे हो ? क्या तुम हमसे रूठ गये हो ?’ ॥ ३० ॥

नन्वहं तेऽप्रियः पुत्रं घातरं पश्य भार्मिकीम् ।

किं च नालिङ्गसे पुत्रं सुकुमारं खचो वद ॥ ३१ ॥

‘बेटा ! यदि मैं तुम्हारा प्रिय नहीं हूँ तो तुम अपनी इस धर्मपत्नी घातकी ओर तो देखो, तुम इसके हृदयसे क्यों नहीं लग जाते हो ? वत्स ! कुछ तो बोलो ॥ ३१ ॥

कस्य वा पररात्रेऽहं श्रोष्यामि हृदयङ्गमम् ।

अधीयानस्य मधुरं शास्त्रं वान्यद् विशेषतः ॥ ३२ ॥

‘अब पिछले रातमें मधुर स्वरसे शास्त्र या पुराण आदि अन्य किसी ग्रन्थका विशेषरूपसे स्वाध्याय करते हुए किसके मुँहसे मैं मनोरम शास्त्रचर्चा सुनूँगा ?’ ॥ ३२ ॥

को मां संध्यामुषास्यैव स्नात्वा हुतहुतशानः ।

श्लाघयिष्यत्युपासीनः पुत्रशोकभयार्दितम् ॥ ३३ ॥

अब कौन सान, संध्यापासना तथा अग्निहोत्र करके मेरे पास बैठकर पुत्रशोकके भयसे पीड़ित हुए मुझ बूढ़ेको मान्यना देता हुआ मेरी सेवा करेगा ?’ ॥ ३३ ॥

कन्दमूलफलं हत्वा यो मां प्रियभिवातिथिम् ।

भोजयिष्यत्यकर्मण्यमग्रग्रहमनायकम् ॥ ३४ ॥

‘अब कौन ऐसा है, जो कन्द, मूल और फल लाकर मुझ अकर्मण्य, अन्नसंग्रहसे रहित और अनाथको प्रिय आतिथिको भाँति भोजन करायेगा ॥ ३४ ॥

इयामन्यां च वृद्धां च घातरं ते तपस्विनीम् ।

कथं पुत्रं भरिष्यामि कृपणां पुत्रगर्धिनीम् ॥ ३५ ॥

‘बेटा ! तुम्हारे यह तपस्विनी माता अन्धी, बूढ़ी, दीन तथा पुत्रके निधने उन्मत्तित रहनेवाली है । मैं (स्वयं अन्धा होकर) इसका भरण-पोषण कैसे करूँगा ?’ ॥ ३५ ॥

निष्ठु या या गमः पुत्रं यमस्य सदनं प्रति ।

शो मया सह गन्तासि जनन्या च समेधितः ॥ ३६ ॥

‘पुत्र ! ठहरो, आज यमराजके घर न जाओ । कल मेरे और अपनी मानाके साथ चलना ॥ ३६ ॥

उधावपि च शोकातर्तवनायौ कृपणौ वने ।

क्षिप्रमेव गमिष्यावस्त्वया हीनौ यमक्षयम् ॥ ३७ ॥

‘हम दोनों शोकसे आर्त, अनाथ और दीन हैं । तुम्हारे न रहनेपर हम शीघ्र ही यमलोककी राह लेंगे ॥ ३७ ॥

ततो वैवस्वतं दृष्ट्वा तं प्रवक्ष्यामि भारतीम् ।

क्षमतां धर्मराजो मे विभूयान् पितरावयम् ॥ ३८ ॥

‘तदनन्तर सूर्यपुत्र यमराजका दर्शन करके मैं उनसे

यह बात कहूँगा—धर्मराज मेरे अपराधको क्षमा करें और मेरे पुत्रको छोड़ दें, जिससे यह अपने माता-पिताका भरण-पोषण कर सके ॥ ३८ ॥

दातुमर्हति धर्मात्मा लोकपालो महायशः ।

इदुशस्य ममाक्षय्यामेकामभयदक्षिणाम् ॥ ३९ ॥

“ये धर्मात्मा हैं, महायशस्वी लोकपाल हैं। मुझ-जैसे अनाथको वह एक बार अभय दान दे सकते हैं ॥ ३९ ॥

अपापोऽसि यथा पुत्र निहतः पापकर्मणा ।

तेन सत्येन गच्छाशु ये लोकास्त्वत्प्रयोधिनाम् ॥ ४० ॥

यां हि दूरां गतिं यान्ति संप्राप्तेषुनिवर्तिनः ।

हतास्त्वभिमुखाः पुत्र गतिं तां परमां व्रज ॥ ४१ ॥

“बेटा ! तुम निष्पाप हो, किंतु एक पापकर्मी क्षत्रियने तुम्हारा वध किया है, इस कारण मेरे सत्यके प्रभावसे तुम शीघ्र ही उन लोकोंमें जाओ, जो असत्योद्धों शूराओंके प्राप्त होते हैं। बेटा ! युद्धमें पीछे न दिखानेवाले शूरावर सम्मुख युद्धमें मारे जानेपर जिस गतिको प्राप्त होने है, उसी उनम गतिको तुम भी जाओ ॥ ४०-४१ ॥

यां गतिं सगरः शीघ्रो दिलीपो जनमेजयः ।

नहुषो धृष्ट्युमारश्च प्राप्तास्तां गच्छ पुत्रक ॥ ४२ ॥

“वत्स ! राजा सगर, शीघ्र, दिलीप, जनमेजय, नहुष और धृष्ट्युमार जिस गतिको प्राप्त हुए हैं, वही तुम्हें भी मिले ॥

या गतिः सर्वभूतानां स्वाध्यायान् तपसश्च या ।

भूमिदत्ताहिताग्नेश्च एकपत्नीव्रतस्य च ॥ ४३ ॥

गोसहस्रप्रदानुषां गुरुसेवाभूतापि ।

देहत्यागकृतां या च तां गतिं गच्छ पुत्रक ॥ ४४ ॥

“स्वाध्याय और तपस्यासे समस्त प्राणियोंके आश्रयभूत जिस परब्रह्मकी प्राप्ति होती है, वही तुम्हें भी प्राप्त हो। वत्स ! भूमिदत्ता, अग्निहोत्री, एकपत्नीव्रती, एक हजार गौओंका दान करनेवाले, गुरुकी सेवा करनेवाले तथा महाप्रस्थान आदिक द्वारा देहत्याग करनेवाले पुरुषोंका जो गति मिलती है, वही तुम्हें भी प्राप्त हो ॥ ४३-४४ ॥

नहि त्वस्मिन् कुले जातो गच्छत्यकुशलां गतिम् ।

स तु यास्यति येन त्वं निहतो मम बान्धवः ॥ ४५ ॥

“हम-जैसे तर्पास्वयोंक इस कुलमें पैदा हुआ कोई पुरुष बुरी गतिको नहीं प्राप्त हो सकता। बुरी गति तो उमकी होगी, जिसने मेरे बान्धवरूप तुम्हें अकरण मारा है ?” ॥ ४५ ॥

एवं स कृपणं तत्र धर्यदेवयतासकृत् ।

ततोऽस्मै कर्तुमुदकं प्रवृत्तः सह भार्यया ॥ ४६ ॥

“इस प्रकार वे दीनपावसे बारम्बार विलाप करने लग। तत्पश्चात् अपनी पत्नीके साथ वे पुत्रको अलक्ष्मि देनेके कार्यमें प्रवृत्त हुए ॥ ४६ ॥

स तु दिव्येन रूपेण मुनिपुत्रः स्वकर्मभिः ।

स्वर्गमध्यारुहत् क्षिप्रं शक्रेण सह धर्मवित् ॥ ४७ ॥

“इसी समय वह धर्मज्ञ मुनिकुमार अपने पुण्य-कर्मोंके प्रभावसे दिव्य रूप धारण करके शीघ्र ही इन्द्रके साथ स्वर्गमें जाने लगा ॥ ४७ ॥

आवभावे च तौ वृद्धौ शक्रेण सह तापसः ।

आश्वस्य च भुर्तुं तु पितरं वाक्यमब्रवीत् ॥ ४८ ॥

“इन्द्रसहित उम तपस्वीने अपने दोनों वृद्ध पिता-माताको एक भुर्तनक आश्वसन देते हुए उनसे बातचीत की; फिर वह अपने पितासे बोला— ॥ ४८ ॥

स्थानमस्मि महत् प्राप्तो भवतोः परिभारणात् ।

भवन्तावपि च क्षिप्रं मम मूलमुपैष्यथः ॥ ४९ ॥

“मैं आप दोनोंकी भेदासे महान् स्थानको प्राप्त हुआ हूँ, अब आपलोग भी शीघ्र ही मेरे पास आ जाइयेगा” ॥ ४९ ॥

एवमुक्त्वा तु दिव्येन विमानेन वपुध्वता ।

आभरोह दिवं क्षिप्रं मुनिपुत्रो जिनेन्द्रियः ॥ ५० ॥

“यह कहकर वह जितेन्द्रिय मुनिकुमार उस सुन्दर आकार-वाले दिव्य विमानसे शीघ्र ही देवलोकको चला गया ॥

स कृत्वाथोदकं तूर्णं तापसः सह भार्यया ।

मापुवाच महातेजाः कृनाञ्जलिमुपस्थितम् ॥ ५१ ॥

तदनन्तर पत्नीसहित उन महातेजस्वी तपस्वी मुनिने तुरंत ही पुत्रको अलक्ष्मि देकर हाथ जोड़े खड़े हुए मुझसे कहा— ॥ ५१ ॥

अर्धं च जहि मां राजन् मरणे नास्ति मे व्यथा ।

यः शरेणैकमुत्रं मां त्वमकार्षीरपुत्रकम् ॥ ५२ ॥

“राजन् ! तुम आज ही मुझे भी मार डालो; अब मरनेमें मुझे कुछ नहीं होगा। मेरे एक ही बेटा था, जिसे तुमने अपने बाणका निशाना बनाकर मुझे पुत्रहीन कर दिया ॥ ५२ ॥

त्वयापि च यदज्ञानात्रिहतो मे स बालकः ।

तेन त्वामपि शप्येऽहं सुदुःखपतिदारुणम् ॥ ५३ ॥

“तुमने अज्ञानवश जो मेरा बालककी हत्या की है उसके कारण मैं तुम्हें भी अत्यन्त भयंकर एवं गलौभीति दुःख देनेवाला शाप दूंगा ॥ ५३ ॥

पुत्रव्यसनजं दुःखं यदेतन्मम साम्प्रतम् ।

एवं त्वं पुत्रशोकं राजन् कालं करिष्यसि ॥ ५४ ॥

“राजन् ! इस समय पुत्रके वियोगसे मुझे जैसा कह हो रहा है, ऐसा ही तुम्हें भी होगा। तुम भी पुत्रशोकसे ही कालक मालमें जाओगे ॥ ५४ ॥

अज्ञानात्तु हतो यस्मात् क्षत्रियेण त्वया मुनि ।

तस्मान् त्वां न विहात्याशु ब्रह्महत्या नराधिप ॥ ५५ ॥

त्वामप्येतादृशो भावः क्षिप्रमेव गमिष्यति ।

जीवितान्तकरो घोरो दातारमिव दक्षिणाम् ॥ ५६ ॥

“नरेश्वर ! क्षत्रिय होकर अनजानमें तुमने वैश्यजातीय मुनिको वध किया है इसलिए शीघ्र ही तुम्हें ब्रह्महत्याका पाप तो नहीं लगेगा तथापि जल्दी ही तुम्हें भी ऐसी ही

ध्यानक और प्राण लेनेवाली अवस्था प्राप्त होगी। तब उसी तरह जैसे दक्षिणा देनेवाले दाताको उसके अनुरूप फल प्राप्त होता है, ॥ ५५-५६ ॥

एवं शपं मयि न्यस्य विलप्य करुणं बहु ।

चित्तमारोप्य देहं तन्मिथुनं स्वर्गमभ्ययात् ॥ ५७ ॥

इस प्रकार मुझे शप देकर वे बहुत देरतक करुणाजनक विलाप करते रहे, फिर वे दोनों पति-पत्नी अपने शरीरोंको जलती हुई चित्तमें डालकर स्वर्गको चले गये ॥ ५७ ॥

तदेतस्मिन्नयानेन स्मृतं पापं मया स्वयम् ।

तदा बाल्यात् कृतं देवि शब्दवेध्यनुकर्षिणा ॥ ५८ ॥

‘देवि ! इस प्रकार बालस्वभावके कारण मैंने पहले शब्दवेधी बाण मारकर और फिर उस मुनिके शरीरमें बाणको खींचकर जो उनका वधरूपी पाप किया था, वह आज इस पुत्रवियोगकी चिन्तामें पड़े हुए मुझे स्वयं ही स्मरण हो आया है ॥ ५८ ॥

तस्माद्यं कर्मणो देवि विपाकः समुपस्थितः ।

अपथ्यैः सह सम्पुक्तं व्याधिरन्नरसे यथा ॥ ५९ ॥

तस्मान्मामागतं भद्रे तस्योदारस्य तद् वचः ।

‘देवि ! अपथ्य वस्तुओंके साथ अन्नरस ग्रहण कर लेनेपर जैसे शरीरमें रोग पैदा हो जाता है, उसी प्रकार यह उस पापकर्मका फल उपस्थित हुआ है। अतः कल्याणि ! उन उदार भद्रात्माका शापरूपी वचन इस समय मेरे पास फल देनेके लिये आ गया है ॥ ५९ ॥

इत्युक्त्वा स रुदंस्त्रस्तो भार्यापाह तु भूमिपः ॥ ६० ॥

यदहं पुत्रशोकेन संत्यजिष्यामि जीवितम् ।

चक्षुर्भ्यां त्वां न पश्यामि कौसल्ये त्वं हि मां स्पृश ॥ ६१ ॥

ऐसा कहकर वे भूपाल मृत्युक भयसे त्रस्त हो अपनी पत्नीसे रोते हुए बोले—‘कौसल्ये ! अब मैं पुत्र-शोकसे अपने प्राणोंका त्याग करूँगा। इस समय मैं तुम्हें अपनी आँखोंसे देख नहीं पाता हूँ, तुम मेरा स्पर्श करो ॥ ६०-६१ ॥

यमक्षयमनुप्राप्ता इक्ष्यन्ति नहि मानवाः ।

यदि मां संस्पृशेद् रामः सकृदन्वारधेन वा ॥ ६२ ॥

धनं वा यौवराज्यं वा जीवेयमिति मे मतिः ।

‘जो मनुष्य याम्नाक्रमे जानवन्ते (मरणमश्नुते) मरण है व अपने बान्धवजनोको नहीं देख पाते हैं। यदि श्रीराम आकर एक बार मेरा स्पर्श करें अथवा यह धन-वैभव और युधराजपद स्वाकार कर लें तो मेरा विश्वास है कि मैं जी सकता हूँ ॥ ६२ ॥

न तन्ये सदृशं देवि धनमया राधले कृतम् ॥ ६३ ॥

सदृशं तत् तस्यैव यदनेन कृतं मयि ।

‘देवि ! मैंने श्रीरामके साथ जो बर्ताव किया है, वह मेरे योग्य नहीं था, परंतु श्रीरामने मेरे साथ जो व्यवहार किया है वह सर्वथा उन्हींके योग्य है ॥ ६३ ॥

दुर्वृत्तमपि कः पुत्रं स्वजेत् भुवि विचक्षणः ॥ ६४ ॥

कश्च प्रव्राज्यमानो वा नासूयेत् पितरं सुतः ।

‘कौन दुर्वृत्तमान् पुरुष इस भूतलपर अपने दुराचारी पुत्रका भी परित्याग कर सकता है ? (एक मैं हूँ, जिसने अपने धर्मत्याग पुत्रका त्याग दिया) तथा कौन ऐसा पुत्र है, जिसे धर्म निकाल दिया जाय और वह पिताको कामेच्छा नहीं ? (परंतु श्रीराम चुपचाप चले गये उन्होंने मेरे विरुद्ध एक शब्द भी नहीं कहा) ॥ ६४ ॥

चक्षुषा त्वां न पश्यामि स्मृतिर्मम विलुप्यते ॥ ६५ ॥

दूता वैवस्वतमर्थेने कौसल्ये स्वरयन्ति माम् ।

‘कौसल्ये ! अब मेरी आँखें तुम्हें नहीं देख पाती हैं स्मरण-शक्ति भी लुप्त होती आ रही है। उधर देखो वे धर्मराजके दूत मुझे यहाँसे ले जानके लिये उतावले हो उठे हैं ॥ ६५ ॥

अतस्तु किं दुःखतरं यदहं जीवितक्षये ॥ ६६ ॥

नहि पश्यामि धर्मज्ञं रामं सत्यपराक्रमम् ।

‘इमसे बढ़कर दुःख मेरे लिये और क्या हो सकता है कि मैं प्राणान्तके समय सत्यपराक्रमी धर्मज्ञ रामका दर्शन नहीं पा रहा हूँ ॥ ६६ ॥

तस्यादर्शनजः शोकः सुतस्याग्रनिकर्मणः ॥ ६७ ॥

उच्छोषयति चै प्राणान् चारि स्लोकमिवातपः ।

जिनकी सभ्यता करनेवाला संसारमें दूसरा कोई नहीं है, उन प्रिय पुत्र श्रीरामके न देखनेका शोक मेरे प्राणोंको उसी तरह सुखाये डालता है, जैसे घूप थोड़ा स जलको शीघ्र सुखा देती है ॥ ६७ ॥

न ते मनुष्या देवास्ते ये चारुशुभकुण्डलम् ॥ ६८ ॥

मुखं इक्ष्यन्ति रामस्य वर्षे पञ्चदशे पुनः ।

‘वे मनुष्य नहीं देवता हैं, जो आपके पंद्रहवें वर्ष वनमें लंछनपर श्रीरामका मुन्दर मनाहर कुण्डलाम अलंकृत मुख देखेंगे ॥ ६८ ॥

पराप्रेक्षणं शुभं सुदृष्टं चान्नासिकम् ॥ ६९ ॥

धन्या इक्ष्यन्ति रामस्य ताराधिपस्य मुखम् ।

‘जो कमलके समान नेत्र, सुन्दर भीहँ, खण्ड दाँत और मनोहर नामिकायें मुद्राधित श्रीरामके चन्द्रापम मुखका दर्शन करेंगे, वे धन्य हैं ॥ ६९ ॥

सदृशं शापदस्येन्द्रो फुल्लस्य कमलस्य च ॥ ७० ॥

सुगन्धि मम रामस्य धन्या इक्ष्यन्ति ये मुखम् ।

निवृत्तवनवासं तमयोध्यां पुनरागतम् ॥ ७१ ॥

इक्ष्यन्ति सुखिनो रामं शुक्रं मार्गगतं यथा ।

‘जो मेरे श्रीरामके शरच्चन्द्रसदृश मनोहर और प्रफुल्ल कमलके समान सुवासित मुखका दर्शन करेंगे, वे धन्य हैं जैसे (मृदुता आदि अवस्थाओंका त्यागकर अपने टट्ट) मार्गम स्थित शुक्रका दर्शन करके स्त्रंग सुखी होने हैं, उसी प्रकार वनवासको अवधि पूरी करके पुनः अयोध्याम लौटकर आय

हृत् श्रीरामको जो लोग देखेंगे वे ही सुखी होंगे ॥ ७० ॥ ७१ ॥
कौसल्ये चित्तमोहेन हृदयं सीदतेतराम् ॥ ७२ ॥
वेदये न च संयुक्ताब्जाब्दस्पर्शरसानहम् ।

‘कौसल्ये । मेरे चित्तपर मोह छा रहा है, हृदय विदीर्ण-मा हो रहा है, इन्द्रियोंमें संयोग होनेपर भी मुझे शब्द स्पर्श और रस आदि विषयोंका अनुभव नहीं हो रहा है ॥ ७२ ॥

चित्तनाशाद् विपद्यन्ते सर्वाण्येवेन्द्रियाणि हि ।

क्षीणस्त्रेहस्य दीपस्य संरक्ता रश्मयो यथा ॥ ७३ ॥

जैसे तेल समाप्त हो जानेपर दीपककी अरुण प्रभा विलीन हो जाती है उसी प्रकार चित्तनाश नष्ट होनेमें मर्गे मार्गे इन्द्रियाँ ही नष्ट हो चली हैं ॥ ७३ ॥

अयमात्मभवः शोको मायनाथमचेतनम् ।

संसाधयति वेगेन यथा कूलं नदीरयः ॥ ७४ ॥

‘जिस प्रकार नदीका वेग अपने ही किनारोंको काट गिराता है उसी प्रकार मेरा अपना ही उत्पन्न किया हुआ शोक मुझे वेगपूर्वक अनाथ और अचेत किये दे रहा है ॥ ७४ ॥

हा राघव महाबाहो हा ममायासनाशन ।

हा पितृप्रिय मे नाथ हा ममासि गतः सुन ॥ ७५ ॥

‘हो महाबाहु रघुनन्दन ! हा मेरे कष्टोंको दूर करनेवाले श्रीराम ! हा पिताके प्रिय पुत्र ! हा मेरे नाथ ! हा मेरे बेटे !

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽथोद्धाकाण्डे चतुःषष्टितमः सर्गः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें चौमदवी सर्ग पूरा हुआ ॥ ६४ ॥

पञ्चषष्टितमः सर्गः

वन्दीजनोका स्तुतिपाठ, राजा दशरथको दिवंगत हुआ जान उनकी रानियोंका करुण-विलाप

अथ राज्ञां च्यतीतायां प्रातरेवापरेऽहनि ।

वन्दिनः पर्युपातिष्ठस्तत्पाथिवनिश्चेशनम् ॥ १ ॥

तदनन्तर रात सोतनेपर दूसरे दिन सबेर ही वन्दीजन (महाराजकी स्तुति करनेके लिये, राजमहलमें उपस्थित हुए) ।

सूताः परमसंस्कारा मागधाक्षोत्तमश्रुताः ।

गायकाः श्रुतिशीलाश्च निगदन्तः पृथक्पृथक् ॥ २ ॥

व्याकरण-ज्ञानसे सम्पन्न (अथवा उत्तम अलङ्कारसे विभूषित) सूत उनमरूपसे वरपरमाराका श्रवण करनेवाले मागध और महीशशास्त्रका अनुशीलन करनेवाले गायक अपने-अपने मार्गक अनुसार पृथक्-पृथक् यशोगान करने हुए वहाँ आये ॥ २ ॥

राजाने स्तुवतां तेषामुदत्ताभिहिताशिवाम् ।

प्रासादाभोगविस्तीर्णः स्तुतिशब्दो हावर्तत ॥ ३ ॥

उस स्वरसे आशीर्वाद दत्त हुए राजाको स्तुति करनेवाले उन सूत-मागध आदिका शब्द राजमहलमें भौंकारों भागमें फैलकर गूँजने लगा ॥ ३ ॥

ततस्तु स्तुवतां तेषां सूतानां पाणिवादकाः ।

अपदानान्युदाहृत्य पाणिवादान्यवादयन् ॥ ४ ॥

तुम कहीं चले गये ? ॥ ७५ ॥

हा कौसल्ये न पश्यामि हा सुमित्रे तपस्विनि ।

हा नृशंसे ममामित्रे कैकेयि कुलपांसनि ॥ ७६ ॥

‘हा कौसल्ये । अब मुझे कुछ नहीं दिखायी देता । हा नर्पस्विनि सुमित्र । अब मैं इस लोकमें जा रहा हूँ । हा मेरी शत्रु क्रूर कुलपति कैकाय । (तेरी कुटिल इच्छा पूरी हुई)’ ॥ ७६ ॥

इति मातुश्च रामस्य सुमित्रायाश्च संनिधौ ।

राजा दशरथ शोचन्मोदितान्तमुपागमत् ॥ ७७ ॥

इस प्रकार श्रीराम-माता कौसल्या और सुमित्राके निकट शाक्यपूर्ण विलाप करते हुए राजा दशरथके जीवनका अन्त हो गया ॥ ७७ ॥

तथा तु दीनः कषयन् नराधिपः

प्रियस्य पुत्रस्य विवासनातुरः ।

गतेऽर्धरात्रे भृशदुःखपीडित-

स्तदा जहौ प्राणमुदारदर्शनः ॥ ७८ ॥

अपने प्रिय पुत्रके वनवासमें शोकाकुल हुए राजा दशरथ इस प्रकार दीनतापूर्ण वचन कहते हुए आधी रात बीतसे-बातत अन्त्यन्त दुःखसे पीड़ित हो गये और उसी समय उन अटारदर्शी नरेशमें अपने प्राणोंको त्याग दिया ॥ ७८ ॥

वे सूतगण स्तुति कर रहे थे; इतनेहीमें पाणिवादक (रागम नाल दकर गानवाले) वहाँ आये और राजाओंके वींते हुए अद्भुत कर्मोंका खतान करते हुए तालगतिके अनुसार तालियाँ बजाने लगे ॥ ४ ॥

तेन शब्देन विहगाः प्रतिबुद्धाश्च सख्यन्तुः ।

शास्त्रास्थाः पञ्जरस्थाश्च ये राजकुलगोचराः ॥ ५ ॥

उस शब्दसे वृक्षोंकी शाखाओंपर बँडे हुए तथा राजकुलमें हो विचरनेवाले पिंजड़ेमें बँडे शुक आदि पक्षी जागकर सहस्रहने लगे ॥ ५ ॥

व्याहता पुण्यशब्दाश्च वीणानां चापि निःस्वनाः ।

आशीर्गेयं च गाथानां पूज्यामास वेश्म तत् ॥ ६ ॥

शुक आदि पक्षियाँ तथा ब्राह्मणोंके मुखसे निकले हुए पवित्र शब्द, वाणाओंके मधुर नाद तथा गाथाओंके आशीर्वादयुक्त गानसे वह सारा भवन गूँज उठा ॥ ६ ॥

ततः शुचिसमाचाराः पर्युपस्थानकोविदाः ।

स्त्रीवर्षवरभूयिष्ठा उपतस्थुर्यथापुरा ॥ ७ ॥

तदनन्तर स्टाचारों तथा परिचर्याकुशल सेवक, जिनमें

स्त्रियों और खोजोंकी संख्या अधिक थी, पहनेकी धनि उस दिन भी राजभवनमें उपस्थित हुए ॥ ७ ॥

हरिचन्दनसम्पृक्तमुदकं काञ्चनेर्घटैः ।

आनिन्युः स्नानशिक्षाया यथाकालं यथाविधि ॥ ८ ॥

ज्ञानविधिके ज्ञाता धन्यजन विधिपूर्वक सनके चढ़ाये चन्दनमिश्रित जल लेकर ठीक समयपर आये ॥ ८ ॥

मङ्गलालम्बनीयानि प्राशनीयान्युपस्करन् ।

उपानिन्युस्तथा पुण्याः कुमारीवहुला स्त्रियः ॥ ९ ॥

पवित्र आचार-विचारवाली स्त्रियाँ, जिनमें कुमारी कन्याओंकी संख्या अधिक थी मङ्गलक मिय नर्त करने योग्य गौ आदि, पीने योग्य गङ्गाजल आदि तथा अन्य उपकरण—दण्ड, आभूषण और खन्न आदि ले आये ॥

सर्वलक्षणसम्पन्नं सर्वं विधिवद्विंशत् ।

सर्वं सुगुणलक्ष्मीवत् तदभूदाभिहारिकम् ॥ १० ॥

प्रातःकाल राजाओंके मङ्गलके लिये जो-जो वस्तुएँ लायी जाती हैं, उनका नाम आभिवारिक है । जहाँ लायी गयीं सारी आभिवारिक सामग्री सम्पन्न शुभ लक्षणोंमें सम्पन्न, विधिके अनुरूप, आदर और प्रशंसाके योग्य उत्तम गुणसे युक्त तथा शोभायमान थी ॥ १० ॥

ततः सूर्योदयं यावत् सर्वं परिसमुत्सुकम् ।

तस्यावनुपसम्प्राप्तं किंस्वदित्युपशङ्कितम् ॥ ११ ॥

सूर्योदय होनेतक राजाकी सेवाके लिये उत्सुक हुआ सारा परिवजनवर्ग वहाँ आकर खड़ा हो गया । जब उस समयतक राजा बाहर नहीं निकले, तब सबके मनमें यह शङ्का हो गयी कि महाराजके न आनेका क्या कारण हो सकता है ? ॥

अथ याः कोसलेन्द्रस्य शयनं प्रत्यनन्तराः ।

ताः स्त्रियस्तु समागम्य भर्तारं प्रत्यबोधयन् ॥ १२ ॥

तदनन्तर जो कोसलनेश दशार्धके समीप रहनेवाली स्त्रियाँ थीं, वे उनकी शय्याके पास जाकर अपने स्वामीका जगाने लगीं ॥ १२ ॥

अथाप्युचितवृत्तास्ता विनयेन नयन् च ।

नहस्य शयनं स्पृष्ट्वा किञ्चिदप्युपलब्धिरे ॥ १३ ॥

वे स्त्रियाँ उनकी स्पर्श आदि करनेके योग्य थीं; अतः विनीतभावसे युक्तिपूर्वक उन्होंने उनकी शय्याका स्पर्श किया । स्पर्श करके भी वे उनमें जाँवनेका कोई चिह्न नहीं पा सकीं ॥ १३ ॥

ताः स्त्रियः स्वप्रशीलज्ञाक्षेष्टां संजल्पनादिषु ।

ता वेपथुपरीताश्च राज्ञः प्राणेषु शङ्किताः ॥ १४ ॥

सोये हुए पुरुषों जैसी स्थिति होती है उसकी भी वे स्त्रियाँ अच्छी तरह समझती थीं; अतः उन्होंने हृदय एवं हृथके पुलभागमें चलनेवाली नाड़ियोंकी भी परीक्षा की किन्तु वहाँ भी कोई चेष्टा नहीं प्रतीत हुई फिर तो वे काँप उठीं । उनके मनमें राजाके प्राणोंके निकल जानेका आशङ्का हो गयी ॥ १४ ॥

प्रतिस्त्रोतस्त्रुणप्राणा सदृशं संश्रकाशिरे ।

अथ संदेहमानानां स्त्रीणां दृष्ट्वा च पार्थिवम् ।

यत् तदाशङ्कितं पापं तदा जज्ञे विनिश्चयः ॥ १५ ॥

वे जलक प्रवाहक म्मुख पड़े हुए तिनकोक अग्रभागकी धनि कंधी हुई प्रतीत जान लगी । संशयमें पड़ी हुई उन स्त्रियोंकी मन्त्राओं और देखकर उनकी मृत्युके विषयमें जो शङ्का हुई थी उसका उस समय उन्हें पूरा निश्चय हो गया ।

कौसल्या च सुमित्रा च पुत्रशोकपराजिते ।

प्रसुप्ते न प्रबुध्येते यथा कालसमन्विते ॥ १६ ॥

पुत्रशोकसे आक्रान्त हुई कौसल्या और सुमित्रा उस समय मरी हुईक समान हो गयी थीं और उस समयतक उनके नींद नहीं खुल पायी थी ॥ १६ ॥

निष्प्रभाया विवर्णा च सत्रा शोकेन संनता ।

न च्यराजत कौसल्या तारेव तिमिरावृता ॥ १७ ॥

सोयी हुई कौसल्या श्राहीन हो गयी थीं । उनके शरीरका रंग खदल गया था । वे शोकसे पराजित एवं पीड़ित हो अन्धकारसे आच्छादित हुई तारिकाके समान शोभा नहीं पा रही थी ॥ १७ ॥

कौसल्यानन्तरं राज्ञः सुमित्रा तदनन्तरम् ।

न स्म विभ्राजते देवी शोकाश्रुलुलितानना ॥ १८ ॥

राजाके पास कौसल्या थीं और कौसल्याके समीप देवी सुमित्रा थीं । दोनों ही निद्रामग्न हो जानेके कारण शोभाहीन प्रतीत होती थीं । उन दोनोंके मुखपर शोकके आँसू फैले हुए थे ॥ १८ ॥

ते च दृष्ट्वा तदा सुप्ते उभे देव्यौ च ते नृपम् ।

सुप्तमेवोदृतप्राणमन्तःपुरमन्यत ॥ १९ ॥

उस समय उन दोनों देवियोंको निद्रामग्न देख अन्तःपुरकी अन्य स्त्रियोंने यत्रो समझा कि सोते अवस्थामें ही महाराजके प्राण निकल गये हैं ॥ १९ ॥

ततः प्रचुक्षुर्दीनाः सस्वरं ता वराङ्गनाः ।

करणेव इवारण्ये स्थानप्रच्युतयुथपाः ॥ २० ॥

फिर तो जैसे जंगलमें युधपति गजराजके अपने शयस्थानसे अन्यत्र चले जानपर हाथिनियाँ करुण चोत्कार करने लगती हैं उसी प्रकार वे अन्न पुण्डरी मुन्दरी रानियाँ अत्यन्त दुःखी हो उस स्वरसे आर्तनाद करने लगीं ॥ २० ॥

तासांयाक्रन्दशब्देन सहस्रोदृतचेतने ।

कौसल्या च सुमित्रा च त्यक्तनिद्रे बभूवतुः ॥ २१ ॥

उनके रोनेकी आवाजसे कौसल्या और सुमित्राकी भी नींद टूट गयी और वे दोनों सहसा जाग उठीं ॥ २१ ॥

कौसल्या च सुमित्रा च दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा च पार्थिवम् ।

हा नाथेति परिकुश्य पेततुर्धरणीतले ॥ २२ ॥

कौसल्या और सुमित्रा ने राजाको देखा, उनके शरीरका स्पर्श किया और 'हा नाथ !' की पुकार मचाती हुई वे दोनों

रानियाँ पृथ्वीपर गिर पड़ीं ॥ २२ ॥

सा कौसलेन्द्रदुहिता चेष्टमाना महान्तले ।

न भ्रातृते रजोध्वस्ता तारव गगनच्युता ॥ २३ ॥

कौसलराजकुमारी कौसल्या घरतीपर लोटने और छटपटाने लगीं । उनका धूलि-धूमरित शरीर शोभाहान दिखायी देने लगा माना आकाशमें टूटकर गिरी हुई कंई तारा घूलमें लोट रही हो ॥ २३ ॥

नृपे शान्तगुणे जाते कौसल्या पतितां भुवि ।

अपश्यस्ताः स्त्रियः सर्वा हता नागवधूमिव ॥ २४ ॥

राजा दशरथके शरीरकी उज्जता शान्त हो गयी थी । इस प्रकार उनका जीवन शान्त हो जानेपर भूमिपर अचंचल पड़ी हुई कौसल्याको अन्न पुरकी उन सारी स्त्रियोंने मरी हुई नागिनक समान देखा ॥ २४ ॥

ततः सर्वा नरेन्द्रस्य कैकेयीप्रपुत्राः स्त्रियः ।

रुदत्यः शोकसंतप्ता निपेतुर्गतचिंतनाः ॥ २५ ॥

तदनन्तर पोंछ आयी हुई मन्त्रराजकी कैकेयी आदि सारी रानियाँ शोकसे संतप्त होकर रोने लगीं और अचंचल होकर गिर पड़ीं ॥ २५ ॥

ताभिः स खल्व्यान् नादः क्रोशन्तीभिरनुवृत्तः ।

येन स्फूर्तीकृतो भूयस्तद् गृहं समनादयत् ॥ २६ ॥

उन क्रन्दन करती हुई रानियोंने वहाँ पहलेसे होनेवाले

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽथोद्धाकाण्डे षट्षष्टितमः सर्गः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अथोद्धाकाण्डमें षट्षष्टी सर्ग पूरा हुआ ॥ ६५ ॥

षट्षष्टितमः सर्गः

राजाके लिये कौसल्याका विलाप और कैकेयीकी भर्त्सना, मन्त्रियोंका राजाके शवको तेलसे भरे हुए कड़ाहमें सुलाना, रानियोंका विलाप, पुरीकी श्रीहीनता और पुरवासियोंका शोक

तमप्रिमिव संशान्तमधुहीनमिवार्णवम् ।

नतप्रभमिवादित्य स्वर्गस्थं प्रेक्ष्य भूमिपम् ॥ १ ॥

कौसल्या व्याघ्रपूर्णाक्षी विविधं शोककर्शिता ।

उपगृह्य शिरो राजः कैकेयीं प्रत्यभाषत ॥ २ ॥

धुंधी हुई आग जलहीन समुद्र तथा प्रभाहान सूर्यकी भाँति शोभाहीन हुए दिवङ्गत राजाका शव देखकर कौसल्याक नेत्रोंमें आँसु भर आये वे अनेक प्रकारसे शोकाकुल होकर राजाक मस्तककी गोदमें ले कैकेयीसे इस प्रकार बोलीं— ॥ १-२ ॥

सकामा भव कैकेयी भुङ्क्ष्व राज्यमकण्टकम् ।

त्यक्त्वा राजनमेकाग्रा नृशंसे दुष्टचारिणि ॥ ३ ॥

‘दुष्टचारिणी कूर कैकेयी । ले, तेरा कामना मकल हुई । अब राजाको भी त्यागकर एकाग्रचित्त हो अपना अकण्टक राज्य भोग ॥ ३ ॥

विहाय मां गतो रामो भर्ता च स्वर्गतो मम ।

विपथे सार्थहीनेव नाहं जीविनुमुत्सहे ॥ ४ ॥

प्रबल आर्तनदको और भी बढ़ा दिया । उस बड़े हुए आर्तनदसे वह साथ राजमहल पुनः बड़े जोरसे गूँज उठा ॥ २६ ॥

तत् परिश्रस्तसम्भ्रान्तपर्युत्सुकजनाकुलम् ।

सर्वतस्तुपुलाक्रन्दं परितापार्तकान्धवम् ॥ २७ ॥

सद्योनिपतितानन्दं दीनं विह्वलदर्शनम् ।

बभूव नरदेवस्य सद्य दिष्टान्तमीयुषः ॥ २८ ॥

कालधर्मको प्राप्त हुए राजा दशरथका वह भजन डरे, ध्वरगये और अत्यन्त उत्सुक हुए मनुष्योंसे भर गया । सब ओर रोने-चिल्लावनेका ध्वंशकर शब्द होने लगा । वहाँ राजाके सभी बन्धु-बान्धव शोक-सतापमें पीड़ित होकर जुट गये । वह सारा भजन तन्काल आनन्दशून्य हो दीन-दुःखी एवं व्याकुल दिखायी देने लगा ॥ २७-२८ ॥

अतीतभाजाय तु पाथिवर्षधं

यशस्विनं ते परिवार्य पत्नयः ।

भूशं रुदत्यः करुणं सुदुःखिताः

प्रगृह्य बाहू व्यलपन्ननाथवत् ॥ २९ ॥

उन यशस्वी भूपालशिरोमणिको दिवङ्गत हुआ जान उनको सारी पत्नियाँ उन्हे चारों ओरसे घेरकर अत्यन्त दुःखी हो जोर-जोरसे रोने लगीं और उनकी दोनों बाँहें पकड़कर अनाथकी भाँति करुण-विलाप करने लगीं ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽथोद्धाकाण्डे षट्षष्टितमः सर्गः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अथोद्धाकाण्डमें षट्षष्टी सर्ग पूरा हुआ ॥ ६५ ॥

षट्षष्टितमः सर्गः

राजाके लिये कौसल्याका विलाप और कैकेयीकी भर्त्सना, मन्त्रियोंका राजाके शवको तेलसे भरे हुए कड़ाहमें सुलाना, रानियोंका विलाप, पुरीकी श्रीहीनता और पुरवासियोंका शोक

‘राम मुझे छोड़कर कनमें चले गये और मेरे स्वामी स्वर्ग सिधाय अब मैं दुर्गम मार्गसे साधियोंसे बिछुड़कर अमराय हुई अबलाका भाँति जीवित नहीं रह सकती । ४ ।

भर्तारं तु परित्यज्य का स्त्री दैवसमात्मनः ।

इच्छेज्जीविनुमन्यत्र कैकेय्यास्त्यक्तधर्मणः ॥ ५ ॥

‘नारोधर्मको त्याग देनेवाली कैकेयीके सिवा संसारमें दूसरी कौन ऐसी स्त्री होगी जो अपने लिये आराध्य देवस्वरूप पतिव्रत परित्याग करके जीना चाहेंगी ? ॥ ५ ॥

न लुब्धो बुध्यते दोषान् किंपाकमिव भक्षयन् ।

कुब्जानिपिनं कैकेय्या राघवाणां कुलं हतम् ॥ ६ ॥

‘जैसे कोंड घनका लोभी दूसरोंको दिवा खिला देता है और उससे होनेवाले हन्यांक दोषोंपर ध्यान नहीं देता, उसी प्रकार इस कैकेयीन कुब्जाक कारण गुरुशिष्यकि इस कुलका नाश कर डाला ॥

अनियोगे नियुक्तेन राज्ञा रामं विवासितम् ।

सभार्य जनकः श्रुत्वा परितप्यत्यहं यथा ॥ ७ ॥

कैकेयीने महाराजको अयोग्य कार्यने लगाकर उनके द्वारा पत्नीसहित श्रीरामको खनवासे दिये। यह समाचार जब राजा जनक सुनते, तब मेर ही समान उनको भी बड़ा कष्ट होगा ॥ ७ ॥

स मामनाथा विधवां नष्ट जानानि धार्मिकः ।

रामः कमलपत्राक्षो श्रीवत्सराश्रमिनो गतः ॥ ८ ॥

यै अनाथ और विधवा हो गये—यह बात मेर धर्मिया पुत्र कमलनयन श्रीरामको नहीं मान्य है। वे तो यत्नमें जीते-जी अदृश्य हो गये हैं ॥ ८ ॥

विदेहराजस्य सुता तथा चाग्नपत्निनी ।

दुःखस्यानुचिता दुःखं वने पर्युद्भिजिष्यति ॥ ९ ॥

'पति-सेवारूप मनोहर रूप करनेवाली विदेहराजकुमारी सीता दुःख भोगनेके योग्य नहीं है। वह वनमें दुःखका अनुभव करके उद्भिष्ट हो उठेगी ॥ ९ ॥

नक्षत्रां भीमघोषाणां निशासु मृगप्रक्षिणाम् ।

निशम्यमाना संव्रस्ता गधव संश्रयिष्यति ॥ १० ॥

'रातके समय भयानक शब्द करनेवाली पशु-पक्षियोंकी बाजी मूँकर भयभीत हो सीता श्रीरामकी ही शरण लगेगी—उन्हींकी गोदमें जाकर छिपेगी ॥ १० ॥

वृद्धश्चैवाल्यपुत्रश्च वैदेहीमनुचिन्तयन् ।

सोऽपि शोकसमाविष्टो नूनं त्यक्ष्यति जीविनम् ॥ ११ ॥

'जो वृद्ध हो गये हैं, कन्याएँमात्र ही जिनकी संवर्ति हैं वे राजा जनक भी सीताको ही बारम्बार चिन्ता करते हुए शोकमें डूबकर अवश्य ही अपने प्राणोंका परित्याग कर देंगे ॥ ११ ॥

साहमधैव दिष्टान्तं गमिष्यामि पतिव्रता ।

इदं शरीरमालिङ्ग्य प्रवेक्ष्यामि हुनाशनम् ॥ १२ ॥

'मैं भी आज ही मृत्युकर वरण करूँगी। एक पतिव्रताको भौतिक पतिके शरीरका आलिङ्गन करके चित्तकी आगमें प्रवेश कर जाऊँगी ॥ १२ ॥

तां ततः सम्परिहृत्य विलपन्ती तपस्विनीम् ।

व्यपनित्युः सुदुःखार्ता कौमल्या व्यावहारिका ॥ १३ ॥

पतिके शरीरको हृदयसे लगाकर अत्यन्त दुःखमें आर्त हो करण विलाप करती हुई तपस्विनी कौमल्याका राजकाज देखनेवाले मन्त्रिगणों ने दूसरी स्त्रियोंद्वारा वस्त्रनिषेध दिया ॥ १३ ॥

तैलद्रोण्यां तदाभात्याः संवेश्य जगतीपतिम् ।

राज्ञः सर्वाण्यथादिष्टाश्चक्रुः कर्माण्यवन्नरम् ॥ १४ ॥

फिर उन्होंने महाराजके शरीरको तैलमें धरे हुए कड़ाहमें रखकर वसिष्ठ आदिकी आज्ञाके अनुसार शवकी रक्षा आदि अन्य सब राजकीय कार्योंकी सैभाल आरम्भ कर दी ॥ १४ ॥

न तु संकालनं राज्ञो विना पुत्रेण मन्त्रिणः ।

सर्वज्ञाः कर्तुमीवुस्ते ततो रक्षन्ति घूमिथम् ॥ १५ ॥

वे सर्वज्ञ मन्त्री पुत्रके विना राजाका दाह-संस्कार न

कर सक, इसलिये उनके शवकी रक्षा करने लगे ॥ १५ ॥

तैलद्रोण्यां शायितं तं सचिर्वस्तु नराधिपम् ।

हा मृतोऽयमिति ज्ञात्वा स्त्रियस्ताः पर्यदेवयन् ॥ १६ ॥

जब मन्त्रिगणों ने राजाके शवका तैलमें कड़ाहमें मुलायम, तब यह जानकर सारी स्त्रियाँ 'हाय ! ये महाराज परलोक-वासी हो गये' ऐसा कहती हुई पुनः विलाप करने लगीं ।

बाहुर्बुद्धित्वं कृपणा नेत्रप्रस्रवणैर्मुखैः ।

स्तब्धः शोकसंतप्ताः कृपणं पर्यदेवयन् ॥ १७ ॥

उनके मुखपर नेत्रोंमें आँसुओंके झरने झर रहे थे। वे अपनी भुजाओंको ऊपर उठाकर दीनभावसे रोने और शोकसंतप्त हो दयनीय विलाप करने लगीं ॥ १७ ॥

हा महाराज रामेण सततं प्रियवादिना ।

विहीनाः सत्यसधेन किमर्थं विजहासि नः ॥ १८ ॥

वे चाली—'हा महाराज ! हम सत्यप्रतिज्ञ एवी सदा प्रिय बालनेवाले अपने पुत्र श्रीरामसे तो चिछुड़ी ही थीं, अब आप भी क्यों हमारा परित्याग कर रहे हैं ? ॥ १८ ॥

कैकेय्या दुष्टभावाया राघवेण विवर्जिताः ।

कथं सपत्न्या वत्स्यामः समीपे विधवा वयम् ॥ १९ ॥

'श्रीरामसे चिछुड़कर हम सब विधवाएँ इस दुष्ट विचारवाली सीता कैकेयीके समीप कैसे रहेगी ? ॥ १९ ॥

स हि नाथः स चास्माकं तव च प्रभुसत्त्ववान् ।

वनं रामो गतः श्रीमान् विहाय नृपतिश्रियम् ॥ २० ॥

'जो हमारे और आपके भी रक्षक और प्रभु थे, वे मनस्वी श्रीरामचन्द्र राजलक्ष्मीको छोड़कर वन चले गये ॥ २० ॥

त्वया तेन च धीरेण विना स्थसन्नमोहिताः ।

कथं वयं निवत्स्याम कैकेय्या च विदूषिताः ॥ २१ ॥

'बारम्बार श्रीराम और आपके भी न रहनेसे हमारे ऊपर बड़ा भारी संकट आ गया, जिससे हम मोहित हो रही हैं। अब सीता कैकेयीके द्वारा तिरस्कृत हो हम यहाँ कैसे रह सकेंगी ? ॥ २१ ॥

यया च राजा रामश्च लक्ष्मणश्च महाबलः ।

मौनया सह संत्यक्ता सा कथमर्थं न हास्यति ॥ २२ ॥

'जिसने राजाका तथा सीतासहित श्रीराम और महाबली लक्ष्मणका भी परित्याग कर दिया, वह दूसरे किसका त्याग नहीं करेगी ? ॥ २२ ॥

ना बाधेण च संवीताः शोकेन विपुलेन च ।

व्यचिह्नन्ति निरानन्दा राघवस्य वरस्त्रियः ॥ २३ ॥

मृत्युकुम्भरेश दशरथकी वे सुन्दरी स्त्रियाँ महान् शोकसे ग्रस्त हो आँसू बहाती हुई नाना प्रकारकी चेष्टाएँ और विलाप कर रही थीं। उनका आनन्द लुप्त गया था ॥ २३ ॥

निशा नक्षत्रहीनेव स्त्रीव घर्तुविवर्जिता ।

पुरी नाराजतायोध्या हीना राजा महात्मना ॥ २४ ॥

महामना राजा दशरथसे हीन हुई वह अयोध्यापुरी

नक्षत्रहीन रात्रि और प्रतिविहीन नारोकी भाँति श्रीहीन हो गयी थी ॥ २४ ॥

बाष्पपर्याकुलजना हाहाभूतकुलाङ्गना ।

शून्यवस्त्रवेश्माप्ता न बभ्राज यथापुरम् ॥ २५ ॥

नगरके सभी मनुष्य आँसू बहा रहे थे। कुलवर्तों स्त्रियाँ हाहाकार कर रही थीं और हाँसू तथा धरोँके द्वार मूनें दिखावाँ देते थे। (यहाँ झाड़ू-बुहार, लोपने-पातने तथा बर्तन अर्पण करने आदिकी क्रियाएँ नहीं होती थीं।) इस प्रकार वह पूरी पहलेकी भाँति शोभा नहीं पाती थी ॥ २५ ॥

गते तु शोकात् त्रिदिवं नराधिपे

महीतलस्थासु नृपाङ्गनासु च ।

निवृत्तचारः सहसा गतो रविः

प्रवृत्तचारा रजनी ह्युपस्थिता ॥ २६ ॥

राजा दशरथ शोकजश स्वर्ग सिधारे और उनकी स्त्रियाँ शोकसे ही भूतलपर लोटती रहीं। इस शोकमें ही सत्रमा सूर्यकी किरणोंका प्रचार बंद हो गया और सूर्यदेव अस्त हो गये। तत्पश्चात् अन्यकारका प्रचार करता हुई रात्रि उपस्थित हुई ॥ २६ ॥

अगते तु पुत्राद् दहनं महीपते-

नारोचयंस्ते सुहृदः समागताः ।

इतीष तस्मिंश्चायने न्यवेशयन्

विचिन्त्य राजानमचिन्त्यदर्शनम् ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीयां आदिकाव्येऽथोऽध्याकाण्डे वदार्णहिनम सर्गः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें छठाठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६६ ॥

सप्तषष्ठितमः सर्गः

मार्कण्डेय आदि मुनियों तथा मन्त्रियोंका राजाके बिना होनेवाली देशकी दुरवस्थाका वर्णन करके वसिष्ठजीसे किसीको राजा बनानेके लिये अनुरोध

आक्रन्दिता निगनन्दा सास्त्रकण्ठजनाविला ।

अयोध्यायामवतता सा व्यतीयाद्य शर्वरी ॥ १ ॥

अयोध्यामें लोगोंको वह रात रोने-कलपने ही आती। उसमें आनन्दका नाम भी नहीं था। आँसुओंमें सब लोगोंके कण्ठ भरे हुए थे। दुःखके कारण वह रात मचको चड़ा लम्बी प्रतीत हुई थी ॥ १ ॥

व्यतीतायां तु शर्वर्यामादित्यस्योदये ततः ।

समेत्य राजकर्तारः सभाभीयुर्द्विजातयः ॥ २ ॥

जब रात बीत गयी और सूर्योदय हुआ, तब राज्यका प्रबन्ध करनेवाले ब्राह्मणलोग एकत्र हो दरबारमें आये ॥ २ ॥

मार्कण्डेयोऽथ मौद्गल्यो वापदेवश्च कश्यपः ।

कात्यायनो गौतमश्च जाबालिश्च महायशाः ॥ ३ ॥

एते द्विजाः सहापार्यः पृथग्वाचमुदीरयन् ।

वसिष्ठमेवाभिमुखाः श्रेष्ठं राजपुरोहितम् ॥ ४ ॥

वहाँ पधारे हुए सुहृदोंने किसी भी पुत्रके बिना राजका दाह-संस्कार होना नहीं पसंद किया। अथ राजाका दर्शन अचिन्त्य हो गया, यह सोचते हुए उन सबने उस तैलपूर्ण कढ़ाहमें उनके शवको सुरक्षित रख दिया ॥ २३ ॥

गतप्रभा द्यौर्गिव भास्करं विना

व्यपेतनक्षत्रगणेषु

शर्वरी ।

पुरी चभासे रहिता महात्पना

कण्ठास्त्रकण्ठाकुलमार्गवत्परा ॥ २८ ॥

सूर्यके बिना प्रभाहीन आकाश तथा नक्षत्रोंके बिना शोभाहीन रात्रिकी भाँति अयोध्यापुरी महात्मा राजा दशरथसे रहित हो श्रीहीन प्रतीत होनी थी। उसकी सड़कों और चौकरोपर आँसुआसे अवच्छिन्न कण्ठवाले मनुष्योंकी भीड़ एकत्र हो गयी थी ॥ २८ ॥

नराश्च नार्यश्च समेत्य संघशो

विगर्हमाणा भरतस्य मानवम् ।

तदा नगरी नरदेवसंक्षये

बध्ववुरार्ता न च शर्म लेधिरे ॥ २९ ॥

झुंड-के-झुंड स्त्री और पुरुष एक साथ खड़े होकर भरत-माना कैकेयीकी निन्दा करने लगे उस समय महाराजकी मृत्युमें अयोध्यापुरीमें रहनेवाले सभी लोग शोकाकुल हो रहे थे। कोई भी शान्ति नहीं पाता था ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीयां आदिकाव्येऽथोऽध्याकाण्डे वदार्णहिनम सर्गः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें छठाठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६६ ॥

मार्कण्डेय, मौद्गल्य, वापदेव, कश्यप, कात्यायन, गौतम और महायशाओं आचार्य - ये सभी ब्राह्मणश्रेष्ठ राजपुरोहित वसिष्ठजीके सामने बैठकर मन्त्रियोंके साथ अपनी अलग-अलग राय देने लगे ॥ ३-४ ॥

अतीता शर्वरी दुःखं या नो वर्षशतोपमा ।

अस्मिन् पञ्चत्वमापन्ने पुत्रशोकेन पार्थिवे ॥ ५ ॥

वे बोले—'पुत्रशोकसे इन महाराजके स्वर्गवासी होनेके कारण यह रात बड़े दुःखसे बीती है, जो हमारे लिये सौ वर्षोंके समान प्रतीत हुई थी ॥ ५ ॥

स्वर्गस्थश्च महाराजो रामश्चारण्यमाश्रितः ।

लक्ष्मणश्चापि तेजस्वी रामेणैव गतः सह ॥ ६ ॥

'महाराज दशरथ स्वर्ग सिधारे। श्रीरामचन्द्रजी वनमें रहने लगे और तेजस्वी लक्ष्मण भी श्रीरामके साथ ही चले गये ॥ ६ ॥

उभौ भरतशत्रुघ्नौ केकयेषु परंतपौ ।
पुरे राजगृहे रम्ये मातामहनिवेशने ॥ ७ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले दोनों भाई भरत और शत्रुघ्न केकयदेशके रमणीय राजगृहमें राजाके घरमें निवास करते हैं ॥ ७ ॥

इक्ष्वाकूणामिहाष्टव कश्चिद् राजा त्रिधीयताम् ।
अराजके हि नो राष्ट्रं विनाशं समवाप्नुयात् ॥ ८ ॥

इक्ष्वाकुवंशी राजकुमारोंमेंसे किसीको आज हो या फिर राजा बनाया जाय; क्योंकि राजाके बिना हमारे इस राज्यका नाश हो जायगा ॥ ८ ॥

नाराजके जनपदे विद्युन्माली महास्वनः ।
अभिवर्धति पर्जन्यो महीं दिव्येन वारिणा ॥ ९ ॥

'जहाँ कोई राजा नहीं होता, ऐसे जनपदमें विद्युन्मालाओंमें अलंकृत महान् गर्जन करनेवाला मेष पृथ्वीपर दिव्य जलका वर्षा नहीं करता है ॥ ९ ॥

नाराजके जनपदे बीजमुष्टिः प्रकीर्यते ।
नाराजके पितुः पुत्रो धार्या वा वर्तते अशौ ॥ १० ॥

'जिस जनपदमें कोई राजा नहीं, वहलकि खेतोंमें मुट्ठी-के-मुट्ठी बीज नहीं बिखेर जाते। राजासे रहित देशमें पुत्र पिता और स्त्री पतिके वशमें नहीं रहती ॥ १० ॥

अराजके धने नास्ति नास्ति धार्याप्यराजके ।
इदमत्याहितं चान्यन् कुतः सत्यभराजके ॥ ११ ॥

राजहिन देशमें धन अपना नहीं होता है। बिना राजाके राज्यमें पत्नी भी अपनी नहीं रह पाती है। राजारहित देशमें यह महान् भय बना रहता है। (अब यहाँ पति-पत्नी आदिको सत्य सम्बन्ध नहीं रह सकता, तब) फिर दूसरा कोई मत्त कैसे रह सकता है? ॥ ११ ॥

नाराजके जनपदे कारयन्ति सभां नराः ।
उद्यानानि च रम्याणि हृष्टा पुण्यगृहाणि च ॥ १२ ॥

बिना राजाके राज्यमें मनुष्य कोई पञ्चायत-पञ्चन नहीं बनवाते, रमणीय उद्यानका भी निर्माण नहीं करवान तथा हथ और उत्साहके साथ पुण्यगृह (धर्मशाला, मन्दिर आदि) भी नहीं बनवाते हैं ॥ १२ ॥

नाराजके जनपदे यज्ञशीला द्विजातयः ।
सप्राणयन्वासते दान्ता ब्राह्मणः संशितव्रताः ॥ १३ ॥

'जहाँ कोई राजा नहीं, उस जनपदमें स्वभावतः यज्ञ करनेवाले द्विज और कठोर व्रतका पालन करनेवाले जितेन्द्रिय ब्राह्मण इन बड़े-बड़े यज्ञका अनुष्ठान नहीं करने जिनमें सभी ऋत्विज और सभी यजमान होते हैं ॥ १३ ॥

नाराजके जनपदे महारथेषु यज्वनः ।
ब्राह्मणा असुसम्पूर्णा विस्मृजन्त्याप्तदक्षिणाः ॥ १४ ॥

'राजारहित जनपदमें कदाचिन् महारथोंका अग्रज हो या न उनमें धनसम्पन्न ब्राह्मण भी ऋत्विजोंको यथाप दक्षिणा नहीं द

(उन्हें भय रहता है कि लोग हमें धनी समझकर लूट-व लें) नाराजके जनपदे प्रहृष्टनटनर्तकाः ।

उत्सवाश्च समाजाश्च वर्धन्ते राष्ट्रवर्धनाः ॥ १५ ॥

'अराजक देशमें राष्ट्रको उन्नतिशील बनानेवाले उत्सव जिनमें नट और नर्तक होंमें भरकर अपनी कलाका प्रदर्शन करते हैं, बढ़ने नहीं पाते हैं तथा दूसरे दूसरे राष्ट्रविनाशकारी संघ भी नहीं बनपने पाते हैं ॥ १५ ॥

नाराजके जनपदे सिद्धार्था व्यवहारिणः ।
कथाभिरभिरज्यन्ते कथाशीलाः कथाप्रियैः ॥ १६ ॥

'बिना राजाके राज्यमें चादी और प्रतिबादीके विवादका संतोषजनक निपटारा नहीं हो पाता अथवा व्यापारियोंको लाभ नहीं मिलता। कथा सुननेकी इच्छावाले लोग कथाकाचक पौराणिकोंको कथाओंसे प्रसन्न नहीं होते ॥ १६ ॥

नाराजके जनपदे तूहानानि समागताः ।
सायाहे क्रीडितुं घान्ति कुमार्यो हेमधूषिताः ॥ १७ ॥

'राजारहित जनपदमें सोनके आभूषणोंसे विभूषित हुई कुमारियाँ एक साथ मिलकर संध्याके समय उद्यानमें क्रीड़ा करनेके लिय नहीं जाती हैं ॥ १७ ॥

नाराजके जनपदे धनवन्तः सुरक्षिताः ।
इरते विवृतद्वाराः कृषिगोरक्षजीविनः ॥ १८ ॥

बिना राजाके राज्यमें धनीलोग सुरक्षित नहीं रह पाते तथा कृषि और गोरक्षामें जीवन निर्वाह करनेवाले वैश्य भी दरवाजा खोलकर नहीं सो पाते हैं ॥ १८ ॥

नाराजके जनपदे वाहनैः शीघ्रवाहिभिः ।
नरा निर्यान्त्यरण्यानि नारीभिः सह कामिनः ॥ १९ ॥

राजामें रहित जनपदमें कामी मनुष्य नारियोंके साथ उद्योगमी वाहनोंद्वारा वनावजारके लिये नहीं निकलते हैं ॥

नाराजके जनपदे बहुघण्टा विघाणिनः ।
अटन्ति राजमार्गेषु कुञ्जराः षष्टिहायनाः ॥ २० ॥

'जहाँ कोई राजा नहीं होता, उस जनपदमें साठ वर्षके दन्तार हाथी षंटे बांधकर सड़कोंपर नहीं घूमते हैं ॥ २० ॥

नाराजके जनपदे शरान् संततयस्यताम् ।
ध्रुयने नलनिधौष इष्टुस्वाणामुपासने ॥ २१ ॥

बिना राजाके राज्यमें धनुर्विद्याके अध्यासकालमें निरन्तर लक्ष्यकी ओर काण चलानेवाले घोड़ोंकी प्रत्यक्षा तथा कर्तव्यका शब्द नहीं सुनायी देता है ॥ २१ ॥

नाराजके जनपदे वर्णिजो दूरगामिनः ।
गच्छन्ति क्षेममध्वान् बहुपण्यसमाचिताः ॥ २२ ॥

'राजामें रहित जनपदमें दूर जाकर व्यापार करनेवाले वर्णिके बेचनेकी बहुत-सी वस्तुएँ साथ लेकर कुशलपूर्वक मार्ग तै नहीं कर सकते ॥ २२ ॥

नाराजके जनपदे चरत्येकचरो अशी ।
भावयन्नात्मनाऽऽत्मानं यत्र सायं गृह्णे मुनिः ॥ २३ ॥

‘जहाँ कोई राजा नहीं होता, उस जनपदमें जहाँ संघ्या हो वहीं डेरा डाल देनेवाला अपने अन्न-करणके द्वारा परमान्माका ध्यान करनेवाला और अकेला ही विचरनेवाला जितेन्द्रिय मुनि नहीं धूमता-फिरता है (क्योंकि उसे कोई भोजन देनेवाला नहीं होता) ॥ २३ ॥

नाराजके जनपदे योगक्षेमः प्रवर्तते ।

न चाप्यराजके सेना शत्रुन् विषहते युधि ॥ २४ ॥

अराजक देशमें लोगोंको अप्राम खलुकी प्राप्ति और प्राप्त वस्तुकी रक्षा नहीं हो पाती राजाके न रहनेपर सेना भी युद्धमें शत्रुओंका सामना नहीं करती ॥ २४ ॥

नाराजके जनपदे हृष्टः परषवाजिभिः ।

नराः संयान्ति सहसा रथैश्च प्रतिमण्डिताः ॥ २५ ॥

‘बिना राजाके राज्यमें लोग चलाधूमणामें धिपृष्ठ हो हृष्ट-पुष्ट उत्तम घोड़ों तथा रथोंद्वारा सहसा युद्ध नहीं करने हैं (क्योंकि उन्हें लुटेरोंका भय बना रहता है) ॥ २५ ॥

नाराजके जनपदे नराः शास्त्रविशारदाः ।

संवदन्तोपनिष्ठन्ते सर्वेषूपवनेषु वा ॥ २६ ॥

‘राजास रहित राज्यमें शास्त्रोंके विशिष्ट विद्वान् मनुष्य वनों और उपवनमें शास्त्रोंकी व्याख्या करते हुए नहीं ठहर पाते हैं ॥ २६ ॥

नाराजके जनपदे मात्स्ययोदकदक्षिणाः ।

देवताध्यर्चनायां कल्पन्ते नियनर्जने ॥ २७ ॥

‘जहाँ अराजकता फैल जाती है, उस जनपदमें मत्स्य देशमें रखनेवाले स्वेग देवताओंको पूजाके लिये फूल, मिठाई और दक्षिणाकी व्यवस्था नहीं करते हैं ॥ २७ ॥

नाराजके जनपदे खन्तनागुरुष्विनाः ।

राजपुत्रा विराजन्ते वसन्ते इव शाखिनः ॥ २८ ॥

‘जिस जनपदमें कोई राजा नहीं होता है, वहाँ वन्दन और अगुरुका लेप लगाये हुए राजकुमार वसन्त-ऋतुके खिले हुए वृक्षोंकी भाँति शोभा नहीं पाते हैं ॥ २८ ॥

यथा हानुदका नद्यो यथा चाप्यनृणे वनम् ।

अगोपाला यथा गावस्तथा राष्ट्रमराजकम् ॥ २९ ॥

जैसे जलके बिना नदियाँ, घासके बिना वन और ग्वालोक बिना गीओंकी शोभा नहीं हाना, उसी प्रकार राजाके बिना राज्य शोभा नहीं पाता है ॥ २९ ॥

ध्वजो रथस्य प्रज्ञानं धूमो ज्ञानं विभावसोः ।

तेषां यो नो ध्वजो राजा स देवत्वमितो गतः ॥ ३० ॥

‘जैसे ध्वज रथका ज्ञान कराना है और धूम अग्निका बोधक होता है, उसी प्रकार राजकाज देखनेवाले हमलोगोंके अधिकारको प्रकाशित करनेवाले जो महाराज थे, वे यहाँसे देवलोकको चले गये ॥ ३० ॥

नाराजके जनपदे स्वकं भवति कस्यचिन् ।

मत्स्या इव जना नित्यं भक्षयन्ति परस्परम् ॥ ३१ ॥

‘राजाके न रहनेपर राज्यमें किसी भी मनुष्यकी कोई भी वस्तु अपनी नहीं रह जाती जैसे मत्स्य एक दूसरेको खा जाते हैं, उसी प्रकार अराजक देशके लोग सदा एक दूसरेको खाते—लुटते-खसोटते रहते हैं ॥ ३१ ॥

ये हि सन्धिप्रमर्थादा नास्तिकाश्छिन्नसंशयाः ।

नेऽपि भावाय कल्पन्ते राजदण्डनिपीडिताः ॥ ३२ ॥

‘जो वेद-शास्त्रोंकी तथा अपनी-अपनी जातिके लिये नियम वर्णाश्रमकी मर्यादाका भङ्ग करनेवाले ‘नास्तिक’ मनुष्य पहले राजदण्डसे पीड़ित होकर दबे रहते थे, वे भी अब राजाके न गानेमें निःशुक्ल होकर अपना प्रभुत्व प्रकट करेंगे ॥ ३२ ॥

यथा दृष्टिः शरीरस्य नित्यमेव प्रवर्तते ।

तथा नरेन्द्रो राष्ट्रस्य प्रभवः सत्यधर्मयोः ॥ ३३ ॥

‘जैसे दृष्टि सदा ही शरीरके हितमें प्रवृत्त रहती है, उसी प्रकार राजा राज्यके भोक्ता सत्य और धर्मका प्रवर्तक होता है ॥ ३३ ॥

राजा सत्यं च धर्मश्च राजा कुलध्वतो कुलम् ।

राजा माता पिता चैव राजा हिनकरो नृणाम् ॥ ३४ ॥

‘राजा ही सत्य और धर्म है। राजा ही कुलध्वानाका कुल है। राजा ही माता और पिता है तथा राजा ही मनुष्योंका हित करनेवाला है ॥ ३४ ॥

यमो वेश्रवणः शक्रो वरुणश्च महाबलः ।

विशिष्यन्ते नरेन्द्रेण वृत्तेन पहता ततः ॥ ३५ ॥

‘राजा अपने महान् चरित्रके द्वारा यम, कुबेर, इन्द्र और महाबल वरुणसं भी बढ़ जाते हैं (यमराज केवल दण्ड देते हैं, कुबेर केवल धन देते हैं, इन्द्र केवल पावन करते हैं और वरुण केवल मदान्तरम नियन्त्रित करत हैं परन्तु एक श्रेष्ठ राजामें ये चारों गुण मौजूद होते हैं। अतः वह इनमें बढ़ जाता है) ॥ ३५ ॥

अहो तम इवेदं स्यात्प्र प्रजायेत किञ्चन ।

राजा संज्ञ भवेत्लोकके विभजन् साध्यसाधुनी ॥ ३६ ॥

‘यदि संसारमें भले-शुभका विभाग करनेवाला राजा न हो तो यह मग जगत् अन्धकारमें आच्छन्न-सा हो जाय, कुछ भी सुझ न पड़े ॥ ३६ ॥

जीवत्यपि महाराजे सर्वे वयं वयम् ।

नातिक्रमामहे सर्वे जेली प्राप्येव सागरः ॥ ३७ ॥

‘जिसप्रकार जंगे समुद्रता हुआ समुद्र अपनी तटभूमितक पहुँचकर उसमें आग नहीं बढ़ता, उसी प्रकार हम सब लोग महाराजके जीवनकालमें भी केवल आपकी ही बातका उल्लेखन नहीं करते थे ॥ ३७ ॥

स नः समीक्ष्य द्विजवर्य वृत्तं

नृपं विना राष्ट्रपरण्यधूनम् ।

कुमारमिक्ष्वाकुसुतं

त्वमेव

तथान्यं

राजानमिहाभिषेचय ॥ ३८ ॥

‘अतः विप्रवर ! इस समय हमारे व्यवहारको देखकर तब राजाके अभावमें जंगल बने हुए इस देशपर दृष्टिपात करके आप ही किसी इक्ष्वाकुवंशी राजकुमारकी अथवा दूसरे किसी योग्य पुरुषको राजाके पदपर अभिषिक्त कीजिये’ ।

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये अदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तषष्ठितमः सर्गः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें सप्तसर्वा सर्ग पूरा हुआ ॥ ६७ ॥

अष्टषष्ठितमः सर्गः

वसिष्ठजीकी आज्ञासे पाँच दूतोंका अयोध्यासे केकयदेशके राजमूह नगरमें जाना

तेषां तद् वचने श्रुत्वा वसिष्ठः प्रत्युवाच ह ।

पित्रामात्यजनान् सर्वान् ब्राह्मणास्तानिहं वचः ॥ १ ॥

पार्कण्ड्य आदिके ऐसे वचन सुनकर महर्षि वसिष्ठने मित्रों, मन्त्रियों और उन समस्त ब्राह्मणोंको इस प्रकार उत्तर दिया— ॥ १ ॥

यदसौ भ्रातुलकुले दत्तराज्यः परं सुखी ।

भरतो वसति भ्रात्रा शत्रुघ्नेन मुदान्वितः ॥ २ ॥

‘राजा दशरथने जिनका राज्य दिया है, वे भरत इस समय अपने भाई शत्रुघ्नके साथ मामाके यहाँ बड़े सुख और प्रसन्नताके साथ निवास करते हैं ॥ २ ॥

नच्छीघ्रं जघना दूता गच्छन्तु त्वरितं हर्षः ।

आनेतुं भ्रातरौ वीरौ किं समीक्षामहे वयम् ॥ ३ ॥

उन दोनों वीर वन्धुओंको बुलानेके लिये शीघ्र ही तेज चलनेवाले दूत घोड़ोंपर सवार होकर यहाँसे जायें, इसके सिवा हमलोग और क्या विचार कर सकते हैं ? ॥ ३ ॥

गच्छन्त्विति ततः सर्वे वसिष्ठो वाक्यमब्रुवन् ।

तेषां तद् वचनं श्रुत्वा वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत् ॥ ४ ॥

इसपर सबने वसिष्ठजीसे कहा—‘हाँ, दूत अवश्य भेजे जायें’ । उनका वह कथन सुनकर वसिष्ठजीने दूतोंको सम्बोधित करके कहा— ॥ ४ ॥

एहि सिद्धार्थं विजय जयन्ताशोकनन्दन ।

श्रूयतामिति कर्तव्यं सर्वानिव ब्रवीमि वः ॥ ५ ॥

सिद्धार्थ ! विजय ! जयन्त ! अशोक ! और नन्दन ! तुम सब यहाँ आओ और तुमने जो काम करना है उसे सुनो । मैं तुम सब लोगोंसे ही कहता हूँ ॥ ५ ॥

पुरं राजगृहं गत्वा शीघ्रं शीघ्रजवहंयः ।

त्यक्तशोकैरितं वाच्यं शासनाद् भरतो मम ॥ ६ ॥

‘तुमलोग शीघ्रगामी घोड़ोंपर सवार होकर तुरंत ही राजगृह नगरको जाओ और शाकका भाव न प्रकट करते हुए मेरी आज्ञाके अनुसार भरतसे इस प्रकार कहो ॥ ६ ॥

पुरोहितस्त्वां कुशलं प्राह सर्वे च मन्त्रिणः ।

त्वरमाणश्च निर्याहि कृत्यमात्यपिकं स्वयम् ॥ ७ ॥

‘कुमार ! पुरोहितजी तथा सम्मन मन्त्रियोंने आपसे कुशल-मङ्गल कहा है । अब आप यहाँसे शीघ्र ही चलिजिये । अयोध्यामें आपसे अत्यन्त आवश्यक कार्य है ॥ ७ ॥

मा चार्हम् प्रोषितं रामं मा चार्हम् पितरं मृतम् ।

भवन्तः शंसिषुर्गत्वा राघवाणामितः क्षयम् ॥ ८ ॥

‘भरतको श्रीरामचन्द्रक वनवास और पिताकी मृत्युका हाल मत बतलाना और इन परिस्थितियोंके कारण राघवशिशुके यहाँ जो कुहराम मचा हुआ है, इसकी खर्चा भी न करना ॥ ८ ॥

कांशेयानि च वस्त्राणि धूषणानि वराणि च ।

क्षिप्रमादाथ राज्ञश्च भरतस्य च गच्छत ॥ ९ ॥

‘केकयराज तथा भरतको घेंट देनेके लिये रेशमी वस्त्र और उत्तम आभूषण लेकर तुमलोग यहाँसे शीघ्र चल दो’ ।

दत्तपथ्यश्वना दूता जग्मुः स्वं स्वं निवेशनम् ।

केकयांस्ते गमिष्यन्तो हयानारुह्य सम्पतान् ॥ १० ॥

केकय देशको जानेवाले वे दूत रास्तेका स्वर्च ले अच्छे घोड़ोंपर सवार हो अपने-अपने घरको गये ॥ १० ॥

ततः प्रास्थानिकं कृत्वा कार्यशेषमनन्तरम् ।

वसिष्ठेनाभ्यनुज्ञाता दूताः संत्वरितं ययुः ॥ ११ ॥

तदनन्तर यात्रासम्बन्धों शीघ्र तैयारी पूरी करके वसिष्ठजीकी आज्ञा ले सभी दूत तुरंत वहाँसे प्रस्थित हो गये ॥ ११ ॥

न्यन्तेनापरतालस्य प्रलम्बस्थोत्तरं प्रति ।

निवेद्यमाणास्ते जग्मुर्नदीं मध्येन मालिनीम् ॥ १२ ॥

अपरताल नामक पर्वतक अन्तिम छोर अर्थात् दक्षिण भाग और प्रलम्बगिरिक उत्तरभागमें दोनों पर्वतोंके बीचसे बहनेवाली मालिनी नदीके तटपर होते हुए वे दूत आगे बढ़े ॥ १२ ॥

ते हास्तिनपुरे गङ्गां तीर्त्वा प्रत्यङ्मुखा ययुः ।

पञ्चमल्लदेशमासाद्य मध्येन कुरुजाङ्गलम् ॥ १३ ॥

हास्तिनपुरमें गङ्गाको पार करके वे पश्चिमकी ओर गये और पञ्चमल्लदेशमें पहुँचकर कुरुजाङ्गल प्रदेशके बीचसे होते हुए आगे बढ़ गये ॥ १३ ॥

सरांसि च सुफुल्लानि नदीश्च धिमलोत्तकाः ।

निरीक्षमाणाजग्मुस्ते दूताः कार्यवशाद्द्वृतम् ॥ १४ ॥

मार्गमें सुन्दर फूलोंसे सुशोभित सरयवों तथा निर्मल जलवाली नदियोंका दर्शन करत हुए वे दूत कार्यवश तीव्र गतिसे आगे बढ़ते गये ॥ १४ ॥

ते प्रसन्नोदकां दिव्यां भानाविहगसेविताम् ।

उपातिजग्मुर्वेगेन शरदण्डां जलाकुलाम् ॥ १५ ॥

तदनन्तर वे स्वच्छ जलसे सुशोभित, पानीसे भरी हुई
और भौति-भौतिके पक्षियोंसे सेवित दिव्य नदी शरदण्डाके
तटपर पहुँचकर उसे वेगपूर्वक लक्ष्य गये ॥ १५ ॥

निकूलवृक्षमासाद्य दिव्यं सत्योपयाचनम् ।

अभिगम्याभिवाद्यं तं कुलिङ्गं प्राविशन् पुरीम् ॥ १६ ॥

शरदण्डाके पश्चिमतटपर एक दिव्य वृक्ष था, जिसपर
किसी देवताका आवास था। इसीलिये वहाँ जो याचना की
जाती थी, वह सत्य (सफल) होती थी, अतः उसका नाम
सत्योपयाचन हो गया था। उस वन्दनीय वृक्षके निकट
पहुँचकर दूतोंने उसकी परिक्रमा की और वहाँसे आगे जाकर
उन्होंने कुलिङ्गा नामक पुरीमें प्रवेश किया ॥ १६ ॥

अभिकालं ततः प्राप्य तेजोऽभिभवनाच्च्युताः ।

पितृपैतामही पुण्यां तेरुरिक्षुपतीं नदीम् ॥ १७ ॥

वहाँसे तेजोऽभिभवन नामक गाँवको पार करते हुए वे
अभिकाल नामक गाँवमें पहुँचे और वहाँसे आगे बढ़नेपर
उन्होंने राजा दशरथके पिता-पितामहोद्धार सेवित
पुण्यसलिलश्च इक्षुमती नदीको पार किया ॥ १७ ॥

अवेक्ष्याञ्जलिपानांश्च ब्राह्मणान् वेदपारगान् ।

यद्युर्मध्येन बाह्वीकान् सुदामानं च पर्वतम् ॥ १८ ॥

वहाँ केवल अञ्जलिधर जल पीकर तपस्या करनेवाले
वेदोंके पारगामो ब्राह्मणोंका दर्शन करके वे दूत बाह्वीक
देशके मध्यभागमें स्थित सुदामा नामक पर्वतके पास
जा पहुँचे ॥ १८ ॥

विष्णोः पदं प्रेक्ष्यमाणः विपाशां चापि शाल्मलीम् ।

नदीर्वापीतटाकानि पल्लवानि सर्गसि च ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टवर्षितमः सर्गः ॥ ६८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें अष्टवर्षी सर्ग पूरा हुआ ॥ ६८ ॥

एकोनसप्ततितमः सर्गः

भरतकी चिन्ता, मित्रोंद्वारा उन्हें प्रसन्न करनेका प्रयास तथा उनके पूछनेपर भरतका
मित्रोंके समक्ष अपने देखे हुए भयंकर दुःस्वप्नका वर्णन करना

यामेव रात्रिं ते दृताः प्रविशन्ति स्म तां पुरीम् ।

भरतेनापि तां रात्रिं स्वप्नो दुष्टोऽयमप्रियः ॥ १ ॥

जिस रातमें दूतोंने उस नगरमें प्रवेश किया था, उससे
पहली रातमें भरतने भी एक अप्रिय स्वप्न देखा था ॥ १ ॥

स्थुष्टामेव तु तां रात्रिं दुष्टा तं स्वप्नमप्रियम् ।

पुत्रो राजाधिराजस्य सुपृशं पर्यतप्यत ॥ २ ॥

रात बीतकर प्रायः सन्ध्या हो चला था तभी उस अप्रिय
स्वप्नको देखकर राजाधिराज दशरथके पुत्र भरत मन हा-मन
बहुत संतप्त हुए ॥ २ ॥

तप्यमानं तमाज्ञाय खयस्याः प्रियवादिनः ।

आयासं विनयिष्यन्तः सभायां चक्रिरे कथाः ॥ ३ ॥

पश्यन्तो विविधांश्चापि सिंहान् व्याघ्रान् भृगान् द्विपान् ।

ययुः पथातिमहताः शासनं भर्तुरीप्सवः ॥ २० ॥

उस पर्वतके शिखरपर स्थित भगवान् विष्णुके चरण-
चिह्नका दर्शन करके वे विपाशा (व्यास) नदी और ठमके
तटवर्ती शाल्मली वृक्षके निकट गये। वहाँसे आगे बढ़नेपर
वह नदी नदियाँ बाधद्वारा पारगये छोटे मात्स्याओं, मरीचरों
तथा भौति-भौतिक वनजन्तुओं -मिह, व्याघ्र, भृग और
वृद्धियोंका दर्शन करते हुए वे दूत अत्यन्त विशाल मार्गके
द्वारा आगे बढ़ने लगे। वे अपने स्वामीकी आज्ञाका शीघ्र
पालन करनेकी इच्छा रखते थे ॥ १९-२० ॥

तैः शान्तवाहना दृता विकृष्टेन सता पथा ।

गिरिव्रजं पुरवरं शीघ्रमासेदुरक्षसा ॥ २१ ॥

उन दूतोंके वाहन (घोड़े) चलते-चलते थक गये थे।
वह मार्ग बड़ी दूरका होनेपर उपद्रवसे रहित था। उसे तै
करके सारे दूत शीघ्र ही बिना किसी कष्टके श्रेष्ठ नगर
गिरिव्रजमें जा पहुँचे ॥ २१ ॥

भर्तुः प्रियार्थं कुलरक्षणार्थं

भर्तुश्च वंशस्य परिग्रहार्थम् ।

अहेडमानास्त्वरया स्म दृता

रात्र्यां तु ते तत्पुरमेव याताः ॥ २२ ॥

अपने स्वामी (आज्ञा देनेवाले वसिष्ठजी) का प्रिय और
प्रजावर्गकी रक्षा करने तथा महाराज दशरथके वंशपरम्परागत
राज्यको भरतजीमें स्वीकार करानेके लिये सादर तत्पर हुए वे
दूत बड़ी उतावलेके साथ चलकर रातमें ही उस नगरमें
आ पहुँचे ॥ २२ ॥

उन्हें चिन्तित जान उनके अनेक प्रियवादी मित्रोंने उनका
मानसिक दुःख दूर करनेकी इच्छामें एक गोष्ठी की और उसमें
अनेक प्रकारकी बातें करने लगे ॥ ३ ॥

वादयन्ति तदा शान्तिं लासयन्त्यपि चापरे ।

नाटकान्यपरे स्माहुर्हास्यानि विविधानि च ॥ ४ ॥

कुछ लोग वीणा आदि बजाने लगे। दूसरे लोग उनके
सदको शान्तिके लिये नृत्य कराने लगे। दूसरे मित्रोंने नाना
प्रकारके नाटकोंका आयोजन किया, जिनमें हास्यरसकी
प्रधानता थी ॥ ४ ॥

स तैर्महात्मा भरतः सखिभिः प्रियवादिभिः ।

गोष्ठौहास्यानि कुर्वद्भिर्न प्राहृष्यत राघवः ॥ ५ ॥

किंतु रघुकुलभूषण महात्मा भरत उन प्रियवादां मित्रोंको गोष्ठोंमें हार्मखिनोद करनेपर भी प्रसन्न नहीं हुए। ५ ॥

तमम्रवीत् प्रियसखो भरतं सखिभिर्वृतम् ।

सुहृद्भिः पर्युपासीनः किं सखे नानुमोदसे ॥ ६ ॥

तब सुहृदोंमें घिरेकर बैठे हुए एक प्रिय मित्रने मित्रके बीचमें विराजमान भरतसे पूछा : सखे ! तुम आज प्रसन्न क्यों नहीं होते हो ? ॥ ६ ॥

एवं ब्रुवाणं सुहृदं भरतः प्रत्युवाच ह ।

शृणु त्वं यन्निमित्तं मे दैन्यमेतदुपागतम् ॥ ७ ॥

स्वप्ने पितरमग्राक्षं मलिनं मुक्तमूर्धजम् ।

पतन्तमग्निशिखरात् कलुषे गोमये हृदे ॥ ८ ॥

इस प्रकार पूछते हुए सुहृदको भरतने इस प्रकार उत्तर दिया—'मित्र ! जिस कारणसे मेरे मनमें यह दैन्य आया है वह बताता हूँ, सुनो। मैंने आज स्वप्नमें अपने पिताजीको देखा है। उनका मुख मलिन था, बाल खुले हुए थे और वे पर्वतकी चोटोंसे एक ऐसे गढ़े गढ़ेमें गिर पड़े थे, जिसमें गोबर भरा हुआ था ॥ ७-८ ॥

प्रथमानक्ष ये दुष्टः स तस्मिन् गोमये हृदे ।

पिबन्नञ्जलिना तैले हसन्निव मुहुर्मुहुः ॥ ९ ॥

'मैंने उस गोबरके कुण्डमें उन्हें सिरते देखा था। वे अञ्जलिमें तैल लेकर पी रहे थे और आनन्द के समान हँसने में प्रतीत होते थे ॥ ९ ॥

ततस्तिलोदनं भुक्त्वा पुनः पुनरधःशिराः ।

तैलेनाभ्यक्तसर्वाङ्गस्तैलमेवान्धगाहत ॥ १० ॥

'फिर उन्होंने तिल और घात खाया। इसके बाद उनके सारे शरीरमें तैल लगाया गया और फिर वे फिर नचे किये तैलमें ही गोते लगाने लगे ॥ १० ॥

स्वप्नेऽपि सागरं शुष्कं चन्द्रं च पतितं भुवि ।

उपरुद्धां च जगतीं तममेव समावृताम् ॥ ११ ॥

'स्वप्नमें ही मैंने यह भी देखा है कि समुद्र सूख गया, चन्द्रमा पृथ्वीपर गिर पड़े है। सारी पृथ्वी उपद्रवमें प्रस्त और अन्धकारसे आच्छादित सी हो गयी है ॥ ११ ॥

औपवाहस्य नागस्य विषाणं शकलीकृतम् ।

सहसा चापि संशान्ता ज्वलिता जातवेदसः ॥ १२ ॥

'महाराजको सवारोंके काममें आनेवाले हाथीका दान टूक-टूक हो गया है और पञ्चलसे प्रज्वलित होतो हुई आग सहसा बुझ गयी है ॥ १२ ॥

अवदीर्णा च पृथिवीं शुष्कांश्च विविधान् द्रुमान् ।

अहं पश्यामि विध्वस्तान् सधूमांश्चैव पर्वतान् ॥ १३ ॥

'मैंने यह भी देखा है कि पृथ्वी फट गयी है, नाना प्रकारके वृक्ष सूख गये हैं तथा पर्वत डूब गये हैं और उनमें धुआँ निकल रहा है ॥ १३ ॥

पोंठे कार्णायसे चैवं निषण्णं कृष्णवाससम् ।

प्रहरन्ति स्म राजानं प्रमदाः कृष्णपिङ्गलाः ॥ १४ ॥

'काले लोहोंको चौकीपर महाराज दशरथ बैठ हैं। उन्होंने काला ही काल पहन रखा है और काले एवं पिङ्गलवर्णकी स्त्रियाँ उनके ऊपर प्रहार करती हैं ॥ १४ ॥

त्वरमाणश्च धर्मात्मा रक्तमाल्यानुलेपनः ।

रथेन स्वरयुक्तेन प्रयात्ते दक्षिणामुखः ॥ १५ ॥

'धर्मात्मा राजा दशरथ लाल रंगके फूलोंकी माला पहने और लाल चन्दन लगाये गये जुते हुए रथपर बैठकर बड़ी तेजोंके साथ दक्षिण दिशाकी ओर गये हैं ॥ १५ ॥

प्रहसन्तीव राजानं प्रमदा रक्तवासिनी ।

प्रकर्षन्ती मया दृष्टा राक्षसी विकृतानना ॥ १६ ॥

'लाल काल धारण करनेवाली एक स्त्री, जो विकराल मुखवाली राक्षसी प्रतीत होती थी, महाराजको हँसती हुई-सौ खँचकर लिये जा रही थी। यह दृश्य भी मेरे देखनेमें आया ॥ १६ ॥

एवमेतन्मया दृष्टमिमां रात्रिं भयावहाम् ।

अहं रामोऽथवा राजा लक्ष्मणो वा मरिष्यति ॥ १७ ॥

'इस प्रकार इस भयंकर रात्रिके समय मैंने यह स्वप्न देखा है। इसका फल यह होगा कि मैं, श्रीराम, राजा दशरथ अथवा लक्ष्मण—इनमेंसे किसी एकको अवश्य मृत्यु होगी ॥ १७ ॥

नरो यानेन यः स्वप्ने स्वरयुक्तेन याति हि ।

अचिरात्तस्य धूम्राग्रं चितायां सम्प्रदृश्यते ॥ १८ ॥

एतन्निमित्तं दीनांऽहं न वचः प्रलिपूजये ।

शुष्यतीव च मे कण्ठो न स्वस्थमिव मे मनः ॥ १९ ॥

'जो मनुष्य स्वप्नमें मघे जुते हुए रथसे यात्रा करता दिखायी देता है, उसके चिताका धुआँ शीघ्र ही देखनेमें आता है। यही कारण है कि मैं दुःखी हो रहा हूँ और आपलोगोंके बातोंका आदर नहीं करता हूँ। मेरा गला सूखा सा जा रहा है और मन अस्वस्थ-सा हो चला है ॥ १८-१९ ॥

न पश्यामि भयस्थानं भयं चैवोपधारये ।

भ्रष्टश्च स्वरयोगो मे छाया चापगता मम ।

जुगुप्सु इव चात्मानं न च पश्यामि कारणम् ॥ २० ॥

'मैं भयंका कोई कारण नहीं देखना तो भी भयको प्राप्त हो रहा हूँ। मेरा स्वर खटल गया है तथा मेरी कान्ति भी फीकी पड़ गयी है। मैं अपने-अपने धृष्ण-सी करने लगा हूँ, परंतु इसका कारण क्या है, यह मेरा समझमें नहीं आता ॥ २० ॥

इमां च दुःखस्वप्नगतिं निशम्य हि

त्वेनैकरूपामवितर्कितां पुरा ।

भयं महत्तद्दृष्ट्वात्र घाति मे

विचिन्त्य राजानमचिन्त्यदर्शनम् ॥ २१ ॥

‘जिनके विषयमें मैंने पहले कभी सोचाना नहीं था ऐसे रूपमें क्या हुआ जिसकी मैं मरने का कोई कल्पना नहीं थी—यह अनेक प्रकारके दुःस्वप्नोंको देखकर तथा महागजका दर्शन इस बीचकर मेरे हृदयमें महान् भय दृढ़ नहीं हो रहा है’ ॥ २१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽथोऽध्याकाण्डे एकोनसप्ततितमः सर्गः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित अष्टादशस्कंधायां अदिकाव्यके अथोऽध्याकाण्डमें उनहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६९ ॥

सप्ततितमः सर्गः

दूतोंका भरतको उनके नाना और मामाके लिये उपहारकी वस्तुएँ अर्पित करना और वसिष्ठजीका संदेश सुनाना, भरतका पिता आदिकी कुशल पूछना और नानासे आज्ञा तथा उपहारकी वस्तुएँ पाकर शत्रुघ्नके साथ अयोध्याकी ओर प्रस्थान करना

भरते भुवति स्वप्ने दूतास्ते ज्ञान्तवाहनाः ।

प्रविष्ट्यासह्यपरिखं रम्यं राजगृहं पुरम् ॥ १ ॥

इस प्रकार भरत जब अपने मित्रोंके स्वप्नों कृतान्त बता रहे थे, उसी समय थके हुए वाहनवाले वे दूत उस रमणीय राजगृहपुरमें प्रविष्ट हुए, जिसकी खाइको लंबनका कष्ट शत्रुओंके लिये असह्य था ॥ १ ॥

समागम्य च राजा ते राजपुत्रेण चाचिन्ताः ।

राज्ञः भादौ गृहीत्वा च तमूचुर्मते क्वचः ॥ २ ॥

नगरमें आकर वे दूत केकयदंशके राजा और राजकुमारसे मिले तथा उन दोनोंने भी उनका सन्कार किया । फिर वे भावी राजा भरतके चरणोंका स्पर्श करके उनसे इन प्रकार बोले— ॥ २ ॥

पुरोहितस्त्वां कुशलं प्राह सर्वे च मन्त्रिणः ।

त्वरमाणश्च निर्याहि कृत्यमात्ययिकं स्वया ॥ ३ ॥

‘कुमार ! पुरोहितजी तथा समस्त मन्त्रियोंने आपसे कुशल-मङ्गल कहा है । अब आप यहाँसे शीघ्र चलिये । अयोध्यामें आपसे अत्यन्त आवश्यक कार्य है ॥ ३ ॥

इमानि च महार्हाणि वस्त्राण्याभरणानि च ।

प्रतिगृह्य विशालाक्ष मातुलस्य च दापय ॥ ४ ॥

‘विशाल नेत्रोंवाले राजकुमार ! ये बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण आप स्वयं भी ग्रहण कीजिये और अपने मामाको भी दीजिये ॥ ४ ॥

अथ विंशतिकोट्यस्तु नृपतेमातुलस्य ते ।

दशकोट्यस्तु सम्पूर्णास्तथैव च नृपात्मज ॥ ५ ॥

‘राजकुमार ! यहाँ जो बत्तुमूल्य सामग्री लक्ष्मी गयी है, इसमें बीस करोड़की लागतका मगधान आभूषण नाना केकयनरेशके लिये है और पूरे दस करोड़की लागतका सामान आपके मामाके लिये है’ ॥ ५ ॥

प्रतिगृह्य तु तत् सर्वं स्वनुरक्तः सुहृजने ।

दूतानुवाच भरतः कार्यैः सम्प्रतिपूज्य तान् ॥ ६ ॥

वे सारी वस्तुएँ लेकर मामा आदि सुहृदोंमें अनुगत रखनेवाले भरतने उन्हें धेंट कर दीं । तत्पश्चात् इच्छानुसार वस्तुएँ देकर दूतोंका सत्कार करनेके अनन्तर उनसे इस

प्रकार कहा— ॥ ६ ॥

कश्चित् स कुशली राजा पिता दशरथो मम ।

कश्चिदारोग्यता रामे लक्ष्मणे च महात्मनि ॥ ७ ॥

‘मेरे पिता महाराज दशरथ सकुशल तो हैं न ? महात्मा श्रीराम और लक्ष्मण नरोग तो हैं न ? ॥ ७ ॥

आर्या च धर्मनिरता धर्मज्ञा धर्मवादिनी ।

अरोगा चापि कौसल्या माता रामस्य धीमतः ॥ ८ ॥

‘धर्मको जानने और धर्मको ही चर्चा करनेवाली बुद्धिमान् श्रीरामकी माता धर्मपरायणा आर्या कौसल्याकी तो कोई रोग या कष्ट नहीं है ? ॥ ८ ॥

कश्चित् सुमित्रा धर्मज्ञा जननी लक्ष्मणस्य या ।

शत्रुघ्नस्य च वीरस्य अरोगा चापि मध्यमा ॥ ९ ॥

‘क्या वीर लक्ष्मण और शत्रुघ्नकी जननी मेरी मझली माता धर्मज्ञा सुमित्रा स्वस्थ और सुखी हैं ? ॥ ९ ॥

आत्मकामा सदा चण्डी क्रोधना प्राज्ञमात्रिणी ।

अरोगा चापि मे माता कैकेयी किमुवाच ह ॥ १० ॥

‘जो सदा अपना ही स्वार्थ सिद्ध करना चाहती और अपनेको बड़ी बुद्धिमती समझती है, उस उग्र स्वभाववाली कोपशाला मेरी माता कैकेयीका तो कोई कष्ट नहीं है ? उसने क्या कहा है ?’ ॥ १० ॥

एकमुक्तास्तु ते दूता भरतेन महात्मना ।

ऊचुः सम्प्रभितं वाक्यमिदं ते भरते तदा ॥ ११ ॥

महात्मा भरतके इस प्रकार पूछनेपर उस समय दूतोंने विनयपूर्वक उनसे यह बात कही— ॥ ११ ॥

कुशलास्ते नरख्याद्य येषां कुशलमिच्छसि ।

श्रीश्च त्वां वृणुते पथा युज्यतां चापि ते रथः ॥ १२ ॥

‘पुरुषार्थमह ! आपको जिनका कुशल-मङ्गल अभिप्रेत है, वे सकुशल हैं । हाथमें कमल लिये रहनेवाली लक्ष्मी (शोभा) आपको खण्ण कर रही है । अब यात्राके लिये शीघ्र ही आपको रथ जुतकर तैयार हो जाना चाहिये’ ॥ १२ ॥

भरतश्चापि तान् दूतानेवमुक्तेऽथ्यथावत् ।

आपृच्छेऽह महाराजं दूताः संत्वरयन्ति माम् ॥ १३ ॥

उन दूतोंके ऐसा कहनेपर भरतने उनसे कहा—‘अच्छा

मैं महाराजसे पूछता हूँ कि दूत मुझसे इन्हीं अयोध्या चलनेके लिये कह रहे हैं। आपकी क्या आज्ञा है ? ॥ १३ ॥

एवमुक्त्वा तु तान् दूतान् भरतः पार्थिवस्वजः ।

दूतं संचोदितो वाक्यं धामामहमुवाच ॥ १४ ॥

दूतासे ऐसा कहकर राजकुमार भरत उनसे प्रेरित हो नाभाके पास जाकर बोले— ॥ १४ ॥

राजन् पितुर्गमिष्यामि सकाशं दूतचोदितः ।

पुनरप्यहमेष्यामि यदा मे त्वं स्मरिष्यसि ॥ १५ ॥

राजन् ! मैं दूतोंके कहनेसे इस समय पिताजीके पास जा रहा हूँ। पुनः जब आप मुझे याद करेंगे, वहाँ आ जाऊँगा ॥

भरतमेवमुक्तस्तु नृपो मातामहस्तदा ।

तमुवाच शुभं वाक्यं शिरस्याघ्राय राष्ट्रवम् ॥ १६ ॥

भरतके ऐसा कहनेपर नाना कैकयनरेशने उस समय उन रघुकुलभूषण भरतका मस्तक सँधकर यह शुभ वचन कहा— ॥ १६ ॥

गच्छ तातानुजाने त्वां कैकेयी सुप्रजास्वया ।

मातरं कुशलं ब्रूयाः पितरं च परंतप ॥ १७ ॥

'मात ! जाओ, मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ। तुम्हें फकर कैकेयी उत्तम संतानवाली हो गयी। शत्रुओंको संतप देनेवाले वीर। तुम अपनी माता और पितासे यहाँका कुशल-समाचार कहना ॥ १७ ॥

पुरोहितं च कुशलं ये चान्ये द्विजसत्तमाः ।

तौ च तात महेष्वासौ भ्रातरौ राधलक्ष्मणौ ॥ १८ ॥

मात ! अपने पुरोहितजोंमें तथा अन्य जो श्रेष्ठ ब्राह्मण हों, उनसे भी मेरा कुशल-सद्बल कहना। उन महाधनुर्धर दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणसे भी यहाँका कुशल समाचार सुना देना ॥ १८ ॥

तस्मै हस्त्युत्तमांश्चिप्रां कम्बलानजिनानि च ।

सत्कृत्य कैकयो राजा भरताय ददौ धनम् ॥ १९ ॥

ऐसा कहकर कैकयनरेशने भरतका सन्कार करके उन्हें बहुत-से उत्तम हाथी, विविध कालोन, मृगचर्म और बहुत-सा धन दिये ॥ १९ ॥

अन्तःपुरेऽलिसंबुद्धान् व्याघ्रवीर्यबलोपमान् ।

दंष्ट्रायुक्तान् महाकायाञ्छूनश्चोपायनं ददौ ॥ २० ॥

जो अन्तःपुरमें पाल-पोसकर बड़े किये गये थे, बल और पराक्रमका बायोक्त समान थे जिनकी दाढ़ें बड़ी बड़ी और काया विशाल थी, ऐसे बहुत-से कुत्ते भी कैकयनरेशने भरतको भेंटमें दिये ॥ २० ॥

रत्नमनिष्कसहस्रे द्वे षोडशाश्वशतानि च ।

सत्कृत्य कैकेयीपुत्रं कैकयो धनमादिशत् ॥ २१ ॥

दो हजार सोनेकी मोहरें और सोलह सौ घोड़े भी दिये। इस प्रकार कैकयनरेशने कैकेयीकुमार भरतको सत्कारपूर्वक बहुत-सा धन दिया ॥ २१ ॥

नदायात्यानभिप्रेतान् विश्वास्यांश्च गुणान्वितान् ।

ददावधुपतिः शीघ्रं भरतायानुयायिनः ॥ २२ ॥

उस समय कैकयनरेश अधुपतिने अपने अधीष्ट, विश्वामित्र और गुणवान् मन्त्रियोंको भरतक साथ जानेके लिये शीघ्र आज्ञा दी ॥ २२ ॥

ऐरावतार्नवशिरान् नगान् चै प्रियदर्शनान् ।

खराज्जघिघ्रान् सुसंयुक्तान् पातुल्लोऽस्मै धनं ददौ ॥ २३ ॥

भरतक मामने उन्हें उपहारमें दिये जानेवाले फलके रूपमें इरावान् पर्वत और इन्द्रिश नामक स्थानके आस-पास उत्पन्न होनेवाले बहुत-से सुन्दर-सुन्दर हाथी तथा तेज चलनेवाले सुशिक्षित खर दिये ॥ २३ ॥

स ततं कैकयेन्द्रेण धनं तन्नाभ्यनन्दत् ।

भरतः कैकेयीपुत्रो गमनत्वरया तदा ॥ २४ ॥

उस समय जानकी जल्दी होनेके कारण कैकेयीपुत्र भरतने कैकयनरेशके दिये हुए उस धनका अभिनन्दन नहीं किया ॥ २४ ॥

बभूव हृत्स्थं हृदये चिन्ता सुमहती तदा ।

त्वरया चापि दूतानां स्वप्नस्यापि च दर्शनात् ॥ २५ ॥

उस अवसरपर उनके हृदयमें बड़ी भारी चिन्ता हो रही थी। इसके दो कारण थे, एक तो दूत वहाँसे चलनेकी जल्दी मचा रहे थे, दूसरे उन्हें दुःस्वप्नका दर्शन भी हुआ था ॥ २५ ॥

स स्ववेश्माध्यतिक्रम्य नरनागाश्वसंकुलम् ।

प्रपेदे सुमहच्छ्रीमान् राजमार्गमनुत्तमम् ॥ २६ ॥

वे यात्राको तैयारके लिये पहले अपने आवासस्थानपर गये फिर वहाँमें निकलकर मनुष्यों, हाथियों और घोड़ोंसे भरे हुए परम उत्तम राजमार्गपर गये। उस समय भरतजीके पास बहुत बड़ी सम्पत्ति जुट गयी थी ॥ २६ ॥

अभ्यतीत्य ततोऽप्यश्चदन्तःपुरमनुत्तमम् ।

ततस्तद् भरतः श्रीमानाखिवेशानिधारितः ॥ २७ ॥

सड़कको पार करके श्रीमान् भरतने राजभवनके परम उत्तम अन्तःपुरका दर्शन किया और उसमें वे बेंगक-टोक धुस गये ॥ २७ ॥

स मातामहमापृच्छथ मातुलं च युधाजितम् ।

रथपारुष्ठा भरतः शत्रुघ्नसहितो ययौ ॥ २८ ॥

वहाँ नाना, नानो, मामा युधाजित् और मापीसे विदा ले शत्रुघ्नसहित रथपर सवार हो भरतने यात्रा आरम्भ की ॥ २८ ॥

रथान् मण्डलचक्राञ्च योजयित्वा परः शतम् ।

उष्ट्रगोऽश्वखरैर्भूत्वा भरतं धान्तमन्वयुः ॥ २९ ॥

गोत्रकार पहिनेवाले सोसे भी अधिक रथोंमें ऊँट, बैल, घोड़े और खर औतकर सेवकोंने जाते हुए भरतका अनुसरण किया ॥ २९ ॥

बलेन गुप्तो भरतो महात्मा
सहायकस्यात्पसर्पमात्यं ।

आदाय शत्रुप्रभपेतशत्रु-

गृहाद् ययौ सिद्ध इवेन्द्रलोकात् ॥ ३० ॥

इन्द्रलोक महायन्त्र भरत अपनी और मामाका सेनासे सुरक्षित
हो शत्रुओंको अपने साथ रथपर लेकर नानाक अपने हो समान
माननाय मन्त्रियोंके साथ मामाके घरमें चले, मानो कोई सिद्ध पुरुष
इन्द्रलोकसे किसी अन्य स्थानके लिये प्रस्थित हुआ हो ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽथोऽध्याकाण्डे सप्ततितमः सर्गः ॥ ७० ॥

इस प्रकार श्रीमहालक्ष्मीविनिर्गमित आर्षसामायण आदिकाव्यके अथोऽध्याकाण्डमें सप्ततितमः सर्ग पूरा हुआ ॥ ७० ॥

एकसप्ततितमः सर्गः

रथ और सेनासहित भरतकी यात्रा, विभिन्न स्थानोंको पार करके उनका उज्जिहाना नगरीके
उद्यानमें पहुँचना और सेनाको धीरे-धीरे आनेकी आज्ञा दे स्वयं रथद्वारा तीव्रवेगसे
आगे बढ़ते हुए सालवनको पार करके अयोध्याके निकट जाना, वहाँसे
अयोध्याकी दुःखस्था देखते हुए आगे बढ़ना और सारथिसे अपना
दुःखपूर्ण उद्गार प्रकट करते हुए राजभवनमें प्रवेश करना

स ग्राहमुखो राजगृहादभिनिर्वाय वीर्यवान् ।

ततः सुदामां द्युतिमान् संतीर्यविक्ष्य तां नदीम् ॥ १ ॥

हादिनीं दूरपारी च प्रत्यक्स्नोतस्तरङ्गिणीम् ।

शतधुमतरङ्गशीमान् नदीमिक्ष्वाकुनन्दनः ॥ २ ॥

राजगृहसे निकलकर पराक्रमी भरत पूर्वदिशकी ओर
चले * उन तेजस्वी राजकुमारने मार्गमें सुदामा नदीका दर्शन
करके उसे पार किया । तत्पश्चात् इक्ष्वाकुनन्दन श्रीमान्
भरतने, जिसका पाट दूरतक फैला हुआ था, उस हादिनी
नदीको लक्ष्मिकर पश्चिमाभिमुख बहनेवाली शतधु नदी
(सतलज) को पार किया ॥ १-२ ॥

ऐलधाने नदीं तीर्त्वा प्राप्य चापरपर्वतान् ।

शिलामाकुर्वन्ती तीर्त्वा आग्नेयं शल्यकर्षणम् ॥ ३ ॥

वहाँसे ऐलधान नामक गाँवमें जाकर वहाँ बहनेवाली
नदीको पार किया । तत्पश्चात् वे अपरपर्वत नामक जनपदमें
गये । वहाँ शिला नामकी नदी बहती थी, जो अपने भीतर
पड़ी हुई वस्तुको शिलामरूप बना देती थी । उसे पार करके
भरत वहाँमें आग्नेय कोणमें स्थित शल्यकर्षण नामक देशमें
गये, जहाँ शरीरसे कटिकी निष्कालनमें सहायता करनेवाली
ओषधि उपलब्ध होती थी ॥ ३ ॥

सत्यसंधः शुचिर्भूत्वा प्रेक्षमाणः शिलावहाम् ।

अभ्यगात् स महाशैलान् वनं चैत्ररथं प्रति ॥ ४ ॥

तदनन्तर सत्यप्रतिज्ञ भरतने पवित्र होकर शिलावहा
नामक नदीका दर्शन किया (जो अपनी प्रत्न धारामें
शिलाखण्डों—बड़ी-बड़ी चट्टानोंको भी बहा ले जानेके

कारण उक्त नामसे प्रसिद्ध थी) । उस नदीका दर्शन करके वे
आगे बढ़ गये और बड़े बड़े पर्वतोंको लक्षित हुए चैत्ररथ
नामक वनमें जा पहुँचे ॥ ४ ॥

सरस्वतीं च गङ्गां च युग्मेन प्रतिपद्य च ।

उत्तरान् वीरभत्स्यानां भारुण्डं प्राविशद् वनम् ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् पश्चिमवाहिनी सरस्वती तथा गङ्गाको
घाट-विशेषके सङ्गमसे होते हुए उन्होंने वीरभत्स्य देशके
उत्तरवर्ती देशमें पदार्पण किया और वहाँसे आगे बढ़कर वे
भारुण्डवनके भीतर गये ॥ ५ ॥

वेगिनीं च कुलिङ्गाख्यां हादिनीं पर्वतावृताम् ।

यमुनां प्राप्य संतीर्णो बलमाश्रासयत् तदा ॥ ६ ॥

फिर अत्यन्त वेगसे बहनेवाली तथा पर्वतोंसे घिरी होनेके
कारण अपने प्रस्तर प्रवाहके द्वारा कलकल भाव करनेवाली
कुलिङ्गा नदीको पार करके यमुनाके तटपर पहुँचकर उन्होंने
सेनाको विश्राम कराया ॥ ६ ॥

शीनीकृत्य तु गात्राणि कान्तानाश्वास्य वाजिनः ।

तत्र स्नात्वा च पीत्वा च प्रायादादाय चोदकम् ॥ ७ ॥

राजपुत्रो महारण्यवनभीक्ष्णोपसेवितम् ।

भग्नो भट्टेण धानेन पारुतः स्वमिवात्यगात् ॥ ८ ॥

थक हुए घोड़ोंको नहलाकर उनके अङ्गोंको शीतलता
प्रदान करके उन्हें छायामें छाया आदि देकर आराम करनेका
अवसर दे राजकुमार भरत स्वयं भी स्नान और आलपान
करके गर्मियोंके लिये जल साथ ले आगे बढ़े । महलाचारसे
युक्त हो महारण्यक रथके द्वारा उन्होंने, जिसमें मनुष्योंका

* अयोध्यामें जो पाँच दूत चले थे, वे भी वहीं रहने राजगृहमें आये थे, अब उनके मार्गमें जो जा स्थान पड़े थे, वे भरतके मार्गमें नहीं पड़े थे । भरतके साथ रथ और सत्तुरङ्गिणी सेना थी, अब इनके निवाहके अनुकूल मार्गसे चलकर वे अयोध्या पहुँचे थे । इसलिये इनके मार्गमें मन्त्रधा नय भ्रमों और मन्त्रानुक्त उत्तेरित मिलन है

बहुधा आना-जाना या रहना नहीं होता था, उस विशाल
वनको उसी प्रकार खगपुत्रक पार किया। जेने काय आकाशका
लक्षि जातो है ॥ ७-८ ॥

भागीरथी दुष्प्रतरां सोऽशुधाने महानदीम् ।
उपायाद् राघवस्तूर्णं प्राग्वटे विश्रुते पुरे ॥ ९ ॥

नत्पश्चात् अशुषान नामक ग्रामके पास महानदी काशेरको
गङ्गाको दुस्तर जानकर रघुनन्दन भरत पुत्र ही प्राग्वट नामक
विख्यात नगरमें आ गये ॥ ९ ॥

स गङ्गा प्राग्वटे नीत्वां समायान् कुटिकांष्टिकाम् ।
सञ्चलस्तां स तीर्त्वाथ समगात् धर्मवर्धनम् ॥ १० ॥

प्राग्वट नगरमें गङ्गाको पार करके वे कुटिकांष्टिक
नामवाली नदीके तटपर आये और मेनामहिष उमकी भी पार
करके धर्मवर्धन नामक ग्राममें आ पहुँचे ॥ १० ॥

तोरणं दक्षिणार्धेन जम्बूप्रस्थं समागमन् ।
वरूधं च ययौ रथ्यं ग्रामं दशरथात्मजः ॥ ११ ॥

वहाँसे तोरण ग्रामके दक्षिणार्ध भागमें होते हुए
जम्बूप्रस्थमें गये । तदनन्तर दशरथकुमार भरत एक रमणीय
ग्राममें गये, जो वरूधक नामसे विख्यात था ॥ ११ ॥

तत्र रथ्ये जने वासं कृत्वासी प्राङ्मुखो ययौ ।
उद्यानभुजिहानायाः प्रियका यत्र पादपाः ॥ १२ ॥

वहाँ एक रमणीय जनेमें निवास करके वे प्रातःकाल पूर्व
दिशाकी ओर गये । जाते-जाते उज्जिहानी नगरीके उद्यानमें
पहुँच गये, जहाँ कदम्ब नामवाले वृक्षोंका बहुतायत था ।

स तास्तु प्रियकान् प्राप्य शीघ्रानास्थाय वाजिनः ।
अनुज्ञाप्याथ भरतो वाहिनीं त्वरितो ययौ ॥ १३ ॥

उस कदम्बोंके उद्यानमें पहुँचकर अपने रथमें शीघ्रगामी
घोड़ोंको जोतकर सेनाको धीरे-धीरे आनेकी आज्ञा दे भरत
सौभाग्यसे चले दिये ॥ १३ ॥

वासं कृत्वा सर्वतीर्थं तीर्त्वा चोन्नानिकां नदीम् ।
अन्या नदीश्च विविधैः पार्वतीर्यभ्युद्भूयः ॥ १४ ॥

हस्तिपृष्ठकमासाद्य कुटिकामप्यवतत ।
भतार च नरव्याघ्रो लोहित्ये च कर्पावनीम् ॥ १५ ॥

नत्पश्चात् सबतीर्थ नामक ग्राममें एक गल गकर
उत्तानिका नदी तथा अन्य नदियोंको भी नाना प्रकारक
पक्षियों काड़ाया गत है । रथमें पार करके नरभद्र धरत
हस्तिपृष्ठक नामक ग्राममें आ पहुँचे । वहाँसे आगे जानेपर
उन्होंने कुटिका नदी पार की । फिर लोहित्य नामक ग्राममें
पहुँचकर कर्पावती नामक नदीके पार किया ॥ १४-१५ ॥

एकसाले स्थाणुमतीं विनते गोमतीं नदीम् ।
कलिङ्गनगरे चापि प्राप्य सालवने तटा ॥ १६ ॥

फिर एकसाल नगरके पास स्थाणुमती और विनत ग्रामक
निकट गोमती नदीके पार करके वे तुंग ही कलिङ्गनगरके
पास सालवनमें आ पहुँचे ॥ १६ ॥

भरतः क्षिप्रमागच्छन् सुपरिश्रान्तवाहनः ।
वनं च समतीत्याशु शर्वर्यामरुणोदये ॥ १७ ॥

अयोध्यां मनुज राजा निर्मितां स ददर्श ह ।
तो पुरीं पुरुषव्याघ्रः सप्रशोषितः पथि ॥ १८ ॥

वहाँ जाने-जाते भरतके थड़े थक गये । तब उन्हें विश्राम
देकर वे रातों-रात उीघ ही साम्बनको लक्षि गये और
अरुणोदयकाकर्म राजा मनुकी बसायी हुई अयोध्यापुरीका
उन्तान दर्शन किया । पुरुषोत्तम धर्म भागमें मान राते व्यतीत
करके आठवें दिन अयोध्यापुरीका दर्शन कर सके थे ॥

अयोध्यामगतो दृष्ट्वा सारथिं घेदमब्रवीत् ।
एषा नातिप्रतीता मे पुण्योद्याना यशस्विनी ॥ १९ ॥

अयोध्या दृश्यते दूरात् सारथे पाण्डुपुनिका ।
यज्विभिर्गुणसम्पन्नैर्ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ॥ २० ॥

धृतिष्ठमूर्द्धगकीर्णा राजर्विवरपालिता ।
समने अयोध्यापुरीके देखकर वे अपने सारथिसे इस
प्रकार बोले—‘सूत । पवित्र उद्यानोंसे सुशोभित यह
यशस्विनी नगरी आज मुझे अधिक प्रसन्न नहीं दिखायी देती
है । यह घड़ी नगरी है, जहाँ निरन्तर यज्ञ-याग करनेवाले
गुणवान् और वेदके पारङ्गम विद्वान् ब्राह्मण निवास करत हैं,
वहाँ बहुत-से धान्योंकी भी बस्ती है तथा गुजर्णियोंमें श्रेष्ठ
महारथ दशरथ जिसका पालन करते हैं, वही अयोध्या इस
समय दूरसे सफेद घिड़के दृष्टकी भाँति दीख रही है ।

अयोध्यायां पुरा शब्दः श्रूयते तुमुलो महान् ।
सम्भन्तान्नरनारीणां तमद्य न शृणोम्यहम् ॥ २२ ॥

‘पहले अयोध्यामें चारों ओर नर-नारियोंका महान्
तुमुलनाद सुनयी पड़ता था; परंतु आज मैं उसे नहीं
सुन रहा हूँ ॥ २१ ॥

उद्यानानि हि सायाहे क्रीडित्वोपरतैर्नरैः ॥ २२ ॥
सपन्ताद् विप्रधावद्भिः प्रकाशन्ते समान्यथा ।

तान्यद्यानुमदन्तीव परित्यक्तानि कामिभिः ॥ २३ ॥
सायकालक समय लोग उद्यानोंमें प्रवेश करके वहाँ
क्रीड़ा करने और उस क्रीडामें निवृत्त होकर भव औरमें अपने
घरोंकी ओर दोड़त थे । अब उस समय इन उद्यानोंकी अपूर्व
शोभा होगी थी, परंतु आज ये मुझे कुछ और ही प्रकारके
दिखायी देत हैं । वे ही उद्यान आज कामीजनोंसे परित्यक्त
होकर रेतें हुए-से प्रतात होते हैं ॥ २२-२३ ॥

अरण्यभूनेव पुरी सारथे प्रतिभाति माम् ।
नह्यत्र धानंदृश्यन्ते न गजैर्न च वाजिभिः ।

निधानो वापियान्तो वा नरयुष्या यथा पुरा ॥ २४ ॥
सारथे । यह पुरी मुझे जंगल-सी जान पड़ती है
अब वहाँ पहलुकी भाँति घोड़ों, हाथियों तथा दूसरी-
दूसरी सवारियोंसे आने-जाने हुए श्रेष्ठ मनुष्य नहीं दिखायी
दे रहे हैं ॥ २४ ॥

उद्यानानि पुरा भान्ति मत्प्रमुदितानि च ।

जनानां रतिसंयोगेष्ट्यन्तगुणयन्ति च ॥ २५ ॥

तान्येतान्यद्य पश्यामि निरानन्दानि सर्वशः ।

स्वस्तपणैरनुपथं विक्रोशद्विरिव ह्रुमैः ॥ २६ ॥

‘जो उद्यान पहले मत्प्रमत्त एवं आनन्दमग्न भ्रमरों, कोकिलों और नर-नारियोंसे घरे प्रतीत होते थे तथा लोगोंके प्रेम-मिलनके लिये अत्यन्त गुणकारी (अनकूल सुविधाओंसे सम्पन्न) थे, उन्हांको आज मैं सर्वथा आनन्दशून्य देख रहा हूँ। वहाँ मार्गपर वृक्षोंके जो फले गिर रहे हैं, उनके द्वारा मानो वे वृक्ष कठुण क्रन्दन कर रहे हैं (और उनमें उपलब्ध हो सकने कारण वे उद्यान आनन्दहीन प्रतीत होते हैं) ॥ २५-२६ ॥

नाद्यापि श्रूयते शब्दो भक्तानां मृगपक्षिणाम् ।

सरक्तां मधुरां वाणीं कलं व्याहृतां बहु ॥ २७ ॥

‘सुगन्धित मधुर कलरव करनेवाले मतवाले मृगों और पक्षियोंका सुमूल शब्द अर्थात्क सुनायी नहीं पड़ रहा है

चन्दनागुरुसम्पृक्तो धूपसम्पृर्चितोऽमलः ।

प्रवाति पवनः श्रीमान् किं नु नाद्य यथा पुरा ॥ २८ ॥

‘चन्दन और अगुरुकी सुगन्धसे मिश्रित तथा धूपकी मनोहर गन्धसे व्याप्त निर्मल मनोरम समीर आज पकलेकी भाँति क्यों नहीं प्रवाहित हो रहा है ? ॥ २८ ॥

धेरीमुदङ्गवीणानां कोणसंघटितः पुनः ।

किमद्य शब्दो विरतः सदादीनगतिः पुरा ॥ २९ ॥

‘वादनदण्डद्वारा बजायी जानवाली धेरी मुदङ्ग और वीणाका जो आघातजनित शब्द होता है, वह पहले अयोध्यामें सदा होता रहता था, कभी उसकी गति अवरुद्ध नहीं होती थी; परंतु आज वह शब्द न जाने क्यों बंद हो गया है ? ॥ २९ ॥

अनिष्टानि च पापानि पश्यामि विविधानि च ।

निमित्तान्यपनोज्ञानि तेन सीदति मे मनः ॥ ३० ॥

‘मुझे अनेक प्रकारके अनिष्टकारी, कुर और अशुभ-सूचक अपशकुन दिखायी दे रहे हैं जिससे मेरा मन खिन्न हो रहा है ॥ ३० ॥

सर्वथा कुशलं सूत दुर्लभं मम बन्धुषु ।

तथा ह्यसति सम्प्लोहे हृदयं सीदतीव मे ॥ ३१ ॥

‘सारथे ! इससे प्रतीत होता है कि इस समय मेरे बान्धवोंकी कुशल-मङ्गल सर्वथा दुर्लभ है, तथा तो मेरे हृदय कोई कारण न होनेपर भी मेरा हृदय चैत्र जा रहा है ॥ ३१ ॥

विषण्णाः श्रान्तहृदयस्वस्तः संलुलितेन्द्रियः ।

भरतः प्रविवेशाशु पुरीमिक्ष्वाकुपालिनाम् ॥ ३२ ॥

भरत मन-हो-मन बहुत खिन्न थे। उनका हृदय शिथिल हो रहा था। वे डरे हुए थे और उनको सारी इन्द्रियाँ क्षुब्ध हो उठी थीं इसी अवस्थामें उन्होंने शीघ्रतापूर्वक उक्ताकुवंशसे राजाओंद्वारा पालित अयोध्यापुरीमें प्रवेश किया ॥ ३२ ॥

द्वारेण वैजयन्तेन प्राविशच्छ्रान्तवाहनः ।

ह्यःस्थैरुत्थाय विजयमुक्तस्तैः सहितो ययौ ॥ ३३ ॥

पुरीके द्वारपर सदा वैजयन्ती पताका फहरानेके कारण उस द्वारका नाम वैजयन्त रखा गया था। (यह पुरीके पश्चिम भागमें था।) उस वैजयन्तद्वारसे भरत पुरीके भीतर प्रविष्ट हुए। उस समय उनके रथके घोड़े बहुत थके हुए थे। द्वारपालोंने डटकर कहा—‘महाराजकी जय हो !’ फिर वे उनके साथ आगे बढ़े ॥ ३३ ॥

स त्वनेकाग्रहृदयो ह्यःस्थं प्रत्यर्च्य तं जनम् ।

सूतमश्वपतेः श्रान्तमब्रवीत् तत्र राघवः ॥ ३४ ॥

भरतका हृदय एकाग्र नहीं था—वे ध्वराये हुए थे। अतः उन मधुकुलजन्म भरतने माग आये हुए द्वारपालोंको सत्कारपूर्वक लौटा दिया और कंकशराज अश्वपतिके धन-महि माराधितसे वहाँ इस प्रकार कहा— ॥ ३४ ॥

किमहं त्वरयाऽऽनीतः कारणेन विनानघ ।

अशुभाशङ्कि हृदयं शीलं च पततीव मे ॥ ३५ ॥

‘निष्पाप सूत मैं बिना कारण ही इतनी उतावलीके साथ क्या बुलाया गया ? इस बातका विचार करके मेरे हृदयमें अशुभकी आशङ्का होती है। मेरा दीनभारहित स्वभाव भी अपनी स्थितिसे भ्रष्ट-सा हो रहा है ॥ ३५ ॥

मुनी नु यादृशाः पूर्वं नृपतीनां विनाशने ।

आकारांस्तानहं सर्वाग्रिह पश्यामि सारथे ॥ ३६ ॥

‘सारथे ! अबसे पहले मैंने राजाओंके विनाशके जेमे-जेमे लक्षणा मृग मंत्रे हैं उन सभी लक्षणोंकी आज मैं यहाँ देख रहा हूँ ॥ ३६ ॥

सम्पार्जनविहीनानि परुषाण्युपलक्षये ।

असंयतकवाटानि श्रीविहीनानि सर्वशः ॥ ३७ ॥

वलिकर्षविहीनानि धूपमध्मोदनेन च ।

अनाशितकुटुम्बानि प्रभाहीनजनानि च ॥ ३८ ॥

अलक्ष्मीकानि पश्यामि कुटुम्बिभवनान्यहम् ।

मैं देखता हूँ गृहस्थोंके घरोंमें झाड़ू नहीं लगी है। वे रुखें और श्राद्धोंके दिवागी दंत हैं इनकी किताई खुली है इन घरोंमें वलिकर्षदेवकर्म नहीं हो रहे हैं ये धूपकी सुगन्धसे अज्ञान हैं इनमें गृहस्थोंके कुटुम्बोंकी भोजन नहीं प्राप्त हुआ है तथा ये मेरे गृह प्रभाहीन (उदास) दिखायी देते हैं। जान पड़ता है इनमें लक्ष्मीका निवास नहीं है ॥ ३७-३८ ॥

अपेतपाल्यशोभानि असम्पृष्टाजिराणि च ॥ ३९ ॥

देवागाराणि शून्यानि न भान्तीह यथा पुरा ।

देवमन्दिर फूलोंसे सजे हुए नहीं दिखायी देते। इनके आँगन झाड़ू बूढ़ा नहीं गये हैं ये मनुष्योंसे सुने हो रहे हैं, अनन्त इनको पहले-जैसी शोभा नहीं हो रही है ॥ ३९ ॥

देवतार्चाः प्रविद्धाश्च यज्ञगोष्ठास्तथैव च ॥ ४० ॥

मास्त्यापणेषु राजन्ते नाद्य पणयानि वा तथा ।

दृश्यन्ते वणिजोऽप्यद्य न यथापूर्वमत्र वै ॥ ४१ ॥
ध्यानसंविप्रहृदया महोव्यापारयन्त्रिताः ।

‘देवप्रतिमाओंको पूजा बंद हो गयी है। यज्ञशालाओंमें यज्ञ नहीं हो रहे हैं। कृष्ण और बाळाओंके बाजारमें आज विक्रेयकी कोई वस्तु नहीं उपलब्ध हो रही है। यहाँ पहलव-ममान खनिये भी आज नहीं दिखायो देते हैं। विश्वामे उनका हृदय उद्विग्न जान पड़ता है और अपना व्यवहार नष्ट हो जानेके कारण वे संकुचित हो रहे हैं ॥ ४०-४१ ॥

देवायतनचैत्येषु दीनाः पक्षिपृगास्तथा ॥ ४२ ॥
मलिनं चाश्रुपूर्णाक्षं दीनं ध्यानपरे कृशम् ।

सत्सीपुंसं च पश्यामि जनमुत्कण्ठितं पुरे ॥ ४३ ॥

‘देवालयों तथा चैत्य (देव) भूशंकर जिनका निवास है, वे पशु-पक्षी दीन दिखायी दे रहे हैं। मैं देखता हूँ नगरके सभी स्त्री-पुरुषोंका मुख मलिन है, इनकी आँखोंमें आंसू भरे हैं और वे सब-के-सब दीन, चिन्तित, दुर्बल तथा उत्कण्ठित हैं ॥ ४२-४३ ॥

इत्येवमुक्त्वा भरतः सूतं तं दीनमानसः ।

तान्यनिष्ठान्ययोर्ध्यात्वां प्रेक्ष्य राजगृहं गयी ॥ ४४ ॥

सागधिसे ऐसा कहकर अयोध्यामें होनेवाले उन अनिष्ट-

इत्यार्ष श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽय्योध्याकाण्डे एकमप्ततितमः सर्गः ॥ ७१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आरण्यमायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें इकहत्तरहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७१ ॥

द्विसप्ततितमः सर्गः

भरतका कैकेयीके भवनमें जाकर उसे प्रणाम करना, उसके द्वारा पिताके परलोकवासका समाचार पा दुःखी हो विलाप करना तथा श्रीरामके विषयमें पूछनेपर कैकेयीद्वारा उनका श्रीरामके वनगमनके वृत्तान्तसे अवगत होना

अपश्यन्तु सतस्तत्र पितरं पितृगालये ।
जगाम भरतो ब्रह्म मातरं मातृगालये ॥ १ ॥

तदनन्तर पिताके घामें पिताको न देखकर भरत मानाका दर्शन करनेके लिये अपनी मानाक मङ्गलमें गये ॥ १ ॥

अनुप्राप्तं तु तं दृष्ट्वा कैकेयी प्रापिनं सुतम् ।
उत्पपात तदा हृष्टा त्यक्त्वा सौख्यार्णमामनम् ॥ २ ॥

अपने परदेश गये हुए पुत्रका घर आया देख उस समय उनकी हर्षमें भर गयी और अपन मुवणगय आत्मनका छोड़ उछलकर खड़ी हो गयी ॥ २ ॥

सं प्रविश्यैव धर्मात्मा स्वगृहं श्रीविकर्जितम् ।
भरतः प्रेक्ष्य जग्राह जनन्याश्रयणौ शुभौ ॥ ३ ॥

धर्मात्मा धरमने अपने उस धर्ममें प्रवेश करके दृष्ट कि यारा घर श्रीजीन हो रहा है फिर उन्होंने मानाक शुभ चरणोंका स्पर्श किया ॥ ३ ॥

नै मूर्ध्नि समुपाधाय परिपुज्य यशस्विनम् ।
अङ्गं भरतमारोप्य प्रपुं समुपचक्रये ॥ ४ ॥

सूचक चिह्नोंके देखते हुए भरत मन-हो-मन दुःखी हो राजमङ्गलमें गये ॥ ४४ ॥

तां शून्यभृङ्गाटकवेश्मरध्यां
रजोरुणद्वारकवाटयन्त्राम् ।

दृष्ट्वा पुरीमिन्द्रपुरीप्रकाशां
दुःखेन सम्पूर्णतरो बभूव ॥ ४५ ॥

जो अयोध्यापुरी कभी कैवलज इन्द्रकी नगरीके समान लभा फली थी, उसीके चौराहे घर और सड़के आज सूनी दिखायी देती थीं तथा दरवाजाकी किचाड़े धूलि-भूसर हो रही थी उसकी ऐसी दुर्दशा देख भरत पूर्णत दुःखमें निमग्न हो गये ॥ ४५ ॥

बभूव पश्यन् मनसोऽप्रियाणि
षान्यन्यदा नास्य पुरे बभूवुः ।

अवाकिशरा दीनमना न हृष्टः
पितुर्महात्मा प्रविवेश वेशम् ॥ ४६ ॥

उस नगरमें जो पहले कभी नहीं हुई थी, ऐसी अप्रिय बातोंको देखकर महात्मा भरतने अपना भस्त्रक नौचेको झुका लिया, उनका हर्ष छिन गया और उन्होंने दीन-हृदयसे पिताके भवनमें प्रवेश किया ॥ ४६ ॥

अपने यशस्वी पुत्र भरतको छतोंसे लगाकर कैकेयीने उनका यस्तक सुँधा और उन्हें गोंदमें बिठाकर पूछना आरम्भ किया— ॥ ४ ॥

अद्य ते कतिचिद् रात्र्यश्च्युतस्यार्यकवेश्मनः ।
अपि नाध्वश्रमः शीघ्रं रथेनापततस्तव ॥ ५ ॥

‘बेटा ! तुम्हें अपने नानाके घरसे चले आज कितनी रातें व्यतीत हो गयी ? तुम रथके द्वारा खड़ी शीघ्रताके साथ आये हो । रास्तेमें तुम्हें अधिक थकावट तो नहीं हुई ? ॥ ५ ॥

आर्यकम्पे सुकुशली युधाजिन्धातुलस्तव ।
प्रकासाद्य सुखं पुत्र सर्वं मे चक्षुर्महीसि ॥ ६ ॥

‘तुम्हारे नाना सुकुशल तो हैं न ? तुम्हारे मामा युधाजित् तो कुशलमें हैं ? बेटा ! जब तुम यहाँसे गये थे, तबसे लेकर अबतक सुखमें रहें तो न ? ये सारी बातें मुझे बताओ ॥ ६ ॥

एवं पृष्ट्वा कैकेय्या प्रियं पार्थिवनन्दनः ।
आचष्ट भरतः सर्वं मात्रे राजीवलोचनः ॥ ७ ॥

कैकेयांक इस प्रकार प्रिय पाणीमें पूछनेपर दशरथनन्दन

कमलनयन भरतने माताको सब बातें बतल्यो ॥ ७ ॥

अद्य मे सप्तमी रात्रिश्च्युतस्वार्यकवेऽश्मनः ।

अम्बायाः कुशली तातो युष्माजिन्मातुलक्ष मे ॥ ८ ॥

(वे बोले—) 'मा ! नानाके घरसे चले मेरो यह सातवीं रात बीती है। मेरे नानाजी और मामा युष्माजिन् भी कुशलसे हैं ॥ ८ ॥

यन्मे घने च रत्नं च ददौ राजा परंतपः ।

परिश्रान्तं पथ्यभवत् ततोऽहं पूर्वयागतः ॥ ९ ॥

राजवाक्यहरैर्दूतैस्त्वर्यमाणोऽहमागतः ।

यदहं प्रष्टुमिच्छामि तदम्बा वक्तुमर्हति ॥ १० ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले केन्द्यनरेशने मुझे जो धन-रत्न प्रदान किये हैं उनके भारमें मार्गमें सब बाधन थक गये थे, इसलिये मैं राजकीय संदेश लेकर गये हुए दूतोंके जल्दी मचानेसे यहाँ पहुँचे हों चला आया हूँ। अच्छा माँ, अब मैं जो कुछ पूछता हूँ उसे तुम बताओ ॥ ९-१० ॥

शून्योऽयं शयनीयस्ते पर्यङ्गो हेमभूषितः ।

न चायमिक्ष्वाकुजनः प्रहृष्टः प्रतिभाति मे ॥ ११ ॥

'यह तुम्हारी शय्या सुवर्णभूषित परंग इस समय सूना है इसका क्या कारण है (आज यहाँ महाराज उपस्थित क्यों नहीं हैं) ? ये महाराजके परिजन आज प्रसन्न क्यों नहीं जान पड़ते हैं ? ॥ ११ ॥

राजा भवति भूयिष्ठमिहाम्बाया निवेशने ।

तमहं नाद्य पश्यामि द्रष्टुमिच्छन्निहागतः ॥ १२ ॥

'महाराज (पिताजी) प्रायः माताजीके ही महलमें रहा करते थे, किन्तु आज मैं उन्हें यहाँ नहीं देख रहा हूँ। मैं उनकेका दर्शन करनेकी इच्छासे यहाँ आया हूँ। ॥ १२ ॥

पितुर्महीष्ये पादौ च तं ममाख्याहि पृच्छतः ।

आहोस्विदम्बान्येष्टायाः कौसल्याया निवेशने ॥ १३ ॥

'मैं पूछता हूँ बताओ, पिताजी कहाँ हैं ? मैं उनके पैर पकड़ूँगा। अथवा वही माता कौसल्याके घरमें तो वे रहते हैं ?'

तं प्रत्युवाच कैकेयी प्रियवद् घोरमप्रियम् ।

अजानन्तं प्रजावन्ती राज्यलोभेन मोहिता ॥ १४ ॥

'कैकेयी राज्यके लोभमें मोहित हो गयी थी। वह राजाका वृत्तान्त न जाननेवाले भरतसे उस घोर अप्रिय समाचारके प्रिय-सा समझाने हुई इस प्रकार बताने लगी— ॥ १४ ॥

या गतिः सर्वभूतानां तां गतिं ते पिता गतः ।

राजा महात्मा तेजस्वी पायजूक सतां गतिः ॥ १५ ॥

'बेटा ! तुम्हारे पिता महाराज दशरथ बड़े महात्मा, तेजस्वी, यज्ञशील और सत्पुरुषोंके आश्रयदाता थे। एक दिन सम्पन्न प्राणियोंकी जो गति होती है, उसी गतिके वे भी प्राप्त हुए हैं ॥ १५ ॥

नच्छ्रुत्वा भरतो वाक्यं धर्माभिजनवाञ्छुचि ।

पपात सहस्रा भूमौ पितृशोकबलार्द्रितः ॥ १६ ॥

हा हतोऽस्मीति कृपणां दीनां वाचपुदीरयन् ।

निपपात महाबाहुर्बाहू विक्षिप्य वीर्यवान् ॥ १७ ॥

भरत धार्मिक कुलमें उत्पन्न हुए थे और उनका हृदय शुद्ध था। माताको बात सुनकर वे पितृशोकसे अत्यन्त पीड़ित हो सहस्रा पृथ्वीपर गिर पड़े और 'हाय, मैं मरा गया !' इस प्रकार अत्यन्त दीन और दुःखमय चचन कहकर रोने लगे। पराक्रमी महाबाहु भरत अपनी भुजाओंको बारम्बार पृथ्वीपर पटककर गिरने और लोटने लगे ॥ १६-१७ ॥

ततः शोकेन संवीतः पितुर्मरणादुःखितः ।

विललाप महासेजा भ्रान्ताकुलितचेतनः ॥ १८ ॥

उन महानेजस्वी गुजकुमारकी चेतना भ्रान्त और व्याकुल हो गयी। वे पिताको मृत्युमें दुःखी और शोकसे व्याकुलचित्त होकर विलाप करने लगे— ॥ १८ ॥

एतत् सुरुचिरं भाति पितुर्मं शयनं पुरा ।

शशिनेवामलं रात्री गगनं तोयद्वात्यसे ॥ १९ ॥

नटिदं न विधात्यद्य विहीनं तेन धीमना ।

व्योमेव शशिना हीनमप्युष्क इव सागरः ॥ २० ॥

'हाय ! मेरे पिताजीकी जो यह अत्यन्त सुन्दर शय्या पहले शरत्कालको रातमें चन्द्रानाम् मुशीभित्त होनेवाले निर्मल आकाशकी भाँति शोभा पाती थी वही यह आज उन्नी बुद्धिमान् महाराजमें रहित होकर चन्द्रमामे हीन आकाश और सूखे हुए समुद्रके समान शोहीन प्रतीत होती है' ॥ १९-२० ॥

बाष्पमुत्सृज्य कण्ठेन स्वात्मना परिपीडितः ।

प्रच्छाद्य वदनं श्रीमद् वस्त्रेण जयतां वरः ॥ २१ ॥

विजयों बीरोमें श्रेष्ठ भरत अपने सुन्दर मुख बखसं डूबकर अपने कण्ठस्वयके माध आँसु गिराकर मन-ही-मन अत्यन्त पीड़ित हो पृथ्वीपर पड़कर विलाप करने लगे ॥

तमातं देवसंकाशं समीक्ष्य पतितं भुवि ।

निकृत्तमिव सालस्य स्कन्धं परशुना घने ॥ २२ ॥

माता मातङ्गसंकाशं चन्द्रार्कसदृशं सुतम् ।

उत्थापयित्वा शोकातं वचनं चेदमब्रवीन् ॥ २३ ॥

देखतुल्य भरत शोकमें व्याकुल हो वनमें फरसेसे काटे गये साखुके ननकों भाँति पृथ्वीपर पड़े थे, मनवाने हाथीके समान पुष्ट तथा चन्द्रमा या सूर्यके समान तेजस्वी अपने शोकाकुल पुत्रको इस तरह भूमिपर पड़ा देख माता कैकेयीने उन्हें उठाया और इस प्रकार कहा— ॥ २२-२३ ॥

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ किं शोके राजत्रय महायशः ।

त्वद्दिष्टा नहि शोचन्ति सन्तः सदासि सम्पताः ॥ २४ ॥

'सबन् ! उठो ! उठो ! महायशस्वी कुमार ! तुम इस तरह यहाँ धरतीपर क्या पड़े हो ? तुम्हारे-जैसे सम्पत्तियोंमें सम्मानित होनेवाले सत्पुरुष शोक नहीं किया करते हैं ॥

दानयज्ञाधिकारा हि शीलश्रुतिनपोनुगा ।

बुद्धिस्ते बुद्धिसम्पन्न प्रभेवार्कस्य मन्दिरे ॥ २५ ॥

‘बुद्धिसम्पन्न पुत्र । जैसे सूर्यपण्डलमें प्रभा निश्चल रूपसे रहती है, उसी प्रकार तुम्हारे बुद्धि सुस्थिर है । वह दान और यज्ञमें लगानेकी अधिकारिणी है, क्योंकि सदाचार और वेदवाक्योंका अनुसरण करनेवाली है’ ॥ २५ ॥

स रुदित्वा धिरं कालं धूमो परिविवृत्य च ।

जननीं प्रत्युवाचेदं शोकैर्बहुभिरावृतः ॥ २६ ॥

भरत पृथ्वीपर लोटते-पाटते बहुत देरतक रते रहे । तत्पश्चात् अधिक-अधिक शोकमें आकुल होकर वे मातासे इस प्रकार बोले— ॥ २६ ॥

अधियेक्ष्यति रामं तु राजा यज्ञं नु यक्ष्यते ।

इत्यहं कृतसंकल्पो हृष्टो यात्रामयामिषम् ॥ २७ ॥

मैंने तो यह सोचा था कि महाराज श्रीरामका राज्याभिषेक करेगे और स्वयं यज्ञका अनुष्ठान करेगे— यही सोचकर मैंने बड़े हर्षके साथ वहाँमें यात्रा की थी ॥ २७ ॥

तदिदं हान्यथाभूतं व्यवदीर्षी मनो मम ।

पितरं यो न पश्यामि नित्यं प्रियहिते रतम् ॥ २८ ॥

‘किंतु यहाँ आनेपर भारी घाते मेंही आशाके विपरीत हो गयी । मेरा हृदय फटा जा रहा है, क्योंकि सदा अपने प्रिय और हितमें लगे रहनेवाले पिताजीको मैं नहीं देख रहा हूँ ॥ २८ ॥

अथ केनात्यगाद् राजा व्याधिना मय्यनागते ।

धन्या रामादयः सर्वे यैः पिता संस्कृतः स्वयम् ॥ २९ ॥

‘मा । महाराजको ऐसा कौन-सा रोग हो गया था, जिससे वे मेरे आनेके पहले ही चल बसे ? श्रीराम आदि सब भाई धन्य हैं, जिनोंने स्वयं उपास्थल रखकर पिताजीका अन्त्येष्टि-संस्कार किया ॥ २९ ॥

न नूनं मां महाराजः प्राप्तं जानाति कीर्तिमान् ।

उपजिघ्रेत् तु मां मूर्ध्नि नतः, सेनाप्य सत्वरम् ॥ ३० ॥

निश्चय हो मेरे पूज्य पिता महारथों महाराजको मेरे यहाँ आवेका कुछ पता नहीं है, अन्यथा वे शीघ्र ही मेरे मस्तकको धुक्काकर उससे प्यारसे सँघते ॥ ३० ॥

क स पाणिः सुखस्पर्शस्तातस्याङ्गिष्टकर्मणः ।

यो हि मां रजसा ध्वस्तमभीक्ष्णं परिधार्जनि ॥ ३१ ॥

‘हा । अनायास ही महान् कर्म करनेवाले मेरे पिताका वह कोमल हाथ कहाँ है जिसका स्पर्श मेरे लिये बहुत ही सुखदायक था ? वे उम्मी हाथसे मेरे धूलिधूसर शरीरको बार-बार पोंछा करते थे ॥ ३१ ॥

यो मे भ्राता पिता बन्धुर्यस्य दासोऽस्मि सम्पन्नः ।

तस्य भो शीघ्रमाख्याहि रामस्याङ्गिष्टकर्मणः ॥ ३२ ॥

‘अब जो मेरे भाई, पिता और बन्धु हैं तथा जिनका मैं परम प्रिय दास हूँ, अनायास ही महान् पराक्रम करने-वाले उन श्रीरामचन्द्रजीको तुम शीघ्र ही मेरे आनेके सुखना दो ॥ ३२ ॥

पिता हि भवति ज्येष्ठो धर्मभार्यस्य जानतः ।

तस्य पादौ ग्रहीष्यामि स हीदानीं गतिर्मम ॥ ३३ ॥

‘धर्मके ज्ञाता श्रेष्ठ पुरुषके लिये बड़ा भाई पिताके सम्मान होता है । मैं उनके करणमें प्रणाम करूँगा । अब वे ही मेरे आश्रय हैं ॥ ३३ ॥

धर्मविद् धर्मशीलश्च महाभागो दृढव्रतः ।

आर्ये किमब्रवीद् राजा पिता मे सत्यविक्रमः ॥ ३४ ॥

पश्चिमः साधुसंदेशमिच्छामि श्रोतुमात्मनः ।

आर्ये । धर्मका आश्रय जिनका स्वभाव बन गया था तथा जो बड़ी दृढ़ताके साथ उत्तम व्रतका पालन करते थे वे पर सत्यपराक्रमी और धर्मज्ञ पिता महागज दशरथ अन्तिम समयमें क्या कह गये थे ? मेरे लिये जो उनका अन्तिम संदेश हो उसे मैं सुनना चाहता हूँ ॥ ३४ ॥

इति पृष्ट्वा यथातत्त्वं कैकेयी वाक्यमब्रवीत् ॥ ३५ ॥

रायेति राजा विलपन् हा सीते लक्ष्मणेति च ।

स महात्मा परं लोकं गतो मतिमनो वरः ॥ ३६ ॥

भरतके इस प्रकार पृष्ठपर कैकेयीने सब बात ठीक-ठीक कना दी । वह कहने लगे— ‘बेटा । बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ तुम्हारे महात्मा पिता महाराजने ‘हा राम ! हा सीते ! हा लक्ष्मण !’ इस प्रकार विलप करके हुए परलोककी यात्रा की थी ॥ ३५-३६ ॥

इतीमां पश्चिमां वाचं व्यजहार पिता तब ।

कालधर्मं परिक्षिप्तः पादौरेव महागजः ॥ ३७ ॥

‘जैसे पादोंसे घँघा हुआ महान् मत्त विवश हो जाता है, उसी प्रकार कालधर्मके वशभूत हुए तुम्हारे पिताने अन्तिम वचन इस प्रकार कहा था— ॥ ३७ ॥

सिद्धार्थास्तु नरा राममागतं सह सीतया ।

लक्ष्मणं च महाबाहुं द्रक्ष्यन्ति पुनरागतम् ॥ ३८ ॥

‘जो लोग सीताके साथ पुनः लौटकर आये हुए श्रीराम और महाबाहु लक्ष्मणको देखेंगे वे ही कृतार्थ होंगे’ ॥ ३८ ॥

तच्छ्रुत्वा विषसादेव द्वितीयप्रियशंसनात् ।

विषण्णवदनो भूत्वा भूयः प्रवृत्त मातरम् ॥ ३९ ॥

माताके द्वारा यह दूसरी अप्रिय बात कही जानेपर भरत और भी दुःखी हो हुए । उनके मुखपर विषाद छा गया और उन्होंने पुनः मातासे पूछा— ॥ ३९ ॥

क चेदानीं स धर्मात्मा कीसल्यानन्दवर्धनः ।

लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा सीतया च समागतः ॥ ४० ॥

‘मा । माता कीसल्याका आनन्द बढ़ानेवाले धर्मात्मा श्रीरामचन्द्रजी इस अवसरपर भाई लक्ष्मण और सीताके साथ कहाँ चले गये हैं ?’ ॥ ४० ॥

तथा पृष्ट्वा यथान्यायमाख्यातुमुपचक्रमे ।

मातास्य युगपद्वाक्यं विप्रियं प्रियशंसया ॥ ४१ ॥

इस प्रकार पृष्ठपर उनकी माता कैकेयीने एक साथ ही प्रिय बुद्धिमें वह अप्रिय संवाद यथोचित रीतिसे सुनाया

आरम्भ किया— ॥ ४१ ॥

स हि राजसुतः पुत्र चीरवासा महाबलम् ।

दण्डकान् सह वैदेह्या रुक्मणानुचरो गतः ॥ ४२ ॥

‘बेटा ! राजकुमार श्रीराम धन्कल-बल धारण करके सीताके साथ दण्डकवनमें चले गये हैं। रुक्मणने भी उन्हींका अनुसरण किया है’ ॥ ४२ ॥

तच्छ्रुत्वा भरतस्ततो भ्रातृश्चारित्रशङ्कया ।

स्वस्य वंशस्य माहात्म्यात् प्रष्टुं समुपचक्रमे ॥ ४३ ॥

यह सुनकर भरत डर गये, उन्हें अपने भईके चरित्रपर शङ्का हो आयी। (वे सोचने लगे—श्रीराम कहीं धर्ममें गिर तो नहीं गये ?) अपने वंशकी महत्ता (धर्मपरायणता) का स्मरण करके वे कैकेयीसे इस प्रकार पूछने लगे— ॥ ४३ ॥

कश्चिन्न ब्राह्मणधर्मं हतं रामेण कस्यचित् ।

कश्चिन्नाक्यो दरिद्रो वा तेनापापो विहिंसितः ॥ ४४ ॥

‘भा ! श्रीरामने किसी कारणवश ब्राह्मणका धर्म तो नहीं हरा लिया था ? किसी निष्पाप धनी या दरिद्रकी हत्या तो नहीं कर डाली थी ? ॥ ४४ ॥

कश्चिन्न परदारान् वा राजपुत्रोऽभिमन्यते ।

कस्मात् स दण्डकारण्ये भ्राता रामो विवासितः ॥ ४५ ॥

‘राजकुमार श्रीरामका धर्म किसी परायों स्त्रीकी ओर तो नहीं चला गया ? किस अपराधके कारण भैया श्रीरामको दण्डकारण्यमें जानेके लिये निर्वासित कर दिया गया है ? ॥

अथास्य चपला माता तत् स्वकर्म यथातथम् ।

तेनैव स्त्रीस्वभावेन व्याहर्तुमुपचक्रमे ॥ ४६ ॥

तब चपल स्वभाववाली भरतकी माता कैकेयीने उस विवेकशून्य चञ्चल नाराजस्वभावके कारण ही अपनी करतूतों की-कीक बताना आरम्भ किया ॥ ४६ ॥

एवमुक्ता तु कैकेयी भरतेन महात्मना ।

उवाच वचनं हृष्टा कृथापण्डितपानिनी ॥ ४७ ॥

महात्मा भरतके पूर्वोक्त रूपमें पूछनपर व्यर्थ ही अपनेको बड़ी विदुषी माननेवाली कैकेयीने बड़े हर्षमें भरकर कहा— ॥

न ब्राह्मणधर्मं किञ्चिद्धृतं रामेण कस्यचित् ।

कश्चिन्नाक्यो दरिद्रो वा तेनापापो विहिंसितः ।

न रामः परदारान् स चक्षुर्यापि पश्यति ॥ ४८ ॥

‘बेटा ! श्रीरामने किसी कारणवश किञ्चिन्मात्र भी ब्राह्मणके धर्मका अपहरण नहीं किया है। किसी निष्पाप धनी या दरिद्रको हत्या भी उन्होंने नहीं की है। श्रीराम कभी किसी परायों स्त्रीपर दृष्टि नहीं डालते हैं’ ॥ ४८ ॥

मथा तु पुत्रं श्रुत्वा रामस्येहाभिषेचनम् ।

याचितस्ते पिता राज्यं रामस्य च विवासनम् ॥ ४९ ॥

बेटा ! (उनके वनमें जानेका कारण इस प्रकार है—) मैंने सुना था कि अयोध्यामें श्रीरामका राज्यभिषेक होने आ रहा है तब मैंने तुम्हारे पितासे तुम्हारे लिये राज्य और श्रीरामके लिये वनवासकी प्रार्थना की ॥ ४९ ॥

स स्ववृत्तिं समास्थाय पिता ते तत् तथाकरोत् ।

रामस्तु सहस्रीभिः प्रेयिनः सह सीतया ॥ ५० ॥

तमपश्यन् प्रियं पुत्रं भर्तृपालो भ्रातृशः ।

पुत्रशोकपरिहृतः पञ्चत्वमुपपेदिवान् ॥ ५१ ॥

‘उन्होंने अपने सत्यप्रतिज्ञ स्वभावके अनुसार मेरी माँग पूरी की। श्रीराम लक्ष्मण और सीताके साथ वनको भेज दिये गये फिर अपने प्रिय पुत्र श्रीरामको न देखकर वे महायशस्वी महाराज पुत्रशोकमें पीड़ित हो परलोकवासी हो गये ॥

त्वया त्विदानीं धर्मज्ञं राजत्वमवलम्ब्यताम् ।

त्वत्कृते हि धर्म्यं सर्वमिदमेवंविधं कृतम् ॥ ५२ ॥

‘धर्मज्ञ ! अब तुम राजपद स्वीकार करो। तुम्हारे लिये ही मैंने इस प्रकारसे यह सब कुछ किया है ॥ ५२ ॥

या शोकं वा च संतापं धीर्यमाश्रय पुत्रक ।

त्वदर्धाना हि नगरी राज्यं धैतदनामयम् ॥ ५३ ॥

‘बेटा ! शोक और संताप न करो, धीर्यका आश्रय लो।

अब यह नगर और निष्कण्टक राज्य तुम्हारा ही अधीन है।

तत् पुत्र शीघ्रं विधिना विधिज्ञैः-

वैसिष्टमुख्यैः सहितो द्विजैर्भैः ।

संकास्य राजानमदीनसस्व-

मात्मानमुख्यापिभिषेचयस्व ॥ ५४ ॥

‘अतः वत्स ! अब विधि-विधानके ज्ञाता वसिष्ठ आदि प्रमुख ब्राह्मणोंके साथ तुम उदार हृदयवाले महाराजका अन्त्येष्टि-संस्कार करके इस पृथ्वीके राज्यपर अपना अभिषेक कराओ’ ॥ ५४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्विसप्ततितमः सर्गः ॥ ७२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें बहतरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७२ ॥

त्रिसप्ततितमः सर्गः

भरतका कैकेयीको धिक्कारना और उसके प्रति महान् रोष प्रकट करना

श्रुत्वा च स पितुर्वृत्तं भ्रातरो च विवामिनी ।

भरतो दुःस्वसंतप्त इदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

पिताके भरलोकवास और दोनों भाइयोंके वनवासका समाचार

सुनकर भरत दुःस्वसे संतप्त हो उठे और इस प्रकार बोले— ॥ १ ॥

किं नु कार्यं हतस्येह मम राज्येन शोचतः ।

विहीनस्याथ पित्रा च भ्रात्रा पितृसमेन च ॥ २ ॥

हाथ ! तुने मुझे मार डाला । मैं पितरों सदाके लिये
बिछुड़ा गया और पितृमन्य बड़ भाईमें भी विलग हो गया
अब तो मैं शोकमें डूब रहा हूँ मुझे यहाँ राज्य लेकर क्या
करना है ? ॥ २ ॥

दुःखे च दुःखमकरोर्ध्वजे क्षारमिवावृद्धाः ।

राजानं प्रेतभावस्थं कृत्वा रामं च तापसम् ॥ ३ ॥

‘तुने राजाको परलोकवासी तथा श्रीरामको तपस्वी
बनाकर मुझे दुःख-पर-दुःख दिया है, घावपर नमक-सा
छिड़क दिया है ॥ ३ ॥

कुलस्य त्वमभावाद्य कालरात्रिरिवागता ।

अङ्गारमुपगृह्य स्म पिता मे नावबुद्धवान् ॥ ४ ॥

‘तू इस कुलका विनाश करनेके लिये कालरात्रि बनकर
आयी थी । मेरे पितरने तुझे अपनी पत्नी क्या बनाया, दहकत
हुए अङ्गारको हृदयमें लगा लिया था; किंतु उस समय यह
बात उनकी समझमें नहीं आयी थी ॥ ४ ॥

मृत्युमापादितो राजा स्वया मे पापदर्शिनि ।

सुखं परिहृतं मोहान् कुलेऽस्मिन् कुलपांसनि ॥ ५ ॥

‘पापपर ही दृष्टि रखनेवाली ! कुलकलङ्किनी ! तुने मेरे
महाराजको कालके गालमें डाल दिया और मोहवश इस
कुलका सुख सदाके लिये छीन लिया ॥ ५ ॥

त्वां प्राप्य हि पिता मेऽद्य सत्यमंधो महायशः ।

तीव्रदुःखाभिसंतप्तो वृनो दशरथो नृपः ॥ ६ ॥

‘तुझे पाकर मेरे सत्यप्रतिष्ठ महायशस्वी पिता महाराज
दशरथ इन दिनों दुःसह दुःखसे संताप होकर प्राण त्यागनेको
विवश हुए हैं ॥ ६ ॥

विनाशिनो महाराजः पिता मे धर्मवत्सलः ।

कस्मात् प्रव्राजितो रामः कस्मादेव वनं गतः ॥ ७ ॥

वत्ता तुने मेरे धर्मवत्सल पिता महाराज दशरथका विनाश
क्या किया ? मेरे बड़ भाई श्रीरामका क्या घरमें निकाला और व
भी क्यों (तेरे ही कहनेमें) वनको चले गये ? ॥ ७ ॥

कौसल्या च सुमित्रा च पुत्रशोकाभिपीडिते ।

दुष्करं यदि जीवेतां प्राप्य त्वां जननीं मम ॥ ८ ॥

‘कौसल्या और सुमित्रा भी मेरी माता कहलानेवाली तुझे
कैकयीको पाकर पुत्रशोकमें पीड़ित हो गयीं अब उनका
जीवित रहना अत्यन्त कठिन है ॥ ८ ॥

नन्वार्योऽपि च धर्मत्वा त्वयि वृत्तिमनुनमाम् ।

वर्तते शुश्रूत्तिज्ञो यथा मातरि वर्तते ॥ ९ ॥

‘बड़े भैया श्रीराम धर्मात्मा हैं, गुरुजनोंके साथ कैसा
वर्ताना करना चाहिये—इसे वे अच्छे सरल जानते हैं
इसलिये उनका अपनी माताके प्रति जैसा वर्ताना था, वैसा ही
उनमें व्यवहार वे तेरे साथ भी करते थे ॥ ९ ॥

तथा ज्येष्ठा हि मे माता कौसल्या दीर्घदर्शिनी ।

त्वयि धर्मं सभास्थाय भगिन्यामिव वर्तते ॥ १० ॥

मेरी बड़ी माता कौसल्या भी बड़ी दूरदर्शिनी हैं । वे धर्मका
ही आश्रय लेकर तेरे साथ बहिनका-सा वर्ताना करती हैं ॥ १० ॥

तस्याः पुत्रं महात्मानं चीरवत्कलवाससम् ।

प्रस्थाप्य वनवासाय कथं पापे न शोचसे ॥ ११ ॥

‘पापिनि ! उनके महात्मा पुत्रको चौर और वत्कल
पहनकर तू वनमें रहनेके लिये भेज दिया, फिर भी तुझे
शोक क्यों नहीं हो रहा है ॥ ११ ॥

अपापदर्शिनं शूरं कृतात्मानं यशस्विनम् ।

प्रव्राज्य चीरवसनं किं नु पश्यसि कारणम् ॥ १२ ॥

‘श्रीराम किनोकी बुराई नहीं देखते । वे शूरवीर, पवित्रात्मा
और यशस्वी हैं । उन्हें चौर पहनाकर वनवास दे देनेमें तू
कौन-सा लज्ज देगा रही है ? ॥ १२ ॥

लुब्धाया विदितो मन्ये न तेऽहं राघवं यथा ।

तथा ह्यनर्थो राज्यार्थं त्वयाऽऽनीतो महानयम् ॥ १३ ॥

‘तू लोभिन है । मैं समझता हूँ, इसलिये तुझे यह पता
नहीं है कि मेरा श्रीरामचन्द्रजीके प्रति कैसा भाव है, तभी तुने
राज्यके लिये यह महान् अनर्थ कर डाला है ॥ १३ ॥

अहं हि पुरुषव्याघ्रावपश्यन् रामलक्ष्मणौ ।

केन शक्तिप्रभावेण राज्यं रक्षितुमुत्सहे ॥ १४ ॥

‘मैं पुरुषसिंह श्रीराम और लक्ष्मणको न देखकर किस
शक्तिक प्रभावसे इस राज्यकी रक्षा कर सकता हूँ ? (मेरे
बल तो मर भाई ही हैं) ॥ १४ ॥

ते हि नित्यं महाराजो बलवन्तं महौजसम् ।

उपाश्रितोऽभूद् धर्मात्मा मेरुर्मस्त्वनं यथा ॥ १५ ॥

मेरे धर्मात्मा पिता महाराज दशरथ भी सदा उन
महानेजस्वी बलवान् श्रीरामका ही आश्रय लेते थे (उन्हींसे
अपने लोक-परलोककी सिद्धिकी आशा रखते थे), ठीक
उसी तरह जैसे मेरुर्वन अपनी रक्षाके लिये अपने ऊपर
उत्पन्न हुए गड़ने वनका ही आश्रय रक्ता है (यदि वह दुर्गम
वनसे घिरा हुआ न हो तो दूसरे लोग निश्चय ही उसपर
आक्रमण कर सकते हैं) ॥ १५ ॥

सोऽहं कथमिमे धारं महाधुर्यसमुद्यतम् ।

दम्यो धुर्यविरासाद्य सहेयं केन चीजसा ॥ १६ ॥

‘यह राज्यका भार, जिसे किसी महाधुरंधरने धारण किया
था, मैं कैसे, किम बलसे धारण कर सकता हूँ ? जैसे कोई
उंगल या बछड़ा बड़े बड़े बैलाद्वारा ढोये जानेयोग्य महान्
भारको नहीं शोच सकता, उसी प्रकार यह राज्यका महान्
भार मेरे लिये अमंज्य है ॥ १६ ॥

अथवा ये भवंच्छक्तियोगैर्बुद्धिबलेन वा ।

सकायां न करिष्यामि त्वामहं पुत्रगर्द्धिनीम् ॥ १७ ॥

‘अथवा नाना प्रकारके उपायों तथा बुद्धिबलसे मुझमें

राज्यके धरण पोषणकी शक्ति हो तो भी केवल अपने घंटेके लिये राज्य चाहनेवाली तुझे कैकेयोंकी मन कामना पूरा नहीं होने देगा ॥ १७ ॥

न मे विकल्पाद्वा जायेत त्वत्कु त्वां पापनिश्चयाम् ।

यदि रामस्य भावेक्षा त्वयि स्थान्मातृवत् सदा ॥ १८ ॥

‘यदि श्रीराम तुझे सदा अपनी माताके समान नहीं देखते होने तो तेरी जैसी पापपूर्ण विचारवाली माताका त्याग करना मे मुझे तनिक भी हिचक नहीं होती ॥ १८ ॥

उत्पन्ना तु कथं बुद्धिस्तथैव पापदर्शिनी ।

साधुचारित्रविभ्रष्टे पूर्वेषां नो विगर्हिता ॥ १९ ॥

‘उत्पन्न चरित्रमे गिरी हुई पापिनी + मेरे पूर्वजोने जिम्मेवरी सदा निन्दा की है वह पापपर ही दृष्टि रखनेवाली बुद्धि तुझमें कैसे उत्पन्न हो गयी ? ॥ १९ ॥

अस्मिन् कुले हि सर्वेषां ज्येष्ठो राज्येऽभिषिच्यते ।

अपरे भ्रान्तरस्तस्मिन् प्रवर्तन्ते समाहिताः ॥ २० ॥

‘इस कुलमें जो सबसे बड़ा होता है, ठीकी राज्याभिषेक होता है; दूसरे भाई सावधानाके साथ बड़ेकी आज्ञाके अधीन रहकर कार्य करते हैं ॥ २० ॥

न हि मन्ये नृशंसे त्वं राजधर्मपवेश्वरमे ।

गतिं वा न विजानासि राजवृत्तस्य शाश्वतीम् ॥ २१ ॥

‘कूर स्वभाववाली कैकेयि ! मेरी समझमें तू राजधर्मपर दृष्टि नहीं रखती है अथवा उसे बिल्कुल नहीं जानती राजाओंके कर्तावका जो सनातन स्वरूप है, उसका भी तुझे ज्ञान नहीं है ॥

सततं राजपुत्रेषु ज्येष्ठो राजाभिषिच्यते ।

राज्ञामेतत् सपं तन् स्यादिक्ष्वाकूणां विशेषतः ॥ २२ ॥

‘राजकुमारोंमें जो ज्येष्ठ होता है, सदा ठीकी राजाके पदपर अभिषेक किया जाता है सभी राजाओंके यहाँ समान रूपसे इस नियमका पालन होता है । इक्ष्वाकुवंशी नरेशोंके कुलमें इसका विशेष आदर है ॥ २२ ॥

तेषां धर्मैकरक्षाणां कुलचारित्रशोभिनाम् ।

अद्य चारित्रशौटार्य त्वां प्राप्य विनिवर्तितम् ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽष्टोऽध्याकाण्डे त्रिंशत्प्रतिपदः सर्गः ॥ ७३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्णित आर्यरामायण आदिकाव्यके अष्टोऽध्याकाण्डमें तिहतरवाँ सर्ग पूरा हुआ । ७३ ॥

चतुःसप्ततितमः सर्गः

भरतका कैकेयीको कड़ी फटकार देना

तो तथा गर्हयित्वा तु मातरं भरतस्तदा ।

रोधेण महताविष्टः पुनरेवाब्रवीद् ध्रुवः ॥ १ ॥

इस प्रकार माताकी निन्दा करके भरत उन्मत्त समय महान् रोषावशसे भर गये और फिर कठोर वाणीमें कहने लगे — ॥ १ ॥

राज्याद् भ्रंशस्व कैकेयि नृशंसे दुष्टचारिणि ।

‘जिनको एकमात्र धर्मसे ही रक्षा होती आयी है तथा जो कुछचित् सदाचारके पालनसे ही सुशोभित हुए हैं, उनका यह चरित्रविषयक अपमान आज तुझे पाकर—तेरे सम्बन्धके कारण दूर हो गया ॥ २३ ॥

तवापि सुमहाभागे जनेन्द्रकुलपूर्वके ।

बुद्धिमोहः कथमय सम्भूतस्त्वयि गर्हितः ॥ २४ ॥

‘महाभाग ! तेरा अभ्य भी तो महाराज केकयके कुलमें हुआ है, फिर तें इतनेमें यह निन्दित बुद्धिमोह कैसे उत्पन्न हो गया ? ॥ २४ ॥

न तु कामं करिष्यामि तन्नाहं पापनिश्चये ।

यथा ध्यसनमारब्धं जीवितान्तकरं मम ॥ २५ ॥

‘अरी ! तेरा विचार बड़ा हो पापपूर्ण है । मैं तेरी इच्छा कटापि नहीं पूर्ण करूँगा । तूने मेरे लिये उस विपत्तिकी नीच डाल दी है, जो मेरे प्राणतक ले सकती है ॥ २५ ॥

एष त्विदानीमेवाहमप्रियार्थं तत्त्वानघम् ।

निवर्तयिष्यामि वनाद् भ्रान्तरं स्वजनप्रियम् ॥ २६ ॥

‘यह से, मैं अभी तेरा अग्रिम करनेके लिये तुल गया हूँ । मैं वनसे निष्पाप भ्रान्त आरामको, जो स्वजनोंके प्रिय है, लौटा लऊँगा ॥ २६ ॥

निवर्तयित्वा रामं च तस्याहं दीप्तनेजसः ।

दासभूतो भविष्यामि सुस्थितेनान्तगतम् ॥ २७ ॥

‘श्रीरामको लौटा लाकर उद्योग तेजवाले उन्हीं महापुरुषका दास बनकर स्वस्थाचित्तसे जीवन व्यतीत करूँगा ॥ २७ ॥

इत्येवमुक्त्वा भरतो महात्मा

प्रियेतरैर्वाक्यगर्भस्तुदस्ताम् ।

शोकादितश्चापि ननाद ध्रुवः

सिंहो यथा मन्दरकन्दरस्यः ॥ २८ ॥

ऐसा कहकर महात्मा भरत शोकसे पीड़ित हो पुनः जनों-कलों वागम कैकेयोंको व्याथित करने हुए उसे जंग-जंगलमें फटकाने लगे माता मन्दराचलकी गुहामें घेरा हुआ सिंह गरज रहा हो ॥ २८ ॥

परित्यक्तासि धर्मेण मा मृतं रुदती ध्रुवः ॥ २ ॥

‘दृष्टतापूर्ण कर्ताव करनेवाली क्रूरहृदया कैकेयि ! तू राज्यसे भ्रष्ट हो जा । घमेन तेरा परित्याग कर दिया है, अब तू मरें हुए महाराजके लिये रोना मत, (क्योंकि तू धर्मधर्मस गिर चकी है, अधिका मुझे मरा हुआ समझकर तू जन्मभर पुत्रके लिये रोया कर ॥ २ ॥

किं नु तेऽदृश्यद् रामो राजा वा भृशधार्मिकः ।

ययोर्मृत्युर्विवासश्च त्वत्कृते तुल्यमागतौ ॥ ३ ॥

‘श्रीरामने अधवा अत्यन्त धर्मात्मा महाशय (पिताजी) ने तब क्या खिगाड़ा था, जिससे एक साथ ही उन्हें तुम्हारे कारण वनवास और मृत्युका कष्ट भोगना पड़ा ? ॥ ३ ॥

भूषाहत्यायसि प्राप्ता कुलस्यास्य विनाशनम् ।

कैकेयि नरकं गच्छ मा च तातमलोकताम् ॥ ४ ॥

कैकेयि ! तूने इस कुलका विनाश करनेके कारण भूषा-हत्याका पाप अपने निरपराध लिया है, हमारे लिये तू नरकमें जा और पिताजीका लोक तूझें न मिले ॥ ४ ॥

यत्त्वया हीदृशं पापं कृतं घोरं कर्मणा ।

सर्वलोकप्रियं हित्वा यमाख्यापयदितं भयम् ॥ ५ ॥

‘तूने इस घोर कर्मके द्वारा समस्त लोकोंके प्रिय श्रीरामको देशान्तरकाला देकर जो ऐसा बड़ा पाप किया है, उसने मेरे लिये भी भय उत्पन्न कर दिया है ॥ ५ ॥

त्वत्कृते मे पिता वृत्तो रामश्चारण्यमाश्रितः ।

अयशो जीवन्मोक्षं च स्वधाहं प्रतिपादितः ॥ ६ ॥

‘तबे कारण मेरे पिताकी मृत्यु हुई, श्रीरामको वनका आश्रय लेना पड़ा और मुझे भी तूने इस जीवजगतमें अपयशका भागी बना दिया ॥ ६ ॥

मातृरूपे यमाभिने नृशंसे राज्यकायुके ।

न तेऽहमपिभाष्योऽस्मि दुर्वृत्ते पतिघातिनि ॥ ७ ॥

‘राज्यके लाभमें पड़कर क्रूरतापूर्ण कर्म करनेवाला दुराचारिणी पतिघातिनि ! तू माताके रूपमें मेरी इन्तु है। तूझ मुझसे बात नहीं करने चाहिये ॥ ७ ॥

कौसल्या च सुमित्रा च याश्चान्या मम मातरः ।

तुःखेन महतरविष्टास्त्वां प्राप्य कुलदूषिणीम् ॥ ८ ॥

‘कौसल्या, सुमित्रा तथा जो अन्य मेरी माताएँ हैं, वे सब तूझ कुलकलङ्किताके कारण महान् दुःखमें पड़ गयीं हैं । न त्वमध्वपते कन्या धर्मराजस्य धीमतः ।

राक्षसी तत्र जानासि कुलप्रध्वसिनी पितुः ॥ ९ ॥

‘तू बुद्धिमान् धर्मराज अध्वपतिकी कन्या नहीं है। तू उनके कुलमें कोई राक्षसी पैदा हो गयी है जो पितृके वंशका विध्वंस करनेवाली है ॥ ९ ॥

यत् त्वया धार्मिको रामो नित्यं सत्यपरायणः ।

वनं प्रस्थापितो वीरः पितापि त्रिटिक् गतः ॥ १० ॥

यत् प्रधानासि तत् पापं यदि पित्रा विना कृते ।

प्रातृभ्यां च परित्यजे सर्वलोकस्य चाप्रिये ॥ ११ ॥

‘तूने सदा सत्यमें तत्पर रहनवाले धर्मात्मा वीर श्रीरामको जो वनमें भेज दिया और तब कारण जो मेरे पिता स्वर्गस्त्रायो हो गये, इन सब कुकृत्योंद्वारा तूने प्रधान रूपमें जिस पापका अर्जन किया है, वह पाप मुझमें आकर अपना फल दिखा रहा है; इसलिये मैं पितृको न हो गया, अपने दो भाइयों

बिछुड़ गया और समस्त जगतके लोगोंके लिये अप्रिय बन गया ॥ १०-११ ॥

कौसल्यां धर्मसंयुक्तां विदुक्तां पापनिश्चये ।

कृत्वा कं प्राप्यसे हृद्यं लोकं निरयगाभिनि ॥ १२ ॥

‘पापपूर्व विचार रखनेवाली नरकगामिनी कैकेयि ! धर्मपरायण माता कौसल्याको पनि और पुत्रसंयुक्त करके अब तू किस लोकमें जायगी ? ॥ १२ ॥

किं नावबुध्यसे कुरे नियतं बन्धुसंश्रयम् ।

ज्येष्ठं पितृसमे रामं कौसल्यायात्मसम्भवम् ॥ १३ ॥

‘कुरहृदये ! कौसल्यापुत्र श्रीराम मेरे बड़े भाई और पिताके सुलभ हैं वे जितेन्द्रिय और बन्धुओंके आश्रयदाता हैं। क्या तू उन्हें इस रूपमें नहीं जानती है ? ॥ १३ ॥

अङ्गप्रत्यङ्गजः पुत्रो हृदयाद्याभिजायते ।

तस्मात् प्रियतरो मातुः प्रिया एव तु बान्धवाः ॥ १४ ॥

‘पुत्र माताके अङ्ग-प्रत्यङ्ग और हृदयसे उत्पन्न होता है, इसलिये वह माताके अधिक प्रिय होता है अन्य भाई-बन्धु केवल प्रिय ही होते हैं (किंतु पुत्र प्रियतर होता है) ॥ १४ ॥

अन्यदा किल धर्मज्ञा सुरभिः सुरसम्पता ।

वहमानो ददर्शोर्व्यां पुत्रो विगनचेतस्यौ ॥ १५ ॥

‘एक समयको बात है कि धर्मज्ञे जाननेवाली देव-सम्पन्नित सुरभि (कामधेनु) ने पृथ्वीपर अपने दो पुत्रोंको देखा, जो हन्त जोतते-जातते अचेत हो गये थे ॥ १५ ॥

तावर्धदिवसं श्रान्तौ दृष्ट्वा पुत्रौ महीतले ।

रुरोद पुत्रशोकेन बाष्पपर्याकुलेक्षणम् ॥ १६ ॥

‘मध्याह्नक समय होनतक लगातार हल जोतनेसे वे बहुत थक गये थे। पृथ्वीपर अपने उन दोनों पुत्रोंको ऐसी दुर्दृश्यमें पड़ा देख सुरभि पुत्रशोकमें रोने लगी उसके नेत्रोंमें आंसू उमड़ आये ॥ १६ ॥

अधस्ताद् व्रजतस्तस्याः सुरराज्ञो महात्मनः ।

विन्दतः पतिता गात्रे मृशमा सुरभिगन्धिनः ॥ १७ ॥

‘उसी समय महात्मा देवराज इन्द्र सुरभिके नीचेसे होकर कंठे जा रहे थे उनके शरीरपर कामधेनुक दो वृद्ध सुरगन्धिन आंसू गिर पड़े ॥ १७ ॥

निरीक्षणाणस्तां शको ददर्श सुरभिं स्थिताम् ।

आकाशं विष्टितां दीनां रुदतीं भृशदु खिताम् ॥ १८ ॥

‘जब इन्द्रने ऊपर दृष्टि डाली, तब देखा—आकाशमें सुरभि खड़ी है और अन्यन्त दुःखी हो दीनभावमें रो रही है । नां दृष्ट्वा शोकसंतप्तां वज्रपाणिर्यशस्विनीम् ।

इन्द्रः प्राञ्जलिरुद्विग्नः सुरराज्ञोऽब्रवीद् वचः ॥ १९ ॥

‘यशस्विनी सुरभिके शोकसे संतप्त हुई देख वज्रधारी देवराज इन्द्र उद्विग्न हो उठ और हाथ जोड़कर बोले—

भयं कश्चिन्न घास्मासु कुतश्चिद् विद्यते महत् ।

कुतानिमित्तं शोकस्ते बृहि सर्वहृतेषिणि ॥ २० ॥

‘सबका हित चाहनेवाली देवि । हमलोगोंपर कहींसे कोई महान् भय तो नहीं उपस्थित हुआ है ? बनाओ, किस कारणसे तुम्हें यह शोक प्राप्त हुआ है ? ॥ २० ॥

एवमुक्ता तु सुरभिः सुराजेन धीमता ।

प्रत्युवाच ततो धीरा वाक्यं वाक्यविशारदा ॥ २१ ॥

बुद्धिमान् देवराज इन्द्रके इस प्रकार पृच्छनपर बोलनेमें चतुर और घोरस्वभाववाली सुरभिने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया— ॥ २१ ॥

ज्ञानं पापं न वः किञ्चित् कुतश्चिदमराधिप ।

अहं तु ममौ शोधापि स्व पुत्रौ विषमे स्थितौ ॥ २२ ॥

‘देवेश्वर । पाप ज्ञान हो । तुमलोगोंपर कहींसे कोई भय नहीं है । मैं तो अपने इन दोनों पुत्रोंको विषम अवस्था (घोर संकट) में मग्न हुआ देख शोक कर रही हूँ । २२ ॥

एतौ दृष्ट्वा कृशौ दीनौ सूर्यरश्मिप्रतापितौ ।

वध्यमानौ बलीबदौ कर्षकेण दुरात्मना ॥ २३ ॥

‘ये दोनों बल अत्यन्त दुर्बल और दुःखी हैं, सूर्यको किरणोंसे बहुत तप गये हैं और ऊपरसे वह दुष्ट किसान इन्हें पीट रहा है ॥ २३ ॥

मम कायात् प्रसूतौ हि दुःखितौ भारपीडितौ ।

यौ दृष्ट्वा परितप्येऽहं नास्ति पुत्रसमः प्रियः ॥ २४ ॥

‘मेरे शरीरसे इनको उत्पत्ति हुई है । ये दोनों भारसे पीड़ित और दुःखी हैं, इसीलिये इन्हें देखकर मैं शोकमें मग्न हो रही हूँ, क्योंकि पुत्रके समान प्रिय दूसरा कोई नहीं है ॥ २४ ॥

यस्याः पुत्रसहस्रेस्तु कृत्स्नं व्याप्तमिदं जगत् ।

तां दृष्ट्वा रुदतीं शक्तो न सुतान् मन्यते परम् ॥ २५ ॥

‘जिनके सहस्रों पुत्रोंमें यह सारा जगत् भरा हुआ है, उन्हीं कामधेनुको इस तरह रोंनी देख इन्द्रने यह माना कि पुत्रमें बढ़कर और कोई नहीं है ॥ २५ ॥

इन्द्रो ह्यश्रुनिपातं तं स्वगात्रे पुण्यगन्धिनम् ।

सुरभिं मन्यते दृष्ट्वा भूयसीं तामिहेन्दुरः ॥ २६ ॥

‘देवेश्वर इन्द्रने अपने शरीरपर उस पवित्र गन्धवाले अश्रुपातको देखकर देवी सुरभिंको इस जगत्में सबसे श्रेष्ठ माना ॥ २६ ॥

समाप्रतिमवृत्ताया लोकधारणकाम्यया ।

श्रीमत्या गुणमुख्यायाः स्वभावपरिचेष्टया ॥ २७ ॥

यस्याः पुत्रसहस्राणि सापि शोचति कामधुक् ।

किं पुनर्यां विना रामं कौसल्या वर्तयिष्यति ॥ २८ ॥

‘जिनका चरित्र सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये समान रूपसे हितकर और अनुपम है, जो अर्णीष्ट दानरूप ऐश्वर्यशक्तिसे सम्पन्न, सत्यरूप प्रधान गुणसे युक्त तथा स्नेहकरताको कामनासे कार्यमें प्रकृत होनेवाली हैं और जिनके सहस्रों पुत्र हैं, वे कामधेनु भी जब अपने दो पुत्रोंके लिये उनके स्वाम्याविक चेष्टामें रत होनेपर भी कष्ट पानेके कारण शोक

करती हैं तब जिनके एक ही पुत्र है, वे माता कौसल्या श्रीरामके विना कैसे जीवित रहेंगी ? ॥ २७-२८ ॥

एकपुत्रा च साध्वी च विवत्सेयं त्वया कृता ।

तस्मात् त्वं सततं दुःखं प्रेत्य चेह च लप्स्यसे ॥ २९ ॥

‘इकलौहे बंटेवाली इन सती-साध्वी कौसल्याका तुने उनके पुत्रमें बिछोह कर दिया है, इसलिये तू सदा ही इस शोक और परलोकमें भी दुःख ही पायेगी ॥ २९ ॥

अहं त्वपचितिं भ्रातुः पितुश्च सकलामिमाम् ।

वर्धनं यशसश्चापि कर्णिष्यामि न संशयः ॥ ३० ॥

‘मैं तो यह राज्य लौटाकर भाईको पूजा करूँगी और यह सारा अन्योष्टसंस्कार आदि करके पिताका भी पूर्णरूपसे पूजन करूँगी तथा निःसंदेह मैं वही कर्म करूँगी, जो (तेरे दिये हुए कलङ्कको मिटानेवाला और) मेरे यशको बढ़ानेवाला हो ॥ ३० ॥

आनाय्य च महाबाहु कोसलेन्द्र महाबलम् ।

स्वयमेव प्रवेक्ष्यामि वनं मुनिनिषेधितम् ॥ ३१ ॥

‘महाबाहो महाबाहु कामलनेत्र श्रीरामको यहाँ लौटा लाकर मैं स्वयं ही मुनिजनसेविन वनमें प्रवेश करूँगी ।

नह्यहं पापसंकल्पे पापे पापं त्वया कृतम् ।

शक्तो धारयितुं पौरैश्चुकण्ठैर्निरीक्षितः ॥ ३२ ॥

‘पापपूर्ण संकल्प कर्मवाली पापिनि ! पुत्र्यामी मनुष्य आशु घ्राते हुए अकलङ्ककण्ठ हो मुझ देवों और मैं नेरे किये हुए इस पापका बाज्र डाला हूँ—यह मुझसे नहीं हो सकता । ३२ ।

सा त्वमग्निं प्रविश वा स्वयं वा विश दण्डकान् ।

रज्जुं बद्ध्वाथवा कण्ठे नहि तेऽन्यत् पराधणम् ॥ ३३ ॥

‘अब तू अलग्नी आगमें प्रवेश कर जा, या स्वयं दण्डकगण्यम चली जा अथवा गलेमें रस्सी बाँधकर प्राण दे दे, इनके मिला तेरे लिये दूसरी कोई गति नहीं है ॥ ३३ ॥

अहमप्यवनीं प्राप्ते रामे सत्यधराक्रमे ।

कृतकृत्यो धविष्यामि विप्रवासितकल्मषः ॥ ३४ ॥

‘सत्यपराक्रमो श्रीरामवन्द्यजी जब अयोध्याको भूमिपर पदार्पण करेंगे, तभी मेरा कलङ्क दूर होगा और तभी मैं कृतकृत्य होऊँगा ॥ ३४ ॥

इति नाग इवारण्ये सोमराकुशतोदितः ।

पपात भुवि संकुञ्च्यो निःश्वसन्निव पन्नगः ॥ ३५ ॥

यह कहकर भरत वनमें नोमर और अङ्कुशद्वारा पीड़ित किये गये हाथोंको घाँत मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े और क्रोधमें भरकर फुफकारते हुए साँपकी भाँति लम्बी साँस खींचने लगे ॥ ३५ ॥

संरक्तनेत्रः शिथिलाम्बरस्तथा

विधूतसर्वाभरणः परंतपः ।

वभूव भूमौ धतितो नृपात्मजः

शचीपतेः केतुरिधोत्सवक्षये ॥ ३६ ॥

शत्रुओंको तपानेवाले राजकुमार भरत ऊसब समाप्त होनपर पृथ्वीपर पड़े थे, उनके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये थे वस्त्र ढोले पड़ गये थे और सारे आभूषण टूटकर बिखर गये थे ॥ ३६ ॥

इत्यर्थे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुःसप्ततितमः सर्गः ॥ ७४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यभट्टायण आदिकाव्यक अयोध्याकाण्डमें चौहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७४ ॥

पञ्चसप्ततितमः सर्गः

कौसल्याके सामने भरतका शपथ खाना

दीर्घकालान् संपुत्थाय संज्ञां लब्ध्वा स वीर्यवान् ।
नेत्राभ्यामध्रुपूर्णाभ्यां दीनापुद्गीक्ष्य भातरम् ॥ १ ॥
सोऽमात्यमध्ये भरतो जननीमभ्यकुत्सयत् ।

बहुत देरके बाद उठाने अनंतर जब पराक्रमी भरत उठे,
नय आँसुगारे नेत्रोंमें दीन बनी बैठी हुई मानकी और देखकर
मन्त्रियोंके बीचमें उसकी निन्दा करने हुए बोले— ॥ १ ॥

राज्यं न कामये जातु मन्त्रये नापि घातरम् ॥ २ ॥
अभिषेकं न जानामि योऽभूद् राजा समीक्षितः ।

विप्रकृष्टे ह्यहं देशे शत्रुघ्नसहितोऽभवम् ॥ ३ ॥

‘मन्त्रिपरो ! मैं राज्य नहीं चाहता और न मैंने कभी
पानासे इसके लिये बातचीत ही की है । महाराजने जिस
अभिषेकका निश्चय किया था, उसका भी मुझे पता नहीं था;
क्योंकि उस समय मैं शत्रुघ्नके साथ दूर देशमें था ॥ २-३ ॥

वनवासं न जानामि रामस्याहं महात्मनः ।
विकासने च सीमित्रेः सीतायाश्च यथाभवत् ॥ ४ ॥

‘महात्मा श्रीरामक वनवास और सीता तथा लक्ष्मणके
निर्वासनका भी मुझे ज्ञान नहीं है कि वह कब और कैसे
हुआ ?’ ॥ ४ ॥

तथैव क्रोशतस्तस्य धरमस्य महात्मनः ।
कौसल्यां शब्दमाज्ञाय सुमित्रां चेदमब्रवीत् ॥ ५ ॥

महात्मा भरत जब इस प्रकार अपनी भाताको काम रह
थे, उस समय उनकी आवाजको पहचानकर कौसल्याने
सुमित्रासे इस प्रकार कहा— ॥ ५ ॥

आगतः क्रूरकार्यायाः कैकेय्या भरतः सुतः ।
तपहं द्रष्टुमिच्छामि भरतं दीर्घदर्शिनम् ॥ ६ ॥

क्रूर कर्म करनेवाली कैकेयीक पुत्र भरत आ गये हैं । वे
बड़े दूरदर्शी हैं, अतः मैं उन्हें देखना चाहता हूँ ॥ ६ ॥

एवमुक्त्वा सुमित्रा तां विषणंसदना कुशा ।
प्रतस्थे भरतो यत्र धेपमाना विचिंतना ॥ ७ ॥

सुमित्रासे ऐसा कहकर उदास मुखवाली, दुर्बल और
अचेत-सी हुई कौसल्या जहाँ भरत थे, उस स्थानपर जातेक
लिये काँपती हुई चली ॥ ७ ॥

स तु राजात्मजश्चापि शत्रुघ्नसहितस्तदा ।
प्रतस्थे भरतो येन कौसल्याया निवेशनम् ॥ ८ ॥

उसी समय उधरसे राजकुमार भरत भी शत्रुघ्नको साथ

लिये उमी मांगसे चले आ रहे थे, जिससे कौसल्याके
धनमें आना-जाना होता था ॥ ८ ॥

ततः शत्रुघ्नभरतौ कौमल्या प्रेक्ष्य दुःखितौ ।
पर्यङ्जतो दुःखतां पतितौ नष्टचेतनाम् ॥ ९ ॥
रुदन्तौ रुदतौ दुःखान् समेत्यार्था मनस्विनी ।

भरतं प्रत्युवाचेदं कौसल्या भृशदुःखिता ॥ १० ॥

तदनन्तर शत्रुघ्न और भरतने दूरसे ही देखा कि माता
कौसल्या दुःखसे व्याकुल और अचेत होकर पृथ्वीपर गिर
पड़ी हैं । यह देखकर उन्हें बड़ा दुःख हुआ और वे दौड़कर
उनके गोंदोंसे लगा गये तथा फूट-फूटकर रोने लगे । आर्या
मनस्विनी कौसल्या भी दुःखसे रो पड़ी और उन्हें छातीसे
लगाकर अत्यन्त दुःखित हो भरतसे इस प्रकार बोली— ॥

इदं ते राज्यकामस्य राज्यं प्राप्तमकण्टकम् ।
सम्प्राप्तं वन कैकेय्या शीघ्रे कुरेण कर्मणा ॥ ११ ॥

‘बेटा ! तुम राज्य चाहते थे न ? सो यह निष्कण्टक राज्य
तुम्हें प्राप्त हो गया, किन्तु खेद यही है कि कैकेयीने जल्दीके
कारण बड़े क्रूर कर्मके द्वारा इसे पाया है ॥ ११ ॥

प्रस्थाप्य चौरवसनं पुत्र मे वनवासिनम् ।
कैकेयी कं गुणं तत्र पश्यति क्रूरदर्शिनी ॥ १२ ॥

‘क्रूरतापूर्ण दृष्टि रखनेवाली कैकेयी न जाने इसमें
कौन-सा लाभ देखती थी कि उसने मेरे बेटेको चौर-वस्त्र
पहनकर वनमें भेज दिया और उसे वनवासी बना दिया ॥

क्षिप्रं मामपि कैकेयी प्रस्थापयितुमर्हति ।
हिण्यनाभो यत्रास्ते सुतो मे सुमहायशाः ॥ १३ ॥

‘अब कैकेयीको चाहिये कि मुझे भी शीघ्र ही उसी
स्थानपर भेज दे, जहाँ इस समय सुवर्णमयी नाभिसे
मृशोभित मेरे महायशस्वी पुत्र श्रीराम हैं ॥ १३ ॥

अथवा स्वयमेवाहं सुमित्रानुचरा सुखम् ।
अग्निहोत्रं पुरस्कृत्य प्रस्थाप्ये यत्र राघवः ॥ १४ ॥

अथवा सुमित्राको साथ लेकर और अग्निहोत्रको आगे
करके मैं स्वयं ही सुखपूर्वक उस स्थानको प्रस्थान करूँगी,
जहाँ श्रीराम निवास करते हैं ॥ १४ ॥

कामं वा स्वयमेवाहं तत्र यां नेतुमर्हसि ।
यज्ञासौ पुरुषव्याघ्रस्तप्यते मे सुतस्तपः ॥ १५ ॥

‘अथवा तुम स्वयं ही अपनी इच्छाके अनुसार अब मुझे

वही पहुँचा दो, जहाँ मेरे पुत्र पुरुषसिंह श्रीराम तप करते हैं ॥

इदं हि तव विस्तोषो धनधान्यसमाचितम् ।

हस्त्यश्वरथसम्पूर्णं राज्यं निर्धातितं तथा ॥ १६ ॥

‘यह धन-धान्यसे सम्पन्न तथा हाथी, घोड़े एवं रथोंसे भरा-पूरा विस्तृत राज्य कैकेयीन (श्रीरामसे छानकर) तुम्हें दिलिया है’ ॥ १६ ॥

इत्यादिबहुभिर्वाक्यैः कुरैः सम्पत्सितोऽनघः ।

विव्यथे भरतोऽतीव व्रणे तुद्येव सूचिना ॥ १७ ॥

इस तरहकी बहुत-सी कठोर बात कहकर जब कौसल्याने निरपराध भरतकी धर्मना की तब उनको बड़ी पीड़ा हुई, मानो किसीने घावमें सूई चुभो दी हो ॥ १७ ॥

पथात् चरणौ तस्यास्तदा सम्प्रान्तचेतनः ।

विलप्य बहुधासंज्ञो लब्धसंज्ञस्तदाभवत् ॥ १८ ॥

वे कौसल्याके चरणोंमें गिर पड़े, उस समय उनके चित्तमें बड़ी धक्काहट थी। वे बारम्बार विलप करके अचेत हो गये। थोड़ी देर बाद उन्हें फिर चेत हुआ ॥ १८ ॥

एवं विलपमानो तां आमुलिर्भरतस्तदा ।

कौसल्या प्रत्युवाचेदं शोर्कैर्बहुभिरावृताम् ॥ १९ ॥

तब भरत अनेक प्रकारके शोकसे चिरी हुई और पूर्वोक्त रूपसे विलाप करती हुई माता कौसल्यासे हाथ जोड़कर इस प्रकार बोले— ॥ १९ ॥

आर्ये कस्मादजानन्तं गहंसे मामकल्पवम् ।

विपुलां च मम प्रीतिं स्थितां जानासि राघवे ॥ २० ॥

‘आर्ये ! यहाँ जो कुछ हुआ है, इसकी मुझे बिल्कुल जानकारी नहीं थी। मैं सर्वथा निरपराध हूँ तो भी आप क्यों मुझे दोष दे रही हैं ? आप तो जानती हैं कि श्रीरघुनाथजीम मेरी कितना प्रगाढ़ प्रेम हैं ॥ २० ॥

कृतशास्त्राभुगा बुद्धिर्मा भूत् तस्य कदाचन ।

सत्यसंधः सतां श्रेष्ठो यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २१ ॥

‘जिसकी अनुमतिसे सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ, सत्यप्रतिज्ञ, आर्य श्रीरामजी वनमें गये हों, उस पापीकी बुद्धि कभी गुरुसे सीखे हुए शास्त्रोंमें बताये गये मार्गका अनुसरण करनेवाली न हो ॥ २१ ॥

प्रेथ्य पापीयसां यातु सूर्यं च प्रति मेहनु ।

हन्तु पादेन गाः सुप्ता यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २२ ॥

‘जिसकी सलाहसे बड़े भाई श्रीरामको वनमें जाना पड़ा हो, वह अत्यन्त पापियों—होत जातियोंका सेवक हो। सूर्यकी ओर मुँह करके मलमूत्रका त्याग करे और सोयी हुई गौओंको छातसे मारे (अर्थात् वह इन पापकर्मोंके दुष्परिणामका भागी हो) ॥ २२ ॥

कारयित्वा महत् कर्म भर्ता भृत्यमनर्थकम् ।

अधर्मो योऽस्य सोऽस्यास्तु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २३ ॥

‘जिसकी सम्मतिसे भैया श्रीरामने वनको प्रस्थान किया

है, उसको वही पाप लगे, जो सेवकसे भारी काम कराकर उसे मनुचिन केतन न देनेवाले स्वामीको लगता है ॥ २३ ॥

परिपाल्यमानस्य राजो भूतानि पुत्रवत् ।

नतस्तु द्रुहातां पापं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २४ ॥

‘जिसके कहनेसे आर्य श्रीरामको वनमें भेजा गया हो, उसको वही पाप लगे, जो समस्त प्राणियोंका पुत्रकी भाँति पालन करनेवाला राजासे झोह करनेवाले लोगोंको लगता है ॥ २४ ॥

बलिषद्भागमुद्धृत्य नृपस्मारक्षितुः प्रजाः ।

अधर्मो योऽस्य सोऽस्यास्तु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २५ ॥

‘जिसकी अनुमतिसे आर्य श्रीराम वनमें गये हों वह उसी अधर्मका भागी हो जा प्रजाओं उसकी आयका छद्म भाग लेकर भी प्रजावर्गोंकी रक्षा न करनेवाले राजाको प्राप्त होता है ॥ २५ ॥

संश्रुत्य च तपस्विभ्यः सत्रे चै यज्ञदक्षिणाम् ।

तां चापलतां पापं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २६ ॥

‘जिसकी सलाहसे भैया श्रीरामको वनमें जाना पड़ा हो, उसे वही पाप लगे, जो यज्ञमें कष्ट सहनवाले प्रह्वियोंकी दक्षिणा देनेकी प्रतिज्ञा करके पीछे इनकार कर देनेवाले लोगोंको लगता है ॥ २६ ॥

हस्त्यश्वरथसम्बाधे युद्धे शस्त्रसमाकुले ।

मा स्म कार्षीन् सतां धर्मं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २७ ॥

‘हाथी, घोड़े और रथोंसे भरे एवं अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षासे व्याप्त संग्राममें सत्पुरुषोंके धर्मका पालन न करनेवाले योद्धाओंको जो पाप लगता है, वही उस मनुष्यको भी प्राप्त हो, जिसकी सम्मतिसे आर्य श्रीरामजीको वनमें भेजा गया हो ॥

उपदिष्टं समुक्ष्मार्थं शास्त्रं यत्नेन धीमता ।

स नाशयतु दुष्टात्मा यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २८ ॥

‘जिसकी सलाहसे आर्य श्रीरामको वनमें प्रस्थान करना पड़ा है, वह दुष्टात्मा बुद्धिमान् गुरुके द्वारा यत्नपूर्वक प्राप्त हुआ शास्त्रके सूक्ष्म विषयका उपदेश भुला दे ॥ २८ ॥

मा च ते व्युत्साहसं चन्द्रभास्करतेजसम् ।

लक्ष्मीद् राज्यस्थमसीनं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २९ ॥

‘जिसकी सलाहसे बड़े भैया श्रीरामको वनमें भेजा गया हो, वह चन्द्रमा और सूर्यके समान तेजस्वी तथा विशाल भुजाओं और कंधोंसे सुशोभित श्रीरामचन्द्रजीको राज्यमिहामनगर विराजमान न देख सके—वह राजा श्रीरामके दर्शनसे वञ्चित रह जाय ॥ २९ ॥

पायसं कृसरं छागं वृथा सोऽश्नातु निर्घृणः ।

गुरुंश्चाप्यवजानातु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३० ॥

‘जिसकी सलाहसे आर्य श्रीरामचन्द्रजी वनमें गये हों वह निर्दय मनुष्य खार, खिचड़ी और बकरीके दुधको देवताओं, पितरों एवं भगवान्को निवेदन किये बिना व्यर्थ करके खाय ॥ ३० ॥

गाक्ष स्पृशतु पादेन शुक्लं परिवदेत च ।

मित्रे हृद्येत सोऽत्यर्थं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३१ ॥

‘जिसकी सम्पत्तिसे श्रीरामचन्द्रजीको वनमें जाना पड़ा हो, वह पापी मनुष्य गौआँक शरीरका पैरसे स्पर्श, गुरुजनोंकी निन्दा तथा मित्रके प्रति अत्यन्त द्रोह करे ॥ ३१ ॥

विश्वःसान् कथितं किञ्चिन् परिखाद् मिथः क्वचिन् ।

विवृणोतु स दुष्टात्मा यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३२ ॥

‘जिसके कहनेसे बड़े भैया श्रीराम वनमें गये हों, वह दुष्टात्मा गुप्त रखनेके विश्वासपर एकान्तमें बहो हूए किमोँक दोषको दूसरीपर प्रकट कर दे (अर्थात् उसे विश्वासघात करनेका पाप लगे) ॥ ३२ ॥

अकर्ता चाकृतज्ञश्च त्यक्तात्मा निरपन्नपः ।

लोकं भवतु विशिष्टो यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३३ ॥

‘जिसकी अनुमतिसे आर्य श्रीराम वनमें गये हों, वह मनुष्य उपकार न करनेवाला कृतघ्न मनुष्योंद्वारा वित्तव्यक्त निर्लज्ज और जगत्में सबके द्वेषका पाव हो ॥ ३३ ॥

पुत्रैर्दासैश्च भृत्यैश्च स्वगृहे परिवारितः ।

स एको मूढमश्रानु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३४ ॥

जिसकी सलाहसे आर्य श्रीराम वनमें गये हों, वह अपने घरमें पुत्रों दासों और भूत्योंने चिग रक्कर भी अकेले भी मिष्टान्न भोजन करनेके पापका भागी हो ॥ ३४ ॥

अप्राप्य सदृशान् दाराननपत्यः प्रधीयताम् ।

अनवाप्य क्रियां धर्मां यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३५ ॥

जिसकी अनुमतिसे आर्य श्रीरामका वनगमन हुआ हो, वह अपने अनुरूप पत्नीका न पाकर अग्निस्रोत आदि धार्मिक कर्मका अनुष्ठान किये बिना अनाजहान अतस्थामें ही मर जाय ॥ ३५ ॥

धाऽऽत्पनः संततिं द्राक्षीत् स्वेषु दारेषु दुःखितः ।

आयुःसमप्रमप्राप्य यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३६ ॥

जिसकी सम्पत्तिसे भैंर बड़े भाई श्रीराम वनमें गये हों, वह सदा दुःखी रहकर अपनी धर्मपत्नीसे होनवाली संतानका मूढ़ न देखे तथा सम्पूरा आयुका उपभोग किये बिना ही मर जाय ॥ ३६ ॥

राजस्त्रीबालवृद्धानां वधे यत् पापमुच्यते ।

भृत्यत्मागे च यत् पापं तत् पापं प्रतिपद्यताम् ॥ ३७ ॥

‘राजा, स्त्री, बालक और वृद्धोंका वध करने तथा भूत्योंका त्याग देनेमें जो पाप होता है, वही पाप उसे भी लगे ॥ ३७ ॥

लाक्षणा मधुमांसेन लोहेन च विधेया च ।

सदैव बिभृयाद् भृत्यान् यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३८ ॥

‘जिसकी सम्पत्तिसे श्रीरामका वनगमन हुआ हो, वह सदैव लाह, मधु, मंस, लोहा और त्रिष आदि निर्बिद्ध वस्तुओंको बँचकर जमाये हुए धनमें अपने भरण-पोषणके योग्य कुटुम्बोंजनोंका पालन करे ॥ ३८ ॥

संग्रामे समुपौढे च शत्रुपक्षभयंकरे ।

पलायमानो वध्येत यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३९ ॥

‘जिसकी रायसे श्रीराम वनमें जानेंका विश्वास हुए हो, वह शत्रुपक्षको भय देनेवाले युद्धके प्राप्त होनेपर उसमें पीठ दिखाकर भागता हुआ मारा जाय ॥ ३९ ॥

कपालपाणिः पृथिवीमट्टती श्रीरसंवृतः ।

भिक्षमाणो यथोन्मत्तो यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४० ॥

‘जिसकी सम्पत्तिसे आर्य श्रीराम वनमें गये हों, वह फट-पुगने, मेल-कुचल वस्त्रसे अपने शरीरको ढक्कर हाथमें खण्ण ले भोजन मँगता हुआ उन्मत्तकी भाँति पृथ्वीपर धूमता फिरे ॥ ४० ॥

मद्यप्रसक्तो भवतु स्त्रीपुक्षेभु च नित्यशः ।

कामक्रोधाभिभूतश्च यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४१ ॥

‘जिसकी सलाहसे श्रीरामचन्द्रजीको वनमें जाना पड़ा हो वह काम-क्रोधक वशीभूत होकर मदा हो मद्यपान, स्त्री-समागम और दूतकीद्वारे असक्त रहे ॥ ४१ ॥

मास्य धर्मे मनो भूयादधर्मं स निषेवताम् ।

अपात्रवर्षी भवतु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४२ ॥

जिसकी अनुमतिसे आर्य श्रीराम वनमें गये हों उसका मन कभी धर्ममें न लगे, वह अधर्मका ही सेवन करे और अपात्रकी धन दान करे ॥ ४२ ॥

संक्षिप्तान्यस्य विनानि विविधानि सहस्रशः ।

दत्तुभिर्विप्रलुप्यन्तां यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४३ ॥

‘जिसकी सलाहसे आर्य श्रीरामका वन-गमन हुआ हो उसके द्वारा सत्रहसौके संख्यामें संचित किये गये नाना प्रकारके धन-वैभवाँको लुट्टे लुट्ट ले जायें ॥ ४३ ॥

उभे संध्ये शयानस्थ यत् पापं परिकल्प्यते ।

तच्च पापं भवेत् तस्य यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४४ ॥

यदप्रिदायकं पापं यत् पापं गुस्तल्पने ।

मित्रद्रोहे च यत् पापं नत् पापं प्रतिपद्यताम् ॥ ४५ ॥

‘जिसके कहनेसे भैया श्रीरामको वनमें भेजा गया हो, उसे वही पाप लगे, जो दोनों संध्याओंके समय सोये हुए पुरुषको प्राप्त होता है। आग लगानेवाले मनुष्यको जो पाप लगता है, गुरुपत्नीगार्वाँको जिस पापकी प्राप्ति होती है तथा मित्रद्रोह करनेसे जो रूप प्राप्त होता है, वही रूप उसे भी लगे ॥ ४४-४५ ॥

देवतानां पितॄणां च मातापित्रोस्तथैव च ।

मा त्व कार्षीत् स शुश्रूष यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४६ ॥

‘जिसकी सम्पत्तिसे आर्य श्रीरामको वनमें जाना पड़ा है, वह देवताओं, पितरों और मातृ-पिताको सेवा कभी न करे (अर्थात् उनकी सेवाके पुण्यसे वर्जित रह जाय) ॥ ४६ ॥

सतां लोकान् सतां कीर्त्याः सञ्जृहन् कर्मणास्तथा ।

भ्रश्यतु क्षिप्रमर्द्य च यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४७ ॥

‘जिसकी अनुमतिसे विवश होकर भैया श्रीरामने वनमें पदार्पण किया है, वह पापी आज हां सत्पुरुषोंके लोकसे, सत्पुरुषोंकी कीर्तिसे तथा सत्पुरुषोंद्वारा सेवित कर्मसे शोध भ्रष्ट हो जाय ॥ ४७ ॥

अपास्य मातृशुभ्रवामनर्थं सोऽवतिष्ठताम् ।

दीर्घबाहुर्महावक्षा यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४८ ॥

‘जिसकी सम्मतिसे बड़ी-बड़ी बांह और विशाल वक्षवाले आर्य श्रीरामको वनमें जाना पड़ा है, वह माताकी सेवा छोड़कर अनर्थके पथमें स्थित रहे ॥ ४८ ॥

बहुभृत्यो दरिद्रश्च ज्वरोगसमन्वितः ।

समायात् सन्ततं क्लेशं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४९ ॥

‘जिसकी सलाहसे श्रीरामका वनगमन हुआ हो, वह दरिद्र हो, उसके यहाँ भरण पोषण पानके योग्य पुत्र आदिकी संख्या बहुत अधिक हो तथा वह ज्वर रोगसे पीड़ित होकर सदा क्लेश भोगता रहे ॥ ४९ ॥

आशापाशंसधानानां दीनानामूर्ध्वक्षुषाम् ।

अर्थिनां वितथां कुर्याद् यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५० ॥

‘जिसकी अनुमति पाकर आर्य श्रीराम वनमें गये हों, वह आशा लगाने ऊपरकी आग आँख उठाकर दानाके मूँहकी ओर देखनेवाले दीन वाचकोकी आशाको निष्फल कर दे ।

मायया रमतां नित्यं पुरुषः पिशुनोऽशुचिः ।

राज्ञो भीतस्त्वधर्मात्मा यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५१ ॥

‘जिसके कहनेसे भैया श्रीरामने वनको प्रस्थान किया हो, वह मायावा पुरुष चुगल, अपवित्र तथा राजासे भयभीत रहकर सदा छल-कपटमें ही रचा-पचा रहे ॥ ५१ ॥

ऋतुस्त्रातां सतीं भार्यामनुकालानुरोधिनीम् ।

अतिवर्तत दुष्टात्मा यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५२ ॥

‘जिसके परामर्शसे आर्यका वनगमन हुआ हो, वह दुष्टात्मा ऋतु-ज्ञानकाल प्राप्त होनेके कारण अपने पास आयी हुई सती-माध्वी ऋतुस्त्राता पत्नीको दुकरा द (उसकी इच्छा न पूर्ण करनेका पापका भागी हो) ॥ ५२ ॥

विप्रलुप्तप्रजातस्य दुष्कृतं ब्राह्मणस्य यत् ।

तदेतत् प्रतिपद्येत यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५३ ॥

‘जिसकी सलाहसे मेरे बड़े भाईको वनमें जाना पड़ा हो, उसको वही पाप लगे, जो (अन्न आदिका दान न करने अधवा स्वयं द्रव्य गवनके कारण) नष्ट हुई संतानवाले ब्राह्मणको प्राप्त होता है ॥ ५३ ॥

ब्राह्मणाद्योद्यतां पूजां विहन्तु कलुषेन्द्रियः ।

बालवत्सां च गां दोग्धु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५४ ॥

‘जिसकी रायसे आर्यने वनमें पदार्पण किया हो, वह मलिन इन्द्रियवान् पुरुष ब्राह्मणके लिये की जाती हुई पूजामें विघ्न डाल दे और छोटे बछड़ेकाली (दस दिनके भीतरकी ब्यायी हुई) गायका दूध दुहें ॥ ५४ ॥

धर्मदारान् परित्यज्य परदारान् विषेवताम् ।

त्यक्तधर्मरतिमूढो यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५५ ॥

‘जिसने आर्य श्रीरामके वनगमनकी अनुमति दी हो, वह मूढ़ धर्मपलोंको छोड़कर परस्त्राका सेवन करे तथा धर्मविषयक अनुशासकों को त्याग दे ॥ ५५ ॥

पानीयदूषके पापं तथैव विषदायके ।

यत्तदेकः स लभतां यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५६ ॥

‘पानीको गन्दा करनेवाले तथा दूधराको जहर देनेवाले मनुष्यको जो पाप लगता है वह सारा पाप अकेला वही प्राप्त करे जिसकी अनुमतिसे विवश होकर आर्य श्रीरामको वनमें जाना पड़ा है ॥ ५६ ॥

तृषार्तं सति पानीये विप्रलम्बेन योजयन् ।

यत् पापं लभते तत् स्याद् यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५७ ॥

‘जिसकी सम्मतिसे आर्यका वनगमन हुआ हो, उसे वही पाप प्राप्त हो, जो पापी होते हुए भी प्यासेको उससे वञ्चित कर देनेवाले मनुष्यको लगता है ॥ ५७ ॥

भक्त्या विवदमानेषु मार्गमाश्रित्य पश्यतः ।

तेन पापेन युज्येत यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५८ ॥

‘जिसकी अनुमतिसे आर्य श्रीराम वनमें गये हों, वह उस पापका भागी हो जो परस्पर झगड़ते हुए मनुष्योंमेंसे किसी एककी प्रति पक्षपात रखकर मार्गमें खड़ा हो उनका झगड़ा देखनेवाले कलहप्रिय मनुष्यको प्राप्त होता है ॥ ५८ ॥

एतमाश्रासयन्नेव दुःखार्तोऽनुपधात ह ।

विहीनी पतिपुत्राभ्यां कौसल्यां पार्थिवात्मजः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार पति और पुत्रसे विछुड़ी हुई कौसल्याको शपथके द्वारा आश्रामन देते हुए ही राजकुमार भरत दुःखसे व्याकुल होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ५९ ॥

तदा सं शपथैः कष्टैः शपमानमचेतनम् ।

भरतं शोकसंतप्तं कौसल्या वाक्यपादवीत् ॥ ६० ॥

उस समय दुष्कर शपथोंद्वारा अपनी सफाई देते हुए शोकसंतप्त एवं अचेतन भरतसे कौसल्याने इस प्रकार कहा— ॥ ६० ॥

मम दुःखमिदं पुत्र भूयः समुपजायते ।

शपथैः शपमानो हि प्राणानुपस्थात्ति मे ॥ ६१ ॥

‘बेटा तुम अनेकानेक शपथ खाकर जो मेरे प्राणोंको पीड़ा दे रहे हो इससे मेरा यह दुःख और भी बढ़ता जा रहा है ॥ ६१ ॥

दिष्ट्या न चलिमो घर्षादात्मा ते सहलक्षणः ।

वत्स सत्यप्रतिज्ञो हि सतां लोकानवाप्स्यसि ॥ ६२ ॥

‘वत्स । सौभाग्यकी बात है कि शुभ लक्षणोंमें सम्पन्न तुम्हारा चित्त धर्ममें विचलित नहीं हुआ है तुम सत्यप्रतिज्ञा हो, इसलिये तुम्हें सत्पुरुषोंके लोक प्राप्त होंगे ॥ ६२ ॥

इत्युक्त्वा चाङ्गमानीय भरतं प्रातृवत्सलम् ।

परिवृज्य महाबाहुं रुरोद भृशदुःखिता ॥ ६३ ॥

ऐसा कहकर कोसल्याने भ्रातृभक्त महाबाहु भरतको गोदमें खींच लिया और अत्यन्त दुःखों से उन्हें गलेसे लगाकर वे फूट फूटकर रोने लगे ॥ ६३ ॥

एवं विलपमानस्य दुःखातस्थ महात्मनः ।

मोहाद् शोकसंरम्भाद् बभूव लुलितं मनः ॥ ६४ ॥

महात्मा भरत भी दुःखसे आर्त होकर विलाप कर रहे थे। उनका मन मोह और शोकके वेगसे व्याकुल हो गया था ॥ ६४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षट्सप्ततितमः सर्गः ॥ ७५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें षट्सप्ततितमः सर्ग पूरा हुआ ॥ ७५ ॥

षट्सप्ततितमः सर्गः

राजा दशरथका अन्त्येष्टिमंस्कार

तमेवं शोकसंतप्तं भरतं कैकयीसुतम् ।

उवाच वदतां श्रेष्ठो वसिष्ठः श्रेष्ठवागृषिः ॥ १ ॥

इस प्रकार शोकसे सन्तप्त हुए कैकयीकुमार भरतसे वत्साओंमें श्रेष्ठ महर्षि वसिष्ठने उत्तम वाणीमें कहा— ॥ १ ॥

अलं शोकेन भर्तुं ते राजपुत्र महायशः ।

प्राप्तकालं नरपतेः कुरु संयानमुत्तमम् ॥ २ ॥

महायशस्वी राजकुमार नृन्याय कल्याण के। यह शोक छोड़ो, क्योंकि इससे कुछ होने-जानवाला नहीं है। अब समयोचित कर्तव्यपर ध्यान दो। राजा दशरथके शवको दाहसंस्कारके लिये लें चलनेका उत्तम प्रबन्ध करो ॥ २ ॥

वसिष्ठस्य वचः श्रुत्वा भरतो धरणीं गतः ।

प्रेतकुल्यानि सर्वाणि कारयामास धर्मविन् ॥ ३ ॥

वसिष्ठजीकी वचन सुनकर धर्मज्ञ भरतने पृथ्वीपर पहुँचकर वहाँ साष्टाङ्ग प्रणाम किया और मन्त्रशुद्धिद्वारा प्रेताके सम्पूर्ण प्रेतकर्मका प्रबन्ध करवाया ॥ ३ ॥

उद्धृत्य तैलसंसेकान् स तु धूमो निवन्धितम् ।

आपीतवर्णवदनं प्रसुप्तमिव भूमिपम् ॥ ४ ॥

राजा दशरथका शव तैलके कड़ाहसे निकालकर धूमिपर रखा गया। अधिक समयतक तैलमें पड़े रहनेसे उसका मुख कुछ पीला हो गया। उसे देखनेसे ऐसा जान पड़ता था, मानो भूमिपाल दशरथ सो रहे हों ॥ ४ ॥

संवेश्य शयने चाग्रये नानारत्नपरिष्कृते ।

ततो दशरथं पुत्रो विललाप सुदुःखितः ॥ ५ ॥

तदनन्तर मृत राजा दशरथको घों-घोंछकर माना प्रकारके रत्नोंसे विभूषित वनाम शय्या (विमान) पर सुलाकर उनके पुत्र भरत अत्यन्त दुःखी हो विलाप करने लगे— ॥ ५ ॥

किं ते व्यवसितं राजन् प्रोषिते मय्यनागते ।

विवास्य रामं धर्मज्ञं लक्ष्मणं च महाबलम् ॥ ६ ॥

'राजन् ! मैं परदेशमें था और आपके पास पहुँचने था

ललप्यमानस्य

विचेतनस्य

प्रणष्टबुद्धेः

पतितस्य

धूमौ ।

भुर्भुर्भुर्निःश्वसतश्च

दीर्घं

सा तस्य शोकेन जगाम रात्रिः ॥ ६५ ॥

पृथ्वीपर पड़े हुए भरतकी बुद्धि (विवेकशक्ति) नष्ट हो गयी थी। वे अचेतन से होकर विलाप करते और बारंबार लंबी साँस खींचते थे। इस तरह शोकमें ही उनकी यह रात बीत गयी ॥ ६५ ॥

नहीं पाया था, तबतक ही धर्मज्ञ श्रीराम और महाबली लक्ष्मणको वनमें भेजकर आपने इस तरह स्वर्गमें जानका विश्रय कैसे कर लिया ? ॥ ६ ॥

न यास्यसि महाराज हित्वैवं दुःखितं जनम् ।

हीने पुरुषसिंहेन रामेणाह्निष्टकर्मणा ॥ ७ ॥

'महाराज अन्यास ही मान् कर्म करनेवाले पुरुषसिंह श्रीरामने हीन इस दुःखी भवकको छोड़ आप कहाँ चले जायेंगे ? ॥ ७ ॥

योगक्षेमं तु तेऽव्ययं कोऽस्मिन् कल्पयिष्या पुरे ।

त्वयि प्रयाते स्वस्तात रामे च वनमाश्रिते ॥ ८ ॥

तब ! आप स्वर्गको चल दिये और श्रीरामने वनका आश्रय लिया—ऐसी दशा में आपके इस नगरमें निश्चिन्तता-पूर्वक प्रजाके योगक्षेमको व्यवस्था कौन करेगा ? ॥ ८ ॥

विधवा पृथिवी राजस्त्वया हीना न राजते ।

हीनचन्द्रेव रजनी मगरी प्रतिधाति याम् ॥ ९ ॥

'राजन् ! आपकी बिना यह पृथ्वी विधवाके समान हो गयी है। अब इसको शोभा नहीं हो रही है। यह पुरी भी मुझे चन्द्रहीन रात्रिके समान श्रीहीन प्रतीत होती है' ॥ ९ ॥

एवं विलपमानं ते भरतं दीनमानसम् ।

अब्रवीद् वचनं धूमो वसिष्ठस्तु महामुनिः ॥ १० ॥

इस प्रकार दानविन होकर विलाप करते हुए भरतसे महामुनि वसिष्ठने फिर कहा— ॥ १० ॥

प्रेतकार्याणि यान्यस्य कर्तव्यानि विशाश्रितेः ।

तान्व्यव्यग्रं महाबाहो क्रियतामविचारितम् ॥ ११ ॥

'महाबाहो ! इन मङ्गराजके लिये जो कुछ भी प्रेतकर्म करने हैं, उन्हें बिना विचारें जानाचिन्त होकर करो' ॥ ११ ॥

तथेति भरतो वाक्यं वसिष्ठस्याभिपूज्य तत् ।

ऋत्विक्पुरोहिताचार्यास्त्वरथायामास सर्वशः ॥ १२ ॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर भरतने वसिष्ठजीकी आज्ञा

शिरोधार्य की तथा ऋत्विक्, पुण्डित और आचार्य — सबको इस कार्यके लिये बरती करनेको कहा — ॥ १२ ॥

ये त्वग्रयो भरेन्द्रस्य अग्न्यगाराद् बहिष्कृताः ।

ऋत्विग्भिर्याजकैश्च ते हृयन्ते यथाविधि ॥ १३ ॥

रजाको अग्निशालसे जो अग्नियों बाहर निकाली गयी थीं, उनमें ऋत्विजों और याजकोंद्वारा विधिपूर्वक हवन किया गया ।

शिविकायामक्षारोप्य राजानं गतचेतनम् ।

वाष्पकण्ठा विषमसस्तमूचु परिचारका ॥ १४ ॥

तत्पश्चात् महारज दशरथक प्राणहीन शरीरको थालकीमें बिठाकर परिचारकगण उन्हें उमड़ानेभूमिको ले चले । उस समय आँसुओंमें उनका गला रुँध गया था और मन-ही-मन उन्हें बड़ा दुःख हो रहा था ॥ १४ ॥

हिरण्यं च सुवर्णं च वासांसि विविधानि च ।

प्रकिरन्तो जना मार्गं नृपतेरग्रतो ययुः ॥ १५ ॥

मार्गमें राजकोय पुरुष राजाके शवके आगे-आगे सोने, चाँदी तथा धात-धातक वस्त्र लुटाते चलते थे ॥ १५ ॥

चन्दनागुरुनिर्यासान् सरलं पद्यकं तथा ।

देवदारूणि चाहृत्य क्षेपयन्ति तथापरे ॥ १६ ॥

गन्धानुखावचाश्चान्धास्तत्र गत्वाथ भूमिपम् ।

तत्र संवेशयामासुक्षितामध्ये तपृत्विजः ॥ १७ ॥

इमंशानभूमिमें पहुँचकर चिता तैयार की जाने लगी, किसीने चन्दन लाकर गत्ता तो किसीने अगर, कोई कोई गुगुलु तथा काई मरु, पद्यक और देवदारुको लकड़ियाँ ला लाकर चितामें डालने लग । कुछ लंगाने नरह-नरहके सुगन्धित पदार्थ लाकर छोड़े । इसके बाद ऋत्विजोंने राजाके शवको चितापर रखा ॥ १६-१७ ॥

तदा हुताशनं हुत्वा जेपुस्तस्य तदृत्विजः ।

जगुश्च ते यथाशास्त्रं तत्र सामानि सामगाः ॥ १८ ॥

उस समय अग्रिमें आहुति देकर उनके ऋत्विजोंने वेदान्त मन्त्रोंका जप किया । सामगान करनेवाले विद्वान् शास्त्रीय

पद्धतिके अनुसार साम श्रुतियोंका गायन करने लगे । १८ ।

शिविकाभिश्च यानैश्च यथाहं तस्य योषितः ।

नगराग्निर्ययुस्तत्र वृद्धैः परिवृतास्तथा ॥ १९ ॥

प्रसव्यं चापि तं चक्रुर्ऋत्विजोऽग्निचितं नृपम् ।

स्वियश्च शोकसंतप्ताः कौसल्याप्रमुखास्तदा ॥ २० ॥

(इसके बाद चितामें आग लगायी गयी) तदनन्तर राजा दशरथको कौसल्या आदि रानियाँ वृद्ध रक्षकोंसे घिरी हुई यथायोग्य शिविकाओं तथा रथोंपर आबद्ध होकर नगरमें निकलीं तथा शाकस मतप्र हो इमंशानभूमिमें आकर अश्वमेधान्त यज्ञोंके अनुष्ठाना राजा दशरथके शवकी परिक्रमा करने लगीं । साथ ही ऋत्विजोंने भी उस शवको परिक्रमा की ॥ १९-२० ॥

कौर्क्षीनामिव मरीणां निनादन्तत्र शुश्रुबे ।

आर्तानां करुणं कालं क्रोशन्तीनां सहस्रशः ॥ २१ ॥

उस समय वहाँ करुण क्रन्दन करती हुई सहजाँ शोकार्त रानियोंका आर्तनाद कुरंगियोंक चीन्कारक समान सुनायी देता था ॥ २१ ॥

ततो रुदस्यो विवशा विलाप्य च पुनः पुनः ।

यानैभ्यः सरयूतीरमवतन्मुपाङ्गनाः ॥ २२ ॥

दाहकर्मक पक्षान् विवशा होकर गती हुई वे राजरानियों कांचार विलाप करके मध्याह्नको ही मगधके तटपर जाकर उतरीं ॥ २२ ॥

कृत्योदकं ते भगतेन सार्धं

मुपाङ्गना मन्त्रिपुरोहिताश्च ।

पुरं प्रविश्याश्रुपरीतनेत्रा

भूमौ दशाहं व्यनयन्त दुःखम् ॥ २३ ॥

भरतके साथ रानियों, मन्त्रियों और पुरोहितोंने भी राजाके लिये जलाकृति दी, फिर सब-के-सब नेत्रोंसे आँसु बहाने हुए नगरमें आये और दस दिनोंतक भूमिपर शयन करते हुए उन्होंने बड़े दुःखमें अपना समय व्यतीत किया ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽथोऽध्याकाण्डे षट्सप्ततितमः सर्गः ॥ ७६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें छिहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७६ ॥

सप्तसप्ततितमः सर्गः

भरतका पिताके श्राद्धमें ब्राह्मणोंको बहुत धन-रत्न आदिका दान देना, तेरहवें दिन अस्थि-संचयका

शेष कार्य पूर्ण करनेके लिये पिताकी चिताभूमिपर जाकर भरत और शत्रुघ्नका

विलाप करना और वसिष्ठ तथा सुमन्त्रका उन्हें समझाना

ततो दशाहेऽतिगते कृतशीलो नृपात्मजः ।

द्वादशेऽहनि सम्प्राप्ते श्राद्धकर्माण्यकाग्यत् ॥ १ ॥

तदनन्तर दशाह व्यतीत हो जानेपर राजकुमार भरतने ग्यारहवें दिन आत्मशुद्धिके लिये स्नान और एकादशाह श्राद्धका अनुष्ठान किया, फिर चारहवाँ दिन आनेपर

उन्होंने अन्य श्राद्ध कर्म (पामिक और सपिण्डीकरण श्राद्ध) किये ॥ १ ॥

ब्राह्मणेष्वो धनं रत्नं ददावन्नं च पुष्कलम् ।

वासांसि च महर्हर्णि रत्नानि विविधानि च ।

वास्तिकं बहु शुक्रं च गाश्चापि बहुशस्तदा ॥ २ ॥

उसमें भरतने आरुणोंको धन, रत्न, प्रचुर अन्न, बहुमूल्य वस्त्र, नाना प्रकारके रत्न, घृत-से बकरे, चाँदी और बहुतेरी गोई दान की ॥ ३ ॥

दासीदासांश्च धानानि वेदभानि सुमहानि च ।

ब्राह्मणोभ्यो ददौ पुत्रो राजस्तस्यार्थध्वेदहिकम् ॥ ३ ॥

एजपुत्र भरतने राजाके पारलौकिक हितके लिये बहुत-से दास, दासियाँ, स्वारियाँ तथा बड़े-बड़े घर भाँ ब्राह्मणोंको दिये ॥ ३ ॥

नतः प्रभातसमये दिवसे च त्रयोदशे ।

विललाप महाबाहुर्भरतः शोकमूर्च्छितः ॥ ४ ॥

तदनन्तर त्रयोदश दिन प्रातःकाल महाबाहु भरत शोकसे मूर्च्छित होकर विलाप करने लगे ॥ ४ ॥

शब्दापिहितकण्ठश्च शोचनार्थमुपागतः ।

चिन्तामूले पितुर्वाक्यमिदमाह सुदुःखितः ॥ ५ ॥

तात यस्मिन् निसृष्टोऽहं त्वया भ्रातरि राघवे ।

तस्मिन् चने प्रव्रजिते शून्ये त्यक्तोऽभ्यहं त्वया ॥ ६ ॥

उस समय रोनेमें उनका गला भर आया था, वे पिताके चिन्तास्थानपर अस्त्रिमन्त्रयके लिय आये और अत्यन्त दुःखों होकर इस प्रकार कहने लगे—'तात । आपने मुझ जिन ज्येष्ठ भ्राता श्रौण्युत्पत्त्यर्थक राघवे संगत था उनसे वनमें चले जानेपर आपन मुझे सुनमें ही छोड़ दिया । इस समय क्या कोई सभारा नहीं ॥ ५-६ ॥

यस्या गतिरनाश्वराः पुत्रः प्रव्रजितो वनम् ।

नामध्वा तात कौसल्या त्यक्त्वा त्वं क्व गतो नृप ॥ ७ ॥

'तात । नरेश्वर । जिन अनाथ हुई देवीके एकमात्र आधार पुत्रको आपने वनमें भेज दिया, उन माता कौसल्याको छोड़कर आप कहाँ चले गये ? ॥ ७ ॥

दृष्ट्वा भस्मारुणं तप्त दग्धास्थि स्थानमण्डलम् ।

पितुः शरीरनिर्वाणं निष्टनन् विषसाद ह ॥ ८ ॥

पिताको चिताका वह स्थानमण्डल मम्मसे भर हुआ था अत्यन्त दाहक कारण कुछ लाल दिखायी देना था । वहाँ पिताको जली हुई हड्डियाँ दिखायी हुई थी पितृक अर्पणक निर्वाहका वह स्थान देखकर भरत अत्यन्त विलाप करने हुए शोकमें डूब गये ॥ ८ ॥

स तु दृष्ट्वा रुदन् दीनः पपात धरणीतले ।

अथाप्यमानः शक्रस्य यन्त्रध्वज इवोच्च्रितः ॥ ९ ॥

उस स्थानको देखते ही वे दीनभावसे रोकर पृथ्वीपर गिर पड़े । जैसे इन्द्रका यन्त्रध्वज केँचा ध्वज ऊपरको उठाये जाने समय खिसककर गिर पड़ा हो ॥ ९ ॥

अभिपेतुस्ततः सर्वे तस्यामात्याः शुचिन्नमः ।

अन्नकाले निपतिते ययातिमुषयो यथा ॥ १० ॥

तब उनके सारे मन्त्री उन पवित्र घनवान्के भगनके पास आ पहुँचे, जैसे पुण्योंका अन्त होनेपर स्वर्गसे गिरे हुए राजा

ययातिक पास अष्टक आदि राजर्षि आ गये थे ॥ १० ॥

शत्रुघ्नश्चापि भरतं दृष्ट्वा शोकपरिप्लुतम् ।

विसृज्य न्यपनद् भूमौ भूमिपालमनुस्मरन् ॥ ११ ॥

भरतको शोकमें डूबा हुआ देख शत्रुघ्न भी अपने पिता महागज दशरथको व्यावार स्मरण करते हुए अचेत होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ११ ॥

उन्मत्त इव निश्चितो विललाप सुदुःखितः ।

स्मृत्वा पितुर्गुणाङ्गानि तानि तानि तदा तदा ॥ १२ ॥

वे समय-समयपर अनुभवमें आये हुए पिताके स्मरण-पालनमन्त्र्यों उन-उन गुणोंका स्मरण करके अत्यन्त दुःखों के मुध-बुध खोकर उन्मत्तके ममान विलाप करने लग— ॥ १२ ॥

मन्थराप्रभवस्तीक्ष्ण

कैकेयीग्राहसंकुलः ।

वरदानमयोऽक्षोभ्योऽमजयच्छोकमागरः ॥ १३ ॥

हाय ! मन्थरासे जिसका प्राकट्य हुआ है, कैकेयीरूपी ग्राहसे जो व्याप्त है तथा जो किमो प्रकार भी मिटाया नहीं जा सकता, उस वरदानमय शोकरूपी डमरु समुद्रने हम सब लोगोंको अपने भीतर निमग्न कर दिया है ॥ १३ ॥

मुकुमारं च बालं च सततं लालितं त्वया ।

क्व तात भरतं ह्रित्वा विलपन्ते गतो भागवान् ॥ १४ ॥

तात । आपने जिनका सदा लाड़-प्यार किया है तथा जो मुकुमार और बालक हैं उन गत विलपन्ते हुए भरतको छोड़कर आप कहाँ चले गये ? ॥ १४ ॥

ननु भोज्येषु पानेषु वस्त्रेषु धरणेषु च ।

प्रवारयति सर्वान् वस्तान् कोऽद्य करिष्यति ॥ १५ ॥

भोजन, पान, वस्त्र और आभूषण—इन सबको अधिक समस्यामें एकत्र करके आप हम सब लोगोंमें अपनी रुचिकी वस्तुएँ प्रहण करनेकी कसने थे अब कौन हमारे लिये ऐसी व्यवस्था करेगा ? ॥ १५ ॥

अवदारणकाले तु पृथिवी नावदीर्यते ।

विह्वेता या त्वया राजा धर्मजैन महान्मना ॥ १६ ॥

'आप-जैसे धर्मज्ञ महान्मा राजासे रहित होनेपर पृथ्वीको फट जाना चाहिये । इस फटनेके अवसरपर भी जो यह फट नहीं गी है, यह आश्चर्यको बात है ॥ १६ ॥

धिनरि स्वर्गमापन्ने रामे चारण्यमाश्रिते ।

किं मे जीविनमापथ्यं प्रवेक्ष्यामि हुनाशनम् ॥ १७ ॥

'पिता स्वर्गवासी हो गये और श्रीराम वनमें चले गये । अब मृष्टमें जीवित रहनेकी क्या शक्ति है ? अब तो मैं अग्निमें ही प्रवेश करूँगा ॥ १७ ॥

हीनो भ्रात्रा च पित्रा च शून्यामिक्ष्वाकुपालितम् ।

अयोध्यां न प्रवेक्ष्यामि प्रवेक्ष्यामि तपोवनम् ॥ १८ ॥

'बड़े भाई और पितासे हीन होकर इक्ष्वाकुवंशी मवेशी-द्रव्य पालित इस सुनो अयोध्यामें मैं प्रवेश नहीं करूँगा;

तपोवनको ही चला जाऊंगा ॥ १८ ॥

तयोर्विलपितं श्रुत्वा व्यसनं चाप्यवेक्ष्य तत् ।

भृशमार्ततरा भूयः सर्व एवानुगामिनः ॥ १९ ॥

उन दोनोंका विलपन सुनकर और उस संकटको देखकर समस्त अनुचर-वर्गके लोग पुनः अत्यन्त शोकसे व्याकुल हो उठे ।

ततो विषण्णौ श्रान्तौ च शत्रुघ्नभरताबुधौ ।

धरायां स्म व्यचेष्टेतां भग्नशृङ्गाविषवर्धौ ॥ २० ॥

उस समय भरत और शत्रुघ्न दोनों भाई विषादग्रस्त और धकित होकर टूटे सींगोंवाले दो बैल्लोंके समान पृथ्वीपर लोट रहे थे ॥ २० ॥

ततः प्रकृतिमान् वैद्यः पितुरेषां पुरोहितः ।

वसिष्ठो भरतं धाक्यमुत्थाप्य तमुवाच ह ॥ २१ ॥

तदनन्तर दैवी प्रकृतिसंयुक्त और सर्वज्ञ वसिष्ठजी जो इन श्रीराम आदिके पिताके पुत्रजित थे, भरतको उठाकर उनसे इस प्रकार बोले— ॥ २१ ॥

अथोदशोऽयं दिवसः पितुर्वृत्तस्य ते विधो ।

सावशेषास्थितिर्धये किमिह त्वं विलम्बसे ॥ २२ ॥

‘भयो ! तुम्हारे पिताके द्वादशसंस्कार हुए यह तेरहवां दिन है, अब अस्थिसंचयका जो शेष कार्य है, उसका करण मैं तुम यहाँ विलम्ब क्यों लगा रहे हो ? ॥ २२ ॥

प्रीणि हृद्भानि धृतेषु प्रवृत्तान्यविशेषतः ।

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽष्टाध्याकाण्डे सप्तसप्ततितमः सर्गः ॥ ७७ ॥

इस प्रकार श्रीमद्वाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यक अष्टाध्याकाण्डमें सप्तहत्तरवां सर्ग पूरा हुआ ॥ ७७ ॥

अष्टसप्ततितमः सर्गः

शत्रुघ्नका रोष, उनका कुब्जाको घसीटना और भरतजीके कहनेसे उसे मूर्च्छित अवस्थामें छोड़ देना

अथ यात्रां समीहन्तं शत्रुघ्नो लक्ष्मणानुजः ।

भरतं शोकसंतप्रपिदं वचनयद्वतीत् ॥ १ ॥

तेरहवें दिनका कार्य पूर्ण करके श्रीरामचन्द्रजीके पास आनेका विचार करते हुए साकसंनत भरतसे लक्ष्मणके छोटे भाई शत्रुघ्नने इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

गतियः सर्वभूतानां दुःखे किं पुनरात्मनः ।

स रामः सत्त्वसम्पन्नः स्त्रिया प्रव्राजितो वनम् ॥ २ ॥

‘भैया ! जो दुःखके समय अपने तथा आत्मीयजनोंके लिये तो बात ही क्या है, समस्त प्राणियोंको भी सहाय देनेवाले हैं व सत्त्वगुणसम्पन्न श्रीराम एक स्त्रीक द्वारा वनमें भेज दिये गये (यह कितने स्तब्धकी बात है) ॥ २ ॥

वल्लवान् वीर्यसम्पन्नो लक्ष्मणो नाम योऽप्यसौ ।

किं न मोक्षयते रामं कृत्वापि पितृनिग्रहम् ॥ ३ ॥

तथा वे जो बल और पराक्रमसे सम्पन्न लक्ष्मण नामधारी शूरवीर हैं उन्होंने भी कुछ नहीं किया, मैं पूछना हूँ कि उन्होंने पिताको वैद करके भी श्रीरामको इस संकटसे

तेषु चापरिहायेषु नैवं भवितुमर्हसि ॥ २३ ॥

‘मूल-प्यास, शोक-मोह तथा जल-मृत्यु—ये तीन इन्द्र मर्षी प्राणियोंमें समानरूपसे उपलब्ध होते हैं इन्हें रोकना सर्वथा असम्भव है—ऐसी स्थितिमें तुम्हें इस तरह शोक-कुल नहीं होना चाहिये’ ॥ २३ ॥

सुमन्त्रश्चापि शत्रुघ्नमुत्थाप्याभिप्रसाद्य च ।

श्रावयामास तत्त्वज्ञः सर्वभूतभवाभवौ ॥ २४ ॥

तत्त्वज्ञ सुमन्त्रने भी शत्रुघ्नको उठाकर उनके चित्तको शान्त किया तथा समस्त प्राणियोंके जन्म और मरणकी अनिवार्यतत्त्वा उपदेश सुनाया ॥ २४ ॥

उत्थितां नौ नरव्याघ्रौ प्रकाशने यशस्विनौ ।

वर्षानपपरिग्लानौ पृथगिन्द्रध्वजाविष ॥ २५ ॥

उस समय उठे हुए वे दोनों यशस्वी नरश्रेष्ठ वर्षा और धूपमें मग्न हुए दो अलग-अलग इन्द्रध्वजोंके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ २५ ॥

अश्रुणि परिमृदन्तौ रक्ताक्षौ दीनभाविणौ ।

अयात्यास्त्वरयन्ति स्म तनयौ चापराः क्रियाः ॥ २६ ॥

वे अमृ पोंछते हुए दीनतापूर्ण बाणोंमें खोलते थे उन दोनोंको आँखें लाल हो गयी थीं तथा मन्त्रीलोग उन दोनों राजकुमारोंको दूसरी-दूसरी क्रियाएँ शीघ्र करनेके लिये प्रेरित कर रहे थे ॥ २६ ॥

क्यों नहीं कुड़ाया ? ॥ ३ ॥

पूर्वमेव तु विप्राह्यः समवेक्ष्य नयानयौ ।

उत्पद्यं यः समारूढो नार्या राजा वशं गतः ॥ ४ ॥

‘जब राजा एक नारीके वशमें होकर भुरे मार्गपर आरुढ़ हो चुके थे तब न्याय और अन्यायका विचार करके उन्हें फलते ही कैद कर लेना चाहिये था’ ॥ ४ ॥

इति सम्भावमाणे तु शत्रुघ्ने लक्ष्मणानुजे ।

प्राग्द्वारेऽभूत् तदा कुब्जा सर्वाभरणाभूषिता ॥ ५ ॥

लक्ष्मणके छोटे भाई शत्रुघ्न अब इस प्रकार रोषमें भरकर खोल रहे थे, उसी समय कुब्जा समस्त आभूषणोंसे विभूषित हो उस उद्विग्नजनके पूर्वद्वारपर आकर खड़ी हो गयी ॥ ५ ॥

लिप्ता चन्दनसारेण राजवल्लाणि बिभ्रती ।

विविधं विविधैस्तेजैर्भूषणैश्च विभूषिता ॥ ६ ॥

उसके अङ्गोंमें चतुर्भुज चन्दनका लेप लगा हुआ था तथा वह मण्डनियोंके पहनने योग्य विविध वस्त्र धारण करके शान्ति-भारतके आभूषणोंमें सब-धजकर खड़ी आयी थी ॥ ६ ॥

मेखलादामभिश्चित्रैरन्यैश्च वरभूषणैः ।
बभ्रासे बहुभिर्बद्धा रज्जुभिरिव खानरी ॥ ७ ॥

करघनीकी विचित्र लड़कियों तथा अन्य बहुसंख्यक सुन्दर
अलङ्कारों से अलङ्कृत गा वर बहुत-सी रस्सियों से बंधी हुई
खानरीके समान जान पड़ती थी ॥ ७ ॥

तां समीक्ष्य तदा द्वास्थो भृशं पापस्य कारिणीम् ।
गृहीत्वाकरुणां कुब्जां शत्रुघ्राय न्यवेदयत् ॥ ८ ॥

वही सापी युगइयोकी जड़ थी। वही श्रीरामके
वनवासरूपी पापका मूल कारण थी। उसपर दृष्टि पड़ते ही
द्वारपालन उसे पकड़ लिया और वही निद्रयत्नाक साथ घर्मर
लाकर शत्रुघ्नके हाथमें देते हुए कहा— ॥ ८ ॥

यस्याः कृते वने राघो न्यस्तदंष्ट्रश्च वः पिता ।
सेयं पापा नृशंसा च तस्याः कुरु यथापति ॥ ९ ॥

‘राजकुमार ! जिसके कारण श्रीरामको वनमें नियाम
करना पड़ा है और आपलोगोंके पिताने शरीरका परित्याग
किया है, वह क्रूर कर्म करनेवाली पापिनी यही है। आप
इसके साथ जैसा बर्ताव इच्छित समझे करें’ ॥ ९ ॥

शत्रुघ्नश्च तदाज्ञाय वचनं भृशदुःखितः ।
अन्तःपुरव्रगन् सर्वानित्पुत्राञ्च धुनव्रतः ॥ १० ॥

द्वारपालकी बातपर विचार करके शत्रुघ्नका दुःख और बढ़
गया। उन्होंने अपने कर्तव्यका निश्चय किया और अन्तःपुरमें
रहनेवाले सब लोगोंको सुनाकर इस प्रकार कहा— ॥ १० ॥

तीव्रमुत्पादितं दुःखं भ्रातॄणां मे तथा पितुः ।
यथा सेयं नृशंसस्य कर्मण फलमश्नुताम् ॥ ११ ॥

‘इस पापिनीने मेरे भाइयों तथा पिताको जैसा दुःख दुःख
पहुँचाया है, अपने उस क्रूर कर्मका जैसा ही फल वह भी भोगे’ ।
एवमुक्त्वा च तेनाशु सरसीजनममावृता ।

गृहीता बलवत् कुब्जा सा तद् गृहपनादयत् ॥ १२ ॥

ऐसा कहकर शत्रुघ्ने सखियाँसे घिरी हुई कुब्जाकी गर्त
ही बलपूर्वक पकड़ लिया। वह डरके मारे ऐसी चीखने-
चिल्लाने लगी कि वह सारा महल गूँज उठा ॥ १२ ॥

ततः सुभृशसंतप्तस्तस्याः सर्वः सरसीजनः ।
क्रुद्धभाजाश्च शत्रुघ्ने व्यपलायत सर्वशः ॥ १३ ॥

फिर तो उसकी भारी सखियाँ अन्यन्त संताप हो उठीं और
शत्रुघ्नको कुपित जानकर सब ओर भाग पड़ीं ॥ १३ ॥

अमन्त्रयत कृन्त्रश्च तस्याः सर्वः सरसीजनः ।
यथायं समुपक्रान्तो निःशेष नः करिष्यति ॥ १४ ॥

उसकी सम्पूर्ण सखियाँने एक जगह एकत्र होकर
आपसमें सलाह की कि ‘जिस प्रकार इन्होंने बलपूर्वक
कुब्जाको पकड़ा है, उसमें जान पड़ता है, वे हमलोगोंमेंमें
किसीको जीवित नहीं छोड़ेंगे’ ॥ १४ ॥

सानुक्रोशां वदान्यां च घर्मजां च यशस्विनीम् ।
कौसल्यां शरणं यामः मा हि नोऽस्ति ध्रुवा गतिः ॥ १५ ॥

अतः हमलोग परम दयालु, ददार, धर्मज्ञ और
यशस्विनी महारानी कौसल्याकी शरणमें चलें। इस समय वे
हैं हमारी निश्चल गति हैं ॥ १५ ॥

स च रोषेण संवीतः शत्रुघ्नः शत्रुशासनः ।
विचकर्ष तदा कुब्जां क्रोशन्तीं पृथिवीतले ॥ १६ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले शत्रुघ्न रोषमें भरकर कुब्जाको
जमानपर घर्माटने लगे। उस समय वह जोर-जोरसे चीत्कार
कर रही थी ॥ १६ ॥

तस्यां ह्याकृष्यमाणायां मन्थरायां ततस्ततः ।
चित्रं बहुविधं भाण्डं पृथिव्यां तदव्यशीर्यत ॥ १७ ॥

जब मन्थरा घसीटी जा रही थी, उस समय उसके नाना
प्रकारके विचित्र अभूषण टूट-टूटकर पृथ्वीपर इधर-उधर
विखरे जाते थे ॥ १७ ॥

नेन भाण्डेन विस्तीर्णी श्रीमद् राजनिकेशनम् ।
अशोभत तदा भूयः शारदं गगनं यथा ॥ १८ ॥

अभूषणोंके उन टुकड़ोंसे वह शोभाशाली विशाल
राजभवन नक्षत्रमालाप्राम अलङ्कृत शरत्कालक आकाशकी
भाँति अधिक सुशोभित हो रहा था ॥ १८ ॥

स बली बलवत् क्रोधात् गृहीत्वा पुरुषवर्धभः ।
कैकेयीयधिनिर्धर्त्य जधावे परुषं वचः ॥ १९ ॥

बलवान् नरश्रेष्ठ शत्रुघ्न जिस समय रोषपूर्वक मन्थराको
जगमें पकड़कर घमाट रहा था उस समय उस दृढ़ानक लिये
कैकेयी उनका पाम आयी। जब उन्होंने उसे धिक्कारते हुए उसके
घनि वही कठार साते कहा—उसे रोषपूर्वक फटकारा ॥ १९ ॥

नैवांक्ष्य परुषदुःखं कैकेयीं भृशदुःखिता ।
शत्रुघ्नधयसंभ्रमा पुत्रं शरणमागता ॥ २० ॥

शत्रुघ्नक वे कठार वचन बड़े ही दुःखदायी थे। उन्हें
सुनकर कैकेयीका बहुत दुःख हुआ। वह शत्रुघ्नके धयसे
थरी उठी और अपने पुत्रकी शरणमें आयी ॥ २० ॥

नै प्रेक्ष्य भ्रातः क्रुद्धं शत्रुघ्नमितमब्रवीत् ।
अवध्याः सर्वभूतानां प्रमदाः क्षम्यतामिति ॥ २१ ॥

शत्रुघ्नको क्रोधमें भरा हुआ देख भरतने उनसे कहा—
‘सुमित्राकुमार ! क्षमा करो। स्त्रियाँ सभी प्राणियोंके लिये
अवध्य हन्ता हैं ॥ २१ ॥

हन्त्यामहमिमां पापां कैकेयीं दुष्टकारिणीम् ।
यदि मां धार्मिको गयो नासूयेन्मानुघातकम् ॥ २२ ॥

यदि भुझे यह भय न होता कि धर्मात्मा श्रीराम मातृघाती
समझकर मुझसे घृणा करने लगे तो मैं भी इस दुष्ट
आन्तरण करनेवाली पापिनी कैकेयीको मार डालता ॥ २२ ॥

उपायपि हतां कुब्जां यदि जानाति राघवः ।
त्वां च मां चैव धर्मात्मा नाभिधाधिष्यने ध्रुवम् ॥ २३ ॥

‘धर्मात्मा श्रीरघुनाथजी तो इस कुब्जाके भी मारे जानेका
समाचार यदि जान लें तो वे निश्चय ही तुमसे और मुझसे

बोलना भी छोड़ देंगे' ॥ २३ ॥

भरतस्य सचः श्रुत्वा शत्रुघ्नो लक्ष्मणानुजः ।

न्यवर्तत ततो दोषात् तां मुपोच स मूर्च्छिताम् ॥ २४ ॥

भरतजीकी यह बात सुनकर लक्ष्मणके छोटे भाई शत्रुघ्न मन्थराके बधरूपी दोषसे निश्चिन्त हो गये और उसे मूर्च्छित अवस्थामें ही छोड़ दिया ॥ २४ ॥

सा पादपूजे कैकेय्या मन्थरा निपयात ह ।

निःश्वसन्ती सुदुःखार्ता कृपणं विललाप ह ॥ २५ ॥

मन्थरा कैकेयीके चरणोंमें गिर पड़ी और लम्बी साँस खींचती हुई अत्यन्त दुःखमें आर्त हो करुण विन्यास

इत्यर्थे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽध्याकाण्डेऽष्टमस्तितमः सर्गः ॥ ७८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अष्टाध्याकाण्डमें अठहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७८ ॥

एकोनाशीतितमः सर्गः

मन्त्री आदिका भरतसे राज्य ग्रहण करनेके लिये प्रस्ताव तथा भरतका अभिषेक-सामग्रीकी परिक्रमा करके श्रीरामको ही राज्यका अधिकारी बताकर उन्हें लौटा लानेके लिये चलनेके निमित्त व्यवस्था करनेकी सबको आज्ञा देना

ततः प्रभातसमये दिवसेऽथ चतुर्दशे ।

समेत्य राजकर्तारो भरतं वाक्यमब्रुवन् ॥ १ ॥

तदनन्तर चौदहवें दिन प्रातःकाल सम्मत् राजकर्मचारों मिलकर भरतसे इस प्रकार बोले— ॥ १ ॥

गतो दशरथः स्वर्गं यो नो गुरुतरो गुरुः ।

रामं प्रव्राज्य वै ज्येष्ठं लक्ष्मणं च महाबलम् ॥ २ ॥

त्वमद्य भव नो राजा राजपुत्रो महायशः ।

संगत्या नापाराधोति राज्यमेतदनायकम् ॥ ३ ॥

'महायशस्वी राजकुमार ! जो हमारे सर्वश्रेष्ठ गुरु थे वे महाराज दशरथ तो अपने ज्येष्ठ पुत्र श्रीराम तथा महाबली लक्ष्मणको वनमें भेजकर स्वयं स्वर्गलोकको चले गये अब इस राज्यका कोई स्वामी नहीं है, इसलिये अब आप ही हमारे राजा हों। आपके बड़े भाईको स्वयं महाराजने वनवासकी आज्ञा दी और आपको यह राज्य प्रदान किया। अतः आपका राजा होना न्यायमङ्गल है। इस मङ्गलके कारण ही आप राज्यको अपने अधिकारमें लेकर किर्माक प्रति कोई अपराध नहीं कर रहे हैं ॥ २-३ ॥

आभिषेचनिकं सर्वमिदमादाय राघव ।

प्रतीक्षते त्वां स्वजनः श्रेणयस्तु नृपात्मज ॥ ४ ॥

'राजकुमार रघुनन्दन ! ये मन्त्री आदि स्वजन, पुरवासों तथा सैन्धल्लोग अभिषेकको भव सामग्री लेकर आपकी राह देखते हैं ॥ ४ ॥

राज्यं गृहाण भरत पितृपतामहं ध्रुवम् ।

अभिषेचय चात्मानं पाहि चास्मान् नरर्षभ ॥ ५ ॥

'भरतजी ! आप अपने माता-पितामहोंके इस राज्यको

करने लगी ॥ २५ ॥

शत्रुघ्नविक्षेपविमूढसंज्ञां

समीक्ष्य कुब्जां भरतस्य माता ।

शनैः समाम्नासयदार्तरूपां

क्रौञ्चीं विलग्नमिव वीक्षमाणाम् ॥ २६ ॥

शत्रुघ्नके पटकने और घमोटनेसे आर्त एवं अचेत हुई कुब्जाको देखकर भरतको माता कैकेयी धीरे-धीरे उसे आश्वासन देने—हृष्टामें लानेकी चेष्टा करने लगी उस समय कुब्जा पिंजड़में बंधी हुई क्रौञ्चीकी भाँति कानर दृष्टिमें उसकी ओर देख रही थी ॥ २६ ॥

अवश्य ग्रहण करजिये। नश्रेष्ठ ! राजाके पदपर अपना अभिषेक कराइये और हमलोगोंको रक्षा कीजिये' ॥ ५ ॥

आभिषेचनिकं प्राण्डं कृत्वा सर्वं प्रदक्षिणम् ।

भरतस्तं जने सर्वं प्रत्युवाच धृतव्रतः ॥ ६ ॥

यह सुनकर उत्तम व्रतको धारण करनेवाले भरतने अभिषेकके लिये रखी हुई कलश आदि सब सामग्रीकी प्रदक्षिणा की और वहाँ उपस्थित हुए सब लोगोंको इस प्रकार उत्तर दिया— ॥ ६ ॥

ज्येष्ठस्य राजता नित्यमुत्तिता हि कुलस्य नः ।

नैव भवन्तो मां वक्तुमर्हन्ति कुशला जनाः ॥ ७ ॥

'सज्जनों आप-श्रेण बुद्धिमान् हैं, आपको मुझमें ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये। हमारे कुलमें सदा ज्येष्ठ पुत्र ही राज्यका अधिकारी होता आया है और यही उचित भी है।

रायः पूर्वा हि नो भ्राता भविष्यति महीपतिः ।

अहं स्वरण्ये वत्स्यामि वषाणि नव पञ्च च ॥ ८ ॥

'श्रीरामचन्द्रजी हमलोगोंके बड़े भाई हैं, अतः वे ही राजा होंगे। उनका बदल मैं हा चौदह वर्षोंके वनमें निवास करूँगा ॥ ८ ॥

युज्यतां महती संना चतुरङ्गमहाबला ।

आनयिष्याम्यहं ज्येष्ठं भ्रातरं राघवं वनात् ॥ ९ ॥

'आपलोग विशाल चतुरङ्गिणी सेना, जो सब प्रकारसे मजबूत हो, तैयार कीजिये। मैं अपने ज्येष्ठ भ्राता श्रीरामचन्द्रजीको वनसे लौटा लाऊँगा ॥ ९ ॥

आभिषेचनिकं चैव सर्वमेतदुपस्कृतम् ।

पुरस्कृत्य गमिष्यामि रामहेतोर्वनं प्रति ॥ १० ॥

तत्रैव ते नरव्याघ्रमभिषिच्य पुरस्कृतम् ।

आनयिष्यामि यं रामं हव्यवाहमिवाध्वरान् ॥ ११ ॥

‘अभिषेकके लिये संचित-हुई इस सारी सामर्थ्यके आगे करके मैं श्रीरामसे मिलनेके लिये वनमें चट्टेगा और उन नरभट्ट श्रीरामचन्द्रजीका वहाँ अभिषेक करके वृजमें जायी करनेवाली अग्निके समान उन्हें आगे करके अयोध्यामें ले आऊंगा ॥

न सकामो करिष्यामि स्वाभिमां धातुगन्धिनीम् ।

वने वत्थाप्यहं दुर्गे गम्ये राजा भविष्यति ॥ १२ ॥

‘परंतु जिसमें लेशमात्र धातुभाव भेष है, अपने माता कहलानेवाली इस कैकेयीको मैं कदापि सफलमनांश नहीं होने दूंगा । श्रीराम यहकै राजा हंग और मैं दुर्गमें वनमें निवास करूंगा ॥ १२ ॥

क्रियतां शिल्पिभिः पन्थाः समानि विवर्माणि च ।

रक्षिणश्चानुसंधान्तु पथि दुर्गविचारका ॥ १३ ॥

‘कारोगर आगे जाकर रास्ता बनायें, ऊँची-नीची भूमिकां बराबर करें तथा मार्गमें दुर्गमें स्थानोंकी जानकारी रखकर रक्षक भी साथ-साथ चलें ॥ १३ ॥

एवं सम्भावमाणं ते रामहेनोर्नृपात्मजम् ।

प्रत्युवाच जनः सर्वः श्रीमद् वाक्यमनुममम् ॥ १४ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके लिये ऐसा बने काम जब राजकुमार भरतसे वहाँ आये हुए सब स्थानोंमें इस प्रकार सुन्दर एवं परम उत्तम बात कही— ॥ १४ ॥

एवं ते भावमाणस्य पथा श्रीलपतिवृत्ताम् ।

यस्त्वं ज्येष्ठे नृपमुने पृथिवीं दानुमिच्छसि ॥ १५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकोनाशीतितमः सर्गः ॥ ७९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यभट्टायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें उज्जमौर्वी सर्ग पूरा हुआ ॥ ७९ ॥

अशीतितमः सर्गः

अयोध्यासे गङ्गातटतक सुरम्य शिखर और कूप आदिसे युक्त सुरबट राजमार्गका निर्माण

अथ भूमिप्रदेशजाः सूत्रकर्मविशारदाः ।

स्वकर्मभिः शूराः खनका यन्त्रकाम्बुधा ॥ १ ॥

कर्मोन्तिक्राः स्थपत्यः पुण्या यन्त्रकोविदाः ।

तथा सर्वकर्मक्षेत्रे मार्गिणो वृक्षनक्षकाः ॥ २ ॥

सूपकाराः सुधाकारा वंश्चर्मकृतस्तथा ।

समर्था ये च द्रष्टारः पुरतश्च प्रतस्थिरे ॥ ३ ॥

नृपञ्चान् ऊँची नीची एवं सजल-विहीन भूमिकां जल रखनेवाले, सूत्रकर्म (छावनों आदि बनानेके लिये मृत्त धारण करने) में कुशल, मार्गको रक्षा आदि अपने कर्ममें सदा साधधान रहनेवाले शूर-वीर, भूमि खोदने या सुसज्ज आदि बनानेवाले, नदी आदि पार करनेके लिये तुरंत साधन उपस्थित करनेवाले अथवा जलके प्रवाहको रोक रखने केतनभागों कारोगर, खनई, रथ और यन्त्र आदि बनानेवाले

‘भरतजी ! ऐसे उत्तम वचन कहनेवाले आपके पास कमलत्रयमें निवास करनेवाली लक्ष्मी अवस्थित हो, क्योंकि आप राजाके ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामवदे स्वयं ही इस पृथिवीका राज्य लौटा देना चाहते हैं’ ॥ १५ ॥

अनुत्तमं तद्वचनं नृपात्मजः

प्रभाषितं संश्रवणो निशम्य च ।

प्रहर्षजास्तं प्रति बाष्पकिन्दवो

निपेतुरामानननेत्रसम्पवाः ॥ १६ ॥

उन लंगोकर कहा हुआ वह परम उत्तम आशीर्षवचन जब कानमें पड़ा, तब ठसे सुनकर राजकुमार भरतकी बड़ी प्रसन्नता हुई उन सबकी आँखें देखकर भरतके मुखमण्डलमें मुग्धाभत होनेवाले नेत्रोंमें हर्षजनित आँसुओंकी बूँद गिरने लगी ॥ १६ ॥

अचुम्बे वचनमिदं निशम्य हृष्टाः

साम्राज्याः सपरिवदो विद्यातशोकाः ।

पन्थानं नरवरभक्तिमान् जनश्च

व्यादिष्टस्तत्र वचनाच्च शिल्पिवर्गः ॥ १७ ॥

भरतके मुखसे श्रीरामको ले आनेकी बात सुनकर उस सभाके सभी सदस्यों और मन्त्रियोंसहित सभस्त गङ्गाकर्मचारी ब्रह्ममें खिल उठे । उनका सारा शोक दूर हो गया और वे भरतसे बोले—‘नरश्रेष्ठ ! आपकी आज्ञाके अनुसार राजगन्धारके प्रति भक्तिभाव रखनेवाले कारोगरों और रक्षकोंको मार्ग ठीक करनेके लिये भेज दिया गया है’ ॥ १७ ॥

पुरुष खनई मार्गरक्षक, पेड़ काटनेवाले रसोइये खुनेसे पत्थर आदिका काम करनेवाले, बाँसको चटाई और स्तूप आदि बनानेवाले, चमड़ेका चमड़ा आदि बनानेवाले तथा गन्तका विहीन जानकारी रखनेवाले सामर्थ्यशाली पुरुषोंने पहल प्रस्थान किया ॥ १—३ ॥

स तु हर्षात् तमुद्देशं जनीधो विपुलः प्रयान् ।

अशोभनं भद्रावेगः सागरस्येव पर्वणि ॥ ४ ॥

उस समय मार्ग ठीक करनेके लिये एक विशाल जनसमुदाय बड़े हर्षके साथ वनप्रदेशकी ओर अग्रसर हुआ, जो पूर्णमर्क दिन उमड़े हुए समुद्रके महान् वेगकी भाँति शोभा पा रहा था ॥ ४ ॥

ते स्ववारं समास्थाय चतुर्गमणि कोविदाः ।

करणीर्विविधोपेतैः पुरस्तात् समप्रतस्थिरे ॥ ५ ॥

वे मार्ग-निर्माणमें निपुण कारीगर अपना-अपना दल साथ लेकर अनेक प्रकारके औजारोंके साथ आगे चल दिये ॥ ५ ॥

लता बल्लीश्च गुल्मांश्च स्थाणुनश्मन एव च ।

जनास्ते चक्रिरे मार्गं छिन्दन्तो विविधान् शुभान् ॥ ६ ॥

वे लोग लताएँ, बेलें, झाड़ियाँ, ठूँटे वृक्ष तथा पत्थरोंको हटाते और नाना प्रकारके वृक्षोंको काटते हुए मार्ग तैयार करने लगे ॥ ६ ॥

अवक्षेपु च देशेषु केचित् वृक्षानरोपयन् ।

केचित् कुठारैर्घृष्टैश्च दारैश्छिन्दन् केचित् क्वचिन् ॥ ७ ॥

जिन स्थानोंमें वृक्ष नहीं थे वहाँ कुछ लोगोंने वृक्ष भी लगाये । कुछ कारीगरोंने कुम्हाड़ों, टकी (पन्थर तेड़नेके औजारों) तथा हँसियोंसे कहीं-कहीं वृक्षों और घासोंको काट-काटकर रास्ता साफ किया ॥ ७ ॥

अपरे वीरणास्तम्बान् बलिना बलवन्तराः ।

विधमन्ति स्म दुर्गाणि स्थलानि च ततस्ततः ॥ ८ ॥

अपरेऽपूरयन् कूपान् पांसुभिः शश्रमायतम् ।

निर्भ्रमागांस्तथैवाशु समाश्रक्तुः समन्ततः ॥ ९ ॥

अन्य प्रबल मनुष्योंने जिनकी जड़ें नाचते-क जमीन हुई थीं, उन कुश, कास आदिके लुगमुटोंको हाथोंसे ही उखाड़ फेंका वे जहाँ-तहाँ ऊँचे-नीचे दुर्गम स्थानोंको खोद-खोदकर बराबर कर देते थे । दूसरे लोग कुओं और लूँचे चौड़े गड्ढाओं भूतोंसे ही घाट दते थे । जो स्थान बीच-ह्राते वहाँ सब आगम पिढों डालकर व उन्हें शीघ्र ही बराबर कर देते थे ॥ ८-९ ॥

बलधुर्वन्धनीयांश्च क्षोष्ठान् संचक्षुस्तथा ।

विभिदुर्धेदनीयांश्च तांस्तान् देशान् वरास्तदा ॥ १० ॥

उन्होंने जहाँ पुल बाँधनेके योग्य पानी देखा, वहाँ पुल बाँध दिया जहाँ कैकरोली जमीन दिखायी दी वहाँ उसे ठोक-पाँटकर मूल्ययम कर दिया और जहाँ पानी बहनेके लिये मार्ग बनाना आवश्यक समझा, वहाँ बाँध काट दिया । इस प्रकार विभिन्न देशोंमें वहाँकी आवश्यकताके अनुसार कार्य किया ॥ १० ॥

अचिरेण तु कालेन परिवाहान् बहूदकान् ।

चक्रुर्बहुविधाकागन् सागरप्रतिमान् बहून् ॥ ११ ॥

छोटे छोटे स्रोतोंको, जिनका पानी सब ओर बह जाया करता था, चारों ओरसे बाँधकर शीघ्र ही अधिक जलधारा बनी दिया । इस तरह थोड़े ही समयमें उन्होंने भिन्न-भिन्न आकार-प्रकारके बहुत से सरोवर तैयार कर दिये, जो अगाध जलसे भरे होनेके कारण समुद्रके समान जान पड़ते थे ॥ ११ ॥

निर्जलेषु च देशेषु खानयामासुन्तमान् ।

उदयानान् बहुविधान् वेदिकापरिमण्डितान् ॥ १२ ॥

निर्जल स्थानोंमें नाना प्रकारके अच्छे-अच्छे कुएँ और बावड़ी आदि बनवा दिये, जो आस-पास बनी हुई वेदिकाओंसे अलंकृत थे ॥ १२ ॥

ससुधाकुट्टिमतलः

प्रपुष्पितमहीरुहः ।

पत्तोद्धारुद्विजगणः

पताकाभिरलंकृतः ॥ १३ ॥

चन्दनोदकसंस्मृतो

नानाकुसुमभूषितः ।

बहुशोभत सेनायाः पन्थाः सुरपथोपमः ॥ १४ ॥

इस प्रकार सेनाका वह मार्ग देवताओंके मार्गकी भाँति अधिक शोभा पाने लगा । उसकी भूमिपर चूना-मृगों और कंकरीट बिछाकर उसे कूट-पीटकर पक्का कर दिया गया था । उसके किनारे किनारे फूलोंसे सुशोभित वृक्ष लगाये गये थे । वहाँके वृक्षोंपर मतवाले मक्षी चहक रहे थे । सारे मार्गको पताकाओंसे सजा दिया गया था, उसपर चन्दनमिश्रित जलका छिड़काव किया गया था तथा अनेक प्रकारके फूलोंसे वह सड़क सजायी गयी थी ॥ १३-१४ ॥

आजाप्याथ यथाज्ञप्ति युक्तास्तेऽधिकृतानराः ।

रमणीयेषु देशेषु बहुस्वादुफलेषु च ॥ १५ ॥

यो निवेशस्त्वभिप्रेतो भरतस्य महात्मनः ।

धृयस्तं शोभयामासुर्भूपाभिर्भूयणोपमम् ॥ १६ ॥

मार्ग बन जानेपर जहाँ-तहाँ छावनी आदि बनानेके लिये जिन्हें अधिकार दिया गया था, कार्यमें दत्त-चित्त रहनेवाले उन लोगोंने भरतकी आज्ञाके अनुसार मंत्रियोंको काम करनेका आदेश देकर जहाँ स्वादिष्ट फलोंकी अधिकता थी उन सुन्दर प्रदेशोंमें छावनियाँ बनवायीं और जो भरतको अभ्यष्ट था, मार्गके भूषण-रूप उस जिविरकी नाना प्रकारके अलंकारोंसे और भी सजा दिया ॥ १५-१६ ॥

नक्षत्रेषु प्रसस्तेषु मुहूर्तेषु च तद्विदः ।

निवेशान् स्थापयामासुर्भरतस्य महात्मनः ॥ १७ ॥

वास्तु-कर्मके ज्ञाना विद्वानने उत्तम नक्षत्रों और मुहूर्तोंमें महात्मा भरतके उद्देश्यके लिये जो जो स्थान बने थे, उनकी प्रतिष्ठा करवायी ॥ १७ ॥

बहुपांसुचयाश्चापि परिखाः परिवारिताः ।

नरेन्द्रनीलप्रतिमाः प्रतोलीवरशोभिताः ॥ १८ ॥

ग्रामादमालासंयुक्ताः सौधप्राकारसंवृताः ।

पताकाशोभिताः सर्वे सुनिर्मितमहापथाः ॥ १९ ॥

विमर्षद्विरिखाकाशे विटङ्काप्रविमानकैः ।

समुच्छ्रितैर्निवेशास्ते वयुः शक्रपुरोपमाः ॥ २० ॥

मार्गमें बने हुए वे निवेश (विश्राम-स्थान) इन्द्रपुरीके समान शोभा पाने थे । उनके चारों ओर खाड़ियाँ खाँदी गयी थीं, घूल-मिट्टीके ऊँचे ढेर लगाये गये थे । खेतीके भालर इन्द्रनीलमणिकी बनी हुई प्रतिमाएँ सजायी गयी थीं

गलियों और सड़कोंसे ठमके विशेष शोभा होनी थी। राजकोय गृहों और देवस्थानोंसे युक्त ये शिवािर चूने पुते हुए प्राकारों (चहारदीवारियों)से घिरे थे। सभी विश्रामस्थान पताकाओंसे सुशोभित थे। सर्वत्र बड़ी-बड़ी सड़कोंका सुन्दर ढंगसे निर्माण किया गया था। बिरुदों (कबूतरोंके रहनेके स्थानों—झावकों) और ऊँचे-ऊँचे श्रेष्ठ विमानोंके कारण उन सभी शिथिरोंकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ १८—२० ॥

जाह्नवी तु समासाद्य विविधद्रुमकाननम् ।
शीतलामलपानीयां महामीनसमाकुलाम् ॥ २१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽशीतितमः सर्गः ॥ ८० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आयरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें अस्सीवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८० ॥

एकाशीतितमः सर्गः

प्रातःकालके मङ्गलवाद्य-घोषको सुनकर भरतका दुःखी होना और उसे बंद कराकर विलाप करना, वसिष्ठजीका सभामें आकर मन्त्री आदिको बुलानेके लिये दूत भेजना

ततो नान्दीमुखी रात्रि भरतं सुतमागधाः ।
तुष्टुवुः सविशेषज्ञाः स्तव्यमङ्गलसंस्तव्ये ॥ १ ॥

इधर अयोध्यामें उस अभ्युदयमूलक रात्रिका थोड़ा सा ही भाग अवशिष्ट देख। स्तुति-कलाके विशेषज्ञ सुन और मागधोंने मङ्गलमयों धुनियोंद्वारा भरतका स्तवन आरम्भ किया ॥ १ ॥

सुवर्णकोणाभिहतः प्राणदद्यामदुन्दुभिः ।
दध्मुः शङ्खान्श्च शनशो वाद्यांश्चोद्यावचस्वरान् ॥ २ ॥

प्रहरकी समाप्तिकी सूचित करनेवाली दुन्दुभि सानके हँडेसे आहत होकर बज उठी। वाजे बजानेवालोंने शङ्ख तथा दूसरे-दूसरे नाना प्रकारके सैकड़ों वाजे बजाये ॥ २ ॥

स तुर्यघोषः सुमहान् दिव्यापूर्यग्रिव ।
भरतं शोकसंतप्तं भूयः शोकरन्धपत् ॥ ३ ॥

वाद्योंका वह महान् शुभल घोष समस्त आकाशको व्याप्त करता हुआ-सा गूँज उठा और शोकसंतप्त भरतको पुनः शोकाग्निकी आँचमें रोधने लगा ॥ ३ ॥

ततः प्रबुद्धो भरतस्तं घोषं सनिवर्त्य च ।
नाहं राजेति चोक्त्वा तं शत्रुघ्नपिदमवर्चात् ॥ ४ ॥

वाद्योंकी उस ध्वनिसे भरतको नींद खुल गयी; वे आग उठ और 'मैं राजा नहीं हूँ' ऐसा कहकर उन्होंने उन काजका बजना बंद करा दिया। तत्पश्चात् वे शत्रुघ्ने बोले— ॥ ४ ॥

पश्य शत्रुघ्न कैकेय्या लोकस्यापकृतं महन् ।
विसृज्य भयि दुःखानि राजा दशरथो मनः ॥ ५ ॥

'शत्रुघ्न! देखो तो सही, कैकेयोंने जगत्का किन्ना महान् अपकार किया है। महाराज दशरथ मुझपर बहुत-से दुःखोंका बोझ डालकर स्वर्गलोकको चले गये ॥ ५ ॥

सचन्द्रतारागणमण्डितं यथा
नभः क्षपायाममलं विराजते ।

नरेन्द्रमार्गः स तदा च्यराजत
क्रमेण रम्यः शुभशिल्पिनिर्मितः ॥ १२ ॥

नाना प्रकारके चूको और वनोंमें सुशोभित, शीतल निर्मल जलसे धरी हुई और बड़े-बड़े मत्स्योंसे व्याप्त गङ्गाके किनारेतक बना हुआ वह रमणीय राजमार्ग उस समय बड़ी शोभा पा रहा था। अच्छे कारीगरोंने उसका निर्माण किया था। रात्रिके समय वह चन्द्रमा और तारागणोंसे मण्डित निर्मल आकाशके समान सुशोभित होता था ॥ १२ ॥ १३ ॥

तस्यैवा धर्मराजस्य धर्ममूला महात्मनः ।
परिभ्रमति राजश्रीर्नरिषाकर्णिका जले ॥ ६ ॥

आज उन धर्मराज महात्मन नरेशकी यह धर्ममूल राजलक्ष्मी जलमें पड़ी हुई बिना नाविककी नौकाके समान इधर-उधर डगमग रही है ॥ ६ ॥

यो हि नः सुमहान् नाथः सोऽपि प्रव्राजितो वने ।
अनया धर्मपुन्यज्य मात्रा ये राघवः स्वयम् ॥ ७ ॥

जो हमलोगोंके सधसे बड़े स्वामी और संरक्षक हैं, उन श्रीरघुनाथजीका भी स्वयं मेरी इस माताने धर्मको तिलाञ्जलि देकर वनमें भेज दिया ॥ ७ ॥

इत्येवं भरतं वीक्ष्य विलपन्तमचेतनम् ।
कृपणा रुन्दुः सर्वाः सुस्वरं योषितस्तदा ॥ ८ ॥

उस समय भरतको इस प्रकार अचेत हो-होकर विलाप करने देख रनिवासकी सारी स्त्रियाँ दीनभावसे फूट फूटकर रोने लगीं ॥ ८ ॥

तथा तस्मिन् विलपति वसिष्ठो राजधर्मवित् ।
सभापिक्ष्वाकुनाथस्य प्रविवेका महायशाः ॥ ९ ॥

जब भरत इस प्रकार विलाप कर रहे थे, उसी समय राजधर्मके ज्ञाता महायशस्वी महर्षि वसिष्ठने इक्ष्वाकुनाथ राजा दशरथके सभाभवनमें प्रवेश किया ॥ ९ ॥

शातकुम्भमयीं रम्यां मणिहेमसमाकुलाम् ।
सुधर्मापिव धर्मात्या सगणः प्रत्यपद्यत ॥ १० ॥

स काञ्चनमयं पीठं स्वस्थास्तरणसंवृतम् ।
अध्यास्त सर्ववेदज्ञो दूताननुशशास च ॥ ११ ॥

वह सभाभवन अधिकांश सुवर्णकर बना हुआ था। उसमें सोनेके खम्भे लगे थे। वह रमणीय सभा देवताओंकी

सुधर्मा सधाके समान शोभा पाती थी। सम्पूर्ण बंदोंके ज्ञाता धर्मात्मा वसिष्ठने अपने शिष्यगणके साथ उस सभामें वदार्पण किया और सुवर्णमय पीठपर जो स्वस्तिकाकार विछौनेसे ढका हुआ था, वे विराजमान हुए। आसन ग्रहण करनेके पश्चात् उन्होंने दूताको आज्ञा दी— ॥ १०-११ ॥

प्राह्मणान् क्षत्रियान् योधानमात्यान् गणवल्लभान् ।

क्षिप्रमानयताव्यग्राः कृत्यमात्ययिकं हि नः ॥ १२ ॥

सराजपुत्रं शत्रुघ्नं भरतं च यशस्विनम् ।

युधाजितं सुमन्त्रं च ये च तत्र हिता जनाः ॥ १३ ॥

‘तुमलोग ज्ञानभावमें जाकर ब्राह्मणों, क्षत्रियों, योद्धाओं, अमात्यों और सेनार्पितयोंको शोध बुद्धि लाओ। अन्य राजकुमारोंके साथ यशस्वी भरत और शत्रुघ्नको, मन्त्रों युधाजित् और सुमन्त्रको तथा और भी जो हितैषी पुरुष वहाँ हों उन सबका शोध बुद्धि लाओ। हमें उनमें बहुत ही आवश्यक कार्य है’ ॥ १२-१३ ॥

ततो हलहलाशब्दो यज्ञान् समुदपद्यत ।

रथैरश्वैर्गजैश्चापि जनानामुपगच्छताम् ॥ १४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽथोध्याकाण्डे एकाशीतितमः सर्गः ॥ ८१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके अथोध्याकाण्डमें इक्ष्वाक्यीर्वा सर्ग पूरा हुआ ॥ ८१ ॥

द्व्यशीतितमः सर्गः

वसिष्ठजीका भरतको राज्यपर अभिषिक्त होनेके लिये आदेश देना तथा भरतका उसे अनुचित

बताकर अस्वीकार करना और श्रीरामको लौटा लानेके लिये वनमें

चलनेकी तैयारीके निमित्त सबको आदेश देना

तामार्पणसम्पूर्णा भरतः प्रग्रहां सभाम् ।

वदर्श बुद्धिसम्पन्नः पूर्णचन्द्रां निशामिव ॥ १ ॥

बुद्धिमान् भरतने उत्तम ग्रह नक्षत्रोंसे सुशोभित और पूर्ण चन्द्रमण्डलमें प्रकाशित रात्रिकी भाँति उस सभाको देखा। वह श्रेष्ठ पुरुषोंकी मण्डल्योंसे भरी पूरी तथा वर्मिष्ठ आदि श्रेष्ठ भूमिर्वाकी उपस्थितिसे शोभायमान थी ॥ १ ॥

आसनानि यथान्यायमार्याणां विशन्ते तदा ।

वस्त्राङ्गरागप्रभया छेतिता सा सभोन्नमा ॥ २ ॥

उस समय यथार्थग्य आमनोपर बैठे हुए आर्य पुरुषोंक वस्त्रों तथा अङ्गरागोंकी प्रभासे वह उत्तम सभा अधिक दीप्तिमती हो उठी थी ॥ २ ॥

सा विद्वज्जनसम्पूर्णा सभा सुरुचिरा तथा ।

अदृश्यत घनापाये पूर्णचन्द्रेव शर्वरी ॥ ३ ॥

तदनन्तर घोंड़े, हाथी और रथोंसे आनेवाले लोगोंका महान् कौलाहल आरम्भ हुआ ॥ १४ ॥

ततो भरतमाधान् शतक्रतुमिवाभराः ।

प्रत्यनन्दन् प्रकृतयो यथा दशरथं तथा ॥ १५ ॥

तत्पश्चात् जैसे देवता इन्द्रका अभिनन्दन करते हैं, ठसी प्रकार समस्त प्रकृतियों (मन्त्रों प्रजा आदि) ने आते हुए भरतका राजा दशरथको ही भाँति अभिनन्दन किया ॥ १५ ॥

हृद इव तिमिनागसंवृतः

स्तिमितजलो मणिशङ्खशर्करः ।

दशरथसुतशोभिता सभा

सदशरथं च बभूव सा पुरा ॥ १६ ॥

तिमिनागक महान् मत्स्य और जलहस्तीसे युक्त, स्थिर जलखाल तथा मुक्ता आदि मणियोंसे युक्त शङ्ख और बालुकावाले समुद्रके जलाशयकी भाँति वह सभा दशरथपुत्र भरतसे सुशोभित होकर वैसी ही शोभा पाने लगी, जैसे पूर्वकालमें राजा दशरथकी उपस्थितिसे शोभा पाने लगी थी* ॥ १६ ॥

जैसे वर्षकाल व्यतीत होनेपर शरदऋतुकी पूर्णिमाकी पूर्ण चन्द्रमण्डलमें अलङ्कृत रजनी बड़ी मनोहर दिखायी देती है उसी प्रकार विद्वानोंक समुदायसे भरी हुई वह सभा बड़ी सुन्दर दिखायी देती थी ॥ ३ ॥

राज्ञस्तु प्रकृतोः सर्वाः स सम्प्रेक्ष्य च धर्मवित् ।

इदं पुणेहितो वाक्यं धरते मृदु चाब्रवीत् ॥ ४ ॥

उस समय धर्मके ज्ञान पुणेहित वसिष्ठजीने राजाकी सम्पूर्ण प्रकृतियोंको उपस्थित देख भरतसे यह मधुर वचन कहा— ।

तत राजा दशरथः स्वर्गतो धर्ममाचरन् ।

धनधान्यवतीं स्फीतां प्रदाय पृथिवीं तव ॥ ५ ॥

‘तत ! राजा दशरथ यह धन-धान्यसे परिपूर्ण समृद्धिशालिनी पृथिवी तुम्हें देकर स्वयं धर्मका आचरण करते हुए स्वर्गवासी हुए हैं ॥ ५ ॥

* वहाँ सभा उपमेष और हृद (जलहस्ती) उपमान है। जलाशयक के विद्वेषण दिये गये हैं वे सभामें इस प्रकार मंगत होते हैं—सभामें ताम्र और जलहस्तीक चित्र लग है। स्थिर जलका जगह उत्तम स्थिर नज है। खम्भोंमें मणियाँ जड़ी गयी हैं, शङ्खके चित्र हैं तथा फशमें सोनेका लय लगा है, जो स्वर्णवान्त्रुका सा प्रकट होता है।

रामस्तथा सत्यवृत्तिः सतां धर्मपनुस्मरन् ।
नाजहात् पितुरादेशं शशी ज्योत्स्नामिवोदित ॥ ६ ॥

‘सत्यपूर्ण’ वर्ताव करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीने सत्पुरुषोंके धर्मका विचार करके पिताकी आज्ञाका उन्हीं प्रकार अनुसरण नहीं किया, जैसे उदित चन्द्रमा अपनी छाँदीनोंको नहीं छोड़ता है ॥ ६ ॥

पित्रा भ्रात्रा च ते दत्तं राज्यं निहतकण्टकम् ।
तद् भुङ्क्ष्व पुदिनामात्यः क्षिप्रमेवाभिषेचय ॥ ७ ॥
उदीच्याश्च प्रतीच्याश्च दक्षिणात्याश्च केवलाः ।
कोट्यापरान्ताः सामुद्रा रत्रान्युपहरन्तु ते ॥ ८ ॥

‘इस प्रकार पिता और ज्येष्ठ भ्राता—दोनोने ही तुम्हें यह अकण्टक राज्य प्रदान किया है। अतः तुम मांसियाका प्रसन्न रहते हुए इसका पालन करो और शीघ्र ही अपना अभिषेक करा लो। जिससे उत्तर, पश्चिम, दक्षिण, पूर्व और अपरान्त देशके निवासी राजा तथा समुद्रमें जहाजोद्धार व्यत्यास करनेवाले व्यवसायी तुम्हें असंख्य रत्न प्रदान करें ॥ ७-८ ॥

तच्छ्रुत्वा भरतो वाक्यं शोकनाभिपरिप्लुतः ।
जगाम मनसा रामं धर्मज्ञो धर्मकाङ्क्षया ॥ ९ ॥

यह बात सुनकर धर्मज्ञ भरत शोकमें डूब गये और धर्म-पालनकी इच्छासे उन्होंने मन-ही-मन श्रीरामकी शरण में ॥

सम्भाष्यकल्याणा वाचा कलहंसस्वरो युवा ।
विललाप सभामध्ये जगहँ च पुरोहितम् ॥ १० ॥

नवयुवक भरत उस भरी सभामें आँसू बहाते हुए गद्गद वाणीद्वारा कलहंसक समान मधुर स्वरमें विलाप करने और पुरोहितजीको उपालम्भ देने लगे— ॥ १० ॥

चरितब्रह्मचर्यस्य विद्यास्त्रातस्य धीमतः ।
धर्मं प्रयतमानस्य को राज्यं महिधो हन्त ॥ ११ ॥

‘गुरुदेव । जिन्होंने ब्रह्मचर्यका पालन किया, ओं सम्पूर्ण विद्याओंमें निष्णात हुए तथा ओं सदा ही धर्मके लिये प्रयत्नशील रहते हैं, उन युद्धमान श्रीरामचन्द्रजी ने राज्यका मेरे-जैसा कौन मनुष्य अपहरण कर सकता है ? ॥ ११ ॥

कथं दशरथाजानो भवेद् राज्यापहारकः ।
राज्यं चाहं च रामस्य धर्मं क्लुमिहार्हमि ॥ १२ ॥

महाराज दशरथका कोई भी पुत्र बड़े भाइयों राज्यका अपहरण कैसे कर सकता है ? यह राज्य और मैं दोनों ही श्रीरामके हैं, यह समझकर आपको इस सभामें धर्ममग्न बात कहनी चाहिये (अन्याययुक्त नहीं) ॥ १२ ॥

ज्येष्ठः श्रेष्ठश्च धर्मात्मा दिलीपवह्निषोषमः ।
लब्धुमर्हति काकुत्स्थो राज्यं दशरथा यथा ॥ १३ ॥

‘धर्मात्मा श्रीराम मुझमें अवस्थामें बड़े और गुणोंमें भी श्रेष्ठ हैं। वे दिलीप और नहुषके समान राजा हैं। अतः महाराज दशरथकी भाँति वे ही इस राज्यको पानके अधिकारी हैं ॥ १३ ॥

अनार्यजुष्टमस्वर्गं कुर्या पापमहं यदि ।
इक्ष्वाकूणामहं लोके भवेयं कुलपासनः ॥ १४ ॥

‘पापकर आचरण तो नीच पुरुष करते हैं। यह मनुष्यको निश्चय ही नरकमें डालनेवाला है। यदि श्रीरामचन्द्रजीका राज्य लेकर मैं भी पापाचरण करूँ तो संसारमें इक्ष्वाकुकुलका कलक समझा जाऊँगा ॥ १४ ॥

यद्विधाया कृतं पापं नृहं तदपि रोचये ।
इहस्थो वनदुर्गमं नमम्यामि कृताञ्जलिः ॥ १५ ॥

‘मरी मातने जो पाप किया है, उसमें मैं कभी पसंद नहीं करता, इसलिये यहाँ रहकर भी मैं दुर्गम वनमें निवास करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीको हाथ जोड़कर प्रणाम करता हूँ ॥ १५ ॥

राममेवानुगच्छामि स राजा द्विपदां वरः ।
त्रयाणामपि लोकानां राघवो राज्यमर्हति ॥ १६ ॥

‘मैं श्रीरामका ही अनुसरण करूँगा। मनुष्योंमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी ही इस राज्यके राजा हैं। वे तीनों ही लोकोंके राजा होनेयोग्य हैं ॥ १६ ॥

तद्वाक्यं धर्मसंयुक्तं श्रुत्वा सर्वे सभासदः ।
हर्षान्पुमुचुरश्रुणि रामे निहितचेतसः ॥ १७ ॥

भरतकी वह धर्मयुक्त वचन सुनकर सभी सभासद् श्रीराममें चित्त लगाकर हर्षके आँसू बहाने लगे ॥ १७ ॥

यदि त्वार्यं न शक्यामि विनिवर्तयितुं वनान् ।
वने तत्रैव वत्स्यामि यथार्यो लक्ष्मणस्तथा ॥ १८ ॥

भरतने फिर कहा—‘यदि मैं आर्य श्रीरामकी वनसे न लौट सकूँगा तो स्वयं भी नरश्रेष्ठ लक्ष्मणकी भाँति वहाँ निवास करूँगा ॥ १८ ॥

सर्वोपायं तु वर्तिष्ये विनिवर्तयितुं बलान् ।
समक्षमार्यमिश्राणां साधूनां गुणवर्तिनाम् ॥ १९ ॥

‘मैं आप सभी मदुणयुक्त वर्ताव करनेवाले पूजनीय श्रेष्ठ सभासदोंके समक्ष श्रीरामचन्द्रजीको बलपूर्वक लौटा लानेके लिये सारे उपायोंसे चेष्टा करूँगा ॥ १९ ॥

विष्टिकर्मनिकाः सर्वे मार्गशोधकदक्षकाः ।
प्रस्थापिता भया पूर्वं यात्रा च मम रोचते ॥ २० ॥

‘मैं मार्गशोधनमें कुशल सभी अवैतनिक तथा वंशवशात् कार्यकर्ताओंको पहले ही यहाँसे भेज दिया है। अतः मुझे श्रीरामचन्द्रजीके पास चलना ही अच्छा जान पड़ता है ॥ २० ॥

एवमुक्त्वा तु धर्मात्मा भरतो भ्रातृवत्सलः ।
समीपस्थमुवाचेद् सुमन्त्रं मन्त्रकोविदम् ॥ २१ ॥

सभासदोंमें ऐसा कहकर भ्रातृवत्सल धर्मात्मा भरत पास बैठे हुए मन्त्रवेत्ता सुमन्त्रसे इस प्रकार बोले— ॥ २१ ॥

तूणामुत्थाय गच्छ त्वं सुमन्त्र मम शासनात् ।
यात्रायाज्ञापय क्षिप्रं बलं चैव समानय ॥ २२ ॥

‘सुमन्त्रजी ! आप जल्दी उठकर जाइये और मेरी आज्ञासे सबको वनमें चलनेका आदेश सूचित कर दीजिये और सेनाको भी शीघ्र ही बुला भेजिये’ ॥ २२ ॥

एवमुक्तः सुमन्त्रस्तु भरतेन महात्मना ।

प्रहृष्टः सोऽदिशत् सर्वं यथासंदिष्टमिष्टवत् ॥ २३ ॥

महात्मा भरतके ऐसा कहनेपर सुमन्त्रने बड़े हर्षके साथ सबको उनके कथनानुसार वह प्रिय सदेश सुना दिया ॥ २३ ॥

ततः प्रहृष्टाः प्रकृतयो बलाध्यक्षा बलस्य च ।

श्रुत्वा यात्रां समाज्ञप्ता राघवस्य निवर्तन्ते ॥ २४ ॥

‘श्रीरामचन्द्रजीको लौट आनेके लिये भरत जायेंगे और उनके साथ जानेके लिये मेनाका भी आदेश प्राप्त हुआ है’—यह समाचार सुनकर वे सभी प्रजाजन तथा सेनापतिगण बहुत प्रसन्न हुए ॥ २४ ॥

ततो योधाङ्गनाः सर्वा भर्तुन् सर्वान् गृहे गृहे ।

यात्रामगमनमाज्ञाय त्वरयन्ति स्म हर्षिताः ॥ २५ ॥

तदनन्तर उस यात्राका समाचार पाकर सैनिकोंकी सभी स्त्रियाँ घर-घरमें हर्षसे खिल उठीं और अपने पतियोंको जल्दी तैयार होनेके लिये प्रेरित करने लगीं ॥ २५ ॥

ते हयैर्गोरथैः शीघ्रं स्पन्दनैश्च मनोजवैः ।

सह योषिद्वलाध्यक्षा बलं सर्वमचोदयन् ॥ २६ ॥

सेनापतियोंने घोड़ों, बैलगाड़ियों तथा भनके समान वेगशाली रथोंमें सज्जित सेनाको स्त्रियोंमें सज्जित यात्राके लिये शीघ्र तैयार होनेकी आज्ञा दी ॥ २६ ॥

सज्जं तु तद् बलं दृष्ट्वा भरतो गुरुमनिधौ ।

रथं मे त्वरयस्वेति सुमन्त्रं पार्श्वतोऽब्रवीत् ॥ २७ ॥

सेनाको कूचके लिय उद्यत देख भरतने गुरुके समीप श्री बगलमें खड़े हुए सुमन्त्रसे कहा— आप मेरे रथको शीघ्र तैयार करके लाइये ॥ २७ ॥

भरतस्य तु तस्याज्ञां परिगृह्य प्रहर्षितः ।

रथं गृहीत्वोपययौ भुक्तं परमवाजिभिः ॥ २८ ॥

भरतकी उस आज्ञाकी शिरधार्य करके सुमन्त्र बड़े हर्षके साथ गये और उत्तम घोड़ोंमें जुता हुआ रथ लेकर लौट आये ॥ २८ ॥

इत्यार्ष श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्वाविंशोऽध्यायः सर्गः ॥ ८२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें अष्टाविंशोऽध्याय पूरा हुआ ॥ ८२ ॥

त्र्यशीतितमः सर्गः

भरतकी वनयात्रा और मृद्वेरपुरमें रात्रिवास

ततः समुत्थितः कल्पमास्थाय स्पन्दनोत्तमम् ।

प्रययौ भरतः शीघ्रं रामदर्शनकाप्सा ॥ १ ॥

तदनन्तर प्रातःकाल उठकर भरतने उत्तम रथपर आरुढ़ हो श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनकी इच्छामें शीघ्रतापूर्वक

स राघवः सत्यधृतिः प्रतापवान्

श्रुवन् सुयुक्तं दृढसत्यविक्रमः ।

गुरुं महारण्यगतं यशस्विनं

प्रसादधिष्यन् भरतोऽब्रवीत् तदा ॥ २९ ॥

तब सुदृढ़ एवं सत्य पराक्रमवाले सत्यपरायण प्रतापी भरत विशाल वनमें गये हुए अपने बड़े भाई यशस्वी श्रीरामकी लौट आनेके निमित्त राजी करनेके लिये यात्राके अट्टेइसे उस समय इस प्रकार बोले— ॥ २९ ॥

तुर्णं त्वमुत्थाय सुमन्त्र गच्छ

बलस्य योगाय बलप्रधानान् ।

आनेतुमिच्छामि हि तं वनस्थं

प्रमाद्य रामं जगतो हिताय ॥ ३० ॥

‘सुमन्त्रजी ! आप शीघ्र उठकर सेनापतियोंके पास जाइये और उनसे कहकर सेनाको कल कूच करनेके लिये तैयार होनेका प्रबन्ध कीजिये क्योंकि मैं सारे जगत्की कल्याण करनेके लिये उन वनवासियों श्रीरामकी प्रसन्न करके यहाँ ले आना चाहता हूँ’ ॥ ३० ॥

स सुतपुत्रो भरतेन सम्य-

गाज्ञापितः सम्परिपूर्णकामः ।

शशास सर्वान् प्रकृतिप्रधानान्

बलस्य पुरुषांश्च सुहजने च ॥ ३१ ॥

भरतकी यह उपम आज्ञा पाकर भूतपुत्र सुमन्त्रने अपना मनोर्थ भ्रमल हुआ समाज्ञा और उत्तम प्रजावर्गके सभी प्रधान व्यक्तियों, सेनापतियों तथा सुहृदोंको भरतका आदेश सुना दिया ॥ ३१ ॥

ततः समुत्थाय कुले कुले ते

राजन्वर्षेभ्यः वृषलाश्च विप्राः ।

अप्ययुजन्मुष्टुरधान् खरांश्च

नागान् हयंश्चैव कुलप्रसूतान् ॥ ३२ ॥

तब प्रत्येक घरके लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र उठ-उठकर अच्छे जातिके घोड़े, हाथी, बैल, गधे तथा रथोंकी ओतने लगे ॥ ३२ ॥

प्रस्थानं किय ॥ १ ॥

अप्रतः प्रययुस्तस्य सर्वे मन्त्रिपुरोहितः ।

अधिरुह्य हयैर्युक्तान् रथान् सूर्यरथोपमान् ॥ २ ॥

उनके आगे आगे सभी मन्त्रा और पुरोहित घोड़े जुते हुए

स्थीर बैठकर यात्रा कर रहे थे। वे रथ सूर्यदेवक रथके समान तेजस्वी दिखायी देते थे ॥ २ ॥

नवनागसहस्राणि कल्पितानि यथाविधि ।
अन्वयुर्भरतं यान्तमिक्ष्वाकुकुलनन्दनम् ॥ ३ ॥

यात्रा करते हुए इक्ष्वाकुकुलनन्दन भरतके पीछे-पीछे विधिपूर्वक सजाये गये नौ हजार हाथी चल रहे थे ॥ ३ ॥

यष्टी रथसहस्राणि धन्विनो विविधाधुधाः ।
अन्वयुर्भरतं यान्तं राजपुत्रं यशस्विनम् ॥ ४ ॥

यात्रापरायण यशस्वी राजकुमार भरतके पीछे साठ हजार रथ और नाना प्रकारके आयुध धारण करनेवाले धनुर्धर योद्धा भी जा रहे थे ॥ ४ ॥

शतं सहस्राण्यश्वानां सप्तासुहानि राघवम् ।
अन्वयुर्भरतं यान्तं राजपुत्रं यशस्विनम् ॥ ५ ॥

उसी प्रकार एक लाख घुड़सवार भी उन यशस्वी गुरुकुलनन्दन राजकुमार भरतको यात्राके समय उनकी अनुसरण कर रहे थे ॥ ५ ॥

कैकेयी च सुमित्रा च कौसल्या च यशस्विनी ।
रामानयनसंतुष्टा ययुर्पनिन आसवता ॥ ६ ॥

कैकेयी, सुमित्रा और यशस्विनी कौसल्या देवी भी श्रीरामचन्द्रजीको लौटा लानेके लिये काँ जानेवाली उस यात्रासे संतुष्ट हो तेजस्वी रथके द्वारा प्रस्थित हुईं ॥ ६ ॥

प्रयाताश्चार्यसंघाता रामं द्रष्टुं सलक्ष्मणम् ।
तर्पय च कथाश्चित्राः कुवांणा हृष्टमानसाः ॥ ७ ॥

ब्राह्मण आदि आर्य (ब्रह्मर्षि) के समूह मनमें अत्यन्त हर्ष लेकर लक्ष्मणसहित श्रीरामका दर्शन करनेके लिये उनका सम्बन्धमें विचित्र बातें कहते-मुनते हुए यात्रा कर रहे थे ॥ ७ ॥

मेघश्यामं महाबाहुं स्थिरसन्धं दृढव्रतम् ।
कदा द्रक्ष्यामहे रामे जगतः शोकनाशनम् ॥ ८ ॥

(वे आपसमें कहते थे—) हमलोग दुःखनाक साथ उत्तम व्रतका पालन करनेवाले तथा समाका दुःख दूर करनेवाले, स्थितप्रज्ञ, श्यामवर्ण महाबाहु श्रोणमक कब दर्शन करेंगे ? ॥ ८ ॥

दृष्ट एव हि नः शोकमपनेष्यति राघवः ।
तपः सर्वस्य लोकस्य समुद्यत्त्रिव धास्करः ॥ ९ ॥

‘जैसे सूर्यदेव तबले लेते हैं सोरे जगत्कर अन्धकार हर लेते हैं, उसी प्रकार श्रीरघुनाथजी हमारे आँखोंके सामने पड़ते ही हमलोगोंका साथ शोक-संतप दूर कर देंगे’ ॥ ९ ॥

इत्येवं कथयन्तस्ते सम्प्रहृष्टाः कथाः शुभाः ।
परिव्रजानाश्चाम्योर्ध्वं ययुर्नागरिकास्तदा ॥ १० ॥

इस प्रकारकी बातें कहते और अत्यन्त हर्षसे भगकर एक-दूसरेका आलिङ्गन करते हुए अयोध्याके नागरिक उस समय यात्रा कर रहे थे ॥ १० ॥

ये च तत्रापरे सर्वे सम्मता ये च नैगमाः ।
रामे प्रतिधयुर्हृष्टाः सर्वाः प्रकृतयः शुभाः ॥ ११ ॥

उस नगरमें जो दूसरे सम्मानित पुरुष थे, वे सब लोग तथा व्यापारी और शुभ विचारवाले प्रजाजन भी बड़े हर्षके साथ श्रोणमसे मिलनेके लिये प्रस्थित हुए ॥ ११ ॥

मणिकाराश्च ये केचिन् कुम्भकाराश्च शोभनाः ।
सूत्रकर्मविशेषज्ञा ये च शस्त्रोपजीविनः ॥ १२ ॥

मायूकाः काकचिका वेधका रोचकास्तथा ।
दन्तकाराः सुधाकारा ये च गन्धोपजीविनः ॥ १३ ॥

सुवर्णकाराः प्रस्थातास्तथा कम्बलकारकाः ।
स्त्रापकोष्णोदका वंशा धूपका शौण्डिकास्तथा ॥ १४ ॥

रजकान्नुत्रवायाश्च ग्रामधोषमहतराः ।
शैलूषाश्च सह स्त्रीभिर्यान्ति कैवर्तकास्तथा ॥ १५ ॥

समाहिता वंदविन्दे ब्राह्मणा धृतसम्मताः ।
गौर्यैर्भरतं यान्तयनुजघ्नुः सहस्रशः ॥ १६ ॥

जो कोई मणिकार (मणियोंको मानपर धवाकर धमका देनेवाले), अच्छे कुम्भकार, सूतका ताना-बाना करके बस्त्र बनानेकी कलाके विशेषज्ञ, शस्त्र निर्माण करके जीविका चलानेवाले, मायूक (मारकी पीछोसे छत्र-व्यजन आदि बनानेवाले), अंगसे चन्दन आदिकी लकड़ी चोरनेवाले, मणि-माली आदिम छद्म करनेवाले रोचक (दोतारा और कदी आदिस शोभाका सम्पादन करनेवाले), दन्तकार, शार्ङ्गके दंत आदिसे नया प्रकारकी वस्तुओंकी निर्माण करनेवाले, सुधाकार चूना बनानेवाले, गन्धी, प्रसिद्ध सोनार, कम्बल और कालीन बनानेवाले, गरम अलस बहलानेकर काम करनेवाले, वैद्य धृगक (धूमन-क्रियाद्वारा जीविका चलानेवाले शौण्डिक (मद्यविक्रेता), धोबी, दही, गाँधी तथा गोशालाअर्थात् महान्, चिथोमदित नट, कैवट तथा समाहिर्नाचन सहायारी देदकता सहस्रो ब्राह्मण वैल्गर्गद्वारा चट्टकर बनकी यात्रा करनेवाले घानके पीछे-पीछे गये ॥ १२—१६ ॥

सुवंधाः शुद्धवसनास्ताम्रमुष्टानुलेपिनः ।
सर्वे ते विविधैर्यानिः शनैर्भरतयन्वयुः ॥ १७ ॥

मखक वेश सुन्दर थे। सबन शुद्ध वस्त्र धारण कर रख थे तथा सबके अङ्गमें लविके समान लाल रंगका अङ्गुराग लगा था। वे सब-के-सब नाना प्रकारके याहनोंद्वारा धीरे-धीरे भरतकर अनुसरण कर रहे थे ॥ १७ ॥

प्रहृष्टमुदिता सेना सान्वयात् कैकेयीसुतम् ।
भ्रातुरानयने यान्तं भरतं भ्रातृवत्सलम् ॥ १८ ॥

हर्ष और आनन्दमें भरे हुई वह सेना भाइको बालनके लिये प्रस्थित हुए कैकेयीकुमार भ्रातृवत्सल भरतके पीछे पीछे चलने लगी ॥ १८ ॥

ते गत्वा दूरमध्वानं रथयानाश्चकुर्ज्वरः ।
समासेदुस्तनो गङ्गां शृङ्गवेगपुरं प्रति ॥ १९ ॥

इस प्रकार रथ, पालकी घोड़े और हाथियोंके द्वारा बहुत दूरतकका मार्ग तय कर लेनेके बाद वे सब लोग मृङ्गवेरपुरमें गङ्गाजीके तटपर वा पहुँच ॥ १९ ॥

यत्र रामसखा वीरो गुहो ज्ञातिगणैर्वृतः ।
निवसत्यप्रमादेन देशं तं परिपालयन् ॥ २० ॥

जहाँ श्रीरामचन्द्रजीका सखा वीर निषादराज गुह सावधानोंके साथ उस देशकी रक्षा करना हुआ अपने भाई-बन्धुओंके साथ निवास करता था ॥ २० ॥

उपेत्य तौरं गङ्गायाश्चक्रवाकैरलंकृतम् ।
व्यवतिष्ठत सा सेना भरतस्यानुयायिनी ॥ २१ ॥

चक्रवाकोंसे अलंकृत गङ्गातटपर पहुँचकर भरतका अनुसरण करनेवाली वह सेना ठहर गयी ॥ २१ ॥

निरीक्ष्यानुत्थितां सेनां तां च गङ्गां शिखंदकाम् ।
भरतः सखिवान् सर्वानब्रवीद् वाक्यकोविदः ॥ २२ ॥

पुण्यमलिला चागीरघाता दर्शन करके अपनी उस सेनाको शिथिल हुई देख खालचीन करनेकी वक्तमें कुशल भरतने सम्स्त सन्निवोसे कहा— ॥ २२ ॥

निवेशयत मे सैन्यमभिप्रायेण सर्वतः ।
विश्रान्ताः प्रतरिष्यामः श्व इषां सागरङ्गमाप् ॥ २३ ॥

‘आपलोग मेरे सैनिकोंको उनकी इच्छाके अनुसार यहाँ सब ओर ठहरा दीजिये । आज रातमें विश्राम कर लेनेके

बाद हम सब लोग कल सबेरे इन सागर-गापिनी नदी गङ्गाजीको पार करेंगे ॥ २३ ॥

दानुं च तावदिच्छामि स्वर्गतस्य यहीपतेः ।
औध्वदेहनिमित्तार्थपवतीर्योदकं नदीम् ॥ २४ ॥

‘यहाँ ठहरनेका एक और प्रयोजन है—मैं चाहता हूँ कि गङ्गाजीमें उतरकर स्वर्गीय महाराजके पागलौकिक कल्याणके लिये जलप्रक्षालि दे दूँ ॥ २४ ॥

तस्यैवं ब्रुवतोऽप्रात्यास्तद्येत्युक्त्वा समाहिताः ।
न्यवेशयस्तांश्छन्देन स्वेन स्वेन पृथक् पृथक् ॥ २५ ॥

उनके इस प्रकार कहनेपर सभी मन्त्रियोंने ‘तथास्तु’ कहकर उनको आज्ञा स्वीकार की और समस्त सैनिकोंको उनकी इच्छाके अनुसार भिन्न-भिन्न स्थानोंपर ठहरा दिया ॥ २५ ॥

निवेश्य गङ्गामनु तां महानदीं
चयं विधानैः परिवर्हशोधिनीम् ।

उवास रामस्य तदा महात्मनो
विविन्तमानो भरतो विवर्तनम् ॥ २६ ॥

महानदी गङ्गाके तटपर खेमे आदिसे सुशोभित होनेवाली उस सेनाको व्यवस्थापूर्वक ठहराकर भरतने महात्मा श्रीरामके लौटनेके विषयमें विचार करते हुए उस समय यहाँ निवास किया ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे अर्शतितमः सर्गः ॥ ८३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें तिरासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८३ ॥

चतुरशीतितमः सर्गः

निषादराज गुहका अपने बन्धुओंको नदीकी रक्षा करते हुए युद्धके लिये तैयार रहनेका आदेश दे भेंटकी सामग्री ले भरतके पास जाना और उनसे आतिथ्य स्वीकार करनेके लिये अनुरोध करना

ततो निविष्टां स्वजिनां गङ्गामन्वाश्रितां नदीम् ।
निषादराजो दृष्ट्वैव ज्ञातीन् स परितोऽब्रवीत् ॥ १ ॥

उधर निषादराज गुहने गङ्गा नदीके तटपर ठहरी हुई भरतकी सेनाको देखकर सब ओर बैठे हुए अपने भाई बन्धुओंमें कहा— ॥ १ ॥

महतीयमितः सेना सागराभा प्रदृश्यते ।
नास्यान्तमवगच्छामि मनसापि विविन्तयन् ॥ २ ॥

‘भाइयो ! इस ओर जो यह विशाल सेना ठहरी हुई है समुद्रके समान अपार दिखायी देती है मैं मनमें बहुत सोचनेपर भी इसका पार नहीं पाता हूँ ॥ २ ॥

यदा न खलु दुर्बुद्धिर्भरतः स्वयमागतः ।
स एष हि महाकायः कोविदारध्वजो रथे ॥ ३ ॥

‘निश्चय ही इसमें स्वयं दुर्बुद्धि भरत भी आया हुआ है, यह कोविदारके चिह्नवाली विशाल ध्वजा उसीके रथपर फहरा रही है ॥ ३ ॥

बन्धयिष्यति वा पार्श्वे वास्मान् बधिष्यति ।

अनु दाशरथिं रामं पित्रा राज्याद् विवासितम् ॥ ४ ॥

‘मैं सम्झता हूँ कि यह अपने मन्त्रियोंद्वारा पहले कुमलशेखरोंके पाशोंसे बँधवायगा अथवा हमारा घघ कर डालेगा, तत्पश्चात् जिन्हें पिताने राज्यमें निकाल दिया है, उन दशरथचन्दन श्रीरामको भी मार डालेगा ॥ ४ ॥

सम्पन्नां श्रियमन्विच्छंस्तस्य राज्ञः सुदुर्लभाम् ।
भरतः कैकेयोपुत्रो हन्तुं समधिगच्छति ॥ ५ ॥

‘कैकेयोंका पुत्र भरत राजा दशरथकी सम्पन्न एवं सुदुर्लभ राजलक्ष्मीको अकल ही हड़प लेना चाहता है, इसीलिये वह श्रीरामचन्द्रजीको वनमें मार डालनेके लिये जा रहा है ॥ ५ ॥

भर्ता चैव सखा चैव रामो दाशरथिर्यम ।
तस्यार्थकायाः संनद्धा गङ्गानूपेऽत्र निष्ठत ॥ ६ ॥

‘परन्तु दशरथकुमार श्रीराम मेरे स्वामी और सखा हैं, इसलिये उनके हितको कामना रखकर तुमलोग अस्व-

शस्त्रोंमें सुसज्जित हो यहाँ गङ्गाके तटपर मौजूद रहें । ६ ।

तिष्ठन्तु सर्वदाशास्त्र गङ्गामन्वाश्रिता नदीम् ।

बलमुक्ता नदीरक्षा यासमुलफलाशनाः ॥ ७ ॥

सभी मल्लाह सेनाके साथ नदीको रक्षा करते हुए गङ्गाके तटपर ही खड़े रहें और नावपर रखे हुए फल-मूल आदिका आहार करके ही आजकी रात बितावें ॥ ७ ॥

नावां शतानां पञ्चानां कैवर्तानां शतं शतम् ।

सनद्धानां तथा यूनां तिष्ठन्वित्यभ्यर्चादयन् ॥ ८ ॥

'हमारे पास पचास सौ नावें हैं, उनमेंसे एक-एक नावपर मल्लाहोंके सौ-सौ जवान युद्ध-नामग्रोम रखे हुए हैं और चंद रहें ।' इस प्रकार गुहने उन सबको आदेश दिया ॥ ८ ॥

यदि तुष्टस्तु भरतो रामस्येह भविष्यति ।

इयं स्वस्तिमती सेना गङ्गायद्य तरिष्यति ॥ ९ ॥

उसने फिर कहा कि 'यदि यहाँ भरतका भाव श्रीरामके प्रति संतोषजनक होगा, तभी उनकी यह सेना आज कुशलपूर्वक गङ्गाके पार जा सकेगी' ॥ ९ ॥

इत्युक्तोपायनं गृह्य मत्स्यभंसमधुनि च ।

अभिचक्राम भरत निषादाधिपतिर्गुहः ॥ १० ॥

वो कहकर निषादराज गुह मत्स्यण्डी (मिर्छी), फलके गूट और मधु आदि भेंटकी सामग्रों लेकर भरतके पास गया ॥ १० ॥

तमायान्तं तु सम्प्रेक्ष्य सूतपुत्रः प्रतापवान् ।

भरतायाचचक्षेऽथ समथज्ञो विनीतवन् ॥ ११ ॥

उसे आते देख समयोचित कर्तव्यको समझनेवाले प्रताप सूतपुत्र सुमन्त्रने विनीतको भूति भरतसे कहा— ॥ ११ ॥

एव ज्ञातिसहस्रेण स्थपतिः परिवारितः ।

कुशलो दण्डकारण्ये वृद्धो भ्रातुश्च ते सरवा ॥ १२ ॥

तस्मात् पश्यतु काकुत्स्थ त्वा निषादाधिपो गुहः ।

असंशयं विजानीते यत्र तौ रामलक्ष्मणौ ॥ १३ ॥

'ककुत्स्थकुलभूषण ! यह बूढ़ा निषादराज गुह अपने सहस्रों भाई बन्धुओंके साथ यहाँ निवास करता है । यह तुम्हारे बड़े भाई श्रीरामका मरका है । इस दण्डकारण्यके मार्गकी विशेष जानकारी है । निश्चय ही इस पना होगा कि दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण कहीं हैं । अतः निषादराज गुह यहाँ आकर तुमसे मिलें ।

इत्यार्षे श्रीपद्मपादये चार्षीर्काये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुर्शीतितमः सर्गः ॥ ८४ ॥

इस प्रकार श्रीपद्मपादयोर्योर्कार्षीर्काये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुर्शीतितमः सर्गः पूरा हुआ । ८४ ॥

पञ्चाशीतितमः सर्गः

गुह और भरतकी बातचीत तथा भरतका शोक

एवमुक्तस्तु भरतो निषादाधिपति गुहम् ।

प्रत्युवाच महाप्राज्ञो सावयं हेत्वर्थसहितम् ॥ १ ॥

निषादराज गुहके ऐसा कहनेपर महाबुद्धिमान् भरतने युक्ति

और प्रयोजन युक्त वचनोंमें उसे इस प्रकार उत्तर दिया— ॥ १ ॥

इसके लिये अवसर दो' ॥ १२-१३ ॥

एतत् तु वचनं श्रुत्वा सुमन्त्राद् भरतः शुभम् ।

उवाच वचनं शीघ्रं गुहः पश्यतु मामिति ॥ १४ ॥

सुमन्त्रके मुखसे यह शुभ वचन सुनकर भरतने कहा— 'निषादराज गुह मुझसे शीघ्र मिलें—इसकी व्यवस्था को जाय' ॥ १४ ॥

लब्धवानुज्ञां सम्प्राप्तो ज्ञातिभिः परिवारितः ।

आगम्य भरतं प्रह्वो गृहो वचनमब्रवीत् ॥ १५ ॥

मिलनकी अनुमति पाकर गुह अपने भाई-बन्धुओंके साथ यहाँ प्रमत्ततापूर्वक आया और भरतसे मिलकर बड़ी नम्रताके साथ बोला— ॥ १५ ॥

निष्कृष्टश्च देशोऽयं वञ्चनाद्यापि ते वयम् ।

निवेदयाम ते सर्वं स्वके दाशगृहे वस ॥ १६ ॥

'यह वन-प्रदेश आपके लिये धर्म लगे हुए बगीचेके समान है । आपने अपने आगमनकी सूचना न देकर हमें धोखेमें रख दिया—हम आपके स्वागतकी कोई तैयारी न कर सक । हमारे पास जो कुछ है, वह सब आपकी सेवामें अर्पित है । यह निषादोक्त घर आपका ही है, आप यहाँ सुखपूर्वक निवास करें ॥ १६ ॥

अस्ति मूलफलं चैतन्निषादैः स्वयमर्जितम् ।

अर्द्धं शुष्कं तथा मास वन्यं चोच्चावचं तथा ॥ १७ ॥

'यह फल-मूल आपकी सेवामें प्रस्तुत है । इसे निषाद लोग स्वयं तोड़कर लावे हैं । इनमेंसे कुछ फल तो अभी हरे नाजे हैं और कुछ सूख गये हैं । इनके साथ तैयार किया हुआ फलवत् गूदा भी है । इन सबके सिवा जना प्रकारके दूसरे-दूसरे वन्य पदार्थ भी हैं । इन सबको ग्रहण करें ॥ १७ ॥

आशंसे स्वाशिता सेना वत्स्थत्येनां विभावरीम् ।

अर्चिनो विविधैः कामैश्च ससेन्यो गमिष्यसि ॥ १८ ॥

'हम आश करते हैं कि यह सेना आजकी रात यहाँ ठहराये और हमारा दिया हुआ भोजन स्वीकार करेगी । नाना प्रकारके मन-वर्जित वस्तुओंसे आज हम सेनासहित आगका सत्कार करेंगे । फिर कल सबेर आप अपने सैनिकोंके साथ यहाँमें अन्यत्र जाइयेगा' ॥ १८ ॥

१ यहाँ मूलमें मत्स्य शब्द मत्स्यण्डी अर्थात् 'मत्स्यका वानर' है । मत्स्यण्डी इस नामका एक अंग मत्स्य है, अतः नामक एक अंगके ग्रहणसे सम्पूर्ण नामका ग्रहण किया गया है ।

ऊर्जितः खलु ते कामः कृतो भयं गुरोः सखे ।

यो मे त्वमीदृशी सेनामभ्यर्चयितुमिच्छसि ॥ २ ॥

‘भैया । तुम मेरे बड़े भाई श्रीरामके सखा हो । मेरी इतनी बड़ी सेनाका सत्कार करना चाहते हो, यह तुम्हारा मनोगत बहुत ही ऊँचा है । तुम उसे पूर्ण हो सफल हो तुम्हारी श्रद्धासे ही हम सब लोगोंका सत्कार हो गया’ ॥ २ ॥

इत्युक्त्वा स महातेजा गुहं वचनमुत्तमम् ।

अब्रवीद् भरतः श्रीमान् पन्थानं दर्शयन् पुनः ॥ ३ ॥

यह कहकर महातेजस्वी श्रीमान् भरतने गन्तव्य मार्गको हाथके संकेतसे दिखाते हुए पुनः गुहसे उनमें वर्णन पूछा— ॥ ३ ॥

कतरेण गमिष्यामि भरतृजाश्रमं यथा ।

गहनोऽयं भूशं देशो गङ्गानूपो दुस्त्ययः ॥ ४ ॥

‘निषादराज । इन दो मार्गोंमें कियेके द्वारा मुझे भरतृजा मुनिके आश्रमपर जाना होगा ? गङ्गाके किनारेका यह प्रदेश तो बड़ा गहन मालूम होता है । इसे लौंघकर आगे बढ़ना कठिन है’ ॥ ४ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राजपुत्रस्य धीमतः ।

अब्रवीत् प्राञ्जलिर्भूत्वा गुहो गहनगोचरः ॥ ५ ॥

बुद्धिमान् राजकुमार भरतको यह वचन सुनकर वनमें विचरनेवाले गुहमें हाथ जोड़कर कहा— ॥ ५ ॥

दाशास्त्रनुगमिष्यन्ति देशज्ञाः सुमभाहिताः ।

अहं क्षानुगमिष्यामि राजपुत्र महाबल ॥ ६ ॥

‘महाबली राजकुमार । आपके साथ बहुत-से मन्त्रादि जायेंगे, जो इस प्रदेशसे पूर्ण परिचित तथा भली-भाँति सावधान रहनेवाले हैं । इनके सिवा मैं भी आपके साथ चलूँगा’ ॥ ६ ॥

कश्चिन्नं दुष्टो ब्रजति रामस्याह्निष्कर्मणः ।

इयं ते महती सेना शङ्कां जनयतीव मे ॥ ७ ॥

‘परन्तु एक बात बनाइये, अन्त्याम ही महान् पराक्रम करनेवाले श्रीरामचन्द्रजोंके प्रति आप कोई दुर्भावना लेकर तो नहीं जा रहे हैं ? आपकी यह विशाल सेना मेरे मनमें शङ्का-सी उत्पन्न कर रही है’ ॥ ७ ॥

तमेवमभिधायन्तमाकाश इव निर्वलः ।

भरतः हलक्षणया याचा गुहं वचनमब्रवीत् ॥ ८ ॥

ऐसी बात कहते हुए गुहसे आकाशके समान निर्वल भरतने मधुर वाणीमें कहा— ॥ ८ ॥

मा भूत् स कालो यत् कष्टं न मां शङ्किनुमर्हसि ।

राघवः स हि मे भ्राता ज्येष्ठः पितृसप्तो मतः ॥ ९ ॥

‘निषादराज । ऐसा समय कभी न आवे । तुम्हारी बात सुनकर मुझे बड़ा कष्ट हुआ । तुम्हें मुझपर सदेह नहीं करना चाहिये । श्रीगुणायजी मेरे बड़े भाई हैं । मैं उन्हें पिताके समान मानता हूँ’ ॥ ९ ॥

तं निवर्तयितुं यामि काकुत्स्थं वनवासिनम् ।

बुद्धिरन्या न मे कार्या गुह सत्यं ब्रवीमि ते ॥ १० ॥

‘ककुत्स्थकुलभूषण श्रीराम वनमें निवास करते हैं, अतः उन्हें लौटा लानेके लिये जा रहा हूँ । गुह’ मैं तुमसे सच कहना हूँ । तुम्हें मेरे विषयमें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये’ ॥ १० ॥

स तु संहृष्टवदनः श्रुत्वा भरतभाषितम् ।

पुनरवाब्रवीद् वाक्यं भरतं प्रति हर्षितः ॥ ११ ॥

भरतको बात सुनकर निषादराजका मुँह प्रसन्नतासे खिल उठा । वह हर्षसे भरकर पुनः भरतसे बोला— ॥ ११ ॥

अन्यस्त्वं न त्वया तुल्यं पश्यामि जगतीतले ।

अयत्नादागतं राज्यं यस्त्वं त्यक्तुमिहेच्छसि ॥ १२ ॥

‘आप धन्य हैं, जो बिना प्रयत्नके हाथमें आये हुए राज्यकी त्याग देना चाहते हैं । आपके समान धर्मात्मा मुझे इस भूमण्डलमें कोई नहीं दिखायी देता’ ॥ १२ ॥

शाश्वती खलु ते कीर्तिर्लोकाननु धरिष्यति ।

यस्त्वं कृच्छ्रगतं रामं प्रत्यानयितुमिच्छसि ॥ १३ ॥

‘कृच्छ्रव्रत वनमें निवास करनेवाले श्रीरामको जो आप लौटा लाना चाहते हैं, इससे ममस्त लोकोमें आपकी अक्षय कीर्तिका प्रसार होगा’ ॥ १३ ॥

एवं सम्भावमाणस्य गुहस्य भरतं तदा ।

बभौ नष्टप्रभः सूर्यो रजनीं चाध्यवर्तत ॥ १४ ॥

जब गुह भरतसे इस प्रकारकी बातें कह रहा था, उसी समय सूर्यदत्तकी प्रभा अदृश्य हो गयी और रातका अन्धकार सब ओर फैल गया’ ॥ १४ ॥

संनिवेश्य स तां सेनां गुहेन परितोषितः ।

शत्रुघ्नेन समं श्रीमाञ्जयनं पुनरागमत् ॥ १५ ॥

गुहके घेरावमें श्रीमान् भरतको बड़ा संतोष हुआ और वे सेनाको विश्राम करनेकी आज्ञा दे शत्रुघ्नके साथ शयन करनेके लिये गये’ ॥ १५ ॥

रायचिन्तामयः शोको भरतस्य महात्मनः ।

उपस्थितो ह्यनर्हस्य धर्मप्रक्षस्य तादृशः ॥ १६ ॥

धर्मपर दुर्दृष्ट रहनेवाले महात्मा भरत शोकके योग्य नहीं थे तथापि उनके मनमें श्रीरामचन्द्रजोंके लिये चिन्ताके कारण ऐसा शोक उत्पन्न हुआ, जिसका वर्णन नहीं हो सकता’ ॥ १६ ॥

अन्तदोहेन दहनः संतापयति राघवम् ।

वनदाहप्रिसंतप्तं गूढोऽग्निरिव पादपम् ॥ १७ ॥

जैसे वनमें फैले हुए टावानलसे संताप हुए वृक्षका उसके खेतखलमें छिपे हुए आग और भी अधिक जलाना है, उसी प्रकार दशरथ-मरणजन्य चिन्ताकी आगसे संताप हुए गुरुकुलभन्दन भरतको वह राम-विवागसे उत्पन्न हुई शोकप्रि और भी जलाने लगी’ ॥ १७ ॥

प्रसृतः सर्वगात्रेभ्यः स्वेदं शोकाग्निसम्भवम् ।

यथा सूर्याशुसंतप्तो हिमवान् प्रसृतो हिमम् ॥ १८ ॥

जैसे सूर्यको किरणोंसे तथा हुआ हिमालय अपनी पिघली हुई बर्फका बहाने लगता है उसी प्रकार भगत शोकाग्निसे संतप्त होनेके कारण अपने सम्पूर्ण अङ्गोंसे पसीना बहाने लगे ॥ १८ ॥

ध्याननिर्दरशैलेन धिनिःश्रुतितधत्तुना ।

दैन्यपादपसंधेन शोकायासाधिभृङ्गिणा ॥ १९ ॥

प्रभोहानन्तसत्त्वेन संतर्पाधिवेणुना ।

आक्रान्तो दुःखशैलेन महता कैकयीसुतः ॥ २० ॥

उस समय कैकेयीकुमार भरत दुःखके विशाल पर्वतसे आक्रान्त हो गये थे । श्रीरामचन्द्रजीका ध्यान ही उसमें छिद्ररहित शिलाओंका समूह था दुःखपूर्ण उच्छ्वास ही गैरिक आदि धातुका स्थान ले रहा था । शीतल (इन्द्रियोंकी) अपने विषयोंसे विमुखता ही वृक्षसमूहोंके रूपमें प्रतीत होती थी । शोकजनित आयास ही उस दुःखरूपी पर्वतके ऊँचे शिखर थे । अतिशय मोढ़ ही उसमें अन्न प्राणों थे । बाहर-भीतरकी इन्द्रियोंमें होनेवाले संताप ही उस पर्वतकी

ओर्षधियाँ तथा बाँसके वृक्ष थे ॥ १९-२० ॥

धिनिःश्रुतः वै भृशदुर्मनास्ततः

प्रयूढसंज्ञः परमापदं गतः ।

शमे न लेभे हृदयज्वरार्दितो

नर्षभो धृष्टहतो यथार्थभः ॥ २१ ॥

उनका मन बहुत दुःखी था । वे लंबी रातें खींचते हुए महमा अपनी सुध-बुध खोकर बड़ी भारी आपत्तिमें पड़ गये मानसिक चिन्तामें पीड़ित होनेके कारण नरश्रेष्ठ रामकी शान्ति नहीं मिलती थी । उनकी दशा अपने झुंडसे बिछुड़े हुए वृषधकी-सी हो रही थी ॥ २१ ॥

गुहेन सार्धं भरतः समागतो

महानुभावः सजनः समाहितः ।

सुदुर्मनास्तं भरतं तदा पुन-

गृहः समाश्वासयदग्रजं प्रति ॥ २२ ॥

परिवारमहित एकाग्रचित्त महानुभाव भरत जब गुहमें मिले उस समय उनके मनमें बड़ा दुःख था । वे अपने बड़े भाईके लिये चिन्तित थे, अतः गुहमें उन्हें पुनः आश्वासन दिया ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षडशीतितमः सर्गः ॥ ८५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें पचासवीं सर्ग पूरा हुआ ॥ ८५ ॥

षडशीतितमः सर्गः

निषादराज गुहके द्वारा लक्ष्मणके सद्भाव और विलापका वर्णन

आचक्षक्षेऽथ सद्भावं लक्ष्मणस्य महत्पुनः ।

भरतायाप्रमेयाय गुहो गहनगोचरः ॥ १ ॥

वनचारी गुहमें अप्रमेय शक्तिशाली भरतसे महात्मा लक्ष्मणके सद्भावका इस प्रकार वर्णन किया— ॥ १ ॥

ते जाग्रते गुणैर्युक्तं वरचापेधुधारिणम् ।

भ्रातृगुण्यर्थमत्यन्तमहं लक्ष्मणमब्रुवम् ॥ २ ॥

"लक्ष्मण अपने भाईकी रक्षाके लिये श्रेष्ठ धनुष और बाण धारण किये अधिक काल तक जागते रहे । उस समय उन सहुणशाली लक्ष्मणसे मैंने इस प्रकार कहा—

इयं तात सुखा शय्या स्वदर्शपुष्पकल्पिता ।

प्रत्याश्रुसिद्धिं शोभायानं सुखं राघवनन्दन ॥ ३ ॥

उद्धितोऽयं जनः सर्वो दुःखानां त्वं सुखोचित ।

धर्मात्मस्तस्य गुण्यर्थं जागरिष्यामहे वयम् ॥ ४ ॥

"तात रघुकुलनन्दन । मैंने तुम्हारे लिये यह सुखदर्शनी शय्या तैयार की है । तुम इसपर सुखपूर्वक सोओ और मलीषाँति विश्राम करो । यह (यै) सेवक तथा इसके साथके मय लोग वनवासी होनेके कारण दुःख सहन करनेके योग्य हैं (क्योंकि हम सबकी कष्ट सज्जनका अभ्यास है) ; परंतु तुम सुखमें हो पड़े होनेके कारण उन्हींके योग्य हो

धर्मात्मन् । हमलोग श्रीरामचन्द्रजीकी रक्षाके लिये रातभर जागते रहेंगे ॥ ४ ॥

नहि रामात् प्रियतरो मयास्ति भुवि कश्चन ।

भोत्सुको भूध्रंवीम्येतदथ सत्यं तवाग्रतः ॥ ५ ॥

"मैं तुम्हारे मामने सत्य कहता हूँ कि इस भूमण्डलमें मुझे श्रीरामसे बढ़कर प्रिय दूसरा कोई नहीं है अतः तुम इनकी रक्षाके लिये बत्सुक न होओ ॥ ५ ॥

अस्य प्रसादादाशमे लोकेऽस्मिन् सुमहदपशः ।

धर्मावाप्तिं च विपुलामर्थकामां च केवली ॥ ६ ॥

"उन श्रीरघुनाथजीके प्रसादमें ही मैं इस लोकमें महान् यश, प्रचुर धर्मलाभ तथा विशुद्ध अर्थ एवं भोग्य वस्तु पानेकी आशा करता हूँ ॥ ६ ॥

सोऽहं प्रियमखं रामं शयानं सह सीतया ।

रक्षिष्यामि धनुष्याणिः सर्वैः स्वर्जातिभिः सह ॥ ७ ॥

"अतः मैं अपने समस्त बन्धु-बान्धवाँके साथ हाथमें धनुष लेकर सीताक साथ सोये प्रिय सखा श्रीरामकी (सब प्रकारसे) रक्षा करूँगा ॥ ७ ॥

नहि मेऽविदितं किंचिद् वनेऽस्मिंश्चरतः सदा ।

चतुरङ्गं ह्यपि बलं प्रसहेम वयं युधि ॥ ८ ॥

“इस वनमें सदा बिचरते रहनेके कारण भूझसे यहाँको कोई बात छिपी नहीं है। हमलोग यहाँ सुदूरमें शत्रुको चतुर्द्विणी सेनाका भी अच्छी तरह सामना कर सकते हैं ॥

एतस्मात्पितृत्वेन लक्ष्मणेन महात्मना ।
अनुनीता वयं सर्वे धर्मयैवानुपश्यता ॥ ९ ॥

“हमारे इस प्रकार कहनेपर धर्मपर ही दृष्टि रखनेवाले महात्मा लक्ष्मणने हम सब लोगोंसे अनुनयपूर्वक कहा— ॥

कथं दशरथो भूमौ शयने सह सीतया ।
शक्या निद्रा मया लब्धु औदितानि सुखानि वा ॥ १० ॥

“निधादराज । जब दशरथनन्दन श्रीगण देवी सीताके साथ भूमिपर शयन कर रहे हैं, तब मेरे लिये उतम शय्यापर सोकर नींद लेना, जोवन-धारणके लिये स्फटिष्ट अन्न खाना अथवा दूमे-दूमे सुखोका भोगना कैसे सम्भव हो सकता है ? ॥ १० ॥

यो न देवासुरैः सर्वैः शक्यः प्रसहितुं युधि ।
तं पश्य गुह संविष्टं तृणेषु सह सीतया ॥ ११ ॥

“गुह । देखो, सम्पूर्ण देवता और असुर मिलकर भी युद्धमें जिनके घेरावको नहीं मार सकत वे ही श्रीगण इस समय सीताके साथ तिनकोपर सो रहे हैं ॥ ११ ॥

महता तपसा लब्धो विविधैश्च परिक्षमैः ।
एको दशरथस्यैव पुत्रः सदृशलक्षणा ॥ १२ ॥

अस्मिन् प्रभ्राजिते राजा न चिरं वर्तयिष्यति ।
विधवा पेटिनी नूनं क्षिप्रमेव भविष्यति ॥ १३ ॥

“महान् तप और नाना प्रकारके परिश्रमग्राह्य उपयोगद्वारा जो यह महाराज दशरथको अपने समान उतम लक्षणोंसे युक्त ज्येष्ठ पुत्रके रूपमें प्राप्त हुए हैं, उनको इन श्रीगणके वनमें आ जानेसे राजा दशरथ अधिक कालतक जोवन नहीं रह सकेंगे, जान पड़ता है निश्चय ही यह पृथ्वी अन्न शोच विधवा हो जायगी ॥ १२-१३ ॥

विनष्टा सुमहानादे श्रमेणोपरताः स्त्रियः ।
निर्घणो विरतो नूनमद्य राजनिवेशने ॥ १४ ॥

“अवश्य ही अब रनिवासकी स्त्रियाँ बड़े जोरसे आर्तनाद करके अधिक श्रमके कारण अब चुप हो गयी होंगी और राजमहलका वह हाहाकार इस समय शान्त हो गया होगा ॥

कौसल्या चैव राजा च तथैव जननी मम ।
नाशंसे यदि ते सर्वे जीवेयुः शत्रुर्गमिषाम् ॥ १५ ॥

“महारानी कौसल्या, राजा दशरथ तथा मेरी माता सुमित्रा—ये सब लोग आबकी इस सतकक जोवन रह सकेंगे या नहीं, यह मैं नहीं कह सकता ॥ १५ ॥

जीवेदपि च मे धाता शत्रुघ्नस्यान्यवेक्षया ।
दुःखिता या हि कौसल्या क्षीरसूविनशिष्यति ॥ १६ ॥

“शत्रुघ्नकी बात देखनेके कारण सम्भव है, मरे मान् सुमित्रा जोवन रह जायें, परंतु पुत्रके विरहसे दुःखमें डूबे हुई

वीर-जननी कौसल्या अवश्य नष्ट हो जायेंगी ॥ १६ ॥

अतिक्रान्तमतिक्रान्तमनयाप्य मनोरथम् ।
राज्ये राममनिक्षिप्य पिता मे विनशिष्यति ॥ १७ ॥

“(महाराजकी इच्छा थी कि श्रीगणको राज्यपर आधिपत्य करूं) अपने उस मनोरथको न पाकर श्रीगणको राज्यपर स्थापित किये बिना ही ‘हाय’ मेरा सब कुछ नष्ट हो गया । नष्ट हो गया !!’ ऐसा कहते हुए मेरे पिताजी अपने प्राणोंका परित्याग कर देंगे ॥ १७ ॥

सिद्धार्थाः पितरं धृत तस्मिन् काले ह्युपस्थिते ।
प्रेतकार्येषु सर्वेषु संस्कारिष्यन्ति भूमिपम् ॥ १८ ॥

“उनको उस मृत्युका समय उपस्थित होनेपर जो लोग वहाँ रहेंगे और मरे हुए पिता महाराज दशरथका सभी प्रेतकार्योंमें संस्कार करेंगे, वे ही सफलमनोरथ और धर्मशास्त्री हैं ॥ १८ ॥

रम्यचत्वरसंस्थानां सुविभक्तमहापथाम् ।
हर्म्यप्रासादसम्पन्नां सर्वरत्नविभूषिताम् ॥ १९ ॥

गजाश्वरथसम्पन्नां तूर्यनादविनादिताम् ।
सर्वकल्याणसम्पूर्णां हृष्टपुष्टजनाकुलाम् ॥ २० ॥

आरामोद्यानसम्पूर्णां सपाजोत्सवशालिनीम् ।
सुखिता विचरिष्यन्ति राजधानीं पितुर्मम ॥ २१ ॥

“(यदि पिताजी जिवित रहें तो) रमणीय चयुतरो और चौराहाके सुन्दर ग्यानमें युक्त पृथक् पृथक् रम्य विशाल राजमार्गोंसे अलंकृत, धनिकोंकी अद्भुतिकाओं और देवमन्दिरों एवं राजभवनोंमें सम्पन्न, सब प्रकारके रत्नोंसे विभूषित हार्दिक, आवाँ और रथाके आवागमनमें भरी हुई, किंतुष वाद्याका छविश्रवणमें निरादित, समस्त कल्याणकारी वस्तुओंमें भण्डार हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंमें व्याप्त, पुष्पवाटिकाओं और दृश्यात्म्य परिपूर्ण तथा मार्वाजिक उरधामें सुशोभित हुई मेरे पिताका राजधानी अयोध्यापुरीमें जो लोग विचरेंगे, वस्तुतः वे ही मुझे हैं ॥ १९—२१ ॥

अपि सत्यप्रतिजेन सार्धं कुशलिना वयम् ।
निवृत्ते ममये ह्यस्मिन् सुखिताः प्रविशेमहि ॥ २२ ॥

“क्या वनवासको इस अवधिक समाप्त होनेपर सकुशल लौटें हुए मनुष्यप्रतिज्ञा श्रममें मेरे साथ हमलोग अयोध्यापुरीमें प्रवेश कर सकेंगे ॥ २२ ॥

परितप्यमानस्य तस्यैव हि महात्मनः ।
निवृत्तो राजपुत्रस्य शर्वरी सात्यवतंत ॥ २३ ॥

“इस प्रकार विलाप करते हुए महामनस्वी राजकुमार लक्ष्मणकी चर मारी सत जागते ही बौनी ॥ २३ ॥

प्रभाते विमले सूर्ये कारयित्वा जट्य उभौ ।
अस्मिन् भागीरथीतीरे सुखं सनारिती मया ॥ २४ ॥

“प्रत-काल निर्मल सूर्योदय होनेपर मैंने भागीरथीके तटपर (बटक दृष्टसे) उन दोनोंके केशोंको जटाका रूप

दिलवाया और उन्हें सुखपूर्वक पार उगारा ॥ २४ ॥

जटाधरी तौ हुपचौरवासरी

महाबली कुञ्जरयूथपोषनी ।

सरेषुधीजापधरी परंतप्यो

व्यपेक्षमाणौ सह सीनया गनौ ॥ २५ ॥

इत्यायें श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षडशीतितमः सर्गः ॥ ८६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिजीने आपरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें छियामांवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८६ ॥

सप्ताशीतितमः सर्गः

भरतकी मूर्च्छासे गुह, शत्रुघ्न और माताओका दुःखी होना, होशमें आनेपर भरतका गुहसे श्रीराम आदिके भोजन और शयन आदिके विषयमें पूछना और गुहका उन्हें सख खाते बताना

गुहस्य वचनं श्रुत्वा भरतो भृशमप्रियम् ।

ध्यानं जगाम तत्रैव यत्र तच्छ्रुतमप्रियम् ॥ १ ॥

गुहका श्रीरामके जटाधारण आदिमें सम्बन्ध रखनेवाला अत्यन्त अप्रिय वचन सुनकर भरत चिन्ताग्रस्त हो गये । जिन श्रीरामके विषयमें उन्होंने अप्रिय बात सुनी थी, उन्होंने वह चिन्तन करने लगे (उन्हे यह चिन्ता हो गयी कि अब मेरा मनोरथ पूर्ण न हो सकेगा । श्रीरामने जब बटा धारण कर ली, तब वे शायद ही लौटें) ॥ १ ॥

सुकुमारो महासत्त्वः सिंहस्कन्धो महाभुजः ।

पुण्डरीकविशालाक्षस्तनुः प्रियदर्शनः ॥ २ ॥

प्रत्याश्रय्य मुहूर्तं तु कालं परमदुर्मनाः ।

ससाद सहसा तोत्रहृदि विद्ध इव द्विषः ॥ ३ ॥

भरत सुकुमार होनेके साथ ही महान् बलशाली थे, उनके कंधे सिंहके समान थे, भुजाएँ बड़ी बड़ी और नेत्र विक्रामान कमलके सदृश सुन्दर थे । उनका अवस्था तरुण थी और वे देखनेमें बड़ा मनोरम थे । उन्होंने गुहकी बात सुनकर दो अङ्गुलक किसी प्रकार धैर्य धारण किया फिर उनके मनमें बड़ा दुःख हुआ । वे अङ्कुशमें विद्ध हुए हाथोंके समान अत्यन्त व्याधान होकर सहसा तु खड़े दिखाई देने लगे ॥ २ ॥

भरतं मूर्च्छितं दृष्ट्वा विवर्णवदनो गुहः ।

बभूव व्यथितस्तत्र भूमिकाम्ये यथा ह्रुमः ॥ ४ ॥

भरतको मूर्च्छित हुआ देख गृह्य संश्रयका रंग उड़ गया वह भूकम्पके समय मथित हुए झटकी भाँति वहाँ व्यथित हो ठठा ॥ ४ ॥

तदवस्थं तु भरतं शत्रुघ्नोऽनन्तरस्थितः ।

परिषृज्य रुरोदोर्ध्वसंज्ञः शोककशितः ॥ ५ ॥

शत्रुघ्न भरतके पास ही बैठे थे । वे उनकी बेशी अवस्था देख उन्हें हृदयसे लगाकर जोर-जोरमें रोने लगे और शाक्य पीड़ित हो अपनी सुध-बुध खो बैठे ॥ ५ ॥

ततः सर्वाः समापेतुर्भातरो भरतस्य ताः ।

उपवासकृशा दीना भर्तृव्यसनकशिताः ॥ ६ ॥

“मिरपर जटा धारण करके चत्कल एवं सीर-वस्त्र पहने हुए, महाबली, शत्रुसंतापी श्रीराम और लक्ष्मण ने गजयूथपत्नियोंके समान शाभा पाते थे वे सुन्दर तरकस और धनुष धारण किये इधर-उधर देखते हुए सीताके साथ चले गये” ॥ २५ ॥

तदनन्तर भरतकी सभी माताएँ वहाँ आ पहुँचीं । वे परिचयागके दुःखमें दुःखी उपवास करनेके कारण दुर्बल और दीन हो रही थीं ॥ ६ ॥

ताश्च तं पतितं भूमौ रुदत्यः पर्यवारयन् ।

कौसल्या त्वनुमूर्त्यने दुर्मनाः परिष्वजे ॥ ७ ॥

भूमिपर पड़े हुए भरतको उन्होंने चारों ओरमें घेर लिया और सब-को-सब रोने लगीं । कौसल्याका हृदय तो दुःखसे और भी कानर हो ठठा । उन्होंने भरतके पास जाकर उन्हें अपनी गोदमें छिपका लिया ॥ ७ ॥

वत्सला स्वं यथा वत्समुपगृह्य तपस्विनी ।

परिपप्रच्छ भरतं रुदती शोकलालसा ॥ ८ ॥

जैसे वत्सला गौ अपने बछड़को गलेसे लगाकर चाटती है, उसी तरह शोकसे व्याकुल हुई तपस्विनी कौसल्याने भरतको गोदमें लेकर रोते-रोते पूछा — ॥ ८ ॥

पुत्र व्याधिर्न ते कश्चिच्छरीरे प्रति बाधते ।

अस्य राजकुलस्याद्य त्वदधीनं हि जीवितम् ॥ ९ ॥

बेटा । तुम्हारा शरीरका कोई गम ना कष्ट नहीं पहुँचा रहा है ? अब इस राजवंशका जीवन तुम्हारा ही अधीन है ॥ ९ ॥

त्वां दृष्ट्वा पुत्र जीवामि रामे सभ्रातृकं गते ।

वृत्ते दशरथे राज्ञि नाथ एकस्त्वमद्य नः ॥ १० ॥

‘वत्स ! मैं तुम्हें देखकर जी रही हूँ । श्रीराम लक्ष्मणके साथ खनमें चले गये और महाराज दशरथ स्वर्गवास हो गये अब एकमात्र तुम्हीं हमलोगोंके रक्षक हो ॥ १० ॥

कश्चित् लक्ष्मणे पुत्र भूतं ते किञ्चिदप्रियम् ।

पुत्रे वा ह्येकपुत्रायाः सहभार्ये खनं गते ॥ ११ ॥

‘बेटा । सब बतओ, तुमने लक्ष्मणके सम्बन्धमें अथवा मुझ एक ही पुत्रवाली माँके बेटे खनमें सोतासहित गये हुए श्रीरामके विषयमें कोई अप्रिय बात तो नहीं सुनी है ?

स मुहूर्तं समाश्रय्य रुदन्नेव महायशः ।

कौसल्या परिमन्वदयदं गुहं वचनमब्रवीत् ॥ १२ ॥

वे ही घड़ीमें जब महायशस्वी भरतका चित्त स्वस्थ हुआ

तब उन्होंने रोते-रोते ही कौमल्याकी सा-ल्लुना दी (और कहा 'भा । घबराओ मत, मैंने कोई अप्रिय बात नहीं सुनी है) । फिर निषादराज गुहसे इस प्रकार पूछा— ॥ १२ ॥

भ्राता ये कावसद् राज्ञौ क्व सीता क्व च लक्ष्मणः ।

अस्वपच्छयने कस्मिन् किं भुक्त्वा गुह शंस मे ॥ १३ ॥

'गुह ! उस दिन रातमें मेरे भाई श्रीराम काहीं ठहरे थे ? सीता कहाँ थी ? और लक्ष्मण कहाँ रहे ? उन्होंने क्या भोजन करके कैसे विछोनेपर शयन किया था ? ये सब बातें मुझे बताओ ।

सोऽब्रवीद् भरतं हृष्टो निषादाधिपतिर्गुहः ।

यद्विधं प्रतिपेदे च रामे प्रियहिनेऽतिथौ ॥ १४ ॥

ये प्रश्न सुनकर निषादराज गुह बहुत प्रसन्न हुआ और उसने अपने प्रिय एवं हितकारी आतिथि श्रीरामके आनेपर उनके प्रति जैसा बर्ताव किया था, वह सब बताते हुए भरतमें कहा— ॥ १४ ॥

अन्नमुद्याखलं भक्ष्याः फलानि विविधानि च ।

रामायाभ्यवहारार्थं बहुशोऽपहृतं घया ॥ १५ ॥

'मैंने भौति-भौतिके अन्न, अनेक प्रकारके खाद्य-पदार्थ और कई तरहके फल श्रीरामचन्द्रजीके पास भोजनके लिये प्रचुर मात्रामें पहुँचाये ॥ १५ ॥

तत् सर्वं प्रत्यनुज्ञासीद् रामः सत्यपराक्रमः ।

न हि तत् प्रत्यगृह्णात् स क्षत्रधर्ममनुस्मरन् ॥ १६ ॥

'सत्यपराक्रमी श्रीरामन मेरी दी हुई मन्न खम्हूँ स्वीकार नहीं कीं; किंतु क्षत्रियधर्मका स्मरण करते हुए उनको ग्रहण नहीं किया—मुझे आदरपूर्वक लौटा दिया ॥ १६ ॥

न ह्यस्माभिः प्रतिग्राह्यं सखे देयं तु सर्वदा ।

इति तेन वयं सर्वे अनुनीता महात्मना ॥ १७ ॥

'फिर उन महात्माने हम सब लोगोंको समझाते हुए कहा—'सखे ! हम-जैसे क्षत्रियोंका किमोसे कुछ लेना नहीं चाहिये, अपितु सब देना ही चाहिये' ॥ १७ ॥

लक्ष्मणेन यदानीत् पीतं धारि महात्मना ।

औपवास्य तदाकर्षीद् राघवः सह सीतया ॥ १८ ॥

'सीतासहित श्रीरामने ठहर रातमें उपवास ही किया । लक्ष्मण जो जल ले आये थे, केवल उमोका उन महात्माने पीया । ॥ १८ ॥

ततस्तु जलशेषेण लक्ष्मणोऽप्यकरोत् तदा ।

वाग्यतास्ते त्रयः संघ्यां समुपासन्त संहिता ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽथोध्यकाण्डे सप्तार्शीतितमः सर्गः ॥ ८७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके अथोद्याकाण्डमें सप्तार्शीर्वाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८७ ॥

अष्टाशीतितमः सर्गः

श्रीरामकी कुश-शय्या देखकर भरतका शोकपूर्ण उद्गार तथा स्वयं भी बलकल

और जटाधारण करके वनमें रहनेका विचार प्रकट करना

तच्छ्रुत्वा निपुणं सर्वं भरतः सह मन्त्रिभिः ।

इन्द्रदीपूलमागम्य रामशय्यामवलक्षन् ॥ १ ॥

निषादराजकी मारों बाने ध्यानसे मुनकर मन्त्रियोंसहित

'उनके घेनेसे बचा हुआ जल लक्ष्मणने ग्रहण किया । (जलपानके पहले) उन तीनोंने मौन एवं एकाग्रचित्त होकर संघ्योपासना की थी ॥ १९ ॥

सौमित्रिस्तु ततः पश्चादकरोत् स्वास्तरं शुभम् ।

स्वयमानवीय बह्विधं क्षिप्रं राघवकारणतः ॥ २० ॥

'तदनन्तर लक्ष्मणने स्वयं कुश लाकर श्रीरामचन्द्रजीके लिये शय्य ही सुन्दर बिछौन बिछाया ॥ २० ॥

तस्मिन् समाविशद् रामः स्वास्तरे सह सीतया ।

प्रक्षाल्य च तयोः पादौ व्यपाक्रामत् सलक्ष्मणः ॥ २१ ॥

'उस सुन्दर विस्तरपर जब सीताके साथ श्रीराम विश्राममान हुए, तब लक्ष्मण उन दोनोंके चरण पखारकर वहाँसे दूर हट आये ॥ २१ ॥

एतत् तदिन्द्रदीपूलमिदमेव च तत् तृणम् ।

यस्मिन् रापञ्च सीता च रात्रिं तां शयिताबुधौ ॥ २२ ॥

यही वह इन्द्रदीपूलकी जड़ है और यही वह तृण है, जहाँ श्रीराम और सीता—दोनोंने रात्रिमें शयन किया था ॥ २२ ॥

निधम्य पुष्टे तु तलाङ्गुलिप्रवाज्-

शरैः सुपूर्णाविपुधी परतपः ।

महद्भुजः सज्जमुपीतु लक्ष्मणो

निशामतिष्ठत् परितोऽस्य केवलम् ॥ २३ ॥

'शत्रुमत्सरो लक्ष्मण अपनी पीठपर बाणोंमें भरे दो लक्ष्म बांधे, दोनों हाथोंकी अंगुलियोंमें दस्ताने पहने और महद्भुज धनुष चढ़ाये श्रीरामके चारु और धूमकर केवल पहरा देते हुए रातभर सज्ज रहे ॥ २३ ॥

ततस्त्वहं घातमबाणबाणधृत्

स्थितोऽध्वं तत्र स यत्र लक्ष्मणः ।

अतन्निर्तर्ज्जातिधिरासकार्मुकै-

र्महेन्द्रकल्पं परिपालयंस्तदा ॥ २४ ॥

'तदनन्तर मैं भी उत्तम बाण और धनुष लेकर वहीं आ खड़ा हुआ, जहाँ लक्ष्मण थे । उस समय अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ, जो निष्ठा और आलस्यका त्याग करके धनुष-बाण लिये सदा सावधान रहे, मैं देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी श्रीरामकी रक्षा करता रहा' ॥ २४ ॥

भरतने इन्द्रदीपूलकी जड़के पास आकर श्रीरामचन्द्रजीकी

शय्याका निरीक्षण किया । ॥ १ ॥

अब्रवीज्जननी सखा इह तस्य महात्मनः ।

शर्वरी शयिता भूमाविटमस्य विमर्दितम् ॥ २ ॥

फिर उन्होंने समस्त माताओं से कहा—‘यहाँ महत्मा श्रीरामने भूमिपर शयन करके रात्रि व्यतीत की थी। यहाँ वह कुशसमूह है, जो उनके अङ्गोंसे विमर्दित हुआ था ॥ २ ॥

महाराजकुलीनेन महाभागेन धीमता ।

जातो दशरथेनोष्यी न रामः स्वमुपहर्ति ॥ ३ ॥

महाराजके कुलमे उत्पन्न हुए योग्य बुद्धिमान् महाभाग राजा दशरथने जिन्हें जन्म दिया है, वे श्रीराम इस तरह भूमिपर शयन करनेके योग्य नहीं हैं ॥ ३ ॥

अजिनोत्तरसंस्तीर्णे वरास्तरणसंचये ।

शयित्वा पुण्यव्याघ्रः कथं शोते महोत्तले ॥ ४ ॥

जो पुरुषसिंह श्रीराम मुलायम मृगचर्मकी विशेष चादरमें ढके हुए तथा अच्छे अच्छे पिछोनाके समुद्रमें सज हुए पलंगपर सदा सोते आये हैं, वे इस समय पृथ्वीपर कैसे शयन करते होंगे ॥ ४ ॥

प्रासादाप्रविमानेषु बलभीषु च सर्वदा ।

हेमराजतभीमेषु वरास्तरणशालिषु ॥ ५ ॥

पुष्पसंचयचित्रेषु चन्दनागुरुगन्धिषु ।

पाण्डुराभ्रप्रकाशेषु शुक्लमेघस्त्रेषु च ॥ ६ ॥

प्रासादखरखर्यषु शीतवत्सु सुगन्धिषु ।

उषित्वा मेरुकल्पेषु कृतकाञ्चनभित्तिषु ॥ ७ ॥

‘जो सदा विमानाकार प्रासादोंके श्रेष्ठ भवनो और अट्टान्तिकाओंमें सोते आये हैं तथा जिसकी फर्श सोने और चाँदीकी बनी हुई है जो अच्छे विछोनोंमें सुगन्धित है पुष्प-गंधोंसे विभूषित हानक कारण जिनके विचित्र आभा होते हैं जिनमें चन्दन और अगुरुको सुगन्ध फैलते रहते हैं, जो शीत बादलोंके समान उज्ज्वल कान्ति धारण करने हैं, जिनमें शुकसमुद्रका कलाव हाता रहता है जो शीतल है एवं कष्ट आदिकी मृगश्ममें व्याप्त रहते हैं जिनको दानवोंपर मन्त्रोंका काम किया गया है तथा जो ऊँचाईमें घेर पवनके समान जान पड़ते हैं ऐसे मन्त्रानाम शतमहत्त्वमें तो विचार कर लेंगे कि वे श्रीराम वनमें पृथ्वीपर कैसे सोते होंगे ? ॥ ५—७ ॥

गीतवादिप्रनिघोषिर्वगधरणानि स्वने ।

मृदङ्गधरशब्दैश्च सततं प्रतिबोधितः ॥ ८ ॥

अन्दिभिर्वन्दितः काले बहुभिः सूतमागधैः ।

गाथाभिरनुरूपराभिः स्तुतिभिश्च परंतपः ॥ ९ ॥

जो गीतों और वाद्योंकी ध्वनियाँ, श्रेष्ठ आभूषणोंकी झनकारोंसे तथा मृदङ्गोंके स्तम्भ उल्लास मन्त्र जगाय जाते थे बहुत से वन्दीगण समय-समयपर जिनको वन्दना करते थे सूत और मागध अनुरूप गाथाओं और स्तुतियोंमें जिनको जागत थे, वे इन्तुसंतापी श्रीराम अब भूमिपर कैसे शयन करने होंगे ? ॥ ८—९ ॥

अश्रद्धेयमिदं लोके न सत्यं प्रतिधाति वा ।

मुह्यते खलु मे भावः स्वप्नोऽयमिति मे मतिः ॥ १० ॥

यह बात जगत्में विश्वासके योग्य नहीं है। मुझे वह सत्य नहीं प्रतीत होती। मेरा अन्तःकरण अवश्य ही मोहित हो रहा है। मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि यह कोई स्वप्न है ॥ १० ॥

न नूनं दैवतं किञ्चित् कालेन बलवत्तरम् ।

यत्र दशरथो रामो भूमावेवमशेत सः ॥ ११ ॥

‘निश्चय तो कालके समान प्रबल कोई दूसरा देवता नहीं है जिसके प्रभावसे दशरथनन्दन श्रीरामको भी इस प्रकार भूमिपर सोना पड़ा ॥ ११ ॥’

यस्मिन् विदेहराजस्य सुता च प्रियदर्शना ।

दयिता शयिता भूमां स्नुषा दशरथस्य च ॥ १२ ॥

उस कालके वे प्रभावमें विदेहराजकी पत्नी सुन्दरी पत्नी और मर्यादा दशरथकी प्यारी पुत्रवधू सीता भी पृथ्वीपर शयन करती हैं ॥ १२ ॥

इयं शय्या मम भ्रानुरिदमावर्तितं शुभम् ।

स्थाण्डिले कठिने सर्वं गार्भर्विपृदितं तृणम् ॥ १३ ॥

‘यहाँ मेरे बड़े भाईकी शय्या है। यहाँ उन्होंने करवटे बदले थीं। इस कठोर बेदीपर उनका शुभ शयन हुआ था, जहाँ उनके अङ्गोंसे कुचल गया सारा तृण अभी तक पड़ा है ॥ १३ ॥

मन्ये साधरणा सुप्ता सीतास्मिज्जायने शुभा ।

तत्र तत्र हि दृश्यन्ते सक्ताः कनकबिन्दवः ॥ १४ ॥

‘जान पड़ता है, सुपलक्षणा सीता शय्यापर आभूषण पहने ही सोयी थीं, क्योंकि यहाँ यत्र-तत्र सुवर्णके कण सटे दिखायी देते हैं ॥ १४ ॥

उत्तरीयमिहासक्तं सुख्यक्तं सीतया तदा ।

तथा ह्येते प्रकाशन्ते सक्ताः कौशेयमन्तवः ॥ १५ ॥

‘यहाँ उस समय सीताकी चादर उलझा गयी थी, यह साफ दिखायी दे रहा है, क्योंकि यहाँ सटे हुए ये रेशमके ताने चमक रहे हैं ॥ १५ ॥

मन्ये भर्तुः सुखा शय्या येन बाला तपस्विनी ।

सुकुमारी सती दुःखं न विजानाति मैथिली ॥ १६ ॥

‘मैं समझता हूँ कि पतिकी शय्या कोमल हो या कठोर, साध्वी नियोक्त नियोक्त वही सुखदायिनी होती है तभी तो वह तपस्विनी एवं सुकुमारी बाला सती साध्वी मिथिलेशकुमारी सीता यहाँ दुःख अनुभव नहीं कर रही हैं ॥ १६ ॥

हा हनोऽस्मि नृशंसोऽस्मि यत् सभार्य कृते मम ।

इदृशी राघवः शय्यामधिशेते ह्यानाथवन् ॥ १७ ॥

‘हाय ! मैं मर गया—मेरा जीवन व्यर्थ है। मैं बड़ा क्रूर हूँ, जिसके कारण सीतामहिन श्रीरामको अनाथकी भाँति ऐसी शय्यापर सोना पड़ता है ॥ १७ ॥

सार्वभौमकुले जातः सर्वलोकसुखावहः ।

सर्वप्रियकरस्त्यक्त्वा राज्यं प्रियमनुत्तमम् ॥ १८ ॥

कथमिन्दीवरश्यामो रक्ताक्षः प्रियदर्शनः ।

सुखभागी न दुःखार्हः शयितो भुवि राघवः ॥ १९ ॥

‘जो चक्रवर्ती सम्राट् के कुलमें उत्पन्न हुए हैं, समस्त लोकोंको सुख देनेवाले हैं तथा सबको प्रिय करनेमें तत्पर रहते हैं, जिनका शरीर नीले कमलके समान श्याम, अँखि स्थल और दर्शन सबको प्रिय लगनेवाला है तथा जो मुख भोगनेके ही योग्य हैं, दुःख भोगनेके कदापि योग्य नहीं हैं, वे ही श्रीरघुनाथजी परम उत्तम प्रिय राज्यका परित्याग करके इस समय पृथ्वीपर शयन करते हैं ॥ १८-१९ ॥

अन्यः खलु महाभागो लक्ष्मणः शुभलक्षणः ।

भ्रातरं विषमे काले यो राममनुवर्तते ॥ २० ॥

‘उत्तम लक्षणोंवाले लक्ष्मण ही अन्य एवं बड़भागी है जो संकटके समय बड़े भाई श्रीरामके साथ रहकर उनकी सेवा करते हैं ॥ २० ॥

सिद्धार्था खलु वैदेही पतिं यानुगता वनम् ।

वयं संशयिताः सर्वे हीनास्तेन महात्मना ॥ २१ ॥

निश्चय ही विदेहनान्दनो सीता भी कृतार्थ हो गयीं, जिनोंने पतिके साथ वनका अनुसरण किया है। हम सब लोग उन महात्मा श्रीरामसे बिछुड़कर संशयमें पड़ गये हैं (हमें यह संदेह होने लगा है कि श्रीराम हमारी सेवा स्वीकार करेंगे या नहीं) ॥ २१ ॥

अकर्णधारा पृथिवीं शुन्येव प्रतिभाति मे ।

गते सशरथे स्वर्गं रामे चारण्यमाश्रिते ॥ २२ ॥

‘महाराज दशरथ स्वर्गलोकको गये और श्रीराम वनवासी हो गये, ऐसी दशामें यह पृथ्वी बिना नाविककी नाविकके समान मुझे सुनी-सी प्रतीत हो रही है ॥ २२ ॥

न च प्रार्थयते कश्चिन्मनसापि वसुंधराम् ।

वने निवसतस्तस्य बाहुवीर्याभिरक्षिताम् ॥ २३ ॥

‘वनमें निवास करनेपर भी उन्होंने श्रीरामके बाहुबलसे सुरक्षित हुई इस वसुंधराको कोई शत्रु मनमें भी नहीं लेना चाहता है ॥ २३ ॥

शुन्यसंस्मरणारक्षामयन्त्रितहयद्विपाम् ।

अनावृतपुरद्वारां राजधानीमरक्षिताम् ॥ २४ ॥

अग्रहृष्टबलां शून्यां विषमस्थायनावृताम् ।

शत्रवो नाधिपन्यन्ते भक्ष्यान् विषकुतानिव ॥ २५ ॥

‘इस समय अयोध्याकी चहारदीवारोंकी सब ओरसे रक्षका कोई प्रबन्ध नहीं है, हाथी और घाँड़ बँधे नहीं

रहते हैं—खुले बिखरते हैं, नगरद्वारका फाटक खुला ही रहता है, सारी राजधानी अरक्षित है, सेनामें हर्ष और उत्साहका अभाव है, समस्त नगरी रक्षकोंसे सुनी-सी जान पड़ती है, सड़कमें पड़ी हुई है रक्षकोंके अभावसे आवरणरहित हो गयी है, तो भी शत्रु विषमिश्रित भोजनकी भाँति इसे ग्रहण करनेको इच्छा नहीं करते हैं। श्रीरामके बाहुबलसे ही इसकी रक्षा हो रही है ॥ २४-२५ ॥

अद्यप्रभृति भूमौ तु शयिष्येऽहं तृणेषु वा ।

फलमूलाशनो नित्यं जटाचीराणि धारयन् ॥ २६ ॥

‘आजसे मैं भी पृथ्वीपर अथवा तिनकोंपर ही सोऊँगा, फल-मूलका ही भोजन करूँगा और सदा वल्कल वस्त्र तथा जटा धारण किये रहूँगा ॥ २६ ॥

तस्याहमुत्तरं कालं निवत्स्यामि सुखं वने ।

तन् प्रतिश्रुतमार्यस्य नैव मिथ्या पविष्यति ॥ २७ ॥

वनवासमें जितने दिन बाकी हैं, उतने दिनोंतक मैं ही वहाँ मुख्यपूर्वक निवास करूँगा, ऐसा होनेमें आर्य श्रीरामकी को हुई प्रतिज्ञा झूठी नहीं होगी ॥ २७ ॥

वसन्तं भ्रातुरर्थाय शत्रुघ्नो मानुवत्स्यति ।

लक्ष्मणेन सहायोध्याचार्यो मे पालयिष्यति ॥ २८ ॥

‘भाईके लिये वनमें निवास करने समय शत्रुघ्न मेरे साथ रहेंगे और मेरे बड़े भाई श्रीराम लक्ष्मणको साथ लेकर अयोध्याका पालन करेंगे ॥ २८ ॥

अधिपेक्ष्यन्ति काकुत्स्थमयोध्यायां द्विजातयः ।

अपि ये देवताः कुर्युरिमं सत्यं मनोरथम् ॥ २९ ॥

अयोध्यामें ब्राह्मणलोक ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामका अभिषेक करेंगे। क्या देवता मेरे इस मनोरथको सत्य (सफल) करेंगे ? ॥ २९ ॥

प्रसाद्यमानः शिरसा भया स्वयं

बहुप्रकारं यदि न प्रपत्स्यते ।

ततोऽनुवत्स्यामि जिराय राघवं

वनेचरं नार्हति मामुपेक्षितुम् ॥ ३० ॥

‘मैं उनके चरणोंपर मस्तक रखकर उन्हें मनानेकी चेष्टा करूँगा यदि मेरे बहुत कहनेपर भी वे लौटनेको राजी न होंगे तो उन वनवासों श्रीरामके साथ मैं भी दीर्घकालतक वहीं निवास करूँगा। वे मेरी अपेक्षा नहीं करेंगे ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टाशीतितमः सर्गः ॥ ८८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें अष्टासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८८ ॥

एकोनवतितमः सर्गः

भरतका सेनासहित गङ्गा पार करके भरद्वाजके आश्रमपर जाना

व्युध्य रात्रिं तु तत्रैव भङ्गकूले स राघवः ।

काल्यमुत्थाय शत्रुघ्नमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

भृङ्गवेगपुर्णमें ही गङ्गाके तटपर रात्रि बिताकर रघुकुलमन्दन भगत प्राप्त काल उठे और शत्रुघ्नसे इस प्रकार बोले— ॥ १ ॥

शत्रुघ्नोत्तिष्ठ किं शेषे निषादाधिपतिं गुहम् ।
शीघ्रमानय भद्रं ते तारयिष्यति चाहिनीम् ॥ २ ॥

‘शत्रुघ्न ! उठो, क्या सो रहे हो। तुम्हारा कल्याण हो, तुम निषादराज गुहको शीघ्र बुला लाओ, वही हमे गङ्गाके पार उतारेगा’ ॥ २ ॥

जागमिं नाहं स्वर्षमि तथैवायं विचिन्तयन् ।
इत्येवमब्रवीद् भ्राता शत्रुघ्नो विप्रचोदितः ॥ ३ ॥

उनसे इस प्रकार प्रेरित होनेपर शत्रुघ्नने कहा—‘भैया ! मैं भी आपकी ही भाँति आर्य श्रीरामका चिन्तन करता हुआ जाग रहा हूँ, सोता नहीं हूँ’ ॥ ३ ॥

इति संवदन्तोरवयवोन्मत्तं नरसिंहयोः ।
आगम्य प्राञ्जलिः काले गुहो वचनमब्रवीत् ॥ ४ ॥

वे दोनों पुरुषसिंह जब इस प्रकार परस्पर बातचीत कर रहे थे उसी समय गुह उपयुक्त वेलामें आ पहुँचा और साथ जोड़कर बोला— ॥ ४ ॥

कच्चित् सुखं नदीतीरेष्वात्सी काकुत्स्थ शर्वरीम् ।
कच्चिच्च सहसैन्यस्य तव नित्यमनामधम् ॥ ५ ॥

‘काकुत्स्थकुलधृषण भरतजी ! इस नदीके तटपर आप रातमें सुखमें रहे हैं न ? सेनासहित आपका यहाँ कोई कष्ट तो नहीं हुआ है ? आप सर्वथा नीरोग हैं न ?’ ॥ ५ ॥

गुहस्य तत् तु वचनं श्रुत्वा स्नेहादुदीरितम् ।
रामस्यानुवशो चाक्ये भरतोऽप्योदमब्रवीत् ॥ ६ ॥

गुहके स्नेहपूर्वक कहे गये इस वचनको सुनकर श्रौतमक अधीन रहनेवाले भरतने यों कहा— ॥ ६ ॥

सुखा नः शर्वरी धीमन् पूजिताश्चापि ते वयम् ।
गङ्गां तु नीभिर्बह्वीभिर्दाशाः संतापयन्तु नः ॥ ७ ॥

‘शुद्धिमान् निषादराज ! हम सब लोगोंकी रक्त धड़े सुखमें बँतो है तुमने हमारा बड़ा मक्कार किया। अब ऐसा व्यवस्था करा, जिसमें तुम्हारे मल्लगह बहुत-से नौका आदम हवें गङ्गाके पार उतार दें’ ॥ ७ ॥

ततो गुहः संस्वरितः श्रुत्वा भरतशासनम् ।
प्रतिप्रविश्य नगरं ते ज्ञातिजनमब्रवीत् ॥ ८ ॥

भरतका यह आदेश सुनकर गुह तुरन्त अपने नगरमें गया और भाई-बन्धुओंसे बोला— ॥ ८ ॥

उत्तिष्ठत प्रबुधार्थं भद्रमस्तु हि वः सदा ।
नाहः सम्पुकर्यध्वं तारयिष्यामि चाहिनीम् ॥ ९ ॥

उठो, जागो, सदा तुम्हारा कल्याण हो। नौकाओंको खींचकर घाटपर ले आओ। भरतकी सेनाको गङ्गातीरे

पार उतारूँगा’ ॥ ९ ॥
ते तथोक्ताः सम्पुत्राय त्वरिता राजशासनात् ।

पञ्च नावो शतान्येव समानिन्यु, समन्ततः ॥ १० ॥

गुहके इस प्रकार कहनेपर अपने राजाकी आज्ञासे सभी मल्लगह शीघ्र ही उठ खड़े हुए और चारों ओरसे पाँच सौ नौकाएँ एकत्र कर लाये ॥ १० ॥

अन्याः स्वस्तिकविज्ञेया मृगाद्यष्टाधराधराः ।
शोभमानाः पताकिन्यो युक्तवाहाः सुसंहताः ॥ ११ ॥

इन सबके अतिरिक्त कुछ स्वस्तिक नामसे प्रसिद्ध नौकाएँ थीं जो स्वस्तिकके चिह्नसे अलंकृत होनेके कारण इन्हीं चिह्नोंमें पहचानी जाती थीं। उनपर ऐसी पताकाएँ फहरा रही थीं जिनमें बड़ा-बड़ा घण्टियाँ लटक रही थीं। स्वर्ण आदिके बने हुए चित्रासे उन नौकाओंकी विशेष शोभा हो रही थी। उनमें नौका खेनक लिये बहुत-से डाँड़ लगे हुए थे तथा चतुर नाविक उन्हें चलानेके लिये तैयार बँडे थे। वे सभी नौकाएँ बड़ी मजबूत बनो थीं ॥ ११ ॥

ततः स्वस्तिकविज्ञेया पाण्डुकम्बलसंवृताम् ।
सनन्दिघोषां कल्याणीं गुहो नावमुपाहरत् ॥ १२ ॥

उन्हांमेंसे एक कल्याणामयी नाव गुह स्वयं लेकर आया, जिसमें श्वेत कालोन बिछे हुए थे तथा उस स्वस्तिक नामवाली नावपर मङ्गलक शब्द हो रहा था ॥ १२ ॥

तामसरोह भरतः शत्रुघ्नश्च महाबलः ।
कौसल्या च सुमित्रा च याश्चान्या राजयोधितः ॥ १३ ॥

पुरोहितश्च तत् पूर्वं गुरवो ब्राह्मणाश्च ये ।
अनन्तरं राजदारास्तथैव शकटापणाः ॥ १४ ॥

उसपर सबसे पहले पुरोहित, गुरु और ब्राह्मण बैठे। तत्पश्चात् उसपर भरत, महाबली शत्रुघ्न कौसल्या, सुमित्रा, कैकेयी तथा राजा दशरथकी जो अन्य रानियाँ थीं, वे सब सवार हुईं। तदनन्तर राजपरिवारकी दूसरी स्त्रियाँ बँटीं। गाँड़ियाँ तथा क्रय-विक्रयका साम्राज्याँ दूसरी-दूसरी नावोंपर लदाई गयीं ॥ १३-१४ ॥

आवासमार्दापयतां तीर्थं चाप्यवगाहनाम् ।
भाण्डानि खाददानानां घोषस्तु दिवमस्पृशत् ॥ १५ ॥

कुरा सैनिक बड़ी-बड़ी मशालें जलाकर अपने खेपोंमें लूटी हुई वस्तुओंका संभालने लगे। कुछ लोग शीघ्रतापूर्वक घाटपर उतरने लगे तथा बहुत-से सैनिक अपने-अपने मामानको ‘यह मेरा है, यह मेरा है’ इस तरह पहचानकर उठाने लगे। उस समय जो महान् कोलाहल मचा, वह

• यहाँ ‘आवासमार्दापयताम्’ का अर्थ कुछ संकाशपूर्ण है कि ‘वे अपने आवासस्थानमें आगे लगाने लगे। आवश्यक वस्तुओंका लाने लेनके बाद जो मामूली झण्ड और नगण्य वस्तुएँ जाच रह जाती हैं उनमें छावनी उखाड़ने समय आगे लाना देना—यह मनाफा हमें बनाया गया है’ इत्येक दावदस्ता है किन्तु शत्रुघ्नस्य व्यक्तिक लिये अपना कोई निगान न छोड़ना—यह सैनिक नीति है। दूसरा यह है कि इस तरह आगे लगाने के अनेक विषय-वस्तुओंकी प्राप्ति होना है—एसा उनका परम्परागत विश्वास है।

आकाशमे गूज उठा ॥ १५ ॥

पताकिन्यस्तु ता नावः स्वयं दाशैरधिष्ठिताः ।

घहन्यो जनमारुहं तदा सम्पेतुराशुगाः ॥ १६ ॥

उन सभी नावोंपर पताकाएँ फहरा रही थीं । सबके ऊपर खेनेवाले कई मल्लाह बैठे थे । वे सब नौकाएँ उस समय चढ़े हुए मनुष्योंको तीव्रगतिमें पार ले जाने लगीं ॥ १६ ॥

नारीणामभिपूर्णास्तु काश्चित् काश्चित् तु वाजिनाम् ।

काश्चित् तत्र वहन्ति स्म यानयुग्यं महाधनम् ॥ १७ ॥

कितनी ही नौकाएँ, केवल स्त्रियोंसे भरी थीं, कुछ नावोंपर घोड़े थे तथा कुछ नौकाएँ गाड़ियों, उनमें जाने जानेवाले घोड़े, खर, बैल आदि वाहनों तथा बहुमूल्य रत्न आदिकों को रही थीं ॥ १७ ॥

तास्तु गत्वा परं तीरमधरोप्य च तं जनम् ।

निवृत्ता काण्डचित्राणि क्रियन्ते दाशबन्धुभिः ॥ १८ ॥

वे दूसरे तटपर पहुँचकर वहाँ लोंगोंको उतारकर जब लौटी, उस समय मल्लाहबन्धु जलमें उनकी विचित्र गतियोंका प्रदर्शन करने लगे ॥ १८ ॥

सर्वजयन्तास्तु गजा गजारोहैः प्रचोदिताः ।

तरन्तः स्म प्रकाशन्ते सपक्षा इव पर्वताः ॥ १९ ॥

वैजयन्ती पताकाओंसे सुशोभित होनेवाले हाथी महाबलोंसे प्रेरित होकर स्वयं ही नदी पार करने लगे । उस समय वे पंखधारी पर्वतोंके समान प्रगल्ल होने थे ॥ १९ ॥

नावश्चास्तुहस्त्वन्ये प्रवैस्तेरुस्तथापरे ।

अन्ये कुम्भघटैस्तेरुन्ये तेरुश्च बाहुभिः ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकोनवतितमः सर्गः ॥ ८९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें नवविंशत्यो सर्ग पूरा हुआ ॥ ८९ ॥

नवतितमः सर्गः

भरत और भरद्वाज मुनिकी भेंट एवं छातचीत तथा मुनिका अपने आश्रमपर ही ठहरनेका आदेश देना

भरद्वाजाश्रमं गत्वा क्रोशादेव नरवर्धनः ।

जनं सर्वमवस्थाप्य जगाम सह मन्त्रिभिः ॥ १ ॥

प्रदध्यामेव तु धर्मज्ञो न्यस्तशस्त्रपरिच्छदः ।

वसानो वाससी क्षौमे पुरोधाय पुरोहितम् ॥ २ ॥

धर्मके ज्ञाता नरश्रेष्ठ भरतने भरद्वाज-आश्रमके पास पहुँचकर अपने साथके सब लोगोंको आश्रमसे एक कोस

कितने ही मनुष्य नावोंपर बैठे थे और कितने ही बाँस तथा तिनकोंसे बने हुए बेंड़ोंपर सवार थे । कुछ लोंग बड़े बड़े कलशों, कुछ छोटे घड़ों और कुछ अपनी बाहुओंसे ही तैरकर पार हो रहे थे ॥ २० ॥

सा पुण्या ध्वजिनीं गङ्गां दाशैः संतारिता स्वयम् ।

मैत्रे मुहूर्ते प्रयत्नी प्रयागवनमुत्तमम् ॥ २१ ॥

इस प्रकार मल्लाहोंको सहायतासे वह सारी पक्क़ी सेना गङ्गाके पार उतारी गयी । फिर वह स्वयं मैत्रे नामक मुहूर्तमें उत्तम प्रयागवनकी ओर प्रस्थित हो गयी ॥ २१ ॥

आश्यासयित्वा च धर्मं महात्मा

निवेशयित्वा च यथोपजोषम् ।

द्रष्टुं भरद्वाजमुपिप्रवर्य-

मृत्विक्सदस्यैर्भरतः प्रतस्थे ॥ २२ ॥

वहाँ पहुँचकर महत्मा भरत सेनाको मुखपूर्वक विश्रामकी आज्ञा दे उसे प्रयागवनमें ठहराकर स्वयं ऋत्विजों तथा राजसभाके सदस्योंके साथ ऋषिश्रेष्ठ भरद्वाजका दर्शन करनेके लिये गये ॥ २२ ॥

स ब्राह्मणस्याश्रममभ्युपेत्य

महात्मनो देवपुरोहितस्य ।

ददर्श रण्योटजवृक्षदेशं

महद्वनं विप्रवरस्य रम्यम् ॥ २३ ॥

देवपुरोहित महात्मा ब्राह्मण भरद्वाज मुनिके आश्रमपर पहुँचकर भगवन्ने उन विप्रशिष्यमणिके रमणीय एवं विशाल वनको देखा, जो मनोहर पर्णशालाओं तथा वृक्षावलिद्वारा सुशोभित था ।

इधर ही ठहरा दिया था और अपने सभी अस्त्र-शस्त्र तथा राजचिह्न वस्त्र उतारकर वहीं रख दिये थे । केवल दो रेशमी वस्त्र धारण करके पुरोहितकी आज्ञा किये वे मन्त्रियोंके साथ पैदल ही वहाँ गये ॥ १-२ ॥

ततः संदर्शने तस्य भरद्वाजस्य राघवः ।

मन्त्रिणस्तानवस्थाप्य जगामानुपुरोहितम् ॥ ३ ॥

१ दो दो घड़ी (दण्ड) का एक मुहूर्त होता है । दिनमें कुछ पंद्रह मुहूर्त मानते हैं । इनमेंसे तीसरे पुरूर्तको 'मैत्रे' कहते हैं । मुहूर्तस्पर्तिने पंद्रह मुहूर्तके नाम इस प्रकार गिनाये हैं - रौद्र सायं, मैत्रे पैत्र वायव, अपश्य वैश्व ब्राह्म प्राज इव ऐन्द्र, ऐन्द्राग्र नैऋत, वारुणार्यमण तथा धर्म । जैसा कि वचन है -

रौद्र सार्षस्तथा मैत्रे पैत्रो वायव एव च । आप्यो वैश्वस्तथा ब्राह्म प्राजेऽन्द्रस्तथैव च

ऐन्द्राग्रो नैऋतश्चैव वारुणार्यमणो भवेत् । एतेऽह्नि क्रमशो ज्ञेया मुहूर्ता दश पञ्च च ।

आश्रममें प्रवेश करके जहाँ दूरसे ही मुनिवर भरद्वाजका दर्शन होने लगा। वहीं उन्होंने उन मन्त्रियोंको खड़ा कर दिया और पुरोहित वसिष्ठजीको आगे करके व पाँचे पाँच ऋषिके पास गये ॥ ३ ॥

वसिष्ठमथ दृष्ट्व भरद्वाजो महातपाः ।

संचचालासनात् तूर्णं शिष्यान् अर्घ्यमिति ब्रुवन् ॥ ४ ॥

महर्षि वसिष्ठको देखते ही महातपस्वी भरद्वाज आसनसे उठ खड़े हुए और शिष्याने दीक्षणापूर्वक अर्घ्य ले आनेका कहा

समागम्य वसिष्ठेन भरतेनाभिवादितः ।

अबुध्यत महानेजाः सुतं दशरथस्य तम् ॥ ५ ॥

फिर वे वसिष्ठसे मिले। तत्पश्चात् भगवन् उनके चरणामे प्रणाम किया। महातपस्वी भरद्वाज समझ गये कि ये राजा दशरथके पुत्र हैं ॥ ५ ॥

ताभ्यामर्घ्यं च याद्यं च दत्त्वा पश्चान् फलानि च ।

आनुपूर्व्यां धर्मज्ञः पप्रच्छ कुशलं कुले ॥ ६ ॥

धर्मज्ञ ऋषिने क्रमशः वसिष्ठ और भरतको अर्घ्य पाद्य तथा फल आदि निवेदन करके उन दोनोंको कुशल-कुशल-समाचार पूछा ॥ ६ ॥

अयोध्यायां बले कोशे मित्रेषुपि च मन्त्रिषु ।

जानन् दशरथं युतं न राजानमुदाहरत् ॥ ७ ॥

इसके बाद अयोध्या, सेना, सजाना, मित्रवर्ग तथा मन्त्रिमण्डलका हाल पूछा। राजा दशरथको मृत्युका वृत्तान्त वे जानते थे; इसलिये उनके विषयमें उन्होंने कुछ नहीं पूछा ॥ ७ ॥

वसिष्ठो भरतक्षीनं पप्रच्छतुरनामधम् ।

शरीरेऽग्निषु शिष्येषु वृक्षेषु मृगपक्षिषु ॥ ८ ॥

वसिष्ठ और भगवन् भी महर्षिके शरीर, अग्निहोत्र शिष्यवर्ग, पेड़-पत्ते तथा मृग-पक्षी आदिका कुशल-समाचार पूछा ॥ ८ ॥

तथेति तु प्रतिज्ञाय भरद्वाजो महायशः ।

भरतं प्रत्युवाचेदं राघवस्त्रेहबन्धनान् ॥ ९ ॥

महायशस्वी भरद्वाज 'सब ठीक है' ऐसा कहकर श्रीरामके प्रति संज्ञा होनेके कारण भरतसे इस प्रकार बोले— ॥ ९ ॥

किमिहागमने कार्यं तव राज्यं प्रशासतः ।

एतदावक्ष्य सर्वं ये न हि मे शुध्यते भवः ॥ १० ॥

'तुम तो राज्य कर रहे हो न? तुम्हें यहाँ आनेकी क्या आवश्यकता पड़ गयी? यह सब मुझे बताओ, क्योंकि मेरा मन तुम्हारे आगम शुद्ध नहीं हो रहा है—मेरा विश्वास तुम्हारे नहीं जमता है ॥ १० ॥

सुपुत्रे यममित्रघ्ने कौसल्याऽऽनन्दवर्धनम् ।

भ्रात्रा सह सभायौ यक्षिरं प्रभ्राजिनो वनम् ॥ ११ ॥

नियुक्तः स्त्रीनिषिक्तेन पित्रा योऽसौ महायशः ।

वनवासी भवेतीह समाः किल चतुर्दश ॥ १२ ॥

कश्चिन्न तस्यापापस्य पापं कर्तुमिहेच्छसि ।

अकण्टकं भोक्तुमना राज्यं तस्यानुजस्य च ॥ १३ ॥

'जो शत्रुओंका नाश करनेवाला है, जिस आनन्दवर्धक पुत्रको कामन्त्याने जन्म दिया है तथा तुम्हारे पिताने स्त्रीके कारण जिस महायशस्वी पुत्रको चौदह वर्षोंतक वनमें रहनेकी आज्ञा देकर ठमे भाई और पत्नीके साथ दीर्घकालके लिये वनमें भेज दिया है उस निरुपग्रह श्रीराम और उसके छोटे भाई लक्ष्मणका तुम अकण्टक राज्य भोगनेको इच्छासे कोई अनिष्ट तो नहीं करना चाहते हो?' ॥ ११—१३ ॥

एवमुक्तो भरद्वाजं भरतः प्रत्युवाच ह ।

पर्यश्रुनयनो दुःखाद् वाचा संसज्जमानया ॥ १४ ॥

भरद्वाजजीक ऐसा कहनेपर दुःखके कारण भरतकी आँखें डबडबा आये। वे लड़खड़ाती हुई वाणीमें उनसे इस प्रकार बात— ॥ १४ ॥

हतोऽस्मि यदि मामेव भगवानपि मन्यते ।

मत्तो न दोषयाशङ्के र्येवं मामनुशाधि हि ॥ १५ ॥

'भगवन्! यदि आप पूज्यपाद महर्षि भी मुझे ऐसा समझते हैं तब तो मैं हर तरहसे भारी गया। यह मैं निश्चित रूपसे जानता हूँ कि श्रीरामक वनवासमें मेरी ओरसे कोई अग्रगण्य नहीं हुआ है। अतः आप मुझसे ऐसी कठोर बात न कहें ॥ १५ ॥

न चैतदिष्टं माता मे यदवाचम्वदनरे ।

नाहमेतेन तुष्टश्च न तद्वचनमाददे ॥ १६ ॥

मेरी आड़ लेकर मेरी माताने जो कुछ कहा या किया है, यह मुझे अभोष्ट नहीं है। मैं इसमें सन्तुष्ट नहीं हूँ और न मानाको उस बातको स्वीकार ही करता हूँ ॥ १६ ॥

अहं तु तं नरव्याघ्रमुपयातः प्रसादकः ।

प्रतिनेनुपयोध्यायां पादौ चास्याभिवन्दितुम् ॥ १७ ॥

मैं तो उन पुरुषसिंह श्रीरामको प्रसन्न करके अयोध्यामें लौटा लाने और उनके चरणोंकी वन्दना करनेके लिये जा रहा हूँ ॥ १७ ॥

तं मायेवंगतं भत्वा प्रसादं कर्तुमर्हसि ।

शंस ते भगवन् रामः क्व सम्प्रति महीपतिः ॥ १८ ॥

इसी उद्देश्यसे मैं यहाँ आया हूँ। ऐसा समझकर आपको मुझपर क्रुपा करने चाहिये। भगवन्! आप मुझे बताइये कि इस समय महाराज श्रीराम कहाँ हैं?' ॥ १८ ॥

वसिष्ठादिभिर्ऋत्विग्भिर्याचितो भगवांस्ततः ।

उवाच तं भरद्वाजः प्रसादाद् भरतं वचः ॥ १९ ॥

इसके बाद वसिष्ठ आदि ऋत्विजोंने भी यह प्रार्थना की कि भगवन् कोई अग्रगण्य नहीं है। आप इनपर प्रसन्न हों। तब भगवन् भरद्वाजने प्रसन्न होकर भरतसे कहा— ॥ १९ ॥

त्वय्यंतत् पुरुषव्याघ्र युक्तं राघववंशजे ।

गुरुवृत्तिर्दमश्चैव साधूनां चानुयायिता ॥ २० ॥

‘पुरुषसिंह ! तुम रघुकुलमें उत्पन्न हुए हो। तुममें गुरुजनोकी सेवा, इन्द्रियसंगम तथा श्रेष्ठ पुरुषोंके अनुसरणका भाव होना उचित ही है ॥ २० ॥

जाने चैतन्यनःस्थं ते दृढीकरणमस्त्विति ।

अपृच्छं त्वां तवात्यर्थं कीर्तिं सर्पधिवर्धयन् ॥ २१ ॥

‘तुम्हारे मनमें जो बात है, उसे मैं जानता हूँ; तथापि मैंने इसलिये पूछा है कि तुम्हारा यह भाव और भी दृढ़ हो जाय तथा तुम्हारी कीर्तिका अधिकाधिक विस्तार हो ॥ २१ ॥

जाने न रामं धर्मज्ञं ससीतं सहलक्ष्मणम् ।

अयं वसति ते भ्राता चित्रकूटे महागिरी ॥ २२ ॥

‘मैं सीता और लक्ष्मणसहित धर्मज्ञ श्रीरामका पना जानता हूँ। ये तुम्हारे भ्राता श्रीरामचन्द्र महामर्षित चित्रकूटपर निवास करते हैं ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे नवमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आरण्यमायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें नववें सर्ग पूरा हुआ ॥ १० ॥

एकनवतितमः सर्गः

भरद्वाज मुनिके द्वारा सेनासहित भरतका दिव्य सत्कार

कृतबुद्धिं निवासाय तत्रैव स मुनिस्तदा ।

भरतं कैकयीपुत्रमातिथ्येन न्यमन्त्रयन् ॥ १ ॥

अब भरत उस आश्रममें ही निवासका दृढ़ निश्चय कर लिया, तब मुनिने कैकयीकुमार भरतका अपना आतिथ्य ग्रहण करनेके लिये न्यौता दिया ॥ १ ॥

अब्रवीद् भरतस्त्वेनं नन्विदं भवता कृतम् ।

पाशमर्घ्यमधातिथ्यं खने यदुपपद्यते ॥ २ ॥

यह सुनकर भरतने उनसे कहा—‘मुने ! वनमें जैसा आतिथ्य-सत्कार सम्भव है, वह तो आप पाश, अर्घ्य और फल-मूल आदि देकर कर ही चुके’ ॥ २ ॥

अथोवाच भरद्वाजो भरतं प्रहसन्निव ।

जाने त्वां प्रीतिसंयुक्तं तुष्येस्त्वं येन केनचित् ॥ ३ ॥

उनके ऐसा कहनेपर भरद्वाजजी भरतसे हँसते हुए-से बोले—‘भरत ! मैं जानता हूँ, मेरे प्रति तुम्हारा प्रेम है, अतः मैं मुझे जो कुछ दूँगा, उसमें तुम यत्नपूर्वक हो जाओगे ।’

सेनायास्तु तर्षवास्याः कर्तुमिच्छामि भोजनम् ।

यम प्रीतियंथारूपा त्वमर्हो मनुजर्षभ ॥ ४ ॥

‘किंतु इस समय मैं तुम्हारी सेनाको भोजन कराना चाहता हूँ, नरश्रेष्ठ ! इसमें मुझे प्रसन्नता होगी और तिम कष्ट मुझे प्रसन्नता हो, वैसे कार्य तुम्हें अवश्य करना चाहिये ॥ ४ ॥

किमर्थं चापि निक्षिप्य दूरे बलमिहागतः ।

कस्मात्रेहोपयातोऽसि सबलः पुमवर्षभ ॥ ५ ॥

‘पुरुषप्रवर ! तुम अपनी सेनाको किसलिये इतनी दूर

शस्तु गन्तासि तं देशं वसाद्य सह यन्त्रिभिः ।

एतं ये कुरु सुप्राज्ञं कार्यं कार्पाथकोविद ।

अब कल तुम उस स्थानकी यात्रा करना । आज अपने यन्त्रियोंके साथ इन आश्रममें ही रहो, महाकुर्तुमान् भरत ! तुम मेरी इस अधोष्ठ वस्तुका दोष समर्थ हो, अन मेरी यह आभिलाषा पूर्ण करो’ ॥ २३ ॥

नतस्तथैत्येवमुदारदर्शनः ।

प्रतीतरूपो भरतोऽब्रवीद् यच्चः ।

चकार बुद्धिं च तदाश्रमे तदा

निशानिवासाय नराधिपात्मजः ॥ २४ ॥

तब जिनके स्वरूप एवं स्वभावका परिचय मिल गया था, उन उदार दृष्टिवाले भरत तथा उन कष्टकर मुनिकों आशा शिरोधार्य की तथा उन राजकुमारने उस समय रातको उस आश्रममें ही निवास करनेका विचार किया ॥ २४ ॥

छाड़कर यहाँ आये हो, सेनासहित यहाँ क्यों नहीं आये ?’ ॥

भरतः प्रत्युवाचेंदं प्राञ्जलिस्तं तपोधनम् ।

न संन्येनोपयातोऽस्मि भगवन् भगवद्भयात् ॥ ६ ॥

तब भरतने हाथ जोड़कर उन तपोधन मुनिको उत्तर दिया—‘भगवन् ! मैं आपके ही चयमे सेनाके साथ यहाँ नहीं आया ॥ ६ ॥

राज्ञा हि भगवन् नित्यं राजपुत्रेण वा तथा ।

यत्नतः परिहर्तव्या विषयेषु तपस्विनः ॥ ७ ॥

प्रभो ! राजा और राजपुत्रको चर्चित कि वे सभी देशोंमें प्रयत्नपूर्वक तपस्वियोंकी दूर छाड़कर रहें (क्योंकि उनका द्वारा उन्हें कष्ट पहुँचानेकी सम्भावना रहती है) ॥ ७ ॥

वाजिमुख्या मनुष्याश्च मलाश्च वरधारणाः ।

प्रच्छाद्य भगवन् भूमिं यत्नतीमनुयान्ति माय ॥ ८ ॥

भगवन् ! पर साथ बहुत-से अच्छे-अच्छे घोड़े, मनुष्य और मनुष्योंके राजराज हैं, जो बहुत बड़े पशुपक्षोंको ढककर मेरे पीछे-पीछे चलते हैं ॥ ८ ॥

ते वृक्षानुदकं भूमिमाश्रमेयुटजास्तथा ।

न हिंस्युरिति तेवाहमेक एवागतस्ततः ॥ ९ ॥

‘वे आश्रमके वृक्ष, जल, भूमि और पर्णशालाओंकी हानि न पहुँचावे, इसलिये मैं यहाँ अकेला ही आया हूँ’ ॥ ९ ॥

आनीयतामिनः सेनेत्याज्ञप्तः परमर्षिणा ।

तथानुचक्रे भरतः सेनायाः समुपागमम् ॥ १० ॥

तदनन्तर उन महायुद्ध अज्ञा दी कि सेनाको यहाँ ले

आओ ।' तब भरतने सेनाको वहाँ बुलवा लिया ॥ १० ॥

अग्निशाला प्रविश्याथ पीत्वापः परिमृज्य च ।

आतिथ्यस्य क्रियाहेतोर्विश्वकर्माणमाह्वयन् ॥ ११ ॥

इसके बाद मुनिवर भरद्वाजने अग्निशालामें प्रवेश करके प्रलका आचमन किया और ओंठ पोंछकर भरतके आतिथ्य-सत्कारके लिये विश्वकर्मा आदिका आवाहन किया ॥ ११ ॥

आह्वये विश्वकर्माणमहं स्वष्टारमेव च ।

आतिथ्यं कर्तुमिच्छामि तत्र मे संविधीयताम् ॥ १२ ॥

वे बोले—'मैं विश्वकर्मा स्वष्टा देवताका आवाहन करता हूँ । मेरे मनमें मेनामहित भरतका आतिथ्य-सत्कार करनेकी इच्छा हुई है । इसमें मेरे लिये वे आवश्यक प्रबन्ध कर ॥

आह्वये लोकपालांस्त्रीन् देवान् शक्रपुंगवगणान् ।

आतिथ्यं कर्तुमिच्छामि तत्र मे संविधीयताम् ॥ १३ ॥

'जिनके अंगुआ इन्द्र हैं, उन तीन लोकपालोंका (अथान् इन्द्रसहित यम, वरुण और कुवेर नामक देवताओंका) मैं आवाहन करता हूँ । इस समय भरतका आतिथ्य-सत्कार करना चाहता हूँ, इसमें मेरे लिये वे लिंग आवश्यक प्रबन्ध करें ॥ १३ ॥

प्राक्स्त्रोतसश्च या नद्यस्तिर्यक्स्रोतस एव च ।

पृथिव्यामन्तरिक्षे च समाधान्त्वद्य सर्वशः ॥ १४ ॥

'पृथिवी और आकाशमें जो पूर्व एवं पश्चिमकी ओर प्रवाहित होनेवाली नदियाँ हैं, उनका भी मैं आवाहन करता हूँ, वे सब आज यहाँ पधारे ॥ १४ ॥

अन्याः स्ववन्तु मेरेषु सुरामन्याः सुनिष्ठिताम् ।

अपराश्रोदकं शीतमिक्षुकाण्डसोपमम् ॥ १५ ॥

कुछ नदियाँ मेरेपु प्रस्तुत करें । दूसरी अच्छी तरह तैयार की हुई सुगं ले आवें तथा अन्य नदियाँ इसके पोरुओंमें होनेवाला रमकी भाँति मधुर एवं शान्त बन तैयार करके रखें ॥ १५ ॥

आह्वये देवगन्धर्वान् विश्वाकसुहृद्गणान् ।

तथैवाप्सरसो देवगन्धर्वैश्चापि सर्वशः ॥ १६ ॥

मैं विश्वाकसु, वाता और इक्षु आदि देव गन्धर्वोंका तथा उनके साथ समस्त अप्सराओंका भी आवाहन करता हूँ ।

पृताचीमथ विश्वाची मिश्रकेशीमलम्बुषाम् ।

नागदत्तां च हेमां च सोमामद्रिकृतस्यारीम् ॥ १७ ॥

'पृताची, विश्वाची, मिश्रकेशी, अलम्बुषा नागदत्ता, हेमा सोमा तथा अद्रिकृतस्यारी (अथवा पवनपरा निखाम करनेवाली सोमा) का भी मैं आवाहन करता हूँ ॥ १७ ॥

शक्रं याक्षोपतिर्हस्ति ब्रह्माणं यश्च भाषिणीः ।

सर्वान्पुत्ररुणा सार्धमाह्वये सपङ्क्तिदाः ॥ १८ ॥

जो अप्सराएँ इन्द्रकी सभामें उपास्यता होती हैं तथा जो देवाङ्गनाएँ ब्रह्माकाकी सेवामें जाया करती हैं, उन सबका मैं सुमुखके साथ आवाहन करता हूँ । वे अलङ्कारों

तथा नृत्यगीतके लिये अपेक्षित अन्यान्य उपकरणोंका साथ यहाँ पधारे ॥ १८ ॥

वनं कुरुषु यद् दिव्यं वासोभूषणपत्रवत् ।

दिव्यनारीफलं शश्वत् तत्कौशेरमिहैव तु ॥ १९ ॥

'उत्तर कुरुवर्षमें जो दिव्य चैत्ररघ नामक वन है जिनमें दिव्य वस्त्र और आभूषण ही वृक्षोंके पत्ते हैं और दिव्य नारियाँ ही फल हैं, कुवेरका वन समानतन दिव्य वन यहाँ आ जाय ॥ १९ ॥

इह मे भगवान् सोमो विघ्नतामन्नपुत्रमम् ।

भक्ष्यं भोज्यं च घोष्यं च लेह्यं च विविधं बहु ॥ २० ॥

'यहाँ भगवान् सोम मेरे अतिथियोंके लिये ठसम अन्न, नाना प्रकारके भक्ष्य, भाज्य, लह्य और चाप्यकी प्रचुर मात्रामें व्यवस्था करें ॥ २० ॥

विचित्राणि च भाल्यानि पादपप्रच्युतानि च ।

सुरादीनि च पेयानि मांसानि विविधानि च ॥ २१ ॥

'वृक्षोंमें तुरत चुने गये नाना प्रकारके पुष्प, मधु आदि पत्र पदार्थ तथा नाना प्रकारके फलोंके गूदे भी भगवान् सोम यहाँ प्रस्तुत करें ॥ २१ ॥

एवं समाधिना युक्तस्तेजसाप्रतिपेन च ।

शिक्षास्वरसमायुक्तं सुव्रतश्चाब्रवीन्मुनिः ॥ २२ ॥

उस प्रकार उत्तम व्रतका पालन करनेवाले भरद्वाज मुनिने एकाग्रचित्त और अनुपम तेजस सम्पन्न हो शिक्षा (शिक्षा-शास्त्रमें बतायी गयी उच्चारणविधि) और (व्याकरणशास्त्रमें प्रकृति प्रत्यय सम्बन्धी) स्वरस युक्त वाणामें उन सबका आवाहन किया ॥ २२ ॥

मनसा ध्यायतस्तस्य प्राङ्मुखस्य कृताञ्जलेः ।

आजम्बुस्तानि सर्वाणि देवतानि पृथक् पृथक् ॥ २३ ॥

इस तरह आवाहन करके मुनि पूर्वाभिमुख हो हाथ जोड़े मन-ही-मन ध्यान करने लगें । उनके स्मरण करत ही वे सभी देवता एक-एक करके वहाँ आ पहुँचे ॥ २३ ॥

मत्स्यं ददुरं चैव ततः स्वेदनुदोऽनिलः ।

उपमृज्य वर्तु युक्त्या सुप्रियात्मा मुखं शिवः ॥ २४ ॥

फिर तो वहाँ मत्स्य और ददुर नामक पर्वतोंका रुई करके बनेवाली अन्यन्न प्रिय और मुखदर्शनी हवा भी और कलन लगी जो स्पर्शमात्रमें शरीरक पसीनेको सुखा देनेवाली थी ॥ २४ ॥

ततोऽभ्यवर्धन्त घना दिव्याः कुसुमवृष्टयः ।

देवदुन्दुभिघोषश्च दिक्षु सर्वासु शुश्रुवे ॥ २५ ॥

तत्पश्चात् मंचगण दिव्य पुष्पांशे बर्षा करने लगे । सम्पूर्ण दिशाओंमें देवताओंकी दुन्दुभियोंका मधुर शब्द सुनायी देने लगा ॥ २५ ॥

प्रववुश्चोत्तमा वाता ननृतुश्चाप्सरोगणाः ।

प्रजगुर्देवगन्धर्वा वीणाः प्रमुमुजुः स्वरान् ॥ २६ ॥

उत्तम वायु चलने लगी। अम्भराओंके समुदायोंका नृत्य होने लगा। देवगन्धर्व गाने लगे और सब ओर त्राणाओंको स्वरलहरियाँ फैल गयीं ॥ २६ ॥

स शब्दो ह्यं च भूमिं च प्राणिनां श्रवणानि च ।

विवेशोद्यावच्च इलक्ष्णः समो लयगुणान्वितः ॥ २७ ॥

सङ्गीतका वह शब्द पृथ्वी, आकाश तथा प्राणियोंके कर्णकुहरोमें प्रविष्ट होकर गुंजन लगता। आरोह अवरोहस युक्त वह शब्द कोमल एवं मधुर था, समकालमें विदित और लयगुणसे सम्पन्न था ॥ २७ ॥

तस्मिन्नेवंगते शब्दे दिव्ये श्रोत्रसुखे नृणाम् ।

ददर्श भारतं सैन्यं विधानं विश्वकर्मणः ॥ २८ ॥

इस प्रकार मनुष्योंके कानोंमें सुख देनेवाला वह दिव्य शब्द हो ही रहा था कि भरतकी सेनाको विश्वकर्माके निर्माणकौशल दिखायी पड़ा ॥ २८ ॥

बभूव हि समा भूमिः समन्तात् पञ्चयोजनम् ।

शाद्वलैर्बहुभिश्छात्रा नीलैर्दूर्यसनिभैः ॥ २९ ॥

धारी और पाँच योजनतककी भूमि समतल हो गयी। उसपर नीलम और दूर्य मणिके समान नाना प्रकारको घनो घास छा रही थी ॥ २९ ॥

तस्मिन् खिल्याः कपित्थाश्च पनसा बीजपूरकाः ।

आमलक्यो बभूवुश्च चूलाश्च फलभूषिताः ॥ ३० ॥

स्थान-स्थानपर बेल, कैथ, कटहल, आवल, बिजौर तथा आमके वृक्ष लगे थे, जो फलोंसे सुशोभित हो रहे थे ॥ ३० ॥

उत्तरेभ्यः कुरुध्यश्च वनं दिव्योपभोगवत् ।

आजगाम नदी सौम्या तीरजैर्बहुभिर्वृता ॥ ३१ ॥

उत्तर कुरुवर्षमें दिव्य भोगसामग्रियोंसे सम्पन्न क्षेत्र तथा नामक वन वर्ती आ गया साथ ही वहाँकी रमणीय नदियाँ भी आ पहुँची, जो बहुमूल्यक तटवर्ती वृक्षांसे घिरी हुई थीं ।

अतु शालानि शुभ्राणि शालाश्च गजवाजिनम् ।

हर्म्यप्रासादसंयुक्ततोरणानि शुभानि च ॥ ३२ ॥

ठण्डवाल, सार-चार कमलोंसे युक्त गृह (अथवा गृहयुक्त चबूतरे) तैयार हो गये। शाली और घोड़ोंके रहनेके लिये शालाएँ बन गयीं। अट्टालिकाओं तथा सनर्पाजले महलमें युक्त सुन्दर नगरद्वार भी निर्मित हो गये ॥ ३२ ॥

सितमेघनिभं चापि राजवेश्म सुनोरणम् ।

शुक्लमाल्यकृताकारं दिव्यगन्धसमुक्षितम् ॥ ३३ ॥

राजपरिवारके लिये बना हुआ सुन्दर द्वारसे युक्त दिव्य भवन श्वेत बादलोंके समान शोभा पा रहा था। उसे मफेद फूलोंकी मालाओंसे सजाया और दिव्य सुगन्धित जलम सींचा गया था ॥ ३३ ॥

चतुरस्रमसम्बाधं शयनासनयानवत् ।

दिव्यैः सर्वसंयुक्तं दिव्यभोजनवस्त्रवत् ॥ ३४ ॥

वह महल चौकीने तथा बहुत बड़ा था—उसमें संकीर्णतन्त्र अनुभव नहीं होता था। उसमें सोने, बैठने और सवारियोंके रहनेके लिये अलग-अलग स्थान थे। वहाँ सब प्रकारके दिव्य रस, दिव्य भोजन और दिव्य वस्त्र प्रस्तुत थे ॥ ३४ ॥

उपकल्पितसर्वाङ्गं द्यौतनिर्मलभाजनम् ।

हृत्सर्वासनं श्रीपत्स्वास्तीर्णशयनोत्तमम् ॥ ३५ ॥

सब तरहके अन्न और धुले हुए स्वच्छ पात्र रखे गये थे। उस सुन्दर भवनमें कहीं बैठनेके लिये सब प्रकारके आसन उपस्थित थे और कहीं सोनेके लिये सुन्दर शय्याएँ बिछी थीं ॥ ३५ ॥

प्रविवेश महाबाहुरनुज्ञातो महर्षिणा ।

वेश्म तद् रत्नसम्पूर्णं भरतः कैकयीसुतः ॥ ३६ ॥

अनुजमुञ्च ते सर्वे मन्त्रिणः सपुरोहिताः ।

बभूवुश्च मुदा युक्तास्तं दृष्ट्वा वेश्मसंविधिम् ॥ ३७ ॥

महर्षि भरद्वाजको आज्ञासे कैकयीपुत्र महाबाहु भरतने नाना प्रकारके रत्नमें भरे हुए उस महलमें प्रवेश किया। उनके साथ-साथ पुरोहित और मन्त्री भी उसमें गये। उस भवनका निर्माणकौशल देखकर इन सब लोगोंको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ३६-३७ ॥

तत्र राजासनं दिव्यं व्यजनं छत्रमेव च ।

भरतो मन्त्रिभिः सार्धमभ्यवर्तत राजवत् ॥ ३८ ॥

उस भवनमें भरतने दिव्य राजसिंहासन, चैवर और छत्र भी देखे तथा वहाँ गजा श्रोगमको भावना करके मन्त्रियोंके साथ उन मम्मल राजभोग्य वस्तुओंकी प्रदर्शिका की ॥ ३८ ॥

आसनं पूजयामास रामायाधिप्रणम्य च ।

वालव्यजनमादाय न्यषीदत् सचिवासने ॥ ३९ ॥

सिंहासनपर श्रीरामचन्द्रजी महाराज विराजमान हैं, ऐसी धारणा बनाकर उन्होंने श्रीरामको प्रणाम किया और उस सिंहासनकर भी पूजा की। फिर अपने हाथमें चैवर ले, वे मन्त्रोंके आसनपर जा बैठे ॥ ३९ ॥

आनुपूर्व्याभिषेदुश्च सर्वे मन्त्रिपुरोहिताः ।

ततः सेनापतिः पश्चात् प्रशास्ता च न्यषीदत् ॥ ४० ॥

तत्पश्चात् पुरोहित और मन्त्री भी क्रमशः अपने योग्य आसनपर बैठे, फिर सेनापति और प्रशास्ता (छावनीकी रक्षा करनेवाले) भी बैठ गये ॥ ४० ॥

ततस्तत्र भुर्तेन नद्यः पायसकंदपाः ।

उपतिष्ठन्त भरतं भरद्वाजस्य शासनात् ॥ ४१ ॥

तदनन्तर वहाँ दो ही नदियोंमें भरद्वाज मुनिकी आज्ञासे घनको सवामें नदियाँ उपस्थित हुईं जिनमें कोचके स्थानमें खोर भरी थीं ॥ ४१ ॥

आसामुपचयतःकूलं पाण्डुमृत्तिकलेपनाः ।

रम्याश्चावसथा दिव्या ब्राह्मणस्य प्रसादजाः ॥ ४२ ॥

उन नदियोंके दोनों तटोंपर ब्रह्मर्षि भरद्वाजकी कृपासे दिव्य एवं रमणीय भवन प्रकट हो गये थे, जो चूनेसे पुते हुए थे ॥ ४२ ॥

तेनैव च मुहूर्तेन दिव्याभरणभूषिताः ।

आगुर्विशतिसाहस्रा ब्रह्मणा प्रहिता स्त्रियः ॥ ४३ ॥

उसी मुहूर्तमें ब्रह्माजीकी भेजी हुई दिव्य आभूषणोंसे विभूषित बीस हजार दिव्याङ्गनाएँ वहाँ आयीं ॥ ४३ ॥

सुवर्णमणिमुक्तेन प्रचालेन च शोभिताः ।

आगुर्विशतिसाहस्राः कुबेरप्रहिताः स्त्रियः ॥ ४४ ॥

याभिर्गृहीतः पुरुषः सोऽप्यद इव लक्ष्यते ।

इसी तरह सुवर्ण, मणि, मुक्ता और मृगतोंके आभूषणोंसे सुशोभित कुबेरजीकी भेजी हुई बीस हजार दिव्य स्त्रियाँ भी वहाँ उपस्थित हुईं, जिनका स्पर्श पाकर पुरुष उन्मादग्रस्त भा दिखायी देता है ॥ ४४ ॥

आगुर्विशतिसाहस्रा नन्दनाट्यसंगेगणा ॥ ४५ ॥

नारदस्तुभ्युरुगोपः प्रभया सूर्यवर्चसः ।

एते गन्धर्वराजानो भरतस्याग्रतो जगुः ॥ ४६ ॥

इनके सिवा नन्दनवनसे बीस हजार अप्सराएँ भी आयीं । नारद, तुम्बुरु और गोप अपनी कान्तिसे सूर्यके समान प्रकाशित होते थे । ये तीनों गन्धर्वराज भरतके सामने गीत गाने लगे ॥ ४५-४६ ॥

अलम्बुषा मिश्रकेशी पुण्डरीकाक्ष वामना ।

उपानृत्यन्त भरतं भरद्वाजस्य शासनान् ॥ ४७ ॥

अलम्बुषा, मिश्रकेशी, पुण्डरीकाक्ष और वामना—ये चार अप्सराएँ भरद्वाज मुनिकी आज्ञासे भरतके सम्मुख नृत्य करने लगीं ॥ ४७ ॥

यानि माल्यानि देवेषु यानि चैत्ररथे वने ।

प्रयागे तान्यदृश्यन्त भरद्वाजस्य तेजसा ॥ ४८ ॥

जो फूल देवताओंके उद्यानमें और जो चैत्ररथ वनमें हुआ करता है वे मणि, धातु, अजित प्रत्नयस्य प्रदायसे दिव्याङ्गी देवता ॥

धिल्ला मर्दिङ्गिका आसञ् शम्भ्याग्राहा विभोक्तका ।

अश्वत्था नर्तकाश्चामन् भरद्वाजस्य तेजसा ॥ ४९ ॥

भरद्वाज युक्त तजस वेलक वक्ष मृदङ्ग वज्रत वरदक भेड़ शम्भ्या नामक माल टन और गोचलक वृक्ष चर्च नृत्य करते थे ॥ ४९ ॥

तनः सरलमालाश्च तिलकाः सतमालकाः ।

प्रहृष्टास्तत्र सप्यन् कुब्जा भृन्वाथ वामनाः ॥ ५० ॥

सदनम्बर देवदाह, माल, तिलक और तमाल नामक वृक्ष कुब्ज और वन वनकर बड़ हपक साथ भरतकी भेड़के उपस्थित हुए ॥ ५० ॥

शिशयाऽऽमलकी जम्बूयाश्चान्याः कानने लताः ।

पालनी मल्लिका जातिर्याश्चान्याः कानने लताः ।

प्रमदाविग्रहं कृत्वा भरद्वाजाश्रमेऽवसन् ॥ ५१ ॥

शिशया आमलकी और जम्बू आदि खील्खी वृक्ष तथा पालनी मल्लिका और जाति आदि वनकी लताएँ नारीका रूप धारण करके भरद्वाज मुनिके आश्रममें आ बसीं ॥ ५१ ॥

सुरां सुरापाः पिबन्त पायसं च बुभुक्षिताः ।

मांसानि च सुमेध्यानि भक्ष्यन्तो यो यदिच्छति ॥ ५२ ॥

(वे भगत सर्वकोको पुकार पुकारकर कहती थीं—)

'मधुका पान करनेवाले लोगो ! ला, यह मधु पान कर लो । नुमपमें जिन भूख लगी हो वे सब लोग यह खीर खाओ और परम पवित्र फलोंके गूदे भी प्रसन्न हैं इनका आस्वादन करो । जिनकी जो इच्छा हो, वही भोजन करो' ॥ ५२ ॥

उच्छोद्य स्वापयन्ति स्म नदीतीरेषु वल्गुषु ।

अयंकमेकं पुरुषं प्रमदाः सप्त चाष्ट च ॥ ५३ ॥

सात-आठ तरुणी स्त्रियाँ मिलकर एक-एक पुरुषको नदीके घाटोंपर उबटन लगा-लगाकर नहलाती थीं ।

संवाहन्यः सपापेतुर्नर्या विपुललोचनाः ।

परिपूज्य तदान्योन्यं पाययन्ति वराङ्गनाः ॥ ५४ ॥

बड़े-बड़े नेत्रोंवाली सुन्दरी रमणियाँ अनिधियोंका पैर दवानक लिये आती थीं । वे उनके भीगे हुए अङ्गोंको वस्त्रोंसे पोंछकर शुद्ध वस्त्र धारण कराकर उन्हें स्वादिष्ट पेय (दूध आदि) पिलाती थीं ॥ ५४ ॥

हृद्यान् गजान् खरानुष्टांस्तथैव सुरभेः सुतान् ।

अभोजयन् वाहनपास्तेषां भोज्यं यथाविधि ॥ ५५ ॥

तत्पश्चात् भिन्न-भिन्न वाहनोंकी रक्षामें नियुक्त यनुष्योंने गधों, घोड़ों, गध, ऊँट और बैलोंको भलीभाँति दाना घास आदिकर भोजन कराया ॥ ५५ ॥

इक्षुंश्च मधुलाजाश्च भोजयन्ति स्म वाहनान् ।

इक्ष्वाकुवरयोधानां चोदयन्तो महाबलाः ॥ ५६ ॥

इक्ष्वाकुकुल्यके श्रेष्ठ योद्धाओंकी सवारीमें आनेवाले वाहनोंको व महाबली वाहन-रक्षक (जिन्हें महर्षिने सेवाके लिये नियुक्त किया था) प्रेरणा दे देकर गधोंके टुकड़े और मधुमिश्रित लावे खिलाते थे ॥ ५६ ॥

नाश्वन्थोऽधमाजानाञ्च गजं कुञ्जरप्रभः ।

यत्तत्रभलमुदिता सा समस्तत्र सम्बधौ ॥ ५७ ॥

घोड़े बांधनेवाले सईमको अपने घोड़ेका और हाथीवाहको अपने हाथीका कुछ पना नहीं था । सारी सेना वहाँ भल-प्रभल और आनन्दमग्न प्रतीत होती थी ॥ ५७ ॥

तर्पिताः सर्वकामैश्च रक्तचन्दनरूषिताः ।

अप्सरंगणसंयुक्ताः सैन्या वाचमुदीरयन् ॥ ५८ ॥

सम्पूर्ण मनोवाञ्छित पदार्थोंसे तृप्त होकर लाल चन्दनसे रङ्गित हुए सैनिक अप्सराओंका संयोग पाकर निमग्नचित्त भाते कहने लगे— ॥ ५८ ॥

नैवायोध्यां गमिष्यामि न गमिष्याम दण्डकान् ।

कुशलं भरतस्यास्तु रामस्यास्तु तथा सुखम् ॥ ५९ ॥

'अब हम अयोध्या नहीं जायेंगे, दण्डकारण्यमें भी नहीं जायेंगे। भरत सकुशल रहे (जिनके कारण हमें इस भूतलपर स्वर्गका सुख मिला) तथा श्रीरामचन्द्रजी भी सुखी रहे (जिनके दर्शनके लिये आनेपर हमें इस दिव्य सुखकी प्राप्ति हुई)' ॥ ५९ ॥

इति पादानयोधाश्च हस्त्यश्वारोहबन्धकाः ।

अनाथास्त विधिं लब्ध्वा वाचमंतामुदीरयन् ॥ ६० ॥

इस प्रकार पैदल सैनिक तथा हाथीमवार घुड़सवार, सर्वस और महाबल आदि उस सत्कारका पाकर स्वच्छन्द हो उपर्युक्त बातें कहने लगे ॥ ६० ॥

सम्भ्रातृश्च विनेदुस्ते नरास्तत्र सहस्रशः ।

भगतस्यानुयातारः स्वर्गोऽयमिति चाब्रुवन् ॥ ६१ ॥

भरतके साथ आये हुए हजारों मनुष्य वहाँका वैभव देखकर हर्षिके मारे फूले नहीं समाते थे और जोर-जामे कहते थे—यह स्थान स्वर्ग है ॥ ६१ ॥

नृत्यन्तश्च हसन्तश्च गायन्तश्चैव सैनिकाः ।

समन्तान् परिघावन्तो माल्योपेताः सहस्रशः ॥ ६२ ॥

सहस्रों सैनिक फूलोंके हार पहनकर नाचते हैंमते और गाते हुए सब ओर दौड़ते फिरते थे ॥ ६२ ॥

ततो भुक्तवर्ता तेषां तदग्रममृतोपमम् ।

दिव्यानुहीक्ष्य भक्ष्यांस्तानभवद् भक्षणे मतिः ॥ ६३ ॥

उस अमृतके समान स्वादिष्ट अन्नका भोजन कर चुकनेपर भी उन दिव्य भक्ष्य पदार्थोंको देखकर उन्हें पुनः भोजन करनेकी इच्छा हो जाती थी ॥ ६३ ॥

प्रेष्याश्चेत्यश्च वध्यश्च बलस्याश्चापि सर्वशः ।

बभूवुस्ते भृशं प्रीताः सर्वे चाहतवाससः ॥ ६४ ॥

दास दासियाँ, सैनिकोंकी स्त्रियाँ और सैनिक सब-के-सब नूतन वस्त्र धारण करके सब प्रकारसे अत्यन्त प्रसन्न हो गये थे ॥ ६४ ॥

कुञ्जराश्च खरोट्टाश्च गोऽश्वाश्च मृगपक्षिणः ।

बभूवुः सुभृतास्तत्र नानो हान्यमकल्पयन् ॥ ६५ ॥

हाथी, घोड़े, गदहे, ऊँट, बैल, मृग तथा पक्षी भी वहाँ पूर्ण तृप्त हो गये थे, अतः कोई दूसरी किसी वस्तुकी इच्छा नहीं करता था ॥ ६५ ॥

नाशुक्लवासास्तत्रासीत् क्षुधितो मलिनोऽपि वा ।

रजसा ध्वस्तकेशो वा नरः कश्चिददृश्यन् ॥ ६६ ॥

उस समय वहाँ कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं दिखायी देता था, जिसके कपड़े सफेद न हों जो भूखा या मलिन रह गया हो, अथवा जिसके केश धूलमें धूसरित हो गये हों ॥ ६६ ॥

आर्जश्चापि च धाराहर्निष्ठानवरसंचर्यः ।

फलनिर्वृहसंसिद्धैः सुपेगन्धरसान्वितैः ॥ ६७ ॥

पुष्पध्वजवतीः पूर्णाः शुक्लस्यात्रस्य चाभितः ।

ददृशुर्विस्मितास्तत्र नरा लोहीः सहस्रशः ॥ ६८ ॥

अजकड़न मिलाकर बनाये गये, बराही कन्दसे तैयार किये गये तथा आम आदि फलोंके गरम किये हुए रसमें पकाये गये उत्तमोत्तम व्यञ्जनोंके समूहों, सुगन्धयुक्त रसवाली दालों तथा सत रंगके भातोंसे भरे हुए सहस्रों सुवर्ण आदिके पात्र वहाँ सब आर रखे हुए थे, जिन्हें फूलोंको ध्वजाओंसे सजाया गया था। भरतके साथ आये हुए सब लोगोंने उन पात्रोंको आश्चर्यचकित होकर देखा ॥ ६७-६८ ॥

बभूवुर्वनपार्श्वेषु कूपाः पायसकर्दमाः ।

ताश्च कामदुघा गावो दुधाश्चासन् मधुच्युतः ॥ ६९ ॥

वनके आस-पास जितने कुर्रू थे, उन सबमें गावों स्वादिष्ट स्तन भरे हुई थीं। घाँसकी गौरों कामधेनु (सब प्रकारकी कामनाओंको पूर्ण करनेवाली) हो गयी थीं और उस दिव्य वनके वृक्ष मधुकी वर्षा करते थे ॥ ६९ ॥

वाप्यो रंथपूर्णाश्च मृष्टमांसचर्यवृताः ।

प्रतप्तपिठरैश्चापि मार्गमायूरकौकुटैः ॥ ७० ॥

भरतकी सेनामें आये हुए निषाद आदि निम्नवर्गिक लोगोंको मृष्टिक किये वहाँ मधुसे भरी हुई क्षारद्वियाँ प्रकट हो गयी थीं तथा उनके तटोंपर तपे हुए पिठर (कुण्ड) में पकाय गये मृग मीन और मुर्गीके स्वाच्छ मांस भी ढेर के-ढेर रख दिये गये थे ॥ ७० ॥

पार्श्वेण च सहस्राणि स्थालीनां नियुतानि च ।

न्यर्जुदानि च पात्राणि शातकुम्भमयानि च ॥ ७१ ॥

वहाँ सहस्रों सैनिक अन्नपात्र, लग्गों व्यञ्जनपात्र और लग्गभग एक अरब थालियाँ संग्रहीत थीं ॥ ७१ ॥

स्थाल्यः कुम्भ्यः करम्भ्यश्च दधिपूर्णाः सुसंस्कृताः ।

धौवनस्थस्य गौरस्य कपित्थस्य सुगन्धिनः ॥ ७२ ॥

हुदाः पूर्णा रसालस्य दध्नः श्वेतस्य चापरे ।

बभूवुः पायसस्यान्ये शर्कराणां च संवयाः ॥ ७३ ॥

पिठर, छोटे-छोटे घड़े तथा मटके दहीस भरे हुए थे और उनमें दहीका सूम्बानु बनानेवाले मोठ आदि मसाले पड़े हुए थे। एक पहर पहलेके तैयार किये हुए केसरमिश्रित पीत-वर्णवाण्डे मुगान्धिन तन्त्रक कई तालाब भरे हुए थे। जीरा आदि मिलाये हुए तक्र (रसाल), सफेद दही तथा दूधके भी कई कुण्ड पृथक् पृथक् भरे हुए थे। शक्करोंके कई ढेर लगे थे ॥ ७२-७३ ॥

कल्कांशुर्णकषायांश्च स्नानानि विविधानि च ।

ददृशुर्भाजनस्थानि तीर्थेषु सरितां नराः ॥ ७४ ॥

स्नान करनेवाले मनुष्योंको नदीके घाटीपर भिन्न-भिन्न पात्रोंमें पामे हुए अचिकले, सुगन्धित चूर्ण तथा और भी नाना प्रकारके स्नानोपयोगी पदार्थ दिखायी देते थे ॥ ७४ ॥

शुक्लानंशुपतश्चापि दन्तधावनसंचयान् ।

शुक्लांश्चन्दनकल्कांश्च समुद्रेष्ववतिष्ठतः ॥ ७५ ॥

साथ ही ढेर-के-ढेर दाँतन, जो सफेद कुँजेवाले थे, वहाँ

रखे हुए थे। सम्पुटोंमें घिस हुए सफेद चन्दन विद्यमान थे। इन सब वस्तुओंको लोगोंने देखा ॥ ७५ ॥

दर्पणान् परिमृष्टांश्च वाससां चापि संचयान् ।

पादुकोपानहं र्ध्वं पुष्पान्यत्र सहस्रशः ॥ ७६ ॥

इतना ही नहीं, वहाँ बहुत-से स्वच्छ दर्पण, कर्ण-के-बोर बेल और हजारों आड़ू रसड़ाके और जूते भी दिखने दिये थे ॥ ७६ ॥

आञ्जनीः कङ्कलान् कृचोश्छात्राणि च धनूषि च ।

मर्मप्राणानि चित्राणि शयनान्वासनानि च ॥ ७७ ॥

काजलोंसहित कजरीटे, कंघे, कूचं (थक्करी या बरत), छत्र, धनुष, मर्मस्थानोंको रक्षा करनेवाले कबूतरे अदि मद्योधिचित्र शय्या और आसन भी वहाँ दृष्टिगोचर होने थे ॥

प्रतिषानहृदान् पूषान् खरोष्ट्रगजकाजिनाम् ।

अवगाह्यसुतीथीश्च हृदान् सोत्पलपुष्करान् ।

आकाशवर्णप्रतिमान् स्वच्छनोषान् सुखोपयान् ॥ ७८ ॥

गधे, ऊँट, हाथी और घोड़ोंके पानी पीनेके लिये कड़े जलाशय भी थे, जिनके घाट बड़े सुन्दर और सुसज्जित उतरने योग्य थे। उन जलाशयोंमें कमल और उत्पल शोभा पा रहे थे। उनका जल आकाशके समान स्वच्छ था तथा उनमें सुखपूर्वक तैरा जा सकता था ॥ ७८ ॥

नीलवर्दुर्यवणीश्च मृदून् श्वससंचयान् ।

निर्वापार्थं पशूनां ते दृशुस्तत्र सर्वशः ॥ ७९ ॥

पशुओंके खानेके लिये वहाँ सब ओर नील बँदुर्यवणिके समान रंगवाली हरी एवं कामल घासका ढेरियाँ लगी थीं। उन सब लोगोंने वे सभी वस्तुएँ देखीं ॥ ७९ ॥

इत्यर्थं श्रीमद्रामायणं वाल्मीकीयं आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकवतितमः सर्गः ॥ ९९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकीनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें इत्थानवकाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९९ ॥

द्विनवतितमः सर्गः

भरतका भरद्वाज मुनिसे जानेकी आज्ञा लेते हुए श्रीरामके आश्रमपर जानेका मार्ग जानना और मुनिको अपनी माताओंका परिचय देकर वहाँसे चित्रकूटके लिये सेनासहित प्रस्थान करना

ततस्तां रजनो ध्रुव्य भरतः सपरिच्छदः ।

कृतातिथ्यो भरद्वाजं कामादभिजगाम ह ॥ १ ॥

परिवारसहित भरत इच्छानुसार मुनिका आतिथ्य ग्रहण करके रातपर आश्रममें ही रहे। फिर सबर जानेकी आज्ञा लेनेके लिये वे महर्षि भरद्वाजके पास गये ॥ १ ॥

तमुषिः पुरुषव्याघ्रं प्रेक्ष्य प्राञ्जलिमागतम् ।

हुताग्निहोत्रो भरत भरद्वाजोऽध्यधावत ॥ २ ॥

पुरुषसिंह भरतको हाथ जोड़े अपने पास आया देख भरद्वाजजी अग्निहोत्रका कार्य करके उनसे बोले— ॥ २ ॥

कच्चिदत्र सुखा रात्रिस्तवास्मद्विषये गता ।

समप्रस्ते जनः कच्चिदानिथ्ये शंस मेऽनघ ॥ ३ ॥

निष्पाप भरत ! क्या हमारे इस आश्रममें तुझमें यह रुत

व्यस्यन्त मनुष्यास्ते स्वप्नकल्पं तदद्भुतम् ।

दृष्ट्वाऽऽतिथ्यं कृतं तादृग् भरतस्य महर्षिणा ॥ ८० ॥

महर्षि भरद्वाजके द्वारा सेनासहित भरतका किया हुआ वह आतिथ्यचरनेय आतिथ्य सत्कार अद्भुत और स्वप्नक समान था। उसे देखकर वे सब मनुष्य आश्चर्यचकित हो बैठे।

इत्येवं रममाणानां देवानापि च नन्दने ।

भरद्वाजाश्रमे रम्ये सा रात्रिर्व्यत्यवर्तत ॥ ८१ ॥

जैसे देवता नन्दनवनमें विहार करते हैं, ठसी प्रकार भरद्वाज मुनिके रमणीय आश्रममें यथाष्ट क्रोडा विहार करते हुए उन लोगोंकी वह रात्रि बड़े सुकसे बीती ॥ ८१ ॥

प्रतिजग्मुश्च ता नद्यो गन्धर्वाश्च यथागतम् ।

भरद्वाजमनुजग्मुः साश्च सर्वा वराङ्गनाः ॥ ८२ ॥

तत्पश्चात् वे नदियाँ, गन्धर्व और सभस्त सुन्दरी अप्सराएँ भरद्वाजजीकी आज्ञा ले जैसे आयी थीं, ठसी प्रकार लौट गयीं ॥ ८२ ॥

तथैव भना भदिरोत्कटा नरा-

स्तथैव दिव्यागुस्त्वन्दनोक्षिताः ।

तथैव दिव्या विविधाः स्रग्विनाः

पृथग्विकीर्णा मनुजैः प्रमदिताः ॥ ८३ ॥

सबसे ही जानपर भी लोग उसी प्रकार मधुपानसे मत एवं कम्पित दिखायी देते थे। उनके अङ्गोंपर दिव्य अगुरुयुक्त चन्दनका रंग ज्यों कस-स्यों दृष्टिगोचर हो रहा था। मनुष्योंके उपभागमें लगे गये नाना प्रकारके दिव्य उनम पुष्पहार भी उसी अवस्थामें पृथक्-पृथक् बिलेरे पड़े थे ॥ ८३ ॥

मुखम कीनी है ? क्या तुम्हारे साथ आये हुए सब लोग इस आतिथ्यसे संतुष्ट हुए हैं ? यह बताओ ॥ ३ ॥

तमुवाचाञ्जलिं कृत्वा भरतोऽभिप्रणम्य च ।

आश्रमादुपनिष्क्रान्तमुषिमुत्तमतेजसम् ॥ ४ ॥

तब भरतने आश्रमसे बाहर निकले हुए उन उनम तेजस्वी महर्षिको प्रणाम करके उनसे हाथ जोड़कर कहा— ॥ ४ ॥

सुखोचितोऽस्मि भगवन् समप्रबलत्वाहनः ।

बलवत्तर्पितश्चाहं बलवान् भगवन्स्त्वया ॥ ५ ॥

‘भगवन् ! मैं सम्पूर्ण सेना और सवारीके साथ यहाँ मुखपूर्वक रहा हूँ तथा सैनिकसहित मुझे पूर्णरूपसे तूम किया गया है ॥ ५ ॥

अपेतकृपसंतापाः सुभिक्षाः सुप्रतिभ्रवाः ।

अपि प्रेष्ठ्यानुपादाय सर्वे स्म सुमुखोचिताः ॥ ६ ॥

'सेवकोंसहित हम सब लोग ग्लानि और संतापसे रहित हो उत्तम अन्न-पान ग्रहण करके सुन्दर गृहोंको आश्रय ले बड़े सुखसे यहाँ रातभर रहे हैं ॥ ६ ॥

आमन्त्रयेऽहं भगवन् कामं त्वापृषिसत्तम ।

समीपं प्रस्थितं भ्रातुर्धैरिणोक्षस्व चक्षुषा ॥ ७ ॥

'भगवन् ! मुनिश्रेष्ठ ! अब मैं अपनी इच्छाके अनुसार आपसे आज्ञा लेने आया हूँ और अपने भाईके समीप प्रस्थान कर रहा हूँ, आप मुझे अहंपूर्ण दृष्टिसे देखिये ॥ ७ ॥

आश्रमं तस्य धर्मज्ञ धार्मिकस्य महात्मनः ।

आचक्ष्व कतमो भार्गवः कियानिति च शंस मे ॥ ८ ॥

'धर्मज्ञ मुनीश्वर ! यनाइये, धर्मपरायण महात्मा श्रीरामका आश्रम कहाँ है ? कितनी दूर है ? और वहाँ पहुँचनेके लिये कौन-सा मार्ग है ? इसका भी मुझसे स्पष्टरूपसे वर्णन किये' ॥ ८ ॥

इति पृष्ट्वा भरतं भ्रातुर्दर्शनलालसम् ।

प्रत्युवाच महानेजा भरद्वाजो महातपाः ॥ ९ ॥

इस प्रकार पूछे जानेपर महातपस्वी, महानेजस्वी भरद्वाजमुनिने भाईके दर्शनको लालसावाला भरतको इस प्रकार उत्तर दिया— ॥ ९ ॥

भरतार्धतृतीयेषु योजनेषुजने चने ।

चित्रकूटगिरिस्तत्र रम्यनिर्झरकाननः ॥ १० ॥

'भरत ! यहाँसे ढाई योजन (दस कोस) * को दूरपर एक निर्जन वनमें चित्रकूट नामक पर्वत है, जहाँकि झरने और वन बड़े ही रमणीय हैं (प्रयागसे चित्रकूटकी औधुनिक दूरी लगभग २८ कोस है) ॥ १० ॥

उत्तरे पार्श्वमासाद्य तस्य मन्दाकिनी नदी ।

पुष्पितहुमसंछन्ना रम्यपुष्पितकानना ॥ ११ ॥

अनन्तरे तत्सरितश्चित्रकूटं च पर्वतम् ।

तयोः पर्णकुटीं तात तत्र तौ वसतो ध्रुवम् ॥ १२ ॥

'उसके उत्तरी किनारेमें मन्दाकिनी नदी बहती है, जो फूलोंमें लहरे सघन घुँघोस आच्छादित रहती है उसके आस-पासकी वन बड़ा ही रमणीय और बाना प्रकारके पुष्पोंसे सुशोभित है उस नदीके उस पार चित्रकूट पर्वत है। तात वहाँ पहुँचकर तुम नदी और पर्वतके बीचमें श्रीरामको पर्णकुटी देखोगे। वे दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण निश्चय

ही उसीमें निवास करते हैं ॥ ११-१२ ॥

दक्षिणेन च मार्गेण सव्यदक्षिणमेव च ।

गजवाजिसमाकोणां वाहिनीं वाहिनीपते ॥ १३ ॥

वाहयस्व महाभाग ततो ब्रक्ष्यसि राघवम् ।

'सेनापते ! तुम यहाँसे हाथी घोंड़ोंसे भरी हुई अपनी सेना लेकर पहलें यमुनाके दक्षिणी किनारेमें जो मार्ग गया है, उसमें जाओ। आगे जाकर दो रास्ते मिलेंगे उनमेंसे जो रास्ता बायें दावकर दक्षिण दिशाकी ओर गया है, उसीसे सेनाको ले जाना महाभाग ! उस मार्गमें चलकर तुम शीघ्र ही श्रीरामधन्वजीका दर्शन पा जाओगे' ॥ १३ ॥

प्रयाणमिति च श्रुत्वा राजरत्नस्य योचितः ॥ १४ ॥

हित्वा यानानि यानार्हा ब्राह्मणो पर्यवारयन् ।

'अब यहाँसे प्रस्थान करना है'—यह सुनकर महाराज दशरथको भियाँ, जो सवारीपर ही रहने योग्य थीं, सवारियोंको छोड़कर ब्राह्मण भरद्वाजका प्रणाम करनेके लिये उन्हें चांगे औरसे घेकर खड़ी हो गयीं ॥ १४ ॥

वेपथुना कृशा दीना सह देव्या सुमित्रया ॥ १५ ॥

कौसल्या तत्र जग्राह कराध्यां चरणौ मुनेः ।

उपवासक कारण अत्यन्त दुर्बल एवं दीन हुई देवी कौसल्याने जो काँप रही थीं, सुमित्रा देवीके साथ अपने दोनों हाथोंसे भरद्वाज मुनिके पैर पकड़ लिये।

असमृद्धेन कामेन सर्वलोकस्य गर्हिता ॥ १६ ॥

कैकेयी तत्र जग्राह चरणौ सव्यपत्रपा ।

तं प्रदक्षिणामागम्य भगवन्तं महामुनिम् ॥ १७ ॥

अदूराद् भरतस्यैव तस्थौ दीनमनास्तदा ।

तत्पश्चात् ओ अपनी असफल कामनाके कारण सब लोकाँके लिये निन्दिता हो गयी थी उस कैकेयीने लज्जित होकर वहाँ मुनिके चरणोंका स्पर्श किया और उन महामुनि भगवान् भरद्वाजकी परिक्रमा करके वह दीनचित्त हो उस समय भगतक हो पान आकर खड़ी हो गयी ॥ १६-१७ ॥

तत्र पञ्चछ भरतं भरद्वाजो महामुनिः ॥ १८ ॥

विशेषं ज्ञातुमिच्छामि भ्रातॄणां तव राघव ।

तब महामुनि भरद्वाजने वहाँ भरतसे पूछा— 'रघुनन्दन ! तुम्हारी इन माताओंका विशेष परिचय क्या है ? यह मैं जानना चाहता हूँ ॥ १८ ॥

एवमुक्तस्तु भरतो भरद्वाजेन धार्मिकः ॥ १९ ॥

उवाच प्राञ्जलिभूत्वा कावयं वचनकोविदः ।

* सर्ग ५४ के अंशक २८ में पूर्व अंशमें दस कोसको दूरी लिखी है और यहाँ ढाई योजन। दोनों स्थलोंमें दस कोसका ही संकेत है। रामायणशिरोमणि नामक व्यक्तिके दोन जगह काप-वल्गुधिवक्त्रशय्यायस अथवा एकदोषके द्वारा यह दूरी तिगुनी करके दिखायी गयी है। प्रयागसे चित्रकूटकी दूरी लगभग २८ कोसको मानी जाती है। रामायणशिरोमणिकारकी भावनाका अनुसार ३० कोसकी दूरीमें और इस दूरीमें अधिक अन्तर नहीं है। मूलका भाष पुनर्ले ज्ञात मानको अपेक्षा छोटा है, इसलिये ८० मानकी यह दूरी मानी जाती है।

भरद्वाजके इस प्रकार पुछनेपर बोलनेको कलामें कुशल धर्मात्मा भरतने हाथ जोड़कर कहा— ॥ १९ ॥

यामिमां भगवन् दीनां शोकानशनकश्चिताम् ॥ २० ॥

पितुर्हि महिषीं देवीं देवतामिव पश्यसि ।

एषा तं पुरुषव्याघ्रं सिंहविक्रान्तगामिनम् ॥ २१ ॥

कौसल्या सुषुप्ते रामे धातारमदिनिर्यथा ।

‘भगवन् ! आप जिन्हें शोक और तपस्वामके कारण अत्यन्त दुर्बल एवं दुःखी देख रहे हैं जो देवी को दृष्टिगोचर हो रही हैं’ य मौर पिताकी सबसे बड़ी महारानी कौसल्या हैं जैसे अनितने धाता नामक आदिन्यको उत्पन्न किया था उसी प्रकार इन कौसल्या देवीने सिंहक समान पाक्रममूचक गतिसे चलनेवाले पुरुषसिंह श्रीरामको जन्म दिया है ॥

अस्या धामभुजं श्लिष्टा या सा तिष्ठति दुर्मना ॥ २२ ॥

इयं सुमित्रा दुःस्वार्ता देवी राज्ञश्च मध्यमा ।

कर्णिकारस्य शारङ्गं शीर्णपुष्पा वनान्तरे ॥ २३ ॥

एतस्यास्तौ सुतौ देव्याः कुम्भारो देववर्णिनौ ।

उभौ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ वीरौ सत्यपराक्रमौ ॥ २४ ॥

‘इनकी बायीं बांहसे सदकर जो उदरस मनसे खड़ी है तथा दुःखसे आतुर हो रही हैं और अभूषणशून्य होनेसे वनके भीतर झड़ हुए पुष्पखाल कनरको डालके समान दिखायी देती हैं, ये महाराजकी मझली रानी देवी सुमित्रा हैं ; सत्यपराक्रमी वीर तथा दक्षिणः आक तुल्य कल्तिमान् ये दोनों भाई राजकुमार लक्ष्मण और शत्रुघ्न इन्हें सुमित्रा देवीके पुत्र हैं ॥ २२—२४ ॥

यस्याः कृते नरव्याघ्रौ जीवनाशमितो गताः ।

राजा पुत्रविहीनश्च स्वर्गं दशरथो गतः ॥ २५ ॥

क्रोधनामकृतप्रज्ञा दुर्मा सुभगमानिनीम् ।

ऐश्वर्यकामां कैकेयीमनार्याभार्यस्मपिणीम् ॥ २६ ॥

मपैतां मातरं विद्धि नृशंसां पापनिक्षयाम् ।

धनोमूलं हि पश्यामि व्यसनं महदात्मनः ॥ २७ ॥

‘और जिसके कारण पुरुषसिंह श्रीराम और लक्ष्मण यहाँसे प्राण मछुटके अवस्था (जनक) में जा पहुँचे हैं तथा राजा दशरथ पुत्रनियोगका कष्ट पकर स्वर्गनाश हो गए हैं, जो स्वभावसे ही क्रोध करनेवाली, अशिक्षित बुद्धिवाली, गर्विली अपने-आपको सबसे अधिक सुन्दरी और भाग्यवती समझने वाली तथा राज्यका लोभ रखनेवाली है जो शत्रुसूतने अर्थात् होनेपर भी वास्तवमें अनार्या है इस कैकेयीको मेरी माता समझिये । यह बड़ी ही क्रूर और पापपूर्ण विचार रखनेवाली है मैं अपने ऊपर जो महान् मकट आया हुआ देख रहा हूँ इसका मूल कारण यही है ॥ २५—२७ ॥

इत्थुक्त्वा नरशार्दूलो बाष्पगद्गदया गिरा ।

विनिःश्वस्य स ताम्राक्षः कुण्डो नाग इव श्वमन् ॥ २८ ॥

अश्रुगद्गद वाणीसे इस प्रकार कहकर लाल आँखें किये

पुरुषामह भरत रोषसे भरकर फुफकारते हुए सर्पकी भाँति लंबी साँस खींचने लगे ॥ २८ ॥

भरद्वाजो महर्षिस्तं ह्रुवन्तं भरतं मदा ।

प्रत्युवाच महाबुद्धिरिदं वचनमर्थवित् ॥ २९ ॥

उस समय ऐसी बातें कहते हुए भरतने श्रीरामावतारके प्रयोजनको जाननेवाले महाबुद्धिमान् महर्षि भरद्वाजने उनसे यह बात कही— ॥ २९ ॥

न दोषेणावगन्तव्या कैकेयी भरत त्वया ।

रामप्रव्राजनं होतुं सुखोदकं भविष्यति ॥ ३० ॥

‘भरत ! तुम कैकेयीके प्रति दोष-दृष्टि न करो । श्रीरामका यह वनवास भविष्यमें बड़ा ही सुखद होगा ॥ ३० ॥

देवानां दानवानां च ऋषीणां भावितात्मनाम् ।

हितमेव भविष्यद्भि रामप्रव्राजनादिह ॥ ३१ ॥

‘श्रीरामके वनमें जानेसे देवताओं, दानवों तथा परमात्माका चिन्तन करनेवाले महर्षियोंका इस जगत्में हित ही होनेवाला है ॥ ३१ ॥

अभिषाद्य तु संसिद्धः कृत्वा चैनं प्रदक्षिणाम् ।

आमन्त्र्य भरतः सैन्यं युज्यतामिति चाब्रवीत् ॥ ३२ ॥

श्रीरामका पना जानकर और मुनिका आशीर्वाद पाकर कृतकृत्य हुए भरतने मुनिको मस्तक झुका उनकी प्रदक्षिणा करके जानेकी आज्ञा ले सेनाको कूचक स्थि तैयार होनेका आदेश दिया ॥ ३२ ॥

ततो वाजिरथान् युक्त्वा दिव्यान् हेमविभूषितान् ।

अध्यारोहत् प्रयाणार्थं बहून् बहुविधो जनः ॥ ३३ ॥

मदन-नर अनेक प्रकारकी वेध भूषणाल लोभ बहून-से दिव्य घोड़ों और दिव्य रथोंको जो सुवर्णम विभूषित थे, जोतकर यात्राके लिये उनपर सवार हुए ॥ ३३ ॥

गजकन्या गजाश्चैव हेमकक्षयाः पताकिनः ।

जीमूता इव घर्मान्ते सघोषाः सम्प्रतस्थिरः ॥ ३४ ॥

बहुत-सी हथिनियाँ और हाथी जो सुनकर रसोंसे कसे गये थे और जिनके ऊपर पताकाएँ फहरा रही थीं, वर्षा-कालके गरजने हुए मधोंके समान घण्टानाद करते हुए वहाँसे प्रस्थित हुए ॥ ३४ ॥

विविधान्यपि यानानि महान्ति च लघूनि च ।

प्रययुः सुमहार्हाणि पादैरपि पदातयः ॥ ३५ ॥

नाना प्रकारके छोटे-बड़े बहुमूल्य वहनोपर सवार हो उनके अधिकारी चले और पैदल सैनिक अपने पैरोंसे ही यात्रा करने लगे ॥ ३५ ॥

अथ यानप्रवेकैस्तु कौसल्याप्रभुरवाः स्त्रियः ।

रामदर्शनकाङ्क्षिण्यः प्रययुर्मुदितास्तदा ॥ ३६ ॥

तत्पश्चात् कौसल्या आदि स्त्रियाँ उत्तम सवारियोंपर बैठकर श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनकी अभिलाषासे प्रसन्नता-पूर्वक चली ॥ ३६ ॥

चन्द्रार्कतरुणाभासां नियुक्तां शिबिकां शुभाम् ।

आस्थाय प्रथमो श्रीमान् भरतः सपरिच्छदः ॥ ३७ ॥

इसी प्रकार श्रीमान् भरत नवादित चन्द्रमा और सूर्यके समान कान्तिमयी शिबिकामें बैठकर आवश्यक मार्गप्रयोगके साथ प्रस्थित हुए उस शिबिकाको कहाँगि अपने कंधेपर उठा रखा था ॥ ३७ ॥

सा प्रयाता महासेना गजवाजिसमाकुला ।

दक्षिणां दिशमावृत्य महामेघ इवास्थितः ॥ ३८ ॥

हाथी-घोड़ोंसे भरी हुई वह विशाल वाहनोंसे दक्षिण दिशाकी घेकर उमड़ी हुई महामेघोंकी घटाके समान चल पड़ी ॥ ३८ ॥

वनानि च व्यतिक्रम्य जुष्टानि मृगपक्षिभिः ।

गङ्गायाः परवेलायां गिरिष्वथ नदीष्वपि ॥ ३९ ॥

गङ्गाके उस पाग पर्वतों तथा नदियोंके निकटवर्ती वनोंको, जंगलों और पक्षियोंमें सेवन थे, लाँचकर वह आगे बढ़ गयी ॥

सा सम्प्रहृष्टिपवाजियुथा

विभ्रासयन्ती मृगपक्षिसंघान् ।

महद्वनं तत् प्रविगाहमाना

रराज सेना भरतस्य तत्र ॥ ४० ॥

उस सेनाके हाथी और घोड़ोंके समुदाय बड़े प्रसन्न थे। जंगलके मृग और पक्षिमृगोंको भयभीत कर्तों हुई भरतकी वह सेना उस विशाल वनमें प्रवेश करके वहाँ बड़ी शोभा पा रही थी।

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽष्टाध्याकाण्डे द्विनवतितमः सर्गः ॥ ९२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके अष्टाध्याकाण्डमें वानवासी सर्ग पूरा हुआ ॥ ९२ ॥

त्रिनवतितमः सर्गः

सेनासहित भरतकी चित्रकूट-यात्राका वर्णन

तथा महत्या यायिन्या ध्वजिन्या वनवासिनः ।

अर्दिता यूथपा मना सयूथा सम्प्रदुर्धुः ॥ १ ॥

यात्रा करनेवाली उस विशाल वाहनोंसे पीड़ित हो वनवासी यूथगण मनवान् हाथी आदि अपने यूथोंके साथ भाग चले ॥ १ ॥

प्रक्ष्माः पुषतमुत्थाञ्च रुखञ्च सपन्नतः ।

दृश्यन्ते वनधाटेषु गिरिष्वपि नदीषु च ॥ २ ॥

रीछ, चितककरे मृग तथा रुड़ नामक मृग वनप्रदेशोंमें पर्वतोंमें और नदियोंके नदीपर चारों ओर उस सेनामें पीड़ित दिखायी देने लगे ॥ २ ॥

स सम्प्रतस्थे धर्मात्मा प्रोक्तो दशरथात्मजः ।

धृतो महत्या नादिन्या सेनया घनुरङ्गया ॥ ३ ॥

महान् कोलाहल करनेवाली उस विशाल घनुरङ्गणी सेनासे घिरे हुए धर्मात्मा दशरथनन्दन भरत बड़ी प्रसन्नताके साथ यात्रा कर रहे थे ॥ ३ ॥

सागरौघनिभा सेना भरतस्य महात्मनः ।

महीं संछादयाधाम प्राश्वषि द्यामिवाश्वुदः ॥ ४ ॥

जैसे वर्षा-अनुमे मेघोंकी घटा आकाशकी ढक लेती है, उसी प्रकार महात्मा भरतकी समुद्र-जैसी उस विशाल सेनाने दूरतकके भूभागको आच्छादित कर लिया था ॥ ४ ॥

हुरंगौघैरखतना वारणैश्च महाबलैः ।

अनालक्ष्या चिरं कालं तस्मिन् काले बभूव सा ॥ ५ ॥

घोड़ोंके समूहों तथा महाबली हथियोंसे भरी और दूरतक फैली हुई वह सेना उस समय बहुत देरतक दृष्टिमें ही नहीं आती थी ॥ ५ ॥

स गत्वा दूरमध्वानं सम्परिश्रान्तवाहनः ।

उवाच वचनं श्रीमान् वसिष्ठं मन्त्रिणा वरम् ॥ ६ ॥

दूरतककर सत्ता है कर लेनेपर जब भरतकी सवारियाँ बहुत थक गयीं, तब श्रीमान् भरतने मन्त्रियोंमें श्रेष्ठ वासिष्ठजीसे कहा— ॥ ६ ॥

यादृशं लक्ष्यते रूपं यथा र्ध्वं यथा मुतम् ।

व्यक्तं प्राप्ताः स्म तं देशं भरद्वाजो यमब्रवीत् ॥ ७ ॥

'ब्रह्मन् ! मैंने जैसा सुन रखा था और जैसा इस देशका स्वरूप दिखकों देना है इसमें स्पष्ट ज्ञान पड़ता है कि भरद्वाजजीने जहाँ पहुँचनेका आदेश दिया था, उस देशमें हमलोग आ पहुँचे हैं।

अयं गिरिशिखरकूटस्तथा मन्दाकिनी नदी ।

एतन् प्रकाशते दूराप्रीलमेघनिभं वनम् ॥ ८ ॥

ज्ञान पड़ता है यहाँ चित्रकूट पर्वत है तथा वह मन्दाकिनी नदी वह रही है यह पर्वतके आस-पासका वन दूरसे नील मेघोंके समान प्रकाशित हो रहा है ॥ ८ ॥

गिरेः सानूनि रम्याणि चित्रकूटस्य सम्पति ।

वारणैरवपुच्छन्ते मायकः पर्वतोपमैः ॥ ९ ॥

इस समय में पर्वतकार हाथी चित्रकूटके रमणीय शिखरोंका अवमर्दन कर रहे हैं ॥ ९ ॥

मुञ्चन्ति कुसुमान्यन्ते वगाः पर्वतसानुषु ।

नीलम् इवातपापाये तोयं तोयधरा घनाः ॥ १० ॥

य वृक्ष पर्वतशिखरोंपर उसी प्रकार फूलोंकी वर्षा कर रहे हैं जैसे वर्षाकालमें नील अलधर मेघ उनपर जलकी वृष्टि करते हैं ॥ १० ॥

किंनराचरितं देशं पश्य शत्रुघ्न पर्वते ।

हयैः सपत्तादाकीर्णं मकरैरिव सागरम् ॥ ११ ॥

(इसके बाद भरत शत्रुघ्नसे कहने लगे—) शत्रुघ्न देखो, इस पर्वतकी उमन्यकामें जो देश है 'सैनिक' किन्नर खिन्नर करते हैं, वहाँ प्रवेश हमारे सेनाके घोड़ोंसे व्याप्त होकर मगरोंसे भरे हुए समुद्रके समान प्रतीत होता है ॥ ११ ॥

एते मृगगणा भान्ति शीघ्रवेगाः प्रज्वलिताः ।

वायुप्रविद्धा शरदि मेघजाला इवाश्वरे ॥ १२ ॥

'सैनिकोंके झंड़े हुए ये मृगोंके झुंड तीव्र वेगसे भागते हुए बैसी ही शीघ्रता पा रहे हैं जैसा शत्रु-जालोंके आकाशमें हवामें उड़ते गये बादलोंके समान मृगप्रतीत होते हैं ॥ १२ ॥

कुर्वन्ति कुसुमार्पाङ्गाञ्जिरःसु सुग्धीनमी ।

मेघप्रकाशः फलकैर्दीक्षिणात्वा नरा यथा ॥ १३ ॥

'ये सैनिक अधया वृक्ष मेघक समान कानिवाली दृष्टासे उपलब्धत होनेवाले दीक्षिण भारतीय मनुष्योंक समान अपने मस्तकों अधो शीखाओंपर सुगन्धित पुष्प-मुष्कमय आभूषणोंको धारण करते हैं ॥ १३ ॥

निष्कृजमिव भूत्वेदं वनं घोरप्रदर्शनम् ।

अयोध्येष जनाकीर्णा सप्रति प्रतिभाति मे ॥ १४ ॥

'यह वन जो पहले अनरख शून्य होनेके कारण अत्यन्त भयंकर दिखायी देता था, वहाँ इस समय हमारे साथ आये हुए लोगोंसे व्याप्त होनेके कारण मुझे अयोध्यापुरीके समान प्रतीत होता है ॥ १४ ॥

खुरैरुदीरितो रेणुर्दिवं प्रच्छाद्य तिष्ठति ।

तं वहत्यनिलः शीघ्रं कुर्वन्निव मम प्रियम् ॥ १५ ॥

'घोड़ोंको टापासे उड़ी हुई धूल आकाशको आच्छादित करके स्थित होती है, परंतु उस हवा में प्रिय करती हुई सी शीघ्र ही अन्यत्र उड़ा ले जाती है ॥ १५ ॥

स्यन्दनांस्तुरगोपेतान् सुतमुख्यैरधिष्ठितान् ।

एतान् सम्पततः शीघ्रं पश्य शत्रुघ्न कानने ॥ १६ ॥

'शत्रुघ्न ! देखो, इस वनमें घोड़ोंसे जुते हुए और श्रेष्ठ भारधियाँ द्वारा सन्ध्यायित हुए ये रथ किन्नरों इन्द्रजित्त आगे बढ़ रहे हैं ॥ १६ ॥

एतान् विप्रासितान् पश्य बर्हिणः प्रियदर्शनान् ।

एवमापततः शैलमधिवामं पतत्रिण ॥ १७ ॥

'जो देखनेमें बड़े प्यारे लगते हैं उन मौरोंको तो दूरी से हमारे सैनिकोंक भयसे किन्नर डरे हुए हैं इस प्रकार अपने आवास-स्थान पर्वतकी ओर उड़ते हुए अन्य पक्षियोंपर भी दृष्टिपात करो ॥ १७ ॥

अतिपात्रमयं देशो मनोज्ञः प्रतिभाति मे ।

तापसानां निवासोऽयं व्यक्तं स्वर्गपथोऽनघ ॥ १८ ॥

निष्पाप शत्रुघ्न ! यह देश मुझे खड़ा ही मनोहर प्रतीत होता है तपस्वी जनोका यह निवासस्थान आनन्दमे

स्वर्गोपय है ॥ १८ ॥

मृगा मृगीभिः सहिता बहवः पृथना वने ।

मनोज्ञरूपा लक्ष्यन्ते कुसुमैर्विव चित्रिताः ॥ १९ ॥

'इस वनमें मृगोंके साथ खिन्नरोंवाले बहुत-से चित्ररूपों मृग ऐसे मनोहर दिखायी देते हैं मानों इन्हें फूलोंमें चित्रित—सुसज्जित किया गया हो ॥ १९ ॥

साधु संन्या प्रतिवृत्ता विचित्रान्तु च काननम् ।

यथा तो पुरुषव्याघ्रौ दृश्येते रामलक्ष्मणौ ॥ २० ॥

'मेरे सैनिक यथोचित रूपसे आगे बढ़े और वनमें सब ओर खोजें, जिससे उन दोनों पुरुषसिंह श्रीराम और लक्ष्मणका पता लग जाय' ॥ २० ॥

भरतस्य वचः श्रुत्वा पुरुषाः शस्त्रपाणयः ।

विविशुस्तद्वनं शूरा धूमार्थं ददृशुस्ततः ॥ २१ ॥

भरतका यह वचन सुनकर बहुत-से शूरवीर पुरुषोंने हाथमें हाथियार लेकर उस वनमें प्रवेश किया। तदनन्तर आगे जानेपर उन्हें कुछ दूरपर ऊपरकी धुआँ उठता दिखायी दिया ॥ २१ ॥

ते समालोक्य धूमाग्रपूचुर्भरतमागताः ।

नामनुष्ये भवत्यग्रिर्व्यक्तमत्रैव राघवौ ॥ २२ ॥

उस धूमशिखाको देखकर वे लौट आये और भरतमें बोले—'प्रभो ! जहाँ कोई मनुष्य नहीं होता, वहाँ आग नहीं होती। अतः श्रीराम और लक्ष्मण अवश्य यहीं होंगे ॥ २२ ॥

अथ नात्र नरव्याघ्रौ राजपुत्रौ परंतपौ ।

अन्ये रामोपमाः सन्ति व्यक्तमत्र तपस्विनः ॥ २३ ॥

'यदि शत्रुओंकी संतप देनेवाले पुरुषसिंह राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मण यहाँ न हों तो भी श्रीराम-जैसे तेजस्वी दूसरे कोई तपस्वी तो अवश्य ही होंगे' ॥ २३ ॥

तच्छ्रुत्वा भरतस्तेषां वचनं साधुसम्मतम् ।

संन्यान्वाच सर्वास्तानमिप्रबलमर्दनः ॥ २४ ॥

उनकी जाने श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा मानने योग्य थी, उन्हें सुनकर शत्रुमनाका मर्दन करनेवाले भरतने उन समस्त सैनिकोंसे कहा— ॥ २४ ॥

यथा भवन्नस्तिष्ठन्तु नेतो गन्तव्यमग्रतः ।

अहमेव गमिष्यामि सुमन्त्रो धृतिरेव च ॥ २५ ॥

तुम सब लोग सावधान होकर यहीं ठहरो ! यहसे आगे न जाना। अब मैं ही वहाँ जाऊँगा। मेरे साथ सुमन्त्र और धृति भी रहेंगे ॥ २५ ॥

एवमुक्तास्तनः संन्यास्तत्र तस्थुः समन्ततः ।

भरतो यत्र धूमार्थं तत्र दृष्टि समादधत् ॥ २६ ॥

उनकी ऐसी आज्ञा पाकर सम्मत सैनिक वहाँ भय और फँसकर खड़े हो गये और भरतने जहाँ धुआँ उठ रहा था, उस ओर अपने दृष्टि स्थिर की ॥ २६ ॥

व्यवस्थिता या भरतेन सा खम्-

निरीक्षमाणाय च भूमिमग्रतः ।

बभूव हृष्टा नचिरेण जानती

प्रियस्य रामस्य सभागमं तदा ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽध्याकाण्डे त्रिनवतितमः सर्गः ॥ ९३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अध्याकाण्डमें त्रिगुनेवेवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९३ ॥

चतुर्नवतितमः सर्गः

श्रीरामका सीताको चित्रकूटकी शोभा दिखाना

दीर्घकालोक्षितस्तस्मिन् गिरौ गिरिवरप्रियः ।

सैदेष्टाः प्रियमाकाङ्क्षन् स्व च चित्तं विलोभयन् ॥ १ ॥

अथ द्वाशरथिक्षिप्रं चित्रकूटमदर्शयन् ।

भार्याममरसंकाशः शचीमिव पुरंदरः ॥ २ ॥

गिरिवर चित्रकूट श्रीरामको बहुत ही प्रिय लगता था । वे उस पर्वतपर बहुत दिनोंसे रह रह थे । एक दिन अमरतुल्य तेजस्वी दशरथनन्दन श्रीराम विनेन्द्रराजकुमारों सोनाका प्रिय करनेकी इच्छासे तथा अपने मनको भी बहलानेके लिये अपनी भार्याको विचित्र चित्रकूटकी शोभाका दर्शन कराने लगे, भानो देखराज इन्द्र अपनी पत्नी शचीको पर्वतीय सुषमाका दर्शन करा रहे हो ॥ १—२ ॥

न राज्यभ्रंशाय भद्रे न सुहृद्विर्विनाशकः ।

यनो मे वारधते दृष्ट्वा रमणीयमिमं गिरिम् ॥ ३ ॥

(वे बोले—) 'भद्रे ! यद्यपि मैं राज्यसे ग्रह हो गया हूँ तथा मुझे अपने हितही सुहृदोंमें विलग होकर रहना पड़ता है, तथापि जब मैं इस रमणीय पर्वतको और देखता हूँ, तब मेरा सारा दुःख दूर हो जाता है—राज्यका न मिलना और सुहृदोंका चिड़ोह जाना भी मेरे मनको व्यथित नहीं कर पाता है ॥ ३ ॥

पश्येममखलं भद्रे नानाद्विजगणापुतम् ।

शिखरैः स्वमिवोद्विद्धैर्धातुपद्भिर्विभूषितम् ॥ ४ ॥

'कल्याणि ! इस पर्वतपर दृष्टिपात तो करो, नाना प्रकारके असेख्य पक्षों यहाँ कलत्रय कर रहे हैं । नाना प्रकारके धातुओंसे परिणद्ध इसके गगन चुम्बों शिखर माना आकाशको वध रह है इन शिखरोंमें विभूषित हुआ यह चित्रकूट कैसी शोभा पा रहा है ॥ ४ ॥

केचिद् रजतसंकाशः केचित् क्षतजसंनिधाः ।

पीतमाग्निष्ठवर्णाश्च केचिन्मणिवरप्रभाः ॥ ५ ॥

पुष्पार्ककेतकाभाश्च केचिन्मयोतारसप्रभाः ।

धिराजन्तेऽचलेन्द्रस्य देशा धानुविभूषिताः ॥ ६ ॥

'विभिन्न धातुओंसे अलंकृत अचलराज चित्रकूटके प्रदेश कितने सुन्दर लगते हैं ! इनमेंसे कोई तो चन्दोंके समान चमक रहे हैं कोई लोहकी लाल आभाका विस्तार करने हैं

भरतके द्वारा वहाँ ठहराये गये वह संना आगेकी भूमिकर निरीक्षण करती हुई भी वहाँ हर्षपूर्वक खड़ी रही, क्योंकि उस समय उसे मालूम हो गया था कि अब शीघ्र ही श्रीरामचन्द्रजीमें मिलनेका अवसर मानेवाला है ॥ २७ ॥

किन्तु प्रदेशोंके रंग पीले और मजिष्ट वर्णके हैं । कोई श्रेष्ठ मणियोंके समान उद्भासित होते हैं । कोई पुरखराजके समान, कोई स्फटिकके मदूरा और कोई केवड़ेके फूलके समान कान्तिवाले हैं तथा कुछ प्रदेश नक्षत्री और पारंके समान प्रकाशित होते हैं ॥ ५-६ ॥

नानामृगगणैर्द्विषितरक्षुक्षगणैर्वृतः ।

अदुष्टैर्मातृयं शैलो बहुपक्षिसमाकुलः ॥ ७ ॥

'यह पर्वत बहुसंख्यक पक्षियोंमें व्याप्त है तथा नाना प्रकारके मृगों, बड़-बड़े व्याधों, खीतों और रोंछोंसे भरा हुआ है वे व्याध आदि हिंसक जन्तु अपने दुष्टभावका परित्याग करने यहाँ रहते हैं और इस पर्वतकी शोभा बढ़ाते हैं ॥ ७ ॥

आम्रजम्बूसनेलांधैः प्रियालैः घनसैर्धवैः ।

अङ्गुलैर्भस्वतिनिरीर्विल्वतिन्दुकवेणुभिः ॥ ८ ॥

काश्मर्यारिष्टवरणैर्धधूकैस्तिलकैरपि ।

वदर्यामरुकेर्नीपिर्वत्रधन्वनवीजकैः ॥ ९ ॥

पुष्पवद्धिः फलपेतेश्छायावद्भिर्मनोरमैः ।

एवमादिभिर्गकीर्णैः श्रियं पुष्यत्ययं गिरिः ॥ १० ॥

'आम्र, जामुन, असन, लोष, प्रियाल, कटहल, धव, अकाल, भव्य, तिलिश, बेल, तिन्दुक, बाँस, काश्मरी (मधुर्गणिका), आरुष्ट (नीम), वरण, पहुआ तिलक, बेर, आविल्ल, कटम्ब, खेत, धन्वन (इन्द्रजी), बीजक (अनार) आदि धनी छायावाले वृक्षोंमें, जो फूलों और फलोंसे लदे होनेके कारण मनोरम प्रभाव होते थे, व्याप्त हुआ यह पर्वत अनुपम शोभाका पश्यण एवं विस्तार कर रहा है ॥ ८—१० ॥

शीलप्रस्थेषु रथ्येषु पश्येयान् कामहर्षणान् ।

किन्नरान् इन्द्रशो भद्रे रममाणान् मनस्विनः ॥ ११ ॥

'इन रमणीय शीलप्रस्थोंपर उन प्रदेशोंको देखो, जो प्रेमात्मन्की भक्तनाका दर्शपन करके आन्तरिक हर्षवत्ते बढ़ानेवाले हैं वहाँ मनस्वी किन्नर दा-दी एक साथ होकर रहल रहे हैं ॥ ११ ॥

शाखावसक्तान् खड्गांश्च प्रयराण्यध्वराणि च ।

पश्य विद्याधरस्त्रीणां क्रीडोद्देशान् मनोरमान् ॥ १२ ॥

'इन किन्नरोंके खड्ग पेड़ोंकी छात्थियोंमें लटक रहे हैं,

इसर विद्याधरोक्ती स्त्रियोंके मनोरम कण्ठास्थले तथा वृक्षोंकी शाखाओंपर रखे हुए उनके सुन्दर वस्त्रोंको और भी देखो ॥ १२ ॥

जलप्रपातरुद्धेर्देर्निष्पन्दैश्च क्वचित् क्वचित् ।

खवद्भिर्भाल्ययं शैलः स्वप्नपद इव द्विपः ॥ १३ ॥

‘इसके ऊपर कहीं ऊँचेसे झरने गिर रहे हैं, कहीं जमीनके भीतरसे साँत निकले हैं और कहीं-कहीं छोट-छोटे स्रोत प्रवाहित हो रहे हैं। इन सबके द्वारा यह पर्वत मदकी भाँति बहनेवाले जलधारेके समान जोगा पाता है ॥ १३ ॥

गुहासमीरणो गन्धान् नानापुष्पध्वान् बहन् ।

घ्राणतर्पणमभ्येत्य कं नरे न प्रहर्षयेत् ॥ १४ ॥

‘गुहाओंमें निकली हुई वायु नाना प्रकारके पुष्पोंकी ध्वज गन्ध लेकर नासिकाओं तक फैली हुई किस पुरुषके घाम आकर उसका हर्ष नहीं बढ़ा रही है ॥ १४ ॥

यदीह शरदोऽनेकास्त्वया सार्धमनिन्दिते ।

लक्ष्मणेन च व्रतस्यामि न मां शोक प्रधर्षयि ॥ १५ ॥

‘सती-माष्ठी सीते ! यदि तुम्हारे और लक्ष्मणके साथ मैं यहाँ अनेक वर्षोंतक रहूँ तो भी नगराजका शोक मुझे कदापि पीड़ित नहीं करेगा ॥ १५ ॥

बहुपुष्पफलं रम्ये नानाद्विजगणायुते ।

विचित्रशिखरे ह्यस्मिन् रत्नवानस्मि भामिनि ॥ १६ ॥

‘भामिनि ! बहुतोंसे फलों और फलोंसे युक्त तथा नाना प्रकारके पक्षियोंसे गच्छित इस विचित्र दिग्दर्शक रमणीय पर्वतपर मेरा मन बहुत लगता है ॥ १६ ॥

अनेन वनवासेन धर्म प्राप्तं फलद्वयम् ।

पितृश्चानृण्यता धर्मे भरतस्य प्रियं तथा ॥ १७ ॥

‘प्रिये ! इस वनवाससे मुझे दो फल प्राप्त हुए हैं—एक लाभ है—एक तो धर्मानुसार पिताकी आज्ञाका पालनरूप कृपा भुक्त गया और दूसरा चाई भरतका प्रिय हुआ ॥ १७ ॥

वैदेहि रमसे कश्चिच्चित्रकूटे मया सह ।

पश्यन्ती विविधान् भावान् मनोवाक्यायसम्पत्तान् ॥ १८ ॥

विदेहकुमारी ! क्या चित्रकूट पर्वतपर मेरे साथ मन, वाणी और शरीरको प्रिय लगानेवाले भक्ति-भोजनके पदार्थोंकी देवत्वकर तुम्हीं आनन्द प्राप्त होता है ? ॥ १८ ॥

इदमेवामृतं प्राह राज्ञि राजर्षयः परे ।

वनवासं भवाथाय प्रेत्य ये प्रपितामहाः ॥ १९ ॥

‘रानी ! मेरे प्रपितामह मनु आदि उत्कृष्ट राजर्षियोंन नियमपूर्वक किये गये इन वनवासको ही अमृत वनत्वया है, इससे शरीरत्यागके पश्चात् धर्म अत्यन्तकसे प्राप्ति होती है ॥ १९ ॥

शिलाः शैलस्य शोभन्ते विशालाः शनशोऽधिनः ।

अहस्ता अहलैर्वर्णैर्नीलपीनसिताकणैः ॥ २० ॥

‘चारों ओर इस पर्वतको सैकड़ों विशाल शिलायें शोभा पा रही हैं, जो नीले, पीले, सफेद और लाल आदि विविध रंगोंमें अनेक प्रकारको दिखायी देती हैं ॥ २० ॥

निशि धान्यचलेन्द्रस्य हुनाशनशिरसा इव ।

ओषध्यः स्वप्रभालक्ष्म्या भ्राजमानाः सहस्रशः ॥ २१ ॥

‘रतमे इस पर्वतपर्वतके ऊपर लगी हुई सहस्रों ओषधीयों अपनी प्रभामयानिम प्रकाशित होती हुई अग्नि शिखाके समान उद्गमित होती हैं ॥ २१ ॥

केचित् क्षयनिभा देशाः केचिदुद्यानसंनिभाः ।

केचिदेकशिला भान्ति पर्वतस्यास्य भामिनि ॥ २२ ॥

‘भामिनि ! इस पर्वतके कई स्थान धरती भाँति दिखायी देते हैं (क्योंकि वे वृक्षोंकी घनी छायामें आच्छादित हैं) और कई स्थान चम्पा मालती आदि पुष्पोंकी अधिकताके कारण उद्यानके समान सुशोभित होते हैं तथा कितने ही स्थान ऐसे हैं जहाँ बहुत दूरतक एक ही शिला फैली हुई है। इन सबकी बड़ी शोभा होती है ॥ २२ ॥

भित्त्वेव वसुधा भानि चित्रकूटः समुत्थितः ।

चित्रकूटस्य कूटोऽयं दृश्यते सर्वतः शुभः ॥ २३ ॥

‘ऐसा जान पड़ता है कि यह चित्रकूट सर्वतः पृथ्वीको ढाँककर ऊपर उठ आया है। चित्रकूटका यह शिखर सब ओरसे सुन्दर दिखायी देता है ॥ २३ ॥

कुहस्थगरपुनागभूर्जपत्रोनाच्छदान् ।

कामिनां स्वास्नान् पश्य कुशेशयदलयुतान् ॥ २४ ॥

‘प्रिये ! देखो, ये विलासियोंके बिसर हैं, जिनपर ठण्ड, पुत्रजंघक पुत्राग और भाजपत्र—इनके पत्ते ही चांदरका काम देने हैं तथा इनके ऊपर सब ओरसे कमलोंके पत्ते बिछे हुए हैं ॥ २४ ॥

मृदिनाक्षार्पविद्धाश्च दृश्यन्ते कमलस्वजः ।

कामिभिर्वर्धिते पश्य फलानि विविधानि च ॥ २५ ॥

‘प्रियन्मे ! ये कमलोंकी पालायें दिखायी देती हैं, जो विलासियोंद्वारा भस्मस्पर्क फेंक दी गयी हैं। तभी देखो, वृक्षोंमें नाना प्रकारके फल लगे हुए हैं ॥ २५ ॥

वर्ष्वाकसारां नलिनीमनीर्त्यवोत्तरान् कुरुन् ।

पर्वतश्चित्रकूटोऽसौ बहुमूलफलोदकः ॥ २६ ॥

बहुत-से फल, भूल और जलसे सम्पन्न यह चित्रकूट पर्वत कुंठर गगन वर्ष्वाकसारा (अलका), इन्द्रपुरी नलिनी (अमरावती अथवा नलिनी नामसे प्रसिद्ध कुबरकी मौखिक कमलोंमें युक्त पुष्पारणी) तथा उत्तर कुलकी भी अपनी शोभासे तिरस्कृत कर रहा है ॥ २६ ॥

इयं तु कालं वर्धिते विजहिवा-

स्त्वया च सीते सह लक्ष्मणेन ।

रति प्रपत्ये कुलधर्मवर्धिनीं

सनां पथि स्वर्नियमैः परैः स्थितः ॥ २७ ॥

‘प्राणवल्लभे साँते ! अपने उत्तम नियमोंको पालन करते हुए मन्मार्गीय स्थित रहकर यदि तुम्हारे और लक्ष्मणके साथ

यह चौदह वर्षोंका समय मैं मानन्द व्यतीत कर लूँगा तो मुझे वह सुख प्राप्त होगा जो कुलधर्मको बढ़ानेवाला है’ ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽथोऽध्याकाण्डे चतुर्नवतितमः सर्गः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीमद्भक्तिकीर्तनमयणे आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें चौगनवेंवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २४ ॥

पञ्चनवतितमः सर्गः

श्रीरामका सीताके प्रति मन्दाकिनी नदीकी शोभाका वर्णन

अथ शैलाद् विनिष्कम्य यैथिलीं कोसलेश्वरः ।

अदर्शयच्छुभजलां रम्यां मन्दाकिनीं नदीम् ॥ १ ॥

तदनन्तर उस पर्वतसे निकलकर कोसलनेश श्रीरामचन्द्रजीने भिधिलेशकुमारी सीताको पुण्यमलिन रमणीय मन्दाकिनी नदीका दर्शन कराया ॥ १ ॥

अब्रवीच्छ वरारोहो चन्द्रचारुनिधाननाम् ।

विदेहराजस्य सुतां रामो राजीवश्रेष्ठधनः ॥ २ ॥

और उस समय कमलनयन श्रीरामने चन्द्रमाके समान मनोहर मुख तथा सुन्दर कटिप्रदेशवाली विदेहराजवन्दिनी सीतासे इस प्रकार कहा— ॥ २ ॥

विचित्रपुलिनां रम्यां हंसभारगसेविनाम् ।

कुसुमैरुपसम्पन्नां पश्य मन्दाकिनीं नदीम् ॥ ३ ॥

प्रिये ! अब मन्दाकिनी नदीकी शोभा देखो, हंस और सारंगभार सेश्रित होनेके कारण यह कितनी सुन्दर जान पड़ती है इसका किनारा बड़ा ही विचित्र है नाना प्रकारके पुष्प इसकी शोभा बढ़ा रहे हैं ॥ ३ ॥

नानाविधैस्तीरसहैर्वृतां पुष्पफलदुर्म ।

राजन्तीं राजराजस्य नलिनीमिव सर्वतः ॥ ४ ॥

फल और फूलोंके भारसे लदे हुए नाना प्रकारके तरुणों वृक्षोंसे घिरी हुई यह मन्दाकिनी कुबेरके मोगाधिक नरेशकी भाँति सब ओरसे सुशोभित हो रही है ॥ ४ ॥

मृगयुथानिर्धीतानि कलुषाभ्यासि साध्रमम् ।

तीर्थानि रमणीयानि रति संजनयन्ति मे ॥ ५ ॥

‘हरिनोक हुआ पानी पीकर इस समय यहाँपर यहाँका जल पीकर का गया है तथापि इसके रमणीय घाट में मनका बड़ा आनन्द दे रहे हैं ॥ ५ ॥

जटाजिनधराः काले बल्कलान्तरवाससः ।

श्रुथयस्त्वक्काहन्ते नदीं मन्दाकिनीं प्रिये ॥ ६ ॥

‘प्रिये ! वह देखो, जटा, मृगचर्म और बल्कलकर उनमें धारण करनेवाले महर्षि उपयुक्त समयमें आकर इस मन्दाकिनी नदीमें स्नान कर रहे हैं ॥ ६ ॥

आदित्यमुपतिष्ठन्ते नियमादूर्ध्वकाहवः ।

एते परे विशालाक्षि मुनयः सशितग्रताः ॥ ७ ॥

‘विशाललोचने ! वे दूसरे मुनि, जो कठोर व्रतका पालन करनेवाले हैं, नैतिक नियमके कारण दोनों भुजाएँ ऊपर

ठठाकर सूर्यदेवका उपस्थान कर रहे हैं ॥ ७ ॥

शालोदधूतशिखरैः प्रनृत इव पर्वतः ।

पादपैः पुष्पपत्राणि सुजटिरभितो नदीम् ॥ ८ ॥

‘हवाक झाकसे जिनका शिखर झुम रही है, अतएव जो मन्दाकिनी नदीके उभय तटोंपर फूल और पत्ते बिखर रहे हैं, उन वृक्षोंमें उपलक्षित हुआ यह पर्वत मानो नृत्य-सा करने लगा है ॥ ८ ॥

कचिन्मणिनिकाशोदो जलिन पुलिनशालिनीम् ।

कचिन् सिद्धजनाकीर्णां पश्य मन्दाकिनीं नदीम् ॥ ९ ॥

देखो ! मन्दाकिनी नदीकी कैसी शोभा है, कहीं तो इसमें मणियोंके समान स्वच्छ जल बहता दिखायी देता है, कहीं यह ऊँच कमलोंमें ही शोभा पाती है (यादोंका जल कमलोंमें छिप जानेके कारण दिखायी नहीं देता है) और कहीं सिद्धजन इन्हीं अवसरों पर रह रहे हैं तथा यह उनमें व्याप्त दिखायी देता है ॥ ९ ॥

निर्धूतान् वायुना पश्य विततान् पुष्पसंचयान् ।

पोषुधयानानपरान् पश्य त्वं तनुपध्यसे ॥ १० ॥

‘सुख कटिप्रदेशवाली सुन्दर ! देखो, वायुके द्वारा उड़ाकर लिये हुए वे दूर केन्दर फूल किस तरह मन्दाकिनीके तटों पर फैल हुए हैं और वे दूसरे पुष्पसमूह कैसे पानीपर फैल रहे हैं ॥ १० ॥

पश्येत्तद्वल्गुवचसो रथाङ्गाह्वयना द्विजाः ।

अधिरोहन्ति कल्याणि निष्कृजन्तः शुभा गिरः ॥ ११ ॥

‘कल्याणि ! देखो तो सही, ये पीढ़ी बोली बोलनेवाले चक्रवाक पक्षी सुन्दर कलरव करते हुए किस तरह नदीके तटोंपर आकृष्ट हो रहे हैं ॥ ११ ॥

दर्शनं विप्रकूटस्य मन्दाकिन्याश्च शोभने ।

अधिकं पुरावासाच्च मन्ये तव च दर्शनात् ॥ १२ ॥

‘शोभने ! यहाँ जो प्रतिदिन विप्रकूट और मन्दाकिनीका दर्शन होता है, वह नित्य-निरन्तर तुम्हारा दर्शन होनेके कारण अयोध्यानिवासको अपेक्षा भी अधिक सुखदायक जान पड़ता है ॥ १२ ॥

विधूतकल्मषैः सिद्धैस्तपोदमशमान्वितैः ।

नित्यविक्षोभितजलां विगाहस्व मया सह ॥ १३ ॥

‘इस नदीमें प्रतिदिन तपस्वी, इन्द्रियसेवक और

मनोनिग्रहसे सम्पन्न निष्पाप सिद्ध महात्माओंके अवगमन करनेसे इसका जल विस्तृत होना रहता है चलो तुम भी इस साथ इसमें स्नान करो ॥ १३ ॥

सखीवद्य विगाहस्य सीते मन्दाकिनी नदीम् ।
कमलान्यवयजन्ती पुष्कराणि च भामिनि ॥ १४ ॥

‘भामिनि सीते ! एक सखी दूसरी सखीके साथ जैसा क्रीड़ा करती है, उसी प्रकार तुम मन्दाकिनी नदीमें उतरकर इसके लाल और श्वेत कमलोंको जलमें डूबी हुई इनमें स्नान-क्रीड़ा करो ॥ १४ ॥

त्वं धीरजनपद व्यालानयोध्यामिव पर्वतम् ।
मन्यस्य वनिते नित्यं सरयुवदिमां नदीम् ॥ १५ ॥

‘प्रिये ! तुम इस वनके निजामियकों गुरवाया मनुष्यक समान समझो, चित्रकूट पर्वतको अयोध्याक तुल्य मानो और इस मन्दाकिनी नदीको सरयुके सदृश जानो ॥ १५ ॥

लक्ष्मणश्चैव धर्मात्मा मन्त्रिदेशे व्यवस्थितः ।
त्वं चानुकूला घेदेहि प्रीतिं जनयन्ती यम ॥ १६ ॥

‘विदहनन्दिनि ! धर्मात्मा लक्ष्मण सदा मेरी आज्ञाके अधीन रहते हैं और तुम भी मेरे मनके अनुकूल हो चालो तो, इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है ॥ १६ ॥

उपस्पृशंस्त्रिवर्णं मधुमूलफलाशनः ।
नायोध्यायै न राज्याय स्पृहये च तथा मह ॥ १७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षष्ठनवतितमः सर्गः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीबाल्मीकिनिर्मित आरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें षष्ठनवतमो सर्ग पूरा हुआ ॥ १५ ॥

षण्णवतितमः सर्गः

वन-जन्तुओंके भागनेका कारण जाननेके लिये श्रीरामकी आज्ञासे लक्ष्मणका शाल-वृक्षपर चढ़कर भरतकी सेनाको देखना और उनके प्रति अपना रोयपूर्ण उद्गार प्रकट करना

तां तदा दर्शयित्वा तु मेथिली गिरिनिष्ठगाम् ।
निषसाद गिरिप्रस्थे सीतां यामेन छन्दयन् ॥ १ ॥

इस प्रकार मिथिलेन्द्रकुमारी सीताको मन्दाकिनी नदीका दर्शन कराकर उस समये श्रीरामचन्द्रजी पवनक समतल प्रदेशमें उनका साथ बैठ गये और तपस्वी-जनोंके उपभोगमें आने योग्य फल-मूलके गूटेमें इनकी मानसिक प्रसन्नताको बढ़ाने—उनका स्नान करने लगे ॥ १ ॥

इदं मेध्यमिदं स्वादु निष्टमिदमप्रिना ।
एवमास्ते स धर्मात्मा सीतया सह राघवः ॥ २ ॥

धर्मात्मा रघुनन्दन सीताजीके साथ इस प्रकारको बातें कर रहे थे—‘प्रिये ! यह फल परम पवित्र है । यह बहुत स्वादिष्ट है तथा हम कन्दको अच्छी तरह आगपर मेका गया है ॥

नथा तत्रासतस्तस्य भग्नस्थोपयाधिनः ।
सैन्यरेणुश्च शब्दश्च प्रादुरास्तां नभस्पृशौ ॥ ३ ॥

इस प्रकार वे उस पवनाय प्रदेशमें बैठे हुए हैं वे कि

‘प्रिये ! तुम्हारे साथ तीनों काल स्नान करके मधुर फल-मूलका आहार करना हुआ मैं न तो अयोध्या जानकी इच्छा रखता हूँ और न राज्य पानेकी ही ॥ १७ ॥

इमां हि रम्यां गजयूथलोडितां
निपीततोषां गजसिंहवानरैः ।

सुपुष्पितां पुष्पधरैरलंकृतां
न सोऽस्ति यः स्वात्र गतक्लमः सुखी ॥ १८ ॥

‘जिसे हाथियोंके समूह मथे डालते हैं तथा सिंह और वानर जिसका जल पिया करते हैं, जिनके तटपर सुन्दर पुष्पोंसे लदे वृक्ष शोभा पाते हैं तथा जो पुष्पसमूहोंसे अलंकृत हैं ऐसा इन रमणीय मन्दाकिनी नदीमें स्नान करके जो मन्त्रिपरिचित और सुखी न हो जाय ऐसा मनुष्य इस संसारमें नहीं है ॥ १८ ॥

इतीव रामो बहुमंगलं वचः
प्रियासहायः सरितं प्रति ब्रुवन् ।

वद्यार रघ्यं नयनाङ्गनप्रभं
स चित्रकूटं रघुवंशवर्धनः ॥ १९ ॥

रघुवंशको वृद्धि करनेवाले श्रीरामचन्द्रजी मन्दाकिनी नदीके प्रति ऐसी अनेक प्रकारको सुसंगत बातें कहते हुए राज-कर्त्तृत्ववाले रमणीय चित्रकूटपर्वतपर अपनी प्रिया पत्नी सीताके साथ विचरने लगे ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षष्ठनवतितमः सर्गः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीबाल्मीकिनिर्मित आरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें षष्ठनवतमो सर्ग पूरा हुआ ॥ १५ ॥

उनके पास आनन्दानी भरतकी सेनाकी धृन् और कालाहल दोनों एक साथ प्रकट हुए और आकाशमें फैलने लगे । ३ ।

एतस्मिन्नन्तरे त्रस्ताः शब्देन भहता ततः ।
अदिता यूथपा भता, सयूथाद् दुदुधुर्दिशः ॥ ४ ॥

इसी बीचमें सेनाके महान् कोलाहलसे भयभीत एवं फोड़ित हो हाथियोंक कितने ही मतवाले यूथपति अपने यूथाक साथ सम्पूर्ण दिशाओंमें भागने लगे । ४ ॥

स ते सैन्यसमुद्भूतं शब्दं शुश्राव राघवः ।
तांश्च विप्रद्रुतान् सर्वान् यूथपानन्वर्षक्षत ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने सेनासे प्रकट हुए उस महान् कोलाहलको सुना तथा भागे जात हुए उन समस्त यूथपतियोंको भी देखा ॥ ५ ॥

तांश्च विप्रद्रुतान् दृष्ट्वा ते च श्रुत्वा महास्वनम् ।
उवाच रामः सीमित्रि लक्ष्मणं दीपनेजसम् ॥ ६ ॥

उन भागे हुए हाथियोंको देखकर और उस महाध्वनिक

शब्दको सुनकर श्रीरामचन्द्रजी उदीप्त तेजवाने मुमित्राकुमार लक्ष्मणसे बोले— ॥ ६ ॥

हन्त लक्ष्मण पश्येह सुमित्रा सुप्रजास्त्वया ।

भीमस्तनितगम्भीरं तुमुलः श्रूयने स्वनः ॥ ७ ॥

‘लक्ष्मण ! इस जगत्में तुमसे ही माता सुमित्रा श्रेष्ठ पुत्रवाली हुई है । देखो तो सही—यह भयंकर गजनाकं साथ कैसा गम्भीर तुमुल नाद सुनाया देता है ॥ ७ ॥

गजयूथानि कारण्ये महिषा वा महावने ।

वित्रासिता मृगाः सिंहैः सहसा प्रवृत्ता दिशः ॥ ८ ॥

राजा वा राजपुत्रो वा मृगयामटते वने ।

अन्यथा श्वापदं किञ्चित् सौमित्रे ज्ञातुमर्हसि ॥ ९ ॥

‘सुमित्रानन्दन ! पता तो लगाओ, इस विशाल वनमें ये जो हाथियोंके झुंड अथवा भैंसे या मृग जो सहसा सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर भाग चले हैं, इसका क्या कारण है ? इन्हें सिंहोंने तो नहीं डरा दिया है अथवा कोई राजा या राजकुमार इस वनमें आकर शिकार तो नहीं खेल रहा है या दूसरा कोई हिंसक वस्तु तो नहीं प्रकट हो गया है ? ॥ ८-९ ॥

सुदुश्चरो गिरिशायं पक्षिणामपि लक्ष्मण ।

सर्वमेतद् यथातत्त्वमभिज्ञातुमिहर्हसि ॥ १० ॥

‘लक्ष्मण ! इस पर्वतपर अपरिचित पक्षियोंका आना-जाना भी अत्यन्त कठिन है (फिर यहाँ किसी हिंसक जन्तु या राजाका आक्रमण कैसे सम्भव है) । अतः इन सभी बातोंकी ठीक-ठाक जानकारी प्राप्त करो ॥ १० ॥

स लक्ष्मणः संत्वरितः सालमारुह्य धुषितम् ।

प्रेक्षमाणो दिशः सर्वाः पूर्वा दिशामर्धक्षन ॥ ११ ॥

भगवान् श्रीरामकी आज्ञा पाकर लक्ष्मण तुरन्त ही फुल्लोस भरे हुए एक शाल वृक्षपर चढ़ गये और सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर देखने हुए उन्होंने पूर्व दिशाकी ओर दृष्टिपात किया

उदङ्मुखः प्रेक्षमाणो ददर्श महतीं शमूम् ।

गजाश्वरथसम्बद्धां यत्तैर्युक्तां पदानिभिः ॥ १२ ॥

तत्पश्चात् उत्तरकी ओर मुंह करके देखनेपर उन्हें एक विशाल सेना दिखायी दी, जो हाथी, घोड़े और गधोंसे परिपूर्ण तथा प्रयत्नशील पैदल सैनिकोंसे संयुक्त थी ॥ १२ ॥

तामश्वरथसम्पूर्णां रथध्वजविभूषिताम् ।

शशंस सेनां रामाय वचनं चेदमब्रवीत् ॥ १३ ॥

घोड़ों और रथोंमें घरी हुई तथा रथकों ध्वजोंसे विभूषित उस सेनाकी सूचना उन्होंने श्रीरामचन्द्रजीको दी और यह बात कही— ॥ १३ ॥

अग्निं संशमयत्वार्यः सीता च भजतां गुहाम् ।

सर्पं कुरुषु चापं च शरांश्च कवचं तथा ॥ १४ ॥

‘आर्य ! अब आप आग बुझा दें (अथवा घुआँ देखकर यह सेना यहीं चली आयगी), देवी सीता गुहामें जा बैठें । आप अपने धनुषपर प्रत्यक्षा चढ़ लें और बाण तथा

कवच धारण कर लें ॥ १४ ॥

तं रामः पुरुषव्याघ्रो लक्ष्मणं प्रत्युवाच ह ।

अङ्गावेक्षस्व सौमित्रे कस्येयां मन्यसे चमूम् ॥ १५ ॥

यह सुनकर, पुरुषसिंह श्रीरामने लक्ष्मणसे कहा—‘प्रिय मुमित्राकुमार ! अच्छी तरह देखो तो सही, तुम्हारी समझमें यह किसको सेना हो सकती है ? ॥ १५ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत् ।

दिग्धक्षत्रिव तौ सेनां रुषितः पावको यथा ॥ १६ ॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर लक्ष्मण रंभसे प्रज्वलित हुए आग्नेदेवकी भाँति उस सेनाकी ओर इस तरह देखने लगे, मानो उस जलाकर भस्म कर देना चाहते हों और इस प्रकार बोले— ॥ १६ ॥

सम्पन्नं राज्यमिच्छंस्तु व्यक्तं प्राप्याभियेचनम् ।

आयां हन्तुं समध्येति केकेय्या भरतः सुतः ॥ १७ ॥

‘भैया ! निश्चय ही यह केकेयीका पुत्र भरत है, जो अयोध्यामें अभिषिक्त होकर अपने राज्यको निष्कर्णक बनानेकी इच्छामें हम दोनोंकी मार डालनेके लिये यहाँ आ रहा है ॥ १७ ॥

एव वै सुमहाज्ज्रीमान् विटपी सम्प्रकाशते ।

विगजत्युज्ज्वलस्कन्ध कोविदारध्वजो रथे ॥ १८ ॥

सम्पन्नकी ओर यह जो बहुत बड़ा शोभासम्पन्न वृक्ष दिखायी देता है, उसके मधोमंजो गंध है, उसपर उज्ज्वल तनमें युक्त कोविदार लक्ष्मसे चिह्नित ध्वज शाभा पा रहा है ॥ १८ ॥

भजन्त्येते यथाकाममश्वानारुह्य शीघ्रगान् ।

एते भ्राजन्ति सहस्रा गजानारुह्य सादिनः ॥ १९ ॥

‘ये सुइसवार सैनिक इच्छानुसार शीघ्रगामों घोड़ोंपर आरुढ़ हो इधर ही आ रहे हैं और ये हाथीसवार भी बड़े हर्षसे हाथियोंपर चढ़कर आते हुए प्रकाशित हो रहे हैं ।

गृहीतधनुषावावा गिरि धीर श्रयावहे ।

अथवेहं च तिष्ठाथः संनद्धावुद्यतायुधौ ॥ २० ॥

‘बाँर ! हम दोनोंको धनुष लेकर पर्वतके शिखरपर चलना चाहिये अथवा कवच बाँधकर अस्त्र-शस्त्र धारण किये यहाँ डटे रहना चाहिये ॥ २० ॥

अपि नौ वशमागच्छेत् कोविदारध्वजो रणे ।

अपि द्रक्ष्यामि भरतं यत्कृते व्यसनं महन् ॥ २१ ॥

तथा राघव सम्प्राप्तं सीतया च मया तथा ।

यन्निमित्तं भवान् राज्याच्छ्रुतो राघव शश्वतान् ॥ २२ ॥

‘रवुनन्दन ! आज यह कोविदारके चिह्नित युक्त ध्वजवाला रथ रणभूमिमें हम दोनोंके अधिकारमें आ जायगा और आज मैं अपनी इच्छाके अनुसार उस भरतको भी सामने देखूँगा कि जिसके कारण आपको, सीताको और मुझे भी महान् संकटक सामना करना पड़ा है तथा जिसके कारण

आप अपने सनातन गुज्याधिकारसे व्यञ्जित किये गये हैं ॥

सम्प्राप्तोऽवपरिवीर भरतो वध्य एव हि ।

भरतस्य वधे दोषं नाहं पश्यामि राघव ॥ २३ ॥

‘धौर रघुनाथजी ! यह भरत हमारा शत्रु है और मारने आ गया है, अतः वधके ही योग्य है । भरतका वध करनेमें मुझे कोई दोष नहीं दिखायी देता ॥ २३ ॥

पूर्वापकारिणं हत्वा न ह्यधर्मेण युज्यते ।

पूर्वापकारी भरतस्यागोऽधर्मश्च राघव ॥ २४ ॥

‘रघुनन्दन ! जो पहलेका अपकारी रहा हो, उसको मारकर कोई अधर्मका भागी नहीं होता है । भरतने पहले हमलोगोंका अपकार किया है, अतः उसे मारनेमें नहीं जीवित छान्द देनमें ही अधर्म है ॥ २४ ॥

एतस्मिन् निहते कृत्स्नामनुशाधि वसुंधराम् ।

अथ पुत्रं हतं संख्यं कैकेयी राज्यकामुका ॥ २५ ॥

मया पश्येत् सुदुःखार्ता हस्तिभिन्नमिव हुमम् ।

‘इस भरतके मारे जानेपर आप समस्त वसुधाका शासन करें जैसे हाथी किसी वृक्षको तोड़ डालता है, उसी प्रकार राज्यका लोभ करनेवाली कैकेयी आज अन्यन्त दुःखमें अन्न हो इतने में दया युद्धमें मारा गया देखे ॥ २५ ॥

कैकेयीं च वधिष्यामि सानुवन्धां सवान्यवाम् ॥ २६ ॥

कलुषेणाद्य महता मेदिनी परिमुच्यताम् ।

इत्यर्थ श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षण्णवतितमः सर्गः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें छियात्तवर्षा सर्ग पूरा हुआ ॥ २६ ॥

सप्तमवतितमः सर्गः

श्रीरामका लक्ष्मणके रोषको शान्त करके भरतके सद्भावका वर्णन करना, लक्ष्मणका लज्जित हो श्रीरामके पास खड़ा होना और भरतकी सेनाका पर्वतके नीचे छावनी डालना

सुसंरब्धं तु भरतं लक्ष्मणं क्रोधमुर्विजितम् ।

रामस्तु परिस्तान्ध्याय वचनं घेतमम्वीत् ॥ १ ॥

लक्ष्मण भरतके प्रति रोषवशकें कारण क्रोधवश अपना धिक्के लो रूँट दे, उस अवस्थामें श्रीरामने उन्हें समझा-सुझाकर शान्त किया और इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

किमत्र धनुषा कार्यमसिना वा सचर्मणा ।

महाबले महोत्साहे भरते स्वयमागते ॥ २ ॥

‘लक्ष्मण ! महाबली और महान् उत्साही भरत जब स्वयं यहाँ आ गये हैं, तब इस समय यहाँ धनुष अथवा दाल-नलवारसे क्या काम है ? ॥ २ ॥

पितुः सत्यं प्रतिश्रुत्य हत्वा भरतमाह्वये ।

किं करिष्यामि राज्येन सापवादोऽन लक्ष्मण ॥ ३ ॥

‘लक्ष्मण ! पिताके सत्यको रक्षाने लिये प्रतिज्ञा करके यदि मैं युद्धमें भरतको मारकर उनका राज्य छीन लूँ तो मैंमार्गमें मेरी कितनी निन्दा होगी फिर उस कलंकित राज्यको

‘मैं कैकेयीका भी उसके सगे-सम्बन्धियों एवं बन्धु बान्धवासोहत वध कर डालूँगा आज यह पृथ्वी कैकेयीका यहान् पापसे मुक्त हो जाय ॥ २६ ॥

अद्यमे संयतं क्रोधमस्तत्कारं च मानद ॥ २७ ॥

मोक्षयामि शत्रुसैन्येषु कक्षेष्विव हुताशनम् ।

‘मानद ! आज मैं अपने रोंके हुए क्रोध और तिरस्कारको शत्रुको सनाओपर उसी प्रकार छोड़ूँगा, जैसे सूखे घास-फूसके ढेरमें आग लगा दी जाय ॥ २७ ॥

अद्यैव चित्रकूटस्य काननं निशितैः शरैः ॥ २८ ॥

छिन्द्यच्छत्रुशरीराणि करिष्ये शोणितोक्षितम् ।

अपन लंगरे बाणोंमें शत्रुओंके शरीरोंके टुकड़े-टुकड़े करके मैं अभी चित्रकूटक इस वनको रक्तसे सोंच दूँगा । शरीरनिधिग्रहदयान् कुञ्जगंस्तुरगांस्तथा ॥ २९ ॥

आपदाः परिकर्षन्तु नरांश्च निहतान् यथा ।

‘मेरे बाणोंसे विदारण हुए हृदयवाले हाथियों और घोड़ोंको तथा मेरे हाथसे मारे गये मनुष्योंको भी गोदड़ आदि मांसमयी जन्तु इधर-उधर घसीटें ॥ २९ ॥

शराणां धनुषश्चाहमनृणोऽस्मिन् महावने ।

ससैन्यं भरतं हत्वा भविष्यामि न संशयः ॥ ३० ॥

‘इस महान् वनमें सेनासहित भरतका वध करके मैं धनुष और बाणोंके ऋणमें उद्धरण हो जाऊँगा । इसमें संशय नहीं है ।

‘मैं क्या करूँगा ? ॥ ३ ॥

यद् द्रव्यं बान्धवानां वा मित्राणां वा क्षये भवेत् ।

नाहं तन् प्रतिगृहीयां भक्ष्यान् विषकृतानिव ॥ ४ ॥

अपने बन्धु-बान्धवों या मित्रोंका विनाश करके जिस धनको प्राप्ति होनी हो, वह तो विषमिश्रित भोजनके समान सर्वथा त्याग देने योग्य है; उसे मैं कदापि ग्रहण नहीं करूँगा ॥ ४ ॥

धर्ममर्थं च कामं च पृथिवीं चापि लक्ष्मण ।

इच्छामि भवतामर्थं एतत् प्रतिमृणोषि ते ॥ ५ ॥

लक्ष्मण ! मैं तुमसे प्रतिज्ञापूर्वक करता हूँ कि—धर्म, अर्थ, काम और पृथ्वीका राज्य भी मैं तुम्हीं लोगोंके लिये चाहता हूँ ॥ ५ ॥

प्रातृणां संग्रहार्थं च सुखार्थं चापि लक्ष्मण ।

गज्यमप्यहमिच्छामि सत्येनायुधपालभे ॥ ६ ॥

सुपुत्राकुमार ! मैं बाइयोंके संग्रह और सुखके लिये ही

राज्यकी भी इच्छा करना हूँ और इस जानकी सच्चाईके लिये मैं अपना धनुष छूकर शपथ खाता हूँ ॥ ६ ॥

नेयं मम मही सौम्य दुर्लभा सागराध्वरा ।

नहीछेयमधर्मेण शक्तत्वमपि लक्ष्मण ॥ ७ ॥

‘सौम्य लक्ष्मण ! समुद्रमें घिरी हुई यह पृथ्वी मेरे लिये दुर्लभ नहीं है, परन्तु मैं अधर्मसे इन्द्रका पद पानेकी भी इच्छा नहीं कर सकता ॥ ७ ॥

यद् विना भरतं त्वां च शत्रुघ्नं वापि मानद ।

भवेन्मम सुखं किञ्चिद् भस्म तत् कुस्तां शिखी ॥ ८ ॥

‘मानद ! भरतकी, तुमकी और शत्रुघ्नकी छद्दकर यदि मुझे कोई सुख मिलता हो तो उसे आग्निदेव जलकर भस्म कर डालें ॥ ८ ॥

मन्येऽहमागतोऽयोध्यां भरतो भ्रातृवत्सलः ।

मम प्राणैः प्रियतरः कुलधर्ममनुत्थरन् ॥ ९ ॥

श्रुत्वा प्रव्राजितं मां हि जटाबल्कलधारिणम् ।

जानक्या सहितं वीरं त्वया च पृथोत्तम ॥ १० ॥

स्नेहेनाक्रान्तहृदयः शोकेनाकुलितेन्द्रियः ।

द्रष्टुमध्यागतो ह्येष भरतो नान्यथाऽऽगतः ॥ ११ ॥

‘वीर ! पुरुषधर ! भरत बड़े प्रातृभक्त हैं। वे मुझे प्राणोंमें भी बढ़कर प्रिय हैं। मुझे तो ऐसा मान्य होना है, भरतने अयोध्यामें आनेपर जब मुना है कि मैं तुम्हारे और जानकीके साथ जटा-बल्कल धारण करके धर्ममें आ गया हूँ, तब उनकी इन्द्रियाँ शोकमें व्याकुल हो डली हैं और वे कुलधर्मका विचार करके स्नेहयुक्त हृदयमें हमलोंगोंमें मिलने आये हैं। इन भरतके आगमनका इसका सिवा दूसरा कोई उद्देश्य नहीं हो सकता ॥ ९—११ ॥

अम्हां च केकयीं रुष्य भरतश्चाप्रियं वदन् ।

प्रसाद्य पितरं श्रीमान् राज्यं मे दानुमागतः ॥ १२ ॥

‘माता कैकेयीके प्रति कुपित हो, उन्हें कठोर वचन सुनाकर और पिताजीको प्रसन्न करके श्रीमान् भरत मुझे राज्य देनेके लिये आये हैं ॥ १२ ॥

प्राप्तकालं सर्वथोऽस्मान् भरतो द्रष्टुमर्हति ।

अस्मासु मनसाप्येष नाहितं किञ्चिदाचरेत् ॥ १३ ॥

‘भरतका हमलोंगोंमें मिलनेके लिये आना सर्वथा समयाचित है। वे हममें मिलनेके योग्य हैं। हमलोंगोंका कोई अहित करनेका विचार तो वे कदा मनमें भी नहीं ला सकते ॥

विप्रियं कृतपूर्वं ते भरतेन कदा नु किम् ।

ईदृशी वा भयं तेऽद्य भरतं यद् विशङ्कसे ॥ १४ ॥

‘भरतने तुम्हारे प्रति पहले कब कौन-सा अप्रिय बर्ताव किया है, जिसमें आज तुम्हें उनसे ऐसा भय लग रहा है और तुम उनके विषयमें इस तरहकी आशङ्का कर रहे हो ? ॥

नहि ते निष्ठुरं वाच्यो भरतो नाप्रियं वचः ।

अहं ह्याप्रियपुक्तः स्यां भरतस्याप्रिये कृते ॥ १५ ॥

‘भरतके आनेपर तुम उनसे कोई कठोर या अप्रिय वचन न बोलना। यदि तुमने उनसे कोई प्रतिकूल बात कही तो वह मेरे ही प्रति कही हुई समझी जायगी ॥

कथं नु पुत्राः पितरं हन्युः कस्याचिदापि ।

भ्राता वा भ्रातरं हन्यात् सौमित्रे प्राणमात्मनः ॥ १६ ॥

‘सुमित्रानन्दन ! कितनी ही बड़ी आपत्ति क्यों न आ जाय, पुत्र अपने पिताको कैसे मार सकते हैं / अथवा भाई अपने प्राणोंके समान प्रिय भाईको हत्या कैसे कर सकता है ? ॥

यदि राज्यस्य हेनोस्त्वभिर्मा वाचं प्रभावसे ।

वक्ष्यामि भरतं दृष्ट्वा राज्यमस्मै प्रदीयताम् ॥ १७ ॥

‘यदि तुम राज्यके लिये ऐसी कठोर बात कहते हो तो मैं भरतसे मिलनेपर उन्हें कह दूँगा कि तुम यह राज्य लक्ष्मणको दे दो ॥ १७ ॥

उच्यमानो हि भरतो मया लक्ष्मण तद्वचः ।

राज्यमस्मै प्रयच्छेति वाचमित्येव मंस्पते ॥ १८ ॥

‘लक्ष्मण ! यदि मैं भरतसे यह कहूँ कि ‘तुम राज्य उन्हें दे दो’ तो वे ‘बहुत अच्छा’ कहकर अवश्य मेरी बात मान लेंगे ॥ १८ ॥

तथोक्तो धर्मशीलेन भ्रात्रा तस्य हिते रतः ।

लक्ष्मण प्रविवेशेव स्वानि गात्राणि लज्जया ॥ १९ ॥

अपने धर्मपरायण भाईके ऐसा कहनेपर उन्होंने हितमें तत्पर रहनेवाले लक्ष्मण लज्जावश मानो अपने अङ्गोंमें ही समा गये—लज्जासे गड़ गये ॥ १९ ॥

तद्वाक्यं लक्ष्मणः श्रुत्वा व्रीडितः प्रत्युवाच ह ।

त्वां मन्ये द्रष्टुमायातः पिता दशरथः स्वयम् ॥ २० ॥

श्रीगमकः पूर्वोक्त वचन सुनकर लज्जित हुए लक्ष्मणने कहा—‘भैया ! मैं समझता हूँ हमारे पिता महाराज दशरथ स्वयं ही आपसे मिलने आये हैं ॥ २० ॥

व्रीडितं लक्ष्मणं दृष्ट्वा राघवः प्रत्युवाच ह ।

एष मन्ये महाबाहुरिहास्मान् द्रष्टुमागतः ॥ २१ ॥

लक्ष्मणको लज्जित हुआ दत्त श्रीरामने उत्तर दिया—‘मैं भी ऐसा ही मानता हूँ कि हमारे महाबाहु पिताजी ही हमलोंगोंमें मिलने आये हैं ॥ २१ ॥

अथवा नौ ध्रुवं मन्ये मन्यमानः सुखोचितौ ।

वनवासमनुध्याय गृहाय प्रतिनेष्यति ॥ २२ ॥

अथवा मैं ऐसा समझता हूँ कि हमें सुख भोगनेके योग्य मानते हुए पिताजी वनवासके कष्टका विचार करके हम दोनोंको निश्चय ही घर लौटा ले जावेंगे ॥ २२ ॥

इमां चाप्येष वैदेहीमत्यन्तसुखसेविनीम् ।

पिता मे राघवः श्रीमान् वनादादाय यास्यति ॥ २३ ॥

‘मेरे पिता रघुकुलतिलक श्रीमान् महाराज दशरथ अत्यन्त सुखका सेवन करनेवाले इन विदेहराजमन्दिनी सीताको भी वनसे साथ लेकर ही घरको लौटेंगे ॥ २३ ॥

एतौ तौ सम्प्रकाशेते गोप्रवन्तौ मनोरमौ ।
वामुद्वेगसर्पी वीरौ जवनी तुरगोत्तमौ ॥ २४ ॥

‘अच्छे घोड़ोंके कुलमें उत्पन्न हुए ये दो वीर दोनों वायुके
समान घेतशाली, शीघ्रगामी, वीर एवं मनोरम अपने उत्तम
घोड़े चमक रहे हैं ॥ २४ ॥

स एव सुमहाकायः कम्पते साहिनीमुखे ।
नागः शत्रुजयो नाम वृद्धमातस्य धीमतः ॥ २५ ॥

‘परम बृद्धमान् पिताजीकी मन्त्रीमें रहनेवाला यह यज्ञी
विशालकाय शत्रुजय नामक बृद्ध राजराज है जो सेनाके
मुहानेपर झूमता हुआ चल रहा है ॥ २५ ॥

न तु पश्यामि तच्छत्रं प्राप्सुरं लोकविभुजम् ।
पितुर्दिव्यं महाभाग संशयो भवतीह मे ॥ २६ ॥

‘महाभाग ! परंतु इसके ऊपर पिताजीका वह
विश्वविख्यात दिव्य श्वेतछत्र मुझे नहीं दिखायी देता
है—इससे मेरे मनमें संशय उत्पन्न होता है ॥ २६ ॥

युक्षाप्रादवरोह त्वं कुरु लक्ष्मण मद्वचः ।
इतीव रामो धर्मात्मा सौमित्रि तमुवाच ह ॥ २७ ॥

अवतीर्य तु सालाग्रान् तस्मात् स सभित्तिजयः ।
लक्ष्मणः प्राञ्जलिर्भूत्वा तस्थौ रामस्य पार्श्वतः ॥ २८ ॥

‘लक्ष्मण ! अब मेरा बात मानो और पैदल में चढ़े उतर
आओ ।’ धर्मात्मा श्रीरामने सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे वचन ऐसी

बात कही, तब युद्धमें विजय पानेवाले लक्ष्मण उस शाल
वृक्षके अग्रभागमें उठे और श्रीरामके पास हाथ जोड़कर
खड़े हो गये ॥ २७-२८ ॥

भरतेनाथ संदिष्टा सम्भर्तौ न भवेदिति ।
समन्तात् तस्य शूलस्य सेना वासमकल्पयत् ॥ २९ ॥

उधर भरतने सेनाको आज्ञा दी कि ‘यहाँ किमीको
हमलागोंक द्वारा बाधा न हो पहुँचनी चाहिये । उनका यह आदेश
पाकर समस्त मैदानिक पर्वतके चारों ओर नीचे हो उतर गये ॥

अध्यर्धमिक्ष्वाकुचमूर्त्योजनं पर्वतस्य ह ।
पार्श्वं न्यविशदावृत्य गजवाजिनगकुला ॥ ३० ॥

उस समय हाथी, घोड़े और मनुष्योंसे घरी हुई
इक्ष्वाकुवशी नंदनकी वह सेना पर्वतके आस-पासकी डेढ़
योजन (छ कोस) भूमि घेरकर पड़ाव डाले हुए थी ॥ ३० ॥

सा चित्रकूटे भरतेन सेना
धर्म पुरस्कृत्य विधूय दर्पम् ।

प्रसादनार्थं रघुनन्दनस्य
विरोधने नीतिमता प्रणीता ॥ ३१ ॥

नीतिज्ञ भरत धर्मको सामने रखते हुए गर्वको त्यागकर
रघुकुलनन्दन श्रीरामको प्रसन्न करनेके लिये जिसे अपने
साथ ले आये थे, वह सेना चित्रकूट पर्वतके समीप बड़ी
शोभा पा रही थी ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे कल्प्योक्तौये आटिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तनवतितमः सर्गः ॥ ९७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यगमायण आटिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें सप्तानवर्षों सर्ग पूरा हुआ ॥ ९७ ॥

अष्टनवतितमः सर्गः

भरतके द्वारा श्रीरामके आश्रमकी खोजका प्रबन्ध तथा उन्हें आश्रमका दर्शन

निवेष्ट्य सेनां तु विभुः पदभ्यां पादवतां वरः ।
अभिगन्तुं स काकुत्स्थमिषेष्ट गुरुवर्तकम् ॥ २ ॥

निविष्टपात्रे सैन्ये तु यथोद्देशं विनीतवत् ।
भरतो भ्रातरं वाक्यं शत्रुघ्नमिदमब्रवीत् ॥ ३ ॥

इस प्रकार सेनाकी उतराकर जंगम प्राणियोंमें श्रेष्ठ
एवं प्रभावशाली भरतने गुरुसेवापरायण (एवं पिताक
आज्ञापालक) श्रीरामचन्द्रजीके पास जानैका विचार किया ।

जब सारी सेना विनीत भावसे यथास्थान उतर गयी, तब
भरतने अपने भाई शत्रुघ्नसे इस प्रकार कहा— ॥ १-२ ॥

क्षिप्रं वनमिदं सौम्य नरसंघः समस्ततः ।
लुब्धश्च सहितैरेधिस्त्वयन्वेपितुमर्हसि ॥ ३ ॥

‘सौम्य ! बहुत-से मनुष्योंके साथ इन निवासीको भी साथ
लेकर तुम्हें शीघ्र ही इस वनमें चारों ओर श्रीरामचन्द्रजीको
खोज करनी चाहिये ॥ ३ ॥

गुहो ज्ञातिसहस्रेण शस्त्रपासिपाणिना ।
समन्वेष्टुं काकुत्स्थावस्मिन् परिवृत स्वयम् ॥ ४ ॥

निपादराज गुह स्वयं भी धनुष-बाण और तलवार
धारण करनेवाले अपने सहस्रा बन्धु-बान्धवासे घिरे हुए
जायें और इस वनमें ककुत्स्थवशी श्रीराम और लक्ष्मणका
अन्वेषण करें ॥ ४ ॥

अमात्यैः सह पौरैश्च गुरुभिश्च द्विजातिभिः ।
सह सर्वं खरिष्यामि पदभ्यां परिवृतः स्वयम् ॥ ५ ॥

‘मैं स्वयं भी मन्त्रियों, पुरोहितों, गुरुजनों तथा
ब्राह्मणोंके साथ उन सबसे घिरा रहकर पैदल ही सारे वनमें
वितरण करूँगा ॥ ५ ॥

यावन्न रामं द्रक्ष्यामि लक्ष्मणं वा महाबलम् ।
वैदह्यं वा महाभागां न मे शान्तिर्भविष्यति ॥ ६ ॥

‘जबतक श्रीराम, महाबली लक्ष्मण अथवा महाभागा
पदराजचक्रवर्ती सौताको न देख लूँगा, तबतक मुझे शान्ति
नहीं मिलेगी ॥ ६ ॥

यावन्न चन्द्रसंकाशं तद् द्रक्ष्यामि शुभाननम् ।
भ्रान्तुः पद्मविशालाक्षं न मे शान्तिर्भविष्यति ॥ ७ ॥

‘जबतक अपने पूज्य भ्राता श्रीरामके कमलदलके सदृश विशाल नेत्रोंवाले सुन्दर मुखचन्द्रका दर्शन न कर लूंगा, तबतक मेरे मनको शान्ति नहीं प्राप्त होगी ॥ ७ ॥

सिद्धान्तः स्वल्पु सौमित्रिर्यश्चन्द्रविमलोपमम् ।

मुखं पश्यति रामस्य राजीवाक्षं महाद्युति ॥ ८ ॥

‘निश्चय ही सुमित्राकुमार लक्ष्मण कृतार्थ हो गये, जो श्रीरामचन्द्रजीके उस कमल-सदृश नेत्रवाले महातेजस्वी मुखका निरन्तर दर्शन करते हैं, जो चन्द्रभाके समान निर्मल एवं आह्लाद प्रदान करनेवाले हैं ॥ ८ ॥

यावन्न चरणौ भ्रातुः पार्थिवव्यञ्जनान्वितौ ।

शिरसा प्रग्रहीष्यामि न मे शान्तिर्भविष्यति ॥ ९ ॥

‘जबतक भाई श्रीरामके राजाचित लक्षणोंसे युक्त चरणारविन्दोंको अपने सिरपर नहीं रखूंगा, तबतक मुझे शान्ति नहीं मिलेगी ॥ ९ ॥

यावन्न राज्ये राज्यार्हः पितृपैतामहे स्थितः ।

अभिषिक्तो जलह्निभो न मे शान्तिर्भविष्यति ॥ १० ॥

‘जबतक राज्यके सच्चे अधिकारी आर्य श्रीराम पिता-पितामहोंके राज्यपर प्रतिष्ठित हो अभिषेकके जलस आर्द्र नहीं हो जायेंगे, तबतक मेरे मनको शान्ति नहीं प्राप्त होगी ॥ १० ॥

कृतकृत्या महाभागा वैदेही जनकात्मजा ।

भर्तारं सागरान्तायाः पृथिव्या धानुगच्छति ॥ ११ ॥

‘जो समुद्रपर्यन्त पृथ्वीके स्वामी अपने पातदंष्ट्र श्रीरामचन्द्रजीका अनुसरण करनी हैं, वे जनकाकिशोरी विदेहराजनन्दिनी महाभागा सांता अपने इस सत्कर्मस्य कृतार्थ हो राखीं ॥ ११ ॥

सुशुभश्चित्रकूटोऽसौ गिरिराजसमो गिरिः ।

यस्मिन् वसति काकुत्स्थः कुबेर इव नन्दने ॥ १२ ॥

‘जैसे नन्दनवनमें कुबेर निवास करते हैं, उसी प्रकार जिनके वनमें काकुत्स्थकुलभूषण श्रीरामचन्द्रजी विराज रहे हैं यह चित्रकूट परम महान्तकायी तथा गिरिराज हिमाश्रय एवं धैकटाचलके समान श्रेष्ठ पर्वत है ॥ १२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येष्वोष्याकाण्डेऽष्टमोऽध्यायः सर्गः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें अष्टमोऽध्याय पूरा हुआ ॥ १८ ॥

नवनवतितमः सर्गः

भरतका शत्रुघ्न आदिके साथ श्रीरामके आश्रमपर जाना, उनकी पर्णशालाको देखना तथा रोते-रोते उनके चरणोंमें गिर जाना, श्रीरामका उन सबको हृदयसे लगाना और मिलना

निविष्टायां तु सेनायामुत्सुको भरतस्ततः ।

जगाम भ्रातरं द्रष्टुं शत्रुघ्नमनुदर्शयन् ॥ १ ॥

सेनाके ठहर जानेपर भाईके दर्शनके लिये उत्कण्ठित होकर भरत अपने छोटे भाई शत्रुघ्नको आश्रमके चिह्न

कृतकार्यमिदं दुर्गमं व्यालनिषेधितम् ।

यदध्यास्ते महाराजो रामः शस्त्रभृतां वरः ॥ १३ ॥

‘यह सर्पसंघित दुर्गम वन भी कृतार्थ हो गया, जहाँ शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ महाराज श्रीराम निवास करते हैं ॥ १३ ॥

एवमुक्त्वा महाबाहुर्भरतः पुरुषवर्धनः ।

पद्भ्यामेव महातेजाः प्रविशेश महद् वनम् ॥ १४ ॥

ऐसा कहकर महातेजस्वी पुरुषप्रवर महाबाहु भ्रातृने उस विशाल वनमें पैदल ही प्रवेश किया ॥ १४ ॥

स तानि हुमजालानि जातानि गिरिसानुषु ।

पुष्पिताग्राणि मध्येन जगाम वदतां वरः ॥ १५ ॥

वक्ताओंमें श्रेष्ठ भरत पर्वतशिखरोंपर उत्पन्न हुए वृक्षममूहोंके, जिनको शाखाओंके अग्रभाग फूलोंसे भरे थे, बीचसे निकले ॥ १५ ॥

स गिरेश्चित्रकूटस्य सालमास्तु सत्वरम् ।

रामाश्रमगतस्याग्रेर्ददर्श ध्वजमुत्क्षिप्तम् ॥ १६ ॥

आगे जाकर व बड़ी तेजीसे चित्रकूटपर्वतके एक शाल-वृक्षपर चढ़ गये और वहाँसे उन्होंने श्रीरामचन्द्रजीके आश्रमपर मुक्तगती हुई आगका ऊपर उठता हुआ धुआँ देखा ॥

तं दृष्ट्वा भरतः श्रीमान् धुमोद सङ्ख्यान्यधः ।

अत्र राम इति ज्ञात्वा गतः पारमिवाप्यसः ॥ १७ ॥

उस धुमको देखकर श्रीमान् भरतको अपने भाई शत्रुघ्न-सहित छोड़ प्रत्यप्रता हुई और ‘यहीं श्रीराम हैं’ यह जानकर उन्हें अधोऽङ्ग जलस गग हो जानेके समान संतोष प्राप्त हुआ ॥

अ चित्रकूटे तु गिरौ निशम्य

रामाश्रमे पुण्यजनोपपन्नम् ।

गुहेन सार्धं त्वरितो जगाम

पुनर्निवेश्य च यं महात्मा ॥ १८ ॥

इस प्रकार चित्रकूट पर्वतपर पुण्यात्मा महर्षियोंसे युक्त श्रीरामचन्द्रजीका आश्रम देखकर महात्मा भरतने ईदनेके लिये आयी हुई सेनाको पुन पुनः स्थानपर ठहरा दिया और वे स्वयं गुहके साथ उद्घाटनपूर्वक आश्रमकी ओर चल दिये ॥ १८ ॥

निविष्टायां तु सेनायामुत्सुको भरतस्ततः ।

जगाम भ्रातरं द्रष्टुं शत्रुघ्नमनुदर्शयन् ॥ १ ॥

सेनाके ठहर जानेपर भाईके दर्शनके लिये उत्कण्ठित होकर भरत अपने छोटे भाई शत्रुघ्नको आश्रमके चिह्न

दिखाने हुए उम्कके ओर चले ॥ १ ॥

ऋषि वसिष्ठे संदिश्य मातृमे शीघ्रमानय ।

इति स्वरितमग्रे स जगाम गुरुवत्सलः ॥ २ ॥

गुरुभक्त भक्त महर्षि वसिष्ठको यह संदेश देकर कि

आप मेरो माताओंको साथ लेकर जहाँ ही आइयें, तुम
आगे बढ़ गये ॥ २ ॥

सुमन्त्रस्त्वपि शत्रुघ्नमदूरादन्वपद्यत ।
रामदर्शनजस्तर्षो भरतस्येव तस्य च ॥ ३ ॥

सुमन्त्र भी शत्रुघ्नके समीप ही पीछे-पीछे चल रहे थे ।
उन्हें भी भरतके समान ही श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनकी ताँव
अभिन्ना थी ॥ ३ ॥

गच्छन्नेवाथ भरतस्तापसालयसंस्थिताम् ।
भ्रातुः पर्णकुटीं श्रीमानुत्तं च ददर्श ह ॥ ४ ॥

चलते-चलते ही श्रीमान् भरतने तपस्वीजनोंके आश्रमोंके
मध्याम प्रतिष्ठित हुई भार्दकी पर्णकुटी और झाड़ों देखीं
शालायास्त्वप्रतस्तस्या ददर्श भरतस्तदा ।

काष्ठानि चावभग्नानि पुष्पाण्यपचितानि च ॥ ५ ॥

उस पर्णशालाके सामने भरतने उस समय बहुत-से कटे
हुए काष्ठोंके टुकड़े देखे, जो होमके लिये संगृहीत थे ।
साथ ही वहाँ पूजाके लिये संचित किये हुए फूल भी
दृष्टिगोचर हुए ॥ ५ ॥

स लक्ष्मणस्य रामस्य ददर्शाश्रममीयुषः ।
कृतं वृक्षेषुभिज्ञानं कुशलीरं क्वचिन् क्वचिन् ॥ ६ ॥

आश्रमपर आवे-जानेवाले श्रीराम और लक्ष्मणके द्वारा
निर्मित मार्गनाथक चिह्न भी उन्हें वृक्षोंमें लगे दिखानी दिये,
जो कुशी और धागेद्वारा तैयार करके कलें कलें वृक्षोंकी
शाखाओंमें लटका दिये गये थे ॥ ६ ॥

ददर्श च वने तस्मिन् महतः संघयान् कृतान् ।
भृगाणां महिषाणां च करीषः शोतकारणात् ॥ ७ ॥

उस वनमें शोत-निवारणके लिये भृगोंकी लुंड़ी और
भैरोंकी मूखें हुए गोबरके डेर एकत्र करके रख गये थे जिन्हें
भरतने अपने आँखों देखा ॥ ७ ॥

गच्छन्नेव महाबाहुर्धुतिमान् भरतस्तदा ।
शत्रुघ्नं छात्रवीजुष्टस्तानमात्माश्च सर्वशः ॥ ८ ॥

उस समय चलते-चलते ही परम शक्तिमान् महाबाहु
भरतने शत्रुघ्न तथा सम्पूर्ण मन्त्रियोंसे अत्यन्त प्रसन्न
होकर कहा— ॥ ८ ॥

मन्ये प्राप्ताः स्म तं देशं भरद्वाजो यमव्रवीन् ।
नातिदूरे हि मन्येऽहं नदीं मन्दाकिनीमितः ॥ ९ ॥

'जान पड़ता है कि महर्षि भरद्वाजने जिन स्थानका पता
बनाया था, वहाँ हमलोग आ गये हैं । मैं समझता हूँ
मन्दाकिनी नदी यत्रसि अधिक दूर नहीं है ॥ ९ ॥

उद्युम्बद्धानि चीराणि लक्ष्मणेन भवेदयम् ।
अभिज्ञानकृतः पन्था विकाले गन्तुमिच्छता ॥ १० ॥

'वृक्षोंमें कैंसे खेड़े हुए थे चीर दिखावें दे रहे हैं । अतः
ममय-वैममय जल आदि लानेके निमित्त शत्रुघ्न जानका
इच्छावाले लक्ष्मणने जिनकी पहचानके लिये यह चिह्न बनाया है

यह अश्रमको जानेवाला मार्ग यही हो सकता है ॥ १० ॥

इतश्चोदात्तदन्तानां कुञ्जराणां तरस्विनाम् ।
शीलपार्श्वे परिक्रान्तमन्योन्यमभिगर्जताम् ॥ ११ ॥

'इधरसे बड़े-बड़े दाँतवाले वेगछाली हाथी निकलकर
एक-दूसरेके प्रति गर्जना करते हुए इस पर्वतके पार्श्वभागमें
चकर लगाते रहते हैं (अतः उधर जानसे रोकनेके लिये
लक्ष्मणने ये चिह्न बनाये होंगे) ॥ ११ ॥

यमेवाधानुमिच्छन्ति तामसाः सततं वने ।
तस्यासौ दृश्यते धूमः संकुलः कृष्णवर्त्मनः ॥ १२ ॥

वनमें तपस्वी मुनि सदा जिनका आधान करना चाहते हैं,
उन अग्निदेवका यह अति सघन धूम दृष्टिगोचर हो रहा है ॥

अत्राहं पुरुषव्याघ्रं गुह्यसत्कारकारिणम् ।
आर्यं द्रक्ष्यामि सहष्टं महर्षिष्विव राघवम् ॥ १३ ॥

'यहाँ मैं गुरुजनोंका सत्कार करनेवाले पुरुषसिंह
आर्य रघुनन्दनका सदा आनन्दमग्न रहनेवाले महर्षियों
भानि दर्शन करूँगा' ॥ १३ ॥

अथ गत्वा मुहूर्तं तु चित्रकूटं स राघवः ।
मन्दाकिनीमनु प्राप्तस्तु जनं चेटमध्वरीम् ॥ १४ ॥

तदनन्तर रघुकुलभूषण भरत ही छड़ीमें मन्दाकिनीके
तटपर विराजमान चित्रकूटके पास जा पहुँचे और अग्नि
माधवाले लंगोंमें इस प्रकार बोले— ॥ १४ ॥

जगत्या पुरुषव्याघ्र आस्ते वीरासने रतः ।
जनेन्द्रो निर्जनं प्राप्य धिक्मे जन्म सजीवितम् ॥ १५ ॥

अहो ! मेरे ही कारण पुरुषसिंह महाराज श्रीरामचन्द्र इन
निर्जन वनमें आकर खुन्नी पृथ्वीके ऊपर बाँसवनमें बैठते हैं,
अतः मेरे जन्म और जीवनको धिक्कार है ॥ १५ ॥

मत्कृते व्यसनं प्राप्तो लोकनाथो महाद्युतिः ।
सर्वान् कामान् परित्यज्य वने वसति राघवः ॥ १६ ॥

'मेरे ही कारण महातजस्वी लोकनाथ रघुनाथ भारी
मकटमें पड़कर समस्त कामनाओंका परित्याग करके वनमें
निवास करते हैं ॥ १६ ॥

इति लोकसमाकुलः पादेषु च प्रसादयन् ।
रामे तस्य पतिव्यामि सोताया लक्ष्मणस्य च ॥ १७ ॥

'इसलिये मैं सब लंगोंके द्वारा निन्दित हूँ, अतः
पर जन्मको धिक्कार है । आज मैं श्रीरामकी प्रसन्न करनेके
लिये उनके चरणोंमें गिर जाऊँगा । सोता और लक्ष्मणके
भी पैरों पड़ेगा' ॥ १७ ॥

एवं स विलपन्तस्मिन् वने दशरथात्मजः ।
ददर्श यदानीं पुण्यां पर्णशालां मनोरमाय ॥ १८ ॥

इस तरह विलप करते हुए दशरथकुमार भरतने उस वनमें
एक बड़ी पर्णशाला देखी, जो परम पवित्र और मनोरम थी ।

सालतालाभकर्णानां पर्णैर्बहुभिरावृताम् ।
विशालां पृथुभिस्तर्पणां कुशैर्वेदिमिवारधये ॥ १९ ॥

वह शाल, ताल और अश्वकर्ण नामक वृक्षोंके बहुत से पत्तोंद्वारा छायी हुई थी, अतः यहशालामें जिसपर कोमल कुश बिछाये गये हों, उस लम्बी चौड़ी वेदीके समान शोभा पा रही थी ॥ १९ ॥

शक्रायुधनिकाशश्च कार्मुकैर्भारसाधनैः ।

रुक्मपृष्ठैर्महासारैः शोभितां शत्रुबाधकैः ॥ २० ॥

यहाँ इन्द्रधनुषके समान बहुत-से धनुष रखे गये थे, जो गुरुतर कार्य-साधनमें समर्थ थे। जिनके पृष्ठभाग सोनेसे मढ़े गये थे और जो बहुत ही प्रबल तथा शत्रुओंको पीड़ा देनेवाले थे। इनसे उस पर्णकुटीरके बड़ी शोभा हो रही थी ॥ २० ॥

अर्करश्मिप्रतीकाशैर्योस्तूणगतैः शरैः ।

शोभितां दीप्तवदनैः सर्वभोगवतीष्विव ॥ २१ ॥

यहाँ सरकसोंमें बहुत-से धाण भरे थे, जो सूर्यको किरणोंके समान चमकीले और भयङ्कर थे। उन धाणोंमें वह गर्गशाला उगी प्रकार सुशोभित होती थी जैसे दग्धिमन् मुसलाले मार्गमें भोगवती पुरी शोभित होती है ॥ २१ ॥

महारजतवासोभ्यामसिन्ध्यां च विराजिताम् ।

रुक्मविन्दुविचित्राभ्यां धर्मभ्यां चापि शोभिनाम् ॥ २२ ॥

सोनेकी म्यानोंमें रखी हुई दो तलवारें और स्वर्णमय विन्दुओंसे विभूषित दो विचित्र ढाँचे भी उस आश्रमकी शोभा बढ़ा रही थी ॥ २२ ॥

गोधाङ्गुलिर्द्वैरासक्तैश्चित्रकाञ्चनभूषितैः ।

अरिसिन्धेरनाधृष्यां धुरीः सिंहगुहाष्विव ॥ २३ ॥

यहाँ गोहाक चमड़ेके बने हुए बहुत से मुवर्णजादूत हस्तान भी रेंगे हुए थे। जैसे मृग सिंहको गुहापर आक्रमण नहीं कर सकें, उसी प्रकार वह पर्णशाला शत्रुसमूहोंके निग्रह आश्रय एवं अशय थी ॥ २३ ॥

प्रागुदक्प्रवृणां वेदि विशाला दीप्तपावकाम् ।

ददर्श भरतस्तत्र पुण्यां रायनिवेशने ॥ २४ ॥

श्रीरामके ठहर निवासस्थानमें भरतने एक पवित्र एवं विशाल वेदी भी देखी, जो ईशानकण्ठकी ओर कुछ मोड़ी थी। उसपर अग्नि प्रज्वलित हो रही थी ॥ २४ ॥

निरीक्ष्य स मुहूर्तं तु ददर्श भरतो गुरुम् ।

उदजे रामपासीनं जटाघण्डलधारिणम् ॥ २५ ॥

कृष्णाजिनधरं तं तु खीरवल्कलवाससम् ।

ददर्श रायमाभीनमभितः पावकोपमम् ॥ २६ ॥

पर्णशालाकी ओर थोड़ी दूरतक देखकर भरतने कुटियामें बैठे हुए अपने पूजनीय भ्राता श्रीरामको देखा, जो सिंघर जटाघण्डल धारण किये हुए थे। उन्होंने अपने अङ्गोंमें कृष्णमृगचर्म तथा चोद एवं वल्कल वस्त्र धारण कर रखे थे। भरतको दिखायी दिया कि श्रीराम पास ही बैठे हैं और प्रज्वलित अग्निके समान अपनी दिव्य प्रभा फैला रहे हैं ॥

सिंहस्कन्धं महाबाहुं पुण्डरीकनिभेक्षणम् ।

पृथिव्याः सागरान्ततया धर्तारं धर्मचारिणम् ॥ २७ ॥

उपविष्टं महाबाहुं ब्रह्माणमिव शाश्वतम् ।

स्थण्डिले दर्भसंस्तीर्णे सौनया लक्ष्मणेन च ॥ २७ ॥

समुद्रपर्यन्त पृथ्वीके स्वामी, धर्मात्मा, महाबाहु श्रीराम मनाने ब्रह्माको धर्तार कुश विछी हुई वेदीपर बैठे थे। उनके कंधे सिंहके समान, भुजाएँ बड़ा-बड़ी और नेत्र प्रफुल्ल कमलके समान थे। उस वेदीपर वे मौन और लक्ष्मणके साथ विराजमान थे ॥ २७-२८ ॥

तं दृष्ट्वा भरतः श्रीमाञ्छोकमोहपरिप्लुतः ।

अध्यधावत धर्मात्मा भरतः केकयीसुतः ॥ २९ ॥

उन्हें इस अवस्थामें देख धर्मात्मा श्रीमान् केकयीकुमार भरत शोक और मोहमें डूब गये तथा बड़े वेगसे उनकी ओर दौड़े ॥ २९ ॥

दृष्ट्वा विललापान्तं बाण्यसंदिग्धया गिरा ।

अशक्नुवन् वारयितुं धीर्याद् वचनमश्रुवन् ॥ ३० ॥

माइकी ओर दृष्टि पड़ने ही भरत आत्मभावसे विलाप करने लगा। वे अपने शक्ति आगेकी धीर्यसे रोक न सके और आँसू बहाते हुए गद्गद वाणोंमें बोले— ॥ ३० ॥

यः संसदि प्रकृतिभिर्भवेद् युक्त उपासितुम् ।

वन्द्यमृगंरुपासीनः सोऽयमास्ते ममाग्रजः ॥ ३१ ॥

‘हाय ! जो राजसभामें बैठकर प्रजा और मन्त्रिवर्गके द्वारा मका तथा सम्मान पानेके योग्य है, वे जो ये घर बड़े भ्राता श्रीराम यहाँ जंगली पशुओंसे घिरे हुए बैठे हैं ॥ ३१ ॥

वासोभिर्बहुमाहर्ष्यया महात्मा पुणेजिनः ।

पुगाजिने सोऽयमिह प्रयस्ते धर्ममाचरन् ॥ ३२ ॥

‘जो महात्मा पहले कई सहस्र वस्त्रोंका उपयोग करते थे, वे अब धर्मचरण करने हुए यहाँ केवल दो मृगचर्म धारण करते हैं ॥ ३२ ॥

अधारयद् यो विविधाश्चित्राः सुभनसः सदा ।

सोऽयं जटाधर्गमिमं सहते राघवः कथम् ॥ ३३ ॥

‘जो सदा नाना प्रकारके विचित्र मृगचर्मोंको अपने सिंघर धारण करते थे, वे ही ये श्रीरघुनाथजी इस समय इस जटाधर्गको कैसे सहन करते हैं? ॥ ३३ ॥

यस्य यज्ञयथादिष्टंयुक्तो धर्मस्य संचयः ।

शरीरं शसम्पूतं स धर्म परिमार्गते ॥ ३४ ॥

‘जिनके लिये शास्त्रोंके यज्ञोंके अनुष्ठानद्वारा धर्मका संग्रह करना उचित है, वे इस समय शरीरको कष्ट देनेसे प्राप्त होनेवाले धर्मका अनुसंधान कर रहे हैं ॥ ३४ ॥

चन्दनेन महार्हेण यस्याङ्गमुपसंखितम् ।

पलेन तस्याङ्गमिदं कथमार्यस्य सेष्यते ॥ ३५ ॥

‘जिनके अङ्गोंमें बहुमूल्य चन्दनसे संवा होती थी, उन्हीं में पुण्य धातुका यह दाग कैसे मलमें सेवित हो रहा है ॥

मन्निमित्तमिदं दुःखं प्राप्तो रामः सुखोचितः ।

धिग्जीवितं नृशंसस्य मम लोकविमर्हितम् ॥ ३६ ॥

‘हाय ! जो सर्वथा सुख भोगनेक योग्य है, वे श्रीराम में ही कारण ऐसे दुःखमें पड़ गये हैं। ओह ! मैं कितना क्रूर हूँ ? मैं इस लोकनिन्दित जीवनको धिक्कार हूँ ।’ ॥ ३६ ॥

इत्येवं विलपन् दीनः प्रस्विन्नमुखपङ्कजः ।

पादावप्राप्य रामस्य पपात भरतो रुदन् ॥ ३७ ॥

इस प्रकार विलाप करते-करते भरत अत्यन्त दुःखी हो गये। उनके मुखारविन्दपर पसंनकी झूट दिखायी देने लगी। वे श्रीरामचन्द्रजीके चरणों तक पहुँचनेके बल हो पड़कर गिर पड़े ॥ ३७ ॥

दुःखाभितप्तो भरतो राजपुत्रो महाबलः ।

उक्त्वाऽऽर्येति सकृद् दीनं पुनर्नावाच किञ्चन ॥ ३८ ॥

अत्यन्त दुःखमें संतप्त होकर महाबली राजकुमार भरतन एक बार दोनवाणीमें आर्य कहकर पुकारा फिर वह कुछ न बोले ॥ ३८ ॥

बाल्यैः पिहितकण्ठश्च प्रेक्ष्य रामं यशस्विनम् ।

आर्येत्येवाभिमुखोऽयं व्यावृत्तं नाशकन् ततः ॥ ३९ ॥

आँसुओंसे उनका गला रुँध गया था। यशस्वी श्रीरामका ओर देख वे ‘हा ! आर्य’ कहकर चौख उठे। इससे आगे

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे नवमवर्तिनमः सर्गः ॥ ९९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आदिगमायण आदिफाव्यके अयोध्याकाण्डमें निर्यानाध्याय सर्ग पूरा हुआ ॥ ९९ ॥

शततमः सर्गः

श्रीरामका भरतको कुशल-प्रश्नके बहाने राजनीतिका उपदेश करना

जटिलं धीरवसनं प्राञ्जलिं पतितं भुवि ।

ददर्श रामो दुर्दर्शं युगान्ते भास्करं यथा ॥ १ ॥

कथंचिदभिविज्ञाय विदग्धवदनं कृशम् ।

भ्रातरं भरतं रामः परिजग्राह पाणिना ॥ २ ॥

अग्राधाय रामस्तं पूर्ध्वं पश्चिज्य च गच्छाम् ।

अङ्गे भरतपरोक्ष्य पर्वपृच्छत सादरम् ॥ ३ ॥

जटा और चौर-वस्त्र धारण किया भरत हाथ जोड़कर पृथ्वीपर पड़े थे, माने प्रलयकालमें सूर्यदेव धरतीपर गिर गये हो। उनको उस अवस्थामें देखना किसी भी स्नेह-सुहृद्के लिये अत्यन्त कठिन था। श्रीरामने उन्हें देखा और जैसे-तैसे किसी तरह पहचाना। उनका मुख उदास हो गया था। वे बहुत दुर्बल हो गये थे। श्रीरामने भाई भरतको अपने हाथसे पकड़कर उठाया और उनका मस्तक सूँघकर उनके हृदयसे लगा लिया। इसके बाद शुकुलभूषण भरतको गोदमें बिठाकर श्रीरामने बड़े आदरसे पूछा— ॥ १—३ ॥

कः नु तेऽभूत् पिता तात यदरण्यं त्वमागतः ।

न हि त्वं जीवतस्तस्य वनमागन्तुमर्हसि ॥ ४ ॥

उनसे कुछ बोला न जा सका ॥ ३९ ॥

शत्रुघ्नश्चापि रामस्य वयन्दे चरणौ रुदन् ।

तावुर्धो च समालिङ्ग्य रामोऽप्यश्रुण्वयवर्तयत् ॥ ४० ॥

फिर शत्रुघ्न भी रोते-रोते श्रीरामके चरणोंमें प्रणम किया। श्रीरामने उन दोनोंको उठाकर छातीमें लगा लिया। फिर वे दोनों आँसुओंकी धारा बहाने लगे ॥ ४० ॥

ततः सुमन्त्रेण गुहेन चैव

समीयन् * राजसुतावरण्ये ।

दिवाकरश्च निशाकरश्च

यथाध्वरे शुक्लवृहस्पतिध्याम् ॥ ४१ ॥

तत्पक्षान् राजकुमार श्रीराम तथा लक्ष्मण उस वनमें सुमन्त्र और निषादराज गुहमें मिले, माने आकाशमें सूर्य और चन्द्रमा, शुक और बृहस्पतिसे मिल रहे हो ॥ ४१ ॥

तान् पार्थिवान् वारण्यध्वपाहान्

समागन्तांस्तत्र महत्यरण्ये ।

वनोक्तमस्तंऽभिममीक्ष्य सर्वे

त्वश्रुण्वयमुञ्जन् प्रविहाय हर्षम् ॥ ४२ ॥

युथपति गजराजपर बैठकर यात्रा करनेयोग्य उन चारों राजकुमारोंका उस विशाल वनमें आया देख समस्त वनवासों हर्ष छोड़कर शोकके आँसु बहाने लगे ॥ ४२ ॥

‘तात ! पिताजी कहाँ थे कि तुम इस वनमें आये हो ?

उनक जाँते-जो तब तुम वनमें नहीं आ सकते थे । ४ ।

धिरस्य वनं पश्यामि दृग्द भरतमागतम् ।

दुष्पतीकमरण्येऽस्मिन् किं तात वनमागतः ॥ ५ ॥

‘मैं दीर्घकालके बाद दूरसे (नानाके घरसे) आये हुए जानते आज इस वनमें देख रहा हूँ, परन्तु इनका शरीर बहुत दुर्बल हो गया है। तात ! तुम क्यों वनमें आये हो ? ॥ ५ ॥

कश्चिन् भरते तात राजा यत् त्वमिहागतः ।

कश्चित् दीनः सहसा राजा लोकान्तरगतः ॥ ६ ॥

भाई ! महाराज जावित है न ? कहीं ऐसी तो नहीं हुआ कि उ अत्यन्त दुःखी होकर सहसा परलोकवासियों हो गये हो और इसीलिये तुम्हें स्वयं यहाँ आना पड़ा हो ? ॥ ६ ॥

कश्चिन् सौम्यं न ते राज्यं भ्रष्टं बालस्य शश्वतम् ।

कश्चित्कृशस्य तात पितुः सत्यपराक्रम ॥ ७ ॥

‘सौम्य ! तुम अभी बालक हो, इसीलिये परम्परासे चला आता हुआ तुम्हारा राज्य नष्ट हो नहीं हो गया ? सत्यपराक्रमी तात भरत ! तुम पिताजीकी सेवा-शुश्रूषा तो करते हो न ? ॥

कश्चिद् दशरथो राजा कुशली सत्यसंगरः ।

राजसूयाश्रमेधानामाहर्ता धर्मनिश्चितः ॥ ८ ॥

'जो धर्मपर अटल रहनेवाले हैं तथा जिन्होंने राजसूय एवं अश्रमेध-यज्ञोंका अनुष्ठान किया है, वे मन्त्रनिष्ठ महारज्य दशरथ सकुशल तो हैं न ? ॥ ८ ॥

स कश्चिद् ब्राह्मणो विद्वान् धर्मनित्यो महाद्युतिः ।

इक्ष्वाकूपामुपाध्यायो यथावत् तात पूज्यते ॥ ९ ॥

'तात ! क्या तुम सदा धर्ममें तत्पर रहनेवाले, विद्वान्, ब्राह्मण और इक्ष्वाकुकुलके आचार्य महातेजस्वी वसिष्ठजीकी यथावत् पूजा करते हो ? ॥ ९ ॥

तात कश्चिच्च कौसल्या सुमित्रा च प्रजावती ।

सुखिनी कश्चिदार्या च देवी नन्दति कैकयी ॥ १० ॥

'माई ! क्या माता कौसल्या सुखसे हैं ? उत्तम संतानवाली सुमित्रा प्रसन्न हैं और आर्या कैकयी देवी भी आनन्दित हैं ? ॥ १० ॥

कश्चिद् धिनयसम्पन्नः कुलपुत्रो बहुश्रुतः ।

अनसूयानुदृष्टा भक्ततस्ते पुरोहितः ॥ ११ ॥

'जो उत्तम कुलमें उत्पन्न, धिनयसम्पन्न, बहुश्रुत, किसीके दोष न देखनेवाले तथा शास्त्रोक्त धर्मोंपर निरन्तर दृष्टि रखनेवाले हैं, उन पुरोहितजीका तुमने पूर्णतः सम्मान किया है ? ॥ ११ ॥

कश्चिदग्निं ते युक्तो विधिज्ञो मतिमान्नुतः ।

हूँ च होष्यमाणं च काले वेदयते सदा ॥ १२ ॥

'हवनार्वाधिक ज्ञाता, युद्धमान् और मरत्य स्मृत्यवान् जिन ब्राह्मण देवताको तुमने अग्निहोत्र-कार्यके लिये नियुक्त किया है, वे सदा होश और समर्पण आकर क्या तुम्हें यह सूचन करते हैं कि इस समय अग्निमें आर्घ्य देने दो गयो और अब अग्निके समयमें हवन करना है ? ॥ १२ ॥

कश्चिद् देवान् पितॄन् भृत्यान् गुरुन् पितृसमानपि ।

वृद्धांश्च तात वैयांश्च ब्राह्मणांश्च धिमन्यम् ॥ १३ ॥

'तात ! क्या तुम देवताओं, पितरों, भूत्यों, गुरुजनों, पिताके समान आदरणीय वृद्धों, वैया और ब्राह्मणोंका सम्मान करते हो ? ॥ १३ ॥

इष्टस्त्रवरसम्पन्नमर्थशास्त्रविशारदम् ।

सुघन्वानमुपाध्यायं कश्चिन् त्वं तात मन्यसे ॥ १४ ॥

'माई ! जो मन्त्ररहित श्रेष्ठ साणोंके प्रयोग तथा मन्त्रसहित उत्तम अस्त्रोंके प्रयोगके ज्ञानमें सम्पन्न और अर्थशास्त्र (राजनीति) के अच्छे पण्डित हैं, उन आचार्य सुघन्वाका क्या तुम समादर करते हो ? ॥ १४ ॥

कश्चिदात्मसभाः शूराः क्षुत्रवन्तो जितेन्द्रियाः ।

कुलीनाश्चेद्भित्तज्ञाश्च कृतास्ते तात मन्त्रिणः ॥ १५ ॥

'तात ! क्या तुमने अपने ही समान शूरी, क्षत्रवन्त, जितेन्द्रिय, कुलीन तथा बहिरी चेष्टाओंमें ही मनकों कान सम्पन्न

लभवाले सुयोग्य व्यक्तियोंको ही मन्त्री बनाया है ? ॥ १५ ॥

मन्त्रो विजयमूलं हि राजा भवति राघव ।

सुसंवृतो मन्त्रिधुरैरभार्यैः शास्त्रकोविदैः ॥ १६ ॥

'रघुनन्दन ! अच्छे मन्त्रण ही राजाओंकी विजयका मूलकारण है। यह भी तथो सफल होता है, जब नीति-शास्त्रानुषंग मन्त्रिशरोमणि अमात्य उसे सर्वथा गुप्त रखें ॥ १६ ॥

कांश्चान्निद्रावशं नैधि कश्चित् कान्तेऽवबुध्यसे ।

कश्चिन्नापररात्रेषु चिन्तयत्यर्थनिपुणम् ॥ १७ ॥

'भरत ! तुम असमयमें ही निद्राके बशोभूत तो नहीं होते ? समयपर जाग जाते हो न ? रातके पिछले महार्ये अर्थोपदेष्टोंके उपायपर विचार करते हो न ? ॥ १७ ॥

कश्चिन्मन्त्रयसे नैकः कश्चिन्न बहुभिः सह ।

कश्चित् ते मन्त्रिनो मन्त्रो राष्ट्रं न परिधावति ॥ १८ ॥

(काई भी गुप्त मन्त्रण दस बार कानोंतक ही गुप्त रहनी है; छः कानोंमें जाते हैं वह फूट जाती है, अतः मैं पूछता हूँ -) तुम किसी गुप्त विषयपर अकेल ही या विचार नहीं करते ? अथवा बहुत लोगोंके साथ बैठकर भी मन्त्रण नहीं करते ? कहीं ऐसा तो नहीं होता कि तुम्हारे निश्चित की हुई गुप्त मन्त्रण फूटकर शत्रुके राज्यतक फैल जायें तो ? ॥

कश्चिदर्थं विनिश्चित्य लघुमूलं महोदयम् ।

क्षिप्रमारभसे कर्षं न दीर्घयसि राघव ॥ १९ ॥

'रघुनन्दन ! जिसका साधन बहुत छोटा और फल बहुत बड़ा हो, ऐसी कार्यका निश्चय कर्त्तक बाद तुम उसे शीघ्र प्रारम्भ कर देते हो न ? उसमें विलम्ब तो नहीं करते ? ॥

कश्चिन् सुकृतान्येव कृतरूपाणि वा पुनः ।

विदुस्ते सर्वकार्याणि न कर्त्तव्यानि पार्थिवाः ॥ २० ॥

'तुम्हारे सब कार्य पूर्ण हो जानेपर अथवा पूरे होनेके समर्थ पहुंचनेपर ही दूसरे राजाओंको ज्ञान होत है न ? कहीं ऐसा तो नहीं होता कि तुम्हारे भारी कार्यक्रमों में पहलें ही जान लेंते हैं ? ॥ २० ॥

कश्चिन्न तर्कैर्युक्त्या वा ये चाप्यपरिकीर्तिताः ।

त्वया वा तव वामात्यैर्बुध्यते तात मन्त्रितम् ॥ २१ ॥

'तात ! तुम्हारे निश्चित किये हुए विचारोंको तुम्हारे या मन्त्रियोंके प्रकट न करनेपर भी दूसरे लोग तर्क और युक्तियोंके द्वारा जान तो नहीं लेंते हैं ? (तथा तुमको और तुम्हारे अमात्योंको दूसरोंके गुप्त विचारोंका पता लगाना रहता है न ?) ॥ २१ ॥

कश्चित् सहस्रमूर्खाणामेकमिच्छसि पण्डितम् ।

पण्डितो ह्यर्थकृच्छ्रेषु कुर्यान्न श्रेयसं महत् ॥ २२ ॥

'क्या तुम सहस्रों मूर्खोंके बटले एक पण्डितको ही अपने पास रखनेको इच्छा रखते हो ? क्योंकि विद्वान् पुरुष ही अर्थसंकटके समय महान् कल्याण कर सकता है ॥ २२ ॥

सहस्राण्यपि मूर्खाणां यद्युपास्ते महीपतिः ।

अधवाप्ययुतान्येव नास्ति तेषु सहायता ॥ २३ ॥

‘यदि राजा हजार या दस हजार मूर्खोंको अपने पास रख ले तो भी उनसे अवसरपर कोई अच्छे मन्त्रायत नहीं मिलने ॥ २३ ॥

एकोऽप्यमात्यो मेधावी शूरो दक्षो विचक्षणः ।

राजानं राजपुत्रं वा प्रापयेन्महतीं क्षियम् ॥ २४ ॥

‘यदि एक मन्त्री भी मेधावी, शूर-वीर, क्षत्र एवं नीतिज्ञ हो तो वह राजा या राजकुमारको बहुत बड़ी सम्पत्तिको प्राप्त करा सकता है ॥ २४ ॥

कश्चिन्मुख्या महत्स्वेव मध्यमेव च मध्यमाः ।

जघन्याश्च जघन्येषु भृत्यास्ते तात योजिताः ॥ २५ ॥

‘तात । तुमने प्रधान व्यक्तियोंका प्रधान, मध्यम श्रेणीक भृत्योंको मध्यम और छोटी श्रेणीके लोगोंको छोटे हो कामोंमें नियुक्त किया है न ? ॥ २५ ॥

अमात्यानुपधानीतान् पितृपतामहाशुचीन् ।

श्रेष्ठाच्छ्रेष्ठेषु कश्चित् त्वं नियोजयसि कर्मसु ॥ २६ ॥

‘जो घूस न लेने हों अथवा निश्छल हो, ब्राह्म-दशक समयमें भी काम करने आ रहे हों तथा जाकर भीतरमें पवित्र एवं श्रेष्ठ हो ऐसी अमात्याका ही तुम उनमें कार्यमें नियुक्त करते हो न ? ॥ २६ ॥

कश्चिन्नोप्रेण दृष्टेन भृशमुद्वेजिताः प्रजाः ।

राष्ट्रे तवावजानन्ति मन्त्रिणः कैकयीसुत ॥ २७ ॥

‘कैकयीकुमार । तुम्हारे राज्यको प्रजा कठोर दृष्टिमें अत्यन्त उद्विग्न होकर तुम्हारे मन्त्रियोंका निरस्कार तो नहीं करती ? ॥ २७ ॥

कश्चिन्त्वा नावजानन्ति याजकाः पत्नितं यथा ।

उपप्रतिग्रहीतारं कामदानार्थिवं स्त्रियः ॥ २८ ॥

‘जैसे पवित्र याजक पत्नित यज्ञमानका तथा स्त्रियां कामचारी पुरुषका तिरस्कार कर देती हैं, उसी प्रकार प्रजा नड़ोम्मा पूर्वक अधिक कर उनके कारण तुम्हारा अनादर तो नहीं करती ? ॥ २८ ॥

उपायकुशलं यद्यं भृत्यसंदूषणे रतम् ।

शूरमैश्वर्यकामं च यो हन्ति न स हन्यते ॥ २९ ॥

‘जो साध-दण्ड आदि उपायोंके प्रयोगमें कुशल, सुउत्तम-शास्त्रका विद्वान्, विद्वान्नी भृत्योंको फोड़नेमें लगा हुआ, शूर (मरनेसे न डरनेवाला) तथा राजाके राज्यको हड़प लेनेकी

इच्छा रखनेवाला है—ऐसे पुरुषको जो राजा नहीं मार डालता है, वह स्वयं उसके हाथसे मारा जाता है ॥ २९ ॥

कश्चिद् धृष्टश्च शूरश्च धृतिमान् भतिमाञ्जलिः ।

कुलीनश्चानुरक्तश्च दक्षः सेनापतिः कृतः ॥ ३० ॥

‘क्या तुमने सदा संजुष्ट रहनेवाले, शूर-वीर, धैर्यवान्, युद्धिमान्, पवित्र, कुलीन एवं अपनेमें अनुराग रखनेवाले, रणकर्मदक्ष पुरुषको ही सेनापति बनाया है ? ॥ ३० ॥

बलवन्तश्च कश्चित् ते भुव्या युद्धविशारदाः ।

दृष्टापदानां विकान्तास्त्वया सत्कृत्य मानिताः ॥ ३१ ॥

‘तुम्हारे प्रधान-प्रधान योद्धा (सेनापति) बलवान्, युद्धकुशल और पराक्रमी तो हैं न ? क्या तुमने उनके शौर्यको परीक्षा कर ली है ? तथा क्या वे तुम्हारे द्वारा सन्तकारपूर्वक सम्मान पाते रहते हैं ? ॥ ३१ ॥

कश्चित् बलस्य भक्तं च खेतनं च यथांचितम् ।

सम्प्राप्तकालं दातव्यं ददामि न विलम्बसे ॥ ३२ ॥

‘मानकोंको देनेके लिये नियत किया हुआ समुचित खेतन और भत्ता तुम समयपर दे दोगे न ? देनेमें विलम्ब तो नहीं करते ? ॥ ३२ ॥

कालातिक्रमणे होव भक्तवेतनयोर्धृताः ।

भर्तृगुणानिकुप्यन्ति सोऽनर्थं सुमहान् कृतः ॥ ३३ ॥

‘यदि समय बिनाकर भत्ता और खेतन दिये जाते हैं तो मंत्रीक अपन न्यायपर भी अन्यन्त कृपित हो जाते हैं और इसके कारण बड़ा भारी अनर्थ घटित हो जाता है ॥ ३३ ॥

कश्चित् सर्वेऽनुरक्तास्त्वां कुलपुत्राः प्रधानतः ।

कश्चित् प्रणामस्वार्थेषु संत्यजसि समाहिताः ॥ ३४ ॥

‘क्या इसमें कुलमें उत्पन्न मन्त्री आदि समस्त प्रधान अधिकारी तुममें प्रेम रखते हैं ? क्या वे तुम्हारे लिये एकचित्त होकर अपने प्रणामोंका त्याग करनेके लिये उद्यत रहते हैं ?

कश्चिज्जानपदो विद्वान् दक्षिणः प्रतिधानवरन् ।

यथोक्तवादी दूनस्ते कृतो भरत पण्डितः ॥ ३५ ॥

‘भरत । तुमने जिसे राजदूतके पदपर नियुक्त किया है, वह पुरुष अपने ही देशका निवासी, विद्वान्, कुशल, प्रतिभाशाली और जैसा कहा जाय वैसी ही बात दूसरेके सामने कहनेवाला और सदसद्विवेकयुक्त है न ? ॥ ३५ ॥

कश्चिदष्टादशान्येषु स्वपक्षे दश पञ्च च ।

त्रिभिस्त्रिभिर्गविज्ञानैर्वैत्ति तीर्थानि चारके ॥ ३६ ॥

‘क्या तुम पञ्चपक्षके अठारह और अपने पक्षके

१. चातुपक्षक मन्त्री, पुरहित, युवराज, सेनापति, द्वारपाल अन्तर्हितक (अन्त-पुक्त अध्याय), कारागाराध्यक्ष, कोषाध्यक्ष, यथायावत् सरणमें धनका व्यय करनेवाला सचिव, प्रदष्टा (पहमदरजे का मन्त्रियकाल), नगराध्यक्ष (कोतवाल), कार्यानिर्माणकर्ता (निर्माणकर्ता पंजीयान्तक), धर्मोपदेशक मन्त्रियकाल दण्डपाल, युवराज, गृहमन्त्रियकाल तथा वनपक्षक—ये अठारह तर्क हैं, जिनपर राजाका दृष्टि रखनी चाहिये अन्तर्हितक व अष्टपक्ष तथा इस प्रकार है—मन्त्री पुरहित युवराज सेनापति द्वारपाल अन्त-पुराध्यक्ष, नगराध्यक्ष व कोषाध्यक्ष ॥ राजाके आश्रय मन्त्रियोंके काम करनेवाला चादी प्रोत्सवदामे मामलेका पृष्ठजाल करनेवाला, प्राह्विवाक,

पंद्रह^१ सौधोंकी तीन-तीन अज्ञान गुप्तचरोद्धार देख भाल या जाँच-पड़ताल करते रहते हो ? ॥ ३६ ॥

कश्चिद् व्यपास्तानहितान् प्रतियातांश्च सर्वदा ।

दुर्बलाननयज्ञाय धर्तसे रिपुसूदन ॥ ३७ ॥

‘शत्रुसूदन । जिन शत्रुओंकी तुमने राज्यसे निकाल दिया है, वे यदि फिर लौटकर आते हैं तो तुम उन्हें दुर्बल समझकर उनकी उपेक्षा तो नहीं करते ? ॥ ३७ ॥

कश्चिन्न लोकायतिकान् ब्राह्मणांस्ततः सेवसे ।

अनर्थकुशला होते बालाः पण्डितमानिनः ॥ ३८ ॥

‘तात ! तुम कभी नास्तिक ब्राह्मणोंका संग तो नहीं करते हो ? क्योंकि वे बुद्धिवादी परमार्थकी ओरसे विचलित करनेमें कुशल होते हैं तथा साक्षरवर्गमें अज्ञानी होते हुए भी अपनेको बहुत बड़ा पण्डित मानते हैं ॥ ३८ ॥

धर्मशास्त्रेषु मुख्येषु विद्यमानेषु दुर्बुधाः ।

बुद्धिमान्वीक्षिकीं प्राप्य निरर्थं प्रवदन्ति ते ॥ ३९ ॥

‘उनका ज्ञान वेदके विरुद्ध होनेके कारण दूषित होता है और वे प्रमाणभूत प्रधान-प्रधान धर्मशास्त्रोंके होते हुए भी तार्किक बुद्धिका आश्रय लेकर व्यर्थ बकवाद किया करते हैं ॥ ३९ ॥

वीरैरभ्युषितां पूर्वमस्माकं ततः पूर्वकः ।

सत्पनामां दूतद्वारां हस्तधरथसकुलाम् ॥ ४० ॥

ब्राह्मणीः क्षत्रियैर्वैश्यैः स्वकर्मनिरतैः सदा ।

जितेन्द्रियैर्महोत्साहैर्बुभुक्षुर्भार्यैः सहस्रशः ॥ ४१ ॥

प्रासादैर्विविधाकारैर्वृतां वैद्यजनाकुलाम् ।

कश्चित् समुदितां स्फोनामयोध्यां परिरक्षसे ॥ ४२ ॥

‘तात । अयोध्या हमारे वीर पूर्वजोंका निवासभूमि है, उसका जैसा नाम है, वैसा ही गुण है । उसके दरवाजे सब ओरसे सुदृढ़ हैं । वह हाथी, घोड़े और रथोंमें परिपूर्ण है । अपने-अपने कर्मोंमें लगे हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सहस्रोंकी संख्यामें वहाँ सदा निवास करते हैं । वे सब-के-सब महान् उत्साही, जितेन्द्रिय और श्रेष्ठ हैं । नाना प्रकारके राजभवन और मन्दिर उसकी शोभा बढ़ाते हैं । वह नगरी बहुसंख्यक विद्वानोंमें भरी है । ऐसी अभ्युदयशील और समृद्धिशालिनी नगरी अयोध्याकी तुम भलेभोजित रक्षा तो करते हो न ? ॥ ४०—४२ ॥

कश्चिद्यत्नैर्जुष्टः सुनिविष्टजनाकुलः ।

देवस्थानैः प्रपाभिश्च तदार्कशोपशोभितः ॥ ४३ ॥

प्रहृष्टनरनारीकः समाजोत्सवशोभितः ।

सुकृष्टसौमापशुमान् हिंसाधिरभिधर्जितः ॥ ४४ ॥

अदेवपातुको रम्यः स्थापदैः परिवर्जितः ।

परित्यक्तो धर्मः सर्वैः खनिधिशोपशोभितः ॥ ४५ ॥

विवर्जितो नरैः पार्ष्ण्यं पूर्वं सुरक्षितः ।

कश्चिज्जनपदः स्फीतः सुखं वसति राघव ॥ ४६ ॥

‘रघुसूदन धरत ! जहाँ नाना प्रकारके अधर्मोंका आदि महायज्ञके बहस से चयन-दण्ड (अनुष्ठानस्थली) शोभा पाते हैं जिसमें प्रतिष्ठित मनुष्य अधिक संख्यामें निवास करते हैं, अनेकानेक देवस्थान, पीसले और तालाब जिसकी शोभा बढ़ाते हैं, जहाँकी स्त्री-पुरुष सदा प्रसन्न रहते हैं, आ सामाजिक उत्सवोंके कारण सदा शोभासम्पन्न दिखायी देता है, जहाँ खेत जंगलमें समर्थ पशुओंकी अधिकता है, जहाँ किसी प्रकारकी हिंसा नहीं होने, जहाँ खेतोंके लिये वर्षाकाल पर निर्भर नहीं रहना पड़ता (नदियोंके जलसे ही सिंचाई हो जाती है), जो बहुत ही सुन्दर और हिंसक पशुओंसे रहित है, जहाँ किसी तरहका धर्म नहीं है नाना प्रकारकी खाने जिसकी शोभा बढ़ाते हैं, जहाँ पातल पशुओंका सर्वथा अभाव है तथा हमारे पूर्वजोंने जिसकी भलेभोजित रक्षा की है, यह अपना कोमल देश धन-धान्यसे सम्पन्न और युद्धपूर्वक बसा हुआ है न ? ॥ ४३—४६ ॥

कश्चित् ते दयिताः सर्वे कृषिगोरक्षजीविनः ।

वातायां संश्रितस्नात लोकोऽयं सुखमेधते ॥ ४७ ॥

‘तात । कृषि और गोरक्षसे आर्जोश्रमका चलाववाले सभी वैश्य तुम्हारे प्रतिपात्र हैं न ? क्योंकि कृषि और व्यापार आदिमें संलग्न रहनेपर ही यह लोक सुखी एवं उन्नतिशील होता है ॥ ४७ ॥

तेषां गुप्तिपरीहारैः कश्चित् ते धरणं कृतम् ।

रक्ष्या हि राजा धर्मेण सर्वे विषयवासिनः ॥ ४८ ॥

‘उन वैश्योंके इष्टको प्रति रक्षाकर और उनके अंगिका निवारण करके तुम उन सब लोगोंका धरण पोषण तो करते हो न ? क्योंकि राजाको अपने राज्यमें निवास करनेवाले सब लोगोंका धर्मानुसार पालन करना चाहिये ॥ ४८ ॥

कश्चित् स्त्रियः भान्त्वयसे कश्चित् तासं सुरक्षिताः ।

कश्चिन्न श्रद्धास्यासां कश्चिद् गुहां न भावसे ॥ ४९ ॥

‘क्या तुम अपनी स्त्रियोंको संतुष्ट रखते हो ? क्या वे तुम्हारे द्वारा भलेभोजित सुरक्षित रहती हैं ? तुम उनपर

(चकील), धर्मसनाधिकारी (न्यायाधीश) व्यवहार-निर्णायक मध्य सेनाके जाँचका निग्रहके लिये धन देनेका अधिकारी (सेनानायक), कर्मचरियोंको काम पूरा होनेपर वेतन देनेके लिये राजासे धन देनेवाला नारायण, राष्ट्रमोपायक तथा वनरक्षक दुष्टोंको दण्ड देनेका अधिकारी तथा जल पवन, वन एवं दुर्गम भूमिकी रक्षा करनेवाला इनपर राजाका दृष्टि रखनी चाहिये

२ उपर्युक्त अठारह तीर्थीमय आदिके तीर्थकी छड़कर शेष पंद्रह तीर्थ अपने परके भा मद्रा परंपराय है

अधिक विश्वास तो नहीं करते ? उन्हें अपनी गुप्त बात तो नहीं कह देते ? ॥ ४९ ॥

कश्चिन्नागवने गुप्ते कश्चित् ते सन्ति धेनुकाः ।

कश्चिन्न गणिकाभ्रानां कुञ्जराणां च तृप्यसि ॥ ५० ॥

‘जहाँ-हाथी उत्पन्न होते हैं, वे जंगल तुम्हारे द्वारा सुरक्षित हैं न ? तुम्हारे पास दूध देनेवाली गौएँ तो अधिक संख्यामें हैं न ? (अथवा हाथियोंके फैसानेवाली हथिनियोंके तो तुम्हारे पास कमी नहीं है ?) तुम्हें हाथीनचों, घोड़ों और हाथियोंके संग्रहसे कभी तृप्ति तो नहीं होती ? ॥ ५० ॥

कश्चिद् दर्शयसे नित्यं मानुषाणां विभूषितम् ।

अध्यायोत्थाय पूर्वाह्ने राजपुत्रं धरापथे ॥ ५१ ॥

‘राजकुमार ! क्या तुम प्रतिदिन पूर्वाह्नकालमें वस्त्रमृषणास विभूषित हो प्रधान सड़कपर जा जाकर नगरवासियों मनुष्योंको दर्शन देने हो ? ॥ ५१ ॥

कश्चिन्न सर्वे कर्मान्ताः प्रत्यक्षास्तेऽविशङ्कया ।

सर्वे वा पुनस्तृष्टा मध्यमेष्टाश्च क्रागणम् ॥ ५२ ॥

‘काम-काजमें लगे हुए सभी मनुष्य निडर होकर तुम्हारे सामने तो नहीं आते, अथवा वे मग्न मग्न नृगने दूर तो नहीं रहते ? क्योंकि कर्मचारियोंके विषयमें मध्यम स्थितिका अवलम्बन करना ही अर्थमिदित्ता कारण होता है ॥ ५२ ॥

कश्चिद् दुर्गाणि सर्वाणि धनधान्यायुधोदकं ।

यन्त्रीश्च प्रतिपूर्णाणि तथा शिल्पिधनुर्धरैः ॥ ५३ ॥

‘क्या तुम्हारे सभी दुर्ग (किले) धन-धान्य, अस्त्र-शस्त्र, जल, यन्त्र (मशीन), शिल्पी तथा धनुर्धर सैनिकोंसे भरे-पूरे रहते हैं ? ॥ ५३ ॥

आयस्ते विपुलः कश्चिन् कश्चिदल्पतरो व्ययः ।

अपात्रेषु न ते कश्चिन् कोचो गच्छति राघव ॥ ५४ ॥

‘रघुनन्दन ! क्या तुम्हारे आय अधिक और व्यय बहुत कम है ? तुम्हारे खजानेका धन अपात्रके हाथमें तो नहीं घटता जाता ? ॥ ५४ ॥

देवतार्थं च पित्रर्थं ब्राह्मणाध्यागतेषु च ।

योधेषु मित्रवर्गेषु कश्चिद् गच्छति ते व्ययः ॥ ५५ ॥

देवता, पितर, ब्राह्मण, अध्यागत, सोढ़ा तथा मित्रोंके लिये हो तो तुम्हारा धन खर्च होता है न ? ॥ ५५ ॥

कश्चिदयोरपि शुद्धात्मा क्षारितश्चापकर्मणा ।

अदृष्टः शास्त्रकुशलैर्न लोभाद् व्यथ्यते शुचिः ॥ ५६ ॥

कभी ऐसा तो नहीं होता कि कोई मनुष्य किसी श्रेष्ठ निर्दोष और शुद्धात्मा पुरुषपर भी द्वेष लगा दे तथा शास्त्र-ज्ञानमें कुशल विद्वानाद्वय ठसक विषयमें विचार करायें बिना ही लोभवश उस आशिक दण्ड दे दिया जाता हो ? ॥ ५६ ॥

गृहीतश्चैव पृष्टश्च काले दुष्टः सकारणः ।

कश्चिन्न मुच्यते घोरो धनलोभाग्रगर्भम् ॥ ५७ ॥

‘नश्रेष्ठ ! जो चोरोमें पकड़ा गया हो, जिस किसीने चोरी

करने समय देखा हो, पृष्ठ-ताछसे भी जिसके चोर होनेका प्रमाण मिल गया हो तथा जिसके विमूढ़ (चोरीका माला करामत होना आदि) और भी बहुत-से कारण (सबूत) हों, उस चोरका भी तुम्हारे राज्यमें धनके लालचसे छोड़ तो नहीं दिया जाता है ? ॥ ५७ ॥

व्यसने कश्चिदाकथस्य दुर्बलस्य च राघव ।

अथै विगंगाः पश्यन्ति तवामात्या बहुभ्रुता ॥ ५८ ॥

‘रघुकुलभूषण ! यदि धर्म और गरीबमें कोई विवाद छिड़ा हो और वह राज्यके न्यायालयमें निर्णयके लिये आया हो तो तुम्हारे बहुत मन्त्री धन आदिके लोभको छोड़कर उस मामलेपर विचार करते हैं न ? ॥ ५८ ॥

यानि मिथ्याभिज्ञस्तानि घतन्त्यश्रूणि राघव ।

तानि पुत्रपशुर्न हन्ति प्रीत्यर्थमनुशासतः ॥ ५९ ॥

‘रघुनन्दन ! निरपराध होनेपर भी जिन्हें मिथ्या दोष लगाकर दण्ड दिया जाता है, उन मनुष्योंको आँखोंसे जो आँसू गिरते हैं वे पक्षपातपूर्ण शासन करनेवाले राजाके पुत्र और पशुओंका नाश कर डालते हैं ॥ ५९ ॥

कश्चिद् वृद्धाश्च बालाश्च वैद्यान् मुख्याश्च राघव ।

दानेन मनसा वाचा त्रिभिरेतैर्बुधूषसे ॥ ६० ॥

‘राघव ! क्या तुम वृद्ध पुरुषों, बालकों और प्रधान-प्रधान वैद्यांका आन्तरिक अनुराग, मधुर वचन और धनदान—इन तीनोंके द्वारा सम्मान करते हो ? ॥ ६० ॥

कश्चिद् गुरूश्च वृद्धाश्च तापसान् देवतातिथीन् ।

चैत्याश्च सर्वान् सिद्धार्थान् ब्राह्मणाश्च नमस्यसि ॥ ६१ ॥

‘गुरुजनों, वृद्धों, तपस्वियों, देवताओं, अतिथियों, चैत्य वृक्षों और समस्त पूर्णकाम ब्राह्मणोंको नमस्कार करते हो न ? ॥ ६१ ॥

कश्चिदर्थेन वा धर्ममर्थे धर्मेण वा पुनः ।

उभौ वा प्रीतिलोभेन कामेन न विबाधसे ॥ ६२ ॥

‘तुम अर्थके द्वारा धर्मको अथवा धर्मके द्वारा अर्थको हानि तो नहीं पहुँचाते ? अथवा आसक्ति और लोभरूप कामके द्वारा धर्म और अर्थ दोनोंमें बाधा तो नहीं आने देते ? ॥ ६२ ॥

कश्चिदर्थे च कार्यं च धर्मं च जयतां वर ।

विधज्य काले कालज्ज सर्वान् वरद सेवसे ॥ ६३ ॥

‘विजयी चोरोमें श्रेष्ठ, समयोचित कर्तव्यके ज्ञाता तथा दूसरोंको वर देनेमें समर्थ भरत ! क्या तुम समयका विभाग करके धर्म, अर्थ और कामका योग्य समयमें संवदन करते हो ? ॥ ६३ ॥

कश्चित् ते ब्राह्मणाः शर्म सर्वशास्त्रार्थकोविदाः ।

आशंसन्ते महाप्राज्ञं पौरजानपदैः सह ॥ ६४ ॥

‘महाप्राज्ञ ! सम्पूर्ण शास्त्रोंके अर्थको जाननेवाले ब्राह्मण गुरुजनों और जनपदवासी मनुष्योंके साथ तुम्हारे कल्याणकी कामना करते हैं न ? ॥ ६४ ॥

नास्तिक्यमनुते क्रोधं प्रमादं दीर्घसूत्रताम् ।

अदर्शनं ज्ञानवतामालस्यं पञ्चवृत्तिताम् ॥ ६५ ॥

एकचिन्तनमर्थानामनर्थज्ञैश्च मन्त्रणम् ।

निश्चितानामनारम्भे मन्त्रस्यापरिरक्षणम् ॥ ६६ ॥

मङ्गलाद्यप्रयोगं च प्रत्युत्थानं च सर्वतः ।

कश्चित् त्वं वर्जयस्येतान् राजदोषाश्चतुर्दश ॥ ६७ ॥

‘नास्तिकता, असत्य-भाषण, क्रोध, प्रमाद, दीर्घसूत्रता, ज्ञानों पुरुषोंका संग न करना, आलस्य, नेत्र आदि पाँचो इन्द्रियोंके वशीभूत होना, राजकार्योंके विषयमें अकेले हो विचार करना, प्रयोजनका न समझनेवाले विपरीतदर्शों मूर्खोंसे सलाह लेना, निश्चित किये हुए कार्योंके शीघ्र प्रारम्भ न करना, गुप्त मन्त्रणाको सुरक्षित न रखकर प्रकट कर देना, माङ्गलिक आदि कार्योंका अनुष्ठान न करना तथा सब शत्रुओंपर एक ही साथ चढ़ाई कर देना—ये राजाके चौदह दोष हैं। तुम इन दोषोंका सदा परित्याग करते हो न ? ॥ ६५—६७ ॥

दशपञ्चचतुर्वर्गान् सप्तवर्गं च तत्त्वतः ।

अष्टवर्गं त्रिवर्गं च विद्यास्तिस्रश्च राघव ॥ ६८ ॥

इन्द्रियाणां जयं बुद्ध्या चाङ्गुण्यं दैवमानुषम् ।

कृत्यं विंशतिवर्गं च तथा प्रकृतिमण्डलम् ॥ ६९ ॥

पात्रादण्डविधानं च द्विपोनी संधिविग्रहौ ।

कश्चिदेतान् महाप्राज्ञ यथावदनुमन्यसे ॥ ७० ॥

‘महाप्राज्ञ भरत ! दशवर्ग,^१ पञ्चवर्ग,^२ चतुर्वर्ग,^३ सप्तवर्ग,^४ अष्टवर्ग,^५ त्रिवर्ग,^६ तीन विद्या^७ बुद्धिके द्वारा इन्द्रियोंको जीतना, छ गुण,^८ दैवी^९ और मानुषी^{१०} बाधाएँ, राजाके नीतिपूर्ण कार्य,^{११} विंशतिवर्ग,^{१२} प्रकृतिमण्डल^{१३} यज्ञ (शत्रुपर आक्रमण), दण्डविधान (व्युत्तरचना) तथा दो-दो गुणोंकी^{१४} योनिभूत संधि और विग्रह—इन सबको और तुम यथार्थ रूपसे ध्यान देते हो न ? इनमेंसे त्यागनेयोग्य दोषोंको त्यागकर ग्रहण करनेयोग्य गुणोंको ग्रहण करते हो न ? ॥ ६८—७० ॥

१ काममें उग्रता होनेवाले दस दोषोंको दशवर्ग कहते हैं। ये राजाके लिये स्थाप्य हैं। मनुजीन उनके नाम इस प्रकार गिनाये हैं—आग्वत्, जुआ, दिनमें सोना, दूसरोंकी निन्दा करना, खोपे आसक्त होना मद्यपान, नाचना, गाना, बाजा बजाना और व्यर्थ घूमना।
२ जलदुर्ग, पक्षतदुर्ग, वृक्षदुर्ग, ईरिणदुर्ग और धन्वदुर्ग—ये पाँच प्रकारके दुर्ग पञ्चवर्ग कहलाते हैं। इनमें आरम्भिक तीन तो प्रसिद्ध ही हैं। जहाँ किसी प्रकारकी सेना नहीं होती, वैसे प्रदेशको ईरिण कहते हैं। बालूमें भरी मरुभूमिको धन्व कहते हैं। गर्मीके दिनोंमें वह शत्रुओंके लिये दुर्गम होती है। इन सब दुर्गोंका यथासमय उपयोग करके राजाको आत्मरक्षा करना चाहिये। ३ साम, दान, धेद और दण्ड—इन चार प्रकाशकी नीतियों चतुर्वर्ग कहते हैं। ४ राजा, मन्त्री, राष्ट्र, किल्ब, स्वजाना, सेना और मित्रवर्ग—ये परस्पर उपकार करनेवाले राज्यके सात अङ्ग हैं। इन्हींको सप्तवर्ग कहा गया है। ५ चुगली, माहस, द्रोह, ईर्ष्या, दासदर्शन, अर्धदुष्ठाग, चाणोली कठोरता और दण्डकी कठोरता—ये क्रोधसे उग्रता होनेवाले आठ दोष अष्टवर्ग माने गये हैं। किसी किसीके मतमें स्वतंत्रता उन्नति करना, व्यापारको बढ़ाना दुर्ग बनवाना, पुल निर्माण करना जंगलसे हाथी पकड़कर पैगवाना, खानोंपर अधिकार प्राप्त करना अर्थात् राजाओंसे कर लेना और निर्जन प्रदेशको आबाद करना—ये राजाके लिये उपादेय आठ गुण हो अष्टवर्ग हैं। ६ धर्म, अर्थ और कामको अथवा उत्साह-शक्ति प्रभुशक्ति तथा मन्त्रशक्तिका त्रिवर्ग कहते हैं। ७ त्रयो वार्ता और दण्डनीति—ये तीन विद्याएँ हैं। इनमें नीनों वेदाओं प्रयो कहते हैं। कृषि और गोरक्षा आदि वार्ताके अन्तर्गत हैं तथा नीतिशास्त्रका नाम दण्डनीति है। ८ संधि, विग्रह, यान, आसन द्वैधीभाव और समाश्रय—ये छ गुण हैं। इनमें शत्रुसे घेरा रहना संधि उससे लड़ाई छेड़ना विग्रह आक्रमण करना यान, अवसरान्ते प्रतीक्षामें बैठे रहना आसन दुर्गो नीति बर्तना द्वैधीभाव और अपनेसे बलवान् राजाकी शरण लेना समाश्रय कहलाता है। ९ आग लगाना, बाढ़ आना, बीमारी फैलना, अकाल पड़ना और महामारीका प्रकोप होना—ये पाँच दैवी बाधाएँ हैं। राज्यक अधिकारियों चारों शत्रुओं और राजाके प्रिय व्यक्तियोंसे तथा स्वयं राजाके लाभमें जो घय प्राप्त होना है, उसे मानवी बाधा कहते हैं। १० शत्रु राजाओंके सेवकोंमेंसे जिनको घतन न मिलता हो, जो अपमानित किये गये हो, जो अपने पालिकके किम्मी बर्तावसे कृपित हो तथा जिन्हें भय दिग्गकर डराया गया हो, ऐसे लोगोंको मनचाहो वस्तु देकर फोड़ लेना राजाका कृत्य (नीतिपूर्ण कार्य) माना गया है। ११ बालक, वृद्ध, दीर्घकालका रोगी जातिव्युत, डरपाक, भार मनुष्योंको साथ रखनेवाला, लोभी-लालचों लोगोंको आश्रय देनेवाला मन्त्रो रचनापति आदि प्रकृतियोंको, असंतुष्ट रखनेवाला विषयोमें आमत, चञ्चलचिन्त मनुष्योंसे मलाह लेनवाला, देवता और ब्राह्मणोंकी निन्दा करनेवाला, दैवता मारा हुआ, भाम्यके भरोसे पुरुषार्थ न करनेवाला, दुर्धिक्षस पीड़ित सैनिक-कष्टसे युक्त (सेनापहित) स्वदेशमें न रहनेवाला, अधिक शत्रुओंवाला, अकाल (दूर ग्रहदशा आदिसे युक्त) और सत्यधर्मस रहित—ये बीस प्रकारके राजा संधिके योग्य नहीं मान गये हैं। इन्हींको विंशतिवर्गक नामसे कहा गया है। १२ राज्यके स्वामी अमात्य, सुहृद्, कोप, राष्ट्र, दुर्ग और येना—राज्यके इन सप्त अङ्गोंको ही प्रकृतिमण्डल कहते हैं। किम्मी-किसीके मतमें मन्त्री, राष्ट्र, किल्ब, स्वजाना और दण्ड—ये पाँच प्रकृतियाँ अलग हैं और बारह राजाओंके समूहको मण्डल कहा है। १३ द्वैधीभाव और समाश्रय—ये इनकी योनिर्वाध हैं और यान तथा आसन इनकी योनिविग्रह हैं। अर्थात् प्रथम दो संधिभूलक और अन्तिम दो विग्रहभूलक हैं।

मन्त्रिभिस्त्वं यथोद्दिष्टं चतुर्भिस्त्रिभिरेव वा ।

कश्चित् समस्तीर्ष्यस्तैश्च मन्त्र मन्त्रयसे बुध ॥ ७१ ॥

‘विद्वन् ! क्या तुम नीतिशास्त्रकी आज्ञाके अनुसार चर या’ तीन मन्त्रियोंके साथ—सबको एकत्र करके अथवा सबसे अलग-अलग मिलकर सलाह करते हो ? ॥ ७१ ॥

कश्चित् ते सफला वेदा, कश्चित् ते सफलाः क्रियाः ।

कश्चित् ते सफला दारा, कश्चित् ते सफलं श्रुतम् ॥

‘क्या तुम वेदोंकी आज्ञाके अनुसार काम करके उन्हें सफल करत हो ? क्या तुम्हारे क्रियाएँ सफल (उद्देश्यकी सिद्धि करनेवाली) हैं ? क्या तुम्हारी स्त्रियाँ भी सफल (संतानवती) हैं ? और क्या तुम्हारा शास्त्रज्ञान भी विनय आदि गुणोंका उत्पादक होकर सफल हुआ है ? ॥ ७२ ॥

कश्चिदेव ते बुद्धिर्यथोक्ता मम राघव ।

आयुषा च यशस्या च धर्मकामार्थसंहिता ॥ ७३ ॥

‘रघुनन्दन ! मैंने जो कुछ कहा है, तुम्हारी बुद्धिका भी ऐसा ही निश्चय है न ? क्योंकि यह विचार आयु और यशको बढ़ानेवाला तथा धर्म, काम और अर्थको सिद्ध करनेवाला है । ॥ ७३ ॥

इत्थार्थं श्रीरामायणं वाल्मीकीये आदिकाण्डेऽयोध्याकाण्डे शततमः सर्गः ॥ १०० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आगरामायण आदिकाण्डके अयोध्याकाण्डमें सौवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १०० ॥

एकाधिकशततमः सर्गः

श्रीरामका भरतसे वनमें आगमनका प्रयोजन पूछना, भरतका उनसे राज्य ग्रहण करनेके लिये कहना और श्रीरामका उसे अस्वीकार कर देना

ते तु रामः समाश्रय भ्रातरं मुख्यत्सलम् ।

लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा प्रष्टुं संपुपक्षकमे ॥ १ ॥

लक्ष्मणसहित श्रीरामचन्द्रजीने अपने गुरुभक्त भाई भरतको अन्धरी तरह समझाकर अथवा उन्हें अपना अनुक्त जानकर उनसे इस प्रकार पूछना आरम्भ किया— ॥ १ ॥

किमेतदिच्छेयमहं श्रोतुं प्रव्याहृतं स्वया ।

यस्मान् त्वयागतो देशमिमं चीरजटाजिनी ॥ २ ॥

यन्निमित्तमिमं देशं कृष्णाजिनजटाधरः ।

हित्वा राज्यं प्रविष्टस्त्वं तत् सर्वं कर्तुमर्हसि ॥ ३ ॥

‘भाई ! तुम राज्य छोड़कर वत्सकल, कृष्णपुगचर्म और जटा धारण करके जो इस देशमें आये हो, इसका क्या कारण है ? जिस निमित्तम इस वनमें तुम्हारा प्रवेश हुआ है यह मैं तुम्हारे मुँहसे सुनना चाहता हूँ । तुम्हें सब कुछ साफ साफ बताना चाहिये’ ॥ २-३ ॥

इत्सुक्तः कैकयीपुत्रः काकुत्स्थेन महात्मना ।

प्रगृह्य बलवद् भूयः प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीन् ॥ ४ ॥

ककुत्स्थवंशी महात्मा श्रीरामचन्द्रजीके इस प्रकार पूछनेपर भरतने वत्सपूर्णक आन्तर्गिक शोकको दृष्टा पुनः इत्थ

यां वृत्तिं वर्तते तातो यां च नः प्रपितामहः ।

तां वृत्तिं वर्तसे कश्चिद् या च सत्पथगा शुभा ॥ ७४ ॥

हमारे पिताजी जिस वृत्तिका आश्रय लेते हैं, हमारे प्रपितामहोंने जिस आचरणका पालन किया है सत्पुरुष भी जिसका सेवन करते हैं और जो कल्याणका मूल है, उसीका तुम पालन करते हो न ? ॥ ७४ ॥

कश्चित् स्वादुकृतं भोज्यमंको नाश्रासि राघव ।

कश्चिदाशंसपानेभ्यो मित्रेभ्यः सम्प्रथच्छसि ॥ ७५ ॥

‘रघुनन्दन ! तुम स्वादिष्ट अन्न अकेले ही तो नहीं खा जाते ? उसकी आगा रखनेवाले मित्रोंको भी देते हो न ?

राजा तु धर्मेण हि पालयित्वा

महर्षिर्दण्डधरः प्रजानाम् ।

अवाप्य कृत्स्नां वसुधां यथाव-

दितश्च्युतः स्वर्गमुपैति विद्वान् ॥ ७६ ॥

‘इस प्रकार धर्मके अनुसार दण्ड धारण करनेवाला विद्वान् राजा प्रजाओंका पालन करके समूची पृथ्वीको यथावत् रूपसे अपने अधिकारमें कर लेता है तथा देहत्याग करनेके पश्चात् स्वर्गलोकमें जाता है’ ॥ ७६ ॥

जोड़कर इस प्रकार कहा— ॥ ४ ॥

आर्य तातः परित्यज्य कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ।

गतः स्वर्गं महाबाहु पुत्रशोकाभिपीडितः ॥ ५ ॥

‘आर्य ! हमारे महाबाहु पिता अत्यन्त दुष्कर कर्म करके पुत्रशोकसे पीड़ित हो हमें छोड़कर स्वर्गलोकको चले गये ॥ ५ ॥

स्त्रिया नियुक्तः कैकेय्या मम पात्रा परंतप ।

चकार सा महत्यापमिदमात्मयशोहरम् ॥ ६ ॥

शत्रुओंको संतप देनेवाले रघुनन्दन ! अपनी स्त्री एवं मेरी माता कैकेयीकी प्रेरणासे ही विवश हो पिताजीने ऐसा कठोर कार्य किया था । मेरी पत्नी अपने सुवशको नष्ट करनेवाला यह बड़ा भारी पाप किया है ॥ ६ ॥

सा राज्यफलमप्राप्य विधवा शोककर्शिना ।

पनिष्यति महाघोरे नरके जननी मम ॥ ७ ॥

‘अतः वह राज्यरूपी फल न पाकर विधवा हो गयी । अब मेरी माता शोकसे दुर्बल हो महाघोर नरकमें पड़ेगी । तस्य मे दासभूतस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि ।

अभिषिञ्जस्व चाद्यैव राज्येन मघवानिब ॥ ८ ॥

‘अब आप अपने दासस्वरूप मुझे भरतपर कृपा करोजिये और इन्द्रको भाति आज ही राज्य ग्रहण करनेके लिये अपना अभिषेक कराइये ॥ ८ ॥

इमाः प्रकृतयः सर्वा विधवा मातरश्च याः ।

त्वत्सकाराभनुप्राप्ताः प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ ९ ॥

‘ये सारी प्रकृतियाँ (प्रजा आदि) और सभी विधवा माताएँ आपके पास आयी हैं । आप इन सबपर कृपा करें ॥

तथानुपूर्व्या युक्तश्च युक्तं चात्मनि मानद ।

राज्यं प्राप्नुहि धर्मेण सकामान् सुहृदः कुरु ॥ १० ॥

‘दूसरोंको मान देनेवाले रघुवीर आप ज्येष्ठ होनेके नाते राज्य-प्राप्तिके क्रमिक अधिकारसे युक्त हैं, न्यायन आपकी ही राज्य मिलना उचित है, अतः आप धर्मानुसार राज्य ग्रहण करें और अपने सुहृदोंको सफल-धनारथ बनावें ॥ १० ॥

भवत्वविधवा भूमिः समग्रा पतिना त्वया ।

शशिका विधलेनेव शारदी रजनी यथा ॥ ११ ॥

आप जैसे पतिसे युक्त न यत मारी वस्तुधा विधव्यरहित हो जाय और निर्मल चन्द्रमासे सनाथ हुई शरत्कालकी रात्रिके समान शोभा पाने लगे ॥ ११ ॥

एभिश्च सखिवैः सार्व शिरसा याचितो मया ।

भ्रातुः शिष्यस्य दासस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ १२ ॥

‘मैं इन समस्त सखियोंके साथ आपके चरणोंमें भस्मक रखकर यह याचना करता हूँ कि आप राज्य ग्रहण करें । मैं आपका भाई, शिष्य और दास हूँ । आप मुझपर कृपा करें ॥ १२ ॥

तदिह शाश्वतं विश्वं सर्वं सखिवमण्डलम् ।

पूजितं पुनर्व्याघ्र नातिक्रान्तुमर्हसि ॥ १३ ॥

‘पुरुषासिंह । यह सारा सखिमण्डल अपने यहाँ कुलपरम्परासे चला आ रहा है । ये सभी सखि पिताजीके समयमें भी थे । हम संताप इनका सम्मान करने आयें हैं अतः आप इनकी प्रार्थना न ठुकरावें ॥ १३ ॥

एवमुक्त्वा महाबाहुः सखायः कैकयीसुतः ।

रामस्य शिरसा पादौ जघाह भरतः पुनः ॥ १४ ॥

ऐसा कहकर कैकयीपुत्र महाबाहु भरतने नजोंसे आँसू बहाते हुए पुनः श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें माथा टेक दिया ॥

तं मत्तमिव मातङ्गं निःश्वसन्तं पुनः पुनः ।

भ्रातरं भरतं रामः परिक्रुज्येदमब्रवीत् ॥ १५ ॥

उस समय वे मतवाले हाथोंके समान जारवार स्त्री सौँसे खींचने लगे, तब श्रीरामने पाई भरतको उठाकर हृदयसे लगा लिया और इस प्रकार कहा— ॥ १५ ॥

कुलीनः सत्त्वसम्पन्नस्तेजस्वी चरितव्रतः ।

राज्यहेतोः कश्च पापमाचरेन्मद्विधो जनः ॥ १६ ॥

‘भाई । तुम्हीं क्षत्राओ । उत्तम कुलमें उत्पन्न, सत्त्वगुणसम्पन्न, तेजस्वी और श्रेष्ठ वर्णका फलन करनेवाला

धैर-जैसा मनुष्य राज्यके लिये पिताको आशाकर उल्लङ्घन रूप पाप कैसे कर सकता है ? ॥ १६ ॥

न दोषं त्वयि पश्यामि सूक्ष्ममप्यरिसूदन ।

न चापि जननीं दाल्यात् त्वं विगर्हितुमर्हसि ॥ १७ ॥

‘राजसूदन । मैं तुम्हारे अंदर थोड़ा-सा भी दोष नहीं देखता । अज्ञानवश तुम्हें अपनी माताकी भी निन्दा नहीं करने चाहिये ॥ १७ ॥

कामकारो महाप्राज्ञ गुरूणां सर्वदानधः ।

उपपन्नेषु दारेषु पुत्रेषु च विधीयते ॥ १८ ॥

‘निष्पाप महाप्राज्ञ ! गुरुजनोंकी अपनी अभीष्ट स्त्रियों और प्रिय पुत्रोंपर सदा पूर्ण अधिकार होता है । वे उन्हें चाहे जैसी आज्ञा दे सकते हैं ॥ १८ ॥

वयमस्य यथा लोके संख्याताः सौम्य साधुभिः ।

भार्याः पुत्राश्च शिष्याश्च त्वमपि ज्ञातुमर्हसि ॥ १९ ॥

‘सौम्य । माताआमंत्रित हम भी इस लोकमें श्रेष्ठ पुरुषों-द्वारा महामुजके स्त्री पुत्र और शिष्य कहे गये हैं, अतः हमें भी उनको सब तरहकी आज्ञा देनेका अधिकार था । इस बातको तुम भी समझनेयोग्य हो ॥ १९ ॥

मने वा चीरवमनं सौम्य कृष्णाजिनावरम् ।

राज्ये वापि महाराजो मां वासयितुमीश्वरः ॥ २० ॥

‘सौम्य । महाराज मुझे कत्कल वस्त्र और मृगचर्म धारण करकर यन्त्र उतारवें अथवा राज्यपर बिठावें— इन दोनों मानाक लिये वे सर्वथा समर्थ थे ॥ २० ॥

यावत् पितरि धर्मज्ञ गौरवं लोकसत्कृते ।

तावद् धर्मकृतां श्रेष्ठ जनन्यायपि गौरवम् ॥ २१ ॥

धर्मज्ञ । धर्मव्यापार्य श्रेष्ठ भरत । मनुष्योंकी विश्ववन्द्य पिताम जितनी गौरव बुद्धि होती है, उननी ही मातामें भी होनी चाहिये ॥ २१ ॥

एताभ्यां धर्मशीलाभ्यां वनं गच्छेति राघव ।

मातापितृभ्यामुक्तोऽहं कथमन्यत् समाचरे ॥ २२ ॥

‘रघुनन्दन । इन धर्मशील माता और पिता दोनोंने जब मुझे वनमें जानको आज्ञा दे दी है, तब मैं इनकी आज्ञाके विपरीत दूसरा कोई बर्ताव कैसे कर सकता हूँ ? ॥ २२ ॥

त्वया राज्यमयोध्यायां प्राप्तव्यं लोकसत्कृतम् ।

वस्तव्यं दण्डकारण्ये यथा वत्कलवाससा ॥ २३ ॥

‘तुम्हें अयोध्यामें रहकर समस्त जगत्के लिये आदरणीय राज्य प्राप्त करना चाहिये और मुझे वत्कल वस्त्र धारण करके दण्डकारण्यमें रहना चाहिये ॥ २३ ॥

एवमुक्त्वा महाराजो विभागं लोकसंनिधौ ।

व्यादिश्य च महाराजो दिवं दशरथो गतः ॥ २४ ॥

‘क्योंकि महाराज दशरथ बहुत स्त्रियोंके सामने हम दोनोंके लिये इस प्रकार पृथक् पृथक् दो आज्ञाएँ देकर स्वर्गको सिधारे हैं ॥ २४ ॥

स च प्रमाणं धर्मात्मा राजा लोकगुरुस्तव ।

पित्रा दत्तं यथाभागमुपभोक्तुं स्वमहंसि ॥ २५ ॥

‘इस विषयमें लोकगुरु धर्मात्मा राजा ही तुम्हारे लिये प्रमाणभूत हैं—उन्हींको आज्ञा तुम्हें माननी चाहिये और पिताने तुम्हारे हिस्सेमें जो कुछ दिया है उसका तुम्हें सथावत रूपसे उपभोग करना चाहिये ॥ २५ ॥

चतुर्दश समाः सौम्य दण्डकारण्यमाश्रितः ।

उपभोक्ष्ये स्वहं दत्तं भागं पित्रा महात्मना ॥ २६ ॥

‘सौम्य चौदह वर्षोंतक दण्डकारण्यमें रहनेके बाद ही

इत्यादि श्रीमत्रापायण वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्वाधिकशततमः सर्गः ॥ १०१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिजिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ एकवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १०१ ॥*

द्वाधिकशततमः सर्गः

भरतका पुनः श्रीरामसे राज्य ग्रहण करनेका अनुरोध करके उनसे पिताकी

मृत्युका समाचार बताना

रामस्य सचनं श्रुत्वा भरतः प्रत्युवाच ॥

किं मे धर्माद् विहीनस्य राजधर्मं करिष्यति ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञा सुनकर भरतने इस प्रकार उत्तर दिया—‘भैया ! मैं राज्यका अधिकारी न होनेके कारण उस राजधर्मके अधिकारसे रहित हूँ, अतः मैं लिये यह राजधर्मका उपदेश किस काम आयगा ? ॥ १ ॥

शश्वतोऽयं सदा धर्मः स्थितोऽस्मासु नरर्षभ ।

ज्येष्ठे पुत्रे स्थिते राजा न कर्माधान् भवेन्नृपः ॥ २ ॥

‘नरर्षभ ! हमारे यहाँ सदासे ही इस शाश्वत धर्मका धारण होता आया है कि ज्येष्ठ पुत्रके रहने हुए छोटा पुत्र राजा नहीं हो सकता ॥ २ ॥

स समृद्धां यथा साधर्मयोध्यां गच्छ राधव ।

अभिषेचय चात्मानं कुलस्यास्य भवाय नः ॥ ३ ॥

‘अतः समृद्धन ! आप में साथ समृद्धिवांस्त्विनो अयोध्यापुरीका रक्षितों और हमारे कुलके अभ्युदयके लिये राजाके पदपर अपना अभिषेक कराइय ॥ ३ ॥

राजानं मानुषं ब्राह्मणत्वे सम्पन्नो मम ।

यस्य धर्मार्थसहितं घृतमाहुर्मानुषम् ॥ ४ ॥

‘यद्यपि सब लोग राजाको मनुष्य कहते हैं, तथापि मैंने रायमें वह दत्तव्य प्रान्नाप्त है क्योंकि इसके धर्म और अधिपति आचारको आधारण मनुष्यके लिये प्रसम्भावित बनाया गया है । केकयस्थे च मयि तु त्वयि धारण्यमाश्रिते ।

धीमान् स्वर्गं गतो राजा यायजूकः सतां मतः ॥ ५ ॥

इत्यादि श्रीमत्रापायण वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्वाधिकशततमः सर्गः ॥ १०२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिजिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ दोवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १०२ ॥

महन्मा पिताके दिये हुए राज्य-भागका मैं उपभोग करूँगा ।

सदश्वीन्यां नरलोकसत्कृतः

पिता महात्मा विबुधाधिपोषमः ।

नटेव मन्ये परमात्मनो हितं

न सर्वलोकेश्वरभावमव्ययम् ॥ २७ ॥

‘मनुष्यलोकमें सम्मानित और देवराज इन्द्रके तुल्य नश्वरी मैं महात्मा पिताने मुझ जो वनवासकी आज्ञा दी है, उन्हींको मैं अपने लिये परम हितकारी समझता हूँ । उनकी आज्ञाके विरुद्ध सर्वलोकेश्वर ब्रह्माका अविनाशी पद भी मेरे लिये श्रयस्कर नहीं है ॥ २७ ॥

‘जब मैं केकयदेशमें था और आप वनमें चले आये थे, तब अश्वमेध आदि यज्ञोंके कर्ता और गोपुरुषाद्वारा सम्मानित ब्रह्ममान् मत्तगज दशरथ स्वर्गलोकको चले गये ॥ ५ ॥

निष्कान्तमात्रे धवनि सहसीते सलक्ष्मणे ।

दुःखशोकाधिभूतस्तु राजा श्रित्विमभ्यगात् ॥ ६ ॥

‘मीना और लक्ष्मणके साथ आपके राज्यसे निकलते ही दुःख शोकसे पीड़ित हुए महागज स्वर्गलोकको चले गये ।

उत्तिष्ठ पुरुषज्याघ्र क्रियतामृतकं पितुः ।

अहं स्वार्यं च शत्रुघ्नः पूर्वमेव कृतोदको ॥ ७ ॥

‘पुरुषभिर्ग ! उठिये और पिताको जलाञ्जलि दान कीजिये, मैं और यह शत्रुघ्न—राजा महन् ही उनके लिये जलाञ्जलि दे चुके हैं ।

प्रियेण किल दत्तं हि पितृलोकेषु राधव ।

अक्षयं भवतीत्याहुर्भवांश्चैव पितुः प्रियः ॥ ८ ॥

‘रघुनन्दन ! कहते हैं, प्रिय भुक्तका दिया हुआ जल आदि पितृलोकमें अक्षय रहता है और आप पिताके प्रिय प्रिय पुत्र हैं ।

त्वामेव शांतिस्तव दर्शनेषु-

स्वयमेव सत्कामनिवर्त्य बुद्धिम् ।

स्वया विहीनस्तव शोकरुग्ण-

स्त्वां संस्मरन्नेव गतः पिता ते ॥ ९ ॥

‘आपके पिता आपमें चित्तगत होने ही शोकके कारण हाण जा गये और आपके ही शोकमें मग्न हो आपको ही देखनेकी इच्छा रखकर आपमें हो लगे हुई बुद्धिसे आपको आश्रय न देताकर आपको ही स्मरण करते हुए स्वर्गको चले गये ॥ ९ ॥

अधिकशततमः सर्गः

श्रीराम आदिका विलाप, पिताके लिये जलाञ्जलि-दान, पिण्डदान और रोदन

तां श्रुत्वा करुणां याचं पितुर्मरणसंहिताम् ।

राघवो भरतेनोक्तो बभूव गतचेतनः ॥ १ ॥

भरतको कहो हुई पिताको मृत्युमें सम्बन्ध रखनेवाली करुणाजनक बात सुनकर श्रीरामचन्द्रजी दुःखके कारण अचेत हो गये ॥ १ ॥

तं तु वज्रभिषोत्सृष्टमाहवे दानधारिणा ।

वाग्वज्रं भरतेनोक्तमपनोजं परंतपः ॥ २ ॥

प्रगृह्य रामो बाहू वै पुष्पिताङ्ग इव ह्रमः ।

घने परशुना कृतस्तथा भुवि पपात ह ॥ ३ ॥

भरतके मुखसे निकला हुआ वह वजन वज्र सा लगा, मानो दालिशू इन्द्रने युद्धस्थलमें वज्रका प्रहार-मा कर दिया हो । घनको प्रिय न लगनेवाले उस बागू वज्रको सुनकर शत्रुओंको मंताप देनेवाले श्रीराम दोनों भुजाओंको ऊपर उठाकर जिसकी डालियाँ खिली हुई हों घनमें कुल्हाड़ीमें कटे हुए उस वृक्षकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़े (भरतके दर्शनमें श्रीरामको हर्ष हुआ था, पिताकी मृत्युके संवादमें दुःख, अतः उन्हें खिले और कटे हुए पड़की उपमा दी गयी है) ॥ २ ३ ॥

तथा हि पतितं रायं जगत्या जगतीपतिम् ।

कुलधातपरिश्रान्तं प्रसुप्तमिव कुञ्जरम् ॥ ४ ॥

भ्रातरस्तो महेश्वासं सर्वतः शोककशितम् ।

स्वन्तः सह वैदेह्या सिपिधुः सलिलेन वै ॥ ५ ॥

पृथ्वीपति श्रीराम इस प्रकार पृथ्वीपर गिरकर नदीक तटकी दाँतीमें विदीर्ण करनेके परिश्रममें थककर सोये हुए हाथीके समान प्रतीत होते थे । शोकके कारण दुर्बल हुए उन महाधनुर्धर श्रीरामको सब ओरसे घेरकर मीतामहित गेत हुए वे तीनों भाई आँसुआँके जलसे भिगाँने लगे ॥ ४-५ ॥

स तु संज्ञां पुनर्लब्ध्वा नेत्राभ्यामश्रुमुत्सृजन् ।

उपाक्रामत काकुत्स्थः कृपणो बहु भार्गवम् ॥ ६ ॥

थोड़ी देर बाद पुनः हाशम आनेपर नज़रोंमें अश्रुवर्षा करत हुए ककुत्स्थकुलपूषण श्रीरामने अत्यन्त दोन बागाने विलाप आरम्भ किया ॥ ६ ॥

स रामः स्वर्गतं श्रुत्वा पितरं पृथिवीपतिम् ।

उवाच भरतं वाक्यं धर्मात्मा धर्मसंहितम् ॥ ७ ॥

पृथ्वीपति महाराज दशरथको स्वर्गगामी हुआ सुनकर धर्मात्मा श्रीरामने भरतसे यह धर्मयुक्त बात कही— ॥ ७ ॥

किं करिष्याम्ययोध्यायां ताते दिष्टां गतिं गते ।

कस्तां राजवराद्धीनापयोध्यां पालयिष्यति ॥ ८ ॥

भैया ! जब पिताजी परलोकवासियों हो गये, तब अयोध्यामें चलकर अब मैं क्या करूँगा ? उन राज-शिरोमणि पितासे हीन हुई उस अयोध्याका अब मैंने पालन करेगा ? ॥ ८ ॥

किं नु तस्य मया कार्यं दुर्जनेन महात्मनः ।

यो मृतो धम शोकेन स मया न च संस्कृतः ॥ ९ ॥

‘हाय ! जो पिताजी मेरे ही शोकसे मृत्युको प्राप्त हुए, उन्होंने मैं दाह संस्कारतक न कर सका । मुझ-जैसा अर्थ जब लेनवाले पुत्रसे उन महात्मा पिताका कौन-सा कार्य सिद्ध हुआ ? ॥ ९ ॥

अहो भरत सिद्धार्थो येन राजा त्वयानघ ।

शत्रुघ्नेन च सर्वेषु प्रेतकृत्येषु संकृतः ॥ १० ॥

निष्ठाप भरत ! तुम्हों कृतार्थ हो, तुम्हारा अहोभाग्य है जिसमें तुमने और शत्रुघ्न सभी प्रेतकार्यों (पारलौकिक कृत्य) में संस्कार-कर्मके द्वारा महाराजका पूजन किया है

निष्पाशानामनेकाग्रं वरेन्द्रेण विना कृत्याम् ।

निवृत्तवनवासोऽपि नायोध्यां गन्तुमुत्सहे ॥ ११ ॥

महाराज दशरथसे हीन हुई अयोध्या अब प्रधान शासकमें रहित हो अव्यवस्थ एवं आकुल हो उठी है, अतः वनवासमें लौटनेपर भी मैं मनमें अयोध्या जानका उत्साह नहीं रह गया है ॥ ११ ॥

समाप्तवनवासं मामयोध्यायां परंतप ।

कोऽनुशासिष्यति पुनस्तानं लोकान्तरं गते ॥ १२ ॥

‘परंतप भरत ! वनवासको अवधि समाप्त करके यदि मैं अयोध्यामें जाऊँ तो फिर कौन मुझे कर्तव्यका उपदेश देगा, क्योंकि पिताजी तो परलोकवासियों हो गये ॥ १२ ॥

पुरं प्रेक्ष्य सुवर्णं मां पिता बान्धाह सान्त्वयन् ।

वाक्पानि नानि श्रोष्यामि कुत कर्ण सुरणान्वहम् ॥ १३ ॥

पहले जब मैं उनको किसी आज्ञाका पालन करता था, तब वे मेरे मन्त्रव्यवहारका देखकर मेरा उत्साह बढ़ानेके लिये आ जा जा जाते कहा करते थे । जानकों मुख पाँधुवानेवाली उन बातोंको अब मैं किसके मुखसे सुनूँगा ? ॥ १३ ॥

एवमुक्त्वाथ भरतं भार्याभ्येत्य राघवः ।

उवाच शोकमन्तुः पूर्णचन्द्रनिधाननाम् ॥ १४ ॥

भरतसे ऐसा कहकर शोकसंतप्त श्रीरामचन्द्रजी पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाली अपनी पत्नीके पास आकर बोल— ॥ १४ ॥

सीते मृतस्ते श्वशुरः पितृहीनोऽसि लक्ष्मण ।

भरतो दुःखमाचष्टे स्वर्गतिं पृथिवीपतेः ॥ १५ ॥

सीते ! तुम्हारे श्वशुर चल बसे । लक्ष्मण ! तुम पितृहीन हो गये । धन्य पृथ्वीपति महाराज दशरथके स्वर्गवासका दुःखदायी समाचार सुन रहे हैं ॥ १५ ॥

ननो बहुगुणं तेषां ज्ञाप्य नेत्रेषुजायत ।

तथा ब्रुवति काकुत्स्थे कुमारानां यशस्विनाम् ॥ १६ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर उन सभी यशस्वी

कुमाराके नेत्रामें बहुत अधिक आँसु उमड़ आये ॥ १६ ॥
 नतसे भ्रातरः सर्वे भृशमाश्वास्य दुःखितम् ।
 अद्रुवज्जगतीभृतुः क्रियतामुदकं पितुः ॥ १७ ॥
 तदनन्तर सभी भाइयोंने दुःखी हुए श्रीरामचन्द्रजीको
 गान्धना देते हुए कहा— 'धिया • अब पृथ्वीपति पिताजीके
 लिये जन्माञ्जलि दान कीजिये' ॥ १७ ॥
 सा सीता स्वर्गते श्रुत्वा श्वशुरं तं महानुपम् ।
 नेत्राभ्यामभ्रपूर्णाभ्यां न शशाकेक्षिन् प्रियम् ॥ १८ ॥
 अपने श्वशुर महाराज दशरथके स्वर्गवासका समाचार
 सुनकर सीताके नेत्रामें आँसु भरे आये वे अपने प्रियतम
 श्रीरामचन्द्रजीको ओर देख न सकी ॥ १८ ॥
 सान्त्वयित्वा तु तां रामो रुदतीं जनकात्मजाम् ।
 उवाच लक्ष्मणे तत्र दुःखितो दुःखित वचः ॥ १९ ॥
 तदनन्तर रोती हुई जनककुमारीको सान्त्वनी देकर
 दुःखमग्न श्रीरामने अत्यन्त दुःखी हुए लक्ष्मणसे कहा— ॥
 आनयेद्भुदिपिण्याकं चौरमाहर जोत्तरम् ।
 जलक्रियार्थं सातस्य गमिष्यामि महात्मनः ॥ २० ॥
 'भाई ! तुम इन्द्रदीका पिम्पा हुआ फल और चार छव
 इतरीय ले आओ । मैं महात्मा पित्तको जन्मदान देनेके
 लिये चलूँगा ॥ २० ॥
 सीता पुरस्ताद् व्रजतु त्वमेनामभितो व्रज ।
 अहं पश्चाद् गमिष्यामि गतिहोषा सुदारुणा ॥ २१ ॥
 'सीता आगे-आगे चले । हुनके पीछे तू घबरी और
 तुम्हारे पीछे मैं चलूँगा । शोकके समयको यह फलफटी है
 जो अत्यन्त दारुण होती है' ॥ २१ ॥
 ततो नित्यानुगस्तेषां विदितात्मा महामतिः ।
 मृदुदान्तिश्च कान्तश्च रामे च दृढभक्तिमान् ॥ २२ ॥
 सुमन्वस्तीर्णपसुतैः सार्धमाश्वास्य राघवम् ।
 अवतारयदालम्ब्य नदीं मन्दाकिनीं शिवाम् ॥ २३ ॥
 तत्पश्चात् उनके कुलके परम्परागत वैष्णव, आत्मज्ञानी,
 परम बुद्धिमान्, कामल स्वभाववाले त्रिलोचन नेत्रवाले और
 श्रीरामके सुदृढ़ भक्त सुमन्व समस्त राजकुमारोंके साथ
 श्रीरामको धीरे-धीरे उन्हे हाथका सहारा दे कल्याणमयी
 मन्दाकिनीके तटपर ले गये ॥ २२-२३ ॥
 ते सुनीर्या ततः कृच्छ्रादुपगम्य यशस्विनः ।
 नदीं मन्दाकिनीं रप्या सदा पुष्पिनकाननम् ॥ २४ ॥
 शीघ्रस्त्रोतसपासाद्य तीर्थं शिवमकर्दमम् ।
 सिषिधुस्तुदकं राजे तत एनद् भवत्विति ॥ २५ ॥
 वे यशस्वी राजकुमार सदा पुष्पिष्ठ काननसे सुजाभित,
 शीघ्र गतिये प्रवाहित ज्ञानकाली और इनम घाटवाली घण्टीय
 नदी मन्दाकिनीके तटपर कठिनइसे पहुँचे तथा उसक
 पङ्कजहित, कल्याणप्रद, तीर्थभूत जलको लेकर उन्होंने
 राजाके लिये जल दिया । उस समय वे बाल-युवक ॥

यह जल आगकी मेवामें उपास्थित हो ॥ २४-२५ ॥
 प्रगृह्य तु महीपालो जलापूरितमञ्जलिम् ।
 दिशो याप्याभिममुखो रुदन् वचनमब्रवीत् ॥ २६ ॥
 एतन् ते राजशार्दूल विमलं तोयमक्षयम् ।
 पितृलोकगतस्याद्य महत्तमुपनिष्ठतु ॥ २७ ॥
 'पृथ्वीपालक श्रीरामने जलसे भरा हुई अञ्जलि ले दक्षिण
 दिशाकी ओर मुख करके रोते हुए इस प्रकार कहा— मैं
 पूज्य पिता राजाशरीरार्थ महाराज दशरथ आज मेरा दिया
 हुआ यह निर्मल जल पितृलोकमें गये हुए आपको
 अक्षयस्वरूप प्राप्त हो ॥ २६-२७ ॥
 ततो मन्दाकिनीतीरे प्रत्युत्तीर्य स राघवः ।
 पितृशुकार नेजस्वी निर्वापे भ्रातृभिः सह ॥ २८ ॥
 उसके बाद मन्दाकिनीके जलसे निकलकर किनारेपर
 आकर नेजस्वी श्रीरामनाथजीने अपन भाइयोंके साथ मिलकर
 पित्तके लिये पिण्डदान किया ॥ २८ ॥
 ऐडुटं यदगमिंशं पिण्याकं दधंसंस्तरे ।
 न्यस्य रामः सुदुःखार्तो रुदन् वचनमब्रवीत् ॥ २९ ॥
 उन्होंने इन्द्रदीक गृहमें ले मिलकर उसका पिण्ड तैयार
 किया और बिछे हुए कुशोंपर उसे रखकर अत्यन्त दुःखसे
 आर्त हो रोते हुए यह बात कही— ॥ २९ ॥
 इदं भुङ्क्ष्व महाराज प्रीतो यदशना वयम् ।
 यदत्रः पुरुषो भवति सदब्राह्मणस्य देवताः ॥ ३० ॥
 महाराज ! प्रसन्नतापूर्वक यह भोजन स्वीकार कीजिये,
 क्योंकि आजकल यहाँ भूमलोगोंका आहार है । भुण्ध्य स्वयं
 जो अन्न खाता है, वहाँ उसके देवता भी प्रसन्न करते हैं' ॥
 ततस्तेनैव मार्गेण प्रत्युत्तीर्य सरित्पटात् ।
 आरुह्य वरव्याघ्रो रम्यसानुं महीधरम् ॥ ३१ ॥
 ततः पर्णकुटीद्वारभासाद्य जगतीपतिः ।
 परिजग्राह पाणिभ्यामुभौ भरतलक्ष्मणौ ॥ ३२ ॥
 इसके बाद उसी मार्गसे मन्दाकिनीतटक ऊपर आकर
 पृथ्वीपालक पुरुषमिह श्रीराम सुन्दर शिखरवाले चित्रकूट
 पर्वतपर चढ़े और पर्णकुटीक द्वारपर आकर भरत और
 लक्ष्मण दोनों भाइयोंको शानाहाश्रम पकड़कर रोने लगे ।
 तेषां तु रुदतां शब्दान् प्रतिशब्दोऽभवद् गिरौ ।
 भ्रातृणां सह र्षदेहा सिंहानां नर्दतामिव ॥ ३३ ॥
 सात्त्वमाहत रोते हुए उन चारों भाइयोंके रुदन-शब्दसे
 उस पर्वतपर गरजन हुए सिंहाके दहाड़नके समान प्रतिध्वनि
 होने लगी ॥ ३३ ॥
 महाबलानां रुदतां कुर्वतामुदकं पितुः ।
 विज्ञाय तुमुलं शब्दं ब्रह्मा भरतसंनिकाः ॥ ३४ ॥
 अद्रुवश्चापि राघेण भरतः संगतो ध्रुवम् ।
 तेषामेव महाशब्दः शोचतां पितरं मृतम् ॥ ३५ ॥
 पित्तकी बन्धाञ्जलि देकर रोते हुए उन महाबली भाइयोंके

रोदनका तुमुल नाद सुनकर भरतके सैनिक किसी धयको आशङ्कामें डर गये फिर उसे पहचानकर वे एक-दूसरेसे बोले— 'निश्चय ही भरत श्रीगमचन्द्रजीस मिले हैं। अपने परलोकवासी पिताके लिये शाक करनेवाले उन चारों भाइयोंके रोनेका ही यह महान् शब्द है' ॥ ३४-३५ ॥

अथ वाहान् परित्यज्य तं सर्वेऽभिमुखाः स्वनम् ।

अप्येकमनसो जम्पुर्यथास्थानं प्रधाविताः ॥ ३६ ॥

यो कहकर उन सबने अपनी सवारियोंको तो वहीं छोड़ दिया और जिस स्थानसे वह आवाज आ रही थी, उसमें आगे बढ़ करके एकचित्त होकर वे दीड़ पड़े ॥ ३६ ॥

हयैरन्ये गजैरन्ये रथैरन्ये स्वलंकृतैः ।

सुकुमारास्तथैवान्ये पद्भिरेव नरा ययुः ॥ ३७ ॥

उनसे भिन्न जो सुकुमार मनुष्य थे, उनमेंसे कुछ लोग घोड़ोंसे, कुछ हाथियोंसे और कुछ सजे-मजाये रथोंसे ही आगे बढ़े। किन्तु ही मनुष्य पैदल ही चल दिये ॥ ३७ ॥

अचिरप्रोषितं रामं चिरविप्रोषितं यथा ।

द्रष्टुकामो जनः सर्वो जगाम सहस्राश्रमम् ॥ ३८ ॥

यद्यपि श्रीगमचन्द्रजीको परदेशमें आये अभी थोड़े ही दिन हुए थे, तथापि लोगोंको ऐसा जान पड़ता था कि मानों वे दीर्घकालसे परदेशमें रहे रहे हैं। अतः सब लोग उनके दर्शनकी इच्छामें सहस्र आश्रमकी ओर चल दिये ॥ ३८ ॥

भ्रातृणां त्वरितास्ते तु द्रष्टुकामाः समागमम् ।

ययुर्बहुविधैर्मनैः खुरनेमिसमाकुलैः ॥ ३९ ॥

वे लोग चारों भाइयोंका मिलन देखनेकी इच्छामें खुरों एवं पहियोंमें युक्त माना प्रकारकी सवारियोंद्वारा चड़ी उठावरणोंके साथ चले ॥ ३९ ॥

सा भूमिर्बहुभिर्यानि रथनेमिसमाहता ।

मुमोच तुमुलं शब्दं क्षीरिवाभ्रसमागमे ॥ ४० ॥

अनेक प्रकारकी सवारियों तथा रथकी पहियोंमें आक्रान्त हुई वह भूमि धयकर शब्द करने लगी, शब्द उसमें तरह-तरीन में धोंकी भटा धिर आनेपर आकाशमें गड़गड़ाहट होने लगती है ॥

तेन विभ्रासिता नागाः करेणुपरिवारिताः ।

आवासयन्तो गन्धेन जम्पुरन्यद्वनं ततः ॥ ४१ ॥

उस तुमुलनादमें भयभीत हुए हाथी सधनियोंमें घिरकर भदकी गन्धसे उस स्थानको मुक्तामिल कण्ठ हुए वहाँसे दूसरे क्षणमें भाग गये ॥ ४१ ॥

वराहवृकर्मिहाश्च महिषाः सुमरास्तथा ।

व्याघ्रगोकर्णगवया विज्रेसुः पृषतैः सह ॥ ४२ ॥

वराह, भेड़िये, सिंह, भैंसे, सुमर (मृगविशेष), व्याघ्र, गोकर्ण (मृगविशेष) और गवय (नीलगाय), चित्कबरे

इत्यार्षे श्रीमद्भगवतो वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्र्यधिकशततमः सर्गः ॥ १०३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १०३ ॥

हरिणोऽसहित संवत्स हो उठे ॥ ४२ ॥

रथाद्दहंसानन्यूहाः प्रकाः कारण्डवाः परे ।

तथा पुंस्कोकिलाः क्रौञ्चा विसंज्ञा येजिरे दिशः ॥ ४३ ॥

चक्रवाक, हंस, जलकुक्कुट, चक्र, कारण्डव, नरकोकिल और क्रौञ्च पक्षी होश हवाश खोंकर विभिन्न दिशाओंमें उड़ गये ॥ ४३ ॥

तेन शब्देन विप्रस्तेराकाशं पक्षिभिर्वृतम् ।

मनुष्यैरावृता भूमिरुभयं प्रबभौ तदा ॥ ४४ ॥

उस शब्दमें डरे हुए पक्षी आकाशमें छा गये और नीचेकी भूमि मनुष्योंसे भर गयी। इस प्रकार उन दोनोंकी समानरूपमें शाब्द होने लगे ॥ ४४ ॥

ततस्तं पुरुषव्याघ्रं यशस्विनमकलधवम् ।

आसीनं स्थण्डिले रामं ददर्श सहसा जनः ॥ ४५ ॥

लोगोंमें सहसा पहुँचकर देखा—यशस्वी, पाण्डित, पुरुषसिंह श्रीराम बेदीपर बैठे हैं ॥ ४५ ॥

विगर्हमाणः कैकेयीं मन्थरासहितामपि ।

अभिगम्य जनो रामं बाध्यपूर्णमुखोऽभवत् ॥ ४६ ॥

श्रीरामके पास जानेपर सबके मुख आँसुओंमें धोंग गये और सब लोग मन्थरामहित कैकेयीकी निन्दा करने लगे ॥ तान् नरान् बाध्यपूर्णंक्षान् समीक्ष्याथ सुदुःखितान् ।

पर्यवृजत धर्मज्ञः पितृवन्ध्यानुवक्ष सः ॥ ४७ ॥

उन सब लोगोंके नेत्र आँसुओंमें धरे हुए थे और वे सब-के-सब अत्यन्त दुःखी हो रहे थे। धर्मज्ञ श्रीरामने उन्हें देखकर पिता-भाताकी भाँति हृदयसे रुगाया ॥ ४७ ॥

स तत्र कांक्षन् परिचर्यजे नरान्

नराश्च केचित् सप्तम्यवादनम् ।

चकार सर्वान् सवयस्यवान्यवान्

यथाहंमासाश्च तदा नृपात्पञ्चः ॥ ४८ ॥

श्रीरामने कुछ मनुष्योंको वहाँ खानीमें लगाया तथा कुछ लोगोंने पहुँचकर वहाँ उनके चरणोंमें प्रणाम किया। राजकुमार श्रीरामने उस समय वहाँ आये हुए सभी मित्रों और बन्धु-बान्धवाँका यथायोग्य सम्मान किया ॥ ४८ ॥

ततः स तेषां रुदतां महात्मनां

भुवं च खं चानुविनादयन् स्वनः ।

गुहा गिरीणां च दिशश्च संततं

मृदङ्गघोषप्रतिधो विशुश्रुवे ॥ ४९ ॥

उस समय वहाँ रोते हुए उन महात्माओंका वह रोदन शब्द पृथ्वी, आकाश, पर्वतोंकी गुफा और सम्पूर्ण दिशाओंको निरन्तर प्रतिध्वनित करता हुआ मृदङ्गकी ध्वनिके समान सुनायी पड़ता था ॥ ४९ ॥

चतुरधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठजीके साथ आती हुई कामल्याका मन्दाकिनीके तटपर सुमित्रा आदिके समक्ष दुःखपूर्ण उद्धार, श्रीराम, लक्ष्मण और सीताके द्वारा माताओंकी चरणवन्दना तथा वसिष्ठजीको प्रणाम करके श्रीराम आदिका सबके साथ बैठना

वसिष्ठः पुरतः कृत्वा दारान् दशरथस्य च ।
अभिचक्राम तं देशं रामदर्शनतर्षितः ॥ १ ॥
महर्षि वसिष्ठजी महाराज दशरथको शनियोंको आगे
करके श्रीरामचन्द्रजीकी देखनकी अभिलाषा लिये उस
स्थागकी ओर चले, जहाँ उनका आश्रम था ॥ १ ॥
राजपत्न्यश्च गच्छन्त्यो मन्दं मन्दाकिनीं प्रति ।
ददुःखस्तत्र सन् तीर्थं रायलक्ष्मणसेवितम् ॥ २ ॥
राजराणियों मन्द गतिसे चलती हुई जब मन्दाकिनीके
तटपर पहुँचीं, तब वहाँपर वहाँ श्रीराम और लक्ष्मणके स्नान
करकेका घाट देखा ॥ २ ॥
कौसल्या चाप्यपूरेण मुखेन परिशुष्यता ।
सुमित्रामग्रवीद् दोनों पाश्चात्या राजयोगिनः ॥ ३ ॥
इस समय कौसल्याके मुखपर अश्रुओंको धारा सब
चली उनोंने मुखे पर उभार मूलास दान सुमित्रा तथा अन्य
राजराणियोंमें कहा— ॥ ३ ॥
इदं तेषामनाथानां क्लिष्टमक्लिष्टकर्मणाम् ।
खने प्राकलनं तीर्थं ये ते निर्विघ्नोक्तताः ॥ ४ ॥
'जो राज्यमें निष्ठाके दिव्य गये हैं तथा जो दुस्संगके
हस्त में देनेवाले कार्य ही करते हैं, उन में अनाथ बच्चोंका
यह बनमें दुर्गम तीर्थ है, जिसे इन्होंने पहल-पहल स्वाकार
किया है ॥ ४ ॥
इतः सुमित्रे पुत्रमे सदा जलमतन्द्रितः ।
स्वयं हरति स्मिप्त्रिमम पुत्रस्य कारणान् ॥ ५ ॥
'सुमित्रे ! आलम्भ्यरहित तुम्हारे पुत्र लक्ष्मण स्वयं आकर
महा गङ्गासे मेरे पुत्रके लिये जल ले जाया करते हैं ॥ ५ ॥
जघन्यपपि ते पुत्रः कृतवान् न तु गर्हितः ।
भ्रातुर्यदर्थगहितं सर्वं नदु गर्हितं गुणं ॥ ६ ॥
'यद्यपि तुम्हारे पुत्रने छोट न छोटा सेवा कार्य या
स्वाकार किया है, तथापि इसमें वे निन्दित नहीं हुए हैं, क्योंकि
सद्गुणोंसे युक्त ज्येष्ठ भाईके प्रयाजनसे रक्षित जो कार्य होत है,
वे ही सब निन्दित माने गये हैं ॥ ६ ॥
अद्याप्यपि ते पुत्रः क्लेशानामनथांघितः ।
नीचानर्थमपाचारे सज्जं कर्म प्रमुञ्चतु ॥ ७ ॥
'तुम्हारा यह पुत्र भी उन क्लेशोंके योग्य नहीं है, जिन्हें
आजकल वह सहन करना है। अब श्रीराम लौट चले और
निम्न श्रेणीके पुत्रोंके योग्य जो दुःखजन्म कार्य समझें समझ
भरतुत है, उसे वह छोड़ दें—जो कर्मोंके आश्रम में उसके
लिये न रहे कार्य ॥ ७ ॥

दक्षिणाग्रेषु दर्भेषु सा दर्दश महीतले ।
पितुरिदुर्दिपिण्याकं न्यस्तपापतलोचना ॥ ८ ॥
आगे जाकर विशाललोचना कौसल्याने देखा कि
श्रीरामने पृथ्वीपर बिछा हुए दक्षिणाग्र कुशोंके ऊपर अपने
पिताके लिये पिस हुए इङ्गुलीके फलका पिण्ड रख छोड़ा है ।
ते भूमी पितुरार्तेन न्यस्तं रामेण वीक्ष्य सा ।
उवाच देवी कौमल्या सर्वा दशरथस्त्रियः ॥ ९ ॥
दुःखों रामके द्वारा पिताके लिये भूमिपर रखे हुए
उस पिण्डको देखकर देवी कौमल्याने दशरथकी सब
राणियोंमें कहा— ॥ ९ ॥
इदमिदं कृत्वा कुनायस्य राघवस्य महात्मनः ।
राघवेण पितुर्दत्तं पश्यतेतद् यथाविधि ॥ १० ॥
'बहने ! देखा, श्रीरामने इक्ष्वाकुकुलके स्वामी
मधुकुलभूषण महाराज पिताके लिये यह विधिपूर्वक पिण्डदान
किया है ॥ १० ॥
तस्य देवसमानस्य पार्थिवस्य महात्मनः ।
नेनटीपयिकं मन्ये भुक्तभोगस्य भोजनम् ॥ ११ ॥
'देवताके समान राजसी वे महामना भूपाल नाना प्रकारके
उत्तम भोग भोग नुस्ते हैं। उनके लिये यह भोजन भी उचित
नहीं माननी ॥ ११ ॥
चतुर्न्तां घर्षी भुक्त्वा महेन्द्रसदृशो भुवि ।
कथमिदुर्दिपिण्याकं स भुङ्क्तं क्षुधाधिपः ॥ १२ ॥
'जो चारों समुद्रान्तर्गत पृथ्वीके राज्य भोगकर भूतलपर
देवराज इन्द्रके समान प्रतापी थे, वे भूपाल महाराज दशरथ
पिस हुए इङ्गुली-फलका पिण्ड कैसे खा रहे होंगे ? ॥ १२ ॥
अनो दुःखतरं लोकं न किञ्चिन् प्रतिभाति मे ।
यत्र राम पितुर्दद्यादिदुर्दीक्षादपृथ्विमान् ॥ १३ ॥
'संसारमें इसमें बढ़कर महान् दुःख मुझे और कोई
नहीं प्रतीत होता है, जिसमें अधीन होकर श्रीराम समुद्र-
अस्त्रों होते हुए भी अपने पिताको इङ्गुलीके पिस हुए
फलका पिण्ड दें ॥ १३ ॥
रामेणोदुर्दिपिण्याकं पितुर्दत्तं समीक्ष्य मे ।
कथं दुःखेन हृदयं न स्फोटति सहस्रधा ॥ १४ ॥
श्रीरामने अपने पिताका इङ्गुलीका पिण्याक (पिसा हुआ
फल) प्रदान किया है—यह देखकर दुःखसे मेरे हृदयके
महलों टुकड़े क्यों नहीं हो जाते हैं ? ॥ १४ ॥
श्रुतिस्तु खल्वियं सत्या लौकिकी प्रतिभाति मे ।
यदज्ञः पुरुषो भवति तदत्रास्तस्य देवताः ॥ १५ ॥

‘यह लौकिकी श्रुति (लोकविरुद्धात कहावत) निश्चय ही मुझे सत्य प्रतीत हो रही है कि मनुष्य स्वयं जो अन्न खाता है उसके देवता भी उसी अन्नको ग्रहण करते हैं । १५ ।
एवमाती सपत्न्यस्ता जगमुराश्वास्य तां तदा ।

ददुःखश्चाश्रमे रामं स्वर्गव्युतमिवापरम् ॥ १६ ॥

इस प्रकार शोकसे आर्त हुई कौसल्याको उस समय उनको सोते समझा बुझाकर उन्हें जग ले गयीं । आश्रमपर पहुँचकर उन सबने श्रीरामको देखा जो स्वर्गसे गिर हुए देवताके समान जान पड़ते थे ॥ १६ ॥

ते भोगेः सम्परित्यक्तं रामं सम्प्रेक्ष्य घातरः ।

आर्ता मुमुक्षुरश्रूणि सस्वरं शोककर्शिताः ॥ १७ ॥

भोगोंका परित्याग करके तपस्वी जीवन व्यतीत करनेवाले श्रीरामको देखकर उनकी माताएँ शोकसे कातर हो गयीं और आर्तभावसे फूट-फूटकर रोनी हुई आँसु बहाने लगीं । १७ ।

तासां रामः समुत्थाय जग्राह चरणाम्बुजान् ।

मातृणां मनुजव्याघ्रः सर्वासां सत्यसंगरः ॥ १८ ॥

सत्यप्रतिज्ञ नरश्रेष्ठ श्रीराम माताओंको देखते ही उठकर खड़े हो गये और बारी-बारीसे उन सबके चरणारविन्दोंका स्पर्श किया ॥ १८ ॥

ताः पाणिभिः सुखस्पर्शैर्मृदङ्गलितलः शुभैः ।

प्रममार्जु रजः पृष्ठाद् रामस्यायतलोचनाः ॥ १९ ॥

विशाल नेत्रोंवाली माताएँ स्नेहवश जिनको अंगुक्तियाँ कोमल और स्पर्श सुखद थी, उन सुन्दर हाथोंमें श्रीरामकी पीठसे धूल पीलने लगीं ॥ १९ ॥

सौमित्रिरपि ताः सर्वा मातुः सम्प्रेक्ष्य दुःखितः ।

अध्यवादयदासक्तं शनैः रामादनन्तरम् ॥ २० ॥

श्रीरामके बाद लक्ष्मण भी उन सभी दुःखिया माताओंको देखकर दुःखी हो गये और उन्होंने स्नेहपूर्वक घीरे-घीरे उनका चरणोंमें प्रणाम किया ॥ २० ॥

यथा रामे तथा तस्मिन् सर्वा ववृत्तिरे स्त्रियः ।

वृत्तिं दशरथाज्जाते लक्ष्मणे शुभलक्षणे ॥ २१ ॥

उन सब माताओंने श्रीरामके साथ जैसा बर्ताव किया था वैसे ही उत्तम लक्षणोंसे युक्त दशरथनन्दन लक्ष्मणके साथ भी किया ॥ २१ ॥

सीतापि चरणांस्तासामुपसंगृह्य दुःखिता ।

शश्रूणामश्रुपूर्णाक्षी सम्बभूवाग्रतः स्थिता ॥ २२ ॥

तदनन्तर आँसुभर नेत्रोंवाली दुःखिनी सीता भी सभी सासुओंके चरणोंमें प्रणाम करके उनके आगे खड़ी हो गयी ।

तां परिब्रूज्य दुःखार्ता माता दुहितरं यथा ।

वनवासकृतां दीनां कौसल्या वाक्यमब्रवीत् ॥ २३ ॥

तब दुःखसे पीड़ित हुई कौसल्याने जैसे माता अपनी बेटाको हृदयसे लगा लेती है, उसी प्रकार वनवासके कारण दीन (दुर्बल) हुई सीताको छातीमें बिपका लिया और इस

प्रकार कहा — ॥ २३ ॥

वैदेहराजन्यसुता स्तुषा दशरथस्य च ।

रामपत्नी कथं दुःखं सम्प्राप्ता विजने वने ॥ २४ ॥

‘वैदेहराज जनककी पुत्री, राजा दशरथकी पुत्रवधू तथा श्रीरामकी पत्नी इस निर्जन वनमें क्यों दुःख पाग रही है ?’

पद्ममातपसंतप्तं परिक्लिष्टमिवोत्पलम् ।

काञ्चनं रजसा ध्वस्तं क्षिप्तं चन्द्रमिवाम्बुदेः ॥ २५ ॥

‘बेटी ! तुम्हारा मुख धूपसे तपे हुए कमल, कुचले हुए उत्पल घूलसे ध्वस्त हुए मूर्च्छा और बादलोंमें डूबे हुए चन्द्रमाकी भाँति श्रीहीन हो रहा है ॥ २५ ॥

मुखं ते प्रेक्ष्य मां शोको दहत्यग्निरिवाश्रयम् ।

भृशं घनसि वैदेहि व्यमनारणिसम्बधः ॥ २६ ॥

विदहन्निदि ! जैसे आग अपने दहनस्थान काष्ठको दग्ध कर देती है, उसी प्रकार तुम्हारे इस मुखको देखकर मेरे मनमें संकटरूपी अग्निसे उत्पन्न हुआ यह शोकानल मुझे जलाये देता है ॥ २६ ॥

ब्रुवन्त्यामेवमातीयां जनन्यां भरताग्रजः ।

पादावासाद्य जग्राह वसिष्ठस्य च राघवः ॥ २७ ॥

शोकाकुल हुई माता जब इस प्रकार विलाप कर रही थी, तभी समय भरतके बड़े भाई श्रीरामन वसिष्ठजीके चरणोंमें पड़कर उन्हें दोनों हाथोंसे पकड़ लिया ॥ २७ ॥

पुरोहितस्याप्रिसमस्य तस्य च

बृहस्पतेरिन्द्र इवापराधिपः ।

प्रगृह्य पादौ सुसमृद्धतेजसः

सहैव तेनोपविवेश राघवः ॥ २८ ॥

जैम देवराज इन्द्र बृहस्पतिके चरणोंका स्पर्श करने है, उसी प्रकार अग्रेके समान बड़े हुए तेजवाले पुरोहित वसिष्ठजीके दोनों पैर पकड़कर श्रीरामचन्द्रजी उनके साथ ही पृथ्वीपर बैठ गये ॥ २८ ॥

ततो जघन्य सहितैः स्वमन्त्रिभिः

पुरप्रधानैश्च तथैव सैनिकैः ।

जनेन धर्मज्ञतमेन धर्मवा-

नुपोपविष्टो भरतस्तदाग्रजम् ॥ २९ ॥

तदनन्तर धर्मात्मा भरत एक साथ आये हुए अपने सभी मन्त्रियों प्रधान-प्रधान पुरोहितों सैनिकों तथा परम धर्मज्ञ पुरुषोंके साथ अपने बड़े भाईके पास उनके पीछे जा बैठे ।

उपोपविष्टस्तु तदातिवीर्यवां-

स्तपस्विवेषेण समीक्ष्य राघवम् ।

श्रिया ज्वलन्तं भरतः कृताञ्जलि-

र्यथा महेन्द्रः अयतः प्रजापतिम् ॥ ३० ॥

उस समय श्रीरामके आसनके समीप बैठे हुए अत्यन्त पराक्रमी भरतने दिव्य दीप्तिसे प्रकाशित होनेवाले श्रीरघुनाथजीको तपस्वीके चेहरेमें देखकर उनके प्रति उम्मी

प्रकार हाथ जोड़ लिये जैसे देवराज इन्द्र प्रजापति ब्रह्मा के
नमस्कार विनीतभावसे हाथ जोड़ते हैं ॥ ३० ॥

किमेव वाक्यं भरतोऽद्य राघवं

प्रणम्य सक्त्य च साधु वक्ष्यति ।

इतीव तत्पार्थजनस्य तत्त्वतो

वभूव कानूहलमुत्तमं तदा ॥ ३१ ॥

उस समय वहाँ बैठे हुए ग्रंथ पुरुषार्थ हृदयमें यथाार्थ
रूपमें यह उत्तम कानूहल या जल उठा कि देख्ये वे भरतजी
श्रीरामचन्द्रजीको स्तुतिपूर्वक प्रणाम करके आगे उत्तम

इत्यादि श्रीमद्रामायणं काव्यात्मिकां आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चाधिकशततमः सर्गः ॥ १०४ ॥

इस प्रकार श्रवात्मिका निर्मित आरंभमाद्य आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक मी सागनों सर्ग पूरा हुआ ॥ १०४ ॥

पञ्चाधिकशततमः सर्गः

भरतका श्रीरामको अयोध्यामें चलकर राज्य ग्रहण करनेके लिये कहना, श्रीरामका जीवनकी
अनित्यता बताने हुए पिताकी मृत्युके लिये शोक न करनेका भरतको उपदेश देना और पिताकी

आज्ञाका पालन करनेके लिये ही राज्य ग्रहण न करके वनमें रहनेका ही दृढ़ निश्चय बताना

ततः पुरुषसिंहानां धृतानी तैः सुहृद्गणैः ।

शोचतामेव रजनीं दुःखेन व्यत्यर्तत ॥ १ ॥

रजन्यां सुप्रभातायां भ्रातरस्ते सुहृदाः ।

मन्दाकिन्यां हुतं जघ्म कृत्वा रामपुपागमन् ॥ २ ॥

अपने सुहृदोंसे घिरकर बैठे हुए पुरुषार्थ श्रीराम
आदि भाइयोंको वह रात्रि पिताका मृत्युके दुःखमें शोक
करन हुए ही व्यर्तन हुई मन्दाकिन्यां जलमें स्नान आदि
नौनो भाई सुहृदोंके साथ ही मन्दाकिन्यां तटपर गये
और स्नान, हाँम एवं जघ आदि करके पुनः श्रीरामके
पास लौट आये ॥ १-२ ॥

तूष्णीं ते सम्पुपामोना न कश्चिन् किञ्चिदब्रवीत् ।

भरतस्तु सुहृन्मध्ये रामं वचनमब्रवीत् ॥ ३ ॥

वहाँ आकर सभी चुपचाप बैठ गये । कोई कुछ नहीं
बोला रहा था । तब मन्दाकिन्यां बीचमें बैठे हुए भरतने श्रीरामसे
इस प्रकार कहा— ॥ ३ ॥

सान्त्वित्वा मामिका माता त्वं राज्यमिदं धम ।

तद् ददासि तवेवाहं भुङ्क्ष्व राज्यमकण्टकम् ॥ ४ ॥

भैया । पिताजीने वरदान देकर मेरी माताको संतुष्ट कर
दिया और माताने यह राज्य मुझे दे दिया । अब मैं अपनी
आगसे यह अकण्टक राज्य आपको ही संभाल समर्पित करता
हूँ । आप इसका पालन एवं उपभोग कीजिये ॥ ४ ॥

महतेवाम्बुवर्गेन भिन्नः संतुर्जलागमे ।

दुराचरं त्वदन्येन राज्यखण्डमिदं महत् ॥ ५ ॥

'वर्षाकालमें अलक महान् वेगसे टूट हुए संतुर्को धीरे
इस विशाल राज्यखण्डको संभालना आपको सिवा दूसरेक
लिये अन्यन्त कठिन है ॥ ५ ॥

गतिसे तबके समझ क्या कहने है ? ॥ ३१ ॥

स राघवः सत्यधुनिश्च लक्ष्मणो

महानुभावो भक्तश्च धार्मिकः ।

वृत्ताः सुहृदिश्च विरजिरेऽध्वरे

यथा सदस्यैः सहितारव्योऽग्रयः ॥ ३२ ॥

वे सत्यप्रतिज्ञा श्रंगार, महानुभाव लक्ष्मण तथा धर्मात्मा
भक्त—वे तीनों भाई अपने सुहृदोंसे घिरकर यज्ञशालामें
सदस्योंद्वारा धीरे हुए त्रिविध आग्रहोंके समान शोभा
पा रहे थे ॥ ३२ ॥

गति स्वर इवाध्वस्य साक्ष्यस्यैव घतन्निष्ठाः ।

अनुगन्तुं न शक्तिर्मे गति तव महीपते ॥ ६ ॥

'पृथ्वीनाथ । जैसे गदग घोड़ेकी और अन्य साधारण
पक्षी गरुडकी चाल नहीं चल सकते, उसी प्रकार मुझमें
आपकी गतिकत—आपकी पालन-पद्धतिक अनुसरण
करनेकी शक्ति नहीं है ॥ ६ ॥

सुजीवं नित्यशस्तस्य यः परस्म्यजीव्यते ।

राम तेन तु दुर्जीवं यः परानुपजीवति ॥ ७ ॥

'श्रीराम । जिसके पास आकर दूसरे लोग जीवन-निर्वाह
करते हैं, उमीका जीवन उनमें है और जो दूसरोंका आश्रय
लेकर जीवन-निर्वाह करता है, उसका जीवन दुःखमय है
(अतः आपके लिये राज्य करना ही उचित है) ॥ ७ ॥

यथा तु रोपितो वृक्षः पुष्पेण विवर्धितः ।

ह्रस्वेन दुरारोहो रुढस्त्वथो महादुमः ॥ ८ ॥

स यदा पुष्पितो भूत्वा फलानि न विदर्शयेत् ।

स तो नानुभवत् प्रीतिं यस्य हेतोः प्ररोपितः ॥ ९ ॥

एषोपमा महाबाहो तदर्थं चेत्तुमर्हसि ।

यत्र स्वमस्यान् वृक्षो भूतां भूत्यान् न शशि हि ॥ १० ॥

जैसे फलकी इच्छा रखनेवाले किसी पुष्पमें एक वृक्ष
लगाया उसे पाल-पोसकर बड़ा किया, फिर उसके तने मोटे
हो गये और वह ऐसा विशाल वृक्ष हो गया कि किसी नाटे
कटके पुरुषके लिये उसपर चढ़ना असम्भव कठिन था । उस
वृक्षमें जब फूल लग जायें, उसके बाद भी यदि वह फल
न दिखा सके तो जिसके लिये उसे वृक्षको लगाया गया था,
वह उद्वेगपूर्वक न हो सका । ऐसी स्थितिमें उसे लगानेवाला
पुरुष उस प्रसन्नताका अनुभव नहीं करता, जो फलकी प्राप्ति

होनेसे सम्भावित थी। महाब्रह्म ! वह एक उपमा है, इसका अर्थ आप स्वयं समझ लें (अर्थात् पिताजीने आप-जैसे सर्वसद्गुणसम्पन्न पुत्रको लेकरक्षाकं त्रितय उत्पन्न किया था। यदि आपने राज्यपालनका धार अपने हाथमें नहीं लिया तो उनके वह उद्देश्य व्यर्थ हो जायगा)। इस राज्यपालनके अवसरपर आप श्रेष्ठ एवं धरण-पोषणमें समर्थ होकर भी यदि हम भृत्योंका शासन नहीं करेंगे तो पूर्वोक्त उपमा ही आपको लिये लागू होगी ॥ ८—१० ॥

श्रेणयस्त्वा महाराज पश्यन्स्वभ्याश्च सर्वशः ।

प्रतपन्तमिवादित्यं राज्यस्थितमरिदमम् ॥ ११ ॥

‘महाराज ! विभिन्न आतियोंके सह और प्रधान-प्रधान पुरुष आप शत्रुदमन नेशकों सब और नपत हुए सूर्यको भाँति राज्यासिंहासनपर विराजमान देखें ॥ ११ ॥

तथानुयाने काकुत्स्थ मत्ता नन्दन्तु कुञ्जराः ।

अन्तःपुरगता नार्यो नन्दन्तु सुसमाहिताः ॥ १२ ॥

‘ककुत्स्थकुलभूषण ! इस प्रकार आपके क्षयोध्याको लौटते समय भतवाल हाथों गर्जना कर और अन्तःपुरकी स्त्रियाँ एकाग्रचित्त होकर प्रसन्नतापूर्वक आरक्षक अभिनन्दन करें ॥ १२ ॥

तस्य साध्वनुमन्यन्त नागरा विविधा जनाः ।

भरतस्य बन्धः श्रुत्वा रामं प्रत्यनुयाचतः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीरामसे राज्य-प्राप्तिके त्रितय प्रार्थना करने हुए भरतजीकी बात सुनकर नगरके भिन्न-भिन्न मनुष्याने उसका भलीभाँति अनुमोदन किया ॥ १३ ॥

तमेव दुःखिते प्रेक्ष्य विलपन्तं यशस्विनम् ।

रामः कृतात्मा भरतं समाश्वासयदात्मवान् ॥ १४ ॥

तब शिक्षित कुण्डवाले अत्यन्त धीर भगवान् श्रीरामने यशस्वी भरतको इस तरह दुःखी हो विनम्र करते देख उनके सान्त्वना देते हुए कहा— ॥ १४ ॥

नात्मनः कामकारो हि पुण्योऽयमनीश्वरः ।

इतश्चेतरतश्चैने कृतान्तः परिकर्षति ॥ १५ ॥

‘भाई ! यह जीव ईश्वरके समान स्वतन्त्र नहीं है, अतः कोई यहाँ अपनी इच्छाके अनुसार कुछ नहीं कर सकता। काल इस पुरुषको इधर-उधर खींचता रहता है ॥ १५ ॥

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ।

संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम् ॥ १६ ॥

‘समस्त संग्रहोंका अन्त विनाश है। लौकिक उन्नतियोंका अन्त पतन है। संयोगका अन्त वियोग है और जीवनका अन्त मरण है ॥ १६ ॥

यथा फलानां पक्वानां नान्यत्र पतनाद् भयम् ।

एवं नरस्य जातस्य नान्यत्र धरणाद् भयम् ॥ १७ ॥

‘जैसे पके हुए फलोंको पतनके भया और किसीसे भय नहीं है, उसी प्रकार उत्पन्न हुए मनुष्योंको मृत्युके भया

और किसीसे भय नहीं है ॥ १७ ॥

यथाऽऽगारे दृढस्थूणं जीर्णं भूत्वोपसीदति ।

तथावसीदन्ति नरा जरामृत्युवशंगताः ॥ १८ ॥

‘जैसे सुदृढ़ सम्पत्त्यालभ्य मकान भी पुराना होनेपर गिर जाता है, उसी प्रकार मनुष्य जरा और मृत्युके वशमें पड़कर नष्ट हो जाते हैं ॥ १८ ॥

अत्येति रजनी या तु सा न प्रतिनिवर्तते ।

यात्येव यमुना पूर्णं समुद्रमुदकार्णधम् ॥ १९ ॥

‘जो रात बीत जाती है, वह लौटकर फिर नहीं आती है। जैसे यमुना जलसे भरा हुए समुद्रकी ओर जाती ही है वधरसे लौटती नहीं ॥ १९ ॥

अहोरात्राणि गच्छन्ति सर्वेषां प्राणिनामिह ।

आयुषि क्षपयन्त्याशु ग्रीष्मे जलमिवांशवः ॥ २० ॥

‘दिन-रात लगातार बीत रहे हैं और इस संसारमें सभी प्राणियोंकी आयुका तीव्र गतिसे नाश कर रहे हैं। ठीक वैश ही जैसे सूर्यका किरणे ग्रोम्य ऋतुमें जलको शीघ्रतापूर्वक सोखती रहती हैं ॥ २० ॥

आत्मानमनुशोच स्वं किमन्यमनुशोचसि ।

आयुस्तु हीयते यस्य स्थितस्यास्य गतस्य च ॥ २१ ॥

‘तुम अपने ही लिये विन्ता करो, दूसरेके लिये क्यों बार बार शोक करते हो। कोई इस लोकमें स्थित हो या अन्यत्र गया हो जिस किसीकी भी आयु तो निरन्तर क्षीण हो रही है ॥ २१ ॥

सहैव मृत्युर्जति सह मृत्युर्निपीदति ।

गत्वा सुदीर्घमध्वानं सह मृत्युर्निवर्तते ॥ २२ ॥

‘मृत्यु साथ ही चलती है, साथ ही बँटती है और बहुत बड़ मार्गकी यात्रामें भी साथ ही जाकर वह मनुष्यके साथ ही लौटती है ॥ २२ ॥

गात्रेषु बलघः प्राप्ताः श्वेताश्चैव शिरोरुहाः ।

जरया पुरुषो जीर्णः किं हि कृत्वा प्रभावयेत् ॥ २३ ॥

‘शरीरमें झुर्रियाँ पड़ गयीं सिरके बाल सफेद हो गये। फिर जरावस्थामें जीर्ण हुआ मनुष्य कीन सा उपाय करके मृत्युसे बचनेके लिये अपना प्रभाव प्रकट कर सकता है ? ॥ २३ ॥

नन्दन्त्युदित आदित्ये नन्दन्त्यस्तमितेऽहनि ।

आत्मनो नावबुध्यन्ते मनुष्या जीवितक्षयम् ॥ २४ ॥

‘लग्न सूर्योदय होनेपर प्रसन्न होने हैं सूर्यास्त होनेपर भी खुश होते हैं, किंतु यह नहीं जानते कि प्रतिदिन अपने जीवनका नाश हो रहा है ॥ २४ ॥

हव्यन्त्युत्तुमुखं दृष्ट्वा नवं नवमिवागतम् ।

ऋतूनां परिवर्तनं प्राणिनां प्राणसंक्षयः ॥ २५ ॥

‘किसी ऋतुका प्रारम्भ देखकर माने वह नयी-नयी आयी हो (पहले कभी आयी ही न हो) ऐसा समझकर लोग हर्षसे खिल उठते हैं, परंतु यह नहीं जानते कि इन ऋतुओंके

परिवर्तनसे प्राणियोंके प्रणोंकर (आयुकर) क्रमशः क्षय हो रहा है ॥ २५ ॥

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयानां महार्णवं ।

समेत्य तु व्यपेयानां कालभामाद्य कंचन ॥ २६ ॥

एवं भार्याश्च पुत्राश्च ज्ञातयश्च वसूनि च ।

समेत्य व्यवधावन्ति ध्रुवो ह्येषां विनाभवः ॥ २७ ॥

जैसे महासागरमें बहत हुए दो काष्ठ कभी एक-दूसरोंमें मिल जाते हैं और कुछ कालके बाद अलग भी हो जाते हैं, उसी प्रकार जो पुत्र कुटुम्ब और धन भी मिलकर गिड़गुड़ जाते हैं, क्योंकि इनका वियोग अवश्यम्भावी है ॥ २६-२७ ॥

नात्र कश्चिद् यथाभावं प्राणी समतिवर्तते ।

मेन तस्मिन् न सामर्थ्ये प्रेतस्यास्त्यनुशोधते ॥ २८ ॥

‘इस संसारमें कोई भी प्राणी यथाममय प्राप्त होनेवाले जन्म मरणका उल्लङ्घन नहीं कर सकता। इसलिये जो किसी में हुए व्यक्तिके लिये कारवार शोक करता है, उसमें भी यह सामर्थ्य नहीं है कि वह अपनी ही मृत्युको शून्य करे ॥ २८ ॥

यथा हि सार्धं गच्छन्तं दृष्ट्वात् कश्चिन् पथि स्थितः ।

अहमप्यागमिष्यामि पृष्ठतो भवतामिति ॥ २९ ॥

एवं पूर्वगतो मार्गः पतुपितामहेर्धुषः ।

तथाप्यत्रः कथं शोचेद् यय नास्ति व्यनिक्रमः ॥ ३० ॥

जैसे आगे जाते हुए यात्रियों अथवा व्यापारियोंके समुदायसे गलतमें खड़ा हुआ पथिक को कहें कि मैं भी आप लोगोंके पीछे-पीछे आऊंगा और तदनुसार वह कुछ दिनक पीछे पीछे जाय, उसी प्रकार हमारे पुत्र पिता पितामह आदि जिस मार्गसे गये हैं, जिसपर जाना अनिवार्य है तथा जिसमें बचनेका कोई रास्ता नहीं है, उसी मार्गपर स्थित हुआ धनुष्य किसी औरके लिये शोक कैसे करे ? ॥ २९-३० ॥

ययसः पतमानस्य स्त्रोतसो वानिधर्तिनः ।

आत्मा सुखं नियोक्तव्यः सुखभाजः प्रजाः स्मृताः ॥ ३१ ॥

जैसे नदिवाला प्रवाह पीछे नहीं लौटता, उसी प्रकार दिन-रात बहती हुई अवस्था फिर नही लौटती है। इसका क्रमशः नाश हो रहा है यह सोचकर अन्तर्माके कलङ्कणके माधनभूत धर्ममें लगावें; क्योंकि सभी लोग अपना कल्याण चाहते हैं ॥

धर्मतया सुशुभैः कृत्स्नैः क्रतुभिश्चापदक्षिणैः ।

धृतपापो गतः स्वर्गं पिता नः पृथिवीपतिः ॥ ३२ ॥

‘तात ! हमारे पिता धर्मान्वा थे। उन्होंने पर्याप्त दक्षिणार्पण देकर प्रायः सभी परम शुभकारक यज्ञोक्त अनुष्ठान किया था। उनके सारे पाप धुल गये हैं। अतः वे महाराज स्वर्गलोकमें गये हैं ॥ ३२ ॥

भृत्यानां भरणान् सख्यक् प्रजानां परिपालनम् ।

अर्थादानाच्च धर्म्येण पिता नस्त्रिदिवं गतः ॥ ३३ ॥

‘वे धर्म्य योग्यण्डे योग्य धर्मिकोंका भरण करने थे प्रजाजनोका धर्मोपनि पालन करने थे और प्रजाजनोमें

धर्मके अनुसार कर आदिके रूपमें धन लेते थे—इन सब कारणोंमें हमारे पिता उत्तम स्वर्गलोकमें पधारे हैं ॥ ३३ ॥

कर्मभिस्तु शुभैरिष्टैः क्रतुभिश्चापदक्षिणैः ।

स्वर्गं दशरथः प्राप्तः पिता नः पृथिवीपतिः ॥ ३४ ॥

सर्वप्रिय शुभ कर्मों तथा प्रचुर दक्षिणवाले यज्ञोंके अनुष्ठानोंमें हमारे पिता पृथ्वीपति महाराज दशरथ स्वर्गलोकमें गये हैं ॥ ३४ ॥

इष्टा बहुविधैर्यज्ञभोगांश्चावाप्य पुष्कलान् ।

उत्तमे चायुरासाद्य स्वर्गतः पृथिवीपतिः ॥ ३५ ॥

‘उन्होंने नाना प्रकारके यज्ञोद्देश यज्ञपुरुषकी आराधना की, प्रचुर भाग प्राप्त किया और उनमें आयु पायी थी, इसके बाद वे महाराज यहाँमें स्वर्गलोकको पधारे हैं ॥ ३५ ॥

आधुस्तममासाद्य भोगानपि च सद्यवः ।

न स शोच्यः पिता तात स्वर्गतः सत्कृतः सताम् ॥ ३६ ॥

‘तात ! अन्य राजाओंकी अपेक्षा उत्तम आयु और श्रेष्ठ भागोंको पाकर हमारे पिता मरते सत्पुरुषोंके द्वारा सम्मानित हुए हैं, अतः स्वर्गवासियों को ज्ञानपर भी वे शोक करनेयोग्य नहीं हैं ॥ ३६ ॥

स जीर्णमानुषं देहं परित्यज्य पिता हि नः ।

दैवीभुद्धिमनुप्राप्तो ब्रह्मलोकविहारिणीम् ॥ ३७ ॥

‘हमारे पिताने जराजर्ण मानव-शरीरको परित्याग करके दैवी सम्पत्ति प्राप्त की है, जो ब्रह्मलोकमें विहार करानेवाली है ॥ ३७ ॥

तं तु नैवंविधः कश्चित् प्रजः शोचिषुमर्हसि ।

त्वद्विधो मद्विधश्चापि श्रुतवान् बुद्धिमतः ॥ ३८ ॥

‘कोई भी ऐसा विद्वान्, जो तुम्हारे और मेरे समान शास्त्र-ज्ञान सम्पन्न एवं परम बुद्धिमान् है, पिताजीके लिये शोक नहीं कर सकता ॥ ३८ ॥

एते बहुविधाः शोका विलापस्तिते तदा ।

वर्जनीया हि धीरेण सर्वावस्थासु धीमता ॥ ३९ ॥

‘धीर एवं प्रज्ञावान् पुरुषको सभी अवस्थाओंमें वे सभी प्रकारके शोक, विलाप तथा रोदन त्याग देने चाहिये ॥ ३९ ॥

स स्वस्थो भव या शोको यात्वा जायस तां पुरीम् ।

तथा पित्रा नियुक्तोऽसि वशिना घटतां वर ॥ ४० ॥

‘इसलिये तुम स्वस्थ हो जाओ, तुम्हारे मनमें शोक नहीं होना चाहिये। वक्ताओंमें श्रेष्ठ भरत ! तुम यहाँसे जाकर अयोध्यापुरीमें निवास करो; क्योंकि मनको वशमें रखनेवाले पूज्य पिताजीने तुम्हारे लिये यही आदेश दिया है ॥ ४० ॥

यत्राहपि तेनैव नियुक्तः पुण्यकर्मणा ।

तत्रैवाहं करिष्यामि पितुरार्यस्य शासनम् ॥ ४१ ॥

‘उन पुण्यकर्मा महाराजने मुझे यों जहाँ रहनको आज्ञा दी है, वहाँ रहकर मैं उन पूज्य पित्तके आदेशका पालन करूँगा ॥ ४१ ॥

न यथा शासनं तस्य त्यक्तुं न्याय्यमरिदम् ।

स त्वयापि सदा मान्यः स वै बन्धुः स नः पिता ॥ ४२ ॥

शत्रुदमन भरत । पिताकी आज्ञाको अवहेलना करना मेरे लिये कदापि उचित नहीं है। वे तुम्हारे लिये भी सर्वदा सम्मानके योग्य हैं, क्योंकि वे ही हमलोगोंके हितैषी बन्धु और जन्मदाता थे ॥ ४२ ॥

तद् वचः पितुरेवाहं सम्मतं धर्मचारिणाम् ।

कर्मणा पालयिष्यामि जनवासेन राघव ॥ ४३ ॥

‘रघुनन्दन । मैं इस जनवासरूपी कर्मके द्वारा पिताजीके ही वचनका जो धर्मात्माओंको भी मान्य है पालन करूँगा ॥ ४३ ॥

धार्मिकेणानुशंसेन नरेण सुख्यर्तिना ।

भक्तित्वं नरव्याध परलोकं जिगीषता ॥ ४४ ॥

नरश्रेष्ठ । परलोकपर विजय पानेकी इच्छा रखनेवाले

इन्त्यार्थे श्रीमद्वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चाधिकशततमः सर्गः ॥ १०५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आरण्यकामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ पचिसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १०५ ॥

षडधिकशततमः सर्गः

भरतकी पुनः श्रीरामसे अयोध्या लौटने और राज्य ग्रहण करनेकी प्रार्थना

एवमुक्त्वा तु विरते रामे बन्धनमर्थवत् ।

ततो मन्दाकिनीतीरे रामं प्रकृतिवत्सलम् ॥ १ ॥

उवाच भरतश्चित्रं धार्मिको धार्मिकं वचः ।

को हि स्यादीदृशो लोके यादृशस्त्वमरिदम् ॥ २ ॥

ऐसा अर्थयुक्त वचन कहकर जब श्रीराम चुप हो गये, तब धर्मात्मा भरतने मन्दाकिनीके तटपर प्रजावत्सल धर्मात्मा श्रीरामसे यह विचित्र बात कही—‘शत्रुदमन रघुजी । इस जगत्में जैसे आप हैं, वैसा दूसरा कौन हो सकता है ? ॥ १-२ ॥

न त्वां प्रव्यथयेद् दुःखं प्रीतिर्वा न प्रहर्षयेत् ।

सम्मतश्चापि वृद्धानो तांश्च पृच्छसि संशयान् ॥ ३ ॥

‘कोई भी दुःख आपको व्यथित नहीं कर सकता कि नती ही प्रिय बान क्यों न हो, वह आपको अर्थयुक्त नहीं कर सकती । बुद्ध पुरुषोंके सम्माननीय होकर भी आप उनमें संदेहकी बातें पूछते हैं ॥ ३ ॥

यथा भूतस्तथा जीवन् यथासति तथासति ।

यस्यैव बुद्धिलाभः स्यात् परित्यजेत् केन सः ॥ ४ ॥

‘जैसे मेरे हुए जीवका अपने शरीर आदिसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता, उसी प्रकार जीने-जो भी वह उनके सम्बन्धसे रहित है, जैसे वस्तुके अभावमें उसके प्रति राग द्वेष नहीं होता वैसे ही उसके रहनेपर भी मनुष्यको राग-द्वेषस शून्य होना चाहिये । जिसे ऐसी विवेकयुक्त बुद्धि प्राप्त हो गयी है, उसको संताप क्यों होगा ? ॥ ४ ॥

मनुष्यको धार्मिक, क्रूरतासे रहित और गुरुजनोका आज्ञापालक होना चाहिये ॥ ४४ ॥

आत्मानमनुतिष्ठ त्वं स्वभावेन नरर्षभ ।

निशाम्य तु शुभं वृत्तं पितुर्दशार्थस्य नः ॥ ४५ ॥

‘मनुष्योंमें श्रेष्ठ भरत । हमारे पूज्य पिता दशार्थके शुभ आचरणोंपर दृष्टिपात करके तुम अपने धार्मिक स्वभावके द्वारा आत्माको उत्पत्तिके लिये प्रवृत्त करो ॥ ४५ ॥

इत्येवमुक्त्वा वचनं महात्मा

पितुर्निदेशप्रतिपालनार्थम् ।

यस्यैव स

भ्रातरमर्थवत्

प्रभुर्मुहूर्ताद् विरराम रामः ॥ ४६ ॥

सर्वशक्तिमान् महात्मा श्रीराम एक मुहूर्ततक अपने छोटे भाई भरतसे पिताकी आज्ञाका पालन करानेके उद्देश्यसे ये अर्थयुक्त वचन कहकर चुप हो गये ॥ ४६ ॥

परावरजो यश्च स्याद् यथा त्वं भनुजाधिप ।

स एव व्यसनं प्राप्य न विवीदितुमर्हति ॥ ५ ॥

‘नरेश्वर । जिसे आपके समान आत्मा और अनात्माका ज्ञान है, वही संकटमें पड़नेपर भी विषाद नहीं कर सकता ।

अमरोपमसत्त्वस्त्वं महात्मा सत्यसंगरः ।

सर्वज्ञः सर्वदर्शी च बुद्धिमांश्चासि राघव ॥ ६ ॥

‘रघुनन्दन । आप देवताओंकी भाँति सत्त्वगुणसे सम्पन्न, महात्मा, सत्यप्रतिज्ञ, सर्वज्ञ, सबके साक्षी और बुद्धिमान् हैं ॥ ६ ॥

न त्वामेवगुणैर्युक्तं प्रभवाभवकोविदम् ।

अविथङ्गतमं दुःखमाभादयितुमर्हति ॥ ७ ॥

‘ऐसे उत्तम गुणोंसे युक्त और बन्धन-मरणके रहस्यको जाननेवाले आपको पास अमर दुःख नहीं आ सकता ॥ ७ ॥

प्रोषिते भयि यत् पापं मात्रा मत्कारणात् कृतम् ।

क्षुद्रया तदनिष्टं मे प्रसीदतु भवान् मम ॥ ८ ॥

‘जब मैं परदेशमें था, उस समय नीच विचार रखनेवाली मेरी भानान में लिये जो पाप का डाला, वह मुझे अर्थात् नहीं है अब आप उसे क्षमा करके भुझपर प्रसन्न हो ॥ ८ ॥

धर्मवन्धेन बद्धोऽस्मि तेनेमां नेह मातरम् ।

हन्धि तीव्रेण दण्डेन दण्डाही पापकारिणीम् ॥ ९ ॥

‘मैं धर्मके बन्धनमें बँधा हूँ, इसलिये इस पाप करनेवाली एवं दण्डनीय माताको मैं कठोर दण्ड देकर मार नहीं डालता ॥ ९ ॥

कथं दशरथाज्जातः शुभाभिजनकर्मणः ।

जानन् धर्ममधर्मं च कुर्यात् कर्म युगुप्सितम् ॥ १० ॥

'जिनके कुल और कर्म दोनों ही शुभ थे, उन महाराज दशरथसे उत्पन्न होकर धर्म और अधर्मको जानता हुआ भी मैं मातृवधरूपी लोकनिन्दित कर्म कैसे करूँ ? ॥ १० ॥

गुरुः क्रियावान् वृद्धश्च राजा प्रेनः पिनेति च ।

तातं न परिगृह्णं दैवतं चेति संसदि ॥ ११ ॥

'महाराज मेरे गुरु, श्रेष्ठ यज्ञकर्म करनेवाले, बड़े-बूढ़, राजा, पिता और देवता रहे हैं और इस समय परलोकवासियों को चुके हैं इसीलिये हम भरा सम्मान में उनकी निन्दा नहीं करता हैं ॥ ११ ॥

को हि धर्मार्थयोर्हीनपीदृशं कर्म किञ्चिदपि ।

स्त्रियः प्रियच्छिकीर्षु, सन् कुर्याद् धर्मज्ञ धर्मवित् ॥ १२ ॥

'धर्मज्ञ रघुनन्दन ! कौन ऐसा मनुष्य है, जो धर्मको जानते हुए भी स्त्रीका प्रिय करनेको इच्छामें ऐसा धर्म और अधर्म दोनों कुत्सित कर्म कर सकता है ? ॥ १२ ॥

अन्तकाले हि भूतानि मुह्यन्तीति पुरा श्रुतिः ।

राज्ञैश्च कुर्वता लोके प्रत्यक्षा सा श्रुति कृता ॥ १३ ॥

'लोकमें एक प्राचीन किंवदन्ती है कि अन्तकालमें सब प्राणी भ्रान्ति हो जाते हैं—उनकी बुद्धि मग्न हो जाती है। राजा दशरथने ऐसा कठोर कर्म करके उस किंवदन्तीकी सत्यताको प्रमाण बन दिखाया ॥ १३ ॥

साध्वर्धमभिसंधाय क्रोधाभ्योहाह साहसात् ।

तातस्य घदतिक्रान्ते प्रत्याहर्तु तद् भवान् ॥ १४ ॥

'पिताजीने क्रोध, मंह और मात्सर्यके कारण ठोके समझ कर जो धर्मकर उत्सङ्गून किया है, उसे आप पलट दे—उसका संशोधन कर दें ॥ १४ ॥

पितुर्हि समतिक्रान्तं पुत्रो यः साधु मन्यते ।

तदपत्यं मत्तं लोके विपरीतमतोऽन्यथा ॥ १५ ॥

जो पुत्र पिताको की हुई भूलका नाक कर देता है, वही लोकमें उल्टा संतान माना गया है। जो इसके विपरीत वर्तित्व करता है, वह पिताको श्रेष्ठ संतान नहीं है ॥ १५ ॥

तदपत्यं भवानस्तु मा भवान् दुष्कृतं पितुः ।

अति यत् तत् कृतं कर्म लोके धीरविगर्हितम् ॥ १६ ॥

'अतः आप पिताकी योग्य संतान ही बने रहें। उनके अनुचित कर्मका समर्थन न करें। उन्होंने इस समय जो कुछ किया है, वह धर्मको मौनसे बाहर है। संसारमें धार पुरुष उसकी निन्दा करते हैं ॥ १६ ॥

कैकेयीं मां च तातं च सुहृदो बान्धवाश्च नः ।

पौरजानपदान् सर्वांस्तान् सर्वमिदं भवान् ॥ १७ ॥

'कैकेयी, मैं, पिताजी, सुहृद्गण, बन्धु-बान्धव, पुरवासों तथा राष्ट्रकी प्रजा—इन सबको रक्षाके लिये आप मेरी प्रार्थना स्वीकार करें ॥ १७ ॥

क चारण्यं क च क्षात्रं क जटाः क च पालनम् ।

ईदृशं व्याहृतं कर्म न भवान् कर्तुमर्हति ॥ १८ ॥

'कहाँ वनवास और कहाँ क्षात्रधर्म ? कहाँ जटा-धारण और कहाँ प्रजाका पालन ? ऐसे परस्परविरोधी कर्म आपको नहीं करने चाहिये ॥ १८ ॥

एष हि प्रथमो धर्मः क्षत्रियस्याभिषेचनम् ।

येन शक्यं महाप्राज्ञ प्रजानां परिपालनम् ॥ १९ ॥

'महाप्राज्ञ ! क्षत्रियके लिये पहला धर्म यही है कि उसका राज्यपर अधिकार हो, जिससे वह प्रजाका मलीमर्ति पालन कर सके ॥ १९ ॥

कश्च प्रत्यक्षमुत्सृज्य संशयस्थमलक्षणात् ।

आवतिष्ठ चरद् धर्मं क्षत्रवन्धुरनिश्चिनम् ॥ २० ॥

'भला कौन ऐसा क्षत्रिय होगा, जो प्रत्यक्ष सुखके माधनभूत प्रजापालनरूप धर्मका परित्याग करके संशयमें स्थित, सुखके लक्षणसे रहित, भविष्यमें फल देनेवाले अनिश्चित धर्मका आचरण करेगा ? ॥ २० ॥

अथ क्लेशजमेव त्वं धर्मं चरितुमिच्छसि ।

धर्मेण चतुरो वर्णान् पालयन् क्लेशमाशुहि ॥ २१ ॥

'यदि आप क्लेशमाध्य धर्मका ही आचरण करना चाहते हैं तो धर्मानुसार चारों वर्णोंका पालन करते हुए ही कष्ट उठाइये ॥ २१ ॥

अतुर्णामाश्रमाणी हि गार्हस्थ्ये श्रेष्ठमुत्तमम् ।

आहुर्धर्मज्ञ धर्मज्ञास्तं कथं त्यक्तुमिच्छसि ॥ २२ ॥

'धर्मज्ञ रघुनन्दन ! धर्मके ज्ञाता पुरुष चारों आश्रमोंमें गार्हस्थ्यको ही श्रेष्ठ अन्त्यात है फिर आप उसका परित्याग क्यों करना चाहते हैं ? ॥ २२ ॥

श्रुतेन बालः स्थानेन जन्मना भवतो ह्यहम् ।

स कथं पालयिष्यामि भूमिं भवति तिष्ठति ॥ २३ ॥

'मैं शालूजान और जन्मजात अवस्था दोनों ही दृष्टियोंसे आपको अपेक्षा बालक हूँ, फिर आपके रहते हुए मैं समुदायका पालन कैसे करूँगा ? ॥ २३ ॥

हीनबुद्धिगुणो बालो हीनस्थानेन चाप्यहम् ।

भवता च विनाभूतो न वर्तयितुमुत्तमम् ॥ २४ ॥

'मैं बुद्धि और गुण दोनोंसे हीन हूँ, बालक हूँ तथा मेरा स्थान आपसे बहुत छोटा है अतः मैं आपके बिना जीवन-धारण भी नहीं कर सकता, राज्यका पालन तो दुर्का बात है। ॥ २४ ॥

इदं निखिलमाप्यग्र्यं राज्यं पित्र्यपकण्टकम् ।

अनुज्ञाधि स्वधर्मेण धर्मज्ञ सह बान्धवैः ॥ २५ ॥

धर्मज्ञ रघुनन्दन ! पिताका यह सारा राज्य श्रेष्ठ और निष्कण्टक है अतः आप वन्धु बान्धवोंके साथ स्वधर्मानुसार इसका पालन कीजिये ॥ २५ ॥

इहैव त्वाभिषिञ्चन्तु सर्वाः प्रकृतयः सह ।

ऋत्विजः सवसिष्ठाश्च मन्त्रविन्मन्त्रकोविदाः ॥ २६ ॥

‘मन्त्रज्ञ रघुवीर ! मन्त्रोंके ज्ञाता महर्षि धर्मिष्ठ आदि सभो ऋत्विज तथा मन्त्री, सेनापति और प्रजा आदि मारी प्रकृतियों यहाँ उपस्थित हैं ये सब लोग यहाँ आपका राज्याभिषेक करें ॥ २६ ॥

अभिषिक्तस्त्वमस्याभिरयोध्यां पालने प्रज ।

विजित्य तरसा लोकान् धरुद्धिरिव वासवः ॥ २७ ॥

‘हमलोगोंके द्वारा अभिषिक्त होकर आप धरुद्धियोंमें अभिषिक्त हुए इन्द्रकी भाँति जंगपूर्वक सब लोकोंको जीतकर प्रजाका पालन करनेके लिये अयोध्याको चले ॥ २७ ॥

ऋणानि त्रीण्यपाकुर्यन् दुर्हन्तः साधु निर्दहन् ।

सुहृदस्तर्पयन् कामस्त्वमेवजानुशाधि माम् ॥ २८ ॥

‘वहाँ देवता, ऋषि और पितरोंका ऋण चुकाये, दुष्ट शत्रुओंका भलीभाँति दमन करें तथा मित्रोंको उनके इच्छानुसार वस्तुओंद्वारा तृप्त करने हुए आप ही अयोध्यामें मुझे धर्मकी शिक्षा देने रहें ॥ २८ ॥

अद्याय मुदिताः सन्तु सुहृदस्तेऽभिषेचने ।

अद्य भीता पलायन्तु दुष्पदास्ते दिशो दश ॥ २९ ॥

‘आर्य ! आपका अभिषेक सम्पन्न होनेपर सुहृदराज प्रसन्न हो और दुःख देनेवाले आपके शत्रु भयभीत होकर दसों दिशाओंमें भाग जायें ॥ २९ ॥

आक्रोशं मम मातुश्च प्रमृज्य पुरुषर्षभ ।

अद्य तत्रभवन्ते च पितरं रक्ष किल्बिषान् ॥ ३० ॥

‘पुरुषप्रवर ! आज आप मेरी माताके कलङ्कको धो पीछेकर पूज्य पिताजीको भी निन्दासे बचाइये ॥ ३० ॥

शिरसा त्वाभियासेऽहं कुरुषु करुणां मयि ।

बान्धवेषु च सर्वेषु धूर्तैश्चिह्नं महेश्वरः ॥ ३१ ॥

‘मैं आपके चरणोंमें माथा टेककर शान्त करना है आप मुझपर दया कीर्तिये । जैसे महादेवजी सब प्राणियोंपर अनुग्रह करते हैं, उसी प्रकार आप भी अपने शत्रु-बान्धवोंपर कृपा कीर्तिये ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षडधिकशततमः सर्गः ॥ १०६ ॥

इस प्रकार श्रीवाम्नीकीनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ छत्तीस सर्ग पूरा हुआ ॥ १०६ ॥

सप्ताधिकशततमः सर्गः

श्रीरामका भरतको समझाकर उन्हें अयोध्या जानेका आदेश देना

पुनरेव भुवाणं ते भरतं लक्ष्मणाग्रजः ।

प्रत्युवाच ततः श्रीमाज्जातिपथ्ये सुमत्कृतः ॥ १ ॥

जब भरत पुनः इस प्रकार प्रार्थना करने लगे तब कुटुम्बीजनोके बीचमें सत्कारपूर्वक बैठ हुए लक्ष्मणक जड़े भाई श्रीमान् रामचन्द्रजीने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया— ॥

उपपन्नमिदं वाक्यं यमस्त्वमेवमभाषथाः ।

जातः पुत्रो दशरथात् कैकेय्या राजम्भतमान् ॥ २ ॥

‘भाई ! तुम नृपश्रेष्ठ महाराज दशरथके द्वारा कैकेयराज-कन्या माता कैकेय्याके गर्भसे उत्पन्न हुए हो, अतः सुम्ने वो ऐसे उत्तम वचन कहे हैं, वे सर्वथा तुम्हारे योग्य हैं ॥ २ ॥

अथवा पृष्ठतः कृत्वा वनमेव भवानितः ।

गमिष्यति गमिष्यामि भवता सार्धमप्यहम् ॥ ३२ ॥

‘अथवा यदि आप मेरी प्रार्थनाको ठुकराकर यहसि वनको ही जायेंगे तो मैं भी आपके साथ जाऊँगा ॥ ३२ ॥

तथाभिरामो धरतेन ताप्यता

प्रसाद्यमानः शिरसा महीपतिः ।

न चैव चक्रे गमनाय सत्त्ववान्

मतिं पितुस्तद् वचने प्रतिष्ठितः ॥ ३३ ॥

ग्लानिमें पड़े हुए भरतने मनोपिणम राजा श्रीरामको उनके चरणोंमें माथा टेककर प्रसन्न करनेको चेष्टा की तथापि उन सत्त्वगुणसम्पन्न रघुनाथजीने पिताको आज्ञामें ही दृढ़तापूर्वक स्थित रहकर अयोध्या जानेका विचार नहीं किया । ३३ ॥

तदद्भुतं स्तैर्यमवेक्ष्य राघवे

समं जनो हर्षमवाप दुःखितः ।

न यात्ययोध्यामिति दुःखितोऽभवत्

स्थिरप्रतिज्ञत्वमवेक्ष्य हर्षितः ॥ ३४ ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी वह अद्भुत दृढ़ता देखकर सब लोग एक ही साथ दुःखी भी हुए और तर्पको भी प्राप्त हुए ये अयोध्या नहीं जा रहे हैं—यह सोचकर वे दुःखी हुए और प्रविष्टा-पालनमें उनको दृढ़ता देखकर उन्हें हर्ष हुआ । ३४ ॥

तपस्विजो नैगमयूयवल्लभा-

स्तथा विसंज्ञाश्रुकलाञ्छ भातरः ।

तथा भुवाणं भरतं प्रनुष्टुबुः

प्रणम्य रामं च ययाचिरे सह ॥ ३५ ॥

उस समय ऋत्विज पुरोहिता भीष्म-भिश्र समुदायके नेता और मानार्थ अर्चन से हाकर आँसू बहाती हुई पूर्वोक्त धार्त कहनेवाला भरतकी भूमि-भूमि प्रशंसा करने लगे और सबने उनके साथ ही योग्यतामूल्या श्रीरामजीके सामने विनीत होकर उनसे अयोध्या लौट चलनेकी याचना की ॥ ३५ ॥

पुरा भ्रातः पिता नः स भातरं ते समुद्बहन् ।

मानापहे समाश्रयोद् राज्यशुल्कमनुत्तमम् ॥ ३ ॥

‘भैया ! आजसे बहुत पहलैकी बात है—पिताजीका जब तुम्हारी मानाजोके साथ विवाह हुआ था, तभी उन्होंने तुम्हारे नानासे कैकेयोंके पुत्रको राज्य देनेकी उत्तम शर्त कर ली थी ।

देवासुरे च संग्रामे जनन्यै तव पार्थिवः ।

सम्प्रहृष्टो ददौ राजा वरपाराधितः प्रभुः ॥ ४ ॥

‘इसके बाद देवासुर-संग्राममें तुम्हारी माताने प्रभावशाली महायुद्धका बड़ी सेवा की इससे सन्तुष्ट होकर राजाने उन्हें वर्गदान दिया ॥ ४ ॥

ततः सा सम्प्रतिश्राव्य तव माता यशस्विनी ।
अथाधत्त नरश्रेष्ठे हो धरो वरवर्णिनी ॥ ५ ॥

‘उसीकी पुनिके लिये प्राणजा कराकर तुम्हारी श्रेष्ठ बगवान्को
यशस्विनी मानने उन नरश्रेष्ठ पिताजोसे दो कर मांगे ॥ ५ ॥

तत्र राज्यं नरव्याघ्र मम प्रजाजने तथा ।
तच्च राजा तथा तस्य नियुक्तः प्रदद्यात् वरम् ॥ ६ ॥

‘पुरुषसिंह ! एक धरकें द्यौं इन्होंने तुम्हारे लिये राज्य
मांगा और दूसरकें द्यौं मग बनवास इन्म इस प्रकार प्रार्थन
होकर राजाने वे दोनों कर इन्हे दे दिये ॥ ६ ॥

मेन पित्राहमप्यत्र नियुक्तः पुरुषवर्धन ।
चतुर्दश वने वासे वर्षाणि वरदानिकम् ॥ ७ ॥

‘पुरुषप्रवर ! इस प्रकार उन पिताजोने वरदानक रूपमें
मुझे चौदह वर्षाणिक बनवासकी आज्ञा दी है ॥ ७ ॥

सोऽथ वनमिदं प्राप्नो निर्जने लक्ष्मणान्वितः ।
सीतया चाप्रतिद्वन्द्वः सन्ध्यादे स्थितः पितुः ॥ ८ ॥

‘यही कारण है कि मैं सीता और लक्ष्मणके साथ इस
निर्जन वनमें चला आया हूँ । यहाँ मेरा कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं
है । मैं यहाँ पिताजोके सत्यजो रक्षामें स्थित रहूँगा ॥ ८ ॥

धनानपि सद्येत्येव पितरं सत्यवादिनम् ।
कर्तुमर्हसि राजेन्द्र क्षिप्रमेवाधिषिञ्चनान् ॥ ९ ॥

राजेन्द्र ! तुम भी उनकी आज्ञा मानकर शीघ्र ही
राज्यपदपर अपना अधिकार करा लो और पिताजोके सत्यवादी
बनाओ—यही तुम्हारे लिये उचित है ॥ ९ ॥

ऋणान्मोक्षय राजानं यत्कृते भरत अभुम् ।
पितरं ब्राहि धर्मज्ञ मातरं जाभिनन्दय ॥ १० ॥

‘धर्मज्ञ भरत ! तुम मेरे लिये पूज्य पिता राजा दशरथको
कैकेयोके ऋणमें मुक्त करो, उन्हें नरकमें गिरनेमें बचाओ
और माताका भी आनन्द बढ़ाओ ॥ १० ॥

श्रूयते भीमता तात श्रुतिर्गीता यशस्विना ।
गयंन यजमानेन गयेषुव पितृन् प्रति ॥ ११ ॥

‘तात ! सुना जाता है कि कुटुम्बान्, यशस्वी राजा
गयने गय-देशमें ही यज्ञ करने हुए पिताजोके प्रति एक
कभावत काती थी ॥ ११ ॥

पुत्राग्रो नरकाद् यस्मात् पितरं ज्ञायते सुतः ।
तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः पितृन् य पाति सर्वतः ॥ १२ ॥

(यह इस प्रकार है—) बेटा पुत्र नामक नरकमें
पिताका उद्धार करता है इसलिये सब सब कता गया है । बेटा
पुत्र है, जो पिताजोके सब ओरसे रक्षा करता है ॥ १२ ॥

एष्टव्या बहवः पुत्रा गुणवान्ो बहुश्रुताः ।
तेषां वै समवेतानामपि कश्चिद् गयां व्रजन् ॥ १३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे समाधिकशततमः सर्गः ॥ १०७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आदिश्रीरामायण आदिकाव्यक अयोध्याकाण्डम् एक सौ सानव सर्ग पूरा हुआ ॥ १०७ ॥

‘बहुत-से गुणवान् और बहुश्रुत पुत्रोंकी इच्छा करने
कहिंथ । सम्भव है कि प्राप्त हुए उन पुत्रोंमें कोई एक भी
गयाको यात्रा करे ? ॥ १३ ॥

एवं राजर्षयः सर्वे प्रतीता रघुनन्दन ।
तस्मात् ब्राहि नरश्रेष्ठ पितरं नरकात् प्रभो ॥ १४ ॥

‘रघुनन्दन ! नरश्रेष्ठ भरत ! इस प्रकार सभी राजर्षियोंने
पिताजोके उद्धारको निश्चय किया है अतः प्रभो ! तुम भी
अपने पिताका नरकमें उद्धार करो ॥ १४ ॥

अयोध्यां गच्छ भरत प्रकृतीरुपरज्जय ।
शत्रुघ्नमहितो वीर सह सर्वोर्विजातिभिः ॥ १५ ॥

वीर भरत ! तुम शत्रुघ्न तथा समस्त ब्राह्मणोंको
साथ लेकर अयोध्याको लौट जाओ और प्रजाको
मुख दो ॥ १५ ॥

प्रवेक्ष्ये दण्डकारण्यमहमप्यविलम्बयन् ।
आध्यां तु सहितो वीर वैदेह्या लक्ष्मणेन च ॥ १६ ॥

‘वीर ! अब मैं भी लक्ष्मण और सीताके साथ शीघ्र ही
दण्डकारण्यमें प्रवेश करूँगा ॥ १६ ॥

तव राजा भरत ध्रुव स्वयं नराणां
वन्द्यानामहमपि राजराण्मुगताणाम् ।

गच्छ त्वं पुण्वरमद्य सम्प्रहृष्टः
संहृष्टस्त्वहमपि दण्डकान् प्रवेक्ष्ये ॥ १७ ॥

‘भरत ! तुम स्वयं मनुष्योंके राजा बनो और मैं जंगलमें
पशुओंका सम्राट् बनूँगा । अब तुम अत्यन्त हर्षपूर्वक श्रेष्ठ
नगर अयोध्याको जाओ और मैं भी प्रसन्नतापूर्वक दण्डक-
वनमें प्रवेश करूँगा ॥ १७ ॥

छायां ते दिनकरभाः प्रबाधमानं
वर्षत्रं भरत करोतु भूर्धन शीताम् ।

एतेषामहमपि काननदुमराणां
छायां तामतिशयिनीं जनैः श्रियिष्ये ॥ १८ ॥

‘भरत ! सूर्यजो प्रभाको तिरछित कर देनेवाला छत्र
तुम्हारे मनकरा शीतल छाया कर । अब मैं भी धीरे धीरे इन
जंगलों वृक्षोंकी बनी छायाका आश्रय लूँगा ॥ १८ ॥

शत्रुघ्नस्त्वनुलभतिस्तु ते सहायः
मौमित्रिर्मम विदितः प्रधानमित्रम् ।

तत्स्वारस्तनयवरा वयं नरेन्द्र
मत्पस्थे धरत खराम मा विधीद ॥ १९ ॥

भरत ! अनुलित बुद्धिवाले शत्रुघ्न तुम्हारी सहायतामें रहें
और मुमित्रिख्यान मुमित्राकुमार लक्ष्मण मेरे प्रधान मित्र
(सहायक) हैं; हम चारों भुत्र अपने पिता राजा दशरथके
सत्यको रक्षा करें । तुम विषाद मत करो ॥ १९ ॥

अष्टाधिकशततमः सर्गः

जाबालिका नास्तिकोंके मतका अवलम्बन करके श्रीरामको समझाना

आश्वासयन्तं धरतं जाबालिब्राह्मणोत्तमः ।

उवाच राधं धर्मज्ञं धर्मापेक्षयिदं वचनः ॥ १ ॥

जब धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्रजी धरतको इस प्रकार समझा-
गुड़ा रहे थे, उसी समय ब्राह्मणशिरोमणि जाबालिने उनसे
यह धर्मविरुद्ध वचन कहा— ॥ १ ॥

साधु राघव मा भूत् ते बुद्धिरेवं निराश्रितः ।

प्राकृतस्य नरस्येव ह्यार्यबुद्धेस्तपस्विनः ॥ २ ॥

‘रघुनन्दन ! आपने ठीक कहा परन्तु आप श्रद्धा बुद्धिवाले
और तपस्वी हैं, अतः आपका गौरव मनुष्यकी तरह ऐसा
निरर्थक विचार मनमें नहीं लाना चाहिये ॥ २ ॥

कः कस्य पुण्यो बन्धुः किमाप्यं कस्य केनचित् ।

एको हि जायते अन्तरेक एव विनश्यति ॥ ३ ॥

‘संसारमें कौन पुरुष किसका बन्धु है और किससे
किसको क्या पाना है ? जीव अकेला ही जन्म लेता और
अकेला ही नष्ट हो जाता है ॥ ३ ॥

तस्मान्माता पिता धेति राम सज्जेत यो नरः ।

उन्मत्त इव स ज्ञेयो नास्ति कश्चिद्दि कस्यचित् ॥ ४ ॥

अतः श्रीराम ! जो मनुष्य माता या पिता समझकर
किसीके प्रति आसन होता है उसे पागलके समान समझना
चाहिये, क्योंकि यहाँ कोई किसीका कुछ भी नहीं है ॥ ४ ॥

यथा ग्रामान्तरं गच्छन् नरः कश्चिद् बहिर्वसेत् ।

उत्सृज्य च तमावासं प्रतिष्ठेतापरेऽहनि ॥ ५ ॥

एवमेव मनुष्याणां पिता माता गृहं बन्धुः ।

आवासमात्रं काकुत्स्थ सज्जेते नात्र सज्जनाः ॥ ६ ॥

जैसे कोई मनुष्य दूसरे गाँवको जाते समय सागर किसी
धर्मशालामें एक रातके लिये ठहर जाता है और दूसरे दिन उस
स्थानको छोड़कर आगेके लिये प्रस्थित हो जाता है इसी प्रकार
पिता, माता, धर और धन—ये मनुष्योंके आवासमात्र हैं।
ककुत्स्थकुलधूषण । इनमें सज्जन पुरुष अगम्य नहीं होते हैं

पित्र्यं राज्यं समुत्सृज्य स नार्हसि नरोत्तम ।

आस्थातुं कपयं दुःखं विषयं बहुकण्टकम् ॥ ७ ॥

‘अतः नरश्रेष्ठ ! आपको पिताका राज्य छोड़कर इस
दुःखमय, गंभीर दुःख तथा बहुकण्टकपूर्ण वनक कुम्भित
मार्गपर नहीं चलना चाहिये ॥ ७ ॥

समुद्रायामयोध्यायाभात्मानमभिषेचय ।

एकवेणीधरा हि त्वा नगरी सम्प्रतीक्षते ॥ ८ ॥

‘आप समुद्रिशालिन अयोध्यामें राजाके पदपर अपना
अभिषेक कराइये। यह नगरी प्रीतिभर्तृका करौनों श्रीनि
एक वेणी धारण करके आपकी प्रतीक्षा करती है ॥ ८ ॥

राजभोगाननुभवन् महार्हान् पार्थिवात्मज ।

विहर त्वमयोध्यायां यथा शकस्त्रिविष्टपे ॥ ९ ॥

‘रजकुमार ! जैसे देवराज इन्द्र स्वर्गमें विहार करते हैं,
उसी प्रकार आप बहुमूल्य राजभोगका उपभोग करने हुए
अयोध्यामें विहर कीजिये ॥ ९ ॥

न ते कश्चिद् दशरथस्त्वं च तस्य च कश्चन ।

अन्यो राजा त्वमन्यस्तु तस्मात् कुरु यदुच्यते ॥ १० ॥

‘राजा दशरथ आपके कोई नहीं थे और आप भी उनके
कोई नहीं हैं। राजा दूसरे थे और आप भी दूसरे हैं, इसलिये
मैं जो कहता हूँ, वही कीजिये ॥ १० ॥

वीजमात्रं पिता जन्तोः शुक्रं शोणितमेव च ।

संयुक्तभृतुमन्मात्रा पुरुषस्येह जन्म तत् ॥ ११ ॥

‘पिता जीवक, जन्ममें निमिनकारणमात्र होता है। वास्तवमें
ब्रह्ममयी माताके द्वारा गर्भमें धारण किये हुए सूर्य और
रजका परस्पर मेलनपर ही पुरुषका यहाँ जन्म होता है ।

गतः स नृपतिसूत्र गन्मध्यं यत्र तेन वै ।

प्रवृत्तिरेषा भूतानां त्वं तु मिथ्या विहन्यसे ॥ १२ ॥

‘राजाको जहाँ जाना था, वहाँ चले गये। यह प्राणियोंके
लिये स्वाभाविक स्थिति है। आप तो व्यर्थ ही मारे जाते
(कष्ट उठाते) हैं ॥ १२ ॥

अर्थधर्मपरा ये ये तांस्तापशोच्चायि नेतरान् ।

ते हि दुःखमिह प्राप्य विनाशं प्रेत्य लेधिरे ॥ १३ ॥

‘जो-जो मनुष्य प्राप्त हुए अर्थका परित्याग करके
धर्मपरायण हुए हैं, उन्हीं उन्हींके लिये मैं शोक करता हूँ,
दूसराक लिये नहीं। व इस जगत्में धर्मके नामपर केवल
दुःख भोगकर मृत्युकें पश्चात् नष्ट हो गये हैं ॥ १३ ॥

अष्टकापितृदेवतमित्ययं प्रसृतो जनः ।

अत्रस्योपद्रवं पश्य भूतो हि किमशिष्यति ॥ १४ ॥

‘अष्टका आदि जितने श्राद्ध हैं, उनके देवता पितर
हैं—श्राद्धका दान पितरोंको मिलता है। यही सोचकर
लोग श्राद्धमें प्रवृत्त हैं, किन्तु विचार करके देखिये
तो इसमें अन्तःका नाश ही होता है। अतः, मरा हुआ
मनुष्य क्या खायेगा ॥ १४ ॥

यदि भुक्तमिहान्येन देहमन्यस्य शक्नोति ।

दद्यात् प्रवसतां श्राद्धं न तन् पथ्यश्वं भवेत् ॥ १५ ॥

‘यदि यहाँ दूसरेका खाया हुआ अन्न दूसरेके शरीरमें
चला जाता हो तो परदेशमें जानेवालोंके लिये श्राद्ध
ही कर देना चाहिये, उनको रास्तेके लिये भोजन देना
अंचल नहीं है ॥ १५ ॥

दानसंवनना हुंते ग्रन्था येषां विधिः कृताः ।

यजस्व देहि दीक्षस्व तपस्तप्यस्व संत्यज ॥ १६ ॥

‘देवताओंके लिये यज्ञ और पूजन करो, दान दो, यज्ञकी
दीक्षा ग्रहण करो, तपस्या करो और धर-द्वारा छोड़कर संन्यासी

बन जाओ इत्यादि आने बचानेवाले ग्रन्थ बुद्धिमान् मनुष्योंने
बनकों और लंगोंको प्रवृत्ति करानेके लिये ही बनाये हैं ॥

स नास्ति परमित्येतत् कुरु बुद्धिं महामते ।

प्रत्यक्षं यत् तदतिष्ठ परोक्षं पृष्ठतः कुरु ॥ १७ ॥

अतः महामते ! आप अपने मनमें यह निश्चय कीजिये
कि इस लोकके सिवा कोई दूसरा लोक नहीं है (अतः वहाँ
फल भागनेके लिये धर्म आदिक पालनकी आवश्यकता नहीं

है) । जो प्रत्यक्ष राज्यलाभ है, उसका आश्रय लीजिये, परोक्ष
(पारलौकिक लाभ) को पीछे छेकेल दीजिये ॥ १७ ॥

सतां बुद्धिं पुरस्कृत्य सर्वलोकविदर्शिनीम् ।

राज्यं स त्वं निगृह्णीष्व भरतेन प्रसादितः ॥ १८ ॥

'सत्पुरुषोंकी बुद्धि, जो सब लोगोंके लिये राह
दिखानेवाली होनक कारण प्रमाणभूत है, आगे करके भरतके
अनुरोधसे आप अयोध्याका राज्य ग्रहण कीजिये' ॥ १८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽष्टोध्याकाण्डेऽष्टाधिकशततमः सर्गः ॥ १०८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अष्टोध्याकाण्डमें एक सौ आठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १०८ ॥

नवाधिकशततमः सर्गः

श्रीरामके द्वारा जाबालिके नास्तिक मतका खण्डन करके आस्तिक मतका स्थापन

जाबालेस्तु सखः श्रुत्वा रामः सत्यपराक्रमः ।

उवाच परया सूक्त्या ब्रुवन्वाविप्रतिपन्नया ॥ १ ॥

जाबालिका यह बचन सुनकर सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र-
जीने अपनी सशयराहित बुद्धिक द्वारा श्रुतसम्मत सद्गुणका
आश्रय लेकर कहा— ॥ १ ॥

भवान् मे प्रियकामार्थं वचनं यदिहोक्तवान् ।

अकार्यं कार्यमकाशमपथ्यं पथ्यं संनिधम् ॥ २ ॥

'विप्रवर ! आपने मेरा प्रिय कामके लिये कहा है यहाँ जो
यात कहो है, वह कर्तव्य से दिखानेवाला है । 'मे' मु' वास्तवमें
करनेयोग्य नहीं है । वह पथ्य-मी दौखनेपर भी वास्तवमें
अपथ्य है ॥ २ ॥

निर्मर्यादस्तु पुरुषः पापाचारसमन्वितः ।

मानं च लभते सस्तु भिन्नचारिभ्रदंशिनः ॥ ३ ॥

'जो पुरुष धर्म अथवा वेदकी मर्यादाका त्याग देता है
या; पापकर्मोंमें प्रवृत्त हो जाता है । उसके आचार और चरित्र
दोनों भ्रष्ट हो जाते हैं इसीलिये वह मनुष्यधर्म कभी सम्मान
नहीं पाता है ॥ ३ ॥

कुलीनमकुलीनं वा वीरं पुरुषमानिनम् ।

क्षानिन्नमेव व्याख्याति शुचिं वा यदि वाशुचिम् ॥ ४ ॥

'आचार ही यह बताता है कि कौन पुरुष उत्तम कुलमें
उत्पन्न हुआ है और कौन अधम कुलमें, कौन वीर है और
कौन धूर्त जो अपनेको पुरुष मानता है तथा कौन पवित्र है
और कौन अपवित्र ? ॥ ४ ॥

अनार्यस्वार्यं संस्थानः शीघ्राद्धीनस्तथा शुचिः ।

लक्षणयवदलक्षणयो दुःशीलः शीलवानिवा ॥ ५ ॥

आपने जो आचार बताया है, उस अमान्यवान्
पुरुष श्रेष्ठ-सा दिखानेवाले देनेपर भी वास्तवमें अनार्य होगा ।
जाहगसे अधिक दाखनेपर भी शीघ्रसे अपवित्र होगा ।
उत्तम लक्षणोंमें युक्त-सा प्रतीत होनेपर भी वास्तवमें उसके
विपरीत होगा तथा शीलवान्-सा दाखनेपर भी वास्तवमें

यह दुःशील ही होगा ॥ ५ ॥

अथर्वं धर्मवशेण ब्रह्मं लोकसंकरम् ।

अभिपत्ये शुभं हित्वा क्रियां विधिविवर्जिताम् ॥ ६ ॥

कक्षेतयानः पुरुषः कार्याकार्यं विचक्षणः ।

ब्रु पश्येत् मां लोकं दुर्वृतं लोकदूषणम् ॥ ७ ॥

'आपका उपदेश बोलते तो धर्मका पहने हुए है, किंतु
वास्तवमें अधर्म है । इससे संसारमें वर्णमकरमाका प्रचार
होगा । यदि मैं इसे स्वीकार करके वेदोक्त शुभकर्मोंका
अनुष्ठान छोड़ दूँ और विधिविना कर्मोंमें लग जाऊँ तो कर्तव्य-
अकार्यका ज्ञान रखनेवाला कौन समझदार मनुष्य मुझे श्रेष्ठ
मानकर आदेश देगा ? उस दृष्टांसे तो मैं इस जगत्में दुष्टाचारों
तथा लोकोंकी कलहपूर्ण करनेवाला समझा जाऊँगा ॥ ६-७ ॥

कस्य चास्याम्यहं वृतं केन वा स्वर्गमाप्नुयाम् ।

अनया वर्तमानोऽहं कृत्या हीनप्रतिज्ञया ॥ ८ ॥

जहाँ अपना का दुई प्रतिज्ञा तोड़ दी जाती है उस व्यक्तिके
अनुसार बर्ताव करनेपर मैं किस साधनसे स्वर्गलोक प्राप्त
करूँगा तथा आपने जिस आचारका उपदेश दिया है, वह
किसका है जिसका मुझे अनुसरण करना होगा, क्योंकि आपके
कथनानुसार मैं पिता आदिमम किमोका कुछ भी नहीं हूँ ।

कामवृत्तोऽन्वयं लोकः कृत्स्नः समुपवर्तते ।

यद्वृत्ता, सन्ति गजाननद्वृत्ता, सन्ति हि प्रजाः ॥ ९ ॥

'आपके बताये हुए मार्गसे चलनेपर पहले तो मैं
स्वेच्छाव्रतों हूँगा । फिर यह सारा लोक स्वेच्छाचारी हो
जायगा; क्योंकि राजाओंक जैसे आचरण होते हैं, प्रजा भी
वैसा ही आचरण करने लगती है ॥ ९ ॥

सत्यमेवानुशंसं च राजवृत्तं सनातनम् ।

तस्मात् सत्यात्मकं राज्यं सत्ये लोकः प्रतिष्ठितः ॥ १० ॥

'सत्यका पालन ही राजाओंका दयाप्रधान धर्म है—
सनातन आचार है, अतः सत्य सत्यस्वरूप है । सत्यमें ही
सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित है ॥ १० ॥

अथयश्चैव देवाश्च सत्यमेव हि येनरे ।

सत्यवादी हि लोकेऽस्मिन् परं गच्छति चाक्षयम् ॥ ११ ॥

'ऋषियों और देवताओं ने सदा सत्यका ही आदर किया है। इस लोकमें सत्यवादी मनुष्य अक्षय परम भ्राममें जाता है ॥ ११ ॥

उद्विजन्ते यथा सर्पांश्चरादनुत्कादिनः ।

धर्मः सत्यपरो लोके मूलं सर्वस्य चोच्यते ॥ १२ ॥

'झुठ धोल्नेवाले मनुष्यसे सब लगे ठसी तरह डरते हैं जैसे साँपमें। संसारमें सत्य ही धर्मको पराकाष्ठा है और वही सबका मूल कहा जाता है ॥ १२ ॥

सत्यमेवेच्चरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः ।

सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम् ॥ १३ ॥

'जगत्में सत्य ही ईश्वर है। सदा सत्यके ही आधारपर धर्मकी स्थिति रहती है। सत्य ही सबको जड़ है। सत्यसे बढ़कर दूसरा कोई परम पद नहीं है ॥ १३ ॥

एतमिदं ह्येतं चैव तप्तानि च तपसि च ।

वेदाः सत्यप्रतिष्ठानास्तस्मान् सत्यपरो भवेत् ॥ १४ ॥

'दान, यज्ञ, होम, तपस्या और वेद—इन सबका आधार सत्य ही है; इसलिये सबको सत्यपरायण होना चाहिये ॥

एकः पालयते लोकमेकः पालयते कुलम् ।

भजत्येको हि निरय एकः स्वर्गे महीयते ॥ १५ ॥

'एक मनुष्य सम्पूर्ण जगत्का पालन करता है, एक समुच्च कुलका पालन करता है एक नरकमें दूखना है और एक स्वर्गलोकमें प्रसन्न होता है ॥ १५ ॥

सोऽहं पितुर्निदेशं तु किमर्थं नानुपालये ।

सत्यप्रतिश्रवः सत्यं सत्येन समर्पयकृतम् ॥ १६ ॥

'मैं सत्यप्रतिज्ञा हूँ और सत्यकी शपथ स्वीकृत पिताक सत्यका पालन स्वीकार कर चुका हूँ, ऐसी दशा में पिताक आदेशका किस लिये पालन नहीं करूँ ? ॥ १६ ॥

नैव लोभाच्च मोहाद् वा न चाज्ञानात् तपोऽन्वितः ।

सेतुं सत्यस्य धेत्यामि गुरोः सत्यप्रतिश्रवः ॥ १७ ॥

'पहले सत्यपालनकी प्रतिज्ञा करनेके अब लोभ, मोह अथवा अज्ञानसे विवेकशून्य होकर मैं पिताके सत्यकी मर्यादा भङ्ग नहीं करूँगा ॥ १७ ॥

असत्यसंधस्य सतश्चलस्यास्थिरचेतसः ।

नैव देवा न पितरः प्रतीच्छन्तीति नः श्रुतम् ॥ १८ ॥

'हमने सुना है कि जो अपनी प्रतिज्ञा झूठी करनेके कारण धर्मसे अट हो जाता है, उन चञ्चल चित्तवाले पुरुषके दिये हुए हृदय-कल्पकी देवता और पितर नहीं स्वीकार करते हैं ॥ १८ ॥

प्रत्यगात्ममिदं धर्मं सत्यं पश्याम्यहं ध्रुवम् ।

भारः सत्पुरुषैर्धार्मिकस्तदर्शमभिनन्दते ॥ १९ ॥

'मैं इस सत्यरूपी धर्मको समस्त प्राणियोंके लिये हितकर

और सब धर्मोंमें श्रेष्ठ समझता हूँ, सत्पुरुषोंने जटावल्कल आदिक धारणरूप तपस धर्मका पालन किया है, इसलिये मैं भी उसका अभिनन्दन करता हूँ ॥ १९ ॥

आत्रं धर्ममहं त्यक्ष्ये ह्यधर्मं धर्मसंहितम् ।

क्षुद्रैर्नुशंसैर्लुब्धैश्च सेवितं पापकर्मभिः ॥ २० ॥

'जो धर्मयुक्त प्रतीत हो रहा है, किन्तु वास्तवमें अधर्मरूप है, जिसका नाँव क्रूर, लोभी और पापाचारी पुरुषोंने सेवन किया है, ऐसे क्षात्रधर्मका (पिताका आज्ञा भङ्ग करके राज्य ग्रहण करनेका) मैं अवश्य त्याग करूँगा (क्योंकि वह न्याययुक्त नहीं है) ॥ २० ॥

कायेन कुरुते पापं मनसा सम्प्रधार्य तत् ।

अनुतं जिह्वया चाह जिबिधे कर्म पातकम् ॥ २१ ॥

मनुष्य अपने शरीरमें जो पाप करता है, उसे पहले मनके द्वारा कर्तव्यरूपमें निश्चित करना है। फिर जिह्वाकी सहायतासे उस अनृत कर्म (पाप) को वाणीद्वारा दूसरोंमें कहना है, तत्पश्चात् औरक सहयोगसे उसे शरीरद्वारा सम्पन्न करता है। इस तरह एक ही पातक कथिक, वाचिक और मानसिक भेदसे तीन प्रकारका होता है ॥ २१ ॥

भूमिः कीर्तिर्यशो लक्ष्मीः पुत्र्यं प्रार्थयन्ति हि ।

सत्यं समनुवर्तन्ते सत्यमेव भजेत् ततः ॥ २२ ॥

पृथ्वी, कीर्ति, यश और लक्ष्मी—ये सब-कुछ-सब सत्यवादी पुरुषको पानकी इच्छा रखती हैं और शिष्ट पुरुष सत्यका ही अनुसरण करते हैं, अतः मनुष्यको सदा सत्यका ही सेवन करना चाहिये ॥ २२ ॥

श्रेष्ठं ह्यनार्थमेव स्याद् यद् भवानवधार्य माम् ।

आह युक्तिकर्षार्थक्यैरिदं धद्रे कुरुषु ह ॥ २३ ॥

'आपन उचित सिद्ध करके तर्कपूर्ण वचनोंके द्वारा मुझसे जो यह कहा है कि राज्य ग्रहण करनेमें ही कल्याण है, अतः इसे अवश्य स्वीकार करो। आपका यह आदेश श्रेष्ठ-सा प्रतीत होकर भी मज्जन पुरुषोंद्वारा आचरणमें लानेयोग्य नहीं है (क्योंकि इसे स्वीकार करनेसे सत्य और न्यायका उल्लङ्घन होता है) ॥ २३ ॥

कथं ह्यहं प्रतिज्ञाय वनवासमिदं गुरोः ।

भरतस्य करिष्यामि वज्रो हित्वा गुरोर्वचः ॥ २४ ॥

'मैं पिताजीके सामने इस तरह वनमें रहनेकी प्रतिज्ञा कर चुका हूँ। अब उनकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके मैं भरतकी बात कैसे मान लूँगा ॥ २४ ॥

स्थिरा मया प्रतिज्ञाता प्रतिज्ञा गुरुसंनिधौ ।

प्रहृष्टमानसा देवी कैकेयी चाभवत् तदा ॥ २५ ॥

'गुरुके समीप की हुई मेरी वह प्रतिज्ञा अटल है—किसी तरह तोड़ी नहीं जा सकती। उस समय जब कि मैंने प्रतिज्ञा की थी, देवी कैकेयीका हृदय हर्षसे खिल उठा था ॥ २५ ॥

वनवासं वसत्रेव शुचिर्नियतभोजनः ।

मूलपुष्पफलैः पुण्यैः पितॄन् देवांश्च तर्पयन् ॥ २६ ॥

मैं वनमें ही रहकर बाहर मोरमें पवित्र हो नियमित भोजन करूँगा और पवित्र फल, मूल एवं पुष्पोंद्वारा दत्त'ओं और पितरोंको नम्र करना हुआ प्रतिज्ञाका पालन करूँगा ।

सन्तुष्टपञ्चवर्गोऽहं लोकयात्रां प्रवाहये ।

अकुतः श्रद्धावानः सन् कार्याकार्यविवक्षणः ॥ २७ ॥

'क्या करना चाहिये और क्या नहीं, इसका निश्चय मैं कर चुका हूँ । अब फल-मूल आदिस पवित्र इन्द्रियोंको संतुष्ट करके निश्चल, श्रद्धावृत्त लोकयात्रा (पितरोंको आज्ञाके पालनरूप व्यवहार) का निर्वाह करूँगा ॥ २७ ॥

कर्मभूमिभिर्मां प्राप्य कर्तव्यं कर्म यच्छुभम् ।

अग्निर्वायुश्च सोमश्च कर्मणां फलभागिनः ॥ २८ ॥

'इस कर्मभूमिको पाकर जो शुभ कर्म हो, उसका अनुष्ठान करना चाहिये, क्योंकि अग्नि वायु तथा सोम भा कर्मोंके फलसे उन-उन पदोंके भागी हुए हैं ॥ २८ ॥

शतं कर्तॄन्नामाहृत्य देवराट् त्रिदिवं गतः ।

तपोऽप्युग्राणि चास्थाय दिवं प्राप्ता महर्षयः ॥ २९ ॥

'देवराज इन्द्र तौ यज्ञोंका अनुष्ठान करके स्वर्गलोकको प्राप्त हुए हैं । मार्गियोंने भी उग्र तपस्या करके दिव्य लोकमें स्थान प्राप्त किया है' ॥ २९ ॥

अमुष्यमाणः पुनरुग्रतेजा

निशम्य तन्नास्तिकवाक्यहोनुम् ।

अथाब्रवीत् तं नृपतेस्तनूजो

विगर्हमाणो वचनानि तस्य ॥ ३० ॥

तब तेजस्वी राजकुमार श्रीगणपत्योंको गन्तका शपथन करनेवाले जानाालके धूर्तक वचनोंको सुनकर उन्हें सहन न कर सकनेके कारण उन वचनोंको निन्दा करते हुए पुनः उगसे बोले— ॥ ३० ॥

सत्यं च धर्मं च पराक्रमं च

भूतानुकम्पां प्रियसाधितो च ।

द्विजातिदेवताधिपूजनं च

पन्थानमाहुस्त्रिदिवस्थ सन्तः ॥ ३१ ॥

'सत्य, धर्म, पराक्रम, समस्त प्राणियोंपर दया, सबमें प्रिय वचन बोलना तथा देवताओं, अनिधियों और ग्राहणोंको पूजा करना—इन सबको साथ पुस्तोंने स्वर्गलोकके मार्ग बताया है ॥ ३१ ॥

तेनैवभाषाय यथावदर्थ-

मेकोदयं सम्प्रतिपद्य विप्राः ।

धर्मं चरन्तः सकलै यथावत्

काङ्क्षन्ति लोकागमप्रमत्ताः ॥ ३२ ॥

'सत्पुरुषोंके इस वचनके अनुसार धर्मका स्वरूप जानकर तथा अनुकूल तर्कसे उसका चार्थ निर्णय करके एक

निश्चयपर पहुँचे हुए सावधान ब्राह्मण भलीभाँति धर्माचरण करते हुए उन-उन उत्तम लोकोंको प्राप्त करना चाहते हैं ॥

निन्दाम्यहं कर्म कृतं पितुस्तद्

यस्त्वापगृह्णाद् विषमस्थबुद्धिम् ।

बुद्धधानयैवंविधया चरन्तं

सुनास्तिकं धर्मपञ्चादपेतम् ॥ ३३ ॥

'आपको बुद्धि विषम-मार्गमें स्थित है—आपने वेद-विरुद्ध मार्गका आश्रय ले रखा है । आप चार नास्तिक और धर्मके गर्भसे काँसो दूर हैं । ऐसी पाखण्डमयी बुद्धिके द्वारा अनुचित विचारका प्रचार करनेवाले आपको मैं पितृर्जन जो अपना याज्ञक बना लिया, उनके इस कार्यकी मैं निन्दा करता हूँ ॥ ३३ ॥

यथा हि धीरः स तथा हि बुद्ध-

स्तथागतं नास्तिकमप्र विद्धि ।

तस्माद्भि यः शक्यतमः प्रजानां

स नास्तिके नाभिमुखो बुधः स्यात् ॥ ३४ ॥

'जैसे धीर दण्डनीय होता है, ठसी प्रकार (वेदविरोधी) बुद्ध (बौद्धमतावलम्बी) भी दण्डनीय है, तथागत (नास्तिकविशेष) और नास्तिक (चारोंक) को भी यहाँ इसी कोटिमें समझना चाहिये । इसलिये प्रजापर अनुग्रह करनेके लिये राजाद्वारा जिस नास्तिकको दण्ड दिलाया जा सके, उसे तो चोपके समान दण्ड दिलाया ही जाय, परन्तु जो वशके बाहर हो उसे नास्तिकक प्रति विद्वान् ब्राह्मण कभी अनुमुख न हो—उससे बर्नात्प्रपतक न करे ॥ ३४ ॥

त्वसो अनाः पूर्वतरे द्विजाश्च

शुभानि कर्माणि बहूनि चक्रुः ।

छिन्वा सदेमं च परं च लोकं

तस्माद् द्विजाः स्वस्ति कृतं हुतं च ॥ ३५ ॥

'आपके सिवा पहलेके श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने इन्द्रलोक और परलोककी फल-कामनाकी परित्याग करके वेदोक्त धर्म समझकर मदा हो बहुतोंसे शुभकर्मोंका अनुष्ठान किया है । अब जो भी ब्राह्मण हैं, वे वेदोंको ही प्रमाण मानकर स्वस्ति (अहिम्मा और सत्य आदि), कृत (तप, दान और परोपकार आदि) तथा हुत (यज्ञ-याग आदि) कर्मोंका सम्पादन करते हैं ॥ ३५ ॥

धर्मं रताः सत्पुरुषैः समेता-

स्तेजस्विनो दानगुणप्रधानाः ।

अहिंसका खिलमलाश्च लोके

भवन्ति युज्या मुनयः प्रधानाः ॥ ३६ ॥

'जो धर्ममें तत्पर रहते हैं, सत्पुरुषोंका साथ करते हैं, तेजसे सम्पन्न हैं, जिनमें दानरूपों गुणको प्रधानता है, जो कभी किसी प्राणीकी हिंसा नहीं करते तथा जो मलसमर्गसे रहित हैं, ऐसे श्रेष्ठ मुनि ही भस्मामें पूजनीय होते हैं' ॥ ३६ ॥

इति ब्रुवन्तं वचनं सरोषं

रामं महात्मानमदीनसत्त्वम् ।

उवाच पथ्यं पुनरास्तिकं च

सत्यं वचः सानुनयं च विप्रः ॥ ३७ ॥

महात्मा श्रीराम स्वभावसे ही दैन्यभावसे रहित थे । उन्होंने जब रोषपूर्वक पूर्वाक्त बात कही, तब आश्रय आवालिने विनयपूर्वक यह आस्तिकतापूर्ण सत्य एवं हितकर वचन कहा— ॥ ३७ ॥

न नास्तिकानां वचनं ब्रवीम्यहं

न नास्तिकोऽहं न च नास्ति किंचन ।

समीक्ष्य कालं पुनरास्तिकोऽधत्वं

भवेय काले पुनरेव नास्तिक ॥ ३८ ॥

‘रघुनन्दन । न तो मैं नास्तिक हूँ और न नास्तिकोंकी

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽथोऽध्याकाण्डे नवाधिकशततमः सर्गः ॥ १०९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अथोऽध्याकाण्डमें एक सौ नौवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १०९ ॥

दशाधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठजीका सृष्टिपरम्पराके साथ इक्ष्वाकुकुलकी परम्परा बताकर ज्येष्ठके ही राज्याभिषेकका औचित्य सिद्ध करना और श्रीरामसे राज्य ग्रहण करनेके लिये कहना

स्तुद्धमाज्ञाय रामं तु वसिष्ठः प्रत्युवाच ह ।

जात्रालिरपि जानीते लोकस्यास्य गतागमिम् ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्रजीको कष्ट जानकर महर्षि वसिष्ठजीने उनसे कहा— ‘रघुनन्दन । महर्षि जात्रालि भी यह जानते हैं कि इस लोकके प्राणियोंका परलोकमें जाना और आना होता रहता है (अतः ये नास्तिक नहीं हैं) ॥ १ ॥

निवर्तयतुकायस्तु त्वायेतद् वाक्यमब्रवीत् ।

इमां लोकसमुत्पत्तिं लोकनाथ निबोध मे ॥ २ ॥

‘जगदीश्वर । इस समय तुम्हें लौटानेको इच्छासे ही इन्होंने यह नास्तिकतापूर्ण बात कही थी । तुम भूजगत् इस लोककी उत्पत्तिका वृत्तान्त सुनें ॥ २ ॥

सर्वं सलिलमेवासीत् पृथिवी तत्र निर्मिता ।

ततः समभवद् ब्रह्मा स्वयंभूर्देवतैः सह ॥ ३ ॥

‘सृष्टिके प्रारम्भकालमें सब कुछ जलमय ही था । उस जलके भीतर ही पृथ्वीका निर्माण हुआ, तदनन्तर देवताओंके साथ स्वयम्भू ब्रह्मा प्रकट हुए ॥ ३ ॥

स वराहस्ततो भूत्वा प्रोज्जहार वसुधराम् ।

असृजच्च जगत् सर्वं सह पुत्रैः कृतात्मभिः ॥ ४ ॥

‘इसके बाद उन भगवान् विष्णुस्वरूप ब्रह्माने ही वगरूपसे प्रकट होकर जलके भीतरसे उस पृथ्वीको निकाला और अपने कृतात्म पुत्रोंके साथ इस सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि की ॥ ४ ॥

आकाशप्रथमो ब्रह्मा शाश्वतो नित्य अध्ययः ।

तस्मान्मरीचिः संजज्ञे मरीचैः कश्यपः सुतः ॥ ५ ॥

बात हो करता हूँ । परलोक अगर कुछ भी नहीं है, ऐसा मेरा मत नहीं है । मैं अक्सर देखकर फिर आस्तिक हो गया और लौकिक व्यवहारके समय आवश्यकता होनपर पुनः नास्तिक हो सकता हूँ—नास्तिकोंकी-सी बातें कर सकता हूँ ॥ ३८ ॥

स चापि कालोऽयमुपागतः शनै-

यथा भया नास्तिकवागुदीरिता ।

निवर्तनाथे तव राम कारणात्

प्रसादनार्थं च मयैतदीरितम् ॥ ३९ ॥

‘इस समय ऐसा अक्सर आ गया था, जिससे मैंने धीरे-धीरे नास्तिकोंकी-सी बातें कह डालीं । श्रीराम । मैंने जो यह बात कही, इसमें मेरा उद्देश्य यही था कि किसी तरह आपको राजी करके अयोध्या लौटनेके लिये तैयार कर लूँ ॥ ३९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽथोऽध्याकाण्डे नवाधिकशततमः सर्गः ॥ १०९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अथोऽध्याकाण्डमें एक सौ नौवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १०९ ॥

आकाशस्वरूप पञ्चम परमात्मासे ब्रह्माजीका प्रादुर्भाव हुआ है जो नित्य, मनान्त एवं अविनाश है । उनसे मरीचि उत्पन्न हुए और मरीचिके पुत्र कश्यप हुए ॥ ५ ॥

विचस्वान् कश्यपाज्जज्ञे मनुर्वचस्वतः स्वयम् ।

स तु प्रजापतिः पूर्वमिक्ष्वाकुस्तु मनो. सुतः ॥ ६ ॥

कश्यपसे विचस्वान्क जन्म हुआ । विचस्वान्क पुत्र साक्षात् वचस्वत मनु हुए, जो पहले प्रजापति थे । मनुके पुत्र इक्ष्वाकु हुए ॥ ६ ॥

यस्येव प्रथमं कृता समृद्धा मनुना मही ।

तमिक्ष्वाकुमयोध्यायां राजाने विद्धि पूर्वकम् ॥ ७ ॥

‘जिन्हें मनुने सबसे पहले इस पृथ्वीका समृद्धिशाली राज्य सौंपा था उन राजा इक्ष्वाकुको तुम अयोध्याका प्रथम राजा समझो ॥ ७ ॥

इक्ष्वाकोस्तु सुतः श्रीमान् कुक्षिरित्येव विश्रुतः ।

कुक्षेरथात्मजो धीरो विकुक्षिरुदपद्यत ॥ ८ ॥

इक्ष्वाकुके पुत्र श्रीमान् कुक्षिके नामसे विख्यात हुए । कुक्षिके वीर पुत्र विकुक्षि हुए ॥ ८ ॥

विकुक्षेस्तु महातेजाः बाणः पुत्रः प्रतापवान् ।

बाणस्य च महाबाहुनरणयो महातपाः ॥ ९ ॥

—‘विकुक्षिके महातेजस्वी प्रतापी पुत्र बाण हुए । बाणके महाबाहु पुत्र अनरण्य हुए, जो बड़े भारी तपस्वी थे ॥ ९ ॥

नानावृष्टिर्बभूवास्मिन् न दुर्भिक्षः सतां वरे ।

अनरण्ये महाराजे तस्मै चापि कश्चन ॥ १० ॥

‘सत्पुरुषोमै श्रेष्ठ महायज्ञ अनरण्यके राज्यमै कभी
अनावृष्टि नहीं हुई, अकाल नहीं पड़ा और कोई चार भी नहीं
उत्पन्न हुआ ॥ १० ॥

अनरण्याम्महाराज पृथु राजा अभूव ह ।

तस्मात् पृथोर्महातेजस्विशङ्कुदपद्यत ॥ ११ ॥

‘महाराज ! अनरण्यसे राजा पृथु हुए । उन पृथुसे
महातेजस्वी त्रिशंकुकी उत्पत्ति हुई ॥ ११ ॥

स सत्यवचनाद् वीरः सशरीरो दिवं गतः ।

त्रिशङ्कोरुभवत् सुनुर्धुममारो महायशाः ॥ १२ ॥

‘वे वीर त्रिशंकु विश्वामित्रक सत्य वचनके प्रभावसे
सदेह स्वर्गलोकको चले गये थे । त्रिशंकुके महायशस्वी
धुन्धुमार हुए ॥ १२ ॥

धुन्धुमाराम्महातेजा युवनाश्वो व्यजायत ।

युवनाश्वसुतः श्रीमान् मान्धाता समपद्यत ॥ १३ ॥

‘धुन्धुमारसे महातेजस्वी युवनाश्वक जन्म हुआ ।
युवनाश्वके पुत्र श्रीमान् मान्धाता हुए ॥ १३ ॥

मान्धातुस्तु महातेजाः सुसंधिरुदपद्यत ।

सुसंधेरपि पुत्रौ हौ ध्रुवसंधिः प्रसेनजित् ॥ १४ ॥

‘मान्धाताके महान् तेजस्वी पुत्र सुसंधि हुए सुसंधिक दो
पुत्र हुए—ध्रुवसंधि और प्रसेनजित् ॥ १४ ॥

यशस्वी ध्रुवसंधेस्तु धरतो रिपुसूदनः ।

भरतात् तु महाबाहोरसितो नाम जायत ॥ १५ ॥

‘ध्रुवसंधिक यशस्वी पुत्र उत्पन्न हुए थे, महाबाहु
भरतसे आसित नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ १५ ॥

यस्यैते प्रतिराजान उदपद्यन्त शत्रवः ।

मैत्र्यास्तालजङ्गाश्च शूराश्च शशाबिन्दवः ॥ १६ ॥

‘जिसके शत्रुपूत प्रतिपक्षी राजा थे हेतव्य, तालजंघ और
शूर शशाबिन्दु उल्लभ हुए थे ॥ १६ ॥

तास्तु संधान् प्रतिव्यूह युद्धे राजा प्रकाशितः ।

स च शैल्यरे रम्ये यभूषाभिरतो मुनिः ॥ १७ ॥

‘उन सबका सामना करनेके लिये सेनाका व्यूह बनकर
गुट्टक लिये इन गहनपर भी शत्रुओंको संग्रह अभिष्ट होनेके
कारण राजा अशितकी हारकर परदेशको शरण लेनो पड़ी ।
वे गमणीय शैल-शिलापर प्रयत्नपूर्वक रहकर मुनिभावसे
परमात्माका मनन-चिन्तन करने लगे ॥ १७ ॥

हे चास्थ भार्य गर्भिण्यो बभूवतुरिति श्रुतिः ।

तत्र चैका महाभागा भार्गवं देववर्चसम् ॥ १८ ॥

यवन्दे यशपत्राक्षी काङ्क्षिणी पुत्रमुत्तमम् ।

एका गर्भविनाशाय सपत्न्यै गरलं ददौ ॥ १९ ॥

‘सुना जाता है कि आसिनकी दो पत्नियाँ गर्भवती थीं ।
उनमेंसे एक महाभागा कामललाघना राजपत्नीने उत्तम पुत्र
पानेकी अभिलाषा रखकर देवनुल्ल तेजस्वी भृगुवंशी व्यवन
मुनिके चरणोंमें कदना की और दूसरी रानीने अपनी सीतके

गर्भका विनाश करनेके लिये उसे जहर दे दिया ॥ १८-१९ ॥

भार्गवश्च्यवनो नाम हिमवन्तमुपाश्रितः ।

तपुषि साभ्युपागम्य कालिन्दी त्वभ्यवादयत् ॥ २० ॥

‘उन दिनों भृगुवंशी च्यवन मुनि हिमालयपर रहते थे
रजा आसिनकी कालिन्दी नामवाली पत्नीने ऋषिक चरणोंमें
पहुँचकर उन्हें प्रणाम किया ॥ २० ॥

स तामभ्यवादत् प्रीतो वरेप्सु पुत्रजन्मनि ।

पुत्रस्ते भविता देवि महात्मा लोकविश्रुतः ॥ २१ ॥

धार्मिकश्च सुधीमश्च वंशकर्तारिसूदनः ।

‘मुनिने प्रसन्न होकर पुत्रको उत्पत्तिके लिये वरदान
चाहनेवाली रानीसे इस प्रकार कहा—‘देवि ! तुम्हें एक
महामन्सवी लोकविख्यात पुत्र प्राप्त होगा, जो धर्मात्मा,
शत्रुओंके लिये अत्यन्त भयकर, अपने वंशको चलानेवाला
और शत्रुओंका संहारक होगा’ ॥ २१ ॥

श्रुत्वा प्रदक्षिणं कृत्वा मुनिं तपनुमान्य च ॥ २२ ॥

पशुपप्रसयानाक्षं पशुगर्भसमप्रभम् ।

ततः सा गृहमागम्य पत्नी पुत्रमजायत ॥ २३ ॥

‘यह सुनकर रानीने मुनिको परिक्रमा की और उनसे विदा
लेकर वह अपने घर आनेपर उस रानीने एक पुत्रको जन्म
दिया जिसकी कान्ति कमलके भीतरी भागके समान सुन्दर
थी और नेत्र कमलदलके समान मनोहर थे ॥ २२-२३ ॥

सपत्न्या तु गरस्तस्यै दत्तो गर्भजिघांसया ।

गरेण सह तेनैव तस्मात् स सगरोऽभवत् ॥ २४ ॥

‘सौतेने इसके गर्भको नष्ट करनेके लिये जो गर (शिशु)
दिया था, उस गरके साथ ही वह बालक प्रकट हुआ,
इसलिये सगर नामसे प्रसिद्ध हुआ ॥ २४ ॥

स राजा सगरो नाम चः समुद्रमखानयत् ।

इष्टा चर्वणि वेंगेन आसयान इमाः प्रजाः ॥ २५ ॥

‘राजा सगर वे ही हैं, जिन्होंने पूर्वक दिन यज्ञको दीक्षा
ग्रहण करके गूढ़ार्थके वेगमे इन समस्त प्रजाओंको भयभीत
करते हुए अपने पुत्रोद्घात समुद्रको गूढ़वाया था ॥ २५ ॥

असमञ्जस्तु पुत्रोऽभूत् सगरस्येति नः श्रुतम् ।

जीवन्नेव स पित्रा तु निरस्तः पापकर्मकृत् ॥ २६ ॥

‘हमारे सुननेमें आया है कि सगरके पुत्र असमञ्ज हुए,
जिन्हें पापकर्मसे प्रवृत्त होनेके कारण पितान जीने जो ही
राज्यसे निकाल दिया था ॥ २६ ॥

अंशुमानपि पुत्रोऽभूदसमञ्जस्य वीर्यवान् ।

दिलीपीऽशुभनः पुत्रो दिलीपस्य भगीरथः ॥ २७ ॥

‘असमञ्जके पुत्र अंशुमान हुए, जो बड़े पराक्रमी थे ।
अंशुमानके दिलीप और दिलीपके पुत्र भगीरथ हुए ॥ २७ ॥

भगीरथात् ककुत्स्थश्च काकुत्स्था येन तु स्मृताः ।

ककुत्स्थस्य तु पुत्रोऽभूद् रघुर्येन तु राघवाः ॥ २८ ॥

‘भगीरथसे ककुत्स्थका जन्म हुआ, जिनसे उनके

वंशवाले 'काकुत्स्थ' कहलाते हैं। काकुत्स्थके पुत्र रघु हुए
जिनसे इस वंशके लोग 'रघव' कहलाये ॥ २८ ॥

रघोस्तु पुत्रस्तेजस्वी प्रवृद्धः पुरुषादकः ।

कल्माषपादः सौदास इत्येवं प्रथितो भुवि ॥ २९ ॥

'रघु'के तेजस्वी पुत्र कल्माषपाद हुए, जो बड़े होनपर
शापवश कुछ वर्षोंके लिये नरभक्षी राक्षस हो गये थे। वे इस
पृथ्वीपर सौदास नामसे विख्यात थे ॥ २९ ॥

कल्माषपादपुत्रोऽभूच्छृणुणास्त्विति नः श्रुतम् ।

यस्तु तद्वीर्यमासाद्य सहसैन्यो व्यनोनशत् ॥ ३० ॥

'कल्माषपाद'के पुत्र शङ्खण हुए, यह हमारे सुननेमें आया
है, जो युद्धमें सुप्रसिद्ध पराक्रम प्राप्त करके भी सेनाग्रहित
नष्ट हो गये थे ॥ ३० ॥

शङ्खणस्य तु पुत्रोऽभूच्छरः श्रीमान् सुदर्शनः ।

सुदर्शनस्याप्रिवर्णं अप्रिवर्णस्य शीघ्रगः ॥ ३१ ॥

'शङ्खण'के सुखीर पुत्र श्रीमान् सुदर्शन हुए। सुदर्शनके
पुत्र अप्रिवर्ण और अप्रिवर्णके पुत्र शीघ्रग थे ॥ ३१ ॥

शीघ्रगस्य मरुः पुत्रो भरोः पुत्रः प्रशुश्रुवः ।

प्रशुश्रुवस्य पुत्रोऽभूदम्बरीषो महामतिः ॥ ३२ ॥

शीघ्रगके पुत्र मरु, मरुके पुत्र प्रशुश्रुव तथा प्रशुश्रुवके
महाबुद्धिमान् पुत्र अम्बरीष हुए ॥ ३२ ॥

अम्बरीषस्य पुत्रोऽभूत्प्रह्वः सत्यविक्रमः ।

नहुषस्य च नाभागः पुत्रः परमधार्मिकः ॥ ३३ ॥

'अम्बरीष'के पुत्र सत्यपराक्रमी नहुष थे। नहुषके पुत्र

इत्यार्ये श्रीमद्भक्तिकीर्तये आदिकाण्डेऽप्योद्ध्याकाण्डे दशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यसामायण आदिकाण्डके अयोध्याकाण्डमें एक सौ दसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११० ॥

एकादशाधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठजीके समझानेपर भी श्रीरामको पिताकी आज्ञाके पालनसे विरत होते न देख भरतका
धरना देनेको तैयार होना तथा श्रीरामका उन्हें समझाकर अयोध्या लौटनेकी आज्ञा देना

वसिष्ठः स तदा राममुक्त्वा राजपुरोहितः ।

अब्रवीद् धर्मसंयुक्तं पुनरेवापरं वचनम् ॥ १ ॥

उस समय राजपुरोहित वसिष्ठने पूर्वोक्त बात कहकर पुनः
श्रीरामसे दूसरी धर्मयुक्त बातें कहीं— ॥ १ ॥

पुरुषस्येह जातस्य भवन्ति गुरुवः सदा ।

आचार्यश्चैव काकुत्स्थ पिता माता च राघव ॥ २ ॥

'रघु'नन्दन ! काकुत्स्थकुलभूषण ! इस संसारमें उत्पन्न हुए
पुरुषके सदा तीन गुरु होते हैं—आचार्य, पिता और माता ॥

पिता ह्येनं जनयति पुरुषं पुरुषवर्धन ।

प्रज्ञां ददाति चाचार्यस्तस्मात् स गुरुर्न्यते ॥ ३ ॥

'पुरुषप्रवर ! पिता पुरुषके शरीरको उत्पन्न करता है,
इसलिये गुरु है और आचार्य उसे ज्ञान देता है, इसलिये गुरु
कहलाता है ॥ ३ ॥

नाभाग तु, जो बड़े धर्मात्मा थे ॥ ३३ ॥

अजश्च सुव्रतश्चैव नाभागस्य सुतावुभौ ।

अजस्य चैव धर्मात्मा राजा दशरथः सुतः ॥ ३४ ॥

'नाभाग'के दो पुत्र हुए—अज और सुव्रत। अजके
धर्मात्मा पुत्र राजा दशरथ थे ॥ ३४ ॥

तस्य ज्येष्ठोऽसि दायदो राम इत्यभिविभुतः ।

तद् गृहाण स्वकं राज्यमवेक्ष्य जगन्नुप ॥ ३५ ॥

'दशरथ'के ज्येष्ठ पुत्र तुम हो, जिसको 'श्रीराम' के नामसे
प्रसिद्धि है। नरेश्वर ! यह अयोध्याका राज्य तुम्हारा है, इसे
ग्रहण करो और इसके देख-भाल करते रहो ॥ ३५ ॥

इक्ष्वाकूणां हि सर्वेषां राजा भवति पूर्वजः ।

पूर्वजे नावरः पुत्रो ज्येष्ठो राजाभिषिच्यते ॥ ३६ ॥

'समस्त इक्ष्वाकुवंशीयोंके यहाँ ज्येष्ठ पुत्र ही राजा होता
आया है। ज्येष्ठके होते हुए छोटा पुत्र राजा नहीं होता है।
ज्येष्ठ पुत्रका ही राजाक पदपर अभिषेक होता है ॥ ३६ ॥

स राघवाणां कुलधर्ममात्मनः

सनातनं नाद्य विहन्तुमर्हसि ।

प्रभूतरत्नामनुशाधि येदिनी

प्रभूतराष्ट्रां पितृव्यहायशः ॥ ३७ ॥

'भरायशस्वी श्रीराम ! रघुवंशीयोंका जो अपना सनातन
कुलधर्म है, उसको आज तुम नष्ट न करो। बहुत-से
अवान्तर देशोंवालों तथा प्रचुर रत्नराशिसे सम्पन्न इस
वसुधाका पिताको भाति पालन करो ॥ ३७ ॥

स तेऽहं पितुराचार्यस्तव चैव परतप ।

मम त्वं वचनं कुर्वन् नातिवर्तेः सतां गतिम् ॥ ४ ॥

'अबुआंको संताप देनेवाले रघुवीर ! मैं तुम्हारे पिताका और
तुम्हारा भी आचार्य हूँ, अतः मेरी आज्ञाका पालन करनेसे तुम
सन्तुष्टोंके पथका त्याग करनेवाले नहीं समझे जाओगे ॥ ४ ॥

इमा हि ते परिषदो ज्ञातयश्च नृपास्तथा ।

एषु तात चरन् धर्मं नातिवर्तेः सतां गतिम् ॥ ५ ॥

'तात ! ये तुम्हारे सभासद, बन्धु-बान्धव तथा सामन्त
राजा पधारे हुए हैं, इनके प्रति धर्मानुकूल वर्ताव करनेसे भी
तुम्हारे इस सम्मार्गका उल्लंघन नहीं होगा ॥ ५ ॥

वृद्धाया धर्मशीलाया यातुर्नार्हस्यवर्तितुम् ।

अस्या हि वचनं कुर्वन् नातिवर्तेः सतां गतिम् ॥ ६ ॥

'अम्मी धर्मपरयणा बूढ़ी माताकी बात तो तुम्हें कभी

सलनी ही नहीं चाहिये। इनकी आज्ञाका पालन करके तुम श्रेष्ठ पुरुषोंके आश्रयभूत धर्मका उल्लङ्घन करनेवाले नहीं माने जाओगे ॥ ६ ॥

भरतस्य वचः कुर्वन् याचमानस्य राघव ।
आत्मानं नातिवर्नेस्त्वं सत्यधर्मपराक्रम ॥ ७ ॥

'सत्य, धर्म और पराक्रमसे सम्पन्न रघुनन्दन भरत अपने आत्मस्वरूप तुमसे राज्य ग्रहण करने और अयोध्या शौभ्यको प्रार्थना कर रहे हैं, इनकी बात मान लेनेसे भी तुम धर्मका उल्लङ्घन करनेवाले नहीं कहलाओगे' ॥ ७ ॥

एवं मधुरमुक्तः स गुरुणा राघवः स्वयम् ।
प्रत्युवाच सपासीनं वसिष्ठं पुस्तकवधः ॥ ८ ॥

गुरु वसिष्ठने सुमधुर वचनसे जब इस प्रकार कहा, तब साक्षात् पुरोहित श्रीरामचन्द्रन वहाँ बैठे हुए वसिष्ठजीका यों उत्तर दिया ॥ ८ ॥

यन्मातापितरौ धृते तनये कुलः सदा ।
न सुप्रतिकरं तत् नु माता पित्रा च संकृतम् ॥ ९ ॥
पथाशक्तिप्रदानेन स्वापनोच्छादनेन च ।
निर्दोषं च प्रियव्रतं तथा संवर्धनेन च ॥ १० ॥

'माता और पिता पुत्रके प्रति जो सर्वदा श्रेष्ठपूर्ण वताव फरत हैं, अपनी शक्तिसे अन्तर दानसे स्वयं पालन-पोषण करने आदि मार्गसे यदा यदा चाहे बालके तथा पालन-पोषण करने आदिक द्वारा माता और पिताने जो उपकार किये हैं, उसका बदला सदा ही नहीं चुकाया जा सकता ॥ ९-१० ॥

स हि राजा दशरथः पिता जनयिता धम ।
आज्ञापयन्मां यत् तस्य न नमिष्या भविष्यति ॥ ११ ॥

'अतः' मर जन्मदाना पिता महाशय दशरथने मुझ को आज्ञा दी है, वह मिथ्या नहीं जायेंगे' ॥ ११ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण भरतः प्रत्यनन्तरम् ।
उवाच विपुलेश्वरः सुतं परमदुर्मनाः ॥ १२ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर चौड़ी छानावाले भरतजीका मन बहुत उद्विग्न हो गया। वे पास ही बैठे हुए मूल सुमन्त्रसे बोले— ॥ १२ ॥

इह तु स्थाण्डिले शीघ्रं कुशानाम्तरं सारथे ।
आर्यं प्रत्युपवेश्यामि यावन्मे सम्प्रासीदति ॥ १३ ॥
निराहारो निराश्रयो क्षत्रीयो यथा हिजः ।
शये पुरस्ताच्छालायां यावन्मां प्रतियास्यति ॥ १४ ॥

'सारथे ! आप इस चेदीपर शास्त्र ही बहुत-से कुश विष्णु राजिये। जबतक आर्य मुझपर प्रसन्न नहीं होंगे, तबतक मैं यहाँ इनके पास धरना दूँगा। जैसे साहूकार या महाजनके द्वारा निषेध किया हुआ ब्राह्मण उसके घरके दरवाजेपर पहुँचकर बिना स्वागत पाये पड़ा रहता है, उसी प्रकार मैं भी उपवासपूर्वक मुखपर आभरण डालकर इस कुटियाके सम्मने

बैठ जाऊँगा। जबतक मैं वहाँ बात मानकर ये अयोध्याको नहीं लौटूँगा तबतक मैं इसी तरह पड़ा रहूँगा' ॥ १३-१४ ॥

स तु रामभवेक्षन्तं सुमन्त्रं प्रेक्ष्य दुर्मनाः ।
कुशोत्तममुपस्थाप्य भूभावेवास्थितः स्वयम् ॥ १५ ॥

यह सुनकर सुमन्त्र श्रीरामचन्द्रजीका मुँह लाकने लगे। उन्हें इस अवस्थामें देख भरतके मनमें बड़ा दुःख हुआ और वे स्वयं ही कुशको चटाई बिछाकर जमीनपर बैठ गये ॥

तमुवाच महानेजा रामो राजर्षिसत्तमः ।
किं मां भरत कुर्वाणं तान् प्रत्युपवेश्यसे ॥ १६ ॥

तब महानेजस्वी राजर्षिशिरामणि श्रीरामने उनसे कहा—
तान् भरत मैं तुम्हारे क्या बुराई करता हूँ, जो मेरे आगे धरना दोगे ? ॥ १६ ॥

ब्राह्मणो ह्येकपाशेन नरान् रोद्धुमिहार्हति ।
न तु मूर्धाभिधिकाणां विधिः प्रत्युपवेशने ॥ १७ ॥

ब्राह्मण एक करबटसे साकर—धरना देकर मनुष्योंको अन्यायसे रोक सकता है परन्तु राजानिलक ग्रहण करनेवाले क्षत्रियाक लिये इस प्रकार धरना देनेका विधान नहीं है ॥

उत्तिष्ठ नरशार्दूल हित्वैतद् दारुणं व्रतम् ।
पुरवर्षासितं क्षिप्रमयोध्यां याहि राघव ॥ १८ ॥

'अतः' नरश्रेष्ठ रघुनन्दन ! इस कठोर व्रतका परित्याग करके उठो और यहाँ से शीघ्र ही अयोध्यापुरीको जाओ ।

आसीनस्त्वेव भरतः पौरजानपदा जनम् ।
उवाच सर्वतः प्रेक्ष्य किमार्थं नानुशासथ ॥ १९ ॥

यह सुनकर भरत वहाँ बैठ-बैठे ही सब ओर दृष्टि डालकर नगर और जनपदके लोगोंसे बोले—'आपलोग भैयाको क्यों नहीं समझाते हैं ?' ॥ १९ ॥

ते तदोचुर्महात्मानं पौरजानपदा जनाः ।
काकुत्स्थमभिजानीम सम्यग् वदति राघवः ॥ २० ॥

तब नगर और जनपदके लोग महान्या भरतसे बोले—
हम जानते हैं, काकुत्स्थ श्रीरामचन्द्रजीके प्रति आप समुत्तम-निलक भरतजी ठीक ही कहते हैं ॥ २० ॥

एषोऽपि हि महाभागः पिनुर्वचसि तिष्ठति ।
अत एव न शक्ताः स्यो व्यावर्तयितुमञ्जसा ॥ २१ ॥

'परन्तु ये महाभाग श्रीरामचन्द्रजी भी पिताकी आज्ञाके पालनमें लगे हैं, इसलिये यह भी ठीक ही है। अतएव हम इन्हें सहसा उस आंगसे लौटानेमें असमर्थ हैं' ॥ २१ ॥

तेषामाजाय वचनं रामो वचनमब्रवीत् ।
एवं निबोध वचनं सुहृदो धर्मचक्षुषाम् ॥ २२ ॥

उन पुरवासियोंके वचनका तात्पर्य समझकर श्रीरामने भरतसे कहा—'भरत ! धर्मपर दृष्टि रखनेवाले सुहृदोंके इस कथनको सुनो और समझो ॥ २२ ॥

एतर्ध्वोभयं श्रुत्वा सम्यक् सम्पश्य राघव ।
उत्तिष्ठ त्वं महाबाहो मां च स्पृश तथोदकम् ॥ २३ ॥

‘रघुनन्दन ! मेरी और इनकी दोनों बातोंको सुनकर उनपर सम्यक् रूपसे विचार करो । महायाहो ! अब शीघ्र उठो तथा मेरा और जल्ला स्पर्श करो’ ॥ २३ ॥

अथोत्थाय जलं स्पृष्ट्वा भरतो वाक्यमब्रवीत् ।

शृण्वन्तु मे परिषदो मन्त्रिणः शृणुयुस्तथा ॥ २४ ॥

न याचे पितरं राज्यं नानुशासामि मातरम् ।

एवं परमधर्मज्ञं नानुजानामि राघवम् ॥ २५ ॥

यह सुनकर भरत बैठकर खड़े हो गये और श्रीराम एवं जल्ला स्पर्श करके बोले—‘मेरे सभासद और मन्त्री सब लोग सुनें—न तो मैंने पिताजीसे राज्य माँगा था और न मातासे ही कभी इसके लिये कुछ कहा था । साथ ही, परम धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्रजीके वनवासमें मैं मेरी कोई सम्पत्ति नहीं है ॥ २४-२५ ॥

यदि त्वच्छयं वस्तव्यं कर्तव्यं च पितुर्वचः ।

अहमेव निवत्स्यामि चतुर्दश वने समाः ॥ २६ ॥

‘फिर भी यदि इनके लिये पिताजीकी आज्ञाका पालन करना और वनमें रहना अनिवार्य है तो इनके बदले मैं ही चौदह वर्षोंतक वनमें निवास करूँगा’ ॥ २६ ॥

धर्मात्मा तस्य सत्येन भ्रातुर्वाक्येन विस्मितः ।

उवाच रामः समीक्ष्य पौरजानपदं जनम् ॥ २७ ॥

भाई भरतकी इस सत्य वाक्यसे धर्मात्मा श्रीरामको बड़ा विस्मय हुआ और उन्होंने पुरस्कारी तथा राज्यनिवासी लोगोंकी आद देखकर कहा— ॥ २७ ॥

विक्रीतमाहितं क्रीतं यत् पित्रा जीवता मम ।

न तल्लोपयितुं शक्यं यथा वा धरतेन वा ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकादशाधिकशततमः सर्गः ॥ १११ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यसामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ ग्यारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १११ ॥

द्वादशाधिकशततमः सर्गः

ऋषियोंका भरतको श्रीरामकी आज्ञाके अनुसार लौट जानेकी सलाह देना, भरतका पुनः

श्रीरामके चरणोंमें गिरकर चलनेकी प्रार्थना करना, श्रीरामका उन्हें समझाकर

अपनी चरणपादुका देकर उन सबको विदा करना

तमप्रतिपतेजोभ्यां भ्रातृभ्यां रोमहर्षणम् ।

विस्मिताः संगमं प्रेक्ष्य समुपेता महर्षयः ॥ १ ॥

उन अनुपम तेजस्वी भ्राताओंका वह रोमाञ्चकारे समगम देख वहाँ आये हुए महर्षियोंको बड़ा विस्मय हुआ ॥ १ ॥

अन्तर्हिता मुनिगणाः स्थिताश्च परमर्षयः ।

तौ भ्रातरौ महाभागौ काकुत्स्थौ प्रशशंसिरे ॥ २ ॥

अन्तरिक्षमें अदृश्य पावसे खड़े हुए मुनि तथा वहाँ प्रत्यक्षरूपमें बैठे हुए महर्षि उन महान् भाग्यशाली काकुत्स्थवंशी बन्धुओंको इस प्रकार प्रशंसा करने लगे— ॥ २ ॥

‘पिताजीने अपने जीवनकालमें जो वस्तु बेंच दी है, या धरोहर रख दी है, अथवा खरीदी है, उसे मैं अथवा भरत कोई भी पल्ट नहीं सकता ॥ २८ ॥

उपाधिर्न भया कार्यो वनवासे जुगुप्सितः ।

युक्तमुक्तं च कैकेय्या पित्रा मे सुकृतं कृतम् ॥ २९ ॥

‘मुझे वनवासके लिये किसीको प्रतिनिधि नहीं बनाना चाहिये, क्योंकि सामर्थ्य रहते हुए प्रतिनिधिसे काम लेना लोकमें निन्दित है । कैकेयीने उचिन माँग ही प्रस्तुत की थी और मेरे पिताजीने उसे देकर पुण्य कर्म ही किया था । २९ । जानामि भरतं क्षान्तं शुरुस्तत्कारकारिणम् ।

सर्वमेवात्र कल्याणं सत्यसंघे महात्मनि ॥ ३० ॥

‘मैं जानता हूँ, भरत खड़े क्षमाशील और गुरुजनोंका स्तकार करनेवाले हैं, इन सत्यप्रतिज्ञ महात्मामें सभी कल्याणकारी गुण मौजूद हैं ॥ ३० ॥

अनेन धर्मशीलेन वनत् प्रत्यागतः पुनः ।

भ्रात्रा सह पविष्यामि पृथिव्याः पतित्तमः ॥ ३१ ॥

‘चौदह वर्षोंकी अवधि पूरी करके जब मैं वनसे लौटूँगा, तब अपने इन धर्मशील भाईके साथ इस भूमण्डलका श्रेष्ठ राजा होऊँगा ॥ ३१ ॥

वृत्तो राजा हि कैकेय्या यथा तद्वचनं कृतम् ।

अनृतान्मोचयानेन पितरं तं महीपतिम् ॥ ३२ ॥

‘कैकेयीने राजासे वर माँगा और मैंने उसका पालन स्वीकार कर लिया, अतः भरत । अब तुम मेरा कहना मानकर उस वरके पालनद्वारा अपने पिता महाराज दशरथको असत्यके बन्धनसे मुक्त करो’ ॥ ३२ ॥

सदासीं राजपुत्रीं चै धर्मज्ञौ धर्मविक्रमौ ।

श्रुत्वा वयं हि सम्भाषामुभयोः स्पृहयामहे ॥ ३ ॥

‘ये दोनों शकुन्तला सदा श्रेष्ठ, धर्मके ज्ञाता और धर्ममार्गपर ही चलनेवाले हैं । इन दोनोंको बातचीत सुनकर हमें उसे जानकार सुनने रहनेकी ही इच्छा होती है ॥ ३ ॥

ततस्तद्विगणाः क्षिप्रं दशमीववधैषिणः ।

भरतं राजशार्दूलमित्यूचुः संगता वचः ॥ ४ ॥

तदनन्तर दशमीव शवणक वधकी अभिलाषा रखनेवाले ऋषियोंने मिलकर राजसिंह भरतसे तुरंत ही यह बात कही— ॥ ४ ॥

कुले जात महाप्राज्ञ महावृत्त महायशः ।
ग्राह्यं रामस्य वाक्यं ते पितरं वदस्वमेव ॥ ५ ॥

‘महाप्राज्ञ ! तुम उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए हो । तुम्हारा आचरण बहुत उत्तम और यश महान् है । यदि तुम अपने पिताको और देखो—उन्हें सुख पहुँचाना चाहो तो तुम्हें श्रीगमचन्द्रजीको बात मान लेनी चाहिये ॥ ५ ॥

सदानुगमिभिः रामं वयमिच्छामहे पितुः ।
अनूगतास्तु कैकेय्याः स्वर्गं दशरथो गतः ॥ ६ ॥

‘हमलोग इन श्रीरामको पिताके ऋणसे सदा उत्तरण करनेवाला चाहते हैं । कैकेयीका ऋण बुझा देनेका कारण हो गजा दशरथ स्वर्गमें पहुँचे हैं ॥ ६ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं गन्धर्वाः सप्तहर्षयः ।
राजर्षयश्चैव तथा सर्वे स्वां स्वां गतिं गताः ॥ ७ ॥

इतना कहकर वहाँ आये हुए गन्धर्व, महर्षि और राजर्षि सब अपने-अपने स्थानका चले गये ॥ ७ ॥

ज्ञादितसेन वाक्येन शशुधे शुभदर्शनः ।
राघः संहृष्टवदनस्तानुषीनभ्यपूजयत् ॥ ८ ॥

जिनके दर्शनसे जगत्का कल्याण हो जाता है, वे भगवान् श्रीराम महर्षियोंके वचनसँ रहन प्रसन्न हुए । उनका मुख तारास्त्राक्षमें दिव्य उभा, इससे उनकी कृपा इन्धो हुई और उन्होंने उन महर्षियोंको सादर प्रशंसा की ॥ ८ ॥

प्रस्तागावस्तु भरतः स आद्या सज्जमानया ।
कृताञ्जलिरित्वा वाक्यं राघवं पुनरब्रवीत् ॥ ९ ॥

परतु भरतका साधु शरीर धरा ठठा । वे स्तब्धकङ्कणी हुई गवानसे हाथ जोड़कर श्रीगमचन्द्रजीसे बोले— ॥ ९ ॥

राम धर्ममये प्रेक्ष्य कुलधर्मानुसृततम् ।
कर्तुमर्हसि काकुत्स्थ मय पातुश्च वाचनाम् ॥ १० ॥

‘काकुत्स्थकुलभूषण श्रीराम ! हमारे कुलधर्मसे सम्बन्ध रखनेवाला जो त्योष्ट्र पूजका राज्यग्रहण और प्रजापालनरूप धर्म है, उसकी आर दृष्टि हालकर आप मेरी तथा माताका गाथना अफल काजिये ॥ १० ॥

रक्षितुं सुमहद् राज्यमहपेकस्तु नोत्सहे ।
पीरजानपतांश्चापि रक्तान् रञ्जयितुं तदा ॥ ११ ॥

मे अँकल हो इस विद्वान् राज्यका रक्षा नहीं कर सकता तथा आपको चरणार्प अनुराग रखनेवाले इन पुरुषात्मा तथा मनपटुतामें लोगोंको भी आपके बिना प्रसन्न नहीं रख सकता ॥

ज्ञातयश्चापि योषाश्च भिज्राणि सुहृदश्च नः ।
त्वामेव हि प्रतीक्षन्ते पर्जन्यमिव कर्षकाः ॥ १२ ॥

‘जैसे किसान मेघको प्रतीक्षा करने रहते हैं, उसी प्रकार हमारे बन्धु बान्धव, योद्धा, मित्र और सुहृद् सब लोग आपकी ही बात जानते हैं ॥ १२ ॥

इदं राज्यं महाप्राज्ञ स्थापय प्रतिपद्य हि ।
शक्तिगान् स हि काकुत्स्थ लोकस्य परिपालने ॥ १३ ॥

‘महाप्राज्ञ ! आप इस राज्यको स्वीकार करके दूसरे किसीको इसके पालनकर भार सौंप दीजिये । वही पुरुष आपके प्रजावर्ग अथवा लोकका पालन करनेमें समर्थ हो सकता है ॥ १३ ॥

एवमुक्त्वापतद् भ्रातुः पादयोर्भरतस्तदा ।
भृशं सम्मार्थयापास राघवेऽतिप्रियं वदन् ॥ १४ ॥

ऐसा कहकर भरत अपने भाईके चरणोंपर गिर पड़े । उस समय उन्होंने श्रीरघुनाथजीसे अत्यन्त प्रिय वचन बोलकर उनसे राज्यग्रहण करनेके लिये बड़ी प्रार्थना की ॥ १४ ॥

तपङ्गे भ्रातरं कृत्वा रामो वचनमब्रवीत् ।
इयाम् नलिनपत्राक्षं मनहंसस्वरः स्वयम् ॥ १५ ॥

तब श्रीरामचन्द्रजीने इयामवर्ण कपलनयन भाई भरतको उठाकर गादमें बिठा लिया और मदमत्त हंसके समान मधुर स्वरमें स्वयं यह बात कही— ॥ १५ ॥

आगता त्वामियं बुद्धिः स्वजा वैनयिकी च पा ।
भृशपुत्सहसे तात रक्षितुं पृथिवीधमि ॥ १६ ॥

तात ! तुम्हें जो यह स्वाभाविक विनयशाल बुद्धि प्राप्त हुई है इस बुद्धिके द्वारा तुम समस्त भूगण्डलको रक्षा करनेमें भी पूर्णरूपसे समर्थ हो सकते हो ॥ १६ ॥

अमार्त्यश्च सुहृदिश्च बुद्धिमद्भिश्च मन्त्रिभिः ।
सर्वकार्याणि सम्मन्त्रय महान्त्यपि हि कारय ॥ १७ ॥

‘इनके भित्ति अमा यों सुहृदों और बुद्धिगाम् मन्त्रियोंसे सम्मन्त्र करके उनका द्वारा सब कार्य, वे किये हो खड़े क्यों न हो, करा लिया करो ॥ १७ ॥

लक्ष्मीश्चन्द्रापेयाद् वा हिमवान् वा हिमे त्यजेत् ।
अनीयान् सागरो वेलो न प्रनिजामहे पितुः ॥ १८ ॥

‘चन्द्रमासे उसकी प्रभा अलग हो जाय, हिमालय हिमका परिचय कर दे अथवा समुद्र अपनी रीपाका लोचनर आगे बढ़ जाय, किंतु मैं पिताकी प्रतिज्ञा नहीं तोड़ सकता ॥ १८ ॥

कामाद् वा तात लोभाद् वा पात्रा तुभ्यमिदं कृतम् ।
न तन्मनासि कर्तव्यं वर्तितव्यं च मातुवत् ॥ १९ ॥

‘तात ! माता कैकेय्याने कामनासे अथवा लोभवश तुम्हारे लिये जो कुछ किया है उसको मनमें न लाना और उसके प्रति सदा वैरा हो वर्तित करना जैसा अपनी पूजनोया माताके प्रति करना उचित है ॥ १९ ॥

एवं ब्रुवाणं भरतः कौसल्यासुतमब्रवीत् ।
तेजसाऽऽदित्यसंकाशं प्रतिपद्यन्दर्शनम् ॥ २० ॥

जो सूर्यके समान तेजस्वी है तथा जिनका दर्शन प्रतिपदा (द्वितीया) के चन्द्रमाकी भाँति आह्लादजनक है, उन कौसल्यानन्दन श्रीरामके इस प्रकार कहनेपर भरत उनसे यों बोले— ॥ २० ॥

अधिरोहार्थं पादाभ्यां पादुके हेमभूषिते ।
एते हि सर्वलोकस्य योगक्षेमं विधास्यतः ॥ २१ ॥

'आर्य ! ये दो सुवर्णभूषित पादुकएँ आपके चरणोंमें अर्पित हैं, आप इनपर अपने चरण रखें। ये हों सम्पूर्ण जगतके योगक्षेमका निर्वाह करंगी' ॥ २१ ॥

सोऽर्धिरुद्रा भरव्याघ्रः पादुके स्वयमुच्य च ।

प्रायच्छत् सुमहातेजा भरताय महात्मने ॥ २२ ॥

तब महातनखी गुरुवसिष्ठ श्रीरामने उन पादुकाओंपर चढ़कर उन्हें फिर अलग कर दिया और मङ्गला भजनको सौंप दिया ॥ २२ ॥

स पादुके सम्प्रणम्य राघं चवनमब्रवीत् ।

चतुर्दश हि वर्षाणि जटाचीरधरो ह्यहम् ॥ २३ ॥

फलमूलाशनो धीर भवेयं रघुनन्दन ।

तवागमनपाकाङ्क्षन् वसन् वै नगराद् बहिः ॥ २४ ॥

तब पादुकयोर्नम्य राज्यतन्त्रं परेनय ।

उन पादुकाओंको प्रणाम करके भरतने श्रीरामसे कहा—

धीर रघुनन्दन ! मैं भी चौदह वर्षोंतक जटा और

शीर धारण करके फल मूलका भोजन करता हुआ आपके

आगमनकी प्रतीक्षामें नगरसे बाहर ही रहूँगा । परेनय ! इनमें

दिनोत्तक राज्यका सारा भार आपको इन चरणपादुकाओंपर

ही रखकर मैं आपको बाट ओहना रहूँगा ॥ २३-२४ ॥

चतुर्दशे हि सम्पूर्णं वर्षेऽहनि रघुनम ॥ २५ ॥

न ब्रक्ष्यामि यदि त्वां तु प्रवेक्ष्यामि श्नुताशनम् ।

'रघुकुलीशरोमणे ! यदि चौदहवर्ष पूर्ण होनेपर नूतन

वर्षके प्रथम दिन ही मुझ आपको दर्शन नहीं मिलेगा तो मैं

जलती हुई आगमें प्रवेश कर जाऊँगा' ॥ २५ ॥

तथेति च प्रतिज्ञाय तं परिहृज्य सादरम् ॥ २६ ॥

शत्रुघ्नं च परिहृज्य वचने चेदमब्रवीत् ।

श्रीरामचन्द्रजीने 'बहुत अच्छा' कहकर स्वीकृति दे दी

और बड़े आदरके साथ भरतको हृदयमें खड़ाया । नम्रशान्

शत्रुघ्नको भी छानीसे लगाकर यह बात कही— ॥ २६ ॥

मातरं रक्ष कैकेयीं या रोषं कुरु तां प्रति ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायणे आदिकाव्येऽथोद्देश्याकाण्डे द्वादशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अथोद्देश्याकाण्डमें एक सौ बारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११२ ॥

त्रयोदशाधिकशततमः सर्गः

भरतका भरद्वाजसे मिलते हुए अयोध्याको लौट आना

ततः शिरसि कृत्वा तु पादुके भरतस्तदा ।

आरुरोह रथं हृष्टः शत्रुघ्नसहितस्तदा ॥ १ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजीकी दाहिनी चरणपादुकाओंको अपने

मस्तकपर रखकर भरत शत्रुघ्नके साथ प्रसन्नतापूर्वक

रथपर बैठे ॥ १ ॥

वसिष्ठो वामदेवश्च जाबालिश्च दृढव्रतः ।

अपनः प्रययुः सर्वे मन्त्रिणो मन्त्रपूजिताः ॥ २ ॥

मया च सीतया चैव शोभोऽसि रघुनन्दन ।

इत्युक्त्वाश्रुपर्गिताक्षो भ्रातरं विससर्ज ह ॥ २८ ॥

'रघुनन्दन ! मैं तुम्हें अपनी और सीताकी शपथ दिलाकर

कहता हूँ कि तुम माना कैकेयीकी रक्षा करना, उनके प्रति कभी क्रोध

न करना' इतना कहते-कहते उनकी आँखोंमें आँसू उमड़ आये

उन्होंने व्यथित हृदयमें भाई शत्रुघ्नको विदा किया ॥ २८-२८ ॥

स पादुके ते भरतः स्वलेकृते

महोञ्ज्वले सम्परिगृह्य धर्मवित् ।

प्रदक्षिणं चैव चकार राघवं

चकार धैवोत्तमनागमूर्धनि ॥ २९ ॥

धर्मज्ञ भरतने धर्मप्राप्ति अलंकृत की हुई उन परम

उज्ज्वल चरणपादुकाओंको लेकर श्रीरामचन्द्रजीकी परिक्रमा

की तथा उन पादुकाओंको राजाकी सकारोंमें आगेवाले

सर्वश्रेष्ठ गजगजक मस्तकपर स्थापित किया ॥ २९ ॥

अथानुपूर्व्यां प्रतिपूज्य ते जनं

गुरुंश्च मन्त्रीन् प्रकृतीस्तथानुजौ ।

व्यसर्जयद् राघववंशवर्धनः

स्थितः स्वधर्मे हिमवानिवाचलः ॥ ३० ॥

तदनन्तर अपने धर्ममें हिमालयकी भाँति अविचल

भावमें स्थित रहनेवाले गुरुवंशवर्धन श्रीरामने क्रमशः वहाँ

आये हुए जनसमुदाय, गुरु, मन्त्री, प्रजा तथा दोनों भाइयोंको,

यथायोग्य सत्कार करके उन्हें विदा किया ॥ ३० ॥

ते मातरो ब्राह्मगृहीतकण्ठधो

दुःखेन नामन्त्रयितुं हि शोकः ।

स चैव मातृरभिवाद्य सर्वा

भन्दन् कुटीं स्वां प्रविधेश रामः ॥ ३१ ॥

उस समय कीसल्या आदि सभी माताओंका गला

अनुओंसे रूँध गया था । वे दुःखके कारण श्रीरामको

सम्बोधित भी न कर सकीं । श्रीराम भी सब माताओंको

प्रणाम करके गते हुए अपनी कुटियाँमें चले गये ॥ ३१ ॥

वसिष्ठ, वामदेव तथा जाबालिश्च दृढव्रतः ।

अपनः प्रययुः सर्वे मन्त्रिणो मन्त्रपूजिताः ॥ २ ॥

वसिष्ठ, वामदेव तथा दृढव्रतः ।

अपनः प्रययुः सर्वे मन्त्रिणो मन्त्रपूजिताः ॥ २ ॥

वसिष्ठ, वामदेव तथा दृढव्रतः ।

अपनः प्रययुः सर्वे मन्त्रिणो मन्त्रपूजिताः ॥ २ ॥

वसिष्ठ, वामदेव तथा दृढव्रतः ।

अपनः प्रययुः सर्वे मन्त्रिणो मन्त्रपूजिताः ॥ २ ॥

वसिष्ठ, वामदेव तथा दृढव्रतः ।

अपनः प्रययुः सर्वे मन्त्रिणो मन्त्रपूजिताः ॥ २ ॥

वसिष्ठ, वामदेव तथा दृढव्रतः ।

अपनः प्रययुः सर्वे मन्त्रिणो मन्त्रपूजिताः ॥ २ ॥

वसिष्ठ, वामदेव तथा दृढव्रतः ।

अपनः प्रययुः सर्वे मन्त्रिणो मन्त्रपूजिताः ॥ २ ॥

पूर्वादिशाकी ओर प्रस्थित हुए ॥ ३ ॥

पश्यन् धातुसहस्राणि रम्याणि विविधानि च ।

प्रययौ तस्य पार्श्वेन ससैन्यो भरतस्तदा ॥ ४ ॥

उस समय भरत अपनी सैन्यके साथ सहस्रों प्रकारके रमणीय धातुआका देखते हुए चित्रकूटक किनारेमें होकर मकड़े ॥ ४ ॥

अदुराधिसूकृतस्य दृदर्श भरतस्तदा ।

आश्रमं यत्र स मुनिर्भरद्वाजः कृतालयः ॥ ५ ॥

चित्रकूटमें थोड़ी ही दूर जानपर भरतने वह आश्रम देखा, जहाँ मुनिवर भरद्वाजजी निवास करते थे* ॥ ५ ॥

स तपःश्रममागन्ध भरद्वाजस्य वीर्यवान् ।

असतीर्य रथात् पादौ खन्दे कुलनन्दनः ॥ ६ ॥

अपने कुलकी आनन्दित कनकाले पराक्रमी भरत महर्षि भरद्वाजके उस आश्रमपर पहुँचकर रथमें उतर पड़े और उन्होंने मुनिक चरणाम प्रणाम किया ॥ ६ ॥

मनो हृष्टो भरद्वाजो भरतं वाक्यमब्रवीत् ।

अपि कृत्य कृते तात रामेण च समागतम् ॥ ७ ॥

उनके आनन्दसे महर्षि भरद्वाजका खड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने भरतसे पूछा—'तात ! क्या तुम्हारा कार्य सम्पन्न हुआ ? क्या श्रीरामचन्द्रजीसे भेट हुई ?' ॥ ७ ॥

एवमुक्तः स तु ततो भरद्वाजेन धीमता ।

प्रत्युवाच भरद्वाजं धरतो धर्मवत्सलः ॥ ८ ॥

तृप्तिमान् भरद्वाजजीक इस प्रकार पूछनपर धर्मवत्सल भरतने ठीक इस प्रकार उत्तर दिया— ॥ ८ ॥

स वाच्यमानो गुरुणा यथा च दृढविक्रमः ।

राघवः परमर्षीतो वसिष्ठं वाक्यमब्रवीत् ॥ ९ ॥

'मुने ! भगवान् श्रीराम अपने पराक्रमपर दृढ़ रहनेवाले हैं। मैंने उनसे बहुत प्रार्थना की। गुरुजीने भी अनुरोध किया। तब उन्होंने आत्मान प्रसन्न होकर गुरुद्वारा त्रिभुवनका हस्त भेंट कर दिया— ॥ ९ ॥

पितुः प्रतिज्ञां तामेव पालयिष्यामि तत्त्वतः ।

छातुर्दश हि वर्षाणि या प्रतिज्ञा धिगूर्ध्वम् ॥ १० ॥

'मैं चौदह वर्षोंतक वनमें रहूँ, इसका लिये मेरे पितृजीन की प्रतिज्ञा कर ली थी, उनकी उस प्रतिज्ञाका ही मैं यथार्थरूपमें पालन करूँगा' ॥ १० ॥

एवमुक्तो महाप्राज्ञो वसिष्ठः प्रत्युवाच ह ।

वाक्यज्ञो वाक्यकुशलं राघवं खननं महत् ॥ ११ ॥

उनके ऐसा कहनेपर आतंक धर्मकी समझनेवाले

महाज्ञानी वसिष्ठजीने बातचीत करनेमें कुशल श्रीगन्धुनाथजीसे यह महत्त्वपूर्ण बात कही— ॥ ११ ॥

एते प्रयच्छं संहृष्टः पादुके हेमभूषिते ।

अयोध्यायां महाप्राज्ञं योगक्षेमकरो भव ॥ १२ ॥

'महाप्राज्ञ ! तुम प्रसन्नतापूर्वक से स्वर्णभूषित पादुकारों अपने प्रतिनिधिक रूपमें भरतको दे दो और इन्होंने द्वारा अयोध्याक यागक्षेमका निर्वाह करो' ॥ १२ ॥

एवमुक्तो वसिष्ठेन राघवः प्राङ्मुखः स्थितः ।

पादुके हेमविकृते मम राज्याय ते ददौ ॥ १३ ॥

'गुरु वसिष्ठजीके ऐसा कहनेपर पूर्वाभिमुख खड़े हुए श्रीगन्धुनाथजीने अयोध्याक राज्यका सत्तालन करनेके लिये ये दोनों स्वर्णभूषित पादुकारों मुझ दे दों' ॥ १३ ॥

निवृत्तोऽहमनुज्ञातो रामेण सुमहात्मना ।

अयोध्यामेव गच्छामि गृहीत्वा पादुके शुभे ॥ १४ ॥

'तपश्चात् मैं महात्मा श्रीरामकी आज्ञा पाकर लौट आया हूँ और उनकी इन महत्त्वमयी चरणपादुकाओंको लेकर अयोध्याको ही जा रहा हूँ' ॥ १४ ॥

एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं भरतस्य महात्मनः ।

भरद्वाजः शुभतरं मुनिर्वाक्यमुदाहरत् ॥ १५ ॥

महात्मा भरतकी यह शुभ वचन सुनकर भरद्वाज मुनिने यह परम महत्त्वमयी बात कही— ॥ १५ ॥

नैवद्वित्रं नरव्याघ्रे शीलवृत्तविदां वरे ।

यदार्यं त्वयि तिष्ठेत् निम्रोत्पृष्टमिवोदकम् ॥ १६ ॥

'भगत ! तुम मनुष्योंमें सिद्धके समान और तथा शील और महाचारक ज्ञानाश्रम श्रेष्ठ हो जैसे जल गीली भूतोंवाले जलशायमें सब ओरसे बहकर धमक आता है, उसी प्रकार तुममें सारे ब्रह्म गुण स्थित हैं—यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है' ॥ १६ ॥

अनृणः स महाबाहुः पिता दशरथस्तव ।

यस्य त्वमोदशः पुत्रो धर्मात्मा धर्मवत्सलः ॥ १७ ॥

'तुम्हारे पिता महाबाहु राजा दशरथ सब प्रकारसे उज्ज्वल हो गये, जिनके दस-जैसे धर्मप्रयी एवं धर्मात्मा पुत्र हैं' ॥ १७ ॥

ममृषि तु महाप्राज्ञमुक्तवाक्यं कृताञ्जलिः ।

आपन्नचित्तुमारेभं चरणायुपगृह्य च ॥ १८ ॥

उन महाज्ञानी महर्षिके ऐसा कहनेपर भरतने हाथ जोड़कर उनके चरणोंका स्पर्श किया, फिर वे उनसे जानेकी आज्ञा लीको उद्यत हुए ॥ १८ ॥

* वह आश्रम यमुनासे दक्षिण दिक्कमें चित्रकूटक कुछ निकट था। गङ्गा और यमुनाके बीच प्रजागवाला आश्रम वहाँ वनमें आज्ञा समाय श्रीगणेशजी तथा भगवद् अर्चने दिव्यतम किया था इसमें भिन्न जान पड़ता है। यहाँ इस आश्रमपर भरद्वाजसे मिलनेके बाद भरत आदिनक यमुना पार करनक उरलस्य मिलन है— इनके यमुना दिव्यो गरी गन्धर्वमिलनोम् । इस दिव्यो आश्रमसे श्रीगणेश और भरतके समागमका समाचार शोध प्राप्त हो सकता था। इनोपलये भरद्वाजजी भरतके लौटनेके समय यहाँ मौजूद थे।

ततः प्रदक्षिणं कृत्वा भरद्वाजं पुनः पुनः ।
भरतस्तु ययौ श्रीमानयोध्यां सह भन्निधिः ॥ १९ ॥

तदनन्तर श्रीमान् भरत बारंबार भरद्वाज मुनिके यत्किम्
करके भन्नियोगहित अयोध्याको ओर चल दिवें ॥ १९ ॥

यानैश्च शकटैश्चैव हयैर्नार्गैश्च सा घमूः ।
पुनर्निवृत्ता विस्तीर्णा भरतस्यानुयायिनी ॥ २० ॥

फिर वह विस्तृत सेना रथा, छकड़ा गाँड़ो और हाथियोंके
साथ भरतका अनुसरण करती हुई अयोध्याको लौटी ॥ २० ॥

ततस्ते यमुनां दिव्यां नदीं तीर्त्वार्मिभालिनीम् ।
दक्षशूलां पुनः सर्वे गङ्गा शिवजलां नदीम् ॥ २१ ॥

तत्पश्चात् आगे जाकर इन सब लोगोंने तरंग-मालाओंमें
सुशोभित दिव्य नदी यमुनाको पार करके पुनः शुभसांकेतिका
गङ्गाजीका दर्शन किया ॥ २१ ॥

तां रम्यजलसम्पुर्णां संतीर्य सहवान्धवः ।
शृङ्गवेरपुरं रम्यं प्रविशेश ससैनिकः ॥ २२ ॥

इत्यार्ये श्रीमद्वाल्मीकीविरायायणे आदिकाण्डेऽयोध्याकाण्डे त्रयोदशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्णीत अरण्यगमायण आदिकाण्डके अयोध्याकाण्डमें एक सौ तेरहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११३ ॥

चतुर्दशाधिकशततमः सर्गः

भरतके द्वारा अयोध्याकी दुखस्थाका दर्शन तथा अन्तःपुरमें प्रवेश करके भरतका दुःखी होना

स्निग्धगम्भीरघोषेण स्वन्दनेनोपघान् प्रभुः ।
अयोध्यां भरतः क्षिप्रं प्रविशेश महायशः ॥ १ ॥

इसके बाद प्रभावशाली मण्डलशाली भरतने स्निग्ध
गम्भीर गम्भीर घोषमें युक्त रथके द्वारा यात्रा करके शीघ्र ही
अयोध्यामें प्रवेश किया ॥ १ ॥

बिहग्लोलूकवरितामालीनधरवारणाम् ।
तिपिराभ्याहतो कालीयप्रकाशो निशामिव ॥ २ ॥

उस समय वहाँ बिलाल और डल्लू धिंधर रहे थे । धरोके
किवाड़ बंद थे । सारे नगरमें अन्धकार छा रहा था । प्रकाश
न होनेके कारण वह पुरी कृष्ण पक्षकी काली रातके समान
जान पड़ती थी ॥ २ ॥

राहुशत्रो, प्रियां पत्नीं श्रिता प्रज्वलितप्रधाम् ।
प्रहेणाभ्युदितेनैकां रोहिणीमिव पीडिताम् ॥ ३ ॥

जैसे भन्दयाकी प्रिय पत्नी और अपनी शोभासे प्रकाशित
कान्तिशाली रौतियों उदित हुए राहु नामक ग्रहके द्वारा अपने
पतिके इस लिये जानपर अकेली—असहाय ही जानी है,
वसी प्रकार दिव्य ऐश्वर्यसे प्रकाशित हानेजाली अयोध्या
राजाके कालकवलित हो जानेके कारण पीडित एवं असहाय
हो रही थी ॥ ३ ॥

अल्पोष्णाक्षुब्धसलिलां धर्मतप्तविहगमाम् ।
लीनमीनझषयाहां कृशां गिरिन्दीपिव ॥ ४ ॥

यह पुरी उस पर्वतीय नदीको घाँत कृशकाय दिखायी

फिर बन्धु-बान्धवों और सैनिकोंके साथ मनोहर जलसे भरी
हुई गङ्गाके भी पार होकर वे परम रमणीय शृङ्गवेरपुरमें जा पहुँचे ।
शृङ्गवेरपुराद् भूय अयोध्यां संदर्श ॥ १ ॥

अयोध्यां तु तदा दृष्ट्वा पित्रा भ्रात्रा विवर्जिताम् ॥ २ ॥
भरतो दुःखसंतप्तः सारथिं चेदमब्रवीत् ।

शृङ्गवेरपुरमें प्रस्थान करनेपर उन्हें पुनः अयोध्यापुरीका
दर्शन हुआ, जो उस समय पिता और भाई दोनोंसे विहीन
थी । उसे देखकर भरतने दुःखमें संतप्त हो सारथिसे इस
प्रकार कहा— ॥ २ ॥

सारथे पश्य विध्वस्ता अयोध्या न प्रकाशते ॥ २४ ॥
निराकारा निरानन्दा दीना प्रतिहतस्वना ॥ २५ ॥

सारथि सुमन्त्रजी ! देखिये, अयोध्याकी सारी शोभा नष्ट
हो गयी है । अब यह पहलेंका भाँति प्रकाशित नहीं होती है,
इसके वह सुन्दर रूप, वह आनन्द जाना रहा । इस समय
यह अत्यन्त हीन और नीरव हो रही है ॥ २४-२५ ॥

इत्यार्ये श्रीमद्वाल्मीकीविरायायणे आदिकाण्डेऽयोध्याकाण्डे त्रयोदशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्णीत अरण्यगमायण आदिकाण्डके अयोध्याकाण्डमें एक सौ तेरहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११३ ॥

देवी श्री, जिसका जल मृगकी किरणोंमें लपकर कुछ गरम
और गैदल्य हो रहा हो, जिसके पक्षी घूपस संतप्त होकर भाग
गये हों तथा जिसके मीन, मत्स्य और ग्राह गहरे जलमें
छिप गये हों ॥ ४ ॥

विधूमामिव हेमाभां शिखामग्रे समुत्थिताम् ।
हविरभ्युक्षिता पक्षाच्छिखां विप्रलथ गताम् ॥ ५ ॥

जो अयोध्या पहले धूमरहित सुनहरी कान्तिवाली
प्रज्वलित आग्निशिखाके समान प्रकाशित होनी थी, वही
आगमवनवालेके बाद हवनीय दुग्धमें सोयी गयी अशिकों
ज्वालक समान बुझकर विलीन-सी हो गयी है ॥ ५ ॥

विध्वस्तकवचां रुग्णगजवाजिरथध्वजाम् ।
हतप्रवीरापापश्रां क्षमूपिव महाहवे ॥ ६ ॥

उस समय अयोध्या महासमरमें संकटग्रस्त हुई उस
सेनाके समान प्रतीत होती थी, जिसके कवच कटकर गिर
गये हों, हाथी, घोड़े, रथ और ध्वजा छिन्न-भिन्न हो गये हों
और मुख्य-मुख्य वीर मार डाले गये हों ॥ ६ ॥

सफेनां सखनां भूत्वा सागरस्य समुत्थिताम् ।
प्रशान्तमारुतोद्धतां जलोर्मिमिव निःस्वनाम् ॥ ७ ॥

प्रबल वायुक वेगसे फेन और गर्जनाके साथ उठी हुई
समुद्रकी उन्नाल तरंग सदृश वायुके शान्त हो जानेपर जैसे
निश्चित और नोच हट जाते हैं उसी प्रकार कोलाहलपूर्ण
अयोध्या अब शब्दशून्य-सी जान पड़ती थी ॥ ७ ॥

त्यक्ता यज्ञायुधैः सर्वैरभिरुपैश्च याजकैः ।

मृत्याकाले सुनिवृत्त खेदि गतगवापिव ॥ ८ ॥

यज्ञकाल समाप्त होनेपर 'स्पर्श' आदि यज्ञसम्बन्धी आयुधों तथा श्रेष्ठ याजकोंमें सुनी हुई वंसी जैसे मन्त्राच्चारणकी ध्वनिमें रोहन हो जानों हैं। उसी प्रकार अयोध्या सुनमान दिखायी देती थी ॥ ८ ॥

गोष्ठमध्ये स्थितामार्ताभिचरन्ती नव तृणम् ।

गोवृषेण परित्यक्ता गवा पत्नीमिवोत्सृक्ताम् ॥ ९ ॥

जैसे कोई गाव सड़िके साथ समागमके लिये उम्मुक हो, उसी अवस्थामें उसे सड़िके आलम फेर दिया गया हो और वह नूतन घास चरना छोड़कर आतं भावमें गोष्ठमें बैठी हुई गड़ों हो, उसी तरह अयोध्यापुरी भी आन्तरिक बदलान पड़ित थी ॥ ९ ॥

प्रभाकराद्यैः सुस्त्रिधैः प्रज्वलद्भिरिवोत्तपैः ।

वियुक्ता मणिभिर्जालैर्नखां मुक्तावलीमिव ॥ १० ॥

श्रीराम आदिसं रीतिन हुई अयोध्या मोंतियोंके उस नूनन भास्वके समान श्रीहीन हो गयी थी, जिसकी अत्यन्त चिकनी-चमकीली उज्ज्वल तथा अच्छी गालिकी पद्ममणि आदि मणियाँ उसमें विकारकर अलग कर दी गयीं हैं ॥ १० ॥

सहसाधरिता स्थानान्महीं पुण्यक्षयाद् गताम् ।

संज्ञसंज्ञितिविस्तारी तारापिव दिवश्च्युताम् ॥ ११ ॥

जो पुण्य-क्षय होवके कारण सहसा अपने स्थानसे भट हो पृथ्वीपर आ पहुँची हो अनाथ जिसकी विस्तृत प्रभा क्षीण हो गयी हो आकाशमें गिरे हुई उस तारिकाके धर्ति अयोध्या शोभाहीन हो गयी थी ॥ ११ ॥

पुष्पनद्या वसन्तान्तं यत्नभ्रमरशालिनीम् ।

दुतदावाधिविप्लवां कान्तां वनलतामिव ॥ १२ ॥

जो प्रीति श्रैतुमें पतले फूलोंसे लट्टी हुई हॉनके कारण पतत्रान्त भ्रमरमें मुशब्धित होनी रहीं हो और फिर मत्तमा दावानलसे लगेटमें आकर मुग्धा गयी हो, वनकट उस लताके समान पहलेंकी रत्नमयपूर्ण अयोध्या अब उदास हो गयी थी ॥ १२ ॥

सम्प्लुतनिगमा सर्वा संक्षिप्तविषणापणाम् ।

प्रच्छन्नशशिनश्च श्यामिवास्वधूर्युताम् ॥ १३ ॥

जहाँकि व्यापारी वणिक् शोकसे व्याकुल होनेके कारण किञ्चित्स्वामिमुक्त हो गये थे, आकार-हाट और दुकानें बहुत कम खुली थीं। उस समय सारा पुरा उस आकाशके धर्ति शोभाहीन हो गयी थी, जहाँ बादलोंकी घटाएँ धिर आयी हैं और नारे तथा वन्दना रुक गये हैं ॥ १३ ॥

क्षीणपानोन्मार्गभिः शरावैरभिसंवृताम् ।

हनशीण्डामिव ध्वस्तां पानभूमिममस्कृताम् ॥ १४ ॥

(उन दिनों अयोध्यापुरीका सड़िके झाड़ी-बुहारों नहीं गया थी, इसीलिये यत्र-तत्र कुँड़े-करकटके ढेर पड़े थे। उस

अवस्थामें) वह नगरी उस ठजड़ी हुई पानभूमि (मधुशाला) के समान श्रीहीन दिखस्यो देती थी, जिसकी सफाई न की गयी है। जहाँ मधुरसे खाली टूटी फूटी प्यालियाँ पड़ी हैं और जहाँकि पीनेवाले भी नष्ट हो गये हैं ॥ १४ ॥

वृक्षभूमितलां निम्ना वृक्षपात्रैः सपावृताम् ।

उपयुक्तोदकां भ्रष्टां प्रपां निपतितामिव ॥ १५ ॥

उस पुरीके दशा उस फौसलेकी-सी हो रही थी, जो खम्भाके टूट जानसे बह गया हो जिसका वक्रवृत्त छिन्न भिन्न हो गया हो भूमि बँकी हो गयी हो पानी चूक गया हो और जलपात्र-टूट-फूटकर इधर-उधर भस्म ओर बिखरे पड़े हो।

विपुलां विततां चैव युक्तपाशां तरस्विनाम् ।

भूमि वार्णविनिष्कृतां पानितां ज्यामिषायुधात् ॥ १६ ॥

जो विशाल और सम्पूर्ण धनुषमें फैली हुई हो, उसकी रंगों कीरियों (किनारों) में वर्धनके लिये जिसमें रस्सी जुड़ी हुई हो किन्तु वेगशाली वीरके श्वाणाम कटकर धनुषमें पृथ्वीपर गिर पड़ी हो उस प्रत्यक्षाके समान हो अयोध्यापुरी भी स्थानभट्ट हुई सी दिखायी देती थी ॥ १६ ॥

यहसा युद्धशौण्डेन हयारोहेण साहिताम् ।

निहतां प्रतिसेन्येन बहवामिव पानिताम् ॥ १७ ॥

जिसपर युद्धकुशल मुहुर्मुखारसे सवारों की हो और जिसे शत्रुधरक सेना सहसा भाग गिराय हो, युद्धभूमिमें पड़ी हुई उस घाड़ोंकी जो दशा होती है, वही उस समय अयोध्या-पुरीकी भी थी। (केन्द्र्योक कुचक्रसे उसके संयालक-नेत्राका स्वर्णक्रम और ध्वजराजका वनवास हो गया था) ॥ १७ ॥

भरतस्तु रथस्थः सञ्जीमान् दशरथात्मजः ।

वाहयन्तं रथश्रेष्ठं सारथिं साख्यमब्रवीन् ॥ १८ ॥

रथपर बैठे हुए श्रीमान् दशरथनन्दन भरतने उस समय श्रेष्ठ रथकर संचालन करनेवाले सारथि सुमन्त्रमें इस प्रकार कहा— ॥ १८ ॥

किं नु खल्वद्य गम्भीरे मूर्च्छितो न निशाम्यते ।

यथापुरमयोध्यायां गीतवादिप्रनिःस्वनः ॥ १९ ॥

'अब अयोध्यामें पहलेकी भाँति सब ओर फैला हुआ गाने बजानेका गम्भीर नाद नहीं सुनायी पड़ता; यह कितने कष्टके बात है! ॥ १९ ॥

वासुणीमदगन्धश्च वाल्यगन्धश्च मूर्च्छितः ।

चन्दनागुल्मगन्धश्च न प्रवाति समन्ततः ॥ २० ॥

अब चारों ओर कारुणी (मधु) की मादक गन्ध, व्याप्त हुई फूलोंकी सुगन्ध तथा चन्दन और अगुरुकी पवित्र गन्ध नहीं फैल रही है ॥ २० ॥

यानप्रवरघोषश्च सुस्त्रिगन्धयनिःस्वनः ।

प्रमत्तगजनादश्च यहाश्च रथनिःस्वनः ॥ २१ ॥

अच्छं अच्छी सवारियाँकी आवाज, घोड़ोंके हींसनेका मुन्निगन्ध शब्द, मतवाले हाथियोंका चिंगाड़ना तथा रथोंकी

धर्वराहटका महान् शब्द—ये सब नहीं सुनायों दे रहें हैं ॥
 नेदानीं श्रूयते पुर्यामस्यां राधे विकसिते ।
 चन्दनागुरुगन्धांश्च महार्हाश्च वनस्थजः ॥ २२ ॥
 गते रामे हि तरुणाः संतप्ता नोपभुञ्जते ।

श्रीरामचन्द्रजोंके निर्वोन्नत होनेके कारण ही इस गुप्त
 इस समय इन सब प्रकारके शब्दोंका श्रवण नहीं हो रहा है ।
 श्रीरामके चले जानेसे यहकि तरुण बहुत जो मनम है । वे
 चन्दन और अगुरुकी सुगन्धका सेवन नहीं करते तथा
 वागुमून्य वनमालाएँ भी नहीं धारण करते अब इस पुणके
 लोग विचित्र फूलके द्वार पहनकर बाहर धूमनेके लिये नहीं
 निकलते हैं ॥ २२-२३ ॥

नोत्सवाः सम्प्रवर्तन्ते रामशोकादिते पुरे ।
 सा हि नूनं मम भ्रात्रा पुरस्यास्य दुर्निर्गता ॥ २४ ॥

'श्रीरामके शोकसे पीड़ित हुए इस नगरमें अब नाना
 प्रकारके उत्सव नहीं हो रहे हैं निश्चय हो इस पुणके वह
 मारी शोभा मेरे भाईके साथ ही चली गयी ॥ २४ ॥

नहि राजत्ययोध्येयं सासारेवार्जुनी क्षपा ।
 कदा नु खलु मे भ्राता महोत्सव इवागतः ॥ २५ ॥
 जनविध्वन्मयोध्यायां हर्षं प्रीष्य इवाम्बुदः ।

जैसे वेगयुक्त वर्षाक कारण शङ्खपक्षकी शक्तिनी रात भी
 शोभा नहीं पाती है, उसी प्रकार नेत्रोंमें आँसु बहाने लगे यह
 अयोध्या भी शोभित नहीं हो रही है । अब क्या मेरे भाई

महोत्सवकी भाँति अयोध्यामें पधारेंगे और शीघ्र-ऋतुमें
 प्रकट हुए मेझकी भाँति सर्वके हृदयमें हर्षका संचार करेंगे ।

तरुणीश्चरुवर्षश्च नररुज्रतगामिधिः ॥ २६ ॥
 सम्पत्तदधिरयोध्यायां नाधिभ्रान्ति महापथाः ।

'अब अयोध्याकी बड़ी-बड़ी सड़के हर्षसे ठछलकर
 चलने हुए मनोहर कपधारी तरुणके दुष्प्रागमनसे शोभा नहीं
 पा रही हैं ॥ २६ ॥

इति ब्रुवन् सार्गथिना दुःखितो भरतस्तदा ॥ २७ ॥
 अयोध्यां सम्प्रविश्यैव विवेश वसति पितुः ।

तेन हीनां नरेन्द्रेण सिंहहीनां गुहामिव ॥ २८ ॥
 इस प्रकार सार्गथिके साथ बातचीत करते हुए दुःखी भरत
 इस समय मित्रोंमें रहित गुफाकी भाँति राजा दशरथमें हीन
 पितृके निवासस्थान राजमहलमें गये ॥ २७-२८ ॥

तदा तदन्तःपुरमुन्मिषितप्रथं
 सुरैर्विवोक्तृष्टमभास्करं दिनम् ।

निरीक्ष्य सर्वत्र विभक्तमात्मवान्
 मुषोच बाष्पं भरतः सुदुःखितः ॥ २९ ॥

जैसे सूर्यके छिप जानेसे दिनकी शोभा नष्ट हो जाती
 है और देवता शोक करने लगते हैं, उसी प्रकार उस
 समय वह अन्तःपुर शोभाहीन हो गया था और वहकि
 लोग शोकमग्न थे उस सब आरंभे स्वच्छता और सजावटसे
 हीन देख भरत धीरवान् होनेपर भी अत्यन्त दुःखी हो
 आँसु बहाने लगे ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽधोऽध्याकाण्डे चतुर्दशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आरामायण आदिकाव्यके अधोऽध्याकाण्डमें एक सौ चौदहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११४ ॥

पञ्चदशाधिकशततमः सर्गः

भरतका नन्दिग्राममें जाकर श्रीरामकी चरणपादुकाओंको राज्यपर अधिषिक्त
 करके उन्हें निवेदनपूर्वक राज्यका सब कार्य करना

ततो निक्षिप्य पादुस्त अयोध्यायां दुव्रजतः ।
 भरतः शोकमन्तप्तो गुरुनिदमथाब्रवीत् ॥ १ ॥

तदनन्तर सब माताओंको अयोध्यामें रखकर दृढ़प्रतिज्ञ
 भरतने शोकसे संतप्त हो गुरुजनोंसे इस प्रकार कहा— ॥

नन्दिग्रामे गमिष्यामि सर्वानामन्त्रयेऽत्र वः ।
 तत्र दुःखमिदं सर्वं सहिष्ये राघवं विना ॥ २ ॥

'अब मैं नन्दिग्रामकी जाऊँगा, इसके लिये अाप सब
 लोगोंकी आज्ञा चाहता हूँ । वहाँ श्रीरामके बिना प्राप्त होँस्वाले
 इस सारे दुःखको सहन करूँगा ॥ २ ॥

गतश्चाहो दिवं राजा वनस्थः स गुरुर्यम ।
 रामं प्रतीक्षे राज्याय स हि राजा महत्प्रशः ॥ ३ ॥

'अहो ! महारज (पूज्य पिताजी) तो स्वर्गको सिधारे

और व वर गुरु (पूजनीय भ्राता) श्रीरामचन्द्रजों वनमें विराज
 रहे हैं । मैं इस राज्यके लिये वहाँ श्रीरामकी प्रतीक्षा करता
 रहूँगा, क्योंकि वे महत्प्रशस्त श्रीराम ही हमारे राजा हैं ।

एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं भरतस्य महात्मनः ।
 अब्रुवन् मन्त्रिण सर्वे वसिष्ठश्च पुरोहितः ॥ ४ ॥

महत्मा भरतका यह शुभ वाक्य सुनकर सब मन्त्री और
 पुरोहित वसिष्ठजी बोले— ॥ ४ ॥

सुभृशं इलाघर्नीयं च बहुकं भरत त्वया ।
 वचनं भ्रातृवात्सल्यादनुसृत्य तथैव तत् ॥ ५ ॥

भरत ! भ्रातृभक्तिसं प्रेरित होकर तुमने जो बात
 कही है, वह बहुत ही प्रशंसनीय है । वात्सल्यमें वह तुम्हारे
 ही योग्य है ॥ ५ ॥

नित्यं ते बन्धुलुब्धस्य तिष्ठतो भ्रातृसौहृदे ।

मार्गमायं प्रपन्नस्य नानुमन्येत कः पुमान् ॥ ६ ॥

‘तुम अपने भाईक दर्शनके लिये स्टा लालायित रहते हो और भाईक हो माँहाटे (हितसाधन) में मग्न हो । साथ ही श्रेष्ठ मार्गपर स्थित हो, अतः कौन पुरुष तुम्हारे विचारका अनुमोदन नहीं करेगा’ ॥ ६ ॥

मन्त्रिणां वचनं श्रुत्वा यथाभिलाषितं प्रियम् ।

अब्रवीत् सारथि वाक्यं गृथो मे युज्यतामिति ॥ ७ ॥

मन्त्रियोंका अपनी रुचिके अनुरूप प्रिय वचन सुनकर भरतने सारथिस कहा—‘मेरा रथ जोतकर तैयार किया जाय’ ॥ ७ ॥

प्रहृष्टवदनः सर्वा मातुः समभिधाव्य च ।

आकरोह रथं श्रीमाञ्छानुघ्नेन समन्वितः ॥ ८ ॥

फिर जर्तनि प्रमत्तवदन होकर सब माताओंमें जातलोंन करके जानकी आशा को इसक बाद शत्रुघ्नक सहित आनन्द भारत रथपर सवार हुए ॥ ८ ॥

आकृष्टा तु रथं क्षिप्रं शत्रुघ्नभरताधुर्भा ।

ययतुः परमप्रीती वृती मन्त्रिपुरोहितः ॥ ९ ॥

रथपर आकृष्ट होकर परम प्रसन्न हुए भरत और शत्रुघ्न दोनों भाई मन्त्रियों तथा पुरोहितोंमें धिक्कर शौचतापूर्वक वहाँसे प्रस्थित हुए ॥ ९ ॥

अघतो गुरुषः सर्वे क्षमिष्यन्मुखा द्विजाः ।

प्रययुः प्राङ्मुखा सर्वे नन्दिग्रामो यतो भवेत् ॥ १० ॥

आगे-आगे वसिष्ठ आदि सभी गुरुजन एवं ब्राह्मण सम्म रहे थे । उन सब लोगोंमें अयोध्यामें पूर्वाभमुख होकर यात्रा की और उस मार्गको पकड़ा, जो नन्दिग्रामको आर जाता था ॥ १० ॥

वत्सं च तदनाहृतं गजाभरथसंकुलम् ।

प्रघर्षी भरते धाने सर्वे च पुरवर्तिनः ॥ ११ ॥

धरतीके प्रस्थित होनेपर हाथों में छेद और रथोंमें धाने दई गयी रीता थी किन्तु बुलाये ही उनके पञ्चपाद चल ही और यमज गुरुजनों भी इनक साथ ही लिये ॥ ११ ॥

रथस्थः स तु अर्गात्मा भरतो भ्रातृवत्सलः ।

नन्दिग्रामं ययौ तूणीं शिरस्यादाय पादुक ॥ १२ ॥

अर्गात्मा धानवत्सल भरत अपने भक्तकपर भगवान् श्रीगामको चरथापादुका लिये रथपर बैठकर वहीं ईर्ष्यासे नन्दिग्रामको और चले ॥ १२ ॥

भरतस्तु ततः क्षिप्रं नन्दिग्रामं प्रविश्य सः ।

अवतार्य रथान् तूणीं गुरुनिदमधापत ॥ १३ ॥

नन्दिग्राममें जाय पहुँचकर गुरुन तुंग हो रथसे उतर पड़ और गुरुजनोंसे इस प्रकार बोले— ॥ १३ ॥

एतद् राज्यं मम भ्रात्रा दत्तं सन्यामयुक्तमम् ।

योगक्षेमवद्दे चमे पादुके हेमभूषिते ॥ १४ ॥

‘मेरे भाईने यह उत्तम राज्य मुझे धरोहरके रूपमें दिया है, उनको ये स्वर्गावभूषण चरणपादुकाएँ हैं सदाके योगक्षेमका निर्वोह करनेवाली हैं’ ॥ १४ ॥

भरतः शिरसा कृत्वा संन्यासं पादुके ततः ।

अब्रवीद् दुःखसंतप्तः सर्वं प्रकृतिमण्डलम् ॥ १५ ॥

नतः शिरात् भरतने भक्तक शिराकर उन चरणपादुकाओंके प्रति उस धरोहररूप राज्यका समर्पित करके दुःखसे संतप्त हो समस्त प्रकृतिमण्डल (मन्त्री, सेनापति और प्रजा आदि) से कहा— ॥ १५ ॥

छत्रं धारयन् क्षिप्रमायं पादाविर्भां धनौ ।

आभ्यां राज्ये स्थितो धर्मं पादुकाभ्यां गुरोरप्य ॥ १६ ॥

‘आप सब लोग इस धरणपादुकाओंके ऊपर छत्र धारण करें । मैं इन्हें आर्य रामचन्द्रजीके साक्षात् चरण ममता हूँ । मैं गुरुको इन चरणपादुकाओंमें ही इस राज्यमें धर्मको स्थापना करूँगा ॥ १६ ॥

भ्रात्रा तु मयि सन्यासो निक्षिप्तः सौहृदादयम् ।

तमिमे धालयिष्यामि राघवागधरं प्रति ॥ १७ ॥

मेरे भाईने प्रेमके कारण हूँ यह धरोहर मुझे सौपी है, अतः मैं उनके लौटनेतक इसको प्रलोपति रक्षा करूँगा ॥

क्षिप्रं संयोजयित्वा तु राघवस्य पुनः स्वयम् ।

चरणीं तौ तु रामस्य द्रक्ष्यामि सहपादुको ॥ १८ ॥

‘इसके बाद मैं स्वयं इन पादुकाओंको पुन वीध हो श्रीगुरुनाथजीके चरणाम संयुक्त करके इन पादुकाओंमें मुद्राभन श्रीगामके इन युगल चरणोंका दर्शन करूँगा ॥

गतो निक्षिप्तभारोऽहं राघवेण समागतः ।

निवेद्य गुरवे राज्यं भजिष्ये गुरुवर्तिनाम् ॥

श्रीरघुनाथजीके आनपर उनसे मिलते ही मैं अपने उन गुरुद्वको यह राज्य समर्पित करके उनको आज्ञाके अधीन हो उनकोसे मेवामें लग जाऊँगा । राज्यका यह भार उनपर डालकर मैं हस्तक हो जाऊँगा ॥ १९ ॥

राघवाय च संन्यासं हस्तेमे करपादुके ।

राज्यं चेदमयोध्यं च धुनपापो भवाम्यहम् ॥ २० ॥

मेरे पास धरोहररूपमें रखे हुए इस राज्यको, अयोध्याको तथा इन श्रेष्ठ पादुकाओंको श्रीरघुनाथजीको सेवामें समर्पित करके मैं सब प्रकारके पापतापसे मुक्त हो जाऊँगा ॥ २० ॥

अभिषिक्ते तु काकुत्स्थे प्रहृष्टमुदिते जने ।

प्रीतिमम यशश्चैव भवेद् राज्याद्यतुर्गुणम् ॥ २१ ॥

‘ककुत्स्थकुलभूषण श्रीगामका अयोध्याक राज्यपर अभिषेक हो जानेपर जब सब लोग हर्ष और आनन्दमें निमत हो जायेंगे, तब मुझे राज्य पानेको अपेक्षा चीमूनी प्रसन्नता और श्रीगुने यशको प्राप्ति होगी’ ॥ २१ ॥

एवं तु विलपन् दीनो भरतः स महायशाः ।

नन्दिग्रामेऽकरोद् राज्यं दुःखितो मन्त्रिभिः सह ॥ २२ ॥

इस प्रकार दीनभावसे विलाप करते हुए दुःस्वप्न
महावशस्वो भग्न मन्त्रियोंके साथ नन्दिग्राममें रहकर राज्यका
शासन करने लगे ॥ २२ ॥

स चत्कलजटाधारी मुनिवेषधरः प्रभुः ।
नन्दिग्रामेऽवसद् धीरः ससैन्यो भरतस्तदा ॥ २३ ॥

सैन्यासहित प्रभावशाली धीर वीर भरतने उस समय चत्कल
और जटा धारण करके मुनिवेषधारी हू नन्दिग्राममें निवास किया ।

रामागमनमाकाङ्क्षन् भरतो भ्रातृवत्सलः ।
भ्रातृवचनकारी च प्रतिज्ञाधारगस्तदा ॥ २४ ॥

पादुके त्वभिषिच्याथ नन्दिग्रामेऽवसन् तदा ॥ २४ ॥

भाईकी आज्ञाका पालन और प्रतिज्ञाके पार जानके इच्छा
करनेवाले भ्रातृवत्सल भग्न श्रीरामचन्द्रजीके आगमनकी
आकाङ्क्षा रखते हुए उनकी चरणपादुकाओंको राज्यपर
अभिषिक्त करके उन दिनों नन्दिग्राममें रहने लगे ॥ २४ ॥

सवालव्यजनं छत्रं धारयामास स स्वयम् ।
भरतः शासनं सर्वं पादुकाभ्यां निवेदयन् ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽथोऽध्याकाण्डे षष्ठदशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके अथोऽध्याकाण्डमें एक सौ पंद्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११५ ॥

षोडशाधिकशततमः सर्गः

वृद्ध कुलपतिसहित बहुत-से ऋषियोंका चित्रकूट छोड़कर दूसरे आश्रममें जाना

प्रतिधाते तु भरते वसन् रामस्तदा बने ।
लक्षग्रामास सांवेगमधीत्सुखं तपस्विनाम् ॥ १ ॥

भरतके लौट जानेपर श्रीरामचन्द्रजी उन दिनों जब वनमें
निवास करने लगे तब उन्होंने देखा कि वहाँके तपस्वी उद्भ्रम
हो वहाँसे अन्यत्र चले जानके लिये उत्सुक हैं ॥ १ ॥

ये तत्र चित्रकूटस्य पुरस्तात् तापसाश्रमे ।
राममाश्रित्य निरन्तास्तानलक्ष्यदुत्सुकान् ॥ २ ॥

पहले चित्रकूटके उस आश्रममें जो तपस्वी श्रीरामका
आश्रय लेकर महा आनन्दमग्न रहने थे, उनकी श्रीरामने
निरन्तरित देखा (मानो वे कहीं जानेके चिन्तामें कुछ कहना
चाहते हों) ॥ २ ॥

नयनेभृङ्गकुटीभिस्तु रायं निर्दिश्य शङ्किताः ।
अन्योन्यमुपजल्पन्तः शर्त्तुशकुर्मिथः कथाः ॥ ३ ॥

नेत्रोंमें, भौंहें टेढ़ी करके, श्रीरामको ओर सकल करके
मन-हो-मन शङ्कित हो आपसमें कुछ मल्लह करते हुए वे
तपस्वी मुनि धीरे-धीरे परस्पर वार्तालाप कर रहे थे ॥ ३ ॥

तेषामौत्सुक्यमालक्ष्य रामस्वात्मनि शङ्कितः ।
कृताञ्जलिस्त्वाचंष्टमृषिः कुलपति ततः ॥ ४ ॥

उनकी उत्काण्ठ देख श्रीरामचन्द्रजीके मनमें यह शङ्का हुई
कि मुझमें कोई अपराध तो नहीं बन गया । तब वे ऋषि
जोड़कर वहाँके कुलपति महर्षिसे इस प्रकार बोले ॥ ४ ॥

भरतजी राज्य-शासनका सम्पन्न कार्य भगवान् श्रीरामको
चरणपादुकाओंको निवेदन करके करते थे तथा स्वयं ही
उनके ऊपर छत्र लगाते और चैत्र डुल्लते थे ॥ २५ ॥

ततस्तु भरतः श्रीमानभिषिज्यार्यपादुके ।
तदधीनस्तदा राज्यं कारयामास सर्वदा ॥ २६ ॥

श्रीमान् भरत बड़े भाईकी उन पादुकाओंको राज्यपर
अभिषिक्त करके सदा उनके अधीन रहकर उन दिनों राज्यका
सब कार्य मन्त्रों आदिसँ कराते थे ॥ २६ ॥

तदा हि धत् कार्यमुपति किञ्चि-
दुपायनं चोपहृतं महार्हम् ।

स पादुकाभ्यां प्रथमं निवेद्य
वकार पश्चाद् भरतो यथावत् ॥ २७ ॥

उस समय जो कोई भी कार्य उपस्थित होता, जो
भी बहुमूल्य भट आता, वह सब पहले उन पादुकाओंको
निवेदन करके पाँछ भरतजी उसके यथावत् प्रबन्ध
करते थे ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽथोऽध्याकाण्डे षष्ठदशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके अथोऽध्याकाण्डमें एक सौ पंद्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११५ ॥

न कश्चिद् भगवन् किञ्चित् पूर्ववृत्तमिदं मयि ।
दृश्यते विकृतं येन विक्रियन्ते तपस्विनः ॥ ५ ॥

'भगवन् ! क्या मुझमें पूर्ववर्ती शकाओंका-सा कोई
कर्तव्य नहीं दिखता है अथवा मुझमें कोई विकृत भाव
दृष्टगोचर होना है जिससे यहाँके तपस्वी मुनि विकारको
प्राप्त हो रहे हैं ॥ ५ ॥

प्रमादाद्यरिते किञ्चित् कश्चिन्नाधरजस्य ये ।
लक्षणस्यर्षिभिर्दृष्टं वानुसृप्य महारथिनः ॥ ६ ॥

क्या पर छूटे भाई महात्मा लक्षणका प्रमादवश किया
हूँ या कोई ऐसा आचरण ऋषियोंने देखा है, जो उसके योग्य
नहीं है ॥ ६ ॥

कश्चिच्छ्रवमाणा वः श्रुश्रवणपरा मयि ।
प्रमदाभ्युचिता वृत्तिं सीता युक्तां न वर्तते ॥ ७ ॥

'अथवा क्या जो अर्घ्य पाछ आदिके द्वारा सदा
आपलोगोंकी सेवा करती रही है, वह सीता इस समय मेरी
सेवामें लगा जानेका कारण एक गृहस्थकी सती नारीके
अनुसृप ऋषियोंकी समुचित सेवा नहीं कर पाती है ?' ॥

अथर्विर्जस्या वृद्धस्तपसा च जरां यतः ।
वेपथुना इवोवत्स रामं भूतदयापरम् ॥ ८ ॥

श्रीरामके इस प्रकार पूछनेपर एक महर्षि जो जरावस्थाके
कारण तो वृद्ध थे छे, तपस्याद्वारा भी वृद्ध हो गये थे

ममम प्राणियोंपर दया करनेवाले श्रीरामम जैयन्त हुए में वाले— ॥ ८ ॥

कुतः कल्याणसत्त्वायाः कल्याणाभिरतेः सदा ।

चलने तान संदेह्यास्तपस्विषु त्रिशेषतः ॥ ९ ॥

‘तान । जो स्वभावमें ही कल्याणमयी है और सदा सबके कल्याणमें ही रत रहती है, वह त्रिदेवर्जन्दनों सेना विशेषतः तपस्वीजनोंके प्रति अर्पण करने समर्थ अपने कल्याणमय स्वभावमें स्थित हो आय, वह कैसे नभव है ? ॥ ९ ॥

त्वन्निमित्तमिदं तावत् तापसान् प्रति वर्तते ।

रक्षोभ्यस्तेन संविभ्राः कथयन्ति मिथः कथाः ॥ १० ॥

‘आपक तो कारण तापसां पर यह राक्षसोंके ओरमें भय स्थापित होनवाला है उसमें उद्भिन्न हुए ऋषि आपसमें कुछ बातें (कानाफुसी) कर रहे हैं ॥ १० ॥

रावणाक्षरजः कश्चिन् स्वरो नामह राक्षसः ।

उत्पाद्य तापसान् सर्वाङ्गनस्थानाववाप्तिनः ॥ ११ ॥

धृष्टश्च जितकाशी च नृशंसः पुरुषादकः ।

अवलिप्तश्च पापश्च त्वां च तान न पृथ्यते ॥ १२ ॥

‘तान । यहाँ जनप्रान्तमें रावणाका छाटा भाई खर नामक राक्षस है, जिसने जनस्थानमें रहनवाले प्रथम तापसाको उत्पन्न फेंका है। वह बड़ा ही शत्रु, विजयाभ्यस्त, क्रूर, मरभक्षी और घमंडी है। वह आपको भी सहन नहीं कर पाता है ॥ ११-१२ ॥

त्वं यदाप्रभृति हस्मिन्नश्रमे तान वर्तते ।

नदाप्रभृति रक्षांसि विप्रकुर्वन्ति तापसान् ॥ १३ ॥

‘तान । जबसे आप इस आश्रममें रह रहे हैं, तबसे मर राक्षस तापसांको विशेषरूपसे सताते लगे हैं ॥ १३ ॥

दर्शयन्ति हि बीभत्सः कुरैर्भोषणकंरपि ।

नानारूपैर्विस्मयैश्च रूपैर्गुणैश्च दर्शयन्ति ॥ १४ ॥

अप्रशम्भैरर्शुर्वाभिः सम्ययुज्य च तापसान् ।

प्रतिघ्नन्त्यपरात् क्षिप्रमनार्याः पुनः स्थितान् ॥ १५ ॥

‘ये अनार्य राक्षस बीभत्स (घृणित), क्रूर और भोषण, नाना प्रकारके विकृत एवं दुःखदायक रूप धारण करके सामने आते हैं और पापजनक अपवित्र पदार्थोंमें तपस्वीको स्पृश करके अपने सामने रखे हुए अन्य प्राणियोंको भी पीड़ा दन हैं ॥ १४-१५ ॥

नेपु तैष्वाश्रमस्थानेषुबुद्धुपवर्त्तीय च ।

रमन्ते तापसांस्तत्र नाशयन्तोऽल्पचेतसः ॥ १६ ॥

‘ये उन-उन आश्रमोंमें अज्ञानरूपमें आकर स्थित होते हैं और अल्पज्ञ अथवा असावधान तापसांको विनाश करते हुए वहाँ मानन्द विचरते रहते हैं ॥ १६ ॥

अवक्षिपन्ति स्वभ्रष्टान्मनान् मिहन्ति वारिणा ।

कलङ्गैश्च प्रमर्दन्ति ह्यन सम्पृथ्विते ॥ १७ ॥

‘होमकर्म आरम्भ होनेपर वे झुक-झुका आदि यज्ञसामप्रियोंको इधर-उधर फेंक देते हैं। प्रज्वलित अग्निमें पत्तों डाल दन हैं और कलङ्गोंको फोड़ डालते हैं ॥ १७ ॥

तैर्दुर्गन्धभिराविष्टानाश्रमान् प्रजिह्वासवः ।

गमनायान्यदेशस्य चोदयन्त्युपयोऽद्य माम् ॥ १८ ॥

‘उन दुर्गन्ध राक्षसोंमें आविष्ट हुए आश्रमोंको त्याग दनको इच्छा रखकर ये ऋषिलोग आज मुझ यहाँमें अन्य स्थानमें चलनेके लिये प्रेरित कर रहे हैं ॥ १८ ॥

तत् पुरा राम शारीरीमुपहिंसां तपस्विषु ।

दर्शयन्ति हि दुष्टास्ते त्यक्ष्याम इममाश्रमम् ॥ १९ ॥

‘श्रीराम ! वे दुष्ट राक्षस तपस्वीयोंको शारीरिक हिंसाका प्रदर्शन करें, इनके पहले ही हम इस आश्रमको त्याग देंगे ।

बहुमूलफलं चित्रमधिदूरादितो वनम् ।

अद्यस्याश्रममेवाहं क्षयिष्ये सगणः पुनः ॥ २० ॥

‘यहाँमें थोड़ी ही दूरपर एक विचित्र वन है, अहाँ फल-मूलको अधिकता है। वहाँ अद्यमुनिका आश्रम है, अन ऋषियाक समूहको साथ लेकर मैं पुन इसी आश्रमका आश्रय लूँगा ॥ २० ॥

खरस्त्वय्यपि जायुक्तं पुरा राम प्रवर्तते ।

सहास्माभिरितो गच्छ यदि बुद्धिः प्रवर्तते ॥ २१ ॥

‘श्रीराम ! खर आपके प्रति भी कोई अनुचित बर्ताव करें, उसके पहले ही यदि आपका विचार हो तो हमारे साथ ही यहाँमें चल दीजिये ॥ २१ ॥

सकलप्रभ्य संदेहो नित्यं युक्तस्य राघव ।

समर्थस्यापि हि सतो वासो दुःखमिहृष्टं ते ॥ २२ ॥

‘रघुनन्दन ! यद्यपि आप सदा सावधान रहनेवाले तथा राक्षसोंके दमनमें समर्थ हैं, तथापि पत्नीके साथ आजकल उस आश्रममें आपका रहना संदेहजनक एवं दुःखदायक है ॥ २२ ॥

इत्युक्तवन्तं रामस्तं राजपुत्रस्तपस्विनम् ।

न शशाकोत्तरैर्वाक्यैरखबद्धं समुत्सुकम् ॥ २३ ॥

‘ऐसी बात कहकर अन्यत्र जानेके लिये बर्त्किण्टित हुए उन तपस्वी मुनिको राजकुमार श्रीराम समन्वनाजनक उत्तर-वाक्योंद्वारा वहाँ रोक नहीं सके ॥ २३ ॥

अभिनन्द्य समापृच्छ च समाधाय च राघवम् ।

स जगामश्रमं त्यक्त्वा कुलैः कुलपतिः सह ॥ २४ ॥

‘तपश्छात्र ! वे कुलपति यहाँमें श्रीरामचन्द्रजीका अभिनन्दन करके उनमें पृष्ठकर और उन्हें मान्यता देकर इस आश्रमको छोड़ कहसि अपने दलके ऋषियोंके साथ चले गये ॥ २४ ॥

रामः संमाध्य ऋषिगणमनुगमनाद्

देशात् तस्मात् कुलपतिमभिवाद्य ऋषिम् ।

सम्यक्प्रीतिसौरनुमत

उपदिष्टार्थः

पुन्यं वासाय स्वनिलयमुपसंभवे ॥ २५ ॥

श्रीरामचन्द्रजी सहस्रों जानेवाले ऋषियोंके पाँछे-पीछे जाकर उन्हें विदा दे कुलपति ऋषिकों प्रणाम करके घरम प्रसन्न हुए उन ऋषियोंको अनुमति ले उनके लिये हुए कर्तव्यविषयक उपदेशका सुनकर लौट आर निवाम करके लिये अपने पवित्र आश्रममें आये ॥ २५ ॥

आश्रममुषिविरहितं प्रभुः

क्षणमपि न जहौ स राघवः ।

इत्यर्थे श्रीमद्भारमयणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षोडशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मिते आरंभमयणे आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ सोलहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११६ ॥

सप्तदशाधिकशततमः सर्गः

श्रीराम आदिका अत्रिमुनिके आश्रमपर जाकर उनके द्वारा सत्कृत होना तथा अनसूयाद्वारा सीताका सत्कार

राघवस्त्वपयातेषु सर्वेष्वनुविचिन्तयन् ।
न तत्रारोच्यद् वासं कारणबहुभिस्तदा ॥ १ ॥

उन सब ऋषियोंके सब आश्रम श्रीरामचन्द्रजीने जय चारोंपार विचार किया मन्त्र उन्हें चलने में कोई कारण ज्ञान हुए, जिसमें उन्होंने राय भी नहीं रहना उचित न समझा ।

इह मे भरतो दुष्टो मातरश्च सनागराः ।
सा च मे स्मृतिरन्वेति तान् निवृत्तमनुशोचतः ॥ २ ॥

उन्होंने मन-ही-मन सोचा, 'इस आश्रममें मैं घूमने जाता-आसे तथा पुत्रासो मनुष्योंमें गिरा चुका हूँ । वह स्मृति मुझे बराबर आती रहती है और मैं प्रतिदिन उन सब लोगोंका चिन्तन करके शोकमग्न हो जाता हूँ ॥ २ ॥

स्कन्धाचारनिवेशेन तेन तस्य महात्मनः ।
उपहसिकरीषेण उपपदः कृतो भूषणम् ॥ ३ ॥

'महात्मा भरतकी सेनाका पड़ाव पड़नेके कारण हाथों और सोझोंकी सीरस गद्दीकी धूमि अधिक अपवित्र कर दी गयी है ॥ ३ ॥

तस्मात्स्वयं गच्छाम इति संविश्य राघवः ।
प्रानिष्ठान स खेदज्ञा लक्ष्मणेन च संगतः ॥ ४ ॥

'अतः हमलोग भी अन्यत्र चले जायें' ऐसा सोचकर श्रीरघुनाथजी सोना और लक्ष्मणके साथ वहाँसे चल दिये ॥

सोऽत्रेराश्रममासाद्य तं खण्डे महायशः ।
तं चापि भगवानत्रिः पुत्रवत् प्रत्यपद्यत ॥ ५ ॥

जहाँसे अत्रिके आश्रमपर पहुँचकर महायशस्वी श्रीरामने उन्हें प्रणाम किया तथा भगवान् अत्रिने भी उन्हें अपने पुत्रोंकी भाँति स्नेहपूर्वक अपनाया ॥ ५ ॥

स्वयमातिथ्यमादिश्य सर्वमस्य सुसत्कृतम् ।
सौमित्रि च महाभारं सीता च समसान्वयन् ॥ ६ ॥

उन्होंने स्वयं ही श्रीरामका सम्पूर्ण आनिध्य-सत्कार करके महाभाग लक्ष्मण और सीताको भी सत्कारपूर्वक

राघवं हि सततमनुगता-
स्तापसाश्चार्चयन्ति धृतगुणाः ॥ २६ ॥

उन ऋषियोंसे रहित हुए आश्रमको भगवान् श्रीरामने एक क्षणके लिये भी नहीं छोड़ा । जिनका ऋषियोंके समान ही चरित्र था, उन श्रीरामचन्द्रजीमें निश्चय हो ऋषियोंकी रक्षाको शक्तिरूप गुण विद्यमान है । ऐसा विश्वास रखनेवाले कुछ तपस्वीजनोंने सदा श्रीरामको ही अनुसरणकिया वे दूसरे किसी आश्रममें नहीं गये ।

संतुष्ट किया ॥ ६ ॥
पत्नी च तमनुप्राप्तां वृद्धामामन्य सत्कृताम् ।
सान्त्वयामास धर्मज्ञः सर्वभूतहिते रतः ॥ ७ ॥

अनसूया महाभागों तापसी धर्मचारिणीम् ।
प्रतिगृहीष्ट खेदेहीमव्रवीदुषिसत्तमः ॥ ८ ॥

सम्पूर्ण पाण्डियोंके लिये तपस करनेवाले धर्मज्ञ मुनिगण अत्रिन अपने समीप आयो हुई सबके द्वारा सम्मानित तापसी एक धर्मपरायणा वृद्ध पत्नी महाभाग अनसूयाको सम्बोधित करके सान्त्वनापूर्ण वचनोंद्वारा संतुष्ट किया और कहा — 'देवि ! विद्वद्भारजनन्दिनो सीताको सत्कारपूर्वक तपससे लगाओ' ॥ ७-८ ॥

रामाय आश्रमक्षे तं तापसी धर्मचारिणीम् ।
दश वर्षाण्यनावृष्ट्या दग्धे लोके निरन्तरम् ॥ ९ ॥

यया मूलफले सुष्टं जाह्नवी च प्रवर्तिता ।
उप्रेण तपसा युक्ता नियमश्चाप्यलंकृता ॥ १० ॥

दश वर्षसहस्राणि यया तप्तं महत् तपः ।
अनसूयाव्रतेस्तात प्रत्यूहाश्च निर्वहिताः ॥ ११ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने श्रीरामचन्द्रजीको धर्मपरायणा तपस्विनी अनसूयाका परिचय देते हुए कहा—'एक समय दस वर्षोंतक वर्षा नहीं हुई, उस समय जब सारा जगत् निरन्तर दग्ध होने लगा, तब जिन्होंने उस तपस्यासे युक्त तथा कठोर नियमोंसे अलंकृत होकर अपने तपके प्रभावसे यहाँ फल-मूल उत्पन्न किये और मन्दाकिनीकी पवित्र धारा बहायी तथा तान ! जिन्होंने दस हजार वर्षोंतक बड़े भारी तपस्या करके अपने उन्मत्त व्रतोंके प्रभावसे ऋषियोंके समस्त विघ्नोंका निवारण किया था, वे ही वह अनसूया देवी हैं ॥ ९-११ ॥

देवकार्यनिमित्तं च यया संत्वरभाषया ।
दशरात्रं युक्ता रात्रिः संयं मातेव तेऽनघ ॥ १२ ॥

निष्पाम श्रीराम ! इन्होंने देवताओं के कर्यके लिये
अत्यन्त उनावली हाँकर दस रात के घण्टे एक ही रात
बनायी थी, वे हो य अनसूया देवी तुम्हारे लिये माताओं
भाँति पूजनीया हैं ॥ १२ ॥

तामिमां सर्वभूतानां तपस्कायां तपस्विनीम् ।

अभिगच्छन् वंदेही वृद्धामक्रोधनां सदा ॥ १३ ॥

‘ये सम्पूर्ण प्राणिमात्रिके लिये खन्दीया तपस्विनी हैं । क्रोध
भी इन्हें कभी छू भी नहीं सका है । विश्रान्दनां सोना इन
वृद्धा अनसूया देवीके पास जायें ॥ १३ ॥

एवं ब्रूवाणं तपुषि तथेत्युक्त्वा स राघवः ।

सीतापालोक्य धर्मज्ञामिदं वचनमब्रवीत् ॥ १४ ॥

ऐसी बात कहते हुए अत्रि मुनिसे ‘बहुत अच्छा
बतकर श्रीरामचन्द्रजीने धर्मज्ञ सीताको और देखकर
यह बात कही— ॥ १४ ॥

राजपुत्रि श्रुतं त्वेतावन्नेरस्य समोरितम् ।

श्रेयोऽर्थमात्मनः शीघ्रमभिगच्छ तपस्विनीम् ॥ १५ ॥

‘राजकुमारी ! महर्षि अत्रिके वचन तो तुमने सुन ही
लिये; अब अपने कल्याणके लिये तुम शीघ्र ही इन तपस्विनी
देवीके पास जाओ ॥ १५ ॥

अनसूयेति या लोके कर्मणिः ख्यातिमागता ।

तां शीघ्रमभिगच्छ त्वमभिगम्यां तपस्विनीम् ॥ १६ ॥

‘जो अपने सत्कर्मोंसे संसारमें अनसूयाके नामसे विख्यात
हुई हैं, वे तपस्विनी देवी तुम्हारे आश्रय लभे याय्य हैं, तुम
शीघ्र उनके पास जाओ ॥ १६ ॥

सीता त्वेतावत् वचः श्रुत्वा राघवस्य यशस्विनी ।

तामत्रिपत्नीं धर्मज्ञामभिचक्राम मैथिली ॥ १७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी यह बात सुनकर धर्मस्विनी मिथिला
कुमारी सीता धर्मकी जाननेवाली अत्रिपत्नी अनसूयाके
पास गयीं ॥ १७ ॥

शिथिलं बलितं वृद्धां जरापाण्डुगन्धंजाम् ।

सततं वेपथुनाङ्गीं प्रवाते कदलीमिव ॥ १८ ॥

तानसूया वृद्धावस्थाके कारण शिथिल हो गयी थी, उनके
शरीरमें झुरिया पड़ गयी थीं तथा गिरक पाट मरुट हो गये
थे । अधिक हवा चलनेपर हिलने हुए कदली-वृक्षके समान
उनके सारे अङ्ग निम्नर कपि रहे थे ॥ १८ ॥

तां तु सीता महाभागामनसूयां पतिव्रताम् ।

अभ्यवादयदव्यग्रा स्व नाम समुदाहरन् ॥ १९ ॥

सीताने निकट जाकर ज्ञानभावसे अपना नाम बताया और
इन महाभागा पतिव्रता अनसूयाका प्रणाम किया ॥ १९ ॥

अभिवाद्य च वंदेही तापसीं तां तपान्विताम् ।

वज्राहलिपुटा हृष्टा धर्यपूज्यदनामयम् ॥ २० ॥

उन समयजोत्तर तपस्विनीका प्रणाम करके दर्पसे भरी हुई
सीताने दोनों हाथ जोड़कर उन्की कुशल-समाचार पूछा ॥

ततः सीतां महाभागां दृष्ट्वा तां धर्मचारिणीम् ।

सान्त्वयन्त्यब्रवीद् वृद्धा दिष्ट्या धर्ममवेक्षसे ॥ २१ ॥

धर्मका आचरण करनेवाली महाभागा सीताको देखकर
वृद्धा अनसूया देवी उन्हें सान्त्वना देती हुई बोली— ‘सीते !
सीभाग्यकी बात है कि तू धर्मसे ही दुष्ट रक्षता हो ॥ २१ ॥

त्यक्त्वा ज्ञातिजनं सीते मानवृद्धिं च मानिनि ।

अवच्छिन्नं वने रामं दिष्ट्या त्वमनुगच्छसि ॥ २२ ॥

‘मानिनी सीते ! बन्धु-बान्धवोंको छोड़कर और उनसे
प्राप्त होनेवाली मान-प्राप्तियोंका परित्याग करके तू वनमें भोजी
हुए आगम्यका अनुसरण कर रही हो । यह बड़े सीभाग्यकी
बात है ॥ २२ ॥

नगरस्थो वनस्थो वा शुभो वा यदि वाशुभः ।

यासां स्त्रीणां प्रियो धर्ता तामां लोका महोदया ॥ २३ ॥

‘अपने स्वामी नगरमें रहे वा वनमें, भले ही या बुर, जिन
स्त्रियोंकी वे प्रिय जान हैं, उन्हें महान् अभ्युदयशाली लोकोंकी
प्राप्ति होती है ॥ २३ ॥

दुःशीलः कामवृत्तो वा धनेर्वा परिवर्जितः ।

स्त्रीणामार्यस्वभावानो परमं देवतं पतिः ॥ २४ ॥

‘धर्त वृत्त स्वभावका, मनमाना कर्तव्य करनेवाला अथवा
धनहीन ही क्यों न हो, वह उत्तम स्वभाववाली नारियोंके लिये
श्रेष्ठ देवताके समान है ॥ २४ ॥

नातो विशिष्टं पश्यामि बान्धवं विमृशन्त्यहम् ।

सर्वत्र योग्यं वंदेहि तपःकृतपिवाव्ययम् ॥ २५ ॥

‘विदेहराजन्दिनि ! मैं बहुत विचार करनेपर भी पतिसे
बहुकर कोई हितकारी बन्धु नहीं देखती । अपनी को हुई
तपस्याके अविनाशो फलकी प्राप्ति यह इस लोकमें और
परलोकमें सर्वत्र सुख पहुंचानेमें समर्थ होता है ॥ २५ ॥

न त्वेवमनुगच्छन्ति गुणदोषमसत्स्वियः ।

कामवक्तव्यहृदया धर्तुनाथाश्चरन्ति याः ॥ २६ ॥

जो अपने पतिपर भी शासन करती हैं, वे कामका अधीन
चिनवाली अमर्था स्त्रियाँ इस प्रकार पतिका अनुसरण नहीं
करती । उन्हें गुण-दोषोंका ज्ञान नहीं होता; अतः वे
इच्छानुसार इधर-उधर विचरती रहती हैं ॥ २६ ॥

प्राप्तुवन्त्यशश्रुत्वा धर्मप्रेक्षां च मैथिलि ।

अकार्यवशमापन्नाः स्त्रियो याः खलू तद्विधा ॥ २७ ॥

‘मिथिलेशकुमारी ! ऐसी नारियाँ अज्ञेय ही अनुचित
कर्मोंमें फँसकर धर्मसे भ्रष्ट हो जाती हैं और संसारमें उन्हें
अपयशकी प्राप्ति होती है ॥ २७ ॥

त्वद्विधास्तु गुणयुक्ता दृष्टलोकपरावराः ।

स्त्रियः स्वर्गे धारिष्यन्ति यथा पुण्यकृतस्तथा ॥ २८ ॥

‘किन्तु जो तुम्हारे समान लज्ज-परलोककी जाननेवाली
स्त्रियाँ हैं, वे उत्तम गुणोंसे युक्त होकर पुण्यकर्मोंमें
यत्नशील रहती हैं, अतः वे दूसरे पुण्यात्माओंकी भाँति

स्वर्गलोकमें विचरण करेंगी ॥ २८ ॥

तदेवमेतं त्वमनुग्रता सती

पतिप्रधाना समयानुवर्तिनी ।

अथ स्वभर्तुः सहधर्मचारिणी

यशश्च धर्म च ततः समाप्स्यसि ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽष्टाध्याकाण्डे सप्तदशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके अष्टाध्याकाण्डमें एक सौ सत्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११७ ॥

अष्टादशाधिकशततमः सर्गः

सीता-अनसूया-संवाद, अनसूयाका सीताको प्रेमोपहार देना तथा अनसूयाके पूछनेपर सीताका उन्हें अपने स्वयंवरकी कथा सुनाना

सा त्वेवमुक्ता वैदेही त्वनसूयानसूयया ।

प्रतिपूज्य वयो मन्दं प्रवक्तुमुपपन्नमे ॥ १ ॥

तर्पास्वनी अनसूयाके इस प्रकार उपदेश देनेपर किसीके प्रति दोषदृष्टि न रखनेवाली विदेहराजकुमारी सीताने उनके वधनोकी भूरि-भूरि प्रशंसा करके धीरे धीरे इस प्रकार कहना आरम्भ किया— ॥ १ ॥

नैतदाश्चर्यमार्यायां यन्मां त्वमनुभाषसे ।

विदितं तु ममाप्येतद् यथा नार्याः पतिर्गुरुः ॥ २ ॥

‘देवि ! आप संसारकी स्त्रियोंमें सबसे श्रेष्ठ हैं। आपके मुँहमें ऐसी बातोंका सुनना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। नारीका गुरु पति ही है, इस विषयमें जैसा आपने उपदेश किया है, यह बात मुझे भी पहलेसे ही विदित है ॥ २ ॥

यद्यप्येष भवेद् भर्ता अनार्यो वृत्तिवर्जितः ।

अहैधमत्र वर्तव्यं यथाप्येष भया भवेत् ॥ ३ ॥

‘मेरे पतिदेव यदि अनार्य (चरित्रहीन) तथा जाँझिकाके साथनोसे रहिन (निर्धन) होते तो भी मैं बिना किसी दुविधाके इनकी सेवामें लगी रहूँगी ॥ ३ ॥

किं पुनर्यो गुणश्लाघ्यः सानुकोशो जितेन्द्रियः ।

स्थितामुरागो धर्मात्मा मातृवत्पितृवन्धियः ॥ ४ ॥

‘फिर जब कि ये अपने गुणोंके कारण ही सबको प्रशंसाके पात्र हैं, तब तो इनकी सेवाके लिये कहना ही क्या है। ये श्रीरघुनाथजी परम दयालु, जितेन्द्रिय, दृढ़ अनुराग रखनेवाले, धर्मात्मा तथा माता-पिताके समान प्रिय हैं ॥ ४ ॥

यां वृत्तिं वर्तते रामः कौसल्यायां महाबलः ।

तामेव नृपनारीणामन्यासामपि वर्तते ॥ ५ ॥

‘महाबली श्रीराम अपनी माता कौसल्याके प्रति जैसा वर्ताव करते हैं वैसा ही महाराज दशरथका दूसरी रानियोंके साथ भी करते हैं ॥ ५ ॥

सकृद् दृष्टास्वपि स्त्रीषु नृपेण नृपवत्सलः ।

मातृवद् वर्तते वीरो मानमुत्सृज्य धर्मवित् ॥ ६ ॥

‘महाराज दशरथने एक बार भी जिन स्त्रियोंको प्रेमदृष्टिसे

‘अतः तुम इसी प्रकार अपने इन पतिदेव श्रीरामचन्द्र-जोंकी सेवामें लगी रहो—सनीधर्मका पालन करो, पतिको प्रधान देवता समझो और प्रत्येक समय उनका अनुसरण करनी हुई अपने स्वामीको सहधर्मिणी बनो, इससे तुम्हें सुख और धर्म दोनोंकी प्राप्ति होगी’ ॥ २९ ॥

देख लिया है, उनके प्रति भी ये पितृवत्सल धर्मज्ञ वीर श्रीराम मान छोड़कर माताके समान ही वर्ताव करते हैं ॥ ६ ॥

आगच्छन्त्याश्च विजनं जनमेवं भयावहम् ।

समाहितं हि मे श्रद्धा हृदये यत् स्थिरं मम ॥ ७ ॥

‘जब मैं पतिके साथ विजन जनमें आने लगी, इस समय मेरी सास कीमत्तयाने मुझे जो कर्तव्यका उपदेश दिया था वह मेरे हृदयमें म्यां का त्यो स्थिरभावसे अङ्कित है ॥ ७ ॥

पाणिप्रदानकाले च यत् पुरा त्वमिसंनिधौ ।

अनुशिष्टं जनन्या मे वाक्यं तदपि मे धृतम् ॥ ८ ॥

‘पहले मेरे विवाह कालमें अग्निके समीप माताने मुझे जो शिक्षा दी थी, वह भी मुझे अच्छी तरह याद है ॥ ८ ॥

न विस्मृतं तु मे सर्वं वाक्यैः स्वैर्धर्मचारिणि ।

पतिशुश्रूषणात्रार्थास्तपो नान्यद् विधीयते ॥ ९ ॥

‘धर्मचारिणि ! इसके सिवा मेरे अन्य स्वजनोंने अपने वचनोंद्वारा जो जो उपदेश किया है वह भी मुझे भूला नहीं है। खोके लिये पतिकी सेवाके अतिरिक्त दूसरे किसी तपका विधान नहीं है ॥ ९ ॥

सावित्री पतिशुश्रूषां कृत्वा स्वर्गे महीयते ।

तथाधृतिश्च धाता त्वं पतिशुश्रूषया दिवम् ॥ १० ॥

‘सत्यवान्की पत्नी सावित्री पतिकी सेवा करके ही स्वर्गलोकमें पूजित हो रही है। उन्होंने समान वर्ताव करनेवाली आप (अनसूया देवी) ने भी पतिकी सेवाके ही प्रभावसे स्वर्गलोकमें स्थान प्राप्त कर लिया है ॥ १० ॥

अरिष्ठा सर्वनारीणामेषा च दिवि देवता ।

रोहिणी न विना चन्द्रं मुहूर्तमपि दृश्यते ॥ ११ ॥

‘सम्पूर्ण स्त्रियामें श्रेष्ठ यह स्वर्गकी देवी रोहिणी पतिसेवाके प्रभावसे ही एक मुहूर्तके लिये भी चन्द्रमासे विलग होती नहीं देखी जाती ॥ ११ ॥

एवमिथाश्च प्रवराः स्त्रियो भर्तृदुव्रताः ।

देवल्लोके महीयन्ते पूजयेन स्वेन कर्मणा ॥ १२ ॥

‘इस प्रकार दृढतापूर्वक पतिव्रत्य धर्मका पालन

करनेवालों बहुत सी माधवी स्त्रियाँ अपने पुण्यकर्मों बलसे
दशलोकमें आकर पा रही हैं ॥ १२ ॥

ततोऽनसूया संहृष्टा श्रुत्वोक्तं सीतया वचः ।

शिरसाऽऽघ्राय चोवाच मैथिलीं हर्षयन्त्युत ॥ १३ ॥

तदनन्तर सीताके कहे हुए वचन सुनकर अनसूयाकर बड़ा
हर्ष हुआ । उन्होंने उनका मस्तक सूँघा और फिर उन
‘मिथिलेशकुमारी’का हर्ष बढ़ाने हुए इस प्रकार कहा— ॥

नियमैर्विविधैराग्रे तपो हि मद्गदस्ति मे ।

तत् संश्रित्य बलं सीते छन्दये त्वां शुचिचित्रे ॥ १४ ॥

‘उत्तम श्रमका पालन करनेवालों सीते । मैंने अनेक
प्रकारके नियमोंका पालन करके बहुत बड़ी तपस्या मन्त्रित
की है । उस तपोबलका हो आश्रय लेकर मैं तुमसे
इच्छानुसार घर भागनेके लिये कहती हूँ ॥ १४ ॥

उपपन्ने च युक्तं च वचनं तव मैथिलि ।

प्रीता चाभ्युचितां सीते करवाणि प्रियं च किम् ॥ १५ ॥

‘मिथिलेशकुमारी सीते । तुमने बहुत ही युक्तियुक्त और
उत्तम वचन कहा है । उसे सुनकर मुझे बड़ा सन्तोष हुआ है,
अतः वत्ताओं मैं तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ?’ ॥ १५ ॥

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा विस्मिता मन्दविस्मया ।

कृतमित्यन्नर्वात् सीता तपोबलममन्विताम् ॥ १६ ॥

उनका यह वचन सुनकर सीताको बड़ा आश्चर्य हुआ ।
वे तपोबलसम्पन्न अनसूयासे मन्द-मन्द मुसक्यती हुई
बोली— ‘आपने अपने वचनोंद्वारा ही मेरा सारा प्रिय कार्य
कर दिया, अब और कुछ करनेका आवश्यकता नहीं है’ ॥

सा त्वं वमुक्ता धर्मज्ञा तथा प्रीततराभवत् ।

सफलं च प्रहृषे ते हन सीते करोम्यहम् ॥ १७ ॥

सीताके ऐसा कहनेपर धर्मज्ञ अनसूयाको बड़ी प्रसन्नता हुई ।
वे बोली— ‘सीते । तुम्हारा निलोभतामे जो मुझे विशेष हर्ष हुआ
है (अथवा तुममें जो लोभहानताके कारण मन्द आनन्दान्सव भर
गया है), उसे मैं अवश्य सफल करूँगी ॥ १७ ॥

इहै निष्पद्ये वरं मातुष्यं सस्वमाभरणानि च ।

अङ्गरागं च वन्दहि महार्हमनुलेपनम् ॥ १८ ॥

मया त्वमपिदे सीते तव गात्राणि शोभयेत् ।

अनुरूपपद्मसंज्ञिष्ठं नित्यमेव धविष्यति ॥ १९ ॥

यह सुन्दर दिव्य हार यह वस्त्र ये आभूषण यह
अङ्गराग और मातृमत्स्य अनुरूपन ही मुझे देने हैं । त्रिदश-
मन्दिनि गौरी मंगे हो गई ये वस्त्र तुम्हारे अङ्गोंको शोभा
बढ़ावेगो । ये सब तुम्हारे ही योग्य हैं और सदा उपयोगमें
लायी जानेपर निशेष एवं निर्विकार रहेंगे ॥ १८-१९ ॥

अङ्गरागेण दिव्येन लिप्ताङ्गी जनकात्पते ।

शोभायिष्यसि भर्तारं यथा श्रोत्रिणां पत्न्ययम् ॥ २० ॥

‘जनककिशोरी ! इस दिव्य अङ्गरागको अङ्गोंमें लगाकर
तुम अपने पतिजी उसी प्रकार सुशोभित करोगी, जैसे लक्ष्मी

अविनाशमें भगवान् विष्णुकी शोभा बढ़ाती हैं’ ॥ २० ॥

सा सस्वमङ्गरागं च भूषणानि स्वजस्तथा ।

मैथिली प्रतिजघाह प्रीतिदानमनुत्तमम् ॥ २१ ॥

प्रतिगृह्य च तत् सीता प्रीतिदानं यशस्विनी ।

शिरसाऽङ्गलिपुटं धीरा समुपास्त तपोधनाम् ॥ २२ ॥

अनसूयाकी आज्ञासे धीर स्वभाववाली यशस्विनी
मिथिलेशकुमारी मानान् उम वस्त्र, अङ्गराग, आभूषण और
हारको उनको प्रमत्तताके धरम उत्तम उपहार समझकर ले
लिया । उस प्रसापहारको ग्रहण करके वे दोनों हाथ जोड़कर
उन तपोधना अनसूयाकी सेवामें बैठी रहों ॥ २१-२२ ॥

तथा सीतामुपासीनामनसूया दृढव्रता ।

वचनं प्रष्टुमाग्रेभे कथां काचिदनुप्रियाम् ॥ २३ ॥

तदनन्तर इस प्रकार अपन निकट बैठी हुई सीतासे दृढता-
पूर्वक उत्तम श्रमका पालन करनेवालों अनसूयाने कोई परम प्रिय
कथा सुनानेके लिये इस प्रकार पूछना आरम्भ किया— ॥ २३ ॥

स्वयंचरे किल प्राप्ता त्वमनेन यशस्विना ।

राघवेणेति मे सीते कथा श्रुतिमुपागता ॥ २४ ॥

‘सीते ! इन यशस्वी राघवेन्द्रने तुम्हें स्वयंचरमें प्राप्त किया
था, यह बात मेरे सुननेमें आयी है ॥ २४ ॥

तां कथां श्रोनुमिच्छामि विस्तरेण च मैथिलि ।

यथाभूतं च कात्स्नर्येन तन्ये त्वं वक्तुमर्हसि ॥ २५ ॥

‘मिथिलेशमन्दिनि ! मैं उस वृत्तान्तको विस्तारके साथ
सुनना चाहती हूँ । अतः जो कुछ जिस प्रकार हुआ, वह सब
पूर्णरूपसे मुझे बताओ’ ॥ २५ ॥

एवमुक्ता तु सा सीता तापसी धर्मचारिणीम् ।

श्रूयतामिति चांक्त्वा वै कथयामास तां कथाम् ॥ २६ ॥

उनके इस प्रकार आज्ञा देनेपर सीताने उन धर्मचारिणी
तापसी अनसूयासे कहा— ‘माताजी ! सुनिये ।’ ऐसा कहकर
उन्होंने उस कथाको इस प्रकार कहना आरम्भ किया— ॥ २६ ॥

मिथिल्लाधिपतिर्वीरो जनको नाम धर्मवित् ।

क्षत्रकर्मण्यभिगतो न्यायतः शास्ति मेदिनीम् ॥ २७ ॥

मिथिला जनपदके वीर राजा ‘जनक’ नामसे प्रसिद्ध हैं ।
वे धर्मके ज्ञानी हैं, अतः शत्रियोंके कर्ममें तत्पर रहकर
न्यायपूर्वक पुण्योक्त पालन करते हैं ॥ २७ ॥

तस्य लाङ्गलहस्तस्य कृषतः क्षेत्रमण्डलम् ।

अहं किलोत्थिता भित्त्वा जगतीं नृपतेः सुता ॥ २८ ॥

‘एक समयकी बात है, वे यज्ञके योग्य क्षेत्रको हाथमें
हल लेकर जोत रहे थे; इसी समय मैं पृथ्वीको फाड़कर
प्रकट हुई । इनमेमात्रम ही मैं राजा जनककी पुत्री हुई ॥

स मां दृष्ट्वा नरपतिर्मुष्टिर्विश्लेषतत्परः ।

पांसुगुण्ठितमर्वाङ्गीं विस्मितो जनकोऽभवत् ॥ २९ ॥

‘वे राजा उस क्षेत्रमें ओषधियोंको मुट्टीमें लेकर बी रहे
थे । इनमेंही मैं उनकी दृष्टि में ऊपर पड़ी । मेरे सारे अङ्गोंमें

धूलिपटी हुई थी। उस अवस्थामें मुझे देखकर राजा जनकको बड़ा विस्मय हुआ ॥ २९ ॥

अनपत्येन च स्नेहादङ्गमारोग्यं च स्वयम् ।

धमेयं तनयेत्युक्त्वा स्नेहो मयि निपातितः ॥ ३० ॥

‘उन दिनों उनके कोई दूसरी संतान नहीं थी, इसलिये स्नेहवश उन्होंने स्वयं मुझे गादमें ले लिया और यह मेरी बटी है’ ऐसा कहकर मुझपर अपन हृदयका सारा स्नेह उड़ेल दिया ।

अन्तरिक्षे च वागुक्ता प्रतिषामानुषी किल ।

एवमेतन्नरपते धर्मेण तनया तव ॥ ३१ ॥

‘इसी समय आकाशवाणी हुई, जो स्वरूपतः भानवों भाषामें काही गयी थी (अथवा मेरे विषयमें प्रकट हुई वह वाणी अमानुषी—दिव्य थी) । उसने कहा—‘नरेश्वर ! तुम्हारा कथन ठीक है, यह कन्या धर्मतः तुम्हारी ही पुत्री है’ ॥ ३१ ॥

ततः प्रहृष्टो धर्मात्मा पिता मे मिथिलाधिपः ।

अवाप्तो विपुलामुद्धिं मामवाप्य नराधिपः ॥ ३२ ॥

‘यह आकाशवाणी सुनकर मेरे धर्मात्मा पिता मिथिला-नरेश बड़े प्रसन्न हुए । मुझे पाकर उन नरेशने मानो कोई बड़ी समृद्धि पा ली थी ॥ ३२ ॥

वत्ता चास्मीष्टवहृष्यै ज्येष्ठायै पुण्यकर्मणे ।

तया सप्याविता चास्मि स्निग्धथा मातृसौहृदान् ॥ ३३ ॥

‘उन्होंने ‘पुण्यकर्मशायणा बड़ी शर्मिका जो उन्हें अधिक प्रिय थी, मुझे दे दिया । उन स्निग्धथा महारानीन मातृसमुचित सौहार्दसे मेरा स्नातन-पालन किया ॥ ३३ ॥

पतिसंयोगसुलभं वयो दुष्ट्वा तु मे पिता ।

चिन्तामध्यगमद् दीनो वित्तनाशादिवाधनः ॥ ३४ ॥

‘जब पिताने देखा कि मेरी अवस्था विवाहके योग्य हो गयी तब इसके लिये ये बड़ी चिन्तामें पड़े । जैसे कमाये हुए धनका बाढ़ हो जानेसे निर्धन मनुष्यको बड़ा दुःख होता है, उसी प्रकार ये मेरे विवाहकी चिन्तामें बहुत दुःखी हो गये ॥

सदृशाद्यापकृष्टाद्य लोके कन्यापिता जनात् ।

प्रधर्षणमवाप्नोति शक्तेणापि समो भुवि ॥ ३५ ॥

‘संसारमें कन्याके पिताको, वह भूतलपर इन्द्रके ही तुल्य क्यों न हो शरणाक्षक लगाम, वे अपन समान या अपनेसे छोटी हैसियतके ही क्यों न हो, पाये अपमान उठाना पड़ना है ॥ ३५ ॥

तां धर्षणामदूरस्थां संदृश्यात्मनि पार्थिवः ।

चिन्तार्णवगतः पारं नाससादापूर्वो यथा ॥ ३६ ॥

‘यह अपमान सहन करनेकी धड़ी अपने लिये बहुत समीप आ गयी है, यह देखकर राजा चिन्ताके समुद्रमें डूब गये । जैसे नौकाहित मनुष्य पार नहीं पहुँच पाता, उसी प्रकार मेरे पिता भी चिन्ताका पार नहीं पा रहे थे ॥ ३६ ॥

अयोनिजां हि मां ज्ञात्वा वाध्यगच्छन् स चिन्तयन् ।

सदृशं चाभिरूपं च महोपालः पति मम ॥ ३७ ॥

‘मुझे अयोनिजा कन्या समझकर वे भूपाल मेरे लिये

योग्य और परम सुन्दर पत्निका विचार करने लगे, किन्तु किसी निश्चयपर नहीं पहुँच सके ॥ ३७ ॥

तस्य बुद्धिरियं जाता चिन्तयानस्य संततम् ।

स्वयंवरं तनूजायाः करिष्यामीति धर्मतः ॥ ३८ ॥

‘सदा मेरे विवाहकी चिन्तामें पड़ रहनेवाले उन महाराजके मनमें एक दिन यह विचार उत्पन्न हुआ कि मैं धर्मतः अपनी पुत्रीका स्वयंवर करूँगा ॥ ३८ ॥

महायज्ञे तदा तस्य वरुणेन महात्मना ।

दत्तं धनुर्वरं प्रीत्या तूणी चाक्षय्यसायकौ ॥ ३९ ॥

‘उन्हीं दिनों उनके एक महान् यज्ञमें प्रसन्न होकर महात्मा वरुणने उन्हें एक श्रेष्ठ दिव्य धनुष तथा अक्षय बाणोंसे भरे हुए दो तरकस दिये ॥ ३९ ॥

असंचाल्य मनुष्यं यत्नेनापि च गौरवान् ।

तत्र शक्ता नमयितुं स्वप्रेषुपि नराधिपाः ॥ ४० ॥

‘वह धनुष इतना भारी था कि मनुष्य पूरा प्रयत्न करनेपर भी उसे शिखा भी नहीं पतते थे । भूमण्डलक नरेश स्वप्नमें भी उस धनुषको हलकानेमें असमर्थ थे ॥ ४० ॥

तद्धनुः प्राप्य मे पित्रा ध्यातुं सत्यवादिना ।

समवाये नरेन्द्राणां पूर्वमामन्य पार्थिवान् ॥ ४१ ॥

‘उस धनुषको पाकर मेरे सत्यवादी पिताने पहले भूमण्डलक राजाओंका आगन्निज करके उन नरेशोंके समूहमें यह बात कही— ॥ ४१ ॥

इदं च धनुस्तु सज्यं यः कुरुते नरः ।

तस्य मे दुहिता भार्या भविष्यति न संशयः ॥ ४२ ॥

‘जो मनुष्य इस धनुषको उठाकर इसपर प्रणाम करके देगा मेरी पुत्री सोता उसीका पत्नी होगी; इसमें संशय नहीं है ॥ ४२ ॥

तच्च दुष्ट्वा धनुः श्रेष्ठं गौरवाद् गिरिसनिभम् ।

अभिवाद्य नृपा जग्मुः शक्तास्तस्य मोलने ॥ ४३ ॥

‘अपने भारोपनके कारण पहाड़-जैसे प्रतीत होनेवाले उस श्रेष्ठ धनुषको देखकर वहाँ आये हुए राजा जब उस उठानेमें समर्थ न हो सके, सब उस प्रणाम करके चले गये ॥ ४३ ॥

सुदीर्घस्य तु कालस्य राघवोऽयं महाश्रुतिः ।

विश्वामित्रेण सहितो यज्ञं द्रष्टुं समागतः ॥ ४४ ॥

लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा रामः सत्यपराक्रमः ।

विश्वामित्रस्तु धर्मात्मा मम पित्रा सुपूजितः ॥ ४५ ॥

‘तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् ये महाराजस्त्री रघुकुलनन्दन सत्यपराक्रमी श्रीराम अपने भाई लक्ष्मणकी साथ ले विश्वामित्रजीके साथ मेरे पित्तका यज्ञ देखनेके लिये मिथिलामें पधारं । उस समय मेरे पिताने धर्मात्मा विश्वामित्र मुनिको बड़ा आदर-सत्कार किया ॥ ४४-४५ ॥

प्रोवाच पितरं तत्र राघवौ रामलक्ष्मणौ ।

सुतौ दशरथस्येयौ धनुर्दर्शनकाङ्क्षिणौ ।

धनुर्दर्शय राघव राजपुत्राय दैविकम् ॥ ४६ ॥

‘तब वहाँ विश्वामित्रजी में पित्तसे चोले—‘रजन् । ये दोनों रघुकुलभूषण श्रीराम और लक्ष्मण महाराज दशरथके पुत्र हैं और आपके उस दिव्य धनुषको दर्शन करना चाहते हैं आप अपना वह वैद्यप्रद धनुष राजकुमार श्रीरामको दिखाइये’ ॥ ४६ ॥

इत्युक्तस्तेन विप्रेण तद् धनुः समुपानयत् ।
तद् धनुर्दर्शयामास राजपुत्राय दैविकम् ॥ ४७ ॥

विप्रवर विश्वामित्रके ऐसा कहनेपर पिताजीने उस दिव्य धनुषको मैंगवाया और राजकुमार श्रीरामको उस दिव्याया ।

निवेशान्तरमात्रेण तक्षन्मम महाबलः ।
ज्या समारोप्य झटिति पूरयामास वीर्यवान् ॥ ४८ ॥

‘महाबली और परम पराक्रमी श्रीरामने पलक भरते-भारते उस धनुषपर प्रत्यक्षा चढ़ा दी और उसे नुनत कौशलके स्वीकृत ।

तेनापूरयता वेगाभ्यध्वे भग्ने द्विधा धनुः ।
तस्य शब्दोऽभवद् भीमः पतितस्याशनैर्यथा ॥ ४९ ॥

‘उनके वेगपूर्वक झोचते समय वह धनुष बाँचसे ही टूट गया और उसके दो टुकड़े हो गये उसके टूटने समय ऐसा भयंकर शब्द हुआ मानो चढ़ा वल टूट पड़ा हो ॥ ४९ ॥

ततोऽहं तत्र रामाय पित्रा सत्याभिसंधिना ।
दद्यातां दातुमुद्यम्य जलभाजनमुत्तमम् ॥ ५० ॥

‘तब मैं सत्यप्रतिज्ञा पित्तने जलका उत्तम पात्र लेकर

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टदश्याधिकशततमः सर्गः ॥ ११८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ अठारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११८ ॥

एकोनविंशत्यधिकशततमः सर्गः

अनसूयाकी आज्ञासे सीताका उनके दिये हुए वस्त्राभूषणोंको धारण करके श्रीरामजीके

पास आना तथा श्रीराम आदिका रात्रिमें आश्रमपर रहकर प्रातःकाल

अन्यत्र जानेके लिये ऋधियोंसे विदा लेना

अनसूया तु धर्मज्ञा श्रुत्वा तां महतीं कथाम् ।
पर्यङ्गतं ब्राह्म्यां शिरस्याघ्राय मधिलीम् ॥ १ ॥

धर्मज्ञा अनसूयाने उस लकी कथाको सुनकर

मिथिलेश्वरकुमारी सीताका अपना दोनों भुजाओंमें अङ्गुल भर

लिया और उनका घलक रूँघकर कहा— ॥ १ ॥

व्यक्ताक्षरपदं धिक् भ्रायते मधुरं त्वया ।
यथा स्वयंवरं वृत्तं तत् सर्वं च श्रुतं मया ॥ २ ॥

‘बेटी । तुमने सुस्पष्ट अक्षरशाल शब्दोंमें यह धिचित्र उक्त

मधुर प्रसन्न सुनाया तुम्हारा व्यवहार जिस प्रकार हुआ था

वह सब मैंने सुन लिया ॥ २ ॥

रमेयं कथया ने तु मुझे मधुरभाषिणी ।
रधिरस्तं गतः श्रीमान्पोह्य रजनीं शुभाम् ॥ ३ ॥

दिवसं परिकीर्णानामाहमर्थं पतन्निणाम् ।
सध्याकाले निलीनानां निद्रार्थं श्रूयते ध्वनिः ॥ ४ ॥

‘मधुरभाषिणी सीते ! तुम्हारी इस कथामें मेरा मन बहुत

लग रहा है; तथापि तेजस्वी सूर्यदेव रजनीको शुभ खेलाको

श्रीरामके हाथमें मुझे दे देनेका उद्योग किया ॥ ५० ॥

दीयमानां न तु तदा प्रतिजग्राह राघवः ।

अविज्ञाय पितुश्छन्दमयोध्याधिपतेः प्रभोः ॥ ५१ ॥

‘उस समय अपने पित्त अयोध्यानरेश महाराज दशरथके

अभिप्रायको जाने बिना श्रीरामने राजा जनकके देनेपर भी

मुझ नहीं ग्रहण किया ॥ ५१ ॥

ततः शशुरधामन्य वृद्धे दशरथे नृपम् ।
मम पित्रा स्वहं दत्ता रामाय विदितात्मने ॥ ५२ ॥

‘मदनन्तर मैं बृद्ध शशुर राजा दशरथकी अनुमति लेकर

पिताजीने आत्मज्ञानी श्रीरामको मेरा दान कर दिया ॥ ५२ ॥

मम सैवानुजा साध्वी कर्मिणा शुभदर्शना ।
भार्यायै लक्ष्मणस्यापि दत्ता पित्रा मम स्वयम् ॥ ५३ ॥

‘तत्पश्चात् पिताजीने स्वयं ही मेरी छोटी बहिन सती

साध्वी परम सुन्दरी कर्मिणको लक्ष्मणकी पत्नीरूपमें

उनके हाथमें दे दिया ॥ ५३ ॥

एवं दत्तास्मि रामाय तथा तस्मिन् स्वयंवरम् ।
अनुरक्तास्मि धर्मेण पति वीर्यवतां वरम् ॥ ५४ ॥

‘इस प्रकार इस स्वयंवरमें पिताजीने श्रीरामके हाथमें

मुझको सौंपा था । मैं धर्मके अनुसार अपने पति बलवानोंमें

श्रेष्ठ श्रीराममें सदा अनुरक्त रहना हूँ ॥ ५४ ॥

निकट पहुँचाकर अस्त हो गये । जो दिनमें चाग चुगनेके लिये

चारे और छिटके हुए थे वे पक्षी अब संध्याकालमें नींद

लानेके लिये अपने घामलेंग आकर छिप गये हैं उनकी याह

ध्वनि सुनायी दे रही है ॥ ३-४ ॥

एते चाप्यभिषेकार्हा मुनयः कलशोद्यताः ।
सहिता उपवर्तन्ते सलिलाग्रनवल्कलाः ॥ ५ ॥

‘ये जलसे भीगे हुए वल्कल धारण करनेवाले मुनि,

जिनके शरीर स्नानके कारण आई दिखायी देते हैं जलस भर

कलश उठाये एक साथ आश्रमकी ओर लौट रहे हैं ॥ ५ ॥

अग्निहोत्रे च ऋधिया हुते च विधिपूर्वकम् ।
कपोताङ्गारुणो धूमो दृश्यते पवनोद्धतः ॥ ६ ॥

‘महर्षि (अग्नि) ने विधिपूर्वक अग्निहोत्र सम्पत्ती कामकर्म

सम्पन्न कर लिया है अब वायुके वगैरे ऊपरको उठा हुआ यह

कवचके कण्टकी भाँति इयामवर्णका धूम दिखायी दे रहा है ॥

अल्पवर्णा हि तरवो घनोभूताः समन्ततः ।
विप्रकृष्टेन्द्रिये देशे न प्रकाशन्ति वै दिशः ॥ ७ ॥

‘अल्पवर्णा हि तरवो घनोभूताः समन्ततः ।
विप्रकृष्टेन्द्रिये देशे न प्रकाशन्ति वै दिशः ॥ ७ ॥

'अपनी इन्द्रियासे दूर देशमें चलो और जो वृक्ष दिखायें देते हैं, वे छोड़े पतेवाले होनेपर भी अस्वकारसे व्याप्त हो घनोभूत हो गये हैं, अतएव दिशाओंका ध्यान नहीं हो रहा है ॥

रजनीचरसत्त्वानि प्रचरन्ति समन्ततः ।
तपोवनमृगा ह्यंते वेदितीर्थेषु शेरते ॥ ८ ॥

'रातको विचरनेवाले प्राणी (उल्लू आदि) सब ओर विचरण कर रहे हैं तथा ये तपोवनके मृग पुण्यक्षेत्रस्वरूप आश्रमके घेदी आदि विभिन्न प्रदेशोंमें सो रहे हैं ॥ ८ ॥

सम्प्रवृत्ता निशा सीते नक्षत्रसमलंकृता ।
ज्योत्स्नाप्रावरणश्रुद्धो दृश्यतेऽभ्युदितोऽम्बरे ॥ ९ ॥

'सीते ! अब रात हो गयी, वह नक्षत्रोंसे सज गयी है । आकाशमें चन्द्रदेव चाँदनीकी चादर ओढ़ रश्मि दिखायो देते हैं ॥

गम्यतामनुजानामि रामस्यानुचरी भव ।
कथयन्त्या हि मधुरं त्वयाह्वयपि तोषिता ॥ १० ॥

'अतः अब जाओ, मैं तुम्हें जानकी आज्ञा देती हूँ जाकर श्रीगणेशजीकी सेवामें लग जाओ । तुमने अपनी मौड़ी मौड़ी आवासे मुझे भी बहुत सतुष्ट किया है ॥ १० ॥

अलंकुरु च तावत् त्वे प्रत्यक्षं मम मैथिलि ।
प्रीतिं जनय मे यत्से दिष्णालंकारशोभिनी ॥ ११ ॥

'बेटी ! पिथिलेशकुमारी ! पहले मेरी आँखोंके सामने अपने आपको अलंकृत करो । इन दिव्य वस्त्र और आभूषणोंकी धारण जाके इनमें गुशील हो मुझे प्रसन्न करो ॥ ११ ॥

सा तदा समलंकृत्य सीता सुरसुतोपमा ।
प्रणम्य शिरसा पादौ रामं त्वभिमुखी ययौ ॥ १२ ॥

यह सुनकर देवकन्याके समान सुन्दरी सीताने उस समय इन वस्त्राभूषणोंमें अपना श्रद्धा किया और अनन्यथाके चरणोंमें सिर झुकाकर प्रणाम करनेके अनन्तर वे श्रीरामके सममुख गयीं ॥ १२ ॥

तथा तु भूषितां सीतां वदशं जदतां वरः ।
राघवः प्रीतिदानेन तपस्विन्या जहर्ष च ॥ १३ ॥

श्रीरामन जब इस प्रकार सीताको वस्त्र और आभूषणोंसे विभूषित देखा, तब तपस्विनी अनन्यथाके उस प्रेमोपहारके दर्शनमें वक्ताओंमें श्रेष्ठ श्रीमधुनाथजीको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ १३ ॥

न्यवेदयत् ततः सर्वं सीता रामाय मैथिली ।
प्रीतिदानं तपस्विन्या वसनाभरणस्त्रजाम् ॥ १४ ॥

उस समय पिथिलेशकुमारी सीताने तपस्विनी अनन्यथाके साथसे जिस प्रकार वस्त्र आभूषण और हार आदिक प्रेमोपहार प्रेषा हुआ था, वह सब श्रीरामचन्द्रजीसे कह सुनाया ॥ १४ ॥

प्रहृष्टस्त्वयस्वद् रामो लक्ष्मणश्च महारथः ।
मैथिल्याः सत्क्रियां दृष्ट्वा यानुषेषु सुदुर्लभाम् ॥ १५ ॥

भगवान् श्रीराम और महारथी लक्ष्मण सीतका वह सत्कार,

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽथोऽध्याकाण्डे एकोनविंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥ ११९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकीनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अथोऽध्याकाण्डमें एक सौ उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११९ ॥

जो मनुष्योंके लिये सर्वथा दुर्लभ है, देखकर बहुत प्रसन्न हुए ।

ततः स सर्वतो प्रीतः पुण्यां शशिनिधाननाम् ।

अर्चितस्तापसैः सर्वैरुन्नास रघुनन्दनः ॥ १६ ॥

तदनन्तर समस्त तपस्विजनोंसे सम्मानित हुए रघुकुलनन्दन श्रीरामने अनन्यथाके दिये हुए पवित्र अलंकार आदिमें अलंकृत चन्द्रमुखी सीताको देखकर बड़ी प्रसन्नताके साथ वहाँ रात्रिभर निवास किया ॥ १६ ॥

तस्यां रात्र्या व्यतीतायामभिषिच्य हुतप्रिकान् ।

आपुच्छंतां नख्याघ्रां तापसान् वनगोचरान् ॥ १७ ॥

वह रात बोलनेपर जब सभी वनवासी तपस्वी मुनि स्नान करके अग्रतोत्र कर चुके, तब पुरुषसिद्ध श्रीराम और लक्ष्मणने उनसे जानेके लिये आज्ञा माँगी ॥ १७ ॥

तावचुस्ते वनचरास्तापसा धर्मचारिणः ।

वनम्य तस्य संचारे राक्षसैः समभिप्लूतम् ॥ १८ ॥

रक्षांसि पुरुषादानि नानारूपाणि राघव ।

वसन्त्यस्मिन् महारण्ये व्यालाश्च रुधिराशनाः ॥ १९ ॥

तब वे धर्मपरायण वनवासी तपस्वी उन दोनों चाहियोंसे इस प्रकार बोले— रघुनन्दन ! इस वनका मार्ग राक्षसीसे आक्रान्त है—यहाँ उनका उग्रद्वेष होता रहता है । इस विशाल वनमें नानारूपधारी गरमशी राक्षस तथा रक्तभोजी हिंसक पशु निवास करते हैं ॥ १८-१९ ॥

उच्छिष्टं वा प्रमनं वा तापसं ब्रह्मचारिणम् ।

अदन्त्यस्मिन् महारण्ये तान् निवारय राघव ॥ २० ॥

'राघवेन्द्र ! जो तपस्वी और ब्रह्मचारी यहाँ अपवित्र अथवा अभावधान अवस्थामें मिल जाता है, उसे वे राक्षस और हिंसक जानु इस महान् वनमें खा जाते हैं, अतः आप उन्हें रोकिये—यहाँसे भाद भगाइये ॥ २० ॥

एष पन्था महर्षीणां फलान्याहरतां वने ।

अनेन तु वनं दुर्गं गन्तुं राघव ते क्षमम् ॥ २१ ॥

'रघुकुलभूषण ! यही वह मार्ग है, जिससे महर्षिलोग वनके भीतर फल-मूल लेनेके लिये जाते हैं आपको भी इसी मार्गमें इस दुर्गम वनमें प्रवेश करना चाहिये ॥ २१ ॥

इतीरितः प्राञ्जलिभिस्तपस्विभि-

र्द्धिजैः कृतस्वस्त्ययनः परंतपः ।

वनं सभार्यः प्रविशेश राघवः

सलक्ष्मणः सूर्य इवाभ्रमण्डलम् ॥ २२ ॥

तपस्यों ब्राह्मणोंने हाथ जोड़कर जब ऐसी बातें कहीं और उनकी मङ्गलवाचाके लिये स्वास्तिवाचन किया, तब शत्रुओंको संताप देनेवाले भगवान् श्रीरामने अपनी पत्नी सीता और भाई लक्ष्मणके साथ उस वनमें प्रवेश किया, मानो सूर्यदेव मेघोक्ते घटाके भीतर घुस गये हों ॥ २२ ॥

श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणम्

अरण्यकाण्डम्

प्रथमः सर्गः

श्रीराम, लक्ष्मण और सीताका तापसोके आश्रममण्डलमें सत्कार

प्रविश्य तु महारण्यं दण्डकारण्यमात्मवान् ।

रामो वदार्शं दुर्धर्षस्तापसाश्रममण्डलम् ॥ १ ॥

दण्डकारण्य नामक महान् वनमें प्रवेश करके मनको अशोक सखनवाले दुर्जय और श्रेष्ठमन तपस्या मुनियोंक बहुत-से आश्रम देखे ॥ १ ॥

कुशाक्षीरपरिक्षिप्तं ब्रह्मभा लक्ष्म्या समावृतम् ।

यथा प्रदीप्तं दुर्दर्शं गगने सूर्यमण्डलम् ॥ २ ॥

यहाँ कुश और लक्ष्मण वन फैले हुए थे, वह आश्रम-मण्डल क्षणियोंका ब्रह्मविद्याक अभ्यासमें प्रकट हुए बिलक्षण तेजसे व्याप्त था, इसीलिये आकाशमें प्रकाशित होनेवाले दुर्दर्श सूर्य मण्डलकी भाँति सब धूलपर उड़ते ही रहा था। राक्षस आदिक लिय ठमकी और देखना भी कठिन था ॥ २ ॥

शरण्यं सर्वभूतानां सुसम्पृष्टाजिरं सदा ।

मृगीर्बहुभिराक्षीर्णं पक्षिमर्घं समावृतम् ॥ ३ ॥

यह आश्रमसमुदाय सभी प्राणियोंको शरण देनेवाला था उसका आँगन सदा झाड़ों वृक्षारम्य मण्डल बना रहता था। यहाँ बहुत से वन्य पक्षी भर रजत ध और पक्षिचक्र समुदाय भी ठम राख ओगम घेरे रहते थे ॥ ३ ॥

पूजितं चोपनृतं च नित्यमप्सरसां गणैः ।

विशालैरप्रिशरणी सुभाण्डैर्गजैर्न कुशैः ॥ ४ ॥

सभिद्रिस्तोयकलशैः फलमूलैश्च शोभितम् ।

आगच्छैश्च महावृक्षैः पुण्यं स्वादुफलवृन्तम् ॥ ५ ॥

यहाँका प्रदेश इतना मनोरम था कि वहाँ अप्सरार् प्रतिदिन स्नान कर नृत्य करती थीं। उस स्थानके प्रति उनके मनमें बड़े आदरका भाव था। वहाँ वड़ी अग्निशालाएँ, खुवा आदि यज्ञपात्र, मृगचर्म, कुश, समिधा, जलपूर्ण कलश तथा फल मूल उसकी शोभा बढ़ाते थे। स्वादिष्ट फल देनेवाले परम पवित्र तथा बड़े-बड़े वन्य वृक्षोंसे यह आश्रममण्डल घिरा हुआ था ॥ ४-५ ॥

अलिङ्गामार्चितं पुण्यं ब्रह्मघोषनिनादितम् ।

पुण्यैश्चार्चैः परिष्कृतं पश्यान्वा च सपत्नया ॥ ६ ॥

अलिङ्गितदेव और संयमे पूजित यह पवित्र आश्रमसमूह

वदमन्त्रक पादकों ध्यानमें गूँजता रहता था। कमलपुष्पोंसे सुशोभित पुष्करिणी उस स्थानका शोभा बढ़ाती थी तथा यहाँ और भी बहुत-से फूल सब ओर बिखरे हुए थे ॥ ६ ॥

फलमूलाशनैर्दानैश्चैरकुणाजिनाम्बरैः ।

सूर्यवैश्वानराभैश्च पुराणैर्मुनिधिर्युतम् ॥ ७ ॥

उन आश्रमोंमें चौर और काला मृगचर्म धारण करनेवाले तथा फल मूलका आहार करके रहनेवाले, जितेन्द्रिय एवं सूर्य और अग्निक तुल्य महानेजस्वी, पुरातन मुनि निवास करते थे ॥ ७ ॥

पुण्यैश्च नियताहारैः शोभितं परमर्षिभिः ।

तद् ब्रह्मधोवनप्रख्यं ब्रह्मघोषनिनादितम् ॥ ८ ॥

निर्यामत आहार करनेवाले पवित्र महर्षियोंसे सुशोभित वह आश्रमसमूह ब्रह्मजोंक धामकी भाँति तेजस्वी तथा अदृष्टान्तमें निनादित था ॥ ८ ॥

ब्रह्मविद्रिभंहाभार्गव्वाङ्गणैरुपशोभितम् ।

तद् दृष्ट्वा राघवः श्रीर्मास्तापसाश्रममण्डलम् ॥ ९ ॥

अभ्यगच्छन्महातेजा विज्यं कृत्वा महद् धनुः ।

अनेक महाभाग ब्रह्मवैता ब्राह्मण उन आश्रमोंकी शोभा बढ़ाते थे। महातेजस्वी श्रीगणने उस आश्रममण्डलकी देखकर अपने महान धनुषको प्रत्यङ्ग ठठार दी, फिर वे आश्रमके भीतर गये ॥ ९ ॥

दिव्यज्ञानोपपन्नास्ते राघे दृष्ट्वा महर्षयः ॥ १० ॥

अधिजग्मुस्तदा प्रीता वैदेहीं च यशस्विनीम् ।

श्रीराम तथा यशस्विनी सीताको देखकर वे दिव्य ज्ञानसे सम्पन्न महर्षि बड़ी प्रसन्नताके साथ उनके पास गये ॥

ते तु सोमयिवोद्यन्तं दृष्ट्वा चै यमचारिणम् ॥ ११ ॥

लक्ष्मणं चैव दृष्ट्वा तु वैदेहीं च यशस्विनीम् ।

भङ्गलानि प्रयुञ्जानाः प्रत्यगृह्णन् दुष्टव्रताः ॥ १२ ॥

दृष्ट्वापूर्वक उनमें ब्रह्मका पालन करनेवाले वे महर्षि उदयकालके चन्द्रमाकी भाँति मनोहर, धर्मात्मा श्रीरामको, लक्ष्मणको और यशस्विनी विदेहराजकुमारी सीताको भी देखकर उन सबके लिय मङ्गलमय आशीर्वाद देने लगे उन्होंने उन तीनोंको आदरणीय अनिधिके रूपमें ग्रहण किया ॥ ११-१२ ॥

रूपसंहननं लक्ष्मीं सौकुमार्यं सुवेषताम् ।
ददृशुर्विस्मिताकारा रामस्य वनवासिनः ॥ १३ ॥

श्रीरामके रूप, शरीरकी गठन, कान्ति, सुकुमारता तथा सुन्दर वेषको उन वनवासी मुनियोंने आश्चर्यचकित होकर देखा ॥ १३ ॥

वैदेहीं लक्ष्मणं रामं नेत्रैरनिमिषैरिव ।
आश्चर्यभूतान् ददृशुः सर्वे ते वनवासिनः ॥ १४ ॥

वनमें निवास करनेवाले वे सभी मुनि श्रीराम, लक्ष्मण और सीता—तीनोंको एकटक नज़रोंमें देखने लगे। उनका स्वरूप उन्हें आश्चर्यमय प्रतीत होता था ॥ १४ ॥

अत्रैवं हि महाभागाः सर्वभूतहिते रताः ।
अतिथिं पर्णशालायां राघवं संन्यवेशयन् ॥ १५ ॥

समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले उन महाभाग महर्षियोंने वहाँ अपने प्रिय अतिथि इन भगवान् श्रीरामको पर्णशालामें ले जाकर ठहराया ॥ १५ ॥

ततो रामस्य सत्कृत्य विधिना पावकोपमाः ।
आजहुस्ते महाभागाः सर्लिलं धर्मचारिणः ॥ १६ ॥

आश्रितुन्व्य तजस्वी और धर्मपरायण उन महाभाग मुनियोंने श्रीरामको विधिवत् सत्कारके साथ जल समर्पित किया ॥

मङ्गलानि प्रयुञ्जाना भुवा परमया युताः ।
मूलं पुष्पं फलं सर्वधात्रयं च महात्मनः ॥ १७ ॥

फिर बड़ी प्रगज्जलाक साथ मङ्गलमूचक आशीर्वाद देते हुए उन महाभाग श्रीरामको उन्होंने फल मूल और पुष्प आदिके साथ साथ आश्रम भी समर्पित कर दिया ॥ १७ ॥

निवेदयित्वा धर्मज्ञास्ते तु प्राञ्जलयोऽब्रुवन् ।
धर्मशालो जनस्यास्य शङ्क्यश्च महायशः ॥ १८ ॥

पूजनीयश्च मान्यश्च राजा वृष्णधरो गुरुः ।
इन्द्रस्यैव अनुर्भागः प्रजा रक्षति राघव ॥ १९ ॥

राजा तस्माद् वरान् भोगान् रम्यान् भुङ्क्ते नमस्कृतः ।
सह कुलं निवेदनं करके वे धर्मज्ञ मुनि हाथ जोड़कर

इत्यार्ष श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽग्न्यकाण्डे प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकि-निर्गमित आर्यारामायणे आदिकाव्यके अग्न्यकाण्डमें पहला सर्ग पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयः सर्गः

वनके भीतर श्रीराम, लक्ष्मण और सीतापर विराधका आक्रमण

कृतातिथ्योऽथ रामस्तु सूर्यस्फोटयनं प्रति ।
आमन्त्र्य स मुनीन् सर्वान् वनमेधान्वगाहत ॥ १ ॥

रविवेले वन महर्षियोंका आतिथ्य ग्रहण करके सर्वे सूर्यादय होनेपर समस्त मुनियोंमें विदा ल श्रीरामचन्द्रजी पुनः वनमें ही आगे बढ़ने लगे ॥ १ ॥

नानामृगगणाकीर्णमृक्षशार्दूलसेवितम् ।
ध्वस्तवृक्षलनागुल्मं ददर्शसलिलाशयम् ॥ २ ॥

बोले—'रघुनन्दन ! दण्ड धारण करनेवाला राजा धर्मका पालक, महायशस्वी, इस जन-समुदायको शाण देनेवाला माननीय, पूजनीय और सबका गुरु है। इस भूतलपर इन्द्र (आदि लाकपालों) का ही चौथा अंश होनेके कारण वह प्रजाको रक्षा करता है, अतः राजा सबसे चन्दित होता तथा उत्तम एवं रमणीय भोगोंका उपभोग करता है। (जब साधारण राजाकी यह स्थिति है, तब आपके लिये तो क्या कहना है। आप तो साक्षात् भगवान् हैं) ॥ १८ ॥ १९ ॥

ते वयं भवता रक्षया भवद्विषयवासिनः ।
नगरस्थो वनस्थो वा त्वं नो राजा जनेश्वरः ॥ २० ॥

'हम आपके राज्यमें निवास करते हैं, अतः आपको हमारी रक्षा करनी चाहिये। आप नगरमें रहें या वनमें, हमलोगोंके राजा हो हैं। आप समस्त जनसमुदायका शासक एवं पालक हैं ॥ २० ॥

म्यस्तदप्यहं वयं राजञ्जितक्रोधा जितेन्द्रियाः ।
रक्षणीयास्त्वया शश्वद् गर्भभूतास्तपोधनाः ॥ २१ ॥

'राजन् ! हमने जीवमात्रको दण्ड देना छोड़ दिया है, क्रोध और इन्द्रियोंको जीत लिया है, अब तपस्या ही हमारा धन है। जैसे माना गर्भस्थ बालककी रक्षा करता है, उसी प्रकार आपको सदा मय नरहमें हमारी रक्षा करनी चाहिये' ॥ २१ ॥

एवमुक्त्वा फलमूलैः पुष्परन्ध्रैश्च राघवम् ।
वन्यैश्च विविधाहारैः सलक्ष्मणमपूजयन् ॥ २२ ॥

ऐसा कहकर उन तपस्वी मुनियोंने वनमें उत्पन्न होनेवाले फल, मूल, फूल तथा अन्य अनेक प्रकारके आहारोंमें लक्ष्मण (और सीता) मन्त्रित भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका सत्कार किया।

तथान्ये तापसाः सिद्धा रायं वैश्वानरोपमाः ।
न्याययुता यथान्याये तर्पयापासुरीश्वरम् ॥ २३ ॥

इनके लिये दुसरे अधिभुज्य तपस्वी तथा न्याययुक्त बर्ताववाले सिद्ध तापसेन भी सर्वेश्वर भगवान् श्रीरामको यथोचित रूपसे तृप्त किया ॥ २३ ॥

इत्यार्ष श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽग्न्यकाण्डे प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

निष्कृजमग्नशकुनि द्विलिखकागणनादितम् ।
लक्ष्मणानुचरो रामो वनमध्यं ददर्श ह ॥ ३ ॥

आते-जाते लक्ष्मणसहित श्रीरामने वनके मध्यभागमें एक ऐसे स्थानको देखा जो नाना प्रकारके मृगोंमें व्याप्त था। वहाँ बहुत से रीछ और बाघ रहा करते थे। वहाँकि वृक्ष, लता और झाड़ियाँ नष्ट-भ्रष्ट हो गयी थीं। इस वनप्रान्तमें किसी जलाशयका दर्शन होना कठिन था। वहाँकि पक्षों वहाँ चहक

रहे थे। झींगुरोंको झंकार मँज रही थी ॥ २-३ ॥

सीतया सह काकुत्स्थनस्मिन् घोरभृगायुने ।

ददर्श गिरिभृङ्गार्थं पुरुषादे महास्वनम् ॥ ४ ॥

भयंकर जंगली पशुओंसे भरे हुए उस दुर्गम वनमें सीताके साथ श्रीरामचन्द्रजीने एक नरभक्षी राक्षस देखा, जो पर्वतशिखरके समान ऊँचा था और उच्चस्वरसे गजना कर रहा था ॥ ४ ॥

गभीराक्षं महावक्त्रं विकटं विकटोदरम् ।

जीभत्सं क्षिप्रं दीर्घं विकृतं घोरदर्शनम् ॥ ५ ॥

उसकी आँखें गहरी, मुँह बहुत बड़ा, आकार विकट, और पेट विकराल था। वह देखनेमें बड़ा भयंकर, घृणित, बड़ील, बहुत बड़ा और विकृत वेशसे युक्त था ॥ ५ ॥

वसानं चर्म वैयाघ्रं वसाधं रुधिराक्षितम् ।

प्रासने सर्वभूतानां व्यादिनाम्यपिबान्तकम् ॥ ६ ॥

उसने खूनसे भीगा और चरबीसे गोला व्याघ्रचर्म पहन रखा था। समस्त प्राणियोंको त्रास पहुँचानेवाला वह राक्षस यमराजके समान मुँह बाधे खड़ा था ॥ ६ ॥

श्रीन् सिंहांश्चतुरो व्याघ्रान् ही वृकी पृषतान् दश ।

सविषाणं वसादिर्घं गजम् च शिरो महन् ॥ ७ ॥

अवसज्ज्यायसे शूले विनदन्तं महास्वनम् ।

वह एक लोहेक शूलमें तीन सिंह, चार बाघ, दो भेड़िय, दस चितकबरे हरिण और दत्तासहस्र एक बहुत बड़ा हाथीका मस्तक, जिसमें चर्वी लिपटी हुई थी, गोथकर जोर-जोरसे दहाह रहा था ॥ ७ ॥

स रामं लक्ष्मणं चैव सीतां वृष्टा च मेधिलीम् ।

अभ्यधावन् सुराङ्गकुटु प्रजा काल इवान्तकः ॥ ८ ॥

स कृत्वा भैरवं नन्दं चालम्बिषं मेदिनीम् ॥ ९ ॥

श्रीराम, लक्ष्मण और मिथिलेशकुमारी सीताको देखते ही वह ब्रह्ममें भरकर भैरवादि काक पृथ्वीका कम्पन करना हुआ तब गधकी और ऊँचो प्रकार दौड़ा जैसे प्रणालनकारी कारक प्रजाकी ओर अग्रसर होता है ॥ ८-९ ॥

अङ्गनामयं कैतहीमपक्रम्य तदावर्चन् ।

युष्मा जटाञ्जीरधरी सभायी क्षीणजीविनी ॥ १० ॥

प्रविष्टौ दण्डकारण्यं शरचापामिषाणिनी ।

वह चिन्हनन्दिनी सीताको गोदमें ले कुछ दूर जाकर खड़ा हो गया। फिर इन दोनों गाइयोंसे चाल—‘तुम दोनों जटा और चीर धारण करके भी खोके साथ रहत हो और हाथमें घन्घ-बाण और तलवार लिये दण्डकवनमें घुस आये हो, अतः जान पड़ता है, तुम्हारा जीवन क्षीण हो चला है ॥

कथं तापसयोषी च वसः प्रमदया सह ॥ ११ ॥

अधर्मचारिणी पापी कौ युष्मां मुनिदूषकौ ।

‘तुम दोनों तो तपस्वी वन पढ़ने हो, फिर तुम्हारा युवती खोके साथ रहना कैसे सम्भव हुआ? अधर्म-

परायण, पापी तथा मुनिसमुदायको कलङ्कित करनेवाले तुम दोनों कौन हो? ॥ ११ ॥

अहं वनमिदं दुर्गं विराधो नाम राक्षसः ॥ १२ ॥

चरामि सायुधो नित्यभूमिमांसानि भक्षयन् ।

‘मैं विराध नामक राक्षस हूँ और प्रतिदिन प्रष्टियोंके मांसका भक्षण करता हुआ हाथमें अस्त्र-शस्त्र लिये इस दुर्गम वनमें विचरता रहता हूँ ॥ १२ ॥

इयं नारी चरारोहा मम भार्या भविष्यति ॥ १३ ॥

युवयोः पापयोश्चाहं पास्यामि रुधिरं मूत्रे ।

‘यह स्त्री बड़ी सुन्दरी है, अतः मेरी भार्या बनेगी और तुम दोनों पापियोंका मैं युद्धस्थलमें रक्त पान करूँगा ॥ १३ ॥

तस्यैव ब्रुवतो ह्यहं विराधस्य दुरात्मनः ॥ १४ ॥

भृत्वा सगर्वितं वाक्यं सम्भ्रान्ता जनकात्मजा ।

सीता प्रवेपितोद्वेगात् प्रवाते कदली यथा ॥ १५ ॥

दुरात्म विराधकी ये दुष्टता और घमड़में भरी बातें सुनकर जनकान्दिनी सीता घबरा गयी और जैसे तेज हवा चलनेपर कलक वृक्ष जोर-जोरसे हिलने लगता है, उसी प्रकार ये उद्दगके कारण धक्का खाँपने लगी ॥ १४-१५ ॥

तां दृष्ट्वा राघवः सीतां विराधाङ्गुलां शुभाम् ।

अत्रर्वल्लक्ष्मणं वाक्यं मुखेन परिशुष्यता ॥ १६ ॥

शुभलक्षणा सीताको सहसा विराधके अङ्गुलमें कैसी देख श्रीरामचन्द्रजी मुगधने हुए मुँहसे लक्ष्मणको सम्बोधित करके बोले— ॥ १६ ॥

पश्य सीम्य नरेन्द्रस्य जनकस्यात्मसम्भवाम् ।

मम भार्या शुभाचारां विराधाङ्गे प्रवेशिताम् ॥ १७ ॥

सीम्य ! देखो तो सहो, महाराज जनककी पुत्री और मेरी सती-माध्वी पत्नी सीता विराधके अङ्गुलमें विचशतापूर्वक जा पहुँची है ॥ १७ ॥

अत्यन्तसुखसंवृद्धां राजपुत्रीं यशस्विनीम् ।

यदपिप्रेतमस्मासु प्रियं वरवृत्तं च यत् ॥ १८ ॥

कैकेय्यास्तु सुसंवृत्तं क्षिप्रमर्हव लक्ष्मण ।

या न तुष्यति राज्येन पुत्रार्थं दीर्घदर्शिनी ॥ १९ ॥

‘अत्यन्त सुखमें पली हुई यशस्विनी राजकुमारी सीताको वह अवस्था ! (हाय ! कितने कष्टकी बात है !) लक्ष्मण ! वनमें हमारा लिये जिस दुःखकी प्राप्ति कैकेयीकी अभीष्ट थी और जो कुछ उमे प्रिय था जिसके लिये उरने वर मँगी थे वह सब आज ही शीघ्रतापूर्वक सिद्ध हो गया तथा तो वह दुष्टदिनी कैकेयी अपने पुत्रके लिये केवल राज्य लेकर नहीं सतृष्ट हुई थी ॥ १८-१९ ॥

यथाहं सर्वभूतानां प्रियः प्रस्थापितो वनम् ।

अद्येदानीं सकामा सा या याना मध्यमा मम ॥ २० ॥

‘जिम्हने समस्त प्राणियोंके लिये प्रिय होनेपर भी मुझे वनमें भेज दिया, वह मेरी मङ्गली माना कैकेयी आज इस

समय सफलमनोरथ हुई है ॥ २० ॥

परस्पर्शात् तु वैदेह्या न दुःखतरमस्ति मे ।

पितुर्विनाशात् सौमित्रे स्वराज्य हरणात् तथा ॥ २१ ॥

‘विदेहनन्दिनीक्य दूसरा कोई स्पर्श कर ले, इससे बढ़कर दुःखकी बात मेरे लिये दूसरी कोई नहीं है। सुमित्रानन्दन! पिताजीकी मृत्यु तथा अपने राज्यके अपहरणसे भी उतना कष्ट मुझे नहीं हुआ था, जितना अब हुआ है’ ॥ २१ ॥

इति सुवति काकुत्स्थे बाष्पशोकपरिप्लुतः ।

अब्रवील्लक्ष्मणः क्रुद्धो रुद्धो नाग इव शसन् ॥ २२ ॥

श्रीरामचन्द्रजीक ऐसा कहनेपर शोकके अग्नि बहाते हुए लक्ष्मण कुपित हो मनसे अवरुद्ध हुए सर्पकी भाँति गुफत्कारते हुए बोले— ॥ २२ ॥

अनाश इव भूतानां नाथस्त्वं बासवोपमः ।

मया प्रेध्येण काकुत्स्थ किमर्थं परितप्यसे ॥ २३ ॥

‘ककुत्स्थकुलभूषण! आप इन्द्रके समान समस्त प्राणियोंके स्वामी एक संरक्षक हैं। मुझ दासके रहने हुए आप किस लिये अनाशकी भाँति संनम हो रहे हैं? ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीमन्नारामणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे द्वितीय सर्गः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीमहाल्मीकीनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें दूसरा सर्ग पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयः सर्गः

विराध और श्रीरामकी बातचीत, श्रीराम और लक्ष्मणके द्वारा विराधपर प्रहार तथा विराधका इन दोनों भाइयोंको साथ लेकर दूसरे वनमें जाना

अधोवाच पुनर्धाक्यं विराधः पूरयन् वनम् ।

पृच्छतो मम हि ब्रूते कौ युवा त्वं गणिष्यथः ॥ १ ॥

तदनन्तर विराधने उस वनके गुजाते हुए कहा—
‘अरे! मैं पूछता हूँ, मुझे बताओ। तुम दोनों क्या हो और कहाँ जाओगे?’ ॥ १ ॥

तमुवाच ततो रामो गक्षसं ज्वलिताननम् ।

पृच्छन्तं सुमहातेजा इक्ष्वाकुकुलमात्मनः ॥ २ ॥

क्षत्रियो वृजसम्पन्नी विद्धि नो वनगोचरौ ।

त्वा तु चेदितुमिच्छावः कस्त्वं चरसि दण्डकान् ॥ ३ ॥

तब महातेजस्वी श्रीरामने अपना परिचय पूछते हुए प्रज्वलित मुखवाले उस राक्षसमें इस प्रकार कहा— ‘तुझे मालूम होना चाहिये कि महाराज इक्ष्वाकुकुल हो मेरा कुल है। हम दोनों भाई मदानाथका पालन करनेवाले क्षत्रिय हैं और कारणवश इस समय वनमें निवास करते हैं। अब हम तेरा परिचय जानना चाहते हैं। तू कौन है, जो दण्डवाकनमें स्वच्छासे विचर रहा है?’ ॥ २-३ ॥

तमुवाच विराधस्तु राम सत्यपराक्रमम् ।

हन्त वक्ष्यामि ते राजन् निबोध मम राधव ॥ ४ ॥

शरेण निहतस्याद्य मया क्रुद्धेन रक्षसः ।

विराधस्य भनासोर्हि मही पाश्याति शोणितम् ॥ २४ ॥

‘मैं अभी कुपित होकर अपने बाणसे इस राक्षसका वध करता हूँ। आज यह पृथ्वी मेरे द्वारा मारे गये प्राणशून्य विराधका रक्त पीयेगी ॥ २४ ॥

राज्यकामे मम क्रोधो भरते यो अभूव ह ।

तं विराधे विमोक्ष्यामि वज्री वज्रमिवाचले ॥ २५ ॥

‘राज्यकामे इच्छा रखनेवाले भरतपर मेरा जो क्रोध प्रकट हुआ था, उसे आज मैं विराधपर छोड़ूँगा। जैसे वज्रधारी इन्द्र पर्वतपर अपना वज्र छोड़ते हैं ॥ २५ ॥

मम भुजबलवेगवेगितः

पततु शरोऽस्य महान् महोरसि ।

व्यपनयतु तनोश्च जीवितं

पततु ततश्च महीं विघूर्णितः ॥ २६ ॥

‘मेरी भुजाओंके बलके वेगसे वेगवान् होकर छूटा हुआ मेरा महान् बाण आज विराधके विशाल वक्षस्थलपर गिर। इसके शरीरमें प्राणोंको अलग करे। तत्पश्चात् यह विराध चकर खाता हुआ पृथ्वीपर पड़ जाय’ ॥ २६ ॥

यह सुनकर विराधने सत्यपराक्रमी श्रीरामसे कहा—
‘रघुवंशी नरेश! मैं प्रसन्नतापूर्वक अपना परिचय देता हूँ। तुम मेरे विषयमें सुनो ॥ ४ ॥

पुत्रः किल जवस्थाहं माता मम शतहृदा ।

विराध इति मामाहुः पृथिव्यां सर्वराक्षसाः ॥ ५ ॥

‘मैं ‘जव’ नामक राक्षसका पुत्र हूँ, मेरी माताका नाम ‘शतहृदा’ है। भूमण्डलके समस्त राक्षस मुझे विराधक नामसे पुकारते हैं ॥ ५ ॥

तपसा चाभिसम्प्राप्ता ब्रह्मणो हि प्रसादजा ।

शस्त्रेणावध्यता लोकेऽच्छेद्याभेद्यत्वमेव च ॥ ६ ॥

‘मैंने तपस्याके द्वारा ब्रह्माजीको प्रसन्न करके यह वरदान प्राप्त किया है कि किमी भी शस्त्रसे मेरा वध न हो। मैं संसारमें अच्छेद्य और अभेद्य होकर रहूँ—काई भी मेरे शरीरको छिन्न-भिन्न नहीं कर सके ॥ ६ ॥

उत्सृज्य प्रमदामेनामनपेक्षौ यथागतम् ।

त्वरमाणीं घलायेद्यां न यां जीवितमाददे ॥ ७ ॥

‘अब तुम दोनों इस युवती स्त्रीको यहीं छोड़कर इसे पानेकी इच्छा न रखते हुए जैसे आये हो उसी प्रकार तुरंत

यहांसे भाग जाओ । मैं तुम दोनोंके प्राण नहीं लूंगा ॥ ७ ॥
ते रामः प्रत्युवाचेदं कोपसरत्कलोचनः ।

राक्षसं विकृताकारं विराधं पापचेतसम् ॥ ८ ॥

यह सुनकर श्रीरामचन्द्रजीकी आंखें कांधसे झल हो
गयीं वे पापपूर्ण विचार और विकट आकारवाले उस पापों
राक्षस विराधसे इस प्रकार बोले— ॥ ८ ॥

क्षुद्रं धिक् त्वां तु होनार्थं मृत्युपन्थेऽपसेधुवम् ।

रणे प्राप्स्यसि संनिष्ठ न मे जीवन् विपोक्यसे ॥ ९ ॥

गंध । तुझे धिक्कार है । तेरा अभिप्राय बड़ा ही
ख़ाया है । विहाय हो नूँ अपने ही मर्त्य होने रहा हूँ और वह
तुझे मुझसे मिलेगा । ठहर, अब तू मेरे हाथसे जीवित
नहीं छूट सकगा ॥ ९ ॥

ततः सज्यं धनुः कृत्वा रामः सुनिशिताञ्छरान् ।

सुशीघ्रमभिर्मन्थाय राक्षसं निजधान ॥ १० ॥

यह कहकर भगवान् श्रीरामने अपने धनुषपर प्रत्यक्षा
चढ़ायीं और नुरत ही नांवे बाणोंको अनुसंधान करके उस
राक्षसको बांधना आरम्भ किया ॥ १० ॥

धनुषा ज्यागुणवता सप्त बाणान् मुमोच ह ।

स्वमण्डूकान् महावेगान् मुपर्णानिलनुत्यगान् ॥ ११ ॥

उन्होंने प्रत्यक्षायुक्त धनुषके द्वारा विराधके ऊपर लगभग
सान बाण छोड़े जो गरुड और वायुके समान महान् वेगशक्त
थे और मोलके पन्नाम मुझोचित हो रहे थे ॥ ११ ॥

ते शरीरं विराधस्य भित्त्वा बर्हिणवामसः ।

निपेन् शोणितादिग्धा धरण्या पावकोपमा ॥ १२ ॥

प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी और मोग्गस्र लगे हुए
वे बाण विराधके शरीरको छंदकर स्तम्भोजन हो पृथ्वीपर
गिर पड़े ॥ १२ ॥

स विद्धो न्यस्य वेदेहौ शूलमुद्यम्य राक्षसः ।

अभ्यग्नवन् सुसंकुञ्जस्तथा रामे सलक्ष्मणम् ॥ १३ ॥

घायल हो जानेपर उस राक्षसने विरहकुमारी संताका
भ्रमरा रक्त दिया और स्वयं हाथसे शूल लिये अन्यन्त कुपित
होकर श्रीराम तथा लक्ष्मणपर तत्काल दूट पड़ा ॥ १३ ॥

स विनष्टा महानादं शूलं शक्रध्वजोपमम् ।

शृगुह्याशोभत सदा व्यासानन इवान्तकः ॥ १४ ॥

यह बाढ़े जोरसे मर्जना करके इन्द्रध्वजके समान शूल लेकर
तब भ्रमरी मुह बाधे हुए कालके समान शोभा पर रहा था ॥
अब तो भ्रातरी दीप्त शरवर्षे खवर्षतुः ।

विराधे राक्षसे तस्मिन् कालान्तकधर्मोपमे ॥ १५ ॥

तब काल, अन्तक और समराजके समान उस भयंकर
राक्षस विराधके ऊपर उन दोनों पाइयोंने प्रज्वलित बाणोंकी
बर्षा आरम्भ कर दी ॥ १५ ॥

स प्रहस्य महारौद्रः स्थित्वाजृम्भत राक्षसः ।

जृम्भमाणस्य ते बाणाः कतयान्निष्पेनुराशुगाः ॥ १६ ॥

‘यह देख वह महाभयंकर राक्षस अट्टहास करके खड़ा
हो गया और जैभाईके साथ अँगड़ाई लेने लगा । उसके वैसा
करत हां शीघ्रगामी बाण उसके शरीरसे निकलकर पृथ्वीपर
गिर पड़े ॥ १६ ॥

स्पर्शान् तु वरदानेन प्राणान् संरोध्य राक्षसः ।

विराधः शूलमुद्यम्य राधवावभ्यधावत ॥ १७ ॥

वरदानके सम्बन्धसे उस राक्षस विराधने प्राणोंको
रोक लिया और शूल उठाकर उन दोनों रघुवंशी धोर्गपर
आक्रमण किया ॥ १७ ॥

तच्छूलं वज्रसंकाशं गगने ज्वलनोपमम् ।

द्वाभ्यां शराभ्यां चित्तेदं रामः शस्त्रभृतां वरः ॥ १८ ॥

उसका वह शूल आकाशमें वज्र और अग्निके समान
प्रज्वलित हो उठा, परन्तु शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजीने
दो बाण मारकर उसे काट डाला ॥ १८ ॥

तद् रामविशिखैश्छिन्नं शूलं तस्यापतद् भुवि ।

पपाताशनिना छिन्नं घेरोरिव शिलातलम् ॥ १९ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके बाणोंसे कटा हुआ विराधका वह
शूल वज्रसे छिन्न-भित्त हुए मैदानके शिलाखण्डकी भाँति
पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ १९ ॥

तौ खड्गौ क्षिप्रमुद्यम्य कृष्णसर्पाविवोद्यतौ ।

तूर्णमापेततुस्तस्य तदा प्रहरतां बलात् ॥ २० ॥

फिर तो वे दोनों खड़े शीघ्र ही काले सर्पोंके समान दो
नन्करों लेकर तुरंत उसपर दूट पड़े और तत्काल बलपूर्वक
प्रहार करने लगे ॥ २० ॥

स वध्यमानः सुभृशं भुजाभ्यां परिगृह्य तौ ।

अप्रकम्प्यौ नरव्याघ्रौ रौद्रः प्रस्थातुर्मेच्छत ॥ २१ ॥

उनके आघातसे अत्यन्त घायल हुए उस भयंकर राक्षसने
अपनी दोनों भुजाओंसे उन अकम्प्य पुरुषसिंह जीरांका
पकड़कर अन्यत्र जानेका इच्छा की ॥ २१ ॥

तस्याभिप्रायमाज्ञाय रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ।

बहस्वधमलं तावत् पथानेन तु राक्षसः ॥ २२ ॥

यथा चेच्छति सीमित्रे तथा बहन्तु राक्षसः ।

अयमेव हि नः पन्था येन याति निशाचरः ॥ २३ ॥

उसके अभिप्रायको जानकर श्रीरामने लक्ष्मणको
कहा— सुमित्रानन्दन । यह राक्षस अपनी इच्छाके अनुसार हम
कोमात्र इय मार्गमें होकर ले चले । यह भीमा चाहता है, उम्मी
तथा हमारा खान बनकर हम ले चले (इसमें बाधा डालनेकी
आयुधयोजना नहीं है) जिस मार्गसे यह निशाचर चले रहा है,
वही हमन्तोंकोके लिये आगे जानेका मार्ग है ॥ २२-२३ ॥

स तु स्वबलवीर्येण समुत्क्षिप्य निशाचरः ।

बालाविव स्वन्धगतीं चकारातिबलौद्धतः ॥ २४ ॥

अत्यन्त बलसे उद्विष्ट बने हुए निशाचर विराधने अपने
बल-पराक्रमसे उन दोनों पाइयोंको चालूकी तरह उठाकर

अपने दोनों कंधोंपर बिठा लिया ॥ २४ ॥

तावारोप्य ततः स्कन्धं राघवौ रजनीचरः ।

विराधो विनदन् घोरं जगामाभिमुखो वनम् ॥ २५ ॥

उन दोनों रघुवंशी वीरोंको कंधेपर बठा लेनके बाद राक्षस विराध भयंकर गर्जना करना हुआ वनको ओर चला दिया ।

वनं महाभेधनिभं प्रविष्टो

हृष्यैर्महद्भिर्विविधैरुपेतम्

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें तीसरा सर्ग पूरा हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थः सर्गः

श्रीराम और लक्ष्मणके द्वारा विराधका वध

ह्रियमाणी तु काकुत्स्थौ दृष्ट्वा सीता रघूत्तमौ ।

उभौः स्वरेण चुकोश प्रगृह्य सुमहाभुजौ ॥ १ ॥

रघुकुलके श्रेष्ठ वीर ककुत्स्थकुलभूषण श्रीराम और लक्ष्मणको राक्षस लिये जा रहा है—यह देखकर सीता अपनी दोनों बांहें ऊपर उठाकर जोर जोरमें रोंगे चिल्लाने लगीं— ॥ १ ॥

एव दाशरथी रामः सत्यवाञ्छीलवाञ्छुधिः ।

रक्षसा रौद्ररूपेण ह्रियते सहलक्ष्मणः ॥ २ ॥

'हाय ! इन सत्यवादी, शीलवान् और शुद्ध आचार-विचारवाले दशरथनन्दन श्रीराम और लक्ष्मणको यह रौद्ररूपधारी राक्षस लिये जा रहा है ॥ २ ॥

मामृक्षा भक्षयिष्यन्ति शार्दूलद्वीपिनस्तथा ।

यो हरोत्तम काकुत्स्थौ नमस्ते राक्षसोत्तम ॥ ३ ॥

'राक्षसशिरोमणे ! तुम्हें नमस्कार है । इस वनमें रौद्र व्याध और चीते मुझे खा जायेंगे, इसलिये तुम मुझे ही लो, किंतु इन दोनों ककुत्स्थवंशी वीरोंको छोड़ दो' ॥ ३ ॥

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा वैदेह्या रामलक्ष्मणौ ।

बेगे प्रवक्रतुर्वीरौ बधे तस्य दुर्गात्मनः ॥ ४ ॥

जिदेहनन्दिनी सीताकी यह बात सुनकर वे दोनों वीर श्रीराम और लक्ष्मण उस दुर्गात्मा राक्षसका वध करनेमें शीघ्रता करने लगे ॥ ४ ॥

तस्य रौद्रस्य सौमित्रिः सख्यं बाहुं वधशु ह ।

रामस्तु दक्षिणं बाहुं तरसा तस्य रक्षसः ॥ ५ ॥

सौमित्राकुमार लक्ष्मणन उस राक्षसको बायीं और श्रीरामने उसकी दाहिनी बांहें थड़े थड़े धेगसे तोड़ डाली ॥ ५ ॥

स चक्रबाहुः संवित्रः पपाताशु विमूर्च्छितः ।

धराण्यो मेघसंकाशो वज्रभिन्न इवाचलः ॥ ६ ॥

शुजाधीन दृढ़ जानेपर वह भयंकर सगान काला राक्षस व्याकुल हो गया और शीघ्र ही मुर्च्छित होकर वज्रक द्वारा टूटे हुए पर्वतशिखरकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ६ ॥

नानाविधैः पक्षिकुलैर्विचित्रं

शिवायुतं व्यालभृगैर्विकीर्णम् ॥ २६ ॥

तदन्तर उसने एक ऐसे वनमें प्रवेश किया, जो महान् पेड़ोंकी घटाके समान बना और नीला था । माना प्रकारके बड़े-बड़े वृक्ष वहाँ घरे हुए थे भाँति-भाँतिके पक्षियोंके समुदाय उसे विचित्र शोभामें सम्यक् बना रहे थे तथा बहुत-से गीटह और हिंसक पशु उसमें सब ओर फैले हुए थे ॥ २६ ॥

मुष्टिभिर्बाहुभिः पद्भिः सूदयन्तौ तु राक्षसम् ।

अग्रम्योद्यम्य चाप्येनं स्थण्डिले निष्पिपेयतुः ॥ ७ ॥

तब श्रीराम और लक्ष्मण विराधको भुजाओं, मुक्तों और लातोंसे मारने लगे तथा उसे उठा-उठाकर पटकने और पृथ्वीपर रगड़ने लगे ॥ ७ ॥

स विद्धौ वज्रभिर्बाणैः खड्गाभ्यां च परिक्षतः ।

निष्पिष्टो बहुधा भूमौ न ममार स राक्षसः ॥ ८ ॥

यहूसंख्यक बाणोंसे घायल और तलवारोंसे क्षत-विक्षत होनेपर तथा पृथ्वीपर बार बार गड़ा जानेपर भी वह राक्षस मरा नहीं ॥ ८ ॥

तं प्रेक्ष्य रामः सुभृशमवध्यमचलोपमम् ।

अयेष्टमपदः श्रीमानिदं वचनमब्रवीत् ॥ ९ ॥

अवध्य तथा पर्वतके समान अवल विराधको बारबार देखकर भयंके अवसरोंपर अभय देनेवाले श्रीमान् रामने लक्ष्मणसे यह बात कही— ॥ ९ ॥

तपसा पुरुषव्याघ्रं राक्षसोऽयं न शक्यते ।

शस्त्रेण युधि निर्जेतुं राक्षसं निखनावहे ॥ १० ॥

'पुरुषमिह ! यह राक्षस तपस्यासे (बर पाकर) अवध्य हो गया है इसे शस्त्रके द्वारा युद्धमें नहीं जीता जा सकता । इसलिये हमलोग निशाचर विराधको पराजित करनेके लिये अब गड्ढा खादकर गाड़ दें ॥ १० ॥

कुञ्जरस्येव रौद्रस्य राक्षसस्यास्य लक्ष्मण ।

वनेऽस्मिन् सुमहच्छ्वभ्रं खन्यतां रौद्रवर्चसः ॥ ११ ॥

'लक्ष्मण ! हाथोंके समान भयंकर तथा रौद्र तेजवाले इस राक्षसके लिये इस वनमें बहुत बड़ा गड्ढा खोदो' ॥ ११ ॥

इत्युक्त्वा लक्ष्मणं रामः प्रदरः खन्यतामिति ।

तस्थौ विराधमाक्राम्य कण्ठे पादेन वीर्यवान् ॥ १२ ॥

इस प्रकार लक्ष्मणको गड्ढा खादनेकी आज्ञा देकर पराक्रमी श्रीराम अपने एक पैरसे विराधका गला दबाकर खड़े हो गये ॥ १२ ॥

तच्छ्रुत्वा राघवेणोक्तं राक्षसः प्रभितं वचः ।

इदं प्रोवाच काकुत्स्थं विराधः पुण्यवर्धम् ॥ १३ ॥

श्रीरामचन्द्रजीको कहौ हुई यह बात सुनकर राक्षस
विराधने पुरुषप्रवर श्रीरामसे यह विनयपुक्त बात कही— ॥

हतोऽहं पुरुषव्याघ्र शक्रतुल्यबलेन वै ।

मया तु पूर्व त्वं मोहात् ज्ञातः पुण्यवर्ध ॥ १४ ॥

'पुरुषसिंह ! नरश्रेष्ठ ! आपका बल देवराज इन्द्रके
समान है । मैं आपके हाथसे मारा गया । मोहवश पहले मैं
आपको पहचान न सका ॥ १४ ॥

कीसल्या सुप्रजास्तात रामस्त्वं विदितो मया ।

वीदेही च महाभागा लक्ष्मणश्च महायशः ॥ १५ ॥

'तात ! आपके द्वारा माना कीसल्या उत्तम संतानवाली
हुई है, मैं यह जान गया कि आप ही श्रीरामचन्द्रजी हैं । यह
महाभागा विदेहनन्दिनी सांत है और ये आपके छोटे भाई
महायशस्वी लक्ष्मण हैं ॥ १५ ॥

अभिशापादहं घोरां प्रविष्टो राक्षसीं तनुम् ।

तुभ्युक्तानि गन्धर्वः शप्तो वैभ्रवणेन हि ॥ १६ ॥

'मुझ शापके कारण इस भयकर राक्षसशरीरमें आना पड़ा
था । मैं तुम्हें नामक गन्धर्व है । कुयेन मुझ राक्षस होनेका
शाप दिया था ॥ १६ ॥

प्रसाद्यमानश्च मया सोऽब्रवीन्मां महायशः ।

यदा हाशरथी रामस्त्वी वधिष्यति संपुगे ॥ १७ ॥

तदा प्रकृतिभाषणो भवान् स्वर्गं गमिष्यति ।

'जब मैंने उन्हें प्रमत्त करनेकी चेष्टा की, तब वे
महायशस्वी कुयेन मुझसे इस प्रकार बोले— गन्धर्व ! जब
दशरथनन्दन श्रीराम गड्ढेमें नक्कार मच करेगा तब तुम अपन
पहल स्वभावको प्राप्ति होकर स्वर्गलोकको जाओगे ॥ १७ ॥

अनुपस्थीयमानो मां स क्रुद्धो व्याजहार ह ॥ १८ ॥

इति वैभ्रवणो राजा रम्भासक्तमुवाच ह ।

'मैं रम्भा नामक अप्सरामें आसक्त था, इसलिये एक दिन
तीव्र रागसे उनकी सन्नाहें उपासित न हो सका । इसीलिये
क्रुणित हो राजा वैभ्रवण (कुयेन) ने मुझ पूर्वज आप देकर
उससे छुटनेकी आधी बताया थी ॥ १८ ॥

तव प्रसादान्मुक्तोऽहमभिशापात् सुदारुणात् ॥ १९ ॥

भुवनं त्वं गमिष्यामि स्वस्ति स्मोऽस्तु परंतप ।

'हाजुओंको सताप देनेवाले रघुर्वीर ! आज आपको
कृपासे मुझ ठम भयकर शापसे छुटकारा मिल गया ।
आपका कल्याण हो, अब मैं अपने लोकको जाऊंगा ॥

इतो वसन्ति धर्मात्मा शरभङ्गः प्रतापवान् ॥ २० ॥

अध्यर्घ्ययोजने तात महर्षिः सूर्यसंनिभः ।

तं क्षिप्रमभिगच्छ त्वं स ते श्रेयोऽभिधास्यति ॥ २१ ॥

'तात ! यहांसे डेढ़ योजनकी दूरीपर सूर्यके समान
गोशस्त्री प्रतापी और धर्मात्मा महामुनि शरभङ्ग निवास करते

हैं । उनके पास आए शीघ्र चले जाइये, वे आपके
कल्याणकी बात बतायेंगे ॥ २०-२१ ॥

अष्टे चापि मां राम निक्षिप्य कुशली व्रज ।

रक्षसां गतसत्त्वानामेव धर्मः सनातनः ॥ २२ ॥

'श्रीराम ! आप मेरे शरीरको गड्ढेमें गाड़कर कुशलपूर्वक
चले जाइये । मेरे हुए राक्षसोंके शरीरको गड्ढेमें गाड़ना
(कब खोंदकर उसमें दफन देना) यह उनके लिये सनातन
(परम्पराप्राप्त) धर्म है ॥ २२ ॥

अष्टे ये निर्धायन्ते तेषां लोकाः सनातनाः ।

एवमुक्त्वा तु काकुत्स्थं विराधः शरपीडितः ॥ २३ ॥

बभूव स्वर्गसम्प्राप्तो न्यस्तदेहो महाबलः ।

'जो राक्षस गड्ढेमें गाड़ दिये जाने हैं, उन्हें सनातन
लोकोंको प्राप्ति होती है । श्रीरामसे ऐसा कहकर बाणोंमें पीड़ित
हुआ महाबली विराध (जब उसका शरीर गड्ढेमें डाला गया,
तब) उस शरीरको छोड़कर स्वर्गलोकको चला गया ॥ २३ ॥

तच्छ्रुत्वा राघवो वाक्यं लक्ष्मण व्यादिदेश ह ॥ २४ ॥

कुञ्जरस्यैव रौद्रस्य राक्षसस्यास्य लक्ष्मण ।

धनेऽस्मिन्सुमहाश्वधः खन्यतां रौद्रकर्मणः ॥ २५ ॥

(जब किस तरह गड्ढेमें डाला गया ?—यह बात अब
बतायी जाये है—) उसकी बात सुनकर श्रीरघुनाथजीन
लक्ष्मणको आज्ञा दी—'लक्ष्मण ! भयंकर कर्म करनेवाले
गया हाथोंके समान भयानक इस राक्षसके लिये इस बगैरे
सहुत बड़ा गड्ढा खोदो' ॥ २४-२५ ॥

इत्युक्त्वा लक्ष्मणं रामः प्रदरः खन्यतामिति ।

तस्थौ विराधपाकस्य कण्ठे पादैन वीर्यवान् ॥ २६ ॥

इस प्रकार लक्ष्मणको गड्ढा खोदनेका आदेश दे पराक्रमी
श्रीराम एक पैरसे विराधका गला दबाकर खड़े हो गये ।

ततः खनित्रमादाय लक्ष्मणः क्षभ्रमुत्तमम् ।

अखनत् पार्श्वतस्तस्य विराधस्य महात्मनः ॥ २७ ॥

तब लक्ष्मणने पाकड़ा लेकर उस विशालकाय विराधके
पाम हो एक बहुत बड़ा गड्ढा खोंदकर तैयार किया ॥ २७ ॥

तं मुक्तकण्ठमुक्षिप्य शङ्कुकर्णं महास्वनम् ।

विराधं प्राक्षिपच्छ्वश्रे नदन्तं भैरवस्वनम् ॥ २८ ॥

तब श्रीरामने उसके गलेको छोड़ दिया और लक्ष्मणने
छूटते जैसे कानवाले उस विराधको उठाकर उस गड्ढेमें डाल
दिया, उस समय वह खड़ी भयानक आवाजमें जोर-जोरसे
गर्जना कर रहा था ॥ २८ ॥

तमाहवे दारुणमाशुविक्रमौ

स्थिराशुभौ संयति रामलक्ष्मणौ ।

मुदात्कितां चिक्षिपनुर्भयावहं

नदन्तमुक्षिप्य बलेन राक्षसम् ॥ २९ ॥

युद्धमें स्थिर रहकर शीघ्रतापूर्वक पराक्रम अकट
कम्पनेवाले उन दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणने रणभूमिमें

कृतापूर्ण कर्म करनेवाले उस भयंकर राक्षस विराधको बलपूर्वक उठाकर गड्ढे में फेंक दिया। उस समय वह जोर-जोरसे चिल्ला रहा था। उसे गड्ढे में डालकर वे दोनों बन्धु बड़े प्रसन्न हुए ॥ २९ ॥

अवध्यतां प्रेक्ष्य महासुरस्य तौ

शितेन शस्त्रेण तदा नरर्षभौ ।

समर्थं चात्यर्थविशारदाबुधौ

विले विराधस्य वधं प्रचक्रतुः ॥ ३० ॥

महान् असुर विराधका तीखे शस्त्रसे वध होनेवाला नहीं है, यह देखकर अत्यन्त कुशल दोनों भाई नम्रश्रद्धा श्रौंगम और लक्ष्मणने उस समय गद्गा खोदकर उस गड्ढे में उसे डाल दिया और उसे मिट्टीसे पाटकर उस राक्षसका तब कर डाला ॥

स्वयं विराधेन हि मृत्युमात्मनः

प्रसह्य रामेण यथार्थमधिष्ठितः ।

निवेदितः काननचारिणा स्वयं

न मे वधः शस्त्रकृतो भवेदिति ॥ ३१ ॥

वास्तवमें श्रीरामके हाथसे ही हठपूर्वक मरना उस अभोष्ट था। उस अगनी मनासाच्छिन्न मृत्युको प्राप्तिके उद्देश्यमें स्वयं जनचारी विराधने ही श्रीरामको यह बता दिया था कि शस्त्रद्वारा मेरा तब नहीं हो सकता ॥ ३१ ॥

तदेव रामेण निशम्य भाषितं

कृता मतिस्तस्य विलप्रवेशने ।

इत्यायं श्रीमद्वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे सप्तमः सर्गः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिमित्त आर्यरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें चौथा सर्ग पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमः सर्गः

श्रीराम, लक्ष्मण और सीताका शरभङ्ग मुनिके आश्रमपर जाना, देवताओंका दर्शन करना और मुनिसे सम्मानित होना तथा शरभङ्ग मुनिका ब्रह्मलोक-गमन

इत्था तु तौ भीमबलं विराधे राक्षसे वने ।

तत सीतां परिपुज्य समाश्वास्य च वीर्यवान् ॥ १ ॥

अत्रवीद् भ्रातरं रामो लक्ष्मणो क्षीमनेजसम् ।

कष्टं वनमिदं दुर्गं न स स्मो वनगोचराः ॥ २ ॥

अभिगच्छामहे शीघ्रं शरभङ्गं तपोवनम् ।

आश्रमं शरभङ्गस्य राधवोऽभिजगाम ह ॥ ३ ॥

वनमें उस भयंकर बलशाली राक्षस विराधका वध करके पराक्रमी श्रीरामने सीताको हृदयसे लगाकर स्नानचना दी और उद्दीप्त तेजबाले भाई लक्ष्मणसे इस प्रकार कहा—‘सुमित्रा-नन्दन ! यह दुर्गम वन बड़ा कष्टप्रद है। हमलोग इसके पहले कभी ऐसा वनाम नहीं रहे हैं (अतः यहाँक कष्टोंका न तो अनुभव है और न अभ्यास ही है)। अच्छा ! हमन्वेग अब शीघ्र ही तपोवन शरभङ्गका पास चलें’ ऐसा कहकर श्रीरामचन्द्रजी शरभङ्ग मुनिके आश्रमपर गये ॥ १—३ ॥

विलं च सेनातिबलेन राक्षसा

प्रवेश्यमानेन वनं विनादितम् ॥ ३२ ॥

उसको कहीं हुई उसी बातको सुनकर श्रौंगमने उसे गड्ढे में गाड़ देनेका विचार किया था। जब वह गड्ढे में डाला जाने लगा, उस समय उस अत्यन्त बलवान् राक्षसने अपनी विल्लप्रहटसे सारे वनप्रान्तकारे गुँजा दिया ॥ ३२ ॥

प्रहृष्टरूपाविव रामलक्ष्मणौ

विराधमुत्थौ प्रदरे निपात्य तम् ।

नन्दतुर्वीतधरौ महावने

शिलाभिरन्तर्दधतुश्च राक्षसम् ॥ ३३ ॥

राक्षस विराधको पृथ्वीके अंदर गड्ढे में गिराकर श्रीराम और लक्ष्मणने बड़ी प्रसन्नताके साथ उसे ऊपरसे बहुतोंरे पत्थर डालकर पाट दिया। फिर वे निर्भय हो उस महान् वनमें सामन्द विचरने लगे ॥ ३३ ॥

ततस्तु तौ काञ्चनचित्रकार्मुकौ

निहत्य रक्षः परिगृह्य मैथिलीम् ।

विजहृतस्तौ मुदितौ महावने

दिवि स्थितौ चन्द्रदिवाकराविव ॥ ३४ ॥

इस प्रकार उस राक्षसका वध करके मिथिलेशकुमारी सीताका साथ लं सोनेके विचित्र धनुषोंसे सुशोभित हो वे दोनों भाई आकाशमें स्थित हुए चन्द्रमा और सूर्यको भाँति उस महान् वनमें आनन्दमग्न हो विचरण करने लगे ॥ ३४ ॥

तस्य देवप्रभावस्य तपसा भावितात्मनः ।

समीपे शरभङ्गस्य ददर्श महदद्भुतम् ॥ ४ ॥

देवताओंके तुल्य प्रभावशाली तथा तपस्यासे शुद्ध अन्तःकरणवाले (अथवा तपके द्वारा परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार करनेवाले) शरभङ्ग मुनिके समीप जानेपर श्रीरामने एक बड़ा अद्भुत दृश्य देखा ॥ ४ ॥

विभ्राजमानं वपुषा सूर्यवैश्वानरप्रभम् ।

रथप्रवरमारूढमाकाशे विबुधानुगम् ॥ ५ ॥

असम्पृशन्तं वसुधां ददर्श विबुधेश्वरम् ।

सम्प्रभाभरणं देवं विरजोऽम्बरधारिणम् ॥ ६ ॥

वहाँ उन्होंने आकाशमें एक श्रेष्ठ रथपर बैठे हुए देवताओंके स्वामी इन्द्रदेवका दर्शन किया, जो पृथ्वीका स्पर्श नहीं कर रहे थे। उनकी अङ्गकान्ति सूर्य और अग्निके समान प्रकाशित होती थी। वे अपने तेजस्वी शरीरसे दीप्यमान हो

रहे थे। उनके पीछे और भी बहुत-से देवता थे। उनके शक्तिमान् आभूषण भव्यक रहे थे तथा उन्होंने निर्मल वस्त्र धारण कर रखा था ॥ ५-६ ॥

तद्विधेरेव बहुभिः पूज्यमानं महात्मभिः ।
हरितैर्वाजिभिर्युक्तमन्तरिक्षगतं रथम् ॥ ७ ॥

ददर्शादुरनस्तस्य तरुणादित्यसंनिभम् ।

उन्होंने ममान वंशभूषणाले दूसरे सहस्र-से महात्मा इन्द्रदेवकी पूजा (स्तुति-प्रशंसा) कर रहे थे। उनका रथ आकाश में खड़ा था और उनमें बरे रंगक घोड़े जुल रहे थे। श्रीरामने निकटसे उस रथको देखा। वह नवोदित सूर्यक समान प्रकाशित होता था ॥ ७ ॥

पाण्डुराभ्रघनप्रख्यं चन्द्रमण्डलसंनिभम् ॥ ८ ॥

अपश्यद् विमलं छत्रं चित्रमाल्योपशोभितम् ।

उन्होंने यह भी देखा कि इन्द्रके मस्तकक ऊपर श्वेत बादलोंके समान दृज्ज्वल तथा चन्द्रमण्डलके समान कान्तिमान् निर्मल छत्र तथा हुआ है, जो विचित्र फूलोंके मालाओंसे सुशोभित है ॥ ८ ॥

सामरव्यजने क्षाम्ये रुक्मदण्डे महाधने ॥ ९ ॥

गृहीते वरनारीभ्यां धूयमाने च पृथग्नि ।

श्रीरामने सुवर्णमय डंडेवाले दो श्रेष्ठ एवं बहुमूल्य चक्र और व्यजन भी देखे, जिन्हें दो सुन्दरियाँ लेकर देवराजके मस्तकपर नवा कर रही थीं ॥ ९ ॥

गन्धर्वामरसिद्धाश्च बहवः परमर्षयः ॥ १० ॥

अन्तरिक्षगतं देवं गीर्धिरण्याभिरङ्गयन् ।

यज्ञ सम्भावमाणे तु शरभङ्गेन वासवे ॥ ११ ॥

गृष्ट्वा शक्रकनू तत्र रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ।

रामोऽथ रथमुद्दिश्य भ्रातुर्दर्शयताक्षुतम् ॥ १२ ॥

उस समय बहुत-से गन्धर्व, देवता, सिद्ध और महर्षिगण यज्ञमन्त्रद्वारा अन्तरिक्षमें विराजमान देवन्द्रको स्तुति करने थे और देवराज इन्द्र शरभान् मुनिक साथ वातमान्य कर रहे थे। यहाँ इस प्रकार शक्रान् इन्द्रका दर्शन करके आश्रयन उनके भक्षुत रथकी ओर आगुलोंसे संकेत करते हुए उसे भाईको दिखाना और लक्ष्मणसे इस प्रकार कहा— ॥ १०—१२ ॥

भर्त्सिष्यन्ते शिष्या जूष्टमक्षुतं पश्य लक्ष्मण ।

प्रत्यक्षमिवादित्यमन्तरिक्षगतं रथम् ॥ १३ ॥

'लक्ष्मण ! आकाशमें वह अद्भुत रथ तो देखो, उसमें गन्धर्वों-जैसे निकल रहा है। वह सूर्यक समान भव्य रथ है। शक्र गान् मुनिमणी होकर उसको सेवा करती है ॥ १३ ॥

ये ह्यथाः पुरुहूतस्य पुरा शक्रस्य नः भूताः ।

अन्तरिक्षगताः दिव्यास्त इमे हग्यो ध्रुवम् ॥ १४ ॥

हमलोगोंने पहलू देवराज इन्द्रक जिन दिव्य घोड़ोंके चपयों जैसा मून रखा है, निश्चय ही आकाशमें ये घुमें ही हैं। अथ विराजमान है ॥ १४ ॥

इमे च पुरुषव्याघ्र ये तिष्ठन्त्यभितो दिशम् ।

शतं शतं कुण्डलिनो युवानः स्वङ्गपाणयः ॥ १५ ॥

विस्तीर्णविपुलोरस्काः परिधायतवाहवः ।

शोणांशुधमनाः सर्वे व्याघ्रा इव दुर्गसदा ॥ १६ ॥

'पुरुषसह ! इस रथके दोनों ओर जो ये हाथीय स्वङ्ग नित्य कुण्डलधारी मो मो युवक खड़े हैं इनके वस्त्र स्थल विशाल एवं विस्तृत हैं। भुजाएँ परिधायक समान सुदृढ़ एवं बड़ी बड़ी हैं। ये सब के सब लाल वस्त्र धारण किये हुए हैं और व्याघ्रोंके समान दुर्गम प्रतीत होते हैं ॥ १५-१६ ॥

उरोदेशेषु सर्वेषां हारा ज्वलनसंनिधाः ।

रूपं विभ्रति सौमित्रे पञ्चविंशतिवार्षिकम् ॥ १७ ॥

'सुमित्रानन्दन ! इन सबके हृदयदेशोंमें आगिक समान नेत्रोंमें जगमगाते हुए हार शोभा पाते हैं, ये नवयुवक पच्चीस वर्षोंकी अवस्थाका रूप धारण करते हैं ॥ १७ ॥

एतद्धि किल देवानां वयो भवति नित्यदा ।

यद्येमे पुरुषव्याघ्रा दृश्यन्ते त्रियदर्शनाः ॥ १८ ॥

'कहते हैं, देवताओंकी सदा ऐसी ही अवस्था रहती है, जैसे ये पुरुषप्रवर दिक्तायीं देते हैं। इनका दर्शन कितना प्यार लगता है ॥ १८ ॥

इहैव सह र्वदेह्या मुहूर्तं तिष्ठ लक्ष्मण ।

यावज्जानाम्यहं व्यक्तं क एष सुतिमान् रथे ॥ १९ ॥

'लक्ष्मण ! जबतक कि मैं स्पष्ट रूपसे यह पता न लगा लूँ कि रथपर बैठ हुए ये तेजस्वी पुरुष कौन हैं ? जबतक तुम विदेह-मन्दनो सातोंके साथ एक मुहूर्ततक यहाँ ठहरो ॥

तमेवमुक्त्वा सौमित्रिभिर्हैव स्थीयतामिति ।

अभिचक्राम काकुत्स्थः शरभङ्गाश्रमं प्रति ॥ २० ॥

इस प्रकार सुमित्राकुमारको वहीं ठहरनेका आदेश देकर आंगमचन्द्र-जो रहल्ले हुए शरभङ्ग मुनिके आश्रमपर गये।

ततः समभिगच्छन्ते प्रेक्ष्य रामं शचीपतिः ।

शरभङ्गमनुज्ञाप्य विबुधानिदमब्रवीत् ॥ २१ ॥

श्रीरामका आन देख शचीपति इन्द्रने शरभङ्ग मुनिसे यिदा ल देवताओंमें इस प्रकार कहा— ॥ २१ ॥

इहोपयात्यसौ रामो धावन्त्यां नाभिभावने ।

निष्ठो नयत तावन् तु ततो यादृष्टमर्हति ॥ २२ ॥

श्रीरामचन्द्र-जो यहाँ आ रहे हैं। वे जबतक मुझसे कोई बात न करें, उसके पहले ही सुमलोग मुझे यहाँसे दूसरे स्थानमें ले चले। इस समय श्रीरामसे मेरी मुलाकात नहीं होने चाहिये ॥ २२ ॥

जितवन् कृतार्थं हि तदाहर्षचिरादिभम् ।

कर्म ह्यनेन कर्तव्यं महदर्थैः सुदुष्करम् ॥ २३ ॥

'इन्हें वह महान् कर्म करना है, जिसका सम्पादन करना दूसरोंके लिये बहुत कठिन है। जब ये गवणपर विजय पाकर अपना कर्तव्य पूर्ण करके कृतार्थ हो जायेंगे, तब मैं शीघ्र ही

आकर इनका दर्शन करूँगा ॥ २३ ॥

अथ खत्री तपामन्त्र्य मानयित्वा च तापसम् ।

स्थेन हययुक्तेन यथौ दिवमरिदमः ॥ २४ ॥

यह कहकर बन्धधारो शत्रुदमन इन्द्रने तपस्वी शरभङ्गका सत्कार किया और उनसे पूछकर अनुमति ले वे बाँड़े जुने हुए रथके द्वारा स्वर्गलोकको चले दिये ॥ २४ ॥

प्रयाते तु सहस्राक्षे राघवः सपरिच्छदः ।

अग्निहोत्रमुपासीन शरभङ्गमुपागमत् ॥ २५ ॥

सहस्र नेत्रधारी इन्द्रके चले जानेपर श्रीरामचन्द्रजी अपने गौरी और माईके साथ शरभङ्ग मुनिके पास गये । उस समय वे अग्निके समीप बैठकर अग्निहोत्र कर रहे थे ॥ २५ ॥

तस्य पादौ च संगृह्य राघः सीता च लक्ष्मणः ।

नियेदुस्तदनुज्ञाता लब्धवासा निमन्त्रिताः ॥ २६ ॥

श्रीराम, सीता और लक्ष्मणने-मुनिके चरणोंमें प्रणाम किया और उनकी आज्ञासे वहाँ बैठ गये । शरभङ्गजीने उन्हें आतिथ्यके लिये निमन्त्रण दे ठहरनेके लिये स्थान दिया ॥ २६ ॥

ततः शक्रोपयानं तु पर्यपृच्छन् राघवः ।

शरभङ्गश्च तत् सर्वं राघवाय न्यवेदयत् ॥ २७ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजीने उनसे इन्द्रके आनेका कारण पूछा । तब शरभङ्ग मुनिने श्रीरामचन्द्रजीसे सब बातें निवेदन करते हुए कहा— ॥ २७ ॥

मामेष खरदो राम ब्रह्मलोकं निनीषति ।

जितमुप्रेण तपसा दुष्प्राप्तमकृतात्मभिः ॥ २८ ॥

‘श्रीराम ! ये खर देनेवाले इन्द्र मुझे ब्रह्मलोकमें ले जाना चाहते हैं । मैंने अपनी उष तपस्यासे उस लोकपर विजय पायी है । जितनी इन्द्रियाँ खरमें नहीं हैं, उन पुरुषोंके लिये यह अत्यन्त दुर्लभ है ॥ २८ ॥

अहं ज्ञात्वा नरव्याघ्र वर्तमानमदुरतः ।

ब्रह्मलोकं न गच्छामि त्वामदुष्टा प्रियातिथिम् ॥ २९ ॥

पुरुषार्थी ! परन्तु अब मुझ मालूम हो गया कि आप इस आश्रमके गिद्ध आ गये हैं, तब मैंने निश्चय किया कि आप जैसे प्रिय अतिथिका दर्शन किये बिना मैं ब्रह्मलोकको नहीं जाऊँगा ॥ २९ ॥

त्वयाहं पुरुषव्याघ्र धार्मिकेण महात्मना ।

समागम्य गमिष्यामि त्रिदिवं चाखरं परम् ॥ ३० ॥

‘नरश्रेष्ठ ! आप धर्मपरायण महात्मा पुरुषसे मिलकर ही मैं स्वर्गलोक तथा इसमें ऊपरके ब्रह्मलोकको जाऊँगा ॥

अक्षय्य नरशार्दूल जिता लोका मया शुभाः ।

ब्राह्मयाश्च नाकपृष्ठयाश्च प्रतिगृहीष्ट्वा पापकान् ॥ ३१ ॥

‘पुरुषाशरणे ! मैंने ब्रह्मलोक और स्वर्गलोक आदि जिन अक्षय्य शुभ लोकोंपर विजय पायी है, मैंने उन सभी लोकोंको आप ग्रहण करें ॥ ३१ ॥

एवमुक्तो नरव्याघ्रः सर्वशास्त्रविशारदः ।

ऋषिणा शरभङ्गेन राघवो वाक्यमब्रवीत् ॥ ३२ ॥

शरभङ्ग मुनिके ऐसा कहनेपर सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञाता नरश्रेष्ठ औरधुनायजीने यह बात कही— ॥ ३२ ॥

अहमेवाहरिष्यामि सर्वाल्लोकान् पश्यामि ।

आवासं त्वहमिच्छामि प्रदिष्टमिह कानने ॥ ३३ ॥

‘पश्यामि ! मैं ही आपको उन सब लोकोंको प्रगति कराऊँगा । इस समय तो मैं इस वनमें आपके बताये हुए स्थानपर निवासमात्र करना चाहता हूँ ॥ ३३ ॥

राघवेणैवमुक्तस्तु शक्रतुल्यबलेन च ।

शरभङ्गो महाप्राज्ञः पुनरेवाब्रवीद् वचः ॥ ३४ ॥

इन्द्रके समान बलशाली श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर महाज्ञानी शरभङ्ग मुनि फिर बोले— ॥ ३४ ॥

इह राम महातेजाः सुतीक्ष्णो नाम धार्मिकः ।

वसत्यरण्ये नियतः स ते श्रेयो विधास्यति ॥ ३५ ॥

श्रीराम ! इस वनमें छोड़ी ही दूरपर महातेजस्वी धर्मात्मा सुतीक्ष्ण मुनि नियमपूर्वक निवास करते हैं । वे ही आपको कल्याण (आपके लिये स्थान आदिका प्रबन्ध) करेंगे ॥

सुतीक्ष्णमभिगच्छ त्वं शुची देशे तपस्विनम् ।

रमणोये वनोद्देशे स ते वासं विधास्यति ॥ ३६ ॥

‘आप इस रमणीय वनप्रान्तके उस पवित्र स्थानमें तपस्वी सुतीक्ष्ण मुनिके पास चले जाइये, वे आपको निवासस्थानकी व्यवस्था करेंगे ॥ ३६ ॥

इमां मन्दाकिनीं राम प्रतिस्नोतामनुव्रज ।

नदीं पुष्पोद्भुपवहां ततस्तत्र गमिष्यसि ॥ ३७ ॥

‘श्रीराम ! आप फूलके समान छोटी-छोटी झंगियोंसे पार होने योग्य अथवा पुष्पमयी नौकाको बहानेवाली इस मन्दाकिनी नदीके संगमके बिप्रेण दिशामें इगोंक किनारे किनारे चले जाइये । इसमें वहाँ पहुँच जाइयेगा ॥ ३७ ॥

एव पन्था नरव्याघ्र मुहूर्तं पश्य सात भाम् ।

यावज्जहामि गात्राणि जीर्णां त्वचमिधोरगः ॥ ३८ ॥

नरश्रेष्ठ ! यही वह मार्ग है, परन्तु तात ! दो धड़ी यहीं उतरिये और जबतक पुराने केचुलका त्याग करनेवाले सपका धनि मैं अपने इन जगज्जीर्ण अङ्गोंका त्याग न कर दूँ, तबतक मेरी ही ओर देखिये ॥ ३८ ॥

ततोऽग्निं स समाधाय हुत्वा चाज्येन मन्त्रयत् ।

शरभङ्गो महातेजाः प्रविवेश हुताशनम् ॥ ३९ ॥

यों कहकर महानजस्वी शरभङ्ग मुनिने विधिबद्ध अग्निकी स्थापना करके उसे प्रज्वलित किया और मन्त्रोच्चारणपूर्वक आहुति देकर वे स्वयं भी उस अग्निके प्रविष्ट हो गये ॥ ३९ ॥

नस्य रोमाणि केशाश्च तदा वह्निर्ग्रहात्मनः ।

जीर्णां त्वचं तदस्थानि यद्य मांसं च शोणितम् ॥ ४० ॥

उस समय अग्निने उन महात्माके गेम केश, शीर्ष लज्जा
हड्डी, मांस और रक्त सबको जलाकर भस्म कर दिया ॥
स च पावकसंकाशः कुमारः समपद्यत ।
उत्थायाप्रिव्रज्यान् तम्माच्छरभङ्गो व्यगेचन ॥ ४१ ॥
वे शम्भु मुनि अग्निनुन्य तेजस्वी कुम्भारके रूपमें प्रकट हो
गये और उस अग्निगर्भमें ऊपर उठकर बड़ी जोभा करने लगे ॥
स लोकानार्हिताग्नीनामृषीणां च महात्मनाम् ।
देवानां च व्यतिक्रम्य ब्रह्मलोकं व्यरोहन ॥ ४२ ॥
वे अग्निहोत्री पुरुषा महात्मा मुनियाँ और देवताओंके धो

लोकोंको लौंघकर ब्रह्मलोकमें जा पहुँचे ॥ ४२

स पुण्यकर्मां पुष्यने द्विजर्षभ-

पितामहं सानुवरं ददर्श ह ।

पितामहश्चापि समीक्ष्य तं द्विजं

नन्द सुस्वागतमित्युवाच ह ॥ ४३ ॥

पुण्यकर्म करनेवाले द्विजश्रेष्ठ शम्भुने ब्रह्मलोकमें
पार्षदोंके पितामह ब्रह्माजीका दर्शन किया ब्रह्माजी भी
उन ब्रह्मर्षिका देखकर बड़े प्रसन्न हुए और बोले—
'महामुने ! तुम्हारा शुभ स्वागत है' ॥ ४३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे षष्ठमः सर्गः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्याभारत आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें षष्ठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठः सर्गः

वानप्रस्थ मुनियोंका राक्षसोंके अत्याचारसे अपनी रक्षाके लिये श्रीरामचन्द्रजीसे
प्रार्थना करना और श्रीरामका उन्हें आश्वासन देना

शम्भु दिवं प्राप्ते मुनिसङ्घाः समागताः ।
अभ्यगच्छन्त काकुत्स्थं रामं ज्वलिततेजसम् ॥ १ ॥
शम्भु मुनिक ब्रह्मलोक चल जनान प्रन्वयित तज्ज्वाल
ककुत्स्थवंशी श्रीरामचन्द्रजीके पास बहुत-से मुनियोंके
समुदाय पधारे ॥ १ ॥
वैश्वानरा वाल्मिल्या, सम्प्रक्षाला मरीचिपाः ।
अश्वकुट्टाश्च बहवः पत्राहाराश्च नायमाः ॥ २ ॥
दन्तोत्सृखलिनश्चैव तथैवोन्मज्जकाः पते ।
मात्रशय्या अशय्याश्च तथैवानलकाशिकाः ॥ ३ ॥
मुनयः सलिलहारा वायुमक्षमास्तथापरे ।
आकाशानिलयाक्षैश्च तथा स्थण्डिलशायिनः ॥ ४ ॥
नयोर्ध्ववासिनो दान्तामनथाऽऽर्द्रपटवामसः ।
मज्जपाश्च तपोनिष्ठास्तथा पञ्चनपोऽन्विताः ॥ ५ ॥
इत्ये वैश्वानरा^१, वाल्मिल्या^२, सम्प्रक्षाला^३, मरीचिप^४
उन्मज्जक^५, अश्वकुट्ट^६, पत्राहार^७, दन्तोत्सृखली^८
उन्मज्जक^९, मात्रशय्य^{१०}, अशय्य^{११}, अनलकाशिक^{१२},
कलशहार^{१३}, वायुमक्ष^{१४}, अन्वजानिल्या^{१५}

स्थण्डिलशायी^{१६}, ऊर्ध्ववासो^{१७}, दान्त^{१८}, आर्द्रपटवामा^{१९},
मज्जप^{२०}, तपोनिष्ठ^{२१} और पञ्चाग्रिमेवी^{२२}—इन सभी
श्रमियोंके तपस्वी मुनि थे ॥ २—५ ॥

सर्वे ब्राह्मणा श्रिया युक्ता दृढयोगसमाहिताः ।

शरच्चङ्गाभ्रमे राममभिजग्मुश्च तापसाः ॥ ६ ॥

वे सभी तपस्वी ब्रह्मतेजसे सम्पन्न थे और सुदृढ़ योगक
अभ्यासमें उन सबका चित्त एकाग्र हो गया था । वे सत्य-क-सर्व
उपपन्न मुनिक आश्रमपर श्रीरामचन्द्रजीके समीप आये । ६

अभिगम्य च धर्मज्ञा रामं धर्मभृतां वरम् ।

ऊचुः परमधर्मज्ञमृषिसङ्घाः समागताः ॥ ७ ॥

धर्मत्माओंमें श्रेष्ठ परम धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्रजीके पास आकर
वे धर्मके ज्ञाता समागत ऋषिसमुदाय उनसे बोले— ॥ ७ ॥

त्वमिच्छाकुकुलस्यास्य पुष्टिव्याश्च महारथः ।

प्रधानश्चापि नाथश्च देवानां मघवानिव ॥ ८ ॥

रघुनन्दन ! आप इस इच्छाकुलशके साथ ही समस्त
भूमण्डलके भी स्वामी, संरक्षक एवं प्रधान महारथी और
हैं । जैसे इन्द्र देवताओंके रक्षक हैं, ठीकी प्रकार आप

ऋषियोंका एक समुदाय जो ब्रह्मलोक नक्सस उत्पन्न हुआ है • ब्रह्मलोक वाल (गम) से प्रकट हुए महर्षियोंका समूह ।
१- वैश्वानर ब्राह्मण अपने बलसे धो पाहुँकन रक्त रक्त है दूसरे सम्पदके लिये कुछ नहीं खचने । ४- सूर्य अथवा चन्द्रमाकी किरणोंका
२- कंकड़ गड़गड़ाने । ५- कष्ट भोजन पचाने कटकर खाएँ । ६- पत्तोंका आहार करनेवाले । ७- दान्तोंमें हो ऊखलका काम
करने । ८- कण्ठके पानीमें डूबकर तपस्या करनेवाले । ९- शरीरमें हो शय्याका काम करनेवाले अर्थात् शिवा विहीनके सा भुजापर
— नकर सोनेवाले । १०- शय्याके साधनार्थ रत्न । ११- निरन्तर सत्कर्मों का करनेवाले कभी अवकाश न पानेवाले
१२- मात्र शय्या पर रहनेवाले । १३- तब पोंकर जंगलपरिव्रत करनेवाले । १४- मूल मैदानमें रहनेवाले । १५- वेदोंपर सोनेवाले ।
१६- तत्त्वज्ञानके आदि होकर ध्यानका निवास करनेवाले । १७- धर्म और इच्छाका वशमें रहनेवाले । १८- सदा भीरो कण्ठों
— करनेवाले । १९- निरन्तर जप करनेवाले । २०- तपस्या श्रेष्ठ परमधर्मत्वके विद्यामें स्थित करनेवाले । २१- तपोंका योग्यमें रूपमें
तपस्वी और योग्य ओरसे आँकड़ा रूप मान करनेवाले ।

मनुष्यलोक्तो रक्षा करनेवाले हैं ॥ ८ ॥

विश्रुतस्त्रिषु लोकेषु यशसा विक्रमेण च ।

पितृव्रतत्वं सत्यं च त्वयि धर्मश्च पुष्कलः ॥ ९ ॥

‘आप अपने यश और पराक्रमसे तीनों लोकोंमें विख्यात हैं । आपमें पिताकी आज्ञाके पालनका व्रत सत्य भावण तथा सम्पूर्ण धर्म विद्यमान हैं ॥ ९ ॥

त्वामासाद्य महात्मानं धर्मज्ञं धर्मवत्सलम् ।

अर्थित्वाग्नाथ वक्ष्यामस्तद्य नः क्षन्तुमर्हसि ॥ १० ॥

‘नाथ ! आप महात्मा, धर्मज्ञ और धर्मवत्सल हैं । हम आपके पास आर्थी लेकर आये हैं इसीलिये य स्वार्थको बात निवेदन करना चाहते हैं । आपको इसके लिये हमें क्षमा करना चाहिये ॥ १० ॥

अधर्मः समहान् नाथ भवेत् तस्य तु भूपतेः ।

यो होद् बलिषद्भागं न च रक्षति पुत्रवत् ॥ ११ ॥

‘स्वामिन् ! जो राजा प्रजासे उसकी आयका छत्र भाग करनेके रूपमें ले ले और पुत्रकी भाँति प्रजाकी रक्षा न करे, उसे महान् अधर्मका भागी होना पड़ना है ॥ ११ ॥

युञ्जानः स्वानिव शणान् प्राणैरिष्टान् सुतानिव ।

नित्यमुक्तः सदा रक्षन् सर्वान् विषयवाभिनः ॥ १२ ॥

प्राप्नोति शाश्वतीं राम कीर्तिं स बहुवार्षिकीम् ।

ग्रहणः स्थानमासाद्य तत्र चापि महीयते ॥ १३ ॥

‘श्रीराम ! जो भूपाल प्रजाकी रक्षाके कार्यमें संलग्न हो अपने राज्यमें विषय करनेवाले सब लोगोंको प्राणिक समान अथवा प्राणमें भी अधिक प्रिय पुत्रके समान समझकर मर्यादासाधनोंके साथ उनको रक्षा करता है वह बहुत वर्षोंतक स्थिर रहनेवाली अक्षय कीर्ति पाता है और अन्तमें ब्रह्मराज्यमें जाकर वहाँ भी विशेष सम्मानका भागी होता है ॥ १२-१३ ॥

यन् करोति परं धर्मं भुनिर्भूलफलश्रानः ।

तत्र राज्ञस्तुर्भागः प्रजा धर्मेण रक्षतः ॥ १४ ॥

‘राजाके राज्यमें भुनि फल-मूलका आहार करके जिस उत्तम धर्मका अनुष्ठान करता है, उसका चौथा भाग धर्मके अनुसार प्रजाकी रक्षा करनेवाले उस राजाको प्राप्त हो जाता है ॥ १४ ॥

सोऽयं ब्राह्मणभूयिष्ठो वानप्रस्थगणो महान् ।

त्वन्नाथोऽनाथवद् राम राक्षसैर्हन्यते भृशम् ॥ १५ ॥

‘श्रीराम ! इस वनमें रहनेवाला वानप्रस्थ महात्माओंका यह महान् समुदाय जिसमें ब्राह्मणोंकी ही संख्या अधिक है तथा जिसके रक्षक आप ही हैं, राक्षसोंके द्वारा अनाथकी तरह मारा जा रहा है—इस भुनि-समुदायका बहुत अधिक मात्रामें संहार हो रहा है ॥ १५ ॥

एहि पश्य शरीराणि मुनीनां भवितात्मनाम् ।

हतानां राक्षसैर्घोरैर्बहूनां बहुधा वने ॥ १६ ॥

‘आइये, देखिये, ये भयंकर राक्षसोंद्वारा बरम्बाएँ अनेक

प्रक्रमसे मारे गये बहुसंख्यक पवित्रात्मा मुनियोंके शरीर (शव या कंकाल) दिखायी देते हैं ॥ १६ ॥

वप्मानदीनिवासानामनुमन्दाकिनीमपि ।

चित्रकूटालयानां च क्रियते कदने महन् ॥ १७ ॥

‘वप्मान नदीके और उसके निकट बहनेवाली तुङ्गभद्रा नदीके तटपर जिनका निवास है, जो मन्दाकिनीके किनारे रहने हैं तथा जिन्होंने चित्रकूटपर्वतके किनारे अपना निवासस्थान बना लिया है, उन सभी ऋषि-महर्षियोंका राक्षसोंद्वारा महान् संहार किया जा रहा है ॥ १७ ॥

एवं वयं न भूध्यापो विप्रकारं तपस्विनाम् ।

क्रियमाणं वने घोरं रक्षोभिर्धर्मिकर्मभिः ॥ १८ ॥

‘इन भयानक कर्म करनेवाले राक्षसोंने इस वनमें तपस्वी मुनियोंका जो ऐसा भयंकर विनाशकाण्ड मचा रखा है, वह हमलोगोंसे सह्य नहीं जाता है ॥ १८ ॥

ततस्त्वां शरणार्थं च शरण्यं समुपस्थिताः ।

परिपालय मे राम वध्यमानान् निशाचरैः ॥ १९ ॥

अतः इन राक्षसोंमें बचनेके लिये शरण लेनेके उद्देश्यसे हम आपके पास आये हैं श्रीराम ! आप शरणागतवत्सल हैं, अतः इन निशाचरोंमें मारे जाते हुए हम मुनियोंकी रक्षा काजिये ॥ १९ ॥

परा त्वत्तो गतिर्वीर पृथिव्यां नोपपद्यते ।

परिपालय नः सर्वान् राक्षसेभ्यो नृपात्मज ॥ २० ॥

‘विराजकुमार ! इस भूमण्डलमें हमें आपसे बढ़कर दूसरा कोई सहाय नहीं दिखता दता । आप इन राक्षसोंमें हम सबको बचाइये ॥ २० ॥

एतच्चकृत्वा तु काकुत्स्थस्तापसानां तपस्विनाम् ।

इदं प्रोवाच धर्मात्मा सर्वानेव तपस्विनः ॥ २१ ॥

तपस्थामें लगे रहनेवाले उन तपस्वी मुनियोंकी ये बात सुनकर ककुत्स्थकुलभूषण धर्मात्मा श्रीरामने उन सबसे कहा— ॥ २१ ॥

नैवमर्हथ मे वक्तुमाज्ञाप्योऽहं तपस्विनाम् ।

केवलं स्वकार्येण प्रवेष्टव्यं वने मया ॥ २२ ॥

‘मुन्निवो ! आपलोग मुझसे इस प्रकार प्रार्थना न करें । मैं तो नपम्बो महात्माओंका आज्ञापालक हूँ मुझे केवल अपने ही कार्यमें वनमें तो प्रवेश करना ही है (इसके साथ ही आपलोगोंकी सेवाका सोचाम् भी मुझे प्राप्त हो जायगा) ॥ २२ ॥

विप्रकारमपाकृष्टुं राक्षसैर्भवतामिमम् ।

पितुस्तु निर्देशकरः प्रविष्टोऽहमिदं वनम् ॥ २३ ॥

‘राक्षसोंके द्वारा जो आपको यह कह कर पहुँच रहा है, इसे दूर करनेके लिये ही मैं पिताके आदेशका पालन करता हुआ इस वनमें आया हूँ ॥ २३ ॥

भवतामर्थसिद्धयर्थमागतोऽहं यदुच्छ्रया ।

तस्य मेऽयं वने वासो भविष्यति महाफलः ॥ २४ ॥

‘आपलोगोंके प्रयोजनकी सिद्धिके लिये मैं देवान् यहाँ आ पहुँचा हूँ। आपकी सेवाका अवसर मिलनेसे मेरे लिये यह खनवास महान् फलदायक होगा ॥ २४ ॥

तपस्विनां रणे शत्रून् हन्तुमिच्छामि राक्षसान् ।

पश्यन्तु धीर्यमुखयः सभ्रातृर्मे तपोधनाः ॥ २५ ॥

‘तपोधनो ! मैं तपस्वी मुनियोंसे शत्रुना रक्षनेवाले उन राक्षसोंका युद्धमें सहाय करना चाहता हूँ। आप सब महारथे भाईसहित मेरा पराक्रम देखें ॥ २५ ॥

इत्यर्धे श्रीमद्भाग्यणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे बहु सर्गः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्माणे आर्यभाग्यणे आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें छठा सर्ग पूरा हुआ ॥ ६ ॥

सप्तमः सर्गः

सीता और भ्रातासहित श्रीरामका सुतीक्ष्णके आश्रमपर जाकर उनसे बातचीत करना तथा उनसे सत्कृत हो रातमें वहीं ठहरना

रामस्तु सहितो भ्रात्रा सीतया च परंतपः ।

सुतीक्ष्णस्याश्रमपदे जगाम सह तैर्द्विजैः ॥ १ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मण, सीता तथा उन ब्राह्मणोंके साथ सुतीक्ष्ण मुनिके आश्रममें ओर चले ॥ १ ॥

स गत्वा दूरमध्वानं नदीसीत्वा बहूदकाः ।

ददर्श सिमलं शैलं महाप्रेतमिवोन्नतम् ॥ २ ॥

वे दूरतकका मार्ग तै करके अगाध जलसे भरी हुई बहुत-सी नदियोंको पार करते हुए जब आगे गये, तब उन्हें महान् मेरुगिरिके समान एक अत्यन्त ऊँचा पर्वत दिखायी दिया, जो बड़ा ही निर्मल था ॥ २ ॥

ततस्तद्विक्ष्वाकुवरो सततं विविधदुर्धः ।

काननं तौ विविधातुः सीतया सह राघवौ ॥ ३ ॥

वहाँसे आगे बढ़कर वे दोनों इक्ष्वाकुकुल्यक श्रेष्ठ चोर शृङ्गशी बन्धु सीताके साथ नाना प्रकारके वृक्षसे भरे हुए एक खनमें पहुँचे ॥ ३ ॥

प्रविष्टस्तु वने धीरे बहुपुष्पफलद्रुपम् ।

ददर्शाश्रममेकान्ते चोरमालापरिष्कृतम् ॥ ४ ॥

उस धीरे खनमें प्रविष्ट हो श्रीराम-राघवजीन एकान्त स्थानमें एक आश्रम देखे। जहाँसे कुछ प्रचुर फल-फूलोंसे नट्ट हुए थे। इधर-उधर दैग हुए चोर वस्त्रोंके समुदाय उस आश्रमका साक्षात् प्रकटते थे ॥ ४ ॥

तत्र तापसमासीनं धर्मपुङ्गवधारिणम् ।

रामः सुतीक्ष्णं विधिवत् तपोधनमभाषत ॥ ५ ॥

वहाँ आन्तरिक धर्मसे शुद्धिके लिये ध्यासन धारण किये सुतीक्ष्ण मुनि ध्यानमग्न होकर बैठे थे। श्रीरामने उन तपोधन मुनिके पास विधिबत जाकर उनसे इस प्रकार कहा— ॥ ५ ॥

दत्त्वा वरं चापि तपोधनानां

धर्मे घृतात्मा सह लक्ष्मणेन ।

तपोधनेऽपि

सहार्यदत्तः

सुतीक्ष्णमेवाभिजगाम

वीरः ॥ २६ ॥

इस प्रकार उन तपोधनोंको वर देकर धर्ममें मन लगावनेवाले तथा श्रेष्ठ दान देनेवाले धीरे श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मण तथा तपस्वी महात्माओंके साथ सुतीक्ष्ण मुनिके पास गये ॥ २६ ॥

रामोऽहमस्मि भगवन् भवन्तं द्रष्टुमागतः ।

तन्वाभिषद धर्मज्ञ महर्षे सत्यविक्रम ॥ ६ ॥

‘सत्यपराक्रमी धर्मज्ञ महर्षे ! भगवन् ! मैं राम हूँ और यहाँ आपका दर्शन करनेके लिये आया हूँ, अतः आप मुझसे वस्तु कर्तव्य ॥ ६ ॥

स निरीक्ष्य ततो धीरो रामं धर्मभृतां वरम् ।

समाश्लिष्य च बाहुभ्यामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ७ ॥

धर्मान्वाओंमें श्रेष्ठ भगवान् श्रीरामका दर्शन करके धीरे महर्षि सुतीक्ष्णने अपने दोनो भुजाओंमें उन्का आलिङ्गन किया और इस प्रकार कहा— ॥ ७ ॥

स्वागतं ते श्वश्रुं राम सत्यभृतां वर ।

आश्रमोऽयं त्वयाऽऽकान्तः सनाथ इव साम्प्रतम् ॥ ८ ॥

‘सत्यवादियोंमें श्रेष्ठ श्वश्रुकुलभूषण श्रीराम ! आपका स्वागत है। इस समय आपके पदार्पण करनेसे यह आश्रम सनाथ हो गया ॥ ८ ॥

प्रतीक्षणास्त्वामेव नारोहेऽहं महाशराः ।

देवलोकमितो वीर देहं त्यक्त्वा महीतले ॥ ९ ॥

‘महाशराक्षी वीर ! मैं आपकी ही प्रतीक्षामें था, इसीलिये अबतक इस पृथ्वीपर अपने शरीरको त्यागकर मैं यहाँगे देवलोक (अश्वत्थाम) में नहीं गया ॥ ९ ॥

चित्रकूटमुपादाय राज्यभ्रष्टोऽसि मे श्रुतः ।

इहोपयातः काकुत्स्थ देवराजः शतक्रतुः ॥ १० ॥

‘मैंने सुना था कि आप राज्यसे भ्रष्ट हो चित्रकूट पर्वतपर आकर रहते हैं। काकुत्स्थ ! यहाँ सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले देवराज इन्द्र आये थे ॥ १० ॥

उपागम्य च मे देवो महादेवः सुरेश्वरः ।

सर्वल्लोकाञ्जितानाह भय पुण्येन कर्मणा ॥ ११ ॥

‘वे महान् देवता देवेश्वर इन्द्रदेव मेरे पास आकर

कह रहे थे कि 'तुमने अपने पुण्यकर्मों द्वारा समस्त दुष्ट लोकोंपर विजय पायी है' ॥ ११ ॥

तेषु देवर्षिजुष्टेषु जितेषु तपसा मया ।

मत्प्रसादात् सभार्यस्त्वं विहरस्व सलक्ष्मणः ॥ १२ ॥

'उनके कथनानुसार मैंने तपस्यासे जिन देवर्षिसेवित लोकोंपर अधिकार प्राप्त किया है, उन लोकोंमें आप सीता और लक्ष्मणके साथ वितर करें मैं बड़ी प्रसन्नताके साथ वे सारे लोक आपकी सेनामें समर्पित करता हूँ' ॥ १२ ॥

तमुग्रतपसं दीप्तं महर्षिं सत्यवादिनम् ।

प्रत्युवाचात्मवान् रामो ब्रह्माणमिव वासवः ॥ १३ ॥

जैसे इन्द्र ब्रह्माजीसे बात करते हैं, उसी प्रकार मनस्वी श्रीरामने उन उग्र तपस्यावाले तेजस्वी एवं सत्यवादी महर्षिको इस प्रकार उत्तर दिया— ॥ १३ ॥

अहमेवाहरिष्यामि स्वयं लोकान् महामुने ।

आवासं त्वहमिच्छामि प्रदिष्टमिह कानने ॥ १४ ॥

'महामुने ! ये लोक तो मैं स्वयं ही आपको प्राप्त करकेगा, इस समय तो मैंने यह इच्छा है कि आप बताते कि मैं इस वनमें अपने ठहरनेके लिये कहां कुरिया बनाऊँ ?' ॥ १४ ॥

भवान् सर्वत्र कुशलः सर्वभूतहिते रतः ।

आख्यातं शरभङ्गेन गीतमेव महात्मना ॥ १५ ॥

आप समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर तथा इन्द्रलोक और परलोककी सभी आगोंके ज्ञानमें निपण हैं यह बात मुझसे गीतमगोत्रोय महात्म शरभङ्गने कही थी' ॥ १५ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण महर्षिलोकविभूतः ।

अब्रवीन्मधुरं वाक्यं हर्षणं महता युतः ॥ १६ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर उन लोकविख्यात महर्षिने बड़े हर्षके साथ मधुर वाणीमें कहा— ॥ १६ ॥

अयमेवाश्रयो राम गुणवान् रघ्यतामिति ।

ऋषिसंघानुचरितः सदा भूलफलैर्युतः ॥ १७ ॥

'श्रीराम ! यही आश्रम सब प्रकारसे गुणवान् (गुणधरात्मक) है, अतः आप यहीं मुखपूर्वक निवास कीजिये । यहाँ ऋषियोंका समुदाय सदा आना-जाना रहता है और फल-फल भी सर्वदा सुलभ होते हैं' ॥ १७ ॥

इममाश्रममागम्य मृगसंघा महीधराः ।

अहत्वा प्रतिगच्छन्ति लोभयित्वाकुनोभयाः ॥ १८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽर्णवकाण्डे सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिमित्त श्रीरामायण आदिकाव्यके अर्णवकाण्डमें सातवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमः सर्गः

प्रातःकाल सुतीक्ष्णसे विदा ले श्रीराम, लक्ष्मण, सीताका वहाँसे प्रस्थान

रामस्तु सहस्रीमित्रः सुतीक्ष्णेनाभिपूजितः ।

परिणाप्य निशां तत्र प्रभाते प्रत्यवुध्यत ॥ १ ॥

'इस आश्रमपर बड़े-बड़े मृगोंके झुंड आते और अपने रूप कान्ति एवं गतिमें मनको लुभाकर किसीको कष्ट दिये बिना ही यहाँमें लौट जाते हैं । उन्हें यहाँ किसीसे कोई धन नहीं प्राप्त होता है' ॥ १८ ॥

मान्यो दोषो भवेदत्र मृगेभ्योऽन्यत्र विद्धि वै ।

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य महर्षेर्लक्ष्मणाग्रजः ॥ १९ ॥

उवाच वचनं धीरो विगृह्य सशरं धनुः ।

'इम आश्रममें मृगोंके उपद्रवके सिवा और कोई दोष नहीं है, यह आप निश्चितरूपसे जान लें ।' महर्षिका यह वचन सुनकर लक्ष्मणके चड़े भाई धीर वीर भगवान् श्रीरामने हृद्यमें धनुष-बाण लेकर कहा— ॥ १९ ॥

नानहं सुमहाभाग मृगसंघान् समागतान् ॥ २० ॥

हन्यां निशितधारेण शरेणानतपर्वणा ।

भवांस्तत्राभिषज्येत किं स्यात् कुच्छृतरं ततः ॥ २१ ॥

महाभाग ! यहाँ आये हुए उन उपद्रवकारी मृगसमूहोंकी यदि मैं झुकी हुई गति और तीखी धारवाले बाणसे मार डालूँ तो इसमें आपका अपमान होगा । यदि ऐसा हुआ तो इससे बढ़कर कष्टको क्या मैं लिये और क्या हो सकती है ? ॥

एतस्मिन्नाश्रमे वासं विरतु न समर्थये ।

तमेवमुक्तोपरमं रामः संध्यामुपागमत् ॥ २२ ॥

'इमालिये मैं इस आश्रममें अधिक समय नहीं निवास करना चाहता ।' मुनिमें ऐसा कहकर मौन हो श्रीरामचन्द्रजी संध्यापासना करने चले गये ॥ २२ ॥

अन्वास्य पश्चिमां संध्यां तत्र वासमकल्पयत् ।

सुतीक्ष्णस्याश्रमे रघ्ये सीतया लक्ष्मणेन च ॥ २३ ॥

भार्यकालकी संध्यापासना करके श्रीरामने सीता और लक्ष्मणके साथ सुतीक्ष्ण मुनिके उस रमणीय आश्रममें निवास किया ॥ २३ ॥

ततः शुभं तापसयोग्यमग्नं

स्वयं सुतीक्ष्णः पुरुषर्षभाध्याम् ।

नाध्यां सुसत्कृत्य ददौ महात्मा

संध्यानिवृत्तौ रजनीं समीक्ष्य ॥ २४ ॥

संध्याका समय काननपर सत हुई देख महात्मा सुतीक्ष्णने स्वयं ही तपस्वी जातिके रखन करने योग्य शुभ अग्न ले आकर उस दाने पुरुषदिरोमणि बन्धुओंके बड़े यत्नारके साथ अर्पित किया ।

उत्थाय च यथाकालं राघवः सह सीतया ।
उपस्पृश्य सुशीतेन तोयेनोत्पलगन्धिना ॥ २ ॥
अथ तेऽग्निं सुरांश्चैव वैदेही राघवलक्ष्मणौ ।
काल्यं विधिवदभ्यर्च्य तपस्विशरणं वने ॥ ३ ॥
उदयम्ने दिनकरं दृष्ट्वा विगतकल्मषाः ।
सुतीक्ष्णमभिगच्छेदं श्लक्ष्णं वचनमब्रुवन् ॥ ४ ॥

सीतामहिम श्रीराम और लक्ष्मणने ठीक समयमें उठकर कमलकी सुगन्धमें सुवासित परम शीतल जलके द्वारा स्नान किया, तदनन्तर उन दोनोंने हो मिलकर विधिपूर्वक अग्नि और देवताओंकी प्रातःकालिक पूजा की। इसके बाद तपस्वीजनोंके आश्रयभूत वनमें उठते हुए सूर्योदयका दर्शन करके वे दोनों निषाध पर्वतके सुतीक्ष्ण मुनिके पास गये और यह मधुर वचन बोले— ॥ २—४ ॥

सुखोषिताः स्म भगवंस्त्वया पुज्येन पूजिताः ।
आपृच्छामः प्रयास्यामो पुनयन्स्वर्ग्यन्ति नः ॥ ५ ॥

‘भगवन् ! आपने पूजनीय होकर भी हमलोगोंको पूजा की है। हम आपके आश्रयमें बड़े सुखसे रहे हैं। अब हम चाहते जायेंगे इसका लिये आपका आज्ञा चाहते हैं। ये मुनि हमें चलनेके लिये जल्दी भेजा रहे हैं ॥ ५ ॥

त्वरामहे चयं ब्रुं कृत्स्नमाश्रममण्डलम् ।
ऋषीणां पुण्यशैलानां दण्डकारण्यवासिनाम् ॥ ६ ॥

‘हमलोग दण्डकारण्यमें निशाम करनेवाले पुरातन ऋषियोंके सम्पूर्ण आश्रममण्डलका दर्शन करनेके लिये वतावले हो रहे हैं ॥ ६ ॥

अभ्यनुज्ञातुमिच्छामः महर्षिर्मुनिपुंगव ।
धर्मनित्यस्नपेतात्तैर्विशिखैरिव पावकैः ॥ ७ ॥

‘अतः हमारी इच्छा है कि आप धर्मरहित अग्निके समान तेजस्वी, तपस्याद्वारा इन्द्रियोंको जड़में रखनेवाले तथा नित्य-धर्मपरायण इन श्रेष्ठ महर्षियोंके साथ यहाँसे जानेके लिये हमें आज्ञा दें ॥ ७ ॥

अविपद्भ्रातपो यावत् सूर्यो नातिविराजते ।
अमार्गेणागतां लक्ष्मीं प्राप्येवान्मयवर्जितः ॥ ८ ॥

तार्थादिच्छामहे गन्तुमित्युक्त्वा चरणौ मुनेः ।
ययन्दे सहसौमित्रिः सीतया सह राघवः ॥ ९ ॥

जैसे अन्यायसे आयी हुई सम्पत्तिको पाकर किसी नीच कुलके मनुष्यमें अमङ्गल घटना आ जाती है, वैसे प्रकार यह सूर्योदय अग्निके अमङ्गल भाव भनवाले होकर प्रचण्ड तेजस्व प्रकाशित हो जाने लगे, तमके पहले ही हम यहाँसे चले देना चाहते हैं।’ ऐसा कतकर लक्ष्मण और सीतामहिम श्रीरामने मुनिके चरणोंको चन्दन की ॥ ८ ॥

नो संस्पृशन्ती चरणान्बुध्याप्य भुनिपुंगवः ।
गाढमार्गश्लघ्य सस्नेहमिदं वचनमब्रवीन् ॥ १० ॥

आपने चरणोंको स्पर्श करते हुए श्रीराम और लक्ष्मणका

उत्तरकर मुनिके सुतीक्ष्णने कमकर हृदयसे लगा लिया और बड़े श्रेष्ठमें इस प्रकार कहा— ॥ १० ॥

अग्रिष्ठं गच्छ पन्थानं तम सौमित्रिणः सह ।
सीतया चानया सार्धं छायेवेवानुवृत्तया ॥ ११ ॥

श्रीराम ! आप छत्याकी भाँति अनुसरण करनेवाली इस धमपत्नी सीता तथा सुमित्राकुमार लक्ष्मणके साथ यात्रा कीजिये। आपका मार्ग विघ्न-बाधाओंसे रहित परम मङ्गलमय हो ॥ ११ ॥

पश्यश्रमयद् रम्यं दण्डकारण्यवासिनाम् ।
एषां तपस्विनां चौर तपसा भावितात्मनाम् ॥ १२ ॥

चौर तपस्यामें शृद्धि अन्न करणवाले दण्डकारण्यवासी इन तपस्वी भूमियोंके रमणीय आश्रमोंका दर्शन कीजिये ॥

सुप्राज्यफलमूलानि पुष्पितानि वनानि च ।
प्रशस्तमृगयूथानि शान्तपक्षिगणानि च ॥ १३ ॥

‘इस यात्रामें आप प्रचुर फल-मूलोंसे युक्त तथा फूलोंसे युद्धोद्भिन्न अनेक वन देखेंगे, जहाँ उत्तम मृगोंके झुंड जिरहते होंगे और पक्षी शान्तभावसे रहते होंगे ॥ १३ ॥

फुल्लम्बुजखण्डानि प्रसन्नसलिलानि च ।
कारण्डवविकीर्णानि नटाकानि सरांसि च ॥ १४ ॥

आपको बहुत-से ऐसे तालाब और सरोवर दिखायी देंगे, जिनमें प्रफुल्ल कमलोंके समूह शोभा दे रहे होंगे। उनमें स्वच्छ जल भरे होंगे तथा करण्डव आदि जलगर्शी सब ओर फैले रहें होंगे ॥ १४ ॥

द्रक्ष्यसे दृष्टिरम्याणि गिरिप्रखण्डानि च ।
रमणीयान्यरण्यानि मयूराभिस्तानि च ॥ १५ ॥

नेत्रोंको रमणीय प्रतीत होनेवाले पहाड़ी झरनों और मारोंका घाटी बालोंसे गुँजती हुई सुरम्य वनस्थलियोंको भी आप देखेंगे ॥ १५ ॥

गम्यतां वत्स सौमित्रे भवानपि च गच्छतु ।
आगन्तव्यं च ते दृष्ट्वा पुनरेवाश्रमं प्रति ॥ १६ ॥

‘श्रीराम ! जाइये, वत्स सुमित्राकुमार ! तुम भी जाओ। दण्डकारण्यके आश्रमोंका दर्शन करके आपलोगोंको फिर इसी आश्रममें आ जाना चाहिये’ ॥ १६ ॥

एवमुक्तमथेत्युक्त्वा काकुत्स्थः सहलक्ष्मणः ।
प्रदक्षिणं पूर्णं कृत्वा प्रस्थातुमुपचक्रमे ॥ १७ ॥

उनके ऐसा कहनेपर लक्ष्मणसहित श्रीरामने ‘बहुत अच्छा कहकर मुनिकी परिक्रमा की और वहाँसे प्रस्थान करनेकी तैयारी की ॥ १७ ॥

ततः शुभतरे तुणी धनुषी चायतेश्वरा ।
दत्ता सीता तयोभ्रात्रोः खड्गी च विमली ततः ॥ १८ ॥

तदनन्तर विशाल नेत्रावाली सीताने उन दोनों भाइयोंके हाथमें दो परम सुन्दर नृणां धनुष और चमचभाते हुए खड्ग प्रदान किये ॥ १८ ॥

आवध्य च शुभे तूणीं चापे चादाय सस्वने ।
निष्कान्तावाश्रमाद् गन्तुमुभी तौ रामलक्ष्मणौ ॥ १९ ॥
उन सुन्दर तूणीरोंको पीठपर बांधकर टंकारते हुए
धनुषोंको हाथमें ले वे दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण
आश्रमसे बाहर निकले ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डेऽष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आरण्यमायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें आठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८ ॥

नवमः सर्गः

सीताका श्रीरामसे निरपराध प्राणियोंको न मारने और अहिंसा-धर्मका पालन
करनेके लिये अनुरोध

सुतीक्ष्णेनाध्यनुजातं प्रस्थितं रघुनन्दनम् ।
हृदया च्छिन्धया धात्वा भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

सुतीक्ष्णकी आज्ञा लेकर जनकी और प्रस्थित हुए अपने
स्थायी रघुकुलनन्दन श्रीरामसे सीतान कोहभरी मनोहर वाणीमें
इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

अधर्मं तु सुसूक्ष्मेण विधिना प्राप्यते महान् ।
निवृत्तेन च शक्योऽयं व्यसनात् कामजादिह ॥ २ ॥

'आर्यपुत्र ! यद्यपि आप महान् पुण्य हैं तथापि अत्यन्त
सूक्ष्म विधिसे विचार करनेपर आप अधर्मको प्राप्त हो रहे हैं ।
जब कामजनित व्यसनसे आप सर्वथा निवृत्त हैं, तब यहाँ
इस अधर्मसे भी बच सकते हैं ॥ २ ॥

ग्रीण्येव व्यसनान्ध्र कामजानि पवन्युत ।
मिथ्यावाक्यं तु परमं तस्माद् गुह्यतारुभी ॥ ३ ॥
परद्वाराभिगमने विना चैव रौद्रता ।

मिथ्यावाक्यं न ते भूतं न भविष्यति राघव ॥ ४ ॥

इस जगत्में कामसे उत्पन्न होनेवाले नोन ही व्यसन होते
हैं । मिथ्याभाषण बहुत बड़ा व्यसन है, किन्तु उससे भी भरो
दो व्यसन और हैं—परस्वोगमन और विना चैरके हो दूसरोंके
प्रति क्रूरतापूर्ण वर्तव । रघुनन्दन इनमेंसे मिथ्याभाषणरूप
व्यसन तो न आपमें कभी हुआ है और न आग होगा ही ।

कुतोऽभिलषणं स्त्रीणां परेषां धर्मनाशनम् ।
तव नास्ति मनुष्येन्द्र न चाभूत् ते कदाचन ॥ ५ ॥
मनस्यपि तथा राम न चैतद् विद्यते क्वचित् ।

स्वहर्शनिरतश्चैव नित्यमेव नृपात्मज ॥ ६ ॥
धर्मिष्ठः सत्यसंघश्च पितुर्निर्दिशकारकः ।

त्वयि धर्मश्च सत्यं च त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ ७ ॥

'परस्त्रीविषयक अभिलाषा तो आपको हो ही कैसे सकती
है ? नरेन्द्र ! धर्मका नाश करनेवाली यह कुत्सित इच्छा न
आपके मनमें कभी हुई थी, न है और न भविष्यमें कभी
होनेकी सम्भावना ही है । राजकुमार श्रीराम ! यह दोष तो
आपके मनमें भी कभी उदित नहीं हुआ है । (फिर वाणी

शीघ्र तौ रूपसम्पन्नावनुजातौ महर्षिणा ।
प्रस्थितौ धृतवापासौ सीतया सह राघवौ ॥ २० ॥
वे दोनों रूपवान् वीर बड़े ही रूपवान् थे, उन्होंने खड्ग
और धनुष धारण करके महर्षिकी आज्ञा ले सीताके साथ
शीघ्र ही वहाँसे प्रस्थान किया ॥ २० ॥

और क्रियामें कैसे आ सकती है ?) आप सदा ही अपनी
धर्मपत्नीमें अनुरक्त रहनेवाले, धर्मान्ध, सत्यप्रतिज्ञ तथा
पिताकी आज्ञाका पालन करनेवाले हैं आपमें धर्म और
सत्य दोनोंकी स्थिति है आपमें ही मध्य कुछ प्रतिष्ठित है ॥

तच्च सर्वं महाबाहो शक्यं वाञ्छुं जितेन्द्रियैः ।
तव वश्येन्द्रियत्वं च जानामि शुभदर्शन ॥ ८ ॥

'महाबाहो ! जो लोग जितेन्द्रिय हैं, वे सदा मान्य और
धर्मको पूर्णरूपमें धारण कर सकते हैं । शुभदर्शी महापुरुष !
आपकी जितेन्द्रियताको मैं अच्छी तरह जानती हूँ (इसीलिये
मुझे विश्वास है कि आपमें पूर्वोक्त दोनों दोष कदापि नहीं
रह सकते) ॥ ८ ॥

तृतीयं यदिदं रौद्रं पराग्राणाभिहितम् ।
निर्वैरं क्रियते मोहान् तच्च ते समुपस्थितम् ॥ ९ ॥

'परन्तु दूसरेके प्राणोंकी हिंसारूप जो यह तीव्र भावकर
दोष है, उसे स्नेह मोहकश विना वैर-क्रिरोन्मत्त भी किया
करते हैं । वही दोष आपके सामने भी उपस्थित है ॥ ९ ॥

प्रतिज्ञातस्त्वया वीर दण्डकारण्यवासिनाम् ।
ऋषीणां रक्षणार्थाय वधः संयति रक्षसाम् ॥ १० ॥

'वीर ! आपने दण्डकारण्यनिवासी ऋषियोंकी रक्षाके
लिये युद्धमें रक्षामोक्ष वध करनेकी प्रतिज्ञा की है ॥ १० ॥

एतन्निमित्तं च वनं दण्डका इति विश्रुतम् ।
प्रस्थितस्त्वं सह भ्रात्रा धृतवाणशरासनः ॥ ११ ॥

इसीके लिये आप भाईके साथ धनुष-बाण लेकर
दण्डकारण्यके नामसे विख्यात वनकी ओर प्रस्थित
हुए हैं ॥ ११ ॥

ततस्त्वां प्रस्थितं दृष्ट्वा मम चिन्ताकुलं मनः ।
त्वद्वृत्तं चिन्तयन्त्या वै भवेन्निःश्रेयसं हितम् ॥ १२ ॥

'अतः आपके इस घोर कर्मके लिये प्रस्थित हुआ देख
मेरा चित्त चिन्तासे व्याकुल हो उठा है । आपके
प्रतिज्ञा-पालनरूप वनका विचार करके मैं सदा यही सोचती
रहती हूँ कि कैसे आपको कल्याण हो ? ॥ १२ ॥

नहि मे रोचते वीर गमनं दण्डकान् प्रति ।

कारणं तत्र यक्ष्यामि वदन्त्याः श्रूयतो भव ॥ १३ ॥

‘वीर ! मुझे इस समय आपका दण्डकारण्यमें जाना अच्छा नहीं लगता है । इसका क्या कारण है—यह बता गये हैं आप मेरे मुँहसे सुनिये ॥ १३ ॥

त्वं हि बाणधनुष्याणिभ्रात्रा सह वनं गतः ।

दृष्ट्वा वनचरान् सर्वान् कश्चित् कुर्याः शरव्ययम् ॥ १४ ॥

‘आप हाथमें धनुष बाण लेकर अपने भाईके साथ वनमें आये हैं । सम्भव है, समस्त वनचारी राक्षसोंका देखकर कदाचित् आप उनके प्रति अपने बाणोंका प्रयोग कर बैठें ॥

क्षत्रियाणां हि धनुर्हताशस्येचनानि च ।

समीपतः स्थिते तेजोबलमुच्छ्रूयते भृशम् ॥ १५ ॥

‘जैसे आगेके समाप रखे हुए ईधन उसका तेजस्व बलको अत्यन्त उद्योत कर देने हैं, उसी प्रकार जहाँ क्षत्रियोंके पास धनुष हो तो वह उनके बल और प्रतापका उद्घोषित कर देता है ॥ १५ ॥

पुरा किल महाबाहो तपस्वी सत्यकाञ्चुजिः ।

कस्मिंश्चिदभवत् पुण्ये वने रतभृगद्विजे ॥ १६ ॥

‘महाबाहो ! पूर्वकालकी बात है, किमो पवित्र वनमें अहाँ भृगु और पक्षी बड़े आनन्दमें रहते थे एक सत्यव्रत एवं पवित्र तपस्वी निवास करते थे ॥ १६ ॥

तस्मै च तपसो विघ्नं कर्तुमिन्द्रः शचीपतिः ।

खड्गपाणिरध्यागच्छदाश्रये भटरूपधृक् ॥ १७ ॥

‘तन्हीकी तपस्यामें विघ्न डालनेके लिये शचीपति इन्द्र किसी योद्धाका रूप धारण करके हाथमें तलवार लिये एक दिन उनके आश्रमपर आये ॥ १७ ॥

सोऽस्मिस्तदाश्रमपदे निहितः खड्ग उत्तमः ।

स न्यासविधिना दत्तः पुण्ये तपसि निष्ठितः ॥ १८ ॥

‘उहाँन भुक्तिक आश्रममें अपना उत्तम खड्ग रख दिया । पवित्र तपस्यामें लगा हुए भुक्तिक धारात्मक रूपमें वह खड्ग दे दिया ॥ १८ ॥

स तच्छस्त्रमनुप्राप्य न्यासरक्षणतत्परः ।

वने तु विचरत्येव रक्षन् प्रत्ययधातयः ॥ १९ ॥

‘उस शस्त्रको पाकर भुक्तिक उस धरोहरकी रक्षामें लग गये । वे अपने विश्वासकी रक्षाके लिये वनमें विचरन मगध भी उसे साथ रखते थे ॥ १९ ॥

यत्र गच्छत्युपादानं फलानि च फलानि च ।

न विना याति तं खड्गं न्यासरक्षणतत्परः ॥ २० ॥

‘धरोहरकी रक्षामें तत्पर रहनवाले वे भुक्तिक फल-फल लानेके लिये जहाँ-कहीं भी जाते, उस खड्गको साथ लिये विना नहीं जाते थे ॥ २० ॥

नित्यं शस्त्रं परिवहन् क्रमेण स तपोधनः ।

चकार रौद्रीं स्वां बुद्धिं त्यक्त्वा तपसि निश्चयम् ॥ २१ ॥

‘तब ही जिसका धन था, उन भुक्तिक प्रतिदिन शस्त्र होते रहनेके कारण क्रमशः तपस्याकर निश्चय छोड़कर अपनी बुद्धिको क्रूरतापूर्ण बना लिया ॥ २१ ॥

ततः स रौद्राभिरतः प्रमनोऽधर्मकर्मितः ।

तस्य शस्त्रस्य संवासाज्जगाम नरकं मुनिः ॥ २२ ॥

‘फिर तो अधर्मी उन्हें आकृष्ट कर लिया । वे भुक्तिक प्रमादवश रौद्र-कर्ममें तत्पर हो गये और उस शस्त्रके महत्त्वमें उन्हें नरकमें जाना पड़ा ॥ २२ ॥

एवमेतत् पुराकृतं शस्त्रसंयोगकारणम् ।

अग्निसंयोगवद्धेनुः शस्त्रसंयोग उच्यते ॥ २३ ॥

‘इस प्रकार शस्त्रका संयोग होनेके कारण पूर्वकालमें उन तपस्वी भुक्तिक ऐसी दुर्दशा भोगनी पड़ी । जैसे आगका संयोग ईधनोंका जलनेका कारण होता है, उसी प्रकार शस्त्रका संयोग शस्त्रधारकके हृदयमें विकारका उत्पादक करता गया है ॥ २३ ॥

संहास्य बहुमानाद्यस्मारये त्वां तु शिक्षये ।

न कथंचन सा कार्या गृहीतधनुषा त्वया ॥ २४ ॥

बुद्धिर्वै विना हन्तुं राक्षमान् दण्डकाभितान् ।

अपराधं विना हन्तुं लोको वीर न भव्यते ॥ २५ ॥

‘मेरे मनमें आपके प्रति जो स्नेह और विशेष आदर है उसके कारण मैं आपको उस प्राचीन घटनाको याद दिलाती हूँ तथा यह शिक्षा भी देती हूँ कि आपको धनुष लेकर किसी तरह विना वीरके ही दण्डकारण्यवासी राक्षसोंका अधिक विचार नहीं करना चाहिये । वीरवर ! विना अपराधके ही किसीको मारना संसारके लोग अच्छा नहीं समझेंगे ॥

क्षत्रियाणो तु वीरिणो वनेषु नियतात्मनाम् ।

धनुषा कार्यमेतावदार्तानामभिरक्षणम् ॥ २६ ॥

‘अपने मन और इन्द्रियोंको वनामें रखनेवाले क्षत्रिय लोगके लिये वनमें धनुष धारण करनेका इतना ही प्रयोजन है कि वे संकटमें पड़ें हुए प्राणियोंको रक्षा करें ॥ २६ ॥

क च शस्त्रं क च वनं क च क्षात्रं तपः क च ।

व्याविद्धमिदमस्माभिर्देशधर्मम् पूज्यताम् ॥ २७ ॥

‘कहाँ शस्त्र-धारण और कहाँ वनवास । कहाँ क्षत्रियका हिमामय कठोर कर्म और कहाँ सब प्राणियोंपर दया कर्तार रूप तप—ये परस्पर विरुद्ध जान पड़ते हैं । अतः हम-लोगोंको देशधर्मका ही अन्दर करना चाहिये (इस समय हम नपेवनरूप देशमें निवास करते हैं, अतः यहाँके अहिमामय धर्मका पालन करना ही हमारा कर्तव्य है) ॥ २७ ॥

कट्यंकलुषा बुद्धिर्जायते शस्त्रसेवनात् ।

पुनर्गत्वा स्वयोध्यायां क्षत्रधर्मं चरिष्यसि ॥ २८ ॥

‘केवल शस्त्रका सेवन करनेसे मनुष्यकी बुद्धि कुपण पुरुषोंके समान कलुषित हो जाती है, अतः आप अयोध्यामें चलनेपर ही पुनः क्षत्रधर्मका अनुष्ठान कीजियेगा ॥ २८ ॥

अक्षया तु भवेत् प्रीतिः श्रृङ्खलशूरयोर्मम ।

यदि राज्यं हि संन्यस्य भवेत्स्वं निरतो मुनिः ॥ २९ ॥

‘उज्य त्यागकर बनमें आ जानेपर यदि आप मुनि-वृत्तिसे हो रहें तो इससे भरो साम और शूरको अक्षय प्रयत्नता होगी ॥ २९ ॥

धर्मार्थः प्रभवति धर्मात् प्रभवते सुखम् ।

धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत् ॥ ३० ॥

‘धर्मसे अर्थ प्राप्त होता है, धर्मसे सुखका उदय होता है और धर्मसे ही मनुष्य सब कुछ पा लेता है। इस संसारमें धर्म ही सार है ॥ ३० ॥

आत्मानं नियमस्तेसैः कर्षयित्वा प्रयत्नतः ।

प्राप्नुये विपुलैर्धर्मो न सुखाल्लभते सुखम् ॥ ३१ ॥

‘बनर मनुष्य भिन्न-भिन्न बानप्रस्थोचित नियमोंक द्वारा अपने शरीरको धाँपा करके सन्तुष्ट धर्मका सम्पादन करने है क्योंकि सुखदायक साधनमें सुखक हेतुभूत धर्मकी

प्राप्ति नहीं होती है ॥ ३१ ॥

नित्यं शुचिचित्तः सौम्य चर धर्मं तपोवने ।

सर्वं तु विदितं तुभ्यं त्रैलोक्यामपि तत्त्वतः ॥ ३२ ॥

‘सौम्य ! प्रतिदिन शुद्धचित्त होकर तपोवनमें धर्मका अनुष्ठान कीजिये। त्रिलोकमें जो कुछ भी है, आपको तो वह सब कुछ यथार्थरूपसे विदित ही है ॥ ३२ ॥

स्त्रीवापलादेतदुपाहतं मे

धर्मं च यत्तुं तव कः समर्थः ।

विचार्य बुद्ध्या तु सहानुजेन

यद् रोचते तत् कुरु भाचिरेण ॥ ३३ ॥

‘मैंने नाराजानिकरी स्वाभाविक चपलताके कारण ही आपको संवाम ये बान निवेदन कर दी हैं वास्तवमें आपको धर्मका उपदेश करनेमें कौन समर्थ है ? आप इस विषयमें अपन छोटे भाईके साथ बुद्धिपूर्वक विचार कर लें। फिर अगरका जो हाँक जेने, उसे ही शीघ्रतापूर्वक करें ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यक अरण्यकाण्डमें नवौ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९ ॥

दशमः सर्गः

श्रीरामका ऋषियोंकी रक्षाके लिये राक्षसोंके वधके निमित्त की हुई प्रतिज्ञाके पालनपर दृढ़ रहनेका विचार प्रकट करना

वाक्यमेतत् तु वैदेह्या व्याहृतं धर्तृभक्त्या ।

श्रुत्वा धर्मे स्थितो रामः प्रत्युवाचाथ जानकीम् ॥ १ ॥

अपने स्वामीक प्रति भक्ति रखनेवाली विदूहकुमारो सीताको कभी हुई यह बात सुनकर सदा धर्ममें स्थित रखनेवाले श्रीरामचन्द्रजीने जानकीको इस प्रकार उत्तर दिया— ॥ १ ॥

हितमुक्तं त्वया देवि स्निग्धया स्मृशं वचः ।

कुलं व्यपदिशन्त्या च धर्मज्ञे जनकात्पते ॥ २ ॥

देवि ! धर्मको जाननेवाली जनकाकशायी ! तुम्हारा मर ऊपर मोह है, इसलिए तुमने मर हितको बात कहा है। क्षत्रियोंक कुलधर्मका उपदेश करती हुई तुमने जो कुछ कहा है, वह तुम्हारे ही योग्य है ॥ २ ॥

किं नु वक्ष्याम्यहं देवि त्वयैवोक्तमिदं वचः ।

क्षत्रियैर्धर्यते आपो नानंशब्दो भवेदिति ॥ ३ ॥

देवि ! मैं तुम्हें क्या उत्तर दूँ, तुमने ही पहले यह बात कही है कि क्षत्रियलाग इमालिय धनुष भरण करते हैं कि किसीको दुखी होकर हाथकार न करना पड़े (चाँद कोई दुख या सकटमें पड़ा हो तो उसकी रक्षा की जाय) ॥ ३ ॥

ते घातं दण्डकारण्ये मुनयः संशितव्रताः ।

मां सीते स्वयमागम्य शरण्यं शरणं गताः ॥ ४ ॥

‘सीते ! दण्डकारण्यमें रहकर कठोर व्रतका पालन करनेवाले ये मुनि बहुत दुःखी हैं, इमालिये मुझे शरणगत-

वत्सल जानकर वे स्वयं मेरे पास आये और शरणगत हुए ।

वसन्तः कालकालेषु वने मूलफलाशनाः ।

न लभन्ते सुखं भीरु राक्षसैः क्रूरकर्मभिः ॥ ५ ॥

धक्ष्यन्ते राक्षसैर्धीर्मानसासोपजीविभिः ।

‘भीरु ! सदा ही वनमें रहकर फल-मूलका आहार करनेवाले वे मुनि इन क्रूरकर्मों राक्षसोंके कारण कभी सुख नहीं पाते हैं। मनुष्योंक मोससे जीवननिर्वाह करनेवाले ये ध्यानक राक्षस उन्हें मारकर खा जाते हैं ॥ ५ ॥

ते भक्ष्यमाणा मुनयो दण्डकारण्यवासिनः ॥ ६ ॥

अस्मानभ्यवपदेति मामृचुर्द्विजसत्तपाः ।

‘इन राक्षसोंके पास वने हुए ये दण्डकारण्यवासी द्विजश्रेष्ठ मुनि हमन्त्रोंका पास आकर मुझसे बोले—‘प्रणो ! हमपर अनुग्रह कीजिये’ ॥ ६ ॥

मया नु वचनं श्रुत्वा तेषामेव मुखोज्युतम् ॥ ७ ॥

कृत्वा वचनशुश्रूषां वाक्यमेतदुदाहृतम् ।

‘उनके मुखसे निकली हुई इस प्रकार रक्षाकी पुकार सुनकर और उनकी आज्ञा-पालनरूपी सेवाका विचार मनमें लेकर मैंने उनसे यह बात कही ॥ ७ ॥

प्रसीदन्तु भवन्तो मे ह्रीरेषा तु ममातुला ॥ ८ ॥

यदीदृशेहं विप्रैरुपस्थेयैरुपस्थितः ।

किं करोमीति च भया व्याहृतं द्विजसंनिधौ ॥ ९ ॥

‘महर्षियो ! आप-जैसे ब्राह्मणोंकी सेवामें मुझे स्वयं ही उपस्थित होना चाहिये था, परन्तु आप स्वयं ही अपनी रक्षाके लिये मेरे पास आय, यह मेरे लिये अनुपम लज्जाकी बात है, अतः आप प्रमत्त हों ! बताइये, मैं आपलोगोंकी क्या सेवा करूँ ?’ यह बात मैंने इन ब्राह्मणोंके सामने कही ॥ ८-९ ॥

सर्वेष्वसमागम्य वाग्विधं समुदाहृता ।
राक्षसैर्दण्डकारण्ये बहुभिः कामरूपिभिः ॥ १० ॥
अर्दिताः स्म भृशं राम भवान् नस्तत्र रक्षतु ।

‘तब इन सभीने मिलकर अपना मनोभाव इन बचनोंमें प्रकट किया—‘श्रीराम ! दण्डकारण्यमें इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले बहुत-से राक्षस रहते हैं। उनमें हमें बड़ा कष्ट पहुँच रहा है, अतः वहाँ इनके भयमें आप हमारा रक्षा करें ॥ १० ॥

होमकाले तु सभास्रे पर्वकालेषु आनघ ॥ ११ ॥
धर्ययन्ति सुदुर्धरा राक्षसाः पिशाचाश्चानाः ।

‘निष्पाप रघुनन्दन ! आंग्रहोत्रका समय आनेपर तथा पर्वके अवसरोंपर ये अन्यन्त दुर्धर मांसधोजी राक्षस हमें धर दवाना हैं ॥ ११ ॥

राक्षसैर्धर्वितानी च तपमानां तपस्विनाम् ॥ १२ ॥
गतिं धृग्यघाणानां भवान् नः परमा गतिः ।

‘राक्षसोंद्वारा आक्रान्त होनवाले हम तपस्वी तपस सदा आपने लिये कोई अस्रय ढूँढ़ते रहते हैं, अतः आप ही हमारे परम आश्रय हों ॥ १२ ॥

कामं तपःप्रभावेण शक्ता हन्तुं निशाचरान् ॥ १३ ॥
चिरार्जितं न चेच्छामस्तपः स्पृहयितुं क्षमम् ।
बहुविधं तपो नित्यं दुक्षरं चैव राघव ॥ १४ ॥

‘रघुनन्दन ! यद्यपि हम तपस्याके प्रभावसे इच्छानुसार इन राक्षसोंका वध करनेमें समर्थ हैं तथापि चिरकालमें उपार्जित किये हुए तपकी रक्षाकर करन नहीं चाहते हैं, क्योंकि तपमें मदा ही बहन-में विघ्न आने रहते हैं तथा हमका सम्पूर्ण बहूत भो काठिन होना है ॥ १३-१४ ॥

तेन शप्यं न भृशामो धक्ष्यमाणारक्ष राक्षसैः ।
नदधमानान् राक्षोभिर्दण्डकारण्यत्वामिभिः ॥ १५ ॥
रक्ष नस्त्वे सह भ्रात्रा स्वप्राथा हि वरं वने ।

‘यही कारण है कि राक्षसोंके घाम खन जानेपर भी हम उन्हें शप्य नहीं देते हैं, इमान्विते दण्डकारण्यत्वामी निशाचरसम गौहिन हुए हम तपस्वीकी भङ्गवर्जित आर रक्ष कर स्थिति इस खनमें अब आप ही हमारे रक्षक हैं ॥ १५ ॥

मया श्रीमहाश्वश्रुत्वा काम्नयेन परिपालनम् ॥ १६ ॥

श्रुतीणां दण्डकारण्ये संश्रुतं जनकात्मजे ।

‘जनकनन्दिनि ! दण्डकारण्यमें ऋषियोंकी यह बात सुनकर मैंने पूर्णरूपसे उनकी रक्षा करनेकी प्रतिज्ञा की है ॥ १६ ॥

संश्रुत्य च न शक्यामि जीवमानः प्रतिश्रवम् ॥ १७ ॥
पुनीनामन्यथा कर्तुं सत्यमिष्टं हि मे सदा ।

‘मुनिपाक सामने यह प्रतिज्ञा करके अब मैं जीते-जी इस घातका मिथ्या नग कर भर्कूँगा, क्योंकि मैंने अपनी पालन मुझे सदा ही प्रिय है ॥ १७ ॥

अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा मीते सलक्ष्मणाम् ॥ १८ ॥
न तु प्रतिज्ञा संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः ।

मीते ! मैं अपने प्रण छोड़ सकता हूँ, तुम्हारा और लक्ष्मणका भी परिस्वाग कर सकता हूँ, किन्तु अपनी प्रतिज्ञाकी विशेषतः ब्राह्मणोंके लिये की गयी प्रतिज्ञाकी मैं कदापि नहीं तोड़ सकता ॥ १८ ॥

नदधयं मया कार्यमृषीणां परिपालनम् ॥ १९ ॥
अनुक्तेनापि खेदहि प्रतिज्ञाय कथं पुनः ।

इमान्विते ऋषियोंकी रक्षा करना मेरे लिये आवश्यक कर्तव्य है। विदेहनन्दिनि ! ऋषियोंके बिना कहे ही उनकी मुझे रक्षा करना चाहिये थी फिर जब उन्होंने स्वयं कहा और मैंने प्रतिज्ञा भी कर ली, तब अब उनकी रक्षामें कैसे मुँह मोड़ सकता हूँ ॥ १९ ॥

मम स्नेहस्य सौहार्दोद्विमुक्तं त्वया वचः ॥ २० ॥
परितुष्टोऽस्यहं मीते न ह्यनिष्टोऽनुज्ञास्यते ।

मीते ! तुमने स्नेह और सौहार्दवश जो मुझसे ये बातें कही हैं इसमें मैं बहुत मंत्रुष्ट हूँ, क्योंकि जो अपना प्रिय न हो, उसे कोई हितकर उपदेश नहीं देता ॥ २० ॥

सदृशं चानुरूपं च कुलस्य तव शोभने ।
सधर्मचारिणी मे त्वं प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ॥ २१ ॥

शोभने ! तुम्हारा यह कथन तुम्हारे योग्य तो है ही, तुम्हारे कुलके भी सर्वथा अनुरूप है। तुम मेरी सहधर्मिणी हो और मुझे प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय हो ॥ २१ ॥

इत्येवमुक्त्वा वचनं महात्मा
सीतो प्रियां मथिलराजपुत्रीम् ।

रम्यो धनुष्यान् सह लक्ष्मणेन
जगाम रम्याणि तपोवनानि ॥ २२ ॥

महात्मा श्रीगुमचन्द्रजी अपनी प्रिया मिथिलेशकुमारी सीतासे गंगा वनमें केरकर हाथमें धनुष ले लक्ष्मणके साथ रमणीय तपोवनमें विचरण करने लगे ॥ २२ ॥

इत्यारं श्रीमहायापणे साम्प्रोर्काये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे दशमः सर्गः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिजीने आगराधाराण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें दसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १० ॥



एकादशः सर्गः

पञ्चाप्सर तीर्थ एवं माण्डकर्णि मुनिकी कथा, विभिन्न आश्रमोंमें घूमकर श्रीराम आदिका सुतीक्ष्णके आश्रममें आना, वहाँ कुछ कालतक रहकर उनकी आज्ञासे अगस्त्यके भाई तथा अगस्त्यके आश्रमपर जाना तथा अगस्त्यके प्रभावका वर्णन

अप्रतः प्रययौ रामः सीता मध्ये सुशोभना ।

पृष्ठतस्तु धनुष्याणिर्लक्ष्मणोऽनुवगाम ॥ १ ॥

तदनन्तर आगे आगे श्रीराम चल, बीचमें परम सुन्दरी सीता चल रही थी और उनके पीछे हाथमें धनुष लिये लक्ष्मण चलने लगे ॥ १ ॥

तौ पश्यमानौ विविधाऽर्जलप्रस्थान् वनानि च ।

नदीश्च विविधा रम्या जगन्तुः सह सीतया ॥ २ ॥

सीताक साथ वे दोनों भाई धाति-धातिके पर्वतीय शिखरों, वनों तथा नाना प्रकारकी रमणीय नदियोंको देखन हुए अभसर होने लगे ॥ २ ॥

सारसांश्चक्रवाकंश्च नदीपुलिनचारिणः ।

सरोसि च सपद्यानि युतानि जलजैः स्वगैः ॥ ३ ॥

उन्होंने देखा, कहीं नदियोंके तटोंपर सारस और चक्रवाक विचर रह हैं और कहीं खिले हुए कमलों और जलघर पक्षियोंसे युक्त सरोवर शोभा पाते हैं ॥ ३ ॥

यूशब्दभाश्च पुपतान् मदोन्मनान् विधाणिनः ।

महिषांश्च वराहांश्च गजांश्च हुमवर्णिनः ॥ ४ ॥

कहीं चितकवरे युग युग बांधे मले जा रहे थे, कहीं बड़े बड़े सींगवाले महामन भैंस तथा बड़े हुए दाँतवाने जंगली सुअर और यूशब्दोंके वीरी दन्तार हाथी दिखायो देते थे ॥ ४ ॥

ते गत्वा दूरमध्वानं लम्बमाने दिवाकरे ।

धनुशुः संहिता रम्यं तटाकं धोजनायुतम् ॥ ५ ॥

दूरतक यात्रा ते करनेके बाद जब सूर्य अस्तावन्तकी जाने लगे, तब उन तीनोंने एक साथ देखा—सामने एक बड़ा ही सुन्दर तालाब है, जिसकी सम्बाई चौड़ाई एक एक यात्रनको जान पड़ती है ॥ ५ ॥

पद्मपुष्करसम्बाधं गजयूथैरलंकृतम् ।

सारसैर्गंसकादप्यैः संकुलं जलजातिभिः ॥ ६ ॥

यह सरोवर लाल और श्वेत कमलोंसे भरा हुआ था। उसमें कौड़ा करते हुए झुड-के-झुड हाथी उमकी जोधा बहाते थे तथा सारस, गजहंस और कलहंस आदि पक्षियों एवं जलमें उत्पन्न होनेवाले मत्स्य आदि जन्तुओंसे वह व्याप्त दिखायी देता था ॥ ६ ॥

प्रसन्नसलिले रम्ये तस्मिन् सरसि शुश्रुवे ।

गीतवादित्रनिर्घोषो न तु कश्चन दृश्यते ॥ ७ ॥

स्वच्छ जलसे भरे हुए उस रमणीय सरोवरमें गाने-बजानेका शब्द सुनायी देता था, किन्तु कोई दिखायो नहीं दे रहा था ॥ ७ ॥

ततः कौतूहलाद् रामो लक्ष्मणश्च महारथः ।

मुनि धर्मभृतं नाम प्रष्टुं समुपवक्रमे ॥ ८ ॥

तब श्रीराम और महारथी लक्ष्मणने कौतूहलवश अपने साथ आये हुए धर्मभृत् नामक मुनिसं पूछना आरम्भ किया— ॥ ८ ॥

इदमत्यद्भुतं श्रुत्वा सर्वेषां नो महामुने ।

कौतूहलं महज्जानं किमिदं साधु कथ्यताम् ॥ ९ ॥

‘महामुने ! यह अत्यन्त अद्भुत संगीतकी ध्वनि सुनकर हम सब लोगोंको बड़ा कौतूहल हो रहा है। यह क्या है इसे अच्छी तरह बताइये’ ॥ ९ ॥

तेनैवमुक्तो धर्मात्मा राघवेण मुनिस्तदा ।

प्रभावं सरसः क्षिप्रमाख्यातुमुपवक्रमे ॥ १० ॥

श्रीरामचन्द्रजीके इस प्रकार पूछनेपर धर्मात्मा धर्मभृत् नामक मुनिने तुरन्त ही उस सरोवरके प्रभावका वर्णन आरम्भ किया— ॥ १० ॥

इदं पञ्चाप्सरो नाम तटाकं सार्वकालिकम् ।

निर्मितं तपसा राम मुनिना माण्डकर्णिना ॥ ११ ॥

‘श्रीराम ! यह पञ्चाप्सर नामक सरोवर है, जो सर्वदा अरुण जलसे भरा रहता है। माण्डकर्णि नामक मुनि अपने तपके द्वारा इसका निर्माण किया था ॥ ११ ॥

स हि तेपे तपस्तीव्रं माण्डकर्णिर्महामुनिः ।

दशवर्षसहस्राणि वायुमक्षो जलाशये ॥ १२ ॥

‘महामुनि माण्डकर्णिने एक जलाशयमें रहकर केवल वायुका आहार करत हुए दस सहस्र वर्षोंतक ताप तपस्या की थी ॥ १२ ॥

ततः प्रव्यधिताः सर्वे देवाः साग्निपुरोगमाः ।

अब्रुवन् वचनं सर्वं परस्परसमागताः ॥ १३ ॥

‘उस समय अग्नि आदि सब देवता उनके तपसे अत्यन्त व्यथित हो उठे और आपसमें मिलकर वे सब के-सब इस प्रकार कहने लगे ॥ १३ ॥

अस्माकं कस्यचित् स्थानमेव प्रार्थयते मुनिः ।

इति संविप्रमनसः सर्वे तत्र दिवीकसः ॥ १४ ॥

‘ज्ञान पहूता है, ये मुनि हमलोगोंमेंसे किसीके स्थानको लेना चाहते हैं, ऐसा सोचकर वे सब देवता वहाँ मन-ही-मन अद्विज हो उठे ॥ १४ ॥

ततः कर्तुं तपोविघ्नं सर्वदेवैर्नियोजिताः ।

प्रधानाप्सरसः पञ्च विद्युसलितवर्चसः ॥ १५ ॥

‘तब उनकी तपस्यामें विघ्न डालनेके लिये सम्पूर्ण

देवताओंने पाँच प्रधान अप्सराओंको नियुक्त किया, जिनको अङ्गकान्ति विश्वनुके समान चञ्चल थी ॥ १५ ॥

अप्सररोभिस्तनस्ताभिर्मुनिर्दृष्टपराधरः ।

नीलो मदनवदयत्वं देवानां कार्यसिद्धये ॥ १६ ॥

तदनन्तर जिनहाने लौकिक एवं पारलौकिक क्षमांघमकर ज्ञान प्राप्त कर लिया था, उन मुनिकों उन पाँच अप्सराओंन देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये कामक अर्घ्योन कर दिया ॥

तार्क्ष्यवाप्सरसः पञ्च मुनेः पर्यात्वयागताः ।

तटाके निर्मिते नामां तम्मित्रन्तर्हिने गृहम् ॥ १७ ॥

'मुनिकों पत्नी बनो हुईं वे ही पाँच अप्सराएँ यहाँ रहती हैं। उनके रहनेक लिये इस तालाबक भीतर घर बना हुआ है, जो जलक अंदर छिपा हुआ है ॥ १७ ॥

नर्त्रवाप्सरसः पञ्च निवसन्त्यो यथासुखम् ।

रमयन्ति तपोयोगाम्पुनि यौवनमास्थितम् ॥ १८ ॥

उसी घण्टे मुख्यपूर्वक रहती हुई पाँच अप्सराएँ तपस्यक प्रभावसे यौवनवर्धका प्राण हुए मुनिकों अपना मकआम मनुष्ट करती हैं ॥ १८ ॥

तस्मां सक्तीदृमवानामेष वादित्रनिःस्वनः ।

श्रूयते भूवणोन्मिश्रो गीतशब्दो घनोहरः ॥ १९ ॥

'क्रोड़ा विहारमें लगी हुई उन अप्सराओंके ही वाद्योंकी यह ध्वनि नूनायी दती है जो भूवणाका झनकारक साथ मिली हुई है। साथ ही उनके गीतका भी घनोहर जगद मुन पड़ता है ॥ १९ ॥

आश्चर्यमिति तर्प्यतद् वचनं भावित्वात्मनः ।

राघवः प्रतिजग्राह सह भ्रात्रा महायशाः ॥ २० ॥

अपने पाँचक साथ मन्त्रायणम्बी श्रीरघुनाथजीने उन भावित्वात्मा महर्षिके इस कथनकर 'यह तो सड़े आश्चर्यक बात है' वो कहकर स्वीकार किया ॥ २० ॥

एवं कथयमानः स दृढश्रममण्डलम् ।

कुशाचीगपगिक्षिप्रे ब्राह्मया लक्ष्म्या समावृतम् ॥ २१ ॥

इस प्रकार कहते हुए श्रीरामचन्द्रजीका एक आश्रम-मण्डल दिखायी दिया, जहाँ सब ओर कुशा और चन्कल वन फैले हुए थे। वह आश्रम काही लक्ष्मी (ब्रह्मदेज) से प्रकाशन होता था ॥ २१ ॥

प्रविश्य सह वैदेह्या लक्ष्मणेन च राघवः ।

तदा तस्मिन् स काकुत्स्थः श्रोमत्याश्रममण्डले ॥ २२ ॥

उषित्वा स सुखं तत्र पूज्यमानो महर्षिभिः ।

विदेहजन्दिनीं यौता तथा लक्ष्मणक साथ ठम नेत्रम्बी आश्रममण्डलमें प्रवेश करके ककुत्स्थकुलधुण्य श्रीरामने ठम समय मुख्यपूर्वक निवास किया। वहाँके महर्षियोंन रनका वहाँ आदर-सत्कार किया ॥ २२ ॥

जगाम चाश्रमार्तिनेषां पचांयेण तपस्विनाम् ॥ २३ ॥

येषामुषितत्वात् पूर्वं मकाशं स महाश्वित् ।

तदनन्तर महान् अस्वाके ज्ञाता श्रीरामचन्द्रजी सारे-वर्गसे उन सभी तपस्वी मुनियोंक आश्रमपर गये, जिनक यहाँ वे पहले रह चुके थे। उनके पास भी (उनकी भाँति देख) दुआरा जाकर रहे ॥ २३ ॥

कचिन् परिदृष्टान् मासानेकसंवत्सरं कचिन् ॥ २४ ॥

कचिच्च चतुरो मासान् पञ्च षट् च परान् कचिन् ।

अपग्राधिकान् मासानध्यर्धमधिकं कचिन् ॥ २५ ॥

त्रीन् मासानष्टमासांश्च राघवो न्यवसन् सुखम् ।

कहाँ दस महाने, कहीं साल भर, कहीं चार महाने, कहीं पाँच या छः महाने, कहीं इससे भी अधिक समय (अर्थात् मन महान), कहीं उमसे भी अधिक (आठ महाने), कहीं आधे मास अधिक अर्थात् साढ़े आठ महाने, कहीं तीन महाने और कहीं आठ और तीन अर्थात् ग्यारह महानेनक श्रीरामचन्द्रजीने मुख्यपूर्वक निवास किया ॥ २४-२५ ॥

तत्र संवत्सतस्तस्य पुनीनामाश्रमेषु वै ॥ २६ ॥

रमतश्चानुकल्पेन ययुः संवत्सरा दश ।

इस प्रकार मुनियोंके आश्रमोंपर रहते और अनुकूलता पाकर आनन्दका अनुभव करते हुए उनके दस वर्ष बीत गये ॥ २६ ॥

परिमुत्थ च धर्मज्ञो राघवः सह सीतया ॥ २७ ॥

सुतीक्ष्णस्याश्रमपदं पुनरेवाजगाम ह ।

इस प्रकार सब ओर घूम-फिरकर धर्मके ज्ञाता भगवान् श्रीराम सीतके साथ फिर सुतीक्ष्णक आश्रमपर हो-कौट आय स तथाश्रममागम्य धुविभिः परिपूजितः ॥ २८ ॥ तत्रापि न्यवसद् रामः किञ्चित् कालमरिवमः ।

जगुओंका दमन करनेवाले श्रीराम उस आश्रममें आकर वहाँ रहनेवाले मुनियोंद्वारा धर्मार्थीन मन्त्रानि हो वहाँ भी कुछ कालनक रहे ॥ २८ ॥

अथाश्रमस्थोविनधात् कदाचित् न महामुनिम् ॥ २९ ॥

उपामीनः स काकुत्स्थः सुतीक्ष्णमिदमब्रवीत् ।

उस आश्रममें रहते हुए श्रीरामने एक दिन महामुनि सुतीक्ष्णक पास बैठकर विनयभावसे कहा - ॥ २९ ॥

अस्मिन्नरण्ये भगवन्नगस्यो मुनिसत्तमः ॥ ३० ॥

व्यतीति पया नित्यं कथाः कथयती श्रुतम् ।

न तु जानामि तं देशं वनस्यास्य महतया ॥ ३१ ॥

भगवन्! मैंने प्रतिदिन बातचीत करनेवाले लोगोके मुँहसे सुना है कि इस वनमें कहीं मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यजी निवास करन हैं; किन्तु इस वनकी विशालताके कारण मैं उस स्थानको नहीं जानता हूँ ॥ ३०-३१ ॥

कुत्राश्रमपदं रम्यं महर्षेस्तस्य धीमतः ।

प्रमादार्थं भगवतः सानुजः सह सीतया ॥ ३२ ॥

अगस्त्यमधिगच्छेयमधिवादयितुं मुनिम् ।

यनोऽथो महानेव हृदि सम्परिवर्तते ॥ ३३ ॥

‘उन बुद्धिमान् महर्षिस्तुन्दर आश्रम कहाँ है ? मैं लक्ष्मण और सीताके साथ भगवान् अगस्त्यके असन्न करनेके लिये उन मुनीश्वरकी प्रणाम करनेके उद्देश्यसे उनके आश्रमपर जाऊँ—यह महान् मनोरथ मेरे हृदयमें चक्कर लगा रहा है ॥ ३२-३३ ॥

यदहं तं मुनिवरं शुश्रूषेयमपि स्वयम् ।
इति रामस्य स मुनिः श्रुत्वा धर्मात्मनो वचः ॥ ३४ ॥
सुतीक्ष्णः प्रत्युवाचेदं प्रीतो दशरथात्मजम् ।

‘मैं चाहता हूँ कि स्वयं भी मुनिवर अगस्त्यकी सेवा करूँ । धर्मात्मा आश्रमका यह वचन सुनकर सुतीक्ष्ण मुनि वंदे प्रसन्न हुए और उन दशरथनन्दनसे इस प्रकार बोले— ॥ ३४ ॥

आहमप्येतदेव त्वां वक्तुकामः सलक्ष्मणम् ॥ ३५ ॥
अगस्त्यमभिगच्छेति सीतया सह राघव ।
दिष्ट्या त्विदानीमर्थेऽस्मिन् स्वयमेव ब्रवीषि भाम् ॥ ३६ ॥

‘रघुनन्दन ! मैं भी लक्ष्मणसहित आपसे यही कहना चाहता था कि आप सीताके साथ महर्षि अगस्त्यके पास जायें । सीताका भी जान है कि हम समय आप स्वयं ही मुझसे वहीं जानेके विषयमें पूछ रहे हैं ॥ ३५-३६ ॥

अधमाख्यामि ते राम भ्रातृगस्त्यो महामुनिः ।
योजनान्याध्रमात् तात याहि चत्वारि वै ततः ।
दक्षिणेन महाश्रीमानगस्त्य भ्रातृगम्यः ॥ ३७ ॥

‘श्रीराम ! महामुनि अगस्त्य जहाँ रहते हैं उस आश्रमका पता मैं अभी आपको बताय देता हूँ । तात ! इस आश्रमसे धार योजन दक्षिण चले जाइयें । वहाँ आपको अगस्त्यके भाईका बहुत बड़ा एवं सुन्दर आश्रम मिलेगा ॥ ३७ ॥

स्थलीप्रायवनोद्देशे पिप्पलीवनशोभिते ।
बहुपुष्पफलैरम्ये नानाविहगनादिते ॥ ३८ ॥
परिधन्यो विविधास्तत्र प्रसन्नसलिलाशयाः ।
हंसकारण्डवाकीर्णाक्षकवाकोपशोभिताः ॥ ३९ ॥

‘वहाँके वनकी भूमि प्रायः समतल है तथा पिप्पलीका मन उस आश्रमकी शोभा बढ़ाता है । वहाँ फूलों और पक्षीयोंकी बहुतायत है । नाना प्रकारके पक्षियोंकी कलरकीने गूँजते हुए उस रमणीय आश्रमके पास भाँति-भाँतिक कमलमणिपेक्षित सरोवर हैं, जो स्वच्छ जलमें घरे हुए हैं । हंस और कारण्डव आदि पक्षी उनमें सब ओर फैले हुए हैं तथा चक्रवाक उनको शोभा बढ़ाते हैं ॥ ३८-३९ ॥

तत्रैका रजनीं प्लुष्य भ्रमाते राम गम्यताम् ।
दक्षिणां दिशमास्थाय खनखण्डस्य पार्श्वतः ॥ ४० ॥
तत्रागस्त्याश्रमपदं गत्वा योजनमनन्तरम् ।

रमणीये वनोद्देशे बहुपादपशोभिते ॥ ४१ ॥

श्रीराम ! आप एक रात उस आश्रममें ठहरकर प्रातःकाल उस वनखण्डक किनारे दक्षिण दिशाकी ओर जायें । इस प्रकार एक योजन आगे जानेपर अनेकानेक वृक्षोंमें सुशोभित वनके

रमणीय भागमें अगस्त्य मुनिके आश्रम मिलेगा ॥ ४०-४१ ॥
रस्यते तत्र वंदेहो लक्ष्मणश्च त्वया सह ।

स हि रम्यो वनोद्देशो बहुपादपसंयुतः ॥ ४२ ॥
‘वहाँ विदहनन्दिनी सीता और लक्ष्मण आपके साथ मानन्द विचरण करेंगे क्योंकि बहुसंख्यक वृक्षोंसे सुशोभित यह वनप्रान्त बड़ा ही रमणीय है ॥ ४२ ॥

यदि बुद्धिः कृता ब्रह्मगस्त्यं तं महामुनिम् ।
अद्यैव गमने बुद्धिं रोचयस्व महामते ॥ ४३ ॥

‘महामते ! यदि आपने महामुनि अगस्त्यके दर्शनका निश्चित विचार कर लिया है तो आज ही वहाँको यात्रा करनेका भी निश्चय करें ॥ ४३ ॥

इति रामो मुनेः श्रुत्वा सह भ्रात्राभिवाद्य च ।
प्रतस्थेऽगस्त्यमुद्दिश्य सानुगः सह सीतया ॥ ४४ ॥

मुनिके यह वचन सुनकर भाईसहित श्रोतमचन्द्रजीन उनके प्रणाम किया और सीता तथा लक्ष्मणके साथ अगस्त्यजीके आश्रमकी ओर चल दिये ॥ ४४ ॥

पश्यन् वनानि चित्राणि पर्वतांश्चाश्रसन्निभान् ।
सरोसि सरितश्चैव पथि भार्गवशानुगान् ॥ ४५ ॥

प्रागंमं नितं हुए विचित्र विचित्र वनों, मेघमालाके समान पर्वतमालाओं सरोवरों और सरिताओंको देखते हुए वे आगे बढ़ते गये ॥ ४५ ॥

सुतीक्ष्णेनोपदिष्टेन गत्वा तेन पथा सुखम् ।
इदं परमसहृष्टो वाक्यं लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ ४६ ॥

इस प्रकार सुतीक्ष्णके बतये हुए मार्गसे सुखपूर्वक चलते-चलते श्रीरामचन्द्रजीने अत्यन्त हर्षमें भ्रमर लक्ष्मणसे यह बात कही— ॥ ४६ ॥

एतदवाश्रमपदं नूनं तस्य महात्मनः ।
अगस्त्यस्य मुनेर्भ्रातृदृश्यते पुण्यकर्मणः ॥ ४७ ॥

‘सुमित्रानन्दन ! निश्चय ही यह पुण्यकर्मका अनुष्ठान करनेवाला महात्मा अगस्त्यमुनिके भाईका आश्रम दिखायी दे रहा है ॥ ४७ ॥

यथा हीमे वनस्यास्य जनाः पथि सहस्रशः ।
संनताः फलधारेण पुष्पधारेण च द्रुमाः ॥ ४८ ॥

‘क्योंकि सुतीक्ष्णजीने जैसा बतलाया था, उसके अनुसार इस वनके मार्गमें फूलों और फलोंके भारसे झुके हुए सहस्रों परिचित वृक्ष शोभा पा रहे हैं ॥ ४८ ॥

पिप्पलीनां च पञ्चानां वनादस्मादुपागतः ।
गन्धोऽयं पवनोन्निक्षिप्तः सहसा कटुकोदयः ॥ ४९ ॥

‘इस वनमें पवन हुई पीपलियोंकी यह गन्ध वायुसे प्रेरित होकर सहसा इधर आयी है, जिससे कटु रसका उदय हो रहा है ॥ ४९ ॥

तत्र तत्र च दृश्यन्ते संक्षिप्ताः काष्ठसंचयाः ।
लूनाश्च परिदृश्यन्ते दर्भा वृद्धयवर्चसः ॥ ५० ॥

जहाँ-तहाँ लकड़ियोंके ढेर लगे दिखायी देने हैं और वैदूर्यमणिके समान रंगवाले कुश कटे हुए दृष्टिगोचर होते हैं ॥ ५० ॥

एनद्य वनमध्यस्थे कृष्णाभ्रशिखरोपमम् ।

पावकस्याश्रमस्थस्य घूमाग्रं सम्पद्दृश्यते ॥ ५१ ॥

यह देखो, जंगलके बीचमें आश्रमकी अग्रिका घुआ उठती दिखायी दे रहा है जिसका अग्रभाग काले मेघोंके ऊपरी भाग-सा प्रतीत होता है ॥ ५१ ॥

विविक्तेषु च तीर्थेषु कृतश्राना द्विजातयः ।

पुष्पोपहारं कुर्वन्ति कुसुमैः स्वयमर्जितैः ॥ ५२ ॥

यहाँकि एकाग्र एवं पाँवत्र तीर्थोंमें श्रान करके आये हुए ब्राह्मण स्वयं चुनकर लाये हुए फूलोंसे देवताओंके लिये पुष्पोपहार अर्पित करते हैं ॥ ५२ ॥

ततः सुतीक्ष्णवचने यथा सांख्य मया श्रुतम् ।

अगस्त्यस्याश्रमो भ्रातुर्नृनभेष धविष्यति ॥ ५३ ॥

‘सौख्य ! मैंने सुतीक्ष्णजीकी कथन किया सुना था उसके अनुसार यह निश्चय ही अगस्त्यजीके भाईका आश्रम होगा ॥ ५३ ॥

निगूह्य तरसा मृत्युं लोकानो हितकाम्यथा ।

यस्य भ्रात्रा कृतेयं दिक्शरण्या पुण्यकर्मणा ॥ ५४ ॥

‘इ-हाँके भाई पुण्यकर्मों अगस्त्यजीने समस्त लोकोंके हितकी कामनामें मृ-मृत्यु-म-मरणपर आ-इत्यादिक वगैरोंके दमन करके इस दिक्शरण्या प्राण स्नानके योग्य बना दिया ॥ ५४ ॥

इहैकदा किल कूरो वानापिरपि खल्वलः ।

भ्रातरी सहितावास्तां ब्राह्मणानां महामुरी ॥ ५५ ॥

‘एक समयकी बात है, यहाँ कूरो स्वभाववाला वानापि और इत्थल—ये दोनों भाई एक साथ रहते थे । ये दोनों महान् असुर ब्राह्मणोंको हत्या करनेवाले थे ॥ ५५ ॥

धारयन् ब्राह्मणीं रूपमिल्वलः संस्कृते वदन् ।

आमन्त्रयति विप्रान् य आदुमुदिश्य निर्घृणा ॥ ५६ ॥

भ्रातरं संस्कृता कृत्वा ततस्तं मेघरूपिणम् ।

मान् द्विजान् भोजयामास आदुदृष्टेन कर्मणा ॥ ५७ ॥

‘निर्घृणो इत्थल ब्राह्मणका रूप धारण करके संस्कृत शैलीका हुआ जाना और आदुके लिये ब्राह्मणोंको आमन्त्रण दे आता था । फिर मेघ (जो ब्राह्मण) का रूप धारण करनेवाले अपने भाई वानापिका संस्कार करके आदुके लिये निघिसे ब्राह्मणोंको मित्रत्व देता था ॥ ५६-५७ ॥

ततो भुक्तवता तेषां विप्राणामिल्वलोऽब्रवीत् ।

व्रतापे निष्कमस्वति स्वरेण महता वदन् ॥ ५८ ॥

‘वे ब्राह्मण अब भोजन कर लेंते, तब इत्थल उक्त स्वरसे बोलता—‘व्रतापे ! निकलो’ ॥ ५८ ॥

ततो भ्रातुर्वचः श्रुत्वा वानापिर्येववदन् ।

भिस्त्वा गित्वा शरीराणि ब्राह्मणानां विनिष्यत ॥ ५९ ॥

‘भाईकी बात सुनकर वानापि भेड़ोंके समान ‘मै-मै’ करता हुआ उन ब्राह्मणोंके पेट फाड़-फाड़कर निकल आता था ॥

ब्राह्मणानां सहस्राणि तैरेव कामरूपिभिः ।

विनाशितानि संहृत्य नित्यशः पिशिताशनैः ॥ ६० ॥

‘इस प्रकार इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले उन मांसभक्षी असुरोंने प्रतिदिन मिलाकर सहस्रों ब्राह्मणोंका विनाश कर डाला ॥ ६० ॥

अगस्त्येन तदा देवैः प्रार्थितेन महर्षिणा ।

अनुभूय किल ब्राह्मे भक्षितः स महासुरः ॥ ६१ ॥

उस समय देवताओंकी प्रार्थनासे महर्षि अगस्त्यने आदुमें शाकरूपधारी उस महान् असुरको जान-बूझकर भक्षण किया ॥ ६१ ॥

ततः सम्प्रभित्युक्त्वा दत्त्वा हस्तेऽवनेजनम् ।

भ्रातरं निष्कमस्वति खल्वलः समभायत ॥ ६२ ॥

‘मदननर आदुके सम्प्र हो गया । ऐसा कहकर ब्राह्मणोंके हाथमें अवनेजनका जल दे इत्थलने भाईको सम्बोधित करके कहा, ‘निकलो’ ॥ ६२ ॥

स तदा भाषमाणो तु भ्रातरं विप्रघातिनम् ।

अब्रवीत् प्रहमन् धीमानगस्त्यो मुनिमश्रमः ॥ ६३ ॥

‘इस प्रकार भाईको पुकारते हुए उस ब्राह्मणवाले असुरने बुद्धिमान् मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यने तैसकर कहा— ॥ ६३ ॥

कृतो निष्कपिन् शक्तिर्मया औणस्य रक्षसः ।

भ्रातुस्तु मेघरूपस्य गतस्य यमसादनम् ॥ ६४ ॥

‘जिस औन्नशाकरूपधारी मैंने भाई राक्षसको मैंने खाकर पचा लिया वह तो यमलोकमें जा पहुँचा है अब उसमें निकलनेकी शक्ति कहाँ है’ ॥ ६४ ॥

अथ तस्य वचः श्रुत्वा भ्रातुर्निधनसंश्रितम् ।

प्रधर्ययिनुमारेधे मुनि क्रोधात्रिशाचरः ॥ ६५ ॥

भाईकी मृत्युकी सूचित करनेवाले मुनिक इस वचनका सुनकर उस विप्रचमन क्रोधपूर्वक उन्हें भार डालनेका उद्योग आरम्भ किया ॥ ६५ ॥

सोऽभ्यद्रवद् द्विजेन्द्रं तं मुनिना दीप्तनेजसा ।

चक्षुषानलकल्पेन निर्दग्धो निधनं गतः ॥ ६६ ॥

‘उसने ज्यो ही द्विजराज अगस्त्यपर धावा किया, त्यों ही ठटोते तेजवाले उन मुनिने अपनी अग्निमुख्य दृष्टिसे उस राक्षसकी दग्ध कर डाला । इस प्रकार उसको मृत्यु हो गयी ।

तस्यायमाश्रमो भ्रातुस्तदाकवनशोभितः ।

विप्रानुकम्पया येन कर्मदे दुष्करं कृतम् ॥ ६७ ॥

‘ब्राह्मणोंपर कृपा करके जिन्होंने यह दुष्कर कर्म किया था, उन्हें महर्षि अगस्त्यके भाईका यह आश्रम है, जो सरोवर और वनसे सुशोभित हो रहा है ॥ ६७ ॥

एवं कथयमानस्य तस्य सौमित्रिणा सह ।

रामस्यास्ते गतः सूर्यः संध्याकालोऽप्यवर्तत ॥ ६८ ॥

श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणके साथ इस प्रकार बातचीत कर रहे थे। इतनेमें श्री सूर्यदेव अस्त हो गये और संध्याका समय हो गया ॥ ६८ ॥

उपास्य पश्चिमां संध्यां सह भ्रात्रा यथाविधि ।

प्रविवेशाश्रमपदं तमृषिं चाभ्यवादयत् ॥ ६९ ॥

तब भाईके साथ विधिपूर्वक साथ संध्यापासना करके श्रीरामने आश्रममें प्रवेश किया और उन महर्षिके चरणोंमें मस्तक झुकाया ॥ ६९ ॥

सम्यक्प्रतिगृहीतस्तु मुनिना तेन राघवः ।

म्यत्ररत्नं तौ निशामेकां प्राश्य मूलफलानि च ॥ ७० ॥

मुनिने उनका यथावत् आदर-सत्कार किया। संता और लक्ष्मणराष्ट्रित श्रीराम वहीं फल मूल खाकर एक रात उस आश्रममें रहे ॥ ७० ॥

तस्यां रात्र्यां व्यतीतायामुदिते रविषण्डले ।

भ्रातरं तपगस्त्यस्य आपन्नयन राघवः ॥ ७१ ॥

वह रात बीतनेपर जब सूर्योदय हुआ, तब श्रीरामचन्द्र जीने अगस्त्यके भाईसे दिया मांगते हुए कहा— ॥ ७१ ॥

अभिकादये त्वां भगवन् सुखमस्युषिनो निशाम् ।

अपन्नये त्वां गच्छामि गुहं ते ह्युमप्रजम् ॥ ७२ ॥

'भगवन्! मैं आपके चरणोंमें प्रणाम करता हूँ। यहाँ रातभर बड़े सुखसे रहा हूँ, अब आपको बड़े भाई मुनिवर अगस्त्यका दर्शन करवाने लिये आऊंगा। इसके लिये आपसे आज्ञा चाहता हूँ' ॥ ७२ ॥

गम्यतामिति तेनोक्तो जगाम रघुनन्दनः ।

यथोद्दिष्टेन मार्गेण वनं तद्यावलोकयन् ॥ ७३ ॥

तब महर्षिने कहा, 'बहुत अच्छा, जाइये।' इस प्रकार मार्गसे आज्ञा पाकर भगवान् श्रीराम सुनीक्षणक बताया हुए मार्गसे वनकी ओर देखते हुए आगे चले ॥ ७३ ॥

नीलारान् पनसान् सालान् वज्रुलांस्तिनिशांस्तथा ।

चिरिधिल्लवान् मधूकांश्च धिल्लवानथ च तिल्लुकान् ॥

पुष्पितान् पुष्पिताग्राभिल्लताभिस्त्वशोभितान् ।

ददर्श रामः शतशस्तत्र कान्तास्यादधान् ॥ ७५ ॥

हस्तिहस्तेर्विमृदितान् खानरैरुपशोभितान् ।

मत्तैः शकुनिरङ्गैश्च शतशः प्रतिनादितान् ॥ ७६ ॥

श्रीरामने वहाँ मागस नीवार (जलकदम्ब), कटहल, सागू, अशोक, निमिश, चिरिकिन्च, महुआ, बेल, तैलू तथा और भी सैकड़ों जंगली वृक्ष देखे, जो फूलोंसे भरे थे तथा त्रिकुण्डा हुई लताओंसे परिभूषित थे वड़ी शोभा पा रहे थे। उनमेंसे कई वृक्षोंको हाथयाने अपना सड़ास लेइकर ममल डाला था और बहुत से वृक्षोंपर बैठे हुए जानर उनकी शोभा

बढ़ाने थे। सैकड़ों मतवाले पक्षी उनकी डालियोंपर चहक रहे थे ॥ ७४—७६ ॥

ततोऽज्ज्वीत् समीपस्थं रामो राजीवलोचनः ।

पृष्ठतोऽनुगतं वीरं लक्ष्मणं लक्ष्मिवर्धनम् ॥ ७७ ॥

उस समय कमलनयन श्रीराम अपने पीछे-पीछे आते हुए शोभावर्धक वीर लक्ष्मणसे जो उनके निकट ही थे, इस प्रकार बोले— ॥ ७७ ॥

स्निग्धपत्रा यथा वृक्षा यथा क्षान्ता मृगद्विजाः ।

आश्रमो नातिदूरस्थो महर्षेर्भावितात्मनः ॥ ७८ ॥

'यहाँके वृक्षोंके पत्ते जैसे सुने गये थे, वैसे ही चिक्कने दिखायी देते हैं तथा पशु और पक्षी क्षमाशील एवं शान्त हैं। इससे जान पड़ता है, उन भावितात्मा (शुद्ध अन्त करणवाले) महर्षि अगस्त्यका आश्रम यहाँसे अधिक दूर नहीं है' ॥ ७८ ॥

अगस्त्य इति विख्यातो लोके स्वेनैव कर्मणा ।

आश्रमो दृश्यते तस्य परिश्रान्तप्रमापहः ॥ ७९ ॥

'जो अपने कर्मसे ही संसारमें अगस्त्य'के नामसे विख्यात हुए हैं, उन्होंने यह आश्रम दिखायी देता है, जो थके-मर्दे पथिकोंको थकावटको दूर करनेवाला है' ॥ ७९ ॥

प्राज्यधूमाकुलवनक्षीर मालापरिष्कृतः ।

प्रशान्तमृगयूथश्च नानाशकुनिनादितः ॥ ८० ॥

'इस आश्रमके वन यज्ञ-यागसम्बन्धी अधिक धूमोंमें व्याप्त है। घोंघेवालों की 'पत्कियाँ इसको शोभा बढ़ाती हैं, यहाँके मृगोंके झुंड सदा शान्त रहते हैं तथा इस आश्रममें नाना प्रकारके पक्षियोंके कलरव गूँजते रहते हैं' ॥ ८० ॥

निगृह्य तरसा भृत्यं लोकानां हिनकाम्यया ।

दक्षिणा दिक् कृता येन शरणया पुण्यकर्मणा ॥ ८१ ॥

तस्येदमाश्रमपदं प्रभावाद् यस्य राक्षसैः ।

दिगिर्य दक्षिणा त्रासाद् दृश्यते नोपभुज्यते ॥ ८२ ॥

'जिन पुण्यकर्म महर्षि अगस्त्यने समस्त लोकोंकी हिनकाम्यनासे भृत्यरूप राक्षसोंका वेगपूर्वक दमन करके इस दक्षिण दिशाको शरण लेनेके योग्य बना दिया तथा जिनके प्रभावसे राक्षस इस दक्षिण दिशाको केवल दूरसे भयभीत होकर देखने हैं, इसका उपभोग भी नहीं करते, उन्हाँकर यह आश्रम है' ॥ ८१-८२ ॥

यदाप्रभृति चाक्षान्ता दिगिर्य पुण्यकर्मणा ।

तदाप्रभृति निर्वराः प्रशान्ता रजनीचराः ॥ ८३ ॥

'पुण्यकर्मी महर्षि अगस्त्यने सबसे इस दिशामें पदार्पण किया है, तबसे यहाँके निशाकर वैरहित और शान्त हो गये हैं' ॥

नाम्ना चेयं भगवतो दक्षिणा दिक्प्रदक्षिणा ।

प्रथिता त्रिषु लोकेषु दुर्घर्षा क्रूरकर्मभिः ॥ ८४ ॥

भगवान् अगस्त्यकी पहिमासे इस आश्रमके आम पाम निर्वैरता आदि गुणोंके सम्पादनमें समर्थ तथा कृत्स्न रक्षार्थके लिये दुर्जय होनेके कारण यह सम्पूर्ण दिग्ग नामसे भी तीनों लोकोंमें 'दक्षिणा' ही कहलायी, इसी नामसे विख्यात हुई तथा इसे 'अगस्त्यकी दिशा' भी कहते हैं ॥

मार्गं निरोद्धुं सततं धास्करस्याचलोत्तमः ।
संदेशं पालयस्तस्य विन्ध्यशीलो न वर्धते ॥ ८५ ॥

एक बार पर्वतश्रेष्ठ विन्ध्य सूर्यका मार्ग रोकनेके लिये बढ़ा था, किन्तु महर्षि अगस्त्यके कहनेसे वह नष्ट हो गया तबसे आजतक निरन्तर उनके आदेशका पालन करता हुआ यह कभी नहीं बढ़ता ॥ ८५ ॥

अयं दीर्घायुपतस्य लोके विश्रुतकर्मणः ।
अगस्त्यस्याश्रमः श्रामान् विनोतमृगसंघिनः ॥ ८६ ॥

'ये दीर्घायु महात्मा हैं। उनका कर्म (ममृदुशरण आदि कार्य) तीनों लोकोंमें विख्यात है। इन्हीं अगस्त्यका यह शीघ्र सम्पन्न आश्रम है, जो विनोत मृगोंमें संघित है ॥ ८६ ॥

एष लोकार्थितः साधुर्हिते नित्ये रतः सताम् ।
अस्मानधिगतानेष श्रेयसा योजयिष्यति ॥ ८७ ॥

'ये महात्मा अगस्त्यजी सम्पूर्ण लोकोंके द्वारा पूजित तथा सदा सज्जनोंके हितमें लगे रहनेवाले हैं। अपने पाम आये हुए समस्तमृगोंको व अपने आशीर्वादसे उन्नतगाढ़ भागी बनादींगे ॥ ८७ ॥

आराधयिष्याम्यब्राह्मणस्त्यं ते महामुनिम् ।
शेषं च वनवासस्य सौम्य वत्स्याम्यहं प्रभो ॥ ८८ ॥

'शेका करनेमें समर्थ सौम्य लक्ष्मण ! यहाँ रहकर मैं उन महापूजित अगस्त्यकी आराधना करूँगा और वनवासके इस दिन यहीं रहकर बिताऊँगा ॥ ८८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये अदिकाव्ये अरण्यकाण्डे एकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीभारुमौक्तिनिर्मित आर्यभट्टायण अदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें ग्यारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११ ॥

द्वादशः सर्गः

श्रीराम आदिका अगस्त्यके आश्रममें प्रवेश, अतिथि-सत्कार तथा मुनिकी ओरसे उन्हें दिव्य अस्त्र शस्त्रोंकी प्राप्ति

स प्रतिज्ञयाश्रमपदे लक्ष्मणो गन्धवानुजः ।
अगस्त्यशिष्यमासाद्य वाक्यमतदुवाच ह ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके छोटे भाई लक्ष्मणने आश्रममें प्रवेश करके अगस्त्यजीके शिष्यमें घंट काँ और उनसे यह खान कही— ॥ १ ॥

राजा दशरथो नाम ज्येष्ठस्तस्य सुनो बली ।
रामः प्राप्तो मुनिं द्रष्टुं भार्यया सह सीतया ॥ २ ॥

पूने ! अयोध्यामें जो दशरथ नामसे प्रसिद्ध राजा थे उन्होंने ज्येष्ठ पुत्र महाबली श्रीरामचन्द्रजी अपनी पत्नी सीताके

अत्र देवाः सगन्धर्वा सिद्धाश्च परमर्षयः ।
अगस्त्यं नियताहारा सततं पर्युपासते ॥ ८९ ॥

'देवता, गन्धर्व, सिद्ध और महर्षि यहाँ नियमित आहार करते हुए सदा अगस्त्य मुनिकी उपासना करते हैं ॥ ८९ ॥
नात्र जीवेन्मुषावादी कूरो वा यदि वा शठः ।

नृशंसः पापवृत्तो वा मुनिरेव तश्चाविद्यः ॥ ९० ॥
ये एते प्रभावशाली मुनि हैं कि इनके आश्रममें कोई झुठ बोलनेवाला, क्रूर, शठ, नृशंस अथवा पापाचारी मनुष्य जीवित नहीं रह सकता ॥ ९० ॥

अत्र देवाश्च यक्षाश्च नागाश्च पतर्गः सह ।
वसन्ति नियताहारा धर्ममाराधयिष्वावः ॥ ९१ ॥

'यहाँ धर्मकी आराधना करनेके लिये देवता, यक्ष, नाग और पक्षी नियमित आहार करते हुए निवास करते हैं ।

अत्र सिद्धा महात्मानो विमानैः सूर्यसंनिधैः ।
त्यक्त्वा देहान् नर्वर्द्धैः स्वर्वाणाः परमर्षयः ॥ ९२ ॥

इस आश्रममें अपने शरीरोंको त्यागकर अनेकानेक सिद्ध महात्मा महर्षि नृगन शरीरोंके साथ सूर्यतुल्य तेजस्वी विमानोंद्वारा स्वर्गलोकको प्राप्त हुए हैं ॥ ९२ ॥

यक्षत्वमपरत्वं च राज्यानि विविधानि च ।
अत्र देवाः प्रचक्षन्ति भूतैरगधिता शुभैः ॥ ९३ ॥

यहाँ सत्कर्मपरायण प्राणियोंद्वारा आराधित हुए देवता उन्हें यशस्व अमरत्व तथा नाना प्रकारके राज्यप्रदान करते हैं ॥ ९३ ॥

आगताः स्माश्रमपदे सौमित्रे प्रविशप्रनः ।
निवेदयेह मां प्राप्तमुपये सह सीतया ॥ ९४ ॥

'सौमित्रनन्दन ! अब हमलोग आश्रमपर आ पहुँचे । तुम पहले प्रवेश करो और महर्षियोंको सीताके साथ मेरे आगमनकी सूचना दो ॥ ९४ ॥

माथ महर्षिके दर्शन करनेके लिये आये हैं ॥ २ ॥
लक्ष्मणो नाम तस्याहं भ्राता त्ववरजो हितः ।

अनुकूलश्च भक्तश्च यदि ते भोत्रमागतः ॥ ३ ॥
'मैं उनका छोटा भाई, हितैषी और अनुकूल चलनेवाला भक्त हूँ । मेरा नाम लक्ष्मण है । सम्भव है यह नाम कभी आपके कानोंमें पड़ा हो ॥ ३ ॥

ते वयं वनमत्युग्रं प्रविष्टाः पितृशासनात् ।
द्रष्टुमिच्छामहे सर्वे भगवन्ते निवर्द्धताम् ॥ ४ ॥

हम सब लोग पिताकी आज्ञासे इस अत्यन्त भयंकर

वनमें आये हैं और भगवान् अगस्त्य मुनिका दर्शन करना चाहते हैं। आप उनसे यह समाचार निवेदन कीजिये ॥ ४ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा लक्ष्मणस्य तपोधनः ।

तथेत्युक्त्वाप्रिशरणं प्रविवेश निवेदिनुम् ॥ ५ ॥

लक्ष्मणकी यह बात सुनकर उन तपोधनने 'बहुत अच्छा' कहकर महर्षिको समाचार देनेके लिये अग्रिशाल्यामें प्रवेश किया ॥ ५ ॥

स प्रविश्य मुनिश्रेष्ठं तपसा दुष्प्रधर्षणम् ।

कृताञ्जलिरुवाचेदं रामागमनमञ्जसा ॥ ६ ॥

यथोक्तं लक्ष्मणेनैव शिष्योऽगस्त्यस्य सम्मतः ।

अग्रिशाल्यामें प्रवेश करके अगस्त्यके उस प्रिय शिष्यने जो अधन तपस्याक प्रपाद्यमें दुर्गमके लिये दुर्जय थे उन मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यके पास जा हाथ जोड़ लक्ष्मणके कथनानुसार उन्हें श्रीरामचन्द्रजीके आगमनका समाचार शीघ्रतापूर्वक से सुनाया— ॥ ६ ॥

पुत्रौ दशरथस्येवौ रामो लक्ष्मण एव च ॥ ७ ॥

प्रविष्ट्वावाश्रमपदं सीतया सह भार्यया ।

ब्रह्मं भयन्तमायानीं शुश्रूषार्थमरिद्धमौ ॥ ८ ॥

यदब्रानन्तरं तत् त्वमाजापयिनुमहंसि ।

'माया'ने । गजा दशरथक य दो पुत्र श्रीराम और लक्ष्मण आश्रममें पधार हैं श्रीराम अपनी धर्मपत्नी सीताके साथ हैं वे दोनों शत्रुमन धार आपका मेवाक उदरमें आपका दर्शन नानक लिये आये हैं अब इस विषयमें जो कुछ कहना या करना हो, इसके लिये आप मुझे आज्ञा दें ॥

ततः शिष्यादुपश्रुत्य प्राप्ते रामं सलक्ष्मणम् ॥ ९ ॥

वीदेही च महाभागामिदं वचनमब्रवीत् ।

शिष्यसे लक्ष्मणसहित श्रीराम और महाभाग विदेह-नन्दिनी सीताक शुभागमनका समाचार सुनकर महर्षिने इस प्रकार कहा— ॥ ९ ॥

निश्चया रामाक्षरसगच्छं ब्रह्म मां समुपागत ॥ १० ॥

मनसा काङ्क्षितं ह्यस्य मयाप्यागमनं प्रति ।

गम्यतां सत्कृतो रामः सभार्यः सहलक्ष्मणः ॥ ११ ॥

प्रवेश्यतां समीपं ये किमसौ न प्रवेशितः ।

'सौभाग्यकी बात है कि आज निष्कलंक बाद श्रीरामचन्द्रजी स्वयं ही मुझसे मिलनेके लिये आ गये। मैं मनमें जो बहुत दिनोंसे यह अभिलाषा थी कि मैं एक बार भी आश्रमपर पधारते। जाओ, पत्नीसहित श्रीराम और लक्ष्मणको स्वकारपूर्वक आश्रमके भीतर में समाप ले आओ। तुम अधनक उन्हें ले क्यों नहीं आये ?' ॥

एवमुक्तस्तु मुनिना धर्मजेन महात्मना ॥ १२ ॥

अभिवाद्याब्रवीच्छिष्यस्तथेति नियताञ्जलिः ।

धर्मज्ञ महान्मा अगस्त्य मुनिक ऐसा कहनेपर शिष्यने हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम किया और कहा—'बहुत

अच्छ अर्थों ले आता हूँ ॥ १२ ॥

तदा निष्क्रम्य सम्प्रान्तः शिष्यो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ १३ ॥

कोऽसौ रामो मुनि ब्रह्मपेतु प्रविशतु स्वयम् ।

इमके बाद वह शिष्य आश्रममें निकलकर शीघ्रतापूर्वक लक्ष्मणके पास गया और बोला—'श्रीरामचन्द्रजी कौन हैं ? वे स्वयं आश्रममें प्रवेश करें और मुनिका दर्शन करनेके लिये चलें ॥ १३ ॥

तनो गत्वाऽऽश्रमपदं शिष्येण सह लक्ष्मणः ॥ १४ ॥

दर्शयामास काकुत्स्थं सीतां च जनकात्मजाम् ।

तब लक्ष्मणने शिष्यके साथ आश्रमके द्वारपर जाकर उसे श्रीरामचन्द्रजी तथा जनकाकिसौरी श्रीसीताका दर्शन कराया ॥

ते शिष्यः प्रभितं वाक्यमगस्त्यवचनं श्रुत्वा ॥ १५ ॥

प्रवेशयद् यथान्यायं सत्काराहं सुसत्कृतम् ।

शिष्यने यही विनयके साथ मन्त्रार्थ अगस्त्यकी कही हुई बात वहाँ दुसरी और जो सत्कारक योग्य थे, उन श्रीरामका यथचित्त गतिपर भक्तीधनि सत्कार करके वह उन्हें आश्रममें ले गया ॥ १५ ॥

प्रविवेश तनो रामः सीतया सह लक्ष्मणः ॥ १६ ॥

प्रशान्तहरिणाकीर्णमाश्रमं ह्यवलोकयन् ।

स तत्र ब्रह्मणः स्थानमग्रेः स्थानं तथैव च ॥ १७ ॥

उस समय श्रीरामने लक्ष्मण और सीताके साथ आश्रममें प्रवेश किया। वह आश्रम शान्तभावमें रहनेवाले हरिणोंमें भरा हुआ था। आश्रमकी शोभा देखते हुए उन्होंने वहाँ ब्रह्माजीका स्थान और अग्निदेवका स्थान देखा ॥ १६-१७ ॥

विष्णोः स्थानं भवेन्द्रस्य स्थानं चैव विवस्वतः ।

सोमस्थानं भगस्थानं स्थानं कावेरमेव च ॥ १८ ॥

धानुर्विधानुः स्थानं च वायोः स्थानं तथैव च ।

स्थानं च पाशहन्तस्य वसुणस्य महात्मनः ॥ १९ ॥

स्थानं तथैव नाभय्या वसुनां स्थानमेव च ।

स्थानं च नागराजस्य गरुडस्थानमेव च ॥ २० ॥

कार्तिकेयस्य च स्थानं धर्मस्थानं च पश्यति ।

फिर क्रमशः भगवान् विष्णु, महन्द्र, सूर्य, चन्द्रमा, भग, कुबेर, वाता, विष्णु, वायु, पाशधारी महान्मा वसुण, नाभय्या, वसु, नागराज अर्जुन गरुड कार्तिकेय तथा धर्मराजके पृथक् पृथक् स्थानका निरीक्षण किया ॥ १८-२० ॥

नतः शिष्यः परिवृतो मुनिरप्याभिनिधत्तन् ॥ २१ ॥

तं दर्शयन्नतो रामो मुनीनां दीप्ततेजसाम् ।

अब्रवीद् वचनं यौरो लक्ष्मणं लक्ष्म्यवर्धनम् ॥ २२ ॥

इतनेहामें मुनिवर अगस्त्य भी शिष्योंसे घिरे हुए अग्रिशाल्यासे बाहर निकल। वीर श्रीरामने मुनियोंके आगे-आगे आते हुए उदात्त तेजस्वी अगस्त्यजीका दर्शन किया और अपनी दायाका विस्तार करनेवाले लक्ष्मणसे इस प्रकार कहा— ॥ २१-२२ ॥

वहिलक्ष्मण निष्क्रामन्त्यगस्त्यो भगवानृषिः ।

औदार्यणावगच्छामि निधानं त्वपसामिमम् ॥ २३ ॥

'लक्ष्मण ! भगवान् अगस्त्य मुनि अश्रममें बाहर निकल रहे हैं। ये तपस्याके निधि हैं। इनके विशिष्ट तेजके आधिक्यसे ही मुझे पता चलता है कि ये अगस्त्यजी हैं ॥

एवमुक्त्वा महाबाहुरगस्त्यं सूर्यवर्चसम् ।

जग्राहपततस्तस्य पादौ च रघुनन्दनः ॥ २४ ॥

सूर्यतुल्य तेजस्वी महर्षि अगस्त्यके विषयमें ऐसा कहकर महाबाहु रघुनन्दनने सायनमें आते हुए उन मुनीश्वरके दोनों चरण पकड़ लिये ॥ २४ ॥

अभिवाद्य तु धर्मात्मा तस्मै रामः कृताञ्जलिः ।

सीतया सह वेदहता तदा रामः सलक्ष्मणः ॥ २५ ॥

जिनमें योगियोंका मन रमण करना है अथवा जो भक्तोंको आनन्द प्रदान करनेवाले हैं, वे धर्मात्मा श्रीराम उस समय विशिष्टकृतारी सीता और लक्ष्मणके साथ प्रार्थना चरणार्पण करके हाथ जोड़कर खड़े हो गये ॥ २५ ॥

प्रतिगृह्य च काकुत्स्थमर्चयित्वाऽऽसनोदकः ।

कुशलप्रश्नमुक्त्वा च आस्यतामिति सोऽब्रवीत् ॥ २६ ॥

महर्षिने भगवान् श्रीरामको हृदयमें लगाया और आसन तथा जल (पाय, अर्घ्य आदि) देकर उनका आतिथ्य-सत्कार किया। फिर कुशल-समाचार पूछकर उन्हें बैसनेको कहा ॥ २६ ॥

अग्निं हुत्वा प्रदायार्घ्यमतिथीन् प्रतिपूज्य च ।

धानप्रस्थान धर्मज्ञ स तेषां भोजनं ददौ ॥ २७ ॥

अगस्त्यजीने पहले अग्निमें आहुति दी, फिर धानप्रस्थ-धर्मके अनुसम अर्घ्य दे अतिथियोंके भलोंभाँति पूजन करके उनका स्थि भोजन दिया ॥ २७ ॥

प्रथमे शोपविष्टयाथ धर्मज्ञा मुनिपुंगवः ।

तथाच राममासीनं प्राञ्जलिं धर्मकोविदम् ॥ २८ ॥

अग्निं हुत्वा प्रदायार्घ्यमतिथिं प्रतिपूजयत् ।

अन्यथा खलु काकुत्स्थ तपस्वी समुदाचरन् ।

दुःसाक्षीव परं लोकं स्यान्नि मांसादि भक्षयेत् ॥ २९ ॥

धर्मके ज्ञाता मुनिवर अगस्त्यजी पहले स्वयं बैठे, फिर धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्रजी हाथ जोड़कर आसनपर विराजमान हुए। इसके बाद महर्षिने उनका कष्ट—'काकुत्स्थ ! धर्मप्रगल्भका चार्हिण्य कि बात पश्ले अग्निको आहुति दे। तदनन्तर अर्घ्य देकर अतिथिकर पूजन करे। जो तपस्वी इसके विपरीत आचरण करता है, उसे दुष्टता गवाही देनेवालाको भाँति परलोकमें अपने ही शरीरका मांस खाना पड़ता है ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अथ रामायणे आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें द्वादशवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १२ ॥

राजा सर्वस्य लोकस्य धर्मचारी महारथः ।

पूजनीयश्च मान्यश्च भवान् प्राप्तः प्रियार्तिथिः ॥ ३० ॥

'आप सम्पूर्ण लोकके राजा, महारथी और धर्मका आचरण करनेवाले हैं तथा मेरे प्रिय अतिथिके रूपमें इस अश्रमपर पधारे हैं, अतएव आप हमलोगोंके माननीय एवं पूजनीय हैं ॥ ३० ॥

एवमुक्त्वा फलैर्मूलैः पुष्पैश्चान्यैश्च राघवम् ।

पूजयित्वा यथाकामं ततोऽगस्त्यस्तमब्रवीत् ॥ ३१ ॥

ऐसा कहकर महर्षि अगस्त्यने फल, मूल, फूल तथा अन्य उपकरणोंसे इच्छानुसार भगवान् श्रीरामका पूजन किया। तत्पश्चात् अगस्त्यजी उनसे इस प्रकार बोले—

इदं दिव्यं महर्षाप हेपवज्रविभूषितम् ।

वैष्णवं पुरुषव्याघ्रं निर्मितं विश्वकर्मणा ॥ ३२ ॥

अमोघः सूर्यमंकाशो ब्रह्मदत्तः शरोत्तमः ।

दत्तो मम महेन्द्रेण तूष्णीं चाक्षय्यसाधको ॥ ३३ ॥

सम्पूर्णं निशित्वार्णवज्वलद्वित्रिविधं धावकैः ।

महाराजनकोशोऽयमसिंहं विभूषितः ॥ ३४ ॥

'पुरुषमित्र' यह महान् दिव्य धनुष विश्वकर्माजीने बनाया है इसमें सुवर्ण और हथि जड़ है। यह भगवान् विष्णुका दिया हुआ है तथा यह जो सूर्यके समान ऐश्वर्यमान अमोघ उत्तम बाण है ब्रह्माजीका दिया हुआ है। इनके सिवा इन्द्रने ये दो तरकर दिए हैं, जो तोखे तथा प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी बाणोंमें सदा भरे रहते हैं। कभी खाली नहीं होते। साथ ही यह तलवार भी है जिसकी मूर्तमें माना जाता हुआ है। इसका म्यान भी सोनेकी ही बनी हुई है ॥ ३२—३४ ॥

आनेन धनुषा राम हत्वा संख्ये महासुरान् ।

आजहार श्रियं दीप्तां पुरा विष्णुर्दिवीकसाम् ॥ ३५ ॥

तद्धनुर्भी च तूष्णीं च शरं खड्गं च भानद ।

जयाय प्रतिगृहीतु खड्गं वज्रधरो यथा ॥ ३६ ॥

श्रीराम ! पुरुषकाव्ये भगवान् विष्णुने इसी धनुषसे युद्धने बड़े-बड़े असुरोंका भग्न करने के दखताओंकी उद्दीप्त लक्ष्मियोंको उनके अधिकारमें लौटाया था। मानद ! आप यह धनुष, ये दोनों तरकर, ये बाण और यह तलवार (शस्त्रसौपर) विजय पानेके लिये ग्रहण कीजिये। ठीक उसी तरह, जैसे वज्रधारी इन्द्र वज्र ग्रहण करते हैं ॥ ३५—३६ ॥

एवमुक्त्वा महामतेजाः समस्तं तद्वरायुधम् ।

दत्त्वा रामाय भगवानगस्त्यः पुनरब्रवीत् ॥ ३७ ॥

ऐसा कहकर महान् तेजस्वी अगस्त्यने वे सभी श्रेष्ठ आयुध श्रीरामचन्द्रजीको सौंप दिये। तत्पश्चात् वे फिर बोले ॥

त्रयोदशः सर्गः

महर्षि अगस्त्यका श्रीरामके प्रति अपनी प्रसन्नता प्रकट करके सीताकी प्रशंसा करना, श्रीरामके पूछनेपर उन्हें पञ्चवटीमें आश्रम बनाकर रहनेका आदेश देना तथा श्रीराम आदिका प्रस्थान राम प्रीतोऽस्मि भद्रं ते परितुष्टोऽस्मि लक्ष्मण ।

अभिवादयितुं यन्मां प्राप्तौ स्थः सह सीतया ॥ १ ॥

‘श्रीराम । आपका कल्याण हो । मैं आपपर बहुत प्रसन्न हूँ । लक्ष्मण । मैं तुम्हारा भी बहुत संतुष्ट हूँ । आप दोनों भाई मुझे प्रणाम करनेके लिये जो सीताके साथ यहाँ तक आये, इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है ॥ १ ॥

अध्वश्रमेण वा खेतो बाधते प्रचुम्ब्रमः ।

व्यक्तमुत्कण्ठते वापि मैथिली जनकात्मजा ॥ २ ॥

‘‘हस्त। चलभक्त परिश्रमसे आरत्नोंको बहुत थकावट हुई है इसके कारण आ कष्ट हुआ है यह आप दोनोंको भोजन दे रहा होगा । मिथिलेशकुमारों जानकों भी अपनी भक्तवत् दूर करनेके लिये अधिक उत्कण्ठित है यह बात स्पष्ट ही जान पड़ती है ॥ २ ॥

एषा च सुकुमारी च खेदैश्च न विमानिता ।

प्राज्यदोषं खनं प्राप्ता भर्तृस्नेहप्रचोदिता ॥ ३ ॥

‘यह सुकुमारी है और इससे पहले इसे ऐसा दुःखोंका सामना नही करा पड़ा है । वनमें अनक प्रकारके कष्ट होने हैं, फिर भी यह पतिप्रसंगसे प्रेरित होकर यहाँ आयी है ३ ।

यक्षिणा रमते राम इह सीता तथा कुरु ।

दुष्करं कृतवत्पेषा वने स्वामिभिगच्छती ॥ ४ ॥

‘श्रीराम । जिस प्रकार सीताका यहाँ घन लगे—जैसे जो यह प्रसन्न रहे, वही कार्य आप करे । वनमें आपके साथ आकर हमने दुष्कर कार्य किया है ॥ ४ ॥

एषा हि प्रकृतिः स्त्रीणामा सृष्टे रगुनन्दन ।

समस्थमनुरज्यन्ते विषयस्य त्यजन्ति च ॥ ५ ॥

‘रगुनन्दन । सृष्टिकालसे लेकर अबतक स्त्रियोंका प्रायः यही स्वभाव रहता आया है कि यदि पनि सम अवस्थामें है अर्थात् धनधान्यसे सम्पन्न, स्वस्थ एवं सुखी है तब तो वे तबमें अनुगम रखती हैं, परंतु यदि वह विषय अवस्थामें पड़ जाता है—दुष्टि एवं योगों हो जाता है, तब उसे त्याग देती है ॥ ५ ॥

शतहृदानीं लोलुपं शस्त्राणां तीक्ष्णतां तथा ।

गरुडानिलयोः शीघ्रमनुगच्छन्ति योषितः ॥ ६ ॥

‘स्त्रियां विद्युत्की चपलता, शस्त्रोंकी तीक्ष्णता तथा गरुड एवं वायुकी तीव्र गतिका अनुसरण करती है ॥ ६ ॥

इयं तु भवतो भार्या दोषैरेतेर्विवर्जिता ।

श्लाघ्या च व्यपदेश्या च यथा देवीवृन्धनी ॥ ७ ॥

‘आपकी यह धर्मपत्नी सीता इन सब दोषोंमें रहित है । पत्न्याय एवं पतिव्रताभ्यां उससे तबह अग्रगण्य है, जैसे देवियोंमें अरुन्धती ॥ ७ ॥

अलंकृतोऽयं देशश्च यत्र सौमित्रिणा सह ।

वैदेह्या चानया राम वत्स्यसि त्वपरिदम् ॥ ८ ॥

‘शत्रुदमन श्रीराम । आजसे इस देशको जोषा बढ़ गयी, जहाँ सुमित्राकुमार लक्ष्मण और विदेहनादिनी सीताके साथ आप निवास करेंगे ॥ ८ ॥

एवमुक्तस्तु मुनिना राघवः संयताङ्गलिः ।

उवाच प्रश्रितं वाक्यमृषि दीप्तिमिवानलम् ॥ ९ ॥

मुनिक ऐसा कहनेपर श्रीरामचन्द्रजीने प्रश्रित अग्निके समान तेजस्वी उन महर्षिसे दोनों हाथ जोड़कर यह विनययुक्त बात कही— ॥ ९ ॥

घन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यस्य मे मुनिपुंगव ।

गुणैः संप्राप्तभार्यस्य गुरुनः परितुष्यति ॥ १० ॥

‘भाई और पत्नीमार्गित जिम्मेक अर्थात् मेरे गुणोंसे हमारे गुरुदेव मुनिक अगस्त्यजी यदि संतुष्ट हो रहे हैं तब तो मैं धन्य हूँ, मुझपर मुनीश्वरका महान् अनुग्रह है ॥ १० ॥

किं तु व्यादिश मे देशं सोढकं बहुकाननम् ।

यत्राश्रमपदं कृत्वा वसेयं निरतः सुखम् ॥ ११ ॥

‘परंतु मुन । अब आप मुझे ऐसा कोई स्थान बताइये जहाँ बहुत-से वन हो जलको भी सुविधा हो तथा जहाँ आश्रम बनाकर मैं सुखपूर्वक साधना निश्चय कर सकूँ ॥ ११ ॥

ततोऽब्रवीन्मुनिश्रेष्ठः श्रुत्वा रामस्य भाषितम् ।

ध्यात्वा भूतैर्धर्मात्मा ततोवाच वचः शुभम् ॥ १२ ॥

श्रीरामका यह कथन मुनिक मुनिश्रेष्ठ धर्मात्मा अगस्त्यने दो घडीनर कुट मोच विचार किया तदनन्तर वे यह शुभ वचन बोले— ॥ १२ ॥

इतो द्वियोजने तात बहुमूलफलोदकः ।

देशो बहुमृगः शीपान् पञ्चवट्यभिविश्रुतः ॥ १३ ॥

‘तात । यहाँसे दो योजनकी दूरीपर पञ्चवटी नामसे विख्यात एक बहुत ही सुन्दर स्थान है, जहाँ बहुत-से मृग रहते हैं तथा पञ्च-मूल और जलकी अधिक सुविधा है ।

तत्र गत्वाऽऽश्रमपदं कृत्वा सौमित्रिणा सह ।

रमस्व त्वं पितुर्वाक्यं यथोक्तमनुपालयन् ॥ १४ ॥

‘वहाँ जाकर लक्ष्मणके साथ आप आश्रम बनाइये और पिताकी यथोक्त आज्ञाका पालन करते हुए वहाँ सुखपूर्वक निवास कीजिये ॥ १४ ॥

विदितो ह्येष वृत्तान्तो मम सर्वस्तथानघ ।

तपसश्च प्रभावेण स्नेहाद् दशरथस्य च ॥ १५ ॥

‘अनघ । आपका और राजा दशरथका यह सारा वृत्तान्त मुझे अपनी तपस्यत्क प्रभावसे तथा आपके प्रति स्नेह होनेके कारण अच्छे तरह विदित है ॥ १५ ॥

हृदयस्थं च ते च्छन्दो विज्ञानं तपसा मया ।

इह वासं प्रतिज्ञाय मया सह तपोवने ॥ १६ ॥

‘आपने तपोवनमें मेरे साथ रहनेकी और वनवासका इंस समय यहाँ बितानेकी अभिलाषा प्रकट करके थी जो यहाँमें अन्यत्र रहने योग्य स्थानके विषयमें मुझमें पूछा है इसमें आपका हार्दिक अधिप्राय क्या है? यह मैंने अपने तपोबलसे जान लिया है (आपने ऋषियोंकी रक्षाके लिये राक्षसोंके वधकी प्रतिज्ञा की है। इस प्रतिज्ञाका निर्वाह अन्यत्र रहनेसे ही हो सकता है; क्योंकि यहाँ राक्षसोंका आना-जाना नहीं होता) ॥ १६ ॥

अतश्च स्वामहं भूमि गच्छ पञ्चवटीमिति ।

स हि रम्यो वनोद्देशो मैथिली तत्र रस्यते ॥ १७ ॥

‘इसीलिये मैं आपसे कहना है कि पञ्चवटीमें जाइये वहाँकी वनस्थली बड़ी ही रमणीय है वहाँ मिथिलेशकुमारों सेता आनन्दपूर्वक सब आर विचरेगी ॥ १७ ॥

स देवाः इलाधनीयश्च नातिदूरे च राघव ।

गोदावर्याः समीपे च मैथिली तत्र रस्यते ॥ १८ ॥

‘रघुनन्दन । वह स्मरणीय स्थान यहाँसे अधिक दूर नहीं है। गोदावरीके पास (उसीके तटपर) है, अतः मैथिलीका मन वहाँ खूब लगेगा ॥ १८ ॥

प्राज्यमूलफलैश्चैव नानाद्विजगर्णयुतः ।

विविक्तश्च महाबाहो पुण्यो रम्यस्तथैव च ॥ १९ ॥

‘महाबाहो ! वह स्थान प्रचुर फल-मूलोंसे सम्पन्न, भक्ति-भक्तिके विहङ्गमोंसे सेवित, एकान्त, पवित्र और रमणीय है ॥ १९ ॥

भवानपि सदाचारः शक्तश्च परिरक्षणे ।

अपि चात्र धसन् राम तापसान् पालयिष्यसि ॥ २० ॥

श्रीराम । आप भी सदाचारी और ऋषियोंकी रक्षा करनेमें समर्थ हैं। अतः वहाँ रहकर तपस्वी मुनियोंका इत्यादि श्रीमद्विष्णुसंहिता आदिकाव्ये अरण्यकाण्डे चतुर्दशः सर्गः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिमित्त आर्यगमायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डम् तेरहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १३ ॥

चतुर्दशः सर्गः

पञ्चवटीके मार्गमें जटायुका मिलना और श्रीरामको अपना विस्तृत परिचय देना

अथ पञ्चवटी गच्छन्तरा रघुनन्दनः ।

आसन्नो महाकायं गृध्रं भीमपराक्रमम् ॥ १ ॥

पञ्चवटी जाते समय बीचमें श्रीरामचन्द्रजीको एक विशालकाय गृध्र मिला, जो भयंकर पराक्रम प्रकट करनेवाला था ॥ १ ॥

तं तृष्ट्वा तौ महाभागौ वनस्थं रामलक्ष्मणौ ।

मेनाते राक्षसं पक्षिं ब्रुवाणौ को भवानिति ॥ २ ॥

वनमें बैठे हुए उस विशाल पक्षीको देखकर महाभाग

पालन कीजियेगा ॥ २० ॥

एतदालक्ष्यते वीरं मधुकानां महावनम् ।

उत्तरेणास्य गन्धर्व्यं न्यग्रोधमपि गच्छता ॥ २१ ॥

ततः स्थलमुपास्तु पर्वतस्याविदूरतः ।

स्थितः पञ्चवटीत्येव नित्यपुष्पितकाननः ॥ २२ ॥

‘वीर । यह जो मधुओंका विशाल वन दिखायी देता है, इसके उत्तरमें हाकर जाना चाहिये उस मार्गसे जाते हुए आपको आगे एक खरगड़का वृक्ष मिलेगा। उससे आगे कुछ दूरतक ऊँचा मैदान है, उसके पार करनेके बाद एक पर्वत दिखायी देगा। उस पर्वतमें थोड़ी ही दूरपर पञ्चवटी नामसे प्रसिद्ध सुन्दर वन है, जो सदा फूलोंसे सुशोभित रहता है’ ॥ २१-२२ ॥

अगस्त्येनैवमुक्तस्तु रामः सौमित्रिणा सह ।

सत्कृत्यामन्त्रयामास तमृषिं सत्यवादिनम् ॥ २३ ॥

महर्षि अगस्त्यके ऐसा कहनेपर लक्ष्मणसहित श्रीरामने उनका सम्कार करके उन सत्यवादी महर्षिसे वहाँ जानेकी आज्ञा माँगी ॥ २३ ॥

तौ तु तेनाभ्यनुज्ञातौ कृतपादाभिवन्दनौ ।

तमाश्रमं पञ्चवटीं जग्मतुः सह सीतया ॥ २४ ॥

उनसे आज्ञा पाकर उन दोनों भाइयोंने उनके चरणोंकी वन्दना की और सीताके साथ वे पञ्चवटी नामक आश्रमकी ओर चले ॥ २४ ॥

गृहीतचार्यौ तु नराधिपात्मजौ

विषक्ततूणीं समरेषुकातरौ ।

यथोपदिष्टेन धया महर्षिणा

प्रजग्धतुः पञ्चवटीं समाहितौ ॥ २५ ॥

राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मणने पीठपर तरकस बाँध हाथमें धनुष ले लिये। वे दोनों भाई समराङ्गणोंमें कातरता दिखानेवाले नहीं थे। वे दोनों बन्धु महर्षिके बताये हुए मार्गसे बड़ी सावधानीके साथ पञ्चवटीका आर प्रास्थित हुए ॥ २५ ॥

इत्यादि श्रीमद्विष्णुसंहिता आदिकाव्ये अरण्यकाण्डे चतुर्दशः सर्गः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिमित्त आर्यगमायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डम् तेरहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १३ ॥

श्रीराम और लक्ष्मणने उसे राक्षस ही समझा और पूछा— ‘आप कौन हैं?’ ॥ २ ॥

ततो मधुरया वाचा सौम्यया प्रीणयन्निव ।

उवाच वत्स मां विद्धि वयस्यं पितुरात्मनः ॥ ३ ॥

तब उस पक्षीने बड़ी मधुर और कोमल वाणीमें उन्हें प्रमत्त करते हुए—से कहा— ‘बेटा मुझे अपने पिताका मित्र समझो’ ॥

स तं पितृमुखं मत्वा पूजयामास राघवः ।

स तस्य कुलमन्त्रप्रमथ्य पञ्चवटीं नाम च ॥ ४ ॥

पिताका मित्र जानकर श्रीरामचन्द्रजीने गृध्रका आटर किया और शान्तभावसे उसका कुल एवं नाम पूछा ॥ ४ ॥
रामस्य खड्गं श्रुत्वा कुलमात्मानमेव च ।
आचक्षते द्विजस्तस्मै सर्वभूतसमुद्भवम् ॥ ५ ॥

श्रीरामका यह प्रश्न सुनकर ठस पक्षीने उन्हें अपने कुल और नामका परिचय देने हुए भूमस्त प्राणियोंका उत्पत्तिक्रम ही बताया आरम्भ किया ॥ ५ ॥

पूर्वकाले भद्राबाहो ये प्रजापतयोऽभवन् ।
तान् मे निरादतः सर्वानादितः ऋणु राघव ॥ ६ ॥

‘महाबाहु ग्युनन्दन ! पूर्वकालमें जो-जो प्रजापति हो चुके हैं, उन सबका आदिसे ही वर्णन करता हूँ, सुने ॥ ६ ॥

कर्दमः प्रथमस्तेषां विकृतस्तदनन्तरम् ।
शेषश्च संश्रयश्चैव बहुपुत्रश्च वीर्यवान् ॥ ७ ॥

‘उन प्रजापतियोंमें सबसे प्रथम कर्दम हुए । तदनन्तर दूसरे प्रजापति का नाम विकृत हुआ, तीसरे शेष, चौथे संश्रय और पाँचवें प्रजापति पराक्रमी बहुपुत्र हुए ॥ ७ ॥

स्थाणुर्मरीचिरजिश्च क्रतुश्चैव महाबलः ।
पुलस्त्यश्चाङ्गिराश्चैव प्रचेनाः पुलहस्तथा ॥ ८ ॥

‘छठे स्थाणु, सातवें मरीचि, आठवें अजि, नवें महान् शक्तिशाली क्रतु, दसवें पुलस्त्य, ग्यारहवें अङ्गिरा, बारहवें प्रचेना (वरुण) और तेरहवें प्रजापति पुलह हुए ॥ ८ ॥

दक्षो विवस्वानपरोऽरिष्टनेमिश्च राघव ।
कश्यपश्च महातेजास्तेषामासीच्च पश्चिमः ॥ ९ ॥

‘चौदहवें दक्ष, पंद्रहवें विवस्वान्, सोलहवें अरिष्टनेमि और सत्रहवें प्रजापति महातेजस्वी कश्यप हुए । ग्युनन्दन ! यह कश्यपजी अन्तिम प्रजापति कहे गये हैं ॥ ९ ॥

प्रजापतेस्तु दक्षस्य बभूवुरिति विश्रुताः ।
षष्टिर्दुहितरो राम यशस्विन्यो महायशः ॥ १० ॥

‘महायशस्वी श्रीराम ! प्रजापति दक्षके साठ यशस्विनी कन्याएँ हुई, जो बहुत ही विख्यात थीं ॥ १० ॥

कश्यपः प्रतिजग्राह तामामष्टौ सुपद्मयाः ।
अदिति च दिति चैव दनूपपि च कालकाम् ॥ ११ ॥

‘ताम्रां क्रोधवशां चैव मनुं चाप्यनलापयि ।
‘उनमेंसे आठ * सुन्दर कन्याओंको प्रजापति कश्यपने पत्नीरूपमें ग्रहण किया । जिनके नाम इस प्रकार हैं—

अदिति, दिति, दनु, कालका, ताम्रा, क्रोधवशा, मनु और अनला ॥ ११ ॥

तास्तु कन्यास्ततः प्रीतः कश्यपः पुनरब्रवीत् ॥ १२ ॥
पुत्रास्त्रिलोक्यधत्तुं वै जनयिष्यथ भत्समान् ।

तदनन्तर उन कन्याओंसे प्रसन्न होकर कश्यपजीने फिर उनसे कहा—देखिये तुमलोग ऐसे पुत्रोंको जन्म दोगो, जो तीनों लोकोंका भरण-पोषण करनेमें समर्थ और मेरे समान तेजस्वी होंगे ॥ १२ ॥

अदितिस्तन्यना राम दितिश्च दनुरेव च ॥ १३ ॥
कालका च महाबाहो शेषास्त्वमनसोऽभवन् ।

‘महाबाहु श्रीराम ! इनमेंसे अदिति, दिति, दनु और कालका—इन चारोंने कश्यपजीकी कही हुई बातको मनसे ग्रहण किया; परंतु शेष स्त्रियोंने उधर मन नहीं लगाया । उनके मनमें वैसा मनोरथ नहीं उत्पन्न हुआ ॥ १३ ॥

अदित्यां जज्ञिरे देवास्त्वयस्त्रिंशदरिदम ॥ १४ ॥
आदित्या समवो तत्रा अश्विनौ च परंभप ।

‘शत्रुओंका दमन करनेवाले रघुवीर ! अदितिके गर्भसे तैंतीस देवता उत्पन्न हुए—याग, आदित्य, आठ वसु, ग्यारह रुद्र और दो अश्विनीकुमार । शत्रुओंको नाप देनेवाले श्रीराम ! ये ही तैंतीस देवता हैं ॥ १४ ॥

दितिस्त्वजनयत् पुत्रान् दैत्यास्तात यशस्विनः ॥ १५ ॥
तेषामियं वसुमती पुराऽऽसीत् सखनार्णवा ।

‘तात ! दितिन दैत्य नाममें प्राविष्ट यशस्वी पुत्रोंको जन्म दिया । पूर्वकालमें वन और समुद्रोंमहित सारी पृथिवी उनकी अधिकारमें थी ॥ १५ ॥

दनुस्त्वजनयत् पुत्रमश्वप्रीवमरिदम ॥ १६ ॥
नरकं कालकं चैव कालकापि व्यजायत ।

‘शत्रुदमन ! दनुने अश्वप्रीव नामक पुत्रको उत्पन्न किया और कालकान नरक एक कालका नामक दो पुत्रोंको जन्म दिया ॥ १६ ॥

क्रौञ्चीं भासीं तथा श्येनीं घृतराष्ट्रीं तथा शुकीम् ॥ १७ ॥
ताम्रा तु सुपुत्रे कन्याः पञ्चैता लोकविश्रुताः ।

‘ताम्राने क्रौञ्ची, भासी, श्येनी, घृतराष्ट्री तथा शुकी—इन पाँच विश्वविख्यात कन्याओंको उत्पन्न किया ॥ १७ ॥

उलूकाञ्जनयत् क्रौञ्ची भासीं भासान् व्यजायत ॥ १८ ॥
श्येनी श्येनांश्च गृध्रांश्च व्यजायत सुतेजसः ।

‘इनमेंसे क्रौञ्चीने उल्लुओंको, भासीने भास नामक पक्षियोंको, श्येनीने परम तेजस्वी श्येनों (बाजों) और गृध्रोंको तथा घृतराष्ट्रीने मख प्रकारके हंसों और कलहंसोंको जन्म दिया ॥ १८-१९ ॥

चक्रवाकांश्च भद्रं ते विजज्ञे सापि भामिनी ।
शुकी नती विजज्ञे तु मतायां विनता सुता ॥ २० ॥

* यद्यपि पुराणग्रन्थोंमें कश्यपका त्रयोदश इत्यादि कवनेछार कश्यपोंकी तरह पत्नियोंका उल्लेख किया गया है, तथापि यहाँ जिस संतानवम्पराका वर्णन करना है उसमें इन आठोंका ही उपयोग है इसलिये यहाँ आठोंको ही संख्या दी गयी है ।

‘श्रीराम ! आपका कल्याण हो, उसी धर्मिनी धृ-
त-
गुणों ने चक्रवाक नामक पक्षियोंको धी उत्पन्न किया था ।
नामकी सखीमें छोटी पुत्री शुकीने नती नामवाली कन्याको
जन्म दिया । नतीसे विनता नामवाली पुत्री उत्पन्न हुई ॥ २० ॥

दश क्रोधवशा राम विजज्ञेऽप्यात्मसंभवाः ।
मृगीं च मृगमन्दां च हरीं भद्रमदामपि ॥ २१ ॥
मातङ्गीमथ शार्दूलो भेतां च सुरभीं तथा ।
सर्वलक्षणसम्पन्नां सुरसां कद्रुकामपि ॥ २२ ॥

‘श्रीराम ! क्रोधवशाने अपने पेटमें दस कन्याओंको
जन्म दिया । जिनके नाम हैं—मृगी, मृगमन्दा, हरी, भद्रमदा,
मातङ्गी, शार्दूलो, भेता, सुरभी, सबलक्षणसम्पन्ना सुरसा
और कद्रुका ॥ २१-२२ ॥

अपत्यं तु मृगाः सर्वे मृग्या नरकरोत्तम ।
ऋक्षाश्च मृगमन्दायाः सुमराश्चमरास्तथा ॥ २३ ॥
‘नरजोमे श्रेष्ठ श्रीराम ! मृगोंकी संतान सारे मृग हैं और
मृगमन्दाके ऋक्ष, सुमर और चमर ॥ २३ ॥

ततस्त्विवावतीं नाम जज्ञे भद्रमदा सुताम् ।
तस्याम्वैरावत पुत्रीं लोकनाथो महागजः ॥ २४ ॥

‘भद्रमदाने इरावती नामक कन्याको जन्म दिया, जिसका
पुत्र है ऐरावत नामक महान् गजराज, जो समस्त लोकोंका
अधीन है ॥ २४ ॥

हर्याश्च हरयोऽपत्यं घानराश्च तपस्विनः ।
गोलाहूलाश्च शार्दूलो व्याघ्राश्चाजनयन् सुतान् ॥ २५ ॥

‘हरीकी संताने हरि (मिह) तथा तपस्वी (विचारशील)
घानर तथा गोलाहूल (लगूर) हैं । क्रोधवशाकी पुत्री
शार्दूलोंने व्याघ्र नामक पुत्र उत्पन्न किया ॥ २५ ॥

मातङ्ग्यास्त्वथ मातङ्गा अपत्यं यनुजर्षभ ।
दिशागर्जं तु काकुत्स्थ भेता व्यजनयन् सुतम् ॥ २६ ॥

‘नरश्रेष्ठ ! मातङ्गीकी संताने मातङ्ग (हाथी) हैं ।
काकुत्स्थ ! भेताने अपने पुत्रक रूपमें एक दिशागर्जका
जन्म दिया ॥ २६ ॥

ततो दुहितरौ राम सुरभिर्द्वौ व्यजायत ।
रोहिणीं नाम भद्रं ते गन्धर्वीं च यशस्विनीम् ॥ २७ ॥

‘श्रीराम ! आपका भला हो । क्रोधवशाकी पुत्री भुभी
द्वीने दो कन्याएँ उत्पन्न कीं—रोहिणी और यशस्विनी
गन्धर्वी ॥ २७ ॥

रोहिण्यजनयद् गान्धर्वीं गन्धर्वीं वाजिनः सुतान् ।
सुरसाजनयन्नागान् राम कद्रुश्च पत्रगान् ॥ २८ ॥

‘रोहिणीने गौओंको जन्म दिया और गन्धर्वीने घोड़ोंको ही
पुत्ररूपमें प्रकट किया । श्रीराम ! सुरसाने नागोंको और कद्रूने
गन्धर्वोंका जन्म दिया ॥ २८ ॥

मनुर्मनुष्याश्चमयन् कश्यपस्य महात्मनः ।
ब्राह्मणान् क्षत्रियान् वैश्याञ्छूद्रोश्च मनुजर्षभ ॥ २९ ॥

‘नरश्रेष्ठ ! महात्मा कश्यपकी पत्नी मनुने ब्राह्मण,
क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र जातिवाले मनुष्योंको जन्म
दिया ॥ २९ ॥

मुखतो ब्राह्मणा जाना उमसः क्षत्रियास्तथा ।
ऊरुभ्यां जज्ञिरे वैश्याः पद्भ्यां शूद्रा इति श्रुतिः ॥ ३० ॥

‘मुखसे ब्राह्मण उत्पन्न हुए और हृदयसे क्षत्रिय । दोनों
ऊरुओंमें वैश्याका जन्म हुआ और दोनों पैरोंसे शूद्रोंका
ऐसी प्रामाण्य है ॥ ३० ॥

सर्धान् पुण्यफलान् वृक्षाननलापि व्यजायत ।
विनता च शुकीपीत्री कद्रुश्च सुरसास्वसा ॥ ३१ ॥

(कश्यपपत्नी) अनलाने पवित्र फलवाले समस्त
वृक्षोंको जन्म दिया । कश्यपपत्नी नामाकी पुत्री जो शुकी थी,
उमकी पीत्री विनता थी तथा कद्रू मृगमाकी बहिन (एवं
क्रोधवशाकी पुत्री) कहो गयी है ॥ ३१ ॥

कद्रुर्नागसहस्रं तु विजज्ञे धरणीधरान् ।
द्वौ पुत्रीं विनतायास्तु गरुडोऽरुण एव च ॥ ३२ ॥

इनमेंसे कद्रूने एक महत्स नागोंको उत्पन्न किया, जो इस
पृथ्वीका धारण करनेवाला है तथा विनताके दो पुत्र
हुए—गरुड और अरुण ॥ ३२ ॥

तस्माज्जातोऽहमरुणान् सम्पातिश्च भमाग्रजः ।
जटायुरिति मां विद्धि श्येनीपुत्रपरिदम ॥ ३३ ॥

‘उन्हीं विनतानन्दन अरुणसे मैं तथा मेरे बड़े भाई
सम्पाति उत्पन्न हुए । शत्रुदमन रघुवीर ! आप मेरा नाम
जटायु समझें । मैं श्येनीका पुत्र हूँ (ताम्राकी पुत्री जो
श्येनी बनी गयी है उसका परम्परामें उत्पन्न हुई एक
श्येनी मेरी माता हुई) ॥ ३३ ॥

सोऽहं वाससहायस्ते भविष्यामि यदीच्छसि ।
इदं दुर्गं हि कान्तारं मृगराक्षससंविभम् ।

भीतां च तान रक्षिष्ये त्वयि याते सलक्ष्मणे ॥ ३४ ॥

‘नाम ! यदि आप चाहें तो मैं यहाँ आपके निवासमें
महायुक्त होऊँगा । यह दुर्गम वन मृगों तथा राक्षसोंसे
सेविन है । लक्ष्मणमित्र आप यदि अपनी धर्मशालासे
कभी बाहर चले जायें तो उस अवसरपर मैं देखी सौताकी
रक्षा करूँगा ॥ ३४ ॥

जटायुश्च तु प्रतिपूज्य राघवो
पुदा परिब्रूज्य च संनतोऽभवत् ।

पितुर्हि शुश्राव सखित्वमात्मवा-
जटायुषा सकथितं पुनः पुनः ॥ ३५ ॥

यह सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने जटायुका बड़ा सम्मान किया
और प्रसन्नतापूर्वक उनके गले लगकर वे उनके सामने
नतमस्तक हो गये । फिर पिताके साथ जिस प्रकार उनकी
पित्रता हुई थी, वह प्रसन्न मनस्वी श्रीरामने जटायुका भ्रातृ-
संसार सुना ॥ ३५ ॥

स तत्र सीता परिदाय मैथिलीं

सहैव तेनातिवलेन पक्षिणा ।

जगाम तां पञ्चवटीं सलक्ष्मणो

रिपून् दिधक्षब्दालम्बानिवानलः ॥ ३६ ॥

तत्पश्चात् वे मिथिलेशकुमारी सीताकरं उनके संरक्षणमें

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे सतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें चौदहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १४ ॥

पञ्चदशः सर्गः

पञ्चवटीके रमणीय प्रदेशमें श्रीरामकी आज्ञासे लक्ष्मणद्वारा सुन्दर पर्णशालाका निर्माण तथा उसमें सीता और लक्ष्मणसहित श्रीरामका निवास

ततः पञ्चवटीं गत्वा नानाव्यालभृगायुताम् ।

उवाच लक्ष्मणं रामो भ्रातरं दीप्ततेजसम् ॥ १ ॥

नाना प्रकारके सर्पों, जिसके जन्तुओं और पृंगोंमें भरी हुई पञ्चवटीमें पहुँचकर श्रीरामने उद्गता तेजवाले अपने भाई लक्ष्मणसे कहा— ॥ १ ॥

आगताः स्म यथोद्दिष्टं यं देशं मुनिरब्रवीत् ।

अयं पञ्चवटीदेशः सौम्यं पुष्पितकाननः ॥ २ ॥

‘सौम्य । मुनिवर अगस्त्यने हमें जिस स्थानका परिचय दिया था, उनके तथाकथित स्थानमें हमलोग आ पहुँचे । यही पञ्चवटीका प्रदेश है । यहाँका वनभ्रान्त पुष्पोंमें कैसी शोभा पा रहा है ॥ २ ॥

सर्वतश्चार्यतां दृष्टिः कानने निपुणो ह्यसि ।

आश्रमः कतरक्षिन् नो देशे भवति सम्पतः ॥ ३ ॥

‘लक्ष्मण । तुम इस वनमें चारों ओर दृष्टि डालो, क्योंकि इस कार्यमें निपुण हो देखकर यह निश्चय करो कि किस स्थानपर आश्रम बनाना हमारे लिये उत्कृष्ट होगा ॥ ३ ॥

रमते यत्र वीदेही स्वमहं जैव लक्ष्मण ।

तादृशो वृक्षतां देशः सनिकृष्टजलाशयः ॥ ४ ॥

वनरामण्यके यत्र जलरामण्यकं तथा ।

सनिकृष्टं च यस्मिंस्तु समित्पुष्पकुशोदकम् ॥ ५ ॥

‘लक्ष्मण । तुम किसी ऐसे स्थानको ढूँढ़ निकालो, जहाँसे जलाशय निकट हो, जहाँ विदेहकुमारी सीताका मन लगे, जहाँ तुम और हम भी प्रसन्नतापूर्वक रह सकें, जहाँ वन और जल दोनोंका रमणीय दृश्य हो तथा जिस स्थानके आस-पास ही रसिधा, फूल, कुश और जल मिलनेकी सुविधा हो ॥ ४-५ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः संयताञ्जलिः ।

सीतासमक्षं काकुत्स्थमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ६ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर लक्ष्मण दोनों हाथ जोड़कर सीताके सामने ही उन काकुत्स्थकुलभूषण श्रीरामसे इस प्रकार बोले— ॥ ६ ॥

सौंपकर लक्ष्मण और उन अत्यन्त बलशाली पक्षी जटायुके साथ ही पञ्चवटीकी ओर ही चल दिये । श्रीरामचन्द्रजी मुनिजोही राक्षसोंको शत्रु समझकर उन्हें उसी प्रकार दग्ध कर डालना चाहते थे, जैसे आग पतिष्ठोंको जलाकर भस्म कर देता है ॥ ३६ ॥

परवानस्मि काकुत्स्थ स्वयं वर्षशतं स्थिते ।

स्वयं तु रुचिरे देशे क्रियतामिति धो वद ॥ ७ ॥

काकुत्स्थ आपके रहने हुए मैं सदा पराधीन ही हूँ । मैं सैकड़ों या अनन्त वर्षोंतक आपकी आज्ञाके अधीन हो रहना चाहता हूँ, अतः आप स्वयं हाँ देखकर जो स्थान सुन्दर जान पड़े, वहाँ आश्रम बनानेके लिये मुझे आज्ञा दें —मुझसे कहें कि तुम अमुक स्थानपर आश्रम बनाओ ॥ ७ ॥

सुप्रीतस्तेन वाक्येन लक्ष्मणस्य महाश्रुतिः ।

विभृशन् रोचयामास देशं सर्वगुणान्वितम् ॥ ८ ॥

स तं रुचिरमाक्रम्य देशमाश्रमकर्मणि ।

हस्ते गृहीत्वा हस्तेन रामः सीमिश्रिमब्रवीत् ॥ ९ ॥

लक्ष्मणके इस वचनसे अत्यन्त तेजस्वी भगवान् श्रीरामको बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने स्वयं ही सोच विचारकर एक ऐसा स्थान पसन्द किया जो सब प्रकारके उनम गुणोंसे सम्पन्न और आश्रम बनानेके योग्य था । उस सुन्दर स्थानपर आकर श्रीरामने लक्ष्मणका हाथ अपने हाथमें लेकर कहा— ॥ ८-९ ॥

अयं देशः समः श्रीमान् पुष्पितैस्तरुभिर्वृतः ।

इहाम्भयपदं रम्यं यथावत् कर्तुमर्हसि ॥ १० ॥

‘मुमित्रानन्दन । यह स्थान समतल और सुन्दर है तथा फूले हुए वृक्षोंमें घिरा है । तुम्हें इसी स्थानपर यथोचित रूपसे एक रमणीय आश्रमका निर्माण करना चाहिये ॥ १० ॥

इयमादित्यसंकाशैः पद्मैः सुरभिगन्धिभिः ।

अदूरे दृश्यते रम्या पद्मिनी पराशोभिभा ॥ ११ ॥

‘यह भास ही सूर्यके समान उज्ज्वल कान्तिवाले मनोरम गन्धयुक्त कमलोंसे रमणीय प्रतीत होनेवाली तथा पद्मोंकी शोभासे सम्पन्न पुष्करिणी दिखायी देती है ॥ ११ ॥

यथास्थितमगस्त्येन मुनिना भावितात्मना ।

इयं गोदावरी रम्या पुष्पितैस्तरुभिर्वृता ॥ १२ ॥

‘प्रवित्र अन्तःकरणवाले अगस्त्य मुनिने जिसके वियगमें कहा था, वह चिकसित वृक्षार्कलवोंसे घिरी हुई रमणीय

गोदावरी नदी बहती है ॥ १२ ॥

हंसकारण्डवाकीर्णा चक्रवाकोपशोभिता ।

नातिदूरे न आसन्ने पुगयथनिपीडिता ॥ १३ ॥

‘इसमें हंस और कारण्डव आदि जलपक्षी विचर रहे हैं । जलवे इसकी शोभा बढ़ा रहे हैं तथा पानी पीनेके लिये आये हुए भूगोके झुंड इसके तटपर छाये रहने हैं । यह नदी इस स्थानसे न तो अधिक दूर है और न अत्यन्त निकट ही ॥ १३ ॥

मयूरनादिता रम्याः प्रांशवो बहुकन्दराः ।

दृश्यन्ते गिरयः सौम्यः फुल्लैस्तनुधिगवृताः ॥ १४ ॥

‘सौम्य । यहाँ बहुत-सी कन्दराओंसे युक्त ऊँचे-ऊँचे पर्वत दिखायी दे रहे हैं । जहाँ मयूरोंकी मँद्री बाली गुँज रही है । ये रमणीय पर्वत लिले हुए वृक्षोंसे आवृत हैं ॥ १४ ॥

सौवर्णे राजतस्ताम्रदेशे देशे तथा शुभेः ।

गवाक्षिता इवाभान्ति गजाः परमभक्तिभिः ॥ १५ ॥

‘स्थान-स्थानपर सोने, चाँदी तथा ताम्रके समान गजाने सुन्दर गौरवका आभूषण उपलब्धित ये पर्वत ऐसे प्रगट हो रहे हैं । मानो स्वर्णके आकारमें की गयी बाले फूल और मकर आदि रंगोंकी उत्तम शृङ्गारचलाओंसे अलङ्कृत हाथी शोभा पा रहे हैं ।

मालैस्तालैस्तमालैश्च खजूरैः घनसदृशैः ।

नीवारैस्तिनिशैश्चैव पुत्रागैश्चोपशोभिताः ॥ १६ ॥

चूतैरशोकैस्तिलकैः केतकैरपि चम्पकैः ।

पुष्पगुल्मलतोपेतैस्तैस्तैस्तनुधिगवृताः ॥ १७ ॥

स्यन्दनैश्चन्दनैर्नर्पैः पर्णसैलकुक्षैरपि ।

धवाश्वकर्णैश्चार्दिरैः शर्माकिशुकपाटलैः ॥ १८ ॥

पुष्पा, पुल्फों तथा लता-वल्गुरियाँसे युक्त माल, ताल, तमाल, खजूर, कटहल, जलकटम्ब, तिनिश, पुनाग, आम, अशोक, तिलक, केवड़ा, चम्पा, स्यन्दन, चन्दन, कटम्ब, पर्णास, लक्ष्म, धव, अधकर्ण, खैर, शर्मा, यल्लश और गदह (पाइर) आदि वृक्षोंसे घिरे हुए ये पर्वत बड़ी शोभा पा रहे हैं ॥ १६—१८ ॥

इतं पुण्यामदं रम्यामदं बहुयुगाद्भुजम् ।

इह चत्वाराम सौमित्रे सार्धमेतेन पशिणा ॥ १९ ॥

‘सुमित्रानन्दन । यह बहुत ही पवित्र और बड़ा रमणीय स्थान है । यहाँ बहुत से पशु पक्षी निवास करत हैं । हमलोग भी यहाँ इन पशिराज जटायुकें साथ रहेंगे ॥ १९ ॥

एवमुक्त्वानु रामेण लक्ष्मणः परम्वीरहा ।

अधिराणाश्रमे धामशुक्लं सुमहाबलः ॥ २० ॥

श्रीराजक ऐरा बहुतपर शत्रुकांक्षक संहर करनवाल महाबली लक्ष्मणने भाइके लिये शीघ्र ही आश्रम बनाकर न्याय किया ॥ २० ॥

पर्णशालां सुविपुलां तत्र संघातमृत्निकाम् ।

सुस्तम्भा मत्करैर्दीर्घैः कृतवशा सुशोभनाम् ॥ २१ ॥

शर्माशाखाभिरास्तीर्य दुर्धपाशावपाशिताम् ।

कुशकाशशरैः पर्णैः सुपरिच्छादितां तथा ॥ २२ ॥

समीकृततलां रम्यां चकार सुमहाबलः ।

निवासे राघवस्यार्थे प्रेक्षणीयमनुत्तमम् ॥ २३ ॥

वह आश्रम एक अत्यन्त विस्तृत पर्णशालाके रूपमें बनाया गया था । महाबली लक्ष्मणने बहुत बर्त मिट्टी एकत्र करके दीवार खड़ी की । फिर इसमें सुन्दर एवं सुदृढ़ खम्भे लगाये । खम्भोंके ऊपर बड़े-बड़े बाँस तिरछे करके रखे । बाँसोंके मग्न दिय जानेवाले वह कुटी बड़ी सुन्दर दिखायी देने लगी । फिर उन बाँसोंपर उन्होंने शर्मावृक्षकी शाखाएँ फैला दीं और इनमें मजबूत रस्सियोंसे कसकर बाँध दिया । इसके बाद ऊपरसे कुछ काम सरकड़े और पत्ते बिछाकर उस पर्णशालाके भलीभाँति छा दिया तथा नीचेकी भूमिकी जगह करके उस कुटीको बड़ा रमणीय बना दिया । इस प्रकार लक्ष्मणने श्रीगणेशचन्द्रजीके लिये परम उत्तम निवासगृह बना दिया, जो देखने ही योग्य था ॥ २१—२३ ॥

स गत्वा लक्ष्मणः श्रीमान् नदीं गोदावरीं तदा ।

स्नात्वा पचानि घाटाय सफलः पुनरागतः ॥ २४ ॥

उसे तैयार करके श्रीमान् लक्ष्मणने गोदावरी नदीके तटपर जाकर तत्काल उसमें स्नान किया और कमलके फूल तथा फल लेकर वे फिर वहीं लौट आये ॥ २४ ॥

ततः पुष्पत्रलिं कृत्वा शान्तिं च स यथाविधि ।

दर्शयामास रामाय तदाश्रमपदे कृतम् ॥ २५ ॥

तदनन्तर शाखाय विधिके अनुसार देवताओंके लिये फूलोंकी बलि (उपहारसामग्री) अर्पित की तथा वास्तुशान्ति करके उन्होंने अपना बनाया हुआ आश्रम श्रीगणेशचन्द्रजीको दिखाया ॥ २५ ॥

स ते दृष्ट्वा कृतं सौम्यमाश्रमं सह सीतया ।

राघवः पर्णशालायां हर्षमाहारयत् परम् ॥ २६ ॥

भगवान् श्रीगणेशजीके साथ उस नये बने हुए सुन्दर आश्रमको देखकर बहुत प्रसन्न हुए और कुछ कालतक उनके भीतर खड़े रहे ॥ २६ ॥

सुसंहृष्टः परिहृज्य बाहुभ्यां लक्ष्मणं तदा ।

अतिस्निग्धं च गाढं च वचनं घेदमब्रवीत् ॥ २७ ॥

तत्पश्चात् अत्यन्त हर्षमें भरकर उन्होंने दोनों भुजाओंसे लक्ष्मणको कसकर हृदयसे लगा लिया और बड़ स्नेहक साथ बड़ बात कही— ॥ २७ ॥

प्रीतोऽस्मि ते महत् कर्म त्वया कृतमिदं प्रभो ।

प्रदेयो यन्नियतं ते परिहृज्यो मया कृतः ॥ २८ ॥

‘सामर्थ्यशाली लक्ष्मण ! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ । तुमने यह महान् कार्य किया है । उसके लिये और कोई समुचित पुरस्कार न होनेसे मैंने तुम्हें गाढ़ आलिङ्गन प्रदान किया है ॥ २८ ॥

भावज्ञेन कृतज्ञेन धर्मज्ञेन च लक्ष्मण ।

त्वया पुत्रेण धर्मात्मा न संवृत्तः पिता यम ॥ २९ ॥

'लक्ष्मण । तुम मेरे मनोभावको उत्कल समझ लेनेवाले, कृतज्ञ और धर्मज्ञ हो, तुम जैसे पुत्रके कारण मेरे धर्मात्मा पिता अभी मेरे नहीं हैं तुम्हारे रूपमें वे अब भी जाँचित हो हैं' ॥ २९ ॥

एवं लक्ष्मणमुक्त्वा तु राघवो लक्ष्मिवर्धनः ।

तस्मिन् देशे बहुफले न्यवसत् स सुखं सुखी ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीमहात्म्यकीयसामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें पंद्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १५ ॥

षोडशः सर्गः

लक्ष्मणके द्वारा हेमन्त ऋतुका वर्णन और भरतकी प्रशंसा तथा श्रीरामका उन दोनोंके साथ गोदावरी नदीमें स्नान

वसतस्तस्य तु सुखं राघवस्य महात्मनः ।

शरद्व्यपाये हेमन्तप्रवृत्तिः प्रवर्तत ॥ १ ॥

महात्मा श्रीरामको उस आश्रममें रहने हुए शरद् ऋतु बीत गयी और प्रिय हेमन्तका आरम्भ हुआ ॥ १ ॥

स कदाचित् प्रधातायां शर्व्यां रघुनन्दनः ।

प्रययावभिषेकार्थं रम्यां गोदावरीं नदीम् ॥ २ ॥

एक दिन प्रातःकाल रघुकुलनन्दन श्रीराम स्नान करनेके लिये परम रमणीय गोदावरी नदीके तटपर गये ॥ २ ॥

प्रह्लाः कलशहस्तस्तु सौम्या सह वीर्यवान् ।

पृष्ठतोऽनुव्रजन् भ्राता सौमित्रिरिदमब्रवीत् ॥ ३ ॥

उनके छोटे भाई लक्ष्मण भी, जो बड़े हो विनीत और पराक्रमी थे, भ्राताके साथ-साथ हाथमें धड़ा लिये उनके पीछे-पीछे गये । जाते-जाते वे श्रीरामचन्द्रज्योतिष इस प्रकार बोले— ॥ ३ ॥

शर्वं स कालः सम्प्राप्तः प्रियो यस्ते प्रियंवद ।

अलंकृतं इवाभाति येन संवत्सरः शुभः ॥ ४ ॥

प्रिय कनन बालकवाले प्रिया श्रीराम । यह वही हेमन्त-काल आ पहुँचा है जो आपको अधिक प्रिय है और जिससे यह शुभ संवत्सर अलंकृत-सा प्रतीत होता है ॥ ४ ॥

नीहारपरुषो लोकः पृथिवीं सस्यमालिनी ।

जलान्यनुपभोग्यानि सुभगो हव्यवाहनः ॥ ५ ॥

'इस ऋतुमें अधिक ठण्डक या पालक कारण लोगोंका शरीर रुग्ण हो जाता है, पृथ्वीमें खेतों सेनी लहलहाने लगती है । जल अधिक शीतल होनेके कारण पौधोंके योग्य नहीं रहता और आग बड़ी प्रिय लगती है ॥ ५ ॥

नवाग्रयणपूजाभिरभ्यर्च्य पितृदेवताः ।

कृताग्रयणकाः काले सन्तो विगतकल्मषा ॥ ६ ॥

'नवसंशोद्धि, कर्मके अनुष्ठानकी इस चेलामें नूतन अग्र

लक्ष्मणसे ऐसा कहकर अपनी शोभाका विस्तार करनेवाले सुखी श्रीरामचन्द्रजों प्रचुर फलोंसे सम्पन्न उस पञ्चवटी-प्रदेशमें सबके साथ सुखपूर्वक रहने लगे ॥ ३० ॥

कश्चित् कालं स धर्मात्मा सीतया लक्ष्मणेन च ।

अन्वास्यमानो न्यवसत् स्वर्गलोके यथापरः ॥ ३१ ॥

सीता और लक्ष्मणसे सेवित हो धर्मात्मा श्रीराम कुछ कालतक वहाँ उसी प्रकार रहे, जैसे स्वर्गलोकमें देवता निवास करते हैं ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीमहात्म्यकीयसामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें पंद्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १५ ॥

ग्रहण करनेके लिये की गयी आग्रयणकर्मरूप पूजाओंद्वारा देवताओं तथा पितरोंको मनुष्ट्र करके उन आग्रयणकर्मका सम्पादन करनेवाले सत्पुरुष निष्पाप हो गये हैं ॥ ६ ॥

प्राज्यकामा जनपदाः सम्पन्नतरंगोरसाः ।

विचरन्ति महीपाला यात्रार्थं विजिगीषवः ॥ ७ ॥

इस ऋतुमें प्रायः सभी जनपदोंके निवासियोंकी अन्न-प्राप्तिविषयक कामनाएँ प्रचुररूपसे पूर्ण हो जाती हैं । गोरसको भी बहुतायत हसी है तथा विजयकी इच्छा रखनेवाले भूपालगण युद्ध-यात्राके लिये विचरते रहते हैं ॥ ७ ॥

सेवमाने दृढं सूर्यं दिशयन्सकमेधिताम् ।

विहीनतिलकं च स्त्री नोत्तरा दिक् प्रकाशते ॥ ८ ॥

सूर्यदेव इन दिनों यमसंघित दक्षिणदिशाका दृढ़तापूर्वक सेवन करने लगे हैं । इसलिये उत्तरदिशा सिंदूरचन्दुसे वक्षित हुई नारीकी भाँति सुशोभित या प्रकाशित नहीं हो रही है ।

प्रकृत्या हिमकोशाक्यो दूरसूर्यश्च साम्प्रतम् ।

यथार्थनामा सुख्यकं हिमवान् हिमवान् गिरिः ॥ ९ ॥

हिमालयपर्वत तो स्वभावसे ही घनीभूत हिमके खजानेसे भरा-परा होता है, परन्तु इस समय सूर्यदेव भी दक्षिणायनमें चले जानेके कारण उससे दूर हो गये हैं, अतः अब अधिक हिमके संचयसे सम्पन्न होकर हिमवान् गिरि स्पष्ट ही अपने नामका सार्थक कर रहा है ॥ ९ ॥

अत्यन्तसुखसंचारा मध्याह्ने स्पर्शतः सुखाः ।

दिवसा सुभगादित्याश्छायासलिलदुर्भगाः ॥ १० ॥

'मध्याह्नकालमें धूपकर स्पर्श होनेसे हेमन्तके सुखमय दिन अन्यन्त सुखसे डगर-उधर विचरनेके योग्य होते हैं । इन दिनों मृमेध्य होनेके कारण सूर्यदेव शोभायशाली जान पड़ते हैं और सेवनके योग्य न होनेके कारण छाँह तथा जल अभागे प्रतीत होने हैं ॥ १० ॥

नृदसूर्याः सुनीहाराः पदुशीताः समारुताः ।

शून्यारण्या हिमध्वस्ता दिवसा भान्ति साम्प्रतम् ॥ ११ ॥

‘आजकलके दिन ऐसे हैं कि सूर्यको किरणोंका स्पर्श कमल (प्रिय) जान पड़ता है। कुहासे अधिक पड़ने हैं। मादो सबल होती है, कड़ाकेका जड़ा पड़ने लगता है। साथ ही ठण्डी हवा चलती रहती है। फाला पड़नेसे एतकिं झड़ जानके कारण जंगल सुने दिखायी देने हैं और हिमके स्पर्शसे कमल गल जाते हैं ॥ ११ ॥

निवृत्ताकाशशयनाः पुथ्यनीता हिमारूपाः ।

शीतवृद्धतरायामास्त्रियामा यान्ति साम्प्रतम् ॥ १२ ॥

‘इस हेमन्तकालमें एतें बड़ी होन लगती हैं। इनमें सरदी बहुत बढ़ जाती है। कुछ आकाशमें कोई नहीं होते हैं। घौषमासको ये रातें हिमपातके कारण धुमर प्रतीत होती हैं ॥ १२ ॥

रविसंक्रान्तसौभाग्यस्तुषारारुणमण्डल

निश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते ॥ १३ ॥

‘हेमन्तकालमें चन्द्रमाका सौभाग्य सूर्योदय चला गया है (चन्द्रमा सरदीके कारण अस्तव्य और सूर्य मन्दरश्मि होनेके कारण संध्य ही गये हैं) चन्द्रमण्डल हिमकणोंसे आच्छन्न होकर भूमिज जल पड़ता है और चन्द्रमा निश्वासान्धमें मलिन हुए दर्पणको भाँति प्रकाशित नहीं हो रहे हैं ॥ १३ ॥

ज्योत्स्ना तुषारमस्तिना पूर्णमास्या न राजते ।

सीतेव शीतलस्पर्शो हिमविद्धश्च साम्प्रतम् ॥ १४ ॥

‘इन दिनों पूर्णमासी चटिनी रात भी तुहिन-विन्दु भाँसे मलिन दिखायी देती है—प्रकाशित नहीं होती है। ठीक उसी तरह, जैसे माता अधिक धूप लगानेसे माँकली-में झंझना है—पूर्ववत् शोभा नहीं पाती ॥ १४ ॥

प्रकृत्या शीतलस्पर्शो हिमविद्धश्च साम्प्रतम् ।

प्रवाणि पश्चिमो वायुः काले द्विगुणशीतलः ॥ १५ ॥

‘स्वभावसे ही जिसका स्पर्श शीतल है, वह पछुआ हवा इस समय हिमकणोंसे व्याप्त हो जानके कारण दुसरे सरदी मन्त्र बढ़ गेगा बढ़ रही है ॥ १५ ॥

साण्डकान्यरषयानि यवगोधूमयन्ति च ।

शोभन्तेऽभ्युदिते सूर्ये नर्दद्भिः क्रीञ्चमारमः ॥ १६ ॥

‘जी और गेहूँके खेतोंसे युक्त ये वनसंख्यक वन भापते हैंक हुए हैं तथा क्रीञ्च और मारम इनमें जलजल कर रहे हैं सूर्योदयकालमें इन वनोंकी बड़ी शोभा हो रही है ॥ १६ ॥

खर्जूरपुष्पाकृतिभिः शिरोभिः पूर्णतण्डुलैः ।

शोभन्ते किञ्चिदालम्बाः शालयः कनकप्रभा ॥ १७ ॥

‘ये सुनहरे रंगके जड़वन धान खजूरके फूलक-में आकारवाली आलास, जिनमें चावल भरे हुए हैं, कुछ लटक गये हैं। इन आलासके कारण इनको सड़ी शोभा होती है ॥ १७ ॥

मयूर्वरूपसर्पेन्द्रहिमनीहारसंवृतैः ।

दूग्धभ्युदितः सूर्यः शशाङ्क इव लक्ष्यते ॥ १८ ॥

‘कुहासेसे ढकी और फैलती हुई किरणोंसे उपलक्षित होनेवाले दूग्धदित सूर्य चन्द्रमाके समान दिखायी देने हैं।

आग्राह्यवीर्यः पूर्वाह्ने मध्याह्ने स्पर्शतः सुखः ।

संरक्तः किञ्चिदापाण्डुरातपः शोभते क्षिणौ ॥ १९ ॥

‘इस समय अधिक लाल और कुछ-कुछ श्वेत, पीत वर्णकी धूप पूर्वापर फैलकर शोभा पा रही है। पूर्वाह्न-कालमें तो कुछ इसका जल जान हो नहीं पड़ता है, परंतु मध्याह्नकालमें इसका स्पर्शसे सुखका अनुभव होता है ॥ १९ ॥

अवश्यायान्पातेन किञ्चिन्मङ्गिप्रशाद्यला ।

वनानां शोभते भूधिरिर्विष्टतरुणातपा ॥ २० ॥

‘असको बँट पड़नेसे जहाँका घाम कुछ-कुछ घोंगो हुई जान पड़ता है वह वनभूमि नवादिन सूर्यको धूपका प्रवेश होनेसे अद्भुत शोभा पा रही है ॥ २० ॥

स्पृशन् सुविपुलं शीतमुदकं हिरदः सुखम् ।

अत्यन्तनृषितो वन्यः प्रतिसंहरते करम् ॥ २१ ॥

‘यह जंगलों तथा बहुत प्यासा हुआ है। यह मुखपूर्वक प्यास बुझाने लिये अत्यन्त शीतल जलको स्पर्श तो करता है किन्तु उसको ठडक अमन्य जानके कारण अपनी मुँडकी गुरल ही सिकोड़ लेता है ॥ २१ ॥

एते हि समुपासीना विहगा जलचारिणः ।

नावगाहन्ति सलिलमप्रगल्भा इवाहवम् ॥ २२ ॥

‘ये जलचर पक्षी अलंके पास ही बैठे हैं; परंतु जैसे डरपक मत्स्य मुद्गधूममें प्रवेश नहीं करते हैं उसी प्रकार ये पानोंमें नहीं उतर रहे हैं ॥ २२ ॥

अवश्यायतमोनद्धा नीहारतपसावृताः ।

प्रसृप्ता इव लक्ष्यन्ते विपुष्पा वनराजयः ॥ २३ ॥

‘शून्य ओमविन्दुओं और अन्धकारसे आच्छादित तथा प्रातःकाल कुहासके अधेरसे ढकी हुई ये पुष्पहीन वनश्रेणियाँ नर्तकी हुई-सी दिखायी देती हैं ॥ २३ ॥

काण्डमच्छन्नसलिला स्तविज्ञेयसारसाः ।

हिमार्द्रवातुर्केशीरं सरितो भान्ति साम्प्रतम् ॥ २४ ॥

‘इस समय नदियोंके जल भापसे ढक हुए हैं। इनमें विचरनेवाले सागर केवल अपने कलखोंसे पहचाने जाते हैं तथा ये सारिगाँ धी ओमस भागी हुई बालूवाले अपने तनोंमें ही प्रकाशमें आती हैं (जलसे नहीं) ॥ २४ ॥

तुषारपतनाच्चैव मृदुत्वाद् भास्करस्य च ।

शीत्यादगाग्रस्थपि प्रायेण रसज्जलम् ॥ २५ ॥

‘बर्फ पड़नेसे और सूर्यको किरणोंके मन्द होनेसे अधिक मन्दके कारण इन दिनों पर्वतके शिखरपर पड़ा हुआ जल भी शीत्य-स्पर्शित प्रतीत होता है ॥ २५ ॥

जराजर्जरितैः यत्रैः शीर्णकैसरकर्णिकैः ।

नालशेषा हिमध्वस्ता न भान्ति कमलाकराः ॥ २६ ॥

‘जो पुराने षड़ जनकें कारण जर्जर हो गये हैं, जिनको कर्णिका और केसर जर्ण-शीर्ण हो गये हैं, ऐसे दलोंसे उपलक्षित होनेवाले कमलाके समूह पाल्म पड़नमें गल गये हैं। उनमें डठलमात्र शेष रह गये हैं। इसीलिये उनकी शोभा नष्ट हो गयी है ॥ २६ ॥

अस्मिन्स्तु पुरुषव्याघ्र काले दुःखसमन्वितः ।

तपश्चरति धर्मात्मा त्वद्धक्त्या भरतः पुरे ॥ २७ ॥

‘पुरुषसिंह श्रीराम ! इस समय धर्मात्मा भरत आपके लिये बहुत दुःखी हैं और आपमें भक्ति रखते हुए नगरमें ही तपस्या कर रहे हैं ॥ २७ ॥

त्यक्त्वा राज्यं च मानं च भोगांश्च विविधान् बहून् ।

तपस्वी नियताहारः शोभे शीते महीतले ॥ २८ ॥

‘वे राज्य, मान तथा माना प्रकारके बहुमत्त्वक भोगोंका परित्याग करके तपस्यामें संलग्न हैं एवं नियमित आहार करते हुए इस शीतल महीतलपर जिना विस्तारके ही शयन करते हैं ॥ २८ ॥

सोऽपि खेलाधिमां नूनमभिवेकार्थमुद्यतः ।

वृतः प्रकृतिभिर्नित्यं प्रपाति सरयू नदीम् ॥ २९ ॥

‘निश्चय ही भरत भी इसी खेलमें खानक, लिये उद्यत हो मन्त्री एवं प्रजाजनोंके साथ प्रतिकूल सरयू नदीके तटपर जाते होंगे ॥ २९ ॥

अत्यन्तसुखसंवृद्धः सुकुमारो हिमार्द्रितः ।

कथं त्वपररात्रेषु सरधूमवगाहते ॥ ३० ॥

‘अत्यन्त सुखमें पले हुए सुकुमार भरत जाड़का कष्ट सहते हुए रातके पिछले पहरमें कैम मरुप्रदेशके जलमें डुबकी लगाते होंगे ॥ ३० ॥

पराप्रेक्षणः श्यामः श्रीमान् निरुदतो महान् ।

धर्मज्ञः सत्यवादी च ह्रीनिषेधो जितेन्द्रियः ॥ ३१ ॥

प्रियाभिभाषी मधुरो दीर्घबाहुरिदमः ।

संत्यज्य विविधान् सौख्यानार्यं सर्वात्मनाश्रितः ॥ ३२ ॥

‘जिनके नेत्र कमलदलके समान शोभा पाते हैं, जिनकी अङ्गकान्ति श्याम है और जिनके उदरका कुछ पना भी नहीं लगता है, ऐसे महान् धर्मज्ञ सत्यवादी ह्रीनिषेध जितेन्द्रिय प्रिय वचन बोलनेवाले, मृदुल स्वभाववाले महाबाहु शत्रुदयन श्रीमान् भरतने नाना प्रकारके सुखोंको त्यागकर सर्वथा आश्रित ही आश्रय ग्रहण किया है ॥ ३१-३२ ॥

जितः स्वर्गस्तथ भ्रात्रा भरतेन महात्मना ।

वनस्थमपि तापस्ये यस्त्वामनुविधीयते ॥ ३३ ॥

‘आपके भाई महात्मा भरतने निश्चय ही स्वर्गान्नक्षर विजय प्राप्त कर ली है, क्योंकि वे भी तपस्यामें स्थित होकर आपके वनवासो जीवनका अनुसरण कर रहे हैं ॥ ३३ ॥

न पित्र्यमनुवर्तन्ते मातृकं द्विपदा इति ।

ख्यातो लोकप्रवादोऽयं भरतेनान्यथा कृतः ॥ ३४ ॥

‘मनुष्य प्रयः माताके गुणोंका ही अनुवर्तन करते हैं पिताके नहीं, इस लौकिक उक्तिको भरतने अपने वर्तवसे मिथ्या प्रमाणित कर दिया है ॥ ३४ ॥

भर्ता दशरथो यस्याः साधुश्च भरतः सुतः ।

कथं नु साय्वा कैकेयी तादृशी क्रूरदर्शिनी ॥ ३५ ॥

‘महाराज दशरथ जिसके पति हैं और भरत-जैसा साधु जिसका पुत्र है वह माता कैकेयी वैसी क्रूरतापूर्ण दृष्टिवाली कैसे हो गयी ?’ ॥ ३५ ॥

इत्येवं लक्ष्मणे वाक्यं खेहाद् वदति धार्मिके ।

परिवादं जनन्यास्तमसहन् राधवोऽब्रवीत् ॥ ३६ ॥

धर्मपरायण लक्ष्मण जब खेहवश इस प्रकार कह रहे थे, उस समय श्रीरामचन्द्रजीसे माता कैकेयीको निन्दा नहीं सहनी गयी। उन्होंने लक्ष्मणसे कहा— ॥ ३६ ॥

न तेऽय्वा मध्यमा तात गर्हितव्या कदाचन ।

तामेवंक्ष्वाकुनाधस्य भरतस्य कथां कुरु ॥ ३७ ॥

‘तात ! तुम्हें भगवती माता कैकेयीको कभी निन्दा नहीं करनी चाहिये (यदि कुछ कहना हो तो) पहलेकी भाँति इक्ष्वाकुवंशके स्वामी भरतकी ही खर्चा करो ॥ ३७ ॥

निश्चितैव हि मे बुद्धिर्वनवासे दृढव्रता ।

भरतखेहसंतप्ता बालिशीक्रियते पुनः ॥ ३८ ॥

‘यद्यपि मेरी बुद्धि दृढतापूर्वक व्रतका पालन करते हुए वनमें रहनका अटल निश्चय कर चुकी है, तथापि भरतक खेहसे संतप्त होकर पुनः चञ्चल हो उठती है ॥ ३८ ॥

सम्प्राप्यस्य वाक्यानि प्रियाणि मधुराणि च ।

इद्यान्यमृतकल्पानि मनःप्रह्लादनानि च ॥ ३९ ॥

‘मुझे भरतकी वे पश्य प्रिय, मधुर मनको भागिवाली और अमृतके समान हृदयको आह्लाद प्रदान करनेवाली बातें याद आ रही हैं ॥ ३९ ॥

कदा ह्यहं समेध्यापि भरतेन महात्मना ।

शत्रुघ्नेन च वीरेण स्वया च रघुनन्दन ॥ ४० ॥

‘रघुकुलनन्दन लक्ष्मण ! कब वह दिन आवेगा, जब मैं तुम्हारे साथ चलकर महात्मा भरत और वीरवर शत्रुघ्नसे मिलूँगा’ ॥ ४० ॥

इत्येवं विलपेस्तत्र प्राप्य गोदावरीं नदीम् ।

चक्रेऽभिषेकं काकुत्स्थः सानुजः सह सीतया ॥ ४१ ॥

इस प्रकार विलाप करते हुए ककुत्स्थकुलभूषण भगवान् श्रीरामने लक्ष्मण और सीताके साथ गोदावरी नदीके तटपर जाकर स्नान किया ॥ ४१ ॥

तर्पयित्वाथ सलिलैस्तीः पितृन् देवतापि ।

सुवर्नानि स्योदितं सूर्यं देवताश्च तथानघाः ॥ ४२ ॥

वहाँ स्नान करके उन्होंने गोदावरीके जलसे देवताओं

और पितरोंका तर्पण किया। तदनन्तर जब सूर्योदय हुआ तब वे दोनों निष्ठाप रथक्ति भगवान् सूर्यको उपस्थान करके अन्य देवताओंकी भी स्तुति करने लगे ॥ ४२ ॥

कृताभिषेकः स रराज रामः

सीताद्वितीयः सह लक्ष्मणेन ।

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित अरण्यकाण्डे आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें सोलहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १६ ॥

सप्तदशः सर्गः

श्रीरामके आश्रममें शूर्पणखाका आना, उनका परिचय जानना और अपना परिचय देकर उनसे अपनेको भार्याके रूपमें ग्रहण करनेके लिये अनुरोध करना

कृताभिषेको रामस्तु सीता सीमित्रिरेव च ।

तस्माद् गोदावरीतीरात् नतो जग्मु स्वमाश्रमम् ॥ १ ॥

ज्ञान करके श्रीराम, लक्ष्मण और सीता दोनों ही उस गोदावरीनदीसे अपने आश्रममें लौट आये ॥ १ ॥

आश्रमे तमुपागम्य राघवः सहलक्ष्मणः ।

कृत्वा पौर्वाहिकं कर्म पर्णशालामुपागमत् ॥ २ ॥

उस आश्रममें आकर लक्ष्मणसहित श्रीरामने पूजाह-
कालके होम-पूजन आदि कार्य पूर्ण किये फिर वे दोनों भाई
पर्णशालामें आकर बैठे ॥ २ ॥

उत्तरसुखितस्तत्र पूज्यमानो महर्षिभिः ।

स रामः पर्णशालायाभासीनः सह सीतया ॥ ३ ॥

विराज महाबाहुश्चित्रया चन्द्रमा इव ।

लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा चकार चित्रिधा कथाः ॥ ४ ॥

वहाँ सीताक साथ वे सुखपूर्वक रहने लगे। उन दिनों
बड़े-बड़े ऋषि-मुनि आकर वहाँ उनका सत्कार करते थे
पार्णशालामें सीताने साथ बैठ कर महाबाहु श्रीरामचन्द्रजी
चित्राके साथ विराजमान चन्द्रमाकी भाँति उभरा था रहे थे।
वे अपने भाई लक्ष्मणके साथ वहाँ तरह-तरहकी बातें किया
करते थे ॥ ३-४ ॥

तदाभीनस्य रामस्य कथासंसक्तचेनसः ।

न तेष्टी राक्षसी कतचिदाजगाम यदुच्छया ॥ ५ ॥

मा तु शूर्पणखा नाम वृक्षश्रीवम्य रक्षसः ।

भगिनी राममासाद्य ददर्श त्रिदशोपमम् ॥ ६ ॥

उस समय जब कि श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणके साथ
चातचित्तमें लगे हुए थे, एक राक्षसी अकस्मात् उस स्थानपर
आ पहुँची। वह दशमुख राक्षस राक्षसकी कहने शूर्पणखा
था उसने वहाँ आकर देवताओंके समान मनोहर रूपवाले
श्रीरामचन्द्रजीको देखा ॥ ५-६ ॥

दीप्तास्यं च यद्भासाहं यद्यपत्रायतेक्षणम् ।

गजचक्रान्नगमनं जटामण्डलधारिणम् ॥ ७ ॥

उनका मुख तेजस्वी, भुजाएँ बड़ी-बड़ी और नेत्र प्रफुल्ल

कृताभिषेकस्त्वगराजपुत्र्या

रुद्रः सनन्दिर्भगवानिवेशः ॥ ४३ ॥

सीता और लक्ष्मणके साथ खाने करके भगवान् श्रीराम उसी
प्रकार शोभा पाने लगे, जैसे पर्वतराजपुत्री उमा और नन्दीके साथ
गङ्गाजलमें अवगहनकरके भगवान् रुद्र सुशोभित होते हैं ॥ ४३ ॥

कमलदलके समान विशाल एवं सुन्दर थे। वे हाथीके समान
मन्द गतिसे चलने थे। उन्होंने मस्तकपर जटामण्डल धारण
कर रखा था ॥ ७ ॥

सुकुमारं महासत्त्वं पार्थिवव्यङ्गनान्वितम् ।

राममिन्दोवरइयामे कन्दर्पसदृशप्रभम् ॥ ८ ॥

बभूवेन्द्रोपमं दृष्ट्वा राक्षसी काममोहिता ।

परम सुकुमार, महान् बलशाली, राजोचित लक्षणोंसे
युक्त नाल कमलके समान इयाम कान्तिसे सुशोभित,
कामदेवक सदृश सौन्दर्यशाली तथा इन्द्रके समान तेजस्वी
श्रीरामको देखते ही वह राक्षसी कामसे मोहित हो गयी।

सुमुखं दुर्मुखी रामे कृतमर्ध्यं महोदरी ॥ ९ ॥

विशालाक्षं विरूपाक्षी सुकेशं ताम्रमूर्धजा ।

प्रियरूपं विरूपा सा सुखरं भैरवस्वना ॥ १० ॥

श्रीरामका मुख सुन्दर था और शूर्पणखाका मुख बहुत ही
भरा एवं कुरूप था। उनका मध्यभाग (कटिप्रदेश और
उदर) क्षोण था किन्तु शूर्पणखा बड़ील लंबे पेटवाली थी
श्रीरामको आँखें बड़ी-बड़ी होनेके कारण मनोहर थीं, परन्तु
उस राक्षसीके नेत्र कुरूप और डरावने थे। श्रीरघुनाथजीके
केश चिकने और सुन्दर थे, परन्तु उस निशाचरीके सिरके
बाल नरि जैस रहते थे श्रीरामका रूप बड़ा प्यारा लगता
था, किन्तु शूर्पणखाका रूप भीमत्स और विकराल था।
श्रीरामचन्द्र मधुर स्वामे बोलते थे, किन्तु वह राक्षसी भैरवनाद
करनेवाली थी ॥ ९-१० ॥

तस्मिं दारुणा वृक्षा दक्षिणे वामभाषिणी ।

न्यायवृत्तं सुदुर्वृत्ता प्रियमप्रियदर्शना ॥ ११ ॥

ये देखनेमें सौम्य और नित्य नूतन तरुण थे, किन्तु वह
निशाचरी क्रूर और हजारों वर्षोंकी बुद्धिवा थी ये सरलतासे
चाग करनेवाले और उदार थे, किन्तु उसकी बातोंमें कुटिलता
भरी रहती थी। ये न्यायोचित सदाचारका पालन करनेवाले
थे और वह अत्यन्त दुराचारिणी थी। श्रीराम देखनेमें प्यारे
लगते थे और शूर्पणखाको देखते ही घृणा पैदा होती थी।

शरीरजसमाविष्टा राक्षसी राममग्रधीत् ।
जटी तापसखेषेण सभार्यः शरचापयूक् ॥ १२ ॥
आगतस्त्वमिमं देशं कथं राक्षससेवितम् ।
किमागमनकृत्यं ते तत्त्वमाख्यातुमर्हसि ॥ १३ ॥

तो वह राक्षसी कामभावसे आविष्ट हो (मनोहर रूप बनाकर) श्रीरामके पास आयी और बोली—'तपस्वाके वेशमें मलकपर जटा धारण किये, साथमें स्त्रीको लिये और हाथमें धनुष आण प्रहण किये, इस राक्षसोंके देशमें तुम कैसे चले आये ? यहाँ तुम्हारे आगमनका क्या प्रयोजन है ? यह सब मुझे ठीक-ठीक बताओ' ॥ १२-१३ ॥

एवमुक्तास्तु राक्षस्या शूर्पणख्या परतपः ।
ब्रह्मबुद्धितया सर्वमाख्यातुमुपचक्रमे ॥ १४ ॥

राक्षसी शूर्पणखाके इस प्रकार पड़नपर शत्रुओंको संताप देनेवाले श्रीरामचन्द्रजीने अपने सरलत्वभावके कारण सब कुछ बताना आरम्भ किया— ॥ १४ ॥

आसीत् दशरथो नाम राजा त्रिदशविक्रमः ।
तम्याह्वयप्रजः पुत्रो रामो नाम जनेः भूतः ॥ १५ ॥

देवि । दशरथ नामसे प्रसिद्ध एक चक्रवर्ती राजा हो गया है जो देवताओंके समान पराक्रमी है । मैं उनकी ज्येष्ठ पुत्र हूँ और लोगोंमें राम नामसे विख्यात हूँ ॥ १५ ॥

भ्रातायै लक्ष्मणो नाम धर्मीयान् मामनुजतः ।
इयं भार्या च वैदेही मम सीतेति विश्रुता ॥ १६ ॥

'ये मेरे छोटे भाई लक्ष्मण हैं, जो सदा मेरे आज्ञाके अधीन रहते हैं और ये मेरी पत्नी हैं, जो त्रिदशव्रज जनककी पुत्री तथा सीता नामसे प्रसिद्ध हैं ॥ १६ ॥

नियोगात् तु नरेन्द्रस्य पितुर्मानुश्च घनिष्ठः ।
धर्मार्थे धर्मकाङ्क्षी च वनं वस्तुमिहागत ॥ १७ ॥

'आज मैं पिता दशरथ और माता कैकेयीको आज्ञासे प्रेरित होकर मैं धर्मपालनको इच्छा रखकर धर्मरक्षाके ही उद्देश्यसे इस वनमें निवृत्त करनेके लिये यहाँ आया हूँ ॥ १७ ॥

त्वां तु खेदितुमिच्छामि कस्य त्वं कासि कस्य वा ।
त्वं हि तावन्मनोज्ञाङ्गी राक्षसी प्रतिभार्सि मे ॥ १८ ॥

इह वा किंनिमित्ते त्वमागता ब्रूहि तत्त्वतः ।
'अब मैं तुम्हारे परिचय प्राप्त करना चाहता हूँ । तुम किसकी पुत्री हो ? तुम्हारा नाम क्या है ? और तुम किसका पत्नी हो ? तुम्हारे अङ्ग इतने मनोहर हैं कि तुम मुझे इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली कोई राक्षसी अनीत होती हो । यहाँ किस लिये तुम आयी हो ? यह ठीक-ठीक बताओ' ॥ १८ ॥

भाज्यवीद् वचनं श्रुत्वा राक्षसी भदनादिता ॥ १९ ॥
श्रुत्वा राम तत्त्वार्थं बक्ष्यामि वचनं मम ।

आहं शूर्पणखा नाम राक्षसी कामरूपिणी ॥ २० ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी यह बात सुनकर वह राक्षसी कामसे पीड़ित होकर बोली—'श्रीराम ! मैं सब कुछ ठीक-ठीक बता रही हूँ । तुम मेरी बात सुनो । मेरा नाम शूर्पणखा है और मैं इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली राक्षसी हूँ ॥ १९-२० ॥

अरण्यं विचरामीदमेका सर्वभयंकरा ।
रावणो नाम मे भ्राता यदि ते श्रोत्रमागतः ॥ २१ ॥

मैं समस्त प्राणियोंके मनमें सब डरपन्न करती हुई इस वनमें अकेली विचरती हूँ । मेरे भाईका नाम रावण है । सम्भव है उसका नाम तुम्हारे कानोंतक पहुँचा हो ॥ २१ ॥

घोरो विश्रवसः पुत्रो यदि ते श्रोत्रमागतः ।
प्रवृद्धनिद्रश्च सदा कुम्भकर्णो महाबलः ॥ २२ ॥

'रावण विश्रवा मुनिका वीर पुत्र है, यह बात भी तुम्हारे मनमें आयी होगी । मेरा दूसरा भाई महाबली कुम्भकर्ण है, जिसकी निद्रा सदा ही बड़ी रहती है ॥ २२ ॥

विभीषणस्तु धर्मात्मा न तु राक्षसचेष्टितः ।
प्रख्यातवीर्यो च रणे भ्रातरो खरदूषणी ॥ २३ ॥

मेरे तीसरे भाईका नाम विभीषण है, परंतु वह धर्मात्मा है, राक्षसोंके आचर-विचारका वह कभी पालन नहीं करता । युद्धमें जिनका पराक्रम विख्यात है, वे खर और दूषण भी मेरे भाई ही हैं ॥ २३ ॥

तानहं समतिक्रान्तां राम त्वा पूर्वदर्शनात् ।
समुपेतास्मि धावेन धर्तारं पुरुषोत्तमम् ॥ २४ ॥

'श्रीराम ! बल और पराक्रममें मैं अपने इन सभी भ्रातृजनोंसे बढ़कर हूँ । तुम्हारे प्रथम दर्शनमें ही मेरा मन तुममें आकर्षित हो गया है । (अर्थात् तुम्हारा रूप-सौन्दर्य अपूर्व है । आजसे पहले देवताओंमें भी किसीका ऐसा रूप मेरे देखनेमें नहीं आया है, अतः इस अपूर्व रूपके दर्शनमें मैं तुम्हारे प्रति आकृष्ट हो गया हूँ ।) यही कारण है कि मैं तुम-जैसे पुरुषोत्तमक प्रति पतिकी भावना रखकर बड़े प्रपन्न पास आयी हूँ ॥ २४ ॥

अहं प्रभावमभ्यत्रा स्वच्छन्दबलगाभिनी ।
चिन्तय भव भर्ता मे सीतया किं करिष्यसि ॥ २५ ॥

'ये प्रभाव (वक्तृत्व भाव—अनुराग अथवा महान् वक्तृ-पराक्रम) में सम्पन्न हूँ और अपनी इच्छा तथा इत्तिसे समस्त लोकोमें विचरण कर सकती हूँ, अतः अब तुम शीघ्रकालके लिये मेरे पति वन जाओ । इस अबला सीताको लेकर क्या करेंगे ? ॥ २५ ॥

विकृता च विरूपा च न संयं सदृशी तव ।
अहमेवानुरूपा ते भार्यारूपेण पश्य माम् ॥ २६ ॥

'यह विकरयुक्त और कुरूप है, अतः तुम्हारे योग्य नहीं है । मैं ही तुम्हारे अनुरूप हूँ, अतः मुझे अपनी भार्याके रूपमें देखो । इयाँ विरूपामसती करालां निर्णतोदरीम् ।

अनेन सह ते भ्रात्रा यश्चयिष्यामि मानुषीम् ॥ २७ ॥

यह सीता मेरी दृष्टिमें कुरूप, आँखी, विकृत, धँसे हुए फटवाली और मानवी है, मैं इसे तुम्हारे इस भाईके साथ हो रहा जाऊँगी ॥ २७ ॥

ममः पर्वतशृङ्गाणि वनानि विविधानि च ।

पश्यन् सह मया कापी दण्डकान् विचरिष्यसि ॥ २८ ॥

फिर तुम कमभाषयुक्त हो मेरे साथ पर्वतोंय जिरारों और नाना प्रकारके वनोंकी शोभा देखने हुए दण्डकवनमें

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकीनिर्मित आष्वत्थामायण आदिकाव्यक अरण्यकाण्डमें सत्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १७ ॥

अष्टादशः सर्गः

श्रीरामके टाल देनेपर शूर्पणखाका लक्ष्मणसे प्रणययाचना करना, फिर उनके भी टालनेपर उसका सीतापर आक्रमण और लक्ष्मणका उसके नाक-कान काट लेना

तो तु शूर्पणखा रामः कामपाशावपाशिताम् ।

स्वेच्छया इलक्षण्या याचा स्मितपूर्वमथाश्र्वीन् ॥ १ ॥

श्रीरामने कामपाशमें बँधी हुई उस शूर्पणखासे अपनी इच्छाके अनुसार मधुर बाणीमें मन्द-मन्द मुसकरते हुए कहा— ॥ १ ॥

कृतदारोऽस्मि पवति भार्यया दयिता मम ।

त्वद्विधानां तु नारीणां सुदुःखा ससंपन्नता ॥ २ ॥

'आदरणीया देखि ! मैं विवाह कर चुकी हूँ। यह मेरी ध्यारी पत्नी विद्यमान है, तुम जंगल स्त्रियोंके विषय तो सीकरी रहना अत्यन्त दुःखदाया ही होगा ॥ २ ॥

अनुजस्त्वेव मे भ्राता शीलवान् प्रियदर्शनः ।

श्रीमानकृतदारश्च लक्ष्मणो नाय कीर्यवान् ॥ ३ ॥

अपूर्वी भार्यया धार्वी तरुणः प्रियदर्शनः ।

अनुरूपश्च ते भर्ता रूपस्यास्य भविष्यति ॥ ४ ॥

'ये तेरे छोटे भाई श्रीमान् लक्ष्मण बड़े शीलवान्, देखनेमें प्रिय लगनेवाले और बल-पराक्रमसे सम्पन्न हैं; इनके साथ की जाती है। ये अत्यन्त गुणवत् सम्पन्न हैं। ये तरुण तो मैं ही हूँ। इसका रूप भी देखनेमें बड़ा मनोरम है। अतः यदि इनके भार्याकी चाह होगी तो ये ही तुम्हारे इस सुन्दर रूपक योग्य पति होंगे ॥ ३-४ ॥

एवं भज विशालाक्षि भर्तारं भ्रातरं मम ।

अरुणपत्ना वरारोहे मेरुमकरप्रभा यथा ॥ ५ ॥

'विशाललोचने ! वरारोहे ! जैसे सूर्यको प्रभा गेरुपर्वतका सेवन करती है, उसी प्रकार तुम मेरे इस छोटे भाई लक्ष्मणको पत्निके रूपमें अपनाकर सौम्य भयसे सहित हो इनकी सेवा करो' ॥ ५ ॥

इति रामेण सा प्रोक्ता राक्षसी काममोहिता ।

विमृज्य रामं सहसा ततो लक्ष्मणमश्र्वीन् ॥ ६ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर वह कामसे मोहित हुई

विहार करन् ॥ २८ ॥

इत्येवमुक्तः काकुत्स्थः प्रहस्य मदरेक्षणाम् ।

इदं वचनमारेभे वक्तुं वाक्यविशारदः ॥ २९ ॥

शूर्पणखाके ऐसा कहनेपर बातचीत करनेमें कुशल काकुत्स्थकुलभूषण श्रीरामचन्द्रजी जोर जोरसे हँसने लगे, फिर उन्होंने उस मनत्राले नेत्रोंवाली निशाचरीमें इस प्रकार कहना आरम्भ किया ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकीनिर्मित आष्वत्थामायण आदिकाव्यक अरण्यकाण्डमें सत्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १७ ॥

राक्षसी उन्हें छोड़कर सहसा लक्ष्मणके पास जा पहुँची और इस प्रकार बोली— ॥ ६ ॥

अस्य रूपस्य ते युक्ता भार्याहं वरवर्णिनी ।

मया सह सुखं सर्वान् दण्डकान् विचरिष्यसि ॥ ७ ॥

'लक्ष्मण ! तुम्हारे इस सुन्दर रूपके योग्य मैं ही हूँ अतः मैं ही तुम्हारी परम सुन्दरी भार्या हो सकती हूँ। मुझे अङ्गीकार कर लो, मैं तुम में माध समुच्च दण्डकाण्डयाम सुखपूर्वक विचरण कर सकांगे' ॥ ७ ॥

एवमुक्तस्तु सीमित्रौ राक्षस्या वाक्यकोविदः ।

ततः शूर्पणखी मित्वा लक्ष्मणो युक्तमश्र्वीन् ॥ ८ ॥

उस राक्षसीके ऐसा कहनेपर शानन्तात्मने निपुण सीमित्रकुमार लक्ष्मण मुसकराकर सुप्त जेम्मे नखवाली उस निशाचरीसे यह मुक्तियुक्त बात बोली— ॥ ८ ॥

कथं दासस्य ये दासी भार्या भवितुमिच्छसि ।

सोऽहमार्येण परवान् भ्रात्रा कमलवर्णिनि ॥ ९ ॥

'लाल कमलके समान गौर वर्णवाली सुन्दरि ! मैं तो दास हूँ, अपने घड़े भाई भगवान् श्रीरामके अधीन हूँ, तुम मेरी स्त्री होकर दासी बनना क्यों चाहती हो ? ॥ ९ ॥

समुद्धार्यस्य मिद्धार्था मुद्रितामलवर्णिनी ।

आर्यस्य त्वं विशालाक्षि भार्या भव यवीयसी ॥ १० ॥

विशाललोचने ! मेरे बड़े भैया सम्पूर्ण ऐश्वर्य (अथवा मर्षी अर्थात् वस्तुओं) से सम्पन्न हैं। तुम उनकी छोटी स्त्री हो जाओ। इससे तुम्हारे सभी मनोरथ सिद्ध हो जायेंगे और तुम सदा प्रसन्न रहोगी। तुम्हारे रूप-रंग ठीक योग्य निमल हैं ॥ १० ॥

एतां विरूपायसतीं करालां निर्णतोदरीम् ।

भार्या वृद्धां परित्यज्य त्वामेतेषु भजिष्यति ॥ ११ ॥

'कुरूप, आँखी, विकृत, धँसे हुए फटवाली और वृद्धा

भार्याको त्यागकर ये तुम्हें ही सादर प्रार्थना करेंगे * ॥ ११ ॥
को हि रूपमिदं श्रेष्ठं संतज्य वरवर्णिनि ।

मानुषीषु वरारोहे कुर्याद् भावं विचक्षणाः ॥ १२ ॥

सुन्दर कटिप्रदेशवाली वरवर्णिनि । कौन ऐसा बुद्धिमान् मनुष्य होगा, जो तुम्हारे इस श्रेष्ठ रूपको छोड़कर मानवकन्याओंसे प्रेम करेगा ? ॥ १२ ॥

इति सा लक्ष्मणेनोक्ता कराला निर्णतोदरी ।

पन्यते तद्वचः सत्यं परिहासाविचक्षणा ॥ १३ ॥

लक्ष्मणके इस प्रकार कहनेपर परिहासको न समझनेवाली उस लंबे पेटवाली विकराल राक्षसीने उनका वक्तको सही माना ॥ १३ ॥

सा रायं पर्णशालायामुपविष्टं परंतपम् ।

सीतया सह दुर्धर्मपन्नवीत् काममोहिता ॥ १४ ॥

वह पर्णशालामें सीताके साथ बैठे हुए शत्रुमतापी दुर्जय धीरे श्रीरामचन्द्रजीके पास लौट आयी और कामसे मादित होकर बोली— ॥ १४ ॥

हमां विरूपाभसतीं करालो निर्णतोदरीम् ।

वृद्धां भार्यामवष्टभ्य न मां त्वं बहु मन्यसे ॥ १५ ॥

'राम ! तुम इस कुरूप, ओछी, विकृत, घसे हुए पेटवाली और वृद्धाका आश्रय लेकर मेरा विशेष आदर नहीं करते हो ।

अद्योमां श्लक्ष्णियामि पश्यतस्तव मानुषीम् ।

त्वया सह चरिष्यामि निःसपत्ना यथासुखम् ॥ १६ ॥

'अतः आज तुम्हारे देखते देखते मैं इस मनुषीको स्था जाऊँगी और इस सौतेके न रहनेपर तुम्हारे साथ सुखपूर्वक विचरण करूँगी' ॥ १६ ॥

इत्युक्त्वा मृगशाखाक्षीमलातसदृशेक्षणा ।

अभ्यगच्छन् सुसंस्कृष्टा महोल्का रोहिणीभिव ॥ १७ ॥

ऐसा कहकर दौकते हुए अंगारोंके समान नेत्रोंवाली शूर्पणखा अत्यन्त क्रोधमें भरकर मृगनथनी सीताके ओर झपटी, मानो कोई बड़ा भारी हल्का रोहिणी नामक सागर दृढ़ पड़ी हो ॥ १७ ॥

तां मृत्युपाशप्रतिधामापतन्तीं महाबलः ।

विगूह्य रामः कुपितस्तनो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ १८ ॥

महाबली श्रीरामने पीतके फंदकी तरह आती हुई उन राक्षसीको हृकारसे रोककर कुपित हो लक्ष्मणसे कहा—

कुरैस्तायैः सौमित्रे परिहासः कथंचन ।

न कार्यः पश्य वैदेहीं कथंचित् सौम्य जीवतीम् ॥ १९ ॥

'सुमित्रानन्दन ! कुर कर्म करनेवाले अनार्यासे किसी प्रकारका परिहास भी नहीं करना चाहिये । सौम्य ! देखो न, इस समय सीताके प्राण किन्हीं प्रकार बड़ी मुश्किलसे बचे हैं । ॥ १९ ॥

इमां विरूपाभसतींमतिमत्तां महोदरीम् ।

राक्षसीं पुरुषव्याघ्रं विरूपधितुमर्हसि ॥ २० ॥

'पुरुषमिह ! तुम्हें इस कुरूप, कुलटा अत्यन्त मत्वाली और लंब पेटवाली राक्षसीको कुरूप—किसी अङ्गसे हीन कर देना चाहिये' ॥ २० ॥

इत्युक्त्वा लक्ष्मणस्तथाः क्रुद्धो रामस्य पश्यतः ।

उद्भृत्य खड्गं चिक्षेद कर्णनासे महाबलः ॥ २१ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके इस प्रकार आदेश देनेपर क्रोधमें भरे हुए महाबली लक्ष्मणने उनके देखते देखते ध्यानसे तलवार खींच ली और शूर्पणखाके नाक-कान काट लिये ॥ २१ ॥

निकृष्टकर्णनासा तु चिस्वरं सा विनद्य च ।

यथागतं प्रदुद्राव घोरा शूर्पणखा वनम् ॥ २२ ॥

नाक और कान कट जानेपर भयंकर राक्षसी शूर्पणखा बड़े जोरसे चिल्लाकर जैसे आयी थी, उसी तरह वनमें भाग गयी ॥ २२ ॥

सा विरूपा महाघोरा राक्षसी शोणितोक्षिता ।

वनाद् विविधान् नादान् यथा प्रावृषि तोयदः ॥ २३ ॥

खूनसे भोगी हुई वह महाभयंकर एवं विकराल रूपवाली निशाचरी नाना प्रकारके स्वरोंमें जोर-जोरसे चोत्कार करने लगी, मानो वर्षाकालमें मेघोंकी धटा गर्जन-तर्जन कर रही हो ॥ २३ ॥

सा विक्षरन्ती रुधिरं बहुधा घोरदर्शना ।

प्रगूहा बाहू गजन्ती प्रविवेश महावनम् ॥ २४ ॥

वह देखनेमें बड़ी भयानक थी । उसने अपने कटे हुए अङ्गोंमें बांधवार खूनका धारा बहाने और दोनों भुजाएँ ऊपर उठाकर धिमाडहन हुए एक विशाल वनके भीतर प्रवेश किया ॥ २४ ॥

ततस्तु सा राक्षससङ्घसंवृतं

खरं जनस्थानगतं विरूपिता ।

उपेत्य तं भ्रातरमुग्रतेजसं

यथात भूमी भगनाद् यथाशनिः ॥ २५ ॥

लक्ष्मणके द्वारा कुरूप की गयी शूर्पणखा वहाँसे भागकर राक्षससङ्घसे घिरे हुए भयंकर तेजवाले जनस्थाननिवासी भ्राता खरके पास गयी और जैसा आकाशमें बिजली गिरती है, उसी प्रकार वह पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ २५ ॥

* यहाँ स्वर्गमणने उन्हीं विशेषणोक्तो दुर्गाया दे जिन्हें शूर्पणखामें सीताके लिये प्रयुक्त किया था । शूर्पणखाकी दृष्टिसे जो अर्थ हैं, वह कथर द दिया है । परंतु लक्ष्मणकी दृष्टिमें ये विशेषण निन्द्यपरक नहीं स्तुतिपस्क हैं अतः उनको दृष्टिसे उन विशेषणीक अर्थ यहाँ दिया जाता है—विरूप—विशदकुरूपवाली त्रिगुणस्फुट्टे । असक्त जिसमें धटकर दूसरी काई सती नहीं है ऐसी । कराल—शरीरकी मठनके आसार ऊँचे-नीचे अङ्गोंवाली निर्णतोदरी—निद्र उदर अथवा शीण कटि प्रदेशवाली वृद्धा—ज्ञानमें अङ्गो नहीं प्रणीत तुम्हें छोड़कर तन्त्र विद्वानोंवाली मोक्षका ही वे व्रण करेंगे

नतः सभायै धयमोहं मूर्च्छिता
सलक्ष्मणो राधतयागतं वनम् ।
विरूपणं चात्मनि शोणितोक्षिता
शशंस सर्वं भगिनी खरस्य सा ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीपद्मप्रायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डेऽष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें अठारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १८ ॥

एकोनविंशः सर्गः

शूर्पणखाके मुखसे उसकी दुर्दशाका वृत्तान्त सुनकर क्रोधमें भरे हुए खरका
श्रीराम आदिके बंधुके लिये चौदह राक्षसोंको भेजना

ता तथा पतितां दृष्ट्वा विरूपां शोणितोक्षिताम् ।
भगिनीं क्रोधमंतपः खरः पप्रच्छ राक्षसः ॥ १ ॥

अपनी बहिनको इस प्रकार अङ्गहीन और रक्तसे भोगी
हुई अवस्थामें पृथ्वीपर पड़ी देख राक्षस खर क्रोधमें सन्न
ठठा और इस प्रकार पूछने लगा— ॥ १ ॥

उत्तिष्ठ तावदाख्याहि प्रमोहं वहि सम्भ्रमम् ।
व्यक्तमाख्याहि केन स्वमेवंरूपा विरूपिता ॥ २ ॥

बहिन उठो और अपना हाल बताओ । मूर्च्छा और
धक्काहट छोड़ा तथा साफ-साफ कहो किसने तुम्हें इस तरह
रूपहीन बनाया है ? ॥ २ ॥

कः कृष्णसर्वमासीनमाशीविचमनागसम् ।
तुदत्याभिसमापन्नमङ्गुल्यग्रेण लीलया ॥ ३ ॥

'कौन अपने सामने आकर चूपचाप बैठे हुए निम्नपाद
एवं विपरीते कान्ते माँपको अपनी अँगुलियोंके अग्रभागमें
खेल खेलमें पीड़ा दे रहा है ? ॥ ३ ॥

कालपाशं समासाद्य पीतवान् विषमुत्तमम् ॥ ४ ॥

'जिसने आज तुमपर आक्रमण करके तुम्हारे नाक-कान
काटे हैं, उसने उष्णकोटिका विष पी लिया है तथा अपने
गलेमें कालका फंदा डाल लिया है फिर भी मोहवश वह इस
जातको समझ नहीं रहा है ॥ ४ ॥

बलविक्रमसम्पन्ना कामगा कामरूपिणी ।
इमामथस्थां नीता त्वं केनान्तकसमागता ॥ ५ ॥

'तुम तो स्वयं ही दूसरे प्राणियोंके लिये बभ्रुजके समान
हो, बल और पराक्रममें सम्पन्न हो तथा इच्छानुसार सर्वत्र
विजयमें और अपनी रुचिके अनुसार रूप धारण करनेमें
समर्थ हो, फिर भी तुम्हें किसने इस दुःखस्थामें डाला है
जिससे दुःखी होकर तुम यहाँ आयी हो ? ॥ ५ ॥

देवगन्धर्वधूनानामृषीणां महात्मनाम् ।
कोऽयमेवं महावीर्यस्त्वां विरूपां चकार ह ॥ ६ ॥

'देवताओं, गन्धर्वों, ऋषीं तथा महात्मा ऋषियोंमें यह कौन
ऐसा महाबलशाली है जिसने तुम्हें रूपहीन बना दिया ? ॥ ६ ॥

खरकी यह बहिन रक्तसे नहा गयी थी और भय तथा
मोहमें अचेत भी हो रही थी । उसने वनमें सीना और
लक्ष्मणके साथ श्रीगणपन्तोंके आने और अपने कुरूप
किये जान्नेका साथ वृत्तान्त खरसे कह सुनाया ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीपद्मप्रायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डेऽष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें अठारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १८ ॥

नहि पश्याम्यहं लोके यः कुर्यान्मम विप्रियम् ।
अमरेषु सहस्राक्षं महेन्द्रं पाकशासनम् ॥ ७ ॥

'ममारेमें तो मैं किसीको ऐसा नहीं देखता, जो मेरा
अप्य का सके । देखना और महत्त्वपूर्ण पाकशासन इन्द्र
भी ऐसा मान्य कर सकें यह मुझ नहीं दिखायी देता ॥ ७ ॥

अद्याहं मार्गजैः प्राणानादास्ये जीवितान्ममैः ।
सलिले क्षीरमासक्तं निषिद्धप्रिव सारसः ॥ ८ ॥

'जैसे इस जलमें मिले हुए दूधको पी लेता है, उसी
प्रकार मैं आज इन प्राणान्तकारी बाणोंसे तुम्हारे अपराधोंके
शरीरसे उमके प्राण ले लूँगा ॥ ८ ॥

निहनस्य मया संख्ये शरसंकुलमर्मणः ।
सफेनं रुधिरं कस्य मेदिनी पातुमिच्छति ॥ ९ ॥

'युद्धमें मैं बाणोंमें जिसके मर्मस्थान छिन्न-भिन्न हो गये
हैं तथा जो मेरे हाथों द्वारा गया है उस किस धुरंधरे के नि-
सर्जन गरम गरम रक्तको यह पृथ्वी पीना चाहती है ? ॥ ९ ॥

कस्य पत्ररथाः कायाभ्यासमुत्कृत्य संगताः ।
प्रहृष्टा भक्षयिष्यन्ति निहनस्य मया रणे ॥ १० ॥

'रणभूमिमें मेरेद्वारा मारे गये किस व्यक्तिके शरीरमें
मांस कुतर कुतरकर ये हर्षमें भरे हुए झुंड-के-झुंड पक्षी
खायेंगे ? ॥ १० ॥

तं न देवा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसाः ।
मयापकृष्टं कृपणं शक्तास्मात् महाहवे ॥ ११ ॥

'जिसमें मैं महासमरमें खींच लूँ, उस दीन अपराधीका
देवता, गन्धर्व, पिशाच और राक्षस भी नहीं बचा सकते ।
उपलब्ध शर्तों संज्ञां तं मे शंसिनुमर्हसि ।
येन त्वं दुर्विनीतेन खने विक्रम्य निर्जिता ॥ १२ ॥

'धीर-धीरे होशमें आकर तुम मुझे उसका नाम बताओ,
जिस उद्दण्डने वनमें तुमपर बलपूर्वक आक्रमण करके तुम्हें
परास्त किया है ॥ १२ ॥

इति प्रातुर्वचः श्रुत्वा क्रुद्धस्य च विशेषतः ।
ततः शूर्पणखा वाक्यं सखाप्यमिदमब्रवीत् ॥ १३ ॥

आईक्य विशेषतः क्रोधमें भरे हुए भाई खरका यह वचन

सुनकर शूर्पणखा नेत्रोंसे आँसू बहाते हुई इस प्रकार बोली— ॥

तरुणी रूपसम्पन्ना सुकुमारी महाबलौ ।

पुण्डरीकविशालाक्षौ चीरकृष्णाजिनाम्बरौ ॥ १४ ॥

‘भैया ! कममें दो तरुण पुरुष आये हैं, जो देखनेमें बड़े ही सुकुमार, रूपवान् और महान् बलवान् हैं, उन दोनोंके बड़े बड़े नेत्र ऐसे जान पड़ते हैं मानों खिले हुए कमल हों वे दोनों ही बलकल-वस्त्र और मृगचर्म पहने हुए हैं ॥ १४ ॥

फलमूलाशनौ दान्तौ तापसौ ब्रह्मचारिणौ ।

पुत्री दशरथस्यास्ता भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ १५ ॥

‘फल और मूल हों उनका भोजन है। वे जितेन्द्रिय, तपस्वी और ब्रह्मचारी हैं दोनों ही राजा दशरथके पुत्र और आपसमें भाई-भाई हैं। उनके नाम राम और लक्ष्मण हैं ॥

गन्धर्वराजप्रतिभौ पार्थिवव्यञ्जनान्वितौ ।

देवौ वा दानवावेतौ न तर्कयितुमुत्सहे ॥ १६ ॥

‘वे दो गन्धर्वराजोंके समान ज्ञान पढ़ते हैं और राजाचित लक्षणोंसे रामराज हैं। वे दोनों भाई देवता अथवा दानव हैं, यह मैं अनुमानसे भी नहीं जान सकती ॥ १६ ॥

तरुणी रूपसम्पन्ना सर्वाभरणाभूषिता ।

दृष्ट्वा तत्र मया नारी तयोर्मध्ये सुमध्यमा ॥ १७ ॥

‘उन दोनोंके बीचमें एक तरुण अवस्थावाली रूपवती स्त्री भी यहाँ देखी है, जिसके शरीरका मध्यभाग बड़ा ही सुन्दर है। वह सब प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित है ॥ १७ ॥

ताभ्यामुभाभ्यां सम्भूय प्रमदामधिकृत्य ताम् ।

हमावकस्यां नीताहं यथानाथासती तथा ॥ १८ ॥

‘उस स्त्रीके ही कारण उन दोनोंने मिलकर मेरी एक अनाथ और कुलकी स्त्रीकी भाँति ऐसी दुर्गति का है ॥ १८ ॥

तस्याक्षानुगृह्णतायास्तयोश्च हतयोरहम् ।

सफेनं धातुमिच्छामि रुधिरं रणमूर्धनि ॥ १९ ॥

‘मैं यद्धर्म उस कटिल आचारवाली स्त्रीके और उन दोनों राजकुमारोंके भी भारे जानपर उनका फेनसहित रक्त पीना चाहती हूँ ॥ १९ ॥

एष ये प्रथमः कामः कृतस्तत्र त्वधा भवेत् ।

तस्यास्तयोश्च रुधिरं पिबेयमहमाहवे ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे एकाविंशः सर्गः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १९ ॥

विंशः सर्गः

श्रीरामद्वारा खरके भेजे हुए चौदह राक्षसोंका वध

ततः शूर्पणखा योरा राघवाश्रममागता ।

राक्षसानाचक्षुः ती भ्रातरौ सह सीतया ॥ १ ॥

तदनन्तर भगवान् राक्षसा शूर्पणखा श्रीरामचन्द्रजीके आश्रमपर, आयीं। उसने सीतानसहित उन दोनों भाइयोंके उन

रणार्धूममें उन स्त्रीका और उन पुरुषोंका भी रक्त मैं पी सकूँ यह मेरी पत्नी और प्रमुख इच्छा है, जो तुम्हारे द्वारा पूर्ण करे जानी चाहिये ॥ २० ॥

इति तस्यां ब्रुवाणायां चतुर्दश महाबलान् ।

व्यादिदेश खरः कुब्जो राक्षसानन्तकोपमान् ॥ २१ ॥

शूर्पणखान्क ऐमा कहनेपर खरने कुपित होकर अत्यन्त बलवान् चौदह राक्षसोंको, जो यमराजके समान भयंकर थे, यह आदेश दिया — ॥ २१ ॥

मानुषौ शस्त्रसम्पन्नौ चीरकृष्णाजिनाम्बरौ ।

प्रविष्टौ दण्डकारण्यं घोरं प्रमदया सह ॥ २२ ॥

‘बोरो ! हम भयंकर दण्डकारण्यके भीतर चौर और काला भगनम धारण किये दो शस्त्रधारी मनुष्य एक युवती स्त्रीके साथ घुस आये हैं ॥ २२ ॥

नो हत्वा तां च दुर्वृत्तामुपावर्तितुमर्हथ ।

इयं च भगिनी तेषां रुधिरं मम पास्यति ॥ २३ ॥

‘तुमलोग वहाँ जाकर पहले उन दोनों पुरुषोंको मार डालो फिर उस दुर्गचारी स्त्रीके भी प्राण ले लो। मेरी यह बहिन उन दोनोंके रक्त पीयेगी ॥ २३ ॥

मनोरथोऽयमिष्टोऽस्या भगिन्या मम राक्षसाः ।

शीघ्रं सम्याद्यतां गत्वा तौ प्रमथ्य स्वनेजसा ॥ २४ ॥

‘राक्षसों ! मेरी इस बहिनका यह प्रिय मनोरथ है। तुम वहाँ जाकर अपने प्रयत्नसे उन दोनों मनुष्योंको मार गिराओ और बहिनके इस मनोरथको शीघ्र पूरा करो ॥ २४ ॥

युष्माभिर्निहतौ दृष्ट्वा तामुभौ भ्रातरौ रणे ।

इयं प्रहृष्टा मुदिता रुधिरं युधि पास्यति ॥ २५ ॥

‘गन्धर्वमम उन दोनों भाइयोंको तुम्हारे द्वारा मारा गया देख यह हर्षमें खिल उठेगी और आनन्दमग्न होकर युद्धस्थलमें उनका रक्त पान करेगी ॥ २५ ॥

इति प्रतिसमादिष्टा राक्षसास्ते चतुर्दश ।

तत्र जग्मुस्तथा सार्धं घना वातेरिता इव ॥ २६ ॥

खरकी ऐसी आज्ञा पाकर वे चौदहों राक्षस हवाके उड़थे हुए बादलोंके समान विषय हो शूर्पणखाके साथ पञ्चवटीका गये ॥ २६ ॥

राक्षसोंको पन्द्रह दिया ॥ १ ॥

ते सार्धं पर्णशालाधामुपविष्टं महाबलम् ।

ददृशुः सीतया सार्धं लक्ष्मणेनापि सेवितम् ॥ २ ॥

राक्षसोंने देखा—महाबली श्रीराम सीताके साथ पर्ण-

शालामें बैठे हैं और लक्ष्मण भी उनको सेवामें अर्पित है ॥

तां दृष्ट्वा राघवः श्रीमानामनास्तांश्च राक्षसान् ।

अब्रवीद् भ्रातरं रामो लक्ष्मणं दीप्तिनेजसम् ॥ ३ ॥

इधर श्रीमान् रघुनाथजीने भी दुर्गमका तथा दुम्भके साथ आये हुए उन राक्षसोंको भी देखा । देखकर वे उदीर्घ तलवारें अपने भाई लक्ष्मणसे इस प्रकार बोले— ॥ ३ ॥

मुहूर्तं भव सीमित्रे सीतायाः प्रत्यनन्तरः ।

इमान्स्या चधिष्यामि पदवीमागतानिह ॥ ४ ॥

‘सुमित्रकुमार ! तुम थोड़ा देरतक सीताके पास खड़े हो जाओ । मैं इस राक्षसीके सहायक बनकर पोंछे-पोंछ आया हूँ इन निशाचरोंका यहाँ अभी वध कर डालूँगा’ ॥ ४ ॥

वाक्यमेतत् ततः श्रुत्वा रामस्य त्रिदिनात्मनः ।

तथेति लक्ष्मणो वाक्यं राघवस्य प्रपूजयन् ॥ ५ ॥

अपने स्वरूपको समझनेवाले श्रीरामचन्द्रजीको यह बात सुनकर लक्ष्मणने इसकी पूरि-पूरि सरहना करते हुए तथास्तु कहकर उनकी आज्ञा शिरोधार्य की ॥ ५ ॥

राघवोऽपि बहुरूपं चासीकरविभूषितम् ।

सकार सर्वं धर्मात्मा तानि रक्षामि चाब्रवीत् ॥ ६ ॥

तब धर्मात्मा रघुनाथजीने अपने सुवर्णमण्डन विशाल धनुषपर प्रत्यक्षा चढ़ाये और उन राक्षसोंसे कहा— ॥ ६ ॥

पुत्री दशरथस्यावां भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।

प्रथिष्टौ सीतया साथी दूश्च दण्डकात्मनम् ॥ ७ ॥

फलमूलाशनौ दान्ती तापसी ब्रह्मचारिणौ ।

वसन्तौ दण्डकागण्ये किमर्थमुपहितम् ॥ ८ ॥

हम दोनों भाई राजा दशरथके पुत्र राम और लक्ष्मण हैं तथा सीताके साथ इस दुर्गमे दण्डकावर्ण्यमें आकर पाल घूलकर आकार बनत हुए इन्द्रियमग्नपुत्रके नयनग्राम में तब हैं और ब्रह्मचर्यका पालन करने हैं । इस प्रकार दण्डकवनमें निवास करनेवाले हम दोनों भाइयोंको तुम किसलिये हिसा करना चाहते हो ? ॥ ७-८ ॥

युष्मान् पापात्मकान् हन्तुं विप्रकारान् यत्नाहवे ।

ऋषीणां तु नियोगेन सम्प्राप्तः सशरामयः ॥ ९ ॥

तब, तुम राक्ष-के-सब पापात्मा तथा शूण्यपाका अपनाध आताखाले हो । उन ऋषि मुनिकोंकी आज्ञानुसार मैं म धनुष-कण्येकर सतासमयमें तुम्हारा वध करनेके लिये यहाँ आया हूँ ॥ ९ ॥

निष्ठुर्तवान्न मत्तुष्टा नोपवर्तितुमर्हथ ।

यदि प्राणैरिहार्थां सो निवर्तये निशाचराः ॥ १० ॥

‘निशाचरो ! यदि तुम्हें युद्धमें सेनाय प्राप्त हाना हो तो यहाँ खड़े ही रहो, भाग मत आना और यदि तुम्हें प्राणोंका लोभ हो तो लौट जाओ (एक क्षणके लिये भी यहाँ न रुको)’ ॥ १० ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राक्षसास्ते चतुर्दश ।

ऋतुर्वाचं सुमंकुन्दा ब्रह्मघ्नाः शूलपाणयः ॥ ११ ॥

संस्कनयना घोरा रामं संस्कल्लोचनम् ।

पश्या मधुराभावं ब्रह्मा दृष्टपरकमम् ॥ १२ ॥

श्रीरामको वह बात सुनकर वे चौदहों राक्षस अत्यन्त कुपित हो उठे । ब्राह्मणावर्ग हत्या करनेवाले वे घोर निशाचर हाथोंमें शूल लिये क्रोधसे लाल आँखें करके कठोर बाणोंमें हथ और उन्मत्तहके साथ स्वभावतः लान्त नज्जोखाले मधुरभाषी श्रीरामसे, जिनका पराक्रम वे देख चुके थे, यों बोले— ॥ ११-१२ ॥

क्रोधमुत्पाद्य नो धर्तुः स्वरस्य सुमहात्मनः ।

त्वमेव हास्यसे प्राणान् सद्योऽस्माभिर्हतो युधि ॥ १३ ॥

और ! तुने हमारे स्वामी महाकाय स्वरको क्रोध दिखाया है, अब हम सबोंके हाथमें युद्धमें मारा जाकर तू स्वयं ही नन्काक अपने प्राणोंमें हाथ घों डेंगा ॥ १३ ॥

का हि ते शक्तिरेकस्य बहूनां रणमूर्धनि ।

अस्माकमग्रतः स्थातुं किं पुनर्थोद्गुमाहवे ॥ १४ ॥

हम सब-से हैं और तू अकेला, तेरी क्या शक्ति है कि तू हमारे सामने रणभूमिमें खड़ा भी रह सकें फिर युद्ध करना तो दूरकी बात है ॥ १४ ॥

एभिर्बाहुप्रयुक्तैश्च परिधैः शूलपट्टिणैः ।

प्राणांस्त्यक्ष्यामि सीर्यं च धनुश्च कर्षणीकृतम् ॥ १५ ॥

‘हमारी बाहुआँदारा छोड़ें गये इन परिधों, शूलों और पट्टिशोंका मार खाकर तू अपने हाथमें दबाये हुए इस घण्टका धनुष पराक्रमक अधिमानका तथा अपने प्राणोंको भी एक साथ ही त्याग देगा’ ॥ १५ ॥

इत्येवमुक्त्वा संख्या राक्षसास्ते चतुर्दश ।

उद्यत्बाहुनिम्बिशा राममेवाभिदुहुतुः ॥ १६ ॥

ऐसी कहकर क्रोधमें धरे हुए वे चौदहों राक्षस तरह-तरहके आपुध और तलवारें लिये श्रीरामपर ही दृढ़ पड़े ॥

विक्षिपुस्तानि शूलानि राघवं प्रति दुर्जयम् ।

तानि शूलानि काकुत्स्थः मथस्तानि चतुर्दश ॥ १७ ॥

तार्वाक्षिरेव विचिंहे शरैः काञ्चनधूषितैः ।

उन राक्षसोंने दुर्जय वीर आराधवेन्द्रपर वे शूल चलाये परन्तु ककुत्स्थकलधूपण श्रीरामचन्द्रजीने उन सभल खीदहों शूलोंकी ठक्के हों सुवर्णधूषित बाणोंद्वारा काट डाला ।

ततः पश्चान्महातेजा नाराचान् सूर्यसनिधान् ॥ १८ ॥

अप्राह धर्मकुन्दश्चतुर्दश शिलाशितान् ।

गृहीत्वा धनुगयम्य लक्ष्यानुद्दिश्य राक्षसान् ॥ १९ ॥

मुमोक्ष राघवो बाणान् यन्त्रानिव शतक्रतुः ।

तत्पश्चात् महानजस्वो रघुनाथजीने अत्यन्त कुपित हो वृद्धनपर चढ़ाकर संज क्रिये गये सूर्यनुत्य तेजस्वी चौदह सगच्च हाथमें लिये । फिर धनुष लेकर उसपर उन बाणोंका रगता और क्रान्तक खोंचकर राक्षसोंका लक्ष्य करके छोड़ दिया । माने इन्ने कजोंका प्रहार किया हो ॥ १८-१९ ॥

ते धित्वा रक्षसां वेगाद् वक्षांसि रुधिरप्लुताः ॥ २० ॥
विनिधेतुस्तदा भूमौ चल्मीकादिव पत्रगाः ।

वे बाण बड़े वेगसे उन रक्षसोंको छानों छेदकर रुधिरमें
डूब हुए निकले और बाँचीसे चरार आये हुए सर्पोंकी भाँति
तत्काल पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ २० ॥

सैर्भग्नहृदया भूमौ छिन्नमूला इव रुमाः ॥ २१ ॥
निपेतुः शोणितस्नाता विकृता विगतासवः ।

उन नाराचोंसे हृदय विदीर्ण हो जानेके कारण वे रक्षस
जड़से कटे हुए वृक्षाकी भाँति धराशायी हो गये । वे
रक्ष-के भय खूनमें नहा गये थे उनके शरीर विकृत हो गये
थे उस अवस्थामें उनके प्राणपरेक उड़ गये ॥ २१ ॥

तान् भूमौ पतितान् दृष्ट्वा राक्षसी क्रोधमूर्तिना ॥ २२ ॥
उपगम्य खरं सा तु किञ्चित्संश्लक्ष्णशोणिता ।

पपात पुनरेवार्ता सनिर्यासिव चल्लरी ॥ २३ ॥

उन सबको पृथ्वीपर पड़ा देख वह राक्षसी क्रोधसे
गुच्छित हो गयी और खरके पास जाकर पुन आनन्दवश

इत्यार्ष श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽर्णवकाण्डे विंशः सर्गः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आरंभामायण आदिकाव्यके अर्णवकाण्डमें बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २० ॥

एकविंशः सर्गः

शूर्पणखाका खरके पास आकर उन राक्षसोंके वधका समाचार बताना और रामका
भय दिखाकर उसे युद्धके लिये उत्तेजित करना

स पुनः पतिता दृष्ट्वा क्रोधाच्छूर्पणखां पुनः ।

उवाच व्यक्तया वाचा तामनर्थाध्यागताम् ॥ १ ॥

शूर्पणखाको पुनः पृथ्वीपर पड़ी हुई देख अनर्थके
रिक्त आयी हुई उस बहिनसे खरने क्रोधपूर्वक स्पष्ट
वाणीमें फिर कहा— ॥ १ ॥

मया त्विदानीं शृणुसे राक्षसाः पिशिताशनाः ।

त्यत्रियार्थं विनिर्दिष्टा किमर्थं रुदन्ते पुनः ॥ २ ॥

‘वहिन ! मैंने तुम्हारा प्रिय करनेके लिये उस समय
बहुत से शूरवीर एवं मासाहारी राक्षसोंको जानकी आज्ञा दी
थी थी, अब फिर तुम किसलिये रो रही हो ? ॥ २ ॥

भक्ताक्षौवानुरक्ताश्च हिताश्च मम नित्यशः ।

हम्यमाना न हन्यन्ते न न कुर्युर्वचो मम ॥ ३ ॥

‘मैंने जिन राक्षसोंको भेजा था, वे मेरे भक्त, मुख्यमें
अनुयाय रक्षनवाला और मरने में हीत चाहनेवाले हैं । वे
किसीक मारनेपर भी मर नहीं सकते । उनके द्वारा मेरी
आज्ञाका पालन न हो, यह भी सम्भव नहीं है ॥ ३ ॥

किमेतच्छ्रेतुमिच्छामि कारणं यत्कृते पुनः ।

हा वाञ्छन्ति विनर्तन्ती सर्पवशंष्टसे क्षिणौ ॥ ४ ॥

‘फिर ऐसा क्यों सा कारण उपस्थित हो गया, जिसके
लिये तुम ‘हा नाथ’ की पुकार मचाती हुई सर्पकी तरह

गिर पड़ो । उसके कटे हुए काँधों और नाकोंका खून
सूख गया था इसलिये गोदयुक्त रुताके समान प्रतीत
होती थी ॥ २२-२३ ॥

प्रातुः सर्पापे शोकार्ता समर्ज निन्दं महत् ।

सखरं मुमुक्षे वाक्यं विवर्णवदना तदा ॥ २४ ॥

चाँकें निकट शोकसे पीड़ित हुई शूर्पणखा बड़े जोरसे
आननाद करने और फूट-फूटकर रोने तथा आँसू बहाने लगी ।
उस समय उसके मुखकी कान्ति फीकी पड़ गयी थी ॥ २४ ॥

निपातितान् प्रेक्ष्य खरं तु राक्षसान्

प्रधाविता शूर्पणखा पुनस्ततः ।

वधं च तेषां निखिलेभ्य रक्षसां

शशंस सर्वं भगिनी खरस्य सा ॥ २५ ॥

रणप्रसिद्धिमें उन राक्षसोंको मारा गया देख खरकी
बहिन शूर्पणखा पुनः बहसि भागी हुई आयी । उसने
उन समस्त राक्षसोंके वधका सारा समाचार भाईसे कह
मुनाया ॥ २५ ॥

धरतीपर लोट रहा हो । मैं उसे सुनना चाहता हूँ ॥ ४ ॥

अनाथवद् विलपसि किं नु नाथे मयि स्थिते ।

उत्तिष्ठोतिष्ठ मा मेव वक्ष्ये त्यज्यतामिति ॥ ५ ॥

मर-जैसे सरक्षकके रहते हुए तुम अनाथकी तरह
विलप क्यों करती हो ? उठो ! उठो ! इस तरह लोटो
मत । धनराहत छोड़ दो ॥ ५ ॥

इत्येवमुक्ता दुर्धर्षा खरेण परिसान्विता ।

विमृज्य नयने सास्त्रे खरं प्रातग्मब्रवीत् ॥ ६ ॥

खरके इस प्रकार सा-न्वना देनेपर वह दुर्धर्ष राक्षसी अपने
आँसुभरे नेत्रोंको पोंछकर भाई खरसे बोली— ॥ ६ ॥

अस्मीदानीमहं प्राप्ता हनश्चवणनासिका ।

शोणिनांघ्रपरिहृष्टा त्वया च परिसान्विता ॥ ७ ॥

‘धन मैं इस समय फिर तुम्हारे पास क्यों आयी हूँ यह
बतानी हूँ, मुना—मर नाक-कान कट गये और मैं खूनकी
धारासे नहा उठी, उस अवस्थामें जब पहली बार मैं आयी
थी, तब तुमने मुझे बड़ी सान्त्वना दी थी ॥ ७ ॥

प्रेक्षिताश्च त्वया शूरा राक्षसास्ते चतुर्दश ।

निहन्तुं राघवं धीरं मत्प्रियार्थं सलक्ष्मणम् ॥ ८ ॥

ते तु रामेण सामर्षाः शूल्यद्विज्ञपाणयः ।

समरे निहताः सर्वे सायकर्ममभेदिभिः ॥ ९ ॥

‘तत्पश्चात् मेरा प्रिय करनेके लिये लक्ष्मणमहित रामकर
बध करनेके उद्देश्यसे तुमने जो वे चौदह शूरावर राक्षस
मन थे, वे सब-के-सब अमर्षमें भरकर हाथोंमें शूल और
जंहुन लिये वहाँ जा पहुँचे, परन्तु रामों अपने अर्धभरते
बाणोंद्वारा उन सबको समराङ्गणमें मार गिराया ॥ ८-९ ॥

नान् भूमौ पतितान् दृष्ट्वा क्षणेनैव महाजवान् ।
रामस्य च महत्कर्षं महास्वासोऽभवन्मय ॥ १० ॥

‘उन महान् केराशाली निशाचरोंको क्षणभरमें ही धराङ्गणमें
गुआ देख रामके उस महान् पराक्रमपर दृष्टिमान काक मेरे
मनमें चङ्का भय उत्पन्न हो गया ॥ १० ॥

सास्मि भीता समुद्रिमा विषण्णा च निशाचर ।
शरणं त्वां पुनः प्राप्ता सर्वतो भयदर्शिनौ ॥ ११ ॥

‘निशाचरराज ! मैं भयभीत, उद्विग्न और विषादग्रस्त हो
गयी हूँ । मुझे सब ओर भय-हो-भय दिखलाई देता है,
इसीलिये फिर तुम्हारी शरणमें आयी हूँ ॥ ११ ॥

विषादनकाधुर्यधिते परित्रासोर्ध्वमालिनि ।
किं मां न त्रायसे ममो विपुले शोकसागरे ॥ १२ ॥

‘मैं शोकके उस विशाल समुद्रमें डूब गयी हूँ, जहाँ
‘अपादरूपी’ मगर निवास करते हैं और त्रासको नग्नमात्सर्य
उन्नी रक्षती है । तुम उस शोकसागरमें मेरा उद्धार क्यों नहीं
करते तो ! ॥ १२ ॥

एते च निहता भूमौ रामेण निशितः शरैः ।
ये च मे पदवीं प्राप्ता राक्षसाः पिशिताशनाः ॥ १३ ॥

‘जो मांसभक्षी राक्षस मेरे साथ गये थे, वे सब-के-सब
रामके पैरों बाणोंसे मारे जाकर पृथ्वीपर पड़े हैं ॥ १३ ॥

मयि ते घटानुक्रोशो यद्दि रक्षःसु तेषु च ।
रामेण यदि जितस्ते तेजो वास्ति निशाचर ॥ १४ ॥

वण्डकारण्यनिलये जहि राक्षसकण्टकम् ।

‘राक्षसराज ! यदि मुझपर और उन मरे हुए राक्षसोंपर
नाहे दया आती हो तथा यदि रामके साथ लोहा लैम्के लिये
तुममें शक्ति और तेज हो तो उन्हें मार डालो, क्योंकि
अण्डकारण्यमें भर बनाकर रहनेवाले राम राक्षसोंके लिये
कण्टक हैं ॥ १४ ॥

यत्ते राघवमिन्द्रं न त्वमद्य बध्निष्यसि ॥ १५ ॥
तव चैवाग्रतः प्राणास्त्यक्त्यामि निरपत्रपा ।

इत्यार्ष श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे एकविंशः सर्गः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीनारमूर्तिकर्तृनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें इन्द्रोपख्यो सर्ग पूरा हुआ ॥ २१ ॥

द्वाविंशः सर्गः

चौदह हजार राक्षसोंकी सेनाके साथ खर दूषणका जनस्थानसे पञ्चवटीकी ओर प्रस्थान

एवमाधर्षितः खरः शूर्पनख्या स्वरस्ततः ।

उवाच रक्षसां मध्ये खरः खरतरं वचः ॥ १ ॥

‘यदि तुम आज ही शत्रुघाती रामका वध नहीं कर
डालोगे तो मैं तुम्हारे सामने ही अपने प्राण त्याग दूँगा,
क्योंकि मेरी लाज लुट चुकी है ॥ १ ॥

बुद्ध्याहमनुपश्यामि न त्वं रामस्य संयुगे ॥ २ ॥
स्थातुं प्रतिमुखे शक्तः सबलोऽपि महारणे ।

‘मैं बुद्धिसे सांगकर सोचकर देखती हूँ कि तुम
महासभामें सबल होकर भी रामके सामने युद्धमें नहीं
उत्तर सकोगे ॥ २ ॥

शूरमानी न शूरस्त्वं मिथ्यारोपितविक्रमः ॥ ३ ॥
अपयाहि जनस्थानाम् स्वरितः सहस्रान्वयः ।

जहि त्वं समरे भूवान्वया तु कुलपांसन ॥ ४ ॥

‘तुम अपनेको शूरवीर मानते हो, किन्तु तुममें शौर्य है ही
नहीं । तुमने झूठे ही अपने-आपमें पराक्रमका आरोप कर
लिया है मुझे । तुम समराङ्गणमें उन दानाका मार डालो
अन्यथा अपने कुत्तोंमें कलङ्क लगाकर भाई जन्तुओंके साथ
गुरत हो इस जनस्थानसे भाग जाओ ॥ ३-४ ॥

मानुषौ तौ न शक्नोषि हन्तुं ये रावलक्ष्मणौ ।

निःसत्त्वस्याल्पवीर्यस्य चात्मस्ते कीदृशस्त्वह ॥ ५ ॥

‘राम और लक्ष्मण मनुष्य हैं यदि उनके भी मारनेकी तुममें
शक्ति नहीं है तो तुम्हारे-जैसे निरवल और पराक्रमशून्य
राक्षसकी वहाँ रहना कैसे सम्भव हो सकता है ? ॥ ५ ॥

रामतेजोऽभिभूतो हि त्वं क्षिप्रं विनशिष्यसि ।

स हि तेजःसमायुक्तो रामो दशरथात्पजः ॥ ६ ॥

प्राता चास्य महावीर्यो येन चास्मि विरूपिता ।

‘तुम रामके तेजसे पराजित होकर शीघ्र ही मर जाओगे
क्योंकि दशरथकुमार राम बड़े तेजस्वी हैं । उनका
भाई भी महान् पराक्रमी है जिसने मुझे नाक-कानसे हीन
करके अत्यन्त कुरूप बना दिया ॥ ६ ॥

एवं विलप्य बहुशो राक्षसी प्रदरोदरी ॥ ७ ॥

भ्रातुः समीपे शोकात्ता नष्टसज्ञा बभूव ह ।

कराध्यामुदरे हत्वा रुरोद भृशदुःखिता ॥ ८ ॥

‘इस प्रकार बहुत विलाप करके गुफाके समान गहरे
पेटवाली वह राक्षसी शोकसे आतुर हो अपने भाईके पास
भूच्छिन-सी हो गयी और अत्यन्त दुःखी हो दोनों हाथोंसे पेट
पीटती हुई फुट-फुटकर रोने लगी ॥ ७-८ ॥

द्वाविंशः सर्गः

चौदह हजार राक्षसोंकी सेनाके साथ खर दूषणका जनस्थानसे पञ्चवटीकी ओर प्रस्थान

एवमाधर्षितः खरः शूर्पनख्या स्वरस्ततः ।

उवाच रक्षसां मध्ये खरः खरतरं वचः ॥ १ ॥

शूर्पणखाद्वारा इस प्रकार तिरस्कृत होकर शूरवीर खरने

राक्षसोंके बीच अत्यन्त कठोर वाणामें कहा— ॥ १ ॥

तवापमानप्रभवः क्रोधोऽयमतुल्ये मम ।

न शक्यते धारयितुं लवणाम्ब इवोल्बणम् ॥ २ ॥

बहिन ! तुम्हारे अपमानके कारण मुझे बेतरह क्रोध चढ़ आया है। इसे धारण करना या देना देना उम्मे प्रकार असम्भव है, जैसे पूर्णमासी प्रचण्ड वेगमें बड़े हुए खारे पानीके समुद्रके जलको (अथवा यह उम्मे प्रकार अमड़ा है, जैसे घावपर नमकीन पानीका छिड़कना) ॥ २ ॥

न रामं गणये वीर्यान्मानुषं क्षीणजीवितम् ।

आत्मदुश्चरितैः प्राणान् हतो योऽथ विमोक्ष्यते ॥ ३ ॥

मैं पराक्रमको दृष्टिसे रामको कुछ भी नहीं गिना हूँ, क्योंकि उस धनुष्यका जीवन अब क्षीण हो चला है वह अपने दुष्कर्मासे ही मारा जाकर आज प्राणासे हाथ धो बैठेगा ॥ ३ ॥

शायः संभार्यतापेष भम्भयश्च विमुच्यताम् ।

अहं रामं सह भ्रात्रा नयामि धमसादनम् ॥ ४ ॥

'तुम अपने आँसुओंको रोको और यह बकराहट छोड़ो। मैं भाईसहित रामको अभी धमसाक पहुँचा दता हूँ' ४ । परमधहतस्पाद्य भन्दप्राणस्य भूलले ।

रामस्य रुधिरं रक्तमुष्णं पास्यसि राक्षसि ॥ ५ ॥

राक्षसी ! आज मेरे फरमकी मागसे निष्पन्न होकर धरतीपर पड़ हुए रामका गरम-गरम रक्त तुम्हें फीनको मिलेगा ॥ ५ ॥

सम्प्राहृष्टा यद्यः श्रुत्वा खरस्य वदनाच्छ्रुतम् ।

प्रशशंस पुनर्भीरुर्धातुं भ्रातरं रक्षसां खरम् ॥ ६ ॥

खरके मृत्युसे निकली हुई इस बातका सुनकर शीघ्रताका पटो प्रसन्नता हुई उसने मृततावश राक्षसान्ध्रं धाई खरकी पुनः भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ ६ ॥

तथा परुषितः पुनै पुनरेव प्रशंसितः ।

अब्रवीद् दूषणं नाम खरः सेनापति तदा ॥ ७ ॥

उसने पाइले जिसका कटोर बाणोंद्वारा तिरस्कार किया और पुनः जिसको अत्यन्त सरहना की, उस करने उस समय आपने सेनापति दूषणसे कहा— ॥ ७ ॥

चतुर्दश सहस्राणि मम क्षिप्तानुवर्तिनाम् ।

रक्षसां धीमवेगानां समरेषुनिवर्तिनाम् ॥ ८ ॥

नीलजीवूतवर्णानां लोकहिंसाविहारिणाम् ।

सर्वोद्योगमुदीर्णानां रक्षसां सौम्य कारय ॥ ९ ॥

सौम्य ! मेरे मनके अनुकूल चलनेवाले, युद्धके मैदानसे पीछे न हटनेवाले, धयकर वेगवान्, मेघोंकी काली चटाके समान काल रंगकाल, लोगोंकी हिंसाम ही ब्रह्मा-विहार करनेवाले तथा युद्धमें उत्साहपूर्वक आगे बढ़नेवाले चीटह मरुत राक्षसोंको युद्धके लिये भेजनेकी पूरी तैयारी कराओ ॥

उपस्थापय मे शिप्रं रथं सौम्य धनूषि च ।

शरंश्च पित्रान् खड्गांश्च शस्त्रींश्च विविधाः शिनाः ॥

सौम्य सेनापते ! तुम शीघ्र ही मेरा रथ भी यहाँ मैगवा लो। उसपर बटून-से धनुष, बाण, विचित्र विचित्र खड्ग और नाना प्रकारकी तोखों शक्तियोंका भी रख दो ॥ १० ॥

अग्ने निर्यानुमिच्छामि पीलस्त्यानां महात्मनाम् ।

वधार्थं दुर्विनीतस्य रामस्य रणकोविद ॥ ११ ॥

'रणकुशल चोर ! मैं इस उदण्ड रामका वध करनेके लिये महामनस्को पुलस्त्यवशो राक्षसोंके आगे आगे जाना चाहता हूँ ॥ ११ ॥

इति तस्य सुवाणस्य सूर्यवर्णं महारथम् ।

सदृशैः शबलैर्युक्तपाशवक्षोऽथ दूषणः ॥ १२ ॥

उसके इस प्रकार आज्ञा देते ही एक सूर्यके समान प्रकाशमान और चितककर रंगके अच्छे घोड़ोंसे जुता हुआ विशाल रथ वहाँ आ गया। दूषणने खरको इसकी मन्त दी ॥ १२ ॥

तं मेरुसिखराकारं तप्तकाञ्चनभूषणम् ।

हेमधक्रममम्बाधं वैदूर्यमयकूबरम् ॥ १३ ॥

मत्स्यैः पुष्पहृषं शैलैश्चन्द्रसूर्यश्च काञ्चनैः ।

माङ्गल्यैः पक्षिसङ्घैश्च ताराभिश्च समावृतम् ॥ १४ ॥

ध्वजनिस्त्रिंशसम्पन्ने किंकिणीवरभूषितम् ।

सदृशयुक्तं सोऽमर्षादिरुहं खरस्तदा ॥ १५ ॥

वह रथ मेरुपर्वतके शिखरकी भाँति ऊँचा था, उसे तपाये हुए सोनेके बने हुए मात्राजसे मजारा गया था, उसके पहियोंमें सेना जड़ा हुआ था उसका चित्तार बहने लड़ा था, उस रथके कूबर वैदूर्यमणिमें जड़े गये थे उसको रजावटके लिये शाश्वत बने हुए मत्स्य, कुल्ल, वृक्ष, पर्वत, चन्द्रमा, सूर्य, माङ्गल्यक पक्षियोंके समुदाय तथा तारिकाओंसे वह रथ सुशोभित हो रहा था उसपर ध्वजा फहरा रही थी तथा रथके भक्त खड्ग आदि अस्त्र शस्त्र रखे हुए थे छाती-छाती घण्टिया अथवा सुन्दर घुघुराओंसे मजे और उत्तम घोड़ोंसे जुत हुए उस रथपर राक्षसराज रथ उस समय आरुढ़ हुआ अपनी बहिर्मुख अपमानका स्मरण करके उसके मनमें बड़ा अपर्ष हो रहा था ॥ १३—१५ ॥

खरस्तु तन्महत्सैन्यं रथचर्मायुधध्वजम् ।

नियान्त्यब्रवीत् प्रेक्ष्य दूषणः सर्वराक्षसान् ॥ १६ ॥

रथ, काल, अस्त्र-शस्त्र तथा ध्वजसे सम्पन्न उस विशाल सेनाको ओर देखकर खर और दूषणने समस्त राक्षसोंसे कहा— 'निकलो, आगे बढ़ो' ॥ १६ ॥

ततस्तद् राक्षसं सैन्यं घोरचर्मायुधध्वजम् ।

निर्जगाम जनस्थानान्महानादं महाजवम् ॥ १७ ॥

कूच करनेकी आज्ञा प्राप्त होते ही धयकर ढाल, अस्त्र-शस्त्र तथा ध्वजसे युक्त यह विशाल राक्षस-सेना जोर-जोरसे गर्जन करती हुई जनस्थानसे बड़े वेगके साथ निकली ॥ १७ ॥

मुहुरैः पट्टिशैः शूलैः सुतीक्ष्णैश्च परमार्थैः ।
खड्गैश्चकैश्च हस्तस्थैर्भ्राजमानैः सनोमरैः ॥ १८ ॥
शक्तिभिः परिघैरितिपात्रैश्च कामुकैः ।
गदासिधुसलैर्वज्रैर्गुहीतर्धोपदर्शनैः ॥ १९ ॥

राक्षसानां सुघोराणां सहस्राणि अनुदंश ।
निर्यातानि जनस्थानान् खरचित्तानुवर्तिनाम् ॥ २० ॥

सैनिकोंके हाथमें मुद्गर, पट्टिश, शूल, अन्यन्न
तोखे फरसे, खड्ग, घक्र और ताम्र चमक उठे। शक्ति,
भयंकर परिघ, विशाल धनुष, गदा, तलवार, मुसल
तथा वज्र (आठ कोणवाले आयुधविशेष) उन राक्षसोंके
हाथोंमें आकर जड़े भयानक दिखायी दे रहे थे। इन
अस्त्र-शस्त्रोंमें उपलब्ध और खरके मनको इच्छाके
अनुसार चलनेवाले अत्यन्त भयंकर चौदह हजार राक्षस
जनस्थानसे युद्धके लिये चले ॥ १८—२० ॥

तांस्तु निर्धातुं दुष्टा राक्षसान् भामदशनान् ।
खरस्याथ रथः किञ्चिज्जागाम तदनन्तरम् ॥ २१ ॥

उन भयंकर दिखायी देनेवाले राक्षसोंको छाती करत दण्ड
वाला रथ भी कुछ देर सैनिकोंके निकलनेको प्रतीक्षा करके
उनके साथ ही आगे बढ़ा ॥ २१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे त्रयोविंशः सर्गः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीरामायणनिर्णिमित आरण्यकाण्डे अत्रिकाव्यके अरण्यकाण्डमें चाईमर्या सर्ग पूरा हुआ ॥ २२ ॥

त्रयोविंशः सर्गः

भयंकर उत्पातोंको देखकर भी खरका उनकी परवा नहीं करना तथा

राक्षस-सेनाका श्रीरामके आश्रमके समीप पहुँचना

तत्रयातं बलं घोरं पशिवं शोणितोदकम् ।
अभ्ययार्थमहाघोरस्तुभूमी गर्दभारुणः ॥ १ ॥

उस सेनाके प्रस्थान करने समय आकाशमें गर्धके समान
धूसर रंगवाले बादलोंको महाभयंकर घटा घिर आयी।
उसको तुमुल गर्जना होने लगी तथा सैनिकोंके ऊपर घोर
अमङ्गलसूचक रक्तमय जलझाती वर्षा आरम्भ हो गयी ॥ १ ॥

निपेतुस्तुरगास्तथ रथयुक्ता महाजवाः ।
ममे पुण्यचिते देशे राजमार्गे यदुच्छ्रया ॥ २ ॥

खरके रथमें जुते हुए महान् वेगशाली घोड़े फूल बिछे हुए
नमनलस्थानमें सड़कपर चलते-चलते अकम्पात् गत पड़े ॥

इयाम् रुधिरपर्यन्तं बभूव परिवेषणम् ।
भ्रूतचक्रप्रतिमं प्रतिगृह्य दिवाकरम् ॥ ३ ॥

सूर्यपण्डलके खारों और अलानचक्रके समान गोमयका
पेरा दिखायी देने लगा, जिसका रंग काला और किनारोंका
रंग लाल था ॥ ३ ॥

ततो ध्वजमुपागम्य हेमदण्डं समुच्छ्रितम् ।
रुमाकम्प्य महाकायस्तस्थौ मृधः सुदामणः ॥ ४ ॥

ततस्तच्छब्दलान्धास्तप्तकाञ्चनभूषितान् ।
खरस्य मतयाज्ञाय सारथिः पर्यचोदयत् ॥ २२ ॥

तदनन्तर खरका अभिप्राय जानकर उसके सारथीने तपाये
हुए सनेके आभूषणोंमें विभूषित उन चितकचरे घोड़ोंको हाँका ।
संचोदितो रथः शीघ्रं खरस्य रिपुधातिनः ।

शब्देनापूरयापास दिशः सप्रदिशस्तथा ॥ २३ ॥

उमके हाँकेनपर शत्रुघाती खरका रथ शीघ्र हो अपने
घर-घर शब्दसे सम्पूर्ण दिशाओं तथा उपदिशाओंको
प्रतिध्वनित करने लगा ॥ २३ ॥

प्रवृद्धमन्युस्तु खरः खरस्वरो
रिपोर्वधार्थं त्वरितो यथानसकः ।

अचूचुदत् सारथिमुग्रदन् पुन-
मंहाखल्ले मेघ इवाऽमखर्ववान् ॥ २४ ॥

उस समय खरका क्रोध बढ़ा हुआ था। उसका स्वर भी
बढ़ता हो गया था। वह शत्रुके वधके लिये उतावला होकर
यमराजके समान भयानक जान पड़ता था। जैसे उसमेंकी
वर्षा करवाना मेघ बढ़ जाकर गर्जना करता है, उसी प्रकार
महाबली खरने उद्यम्यसे सिंहनाद करके पुनः सारथिको रथ
हाँकेनके लिये प्रेरित किया ॥ २४ ॥

तदनन्तर खरका रथको सुवर्णमय दण्डवाली ऊँचा
ध्वजापर एक विशालकाय मोघ आकर बैठ गया, जो
देखनेमें बड़ा ही भयंकर था ॥ ४ ॥

जनस्थानसमीपे च सभाकम्प्य खरस्वनाः ।
विस्वरान् विविधान् नादान् मांसादा भृगपक्षिणः ॥ ५ ॥

व्याजहृग्भिदीप्तायी दिशि वै धैरवस्वनम् ।
अश्विं चानुधानानां जिवा घोरा महास्वनाः ॥ ६ ॥

कठोर स्वाश्रले मांसभक्षी पशु और पक्षी जनस्थानके
पर्यन्त आकर विवृत स्वरमें अनेक प्रकारके विकट शब्द
वाजने लगे तथा सूर्यकी भ्रमसे प्रकाशित हुई दिशाओंमें
घोर-घोरसे चीत्कार करनेवाले और मूँहसे आग उगलनेवाले
भयंकर गोंदड़े राक्षसोंके लिये अमङ्गलजनक धैरवनाद
करने लगे ॥ ५-६ ॥

प्रभिभ्रगजस्यकाशास्तोयशोणितधारिणः ।
आकाशं तदनाकाशं स्रक्तुर्भीष्ममुवाहकाः ॥ ७ ॥

भयंकर मेघ जो मदकी धारा बहानेवाले गजराजके
समान दिखायी देने थे और जलको जगह रक्त धारण किये

हुए थे, तत्काल धीरे आये उन्होंने सम्पूरे आकाशको ढक दिया। थोड़ा-सा भी अवकाश नहीं रहने दिया ॥ ७ ॥

बभ्रूव तिमिरं घोरमुद्धतं रोमहर्षणम् ।
दिशो वा प्रदिशो वापि सुव्यक्तं न चकाशिरे ॥ ८ ॥

सब ओर अत्यन्त भयंकर तथा रोमाञ्चकारी घना अन्धकार छा गया। दिशाओं अथवा कोणोंका स्पष्टरूपसे भान नहीं हो पाता था ॥ ८ ॥

क्षतज्वरसखर्णाभा संख्या कालं विना बभौ ।
खरं चाधिमुखं नेदुस्तदा घोरा मृगाः खगाः ॥ ९ ॥

बिना समयके ही खूनमें भीगे हुए वस्त्रके समान गंगवाली संख्या प्रकट हो गयी। उस समय भयंकर पशु पक्षी खरके सामने आकर गर्जना करने लगे ॥ ९ ॥

कङ्कगोमायुग्माश्च घुक्तशुर्भयशसिनः ।
नित्याशिवकरा युद्धे शिवा घोरनिदर्शनाः ॥ १० ॥
नेदुर्बलस्याधिमुखं ज्वालोत्तारिधिराननैः ।

भयकी मृचन देनेवाले कङ्क (सफेद चील), गोंदड़ और गोध खरके सामने चीत्कार करने लगे। युद्धमें सदा अमङ्गल सूचित करनेवाली और भय दिगानेवाली गोंदड़ियाँ खरको सेनाके सामने आकर आग उगलनेवाले मुखसे घोर शब्द करने लगीं ॥ १० ॥

कस्यः परिधाभासो दृश्यते भास्करान्तिके ॥ ११ ॥
जग्राह सूर्य स्वर्धनुष्यर्षणि महाग्रहः ।

प्रवाति मारुतः शीघ्रं निष्प्रभोऽभूद् दिवाकरः ॥ १२ ॥
सूर्यके निकट परिधके समान कबन्ध (धिर कटा हुआ धड़) दिखायी देने लगा। महान् ग्रह सूर्य अमावास्याके बिना ही सूर्यको ग्रहने लगा। हवा तीव्र गर्जने चलने लगी एवं सूर्यत्वकी प्रभा पंकी पड़ गयी ॥ ११-१२ ॥

उत्पेतक्ष विना रात्रि ताराः खद्योतसप्रधाः ।
सेलीनपीनविहगा नलिन्यः शुष्कपङ्कजाः ॥ १३ ॥

बिना रातके भी जुगनूक समान चमकनेवाले तारे आकाशमें उदित हो गये। सरोवरोंने मछली और कल्पवृक्षी विलीन हो गयीं। उनके कमल सूख गये ॥ १३ ॥

नसिन् क्षणे बभ्रुवुक्ष विना पुष्पफलैर्दृमाः ।
कूटतश्च विना सातं रेणुर्जलधराकणः ॥ १४ ॥

अस क्षणमें धूलोंके फूल और फल झड़ गये। बिना हवाके ही बादलोंके समान धूसर रंगका धूल ऊपर उठकर आकाशमें छा गयी ॥ १४ ॥

चीर्षीकूचीति वाश्यन्तो बभ्रुवस्तत्र सारिकाः ।
उल्काश्चापि सनिधौषा निपेतुर्धरिदर्शनाः ॥ १५ ॥

वहाँ चनकी सारिकाएँ चै-चै करने लगीं। घारी आवाजक साथ भयानक उल्कारों आकाशसे पृथ्वीपर गिरने लगीं ॥

प्रचञ्चालं भव्नी चापि सरीलवनकानना ।
खरस्य च रथस्थस्य नर्दमानस्य धीमतः ॥ १६ ॥

प्रकम्पत भुजः सव्यः स्वरश्चास्यावसञ्जत ।
सास्त्रा सम्पद्यते दृष्टिः पश्यमानस्य सर्वतः ॥ १७ ॥

पवंत, वन और वननोंसहित धरती डोलने लगी। बुद्धिमान् खर रथपर बैठकर गर्जना कर रहा था। उस समय उसको बायीं भुजा सहसा काँप उठी। स्वर अवरुद्ध हो गया और सब ओर देखने समय उसकी आँखोंमें आँसू आने लगे ॥ १६-१७ ॥

ललाटे च रुजो जाता न च मोहाग्र्यवर्तत ।
तान् समीक्ष्य महोत्पातानुत्थितान् रोमहर्षणान् ॥ १८ ॥

अग्रवीद् राक्षसान् सर्वान् प्रहसन् स खरस्तदा ।
उसके स्मिरने ददं होने लगा, फिर भी मोहवश वह युद्धमें निवृत्त नहीं हुआ। उस समय प्रकट हुए उन बड़े-बड़े रोमाञ्चकारी उत्पातोंको देखकर खर जोर-जोरसे हँसने लगा और समस्त राक्षसोंमें खोन्न— ॥ १८ ॥

महोत्पातान्निमान् सर्वानुत्थितान् घोरदर्शनान् ॥ १९ ॥
न चिन्तयाम्यहं वीर्याद् बलवान् दुर्बलानिव ।

तारा अपि शरैस्तीक्ष्णैः पातयेयं नभस्तलात् ॥ २० ॥
‘ये ओं भयानक दिग्वायो देनेवाले बड़-बड़ उन्माद प्रकट हो रहे हैं इन सबको मैं अपने बलके भाग्यसे कोई परवा नहीं करता, ठीक उसी तरह जैसे बलवान् वीर दुर्बल शत्रुओंको कुछ नहीं समझता है, मैं अपने तीखे बाणोंद्वारा आकाशसे तारोंको भी गिरा सकता हूँ ॥ १९-२० ॥

मृत्युं मरणधर्मेण सकृच्छो योजयाम्यहम् ।
गण्यं तं बलौत्सिक्तं भ्रान्तं चापि लक्ष्मणम् ॥ २१ ॥
अहत्वा सायकस्तीक्ष्णैर्नोपावर्तितुमुत्सहे ।

‘यदि कुपित हो जाऊँ तो मृत्युको भी मौतके मुखमें डाल सकता हूँ आज बलका धमड़ रखनेवाले राम और उमक भाई लक्ष्मणको तीखे बाणोंसे मारे बिना मैं पीछे नहीं लौट सकता ॥ २१ ॥

यन्निमित्तं तु रामस्य लक्ष्मणस्य विपर्ययः ॥ २२ ॥
सकामा भगिर्नामेऽस्तु पीत्वा तु रुधिरं तपोः ।

‘जिसे दण्ड देनेके लिये राम और लक्ष्मणकी बुद्धिमत् विपरीत विचार (कृतपापों के कर्म करनेके भाव) का उदय हुआ है, वह मेरी गद्देन शूर्पणखा उन दोनोंका खून पीकर सफलमनोरथ हो जाय ॥ २२ ॥

न क्वचित् प्राप्पपूर्वा ये संयुगेषु पराजयः ॥ २३ ॥
युष्माकमेतत् प्रत्यक्षं नानृतं कथयाम्यहम् ।

आजतक जितने युद्ध हुए हैं, उनमेंसे किसीमें भी पहल मेरी कभी पराजय नहीं हुई है, यह तुमलोगोंमें प्रत्यक्ष देखा है। मैं झूठ नहीं कहता हूँ ॥ २३ ॥

देवराजपि कुच्छो मत्तैरावतगाभिन्नम् ॥ २४ ॥
अग्रहस्तं रणे हन्या किं पुनस्ती च मानवी ।

‘मैं मानवाले ऐरावतपर चलनेवाले अग्रधारी देवराज

इन्द्रकी भी रणभूमिमें कुपित होकर कालक गालमें डाल सकला हूँ, फिर उन दो मनुष्योंकी तो बात ही क्या है ? ॥

सा मस्य गर्जितं श्रुत्वा राक्षसानां महाबभूवुः ॥ २५ ॥
प्रहर्षमतुलं लेभे भृत्युपाशाद्यपाशिता ।

खरकी यह गर्जना सुनकर राक्षसोंको यह विशाल सेना, जो भीतक पाशसे बंधी हुई थी, अनुपम हर्षमें भर गया ।

समेधुश्च महात्मानो युद्धदर्शनकाङ्क्षिणः ॥ २६ ॥
ऋषयो देवगन्धर्वाः सिद्धाश्च सह चारणैः ।

ममेत्य चोचुः सहितास्तोऽन्योन्यं पुण्यकर्मणः ॥ २७ ॥

उस समय युद्ध देखनेकी इच्छावान् खर-से पुण्यकर्ता महात्मा, ऋषि, देवता, गन्धर्व, सिद्ध और चारण वहाँ तकत्र हो गये । एकत्र हो वे सभी मिलकर एक-दूसरेसे कहने लगे— ॥ २६-२७ ॥

अस्ति गोब्राह्मणेभ्यस्तु लोकानां ये च सम्पत्ताः ।

जयतां राघवो युद्धे पौलस्त्यान् रजनीचरान् ॥ २८ ॥

चक्रहस्तो यथा विष्णुः सर्वानसुरस्तपान् ।

‘तौओं और ब्राह्मणोंका कल्याण हो तथा जो अन्य भौकप्रिय महात्मा हैं, वे भी कल्याणके भागी हों । जैसे चक्रधारी भगवान् विष्णु समस्त अमूर्तशक्तिधियोंको परास्त कर देते हैं, उसी प्रकार शुकुलभुषण श्रीराम युद्धमें इन पुलस्त्यवंशों निशचरोको पराजित करें’ ॥ २८ ॥

एतैस्त्वान्यथा बहुशो ब्रुवाणाः परमर्षयः ॥ २९ ॥

जातकौतुहलास्तत्र विधानस्थाश्च देवताः ।

ददुर्गुर्वाहिनीं तेषां राक्षसानां गतायुषाम् ॥ ३० ॥

ये तथा और भी बहुत-सी मङ्गलकामनामूचक बातें कहने हुए वे मर्ष और देवता कौतुहलवश नैमान्तर

बैठकर जिनकी आयु समाप्त हो चली थी, उन राक्षसोंकी उस विशाल बाहनोंको देखने लगे ॥ २९-३० ॥

रथेन तु खरो वेगात् सैन्यस्याग्राद् विनिःसृतः ।

इयेनगामी पृथुग्रीवो यज्ञशत्रुर्विहंगमः ॥ ३१ ॥

दुर्जयः करवीराक्षः परुषः कालकामुकः ।

हेममाली महामाली सर्पास्यो रुधिराशनः ॥ ३२ ॥

द्वादशीते महावीर्याः प्रतस्थुरभितः खरम् ।

खर रथके द्वारा बड़े वेगसे चलकर सारी सेनासे आगे निकल आया और इयनगामी, पृथुग्रीव, यज्ञशत्रु, विहंगम, दुर्जय, करवीराक्ष परुष, कालकामुक, हेममाली, महामाली, सर्पास्य तथा रुधिराशन—ये बारह महापराक्रमी राक्षस खरको दोनों ओरसे घेरकर उसके साथ-साथ चलने लगे ।

महाकपालः स्थूलाक्षः प्रमाथस्त्रिशिरास्तथा ।

चत्वार एते सेनाग्रे दूषणं पृष्ठतोऽन्वयुः ॥ ३३ ॥

महाकपाल, स्थूलक्ष, प्रमाथ और त्रिशिर—ये चार राक्षस खर सेनाके आगे और सेनापति दूषणके पीछे-पीछे चल रहे थे ॥ ३३ ॥

सा धीमवेगा समराभिकाङ्क्षिणी

सुदारुणा राक्षसवीरसेना ।

तौ राजपुत्री सहसाप्युपेता

माला ग्रहाणामिव चन्द्रसूर्यौ ॥ ३४ ॥

राक्षस-वीरोंकी यह भयंकर वेगवाली अत्यन्त दारुण सेना, जो युद्धको अधिलाषासे आ रही थी, सहसा उन दोनों राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मणके पास जा पहुँची, मानों ग्रहोंकी पंक्ति चन्द्रमा और सूर्यके समीप प्रकाशित हो रही हो ॥ ३४ ॥

इत्यर्थे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे त्रयोविंशः सर्गः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आषारामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें तेईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २३ ॥

★

चतुर्विंशः सर्गः

श्रीरामका तात्कालिक शत्रुओंद्वारा राक्षसोंके विनाश और अपनी विजयकी सम्भावना करके सीतासहित लक्ष्मणको पर्वतकी गुफामें भेजना और युद्धके लिये उद्यत होना

आश्रमं प्रतियाते तु खरे खरपराक्रमे ।

मानेर्वात्पतिकान् रामः सह भ्रात्रा ददर्श ह ॥ १ ॥

प्रनष्ट पराक्रमी खर अब श्रीरामके आश्रमकी ओर जा तब भाईसाहित श्रीराम भी उन्हीं उत्पातमूचक लक्षणाँका दृष्टा ॥ १ ॥

मानुष्यास्तान् महाघोरान् रामो दृष्ट्वात्यमर्षणः ।

प्रजानामहितान् दृष्ट्वा वाक्यं लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ २ ॥

प्रजाके अहितकी सूचना देनेवाले उन महाभयंकर इनालोंको देखकर श्रीरामचन्द्रजी राक्षसोंके उपद्रवका चत्वार करके अत्यन्त अमर्षमें भर गये और लक्ष्मणसे

इस प्रकार बोले— ॥ २ ॥

इमान् पश्य महाबाहो सर्वभूतापहारिणः ।

समुत्थितान् महोत्थानान् संहन्तु सर्वराक्षसान् ॥ ३ ॥

‘महाबाहो ! ये जो बड़े-बड़े उत्पात प्रकट हो रहे हैं, इनकी ओर दृष्टिपात करो । समस्त भूतोंके संहारकी सूचना देनेवाले ये महान् उत्पात इस समय इन सारे राक्षसोंका संहार करनेके लिये उत्पन्न हुए हैं ॥ ३ ॥

अपी रुधिरघारास्तु विमुञ्जन्ते खरस्वनाः ।

व्योम्नि मेघा निवर्तन्ते पक्वा गर्दभारुणाः ॥ ४ ॥

‘आकाशमें जो गर्धोंके समान धूम्र वर्णवाले बादल

इय-उभय विचार रहे हैं, ये प्रचण्ड गर्जना करने हुए सुनकी धाराएँ सरसा रहे हैं ॥ ४ ॥

सधूमाश्च शराः सर्वे मम युद्धाभिनन्दिताः ।

रुक्मपृष्ठानि चापानि विचेष्टन्ते विचक्षण ॥ ५ ॥

'युद्धकुशल लक्ष्मण ! मेरे सारे बाण उत्थातवश उठनेवाले धूमसे सम्बद्ध हो युद्धके लिये मानों आर्जन्नि हो रहे हैं तथा जिनके पृष्ठभागमें सुवर्ण मका हुआ है वे मेरे धनुष की प्रत्यक्षासे जुड़ जानके लिये स्वयं ही अष्टाशौन जान पड़ते हैं ॥ ५ ॥

यादृशा इह कृजन्ति पक्षिणो जनचारिणः ।

अमृतो नोऽधत्त प्राप्तं संशयो जीवितस्य च ॥ ६ ॥

'यहाँ जेमे-जेमे जनचारी पक्षी बोल रहे हैं, उनसे हमारे लिये भाविष्यमें अभयको और राक्षसोंके लिये प्राणमेकटकी प्राप्ति सूचित हो रही है ॥ ६ ॥

सम्प्राहारस्तु सुमहान् भविष्यति न संशयः ।

अथपास्याति ये बभूवुः स्फुरमाणो मुहुर्मुहुः ॥ ७ ॥

'मेरी यह दार्ढ्यने भुजा बारंबार फड़ककर इस बातकी सूचना देती है कि कुछ ही देरमें बहुत बड़ा युद्ध होगा, इसमें संशय नहीं है ॥ ७ ॥

सैनिकैर्वै तु नः शूर जयं शत्रोः पराजयम् ।

सुप्रथं च प्रसन्नं च तव वक्त्रं हि लक्ष्यते ॥ ८ ॥

'शूरवीर लक्ष्मण ! परंतु निवृत्तभविष्यमें ही हमारी विजय और शत्रुकी पराजय होगी, क्योंकि तुम्हारा मुख कान्तिमान एवं प्रसन्न दिखायी दे रहा है ॥ ८ ॥

उद्यतानां हि भुजार्थं येषां भवति लक्ष्मण ।

निध्वंशं वदनं तेषां भवत्यायुः परिक्षयः ॥ ९ ॥

लक्ष्मण ! युद्धके लिये उद्यत होनेपर जिनका मुख प्रयाहीन (तडास) हो जाता है, उनको आयु भट हो जाती है ॥

राक्षसां नर्दतां घोरः श्रूयतेऽयं महाध्वनिः ।

आहतानां च धरीणां राक्षसैः क्रूरकर्षीभिः ॥ १० ॥

गलजल हुए राक्षसोंका यह घोर नाद सुनयी देता है तथा क्रूरकर्षी राक्षसीद्वारा चलायी गया भर्त्सनोंकी यह महाध्वनिकर गर्जन कानोंमें पड़ रही है ॥ १० ॥

अनागतविधाने तु कर्तव्यं शुभमिच्छता ।

आपवं शङ्कमानेन पुरुषेण विपश्चिता ॥ ११ ॥

'आपन' कल्याण करनेवाले विद्वान् पुरुषको उचित है कि आपनको आशङ्क्य होनेपर महत्कर्म ही उससे वचनेका उपाय कर ले ॥ ११ ॥

तस्माद् भुङ्गीत्या वैदेहीं शर्याणिर्धनुर्धरः ।

गूह्यमाश्रय शीलस्य दुर्गा पादपसंकुलाम् ॥ १२ ॥

'इमलिये' तुम धनुष-बाण धारण करके विदेहकुमारों सेनाको साथ ले पर्वतकी उस गुफामें चले जाओ, जो जङ्गलसे आवृत है ॥ १२ ॥

प्रतिकूलितुमिच्छामि न हि वाक्यमिदं त्वया ।

शरपितो मम पादाभ्यां गम्यतां वनस मा चिरम् ॥ १३ ॥

'वनस ! तुम मेरे इस वचनके प्रतिकूल कुछ कहो या करो, यह मैं नहीं चाहता । अपने घरणोंकी शपथ दिलाकर कहता हूँ, शीघ्र चले जाओ ॥ १३ ॥

त्वं हि शूरश्च बलवान् हन्या एतान् न संशयः ।

स्वयं निहन्तुमिच्छामि सर्वानेव निशाचरान् ॥ १४ ॥

'इसमें संदेह नहीं कि तुम बलवान् और शूरवीर हो तथा इन राक्षसोंका वध कर सकते हो, तथापि मैं स्वयं ही इन निशाचरोंका संहार करना चाहता हूँ (इमलिये तुम मेरी बात मानकर मोनाको सुरक्षित रखनेके लिये इस गुफामें ले जाओ)' ॥ १४ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः सह सीतया ।

शरनादाय चापं च गुहां दुर्गां समाश्रयत् ॥ १५ ॥

श्रीरामचन्द्रजोंके ऐसा कहनेपर लक्ष्मण धनुष-बाण ले सेनाके साथ पर्वतकी दुर्गमें गुफामें चले गये ॥ १५ ॥

तस्मिन् प्रविष्टे तु गुहां लक्ष्मणो सह सीतया ।

हन्त निर्युक्तमित्युक्त्वा रामः कवचपाविशत् ॥ १६ ॥

सीतासहित लक्ष्मणके गुफाके भीतर चले जानेपर श्रीरामचन्द्रजोंके 'हर्षको धान है लक्ष्मणने शीघ्र मेरी खान मान ली और सीताको रक्षाका समुन्धित प्रबन्ध हो गया' ऐसा कहकर कवच धारण किया ॥ १६ ॥

स तेनाग्निनिकाशेन कवचेन विभूषितः ।

अभूव रामस्तिमिरे महानग्निरिवोत्थितः ॥ १७ ॥

प्रज्वलित आगके समान प्रकाशित होनेवाले उस कवचमें विभूषित हो श्रीराम अन्धकारमें प्रकट हुए महान् अग्निदेवके समान शोभा देने लगे ॥ १७ ॥

स चापमुद्यम्य भृच्छरानादाय धीर्यवान् ।

सम्बभूवस्थितस्तत्र ज्यास्वने, पूरयन् दिशः ॥ १८ ॥

पराक्रमी श्रीराम महान् धनुष एवं बाण हाथमें लेकर युद्धके लिये इटकर खड़े हो गये और प्रत्यक्षाको टंकारसे सम्पूर्ण दिशाओंको गुंजाने लगे ॥ १८ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च सह चारणैः ।

समयुक्ता महात्मानो युद्धदर्शनकाङ्क्षया ॥ १९ ॥

तदनन्तर श्रीराम और राक्षसोंका युद्ध देखनेकी इच्छासे देवता, गन्धर्व, सिद्ध और चारण आदि महात्मा वहाँ एकत्र हो गये ॥ १९ ॥

ऋषयश्च महात्मानो लोकं ब्रह्मर्षिसमृपाः ।

समेत्य चोचुः सहितास्तेऽन्योन्ये पुण्यकर्मणः ॥ २० ॥

स्वस्ति गौत्राहणानां च लोकानां चेति संस्थिताः ।

जयतां राघवो युद्धे पीलस्त्यान् रजनीवरान् ॥ २१ ॥

चक्रहस्तो यथा युद्धे सर्वानसुरपुंगवान् ।

इनके मित्रों को सीता आकाशमें प्रसिद्ध ब्रह्मर्षिशिष्यों

तृण्यकर्मा महात्मा ऋषि है, ये सभी वहाँ जुट गये और एक-
नाथ खड़े हो परस्पर मिलकर यों कहने लगे—‘गौओं
अङ्गणों और समस्त लोकोंका कल्याण हो । जैसे चक्रधारी
भगवान् विष्णु युद्धमें समस्त श्रेष्ठ अमृतोंको पालन कर देते हैं
उसी प्रकार इस संग्राममें श्रीरामचन्द्रजी पुलस्त्यवशी
निशाचरोपर विजय प्राप्त करें’ ॥ २०-२१ ॥

एवमुक्त्वा पुनः प्रोचुरालोक्य च परम्परम् ॥ २२ ॥
चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम् ।

एकश्च रामो धर्मात्मा कथं युद्धं भविष्यति ॥ २३ ॥

ऐसा कहकर वे पुनः एक-दूसरेको ओर देखते हुए
कहे—‘एक ओर भयंकर कर्म करनेवाले चौदह हजार
रक्षस हैं और दूसरी ओर अकेल धर्मात्मा श्रीराम हैं फिर
यह युद्ध कैसे होगा ?’ ॥ २२-२३ ॥

इति राजर्षयः सिद्धाः सगणाश्च द्विजर्षभाः ।

जातकौतूहलास्तस्युर्विधानस्थाश्च देवताः ॥ २४ ॥

ऐसी बातें करते हुए राजर्षि, सिद्ध, विद्याधर आदि
देवगोत्रिगणसहित श्रेष्ठ ब्रह्मर्षि तथा विमानपर स्थित हुए
देवता कौतूहलवश वहाँ खड़े हो गये ॥ २४ ॥

आविष्टं तेजसा राघं संप्रामशिरसि स्थितम् ।

दृष्ट्वा सर्वाणि भूतानि भयाद् विव्यधिरं तदा ॥ २५ ॥

युद्धके गगनपर उभाव तेजस आविष्ट हुए श्रीरामको
महा देव उस समय सब प्राणी, उनके प्रभावकी वजहसे
कारण) भयसे व्यथित हो उठे ॥ २५ ॥

रूपमप्रतिमं तस्य रामस्याङ्गुष्ठकर्मणः ।

बभूव रूपं कुट्टस्य रुद्रस्येव महात्मनः ॥ २६ ॥

अनायाम ही महान् कर्म करनेवाले तथा रोषमें भरे हुए
महात्मा श्रीरामका वह रूप कुपित हुए रुद्रदेवके समान
तुल्यमोहत प्रतीत होता था ॥ २६ ॥

इति सम्भाष्यमाणो तु देवगन्धर्वचारणीः ।

तनो गम्भीरानेहार्द्रं धोर्चर्मायुधध्वजम् ॥ २७ ॥

अनीकं घानुधानानां समन्तात् प्रत्यपहत ।

जैसे देवता, गन्धर्व और जाण पुरास्कारपत्र श्रीरामको
महत्कामना कर रहे थे, उसी समय भयंकर डाल-तलवार
आदि आयुधों और छत्राओंसे ठपठपान होनेवाली
निशाचरोकी वह सेना गम्भीर गर्जना करते हुई चगे ओग्य
श्रीरामजीके पास आ पहुँची ॥ २७ ॥

सीरालापान् विमुज्जतामन्योन्यमभिगच्छताम् ॥ २८ ॥

जापानि विस्फारयतां युष्मतां चाप्यभीक्ष्णशः ।

विप्रधुष्टस्वमनां च दुनुभीक्षापि निघ्नताम् ॥ २९ ॥

तेषां सुतमूलः शब्दः पुरयामास तद् वनम् ।

ये तक्षस-सैनिक वीरोचित वार्तालयन करते, युद्धका रंग

इत्यादि श्रीमहाभागो वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे चतुर्विंशः सर्गः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्गित आरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें चौबीसवाँ सर्ग पुरा हुआ ॥ २४ ॥

वनानेके लिये एक-दूसरेके सामने जाते, धनुषोंको खींचकर
उनको टंकार फैलते, बारबार मटमटा होकर उछलते, ओर-
ओरमें गर्जना करते और नागाड़े पीटते थे । उनका वह अत्यन्त
तुमल नाद उस वनमें सब ओर गूँजने लगा ॥ २८-२९ ॥

तेन शब्देन विव्रस्ताः क्षापदा वनचारिणः ॥ ३० ॥

दुःखुर्यत्र निःशब्दे पृष्ठतो नावलोकयन् ।

उस शब्दसे डरे हुए वनचारी हिसक जन्तु उस वनमें गये,
जहाँ किसी प्रकारका कोलाहल नहीं सुनायी पड़ता था । वे
वनजन्तु भयंकर घोर पाछे फिरकर देखते भी नहीं थे ॥

नद्यानीकं महावेगं राघं समनुवर्तत ॥ ३१ ॥

धृतनानाप्रहरणं गम्भीरं सागरोपमम् ।

वह सेना बड़े वेगसे श्रीरामकी ओर चली । उसमें नाना
प्रकारके आयुध धारण करनेवाले सैनिक थे वह समुद्रके
समान गम्भीर दिखायी देती थी ॥ ३१ ॥

रामोऽपि चारयंश्छक्षुः सर्वतो रणपण्डितः ॥ ३२ ॥

दृष्ट्वा रघुसैन्यं तद् युद्धायाभिमुखो गतः ।

युद्धकलाके विद्वान् श्रीरामचन्द्रजीने भी चारों ओर
दृष्टिमान बन गए और उनकी मेनका निरोक्षण किया और वे
युद्धके लिये उसके सामने बढ़ गये ॥ ३२ ॥

वितन्व च धनुर्भीमं तृण्याशोद्धृत्य सायकान् ॥ ३३ ॥

क्रोधमाहारयन् तीव्रं वधार्थं सर्वरक्षसाम् ।

दुष्प्रक्ष्यश्चाभवन् कुट्टो युगान्ताप्रिखि ज्वलन् ॥ ३४ ॥

फिर उन्होंने तरकसमें अनेक बाण निकाले और अपने
भयंकर धनुषका व्याधकर माधुर्य रक्षसोंका अध करनेके
लिये तीव्र क्रोध प्रकट किया । कुपित होनेपर वे
प्रलयकालिक अधिके समान प्रज्वलित होने लगे । उस
समय उनकी ओर देखना भी कठिन हो गया ॥ ३३-३४ ॥

तै दृष्ट्वा तेजसाऽऽविष्टं प्राव्यधन् वनदेवताः ।

तस्य रुष्टस्य रूपे तु रामस्य ददुशे तदा ।

दक्षस्येव कर्तुं हन्तुपुष्टतस्य पिनाकिनः ॥ ३५ ॥

तजसे आविष्ट हुए श्रीरामको देखकर वनके देवता
व्यथित हो उठे । उस समय रोषमें भरे हुए श्रीरामका रूप
क्षयज्ञका विनाश करनेके लिये उद्यत हुए पिनाकधारी
महादेवजीके समान दिखायी देने लगा ॥ ३५ ॥

तत्कार्मुकैराभरणै रथैश्च

तद्वर्षभिश्चाग्निसमानवर्णैः ।

बभूव सैन्यं पिशितशनानां

सूर्योदये नीलमिवाभ्रजालम् ॥ ३६ ॥

धनुषों, आभूषणों, रथों और अग्निके समान कान्तिवाले
चमकीले कवचोंसे युक्त वह पिशाचोकी सेना सूर्योदयकालमें
नीले मेघोंकी घटाके समान प्रतीत होती थी ॥ ३६ ॥

पञ्चविंशः सर्गः

राक्षसोंका श्रीरामपर आक्रमण और श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा राक्षसोंका संहार

अवष्टब्धधनुं रामं क्रुद्धं तं त्रिपुधातिनम् ।

हृदशस्त्रिमभागम्य स्वरः सह पुरःसरैः ॥ १ ॥

तं दृष्ट्वा सगुणं चापमुद्यम्य स्वरनिःस्वनम् ।

रामस्याभिमुखं सुतं चोद्यतामित्यचोदयत् ॥ २ ॥

स्वरने अपने अग्रगण्य सैनिकोंके साथ आक्रमणके पाम पहुँचकर क्रोधमे भरे हुए शत्रुगणों श्रीरामको देखा, जो हाथमे धनुष लिये खड़े थे। उन्हें देखते ही अपने तीव्र टंकार करनेवाले प्रत्याश्रित धनुषको उठाकर सुनको आवा दी—‘येव रथ रामके सामने ले चलें’ ॥ १-२ ॥

स स्वरस्याशया सुतस्तुरगान् सम्प्राचोदयत् ।

यत्र रामो महाबाहुरेको युयन् धनुः स्थितः ॥ ३ ॥

स्वरकी आवाजसे साराधने घोड़ोंको उभर ही खड़ाया, जहाँ महाबाहु श्रीराम अकेल खड़े होकर अपने धनुषकी टंकार कर रहे थे ॥ ३ ॥

तं तु निश्चितं दृष्ट्वा सर्वतो रजनीचराः ।

मुञ्चमाना महानादं सज्जिताः पर्यवारयन् ॥ ४ ॥

सबको श्रीरामके समक्ष पहुँचा देख इयेंगणों आदि इसके निशाचर मन्त्री भी बड़े जोरसे सिहनाद करके उसे चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये ॥ ४ ॥

स तेषां यातुधानानां मध्ये रथगतः स्वरः ।

अभूव मध्ये ताराणां लोहिताङ्ग इवोदितः ॥ ५ ॥

उन राक्षसोंके बीचमे रथपर बैठा हुआ स्वर स्वरके मध्यभागमें उगे हुए मङ्गलकी भर्त्ति शोभा पा रहा था ॥ ५ ॥

ततः शरसहस्रेण रामप्रतिमोजसम् ।

अर्क्षित्वा महानादं ननाद समरे स्वरः ॥ ६ ॥

उस समय करने सम्राट्गणमें सहस्रों बाणोंद्वारा अप्रतिम बलवाली श्रीरामको घोंदित-सा करके बड़े जोरसे गर्जना की ॥ ६ ॥

ततस्तं भीमधन्वानं क्रुद्धाः सर्वे निशाचराः ।

रामं नानाविधैः शस्त्रैरभ्यवर्धन् दुर्जयम् ॥ ७ ॥

तदनन्तर क्रोधमें भा हुए समस्त निशाचर भयभीत धनुष धारण करनेवाले दुर्जय वार श्रीरामपर माना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करने लगे ॥ ७ ॥

मुहुरीरायसैः शुलैः प्रासैः खड्गैः परशुभिः ।

राक्षसाः समरे शूरं निजघ्नू रोषतत्पराः ॥ ८ ॥

हम सम्राट्गणमें कष्ट हुए राक्षसोंने शूरवार श्रीरामपर लक्ष्मणके मुहुरी, शुल्ले, प्रासों, खड्गों और परशुद्वारा प्रहार किया ॥ ८ ॥

ते बलाहकसंकाशा महाकाया महाबलाः ।

अभ्यधावन् काकुत्स्थं रथैर्वाजिभिरेव च ॥ ९ ॥

गजैः पर्वतकूटप्रैः रामं युद्धे जियांसवः ।

वे मेघोंके समान काले, विजालकाय और मङ्गलवर्त्त

निशाचर गधों, घोड़ों और पर्वतशिखरके समान गजराजोंद्वारा काकुत्स्थकूटधनुष श्रीरामपर बाणों ओरसे दूट पड़े। वे युद्धमें उन्हें मार डालना चाहते थे ॥ १-३ ॥

ते राधे शरवर्षाणि व्यसृजन् रक्षसा गणाः ॥ १० ॥
शैलेन्द्रमिव धाराभिर्वर्षमाणा महाघनाः ।

जैसे बड़-बड़े मेघ गिरिराजपर जलकी धाराएँ बरसा रहे हों, उसी प्रकार वे राक्षसगण श्रीरामपर बाणोंकी वर्षा कर रहे थे ॥ १०-११ ॥

सर्वैः परिवृतो रामो राक्षसैः क्रूरदर्शनैः ॥ ११ ॥

तिथिष्विव महादेवो वृतः पारिषदी गणैः ।

क्रूरतापूर्ण दर्शनसे देखनेवाले उन सभी राक्षसोंने श्रीरामको उसी प्रकार घेर रखा था जैसे प्रदोषमङ्गल तिथियोंमें भगवान् शिवके पार्षदगण उन्हें घेरे रहते हैं ॥ ११-१२ ॥

नानि मुक्तानि शस्त्राणि यातुधानैः स राघवः ॥ १२ ॥

प्रतिजग्राह विशिखैर्नद्योद्यानिव सागरः ।

शरघुनाथजीने राक्षसोंके छोड़ हुए उन अस्त्र-शस्त्रोंको अपने बाणोंद्वारा उसी तरह प्रस लिया, जैसे समुद्र नदियोंके प्रवाहको अल्पसाल कर लेता है ॥ १२-१३ ॥

स तैः प्रहरणैर्धौर्ध्वभिर्भ्रमात्रो न विव्यथे ॥ १३ ॥

रामः प्रदोषैर्बहुभिर्वज्रैरिव महाबलः ।

उन राक्षसोंके चार अस्त्र-शस्त्रोंके प्रहारसे यद्यपि श्रीरामका शरीर क्षत-विक्षत हो गया था तो भी वे व्यथित या विचलित नहीं हुए, जैसे बहुसंख्यक दौर्ध्रमान् खड्गोंके आघात सहकर भी महान् पर्वत अद्विग्न बना रहता है ॥

स विद्धः क्षतजटादिग्धः सर्वगात्रेषु राघवः ॥ १४ ॥

अभूव रामः संख्याभ्रैर्दिवाकर इवावृतः ।

शरघुनाथजीके सारे अङ्गोंमें अस्त्र-शस्त्रोंके आघातसे घाव पा गया था। वे लहू लहान हो रहे थे अतः उस समय मध्याह्नकालके बादलोंमें घिरे हुए सूर्यदेवके समान शोभा पा रहे थे ॥ १४-१५ ॥

धिपेदुर्देवगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ॥ १५ ॥

एक साहस्रैर्बहुभिस्तदा दृष्टा संभावृतम् ।

श्रीराम अकेले थे। उस समय उन्हें अनेक सहस्र शत्रुओंसे घिरा हुआ देख दबना, सिद्ध गन्धर्व और महर्षि वियादमें डूब गये ॥ १५-१६ ॥

ततो रामस्तु संक्रुद्धो मण्डलीकृतकार्मुकः ॥ १६ ॥

ससर्ज निशितान् बाणाच्छतशोऽथ सहस्रशः ।

दुरावारान् दुर्विषहान् कालपाशोपमान् रणे ॥ १७ ॥

तत्पश्चान् श्रीरामचन्द्रजीने अत्यन्त क्रुपित हो अपने धनुषको इतना खोचा कि वह गोलकाँट दिखायी देने लगा किन्तु वे वं उस धनुषसे रणभूमिमें सैकड़ों, हजारों ऐसे पैंने

बाण छोड़ने लगे, जिन्हें रोकना सर्वथा कठिन था, जो दुग्ध
ताम्रके साथ ही कालपाशक समान भयंकर थे ॥ १६-१७ ॥
मुपोच लीलया कङ्कपत्रान् काञ्चनभूषणान् ।
ने शराः शत्रुर्मन्येषु मुक्ता रामेण लीलया ॥ १८ ॥
आदद् रक्षसां प्राणान् पाशाः कालकृता इव ।

उन्होंने खेल-खेलमें ही चालके पाश युक्त असंख्य
सुवर्णभूषण बाण छोड़े। शत्रुके मैनिकीपर श्रांगमद्वारा
लीलापूर्वक छोड़े गये थे बाण कालपाशके समान रक्षसाके
प्राण लेने लगे ॥ १८ ॥

भित्त्वा राक्षसदेहांस्तास्ते शरा रुधिराग्नयः ॥ १९ ॥
अन्तरिक्षगता रेजुर्दीप्ताग्निसमतेजसाः ।

राक्षसांके शरीरोंको छेदकर खूनमें डूबे हुए वे बाण जव
आकाशमें पहुँचते तब प्रज्वलित अग्निके समान तेजसे
प्रकाशित होने लगते थे ॥ १९ ॥

असंख्येयास्तु रामस्य सायकाक्षापण्डलान् ॥ २० ॥
विनिर्व्येतुरतीव्रोपा रक्षःप्राणापहारिणः ।

श्रीरामके मण्डलाकार धनुषमें असंख्य भयंकर और
राक्षसांके प्राण लेनेवाले असंख्य बाण छूटने लगे ॥ २० ॥

तैर्धनुषि ध्वजाधराणि चर्माणि कवचानि च ॥ २१ ॥
बाहून् सहस्ताधरणानूल्न करिकरोपमान् ।

क्रियेद्ध रामः समरे शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २२ ॥

उन बाणोंद्वारा श्रीरामने समराङ्गणमें शत्रुओंके सैकड़ों-
हजारों धनुष, ध्वजाओंके अग्रभाग, ढाल, कवच,
आभूषणोपकरण धुत्तारे तथा शरीरोंके सैकड़ समान ऊँट
काट डाली ॥ २१-२२ ॥

हयान् काञ्चनभेनाहान् रथयुक्तान् समारथीन् ।
गजांश्च सगरजरोहान् सज्जयान् सादिनस्तदा ॥ २३ ॥

ध्विच्छिद्रुर्विभिद्भुक्षीव रामबाणा गुणज्युताः ।
पदातीन् समरे हत्वा हानयद् यमसादनम् ॥ २४ ॥

प्रत्यङ्गासे छूटे हुए श्रीरामके बाणोंने उस समय मयंक
साज-बाज एवं कवचसे सजे और रथोंमें जुते हुए घोड़ों,
खारथियों, हाथियों, हाथीमयूरों, खरों और धुइयमयूरोंको भा
छिन्न भिन्न कर डाली। इसी प्रकार श्रीरामने समरभूमिमें
पैदल सैनिकोंको भी मारकर यमलोक पहुँचा दिया ॥

ततो नास्तीकनाराक्षसीक्षणाग्रैश्च विकर्णामिः ।
भीममार्गस्वरे चक्रुश्छिद्यमाना निशाचराः ॥ २५ ॥

उस समय उनके नालीक, नाराच और तोंगे अग्रभाग-
वाले विकर्णी नामके बाणोंद्वारा छिन्न-भिन्न होने हुए निशाचर
भयंकर आर्तनाद करने लगे ॥ २५ ॥

विजिर्ध्वार्णरदिते यमयेदिभिः ।
सुखं लेभे शुक्लं वनमिवाग्निना ॥ २६ ॥

इनमें से कितने हुए नाना प्रकारके यमयेदी बाणोंद्वारा
खंडित हुई वह रक्षसमेवा आगसे जलते हुए सुखे वनके

भूति सुख-शान्ति नहीं पाती थी ॥ २६ ॥
केचिद् भीमबलाः शूराः प्रामाञ्जलान् परश्वयान् ।

त्रिक्षिपुः परमकुद्धा रामाय रजनीचराः ॥ २७ ॥

कुछ भयंकर बलशाली शूरवीर निशाचर अत्यन्त क्रुपित
हो श्रीरामपर प्राप्ति शूरी और फरसोंका प्रहार करने लगे ।

नेषा वार्णमहाबाहुः शस्त्रापयाचार्य वीर्यवान् ।
जहार समरे प्राणांश्चिच्छेत् च शिरोधरान् ॥ २८ ॥

परंतु पराक्रमी महाबाहु श्रीरामने रणभूमिमें अपने
बाणोंद्वारा उनके उन अस्त्र शस्त्रोंको रोककर उनके गले काट
डाले और प्राण हर लिये ॥ २८ ॥

ने छिप्रशिरसः पेतुश्छिन्नचर्मशरासनाः ।
सुपर्णवानविक्षिप्ता जगत्या पादया यथा ॥ २९ ॥

अवशिष्टाश्च ये तत्र विषण्णास्ते निशाचराः ।
स्वयमेवाभ्यधावन्त शरणार्थं शराहताः ॥ ३० ॥

सिर, ढाल और धनुषक कट जानेपर वे निशाचर गरुड़के
पंखोंका इस्तेमाल कर गिरनेवाले नन्दमवनके वृक्षोंकी भूति
धराशायी हो गये। जो बचे थे, वे शरसे भी श्रीरामके
बाणोंसे आहत हो विषादमें डूब गये और अपनी रक्षाके लिये
स्वयंके पास ही दीड़े गये ॥ २९-३० ॥

तान् सर्वान् धनुरादाय समाश्वास्य च दूषणः ।
अभ्यधावत् सुसंकुटः कुटं कुटं इवान्तकः ॥ ३१ ॥

परंतु बीचमें दूषणने धनुष लेकर उन सबको आश्वासन
दिया और अन्य-न क्रुपित हो रोषमें भर हुए यमराजकी
भूति वह कुट होकर युद्धके लिये डट हुए श्रीरामचन्द्रजीकी
आर होड़ा ॥ ३१ ॥

निवृत्तास्तु पुनः सर्वे दूषणाश्रयनिर्भयाः ।
राममेवाभ्यधावन्त साल्मत्सालशिलाधुधाः ॥ ३२ ॥

दूषणका सहाय मिल जानेसे निर्भय हो वे सब-के-सब
फिर लौट आये और मागू, ताड़ आदिके वृक्ष तथा पत्थर
लेकर पुनः श्रीरामपर हो दूट पड़े ॥ ३२ ॥

शूलमुद्गरहस्ताश्च पाशहस्ता महाबलाः ।
सुजन्तः शरवर्षाणि शस्त्रवर्षाणि संयुगे ॥ ३३ ॥

उस युद्धस्थलमें अपने हाथोंमें शूल, मुद्गर और पाश
धारण किये वे महाबली निशान्तर जाणो तथा अन्य अस्त्र-
शस्त्रोंको वर्षा करने लगे ॥ ३३ ॥

हुमवर्षाणि मुञ्चन्तः शिलावर्षाणि राक्षसाः ।
तद् वभूवाद्भुनं युद्धं तुमुलं रोमहर्षणम् ॥ ३४ ॥

रामस्यास्य महाधोरं पुनस्तेषां च रक्षसाम् ।
जोई राक्षस वृक्षोंकी वर्षा करने लगे तो कोई पत्थरोंकी ।

उस समय इन श्रीराम और उन निशाचरोंमें पुन बड़ा ही अद्भुत
महापयंकर, धमासान और रोमाञ्चकारी युद्ध होने लगा ॥ ३४ ॥
ते समन्तादभिकुद्धा राघवं पुनरादयन् ॥ ३५ ॥
ततः सर्वा दिशो दृष्ट्वा प्रदिशश्च समावृताः ।

राक्षसैः सर्वतः प्राप्तेः शरवर्षाभिरावृतः ॥ ३६ ॥
स कृत्वा भैस्त्वं नादमस्त्रं धरमभास्वरम् ।

समयोजयद् गान्धर्वं राक्षसेषु महाबलः ॥ ३७ ॥

वे राक्षस कुपित होकर चारों ओरसे पुन श्रीगणेशजीको घोंड़ित करने लगे तब सब ओरसे आये हुए राक्षसोंमें सम्पूर्ण दिशाओं और उपदिशाओंको घिरे हुई दस बाण वर्षासे आच्छादित हुए महाबली श्रीरामने भैरव-नाद करके उन राक्षसोंपर परम तेजस्वी गान्धर्व नामक असक्त प्रयोग किया ॥ ३५—३७ ॥

ततः शरसहस्राणि निर्ययुक्ष्वापमण्डलान् ।

सर्वा दश दिशो बाणैरपूर्यन्त समागतैः ॥ ३८ ॥

फिर भी उनका मण्डलाकार धनुषसे सहस्रो बाण भूटन लगे, उन बाणोंसे दसों दिशाएँ पूर्णतः आच्छादित हो गयीं ॥ ३८ ॥

नाददानं शरान् घोसन् विमुञ्चन्त शरोत्तमान् ।

विकर्षमाणं पश्यन्ति राक्षसाले शरादिताः ॥ ३९ ॥

बाणोंसे घोंड़ित राक्षस चढ़ नहीं देख पाते थे कि श्रीरामचन्द्रजी कब भयंकर बाण हाथमें लते हैं और कब उन उनमें बाणोंको छोड़ देते हैं वे कहकर उनको धनुष खींचने देखने थे ॥ ३९ ॥

शरान्यकारमाकशमावृणोत् सदिवीकरम् ।

अधुनावस्थितो राधः प्रक्षिपन्निव ताञ्छरान् ॥ ४० ॥

श्रीगणेशजीके बाणसमुदायरूपी अन्धकारने सूर्यसहित सारे आकाशमण्डलको ढक दिया उस समय श्रीराम उन बाणोंको लगातार छोड़ते हुए एक स्थानपर खड़े थे ॥ ४० ॥

युगधत्पत्तमार्गश्च युगपद् हतैर्भृशम् ।

धुगपत्पतितैश्च विकीर्णा वसुधाभवत् ॥ ४१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे धार्म्यकीये आदिकाण्डश्रवणकाण्डे पञ्चविंशः सर्गः ॥ ७५ ॥

इस प्रकार श्रीबालोकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाण्डश्रवणकाण्डमें पञ्चम सर्ग पूरा हुआ ॥ ७५ ॥

षड्विंशः सर्गः

श्रीरामके द्वारा दूषणसहित चौदह सहस्र राक्षसोंका वध

दूषणस्तु स्वर्क सैन्यं हन्यमानं विलोक्य च ।

सद्विदेशं महाबाहुर्भोमवेगान् दुरासदान् ॥ १ ॥

राक्षसान् पञ्चसाहस्रान् समोष्ठुनिवर्तिनः ।

महाबाहु दूषणने जय देख कर मरी सेना धुरी तरहसे मारी जा रही है तब उसने धुड़से पाँछ पैर २ हगमवाले भयंकर बाणवाली पाँच हजार राक्षसोंको, जिन्हें जानना बड़ा ही कठिन था, आगे बढ़नेकी आज्ञा दी ॥ १ ॥

ते शूलैः पट्टिरीः खड्गैः शिलावर्षैर्हर्मरपि ॥ २ ॥

शरवर्षैरचिच्छिन्नं वयर्थुस्तं सपन्ततः ।

वे श्रीरामपर चारों ओरसे शूल, पट्टिश, तलवार, पत्थर

एक ही समय बाणोंद्वारा अत्यन्त घावले हो एक साथ ही गिरते और गिरे हुए बहुसंख्यक राक्षसोंकी लाशोंमें वहाँकी भूमि पट गयी ॥ ४१ ॥

निहताः पतिताः क्षीणाश्छिन्ना भिन्ना विदारिताः ।

तत्र तत्र स्म दृश्यन्ते राक्षसाले सहस्रशः ॥ ४२ ॥

वहाँ-वहाँ दृष्टि आती थी, वहाँ-वहाँ वे हजारों राक्षस भरे गिरे, क्षीण हुए, कटे-पटे और बिटोरे हुए दिखायी देते थे ।

सोष्णीर्धस्तपाङ्गैश्च साङ्गद्वर्षाहभिस्तथा ।

ऊर्ध्वभिर्बाहुभिश्छिन्नैर्नानारूपैर्विभूषणैः ॥ ४३ ॥

हयैश्च द्विपयुग्मैश्च रथैर्भिन्नैरनेकशः ।

चाभरव्यजनैश्छत्रैर्ध्वजैर्नानाविधैरपि ॥ ४४ ॥

रामेण बाणाभिहतैर्विच्छिन्नैः शूलपट्टिरीः ।

खड्गैः क्षण्डीकृतैः प्रासैर्विकीर्णैश्च परमधैः ॥ ४५ ॥

घृणिताभिः शिलाभिश्च शरैश्चिन्नैरनेकशः ।

विच्छिन्नैः समरे भूमिर्विस्तीर्णाभूद् भयंकरा ॥ ४६ ॥

वहाँ श्रीरामके बाणोंसे कटे हुए पगड़ियोंमलित मस्तकों, बाजूबदमणित घुबोंओं जाँचों बँटी धतिले-धतिलेके आभूषणों वहाँ श्रीम हाथियों रूट-फूट अनेकानेक रथों चैवगों, व्यजनों छत्रों नाना प्रकारकी ध्वजों, छिन्न-भिन्न हुए शूलों, पट्टिशों खण्डित खड्गों कितारे प्रासा, फरसा चू चूर हुई शिलाओं तथा टुकड़े-टुकड़े हुए बहुतों विच्छिन्न बाणोंमें पटी हुई वह समरचाँम अत्यन्त भयंकर दिखायी देती थी ॥ ४३—४६ ॥

तान् दृष्ट्वा निहतान् सर्वे राक्षसाः परमातुराः ।

न तत्र चलिन्तुं शक्ता रामं परपुरजयम् ॥ ४७ ॥

उन सबको मार गया देख शेष राक्षस अत्यन्त आतुर हो 'कहाँ' अनुगरीपर विजय पानेवाले श्रीरामके सम्मुख जानमें असमर्थ हो गये ॥ ४७ ॥

दृष्ट और बाणोंको लगातार वर्ष करने लगे ॥ २ ॥

तद् दूषणां शिलायां च वर्षं प्राणहरं महत् ॥ ३ ॥

प्रतिजथाह धर्मात्मा राघवस्तीक्ष्णसायकः ।

यह देख धर्मात्मा श्रीगुणनाभजीने वृक्ष और शिलाओंको उस प्राणहारीणां महावृष्टि को अपने तीखे सायकोद्वारा रोका ॥

प्रतिगृह्य च तद् वर्षं निमीलित इवर्षभः ॥ ४ ॥

रामः क्रोधे परं लेभे वधार्थं सर्वरक्षसाम् ।

उस सारी वर्षोंको रोककर आँख मूँदे हुए साँड़की भाँति अविचल भावसे खड़े हुए श्रीरामने समस्त राक्षसोंके वधके लिये महान् क्रोध धारण किया ॥ ४ ॥

ननः क्रोधसमाविष्टः प्रदीप्त इव तेजसा ॥ ५ ॥
शरैरभ्यकिरत् सैन्यं सर्वतः सहदूषणम् ।

क्रोधसे युक्त और तेजस उदात्त हुए श्रीरामने दूषणसहित
मारी राक्षस-सेनापर चारों ओरसे आणकी वर्षा आरम्भ
कर दी ॥ ५ ॥

ननः सेनापतिः क्रुद्धो दूषणः शत्रुदूषणः ॥ ६ ॥
शरैरशनिकल्पैस्तै राघवं समवारयत् ।

इससे शत्रुदूषण सेनापति दूषण से बड़ा क्रोध हुआ और
रघुवन वधार्थ समान आणकी आक्रमण करने लगा ॥ ६ ॥

नतो रामः सुसंकुब्धः क्षुरेणास्य महद् धनुः ॥ ७ ॥
विच्छेद सपरे वीरशत्रुभिश्चमुरो हयान् ।

नतो आश्वासार्हस्तौ शृणुर्ध्वजं सारथेः ॥ ८ ॥
शिरो जहार तद्रक्षत्रिभिर्विध्याद्य वक्षसि ।

तब अत्यन्त क्रुपित हुए और श्रीरामने समराङ्गणमें
धुरनामक आणसे दूषणके विशाल धनुषको काट डाला
और चार सौसे आणकीसे उसके चारों ओरोंको सैनिक
घाट उतारकर एक अर्धचन्द्राकार आणसे सार्थिकर भी
थर उड़ा दिया तथा तीन आणोंसे उस राक्षसको भी
छातीमें छोट पहुँचायी ॥ ७-८ ॥

स छिन्नधन्वा विरथो हताशो हतसारथिः ॥ ९ ॥
जपाह गिरिशूङ्गाधो परिधे रोमहर्षणम् ।

वेष्टितं काञ्चनैः पट्टैर्देवमैन्याधिपदनम् ॥ १० ॥

धनुष कट जाने और ओड़ों तथा समर्थक मारे जानकर
रक्षतेन हुए दूषणमें पर्वतशिखरके समान एक रामाङ्गकरी परिध
राथमें लिये आक्रमण उठाया उसके पत्र पड़े गये थे । वह परिध
देवताओंकी मन्त्रों भी कुचल डालनेवाला था ॥ ९-१० ॥

आयसं शङ्खुभिर्लक्ष्णं कर्णं पर्यसाक्षितम् ।
वज्राशनिसमस्पर्शं परगोपुटारणम् ॥ ११ ॥

उसपर चारों ओरसे लाहरी मन्त्रों की लगी हुई थी ।
वह शङ्खोंके चक्रोंमें लगाता हुआ था । उसके मन्त्रों की
तथा वज्रोंके समान कठोर एवं अमर्य था । वह शत्रुआक
नगरद्वारको घिराई कर डालनेमें समर्थ था ॥ ११ ॥

तं महोरगासंकाशो प्रगुह्य परिधे रणे ।
दूषणोऽभ्यपनद् राघं क्रूरकर्मा निशाचरः ॥ १२ ॥

रणभूमिमें बहुत बड़े सर्पक समान भयंकर उस
परिध को राघव ने दूषण के विशाल धनुष और रामपर
टूट पड़ा ॥ १२ ॥

तस्याभिधनमानस्य दूषणस्य च राघवः ।
होर्ध्वो शगाध्वो विच्छेद सहस्राधरणी भुजौ ॥ १३ ॥

उसी अपने ऊपर आक्रमण करने देखा आक्रमण करने दो
आणोंमें आभूषणोंसहित उसके दोनों भुजाएँ काट डालीं ॥

भ्राष्टस्तस्य महाकायः पपान रणभूमिनि ।
परिधश्छिन्नस्तस्य शक्रध्वज इवाग्रतः ॥ १४ ॥

युद्धके मुहानेपर जिसकी दोनों भुजाएँ कट गयी थीं, उस
दूषणके हाथमें खिसककर वह विशालकाय परिध इन्द्र-
ध्वजके समान सामने गिर पड़ा ॥ १४ ॥

कराध्वो च विकीर्णाध्वो पपान भुवि दूषणः ।
विवाणाध्वो विशीर्णाध्वो मनस्वीव महागजः ॥ १५ ॥

जैसे दोनों दोनोंके डराने लिये जानेपर महान् मनस्वी
गजगज उनके साथ ही भराशाही हो जाता है, उसी प्रकार
कटकर गिरी हुई अपने भुजाओंके साथ ही दूषण भी
पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ १५ ॥

दृष्ट्वा तं पतितं भूमौ दूषणं निहतं रणे ।
माधु साध्विति काकुत्स्थं सर्वभूतान्यपूजयन् ॥ १६ ॥

रणभूमिमें मारे गये दूषणको भराशाही हुआ देखा
ममस्त प्राणियोंने 'माधु-माधु' कहकर भगवान् श्रीरामकी
प्रशंसा की ॥ १६ ॥

एतस्मिन्नन्तरे क्रुद्धाखयः सेनाप्रयायिनः ।
महन्याभ्यद्रवन् राघे धन्युपाशाकपाशिताः ॥ १७ ॥

महाकपालः स्थूलाक्षः प्रमाथी च महाबलः ।

इसी समय सेनाके आगे चलनेवाले महाकपाल,
स्थूलक्ष और महाबली प्रमाथी—ये तीन राक्षस क्रुपित
हो मोनके पंटेमें फैमकर संगठितरूपसे श्रीरामचन्द्रजीके
ऊपर दृढ़ पड़े ॥ १७ ॥

महाकपालो विपुलं शूलमुद्यम्य राक्षसः ॥ १८ ॥
स्थूलाक्षः पट्टिशं गृह्य प्रमाथी च परश्वधम् ।

गहम महाकपालने एक विशाल शूल उठाया, स्थूलक्षने
पट्टिश हाथमें लिया और प्रमाथीने फरसा सँभालकर
आक्रमण किया ॥ १८ ॥

दृष्ट्वापततस्तांस्तु राघवः सायकैः शितैः ॥ १९ ॥
नीक्षणाग्रैः प्रतिजग्राह सम्प्राप्तानतिथीनिव ।

उन तीनोंको अपनी ओर आते देख भगवान् श्रीरामने
तेरे अग्रभागवाले पैंने सायकोंद्वारा द्वारपर आये हुए
अतिथियोंके समान उन्मुख स्वागत किया ॥ १९ ॥

महाकपालस्य शिरश्छिन्द रघुनन्दनः ॥ २० ॥
असंख्येयैस्तु जाणीयैः प्रमथाथ प्रमाथिनम् ।

स्थूलाक्षस्याक्षिणी स्थूले पूरयापास सायकैः ॥ २१ ॥

श्रीरामचन्द्रने महाकपालका शिर एवं कपाल उड़ा दिया ।
प्रमाथीका अग्रस्थ आणममृतांगे मथ डाला और स्थूलक्षको
स्थूल आँखोंके सायकोंसे भर दिया ॥ २०-२१ ॥

स पपान हतो भूमौ विटपीव महाह्रमः ।
दूषणस्यानुगान् पञ्चसाहस्रान् कुपितः क्षणात् ॥ २२ ॥

हत्वा तु पञ्चसाहस्रैरनयद् यमसादनम् ।
नाने अग्रगामी सैनिकोंका वह समूह अनेक शाखावाले
विशाल सृक्षकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा । तदनन्तर
श्रीरामचन्द्रजीने क्रुपित हो दूषणके अनुयायी पाँच हजार

रक्षसोंको उतने हो बाणोंका निशाना बनाकर क्षणभरमे यमलोक पहुँचा दिया ॥ २२ ॥

दूषणं निहतं श्रुत्वा तस्मै चैव पदसुगन् ॥ २३ ॥

व्यादिदेश खरः क्रुद्धः सेनाध्यक्षान् महाबलान् ।

अयं विनिहतः संख्ये दूषणः सपदानुगः ॥ २४ ॥

महत्या सेनया सार्धं युद्ध्वा रामं कुमानुषम् ।

शस्त्रैर्नानाविधाकारैर्हनध्वं सर्वराक्षसाः ॥ २५ ॥

दूषण और उसके अनुयायी मारे गये—यह सुनकर खरको बड़ा क्रोध हुआ। उसने अपने महाबली सेना-पतिवोंको आज्ञा दी—‘वीरो ! यह दूषण अपन सेवकोंसहित युद्धमें मार डाल दिया गया। अतः अब तुम सभी रक्षस बहुत बड़ी सेनाके साथ धावा करके इस दुष्ट मनुष्य रामके साथ युद्ध करो और नाना प्रकारके शस्त्रोंद्वारा इसका वध कर डालो’ ॥ २३—२५ ॥

एवमुक्त्वा खरः क्रुद्धो राममेवाभिदुष्टुवे ।

श्येनगायी पृथुगो वज्रशत्रुर्विहंगमः ॥ २६ ॥

तुर्जयः करवीराक्षः परुषः कालकार्मुकः ।

हेमपाली महामाली सर्पास्थो रुधिराशनः ॥ २७ ॥

ह्लादरीते महावीर्या बलाध्यक्षाः सर्वेनिकाः ।

राममेवाध्यधावन्त विसृजन्तः शरोत्तमान् ॥ २८ ॥

ऐसा कहकर क्रुपित हुए खरने श्रीरामपर ही धावा किया। साथ ही श्येनगायी, पृथुगो वज्रशत्रु विहंगम तुर्जय करवीराक्ष, परुष, कालकार्मुक, हेमपाली महामाली सर्पास्थ तथा रुधिराशन—ये बारह महागराक्रमी सेनापति भी उनमें बाणोंकी वर्षा करते हुए अपन सैनिकोंके साथ श्रीरामपर ही दूट पड़े ॥ २६—२८ ॥

ततः पावकसकाशीर्हमवचविभूषितैः ।

जघान शेषं तेजस्वी तस्य सैन्यस्य सायकैः ॥ २९ ॥

तब तेजस्वी श्रीरामचन्द्रजीने सान और होंसोंमें विभूषित अभितुल्य तेजस्वी सायकद्वारा उस सेनाके बचे हुए सिपाहियोंका भी संहार कर डाला ॥ २९ ॥

ते स्वगपुत्रा विशिराः सधूमा इव पावकाः ।

निजधुस्तानि रक्षांसि बभूवु इव महाद्रुमान् ॥ ३० ॥

जैसे कई बड़े-बड़े वृक्षाको नष्ट कर डालने है, उसी प्रकार धूमयुक्त आगके समान प्रज्वलित होनेवाले उन सानेकी पाँखवाले बाणोंने उन समस्त रक्षसोंका विनाश कर डाला ॥ ३० ॥

रक्षसां तु शतं रायः शतैर्वकेन कर्णिना ।

सहस्रं तु सप्तत्रेण जघान रणमूर्धनि ॥ ३१ ॥

उस युद्धके मृगनेपर श्रीरामने कर्णिनाम्क सौ बाणोंसे सौ

रक्षसोंका और सहस्र बाणोंसे सहस्र निशाचरोंका एक साथ ही संहार कर डाला ॥ ३१ ॥

तैर्धिन्त्रवर्माभरणश्छिन्नभिन्नशरासनाः ।

निपेतुः शोणितादिग्या धरण्यां रजनीचराः ॥ ३२ ॥

उन बाणोंसे निशाचरोंके कवच, आभूषण और धनुष छिन्न भिन्न हो गये तथा वे खूनसे लथपथ हो पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ३२ ॥

तैर्मुक्तकेशैः समरे पतितैः शोणितोक्षितैः ।

विस्तीर्णा वसुधा कृत्वा महावेदिः कुशैरिव ॥ ३३ ॥

कुशोंसे ढकी हुई विशाल घेदीके समान युद्धमें लोह-लुहान होकर गिरे हुए खुले केशवाले रक्षसोंमें सारी रणभूमि पट गयी ॥ ३३ ॥

तत्क्षणे तु महाघोरं वनं निहतराक्षसम् ।

बभूव निरयग्रण्यं मांसशोणितकर्दमम् ॥ ३४ ॥

रक्षसोंके मारे जानेसे उस समय वहाँ रक्त और मांसकी जोड़ड़ जम गयी, अतः वह महाभयंकर वन नरकके समान प्रतीत होने लगा ॥ ३४ ॥

चतुर्दशसहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम् ।

हतान्येकेन रामेण मानुषेण पदातिना ॥ ३५ ॥

मानवरूपधारी श्रीराम अकेले और पैदल थे, तो भी उन्होंने भयानक कर्म करनेवाले चौदह हजार रक्षसोंको तत्काल मौतके घाट उतार दिया ॥ ३५ ॥

तस्य सैन्यस्य सर्वस्य खरः शेषो महारथः ।

राक्षसस्त्रिशिराश्चैव रामश्च रिपुसूदनः ॥ ३६ ॥

उस समूची सेनामें केवल महारथी खर और त्रिशिरा—ये दो ही रक्षस बच रहे। उधर शत्रुसंहारक भगवान् श्रीराम ज्यों-के-स्थों युद्धके लिये दड़े रहे ॥ ३६ ॥

शेषा हता महावीर्या राक्षसा रणमूर्धनि ।

धोरा दुर्विधहा, सर्वे लक्ष्मणस्याग्रजेन ते ॥ ३७ ॥

उपर्युक्त शी रक्षसोंको छोड़कर शेष सभी निशाचर, जो महान् पराक्रमी धयकर और दुर्धर्ष थे, युद्धके मुहानेपर लक्ष्मणके बड़े भाई श्रीरामके हाथों मारे गये ॥ ३७ ॥

ततस्तु तद्धीमबलं महाहवे

समीक्ष्य रामेण हतं बलीयसा ।

रथेन रामं बभूवा खरस्ततः

समाससादेन्द्र इजोद्यताशनिः ॥ ३८ ॥

तदनन्तर महासमर्थ महाबली श्रीरामके द्वारा अपनी धयंकर सेनाको मारे गयी देख खर एक विशाल रथके द्वारा श्रीरामका सामना करनेके लिये आया, मानो वज्रधारी इन्द्रने किसी शत्रुपर आक्रमण किया हो ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकव्येऽरण्यकाण्डे षड्विंशः सर्गः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें छब्बोसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २६ ॥

सप्तविंशः सर्गः

त्रिशिराका वध

खरं तु रामाभिमुखं प्रयान्तं चाहिनीपतिः ।

राक्षसस्त्रिशिरा नाम संनिपत्यदमब्रवीत् ॥ १ ॥

खरको भगवान् श्रीरामके सम्मुख जाते देख संनापति राक्षस त्रिशिरा तुरंत उसके पास आ पहुँचा और इस प्रकार बोला— ॥ १ ॥

मां नियोजय विक्रान्तं त्वं निवर्तस्व साहसात् ।

पश्य रामं महाबाहुं संयुगे विनिपानितम् ॥ २ ॥

राक्षसराज ! मुझ परक्रमी वीरको इस युद्धमें लगाइये और स्वयं इस साहसपूर्ण कार्यमें अलग रहिये । देखिये, मैं अभी महाबाहु रामको युद्धमें मार गिराता हूँ ॥ २ ॥

प्रतिजानामि ते सत्यमायुधं चाहमालभे ।

यथा रामं वधिष्यामि वधाहं सर्वश्रमाम् ॥ ३ ॥

'आपके सामने मैं सच्ची प्रतिज्ञा करता हूँ और अपने हाथधार छूकर दण्डवत् खाना हूँ कि जो समस्त राक्षसोंके लिये भयानक योग्य है, उन रामका मैं अवश्य वध करूँगा ॥ ३ ॥

अहं वास्य रणे मृत्युरेष वा समरे मम ।

विनिवर्त्य रणोत्साहं मुहूर्तं प्राश्रिको भव ॥ ४ ॥

'इस युद्धमें या तो मैं इनकी मृत्यु करूँगा, या ये ही रथगङ्गामें मरे मृत्युका कारण बान । आध इस समय अपने युद्धविषयक उत्साहका रक्तकर एक मुहूर्तके लिये जय-पराजयका निर्णय करनेवाले साक्षी बन जाइये ॥ ४ ॥

प्राहो वा हते रामे जनस्थानं प्रयास्यसि ।

पथि वा निहते रामे संयुगाय प्रयास्यसि ॥ ५ ॥

'चाहे मेरेद्वारा राम मारे गये तो आध प्रयत्नपूर्वक जनस्थानको छूट जाइये अथवा यदि रामन ही मुझे मार दिया तो आध युद्धके लिये इनपर धावा बोल दीजियेगा' ॥ ५ ॥

खरस्त्रिशिरसा तेन मृत्युलोभात् प्रसादितः ।

गच्छ युध्येत्यनुज्ञातो राघवाभिमुखो वयो ॥ ६ ॥

भगवान्को हाथसे मृत्युका लोभ होनेके कारण जब त्रिशिराने इस प्रकार खरको राजी किया, तब उसने आज्ञा दे दी—'अच्छा जाओ, युद्ध करो । आज्ञा पाकर वह श्रीरामचन्द्रजीकी ओर चला ॥ ६ ॥

त्रिशिरास्तु रथेनैव जाजिघृक्षन् भास्वता ।

अध्यवृत्तं रणे रामं त्रिभुजं इव पर्वतः ॥ ७ ॥

घाटे जुग हुए एक नेत्रकी ग्यारह हजार त्रिशिराने रणभूमिमें श्रीरामपर आक्रमण किया । उस समय वह तीन दिशियोंवाले पर्वतके समान जान पड़ता था ॥ ७ ॥

शरभारासमूहान् स महापेघ इवोत्सृजन् ।

व्यसृजत् सदृशं नादं जलाद्रेस्तैव हनुधुधैः ॥ ८ ॥

तमने आने ही यह भारी मेघकी भाँति बाणरूपी धाराओंकी कड़ी प्रारम्भ कर दी और वह बलसे भाँगे हुए

नगाड़की तरह विकट गर्जना करने लगा ॥ ८ ॥

आगच्छन्तं त्रिशिरसं राक्षसं प्रेक्ष्य राघवः ।

धनुषा प्रतिजग्राह विधुन्वन् सायकाञ्जितान् ॥ ९ ॥

त्रिशिरानामक राक्षसका आते देख श्रीरघुनाथजीने धनुषके द्वारा पैने बाण छेड़ने हुए उसे अपने प्रतिद्वन्द्वीके रूपमें ग्रहण किया (अथवा उसे आग बढ़नेसे रोक दिया) ॥ ९ ॥

स सम्प्रहारस्तुमुक्तो रामत्रिशिरसोस्तदा ।

सम्प्रभुवातिबलिनो, सिङ्गकुञ्जरयोरिव ॥ १० ॥

अत्यन्त बलशाली श्रीराम और त्रिशिराका वध संग्राम महाबली सिंह और गरुजजक युद्धकी भाँति बड़ा धर्यकर प्रतीत होता था ॥ १० ॥

ततस्त्रिशिरसा बाणैर्ललाटे ताडितस्त्रिभिः ।

अमर्षो कुपितो रामः संरब्ध इदमब्रवीत् ॥ ११ ॥

उस समय त्रिशिराने तीन बाणोंसे श्रीरामचन्द्रजीके ललाटकी घोघे झुल्ला श्रीराम उमकी यह उलझता सहन न कर सके, वे कुपित हो रोषविशेष भरकर इस प्रकार बोले— ॥ ११ ॥

अहो विक्रमशूरस्य राक्षसस्येदृशं बलम् ।

पुष्परिख शरैर्योऽहं ललाटेऽस्मि परिक्षतः ॥ १२ ॥

ममपि प्रतिगृह्णीषु शरांश्चापगुणाच्च्युतान् ।

'अहो पराक्रम प्रकट करनेमें शूरवीर राक्षसका ऐसा ही बल है जो मुझ फूलों-जैसे बाणोंद्वारा मेरे ललाटपर प्रहार किया है अच्छा अब धनुषकी डोरीसे छूटे हुए मेरे बाणोंको भी ग्रहण करो ॥ १२ ॥

एवमुक्त्वा सुसंरब्धः शरानाशीविधोपमान् ॥ १३ ॥

त्रिशिरोवक्षसि कुञ्जो विजघान चतुर्दश ।

तेसा कटकर रोषमें भरे हुए श्रीरामने त्रिशिराकी छातीमें क्रोधपूर्वक चौदह बाण मारे, जो विषधर सर्पके समान धर्यकर थे ॥ १३ ॥

चतुर्भिस्तुरगानस्य शरैः संवतपर्वभिः ॥ १४ ॥

न्यपातयत् तेजस्वी चतुरस्तस्य बाजिनः ।

अष्टभिः सायकैः सुतं रथोपस्थे न्यपातयत् ॥ १५ ॥

तदनन्तर तेजस्वी रघुनाथजीने सुकी माँठवाले चार बाणोंसे उसके चारों घोंघोंको मार गिराया । फिर आठ सायकोंद्वारा उसके सारथिकों भी रथको बैठकमें ही सुलभ दिया ॥ १४-१५ ॥

रामश्चिच्छेद बाणेन ध्वजं वास्य समुच्चिन्नम् ।

ततो हतरथात् तस्मादुत्पतन्तं निशाचरम् ॥ १६ ॥

चिच्छेद रामस्तं बाणैर्हृदये सोऽमवज्जडः ।

इसके बाद श्रीरामने एक बाणसे उसकी ध्वजा भी काट डाली । तदनन्तर जब वह ठस नष्ट हुए रथसे कूदने लगा, उसी समय श्रीरामचन्द्रने अनेक बाणोंद्वारा उस निशाचरकी छाती छेद डाली । फिर तो वह जड़वन् हो गया ॥ १६ ॥

सायकैश्चाप्रमेयात्म्यं सामर्पस्तस्य रक्षसः ॥ १७ ॥
शिरास्थपातयत् त्रीणि वेगवद्विस्त्रिभिः शरैः ।

इसके बाद अप्रमेयस्वरूप श्रीरामने अमर्षमें भरकर तीन वेगशाली एवं विनाशकारी बाणोंद्वारा उस राक्षसके तीनों मस्तक काट गिराये ॥ १७ ॥

स धूमशोणितोद्गारी रामबाणाभिपीडितः ॥ १८ ॥
न्यपतत् पतितैः पूर्वं समरस्थो निशाचरः ।

समराङ्गणमें खड़ा हुआ वह निशाचर श्रीरामचन्द्रजीके बाणोंसे पीडित हो अपने धड़से पापमहित रुधिर उगलता हुआ पहले गिरे हुए मस्तकोंके साथ ही धराशय्य हो गया ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे सप्तविंशः सर्गः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें सनाईभर्या सर्ग पूरा हुआ ॥ २७ ॥

अष्टाविंशः सर्गः

खरके साथ श्रीरामका घोर युद्ध

निहतं दूषणं दृष्ट्वा रणे त्रिशिरसा सह ।

खरस्याप्यभवत् त्रासो दृष्ट्वा रामस्य विक्रमम् ॥ १ ॥

त्रिशिरासहित दूषणको रणभूमिमें मारा गया देख श्रीरामके महाक्रमपर दृष्टिपात करके खरको भी खड़ा भय हुआ ॥ १ ॥

स दृष्ट्वा राक्षसं सैन्यमविवृद्धं महाबलम् ।

हतमेकेन रामेण दूषणांश्चिशिरा अपि ॥ २ ॥

तद्वले हतभूयिष्ठं विमनाः प्रेक्ष्य राक्षसः ।

आसन्नदः खरो रामं मपुत्रिर्वासवं यथा ॥ ३ ॥

एकमात्र श्रीरामने महान् बलशाली और असह्य राक्षस-
सेनाका वध कर डाला दूषण और त्रिशिरा को भी मार गिराया
नथा मेरे सेनाके अधिकोश (नोट ३.॥२॥) प्रमुख वीरोंको
कारुण्ये गालमें धेज दिया—गह्र भय देख और सोचकर
राक्षस खर डरास हो गया । उसने श्रीरामपर उग्री तरह
आक्रमण किया, जैसे नमूचिने इन्द्रपर किया था ॥ २-३ ॥

विकृष्य जलवज्रापं नारायणं रक्तभोजनान् ।

खगश्चिक्षेप रामाय कृद्धानाशीक्षिबानिव ॥ ४ ॥

रामने एक प्रचण्ड धनुषको खींचकर श्रीरामके प्रति बहुत
से बाराच चलाये, जो रक्त पीनसाले थे । वे समस्त बाराच रामने
धरे हुए विषधर सर्पोंके समान प्रताप होते थे ॥ ४ ॥

न्या विधुचन् सुग्रहशः शिक्षयास्त्राणि दर्शयन् ।

चत्वारः समरे मार्गाश्चारे रथगतः खरः ॥ ५ ॥

अनुविद्याक अभ्यासमें प्रत्यक्षकी हिन्दाता और नाना
प्रकारके अस्त्रोंका प्रदर्शन करना हुआ रथारूढ़ खर समग्रहणाम
शुद्धके अनेक पैतरे दिखाता हुआ बिखरने लगा ॥ ५ ॥

स सर्वांश्च दिशो बाणैः प्रदिशश्च महारथः ।

पूरयामास तं दृष्ट्वा रामोऽपि सुग्रहं धनुः ॥ ६ ॥

उस महारथी वीरने अपने बाणोंमें समस्त दिशाओं और

हतशेषास्ततो भद्रा राक्षसाः खरसंभ्रयाः ॥ १९ ॥
द्रवन्ति स्म न तिष्ठन्ति व्याघ्रप्रस्ता मृगा इव ।

तत्पश्चात् खरकी संवामे रहनेवाले राक्षस, जो मरनेसे बचे
हुए थे, भाग खड़े हुए । वे व्याघ्रसे डरे हुए मृगोंके समान
भागते हो चले जाते थे खड़े नहीं होते थे ॥ १९ ॥

तान् खरो द्रवतो दृष्ट्वा निवर्त्य रुषितस्त्वरन् ।

राममेवाभिदुद्राव राहुश्चन्द्रमसं यथा ॥ २० ॥

उन्हे भागते देख रोषमें भर हुए खरने कुंत लौटाया और
जैसे राहु चन्द्रमापर आक्रमण करना है, उसी प्रकार उसने
श्रीरामपर भी घावा किया ॥ २० ॥

विदिशाओंको दूक दिया । उसे गोसा करने देख श्रीरामने भी
अपना विशाल धनुष उठाया और समस्त दिशाओंको बाणोंसे
आच्छादित कर दिया ॥ ६ ॥

स सायकैर्दुर्विषहं विस्फुलिर्द्रुगिर्याग्निभिः ।

नभश्चकाराविवरं पर्जन्य इव वृष्टिभिः ॥ ७ ॥

जैसे मेघ जलकी वर्षास आकाशको ढक देता है, उसी
प्रकार श्रीरामधनुषने भी आगकी विनगारियोंके समान
दुःसह सायकोंके वर्षा करके आकाशको ठसाठस भर
दिया । वहाँ धौंड़ी-सो भी जगह खाली नहीं रहने दी ॥ ७ ॥

तद् बभूव शिर्षाणैः खररामविसर्जितैः ।

पर्याकाशमनाकाशं सर्वतः शरसंकुलम् ॥ ८ ॥

खर और श्रीरामद्वारा छाड़ गये गये बाणोंमें व्याप्त हो सब
आर फिटा हुआ आकाश जारा आगसे बाणोंद्वारा भर जानक
करण अवकाशरहित हो गया ॥ ८ ॥

शरजालाकृतः सूर्यो न तदा स्म प्रकाशते ।

अन्योन्यवधसंरम्भादुभयोः सम्प्रदुध्यतोः ॥ ९ ॥

एक-दूसरेके वधके लिये संपूर्णक नृदाने हुए उन दोनों
वीरोंके बाणजालमें आच्छादित होकर सूर्यदेव प्रकाशित नहीं
जाते थे ॥ ९ ॥

ततो नालोकनारार्चस्तोक्ष्यतमैश्च विकर्णिभिः ।

आजधान रणे रामं तोत्रैरिव महाद्विपम् ॥ १० ॥

तदनन्तर खरने रणभूमिमें श्रीरामपर नालोक, नाराच और
नौवे अग्रभागवाले विकर्णि नामक बाणोंद्वारा प्रहार किया,
मन्मो किसी मन्त्रान् मन्त्रराजकी अङ्कुरोंद्वारा मारा गया हो ॥

तं रवस्थं धनुष्याणि राक्षसं पर्यवस्थितम् ।

ददृशुः सर्वभूतानि पाशहस्तपिवान्तकम् ॥ ११ ॥

उस समय हाथमें धनुष लेकर रथमें स्थिरतापूर्वक बैठे

हुए राक्षस खरको समस्त प्राणियोंने पाशघासे बमराजके समान देखा ॥ ११ ॥

हन्तारं सर्वसैन्यस्य पौरुषे पर्यवस्थितम् ।

परिश्रान्तं महासत्त्वं मेने रामं खरस्तदा ॥ १२ ॥

उस वेलामें समस्त सेनाओंका बध करनेवाले तथा पुरुषार्थ-पर डटे हुए महान् बलवान् श्रीरामको स्वयं धकेट कर समझाते सिंहमिथ विक्रान्तं सिंहविक्रान्तगामिनम् ।

दृष्ट्वा नोद्विजते रामः सिंहः क्षुद्रपूगं यथा ॥ १३ ॥

यद्यपि वह सिंहके समान चलता और सिंहके ही तुल्य पराक्रम प्रकट करता था तो भी उस खरको देखकर श्रीराम उसी तरह उद्विग्न नहीं होते थे, जैसे छोटे-से भृंगको देखकर सिंह घबराता नहीं होता है ॥ १३ ॥

ततः सूर्यनिकाशेन रथेन महता खरः ।

आससाहाश्च तं रामं पतङ्ग इव पावकम् ॥ १४ ॥

तत्पश्चात् जैसे पतङ्गा आगके पास जाता है, उसी प्रकार खर अपने सूर्यतुल्य तेजस्वी विशाल रथके द्वारा श्रीरामचन्द्रजीके पास गया ॥ १४ ॥

ततोऽस्य सशरं चापं मुष्टिदेशे महात्मनः ।

खरश्चिच्छेद रामस्य दर्शयन् हस्तलाघवम् ॥ १५ ॥

वहाँ जाकर उस राक्षस खरने अपने हाथकी मुठ्ठी दिखाते हुए महात्मा श्रीरामके बाणसहित धनुषको मुठ्ठी पकड़नेकी जगहमें धाढ़ा हुआ ॥ १५ ॥

स पुनस्त्वपरान् सप्त शरानादाय मर्याणि ।

निजघान रणे क्रुद्धः शकाशनिसमप्रधान् ॥ १६ ॥

फिर इन्हेके बाणकी भाँति प्रकाशित हान्वाले दूसरे सात बाण लेकर रणभूमिमें कुपित हुए खरने उनके द्वारा श्रीरामके धर्मस्थलमें घोट पहुँचायी ॥ १६ ॥

ततः शरसहस्रेण रामप्रतिर्माजसम् ।

अदीयत्वा महानादं वनाद् समरे खरः ॥ १७ ॥

तदनन्तर अग्रतिथ बलशाली श्रीरामको सहस्रो बाणोंसे पीड़ित करके निराश्रय खर समभूमिमें जंग जागम गजगम करने लगा ॥ १७ ॥

ततस्तत्प्रवृत्त बाणैः खरपुनः सुपर्वभिः ।

परात कवचं भूमौ रामस्यादित्यवर्चसम् ॥ १८ ॥

खरके छोड़े हुए उत्तम गतिवाले बाणोंद्वारा कटकर श्रीरामका सूर्यतुल्य तेजस्वी कवच पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ १८ ॥

स शरैरर्पितः क्रुद्धः सर्वगात्रेषु राघवः ।

राज्य समरे रामो विधूमोऽग्निरिव ज्वलन् ॥ १९ ॥

उनके सभी ऊर्ध्वमें धरके बाण घेस गये थे । उस समय कुपित हो खरभूमिमें खड़े हुए श्रीरघुनाथजी घूमरहित प्रज्वालित अग्निकी भाँति क्रोधा पा रद थे ॥ १९ ॥

ततो मय्योरनिर्हारी रामः शत्रुनिवर्हणः ।

चक्रोरान्नाथ स विषोः सज्यमन्यन्महत्तनुः ॥ २० ॥

तब शत्रुओंका नाश करनेवाले भगवान् श्रीरामने अपने विपत्तीका विनाश करनेके लिये एक दूसरे विशाल धनुषपर जिसकी ध्वनि बहुत ही गम्भीर थी, प्रत्यक्षा चढ़ायी ॥ २० ॥

सुमहद् वैष्णवं यत् तदतिसूष्टं महर्विणा ।

वरं तद् धनुस्त्वाम्य खरं समधिधावत ॥ २१ ॥

महर्षि अगस्त्यने जो महान् और उत्तम वैष्णव धनुष प्रदान किया था, उसीको लेकर उन्होंने खरपर धावा किया ॥ २१ ॥

ततः कनकपुङ्खस्तु शरैः संनतपर्वभिः ।

चिच्छेद रामः संक्रुद्धः खरस्य समरे ध्वजम् ॥ २२ ॥

उस समय अत्यन्त क्रोधमें धरकर श्रीरामने सोनेकी पाँख और हुकी हुई गान्धिवान् बाणोंद्वारा समराङ्गणमें खरकी ध्वजा काट डाली ॥ २२ ॥

स दर्शनीयो बहुधा विविधश्च काञ्चनो ध्वजः ।

जगत्तु घरणीं सूर्यो देवतानामिवाज्ञया ॥ २३ ॥

वह दर्शनीय सुवर्णमय ध्वज अनेक टुकड़ोंमें कटकर घटोपर गिर पड़ा, मानो देवताओंकी आज्ञासे सूर्यदेव भूमिपर उतर आये हों ॥ २३ ॥

तं चतुर्भिः खरः क्रुद्धो रामं गात्रेषु मार्गणैः ।

विष्याद्य हृदि मर्मज्ञो मातङ्गमिव तोमरैः ॥ २४ ॥

क्रोधमें भरे हुए खरकी मर्मस्थानोंका ज्ञान था उसने श्रीरामके अङ्गोंमें, विशेषतः उनकी छातीमें चार बाण मारे, मानो किसी महाबलने गजराजपर तोमरोंसे प्रहार किया हो ॥ २४ ॥

स रामो बहुभिर्बाणैः खरकार्मुकनिःसृतैः ।

विद्धो रुधिरसिक्ताङ्गो बभूव रुषितो भुशम् ॥ २५ ॥

स्वयं धनुषमें छूट हुए बहुसंख्यक बाणोंसे घायल होकर श्रीरामका सारा शरीर लहलहात हो गया । इससे उनका बड़ा राग हुआ ॥ २५ ॥

स धनुर्धन्विनां श्रेष्ठः संगृह्य परमाहवे ।

पुनरेव परमेषासः षट् शरानभिलक्षितान् ॥ २६ ॥

धनुर्धरमें श्रेष्ठ महाधनुर्धर श्रीरामने युद्धस्थलमें पूर्वोक्त श्रेष्ठ धनुषको हाथमें लेकर लक्ष्य निश्चित करके खरको छः बाण मारे ॥ २६ ॥

शिरस्येकेन बाणेन ह्यध्यां बाह्वोरधार्पयत् ।

त्रिभिश्चन्द्रार्धवक्त्रैश्च वक्षस्यभिजघान ह ॥ २७ ॥

उन्होंने एक बाण ठमके मस्तकमें, दोसे उसकी भुजाओंमें और तीन अर्धचन्द्राकार बाणोंसे उसकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ २७ ॥

ततः पञ्चान्यहातेजा माराचान् भास्करोपमान् ।

जघान राक्षसं क्रुद्धोऽस्रयोदश शिलाशितान् ॥ २८ ॥

तत्पश्चात् महातेजस्वी श्रीरामचन्द्रजीने कुपित होकर उस राक्षसको शानपर तेज किये हुए और सूर्यके समान चमकनेवाले तेरह बाण मारे ॥ २८ ॥

रथस्य युगप्रेकेन चतुर्भिः श्वबलान् हयान् ।
 बध्नेन च शिरः संख्ये सिच्छेत् खरसारथेः ॥ २९ ॥
 एक बाणसे तो उसके रथका जुआ कट दिया, चार
 बाणोंसे चारों चित्तकबरे धोड़े मार डाले और छठे बाणसे
 युद्धस्थलमें खरके सारथिका मस्तक काट गिराया ॥ २९ ॥
 त्रिभिस्त्रिवेणून् बलवान् द्वाभ्यामक्षं महाबलः ।
 द्वादशेन तु बाणेन खरस्य सशरं धनुः ॥ ३० ॥
 छित्त्वा वज्रनिकाशेन राघवः प्रहसन्निव ।
 त्रयोदशेनेन्द्रसमो विभेद समरे खरम् ॥ ३१ ॥
 तत्पश्चात् तीन बाणोंसे त्रिवेणु (जुएके आधारदण्ड) और
 दोसे रथके धुरंको खण्डित करके महान् शक्तिशाली और
 बलवान् श्रीरामने बारहवें बाणसे खरके बाणसहित धनुषके
 दो टुकड़े कर दिये। इसके बाद इन्द्रके समान तेजस्वी
 श्रीरामसेन्द्रने हंसते हंसते वज्रनुष्य तेरहवें बाणके द्वारा

समराङ्गणमें खरको घायल कर दिया ॥ ३० ३१ ॥
 प्रचमधन्वा विरथो हताश्वो हनसारथिः ।
 गदापाणिश्चाप्युत्थ तस्थौ भूमौ खरस्तदा ॥ ३२ ॥
 धनुषके खण्डित होने, रथके टूटने, घोंड़ोंके मारे जाने
 और सारथिके भी नष्ट हो जानेपर खर उस समय हाथमें गदा
 ले रथसे कूदकर धरतीपर खड़ा हो गया ॥ ३२ ॥
 तत् कर्म रामस्य महारथस्य
 समेय देवाश्च महर्षयश्च ।
 अपूजयन् प्राञ्जल्यः प्रहृष्टा-
 स्तदा विमानाभगताः समेताः ॥ ३३ ॥
 उस अवसरपर विमानपर बैठे हुए देवता और
 महर्षि हर्षसे उत्फुल्ल हो परस्पर मिलकर हाथ जोड़
 महारथी श्रीरामके उस कर्मकी धूरि-धूरि प्रशंसा करने
 लगे ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डेऽष्टाविंशः सर्गः ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें अष्टाद्विंश सर्ग पूरा हुआ ॥ २८ ॥



एकोनविंशः सर्गः

श्रीरामका खरको फटकारना तथा खरका भी उन्हें कठोर उत्तर देकर उनके ऊपर
 गदाका प्रहार करना और श्रीरामद्वारा उस गदाका खण्डन

खरं तु विरथं रामो गदापाणिश्चस्थितम् ।
 मृदुपूर्वं महातेजाः परुषं वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥
 खरकी रथहीन होकर गदा हाथमें लिये सामने उपस्थित
 देव महातेजस्वी भगवान् श्रीराम महले कामल और फिर
 कठोर वाणीमें बोले— ॥ १ ॥
 गजाध्वसम्प्राये बलं महति तिष्ठता ।
 कृतं ते दारुणं कर्म सर्वलोकजुगुप्सितम् ॥ २ ॥
 उद्देजनीयो भूतानां नृशंसः पापकर्मकृत् ।
 त्रयाणामपि लोकानामीश्वरोऽपि न तिष्ठति ॥ ३ ॥
 कर्म लोकत्रिरुद्धं तु कुर्वाण क्षणदाखर ।
 तीक्ष्णं सर्वजनां हन्ति सर्वं दुष्टमिवारतम् ॥ ४ ॥
 विशाखर । हाथी, घोड़े और रथोंसे भरी हुई विशाल
 सेनाके बीचमें खड़े रहकर (असंख्य राक्षसोंके स्वामित्वका
 अभिमान लेकर) तूने सदा जो क्रूरतापूर्ण कर्म किया है,
 उसकी समस्त स्त्रियोंद्वारा निन्दा हुई है। जो समस्त प्राणियोंके
 उद्देगमें डालनेवाला, क्रूर और पापाचारी है, वह तीनों
 लोकोंका ईश्वर हो तो भी अधिक बलशक्त टिक नहीं

सकता। जो लोकत्रिराधी कठोर कर्म करनेवाला है, उसे सब
 लोग सामने आये हुए दुष्ट सर्पकी भाँति मारते हैं ॥ २ - ४ ॥
 लोभात् पापानि कुर्वाणः कामाद् वाथो न कुप्यते ।
 हृष्टः पश्यति तस्यान्तं ब्राह्मणी करकादिव ॥ ५ ॥
 'जो वस्तु प्राप्त नहीं हुई है, उसकी इच्छाको 'काम' कहते
 हैं और प्राप्त हुई वस्तुको अधिक-मे-अधिक संख्यामें पानेकी
 इच्छाका नाम 'लोभ' है। जो काम अथवा लोभसे प्रेरित हो
 पाप करता है और उसके (विनाशकारी) परिणामको नहीं
 समझना है, उल्टे उस पापमें हर्षकर अनुभव करता है, वह
 उसी प्रकार अपना विनाशरूप परिणाम देखता है जैसे वर्षाके
 साथ गिरे हुए झोलेका खाकर ब्राह्मणी (रक्तपुच्छिका)
 नामवाली कौड़ी अपना विनाश देखती है * ॥ ५ ॥
 वसतो दण्डकारण्ये तापसान् धर्मधारिणः ।
 किं नु हत्वा महाभागान् फलं प्राप्स्यसि राक्षस ॥ ६ ॥
 'राक्षस । दण्डकारण्यमें निवास करनेवाले तपस्यामें
 संलग्न धर्मपरायण महाभाग मुनियोंकी हत्या करके न जाने तु
 कौन-सा फल पायेगा ? ॥ ६ ॥

* लाल पुष्पाक्षी एक कौड़ी होती है, जो ओला या लेनेपर मर जाती है। वह उसमें लिये विषका काम करता है— यह बात
 लोकमें प्रसिद्ध है।

न चिरं पापकर्मणः कूरा लोकजुगुप्सिताः ।

ऐश्वर्यं प्राप्य तिष्ठन्ति शीर्णमूला इव द्रुमाः ॥ ७ ॥

'जिनकी कूड़ा खाखली हो गयी हो, वे वृक्ष जैसे अधिक कालतक नहीं खड़े रह सकने, उसी प्रकार पापकर्म करने-वाले लोकनिन्दित क्रूर पुरुष (किसी पूर्वपुण्यक प्रभञ्जन) ऐश्वर्यको पाकर भी चिरकालतक उसमें प्रतिष्ठित नहीं रह पाते (उससे प्रष्ट हो हो जाते हैं) ॥ ७ ॥

अवश्यं लभते कर्ता फलं पापस्य कर्मणः ।

घोरं पर्यागते काले द्रुमः पुष्पमिवार्तवम् ॥ ८ ॥

'जैसे समय आनेपर वृक्षमें ऋतुक अनुसार फूल लगने हो है, उसी प्रकार पापकर्म करनेवाले पुरुषको समयानुसार अपने उस पापकर्मका भयंकर फल अवश्य ही प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

न चिरात् प्राप्यते लोकं पापानां कर्मणां फलम् ।

स विद्याणामिवाग्नानां भुक्तानो क्षणदाक्षर ॥ ९ ॥

निशाक्षर । जैसे साये हुए विद्यामिश्रित अन्नका परिणाम मुरत हो भोगना पड़ता है, उसी प्रकार लोकका विनश्वर पापकारका फल शीघ्र ही प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

पापमाचरतां घोरं लोकस्माप्रियमिच्छताम् ।

अहमासादितो राजा प्राणान् हन्तुं निशाक्षर ॥ १० ॥

'राक्षस ! जो संसारका बुल चाहते हुए घोर पापकर्ममें लगे हुए हैं, उनके प्राणदण्ड देनेके लिये मैं भित्त महाराज दशरथने मुझे यहाँ धनमें भेजा है ॥ १० ॥

अष्ट धित्वा यथा भुक्ताः शराः काञ्चनभूषणाः ।

विदार्यातिपतिष्यन्ति बाल्योक्तमिव पन्नगाः ॥ ११ ॥

'आज पर छोड़ हुए सुवर्णभूषण बाण जैसे मर्ग शक्ति को छंदकर निकलते हैं, उसी प्रकार तेरे शरीरको काटकर पृथ्वीको भी विदीर्ण करके फतालमें जाकर गिरने ॥

ये त्वया दण्डकारण्ये भक्षिता घर्मचारिणः ।

तानद्य निहतं संख्ये समन्योऽनुगमिष्यसि ॥ १२ ॥

'जो दण्डकारण्यमें जिते धर्मपरायण ऋषियोंका भक्षण किया है, आज युद्धमें मारा जाकर संनामयित तु भी उनको अनुसरण करेगा ॥ १२ ॥

अष्ट त्वा निहतं बाणैः पश्यन्तु परमर्षयः ।

निगम्ये विमानस्था ये त्वया निहताः पुरा ॥ १३ ॥

'गहले तुने जिनका वध किया है, वे महर्षि विमानपर बैठकर आज तुझ परे बाणोंसे मारा गया और नरकतुल्य कष्ट भोगता हुआ देख ॥ १३ ॥

प्रहरस्व यथाकामं कुलं यत्वं कुलप्रथम ।

अद्य ते पातविष्यामि शिरस्तालफलं यथा ॥ १४ ॥

'कुलप्रथम । तेरे जितनी इच्छा हो, प्रहार कर । जितना ताप हो, मुझे पापम करनका प्रयत्न कर, किंतु आज मैं तेरा शिरका फलकी भाँति अवश्य काट गिराऊँगा ॥ १४ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण क्रुद्धः संरक्तलोचनः ।

प्रत्युवाच ततो रामं ब्रह्मन् क्रोधमूर्च्छितः ॥ १५ ॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर खर क्रुपित हो उठा । उसकी आँखें लाल हो गयीं । वह क्रोधसे अचेत-सा होकर हैसना हुआ श्रीरामको इस प्रकार उत्तर देने लगा— ॥ १५ ॥

प्राकृतान् राक्षसान् हत्वा युद्धे दशरथात्मज ।

आत्मना कथमात्मानमप्रशस्यं प्रशंससि ॥ १६ ॥

'दशरथकुमार ! तुम साधारण राक्षसोंको युद्धमें मारकर स्वयं ही अपने इतनी प्रशंसा कैसे कर रहे हो ? तुम प्रशंसके योग्य कदापि नहीं हो ॥ १६ ॥

विक्रान्ता बलवन्तो वा ये भवन्ति नरर्षभाः ।

कथयन्ति न ते किञ्चित् तेजसा चातिगर्विताः ॥ १७ ॥

'जो श्रेष्ठ पुरुष पराक्रमी अथवा बलवान् होते हैं, वे अपने प्रतापके कारण अधिक घमंडमें भरकर कोई बात नहीं कहते हैं (अपने विषयमें मीन हो रहते हैं) ॥ १७ ॥

प्राकृतास्त्वकृतात्पानो लोके क्षत्रियपांसनाः ।

निरर्थकं विकस्यन्ते यथा राम विकस्यसे ॥ १८ ॥

'राम ! जो क्षुद्र अजितात्मा और क्षत्रियकुलकलंक होते हैं, वे ही संसारमें अपनी बड़ाईके लिये व्यर्थ होग हाँका करते हैं उन इस समय मुम (अपने विषयमें) बहुत बढ़कर बातें बना रहे हैं ॥ १८ ॥

कुलं व्यपदिशन् वीरः सपरे कोऽभिधास्यति ।

मृत्युकाले तु सम्प्राप्ते स्वयमप्रस्तवे स्तवम् ॥ १९ ॥

तब कि मृत्युके समय युद्धमें अवसर उपस्थित है, ऐसे समयमें जिन किसी प्रस्तावक ही समराङ्गणमें कौन वीर अपने कुलानता प्रकट करता हुआ आप ही अपनी स्तुति करेगा ? ॥ १९ ॥

सर्वथा तु लघुत्वं ते कथनेन विदर्शितम् ।

सुवर्णप्रतिरूपेण तप्तेनेव कुशाग्रिना ॥ २० ॥

'जैसे पीतल सुवर्णशोधक आगमें तपाये जानेपर अपनी लघुता (कालेपन) को ही व्यक्त करता है, उसी प्रकार अपने प्राने प्रशंसक द्वारा तुमने सर्वथा अपने ओछेपका ही परिचय दिया है ॥ २० ॥

न तु मामिह तिष्ठन्तं पश्यसि त्वं गदाधरम् ।

घराघरपिवाकम्यं पर्वतं यातुभिश्चितम् ॥ २१ ॥

'क्या तुम नहीं देखते कि मैं नाम प्रकारके धातुओंकी तानोंसे युक्त तथा पृथ्वीको धारण करनेवाले अविचल कुलपर्वतके समान यहाँ स्थिरभावमें तुम्हारे सामने गदा लेकर खड़ा हूँ ॥

पर्याप्तोऽहं गदापाणिर्हन्तुं प्राणान् रणे तव ।

त्रयाणामपि लोकानां पाशहस्त इवान्तकः ॥ २२ ॥

'मैं अकेला ही पञ्चाधारी बभ्रवजकी भाँति गदा हाथमें रखकर रणभूमिमें तुम्हारे और तीनों लोकोंकी भी प्राण लेनेकी शक्ति रखता हूँ ॥ २२ ॥

कामं बह्वपि वक्तव्यं त्वयि वक्ष्यामि न त्वहम् ।

अस्ते प्राप्नोति सविता युद्धविघ्नस्ततो भवेत् ॥ २३ ॥

यद्यपि तुम्हारे विषयमें मैं इच्छानुसार बहुत कुछ कह सकता हूँ तथापि इस समय कुछ नहीं कहूँगा, क्योंकि सूर्यदेव अस्ताधलको जा रहे हैं, अतः युद्धमें विघ्न पड़ जायगा ॥ २३ ॥

चतुर्दश सहस्राणि राक्षसानां हतानि ते ।

त्वद्विनाशात् करोम्यद्य तेषामश्रुप्रयोजनम् ॥ २४ ॥

‘तुमने चौदह हजार राक्षसोंका संहार किया है, अतः आज तुम्हारा भी विनाश करके मैं उन सबके आश्रु पोंटूँगा — उनके मौतका बदला चुकाऊँगा’ ॥ २४ ॥

इत्युक्त्वा परमकुट्टः स गदां परमाद्भुताम् ।

खरश्चिक्षेप रामाय प्रदीपगमशनिं यथा ॥ २५ ॥

ऐसा कहकर अत्यन्त क्रोधसे भर हुए खरने उनमें बलवत् (कड़) में विभूषित तथा प्रज्वलित खरक समान भयकर

गदाको श्रीरामचन्द्रजोंक ऊपर चलाया ॥ २५ ॥

खरबाहुप्रमुक्ता सा प्रदीपा महती गदा ।

भस्म वृक्षाञ्च गुल्माञ्च कृत्वागात् तत्समीपतः ॥ २६ ॥

खरके हाथमें सूटी हुई वह दीपमान् विशाल गदा वृक्षों और लताओंका भस्म करके उनके समीप जा पहुँची, २६ ।

तामापतन्ती महती मृत्युपाशोपमां गदाम् ।

अन्तरिक्षगतां रामश्चिच्छेद बहुधा शरैः ॥ २७ ॥

मृत्युक पाशको भाँति उस विशाल गदाको अपने ऊपर आती देख श्रीरामचन्द्रजीने अनेक बाण मारकर आकाशमें ही उसको टुकड़े-टुकड़े कर डाले ॥ २७ ॥

सा विशीर्णा शरर्षिजा पपात धरणीतले ।

गदा मन्त्रीषधिवर्लब्धालीष विनिपातिता ॥ २८ ॥

बाणोंमें चिदीर्ण एवं चू चू हाकर वह गदा पृथ्वीपर गिर पड़ी, मन्त्री औषधियोंके बलसे गिराई गयी हो ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे एकोनविंशः सर्गः ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २९ ॥

त्रिंशः सर्गः

श्रीरामके व्यङ्ग करनेपर खरका उन्हें फटकारकर उनके ऊपर सालवृक्षका प्रहार करना, श्रीरामका उस वृक्षको काटकर एक तेजस्वी बाणसे खरको मार गिराना तथा देवताओं और महर्षियोंद्वारा श्रीरामकी प्रशंसा

भित्त्वा तु तां गदां क्षापी राक्षसो धर्मवत्सलः ।

स्वयंपान इदं वाक्यं संन्यमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

धर्मप्रेमी भगवान् श्रीरामने अपने बाणोंद्वारा खरको उस गदाकी चिदीर्ण करके मुसकराते हुए यह शेषगुच्छ बाण कही — ॥ १ ॥

एतन् ते बलसर्वस्य दर्शितं राक्षसाधम ।

शक्तिहीनतरो यतो वृथा स्वमुपगर्जसि ॥ २ ॥

राक्षसाधम ! यहाँ तेरा सारा बल है, जिस तूने इस गदाके साथ दिखाया है, अब सिद्ध हो गया कि तू मुझमें अत्यन्त शक्तिहीन है, यद्यपि तू अपने बलकी दाँग हाँक रहा था ॥ २ ॥

एषा क्षणाधिनिर्धित्रा गदा भूमितले गता ।

अधिधानप्रगल्भस्य तव प्रत्ययधातिनी ॥ ३ ॥

‘मेरे बाणोंसे क्षिप्त-भिन्न हाकर तेरी यह गदा पृथ्वीपर पड़ी हुई है । तेरे मनमें जो यह विश्वास था कि मैं इस गदापर शत्रुका वध कर डालूँगा, इसका खण्डन तेरी इस गदाने ही कर दिया । अब यह साह हो गया कि तू केवल बात बचानमें हीठ है (तुझसे कोई पराक्रम नहीं हो सकता) ॥ ३ ॥

यत् त्वयोक्तं विनष्टानामिदमश्रुप्रयोजनम् ।

राक्षसानां करोमीति मिथ्या तदपि ते वचः ॥ ४ ॥

तूने जो यह कहा था कि मैं तुम्हारा वध करके तुम्हारे

हाथमें मार गये राक्षसोंका अभी आश्रु पोंटूँगा, तेरी वह बात भी झुठ हो गयी ॥ ४ ॥

नीचस्य क्षुद्रशीलस्य मिथ्यावृत्तस्य राक्षसः ।

प्राणानपहरिष्यामि गरुत्मानमृतं यथा ॥ ५ ॥

‘तू नीच क्षुद्रस्वभावस्य युक्त और मिथ्याचारी राक्षस है मैं तेरे प्राणोंको उसी प्रकार हर लूँगा जैसे गरुड़ने देवताओंके यहाँसे अमृतकर अपहरण किया था ॥ ५ ॥

अद्य ते भिन्नकण्ठस्य फेनबुद्बुदधूषितम् ।

चिदारिनस्य मद्वार्णोपही पास्यति शोणितम् ॥ ६ ॥

‘अब मैं अपने बाणोंसे तेरे शरीरको चिदीर्ण करके तेरा गन्ध भी कट डालूँगा । फिर यह पृथ्वी फेन और बुद्बुदोंमें युक्त तेरे गरम-गरम रक्तका पान करेगी ॥ ६ ॥

पांसुरुषितसर्वाङ्गः स्वस्तन्यस्तभुजद्वयः ।

स्वयस्यै गो समारिलिख्य दुर्लभां प्रमदामिव ॥ ७ ॥

तेरे मार अङ्ग धूलमें धूसर हो जायेंगे, तेरी दोनों भुजाएँ शरीरमें अलग होकर पृथ्वीपर गिर जायेंगी और उस दशामें तू दुर्लभ युक्तक समान इस पृथ्वीका आलिङ्गन करके सदाक लिखे सो लखेगा ॥ ७ ॥

प्रवृत्तनिद्रे शयिते त्वयि राक्षसपांसवे ।

भविष्यन्ति शरणयानां शरण्या दण्डका इमे ॥ ८ ॥

‘तैरे-जैसे राक्षसकुलकलङ्क के सदाक लिये महानिद्रामें
मो जानिएर ये टण्डकवनके अदृश इरणार्थिकोंका शरण
दनेवाले हो जायेंगे । ८ ॥

जनस्थाने हतस्थाने तत्र राक्षस मच्छरः ।
निर्भया विचरिष्यन्ति सर्वतो मुनयो वने ॥ ९ ॥

‘राक्षस ! मेरे बाणोंमें जनस्थानमें बने हुए नौ
निवासस्थानोंके नष्ट हो जानेपर मुनिगण इस वनमें सब ओर
निर्भय विचर सकेंगे ॥ ९ ॥

अद्य विप्रसंगिष्यन्ति राक्षसो हनवान्धवाः ।
बाष्पाद्रवदना दीना भयान्न्यभयावहाः ॥ १० ॥

‘जो अबतक दूसराओं पर देखते थे, वे राक्षसों
आज अपने बान्धवजनकों मारे जानेमें दीन हो आँसुओंमें
भीमि मुँह लिये जनस्थानसे खरब हो भयक कारण भाग
जायेंगी । १० ॥

अद्य शोकसज्ञास्ता भविष्यन्ति निरर्थिकाः ।
अनुरूपकुला पत्न्यो यासां न्वं पतिरीदृशः ॥ ११ ॥

‘जिनका सुझ-जैसा दुराचारों पति है, वे तदनुरूप
कुलजाओं नरो पत्नियाँ आज तो मार अपने पर काम उठि
पुरुषाश्रीमें वीक्षण हो शोक-रूपा न्यायी भावनाके कारणभक्त
अनुभव करनेवाली होंगी ॥ ११ ॥

नुशंसशौल क्षुद्रात्पुन नित्यं ब्राह्मणकण्टकः ।
त्वत्कृते शङ्किते रघौ मुनिभिः पान्यने हविः ॥ १२ ॥

‘कुरखभाववाले निशाचर ! तय हृदय सदा हो शुद्ध
विचारोंग धरा रह । ब्राह्मणोंके लिये कण्टक-रूप है जो
ही क्षाण्य गुण-शेख शङ्कित गजक हो अग्रिम हविष्यकी
आहुतियों डालते हैं ॥ १२ ॥

नमेवमभिसंरब्धं क्षुवाणं राघवं वने ।
खरो निर्भर्त्सयामास शेषात् खरतरश्चरः ॥ १३ ॥

‘वनमें श्रीराम-चन्द्रजी जब इस प्रकार शेषपूर्ण बने
कह रहे थे, उस समय क्रोधक कारण खरका भी खर
अत्यन्त कठोर हो गया और तबसे उन्हें फटकारने हुए
कहा— ॥ १३ ॥

बृह स्वाम्बलिगोर्जस भवेद्वपि च निर्भयः ।
ब्राह्मणाचार्यं नतो हि त्वं मृत्योर्धृदयो न दृष्यसे ॥ १४ ॥

‘अहो ! निश्चय ही तुम बड़े घमेडी हो, भयक अवसरापर
भी निर्भय बने हुए हो । जाने पड़ना है कि तुम मृत्युके
अधीन हो गये हो, इस कारणसे ही मुझे यह भी पता
नहीं है कि कब क्या कहना चाहिये और क्या कहा कहना
चाहिये ? ॥ १४ ॥

कामपाशपङ्क्तिप्रा भवन्ति पुरुषा हि ये ।
कायाकार्यं न जानन्ति ते निरस्तपडिन्द्रियाः ॥ १५ ॥

‘जो पुरुष कामके कन्दर्प फँस जाते हैं, उनकी छहों
इन्द्रियों बेधराम हो जाती हैं; इन्द्रियोंके ठन्हे कर्तव्य आन

अकर्तव्यका ज्ञान नहीं रह जाना है ॥ १५ ॥

एवमुक्त्वा ततो रामं संरुध्य भृकुटिं ततः ।
स ददर्श महासालयविदूरे निशाचरः ॥ १६ ॥

रणे प्रहरणस्यार्थे सर्वतो हावलोक्तयन् ।
स तमुत्पाटयामास सदृष्टदशनच्छदम् ॥ १७ ॥

‘तुम्हा कहकर उस निशाचरने एक बार श्रीरामकी ओर
भीमि टंडी करके देखा और गणभूमिमें उनपर प्रहार करनक
लिये यह चारों ओर दृष्टिपान करने लगा । इतनेमें ही
उमें एक विशाल साधुका सूत्र दिखायी दिया, जो निकट
ही था । खरने अपने हाँठोंके दंतोंसे दबाकर उस धृक्षका
डस्काड़ लिया ॥ १६-१७ ॥

तं समुत्क्षिप्य बाहुभ्यां विनदित्वा महाबलः ।
राममुद्दिश्य चिक्षेप हतस्त्वपि चिच्छवीत् ॥ १८ ॥

‘फिर उस महाबलौ निशाचरने विकट गर्जना करके दोनो
हाथोंमें उस धृक्षको उठा लिया और श्रीरामपर द मारा साथ
ही यह भी कहा—‘स्त्री, अब तुम मारे गये ॥ १८ ॥

तमापतन्तं बाणोर्ध्वशिख्या रामः प्रतापवान् ।
रोषपाहारयन् तीव्रं निहन्तुं समरे खरम् ॥ १९ ॥

‘रामप्रतापी भगवान् श्रीरामने अपने ऊपर आते हुए उस
धृक्षको बाण समूहमें काट गिराया और उस समारभूमिमें
खरको मार डालनेके लिये अत्यन्त क्रोध प्रकट किया ॥

ज्ञानम्वेदन्तो रामो रोषरक्तान्नलोचनः ।
निर्विषेद सहस्रेण बाणानां समरे खरम् ॥ २० ॥

‘उस समय श्रीरामके शरीरमें पसीना आ गया । उनके
नेत्रप्रान्त रोषसे रक्तवर्णक हो गये । उन्होंने सहस्रों बाणोंका
प्रहार करके समराङ्गणमें खरको अत-विक्षत कर दिया ॥

तस्य बाणान्तराद् रक्तं बहु सुस्त्राघ फेनिलम् ।
गिरेः प्रस्त्रवणस्येव धाराणां च परिक्षिपः ॥ २१ ॥

‘उनके बाणोंके आघातसे उस निशाचरके शरीरमें
जो घाव हुए थे, उनमें अधिक मात्रामें फेनयुक्त रक्त
प्रवर्धित होने लगा, मानो पखतक झरनेसे अलकी धाराएँ
गिर रही हो ॥ २१ ॥

विकलः स कृतो बाणैः खरो रामेण संयुगे ।
मनो रुधिरगन्धेन तमेवाध्यद्वन्द्वं द्रुतम् ॥ २२ ॥

‘श्रीरामने युद्धस्थलमें अपने बाणोंकी मारसे खरको
व्याकुल कर दिया, तो भी (उसका साहस कम नहीं हुआ ।)
वह खूनको गन्धसे उन्मत्त होकर बड़े वेगसे श्रीरामको
ओर ही टांडा ॥ २२ ॥

तमापतन्तं संकुलं कृनालो रुधिराप्रतम् ।
अपामर्षद् द्वित्रिपदं किञ्चित्त्वरितविक्रमः ॥ २३ ॥

‘अस्त्र-विद्याके ज्ञाना भगवान् श्रीरामने देखा कि यह
महत्त्व स्वयं लक्ष्य होनेका भी अत्यन्त क्रोधपूर्वक मेरी ही
ओर बढ़ा आ रहा है तो वे तुरंत चरणोंका संचालन करके

दो-तीन वग पीछे हट गये (क्योंकि बहुत निकट होनेपर बाण चलाना सम्भव नहीं हो सकता था) ॥ २३ ॥

ततः पावकसंकाशं वधाय समरे शरम् ।

खरस्य रामो जग्राह ब्रह्मदण्डपिशापरम् ॥ २४ ॥

तदनन्तर श्रीरामने समग्रकृष्णमें खरका वध करनेके लिये एक अग्रिके समान तेजस्वी बाण हाथमें लिया, जो दृप्त ब्रह्मदण्डके समान भयंकर था ॥ २४ ॥

स तद् द्रष्टुं मघवता सुरराजेन धीमता ।

संदधे च स धर्मात्मा भुमोच च खरं प्रति ॥ २५ ॥

वह बाण बुद्धिमान् देवराज इन्द्रका दिया हुआ था । धर्मात्मा श्रीरामने उसे धनुषपर रखा और खरको लक्ष्य करके छोड़ दिया ॥ २५ ॥

स विमुक्तो महाबाणो निर्घातसमनिःस्वनः ।

रापेण धनुषायम् खरस्योरसि धापतन् ॥ २६ ॥

उस महाबाणके छूटते ही वज्रपातके समान भयानक शब्द हुआ । श्रीरामने अपने धनुषको कानतक खींचकर उसे छोड़ा था । वह खरको छातीमें जा लगा ॥ २६ ॥

स पपात खरो भूमौ दह्यमानः शशप्रिना ।

स्त्रेणोव विनिर्दग्धः श्वेतारण्ये सथान्धकः ॥ २७ ॥

जैसे वज्रसे वृत्रासुर, पैनमें नमुचि और इन्द्रकी अश्वनिम बलासुर मरा गया था, उसी प्रकार दण्डकवनमें श्रीरामके उस बाणके आगमें जलता हुआ निशाचर खर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ २७ ॥

स वृत्र इव वज्रेण फेनेन नमुचिर्यथा ।

चलो वेन्द्राशनिह्नो निपपात हतः खरः ॥ २८ ॥

जैसे वज्रसे वृत्रासुर, पैनमें नमुचि और इन्द्रकी अश्वनिम बलासुर मरा गया था, उसी प्रकार श्रीरामके उस बाणमें क्षात होकर खर धराशायी हो गया ॥ २८ ॥

एतस्मिन्नन्तरे देवाश्चारणैः सह संगताः ।

दुन्दुभीश्चाभिनिव्रन्तः पुष्पवर्ष समन्ततः ॥ २९ ॥

रामस्योपरि संहृष्टा चक्षुर्विस्मितास्तदा ।

अर्धाधिकमुहूर्तेन रामेण निशितः शरैः ॥ ३० ॥

घनदंश सहस्राणि रक्षसां कामरूपिणाम् ।

खरदूषणामुख्यानां निहतानि महामुचे ॥ ३१ ॥

इसी समय देवता चारणोंके साथ मिलकर आये और हर्षमें भरकर दुन्दुभ बजाते हुए वहाँ श्रीरामके ऊपर चारों ओरसे फूलोंकी वर्षा करने लगे । उस समय उन्हें यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ था कि श्रीरामने अपने पैन बाणोंसे डेढ़ मुहूर्तमें ही इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले खर दूषण आदि चौदह हजार रक्षसोंका इस महामयमें संहार कर डाला ॥ २९—३१ ॥

अहो बल महत्कर्म रामसा विदितात्मनः ।

अहो वीर्यमहो दाक्षी विष्णोरिव हि दृश्यते ॥ ३२ ॥

वे बोले—'अहो ! अपने स्वरूपको जाननेवाले भगवान् श्रीरामका यह कर्म महान् और अद्भुत है इनका बल-पराक्रम भी अद्भुत है और इनमें भगवान् विष्णुकी भाँति आश्चर्यजनक दृढ़ता दिखायी देती है' ॥ ३२ ॥

इत्येवमुक्त्वा ते सर्वे चयुर्देवा यथागतम् ।

ततो राजर्षयः सर्वे संगताः परमर्षयः ॥ ३३ ॥

सभाज्य भुविता रामे सागस्त्या इदमब्रुवन् ।

एसा कहकर वे सब देवता जैसे आये थे, वैसे ही चले गये तदनन्तर बहुत-से राजर्षि और आगस्थ आदि महर्षि मिलकर वहाँ आये तथा प्रसन्नतापूर्वक श्रीरामका स्तुति करके उनसे इस प्रकार बोले— ॥ ३३ ॥

एतदर्थं महातेजा महेन्द्रः पाकशासनः ॥ ३४ ॥

शरभङ्गाश्रमं पुण्यमाजगाम पुरंदरः ।

आनीतस्त्वपिपं देशमुपायेन महर्षिभिः ॥ ३५ ॥

'रघुनन्दन ! इसीलिये महतेजस्वी पाकशासन पुरंदर इन्द्र शरभङ्ग मुनिके पवित्र आश्रमपर आये थे और इसी कार्यकी सिद्धिके लिये महर्षियोंमें विशेष उपाय करके आपको पञ्चवटीके इस प्रदेशमें पहुँचाया था ॥ ३४-३५ ॥

एषां वधार्थं शत्रूणां रक्षसां पापकर्मणाम् ।

तदिदं नः कृतं कार्यं त्वया दशरथात्मज ॥ ३६ ॥

स्वधर्मं प्रधरिष्यन्ति दण्डकेषु महर्षयः ।

'मुनियोंके शत्रुस्य इन पापकारी रक्षसोंके वधके लिये ही आपका यहाँ शुभागमन आवश्यक समझा गया था । दशरथनन्दन ! आपने हमलोगोंको यह बहुत बड़ा कार्य सिद्ध कर दिया । अब बड़े-बड़े ऋषि-मुनि दण्डकाण्यके विभिन्न प्रदेशोंमें निर्भय होकर अपने धर्मका अनुष्ठान करेंगे' ॥ ३६ ॥

एतस्मिन्नन्तरे वीरो लक्ष्मणः सह सीतया ।

गिरिदुर्गाद् विनिष्कृष्य संविवेशाश्रमे सुखी ॥ ३८ ॥

इसी बीचमें वीर लक्ष्मण भी सीताके साथ पर्वतकी कन्दरास निकलकर प्रसन्नतापूर्वक आश्रममें आ पये ॥ ३७ ॥

ततो रामस्तु विजयी पूज्यमानो महर्षिभिः ॥ ३८ ॥

प्रविवेशाश्रमं वीरो लक्ष्मणेनाभिपूजितः ।

तत्पश्चात् महर्षियामे प्रशंसित और लक्ष्मणमें पूजित विजयी वीर श्रीरामने आश्रममें प्रवेश किया ॥ ३८ ॥

ते दृष्ट्वा शत्रुहन्तारं महर्षीणां सुरावहम् ॥ ३९ ॥

बभूव हृष्टा र्षदेही भर्तारं परिषस्तजे ।

मुदा परमया युक्ता दृष्ट्वा रक्षोगणान् हतान् ।

रामं र्षेवाख्ययं दृष्ट्वा तुतोष जनकात्मजा ॥ ४० ॥

महर्षियोंको जब दृष्टवान् अपने शत्रुहन्ता पतिका दर्शन करके विदेहराजनन्दिनी सीताको बड़ा हर्ष हुआ । उन्होंने परमानन्दमें निमग्न होकर अपने स्वामीका आलोकन किया । रक्षस-समूह मारे गये और श्रीरामको कोई क्षति नहीं पहुँची—

यह देख और जानकर जनकीजीको बहुत संतोष हुआ ॥

ततस्तु तं राक्षससङ्घमर्दनं

सम्पूज्यमानं मुदितैर्महात्मभिः ।

पुनः परिभ्रुज्य मुदान्वितानना

बभूव हृष्टा जनकात्मजा तदा ॥ ४१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे त्रिंशः सर्गः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आदि रामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३० ॥

एकत्रिंशः सर्गः

रावणका अकम्पनकी सलाहसे सीताका अपहरण करनेके लिये जाना

और मारीचके कहनेसे लङ्काको लौट आना

त्वरमाणस्ततो गत्वा जनस्थानादकम्पनः ।

प्रविश्य लङ्का घेगेन रावणं वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

तदनन्तर जनस्थानसे अकम्पन नामक राक्षस बड़ी उतावलीके साथ लङ्काको और गया और शीघ्र ही उस पुरमें प्रवेश करके रावणमें इस प्रकार बोला— ॥ १ ॥

जनस्थानस्थिता राजन् राक्षसा बहवो हताः ।

श्वरश्च निहतः संख्यं कथयिदहमागतः ॥ २ ॥

‘राजन् । जनस्थानमें जो बहुत-से राक्षस रहते थे, वे मार डाले गये । श्वर घुड़में मार गया । मैं किन्ने तरह जान बचाकर यहाँ आया हूँ ॥ २ ॥

एवमुक्तो दशग्रीवः क्रुद्धः संरक्तलोचनः ।

अकम्पनमुवाचेदं नितं ह्रस्वि तेजसा ॥ ३ ॥

अकम्पनक ऐसा कहते ही दशमुख रावण क्रोधसे जल उठा और लाल आँखें करके उससे इस तरह बोला, मानो उसे अपने तेजसे जलाकर भस्म कर डालेगा ॥ ३ ॥

केन भीमं जनस्थानं हतं धम परामुना ।

को हि सर्वेषु लोकेषु गतिं नाधिगमिष्यति ॥ ४ ॥

यह बोला—‘कौन भीमके मुँहमें जान बचाता है, जिसने मेरे भयंकर जनस्थानका विनाश किया है ? कौन वह दुःसाहसी है जिसे सम्स्त लोकोंमें कहीं भी और निजाना नहीं मिलनेवाला है ? ॥ ४ ॥

न हि मे विप्रियं कृत्वा शक्यं मघवता सुखम् ।

प्राप्नुं वीक्ष्यणेनापि न धमेन च विष्णुना ॥ ५ ॥

‘मेरा अपराध करके हन्त, यम, कुबेर और विष्णु भी चैनसे नहीं रह सकेंगे ॥ ५ ॥

कालस्य चाप्यहं कालो दहेयमपि पावकम् ।

मृत्युं परणाम्येण सयोजयितुमुत्सहे ॥ ६ ॥

‘मैं कालका भी काल हूँ, आगको भी जलम सकता हूँ तथा मौतको भी मृत्युके मृत्युप डाल सकता हूँ ॥ ६ ॥

यातस्य तस्मा वेगं निहन्तुमपि चोत्सहे ।

दहेयमपि संक्रुद्धस्तेजसाऽऽदित्यपावकौ ॥ ७ ॥

प्रसन्नतासे धरे हुए महात्मा मुनि जिनको धीरे-धीरे प्रशंसा कर रहे थे तथा जिनोंने राक्षसोंके समुदायको कुचल डाला था, उन प्राणवल्लभ, श्रीरामका चारम्बार आलिङ्गन करके उस समय जनकनन्दिनो मौतको बड़ा हर्ष हुआ । उनका मुख प्रसन्नतासे खिल उठा ॥ ४१ ॥

‘यदि मैं क्रोधमें घर जाऊँ तो अपने वेगसे वायुकी गतिको भी रोक सकता हूँ तथा अपने तेजसे सूर्य और अग्निको भी जलाकर भस्म कर सकता हूँ ॥ ७ ॥

तथा क्रुद्धं दशग्रीवं कृताञ्जलिरकम्पनः ।

ध्यात् संदिग्धया वाचा रावणं याचतेऽभयम् ॥ ८ ॥

रावणको इस प्रकार क्रोधसे घरा देखा धयके भारे अकम्पनकी चालनी बंद हो गयी, उसने हाथ जोड़कर भयभयानक नार्णामें रावणमें अभयकी याचना की ॥ ८ ॥

दशग्रीवोऽभयं तस्मै प्रददौ रक्षसां वरः ।

स विस्त्रब्धोऽब्रवीद् वाक्यमसंदिग्धमकम्पनः ॥ ९ ॥

तब राक्षसोंमें श्रेष्ठ दशग्रीवने उसे अभयदान दिया । उसमें अकम्पनको अपने प्राण बचनेका विश्वास हुआ और वह संशयरहित होकर बोला— ॥ ९ ॥

पुत्रो दशरथस्यास्तौ सिंहसंहननो युवा ।

रामो नाम महास्कन्धो धृतायतमहाभुजः ॥ १० ॥

श्यामः पृथुशः श्रीमानतुल्यबलविक्रमः ।

हनस्तेन जनस्थाने श्वरश्च सहदूषणः ॥ ११ ॥

‘राक्षसरज । राजा दशरथके नवयुवक पुत्र श्रीराम पञ्चवटोंमें रहते हैं । उनके शरीरकी गठन सिंहक समान है, कंधे मोटे और भुजाएँ गोल तथा लम्बी हैं, शरीरका रंग सविल्व है । वे बड़े बहादुर और तेजस्वी दिखायी देते हैं । इनके बल और पराक्रमकी कहीं तुलना नहीं है । उन्होंने जनस्थानमें रहनेवाले श्वर और दूषण आदिका वध किया है ॥ १०-११ ॥

अकम्पनवचः श्रुत्वा रावणो राक्षसाधिपः ।

नागेन्द्र इव निःश्वस्य इदं वचनमब्रवीत् ॥ १२ ॥

अकम्पनकी यह बात सुनकर राक्षसरज रावणने नागरज (महान् सर्प) की भाँति लम्बी साँस खींचकर इस प्रकार कहा— ॥ १२ ॥

स सुरेन्द्रेण संयुक्तो रामः सधर्मैः सह ।

उपघातो जनस्थानं ब्रूहि कश्चिदकम्पनः ॥ १३ ॥

अकम्पन ! बताओ तो सही क्या राम सम्पूर्ण देवताओं तथा देवराज इन्द्रके साथ जनस्थानमें आये हैं ? ॥ १३ ॥
रावणस्य पुनर्वाक्यं निशम्य तदकम्पनः ।

आवचक्षे बलं तस्य विक्रमं च महात्मनः ॥ १४ ॥

रावणका यह प्रश्न सुनकर अकम्पनने महात्मा श्रीरामके बल और पराक्रमका पुनः इस प्रकार वर्णन किया— ॥

रामो नाम महातेजाः श्रेष्ठः सर्वधनुष्यताम् ।

दिव्यास्त्रगुणसम्पन्नः परं धर्मं गतो युधि ॥ १५ ॥

‘लक्ष्मण ! जिनका नाम राम है, वे संसारके समस्त धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ और आत्मान तेजस्वी हैं। दिव्यास्त्रोंके प्रयोगका जो गुण है, उससे भी वे पूर्णतः सम्पन्न हैं। युद्धजो कलामें तो वे पराकाष्ठाको पहुँचे हुए हैं ॥ १५ ॥

तस्मानुरूपो बलवान् रक्षाक्षो दुन्दुभिस्वनः ।

कनीयाँल्लक्ष्मणो भ्राता रक्षाशशिनिभाननः ॥ १६ ॥

‘श्रीरामके साथ उनके छोटे भाई लक्ष्मण भी हैं, जो उनकी समान बलवान् हैं। उनका मुख पूर्णिमाके चन्द्रमाके भाँति मनोहर है। उनकी आँखें कुछ-कुछ लाल हैं और स्वर दुन्दुभिके समान गर्भीर है ॥ १६ ॥

स तेन सह संयुक्तः पावकेनानिलो यथा ।

श्रीमान् राजवरस्तेन जनस्थानं निपातितम् ॥ १७ ॥

‘जैसे अग्निके साथ वायु हो, उसी प्रकार अपने भाईके साथ संयुक्त हुए राजाधिराज श्रीमान् राम बड़े प्रबल हैं। उन्होंने ही जनस्थानको ठजाड़ डाला है ॥ १७ ॥

नैव देवा महात्मानो नात्र कार्या विचारणा ।

शरा रामेण तुल्योऽस्त्रमपुङ्गवः पतन्निवः ॥ १८ ॥

सर्पाः पञ्चानना भूत्वा भक्षयन्ति स्म राक्षसान् ।

‘उनके साथ न कोई देवता है, न महात्मा मुनि। इस विषयमें आप कोई विचार न करें। श्रीरामके छोटे हुए गोनकों पीछेवाले बाण पीछे मुखवाले सर्प बनकर राक्षसोंको खा जाते थे ॥ १८ ॥

येन येन च गच्छन्ति राक्षसा भयकर्विताः ॥ १९ ॥

तेन तेन स्म पश्यन्ति राममेवाग्रतः स्थितम् ।

इत्थं विनाशितं तेन जनस्थानं तवानघ ॥ २० ॥

भयसे कातर हुए राक्षस जिस-जिस मार्गसे भागते थे, वहाँ-वहाँ वे श्रीरामको ही अपने सामने खड़ा देखते थे। अनघ ! इस प्रकार अकेले श्रीरामने ही आपके जनस्थानका विनाश किया है ॥ १९-२० ॥

अकम्पनवचः श्रुत्वा रावणो वाक्पथमवधीत् ।

गमिष्यामि जनस्थानं रामं हन्तुं सलक्ष्मणम् ॥ २१ ॥

अकम्पनकी यह बात सुनकर रावणने कहा—‘मैं अभी लक्ष्मणसहित रामका वध करनेके लिये जनस्थानको जाऊँगा ॥

अथैवमुक्ते वचने प्रोवाचेदमकम्पनः ।

शृणु राजन् यथावृत्तं रामस्य बालपौरुषम् ॥ २२ ॥

उसके ऐसा कहनेपर अकम्पन बोला—‘राजन् ! श्रीरामका बल और पुरुषार्थ जैसा है, उसका यथावत् वर्णन मुझसे सुनिये ॥ २२ ॥

असाध्यः कुपितो रामो विक्रमेण महावशाः ।

आपगाथास्तु पूर्णाया वेगं परिहरेच्छरैः ॥ २३ ॥

सताराग्रहणक्षत्रं नभश्चाप्यवसादयेत् ।

‘महावशस्वी श्रीराम यदि कुपित हो जायें तो उन्हें अपने पराक्रमके द्वारा कोई भी कायमें नहीं कर सकता। वे अपने बाणोंमें भरि हुई नदीके वेगको भी पलट सकते हैं तथा तारा, ग्रह और नक्षत्रोंसहित सम्पूर्ण आकाशमण्डलको पोंछा दे सकते हैं ॥ २३ ॥

असौ रामस्तु सोदन्तो श्रीमानभ्युद्धरेन्महीम् ॥ २४ ॥

घिस्वा वेलां समुद्रस्य लोकानाप्लावयेद् विभुः ।

वेगं वापि समुद्रस्य वायुं वा विधमेच्छरैः ॥ २५ ॥

‘वे श्रीमान् भगवान् राम समुद्रमें डुबती हुई पृथ्वीको ऊपर उठा सकते हैं, महासागरकी भयानाका भेदन करके समस्त लोकोंको उनके जलसे आप्लावित कर सकते हैं तथा अपने बाणोंसे समुद्रके वेग अथवा वायुको भी नष्ट कर सकते हैं ॥ २४-२५ ॥

संहृत्य वा पुनर्लोकान् विक्रमेण महावशाः ।

शक्तः श्रेष्ठः स पुस्त्वः स्रष्टुं पुनरपि प्रजाः ॥ २६ ॥

‘वे महावशस्वी पुरुषान्तरमें अपने पराक्रमसे सम्पूर्ण लोकोंको संहार करके पुनः नव विरेस प्रजाकी सृष्टि करनेमें समर्थ हैं।

नहि रामो दशग्रीव शक्यो जेतुं रणे त्वया ।

रक्षसां वापि लोकेन स्वर्गः पापजनैरिव ॥ २७ ॥

‘दशग्रीव ! जैसे पापों पुरुष स्वर्गपर अधिकार नहीं प्राप्त कर सकते, उसी प्रकार आप अथवा समस्त राक्षस-जगत भी युद्धमें श्रीरामको नहीं जीत सकते ॥ २७ ॥

न तं वध्यमहं मन्ये सर्वदेवासुरैरपि ।

अयं तस्य वधांपायस्तत्पर्यक्रमनाः शृणु ॥ २८ ॥

‘मैं उसे समझमें सम्पूर्ण देवता और असुर मिलाकर भी उनका वध नहीं कर सकता। उनके वधका यह एक उपाय मुझ मुझा है, उस आप पर मुझसे एकचित्त होकर सुनिये।

भार्या तस्योत्तमा लोके सीता नाम सुमध्यमा ।

श्यामा सभविधक्ताङ्गी स्त्रीरत्नं रत्नभूषिता ॥ २९ ॥

श्रीरामकी पत्नी सीता संसारकी सर्वोत्तम सुन्दरी है। उसने जीवनके मध्यमें पदार्पण किया है। उसके अङ्ग प्रत्यङ्ग सुन्दर और सुडील हैं। वह रत्नमय आभूषणोंसे विभूषित रहती है। सीता सम्पूर्ण स्त्रियोंमें एक रत्न है ॥ २९ ॥

नैव देवी न गन्धर्वी नाप्सरसा न च पन्नगी ।

तुल्या सोधन्तिनी तस्या मानुषी तु कुतो भवेत् ॥ ३० ॥

‘देवकन्या, गन्धर्वकन्या, अप्सरा अथवा नागकन्या कोई भी रूपमें उसकी समानता नहीं कर सकती, फिर मनुष्य-

जातिकी दूसरी कोई नारी उसके समान कैसे हो सकती है ॥
नस्यापहर धार्या त्वं तं प्रमथ्य महावने ।

मांतया रहितो रामो न खैव हि भविष्यति ॥ ३१ ॥

‘उस विशाल वनमें जिस किमो भी उपारमें श्रीरामको धारण डालकर आप उनको पत्नीको अपहरण कर में । मातामें विशुद्ध जानेपर श्रीराम कदापि जीवित नहीं रहेंगे’ ॥ ३१ ॥

अरोक्षयत नृणां कथं रावणो राक्षसाधिपः ।

विजितयित्वा महाबाहुरकम्पनमुवाच ॥ ३२ ॥

राक्षसराज रावणको अकम्पनकी वज्र वान प्रसद आ गया ।
‘महाबाहु दशप्रोक्तम् कृप सांचकः अकम्पनस कः — ।

बाहं कल्पं गमिष्यामि होकः सारथिना सह ।

आनेष्यामि च वेदेहीमिमां हृष्टो महापुरीम् ॥ ३३ ॥

‘होकर है, कल प्रातःकाल सारथिके साथ मैं अकेला ही जाऊंगा और विदेहकुमारी सीताको प्रसन्नतापूर्वक इस महापुरीमें ले आऊंगा’ ॥ ३३ ॥

नदेवमुक्त्वा प्रययौ खरयुक्तेन रावणः ।

रथेनदित्यवर्णेन दिशः सर्वाः प्रकाशयन् ॥ ३४ ॥

ऐसा कहकर रावण गधायें जुते हुए सुधनुल्य तेजस्वी रथपर आरुढ़ हो सम्पूर्ण दिशाओंका प्रकाशित करता हुआ यहाँसे चला ॥ ३४ ॥

स रथो राक्षसेन्द्रस्य नक्षप्रपद्यगो महान् ।

चञ्चूर्यमाणः शूशुभे जलदे चन्द्रमा उव ॥ ३५ ॥

नक्षत्रोंके मार्गपर विचरता हुआ राक्षसराजका यह विशाल रथ आश्लोकों आड़में प्रकाशित होनेवाले चन्द्रमाके समान शोभा पा रहा था ॥ ३५ ॥

स दूरं चाश्रमं गत्वा ताटकंममुपागमन् ।

मारीचैर्नार्थितो राजा भक्ष्यभोज्यैरमानुषैः ॥ ३६ ॥

कुछ दूरपर स्थित एक आश्रममें जाकर वह ताटकरपुत्र मार्गसे मिला । मार्गमें अर्न्तविक्रम पक्ष्य-भोज्य अर्पित करके राजा रावणका स्वागत-सत्कार किया ॥ ३६ ॥

तं स्वयं पूजयित्वा तु आसनेनोदकन च ।

अर्थापहितया वाचा मारीचो वाक्यमब्रवीत् ॥ ३७ ॥

आसन और जल आदिके द्वारा स्वयं ही उसका पूजन करके मारीचने अर्धयुक्त वाणीय पूछा — ॥ ३७ ॥

कथितं सकृशलं राजैल्लोकानां राक्षसाधिप ।

आवाङ्मुनाधिजाने त्वं यन्स्तूर्णमुपागतः ॥ ३८ ॥

राक्षसराज ! तुम्हारे राज्यमें रज्जुगोकी कुशल तो है न ? गुप्त नहीं होतावलीके साथ आ रहे हो, इसीलिये मैं मनमें कुछ खटका हुआ है मैं समझता हूँ तुम्हारे यहाँका अच्छा हाल नहीं है ॥ ३८ ॥

एवमुक्तो पद्मसेजा मारीचन स रावणः ।

ततः पश्चादितं वाक्यमब्रवीत् वाक्यकोविदः ॥ ३९ ॥

मारीचके केन प्रकार पुल्लेख जानचातकी कलक

जाननेवाले पद्मसेजी रावणने इस प्रकार कहा — ॥ ३९ ॥

आरक्षो मे हनस्तात रामेणाक्रिष्टकारिणा ।

जनस्थानमवध्यं तत् सर्वं युधि निपातितम् ॥ ४० ॥

‘तात ! अनायास ही महान् पराक्रम दिखानेवाले श्रीरामने मेरे राज्यको सौभाग्य रक्षक खर दूषण आदिको मार डाला है तथा जो जनस्थान अवध्य समझा जाता था, वहकि सारे राक्षसोंको उन्होंने युद्धमें मार गिराया है ॥ ४० ॥

तस्य मे कुरु साचिष्यं तस्य धार्यापहारणे ।

राक्षसेन्द्रवचः श्रुत्वा मारीचो वाक्यमब्रवीत् ॥ ४१ ॥

‘अतः इसका बदला लेनेके लिये मैं उनकी स्त्रीका अपहरण करना चाहता हूँ इस कार्यमें तुम मेरी सहायता करो ।’ राक्षसराज रावणका यह वचन सुनकर मारीच बोला — ॥ ४१ ॥

आख्याता केन वा सीता मित्ररूपेण शत्रुणा ।

त्वया राक्षसशार्दूल को न नन्दति नन्दितः ॥ ४२ ॥

‘निशाचरशिरोपणे ! मित्रके रूपमें तुम्हारा वह कौन-सा ऐसा शत्रु है, जिसने तुम्हें सीताको हर लेनेकी सलाह दी है ? कौन ऐसा पुरुष है जो तुमसे सुख और आदर पाकर भी प्रसन्न नहीं है, अतः तुम्हारी बुराई करना चाहता है ? ॥

सीतामिहानघस्वेति को ब्रवीति ब्रवीहि मे ।

रक्षोलेकस्य सर्वस्य कं शृङ्गं छेतुमिच्छति ॥ ४३ ॥

‘कौन कहता है कि तुम सीताको यहाँ हर ले आओ ? मुझे उसका नाम बताओ । वह कौन है, जो समस्त राक्षस-जगतकर सींग काट लेना चाहता है ? ॥ ४३ ॥

प्रोत्साहयति यश्च त्वां स च शत्रुरसंशयम् ।

आशीविषमुखाद् दंष्ट्रामुद्धतुं चेच्छति त्वया ॥ ४४ ॥

‘जो इस कार्यमें तुम्हें प्रोत्साहन दे रहा है, वह तुम्हारा शत्रु है, इममें संशय नहीं है वह तुम्हारे हाथों विषधर सर्पके मुखसे उसके दाँत उखड़वाना चाहता है ॥ ४४ ॥

कर्मणादेन केनासि कापद्यं प्रतिपादितः ।

सुखसुप्तस्य ते राजन् प्रहृतं केन मूर्धनि ॥ ४५ ॥

‘राजन् ! किसने तुम्हें ऐसी स्तोत्री सलाह देकर कुपार्गपर पहुँचाया है ? किसने मुखपूर्वक सोते समय तुम्हारे मस्तकपर स्पर्श मारी है ॥ ४५ ॥

विशुद्धवशाभिजनाग्रहस्त-

तेजोमदः संस्थितदोर्विषाणः ।

वदीक्षितुं रावण नेह युक्तः

स संयुगे राघवगन्धहस्ती ॥ ४६ ॥

‘रावण ! राघवन्द्र श्रीराम वह गन्धयुक्त गजराज है जिसको गन्ध सूँघकर ही गजरूपी शेर दूर भाग जाते हैं । विशुद्ध कुल्मे जन्म ग्रहण करता ही उस राघवरूपी गजराजका उगड़दण्ड है प्रताप ही मद है और सुडौल बाँहि ही दोनों दाँत हैं युद्धस्थलमें उनकी ओर देखना भी तुम्हारे

लिये उचित नहीं है, फिर जूझनेकी तो बात ही क्या है ॥ ४६ ॥

असौ रणान्तःस्थितिसंधिकाले

विदग्धरक्षोमृगहा नृसिंहः ।

सुप्तस्त्वया बोधयितुं न शक्यः

शराङ्गपूर्णो निशितासिदंष्ट्रः ॥ ४७ ॥

‘वे श्रीराम मनुष्यके रूपमें एक सिंह है । रणभूमिके भीतर स्थित होना ही उनके अङ्गोंकी संधियाँ तथा बाण हैं । वह सिंह चतुर राक्षसरूपी मृगोका वध करनेवाला है, बाणरूपी अङ्गोंसे परिपूर्ण है तथा तलवारों ही उसको तोंगों दाढ़ें हैं । उस सोते हुए सिंहको तुम नहीं जग्न सकते ॥ ४७ ॥

घापापहारे भुजवेगपङ्के

शरोर्षिमाले सुमहाहवीधे ।

न राघवातालमुखेऽतिथोरे

प्रस्कन्दितां राक्षसराज युक्तम् ॥ ४८ ॥

‘राक्षसराज । श्रीराम एक घातालतलव्यापी महाभाग है, धनुष ही उस समुद्रके भीतर रहनेवाला प्राह है, भुजाओंका

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे एकत्रिंशः सर्गः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें एकतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

द्वात्रिंशः सर्गः

शूर्पणखाका लंकामें रावणके पास जाना

ततः शूर्पणखा दृष्ट्वा सहस्राणि वनदंश ।

हतान्येकेन रापेण रक्षसा भीमकर्मणाम् ॥ १ ॥

दूषणं च खरं धैव हतं त्रिशिखं रणे ।

दृष्ट्वा पुनर्महानाशान् ननाद जलदोषमा ॥ २ ॥

उधर शूर्पणखाने गय देखा कि श्रीरामने भयंकर कर्म करनेवाले चौदह हजार राक्षसोंको अकेले ही मार गिराया तथा युद्धके मैदानमें दूषण, खर और त्रिशिरका भी मौतके घाट उतार दिया, तब वह शोकके कारण घेघ गर्जनाके समान पुनः बड़ जोर-जोरसे घोर सौत्कार करने लगी ॥ १-२ ॥

सा दृष्ट्वा कर्म रामस्य कृतमन्यैः सुदुष्करम् ।

जगाम परमोद्दिग्धा लङ्कां रावणपार्लताम् ॥ ३ ॥

श्रीरामने वह कर्म कर दिखाया, जो दुर्गरोंके लिये अत्यन्त दुष्कर है; यह अपनी आँखों देखकर वह अत्यन्त उद्दिग्ध हो उठी और रावणद्वारा सुरक्षित लंकापुरीको गयी ॥ ३ ॥

सा ददर्श विमानाग्रे रावणं दीप्ततेजसम् ।

उपोपविष्टं सचिवैर्मरुद्भिरिव वामवम् ॥ ४ ॥

वहाँ पहुँचकर उसने देखा, रावण पुष्पक विमान (या सशमहले मकान) के ऊपरी भागमें बैठा हुआ है । उसका सज्जोचित तेज उड़ोम हो रहा है तथा भ्रुवर्णोंसे धिरे हुए इन्द्रकी भाँति वह आसपास बैठे हुए मन्त्रियोंसे घिरा है ॥ ४ ॥

वेग ही कीचड़ है, चाण ही तरंगमालाएँ हैं और महान् युद्ध ही उसका अगाध बलराशि है । उसके अत्यन्त भयंकर मुख अर्थात् बड़वानलमें कूद पड़ना तुम्हारे लिये कदापि उचित नहीं है ॥ ४८ ॥

प्रसीद लङ्केश्वर राक्षसेन्द्र

लङ्कां प्रसन्नो भव साधु गच्छ ।

त्वं स्वेषु दारेषु रमस्व नित्यं

रामः सभायौ रमतां वनेषु ॥ ४९ ॥

‘लङ्केश्वर । प्रसन्न होओ । राक्षसराज । सानन्द रहो और सकुशल लंकाको लौट जाओ । तुम सदा पुरीमें अपनी स्त्रियोंके साथ रमण करो और राम अपनी पत्नीके साथ वनमें विहार करें’ ॥ ४९ ॥

एवमुक्ते दशघोषो भारीचेन स रावणः ।

न्यवर्तत पुरीं लङ्कां विवेश च गृहोत्थमम् ॥ ५० ॥

पारोचके ऐसा कहनेपर दशमुख रावण लंकाको लौटा और अपने सुन्दर महलमें चला गया ॥ ५० ॥

आसीनं सूर्यसंकाशे काञ्चने परमासने ।

स्वमवेदिगतं प्राज्यं ज्वलन्तमिव पावकम् ॥ ५ ॥

रावण जिस उन्नय मुखर्णधय सिंहासनपर विराजमान था, वह सूर्यके समान जगमगा रहा था । जैसे सोनेकी ईंटोंमें बनी हुई वेदीपर स्थापित अग्निदेव धोंकी अधिक आहुति पाकर प्रज्वलित हो उठे हो उसी प्रकार उस स्वर्णसिंहासनपर रावण शोभा पा रहा था ॥ ५ ॥

देवगन्धर्वभूतानाधुवीणां च महात्मनाम् ।

अजेयं समरे घोरं व्यात्ताननविवात्सकम् ॥ ६ ॥

देवासुरविमर्देषु वज्राशनिकृतघ्नणम् ।

ऐरावतविषाणाग्रैरुत्कृष्टकिणवक्षसम् ॥ ७ ॥

देवता, गन्धर्व, भूत और महात्मा ऋषि भी उसे जीतनेमें असमर्थ थे । समरभूमिमें वह मुँह फैलाकर खड़े हुए यमराजके भाँति भयानक जान पड़ता था । देवताओं और असुरोंके संग्रामके अवसरोपर उसके शरीरमें वज्र और अश्विनके जो घाव हुए थे, उनके चिह्न अबतक विद्यमान थे । उसकी छातीमें ऐरावत हाथीने जो अपने दाँत गड़ाये थे, उसके निशान अब भी दिखायी देते थे ॥ ६-७ ॥

विंशद्भुजं दशघोषं दर्शनीयपरिच्छदम् ।

विशालवक्षसं वीरं राजलक्षणलक्षितम् ॥ ८ ॥

नन्दुर्वैदूर्यसंकाशं तप्तकाञ्चनभूषणम् ।

सुभुजं शुक्लदशनं महास्थं पर्वतोपमम् ॥ ९ ॥

उसके बीस भुजाएँ और दस पलक थे उसका छत्र, चैवर और आभूषण आदि उपकरण देखने ही योग्य थे। वह स्थल विशाल था। वह वार राजांचित लक्षणोंसे सम्पन्न दिखायी देता था। वह अपने शरीरमें जो वैदूर्यमणि (नीलम) का आभूषण पहने हुए था, उसके समान ही उसके शरीरकी कान्ति भी थी। उसने नपाये हुए मोनेके आभूषण भी पहन रखे थे उसकी भुजाएँ सुन्दर दौल सफेद, मेह बहुत बड़ा और शरीर पर्वतके समान विशाल था ॥ ८-९ ॥

विष्णुचक्रनिपातेश्च शतशो देवसंयुगे।

अन्यैः शस्त्रैः प्रहारैश्च महायुद्धेषु ताडितम् ॥ १० ॥

देवताओंके साथ युद्ध करते समय उसके अङ्गोंपर सैकड़ों बार भगवान् विष्णुक चक्रका प्रहार हुआ था बड़े-बड़े युद्धोंमें अन्यान्य अस-शस्त्रोंकी भी उसपर मार पड़ी थी (उन सबके चिह्न दृष्टिगोचर होते थे) ॥ १० ॥

अहताङ्गैः सपत्नीस्तं देवप्रहरणैस्तदा।

अक्षोभ्याणां समुद्राणां क्षोभणं क्षिप्रकारिणम् ॥ ११ ॥

देवताओंके समस्त आयुधोंके प्रहारोंसे भी जो खण्डित न हो सके थे उन्हो अङ्गमें वह अक्षोभ्य समुद्रोंमें भी क्षोभ (हलचल) पैदा कर देता था। वह सभी कार्य बड़ी शीघ्रतासे करता था ॥ ११ ॥

क्षेप्तारं पर्वताग्राणां सुराणां च प्रमर्दनम्।

उच्छेत्तारं च घर्माणां परदाराभिमर्शनम् ॥ १२ ॥

पर्वतशिखरोंकी भी तोड़कर फेंक देता था, देवताओंकी भी रौंद डालता था। घर्मकी तो वह जड़ ही काट देता था और परायी स्त्रियोंके सतीत्वका नाश करनेवाला था ॥ १२ ॥

सर्वदिव्यास्त्रयोक्तारं यज्ञविघ्नकरं सदा।

पुरीं भोगवतीं गत्वा पराजित्य च वासुकिम् ॥ १३ ॥

तक्षकस्य त्रिषां भार्या पराजित्य जहार यः।

वह सब प्रकारके दिव्यास्त्रोंका प्रयोग करनेवाला और सदा यज्ञोंमें विघ्न डालनेवाला था। एक समय पातालकी भोगवती पुरीमें जाकर नागराज वासुकिको परास्त करके तक्षककी भी हराकर उसकी ध्यारी पत्नीको वह हर ले आया था ॥ १३ ॥

कैलसं पर्वतं गत्वा विजित्य नरवाहनम् ॥ १४ ॥

विमानं पुष्पकं तस्य कामर्गं चै जहार यः।

इसी तरह कैलस पर्वतपर जाकर कुबेरकी युद्धमें पराजित करके उसने उसके इच्छानुसार चलनेवाले पुष्पकविमानको अपने अधिकारमें कर लिया ॥ १४ ॥

धनं चैवरेण दिव्यं नलिनीं नन्दनं धनम् ॥ १५ ॥

विनाशयति यः क्रोधाद् देवोद्यानानि वीर्यवान्।

वह भ्रातृमी निशाकर ब्रह्मपूर्वक कुबेरके दिव्य चैत्ररथ धनको, सौगन्धिक कमलसे युक्त नलिनी नामवाली पुष्करिणीको, इन्द्रके नन्दनवनकसे तथा देवताओंके

दूसरे-दूसरे उद्यानोंको नष्ट करता रहता था ॥ १५ ॥

चन्द्रसूर्यौ महाभागावुत्तिष्ठन्तौ परंतपौ ॥ १६ ॥

निवारयति बाहुभ्यां यः शैलशिखरोपमः।

वह पर्वत शिखरके समान आकार धारण करके शत्रुओंको संताप देनेवाले महाभाग चन्द्रमा और सूर्यको उनके उदय-कालमें अपने हाथोंसे रोक देता था ॥ १६ ॥

दशवर्षसहस्राणि तपस्तप्त्वा महाधने ॥ १७ ॥

पुरा स्वयंभुवे धीरः शिरांस्युपजहार यः।

उस धीर स्वभाववाले रावणने पूर्वकालमें एक विशाल वनके भीतर दस हजार वर्षोंतक धीर तपस्या करके ब्रह्माजीको अपने मस्तकाको बलि दे दी थी ॥ १७ ॥

देवदानवगन्धर्वपिशाचपतंगोरगैः ॥ १८ ॥

अभयं यस्य संग्राधे मृत्युतो मनुवादते।

उसके प्रभावसे उसे देवता, दानव, गन्धर्व, पिशाच, पक्षी और सर्पोंसे भी संग्राममें अभय प्राप्त हो गया था। मनुष्योंके सिवा और किसीके हाथसे उसे मृत्युका भय नहीं था ॥ १८ ॥

मन्त्रैरभिष्टुतं पुण्यपद्मेषु द्विजातिभिः ॥ १९ ॥

हविर्धानेषु यः सोममुपहन्ति महाबलः।

वह महाबली राक्षस सोमसवनकर्मविशिष्ट यज्ञोंमें द्विजातियोंद्वारा वेदमन्त्रोंके उच्चारणपूर्वक निकाले गये तथा वैदिक मन्त्रोंसे ही मुसंस्कृत एवं स्तुत हुए पवित्र सोमरसको वहाँ पहुँचकर नष्ट कर देता था ॥ १९ ॥

प्राप्त्रयज्ञहरं दुष्टं ब्रह्मघ्नं क्रूरकारिणम् ॥ २० ॥

कर्कशं निरनुकोशं प्रजानामहिते रतम्।

समाप्तिके निकट पहुँचे हुए यज्ञोंका विध्वंस करने-वाला वह दुष्ट निशाचर ब्राह्मणोंकी हत्या तथा दूसरे-दूसरे क्रूर कर्म करता था वह बड़े ही क्रूर स्वभावका और निर्दय था। सदा प्रजाजनोंके अहितमें ही लगा रहता था ॥ २० ॥

राक्षसां सर्वभूतानां सर्वलोकमयावहम् ॥ २१ ॥

राक्षसी भ्रातरं क्रूरं सा ददर्श महाबलम्।

समस्त लोकोंको भय देनेवाला और सम्पूर्ण प्राणियोंको रुलानेवाले अपने इस महाबलसे क्रूर भाईको राक्षसी शूर्पणखाने उस समय देखा ॥ २१ ॥

तं दिव्यवस्त्राभरणं दिव्यमाल्योपशोभितम् ॥ २२ ॥

आसने सुपविष्टं तं काले कालमिवोद्यतम्।

राक्षसेन्द्रं महाभागं पौलस्त्यकुलनन्दनम् ॥ २३ ॥

वह दिव्य वस्त्रों और आभूषणोंसे विभूषित था। दिव्य पुष्पोंकी मालाएँ उसकी शोभा बढ़ा रही थीं। सिंहासनपर बैठा हुआ राक्षसराज पुलस्त्यकुलनन्दन महाभाग दशग्रीव प्रलयकालमें संहारके लिये उद्यत हुए महाकालके समान जाम पड़ता था ॥ २२-२३ ॥

उपगम्यान्नवीद् वाक्यं राक्षसी भयविह्वला ।

रावणो शत्रुहन्तारं मन्त्रिभिः परिवारितम् ॥ २४ ॥

मन्त्रियोंसे घिरे हुए शत्रुहन्ता भाई रावणके पास जाकर
भयसे विह्वल हुई वह राक्षसी कुछ कहनेको उद्यत हुई ॥ २४ ॥

तपन्नवीद् दीप्तविशाललोचनं

प्रदर्शयित्वा भयलोभमोहिता ।

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽष्टम्यकाण्डे द्वाविंशः सर्गः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके अष्टम्यकाण्डमें वर्तिसर्ग पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशः सर्गः

शूर्पणखाका रावणको फटकारना

ततः शूर्पणखा दीना रावणं लोकरावणम् ।

अमात्यमध्ये संकुट्टा परुषं वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

उस समय शूर्पणखा श्रीरामसे निरस्कृत होनेके कारण
बहुत दुःखी थी। उसने मन्त्रियोंके बीचमें बैठे हुए सचम
लोकोको ठगानेवाले रावणसे अत्यन्त कुपित होकर कठोर
भाषीमें कहा— ॥ १ ॥

प्रमत्तः कामभोगेषु स्तैरवृत्तो निगृह्य ।

समुत्पन्नं भयं घोरं बोद्धव्यं नावबुध्यसे ॥ २ ॥

‘राक्षसराज ! तुम स्वेच्छाचारी और निगृह्य होकर
विषय-भोगोंमें मगलाले हो रहे हो। तुम्हारे लिये घोर भय
उत्पन्न हो गया है, तुम्हें इसकी जानकारी होनी चाहिये थी
किंतु तुम इसके विषयमें कुछ नहीं जानते हो ॥ २ ॥

सक्तं प्राप्येषु भोगेषु कामवृत्तं महीपतिम् ।

सुखं न बहु मन्यन्ते इमज्जानार्त्तमिव प्रजाः ॥ ३ ॥

‘जो राजा निम्न श्रेणीके भोगोंमें आसक्त हो स्वेच्छाचारी
और लोभी हो जाता है, उसे मरुपट का आगके समान हव
मानकर प्रजा उसका अधिक आदर नहीं करती है ॥ ३ ॥

स्वयं कार्याणि यः काले नानुतिष्ठति पार्थिव ।

स तु वै सह राज्येन नैक्ष कार्यैर्विनश्यति ॥ ४ ॥

‘जो राजा ठीक समयपर स्वयं ही अपने कार्योंका
सम्पादन नहीं करता है, वह राज्य और उन कार्यके साथ ही
नष्ट हो जाता है ॥ ४ ॥

अयुक्तचारं दुर्दर्शमस्वाधीनं नराधिपम् ।

वर्जयन्ति नरा दुराग्रदोषकृमिव द्विपाः ॥ ५ ॥

‘जो राज्यकी देख-भालके लिये गुप्तचरोको नियुक्त नहीं
करता है, प्रजाजनोको जिसका दर्शन दुर्लभ हो जाता है और
कामिनी आदि भोगोंमें आसक्त होनेके कारण अपनी न्यायनता
खो बैठता है, ऐसे राजाको प्रजा दूरसे ही त्याग देती है। ठीक
इसी तरह, जैसे हाथी नदीकी किछड़से दूर हो रहते हैं ॥ ५ ॥

ये न रक्षन्ति विषयमस्वाधीनं नराधिपाः ।

ते न वृद्ध्या प्रकाशन्ते गिरयः सागरे यथा ॥ ६ ॥

सुदारुणं

वाक्यमभरितचारिणी

महात्मना शूर्पणखा विरूपिता ॥ २५ ॥

महात्मा लक्ष्मणने नाक-कान काटकर जिसे कुरूप कर
दिया था तथा जो निर्भय विचरनेवाली थी वह भय और लोभसे
मोहित हुई शूर्पणखा बड़े बड़े चमकोले नेत्रोंवाले अत्यन्त
क्रूर रावणको अपनी दुर्दशा दिखाकर उसमें बोली ॥ २५ ॥

जो मंश अपने राज्यके उस भ्रातृकी, जो अपनी ही
अमात्यधानोंके कारण दूसरेके अधिकारमें चला गया हो, रक्षा
नहीं करते—उसे पुनः अपने अधिकारमें नहीं लाते, वे
समुद्रमें डूबे हुए पर्वतोंकी भाँति अपने अभ्युदयसे प्रकाशित
नहीं होते हैं ॥ ६ ॥

आत्यवद्विर्विगृह्य त्वं देवगन्धर्वदानवैः ।

अयुक्तचारक्षपलः कथं राजा भविष्यसि ॥ ७ ॥

‘जो अपने मनको कायुमें रखनेवाले एवं प्रयत्नशील है,
उन द्रव्यार्थ, गन्धर्वों तथा दानवोंके साथ विरोध करके
दुश्मन अपने राज्यको देखभालके लिये गुप्तचर नहीं नियुक्त
किये हैं, ऐसी दशामें तुम जैसा विषयलाक्ष्मण क्षपल पुरुष
कैसे राजा बना रह सकेगा ? ॥ ७ ॥

त्वं तु बालस्वभावश्च बुद्धिहीनश्च राक्षस ।

ज्ञातव्यं तत्र जानीषे कथं राजा भविष्यसि ॥ ८ ॥

‘राक्षस ! तुम्हारा स्वभाव बालको-जैसा है। तुम निरे
बुद्धिमान हो। तुम्हें जाननेयोग्य बातोंका भी ज्ञान नहीं है।
ऐसी दशामें तुम किस तरह राजा बने रह सकोगे ? ॥ ८ ॥

येषां चाराश्च कोशश्च नद्यश्च जयतां धर ।

अस्वाधीना नरेन्द्राणां प्राकृतेस्ते जर्नः समाः ॥ ९ ॥

‘विजयी योगमें श्रेष्ठ निशाचरपते ! जिन नरेशोंके गुप्तचर,
कोश और नदि ये सब अपने अधीन नहीं हैं, वे स्वाधारण
लोगोंके ही समान हैं ॥ ९ ॥

यस्मात् पश्यन्ति दूरस्थान् सर्वानर्थान् नराधिपाः ।

चारेण तस्मादुच्यन्ते रत्नानो दीर्घचक्षुषः ॥ १० ॥

‘गुप्तचरोको महायत्नामें राजालोग दूर दूरके सारे कार्योंकी
देखभाल करते रहते हैं, इसीलिये वे दीर्घदर्शों या दूरदर्शों
कहलाने हैं ॥ १० ॥

अयुक्तचारं मन्ये त्वां प्राकृतैः सचिवैर्युतः ।

स्वजनं च जनस्थानं निहतं नावबुध्यसे ॥ ११ ॥

‘मैं समझती हूँ, तुम गवार मन्त्रियोंसे घिरे हुए हो, तभी
तो तुमने अपने राज्यके भीतर गुप्तचर नहीं तैनात किये हैं।

नुहारे स्वजन मारे गये और जनस्थान उजाड़ हो गया, फिर भी तुम्हें इसका पता नहीं लगा है ॥ ११ ॥

चतुर्दश सहस्राणि रक्षसा धीपकर्षणाम् ।

तान्येकेन रामेण खरश्च सहदृषणः ॥ १२ ॥

ऋषीणामभयं दत्तं कृतक्षेमाश्च दण्डकाः ।

धर्षितं च जनस्थानं रामेणाक्रिष्टकारिणा ॥ १३ ॥

'अकेले रामने, जो अनायास ही महान् कर्म करनेवाले हैं धर्मकर्मी राजाओंकी चीदह हजार सेनाको यमलोक पहुँचा दिया, खर और दृषणके भी प्राण ले लिये, ऋषियोंको भी अभयदान कर दिया तथा दण्डकारण्यमें रक्षसोंको आगमें जो 'विघ्न-बाधाएँ थीं' उन सबको दूर करके वहाँ 'शान्ति' स्थापित कर दी । जनस्थानको तो उन्होंने चीपट हो कर डाला ॥

त्वं तु लुब्धः प्रमत्तश्च पराधीनश्च राक्षस ।

विषये स्वे समुत्पन्नं यद् भयं नावदृध्यसे ॥ १४ ॥

'राक्षस ! तुम तो लोभ और प्रमादमें कैसकर पराधीन हो रहे हो ! अतः अपने ही राज्यमें उत्पन्न हुए भयका तुम्हें कुछ पता तो नहीं है ॥ १४ ॥

नीक्षणमल्पप्रज्ञातारं प्रमत्तं गर्वितं शतम् ।

व्यसने सर्वभूतानि नाधिधावन्ति पार्थिवम् ॥ १५ ॥

जो राजा कठोरतापूर्ण ज्ञानाक्षर अथवा नाथ स्वभावका परिचित होता है, सबकोको बहुत कम वेतन देता है, प्रमादमें पड़ा और गर्वमें भरा रहता है तथा स्वभावसे ही डाढ़ होता है, उसके मकरमें पड़नेपर सभी प्राणी उसके साथ छोड़ देने हैं — उसका गद्गदवापके लिये आगे नहीं बढ़ते हैं ॥ १५ ॥

अतिमानिनमप्रहृष्टात्मसम्भावितं नाम् ।

क्रोधं व्यसने हन्ति स्वजनोऽपि नराधिपम् ॥ १६ ॥

'जो अत्यन्त अधिमान, अपनापनेके अयोग्य, आप ही अपनेको बहुत बड़ा माननेवाला और क्रोधा होता है, उस पर अथवा नरेशको संकटकालमें आनन्द जन भी मार डालते हैं ॥

नानुतिष्ठति कार्याणि भयेषु न विभेति च ।

क्षिप्रं राज्यान्वृत्तो दीनस्तृणस्तुल्यो भवेदिह ॥ १७ ॥

'जो राजा अपने कर्तव्यका पालन अथवा करनेयोग्य कार्याका सम्पादन नहीं करता तथा भयक अवसरोंपर भयभीत (एवं अपनी रक्षाके लिये सावधान) नहीं होता, वह शीघ्र ही राज्यसे भ्रष्ट एवं दीन होकर इस भूतलपर तिनकोंके समान उपेक्षणीय हो जाता है ॥ १७ ॥

शुष्ककार्पुर्ध्वसेत् कार्यं लोष्ठैरपि च पांसुभिः ।

न तु स्थानात् परिभ्रष्टं कार्यं स्याद् वसुधाधिपे ॥ १८ ॥

'लोगोंको सूखे कार्पसोंसे, मिट्टीके ढेलों तथा धूलसे भी कुछ प्रयोजन होता है, किन्तु स्थानभ्रष्ट राजाओंमें उन्हें कोई

प्रयोजन नहीं रहता ॥ १८ ॥

उपभुक्तं यथा वासः स्वजो वा पृदिता यथा ।

एवं राज्यात् परिभ्रष्टः समर्थाऽपि निरर्थकः ॥ १९ ॥

जैसे पहना हुआ वस्त्र और भसलं डाली गयी फूलोंकी मान्द्र दृग्गोंके उपयोगमें आनयोग्य नहीं होती, इसी प्रकार राज्यसे भ्रष्ट हुआ राजा समर्थ होनेपर भी दूसरोंके लिये निरर्थक है ॥ १९ ॥

अप्रमत्तश्च यो राजा सर्वज्ञो विजितेन्द्रियः ।

कृतज्ञो धर्मशालश्च स राजा निष्ठते चिरम् ॥ २० ॥

'परन्तु जो राजा सदा सावधान रहता, राज्यके समस्त कार्याका जानकारी रखता, इन्द्रियोंको वशमें किये रहता, कृतज्ञ, दृग्गोंके उपयोगको माननेवाला, तथा स्वभावसे ही धर्मपरायण होता है, वह राजा बहुत दिनोंतक राज्य करता है ॥ २० ॥

नयनाभ्यां प्रसुप्तो वा जागर्ति नयचक्षुषा ।

व्यक्तक्रोधप्रसादश्च स राजा पूज्यते जनैः ॥ २१ ॥

जो मूढ़ अथवा सोता है, पानु नीतिकी आँखोंमें सदा जागता रहता है तथा जिसके क्रोध और अनुग्रहका फल प्रत्यक्ष प्रकार होता है, उसी राजाको लोग पूजा करते हैं ॥ २१ ॥

त्वं तु रावण दुर्बुद्धिर्गुणैरेतैर्विवर्जितः ।

यस्य नैऽपिदिनश्चरै रक्षसां सुमहान् खड्ग ॥ २२ ॥

'रावण ! तुम्हारे बुद्धि दूषित है और तुम इन सभी गुणोंके गुणोंमें विवर्जित हो, क्योंकि तुम्हें अत्यन्त गुप्तार्थोंकी रक्षा नाम रक्षसोंके इस महान् खड्गका समाचार ज्ञात नहीं हो सका था ॥ २२ ॥

पराधमन्ता विषयेषु सङ्गवान्

न देशकालप्रविभागतत्त्ववित् ।

अयुक्तबुद्धिर्गुणदोषनिश्चये

विपन्नराज्यो न विराद् विपत्त्यसे ॥ २३ ॥

'तुम दूसरोंके अनादर करनेवाले, विषयासक्त और देश कालके विभागको यथार्थरूपसे न जाननेवाले हो, तुमने गुण और दोषके विचार एवं निश्चयमें कभी अपनी बुद्धिको नहीं लगाया है, अतः तुम्हारा राज्य शीघ्र ही नष्ट हो जायगा और तुम स्वयं भी गरी विपत्तिमें पड़ जाओगे ॥ २३ ॥

इति स्वदोषान् परिकीर्तितस्तथा

समीक्ष्य बुद्ध्या क्षणदाचरेश्वरः ।

घनेन दर्पेण बलेन चान्वितो

विविचिन्तयामास चिरं स रावणः ॥ २४ ॥

शूरणांके दृग्गोंके गये अपने दोषोंपर बुद्धिपूर्वक विचार करके धन, अधिमान और बलसे सम्यक् वह निशाचर रावण बहुत देरतक साव-विचित्र एवं चिन्तामें पड़ा रहा ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे त्रयविंश सर्गः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आरण्यकाण्ड आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें त्रयोविंश सर्ग पूरा हुआ ॥ ३३ ॥



चतुस्त्रिंशः सर्गः

रावणके पूछनेपर शूर्पणखाका उससे राम, लक्ष्मण और सीताका परिचय देते हुए सीताको भार्या बनानेके लिये उसे प्रेरित करना

ततः शूर्पणखां दृष्ट्वा ह्रुवन्ती परुषं वचः ।

अमात्यमध्ये संतुष्टः परिपन्नश्च रावणः ॥ १ ॥

शूर्पणखाको उस प्रकार कठोर बात कहना देख मन्त्रियोंके बीचमें बैठे हुए रावणने अत्यन्त क्रुपित होकर पूछा — ॥ १ ॥

कश्च रामः कथंवीर्यः किरूपः किंपराक्रमः ।

किमर्थं दण्डकारण्यं प्रविष्टश्च सुदुस्तरम् ॥ २ ॥

'राम कौन है ? उसका बल कैसा है ? रूप और पराक्रम कैसा है ? अत्यन्त दुस्तर दण्डकारण्यमें उमने किम लिये प्रवेश किया है ? ॥ २ ॥

आयुधं किं च रामस्य येन ते राक्षसा हताः ।

स्वराश्च निहतः संख्ये दूषणस्त्रिशिरास्तथा ॥ ३ ॥

'रामके पास कौन-सा ऐमा अस्त्र है, जिससे वे सब राक्षस मारे गये तथा युद्धमें स्वर, दूषण और त्रिशिराका भी संहार हो गया ॥ ३ ॥

तत्त्वं ब्रूहि मनोजाहि केन त्वं च विरूपिता ।

इत्युक्त्वा राक्षसेन्द्रेण राक्षसी क्रोधयुर्चिन्ता ॥ ४ ॥

'मनोहर अर्द्धवाली शूर्पणखे । तोंक-ठोंक बताओ, किमने तुमने कल्प बनाया है—किमन तुम्हारी रक्त और कान काट डाले हैं ?' राक्षसराज रावणके इस प्रकार पूछनेपर वह राक्षसी क्रोधसे अचंचल-सी हो उठी ॥ ४ ॥

ततो रामं यथान्यायधारणानुपपद्यक्रमे ।

दीर्घबाहुर्विशालाक्षश्चोरकृष्णाजिनाम्बरः ॥ ५ ॥

कन्दर्पसमरूपश्च रामो दशरथात्मजः ।

तदनन्तर उमने श्रीरामका यथावत् परिचय देना आरम्भ किया — भैया । श्रीरामचन्द्र राजा दशरथके पुत्र हैं, उनकी धृताई लची और बड़ी-बड़ी और रूप कामदेवके समान है, वे चार ओर काका मुगधमें घारण करते हैं । ॥ ५ ॥

शक्रव्यापनिर्भं चापं विकृत्य कनकाद्भुजम् ॥ ६ ॥

दीप्तान् क्षिपति नारत्मान् सर्पानिव महाविघ्नान् ।

'श्रीराम इन्द्रधनुषके समान अपने विशाल धनुषके, जिसमें शीनेके छल्ले शीशा दे रहे हैं, शीतकर उसके द्वारा महाविघ्नके सर्पके समान तेजस्वी नगरचोखे वर्षा करते हैं ॥

नाददानं शरान् घोरान् विमुञ्चन्त महाबलम् ॥ ७ ॥

य कार्मुकं विकर्षन्तं रामं पश्यामि संयुगे ।

'वे महाबली हम युद्धस्थलमें कब धनुष खींचते, कब भयंकर शरण हाथमें लेते और कब उन्हें छोड़ते हैं—वह मैं नहीं देख पाती थी ॥ ७ ॥

हन्यमानं तु तर्त्तन्व्यं पश्यामि शरवृष्टिभिः ॥ ८ ॥

इन्द्रेणोद्योतयं सस्यमाहृतं त्वदमर्षाष्टिभिः ।

'उनके बाणोंकी वर्षासे राक्षसोंकी सेना मर रही है—इतना ही मुझे दिखावे देना था जैसे इन्द्र (मेघ) द्वारा बरसाय गये ओलेकी वृष्टिमें अच्छी खेती चौपट हो जाती है, उसी प्रकार रामके बाणोंसे राक्षसोंका विनाश हो गया ॥ ८ ॥

रक्षसां भीमवीर्याणां सहस्राणि चतुर्दश ॥ ९ ॥

निहतानि शरैस्तीक्ष्णैस्तेनैकेन पदातिना ।

अर्घाधिकमुहूर्त्तं स्वराश्च सहदूषणः ॥ १० ॥

ऋषीणामप्ययं दत्तं कृतक्षेमाश्च दण्डकाः ॥ ११ ॥

'श्रीराम अक्लें और पैदल से तो भी उन्होंने डेढ़ मुहूर्त्त (तीन घण्टों) के भीतर ही स्वर और दूषणमहित चौदह हजार भयंकर बलशाली राक्षसोंका तीखे बाणोंसे संहार कर डाला, ऋषियोंको अश्वय दे दिया और समस्त दण्डकवनकी राक्षसोंकी विघ्नवाधासे रहित कर दिया ॥ ९—११ ॥

एका कथंचिन्मुक्ताहं परिभूय महात्मना ।

स्वीचयं शङ्कमानेन रामेण विदितात्मना ॥ १२ ॥

'आत्मज्ञानो महात्मा श्रीरामने स्वीकृत वध हो जानक भयसे एकमात्र मुझ किमो तरह केवल अपमानित करके ही छेड़ दिया ॥ १२ ॥

भ्राता चास्य महातेजा गुणतस्तुल्यविक्रमः ।

अनुक्तश्च भक्तश्च लक्ष्मणो नाम वीर्यवान् ॥ १३ ॥

अमर्षो दुर्जयो जेता विक्रान्तो बुद्धिमान् बली ।

रामस्य दक्षिणो बाहुर्नित्यं प्राणो बहिष्करः ॥ १४ ॥

'उनका एक बड़ा ही तेजस्वी भाई है, जो गुण और पराक्रममें उनका समान है । उसका नाम है लक्ष्मण । वह पराक्रमी और अपने बड़े भाईका प्रेमी और भक्त है, उसकी बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण है, वह अमर्षशील, दुर्जय, विजयी तथा कल्प-विक्रमसे सम्पन्न है । श्रीरामका वह मानो दाहिना हाथ और सदा बाहर विचरनेवाला प्राण है ॥ १३-१४ ॥

रामस्य तु विशालाक्षी पूर्णेन्दुसदृशानना ।

धर्मपत्नी प्रिया नित्यं भर्तुः प्रियहिते रता ॥ १५ ॥

'श्रीरामकी धर्मपत्नी भी उनके साथ है । वह पतिको बहुत प्यारी है और सदा अपने स्वामीका प्रिय तथा हित करनेमें ही लगी रहती है । उसकी अखें विशाल और मुख पूर्ण चन्द्रके समान मनोरम है ॥ १५ ॥

सा सुकेशी सुनासोरुः सुख्या च यशस्विनी ।

देवतेव जनस्यास्य राजते श्रीरिकापरा ॥ १६ ॥

'उसके केश, नासिक, ऊरु तथा रूप बड़े ही सुन्दर तथा मनोहर हैं । वह यशस्विनी राजकुमारी इस दण्डकवनकी

देवी-सौ जान पड़ती है और दूसरे लक्ष्मीक समान शोभा पाती है ॥ १६ ॥

तप्तकाञ्चनवर्णाभा रक्ततुङ्गनस्य शुभा ।

सीता नाम वरारोहा वैदेही तनुमध्यमा ॥ १७ ॥

‘उसका सुन्दर शरीर तपाय हुए सुवर्णकी कान्ति धारण करता है, नख ऊँचे तथा लाल हैं। वह शुभलक्षणासे सम्पन्न है। उसके सभी अङ्ग सुडौल हैं और कटिभाग सुन्दर तथा पतला है। वह विदेहराज अम्बककी कन्या है और सीता उसका नाम है ॥ १७ ॥

नैव देवी न गन्धर्वी न यक्षी न च किनरी ।

तथारूपा मया नारी दृष्टपूर्वा महीतले ॥ १८ ॥

‘देवताओं, गन्धर्वों, यक्षों और किन्नरोंकी स्त्रियामें भी कोई उसके समान सुन्दरी नहीं है। इस भूतलपर वैसे रूपवती नारी मैंने पहले कभी नहीं देखी थी ॥ १८ ॥

यस्य सीता भवेद् भार्या च च हृष्टा परिजनेत् ।

अभिजीवेत् स सर्वेषु लोकेशूपि पुन्दरात् ॥ १९ ॥

‘सीता जिसकी भार्या हो और वह स्वयं धरकर जिसका आलिङ्गन करे समस्त लोकोंमें उसका जीवन इन्द्रमें भी अधिक भाग्यशाली है ॥ १९ ॥

सा सुशीला चतुःश्लाघ्या रूपेणाप्रतिमा भुवि ।

तवानुरूपा भार्या सा त्वं च तस्या पतिर्वरः ॥ २० ॥

‘उसकी शील-स्वभाव बड़ा ही उत्तम है। उसका एक-एक अङ्ग स्तुत्य एवं स्तुतनीय है। उसके रूपकी समानता करनेवाली भूमण्डलमें दूसरी कोई स्त्री नहीं है। वह तुम्हारे योग्य भार्या होगी और तुम भी उसके योग्य श्रेष्ठ पति होओगे ॥ २० ॥

तां तु विस्तीर्णजघनां पीनोत्तुङ्गपयोधराम् ।

भार्यायै तु तवानेतमुद्यताहं वराननाम् ॥ २१ ॥

विरूपितास्मि कुरेण लक्ष्मणेन महाभुज ।

‘महाबाहो! विस्तृत जघन और उठे हुए पुण्ड्र कुन्तीवासी

हृत्पार्थ श्रीभद्रमायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे चतुर्विंशः सर्गः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षगमायणे आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें चौतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३४ ॥

पञ्चविंशः सर्गः

रावणका समुद्रतटवर्ती प्रान्तकी शोभा देखते हुए पुनः मारीचके पास जाना

ततः शूर्पणखावाक्यं श्रुत्वा रोमहर्षणम् ।

सखिवानध्यनुज्ञाय कार्यं बुद्ध्या जगाम ह ॥ १ ॥

शूर्पणखाको ये रोगटे खड़ी कर देनेवाले बातें सुनकर रावण भन्त्रियोंसे मलाह ले अपने कर्तव्यका निश्चय करके बाहरि चला दिया ॥ १ ॥

मत् कार्यमनुगम्यान्तर्यथावदुपलभ्य च ।

शोभायै च गुणानां च सम्प्रधार्य बलाबलम् ॥ २ ॥

उस सुमुखी स्त्रीको जब मैं तुम्हारी भार्या बनानेके लिये ले आनेको उद्यत हुई, तब क्रूर लक्ष्मणने मुझे इस तरह कुत्स कर दिया ॥ २१ ॥

तां तु दृष्ट्वा वैदेही पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ॥ २२ ॥

मन्मथस्य शराणां च त्वं विधयो भविष्यसि ।

‘पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाली विदेहराजकुमारी सीताका देखते ही तुम कामदेवके बाणोंके लक्ष्य बन जाओगे ॥ यदि तस्यामभिप्रायो भार्यात्वे तव जायते ।

शीघ्रमुदधियतां पादो जयार्थमिह दक्षिणः ॥ २३ ॥

‘यदि तुम्हें सीताको अपनी भार्या बनानेकी इच्छा हो तो शीघ्र हो श्रीगणेशके जोत्नक लिये यहाँ अपना दाहिना पैर आगे बढ़ाओ ॥ २३ ॥

रोचने यदि ते वाक्यं ममैतद् राक्षसेश्वर ।

क्रियतां निर्विशङ्केन सचनं मम रावण ॥ २४ ॥

‘राक्षसराज रावण! यदि तुम्हें मेरी यह बात पसंद हो तो निश्चय होकर मेरे कथनानुसार कार्य करो ॥ २४ ॥

विज्ञाप्येषावशक्तिं च क्रियतां च महाबल ।

सीता तस्मानवद्याह्नी भार्यात्वे राक्षसेश्वर ॥ २५ ॥

‘महाबली राक्षसेश्वर! इन राम आदिकी असमर्थता और अपनी शक्ति-का विचार करके सर्वहृन्सुन्दरी सीताको अपनी भार्या बनानेका प्रयत्न करो (उसे हर लोओ) ॥ २५ ॥

विशम्य रामेण शरीरजिह्वारी-

हंनान्नस्थानगतान् निशाचरान् ।

खरं च दृष्ट्वा निहतं च दूषणं

त्वयद्य कृत्यं प्रतिपन्मुपहंसि ॥ २६ ॥

‘श्रीरामने अपने सोधे जानेवाले बाणोंद्वारा अन्धशनिनिग्रामी निशाचरोंको मार डाला और खर तथा दूषणों भी मौतक घात उतार दिया, यह सब सुनकर और देखकर अब तुम्हारा क्या कर्तव्य है इसका निश्चय तुम्हें कर लेना चाहिये ॥ २६ ॥

इति कर्तव्यमित्येव कृत्वा निश्चयमात्मनः ।

स्थिरबुद्धिस्ततो रम्यां यानशालां जगाम ह ॥ ३ ॥

उसने पहले सीताहरणरूपी कार्यपर मन-ही-मन विचार किया। फिर उसके दोषों और गुणोंका यथावत् ज्ञान प्राप्त करके बलाबलका निश्चय किया। अन्तमें यह स्थिर किया कि इस कामका कर्मा ही चाहिये। जब इस बातपर उसकी बुद्धि जम गयी, तब वह रमणीय रथशालामें गया ॥ २-३ ॥

यानशालां सतो गत्वा प्रच्छन्नं राक्षसाधिपः ।

सुतं संचोदयामास रथः सयुज्यतामिति ॥ ४ ॥

गुह्यरूपसे रथशालामें जाकर राक्षसराज रावणने अपने सारथिको यह आज्ञा दी कि 'मेरा रथ जोतकर तैयार करो' ॥

एवमुक्तः क्षणेनैव सारथिलघुविक्रमः ।

रथं संयोजयामास तस्याभिमतमुत्तमम् ॥ ५ ॥

सारथि शीघ्रतापूर्वक कार्य करनेमें कुशल था । रावणकी उपर्युक्त आज्ञा पाकर उसने एक ही क्षणमें उसके मनके अनुकूल उत्तम रथ जोतकर तैयार कर दिया ॥ ५ ॥

कामर्गं रथमास्थाय काञ्चनं रत्नभूषितम् ।

पिशाचवदनैर्युक्तं स्वरः कनकभूषणः ॥ ६ ॥

वह रथ इच्छानुसार चलनेवाला तथा मुष्णमय था । उसे रत्नोंसे विभूषित किया गया था । उसमें सोनक साज बाजांमें सजे हुए गधे जुते थे, जिनका मुख पिशाचोंके समान था । रावण उसपर आरुढ़ होकर चला ॥ ६ ॥

मेघप्रतिमनादेन स तेन धनदानुजः ।

राक्षसाधिपतिः श्रीमान् ययौ नदनदीपतिम् ॥ ७ ॥

वह रथ मेघ-गर्जनके समान गम्भीर घर-घर ध्वनि फैलाना हुआ चलता था । उसके द्वारा वह कुबेरका छोटा भाई श्रीमान् राक्षसराज रावण समुद्रके तटपर गया ॥ ७ ॥

स श्वेतवाल्मीकजनः श्वेतच्छत्रो दशाननः ।

स्निग्धवैदूर्यसंकाशस्तप्तकाञ्चनभूषणः ॥ ८ ॥

दशग्रीवो विशतिभुजो दर्शनीयपरिच्छदः ।

त्रिविशारिर्मुनीन्द्रो दशशीर्ष इवाद्रिराट् ॥ ९ ॥

उस समय उसके लिये सफेद बैलरसे हवा की जा रही थी । सिरके ऊपर श्वेत छत्र तना हुआ था । उसकी अद्भुतान्ति स्निग्ध वैदूर्यपर्णिके समान नीली या काली थी । वह पक्ष सोमके आभूषणोंसे विभूषित था । उसके दस मुख दस कण्ठ और बीस भुजाएँ थीं । उसके वस्त्राभूषण आदि अन्य तपकरण भी देखने में योग्य थे । देवताओंका शत्रु और मुनीश्वरोंका हत्याया वह निशाचर दस शिखरोंवाले पर्वतगर्जक समान प्रतीत होता था ॥ ८-९ ॥

कामर्गं रथमास्थाय शुशुभे राक्षसाधिपः ।

विद्युन्मण्डलवान् मेघः स्वलाक इवाम्बरे ॥ १० ॥

इच्छानुसार चलनेवाले उस रथपर अरुद्ध हो राक्षसराज रावण आकाशमें विद्युन्मण्डलसे घिरे हुए तथा चक्रपल्लवमें सुशोभित मेघके समान शोभा पा रहा था ॥ १० ॥

सशीलसागरानूयं वीर्यवानवलोकयन् ।

नानापुष्पफलेर्वक्षैरनुकीर्णं सहस्रशः ॥ ११ ॥

शीतमङ्गलतोयाभिः पद्मिनीभिः समन्ततः ।

विशालैराश्रमपदैर्वेदिपट्टिरलंकृतम् ॥ १२ ॥

पराक्रमी रावण पर्वतगुह्य समुद्रके तटपर पहुँचकर उसका शोभा देखने लगा । सागरका वह किनारा नाना प्रकारके

फल-फूलवाले सहस्रों वृक्षांसे व्याप्त था । चारों ओर मङ्गलवासी शीतल बलसे भरी हुई पुष्करिणीयाँ और ब्रह्मिकाओंमें मण्डित विशाल आश्रम उस सिन्धुतटकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ ११-१२ ॥

कदल्यटविसंशोभे नारिकेलोपशोभितम् ।

सालैस्तालैस्तमालैश्च तरुभिश्च सुपुष्पितैः ॥ १३ ॥

कहीं कदलावन और कहीं नारियलके कुञ्ज शोभा दे रहे थे । साल, ताल, तमाल तथा सुन्दर फूलोंसे भरे हुए दूसरे दूसरे वृक्ष उस तटप्रान्तको अलंकृत कर रहे थे ॥ १३ ॥

अत्यन्तनियताहारैः शोभितं परमर्षिभिः ।

नागैः सुपर्णैर्गन्धर्वैः किन्नरैश्च सहस्रशः ॥ १४ ॥

अत्यन्त नियमित आहार करनेवाले बड़े-बड़े महर्षियों, नागों, सुपर्ण (गरुडों), गन्धर्वों तथा सहस्रों किन्नरोंसे भी उस स्थानको बढ़ी शोभा हो रही थी ॥ १४ ॥

जितकामैश्च सिद्धैश्च चारणैश्चोपशोभितम् ।

आजैर्वैखानसेर्मर्षिर्वालखिल्यैर्मरीचिपैः ॥ १५ ॥

कामविजयी सिद्धों, चारणों ब्रह्माज्जोंके पुत्रों, वानप्रस्थों, माय गोत्रमें उत्पन्न मुनियों, वालखिल्य महात्माओं तथा कंकल मूर्ख-किष्काका पान करनेवाले तपस्वीजनोंसे भी वह सागरक तटप्रान्त सुशोभित हो रहा था ॥ १५ ॥

दिव्याभरणमाल्याभिर्दिव्यरूपाधिरावृतम् ।

कीडारतविधिजाभिरप्सरोभिः सहस्रशः ॥ १६ ॥

संवितां देवपत्नीभिः श्रीमतीभिरुपासितम् ।

देवदानवसङ्घैश्च चरितं त्वमृताशिभिः ॥ १७ ॥

दिव्य आभूषणों और पुष्पमालाओंको धारण करनेवाली तथा क्रौञ्च-विहारकी विधिकों जाननेवाली सहस्रों दिव्य-रूपिणी अप्सराएँ वहाँ सब ओर विचर रही थीं । कितनी ही शोभाशालिनी दम्पतीनाएँ उस सिन्धुतटकी संघन करती हुई आस-पास चंडी थीं । देवताओं और दानवोंके समूह तथा अमृतभाजों देवगण वहाँ विचर रहे थे ॥ १६-१७ ॥

हंसक्रीडप्रवाकीर्णं सारसैः सम्प्रसादितम् ।

वैदूर्यप्रस्तरं स्निग्धं सान्द्रं सागरतेजसा ॥ १८ ॥

सिन्धुतट वह तट समुद्रके तटमें उसकी तरङ्गमालाओंके मध्दमें स्निग्ध एवं शीतल था । वहाँ हंस क्रीड़ा तथा मेढक मव ओर फैले हुए थे और सारस उसकी शोभा बढ़ा रहे थे । उस तटपर वैदूर्यपर्णिके सद्गुण श्याम रंगके प्रस्तर दिस्वावी देते थे ॥ १८ ॥

पाण्डुराणि विशालानि दिव्यमाल्यधृतानि च ।

तूर्यगीताभिजुष्टानि विमानानि समन्ततः ॥ १९ ॥

नपसा जितलोकानां कामगान्धमिसम्पतन् ।

गन्धर्वाप्सरसश्चैव ददर्श धनदानुजः ॥ २० ॥

आकाशमार्गसे यात्रा करते हुए कुबेरके छोटे भाई रावणने दृष्टमें सब ओर बहुत-से श्वेत वर्णक विमानों, गन्धर्वों तथा

अप्सराओंको भी देखा। वे इच्छानुसार चलनेवाले विशाल विमान उन पुण्यात्म पुरुषोंके थे, जिन्होंने तपस्यामें पुण्यात्मकोंपर विजय पायी थी। इन विमानोंके दिव्य पुष्पोंमें सजाया गया था और उनके भीतरसे गीत-वाद्यकी ध्वनि प्रकट हो रही थी ॥ २९-३० ॥

निर्घासरसमूलानां चन्दनानां सहस्रशः ।

वनानि पश्यन् सौम्यानि घ्राणतृप्तिकराणि च ॥ २१ ॥

आगे बढ़नेपर उसने, जिनकी अङ्गोंमें गोंद निकलने हुए थे ऐसे चन्दनोंके सहस्रों वन देखे, जो बड़े ही सुहावने और अपनी सुगन्धसे नासिकाओं को तृप्त करनेवाले थे ॥ २१ ॥

अगुरुष्णां च मुख्यानां वनान्युपवनानि च ।

नकोलानां च जात्यानां फलिनां च मृगानिनाम् ॥ २२ ॥

पुष्पाणि च तमालस्थ गुल्मगानि परिचक्ष्य च ।

मुक्तानां च समूहानि शुष्यमाणानि तौरतः ॥ २३ ॥

शीलानि प्रवरोक्ष्य प्रवालनिचयान्मया ।

काञ्चनानि च शुङ्गाणि राजतानि मर्धव च ॥ २४ ॥

प्रसरवाणि मनोज्ञानि प्रमत्तान्यङ्गुतानि च ।

धनधान्योपपन्नानि स्त्रीरत्नराष्ट्रानि च ॥ २५ ॥

हस्त्यध्वरथगाढानि नगराणि विलोकयन् ।

कहीं श्रेष्ठ अगुरुष्ण वन थे, कहीं उत्तम जालिके सुगन्धित फलवाले तमालों (सफ़ाबिजा) के उपवन थे। कहीं तमालोंके फूल खिलने हुए थे। कहीं गोमय चिन्तकरी झाड़ियाँ शाख जाली थीं और कहीं समूहके नटपर दूर क दूर भी न गये रहते थे। वहाँ श्रेष्ठ पर्वतमांसादि, इतने मत्स्यकी रसिद्रव्याँ कहीं स्वाने वाशोंके शिखर तथा कहीं सुग्ग अरुधन आदि न्यक्छ पत्तोंके झरने दिखाने देते थे। कहीं धन-धान्यमयपक्ष, खो-रक्षासे भरे हुए तथा बाथों, छोटे और बड़ेमें आदि नगर दुर्गमोच्चर हात थे। इन सबको देखना हुआ गणेश आगे बढ़ा ॥ २२—२५ ॥

ते समे सर्वतः स्निग्धं मृदुसंस्पर्शमास्त्रम् ॥ २६ ॥

अनूपे सिन्धुराजस्य ददर्श त्रिनिवोपमम् ।

फिर उसने सिन्धुराजके तन्पर एक ऐसा स्थान देखा, जो सर्वाधिक समान वनादर, भव आदिमें समन्त और स्निग्ध था। वहाँ मन्द-मन्द वायु चलने लगी, जिसका स्पर्श बहुत कोमल माने पहला था ॥ २६ ॥

नत्रापश्यन् स मेघार्थं न्यग्रोधं मुनिभिर्वृतम् ॥ २७ ॥

मयक्काद् यस्य सा शारदा शनयोऽवनमायताः ।

वहाँ सागरतटपर एक शरणादकी वृक्ष निवृत्त स्थान में अपूर्ण भोगे छायाके कारण मेघोंके समान भवने जना था। उसके नीचे चारों ओर पूर्ण निवास करने थे। उस वृक्षको मयसिद्ध शरणाएँ चारों ओर सी योजनोत्तक फैली हुई थीं ॥

यस्य हस्तिनमादाय महाकार्यं च कच्छपम् ॥ २८ ॥

भक्षार्थं गरुडः शास्त्रमाजगाम महाबलः ।

यह वहाँ वृक्ष था, जिसकी शाखापर किसी समय महाबली गरुड एक विशालकाय हाथी और कछुएको लेकर उन्हे खानेके लिये आ बैठा था ॥ २८ ॥

तस्य तां सहसा शाखां धारेण पतंगोत्तमः ॥ २९ ॥

सुपर्णः पर्वतह्रस्वो बभूवुः प्रहस्यतः ।

पक्षियोंमें श्रेष्ठ महाबली गरुडने बहुसंस्थक पतोंसे घरी हुई उस शाखाको सहसा अपने भारसे तोड़ डाला था। तब वैश्वानरसा माया बालरिखल्या परीचिपाः ॥ ३० ॥

आजा बभूवुर्धुम्राश्च संगताः परमर्षयः ।

उस शाखाके नीचे बहुत-से वैश्वानरस, माया, बालरिखल्या, मर्षादिप (सूर्य किरणोंका पान करनेवाले), ब्रह्मपुत्र और धूम्रप सजावाले महर्षि एक साथ रहते थे ॥ ३० ॥

तेषां दयार्थं गरुडस्तां शाखां शतयोजनाम् ॥ ३१ ॥

धाम्नामादाय वेगेन तौ द्यौर्धौ गजकच्छपौ ।

एकधाटन धर्मात्मा भक्षयित्वा पदामिषम् ॥ ३२ ॥

निषादविषयं हत्वा शाखया पतंगोत्तमः ।

प्रहर्षमनुल लेभे प्रोक्षयित्वा महामुनीन् ॥ ३३ ॥

उत्तर दया करके उनके जीवनकी रक्षा करनेके लिये पक्षियोंमें श्रेष्ठ धर्मात्मा गरुडने उस टूटी हुई सी योजन लंबी शाखा को उतार डाला तथा कछुएको भी वेगपूर्वक एक ही पतने पकड़ लिया तथा आकाशमें ही उन दोनों जंतुओंके भयम प्रकाश फैली हुई उस डालोंके द्वारा निषाद देशका संहार कर डाला। उस समय पृथ्वीके महामुनियोंको मृत्युके संकटसे बचा लेनेसे गरुडको अनुपम हर्ष प्राप्त हुआ ॥ ३१—३३ ॥

स तु तेन प्रहर्षेण द्विगुणोक्तविक्रमः ।

अमृतानयनार्थं च चकार मतिमान् मतिम् ॥ ३४ ॥

उस मरुतु हर्षसे बुद्धिमान् गरुडका पराक्रम हुआ हो गया और उन्होंने अमृत ले आनेके लिये पक्ष निक्षय कर लिया ॥ ३४ ॥

अयोनालानि निर्यध्य भित्त्वा रत्नगृहं वरम् ।

महेन्द्रधवनाद् गुप्ताजहारामृतं ततः ॥ ३५ ॥

तन्मृच्छान् इन्द्रलोकमें जाकर उन्होंने इन्द्रधवनकी उन जालिका को तोड़ डाला, जो लाहकी माँकियोंसे बनी हुई थी। फिर स्त्रीरहित श्रेष्ठ धवनको नष्ट-श्रेष्ठ करके वहाँ छिपाकर रखे हुए अमृतको वे महेन्द्रधवनसे हर लाये ॥ ३५ ॥

ते महर्षिगणैर्जुष्टं सुपर्णकृतलक्षणम् ।

नात्रा सुभद्रं न्यग्रोधं ददर्श धनदानुजः ॥ ३६ ॥

गरुडके द्वारा तोड़ी हुई डालोंके सह चिह्न उस वरगदमें उन समय भी मौजूद था। उस वृक्षका नाम था सुभद्रवट। बहुत-से महर्षि उस वृक्षको छायामें निवास करते थे। वृक्षके छोटे भाई खणने उस वटवृक्षको देखा ॥ ३६ ॥

ते तु गत्वा परं पारं समुद्रस्य नदीपतेः ।

ददर्शभ्रममेकान्ते पुण्ये रम्ये वनान्तरे ॥ ३७ ॥

नदियोंके स्वामी समुद्रके दूसरे तटपर जाकर उसने एक रमणीय वनके भीतर पवित्र एवं एकान्तस्थानमें एक आश्रमका दर्शन किया ॥ ३७ ॥

तत्र कृष्णाजिनधरं जटामण्डलधारिणम् ।

ददर्श नियताहारं भारीचं नाम राक्षसम् ॥ ३८ ॥

वहाँ शरीरमें काला मृगचर्म और सिरपर जटाओंका समूह धारण किये नियमित आहार करते हुए भारीच नामक राक्षस निवास करता था । रावण वहाँ जाकर उससे मिला ॥ ३८ ॥

स रावणः समागम्य विधिवत् तेन राक्षसा ।

भारीचेनार्चितो राजा सर्वकामैरमानुयैः ॥ ३९ ॥

मिलनेपर उस राक्षस भागेचने सब प्रकारके अलौकिक कामनीय पदार्थ अर्पित करके राजा रावणका विधिपूर्वक आतिथ्य-सत्कार किया ॥ ३९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽष्टमकाण्डे षट्त्रिंशः सर्गः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके अष्टमकाण्डमें षट्त्रिंशः सर्ग पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशः सर्गः

रावणका भारीचसे श्रीरामके अपराध बताकर उनकी पत्नी सीताके अपहरणमें सहायताके लिये कहना

भारीच श्रूयतां तात वचनं मम भाषतः ।

आतर्तोऽस्मि मम चार्तस्थ ध्यान् हि परमा गतिः ॥ १ ॥

'तात भारीच ! मैं सब बता रहा हूँ । मेरी बात सुनो । इस समय मैं बहुत दुःखी हूँ और इस दुःखकी अवस्थामें तुम्हों मुझे सबसे बढ़कर सहाय देनेवाले हो ॥ १ ॥

जानीये त्वं जनस्थानं भ्राता यत्र खरो मम ।

दूषणश्च महाबाहुः स्वसा शूर्पणखा च ये ॥ २ ॥

त्रिशिराश्च महाबाहुः राक्षसः पिशिताशनः ।

अन्ये च बहवः शूरा लब्धलक्षा निशाचराः ॥ ३ ॥

'तुम जनस्थानको जानते हो, जहाँ मेरा भाई खर, महाबाहु दूषण, मेरी बहिन शूर्पणखा, मानभाजो राक्षस महाबाहु त्रिशिरा तथा और भी बहुत से लक्ष्यबंधमें कुशल शूरोर निशान्तर रहा करते थे ॥ २-३ ॥

वसन्ति भद्रियोगेन अधिवासं च राक्षसाः ।

बाधयाना महारण्ये मुनीन् ये धर्मचारिणः ॥ ४ ॥

'वे सभी राक्षस मेरी आज्ञामें वहाँ भर बनाकर रहते थे और उस विशाल वनमें जो धर्माचरण करनेवाले मुनि थे, उन्हें मत्ताया करते थे ॥ ४ ॥

चतुर्दश सहस्राणि राक्षसां भीमकर्मणाम् ।

शूराणां लब्धलक्षाणां खरचित्तानुवर्तिनाम् ॥ ५ ॥

'वहाँ खरके भनका अनुसरण करनेवाले तथा युद्ध-विषयक उत्साहसे सम्पन्न चौदह हजार शूरोर राक्षस रहते थे, जो धर्मकर कर्म करनेवाले थे ॥ ५ ॥

तं स्वयं पूजयित्वा च भोजनेनोदकेन च ।

अर्धोपहितया वाचा मारीचो वाक्यमब्रवीत् ॥ ४० ॥

अब और जलसे स्वयं उसका पूर्ण सत्कार करके मारीचने प्रयोजनको कर्तें पूछते हुए उससे इस प्रकार कहा— ॥ ४० ॥

कश्चित् कुशलं राजल्लङ्कायां राक्षसेश्वर ।

केनार्थेन पुनस्त्वं वै तूर्णमेव इहागतः ॥ ४१ ॥

राजन् ! तुम्हारा लङ्कामें कुशल तो है ? राक्षसराज ! तुम किस कामके लिये पुनः इतनी जल्दी यहाँ आये हो ? ॥

एवमुक्ते ब्रूतेजा मारीचेन स रावणः ।

ततः पञ्चादिदं वाक्यमब्रवीद् वाक्यकोविदः ॥ ४२ ॥

मारीचके इस प्रकार पूछनेपर बातचीत करनेमें कुशल महामेजस्वी रावणने उससे इस प्रकार कहा— ॥ ४२ ॥

ते त्विदानीं जनस्थाने वसमाना महाबलाः ।

सङ्गताः परमायत्तो रामेण सह संयुगे ॥ ६ ॥

'जनस्थानमें निवास करनेवाले जितने महाबली राक्षस थे, वे सब-के-सब उस समय अच्छी तरह सज्ज होकर युद्धक्षेत्रमें रामके साथ आ भिड़ें थे ॥ ६ ॥

नानाशस्त्रप्रहरणाः खरप्रमुखराक्षसाः ।

तेन संजातरोचेण रामेण रणमूर्धनि ॥ ७ ॥

अनुक्त्वा परुषं किञ्चिच्छरैर्व्यापारितं धनुः ।

ये खर आदि राक्षस नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार करनेमें कुशल थे परन्तु युद्धके मुहानेपर राममें भरो हुए भ्रामरने अपने मुँहमें काई कड़वों बात न कहकर बाणोंके साथ धनुषका ही व्यापार आरम्भ किया ॥ ७ ॥

चतुर्दश सहस्राणि राक्षसामुग्रतेजसाम् ॥ ८ ॥

निहतानि शरैर्दीप्तिर्मानुषेण पदातिना ।

खरश्च निहतः संख्ये दूषणश्च निपातितः ॥ ९ ॥

हत्वा त्रिशिरसं चापि निर्भया दण्डकाः कृताः ।

'पैदल और मनुष्य होकर भी रामने अपने दमकते हुए बाणोंमें भयंकर तेजवाले चौदह हजार राक्षसोंका विनाश कर दाला और उसी युद्धमें खरको भी मौतके घाट उतारकर दूषणको भी मार गिराया । साथ ही त्रिशिराका वध करके उसने दण्डकाण्यको दूसरोंके लिये निर्भय बना दिया ॥

पित्रा निरस्तः क्रुद्धेन सभार्यः क्षीणजीवितः ॥ १० ॥

स हन्ता तस्य सैन्यस्य रामः क्षत्रियपांसनः ।

‘उसके पिताने कुपित होकर उसे पत्नीसहित घरसे निकाल दिया है। उसका जीवन क्षीण हो चला है। यह क्षत्रियकुल-कलङ्क राम ही उस एक्षस-सेनाका घातक है ॥ १० ॥
अशीलः कर्कशस्तीक्ष्णो मुखो लुब्धोऽजिनेन्द्रियः ।
त्यक्तधर्मा स्वधर्मात्मा भूतानामहिने रतः ।
येन वीरं विनारण्ये सत्यमास्थाय केवलम् ॥ १२ ॥
कर्णनासापहारेण घृणिनी मे विरूपिता ।
अस्य भार्या जनस्थानात् सीता सुरसुनोपमाम् ॥ १३ ॥
आनयिष्यामि विक्रम्य सहायस्तत्र मे भवः ।

‘यह शैलरहित क्रूर, लोखे स्वभाववाला, मुख, लोभा अजिनेन्द्रिय, धर्मत्यागी, अधर्मात्मा और समस्त प्राणियोंके अहितमे तत्पर रहनेवाला है। जिम्मे बिना किसी वीर-विरोधके केवल बलका आश्रय ले मेरी बहिनके नाक-कान काटकर उसका रूप बिगाड़ दिया, उसमे बटला लेनेके लिये मैं भी उसकी देख-कन्याके समान सुन्दरी गनी सीताको जनस्थानसे बलपूर्वक हर लूँगा। तुम उस कार्यमें मेरी सहायता करो ॥ १०-१३ ॥
त्वया ह्यहं सहायेन पार्श्वस्थेन महाबल ॥ १४ ॥
भ्रातृभिश्च सुरान् सर्वान् नाहमत्राभिचिन्तये ।

तत्सहायो भव त्वं ये समर्थो ह्यसि राक्षस ॥ १५ ॥
‘महाबली राक्षस । तुम-जैसे पार्श्वस्थों सहायकके और अपने भाइयोंके बलपर ही मैं समस्त देवताओंकी यातनाई परवा नहीं करता, अतः तुम मेरे सहायक हो जाओ; क्योंकि तुम मेरी सहायता करनेमें समर्थ हो ॥ १४-१५ ॥
वीर्यं युद्धे च द्रव्यं च न ह्यस्ति सदृशस्तव ।
उपायतो महाज्युरो यहाधायारविशारदः ॥ १६ ॥

‘पराक्रममें युद्धमें और वीर्यवाने अभियानमें तुम्हारे समान कोई नहीं है। नाना प्रकारके उपाय बनानेमें भी तुम बड़े बहादुर हो। बड़ी-बड़ी मायाओंका प्रयोग करनेमें भी विद्वान् कहलाओगे ।
एतदर्धमहं प्राप्तस्त्वस्समीपं निशाचर ।
भृणुतत् कर्म साहाय्ये यत् कार्यं वचनान्तरम् ॥ १७ ॥
‘निशाचर । इसीलिये मैं तुम्हारे पास आया हूँ। सहायताके लिये मेरे कथनानुसार तुम्हें कौन-सा काम करना है वह भी सुनो ।
सीवर्णस्त्वं मृगो धृत्वा त्रिजो रजतचिन्दुभिः ।
आक्षेपे तस्य रामस्य सीतायाः प्रमुखे चर ॥ १८ ॥

‘तुम भौनेके बने हुए मृग-जैसा रूप धारण करके

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अरण्यकाण्डे सप्तत्रिंशः सर्गः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्याभारतके अरण्यकाण्डमें छत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशः सर्गः

मारीचका रावणको श्रीरामचन्द्रजीके गुण और प्रभाव बताकर सीताहरणके उद्योगसे रोकना

तच्चुत्वा राक्षसेन्द्रस्य वाक्यं वाक्यविशारदः ।

प्रत्युवाच महातेजा मारीचो राक्षमंश्वरम् ॥ १ ॥

रजतमय चिन्दुओंमें युक्त चितकखरे हो जाओ और रामके आश्रममें सीताके सामने चिचरो ॥ १८ ॥

त्वां तु निःसंशयं सीतां दृष्ट्वा तु मृगरूपिणम् ।

गृह्णामिति भर्तारं लक्ष्मणं चापिद्यास्यति ॥ १९ ॥

‘विचित्र मृगके रूपमें तुम्हें देखकर सीता अवश्य ही अपने पति रामसे तथा लक्ष्मणसे भी कहेगी कि आपलोग इसे पकड़ लावे ॥ १९ ॥

ततस्तयोरपाये तु शुन्ये सीतां यथासुखम् ।

निराबाधो हरिष्यामि राहुश्चन्द्रप्रभायिव ॥ २० ॥

‘जब मैं दोनों तुम्हें पकड़नेके लिये दूर निकल जाऊँगे, तब मैं बिना किसी विघ्न बाधाके सुने आश्रमसे सीताको उसी तरह सुखपूर्वक हर लूँगा, जैसे राहु चन्द्रमाकी प्रभाका अपहरण कर लेता है ॥ २० ॥

ततः पश्चान् सुखं रामे धार्याहरणकश्चिति ।

विभ्रमं प्रहरिष्यामि कृतार्थेनान्नरात्मना ॥ २१ ॥

‘उसके बाद सीताका अपहरण हो जानेसे जब राम अत्यन्त दुखी और दुर्बल हो जायगा, उस समय मैं निर्भय हो सुखपूर्वक उसका ऊपर कृतार्थचिन्तसे प्रहार करूँगा ॥ २१ ॥

तस्य रामकश्चां श्रुत्वा चारीषस्य महात्मनः ।

शुक्लं समभवद् दक्षं पत्रिस्तो बभूव च ॥ २२ ॥

रावणक मुखसे श्रीरामचन्द्रजीकी धर्चा सुनकर महात्मा मारीचका मुह मुख गया। वह धमसे धारा उठा ॥ २२ ॥

ओष्ट्री परिलिहज्शुष्की नेत्रैरनिमिषैरिव ।

पृतभूत इवातंसु रावणं समुर्दक्षत ॥ २३ ॥

‘वह अपलक नेत्रोंमें देखता हुआ अपने सूखे आँठोंको खटने लगा। उस इतना दुःख हुआ कि वह मुँदा रा दिखायो देने लगा। उसी अवस्थामें उसने रावणकी ओर देखा ॥

स रावणं ब्रह्मविषण्वन्तं

महावने राघवपराक्रमज्ञः ।

कृताञ्जलिस्तत्त्वमुवाच वाक्यं

हितं च तस्मै हितमात्मनश्च ॥ २४ ॥

‘उसे महान् वनमें श्रीरामचन्द्रजीके पराक्रमका ज्ञान हो चुका था; इसलिये वह मन-ही-मन अत्यन्त धन्यभीत और दुःखी हो गया तथा साथ जोड़कर रावणमें यथार्थ वचन बोला। उसकी वह बात रावणक तथा अपने लिये भी हितकर थी ॥



सप्तत्रिंशः सर्गः

मारीचका रावणको श्रीरामचन्द्रजीके गुण और प्रभाव बताकर सीताहरणके उद्योगसे रोकना

तच्चुत्वा राक्षसेन्द्रस्य वाक्यं वाक्यविशारदः ।

प्रत्युवाच महातेजा मारीचो राक्षमंश्वरम् ॥ १ ॥

राक्षसाज रावणकी पूर्वोक्त बात सुनकर बातचीत करनेमें कुशल महातेजस्वी मारीचने उसे इस प्रकार उत्तर दिया— ॥

सुलभाः पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः ।

अप्रियस्य च पथ्यस्य यत्ता श्रोता च दुर्लभः ॥ २ ॥

'राजन् ! सदा प्रिय कचन बोलनेवाले पुरुष तो सर्वत्र सुलभ होते हैं, परंतु जो अप्रिय होनेपर भी हिन्कर तो, ऐसी बातके कहने और सुननेवाले दोनों ही दुर्लभ हैं ॥ २ ॥

न नूनं बुध्यसे रामं महावीर्यगुणोन्नतम् ।

अयुक्तचारश्चपलो महेन्द्रवरुणोपमम् ॥ ३ ॥

'तुम कोई गुप्तचर तो रखते नहीं और तुम्हारा हृदय भी बहुत ही चञ्चल है, अतः निश्चय ही तुम श्रीरामचन्द्रजीके बिल्कुल नहीं जानते। वे परक्रमोक्ति गुणोंमें बहुत बड़े-बड़े तथा इन्द्र और वरुणके समान हैं ॥ ३ ॥

अपि स्वस्ति भवेत् तात सर्वेषामपि रक्षसाम् ।

अपि रामो न संकुप्यः कुर्याल्लोकानराक्षसान् ॥ ४ ॥

'सात । मैं तो यहो चाहता हूँ कि समस्त राक्षसोंका कल्याण हो। कहीं ऐसा न हो कि श्रीरामचन्द्रजी अत्यन्त कुपित हो समस्त लोकोंको राक्षसोंमें शून्य कर दें ? ॥ ४ ॥

अपि ते जीवितान्ताय नोत्पन्ना जनकात्मजा ।

अपि सीतानिमित्तं च न भवेद् व्यसनं महत् ॥ ५ ॥

'जनकान्दनी सीता तुम्हारे जीवनका अन्त करनेके लिये तो नहीं उत्पन्न हुई है ? कहीं ऐसा न हो कि मौनके कारण तुम्हारे ऊपर कोई बहुत बड़ा मझूट आ जाय ? ॥ ५ ॥

अपि त्वापीधरं प्राप्य कामधूतं निरङ्कुशम् ।

न विनश्येत् पुरी लङ्का स्वया सह सराक्षसा ॥ ६ ॥

'तुम-जैसे स्वेच्छाचारी और उत्कृष्ट राजाको पाकर लङ्कापुरी तुम्हारे और राक्षसोंके साथ ही नष्ट न हो जाय ? ॥

त्वद्विधः कामधूतो हि दुःशीलः पापमन्त्रितः ।

आत्मानं स्वजनं राष्ट्रं स राजा हन्ति दुर्मतिः ॥ ७ ॥

'जो राजा तुम्हारे समान दुग्धाय, स्वेच्छाचारी पापपूर्ण विचार रखनेवाला और खोटी बुद्धिवाला होता है, वह अपना, अपने स्वजनोंका तथा मनुष्य राष्ट्रका भी विनाश कर डालता है ॥ ७ ॥

न च पित्रा परित्यक्तो नामर्यादः कथंचनः ।

न लुब्धो न च दुःशीलो न च क्षत्रियपीडनः ॥ ८ ॥

'श्रीरामचन्द्रजी न तो पिताद्वारा त्यागे या निकाले गये हैं, न उन्होंने धर्मकी मर्यादाका किसी तरह त्याग किया है, न वे लोभी, न दूषित आचार-विचारवाले और न क्षत्रियकुलकलङ्क ही हैं ॥ ८ ॥

न च धर्मगुणैर्हीनः कौसल्यानन्दवर्धनः ।

न च तीक्ष्णो हि भूतानां सर्वभूतहिते रतः ॥ ९ ॥

'कौसल्याका आनन्द बहानेवाले श्रीराम धर्मसम्बन्धी गुणोंमें हीन नहीं हुए हैं। उनका स्वभाव भी किन्ना प्राणोंके प्रति शांति नहीं है। वे सदा समस्त प्राणियोंके हितमें ही तत्पर रहते हैं ॥ ९ ॥

वञ्चितं पितरं दृष्ट्वा कैकेय्या सत्यवादिनम् ।

कश्चिदप्यपीति घर्मात्मा ततः प्रव्रजितो यनम् ॥ १० ॥

'रानी कैकेयीने पिताको धोखेमें डालकर मैं वनवासका चर मोह लिया—यह देखकर घर्मात्मा श्रीरामने मन-ही-मन यह निश्चय किया कि मैं पिताको सत्यवादी बनाऊँगा (उनके दिव हुए घर या बचनको पुरा करूँगा); इस निश्चयके अनुसार वे स्वयं ही बनको चल दिये ॥ १० ॥

कैकेय्याः प्रियकामार्थं पितुर्दशस्थस्य च ।

हित्वा राज्यं च भोगांश्च प्रविष्टो दण्डकावनम् ॥ ११ ॥

'माना कैकेयी और पिता राजा दशरथका प्रिय करनेकी इच्छासे ही वे स्वयं राज्य और भोगोंका परित्याग करके दण्डकवनमें प्रविष्ट हुए हैं ॥ ११ ॥

न रामः कर्कशस्तात माविहान् नाजितेन्द्रियः ।

अनृतं न झुतं धैव नैव त्वं यत्तुमर्हसि ॥ १२ ॥

'सात । श्रीराम कुर नहीं हैं वे मूर्ख और अजितेन्द्रिय भी नहीं हैं। श्रीराममें मिथ्याभाषणका दोष मैंने कभी नहीं सुना है, अतः उनके विषयमें तुम्हें ऐसी उल्टी बातें कभी नहीं कहनी चाहिये ॥ १२ ॥

रामो विग्रहवान् धर्मः साधुः सत्यपराक्रमः ।

राजा सर्वस्य लोकस्य देवानामिव वामनः ॥ १३ ॥

'श्रीराम धर्मके मूर्तिमान् स्वरूप हैं। वे साधु और मन्त्रपराक्रमी हैं। जैसे इन्द्र समस्त देवताओंके अधिपति है उसी प्रकार श्रीराम भी सम्पूर्ण जगत्का राजा हैं ॥ १३ ॥

कथं नु तस्य वैदेहीं रक्षितां स्वेन तेजसा ।

इच्छसे प्रसभं हनु प्रभामिव विवस्वनः ॥ १४ ॥

'उनकी पत्नी विदेहराजकुमारी सीता अपने ही पातिशत्रुके नेत्रोंमें सुरक्षित हैं। जैसे सूर्यकी प्रभा उग्रसे अलग नहीं की जा सकती, उसी तरह सीताको श्रीरामसे अलग करना असम्भव है। ऐसा दशमें तुम बलपूर्वक उनका अपहरण कैसे करना चाहते हो ? ॥ १४ ॥

शरार्चिषयमार्थं चापखण्डेन्धनं रणे ।

रामाग्निं सहसा दीप्तं न प्रवेष्टुं त्वमर्हसि ॥ १५ ॥

'श्रीराम प्रज्वलित अग्निके समान हैं। बाण ही ठम अग्निके त्वाका है। धनुष और खड्ग ही उसके लिये ईंधनका काम करते हैं। नुम्हें युद्धके लिये सहसा उस अग्निमें प्रवेश नहीं करना चाहिये ॥ १५ ॥

धनुर्व्यादिनदीप्रास्यं शरार्चिषयमर्धणम्

चापबाणधरं तीक्ष्णं शत्रुसेनापहारिणम् ॥ १६ ॥

राज्यं सुखं च संत्यज्य जीवितं चेष्टमात्मनः ।

नात्यासादयितुं तात रामान्तकमिहार्हसि ॥ १७ ॥

'सात । धनुष ही जिसका फैला हुआ दीप्तिमान् मुख है और बाण ही प्रचा है, जो अमर्षमें भरा हुआ है, धनुष और बाण धरण किये खड़ा है, रोषवश तीव्र स्वभावका परिचय

दता है और शत्रुसनाक प्राण लेनेमें समर्थ है, उस समयको चमराजक पास तुम्हें यहाँ अपने राज्यमुख और ध्यान प्राणोंका मोह छोड़कर सहसा नहीं जाना चाहिये ॥ १६ ॥ १७ ॥

अप्रमेयं हि तत्तेजो यस्य सा जनकात्मजा ।

न त्वं समर्थस्सा हर्तुं रामचापाश्रयी चने ॥ १८ ॥

'जनकाकिशोरी सीता जिनकी धर्मपत्नी है, उनका तेज अप्रमेय है। श्रीरामचन्द्रजीका धनुष उनका आश्रय है, अतः तुममें इतनी शक्ति नहीं है कि उसमें उनका अपहरण कर सको ॥ १८ ॥

तस्य च नरसिंहस्य सिंहोष्कस्य भाषिणी ।

प्राणेभ्योऽपि प्रियतरा भार्या नित्यमनुव्रता ॥ १९ ॥

'श्रीरामचन्द्रजी मनुष्योंमें सिंहके समान पशुपत्नी हैं। उनका ध्वजस्थल सिंहके समान उन्नत है। भाषिणी सेना उनको प्राणोंमें भी अधिक प्रियतमा पत्नी है। वे मर्या अपने पतिको ही अनुसरण करती हैं ॥ १९ ॥

न सा धर्षयितुं शक्या मेधिल्योजस्विनः प्रिया ।

दीप्तस्थव हुनाशस्य शिखा सीता सुमध्यमा ॥ २० ॥

मिथिलेशकुमारी सीता अंजली श्रीरामको प्यारी पत्नी है। वे प्रज्वलित अग्निको ज्वालाके समान असह्य हैं, अतः उन सुन्दरी सीतापर कलान्कार नहीं किया जा सकता ॥ २० ॥

किमुद्यमं व्यर्थमियं कृत्वा ते राक्षसाधिप ।

दृष्टक्षेत्रं त्वे रणे तेन तदन्तमुपजीवितम् ॥ २१ ॥

राक्षसराज ! यह व्यर्थका उद्योग करनेसे तुम्हें क्या लाभ होगा ? जिस दिन युद्धमें तुम्हारा ऊपर श्रीरामकी दृष्ट पड़

इत्यार्षे श्रीपद्मपादणे वाल्मीकीय आदिकाव्ये अरण्यकाण्डे सप्तत्रिंशः सर्गः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्णीत अरण्यकाण्डे अष्टात्रिंशः सर्ग पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

अष्टात्रिंशः सर्गः

श्रीरामकी शक्तिके विषयमें अपना अनुभव बताकर मारीचका रावणको

उनका अपराध करनेसे मना करना

कथाश्रितप्याह वीर्यात् पर्यटन् भुविवीमिषाम् ।

जलं नागसहस्रस्य धारयन् पर्वतोपमः ॥ १ ॥

'एक समयकी घात है कि मैं अपने पराक्रमके अभिमानमें आकर पर्वतके समान शरीर धारण किये इस पृथ्वीपर चक्कर लगा रहा था। उस समय मुझमें एक हजार नाधियोंका जल था ॥ १ ॥

नीलजीपुनर्सकाशस्तप्रकाञ्चनकुण्डलः ।

भयं लोकस्य जनयन् किरीटी परिघ्रायुधः ॥ २ ॥

व्यथयन् दण्डकारण्यमृषिमासानि भक्षयन् ।

'मरा शरीर नील मयके समान काला था। मैंने कानोंमें पंके मोनके कुण्डल पहन रखे थे। मैं मयकपर किराट था

जाय, उसमें दिन तुम अपने जीवनका अन्त समझना ॥ २१ ॥

जीवितं च सुखं धैव राज्यं धैव सुदुर्लभम् ।

यदीच्छसि चिरं भोक्तुं मा कथा रामविप्रियम् ॥ २२ ॥

'यदि तुम अपने जीवनका, सुखका और परम दुर्लभ राज्यका चिरकाल तक उपभोग करना चाहते हो तो श्रीरामका अपराध न करो ॥ २२ ॥

स सर्वैः सचिवैः सार्धं विभीषणपुरस्कृतैः ।

मन्त्रयित्वा स धर्मिष्ठैः कृत्वा निश्चयमात्मनः ।

दोषाणां च गुणानां च सम्प्रधार्य बलाबलम् ॥ २३ ॥

आत्मनश्च बलं ज्ञात्वा राघवस्य च तत्त्वतः ।

हितं हि तव निश्चित्य क्षयं त्वं कर्तुमर्हसि ॥ २४ ॥

तुम विभाषण आदि सभी धर्मात्मा मन्त्रियोंके साथ सलाह करके अपने कर्तव्यका निश्चय करो। अपने और श्रीरामके दोषों तथा गुणोंके बलाबलपर धर्मोर्धानि विचार करके अपनी और श्रीरामचन्द्रजीको शक्तिको ठीक ठीक समझ लो फिर क्या कानून तुम्हारा हित होगा इसका निश्चय करके जो उचित जान पड़े, वही कार्य तुम्हें करना चाहिये ॥ २३-२४ ॥

अहं तु मन्ये तव न क्षयं रणे

समागमं कोसलराजसूनुना ।

इदं हि भूयः शृणु वाक्यपुनर्यं

क्षयं च युक्तं च निशाचराधिप ॥ २५ ॥

निशाचरराज ! मैं तो समझता हूँ कि कोसलराजकुमार श्रीरामचन्द्रजीके साथ तुम्हारा युद्ध करना उचित नहीं है। अब पुन मैंने एक बात और सुनी, यह तुम्हारे लिये बहुत ही उत्तम, उचित और उपयुक्त सिद्ध होगी ॥ २५ ॥

और कथन पछि मैं कहियोंकि मोस खाता और समस्त जगत्क मनमें भय उत्पन्न करता हुआ दण्डकारण्यमें विचर रहा था ॥ २३ ॥

विश्वामित्रोऽथ धर्मात्मा मन्त्रिजस्तो महामुनिः ॥ ३ ॥

स्वयं गत्वा दशरथं नरेन्द्रमिदमब्रवीत् ।

'उन दिनों धर्मान्ता महामुनि विश्वामित्रको मुझसे बड़ा भय हो गया था। वे स्वयं राजा दशरथके पास गये और उनसे इस प्रकार बोले— ॥ ३ ॥

अयं रक्षतु मां रामः पर्वकाले समाहितः ॥ ४ ॥

मारीचान्ये भयं घोरं समुत्पन्नं नरेश्वर ।

'नरेश्वर ! मुझे मारीच नामक राक्षससे घोर भय प्राप्त हुआ

है, अतः ये श्रीराम मेरे साथ चले और पर्वक दिन एकप्रचित्त हो मेरी रक्षा करें' ॥ ४ ॥

इत्येवमुक्तो धर्मात्मा राजा दशरथस्तदा ॥ ५ ॥
प्रत्युवाच महाभागं विश्वामित्रं महामुनिम् ।

'मुनिके ऐसा कहनेपर उस समय धर्मात्मा राजा दशरथने महामाग महामुनि विश्वामित्रको इस प्रकार उत्तर दिया— ॥

ऊनद्वादशवर्षोऽयमकृतास्तु ॥ राघवः ॥ ६ ॥

कामं तु मम तत् सैन्यं यया सह गमिष्यति ।

बलेन चतुरङ्गेण स्वयमेव निशाचरम् ॥ ७ ॥

वधिष्यामि मुनिश्रेष्ठ शत्रुं तव वयोपितम् ।

'मुनिश्रेष्ठ शत्रुकुलनन्दन रामकी अवस्था अभी बारह वर्षसे भी कम है। इन अस्व-शस्त्रोंके चलानेका पूरा अभ्यास भी नहीं है। आप चाहे तो मेरे साथ मेरी सारी सेना यहाँ चलेगी और मैं चतुरङ्गणों सेनाके साथ स्वयं ही चलकर आपको इच्छाके अनुसार उस शत्रुरूप निशाचरका तब कलंगा' ॥ ६-७ ॥

एवमुक्तः स तु मुनी राजानमिदमब्रवीत् ॥ ८ ॥

रामाज्ञान्यद् बलं लोके पर्याप्ते तस्य रक्षसः ।

'राजाके ऐसा कहनेपर मुनि उनसे इस प्रकार बोले— 'उस राक्षसके लिये श्रीरामके सिवा दूसरा कोई शक्ति पर्याप्त नहीं है' ॥ ८ ॥

देवतानामपि ध्वान् सपरेष्वधिपालकः ॥ ९ ॥

आसीत् तव कृतं कर्म त्रिलोकविदितं नृप ।

'राजन्। इसमें संदेह नहीं कि आप सभरभूमिमें देवताओंकी भी रक्षा करनेमें समर्थ हैं। आपने ओ महान् कार्य किया है, वह तोनों लोकोंमें प्रसिद्ध है' ॥ ९ ॥

कामपस्ति महत् सैन्यं तिष्ठत्किं परंतप ॥ १० ॥

बालोऽप्येष महातेजाः समर्थस्तस्य निग्रहे ।

गमिष्ये राममादाय स्वस्ति तेऽस्तु परंतप ॥ ११ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश। आपके पास जो विशाल सेना है, वह आपको इच्छा हो तो यहाँ रहे (आप भी यहाँ रहें)। महानजस्वी श्रीराम बालक है तो भी उस राक्षसका दमन करनेमें समर्थ है, अतः मैं श्रीरामको ही साथ लेकर जाऊँगा; आपका कल्याण हो' ॥ १०-११ ॥

इत्येवमुक्त्वा स मुनिस्तमादाय नृपात्मजम् ।

जगाम परमप्रीनो विश्वामित्रः स्वमाश्रयम् ॥ १२ ॥

'ऐसा कहकर (लक्ष्मणसहित) राजकुमार श्रीरामको साथ ले महामुनि विश्वामित्र बड़ा प्रसन्नताके साथ अपने आश्रमको गये ॥ १२ ॥

त तथा दण्डकारण्ये यज्ञमुद्दिश्य दीक्षितम् ।

सध्रुवोपस्थितो रामश्चित्रं विस्फारयन् धनुः ॥ १३ ॥

'इस प्रकार दण्डकारण्यमें जाकर उन्होंने यज्ञके लिये दीक्षा ग्रहण की और श्रीराम अपने अद्भुत धनुषकी टङ्कार करते हुए उनकी रक्षाके लिये पास ही खड़े हो गये ॥ १३ ॥

अजातकुञ्जनः श्रीमान् बालः श्यामः शुभेक्षणः ।

एकवस्त्रधरो धन्वी शिखी कनकमालया ॥ १४ ॥

'उस समयतक श्रीराममें जवानोंके चिन्ह प्रकट नहीं हुए थे। (उनका किशोरावस्था थी) वे एक शोभाशाली बालकके रूपमें दिखायी देते थे। उनके श्रीऊङ्गका रंग साँवला और आँखें बड़ी सुन्दर थीं वे एक वस्त्र धारण किये, हाथोंमें धनुष लिये सुन्दर शिखा और सानके हारसे सुशोभित थे ॥ १४ ॥

शोभयन् दण्डकारण्यं दीप्तेन स्वेन तेजसा ।

अदृश्यत तदा रामो बालचन्द्र इवोदितः ॥ १५ ॥

'उस समय अपने उद्दीप्त तेजसे दण्डकारण्यको शोभा बढ़ाते हुए श्रीरामचन्द्र नवोदित बालचन्द्रके समान दृष्टिगोचर होते थे ॥ १५ ॥

ततोऽहं मेघसंकाशस्तप्तकाञ्चनकुण्डलः ।

बली दलवरो दर्पादाजगामाश्रमान्तरम् ॥ १६ ॥

'इधर मैं भी मेघके समान काले शरीरसे बड़े धमड़ेके साथ उस आश्रमके भीतर घुसा। मेरे कानोंमें तपाये हुए सुवर्णके कुण्डल झलमल रहे थे। मैं बालकान् तो था ही, मुझे वरदान भी मिल चुका था कि देवता मुझे मार नहीं सकेंगे ॥ १६ ॥

तेन दृष्टः प्रविष्टोऽहं सहस्रैवोद्यताभुधः ।

मां तु दृष्ट्वा धनुः सज्यमसम्भ्रान्तश्चकार ह ॥ १७ ॥

'भीतर प्रवेश करते ही श्रीरामचन्द्रजीकी दृष्टि मुझपर पड़ी। मुझे देखते ही उन्होंने सहस्रां धनुष उठा लिया और बिना किसी धरादृष्टके उसपर डोरी चढ़ा दी ॥ १७ ॥

अवजानग्रहं मोहाद् बालोऽयमिति राघवम् ।

विश्वामित्रस्य तां वेदिमध्यधायं कृतत्वरः ॥ १८ ॥

'मैं मोहवश श्रीरामचन्द्रजीको 'यह बालक है, ऐसा भ्रमझकर उनको अवज्ञेत्वन करता हुआ बड़ा तेजीके साथ विश्वामित्रकी उस यज्ञवेदीकी ओर दौड़ा ॥ १८ ॥

तेन मुक्तस्ततो बाणः शितः शत्रुनिबर्हणः ।

तेनाहं ताडितः क्षिप्तः समुद्रे शतयोजने ॥ १९ ॥

'इतनेहीमें श्रीरामने एक ऐसा तीखा बाण छोड़ा, जो शत्रुका संहार करनेवाला था, परंतु उस बाणको चोट खाकर (मैं मरा नहीं) सौ योजन दूर समुद्रमें आकर गिर पड़ा ॥

१. यद्यपि बालकाण्डके २०वें सर्गके दूसरे इलोकमें राजा दशरथने श्रीरामकी अवस्था आठवें वर्षसे कम (पंद्रह वर्षकी) बताया थी, तथापि यहाँ मारीचने शतवर्षके मनमें भय उत्पन्न करनेके लिये चार वर्ष कम अवस्था बताया है। जो छोटी अवस्थामें इतने महान् पराक्रमी थे, वे अब बड़े होनपर न जाने कैसे होंगे? यह लक्ष्य कराना ही यहाँ मारीचका अमोघ है।

स्वच्छता तात मां हन्तुं तदा वीरेण रक्षितः ।
ममस्य शरखेगेन निरस्तो भ्रान्तचेतनः ॥ २० ॥
पातितोऽहं तदा तेन गम्भीरे सागराम्भसि ।
प्राप्य संज्ञां चिरात् तात लङ्कां प्रति गतः पुगीम् ॥ २१ ॥

तात ! और श्रीरामचन्द्रजी उस समय मुझे मारना नहीं चाहते थे, इमोलिये मेरी जान बच गयी । उनके बाणके वंगमे ने भ्रान्तचित्त होकर दूर फेंक दिया गया और समुद्रके गहरे जलमें गिरा दिया गया । तात ! फिर दौर्धकालके पक्षान् जब मुझे बत हुआ, तब मैं लंकापुरीमें गया ॥ २०-२१ ॥

एवमस्मि तदा मुक्तः सहाय्यास्ते निपातिनाः ।
अकृतास्तेषां रामेण बालेनार्द्धदृक्कर्मणा ॥ २२ ॥

'इस प्रकार ठीक समय मैं मरनेसे बचा । अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीराम ठीक दिनें अभी साल्क थे और नर अस्त्र चलातेका पुरा अभ्यास भी नहीं था जो भी उन्होंने मर उन सभी सहायकोंको मार गिराया, जो मेरे साथ गये थे ॥

नप्यया वार्यमाणस्तु यदि रामेण विग्रहम् ।
कणिष्यस्यापदं घोरां क्षिप्रं प्राप्य न शिष्यसि ॥ २३ ॥

'इमोलिये मेरे मना करनेपर भी यदि तुम श्रीरामके साथ वंगध करोगे तो शीघ्र ही घोर आपत्तिमें पड़ जाओगे और अन्धमें अपने जीवनसे भी हाथ धो देंगे ॥ २३ ॥

स्त्रीधारतिविधिज्ञानां सम्राजोत्सवदर्शिनाम् ।
रक्षसो धैव संतापमनर्थं चाहरिष्यसि ॥ २४ ॥

'स्त्रैल-कुद और धांग-विलासक क्रमकों जाननेवाले तथा सामाजिक व्यवस्थाओं की देख-देखकर दिल् ब्रह्मन्त-आले रक्षसोंके लिये तुम संताप और अनर्थ (मौत) मूल्य लाओगे ॥ २४ ॥

हर्म्यप्रासादसम्भारं नानारत्नविभूषिताम् ।
द्रक्ष्यसि त्वं पुरीं लङ्कां विनष्टां मैथिलीकुने ॥ २५ ॥

मिथिलशकुमारी सीताके लिये तुम्हें धनियोंकी अट्टालकाओं तथा राजभवनोंमें धगे हुई प्रसन्न प्रकाश रत्नोंसे विभूषित लंकापुरीका विनाश भी अपनी आंखों देखना पड़ेगा ॥ २५ ॥

अकुर्वन्तोऽपि पापानि शुचयः पापसम्प्रयात् ।
भगपापैर्विनश्यन्ति भस्म्या नागहृदे यथा ॥ २६ ॥

जो लोग आपत्त-विचारसे शुद्ध हैं और पाप या अपराध नहीं करते हैं, वे भी यदि पापियोंके सम्पर्कमें चले जायें तो दूसरोंके पापोंमें ही नष्ट हो जाते हैं, जैसे साँपवाल सर्पोंवरमें निवास करनेवाला मछलियों उस सर्पके साथ ही मारी जाती है ॥ २६ ॥

दिव्यचन्दनदिग्धाङ्गान् दिव्याभरणभूषितान् ।
द्रक्ष्यस्यभिहनान् भूमौ तव दोषान् तु राक्षसान् ॥ २७ ॥

'तुम देखोगे कि जिनके अङ्ग दिव्य चन्दनसे चर्चित होते थे तथा जो दिव्य आभूषणोंसे विभूषित रहते थे, वे ही राक्षस तुम्हारे ही अपराधोंमें मारे जाकर पृथ्वीपर पड़े हुए हैं ॥ २७ ॥

हतदारान् सदारांश्च दश विद्रवन्तो दिशः ।
हनशेषानशरणान् द्रक्ष्यसि त्वं निशाचरान् ॥ २८ ॥

'तुम्हें यह भी दिखायी देगा कि कितने ही निशाचरोंकी स्त्रियाँ हर ली गयी हैं और कुछकी स्त्रियाँ साथ हैं तथा वे युद्धम मरनेसे बचकर असहाय अवस्थामें दसों दिशाओंकी ओर भाग रहे हैं ॥ २८ ॥

शरजालपरिक्षिप्तामग्निज्वालासमावृताम् ।
प्रदग्धभवनान् लङ्कां द्रक्ष्यसि त्वमसंशयम् ॥ २९ ॥

निःसंदेह तुम्हारे सामने वह दृश्य भी आयेगा कि शरजालोंपर बाणोंका जाल-सा बिछ गया है । वह आगकी ज्वालाओंमें घिर गयी है और उसका एक-एक घर जलकर भस्म हो गया है ॥ २९ ॥

परदाराभिभर्शात् तु नान्यत् पापतरं महत् ।
प्रमदानां सहस्राणि तव राजन् परिग्रहे ॥ ३० ॥

भव स्वदारनिरतः स्वकुलं रक्ष राक्षसान् ।
मानं वृद्धिं च राज्यं च जीवितं छेदधात्मनः ॥ ३१ ॥

'राजन् ! परायी स्त्रांक संसर्गसे बड़कर दूसरा कोई महान् पाप नहीं है । तुम्हारे अन्तर्गम्य हजारों युवती स्त्रियाँ हैं, इन अपनी ही निधाय अनुग्रह गवों अपने कुलको रक्षा करो रक्षकोंके प्राण बचाओ तथा अपनी मान, प्रतिष्ठा उन्नति, राज्य और प्यारे जीवनको नष्ट न होने दो ॥ ३०-३१ ॥

कलत्राणि च सौम्यानि मित्रवर्गं तथैव च ।
यदीच्छसि क्षिरं भोक्तुं या कृथा रामत्रिप्रियम् ॥ ३२ ॥

यदि तुम अपने मन्दरी स्त्रियों तथा मित्रोंका मुख अधिक कष्टतक भागना चाहते हो तो श्रीरामके अपराध न करो ॥ ३२ ॥

निवार्यमाणः सुहृदा मया भृशं
प्रसह्य सीतां यदि धर्षयिष्यसि ।

गमिष्यसि क्षीणबलः सवान्धतो
यमक्षयं रामशरास्तजीवितः ॥ ३३ ॥

यै तुम्हारा हितेषो सुहृद् हैं । यदि मेरे बारंबार मना करनेपर भी तुम हठपूर्वक सीताके अपहरण करोगे तो तुम्हारा सरो सेना नष्ट हो जायगी और तुम श्रीरामके बाणोंसे अपने प्राण गँवाकर बन्धु-बान्धवोंके साथ यम-लोककी यात्रा करोगे ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डेऽष्टात्रिंशः सर्गः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार श्रीरामायणके वाल्मीकीये आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें अष्टात्रिंशः सर्ग पूरा हुआ ॥ ३८ ॥



एकोनचत्वारिंशः सर्गः

मारीचका रावणको समझाना

एवमस्मि तदा मुक्तः कथंचित् तेन संयुगे ।

इदानीमपि यद् वृत्तं तच्छृणुष्व यदुत्तरम् ॥ १ ॥

'इस प्रकार इस समय तो मैं किसी तरह श्रीरामचन्द्रजीके हाथसे जीवित बच गया । उसके बाद इन दिनों जो घटना घटित हुई है, इससे भी सुन लो ॥ १ ॥

राक्षसाभ्यामहं द्वाभ्यामनिर्विण्णास्तथाकृतः ।

सहितो मृगरूपाभ्यां प्रविष्टो दण्डकावने ॥ २ ॥

'श्रीरामने मेरी वैसे दुर्दशा कर दी थी तो भी मैं उनके विरोधसे बाज नहीं आया । एक दिन मृगरूपधारी दो राक्षसोंके साथ मैं भी मृगका ही रूप धारण करके दण्डक-वनमें गया ॥ २ ॥

दीप्तजिह्वो महादंष्ट्रस्तीक्ष्णशृङ्गो महाबलः ।

व्यचरन् दण्डकारण्यं मांसभक्षो महामृगः ॥ ३ ॥

'मैं महान् बलशाली तो था ही, मेरी जीभ आगके समान लाल हो रही थी । दाढ़ें भी बहुत बड़ी थीं, सींग तोंगे थे और मैं महान् मृगके रूपमें मांस खाता हुआ दण्डकारण्यमें विचरने लगा ॥ ३ ॥

अग्निहोत्रेषु तीर्थेषु चैत्यक्षेत्रेषु रावण ।

अत्यन्तघोरो व्यचरन्मांसपास्तान् प्रधर्षयन् ॥ ४ ॥

'रावण ! मैं अत्यन्त भयंकर रूप धारण किये अग्नि-शाखाओंमें, जलाशयोंके मार्गपर तथा चैत्यक्षेत्रोंके बीच-बीचे हुए तपस्वीजनोंको तिरस्कृत करता हुआ सब ओर विचरण करने लगा ॥ ४ ॥

निहत्य दण्डकारण्ये तापसान् धर्मचारिणः ।

रुधिराणि पिबंस्तेषां तन्मांसानि च भक्षयन् ॥ ५ ॥

'दण्डकारण्यके भीतर धर्मानुष्ठानमें लगे हुए तापसाओं मारकर उनका रक्त पीना और मांस खाना यही मेरा काम था ॥

ऋषिमांसाशनः क्रूरस्त्रासयन् वनगोचरान् ।

तदा रुधिरपतोऽहं व्यचरे दण्डकावनम् ॥ ६ ॥

'मेरा स्वभाव तो क्रूर था ही, मैं ऋषियोंके मांस खाता और वनमें विचरनेवाले प्राणियोंको डगना हुआ रक्तपान करके मतवाला हो दण्डकवनमें घूमने लगा ॥ ६ ॥

तदाहं दण्डकारण्ये विधरन् धर्मदूयकः ।

आसादयं तदा रामे तापसे धर्मपाश्रितम् ॥ ७ ॥

वैदेहीं च महाभागां लक्ष्मणीं च भक्षारथम् ।

तापसें नियताहारं सर्वभूतहिते रतम् ॥ ८ ॥

'इस प्रकार उस समय दण्डकारण्यमें विचरता हुआ धर्मको कलङ्कित करनेवाला मैं मारीच तापसे धर्मके आश्रय लेनेवाले श्रीराम, विदेहनादिनी महाभागा सीता तथा मितहारी तपस्वीके रूपमें सम्पन्न प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले महारथी लक्ष्मणके पास जा पहुँचा ॥ ७-८ ॥

सोऽहं वनगतं रामं परिभूय महाबलम् ।

तापसोऽयमिति ज्ञात्वा पूर्ववैरमनुस्मरन् ॥ ९ ॥

अभ्यधावं सुमंकुन्दस्तीक्ष्णशृङ्गो मृगाकृतिः ।

त्रिधासुरकृतप्रजस्तं प्रहारमनुस्मरन् ॥ १० ॥

'वनमें आये हुए महाबलसे श्रीरामको 'यह एक तपस्वी है' ऐसा जानकर उनके अवहेलना करके मैं आगे बढ़ा और पहलके बैरका कारणसे धरणा करके अत्यन्त कुपित हो उनको ओर दीहा उस समय मेरी आकृति मृगके ही समान थी । मेरा सींग बड़े तोंगे थे, उनके पहलके प्रहारको याद करके मैं उन्हें मर डालना चाहता था । मेरी बुद्धि शुद्ध न होनेके कारण मैं उनको शक्ति और प्रभावको भूल-सा गया था ॥ ९-१० ॥

तेन त्यक्तास्त्रयो बाणाः शिताः शश्रुनिबर्हणाः ।

विकृष्य सुमहद्यप्य सुपर्णानिलतुल्यगाः ॥ ११ ॥

'हम तीनोंका आन देकर श्रीरामने अपने विशाल धनुषको खींचकर तीन पैन बाण छोड़े जो गरुड़ और वायुके समान शीघ्रगामी तथा शत्रुके प्राण लेनेवाले थे ॥ ११ ॥

ते बाणा वज्रसंकाशाः सुघोरा रक्तभोजनाः ।

आजग्मुः सहिताः सर्वे त्रयः सनतपर्वणाः ॥ १२ ॥

सुको हुई गतिवाले वे सब तीनों बाण जो वज्रके समान द गह अत्यन्त भयंकर तथा रक्त पीनक्षाल थे, एक साथ ही हमारे ओर आये ॥ १२ ॥

पराक्रमज्ञो रामस्य शठो दृष्टभयः पुरा ।

समुत्क्रान्तस्ततो मुक्तस्तावुर्धो राक्षसौ हतौ ॥ १३ ॥

'मैं तो श्रीरामके पराक्रमको जानता था और पहले एक बार उनके भयंकर आघात को चुका था, इसलिए शठता पूर्वक उछलकर भाग निकला । भाग जानसे मैं तो बच गया किन्तु मेरे वे दोनों साथी एकस भर गये ॥ १३ ॥

शरेण मुक्तो रामस्य कथंचित् प्राप्य जीवितम् ।

इह प्रव्राजितो युक्तस्तापसोऽहं समाहितः ॥ १४ ॥

'इस बार श्रीरामके बाणसे किसी तरह छुटकारा पाकर मुझे नया जीवन मिला और तभीसे संन्यास लेकर ममता दुष्कर्मोंका परि त्याग करके स्थिरचित्त हो योगाभ्यासमें तत्पर रहकर तपस्यामें लग गया ॥ १४ ॥

वृक्षे वृक्षे हि पश्यामि चीरकृष्णाजिनान्धरम् ।

गृहीतधनुषं रामं पाशहस्तमिवान्तकम् ॥ १५ ॥

'अब मुझे एक-एक वृक्षमें घेर, काला मृगचर्म और धनुष धारण किये श्रीराम ही दिखायी देते हैं, जो मुझे पाशधारी यमराजके समान प्रतीत होते हैं ॥ १५ ॥

अपि राममहस्त्राणि धातः पश्यामि सवण ।

रामभूतपिदं सर्वमरण्यं प्रतिभाति मे ॥ १६ ॥

'गवण ! मैं भयभीत होकर हजारों रामोंको अपने सामने

स्रद्धा देखता हूँ। यह साथ बन ही मुझे रामस्य प्रतीत हो रहा है ॥ १६ ॥

राममेव हि पश्यामि रक्षिते राक्षसेश्वर ।

दृष्ट्वा स्वप्रगतं राममुद्भ्रमामि विद्येतनः ॥ १७ ॥

'राक्षसराज ! जब मैं एकान्तमें बैठता हूँ, तब मुझे श्रीरामके ही दर्शन होते हैं। स्वप्नमें श्रीरामको देखकर मैं उद्भ्रान्त और अवत-सा हो उठता हूँ ॥ १७ ॥

रकारादीनि नामानि रामप्रस्तस्य रावण ।

रत्नानि च रथाश्वेष्व विप्रासं जनयन्ति मे ॥ १८ ॥

'रावण ! मैं राममें इतना भगभोग हो गया हूँ कि रत्न और रथ आदि जितने भी रकारादि नाम हैं, वे मेरे कानोंमें पड़ने ही प्रथम धारी भय उत्पन्न कर देते हैं ॥ १८ ॥

अहं तस्य प्रभावज्ञो न मुहुः तेन ते क्षमम् ।

बलि वा नमुचिं चापि हन्याद्धि रघुनन्दन ॥ १९ ॥

'मैं उनके प्रभावको अच्छी तरह जानता हूँ। इसीलिये कहता हूँ कि श्रीरामके साथ तुम्हारा युद्ध करना कदापि उचित नहीं है। रघुकुलनन्दन श्रीराम राजा बलि अथवा नमुचिक भी ध्वंस कर सकते हैं ॥ १९ ॥

रणे रामेण युद्धत्वा क्षमां वा कुरु रावण ।

न ते रामकथा कार्या यदि मां द्रष्टुमिच्छसि ॥ २० ॥

'रावण ! तुम्हारी इच्छा हो तो रणभूमिमें श्रीरामके साथ युद्ध करो अथवा उन्हें क्षमा कर दो, किंतु यदि मुझे जीवित देखना चाहते हो तो मेरे सामने श्रीरामकी चर्चा न करो ॥

बहवः साधवो लोके युक्ता धर्ममनुष्ठिताः ।

परधामपराधेन विनष्टाः सपरिच्छदाः ॥ २१ ॥

'लोकमें बहुत-से साधुपुरुष, जो योगयुक्त होकर केवल धर्मके ही अनुष्ठानमें लगे रहते थे, दूसरोंके अपराधमें ही

इत्यर्थं श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीयां आदिकाण्डे अरण्यकाण्डे एकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आरण्यकाण्डे अरण्यकाण्डमें उनान्वीमर्श सर्ग पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशः सर्गः

रावणका मारीचको फटकारना और सीताहरणके कार्यमें सहायता करनेकी आज्ञा देना

मारीचस्य तु तद् वाक्यं क्षमे युक्तं च रावणः ।

उक्तो न प्रतिजग्राह मनुकाम इयौषधम् ॥ १ ॥

मारीचका यह कथन श्रुत और माननेयोग्य था तब भी उसने मारीचकी इच्छावात्ता रोगों दवा नहीं लेता, उम्मे प्रकार उसका बहुत कहनेपर भी रावणने क्षमकी बात नहीं माना ।

तं पथ्यद्भितवत्तारं मारीचं राक्षसाधिपः ।

अज्ञात्वा परुषं वाक्यमयुक्तं कालचोदिन ॥ २ ॥

कालके प्रेरित हुए उस राक्षसराजन अधार्म और हितकं वक्तु बतानेवाले मारीचसे अनुचिन और कठोर वाणीमें कहा— ॥ २ ॥

परिक्रमसहितं नष्टं हो गया ॥ २१ ॥

भोऽहं परापराधेन विनश्येयं निशाध्वर ।

कुरु यत् ते क्षमं तत्त्वमहं त्वां नानुयामि वै ॥ २२ ॥

'निशाध्वर ! मैं भी किसी तरह दूसरोंके अपराधसे नष्ट हो सकता हूँ, अतः तुम्हें जो उचित जान पड़े वह करो मैं इस कार्यमें तुम्हारा साथ नहीं दे सकता ॥ २२ ॥

रामश्च हि महानेजा महामत्स्यो महाबलः ।

अपि राक्षसलोकस्य भवेदन्तकरोऽपि हि ॥ २३ ॥

क्योंकि श्रीरामचन्द्रजी बड़े तेजस्वी, महान् आत्मबलसे सम्पन्न तथा अधिक बलशाली हैं। वे सम्पूर्ण राक्षस-जगत्का भी संसार कर सकते हैं ॥ २३ ॥

यदि शूर्पणखाहेतोर्जनस्थानगतः खरः ।

अतिवृत्तो हनः पूर्वं रामेणाहिष्टकर्मणा ।

अत्र ब्रूहि यथातन्त्रं खरो रामस्य व्यतिक्रमः ॥ २४ ॥

'यदि शूर्पणखाका बदल लेंगेक लिये जनस्थान-निवासी खर पहले श्रीरामपर चढ़ाई करनेके लिये गया और अन्याय ही महान् कर्म करनेवाले श्रीरामके हाथसे मारा गया तो तुम्हीं ठोंक-ठोंक बलओ, इसमें श्रीरामका क्या अपराध है ? ॥ २४ ॥

इदं वचो बन्धुहितार्थिना मया

अथोच्यमानं यदि नाभिपत्स्यसे ।

सबान्धवस्यक्षयसि जीवितं रणे

होऽहं रामेण शरैरर्जिह्ययैः ॥ २५ ॥

'तुम मेरे बन्धु हो। मैं तुम्हारा हित करनेकी इच्छासे ही ये वचन कह रहा हूँ, यदि मर्ते मानोग तो युद्धमें आज रामके मोर्चे जानेवाले बाणोंद्वारा घायल होकर तुम्हें बन्धु-वधवोसहित प्राणोंका परित्याग करना पड़ेगा ॥ २५ ॥

दुष्कलतदयुक्तार्थं मारीचं मयि कथ्यते ।

वाक्यं निष्फलमत्यर्थं बीजमुत्तमिवोचरे ॥ ३ ॥

'दूषित कुलमें उत्पन्न मारीच। तुमने मेरे प्रति जो ये अन्याय-श्लाघ वचन कहे हैं वे मेरे लिये अनुचित और असंगत हैं, ऊपरमें बोये हुए बीजके समान अत्यन्त निष्फल हैं ॥ ३ ॥

त्वद्वाक्यं तु मां शक्यं भेतुं रामस्य संयुगे ।

मूर्खस्य पापशीलस्य मानुषस्य विशेषतः ॥ ४ ॥

'तुम्हारे इन वचनोंद्वारा मूर्ख, पापाचारी और विशेषतः धन्य गणके साथ युद्ध करना अथवा उसकी स्त्रोका अपहरण करनेके निश्चयसे मुझे विचलित नहीं किया जा सकता ॥ ४ ॥

घस्यक्त्वा सुहृदो राज्यं मातरं पितरं तथा ।

स्त्रीवाक्यं प्राकृतं श्रुत्वा सनमेकपदे गतः ॥ ५ ॥

अवश्यं तु मया तस्य संयुगे स्वरघातिनः ।

प्राणैः प्रियतरा सीता हर्षया तव सनिधौ ॥ ६ ॥

‘एक स्त्री (कैकेयी) के धूर्ततापूर्ण वचन सुनकर जो राज्य, मित्र, माता और पिताको छोड़कर सत्रस्त जंगलमें चला आया है तथा जिसने युद्धमें स्वका वध किया है, उस रामचन्द्रकी प्राणोंसे भी प्यारे भार्या माताका मैं तुम्हारे निकट ही अवश्य हस्त करूँगा ॥ ५-६ ॥

एवं मे निश्चिता बुद्धिर्हृदि मारीच विद्यते ।

न व्यावर्तयितुं शक्या संन्दरपि सुगसुरे ॥ ७ ॥

‘मारीच । ऐसा मेरे हृदयका निश्चित विचार है, इसे इन्द्र आदि देवता और सारे असुर मिलकर भी बदल नहीं सकते ॥ ७ ॥

दोषं गुणं वा सम्पृष्टस्त्वमेवं वक्तुमर्हसि ।

अपार्यं वा उपार्यं वा कार्यस्यास्य विनिश्चये ॥ ८ ॥

‘यदि इस कार्यका निर्णय करनेके लिये तुमसे पूछा जाता ‘इसमें क्या दोष है, क्या गुण है, इनकी विद्विष्य कौन सा विग्रह है अथवा इस कार्यको भिन्न करनेका कौन सा उपाय है’ तो तुम्हें ऐसी बातें कहनी चाहिये थीं ॥ ८ ॥

सम्पृष्टेन तु वक्तव्यं सचिवेन विपश्चिता ।

उद्यताञ्जलिना राज्ञो य इच्छेत् भूनिमात्मनः ॥ ९ ॥

‘जो अपना कल्याण चाहता हो, उस बुद्धिमान् मन्त्रीको उचित है कि वह राजासे उसका गूढनपर ही अपना अभिप्राय प्रकट करे और वह भी हाथ जोड़कर नम्रताके साथ ॥ ९ ॥

वाक्यमप्रतिकूलं तु मृदुपूर्वं शुभं हितम् ।

उपचारेण वक्तव्यो युक्तं च वसुधाधिपः ॥ १० ॥

‘राजाके सामने ऐसी बात कहनी चाहिये, जो सर्वथा अनुकूल, मधुर, उलम, बितबर, आदरसे युक्त और उचित हो ।

सावमर्त्यं तु यद्वाक्यमथवा हितमुच्यते ।

नाभिनन्देत तद् राजा मानार्थी मानवर्जितम् ॥ ११ ॥

‘राजा सम्मानका भूला होता है । उसको बातका खण्डन करने आक्षेपपूर्ण शायाने यदि जिनकर वचन भी कहा जाय तो उस आग्रहपूर्ण वचनका वह कभी अभिनन्दन नहीं कर सकता ॥ ११ ॥

पञ्च रूपाणि राजानो धारयन्त्यपि नो जसः ।

अप्रेरिन्द्रस्य सोमस्य यमस्य वरुणस्य च ॥ १२ ॥

औषधं तथा विक्रमं च सौम्यं दण्डं प्रसन्नताम् ।

धारयन्ति महात्मानो राजानः क्षणदाचर ॥ १३ ॥

‘निशाचर । अमित तेजस्वी महापनस्वी रुद्रा अग्नि, इन्द्र, सोम, यम और वरुण—इन पाँच देवताओंके स्वरूप धारण किये रहते हैं, इसीलिये वे अपनेमें इन पाँचोंके गुण-प्रत्यय, पराक्रम, सौम्यभाव, दण्ड और प्रसन्नता को धारण करते हैं ॥

तस्मात् सर्वास्ववस्थासु मान्या पूज्याश्च नित्यदा ।

त्वं तु धर्मपवित्राय केवलं भोगमाश्रितः ॥ १४ ॥

अभ्यागतं तु दौरात्पथात् परुषं वदसीदृशम् ।

गुणदोषौ न पृच्छामि क्षेमं चात्मनि राक्षस ॥ १५ ॥

‘अतः सभी अवस्थाओंमें सदा राजाओंका सम्मान और पूजन हो करना चाहिये तुम तो अपने धर्मको न जानकर केवल मोहक वशाभूत हो रहे हो मैं तुम्हारा अभ्यागत-अतिथि हूँ तो भो तुम दुष्टतावश मुझसे ऐसी कठोर बातें कह रहे हो । राक्षस । मैं तुमसे अपने कर्तव्यके गुण दोष नहीं पूछता हूँ और न यही जानना चाहता हूँ कि मेरे लिये क्या उचित है ॥ १४-१५ ॥

मयोक्तमपि घनावन् त्वां प्रत्यमितविक्रम ।

अस्मिन्तु स भवान् कृत्ये साहाय्यं कर्तुमर्हसि ॥ १६ ॥

‘अमितपराक्रमी मारीच । मैंने तो तुमसे इतना ही कहा था कि इस कार्यमें तुम्हें मेरी सहायता करनी चाहिये ॥ १६ ॥

शृणु तत्कर्म साहाय्ये यत्कार्यं वचनान्मम ।

सौवर्णस्त्वं मृगो भूत्वा चित्रो रजतत्रिन्दुभिः ॥ १७ ॥

आश्रमे तस्य रामस्य सीतायाः प्रमुखे चर ।

प्रलोभयित्वा वैदेहीं यथेष्टं गन्तुमर्हसि ॥ १८ ॥

‘अच्छा, अब तुम्हें सहायताके लिये मेरे कथनानुसार जो कार्य करना है, उसे सुनो तुम सुवर्णमय चर्मसे युक्त चितकबूरे रंगके मृग हो जाओ तुम्हारे सारे अङ्गमें चाँदीकी सी सफेद वूँटें रहनी चाहिये । ऐसा रूप धारण करके तुम रामके आश्रममें सौनिक सामने विचरोगे एक बार विदेहकुमारीको लुभाकर जहाँ तुम्हारी इच्छा हो उधर ही चले जाओ ॥ १७-१८ ॥

त्वां हि मायामयं दृष्ट्वा काञ्चन जातविस्मया ।

आनयेनमिति क्षिप्रं रामं वक्ष्यति मैथिली ॥ १९ ॥

‘तुम मायामय काञ्चन मृगको देखकर मिथिलेशकुमारी सीताको बड़ा आश्चर्य होगा और वह जल्द ही रामसे कहेंगी कि आप इसे पकड़ लाइये ॥ १९ ॥

अपक्रान्ते च काकुत्स्थे दूरं गत्वाप्युदाहर ।

हा सीते लक्ष्मणेत्येवं रामवाक्यानु रूपकम् ॥ २० ॥

‘जब राम तुम्हें पकड़नेके लिये आश्रमसे दूर चले जाय तो तुम भी दूरनक जाकर श्रीरामकी बालीके अनुरूप हो—ठीक ठीक स्वरमें ‘हा सीते । हा लक्ष्मण ।’ कहकर पुकारना ॥ २० ॥

तच्छ्रुत्वा राधपदवीं सीतया च प्रचोदितः ।

अनुगच्छति सम्भ्रान्तं सौमित्रिरपि सीहतात् ॥ २१ ॥

‘तुम्हारी उस पुकारको सुनकर सीताकी प्रेरणासे सौमित्रकुमार लक्ष्मण भी स्नेहवश घबराये हुए अपने भाईके ही मार्गका अनुसरण करेंगे ॥ २१ ॥

अपक्रान्ते च काकुत्स्थे लक्ष्मणे च यथासुखम् ।

आहरिष्यामि वैदेहीं सहस्राक्षः शचीमिव ॥ २२ ॥

इस प्रकार राम और लक्ष्मण दोनोंके आश्रममें दुः-
नकाल ज्ञानपर मैं मुख्यपूर्वक सीताको हूँ लीकूँगा, ठीक ठीक
रहूँ जैसे इन्द्र इंद्राक्षर हूँ लखे थे ॥ २२ ॥

एवं कृत्वा त्विदं कार्यं यथेष्टं गच्छ राक्षस ।
गज्यस्थार्थं प्रदास्यामि मारीच तव सुव्रत ॥ २३ ॥

'उनमें व्रतकी पालन करनेवाले राक्षस मागेव । इस
प्रकार इस कार्यको सम्पन्न करके अर्ह तुम्हारे इच्छा हो
वहाँ चले जाना । मैं इसके लिये तुम्हें अपना आधा
गज्य दे दूँगा ॥ २३ ॥

गच्छ सौम्य शिष्य मार्गं कार्यस्यास्य विबुधये ।
अहं त्वानुगमिष्यामि सरथो दण्डकावनम् ॥ २४ ॥

'सौम्य ! तब इस कार्यकी सिद्धिके लिये प्रस्थान करो
तुम्हारा मार्ग मङ्गलमय हो । मैं रथपर बैठकर दण्डकावनमें
तुम्हारे पीछे पीछे चलूँगा ॥ २४ ॥

प्राप्य सीतामयुडेन वञ्चयित्वा तु राघवम् ।
लङ्कां प्रति गमिष्यामि कृतकार्यं मह त्वया ॥ २५ ॥

'रामको छोड़ा देकर बिना युद्ध किये ही सीताका
इत्यर्थे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाण्डे अरण्यकाण्डे चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीके आश्रममायाग आदि का अरण्यकाण्डने चालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ । ४० ॥

एकचत्वारिंशः सर्गः

मारीचका राक्षणको विनाशका भय दिखाकर पुनः समझाना

आज्ञप्तो राखणेनस्थे प्रतिकूलं च राजवत् ।
अब्रवीत् परुषं वाक्यं नि शङ्कुरे गक्षमाधिपम् ॥ १ ॥

राखणने जब राजाको भानि उसे ऐसी प्रतिकूल आज्ञा दी, तब
मारीचने निःशङ्क होकर उस राक्षसराजसे क्रुद्ध होकर वाणीमें कहा— ।

केनायमुपदिष्टस्ते विनाशः पापकर्मणा ।
समुजस्य सराज्यस्य साम्राज्यस्य निशाचर ॥ २ ॥

'निशाचर ! किस पापके तुम्हें पुत्र, राज्य और मन्त्रियों-
मालिन् तुम्हारे विनाशका यह मार्ग बताया है ? ॥ २ ॥

करत्वया सुखिना राजन् नाभिनन्दति पापकृत् ।
केनेदमुपदिष्टं ते मृत्युद्वारमुपायतः ॥ ३ ॥

राजन् ! करीब ऐसा पापपाप है, जो तुम्हें मृत्यु देखकर
पसन्न नहीं हो रहा है ? किसने पापके तुम्हें मौतके द्वारपर
आनकी यह सलाह दी है ? ॥ ३ ॥

शश्वस्तव सुख्यक्त हानवीर्या निशाचर ।
इच्छन्ति त्वां विनश्यन्तमुपस्कृते बलीयसा ॥ ४ ॥

निशाचर ! आज यह ज्ञान स्पष्टरूपमें ज्ञान हो गयी कि
तुम्हारे दुर्बल शत्रु तुम्हें किसी बलवान्से धिक्काकर नष्ट होत
देखना चाहते हैं ॥ ४ ॥

केनेदमुपदिष्टं ते क्षुद्रेणाहितबुद्धिना ।
यस्त्वामिच्छति नश्यन्तं स्वकृण्वन् निशाचर ॥ ५ ॥

अपने हाथमें करके कुत्तर हैं तुम्हारे साथ ही लंकाको
लूट चैलूँगा ॥ २५ ॥

नो चेत् करोषि मारीच हन्मि त्वामहमद्य वै ।
एतन् कार्यमवश्यं मे बलादपि करिष्यसि ।

राजो विप्रतिकूलस्थो न जातु सुखमेषते ॥ २६ ॥

मारीच ! यदि तुम इनकार करोगे तो तुम्हें अभी मार
डालूँगा । मेरा यह कार्य तुम्हें अवश्य करना पड़ेगा । मैं
बलप्रयोग करके भी तुमसे यह काम कराऊँगा । राजाके
प्रतिकूल चलनवाला पुण्य कभी नहीं होता है । २६ ।

आसाद्य तं जीविनसंशयस्ते
मृत्युर्ध्रुवो ह्यद्य मया विरुध्यतः ।

एतद् यथावत् परिगण्य बुद्ध्या
यदत्र पथ्यं कुरु तथा त्वम् ॥ २७ ॥

'रामके सामने जानेपर तुम्हारे प्राण जानेका संदेहमात्र है,
परन्तु मेरे साथ विनाश करनेपर तो आज तो तुम्हारे मृत्यु निश्चित है ।
इन दोनोंपर बुद्धि लगाकर धन्यो भवति निश्चय कर लो । इसका बाद
यहाँ जो हितकर जान पड़े, उस उन्ही प्रकार तुम करो' ॥ २७ ॥

इत्यर्थे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाण्डे अरण्यकाण्डे चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीके आश्रममायाग आदि का अरण्यकाण्डने चालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ । ४० ॥

गक्षसराज ! तुम्हारे अहितका विचार रखनेवाले
किस नीचने तुम्हें यह पाप करनेका उपदेश दिया है ?
ज्ञान पक्का है कि यह तुम्हें अपने ही कुकर्मसे नष्ट होत
देखना चाहता है ॥ ५ ॥

वध्याः खलु न वध्यन्ते सचिवास्तव राखण ।
मे स्वापुत्र्यधमारुते न निगृहन्ति सर्वशः ॥ ६ ॥

'राखण ! निश्चय ही वधके योग्य तुम्हारे वे मन्त्री हैं, जो
कुमारोंपर आक्रमण हुए तुम जैसे राजाका मन्त्र प्रकारसे रोक
नहीं रहे हैं; किन्तु तुम उनका बध नहीं करते हो ॥ ६ ॥

अमार्त्यः कामवृत्तो हि राजा कापञ्चमाश्रितः ।
निग्राह्य सर्वथा सञ्जि स निग्राहो न गृह्यसे ॥ ७ ॥

'अच्छे मन्त्रियोंको चाहिये कि जो राजा स्वेच्छान्वारो होकर
कृपार्णपर चलन लगे उसे मन्त्र प्रकारसे वे रोकें । तुम भी राजाके
तो योग्य हो, फिर भी वे मन्त्री तुम्हें रोक नहीं रहे हैं ॥ ७ ॥

धर्मपथं च कायं च यशश्च जयतां वर ।
स्वामिप्रसादान् सचिवाः प्राप्नुवन्ति निशाचर ॥ ८ ॥

'विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ निशाचर । मन्त्री अपने स्वामी
राजाकी कृपासे ही धर्म, अर्थ, काम और यश पाते हैं ॥ ८ ॥
विधायये तु तत्सर्वं व्यर्थं भवति राखण ।
व्यसनं स्वामिर्वगुण्यात् प्राप्नुवन्तीतरे जनाः ॥ ९ ॥

‘रावण ! यदि स्वामीकी कृपा न हो तो सब व्यर्थ हो जाता है । राजाके दोषसे दूसरे लोगोको भी कुछ भोगना पड़ता है ॥ ९ ॥

राजमूलो हि धर्मश्च यशश्च जयतां सर ।

तस्मात् सर्वास्ववस्थासु रक्षितव्या नराधिपाः ॥ १० ॥

‘विजयशीलोमें श्रेष्ठ राजसराज ! धर्म और यशकी प्राप्तिका मूल कारण राजा ही हैं, अतः सभी अवस्थाओंमें राजाकी रक्षा करना चाहिये ॥ १० ॥

राज्यं पालयितुं शक्यं न तीक्ष्णेन निशाचर ।

न धातिप्रतिकूलेन नाधिनीतेन राक्षस ॥ ११ ॥

‘राष्ट्रमें विचरनेवाले राक्षस ! जिसका स्वभाव अत्यन्त तीखा हो, जो जनताके अत्यन्त प्रतिकूल चलनेवाला और ठण्डा हो, ऐसे राजासे राज्यकी रक्षा नहीं हो सकती ॥ ११ ॥

ये तीक्ष्णमन्त्राः सचिवा पुज्यन्ते सह तेन वै ।

विवर्षेण रथाः शीघ्रं मन्दसारथयो यथा ॥ १२ ॥

जो मन्त्री तीखे उपायका उपदेश करने हैं, वे अपनी साक्षात् माननेवाले उस राजाके साथ ही दुःख भागते हैं जैसे जिनके सारथी मूर्ख हों ऐसे रथ नीची ऊँची धूमिल जंगल सारथियोंके साथ ही संकटमें पड़ जाते हैं ॥ १२ ॥

बहवः साधवो लोके युक्तधर्ममनुष्ठिताः ।

परोषामपराधेन विनष्टाः सपरिच्छन्दाः ॥ १३ ॥

‘उपयुक्त धर्मका अनुष्ठान करनेवाले बहुत-से साधु-पुरुष इस जगत्में दूसरोंके अपराधमें परिवारसहित नष्ट हो गये हैं ॥ १३ ॥

स्वामिना प्रतिकूलेन प्रजास्तीक्ष्णेन रावण ।

रक्ष्यमाणा न वर्धन्ते घेया गोपायुना यथा ॥ १४ ॥

‘रावण ! प्रतिकूल स्वामी और तीखे स्वभाववाले राजासे रक्षित होनेवाली प्रजा उम्मे तरह धड़िका नहीं प्राप्त होती है जैसे गीदड़ या भेड़ियेसे पालित होनेवाली घेड़े ॥ १४ ॥

अवश्यं विनशिष्यन्ति सर्वे रावण राक्षसाः ।

येषां त्वं कर्कशो राजा दुर्युद्धिरजितेन्द्रियः ॥ १५ ॥

‘रावण ! जिनके तुम क्रूर, दुर्युद्धि और अजितेन्द्रिय राजा हो, वे सब राक्षस अवश्य ही नष्ट हो जायेंगे ॥ १५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे एकचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्यतेन आर्षरामायणे आदिकाव्यके अरण्यकाण्डम् इकनालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४९ ॥

द्विचत्वारिंशः सर्गः

मारीचका सुवर्णमय मृगरूप धारण करके श्रीरामके आश्रमपर जाना और सीताका उसे देखना

एवमुक्त्वा तु परुषं मारीचो रावणं ततः ।

गच्छात्वेत्यब्रवीद् दीनो भयाद् रात्रिचरप्रभोः ॥ १ ॥

रावणसे इस प्रकार कहकर तब निशाचर-राजके भयसे दुःखी हुए मारीचने कहा—‘चले चले ॥ १ ॥

तदिदं काकतालीयं घोरमासादितं मया ।

अत्र त्वं शोचनीयोऽस्मि ससैन्यो विनशिष्यसि ॥ १६ ॥

‘काकतालीय न्यायक अनुसार मुझे तुम्से अकस्मान् ही यह घोर दुःख प्राप्त हो गया । इस विषयमें मुझे तुम ही शोकके योग्य जान पड़ते हो क्योंकि सैन्यासहित तुम्हारा नाश हो जायगा ॥ १६ ॥

मां निहत्य तु रामोऽसावचिरात् त्वां वधिष्यति ।

अनेन कृतकृत्योऽस्मि स्त्रिये चाप्यरिणा हतः ॥ १७ ॥

‘श्रीरामचन्द्रजी मुझे मारकर तुम्हारा भी शीघ्र ही वध कर दलेंगे । जब दोनों ही तरहसे मेरी मृत्यु निश्चित है, सब श्रीरामके हाथमें हथियारों जो यह मृत्यु है, इस पाकर मैं कृतकृत्य हो जाऊँगा, क्योंकि शत्रुके हाथ युद्धमें मारा जाकर प्राणत्याग करूँगा (तुम-जैसे राजाके हाथमें बलपूर्वक प्राणदण्ड पानेकर कुछ नहीं भोगूँगा) ॥ १७ ॥

दर्शनादेव रामस्य हतं मामवधारय ।

आत्मानं च हतं विद्धि हत्वा सीतां सवान्धवम् ॥ १८ ॥

‘राजन् ! यह निश्चित समझो कि श्रीरामके सामने आकर उनकी दृष्टि पड़ते ही मैं मारा जाऊँगा और यदि तुमने सीताका शरण किया तो तुम अपनका भी बन्धु-बान्धवोंसहित मर हुआ हो मानो ॥ १८ ॥

आनयिष्यसि चेन् सीतामाश्रमात् सहितो मया ।

नैव त्वमपि नाहं वै नैव लङ्का न राक्षसाः ॥ १९ ॥

‘यदि तुम मेरे साथ जाकर श्रीरामके आश्रमसे सीताका अपहरण करोगे तब मैं तो तुम जानते बचाऊँ और मैं भी हूँ । मैं लङ्कापुर्ण रहने पायेगा और मैं बसकि निश्चय ही राक्षस ही ।

निवार्यमाणस्तु मया हितविषा

न मृष्यसे वाक्यमिदं निशाचर ।

परंतकल्या हि गतायुषो नरा

हितं न गृह्णन्ति सुहृद्भिरीरिषिषु ॥ २० ॥

‘निशाचर ! मैं तुम्हारा हितवां हूँ इसलिए तुम पापकारिसे गुरु रहा है, किन्तु वह मेरी बात सत्य नहीं जानती है । सच है किन्तु वह आयु समाप्त हो जाती है, वे मरणासन्न पुरुष अपने सुहृदोंको कहीं दई हितकर बातें नहीं स्वीकार करते हैं ॥ २० ॥

दृष्ट्वाहं पुनस्तेन शस्त्रापासिधारिणा ।

मद्वधोद्यतशस्त्रेण निहतं जीवितं च मे ॥ २ ॥

‘मेरे वधके लिये विन्का हथियार मदा उठा ही रहता है, उन घनघ्न बाण और तलवार धारण करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीने

यदि फिर मुझे देख लिया तो मेरे जीवनका अन्त निश्चित है ।

नहिं रायं यमकाम्यं जीवन् प्रतिनिवर्तते ।

वर्तते प्रतिक्रियोऽसौ यमदण्डहतस्य ते ॥ ३ ॥

‘श्रीगणेशाय नमः’ साथ पराक्रम दिखाकर कोई जीवत नहीं लौटता है । तुम यमदण्डसे मारे गये हो (इमालिये इस भिड़नेकी बात सांचते हो) । वे श्रीगणेशजी तुम्हारे लिये यमदण्डके ही समान हैं ॥ ३ ॥

किं नु कर्तुं मया शक्यमेवं त्वयि दुरात्मनि ।

एष गच्छाम्यहं मातृ स्वस्ति तेऽस्तु निशाचर ॥ ४ ॥

‘परन्तु अब तुम इस प्रकार दुष्टतापर उतारू हो गये, तब मैं क्या कर सकता हूँ । नन्हीं, यह मैं चलाता हूँ । तब निशाचर । तुम्हारा कल्याण हो’ ॥ ४ ॥

प्रहृष्टस्त्वयमवत् तेन वचनेन स राक्षसः ।

परिवृज्य सुमंजिलमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥

मारोचके उस वचनमें राक्षस रावणका बहुत प्रसन्नता हुई । उसने उसे कसकर इटवसे लगा लिया और इस प्रकार कहा — ॥ ५ ॥

एतच्छीरोर्ध्वयुक्तं ते मच्छन्दवशावर्तिन ।

इदानीमसि भार्तिः पूर्वमन्यो हि राक्षसः ॥ ६ ॥

यह मुझमें शीर्षतक तो बात कही है, क्योंकि अब तुम मेरी इच्छाक वशावर्ती हो गये हो । इस समय तुम साक्षरवश मारीच हो । पहले तुझमें किसी दूसरे राक्षसका आग्रह हो गया था । आकाशतामस्यं शीघ्रं स्वर्गो रत्नविभूषितः ।

मया सह रथो युक्तः पिशाचवदनः शरैः ॥ ७ ॥

‘यह राक्षस विभूषित भग आकाशतामस रथ में रथा है, इसमें पिशाचाक-स मुक्काल गंध जुत हुए हैं, इसपर मेरे साथ जल्लास बैठ जाओ ॥ ७ ॥

प्रलोभयित्वा घेदेहो यथेष्टं गन्तुमर्हसि ।

तां शून्यं प्रसभ्य सोनामानयिष्यामि र्धधिलीम् ॥ ८ ॥

‘(तुम्हारे जिम्मे एक ही काम है) छिद्रकुपागे सोनाक पत्रमें अपने लिये लाभ उत्पन्न कर दो । उसे लूभाकर तुम जहाँ चाहो जा सकते हो । आश्रम मुक्त हो जानेपर मैं मिथिलेशकुमारों सोनाको खबरदस्ती उठा लाऊंगा ॥ ८ ॥

ततस्तथैवावाच स रावणः नादकामृतः ।

मनो रावणमारोचो विमानोपव तं रक्षय ॥ ९ ॥

आकाशवयनं शीघ्रं तस्मान्नाश्रममण्डलान् ।

तब रावणकुमार मारोचने राक्षसने कहा — ‘तथास्तु’ ऐसा ही । तदन्तर रावण और मारोच रावण इस विमानका रखकर बैठकर शीघ्र ही उस आश्रममण्डलसे चले दिये ॥ ९ ॥

नर्थैश्च तत्र पश्यन्ती पत्न्यानि वनानि च ॥ १० ॥

गिरिंश्च भरितः सर्वा राष्ट्राणि नगराणि च ।

यथैव दण्डकारण्यं राधवम्याश्रमं ततः ॥ ११ ॥

तदर्शं महामारीचो गच्छतो राक्षसमधिपः ।

मार्गमें पहलेको ही भाँति अनेकअनेक पत्नियों, बनों, पर्वतों, ममस्त नदियों, राष्टों तथा नगरोंको देखते हुए दोनोंने दण्डकारण्यमें प्रवेश किया और वहाँ मारोचमन्त्रित राक्षसराज राक्षसने श्रीगणेशजीका आश्रम देखा ॥ १०-११ ॥

अधतीर्थं रथात् तस्मात् ततः काञ्चनभूषणात् ॥ १२ ॥
हस्ते गृहीत्वा मारीचं रावणो वाक्यमब्रवीत् ।

तब उस सुवर्णभूषित रथमें उतरकर रावणने मारोचका हाथ अपने हाथमें ले उससे कहा — ॥ १२ ॥

एतद् रामाश्रमपदे दृश्यते कदलीवनम् ॥ १३ ॥
क्रियतां तत् सखे शीघ्रं यदर्थं वयमागताः ।

‘सखे ! यह कैलास पिर हुआ रामका आश्रम दिखायी दे रहा है । अब शीघ्र ही वह कार्य करो, जिसके लिये हमलोग यहाँ आये हैं’ ॥ १३ ॥

स रावणवचः श्रुत्वा मारीचो राक्षसस्तदा ॥ १४ ॥
मृगो भूत्वाऽऽश्रमद्वारं रामस्य विचचार ह ।

रावणकी बात सुनकर राक्षस मारोच उस समय मृगका रूप धारण करके श्रीगणेशके आश्रमक द्वारपर विचरने लगा ।

स तु रूपं समास्थाय महद्भुतदर्शनम् ॥ १५ ॥
मणिप्रवरभृद्वाग्र सितासितमुखाकृतिः ।

रक्तपद्मोत्पलमुख इन्द्रनीलोत्पलप्रथाः ॥ १६ ॥
किञ्चिदभ्युन्नतग्रीव इन्द्रनीलनिभोदरः ।

पद्मकनिभपार्श्वश्च कङ्किकुम्भकसंनिभः ॥ १७ ॥

इस समय उसमें देसनम बढ़ा हो अद्भुत रूप धारण कर गया था । उसके सोंगाके ऊपरी भाग इन्द्रनील नाभक श्रेष्ठ मणिप्रवर वन हुए जान पड़ते थे मुक्कमण्डलपर मण्ड और काल रंगका कुंड था । पार्श्वक रंग लाल कमलक समान था । उसके कान नीलकमलके तुल्य थे और गरदन कुछ ऊँची थी । उदरका भाग इन्द्रनीलमणिकी कानि धारण कर रहा था । पार्श्वभाग बाहुएके फूलक समान श्वेतवर्णके थे, शरीरका मुनहवा रंग कमलके केसरकी भाँति सुशोभित होता था ॥

वैदूर्यसंकाशखुरस्तनुजङ्घः सुसहतः ।
इन्द्राण्यधमखर्णेन पुच्छेनोर्ध्वं विराजितः ॥ १८ ॥

उमके खुर वैदूर्यमणिके समान, पिंडलियाँ पतली और पूँछ ऊपरमें इन्द्रधनुषक रंगको थी, जिससे उसका संगठित शरीर विशय शोभा पा रहा था ॥ १८ ॥

मनोहरस्त्रिगधवर्णो रत्नैर्नानाविधैर्वृतः ।
क्षणेन राक्षसो जानो मृगः परमशोभनः ॥ १९ ॥

उसकी देहकी कानि बढ़ी ही मनोहर और चिकनी थी । वह नाना प्रकारकी रत्नियों कुट्टकियोंसे विभूषित दिखायी देता था । राक्षस मारोच क्षणभरमें ही परम शोभा-शाली मृग बन गया ॥ १९ ॥

वनं प्रज्वलयन् रम्यं रामाश्रमपदं च तत् ।
मनोहरे दर्शनीयं रूपं कृत्वा स राक्षसः ॥ २० ॥

प्रलम्बेभनार्थं वैदेह्या नानाधातुविचित्रितम् ।

विचरन् गच्छते सम्यक् शाद्वलानि सपन्ततः ॥ २१ ॥

सीताको लुपानेके लिये विविध धातुओंमें चित्रित मनेहर एवं दर्शनीय रूप बनाकर वह निशाचर उस रमणीय वन तथा श्रीरामके उस आश्रमको प्रकाशित करता हुआ सब ओर उत्तम आसोंको चरने और विचरने लगा ॥ २०-२१ ॥

रौप्यबिन्दुरातैश्चित्रं भूत्वा च प्रियदर्शनः ।

विटपीनो किसलधान् भक्षयन् विचचार ह ॥ २२ ॥

सैकड़ों रजतमय बिन्दुओंसे युक्त विचित्र रूप धारण करके वह मृग बड़ा प्यारा दिखायी देता था वह भूशुक कामल परल्लसोंको खाना हुआ इधर-उधर विचरने लगा ॥

कन्दलोगुहकं गत्वा कर्णिकारानितमृतः ।

समाश्रयन् मन्दगतिं सीतासंदर्शनं ततः ॥ २३ ॥

केलेके बगोचमें जाकर वह कन्दक कुत्रम जा पहुँचा । फिर वहाँ सीताकी दृष्टि पड़ सक, ऐसे स्थानमें जाकर मन्दगतिका आश्रय ले इधर-उधर घूमने लगा ॥ २३ ॥

राजीवचित्रपृष्ठः स विरराज महामृगः ।

रामाश्रमपदाभ्याशे विचचार यथासुखम् ॥ २४ ॥

उसका पृष्ठभाग कमलक केसरोंकी भाँति मनुहर रंगका होनेके कारण विचित्र दिखाया देता था, इसमें उस महान् मृगकी बड़ी शोभा हो रही थी श्रीरामचन्द्रजीके आश्रमक निकट ही वह अपनी मौजसे घूम रहा था ॥ २४ ॥

पुनर्गत्वा निवृत्तश्च विचचार मृगोत्तमः ।

गत्वा मुहूर्ते त्वरया पुनः प्रतिनिवर्तते ॥ २५ ॥

वह श्रेष्ठ मृग कुछ दूर जाकर फिर लौट आता था और वहीं घूमने लगा था दो घड़ीके लिये काले चला जाता और फिर बड़ी उगावलीके साथ लौट आता था ॥ २५ ॥

विक्रीडंश्च कचिद् भूपौ पुनरेव निषीदति ।

आश्रमद्वारमागम्य मृगपूधानि गच्छति ॥ २६ ॥

वह कहीं खेलता कुदता और पुनः भूमिपर हो बैठ जाता था, फिर आश्रमके द्वारपर आकर मृगोंके झुंडके पीछे पीछे चल देता ॥ २६ ॥

मृगपूथैरनुगतः पुनरेव निवर्तते ।

सीतादर्शनमाकाङ्क्षन् राक्षसो मृगतो गतः ॥ २७ ॥

तत्पश्चात् झुंड के झुंड मृगोंको माथ लिय फिर लौट आता था । उस मृगरूपधारी राक्षसके मनमें केवल यह अभिरुचि थी कि किसी तरह सीताकी दृष्टि मुझपर पड़ जाय ॥ २७ ॥

परिभ्रमति बिज्राणि मण्डलानि विनिष्यतन् ।

समुद्गोक्ष्य च सर्वे तं मृगा येऽन्ये खनेचरा ॥ २८ ॥

उपगम्य समाग्राथ विव्रवन्ति दिशो दश ।

सीताके समाप आते समय वह विचित्र मण्डल (पैतरे) दिखाता हुआ चारों ओर घूमकर लगाता था । उस वनमें विचरनेवाले जो दूसरे मृग थे, वे सब उसे देखकर पास आते और उस सुँघकर दसों दिशाओंमें भाग जाते थे ॥ २८ ॥

राक्षसः सोऽपि तान् वन्यान् मृगान् मृगवधे रतः ॥ २९ ॥

प्रच्छादनार्थं भावस्य न भक्षयति संस्पृशन् ।

राक्षस मगंध वहाँपर मृगोंके वधमें ही तन्पर रहता था तथापि उस समय अपने भावको छिपानेके लिये ठन वन्य मृगोंका स्पर्श करके भी उन्हें खाना नहीं था ॥ २९ ॥

तस्मिन्नेव ततः काले वैदेही शुभलोचना ॥ ३० ॥

कुसुमापचये व्यग्रा पादपानन्यवर्तत ।

कर्णिकारानशोकांश्च घृतांश्च यदिरेक्षणा ॥ ३१ ॥

उसी समय मदपरे सुन्दर नेत्रोवाली विदेहनन्दिनी सीता जो फूल चुननेमें लगी हुई थी कनर अद्वाक और आमक वृक्षोंको लपेटते हुई उधर आ निकली ॥ ३०-३१ ॥

कुसुमान्यपचिन्वन्ती चचार रुचिरानना ।

अनर्हा वनवासस्य सा तं रत्नमयं मृगम् ॥ ३२ ॥

मुक्तामणिविचित्राङ्गं ददर्श परमाङ्गना ।

फूलोंको चुनती हुई वे वहीं विचरने लगीं । उनका मुख बड़ा ही सुन्दर था । वे वनवासका कष्ट भोगनेके मान्य नहीं थीं । परम सुन्दर सीताने उस रत्नमय मृगको देखा, जिसका अङ्ग-प्रत्यङ्ग मुक्तामणियोंसे चित्रित-सा जान पड़ता था ॥ ३२ ॥

तं वै रुचिरदन्तोष्ठं रूप्यधातुनमृगम् ॥ ३३ ॥

विस्मयोत्पुलकश्च यथा सस्तेहं समुदक्षत ।

उसके दाँत और ओष्ठ बड़े सुन्दर थे तथा शरीरके रोई चाँदी एवं नर्ब आदि धातुआक वन हुए जान पड़ते थे उसके ऊपर दृष्टि पड़ने ही सानाजोकी और आश्चर्यमें गिरत उठों और वे बड़े स्नेहसे उसकी ओर निहारने लगीं ॥ ३३ ॥

स च तां रामदयितां पश्यन् भावामयो मृगः ॥ ३४ ॥

विचचार ततस्तत्र दीपयन्निव तद् वनम् ।

वह मायामय मृग था आगधर्क आगवल्गुमा सीताको देखता और उस वनको प्रकाशित-सा करता हुआ वहीं विचरने लगा ॥ ३४ ॥

अदृष्टपूर्वं दृष्ट्वा तं नानास्त्रमयं मृगम् ।

विस्मयं परमं सीता जगाम जनकात्मजा ॥ ३५ ॥

सीताने वैस्य मृग पहले कभी नहीं देखा था । वह माना प्रकारके श्लोका ही बना जान पड़ता था । उसे देखकर जनककिशोरी सीताको बड़ा विस्मय हुआ ॥ ३५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें ब्यालीमर्वा सर्ग पूरा हुआ ॥ ४२ ॥



त्रिचत्वारिंशः सर्गः

कपटमृगको देखकर लक्ष्मणका संदेह, सीताका उस मृगको जीवित या मृत अवस्थामें भी ले आनेके लिये श्रीरामको प्रेरित करना तथा श्रीरामका लक्ष्मणको समझा-बुझाकर सीताकी रक्षाका भार सौंपकर उस मृगको मारनेके लिये जाना

सा तं सम्प्रेक्ष्य सुश्रोणी कुसुमानि विचिन्वती ।
हेमराजतवणाभ्यां पार्श्वोभ्यामुपशोभितम् ॥ १ ॥
प्रहृष्टा चानवद्याङ्गी मृष्टहाटकवर्णिनी ।
धर्तारिपतिं हृदयं लक्ष्मणं चैव साधुधम् ॥ २ ॥

यह मृग सोने और चाँदीके समान कान्तिवाले पार्श्व-गांगोंसे सुशोभित था। शुद्ध मुखोंके समान कान तथा निर्दोष अङ्गवाली सुन्दरी सीता फूल चुनते-चुनत ही उस मृगको देखकर मन-हो-मन बहुत प्रमत्त हुई और अपने मन श्रीराम तथा देखकर लक्ष्मणको हार्थहार लेकर आनेके लिये पुकारने लगी ॥ १-२ ॥

आहूयाहूय च पुनस्तं मृगं साधु वीक्षते ।
आगच्छागच्छ शीघ्रं वै आर्यपुत्र सहानुज ॥ ३ ॥

वे बार-बार उन्हें पुकारती और फिर उस मृगको अच्छी तरह देखने लगती थीं। वे बोलीं, 'आर्यपुत्र ! अपने भाईके साथ आइये, शीघ्र आइये' ॥ ३ ॥

तावाहूती नरव्याघ्रो वैदेह्या रामलक्ष्मणौ ।
वीक्षमाणां तु तं देशं तदा ददशतुर्दृग्म् ॥ ४ ॥

विदेहकुमारी सीताके द्वारा पुकारे जानपर नरशृङ्ग आराम और लक्ष्मण वहाँ आये और उस स्थानपर सब ओर दृष्टि डालते हुए उन्होंने उस समय उस मृगको देखा ॥ ४ ॥

शङ्कमानस्तु तं दृष्ट्वा लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत् ।
तपेर्वनमहं मन्ये मारीचं राक्षसं मृगम् ॥ ५ ॥

उस देखकर लक्ष्मणके मनमें सन्देह हुआ और वे बोले—'मैया ! मैं तो समझता हूँ कि इस मृगके रूपमें यह मारीच नामका राक्षस ही आया है ॥ ५ ॥

चरन्तो मृगयां हृष्टाः पापेनोपाधिना वने ।
अनेन निहता राम राजानः कामरूपिणा ॥ ६ ॥

श्रीराम ! स्वच्छानुसार रूप धारण करनेवाले इस पापोंके कपट-रंग बनाकर वनमें शिकार खेलनेके लिये आया हुआ कितने ही हर्षानुकूल नरशोका बंध किया है ॥ ६ ॥

अस्य मायाविदो माया मृगरूपामहं कृतम् ।
आनुमत् पुरुषव्याघ्र गन्धर्वपुरसंनिभम् ॥ ७ ॥

पुरुषमह ! यह अनेक प्रकारको मायाएँ जानती है। इसकी जो माया सुनी गयी है, वही इस प्रकाशमान मृगरूपमें परिणत हो गयी है। यह गन्धर्व-नगरके समान देखनेवाले लिये ही है (इसमें वास्तविकता नहीं है) ॥ ७ ॥

मृगो ह्येवंविधो रत्नविचित्रो नास्ति राघव ।
जगत्या जगतीनाञ्च मायेषा हि न शशयः ॥ ८ ॥

'रघुनन्दन ! पृथ्वीतथ ! इस भूतलपर कहीं भी ऐसा विचित्र रत्नमय मृग नहीं है; अतः निःसंदेह यह माया ही है' ।

एव हृषाणं काकुत्स्थं प्रतिवार्य शुचिस्मिता ।
उवाच सीता संहृष्टा छयना हतचेतना ॥ ९ ॥

मागेचके छलमें जिनकी विचारशक्ति हर ली गयी थी, उन पवित्र मुसकानवाली सीताने उपर्युक्त बात कहते हुए लक्ष्मणको रोककर स्वयं ही बड़े हर्षके साथ कहा— ॥ ९ ॥

आर्यपुत्रार्थरामोऽसौ मृगो हरति मे मनः ।
आनयनं महाबाहो क्रीडार्थं नो भविष्यति ॥ १० ॥

'आर्यपुत्र ! यह मृग बड़ा ही सुन्दर है। इसने मेरे मनका हर लिया है। महाबाहो ! इसे ले आइये। यह हमलोगोंके मन-बहलावक लिये रहेगा ॥ १० ॥

इहाश्रमपदेऽस्माकं बहवः पुण्यदर्शनाः ।
मृगाश्चरन्ति सहिताक्षमराः सुमरास्तथा ॥ ११ ॥

ऋक्षाः पृषतमहाश्च चानराः किन्नरास्तथा ।
विहरन्ति महाबाहो रूपश्रेष्ठा महाबलाः ॥ १२ ॥

न चान्यः सदृशो राजन् दृष्टः पूर्वं मृगो मया ।
तेजसा क्षयथा दीप्या चकार मृगसमयः ॥ १३ ॥

'राजन् ! महाबाहो ! यद्यपि हमारे इस आश्रमपर बहुत-से पवित्र एवं दर्शनीय मृग एक साथ आकर खरते हैं तथा मृधर (काली पृष्ठवाली चंदरी गाय), चमर (सफेद पृष्ठवाली चंदरी गाय), रीरु, चितकखरे मृगोंके झुंड, खानर तथा मुन्दर रूपवाले महाबली किन्नर भी विचरण करते हैं तथापि अनेक पहल्वे मैंने दूसरा कोई ऐसा तेजस्वी, सीम्य और शान्तमान मृग नहीं देखा था जैसा कि यह श्रेष्ठ मृग दिखायी दे रहा है ॥ ११—१३ ॥

नानावर्णविचित्राङ्गो रत्नभूतो ममाग्रतः ।
द्योतयन् वनमप्यग्रं शोभते शशिसंनिभः ॥ १४ ॥

'नाना प्रकारके रंगोंसे युक्त होनेके कारण हरके अङ्ग विचित्र जान पड़ते हैं, ऐसा प्रतीत होता है मानो यह अङ्गोंका ही बना हुआ हो। मेरे आगे निर्धय एवं शान्तभावसे स्थित हाकर इस वनको प्रकाशित करता हुआ यह चन्द्रमाके समान शोभा पा रहा है ॥ १४ ॥

अहो रूपमहो लक्ष्मीः स्वरसम्पन्न शोभना ।
मृगोऽद्भुतो विचित्राङ्गो हृदयं हरतीव मे ॥ १५ ॥

इसका रूप अद्भुत है। इसकी शोभा अवर्णनीय है। इसकी स्वरसम्पत्ति (बेली) बड़ी सुन्दर है। विचित्र अङ्गोंसे सुशोभित यह अद्भुत मृग मेरे मनको मोह लेता है ॥ १५ ॥

यदि ग्रहणमभ्येति जीवन्नेव मृगस्तथ ।

आश्चर्यभूते भवति विस्मय जनधिष्यति ॥ १६ ॥

‘यदि यह मृग जीते-जी ही आपकी पकड़में आ जाय तो एक आश्चर्यकी वस्तु होगा और उसके इत्यर्थमें विस्मय उत्पन्न कर देगा ॥ १६ ॥

समाप्तवनवासानां राज्यस्थानां च नः पुनः ।

अन्तःपुरे विभूषार्थो मृग एव भविष्यति ॥ १७ ॥

‘जब हमारे वनवासकी अवधि पूरी हो जायगी और हम पुनः अपना राज्य या लंगे, तब समय यह मृग हमारे अन्तःपुरकी शोभा बढ़ावेगा ॥ १७ ॥

भरतस्वार्थपुत्रस्य शुश्रूणां मम च प्रभो ।

मृगरूपमिदं दिव्यं विस्मयं जनधिष्यति ॥ १८ ॥

‘प्रभो इस मृगका यह दिव्य रूप भरतके, आपके, मेरी सामुआंके और मेरे लिये भी विस्मयजनक होगा ॥ १८ ॥

जीवन्न यदि तेऽभ्येति ग्रहणं मृगस्तथः ।

अजिनं नरशार्दूल रुचिरं तु भविष्यति ॥ १९ ॥

‘पुरुषसिंह । यदि कदाचिन् यह श्रेष्ठ मृग जिते-जी पकड़ा न जा सके तो इसका धमड़ा ही बहुत सुन्दर होगा ॥ १९ ॥

निहतस्यास्य सत्त्वस्य जाम्बूनदमयत्वचि ।

शष्पधृस्यां विनीतायामिच्छाम्यहमुपासितुम् ॥ २० ॥

‘भास-फूसकी बनी हुई चटाईपर इस मर हुए मृगका सुवर्णमय चमड़ा बिछाकर मैं इन्पर आपके साथ बैठना चाहती हूँ ॥ २० ॥

कामवृत्तमिदं रौद्रं स्त्रीणामसदृशं मतम् ।

वपुषा त्वस्य सत्त्वस्य विस्मयो जनितो मम ॥ २१ ॥

‘यद्यपि स्त्रीएणसे प्रेरित होकर अपने पतिको ऐसे काममें लगाया यह भयंकर स्नेच्छानाश है और साध्वी स्त्रियोंके लिये स्वीकृत नहीं माना गया है तथापि इस जन्तुके शरीरमें धीरे हृदयों विग्नय उत्पन्न कर दिया है (इसलिये मैं इसको पकड़ लानेके लिये अनुरोध करती हूँ) ॥ २१ ॥

तेन काष्ठयरोण्यां तु मणिप्रवरमुद्भिणा ।

तरुणादित्यवर्गेण नक्षत्रपथवर्त्तसा ॥ २२ ॥

बभूव राघवस्यापि धनो विस्मयमागतम् ।

इति सीतावचः श्रुत्वा दृष्ट्वा च मृगमद्भुतम् ॥ २३ ॥

लोभितस्तेन रूपेण सीतया च प्रचोदितः ।

तवाच्च राघवो हृष्टो भ्रातरं लक्ष्मणं वचः ॥ २४ ॥

सुनहरी रोमावली, इन्द्रनील भणिके समान सौंग, उदयकालके सूर्यकी-सी कान्ति तथा नक्षत्रलोककी भांति विन्दुयुक्त तेजसे सुशोभित उस मृगका देखकर श्रीरामचन्द्र-जीका मन भी विस्मित हो उठर। सीताकी पूर्वोक्त बातकी सुनकर, उस मृगके अद्भुत रूपको देखकर, उसके उस रूपपर लुभाकर और सीतासे प्रेरित होकर हर्षम भरे हुए श्रीरामने अपने भाई लक्ष्मणसे कहा— ॥ २२—२४ ॥

पश्य लक्ष्मण वंदेष्टाः स्पृहामुल्लसितामिमाम् ।

रूपश्रेष्ठतया होय मृगोऽद्य न भविष्यति ॥ २५ ॥

‘लक्ष्मण ! देखो तो सही, विदेहानन्दनी सीताके मनमें इस मृगको पानेके लिये कितनी प्रबल इच्छा जाग उठी है ? वास्तवमें इसका रूप है भी बहुत ही सुन्दर। अपने रूपकी इस श्रेष्ठताके कारण ही यह मृग आज जीवित नहीं रह सकेगा ॥ २५ ॥

न बने नन्दनोद्देशे न चैत्ररथसंग्रहे ।

कुतः पृथिव्यां सीमित्रं योऽस्य कश्चित् समो मृगः ॥ २६ ॥

‘सुमित्रानन्दन । दत्तत्राज इन्द्रके नन्दनवनमें और कुबेरके चैत्ररथवनमें भी कोई ऐसा मृग नहीं होगा, जो इसकी समानता कर सके। फिर पृथ्वीपर तो हो ही कहाँगि सकता है ॥ २६ ॥

प्रतिलोमानुलोमाश्च रुचिरा रोमराजयः ।

शोभन्ते मृगमाश्रित्य चित्रा, कनकविन्दुभिः ॥ २७ ॥

‘देखो और सोधो रुचिर रोमावलीयाँ इस मृगके शरीरका आश्रय ले सुनहरे विन्दुआसे चित्रित हो बड़ी शोभा पा रही हैं ॥ २७ ॥

पश्यास्य जृम्भमाणस्य दीप्तामग्निशिखोपमाम् ।

जिह्वां मुखानि सरन्तीं मेघादिव शनहुदाम् ॥ २८ ॥

‘देखो न जब यह जैभाई लेता है, तब इसके मुखसे प्रस्फलित अग्निशिखाके समान दमकती हुई जिह्वा बाहर निकल आती है और मेघसे प्रकट हुई धिजलीके समान चमकने लगती है ॥ २८ ॥

मसारगत्त्वर्कमुखः शङ्खमुक्तानिमोदरः ।

कस्य नामानिरूप्योऽसौ न मनो लोभयेन्मृगः ॥ २९ ॥

‘इसका मुख-सम्पुट इन्द्रनीलभणिके बने हुए चपक (पानपात्र) के समान जान पड़ता है, उदर शङ्ख और मोतीके समान सफट है। यह अवर्णनीय मृग किम्क मनकी नहीं लुभा लेगा ॥ २९ ॥

कस्य रूपमिदं दृष्ट्वा जाम्बूनदमयप्रथम् ।

नानारत्नमयं दिव्यं न धनो विस्मयं व्रजेत् ॥ ३० ॥

‘नाना प्रकारके रत्नोंमें विभूषित इसका सुनहरी प्रभावाले दिव्य रूपको देखकर किम्के मनमें विस्मय नहीं होगा ।

मांसहेनोरपि मृगान् विहारार्थं च धन्विनः ।

प्रन्ति लक्ष्मण राजानो मृगयार्थां महावने ॥ ३१ ॥

‘लक्ष्मण ! राजास्त्रेण बड़े-बड़े वनोंमें मृगया खेलते समय मांस (मृगचर्म) के लिये और शिकार खेलनका शौक पूरा करनेके लिये भी धनुष हाथमें लेकर मृगोंको मारते हैं ।

धनानि व्यवसायेन विचीयन्ते महावने ।

घातयो विविधाश्चापि मणिरत्नसुवर्णिनः ॥ ३२ ॥

मृगयाके उद्योगसे ही राजा स्त्रेण विशाल वनमें धनकी भी संग्रह करते हैं, क्योंकि वहाँ मणि, रत्न और सुवर्ण आदिसे युक्त नाना प्रकारकी धातुएँ उपलब्ध होती हैं ॥ ३२ ॥

नत् सारमस्थिलं नृणां धनं निचयवर्धनम् ।

धनसा चिन्तितं सर्वं यथा शुक्रस्य लक्ष्मण ॥ ३३ ॥

‘लक्ष्मण ! कोशकी वृद्धि करनेवाला वह वन्य धन मनुष्योंके लिये अत्यन्त उत्कृष्ट होता है । ठीक उसी तरह, जैसे ब्रह्मभावको प्राप्त हुए पुरुषके लिये धनके चिन्तनमात्रमें प्राप्त हुई सारी वस्तुएँ अत्यन्त उत्तम बनार्यो गयी हैं ॥ ३३ ॥

अर्थी येनार्थकृत्येन संव्रजत्याविचारयन् ।

तथार्थमर्थशास्त्रज्ञाः प्राहुरर्थ्याः सुलक्ष्मण ॥ ३४ ॥

लक्ष्मण ! अर्थी मनुष्य जिस अर्थ (प्रयोजन) का सम्पादन करनेके लिये उमङ्गे प्राति आकृष्ट हो बिना विचार हो खल देता है, उस अत्यन्त आवश्यक प्रयोजनको ही अर्थसाधनमें धनुर एक अर्थशास्त्रके ज्ञाना विद्वान् ‘अर्थ’ कहत है ॥ ३४ ॥

एतस्य मृगरत्नस्य परार्थ्यं काञ्चनत्वञ्चि ।

उपवेक्ष्यति वेदेही मया सह सुमध्यमा ॥ ३५ ॥

इस रत्नस्वरूप श्रेष्ठ मृगके बहुमूल्य सुन्दर चमड़ेपर सुन्दरी विदहराजभन्दिनी सांता मेरे साथ बैठेगी ॥ ३५ ॥

न कादली न प्रियकी न प्रवेणी न चाचिकी ।

भवेदेतस्य सदृशो स्पर्शेऽनेनेति मे भतिः ॥ ३६ ॥

‘कादली (कामल ऊँचे चिक्कयारे और नीलाग्रोमखाले मृगविशेष), प्रियक (कामल ऊँचे चिक्कने और घन गेयखाले मृगविशेष), प्रवेण (विशेष प्रकारके बकरे) और अचि (भेड़) की त्वचा भी स्पर्श करनेमें इस काञ्चन मृगके छालके समान कामल एवं मुग़ड नहीं हो सकती ऐसा मेरा विश्वास है ॥ ३६ ॥

एष चैव मृगः श्रीमान् यश्च दिव्यो नभश्चरः ।

उभावेतौ मृगौ दिव्या ताराभृगमहोमृगौ ॥ ३७ ॥

‘यह सुन्दर मृग और वह जो दिव्य आकाशचारी मृग भृगुशशिनक्षत्र है, ये दोनों ही दिव्य मृग हैं । इनमेंसे एक तारामृग^१ और दूसरा महीमृग^२ है ॥ ३७ ॥

यदि खग्य तथा यन्मा भवेत् घटसि लक्ष्मण ।

मायेषा राक्षसस्येति कर्णव्योऽस्य सधो मया ॥ ३८ ॥

‘लक्ष्मण ! तुम भूझमें जैसा कह रहे हो यदि जैसा ही यह मृग हो, यदि यह राक्षसकी भया हो हो तो भी मुझे उसका वध करना ही चाहिये ॥ ३८ ॥

एनेन हि भृशसेन भारीचैनाकृतात्मना ।

वने विचरता पूर्वं हिंसिता मुनिपुगवाः ॥ ३९ ॥

‘क्योंकि अपवित्र (दुष्ट) चिन्ताले इन क्रूरकर्मों मार्गचने वनमें विचरत समवे पहल अनकानक श्रेष्ठ

मुनियोंकी हत्या की है ॥ ३९ ॥

उत्थाय बहवोऽनेन मृगयायां जनाधिपः ।

निहताः परमेषासास्तस्याद् वध्यस्त्वयं मृगः ॥ ४० ॥

‘इसने मृगयाके समय प्रकट होकर बहुत-से महाधनुर्धर संशोका वध किया है, अतः इस मृगके रूपमें इसका भी वध अवश्य करनेयोग्य है ॥ ४० ॥

पुरस्तादिह खातापिः परिभूय तपस्विनः ।

उदरस्थो द्विजान् हन्ति स्वगर्भोऽधनरीमिव ॥ ४१ ॥

इसी वनमें पहले खातापि नामक राक्षस रहता था, जो तपस्वी महात्माओंका तिरस्कार करके कपटपूर्ण उपायमें उनके पेटमें पहुँच जाता और जैसे खरोंको अपने ही गर्भका बना नष्ट कर देता है, उसी प्रकार उन ब्रह्मर्षियोंको नष्ट कर देता था ॥ ४१ ॥

स कदाचिद्विरागलोभादाससाद महामुनिम् ।

अगस्त्यं तेजसा युक्तं भक्षयस्तस्य अभूव ह ॥ ४२ ॥

‘वह खातापि एक दिन दौर्घकालक पश्चात् लोभवश तेजस्वी महामुनि अगस्त्यजीके पास जा पहुँचा और (श्राद्धकालमें) उनका आहार बन गया । उनके पेटमें पहुँच गया ॥ ४२ ॥

समुत्थाने च तद्रूपं कर्तुंकामं सर्पाक्ष्य तम् ।

उत्समयित्वा तु भगवान् खातापिपिदमब्रवीत् ॥ ४३ ॥

श्राद्धके अन्तमें जब वह अपना राक्षसरूप प्रकट करनेकी इच्छा करने लगा—उनका पेट फाड़कर निकल आनेको उद्यत हुआ, तब उस खातापिको लक्ष्य करके भगवान् अगस्त्य मुसकरावे और उससे इस प्रकार बोले— ॥ ४३ ॥

त्वयाविगण्य खातापे परिभूताश्च तेजसा ।

जीवलोके द्विजश्रेष्ठास्तस्मादसि जरो गतः ॥ ४४ ॥

‘खाताप ! तुमने बिना सोचे-विचार इस जीव-जगत्में जन्मने में श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको अपने नेत्रसे निगमृत किया है ठीकी पापसे अब तुम पच गये ॥ ४४ ॥

नत् रक्षो न भवेदेव खातापिरिव लक्ष्मण ।

मद्विधं योऽतिमन्येत धर्मनित्यं जितेन्द्रियम् ॥ ४५ ॥

‘लक्ष्मण ! जो सदा धर्ममें तत्पर रहनेवाले मुझ-जैसे जितेन्द्रिय पुरुषका भी अतिक्रमण करे, उस मारीच नामक राक्षसको भी खातापिक समान ही नष्ट हो जाना चाहिये । भवेद्भूतोऽयं खातापिरगस्त्येनेव मा गतः ।

इह त्वं भव संनद्धो यन्नित्यो रक्ष र्धधिलीम् ॥ ४६ ॥

‘जैसे खातापि अगस्त्यके द्वारा नष्ट हुआ, उसी प्रकार यत् मारीच अब मेरे सामने आकर अवश्य ही मारा जायगा । तुम अस्व और कवच आदिसे सुसज्जित हो जाओ और यहाँ

१. नक्षत्रलोकमें विचरनवाला मृग (भृगुशशिन नक्षत्र) ।

२. दूसरा पृथ्वापर विचरनवाला काञ्चन मृग

सावधानोंके साथ मिथिलेशकुमारोंको रक्षा करो ॥ ४६ ॥
अस्वामायतमस्माकं यत् कृत्यं रघुनन्दन ।

अहमेनं वधिष्यामि प्रहीष्याम्यथवा मृगम् ॥ ४७ ॥

‘रघुनन्दन ! हमलोगोंका जो आवश्यक कर्तव्य है, यह सीताको रक्षाके ही अधीन है । मैं इस मृगको मार डालूँगा अथवा इसे जंता ही पकड़ लूँगा ॥ ४७ ॥

यावद् गच्छामि सौमित्रे मृगमानयितुं द्रुतम् ।

पश्य लक्ष्मण वैदेह्या मृगत्वचि गतां स्पृहाम् ॥ ४८ ॥

‘सुमित्राकुमार लक्ष्मण ! देखो, इस मृगका चर्म हस्तगत करनेके लिये विदेहनन्दिनीको कितनी उत्कण्ठा हो रही है, इसलिये इस मृगको ले आनेके लिये मैं द्रुत हो जा रहा हूँ ॥ ४८ ॥

त्वचा प्रथानया ह्येष मृगोऽथ न भविष्यति ।

अप्रमत्तेन ते धाव्ययाश्रयस्थेन सीतया ॥ ४९ ॥

यावत् पुष्यतमेकेन सायकेन निहन्म्यहम् ।

हृत्पतयिष्ये चादाय शीघ्रमेध्यामि लक्ष्मण ॥ ५० ॥

इत्यर्थे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाण्डेऽरण्यकाण्डे त्रिषत्वारिंशः सर्गः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरागायण आदिकाण्ड अरण्यकाण्डमें तैत्तलीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

श्रीरामके द्वारा मारीचका वध और उसके द्वारा सीता और लक्ष्मणके पुकारनेका शब्द सुनकर श्रीरामकी चिन्ता

तथा तु ते समादिश्य भ्रातरं रघुनन्दनः ।

अथन्नास्ति महानेजा जाम्बूनदमयत्सरम् ॥ १ ॥

लक्ष्मणको इस प्रकार आदेश देकर शकुन्तला आनन्द बलानेवाले महानेजस्यो श्रीरामचन्द्रजीने मीनेकी मृदुवासी तलवार कमरमें बांध ली ॥ १ ॥

ततस्त्रिविन्तौ धापमादायात्मविभूषणम् ।

आवृष्य च कपालौ द्वौ जगामोदप्रविक्रमः ॥ २ ॥

तत्पश्चात् महापराक्रमी रघुनाथजी तान स्थानोंमें झुके हुए आगे आगुणरूप धातुकी हाथमें ल पीठपर दो तरकम धातुकर बनाते वस्त्र दिये ॥ २ ॥

ते वन्यराजो राजेन्द्रपापतन्त्रं निरोक्ष्य वै ।

अधूवान्तर्हि नस्त्रासात् पुनः सदृशनिऽपवत् ॥ ३ ॥

राजाभिराज श्रीरामकी आते देख वह वन्य मृगावध राजा वन्यमृग वधके बारे छिप गया, किन्तु फिर तुरंत ही उनके दृष्टिपथमें आ गया ॥ ३ ॥

बद्धासिर्धनुरादाय प्रदुद्राव यतो मृगः ।

न स्म पश्यति रूपेण द्योतयन्तमिवाप्रतः ॥ ४ ॥

अवेक्ष्यावेक्ष्य धावन्तो धनुष्याणिर्महावने ।

अतिवृत्तमिश्रोत्याताल्लोभयानं कदाचन ॥ ५ ॥

शङ्किते तु समुद्रभ्रान्तपुत्पतन्तमिवाव्यग्रम् ।

‘इस मृगको मारनेका प्रधान हेतु है, इसके चमड़ेको प्राप्त करना । आज इसीके कारण यह मृग जीवित नहीं रह सकेगा । लक्ष्मण ! तुम आश्रमपर रहकर सीताके साथ सावधान रहना—सावधानोंके साथ तबतक इसकी रक्षा करना, जबतक कि मैं एक ही बाणसे इस चितकबरे मृगको मार नहीं डालता हूँ । मारनेके पश्चात् इसका चमड़ा लेकर मैं शीघ्र लौट आऊँगा ॥ ४९-५० ॥

प्रदक्षिणेनातिशलेन पक्षिणा

जटायुषा बुद्धिमता च लक्ष्मण ।

भवाप्रयत्नः प्रतिगृह्य मेधिली

प्रतिक्षणं सर्वत एव शङ्कितः ॥ ५१ ॥

‘लक्ष्मण ! बुद्धिमान् पक्षी मृगराज जटायु बड़े ही बलवान् और सामर्थ्यशाली है । उनके साथ ही यहाँ सदा सावधान रहना । मिथिलेशकुमारी सीताको अपने संरक्षणमें लेकर प्रतिक्षण सब दिशाओंमें रहनेवाले रक्षकोंकी ओरसे चौकन्ना रहना ॥ ५१ ॥

दृश्यमानमदृश्यं च वनोद्देशेषु केषुचित् ॥ ६ ॥

छिन्नाभ्रैरिव संवीतं शारदं चन्द्रमण्डलम् ।

मुहूर्तदिव ददृशे मुहूर्तरात् प्रकाशते ॥ ७ ॥

तब तलवार बांध और धनुष लिये श्रीराम जिस ओर वह मृग था, उमी ओर दौड़े । धनुष श्रीरामने देखा, वह अपने रूपमें सामनेकी दिशाओंमें प्रकाशित-सी कर रहा था । उस महान् वनमें वह पीछरों ओर दंज-देखकर आगेकी ओर भाग रहा था । कभी छल्लगी मार्कर बहुत दूर निकल जाता और कभी इनका निकट दिखायी देता कि हाथसे पकड़ लेनेका लोभ पैदा कर देता था । कभी डरा हुआ कभी घबराया हुआ और कभी आकाशमें उछलता हुआ दीख पड़ता था । कभी वनके किन्हीं स्थानोंमें छिपकर अदृश्य हो जाता था, मानो समुद्रतट पर चन्द्रमण्डल मेघखण्डोंसे आवृत हो गया हो । एक ही मुहूर्तमें वह निकट दिखायी देता और पुनः बहुत दूरके स्थानमें चमक उठता था ॥ ६-७ ॥

दर्शनादर्शनैव सोऽपाकर्षत राघवम् ।

स दूरमाश्रमस्यास्य मारीचो मृगतां गतः ॥ ८ ॥

इस तरह प्रकट होता और छिपता हुआ वह मृग-रूपधारी मारीच श्रीरघुनाथजीको उनके आश्रमसे बहुत दूर खींच ले गया ॥ ८ ॥

आसीत् कुहस्तु काकुत्स्थो विवशस्तेन मोहितः ।
अथावतस्थे सुश्रान्शृणुयामाश्रित्य शाद्वले ॥ ९ ॥

उस समय उससे माहित और विवश होकर श्रीराम कुल
कुपित हो उठे और शककर एक जगह छायाका आश्रय ले
हरी-हरी घासवाली भूमिपर खड़े हो गये ॥ ९ ॥

स तमुन्मादयाधास मृगरूपो निशाचरः ।
पुगीः परिवृतोऽथान्यैरदूरात् प्रत्यदृश्यत ॥ १० ॥

इस मृगरूपधारी निशाचरने उन्हें डमक-सा कर दिया
था। थोड़ी ही देरमें वह दूरसे भूगोरे घिरा हुआ फस ही
दिखायी दिया ॥ १० ॥

अहीतुकामं दृष्ट्वा तौ पुनरेवाभ्यधावत ।
तत्क्षणादेव संप्राप्तात् पुनरन्वर्हितोऽभवत् ॥ ११ ॥

श्रीराम भूमे पकड़ना चाहते हैं, यह देखकर वह फिर
भाग्य और भयके भौं पुनः तत्काल ही अदृश्य हो गया ॥

पुनरेव ततो दूराद् वक्षस्वण्डाद् विनिःसृतः ।
दृष्ट्वा रामो महातेजास्तं हन्तुं कृतनिश्चयः ॥ १२ ॥

तदनन्तर वह पुनः दूरवर्ती वृक्ष-समूहमें होकर निकला ।
उसे देखकर महातेज्यों श्रीरामने मार डालनेका निश्चय
लिया ॥ १२ ॥

भूयस्तु शरमुद्धृत्य कुपितस्तत्र राघवः ।
सूर्यरश्मिप्रतीकाशं ज्वलन्तमरिमटनम् ॥ १३ ॥

सेधाय सुदृढे चापे विकृष्य बलवद्बली ।
तमेव भृगुवृक्षेण सुसन्तपिव पन्नगम् ॥ १४ ॥

मुमोक्ष ज्वलितं वीक्ष्यमानं ब्रह्मविनिर्भितम् ।
तत्र यहाँ क्रोधमें भरे हुए बलवान् राघवन् श्रीरामने

नरकस्मसे सूर्यका किरणोंके समान तेजस्वी एक प्रज्वलित एव
शत्रु सज्जारक बाण निकालकर उसे अपने मुटू में धनुषपर रखा
और उस धनुषका जागम खींचकर उस भृगुका ही लक्ष्य
करके फुफकारते सर्पके समान सनसनाता हुआ वह
प्रज्वलित एव तेजस्वी बाण, जिसे ब्रह्मजाने बनाया था
छोड़ दिया ॥ १३-१४ ॥

शरीरं मृगरूपस्य विनिर्भितं शरीरमः ॥ १५ ॥
भारीवस्थेन हृदये विधेदाशनिसंनिधः ।

उसके समान तेजस्वी उस वनमें कणने भृगरूपधारी
मारोचके शरीरको चीरकर उसके हृदयको भी विभेद कर दिया ।

मालमात्रमथोत्प्लुत्य न्यपतन् स भृशानुरः ॥ १६ ॥
व्यनदद् धैर्यं नादं धरायापस्पृजीवितः ।

उसकी घोटसे अत्यन्त आगुर हो वह राक्षस ताड़के
छगछर हड़लकर पृथ्वीपर गिर पड़ा । उसका ओचने समान हो
चला । वह पृथ्वीपर पड़ा-गड़ा धैर्यकर गजब करने लगा ॥

प्रियमाणस्तु भारीक्षो जहौ तौ कृत्रिमां तनुम् ॥ १७ ॥
स्मृत्वा तद्वचनं रक्षो लब्धौ केन तु लक्ष्मणम् ।

इत प्रस्थापयेत् सीता तौ भृत्ये रावणो हरेत् ॥ १८ ॥

मरने समय मारोचने अपने उस कृत्रिम शरीरको त्याग
दिया । फिर रावणक सचनका स्मरण करके उस राक्षसने
सच्चा किस उपायमें सीता लक्ष्मणको यहाँ भज दे और सुने
आश्रमसे रावण ठम हो ले जाय ॥ १७-१८ ॥

स प्राप्तकालमाज्ञाय चकार च ततः स्वनम् ।
सदृशं राघवस्थेन हा सीते लक्ष्मणेति च ॥ १९ ॥

रावणके बताने हुए उपायका काममें लामका अक्षर आ
गया है—यह समझकर तमने श्रीरामचन्द्रजीके ही समान
स्वरमें 'हा सीते ! हा लक्ष्मण !' काकर पुकारा ॥ १९ ॥

तेन मर्मणि निर्विद्धं शरेणानुपमेन हि ।
पृगरूपं तु तन् त्यक्त्वा राक्षसं रूपमास्थितः ॥ २० ॥

श्रीरामके अनुपम बाणसे उसका मर्म विदीर्ण हो गया
था, अतः उस भृगरूपको त्यागकर उसने राक्षसरूप
धारण कर लिया ॥ २० ॥

उत्तं स सुमहाकायं भारीचो जीवितं त्यजन् ।
तं दृष्ट्वा पतितं पूर्णं राक्षसं भीमदर्शनम् ॥ २१ ॥

रामो रुधिरसिक्ताङ्गं छेष्टमानं सहोत्तलं ।
जगाम धनसा सीतां लक्ष्मणस्य वचः स्मरन् ॥ २२ ॥

प्राणत्याग करते समय मारोचने अपने शरीरको बहुत बड़ा
बना लिया था । भयकर दिखायी देनेवाले उस राक्षसको
भूमिपर पड़कर खूनस लथपथ हो धरतीपर लोटत और
छटपटाते देख श्रीरामको लक्ष्मणकी कड़ी हुई बात याद आ
गयी और वे मन-ही-मन सीताकी चिन्ता करने लगे ।

भारीचस्य तु मार्यया पूर्वोक्तं लक्ष्मणेन तु ।
तत् तथा ह्यभवच्छाद्य भारीचोऽयं मया हतः ॥ २३ ॥

वे मारोचने लगे, 'अहा ! जैसा लक्ष्मणने पहले कहा था,
उसके अनुसार यह वास्तवमें भारीचकी भाया ही थी ।
लक्ष्मणकी बात ठीक निकली । आज मेरे द्वारा यह मारोच ही
मार गया ॥ २३ ॥

हा सीते लक्ष्मणोत्प्रेवमाकुश्य तु महास्वनम् ।
ममार राक्षसः सोऽयं श्रुत्वा सीता कथं भवेत् ॥ २४ ॥

लक्ष्मणाश्च महाकाहुः कामवस्थां गमिष्यति ।
'परन्तु यह राक्षस उद्यस्वरमें हा सात । हा लक्ष्मण !' की

पुकार काकर भरा है । इनके उस डाढ़का सुनकर सीताकी
कैसी अवस्था हो जायगी और मारोचाने लक्ष्मणकी भी क्या
दशा होगी ? ॥ २४ ॥

इति संचिन्त्य धर्मात्मा रामो हृष्टतनूरुहः ॥ २५ ॥
तत्र रामे भयं तीव्रमाविवेश विषादजम् ।

राक्षसं मृगरूपं तं हत्वा श्रुत्वा च तत्स्वनम् ॥ २६ ॥
ऐसा मारोचकर धर्मात्मा श्रीरामके गेटे खड़े हो गये । उस

समय वहाँ भृगरूपधारी उस राक्षसको मारकर और उसके
उस डाढ़को सुनकर श्रीरामके मनमें विषादजनित तीव्र भय
मया गया ॥ २५-२६ ॥

निहत्य पृथक् चान्ये मांसमादाय राघवः ।
स्वरमाणी जनस्थाने ससाराभिमुखं तदा ॥ २७ ॥
उस लोकविलक्षण भृगुका वध करक तपस्याके उपभोगमें

आनेयोग्य फल-मूल आदि लेकर श्रीराम तत्काल ही जन-
स्थानके निकटवर्ती पञ्चवटीमें स्थित अपने आश्रमकी ओर
बड़ी उतावलीके साथ चले ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें चौवालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ । ४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

सीताके मार्मिक वचनोंसे प्रेरित होकर लक्ष्मणका श्रीरामके पास जाना

आर्तस्वरे तु तं भर्तुर्विज्ञाय सदृशं वने ।
उवाच लक्ष्मणं सीता गच्छ जानीहि राघवम् ॥ १ ॥
उस समय वनमें जो आर्तनाद हुआ, उसे अपने पतिके
स्वरसे मिलता-जुलता जान श्रीसीताजी लक्ष्मणसे बोलीं
'भैया जाओ श्रीरघुनाथजीको गुांध लो—उनका समाचार
जानी ॥ १ ॥

नहि ये जीविते स्थाने हृदयं वाचतिष्ठते ।
क्रोशतः परमार्तस्य श्रुतः शब्दो मया भृशम् ॥ २ ॥
'उन्होंने वड़े आर्तस्वरसे हमलोगोंको पुकारा है। मैं
उनका यह शब्द सुना है वह बहुत उच्च स्वरसे बोलता गया
था। उसे सुनकर मेरे प्राण और मन अपने स्थानपर नहीं रह
गये हैं— मैं घबरा उठी हूँ ॥ २ ॥

आक्रन्दमानं तु वने भ्रातरं ब्रातुमर्हसि ।
तं क्षिप्रमभिधाव त्वं भ्रातरं शरणेषिणम् ॥ ३ ॥
रक्षसां वशमापन्नं सिंहानापिब गोवृषम् ।
न जगाम तथोक्तस्तु भ्रातुराज्ञाय शासनम् ॥ ४ ॥
'तुम्हारे भाई वनमें आर्तनाद कर रहे हैं। वे कोई
शरण रक्षक सहाय चाहते हैं तुम उन्हें बचाओ। जल्दी
ही आगे भाईके पास दौड़ो हूँ जाओ जैसे कोई मर्द
सिंहोंके पजेमें फँस गया हो, उसी प्रकार वे रक्षकोंके वशमें
पड़ गये हैं, अतः जाओ।' सीताके ऐसा कहनेपर भी भाईके
आदेशका विचार करके लक्ष्मण नहीं गये ॥ ३-४ ॥

तमुवाच ततस्तत्र क्षुधिता जनकात्पजा ।
सौमित्रे मित्ररूपेण भ्रातृस्त्वयसि शत्रुवत् ॥ ५ ॥
यस्त्वयस्यामवस्थायां भ्रातरं नाभिपद्यसे ।
इच्छसि त्वं विनश्यत्तं रामं लक्ष्मण मत्कृते ॥ ६ ॥

उाके इस व्यवहारसे क्या जनककिशोर माना दुःख हो
उठी और उनसे इस प्रकार बोलीं—'सुमित्राकुमार ! तुम
मित्ररूपमें अपने भाईके शत्रु ही जान पड़ते हो, इमार्तव्य तुम
इस संकटको अवस्थामें भी भाईके पास नहीं पहुँच रह स।
लक्ष्मण ! मैं जानती हूँ, नुप भृशपर अधिकार करनेके लिये
इस समय श्रीरामका विनाश ही चाहते हो ॥ ५-६ ॥
लोभात्तु मत्कृते नूनं नानुगच्छसि राघवम् ।
व्यसनं ते प्रियं मन्ये स्नेहो भ्रातरि नास्ति ते ॥ ७ ॥

'मेरे लिये तुम्हारे मनमें स्नेह हो गया है, निश्चय त
इसलिये तुम श्रीरघुनाथजीके पीछे नहीं जा रहे हो। मैं
समझती हूँ, श्रीरामका संकटमें पड़ना ही तुम्हें प्रिय है। तुम्हारे
मनमें अपने भाईके प्रति स्नेह नहीं है ॥ ७ ॥

तेन लिष्टमि विश्रव्यं तमपश्यन् महाश्रुतिम् ।
किं हि संशयमापन्ने तस्मिन्निह मया भवेत् ॥ ८ ॥
कर्तव्यमिह लिष्टस्या यत्प्रधानस्त्वयागतः ।

'यही कारण है कि तुम उन महातेजस्वी श्रीरामचन्द्रजीके
देखने न जाकर यहाँ निश्चिन्त खड़े हो। हाथ ! जो मुख्यत
तुम्हारे संबंध है, जिनकी रक्षा और सेवाके लिये तुम यह
आये हो, यदि उनका प्राण संकटमें पड़ गये तो यहाँ मैं
रक्षासे क्या होगा ?' ॥ ८ ॥

एवं ब्रुवाणां वंदेही वाच्यशोकमयन्विताम् ॥ ९ ॥
अद्भवील्लक्ष्मणकृतां सीतां भृगवधुपिब ।

विदेहकुमारी सीताजीकी दशा भयभीत हुई हरिणीक
समान हो रहा थी। उन्होंने शोकमग्न होकर आँसु बहाते
हुए जब उपर्युक्त बातें कहाँ तब लक्ष्मण उनसे इस प्रकार
बोले— ॥ ९ ॥

पन्नगासुरगन्धर्वदेवदानवराक्षसैः ॥ १० ॥
अशक्यस्तव वंदेहि भर्ता जेतुं न संशयः ।

'विदेहर्नन्दिनि ! आप विश्वास करे, नाग, असुर,
गन्धर्व, देवता, दानव तथा राक्षस—ये सब मिलकर
भी आपके पतिको परास्त नहीं कर सकते, मैं इस कथनमें
मेशक नहीं हूँ ॥ १० ॥

देवि देवयनुष्येषु गन्धर्वेषु पतत्रिषु ॥ ११ ॥
राक्षसेषु पिशाचेषु किन्नरेषु भृगेषु च ।
दानवेषु च घोरेषु न स विद्येत शोभने ॥ १२ ॥
यो रामं प्रतियुध्येत समरे वासवापमम् ।

अवध्यः समरे रामो नैव त्वं वक्तुमर्हसि ॥ १३ ॥

देवि ! शोभने ! देवताओं, मनुष्यों, गन्धर्वों, पक्षियों
राक्षसों, पिशाचों, किन्नरों, भृगों तथा घोर दानवोंमें भी ऐसा
कोई खीर नहीं है, जो सम्राट्त्वमें इन्द्रके समान पराक्रम
श्रीरामका सामना कर सके। भृगवान् श्रीराम युद्धमें अवध्य
हैं, अतएव आपको ऐसी बात ही नहीं कहनी चाहिये ।

न स्वामस्मिन् घने हानुमुत्सहं राघवं विना ।
अनिवार्यं बलं तस्य बलबलवतामपि ॥ १४ ॥
त्रिभिलोकैः समुदितैः सैश्वर्यैः सार्वरूपि ।
हृदयं निर्वृतं तेऽमुं संतापम्यज्वलां तव ॥ १५ ॥

'श्रीरामचन्द्रजीकी अनुपस्थितिमें इस घनके भीतर मैं आपको अकेली नहीं छोड़ सकता । मैंने-बलमें समस्त बड़े-बड़े राजा अपनी आगे में आओके द्वारा भी श्रीरामके पलकी कूटित नहीं कर सकते । यहाँ जो कुछ अर्द्धके साथ मिले हुए, तीनों लोक भी यदि आक्रमण करे तो वे श्रीरामके बलका वेग नहीं रोक सकते; अतः आपका हृदय शांत हो । आप संताप छोड़ दें ॥ १४-१५ ॥

आर्गमिष्यति ते धर्मा शीघ्रं हत्वा भृगोऽनमम् ।
न स तस्य स्वरो व्यक्तं न काश्चिदपि दैवतम् ॥ १६ ॥
गन्धर्वनगरप्रख्या माया तस्य च रक्षसः ।

'आपके प्रतिद्वन्द्व उस मुद्रा मण्डल मारकर शीघ्र ही शीघ्र आयेंगे । वह शत्रु को आपने सुना था, अवश्य ही उनकी नहीं था । किसी देवताके कोई शत्रु प्रकट किया हो, ऐसी बात भी नहीं है । वह तो उस राजसूयको गन्धर्वनगरके समान झूठी माया ही थी ॥ १६ ॥

न्यासभूतासि चैदेहि भस्मा भूमिं महान्मना ॥ १७ ॥
गम्येण स्वं चरारोहे न त्वां त्यक्तुमिहोत्सहं ।

'सुन्दरि । विदेहनाम्नि ! महामया श्रीगन्धर्वजीने मुझपर आपकी रक्षाका भार मीठा है । इस समय आप मेरे पास उनकी धरोहरके रूपमें हैं । अतः आपको मैं यहाँ अकली नहीं छोड़ सकता ॥ १७ ॥

कृतधैराक्ष कल्याणि तथमेतैर्निशाचरैः ॥ १८ ॥
एतस्य निधने देवि जनस्थानवधे प्रति ।

'कल्याणामयी देवि ! जिस समय सरका लक्ष किया गया उस समय जनस्थाननियामी दूसरे वरुण-मण्डल के भी गये थे । इस कारण इन निशाचरोंने हुनार माध के साथ लिया है ॥

राक्षसा विविधा बाधो व्याहरन्ति भ्रातृवने ॥ १९ ॥
त्रिमासिहारा चैदेहि न चिन्तयितुमर्हसि ।

'विदेहनाम्नि ! प्राणिमयी हिमा ही जिनका क्रान्त-विहार भी जनस्थान है, वे शस्त्रों को इस विशाल वनमें बाना प्रकारकी शक्तिपूर्ण बना सकते हैं । अतः आपका चिन्ता नहीं करने की है ।

लक्ष्मणोऽनेवभुक्ता तु कुट्टा मरुत्तोचना ॥ २० ॥
अग्रवीम् पश्यं वाक्यं लक्ष्मणं सत्यवादिनम् ।

लक्ष्मणक ऐसा कहनेपर साताको बहुत क्रोध हुआ उनकी आँखें लाल हो गयीं और वे सत्यवादी लक्ष्मणम कटोर बात कहने लगी— ॥ २० ॥

अनर्थाकरुणारम्भ नृशंस कुलपांसन ॥ २१ ॥
अहं तव प्रियं मन्ये रामस्य व्यसनं महत् ।
गमस्य व्यसनं दृष्ट्वा तेनानि प्रभाषसे ॥ २२ ॥

'अनार्य । निर्दयी । क्रूरकर्मी । कुलाह्वर । मैं तुझे खूब ममझता हूँ । श्रीराम किसी भागें विपनिम पड़ जायें, यही तुझ प्रिय है । इसीलिये तू रामपर संकट आया देखकर भी ऐसी बातें बोल रहा है ॥ २१-२२ ॥

नैव चित्रं सपत्नेषु पापे लक्ष्मणं यद् भवेत् ।
त्वद्विधेषु नृशंसेषु नित्यं प्रच्छन्नचाग्रिषु ॥ २३ ॥

'लक्ष्मण । तैरे-जैसे क्रूर एवं सदा छिपे हुए शत्रुओंके मनमें उस तरहकर पापपूर्ण विचार होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है ॥ २३ ॥

सुदुष्टस्त्वं घने राममेकमेकोऽनुगच्छसि ।
मम हेतोः प्रतिच्छन्नः प्रयुक्तो भरतेन वा ॥ २४ ॥

'तु बहुत दुष्ट है । श्रीरामका अकेले वनमें आन देना मुझे प्राप्त करनेके लिये ही अपने भाग्यको छिपाकर तू भी अकेला ही उनके पीछे-पीछे लक्ष्मण आया है, अथवा यह भी सम्भव है कि भरतने ही तुझे भेजा हो ॥ २४ ॥

तत्र मिथ्यानि सौमित्रे तवापि भरतस्य वा ।
कथमिन्दीवरश्चायं रामे पथनिभेक्षणम् ॥ २५ ॥

उपसंश्रित्य धर्मारं कामयेयं पृथग्नमम् ।

'परन्तु सुमित्राकुमार । तैरे यह भरतका वह मनोरथ सिद्ध नहीं हो सकता । नीलकमलके समान श्यामसुन्दर कमलवन श्रीरामके पतितल्पमें पाकर मैं दूसरे किसी क्षुद्र पुरुषको कामना कैसे कर सकती हूँ ? ॥ २५ ॥

समक्षं तव सौमित्रे प्राणास्त्यक्ष्याम्यसशयम् ॥ २६ ॥
रामं विना क्षणमपि नैव जीवामि भूतले ।

'सुमित्राकुमार । मैं तेरे सामने ही निःसंदेह अपने प्राण त्याग दूँगी । किन्तु श्रीरामके विना एक क्षण भी इस भूतलपर जीवित नहीं रह सकूँगी ॥ २६ ॥

इत्युक्तः पश्यं वाक्यं सोलया रोमहर्षणम् ॥ २७ ॥
अग्रवीन्लक्ष्मणः सीतां प्राञ्जलिः स जितेन्द्रियः ।

उत्तरं नेत्सहं वक्तुं दैवतं भवतो मम ॥ २८ ॥

मानाने जब इस प्रकार कटोर तथा रोंगटे खड़े कर देनेवाला बात कहता तब जितेन्द्रिय लक्ष्मण शत्रु जोड़कर उनसे बोले—

‘देवि । मैं आपको बातका जवाब नहीं दे सकता । क्योंकि आप मेरे लिये आराधनीय देवीके समान हैं ।

वाक्यप्रतिरूपं तु न चित्रं स्त्रीषु मथिलि ।
सम्भाषन्धेष नारीणामेषु लोकेषु दुइयने ॥ २९ ॥

'निश्चलशकुमारों ऐसी अनुचित और प्रतिकूल बातें प्रथम निवृत्तता स्त्रियोंके लिये आश्चर्यकी बात नहीं है, क्योंकि इस संसारमें नारियोंका ऐसा स्वभाव बहुधा देखा जाता है ॥ २९ ॥

विपुक्तधर्माक्षुपलास्तोक्षणा भेदकराः स्त्रियः ।
न सहे ह्रीदुशं वाक्यं चैदेहि जनकात्मजे ॥ ३० ॥
श्रोत्रयोरुभयोर्मध्ये तप्तनाराचसंनिभम् ।

‘स्त्रियां प्रायः विनय आदि घर्मोसे रहित, चञ्चल, कठोर तथा धर्ममें फुट डालनवाली होती है। विदेहकुमारों जानकों। आपको यह बात मरे दोनों कानामें नपाये हुए लोहके समान लगी है। मैं ऐसी बात सह नहीं सकता ॥ ३० ॥

उपशृण्वन्तु मे सर्वे साक्षिणो हि वनेचराः ॥ ३१ ॥
न्यायवादी यथा वाक्यमुक्तोऽहं यत्त्वं स्वया ।
धिकं त्वामह्य विनश्यन्तो यन्पामेव विशङ्कमे ॥ ३२ ॥
स्त्रीत्वाद् दुष्टस्वभावेन गुरुवाक्ये व्यवस्थितम् ।

गच्छामि यत्र काकुत्स्थः स्वस्ति तेऽस्तु वरानने ॥ ३३ ॥

‘इस वनमें विचरनेवाले सभी प्राणी सक्षी होकर मेरा कथन सुनें। मैं न्याययुक्त बात कहती हूँ तो भी आपने मेरे प्रात ऐसी कठोर बात अपन मुँहमें निकाली है। निश्चय ही आज्ञा आपको बूढ़ि मारी गयी है। आप नष्ट हानि चाहती हैं। धिक्कार है आपको जो आप मुझपर ऐसा मंदा करती हैं। मैं बड़ भाईकी आज्ञाका पालन करनेमें दृष्टानपूर्वक तत्पर हूँ और आप केवल मागे होंगेके कारण माधारण स्त्रियाँ दुष्ट स्वभावकी अपनाकर मेरे प्रति ऐसी आशङ्का करना है। अच्छा अब मैं वहाँ जाता हूँ जहाँ भैया श्रीराम गये हैं। भुपुञ्ज ! आपका कल्याण हो ॥ ३१—३३ ॥

रक्षन्तु स्वां विशालाक्षि समग्रा वनदेवताः ।
निमित्तानि हि घोरानि यानि प्रादुर्भवन्ति मे ।
अपि स्वां सह रामेण पश्येयं पुनरागतः ॥ ३४ ॥

‘विशाललक्ष्मणे ! वनके सम्पूर्ण देवता आपको रक्षा करें क्योंकि इस समय मेरे सामने जो बड़ भयंकर अपशकुन प्रकट हो रहे हैं, उन्होंने मुझे संशयमें डाल दिया है। यथा मैं श्रीरामचन्द्रजीके साथ लौटकर पुनः आपको सकुशल देख सकूँगा ?’ ॥ ३४ ॥

लक्ष्मणेनैवमुक्ता तु रुदती जनकात्मजा ।
प्रत्युवाच ततो वाक्यं तीव्रबाष्पपरिप्लुता ॥ ३५ ॥

लक्ष्मणके ऐसा कहनेपर जनककिशोरी सीता रोने लगीं। उनके नत्रोंसे आँसुओंकी नात्र धारा बह चली। वे उन्हें उम

प्रकार उत्तर देती हुई बोलीं— ॥ ३५ ॥

गोदावरौ प्रवेक्ष्यामि हीना रामेण लक्ष्मण ।
आवन्निष्येऽथवा त्यक्ष्ये विषमे देहमात्मनः ॥ ३६ ॥
पिबामि वा विषं तीक्ष्णं प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ।

न त्वहं राघवादन्यं कदापि पुरुषं स्पृशे ॥ ३७ ॥

‘लक्ष्मण ! मैं श्रीरामसे बिछुड़ जानेपर गोदावरी नदीमें समा जाऊँगी अथवा गलेमें फाँसी लगा लूँगी अथवा पवनके दुर्गम शिखरपर चढ़कर वहाँसे अपने शरीरको नीचे डाल दूँगी या तीव्र विष पान कर लूँगी अथवा जलती आगमें प्रवेश कर जाऊँगी, परन्तु श्रीरामनाथजीके बिना दूसरे किसी पुरुषका कदापि स्पर्श नहीं करूँगी’ ॥ ३६-३७ ॥

इति लक्ष्मणमाश्रुत्य सीता शोकसमन्विता ।

पाणिभ्यां रुदती दुःखादुदरे प्रजधान ह ॥ ३८ ॥

लक्ष्मणके सामने यह प्रतिज्ञा करके शोकमग्न होकर रोती हुई सीता अधिक दुःखके कारण दोनों हाथोंसे अपने उदरपर आघात करने लगीं—छाती पीटने लगीं ॥ ३८ ॥

तामार्तरूपां विषना रुदन्तीं

सौमित्रिरालोक्य विशालनेत्राम् ।

आश्वासयामास न चेद भर्तु-

स्तं भ्रातरं किंचिदुवाच सीता ॥ ३९ ॥

विशालनेत्राच नासाका आर्तं होकर रोती देख सुमित्रा-कुमार लक्ष्मणन मन ही-मन उन्हें मात्स्वना दी परन्तु सीता उस समय अपने देवरसे कुछ नहीं बोलीं ॥ ३९ ॥

ततस्तु सीतामधिवाह्य लक्ष्मणः

कृताञ्जलिः किंचिदभिप्रणम्य ।

अवेक्षमाणो बहुशः स पैथिलीं

जगाम रामस्य सधीपमात्मवान् ॥ ४० ॥

तब मनकरं यशमें रहनेवाले लक्ष्मणने दोनों हाथ जोड़ कुछ झुककर मिथिलशकुमारी सीताकर प्रणाम किया और बोलकर उनका ओर देखते हुए वे श्रीरामचन्द्रजीके पास चल दिये ॥ ४० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे षष्ठ्यध्यायः सर्गः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आदर्शरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें पैताल्लोसर्वा सर्ग पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशः सर्गः

रावणका साधुवेषमें सीताके पास जाकर उनका परिचय पूछना और सीताका आतिथ्यके लिये उसे आमन्त्रित करना

तथा पश्यमुक्तस्तु कुपितो राघवानुजः ।
स पिक्काङ्गन् भृशं रामं प्रतस्थे नचिरादिव ॥ १ ॥

सीताके कठोर वचन कहनेपर कुपित हुए लक्ष्मण श्रीरामसे मिलनेकी विशेष इच्छा रखकर आज्ञा हा वहाँसे चल दिये ॥ १ ॥

तदासाद्य दशग्रीवः क्षिप्रमन्तरमास्थितः ।
अभिघक्राम वैदेहीं परिव्राजकरूपधृक् ॥ २ ॥

लक्ष्मणके चले जानेपर रावणको मौका मिल गया, अतः वह सन्यासोकर वेष धारण करके शीघ्र ही विदेहकुमारी सीताके संधीप गया ॥ २ ॥

इलक्ष्मकाधायसंघीनः शिखी छत्री उपानही ।

यामे चांसेऽवसज्याथ शुभे यष्टिकपण्डलम् ॥ ३ ॥

ब्रह्म शरपर साफ-सुथरा गेरू रंगका थल लपटे हुए था । उसके मस्तकपर शिखा, हाथमें छाना और पैरोंमें जूते थे । उसने चाये कंधेपर डंडा रखकर उसमें कमण्डलु लटका रखा था ॥ ३ ॥

परिव्राजकरूपेण वंदहीमन्वसतंत ।

मामाससादानिवलो भ्रातृभ्यां रहितो वने ॥ ४ ॥

अत्यन्त बालवान् रावण उस वनमें परिव्राजकका रूप धारण करके श्रौंगम और नक्षत्राणां दोनों धनुषासे रहित हुई भकेली विदेहकुमारी सौताके पास गया ॥ ४ ॥

रहितां सूर्यचन्द्राभ्यां संध्यामिव महन्तमः ।

तामपश्यत् ततो बालां राजपुत्रीं यशस्विनीम् ॥ ५ ॥

रोहिणीं शशिना हीनां ग्रहवद् भृशदाहणः ।

जैसे सूर्य और चन्द्रमासे होन हुई नद्याके पास महान् अंधकार उपस्थित हो, वही प्रकार वह सोताके निकट गया । तदनन्तर जैसे चन्द्रमासे होन हुई रोहिणीपर अत्यन्त दारुण ग्रह मंगल या शनिध्वजकी दृष्टि पड़, वही प्रकार उस अनिदाय क्रूर रावणने उस भोली-भाली यशस्विनी राजकुमारीकी ओर देखा ॥ ५ ॥

नमूयं पापकर्माणं जनस्थानगता इमाः ॥ ६ ॥

संदुश्य न प्रकम्पन्ते न प्रवाति च यास्तः ।

शीघ्रस्रोताश्च ते दुष्टा वीक्षन्ते रक्तलोचनम् ॥ ७ ॥

स्तिमितं गन्तुमार्गं धयाद् गोदावरी नदी ।

उस घबकर पापाचारोंको आया देख जनस्थानके वृक्षाने हिलना बंद कर दिया और हवाका वेग रुक गया । लाल नदीवाले रावणको अपनी ओर दृष्टिमान करने देख लोच गतिसे आनेवाली गोदावरी नदी घबके मारे धीरे-धीरे बहने लगी ॥

रामस्य स्वन्तरं प्रेम्पूर्वजग्रीवस्तदन्तरे ॥ ८ ॥

वपनस्थं च वंदहीं धिक्षुरूपेण रावणः ।

रामसे बदला लेनेका अवसर दूढ़नवाला दशमुख रावण

उस समय धिक्षुरूपसे विदेहकुमारी सौताके पास पहुँचा ।

अभक्ष्यो भव्यरूपेण भर्तारमनुशोचतोम् ॥ ९ ॥

अभ्यवर्जनं वंदहीं चित्रामिव शनैश्चरः ।

उस समय विदेहराजकुमारी सौता अपने पतिके लिये शोक और चिन्तामें डूबा हुई थी । उसी अवस्थामें अभक्ष्य रावण भव्य रूप धारण करके उनके सामने उपस्थित हुआ यानी शनैश्चर ग्रह चित्रके सामने आ पहुँचा हो ॥ ९ ॥

महसा भव्यरूपेण तृणैः कृप इवावृतः ॥ १० ॥

अतिष्ठत् प्रेक्ष्य वंदहीं गमपत्नीं यशस्विनीम् ।

जैसे कुआँ मित्रकर्म रुका हुआ हो, उसी प्रकार भव्य रूपसे चरने अभव्यताको छिपाने रावण महसा वहीं आ पहुँचा और नक्षत्रा गमपत्नी केन्द्रीकर दृष्टकर गड़ा हो गया ॥ १० ॥

तिष्ठन् समोक्ष्य च तदा पत्नीं रामस्य रावणः ॥ ११ ॥

शुभां रुधिरदन्तोष्ठीं पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ।

आसीनां पर्णशालायां वाच्यशोकाभिपीडिताम् ॥ १२ ॥

उस समय रावण वहाँ खड़ा-खड़ा रामपत्नी सौताको देखने लगा । ये बड़ी सुन्दरी थीं । उनके दाँत और ओंठ भी सुन्दर थे, मुख पूर्ण चन्द्रमाकी शोभाको छीने नेता था । वे पर्णशालामें बैठी हुई शोकसे पीडित हो आँसू बहा रही थीं ॥ ११-१२ ॥

स तां पद्मपलाशाक्षीं पीतकौशेयवासिनीम् ।

अभ्यगच्छत् वंदहीं हृष्टवेना निशाचरः ॥ १३ ॥

वह निशाचर प्रसन्नचित्त हो रेशमी पांताम्बरसे सुशोभित कमलनयनी विदेहकुमारीके सामने गया ॥ १३ ॥

दृष्ट्वा कामशराविन्दो ब्रह्मघोषमुदीरयन् ।

अब्रवीन् प्रक्षितं वाक्यं रहिते राक्षसाधिप ॥ १४ ॥

उन्हें देखते ही कामदेवके बाणोंमें घायल हो राक्षसराज राक्षस वेदमन्त्रका उच्चारण करने लगा और उस एकान्त स्थानमें विहीनभावमें उनसे कुछ कहनेको उद्यत हुआ ।

नामुत्तमां त्रिलोकानां पद्महीनामिव त्रियम् ।

विभ्राजमानां वपुषा रावणः प्रशशंस ह ॥ १५ ॥

त्रिलोकमुन्दरी सीता अपने शरीरसे कमलसे रहित कमलालया लक्ष्मीकी भाँति शोभा पा रही थीं । रावण उनकी प्रशंसा करता हुआ बोला— ॥ १५ ॥

रौप्यकाञ्चनवर्णाभे पीतकौशेयवासिनि ।

कमलानां शुभां मालां पद्मिनीव च विभ्रती ॥ १६ ॥

‘उनमें सुवर्णकी-सी कान्तिवाली तथा रेशमी पांताम्बर धारण करनेवाली सुन्दरी (तुम कीन हो) मुन्दरी मुख, मंत्र मन्त्र और पैर कमलोंके समान हैं अतः तुम पद्मिनी (पुष्करिणी) की भाँति कमलोंकी सुन्दर-सी माला धारण करती हो ॥ १६ ॥

ह्रीः श्रीः कीर्तिः शुभा लक्ष्मीरप्सरा वा शुभानने ।

भूतिर्वा त्वं वरारोहे रतिर्वा स्वर्चारिणी ॥ १७ ॥

‘शुभानने : तुम श्री, ह्री, कीर्ति, शुभस्वरूप लक्ष्मी अथवा अप्सरा तो नहीं हो ? अथवा वरारोहे तुम भूति या स्वच्छापूर्वक विहास करनेवाली कामदेवकी पत्नी रति तो नहीं हो ? ॥ १७ ॥

समाः शिखरिणः स्त्रिग्धाः पाण्डुरा दशनास्तव ।

विशाले विमले नेत्रे रक्तान्ते कृष्णतारके ॥ १८ ॥

विशाले जघने पीनमूले करिकरोपधौ ।

तुम्हारे दाँत भरखर हैं । उनके आग्रभाग कुन्तकी कलियोंके समान शोभा पाते हैं । वे सख-के-सख चिकने और संफेद हैं । तुम्हारे दोसों आँखें बड़ी बड़ी और निर्मल हैं । उनके दोनों कोयें लाल हैं और पुनर्लिप्य काली हैं । कटिका अग्रभाग विशाल एवं नासत्य है । दोनों जाँधें हाथोंको सूँड़के समान शोभा पाती हैं ॥ १८ ॥

एतावुपचितौ युतौ संहतौ सम्प्रगल्भितौ ॥ १९ ॥
पीनोन्नतमुखौ कान्तौ स्निग्धतालफलोपमा ।

मणिप्रवेकाभरणौ रुचिरौ ते पयोधरौ ॥ २० ॥

'तुम्हारे ये दोनों स्तन पुष्ट, गोलकार, परस्पर सटे हुए, प्रगल्भ, मोटे, ठठे हुए मुखवाले, कमनीय, चिकने ताड़फलके समान आकारवाले, परम सुन्दर और श्रेष्ठ मणिमय आभूषणोंसे विभूषित हैं ॥ १९-२० ॥

चारुस्मिते चारुदति चारुस्नेत्रे विलामिनि ।

मनो हरसि मे रामे नदीकुलमिवाम्बसा ॥ २१ ॥

'सुन्दर मुसकान, रुचिर दन्तावली और मनोहर नेत्रवाली विलम्बिनो रमणी । तुम अपने रूप-सौन्दर्यसे मेरे मनका वैसे ही हर लेती हो, जैसे नदी जलके द्वारा अपने तटका अपहरण करती है ॥ २१ ॥

करान्तपितमध्यासि सुकेशो संहतस्तनि ।

नैव देवी न गन्धर्वी न यक्षी न च किंनरी ॥ २२ ॥

'तुम्हारी कमर इतनी पतली है कि घुट्टीमें आ जाय । केश चिकने और मनोहर हैं । दोनों स्तन एक-दूसरेमें सटे हुए हैं । सुन्दरी ! देवता, गन्धर्व, यक्षा और किन्नर ज्ञानिकों स्त्रियोंमें भी कोई तुम-जैसी नहीं है ॥ २२ ॥

नैवरूपा मया नारी दृष्टपूर्वा महीतले ।

रूपमग्रयं च लोकेषु सौकुमार्यं वयश्च ते ॥ २३ ॥

इह वासश्च कान्तारे वित्तपुम्भाधर्यानि मे ।

सा प्रतिक्राम भद्रं ते न त्वं वस्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

'पृथ्वीपर तो ऐसी रूपवती नारी मेरे आजसे पहले कभी देखी ही नहीं थी । कहाँ तो तुम्हारा यह तीनों लोकोंमें सबसे सुन्दर रूप, सुकुमारता और नयी अवस्था और कहाँ इस दुर्गम वनमें निवास ! ये सब ज्ञाने ध्यानमें आने ही मेरे मनकी मध्ये डालती हैं । तुम्हारा कल्याण हो, यहमें चली आओ । तुम यहाँ रहनेके योग्य नहीं हो ॥ २३-२४ ॥

राक्षसानामयं वासो घोराणां कामरूपिणाम् ।

प्रासादाभ्राणि रम्याणि नगरोपवनानि च ॥ २५ ॥

सम्पन्नानि सुगन्धीनि युक्तान्याचरितुं त्वया ।

'यह तो इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले भयंकर राक्षसोंके रहनेकी जगह है । तुम्हें तो रमणाद्य राजमहलों समृद्धिशाली नगरों और सुगन्धयुक्त उपवनानि निवास करना और विचरना चाहिये ॥ २५ ॥

वरं मारुत्यं वरं गन्धं वरं वस्त्रं च शोभने ॥ २६ ॥

भर्तारं च वरं मन्ये त्वद्युक्तमसितेक्षणे ।

'शोभने, जहाँ पुरुष श्रेष्ठ हैं, वही गन्ध उत्तम है और वस्त्र वस्त्र सुन्दर है, जो तुम्हारे उपयोगमें आवे । वज्ररत्न नेत्रवाली सुन्दरी । मैं उसीको श्रेष्ठ पति मानता हूँ, जिसे तुम्हारा मुखट सेवोग प्राप्त हो ॥ २६ ॥

का त्वं भवसि रुद्राणां मरुतां वा शुचिस्मिते ॥ २७ ॥

वसुनां वा वरारोहे देवता प्रतिभासि मे ।

'पवित्र मुसकान और सुन्दर अङ्गोवाली देवि ! तुम कौन हो ? मुझे तो तुम रुद्रों मरुदों अथवा वसुओंसे सम्बन्ध रखनेवाली देवी जान पड़ती हो ॥ २७ ॥

नेह गच्छन्ति गन्धर्वा न देवा न च किन्नराः ॥ २८ ॥

राक्षसानामयं वासः कथं तु स्वमिहागता ।

'यहाँ गन्धर्व, देवता तथा किन्नर नहीं आते जाते हैं । यह राक्षसोंका निवासस्थान है । फिर तुम कैसे यहाँ आ गयी ॥

इह शाखापुगा सिंहा द्वीपिव्याघ्रमृगा वृकाः ॥ २९ ॥

ऋक्षास्तरक्षवः कङ्कः कथं तेभ्यो न बिभ्यसे ।

'यहाँ वानर, सिंह, बाँते, व्याघ्र, मृग, भेड़िये, रीछ, शेर और कक (गोघ आदि पक्षी) रहते हैं । तुम्हें इनसे भय क्यों नहीं हो रहा है ? ॥ २९ ॥

मदान्वितानां घोराणां कुञ्जराणां तरस्विनाम् ॥ ३० ॥

कथमेका मङ्गारण्ये न बिभेवि वरानने ।

वरानने । इस विशाल वनके भीतर अत्यन्त वेगशाली और भयंकर मदमग्न गजराजोंके बीच अकेली रहती हुई तुम मयभोज कैसे नहीं होती हो ? ॥ ३० ॥

कासि कस्य कुतश्च त्वं किं निमित्तं च दण्डकान् ॥ ३१ ॥

एका सरसि कल्याणि घोराण् राक्षससंघितान् ।

'कल्याणमयी देवि ! वनाओं, तुम कौन हो ? किसको हं ? और कहाँसे आकर किस कारण इस राक्षससंघित घोर दण्डकारण्यमें अकेली विचरण करती हो ? ॥ ३१ ॥

इति प्रशस्ता वदेही रावणेन महात्मना ॥ ३२ ॥

द्विजातिवेषेण हि तं दृष्ट्वा रावणमागतम् ।

सर्वगतिधिसत्कारैः पूजयामास मेधिली ॥ ३३ ॥

वेषभूषासे महात्मा धनकर आवे हुए रावणने अब 'वदेहकुमारो मीतको इस प्रकार प्रशंसा की, तब बाह्यवेषमें वहाँ पधर हुए रावणको देखकर मीथिलीने अतिथि सत्कारके लिये उपयोगी सभी सामग्रियोंद्वारा उसका पूजन किया ॥

उपानीयासनं पूर्वं पाद्येनाभिनियन्त्य च ।

अब्रवीत् सिद्धमित्येव तदा तं सौम्यदर्शनम् ॥ ३४ ॥

पहले बैठनेके लिये आसन दे, पाद्य (पैर धोनेके लिये जल) निवेदन किया । तदनन्तर ऊपरसे सौम्य दिखायी देनेवाले उस अतिथिको भोजनके लिये निमन्त्रण देते हुए कहा—'सखन् ! भोजन तैयार है, ग्रहण कीजिये' ॥ ३४ ॥

द्विजातिवेषेण समीक्ष्य मेधिली

समागतं पात्रकुसुमधारिणम् ।

अशक्यमुद् द्वेष्टुमुपायदर्शना-

प्रमन्त्रयद् ब्राह्मणवत् तथागतम् ॥ ३५ ॥

वह ब्राह्मणके वेषमें आया था, कमण्डलु और गेरुआ वस्त्र धारण किये हुए था । ब्राह्मण-वेषमें आवे हुए अतिथिकी उपेक्षा अत्यन्त थी, उसकी वेषभूषामें ब्राह्मणत्वका निश्चय करनेवाले चिह्न दिखायी देने थे । अतः उस रूपमें आवे हुए

उस रावणको देखकर मैथिलीने ब्राह्मणके योग्य सत्कार करनेके लिये ही उसे निर्मान्वित किया ॥ ३५ ॥

इयं वृत्ती ब्राह्मण काममास्पता-

मिदं च पाठ्यं प्रतिगृह्यतामिति ।

इदं च सिद्धं वनजातमुत्तमं

त्वदर्थमव्यग्रमिहोपभुज्यताम् ॥ ३६ ॥

वे बोली—'ब्राह्मण यह घटाई है इनमें इच्छा-पुत्रों के लिए जाइये यह पैर धोनेके लिये जल है इस ब्राह्मण के लिये और यह वनमें ही उत्पन्न हुआ उत्तम फल-फल आपका लिये हो नया करके रखा गया है, यहाँ शान्तभावसे ठमका उपभोग करिये' ॥ ३६ ॥

निमन्त्र्यमाण प्रतिपूर्णभाषिणीं

नरेन्द्रपत्नीं प्रसमीक्ष्य मैथिलीम् ।

प्रसह्य तस्या हरणे दुर्ध्वं मनः

समर्पयामास वधाय रावणः ॥ ३७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्याभारत आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें छियालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४६ ॥

सप्तचत्वारिंशः सर्गः

सीताका रावणको अपना और पतिका परिचय देकर वनमें अनेका कारण बताना, रावणका उन्हें अपनी पटरानी बनानेकी इच्छा प्रकट करना और सीताका उसे फटकारना

रावणेन तु वन्देही तदा पृष्टा जिहोर्धुणा ।

परिव्राजकरूपेण शशसात्मानमात्मना ॥ १ ॥

सीताको हरनेकी इच्छासे परिव्राजक (संन्यासी)के रूप धारण करके आये हुए रावणने उस समय जब विदह-राजकुमारोंसे इस प्रकार पूछा, तब उन्होंने स्वयं ही अपना परिचय दिया ॥ १ ॥

ब्राह्मणश्रुतिधिक्षेप अनुक्तो हि शयंत याम् ।

इति ध्यात्वा मुहूर्तं तु सीता वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

वे हो घड़ीनक इस विचारमें पड़ो रहें कि ये ब्राह्मण और अतिथि हैं, यदि इनकी आतका उत्तर न दिया जाय तो ये मुझे श्राप दे देंगे । यह सावधान सीताने इस प्रकार कहना आरम्भ किया— ॥ २ ॥

दुहिता जनकस्याहं मैथिलस्य महात्मनः ।

सीता नाम्नास्मि भद्रं ते रामस्य महिषो प्रिया ॥ ३ ॥

ब्रह्मन् । आपका भला हो । मैं मिथिलानरेश महात्मा जनककी पुत्री और अश्वमेधनरेश श्रीरामचन्द्रजीकी प्यारी बहन हूँ । मेरा नाम सीता है ॥ ३ ॥

उषित्वा द्वादशं समा इक्ष्वाकुणां निवेशने ।

भुङ्क्षन् मानुषान् भोगान् सर्वकामसमृद्धिनीं ॥ ४ ॥

'निवाहनेके बाद बारह वर्षनक इक्ष्वाकुवंशी महाराज इक्ष्वाक महारूप रहकर मैंने अपने पतिके साथ सभा मानवाचित भोग भोगे हैं । मैं वहाँ सदा मनोवाञ्छित सुख-

'अतिथिक लिये सब कुछ तैयार है' ऐसा कहकर सीताने जब उसे भोजनके लिये निर्मान्वित किया, तब रावणने 'सर्वं सम्पन्नम्' कहनेवाली राजरानी मैथिलीकी ओर देखा और अपने हो घड़ेके लिये उसने हठपूर्वक सीताका हरण करनेक निमित्त मनम दृढ़ निश्चय कर लिया ॥ ३७ ॥

ततः सुखेयं मृगयागतं पति

प्रतीक्षमाणो मङ्गलक्ष्मणो तदा ।

निरीक्षमाणा हरितं ददर्श त-

न्महद् वनं नैव तु रामलक्ष्मणौ ॥ ३८ ॥

तदनन्तर सीता शिकार खेलनेके लिये गये हुए लक्ष्मणसहित अपने सुन्दर वेषधारी पति श्रीरामचन्द्रजीकी प्रतीक्षा करने लगे । उन्होंने चारों ओर दृष्टि दीड़ायी, किंतु उन्हें सब ओर हगभरा विशाल वन ही दिखायी दिया, श्रीराम और लक्ष्मण नहीं देख पड़े ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्याभारत आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें छियालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४६ ॥

सुविधाओंसे सम्पन्न रही हूँ ॥ ४ ॥

तत्र त्रयोदशे वर्षे राजासम्प्रयत प्रभुः ।

अभिषेचयितुं रामं समेतो राजपन्निभिः ॥ ५ ॥

'नेत्रवे वर्षके प्रारम्भमें सामर्थ्यशाली महाराज दशरथने राजपन्निओंसे मिलकर सलाह की और श्रीरामचन्द्रजीका युवराजपदपर अभिषेक करनेका निश्चय किया ॥ ५ ॥

तस्मिन् सम्प्रियमाणे तु राघवस्याभिषेचने ।

कैकेयी नाम धर्तारं प्रमार्गं याचते वरम् ॥ ६ ॥

जब श्रीरघुनाथजीके राज्याभिषेककी सामग्री जुटायी जाने लगी, उस समय मेरी सास कैकेयीने अपने पतिसे वर मांगा ॥ ६ ॥

परिगृह्य तु कैकेयी शशुरं सुकृतेन मे ।

मम प्रव्राजने धर्तुर्धरतस्याभिषेचनम् ॥ ७ ॥

श्रावयाचत धर्तारं सत्यसंधं नृपोत्तमम् ।

'कैकेयीने मेरे शशुरको पुण्यकी शपथ दिखाकर वचनबद्ध कर लिया, फिर अपने सत्यप्रतिज्ञ पति उन राजदरभारिणीय दो वर मांगे—मेरे पतिके लिये वनवास और धरनके लिये राज्याभिषेक ॥ ७ ॥

नाह्य धोक्ष्ये न च स्वप्न्ये न पास्ये न कदाचन ॥ ८ ॥

एष मे जीवितस्यान्तो रामो यदभिषिच्यते ।

'कैकेयी हठपूर्वक कहने लगी—यदि आज श्रीरामका अभिषेक किया गया तो मैं न तो खाऊँगी, न पीऊँगी और

न कभी सार्कंगो हो । यहाँ मेरे जीवनका अन्त होगा ॥ ८ ॥
इति ब्रुवाणां कैकेयी शशुगे मे स पार्थिवः ॥ ९ ॥
अयाचतार्थैरन्वर्थैर्न च याज्ञां चकार सा ।

‘ऐसी बात कहती हुई कैकेयीसे मेरे शशुह महाराज दशरथने यह याचना की कि ‘तुम सब प्रकारकी उत्तम वस्तुएँ ले लो; किन्तु श्रीगणेशके अभियेकमें विघ्न न डालो’ किन्तु कैकेयीने उनकी यह याचना मफल नहीं की ॥ ९ ॥

यम भर्ता महातेजा ययसा पञ्चविंशकः ॥ १० ॥
अष्टादश हि वर्षाणि यम जन्मनि गण्यते ।

‘उस समय मेरे महातेजस्वी पतिकी अवस्था पचास सालस ऊपरकी थी और मेरे जन्मकारणसे लेकर वनगमन-कालावध मेरी अवस्था वर्षगणनाक अनुसार अठारह सालकी हो गयी थी ॥ १० ॥

रामेति प्रथितो लोके सत्यवाज्जालाञ्जलिः ॥ ११ ॥
विशालाक्षो महाबाहुः सर्वभूतहिते रतः ।

‘श्रीराम जगत्में सत्यवादी, सुशील और पवित्र रूपसे विख्यात हैं । उनके नेत्र बड़े-बड़े और भुजाएँ विशाल हैं वे समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहते हैं ॥ ११ ॥

कामार्तश्च महाराजः पिता दशरथः स्वयम् ॥ १२ ॥
कैकेय्याः प्रियकामार्थं ते रामं नाभ्यवेचयत् ।

उनके पिता महाराज दशरथने स्वयं कामपीडित होनेके कारण कैकेयीका प्रिय करनेकी उच्छ्वाससे श्रीरामका अभियेक नहीं किया ॥ १२ ॥

अभियेकाय तु पितुः समीपं राममागतम् ॥ १३ ॥
कैकेयी यम भर्तारहित्युवाच हुतं वचः ।

‘श्रीरामचन्द्रजी जब अभियेकके लिये पिताके समीप आये तब कैकेयीने मेरे उन पतिदत्तसे तुम्हें यह बात कही ।

तव पित्रा समाज्ञप्तं यमेदं शृणु राधव ॥ १४ ॥
धरताय प्रदातव्यमिदं राज्यपकण्डकम् ।

‘तुम्हारे पिताने जो आज्ञा दी है, इसे मेरे मुँहसे सुनो । यह निष्कण्टक राज्य भरतवंश दिया जायगा, तुम्हें तो चौदह वर्षोंतक वनमें ही निवास करना होगा । काकुत्स्थ तुम वनको जाओ और पितृको असत्यके बन्धनसे छुड़ाओ ॥

तथेत्युवाच तां रामः कैकेयीमकुलाभय ॥ १६ ॥
घकार लज्जः श्रुत्वा भर्ता यम दृढव्रतः ।

‘रघुनन्दन ! तुम्हारे पिताने जो आज्ञा दी है, इसे मेरे मुँहसे सुनो । यह निष्कण्टक राज्य भरतवंश दिया जायगा, तुम्हें तो चौदह वर्षोंतक वनमें ही निवास करना होगा । काकुत्स्थ तुम वनको जाओ और पितृको असत्यके बन्धनसे छुड़ाओ ॥

तथेत्युवाच तां रामः कैकेयीमकुलाभय ॥ १६ ॥
घकार लज्जः श्रुत्वा भर्ता यम दृढव्रतः ।

‘किसीसे भी भय न माननेवाले श्रीरामने कैकेयीको यह बात सुनकर कहा—‘बहुत अच्छा’ । उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया । मेरे स्वामी दृढतापूर्वक अपनी प्रतिज्ञाका पालन करनेवाले हैं ॥ १६ ॥

दद्यान्न प्रतिगृहीत्यात् सत्यं ब्रूयान्न घानुतम् ॥ १७ ॥
एतद् ब्राह्मण रामस्य व्रतं धृतमनुत्तमम् ।

श्रीराम केवल देते हैं किसीसे कुछ लेने नहीं वे सदा सत्य बोलते हैं, झूठ नहीं, ब्राह्मण । यह श्रीरामचन्द्रजीका सर्वोत्तम व्रत है, जिसे उन्होंने धारण कर रखा है ॥ १७ ॥

तस्य भ्राता नु वामात्रो लक्ष्मणो नाम धीर्यवान् ॥ १८ ॥
रामस्य पुन्यव्याघ्रः सहायः समरेऽरिहा ।

‘श्रीरामके सीतेके भाई लक्ष्मण बड़े पराक्रमी हैं । समरभूमिमें शत्रुओंका महार करनेवाले पुरुषसिंह लक्ष्मण श्रीरामके सहायक हैं, बन्धु हैं, ब्रह्मचारी और उत्तम व्रतका दृढतापूर्वक पालन करनेवाले हैं ॥ १८-१९ ॥

अन्वगच्छद् धनुष्याणिः प्रव्रजन्तं मया सह ।
जटी तापसरूपेण मया सह सहानुजः ॥ २० ॥

प्रविष्टो दण्डकारण्ये धर्मनित्यो दृढव्रतः ।

‘श्रीरघुनाथजी मेरे साथ जब वनमें आने लगे, तब लक्ष्मण भी हाथमें धनुष लेकर उनके पीछे हो लिये । इस प्रकार मेरे और अपने छोटे भाईके साथ श्रीराम इस दण्डकारण्यमें आये हैं । वे दृढव्रतिज्ञ तथा नित्य-निरन्तर धर्ममें तत्पर रहनेवाले हैं और सिम्पर अटा धारण किये तपस्वीके वेशमें यहाँ रहते हैं ॥ २० ॥

ते वयं प्रच्युता राज्यान् कैकेय्यास्तु कृते त्रयः ॥ २१ ॥
विचराम द्विजश्रेष्ठ वने गम्भीरमोजसा ।

समाश्रयः पुनर्न तु शक्यं वस्तुमिह त्वया ॥ २२ ॥
आगमिष्यति मे भर्ता वन्यमादाय पुष्कलम् ।

‘द्विजश्रेष्ठ ! इस प्रकार हम तीनों कैकेयीके कारण राज्यमें वञ्चित हो इस गम्भीर वनमें अपने ही चल्के भरोसे विचरते हैं । आप यहाँ टाँर मरू तो दो घड़ों विश्राम कर । अभी मेरे स्वामी प्रचुरमात्रमें जंगली फल-मूल लेकर आते होंगे ॥

रुक्मन् गोधान् वराहांश्च हत्वाऽऽदायामिव बहु ॥ २३ ॥
स त्वं नाम च गोत्रं च कुलपाचक्ष्व तत्पतः ।

एकश्च दण्डकारण्ये किमर्थं चरसि द्विज ॥ २४ ॥

‘रुक्म, गंध और जगन्ने सुअर आदि हिंसक पशुओंका वध करके तपस्वी जनोंके उपभोगमें आने योग्य बहुत सा फल-मूल लेकर वे अभी आर्यगो (उस समय आपका विशेष सत्कार होगा) । ब्रह्मन् ! अब आप भी अपने राम-गात्र और कुलका टोक-ठोक परिचय दीजिये । आप अकेले इस दण्डकारण्यमें किस लिये विचरते हैं !’

एवं ब्रुवत्यां सीतायां रामपत्न्या महाबलः ।
प्रत्युवाचोत्तरं सीते रावणो राक्षसाधिपः ॥ २५ ॥

‘श्रीरामपत्नी सीतेके इस प्रकार पूछनेपर महाबली राक्षसराज रावणने अत्यन्त कठोर शब्दोंमें उत्तर दिया—

येन विज्रासिता लोकाः सदेवासुरमानुषाः ।
अहं स रावणो नाम सीते रक्षोगणेश्वरः ॥ २६ ॥

‘मोते ! जिसके नामसे देवता, असुर और मनुष्योंसहित

नानो लोक यशं उठते हैं, मैं चली रक्षसोंका सखा रावण हूँ ॥
त्वां तु काञ्चनवर्णाभां दृष्ट्वा कौशय्यासिनीम् ।
रतिं स्वकेषु दारेषु नाधिगच्छाम्यनिन्दिते ॥ २७ ॥

‘अनिन्द्यसुन्दरि ! तुम्हारे अङ्गोंकी कान्ति सुवर्णके समान है जिनपर रक्षसों माझी शोभा पा रही है नुन्हें देखकर अब मेरा मन अपनी स्त्रियोंकी ओर नहीं जाता है ॥ २७ ॥

महतीनामुत्तमस्त्रीणायाहूतानामितस्ततः ।
सर्वासायेव भद्रं ते ममाग्रमहिषी चय ॥ २८ ॥

‘मैं इधर-उधरमें बहुत सों सुन्दरी स्त्रियाँको भर लाया हूँ ।
उन सबमें तुम मेरी पटरानी बनो । तुम्हारा भला हो ॥ २८ ॥

लङ्का नाम समुद्रस्य मध्ये मम महापुरी ।
सागरेण परिक्षिप्ता निधिहा गिरिमूर्धनि ॥ २९ ॥

‘मेरी राजधानीका नाम लङ्का है । वह महापुरी समुद्रक बीचोंबीच एक पर्वतके शिखरपर बसी हुई है । समुद्रनूनन चारों ओरसे घेर रक्का है ॥ २९ ॥

तत्र सीते भया साधै चनेषु विचरिष्यसि ।
न आस्ये वनवासस्य स्पृहायिष्यसि धामिनि ॥ ३० ॥

‘सीते ! वहाँ रहकर तुम मेरे साथ नाना प्रकारके वनोंमें विचरण करोगी । धामिनि ! फिर तुम्हारा मनमें इस वनवासकी इच्छा कभी नहीं होगी ॥ ३० ॥

पृष्ठं दास्यः सहस्राणि सर्वाभरणाभूषिताः ।
सीते परिचरिष्यन्ति भार्या भवसि ये यदि ॥ ३१ ॥

‘सीते ! यदि तुम मेरे भार्या हो आओगी तो सब प्रकारके आभूषणोंमें विभूषण पाँच हजार दर्शिकाएँ मन्द तुम्हारी सेवा किया करोगी ॥ ३१ ॥

रावणेनैवमुक्ता तु कुपिता जनकात्मजा ।
प्रत्युवाचानवच्छाद्री तपनादुख्य रक्षसम् ॥ ३२ ॥

रावणके ऐसा कहनपर निर्दोष अङ्गोवासी जनकान्दिनी सीता कुपित हो उठीं और रक्षसका निरस्कार करके उमे पों उत्तर देने लगीं— ॥ ३२ ॥

महागिरिविवाकम्यं महेन्द्रमदृशं घतिम् ।
महोदधिमित्राक्षोभ्यमाह राममनुव्रता ॥ ३३ ॥

‘मेरे पतिदेव भगवान् श्रृंगम महान् पर्वतके समान अविचल हैं, इन्द्रके तुल्य पराक्रमी हैं और महासागरके समान प्रशान्त हैं, उन्हें कोई क्षुब्ध नहीं कर सकता । मैं तन-मन-प्राणसे उन्हीं का अनुसरण करनेवाली तथा उन्हींकी अनुरागिणी हूँ ॥ ३३ ॥

सर्वलक्षणसम्पन्नं न्यग्रोधपरिमण्डलम् ।
सत्यसंघं महाभागमहं राममनुव्रता ॥ ३४ ॥

‘श्रीगणेशजी सम्पन्न शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न, बट-क्षुब्धकी भाँति सबको अपनी छायामें आश्रय देनेवाले, सत्यप्रतिज्ञ और महान् सौभाग्यशाली हैं । मैं उन्हींका अनन्य अनुरागिणी हूँ ॥ ३४ ॥

महाबाहुं महोरस्क सिंहविक्रान्तगामिनम् ।
नृसिंहं सिंहसंकाशमहं राममनुव्रता ॥ ३५ ॥

‘उनको भुजाएँ बड़ी-बड़ी और छातों चौड़ी हैं वे सिंहके समान पाँव बढ़ाने हुए बड़े गर्वके साथ चलते हैं और सिंहके ही समान पराक्रमी हैं । मैं उन पुरुषांसिंह श्रीराममें ही अनन्य भक्ति रखनेवाली हूँ ॥ ३५ ॥

पूर्णचन्द्राननं रामं राजवत्सं जितेन्द्रियम् ।
पृथुर्कीर्तिं महाबाहुमहं राममनुव्रता ॥ ३६ ॥

‘राजकुमार श्रीरामका मुख पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर है वे जितेन्द्रिय हैं और उनका यश महान् है । उन महाबाहु श्रीराममें ही दुश्मनापूर्वक मेरा मन लगा हुआ है ॥ ३६ ॥

त्वं पुनर्जम्बुकः सिंहीं भामिहेच्छसि दुर्लभाम् ।
नाहं शक्या त्वया स्मरुमादित्यस्य प्रभा यथा ॥ ३७ ॥

‘पापों निशान्तर नृ सियार है और मैं स्त्रियों हूँ, मैं तेरे लिये सर्वथा दुर्लभ हूँ । क्या तू यहाँ मुझे प्राप्त करनेकी इच्छा रखता है ? ओरे ! जैसे सूर्यकी प्रभापर काँड़ हाथ नहीं लगा सकता, उसी प्रकार तू मुझे हू भी नहीं सकता ॥ ३७ ॥

पादपान् काञ्चनान् नूनं बहून् पश्यसि मन्दभाक् ।
राघवस्य प्रियां भार्या यस्त्वमिच्छसि राक्षस ॥ ३८ ॥

‘अभागे राक्षस ! तैरा इतना साहस ! तू श्रोत्रपुनायजीकी प्यारी पत्नीका अपहरण करना चाहता है । निश्चय ही तुझे बहुत से मोनोंके वृक्ष दिखायी देने लगे हैं अब तू मोतके निकट जा पहुँचा है ॥ ३८ ॥

क्षुधितस्य च सिंहस्य भृगुशत्रोस्तस्विनः ।
आशीविषस्य वदनाद् दंष्ट्रमादातुमिच्छसि ॥ ३९ ॥

मन्दरे पर्वतश्रेष्ठे पाणिना हर्तुमिच्छसि ।
कालकूटे विषं पीत्वा स्वस्तिमान् गन्तुमिच्छसि ॥ ४० ॥

अस्ति सूच्या प्रमृजसि जिह्वयालेढि च क्षुरम् ।
राघवस्य प्रियां भार्यामधिगन्तुं त्वमिच्छसि ॥ ४१ ॥

‘तू श्रीरामकी प्यारी पत्नीको हलगत करना चाहता है । जान पड़ता है, अत्यन्त वेगशाली भृगुवैरो भूजे सिंह और विषधर सर्पके मुखसे उनके दाँत तोड़ लेना चाहता है, पर्वतश्रेष्ठ मन्दराचलको हाथसे उठाकर ले जानकी इच्छा करता है । कालकूट विषकी पीकर कुशलपूर्वक लौट आनेकी अभिलाषा रखता है तथा अस्त्रको सूँडसे पाँड़ना और छुराको जीभसे चाटना है ॥ ३९—४१ ॥

अवसज्ज शिलां कण्ठे समुद्रं तर्तुमिच्छसि ।
सूर्याचन्द्रमसौ चोभौ पाणिभ्यां हर्तुमिच्छसि ॥ ४२ ॥

‘क्या तू अपने गलमें पत्थर बाँधकर समुद्रको पार करना चाहता है ? सूर्य और चन्द्रमा दोनोंको अपने दोनों हाथोंसे हर लानेका इच्छा करता है ? जो श्रीगणेशजीकी प्यारी पत्नीपर बलात्कार करनेको उतारू हुआ है ॥ ४२ ॥

अग्निं प्रज्वलितं दृष्ट्वा वस्त्रेणाहर्तुमिच्छसि ॥ ४३ ॥
कल्याणवृत्तां यो भार्या रामस्माहर्तुमिच्छसि ।

'यदि तू कल्याणमय आचारका धारण करनेवाली श्रीरामकी भार्याका अपहरण करना चाहता है तो अवश्य ही जलती हुई आगको देखकर भी तू उसे कपड़ेवे घोंघकर ले जानेकी इच्छा करता है ॥ ४३ ॥

अयोमुखानां शूलानामग्रे धरितुमिच्छसि ।
रामस्य सदृशीं भार्यां योऽधिगन्तुं त्वमिच्छसि ॥ ४४ ॥

'अरे तू श्रीरामकी भार्याको, जो सर्वथा ठन्डकी योग्य है, हस्तगत करना चाहता है, तो निश्चय ही लोहमय मुखवाल शूलोंको गोकर्ष चलनेकी अभिन्यास करता है ॥ ४४ ॥

यदन्तरं सिंहभुगालयोर्वने
यदन्तरं चन्दनिकासमुद्रयोः ।

सुराश्रयसौख्यरक्षयोऽदन्तरं
तदन्तरं दाशरथेस्तवैव च ॥ ४५ ॥

'वनमें रहनेवाले सिंह और सियासमें, समुद्र और छंटों नदीमें तथा अमृत और कर्जामें जो अन्तर है, वही अन्तर दशरथनन्दन श्रीराममें और तुझमें है ॥ ४५ ॥

यदन्तरं काञ्चनसौसलोहयो-
यदन्तरं चन्दनवाग्पिङ्गयोः ।

यदन्तरं हस्तिविडालयोर्वने
तदन्तरं दाशरथेस्तवैव च ॥ ४६ ॥

'सोने और सीसेमें, चन्दनमिश्रित जल और कौचड़में तथा वनमें रहनेवाले हाथी और बिल्लावमें जो अन्तर है, वही अन्तर दशरथनन्दन श्रीराम और तुझमें है ॥ ४६ ॥

यदन्तरं सायसवैनतेययो-
यदन्तरं मधुमयूरयोरपि ।

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीकालकीर्तिनिर्मित आर्यशामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें सैताल्लोसर्वा सर्ग पूरा हुआ ॥ ४७ ॥



अष्टचत्वारिंशः सर्गः

रावणके द्वारा अपने पराक्रमका वर्णन और सीताद्वारा उसको कड़ी फटकार

एवं ब्रुवत्यां सीतायां संरब्धः परुषं वचनः ।
ललाटे भ्रुकुटिं कृत्वा रावणः प्रत्युवाच ह ॥ १ ॥

सीताके ऐसा कहनेपर रावण रागमें आ गया और ललाटे भीष्टे देखी करके वह कठोर वाणीमें बोला— ॥ १ ॥

भ्राता वैश्रवणस्याहं सापत्नो वरचर्णिनि ।
रावणो माय भद्रं ते दशग्रीवः प्रतापवान् ॥ २ ॥

'सुन्दरी ! मैं कुबेरका सीतला भाई पद्म प्रतापो दशग्रीव रावण हूँ। तुझसे भला हो ॥ २ ॥

यदन्तरं हंसकगृध्रयोर्वने
तदन्तरं दाशरथेस्तवैव च ॥ ४७ ॥

'गरुड़ और कौएमें मोर और जलकाकमें तथा वनयामें हंस और गीधमें जो अन्तर है, वही अन्तर दशरथनन्दन श्रीराम और तुझमें है ॥ ४७ ॥

तस्मिन् सहस्राक्षसमप्रभावे
रामे स्थिते कार्मुकबाणपाणौ ।

हनापि तेऽहं न जरां गमिष्ये
आज्यं यथा मक्षिकयावगीर्णम् ॥ ४८ ॥

'जिस समय सहस्र जेधरी इन्द्रके समान प्रभावशाली श्रीरामचन्द्रजी हाथमें धनुष और बाण लेकर खड़े हो जायेंगे, उस समय तू मेरा अपहरण करके भी मुझे पचा नहीं सकेगा ठीक उसी तरह जैसे मक्खन चीं पीकर उसे पचा नहीं सकते ॥ ४८ ॥

इतीव तद्वाक्यमदुष्टभावा
सुदुष्टमुक्त्वा रजनीचरं तम् ।

गात्रप्रकम्पाद् व्यथिता बभूव
वातोद्धता सा कन्दलीष तन्वी ॥ ४९ ॥

सीताके मनमें कोई दुर्भाव नहीं था तो भी उस एकससे यह अत्यन्त दुःखजनक बात कहकर सीता रोषसे काँपने लगी। शरीरके कम्पनमें कूड़ाझी सीता इवासे हिलायी गया कन्दलीके समान व्यथित हो उठी ॥ ४९ ॥

तौ वेपमानाभुपलक्ष्य सीता
स रावणो मृत्युसमप्रभावः ।

कुलं बलं नाम च कर्म चात्पनः
समाख्यक्षेत्रे भयकारणार्थम् ॥ ५० ॥

सीताको काँपती देख मृतके समान प्रभाव रखनेवाला रावण उनका मनमें भय उत्पन्न करनेके लिये अपने कुल, बल, नाम और कर्मका परिचय देने लगा ॥ ५० ॥

यस्य देवाः सगन्धर्वाः पिशाचपतगोरगाः ।
विद्वन्ति सदा भीता मृत्योरिव सदा प्रजाः ॥ ३ ॥

येन वैश्रवणो भ्राता वैपात्राः कारणान्तरे ।
इन्द्रमामादितः क्रोधाद् रणे विक्रम्य निर्जितः ॥ ४ ॥

'जैसे प्रजा मृतके भयसे सदा डरती रहती है, उसी प्रकार देवता, गन्धर्व, पिशाच, पक्षी और नाग सदा जिससे भयभीत होकर भागत हैं, जिसने किसी कारणवश अपने सीतेके भाई कुबेरके साथ इन्द्रयुद्ध किया और क्रोध-

पूर्वक पराक्रम करके रणभूमिमें ठन्हे परास्त कर दिया था वहीं रुक्मण मै हूँ ॥ ३-४ ॥

मद्भयार्तः परित्वज्य स्वर्षधिष्ठानभृद्धिमत् ।
कैलासं पर्वतश्रेष्ठपध्यास्ते नखाहनः ॥ ५ ॥

‘मेरे ही भयसे पीड़ित हो नखाहन कुबेरने अपनी समृद्धिशालिनी पुर लङ्काका परित्याग करके इस समय पर्वतश्रेष्ठ कैलासको शरण ले है ॥ ५ ॥

यस्य तत् पुष्पकं नाम धिषानं कामगं शुभम् ।
वीर्यादावर्जितं भद्रे येन घामि विहायसम् ॥ ६ ॥

‘भद्रे ! इनका सुप्रसिद्ध पुष्पक नामक सुन्दर विमान, जो इच्छाके अनुसार चलनेवाला है, मैंने पराक्रमसे जीत लिया है और उसी विमानके द्वारा मैं आकाशमें विचरता हूँ ॥ ६ ॥

मम संजातरीषस्य मुखं दृष्ट्वैव पैथिलि ।
विद्वन्ति परिश्रुताः सुराः शक्रपुरोगमाः ॥ ७ ॥

‘विथिलिद्राकुमारों ! जब मुझे रीष चढ़ता है उस समय इन्द्र आदि सब देवता मेरा पीछे देखकर ही भयसे धरि उड़ते हैं और इधर-उधर भाग जाते हैं ॥ ७ ॥

यत्र तिष्ठाम्यहं तत्र मारुतो वाति शङ्कितः ।
नीक्राशुः दिशिराशुश्च भयात् सम्पद्यते दिवि ॥ ८ ॥

‘जहाँ मैं खड़ा होता हूँ वहाँ हवा डरकर धीरे धीरे चलने लगती है यत्र भयसे आकाशमें प्रचण्ड क्रियाशीलता सूर्य भी खन्डमाके समान जौगल हो जाता है ॥ ८ ॥

निष्कम्पपत्रास्तरुषो नद्यश्च स्तिमितोदकाः ।
ध्रुवन्ति यत्र तत्राहं तिष्ठामि च खराभि च ॥ ९ ॥

‘जिस स्थानपर मैं रहता या भ्रमण करता हूँ, वहाँ वृक्षोंके पत्रतक नहीं हिलते और नदियोंका पानी स्थिर हो जाता है ॥ ९ ॥

मम पारे समुद्रस्य लङ्का नाम पुरी शुभा ।
सम्पूर्णा राक्षसैर्धरियथेन्द्रस्यामरावती ॥ १० ॥

‘समुद्रके उस पार लङ्का नामक मेरी सुन्दर पुरी है जो इन्द्रकी अमरावतीके समान मनोहर तथा घोर राक्षसोंमें भरी हुई है ॥ १० ॥

प्राकारेण परिक्षिप्ता पाण्डुरेण विराजिता ।
हेमकक्ष्या पुरी रम्या र्द्धूर्यमयतोरणा ॥ ११ ॥

‘उसके चारों ओर बनी हुई संफेद चहारिद्वारी उस पुरीकी शोभा बढ़ाती है । लङ्कापुरीके महलोंके दरवाजे पर्श आदि सोनेके बने हैं और उसके बाहरी दरवाजे र्द्धूर्यमय हैं वह पुरी बहुत ही रमणीय है ॥ ११ ॥

हस्यश्वरशम्बाद्या त्वयनाद्विनादित्वा ।
सर्वकामफलैर्वृक्षैः संकुलोद्यानभूषिता ॥ १२ ॥

‘हस्य, शोड़े और रथोंसे चलाई सड़के भरी रहती है शान्ति-भारतके बगीचोंकी ध्वनि गूँज करती है । सब प्रकारके मनोवाञ्छित फल देनेवाले वृक्षोंसे लङ्कानुल व्याप्त है नाना

प्रकारके उद्यान उसकी शोभा बढ़ाते हैं ॥ १२ ॥

नत्र त्वं वस हे सीते राजपुत्रि मया सह ।
न स्मरिष्यसि नारीणां मानुषीणां मनस्विनि ॥ १३ ॥

‘राजकुमारी सीते ! तुम मेरे साथ उस पुरीमें चलकर निवास करो । मर्नस्विनि ! वहाँ रहकर तुम मानवी स्त्रियोंको भूल जाओगी ॥ १३ ॥

भुञ्जाना मानुषान् भोगान् दिव्यांश्च वरवर्णिनि ।
न स्मरिष्यसि रामस्य मानुषस्य गतायुवः ॥ १४ ॥

‘सुन्दरी ! लङ्कामें दिव्य और मानुष-भोगोंका उपभोग करती हुई तुम उस मनुष्य रामका कभी स्मरण नहीं करोगी जिसकी आयु अब समाप्त हो चली है ॥ १४ ॥

स्थापयित्वा त्रियं पुत्रं राज्ये दशरथो नृपः ।
मन्दवीर्यस्तनो ज्येष्ठः सुतं प्रस्थापितो वनम् ॥ १५ ॥

‘तेन किं भद्रराज्येन रामेण गतचेतसा ।
करिष्यसि विशालाक्षि तापसेन तपस्विना ॥ १६ ॥

‘विशालाक्षोदने ! राजा दशरथने अपने प्यारे पुत्रको राज्यपर विठाकर जिस अल्पपराक्रमी ज्येष्ठ पुत्रका वनमें भज दिया उस गत्यभष्ट बुद्धिहीन एवं तपस्यामें लगे हुए तापस रामका संस्कार क्या करोगी ॥ १५-१६ ॥

रक्ष राक्षसभर्तारं कामय स्वयमागतम् ।
न मन्मथशङ्कितं प्रत्याख्यान्तु स्वयर्हसि ॥ १७ ॥

‘यह राक्षसोंका स्वामी स्वयं तुम्हारे द्वारपर आया है, तुम इसको रक्षा करो इसे मनसे चाहो । यह कामदेवके बाणोंसे पीड़ित है इसे मुक्त करना तुम्हारे किये उचित नहीं है ॥ १७ ॥

प्रत्याख्याय हि मां भीरु पश्चात्तापं गमिष्यसि ।
छरणेनाभिहृत्येव पुरुरवसमुर्वशी ॥ १८ ॥

‘भीरु ! मुझे ठुकराकर तुम अभी तरह पश्चात्ताप करोगी, जैसे पुरुरवको लात मारकर उर्वशी पछतायी थी ॥ १८ ॥

अङ्गुल्या न समो रामो मम युद्धे स मानुषः ।
तव ध्यायेन सम्प्राप्तं भजस्व वरवर्णिनि ॥ १९ ॥

‘सुन्दरी ! युद्धमें मनुष्यजानीय राम मेरी एक अङ्गुलिके बराबर भी नहीं है तुम्हारे ध्यायने मैं आ गया हूँ । तुम मुझे स्वीकार करो ॥ १९ ॥

एवमुक्ता तु वैदेही क्रुद्धा संरक्तलोचना ।
अत्रवीत् परुषं वाक्यं रहिते राक्षसाधिपम् ॥ २० ॥

‘गुणोंके ऐसा कहनेपर विदेहकुमारी सीताके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये उन्होंने उस एकान्त स्थानमें राक्षसराज रावणसे कनोर बाणोंमें कहा— ॥ २० ॥

कथं वैश्रवणे देवं सर्वदेवनमस्कृतम् ।
भ्रातरं व्यपदिश्य त्वमशुभं कर्तुमिच्छसि ॥ २१ ॥

‘अरे ! भगवान् कुबेर तो सम्पूर्ण देवताओंके वन्दनीय हैं । तू ठन्हे अपना भाई बताकर ऐसा पापकर्म कैसे करना चाहता है ? ॥ २१ ॥

अवश्यं विनशिष्यन्ति सर्वे रावण राक्षसाः ।

येषां त्वं कर्कशो राजा दुर्बुद्धिरजितेन्द्रियः ॥ २२ ॥

‘रावण ! जिनका तुझ-जैसा क्रूर, दुर्बुद्धि और अजितेन्द्रिय राजा है, वे सब राक्षस अवश्य ही नष्ट हो जायेंगे ॥ २२ ॥

अपहत्य शचीं भायी शक्यमिन्द्रस्य जीविनुम् ।

नहि रामस्य भायी मामानीय स्वस्तिमान् भवेन् ॥ २३ ॥

‘इन्द्रकी पत्नी शचीका अपहरण करके सम्भव है कोई जीवित रह जाय, किंतु रामपत्नी मुझ सौताका हरण करके कोई कुशलसे नहीं रह सकता ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डेऽष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आरण्यकाण्डे अष्टचत्वारिंशः सर्ग पूरा हुआ ॥ ४८ ॥

एकोनपञ्चाशः सर्गः

रावणद्वारा सीताका अपहरण, सीताका विलाप और उनके द्वारा जटायुका दर्शन

सीताया वचनं श्रुत्वा दशग्रीवः प्रतापवान् ।

हस्ते हस्तं सभाहत्य चकार सुमहद् वपुः ॥ १ ॥

सीताके इस वचनको सुनकर प्रतापी दशमुख रावणने अपने हाथपर हाथ मारकर शरीरको बहुत बड़ा बना लिया ॥

स मैथिलीं पुनर्वाक्यं बभाषे वाक्यकोविदः ।

नोन्मत्तया भुती मन्ये भय धीर्यपराक्रमी ॥ २ ॥

वह बातचीत करनेकी कला जानता था । उसने मिथिलेशकुमारी सीतासे फिर इस प्रकार कहना आरम्भ किया—‘मेरी समझमें तुम पागल हो गयी हो इसीलिये तुमने मेरे बल और पराक्रमकी खाने अनसूनी कर दी है ॥ उद्धतेय भुजाभ्यां तु मेदिनीमण्डरे स्थितः ।

आपिबन्धं समुद्रं च मृत्युं हन्यां रणे स्थितः ॥ ३ ॥

‘अरी ! मैं आकाशमें खड़ा हो इन दोनों भुजाओंसे ही सारी पृथ्वीको उठा ले जा सकता हूँ, समुद्रको भी जो सकता हूँ और युद्धमें स्थित हो मौतको भी मार सकता हूँ ॥ ३ ॥

अर्कं तुष्टां शरैस्तीक्ष्णैर्विभिन्नां हि महीतलम् ।

कामरूपेण उन्मत्ते पश्य मां कामरूपिणम् ॥ ४ ॥

‘काम तथा रूपसे उन्मत्त रहनवाली नाचे । यदि चाहूँ तो अपने तीखे बाणोंसे सूर्यको भी व्याधित कर दूँ और इस भूतलको भी विदीर्ण कर दालूँ । मैं इच्छानुसार रूप धारण करनेमें समर्थ हूँ । तुम मेरी ओर देखो’ ॥ ४ ॥

एवमुक्तवतस्तस्य रावणस्य शिखिप्रभे ।

कुन्तस्य हरिष्यन्ते रक्ते नेत्रे वभूवतुः ॥ ५ ॥

ऐसा कहते-कहते क्रोधसे ध्ये हुए रावणके आँखें, जिनके प्रान्तभाग काले थे, जलती आगके समान लाल हो गयीं ॥ ५ ॥

सद्यः सौम्यं परित्यज्य तीक्ष्णरूपं स रावणः ।

स्वं रूपं कालरूपाभं धेजे वैश्रवणानुजः ॥ ६ ॥

जीवेच्चिरं वज्रधरस्य यश्चा-

च्छचीं प्रधुष्याप्रतिरूपरूपाम् ।

न मादृशीं राक्षसं धर्षयित्वा

पीतामृतस्यापि तवास्ति मोक्षः ॥ २४ ॥

‘राक्षस ! वज्रधातु इन्द्रको अनुपम रूपवती भायी शचीका तिरस्कार करके सम्भव है कोई ठमके बाद भी चिरकालतक जीवित रह जाय, परंतु मेरी जैसी स्त्रीका अपमान करके नृ अमृत पों ले तो भी तुझे जीने-जो छुटकारा नहीं मिल सकता’ ॥ २४ ॥

कुबलके छोटे भाई रावणने तत्काल अपने सौम्य रूपको त्यागकर तीक्ष्ण एवं कालक समान विकराल अपना स्वाभाविक रूप धारण कर लिया ॥ ६ ॥

संरक्तनयनः श्रीमांस्तप्तकाञ्चनभूषणः ।

क्रोधेन महनाविष्टो नीलजीमूतसंनिभः ॥ ७ ॥

उस समय श्रीमान् रावणके सभी नेत्र लाल हो रहे थे । वह एक मांके आभूषणसे अलंकृत था और महान् क्रोधसे आविष्ट हो नीलमेघके समान काला दिखायो देने लगा ।

दशास्यो विंशतिभुजो बभूव क्षणदाक्षरः ।

स परिव्राजकच्छद्य महाकायो विहाय तन् ॥ ८ ॥

वह दशास्यकाय निशाचर परिव्राजकके उस छद्मवेशको त्यागकर दस मुन्धों और बीस भुजाओंसे सज्जित हो गया ॥

प्रतिपदे स्वकं रूपं रावणो राक्षसाधिपः ।

रक्ताम्बरधरस्तस्थौ स्त्रीरत्नं प्रेक्ष्य मैथिलीम् ॥ ९ ॥

उस समय राक्षसराज रावणने अपने सज्ज रूपको ग्रहण कर लिया और लाल रंगके वस्त्र पहनकर वह स्त्री-रत्न सीतावरि ओर देखता हुआ खड़ा हो गया ॥ ९ ॥

स तामसितकेशान्तां भास्करस्य प्रभामिव ।

वसनाभरणोपेतां मैथिलीं रावणोऽब्रवीत् ॥ १० ॥

काले केशवाली मैथिली वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हो सूर्यकी प्रभा-सी जान पड़ती थी । रावणने तबसे कहा— ॥

जिषु लोकेषु विख्याते यदि भर्तारमिच्छसि ।

भामाश्रयं वरारोहे तदाहं सदृशः पतिः ॥ ११ ॥

‘वरारोहे ! यदि तुम तानों लोकोंमें विख्यात पुरुषका अपना पति बनाना चाहती हो तो मेरा आश्रय लो । मैं ही तुम्हारे योग्य पति हूँ ॥ ११ ॥

यां भजस्व चिराय त्वमहं इलाप्यः पतिस्तव ।

नैव चाहं कचिद् भद्रे करिष्ये तव विप्रियम् ॥ १२ ॥

‘भद्रे ! मुझे सुदोषकालके लिये स्विकार करो । मैं तुम्हारे लिये स्फुटणोय एवं प्रशंसनीय पनि होऊँगा तथा कभी तुम्हारे मनके प्रतिकूल कोई बर्ताव नहीं करूँगा ॥ १२ ॥

न्यव्यस्तां मानुषो भावो मयि भावः प्रणीवताम् ।

राज्याच्युतमसिद्धार्थं रामं परिमितायुषम् ॥ १३ ॥

कैर्गुणैरनुरक्तसि मूढे पण्डितभानिनि ।

‘मनुष्य रामके विषयमें जो तुम्हारा अनुशंग है, उसे त्याग दो और मुझसे स्नेह करो । अपनेको पण्डित (बुद्धिमत्) माननेवाली मूढ़ नयी । जो राज्यमें भ्रष्ट है, जिसका मनोरथ नाशिल नहीं हुआ तथा जिसकी आयु सीमित है उस राममें किन गुणोंके कारण तुम अनुरक्त हो ॥ १३ ॥

यः स्त्रियो वचनाद् राज्यं विहाय ससुहृज्जनम् ॥ १४ ॥

अस्मिन् ख्यालानुधरिते चने वसति दुर्मतिः ।

जो एक स्त्रीके कहनेमें सुहृदोन्मत्त हो राज्यका त्याग करके इस जिसके जन्म होने में वनमें निवास करता है, उसकी बुद्धि कैसी खराब है ? (यह मन्थना मूढ़ है)

इत्युक्त्वा पथिलीं वाक्ये प्रियाह्वी प्रियवादिनीम् ॥ १५ ॥

अभिगम्य सुदृष्ट्वा राक्षसः कामपोहितः ।

जप्राह रावणः सीतां बुधः खे रोहिणीमिव ॥ १६ ॥

जो प्रिय वचन सुननेके योग्य और सबसे प्रिय वचन श्रोतृवत्वात्वा था, उन मिथिलेशकुमारी मानस ऐला अभिय वचन कहकर काममें मग्न हो उस अन्यन्त दृष्ट्या राक्षस रावणने निकट आकर (सीताके समान आदरणीया) सीताको पकड़ लिया मानो बुधने आकाशमें अपनी मातृ रश्मियोंका एकट्टेके धुसाहस किया हो* ॥ १५-१६ ॥

वामेन सीतां पथाक्षी मूर्धजेषु करेण सः ।

उर्वोस्तु दक्षिणेनेव परिजप्राह पाणिना ॥ १७ ॥

इसने बायीं हाथसे कमलनयनी सीताके केशोन्मत्त मस्तकको पकड़ा तथा दाहिना हाथ ठन्की दोनों बांधोंके नीचे लगाकर उसके द्वारा उन्हें उठा लिया ॥ १७ ॥

तं दृष्ट्वा गिरिभृङ्गाभं तीक्ष्णदंष्ट्रं महाभुजम् ।

प्राव्रजन् मृत्युरसंकाशं ध्यातां वन्देवताः ॥ १८ ॥

उस समय तीक्ष्ण दाढ़ी और विशाल भुजाओंसे युक्त पर्वतशिखरके समान प्रतीत होनेवाले उस कालके समान पंचकाल राक्षसका देखकर बगल समस्त देवता ध्यस्त होकर भाग गये ॥ १८ ॥

स च मायामयो दिव्यः स्वरयुक्तः स्वरस्वनः ।

प्रत्यदृश्यत हेमाक्षो रावणस्य महारथः ॥ १९ ॥

इतनेहीमें गधोंसे जुता हुआ और गधोंके समान ही शब्द कमजोर रावणका वज्र विशाल सुवर्णमय मायानिर्मित दिव्य रथ वहाँ दिखायी दिया ॥ १९ ॥

ततस्तां पल्लवाकर्यरभितर्ज्य महास्वनः ।

अंकनादाय वंदेही रथमारोपयत् तदा ॥ २० ॥

रथके प्रकट होने ही जोर-जोरसे गर्जना करनेवाले रावणने कठोर वचनोंद्वारा विदेहनन्दिनी सीताको डाँट और पूर्वांक रूपसे गेदमें उठाकर तत्काल रथपर बिठा दिया । सा गृहीतातिचुक्रोश रावणेन यशस्विनी ।

रामेति सीता दुःखार्ता रामं दूरं गतं चने ॥ २१ ॥

रावणके द्वारा पकड़ो जानेपर यशस्विनी सीता दुःखमें व्यकुल हो गयी और वनमें दूर गये हुए श्रीरामचन्द्रजीको ‘हे राम !’ कहकर जोर-जोरसे पुकारने लगी ॥ २१ ॥

तामकामां स कामार्तः पद्मगेन्द्रवधूमिव ।

विधेष्टमानापादाय उत्पपाताथ रावणः ॥ २२ ॥

सीताके मनमें रावणकी कामना नहीं थी—वे उसकी ओरसे सर्वथा विरक्त थीं और उसकी कैदसे अपनेको दुष्टमर्क लिये चोट खाई हुई नागिनकी तरह उस रथपर छटपटा गयी थीं । उसी अवस्थामें कामपोड़ित राक्षस उन्हें लेकर आकाशमें उड़ चला ॥ २२ ॥

ततः सा राक्षसेन्द्रेण ह्रियमाणा विहायसा ।

भृशं चुक्रोश मनेव भ्रान्तचिन्ता यथातुरा ॥ २३ ॥

राक्षसराज जब सीताको हरकर आकाशमार्गसे ले जाने लगा, उस समय उनकी चिन्ता भ्रमित हो उठी । वे पगली-सी हो गयीं और दुःखमें आतुर-सी होकर जोर-जोरसे विलाप करने लगीं— ॥ २३ ॥

हा लक्ष्मण महाबाहो गुरुचित्तप्रसादक ।

ह्रियमाणो न जानीषे रक्षसा कामरूपिणा ॥ २४ ॥

हा महाबाहु लक्ष्मण ! तुम गुरुजनके मनको प्रसन्न करनेवाले हो । इस समय इच्छानुसार रूप धारण करने-वाला राक्षस मुझे हरकर लिये जाना है, किंतु तुम्हें इसका पता नहीं है ॥ २४ ॥

जीवित सुखपथं च धर्महितोः परित्यजन् ।

ह्रियमाणापथमेण मां राघव न पश्यसि ॥ २५ ॥

‘हा रघुनन्दन ! आपने धर्मके लिये प्राणोंका मोह, शरीरका मूत्र तथा राज्य वैभव सब कुछ छोड़ दिया है यह राक्षस मुझे अधर्मपूर्णक त्रुकर लिये जा रहा है, परंतु आप नहीं देखने हैं ॥ २५ ॥

* यहाँ अभूतोपमानकार है । बुध चन्द्रमाके बुध हैं और गेद्यों चन्द्रमाका पक्ष । बुधन न तो कभी रोहिणीको पकड़ा है और न वे ऐसा कर ही सकते हैं । यहाँ यह दिखाया गया है कि यदि ब्रह्मचिन्त बुध कामवश अपनी माता रोहिणीको पकड़ ले तो वह भी बस पाप होगा बड़ी पाप रावणन सीताका पकड़नेके कारण किया था ।

ननु नामाविनीतानां विनेतासि परंतप ।

कथमेवंविधं पार्य न त्वं शशि हि रावणम् ॥ २६ ॥

‘शत्रुओंको संताप देनेवाले आर्यपुत्र ! आप तो कुमार्गपर चलनेवाले उदण्ड पुरुषोंको दण्ड देकर उन्हें राहपर लानेवाले हैं, फिर ऐसे पापी रावणको क्यों नहीं दण्ड देते हैं । २६ ॥

न तु सद्योऽविनीतस्य दृश्यते कर्मणः फलम् ।

कालोऽप्यङ्गीभवत्यत्र सस्यानामिव पक्तये ॥ २७ ॥

‘उदण्ड पुरुषके उदण्डतापूर्ण कर्मका फल तत्काल मिलता नहीं दिखायी देता है, क्योंकि इसमें काल भी सड़कारी कारण होता है, जैन कि खेतोंके पकनेके लिये तदनुकूल समयको अपेक्षा होती है ॥ २७ ॥

त्वं कर्म कृतवानेतत् कालोपहतचेतनः ।

जीवितान्तकरे धीरे रामाद् व्यसनमाप्नुहि ॥ २८ ॥

‘रावण ! तेरे सिरपर काल नाच रहा है। उसीने तेरी विचारशक्तिको नष्ट कर दी है, इसीलिये तूने ऐसा पापकर्म किया है। तूझे श्रीरामसे यह भयकर संकट प्राप्त हो, जो तेरे प्राणाका अन्त कर डाले ॥ २८ ॥

हन्तेदानीं सकामा तु कैकेयी बान्धवैः सह ।

ह्रियेयं धर्मकामस्य धर्मपत्नी यशस्विनः ॥ २९ ॥

‘हाय ! इस समय कैकेयी अपने बन्धु-बान्धवोंसहित सफलमनोरथ हो गयी, क्योंकि धर्मकी अभिलाषा रखनेवाले यशस्वी श्रीरामकी धर्मपत्नी होकर भी मैं एक राक्षसद्वारा हरी जा रही हूँ ॥ २९ ॥

आमन्त्रये जनस्थाने कर्णिकारांश्च पुष्पितान् ।

क्षिप्रं रामाय शंसन्ध्वं सीतां हरति रावणः ॥ ३० ॥

‘मैं जनस्थानमें खिले हुए कर्ण वृक्षोंमें प्रार्थना करती हूँ, तुमलोग शीघ्र ही श्रीरामसे कहना कि सीताका रावण हर ले जा रहा है ॥ ३० ॥

हंससारससंयुष्टां बन्दे गोदावरीं नदीम् ।

क्षिप्रं रामाय शंस त्वं सीतां हरति रावणः ॥ ३१ ॥

‘हंसों और सारसोंके कलरवासे मुखरित हुई गोदावरी नदीकी मैं प्रणाम करती हूँ, मैं तुम श्रीरामसे शीघ्र ही कह देना, सीताको रावण हर ले जा रहा है ॥ ३१ ॥

दैवतानि च यान्यस्मिन् घने विविधपादये ।

नमस्करोम्यहं तेभ्यो भर्तुः शंसत मो हताम् ॥ ३२ ॥

‘इस घनके विभिन्न वृक्षोंपर निवास करनेवाले जी-जो देवता हैं उन सबको मैं नमस्कार करती हूँ, आप सब लोग शीघ्र ही मेरे स्वामीको सूचना दे दें कि आपकी स्त्रीको राक्षस हर ले गया ॥ ३२ ॥

यानि कानिचिदप्यत्र सत्त्वानि विविधानि च ।

सर्वाणि शरणं यामि भृगपक्षिगणानि वै ॥ ३३ ॥

ह्रियमाणां प्रियां भर्तुः प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम् ।

विवशा मे हुता सीता रावणेनेति शंसत ॥ ३४ ॥

‘यहाँ पशु पक्षी आदि जो कोई भी नाना प्रकारके प्राणी रहते हों, उन सबकी मैं शरण लती हूँ। वे मेरे स्वामी श्रीरामचन्द्रजीसे कहें कि जो आपको प्राणीसे भी बड़कर प्रिय थी, वह सीता हरी गयी। आपको सोनाको अरुहाय अवस्थानमें रावण हर ले गया ॥ ३३-३४ ॥

विदित्वा तु महाबाहुरमुत्रापि महाबलः ।

आनेष्यति पराक्रम्य वैवस्वनहुतामपि ॥ ३५ ॥

‘महाबाहु श्रीराम बड़े बलवान् हैं। वे मुझे परलोकमें भी गयी हुई जान ले तो यमराजके द्वार अपहृत होनेपर भी मुझको पराक्रमपूर्वक वहाँसे लौटा लयेंगे ॥ ३५ ॥

सा तदा करुणा वाचो विलपन्ती सुदुःखिता ।

वनस्पतिगतं गृध्रं ददर्शयितलोचना ॥ ३६ ॥

उस समय अत्यन्त दुःखी हो करुणाजनक बातें कहकर विलप करती हुई विशाललोचना सोनाने एक वृक्षपर बैठे हुए गृधराज अटायुको देखा ॥ ३६ ॥

सा तमुद्गीक्ष्य सुश्रोणी रावणस्य वशंगता ।

समाक्रन्दद् भयपरा दुःखोपहतया गिरा ॥ ३७ ॥

रावणके वशमें पड़ जानेके कारण सुन्दरी सीता अत्यन्त भयभीत हो रही थीं, अटायुको देखकर वे दुःखपरी वाणीमें करुण क्रन्दन करने लगीं— ॥ ३७ ॥

जटायो पश्य मामार्य ह्रियमाणामनाथवत् ।

अनेन राक्षसेन्द्रेणाकरुणं पापकर्मणा ॥ ३८ ॥

‘आर्य जटायो ! देखिये, यह पापाचारी राक्षसरज अनाथकी भाँति मुझे निर्दयतापूर्वक हरकर लिये जा रहा है। मैं बच बचाने के लिये शक्यस्त्वया कुरो निशाचरः ।

सत्त्ववाञ्छितकाशी च सापुष्पक्षेत्रं दुर्मतिः ॥ ३९ ॥

‘परन्तु आप इस कुर निशाचरको रोक नहीं सकते, क्योंकि यह यन्त्रक्षेत्र है, अनेक युद्धोंमें विजय पानेका कारण इसका दुस्साहस बढ़ा हुआ है। इसके साथीमें हथियार है और इसके घनमें दुष्टता भी भरी हुई है ॥ ३९ ॥

रामाय तु यथातत्त्वं जटायो हरणं मम ।

लक्ष्मणाय च तत् सर्वभाष्यातव्यमशेषतः ॥ ४० ॥

‘आर्य जटायो ! जिस प्रकार मेरा अपहरण हुआ है, यह सब समाचार आप श्रीराम और लक्ष्मणसे ज्यों-का-त्यों पूर्णरूपसे बता दीजियेगा ॥ ४० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे एकोनपञ्चाशः सर्गः ॥ ४९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें उन्चासवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४९ ॥

पञ्चाशः सर्गः

जटायुका रावणको सीताहरणके दुष्कर्मसे निवृत्त होनेके लिये समझाना
और अन्तमें युद्धके लिये ललकारना

ते शङ्खध्वजसुमस्तु जटायुश्च शुश्रुवे ।
निरिक्षद् रावणे क्षिप्रं वेदेहो च ददर्श सः ॥ १ ॥

जटायु उस समय सो रहे थे, उसी अवस्थामें उन्होंने
मैंताकें यह करुण पुकार सुनो। सुनते ही तुरंत आँखें
खोलकर उन्होंने विदेहनन्दिनी सीता तथा रावणको देखा ॥

ततः पर्वतशृङ्गाधस्तीक्ष्णतुण्डः स्वगतोद्यः ।
वनस्पतिगतः श्रीमान् व्याजहार शुभां गिरम् ॥ २ ॥

पक्षिधर्म श्रेष्ठ श्रीमान् जटायुका शरीर पर्वत-शिखरक
समान ऊँचा था और इसकी चोंच बहुत ही लम्बी थी। वे
पेड़पर बैठे ही बैठे रावणको लक्ष्य करके यह शुभ वचन
वाले— ॥ २ ॥

दशग्रीव स्थितो धर्मो पुराणो सत्यसंश्रयः ।
भ्रातृस्त्वं निन्दितं कर्म कर्तुं नार्हसि साम्प्रतम् ॥ ३ ॥

जटायुनाम नाम्नाहं गृधराणो महाबलः ।
दशमुख रावण ! मैं प्राचीन (मनोहर) धर्ममें स्थित

राजपक्षि और महाबलवान् गृध्रराज हूँ। मेरा नाम जटायु
है। धिया इस समय मेरे मनमें तुम्हें ऐसा निन्दित कर्म नहीं
करना चाहिये। ॥ ३ ॥

राजा सर्वस्य लोकस्य महेन्द्रवर्णोद्यमः । ४ ॥
लोकानां च हिने युक्तो रामो दशग्रीवपुत्रः ।

‘दशमनन्दन श्रीगमनन्दजी सम्पूर्ण जगत्के स्वामी इन्द्र
और वरुणक समान पराक्रमी तथा सब प्राणोंके हिने में संलग्न
रहनेवाले हैं ॥ ४ ॥

तस्यापि लोकनाथस्य धर्मपत्नी यशस्विनी ॥ ५ ॥
सीता नाम वरारोहा यो त्वं हर्तुमिहेच्छसि ।

‘मे उसी जगदीश्वर श्रीगमनकी यशस्विनी धर्मपत्नी है। इन
तुम्हारे शरीरवाली दुष्टोंका नाम सीता है जिससे तुम हाकर ल
वाना चाहते हो ॥ ५ ॥

कथं राजा स्थितो धर्मो परदागन् परामुशेम् ॥ ६ ॥
रक्षणिया सिंशेषेण राजद्वारा महाबलः ।

नित्यं गति नीत्वा परतराभिमर्शनम् ॥ ७ ॥

‘आपन धर्ममें स्थित रहनेवाला कोई भी राजा भला परायी
स्त्रीका स्पर्श कैसे कर सकता है? महाबली रावण !
राजाओंकी स्त्रियोंकी तो सभाओंकी विशेषरूपसे रक्षा करने
चाहिये। परायी स्त्रीके स्पर्शसे जो नीच गति प्राप्त होनेवाली
है, उसे आपन-आपसे दूर रहो ॥ ६-७ ॥

न तत् समाचरन् धीरो यन् परोऽस्य विगर्हयेत् ।
यथाऽऽत्मनस्तथान्यथा दारा रक्षया विमर्शनाम् ॥ ८ ॥

धाम (बुद्धिमान्) वह कर्म न करे जिसकी दूसरे लोग

निन्दा करें। जैसे पराये पुरुषोंके स्पर्शसे अपनी स्त्रीकी
रक्षा की जाती है, उसी प्रकार दूसरोंकी स्त्रियोंकी भी रक्षा
करनी चाहिये ॥ ८ ॥

अर्थ वा यदि वा कामं शिष्टाः शास्त्रेषुनागतम् ।
व्यवस्यन्त्यनु राजानं धर्मं पौलस्त्यनन्दन ॥ ९ ॥

‘पुलस्त्यकुलनन्दन ! जिसकी शास्त्रोंमें चर्चा नहीं है ऐसे
धर्म, अर्थ अथवा कामका भी श्रेष्ठ पुरुष केवल राजाओं
दखानेकी आज्ञासे करने लगते हैं (अतः राजाको अनुचित
या अशास्त्रीय कर्ममें प्रवृत्त नहीं होना चाहिये) ॥ ९ ॥

राजा धर्मश्च कामश्च द्रव्याणां चोत्तमो निधिः ।
धर्मः शुभं वा पापं वा राजपुलं प्रवर्तते ॥ १० ॥

‘राजा धर्म और कामका प्रवर्तक तथा द्रव्योंकी उत्तम
निधि है, अतः धर्म, सदाचार अथवा पाप—इनकी प्रवृत्ति
मूल कारण राजा हैं ॥ १० ॥

पापस्वभावश्चपलः कथं त्वं रक्षसां वर ।
ऐश्वर्यमभिसम्प्राप्तो विमानमिव दुष्कृती ॥ ११ ॥

‘राक्षसराज ! जब तुम्हारा स्वभाव ऐसा पापपूर्ण है और
तुम इनमें चपल हो तब पापोंको देखनाओंके विमानको भाँति
तुम्हें यह ऐश्वर्य कैसे प्राप्त हो गया ? ॥ ११ ॥

कामस्वभावो यः सोऽसौ न शक्यस्तं प्रयार्जिनुम् ।
नहि दुष्टात्मनामार्यमावसत्यालये चिरम् ॥ १२ ॥

‘जिसके स्वभावमें कामकी प्रधानता है, उसके उस
स्वभावका परिमार्जन नहीं किया जा सकता; क्योंकि
दुष्टात्माओंके घरमें दारुकाालके बाद भी पुण्यका आवास
नहीं होता ॥ १२ ॥

विषये वा पुरे वा ते यदा रामो महाबलः ।
नपराध्यति धर्मात्पा कथं तस्यापराध्यसि ॥ १३ ॥

‘जब महाबली धर्मात्मा श्रीगम तुम्हारे राज्य अथवा
नगरमें कोई अपराध नहीं करते हैं, तब तुम उनका अपराध
कैसे कर रहे हो ? ॥ १३ ॥

यदि शूर्पणखहेनोर्जनस्थानगतः खरः ।
अतिवृत्तो हतः पूर्वं रामेणाङ्घ्रिकर्मणा ॥ १४ ॥

अत्र ब्रूहि यथातत्त्वं को रामस्य व्यतिक्रमः ।
यस्य त्वं लोकनाथस्य हुत्वा भार्या गमिष्यसि ॥ १५ ॥

यदि पशुल शूर्पणखाका बदला लेनेके लिये खरका आगे
हूँ अत्याचारों से बचका अनायास ही महान् कर्म करनेवाला
श्रीगमन बंध किया तो तुम्हीं टीक-टीक बताओ कि इसमें
श्रीगमका क्या अपराध है, जिससे तुम इन जगदीश्वरकी
पत्नीको हर ल जाना चाहते हो ? ॥ १४-१५ ॥

क्षिप्रं विसृज्य वेदेहीं मा स्वा घोरेण चक्षुषा ।

दहेद् दहनभूतेन वृश्मिन्नाशनिर्यथा ॥ १६ ॥

‘रावण ! अब शीघ्र ही विदेहकुमारी सोतको छोड़ दो, जिससे श्रीरामचन्द्रजी अपनी अग्निके समान भयंकर दृष्टिमें तुम्हें जलाकर भस्म न कर डालें। जैसे इन्द्रका वज्र वृत्रासुरका विनाश कर डाला था, उसी प्रकार श्रीरामको रोषपूर्ण दृष्टि दग्ध कर डालेंगे ॥ १६ ॥

सर्पमाशीविषं बद्ध्वा वस्त्रान्ते नावबुध्यसे ।

ग्रीवायां प्रतिमुक्तं च कालपार्श्वं न पश्यसि ॥ १७ ॥

‘तुमने अपने कपड़ेमें विषधर सर्पको बांध लिया है, फिर भी इस बातको समझ नहीं पाते हो। तुमने अपने गालमें मौतकी फाँसी डाल ली है, फिर भी यह तुम्हें सुझ नहीं रहा है ॥ १७ ॥

स भारः सौम्य चर्तव्यो यो नर नावसादयेत् ।

तद्वत्तपि भोक्तव्यं जीयते यदनापयम् ॥ १८ ॥

‘सौम्य ! पुरुषको उतना ही बोझ उठाना चाहिये, जो उसे शिथिल न कर दे और वही अप्र भोजन करना चाहिये, जो पेटमें जाकर पच जाय, रोग न पैदा करे ॥ १८ ॥

यत् कृत्वा न भवेद् धर्मो न कीर्तिर्न यशो भुवम् ।

शरीरस्य भवेत् खेदः कस्तत् कर्म समाचरेत् ॥ १९ ॥

‘जो कार्य करनेसे न तो धर्म होता हो, न कीर्ति बढ़ती हो और न अक्षय यश ही प्राप्त होता हो, उल्टे शरीरको खेद हो रहा हो, उस कर्मका अनुष्ठान कौन करेगा ? ॥ १९ ॥

षष्टिवर्षसहस्राणि जातस्य मम रावण ।

पितृपैतामहं राज्यं यथावदनुतिष्ठनः ॥ २० ॥

‘रावण ! बाप-दादोंसे प्राप्त इस पक्षियोंके राज्यका विधिवत् पालन करते हुए मुझे ऊँचमें लेकर अवतक राठ हजार वर्ष बीत गये ॥ २० ॥

मृजोऽहं त्वं युवा धन्वी सरथः कवची शरी ।

न चाप्यादाय कुशली वेदेहीं ये गमिष्यसि ॥ २१ ॥

‘अब मैं मृदा हो गया हूँ और तुम नवयुवक हो। (मेरे पास कोई युद्धका साधन नहीं है, किन्तु) तुम्हारे पास धनुष, मज्जन्, बाण तथा रथ सब कुछ है, फिर भी तुम सत्ताको लेकर कुशलपूर्वक नहीं आ सकोगे ॥ २१ ॥

न शक्तस्त्वं बलान्तरु वेदेहीं घम पश्यतः ।

हेतुभिर्न्यायसंयुक्तैर्धृयां वेदश्रुतीभिः ॥ २२ ॥

‘मेरे देखते-देखते तुम विदेहनन्दिनी सोताका बलपूर्वक

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे पञ्चाशः सर्गः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें पचासवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशः सर्गः

जटायु तथा रावणका घोर युद्ध और रावणके द्वारा जटायुका वध

इत्युक्तः क्रोधताप्राक्षस्तापकाञ्चनकुण्डलः ।

राक्षसेन्द्रोऽभिदुदाय

पतगेन्द्रमथर्षणः ॥ १ ॥

अपहरण नहीं कर सकते; ठीक उसी तरह जैसे कोई व्याय-सङ्गत हेतुआसे मत्स्य सिद्ध हुई वैदिक श्रुतिको अपनी युक्तियोंके बलपर पलट नहीं सकता ॥ २२ ॥

युध्यस्व यदि शूरोऽसि मुहूर्तं तिष्ठ रावण ।

शयिष्यसे हतो भूमौ यथा पूर्वं खरस्तथा ॥ २३ ॥

‘रावण ! यदि शूवीर हो तो युद्ध करो। मेरे सामने दो घड़ी ठहर जाओ, फिर जैस पड़ले खर मारा गया था, उसी प्रकार तुम भी मेरुद्वारा मारे जाकर सदाके लिये सो जाओगे ॥ २३ ॥

असकृत्संयुगे येन निहता दैत्यदानवाः ।

न चीराक्षीरवासास्त्वां रामो युधि वधिष्यति ॥ २४ ॥

‘जिनोंने युद्धमें अनेक बार दैत्यों और दानवोंका वध किया है, वे चीराक्षधारी भगवान् श्रीराम तुम्हारा भी शीघ्र ही युद्धभूमिमें विनाश करेंगे ॥ २४ ॥

किं नु शक्यं यथा कर्तुं गतौ दूरं नृपात्मजौ ।

क्षिप्रं त्वं नश्यसे नीच तयोर्भीतो न संशयः ॥ २५ ॥

‘इस समय मैं क्या कर सकता हूँ, वे दोनों राजकुमार बहुत दूर चले गये हैं। नीच ! (यदि मैं उन्हें बुलाने जाऊँ तो) तुम उन दोनोंमें भयभीत होकर शीघ्र ही भाग जाओगे (आँखोंमें आँझल हो जाओगे), इसमें संशय नहीं है ॥

नहि मे जीवमानस्य नयिष्यसि शुभामिमाम् ।

सीता कमलपत्राक्षीं रामस्य महिषीं प्रियाम् ॥ २६ ॥

‘कमलपत्र समान नेत्रोंवाली ये शुभलक्षणा सीता श्रीरामचन्द्रजीकी प्यारी पटरानी हैं। इन्हें मेरे जान-जो तुम नहीं ले जाने पाओगे ॥ २६ ॥

अवश्यं तु यथा कार्यं प्रियं तस्य महात्मनः ।

जीवितेनापि रामस्य तथा दशरथस्य च ॥ २७ ॥

‘मुझे अपने प्राण देकर भी महात्मा श्रीराम तथा राजा दशरथका प्रिय कार्य अवश्य करना होगा ॥ २७ ॥

तिष्ठ तिष्ठ दशग्रीव मुहूर्तं पश्य रावण ।

वृन्तादिव फलं त्वां तु पातयेयं रथोत्तमात् ।

युद्धातिथ्यं प्रदास्यामि यथाप्राणं निशाचर ॥ २८ ॥

‘दशमुख रावण ! ठहरो, ठहरो ! केवल दो घड़ी रुक जाओ, फिर देखो जैसे डंटलमें फल गिरना है, उसी प्रकार तुम्हें इस उत्तम रथसे नीच गिराया देता हूँ। निशाचर ! अपनी शक्तिके अनुसार युद्धमें मैं तुम्हारा पूरा अतिथ्य-सत्कार करूँगा—तुम्हें पत्नीभाँति भेंटपूजा दूँगा ॥ २८ ॥

कस्त्यं—तुम्हें पत्नीभाँति भेंटपूजा दूँगा ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे पञ्चाशः सर्गः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें पचासवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशः सर्गः

जटायु तथा रावणका घोर युद्ध और रावणके द्वारा जटायुका वध

इत्युक्तः क्रोधताप्राक्षस्तापकाञ्चनकुण्डलः ।

राक्षसेन्द्रोऽभिदुदाय

पतगेन्द्रमथर्षणः ॥ १ ॥

जटायुकें ऐसा कहनेपर राक्षसराज रावण क्रोधसे आँखें लाल किये अमरमें भरकर उन पक्षिपुत्रको और दौड़ा। उस

समय उसके कानोंमें तथा हृत् स्नानके कुण्डल झल्लाने लगे थे ।
स सम्प्रहारस्तुमूलस्तथोस्तस्मिन् महाभुधे ।

बभूव धातोद्भुतयोर्मध्ययोगगने यथा ॥ २ ॥

उस महासमरमें उन दोनोंका एक-दूसरेपर धड़क कर प्रहार होने लगा, मानों आकाशमें वायुमें उड़ाय गये दो मेंघरखण्ड आपसमें टकरा गये ॥ २ ॥

तद् बभूवाद्भुतं युद्धं गृधराक्षसयोस्तदा ।
सपक्षयोर्माल्यवनोर्महापर्वतयोरिव ॥ ३ ॥

उस समय गृध्र और राक्षसमें वह युद्ध अद्भुत युद्ध बन लगा, मानों दो पंखधारी माल्यवान्^१ पर्वत एक-दूसरेसे भिड़ गये हों ॥ ३ ॥

ततो नालीकनाराचैस्तीक्ष्णाग्रैश्च विकर्णिभिः ।
अभ्यवर्त्यमहाघोरैर्गृध्रगजं महाबलम् ॥ ४ ॥

रावणने महाबली गृध्रराज जटायुपर नालीक, नारच तथा तीक्ष्ण अग्रभागवाले विकर्णों नामक महाभयंकर अस्त्रोंकी चर्चा आरम्भ कर दी ॥ ४ ॥

स तानि शरजालानि गृध्रः पत्ररथेश्वरः ।
जटायुः प्रतिजग्राह रावणास्त्राणि संयुगे ॥ ५ ॥

पक्षराज गृध्रजातीय जटायुने युद्धमें रावणके उन धातुसमूहों तथा अन्य अस्त्रोंकर आग्रहत सह लिया ॥ ५ ॥

तस्य तीक्ष्णानस्त्राभ्यां तु चरणाभ्यां महाबलः ।
चकार बहुधा गात्रे जघान् पतगस्तमः ॥ ६ ॥

साथ ही उन महाबलश्र पक्षिशरोमाणने अपने तीक्ष्ण नखोंवाले पैजोंसे मार मारकर रावणके शरीरमें बहुत-से घाव कर दिये ॥ ६ ॥

अथ क्रोधाद् दशग्रीवो जग्राह दश मार्गणान् ।
मृत्युदण्डनिभान् घोराब्दात्रोर्निधनकाङ्क्षया ॥ ७ ॥

तब दशग्रीवनं क्रोधमें भरकर अपने शत्रुको मार डालनकी इच्छासे दस बाण हाथमें लिये, जो कालदण्डके समान भयंकर थे ॥ ७ ॥

स तैर्वाणैर्महावीर्यः पूर्णमुक्तेरजिह्वगैः ।
बिभेद निशितैस्तीक्ष्णैर्गृध्रं घोरैः शिलामुखैः ॥ ८ ॥

महापराक्रमी रावणने धनुषको पूर्णतः खींचकर छाड़े गये उन सीमे जानिवाले तीक्ष्ण और भयंकर बाणोंद्वारा जिसके मुखपर शाल्य (काँटी) लगे हुए थे । गृध्रराजको हल-चलन कर दिया ॥ ८ ॥

स राक्षसरथे पश्यज्जानकीं बाधलोचनाम् ।
अचिन्तयित्वा चाणोक्तान् राक्षसं समभिद्वेषत् ॥ ९ ॥

जटायुने देखा, कमकनन्दिनी सीता राक्षसके रथपर बैठी है और नजामे आँसू चहा रही है । उन्हें देखकर गृध्रराज अपने शरीरमें लगाते हुए उन बाणोंको परवा न करके सहसा उस राक्षसपर टूट पड़े ॥ ९ ॥

ततोऽस्य सशरं चापं मुक्तामणिविभूषितम् ।
चरणाभ्यां महानेजा बभूव पतगोत्तमः ॥ १० ॥

महातजस्वी पक्षिराज जटायुने मोती-मणियोंसे विभूषित चाणरहित रावणके धनुषको अपने दोनों पैरोंसे मारकर तोड़ दिया ॥ १० ॥

ततोऽन्यद् धनुरादाय रावणः क्रोधमूर्च्छितः ।
ववर्ष शरवर्षाणि शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ११ ॥

फिर तो रावण क्रोधसे भ्रम गया और दूसरा धनुष हाथमें लेकर उसने सैकड़ों-हजारों बाणोंको झड़ी लगा दी ॥ ११ ॥

शरैरावारितस्तस्य संयुगे पतगेश्वरः ।
कुलायमधिसम्प्राप्तः पक्षिवच्च बभौ तदा ॥ १२ ॥

उस समय उस युद्धस्थलमें गृध्रराजके चारों ओर बाणोंका जाल-सा बन गया । वे उस समय घोंसलेमें बैठे हुए पक्षीके सम्मान प्रतीत होने लगे ॥ १२ ॥

स तानि शरजालानि पक्षाभ्यां तु विधूय ह ।
चरणाभ्यां महानेजा बभूव्वास्व महद् धनुः ॥ १३ ॥

तब महातजस्वी जटायुने अपने दोनों पंखोंसे ही उन बाणोंको उड़ा दिया और पंजोंको मारने पुनः उसके धनुषके टुकड़े-टुकड़े कर डाले ॥ १३ ॥

तद्यन्त्रिसदृशं दीप्तं रावणस्य शरवरम् ।
पक्षाभ्यां च महानेजा व्यधुनोत् पतगेश्वरः ॥ १४ ॥

रावणका कवच अग्निके समान प्रज्वलित हो रहा था । महातजस्वी पक्षिराजने उसे भी पंखोंसे ही मारकर छिन्न-भिन्न कर दिया ॥ १४ ॥

काङ्क्षनोर्गच्छदान् दिव्यान् पिशाचवदनान् खरान् ।
तांश्चास्य जवसम्प्राप्तुधान समरे बली ॥ १५ ॥

तत्पक्षान् उन बलवान् खरने समराङ्गणमें पिशाचके-से मुखवाले इन वेगशाकी गधोंको भी, जिनकी छातीपर मार्मिक कवच बंधे हुए थे, मार डाला ॥ १५ ॥

अथ त्रिवेणुमम्पन्नं काशगं पावकार्चिषम् ।
मणिसोपानचित्राङ्गं बभूव च महारथम् ॥ १६ ॥

तदनन्तर अग्निकी भाँति दीप्तिमान्, मणिमय सोपानस विचित्र अङ्गोंवाले तथा इच्छानुसार चलनेवाले उसके त्रिवेणुसम्पन्न^२ विशाल रथको भी तोड़-फोड़ डाला ॥ १६ ॥

• १ माल्यवान् पर्वत दो माने गये हैं, एक तो दण्डकाण्यमें त्रिखिन्नाके समीप है और दूसरा मेरुपर्वतके निकट बताया गया है । ये दोनों पर्वत परस्पर इतने दूर हैं कि इन्में सूर्यको क्रोड सम्भावना नहीं हो सकती । इन्हींमें सपक्ष (पंखधारी), विशाणु दिया गया है । पक्षियोंवाले पर्वत उद्धावित् उड़कर एक दूसरेके समीप पहुँच सकते हैं ।
• २ त्रिवेणु राक्षस नाम अज्ञ है जो मृतकों काण्ड करता है । इसके पक्ष में पुण्य

पूर्णचन्द्रप्रतीकाशं छत्रं च व्यजनैः सह ।
पातयामास वेगेन ग्राहिभी राक्षसैः सह ॥ १७ ॥
सारथेश्चास्य वेगेन तुण्डेन च महच्छिरः ।

पुनर्व्यपहनच्छ्रीमान् परिक्षराजो महाबलः ॥ १८ ॥

इसके बाद पूर्ण चन्द्रमाकी भाँति सुशोभित छत्र और चक्करों भी उन्हें धावण करनेवाले राक्षसोंके साथ हाँ वेगपूर्वक मार गिराया । फिर उस महाबली ने नखों परिक्षराजने बड़े वेगसे चोच मारकर रावणके साराँधका विशाल मस्तक भी धड़से अलग कर दिया ॥ १७-१८ ॥

स प्रपन्नय्या विरथो हताशो हनसारथिः ।

अङ्गेनादाय वैदेहीं प्रपात भुवि रावण ॥ १९ ॥

इस प्रकार जब धनुष टूटा, रथ चौपट हुआ, धाँड़े मारे गये और साराँध भी कालक गालमें चला गया तब रावण सोताको गोदमें लिये-लिये पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ १९ ॥

गृध्वा निपतितं धूमौ रावणं प्रपन्नवाहनम् ।

साधु स्नायित्वा भूतानि गृधराजमपूजयन् ॥ २० ॥

१४ टूट जानेसे रावणको भरतीपर पड़ा देख सब प्राणी 'साधु साधु' कहकर गृधराजकी प्रशंसा करने लगे ॥ २० ॥

परिश्रान्तं तु ते गृध्वा जरया पक्षियूथपम् ।

तन्प्रपात पुनर्हिष्ठो मैथिलीं गृध्वा रावणः ॥ २१ ॥

गृध्रावस्थाके कारण पक्षिराजको थका हुआ देख रावण भी थका लप मूँआ और तब मैथिलीको लिये हुए फिर आकाशमें उड़ पला ॥ २१ ॥

तं गृह्णं निधायान्ते रावणो जनकात्मजाम् ।

गच्छन्तं तत्कृशोर्ध्वं च प्रणष्टहतसाधनम् ॥ २२ ॥

गृधराजः समुत्पत्य रावण समभिद्रवत् ।

सभाचार्य महातेजा जटापुंस्तमस्त्रवीत् ॥ २३ ॥

जनककिशोरीको गोदमें लेकर जब रावण प्रपन्नतापूर्वक जागे लगा, उस समय उसके अन्य सब साधन तो नष्ट हो गये थे, किंतु एक तलवार उसके पास शेष रह गयी थी । उसे जाते देखा महापुंजकी गृधराज जटापु उड़कर रावणकी ओर दौड़े और तब तब कहकर इस प्रकार बोले— ॥ २२-२३ ॥

वत्ससेस्यर्शनाय स्य भार्या रामस्य रावण ।

अल्पबुद्धे हरमोना वधाय खलु रक्षसाम् ॥ २४ ॥

'मन्दबुद्धि रावण ! जिनके छायाका स्पर्श वत्सक समान है, मन श्रीगणकी इन धर्मपत्नी सोताको तुम अशुभ राक्षसोंके वधके लिये ही लिये जा रहे हो ॥ २४ ॥

समिन्नबन्धुः सामान्यः सखलः सपरिच्छिदः ।

पिपसानं पिपस्यन्तं पिपासित इवोदकम् ॥ २५ ॥

जैसे थाना गन्धु जल पी रहा हो, उसी प्रकार तुम मित्र, बन्धु, मन्यौ, सेना तथा परिवारसहित यह निर्घणन कर रहे हो । अनुबन्धमजानन्तः कर्मणामविचक्षणः ।

शीघ्रमेव विनश्यन्ति यथा त्वं विनश्यसि ॥ २६ ॥

'अपने कर्मोंके परिणाम न जाननेवाले अज्ञानीजन जैसे शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार तुम भी विनाशक गर्तमें गिरेग ॥ २६ ॥

बद्धस्त्वं कालपाशेन क्व गतस्तस्य मोक्षयसे ।

वधाय बहिर्गं गृध्वा सामिधं जलजो यथा ॥ २७ ॥

'तुम कालपाशमें बँध गये हो । कहाँ जाकर उससे छुटकारा पाओगे ? जैसे जलमें डूबपत्र होनेवाला मत्स्य मासयुक्त बंधोंको अपने बंधके लिये ही निगल आता है, उसी प्रकार तुम भी अपने मौतके लिये ही सीताको अपहरण कर रहे हो ॥ २७ ॥

नाह जातु दुराधर्षो काकुत्स्थो तव रावण ।

धर्षणं चाश्रमस्यास्य क्षमिष्येते तु राघवौ ॥ २८ ॥

'रावण ! ककुत्स्थकुलभूषण रघुकुलनन्दन श्रीराम और लक्ष्मण दोनों भाई दुर्धर्म घोर हैं । वे तुम्हारे द्वारा अपने आश्रमपर किये गये इस अपमानजनक अपराधको कभी क्षमा नहीं करेंगे ॥ २८ ॥

यथा स्वया कृतं कर्म भीरुणा लोकगर्हितम् ।

तत्कगचरितो मार्गो नैव वीरनिषेधितः ॥ २९ ॥

'तुम कायर और डरपोक हो । तुमने जो जैसा लोक-निन्दित कर्म किया है वह चोराका मार्ग है । वीर पुरुष ऐसे मार्गको आश्रय नहीं लेते हैं ॥ २९ ॥

यदध्यस्व यदि शूरोऽसि मुहुर्न तिष्ठ रावण ।

शयिष्यसे हतो धूमौ यथा भ्राता खरस्तथा ॥ ३० ॥

'रावण ! यदि शूरवीर हो तो दो घड़ी और तबही और मुझसे युद्ध करो । फिर तो तुम भी उसी प्रकार भरकर पृथ्वीपर सो जाओगे, जैसे तुम्हारा भाई खर सोया था । परंतुकाले पुरुषो यत् कर्म प्रतिपद्यते ।

विनाशायामर्धोऽधर्म्यं प्रतिपन्नोऽसि कर्म तत् ॥ ३१ ॥

विनाशक समय पुरुष जैसा कर्म करता है, तुमने भी अपने विनाशके लिये अर्धधर्मपूर्ण कर्मको अपनाया है ।

पापानुबन्धो वै यस्य कर्मणः को नु तत् पुमान् ।

कुर्वीत लोकाधिपतिः स्वयंभूर्धर्मगवानपि ॥ ३२ ॥

'जिस कर्मको करनेमें कर्ताका पापके फलसे सम्बन्ध होता है, उस कर्मको कौन पुरुष निश्चितरूपसे कर सकता है । लोकपाल इन्द्र तथा भगवान् स्वयम्भू (ब्रह्मा) भी वैसा कर्म नहीं कर सकते ॥ ३२ ॥

एवमुक्त्वा शुभं वाक्यं जटायुस्तस्य रक्षसः ।

निपपात भृशं पृष्ठे दशग्रीवस्य वीर्यवान् ॥ ३३ ॥

तं गृहीत्वा नखैस्तीक्ष्णैर्विन्ददार समन्ततः ।

अधिरुद्धो गजारोहो यथा स्याद् दुष्टवारणम् ॥ ३४ ॥

इस प्रकार उत्तम वचन कहकर पराक्रमी जटायु उस शत्रुस्य दशग्रीवकी पीठपर बड़े वेगसे जा बैठे और उसे पकड़कर अपने तीखे नखोंद्वारा चारों ओरसे चीरने लगे ।

मानो काइं हाथीवान् किमो दृष्ट हाथीक उपः सखा हाकः उने
अङ्कुशसे छेद रहा हो ॥ ३३-३४ ॥

विददार नखैरस्य तुण्डे पृष्ठे सम्पन्धन् ।

केशाश्चोत्पाटयामास नखपक्षमुखायुधः ॥ ३५ ॥

नख, पाँख और चोंच—ये ही जटायुक हथियार थे। वे
नखांसं खरांचते थे, पाँखपर चोंच मारने थे और चाल
पकड़कर उखाड़ लेते थे ॥ ३५ ॥

स तथा गृधराजेन क्रियमानो युहुर्महुः ।

अमर्षस्फुरितोष्ठ सन् प्राकप्यत च राक्षसः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार जब गृधराजने बाग्यार जेडा पहुँचाया,
तब राक्षस रावण कांप उठा। क्रोधकें मारे उभक आन
फड़कने लगे ॥ ३६ ॥

सम्परिप्लव्य वैदेहीं वामेनाङ्गेन रावणः ।

तलेनाभिजयानार्तो जटायु क्रोधमुच्छिन्नः ॥ ३७ ॥

उस समय क्रोधसे धरे रावणने विदेहनन्दिनी सीताको
बायीं गोदमें करके अत्यन्त धौहिन हो जटायुपर तमाचक
प्रहार किया ॥ ३७ ॥

जटायुस्तमतिक्रम्य तुण्डेनास्य स्वगाधिपः ।

बाधताहून् दश तदा व्यपाहृदस्तिमः ॥ ३८ ॥

परंतु उस वारको बचाकर उज्जुधन गृधराज जटायु
अपनी चोंचसे मार-मारकर राक्षसकी दमा चारों भुजाओंको
डग्राह लिया ॥ ३८ ॥

संछिन्नबाहोः सद्यो वै बाह्वः सहमाभवन् ।

विषज्वालावलीयुक्ता अल्पोर्कादिव पत्रगाः ॥ ३९ ॥

उन बाँहोंक कट जानेपर बाँहोंसे प्रकट होनेवाले विषका
ज्वाला-पान्नाओंमें युक्त सपाक्यों भाँति तुरत इससे नयी
भुजाएँ सहमा ठन्पन्न हो गयीं ॥ ३९ ॥

ततः क्रोधाद् दशर्मावः सीतामुत्सृज्य वीर्यवान् ।

मुष्टिभ्यां चरणाभ्यां च गृधराजपपोधयत् ॥ ४० ॥

तब पराक्रमी दशानन सनाको तो छोड़ दिया और
गृधराजको क्रोधपूर्वक गुत्ता और सनाक्य चरण आरक्ष किया
ततो मुहूर्त संग्रामो यभुवानुलवीर्ययोः ।

राक्षसानां च मुख्यस्य पक्षिणां प्रवरस्य च ॥ ४१ ॥

इत्यापे क्षीपद्रामायणे अल्पोर्कादिव आदिकाण्डश्रुत्यकाण्डे एकपञ्चाशः सर्गः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीरामायणमें अल्पोर्कादिव अपराधायणे आदिकाण्डश्रुत्यकाण्डे अरण्यकाण्डमें इत्यातनकां सर्ग पूरा हुआ ॥ ५१ ॥

द्विपञ्चाशः सर्गः

रावणाद्वारा सीताका अपहरण

मा तु ताराधिपमूर्खी रावणन निरीक्ष्य तप् ।

गृधराजं विनिहने विललाप सुदुःखिता ॥ १ ॥

रावणक द्वारा मारे गये गृधराजके और देखकर चन्द्रमुख
सीता अत्यन्त दुःखी होकर विन्याप करने लगी— ॥ १ ॥

उस समय उन दोनों अनुपम पराक्रमी और राक्षसराज
रावण और पक्षिगज जटायुमें दो धड़ोतक घोर संग्राम
लाग रहा ॥ ४१ ॥

तस्य व्यायच्छमानस्य रापस्यार्थे स रावणः ।

पक्षी पार्श्वे च पार्श्वी च खड्गमुद्धृत्य सोऽच्छिनत् ॥

नदनन्तर रावणने तन्त्रार निकाली और श्रीगमचन्द्रजीके
लिये पराक्रम करनेकाले जटायुक दोनों पैर, पैर तथा
पार्श्वभाग काट डाले ॥ ४२ ॥

सच्छिन्नपक्षः सहसा रक्षसा रौद्रकर्मणा ।

निधपात महागृध्रो धरण्यापान्पजीवितः ॥ ४३ ॥

भयकर कर्म करनेवाले उस राक्षसके द्वारा सहसा पैर
काट लिये जानेपर महागृध्र जटायु पृथ्वीपर गिर पड़े। अब
वे थोड़ी ही देरके मेहमान थे ॥ ४३ ॥

तं दृष्ट्वा पतितं धूमो क्षणजादौ जटायुषम् ।

अभ्यधावन वैदेही स्वबन्धुमिव दुःखिता ॥ ४४ ॥

अपने बान्धवकें समान जटायुको खूनसे लथपथ होकर
पृथ्वीपर पड़ा देख सीता दुःखमें व्याकुल हो उनकी
ओर सीड़ी ॥ ४४ ॥

तं नीलजीमूतनिकाशकरूपं

सपाण्डुरोरस्कपुद्गरवीर्यम् ।

ददृशं लङ्काधिपतिः पृथिव्यां

जटायुसं शान्तपिवाग्निदावम् ॥ ४५ ॥

जटायुकें शरीरकी कान्ति नीले मेघके समान काली थी,
उनकी छातोका रंग श्वेत था। वे बड़े पराक्रमी थे, तो भी उस
समय बुझे हुए दावानलके समान पृथ्वीपर पड़ गये।
लङ्कापति रावणने उन्हें इस अवस्थामें देखा ॥ ४५ ॥

नतस्तु तं पत्ररथं महोतले

निपातितं रावणवेगमर्दितम् ।

पुनश्च संगृह्य शशिप्रभानना

रुगेद सीता जनकात्मजा तदा ॥ ४६ ॥

नदनन्तर रावणक वेगसे रँदि जाकर धराशायी हुए
जटायुको पकड़कर चन्द्रमुख जन्मजन्दिनी सीता पुन उस
समय वहाँ राने लगीं ॥ ४६ ॥



द्विपञ्चाशः सर्गः

रावणाद्वारा सीताका अपहरण

मा तु ताराधिपमूर्खी रावणन निरीक्ष्य तप् ।

गृधराजं विनिहने विललाप सुदुःखिता ॥ १ ॥

रावणक द्वारा मारे गये गृधराजके और देखकर चन्द्रमुख
सीता अत्यन्त दुःखी होकर विन्याप करने लगी— ॥ १ ॥

निमित्तं लक्ष्मणं स्वप्नं शकुनिस्वरदर्शनम् ।

अवश्यं सुखदुःखेषु नराणां परिदृश्यते ॥ २ ॥

‘मनुष्योंका सुख-दुःखकी प्राप्तिक भुचक लक्षण, स्वप्न,
पक्षिवोक स्वर तथा उनके दाये-बाये दर्जन आदि शुभाशुभ

निमित्त अवश्य दिखायी देते हैं ॥ २ ॥

न नूनं राम जानासि महद्व्यसनमात्मनः ।

धावन्ति नूनं काकुत्स्थ मर्दर्थं मृगपक्षिणाः ॥ ३ ॥

‘काकुत्स्थकुलभूषण श्रीराम ! मेरे अपहरणको सूचना देनेके लिये निश्चय ही ये मृग और पक्षी अशुभसूचक मार्गसे दौड़ रहे हैं, परन्तु उनके द्वारा सूचित होनेपर भी अपने इस महान् संकटको अवश्य ही आप नहीं जानते हैं (क्योंकि जाननेपर आप इसको उपेक्षा नहीं कर सकते थे) ॥ ३ ॥

अर्थ हि कृपया राम मां ज्ञातुमिह संगतः ।

शोभे विनिहतो भूमौ ममाभाष्याद् विहंगमः ॥ ४ ॥

‘हा राम ! मेरा कैसा अभाग्य है कि जो कृपा करके मुझे बचानेके लिये यहाँ आये थे, वे पक्षिप्रवर जटायु इस निशाचरद्वारा मारे जाकर पृथ्वीपर पड़े हैं ॥ ४ ॥

त्राहि धामघ्न काकुत्स्थ लक्ष्मणेति धराङ्गना ।

सुसंवस्ता समाक्रन्दन्कृष्णवती तु यथान्तिके ॥ ५ ॥

‘हे राम ! हे लक्ष्मण ! अब आप ही दोनों मेरी रक्षा करें !’ यों कहकर अत्यन्त डरे हुई सुन्दरी सीता इस प्रकार क्रन्दन करने लगी, जिससे निकटवर्ती देवता और मनुष्य सुन सकें ॥ ५ ॥

तां क्षिप्रमाख्याभरणां विलपन्तीमनाथवत् ।

अध्यधावत वैदेहीं रावणो राक्षसाधिपः ॥ ६ ॥

उनके पुणहार और आभूषण मसलकर छिन्न-भिन्न हो गये थे। वे अनाथकी भाँति विलप कर रही थीं। उस अवस्थामें राक्षसराज रावण उन विदहकुमारों सीताको ओर दौड़ा ॥ ६ ॥

तां लतामिव वेष्टन्तीमालिङ्गन्ती महादुमान् ।

भुञ्ज मुञ्चेति बहुशः प्राप तां राक्षसाधिपः ॥ ७ ॥

वे लिपटी हुई लताकी भाँति बड़े बड़े वृक्षोंमें लिपट जाती और बारबार कहतीं ‘मुझे इस संकटमें छड़ाओ, छड़ाओ इतनेहीमें यह निशाचरराज उनके पास जा पहुँचा ॥ ७ ॥

कोशन्तीं राम रामेति रामेण रहितां बने ।

जीवितात्ताय केशेषु जग्राहान्तकसंनिधः ॥ ८ ॥

प्रधर्षितायां वैदेह्यां बभूव सचराचरम् ।

जगत् सर्वममयादे तपसान्धेन संवृतम् ॥ ९ ॥

बनमें क्षीरामसे रक्षित होकर सीताको राम-रामकी रट लगाती देख उस कालके समान विकराल राक्षसने अपने ही विनाशके लिये उनके केश पकड़ लिये। सीताका इस प्रकार तिरस्कार होनेपर समस्त चराचर जगत् मयादागिहत तथा अन्धकारसे आच्छादित सा हो गया ॥ ८-९ ॥

न ताति वारुतस्तत्र निष्पथोऽभूद् दिवाकरः ।

दृष्ट्वा सीतां परामृष्टां देवो दिव्येन चक्षुषा ॥ १० ॥

कृतं कार्यमिति श्रीमान् व्याजहार पितामहः ।

वहाँ वायुकी गति रुक गयी और सूर्यकी भी प्रभा पकी

पड़ गयी। श्रीमान् पितामह ब्रह्माजी दिव्य दृष्टिसे विदेह-नान्दनका वह राक्षसके द्वारा केशाकर्षणरूप अपमान देखकर बोले—‘बस अब कार्य सिद्ध हो गया’ ॥ १० ॥

ग्रह्ण व्याधिताश्वासन् सर्वे ते परमर्षवः ॥ ११ ॥

दृष्ट्वा सीतां परामृष्टां दण्डकारण्यवासिनः ।

रावणस्य विनाशं च प्राप्तं बुद्ध्वा यदुच्छया ॥ १२ ॥

सीताके केशका खींची जाना देखकर दण्डकारण्यमें निवास करनेवाले वे सब महर्षि मन-ही-मन व्यथित हो उठे साथ ही अकस्मात् रावणका विनाश निकट आया जान उनके बड़ा हर्ष हुआ ॥ ११-१२ ॥

स तु तां राम रामेति रुदन्तीं लक्ष्मणेति च ।

जगामदाय चाकाशं रावणो राक्षसेश्वरः ॥ १३ ॥

बेचारी सीता ‘हा राम ! हा राम’ कहकर रो रही थीं। लक्ष्मणकी भी पुकार रही थीं। उसी अवस्थामें राक्षसीका राजा रावण उन्हें लेकर आकाशमार्गसे चल दिया ॥ १३ ॥

तप्ताभरणवर्णाङ्गी पीतकौशेयवामिनी ।

रराज राजपुत्री तु विद्युत्सौवामनी यथा ॥ १४ ॥

तपायें हुए सोनेके आभूषणोंसे अन्धका सागर अङ्ग विभूषित था। वे पीले रंगकी रेशमी साड़ी पहने हुए थीं। अतः उस समय राजकुमारों सीता मृदाम पर्वतमें प्रकट हुई विद्युत्के समान प्रकाशित हो रही थीं ॥ १४ ॥

उद्धूतेन च वस्त्रेण तस्याः पीतेन रावणः ।

अधिकं परिवभ्राज गिरिर्दीप्त इक्ष्वाग्निना ॥ १५ ॥

उनके फहराते हुए पीले वस्त्रसे उपलक्षित रावण दानानलमें उद्दामित होनवाले पर्वतके समान अधिक शोभा देने लगा ॥ १५ ॥

तस्याः परमकल्याण्यास्ताप्राणि सुरभीणि च ।

पश्यपत्राणि वैदेह्या अध्यकीर्यन्त रावणम् ॥ १६ ॥

उन परम कल्याणों विदेहकुमारोंके अङ्गामें जो कमलपुष्प थे उनमें किंचित् अरुण और मृगाभिन दल विश्वर विखरकर रावणपर गिरने लगे ॥ १६ ॥

तस्याः कौशेयमुद्धूतमाकाशे कनकप्रभम् ।

बभौ सादित्यरागेण ताप्रापप्रपिवातये ॥ १७ ॥

आकाशमें उड़ता हुआ उनका मुन्धर्षिके समान कानिमान् रेशमी पीताम्बर मध्याकाशमें सूर्यकी किरणोंमें रंगे हुए ताप्रावर्णके मेघरुपके भाँति शोभा पाता था ॥ १७ ॥

तस्यास्तद् विमलं वस्त्रमाकाशे रावणाङ्गम् ।

न वराज विना रामं विनालमिव पङ्कजम् ॥ १८ ॥

आकाशमें रावणके अङ्गमें स्थित सीताका निर्मल मुख श्रीरामके विना नालसहित कमलकी भाँति शोभित नहीं होता था ॥ १८ ॥

बभूव जलदं नीले पित्वा चन्द्र इवोदितः ।

सुललाटं सुकेशान्तं पद्मगर्भाधमव्रणम् ॥ १९ ॥

शुक्लः सुविमलदर्शनैः प्रभावद्विरलंकृतम् ।

तस्याः सुनयने चक्रमाकाशे रावणाङ्गुगम् ॥ २० ॥

सुन्दर ललाट और मनोहर केशोंसे, युक्त कमलके भीतरों भागके समान कान्तिमान्, चंचक आदिक दागसे रहित, धेत निर्मल और दीप्तिमान् दर्शनसे अलंकृत तथा सुन्दर नेत्रोंसे सुशोभित सीताका मुख आकाशमें रावणके अङ्गुमें एसा जान पड़ता था मानो मेघोंको काली घटाका भेदन करके चन्द्रमा उदित हुआ हो ॥ १९-२० ॥

सदितं व्यपमृष्टास्त्रं चन्द्रवन्प्रियदर्शनम् ।

सुनारं चारुताम्रोष्ठमाकाशे हाटकप्रथम् ॥ २१ ॥

राक्षसेन्द्रसमाधूतं तस्मात्तद् घटनं शुभम् ।

शुशुभे न विना रामं दिया चन्द्र इवोदितः ॥ २२ ॥

चन्द्रमाके समान प्यारा दिव्यायो देनेवाला सीताका वह सुन्दर मुख नृतका रोया हुआ था उसमें आसू पाँछ टिये गये थे । हमको सुषड् नाभिका तथा तबि-जैसे लाल-लाल मनोहर आँठ थे । आकाशमें वह अपने सुनहरी प्रभा धिल्ले रहा था तथा राक्षसराजके वेगपूर्वक चलनमें उसमें कम्पन हो रहा था । इस प्रकार वह मनोहर मुख थी शंरापके बिना उस समय दिनमें ठगे हुए चन्द्रमाके समान शोभाहीन प्रतीत होता था ॥ २१-२२ ॥

सा हेमवर्णा नीलाङ्ग मैथिली राक्षसाधिपम् ।

शुशुभे काञ्चनी काञ्ची नीले गजपिपाश्रिता ॥ २३ ॥

मैथिलशकुमारों सांनका श्रीअङ्ग सुवर्णके समान दीप्तिमान् था और राक्षसराज रावणका शरीर बिलकुल काल था उसकी गोटमें वे ऐसी जम्ब पड़ती थी मानों काल हाथोंको सोनेकी करघनों पहना दी गयी हो ॥ २३ ॥

सा परापीता हेमाभा रावणे जनकात्मजा ।

विशुद्धं घनमिवाविश्य शुशुभे तत्प्रभूषणम् ॥ २४ ॥

कमलके कमरकी भाँति सीली एवं सुनहरी कान्तिवाली जनककुमारों सीता तपे हुए सोनेके आभूषण धारण किये रावणकी पीठपर बैसीं हो शोभा पा रही थी जैसे मेघमालिका आश्रय लेकर बिजली चमक रही हो ॥ २४ ॥

तस्या भूषणपोषेण वैदेह्या राक्षसेश्वरः ।

अभूव धिमलो नीलः सघोष इव तोयदः ॥ २५ ॥

विदेहनान्दिनीके आभूषणोंका झनकनेसे राक्षसराज रावण गगना वरग हुए निर्मल नील मेघके समान प्रतीत होता था ।

उत्तमाङ्गव्युता तस्याः पुष्पवृष्टिः समन्ततः ।

सीताया ह्रियमाणायाः पपात धरणीतले ॥ २६ ॥

झंकर ले जायी जाती हुई सीताके सिरसे उनके केशोंमें पुष्प हुए फूल फिसलकर सब ओर पृथ्वीपर गिर रहे थे ॥

सा तु रावणधेगेन पुष्पवृष्टिः समन्ततः ।

समाधूता तदग्रार्थं पुनरेवाभ्यवर्तत ॥ २७ ॥

साँगे और होनवाली वह फूलोंकी वर्षा रावणके वेगसे

ठठी हुई चायुक द्वारा धरित हो फिर उस दशाननपर ही आकर पड़ती थी ॥ २७ ॥

अभ्यवर्तत पुष्पाणां धारा वैश्रवणानुजम् ।

नक्षत्रमाला विमला मेरु नभमिधोन्नतम् ॥ २८ ॥

कुवरके छोटं भाई रावणके ऊपर जब वह फूलोंकी धारा गिरती थी, उस समय ठेच घेरुपर्वतपर उतरनेवाली निर्मल नक्षत्रमालाकी भाँति शोभा पाती थी ॥ २८ ॥

चरणावृपुं भ्रष्टं वैदेह्या रत्नभूषितम् ।

विशुभपङ्कजसकाशं पपात धरणीतले ॥ २९ ॥

विदेहनान्दिनीका रत्नजडित नूपुर उनके एक चरणसे विषमकर विशुभपङ्कजके समान पृथ्वीपर गिर पड़ा । २९ ।

तरुप्रवालरक्ता सा नीलाङ्ग राक्षसेश्वरम् ।

प्रशोभयत वैदेही गज कक्ष्येष काञ्चनी ॥ ३० ॥

वृक्षोंके नूतन पत्तियोंके समान किंचित् अरुण वर्णवाली सीता उस काले कटुटे राक्षसराजको उसी प्रकार सुशोभित कर रही थी जैसे हाथोंको करमनेवाला सुनहरा रस्सा उसकी शोभा बढ़ाता हो ॥ ३० ॥

तां महोल्कापिकाकाशे दीप्यमानां स्वतेजसा ।

जहाराकाशमाविश्य सीतां वैश्रवणानुजः ॥ ३१ ॥

आकाशमें अपने तेजसे बहुत बड़ी उत्काके समान प्रकाशित होनेवाली सीताको रावण आकाशमार्गका ही आश्रय ले हर ले गया ॥ ३१ ॥

तस्यास्तान्यश्रिचर्णानि भूषणानि भहीनले ।

सघोषापयशोर्धन्न क्षोणास्तारा इवाध्वरात् ॥ ३२ ॥

जानकाके शरीरपर ओंछेके समान प्रकाशमान् आभूषण थे । वे उस समय खन-खनकी आवाज करते हुए एक-एक करके गिरने लगे, मानों आकाशसे ताराएँ टूट-टूटकर पृथ्वीपर गिर रही हो ॥ ३२ ॥

तस्याः स्तनान्तराद् भ्रष्टो हारस्ताराधिपद्युतिः ।

वैदेह्या निपतन् भाति गङ्गेव गगनच्युता ॥ ३३ ॥

उन विदेहनान्दिनी स्तनोंके स्तनोंके बीचसे सिसककर गिरता हुआ चन्द्रमाके समान उज्ज्वल हार गगनमाण्डलसे उतरती हुई गङ्गाके समान प्रतीत हुआ ॥ ३३ ॥

उत्पातवाताभिरता नानाद्विजगणायुताः ।

मा धेरिति विधुताया व्याजहुरिव पादपाः ॥ ३४ ॥

रावणके वेगसे उन्मत्त हुई उत्पातसूचक वायुके झकोरोंमें दिल्में हुए वृक्षोंपर नाना प्रकारके पक्षी कोलाहल कर रहे थे । उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था मानों वे वृक्ष अपने सिरोंको हिल-हिलाकर मँकट करते हुए सीतासे कह रहे हैं कि 'तुम हरे मत' ॥ ३४ ॥

नलिन्यो ध्वस्तकमलाखसामीनजलेचराः ।

सखीमिव गनोत्साहं शोचन्तीव स्म मैथिलीम् ॥ ३५ ॥

जिनके कमल मुख गये थे और मत्स्य आदि जलचर

जीव डर गये थे, वे पुष्करिणीयाँ उत्साहहीन हुई मिथिलश-
कुमारी सीताको मानो अपनी सखी मानकर उनके लिये
शोक कर रही थीं ॥ ३५ ॥

समन्तादधिसम्पत्स्य सिंहव्याघ्रमृगद्विजाः ।
अन्वधावन्तदा रोषात् सीताच्छायानुगाधिनः ॥ ३६ ॥

उस सीताहरणके समय खवणपर रोष-सा करकें सिंह,
व्याघ्र, मृग और पक्षी सब ओरसे सीताकी परछाहीका
अनुसरण करते हुए दौड़ रहे थे ॥ ३६ ॥

जलप्रपातास्त्रमुखाः शृङ्गेरुच्छिन्नबाहुभिः ।
सीतायां ह्रियमाणायाम् विक्रोशन्तीव पर्वताः ॥ ३७ ॥

जब सीता हरी जाने लगी, उस समय वहाँके पर्वत
झरोखे रूपमें और धरातल हुए ऊँचे शिखरीके रूपमें अपनी
भूजाएँ तपकर झटकाकर मानो जोर-जोरसे चींकार कर रहे थे ॥

ह्रियमाणां तु वैदेहीं दृष्ट्वा दीनो दिवाकरः ।
प्रविध्वस्तप्रभः शोभानासीत् पाण्डुरमण्डलः ॥ ३८ ॥

सीताका हरण होता देख शोभान् सूर्यदेव दुःखी हो
गये । उनके प्रभ नष्ट-सी हो गये तथा उनका मुखमण्डल
पीला पड़ गया ॥ ३८ ॥

नास्ति धर्मः कुतः सत्यं नार्जवं नानुशंसता ।
यत्र रामस्य वैदेहीं सीतां हरति रावणः ॥ ३९ ॥

इति भूतानि सर्वाणि गणशः पर्यवेक्षन् ।
चित्रस्तका दीनमुखा रुद्रमुंगपोतकाः ॥ ४० ॥

हाय ! हाय ! जब श्रीरामचन्द्रजीकी धर्मपत्नी विदेह-
नन्दिनी सीताको रावण हरकर लिये जा रहा है, तब यही कठना
पड़ता है कि गंगाधर धर्म नहीं है सत्य भी कहाँ है ? सरलता
और दयाका भी सर्वथा लोप हो गया है ।' इस प्रकार वहाँ

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे द्विपञ्चाशः सर्गः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकीर्वाचन आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें बावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५२ ॥

त्रिपञ्चाशः सर्गः

सीताका रावणको धिक्कारना

खमुत्पतन्ती तै दृष्ट्वा मैथिली जनकात्मजा ।
दुःखिता परमोद्विग्ना धये महति वर्तिनी ॥ १ ॥

रावणको आकाशमें उड़ते देख मिथिलेशकुमारी जानकी
तु खामत्र हो अत्यन्त उद्विग्न हो रही थीं । वे बहुत अड़े भयम
पड़ गयी थीं ॥ १ ॥

रोषरोदनताम्राक्षी भीमाक्ष राक्षसाधिपम् ।
रुदती करुणं सीता ह्रियमाणा तमवर्चीन् ॥ २ ॥

रोष और रोदनके कारण उनकी आँखें लाल हो गयी थीं
शरी जानी हुई सीता करुणाजनक स्वरमें रोती हुई उम्र धर्यकर
नेत्रवाले राक्षसराजसे इस प्रकार चोली ॥ २ ॥

न व्यपत्रपसे नीच कर्मणानेन रावण ।

झुंड के झुंड एकत्र हो सब प्राणों विलस कर रहे थे । मृगोंके बच्चे
भयभीत हो दोनमुखसे रो रहे थे ॥ ३९-४० ॥

उद्दीक्ष्योद्दीक्ष्य नयनैर्भयादिव विलक्षणैः ।
सुप्रवेपितगात्राश्च बभूवुर्वनदेवताः ॥ ४१ ॥

विक्रोशन्तीं दृष्ट्वा सीतां दृष्ट्वा दुःखं तथा गताम् ।
श्रीरामको जोर जोरसे पुकारती और वैसे भागे दुःखमें पड़ी
हुई सीताको अपनी विलक्षण आँखोंमें बाँझा देख देखकर
भयके मोरे वनदेवता और अङ्ग धरधर काँपने लगे ॥ ४१ ॥

तां तु लक्ष्मण रामेति क्रोशन्ती मधुरस्वराम् ॥ ४२ ॥
अवेक्षमाणां बहुरो वैदेहीं धरणीतलम् ।

स तामाकुलकेशान्तां विप्रमृष्टविशेषकाम् ।
जहारात्मविनाशाय दशग्रीवो पनस्विनीम् ॥ ४३ ॥

विदेह-नन्दिनी मधुर स्वरमें हा राम हा लक्ष्मण की पुकार
करती हुई बाँझा भूतलकी ओर देख रही थीं । उनके केश
खुलकर सब ओर फैल गये थे और ललत्रटकी बंदी गिट गयी
थी थीं । अकस्मात् दशग्रीव रावण अपने ही विनाशके लिये
मनस्विनी सीताको लिये जा रहा था ॥ ४२-४३ ॥

ततस्तु सा चारुदन्ती शुचिस्मिता
विनाकृता बन्धुजनेन मैथिली ।

अपश्यती राघवलक्ष्मणाबुधौ
विवर्णवक्त्रा भयभारपीडिता ॥ ४४ ॥

उस समय मनोहर दाँत और पवित्र मुसकानवाली
मिथिलेशकुमारी सीता जो अपने बन्धुजनोंसे बिल्कुल गयी
थी, दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणको न देखकर भयके
भारसे व्यथित हो उठीं । उनके मुखमण्डलको कान्ति फीकी
पड़ गयी ॥ ४४ ॥

उस समय मनोहर दाँत और पवित्र मुसकानवाली
मिथिलेशकुमारी सीता जो अपने बन्धुजनोंसे बिल्कुल गयी
थी, दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणको न देखकर भयके
भारसे व्यथित हो उठीं । उनके मुखमण्डलको कान्ति फीकी
पड़ गयी ॥ ४४ ॥

उस समय मनोहर दाँत और पवित्र मुसकानवाली
मिथिलेशकुमारी सीता जो अपने बन्धुजनोंसे बिल्कुल गयी
थी, दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणको न देखकर भयके
भारसे व्यथित हो उठीं । उनके मुखमण्डलको कान्ति फीकी
पड़ गयी ॥ ४४ ॥

उस समय मनोहर दाँत और पवित्र मुसकानवाली
मिथिलेशकुमारी सीता जो अपने बन्धुजनोंसे बिल्कुल गयी
थी, दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणको न देखकर भयके
भारसे व्यथित हो उठीं । उनके मुखमण्डलको कान्ति फीकी
पड़ गयी ॥ ४४ ॥

उस समय मनोहर दाँत और पवित्र मुसकानवाली
मिथिलेशकुमारी सीता जो अपने बन्धुजनोंसे बिल्कुल गयी
थी, दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणको न देखकर भयके
भारसे व्यथित हो उठीं । उनके मुखमण्डलको कान्ति फीकी
पड़ गयी ॥ ४४ ॥

उस समय मनोहर दाँत और पवित्र मुसकानवाली
मिथिलेशकुमारी सीता जो अपने बन्धुजनोंसे बिल्कुल गयी
थी, दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणको न देखकर भयके
भारसे व्यथित हो उठीं । उनके मुखमण्डलको कान्ति फीकी
पड़ गयी ॥ ४४ ॥

उस समय मनोहर दाँत और पवित्र मुसकानवाली
मिथिलेशकुमारी सीता जो अपने बन्धुजनोंसे बिल्कुल गयी
थी, दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणको न देखकर भयके
भारसे व्यथित हो उठीं । उनके मुखमण्डलको कान्ति फीकी
पड़ गयी ॥ ४४ ॥

उस समय मनोहर दाँत और पवित्र मुसकानवाली
मिथिलेशकुमारी सीता जो अपने बन्धुजनोंसे बिल्कुल गयी
थी, दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणको न देखकर भयके
भारसे व्यथित हो उठीं । उनके मुखमण्डलको कान्ति फीकी
पड़ गयी ॥ ४४ ॥

उस समय मनोहर दाँत और पवित्र मुसकानवाली
मिथिलेशकुमारी सीता जो अपने बन्धुजनोंसे बिल्कुल गयी
थी, दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणको न देखकर भयके
भारसे व्यथित हो उठीं । उनके मुखमण्डलको कान्ति फीकी
पड़ गयी ॥ ४४ ॥

उस समय मनोहर दाँत और पवित्र मुसकानवाली
मिथिलेशकुमारी सीता जो अपने बन्धुजनोंसे बिल्कुल गयी
थी, दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणको न देखकर भयके
भारसे व्यथित हो उठीं । उनके मुखमण्डलको कान्ति फीकी
पड़ गयी ॥ ४४ ॥

उस समय मनोहर दाँत और पवित्र मुसकानवाली
मिथिलेशकुमारी सीता जो अपने बन्धुजनोंसे बिल्कुल गयी
थी, दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणको न देखकर भयके
भारसे व्यथित हो उठीं । उनके मुखमण्डलको कान्ति फीकी
पड़ गयी ॥ ४४ ॥

उस समय मनोहर दाँत और पवित्र मुसकानवाली
मिथिलेशकुमारी सीता जो अपने बन्धुजनोंसे बिल्कुल गयी
थी, दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणको न देखकर भयके
भारसे व्यथित हो उठीं । उनके मुखमण्डलको कान्ति फीकी
पड़ गयी ॥ ४४ ॥

उस समय मनोहर दाँत और पवित्र मुसकानवाली
मिथिलेशकुमारी सीता जो अपने बन्धुजनोंसे बिल्कुल गयी
थी, दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणको न देखकर भयके
भारसे व्यथित हो उठीं । उनके मुखमण्डलको कान्ति फीकी
पड़ गयी ॥ ४४ ॥

उस समय मनोहर दाँत और पवित्र मुसकानवाली
मिथिलेशकुमारी सीता जो अपने बन्धुजनोंसे बिल्कुल गयी
थी, दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणको न देखकर भयके
भारसे व्यथित हो उठीं । उनके मुखमण्डलको कान्ति फीकी
पड़ गयी ॥ ४४ ॥

‘मेरे शत्रुके सखा वे जो बड़े बटायु मेरे रक्षा करनेके लिये उद्यत हुए थे, उनको मैं नून मात्र गिराया । . .

परमं खलु ते वीर्यं दृश्यते राक्षसाधम ।

विश्राव्य नामधेयं हि युद्धे नाम्नि जिता त्वया ॥ ६ ॥

ईदृशे गह्रिते कर्म कथं कृत्वा न लज्जसे ।

स्त्रियाश्चतुहरणं नीच रहिने च परम्य च ॥ ७ ॥

‘नीच राक्षस ! अवश्य तुझमें बड़ा भारी बल दिखाया देता है (क्योंकि—तू बड़े पक्षोंको भी मार गिराता है !),

तूने अपना नाम बताकर श्रीराम-लक्ष्मणके साथ युद्ध करके मृजे नहीं जाता है । ओ नीच ! जहाँ कोई राक्षक न हो—ऐस

स्थानपर जाकर परायी स्त्रीके अपहरण-जमा निन्दित कर्म करके तू लज्जित कैसे नहीं होता है ? ॥ ६-७ ॥

कथयिष्यामि स्त्रिकेषु पुरुषाः कर्म कुत्सितम् ।

सुनुशंसमधर्मिष्ठं तव शौचीर्यमानिनः ॥ ८ ॥

‘तू तो अपनेको बड़ा गूर-वीर मानता है, परंतु संसारके सभी वीर पुरुष तेरे इस कर्मको घृणित, कृतनापूर्ण और पापपूर्ण ही बनायों ॥ ८ ॥

धिक्षु ते शीर्यं च सत्त्वं च यत्त्वया कथितं तदा ।

कुलाक्रोशकरं लोके धिक्षु ते चाग्निमीदृशम् ॥ ९ ॥

‘तूने पहले स्वयं ही जिनका बड़े तावसे वर्णन किया था, तेरे उग्र शीर्य और क्रोधको धिक्षु है । कुल-राम कलकुलमानवाला तब ऐसे चारित्र्यको समस्त सम धिक्षु ही माना होगा ॥ ९ ॥

किं शक्यं कर्तुमेवं हि धज्ज्वनेन धावामि ।

मुहूर्तमपि तिष्ठ त्वं न जीवन् प्रतिपास्यमि ॥ १० ॥

‘किंतु इस समय क्या किया जा सकता है ? क्योंकि नू बड़े वेगसे भागा जा रहा है । अरे ! दो घड़ी भी तो ठहर जा फिर यहाँसे जीवित नहीं लौट सकेंगे ॥ १० ॥

नहि शक्षुःपथं प्राप्य तयोः पार्थिवपुत्रयोः ।

सर्वन्योऽपि समर्थस्त्वं मुहूर्तमपि जीवितुम् ॥ ११ ॥

‘उन दोनों राजकुमारोंके दृष्टिपथमें आ जानेपर तू सेनाक साथ हो तो भी दो घड़ी भी जीवित नहीं रह सकेंगे ॥ ११ ॥

न त्वं तयोः शरस्पशं सोढुं शक्तः कथंचन ।

धने प्रज्वलितस्थेव स्पर्शमग्नेर्विहंगमः ॥ १२ ॥

‘जैसे कोई आकाशघाते पक्षी वनमें प्रज्वलित हुए दाव नलका सार्वा सहन करनेमें समर्थ नहीं होना, उसी प्रकार तू भी यदि और उसके भाड़े दानोंके दानका भयं किन्ना तरह सह नहीं सकता ॥ १२ ॥

साधुं कृत्वाऽऽत्मनः पथ्य साधु मा भुञ्ज रावण ।

मत्प्रार्थनार्थकृद्धो भ्रात्रा सह पतिर्षम ॥ १३ ॥

विधास्यति विनाशाय त्वं मा घदि न मुञ्चसि ।

‘रावण ! यदि तू मुझे छोड़ नहीं देता है तो मेरे तिरस्कारसे कुपित हुए मेरे पतिरथ अपने भाईके साथ चहु

आयेंगे और तें विनाशका उपत्य करेंगे, अतः तू अच्छी तरह अपना मत्प्रार्थ संभाल ले और मुझे छोड़ दे । यहाँ तेरे लिये अच्छा होगा ॥ १३ ॥

येन त्वं व्यवसायेन बलान्मां हर्तुमिच्छसि ॥ १४ ॥

व्यवसायस्तु ते नीच भविष्यति निरर्थकः ।

‘नीच ! तू जिस संकल्प या अभिप्रायसे बलपूर्वक मेरा हर्षण करना चाहता है, तेरा वह अभिप्राय व्यर्थ होगा ।

नह्यहं तपपश्यन्ती भर्तारं विबुधोपमम् ॥ १५ ॥

उत्सहे शत्रुवशगा प्राणान् धारयितुं धिरम् ।

‘मैं अपने देवोपम पतिवश दर्शन न पानपर शत्रुके अधोवशमें अधिक कालतक अपने प्राणोंको नहीं धारण कर सकूँगी ॥ १५ ॥

न नूनं चात्वनः श्रेयः पथ्यं वा समवेक्षसे ॥ १६ ॥

मृत्युकाले यथा मर्त्यो विपरीतानि सेवते ।

मुपपूर्णां तु सर्वेषां यत् पथ्यं तन्न रोचते ॥ १७ ॥

‘निश्चय ही तू अपने कल्याण और हितको विचार नहीं करता है । जैसे मरनेके समय मनुष्य स्वास्थ्यके विरोधी पदार्थोंका सेवन करने लगता है, वही दशा तेरी है । प्रायः सभी मरणामृत मनुष्योंको पथ्य (हितकारक सलाह या भोजन) नहीं रुचता है ॥ १६-१७ ॥

पश्यामीह हि कण्ठे त्वां कालपाशावपाशितम् ।

यथा धाम्पिन् भयस्थाने न विभेति निशाचर ॥ १८ ॥

‘निशाचर ! मैं देखती हूँ, तेरे गलेमें कालकी फाँसी पड़ चुकी है, इसीमें इस भयके स्थानपर भी तू निर्भय बना हुआ है ॥ १८ ॥

व्यक्तं हिरण्यमयांस्त्वं हि सम्पश्यसि प्रहीरुहान् ।

नदीं चैतरीणीं घोरं रुधिरौघविवाहिनीम् ॥ १९ ॥

खड्गप्रवर्धनं चैव भीमं पश्यसि रावण ।

तप्तकाञ्चनपुष्पां च वैदूर्यप्रवरच्छदाम् ॥ २० ॥

द्रक्ष्यसे शाल्मलीं नीक्ष्यामायमैः कण्टकैश्चिताम् ।

‘रावण ! अवश्य ही तू सुवर्णमय वृक्षोंको देख रहा है शम्भुका शोक कहानेवाली अर्यधर चैतरीणी नदीका दर्शन कर रहा है, भयानक असिपत्र वनको भी देखना चाहता है तथा त्रिमय नक्षत्र हुए सुवर्णके समान फूल तथा श्रेष्ठ वैदूर्यगर्ण (नीलम) के समान पत्ते हैं और जिसमें लोहेके काँटे चिन गये हैं, उस तीखी शाल्मलिका भी अब तू शीघ्र ही दर्शन करेंगे ॥ १९-२० ॥

नहि त्वमीदृशं कृत्वा तस्यालीकं महात्मनः ॥ २१ ॥

धारितुं शक्यसि चिरे विषं पीत्वेव निर्घृण ।

अद्धस्त्वं कालपाशेन दुर्निधारेण रावण ॥ २२ ॥

‘निर्दोष निशाचर ! तू महात्मा श्रीरामका ऐसा महान् अपराध करके विषपान किये हुए मनुष्यकी भाँति अधिक कालतक जीवन धारण नहीं कर सकेंगे । रावण ! तू अटल

कालपाशसे बंध गया है ॥ २१-२२ ॥

क गतो लप्स्यसे शर्म मम भर्तुर्महात्मनः ।

निषेवान्तरमात्रेण विना आतरमाहवे ॥ २३ ॥

राक्षसा निहता येन सहस्राणि चतुर्दश ।

कथं स राघवो धीरः सर्वास्त्रकुशलो बली ॥ २४ ॥

न त्वां हन्याच्छरैस्तीक्ष्णैरिष्टधामोपहारिणम् ।

‘मेरे महात्मा पतिसे बचकर तू कहीं जाकर शान्ति पा

सकेगा । जिन्होंने अपने भाई लक्ष्मणकी सहायता लिये बिना

हैं युद्धमें परलक मारते-मारते चौदह हजार राक्षसोंका विनाश

कार डाला, वे सम्पूर्ण अस्त्रोंका प्रयोग करनेमें कुशल

बलवान् धीर रघुनाथकी अपनी प्यारी पत्नीका अपहरण

करनेवाले तुझ-जैसे पापीको तोखे बाणोंद्वारा क्यों नहीं

कालके भालमें भेज देंगे ॥ २३—२४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आरण्यकाण्ड आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें तिरपनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

चतुष्पञ्चाशः सर्गः

सीताका पाँच वानरोंके बीच अपने भूषण और वस्त्रको गिराना, रावणका लङ्कामें पहुँचकर सीताको अन्तःपुरमें रखना तथा जनस्थानमें आठ राक्षसोंको गुप्तचरके रूपमें रहनेके लिये भेजना

हियमाणा तु वैदेही कंचिन्नाद्यमपश्यती ।

दर्श गिरिभृङ्गस्थान पञ्च वानरपुङ्गवान् ॥ १ ॥

रावणके द्वारा दरी जाता हुई विदेहनन्दिनी सीताका उम

रामसे कोई भी अपना सहायक नहीं दिखायी देना था । मराम

इन्होंने एक पर्वतके शिखरपर पाँच श्रेष्ठ वानरोंका बैर देखा ॥

तोषो मध्ये विशालाक्षी कौशेयं कनकप्रभम् ।

ऊतरीयं वरारोहा शुभान्याभरणानि च ॥ २ ॥

मुमोक्ष यदि रामाय ज्ञप्सेयुरिति धामिनी ।

यत्प्रभुमुज्य तन्मध्ये निक्षिप्तं सहभूषणम् ॥ ३ ॥

तब सुन्दर अङ्गीवाली विशाललोचना धामिनी मानने यह

सोचकर कि शायद ये भगवान् श्रीरामको कुछ समाचार कह

सके, अपने सुनहरे रंगकी रेशमी चादर उतारने और उसमें

चरब और आभूषण रखकर दरी उनके बीचों फेंक दिया ।

सम्प्रमात् तु दशार्पीवस्तत्कर्म च न बुद्धवान् ।

पिङ्गाक्षास्तां विशालाक्षीं नेत्रैरनिमिषैरिव ॥ ४ ॥

विक्रोशन्ती तदा सीता ददृशुर्धानरोत्तमाः ।

रावण बड़ी घबराहटमें था, इसलिए सीताके इस कार्यका

वह न जान सका । वे धूरे आँखोंवाले श्रेष्ठ वानर उस समय

उत्तमरसे विलाप करती हुई विशाललोचना सीताकी ओर

एकटक नेत्रोंसे देखने लगे ॥ ४ ॥

स च पम्पामतिक्रम्य लङ्कामधिमुखः पुरीम् ॥ ५ ॥

जगाम मैथिलीं गृह्य रुरतीं राक्षसेश्वरः ।

राक्षसराज रावण पम्पासरोवरको लूँधकर खेतो हुई

एतच्चान्यथ परुषं वैदेही रावणाङ्गुगा ।

भयशोकसमाविष्टा करुणं विललाप ह ॥ २५ ॥

रावणक चंगुलमें फँसी हुई विदेहराजकुमारी सीता भय

और शोकमें व्याकुल हैं वे तथा और भी बहुत-से कठोर

वचन सुनाकर करुण-स्वरमें विलाप करने लगीं ॥ २५ ॥

तदा भृशतां बहु चैव धामिणीं

विलापपूर्वं करुणं च धामिनीम् ।

अहार पापस्तरुणीं विचेष्टतीं

नृपात्मजामागतगात्रवेपथुः ॥ २६ ॥

अन्धन दुःखसे आतुर हो विलापपूर्वक बहुत-सी करुणा

जनक बात कहनी और छूटनेके लिये नाना प्रकारकी चेष्टा करती हुई

तरुणी धामिनी राजकुमारी सीताको जब पापी निशाचर हर ले गया ।

उम समय अधिक चोड़के कारण उसका शरीर काँप रहा था ।

मैथिली सीताको साथ लिये लङ्कापुरीको आर चल दिया ।

तां जहार सुसंहृष्टो रावणो मृत्युमात्मनः ॥ ६ ॥

उत्सङ्गेनैव भुजगीं तीक्ष्णदंष्ट्रां महाविषाम् ।

निशाचर रावण बड़े हर्षमें भरकर सीताके रूपमें अपनी

मौतको ही हँकर लिये जा रहा था । उसने वैदेहीके रूपमें

तोखे दादवाली महर्षिपत्नी मार्गमकी हो अपनी रोदमें उड़ा

गया था ॥ ६ ॥

वनानि सरितः शैलान् सरांसि च विहायसा ॥ ७ ॥

स क्षिप्रं समतीयाय शरक्षापादिव च्युतः ।

वह धनुषसे सूटे हुए बाणकी तरह तीव्र गतिसे चलकर

आकाशमार्गमें अनेकानेक वनो, नदियों, पर्वतों और

सरोवरोंको तुरंत लूँध गया ॥ ७ ॥

तिमिनक्रनिकेतं तु वरुणालयमक्षयम् ॥ ८ ॥

सरितां शरणां गत्वा समतीयाय सागरम् ।

उसने तिमि नामक मत्स्यों और नारोंके निवासस्थान एवं

वरुणक अक्षय गृह समुद्रको भी, जो समस्त नदियोंका

आश्रय है, पार कर लिया ॥ ८ ॥

सम्प्रमात् परिवृत्तोर्मो रुद्धमीनमहोरगः ॥ ९ ॥

वैदेह्यां हियमाणाया बभूव वरुणालयः ।

विदेहनन्दिनी अगम्यता जानकीका अपहरण होते समय

वरुणालय समुद्रको बड़ी घबराहट हुई उससे उसकी उठती

हुई लहरें शान्त हो गयीं । उसके भीतर रहनेवाली मछलियों

और बड़े बड़े सर्पोंकी गति रुक गयी ॥ ९ ॥

अन्तरिक्षगता यच्चः संसृजुक्षारणास्तदा ॥ १० ॥
एतदन्तो दशग्रीव इति सिद्धास्तथाब्रुवन् ।

उस समय आकाशमें बिचरनवाले चरण यों बाले—
अब दशग्रीव रावणका यह अन्तकाल निकट आ पहुँच है
तथा सिद्धोंने भी यही बात दुहरायी ॥ १० ॥

स तु सीतां विचेष्टन्तीमङ्गेनादाय रावणः ॥ ११ ॥
प्रविशेश पुरीं लङ्कां रूपिणीं मृत्युमात्मनः ।

सीता छटपटा रही थीं । रावणने अपनी साक्षर मृत्युको
भाँति उन्हें अङ्गुली से छूँकर लङ्कापुरीमें प्रवेश किया ॥ ११ ॥

सोऽभिगम्य पुरीं लङ्कां सुविभक्तमहापथाम् ॥ १२ ॥
संरुद्धकक्ष्यां बहुलां स्वमन्तःपुरमाविशत् ।

वहाँ पहुँच-पहुँच विशाल राजमार्ग बने हुए थे । पुरीक
द्वारपर बहुत-से राक्षस इधर-उधर फैले हुए थे तथा ठम
नगाहीका विस्तार बहुत बढ़ा था । उसमें जाकर रावणने अपन
अन्त-पुरमें प्रवेश किया ॥ १२ ॥

तत्र तामसितापाङ्गीं शोक मोहसमन्विताम् ॥ १३ ॥
निदधे रावणः सीतां धपो मायामिवासुरीम् ।

कजरां नेत्रप्राक्काली सीता शोक और मोहमें डूबी हुई
थीं । रावणने उन्हें अन्त-पुरमें रख दिया, धानो मयासुरने
मूर्तिमती आसुरी मायाको वहाँ स्थापित कर दिया हो”

अप्रवीण दशग्रीवः पिशाचीघारदर्शनाः ॥ १४ ॥
यथा नीलो पुमान् स्त्री या सीतां पश्यत्यसम्पतः ।

इसके बाद दशग्रीवने धनंकर आकारवाली पिशाचिनिका
बुलाकर कहा—‘(तुम सब सावधानोंक साथ मीनाकी रक्षा
करो) । कोई भी स्त्री या पुरुष मेरी आज्ञाके बिना सीताका
देखने या इनमें मिलने न पाये ॥ १४ ॥

मुक्तामणिसुवर्णानि वस्त्राण्याभरणानि च ॥ १५ ॥
यद् धत्तिस्तेन तदवास्था हेयं मच्छन्दतो यथा ।

‘उन्हें मोती, मणि, सुवर्ण, वस्त्र और आभूषण आदि
जिस-जिस वस्तुकी इच्छा हो, वह तुम ही जाय; इसके लिये
धरी खुली आज्ञा है ॥ १५ ॥

या च वक्ष्यति वेदहो वचनं किञ्चिदप्रियम् ॥ १६ ॥
अज्ञानाद् यदि वा ज्ञानात् शस्य ज्ञातं प्रियम् ।

‘तुमलगायमें जो कोई भी बोलकर या बिना ज्ञान
विदेहकुमारों सीतासे कोई अप्रिय बात कहूँगे, मैं मरझूँगा
इसे अपनी जिंदगी प्यारी नहीं है ॥ १६ ॥

तथाक्त्वा राक्षसीस्तास्तु राक्षसेन्द्रः प्रतापवान् ॥ १७ ॥
निष्कम्यान् पुरात् तस्मात् किं कृत्यमिति चिन्तयन् ।

ददशांघ्रीं महावीर्यान् राक्षसान् पिशिताशनान् ॥ १८ ॥

राक्षसयोंको वेसी आज्ञा देकर प्रतापी राक्षसराज ‘अब
आगे क्या करना चाहिये’ यह सोचता हुआ अन्तःपुरसे बाहर
निकल आर कष्टे भाँसका आहार करनेवाले आठ महा-
पराक्रमी राक्षसोंसे तत्काल मिल ॥ १७-१८ ॥

स तान् दृष्ट्वा महावीर्यां वरदानेन मोहितः ।
उवाच तानिदं वाक्यं प्रशस्य बलवीर्यतः ॥ १९ ॥

उनसे मिलकर ब्रह्मर्षीके वरदानसे मोहित हुए महा-
पराक्रमी रावणने उसके बल और वीर्यकी प्रशंसा करके उनसे
इस प्रकार कहा— ॥ १९ ॥

नानाप्रहङ्गाः क्षिप्रमिनो गच्छत सत्वरः ।
जनस्थानं हनस्थानं भूतं पूर्वं खरालयम् ॥ २० ॥

‘बानो ! तुमलोग नाना प्रकारके अश्व-शस्त्र साथ लेकर
शीघ्र ही जनस्थानको, जहाँ पहले खर रहता था, जाओ । वह
स्थान इस समय उजाड़ पड़ा है ॥ २० ॥

तत्रास्यतो जनस्थाने शून्ये निहतराक्षसे ।
धीमवं बलमाश्रित्य त्रासमुत्सृज्य दूरतः ॥ २१ ॥

‘वहाँक सभी राक्षस मार डाले गये हैं । उस सुने
जनस्थानमें तुमलोग अपने ही बल-पीणवका भरोसा करके
भयको दूर हटाकर रहो ॥ २१ ॥

बहुर्मन्यं महावीर्यं जनस्थाने निवेशितम् ।
सदृषणस्वरं युद्धे निहतं रामसायकैः ॥ २२ ॥

‘मैंने बड़ी बलुन बड़ा मनाक साथ महापराक्रमी खर और
दुरणका बधा मरी था किन्तु अब मर के सब युद्धमें रामके
यणाम मार गये ॥ २२ ॥

ततः क्रोधो घमापृच्छो धैर्यस्योपरि वर्धते ।
कैरे च सुमहज्जालं रामं प्रति सुदाकणम् ॥ २३ ॥

‘हममें मेंर धनमें अपूर्व क्रोध जाग उठा है और वह
धैर्यकी मोमाम ऊपर उड़कर बढ़न लगा है, इनालिये रामके
माथ मेंरा बड़ा भारी और धनंकर खेर ठन गया है ॥ २३ ॥

निर्धातयितुमिच्छामि तच्च कैरे महारिपोः ।
नहि लप्स्याम्यहं निद्रामहत्वा संयुगे रिपुम् ॥ २४ ॥

‘मैं अपने महान् शत्रुमें उस वैरकी बदला लेना चाहता हूँ
उस शत्रुके संग्राममें मार बिना मैं वैनमें मो नहीं सकूँगा । ॥ २४ ॥

तं त्विदानीमहं हत्वा खरदूषण घातिनम् ।
रामं शर्मोपलप्स्यामि धनं लब्ध्वेव निर्धनः ॥ २५ ॥

‘रामने खर और दुरणका वध किया है, अतः मैं भी इस
समय उन्हें मारकर जब कदल चूका लूँगा, तभी मुझे शान्ति
मिलेगी । जैसे निर्धन मनुष्य धन पाकर संतुष्ट होता है, उसी
प्रकार मैं रामका वध करके शान्ति पा सकूँगा ॥ २५ ॥

• समाराणतिल्लक समार न्यायवाक्यके विहान् लखकन यह बताया है कि वहाँ जो सीताकी मायामें उपाया दी गयी है, उसके द्वारा
यह अभिप्राय व्यक्त किया गया है कि मायामयी सीता का लङ्कामें आना ही मुख्य मंशा तो अग्रिम प्रविष्ट हो चुकी थीं इसीलिये
रामने उन्हें ला सका । मायावशिनगी बालेक कारण ही राक्षसों इन्के स्वल्पका ज्ञान न हो सका ।

जनस्थाने वसद्भिस्तु भवद्भी राममाश्रिता ।
प्रवृत्तिरुपनेतव्या किं करोतीति तत्त्वतः ॥ २६ ॥

‘जनस्थानमें रहकर तुमलोग रामचन्द्रका समाचार जानो और वे कब क्या कर रहे हैं, इसका ठीक-ठीक पता लगाते रहो और जो कुछ मालूम हो उसको सूचना घेर पास भेज दिया करो ॥ २६ ॥

अप्रमादाच्च गन्तव्यं सर्वैरिव निशाचरैः ।
कर्तव्यञ्च सदा यत्नो राघवस्य वयं प्रति ॥ २७ ॥

‘तुम सभी निशाचर सावधानोंके साथ वहाँ जाना और रामके वधके लिये सदा प्रयत्न करते रहना ॥ २७ ॥

युष्माकं तु बलं ज्ञातं बहुशो रणमूर्धनि ।
अतश्चास्मिन्ननस्थाने मया ययं निवेशिताः ॥ २८ ॥

‘मैं अनेक बार युद्धके महानपर तुमलोगोंके बलका परिचय मिल चुका है, इसीलिये इस जनस्थानमें मैं तुम्हारे लोगोको रखनेका निश्चय किया है ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे चतुःपञ्चाशः सर्गः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकीजीमें आर्यामयण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें चौवनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५४ ॥

पञ्चपञ्चाशः सर्गः

रावणका सीताको अपने अन्तःपुरका दर्शन कराना और अपनी भार्या वन जानेके लिये समझाना

सर्विष्य राक्षसान् घोरान् रावणोऽग्री महाबलान् ।
आत्मानं बुद्धिबलव्यान् कृतकृत्यममन्यत ॥ १ ॥

इस प्रकार आठ महाबली भयंकर राक्षसोंको जनस्थानमें जानने आशा है रावणने विपरीत बुद्धिके कारण अपनेका कृतकृत्य माना ॥ १ ॥

स विन्तयानो बंदही कामवापीः प्रपीडितः ।
प्रविधेश गृहं रम्यं सीतां द्रष्टुमभित्वरन् ॥ २ ॥

वह विदेहकुमारी सीताका स्मरण करके काम-वाणोंसे क्षणभंग पीड़ित हो रहा था; अतः उन्हें देखनेके लिये उसने बड़ी तत्तावन्तीका साथ अपने रमणाय अन्तःपुरमें प्रवेश किया ॥ २ ॥

स प्रविश्य तु तदंश्य रावणो राक्षसाधिपः ।
अपश्यद् राक्षसीमध्ये सीतां दुःखपरायणाम् ॥ ३ ॥

अश्रुपूर्णमुखी दीनां शोकधारावपीडिताम् ।
वायुघेगैरिषाक्रान्तां भजन्तीं नाक्षमर्णवे ॥ ४ ॥

मृगयूथपरिभ्रष्टां भृगीं क्षमिरिवावृताम् ।
उस भवनमें प्रवेश करके राक्षसोंके राजा रावणने देखा कि सीता राक्षसियोंके बीचमें बैठकर दुःखमें डूबी हुई है ।

उनके मुखपर अश्रुभावों धारा बह रही है और वे शोकके दुरवस्था धारमें अत्यन्त पीड़ित एवं दीन हो वायुके वेगमें आक्रान्त हो समग्रमें डूबती हुई नौकाक समान जान पड़ती है । भृगोंके यूथमें बिछड़कर कुलेमें घिरा हुई अकल्प

ततः प्रियं वाक्यमुपेत्य राक्षसा
महार्थमष्टावधिविवाद्य रावणम् ।

विहाय लङ्कां सहिताः प्रतस्थिरे
यतो जनस्थानमलक्ष्यदर्शनाः ॥ २९ ॥

रावणको यह महान् प्रयोजनसे भरी हुई प्रिय बातें सुनकर वे आठ राक्षस उसे प्रणाम करके अदृश्य हो एक साथ ही लङ्काको छोड़कर जनस्थानको आर प्रस्थित हो गये ॥ २९ ॥

ततस्तु सीतामुपलभ्य रावणः
सुसम्पदहृष्टः परिगृह्यमधिलीम् ।

प्रसज्य रामेण च वैरमुत्तमं
बभूव मोहाम्बुदितः स रावणः ॥ ३० ॥

तदनन्तर मिथिलशकुमारों सीताको पाकर उन्हें राक्षसियोंका देख-रेखने सौंपकर रावणको बड़ा हर्ष हुआ श्रीरामके साथ भारी वैर ठानकर वह राक्षस मोहवश आनन्द भजन लगा ॥ ३० ॥

हरिणीक समान दिखायी देती है ॥ ३-४ ॥
अधोगतमुखी सीतां तामध्येत्य निशाचरः ॥ ५ ॥

तो तु शोकवशाद् दीनामवशो राक्षसाधिपः ।
सबलाद् दर्शयामास गृहं देवगृहोपमम् ॥ ६ ॥

शोकवश दीन और विवश हो नाच पेंह किये खड़ी हुई सीताके पास पहुँचकर राक्षसोंके राजा निशाचर रावणने उन्हें ज्वरदंती अपने देवगृहके समान सुन्दर भवनका दर्शन कराया ॥ ५-६ ॥

हर्म्यग्रासादसम्बार्ध स्वासहस्रनिषेवितम् ।
नानापक्षिगर्णजुष्टं नानारत्नसमन्वितम् ॥ ७ ॥

वह ऊँचे-ऊँचे महलों और सातमेजिले मकानोंसे भरा हुआ था । उसमें सहस्रो स्त्रियाँ निवास करती थीं जुड़ क-सुड़ नाना जातिक पक्षी वहाँ कन्तरव करते थे । नाना प्रकारके रत्न उस अन्तःपुरकी शोभा बढ़ाते थे ॥ ७ ॥

यान्तकंस्तापनीयैश्च स्फाटिकै राजतैस्तथा ।
वज्रवदूर्यचित्रैश्च स्तम्भैर्दृष्टिमनोरमैः ॥ ८ ॥

उसमें बहुत-से मनोहर स्तंभे लगे थे, जो हार्थीदाँत, पके माने स्फटिकमणि, चाँदी होरा और वदूर्यमणि (नालम) से अटल होनेक कारण बड़े विचित्र दिखायी देते थे ॥ ८ ॥

दिव्यदुन्दुभिर्निर्घोषं तप्तकाञ्चनमूषणम् ।
सोपानं काञ्चनं चित्रमारुह तया सह ॥ ९ ॥

उस महलमें दिव्य दुन्दुभियोंका मधुर घोष होता रहता

था । उस अन्तःपुरको तपाये हुए सुवर्णके आभूषणसे सजाया गया था । राक्षस सीताको साथ लेकर सोनेका बना हुई विचित्र मालापर चढ़ा ॥ ९ ॥

दान्तका राजताश्चैव गवाक्षाः प्रियदर्शनाः ।

हेमजालावृताक्षसम्भवाः प्रासादपङ्क्तयः ॥ १० ॥

यहाँ हाथीदाँत और घोड़ेकी बना हुई खूबसूरतियाँ थीं जो बड़ा सुहावनों दिखायी देती थीं । मनकी जगहियामें लकी हुई प्रासादमालाएँ भी दृष्टिगोचर होती थीं ॥ १० ॥

सुधापर्णिविचित्राणि भूमिभागानि सर्वशः ।

दशार्धवः स्वधवने प्रादशंयत मेधिलीम् ॥ ११ ॥

उस भूतलमें जो भूभाग (फर्श) थे, वे सुखी-चूनाके पके बनने लगे थे और उनमें मार्गियाँ लकी गयी थीं जिनमें वे गन्ध-के-सब विचित्र दिखायी देते थे । दशार्धवन अपने गहलकी वे शरीर धनुएँ मेधिलीको दिखायी ॥ ११ ॥

दीर्घिकाः पुष्करिण्यश्च नानापुष्पसमावृताः ।

रावणो दर्शयामास सीता शोकपरायणाम् ॥ १२ ॥

रावणने बहुत-सी बावड़ियाँ और भीति-भातिक फूलस आच्छादित बहुत-सी पारखरियाँ जो सोनाको दिखायी । सीता वह सब देखकर शोकमें डूब गयी ॥ १२ ॥

दर्शयित्वा तु खेदहो कृन्तं तद्वदनोन्नमम् ।

उवाच वाक्य पापात्मा सीता लोभिनुमिच्छया ॥ १३ ॥

वह पापात्मा निशाचर विदेहनिन्दिनी सीताको अपना सारा सुन्दर धवन दिखाकर उन्हें लुभानेकी इच्छासे इस प्रकार बोला— ॥ १३ ॥

दश राक्षसकोट्यश्च द्वाविंशतिरथापराः ।

वर्जयित्वा जरावृद्धान् बालांश्च रजनीधरान् ॥ १४ ॥

तेषां प्रभुरहं सीते सर्वेषां भीमकर्मणाम् ।

सहस्रमेकमेकस्य मम कार्यपुरःसरम् ॥ १५ ॥

‘सोते ! मैं अधीन बनास कराने राक्षस हैं यह सबका बुरा और बालक निशाचरों के दुकर बनायी गयी हैं । भयकर कर्म करनेवाले इन सभी राक्षसोंका मैं ही स्वामी हूँ । अकेले मेरी सेवामें एक हजार वृक्ष लगे हैं ॥ १४ १५ ॥

यदितं राज्यतन्त्रं मे स्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।

जीवितं च विशालाक्षि त्वं मे प्राणगंगीयसी ॥ १६ ॥

‘विशालाक्षोचने ! मेरा यह सारा राज्य और जीवन तुमपर ही अवलम्बित है (अथवा यह सब कुछ तुम्हारे चरणोंमें समर्पित है) । तुम मुझे प्राणोंमें भी अधिक प्रिय हो ॥ १६ ॥

पद्मीनामूलमल्लीनी भयं भोज्यौ परिग्रहः ।

नासां त्वयाक्षरी सीते मम भार्या भव प्रिये ॥ १७ ॥

‘सोते ! मेरा अन्तःपुर मेरी बहुत सी मुन्दरी भार्याओंसे भरी हुआ है, तुम इन सबको स्वामिनी बनो—प्रिये ! मेरी भार्या बन जाओ ॥ १७ ॥

साधु किं तेऽन्यथाबुद्ध्या रोजयस्व त्वजो धम ।

भजस्व माधितप्रम्य प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ १८ ॥

‘मैं इस हिमकर वचनको मान ले—इसे पसंद करो, इसमें विपरीत विचारको मनमें नमाने तुम क्या लाभ होगा ? मुझे अहंकार करो । मैं पंडित हूँ, मुझपर कृपा करो ॥ १८ ॥

परिक्षिप्ता समुद्रेण लङ्कैयं शतयोजना ।

नेयं धर्यायितुं शक्या सेन्द्रैरपि सुरासुरैः ॥ १९ ॥

ममद्रुमे घिने हुई इस लङ्काक राज्यका विस्तार सौ योजन है । इन्द्रमहिम सम्पूर्ण देवता और असुर मिलकर भी इस ध्वस्त नहीं कर सकते ॥ १९ ॥

न देवेषु न यक्षेषु न गन्धर्वेषु नर्षिषु ।

अहं पश्यामि श्लोकेषु यो मे वीर्यमयो धवेत् ॥ २० ॥

देवताओं, यक्षों, गन्धर्वों तथा ऋषियोंमें भी मैं किसीको ऐसा नहीं देखता, जो पराक्रममें मेरी सामानता कर सके ॥ राज्यभ्रष्टेन दीनेन तापसेन पदातिना ।

किं करिष्यामि रामेण भानुषेणाल्पतेजसा ॥ २१ ॥

‘राम तो राज्यमें भ्रष्ट, दीन, तपस्वी, पैदल चलनेवाले और मनुष्य होनेके कारण अल्प तेजवाले हैं, उन्हें लेकर क्या करेगा ? ॥ २१ ॥

भजस्व सीते धामेव धर्ताहं सदुशस्तव ।

यौवनं त्वधुवं भीरु रमस्वेह यथा सह ॥ २२ ॥

‘सोते ! मुझका ही अपनाओ । मैं तुम्हारे योग्य पति हूँ, भीरु ! जवानों मद्ध रहनेवाली नहीं है, अतः यहाँ रहकर मेरी साथ गमन करो ॥ २२ ॥

दर्शि मा कृथा बुद्धिं राघवस्य वरानने ।

कास्य शक्तिरिहागन्तुमपि सीते मनोरथैः ॥ २३ ॥

‘वगनन ! सोते ! अब तुम राघव दर्शनका विचार छोड़ दो । इस समयमें इनकी शक्ति कहाँ है कि यज्ञात्मिक आनेका मनोरथ भी कर सक ॥ २३ ॥

न शक्यो वायुराकाशे पार्श्वार्द्धं महाजलः ।

दीप्यमानस्य वाप्यग्नेर्ग्रहीतुं विमलाः शिरसाः ॥ २४ ॥

आकाशमें महान् वेगसे बहनेवाली वायुकी रश्मियोंमें नहीं बाधा जा सकता अथवा प्रज्वलित अग्निकी निर्मल ज्वालाओंको हाथोंमें नहीं पकड़ा जा सकता ॥ २४ ॥

प्रयाणामपि लोकानां न तं पश्यामि शोभने ।

विक्रमेण नयेद् यस्त्वं महाहृपरिपालिताम् ॥ २५ ॥

‘शोभने ! मैं तीनों लोकोंमें किसी ऐसे वीरको नहीं देखता जो मेरी भुजाओंसे सुरक्षित तुमको पराक्रम करके यहाँसे ले जा सके ॥ २५ ॥

लङ्कायाः सुपहद्राज्यमिदं स्वमनुपालय ।

त्वत्प्रेष्या यदिथाश्चैव देवाश्चापि चराचरम् ॥ २६ ॥

‘लङ्काके इस विशाल राज्यका तुम्हीं पालन करो । मुझ जैसे राक्षस, देवता तथा सम्पूर्ण चराचर जात तुम्हारे

सेवक बनकर रहेंगे । २६ ॥

अभिषेकजलङ्गिणा तुष्टा च रमयस्य च ।

दुष्कृतं यत्पुरा कर्म वनवासेन तद्गतम् ॥ २७ ॥

यद्य ते सुकृतं कर्म तस्येह फलमाप्नुहि ।

‘स्नानके जलसे आर्द्र (अथवा लड्डूके राज्यपर अपना अभिषेक कराकर उसके जलसे आर्द्र) होकर संतुष्ट हो तुम अपने आपको क्रीडाविनोदमें लगाओ तुम्हारा पहलेंका जो दुष्कर्म था, वह वनवासका कष्ट देकर समाप्त हो गया । अब जो तुम्हारा पुण्यकर्म शेष है, उसका फल यहाँ भोगो ॥

इह सर्वाणि माल्यानि दिव्यगन्धानि मेधिलि ॥ २८ ॥

भूषणानि च मुख्यानि तानि सेव यथा सह ।

‘मिथिलेशकुमारी ! तुम मेरे साथ यहाँ रहकर सब प्रकारके पुष्पादि, दिव्य गन्ध और अंष्ट आभूषण आदिका सेवन करो ॥ २८ ॥

पुष्पकं नाम सुधाणि धानुर्वैश्रवणस्य मे ॥ २९ ॥

विमानं सूर्यसंकाशं तरसा निर्जितं रणे ।

विशालं रमणीयं च ताहिमानं मनोजवम् ॥ ३० ॥

तत्र सीते मया साथे विहरस्व यथासुखम् ।

‘सुन्दर कादम्बदशवाली सुन्दरी ! वह सूर्यके समान प्रकाशित शान्त-गन्ध पुष्पकविमान मेरे भाई कुवचका था । उस में मैं सम्पूर्ण जीता हूँ यह अत्यन्त रमणीय विमान तथा मनके समान जगसे चञ्चलवान्ता है गंत । तुम इसके कृपा मेरे साथ बैठकर सुखपूर्वक विहार करो ॥ २९-३० ॥

वधनं पद्मसंकाशं विमलं चान्द्रदर्शनम् ॥ ३१ ॥

शोकात्तु वरारोहे न भजति वरानने ।

‘वरारोहे सुसुति ! तुम्हारा यह कमलके समान सुन्दर निर्मल और मनोहर दिव्यगन्ध देवताका मुख शक्रके पाँड़न होनेके कारण शाभा नहीं पा रहा है ॥ ३१ ॥

एव वर्तत तस्मिन् सा वत्साननेन वराङ्गना ॥ ३२ ॥

मिथामेन्दुनिधं सीता मन्दमश्रुणयवर्णयत् ।

जब रावण घेसी बातें कहने लगा, तब परम सुन्दरी सीता

देवी चन्द्रमाके समान मनोहर अपने मुखको आँचलसे ढक्कर धीरे-धीरे आंसू बहाने लगी ॥ ३२ ॥

ध्यायन्ती तामिवास्वस्थां सीतां चिन्ताहतप्रधाम् ॥ ३३ ॥

उवाच वचनं वीरो रावणो रजनीचरः ।

सीता शाकसे अस्वस्थ-सी हो रही थी, चिन्तासे उनके कान्त नष्ट-सी हो गये थी और वे भगवान् रामका ध्यान करने लगी थी । उस अवस्थामें उनसे वह वीर निशाचर रावण इस प्रकार बोला— ॥ ३३ ॥

अलं त्रीडेन चैदेहि धर्मलोपकृतेन ते ॥ ३४ ॥

आपोंऽयं देवि निष्पन्दो यस्त्वामधिधविष्यति ।

‘विदेहनन्दिनि ! अपने धर्मके त्याग और परपुरुषके अङ्गीकारसे जो धर्मलोपकी आशङ्का होती है, उसके कारण तुम्हें यहाँ रुका नहीं जानी चाहिये, इस तरहकी राज व्यर्थ है । देवि ! तुम्हारे साथ जो मेरा स्नेह-सम्बन्ध होगा, यह आर्ध धर्मशास्त्रोद्धार^१ समर्थित है ॥ ३४ ॥

एतौ पादौ मया स्निग्धौ शिरोभिः परिपीडितौ ॥ ३५ ॥

प्रसादं कुरु मे क्षिप्रं वश्यो दासोऽहमस्मि ते ।

‘तुम्हारे इन कामल एवं चिकने चरणोंपर मैं अपने ये दस्तों मस्तक रख रहा हूँ । अब शीघ्र मुझपर कृपा करो । मैं सदा तुम्हारे अधीन रहनेवाला दास हूँ ॥ ३५ ॥

इमाः शुभ्या मया वाचः शुष्यमाणेन धाविताः ॥ ३६ ॥

न चापि रावणः काचिन्मूर्ध्ना स्त्रीं प्रणमेत ह ।

‘मेरे कामाग्रिम भनाप्र होकर ये बातें कही हैं । ये शुभ्य (निरुक्त) न हों, ऐसी कृपा करो; क्योंकि रावण किसी स्त्रीका फिर झुकाकर प्रणाम नहीं करता, (केवल) तुम्हारे सामने इसका मस्तक झुका है ॥ ३६ ॥

एवमुक्त्वा दशग्रीवो मेधिलीं जनकात्मजाम् ।

कृतान्तवशमापन्नो मधेयमिति मन्यते ॥ ३७ ॥

मिथिलेशकुमारी जानकीसे ऐसा कहकर कालके वशीभूत हुआ रावण मन हो मन मानने लगा कि ‘यह अब मेरे अधीन हो गयी’ ॥ ३७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें पचपनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५५ ॥



१. ऐसा कहकर रावण देवी सीताकी धरसा दस्त झड़ता है, जानकीसे एसे पापपूर्ण कृत्यांक समर्थन धर्मशास्त्रमें कही नहीं है कुमारी जानकीका धर्मपूजक अपहरण शाल्वमें शकुन्तलिक कहला गया है, किन्तु वह भी निरुक्त हो माना गया है, यहाँ तो वह भी नहीं है निन्ताहिता गनी साध्विक अपहरण घोर पाप माना गया है । इसी पापसे मानकी लड्डू मिट्टीमें मिल गया और रावण दल बल-कुल-परितारसहित नष्ट हो गया ।

षट्पञ्चाशः सर्गः

सीताका श्रीरामके प्रति अपना अनन्य अनुराग दिखाकर रावणको फटकारना तथा रावणकी आज्ञासे राक्षसियोंका उन्हे अशोकवाटिकामें ले जाकर डराना

सा तथोक्ता तु वदेही निर्भया शोककर्शिता ।

गुणमन्तरतः कृत्वा रावणं प्रत्यभाषत ॥ १ ॥

रावणके ऐसा कहनेपर शाकसे कह पाती हुई विदेह-राजकुमारी सीता यौचने निगड़की आँट करके उस निगड़चमसे निर्भय होकर बोली— ॥ १ ॥

राजा दशरथो नाम धर्मसेतुरिवाचलः ।

सत्यसेधः परिज्ञातो यस्य पुत्रः स राघवः ॥ २ ॥

राधो नाम स धर्मात्मा त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।

दीर्घबाहुर्द्विशालाक्षो दैवतं स पतिर्धमः ॥ ३ ॥

'महाराज दशरथ धर्मका अचल सेतुक समान थे। वे अपनी मान्यप्रतिज्ञाके लिये सर्वत्र विख्यात थे। उनके पुत्र जो स्फुटलभूषण श्रीरामचन्द्रजी हैं वे भी अपने धर्मात्मनके लिये तमो लोकामें प्रसिद्ध हैं। उनकी धृतर, लव और अश्वि बड़ी-बड़ी हैं। वे ही मेरे आराध्य देवता और पति हैं ॥ २-३ ॥

इक्ष्वाकूणां कुले जातः सिंहस्वन्धो महाद्युतिः ।

लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा यस्ते प्राणान् अधिष्यति ॥ ४ ॥

'इनका जन्म इक्ष्वाकुकुलमें हुआ है। इनके कंधे सिंहके समान और तेज महान् है। वे अपने भाई लक्ष्मणके साथ आकर तेरे प्राणावर विनाश कर डालेंगे ॥ ४ ॥

प्रत्यक्षं यद्यहं तस्य त्वया वै धर्षिता बलान् ।

शयिता त्वं हनः संस्थे जनस्थाने यथा स्वरः ॥ ५ ॥

'यदि तू उनके सामने बलपूर्वक मेरा अपहरण करता तो अपने भाई स्वरको तरह जनस्थानके युद्धस्थलमें ही मारा जाकर सदाके लिये सो जाता ॥ ५ ॥

य एते राक्षसाः प्रोक्ता घोररूपा महाबलाः ।

राघवे निर्विधाः सर्वे सुपर्णे पत्रणा यथा ॥ ६ ॥

तुने जो इन घोर रूपधारी महाबली राक्षसोंकी चर्चा की है, श्रीरामके पास जाते ही इन सबका विष ठहर जायगा, तब उसी तरह तैम गरुड़के पास मारे सर्व विषक प्रभावस रीति हो जाते हैं ॥ ६ ॥

तस्य जगदिप्रमुक्ताले शराः काञ्चनभूषणाः ।

शरीरं विधामिष्यन्ति गङ्गाकुलमिधोर्मयः ॥ ७ ॥

'जैसे बड़ी हुई गङ्गाके लहर अपने कनारोंको काट गिराती हैं, उसी प्रकार श्रीरामके धनुषको डारस छूटें हुए गूर्णभूषित बाण तेरे शरीरको छिन्न-भिन्न कर डालेंगे।

असुरैर्वा सुरैर्वा त्वं यद्यवध्योऽसि राघव ।

उत्पाद्य सुमहत् त्वं जीवन्तस्य न मोक्ष्यसे ॥ ८ ॥

'राघव ! तू अमूर्त अथवा देवताओंसे यदि अवध्य है तो सम्भव है, वे तुझे न मार सकें, किंतु भगवान्

श्रीरामके साथ यह महान् खैर छनकर तू किसी तरह जीवित नहीं छूट सकेंगा ॥ ८ ॥

स ते जीवितशेषस्य राघवोऽस्मकरो बली ।

पशोर्यूपगतस्येव जीवितं तव दुर्लभम् ॥ ९ ॥

'श्रीरामनाथजी बड़े बलवान् हैं। वे तेरे शेष जीवनका भस्म कर डालेंगे। युद्धमें वध हुए पशुकी भाँति तेरा जीवन दुर्लभ हो जायगा ॥ ९ ॥

यदि पश्येत् स रामस्त्वां रोषदीप्तेन चक्षुषा ।

रक्षस्त्वमद्य निर्दग्धो यथा रुद्रेण मन्मथः ॥ १० ॥

राक्षस ! यदि श्रीरामचन्द्रजी अपनी रोषधरी दृष्टिसे तुझ देख लें तो तू अभी उसी तरह जलकर खाक हो जायगा जैसे भगवान् शङ्करने कामदेवकी भस्म किया था ॥ १० ॥

यश्चन्द्रे मन्मसो भूमौ पानयेन्प्राशयेत वा ।

सागरं शोषयेद् वापि स सीतां मोचयेद्विह ॥ ११ ॥

'जो चन्द्रमाको आकाशमें धृत्वापर गिराने या नष्ट करनेकी शक्ति रखते हैं अथवा जो समुद्रको भी सुखा सकते हैं, वे भगवान् श्रीराम यहाँ पहुँचकर सीताको भी छुड़ा सकते हैं ॥ ११ ॥

गतामुस्त्वं गतश्रींको गतसन्त्वो गतेन्द्रियः ।

लङ्का वैधव्यसंयुक्ता त्वत्कृतेन भविष्यति ॥ १२ ॥

'तू समझ ले कि तेरे प्राण अब चल गये। तेरा राज्य लक्ष्मी नष्ट हो गयी। तेरे बल और इन्द्रियोंका भी नाश हो गया तथा तेरे ही पापक कारण तेरी यह लङ्का भी अब विधवा हो जायगी ॥ १२ ॥

न ते पापमिदं कर्म सुखोदकं भविष्यति ।

याहं नीता विनाभावं पतिपाशान् त्वया बलान् ॥ १३ ॥

तेरा यह पापकर्म मुझे भविष्यमें सुख नहीं भोगने देगा, क्योंकि तू मुझे बलपूर्वक पापके पासमें दूर हटाया है स हि देकरमयुक्तो मम भर्ता महाद्युतिः ।

निर्भया वीर्यमाश्रित्य शून्ये वसनि दण्डके ॥ १४ ॥

'मेरे स्वामी महान् तेजस्वी हैं और मेरे देवके साथ अपन ही पराक्रमका भरोसा करके तूने दण्डकारण्यमें निर्भयतापूर्वक निवास करते हैं ॥ १४ ॥

स ते वीर्यं बलं दण्डपुस्तकं च तथाविधम् ।

अपनेष्यति गात्रेभ्यः शम्भवेण संयुगे ॥ १५ ॥

'वे युद्धमें बाणोंकी वर्षा करके तेरे शरीरसे बल, पराक्रम, घमंड तथा गुस्म उच्छृङ्खल आचरणका भी निकाल बाहर करेंगे।

यदा विनाशो भूतानी दृश्यते कालजोदितः ।

तदा कार्ये प्रमाद्यन्ति नराः कालवशं गताः ॥ १६ ॥

‘जब कलकौ प्रेरणासे प्राणियोंका विनाश निकट आता है, उस समय मृत्युके अधीन हुए जीव प्रत्येक कार्यमें प्रयास करने लगते हैं ॥ १६ ॥

भां प्रधृष्य स ते कालः प्रातोऽयं राक्षसाद्यम ।

आत्मनो राक्षसानां च वधायान्त पुरस्य च ॥ १७ ॥

‘अधम निशाचर ! मेरा अपहरण करनेके कारण तेरे लिये भी तही काल आ पहुँचा है । तेरे अपने लिये सारे राक्षसोंके लिये तथा इस अन्त पुष्के लिये भी विनाशकी घड़ी निकट आ गयी है ॥ १७ ॥

न शक्या यज्ञमध्यस्था चेदिः सुरुभाण्डमण्डित ।

द्विजातिमन्त्रसम्पृता खण्डालेनावमर्दिनुम् ॥ १८ ॥

‘यज्ञशास्त्रोंके बीचका अँधीपर आ द्विजातियोंके मन्त्रद्वारा पवित्र की गयी होना है तथा जिस मृत्, मृत्वा आदि यज्ञपात्र सूजीभूत करते हैं, चाण्डाल अपना पैर नहीं रख सकता ॥

तथाहं धर्मनित्यस्य धर्मपत्नी दुर्ध्रता ।

त्वया त्र्यष्ट्रे न शक्याहं राक्षसाद्यम पापिना ॥ १९ ॥

‘उसी मन्त्र में नित्य धर्मपरायण भगवान् श्रीरामकी धर्मपत्नी हूँ तथा दुर्धतापूर्वक पानिवन्धधर्मका पालन करता हूँ (अतः यज्ञवर्दीके समान हूँ) और राक्षसाद्यम । तू महापापी है (अतः चाण्डालके तुल्य है); इसलिये मेरा स्पर्श नहीं कर सकता ॥ १९ ॥

क्रीडन्ती राजहसेन पद्मपण्डेषु नित्यशः ।

हंसी सा तुणमध्यस्थ कथं ब्रक्ष्येत भद्रकम् ॥ २० ॥

‘जो सदा कमलके समुहोंमें राजहमके साथ क्रीड़ा करती है वह हंसी तुणोम रक्ष्येवाले जलकाकको आर कैसे दुर्दिष्टता कोणी ॥ २० ॥

इदं शरीरं निःसृज्य अन्य वा घातयस्य वा ।

नेदं शरीरं रक्ष्यं मे जीविने वापि राक्षस ॥ २१ ॥

‘राक्षस ! तू इस संज्ञाशून्य जड़ शरीरको बाँधकर रस ले या काट डाल । मे स्वयं ही इस शरीर और जीवनको नहीं रक्षना चाहती ॥ २१ ॥

न तु शक्यमपकोशं पुश्रिक्त्वा दान्धात्मनः ।

एवमुक्त्वा तु वंदेही कोष्ठान् सुपत्यं वच ॥ २२ ॥

रावणं जानकीं तत्र पुनर्नोवाच किञ्चन ।

‘मैं इस भूतलपर अपने लिय निन्दा या कल्पित देनेवाला कोई कार्य नहीं कर सकती ।’ रावणसे क्रोधपूर्वक यह अत्यन्त कठोर वचन कहकर विदेहकुमारी जानकी चुप हो गयीं, वे वहाँ फिर कुछ नहीं बोलीं ॥ २२ ॥

सीताया वचनं श्रुत्वा परुषं रोषहर्षणम् ॥ २३ ॥

प्रत्युवाच ततः सीता भयसंदर्शनं वचः ।

सीताका यह कठोर वचन सुनते खड़े कर देनेवाला था । उसे सुनकर रावणने उससे भय दिखानेवाली बात कही — ॥ २३ ॥

शृणु मैथिलि मद्वाक्यं मासान् द्वादश भामिनि ॥ २४ ॥

कालेनानेन नाभ्येषि यदि यो चारुहासिनि ।

ततस्त्वां प्रातराशार्थं सूदारुहेत्स्यन्ति लेशशः ॥ २५ ॥

‘मनोहर हास्यवाली भामिनि ! मिथिलेशकुमारी ! मेरी बात सुन लो । मैं तुम्हें बारह महीनेका समय देता हूँ । इतने गमयम यदि तुम स्वच्छापूर्वक मेरे पास नहीं आओगी तो मेरे रसोदये सर्वेका कलह तैयार करनेके लिये तुम्हारे शरीरके टुकड़े-टुकड़े कर डालेंगे ॥ २४-२५ ॥

इत्युक्त्वा परुषं वाक्यं रावणः शत्रुरावणः ।

राक्षसीश्च ततः क्रुद्ध इदं वचनमब्रवीत् ॥ २६ ॥

सीतासे ऐसी कठोर बात कहकर शत्रुओंको रुलानेवाला रावण क्रुपित हो राक्षसियोंमें इस प्रकार बोला — ॥ २६ ॥

शीघ्रमेव हि राक्षस्यो विरूपा घोरदर्शनाः ।

दर्पमस्थापनेष्यन्तु मासशोणितभोजनाः ॥ २७ ॥

‘अपने विकराल रूपके कारण भयङ्कर दिखायी देनेवाली तथा रक्त मांसका आहार करनेवाली राक्षसियों ! तुमलोग शीघ्र हो इस सीताका अहंकार दूर करो ॥ २७ ॥

वचनादेव तास्तस्य सुघोरा घोरदर्शनाः ।

कृतप्राञ्जलयो भूत्वा मैथिलीं पर्यवारयन् ॥ २८ ॥

रावणक इतना कहते हो वे भयंकर दिखायी देनेवाली अत्यन्त घोर राक्षसियाँ हाथ जोड़े मैथिलीको चारों ओरसे घेरकर खड़ी हो गयीं ॥ २८ ॥

स ताः प्रोवाच राजासौ रावणो घोरदर्शनाः ।

प्रचक्ष्य घरणोत्कर्षैर्दारयन्निव मेदिनीम् ॥ २९ ॥

तब राजा रावण अपने पैरके धमाकेसे पृथ्वीको विदीर्ण करता हुआ मा दो चार पग चलकर उन भयानक राक्षसियोंसे बोला — ॥ २९ ॥

अशोकवनिकामध्ये मैथिलीं नीयतामिति ।

तत्रेयं रक्ष्यतां गूढ युष्माभिः परिवारिता ॥ ३० ॥

‘निशाचरियो ! तुमलोग मिथिलेशकुमारी सीताको अशोकवनिकामें ल जाओ और चारों ओरसे घेरकर वहाँ गूढ़ भावसे इसकी रक्षा करनी रहो ॥ ३० ॥

तत्रैनां तर्जनेर्धरिः पुनः सान्त्वयैश्च मैथिलीम् ।

आनयध्वं वशं सर्वां वन्यां गजवधूमिव ॥ ३१ ॥

‘वहाँ पहले तो भयंकर गर्जन-तर्जन करके इसे डराना, फिर पोंटे-पोंटे वचनमें यमझा बुझाकर जगलकी हथिनियोंकी भाँति इस मिथिलेशकुमारीको तुम सब लोग वशमें लानेकी चेष्टा करना ।

इति प्रतिसमादिष्टा राक्षस्यो रावणेन ताः ।

अशोकवनिकां जम्पुर्मैथिलीं परिगृह्य तु ॥ ३२ ॥

रावणके इस प्रकार आदेश देनेपर वे राक्षसियाँ मैथिलीका साथ लेकर अशोकवाटिकामें चली गयीं ॥ ३२ ॥

सर्वकामफलैर्बुधैर्नानापुष्पफलैर्वृताम् ।

सर्वकालमदृष्टापि द्विजैः समुपसेविताम् ॥ ३३ ॥

वह वाटिका समस्त कामनाओंको फलरूपमें प्रदान करनेवाले करुणवृक्षों तथा भाति-धानिके फल-फूलवाले दूसरे-दूसरे वृक्षोंसे भी भरी थी तथा हर समय मद्यमन रहनेवाले पक्षों उसमें निवास करने थे ॥ ३३ ॥

सा तु शोकपरीताङ्गी रैथिली जनकात्मजा ।

राक्षसीवशमापन्ना व्याधौणा हरिणी यथा ॥ ३४ ॥

परन्तु वहाँ जानेपर मिथिलेशकुमारों जानकीके अङ्ग-अङ्गमें शोक व्याप्त हो गया । राक्षसियोंके वशमें पहुँचकर उनकी दशा श्रापितोंके बीचमें घिरी हुई हरिणोंके समान हो गयी थी ॥ ३४ ॥

शोकं न महता प्रस्ता रैथिली जनकात्मजा ।

न शर्म लभते थीरु पाशवद्भु भृगी यथा ॥ ३५ ॥

इत्यादि श्रीमहामायण वाल्मीकीय आदिकाव्ये अरण्यकाण्डे षट्पञ्चाशः सर्गः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार श्रीबाल्मीकिनिर्मित आर्यभट्टायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें छप्पनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५६ ॥

प्रक्षिप्तः सर्गः*

ब्रह्माजीकी आज्ञासे देवराज इन्द्रका निद्रासहित लङ्कामें आकर सीताको दिव्य खीर अर्पित करना और उनसे विदा लेकर लौटना

प्रवेशितायो सीतायां लङ्कां प्रति पितामहः ।

तदा प्रोवाच देवेन्द्र परितुष्टं शतक्रतुम् ॥ १ ॥

जब सीताका लङ्कामें प्रवेश हो गया, तब पितामह ब्रह्माजीने संतुष्ट हुए देवराज इन्द्रसे इस प्रकार कहा— ॥

त्रैलोक्यस्य हितार्थाय रक्षसापहिताय च ।

लङ्कां प्रवेशिता सीता रावणेन दुर्गत्मना ॥ २ ॥

‘देवराज ! सीता लोकाके हित और राक्षसोंके विनाशके लिये दुरात्मा रावणने सीताको लङ्कामें पहुँचा दिया ॥ २ ॥

पतिव्रता महाभागा नित्यं चैव सुखेधिता ।

अपश्यन्ती च भर्तारं पश्यन्ती राक्षसीजनम् ॥ ३ ॥

राक्षसीभिः परितृता भर्तृदर्शनलालसा ।

‘पतिव्रता महाभागा जानकी मदा मुरझी हो गयी है । इस समय वे अपने पतिके दर्शनसे वंचित हो गयी हैं और राक्षसियोंसे घिरी रहनेके कारण मदा उन्हेंका अपन मापने देखती है । उनके हृदयमें अपने पतिके दर्शनकी तीव्र लालसा बनी हुई है ॥ ३ ॥

निविष्टा हि पुरी लङ्का तीरे नवनदीपतेः ॥ ४ ॥

कथं ज्ञास्यति सा रामस्यस्थं तामनिन्दिताम् ।

लङ्कापुरी समुद्रके तटपर बसी हुई है । वहाँ रहती हुई सीता-साध्वी सीताका पति श्रीरामचन्द्रजीको कैसे लगेगा ॥ ४ ॥

महान् शोकसे ग्रस्त हुई मिथिलेशानन्दनी जानकी जालमें कैसा हुई पूर्णके समान भयभीत हो क्षणभरके लिये भी चीन नहीं पाती थी ॥ ३५ ॥

न विन्दते तत्र तु शर्म रैथिली

विरूपनेत्राभिरतीव तर्जिता ।

पति स्पर्न्ती दयिते च देवरं

विचेतनाभूद् भयशोकपीडिता ॥ ३६ ॥

विकराल रूप और नेत्रवाली राक्षसियोंकी अत्यन्त डाँट-फटकार सुननेके कारण मिथिलेशकुमारी सीताको वहाँ शान्ति नहीं मिली । न घबरा और शोकसे पीड़ित हो प्रियतम पति और देवरका स्मरण करती हुई अचन सो हो गयी ॥ ३६ ॥

दुःखं संचिन्तयन्ती सा बहुशः परिदुर्लभा ॥ ५ ॥

प्राणायामकुर्वाणा प्राणास्त्यक्षेत्यसंशयम् ।

स भूयः संशयो जातः सीतायाः प्राणसंक्षये ॥ ६ ॥

‘सीता दुःखके साथ नाना प्रकारकी चिन्ताओंमें डूबी रहती है । पतिके लिये इस समय वे अत्यन्त दुर्लभ हो गयी हैं । प्राणायाम (भोजन) नहीं करती हैं; अतः ऐसी दशामें निःसंदेह वे अपने प्राणका परित्याग कर देंगी । सीताके प्राणोंका क्षय हो जानेपर हमारे उद्देश्यकी सिद्धिमें पुनः पूर्ववत् संदेह उपास्यत हो जायगा ॥ ५-६ ॥

स त्वं शीघ्रमितां गत्वा सीतां पश्य शुभाननाम् ।

प्रविश्य नगरीं लङ्कां प्रथच्छ हविकृतमम् ॥ ७ ॥

अतः तूमें शीघ्र ही यहाँमें आकर लङ्कापुरीमें प्रवेश करके मुमुक्षु सीतासे मिलो और उन्हें उसमें हविष्य प्रदान करो ॥

एवमुक्त्वाऽथ देवेन्द्रः पुरीं रावणपालिताम् ।

आगच्छत्रिदया सार्धं भगवान् पाकशासनः ॥ ८ ॥

ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर पाकशामन भगवान् इन्द्र निद्राका साथ लेकर रावणद्वारा पालित लङ्कापुरीमें आय ॥

निद्रां शोवाच गच्छ त्वं राक्षसान् सम्प्रमोहय ।

सा तथोक्ता मघवता देवी परमहर्षिता ॥ ९ ॥

देवकार्यार्थसिद्ध्यर्थं प्रामोहयान राक्षसान् ।

वहाँ आकर इन्द्रने निद्रासे कहा— ‘तुम राक्षसोंको मोहित

* यह सर्ग प्रथमः अनुकूल और शुभ है । कुछ प्रसंगमें यह मान्यता प्रकाशित भी है परन्तु इसपर नित्यक आदि संस्कृत गीतार्थ, वही उपलब्ध होता है । इसलिये कुछ लोगोंने इस प्रक्षिप्त माना है । उपयोगों होनेके कारण इस भी यहाँ मान्यता प्रकाशित किया जाना है ।

करो ।' इन्द्रसे ऐसी आज्ञा पाकर देवी मित्रा बहुत प्रसन्न हुई । देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये उन्होंने राक्षसोंको मोह (निद्रा) में डाल दिया ॥ १३ ॥

एतस्मिन्नस्तरे देवः सहस्राक्षः शचीपतिः ॥ १० ॥
आससाद वनस्थां तां वचने चंद्रमवर्षीत् ।

इसी बीचमें सहस्र नेत्रधारो शचीपति देवराज इन्द्र अशोकवाटिकामें बैठी हुई सीताके पास गये और इस प्रकार बोले— ॥ १० ॥

देवराजोऽस्मि भद्र ते इह चास्मि शुचिस्मिते ॥ ११ ॥
अहं त्वा कार्यसिद्ध्यर्थं राघवस्य महात्मनः ।

साहाय्यं कल्पयिष्यामि या शुचो जनकात्मजे ॥ १२ ॥
'गणेश मुष्कानवालो तूँ ! आपका भाग्य हो ।

मैं देवराज इन्द्र यहाँ आपके पास आया हूँ । जनक-किशोरी ! मैं आपके उदारकार्यकी सिद्धिके लिये महात्मा श्रीरामनाथजीकी सहायता करूँगा, अतः आप शाक न करो ॥ ११-१२ ॥

मत्प्रभादात् समुद्रं स तरिष्यति बलैः सह ।
मयैवेह स राक्षसो पायया भोजिताः शुभे ॥ १३ ॥

वै गेरे प्रगादसे बड़ी भारी सेनाके साथ समुद्रका पार करोगे शुभे । मैंने ही बहुत दूर राक्षसोंका अपनी मायाय भोजित किया है ॥ १३ ॥

तस्मादन्नमिदं सीते हविष्यान्नमहं स्वयम् ।
स त्वा संगृह्य वैदेहि आगतः सह निद्रया ॥ १४ ॥

'विष्णुनाम्नी सीते ! इसलिये मैं स्वयं ही यह भोजन या हविष्यान्न लेकर निद्राके साथ तुम्हारे पास आया हूँ ॥ १४ ॥

एतदन्त्यामि मद्धस्तात्र त्वां चाधिष्यते शुभे ।
क्षुधा त्वया च रम्भोरु बर्धणामयुनैरपि ॥ १५ ॥

'शुभे ! रम्भोरु ! यदि मेरे हाथमें इस हविष्यको रखकर, खा लूँगी तो तुम्हें हजारों वर्षोंतक पुत्र और धनस नहीं सतायेगी' ॥ १५ ॥

एवमुक्ता तु देवेन्द्रमुवाच परिशङ्किता ।
कथं जानामि देवेन्द्र त्वामिहस्थं शचीपतिम् ॥ १६ ॥

देवराजक पुत्रा कननपर शङ्कित हुई सीताने उनसे कहा— 'मैं कैसे विश्वास तो कि आप शचीपति देवराज इन्द्र ही यहाँ पधार है ? ॥ १६ ॥

देवालङ्कानि दृष्टानि रामलक्ष्मणसनिधौ ।
तानि दर्शय देवेन्द्र यदि त्वं देवराट् स्वयम् ॥ १७ ॥

'देवेन्द्र ! मैंने श्रीराम और लक्ष्मणके संगीत देवताओंके लक्षण अपनी आँखों देखे हैं । यदि आप साक्षात् देवराज हैं तो उन लक्षणोंका दिग्गोचर ॥ १७ ॥

सीताया वचने श्रुत्वा तथा चक्रे शचीपतिः ।
पृथिवीं नास्पृशत् पद्भ्यामनिघेषेक्षणानि च ॥ १८ ॥

अरजोऽम्बरधारी च नम्रानकुसुमस्तथा ।
ते ज्ञात्वा लक्ष्मणः सीता वासवं परिहर्षिता ॥ १९ ॥

मातृको यह बात सुनकर शचीपति इन्द्रने वैसा ही किया । उन्होंने अपने पैरोंसे पृथ्वीका स्पर्श नहीं किया— आकाशमें निराधार खड़े रहे उनको आँखोंकी पलकें नहीं गिगरी थीं । उन्होंने जो शब्द धारण किया था, उसपर धूलका स्पर्श नहीं होता था । उनके कण्ठमें जो पुष्पमाला थी, उसके पुष्प कुम्हलाने नहीं थे । देवोचित लक्षणोंसे इन्द्रको पहचानकर सीता बहुत प्रसन्न हुई ॥ १८-१९ ॥

उवाच वाक्यं रुदती भगवन् राघवं प्रति ।
सह भ्रात्रा महाबाहुर्दिष्ट्या मे श्रुतिमागतः ॥ २० ॥

वै भगवन् श्रीरामके लिये ऐसी हुई बोली— 'भगवन् ! सीतामायाका बात है कि आज पाईराहित महाबाहु श्रीरामका नाम मेरे कानोंमें पड़ा है ॥ २० ॥

यथा मे शशुरे राजा यथा च मिथिलाधिपः ।
तथा त्वामद्य पश्यामि सनाथो मे पतिस्त्वया ॥ २१ ॥

'मेरे लिये जैसे मेरे शशुर महाराज दशरथ तथा पिता मिथिलानरेश जनक हैं, उसी रूपमें मैं आज आपको देखती हूँ । मेरे पति आपके साथ सनाथ हैं ॥ २१ ॥

तवाज्ञया च देवेन्द्र पयोधुतमिदं हविः ।
अशिष्यामि त्वया दत्तं रघूणां कुलवर्धनम् ॥ २२ ॥

'देवन्द्र ! आपकी आज्ञामें मैं यह पायसरूप हविष्य (दूधकी बनी हुई खीर), जिससे आपने दिया है, खाऊँगी । यह रघुकुलको वृद्धि करनवाला हो' ॥ २२ ॥

इन्द्रहस्ताद् गृहीत्वा तत् पायसं सा शुचिस्मिता ।
न्यवेदयत भर्त्रे सा लक्ष्मणाय च मैथिली ॥ २३ ॥

इन्द्रके हाथसे उस खीरको लेकर उन पवित्र मुष्कानवाली मैथिलीन मन-ही-मन पहले उसे अपने स्वामी श्रीराम और देवर लक्ष्मणको निवेदन किया और इस प्रकार कहा— ॥ २३ ॥

यदि जीवति मे भर्ता सह भ्रात्रा महाबलः ।
इदमन्नु तयोर्भक्त्या तदास्नात् पायसं स्वयम् ॥ २४ ॥

'यदि मेरे महाबलसे स्वामी अपने भाईके साथ जीवित है तो यह भक्तिभावसे उन दोनोंके लिये समर्पित है ।' इतना कहनेके पश्चात् उन्होंने स्वयं उस खीरको खाया ॥ २४ ॥

इतीव तन् प्राश्य हविर्वरानना
जहौ क्षुधादुःखसमुद्भवं च तम् ।

इन्द्रात् प्रवृत्तिपुपलब्ध जानकी
काकुत्स्थयोः प्रीतयना सम्पूव ॥ २५ ॥

इस प्रकार उस हविष्यको खाकर सुन्दर मुखवाली जनकीने भूख-प्यासके कष्टको खत्म दिया और इन्द्रके मुखसे श्रीराम तथा लक्ष्मणका समाचार पाकर वै जनक-नन्दिने मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुई ॥ २५ ॥

स चापि शकस्त्रिदिवालयं तदा
प्रीतो ययौ राघवकार्यसिद्धये ।
आमन्त्र्य सीतां स तनो महात्मा
जगाम निद्रासहितः स्वयात्स्वम् ॥ २६ ॥

नव निद्रासहित महात्मा देवराज इन्द्र भी प्रसन्न
हो सीतासे घिटा लेकर श्रीगमचन्द्रजीक कार्यकी
मिष्टिक लिये अपने निवासस्थान देवलोकको चले
गये ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे प्रक्षिप्तः सर्गः ॥
इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनेर्मन आर्यरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें प्रक्षिप्त सर्ग पूरा हुआ ॥

सप्तपञ्चाशः सर्गः

श्रीरामका लौटना, मार्गमें अपशकुन देखकर चिन्तित होना तथा लक्ष्मणसे मिलनेपर
उन्हें उलाहना दे सीतापर सङ्कट आनेकी आशङ्का करना

राक्षसं मृगरूपेण धरन्तं कामरूपिणम् ।
निहत्य रामो मारीचं तूर्णं पथि न्यधत्त ॥ १ ॥
इधर मृगरूपमें विचरते हुए उस इच्छानुसार रूप धारण
करनेवाले राक्षस मारीचको बध करके श्रीगमचन्द्रजी तुरन्त
हो आश्रमके मार्गपर लौटे ॥ १ ॥

तस्य सत्वरमाणस्य द्रष्टुकामस्य मेधिलीम् ।
कूरस्वनोऽथ गोमायुर्विननादास्य पृष्ठतः ॥ २ ॥
वे सीताको देखनेके लिये जल्दी-जल्दी पेर बढ़ाते हुए
आ रहे थे । इतनेहीमें पीछेकी ओरसे एक सियारिन बड़
कड़ोर स्वरमें चीत्कार करने लगी ॥ २ ॥

स तस्य स्वभावाच्च दत्तुं शैवहर्षणम् ।
चिन्तयाभास गोमायोः स्वरेण परिशङ्कितः ॥ ३ ॥
गोमायिक उस स्वरसे श्रीगमचन्द्रजीक मनमें कुछ शङ्का
हुई । उसका स्वर बड़ा ही भयकर तथा रोंगटे खड़े कर
 देनेवाला था । उसका अनुभव करके वे बड़ी चिन्तामें
 पड़ गये ॥ ३ ॥

अशुभं वत मन्येऽहं गोमायुर्वाञ्छते यथा ।
स्वास्ति स्मादपि वेदेभ्यः राक्षसैर्भक्षणं विना ॥ ४ ॥
वे मन-ही-मन कहने लगे—'यह सियारिन जैसी चीत्की
बोल रहों है, इससे तो मुझे मान्य हो रहा है कि कोई अशुभ
घटना घटित हो गयी । क्या विद्वहर्षन्देवी सीता कुशलसे
 लौगी ? उन्हें राक्षस तो नहीं खा गये ? ॥ ४ ॥

मारीचेन तु विज्ञाय स्वयात्स्वम् भाषकम् ।
विकृष्ट मृगरूपेण लक्ष्मणः शृणुयाद् यदि ॥ ५ ॥
'मृगरूपधारी मारीचने जान-बूझकर मेरे स्वस्वका अनुसरण
काते हुए जो आर्त-पुकार की थी, वह इसलिये कि शायद
इसे लक्ष्मण सुन सकें ॥ ५ ॥

स सीयिहि, स्वरे श्रुत्वा तां च हित्वाथ मेधिलीम् ।
तथैव प्रहितः क्षिप्रं मत्सकाशमिह्वयति ॥ ६ ॥
'सुभिक्षानन्दन लक्ष्मण वह स्वर सुनते हों सीताके हों
पलनास उस अकली छंड़कर तुरन्त मेरे पास वहाँ पहुँचनेके
 लिये चल देंगे ॥ ६ ॥

राक्षसैः सहितैर्नूनं सीताया ईप्सितो वधः ।
काञ्चनश्च भृगो भूत्वा व्यपनीयाश्रमान्नु माम् ॥ ७ ॥
दूर नीत्वाथ मारीचो राक्षसोऽभूच्छराहतः ।
हा लक्ष्मण हनोऽस्मीति यद्वाक्यं व्याजहार ह ॥ ८ ॥
'राक्षसलोग तो सब-के-सब मिलकर सीताका वध
अवश्य कर देना चाहते हैं । इसी उद्देश्यसे यह मारीच राक्षस
गोनका मृग बनकर मुझे आश्रममें दूर हटा ले आया था और
मेरे पागोस आहत होनेपर जो उमन आनन्द करते हुए कहा
था कि 'हा लक्ष्मण । मैं घाय गया' इसमें भी उसका वही
उद्देश्य छिपा था ॥ ७-८ ॥

अपि स्वस्ति भवेद्वाभ्यां रहिताभ्यां यथा वने ।
जनस्थाननिमित्तं हि कृतवर्गेऽस्मि राक्षसैः ॥ ९ ॥
वनमें हम दोनों भाइयोंके आश्रमसे अलग हो जानेपर
क्या सीता सकुशल वहाँ रह सकेगी ? जनस्थानमें जो
राक्षसोंका संहार हुआ है उसके कारण सार राक्षस मुझसे वर
बाँधे ही हुए हैं ॥ ९ ॥

निमित्तानि च घोरानि दृश्यन्तेऽहं बहूनि च ।
इत्येवं चिन्तयन् रामः श्रुत्वा गोमायुर्नि स्वनम् ॥ १० ॥
निवर्तमानस्त्वरितो जगामाश्रममात्मान् ।
'आज बहुत-से भयङ्कर अपशकुन भी दिखावो देते
हैं ।' सियारिनकी चीत्की सुनकर इस प्रकार चिन्ता करते
हुए मार्कण्डेय गन्धनेवाल श्रीराम तुरन्त लौटकर आश्रमकी
ओर चले ॥ १० ॥

आत्मनश्चापनयनं मृगरूपेण राक्षसा ॥ ११ ॥
आजगाम जनस्थानं राघवः परिशङ्कितः ।
मृगरूपधारी राक्षसके द्वारा अपनेको आश्रमसे दूर
हटानेकी घटनापर विचार करके श्रीगमचन्द्रजी शङ्कितहृदयसे
जनस्थानको आये ॥ ११ ॥

सं दीनमानसं दीनभासेदुर्मगपक्षिणः ॥ १२ ॥
सख्यं कृत्वा महात्मानं घोरंश्च समुजुः स्वरान् ।
उनका मन बहुत दुःखी था । वे दीन हो रहे थे । उसी
अवस्थामें वनके मृग और पक्षी उन्हें बाँधे रखते हुए वहाँ

आये और भयङ्कर स्वरमें अपनी बोली बोलने लगे ॥ १२ ॥

तानि दृष्ट्वा निमित्तानि महाघोराणि राघवः ।

न्यवर्तनाथ त्वरितो जवेनाश्रममागमनः ॥ १३ ॥

उन महाभयङ्कर अपशकुनाको देखकर श्रीरामचन्द्रजी तुरंत ही बड़े वेगसे अपने आश्रमकी ओर लौटे ॥ १३ ॥

ततो लक्ष्मणमाधान्तं ददर्श विगतप्रभम् ।

ततोऽविदूरे रामेण समीपाय स लक्ष्मणः ॥ १४ ॥

इतनेहीमें उनके लक्ष्मण आते दिखायी दिये । उनकी कान्ति फीकी पड़ गयी थी । थोड़ी ही देरमें निकट आकर लक्ष्मण श्रीरामचन्द्रजीसे मिले ॥ १४ ॥

विषण्णः सन् विषण्णेन दुःखितो दुःखभागिना ।

स जगद्दृश्यं ते भ्राता दृष्ट्वा लक्ष्मणमागतम् ॥ १५ ॥

विहारय सीता विजने खने राक्षससेविते ।

५.४ और विषादमें डूबे हुए लक्ष्मणने दुःखी और विषादग्रस्त श्रीरामचन्द्रजीसे भेट की । उस समय राक्षसोंमें सेविते निर्जन जनेमें सीताको अंकली छोड़कर आये हुए लक्ष्मणको देख भाई श्रीरामने उनकी निन्दा की ॥ १५ ॥

गृहीत्वा च करं सख्यं लक्ष्मणं रघुनन्दनः ॥ १६ ॥

ठवाच भयुरोत्कर्षमिदं परुषपार्तवम् ।

लक्ष्मणका बायाँ हाथ पकड़कर रघुनन्दन आर्त-से हो गये और पहले कठोर तथा अन्तमें मधुर वाणीद्वारा इस प्रकार बोले— ॥ १६ ॥

अग्नौ लक्ष्मण गह्रा ते कृतं यत् त्वं विहाय ताम् ॥ १७ ॥

सीतामिहागतः सौम्य कश्चिन् स्वस्ति भवेदिति ।

‘आतं सौम्य लक्ष्मण ! यह तुमने बहुत खग किया, जो सीताको अकेली छोड़कर यहाँ चले आये । क्या यहाँ सीता सकुशल होगी ? ॥ १७ ॥

न मेऽस्ति रीतिघोर्वा सर्वथा जनकात्मजा ॥ १८ ॥

विनष्टा भक्षिता चापि राक्षसेर्वनचारिणिः ।

‘वॉर ! मुझे इस बातमें संदेह नहीं है कि जनेमें विचरनेवाले राक्षसोंने जनककुमारी सीताको या तो सर्वथा

नष्ट कर दिया होगा या वे उन्हें खा गये होंगे ॥ १८ ॥

अशुचान्येव भूयिष्ठं यथा प्रादुर्भवन्ति ये ॥ १९ ॥

अपि लक्ष्मण सीतायाः सामर्थ्यं प्राप्नुयामहे ।

जीवन्याः पुरुषव्याघ्र सुताया जनकस्य च ॥ २० ॥

‘क्योंकि मेरे आसपास बहुत-से अपशकुन हो रहे हैं पुरुषसिंह लक्ष्मण ! क्या हमलोग जीती-जागती हुई जनक-दुन्दरी सीताको पूर्णतः स्वस्थ एवं सकुशल पा सकेंगे ? ॥

यथा वै भृगुसंघाश्च गोमायुश्चैव धैरवम् ।

वाश्यन्ते जकुनाश्चापि प्रदीपामभिनो दिशम् ।

अपि स्वस्ति भवेत् तस्या राजपुत्र्या महाबल ॥ २१ ॥

‘महाबल लक्ष्मण ! ये भृगुके झुंड (दाहिनी ओर) आकर) जैसा अममल सूचित कर रहे हैं, वे गीदड़ जिन तरह भोजनान्न कर रह हैं तथा जल्दों से प्रतीत होनेवाले सम्पूर्ण दिशाओंमें पक्षी जिन तरहको बाँकी बाँज रहे हैं—इन सबमें यही अनुमान होना है कि राजकुमारी सीता शायद हैं कुशलमें हों ॥ २१ ॥

इदं हि रक्षो भृगुसंनिकाशं

प्रलोभ्य मां दूरमनुप्रयातम् ।

हते कथंचिन्महता श्रमेण

स राक्षसोऽभुन्निवमाण एव ॥ २२ ॥

‘यह राक्षस भृगुके समान रूप धारण करके मुझे लुपकाकर दूर चला आया था । महान् परिश्रम करके जब मैंने इसे किया तब ही मारा, तब यह मरने ही राक्षस हो गया ॥ २२ ॥

मनश्च मे दीनमिहाग्रहं

चक्षुश्च सख्यं कुरुते विकारम् ।

असंशयं लक्ष्मण नास्ति सीता

हता भूता वा पथि वर्तते वा ॥ २३ ॥

‘लक्ष्मण ! अब मेरा मन आत्यन्त दीन और अग्रमत्त हो रहा है । मेरे बायीं आँख पड़क रही हैं, इससे जान पड़ता है, निःसंदेह आश्रमपर सीता नहीं है । उसे कोई हर ले गया, वह मारी गयी अथवा (किसी राक्षसके साथ) मार्गमें होगी ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आरण्यमायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें सप्तावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५७ ॥



अष्टपञ्चाशः सर्गः

मार्गमें अनेक प्रकारकी आशङ्का करते हुए लक्ष्मणसहित श्रीरामका आश्रममें आना और वहाँ सीताको न पाकर व्यथित होना

स दृष्ट्वा लक्ष्मणं दीनं शून्यं दशरथात्मजः ।

पर्यपुच्छत धर्मात्मा वैदेहीमागतं विना ॥ १ ॥

लक्ष्मणको दीन, संतोषशून्य तथा सीताको साथ लिये विना आया देव धर्मात्मा दशरथनन्दन श्रीरामने पूछ— ॥

प्रस्थितं दण्डकारण्यं या मायनुजगाम ह ।

क सौ लक्ष्मण वैदेही यां हित्वा त्वमिहागतः ॥ २ ॥

‘लक्ष्मण ! जो दण्डकारण्यको और प्रस्थित होनेपर अयोध्यामें मेरे पंछे-पंछे चले आया तथा जिसे तुम

अकेली छोड़कर यहाँ आ गये वह विदेहराजकुमारी सीता इस समय कहाँ है ? ॥ २ ॥

राज्यभ्रष्टस्य सीनस्य दण्डकान् परिधावतः ।

क सा दुःखसहाया मे वैदेही तनुमध्यमा ॥ ३ ॥

मैं राज्यसे भ्रष्ट और टाँन होकर दण्डकारण्यमें चक्कर लगा रहा हूँ इस दुःखमें जे मेरी सहायिका हुई, वह तनुमध्यमा (सूक्ष्मकटिप्रदेशवाली) विदेहराजकुमारी कहाँ है ? ॥ ३ ॥

यां विना नोत्सहे वीर मुहूर्तमपि जीवितुम् ।

क सा प्राणसहाया मे सीता मुग्धमुत्तपमा ॥ ४ ॥

‘वीर ! जिसके बिना मैं ही घड़ी भी जीवित नहीं रह सकता तथा जो मेरे प्राणोंका सहचरी है, वह देवकन्याके समान सुन्दरी सीता इस समय कहाँ है ? ॥ ४ ॥

पतित्वममराणां हि पृथिव्याश्चापि लक्ष्मण ।

विना तौ तपनीयाभौ नेच्छेयं जनकात्मजाम् ॥ ५ ॥

लक्ष्मण ! तमारे हुए सोनेके समान कान्तिवाली जनकनन्दिनी सीताके बिना मैं पृथ्वीका राज्य और देवताओंका आधिपत्य भी नहीं चाहता ॥ ५ ॥

कश्चिज्जीवति वैदेही प्राणैः प्रियतरा मम ।

कश्चित् प्रव्राजते वीर न मे मिथ्या भविष्यति ॥ ६ ॥

‘घोत ! जो मुझे प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय है, वह विदेहराजकुमारी सीता क्या अब जीवित होगी / मग खनमें अना सीताको मैं नेत्रोंके कारण व्यर्थ तो नहीं हो जायगा ? ॥ ६ ॥

सीतानिमित्तं सौमित्रे मृते मयि गते त्वयि ।

कश्चिन् सकामा कैकेयी सुखिता सा भविष्यति ॥ ७ ॥

‘सुगमनन्दन ! सीताके नष्ट हो जानेके कारण जब मैं पर प्राकृतिक और तुम अकेले ही श्रयाभ्यासों कीजोगे उस समय क्या माता कैकेयी सफलप्रसाध एवम् सुखी होगी ? ॥ ७ ॥

सपुत्रराज्यां सिद्धार्थां पुनपुत्रा तपस्विनी ।

उपस्थास्यति कौसल्या कश्चिन् सौम्येन कैकेयीम् ॥ ८ ॥

‘जिसका इकलौता पुत्र मैं मार जाऊँगा, वह तपस्विनी माता कौसल्या क्या पुनः और राज्य सम्यक् तथा कृतकृत्य हुई कैकेयीजी सेवामें विनीतभावसे उपस्थित होगी ? ॥ ८ ॥

यदि जीवति वैदेही गमिष्याम्याश्रमं पुनः ।

संवृत्ता यदि वृत्ता सा प्राणास्त्यक्त्यापि लक्ष्मण ॥ ९ ॥

‘लक्ष्मण ! यदि विदेहनन्दिनी सीता जीवित होगी तभी मैं फिर आश्रममें पैर रखूँगा । यदि सदाचार-परायणा मेधिली मर गयी होगी तो मैं भी प्राणोंका चरित्याग कर दूँगा ॥ ९ ॥

यदि मामाश्रमगतं वैदेही नाभिधावते ।

पुरः प्रहसिता सीता विनशिष्यामि लक्ष्मण ॥ १० ॥

‘लक्ष्मण ! यदि आश्रममें जानिएर विदेहराजकुमारी सीता हैसते हुए मुखसे सामने आकर मुझसे बात नहीं करेगी तो मैं जीवित नहीं रहूँगा ॥ १० ॥

ब्रूहि लक्ष्मण वैदेही यदि जीवति वा न वा ।

त्वयि प्रपत्ते रक्षाधिर्भक्षिता वा तपस्विनी ॥ ११ ॥

‘लक्ष्मण ! बोलो तो सही ! वैदेही जीवित है या नहीं ? तुम्हारे अमावधान होनेके कारण गलत उस तपस्विनीको खा तो नहीं गये ? ॥ ११ ॥

सुकुमारी च बाला च नित्यं चादुःखभागिनी ।

मद्वियोगेन वैदेही व्यक्तं शोचति दुर्मनाः ॥ १२ ॥

‘जो सुकुमारी है, बाला (मोली-भाली) है तथा जिसने खनवायक पहले दुःखका अनुभव नहीं किया था, वह वैदेही आज मेरे वियोगसे व्यथित-चित्त होकर अवश्य ही शोक कर रही होगी ॥ १२ ॥

सर्वथा रक्षसा तेन जिह्येन सुदुरात्मना ।

वदता लक्ष्मणेत्सुर्दृष्टत्वापि जनिते भयम् ॥ १३ ॥

‘उस कुटिल एवं दुरात्म राक्षसने उल्टास्वसे ‘हूँ लक्ष्मण !’ ऐसा पुकारकर तुम्हारे मनमें भी सर्वथा भय उत्पन्न कर दिया ।

श्रुनश्च मय्ये वैदेहा स स्वरः सदृशो मम ।

प्रस्तुता प्रेषितस्त्वं च ब्रह्म मां शीघ्रमागत ॥ १४ ॥

‘जान पड़ता है, वैदेहीने भी मेरे स्वरसे मिलता-जुलता उस राक्षसका स्वर सुन लिया और भयभीत होकर तुम्हें भेज दिया और तुम भी शीघ्र ही मुझे देखनेके लिये चले आये ॥ १४ ॥

सर्वथा तु कृतं कष्टं सीतामुत्सृजता खने ।

प्रतिकर्तुं नृशंसानां रक्षसा दनमन्तरम् ॥ १५ ॥

‘जो भी हो—तुमने खनमें सीताको अकेली छोड़कर सर्वथा दुःखद कार्य कर डाला । फिर कर्म करनेवाले राक्षसोंको बदला लेनाका अवसर दे दिया ॥ १५ ॥

दुःखिताः स्वरघातेन राक्षसाः पिशिताशनाः ।

तैः सीता निहता धीरैर्धविष्यति न संशयः ॥ १६ ॥

‘मासभक्षी निशाकर मेरे हाथों खरक मार जानेसे बहुत दुःखी थे उन घोर राक्षसोंने सीताको मार डाला होगा, इसमें संशय नहीं है ॥ १६ ॥

अहोऽस्मि व्यसने मग्नः सर्वथा रिपुनाशन ।

किं त्विदानीं करिष्यामि शङ्के प्राणव्यमोदशम् ॥ १७ ॥

‘शत्रुनाशन ! मैं सर्वथा संकटके समुद्रमें डूब गया हूँ । ऐसे दुःखका अवश्य ही अनुभव करना पड़ेगा—ऐसी शङ्का हो रही है । अतः अब मैं क्या करूँ ? ॥ १७ ॥

इति सीतां धरागेही चिन्तयन्नेव राघवः ।

आजगाम जनस्थानं त्वरया सहलक्ष्मणः ॥ १८ ॥

इस प्रकार सुन्दरी सीताके विषयमें चिन्ता करते हुए ही लक्ष्मणसाहेब श्रीरघुनाथजी तुरंत जनस्थानमें आये ॥ १८ ॥

विगर्हमाणोऽनुजमार्तरूपं

क्षुधाश्रमेणैव पिपासया च ।

विनिःश्वसज्जुष्कपुराणं विषण्णः

प्रतिश्रयं प्राप्य समीक्ष्य शून्यम् ॥ १९ ॥

अपने दुःखों अनुज लक्ष्मणकों कोसते एवं भूख-प्यास तथा परिश्रमसे लंबों ससि खींचते हुए सुखे मुँहवाले श्रीरामचन्द्रजी आश्रमके निकटवर्ती स्थानपर आकर उसे सुना देखे विषादमें डूब गये ॥ १९ ॥

स्वमाश्रमं स प्रविगाह्य श्रीरो

विहारदेशाननुसृत्य काश्चित् ।

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डेऽष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें अष्टावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

एकोनषष्टितमः सर्गः

श्रीराम और लक्ष्मणकी बातचीत

अथाश्रमादुपावृत्तभन्तरा

रघुनन्दनः ।

परिपप्रच्छ सौमित्रि रामो दुःखादिर्दं वचः ॥ १ ॥

(आश्रममें आनेसे पहले मार्गमें श्रीराम और लक्ष्मणने परस्पर जो बात की थीं उन्हें पुनः विस्तारक साथ बना रहने—) सीताके कथनानुसार आश्रमसे अगले पास आये हुए सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे मार्गमें भी रघुनन्दन श्रीरामने वही दुःखस यह बात पूछी— ॥ १ ॥

तमुवाच किमर्थं त्वमागतोऽपास्य मैथिलीम् ।

यदा सा तव विश्वासाद् वने विरहिता भया ॥ २ ॥

'लक्ष्मण ! जब मैंने तुम्हारे विश्वासपर ही वनमें सीताको छोड़ा था, तब तुम उसे अकली छोड़कर क्या बल आये ?

वृद्धेवाभ्यागतं त्वां मे मैथिलीं त्यज्य लक्ष्मण ।

शङ्कमानं महत् पापं धत्सत्यं व्यथितं मनः ॥ ३ ॥

'लक्ष्मण ! मिथिलेशकुमारीको छोड़कर तुम जो मेरे पास आये हो, तुम्हें दग्धन ही जिस महान् अनिष्टकी आशङ्का करके मरु मन व्यथित हो रहा था, वह सत्य जान पड़न लगता है ॥ ३ ॥

स्फुरते नयनं सख्यं काकुक्ष हृदये च मे ।

तृह्य लक्ष्मण दूरे त्वां सीताविरहितै पथि ॥ ४ ॥

'लक्ष्मण ! मेरी बायीं आँख और बायीं भुजा फटक रही है । तुम आश्रममें दूर सीताके बिना ही मार्गपर आने देख मेरा हृदय भी धक धक कर रहा है' ॥ ४ ॥

एवमुक्तस्तु सौमित्रिर्लक्ष्मणः शुभलक्षणः ।

भूयो दुःखसमाकिलो दुःखितं राघवमब्रवीत् ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर इतने लक्षणोंसे सम्पन्न सुमित्राकुमार लक्ष्मण अत्यन्त दुःखी होकर अपने शोकग्रस्त भाई श्रीरामसे बोले— ॥ ५ ॥

न स्वयं कामकारेण तां त्यक्त्वाहमिहागतः ।

प्रचोदितस्तथैवांग्रेस्वत्सकाशमिहागतः ॥ ६ ॥

'यौया ! मैं स्वयं अपनी इच्छासे उन्हें छोड़कर नहीं आया

एतत्तदित्येव

निवासभूमौ

प्रहृष्टरोमा व्यथितो बभूव ॥ २० ॥

जब श्रीरामने आश्रममें प्रवेश करके उसे भी सुना देख कुछ ऐसे स्थलोंमें अनुसंधान किया, जो सीताके विहारस्थान थे, उन्हें भी सुना पाकर उस क्रीडार्माममें यही वह स्थान है, जहाँ मैंने अगुक्त प्रकारका क्रीडा की थी, ऐसा स्मरण करके उनके शरीरमें रोमाञ्च हो आया और वे व्यथासे पीड़ित हो गये ॥ २० ॥

हूँ, उन्हाकि कठोर वचनोंमें प्रेरित होकर मुझे आपके पास आना पड़ा है ॥ ६ ॥

आर्यणेव परिक्रुष्टे लक्ष्मणेति सुविस्वरम् ।

परित्राहीति यद्वाक्यं मैथिल्यास्तच्छ्रुति गतम् ॥ ७ ॥

'आपक हूँ समान स्वरमें किसीने जोरसे पुकारा, 'लक्ष्मण ! मुझे बचाओ।' यह वाक्य मिथिलेशकुमारीके कानोंमें भी पड़ा ॥ ७ ॥

सा तपार्तस्वरं श्रुत्वा तव स्नेहेन मैथिली ।

गच्छ गच्छेति मामाशु रुदती भयविक्रवा ॥ ८ ॥

'उस आतंतादकी सुनकर मैथिली आपक प्रति स्नेहके कारण भयसे व्याकुल हो गयी और रोती हुई मुझसे तुरत बोली— 'जाओ, जाओ' ॥ ८ ॥

प्रचोदयमानेन भया गच्छेति बहुशस्तथा ।

प्रत्युक्ता मैथिली वाक्यमिदं तत् प्रत्ययान्वितम् ॥ ९ ॥

'जब बारबार उन्होंने' 'जाओ' कहकर मुझे प्रेरित किया, तब उन्हें विश्वास दिलाते हुए मैंने मैथिलीसे यह बात कही— ॥ ९ ॥

न तत् पश्याम्यहं रक्षो यदस्य भयमावहेत् ।

निर्वृता भव नास्त्येतत् केनाप्येतदुदाहनम् ॥ १० ॥

देवि ! मैं ऐसे किसी रक्षसको नहीं देखता, जो भगवान् श्रीरामकी भी भयमें डाल सके । आप शान्त रहें, यह भैयाकी आज्ञा नहीं है । किसी दुर्गमने इस तरहकी पुकार की है ।

विगर्हितं च नीचं च कथयाम्योऽभिधास्यति ।

ब्राहीति वचनं सीते यस्माद्येत् त्रिदशानपि ॥ ११ ॥

'सीते ! जो देवताओंकी भी रक्षा कर सकते हैं, वे मेरे बड़े भाई 'मुझे बचाओ' ऐसा निन्दित (कायरतापूर्ण) वचन कैसे कहेंगे ? ॥ ११ ॥

किंनिमित्तं तु केनापि भ्रातुरालम्ब्य ये स्वरम् ।

विस्वरं व्याहनं वाक्यं लक्ष्मण ब्राहि मामिति ॥ १२ ॥

'किसी दुर्गमने किसी दुर् उद्देश्यसे मेरे भैयाके स्वरकी नकल

करके 'लक्ष्मण ! मुझे बचाओ' यह बात जारमे कही है ॥
राक्षसेनेरितं वाक्यं ब्रह्मात् आहीति शोभने ।

न भवत्या व्यथा कार्या कुनारीजनसंविता ॥ १३ ॥

"शोभने ! उस राक्षसने ही भयंकर कारण (मुझे बचाओ) यह बात मुझमें निकाली है । आपको व्यथित नहीं होना चाहिये । ऐसी व्याथाको नीच श्रेणीको स्त्रियाँ ही अपने मनमें स्थान देती हैं ॥ १३ ॥

अलं विक्रवती गन्तुं स्वस्था भव निरुत्सुका ।

न चास्ति त्रिषु लोकेषु पुमान् यो राघवं रणे ॥ १४ ॥

जातो वा जायमानो वा संयुगे यः पराजयेत् ।

अजेयो राघवो युद्धे देवैः शक्रपुरोगमैः ॥ १५ ॥

"तुम व्याकुल मत होओ, स्वस्थ हो जाओ, चिन्ता छोड़ो । मैंने लाकीमे ऐसा कोई पुरुष न तो उत्पन्न हुआ है, न ही रहा है और न होगा ही जो युद्धमें श्रीरामचन्द्रजीको परास्त कर सके । सराममे इन्द्र आदि देवता भी श्रीरामको नहीं जीत सकते ॥ १४-१५ ॥

एवमुक्ता तु खँदसी परिमोहितचेतना ।

उवाचाश्रुणि मुह्यन्ती दारुणं भामिद वचः ॥ १६ ॥

"मेरे ऐसा कहनेपर विदेहराजकुमारोंकी चेतना मगहसे आच्छन्न हो गयी । वे अश्रु बहाती हुई मुझमें अन्यन्त कटार वचन बोलीं— ॥ १६ ॥

भावो मयि सदात्पथपाप एव निवेशितः ।

विनष्टे भ्रातरि प्राप्तुं न च त्वं मामवाप्स्यसे ॥ १७ ॥

"लक्ष्मण ! मेरे मनमें मेरे लिये अव्यक्त पापपूर्ण भाव भरा है । तू अपने भाईके भयंकर मुझे प्राप्त करना चाहता है, परंतु मुझे या नहीं सकता ॥ १७ ॥

संकमाद् भरतेन त्वं रामं समनुगच्छसि ।

काशन्ती हि यथात्पथं नैनमध्यवपद्यासे ॥ १८ ॥

"तू भरतके इशारेसे अपने स्वार्थके लिये श्रीरामचन्द्रजीके पाछे-पीछे आया है । तभी तो वे जार-जारसे चिल्ला रहे हैं और तू उनके पास जाता तक नहीं है ॥ १८ ॥

निपुः प्रच्छन्नधारो त्वं भदर्थमनुगच्छसि ।

राघवस्यान्तरं प्रेम्सुस्तर्धनं नाभिपद्यासे ॥ १९ ॥

"तू अपने भाईका छिपा हुआ हृत्प्रेम है । मेरे लिये ही श्रीरामका अनुसरण करता है और श्रीरामके छिद्र बूँद रहा है तभी तो संकटके समय उनके पास जातेका नाम नहीं लेता है ॥

एवमुक्तस्तु वैदेह्या संरब्धो रक्तलोचनः ।

क्रोधात् प्रस्फुरमाणोऽहं आश्रमादभिनिर्गतः ॥ २० ॥

विदेहकुमारिके ऐसा कहनेपर मैं रांपसे भर गया । मेरा आँसू लाल हो गयी और क्रोधसे मेरे होठ फड़कने लगे ।

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे एकोनवर्षाहतमः सर्गः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्भर आरण्यकाण्ड आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें उनसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

इस अवस्थामें मैं आश्रमसे निकल आया ॥ २० ॥

एवं ह्रुवाणं सौमित्रिं रामः संतापमोहितः ।

अब्रवीद् दुष्कृतं सौम्य तां विना त्वमिहागतः ॥ २१ ॥

लक्ष्मणकी ऐसी बात सुनकर श्रीरामचन्द्रजी संतापसे मोहित हो गये और उनसे बोले—'सौम्य ! तुमने कहा बुरा किया, जो तुम सीताको छोड़कर यहाँ चले आये ॥ २१ ॥

जानन्नपि समर्थं मां राक्षसामपधारणे ।

अनेन क्रोधवाक्येन मैथिल्या निर्गतो भवान् ॥ २२ ॥

'मैं राक्षसोंका निवारण करनेमें समर्थ हूँ, यह जानते हुए भी तुम मैथिलीके क्रोधयुक्त वचनमें उत्तेजित होकर निकल पड़े ।

नहि ते परितुष्यामि त्यक्त्वा यदसि मैथिलीम् ।

कुद्धाया परुषं श्रुत्वा स्थिया यत् त्वमिहागतः ॥ २३ ॥

क्रोधमें भरी हुई नागिक कठोर वचनकी सुनकर जो तुम निधिलेशकुमारोंको छोड़कर यहाँ चले आये, इससे मैं तुम्हारे ऊपर संतुष्ट नहीं हूँ ॥ २३ ॥

सर्वथा त्वपनीतं ते सीतया यत् प्रज्वलितः ।

क्रोधस्य वशीमागम्य नाकरोः शासनं मय ॥ २४ ॥

'सीतासे प्रेरित होकर क्रोधके वशीभूत हो तुमने मेरे आदेशका पालन नहीं किया, यह सर्वथा तुम्हारा अन्याय है ।

असौ हि राक्षसः शोते शरेणाभिहतो मया ।

मृगरूपेण येनाहमाश्रमादपवाहितः ॥ २५ ॥

जिसने मृगरूप धारण करके मुझे आश्रमसे दूर हटा दिया, वह राक्षस मेरे जाणाम धायल होकर सदाके लिये मरा रहा है ॥ २५ ॥

विकृष्य धार्य परिधाव सायकं

सलोलबाणेन च ताडितो मया ।

भार्गो तनुं त्यज्य च विकृष्यस्वरो

बभूव केयूरधरः स राक्षसः ॥ २६ ॥

'धनुष खींचकर उस बाणका सभ्रान करके मैंने स्त्रीलापूँवक चलाये हुए बाणोंमें ज्यों ही उस मृगकी मार, त्यों ही वह मृगक शरीरका परिचयाग करके ब्रह्ममें बाहुबल धारण करनेवाला राक्षस बन गया । उसके खरमें बड़ी व्याकुलता आ गयी थी ॥ २६ ॥

शराहतेनैव तदार्तया गिरा

स्वरं ममालम्ब्य सुदूरसुश्रवम् ।

उदाहृतं तद् वचनं सुदारुणं

त्वमागतो येन विहाय मैथिलीम् ॥ २७ ॥

'बाणसे आहत होनेपर ही उसने आर्तवाणीमें मेरे स्वरकी नकल करके बहुत दूरतक सुनायी देनेवाला वह अत्यन्त दारुण वचन कहा था, जिससे तुम मिथिलेशकुमारी सीताको छोड़कर यहाँ चले आये हो ॥ २७ ॥

षष्ठितमः सर्गः

श्रीरामका विलाप करते हुए वृक्षों और पशुओंसे सीताका पता पूछना, भ्रान्त होकर रोना और बारंबार उनकी खोज करना

भृशमात्रजमानस्य तस्याधो वामलोचनम् ।

प्रास्फुरद्यास्त्वलद् रामो घेपद्युश्चास्य जायते ॥ १ ॥

आश्रमकी ओर आते समय श्रीरामकी बायों आँखों नीचेवाली पलक जोर-जोरसे फड़कने लगी । श्रीराम चलते-चलते लड़खड़ा गये और उनके शरीरमें कम्प होने लगा ।

उपाएलक्ष्य निमित्तानि सोऽशुभानि मुहुर्मुहुः ।

अपि क्षेपं तु सीताया इति वै व्यजहार ह ॥ २ ॥

बारबार इन आपदाकुनोंको देखकर वे कहने लगे—क्या सीता सकुशल होगी ? ॥ २ ॥

न्तरमाणो जगामाद्य सीतादर्शनलालसः ।

धुन्मभावसर्थं मृष्टा बभूवोद्विग्नमानसः ॥ ३ ॥

सीताको देखनेके लिये उत्कण्ठित हो वे बड़ी देनाकलाक साथ आश्रमपर गये । वहाँ कुटिया सूनी देख उनका मन अत्यन्त उद्विग्न हो उठा ॥ ३ ॥

उद्भ्रममिव वेगेन चित्तिपन् रघुनन्दनः ।

तत्र तत्रोटजस्थानमभिवीक्ष्य समन्ततः ॥ ४ ॥

क्षुब्धं पर्णशालां च सीतया रतितां तदा ।

श्रिया विरहितां ध्वस्तां हेमन्ते पश्चिनीमिव ॥ ५ ॥

एतन्दिन बड़े वेगसे इधर-उधर घूमर लगाने और हाथ पैर चलाते लगे । उन्होंने वहाँ जहाँ-तहाँ बनी हुई एक एक पर्णशालाका चारों ओरसे देखा डाला, किन्तु उस समय ठीके सीतासे मुँगी ही पाया । जैसे हेमन्त-ऋतुमें कर्पावली दिग्गसे ध्वस्त हो श्रीहीन हो जाती है, उसी प्रकार प्रत्येक पर्णशाला शोचाशुभ्य हो गयी थी ॥ ४-५ ॥

रुदन्तमिव वृक्षैश्च यत्ननपुष्पमृगद्विजम् ।

श्रिया विहीनं विव्यस्तं संत्यक्तं वनदेवतैः ॥ ६ ॥

वह स्थान वृक्षों (की सनसनाहट) के द्वारा मनो रो रता था, फूल मुरझा गये थे, मृग और पक्षी मन मारे बैठ थे । वहाँकी सम्पूर्ण शोभा नष्ट हो गयी थी । सारी कुँगी उजाड़ दिखायी देनी थी । वनके देवता भी उस स्थानको छोड़कर चले गये थे ॥ ६ ॥

विप्रकीर्णाग्निनकुशं विप्रविद्युवृत्तीकटम् ।

मृष्टा शुम्भोटजस्थानं विललाप पुनः पुनः ॥ ७ ॥

सब ओर मृगघात और कुश बिखरे हुए थे । चटाइयाँ अस्त-व्यस्त पड़ी थीं । पर्णशालाका सूनी देख भगवान् श्रीराम बारंबार विलाप करने लगे— ॥ ७ ॥

हता मुता वा नष्टा वा भक्षिता वा भविष्यति ।

निलीनाप्यथवा भीसरथवा घनमाश्रिता ॥ ८ ॥

‘हाय ! सीताको किसीने हर तो नहीं लिया । उसकी मृत्यु

तो नहीं हो गयी अथवा वह खो तो नहीं गयी या किसी राक्षसने उसे खा ना नहीं लिया । वह भोर कहीं छिप तो नहीं गयी है अथवा फल-फूल लानेके लिये वनके भीतर तो नहीं चली गयी ॥ ८ ॥

गता किंचेतुं पुण्याणि फलान्यपि च वा पुनः ।

अथवा पश्चिनीं याता जलार्थं वा नदीं गता ॥ ९ ॥

‘सम्भव है, फल-फूल लानेके लिये ही गयी हो या जल लानेके लिये किसी पुष्करिणी अथवा नदीके नटपर गयी हो’ ॥ ९ ॥

यत्नान्पुगयमाणस्तु नास्माद् वने प्रियाम् ।

शोकस्तेक्षणः श्रीमानुभूत इव लक्ष्यते ॥ १० ॥

श्रीरामचन्द्रजीने प्रयत्नपूर्वक अपनी प्रिय पत्नी सीताको वनमें चारों ओर दूँदा किन्तु कहीं भी उनका पता न लगा । शोकके कारण श्रीमान् रामकी आँखें लाल हो गयीं । वे उत्पन्नके समान दिखायी देने लगे ॥ १० ॥

वृक्षाद् वृक्षे प्रधावन् स गिरौश्चापि नदीनदम् ।

वभ्राम विलपन् रामः शोकपङ्कगार्णवप्लुतः ॥ ११ ॥

एक वृक्षसे दूसरे वृक्षके पास दौड़ते हुए वे पर्वतों नदियाँ और नदोंके किनारे घूमने लगे । शोकसे समुद्रमें डूबे हुए श्रीरामचन्द्रजी विलाप करते करते वृक्षोंसे पूछने लगे— ॥

अस्ति कश्चित्त्वया दृष्टा सा कदम्बप्रिया प्रिया ।

कदम्ब यदि जानीषे शंस सीतां शुभाननाम् ॥ १२ ॥

स्निग्धपल्लवसंकाशा पीतकीशेयवासिनीम् ।

शंसस्व यदि सा दृष्टा विल्व विल्वोपमस्तनी ॥ १३ ॥

‘कदम्ब ! मेरी प्रिया सीता तुम्हारे पुष्पसे बहुत प्रेम करती थी, क्या वह यहाँ है ? क्या तुमने उसे देखा है ? यदि जानते हो तो उसे शुभानना सीताका पता बताओ । उसके अङ्ग सुस्निग्ध पल्लवोंके समान कोमल हैं तथा शरीरपर पीले रंगकी रेशमी साड़ी शाभा पाती है विल्व । मेरी प्रियाके स्तन तुम्हारे ही समान हैं । यदि तुमने उसे देखा हो तो बताओ ॥ १२-१३ ॥

अथवार्जुन शंस त्वं प्रिया तमज्जुनप्रियाम् ।

जनकस्य सुता तन्वी यदि जीवति वा न वा ॥ १४ ॥

‘अथवा अर्जुन ! तुम्हारे फूलोंपर मेरी प्रियाका विशेष अनुसंग था, अतः तुम्हीं ठमका कुछ समाचार बताओ । कृशाङ्गी जनकाकेशोरी जीवित है वा नहीं ॥ १४ ॥

ककुषः ककुषोरं तां व्यक्तं जानाति मेधिलीम् ।

लतापल्लवपुष्पाढ्यो भाति ह्येष वनस्पतिः ॥ १५ ॥

भ्रमरैरुपगीतश्च यथा हुमवरो ह्यसि ।

एष व्यक्तं विजानाति तिलकस्तिलकप्रियाम् ॥ १६ ॥

'यह ककुभ' अपने ही समान ठठकाली मिथिलेश-कुमारीको अवश्य जानता होगा; क्योंकि यह खनसाल लता, पल्लव तथा फूलोंन सम्पन्न ही बड़ा शोभा धारक है। 'ककुभ' तुम सब वृक्षोंन श्रेष्ठ हो क्योंकि व धर्म तुम्हारे समाप आकर अपने झंकारोद्वाग तुम्हारी यशोगान करने हैं। तुम्हें सीताको पता चलाओ, अहो ! यह भी कोई ऊँच नहीं है मर है। यह तिलक वृक्ष अवश्य सीताक विषयमें जानता होगा क्योंकि मेरी प्रिया सीताको भी तिलकमें प्रेम था ॥ १५-१६ ॥

अशोक शोकापनुद शोकोपहतचेतनम् ।
त्वन्नामानं कुरु क्षिप्रं प्रियासदृशनेन माम् ॥ १७ ॥

अशोक ! तुम शोक दूर करनेवाले हो। इधर मैं शोकमें अपनी चेतना खो बैठा हूँ। मुझे मेरी प्रियतमाका दर्शन कराकर शोक ही अपने-जैसे नामवाला बना दो—मुझे अशोक (शोकघ्न) कर दो ॥ १७ ॥

यदि ताल स्वया दृष्टा पञ्जतराशोपमस्तनी ।
कथयस्व वरारोहो कारणं यदि ते मयि ॥ १८ ॥

'ताल वृक्ष ! तुम्हारे पक हुए फलक समान स्तनवाला सीताको यदि तुमने देखा हो तो बताओ—चन्द मुझपर तुम्हें दिया आती हो तो उस सुन्दरीके विषयमें अवश्य कुछ कहो ॥

यदि दृष्टा स्वया जम्बो जाम्बूनदसमप्रभा ।
प्रियो यदि विजानासि निःशङ्क कथयस्व मे ॥ १९ ॥

'जाम्बुन । जाम्बूनद (तुवर्ण) के समान कान्तिवाली मेरी प्रिया यदि तुम्हारा दर्शन पाये हो यदि तुम उसकी विषयमें कुछ जानते हो तो निःशङ्क होकर मुझे बताओ ॥ १९ ॥

अहो त्वं कर्णिकाराद्य पुथिनः शोभसे भृशम् ।
कर्णिकारप्रियां सार्धं शंस दृष्टा यदि प्रिया ॥ २० ॥

'कनार ! आज भी फूलोंक लगनस तुम्हारी बड़ी शोभा हो रही है। अहो ! मेरी प्रिया साथी सीताको तुम्हारे वें पुष्प बहुत पसंद थे। यदि तुमने ठल कहीं देखा हो तो मुझसे कहो ॥ २० ॥

चूतनोपमहासालान् पनसान् कुरवान् धवान् ।
दाडिमानपि तान् गत्वा दृष्ट्वा रामो महायशः ॥ २१ ॥
चकुलानश्च पुजाराक्षन्दमान् केतकास्तथा ।
पृच्छन् रामो वने भ्रान्त उच्यत इव लक्ष्यते ॥ २२ ॥

इसी प्रकार आम, कदम्ब, विशाल शाल, कटहल, मूख, घव और अनार आदि वृक्षोंको भी देखकर महायशस्वी श्रीरामचन्द्रजी ठनक पास गये और चकुल, पुजारा, चन्दन तथा कलड़े आदिके वृक्षोंमें भी पड़ते फिरे। उस समय वे वनमें भागलक्ष्मी तरह इधर उधर भटकते दिखाने देते थे ॥ २१-२२ ॥

अथवा मृगशावाक्षीं मृग जानासि मेथिलीम् ।
मृगविप्रेक्षणी कान्ता मृगीभिः सहिता भवेत् ॥ २३ ॥

अपने साधने हरिणको देखकर ये बोले—'मृग ! अथवा तुम्हीं जानाओ ! मृगवन्तों मेथिलीको जानते हो। मेरी प्रियाको दृष्टि भी तुम हरिणोंकी-सा है, अतः सम्भव है वह हरिणियोंके ही साथ हो ॥ २३ ॥

गज सा गजनासोऽस्यदि दृष्टा स्वया भवेत् ।
ता मन्ये विदितां तुभ्यमारब्धाहि वरवारण ॥ २४ ॥

'श्रेष्ठ गजराज ! तुम्हारी सूँड़के समान ही जिसके दोनों ऊँठ हैं, उस सीताको सम्भवतः तुमने देखा होगा। मान्युम होता है, तुम्हें उसका पता विदित है, अतः बताओ ! वह कहाँ है ? ॥ २४ ॥

शार्दूल यदि सा दृष्टा प्रिया चन्द्रनिभानना ।
मेथिली मम विस्मयः कथयस्व न ते भयम् ॥ २५ ॥

'जगन्नाथ ! यदि तुमने मेरी प्रिया चन्द्रमुखी मेथिलीको देखा हो तो निःशङ्क होकर बता दो, मुझसे तुम्हें कोई भय नहीं होगा ॥ २५ ॥

किं घावसि प्रिये नूनं दृष्टासि कमलेक्षणो ।
वृक्षराच्छाद्य चात्मानं किं मां न प्रतिभाषसे ॥ २६ ॥

(उतनेहीमें उनको भ्रम हुआ कि सीता उधर भागकर छिप गयी है, तब वे बोले—) 'प्रिये ! क्यों भागी जा रही हो। कमलनाभने निश्चय ही मैंने तुम्हें देखा लिया है। तुम वृक्षका ओटमें अपन-आपको छिपाकर मुझसे बात क्यों नहीं करते हो ? ॥ २६ ॥

तिष्ठ तिष्ठ वरारोहे न तेऽस्ति करुणा मयि ।
नात्यर्थं हास्यशीलासि किमर्थं मामपेक्षसे ॥ २७ ॥

'वरारोहे ! ठहरो, ठहरो। क्या तुम्हें मुझपर दया नहीं आती है—अधिक हास-परिहास करनेका तुम्हारा स्वभाव तो नहीं था, फिर किसलिये मेरी अपेक्षा करती हो ? ॥ २७ ॥

पीनकाशेयकेनासि सूचिता वरवर्णिनि ।
धक्कन्त्यपि मया दृष्टा तिष्ठ यद्यस्ति सौहृदम् ॥ २८ ॥

'मुन्दरि ! पीले रेशमी साड्याँ ही, तुम कहीं हो—यह सूचना मिल जाती है। भागी जाती हो तो भी मैंने तुम्हें देखा लिया है। यदि मेरे प्रति स्नेह एवं सीहार्द हो तो खड़ी ओ जाओ ॥ २८ ॥

नैव सा नूनमथवा हिसिता चारुहासिनी ।
कृच्छ्रं प्राप्तं न मां नूनं यथोपेक्षितुमर्हति ॥ २९ ॥

(फिर भ्रम दूर होनेपर बोले—) 'अथवा निश्चय ही वह नहीं है। उस मनोहर मुसकानवाली सीताको यक्षसंनि मार

१. रामराजके आरक्षणकारात्मिक किसमें ककुभका अर्थ मन्त्रक लिखा है और किमान अर्जुनविशेष किन्तु दोनोंमें यह कुटजका पर्याय बल्यथा गता है

हाला, अन्यथा इस तरह सकटमें पड़े हुएकी (मेरी) वह कदापि अपेक्षा नहीं कर सकती थी ॥ २९ ॥

अक्षतं सा भक्षिता बाला राक्षसैः पिशिताश्विनैः ।

विभज्याङ्गानि सर्वाणि मया विरहिता प्रिया ॥ ३० ॥

‘सब आन भड़क है कि मांसभक्षी राक्षसोंने मुझसे बिकुड़ी हुई मेरी भैंसी-भाली प्रिया माँथन्योको उमकें भारे अङ्ग बाँटकर खा लिया ॥ ३० ॥

नूनं तच्छुभदन्तोष्ठं सुनासं शुभकुण्डलम् ।

पूर्णचन्द्रनिधं प्रस्तं मुखं निष्प्रभतां गतम् ॥ ३१ ॥

‘सुन्दर दाँत, मनोहर ओष्ठ, सुघट्ट नामिकामे मुक्त तथा रुचिर कुण्डलोंसे अलंकृत वह पूर्ण चन्द्रमाक समान अभिगम मुक्त राक्षसोंका मांस भनकर निश्चय ही अपनी प्रभा खा बैठा होगा ॥ ३१ ॥

सा हि चम्पकवर्णाभा प्रोवा प्रियेयकोचिता ।

कोमला विलपन्त्यास्तु कान्ताया भक्षिता शुभा ॥ ३२ ॥

‘रौती विलगनी हुई प्रियतमा सीताकी वह चम्पके समान वर्णनखली कोमल एवं सुन्दर मीठा, जो हार और हैमली आदि आभूषण पहननेके योग्य थी, निश्चयगत्या आहार बन गयी ॥ ३२ ॥

नूनं विशिष्यमाणौ तौ बाहू पल्लवकोमलौ ।

भक्षितौ वेपमानाशौ सहस्ताभरणद्वन्द्वौ ॥ ३३ ॥

‘वे नूतन पल्लवोंके समान कोमल भुजाएँ, जो इधर-उधर पटकती आ रही होंगी और जिनके अग्रभाग काँप रहे होंगे, हाथोंके आभूषण तथा बाजूबंदमणित निश्चय ही राक्षसोंके पेटमें चली गयी ॥ ३३ ॥

मया विरहिता बाला राक्षसां भक्षणाय वै ।

सार्धैरेव परित्यक्ता भक्षिता बहुबान्धवा ॥ ३४ ॥

‘मैंने राक्षसोंका शिकार करनेके लिये ही उस बालाको अकेली छोड़ दिया । यद्यपि उसका अन्ध-बन्धु बहुत है

इत्यर्थे श्रीमहायामणे बाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे षष्ठितमः सर्गः ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीबाल्मीकिनिर्मित आरण्यमायणे आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें साठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६० ॥

एकषष्ठितमः सर्गः

श्रीराम और लक्ष्मणके द्वारा सीताकी खोज और उनके न मिलनेसे श्रीरामकी व्याकुलता

दृष्ट्वाऽऽश्मपदं शुन्यं रामो दशरथात्मजः ।

राक्षितां घर्णशालां च प्रविष्टान्यासनानि च ॥ १ ॥

अदृष्ट्वा तत्र वैदेहीं संनिरीक्ष्य च सर्वशः ।

उवाच रामः प्राकृतस्य प्रगृह्य लक्ष्मीं भुजौ ॥ २ ॥

दशरथचन्दन श्रीरामने देखा कि आश्रमके सभी स्थान सीताके गृहे हैं तथा घणशालामें भी सीता नहीं हैं और बैठनेके आसन उधर उधर पड़े हैं, तब उन्होंने पुनः यह कि मर्ते व्यासोंका निगरक्षण किया और यहाँ और दूरहोपर भी जब

तथापि वह यत्रियोंके समुदायसे विलग हुई किसी अकेली स्त्रीकी भाँति निशाचरीकर मांस बन गयी ॥ ३४ ॥

हा लक्ष्मण महाबाहो पश्यसे त्वं प्रियां क्वचित् ।

हा प्रिये क्व गता भद्रे हा सीतेति पुनः पुनः ॥ ३५ ॥

इत्येवं विलपन् रामः परिधावन् वनाद् वनम् ।

क्वचिदुदभ्रमते वेगात् क्वचिद् विभ्रमते बलात् ॥ ३६ ॥

‘हा महाबाहु लक्ष्मण ! क्या तुम कहीं मेरी प्रियतमाको देखते हो । हा प्रिये । हा भद्रे । हा सीते ! तुम कहाँ चली गयी ?’ इस तरह बारबार विलप करते हुए श्रीरामचन्द्रजी एक वनसे दूसरे वनमें ठाँढ़ने लगें । वे कहीं सीताकी समानता पाकर उद्विग्न हो ठठते (हलल पड़ते थे) और कहीं शोककी प्रवृत्तियोंके कारण विभ्रान्त हो जाते (बलवडगर्भी भाँति घबहर काटने लगते) थे ॥ ३५-३६ ॥

क्वचिन्वन इवाभाति कान्तान्वेषणतत्परः ।

स वनानि नदीः शैलान् गिरिश्रृङ्गणानि च ।

कान्तानि च वेगेन भ्रमत्यपरिसंस्थितः ॥ ३७ ॥

अपनी प्रियतमाकी खोज करते हुए वे कभी-कभी पागलोंकी-सी चेष्टा करने लगते थे । उन्होंने बड़ी दौड़-धूप करके कहीं भी विश्राम न करते हुए वनों, नदियों, पर्वतों, पहाड़ी झरनों और विभिन्न वननोर्यें घूम-घूमकर अन्वेषण किया ॥ ३७ ॥

तदा स गत्वा विपुलं महद् वनं

परीत्य सर्वं त्वक्ष मैथिलीं प्रति ।

अनिष्ठिताशः स चकार मार्गणे

पुनः प्रियापाः परमं परिश्रमम् ॥ ३८ ॥

उस समय मिथिलेशकुमारीकी ढूँढ़नेके लिये वे उस विशाल एवं विस्तृत वनमें गये और सबमें चकर लम्बकर थक गये तो भी निराश नहीं हुए । उन्होंने पुनः अपनी प्रियतमाक अनुसंधानके लिये बड़ा भारी परिश्रम किया ॥ ३८ ॥

चिदंशकुमारीका कहीं पता नहीं लगा, तब श्रीरामचन्द्रजी अपनी दोनों सुन्दर भुजाएँ ऊपर उठाकर सीताका नाम ले और-ओरसे फुकार करके लक्ष्मणसे बोले— ॥ १-२ ॥

क्व तु लक्ष्मण वैदेही कं वा देशपितो गता ।

केनाहता वा सौमित्रे भक्षिता केन वा प्रिया ॥ ३ ॥

‘भैया लक्ष्मण ! विदेहराजकुमारी कहाँ हैं ? यहाँसे किस देशमें चली गयीं ? सुमित्रानन्दन ! मेरी प्रिया सीताको कौन हर ले गया ? अथवा किसे राक्षसने खा डाला ? ॥ ३ ॥

वृक्षेणावार्य यदि मां सीते हसितुमिच्छसि ।

अलं ते हसितेनाद्य मां भजस्व सुदुःस्थितम् ॥ ४ ॥

(फिर वे सीताको सम्बोधित करके बोले—) 'सीता' यदि तुम वृक्षाको आड़में अपनेको छिपाकर मुझसे ईर्ष्या करना चाहती हो तो इस समय यह ईर्ष्या ठीक नहीं है। मैं बहुत दुःखी हो रहा हूँ, तुम मेरे पास आ जाओ ॥ ४ ॥

यैः परिक्रीडसे सीते विश्वस्तर्पणपोतकः ।

एते हीमास्त्वया सीम्ये ध्यायन्त्यश्वाधिलक्षणा ॥ ५ ॥

'सीम्ये' स्वभाववाली सीते। जिन विश्वस्तर्पणपोतकों का तुम खेला करती थी, वे आज तुम्हारे बिना दुःखी हो आँखमें आँसु भरकर चिन्तामग्न हो गये हैं ॥ ५ ॥

सीतया रहितोऽहं वै नहि जीवापि लक्षणम् ।

वृत्तं चोकेन महता सीताहरणजेन माम् ॥ ६ ॥

परलोके महाराजो नूनं द्रश्यति मे पिता ।

लक्ष्मण ! सीतामे रहित होकर मैं जीवित नहीं रह सकता। सीताहरणजनित महान् शोकसे मुझे चारों आँखें धर लियी हैं। निश्चय ही अब परलोकमें मेरे पिता महाराज दृश्यमान मुझे देखेंगे ॥ ६ ॥

कथं प्रतिज्ञां संभृत्य मया स्वमभियोजितः ॥ ७ ॥

अपूरयित्वा तं कालं मत्सकाशमिहागतः ।

'वे मुझे उपालम्ब देते हुए कहे—'मैंने तो तुम्हें वनवासके लिये आज्ञा दी थी और तुमने भी उहाँ से उचित प्रतिकार कर ली थी। फिर इतने समयतक क्यों रहकर उस प्रतिज्ञाको पूरा किये बिना ही तुम यहाँ मेरे पास कैसे चले आये ? ॥ ७ ॥

कामवनमनार्य सा मृषावादिनमेव च ॥ ८ ॥

धिकं त्वामिति धरे लोकं व्यक्तं वक्ष्यति मे पिता ।

'तुम-जैसे स्वच्छाचारों, अनार्य और मिथ्यावादीको अधिकार' यह बात परलोकमें पिताजी मुझसे अवश्य कहेंगे ॥ ८ ॥

प्रियं शोकसंतप्तं दानं भद्रमनोरथम् ॥ ९ ॥

पामितास्तुज्य करुणं कीर्तिनिरापवान्जुम् ।

अ गच्छसि वरारोहे पा पांस्तुज सुमध्यमे ॥ १० ॥

वरारोहे ! सुमध्यमे ! सीते ! मैं विवश, शोक-मग्न दान, भद्रमनोरथ हो करुणाजनक अवस्थाम पाइ गया हूँ। जैसे कटिल मनुष्यको क्षीर्ति त्याग देता है, वही प्रकार तुम मुझे यहाँ छोड़कर कहीं चले आ रही हो ? मुझे न छाँटा, न छोड़ा ॥ ९-१० ॥

स्वया विगतिशुद्धे त्यक्त्ये जीवितमात्मनः ।

इतोव विलपन् रामः सीतादर्शनमालसः ॥ ११ ॥

न ददर्श सुदुःखार्ता राधको जनकात्मजम् ।

तुम्हारे विचारमें मैं अपने प्राण त्याग दूँगा।' इस प्रकार अत्यन्त दुःखमें आतुर हो चिन्ताप करते हुए शुकुलनन्दन श्रीराम सीताक दर्शनके लिये अत्यन्त उत्कण्ठित हो गये किन्तु वे जनकनन्दिनी उन्हें दिखाया न पड़ी ॥ ११ ॥

अनामादयमानं तं सीता शोकपराधणम् ॥ १२ ॥

पङ्कपासाद्य विपुलं सीदन्तमिव कुञ्जरम् ।

लक्ष्मणो राममत्यर्थमुवाच हितकाम्यया ॥ १३ ॥

जैसे कोई हाथी किसी बड़ी भारी टालटालमें पैसकर कष्ट पा रहा हो, उसी प्रकार सीताको न पाकर अत्यन्त शोकमें डूबे हुए श्रीरामसे उनके हितको कामना रखकर लक्ष्मण बोले— ॥ १२-१३ ॥

मा विषादे महाबुद्धे कुरु यत्नं मया सह ।

इदं गिरिवरं वीर बहुकन्दरशोभितम् ॥ १४ ॥

प्रियकाननसंचारा वनोन्मत्ता च मैथिली ।

सा वनं वा प्रविष्टा स्यान्नलिनी वा सुपुष्पिताम् ॥ १५ ॥

सरित्ते वापि सम्प्राप्ता मीनवञ्जुलसेविताम् ।

विप्रासयितुकाया वा लीना स्यात्कामने क्वचित् ॥ १६ ॥

जिज्ञासमाना वैदेही त्वां मां च पुरुषर्षभ ।

'महामते ! आप विषाद न करें, मेरे साथ जानकोंको बुझनेका प्रयत्न करें। वीरवर ! यह सामने जो ऊँचा पहाड़ दिखायी देता है, अनेक कन्दरवासी सुशोभित है। मिथिलेशकुमारीको वनमें धूमना प्रिय लगता है, वे वनकी शोभा देखकर हृष्यमें ठन्पत हो उठती हैं, अतः वनमें गयी होंगी, अथवा सुन्दर कमलके फूलोंसे भरे हुए इस सरोवरके भी मत्स्य तथा केतसल्लतासे सुशोभित सरित्तक तटपर जा पहुँचें होंगी। अथवा पुरुषप्रकार हमलोगोंको डरानेकी इच्छासे हम दोनों उनके खोज पाते हैं कि नहीं इस जिज्ञासासे कहीं वनमें ही छिप गयी होंगी ॥ १४-१६ ॥

तस्या ह्यव्येषणे श्रीमन् शिप्रमेव यतावहे ॥ १७ ॥

वनं सर्वं विचिनुवो यत्र सा जनकात्मजा ।

'अतः श्रीमन् ! वनमें जहाँ-जहाँ जानकोंका हानकी सम्भावना हो, उन सभी स्थानोंपर हम दोनों शीघ्र ही उनकी खोजके लिये प्रयत्न करें ॥ १७ ॥

मन्यमे यदि काकुत्स्थ मां स्य शोके यनः कथाः ॥ १८ ॥

एवमुक्तः स सीतादर्शाल्लक्ष्मणेन समाहितः ।

सह सीमित्रिणा रामो विचेतुमुपचक्रमे ॥ १९ ॥

'शुनन्दन ! यदि आपको मेरी यह बात शोक लगे तो आप उदास छोड़ दें। लक्ष्मणके द्वारा इस प्रकार सीतादर्शनके सम्प्राप्त होनेपर श्रीरामचन्द्रजी भावधान हो गये और उन्होंने नर्मदाकुमारके साथ सीताको खोजना आरम्भ किया ॥

नौ जनानि गिरिक्षेत्रं सरितश्च सरसि च ।

निखिलेन विचिन्वन्तौ सीतां दृश्यतात्मजौ ॥ २० ॥

तस्य शीलस्य भानूनि शिलाश्च शिखराणि च ।

निखिलेन विचिन्वन्तौ नैव तामभिजग्मतुः ॥ २१ ॥

दशार्धके वे दोनों पुत्र सीताकी खोज करते हुए वनमें दशार्धके यात्राओं और सरोवरोंके किनारे घूम-घूमकर पूरा चेष्टाके साथ अनुसंधानमें लगे रहे। उस पर्वतकी चोटियों,

शिलाओं और शिखरों पर उक्ताने अच्छी तरह जानकीका हँडा,
किंतु कहीं भी उनका पता नहीं लगता ॥ २०-२१ ॥

विचित्र सर्वतः शैले रामो लक्ष्मणभ्रमर्वात् ।

नेह पश्यामि मीमिरे वंदेही पर्वते शुभाम् ॥ २२ ॥

पर्वतके चारों ओर खोजकर श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणसे
कहा— 'सुमित्रानन्दन ! इस पर्वतपर तो मैं सुन्दरी वंदनाको
नहीं देख पाता हूँ ॥ २२ ॥

ततो दुःखाभिसंतप्तो लक्ष्मणो वाक्यप्रवर्त्तितः ।

विध्वरन् दण्डकारण्ये आतारं दीप्ततैजसम् ॥ २३ ॥

तब दुःखसे सतप्त हुए लक्ष्मणने दण्डकारण्यमें धूमंत-
भूमते अपने तैजस भाईसे इस प्रकार कहा— ॥

प्राप्यसे त्वं महाप्राज्ञ मेधिवीर्यं जनकात्मजाम् ।

यथा विष्णुर्महाबाहुर्बलिं वदध्या महीविभाम् ॥ २४ ॥

'महामते ! जैसे महाबाहु भगवान् विष्णुने राजा बलिको
बांधकर यह पृथ्वी प्राप्त कर ली थी, उसी प्रकार आप भी
मिथिलेशकुमारी जानकीका या कार्यमें ॥ २४ ॥

एवमुक्तस्तु वीरेण लक्ष्मणेन स राघवः ।

उवाच भीमया वाचा दुःखाभिहतचेतनः ॥ २५ ॥

वीर लक्ष्मणके ऐसा कहनेपर दुःखसे व्याकुलचित्त हुए
श्रीरामनाथजीने होन नाणोमे कहा— ॥ २५ ॥

तने सुर्चावर्णं सर्वं पशिन्यः फल्लपङ्कजाः ।

गिरिश्रावं महाप्राज्ञ बहुकन्दरनिर्झरः ।

नहि पश्यामि वंदेही प्राणेष्वपि गरीयसीम् ॥ २६ ॥

'महाप्राज्ञ लक्ष्मण ! मैंने साग वन खाज डाला ।
विकसित कमलोंसे भरे हुए सरोवर भी देख लिये तथा
अनेक नन्दराजों और झरनोंमें नुरोषित इस पर्वतको भी

इतनापै श्रीमहाप्राज्ञ कीर्तनीय आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे एकवष्टितम् सर्गः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें इकसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

द्विषष्टितमः सर्गः

श्रीरामका विलाप

सीतामपश्यन् धर्मात्मा शोकोपहतचेतनः ।

विललाप महाबाहु रामः कमललोचनः ॥ १ ॥

सीताको न देखकर शोकसे व्याकुलचित्त हुए धर्मात्मा
महाबाहु कमलनयन श्रीराम विलाप करने लगे ॥ १ ॥

पश्याश्रयं च तं सीतामपश्यन्ममशार्दिनः ।

उवाच रामो धाक्यं विलापाश्रयदुर्बलम् ॥ २ ॥

रघुनाथजी सीताके प्रति अधिक प्रेमके कारण उनके
वियोगमें कष्ट पा रहे थे वे उन्हें न देखकर भी दुखते हुए
समान ऐसी बात कहने लगे, जो विलापका आश्रय होनेसे
मदगदकण्ठके कारण कठिनतासे बाली जा रही थी— ॥ २ ॥

त्वमशोकस्य शास्त्राभिः पुष्पाप्रयतरा प्रिये ।

मम अरमे छान डाला, परन्तु मुझे अपने प्राणोंसे भी प्यास
बंदेही कहीं दिखायी नहीं पड़ी ॥ २६ ॥

एवं स विलपन् रामः सीताहरणकर्षितः ।

दीनः शोकसमाविष्टो भूतं विह्वलोऽभवत् ॥ २७ ॥

इस प्रकार सीता-हरणके कष्टसे पीड़ित हो चिन्ताप करने
हुए श्रीरामचन्द्रजी दोन और शोकमग्न हो दो घड़ोंतक अत्यन्त
व्याकुलतामें पड़े रहे ॥ २७ ॥

स विह्वलितसर्वाङ्गो गतबुद्धिर्विवेकतनः ।

नियसादानुरो दीनो निःश्रयाशीतमायतम् ॥ २८ ॥

उम्का सात अङ्ग विह्वल (शिथिल) हो गया, बुद्धि काम
नहीं दे रही थी, चेतना लुप्त-सी होती जा रही थी । वे
गम गम लड़के जैसी रोचते हुए दोन और आतुर हाव
विषादमें डूब गये ॥ २८ ॥

बहुशः स तु निःश्रयः रामो राजीवलोचनः ।

हा प्रियेति विचुक्रोश बहुशो वाय्वग्दगद ॥ २९ ॥

बारबार उच्चास लेकर कमलनयन श्रीराम अँसुओंमें
गदगद वायाप हा ग्रप । कहकर बहुत रोने-चिन्त्यवने लगे ।

तं सान्त्वयामास ततो लक्ष्मणः प्रियबान्धवम् ।

यद्बुधकार शोकार्तः प्रश्रितः प्रश्रिताञ्जलिः ॥ ३० ॥

तब शोकसे पीड़ित हुए लक्ष्मणने विनोतभावसे हाथ
जाड़कर अपने प्रिय भाईको अनेक प्रकारसे सान्त्वना दी ॥

अनादृत्य तु तत् वाक्यं लक्ष्मणोऽपुटञ्चुतम् ।

अपश्यन्तो प्रियां सीतां प्राक्रोशत् स पुनः पुनः ॥ ३१ ॥

लक्ष्मणके ओष्ठपुटासे निकली हुई इस बातका आदर न
करके श्रीरामचन्द्रजी अपनी प्यारी पत्नी सीताको न देखनेके
कारण उन्हें बारबार पुकारने और रोने लगे । ॥ ३१ ॥

आवृणोषि शरीरे ते मम शोकविवर्धनी ॥ ३ ॥

प्रिये ! तुम्हें फूल अधिक प्रिय है, इसलिये विली हुई
अशोकवृक्षे शाखाओंसे अपने शरीरको छिपाती हो और मेरा
शोक बढ़ा रने हो ॥ ३ ॥

कदलीकाण्डसदृशी कदम्बा संवृतावुभी ।

ऊरु पश्यामि ते देवि नासि शक्त्य निगूहिणम् ॥ ४ ॥

'देवि ! मैं केलेके तनोंक तुल्य और कदलीदलसे ही
छिप हुए तुम्हारे शरीर ऊरुओं (जाँघों) को देख रहा हूँ । तुम
उन्हे छिपा नहीं सकती ॥ ४ ॥

कर्णिकागवनं भद्रे हसन्तो देवि सेवसे ।

अलं ते परिहासेन मम साधावहेम वै ॥ ५ ॥

‘भद्रे ! देवि ! तुम हँसती हुई कनर-पुष्पाको चाटवक्य
सेवन करती हो । वट करो इस परिहासको, इसमें मुझ कड़ा
कष्ट हो रहा है ॥ ५ ॥

विशेषेणाश्रमस्थाने हासोऽयं न प्रशस्यते ।
अवगच्छामि ते शीलं परिहासप्रियं प्रिये ॥ ६ ॥
आगच्छ स्वं विशालाक्षि शून्योऽयमुदजलवत् ।

‘विशेषतः आश्रमके स्थानमें यह हास-परिहास अच्छा
नहीं श्रुताया जाता है । प्रिय ! मैं जानना हूँ तुम्हारा स्वभाव
परिहासप्रिय है । विशाललोचने ! आओ । तुम्हारे यह
पर्णशाला सूनी है ॥ ६ ॥

सुख्यक्तं राक्षसैः सीता भक्षिता वा हतापि वा ॥ ७ ॥
न हि सा विलपन्तं मामुपसर्पति लक्ष्मण ।

(फिर भ्रम दूर होनेपर वे सुमित्राकुमारसे बोले—)
‘लक्ष्मण ! अब तो धक्काभाति म्हाष्ट हो गया कि राक्षसाने
सीताको खा लिया अथवा हर लिया; क्योंकि मैं विलाप कर
रहा हूँ और वह मेरे पास नहीं आ रही है ॥ ७ ॥

एतानि मृगयुधानि साश्रुनेत्राणि लक्ष्मण ॥ ८ ॥
शंसन्तीव हि मे देवी भक्षितां रजनीचरः ।

‘लक्ष्मण ! ये जो मृगसमूह हैं, ये भी अपने नेत्रोंमें
आँसू भरकर मानो मुझमें यहाँ कह रहे हैं कि देवी सीताको
निशाचर खा गये ॥ ८ ॥

हा ममार्थं क्व यातासि हा साध्वि चरवर्णिनि ॥ ९ ॥
हा सकामाद्य कैकेयी त्वेति मेऽद्य भविष्यति ।

‘हा मेरी आर्ये ! (आदरपूर्वक) तुम कहाँ चलने गयी ?
हा साध्वि ! हा चरवर्णिनि ! तुम कहाँ गयी ? हा देवि !
आज कैकेयी सफलमनोरथ हो जायगी ॥ ९ ॥

सीतया सह नियांतो विना सीतामुपागतः ॥ १० ॥
कथं नाम प्रवेक्ष्यामि शून्यघ्नःपुरं मम ।

‘सीताके साथ अयोध्यामें निकला था । यदि सीताके
बिना ही वहाँ लौटा तो अपने सुने अन्तःपुरमें कैसे प्रवेश
करूँगा ॥ १० ॥

निर्वायं इति लोको धी नित्यं श्रुति वक्ष्यति ॥ ११ ॥
कातरत्वं प्रकाशं हि सीताधनयनेन मे ।

‘सारा संसार मुझे पराक्रमहीन और नित्य कहेंगे ।
सीताके अपहरणसे मेरी कठोरता ही प्रकाशमें
आयेगी ॥ ११ ॥

नियुतवनवासश्च जनकं मिथिल्लाघिपम् ॥ १२ ॥
कुशलं परिपुच्छन्ते कथं दाक्ष्ये निरीक्षिणम् ।

‘जब वनवाससे लौटनापर मिथिलानरेश जनक मुझमें
कुशल पूछने आयेगे, उस समय मैं कैसे उनकी ओर

देख सकूँगा ? ॥ १२ ॥

विदेहराजो नूनं यो दृष्ट्वा विगर्हितं तया ॥ १३ ॥
सुताविनाशसंतप्तो मोहस्य वशमेष्यति ।

‘मुझे सीतामें रहित देख विदेहराज जनक अपनी पुत्रीके
विनाशमें संतप्त हो निश्चय ही मुर्च्छित हो जायेंगे ॥ १३ ॥

अथवा न गमिष्यामि पुरीं भरतपालिताम् ॥ १४ ॥
स्वर्गोऽपि हि तया हीनः शून्य एव मतो मम ।

‘अथवा अब मैं भरतद्वारा पालित अयोध्यापुरीको नहीं
जाऊँगा । जानकीके बिना मुझे स्वर्ग भी सूना ही जान
पड़ेगा ॥ १४ ॥

ममामृतमूज्य हि खने गच्छायोध्यापुरीं शुभाम् ॥ १५ ॥
न त्वहं तां विना सीतां जीवेयं हि कथंचन ।

‘इसलिये अब तुम मुझे खनमें ही छोड़कर सुन्दर
अयोध्यापुरीका लौट आओ मैं तो अब सीताके बिना किसी
तरह जीवित नहीं रह सकता ॥ १५ ॥

गच्छमाश्लिष्य भरतो वाच्यो मद्वचनात् त्वया ॥ १६ ॥
अनुज्ञातोऽसि रामेण पालयेति वसुधराम् ।

‘भरतका गान्ध आलिङ्गन करके तुम उनसे मेरा संदेश
कह देना, ‘कैकेयीनन्दन ! तुम सारी पृथ्वीका पालन करो,
इसके लिये हमने तुम्हें आज्ञा दे दी है ॥ १६ ॥

अम्बा च मम कैकेयी सुमित्रा च त्वया विभो ॥ १७ ॥
कौमल्या च यद्यान्यायमभिवाद्या भमाज्ञया ।

‘विभो ! मेरी माता कौमल्या, कैकेयी तथा सुमित्राको
प्रतिदिन यथाचित शीतसे प्रणाम करते हुए उन सबकी रक्षा
करना और सदा उनकी आज्ञाके अनुसार चलना, यह तुम्हारे
लिये मेरी आज्ञा है ॥ १७-१८ ॥

सीतायाश्च विनाशोऽयं मम जामिभसूदन ।
विस्तरेण जनन्या मे विनिवेद्यस्त्वया भवेत् ॥ १९ ॥

‘शत्रुभूदन ! मेरी माताके समक्ष सीताके विनाशका यह
समाचार विस्तारपूर्वक कह सुनाना ॥ १९ ॥

इति विलपति राघवे नु सीने
वनमुपगम्य तथा विना सुकेशया ।

‘भयविकलमुखान्नु लक्ष्मणोऽपि
व्यथितमना भृशमातुरो बभूव ॥ २० ॥

‘सुन्दर केशवाली सीताके विरहमें भगवान् श्रीराम वनके
भीतर जाकर जब इस तरह दीनभावसे विलाप करने लगे,
तब लक्ष्मणके भी मुखपर भयजनित व्याकुलताके चिह्न
दिखायी देने लगे । उनका मन व्यथित हो उठा और वे
अत्यन्त घबरा गये ॥ २० ॥

इत्यर्थे श्रीमद्भागवतं वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे द्विवाहिनमः सर्गः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आध्यात्मिकाव्ये अरण्यकाण्डमें आमतर्वा सर्ग पूरा हुआ ॥ ६२ ॥



त्रिषष्टितमः सर्गः

श्रीरामका विलाप

स राजपुत्रः प्रियया विहीनः

शोकेन मोहेन च पीड्यमानः ।

विषादयन् भ्रातरमार्तरूपो

भूयो विषादं प्रविशेश तीव्रम् ॥ १ ॥

अपनी प्रिया सीतासे रहित हो राजकुमार श्रीराम शोक और मोहसे पीड़ित होने लगे । वे स्वयं तो पीड़ित थे ही अपने भाई लक्ष्मणको भी विषादमें डालते हुए पुनः मोक्ष शोकमें मग्न हो गये ॥ १ ॥

स लक्ष्मणं शोकवशाधिपन्नं

शोके निमग्नो विपुले तु समः ।

उवाच साक्षरं व्यसनानुरूप-

मुष्णं विनि श्वस्य रुदन् सशोकम् ॥ २ ॥

लक्ष्मण शोकक अधीन हो रहे थे, उनमें महान् शोकमें डूबे हुए श्रीराम दुःखके साथ रोते हुए गरम उच्छ्वास लेकर अपने ऊपर पड़ हुए गंकरके आरूप वचन बोले— ॥ २ ॥

न मद्विधो दुष्कृतकर्मकारी

मन्ये द्वितीयोऽस्तु वसुंधरायाम् ।

शोकानुशोको हि परम्पराया

ग्रामेति भिन्दन् हृदयं मनश्च ॥ ३ ॥

‘सुमित्रानन्दन ! मालूम होता है, मेरे-जैसा पापकर्म करनेवाला मनुष्य इस पृथ्वीपर दूसरा कोई नहीं है, क्योंकि एकके बाद दूसरा शोक में हृदय (ग्राम) और मनको विध्वंस करता हुआ लगातार मृगपर आता आ रहा है ॥ ३ ॥

पूर्वं मया नूनमभीप्सितानि

पापानि कर्माण्यसकृत्कृतानि ।

तत्रापमद्यापतितो विपाको

दुःखेन दुःखं यदहं विशामि ॥ ४ ॥

‘निश्चय ही पूर्वजन्ममें मैंने अपनी इच्छाके अनुसार बुराकार बहुत से पापकर्म किये हैं, तन्नाशमें कुछ कर्मका यह परिणाम आज प्राप्त हुआ है, जिससे मैं एक दुःखसे दूसरे दुःखमें पड़ता आ रहा हूँ ॥ ४ ॥

राज्यप्रणाशः स्वजनैर्वियोगः

पितृर्विनाशो जननीवियोगः ।

सर्वाणि मे लक्ष्मण शोकवेग-

मापूरयन्ति प्रविविन्तितानि ॥ ५ ॥

‘पहले तो मैं राज्यसे वञ्चित हुआ; फिर मेरा स्वजनोसे वियोग हुआ । तत्पश्चात् पिता-जेका परलोकवास हुआ फिर मातासे भी मुझे विछुड़ जाना पड़ा । लक्ष्मण ! ये सारी बातें जब मुझे याद आती हैं, तब मेरे शोकके वेगको बढ़ा देते हैं ॥ ५ ॥

सर्वं तु दुःखं मम लक्ष्मणेन

शान्तं शरीरं वनमेव क्लेशम् ।

सीतावियोगात् पुनरप्युदीर्णं

कार्थस्त्रिवाग्निः सहस्रोपदीप्तः ॥ ६ ॥

‘लक्ष्मण ! वनमें आकर क्लेशक अनुभव करके भी यह माया दुःख सीताके समाप रहनेसे मेरे शरीरमें ही शान्त हो गया था । परन्तु सीताके वियोगसे वह फिर उद्दीप्त हो उठा है, जैसे सृखे काठक संयोग पाकर आग सहसा प्रज्वलित हो उठती है ॥ ६ ॥

सा नूनमार्थां मम राक्षसेन

ह्यभ्याहता एवं समुपेत्य भीरुः ।

अपस्वरं

सुस्वरविप्रलापा

भयेन विक्रन्दितवत्यभीक्षणम् ॥ ७ ॥

‘हाय ! मेरी श्रेष्ठ स्वभाववाली भीरु पत्नीको अवश्य ही राक्षसने आक्रांशमागमें हर लिया । उस समय सुमधुर स्वरमें विलाप करनेवाली सीता भयके मारे बार-बार विकृत स्वरमें क्रन्दन करने लगी होगी ॥ ७ ॥

तौ लोहितस्य प्रियदर्शनस्य

सदोचितापुनपचन्दनस्य ।

वृत्तौ स्तनी शोणितपङ्कदिग्धौ

नूनं प्रियाया मम नाधिपातः ॥ ८ ॥

‘मेरी प्रियके वे दोनों गोल-गोल स्तन, जो सदा लाल चन्दनमें चर्चित होकर रहते थे निश्चय ही रक्तकी कीचमें सन गये होंगे । हाय ! इतनेपर भी मेरे शरीरका पतन नहीं होता ।

न चक्षुर्लक्ष्णसुख्यक्तमुदुप्रलापं

तस्या मुखं कुञ्चितकेशधारम् ।

रक्षोवशं

नूनमुपागताया

न भ्राजते राहुमुखे यथेन्दुः ॥ ९ ॥

‘राक्षसके वशमें पड़े हुई मेरी प्रियाका वह मुख जो शिथिल एवं सुस्पष्ट मधुर वार्तालाप करनेवाला तथा काल-काले सुसंगत केशोंके भागसे सुशोभित था, वैसे ही श्रीहरेण हो गया होगा जैसे राहुके मुखमें पड़ा हुआ चन्द्रमा शोभा नहीं पाना है ॥ ९ ॥

तां हारपाशस्य सदोचितान्तो

प्रीतां प्रियाया मम सुव्रतायाः ।

रक्षांसि नूनं परिपीतवन्ति

शून्ये हि भित्त्वा रुधिराशनानि ॥ १० ॥

‘हाय ! उक्त व्रतक पालन करनेवाली मेरी प्रियतमाका कण्ठ हर समय हारसे सुशोभित होनेयोग्य था, किन्तु रक्तभोजी राक्षसोंने सुने व्रत अवश्य उसे फाड़कर ठसका रक्त पिया होगा ॥ १० ॥

मया विहीना विजने चने सा

रक्षोभिराहत्य विकृष्यमाणा ।

नूनं विनादं कुररीव दीना

सा मुक्तवत्यायतकान्तनेत्रा ॥ ११ ॥

‘मेरे न रहनेके कारण निजने वनमें राक्षसोंने उसे ले-लेकर घसीटा होगा और विशाल एवं मनेहर नर्कवाले वह जानकी अत्यन्त दानभावसे कुरगोंकी भाँति विलाप करने लगी होगी ॥ ११ ॥

अस्मिन् मया सार्धमुदारशीला

शिलातले पूर्वमुपोपविष्टा ।

कान्तसिन्धु लक्ष्मण जातहासा

स्वामाह सीता बहुवाक्यजातम् ॥ १२ ॥

‘लक्ष्मण ! यह वही शिलातल है, जिसपर उदार स्वभाववाली मैंने पहले एक दिन में साथ बैठी हुई थी उसकी मुसकान कितनी मनोहर थी, उस समय हमने हँस-हँसकर तुमसे भी बहुत-सा बातें कही थीं ॥ १२ ॥

गोदावरीयं सरितां वरिष्ठा

प्रिया प्रियाया मम नित्यकालम् ।

अप्यत्र गच्छेदिति विनयाधि

नैकाकिनी याति हि सा कदाचित् ॥ १३ ॥

‘सरिताओंमें श्रेष्ठ यह गोदावरी मेरी प्रियतमाको सदा ही प्रिय रही है। गाँवता है, जगह वह इसका नगर गयी हो किन्तु अकेली तो वह कभी नहीं जाती थी ॥ १३ ॥

पद्मानना पश्यपलाशनेत्रा

पद्यानि दानेतुमभिप्रयाता ।

तदप्ययुक्तं नहि सा कदापि-

भया विना गच्छति पङ्कजानि ॥ १४ ॥

‘उसका मुख और विशाल नेत्र प्रफुल्ल कमलोंके भ्रमान सुन्दर हैं, सम्भव है, वह कमलपुष्प लानेके लिये ही गोदावरीतटपर गयी हो, परंतु वह भी डीक नहीं है, क्योंकि वह मुझे साथ लिये बिना कभी कमलोंके पास नहीं जाती थी ॥ १४ ॥

कायं त्विदं पुष्पितवृक्षघण्टं

नानाविधैः पक्षिगणैरुपेतम् ।

वनं प्रयाता नु तदप्ययुक्तं-

मेकाकिनी सानिश्चिधेति धीरुः ॥ १५ ॥

‘हो यक्षिणी ! कि वह इन पुष्पित वृक्षघण्टोंमें युक्त और नाना प्रकारके पक्षियोंसे रंजित वनमें भ्रमणके लिये गयी हो परंतु वह भी डीक नहीं लगता; क्योंकि वह भौंर तो अकली वनमें जानेसे बहुत डरती थी ॥ १५ ॥

आदित्य धौ लोककृतकृतज्ञ

लोकस्य सत्थानुतकर्मसाक्षिन् ।

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे त्रिषष्टितमः सर्गः । ६३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यभट्टायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें त्रिसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६३ ॥

मम प्रिया सा क गता हुता वा

शंसस्व मे शोकहतस्य सर्वम् ॥ १६ ॥

‘सुर्देव ! संसारमें किसने क्या किया और क्या नहीं किया—इसे तुम जानते हो; लोगोंके सत्य-असत्य (पुण्य और पाप) क्योंकि तुम्हीं साक्षी हो। मेरी प्रिया सीता कहाँ गयी अथवा उसे किसने हर लिया, यह सब मुझे बताओ, क्योंकि मैं उसके शोकसे पीड़ित हूँ ॥ १६ ॥

लोकेषु सर्वेषु न नास्ति किञ्चिद्

यत् ते न नित्यं विदितं भवेत् तत् ।

शंसस्व मायो कुलपालिनीं तां

भूता हुता वा पश्चि वर्तते वा ॥ १७ ॥

‘बायुदेव ! समस्त विश्वमें ऐसी कोई बात नहीं है, जो तुम्हें सदा ज्ञात न रहती हो। मेरी कुलपालिका सीता कहाँ है, यह बता दो। वह मर गयी, हर ली गयी अथवा मार्गमें ही है ॥ १७ ॥

इतीव तं शोकविधेयदेहं

गमे विमंज्ञं विलपन्तमेव ।

उवाच सौमित्रिरदीनसत्त्वो

न्याय्ये स्थितः कालयुतं च वाक्यम् ॥ १८ ॥

उस प्रकार शोकके अधीन होकर जब श्रीगमधन्वजी संज्ञाशून्य हो विलाप करने लगे, तब उनकी ऐसी अवस्था देख भ्यायेचित्त धर्मपर स्थित रहनेवाले उत्तरचित्त सुमित्राकुमार लक्ष्मणने उनसे यह समर्थोचित बात कही— ॥ १८ ॥

शोकं विसृज्याद्य धृतिं भवस्व

सोत्साहता चास्तु विमार्गणेऽस्याः ।

उत्साहवन्तो हि नरा न लोके

सीदन्ति कर्मस्वतितुष्करेषु ॥ १९ ॥

‘आर्य ! आप शोक छोड़कर धैर्य धारण करें; सीताकी शोकके लिये मनमें उत्साह रखें; क्योंकि उत्साही मनुष्य जगत्में अत्यन्त दुष्कृत कार्य आ पड़नेपर भी कभी दुःखी नहीं होते हैं ॥ १९ ॥

इतीव सौमित्रिमुदग्रपीरुवं

सुखन्तमातो रघुवंशवर्धनः ।

न चिन्तयामास धृतिं विमुक्तवान्

पुनश्च दुःखं महदभ्युपागमत् ॥ २० ॥

अब हुए पुरुषार्थवाले सुमित्राकुमार लक्ष्मण जब इस प्रकारकी बातें कह रहे थे, उस समय रघुकुलकी धृष्टि करनेवाले श्रीगमने आर्त होकर उनके कथनके औचित्यपर कोई ध्यान नहीं दिया; उन्होंने धैर्य छोड़ दिया और वे पुनः महान् दुःखमें पड़ गये ॥ २० ॥

चतुःषष्टितमः सर्गः

श्रीराम और लक्ष्मणके द्वारा सीताकी खोज, श्रीरामका शोकोद्गार, मृगोंद्वारा संकेत पाकर दोनों भाइयोंका दक्षिण दिशाकी ओर जाना, पर्वतपर क्रोध, सीताके खिखरे हुए फूल, आभूषणोंके कण और युद्धके चिह्न देखकर श्रीरामका देवता आदि-सहित समस्त त्रिलोकीपर रोष प्रकट करना

स दीनो दीनया वाचा लक्ष्मणं वाक्यमब्रवीत् ।

शीघ्रं लक्ष्मण जानीहि गत्वा गोदावरीं नदीम् ॥ १ ॥

अपि गोदावरीं सीतां पश्यान्नयानयितुं गता ।

तदनन्तर दीन हुए श्रीरामचन्द्रजीने दीन वाणीमें लक्ष्मणसे कहा—'लक्ष्मण ! तুম शीघ्र ही गोदावरी नदीके तटपर जाकर पता लगाओ । सीता कमल स्नानके लिये तो नहीं चली गयीं' ॥ १ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः पुनरेव हि ॥ २ ॥

नदीं गोदावरीं रम्यां जगाम लघुविक्रमः ।

श्रीरामकी ऐसी आज्ञा पाकर लक्ष्मण शीघ्र गतिसे पुनः राणीय गोदावरी नदीके तटपर गये ॥ २ ॥

तं लक्ष्मणस्तीर्थयतीं विचिन्त्वा राममब्रवीत् ॥ ३ ॥

नतां पश्यामि तीर्थेषु क्रोशतो न शृणोति मे ।

आजक तीर्थों-(घाटों-) से सुकत गोदावरीके तटपर खोजकर लक्ष्मण पुनः लौट आये और श्रीरामसे बोले—'भैया ! मैं गोदावरीके घाटीपर सीताको नहीं देख पाता हूँ, जोर-जोरसे पुकारनेपर भी वे मेरी बात नहीं सुनती हैं । ३ ॥
कैसे नुं सा देशपापव्या खेदेही केशनाशिनी ॥ ४ ॥
नहि तं चेदि मे राम यत्र सा तनुमध्यमा ।

'श्रीराम ! केशोंका नाश करनेवाली विदेहराजकुमारी न जान किस देशमें चली गयीं । भैया श्रीराम ! जहाँ कृशकटि-प्रदेशवाली सीता गयी है, उस स्थानको मैं नहीं जानता' ॥
लक्ष्मणस्य चक्षः श्रुत्वा दीनः संतापमोहितः ॥ ५ ॥
रामः समभिचक्राम स्वयं गोदावरीं नदीम् ।

लक्ष्मणकी यह बात सुनकर दीन एक मंतापरस मार्गित हुए श्रीरामचन्द्रजी स्वयं ही गोदावरी नदीके तटपर गये ॥ ५ ॥

स तामुपस्थितो रामः क्व सीतेत्येवमब्रवीत् ॥ ६ ॥

भूतानि राक्षसेन्द्रेण यथाहंण हतापि ।

न तां शशंसु रामाय तथा गोदावरी नदी ॥ ७ ॥

घाटी पहुँचकर श्रीरामने पूछा—'माना कहाँ है ?' परन्तु बधक योग्य राक्षसराज रावणद्वारा हरी गयी सीताके विषयमें समस्त भूतोमेंसे किरणोंने कुछ नहीं कहा । गोदावरी नदीने भी श्रीरामको कोई उत्तर नहीं दिया ॥ ६-७ ॥

ततः प्रचोदिता भूतैः शंस चास्मै प्रियामिति ।

न ख सा ह्यवदत् सीतां पृष्ट्वा रामेण शोचता ॥ ८ ॥

तदनन्तर बतके समस्त प्राणियोंने उन्हें प्रेरित किया कि 'तुम श्रीरामको उनकी प्रियाका पता बना दो ।' किन्तु शोकमग्न

श्रीरामके पूछनेपर भी गोदावरीने सीताका पता नहीं बताया ।

रावणस्य च तद्रूपं कर्मापि च दुरात्मनः ।

प्राप्त्वा भयात् तु खेदेही सा नदी न शशंस ह ॥ ९ ॥

दुगत्ता रावणके उम रूप और कर्मको याद करके भयके मारे गोदावरी नदीने खेदेहीक विषयमें श्रीरामसे कुछ नहीं कहा ॥ ९ ॥

निराशस्तु तथा नष्टा सीताया दर्शने कृतः ।

उवाच रामः सौमित्रि सीतादर्शनकर्मिणः ॥ १० ॥

सीताके दर्शनके विषयमें जब नदीने उन्हें पूर्ण निराश कर दिया, तब सीताका न देखनेसे कष्टमें पड़े हुए श्रीराम सुमित्राकुमारसे इस प्रकार बोले— ॥ १० ॥

एषा गोदावरी सौम्य किंचिन्न प्रतिभाषते ।

किं नु लक्ष्मण वक्ष्यामि समेत्य जनकं तवः ॥ ११ ॥

भातरं चैव खेदेहा विना तामहमप्रियम् ।

'सौम्य लक्ष्मण यह गोदावरी नदी तो मुझे कोई उत्तर ही नहीं देती है । अब मैं राजा जनकस मिलनेपर उन्हें क्या जवाब दूँगा । जनकोंके विना उसको पातासे मिलकर भी मैं उनमें यह अप्रिय ध्यान कैसे मुनाऊँगा ? ॥ ११ ॥

या मे राज्यविहीनस्य वने वन्येन जीवतः ॥ १२ ॥

सर्वं व्यपानयच्छोकं खेदेही क्व नु सा गता ।

'राज्यहीन होकर वनमें जगती फल-मृत्तोंसे निर्वाह करते समय भी जो मेरे साथ रहकर मेरे सभी दुःखोंको दूर किया करता थी, वह विदेहराजकुमारी कहाँ चली गयी ? ॥

ज्ञातिवर्गविहीनस्य खेदेहीमप्यपश्यतः ॥ १३ ॥

वन्ये दीर्घा भविष्यन्ति रात्रयो मम आप्रतः ।

'वन्य-बाग्यवासे तो मेरा बिलोह हो ही गया था, अब सीताके दर्शनसे भी मुझे खिन्न होना पड़ा, उसको चिन्तामें निगूँतर आगने रहनेके कारण अब मेरी सभी रातें बहुत खड़ी हो जायेंगी ॥ १३ ॥

मन्दाकिनीं जनस्थानमिधं प्रस्रवणं गिरिम् ॥ १४ ॥

सर्वाण्यनुचरिष्यामि यदि सीता हि लब्धते ।

'मन्दाकिनी नदी, जनस्थान तथा प्रस्रवण पर्वत—इन सभी स्थानोंपर मैं बारम्बार भ्रमण करूँगा । शायद वहाँ सीताका पता चल जाय ॥ १४ ॥

एते महामृगा वीर मयीक्षन्ते पुनः पुनः ॥ १५ ॥

वक्तुकामा इह हि मे इङ्गितान्युपलक्ष्ये ।

'बार लक्ष्मण ! ये विशाल मृग मेरी ओर बारम्बार देख

गह हैं, मानो यहाँ ये मुझसे कुछ कहना चाहते हैं। मैं इनकी चेष्टाओंको समझ रहा हूँ ॥ १५ ॥

तांस्तु दृष्ट्वा नरस्य्याघो राघवः प्रत्युवाच ह ॥ १६ ॥
क सीतेति निरीक्षन् वै बाष्पसंस्पृष्टया गिरा ।

एवमुक्ता नरेन्द्रेण ते भृगाः सहसोत्थिताः ॥ १७ ॥

दक्षिणाभिमुखाः सर्वे दर्शयन्तो नभःस्थलम् ।

तदनन्तर उन सबकी ओर देखकर पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्र-
जीने उनसे कहा—‘सताओ, सीता कहाँ हैं?’ उन भृगोकां
ओर देखते हुए राजा श्रीरामने जब अश्रुमन्द धाण्डसे इन
भक्तप्र पूज्य, तब वे भृग सभसा उठकर खड़े हो गये और
ऊपरकी ओर देखकर आकाशमार्गको ओर लक्ष्य कराने हुए
मन-क-सब दक्षिण दिशाको ओर मुँह किये दीड़े ॥

मैथिली ह्रियमाणा सा दिशं याधध्यपद्यत ॥ १८ ॥

तेन मार्गेण गच्छन्तो निरीक्षन्ते नराधिपम् ।

मैथिलेशकुमारी सीता हरी जाकर जिस दिशाकी ओर
गयी थीं, उसी ओरके मार्गसे कते हुए वे भृग राजा
श्रीरामचन्द्रजीकी ओर मुह-मुहकर देखते रहते थे ॥ १८ ॥

येन मार्गे च भूमिं च निरीक्षन्ते स्म ते भृगाः ॥ १९ ॥

पुनर्नदन्तो गच्छन्ति लक्ष्मणो नोपलक्षिताः ।

तेषां वचनसर्वस्वं लक्ष्म्यापास स्नेहितम् ॥ २० ॥

वे भृग आकाशमार्ग और भूमि दोनोंको ओर देखते और
गर्जना करते हुए पुनः आगे बढ़ते थे । लक्ष्मणने उनकी इस
चेष्टाको लक्ष्य किया । वे जो कुछ कहना चाहते थे, उसका
मारमर्षस्वरूप जा उनकी चेष्टा थी, उसे उन्होंने अच्छे तरह
समझ लिया ॥ १९-२० ॥

उवाच लक्ष्मणो धीमान्ज्येष्ठे भ्रातरमार्गवत् ।

क सीतेति त्वया भृष्टा यथेमे सह सोत्थिताः ॥ २१ ॥

दर्शयन्ति क्षितिं यत्र दक्षिणा च दिशं भृगाः ।

साधु गच्छास्रहे देव निशयेनां च नैर्गृताम् ॥ २२ ॥

यदि तस्मात्तमः कश्चिदार्या वा साध लक्ष्यते ।

तदनन्तर लक्ष्मणने भ्रात-स जाकर अपने
बड़े भाईसे इस प्रकार कहा—‘आर्य । जब आपने पूछा
कि सीता कहाँ हैं, तब वे भृग सभसा उठकर खड़े हो
गये और पृथ्वी तथा दक्षिणकी ओर हमारा लक्ष्य कराने
‘ओ है अतः देख’ यहाँ अच्छा हावा कि हवाला उन
नैर्ऋत्य दिशाकी ओर चले । राग्व है, इधर जानसे सीताका
काई समाचार मिल जाय अथवा आर्या सीता स्वयं ही
दृष्टिगोचर हो जायें’ ॥ २१-२२ ॥

वागपितृव्यं काकुत्स्थः प्रस्थितो दक्षिणां दिशम् ॥ २३ ॥

लक्ष्मणानुगतः श्रीमान् वीक्षमाणो यमुधराम् ।

तब ‘अनुत अवज्ञा’ कहकर श्रीमान् रामचन्द्रका
लक्ष्मणको साथ ले पृथ्वीकी ओर ध्यानसे देखते हुए दक्षिण
दिशाकी ओर चल दिये ॥ २३ ॥

एवं सम्भाषमाणौ तावन्वोन्यं भ्रातरावुभौ ॥ २४ ॥

यमुधरायो पतितपुष्पमार्गमपश्यताम् ।

वे दोनों भाई आपसमें इसी प्रकारको बातें करते हुए
रेम मार्गपर जा पहुँचे जहाँ भूमिपर कुछ फूल गिर
दिखायी देते थे ॥ २४ ॥

पुष्पवृष्टिं निपतितां दृष्ट्वा रामो महीतले । २५ ॥

उवाच लक्ष्मणं वीरो दुःखितो दुःखितं वचः ।

पृथ्वीपर फूलोंकी उस वर्षाको देखकर वीर श्रीरामने
दुःखी हो लक्ष्मणसे यह दुःखभरा वचन कहा— ॥ २५ ॥

अभिजानामि पुष्पाणि तानोपानीह लक्ष्मण ॥ २६ ॥

अपिनद्धानि वीदेष्टा भया दत्तानि कानने ।

‘लक्ष्मण । मैं इन फूलोंको पहचानता हूँ । ये वे ही फूल
यहाँ गिर हैं जिनके वनमें मैंने विदेहनान्दियोंकी दिया था और
उन्होंने अपने केशोंमें लगा लिया था ॥ २६ ॥

मये सूर्यश्च वायुश्च मेदिनी च यशस्विनी ॥ २७ ॥

अभिरक्षन्ति पुष्पाणि प्रकुर्वन्तो मम प्रियम् ।

‘मैं समग्रतः हूँ, सूर्य, वायु और यशस्विनी पृथ्वीने मेरा
प्रिय करनेके लिये ही इन फूलोंको सुरक्षित रखा है’ ।

एवमुक्त्वा महाबाहुर्लक्ष्मणो पुरुषवर्धनम् ॥ २८ ॥

उवाच रामो धर्मात्मा गिरिं प्रस्रवणाकुलम् ।

पुरुषप्रवर लक्ष्मणसे ऐसा कहकर धर्मात्मा महाबाहु
श्रीरामने इन्होंनेसे भरे हुए प्रस्रवण गिरिसे कहा— ॥ २८ ॥

कश्चिन् क्षितिभृतां नाथ दृष्ट्वा सर्वाङ्गसुन्दरी ॥ २९ ॥

राधा रम्यं वनोद्देशे भया विराहिता त्वया ।

‘पर्वतराज । क्या तुमने इस वनके रमणीय प्रदेशमें मुझसे
बिबुद्धी हुई सर्वाङ्गसुन्दरी रमणी सीताको देखा है?’ ।

क्रुद्धोऽग्रीवीद् गिरिं तत्र सिंह क्षुद्रमृगं यथा ॥ ३० ॥

तां हेमवर्णां हेमाङ्गीं सीतां दर्शय पर्वत ।

यावन् मानूनि सर्वाणि न ते विध्यंसयाम्यहम् ॥ ३१ ॥

तदनन्तर जैसे सिंह छोटे भृगको देखकर दहाड़ता है, उसी
प्रकार वे क्रुपित हो बर्ता उस पर्वतसे बोले—‘पर्वत ।
जबतक मैं पुनः सार दिशाराका विध्यम नहीं कर सकता
हूँ, इतक पर्वत ही तुम उम काञ्चनको-सी काया-कायिकाली
सीताका मुझे दर्शन करा दो’ ॥ ३०-३१ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण पर्वनो मैथिलीं प्रति ।

दर्शयन्निव तां सीतां नादर्शयत् राघवे ॥ ३२ ॥

श्रीरामके द्वारा मैथिलीके लिये ऐसा कहे जानेपर उस
पर्वतने सीताको दिखाता हुआ-सा कुछ चिह्न प्रकट कर
दिया । श्रीभृगुनाथजीके समक्ष वह सीताको साक्षात् उपस्थित
न कर सका ॥ ३२ ॥

ततो दाशरथ्यो राम उवाच च शिलोद्यमम् ।

मम वाणान्निदिग्धो भस्मीभूतो धविष्यति ॥ ३३ ॥

असेव्यः सर्वतश्चैव निम्नुणाद्रुपल्लवः ।

तब दशरथनन्दन श्रीरामने उस पर्वतसे कहा—‘अरे ! तू मेरे चाणाकी आगसे जलकर घर्मोभूत हो जायगा, किन्ना भी आरसे तू सेवनके योग्य नहीं रह जायगा । तेरे तृण वृक्ष और पल्लव नष्ट हो जायेंगे’ ॥ ३३ ॥

इमां वा सरितं चाद्य शोषयिष्यामि लक्ष्मण ॥ ३४ ॥
यदि नारक्ष्याति मे सीतामद्य चन्द्रनिधाननाम् ।

(इसके बाद वे सुमित्राकुमारसे बोले—) ‘लक्ष्मण ! यदि यह नदी आज मुझे चन्द्रमूर्ति सीताका पना नहीं बनाने दे तो मैं अब इसे भी सूखा डालूँगा’ ॥ ३४ ॥

एवं प्रसूचितो रामो दिग्धवाभिष्व बधुषा ॥ ३५ ॥
ददर्श भूमौ निष्कान्तं राक्षसस्य पदं महत् ।

ऐसा कालका गोपी भरे हुए भद्रनाथचन्द्रजी देवकी और इस तरह दरपने लगे, मानो अपनी दृष्टिद्वारा तसे जलकर भस्म कर देना चाहते हैं । इतनेमें उस पर्वत और गोदावरीके समीपकी भूमिपर राक्षसका विशाल पदचिह्न उभरा हुआ दिखायी दिया ॥ ३५ ॥

ब्रह्माद्या रामकाङ्क्षिण्याः प्रभावन्त्या इतस्ततः ॥ ३६ ॥
राक्षसेनानुसृप्ताया वैदेह्याश्च पदानि तु ।

साथ ही राक्षसने जिनका पीछा किया था और जो श्रीरामकी अभिलाष रखकर राक्षसके भयसे संवसत हो इधर-उधर भागती फिरती थीं, उन विदेशराजकुमारों सीताके चरणचिह्न को वहाँ दिखायें दिये ॥ ३६ ॥

स समीक्ष्य परिक्रान्तं सीताया राक्षसस्य च ॥ ३७ ॥
भयं धनुश्च तूणी च विकीर्णं बहुधा रथम् ।

सम्भ्रान्तहृदयो रामः शशांस भ्रातरे प्रियम् ॥ ३८ ॥

सीता और राक्षसके पैरोंके निशान, टूटे धनुष, तरकरा और छिन्न भिन्न होकर अनेक टुकड़ोंमें बिखर हुए रथको देखकर श्रीरामचन्द्रजीका हृदय धवस उठा । वे अपने प्रिय भ्राता सुमित्राकुमारसे बोले— ॥ ३७-३८ ॥

गम्य लक्ष्मण वैदेह्या कीर्णाः कनकविन्दवः ।
भूयगानां हि सीधित्रे माल्यानि विविधानि च ॥ ३९ ॥

‘लक्ष्मण ! देखो, ये सीताके आभूषणोंमें लगे हुए सोनेके गुच्छ निरतरे पड़े हैं । सुमित्रानन्दन ! उसके नाना प्रकारके लार भी टूटे पड़े हैं ॥ ३९ ॥

तप्तविन्दुनिकाशीश्च चित्रैः क्षतजविन्दुभिः ।
आवृण पश्य सीधित्रे सर्वतो घरणीमलम् ॥ ४० ॥

सुमित्राकुमार ! देखो, यहाँकी भूमि सब आरसे मुखर्जकी दृष्टिके समान ही विचित्र रत्नविन्दुओंसे रंगी दिखायी देती है ॥ ४० ॥

मन्ये लक्ष्मण वैदेह्ये राक्षसीः कामरूपिभिः ।
धित्वा भित्वा विधत्ता वा भक्षिता वा भविष्यति ॥ ४१ ॥

लक्ष्मण ! मुझे तो ऐसा मामूय होता है कि इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले राक्षसोंमें यहाँ सीताके टुकड़े-टुकड़े

करके तसे आपसमें बाँटा और खाया होगा ॥ ४१ ॥

तस्या निमित्तं सीताया ह्योर्विषदमानयोः ।

बभूव युद्धं सीधित्रे घोरं राक्षसयोर्विह ॥ ४२ ॥

‘सुमित्रानन्दन ! सीताके लिये परस्पर विवाद करनेवाले दो राक्षसोंमें यहाँ घोर युद्ध भी हुआ है ॥ ४२ ॥

मुक्तामणिचितं चेदं रमणीयं विभूषितम् ।

घरण्यां पतितं सौम्य कस्य भयं महद् धनुः ॥ ४३ ॥

‘सौम्य ! तभी तो यहाँ यह मोती और मणियोंसे जटित एक विभूषित किमोकर अत्यन्त सुन्दर और विशाल धनुष खाँपडन होकर पृथ्वीपर पड़ा है । यह किसका धनुष हो सकता है ? ॥ ४३ ॥

राक्षसानापिदं वत्स सुराणामथवापि वा ।

तरुणादित्यसंकाशं वैदूर्यगुलिकाचितम् ॥ ४४ ॥

‘वत्स ! पना नहीं, यह राक्षसोंका है या देवताओंका; यह प्रातःकालके मूयकी भाँति प्रकाशित हो रहा है तथा इसमें वैदूर्यमाण (नीलम) के टुकड़े बड़े हुए हैं ॥ ४४ ॥

विशोर्णं पतितं भूमौ कञ्च कस्य काञ्चनम् ।

उन्नं शतशालाकं च दिव्यमाल्योपशोभितम् ॥ ४५ ॥

भयदण्डमिदं सौम्य भूमौ कस्य निपातितम् ।

‘सौम्य ! उधर पृथ्वीपर टूटा हुआ एक सोनेका कञ्च पड़ा है, न जाने वह किसका है ? दिव्य मालाओंसे सुशोभित यह सी कमनियोवाला छत्र किसका है ? इसका डंडा टूट गया है और यह घरीपर गिरा दिया गया है ॥ ४५ ॥

काञ्चनोरश्छदाक्षेमे पिशाचवदनाः खराः ॥ ४६ ॥

पीयरूपा महाकायाः कस्य वा निहता रणे ।

‘इधर ये पिशाचोंके समान मुखवाले भयंकर रूपधारी गध गारे पड़े हैं । इनका शरीर बहुत ही विशाल रहा है, इन सबकी छातीमें सोनेके कवच बंधे हैं । ये युद्धमें मारे गये जान पड़ते हैं । पना नहीं ये किसके थे ॥ ४६ ॥

दीप्तावकसकाशो द्युतिमान् समरध्वजः ॥ ४७ ॥

अपविद्धश्च भयश्च कस्य साङ्गप्रामिको रथः ।

‘तथा संग्राममें काम देनेवाला यह किसका रथ पड़ा है ? इसे किन्हींने डल्टा गिराकर तोड़ डाला है । समराङ्गणमें कामाक्षी रुचिन करनेवाला ध्वजा भी इसमें लगी थी । यह मेजखो रथ प्रज्वलित अग्निके समान दमक रहा है ॥ ४७ ॥

रथाक्षमात्रा विशिखालपनीयविभूषणाः ॥ ४८ ॥

कस्येमे निहता बाणाः प्रकीर्णा घोरदर्शनाः ।

‘ये भयंकर बाण जो यहाँ टुकड़े टुकड़े होकर बिखर पड़े हैं, किसके हैं ? इनको लुवाई और मोटाई रथके धुरोंके समान प्रतीत होता है । इनके फल-भाग टूट गये हैं तथा ये मुखर्जसे विभूषित हैं ॥ ४८ ॥

शरावरो शरैः पूर्णो विध्वस्तो पश्य लक्ष्मण ॥ ४९ ॥
प्रतोदाभीषुहस्तोऽयं कस्य वा सारथिर्हतः ।

'लक्ष्मण ! उधर देखो, ये बाणोंसे भरे हुए दो तरकस पड़े हैं, जो नष्ट कर दिये गये हैं। यह किसका साराथि मरा पड़ा है, जिसके हाथमें चावुक और लगाम अभोजक मौजूद है।

पदवी पुरुषस्यैवा व्यक्तं कस्यापि रक्षसः ॥ ५० ॥
धैरं शतगुणं पश्य मम तैर्जीवितान्तकम् ।

सुघोरहृदयं सौम्य राक्षसं कामरूपिणि ॥ ५१ ॥

'सौम्य ! यह अवश्य ही किसी राक्षसका पटचित्र दिखायी देता है। इन अन्यन्न वृक्ष हृदयवाले कामरूपी राक्षसोंके साथ मर धैर सैंगुना बन्द गया है। देखो यह धैर उनके प्राण लेकर ही शान्त होगा ॥ ५०-५१ ॥

हता मृना वा वैदेही भक्षिता वा तपस्विनी ।

न धर्मरक्षायते सीतां ह्रियमाणा महाबने ॥ ५२ ॥

'अवश्य ही तपस्विनी विदेहराजकुमारी हर ली गयी, मृनुका प्राण हो गयी अथवा राक्षसाने उसे खा लिया। इस विशाल वनमें हरी जानी हुई मीनकी रक्षा धर्म भी नहीं कर रहा है ॥ ५२ ॥

भक्षितायां हि वैदेहां हनायामपि लक्ष्मण ।

के हि लोके प्रियं कर्तुं शक्ता सौम्य ममेश्वरा ॥ ५३ ॥

'सौम्य लक्ष्मण ! जब विदेहनान्दिनी राक्षसोंका आस बन गयी अथवा उनके द्वारा हर ली गयी और कोई सहायक नहीं हुआ, तब इस जगत्में कौन ऐसे पुरुष है, जो मेरा प्रिय करनेमें समर्थ हों ॥ ५३ ॥

कतरिमपि लोकानां शूरं करुणवेदिनम् ।

अज्ञानादवमन्येरन् सर्वभूतानि लक्ष्मण ॥ ५४ ॥

'लक्ष्मण ! जो समस्त लोकोंको सृष्टि, पालन और संहार करनेवाले 'त्रिपुर विजय' आदि शौर्यसे सम्पन्न महेश्वर हैं, वे भी जब अपने कर्मणामय स्वभावके कारण चुप बैठ रहते हैं तब सारे प्राणी उनके ऐश्वर्यको न जाननेसे उनका निरस्कर करने लग जाते हैं ॥ ५४ ॥

मुहुं लोकहिते युक्तं दान्तं करुणवेदिनम् ।

निर्वीर्यं इति मन्यन्ते नूनं मां त्रिदशेश्वराः ॥ ५५ ॥

'मैं लोकहितमें सत्पर, युक्तचिन्त, जितेन्द्रिय तथा जीवोपकार करण करनेवाला हूँ, इसीलिये वे इन्द्र आदि प्रेश्वर विश्व ही गुण निखल मान रहे हैं (नभी तो इन्होंने सीताकी रक्षा नहीं की है) ॥ ५५ ॥

मां प्राप्य ही गुणो दोषः संयुनः कश्य लक्ष्मण ।

अद्यैव सर्वभूतानां रक्षसामभकाय च ॥ ५६ ॥

सहस्रैव शशिन्योक्तां महान् सूर्यं हवोदितः ।

रोहस्यैव गुणान् सर्वान् मम तेजः प्रकाशते ॥ ५७ ॥

लक्ष्मण ! देखो तो सही, यह दयामुना आदि गुण मेरे पास आकर दोष बन गया (तभी तो मुझे निन्नल मानकर मेरी शोका अपहरण किया गया है। अतः अब मुझे पुरुषार्थ ही प्रकट करना होगा)। जैसे प्रत्यक्षकालमें उदित हुआ महान्

सूर्य चन्द्रमावर्जं ज्योत्स्ना (चाँदनी) का संहार करके प्रचण्ड तेजसे प्रकाशित हो उठता है, उसी प्रकार अब मेरा तेज आज ही समस्त प्राणियों तथा राक्षसोंका अन्त करनेके लिये मेरे इन कामल स्वभाव आदि गुणोंको समेटकर प्रचण्डरूपमें प्रकाशित होगा, यह भी तुम देखो ॥ ५६-५७ ॥

नेव यक्षा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसाः ।

किंनरा वा मनुष्या वा सुखं प्राप्स्यन्ति लक्ष्मण ॥ ५८ ॥

'लक्ष्मण ! अब न तो यक्ष, न गन्धर्व, न पिशाच, न राक्षस, न किन्नर और न मनुष्य ही चैनसे रहने पायेंगे।

ममास्त्रबाणसम्पूर्णमाकाशं पश्य लक्ष्मण ।

असम्पाते करिष्यामि हाद्य त्रैलोक्यचारिणाम् ॥ ५९ ॥

'सुमित्रानन्दन ! देखना, थोड़ी ही देरमें आकाशको मैं अपने चक्रावे हुए बाणोंसे भर दूँगा और तीन लोकोंमें विचरनेवाले प्राणियोंको हिलने-डुलने भी न दूँगा ॥ ५९ ॥

संनिस्तुप्रहणयामाधारितनिशाकरम् ।

विप्रणष्टानलमरुद्भास्करद्युतिसंवृणम् ॥ ६० ॥

विनिर्मथितशैलाग्रं शुष्यमाणजलाशयम् ।

ध्वस्तद्रुमलतागुल्मं विप्रणाशितसागरम् ॥ ६१ ॥

त्रैलोक्यं तु करिष्यामि संयुक्तं कालकर्मणा ।

'ग्रहोंकी गति रुक जायगी, चन्द्रमा छिप जायगा, अग्नि मरुद्गण तथा सूर्यका तेज नष्ट हो जायगा, सब कुल अश्वत्थामे आच्छन्न हो जायगा, पर्वतोंके शिखर मथ डाले जायेंगे, सारे जलजय (नदी-सरोवर आदि) सूख जायेंगे, वृक्ष लना और गुल्म नष्ट हो जायेंगे और समुद्रोंका भी नाश कर दिया जायगा। इस तरह मैं सारी त्रिलोकीमें ही कालकी विनाशशैली आरम्भ कर दूँगा ॥ ६०-६१ ॥

न ते कुशलिनी सीतां प्रदास्यन्ति ममेश्वराः ॥ ६२ ॥

अस्मिन् मुहूर्ते सौमित्रे मम व्रक्ष्यन्ति विक्रमम् ।

'सुमित्रानन्दन यदि देवेश्वरगण इसी मुहूर्तमें मुझे सीता दानोंको सकुशल नहीं लौटा देंगे तो वे मेरा पराक्रम देखेंगे।

नाकाशमुत्पतिष्यन्ति सर्वभूतानि लक्ष्मण ॥ ६३ ॥

मम चापगुणोन्मुक्तबाणजालैर्निरस्तरम् ।

'लक्ष्मण ! मेरे धनुषकी प्रत्यक्षासे छुटे हुए बाण-समूहोंद्वारा आकाशके ठमाठस भर जानके कारण तबमें कोई प्राणी उड़ नहीं सकेगा ॥ ६३ ॥

मर्दिते मम भारार्ध्वस्तभ्रान्नपुगद्विजम् ॥ ६४ ॥

समाकुलमभयाहं जगत् पश्याद्य लक्ष्मण ।

'सुमित्रानन्दन ! देखो, आज मेरे नाशकोंसे शीघ्र जाकर यह सारा जगत् व्याकुल और मयोंद्वारहित हो जायगा यहाँके मृग और पक्षी आदि प्राणी नष्ट एवं उद्विग्न हो जायेंगे ॥ ६४ ॥

आकर्णपूर्णैरिषुभिर्जीवलोकदुरावरैः ॥ ६५ ॥

करिष्ये मैथिलीहेतोरपिशाचमराक्षसम् ।

'धनुषकी कानतक खींचकर छोड़े गये मेरे बाणोंको

रोकना जीवजगत्के लिये बहुत कठिन होगा मैं सीताके लिये
उन बाणोंद्वारा इस जगत्क समस्त पिशाचों और राक्षसोंको
संहार कर डालूँगा ॥ ६५ ॥

मम रोषप्रयुक्तानां विशिखानां बलं सुराः ॥ ६६ ॥
प्रक्षमन्त्यद्य विमुक्तानाममर्षाद् दूरगाभिनाम् ।

'रोष और अमर्षपूर्वक छोड़े गये मेरे फलहीन दूरगामों
बाणोंका बल आज देवताओंके देखेंगे ॥ ६६ ॥

नैव देवा न दैत्या न पिशाचा न राक्षसाः ॥ ६७ ॥
भविष्यन्ति मम क्रोधात् त्रैलोक्यं विप्रणाशिनः ।

'मेरे क्रोधसे त्रिलोकीका विनाश हो जानेपर न देवता रह
आयेंगे न दैत्य, न पिशाच रहने पायेंगे न राक्षस ॥ ६७ ॥

देवदानवयक्षाणां श्लोका ये रक्षसामपि ॥ ६८ ॥
बहूना निपतिष्यन्ति बाणीर्घैः वाकलीकृताः ।

'देवताओं, दानवों, यक्षों और राक्षसोंके जो लोक हैं वे
मेरे बाणसमूहोंसे टूट-टूट कर होकर आसुधार नष्ट हो गिरेंगे ॥

निर्मर्षादिनिगालिनाकान् कारिष्याम्यद्य सायकं ॥ ६९ ॥
हतां मृतां वा सीमिषे न दास्यन्ति भवेष्टराः ।

'सुमित्रानन्दन । बाण देवधरण मेरे होंगे या मरे हों
सीताको लाकर मुझे नहीं दोग तो आज मैं अपने मायकाको
मारके इन तीनों लोकोंको मार्गद्वारासे धूँए कर दूँगा ॥ ६९ ॥

तधारूपां हि जैतेही न दास्यन्ति यदि प्रियाम् ॥ ७० ॥
नाशार्थाय जगत् सर्वं त्रैलोक्यं सधरावरम् ।

साधद् दर्शनमस्या र्घं तापयामि च सायकं ॥ ७१ ॥
'यदि मैं मेरी प्रिया विदेहराजकुमारकी मुझे उन्हीं रूपमें
चापस नहीं लौटावूँगे तो मैं धरावर प्राणियोंसहित समस्त
त्रिलोकीका नाश कर डालूँगा । जबतक सीताका दर्शन न
लोगा जबतक मैं अपने सायकोंसे समस्त सम्मकों सना
करता रहूँगा' ॥ ७०-७१ ॥

इत्युक्त्वा क्रोधताप्राक्षः स्फुरमाणोऽसम्पुटः ।
मल्लालाजिनपावजस्य जटाभारमबन्धयत् ॥ ७२ ॥

ऐसा कहकर श्रीरामचन्द्रजीके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये,
इत्यादि श्रीमद्वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे धनुषधृतमः सर्ग ॥ ६४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकीनिर्मित आषाढमास आदिकाव्यक अरण्यकाण्डमें चौसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६४ ॥

पञ्चषष्ठितमः सर्गः

लक्ष्मणका श्रीरामको समझा-बुझाकर शान्त करना

तप्यमाने सदा रामे सीताहृण्यदर्शितम् ।

लोकानामभवे युक्तं सावर्तकमिबानलम् ॥ १ ॥

श्रीक्षमाणं धनुः सज्यं निःश्वसन्तं पुनः पुनः ।

दक्षुकामं जगत् सर्वं युगल्ले च यथा हरम् ॥ २ ॥

अतृष्टपूर्वं संकुर्वन् दृष्ट्वा रामे स लक्ष्मणः ।

अग्नवीत् प्राञ्जलिर्वाक्यं मुखेन परिशुष्यता ॥ ३ ॥

होठ फड़कने लगे । उन्होंने बल्कल और मृगचर्मकी अच्छी
तरह बसकर अपने बटाधमको भी बाँध लिया ॥ ७२ ॥

तस्य क्रुद्धस्य रामस्य तथाभूतस्य धीमतः ।

त्रिपुरं जघ्नुषः पूर्वं रुद्रस्यैव बभौ तनुः ॥ ७३ ॥

उस समय क्रोधमें भरकर उस तरह संहारक लिये उद्यत
हुए भगवान् श्रीरामका शरीर पूर्वकालमें त्रिपुरका संहार
करनेवाले रुद्रके समान प्रतीत होता था ॥ ७३ ॥

लक्ष्मणादथ चादाय रामो निर्धोऽह्य कार्मुकम् ।

शरमादाय संदीप्तं घोरमाशीविषोपमम् ॥ ७४ ॥

संदधे धनुषि श्रीमान् रामः परपुरञ्जयः ।

युगान्ताग्रिरिव क्रुद्ध इदं बचनमब्रवीत् ॥ ७५ ॥

उस समय लक्ष्मणके हाथसे धनुष लेकर श्रीरामचन्द्रजीने
उसे दृढ़तापूर्वक थकड़ लिया और एक द्विधर सर्पके समान
भयकर और प्रज्वलित बाण लेकर उसे उस धनुषपर रखा ।

तत्पश्चात् शत्रुनाशाय विजय पानकाले श्रीराम प्रलयाग्निक
समान कुण्ठित हो इस प्रकार बाले— ॥ ७४-७५ ॥ ।

यथा जरा यथा मृत्युर्यथा कालो यथा विशिः ।

नित्यं न प्रतिहन्यन्ते सर्वभूतेषु लक्ष्मण ।

तथाह क्रोधमयुक्तो न निवार्योऽस्म्यसंशयम् ॥ ७६ ॥

लक्ष्मण । जैसे बुढ़ापा, जैसे मृत्यु, जैसे काल और जैसे
विधवा सदा समस्त प्राणियोंपर प्रहार करते हैं, किंतु उन्हें
कोई रोक नहीं पाता है, ठीकी प्रकार निरसंदेह क्रोधमें भर
जानेपर मेरा भी कोई निवारण नहीं कर सकता ॥ ७६ ॥

पुरेव मे चारुदतीमनिन्दिता

दिशन्ति सीतां यदि नाद्य मैथिलीम् ।

सदेवगन्धर्वधनुष्यपन्नगं

जगत् सर्शलं परिवर्तयाम्यहम् ॥ ७७ ॥

'यदि देवता आदि आज पहलेकी ही भाँति मनोहर
दानाशाली अमिन्द्रमुन्दरी मिथिलेशकुमारी सीताको मुझे
लौटा नहीं देंगे तो मैं देवता, गन्धर्व, मनुष्य, नाग और
पर्वतोंसहित सारे संसारको डलूँ दूँगा' ॥ ७७ ॥

सदेवगन्धर्वधनुष्यपन्नगं

जगत् सर्शलं परिवर्तयाम्यहम् ॥ ७७ ॥

'यदि देवता आदि आज पहलेकी ही भाँति मनोहर
दानाशाली अमिन्द्रमुन्दरी मिथिलेशकुमारी सीताको मुझे
लौटा नहीं देंगे तो मैं देवता, गन्धर्व, मनुष्य, नाग और
पर्वतोंसहित सारे संसारको डलूँ दूँगा' ॥ ७७ ॥

सदेवगन्धर्वधनुष्यपन्नगं

जगत् सर्शलं परिवर्तयाम्यहम् ॥ ७७ ॥

'यदि देवता आदि आज पहलेकी ही भाँति मनोहर
दानाशाली अमिन्द्रमुन्दरी मिथिलेशकुमारी सीताको मुझे
लौटा नहीं देंगे तो मैं देवता, गन्धर्व, मनुष्य, नाग और
पर्वतोंसहित सारे संसारको डलूँ दूँगा' ॥ ७७ ॥

सदेवगन्धर्वधनुष्यपन्नगं

जगत् सर्शलं परिवर्तयाम्यहम् ॥ ७७ ॥

'यदि देवता आदि आज पहलेकी ही भाँति मनोहर
दानाशाली अमिन्द्रमुन्दरी मिथिलेशकुमारी सीताको मुझे
लौटा नहीं देंगे तो मैं देवता, गन्धर्व, मनुष्य, नाग और
पर्वतोंसहित सारे संसारको डलूँ दूँगा' ॥ ७७ ॥

सदेवगन्धर्वधनुष्यपन्नगं

जगत् सर्शलं परिवर्तयाम्यहम् ॥ ७७ ॥

'यदि देवता आदि आज पहलेकी ही भाँति मनोहर
दानाशाली अमिन्द्रमुन्दरी मिथिलेशकुमारी सीताको मुझे
लौटा नहीं देंगे तो मैं देवता, गन्धर्व, मनुष्य, नाग और
पर्वतोंसहित सारे संसारको डलूँ दूँगा' ॥ ७७ ॥

सदेवगन्धर्वधनुष्यपन्नगं

जगत् सर्शलं परिवर्तयाम्यहम् ॥ ७७ ॥

'यदि देवता आदि आज पहलेकी ही भाँति मनोहर
दानाशाली अमिन्द्रमुन्दरी मिथिलेशकुमारी सीताको मुझे
लौटा नहीं देंगे तो मैं देवता, गन्धर्व, मनुष्य, नाग और
पर्वतोंसहित सारे संसारको डलूँ दूँगा' ॥ ७७ ॥

सदेवगन्धर्वधनुष्यपन्नगं

जगत् सर्शलं परिवर्तयाम्यहम् ॥ ७७ ॥

पहले कभी देखा नहीं गया था, उन अत्यन्त क्षुब्ध हुए श्रीरामकी ओर देखकर लक्ष्मण हाथ जोड़ मुख हुए मुखसे इस प्रकार बोले— ॥ १—३ ॥

पुनः भूत्वा मृदुर्दान्तः सर्वभूतहिते रतः ।
न क्रोधवशादापन्नः प्रकृतिं हानुमर्हसि ॥ ४ ॥

‘आर्य ! आप पहले कौमल स्वभावसे युक्त, जिनेन्द्रिय और ममस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहे हैं। अब क्रोधके वशोभूत होकर अपनी प्रकृति (स्वभाव) का परित्याग न करें ॥ ४ ॥

चन्द्रे लक्ष्मीः प्रभा सूर्ये गतिर्वायौ भुवि क्षमा ।
एतच्च नियतं नित्यं त्वयि क्षानुत्तमं यशः ॥ ५ ॥

‘चन्द्रमायें शोभा, सूर्यमें प्रभा, वायुमें गति और पृथ्वीमें क्षमा जैसे नित्य विराजमान रहती हैं, उन्हीं प्रकार आपमें सर्वोत्तम यश सदा प्रकाशित होता है ॥ ५ ॥

एकस्य नापराधेन लोकान् हन्तुं त्वमर्हसि ।
ननु जानामि कस्यायं भग्नः सांप्राप्तिको रथः ॥ ६ ॥

‘आप किसी एकक अपराधसे समस्त लोकोंका संहार न करें। मैं यह जाननेकी चेष्टा करता हूँ कि यह दूत नृप या युद्धाभ्यासों रथ किसका है ॥ ६ ॥

केन वा कस्य वा हेतोः सयुगः सपरिच्छदः ।
खुरनेमिक्षतक्षायं मिको रुधिरचिन्दुभिः ॥ ७ ॥

देवो निर्वृत्तसंश्रामः सुघोरः पार्थिवात्पज ।
एकस्य तु विमर्शोऽप्ये न ह्योर्वन्दतां चर ॥ ८ ॥

नहि वृत्तं हि पश्यामि बलम्य महतः पदम् ।
नैकस्य तु कृते लोकान् विनाशयितुमर्हसि ॥ ९ ॥

‘अथवा किमने किस दृष्टव्यते जुए तथा अन्य उपकरणोंसहित इस रथको लोहा है ? इसका भी पता लगाना मेरे । राजकुमार यह स्थान प्राचीनके युग और धन पवित्रात्म्य गूढ़ा हुआ है, साथ ही रथकी सुन्दर गिन्त उड़ा है इसमें सन्देह होता है कि यहाँ बड़ा भयंकर संश्राम हुआ था, परन्तु यह संभावनांचह किसी एक ही रथोका है, दोका नहीं। अन्धओमें श्रेष्ठ श्रीराम ! मैं यहाँ किसी विशाल सेनाका पटविह्वल नहीं देख रहा हूँ, अतः किसी एककोके अपराधके कारण आपको समस्त लोकोंका विनाश नहीं करना चाहिये ॥ ७—९ ॥

पुनः दण्डा हि मृदवः प्रशान्ता वसुधाधिपाः ।
मदा त्वं सर्वभूतानां दाम्पत्यः परमा गतिः ॥ १० ॥

क्योंकि राजाओं पर अपराधके अनुसार ही उचित दण्ड देनेवाले, कौमल स्वभाववाले और शान्त होने हैं। आप में सदा ही ममस्त प्राणियोंको दाम्पत्य देनेवाले तथा उनकी

परम गति है ॥ १० ॥

को नु दारप्रणाशं ते साधु मन्येत राघव ।

सरितः सागराः शैला देवगन्धर्वदानवाः ॥ ११ ॥
नालं ते विप्रियं कर्तुं दीक्षितम्येव साधवः ।

‘रघुनन्दन ! आपको स्त्रोका विनाश या अपहरण करने अच्छा समझेगा ? जैसे मजमें दीक्षित हुए पुरुषका साधुस्वभाववाले अर्थात् कभी अग्रिय नहीं कर सकते उन्हीं प्रकार सरिताएँ, समुद्र, पर्वत, देवता, गन्धर्व और दानव—ये कोई भी आपके प्रतिकूल आचरण नहीं कर सकते ॥ ११ ॥

येन राजन् हुना सीता तमन्वेदितुमर्हसि ॥ १२ ॥
मद्वितीयो धनुष्याणिः सहार्यः परमविधिः ।

‘राजन् ! जिसने सीताका अपहरण किया है, उसीका अन्वेषण करना चाहिये। आप मेरे साथ धनुष हाथमें लेकर बड़े-बड़े शत्रुओंकी सहायतासे उसका पता लगावे ॥

समुद्रं वा विचेष्ट्यामः पर्वतांश्च वनानि च ॥ १३ ॥
गुहाश्च विविधा घोरः पश्चिम्यो विविधास्तथा ।

देवगन्धर्वलोकाश्च विचेष्ट्यामः ममाहिताः ॥ १४ ॥
यावन्नाधिगमिष्यामस्तव भार्यापहारिणम् ।

न चेत् साप्रा प्रदाम्यन्ति पत्नीं ते त्रिदशेश्वराः ।
कोमलेन्द्र मनः पक्षान् प्राप्तकालं करिष्यमि ॥ १५ ॥

हम सब लोग एकत्रित हो समुद्रमें गाँजेगे, पर्वतों और वनमें दूँगेगे, नाना प्रकारकी भयंकर गुफाओं और भूत-धनिक संग्रहोंको छान डालेंगे तथा देवताओं और गन्धर्वोंके लोकोंमें भी तलाश करेंगे। जबतक आपकी पत्नीका अपहरण करनेवाले दुरात्माका पता नहीं लगा लेंगे, तबतक हम अपना यह प्रयत्न जारी रखेंगे कोमलनरेन्द्र ! यदि हमारे शक्तिपूर्ण कर्तव्यसे देवदेवगण आपकी पत्नीका पता नहीं देंगे तो उस अवसरके अनुरूप कार्य आप काजियोग ॥ १३—१५ ॥

शीलेन साप्रा विनयेन सीतां
नयेन न प्राप्स्यसि चेन्नेन्द्र ।

ततः समुत्सादय हेमपुङ्गव-
महिन्द्रवज्रप्रतिर्षः शरीर्यः ॥ १६ ॥

‘नरेन्द्र ! यदि अच्छे शील-स्वभाव, सामनोति विनय और न्यायके अनुसार प्रयत्न करनेपर भी आपकी नातका पता न मिले, तब आप सुवर्णमय पंखवाले भयंकर उड़नेवाले जाणसपुङ्गव समस्त लोकोंका संहार कर डालें ॥ १६ ॥

नरेन्द्र ! यदि अच्छे शील-स्वभाव, सामनोति विनय और न्यायके अनुसार प्रयत्न करनेपर भी आपकी नातका पता न मिले, तब आप सुवर्णमय पंखवाले भयंकर उड़नेवाले जाणसपुङ्गव समस्त लोकोंका संहार कर डालें ॥ १६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽथर्वकाण्डे पञ्चपटितमः सर्गः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकीजीमें आरंभवाला आदिकाव्यके अथर्वकाण्डमें पैसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६५ ॥

षट्षष्टितमः सर्गः

लक्ष्मणका श्रीरामको समझाना

तं सथा शोकसंतप्तं विलपन्तमनाश्रवत् ।

मोहेन महता युक्तं परिभूतमचेतसम् ॥ १ ॥

ततः सौमित्रिराश्रय्य पुहूनादिव लक्ष्मणः ।

रामे सम्बोधयामास चरणौ चाभिषोडधन् ॥ २ ॥

श्रीरामचन्द्रजी शोकसे सता हो अगधकी तरह विलपन करने लगे वे महान् माहसे युक्त और अत्यन्त दुर्बल हो गये। उनकी चित्त स्वस्थ नहीं था। उन्हें इस अवस्थामें देखकर सुमित्राकुमार लक्ष्मणने दो धड़ीतक आश्वासन दिया, फिर वे उनकी पैर दबाते हुए उन्हें समझाने लगे—

महता तपसा चापि महता चापि कर्मणा ।

राजा दशरथेनासील्लब्धोऽपुनर्मियायरेः ॥ ३ ॥

भैया ! हमारे पिता महाराज दशरथने कड़ी तपस्या और महान् कर्म का अनुसरण करके आपका पुत्ररूपमें प्राप्त किया किंतु देवताओंने महान् प्रयागरसे अमृत पान लिया था ॥ ३ ॥

तव चैव गुणैर्बद्धस्त्वद्वियोगान्महोपतिः ।

राजा देवत्वमापन्नो भरतस्य यथा श्रुतम् ॥ ४ ॥

'आपने भारतके मुँहसे जैसा सुना था, उसके अनुसार भूपाल महाराज दशरथ आपको ही गुणोंसे बँध हुए थे और आपका ही वियोग होनेसे देवलोकत्वको प्राप्त हुए ॥ ४ ॥

यदि तु खाभिर्दं प्राप्तं काकुत्स्थ न सहिष्यसे ।

प्राकृतश्चाल्पमत्त्वञ्च इतरः कः सहिष्यति ॥ ५ ॥

'ककुत्स्थकुलभूषण ! यदि अपने ऊपर आय हुए इस दुःखको आप ही धैर्यपूर्वक नहीं सहेंगे तो दूसरा कौन साधारण पुरुष, जिसकी शक्ति बहुत थोड़ी है, यह सहकरा ? ॥ ५ ॥

आश्रमिहि नरश्रेष्ठ प्राणिनः कस्य नापदः ।

संस्पृशन्त्यपि वद् राजन् क्षणेन व्यपयान्ति च ॥ ६ ॥

'नरश्रेष्ठ ! आप धैर्य धारण करें। समग्रमें किम् प्राणीमार आपत्तियाँ नहीं आतीं राजन् आपनियाँ अग्निके भाँसे एक क्षणमें स्पर्श करतीं और दूसरे ही क्षणमें दूर हो जाती हैं ॥ ६ ॥

तु गिरिनी हि भवोऽल्लोकांस्तेजसा यदि यक्ष्यते ।

आर्ताः प्रजा नरव्याध क नु यास्यन्ति निर्वृतिम् ॥ ७ ॥

'पूर्यासन्न ! यदि आप दुःखी होकर अपने तेजसे समस्त लोकोंको दग्ध कर डालेंगे तो पीड़ित हुई प्रजा किसको शरणमें जाकर सुख और शान्ति पायेगी ॥ ७ ॥

लोकस्वभावा एवैव ययानिर्नह्यात्यजः ।

गतः शक्रेण स्याल्लोकधमनयस्तं समस्पृशन् ॥ ८ ॥

'यह लोकका स्वभाव ही है कि यहाँ सबपर दुःख-श्रेक आता जाता रहता है। नहुणपुत्र ययानि इन्द्रके समान लोक (देवैरुपद) को प्राप्त हुए थे, किंतु वहाँ भी अन्यकमुत्पन्न दुःख उनकी स्पर्श किये बिना न रहा ॥ ८ ॥

महर्षिणो वसिष्ठसु यः पितुर्नः पुरोहितः ।

अह्ना पुत्रशतं जज्ञे तथैवास्य पुनर्हन्तम् ॥ ९ ॥

'हमारे पिताके पुरोहित जो महर्षि वसिष्ठजी हैं, उन्हें एक ही दिनमें सौ पुत्र प्राप्त हुए और फिर एक ही दिन वे सब के-सब विश्वामित्रक हाथसे मारे गये ॥ ९ ॥

या धेयं जगतो माता सर्वलोकनमस्कृता ।

अस्याश्च चलनं भूमेर्दृश्यते कोसलेश्वर ॥ १० ॥

'कोसलेश्वर ! यह जो विश्ववन्दिता जगन्माता पृथ्वी है, इसका भी हिलना-डुलना देखा जाता है ॥ १० ॥

यौ धर्मौ जगतो नेत्रौ यत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ।

आदित्यचन्द्रौ ग्रहणमभ्युपेतौ महाबलौ ॥ ११ ॥

'जो धर्मके प्रथमक और संसारके नेत्र हैं, जिनके अधारपर ही जगत् टिका हुआ है, वे महाबली सूर्य और चन्द्रमा भी राहुके द्वारा ग्रहणको प्राप्त होते हैं ॥ ११ ॥

सुमहान्त्यपि भूतानि देवाश्च पुरुषवर्धभ ।

न दैवस्य प्रमुह्यन्ति सर्वभूतानि देहिनि ॥ १२ ॥

'पुरुषप्रवर ! बड़े-बड़े भूत और देवता भी दैव (आरब्ध कर्म) की अधीनतासे मुक्त नहीं हो पाते हैं, फिर समस्त देहधारों प्राणियोंके लिये तो कठना ही क्या है ॥ १२ ॥

शक्रादिष्वपि देवेषु वर्तमानौ नयानयौ ।

भूयंते नरशार्दूल न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ १३ ॥

'नरश्रेष्ठ ! इन्द्र आदि देवताओंको भी नीति और अर्थिक कारण सुख और दुःखको प्राप्ति होती सुनी जाती है, इसलिये आपको शोक नहीं करना चाहिये ॥ १३ ॥

पूतायामपि खंदेहा नष्टायार्थपि राघव ।

शोचितुं नार्हसे वीर यथान्यः प्राकृतस्तथा ॥ १४ ॥

'वीर रघुनन्दन ! विदेहराजकुमारी सोता यदि मर जायें या नष्ट हो जायें तो भी आपको दूसरे रोंकार मनुष्योंकी तरह शोक-चिन्ता नहीं करने चाहिये ॥ १४ ॥

त्वद्विधा नहि शोचन्ति सततं सर्वदर्शनाः ।

सुमहन्त्वपि कृच्छ्रेषु रामानिर्विण्णदर्शनाः ॥ १५ ॥

'आराम ! आप-जैसे सर्वज्ञ पुरुष बड़ी से बड़ी विपत्ति आनेपर भी कभी शोक नहीं करते हैं। वे निर्वेद (खेद) रहित हो अपनी विचारशक्तिको नष्ट नहीं होने देते ॥ १५ ॥

तत्त्वतो हि नरश्रेष्ठ बुद्ध्या समनुचिन्तय ।

बुद्ध्या युक्ता महाप्राज्ञा विजानन्ति शुभाशुभे ॥ १६ ॥

'नरश्रेष्ठ ! आप बुद्धिके द्वारा तत्त्विक विचार कीजिये—क्या करना चाहिये और क्या नहीं; क्या उचित है और क्या अनुचित—इसका निश्चय कीजिये क्योंकि बुद्धि-युक्त महाज्ञाना पुरुष ही शुभ और अशुभ (कर्तव्य अकर्तव्य एवं उचित-अनुचित) को अच्छी तरह जानते हैं ॥ १६ ॥

अदृष्टगुणदोषाणामधुनाणां तु कर्मणाम् ।
नान्तरेण क्रियां तेषां फलमिष्टं च व्रजेते ॥ १७ ॥

‘जिनके गुण-दोष देखे या जाने नहीं गये हैं तथा जो अधुना हैं—फल देकर नष्ट हो जानेवाले हैं, ऐसे कर्मोंका शुभाशुभ फल उन्हें अचरणमें लाये बिना नहीं प्राप्त होता है ॥ १७ ॥

मामेवं हि पुरा वीर त्वमेव बहुशोक्तवान् ।
अनुशिष्याद्धि को नु त्वामपि साक्षाद् ब्रूयमि ॥ १८ ॥

‘वीर ! पहले आप ही अनेक बार इस तरहकी बातें हृदय मुझे समझा चुके हैं, आपको कौन मिया मक्ता है साक्षात् ब्रूयमि भी आपको उपदेश देनेकी शक्ति नहीं गव्ते हैं ॥ १८ ॥

बुद्धिश्च ते महाप्राज्ञ देवैरपि दुरन्धरा ।
शोकेनाधिप्रसुप्तं ते ज्ञानं सम्बोधयाम्यहम् ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे षट्षष्ठितमः सर्गः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आषरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें छःछठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६६ ॥

सप्तषष्ठितमः सर्गः

श्रीराम और लक्ष्मणकी पक्षिराज जटायुसे भेंट तथा श्रीरामका उन्हें गलेसे लगाकर रोना

पूर्वजोऽप्युक्तमाश्रितुं लक्ष्मणेन सुधाधितम् ।
सारथाही महासारं प्रतिजग्राह राघवः ॥ १ ॥

मगवान् श्रीरामचन्द्रजी सत्र चलुओंका सार ग्रहण करनेवाले हैं । अवस्थामें बड़े होनेपर भी उन्होंने लक्ष्मणके कहे हुए, अत्यन्त सारगर्भित उत्तम कचनोंको सुनकर उन्हें स्वीकार किया ॥ १ ॥

स निगृह्य महाबाहुः प्रवृद्धं रोषमात्मनः ।
अवष्टब्ध धनुश्चिप्रे रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ २ ॥

तदनन्तर महाबाहु श्रीरामने अपने बड़े हुए रोषको रोक्क और तम विचित्र धनुषको उभारकर लक्ष्मणसे कहा—
किं करिष्यावहे वत्स क्व वा गच्छाव लक्ष्मण ।

केनोपायेन पश्याथः सीतामिह विविक्तयः ॥ ३ ॥

‘वत्स ! अब हमलोग क्या करें ? कहाँ जायें ? लक्ष्मण ! किस उपायसे हमें सीताका पता लगे ? यहाँ इसका विचार करो’ ॥ ३ ॥

त तथा परित्यापती लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत् ।
इदमेव जनस्थानं त्वमन्वेदितुमर्हसि ॥ ४ ॥

तब लक्ष्मणने इस प्रकार संतापपोंडित हुए श्रीरामसे कहा— ‘भैया ! आपको इस अनस्थानमें ही सीताकी खोज करनेकी चाहिये ॥ ४ ॥

राक्षसैर्बाहुभिः क्लीणं नानाद्रुमलतायुतम् ।
समौह गिरितुर्गाणि निर्दराः कन्दराणि च ॥ ५ ॥

‘नाना प्रकारके वृक्ष और लताओंसे युक्त यह सपनवन

‘महाप्राज्ञ ! देवताओंके लिये भी आपको बुद्धिका पता पाना कठिन है । इस समय शोकके कारण आपका ज्ञान सोया-सोया-सा जान पड़ता है । इसलिये मैं उसे जग्न रहा हूँ ॥ १९ ॥

दिव्यं च मानुषं चैवमात्मनश्च पराक्रमम् ।
इक्ष्वाकुवृषभावेक्ष्य यत्नस्व द्विपतां व्रजे ॥ २० ॥

‘इक्ष्वाकु-कुलशिशुमणे ! अपने देवांचित तथा मानवांचित पराक्रमका देखकर उमका अधमरके अनुरूप उपयोग करने हुए आप शत्रुओंके बधकर प्रयत्न कीजिये ॥ २० ॥

किं ते सर्वविनाशेन कृतेन पुरुषवर्ध ।
तमेव तु रिपुं पापं विनायोज्ज्वलं पर्यसि ॥ २१ ॥

‘पुरुषप्रवर ! सपन्न संसारका विनाश करनेसे आपको क्या लाभ होगा ? उस पापी शत्रुका पता लगाकर उसीको उलगाइ केवलका प्रयत्न करना चाहिये’ २१ ॥

अनेक राक्षसोंसे घेरा हुआ है । इसमें पर्वतके ऊपर बहुत से दुर्गम स्थान, फटे हुए पत्थर और कन्दराएँ हैं ॥ ५ ॥

गुहाश्च विविधा घोरा नानामृगगणाकुलाः ।
अथासाः किन्नराणां च गन्धर्वधवनानि च ॥ ६ ॥

‘वहाँ घाँत-भाँतिकी भयकर गुफाएँ हैं, जो नाना प्रकारके मृगगणोंसे भरे रहती हैं । यहाँकि पर्वतपर किन्नरोंके आवासस्थान और गन्धर्वोंके भवन भी हैं ॥ ६ ॥

तानि युक्तो मया सार्धं समन्वेदितुमर्हसि ।
त्वद्विधा बुद्धिसम्पन्ना महात्मानो नरर्षभाः ॥ ७ ॥

आपत्सु न प्रकम्प्यसे वायुवेगैरिवास्तलाः ।

‘मेरे साथ बलश्रक्त आप उन सभी स्थानोंमें एकाग्रचित्त हो सीताको खोज करें । जैसे पवन वायुके वेगसे कम्पित नहीं होते हैं, उसी प्रकार आप-जैसे बुद्धिमान् महात्मा नरश्रेष्ठ आपत्तियोंमें विचलित नहीं होते हैं’ ॥ ७ ॥

इत्युक्तमाह वने सर्वं विचचार सलक्ष्मणः ॥ ८ ॥
कुन्तो रामः शरं घोरं संधाय धनुर्वि क्षुरम् ।

उनके ऐसा कहनेपर लक्ष्मणगहिन श्रीरामचन्द्रजी रोषपूर्वक अपने धनुषपर क्षुर नामक भयकर बाण चढ़ाये वहाँ सारे वनमें विचरण करने लगे ॥ ८ ॥

ततः पर्वतकूटाश्च महाधारा द्विजोत्तमम् ॥ ९ ॥
ददर्श पतितं धूमो क्षतजाई जटायुषम् ।

तं दृष्ट्वा गिरिभृङ्गाभं रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ १० ॥
‘थोड़ी ही दूर आगे जानेपर उन्हें पर्वतशिखरके समान

विशाल शरीरवाले पक्षिराज महाभाग जटायु दिक्काओं पड़े जो खूनसे लथपथ हो पृथ्वीपर पड़े थे। पर्वत शिखरोंके समान प्रतांत होनेवाले इन गृध्रराजको देखकर श्रीराम लक्ष्मणमें बोले— ॥ ९-१० ॥

अनेन सीता वैदेही भक्षिता नात्र संशयः ।

गृध्ररूपमिदं व्यक्तं रक्षो भ्रमति काननम् ॥ ११ ॥

‘लक्ष्मण ! यह गृध्रके रूपमें अवश्य ही कोई राक्षस जान पड़ता है, जो इस वनमें घूमता रहता है नि संदेह इसीने विदेहराजकुमारी सीताका खा लिया होगा ॥ ११ ॥

भक्षयित्वा विशालाक्षीयास्ते सीतां यथा सुखम् ।

एनं बधिष्ये वीज्जाग्रैः शरीररिरजित्वागैः ॥ १२ ॥

‘विशालाक्षीयों सीताको खाकर यह यहाँ सुखपूर्वक बैठा हुआ है। मैं प्रज्वालित अग्निगण्डके तथा सोध जानेवाले क्षयने भयंकर बाणोंसे इसको बध करूँगा ॥

इत्युक्त्वाभ्यधात् दष्टुं सधाय धनुषि क्षुरम् ।

कुञ्जो रामः समुद्रान्तो बालपात्रिव मेदिनीम् ॥ १३ ॥

ऐसा कहकर क्रोधमें भरे हुए श्रीराम धनुषपर बाण चढ़ाये समुद्रपर्वत पृथ्वीका इम्पित करते हुए उसे दशनेक गिर्ये आगे बढ़े ॥ १३ ॥

तं दौन्दीनया याचा सफेनं रुधिरं वपम् ।

आप्यभाषत पक्षी स रामे दशरथात्मजम् ॥ १४ ॥

इसी समय पक्षी जटायु अपने मुँहसे फेंक्युक्त मन्त्र ब्रमन करी हुए अत्यन्त दोन-बाणीयें दशतथनन्दन श्रीरामसे बोले— ॥ १४ ॥

यामोषधीमिलायुष्मन्वेधसि महावने ।

सा देवी भव च प्राणा रावणेनोभयं वृतम् ॥ १५ ॥

‘आयुगन् ! इस म्हावन् वनमें तुम जिसे ओषधीयें समान ढूँढ़ रहे हो उस देवी सांतकरों तथा मेरे इन प्राणोंको भी रावणने हर लिया ॥ १५ ॥

तस्या विरहिता देवी लक्ष्मणो न च राघव ।

हृदयपाणा यया दृष्टा रावणेन बलीयसा ॥ १६ ॥

‘रघुान्न ! तुम्हारे और लक्ष्मणके न रहनेपर महाबली रावण आया और देवी सीताको हरकर ले जाने लगा। उस समय मेरी दृष्टि सीतापर पड़ी ॥ १६ ॥

सीतामभ्यवपलाञ्छ रावणश्च रणे प्रभो ।

विध्वासतरघञ्जः पतितो घग्णीतले ॥ १७ ॥

‘प्रभो ! जहाँ ही मेरी दृष्टि पड़ी, मैं सीताको सहायताके लिये दौड़ पड़ा। रावणके साथ मेरा युद्ध हुआ मैंने उस युद्धमें रावणके रथ और छत्र आदि सभी साधन नष्ट कर दिये और वह भी धायल होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ १७ ॥

एतस्य धनुर्मग्रमेते आस्य दारास्तथा ।

अयमस्य रणे राम भग्नः सांग्रामिको रथः ॥ १८ ॥

‘श्रीराम ! यह रहा उसका दूटा हुआ धनुष, ये हैं उसके

खण्डित हुए बाण और यह है उसका युद्धोपयोगी रथ, जो युद्धमें मेखदार तोड़ छल गया है ॥ १८ ॥

अयं तु सारथिस्तस्य मत्पक्षनिहतो ध्रुवि ।

पतिश्रान्तस्य मे पक्षो छित्त्वा खड्गेन रावणः ॥ १९ ॥

सीतामादाय वैदेहीपुत्र्ययात विहायसम् ।

रक्षसा निहतं पूर्वं यो न हन्तुं त्वमर्हसि ॥ २० ॥

‘यह रावणका सारथि है, जिसे मैंने अपने पंखोंसे मार डाला था। जब मैं युद्ध करने-करने थक गया, तब रावणने नलवारसे मेरे दानों पर काट डाले और वह विदेहकुमारी सीताको लेकर आकाशमें उड़ गया मैं उस राक्षसके हाथसे पहले ही मार डाल गया हूँ, अब तुम मुझे न मारो ॥

रामस्तस्य तु विज्ञाय सीतासक्तां प्रियां कथाम् ।

गृध्रराजं परिवृज्य परित्यज्य महद् धनुः ॥ २१ ॥

निपयातावशो धूमो सरोद सहलक्ष्मणः ।

द्विगुणीकृततापानो रामो धीरतरोऽपि सन् ॥ २२ ॥

सीतासे सम्बन्ध रखनेवाली यह प्रिय चार्ता सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने अपना महान् धनुष फेंक दिया और गृध्रराज जटायुको गलेसे लगाकर वे आकाशमें विवश हो पृथ्वीपर गिर पड़े और लक्ष्मणके साथ भी रोने लगे। अत्यन्त धीर होनेपर भी श्रीरामने उस समय दूने दुःखका अनुभव किया ॥

एकमेकायने कृच्छ्रे निःशसन्तं मुहुर्मुहुः ।

समीक्ष्य दुःखितो रामः सीमित्रिभिर्दमव्रीत् ॥ २३ ॥

असहाय हा एकगात्र ऊर्ध्वक्षामकी संकटपूर्ण अवस्थामें पड़कर बायबार लक्ष्मी साँस खींचने हुए जटायुकी ओर देखकर श्रीरामकी बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने सुमित्राकुमारसे कहा— ॥ २३ ॥

राज्यं भ्रष्टं वने वासः सीता नष्टा मृतो द्विजः ।

ईदृशीयं ममालक्ष्मीर्दहदपि हि पावकम् ॥ २४ ॥

‘लक्ष्मण ! मेरा राज्य छिन गया, मुझे वनवास मिला (पिताजीको मृत्यु हुई), सीताका अपहरण हुआ और ये मेरे परम सहायक पक्षिराज भी मर गये। ऐसा जो मेरा यह दुर्भाग्य है, वह तो आँखोंको धो जलाकर भस्म कर सकता है ॥ २४ ॥

सम्पूर्णमपि घेल्य प्रतरेयं महोदधिम् ।

सोऽपि नूनं ममालक्ष्म्या विशुष्येत् सरिता पतिः ॥ २५ ॥

‘यदि आज मैं भरे हुए महासागरको तैरने लगीं तो मेरे दुर्भाग्यको आँचमें वह सरिताओंका स्वामी समुद्र भी निश्चय ही सूख जायगा ॥ २५ ॥

नास्त्यभाग्यतरो लोके मत्तोऽस्मिन् स वराचरे ।

येनेयं महती प्राप्ता यया व्यसनवागुरा ॥ २६ ॥

‘इस बराचर जगत्में मुझसे बढ़कर भाग्यहीन दूसरा कोई नहीं है, जिस अधभाग्यके कारण मुझे इस विपत्तिके बड़े भारी कष्टमें फँसना पड़ा है ॥ २६ ॥

अथ पितुर्वयस्यो मे गृधराजो महाबलः ।
शेते धिनिहतो भूमौ मम भाग्यविपर्ययात् ॥ २७ ॥
'ये महाबली गृधराज जटायु मेरे पिताजीके मित्र
थे, किंतु आज मेरे दुभाग्यवश मेरे जकर इस समय
पृथ्वीपर पड़े हैं' ॥ २७ ॥
इत्येवमुक्त्वा बहुशो राघवः सहलक्ष्मणः ।
जटायुर्ध्वं च पस्पर्श पितृस्नेहं निदर्शयन् ॥ २८ ॥
इस प्रकार बहुत-सी बातें कहकर लक्ष्मणमहित
श्रावणगधजा । जटायुक शरीरपर हाथ फेरा और पिता-
पति जैसा स्नेह होना चाहिये, स्नेह ही उनके प्रति प्रदर्शित

किया ॥ २८ ॥

निकृत्तपक्षं

रुधिरावसिक्तं

तं गृधराजं परिगृह्य राघवः ।

क येधिल्ली प्राणसमा गतेति

विमुच्य वाचं निषपात भूमौ ॥ २९ ॥

पक्ष कट जानेके कारण गृधराज जटायु लहू-लुहान हो
रहे थे । उग्रा अवस्थामें उन्हें गलेसे लगाकर श्रावणगधजीने
पृष्ठा—'तान ! मेरी प्राणोंके समान प्रिया पिथिलेशकुमारी
मौत कहीं चली गयी ? इनकी ही बात मुझसे बिकालकर वे
पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ २९ ॥

इत्यार्य श्रीमद्रामायणे आदिपर्वकाण्डे अष्टषष्टितमः सर्गः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आदिशामायण आदिपर्वके अरण्यकाण्डमें सप्ततृतीया सर्ग पूरा हुआ ॥ ६७ ॥



अष्टषष्टितमः सर्गः

जटायुका प्राण-त्याग और श्रीरामद्वारा उनका दाह-संस्कार

रायः प्रेक्ष्य तु तं मृष्टं भुवि रौद्रेण पातितम् ।
सौमित्रि मित्रसम्पन्नमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥
अबकर राक्षस रावणने जिससे पृथ्वीपर गिर गिराया था,
उस गृधराज जटायुकी ओर दृष्टि डालकर भगवान् श्रीराम
धित्रोचित गुणसे सम्पन्न सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे बोले— ॥
ममाद्यं नूनमर्धेषु यतस्मनो विहंगमः ।
राक्षसेन हतः संख्ये प्राणास्त्यजति भक्तुते ॥ २ ॥
'भाई ! यह पक्षी अब इससे मेरा ही कार्य सिद्ध करनेके
लिये प्रयत्नशील था, किंतु उस राक्षसक द्वारा युद्धमें मारा गया ।
यह मेरे ही लिये अपने प्राणोंका चरित्याग कर रहा है ॥ २ ॥
अतिश्रिप्तः शरीरेऽस्मिन् प्राणो लक्ष्मण विद्यते ।
तथा स्वरविहीनोऽयं विह्वलं समुदीक्षते ॥ ३ ॥
लक्ष्मण ! इस शरीरके भीतर इसका प्राणोंका बड़ी चंदना
हो रहा है, इसीलिये इसका आत्मा बच होगी या नहीं है तथा
यह अत्यन्त व्याकुल होकर दंष्ट्र रहा है ॥ ३ ॥
जटायो यदि शक्राणि वाक्यं व्याहरितुं पुनः ।
सीतामारुह्याहि ध्वजे मे त्वमारुह्याहि चात्मनः ॥ ४ ॥
(लक्ष्मणसे ऐसा कहकर श्रीराम उस पक्षीसे बोले—)
जटायो ! यदि आप पुनः बोल सकते हैं तो आपका बल
हो, बताइये, सीताकी क्या अवस्था है ? और आपको क्या
निमित्त प्रकट हुआ ? ॥ ४ ॥
किंनिमित्तो जहाराधो रावणस्तस्य किं मया ।
अपराधे तु यं दृष्ट्वा रावणेन हता प्रिया ॥ ५ ॥
'जिस अपराधके देखकर रावणने मेरी प्रिय भार्याका
अपहरण किया है, उसका वह अपराध क्या है ? और मैं
उसे कब किया ? किस निमित्तको लेकर रावणन आया
सीताका हरण किया है ? ॥ ५ ॥

कथं तच्चन्द्रसकाशं मुखमासीन्मनोहरम् ।
सीतया कानि चोक्तानि तस्मिन् काले द्विजोत्तम ॥ ६ ॥
पक्षिप्रवर ! सीताका चन्द्रमाके समान मनोहर मुख
कैसा हो गया था ? तथा उस समय सीताने क्या-क्या
बातें कही थीं ? ॥ ६ ॥
कथंवीर्यः कथंरूपः किंकर्मा स च राक्षसः ।
क धाम्य भवनं तात त्रुहि मे परिपृच्छतः ॥ ७ ॥
'तान ! उस राक्षसका बल-चरित्र तथा रूप कैसा है ?
वह क्या काम करता है ? और उसका घर कहाँ है ? मैं जो
कुछ पूछ रहा हूँ, वह सब बताइये ॥ ७ ॥
तमुदीक्ष्य स धर्मात्मा विलपन्तमनाद्यवत् ।
वाचा विह्वलया राममिदं वचनमब्रवीत् ॥ ८ ॥
इस तरह अनाथके भाँति विलाप करते हुए श्रीरामकी
ओर देखकर प्रमत्ता जनार्दन लट्ठखड़ाता जवानसे यों कहना
आरम्भ किया— ॥ ८ ॥

सा हता राक्षसेन्द्रेण रावणेन दुरात्मना ।
पायापास्थाय विपुलां वातदुर्दिनसकुलाम् ॥ ९ ॥
'रघुनन्दन ! दुर्गन्धा राक्षसराज रावणने विपुल मायाका
आश्रय ले आँधो-धमोंकी सृष्टि करके (बधराष्टकी
अवस्थामें) सीताका हरण किया था ॥ ९ ॥
परिह्वान्तस्य मे तात पक्षौ छित्त्वा निशाचरः ।
सीतापादाय वेदेहो प्रयातो दक्षिणामुखः ॥ १० ॥
'तान ! जब मैं उससे लड़ता-लड़ता थक गया, उस
अवस्थामें मेरे दोनों पंख कटकर वह निशाचर विदेहनन्दिनी
माताको माथ लिये यहाँसे दक्षिण दिशाकी ओर गया था ।
उपलब्धान्ति मे प्राणा दृष्टिर्भमति राघव ।
पश्यामि वृक्षान् सीवर्णानुशीरकृतमूर्धजान् ॥ ११ ॥

‘रघुनन्दन ! अब मेरे प्राणोंकी गति बंद हो रही है, दृष्टि घूम रही है और समस्त वृक्ष मुझे मुनहरे रंगके दिखावा देते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि उन वृक्षापर खशकें कड़ा जमे हुए हैं ॥ ११ ॥

येन याति मुहूर्तेन सीताभादाय रावणः ।
विप्रणष्टं धनं क्षिप्रं तत्स्वामी प्रतिपद्यते ॥ १२ ॥
विन्दो नाम मुहूर्तोऽसौ न च काकुत्स्थ सोऽबुधत् ।
त्वत्प्रियो जानकीं हत्वा रावणो राक्षसेश्वरः ।
इषवद् बडिशी गृह्य क्षिप्रमेव विनश्यति ॥ १३ ॥

‘रावण सीताको जिस मुहूर्तमें ले गया है, उसमें खोया हुआ धन शीघ्र ही उसके स्वामीको मिल जाता है। काकुत्स्थ ! यह ‘विन्द’ नामक मुहूर्त था, किन्तु उस राक्षसको इसका पता नहीं था। जैसे भट्टलो मौतके लिये हो बंसी पकड़ लेती है, उसी प्रकार वह भी सीताको ले जाकर शीघ्र ही नष्ट हो जायगा ॥ १२-१३ ॥

न च त्वया व्यथा कार्या जनकस्य सुतां प्रति ।
वैदेह्या रस्यसे क्षिप्रं हत्वा तं रणमूर्धनि ॥ १४ ॥

‘अतः अब तुम जनकनन्दिनीके लिये अपने मनमें खेद न करो। संग्रामके मुहानेपर उस निशाचरका वध करके तुम शीघ्र ही पुनः विदेहराजकुमारीके साथ विहार करोगे ॥

असम्बुधस्य गृध्रस्य रामं प्रत्यनुभाषतः ।
आरयात् सुत्वाथ रुधिरं प्रियमाणस्य सामिगम् ॥ १५ ॥

गृधराज जटायु यद्यपि मर रहे थे तो भी उनके मनपर मोह था अतः नहीं छाया था (उनके होश-हवास ठीक थे)। वे श्रीरामचन्द्रजीको उनकी मानका उत्तर दे रहे थे कि उनके मुखसे मांसपुक्त रुधिर निकलने लगा ॥ १५ ॥

पुत्रो विश्ववसः साक्षाद् भ्राता कैशवणस्य च ।
इत्युक्त्वा दुर्लभान् प्राणान् मुमोच पतगेश्वरः ॥ १६ ॥

यं बोले ‘रावण विश्वका पुत्र और कुशेरका सगा भाई है’ इत्यादि कहकर उन पक्षिराजने दुर्लभ प्राणोंका परित्याग कर दिया ॥ १६ ॥

अहिं ब्रूहीति रामस्य बुवाणस्य कृताञ्जलः ।
त्यक्त्वा शरीरं गृध्रस्य प्राणा जग्मुर्विहायसम् ॥ १७ ॥

श्रीरामचन्द्रजी साथ जोड़े कह रहे थे, ‘कहिये, कहिये, कुछ और कहिये।’ किन्तु उस समय गृधराजके प्राण उनकी शरीर छोड़कर आकाशमें चले गये ॥ १७ ॥

स निक्षिप्य शरीरं भूमौ प्रसार्य चरणौ तथा ।
विक्षिप्य च शरीरं स्व पपात धरणीमले ॥ १८ ॥

उन्होंने अपना मस्तक भूमिपर डाल दिया, दोनों पैर फैला दिये और अपने शरीरको भी पृथ्वीपर ही डालने हुए वे धराशायी हो गये ॥ १८ ॥

तं गृध्रं प्रेक्ष्य ताम्राक्षं गतासुमधलोपमम् ।
रामः सुबहुभिर्दुःखदीनः सौमित्रिमव्रवीत् ॥ १९ ॥

गृधराज जटायुकी आंखें लाल दिखायी देती थीं प्राण निकल जानेसे वे पर्वतके समान अविचल हो गये उन्हें इस अवस्थामें देखकर बहुत-से दुःखोंसे दुःखी हुए श्रीरामचन्द्रजीने सुमित्राकुमारसे कहा— ॥ १९ ॥

बहूनि रक्षसां वासे सर्वाणि वसना सुखम् ।
अनेन दण्डकारण्ये विशीर्णमिह पक्षिणा ॥ २० ॥

‘लक्ष्मण ! राक्षसोंके निवासस्थान इस दण्डकारण्यमें बहुत वर्षोंतक सुखपूर्वक रहकर इन पक्षिराजने यहीं अपने शरीरका त्याग किया है ॥ २० ॥

अनेकवार्धिको यस्तु चिरकालसमुत्थितः ।
सोऽयमद्य इतः शीते कालो हि दुरतिक्रमः ॥ २१ ॥

‘इनकी अवस्था बहुत वर्षोंकी थी। इन्होंने सुदीर्घ काल तक अपना अभ्युदय देखा है; किन्तु आज इस वृद्धावस्थामें उस राक्षसके द्वारा मारे जाकर ये पृथ्वीपर सो रहे हैं, क्योंकि कालका उल्लङ्घन करना सबके ही लिये कठिन है ॥ २१ ॥

पश्य लक्ष्मण गृध्रोऽयमुपकारी हतश्च मे ।
सीतामभ्यवपन्नो हि रावणेन खलीयसा ॥ २२ ॥

‘लक्ष्मण ! देखो, ये जटायु मेरे बड़े उपकारी थे, किन्तु आज मारे गये। सीताकी रक्षाके लिये युद्धमें प्रवृत्त होनेपर अत्यन्त कलहान् गव्यणके हाथमें इनका वध हुआ है।

गृध्रान्यं परित्यज्य पितृपैतामहं गतम् ।
मम हेतोरयं प्राणान् मुमोच पतगेश्वरः ॥ २३ ॥

‘बाप-दादाके द्वारा प्राप्त हुए गोघाके विशाल राज्यका त्याग करके इन पक्षिराजने मेरे ही लिये अपने प्राणोंकी आहुति दी है ॥ २३ ॥

सर्वत्र खलु दृश्यन्ते साधवो धर्मचारिणः ।
शूरा शरण्याः सौमित्रे तिर्यग्योनिगतेष्वपि ॥ २४ ॥

‘शूर, शरणागतरक्षक, धर्मपरायण श्रेष्ठ पुरुष सभी जगह देखे जाते हैं। पशु-पक्षोंकी योनियोंमें भी उनका अभाव नहीं है ॥ २४ ॥

सीताहरणजं दुःखं न मे सौम्य तथागतम् ।
यथा विनाशो गृध्रस्य मत्कृते च परंतप ॥ २५ ॥

‘सौम्य ! शत्रुओंको संताप देनेवाले लक्ष्मण ! इस समय मुझे सीताके हरणका उतना दुःख नहीं है, जितना कि मेरे लिये प्राणत्याग करनेवाले जटायुकी मृत्युसे हो रहा है।

राजा दशरथः श्रीमान् यथा मम महायशाः ।
पूजनीयश्च मान्यश्च तथायं पतगेश्वरः ॥ २६ ॥

‘महायशस्वी श्रीमान् राजा दशरथ जैसे मेरे माननीय और पूज्य थे वैसे ही ये पक्षिराज जटायु भी हैं ॥ २६ ॥

सौमित्रे ह्य काष्ठानि निर्मघ्न्यापि पावकम् ।
गृधराजे दिद्यक्ष्यामि मत्कृते निधनं गतम् ॥ २७ ॥

‘सुमित्रानन्दन ! तुम सुखे बराह ले आओ, मैं बचकर आग निकालूँगा और मेरे लिये मृत्युको प्राप्त हुए इन

गृधराजका दाह-संस्कार करूंगा ॥ २७ ॥

नार्थं पतगलांकस्य चितिपारंगयाम्यहम् ।

इमं धक्ष्यामि सौमित्रे हतं रौद्रेण रक्षसा ॥ २८ ॥

'सुमित्राकुमार ! इस भयंकर राक्षसके द्वारा मारा गये इन परिकराजको मैं चितापर चढ़ाऊँगा और इनका दाह-संस्कार करूँगा' ॥ २८ ॥

या गतिर्यज्ञशौलानामाहिनाप्रेक्ष्य या गतिः ।

अपराधतिनां या च या च भूमिप्रदायिनाम् ॥ २९ ॥

मया त्वं समनुजातो गच्छ लोकाननुत्तमान् ।

गृधराज महासत्त्व संस्कृतश्च मया व्रज ॥ ३० ॥

(फिर वे जटायुको सम्बोधित करके बोले—) 'महान् बलशाली गृधराज ! यज्ञ करनेवाले, आग्रहाज्ञी, युद्धम पांड व दिखानेवाले और भूमिदान करनेवाले पुरुषाको जिस गतिकी—जिन उत्तम लोकोंकी प्राप्ति होनी है, मेरी आज्ञामे उसी सर्वोत्तम लोकोंमें तुम भी जाओ । मैं द्वारा दाह-संस्कार किये जानपर तुम्हारी सहायता हो' ॥ २९-३० ॥

एवमुक्त्वा चितां दीप्तामारोप्य पतंगेश्वरम् ।

ददाह रामो धर्मात्मा स्वबन्धुमिव दुःखितः ॥ ३१ ॥

ऐसा कहकर धर्मात्मा श्रीरामचन्द्रजीने दुःखित हो परिकराजक शरीरको चितापर रखा और उसमें आग लगाकर अपने बन्धुकी भाँति उनका दाह-संस्कार किया ॥ ३१ ॥

रामोऽथ सहसौषिज्जिवनं गत्वा स सौर्यवान् ।

स्थूलान् गत्वा महारोहीननुत्तार तं द्विजम् ॥ ३२ ॥

रोहिमांसानि चोदधृत्य पेशीकृत्वा महायशः ।

शकुनाय ददौ रामो रम्ये हरितहातुले ॥ ३३ ॥

तदनन्तर लक्ष्मणमार्हित पराक्रमी श्रीराम वनमें जाकर मोटे-मोटे महारोही (कन्दमूल विशेष) काट लाये और उन्हें जटायुके लिये अर्पित करनेके उद्देश्यसे उनके पश्चोपा कुशा पिरोकर । महायशस्वी श्रीरामने रोहोके गूदे निकालकर ठस्कर गण्ड बनाया और इन सुन्दर हरित कुशाओंपर जटायुको पण्डदान किया ॥ ३२-३३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डेऽष्टपटितमः सर्गः ॥ ६८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिधित आगरामायण आदिकाव्यक अरण्यकाण्डमें अगस्तवीं सर्ग पूरा हुआ ॥ ६८ ॥

एकोनसप्ततितमः सर्गः

लक्ष्मणका अयोमुखीको दण्ड देना तथा श्रीराम और लक्ष्मणका कबन्धके बाहुबन्धमें पड़कर चिन्तित होना

कबन्धमृतक तमो प्रस्थिनी राक्षसी तदा ।

अवेक्षन्तौ वने सीतां जग्मनुः पश्चिमां दिशम् ॥ १ ॥

इस प्रकार जटायुक लिंग जलज्जलि दान करके वे दाने चढ़ादौ अन्य उग्र रम्य जगमें प्रस्थित हुए और वनमें सीताको याज्ञ करते हुए पश्चिम दिशा (नैऋत्य कोण) की ओर गये ॥

यत् तत् प्रेतस्य मर्त्यस्य कथयन्ति द्विजानयः ।

तत् स्वर्गगमनं पित्र्यं तस्य रामो जजाप ह ॥ ३४ ॥

ब्रह्मणलांग परलोकवासो मनुष्यको स्वर्गकी प्राप्ति करानके उद्देश्यसे जिन पितृमन्त्रकी गन्त्रोंका जप आवश्यक बनलात है उन मन्त्रका भगवान् श्रीरामने जप किया ॥ ३४ ॥

ततो गोदावरीं गत्वा नदीं नरवरात्मजौ ।

उदकं धक्रतुस्तस्मै गृधराजाय तावुभौ ॥ ३५ ॥

तदनन्तर उन दोनों राजकुमारोंने गोदावरी नदीके तटपर जाकर उन गृधराजके लिये जलाञ्जलि दी ॥ ३५ ॥

शास्त्रदृष्टेन विधिना जलं गृधाय राघवौ ।

स्नात्वा तौ गृधराजाय उदकं धक्रतुस्तदा ॥ ३६ ॥

एवमुक्त्वा उन दोनों महापुरुषोंने गोदावरीमें महाकर शास्त्रोक्त विधिसे उन गृधराजके लिये उस समय जलाञ्जलिका दान किया ॥ ३६ ॥

स गृधराजः कृतवान् भक्षस्करं

सुदुष्करं कर्म रणे निपतितः ।

महर्विकल्पेन च संस्कृतास्तदा

जगाम पुण्यां गतिमात्मनः शुभाम् ॥ ३७ ॥

महर्विकल्प्य श्रीरामके द्वारा दाहसंस्कार होनके कारण गृधराज जटायुको आत्मका कल्याण करनेवाली परम प्रवित्र गति प्राप्त हुई । उन्होंने रणभूमिमें अत्यन्त दुष्कर और यशोवर्धक पराक्रम अकट किया था । परंतु अन्तमें रावणने उन्हें मार गिराया ॥ ३७ ॥

कृनोटकां तावपि पक्षिसन्तये

स्थिरां च बुद्धिं प्रणिधाय जग्मनुः ।

प्रवेष्ट्य सीताधिगमे ततो मनो

वनं सुरेन्द्राविव विष्णुवाससी ॥ ३८ ॥

तपेन करनेके पश्चात् वे दोनों भाई परिकराज जटायुमें पितृतुल्य सुस्थिरभाव रखकर सीताकी रक्षाके कर्तव्य मन लगा देवेंधर विष्णु और इन्द्रकी भाँति वनमें आग बहे ॥ ३८ ॥

तां दिशं दक्षिणां गत्वा शरबाधासिधारिणी ।

अविग्रहतर्पक्ष्वाकी पन्थानं प्रतिपेदनुः ॥ २ ॥

धनुष, बाण और सत्त धारण किये वे दोनों इक्ष्वाकुवंशी चार उस दक्षिण-पश्चिम दिशाकी ओर आगे बढ़ते हुए एक ऐसे मार्गपर जा पहुँचे, जिसपर लंगोका आना-जाना नहीं होता था ॥

गुल्फैर्वर्क्षश्च बहुभिर्लताभिश्च प्रवेष्टितम् ।
आवृतं सर्वतो दुर्गं गहनं घोरदर्शनम् ॥ ३ ॥

वह मार्ग बहुत-से वृक्षों, झाड़ियों और लता-वेष्टेद्वारा
सब ओरसे घिरा हुआ था । वह बहुत ही दुर्गम, गहन और
देखनेमें भयंकर था ॥ ३ ॥

व्यतिक्रम्य तु वेगेन गृहीत्वा दक्षिणां दिशम् ।
सुभीषं तन्महारण्यं व्यतियातौ महाबली ॥ ४ ॥

उसने वेगपूर्वक लंघित कर के दोनों महाबली राजकुमार
दक्षिण दिशाकर आश्रय ले उस अत्यन्त भयानक और
विशाल बनसे आगे निकल गये ॥ ४ ॥

ततः परं जनस्थानान् त्रिकोशं गम्य राघवौ ।
श्रीछारण्यं विविशतुर्गहनं तौ महौजसौ ॥ ५ ॥

तदनन्तर जनस्थानरु तीन कास दूर जाकर वे महाबली
श्रीराम और लक्ष्मण श्रीछारण्य नामके प्रसिद्ध जंगल
भीतर गये ॥ ५ ॥

नानामेघघनप्रख्यं प्रहृष्टगिव स्रवंतः ।
नानावर्षीः शुभैः पुष्पैर्भृङ्गपक्षिगणैर्युतम् ॥ ६ ॥

वह जंगल अनेक घनघन समृद्धकी भाँति इयाम प्रतीत होता
था । विविध वर्ण के सुन्दर फूलोंसे नुरंगीभूत होनेके कारण वह
सब ओरसे हरेतुल्य-सा जान पड़ता था । उसके भीतर
बाहुल्यसे पशु-पक्षी निवास करते थे ॥ ६ ॥

दिव्यक्षणाणीं वीतेही तद् वनं तौ विचिन्वन्तु ।
तत्र तत्रावनिष्ठान्तौ सीताहरणदुःखितौ ॥ ७ ॥

सीतान्तरा पता लगानेकी इच्छासे वे दोनों इस वनमें इनकी
खोज करना लगे । जहाँ जहाँ भक्त जगन्निध के विश्रामके लिये
ठहरा करते थे । किन्तु जगन्निध के अपहृष्टास ठहरा वहाँ रुक ही
नहीं पाते थे ॥ ७ ॥

ततः पूर्वांशं तौ गत्वा त्रिकोशं भ्रातरी तदा ।
श्रीछारण्यपतिक्रम्य भतङ्गममन्तरे ॥ ८ ॥

तत्पश्चात् वे दोनों भाई तीन कास पूर्व जाकर श्रीछारण्यका
पार करनेके मतङ्ग मुनिक आश्रयक पास गये ॥ ८ ॥

तुदा तु तद् वनं घोरं बहुभीमपृगद्विजम् ।
नानावृक्षसमाकीर्णं सर्वं गहनपादपम् ॥ ९ ॥

वह जंगल बड़ा भयंकर था । उसमें बहुत-से भयानक पशु
और पक्षी निवास करते थे । अनेक प्रकारके वृक्षोंमें व्याप्त
यह सारा जंगल वृक्षावलिधामे भरा था ॥ ९ ॥

तद्वान्ते गिरौ तत्र दरीं दगरश्चात्मजौ ।
पानालसमगम्भीरां तथमा नित्यमवृताम् ॥ १० ॥

वही पर्वतकर उन दशरथराजकुमारोंने कहाँकि पर्वतपर
एक गुफा देखी, जो पानालक समान गहरी थी । वह सदा
अन्धकारसे आवृत रहती थी ॥ १० ॥

आसाद्य च नरव्याघ्रीं दूर्यास्तस्याविदूरतः ।
ददर्शतुर्महारूपीं राक्षसीं विकृताननाम् ॥ ११ ॥

उमके समीप जाकर उन दोनों नरश्रेष्ठ बोधने एक
विशालकाय राक्षसी देखी जिसका मुख बड़ा विकराल था ।
भयदामल्पसन्धानां बीभत्सां रौद्रदर्शनम् ।

लम्बोदरीं तीक्ष्णदृष्टां करालीं परुषत्वयम् ॥ १२ ॥

वह छोटे-छोटे जन्तुओंको भय देनेवाली तथा देखनेमें
बड़ी भयंकर थी । उसकी सूरत देखकर घृणा होती थी ।
उसके लम्बे पैर, तीखी दाढ़ी और कठोर खचा थी । वह बड़ा
विकराल दिव्यायी दंतौ थी ॥ १२ ॥

भक्षयन्तीं मृगान् भीमान् विकटां मुक्तमूर्धजाम् ।
अवेक्षतां तु तौ तत्र भ्रातरी रामलक्ष्मणौ ॥ १३ ॥

भयानक पशुओंको भी पकड़कर खा जाती थी । उसका
आकर विकट था और बाल खुले हुए थे । उस कन्दराके
समीप दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणने उसे देखा ॥ १३ ॥

सा समासाद्य तौ वीरौ व्रजन्तौ भ्रातुरग्रतः ।
एहि रम्यावहेत्युक्त्वा समालम्ब्यत लक्ष्मणम् ॥ १४ ॥

वह राक्षसी उन दोनों वीरोंके पास आयी और अपने
भाइँके आगे-आगे चलते हुए लक्ष्मणकी ओर देखकर
बोली—'आओ हम दोनों रमण करें।' ऐसा कहकर उसने
लक्ष्मणका हाथ पकड़ लिया ॥ १४ ॥

उवाच चैनं वचनं सौमित्रमुपगृह्य च ।
अहं त्वयोमुखी नाम लाभस्ते त्वमसि प्रियः ॥ १५ ॥

इतना ही बर्ता, उसने सुमित्राकुमारको अपनी भुजाआँध
कम लिया और इस प्रकार कहा — मेरा नाम अयोमुखी है ।
मैं तुम्हें भयोमुख पदमें धिन्ध गयी तो समझ लो, बहुत बड़ा लाभ
हुआ और तुम मेरे प्यार पति हो ॥ १५ ॥

नाथ पर्वतदुर्गेषु नदीनी पुलिनेषु च ।
आयुश्चिरमिदं वीर त्वं मया सह रस्यसे ॥ १६ ॥

प्राणनाथ ! वीर ! यह शीर्षकालक स्थिर रहनेवाली
आयु पाकर तुम पर्वतकी दुर्गम कन्दराओंमें तथा नदीयोंके
तटोंपर मेरे साथ सदा रमण करेंगे ॥ १६ ॥

एवमुक्तस्तु कुपितः खड्गमुद्धृत्य लक्ष्मणः ।
कर्णनासस्तनं तस्या निचकतारिसूदनः ॥ १७ ॥

राक्षसीके ऐसा कहनेपर शत्रुसूदन लक्ष्मण क्रोधसे जल
ठठे । उन्होंने तलवार निकालकर उसके कान, नाक और स्तन
काट डाले ॥ १७ ॥

कर्णनासे निकृते तु विस्वरं विननाद सा ।
यथागतं प्रदुद्राव राक्षसी घोरदर्शना ॥ १८ ॥

नाक और स्तनके कट जानेपर वह भयंकर राक्षसी
जोर-जोरसे चिल्लाने लगी और जहसि आयी थी, ठगरी ही
भाग गयी ॥ १८ ॥

तस्यां गतायां गहनं व्रजन्तौ वनपोजसा ।
आसेदतुरभिन्नश्रीं भ्रातरी रामलक्ष्मणौ ॥ १९ ॥

उसके चले जानेपर वे दोनों भाई शान्तिशाली श्रीराम और

लक्ष्मण बड़े वेगसे चलकर एक गहन वनमें जा पहुँचे ॥ १९ ॥

लक्ष्मणस्तु महातेजाः सत्त्ववाञ्छीलवाञ्छुभिः ।

अब्रवीत् प्राञ्जलिर्वाक्यं भ्राता दीप्ततजसम् ॥ २० ॥

उस समय महातेजस्वी, धैर्यवान्, सुशील एवं पवित्र
आचार-विचारवाले लक्ष्मणने हाथ जोड़कर अपने तेजस्वी
भ्राता श्रीगुप्तचन्द्रजीसे कहा— ॥ २० ॥

स्पन्दते मे दृढं काहुरुद्विग्नमिव मे मनः ।

प्रायश्चाप्यनिष्ठानि निमित्तान्युपलक्षये ॥ २१ ॥

तस्मात् सज्जीभवार्थं त्वं कुरुष्व वचनं मम ।

मप्येव हि निमित्तानि सद्यः शंसन्ति मध्धमम् ॥ २२ ॥

आर्य ! मेरी बायीं बाँह जोर-जोरसे फटक रही है और
मन उद्दिप्त सा हो रहा है मुझे शर आ गये शत्रुने निग्रही
ले हैं, इसलिये आप भयका सामना करनेके लिये तैयार हो
जाइये । मेरी बात मानिये । ये जो बुरे शत्रु हैं, वे केवल मुझे
ही तत्काल प्राप्त होनवाले भयकी सूचना देते हैं ॥ २१-२२ ॥

एष खञ्जुलको नाम पक्षी परमदारुणः ।

आवयोधिंजयं घुट्टे शंसन्निव विनर्तति ॥ २३ ॥

(इसके साथ एक शृंग शत्रु भी हो रहा है) यह जो
खञ्जुल नामक अत्यन्त दारुण पक्षी है, यह घुट्टमें हम दोनोंका
विजय सूचित करता हुआ सा जोर जोरसे बोल रहा है ॥

तयोरन्वेषणेरेवं सर्वं तद् वनमोज्जमा ।

संजज्ञे विपुलः शब्दः प्रपञ्चमिव तद् वनम् ॥ २४ ॥

इस प्रकार बलपूर्वक उस सारे वनमें वे दोनों भाई जब
सोताभी रहाज कर रहे थे, उसी समय वहाँ बड़े जाग्य शब्द
हुआ, जो उस वनका विध्वंस करना हुआ सा प्रतीत होता था
संक्षिप्तविधात्यर्थं गहनं मानरिश्वना ।

वनस्य तस्य शब्दोऽभूत् वनमापुरयन्निव ॥ २५ ॥

उस वनमें जोर जोरसे आँधों बलने लगे । वह सारा वन
उसकी लपेटमें आ गया । वनमें इस शब्दकी ओ प्रविष्टान्
उठी, उससे वह सारा वनमाला गूँज उठा ॥ २५ ॥

न शब्दं काङ्क्षमाणस्तु रामः खड्गी सहानुजः ।

ददर्श सुमहाकायं राक्षसं विपुलोरसम् ॥ २६ ॥

भाईके साथ तलवार बाधमें स्थित भगवान् श्रीराम उस
शत्रुका पना लगाना ही चाहते थे कि एक रौंदी छातोवाले
विशालकाय राक्षसपर उनको दृष्ट पड़ी ॥ २६ ॥

आक्षेपतुश्च तद्रक्षस्तावुभौ प्रमुखे स्थितम् ।

विशृङ्खमशिरोग्रोवं कबन्धपुदरेमुखम् ॥ २७ ॥

जब दोनों भाईयों उस राक्षसको अपने सामने खड़ा
पाया वह देखनेमें चालु पड़ा था किन्तु उसके न समक था
न गान्ध । कबन्ध (छड़पात्र) ही उसका स्वरूप था और
उसके पेटमें ही पीठ बना हुआ था ॥ २७ ॥

मेधमिर्निशितेस्तीक्ष्णैर्महागिरिमिवोच्छ्रितम् ।

नीलमेघनिभं रौद्रं मेघस्तनितनिःस्वनम् ॥ २८ ॥

उसके सारे शरीरमें पैने और तीखे राखे थे । वह महान्
पर्वतके समान ऊँचा था । उसकी आकृति बड़ी भयंकर थी ।
वह नील मेघके समान काल्प था और मेघके समान ही
गम्भीर स्वरमें गर्जना करना था ॥ २८ ॥

अग्निज्वालाभिकाशेन ललाटस्थेन दीप्यता ।

महापक्षेण पिङ्गेन विपुलेनायनेन च ॥ २९ ॥

एकेनोरसि घोरेण नयनेन सुदर्शिना ।

महादंष्ट्रापपत्रं तं लेलिहानं महामुखम् ॥ ३० ॥

उसकी छातीमें ही ललाट था और ललाटमें एक ही
लंबी चोटी तथा आगकी ज्वालाके समान दहकती हुई
धयंकर आँख थी, जो अच्छी तरह देख सकती थी । उसकी
पलक बहुत बड़ी थी और वह आँख धूर रंगकी थी । उस
राक्षसकी दूई बहुत बड़ी थी तथा वह अपनी लपलपानी हुई
जोभसे अपने विशाल मुखको बारबार चाट रहा था ।

भक्षयन्तं महाघोरानुक्षसिंहपृगद्विजान् ।

घोरी भुजौ विकुर्वाणमुभौ योजनमायनी ॥ ३१ ॥

कगध्यां विविधान् गृह्य ऋक्षान् पक्षिणान् मृगान् ।

आकर्षन्तं विकर्षन्तमनेकान् पृगयूथपान् ॥ ३२ ॥

अत्यन्त भयंकर रोंछ, सिंह, हिंसक पशु और पक्षी—ये
ही उसके भोजन थे । वह अपनी एक-एक योजन लंबी दोनों
भयानक भुजाओंको दूरतक फैला देता और उन दोनों हाथोंमें
तना प्रकारके अनेकड़े भालू, पक्षी, यज्ञ तथा मृगोंके
यूथपाँतचोंको पकड़कर खींच लेता था । इनमेंसे जो उसे
पान्नके लिये अप्रोष्ट नहीं होते, उन जन्तुओंको वह उनकी
हाथोंमें पीछे दबेला देता था ॥ ३१-३२ ॥

स्थितमासृत्य पन्थानं तयोर्भ्रात्रोः प्रपन्नयोः ।

अथ तं समतिक्रम्य क्रोशमात्रं ददर्शितुः ॥ ३३ ॥

महान्तं दारुणं भीमं कबन्धं भुजसंवृतम् ।

कबन्धमिव संस्थानादतिघोरप्रदर्शनम् ॥ ३४ ॥

दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण जब उसके निकट पहुँचे,
तब वह उनका दम्ता गेककर खड़ा हो गया । तब ये दोनों भाई
उमने दूर हट गये और वह गरम उस दृक्तेन लगे । उस समय
वह एक काम उका जान पड़ा । उस राक्षसकी आकृति केवल
अवन्ध धड़, के हा रूपमें था इत्यन्त घट कबन्ध कहलाता
था वह विशाल विस्मयगयण भयंकर तथा ही बड़ी बड़ी
भुजाओं युक्त था और इनमेंसे अत्यन्त घोर प्रतीत होता था ।

स महाबाहुरत्यर्थं प्रसार्य विपुलौ भुजौ ।

जग्राह सहिनावेव राघवी पीडयन् बलान् ॥ ३५ ॥

उस महाबाहु राक्षसने अपनी दोनों विशाल भुजाओंको
फैलाकर उन दोनों ग्युवशों राजकुमारोंको बलपूर्वक पकड़ा देते
हुए एक साथ ही पकड़ लिया ॥ ३५ ॥

स्वद्विनौ दृढधन्वानी तिग्मतेजौ महाभुजौ ।

धान्यौ विवशौ प्रपृष्टौ कृष्यमाणा महाबली ॥ ३६ ॥

दोनोंके हाथोंमें तलवारें थीं, दोनोंके पास मजबूत धनुष थे और वे दोनों भाई प्रचण्ड नेत्रस्वो विज्ञान भूजाओंमें युक्त तथा महान् बलवान् थे तो भी उस राक्षसके द्वारा खींचे जानेपर विवशताका अनुभव करने लगे ॥ ३६ ॥

तत्र धैर्याच्च शूरस्तु राघवो नैव विव्यथे ।

बाल्यादनाश्रयाद्यैव लक्ष्मणस्त्वधिविव्यथे ॥ ३७ ॥

उस समय वहाँ शूरवीर रघुनन्दन श्रीराम तो धैर्यके कारण व्यथित नहीं हुए, परन्तु बालबुद्धि होने तथा धैर्यका आश्रय न लेनेके कारण लक्ष्मणके मनमें बड़ी व्यथा हुई ॥ ३७ ॥

उवाच च विषण्णः सन् राघवं राघवानुजः ।

पश्य मां विवर्षी वीर राक्षसस्य वशंगतम् ॥ ३८ ॥

तब श्रीरामके छोटे भाई लक्ष्मण विफलप्रयत्न हो श्रीरघुनाथजीसे बोले वीरवर ! देखिये, मैं राक्षसक वशमें पड़कर विवश हो गया हूँ ॥ ३८ ॥

मयैकेन तु निर्युक्तः परिमुच्यस्व राघव ।

मां हि भूतावलिं दत्त्वा पलायस्व यथासुखम् ॥ ३९ ॥

‘रघुनन्दन ! एकमात्र भूजे ही इस राक्षसको धेड़ देकर आप स्वयं उसके बाहुबलमें मुक्त हो जाइय। इस भूजेकी मेरी तो बलि देकर आप सुरगृहके दरवाजे निकल भागिये ।

अधिगन्तामि सैदेहीमच्छिमेणेति मे मतिः ।

प्रतिलप्य च काकुत्स्थ पितृपेतागहीं षहीम् ॥ ४० ॥

तब मां राम राज्यस्थः स्मर्त्तुमर्हसि सर्वदा ।

‘राग विभार है कि आप जोध ही निंदेभूजकुमारको प्राप्त कर लेंगे । ककुत्स्थकुलभूषण श्रीराम ! बनवाससे लौटनेपर पिता-पितामहोंकी भूमिका अपने अधिकारमें लेकर जब आप राज-सिंहासनपर विराजमान होइयगा, तब वही राक्षस मेरा भी स्मरण करते रहियेगा’ ॥ ४० ॥

लक्ष्मणेनैवमुक्तस्तु रामः सौमित्रिभद्रवीत् ॥ ४१ ॥

मां स्म भ्रातंसं वृथा वीर नहि त्वादृग् विषोदति ।

लक्ष्मणके ऐसा कहनेपर श्रीरामने उन सुमित्राकुमारसे कहा - ‘वीर ! तुम भयभीत न होओ । तुम्हसे-जैसे शूरवीर इस तरह विवाद नहीं करते हैं’ ॥ ४१ ॥

एतस्मिन्नन्तरे कुरो भ्रातरी रामलक्ष्मणी ॥ ४२ ॥

तालुवाच महाबाहुः कथन्यो दानवोत्तमः ।

इसी बीचमें कुर दृश्यवाल दानवशिरामणि महाबाहु बलवान् उन दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणसे कहे - ॥

की युवां वृषभस्कन्धौ महाखड्गधनुर्धरो ॥ ४३ ॥

घोरं देशमिमं प्राप्तां दैवेन मम बाक्षुषी ।

वदतं कार्यमिह यां किमर्थं चागती युवाम् ॥ ४४ ॥

‘तुम दोनों क्यों हो ? तुम्हारे कंधे बैलके समान ऊँचे हैं ।

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे एकोनसप्ततितमः सर्गः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यभार्यायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें उनहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६९ ॥

तुमने बड़ी-बड़ी तलवारें और धनुष धारण कर रखे हैं इस भयंकर देशमें तुम दोनों किमलिये आये हो ? यहाँ तुम्हारा क्या कार्य है ? वनाओ ! धर्ममें ही तुम दोनों मेरी आँखोंके सामने पड़ गये ।

इमं देशमनुप्राप्तौ क्षुधार्तस्येह तिष्ठतः ।

सबाणचापसङ्गौ च तीक्ष्णशृङ्गाविवर्षभौ ॥ ४५ ॥

यां तूर्णमनुमप्राप्तौ दुर्लभं जीवितं हि वाम् ।

‘मैं यहाँ भूखमें पीड़ित होकर खड़ा था और तुम स्वयं धनुष-बाण और खड्ग लिये तोखे सँगवाने दो बैलके समान तुम्हें-ही इस स्थानपर मैं निकट आ पहुँचे अतः अब तुम दोनोंका जीवित रहना कठिन है’ ॥ ४५ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा कबन्धस्य दुरात्मनः ॥ ४६ ॥

उवाच लक्ष्मणो रामो मुखेन परिशुष्यता ।

कृच्छ्रात् कृच्छ्रतरं प्राप्य दारुणं सत्यविक्रम ॥ ४७ ॥

व्यसने जीविनान्ताय प्राप्तमप्राप्य तां प्रियाम् ।

दुरात्मा कबन्धको ये बातें सुनकर श्रीरामने सूखे मुखवाले लक्ष्मणसे कहा—‘सत्यपराक्रमी वीर ! कठिन-से-कठिन अमहा दुखका पाकर हम दुखी थे ही, तबतक पून प्रियतमा संगके प्राप्त होनासे पहलें ही हम दोनोंपर यह महान् संकट आ गया, जो जीवनका अन्त कर देनेवाला है ॥

कालस्य सुमहद् वीर्यं सर्वभूतेषु लक्ष्मण ॥ ४८ ॥

त्वां च मां च वरव्याघ्र व्यसनेः पश्य मोहितौ ।

नहि धारोऽस्ति दैवस्य सर्वभूतेषु लक्ष्मण ॥ ४९ ॥

‘मश्रष्ट लक्ष्मण ! कालका महान् बल सभी प्राणियोंपर अपना प्रभाव डालता है । देखो न, तुम और मैं दोनों ही कालके दिये हुए अनेकानेक संकटोंसे मोहित हो रहे हैं

सुमित्रानन्दन दैव अथवा कालके लिये सम्पूर्ण प्राणियोंपर शासन करना धरूप (कठिन) नहीं है ॥ ४८-४९ ॥

शूराश्च बलवन्तश्च कृतास्त्राश्च रणाजिरे ।

कालाधिपन्नाः सीदन्ति यथा बालुकसेतवः ॥ ५० ॥

जैसे बालूके बने हुए पुल पानीके आघातसे डह जाते हैं, उन्ही प्रकार बड़े बड़े शूरवीर, बलवान् और अस्त्रवेत्ता पुरुष भी समरक्षेत्रमें कालके वशीभूत हो कष्टमें पड़ जाते हैं’ ।

इति ब्रुवाणो दुःखसत्यविक्रमो

महायशा दशरथिः प्रतापवान् ।

अवेक्ष्य सौमित्रिमुदग्रविक्रमः

स्थिरं तदा स्थां मतिमात्मनाकरोत् ॥ ५१ ॥

ऐसा कहकर सुदृढ़ एवं सत्यपराक्रमवाले महान् बल-विक्रममें सम्पन्न महायशस्वी प्रतापशाली दशरथनन्दन श्रीरामने सुमित्राकुमारको और देखकर उस समय स्वयं ही अपनी बुद्धिको सुस्थिर कर लिया ॥ ५१ ॥

सप्ततितमः सर्गः

श्रीराम और लक्ष्मणका परस्पर विचार करके कबन्धकी दोनों भुजाओंको
काट डालना तथा कबन्धके द्वारा उनका स्वागत

नौ तु तत्र स्थितौ दृष्ट्वा भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
बाहुपाशपरिक्षिप्तौ कबन्धो वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

अपने बाहुपाशसे धिरकर वहाँ खड़े हुए उन दोनों भाई
श्रीराम और लक्ष्मणकी ओर देखकर कबन्धन कहा— ॥

तिष्ठतः किं नु मां दृष्ट्वा क्षुधार्त क्षत्रियवर्धनौ ।
आहारार्थं तु संतिष्ठौ देवेन हनचेतनौ ॥ २ ॥

'क्षत्रियशिरोमणि राजकुमारों ! मुझे भूखसे पीड़ित
देखकर भी खड़े क्यों हो ? (मेरे मुँहमें चले आओ) क्योंकि
देवने मेरे भोजनके लिये जो तुम्हें यहाँ भेजा है, इसीलिये तुम
दोनोंकी बुद्धि मारी गयी है' ॥ २ ॥

तच्चक्ष्वा लक्ष्मणो वाक्ये प्राप्नोक्तकालं हिते तदा ।
उवाचार्तसमापन्नो विक्रमे कृतनिश्चयः ॥ ३ ॥

यह सुनकर पीड़ित हुए लक्ष्मणने उस समय पराक्रमका
ही निश्चय करके यह समर्थोक्तन एवं हितकर बात कही— ॥

त्वां च मां च पुरा तूर्णमादत्ते राक्षसाधमः ।
तस्मादस्मिभ्यामस्थाशु बाहू छिन्द्यावहे गुरु ॥ ४ ॥

भैया यह नाच राक्षस मुझको और आपको तुरत युद्धम
में ले, इसके गहरे ही हमलोग अपनी तलवारोंसे हमको
बड़ी-बड़ी धाँस शौघ ही काट डालें ॥ ४ ॥

भीषणोऽयं महाकायो राक्षसो भुजविक्रमः ।
लोकं हतिजितं कृत्वा ह्याशौ हन्तुमिहेच्छति ॥ ५ ॥

'यह महाकाय राक्षस सदा भीषण है। इसकी भुजाओंमें
ही इसका साग बल और पराक्रम निहित है। यह समस्त
संसारको सर्वथा पराजित-सा करके अब हमलोगोंको भी
यहाँ मार डालना चाहता है' ॥ ५ ॥

निशेष्टानां बधो राजन् कुस्सिनो भगतीपतेः ।
क्रतुमध्योपनीतानी पशुनामिषं राघव ॥ ६ ॥

'राजन् ! खनुन्धन ! बड़ा ही लाये गये पशुओंके समान
निशेष्ट प्राणियोंका वध राजाके लिये निन्दित बनाया गया है
(इसलिये हमें इसके प्राण नहीं लेने चाहिये, केवल
भुजाओंका ही तख्ते कर देना चाहिये)' ॥ ६ ॥

एतत् संजल्पितं श्रुत्वा तयोः क्रुद्धस्तु राक्षसः ।
खिद्यार्थाय ततो रीद्वे तौ भक्षयितुमारभन् ॥ ७ ॥

उन दोनोंकी यह बाततान्त सुनकर उस राक्षसको बड़ा
क्रोध हुआ और वह अपना भयकर मुख फैलाकर उन्हें खा
जानेको उद्यत हो गया ॥ ७ ॥

ततस्तीं देशकालज्ञौ खड्गाभ्यामेव राघवौ ।
अच्छिन्दन्तौ सुसहृष्टौ बाहू तस्यासदृशतः ॥ ८ ॥

इतनेमें ही देश-काल (अवसर) का ज्ञान रखनेवाले उन

दोनों खनुन्धों राजकुमारोंने अन्यन्त हर्षमें भरकर तलवारोंसे
ही उसकी दोनों भुजाएँ कंधोंसे काट गिरायीं ॥ ८ ॥

दक्षिणो दक्षिणं बाहुमसक्तमसिना ततः ।
विच्छेद रामो वेगेन सव्यं वीरभु लक्ष्मणः ॥ ९ ॥

मगवान् श्रीराम उसका दाहिने भागमें खड़े थे। उन्होंने
अपनी तलवारसे उसको दाहिनी बाँहि बिना किसी रुकावटके
वेगपूर्वक काट डाला तथा वाम भागमें खड़े वीर लक्ष्मणने
उसकी बायीं भुजाको तलवारसे उड़ा दिया ॥ ९ ॥

स पपात महाबाहुश्छिन्नबाहुर्महास्वनः ।
त्वं च मां च दिशश्चैव नादयञ्जलदो यथा ॥ १० ॥

भुजाएँ काट जानेपर वह महाबाहु राक्षस मँधके समान
गम्भीर गर्जना करके पृथ्वी, आकाश तथा दिशाओंको गुँगाता
हुआ धरतीपर गिर पड़ा ॥ १० ॥

स निकृता भुजौ दृष्ट्वा शोणितौघपरिप्लुतः ।
दानं पप्रच्छ तौ वीरौ कौ युष्मपिति दानवः ॥ ११ ॥

अपनी भुजाओंको कटो हुई देख खूनमें लथपथ हुए उस
दानवने दोनो बाणोंमें पूछा— वीरों ! तुम दोनों कौन हो ? ॥

इति तस्य सुवाणस्य लक्ष्मणः शुभलक्षणाः ।
शशंस तस्य काकुत्स्थं कबन्धस्य महाबलः ॥ १२ ॥

कबन्धके इस प्रकार पूछनेपर शुभ लक्षणावाले महाबली
लक्ष्मणने उसे श्रीरामचन्द्रजीका परिचय देना आरम्भ
किया— ॥ १२ ॥

अयमिक्ष्वाकुदायादो रामो नाम जनेः श्रुतः ।
तस्यैवावराजं विद्धि भ्रातरं मां च लक्ष्मणम् ॥ १३ ॥

ये इक्ष्वाकुवंशो महाराज दशरथके पुत्र है और लोगोंने
श्रीराम नाममें विख्यात है। मुझे इन्हींका छोटा भाई समझो।
मेश नाम लक्ष्मण है ॥ १३ ॥

मात्रां प्रतिहते राज्ये रामः प्रव्राजितो वनम् ।
मथा सह चरत्येव भार्यया च महत् वनम् ॥ १४ ॥

अस्य देवप्रभावस्य वमतो विजने वने ।
रक्षसापहृता धार्या यामिच्छन्ताविहागता ॥ १५ ॥

'मात्रा कैकेयोंके द्वारा जब इनका राज्याभिषेक रोक दिया
गया, तब ये पिताकी आज्ञासे वनमें चले आये और मेरे तथा
अपनी पत्नीके साथ इस विशाल वनमें विचरण करने लग।

इस निजन वनमें रहते हुए इन देवतुल्य प्रभावशाली
श्रीरघुनाथजीकी पत्नीको किसी राक्षसने हर लिया है। उन्हींका
पता लगानेकी इच्छासे हमलोग यहाँ आये हैं' ॥ १४-१५ ॥

त्वं तु कौ वा किमर्थं वा कबन्धसदृशो वने ।
आस्येनोरसि दीप्तेन भग्नजङ्घो विचेष्टसे ॥ १६ ॥

‘तुम कौन हो ? और कबन्धकें समान रूप धारण करके क्यों इस वनमें पड़े हो ? छतोंके नीचे चमकता हुआ मुँह और टूटी हुई जंघा (पिण्डली) लिये तुम किस कारण इधर-उधर लुढ़कते फिरते हो ?’ ॥ १६ ॥

एवमुक्तः कबन्धस्तु लक्ष्मणेनोत्तरं वचः ।

उवाच वचनं प्रीतस्तदिन्द्रवचनं स्मरन् ॥ १७ ॥

लक्ष्मणके ऐसा कहनेपर कबन्धको इन्द्रकी कहो हुई बातका स्मरण हो आया । अतः उसने वड़ी प्रसन्नताके साथ लक्ष्मणको उनकी बातका उत्तर दिया— ॥ १७ ॥

स्वागतं वां नरव्याघ्रौ दिष्ट्या यस्यामि वायहम् ।

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽर्ण्यकाण्डे सप्ततितमः सर्गः ॥ ७० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अर्ण्यकाण्डमें सत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७० ॥

एकसप्ततितमः सर्गः

कबन्धकी आत्मकथा, अपने शरीरका दाह हो जानेपर उसका श्रीरामको सीताके अन्वेषणमें सहायता देनेका आश्वासन

पुरा राम महाब्रह्मो महाबलपराक्रमम् ।

रूपमासीन्ममाचिन्त्यं त्रिषु लोकेषु विष्णुतम् ॥ १ ॥

‘महाबाहु श्रीराम ! पूर्वकालमें मेरा रूप महान् बलपराक्रमसे सम्पन्न, अविद्यमान तथा तीन लोकोंमें विख्यात था ॥ १ ॥

यथा सूर्यस्य सोमस्य शक्रस्य च यथा वपुः ।

सोऽहं रूपमिदं कृत्वा लोकविप्रासनं यत्नत् ॥ २ ॥

अगोन् वनगतान् राम आसयामि ततस्ततः ।

‘रूप, कद्रवा और इन्द्रका शरीर जैसा तेजस्वी है, वैसा ही मेरा भी था । ऐसा होनेपर भी मैं लोगोंकी भयभीत करनेवाले इस अत्यन्त भयंकर राक्षस रूपको धारण करके इधर-उधर भ्रमता और वनमें गढ़नेवाले प्राणियोंको डराया करता था ॥ २ ॥

ततः स्थूलशिरा नाम महर्षिः कोपितो मया ॥ ३ ॥

स चिन्त्यन् विविधं वन्ये रूपेणानेन धर्षितः ।

तेनाहभूतः प्रेम्णैव धीर शपामिधापिना ॥ ४ ॥

अपने इस बर्तावसे एक दिन मैंने स्थूलशिरा नामक ऋषिकी कुपित कर दिया । वे नाना प्रकारके जंगलों फल-गुल्ल आदिका संवध कर रहे थे, उसी समय मैंने उन्हें इस राक्षसकथसे डरा दिया । मुझे ऐसे विचित्र रूपमें देगन्तक उन्होंने धीर आप देते हुए कहा— ॥ ३-४ ॥

एतदेवं नृशंसो मे रूपमस्तु विगर्हितम् ।

स मया धावितः कुब्जः शपस्यान्तो धवेदिति ॥ ५ ॥

अभिशापकृतस्येति तेनेदं धावितं वचः ।

‘दुरात्मन् ! आजसे सदाके लिये तुम्हारा यहाँ क्रूर और निन्दित रूप रह जाय ।’ यह सुनकर मैंने उन कुपित महर्षिसे प्रार्थना की— ‘मगधन् ! इस अभिशाप (तिरस्कार)

दिष्ट्या चेमीं निकृष्टौ मे युवाभ्यां बाहुबन्धनौ ॥ १८ ॥

‘पुरुषसिंह मीरो ! आप दोनोंका स्वागत है । जड़े भाग्यमें मुझे आपलोगोंका दर्शन मिल्य है । ये मीरो दोनों भुजाएँ मेरे लिये भारी बन्धन थीं । सौभाग्यकी बात है कि आपलोगोंने इन्हें काट डाला ॥ १८ ॥

विरूपं यद्य मे रूपं प्राप्तं हाकिनयाद् यथा ।

तन्मे शृणु नरव्याघ्र तत्त्वतः शंसतस्तव ॥ १९ ॥

‘नरश्रेष्ठ श्रीराम ! मुझे जो ऐसा कुरूप रूप प्राप्त हुआ है, यह मेरी ही उद्वेगताका फल है । यह सब वैय हुआ, वह प्रसङ्ग आपको मैं ठीक-ठीक बता रहा हूँ । आप मुझसे सुनें’ ॥ १९ ॥

जनिता शपका अन्त होना चाहिये ।’ तब उन्होंने इस प्रकार कहा— ॥ ५ ॥

यदा हित्वा भुजौ रामस्त्वां दहेद् विजने वने ॥ ६ ॥

नदा त्वे प्राप्यसे रूपं स्वमेव विपुलं शुभम् ।

धिया विराजितं पुत्रं दनोस्त्वं विद्धि लक्ष्मण ॥ ७ ॥

‘जय श्रीराम (और लक्ष्मण) तुम्हारी दोनों भुजाएँ काटकर तुम्हें निर्जय वनमें जलायेँगे, तब तुम पुनः अपने उम्मे परम उत्तम, सुन्दर और शोभासम्पन्न रूपको प्राप्त कर लोगे ।’ लक्ष्मण ! इस प्रकार तुम मुझे एक दुराचारी दानव समझो ॥ ६-७ ॥

इन्द्रकोपादिदं रूपं प्राप्तमेवं रणाजिरे ।

अहं हि तपसोऽयेण पितामहमतोषधम् ॥ ८ ॥

दीर्घमायुः स मे प्रादात् तनो मं विभ्रमोऽस्पृशत् ।

दीर्घमायुर्मया प्राप्तं किं मां शक्रः करिष्यति ॥ ९ ॥

‘मेरा जो यह ऐसा रूप है, यह समस्तकृष्णमें इन्द्रके क्रोधसे प्राप्त हुआ है । मैंने पूर्वकालमें राक्षस होनेके पक्षानुसार तपस्या करके पितामह ब्रह्माजीको मनुष्य किया और उन्होंने मुझे दीर्घजीवी होनेका वर दिया । इससे मेरी बुद्धिमें यह भ्रम या अहंकार उत्पन्न हो गया कि मुझे तो दीर्घकालतक वनों रहनेवाली आयु प्राप्त हुई है; फिर इन्द्र मेरा क्या कर लेंगे ? ॥ ८-९ ॥

इत्येवं बुद्धिमास्थाय रणे शक्रमध्वयम् ।

तस्य बाहुप्रमुक्तेन वज्रेण शतपर्वणा ॥ १० ॥

सक्थिनो च शिरश्चैव शरीरे सम्प्रवेशितम् ।

‘ऐसे विचारका आश्रय लेकर एक दिन मैंने युद्धमें देवराजपर आक्रमण किया । उस समय इन्द्रने मुझपर सी धाँवेवाले वज्रका प्रहार किया । उनके छोड़े हुए उस वज्रसे

मेरी जाँघें और मस्तक में ही शरीरमें घुस गये ॥ १० ॥
म मया चाच्यमानः सन् नानयद् यमसादनम् ॥ ११ ॥
पितामहवचः सत्यं तदस्त्विति ममाब्रवीत् ।

‘मैंने बहुत प्रार्थना की, इसलिये उन्होंने मुझे यमलोक नहीं भठाया और कहा—‘पितामह ब्रह्माजीने जो तुम्हें दीर्घजीवी होनेके लिये वरदान दिया है, वह सत्य हो’ ॥
अनाहारः कथं शक्तो भग्नसन्निधिशिरोमुखः ॥ १२ ॥
सन्नेपाभिहतः कालं सुदीर्घमपि जीवितुम् ।

‘तब मैंने कहा—देवराज ! आपने अपने वज्रकी धारसे मेरी जाँघें, मस्तक और गूँह सभी तोड़ डाले । अब मैं कैसे आहार ग्रहण करूँगा और निराहार रहकर किस प्रकार सुदीर्घकालतक जीवित रह सकूँगा ? ॥ १२ ॥
स एवमुक्तः शक्तो ये बाहू योजनमायता ॥ १३ ॥
तदा चास्य च मे कुक्षौ तीक्ष्णदंष्ट्रमकल्पयत् ।

‘मैंने ऐसा कहनेपर इन्द्रने मेरी भुजाएँ एक-एक योजन लम्बी बना दीं एवमन्वत्काल ही मेरे पेटमें तीक्ष्ण दंष्ट्राएँ एक मुकुल बना दिया ॥ १३ ॥
सोऽहं भुजाभ्यां दीर्घाभ्यां संक्षिप्यास्मिन् वनेचगन् ॥ १४ ॥
मिहहोमिभुगव्याघ्रान् भक्षयामि सघनतः ।

‘इस प्रकार मैं विशाल भुजाओंद्वारा वनमें रहनेवाले सिंह, चीते हरिन और बाघ आदि जन्तुओंको सब आगम सम्भरकर खाया करता था ॥ १४ ॥
स तु धामब्रह्मदिन्द्रो यदा गमः सत्यक्षमण ॥ १५ ॥
छेत्स्यते समरे बाहू तदा स्वर्गे गमिष्यसि ।

इन्द्रने मुझे यह भी वरदान दिया था कि जब लक्ष्मण-सहित श्रीराम तुम्हारी भुजाएँ काट देंगे, तब समय तुम स्वर्गमें जाओगे ॥ १५ ॥
अनेन चपूषा तात वनेऽस्मिन् राजसत्तम ॥ १६ ॥
यद् धनं पश्यामि सर्वस्य ग्रहणं साधु रोचये ।

‘तात ! राजाशिरामण ! इस शरीरमें इस वनके भीतर मैं जो जो वस्तु देखता हूँ वह सब ग्रहण कर लूँगा मुझे ठाँक लागता है ॥ १६ ॥
अवश्यं ग्रहणं शयो मन्देऽहं समुपैष्यति ॥ १७ ॥
इमां वृद्धिं पुरस्कृत्य देहम्यासकृतश्रमः ।

‘इन्द्र तथा मुनिके कथनानुसार मुझे यह विश्वास था कि एक दिन श्रीराम अवश्य मेरा फकड़में आ जायेंगे । इमां वृत्तांशों सामने रखकर मैं इस शरीरकी त्याग देनके लिये तैयार हो रहा था ॥ १७ ॥
म त्वं रामोऽसि धर्त्र ते नाहमन्येन राघव ॥ १८ ॥
शक्यो हन्तुं यथा सत्त्वमेवमुक्त महर्षिणा ।

‘रघुनन्दन ! अवश्य ही आप श्रमाय हैं । आपको जल्पाता हूँ । मैं आपको मिला दुमरे किन्नास नहीं मारा जा सकता था । यह बात महर्षिने ठीक ही कही थी ॥ १८ ॥

अहं हि मतिसाचिव्यं करिष्यामि नरर्षभ ॥ १९ ॥
मित्रं त्वेवोपदेक्ष्यामि युवाभ्यां संस्कृतोऽग्निना ।

‘नरश्रेष्ठ ! आप दोनों जब अग्निके द्वारा मेरा दाह-संस्कार कर देंगे, उस समय मैं आपकी बौद्धिक सहायता करूँगा । आप दोनोंके लिये एक अच्छे मित्रका पता बताऊँगा’ ॥
एवमुक्तस्तु धर्मात्मा दनुना तेन राघवः ॥ २० ॥
इदं जगाद वचनं लक्ष्मणस्य च पश्यतः ।

उम दानवके ऐसा कहनेपर धर्मात्मा श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणके सामने उससे यह बात कही— ॥ २० ॥
रावणेन हुता भार्या सीता मम यशस्विनी ॥ २१ ॥
निष्क्रान्तस्य जनस्थानात् सह भ्रात्रा यथासुखम् ।

नाममात्रं तु जानामि न रूपं तस्य रक्षसः ॥ २२ ॥
‘कखन्ध ! मेरी यशस्विनी भार्या सीताको रावण हर ले गया है । उस समय मैं अपने भाई लक्ष्मणक साथ सुखपूर्वक जनस्थानके बाहर चला गया था । मैं इस राक्षसका नाममात्र जानता हूँ । उसका शकल-सूरतसे परिचित नहीं हूँ ॥
निवासं वा प्रभावं वा वयं तस्य न विच्छे ।

शोकार्तानामनाथानामेवं विपरिधावताम् ॥ २३ ॥
काभरणं सदृशं कर्तुमुपकारेण वर्तताम् ।

‘वह कहाँ रहता है और कैसा उसका प्रभाव है, इस बातसे हमलोग भयंभीत अनभिज्ञ हैं । इस समय सीताका शाक हम वड़ी पीड़ा दे रहा है । हम असहाय होकर इसी तरह सब ओर दीड़ रहे हैं । तुम हमारे ऊपर समुचित करुणा करनेके लिये इस विषयमें हमारा कुछ उपकार करो ।

काष्ठान्यानीय भग्नानि काले शुष्काणि कुञ्जरैः ॥ २४ ॥
भक्षयामस्त्वां वयं चौर क्षत्रे महति कल्पिते ।

‘चौर ! फिर हमलोग हाथियोंद्वारा तोड़े गये सूखे काष्ठ लाकर स्वयं खादे हुए एक बहुत बड़े गड्ढेमें तुम्हारे शरीरको रखकर खाएँ देंगे ॥ २४ ॥

म त्वं सीतां समाचक्ष्व येन वा यत्र वा हुता ॥ २५ ॥
कुरु कल्याणमत्यर्थं यदि जानासि तत्त्वतः ।

‘अतः अब तुम हमें सीताका पता बताओ । इस समय वह कहाँ है ? तथा उसे कौन कहाँ ले गया है ? यदि ठीक-ठाक जानते हो तो सीताका समाचार बताकर हमारा अन्यन्न कल्याण करो’ ॥ २५ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण वाक्यं दनुरनुत्तमम् ॥ २६ ॥
प्रोवाच कुशलो वक्ता वक्तामपि राघवम् ।

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर वातचीतमें कुशल उम दानवने उन प्रवचनपटु रघुनाथजीसे यह परम उत्तम बात कही— ॥ २६ ॥

दिव्यमस्ति न मे ज्ञानं नाभिजानामि मैथिलीम् ॥ २७ ॥
यस्तां वक्ष्यति तं वक्ष्ये दग्धः स्व रूपमास्थितः ।
योऽभिजानाति तद्रक्षस्तद् वक्ष्ये राम तत्परम् ॥ २८ ॥

‘श्रीराम ! इस समय मुझे दिव्य ज्ञान नहीं है, इसलिये मैं मिथिलशकुमारोंके विषयमें कुछ भी नहीं जानता । तब मैं इस शरीरका दाह हो जायगा, तब मैं अपने पूर्व स्वरूपको प्राप्त होकर किसी ऐसे व्यक्तिको पता बना सकूँगा जो मोताके विषयमें आपको कुछ बतायेगा तथा जो उस उत्कृष्ट राक्षसको भी जानता होगा, ऐसे पुरुषका आपको परिचय दूँगा ॥ २७-२८ ॥

अदग्धस्य हि विज्ञातुं शक्तिरस्ति न ये प्रभो ।

राक्षसं तु महावीर्यं सीता येन हता तव ॥ २९ ॥

‘प्रभो ! जबतक मैं इस शरीरका दाह नहीं होगा तबतक मुझमें यह जाननेकी शक्ति नहीं आ सकती कि वह महा-पराक्रमी राक्षस कौन है, जिसने आगकी मीमांसा अपहरण किया है ॥ २९ ॥

विज्ञानं हि महद् भद्रं शापदोषेण राघव ।

स्वकृतेन मया प्राप्तं रूपं लोकविगर्हितम् ॥ ३० ॥

‘रघुनन्दन ! शाप-दोषके कारण मैं महान् विज्ञान भद्र तो गया है, अपनी ही शरतुलसे मुझे यह लोकनिन्दित रूप प्राप्त हुआ है ॥ ३० ॥

किं तु यावद्य यात्यस्तं सचिता श्रान्तधाहनः ।

सावन्मामधटे श्लिप्त्वा वह राम सथाविधि ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीयां आदिकाव्यसंग्रहकाण्डे एकसप्ततितमः सर्गः ॥ ७१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकीनिमित्त आर्यरामायण आदिकाव्यके अग्रथकाण्डमें एकसप्ततिसर्ग पूरा हुआ ॥ ७१ ॥

द्विसप्ततितमः सर्गः

श्रीराम और लक्ष्मणके द्वारा चिताकी आगमें कबन्धका दाह तथा उसका दिव्य रूपमें प्रकट होकर उन्हे सुग्रीवसे मित्रता करनेके लिये कहना

एवमुक्त्वा तु तौ वीरौ कबन्धेन नरेश्वरी ।

गिरिप्रदग्धमासाद्य धावकं विससर्जतुः ॥ १ ॥

कबन्धके ऐसा कहनेपर उन दोनों वीर नरेश्वर श्रीराम और लक्ष्मण ने उसके शरीरको एक पर्वतके गर्भमें डालकर उसमें आग लगा दी ॥ १ ॥

लक्ष्मणस्तु महोत्काशिवर्जिततपि-समन्ततः ।

क्षितरादीपयामास सा प्रज्ज्वाल सर्वतः ॥ २ ॥

लक्ष्मणने जलते हुए कड़े कड़े सुकगियोंके द्वारा चारों ओरसे उसकी चितामें आग लगायी, फिर तब वह सब ओरसे प्रज्वलित हो उठी ॥ २ ॥

तच्छरीरं कबन्धस्य धृतपिण्डोपमे महत् ।

मेदसा पच्यमानस्य मन्दं दहनं पावकः ॥ ३ ॥

चितामें जलते हुए कबन्धका विशाल शरीर चविकासे भरा होनेके कारण धीरे-धीरे जलने लगा था । चिताकी आग तब धीरे-धीरे जलने लगी ॥ ३ ॥

सविधूय चितामाशु विधूयोऽग्रिचोत्थितः ।

अग्रे वाससी विभ्रन्माल्यं दिव्यं महाबलः ॥ ४ ॥

‘किन्तु श्रीराम ! जबतक सूर्यदेव अपने वाहनोके थक जानपर अस्त नहीं हो जाते, तभीतक मुझे गड्डेमें डालकर शास्त्रीय विधिके अनुसार मैं दाह-संस्कार कर दोजिये ॥ ३१ ॥

दग्धस्त्वयाहमवटे न्यायेन रघुनन्दन ।

वक्ष्यामि ते महावीर यस्तं वेत्स्यति राक्षसम् ॥ ३२ ॥

‘महावीर रघुनन्दन ! आपके द्वारा विधिपूर्वक गड्डेमें मैं शरीरका दाह हो जानेपर मैं ऐसे महापुरुषका परिचय दूँगा, जो उस राक्षसको जानले होंगे ॥ ३२ ॥

तेन सख्यं च कर्तव्यं न्याय्यवृत्तेन राघव ।

कल्पयिष्यति ते वीर साहाय्यं लघुविक्रम ॥ ३३ ॥

शीघ्र परक्रम प्रकट करनेवाले वीर रघुनाथजी ! न्यायचिन्त आचारवाले उन महापुरुषके साथ आपको मित्रता कर लेनी चाहिये । वे आपकी सहायता करेंगे ॥ ३३ ॥

नहि तस्यास्त्यविज्ञातं त्रिषु लोकेषु राघव ।

सर्वान् पण्डितान् लोकान् पुरा वै कारणान्तरे ॥ ३४ ॥

‘रघुनन्दन ! उनके लिये तौनों लोकमें कुछ भी अज्ञात नहीं है, क्योंकि किसी कारणवश वे पहले समस्त लोकोंमें चकर लगा चुके हैं ॥ ३४ ॥

तदनन्तर वह महाबली कबन्ध तुरन्त ही चिताको हिलाकर ही निर्मल वस्त्र और दिव्य पुष्पोंका हाव धारण किये धूमरहित आग्रिक समान उठ खड़ा हुआ ॥ ४ ॥

ततश्चिनाया वेगेन भास्वरो विरजाम्बरः ।

उपपाताशु संहृष्टः सर्वप्रत्यङ्गभूषणः ॥ ५ ॥

विमाने भास्वरे तिष्ठन् हंसयुक्ते यशस्करो ।

प्रथया च महातेजा दिशो दश विराजयन् ॥ ६ ॥

सोऽन्तरिक्षगतो वाक्यं कबन्धो राममब्रवीत् ।

फिर वेगपूर्वक चितासे ऊपरको उठ और शीघ्र ही एक नरस्त्री विमानपर जा बैठा । निर्मल वस्त्रोंसे विभूषित हो वह बड़ा तेजस्वी दिखायी देता था । उसके मनमें हर्ष भर हुआ था तथा समस्त अङ्ग-प्रत्यङ्गमें दिव्य आभूषण शोभा दे रहे थे । हंसोंसे जुते हुए उस यशस्वी विमानपर बैठा हुआ महान् तेजस्वी कबन्ध अपनी प्रभासे दसों दिशाओंको प्रकाशित करने लगा और अन्तरिक्षमें स्थित हो श्रीरामसे इस प्रकार बोला— ॥ ५-६ ॥

शृणु राघव तत्त्वेन यथा सीतामवाप्स्यसि ॥ ७ ॥

राम बहु युक्तयो लोके याभिः सर्वे विप्रश्यते ।
परिमृष्टो दशान्तेन दशाभागेन संव्यते ॥ ८ ॥

‘रघुनन्दन ! आप जिस प्रकार सांताके पा सकेंगे, वह ठीक-ठीक बता रहा हूँ, सुनिये । श्रीराम ! लोकमें छः युक्तियाँ हैं, जिनमें राजाओं द्वारा सब कुछ प्राप्त किया जाता है (उन युक्तियों तथा उपायों के नाम हैं—संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधोपाय और समाश्रय^१) । जो मनुष्य दुर्दशमें प्रस्त होता है, वह दूसरे किसी दुर्दशाग्रस्त पुरुषमें हाँ संका या सहायता प्राप्त करता है (यह नीति है) ॥ ७-८ ॥

दशाभागगतो ज्ञीनस्त्वं हि राम सलक्ष्मणः ।
यत्कृते व्यसनं प्राप्तं स्वया दारप्रधर्षणम् ॥ ९ ॥

‘श्रीराम ! लक्ष्मणसहित आप बुरी दशाके दिक्कार हो रहे हैं, इसीलिये आपलोग राज्यसे वञ्चित हैं तथा उस बुरी दशाके कारण ही आपको अपनी भाषाके अपहरणका महान् दुःख प्राप्त हुआ है ॥ ९ ॥

तत्त्वदर्थं स्वया कार्यः स सुहृद् सुहृदां पर ।
अकृत्वा नहि ते सिद्धिमहं पश्यामि चिन्तयन् ॥ १० ॥

अतः सुहृदोऽयं श्रेष्ठ रघुनन्दन ! आप अवश्य ही उस पुरुषको अपना सुहृद् बनाइये, जो आपकी ही भाँति दुर्दशामें पड़ा हुआ हो (इस प्रकार आप सुहृदका आश्रय लेकर समाश्रय नीतिको अपनाइये) । मैं बहुत सोचनेपर भी ऐसा किये बिना आपकी सफलता नहीं देखता हूँ ॥ १० ॥

श्रूयतां राम वक्ष्यामि सुग्रीवो नाम वानरः ।
भ्रात्रा निरस्तः क्रुद्धेन बालिना शक्रसुनुना ॥ ११ ॥

‘श्रीराम ! सुनिये, मैं ऐसे पुरुषका परिचय दे रहा हूँ, उनका नाम है सुग्रीव, वे जातिक बाना हैं, उन्हें उनके भाई दन्तकुमार बालीने क्रोधित होकर धरममें निकाल दिया है, अध्यायपूर्वक गिरिवरे घम्यापघ्नशोभिते ।

निवसत्वात्पथान् वीरशत्रुर्भिः सह वानरः ॥ १२ ॥

‘वे गनस्की वीर सुग्रीव इस समय चार वानरोंके साथ उस गिरिवा अध्यायपूर्ण निवास करते हैं, जो घम्यापघ्नकरके फैला हुआ है ॥ १२ ॥

वानरेन्द्रो महावीर्यस्तेजोवानमितप्रभः ।
सत्यसंधो विनीतश्च धृतिमान् मतिमान् महान् ॥ १३ ॥

दक्षः प्रणतश्चो धृतिमान् महाबलपराक्रमः ।

‘वे वानरोंके राजा महापराक्रमी सुग्रीव तेजस्वी, अत्यन्त शक्तिमान्, सत्यप्रतिज्ञ, विनयशाल, धैर्यवान्, कुंडमान्, महापुरुष, कार्यदक्ष निर्भीक शौर्यान् तथा महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न हैं ॥ १३ ॥

भ्रात्रा विद्यामिनो वीर राज्यज्ञेनोर्ध्वहात्मना ॥ १४ ॥

स ते सहायो मित्रं च सीतायाः परिमार्गणे ।
भविष्यति हि ते राम मा च शोके मनः कृथाः ॥ १५ ॥

‘वर श्रीराम ! उनके महामना भाई बालीने सारे राज्यको अपने अधिकारमें कर लेनेके लिये उन्हें राज्यसे बाहर निकाल दिया है, अतः वे सीताकी खोजके लिये आपके सहायक और मित्र होंगे इसलिये आप अपने मनको शोकमें न डालिये ॥ १४-१५ ॥

भविष्यति हि तद्यापि न तच्छक्यमिहान्यथा ।
कर्तुमिच्छाकुशार्दूल कालो हि दुरतिक्रमः ॥ १६ ॥

‘इच्छाकुशजी कीदोमें श्रेष्ठ श्रीराम ! जो हाँवदार है, उसे कोई भी पलट नहीं सकता । कालका विधान सभीके लिये दुर्लभ्य होता है (अतः आपपर जो कुछ भी बीत रहा है, उसे काल या प्राकृतिक विधान समझकर आपको धैर्य धारण करना चाहिये) ॥ १६ ॥

गच्छ शीघ्रमितो वीर सुग्रीवं ते महाबलम् ।
वयस्यं ते कुरु क्षिप्रमितो गत्वाद्य राघव ॥ १७ ॥

‘चोर रघुनाथजी ! आप यहाँसे शीघ्र ही महाबली सुग्रीवके पास जाइये और आकर तुरंत उन्हें अपना मित्र बना लीजिये ॥ १७ ॥

अद्रोहाय समागम्य दीप्यमाने विभावसौ ।
न च ते सोऽव्ययन्तव्यः सुग्रीवो वानराधिपः ॥ १८ ॥

‘प्रज्वालित अग्निके साक्षी बनाकर घम्यर डोह न करनेके लिये मैंने स्थापित कीजिये और ऐसा करनेके बाद आपकी कष्टों उन वानराज सुग्रीवका अपमान नहीं करना चाहिये ॥

कृतज्ञः कामरूपी च सहायार्थी च वीर्यवान् ।
शक्नो ह्यद्य युवां कर्तुं कार्यं तस्य चिकीर्षितम् ॥ १९ ॥

‘वे इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले, पराक्रमी और कृतज्ञ हैं तथा इस समय अथ ही अपने लिये एक सहायक है, वह है उनका जो अभिष्ट कार्य है उस सिद्ध करनेमें आप दोनों भाई समर्थ हैं ॥ १९ ॥

कृतार्थो वाकृतार्थो वा तव कृत्यं करिष्यति ।
स ऋक्षरजसः पुत्रः घम्यामटति शङ्कितः ॥ २० ॥

‘सुग्रीवका मनोरथ पूर्ण हो या न हो, वे आपका कार्य अवश्य सिद्ध करेंगे । वे ऋक्षरजाके क्षेत्रज्ञ पुत्र हैं और बालीमें शक्तिमान रहकर घम्यामरोवरके तटपर प्रसन्न रहते हैं ।

भास्करस्यौरसः पुत्रो बालिना कृतकिल्बिषः ।
संनिधाद्यायुधं क्षिप्रमृध्यभुकालये कपिम् ॥ २१ ॥

‘उन्हें सूर्यदेवका औरस पुत्र कहा गया है । उन्होंने बालीका अपराध किया है (इसीलिये वे उससे डरते हैं) ।

रघुनन्दन ! अग्निके समीप हथियार रखकर शीघ्र ही सत्यको शपथ खाकर ऋष्यभूकनिवासी वनचारी वानर-मुण्डोंका आप अपना मित्र बना लीजिये ॥ २१ ॥

स हि स्थानानि कात्स्न्येन सर्वाणि कपिकुञ्जरः ॥ २२ ॥
नरमांसाशिनो लोके नैपुण्यादधिगच्छति ।

‘कपिश्रेष्ठ सुग्रीव संसारमें नरमांसभक्षी राक्षसोंके जितने स्थान हैं, उन सबको पूर्णरूपसे निपुणतापूर्वक जानते हैं ।

य तस्याविदितं लोके किञ्चिदस्ति हि राघव ॥ २३ ॥
यावत् सूर्यः प्रतपति सहस्रांशुः परंतप ।

‘रघुनन्दन ! शक्रुदमत ! सहस्रों किरणोंवाले सूर्यदेव जहाँतक तपने है, वहाँतक संसारमें कोई ऐसा स्थान या वस्तु नहीं है, जो सुग्रीवके लिये अज्ञात हो ॥ २३ ॥

स नदीर्विपुलाप्स्रौलान् गिरिदुर्गाणि कन्दरान् ॥ २४ ॥
अन्विष्य वानरैः सार्धं पत्नीं तेऽधिगमिष्यति ।

‘वे आनर्गिक साथ रहकर समस्त नदियों, बड़े बड़े पर्वतों, पहाड़ी दुर्गम स्थानों और कन्दरोंमें भी खोज करकर

आपकी पत्नीका पत्त लगा लेंगे ॥ २४ ॥

वानरांश्च महाकायान् प्रेषयिष्यति राघव ॥ २५ ॥
दिशो विचेतुं तां सीतां त्वद्वियोगेन शोचतीम् ।

अन्वेष्यति वरारोहां मैथिलीं रावणतलये ॥ २६ ॥

‘राघव ! वे आपके वियोगमें शोक करती हुई सीताको खोजके लिये सम्पूर्ण दिशाओंमें विशालकाय वानरोंका भेजेंगे, तथा रावणके घरसे भी सुन्दर अङ्गीवाली मिथिलेशकुमारकी ढूँढ़ निकालेंगे ॥ २५-२६ ॥

स मेरुभृङ्गाग्रगतामनिन्दितां

प्रविश्य पातालतलेऽपि वाश्रिताम् ।

प्रवङ्गमानामृषभस्तव प्रिया

निहत्य रक्षांसि पुनः प्रदास्यति ॥ २७ ॥

‘आपकी प्रिया सती-साध्वी सीता मेरुशिखरके अग्रभागपर पहुँचायी गयी हो या पातालमें प्रवेश करके गयी हो वानरदिवसोंमें सुग्रीव समस्त राक्षसोंका वध करके उन्हें पुनः आपके पास ला देगे ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥ ७२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकीजीमेंत आर्यरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें बहतरका सर्ग पूरा हुआ ॥ ७२ ॥

त्रिसप्ततितमः सर्गः

दिव्य रूपधारी कवचधरा श्रीराम और लक्ष्मणको ऋष्यभूक और पम्पासरोवरका मार्ग बताना तथा भतङ्गमुनिके वन एवं आश्रमका परिचय देकर प्रस्थान करना

पक्षीपिच्छा तु रामाय सीतायाः परिमार्गणे ।

वाक्यमन्वर्थमर्थज्ञः कवचः पुनरब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीरामको सीताकी खोजकर उपाय दिखाकर अर्थवेत्ता कवचने तनसे पुनः यह प्रयोजनयुक्त बात कही ॥ १ ॥

एष राम शिवः पन्था यत्रते पुष्पिता हुमाः ।

प्रतीची दिशमाश्रित्य प्रकाशन्ते मनोरमाः ॥ २ ॥

‘श्रीराम ! यहाँसे पश्चिम दिशाका आश्रय लेकर जहाँ वे पृथ्वीसे थरे हुए मनोरम वृक्ष शीघ्र पक रहे हैं, वहाँ आपके जाने लायक सुखद मार्ग है ॥ २ ॥

जम्बूप्रियालपनसा न्यमोषप्रक्षतिन्दुकाः ।

अश्वत्थाः कर्णिकाराश्च चूताश्चान्ये च पादपाः ॥ ३ ॥

अन्वना नागवृक्षाश्च तिलका नक्तमालकाः ।

नीलमवाकाः कदम्बाश्च करवीराश्च पुष्पिताः ॥ ४ ॥

अग्निमुख्या अशोकाश्च सुरक्षाः पारिपद्रकाः ।

तानारुह्याथवा भूमीं पातयित्वा च तान् बलात् ॥ ५ ॥

फलान्यमृतकल्पानि धक्षयित्वा गमिष्यथः ।

‘जामुन, प्रियाल (चिरीजी), कटहल, बड़, फकड़, तैटू, पीपल, कनर, आम तथा अन्य वृक्ष, घण्ट, नागकेशर, तिलक, नक्तमाल, नील, अशोक, कदम्ब, सिले हुए करवीर, भिलावा, अशोक, लाल चन्दन तथा मन्दार—ये

वृक्ष मार्गमें पड़ेंगे । आप दोनों भाई इनकी डालियोंको बलपूर्वक धूमप करके अथवा इन वृक्षोंपर चढ़कर इनके अमृततुल्य मधुर फलोंका आहार करने हुए यात्रा कीजियेगा ।

तदतिक्रम्य काकुत्स्थ वनं पुष्पितपाटपम् ॥ ६ ॥

नन्दनप्रतिमं त्वान्यत् कुरुक्षस्तूरा इव ।

सर्वकालफला यत्र पादपा भधुरत्नवाः ॥ ७ ॥

‘ककुत्स्थ ! खिले हुए वृक्षोंसे सुशोभित उस वनकी लक्ष्यकर आपलोग एक दूसरे वनमें प्रवेश कीजियेगा, जो नन्दनवनके समान मनोहर है । उस वनके वृक्ष इतर कुम्भजके वृक्षोंकी भाँति मधुकी घाग बहानेवाले हैं तथा उनमें सभी ऋतुओंमें सदा फल लगे रहते हैं ॥ ६-७ ॥

सर्वे च ऋतवस्तत्र वने चैत्ररथे यथा ।

फलधारनतास्तत्र महाविटपधारिणः ॥ ८ ॥

‘चैत्ररथ वनकी भाँति उस मनोहर काननमें सभी ऋतुएँ निवास करती हैं । वहँकि वृक्ष बड़ी-बड़ी शाखा धारण करनेवाले तथा फलोंके भारसे झुके हुए हैं ॥ ८ ॥

शोभन्ते सर्वतस्तत्र मेघपर्वतसंनिभाः ।

तानारुह्याथवा भूमीं पातयित्वाथवा सुखम् ॥ ९ ॥

फलान्यमृतकल्पानि लक्ष्यणस्ते प्रदास्यति ।

‘वे वहाँ सब ओर मेघों और पर्वतोंके समान शोभा पाते

है। लक्ष्मण उन वृक्षोंपर चढ़कर अथवा सुखपूर्वक ठहरे
पुष्पापर झुकाकर उनके अमृतमूल्य मधुर फल आपका
देगे ॥ ९३ ॥

चङ्क्रमन्तावराज्योलाज्योलाच्छेल वनाद् वनम् ॥ ९० ॥
ततः पुष्करिणीं वीरौ पम्पां नाम भविष्यथः ।

‘इस प्रकार सुन्दर पर्वतोंपर भ्रमण करते हुए आप
दोनों भाई एक पहाड़से दूसरे पहाड़पर तथा एक वनमें
दूसरे वनमें पहुँचेंगे और इस तरह अनेक पर्वतों तथा वनोंको
लघिते हुए आप दोनों वीर पम्पा नामक पुष्करिणीके तटपर
पहुँच जायेंगे ॥ ९० ॥

अशर्करामविभ्रशा समनीर्यामर्जवलाम् ॥ ९१ ॥
राम संजानवालूका कमलतपलशोभिताम् ।

‘श्रीराम ! वहाँ कंकड़का नाम नहीं है। उसके तटपर पे
फिरालने लम्बक काँचड़ आदि नहीं हैं। उसके घाटकी भूमि
सब आसं बराबर है—ऊँची-नीची या ऊँड़-साँड़ नहीं
है। उस पुष्करिणीमें सेवारका संबंधा अभाव है। उसके
भीतरकी भूमि चालूकापूर्ण है। कमल और उत्पल उस
सरोवरकी शोभा बढ़ाते हैं ॥ ९१ ॥

पद्म हंसाः प्लवाः क्रीडाः कुरराश्च राघव ॥ ९२ ॥
वल्लभस्वरा निकृजन्ति पम्पासलिलगोचराः ।

नोद्विजन्ते नरान् दृष्ट्वा वधस्याकोकिताः शुभाः ॥ ९३ ॥

‘रघुनन्दन ! वहाँ पम्पाके जलमें विचरनवाले हंस,
क्याण्डव क्रीड़ा और कुरा मदा मधुर स्वर्गमें कृजने
हैं। ये मनुष्योंको देखकर उद्विग्न नहीं होते हैं। क्योंकि
किसी मनुष्यके द्वारा किसी पक्षीका वध भी हो सकता
है, ऐसे भयका उन्हें अनुभव नहीं है। ये सभी पक्षी बड़े
सुन्दर हैं ॥ ९२-९३ ॥

प्लवगिण्डोपमान् स्यूलास्तान् विजान् धक्षयिष्यथः ।
रोहिणान् चक्रतुण्डाश्च नलभीनाश्च राघव ॥ ९४ ॥
पम्पायापिर्धाभिर्मत्स्यास्तत्र राम वरान् हतान् ।

निस्त्वक्पक्षानयस्तामान्कृशानेककण्टकान् ॥ ९५ ॥
तत्र भक्त्या समायुक्तो लक्ष्मणः सप्रदास्यति ।

‘बाणोंके अग्रभागमें जिनके छिन्नके छुड़ा दिये गये हैं,
आसन्न जिनमें एक भी काँटा नहीं रह गया है, जो भीक
लौटेके समान चिकने तथा आर्द्र है—सूते नहीं है, जिन्हें
मोहाय बाणोंके अग्रभागमें गूँथकर अगम्य संकट और
पक्षाघात गया है, ऐसे फल-मूल्यके हेतु वहाँ भक्ष्य पदार्थके
रूपमें उपलब्ध होंगे। आपके प्रति भक्तिभावसे सम्यक्
लक्ष्मण आपको वे भक्ष्य पदार्थ अर्पित करेंगे। आप दोनों
भाई उन पदार्थोंको लेकर उस सरोवरके घाटे घाट सुप्रसिद्ध
जलचर पक्षियों तथा श्रष्ट रोहित (रोह), चक्रतुण्ड और
नलभीन आदि मत्स्योंको थोड़ा-थोड़ा करक खिलवायेंगे
(दूसरे आपका मनोरञ्जन होगा) ॥ ९४-९५ ॥

भृशं तान् खादतो मत्स्यान् पम्पायाः पुष्पसंचये ॥ ९६ ॥
पद्मगन्धि शिवं वारि सुखशीतमनामधम् ।

उद्धृत्य स तदाङ्गिष्ठं स्यात्स्फटिकसंनिधम् ॥ ९७ ॥
अथ पुष्करपणं लक्ष्मणः पाययिष्यति ।

‘जिस समय आप पम्पासरोवरकी पुष्पाशिके समीप
फूलियाका भोजन करनेकी क्रीडामें अत्यन्त संलग्न
होंगे, उस समय लक्ष्मण उस सरोवरका कमलकी गन्धमें
सुवासित, कल्याणकारी, सुखद, शीतल, रोगनाशक,
कृशहारी तथा चाँदी और स्फटिकमणिके समान स्वच्छ जल
कमलके पत्रोंमें निकालकर लायेंगे और आपको पिलवायेंगे ॥

स्थूलान् गिरिगुहाशय्यन् खानरान् वनचारिणः ॥ ९८ ॥
सायाहे विचरन् राम दर्शयिष्यति लक्ष्मणः ।

‘श्रीराम ! सायंकालमें आपको साथ विचरते हुए लक्ष्मण
आपका उन मोटे मोटे वनचारों खानरोंका दर्शन करायेंगे, जो
पर्वतोंकी गुफाओंमें सोते और रहते हैं ॥ ९८ ॥

अप्यं लोभादुपावृत्तान् वृषभानिव नर्दतः ॥ ९९ ॥
स्थूलान् पीतांश्च पम्पायां द्रक्ष्यसि त्वं नरोत्तम ।

‘नश्रेष्ठ ! वे खानर पानी पीनेके लोभसे पम्पाके तटपर
आकर सोड़के समान गर्जते हैं। उनके शरीर मोटे और रंग
पीले होते हैं। आप उन सबका वहाँ देखेंगे ॥ ९९ ॥

सायाहे विचरन् राम विटपी माल्यधारिणः ॥ १०० ॥
दिवांदकं च पम्पायां दृष्ट्वा शोकं विहास्यसि ।

‘श्रीराम ! सायंकालमें चलते समय आप बड़ी-बड़ी
शयनान्नाल पुष्पधाने वृक्षों तथा पम्पाके शीतल जलका
दर्शन करके अपना शोक त्याग देंगे ॥ १०० ॥

सुमनोभिश्चितास्तत्र तिलका नक्तमालकाः ॥ १०१ ॥
उत्पलानि च फुल्लानि पङ्कजानि च राघव ।

‘रघुनन्दन ! वहाँ फूलोंसे भरे हुए तिलक और
नक्तमालके वृक्ष शोभा पाते हैं तथा जलके भीतर उत्पल और
कमल फूले दिखायी देते हैं ॥ १०१ ॥

न तानि कश्चिन्माल्यानि तत्रारोपयिता नरः ॥ १०२ ॥
न च तै म्लानतां यान्ति न च शीर्यन्ति राघव ।

‘रघुनन्दन ! कोई भी मनुष्य वहाँ उन फूलोंको उतारकर
धारण नहीं करता है। (क्योंकि सदातक किसीको पहुँच ही
नहीं हो पाता है) पम्पासरोवरके फूल न तो मुरझाते हैं और
न झरते ही हैं ॥ १०२ ॥

मत्तङ्गशिष्यास्तत्रासन्नृषयः सुसमाहितः ॥ १०३ ॥
तेषां धाराभितप्तानां खन्यमाहरतां गुरोः ।

ये प्रपेतुर्महीं तूष्णीं शरीरात् स्वेदबिन्दवः ॥ १०४ ॥
तानि माल्यानि जातानि मुनीनां तपसा तदा ।

स्वेदबिन्दुसमुत्थानि न विमृश्यन्ति राघव ॥ १०५ ॥
‘कहते हैं, वहाँ पहले मतंग मुनिके शिष्य ऋषिगण
निवास करते थे, जिनका चित्त सदा एकाग्र एवं शान्त रहता

था। वे अपने गुरु भगवन् मुनिके लिये जब जंगलमें फल-मूल ले आते और उनके भारसे थक जाते, तब उनके शरीरसे पृथ्वीपर पर्सीनोंकी जो बूटें गिरनी थीं, वे ही उन मुनियोंकी तपस्याके प्रभावसे तत्काल फूलके रूपमें परिणत हो जाती थीं। राधाव ! पर्सीनोंकी बूटांस उत्पन्न होनेके कारण वे फूल नष्ट नहीं होते हैं ॥ २३-२५ ॥

तेषां गतानामद्यापि दृश्यते परिचारिणी ।
श्रमणी शखरी नाम काकुत्स्थ चिरजीविनी ॥ २६ ॥
त्वां तु धर्मं स्थिता नित्यं सर्वभूतनमस्कृतम् ।

दृष्ट्वा देवोपमं राम स्वर्गलोकं गमिष्यति ॥ २७ ॥
वे सब-कै-सब ऋषि तो अब चले गये, किंतु उनकी सेवामें रहनेवाली तपस्विनी शखरी आज भी वहाँ दिखायी देती है। काकुत्स्थ ! शखरी चिरजीविनी होकर सदा धर्मके अनुष्ठानमें लगी रहती है। श्रीराम ! आप समस्त प्राणियोंके लिये नित्य न दानों और देवताके तुल्य हैं आपका दर्शन करके शखरी स्वर्गलोक (सर्वतत्त्वाम) को चली जायगी ॥ २६-२७ ॥

ततस्तद्राम पम्पायास्तोरमाश्रित्य पश्चिमम् ।
आश्रमस्थानमतुलं गुह्यं काकुत्स्थ पश्यसि ॥ २८ ॥

'ककुत्स्थकुलभूयण श्रीराम ! तदनन्तर आप पम्पाके पश्चिम तटपर जाकर एक अनुपम आश्रम देखेंगे, जो (सर्वसाधारणकी पहुँचके बाहर होकर कारण) गुप्त है।

न तत्राकर्मितुं नागाः शक्नुवन्ति तदाश्रमे ।
ऋषेस्तस्य मन्त्राय विद्यानात् तत्र काननम् ॥ २९ ॥

'उस आश्रमपर, तथा उस वनमें भगवन् मुनिके प्रभावसे नागों कभी आक्रमण नहीं कर सकते ॥ २९ ॥

मत्तृवन्नमित्येव विभ्रुतं रघुनन्दन ।
तस्मिन् नन्ननर्षकाशे देवारण्योपमं वने ॥ ३० ॥
नानाविद्गणसंकीर्णं रस्यसे राम निर्वृतः ।

'रघुनन्दन ! वहाँका जंगल भगवन् के नामसे प्रसिद्ध है। तब रघुनाथ मनोहर और देवत्वके समान सुन्दर वनमें नागा प्रकारके पक्षी भरे रहते हैं। श्रीराम ! आप वहाँ बड़ी प्रसन्नताके साथ साम्प्रद विचरण करेंगे ॥ ३० ॥

अथमूकस्तु पाषाण-पुरस्तात् पुष्पितद्रुम ॥ ३१ ॥
सुदुःखारोहणश्च शिशुनागाभिरक्षितः ।

उत्तरी ब्रह्मणा चैव पूर्वकालेऽभिनिर्मितः ॥ ३२ ॥

'पम्पासरोवर के पूर्वभागमें शिखरपर्वत है जहाँके वृक्ष फूलोंसे मुड़ाएँ दिखायी देते हैं। उसके ऊपर चट्टानों की कठिनाई होती है, क्योंकि वह छोटे छोटे सपों अथवा प्राणियोंके नाचोडाना सब आसरे सुरक्षित है। अथमूक पर्वत उदार (अथवा फलदा देनेवाला) है, पूर्वकालमें साक्षान् ब्रह्माजीन उसका निर्माण किया और तब औदार्य आदि गुणोंसे सम्पन्न बनाया ॥ ३१-३२ ॥

शयानः पुरुषो राम तस्य शैलस्य मूर्धनि ।
यत् स्वप्नं लभते वितं तत् प्रबुद्धोऽधिगच्छति ॥ ३३ ॥
यस्त्वेन विषमाचारः पापकर्माधिरोहति ।

तत्रैव प्रहरन्त्येनं सुप्रभादाय राक्षसाः ॥ ३४ ॥

'श्रीराम ! उस पर्वतके शिखरपर सोबा हुआ पुरुष सपनेमें जिस सम्पत्तिको पाता है उसे जागनेपर भी प्राप्त कर लेता है। जो पापकर्मी तथा विषम वर्ताव करनेवाला पुरुष उस पर्वतपर चढ़ता है, उसे इस पर्वतशिखरपर ही सो जानेपर राक्षस लोग उठाकर उसके ऊपर प्रहार करने हैं ॥ ३३-३४ ॥

तत्रापि शिशुनागानामाक्रन्दः भूयते महान् ।
क्रीडतां राम पम्पायां भनङ्गाश्रमवासिनाम् ॥ ३५ ॥

'श्रीराम ! भगवन् मुनिके आश्रमके आस-पासके वनमें रहने और पम्पासरोवरमें क्रीडा करनेवाले छोटे-छोटे प्राणियोंके चिन्हाड़नेका महान् शब्द उस पर्वतपर भी सुनायी देता है ॥ ३५ ॥

सक्ता रुधिरधाराभिः संहत्य परमहिषाः ।
प्रचरन्ति पृथक्कीर्णा मेघवर्णास्तरस्विनः ॥ ३६ ॥

ते तत्र पीत्वा पानीयं विमलं सारु होधनम् ।
अत्यन्तसुखसंस्पृशं सर्वगन्धसमन्वितम् ॥ ३७ ॥

निर्वृताः संविगाहन्ते वनानि वनगोचराः ।

'जिनके गण्डस्थलोंपर कुछ लाल रंगकी मदकी धाराएँ बग्गी हैं, वे वेगशाली और मेघके समान काले बड़े बड़े गजराज झुंड के-झुंड एक साथ होकर दूसरी जातिवाले प्राणियोंसे पृथक् हो वहाँ विचरने रहते हैं। वनमें विचरनेवाले वे प्राणी जब पम्पासरोवरका निर्मल मनोहर, सुन्दर, रूमेमें अत्यन्त सुखद तथा सब प्रकारकी सुगन्धसे सुवासित जल पीकर लौटते हैं, तब उन वनोंमें प्रवेश करने हैं ॥ ३६-३७ ॥

ऋक्षांश्च ईपिनश्चैव नीलकोमलकप्रधानम् ॥ ३८ ॥
रुक्मयेतानजयान् दृष्ट्वा शोकं प्रहास्यसि ।

'रघुनन्दन ! वहाँ रोछों, बाघों और नील कोमल कान्तिवाले मनुष्योंको देखकर भागनेवाले तथा दौड़ लगानेमें किसीमें पराजित न होनेवाले मृगोंको देखकर आप अपना सारा शोक भूल जायेंगे ॥ ३८ ॥

राम तस्य तु शैलस्य महती शोभते गुहा ॥ ३९ ॥
शिलाभिधाना काकुत्स्थ दुःखं चास्या प्रवेशनम् ।

'श्रीराम ! उस पर्वतके ऊपर एक बहुत बड़ी गुफा शोभा पाती है, जिसका द्वार पत्थरसे ढका है। उसके भीतर प्रवेश करनेमें बड़ा कष्ट होता है ॥ ३९ ॥

तस्या गुहायाः प्राग्द्वारे महाज्जीनोदको ह्रदः ॥ ४० ॥
बहुपूलफलैश्च रम्यो नानानगसमाकुलः ।

'उस गुफाके पूर्वद्वारपर शीतल जलसे भरा हुआ एक बहुत बड़ा कुण्ड है उसके आस-पास बहुत से फल और फूल सुलभ हैं तथा वह रमणीय हृद-नाना प्रकारके वृक्षोंसे

ज्यात है ॥ ४० ॥

तस्यां वसति धर्मात्मा सुग्रीवः सह चानरः ॥ ४१ ॥
कदाचिच्छिञ्जरे तस्य पर्वतस्यापि तिष्ठति ।

‘धर्मात्मा सुग्रीव चानरौ साधु तस्य गुफायै निवास करते हैं। वे कभी-कभी उन पर्वतके शिखरपर भी रहते हैं’ ॥

कथन्धस्त्वनृणां स्यैव तावुर्भी रामलक्ष्मणी ॥ ४२ ॥
स्वामी भास्करवर्णांश्च खे व्यरोचन सौंदर्यान् ।

इस प्रकार श्रीराम और लक्ष्मण दोनों भाइयोंको सब काने बताकर मुझके समान तेरा स्त्री और पण्डित कथन्ध दैत्य तुम्हारे माला धारण किये आकाशमें प्रकाशित होने लगा ॥

तं तु खस्थं महाभागं तावुर्भी रामलक्ष्मणी ॥ ४३ ॥
प्रस्थितौ त्वं यजस्वेति धाक्यमूचतुरन्तिके ।

उस समय वे दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण वहाँसे प्रस्थान करनेके लिये उद्यत हो आकाशमें झुड़े हुए महाभाग कथन्धसे उसके निकट खड़े होकर बोले—‘अब तुम परम धामकी जाओ’ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्ये अरण्यकाण्डे त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकि ने इस अरण्यकाण्डे अष्टमस्कंधमें त्रिसप्ततितमः सर्ग पूरा हुआ ॥ ३३ ॥

★

चतुःसप्ततितमः सर्गः

श्रीराम और लक्ष्मणका पम्पासरोवरके तटपर मतङ्गवनमें शबरीके आश्रमपर जाना,
उसका सत्कार ग्रहण करना और उसके साथ मतङ्गवनको देखना, शबरीका
अपने शरीरकी आहुति दे दिव्यधामको प्रस्थान करना

तौ कथन्धेन तं मार्गं पम्पाया दर्शितं वने ।
आतस्थान्दर्शितं गृह्य प्रतीचीं नृवरात्मजी ॥ १ ॥

तदगन्तर राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मण कथन्धके बताये हुए पम्पासरोवरके मार्गका आश्रय ले पश्चिम दिशाकी ओर चल दिये ॥ १ ॥

तौ शीलेष्वाचिनानकान् औद्रुपुष्पफलद्रुमान् ।
वीक्षन्तौ जगत्तृष्टुं सुग्रीवं रामलक्ष्मणी ॥ २ ॥

दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण पर्वतपर फैले हुए बहुत-से वृक्षोंको, जो फूल, फल और पधुमे सम्पन्न थे, देखने हुए सुग्रीवसे मिलनेके लिये आगे बढ़े ॥ २ ॥

कृत्वा तु शीलपुच्छे तु तौ वासं रघुनन्दनी ।
पम्पायाः पश्चिमं तीरं राघवाद्युपतस्थतुः ॥ ३ ॥

रतार्थ एक पक्ष-पर्वतपर स्थित करनेके लक्ष्यनका आनन्द अद्यावत्तः वे दोनों रघुनन्दनी बन्धु पम्पासरोवरके पश्चिम तटपर जा पहुँचे ॥ ३ ॥

तौ पृथोरिण्याः पम्पायास्तोमामाश्रय पश्चिमम् ।
अपश्यन्तौ ततस्तत्र शबरीं रघुमाश्रमम् ॥ ४ ॥

पम्पासरोवरके पश्चिम तटपर पहुँचकर वे दोनों भाइयोंने वहाँ शबरीका आश्रम देख लिया ॥

गम्यतां कार्यमिन्द्रधर्ममिति तावन्नवीत् स च ॥ ४४ ॥

मुप्रीती तावन्नुज्ञाय कथन्धः प्रस्थितस्तदा ॥ ४५ ॥

कथन्धने भी उन दोनों भाइयोंसे कहा—‘आपलोग भी अपने कार्यको सिद्धिके लिये यात्रा करें’ ऐसा कहकर परम प्रसन्न हुए उन दोनों बन्धुओंसे आज्ञा ले कथन्धने तत्काल प्रस्थान किया ॥ ४४-४५ ॥

स तत् कथन्धः प्रतिपद्य रूपं
कृतः श्रिया भास्वरसर्वदेहः ।

निदर्शयन् रामपदेक्ष्य खस्थः
मख्यं कुरुष्वेति तदाभ्युवाच ॥ ४६ ॥

कथन्ध अपने पहले रूपको याकर अद्भुत शोभासे सम्पन्न हो गया। उसका सारा शरीर सर्व-तुल्य प्रभासे प्रकाशित हो उठा। वह रामजी की ओर देखकर उन्हें पम्पासरोवरका मार्ग दिखाता हुआ आकाशमें ही स्थित होकर बोला—‘आप सुग्रीवके साथ मित्रता अवश्य करें’ ॥ ४६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्ये अरण्यकाण्डे त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकि ने इस अरण्यकाण्डे अष्टमस्कंधमें त्रिसप्ततितमः सर्ग पूरा हुआ ॥ ३३ ॥

★

तौ तमाश्रममासाद्य द्रुमैर्बहुभिरावृतम् ।
सुरम्यमधिर्वीक्षन्तौ शबरीमभ्युपेयतुः ॥ ५ ॥

उसकी शोभा निहारते हुए वे दोनों भाई बहुमंजरीक वृक्षों पर हुए उस सुरम्य आश्रमपर जाकर शबरीसे मिले ॥ ५ ॥
तौ दृष्ट्वा तु तदा सिद्धा समुत्थाय कृताञ्जलिः ।
पादौ जग्राह रामस्य लक्ष्मणस्य च धीमतः ॥ ६ ॥

शबरी सिद्ध तपस्विनी थी। उन दोनों भाइयोंको आश्रमपर आया देख कर बहुत जाड़कर खड़ी हो गया तथा उसने बुद्धिमान् श्रीराम और लक्ष्मणके चरणोंमें प्रणाम किया ॥ ६ ॥

पाद्यमाद्यमनीयं च सर्वं प्रादाद् यथाविधि ।
तामुवाच ततो रामः श्रमणीं धर्ममस्थिताम् ॥ ७ ॥

फिर पाद्य, अर्घ्य और आद्यमनीय आदि सब सामग्री समर्पित कर और विधिवत् उनका यत्नकर किया। तत्पश्चात् श्रीरामचन्द्रजी उस धर्मपरायणा तपस्विनीसे बोले— ॥ ७ ॥

कच्चित्ते निर्जिता विघ्नः कच्चित्ते वर्धते तपः ।
कच्चित्ते नियतः कोप आहारश्च तपोधने ॥ ८ ॥

‘तपोधने! क्या तुमने सारे विघ्नोंपर विजय पा ली? क्या तुम्हारी तपस्या बढ़ रही है? क्या तुमने क्रोध और अहारको काबुमें कर लिया है?’ ॥ ८ ॥

कश्चित्ते नियमाः प्राप्ताः कश्चित्ते मनसः सुखम् ।

कश्चित्ते गुरुशुश्रूषा सफलं चारुभाषिणि ॥ ९ ॥

‘तुमने जिन नियमोंको स्वीकार किया है, वे निष तो जाते हैं न ? तुम्हारे मनमें सुख और शान्ति है न ? चारुभाषिणि - तुमने जो गुरुजनोंको सेवा की है, वह पूर्णरूपसे सफल हो गयी है न ?’ ॥ ९ ॥

रामेण तापसी पृष्टा सा सिद्धा सिद्धमम्मता ।

शशंस शबरी वृद्धा रामाय प्रत्यवस्थिता ॥ १० ॥

श्रीरामचन्द्रजीके इस प्रकार पृष्ठनेपर यह सिद्ध तपस्विनी बूढ़ी शबरी, जो गिद्धोंके द्वारा सम्मानित थी उनके सामने खड़ी होकर बोली— ॥ १० ॥

अद्य प्राप्ता तपःसिद्धिस्तव संदर्शनान्मया ।

अद्य मे सफलं जन्म गुरुवक्ष सुपूजिता ॥ ११ ॥

‘रघुनन्दन ! आज आपका दर्शन मिलनेसे ही मुझे आपकी तपस्या की सिद्धि प्राप्त हुई है । आज मेरा जन्म सफल हुआ और गुरुजनोंकी उत्तम पूजा भी सार्थक हो गयी ॥ ११ ॥

अद्य मे सफलं तप्तं स्वर्गश्चैव भविष्यति ।

त्वयि देवचरे राम पूजिते पुरुषवर्षम् ॥ १२ ॥

‘पुरुषप्रवर श्रीराम ! आज देवधरका यहाँ मत्कार हुआ, इससे मेरी तपस्या सफल हो गयी और अब मुझे आपके दिव्य भामकी प्राप्ति भी होगी ॥ १२ ॥

नवाहं वक्षुषा सौम्य पूता सौम्येन मानद ।

गमिष्याम्यक्षयाल्लोकास्त्वत्प्रसादादरिद्वय ॥ १३ ॥

‘सौम्य ! मानद ! आपकी सौम्य दृष्टि पढ़नेसे मैं परम भविष्य हो गयी । शत्रुदपन ! आपके प्रसादसे ही अब मैं अक्षय लोकमें जाऊँगी ॥ १३ ॥

क्षिप्रकृष्ट त्वयि प्राप्ते विमानैरतुलप्रभैः ।

हतासौ दिव्यमारुद्धा यानहं पर्यचारिषम् ॥ १४ ॥

‘जब आप क्षिप्रकृष्ट पर्वतपर पधारे थे, उसी समय मैं गुरुवन, जिनकी मैं सदा सेवा किया करती थी, अतुल फाल्गुमान् विमानगर बैठकर यहाँ से दिव्यशकको चले गयी ॥

निश्चाहगुणा धर्मशीर्षभाभागीमहर्षिभिः ।

आगमिष्यति ते रामः सुपुण्यधिममाम्रपम् ॥ १५ ॥

स ते प्रतिब्रवीतव्यः सौमिनिर्वाहोर्जनिभिः ।

ते च दृष्ट्वा वराल्लोकानक्षर्यास्त्वं गमिष्यसि ॥ १६ ॥

‘उन धर्मशी महाभाग महर्षियोंने जाते समय मुझसे कहा था कि तूरे इस परम पवित्र आश्रमपर श्रीरामचन्द्रजी पधारंग और लक्ष्मणके साथ तूरे अन्तिम हांगे । तब उनका यथावन् सत्कार करना । उनका दर्शन करके तू श्रेष्ठ एवं अक्षय लोकोंमें जायगी ॥ १५-१६ ॥

एवमुक्ता महाभागैस्तदाहं पुरुषवर्षम् ।

मया तु संक्षिप्तं चन्दं विविधं पुरुषवर्षम् ॥ १७ ॥

तत्कार्यं पुरुषव्याध पम्पायास्तीरसम्भवम् ।

‘पुरुषप्रवर ! उन महाभाग महात्माओंने मुझसे उस समय ऐसा बात कही थी । अतः पुरुषसिंह ! मैंने आपके लिये पम्पातटपर उत्पन्न होनेवाले नाना प्रकारके जंगली फल-मूल्योंका संक्षेप किया है’ ॥ १७ ॥

एवमुक्तः स धर्मतां शबर्या शबरीमिदम् ॥ १८ ॥

राघवः प्राह विज्ञाने तां नित्यमवहिक्ताम् ।

शबरी (जातिसे वर्णबाह्य होनेपर भी) विज्ञानमें बड़ाकुतूहल नहीं थी—उसे परमात्माके तत्त्वका नित्य ज्ञान प्राप्त था । उसकी पूर्वोक्त बातें सुनकर धर्मात्मा श्रीरामने उससे कहा— ॥ १८ ॥

दत्तो. सकाशान् तत्त्वेन प्रभावं ते महात्मनाम् ॥ १९ ॥

श्रुतं प्रत्यक्षमिच्छामि संद्रष्टुं यदि मन्यसे ।

‘तपोधने ! मैंने कबन्धके मुखसे तुम्हारे महात्मा गुरुजनोंका यथार्थ प्रभाव सुना है । यदि तूम स्वीकार करो तो मैं उनके उस प्रभावको प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ’ ॥ १९ ॥

एतत्तु मयं श्रुत्वा रामवक्त्रविनिःसृतम् ॥ २० ॥

शबरी दर्शयामास तावुधौ तद्वनं महत् ।

श्रीरामके मुखसे निकले हुए इस वचनको सुनकर शबरीने उन दोनों भाइयोंको उस महान् वनका दर्शन कराते हुए कहा— ॥ २० ॥

पश्य मेघघनप्रख्यं पृगपक्षिसमाकुलम् ॥ २१ ॥

मत्तङ्गवनमित्येव विभ्रुतं रघुनन्दन ।

‘रघुनन्दन ! मेघोंको घटाके समान श्याम और नाना प्रकारके पक्षु-पक्षिधन भरे हुए इस वनकी और दृष्टिपात कीजिये । यह मत्तङ्गवनके नामसे ही विख्यात है ॥ २१ ॥

इह ते भावितात्मानो गुरुवो मे महाद्युते ।

जुहवांश्चक्रिरे वीहं मन्त्रवन्धनपूजितम् ॥ २२ ॥

‘महातेजस्वी श्रीराम ! यहाँ वे मेरे भावितात्मा (शुद्ध अन्न करणवाले एवं परमात्मचिन्तनपरायण) गुरुजन निवास करते थे । इसी स्थानपर उन्होंने मायग्रीवमन्त्रके जापसे विशुद्ध हुए अपने देहरूपी चक्ररुपे मन्त्राधारणपूर्वक आग्रसे हम दिवा था ॥ २२ ॥

इयं प्रत्यक्स्थली वेदी यत्र ते मे सुस्तकृताः ।

पुष्पोपहारं कुर्वन्ति श्रमादुद्वेपिभिः करैः ॥ २३ ॥

‘यह प्रत्यक्स्थली नामवाली वेदी है, जहाँ मेरे द्वारा धनकीप्राप्ति पूजित हुए वे महर्षि वृद्धावस्थाके कारण श्रममें काँपते हुए हाथोंद्वारा देवताओंकी फूलोंकी बालि चढ़ाया करते थे ॥ २३ ॥

तेषां तपःप्रभावेण पश्यत्यापि रघूत्तम ।

द्योतयन्ती दिशः सर्वा श्रिया वेद्यतुलप्रभा ॥ २४ ॥

‘रघुवंशेश्वराम्णे ! देखिये, उनकी तपस्याके प्रभावसे आज भी यह वन अपने तेजके द्वारा सम्पूर्ण दिशाओंकी प्रकाशित कर रही है । इस समय मैं इसकी प्रथा अतुलनीय है ॥ २४ ॥

अशक्तवदभिस्तैर्गन्तुमुपवासश्रमालसैः ।
चिन्तितेभ्यस्तान् पश्य समेतान् सप्त सागरान् ॥ २५ ॥

उपवास करनेसे दुर्बल होनेके कारण जब वे चलने-
फिरनेमें असमर्थ हो गये, तब उनके चिन्तनमात्रसे वहाँ सात
समुद्रोंका जल प्रकट हो गया। यह मतमात्र नोथ आज भी
मौजूद है। इसमें सन्तो भगुदके जल मिले हुए हैं। इस
चलकर देखिये ॥ २५ ॥

कृताभिषेकैस्तैर्न्यस्ता वत्कलाः पादपेद्भिः ।
अद्यापि न विशुष्यन्ति प्रदेशे रघुनन्दन ॥ २६ ॥

'रघुनन्दन । इसमें स्नान करके ठन्नेने कुलोंमें जो
पम्पकल रख फेंका दिये थे वे इस प्रदेशमें अब तक सूखे
नहीं हैं ॥ २६ ॥

देवकार्वाणि कुर्याद्विष्णोनीमानि कृतानि वै ।
पुण्यैः कुवलर्यैः सार्धं ग्लानत्वं न तु यान्ति वै ॥ २७ ॥

'देवताओंकी पूजा करते हुए और गुरुजनोंके कमलोंके
साथ अन्य कुलोंकी जो मालाएँ बनायी थीं, वे आज भी
मुरझायी नहीं हैं ॥ २७ ॥

कुत्सं वनमिदं दृष्टं श्रोतव्यं च श्रुते त्वया ।
तदिच्छाम्यध्यनुज्ञाता त्वक्ष्याम्येतन् कलेवरम् ॥ २८ ॥

'भगवन् ! आपने साथ वन देखा लिया और यहकि
सम्बन्धमें जो बात सुनयोम्य थी, वे भी सुन लीं। अब
मैं आपकी आज्ञा लेकर इस देहका परिवर्तन करना
चाहता हूँ ॥ २८ ॥

तेषाभिच्छाम्यहं गन्तुं समीपं भावितात्मनाम् ।
मुनीनामस्यो येषामहं च परिवारिणो ॥ २९ ॥

'जिनका यह आश्रम है और जिनके चरणोंके पै दासी
रही हैं, ठन्नों पाँवोंका महर्षियोंके समीप अब मैं जाना
चाहता हूँ ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे वन सप्ततितमः सर्गः ॥ ७४ ॥

इस प्रकार श्रीभारतमोक्षिनिर्मित आर्यगमाद्यो भादिकाव्यक अरण्यकाण्डमें चौहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७४ ॥

पञ्चसप्ततितमः सर्गः

श्रीराम और लक्ष्मणकी खानचीन तथा उन दोनों भाइयोंका पम्पासरोवरके तटपर जाना

दिवे तु तयोः यातायां द्वावपि स्वेन तेजसा ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा चिन्तयापास राघवः ॥ १ ॥

चिन्तयित्वा तु धर्मात्मा प्रभावं तं महात्मनाम् ।
हितकारिण्येकाग्रं लक्ष्मणं राघवोऽब्रवीत् ॥ २ ॥

अपने तेजसे प्रकाशित होनेवाली शखरोंके दिव्यलोकमें
चल जानेपर भाई लक्ष्मणसहित धर्मात्मा श्रीरघुनाथजीने उन
महात्मा महर्षियोंके प्रभावका चिन्तन किया। चिन्तन करके
अपने हितों सेल्य रहनेवाले एकाग्रचित्त लक्ष्मणसे श्रीरामने
इस प्रकार कहा— ॥ १-२ ॥

धर्मिष्ठं तु वचः श्रुत्वा राघवः सहलक्ष्मणः ।
प्रहर्षमनुले लेधे आश्चर्यमिति शरप्रवीत् ॥ ३० ॥

शखरोंके धर्मयुक्त वचन सुनकर लक्ष्मणसहित श्रीरामकी
अनुपम प्रसन्नता प्राप्त हुई। उनके मुँहमें निकल पड़ा,
'आश्चर्य है।' ॥ ३० ॥

तामुवाच ततो रामः शखरीं संशितव्रताम् ।
आर्चिताः स त्वया भद्रे गच्छ कामे यथासुखम् ॥ ३१ ॥

तदनन्तर श्रीरामने कठोर वनका पालन करनेवाली शखरोंसे
कहा—'भद्रे ! तुमने मेरा बड़ा सत्कार किया। अब तुम अपनी
इच्छाके अनुसार आनन्दपूर्वक अधोष्ट लोककी यात्रा करो' ॥

इत्येवमुक्ता जटिला धीरकृष्णाजिनाम्बरा ।
अनुज्ञाता तु रामेण हुन्वाऽऽत्मानं हुताशने ॥ ३२ ॥

ज्वलन्पावकसंकाशा स्वर्गमेव जगाम ह ।
दिव्याभरणसंयुक्ता दिव्यमात्मानुलेपया ॥ ३३ ॥

दिव्याम्बरधरा तत्र कभुव प्रियदर्शना ।
विराजयन्ती तं देशं विद्युत्सौदामनी यथा ॥ ३४ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके इस प्रकार आज्ञा देनेपर मस्तकपर जटा
और शरीरपर चार एवं काला मृगचर्म धारण करनेवाली
शखरोंने अपनेकी आगमें होमकर प्रज्वलित अग्निके समान
तेजस्वी शरीर प्राप्त किया। वह दिव्य वस्त्र, दिव्य आभूषण,
दिव्य कुलोंकी माला और दिव्य अनुलेपन धारण किये वहाँ
मनोहर दिखायी देने लगी तथा सुदाम पर्वतपर प्रकट होने-
वाली बिजलोंके समान उस प्रदेशको प्रकाशित करती हुई
स्वर्ग (मकेन) लोकको जा चली गयी ॥ ३२—३४ ॥

यत्र ते सुकृतात्मानो विहरन्ति महर्षयः ।
तन् पुण्यं शखरी स्थानं जगामात्मसमाधिना ॥ ३५ ॥

उसने अपने चित्तको एकाग्र करके उस पुण्यधामकी यात्रा
की जहाँ उसका वे गुरुजन पुण्यात्मा मार्ग्ये विहार करते थे ।

दृष्टो मयाऽऽश्रमः सौम्य बह्माक्षर्यः कृतात्मनाम् ।
विद्युत्पृणशार्दूलो नानाविहगसेवितः ॥ ३ ॥

'सौम्य । मैंने उन पुण्यात्मा महर्षियोंका यह पवित्र आश्रम
देखा। यहाँ बहुत-सी आश्चर्यजनक बातें हैं, शक्ति और बाध
एक-दूसरेपर विश्वास करते हैं। नाना प्रकारके पक्षी इस
आश्रमका सेवन करते हैं ॥ ३ ॥

सप्तानां च समुद्राणां तेषां तीर्थेषु लक्ष्मण ।
उपस्पृष्टं च विधिवत् पितरश्चापि तर्पिताः ॥ ४ ॥

सप्तानां च समुद्राणां तेषां तीर्थेषु लक्ष्मण ।
उपस्पृष्टं च विधिवत् पितरश्चापि तर्पिताः ॥ ४ ॥

प्रणष्टमशुभं यत्रः कल्याणं समुपस्थितम् ।

तेन त्वेतत् प्रहृष्टं मे मनो लक्ष्मण सम्प्रति ॥ ५ ॥

‘लक्ष्मण ! यहाँ जो सातों समुद्रोंके जलसे भरे हुए तीर्थ है, उनमें हमने विधिपूर्वक स्नान तथा पित्रोक्त तपण किये हैं इससे हमारा साध अशुभ नष्ट हो गया और अब हमारे कल्याणका समय उपस्थित हुआ है । सुमित्राकुमार ! इससे इस समय मेरे मनमें अधिक प्रसन्नता हो रही है ॥ ४-५ ॥

हृदये मे नरव्याघ्र शुभमाविर्भविष्यति ।

तदभाच्छ गमिष्यामः पद्मा तां प्रियवर्जनाम् ॥ ६ ॥

नरव्याघ्र ! अब मेरे हृदयमें कोई शुभ संकल्प उठनेवाला है । इसलिये आओ, अब हम दोनों परम सुन्दर पद्म-सरोवरके तटपर चलें ॥ ६ ॥

अष्टमूको गिरिर्धनुः नातिदूरे प्रकाशते ।

यस्मिन् वसति धर्मात्मा सुग्रीवोऽशुभतः सुतः ॥ ७ ॥

‘यहाँसे थोड़ी ही दूरपर वह अष्टमूक पर्वत शोभा पाता है, जिसपर सूर्यव्रत धर्मात्मा सुग्रीव निवास करते हैं ॥ ७ ॥

नित्यं चालिष्यात् व्रतश्चतुर्भिः सह वानरैः ।

अहं त्वरे च तं द्रष्टुं सुग्रीवं वानरवधम् ॥ ८ ॥

तदधीनं हि मे कार्यं सीतायाः परिभार्गणम् ।

‘नालीक भगमे सदा डरे रहनेके कारण वे चार वानरोंके साथ उस पर्वत पर रहते हैं । मैं कामरश्मि सुग्रीवमें मिलनके लिये उतावला हो रहा हूँ क्योंकि सीता के अन्वेषणका कार्य उनकी अधीन है ॥ ८ ॥

इति सुवाणी तं वीरं सौमित्रिरिदमब्रवीत् ॥ ९ ॥

गच्छावस्त्विति तत्र ममापि त्वरते मनः ।

हम प्रकारका ध्यान करके हुए वीर श्रीरामसे सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे भी कहा—‘भैया ! हम दोनोंकी उधेड़ ही बढ़ी चलना चाहिये । मेरा मन भी चलनेके लिये उतावला हो रहा है ॥ ९ ॥

आश्रमान् ततस्तस्मादधिकमप्यस्य विशाम्यति ॥ १० ॥

अजगाम ततः पद्मा लक्ष्मणेन सह प्रभुः ।

समीक्षमाणः पुण्याब्जं भवतो विपुलद्रुमम् ॥ ११ ॥

तदनन्तर प्रभुपालक भगवान् श्रीराम लक्ष्मणके साथ उस आश्रममें निकलकर सब ओर फूलास लट्ट हुए वाना प्रकाशक वृक्षोंकी शोभा निहारते हुए पद्मासरोवरके तटपर आये ॥

कोयाहमिहार्जुनकः शतपत्रैश्च कीरकैः ।

एतैश्चान्यैश्च बहुभिर्नादितं तद् वनं महत् ॥ १२ ॥

वह विशाल वन टिट्ठियों, मोरों, कठफोड़नों, तांतों तथा अन्य बहुत से पक्षियोंके कल्लवोंसे गूँज रहा था ॥ १२ ॥

स रामो विविधान् वृक्षान् सरासि विविधानि च ।

पश्यन् कामाभिसेतप्री जगाध परमं हृदम् ॥ १३ ॥

श्रीरामके मनमें सोताजोंसे मिलनेकी तीव्र लालसा जाग उठी थी, इससे सताए हो वे वाना प्रकारके वृक्षों और

भौति-भौतिके सरोवरोंकी शोभा देखते हुए उस उत्तम जलप्रपातके पास गये ॥ १३ ॥

स तामासाद्य वै रामो दृगात् पानीयवाहिनीम् ।

मतङ्गसरसे नाथ हृदं समवगाहन ॥ १४ ॥

पद्मानामसे प्रसिद्ध वह सरोवर पीनेयोग्य स्वच्छ जल बहानेवाला था । श्रीराम दूर देशसे चलकर उसके तटपर आये । अन्तर उन्होंने मतङ्गसरस नामक कुण्डमें स्नान किया ॥ १४ ॥

तत्र जम्बतुरव्यग्रौ राघवौ हि समाहिता ।

स तु शोकसमाविष्टो रामो दशरथात्मजः ॥ १५ ॥

विवेश नलिनीं रम्यां पङ्कजैश्च समावृताम् ।

वे दोनों गधुवर्णों वीर वहाँ शान्त और एकाग्रचित्त होकर पहुँचे थे । सोताक शोकसे व्याकुल हुए दशरथनन्दन श्रीरामने उस रमणीय पुष्करिणी पद्मामें प्रवेश किया, जो कमलोंमें व्याप्त थी ॥ १५ ॥

तिलकाशोकपुनागवकुलोद्दालकाशिनीम् ॥ १६ ॥

रम्योपवनसम्बाधा पद्मसम्प्रीडितोदकाम् ।

स्फटिकोपमतोयां तां श्लक्ष्णवालुकसेतताम् ॥ १७ ॥

मत्स्यकच्छपसम्बाधा तीरस्थद्रुमशोभिताम् ।

सखीभिरिव संयुक्तां लताभिरनुवेष्टिताम् ॥ १८ ॥

किन्तोरगगन्धर्वयक्षराक्षससेविताम् ।

नानाद्रुमलताकीर्णं शीतवारिनिधिं शुभाम् ॥ १९ ॥

उसके तटपर तिलक, अशोक, नागकेसर, वकुल तथा लिखोड़के वृक्ष उसका शोभा बढ़ा रहे थे । भौति-भौतिके रमणीय उपवनमें यह घिरी हुई थी । उसका जल कमल-पद्मोंसे आच्छादित था और स्फटिक मणिके समान स्वच्छ दिखानी देता था । जलके नोखे स्वच्छ बालुका फैली हुई थी मत्स्य और कच्छप उसमें भरे हुए थे । तटवर्ती वृक्ष उसका शोभा बढ़ाते थे । सब ओर लताओंद्वारा आवृष्टि होनक कारण वह सर्वियोंमें संयुक्त-सौ प्रतीत होती थी । किन्नर, नाग, गन्धर्व, यक्ष और राक्षस उसका सेवन करते थे । भौति-भौतिक वृक्ष और लताओंमें व्याप्त हुई पद्म शीतल जलकी सुन्दर निधि प्रतीत होती थी ॥ १६—१९ ॥

पद्मसौगन्धिकैस्ताम्रां शुक्लां कुमुदमण्डलैः ।

नीलां कुवलयोद्घाटैर्बहुवर्णां कुथामिव ॥ २० ॥

अरुण कमलोंसे वह ताम्रवर्णकी, कुमुद-कुसुमोंके समूहसे शुक्लवर्णकी तथा नील कमलोंके समुदायसे नीलवर्णकी दिखानी देनेके कारण बहुवर्ण कालोनके समान शोभा पाती थी ॥ २० ॥

अरविन्दोत्पलवर्ती पद्मसौगन्धिकायुताम् ।

पुष्पिताम्रवर्णोपेतां बर्हिणोदघुष्टनादिताम् ॥ २१ ॥

उस पुष्करिणीमें अरविन्द और उत्पल खिले थे । पद्म और सौगन्धिक जातिके पुष्प शोभा पाते थे । मोर लगी हुई

अमरगह्वरोसे वह घिरी हुई थी तथा मयूरोके केकानाद वहाँ गूँज रहे थे ॥ २१ ॥

स तां दृष्ट्वा ततः पद्म्यां रामः सौमित्रिणा सह ।

विललाप स तेजस्वी रामो दशरथान्वजः ॥ २२ ॥

सुमित्राकुमार लक्ष्मणसहित श्रीरामने अब उस मनोहर पद्म्याको देखा, तब उनके हृदयमें सीताकी वियोग-व्यथा उड़ीस हो उठी; अतः वे तेजस्वी दशरथनन्दन श्रीराम वहाँ विलाप करने लगे ॥ २२ ॥

तिरुक्केर्बीजपूरेश्वरं वटैः शृङ्गधुर्मस्तथा ।

पुष्पिनैः करवीरैश्च पुनर्गीश्च सुपुष्पितैः ॥ २३ ॥

मालतीकुन्धगुल्मैश्च धण्डैरेर्निचुलैस्तथा ।

अशोकैः सप्तपर्णैश्च कनकैरतिमुक्तकैः ॥ २४ ॥

अन्यैश्च विविधैर्वृक्षैः प्रमदामिव शोभिनाम् ।

अस्यास्तीरे तु पूर्वोक्तं पवनो धानुमण्डितम् ॥ २५ ॥

ऋष्यभूक इति ख्यातश्चित्रपुष्पितपादपः ।

तिरुक्क, बिजौरा, वट, लोथ, खिले हुए करवीर, पुष्पित नागकंसर, मालती, कुन्द, झाड़ी, भंडीर (बरगद), वज्रुल, अशोक, छिनवन, कनक, बाघनी लता तथा अन्य नाना प्रकारके वृक्षांसे सुशोभित हुई पद्म्या भाँति-भाँतिकी बरगुलाओंसे सजी हुई चुनोके समान क्षान् पड़ती थी। उसीके तटपर विविध धातुओंसे मण्डित पूर्वोक्त ऋष्यभूक नामसे विख्यात पर्वत सुशोभित था। उसके ऊपर फूलोंग भरे हुए विचित्र वृक्ष शोभा दे रहे थे ॥ २३—२५ ॥

हरिर्ऋक्षरजोनाभः पुत्रस्तस्य महान्वनः ॥ २६ ॥

अध्यास्तं तु महावीर्यः सुग्रीव इति विभ्रतः ।

ऋक्षरजा नामक महात्मा खानरके पुत्र कपिश्रेष्ठ ब्रह्म-पराक्रमी सुग्रीव वहाँ निवास करते थे ॥ २६ ॥

सुग्रीवमभिगच्छ स्व खानरेन्द्रं नरर्षभ ॥ २७ ॥

इत्युवाच पुनर्वाक्यं लक्ष्मणं सत्यविक्रमः ।

कथं प्रया विना सीतां शक्यं लक्ष्मण जीवितुम् ॥ २८ ॥

उस समय सत्यपराक्रमी श्रीरामने पुनः लक्ष्मणसे कहा— 'नरश्रेष्ठ लक्ष्मण ! तुम खानरराज सुग्रीवके पास चलो, मैं सीताके बिना कैसे जीवित रह सकना हूँ ॥ २७-२८ ॥

इत्येवमुक्त्वा मदनाभिपीडितः

स लक्ष्मणं वाक्यमनन्यचेतनः ।

विवेश पद्म्यां नलिनीमयोरषां

तमुत्तमं शोकमुदीरयाणः ॥ २९ ॥

ऐसा कहकर सीताके दर्शनकी कामनासे पीडित तथा उनके प्रति अनन्य अनुगम रखनेवाले श्रीराम उस महान् शोकको प्रकट करते हुए उस मनोरम पुष्करिणी पद्म्यामें उतरे ॥ २९ ॥

क्रमेण गत्वा प्रविलोकयन् वनं

ददर्श पद्म्यां शुषदशकाननाम् ।

अनेकनानाविधपक्षिभकुलां

विवेश सप्तः सह लक्ष्मणेन ॥ ३० ॥

वनकी शोभा देखते हुए क्रमशः वहाँ जाकर लक्ष्मण-सहित श्रीरामने पद्म्याको देखा। उसके समीपवर्ती कानन बड़े सुन्दर और दर्शनीय थे। अनेक प्रकारके झुंड के-झुंड पक्षी वहाँ मग और भरे हुए थे। चाईसहित श्रीरघुनाथजीने पद्म्याके जलमें प्रवेश किया ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायण खाल्याकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे पञ्चसप्ततितमः सर्गः ॥ ७५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिमित्त आरंभमायग आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें पंचहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७५ ॥

अरण्यकाण्डं सम्पूर्णम्



भगवान् रामकी सुग्रीवसे मैत्री

श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणम्

किष्किन्धाकाण्डम्

प्रथमः सर्गः

पम्पासरोवरके दर्शनसे श्रीरामको व्याकुलता, श्रीरामका लक्ष्मणसे पम्पाकी शोभा तथा वहाँकी उद्दीपनसामग्रीका वर्णन करना, लक्ष्मणका श्रीरामको समझाना तथा दोनों भाइयोंको ऋष्यमूककी ओर आते देख सुग्रीव तथा अन्य वानरोंका भयभीत होना

स तां पुष्करिणीं गत्वा पद्मोत्पलझवाकुलाम् ।

रामः सौमित्रिसहितो विललापाकुलेन्द्रियः ॥ १ ॥

कमल, उत्पल तथा मत्स्योंसे भरी हुई उस पम्पा नामक पुष्करिणीक पास पहुँचकर सोनाको मुँह आ तानक कारण श्रीरामकी इन्द्रियाँ जो उसे व्याकुल हो उठीं वे विलाप करने लगे । उस समय सुमित्राकुमार लक्ष्मण उनके साथ थे ॥ १ ॥

तत्र मृष्टव तां हवादिन्द्रियाणि चकम्पिरे ।

स कामवृक्षमापन्नः सौमित्रिमिदमब्रवीत् ॥ २ ॥

वहाँ पम्पापर दुष्टि भइन हो (कमल-पुष्पोंमें सोनाके नेत्रभूत आदिकों किञ्चित् सादृश्य पाकर) हवाउत्पलमसे श्रीरामकी भारी इन्द्रियाँ चकम्प हो उठीं । उनके मनमें सोनाक दर्शनकी प्रबल इच्छा जाग उठी । तब इच्छाक अधीन-से होकर वे सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे इस प्रकार बोलें— ॥ २ ॥

भौमित्रे शोभते पम्पा रौद्रयन्त्रिलोदका ।

फुल्लपद्मोत्पलवती शोभिना विविधैर्द्रुमैः ॥ ३ ॥

'सुमित्रानन्दन ! यह पम्पा कैसी शोभा पा रही है ? उसका जल रौद्रयन्त्रिक गंगा मन्त्र पत्र इत्यादि है । इसमें तद्भुत-से पद्म और उत्पल मिले हुए हैं । तद्वत् उत्पन्न हुए नाना प्रकारके वृक्षोंसे इसकी शोभा और भी बढ़ गयी है ।

भौमित्रे पश्य पम्पायाः काननं शुभदर्शनम् ।

पत्र राजन्ति शैला वा ह्रमाः सशिखरा इव ॥ ४ ॥

'सुमित्राकुमार ! देखो तो सही, पम्पाके किनारका वन कितना सुन्दर दिखायी दे रहा है । यहकि ऊँचे-ऊँचे वृक्ष अपनी फैला हुई शाखाओंके कारण अनेक दिग्भ्रम युक्त पर्वतोंके समान सुशोभित होते हैं ॥ ४ ॥

गां तु शोकाभिर्सेतुप्रमाधयः पीडयन्ति च ।

भरतस्य च दुःखेन चेतुःहरणेन च ॥ ५ ॥

'परंतु मैं इस समय भरतक दुःख और सेतुहरणको चिन्ताक शाकसे सेतस हो रहा हूँ । मानसिक वेदनाएँ मुझ बहुत कष्ट पहुँचा रही हैं ॥ ५ ॥

शोकातंस्यापि ये पम्पा शोभते विप्रकानना ।

व्यवकीर्णां बहुविधैः पुष्पैः शीतोदका शिवा ॥ ६ ॥

'यद्यपि मैं शोकसे पीड़ित हूँ तो भी मुझे यह पम्पा बड़ी सज्जन लग रही है । इसके निकटवर्ती वन बड़े विचित्र दिखायी देते हैं । यह माना प्रकारक फूलोंमें व्याप्त है । इसके जल बहुत शीतल है और यह बहुत सुखदायिनी प्रतीत होती है ॥ ६ ॥

नलिर्नरपि संछन्ना ह्यस्यार्थशुभदर्शना ।

सर्पस्थालानुचरिता मृगवृजसमाकुला ॥ ७ ॥

कमलोंसे यह सारी पुष्करिणी ढकी हुई है । इसलिये कहीं सुन्दर दिखायी देती है । इसके आस-पास सर्प तथा विभिन्न जन्तु विद्यमान हैं । मृग आदि पशु और पक्षी भी सब ओर छ रहे हैं ॥ ७ ॥

अधिकं प्रविभात्येतन्नीलपतेः तु शाङ्गलम् ।

ह्रमाणां विविधैः पुष्पैः पङ्क्तोर्मैर्गिवार्पितम् ॥ ८ ॥

'नयो-नयो पासोंसे वक्र हुआ यह स्थान अपनी नीली-पङ्क्तों आधक कारण अधिक शोभा पा रहा है । यहाँ वृक्षोंके नाना प्रकारके पुष्प सब ओर बिखरे हुए हैं । इससे ऐसा जान पड़ता है मानो यहाँ बहुत-से गलीच बिछा दिये गये हों ॥

पुष्पभारसमृद्धानि शिखराणि समन्ततः ।

लताधिः पुष्पिताग्राभिस्त्वगुष्ठानि सर्वतः ॥ ९ ॥

'चारों ओर वृक्षोंके अप्रमाण फूलोंके भारसे लुटे होनेके कारण समृद्धिशाली प्रतीत होते हैं । ऊपरसे खिली हुई लताएँ उनमें सब ओरसे लिपटी हुई हैं ॥ ९ ॥

सुखानिलोऽयं सौमित्रे कालः प्रचुरमन्यथः ।

गन्धवान् सुगन्धमासो जातपुष्पफलद्रुमः ॥ १० ॥

'सुमित्रानन्दन ! इस समय मन्द-मन्द सुखदायिनी हवा चल रही है, जिससे कामनाका उद्दीपन हो रहा है (सीताका देखनेका इच्छा प्रबल हो उठी है) । यह चैत्रका महिना है । वृक्षोंमें फूल और फल लग गये हैं और सब ओर मनोहर सुगन्ध छ रही है ॥ १० ॥

पश्य रूपाणि सौमित्रे वनानां पुष्पशालिनाम् ।

सृजतां पुष्पवर्षाणि वर्षं तोयमुच्चासिव ॥ ११ ॥

‘लक्ष्मण ! फूलोंसे सुशोभित होनेवाले इन वनोंके रूप तो देखो । ये उन्नी तरह फूलोंकी वर्षा कर रहे हैं जैसे मध जलकी वृष्टि करते हैं ॥ ११ ॥

प्रस्तरेषु च रम्येषु विविधाः कान्मन्दुमाः ।

वायुवेगप्रचलिताः पुष्परसकिरन्ति गाम् ॥ १२ ॥

‘वनके ये विविध वृक्ष वायुके वेगसे झूम-झूमकर तमणीय शिल्प-आँधर फूल-बरसा रह हैं और यहाँकी भूमिकाँ तक देते हैं ॥ १२ ॥

पतितैः पतमानैश्च पादपस्थैश्च मारुतः ।

कुसुमैः पश्य सौमित्रे क्रीडन्तीव समन्ततः ॥ १३ ॥

‘सुमित्राकुमार ! उधर तो देखो, जो वृक्षाँसे झड़ गये हैं, झड़ रहे हैं तथा जो मधों द्वारा ज्योंमें ही जग हुए हैं, उन मधों पृथ्वीके साथ मध और वायु खेल गा कर रही हैं ॥ १३ ॥

विक्षिपन् विविधाः वार्षा नगानां कुमुमांलकटाः ।

मारुतशूलितस्थानैः पदपदेरनुगीयते ॥ १४ ॥

‘पृथ्वीसे भरी हुई वृक्षाँकी विभिन्न शाखाओंका झकझोरती हुई वायु जब आगका बहती है, तब अपने-अपने स्थानमें विचलित हुए भ्रमर मानों उसका यज्ञागत करने हुए उसके पीछे पीछे चलने लगते हैं ॥ १४ ॥

मनकोकिलसंनदिर्नरयमित्र पादपान् ।

शैलकन्दर निष्कान्तः प्रगीत इव कानिलः ॥ १५ ॥

‘पर्वतको कन्दारमें विशेष ध्वनिक साथ निकली हुई वायु मानों उच्च स्वरसे गीत गा रही है । मनवान् कोकिलोंके कलनाद वाद्यका काम देने के और उन चालाकी ध्वनिक साथ वह वायु इन झगड़ हुए वृक्षाँकी मानों नृत्यको शिक्षा-सी दे रही है ॥ १५ ॥

तेन विक्षिपतात्पर्यं पचनेन समन्ततः ।

अमी संसक्तशाखामा प्रक्षिता इव पादपाः ॥ १६ ॥

‘वायुके वेगपूर्वक हिलानेसे जिनकी शाखाओंके आसपास मध और म परम्पर सट गये हैं, वे वृक्ष एक दूसरेमें गुंथे हुएकी भाँति जान पड़ते हैं ॥ १६ ॥

स एव सुखसंस्पर्शो जाति चन्दनशोतलः ।

गन्धमध्रवहन् पुष्पं भ्रमापनयनोऽनिलः ॥ १७ ॥

‘मत्स्यचन्दनका स्पर्श करके बहनेवाली यह शीतलवायु शरीरसे छू जानेपर कितनी सुखद जान पड़ती है । यह थकावट दूर करती हुई बह रही है और सर्वत्र पवित्र सुगन्ध फैला रही है ॥ १७ ॥

अमी पवनविक्षिप्ता विनदन्तीव पादपाः ।

पदपदेरनुकूलविवर्धेषु मधुगन्धिषु ॥ १८ ॥

‘मधुर मकरन्द और सुगन्धसे भरे हुए इन वनोंमें सुनगुनाते हुए भ्रमरोंके व्याजसे ये वायुद्वारा हिलाये गये

वृक्ष मानों नृत्यके साथ गान कर रहे हैं ॥ १८ ॥

गिरिप्रस्थेषु रम्येषु पुष्पवस्त्रिर्मनोरमैः ।

संसक्तशिखराः शैला विराजन्ति महाभूमैः ॥ १९ ॥

‘अपने रमणीय पृष्ठभागोंपर उत्कृष्ट फूलोंसे सम्पन्न तथा मनको लुभानेवाले विशाल वृक्षाँसे सट हुए शिखरवाले पर्वत अद्भुत शोभा पा रह है ॥ १९ ॥

पुष्पसंछन्नशिखरा मारुतोत्क्षेपचञ्चलाः ।

अमी मधुकरोत्तमाः प्रगीता इव पादपाः ॥ २० ॥

‘जिनकी शाखाओंके आसपास फूलोंसे ढके हैं, जो वायुके झोंकेमें हिल रहे हैं तथा भ्रमरोंको पगड़ीके रूपमें रिसपर धागण किये हुए हैं, वे वृक्ष ऐसे जान पड़ते हैं मानों इन्होंने नाचना-गाना आरम्भ कर दिया है ॥ २० ॥

सुपुष्पितास्तु पश्यन्तान् कर्णिकारान् समन्ततः ।

हाटकप्रतिसंछन्नान् नरान् पीताम्बरानिव ॥ २१ ॥

‘देखो सब ओर सुन्दर फूलोंसे भरे हुए ये कनेर सोनेके आभूषणोंमें विभूषित पीताम्बरधारि मनुष्योंके समान शोभा पा रहे हैं ॥ २१ ॥

अयं वसन्तः सौमित्रे नानाविहगनादितः ।

सीनया विप्रहोणस्य शोकसंदीपनो मम ॥ २२ ॥

‘मुमित्रानन्दन ! नाना प्रकारके विहङ्गमोंके कलरवोंसे मूँजता हुआ यह वसन्तका समय सनासे विखुड़े हुए मेरे लिये शोकको बहानेवाला हो गया है ॥ २२ ॥

यो हि शोकसमाक्रान्तं समापयति मन्मथः ।

इष्टं प्रवदमानश्च समाह्वयति कोकिलः ॥ २३ ॥

‘वियोगके शोकसे तो मैं पीड़ित हूँ ही, यह कामदेव (सीता-विषयक अनुराग) मुझ और भी समाप दे रहा है । कोकिल बड़े हर्षके साथ कलनाद करता हुआ मानों मुझे ललकार रहा है ॥ २३ ॥

एव दातृहृको हृष्टो रम्ये मां चननिङ्गरे ।

प्रणादन्यन्यथाविष्टं शोचयिष्यति लक्ष्मण ॥ २४ ॥

‘लक्ष्मण ! वनके रमणीय झरनेके निकट बड़े हर्षके साथ बोलता हुआ यह जलकुक्षुट मीनसे मिलनेकी इच्छावाले मुझ रामको जोकमग्न किये देता है ॥ २४ ॥

श्रुत्वैतस्य पुरा शब्दमाश्रमस्था मम प्रिया ।

याथाह्वय प्रमुदिताः परमं प्रत्यनन्दत ॥ २५ ॥

‘पहले मेरी प्रिया जब आश्रममें रहती थी, उन दिनों इसका शब्द सुनकर आनन्दमग्न हो जाती थी और मुझे भी निकट बुलकर अत्यन्त आनन्दित कर देती थी ॥ २५ ॥

एवं विचित्राः पतगा नानारावविराविणः ।

वृक्षगुल्मलताः पश्य सम्पतन्ति समन्ततः ॥ २६ ॥

‘देखो, इस प्रकार भौंति-भौंतिकी बोलती बोलनेवाले विचित्र पक्षों चारों ओर वृक्षाँ, झाड़ियों और लताओंकी ओर उड़ रहे हैं ॥ २६ ॥

विभिन्ना विहगाः पुंभिरात्मव्यूहाभिर्नन्दिताः ।

भृङ्गराजप्रमुदिताः सौमित्रे मधुरस्वराः ॥ २७ ॥

सुमित्रानन्दन देखो, ये पक्षिणियाँ नर पक्षियों से संयुक्त हो अपने झुंड में आनन्दका अनुभव कर रही हैं और गुञ्जार से सुनकर प्रसन्न हो रही हैं और स्वयं भी मोती बोली सोल रही हैं ॥ २७ ॥

अस्याः कुले प्रमुदिताः सङ्कुशः शकुनास्त्वह ।

दात्युत्तरतिविक्रन्दैः पुंस्कोकिलरुर्नरपि ॥ २८ ॥

स्वनन्ति घादपाश्र्वे ममानङ्गप्रदीपकाः ।

‘इस पम्पा के तट पर यहाँ झुंड के-शुद्ध पक्षी आनन्दमग्न होकर चहक रहे हैं जलकुकुटाक रतिमस्वरा कुञ्जन तथा नर कोकिलों के कलनाद के व्याज से मानों ये पक्षी भी मधुर बोली बोलने हैं और मेरी अनङ्ग वेदनाओं उद्गम कर रहे हैं ।

अशोकस्तम्बकाङ्गारः पदपदस्वननिःस्वनः ॥ २९ ॥
मां हि पल्लवताम्राविज्यं सन्तापिः प्रपश्यति ।

‘जान पड़ता है, यह वसन्तरूपी आग मुझे जलकर धस कर देगी । अशोक पुष्प के लाल-लाल गुच्छे ही इस आग्निक आङ्गार हैं, नूतन पल्लव ही इसकी लाल-लाल लपटें हैं तथा अमरों के गुञ्जार ही इस जलमी आग का ‘घट-नट’ शब्द है ॥ २९ ॥

नहि तां सूक्ष्मपक्ष्माक्षीं सुकशीं मृदुभाषिणीम् ॥ ३० ॥
अपश्यतो मे सौमित्रे जीवितेऽस्ति प्रयोजनम् ।

‘सुमित्रानन्दन ! यदि मैं सूक्ष्म बरीनयों और सुन्दर केशाङ्गाक्षी मधुरभाषिणी सीताओं न देख सका तो मुझे उस जीवन से कोई प्रयोजन नहीं है ॥ ३० ॥

अयं हि रुचिरस्तस्याः कालो रुचिरकाननः ॥ ३१ ॥
कोकिलाकुलसीमानो दयिताया ममानघ ।

‘निष्ठाप लक्ष्मण ! वसन्त ऋतु में बन के शोभा बढ़ी मनोहर हो जाती है, इसकी माँग में मत्त और क्रोधमय मधुर वृत्त सुना ॥ पड़ती है । मेरी प्रिया सीताका यह मान्य यज्ञ ही प्रिय लगता था ॥ ३१ ॥

मन्मथापारसम्भूतो वसन्तगुणवर्धनः ॥ ३२ ॥
अयं मां प्रपश्यति क्षिप्रं शोकाग्निनक्षिरादिषु ।

‘अनङ्गवेदना से उत्पन्न हुई शोकाग्नि वसन्त ऋतु के गुणों का ईशान पाकर बड़ गयी है, जान पड़ता है यह मुझ शोभ ही अविलम्ब जला देगी ॥ ३२ ॥

अपश्यतस्तौ वनितां पश्यतो रुचिरान् हुमान् ॥ ३३ ॥
मयायमात्मप्रभवो भूयस्त्वमुपयास्यति ।

‘अपनी उस प्रियतमा पत्नीको मैं नहीं देख पाता हूँ और उन मनोहर वृक्षों को देख रहा हूँ इसलिये मेरा यह अनङ्गत्वं अब और बढ़ जायगा ॥ ३३ ॥

अदृश्यमाना वंदेही शोकं वर्धयतीह मे ॥ ३४ ॥
दृश्यमानो वसन्तश्च स्वेदसंसर्गदूषकः ।

‘विदेह-नन्दिनी संता यहाँ मुझे नहीं दिखायी दे रही है इसलिये मेरा शोक बढ़ाता है तथा मन्द मत्स्याविलक द्वारा स्वेदसंसर्ग का निश्चाय करनेवाला यह वसन्त भी मेरे शोककी वृद्धि कर रहा है ॥ ३४ ॥

मां हि सा मृगशावाक्षीं चिन्ताशोकबलात्कृतम् ॥ ३५ ॥
संतापयति सौमित्रे क्रूरश्रीप्रवनानिलः ।

‘सुमित्राकुमार ! मृगनयनी सीता चिन्ता और शोक से बलपूर्वक पीड़ित किये गये मुझ रामको और भी संताप दे रही है । साथ ही यह क्रूर सहनेवाली चैत्रमास की वायु भी मुझे पीड़ा दे रही है ॥ ३५ ॥

अमी मयूराः शोभन्ते प्रनृत्यन्तस्ततस्ततः ॥ ३६ ॥
स्वैः पक्षैः पवनोद्धतैर्गवाक्षैः स्फाटिकैरिव ।

‘ये मीरे स्फटिकमणिके बने हुए गवाक्षों (झरोखों) के समान प्रताप हर्षितान् अपने फैले हुए पंखों से, जो वायु से कम्पित हो रहे हैं उधर उधर मचने हुए किसी शोभा पा रहे हैं ? ॥ ३६ ॥

शिश्विनीभिः परिवृतास्त एते मदपृच्छिताः ॥ ३७ ॥
मन्मथाधिपगीतस्य धम मन्मथवर्धनाः ।

‘मयूरियों ने घिरे हुए ये मदमत्त मयूर अनङ्गवेदना से संतप्त हुए मेरी इस कथन-बोलीको और भी बढ़ा रहे हैं ॥ ३७ ॥

पश्य लक्ष्मण नृत्यन्त मयूरमुपनृत्यति ॥ ३८ ॥
शिश्विनी मन्मथार्तेषा भर्तारं गिरिसानुनि ।

‘लक्ष्मण ! यह देखो, पर्वतशिखर पर नाचते हुए अपने न्यासी मयूरों के साथ साथ वह मीरों भी कामपीडित होकर नाच रही है ॥ ३८ ॥

तामेव मनसा रामो मयूरोऽप्यनुधावति ॥ ३९ ॥
वितत्य रुचिरौ पक्षौ स्तौत्पहसन्निव ।

‘मयूर भी अपने दोनों सुन्दर पंखों को फैलाकर मन हो मन अपनी उग्री राधा (प्रिया) का अनुसरण कर रहा है तथा अपने मधुर स्वरा से मेरा उपहास करना-सा जान पड़ता है ॥ ३९ ॥

मयूरस्य वने नूनं रक्षसा न हुना प्रिया ॥ ४० ॥
तस्माद्भृत्यति रभ्येषु वनेषु सह कान्तया ।

निश्चय ही वन में किसी रक्षस ने मीरों की प्रियाका अपहरण

नहीं किया है इसीलिये यह रमणीय वनमें अपनी वल्लभाके साथ नृत्य कर रहा है १ ॥ ४० ॥

मम त्वयं विना वासः पुष्पमासे सुदुःसहः ॥ ४१ ॥

पश्य लक्ष्मण संरागस्तिर्यग्योनिगतेषुपि ।

यदेश शिखिनी कामाद् भर्तारमभिवर्तते ॥ ४२ ॥

'फूलोंसे भरे हुए इस चैत्रमासमें सोनांक विना यहाँ निवास करना मेरे लिये अत्यन्त दुःसह है । लक्ष्मण ! देखो तो सही, तिर्यग्योनिगते १.३ हुए प्राणियोंमें भी परम्पर किन्ना अधिक आरुण्य है । इस समय यह मोरनी कामभावसे अपने स्वामीके अगले उपास्यता हुई है ॥ ४१-४२ ॥

साताप्यं विद्वत्प्राज्ञो जानकी जातसम्प्रभा ।

भदनेनाभिवर्तत यदि नापह्ना भवेत् ॥ ४३ ॥

'याद ॥ ४३ ॥ नेत्रोंवाली सोताकर अपहरण न हुआ होता तो वह भी इतने प्रबल बड़े प्रेमसे वंगपूर्वक मेरे पास आता ।

पश्य लक्ष्मण पुष्पाणि निष्कलानि भवन्ति मे ।

पुष्पभारसमुद्भूतां वनानां शिशिरालये ॥ ४४ ॥

लक्ष्मण ! इस वसन्त ऋतुमें फूलोंके भारसे सम्पन्न हुए इन वनोंके ये सार फूल मेरे लिये निष्कल हो रहे हैं । प्रिया सोताके यहाँ १ होनेसे शीतल मेरे लिये कोई प्रयोजन नहीं रह गया है ।

साधराण्याप पुष्पाणि पादपानामतिश्रिया ।

निष्कलानि यही यान्ति समं मधुकरीत्करैः ॥ ४५ ॥

'अत्यन्त शांभासे मनोहर प्रतीत होनेवाले ये वृक्षाके फूल भी निष्कल होकर भगवत्पूजाके गार्ध हो पृथ्वीपर गिर जाते हैं ।

नर्दन्ति कामं शकुना मृदिताः सङ्घाः कलम् ।

आह्वयन्त इवाभ्योष्यं करमोन्मादकरा मम ॥ ४६ ॥

'हृदयमें भरे हुए ये झूठ के-झूठ पक्षी एक-दूसरेको चुकाते हुए-के इच्छानुसार कलमय कर रहे हैं और मेरे मनमें प्रेमोन्माद उत्पन्न किये देते हैं ॥ ४६ ॥

वसन्तो यदि तत्रापि यत्र मे वसति प्रिया ।

नूनं पस्वशा सीता भापि शोचत्यहं यथा ॥ ४७ ॥

'जहाँ मेरी प्रिया सीता निवास करती है, वहाँ भी यदि इसी तरह वसन्त छा रहा हो तो उसकी क्या टडा होगी ? निश्चय ही वहाँ पराधीन हुई सीता मेरी ही तरह शोक कर रही होगी ॥ ४७ ॥

नूनं न तु वसन्तस्ते देशे स्पृशति यत्र सा ।

कथं ह्यसितपद्माक्षी धर्तयेत् सा मया विना ॥ ४८ ॥

'अवश्य ही जहाँ सीता है, ठस एकान्त स्थानमें वसन्तका प्रवेश नहीं है तो भी मेरे विना वह कजगरे नेत्रोंवाली कमलनयनी सीता कैसे जीवित रह सकगी ॥ ४८ ॥

अथवा वर्तते तत्र वसन्तो यत्र मे प्रिया ।

किं करिष्यति सुश्रोणी सा तु निर्धर्तिता परैः ॥ ४९ ॥

'अथवा सम्भव है जहाँ मेरी प्रिया है वहाँ भी इसी तरह वसन्त छा रहा हो, परंतु उसे तो शत्रुओंकी डाँट-फटकार मुननी पड़नी होगी, अतः वह बेचारी सुन्दरी सीता क्या कर सकेगी ॥ ४९ ॥

इयामा पद्मपलाशाक्षी मृदुभाषा च मे प्रिया ।

नूनं वसन्तमासाद्य परित्यक्ष्यति जीवितम् ॥ ५० ॥

'जिसका अभी नया-नयी अवस्था है और प्रफुल्ल कमलदलके समान मनोहर नेत्र हैं, वह भीड़ी बोली आनन्दवाली मेरी प्राणवल्लभा जानकी निश्चय ही इस वसन्त ऋतुको पाकर अपने प्राण त्याग देगी ॥ ५० ॥

दुःखं हि हृदये क्षुब्धिर्यम सम्परिवर्तते ।

नालं वर्तयितुं सीता साध्वी मदिरहं गता ॥ ५१ ॥

'मेरे हृदयमें यह विचार दृढ़ होता जा रहा है कि साध्वी माना मुझमें अलग होकर अधिक काल तक जीवित नहीं रह सकती ॥ ५१ ॥

ययि भावो हि वैदेह्यास्तत्त्वतो विनिवेशितः ।

ययापि भावः सीतायां सर्वथा विनिवेशितः ॥ ५२ ॥

'मानसमें विदेहकामोका हार्दिक अनुराग मुझमें और मेरा सम्पूर्ण प्रेम सर्वथा विदेहनन्दिनी सीतामें ही प्रतिष्ठित है ॥ ५२ ॥

एष पुष्पवहो वायुः सुखस्पर्शो हिमावहः ।

तो विविन्तयत, कान्तां पावकप्रतिमो मम ॥ ५३ ॥

'फूलोंकी सुगन्ध लेकर बहनेवाली यह शीतल वायु, जिसका स्पर्श बहुत ही सुखद है, प्राणवल्लभा सीताकी याद आनेपर मुझे आगकी भाँति तपाने लगती है ॥ ५३ ॥

सदा सुखमहं घन्दे यं पुरा सह सीतया ।

पास्तः स विना सीता शोकसंजननो मम ॥ ५४ ॥

पढ़ते जानकीके साथ रहनेपर जो मुझे सदा सुखद जान पड़ती थी, वही वायु आज सीताके विरहमें मेरे लिये शोकजनक हो गया है ॥ ५४ ॥

तां विनाश्च विहङ्गोऽसौ पक्षी प्रणदितस्तदा ।

वायसः पादपगतः प्रहृष्टमधिकूजति ॥ ५५ ॥

'जब सीता मेरे साथ थी उन दिनों जो पक्षी कौआ व्याकाशमें जाकर काँव-काँव करता था, वह उसके भावी वियागको सूचित करनेवाला था । अब सीताके वियागकालमें वह कौआ वृक्षपर बैठकर बड़े हर्षके साथ अपनी जोत्ती बोल रहा है (इससे सूचित हो रहा है कि सीताकर संवेग शीघ्र ही सुलभ होगा) ॥ ५५ ॥

१ रामाचर्याश्रीमणिकार इस श्लोकके पूर्वार्धका अर्थ यों लिखते हैं—निश्चय ही इस मोरके निवासभूत वनमें उस सक्षमने मेरी प्रिया सीताकर अपहरण नहीं किया; नहीं तो यह भी उसीके शोकमें डूबा रहता ।

एष वै तत्र खेदेहा विहगः प्रतिहारकः ।

पक्षी मां तु विशालाक्ष्या समीपमुपनेष्यति ॥ ५६ ॥

‘यही वह पक्षी है, जो आकाशमें स्थित होकर बोलनेपर वैदहीके अपहरणका सूचक हुआ; किंतु आज वह जंगल में बोल रहा है, उससे जान पड़ता है कि वह मुझे विशाललोचना सोताके समीप ले जायगा ॥ ५६ ॥

पश्य लक्ष्मण संनादं कने बद्विषयधनम् ।

पुष्पिताम्रेषु वृक्षेषु द्विजानामवकृजताम् ॥ ५७ ॥

‘लक्ष्मण ! देखो, जिनको ऊपरी हालियाँ फूलोंसे लदी हैं, वनमें वन पक्षोंपर कलरव करनेवाले पक्षियोंका यह मधुर शब्द विरहजनिक मदनोन्मादको बढ़ानेवाला है ॥ ५७ ॥

विक्षिप्तां पवननेतामसी तिलकमञ्जरीम् ।

षट्पदः सहसाप्येति भदोद्धतामिव प्रियाम् ॥ ५८ ॥

‘वायुक डारा हिलायो जानी हुई उस तिलक वृक्षको गंजरीपर प्रसर सहसा जा बैठा है। मानो कोई प्रेमी काममदमें कम्पित हुई प्रेयसीसे मिल रहा हो ॥ ५८ ॥

कामिनामयमत्यन्तमशोकः शोकवर्धनः ।

स्तवकैः पवनोन्निभैस्तर्जयन्निव मां स्थितः ॥ ५९ ॥

‘यह अशोक प्रियाविरहो कारी पुरुषांक लिये अन्यन्त शोक बढ़ानेवाला है। यह वायुकें झोंकेसे कम्पित हुए पुष्पगुच्छोंद्वारा मुझे डोँट बताता हुआ-सा खड़ा है ॥ ५९ ॥

अमी लक्ष्मण दृश्यन्ते चूताः कुसुमशालिनः ।

विभ्रमोत्प्लवकमनसः साङ्गनागा नरा इव ॥ ६० ॥

‘लक्ष्मण ! ये मञ्जरियाँसे सुशोभित होनेवाले आमके वृक्ष शृङ्गार विलाससे मदनमहदय होकर चन्दन आदि अङ्गनाग घारण करनेवाले मनुष्योंके समान दिग्बन्धों देने हैं ॥

सौमित्रे पश्य पम्पायाश्चित्रासु वनराजिषु ।

किंनरा नरशाकुल विचरन्ति यममृतः ॥ ६१ ॥

‘नरश्रेष्ठ सौमित्राफमार ! देखो, पम्पाको विचित्र यन्त्रोपकरणोंमें इधर-उधर किन्नर विचर रहे हैं ॥ ६१ ॥

इमानि शुभगन्धीनि पश्य लक्ष्मण सर्वशः ।

वलिनानि प्रकाशन्ते जले तरुणामूर्ध्ववत् ॥ ६२ ॥

‘लक्ष्मण ! देखो, पम्पाके जलमें सब ओर मिरल हुए ये सुगन्धित कमल प्रातःकालके सूर्यकी भाँति प्रकाशित हो रहे हैं ॥ ६२ ॥

एषा प्रसन्नसलिला पद्मनीलोत्पलायुता ।

हैरकारघट्टाकौणां पम्पा सौगन्धिकायुता ॥ ६३ ॥

‘पम्पाका जल बड़ा ही स्वच्छ है। इसमें लाल कमल और नील कमल मिले हुए हैं इन और कण्ठद्वार आदि पक्षी सब ओर फैले हुए हैं तथा सौगन्धिक कमल इसकी शोभा बढ़ा रहे हैं ॥ ६३ ॥

जले तरुणसूर्याभैः षट्पदाहतकेसरैः ।

पद्मजैः शोभते पम्पा सधन्नादधिसंवृता ॥ ६४ ॥

‘जलमें प्रातःकालके सूर्यकी भाँति प्रकाशित होनेवाले कमलरंक द्वारा सब ओर फैले हुए पम्पा चड़ी शोभा पा रही है। उन कमलोंके केसरोंको झरनेसे घुस लिया है ॥ ६४ ॥

चक्रवाकयुता नित्यं चित्रप्रस्थवनान्तरा ।

मानङ्गपूगयुर्थश्च शोभते सलिलार्थिभिः ॥ ६५ ॥

‘इसमें चक्रवाक सदा निवास करते हैं। यहकि वनोंमें विचित्र किन्नर स्थान हैं तथा पानी पीनेके लिये आये हुए हार्थिया और मृगज मनुष्योंमें इस पम्पाकी शोभा और भी बढ़ जाती है ॥ ६५ ॥

पद्मनाहनवेगाधिरूर्ध्विधिविलेम्भसि ।

पद्मजानि विराजन्ते ताक्ष्यमानानि लक्ष्मण ॥ ६६ ॥

‘लक्ष्मण ! वायुकें धपेहसे जिनमें वेग पैदा होता है, उन लक्ष्मणोंमें ताड़ित होनेवाले कमल पम्पाके मिरल जलमें बड़ी शोभा पाते हैं ॥ ६६ ॥

परापत्रविशालाक्षी सततं प्रियपद्मजाम् ।

अपश्यन्तो ये खेदेहो जीवितं नाभिरोचते ॥ ६७ ॥

‘प्रफुल्ल कमलदलके समान विशाल नेत्रोवाली विदेहगङ्गकुमारी सोताको कमल सदा ही प्रिय रहे हैं। उसे न देखनक कारण मुझे जीवित रहना अच्छा नहीं लगता है ॥

अहो कामस्य सामत्वं यो गतामपि दुर्लभाम् ।

स्मरन्निधत्ति कल्याणीं कल्याणतरवादिनीम् ॥ ६८ ॥

‘अहो ! काम कितना कुटिल है, जो अन्यत्र गयी हुई एवं परम दुर्लभ होनेपर भी कल्याणमय वचन बोलनेवाली उस कल्याणस्वरूपा सोताका बारंबार स्मरण दिला रहा है।

शक्यो धारयितुं कामो भवेदध्यागमो मया ।

यदि भूयो वसन्तो मां न हन्यात् पुष्पितद्रुमः ॥ ६९ ॥

‘यदि खिले हुए वृक्षोंवाला यह वसन्त मुझपर पुनः प्रहार न करे तो प्राप हुई कामवेदनाको मैं किसी तरह मनमें झो शके रह सकता हूँ ॥ ६९ ॥

यानि स्व रमणीयानि तया सह भवन्ति मे ।

तान्येवारमणीयानि जायन्ते मे तया विना ॥ ७० ॥

‘सोताके साथ रहनेपर जो-जो वस्तुएँ मुझे रमणीय प्रतीत होंगी थीं, वे ही आज उसके बिना असुन्दर जान पड़ती हैं ॥ ७० ॥

पराकोशपलाशानि द्रष्टुं दुर्दिशि मन्यते ।

सीताया नेत्रकोशाभ्यां सदृशानिति लक्ष्मण ॥ ७१ ॥

‘लक्ष्मण ! ये कमलकोशाक दल सीताके नेत्रकोशोंके समान हैं। इमालिये भरी आँखें इन्हें ही देखना चाहती हैं ॥

पराकेसरसंसृष्टो वृक्षान्तरधिनिःसृतः ।

निःश्वास इव सोमाया वाति वायुर्मनोहरः ॥ ७२ ॥

‘कमलकेसरोंका स्पर्श करके दूसरे वृक्षोंके बीचसे निकलते हुए यह सौम्ययुक्त मनोहर वायु सोताके नि श्वासकी भाँति चल रही है ॥ ७२ ॥

सौमित्रे पश्य पम्पाया दक्षिणे गिरिस्तानुषु ।

पुष्पितां कर्णिकारस्य यष्टिं परमशोभिताम् ॥ ७३ ॥

‘सुमित्रानन्दन ! वह देखो, पम्पाके दक्षिण भागमें पर्वत-शिखरोंपर खिली हुई कर्णिकों डाल कितनी अधिक शोभा पा रही है ॥ ७३ ॥

अधिकं शैलराजोऽयं धातुभिस्तु विधूषितः ।

विचित्रं सुजते रेणुं वायुवेगाधिघट्टितम् ॥ ७४ ॥

‘विभिन्न धातुओंसे विधूषित हुआ यह पर्वतराज ऋष्यमूक वायुके वेगमें लायी हुई विचित्र धूलिका सृष्ट कर रहा है ॥ ७४ ॥

गिरिप्रस्थास्तु सौमित्रे सर्वतः सम्पुष्पितैः ।

निष्पन्नैः सर्वतो रायैः प्रदीप्ता इव किंशुकैः ॥ ७५ ॥

‘सुमित्राकुमार ! चारों ओर खिले हुए और सब ओरसे रमणीय प्रतीत होनेवाले पर्वतोंपर पल्लव वृक्षोंसे उपलब्धित इस पर्वतके पृष्ठभाग आगमें जलते हुए-से मान पड़ते हैं ॥ ७५ ॥

पम्पातीररक्षाश्रेये समित्ता मधुगन्धिनः ।

धातुतीभक्तिल्लकापञ्चकरवाराश्च पुष्पिताः ॥ ७६ ॥

‘पम्पाजल तटपर उत्पन्न हुए ये वृक्ष इमांक जलसे अधिकित हो चके हैं और मधुर मकरन्द एवं गन्धसे सम्पन्न हुए हैं । इनके नाम इस प्रकार हैं—पातली, मोन्दका, पट्ट और कर्लीर । ये सब के-सब फूलोंसे सुशोभित हैं ॥ ७६ ॥

केतक्यः सिन्दुवाराश्च कासस्पश्च सुपुष्पिताः ।

माधव्यो गन्धगूर्णाश्च कुन्दगुल्माश्च सर्वशः ॥ ७७ ॥

‘केतकी (केवड़), सिन्दुवार तथा कामन्ती लताएँ भी सुन्दर फूलोंसे भरी हुई हैं । गन्धमय माधव्यो लता तथा कुन्द कुगुणोंकी झाड़ियाँ सब ओर शोभा पा रही हैं ॥ ७७ ॥

त्रिरिधिल्लश्च मधुकाश्च खजुला खकुलास्तथा ।

धम्मकास्तिलकाश्चैव नागवृक्षाश्च पुष्पिताः ॥ ७८ ॥

‘त्रिरिधिल्ल (चिलचिल), महुआ, बेत, मौलमिरी चम्पा, तिलक और नागकसर भी खिले दिखायो देते हैं ॥

पद्मकाश्चैव शोभन्ते नीलाशोकाश्च पुष्पिताः ।

लोघ्राश्च गिरिपृष्ठेषु सिंहकंसरपिञ्जराः ॥ ७९ ॥

‘पर्वतक पृष्ठभागपर पद्मक और खिले हुए नील अशोक भी शोभा पाते हैं । वहाँ सिंहके अम्बालकी भाँति पिङ्गल वर्णवाले लोघ भी सुशोभित हो रहे हैं ॥ ७९ ॥

अङ्गोलाश्च कुरण्टाश्च कूर्णकाः पारिभद्रकाः ।

चूताः पाटलयश्चापि कोविदाराश्च पुष्पिताः ॥ ८० ॥

पुचुकुन्दार्जुनाश्चैव दृश्यन्ते गिरिस्तानुषु ।

‘अङ्गोल, कुरट, कूर्णक (सेमल), पारिभद्रक (नोम या मदार), आम, पाटलि, कोविदार, मुचुकुन्द (नारक) और अर्जुन नामक वृक्ष भी पर्वत-शिखरोंपर फूलोंसे लदे दिखायो देते हैं ॥ ८० ॥

केतकोद्दालकाश्चैव शिरीषाः शिंशपा धवाः ॥ ८१ ॥

शाल्मल्यः किंशुकाश्चैव स्ताः कुरवकास्तथा ।

तिनिशा नक्तमालाश्च चन्दनाः स्पन्दनास्तथा ॥ ८२ ॥

हिन्तालास्तिलकाश्चैव नागवृक्षाश्च पुष्पिताः ।

‘केतक, उद्दालक (लसोड़ा), शिरीष, शीशम, धव, सेमल, पलाश, लाल कुरवक, तिनिश, नक्तमाल, चन्दन, स्पन्दन हिन्ताल, तिलक तथा नागकसरके पेड़ भी फूलोंसे भरे दिखायो देते हैं ॥ ८१-८२ ॥

पुष्पितान् पुष्पिताग्राभिलक्ष्णाभिः परिवेष्टितान् ॥ ८३ ॥

हृमान् पश्येह सौमित्रे पम्पाया रुचिरान् बहून् ।

‘सुमित्रानन्दन ! जिनके अग्रभाग फूलोंसे भरे हुए हैं, उन लता-बल्लारियोंसे लिपटे हुए पम्पाके इन मनोहर और बहुमंथक वृक्षोंका तो देखो । वे सब-के-सब यहाँ फूलोंके चारोंसे लदे हुए हैं ॥ ८३ ॥

वातविक्षिप्तविटपान् यथासन्नान् हृमानिमान् ॥ ८४ ॥

लताः समनुवर्तन्ते यत्ता इव वरस्त्रियः ।

‘हवाके झाँक खाकर जिनकी झाले हिल रही है, वे वे वृक्ष झुककर इनके निकट आ जाते हैं कि हाथसे इनकी डालियोंका स्पर्श किया जा सके । सलाने लताएँ मदमत्त मन्दरियोंकी भाँति इनका अनुसरण करती हैं ॥ ८४ ॥

पादपात् पादपं गच्छन्तीलार्च्छलं वनाद् वनम् ॥ ८५ ॥

वाति नैकरसास्वादसम्भोदित इवानिलः ।

‘एक वृक्षसे दूसरे वृक्षपर, एक पर्वतसे दूसरे पर्वतपर तथा एक वनसे दूसरे वनमें जाती हुई वायु अनेक रसाके आस्वादसे आनन्दित-सी होकर बह रही है ॥ ८५ ॥

केचित् पर्याप्तकुसुमाः पादपा मधुगन्धिनः ॥ ८६ ॥

केचिन्मुकुलसंवीताः श्यामवर्णा इवावधुः ।

कुछ वृक्ष प्रचुर पुष्पोंसे भरे हुए हैं और मधु एवं सुगन्धसे सम्पन्न हैं । कुछ मुकुलोंसे आवेष्टित हो श्यामवर्ण-से प्रतीत हो रहे हैं ॥ ८६ ॥

इदं मृष्टमिदं स्वादु प्रफुल्लमिदमित्यपि ॥ ८७ ॥

रागरक्तो मधुकरः कुसुमेष्वेव लीयते ।

‘यह अमर रागसे रंगा हुआ है और यह मधुर है, यह स्वादिष्ट है तथा यह अधिक खिला हुआ है इत्यादि बातें सोचता हुआ फूलोंमें ही लीन हो रहा है ॥ ८७ ॥

मिलीय पुनरुत्पत्य सहस्रान्यत्र गच्छति ।

मधुलुब्धो मधुकरः पम्पातीरद्रुमेष्टसौ ॥ ८८ ॥

‘पुष्पोंमें छिपकर फिर ऊपरकी ओर जाता है और सहस्रा अन्यत्र चल देता है । इस प्रकार मधुका लोभी अमर पम्पातीरवर्ती वृक्षोंपर कचर रहा है ॥ ८८ ॥

इयं कुसुमसंघातैर्यस्तीर्णा सुखाकृता ।

स्वयं निपतितर्भूमिः शयनप्रस्तरीरिव ॥ ८९ ॥

‘स्वयं झटकर गिरे हुए पुष्पसमूहोंसे आच्छादित हुई यह

भूमि ऐसी सुखदायिनी हो गयी है, मानो इसपर शयन करने के लिये मुलायम बिछौने बिछा दिये गये हों ॥ ८९ ॥

विविधा विविधैः पुष्पैस्तैव नगमानुधु ।

विस्तीर्णाः पीतगन्धाभाः सौमित्रं प्रस्तगः कृताः ॥ ९० ॥

‘सुमित्रानन्दन ! पर्वतके शिखरोंपर जो नाना प्रकारकी विशाल शिखरें हैं, उनपर झड़े हुए भाँति-भाँतिके फूलाने उन्हें लाल-पीले रंगकी शय्याओंके समान बना दिया है ॥ ९० ॥

हिमान्ते पश्य सौमित्रे वृक्षाणां पुष्पसम्भवम् ।

पुष्पमासे हि तत्रः संघर्षादिव पुष्पिताः ॥ ९१ ॥

‘सुमित्राकुमार ! वसन्त ऋतुमें वृक्षोंके फूलोंका यह संभव तो देखो ! इस ऋतु मानसमें वे वृक्ष मानो पायस हाँड लगाकर फूलते हुए हैं ॥ ९१ ॥

आह्वयन्त इवान्यान्यं नगाः घटपटनादिनाः ।

कुसुमोत्तमविटपाः शोभन्ते बहु लक्ष्मणा ॥ ९२ ॥

‘लक्ष्मण ! वृक्ष अपनी ऊपरी छालियोंपर फूलोंका मुकुट धारण करके बड़ा शाभा पा रहे हैं तथा वे भ्रमरोंके गुञ्जारखम इस तरह कालातलपूर्ण हो रहे हैं, मानो एक-दूसरेका आह्वान कर रहे हों ॥ ९२ ॥

एष कारण्डवः पक्षी विगाह्य सलिलं शुभम् ।

रमते जलमया साथं काममुदीपयति च ॥ ९३ ॥

‘वह कारण्डव पक्षी पम्पाके स्वच्छ जलमें प्रवेश करके अपनी प्रियतमाके साथ रमण करता हुआ कामका उदीपन-सा पत्र रहा है ॥ ९३ ॥

मन्दाकिन्यासु चरित्वं रूपमेतन्मनोरमम् ।

स्थाने तगति विख्याता गुणास्तस्या मनोरमाः ॥ ९४ ॥

‘मन्दाकिनीके समान प्रतीत जानवाली इस पम्पाका जड़ ऐसी मनोरम रूप है, तब संसारमें उसके जो मनोरम गुण विख्यात हैं, वे उचित ही हैं ॥ ९४ ॥

यदि दृश्येत सा साध्वी यदि चेह वसमहि ।

सुहृदेषु न शक्य नायोध्यायै रघुनम ॥ ९५ ॥

‘रघुश्राव लक्ष्मण ! यदि साध्वी माना श्रेष्ठ काय और यदि उसके साथ हम यहाँ निवास करने लगे तो हमें न इन्द्रलोकमें जानकी इच्छा होगी और न अयोध्यामें लौटनेकी जो ॥ ९५ ॥

न होवे रमणीयं तु शाहूलेषु तथा सह ।

रमतो न भवेतिना न सुहृदेषु वा भवत् ॥ ९६ ॥

‘श्री ! हमें आशास सुजायित ऐसे रमणीय प्रदेशमें मानाके साथ मानन्द विचरणका अवसर मिले तो मनुष्य अयोध्याका राज्य न (बलवत् कारण) कोई चिन्ता नहीं होगा और न दूसरों की तिर्य भोगोंकी अभिलाषा हो सकती ॥ ९६ ॥

आमी हि विविधैः पुष्पैस्तैव विविधचन्द्राः ।

काननेऽस्मिन् विना कान्ता चिन्ताम्याश्च नि मे ॥ ९७ ॥

‘इस वनमें भाँति-भाँतिके फूलोंसे सुजायित और नाना

प्रकारके फूलोंसे उपलब्धित ये वृक्ष प्राणवत्त्वभा सीताके जना में मनमें चिन्ता उत्पन्न कर देते हैं ॥ ९७ ॥

पश्य शीतजलां चेमां सौमित्रे पुष्करायुताम् ।

घक्रवाकानुचरितां कारण्डवनिषेविताम् ॥ ९८ ॥

प्रव्रं, क्रीडंश्च सम्पूर्णां महापूगनिषेविताम् ।

‘सुमित्राकुमार ! देखो, इस पम्पाका जल किनारा शीतल है इसमें असंख्य कमल खिले हुए हैं चकले बिचरते हैं और कारण्डव निवास करते हैं ! इतनी ही नहीं जलकुक्षुट तथा क्रीडा भी हुए हैं एक बड़े बड़े मृग इसका सेवन करते हैं ॥ ९८ ॥

अधिक शोभते पम्पा विकृजन्निर्विहंगमैः ॥ ९९ ॥

दीपयन्तीव मे कामं विविधा मुदिता द्विजाः ।

रपाभां चन्द्रमुखीं स्मृत्वा प्रियां पद्मनिभेक्षणाम् ॥ १०० ॥

‘चहकते हुए पक्षियोंसे इस पम्पाकी बड़ी शोभा हो रही है ! आनन्दमें निमग्न हुए वे नाना प्रकारके पक्षी में से मानाविषयक अनुगमकों उद्देश कर देते हैं, क्योंकि इनकी जाली सुन्दर मुझे नूतन अवस्थावाली कमलनयनी चन्द्रमुखी प्रियतमा सीताका स्मरण हो आता है ॥ ९९-१०० ॥

पश्य सानुषु चित्रेषु मृगैरधिः सहितान् मृगान् ।

मां पुनर्मृगशाखाक्ष्या वेदेह्या विरहीकृतम् ।

व्यथयन्तीव मे चित्तं संचरन्तस्ततस्ततः ॥ १०१ ॥

‘लक्ष्मण ! देखो, पर्वतके विचित्र शिखरोंपर ये हरिण अपनी हरिणयन्त्रे साथ विचर रहे हैं और मैं मृगनयनी मानासे विछुड़ गया हूँ ! उधर उधर विचरते हुए ये मृग मेरे चित्तको व्यथित करने देते हैं ॥ १०१ ॥

अस्मिन् सानुनि रम्ये हि घतद्विजगणाकुले ।

पश्येयं यदि नां कान्ता तनः स्वस्ति घवेन्मम ॥ १०२ ॥

‘मनवाले पक्षियोंसे भरे हुए इस पर्वतके रमणीय शिखरपर यदि प्राणवत्त्वभा सीताका दर्शन पा सकूँ, तभी मेरा कल्याण होगा ॥ १०२ ॥

जीवेयं खलु सौमित्रे मया सह सुमध्यमा ।

संवेत यदि वेदेही पम्पायाः पवनं शुभम् ॥ १०३ ॥

‘सुमित्रानन्दन ! यदि सुमध्यमा सीता मेरे साथ रहकर इस पम्पावनपरके तटपर सुखद समीपका सेवन कर सके, तो मैं निश्चय ही जीवित रह सकूँगा ॥ १०३ ॥

पद्यसौगन्धिकबहं शिवं शोकविनाशनम् ।

धन्या लक्ष्मण संवन्ते पम्पाया वनमास्तम् ॥ १०४ ॥

‘लक्ष्मण ! जो लोग अपनी प्रियतमाके साथ रहकर पद्म और मृगान्तक कमलोंको सुगन्ध लेकर बहनेवाली शीतल, मन्द एवं शाकम्भ पम्पा-वनकी वायुका सेवन करते हैं, वे धन्य हैं ॥ १०४ ॥

श्यामा पद्मपलाशाक्षी प्रिया विरहिता मया ।

कथं धारयति प्राणान् विवशा जनकात्मजा ॥ १०५ ॥

हाय ! वह नयी अवस्थावाली कमललोचना जनकान्दिनी

प्रिया सीता मुझसे बिछड़कर बेवसीकों दशार्धे अपने प्राणोंको कैसे धारण करती होगी ॥ १०५ ॥

किं नु वक्ष्यामि धर्मज्ञं राजानं सत्यवादिनम् ।

जनकं पृष्टसीतं ते कुशलं जनमंसदि ॥ १०६ ॥

‘लक्ष्मण ! धर्मके जाननेवाले सत्यवादी राजा जनक जब जन-समुदायमें बैठकर मुझसे सीताका कुशल-समाचार पूछेंगे, उस समय मैं उन्हें क्या उत्तर दूंगा ॥ १०६ ॥

या यामनुगता मन्वं पिशा प्रस्थापितं वनम् ।

सीता धर्म सपास्थायः क्व नु सा वर्तते प्रिया ॥ १०७ ॥

‘हय ! पिताके द्वारा कर्ममें भेजे जानेपर जो धर्मका अनुगम ले मेरे पीछे पीछे यहाँ चली आयी, वह मेरी प्रिया इस समय कहाँ है ? ॥ १०७ ॥

तया विहीनः कृपणः कथं लक्ष्मण धारये ।

या यामनुगता राज्याद् भ्रष्टं विहृतचेतसम् ॥ १०८ ॥

‘लक्ष्मण ! जिसने राज्यसे वंचित और जतला हो जानपर भी मेरा साथ नहीं छोड़ा - मेरा हो अनुसरण किया, उसका बिना आश्रय होना होकर मैं कैसे जीवन धारण करूँगा ॥

तच्चार्वाङ्गितपदाक्षं सुगन्धिं सुधमव्रणम् ।

अपश्यतो मुखं तस्याः सीदतीव मतिर्मम ॥ १०९ ॥

‘जो कमलदलके समान सुन्दर, मनाहर एवं प्रशंसनीय भेजासे सुगन्धित है, जिसमें मीठा-मँडो सुगन्ध निकलती रहती है, जो निर्मल तथा चंचक आदिके बिहसे रहित है, जानककिशोरीके उस दर्शनीय मुखको देखे बिना मेरा सुख-सुख सोचो जा रही है ॥ १०९ ॥

स्मिततास्यान्तरयुतं गुणखन्धधुरं हितम् ।

वैदेह्या चावधमतुलं कदा श्रोष्यामि लक्ष्मण ॥ ११० ॥

‘लक्ष्मण ! वैदेहीके हाव कभी हैमकर और कभी मूलक्याकर कही हुई वे मधुर, हितकर एवं लाभदायक बातें जिनकी कहीं सुसुना नहीं है, मुझे अब कब सुननेको मिलेगी ? ॥ ११० ॥

प्राप्य नु-क्वं वने दद्यादा मां मन्वथविकर्षितम् ।

नष्टदुःखं हृष्टेव साध्वी साध्वध्यधावत ॥ १११ ॥

‘भोलन वर्धनी-सी अवस्थावस्थी साध्वी सीता यद्यपि मनमें आकर कह रहा रही थी, तथापि जब मुझे अन्तर्हृदयना या मार्मिक कण्ठसे पीडित देखती, तब मानो डमका अपना सारा दुःख नष्ट हो गया हो, इस प्रकार प्रसन्न-सा होकर मेरी पीड़ा दूर करनेके लिये अच्छे-अच्छे वाने करने लगती थी ॥ १११ ॥

किं नु वक्ष्याम्ययोध्याया कौसल्या हि नृपात्मज ।

क्व सा स्थितिं पृच्छन्ती कथं चापि मनस्विनीम् ॥

‘राजकुमार ! अयोध्यामें चलनेपर जब मनस्विनी माता कौसल्या पूछेंगी कि ‘मेरी बहूनी कहाँ है ?’ तो मैं उन्हें क्या उत्तर दूंगा ? ॥ ११२ ॥

गच्छ लक्ष्मण पश्य त्वं भरतं भ्रातृवत्सलम् ।

नहर्हं जीवितुं शक्तस्तामृते जनकात्मजाम् ॥ ११३ ॥

इति रामं महात्मानं विलपन्तमनाश्रवन् ।

उवाच लक्ष्मणो भ्राता वचनं युक्तमव्ययम् ॥ ११४ ॥

‘लक्ष्मण ! तुम जाओ, भ्रातृवत्सल भरतसे मिलो । मैं तो अन्तर्हृदयना माताके बिना जीवित नहीं रह सकता ।’ इस प्रकार महात्मा श्रीरामको अनाथको भाँति विलाप करते देख भाई लक्ष्मणने युक्त-युक्त एवं निर्दोष वाणीमें कहा— ।

संस्तप्य रामं भद्रं ते मा शुचः पुरुषोत्तम ।

वेदुशानां मतिर्मन्दा भवत्यकलुषात्मनाम् ॥ ११५ ॥

‘पुरुषोत्तम श्रीराम ! आपको भज्य हो । आप अपनेको संभावित्ये । शोक न दीजिये । आप-जैसे पुण्यात्मा पुरुषोंकी बुद्धि उत्साहशून्य नहीं होती ॥ ११५ ॥

स्मृत्वा विर्यागजं दुःखं त्यज स्नेहं प्रिये जने ।

अनिस्त्रेहपरिहृणाद् वर्तिराद्रापि दह्यते ॥ ११६ ॥

‘स्वजनोके अवश्यम्भावी विर्यागका दुःख सभीको सहना पड़ता है, इस बातको स्मरण करके अपने प्रिय जनोके प्रति अधिक स्नेह (आसक्ति) को त्याग दीजिये; क्योंकि जल आदिमें घोंगो हुई वनो भी अधिक जल (तेल) में डुबो दी जनेपर जलने लगती है ॥ ११६ ॥

यदि गच्छति पातालं ततोऽप्यधिकमेव वा ।

सर्वथा रावणस्तात न धविष्यति राघव ॥ ११७ ॥

‘तात रघुनन्दन ! यदि रावण पातालमें या उससे भी अधिक दूर चला जाय तो भी वह अब किसी तरह जीवित नहीं रह सकता ॥ ११७ ॥

प्रवृत्तिर्लप्यतो तावत् तस्य पापस्य रक्षसः ।

नतो हास्यति वा सीतां निघ्नं वा गपिष्यति ॥ ११८ ॥

‘पहले उस पापी रक्षमका पना लगाइये । फिर या तो वह सीताका चापस करेगा या अपने प्राणोंसे हाथ धो बैठेगा ॥

यदि याति दिनेर्गर्भं रावणं सह सीतया ।

तत्राप्येनं हनिष्यामि न चेद् दास्यति मैथिलीम् ॥ ११९ ॥

‘रावण यदि सीताको साथ लेकर दितिके गर्भमें जाकर छिप जाय तो भी यदि मिथिलाकुमारीको लौटा न देगा तो मैं वहीं भी उसे मार डालूँगा ॥ ११९ ॥

स्वास्थ्यं भद्रं भजस्वार्थं त्यजन्मां कृपणा मतिः ।

अर्थो हि नष्टकार्यार्धैर्यत्वेनाधिगम्यते ॥ १२० ॥

‘अतः आर्य ! आप कल्याणकारी धर्मको अपनाइये । वह दीनतापूर्ण विचार त्याग दीजिये । जिनका प्रयत्न और धन नष्ट हो गया है, वे पुरुष यदि उत्साहपूर्वक उद्योग न करें तो उन्हें उस अभोष्ट अर्थकी प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ १२० ॥

उत्साहो बलवानार्य नास्त्युत्साहात् परं बलम् ।

सोत्साहस्य हि लोकेषु न किञ्चिदपि दुर्लभम् ॥ १२१ ॥

‘मेया ! उत्साह ही बलवान् होता है । उत्साहसे बढ़कर

दूसरा कोई बल नहीं है। उसीही पुरुषके लिये समारंभ कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है ॥ १२१ ॥

उत्साहवन्तः पुरुषा नावसीदन्ति कर्मसु ।

उत्साहमात्रमाश्रित्य प्रनिलप्रयाग जानकीम् ॥ १२२ ॥

'जिनके हृदयमें उत्साह होता है वे पुरुष कठिन-से-कठिन कार्य वह पड़नपर हिम्मत नहीं झरते। कमलेश्वर केवल उत्साहका आश्रय लेकर ही जनकनन्दिनीको प्राप्त कर सकते हैं ॥ १२२ ॥

त्यजतां कामवृत्तत्वं शोकं संन्यस्य पृष्ठतः ।

महात्मानं कृतात्मनमात्मानं नावशुध्यमे ॥ १२३ ॥

'शोककी पाख छेड़कर कामका-से व्यवहारका त्याग कीजिये। अथ महात्मा एवं कृतात्मा (पवित्र अन्तःकरणवाले) हैं, किन्तु इस समय अपने आपको भूल गये हैं—अपने स्वरूपका स्मरण नहीं कर रहे हैं' ॥ १२३ ॥

एवं सम्बोधितस्तत्र शोकोपहनचतनः ।

लब्ध शोकं च मोहं च रामो धैर्यमुपागमत् ॥ १२४ ॥

लक्ष्मणक इस प्रकार समझानपर शोकसे संन्यासित हुए श्रीरामने शोक और मोहका परित्याग करके धैर्य प्राप्ति किया ॥ १२४ ॥

सोऽभ्यनिकाभनख्यप्रस्ताभस्त्रिच्यपराक्रमः ।

रामः धर्मो सूरुचिरां रम्या धारिप्रवहमाम् ॥ १२५ ॥

नन्दनस्य स्यात्प्रतारित (आन्तस्वरूप) आचिन्त्यपराक्रमा श्रीगणेशजी जिनका नन्दन हैं वह वायुके शक्त ताकत भूम रहे थे, उस परम सुन्दर रमणीय धर्मात्मनोवरको स्तुति कर आगे बढ़े ॥ १२५ ॥

विरीक्षमाणः सहसा महात्मा

सती वने निर्झरकन्दरे च ।

ठहिरायेनाः सह लक्ष्मणेन

विचार्य दुःस्वोपहतः प्रतस्थे ॥ १२६ ॥

प्रीताके स्मरणमें जिनका चित्त अद्विष्ट हो गया था, अनपेक्ष जो दुःस्वप्ने डूबे हुए थे, वे महात्मा श्रीगणेश लक्ष्मणकी कही हुई बातोंपर विचार करके सहसा सावधान हो गये और अपने तथा लक्ष्मणको मिलित उस गम्भीर वनका निरीक्षण करने हुए वहल आगये प्रस्थित हुए ॥ १२६ ॥

ते भक्तभातङ्गविलासगाथी

गण्डकुलगव्यप्रगता महात्मा ।

स लक्ष्मणो राघवमिष्टचेष्टो

ररक्ष धर्मेण बलेन चैव ॥ १२७ ॥

मनवाले हाथोंके समान विलासपूर्ण गतिसे चलनेवाले शान्तिचिन्त महात्मा लक्ष्मण आगे-आगे चलते हुए श्रीगणेशजीको उनके अनुकूल चेष्टा करते धर्म और बलक द्वारा रक्षा करने लगे ॥ १२७ ॥

तावृष्यपूकस्य समीपधारी

चरन् ददर्शान्मुददर्शनीयौ ।

शास्त्रामृगाणामधिपस्तरस्वी

वितत्रसे नैव विचेष्ट चेष्टाम् ॥ १२८ ॥

शृष्यपूक धवनक समीप विचरनेवाले बलवान् वानरराज सुग्रीव धर्माक निकट धूम रहे थे। उसी समय उन्होंने उन अद्भुत दर्शनार्थ और श्रीराम और लक्ष्मणका देखा। देखते ही उनके मनमें यह भय हो गया कि जो न हो इन्हें मेरे शत्रु वालांने ही भेजा होगा, फिर तो वे इतने डर गये कि खाने-पीने आदिकी भी चेष्टा न कर सके ॥ १२८ ॥

स तौ महात्मा गजमन्दगाभी

शास्त्रामृगास्तत्र चरंश्चरन्तौ ।

दृष्ट्वा विषादे परमं जगाम

चिन्तापरितो धयभारधनः ॥ १२९ ॥

हाथोंके समान मन्दगतिसे चलनेवाले महात्मना वानरराज सुग्रीव जो वहाँ विचर रहे थे, उस समय एक साथ आगे बढ़ने हुए उन दोनों भाइयोंको देखकर चिन्तित हो उठे। भयके भारी भारसे उनका हृत्माह नष्ट हो गया। वे महान् दुःस्वप्ने पड़ गये ॥ १२९ ॥

तमाश्रमं पुण्यमुखं शरण्यं

सदैव शास्त्रामृगसेवितात्मम् ।

अस्ताञ्च दृष्ट्वा हरयोऽभिजगमु-

र्महोजसौ राघवलक्ष्मणौ तौ ॥ १३० ॥

मनङ्ग मुनिक वह आश्रम परम पवित्र एवं सुखदायक था। मुनिक शापमें उसमें वानरका प्रवेश होना कठिन था, इसलिए वह दूसरे वानरोंका आश्रय बना हुआ था। उस आश्रम था वनके भीतर सदा ही अनेक-अनेक शास्त्रामृग निवास करने थे। उस दिन उन महातेजस्वी श्रीराम और लक्ष्मणको देखकर दूसरे-दूसरे वानर भी भयभीत हो आश्रमके भीतर चले गये ॥ १३० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें पहला सर्ग पूरा हुआ ॥ १ ॥



द्वितीयः सर्गः

सुग्रीव तथा खानरोकी आशङ्का, हनुमान्जीद्वारा उसका निवारण
तथा सुग्रीवका हनुमान्जीको श्रीराम-लक्ष्मणके पास
उनका भेद लेनेके लिये भेजना

तौ तु दृष्ट्वा महात्मानौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
वरायुधधरौ धीरौ सुग्रीवः शङ्कितोऽभवत् ॥ १ ॥

महात्मा श्रीराम और लक्ष्मण दोनों माइयोंको श्रेष्ठ आयुध धारण किये जीर नेशमें आते देख (ऋण्यमूक पर्वतपर बैठे हुए) सुग्रीवके मनमें बड़ी शङ्का हुई ॥ १ ॥

उद्दिग्धदयः सर्वा दिशः समवलोकयन् ।
न व्यतिष्ठत् कास्मिंश्चिद् देशे खानरपुंगवः ॥ २ ॥

वे उद्दिग्धचित्त होकर चारों दिशाओंको ओर देखने लगे । उस समय खानरशिरोभ्राण सुग्रीव किसी एक स्थानपर स्थिर न रह सके ॥ २ ॥

नैव खल्वे मनः स्थातुं लीक्षमाणौ महाबलौ ।
कथेः परमाभीतस्य चित्तं व्यवससाद् ॥ ३ ॥

महाबली श्रीराम और लक्ष्मणको देखते हुए सुग्रीव अपने मनको स्थिर न रख सके । उस समय अव्यक्त भयभीत हुए उन खानरराजका पित्त बहुत दुःखी हो गया ॥ ३ ॥

चिन्तयित्वा स धर्मात्मा विमुश्य गुल्फाघवम् ।
सुग्रीवः परमोद्भिधः सर्वस्वैर्जनैः सह ॥ ४ ॥

सुग्रीव धर्मात्मा थे—उन्हे राजधर्मका ज्ञान था । उन्होंने मन्त्रियोंके साथ विचारकर अपनी दुर्बलता और शत्रुपक्षकी प्रभुवृत्ताका निश्चय किया । तत्पश्चात् वे समस्त खानरोंके साथ मिलकर लड़ेंगे ॥ ४ ॥

ततः स सन्निवेध्यस्तु सुग्रीवः पूवगाधिपः ।
शशांस परमोद्भिधः पश्यन्तौ रामलक्ष्मणौ ॥ ५ ॥

खानरराज सुग्रीवके हृदयमें बड़ा डरने लगे । वे श्रीराम और लक्ष्मणको आते देखते हुए अपने मन्त्रियोंके इस प्रकार बोले— ॥ ५ ॥

एतौ वनमिदं दुर्गं वालिप्रणिहितौ भुवम् ।
छशना चौरवसनी प्रचरन्ताविहागतौ ॥ ६ ॥

'निश्चय ही वे दोनों वीर कालोंके भेजे हुए ही इस दुर्गम वनमें विचरते हुए यहाँ आये हैं । इन्होंने छलसे वीर वस्त्र धारण कर लिये हैं, जिससे हम इन्हें पहचान न सकें' ॥ ६ ॥

ततः सुग्रीवसचिवा वृष्टा परमथन्त्रिनी ।
जग्मुर्गिरितटान् तस्मादन्यच्छिखरमुत्तमम् ॥ ७ ॥

उधर सुग्रीवके सहायक दूसरे-दूसरे खानरोंने जब उन महाधनुर्धर श्रीराम और लक्ष्मणको देखा, तब वे उस पर्वततटसे भागकर दूसरे उन्नत शिखरपर जा पहुँचे ॥ ७ ॥

ते क्षिप्रमभिगम्याथ यूथपा यूथपर्वभम् ।
हरयो खानरश्रेष्ठं परिवार्योपतस्थिरे ॥ ८ ॥

वे यूथपति खानर शीघ्रतापूर्वक जाकर यूथपतियोंके सरदार खानरशिरोभ्राण सुग्रीवको चारों ओरसे घेरकर उनके पास खड़े हो गये ॥ ८ ॥

एवमेकायनगताः पूवमाना गिरेर्गिरिम् ।
प्रकम्पयन्तो वेगेन गिरीणां शिखराणि च ॥ ९ ॥

ततः शान्नामृगाः सर्वे पूवमाना महाबलाः ।
बभूवुश्च नगांस्तत्र पुष्पितान् दुर्गमाश्रितान् ॥ १० ॥

इस तरह एक पर्वतमें दूसरे पर्वतपर उछलने-कूदने और अपने वेगसे उन पर्वत शिखरोंको प्रकम्पित करते हुए वे समस्त महाबली खानर एक मार्गपर आ गये । उन सबने उछल-कूदकर उम समय वहाँ दुर्गम स्थानोंमें स्थित हुए पुष्पशोभित बहुमूल्यक वृक्षोंको तोड़ डाला था । ९-१० ।

आपूवन्तो हरिवराः सर्वतस्तं महागिरिम् ।
मृगमार्जारशार्दूलान्वासयन्तो घयुस्तदा ॥ ११ ॥

उस बेलावे चारों ओरसे उस महान् पर्वतपर उछलकर आते हुए वे श्रेष्ठ खानर वहाँ रहनेवाले मृगों बिल्लों तथा व्याघ्रोंको घबराते करते हुए जा रहे थे ॥ ११ ॥

ततः सुग्रीवसचिवाः पर्वतेन्द्रे समाहिताः ।
संगम्य कपिमुख्येन सर्वे प्राञ्जलयः स्थिताः ॥ १२ ॥

इस प्रकार सुग्रीवके सभी सचिव पर्वतगज ऋष्यभृकपर आ पहुँचे और एकत्रजित हो उन खानरराजसे मिलकर उनके गमन हाथ जोड़कर खड़े हो गये ॥ १२ ॥

ततस्तु ध्वजसंव्रतं वालिकत्विषशङ्कितम् ।
उवाच हनुमान् वाक्यं सुग्रीवं वाक्यकोविदः ॥ १३ ॥

तदनन्तर वाल्मीकी आशङ्का करके सुग्रीवको भयभात देख बातचीत करनेमें कुशल हनुमान्जी बोले— ॥ सम्प्रमत्स्यज्यनामेव सर्वैर्वालिहृते महान् । पलयोऽयं गिरिवरो भयं नेहास्ति वालिनः ॥ १४ ॥

'आप सब लोग वालोंके कारण होनवाली इस भारी घबराहटको छोड़ दीजिये । यह मलयनामक श्रेष्ठ पर्वत है । यहाँ वालोंसे कोई भय नहीं है ॥ १४ ॥

यस्मादुद्दिग्धचेतास्त्वं विद्वतो हरिपुङ्गव ।
तं कुरदर्शनं कुरं नेह पश्यामि वालिनम् ॥ १५ ॥

'खानरशिरोभ्राण ! जिससे उद्दिग्धचित्त होकर आप भागे हैं, उस क्रूर दिक्कन्यो देववासे निर्दय वालोंको मैं यहाँ नहीं देखता हूँ ॥ १५ ॥

यस्मात् तव भयं सौम्य पूर्वजात् पापकर्मणः ।

स नेह चाली दुष्टात्मा न ते पश्याम्यहं भयम् ॥ १६ ॥

‘सौम्य । आपको अपने जिस पापाचारों बड़े घाईसे भय प्राप्त हुआ है वह दुष्टात्मा वालों वहाँ नहीं आ सकता, उन मुझे आपके भयका कोई कारण नहीं दिखायी देता ॥ १६ ॥

अहो शास्त्रामृगत्य ते व्यक्तमेव प्रवङ्गम् ।

लघुचित्ततयाऽऽत्मानं न स्थापयसि यो मनी ॥ १७ ॥

‘आश्चर्य है कि इस समय आपने अपने अनागच्छित चपलताको ही प्रकट किया है । वानरप्रवर । आपका चित्त चञ्चल है । इसलिये आप अपनेको विचार-मार्गपर स्थिर नहीं रख पाते हैं ॥ १७ ॥

बुद्धिविज्ञानसम्पन्न इङ्गितैः सर्वमाचर ।

न ह्यबुद्धिं गतो राजा सर्वभूतानि शास्ति हि ॥ १८ ॥

‘बुद्धि और विज्ञानसे सम्पन्न होकर आप दूसरोंका यशओंके द्वारा उनका मनोभाव समझे और उनको अनुसार सभी आवश्यक कार्य करें; क्योंकि जो राजा बुद्धि-बलका आश्रय नहीं लेता, वह सम्पूर्ण प्रजापर शासन नहीं कर सकता’ ॥ १८ ॥

सुग्रीवस्तु शुभं वाक्यं श्रुत्वा सर्वं हनुमतः ।

ततः शुभतरं वाक्यं हनुमन्तमुवाच ह ॥ १९ ॥

‘हनुमान् गीतें सुश्रवसे निकले हुए इन सभी श्रेष्ठ वाक्योंको सुनकर सुग्रीवने उनसे बहुत ही उत्तम बात कही — ॥ १९ ॥

दीर्घबाहू विशालाक्षो दारुणापासिधारिणी ।

कस्य न स्याद भयं दृष्ट्वा ह्येनौ सुसुतोपयो ॥ २० ॥

इन दोनों वीरोंकी भङ्गाई लक्ष्मी और मेरु बड़-बड़े हैं । ये शत्रु, पाण और तलवार धारण किये देखकरकेक ममान शोभा पा रहे हैं । इन दोनोंको देखकर किसके मनमें भयका स्थान न होगा ॥ २० ॥

बालिप्रणिहिताक्षश्च दण्डैर्हं पुरुषोत्तमो ।

राजानो बहुमित्रास्तु विश्वासो नात्र हि क्षमः ॥ २१ ॥

‘मैं मनमें संदेह है कि ये दोनों श्रेष्ठ पुरुष बालीके ही भेजे हुए हैं, क्योंकि राजाओंके बहुत-से मित्र होते हैं । अतः उनपर विश्वास करना उचित नहीं है ॥ २१ ॥

अर्यश्च मनुष्येण विज्ञेयाश्छद्मचारिणः ।

विश्वस्तानामविश्वस्ताश्छिद्रेषु प्रहन्त्यपि ॥ २२ ॥

‘भ्राणभ्रात्रवत्ते छद्मवचन विचरनेवाले शत्रुओंको निशस्त्ररूपसे परचाननेकी चेष्टा करने चाहिये; क्योंकि वे दूसरोंपर अपना विश्वास जमा लेते हैं, परन्तु स्वयं किसीका विश्वास नहीं करने और अचस्र पाते ही उन विश्वासों पुरुषों पर अह्ण कर बैठते हैं ॥ २२ ॥

कृत्येषु चाली मेधावी राजानो बहुदर्शिनः ।

भवन्ति परहन्तारस्ते ज्ञेयाः प्राकृतेनैरैः ॥ २३ ॥

‘बाली इन सब कार्योंमें बहुत कुशल है । राजालोग बहुदर्शी होते हैं—वञ्चनाके अनेक उपाय जानते हैं, इसीलिये शत्रुआका विध्वंस कर डालते हैं ऐसे शत्रुभूत राजाओंको प्राकृत वेशभूषावाले मनुष्यों (गुप्तचरों) द्वारा जाननेका प्रयत्न करना चाहिये ॥ २३ ॥

तौ त्वया प्राकृतेनैव गत्वा ज्ञेयौ प्रवङ्गम् ।

इङ्गितानां प्रकारैश्च रूपव्याभावणेन च ॥ २४ ॥

‘अतः कापिश्रेष्ठ । तुम भी एक साधारण पुरुषकी भाँति यहाँसे जाओ और उनको चेष्टाआमे, रूपस तथा बातचीतके नीर-सराकोंसे उन दोनोंका यथार्थ परिचय प्राप्त करो ॥ २४ ॥

लक्ष्मणश्च तयोर्भावं प्रहृष्टमनसौ यदि ।

विश्वासयन् प्रशंसाभिरिङ्गितैश्च पुनः पुनः ॥ २५ ॥

‘उनके मनोभावोंको समझो । यदि वे प्रसन्नचित्त आन पड़े तो वाग्यर मेरी प्रशंसा करके तथा मेरे अभिप्रायकी सूचित करनेवाली चेष्टाओंद्वारा मेरे प्रति उनका विश्वास उत्पन्न करो ॥

मर्मैवाभिमुखं स्थित्वा पृच्छ स्वं हरिपुङ्गव ।

प्रयोजनं प्रवेशस्य वनस्यास्य अनुधरी ॥ २६ ॥

‘जानरशिरोमणे ! तुम मेरी ही ओर मुँह करके खड़ा होना और उन अनुधर बागमें इस वनमें प्रवेश करनेका कारण पूछना ॥ २६ ॥

शुद्धात्मानो यदि त्वेतौ जानीहि त्वं प्रवङ्गम् ।

व्याधापितैर्वा रूपैर्वा विज्ञेया दुष्टतानयोः ॥ २७ ॥

‘यदि उनका हृदय शुद्ध आन पड़े तो भी तरह-तरहकी बातों और आवृत्तिक द्वारा यह जाननेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये कि वे दोनों कोई दुर्भावना लेकर तो नहीं आये हैं ।

इत्येवं कपिराजेन संदिष्टो घास्तात्मजः ।

चकार गमने बुद्धिं यत्र तौ रामलक्ष्मणौ ॥ २८ ॥

जानरराज सुग्रीवके इस प्रकार आदेश देनेपर लक्ष्मणकुमार हनुमान् ने उस स्थानपर जानका विचार किया, जहाँ श्रीराम और लक्ष्मण विद्यमान थे ॥ २८ ॥

तयंति सम्पूज्य वचस्तु तस्य

कपेः सुधीतस्य दुरासदस्य ।

महानुभावो हनुमान् धर्यौ तदा

स यत्र रामोऽतिव्रली सलक्ष्मणः ॥ २९ ॥

अत्यन्त डरे हुए दुर्जय जानर सुग्रीवके उस वचनका आदर करके ‘बहुत अच्छा कहकार’ महानुभाव हनुमान् जी जहाँ अत्यन्त बलशाली श्रीराम और लक्ष्मण थे, उस स्थानके लिये सत्कृत्य चल दिये ॥ २९ ॥

इत्यर्थे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें दूसरा सर्ग पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयः सर्गः

हनुमान्जीका श्रीराम और लक्ष्मणसे वनमें आनेका कारण पूछना और अपना तथा सुग्रीवका परिचय देना, श्रीरामका उनके वचनोंकी प्रशंसा करके लक्ष्मणको अपनी ओरसे बात करनेकी आज्ञा देना तथा लक्ष्मणद्वारा अपनी प्रार्थना स्वीकृत होनेसे हनुमान्जीका प्रसन्न होना

वचो विज्ञाय हनुमान् सुग्रीवस्य महात्मनः ।

पर्वतादृष्यमूकात् तु पुपुष्वे यत्र राघवौ ॥ १ ॥

महात्मा सुग्रीवक कथनको तात्पर्य समझकर हनुमान्जी ऋष्यमूक पर्वतसे उस स्थानकी ओर उड़ल्ले हुए चले जाई वे दोनों रघुवंशों बन्धु बिराजमान थे ॥ १ ॥

कपिरूपं परित्यज्य हनुमान् मारुतात्मजः ।

भिक्षुरूपं ततो घेजे शठवृद्धितया कपिः ॥ २ ॥

पवनकुमार वायवरीर हनुमान्ने यह सोचकर कि घेरे इस नागैरूपपर क्रिगोका विभाग तभी जम सकता, अपने उस रूपका परित्याग करके भिक्षु (सामान्य लक्ष्मणों) का रूप धारण कर लिया ॥ २ ॥

ततश्च हनुमान् वाच्या शलक्षणाया सुमनोज्ञया ।

विनीतधनुषागम्य राघवौ प्रणिपत्य च ॥ ३ ॥

आवधाये च तौ वीरौ यथावत् प्रशशंस च ।

साम्पूज्य विधिक्त्वा वीरौ हनुमान् वानरोत्तमः ॥ ४ ॥

उवाच कामतो वाक्यं भूतु सत्यपराक्रमौ ।

राजर्षिदेवप्रतिभौ तापसौ संशितव्रतौ ॥ ५ ॥

तदनन्तर हनुमान्ने विनीतभावसे उन दोनों गुरुवशों वीरोंके पास जाकर उन्हें प्रणाम करके मनका अत्यन्त प्रिय लगानेवाली मधुर वाणीमें उनके साथ वार्तालाप आरम्भ किया। वानर-विरोधार्थि हनुमन्ने पहले तो इन दोनों वीरोंका यथोचित प्रशंसा की। फिर विधिकत्वा उनका पूज्य (आदर) करके स्वच्छन्द-रूपसे मधुर वाणीमें कहा—'वीरौ ! आप दोनों सत्यपराक्रमी, राजर्षियों और देवताओंके समान प्रभावशाली, तपस्वी तथा कष्टात व्रतका पालन करनेवाले जान पड़ते हैं ॥ ३—५ ॥

तेशौ कश्चापियं प्राप्नो भवन्तौ वरधर्णिनौ ।

प्राप्तवन्तौ भृगुगणानन्धाश्च वनचारिणः ॥ ६ ॥

पम्पातीररुहान् वृक्षान् वीक्षमाणौ समन्ततः ।

इमां नदीं शुभजलां योषधन्तौ तरस्विनौ ॥ ७ ॥

धिर्यवन्तौ सुवर्णाभौ कौ युवां चौरवाससौ ।

निःश्वसन्तौ वरभुजौ पीडयन्ताविषाः प्रजाः ॥ ८ ॥

'आपक शरीरकी कान्ति कही सुन्दर है। आप दोनों इस वन्य प्रदेशमें किसलिये आये हैं। वनमें विचरनेवाले भृगुसमूहों तथा अन्य जीवोंको भी आप देते पम्पामण्डपके जलवर्ती वृक्षोंको सब ओरमें देखते और इस सुन्दर जलशाला नदी-सरोवरी पम्पाकड़े सुशोभित करते हुए आप दोनों श्वशाली वीर कौन हैं ? आपके अङ्गोंकी कान्ति सुवर्णके समान प्रकाशित होती है। आप दोनों बड़े धैर्यशाली दिखते

हैं। आप दोनोंके अङ्गोंपर चौर वस्त्र शोभा पाता है। आप दोनों ग्रीवा सांस खींच रहे हैं। आपको भुजाएँ विशाल हैं। आप अपने प्रभावसे इस वनके प्राणियोंको पोंछा दे रहे हैं। बसाइये, आपका क्या परिचय है ? ॥ ६—८ ॥

सिंहविप्रेक्षितौ वीरौ महाबलपराक्रमौ ।

शक्रचापनिधे चापे गृहीत्वा शत्रुनाशनौ ॥ ९ ॥

आप दोनों वीरोंकी दृष्टि सिंहके समान है। आपके बल और पराक्रम महान् हैं। इन्द्र धनुषके समान महान् शक्ति धारण करके आप शत्रुओंका नष्ट करनेकी शक्ति रखते हैं।

श्रीमन्तौ रूपसम्पन्नौ युवधश्रेष्ठविक्रमौ ।

हस्तिहस्तोपमभुजौ ह्युतिमन्तौ नरवर्धनौ ॥ १० ॥

'आप कान्तिमान् तथा रूपवान् हैं। आप विशालकाय हाड़के समान मन्दगतिसे चलते हैं। आप दोनोंकी भुजाएँ हाथकी मूँड़के समान जान पड़ती हैं। आप मनुष्योंमें श्रेष्ठ और परम तेजस्वी हैं ॥ १० ॥

प्रभया पर्वतेन्द्रोऽसौ युवयोरवधामितः ।

राज्यार्हाविमरप्रख्या कथं देशमिहागतौ ॥ ११ ॥

'आप दोनोंकी प्रभासे गिरिराज ऋष्यमूक जगमगा रहा है। आपलोग देवताओंके समान पराक्रमी और राज्य भागनेके योग्य हैं। भला, इस दुर्गम वनप्रदेशमें आपका आगमन कैसे सम्भव हुआ ॥ ११ ॥

पद्मपत्रेक्षणौ वीरौ जटामण्डलधारिणौ ।

अन्योन्यसदृशौ वीरौ देवलोकादिहागतौ ॥ १२ ॥

'आपके नेत्र प्रफुल्ल कमल-दलके समान शोभा पाते हैं। आपमें वीरता भरी है। आप दोनों अपने भस्त्रकण्ड जटामण्डल धारण करते हैं और दोनों ही एक-दूसरेके समान हैं। कहे। क्या आप देवलोकसे यहाँ पधारे हैं ? ॥ १२ ॥

यदृच्छयेष सम्प्राप्तौ चन्द्रभूर्धौ वसुंधराम् ।

विशालवक्षसौ वीरौ मानुषौ देवरूपिणौ ॥ १३ ॥

'आप दोनोंको देखकर ऐसा जान पड़ता है, मानो चन्द्रमा और सूर्य स्नेहमें ही इस भूतलपर उतर आये हैं। आपके वक्षस्थल विशाल हैं। मनुष्य होकर भी आपके रूप देवताओंके तुल्य हैं ॥ १३ ॥

सिंहस्कन्धौ महोत्साहौ समदाविव गोवृषौ ।

आयताश्च सुवृत्ताश्च बाहवः परिघोपमाः ॥ १४ ॥

सर्वभूषणभूषार्हाः किमर्थं न विभूषिताः ।

उभौ योग्यावहं मन्ये रक्षितुं पृथिवीमिमाम् ॥ १५ ॥

सप्तागरवनां कृत्वा विन्ध्यमेरुविभूषिताम् ।

‘आपके कंधे सिंहके समान हैं। आपमें महान् उत्साह भरा हुआ है। आप दोनों मदमत्त साँड़ोंके समान घूर्णित होते हैं। आपकी भुजाएँ विशाल, सुन्दर, गोल-गोल और परिधके समान स्तूढ़ हैं। ये समस्त आभूषणोंको धारण करनेके योग्य हैं तो भी आपने इन्हें विभूषित क्यों नहीं किया है? मैं तो समझता हूँ कि आप दोनों समुद्रों और अनोसे युक्त तथा विन्ध्य और मेरु आदि पर्वतोंमें विभूषित इस मारो पृथ्वीको रक्षा करनेके योग्य हैं ॥ १४-१५ ॥

इमे च धनुषी चित्रे श्लक्ष्णं चित्रानुलेपने ॥ १६ ॥
शकाशते घटेन्द्रस्य घट्टे हेमाविभूषिते ।

आपके ये दोनों धनुष विचित्र, चिकने तथा अद्भुत आभूषणसे विभूषित हैं। उनके मुकुटोंमें विभूषित किया गया है। आतः ये इन्द्रके घट्टेके समान प्रकाशित हो रहे हैं ॥ १६ ॥

सम्यूगाश्च शिनिर्वाणस्मृणाश्च शुभदर्शना ॥ १७ ॥
जीवितान्तकरिधेरिज्वलज्जिह्व पद्मगैः ।

‘पाशोंका अन्त कर देनेवाले शर्पोंके समान भयंकर तथा प्रकाशमान तोखे बाणोंसे भरे हुए आप दोनोंके मुँहों में बड़े सुन्दर दिशाग्री दंत हैं ॥ १७ ॥

महाप्रमाणा विपुला सप्तहाटकभूषणा ॥ १८ ॥
खड्गाखेती विगजेने निर्मुक्तभुजगाविष ।

‘आपके ये दोनों खड्ग बहुत बड़े और विस्तृत हैं। इन धारोंमें विभूषित किया गया है। ये दोनों अद्भुत आकार के निकले हुए शर्पोंके समान शम्भा पात हैं ॥ १८ ॥

एष मां परिभाषन्त कस्याद र्धं नाभिभाषत ॥ १९ ॥
सुग्रीवो नाम धर्मात्मा कश्चित् वानरपुङ्गवः ।
वीरो गानिकुतो भ्रात्रा जगद्भ्रमति दु ग्गितः ॥ २० ॥

वीरो । इस तरह मैं बारम्बार आपका परिचय पूछ रहा हूँ, आपका मुझे उत्तर क्यों नहीं दे रहे हैं? यहाँ मुझसे नामक एक श्रेष्ठ वानर रहते हैं, जो बड़े धर्मात्मा और वीर हैं। उनके भाई वानरोंने उनके शर्मसे निराल किया है। इसीलिए वे शायद दुःखी होकर मोरे जगत्में भरो-भारें फिरते हैं ॥

प्राप्नोऽहं प्रेषितस्तेन सुग्रीवेण महात्मना ।

राजा वानरमुख्यानां हनुमान् नाम वानरः ॥ २१ ॥
‘इन्हीं वानरशिरोमणियोंके राजा महत्त्वा सुग्रीवके भोजनेसे मैं बर्हा आया हूँ। मेरा नाम हनुमान् है। मैं भी वानरजातिवत् हूँ ॥ २१ ॥

युवाभ्यां स हि धर्मात्मा सुग्रीवः सख्यमिच्छति ।
तस्य मां सखिर्ध्वं विनो वानर एतान्त्वजम् ॥ २२ ॥
भिक्षुरूपप्रतिच्छन्नं सुग्रीवप्रियकारणात् ।

ब्रह्मपूजादिह प्राप्ते कापयं कामचारिणम् ॥ २३ ॥
धर्मात्मा सुग्रीव आप दोनोंमें मित्रता करना चाहते हैं। मुझे आपसोम ठन्हीका मन्त्रों समझें। मैं वायुदेवताका वानरजातीय पुत्र हूँ। मेरी इहाँ इच्छा है कि मैं नकन हूँ और

जैसा चाहूँ, रूप धारण कर सकता हूँ। इस समय सुग्रीवका प्रिय करनेके लिये भिक्षुक रूपमें अपनेको छिपाकर मैं ऋष्यपूक पर्वतसे यहाँपर आया हूँ ॥ २२-२३ ॥

एवमुक्त्वा तु हनुमास्तौ वीरौ रामलक्ष्मणौ ।
वाक्यज्ञो वाक्यकुशलः पुनर्नोवाच किंचन ॥ २४ ॥

उन दोनों भाई वीरवर श्रीराम और लक्ष्मणसे ऐसा कहकर बातचीत करनेमें कुशल तथा बातका मर्म समझनेमें निपुण हनुमान् चुप हो गये, फिर कुछ न बोले ॥ २४ ॥

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य रामो लक्ष्मणपद्मवीत् ।
प्रहृष्टचेदनः श्रीमान् भ्रातरं पार्श्वतः स्थितम् ॥ २५ ॥

उनकी यह बात सुनकर श्रीरामचन्द्रजीका मुख प्रसन्नतासे चित्त उठा। वे अपने बगलमें खड़े हुए छाने भाई लक्ष्मणसे इस प्रकार कहने लगे— ॥ २५ ॥

सचिवोऽयं कपीन्द्रस्य सुग्रीवस्य महात्मनः ।
तमेव काङ्क्षमाणस्य ममान्तिकमिहागतः ॥ २६ ॥

‘सुमित्रानन्दन । ये महात्मन्वी वानरराज सुग्रीवके सचिव हैं और इन्हींके हिनकड़े इच्छासे यहाँ मेरे पास आये हैं। तमध्यभाव सीमिने सुग्रीवसचिवं कपिम् ।

वाक्यज्ञं मधुरवाक्यैः स्नेहयुक्तमरिदमम् ॥ २७ ॥

‘लक्ष्मण । इन शत्रुहमन सुग्रीवसचिव कपिवर हनुमान्म जे वानरके मर्मको समझनेवाले हैं, गुण संहर्षक मोती बाणोंमें बातचीत करो ॥ २७ ॥

नानुवेदविनीतस्य भाषजुर्वेदधारिणः ।
नत्मापवेदविदुषः शक्यमेव विधायितुम् ॥ २८ ॥

‘जिसे ऋग्वेदकी शिक्षा नहीं मिली, जिसने यजुर्वेदका अध्ययन नहीं किया तथा जो सामवेदका विद्वान् नहीं है, वह इस प्रकार मुन्दर भाषामें वार्तालाप नहीं कर सकता ॥ २८ ॥

नूनं व्याकरणे कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम् ।
बहु व्याहरतानेन न किंचिदपशब्दितम् ॥ २९ ॥

‘निश्चय ही इन्होंने सम्पूर्ण व्याकरणका कई बार स्वाध्याय किया है। क्योंकि वहन-सी बातें बोल जानेपर भी इनके मुँहसे कोई अशुद्धि नहीं निकलती ॥ २९ ॥

न मुखे नेत्रयोश्चापि रुक्माटे च भ्रुवोस्तथा ।
अन्येष्वपि च सर्वेषु दोषः संविदितः क्वचित् ॥ ३० ॥

‘सम्भाषणके समय इनके मुख, नेत्र, रुक्माटे, भौंठ तथा अन्य सब अङ्गोंमें भी कोई दोष प्रकट हुआ हो, ऐसा कहीं श्रुत नहीं हुआ ॥ ३० ॥

अविस्तरमसंदिग्धमविलम्बितमव्यथम् ।
उरःस्थे कण्ठगे वाक्यं वर्तते मध्यमस्वरम् ॥ ३१ ॥

‘इन्होंने धोंड़में ही बड़ी स्पष्टताके साथ अपना अभिप्राय निवेदन किया है। उसे समझनेमें कहीं कोई सदेह नहीं हुआ है। रुक-रुककर अथवा इन्द्रों या अश्वगंको तोड़-मरोड़कर किसी ऐसे वाक्यका उच्चारण नहीं किया है, जो सुन्ना

कर्णकटु हो इनकी वाणी हृदयमें मध्यमस्वरूपसे स्थित है और कण्ठसे वैखरीरूपमें प्रकट होती है, अतः चलते समय इनको आवाज न बहुत धीमी रही है न बहुत ऊँची, मध्यम स्वरमें हो इन्होंने सब बातें कही हैं ॥ ३१ ॥

संस्कारक्रमसम्पन्नामद्भुतामविलम्बिताम् ।

उच्चारयति कल्याणीं वाचं हृदयहर्षिणीम् ॥ ३२ ॥

‘ये संस्कार’ और क्रममें सम्पन्न, अद्भुत, अविलम्बित तथा हृदयको आनन्द प्रदान करनेवाली कल्याणमयी वाणीका उच्चारण करते हैं ॥ ३२ ॥

अनया चित्रया यानां त्रिस्थानव्यञ्जनमध्या ।

कस्य नाराध्यते वित्तमुद्यतासेरेरेरपि ॥ ३३ ॥

हृदय, कण्ठ और भूरी—इन तीनों स्थानों द्वारा भावपूर्ण और अविच्छिन्न होनेवाली इनकी इस विविध वाणीको सुनकर किसीका चित्त प्रसन्न न होगा। यद्यपि करनेक लिय तत्काल कष्टों हुए जानकर भयभीत भी इस अद्भुत वाणीसे जल सकता है ॥ ३३ ॥

एवमिधो यस्य कृतो न भवेत् पार्थिवस्य तु ।

सिद्धिर्गन्तुं हि कार्यं तस्य कार्याणां गतयोऽनघ ॥ ३४ ॥

‘निष्ठाप लक्ष्मण ! जिस राजाके पास इनके समान दूत न हो, उनके कार्योंकी सिद्धि कैसे हो सकती है ॥ ३४ ॥

एवंगुणगणीयता यस्य स्युः कार्यसाधका ।

तस्य सिद्धिर्गन्तुं सर्वेऽर्थी दूतवाक्यप्रयोदिता ॥ ३५ ॥

‘जिसके कार्यसाधक दूत ऐसे उत्तम गुणोंसे युक्त हों, तब राजाके सभी मनोरथ दूतोंकी वातचोत्तसे ही

सिद्ध हो जाते हैं ॥ ३५ ॥

एवमुक्तस्तु भीमित्रिः सुग्रीवसचिवं कपिम् ।

अध्यभाषत वाक्यज्ञो वाक्यज्ञं पवनान्मजम् ॥ ३६ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर वातचोत्तकी कला जाननेवाले सुमित्रचन्दन लक्ष्मण वातक्य नाम समझनेवाले पवनकुमार सुग्रीवसचिव कपिवर हनुमान्से इस प्रकार बोले— ॥ ३६ ॥

विदिता नौ गुणा विद्वन् सुग्रीवस्य महात्मनः ।

तमेव चावां मार्गावः सुग्रीवं प्रवगेश्वरम् ॥ ३७ ॥

विद्वन्। महामना सुग्रीवके गुण हमें ज्ञात हो चुके हैं। हम दोनों भाई वानराज सुग्रीवकी ही खोजमें यहाँ आये हैं ॥ ३७ ॥

यथा ब्रवीषि हनुमन् सुग्रीववचनादिह ।

तत् तथा हि करिष्यामि वचनात् तव सत्तम ॥ ३८ ॥

‘सार्धशरामणि हनुमान्जी ! आप सुग्रीवके कथनानुसार यहाँ आकर जो मेरीकी बात चला रहे हैं, वह हमें स्वीकार है। हम आपके कहनेसे ऐसा कर सकते हैं ॥ ३८ ॥

तत् तस्य वाक्यं निपुणं निशम्य

प्रहृष्टरूपः पवनान्मजः कपिः ।

मनः समाधाय जयोपपत्तौ

सख्यं तदा कर्तुमियेष साध्याम् ॥ ३९ ॥

लक्ष्मणक यह स्वोक्तिसूचक निपुणतायुक्त वचन सुनकर पवनकुमार कपिवर हनुमान् बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने सुग्रीवकी विजयनिर्दिष्टीमें मन लगाकर उस समय उन दोनों भाइयोंके साथ उनकी मित्रता करनेकी इच्छा की ॥ ३९ ॥

इत्यार्ष श्रीमद्रामायणे भारुचीकोणे आदिताम्ये किष्किन्धाकाण्डे तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीमद्भारतमीमांसाभाष्ये आदिताम्ये किष्किन्धाकाण्डमें तौसरा सर्ग पूरा हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थः सर्गः

लक्ष्मणका हनुमान्जीसे श्रीरामके वनमें आने और सीताजीके हरे जानेका वृत्तान्त बताना तथा इस कार्यमें सुग्रीवके सहयोगकी इच्छा प्रकट करना, हनुमान्जीका उन्हें आश्वासन देकर उन दोनों भाइयोंको अपने साथ ले जाना

ततः प्रहृष्टो हनुमान् कृत्यवानिति तद्वचः ।

श्रुत्वा मधुरभाष्यं च सुग्रीवं मनसा गतः ॥ १ ॥

श्रीरामजीकी बात सुनकर तथा सुग्रीवके धिक्पमें उनकी सीमाभाष्य जानकर और साथ ही यह समझकर कि इन्हें भी सुग्रीवसे कोई अगवश्यक काम है, हनुमान्जीको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने मन ही मन सुग्रीवका स्मरण किया ।

भाष्ये राज्यागमस्तस्य सुग्रीवस्य महात्मनः ।

यदयं कृत्यवान् प्राप्तः कृत्यं चैतदुपागतम् ॥ २ ॥

‘अब अवश्य ही महामना सुग्रीवके राज्यकी प्राप्ति होनवाली है, क्योंकि ये महानुभाव किसी कार्य या प्रयोजनसे यहाँ आये हैं और यह कार्य सुग्रीवके ही द्वारा सिद्ध होनेवाला है ॥ २ ॥

१ व्याकरणके नियमानुसार शुद्ध वाणीको संस्कारसम्पन्न (संस्कृत) कहते हैं।

२ शब्दोपसर्गकी शास्त्रीय परिपटीका नाम क्रम है।

३ किना रुके धाराप्रवाहलयसे बोलना अविलम्बित कहलाता है।

ततः परमसंहृष्टो हनुमान् प्रथमोत्तमः ।
प्रत्युवाच ततो वाक्ये रामे वाक्यविशारदः ॥ ३ ॥

तत्पश्चात् वातघातमे कुशल वानरश्रेष्ठ हनुमन्जी अत्यन्त
हर्षमें भरकर श्रीरामचन्द्रजीसे बोले— ॥ ३ ॥

किमर्थं त्वं वनं धीरे धम्याकाननमपिडितम् ।
आगतः सानुजो दुर्गं नानाव्यालमृगायुतम् ॥ ४ ॥

‘धम्या-तटवर्ती काननसे सुशोभित यह वन धयंकर और
दुर्गम है। इसमें नाना प्रकारके हिसक-जन्तु निवास करते हैं।
आप अपने छोटे भाईके साथ यहाँ किमलिये आये हैं?’ ॥

ताय तद् वचनं श्रुत्वा लक्ष्मणो रामघांदिनः ।
आचचक्षे महात्मानं राम दशरथात्मजम् ॥ ५ ॥

हनुमान्जीका यह वचन सुनकर श्रीरामजी आज्ञासे
लक्ष्मणने दशरथनन्दन महात्मा श्रीरामका इस प्रकार परिचय
देना आरम्भ किया— ॥ ५ ॥

राजा दशरथो नाम शुनिमान् धर्मवत्सलः ।
वातुर्वर्ष्यं स्वधर्म्येण नित्यमेवाभिपालयन् ॥ ६ ॥

‘विद्वन्। इस पुण्यात्तर दशरथ नामसे प्रसिद्ध जो
भार्गवगर्ग तेजस्वी राजा थे, वे सदा ही अपने धर्मक अनुसर
कारी धर्मीकी आज्ञाका पालन करते थे ॥ ६ ॥

न ह्येवा विज्ञाने तस्य स तु द्वेष्टि न कंचन ।
स तु सर्वेषु धृतेषु पितामह इवापरः ॥ ७ ॥

‘इस भूतलपर ठहरे हुए रत्नकालका कोई नहीं था और
ज भी किसीने दूरा नहीं रहते थे वे समस्त प्राणियोंपर दूसर
ब्रह्माणांक समान स्नेह रखते थे ॥ ७ ॥

भ्राष्ट्रोमादिभिर्पुत्रैरिष्टवानामृदक्षिणी ।
तस्यायं पूर्वजः पुत्रो रामो नाम जनेः श्रुतः ॥ ८ ॥

उन्होंने पक्षाक्ष दक्षिणावाले अष्टम्याम आदि यज्ञोंका
अनुष्ठान किया था। ये उन्हीं महाराजक ज्येष्ठ पुत्र हैं। श्रेष्ठ
इन्हें श्रीराम कहते हैं ॥ ८ ॥

शरण्यः सर्वभूतानी पितुर्निर्दिशपारमः ।
श्रेष्ठो दशरथस्यायं पुत्राणां गुणवानरः ॥ ९ ॥

‘ये सब प्राणियोंको शरण देनेवाले और पितृकी आज्ञाका
पालन करनेवाले हैं। महाराज दशरथके चारों पुत्रोंमें ये सबसे
अधिक गुणवान् हैं ॥ ९ ॥

राजलक्षणासयुक्तः सयुक्तो राज्यसम्पदा ।
गम्याद् श्रेष्ठो मघा वस्तु वने सार्धमिहागम ॥ १० ॥

‘ये राजाके लक्षणसे युक्त सयुक्तो राज्यसम्पदा।
गम्यात् श्रेष्ठो मघा वस्तु वने सार्धमिहागम ॥ १० ॥

‘यथायं करनकं क्रिये मेरे साथ यहाँ आ गये ॥ १० ॥

यार्धया च महाभाग सीतयानुगतो वशी ।
दिनक्षये महानेजाः प्रभयेव दिवाकरः ॥ ११ ॥

महाभाग। जैसे दिनका क्षय होनपर सार्धकाल महा-

नेत्रको सूर्य अपने प्रभाके साथ अस्ताचलको जाते हैं, उसी
प्रकार ये जित्नेन्द्रिय और धुनायजी अपनी पत्नी सीताके साथ
वनमें आये थे ॥ ११ ॥

अहमस्यावरो भ्राता गुणीदास्यमुपागतः ।
कृतज्ञस्य बहुज्ञस्य लक्ष्मणो नाम नामतः ॥ १२ ॥

‘मैं इनका छोटा भाई हूँ। मेरा नाम लक्ष्मण है। मैं अपने
कृतज्ञ और बहुज्ञ भाईके गुणासे आकृष्ट होकर इनका दास
हो गया हूँ ॥ १२ ॥

सुखाहंस्य महार्हस्य सर्वभूतहितात्मनः ।
ऐश्वर्येण विहीनस्य वनवासे रतस्य च ॥ १३ ॥

रक्षसापहता भार्या रहिते कामरूपिणा ।
तच्च न ज्ञायते रक्षः पत्नी यनास्य वा हृता ॥ १४ ॥

‘सम्पूर्ण भूतोंके हितमें मन लगानेवाले, सुख भोगमेंके
योग्य महार्हकाद्वारा पूजनीय, ऐश्वर्यसे हीन तथा वनवासमें
नन्तर मेरे भाईकी पत्नीका इच्छानुसार रूप धारण करनेवाला एक
राक्षसने सुने आश्रममें भर लिये। जिसने इनकी पत्नीका हरण
किया है वह राक्षस कौन है और कहाँ रहता है? इत्यादि
बातोंका ठीक-ठीक पता नहीं लग रहा है ॥ १३-१४ ॥

दनुनाम दितेः पुत्रः शापाद् राक्षसतो गतः ।
आरक्ष्यानन्तेन सुग्रीवं समर्थो वानराधिपः ॥ १५ ॥

स ज्ञास्यति महार्गीयस्तत्र भार्यापहारिणम् ।
एवमुक्त्वा दनुः स्वर्गं भ्राजमानो दिवं गतः ॥ १६ ॥

दनु नामक एक दैत्य था, जो शापसे राक्षसभावको प्राप्त
हुआ था। उसने सुग्रीवका नाम बनाया और कहा—
‘वानरराज सुग्रीव मामर्थ्यदात्री और महान् पराक्रमी है, वे
आपकी पत्नीका अपहरण करनेवाले राक्षसका पता लगा देंगे।’
एसा कहकर वैजय प्रकाशित होता हुआ दनु स्वर्गलोकमें
पहुँचनेक लिये आकाशमें उड़ गया ॥ १५-१६ ॥

एतन् ते सर्वमारुह्याते पाथानध्यैन पृच्छतः ।
अहं सर्वं च रामश्च सुग्रीवं शरणं गतौ ॥ १७ ॥

‘आपक प्रश्नके अनुसार मैंने सब बातें ठीक-ठीक बता
दीं। मैं और श्रीराम दोनों ही सुग्रीवकी शरणमें आये हैं ॥

एव इत्था च वितानि प्राप्य जानुतमे यशः ।
लोकनाथः पुरा भूत्वा सुग्रीवं नार्थमिच्छति ॥ १८ ॥

‘ये पहले बहुत-से धन-वैभवका दान करके परम उत्तम
यश प्राप्त कर चुके हैं। जो पूर्वकालमें सम्पूर्ण जगतके
नाथ (संरक्षक) थे, वे आज सुग्रीवकी अपना रक्षक
बनाना चाहते हैं ॥ १८ ॥

सीता यस्य स्तुषा चासीच्छरण्यो धर्मवत्सलः ।
तस्य पुत्रः शरण्यश्च सुग्रीवं शरणं गतः ॥ १९ ॥

‘सीता जिनको पुत्रवधू है, जो शरणागतपालक और
धर्मवत्सल रहे हैं, उन्हीं महाराज दशरथके पुत्र शरणदाता
श्रीराम आज सुग्रीवकी शरणमें आये हैं ॥ १९ ॥

सर्वलोकस्य धर्मात्मा शरण्यः शरणं पुरा ।

गुरुर्मे राघवः सोऽयं सुग्रीवं शरणं गतः ॥ २० ॥

‘जो मेरे धर्मात्मा बड़े भाई श्रीरघुनाथजी पहले सम्पूर्ण जगतको शरण देनेवाले तथा शरणार्थीगणवत्सल रहे हैं, वे इस समय सुग्रीवको शरणमें आये हैं ॥ २० ॥

यस्य प्रसादे सततं प्रसीदेयुरिमाः प्रजाः ।

स रामो वानरेन्द्रस्य प्रसादमभिकाङ्क्षते ॥ २१ ॥

‘जिनके प्रसन्न होनेपर सदा यह सारी प्रजा प्रसन्नतामें स्थित रहती थी, वे ही श्रीराम आज वानरराज सुग्रीवकी प्रसन्नता चाहते हैं ॥ २१ ॥

येन सर्वगुणोपेताः पृथिव्यां सर्वपार्थिवाः ।

तानिमाः सततं राजा सदा दशरथेन वै ॥ २२ ॥

तस्यार्थं पूजजः पूजन्निष्ठां लोकेषु विश्रुतः ।

सुग्रीवं वानरेन्द्रं तु रामः शरणमागतः ॥ २३ ॥

‘जिन राजा दशरथने सदा अपने यहां आये हुए भूषणदेवके गर्वगुणगण्डमय समस्त राजाशोक गिरान्तर, सम्मान दिया। तर्हिन्के ये विभूतिविश्रुत अथवा पुन श्रीराम आज वानरराज सुग्रीवको शरणमें आये हैं ॥ २२ २३ ॥

शोकविभूते रामे तु शोकार्ते शरणं गते ।

कर्तुमर्हति सुग्रीवः प्रसादं सह यथैव ॥ २४ ॥

‘श्रीराम शोकसे अभिभूत और आर्त होकर शरणमें आये हैं । गुरुपार्थिवीमार्ग सुग्रीवको इनका कृपा करने चाहिये ।’

एवं वृषाणां सोमिन्नि कलशं साभूपातनम् ।

हनूमान् प्रत्युत्पादये वाक्यं वाक्यविशारदः ॥ २५ ॥

‘वेधोसे आंसू बहाकर बरुणाजन्त स्वरसे ऐसा आर्त करने हुए सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे वरदान देकर हनुमान्जाने इस प्रकार कहा— ॥ २५ ॥

इदृशा बुद्धिसम्पन्ना जितक्रोधा जितेन्द्रियाः ।

घट्टय्या वानरेन्द्रेण दिष्टया दर्शनमागताः ॥ २६ ॥

‘(हनुमान्) । वानरराज सुग्रीवको आप-जैसे बुद्धिमान्, त्रौधविजयी और जितेन्द्रिय पुरुषोंसे मिलनेको आवश्यकता थी । सीधायकी बात है कि आपने स्वयं ही दर्शन दे दिया ॥

अ हि राज्याश्च विभ्रष्टः कुतन्वैरश्च चालिन्वा ।

हनदासे वने व्रस्ता आत्रा दिनिक्वतो भृशम् ॥ २७ ॥

‘वे भी राज्यसे भ्रष्ट हैं । कलत्रके साथ उनको शत्रुता हो गयी है । तपकों खांका भी कालोंने ही अपहरण कर लिया है तथा जब दृष्ट पाईने तन्हे घाते निकाल दिया है, दुर्गन्धिसे वे अत्यन्त भयभीत होकर वनों में निकास करने हैं ॥ २७ ॥

हरिष्मति स साहाय्यं पुत्रयोभात्कगत्पजः ।

सुग्रीवः सह चाभ्यार्थः सातायाः परिमार्गणे ॥ २८ ॥

इत्यर्थे श्रीमद्भक्तिकौथरामायणे आदि काव्ये किञ्चिन्धाकाण्डे चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीव्यासीकिनिर्माण आधरामायण आदिकाव्यके किञ्चिन्धाकाण्डमें चौथा सर्ग पूरा हुआ ॥ ४ ॥

‘सूर्यनन्दन सुग्रीव सीताका पता लगानेमें हमारे साथ स्वयं रहकर आप दोनोंकी पूर्ण सहायता करेंगे’ ॥ २८ ॥

इत्येवमुक्त्वा हनुमाञ्जलक्ष्णं मधुरया गिरा ।

वधावे साधु गच्छामः सुग्रीवमिति राघवम् ॥ २९ ॥

ऐसा कहकर हनुमान्जीने श्रीरघुनाथजीसे स्निग्ध मधुर वाणीमें कहा—‘अच्छा, अब हमलोग सुग्रीवके पास चलें’ ॥

एवं ब्रुवन्ते धर्मात्मा हनुमन्तं स लक्ष्मणः ।

प्रतिपूज्य यथान्यार्थमिदं प्रोवाच राघवम् ॥ ३० ॥

उस समय धर्मात्मा लक्ष्मणने उपर्युक्त बात कहनेवाले हनुमान्जीका यथोचित सम्मान किया और श्रीरामचन्द्रजीसे कहा— ॥ ३० ॥

कपिः कथयते हृष्टो यथायं मारुतात्मजः ।

कृत्यवान् सोऽपि सम्प्राप्तः कृतकृत्योऽसि राघव ॥ ३१ ॥

‘धिया रघुनन्दन । ये वानरश्रेष्ठ पवनकुमार हनुमान् अत्यन्त हर्षसे बरकर जैसी बात कह रहे हैं, उससे खान पड़ना है कि सुग्रीवकी भी आपका कुछ काम है । ऐसी दशामें आप अपना कार्य सिद्ध हुआ ही समझें ॥ ३१ ॥

प्रसन्नमुखवर्णंश्च व्यक्तं हृष्टं ध्यायते ।

नानुलं वक्ष्यते वीरो हनुमान् मारुतात्मजः ॥ ३२ ॥

इनके मुखकी कान्ति स्पष्टतः प्रसन्न दिवायी देती है और ये हर्षण उत्कृन्त होकर बातचीत करते हैं । अतः पर विद्वान् है कि पवनपुत्र वीर हनुमान्जी झूठ नहीं बोलेंगे ॥ ३२ ॥

नतः स सुमहाप्राज्ञो हनुमान् मारुतात्मजः ।

जगामादाय तौ वीरौ हरिराजाय राघवौ ॥ ३३ ॥

तदनन्तर परम बुद्धिमान् पवनपुत्र हनुमान्जी इन दोनों गुरुवर्गी वीरोंको साथ ले सुग्रीवसे मिलनेके लिये चले ॥

पिक्षुरूपं परित्यज्य वानरं रूपमास्थितः ।

पृष्ठमारोप्य तौ वीरौ जगाम कपिकुञ्जरः ॥ ३४ ॥

कपिवर हनुमान्ने पिक्षुरूपको त्यागकर वानररूप धारण कर लिया । वे उन दोनों वीरोंको पीठपर बिठाकर बहासे चले दिये ॥ ३४ ॥

स तु विपुलयज्ञाः कपिप्रवीर

पवनसुतः कृतकृत्यवत् प्रहृष्टः ।

गिरिवरमुखविक्रमः प्रयातः

स शुभमतिः सह रामलक्ष्मणाभ्याम् ॥ ३५ ॥

महान् यशस्वी तथा शुभ विचारवाला महापराक्रमी वे कपिवीर पवनकुमार कृतकृत्य-से होकर अत्यन्त हर्षमें भर भये और श्रीराम लक्ष्मणके साथ गिरिवर श्रेष्ठमुखपर जा पहुँचे ॥ ३५ ॥

पञ्चमः सर्गः

श्रीराम और सुग्रीवकी मैत्री तथा श्रीरामद्वारा वालिवधकी प्रतिज्ञा

ऋष्यमूकान् तु हनुमान् गत्वा तं मलयं गिरिम् ।

आचक्ष्वे तदा खीरी कपिराजाय राघवौ ॥ १ ॥

श्रीराम और लक्ष्मणको ऋष्यमूक पर्वतपर सुग्रीवक वास-स्थानमें बिठाकर हनुमान्जी वहाँसे मलयपर्वतपर गये (जो ऋष्यमूकका ही एक शिरात्र है) और वहाँ वानरराज सुग्रीवको उन दोनों रघुवंशी बंधोका परिचय देन हुए इस प्रकार बोले— ॥ १ ॥

अथ रामो महाप्राज्ञ सप्पात्रो दृढविक्रमः ।

लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा रामोऽयं सत्यविक्रमः ॥ २ ॥

‘महाप्राज्ञ ! जिसका पगक्रम अत्यन्त दृढ़ और अघाघ है वे हीगमचक्रों अपने भाई लक्ष्मणके साथ पधारे हैं ॥ २ ॥

इक्ष्वाकूणां कूले जातो रामो दशरथात्मजः ।

धर्म निगमितश्च पितुर्निर्देशकारकः ॥ ३ ॥

‘इन श्रीरामका आदिभाव इक्ष्वाकुकुलमें हुआ है। ये महाप्राज्ञ दशरथसे हुए हैं और मधुमन्थलके लिये मरगये विख्यात हैं। अपने पिताको आज्ञाका पालन करनेके लिये इन जनम इनका आगमन हुआ है ॥ ३ ॥

राजसूयाधर्मेऽथ बह्विधैर्नाभितर्पितः ।

दक्षिणाश्च तथोत्सृष्टा गावः शतसहस्रशः ॥ ४ ॥

तपसा सत्यवाक्येन चसुधा येन पालिता ।

साहसोत्तम्य पुत्रोऽयं रामोऽरण्यं समागतः ॥ ५ ॥

‘जिसने राजसूय और अभ्युध-यज्ञोंका अनुष्ठान करके अग्निदेवको तृप्त किया था, ब्राह्मणोंको बहुत-सी दक्षिणाएँ बाँटी थीं और लाखों गौएँ दानमें दी थीं। जिनोंने सत्य-भाषणापूर्वक उनके द्वारा बन्धुधानस पालन किया था, उनको महाप्राज्ञ दशरथके पुत्र ने श्रीराम पितृदास अपनी पत्नी ब्रह्मदेवके लिये दिये हुए करका पालन करनेके निमित्त इस गन्धमें आये हैं ॥ ४-५ ॥

नरायण चरमोऽण्ये नियमस्य महात्मनः ।

रावणेन हता भार्या स त्वां शरणमागतः ॥ ६ ॥

महात्मा श्रीराम भुनर्षोकी भाँति नियमका पालन करने हुए रामकृतारण्यमें निवास करते थे। एक दिन रावणन अक्रूर गने आश्रयमें इनको पत्नी सौमिका अपहरण कर लिया। लक्ष्मणको खोजने आपने राहदाता होनेके लिये ये आपको शरणमें आये हैं ॥ ६ ॥

भवता सत्यकामो नौ भ्रान्तौ रामलक्ष्मणौ ।

प्रगृह्य चार्चयस्वतौ पूजनीयतपावृधौ ॥ ७ ॥

‘ये दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण आपसे भ्रान्तना कत्ना चाहते हैं। आप बलकर इन्हें अपनावे और इनका यथाचित सत्कार करें; क्योंकि ये दोनों ही धीरे हयलोभके लिये परम पूजनीय हैं ॥ ७ ॥

श्रुत्वा हनुमनो वाक्यं सुग्रीवो वानराधिपः ।

दर्शनीयतमो भूत्वा प्रीत्योवाच च राघवम् ॥ ८ ॥

हनुमान्जीका यह वचन सुनकर वानरराज सुग्रीव स्वच्छामे अत्यन्त दर्शनीय रूप धारण करके श्रीरामनाथजीके पास आये और बड़े प्रेमसे बोले— ॥ ८ ॥

भवान् भर्मावनीतश्च सुतपाः सर्ववत्सलः ।

आरुध्यता वायुपुत्रेण तत्त्वनां मे भवद्गुणाः ॥ ९ ॥

‘प्रभो ! आप धर्मक विषयमें भलीभाँति सुशिक्षित, परम तपस्वी और सबपर दया करनेवाला हैं। पवनकुमार हनुमान्जीने मुझसे आपके यथार्थ गुणोंका वर्णन किया है ॥ ९ ॥

तत्परमेष्ठेव सत्कारो लाभश्चैवोत्तमः प्रभो ।

यत्त्वमिच्छसि सौहार्दं वानरेण भया सह ॥ १० ॥

‘भगवन् ! मैं वानर हूँ और आप नर। मेरे साथ जो आप मैत्री करना चाहते हैं, इसमें मेरा ही सत्कार है और मुझे ही उनमें लाभ प्राप्त हो रहा है ॥ १० ॥

रोचते यदि मे सख्यं बाहुरेष प्रसारितः ।

गृह्णतां पाणिना पाणिर्मर्यादा बध्यतां ध्रुवा ॥ ११ ॥

‘यदि मेरी मैत्री आपको पसंद हो तो मेरा यह हाथ फैला हुआ है। आप इसे अपने हाथमें ले लें और परस्पर मैत्रीका अदृष्ट सम्बन्ध बना लें— हमके लिये स्थिर मर्यादा बाँध दें ॥ ११ ॥

एतत् तु वचनं श्रुत्वा सुग्रीवस्य सुभाषितम् ।

सम्प्रहृष्टमना हस्तं पीडयामास पाणिना ॥ १२ ॥

हृष्टः सौहृदपालम्ब्य पर्यभुजत पीडितम् ।

भुग्रीवका यह सुन्दर वचन सुनकर भगवान् श्रीरामका चित्त प्रसन्न हो गया। उन्होंने अपने हाथसे उनका हाथ पकड़कर दबाया और सौहार्दका आश्रय ले बड़े हर्षके साथ शोकपीड़ित सुग्रीवको छातसे लगा लिया ॥ १२ ॥

ततो हनुमान् संत्यज्य धिक्षुरूपमरिदमः ॥ १३ ॥

काष्ठयोः स्वेन रूपेण जनयापास पावकम् ।

(सुग्रीवके पास जानेसे पूर्व हनुमान्जीने पुनः धिक्षुरूप धारण कर लिया था) श्रीराम सुग्रीवकी मैत्रीके समय शत्रुदमन हनुमान्जीने धिक्षुरूपको त्यागकर अपना स्वाभाविक रूप धारण कर लिया और दो लकड़ियोंको गड़कर आग पैदा की ॥ १३ ॥

दीप्यमानं ततो वह्निं पुष्परथ्यर्च्य सत्कृतम् ॥ १४ ॥

तयोर्मध्ये तु सुग्रीवो निदधौ सुसमाहितः ।

तत्पश्चात् उस अग्निको प्रज्वालित करके उन्होंने फूलोंद्वारा अग्निदेवका सादर पूजन किया; फिर एकाग्रचित्त हो श्रीराम और सुग्रीवके बीचमें साक्षीक रूपमें उस अग्निको प्रसन्नतत्पूर्वक स्थापित कर दिया ॥ १४ ॥

ततोऽग्निं दीप्यमानं तौ चक्रतुश्च प्रदक्षिणाम् ॥ १५ ॥
सुग्रीवो राघवश्चैव वयस्यत्वमुपागतौ ।

इसके बाद सुग्रीव और श्रीरामचन्द्रजीने उस प्रज्वलित अग्नि की प्रदक्षिणा की और दोनों एक-दूसरे के मित्र बन गये ॥ १५ ॥

ततः सुग्रीतमनसौ तावुभौ हरिराघवौ ॥ १६ ॥
अन्योन्यमभिधीक्षन्तौ न तुष्टिपथिजग्मतुः ।

इससे उन बानरराज तथा श्रीरघुनाथजी दोनों के हृदय में बड़ी प्रसन्नता हुई । वे एक दूसरे का ओर देखते हुए नृप नहीं होते थे ॥ १६ ॥

त्वं वयस्योऽसि हृद्यो मे शोकं दुःखं सुखं च नौ ॥ १७ ॥
सुग्रीवो राघवं वाक्यमपित्युवाच प्रहृष्टवत् ।

तब समय सुग्रीवने श्रीरामचन्द्रजीसे प्रसन्नतापूर्वक कहा— 'आप मेरे प्रिय मित्र हैं । आज मैं हम दोनों का दुःख और सुख एक है' ॥ १७ ॥

ततः सुपर्णद्वीपां भद्रं क्त्वा शारदां सुपुष्पिताम् ॥ १८ ॥
सालस्यास्तीर्थं सुग्रीवो निवसात् सरावतः ।

राज कहकर सुग्रीवने अधिक मन और कृपावाली शारदा की एक शाखा तोड़ी और उसे बिछाकर वे श्रीरामचन्द्रजी के साथ उसपर बैठे ॥ १८ ॥

लक्ष्मणाध्यायं संज्ञां हनुमान् मास्तात्मजः ॥ १९ ॥
शारदां चन्दनवृक्षस्य ददौ परमपुष्पिताम् ।

तदनन्तर पवनपुत्र हनुमान्ने आपका प्रसन्न हो चन्दन-वृक्ष की एक शाखा, जिसमें बहुत से फूल लगे हुए थे, तोड़कर लक्ष्मणाजी के बैठने के लिये दी ॥ १९ ॥

ततः प्रहृष्टः सुग्रीवः इलक्ष्णो मधुरस्या गिरा ॥ २० ॥
अनुवाच तदा राघं हर्षणाकुललोचनः ।

हमके बाद हर्षसे भरे हुए सुग्रीवने जिसका चेहरा हर्षसे गिल उठे थे, उस समय भगवान् श्रीरामसे स्निग्ध मधुर वाणी में कहा— ॥ २० ॥

अहं विनिकृतो राम वरामीह भयार्दितः ॥ २१ ॥
हस्तभाषो वने व्रस्तो दुर्गमैतनुपाश्रितः ।

'श्रीराम ! मैं घबरे से निकाल दिया गया हूँ और भयसे पीड़ित होकर यहाँ निवसता हूँ । मेरा पता था मुझमें शत्रुता लगे गयी, मैंने आत्मिकृत होकर वन में इस दुर्गम पवनका आश्रय लिया है ॥ २१ ॥

सोऽहं व्रस्तो वने भीतो वसाम्युद्भ्रान्तचेतनः ॥ २२ ॥
वालिना निकृतो भ्रात्रा कृतघ्नश्च राघव ।

'रघुमन्दन ! मैं बहुत घाई वाला हूँ । घबरे से निकालकर मेरे साथ वन में आया हूँ । उसने त्रास और भयसे उद्भ्रान्तचित्त होकर मैं इस वन में निवास करता हूँ ॥ २२ ॥

वालिना मे महाभाग भयार्तस्याधमं कुरु ॥ २३ ॥
कर्तुमर्हसि काकुत्स्थ मयं मे न भवेद् यथा ।

'महाभाग ! कलौ के भयसे पीड़ित हुए मुझे सेवकको आप अभय-दान दीजिये । काकुत्स्थ ! आपको ऐसा करना चाहिये, जिससे मेरे लिये किसी प्रकारका भय न रह जाय' ॥ २३ ॥

एवमुक्तस्तु तेजस्वी धर्मज्ञो धर्मवत्सलः ॥ २४ ॥
प्रत्यभाषत काकुत्स्थः सुग्रीवं प्रहसन्निव ।

सुग्रीवक ऐसा कहनेपर धर्म के ज्ञाता, धर्मवत्सल, ककुत्स्थकुलभूषण तेजस्वी श्रीरामने हँसते हुए-से वहाँ सुग्रीवको इस प्रकार उत्तर दिया— ॥ २४ ॥

उपकारफलं मित्रं विदितं मे महाकपे ॥ २५ ॥
वालिनां तं वधिष्यामि तव भार्यापहारिणम् ।

'महाकपे ! मुझे मालूम है कि मित्र उपकाररूपी फल देनेवाला होता है । मैं तुम्हारी पत्नीका अपहरण करनेवाले वाल्मीक वध कर दूँगा ॥ २५ ॥

अपोघाः सूर्यसंकाशा मयेमे निशिताः शराः ॥ २६ ॥
तस्मिन् वालिनि दुर्वृते निपतिष्यन्ति वेगिताः ।

कङ्कपप्रतिच्छन्ना महेन्द्राशनिसंनिधाः ॥ २७ ॥
तीक्ष्णाग्रा ऋजुपर्वाणः सरोषा भुजगा इव ।

मेरे तुण्डमें मंगड़ीय हुए ये सूर्यतुल्य तेजस्वी बाण अमाघ हैं । इनका बार खाती नहीं जाना । ये बड़े घेगड़ाली हैं । इनमें कंक पक्षी के परों के पंख लगे हुए हैं, जिससे ये आच्छादित हैं । इनके अग्रभाग बड़े तीक्ष्ण हैं और गाँठें भी मोड़ी हैं । ये रोषमें भरे हुए सर्पों के समान छूटते हैं और इन्के वज्रकी भाँति धरकर खाँट करते हैं । उस दुराचारी वाल्मीक पर मेरे ये बाण अवश्य गिरेंगे ॥ २६-२७ ॥

तपद्य वालिनं पश्य तीक्ष्णराशीविषोपधैः ॥ २८ ॥
शरैर्विनिहतं धूमो प्रकीर्णमिव पर्वतम् ।

'आज देखना, मैं अपने विषधर सर्पों के समान तीक्ष्ण बाणों से मारकर वाल्मीक पृथ्वीपर गिरा दूँगा । वह इन्के वज्रय दृढ़-कूटकर गिरे हुए पर्वत के समान दिखायी देगा' ।

स नु तत् वचनं श्रुत्वा राघवस्यात्पनो हितम् ।
सुग्रीवः परमप्रीतः परमं वाक्यमब्रवीत् ॥ २९ ॥

अपने लिये परम हितकर वह श्रीरघुनाथजीका वचन सुनकर सुग्रीवको बड़ी प्रसन्नता हुई । वे उत्तम वाणी में बोलें— ॥ २९ ॥

तव प्रसादेन नृसिंह वीर
धियां च राज्यं च समाप्नुयामहम् ।

तथा कुरु त्वं नरदेव वैरिणं
यथा न हिंस्यात् स पुनर्ममाग्रजम् ॥ ३० ॥

'वीर ! पुरुषसिंह ! मैं आपको कृपासे अपनी प्यारी पत्नी तथा राज्यको प्राप्त कर सकूँ, ऐसा धन कीजिये । नरदेव ! मेरा वज्र भाई बैरी हो गया है । आप उसको ऐसी अवस्था कर दें जिससे वह फिर मुझे मार न सके' ॥ ३० ॥

सीताकपीन्द्रक्षणदाचराणां

राजीवहेमज्वलनोपमानि ।

सुग्रीवरामप्रणयप्रसङ्गे

धामानि नेत्राणि सयं स्फुरन्ति ॥ ३१ ॥

इत्यापे श्रीरामद्रव्ययणं वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यभट्टायण आदिकाव्यक किष्किन्धाकाण्डमें पाँचवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठः सर्गः

सुग्रीवका श्रीरामको सीताजीके आभूषण दिखाना तथा श्रीरामका शोक एवं रोषपूर्ण वचन

गुनरवाभ्रवीन् प्रीतो राघवं रघुनन्दनम् ।

अयमप्युपस्थानि ते राम सचिवो मन्त्रिस्तमः ॥ १ ॥

हनुमान् यज्ञिभित्ते त्वं निर्जनं वनमागतः ।

सुग्रीवन पुन प्रसन्नगूर्त्तक रघुकुन्दनन्दन
श्रीरामचन्द्रजीसे कहा—‘श्रीराम ! मैं मन्त्रियोंमें श्रेष्ठ सचिव
हूँ हनुमान्जी आपके विषयमें यह सारा वृत्तान्त
यथा चक्रे, जिसके कारण आपके इस निर्जन वनमें
आना पड़ा है ॥ १ ॥’

लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा वसतश्च वने तव ॥ २ ॥

रक्षसापहता भार्या मैथिली जनकात्मजा ।

तया वियुक्ता रुदती लक्ष्मणेन च धीमता ॥ ३ ॥

अन्तरं प्रेष्युना तेन हन्वा गृध्रं जटायुषश्च ।

भार्याविशोगजं दुःखं प्रापितस्तेन रक्षसा ॥ ४ ॥

आगे भाई लक्ष्मणक साथ जब आप वनमें निवास
करते थे, उस समय राक्षस शकने आपकी पत्नी
मिथिलेशकुमारी जनकनन्दिनी सीताको हर लिया। उस
बेलामें आप तनसे आलग थे और बाँझमान् लक्ष्मण भी उन्हें
भयभीती छोड़कर चले गये थे। राक्षस इसी अवसरको
प्रतीक्षामें था। उसने गीध्र जटायुक से बंध करके रोती हुई
सीताका अपहरण किया है। इस प्रकार उस राक्षसने आपको
महा विशोगके कारणें प्राप्त दिया है ॥ २—४ ॥

भार्याविशोगजं दुःखं नक्षिरात् त्वं वियोक्ष्यसे ।

अहं तामानयिष्यामि नष्टां सेतुभ्रुनोमिश्र ॥ ५ ॥

‘परंतु इस पत्नी-विशोगके दुःखसे आप शोक ही मुक्त हो
जायेंगे। मैं राक्षसद्वारा हरी गयी सेतुगणोंके समान आपको
पत्नीजड़े बाधस लाने दूँगा ॥ ५ ॥’

रक्षस्तले वा खर्नन्ती खर्नन्ती वा नभस्तले ।

अहमाजीय तस्यासि तव भार्यामरिदम् ॥ ६ ॥

‘जब्रुगन श्रीराम ! आपको भार्या सीता पानालमें हो या
नभस्तले, मैं तन्हें तूँट लोकर आपको मेआमें समर्पित कर दूँगा।’

इत् तथ्यं मम वचस्त्वमर्थेहि च राघव ।

न शक्या सा जरयितुमपि सेनैः सुरासुरैः ॥ ७ ॥

तव भार्या महाबाहो अश्वं विषकृते यथा ।

त्यज शोकं महाबाहो तां कान्तामानयामि ते ॥ ८ ॥

सुग्रीव और श्रीरामको इस प्रेमपूर्ण मैत्रीके प्रसङ्गमें
सीताक प्रफुल्ल कमल-जैसे, कपिराज वालीके सुवर्ण-जैसे
तथा निशचराके प्रज्वलित अग्नि-जैसे ज्ञेय नेत्र एक साथ ही
फट्कने लगे ॥ ३१ ॥

‘रघुनन्दन ! आप मेरी इस बातको सत्य मानें।
महाबाहो ! आपकी पत्नी जहर मिलाय हुए भोजनको भाँति
दृग्गन्ध लिये अग्रहा है। इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता और
अमर भी उन्हें बचा नहीं सकते। आप शोक त्याग दीजिये
मैं आपको प्राणवत्त्वमाको अवश्य लाने दूँगा ॥ ७-८ ॥’

अनुमानात् तु जानामि मैथिली सा न संशयः ।

ह्रियमाणा मया दृष्टा रक्षसा रौद्रकर्मणा ॥ ९ ॥

क्रोशन्ती राधरासेति लक्ष्मणेति च विस्वरम् ।

स्फुरन्ती रावणस्याङ्गे पद्मगेन्द्रकथूर्यथा ॥ १० ॥

‘एक दिन मैंने देखा, भयंकर कर्म करनेवाला कोई राक्षस
‘कम्पा स्त्रांको लिये जा रहा है। मैं अनुमानसे समझता हूँ, वे
मिथिलेशकुमारी सीता ही रही होगी, इसमें संशय नहीं है,
क्योंकि वे दृष्टे हुए स्वरमें ‘हा राम ! हा राम ! हा लक्ष्मण !’
पुकारती हुईं रो रही थीं तथा रावणकी गोदमें नागराजकी खाँटू
(नागन) की धनि छटपटाती हुईं प्रकाशित हो रही थीं।
आत्मना पञ्चमे मां हि दृष्ट्वा शैलतले स्थितम् ।

उत्तरीयं तथा त्यक्तं शुभान्याभरणानि च ॥ ११ ॥

‘चार मन्त्रियोंसहित पाँचवाँ मैं इस शैल-शिखरपर बैठा
हुँ आया था। मुझे देखकर देवी सीताने अपनी चादर और कई
सुन्दर अभूषण ऊपरसे गिराये ॥ ११ ॥’

तान्यस्माभिर्गृहीतानि निहितानि च राघव ।

आनयिष्याम्यहं तानि प्रत्यभिज्ञातुमर्हसि ॥ १२ ॥

‘रघुनन्दन ! वे सब वस्तुएँ हमलोगोंने लेकर रख ली हैं
मैं अभी उन्हें लाने दूँ, आप उन्हें पहचान सकते हैं।’

तमब्रवीत् ततो रामः सुग्रीवं प्रियवादिनम् ।

आनयस्व सखे शीघ्रं किमर्थं प्रविलम्बसे ॥ १३ ॥

‘जब श्रीरामने यह प्रिय संवाद सुनानेवाले सुग्रीवसे कहा—
‘सखे ! शीघ्र ले आओ, क्यों विलम्ब करते हो ?’ ॥ १३ ॥’

एवमुक्तन्तु सुग्रीवः शैलस्थं गहनं गुह्यम् ।

प्रविशेश ततः शीघ्रं राधवप्रियकाप्यया ॥ १४ ॥

उत्तरीयं गृहीत्वा तु स तान्याभरणानि च ।

इदं पश्येति रामाय दर्शयामास खानरः ॥ १५ ॥

उनके ऐसा कहनेपर सुग्रीव शीघ्र ही श्रीरामचन्द्रजीका
प्रिय करनेकी इच्छासे पर्वतकी एक गहन गुफामें गये और

चादर तथा वे आभूषण लेकर निकल आये। बाहर आकर वानरराजने 'लज्जिये, यह देखिये' ऐसा कहकर श्रीरामको वे सारे आभूषण दिखाये ॥ १४-१५ ॥

ततो गृहीत्वा चासस्तु शुभान्याभरणानि च ।

अभवद् बाष्पसंरुद्धो नीहारेणैव चन्द्रभाः ॥ १६ ॥

उन वस्त्र और सुन्दर आभूषणोंको लेकर श्रीरामचन्द्रजी कुहासेसे ढके हुए चन्द्रमाकी भाँति आँसुओंसे अवरुद्ध हो गये ॥ १६ ॥

सीतास्नेहप्रवृत्तेन स तु बाष्पेण दूषितः ।

हा प्रियेति रुदन् धैर्यमुत्सृज्य न्यपतत् क्षितौ ॥ १७ ॥

सीताके स्नेहवशा कहते हुए आँसुओंसे उनका मुख और वस्त्रःस्थल भोगने लगे। वे 'हा प्रिये।' ऐसा कहकर रोने लगे और धैर्य छोड़कर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ १७ ॥

नृदि कृत्वा स बहुशस्तमलंकारमुत्तमम् ।

निशश्वास भृशं सर्पो विलस्य इव रोपितः ॥ १८ ॥

उन वनम आभूषणोंका धारम्बार हृदयसे लगाकर वे विलमें बैठे हुए रोपमें भरे सर्पकी भाँति जोर जोरसे साँस लेने लगे ॥ १८ ॥

अतिच्छिन्नाभ्रवेगस्तु सीमित्रि प्रेक्ष्य पार्श्वतः ।

परिदेधयितुं दीनं रामः समुपचक्रमे ॥ १९ ॥

उनके आँसुओंका वेग स्वकता ही नहीं था। अपने पास गढ़े हुए भूमिशायीर लक्ष्मणजी और देखकर श्रीराम दीनभावसे विलाप करते हुए बोले— ॥ १९ ॥

पदस्य लक्ष्मण खैरेणा संत्यक्तं ह्रियमाणया ।

वृत्तरीयमिदं भूमौ शरीराद् भूषणानि च ॥ २० ॥

'लक्ष्मण! देखा, लक्ष्मणके प्राण हरी जाती हुई निदोषनन्दिनी सीताने यह चादर और ये गहने अपने शरीरसे तनारकर पृथ्वीपर डाल दिये थे ॥ २० ॥

शान्त्रिलिप्यां ध्रुवं भूम्यां सीतया ह्रियमाणया ।

वत्सुहं भूषणमिदं तथा रूपं हि वृक्ष्यते ॥ २१ ॥

निशाचरके द्वारा आगहन हुनी हुई सीताके द्वारा त्यागे गये ये आभूषण निश्चय ही धरावाली भूमिपर गिरे होंगे; क्योंकि इनका रूप ज्यों का-त्यों दिखायो देता है—ये

इत्यर्थे श्रीमद्वाल्मीकीय आदिकाव्ये किष्किन्ध्याकाण्डे षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकीनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्ध्याकाण्डमें छठा सर्ग पूरा हुआ ॥ ६ ॥

सप्तमः सर्गः

सुग्रीवका श्रीरामको समझाना तथा श्रीरामका सुग्रीवको उनकी कार्यसिद्धिका विश्वास दिलाना

एवमुक्तस्तु सुग्रीवो रामेणार्तेन वानरः ।

अब्रवीत् प्राञ्जलिर्वाक्यं सबाष्पं बाष्पगद्गदः ॥ १ ॥

श्रीरामने शोकसे पीड़ित होकर जब ऐसी बात कहो, तब वानरराज सुग्रीवको आँखोंमें आँसू भर आये और वे हाथ

टूटे फूटे नहीं हैं ॥ २१ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत् ।

नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले ॥ २२ ॥

नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात् ।

श्रीरामके ऐसा कहनेपर लक्ष्मण बोले—'मैया! मैं इन बाजूबंदोंको तो नहीं जानता और न इन कुण्डलोंको हो समझ पाता हूँ कि किसके हैं; परन्तु प्रतिदिन भाग्योके चरणोंमें प्रणाम करनेके कारण मैं इन दोनों नूपुरोंको अवश्य पहचानता हूँ' ।

ततस्तु राघवो वाक्यं सुग्रीवमिदमब्रवीत् ॥ २३ ॥

ब्रूहि सुग्रीव कं देशं ह्रियन्तो लक्षिता त्वया ।

रक्षसा रौद्ररूपेण मम प्राणप्रिया हता ॥ २४ ॥

तब श्रीरघुनाथजी सुग्रीवसे इस प्रकार बोले—'सुग्रीव! तुमने तो देखा है वह भयंकर रूपधारी राक्षस मेरी प्राणधारी सीताको किम दिशतकी ओर ले गया है यह बनावो ॥ २४ ॥

क वा वसति तद् रक्षो महद् व्यसनं मम ।

यन्निमित्तमहं सर्वान् नाशयिष्यामि राक्षसान् ॥ २५ ॥

'मुझे महान् संकट दनवाला वह राक्षस कहाँ रहता है? मैं केवल उसीके अपराधक कारण समस्त राक्षसोंका विनाश कर डालूँगा ॥ २५ ॥

हरता मैथिली येन मां च रोषयता ध्रुवम् ।

आत्मनो जीवितात्ताय मृत्युद्वारमपावृतम् ॥ २६ ॥

उस राक्षसने मैथिलीका अपहरण करके मेरा रोष बढ़ाकर निश्चय ही अपने जीवनका अन्त करनेके स्थिते मौतका दरवाजा खोल दिया है ॥ २६ ॥

मम दधिततमा हता खनाद्

रजनिचरेण विमथ्य येन सा ।

कथय मम रिपुं तमद्य वै

प्लवगपने घमर्त्सनिधिं नयामि ॥ २७ ॥

'वानरराज! जिस निशाचरने मुझे धोखेमें डालकर मेरा अपमान करके मेरी प्रियतमाका वनसे अपहरण किया है, वह मेरा घोर शत्रु है। तुम उसका पता बनावो। मैं अभी उसे घमर्त्सजके पास पहुँचाता हूँ ॥ २७ ॥

जोड़कर अश्रुगद्गद कण्ठसे इस प्रकार बोले— ॥ १ ॥

न जाने नित्यं तस्य सर्वथा पापश्लसः ।

सामर्थ्यं विक्रमं वापि दौष्कुलेयस्य वा कुलम् ॥ २ ॥

'प्रभो! नीच कुलमें उत्पन्न हुए उस पापात्मा राक्षसका

गुप्त निवासस्थान कहाँ है, उसमें कितनी शक्ति है, उसका पराक्रम कैसा है अथवा वह किस वंशका है—इन सब बातोंको मैं सर्वथा नहीं जानता ॥ २ ॥

सत्यं तु प्रतिजानामि त्यज शोकपरिदम् ।

करिष्यामि तथा यत्नं यथा प्राप्स्यसि मैथिलाम् ॥ ३ ॥

‘परन्तु आपके सामने सभी प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि मैं ऐसा यत्न करूँगा कि जिससे मिथिलेशकुमार सेना आपका मिल जायें इसीलिये शत्रुदमन खीर ! आप शोकका त्याग करें ॥ ३ ॥

राजर्षी सगर्वां हुत्वा परिनोष्यात्पौरुषम् ।

तथास्मि कर्ता नचिगद् यथा प्रीतो भविष्यसि ॥ ४ ॥

‘मैं आपके सेनोपक के लिये सैनिकोंमदित सवणकरा वध करके अपना ऐसा पुरुषार्थ प्रकट करूँगा जिससे आप शत्रु ही प्रसन्न हो जायेंगे ॥ ४ ॥

आने सैङ्गव्यमालम्ब्य धीर्यभात्यगर्तं स्मर ।

रक्षन् विधानो न सदृशमीदृशं बुद्धिलाघवम् ॥ ५ ॥

‘इस तरह मनमें व्याकुलता खाना व्यर्थ है। आपके हृदयमें स्वाभाविकरूपसे जो धैर्य है उसका भरण कीजिये । इस तरह बुद्धि और विचारका हलका बना देना—उसकी सहायता सम्भारताको खो देना आप जंग महापुरुषों के लिये शक्तिन नहीं है ॥ ५ ॥

यथापि व्यसने प्राप्ते भार्याविरहजं महत् ।

माहमेवं हि शास्त्रमि धीरै न च परित्यजे ॥ ६ ॥

‘धुझे भी पत्नीक विरहका महत्त्व कह प्राप्त हुआ है, परन्तु मैं इस तरह शोक नहीं करता और न धैर्यको ही छोड़ता हूँ ॥ ६ ॥

नाहं नगननुशोचामि प्राकृतो वानरोऽपि सन् ।

मद्भारमा च विनीतश्च किं पुनर्धुनिमान् महान् ॥ ७ ॥

‘यथापि मैं एक साधारण वाकर हूँ तथापि अपनी पत्नीक मिलने विनम्र शोक नहीं करता हूँ । फिर आप जैसे महत्त्वा गुणशालिन और धैर्यवान् महान्पुरुष शोक न करें—इसके लिये तो कहना ही क्या है ॥ ७ ॥

आध्यभापितं धर्माभिग्रहीतुं त्वमर्हसि ।

गर्वादीं सत्त्वयुक्तानां धृतिं नोत्सृष्टुमर्हसि ॥ ८ ॥

‘आपको चाहिये कि धैर्य धारण करके इन गिरत हुए शत्रुओंकी शोके साम्यिक पुरुषोंकी मर्यादा और धैर्यका परित्याग न करें ॥ ८ ॥

व्यसने वार्धक्यं वा मये वा जीवितान्तगे ।

विमृष्टाश्च स्यादुद्धृता धृतिमान् नावसीदति ॥ ९ ॥

‘(आत्मीयजनोंके वियोग आदिमें होनेवाले) शोकमें आर्थिक संकटमें अथवा प्राणान्तकारी भव उपस्थित होनेपर जो अपनी बुद्धिग दुःख निवारणक उपायका विचार करने हुए धैर्य धारण करता है, वह कष्ट नहीं भोगता है ॥ ९ ॥

वालिशस्तु नरो नित्यं सैङ्गव्यं योऽनुवर्तते ।

स यजत्यवशः शोके भाराक्रान्तेव नोर्जले ॥ १० ॥

‘जो मूढ़ मनव सदा ध्वराहटमें ही पड़ा रहता है, वह पानीमें भारसे दबा हुई मैकाके समान शोकमें विवश होकर डूब जाता है ॥ १० ॥

एषोऽङ्गुलिर्यथा बद्धः प्रणयात् त्वां प्रसादये ।

पौरुषं श्रय शोकस्य नान्तरं दातुमर्हसि ॥ ११ ॥

‘मैं हाथ जोड़ता हूँ प्रेमपूर्वक अनुरोध करता हूँ कि आप प्रसन्न हो और पुरुषार्थका आश्रय लें । शोकको अपने ऊपर प्रभाव डालनेका अवसर न दें ॥ ११ ॥

ये शोकमनुवर्तन्ते न तेषां विद्यते सुखम् ।

तेजश्च क्षीयते तेषां न स्वं शोचितुमर्हसि ॥ १२ ॥

‘जो शोकका अनुसरण करते हैं, उन्हें सुख नहीं मिलता है और उनका तेज भी क्षीय हो जाता है; अतः आप शोक न करें ॥ १२ ॥

शोकनाभिप्रपन्नस्य जीविने चापि संशयः ।

स शोकं त्यज राजेन्द्र धीर्यमाश्रय केवलम् ॥ १३ ॥

‘राजेन्द्र ! शोकमें आक्रान्त हुए मनुष्यके जीवनामें (उसके प्राणोक्ती रहतामें) भी संशय उपस्थित हो जाता है इसलिये आप शोकको त्याग दें और केवल धैर्यका आश्रय लें ॥ १३ ॥

हितं वयस्यभावेन ब्रूहि नोपदिशामि ते ।

वयस्यतां पूजयन्ते न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ १४ ॥

‘मैं मित्रताके नाते हितकी सलाह देता हूँ । आपको उपदेश नहीं दे रहा हूँ, आप मेंसे मैत्रिका आदर करते हुए कदापि शोक न करें ॥ १४ ॥

मधुरं सान्त्वितस्तेन सुग्रीवेण स राधवः ।

मुखमश्रुपरिक्लिप्ते वस्त्रान्तेन प्रमार्जयत् ॥ १५ ॥

‘सुग्रीवने जब मधुर बाणीमें इस प्रकार सान्त्वना दी, तब श्रौरधुनाथजीने अश्रुओंसे भागे हुए अपने मुखका वस्त्रके साथमें पोंछ लिया ॥ १५ ॥

प्रकृतिस्थस्तु काकुन्स्थः सुग्रीवचनान् प्रभुः ।

सम्परिहृज्य सुग्रीवमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १६ ॥

‘सुग्रीवके वचनसे शोकका परित्याग करके स्वस्थचित्त हो काकुन्स्थकुलभूषण भगवान् श्रीगमने मित्ररूप सुग्रीवकी हृदयसे लगा लिया और इस प्रकार कहा— ॥ १६ ॥

कर्तव्यं यद् वयस्येन श्रिग्धेन च हितेन च ।

अनुरूपं च युक्तं च कृतं सुग्रीव तत् त्वया ॥ १७ ॥

‘सुग्रीव ! एक संहो और हितयो मित्रको जो कुछ करना चाहिये, वही तुम्हने किया है । तुम्हारा कार्य सर्वथा उचित और तुम्हारे योग्य है ॥ १७ ॥

एष च प्रकृतिस्थोऽहमनुनीतस्त्वया सरले ।

दुर्लभो हीदृशो बन्धुरस्मिन् काले विशेषतः ॥ १८ ॥

‘महो ! तुम्हारे आस्थात्मसे मेरे सारा चिन्ता जाती रही ।

अब मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ। तुम्हारे-जैसे बन्धुका विशेषतः ऐस
संकटके समय मिलना कठिन होता है ॥ १८ ॥

किं तु यत्नस्त्वया कार्यो मेधिल्याः परिमार्गणे ।

राक्षसस्य च शैब्यस्य रावणस्य दुर्गन्धनः ॥ १९ ॥

‘परंतु तुम्हें मिथिलेशकुमारी सीता तथा गैडरूपधारी दुर्गन्ध
राक्षस रावणका पता लगानेके लिये प्रयत्न करना चाहिये ॥ १९ ॥

यया च यदनुष्ठेयं विस्मयेन सदुच्यताम् ।

वर्षास्त्रिव च सुक्षेत्रे सर्वं सम्पद्यते तव ॥ २० ॥

‘साथ ही मुझे भी इस समय तुम्हारे लिये जो कुछ करना
आवश्यक हो, उसे बिना किसी संशयके बताओ। जैसे
जदाबालमें अच्छे खेतमें जोया हुआ बीज अवश्य फल देता
है, उसी प्रकार तुम्हारा सारा मनोव्यय सफल होगा ॥ २० ॥

यया च यदिदं वाक्यमभिमानात् समीरितम् ।

तत्तया हरिशार्दूल तत्त्वमित्युपधार्यताम् ॥ २१ ॥

‘मानस्येष्ट ! मैंने जो अभिमानपूर्वक यह बालोंके घघ
आदि करनेकी बात कही है, इसे तुम ठीक ही समझो ॥

अनृतं नोक्तपूर्वं मे न च वक्ष्ये कदाचन ।

एतत्ते प्रतिजानामि सत्येनैव शपाम्याहम् ॥ २२ ॥

‘मैं पहले भी कभी झूठी बात नहीं कही है और

इत्यार्ष श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किञ्चित्श्रुत्वाकाण्डे सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीमद्भाल्मीकीयसप्तमः आदिकाव्यके किञ्चित्श्रुत्वाकाण्डमें सातवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमः सर्गः

सुग्रीवका श्रीरामसे अपना दुःख निवेदन करना और श्रीरामका उन्हें आश्वासन देते हुए दोनों
भाइयोंमें खैर होनेका कारण पूछना

परितुष्टस्तु सुग्रीवस्तेन वाक्येन हर्षितः ।

लक्ष्मणास्त्राग्रजं शूरभिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी उक्त बातसे सुग्रीवकी बड़ा मनाब
हुआ। वे शीघ्रसे भरकर लक्ष्मणक बड़े भाई शूराजी
श्रीरामचन्द्रजीसे इस प्रकार बोले— ॥ १ ॥

सर्वथाभ्यनुयाह्यो देवतानां न संशयः ।

उपपन्नो गुणोपेतः सखा यस्य धनान् यय ॥ २ ॥

‘भगवन् ! हममें संदेह नहीं कि देवताओंकी मेरे ऊपर
यही कृपा है मैं संकष्ट उनके अनुग्रहका पात्र हूँ क्योंकि
आप जैसे गुणवान् महापुरुष मेरे सखा हो गये ॥ २ ॥

राक्यं खलु भवेद् राम सहायेन त्वयानघ ।

सुराज्यमपि प्राप्तुं स्वराज्यं किमुत प्रभो ॥ ३ ॥

‘प्रभो ! निश्चय श्रीराम ! आप-जैसे सहायकके सहयोगमें
तो देवताओंका राज्य भी अवश्य ही प्राप्त किया जा सकता है,
फिर अपने छोटे हुए राज्यके पाना कौन बड़ी बात है ॥ ३ ॥

सौज्यं सभाज्यो बन्धूनां सुहृदां चैव सद्यः ।

यस्याग्निसाक्षिकं मित्रं लब्धं राघवसंज्ञजम् ॥ ४ ॥

परिधायं भी कभी असत्य नहीं बोलूंगा इस समय जो कुछ
कहा है उसे पूर्ण कर्मेके लिये प्रतिज्ञा करता हूँ और तुम्हें
विश्वास दिलानेके लिये सत्यकी ही शपथ खाता हूँ ॥ २२ ॥

ततः प्रहृष्टः सुग्रीवो वानरैः सचिवैः सह ।

राघवस्य वचः श्रुत्वा प्रतिज्ञातं विशेषतः ॥ २३ ॥

श्रीरघुनाथजीकी बात, विशेषतः उनकी प्रतिज्ञा सुनकर
अपने वानर मन्त्रियोंसहित सुग्रीवकी बड़ी प्रसन्नता हुई ॥

एवमेकान्तसम्पृक्तौ ततस्तौ नरवानरौ ।

उभावन्योन्यसदृशं सुखं दुःखपथावताम् ॥ २४ ॥

इस प्रकार एकान्तमें एक-दूसरेके निकट बैठे हुए वे दोनों
नर और वानर (श्रीराम और सुग्रीव) ने परस्पर सुख और
दुःखकी बात कही, जो एक-दूसरेके लिये अनुरूप थीं ॥

महानुभावस्य वचो निशम्य

हरिर्नृपाणामधिपस्य तस्य ।

कृतं स मेने हरिखीरमुख्य-

स्तदा च कार्यं हृदयेन विद्वान् ॥ २५ ॥

राजधिराज महाराज श्रीरघुनाथजीकी बात सुनकर वानर
सौम्यके प्रधान विद्वान् सुग्रीवोंने उस समय मन ही-मन अपने
कार्यको सिद्ध हुआ ही माना ॥ २५ ॥

इत्यार्ष श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किञ्चित्श्रुत्वाकाण्डे सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीमद्भाल्मीकीयसप्तमः आदिकाव्यके किञ्चित्श्रुत्वाकाण्डमें सातवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमः सर्गः

सुग्रीवका श्रीरामसे अपना दुःख निवेदन करना और श्रीरामका उन्हें आश्वासन देते हुए दोनों
भाइयोंमें खैर होनेका कारण पूछना

परितुष्टस्तु सुग्रीवस्तेन वाक्येन हर्षितः ।

लक्ष्मणास्त्राग्रजं शूरभिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी उक्त बातसे सुग्रीवकी बड़ा मनाब
हुआ। वे शीघ्रसे भरकर लक्ष्मणक बड़े भाई शूराजी
श्रीरामचन्द्रजीसे इस प्रकार बोले— ॥ १ ॥

सर्वथाभ्यनुयाह्यो देवतानां न संशयः ।

उपपन्नो गुणोपेतः सखा यस्य धनान् यय ॥ २ ॥

‘भगवन् ! हममें संदेह नहीं कि देवताओंकी मेरे ऊपर
यही कृपा है मैं संकष्ट उनके अनुग्रहका पात्र हूँ क्योंकि
आप जैसे गुणवान् महापुरुष मेरे सखा हो गये ॥ २ ॥

राक्यं खलु भवेद् राम सहायेन त्वयानघ ।

सुराज्यमपि प्राप्तुं स्वराज्यं किमुत प्रभो ॥ ३ ॥

‘प्रभो ! निश्चय श्रीराम ! आप-जैसे सहायकके सहयोगमें
तो देवताओंका राज्य भी अवश्य ही प्राप्त किया जा सकता है,
फिर अपने छोटे हुए राज्यके पाना कौन बड़ी बात है ॥ ३ ॥

सौज्यं सभाज्यो बन्धूनां सुहृदां चैव सद्यः ।

यस्याग्निसाक्षिकं मित्रं लब्धं राघवसंज्ञजम् ॥ ४ ॥

‘रघुनन्दन ! अब मैं अपने बन्धुओं और सुहृदोंके
विशेष सम्मानका पात्र हो गया, क्योंकि आज रघुवंशके
राजकुमार आप अग्निकी साक्षी बनाकर मुझे मित्रके रूपमें
प्राप्त हुए हैं ॥ ४ ॥

अहमप्यनुरूपस्ते वयस्यो ज्ञास्यसे शनैः ।

न तु वक्तुं समर्थोऽहं त्वयि आत्मगतान् गुणान् ॥ ५ ॥

मैं भी आपके योग्य मित्र हूँ। इसका ज्ञान आपको
धीरे-धीरे हो जायगा। इस समय आपके सामने मैं अपने
गुणोंका वर्णन करनेमें असमर्थ हूँ ॥ ५ ॥

महात्मनां तु धृष्टिष्ठं त्वष्टिधानां कृतात्मनाम् ।

निश्चला भवति प्रीतिर्धैर्यमात्मवतां वर ॥ ६ ॥

‘आत्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ श्रीराम ! आप-जैसे पुण्यात्मा
महात्म्यओंका प्रेम और धैर्य अधिकाधिक बढ़ता और
अविचल होता है ॥ ६ ॥

रजतं वा सुवर्णं वा शुभान्याचरणानि च ।

अविभक्तानि साधूनामवगच्छन्ति साधवः ॥ ७ ॥

‘अच्छे स्वभाववाले मित्र अपने घरके सोने चाँदी अथवा

हतम आभूषणोंको अपने अच्छे मित्रोंके लिये अर्पित
ही मानते हैं—उन मित्रोंका अपने धनपर अपने ही समान
अधिकार समझते हैं ॥ ७ ॥

आकथ्येवापि दरिद्रो वा दुःखिनः सुखिनोऽपि वा ।

निर्दोषश्च सदावश्च वयस्यः परमा गतिः ॥ ८ ॥

अतएव मित्र धनी हो या दरिद्र, सुखी हो या दुःखी अथवा
निर्दोष हो या सदावश्व वह मित्रके लिये सबमें बड़ा सहायक होता है ॥

धनस्यागः सुखत्यागो देशत्यागोऽपि मानसः ।

धनस्यार्थे प्रवर्तने स्तेजो दुष्टा तथाविधम् ॥ ९ ॥

अनर्थ । साधुपुरुष अपने मित्रका अत्यन्त उत्कृष्ट प्रेम
देख आवश्यकता पड़नेपर ठमके लिये धन, सुख और
देशका भी धारेत्याग कर देते हैं ॥ ९ ॥

तत् तद्येत्यत्रायाद् रामः सुग्रीवं प्रियवादिनम् ।

लक्ष्मणस्याग्रतो लक्ष्म्या वासवस्येव धीमतः ॥ १० ॥

यह सुनकर लक्ष्मी (दिव्य कान्ति) से उपलक्षित
श्रीरामचन्द्रजीने इन्द्रमुख तेजस्वी कुन्दिमान् लक्ष्मणक सामन
ही प्रिय कवन बोलनेवाले सुग्रीवसे कहा—‘सखे ! तुम्हारी
यात बिल्कुल ठीक है ॥ १० ॥

ततो रामे स्थितं दुष्टा लक्ष्मणं च महाबलम् ।

सुग्रीवः सख्यशुश्रूषे लीलमपातयत् ॥ ११ ॥

तदनन्तर (दूसरे दिन) महाबली राम और लक्ष्मणको
क्षड़ा देख सुग्रीवने वनमें चारों ओर अपनी चञ्चल दृष्टि
सोझायी ॥ ११ ॥

स ददर्श ततः सालमविदूरे हरिश्चरः ।

सुपुष्पमीषत्पत्राढो भ्रमरैरुपशोभितम् ॥ १२ ॥

उस समय जलराशमें राम ही एक सालका वृक्ष देखा,
जिसमें धाँडेसे ही सुन्दर पुष्प लगे हुए थे; परन्तु उसमें
पत्रोंकी यहूलता थी, उस वृक्षपर भेड़गाँव इधे भरे उसकी
गोधा लड़ा रहें थे ॥ १२ ॥

तस्यैकां पर्णबहुला शारदा धङ्क्त्वा सुशोभिताम् ।

रामस्यास्तीर्य सुग्रीवो निवसाद सगधवः ॥ १३ ॥

उसकी एक डालीको जिसमें अधिक पत्ते थे और जो
पापोंसे सुशोभित थी सुग्रीवने काट डाला और उस आगवक
लिये बिछाकर वे खड़े भी उनके साथ ही उसपर बैठ गये ॥

तावासीनी ततो दुष्टा हनुमानपि लक्ष्मणम् ।

शालशारदां समुत्पाद्य विनोतमुपवेशयत् ॥ १४ ॥

उन दोनोंको आगवपर विराजमान देख हनुमान्जीने भी
सालकी एक डाल काट डाली और उसपर विनयशाल
लक्ष्मणको बैठाया ॥ १४ ॥

सुरकोपावष्टे रामं तु प्रसन्नमुदधि यथा ।

सालपुष्पावसंकीर्णे तस्मिन् गिरिखेनमे ॥ १५ ॥

ततः प्रहृष्टः सुग्रीवः इलक्षणाया शुभया गिरा ।

उवाच प्रणयाद् रामं हर्षव्याकुलितशिरसम् ॥ १६ ॥

उस श्रेष्ठ पर्वतपर, जहाँ सब ओर सालके पुष्प बिखरे हुए
थे सुग्रीवके बैठ हुए श्रंगम शान्त समुद्रके समान प्रसन्न
दिखाया देने थे, उन्हें देखकर अत्यन्त हर्षमें भरे हुए सुग्रीवने
श्रीरामसे खिन्ध एवं सुन्दर वाणीमें बालात्मक आरम्भ किया ।
उस समय आनन्दान्तरिकसे उनकी वाणी लघुलघु जाती
थी—अक्षरोंका स्पष्ट उच्चारण नहीं हो पाता था ॥ १५-१६ ॥

अहं विनिकृतो भ्रात्रा वराम्येष भयार्दितः ।

भूष्यभूक गिरिधरे हतभार्यः सुदुःखितः ॥ १७ ॥

‘प्रभो ! मेरे भाईने मुझे घरसे निकालकर मेरी स्त्रीको भी
होन लिया है मैं उसीके भयमें अत्यन्त पीड़ित एवं दुःखी
हूँ इस पर्वतश्रेष्ठ भूष्यभूकपर विचरता रहता हूँ ॥ १७ ॥

सोऽहं प्रसतो भये भयो वने सम्भ्रान्तचेतनः ।

वालिनो निकृतो भ्रात्रा कृतर्वरश्च राघव ॥ १८ ॥

‘मुझे बगलर उसका भय बना रहता है, मैं भयमें डूबा
गहकर भ्रान्तचित्त हो इस वनमें भटकता फिरता हूँ ।
गधुनन्दन ! मेरे भाई वालिन मुझे घरसे निकालनेके बाद भी
मेरे साथ वर बाँध रखा है ॥ १८ ॥

वालिनो मे भयार्तस्य सर्वलोकाभयंकर ।

मयापि स्वमनाशस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ १९ ॥

‘प्रभो ! आप समस्त लोकोंको अभय देनेवाले हैं । मैं
वालीके भयसे दुःखी और अनाथ हूँ, अतः आपको मुझपर
भी कृपा करनी चाहिये’ ॥ १९ ॥

एवमुक्तस्तु तेजस्वी धर्मज्ञो धर्मवत्सलः ।

प्रत्युवाच स काकुत्स्थः सुग्रीवं प्रहसन्निव ॥ २० ॥

सुग्रीवके ऐसा कहनेपर तेजस्वी, धर्मज्ञ एवं धर्मवत्सल
भगवान् श्रीरामने उन्हें हँसते हुए—स इस प्रकार उत्तर दिया— ॥

उपकारफलं मित्रमपकारोऽरिलक्षणम् ।

अद्यैव ते वधिष्यामि तव भार्यापहारिणम् ॥ २१ ॥

‘सखे ! उपकार ही मित्रताकर फल है और अपकार
शत्रुताका लक्षण है; अतः मैं आज ही तुम्हारी स्त्रीका
अपहरण करनेवाला ठम वालोंका वध करूँगा ॥ २१ ॥

इमे हि मे महाभाग पत्रिणास्तिग्मतेजसः ।

कार्तिकेयवनोद्धृता, शरा हेमविभूषिता ॥ २२ ॥

महाभाग ! मेरे इन बाणोंका तेज प्रचण्ड है । सुवर्ण
भूषण व शर कार्तिकेयकी उत्पन्निक ग्यानभूत शरीर वनमें
उत्पन्न हुए हैं । (इनालिये अभेद्य हैं) ॥ २२ ॥

कङ्कपत्रपरिच्छन्ना भहेन्द्राशनिसंनिधाः ।

सुपर्वाणः सुनीक्ष्णग्रा सरोषा भुजगा इव ॥ २३ ॥

‘ये कंकपक्षोंके परोसे युक्त हैं और इन्द्रके वज्रकी भाँति
अघोष हैं । इनकी गति सुन्दर और अग्रभाग तीखे हैं । ये
रोषमें भरे भुजर्तुकी भाँति घबंकर हैं ॥ २३ ॥

वालिसंज्ञममित्रं ते भ्रातरं कृतकिन्त्विवम् ।

शरैर्विनिहतं पश्य विकीर्णपिष पर्वतम् ॥ २४ ॥

‘इन बाणोंसे तुम अपने चाली नामक शत्रुको, जो भाई होकर भी मुझसे बुराई कर रहा है, विदीर्ण हुए पर्वतकी भाँति मरकर पृथ्वीपर पड़ा देखोगे’ ॥ २४ ॥

राघवस्य वचः श्रुत्वा सुग्रीवो बाहिनीपतिः ।

प्रहर्षमतुलं लेभे साधु साध्विति चाब्रवीत् ॥ २५ ॥

श्रीरघुनाथजीको यह बात सुनकर बागारमनापति सुग्रीवको अनुपम प्रसन्नता प्राण हुई और वे उ-ह बारबार साधुवाद देते हुए बोले— ॥ २५ ॥

राग शोकाधिभूतोऽङ्ग शोकार्ताना भवान् गतिः ।

वपस्य इति कृत्वा हि त्वय्यहं परिदेवये ॥ २६ ॥

‘श्रीराम ! मैं शोकसे पीड़ित हूँ और आप शोकाकुल प्राणियोंकी परमगति है। फिर समझकर मैं आपसे अपना दुःख निवेदन करता हूँ ॥ २६ ॥

त्वं हि पाणि प्रदानेन वयस्यो मेऽग्निराशिकम् ।

कृतः प्राणीर्बहुमतः सत्येन च शपाम्यहम् ॥ २७ ॥

‘तब आपकी हाथमें हाथ देकर अग्निदेवके सामने आपको अपना मित्र बनाया है। इसीलिये आप मुझे अपने प्राणोंसे भी बड़कर प्रिय हैं। यह बात मैं सत्यको शपथ जाकर कहता हूँ ॥ २७ ॥

वयस्य इति कृत्वा च विलम्बः प्रवताम्यहम् ।

दुःखमन्तर्गतं सत्ये मनो ज्ञरति नित्यशः ॥ २८ ॥

‘आप मेरे मित्र हैं, इसीलिये आगरा पूर्ण विश्वास करके मैं अपने भीतरका दुःख जो सदा मेरे मनको व्याकुल करे रहता है, आपको बता रहा हूँ ॥ २८ ॥

एतावदुक्त्वा सचनं बाष्पदूषितलोचनः ।

बाष्पदूषितया बाष्ठा नोक्षेऽक्ष्णोति धाधितुम् ॥ २९ ॥

इतनी बात कहते कहते सुग्रीवके नेत्रोंमें आसू भर आये तबकी बाणी अधुना ही गयी। क्रमलिये वे उच्च स्वरसे धोन्दीमें हाथ न हो सके ॥ २९ ॥

बाष्पवेगे तु सहसा नदीवेगमिवागतम् ।

पारयाभासं धैर्येण सुग्रीवो रामसंनिधी ॥ ३० ॥

तत्पश्चात् सुग्रीवने सहसा घड़े हुए नदीके बगके समान उबड़े हुए आँसुओंके बगको श्रीरामके समीप धैर्यपूर्वक रोका ॥ ३० ॥

स निगृह्य तु तं बाष्प प्रमृज्य नयने शुभे ।

विनिःश्वस्य च तेजस्वी राघवं पुनरुच्छिषान् ॥ ३१ ॥

आँसुओंको रोक्कर अपने दोनों सुन्दर नेत्रोंको पोंछनेके पश्चात् तेजस्वी सुग्रीव पुनः लम्बा माँस खींचकर श्रीरघुनाथजीमें बोले— ॥ ३१ ॥

पुराई वालिना राम राज्यात् स्वाद्वरोपितः ।

परुषाणि च संश्रव्य निर्युतोऽस्मि बलीयसा ॥ ३२ ॥

‘श्रीराम ! पहलेकी बात है, बलिष्ठ बालीने कटुवचन सुनकर बलपूर्वक मेरा तिरस्कार किया और अपने राज्य

(युवराजपद) से नीचे उतार दिया ॥ ३२ ॥

हना भार्या च मे तेन प्राणेष्वोऽपि गरीयसी ।

सुहृदश्च मदौघा ये संयता बन्धनेषु ते ॥ ३३ ॥

‘इतना ही नहीं, मेरी स्त्रीको भी, जो मुझे प्राणोंसे भी अधिक प्रिय है, उसने छान लिया और जिनने मेरे सुहृद् थे, उन सबको कैदमें डाल दिया ॥ ३३ ॥

यत्नवांश्च स दुष्टात्मा मद्विनाशाय राघव ।

बहुशस्तप्रयुक्ताश्च वानरा निहता मया ॥ ३४ ॥

‘रघुनन्दन ! इसके बाद भी वह दुष्टात्मा बाली मेरे विनाशके लिये यत्न करना रहता है। उसके भजे हुए बहुत से वानरोंका मैं वध कर चुका हूँ ॥ ३४ ॥

शङ्कया त्वेतयाहं च दृष्ट्वा त्वामपि राघव ।

नोपसर्पाम्यहं भीतो भये सर्वे हि विभ्यति ॥ ३५ ॥

‘रघुनाथजी ! आपको भी देखकर मेरे मनमें ऐसा ही भय हुआ था इसीलिये हर जानके कारण मैं पहले आपके पास न आ सका, क्योंकि भयका अवसर आनेपर प्रायः सभी डर जाते हैं ॥ ३५ ॥

केवलं हि सहाया मे हनुमत्प्रमुखास्त्विये ।

अतोऽहं धारयाम्यहं प्राणान् कुचकृतोऽपि सन् ॥ ३६ ॥

‘केवल ये हनुमान् आदि वानर ही मेरे सहायक हैं, अतएव गलत संकल्पमें पड़कर भी मैं अत्यन्त प्राण धारण करता हूँ ॥ ३६ ॥

एते हि कपयः स्निग्धा भी रक्षन्ति समन्ततः ।

महं गच्छन्ति गन्तव्ये नित्यं तिष्ठन्ति चास्थिते ॥ ३७ ॥

‘इन लिंगोंका मुझपर स्नेह है, अतः ये सभी वानर सब ओरसे सदा मेरे रक्षा करने रहते हैं। जहाँ जाना होता है वहाँ साथ-साथ जाते हैं और जय कहीं मैं ठहर जाता हूँ वहाँ ये नित्य मेरे साथ रहते हैं ॥ ३७ ॥

सक्षेपस्त्वेव मे राम किमुक्तवा विस्तरं हि ते ।

स मे ज्येष्ठो रिपुर्भाता बाली विश्रुतपौरुषः ॥ ३८ ॥

‘रघुनन्दन ! यह मेरे संक्षेपसे अपनी हालत बतलायी है। आपके सामने विस्तारपूर्वक कहनेसे क्या लाभ ? वानरों मेरा बंधू भाई है, फिर भी इस समय मेरा शत्रु हो गया है। छपका चगक्रम सर्वत्र विख्यात है ॥ ३८ ॥

तद्विनाशोऽपि मे दुःखं प्रमृष्टं स्यादनन्तरम् ।

सुखं मे जीवितं सर्वं तद्विनाशनिबन्धनम् ॥ ३९ ॥

‘(धनधि भाईका नाश भी दुःखका ही कारण है, तथापि) इस समय जो मेरा दुःख है वह उसका नाश होनेपर ही मिट सकता है। मेरा सुख और जीवन उसके विनाशपर ही निर्भर है ॥ ३९ ॥

एव मे राम शोकान्तः शोकार्तेन विवेदितः ।

दुःखितः सुखितो वापि सख्युर्नित्यं सखा गतिः ॥ ४० ॥

‘श्रीराम ! यही मेरे शोकके नाशका उपाय है। मैंने

शोकसे पीड़ित होनेके कारण आपसे यह बात निवदन की है क्योंकि मित्र दुःखमें हो या सुखमें, वह अपने मित्रको सदा ही सहायता करता है' ॥ ४० ॥

श्रुत्वा तच्च वचो रामः सुग्रीवमिदमब्रवीत् ।

किं निमित्तमभूद् वरं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ ४१ ॥

यह सुनकर श्रीरामने सुग्रीवसे कहा— 'तुम दोनों भाइयोंमें वर पड़नेका क्या कारण है, यह मैं ठीक-ठीक सुनना चाहता हूँ' ॥ ४१ ॥

मुखं हि कारणं श्रुत्वा वरस्य तव वानर ।

आमन्नर्याद् विधास्यामि सम्प्रधार्य चलाचलम् ॥ ४२ ॥

'वानरराज ! तुमलोगोंकी शत्रुताका कारण सुनकर तुम दोनोंको प्रबलता और निर्बलताका निश्चय करके फिर सन्काल ही तुम्हें सुखी बनानेवाला उपाय करूँगा' ॥ ४२ ॥

बलवान् हि मयामर्यः श्रुत्वा त्वामवमानितम् ।

अधुना हतघोतकम्पी प्रावृद्धग इवाध्वसः ॥ ४३ ॥

'जैसे वज्रकालमें पत्थी आदिकों का बहुत बड़का है,

इत्यर्थे श्रीमद्वायणे वल्कीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डेऽष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

इस पर्वत श्रीरामचन्द्रजीके आश्रमावधे आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें अठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८ ॥

नवमः सर्गः

सुग्रीवका श्रीरामचन्द्रजीको वालीके साथ अपने वर होनेका कारण खताना

वाली नाम मम भ्राता ज्येष्ठः शत्रुनिषूदनः ।

पितृवर्धुमतो नित्यं मम चापि तथा पुरा ॥ १ ॥

'पितान्दा' वाली मेरे बड़े भाई हैं। उनमें शत्रुओंका मारने के लिये मेरा मन भी उनके प्रति आदरका भाव था ॥ १ ॥

पितृवर्धुमतो तस्मिन्वर्धुऽप्यपि यन्निधिः ।

कपीवर्गीश्वरो राज्यं कृतः परमसम्पन्नः ॥ २ ॥

'पिताकी मूर्तके समान यन्निधिने उन्हें ज्येष्ठ सम्प्रभकर यागरीका राजा बनाया। वे सबको बड़े प्रिय थे, इसीलिये निरान्धकारके राज्यपर प्रतिष्ठित नित्ये गये थे' ॥ २ ॥

राज्यं प्रशासितस्तस्य पितृवर्धुनामहं महत् ।

अहं सर्वेषु कालेषु प्रणतः प्रेष्यन् स्थितः ॥ ३ ॥

'वे पिता-पितामहोंके विशाल राज्यका शासन करने लगा और मैं हर समय विनीतभावसे हमकी प्रति उनकी सत्ताम रत रहा ॥ ३ ॥

मायावी नाम तेजस्वी पूर्वजो दुन्दुभेः सुतः ।

तेन तस्य महद्द्वरं वालिनः स्त्रोकृतं पुरा ॥ ४ ॥

'उन दिनों मायावी नामक एक तेजस्वी दानव रहता था, जो मया-दानवका पुत्र और दुन्दुभका बड़ा भाई था। उसके नाम वालीका स्त्रोक कारण बहुत बड़ा वर हो गया था ॥

उसी प्रकार तुम्हारे अपमानित होनेकी बात सुनकर मेरा प्रबल रोष बढ़ता जा रहा है और मेरे हृदयको काँपत किया देता है' ॥ ३ ॥

हृष्टः कथय विस्वव्यो यावदारोप्यते धनुः ।

सृष्टश्च हि धया बाणो निरस्तश्च रिपुस्तथ ॥ ४४ ॥

'मेरे धनुष चढ़ानेके पहले ही तुम अपनी सब बातें प्रमत्ततापूर्वक कह डालो, क्योंकि ज्यों ही मैंने बाण छोड़ा, तुम्हारा शत्रु तत्काल कालके गालमें चला जायगा' ॥ ४४ ॥

एवमुक्तस्तु सुग्रीवः काकुत्स्थेन महात्मना ।

प्रहर्षमतुलं लेभे चतुर्भिः सह वानरैः ॥ ४५ ॥

महात्मा श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर सुग्रीवको अपने चारों वानरोंके साथ अपार हर्ष हुआ ॥ ४५ ॥

ततः प्रहृष्टवदनः सुग्रीवो लक्ष्मणाभजे ।

वरस्य कारणं तत्त्वमाख्यातुमुपचक्रमे ॥ ४६ ॥

तदनन्तर सुग्रीवके मुखपर प्रसन्नता छा गयी और उन्होंने श्रीरामको वालीके साथ वर होनेका यथार्थ कारण बताना आरम्भ किया ॥ ४६ ॥

स तु सुप्ते जने रात्रौ किष्किन्धाद्वारमागतः ।

नर्तति स्य सुसंख्यो वालिनं चाह्वयद् रणे ॥ ५ ॥

'एक दिन आधी रातके समय जब सब लोग सो गये, मायावी किष्किन्धापुराके दरवाजेपर आया और क्रोधसे भरकर गर्जने तथा वालीको युद्धके लिये ललकारने लगा ।

प्रमुपस्तु मम भ्राता नर्ततो भैरवस्वनम् ।

श्रुत्वा न यमूषे वाली निष्पपात जघात् तदा ॥ ६ ॥

'उस समय मेरे भाई सो रहे थे। उसका भैरवनाद सुनकर उनकी नांद खुल गयी। उनसे उस वृक्षमयी ललकार सही नहीं गयी; अतः वे तत्काल वेगपूर्वक धरसे निकले ॥ ६ ॥

स तु वै नि सुतः क्रोधात् तं हन्तुमसुरोत्तमम् ।

वार्यमाणस्ततः स्त्रीभिर्मया च प्रणतात्पना ॥ ७ ॥

'जब वे क्रोध करके उस श्रेष्ठ असुरको मारनेके लिये निकले उस समय मैं तथा अन्त-पुरकी बियोंने पैरों पड़कर उन्हें जानसे रोका ॥ ७ ॥

स तु निर्धूय सर्वान् नो निर्जगाम महाबलः ।

ततोऽहमपि सौहादौत्रिभुवो वालिना सह ॥ ८ ॥

'परतु महाबली वाली हम सबको हटाकर निकल पड़े जब मैं भी स्नेहवश वालीके साथ ही बाहर निकला ॥ ८ ॥

स तु मे भ्रान्तं दृष्ट्वा मां च दूरादवस्थितम् ।

असुरो जातसंत्रासः प्रदुद्राव तदा भृशम् ॥ ९ ॥

‘उस असुरन मेरे भाईको देखा तथा कुछ दूरपर खड़े हुए मेरे ऊपर भी उसकी दृष्टि पड़ी, फिर तो वह धीमे धीमे उठा और बड़े जोरसे भागा ॥ ९ ॥

तस्मिन् द्रवति संव्रसे द्वावा हुनतरं गतौ ।

प्रकाशोऽपि कृतो मार्गश्चन्द्रेणोद्वृत्ता तदा ॥ १० ॥

‘उसके धीमे धीमे होकर भागनेपर हम दोनों भाइयोंने बड़ी तेजीके साथ उसका पीछा किया। उस समय उदित हुए चन्द्रमाने हमारे मार्गको भी प्रकाशित कर दिया था ॥ १० ॥

स तूणैरावृत्तं दुर्गं वरण्या विचरं महत् ।

प्रविवेशासुरो वेगादावाभासात् विष्टिनी ॥ ११ ॥

‘आगे जानेपर धरतीमें एक बहुत बड़ा बिल था, जो घास-पूससे ढका हुआ था। उसमें प्रवेश करना अन्यत्र कठिन था वह असुर बड़े वेगसे उस बिलमें जा घुसा वहाँ पहुँचकर हम दोनों ठहर गये ॥ ११ ॥

तं प्रविष्टं रिपुं दृष्ट्वा बिलं रोषवशं गतः ।

माधुवाच ततो वाली वचनं क्षुभितेन्द्रियः ॥ १२ ॥

‘शत्रुको बिलके अंदर घुसा देख वालीने क्रोधकी सीमा न रही। उनकी सारी इंद्रियों क्षुब्ध हो उठी और वे मुझसे इस प्रकार बोले— ॥ १२ ॥

इह तिष्ठान् सुप्रीव बिलह्वारि समर्पितः ।

धावदत्र प्रविश्याहं निहन्मि समरे रिपुम् ॥ १३ ॥

‘सुप्रीव । जबतक मैं इस बिलके भीतर प्रवेश करके मुझसे शत्रुको मारना हूँ, तबतक तुम आज इसके दरवाजेपर आवधानीसे बंधे रहो ॥ १३ ॥

मया त्वेताद् वचः श्रुत्वा याचिनः स परितपः ।

शापयित्वा च मां प्रदध्यां प्रविवेश बिलं ततः ॥ १४ ॥

‘मैंने जब तब तक सुनकर मैंने शत्रुआका संताप देनेवाले वालीसे स्वयं भी साथ चलनेके लिये प्रार्थना की, किन्तु वे अपने चरणावली सींगसे दिलाकर अकेले ही बिलमें घुसे ॥ १४ ॥

तस्य प्रविष्टस्य बिलं राघः संवत्सरो गतः ।

स्थितस्य च बिलह्वारि स कालो व्यत्यवर्तत ॥ १५ ॥

‘बिलके भीतर गये हुए उन्हें एक सालसे अधिक समय बीत गया और बिलके दरवाजेपर खड़े-खड़े मेरा भी उनका ही समय निकल गया ॥ १५ ॥

अहं तु नष्टं तं ज्ञात्वा स्नेहादागतसम्भ्रमः ।

भ्रातरं न प्रपश्यामि यापशङ्कि च मे मनः ॥ १६ ॥

‘जब इतने दिनातक मुझे भाईका दर्शन नहीं हुआ, तब मैंने समझा कि मेरे भाई इस गुफामें ही कहीं सो गये। उस समय भ्रातृसंश्लेष कारण मेरा हृदय व्याकुल हो उठा। मेरे मनमें उनके मारे जानेकी शङ्का होने लगी ॥ १६ ॥

अथ दीर्घस्य कालस्य विस्मृत् तस्माद् विमि-सुतम् ।

सफेनं रुधिरं दृष्ट्वा ततोऽहं भृशदुःखितः ॥ १७ ॥

‘तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् उस बिलसे सहसा फेन-सहित खूनकी धारा निकली। उसे देखकर मैं बहुत दुःखी हो गया ॥ १७ ॥

नर्दतापसुराणां च ध्वनिर्मे श्रोत्रमागतः ।

न रतस्य च संप्राप्ते क्रोशतोऽपि स्वनो गुरोः ॥ १८ ॥

‘इतनेद्वारे भरकते हुए असुरोंकी आवाज भी मेरे कानोंमें पड़ी। श्रद्धामें लगे हुए मेरे बड़े भाई भी गरजना कर रहे थे, किन्तु उनकी आवाज मैं नहीं सुन सका ॥ १८ ॥

अहं स्वगतो बुद्ध्या विह्वलैर्भ्रातरं हतम् ।

पिपाय च बिलह्वारि शिलाया गिरिमात्रया ॥ १९ ॥

शोकार्तशोदकं कृत्वा किष्किन्यामागतः सखे ।

गूहपानस्य मे तत् त्वं यत्नतो मन्त्रिभिः क्षुतम् ॥ २० ॥

‘मैं स्वगतो बुद्ध्या विह्वलैर्भ्रातरं हतम् । पिपाय च बिलह्वारि शिलाया गिरिमात्रया ॥ १९ ॥ शोकार्तशोदकं कृत्वा किष्किन्यामागतः सखे । गूहपानस्य मे तत् त्वं यत्नतो मन्त्रिभिः क्षुतम् ॥ २० ॥

ततोऽहं तैः समागम्य समेतैरधिपेक्षितः ।

राज्यं प्रशासतस्मभ्य न्यायतो भय राघव ॥ २१ ॥

आजगाम रिपुं हत्वा दानव स तु वानरः ।

अभिपिक्तं तु मां दृष्ट्वा क्रोधान् संरक्तलोचन ॥ २२ ॥

‘तब उन सबने मिलकर मुझे राज्यपर अभिपिक्त कर दिया। रघुनन्दन । मैं न्यायपूर्वक राज्यका संचालन करने लगा। इसी समय अपने शत्रुभूत उस दानवको मारकर वानरराज वाली पर लौटे। तबसे पर मुझे राज्यपर अभिपिक्त हुआ देख उनके आँखें क्रोधसे लाल हो गयीं ॥ २१-२२ ॥

मदीयान् मन्त्रिणो बद्ध्वा पस्व वाक्यमब्रवीत् ।

निग्रहे च समर्थस्य तं पापं प्रति राघव ॥ २३ ॥

न प्रावर्तत मे बुद्धिर्भ्रातृगौरवयन्त्रिता ।

‘मेरे मन्त्रियों ने उन्होंने कैद कर लिया और उन्हें कठोर बान मनायीं गधुवीर । यद्यपि मैं स्वयं भी उस पापीको कैद करनेमें समर्थ था तो भी भाईके प्रति गुरुभाव होनेके कारण मेरी बुद्धिमें ऐसा विचार नहीं हुआ ॥ २३ ॥

हत्वा शत्रु स मे भ्राता प्रविवेश पुरं तदा ॥ २४ ॥

मानयंस्तं महात्मानं यथावन्नाभिवादयम् ।

उक्ताञ्च नाशिपस्तेन प्राहृष्टेनान्तगत्यना ॥ २५ ॥

‘इस प्रकार शत्रुका वध करके मेरे भाईने उस समय नगरमें प्रवेश किया। उन महात्माका सम्मान करते हुए मैंने यथोचितरूपसे उनके वरणांगोंमें मस्तक झुकाया तो भी उन्होंने

प्रसन्नचित्तसे मुझे आशीर्वाद नहीं दिया ॥ २४-२५ ॥
नत्वा पादावहं तस्य मुकुटेनास्पृशं प्रभो ।
अपि वाली भय क्रोधात् प्रमादं चकार सः ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे नवमः सर्गः ॥ ९ ॥
इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आषारामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें नवौ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९ ॥

दशमः सर्गः

भाईके साथ धरका कारण बतानेके प्रसङ्गमें सुग्रीवका वालीको मनाने और वालीद्वारा अपने निष्कासित होनेका वृत्तान्त सुनाना

ततः क्रोधसमाविष्टं संख्यं तमुपागतम् ।
अहं प्रसादयाचकं भ्रातरं हितकरम्यया ॥ १ ॥

(सुग्रीव कहते हैं—) 'तदनन्तर क्रोधसे अतिविष्ट तथा विधुब्ध होकर आय हुए अग्न चट भाईको इनके हितकी कामनासे मैं पुनः प्रसन्न करनेकी चेष्टा करने लगत ॥ १ ॥
दिष्ट्यासि कुरुक्षेत्री प्राप्तो निहतश्च त्वया रिपु ।
अनाथस्य हि मे नाथस्त्वमेकोऽनाथनन्दन ॥ २ ॥

मैंने कहा—'अनाथनन्दन ! सौभाग्यकी बात है कि आप मरुक्षेत्र लौट आय और वह शत्रु आपके हाथसे मारा गया । मैं आपके किन्ना अनाथ हो रहा था । अब एकभ्रात्र आप ही मेरे नाथ हैं ॥ २ ॥

इदं बहुशलाकं ते पूर्णचन्द्रमिलोदितम् ।
उग्रं सर्वालम्बजनं प्रतीच्छस्व मया पृतम् ॥ ३ ॥

'यह चाहुत-सी तीक्ष्णियोंसे युक्त तथा उदित हुए पूर्ण चन्द्रमाके समान श्वेत उग्र मैं आपके मस्तकपर लगाना और घंघरा डुलाना हूँ । आप इन्हे स्वीकार करें ॥ ३ ॥

आर्तस्तत्र बिलद्वारि स्थितः संवत्सरं नृप ।
दृष्ट्वा च शोणितं द्वारि बिलाद्यापि समुत्थितम् ॥ ४ ॥
शोकसंविमोदयो भृशो व्याकुलितेन्द्रियः ।

'बानरराज ! मैं बहुत दुःखी होकर एक वर्षतक ठार बिलके चक्काजेपर खड़ा रहा । तबके बाद बिलके भीतरसे धुनवरी धारा निकली । द्वारपर वह रक्त देखकर मेरा हृदय शोकसे उद्विग्न हो उठा और मेरी सारी इन्द्रियाँ अत्यन्त व्याकुल हो गयीं ॥ ४ ॥

आपिषाय बिलद्वारं शैलपृष्ठेण तत् तदा ॥ ५ ॥
तस्माद् देशदुष्पाकस्य किष्किन्धां प्राविशं पुनः ।

'तब तब बिलके द्वारका एक पर्वत शिखरसे होकर मैं तम स्थानमें हट गया और पुनः किष्किन्धागुप्तमें चला गया ।
बिषावास्त्रिह मां दृष्ट्वा परिमैन्त्रिधरेव च ॥ ६ ॥
अभिषिक्तो न कामेन तनो क्षन्तुं त्वमर्हसि ।

'यहाँ बिषादपूर्वक मुझे अकेला लौटा देख पुरवासियों और मन्त्रियोंने ही इस राज्यपर मेरा अभिषेक कर दिया । मैंने स्वच्छासे इस राज्यको नहीं ग्रहण किया है । अब अज्ञानवश

'प्रभो ! मैंने भाईके सामने झुककर अपने मस्तकके मुकुटसे उनके दोनों धरणाकर स्पर्श किया तो भी क्रोधके कारण वाली मुझपर प्रसन्न नहीं हुए ॥ २६ ॥

होनेवाले मैं इस अपराधको आप क्षमा करें ॥ ६ ॥
त्वमेव राजा मानार्हः सदा चाहं यथा पुरा ॥ ७ ॥
राजभावे नियोगोऽयं भय त्वद्विरहात् कृतः ।

आप ही यहाँके सम्माननीय राजा हैं और मैं सदा आपका पृथक् मंत्रक हूँ । आपके नियोगसे ही राजाके पदपर मेरी यह नियुक्ति की गयी ॥ ७ ॥

सामात्यपौरनगरं स्थितं निहतकण्टकम् ॥ ८ ॥
न्यासभूतपिदं राज्यं तव निर्यातपाम्यहम् ।

'मन्त्रियों, पुरवासियों तथा नगरसहित आपका यह सारा अकण्टक राज्य मेरे पास धरोहरके रूपमें रखा था । अब इसे मैं आपको सेवामें लौटा रहा हूँ ॥ ८ ॥

मा च रोषं कृथाः सौम्य मम शत्रुनिषूदन ॥ ९ ॥
याचे त्वां शिरसा राजन् मया बद्धोऽयमञ्जलिः ।

'सौम्य ! शत्रुमूदन ! आप मुझपर क्रोध न करें । राजन् ! मैं इसकी लिये मस्तक झुकाकर प्रार्थना करता हूँ और हाथ जोड़ता हूँ ॥ ९ ॥

बलादस्मिन् समागम्य मन्त्रिभिः पुरवासिभिः ॥ १० ॥
राजभावे नियुक्तोऽहं शून्यदेशजिगीषया ।

मन्त्रियों तथा पुरवासियोंने मिलकर जबर्दस्ती मुझे इस राज्यपर बिठाया है । वह भी इसलिये कि राजासे रहन राज्य देखकर कोई शत्रु इसे जीतनेकी इच्छासे आक्रमण न कर बैठे ॥ १० ॥

स्निग्धमेवं ब्रुवाणं मां स विनिर्भर्त्स्य बानरः ॥ ११ ॥
धिवत्त्वामिति च यामुक्त्वा बहु तत्तदुवाच ह ।

मैंने ये सारे बातें बड़े प्रेमसे कही थीं, किंतु उस बानरने मुझे डाँटकर कहा— 'तुझे धिक्कार है' । यों कहकर उसने मुझे और भी बहुत-सी कठोर बातें सुनायीं ॥ ११ ॥

प्रकृतींश्च समानीय मन्त्रिणश्चैव सम्मतान् ॥ १२ ॥
यामाह सुहृदां मध्ये वाक्यं परममर्हितम् ।

'तत्पश्चात् उसने प्रजाजनो और सम्मान्य मन्त्रियोंको बुलाया तथा सुहृदोंके बीचमें मेरे प्रति अत्यन्त निन्दित वचन कहा ।
विदितं वो यया राज्ञौ पायावी स महासुरः ॥ १३ ॥
मां समाह्वयत कुन्दो युद्धाकाङ्क्षी तदा पुरा ।

‘वह बोला—‘आपलोगोंको मालूम होगा कि एक दिन रातमें मेरे साथ युद्ध करनेको इच्छासे मायाको नामक महान् असुर यहाँ आया था। उसने क्रोधसे भरकर पहले मुझे युद्धके लिये ललकाया ॥ १३ ॥

तस्यै तद् भाषितं श्रुत्वा नि.सुतोऽहं नृपालयात् ॥ १४ ॥
अनुयातश्च मां तूर्णमर्थं भ्राता सुदारुणः ।

‘‘तसकी यह ललकार सुनकर मैं राजभवनसे निकल पड़ा। उस समय वह क्रूर स्वभाववाला मेरा भाई भी तुरंत ही मेरे पीछे-पीछे आया ॥ १४ ॥

स तु दृष्ट्वा मां रात्रौ सद्दितीयं महाबलः ॥ १५ ॥

प्राश्रयत् भयसंभ्रमो चीक्षणां समुपागता ।

अभिहूतस्तु वेगेन विवेश स महाबलम् ॥ १६ ॥

‘‘जगाम वह असुर बड़ा बलवान् था तथापि मुझे एक दूसरे संतापकने, साथ देखते ही भयभीत हो उस रणमें भाग गया हम दोनों भाइयोंको आते देख वह बड़े वेगसे दौड़ा और एक विशाल गुफामें घुस गया ॥ १५-१६ ॥

ते प्रविष्टं विदित्वा तु सुधोरं समहद्विलम् ।

अवमुक्तोऽथ मे भ्राता मया तु कूरदर्शनः ॥ १७ ॥

‘‘उस अव्यक्त भयंकर विदास गुफामें उस असुरको घुसा हुआ जानकर मैंने अपने इस क्रूरदर्शी भाईसे कहा — ॥

अहत्वा नास्ति मे शक्तिः प्रतिगन्तुमितः पुरीम् ।

विलङ्घयि प्रतीक्ष त्व यावदेनं निहन्म्यहम् ॥ १८ ॥

‘‘सुधोव । इस शत्रुको भारे बिना मैं यद्यपि विजितकराया जाऊँगी और चलेगा अरागर्भ है, अतः जबरन मैं इस असुरको भार से लौटूँगी, तबतक तुम इस गुफाके दरवाजेपर रहकर मेरी प्रतीक्षा करो ॥ १८ ॥

स्थितोऽवभिति मत्वाहं प्रविष्टस्तु दुरासदम् ।

ते मे मार्गयतस्तत्र गतः संवत्सरमदा ॥ १९ ॥

‘‘देख कहकर और ‘यह तो यहाँ कहा है ही’ ऐसा विश्वास करते मैं उस अत्यन्त दुर्गम गुफाके भीतर प्रविष्ट हुआ। भीतर जाकर मैं हम दानवकी स्तब्ध करन लगा। और इसीमें गरा वहाँ एक वर्षका समय व्यतीत हो गया ॥ १९ ॥

स तु दृष्टो मया ह्युरनिर्वेदाद् भयावहः ।

निहतश्च मया सद्यः स सर्वैः सह बन्धुभिः ॥ २० ॥

‘‘इसके बाद मैंने उस भयंकर शत्रुको देखा। इतने दिवातक उसके न मिलनेसे मेरे मनमें कोई शंका या उदासीनता नहीं हुई थी। मैंने उसे उसके सम्पत्त बन्धु-बान्धवोंसहित तत्काल करालके गालमें डाल दिया ॥ २० ॥

तस्मास्थान्तु प्रवृत्तेन रुधिरौघेण तद्विलम् ।

पूर्णमासीद् दुराक्रामं स्तनतस्तस्य भूलले ॥ २१ ॥

‘‘उसके मुखसे और छातीसे भी भूतलपर रक्तका ऐसा प्रवाह जारी हुआ, जिससे वह सारी दुर्गम गुफा भर गयी ॥

सूदयित्वा तु तं शत्रुं विक्रान्तं तमहं सुखम् ।

निष्क्रामं नैव पश्यामि बिलस्य पिहितं मुखम् ॥ २२ ॥

‘‘इस तरह उस पराक्रमी शत्रुका सुखपूर्वक वध करके जब मैं स्त्रैय, तब मुझे निकलनेका कोई मार्ग ही नहीं दिखायी देता था; क्योंकि बिल्का दरवाजा बंद कर दिया गया था ॥ २२ ॥

विक्रोशमानस्य तु मे सुग्रीवेति पुनः पुनः ।

घन. प्रतिवचो नास्ति ततोऽहं भृशदुःखितः ॥ २३ ॥

‘‘मैंने ‘सुधोव । सुधोव । कहकर बारंबार पुकारा, किंतु कोई उत्तर नहीं मिला। इससे मुझे बड़ा दुःख हुआ ॥ २३ ॥

पादप्रहारस्तु मया बहुभिः परिधातितम् ।

ततोऽहं तेन निष्क्रम्य पथा पुमुपागतः ॥ २४ ॥

‘‘मैंने बारंबार स्तब्ध पाकर किसी तरह उस पत्थरको पंछकी ओर ढकला। इसके बाद गुफाद्वारसे निकलकर यहाँकी यह पकड़े मैं इस नगरमें लौटा हूँ ॥ २४ ॥

तत्रानेनास्मि संरुद्धो राज्यं मृगयताऽऽत्मनः ।

सुग्रीवेण नृशसेन विस्मृत्य भ्रातृसौहृदम् ॥ २५ ॥

यह सुधोव मेरा क्रूर और निर्दयी है कि इसने भ्रातृ-प्रेमको भुला दिया और मेरा राज्य अपने हाथमें कर लेनेके लिये मुझे उस गुफाके अंदर बंद कर दिया था ॥ २५ ॥

एवमुक्त्वा तु मां तत्र बस्तेषीकेन वानरः ।

तदा निर्वासयाभास वाली विगतसाध्वसः ॥ २६ ॥

‘‘ऐसा कहकर वानरराज वाल्मीके निर्भयतापूर्वक मुझे घरमें निकाल दिया। उस समय मेरे शरीरपर एक ही वस्त्र रह गया था ॥ २६ ॥

तेनाहमपविद्धश्च हतदारश्च राघव ।

तद्भयाच्च महीं सखी क्रान्तवान् सवनार्णवाम् ॥ २७ ॥

शृण्वमुक्तं गिरिवरं भार्याहरणदुःखितः ।

प्रविष्टोऽस्मि दुराघर्ष वालिनः कारणान्तरे ॥ २८ ॥

‘‘रघुन्दन । उसने मुझे घरसे तो निकाल ही दिया, मेरी स्त्रीको भी छैन लिया। उसके भयसे मैं बने और समुद्री सहित सारे पृथ्वीपर भया-भय फिरता रहा। अन्ततोगत्वा मैं भार्याहरणके दुःखसे दुःखी हो इस श्रेष्ठ पर्वत शृण्वमुक्तपर चला आया; क्योंकि एक विशेष कारणवश वाल्मीके लिये इस स्थानपर आक्रमण करना बहुत कठिन है ॥ २७-२८ ॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं वैरानुकथनं महत् ।

अनागता मया प्राप्ते व्यसनं पश्य राघव ॥ २९ ॥

‘‘रघुनाथजी यहाँ वाल्मीके साथ मेरे वैर पढ़नेकी विस्तृत कथा है। यह सब मैंने आपको सुना दी। देखिये, बिना अपराधके ही मुझे यह सब संकट घोंगना पड़ता है ॥ २९ ॥

वाल्मिजिश्च भयात् तस्य सर्वलोकभयापह ।

कर्तुमर्हसि मे वीर प्रसादं तस्य निग्रहात् ॥ ३० ॥

‘चारवर ! आप सम्पूर्ण जगत्का भय दूर करनेकाल है ।
मुझपर कृपा कीजिये और बालीका दमन करके मुझे उसके
भयसे बचाइये’ ॥ ३० ॥

एवमुक्तः स तेजस्वी धर्मज्ञो धर्मसंहितम् ।
वचनं वक्तुमारभे सुग्रीवं प्रहसन्निव ॥ ३१ ॥

सुग्रीवके ऐसा कतनेपर धर्मके ज्ञान परम तेजस्वी श्री
रामचन्द्रजीने उनसे हँसते हुए-ये यह धर्मयुक्त वचन कहना
आरम्भ किया— ॥ ३१ ॥

अमोघाः सूर्यसंकाशा निशिता ये शरा इमे ।
गरिमन् कालिनि दुर्वृते पतिष्यन्ति स्यान्विताः ॥ ३२ ॥

मित्र ! ये सूर्यके समान तेजस्वी तीखे बाण अमोघ
हैं, जो दुराचारी बालीपर रोषपूर्वक पड़ेंगे ॥ ३२ ॥

धावन् नै नहि पश्येयं तव भार्यापहारिणम् ।
मावन् स जीवन् पापात्मा काली चारित्रदूषकः ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे दशमः सर्गः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीनाल्मीकीनामक आगरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें दसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १० ॥

एकादशः सर्गः

सुग्रीवके द्वारा बालीके पराक्रमका वर्णन— बालीका दुन्दुभि दैत्यको मारकर उसकी लाशको
मतङ्गवनमें फेंकना, मतङ्गमुनिका बालीको शाप देना, श्रीरामका दुन्दुभिके अस्थिसमूहको दूर
फेंकना और सुग्रीवका उनसे साल-भेदनके लिये आग्रह करना

रामस्य वचनं श्रुत्वा हर्षपीनववर्धनम् ।
सुग्रीवः पूजयांचक्रे राघवं प्रशशंस च ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्रजीका वचन हर्ष और पुरुषार्थको बढ़ानेवाला
था, इस सुनकर सुग्रीवने तसके प्रति कथना आदर प्रकट
किया और श्रीरामनाथजीकी इस प्रकार प्रशंसा की— ॥ १ ॥

असंशयं प्रज्वलितैस्तीक्ष्णैर्ममालिङ्गैः शरैः ।
नो दहोः कुपितो न्याकान् युगान्त इव भास्करः ॥ २ ॥

‘मित्र ! अगरके बाण प्रज्वलित, तीक्ष्ण एवं मर्मभेदी हैं
राहिए आप क्षीरम हो जायेंगे तो इनके द्वारा प्रलम्बकालके सूर्यको
भीत समस्त लोगोंने भस्म कर सकते हैं । इसमें संशयकी
आश नहीं है ॥ २ ॥

बालिनः प्रीत्यै मतद् यद्य वीर्यं धृतिश्च या ।
नभ्यर्पकपनाः श्रुत्वा विधास्य पटनन्तरम् ॥ ३ ॥

‘परंतु बालीका जीका पुरुषार्थ है, जो बल है और ऊँचा
धैर्य है, वह सब प्रकांचित होकर सुन लीजिये । उसके बाद
जैसा ठहरेगा, कीजियेगा ॥ ३ ॥

मत्पुत्रान् पश्चिमान् पूर्वं दक्षिणादपि चोत्तरम् ।
कामत्यनुविते सूर्ये बाली व्यपगतऋषः ॥ ४ ॥

बाली सूर्योदयके पहल ही पश्चिम समुद्रमें पूर्व समुद्रतक
और दक्षिण सागरमें उत्तरतक घूम आता है; फिर भी वह
प्रकृता नहीं है ॥ ४ ॥

‘जबतक तुम्हारे भार्याका अपहरण करनेवाले उस बानरको
मैं अपने भयाने नहीं देखता हूँ तबतक सदाचारको कलंकित
करनेवाला वह पापात्मा माम्ने जीवन धारण कर ले ॥ ३३ ॥

आत्मननुमानात् पश्यामि यत्रस्त्वं शोकसागरे ।
त्वामहं तारयिष्यामि बाहं प्राप्स्यसि पुष्कलम् ॥ ३४ ॥

‘मैं अपने ही अनुमानसे समझता हूँ कि तुम शोकके
समुद्रमें डूबे हुए हो । मैं तुम्हारा उद्धार करूँगा । तुम
अपने पक्षी तथा विशाल राज्यका भी अवश्य प्राप्त
कर लोगे’ ॥ ३४ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा हर्षपीनववर्धनम् ।
सुग्रीवः परमप्रीतः सुमहद्वाक्यमब्रवीत् ॥ ३५ ॥

श्रीरामका यह वचन हर्ष और पुरुषार्थको बढ़ानेवाला
था उसे सुनकर सुग्रीवकी बड़ी प्रसन्नता हुई । फिर वे यह
ही महत्त्वपूर्ण बात कहने लगे ॥ ३५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे दशमः सर्गः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीनाल्मीकीनामक आगरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें दसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १० ॥

अप्राप्यारुह्य शैलानां शिखराणि महान्त्यपि ।
ऊर्ध्वमुत्पात्य तरसा प्रतिगृह्णाति वीर्यवान् ॥ ५ ॥

‘पराक्रमी बाली पर्वतोंकी चोटियोंपर चढ़कर बड़े-बड़े
शिखरोंको बलपूर्वक उठा लेता और ऊपरको ठगालकर फिर
उन्हें हाथोंमें धाम लेता है ॥ ५ ॥

बहवः सारवन्नश्च वनेषु विविधा रुपाः ।
बालिना तरसा धृष्टा बलं प्रथयताऽऽत्मनः ॥ ६ ॥

बनामें नाना प्रकारके जो बहुत-से सुंदर वृक्ष थे,
उन्हें अपने बलको प्रकट करते हुए बालीने वेगपूर्वक
ताड़ डाला है ॥ ६ ॥

महिषो दुन्दुभिनाम कैलासशिखरप्रभः ।
बले नागसहस्रस्य धारयामास वीर्यवान् ॥ ७ ॥

‘पड़लेकी बात है वहाँ एक दुन्दुभि नामका असुर रहता
था जो रीसके रूपमें दिखायी देता था वह ऊँचाईमें कैलास
पर्वतके समान जान पड़ता था । पराक्रमी दुन्दुभि अपने
शरीरमें एक हजार हाथियोंका बल रखता था ॥ ७ ॥

स वीर्योत्सेकदुष्टात्पा वरदानेन मोहितः ।
जगाम स महाकायः समुद्रं सरितो पतिम् ॥ ८ ॥

‘बलके समझमें भ्रम हुआ वह विशालकाय दुष्टात्मा
दानव अपनेको मिले हुए वरदानसे मोहित हो सरिताओंके
स्वामी समुद्रके पास गया ॥ ८ ॥

ऊर्मिमन्तपतिक्रम्य सागरं स्वसंचयम् ।
मम युद्धं प्रयच्छेति तमुवाच महार्णवम् ॥ ९ ॥

जिसमें उताल तरङ्गे उठ रही थीं तथा जो रत्नों की निधि है, उस महान् जलराशिसे परिपूर्ण समुद्रको लब्धकर - उस कुछ भी न समझकर दुन्दुभिने उसके अधिष्ठाना देवतासे कहा—‘मुझे अपने साथ युद्धकर अवसर दो’ ॥ ९ ॥

ततः समुद्रो धर्मात्मा समुत्थाय महाबलः ।
अब्रवीद् घवर्न राजत्रसुरं कालत्रोदितम् ॥ १० ॥

राजन् । उस समय महान् बलशाली धर्मात्मा समुद्र उस कालप्रसिद्ध असुरसे इस प्रकार बोला— ॥ १० ॥

समर्थो नास्मि ते दातुं युद्धं युद्धविशारद ।
श्रूयतां त्वभिधास्यामि यस्ते युद्धं प्रदास्यति ॥ ११ ॥

‘युद्धविशारद वीर । मैं तुम्हें युद्धकर अवसर देने— तुम्हारे साथ युद्ध करनेमें असमर्थ हूँ । जो तुम्हें युद्ध प्रदान करेगा, उसका नाम बतलाता हूँ, सुनो ॥ ११ ॥

शैलराजो महारण्ये तपस्विशरणं परम् ।
शंकरश्चक्षुरो नाम्ना हिमवानिति स्मिन्नुतः ॥ १२ ॥

महाप्रसन्नवणोपेतो बहुकुन्दरनिर्झरः ।
स समर्थस्तव प्रीतिमतुला कर्तुमर्हति ॥ १३ ॥

‘विशाल वनमें जो पर्वतोंका राजा और भगवान् शंकरका श्वशुर है, तपस्वी जनोंका सबसे बड़ा आश्रय और संसारमें हिमवान् नामसे विख्यात है, जहाँसे जल्दके बड़े बड़े रसोत प्रकट हुए हैं । तथा जहाँ बहुत-सी कुन्दराएँ और झरने हैं, वह गिरिराज हिमालय तो तुम्हारे साथ युद्ध करनेमें समर्थ है । यह तुम्हें अनुगम प्रीति प्रदान कर सकता है ॥ १२-१३ ॥

तं भीतमिति विज्ञाय समुद्रमसुरोत्तमः ।
हिमवद्वनमागम्य शरश्वारादिव च्युतः ॥ १४ ॥

ततस्तस्य गिरेः श्वेता गजेन्द्रप्रतिभाः शिखाः ।
विक्षेप बहुया धूमौ दुन्दुभिर्विननाद च ॥ १५ ॥

‘यह सुनकर असुरशिरोमणि दुन्दुभि समुद्रको डरा हुआ नाम शून्यसे छूटे हुए नाम से भीत हुए हिमालयके वनमें जा पहुँचा और उस गर्वितकी गजराजाके समान विशाल शर शिखाओंको झालेदार धूमिल फेंकने और गजना फड़ने लगा ॥ १४-१५ ॥

ततः श्वेताम्बुदाकारः सौम्यः प्रीतिकराकृतिः ।
हिमवानब्रवीद् वाक्यं ख एव शिखरे स्थितः ॥ १६ ॥

‘तब श्वेत वादस्के समान आकार धारण किये सौम्य स्वभाववाले हिमवान् वहाँ प्रकट हुए । उनकी आकृति प्रसन्नताकी बहानवाली थी । वे अपने ही शिखरपर खड़े होकर बोले— ॥ १६ ॥

हेष्टुमर्हसि मां न त्वं दुन्दुभे धर्मवत्सल ।
रणधर्मस्वकुशलस्तपस्विशरणो हाहम् ॥ १७ ॥

‘धर्मवत्सल दुन्दुभे ! तुम मुझे केश न दो । मैं युद्ध-

धर्ममें कुशल नहीं हूँ । मैं तो केवल तपस्वी जनोंका निवासस्थान हूँ ॥ १७ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा गिरिराजस्य धीमतः ।
उवाच दुन्दुभिर्वाक्यं क्रोधात् संरक्तलोचनः ॥ १८ ॥

‘श्रुतिमान् गिरिराज हिमालयकी यह बात सुनकर दुन्दुभिके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये और वह इस प्रकार बोला— ॥ १८ ॥

यदि युद्धेऽसमर्थस्त्वं मद्भयाद् वा निरुद्यमः ।
तमाचक्ष्व प्रदद्यान्मे यो हि युद्धं पुयुत्सतः ॥ १९ ॥

‘यदि तुम युद्ध करनेमें असमर्थ हो अथवा मेरे भयसे ही युद्धकी चेष्टामें विरत हो गये हो तो मुझे उस वीरका नाम बताओ, जो युद्धकी इच्छा रखनेवाले मुझको अपने साथ युद्ध करनेकर अवसर दे’ ॥ १९ ॥

हिमवानब्रवीद् वाक्यं श्रुत्वा वाक्यविशारदः ।
अनुक्तपूर्वं धर्मात्मा क्रोधात् तपसुरोत्तमम् ॥ २० ॥

‘उसकी यह बात सुनकर बातचातमें कुशल धर्मात्मा हिमवान्ने श्रेष्ठ असुरसे, जिसके लिये पहले किसीने किसी प्रतिद्वन्द्वी योद्धाका नाम नहीं बतया था, क्रोधपूर्वक कहा— ॥ २० ॥

वाली नाम महाप्राज्ञ शक्रपुत्रः प्रनापवान् ।
अध्यास्ते वानरः श्रीमान् किष्किन्ध्यामतुलप्रभाम् ॥ २१ ॥

‘महाप्राज्ञ दानवराज ! वाली नामसे प्रसिद्ध एक परम तेजस्वी और प्रतापी वानर हैं, जो देवराज इन्द्रके पुत्र हैं और अनुपम शोभासे पूर्ण किष्किन्ध्या नामक पुरीमें निवास करने हैं ॥ २१ ॥

स समर्थो महाप्राज्ञस्तव युद्धविशारदः ।
द्वन्द्वयुद्धं स दातुं ते नमुचेरिव वासवः ॥ २२ ॥

‘वे बड़े बुद्धिमान् और युद्धकी कलामें निपुण हैं । वे ही तुमसे जूझना समर्थ हैं । जैसे इन्द्रने नमुचिके युद्धका अवसर दिया था, उसी प्रकार वाली तुम्हें द्वन्द्वयुद्ध प्रदान कर सकते हैं ॥ २२ ॥

तं शीघ्रमाभिगच्छ त्वं यदि युद्धमिहेच्छसि ।
स हि दुर्मर्षणो नित्यं शूरः समरकर्मणि ॥ २३ ॥

‘यदि तुम यहाँ युद्ध चाहते हो तो शीघ्र चले जाओ, क्योंकि वालीके लिये किसी शत्रुकी लालचारीकी मह सकना आहुत कठिन है । वे युद्धकर्ममें मदा शूरता प्रकट करनेवाले हैं’ ॥ २३ ॥

श्रुत्वा हिमवतो वाक्यं कोपाविष्टः स दुन्दुभिः ।
जगाम तां पुरीं तस्य किष्किन्ध्यां वालिनस्तदा ॥ २४ ॥

‘हिमवान्की बात सुनकर क्रोधसे भर हुआ दुन्दुभि तत्काल वालीकी किष्किन्ध्यापुरीमें जा पहुँचा ॥ २४ ॥

धारयन् माहिषं रूपं तीक्ष्णपृष्ठो भयावहः ।
प्रावृषीव महामेघस्तोयपूर्णो नभस्तले ॥ २५ ॥

‘उसने भैसेका-स्त रूप धारण कर रखा था । उसके सींग बड़े ताँसे थे । वह बड़ा भयंकर था और वर्षाकालके

आकाशमे छाये हुए जलसे भरे महान् मेघक समान जान पड़ता था ॥ २५ ॥

ततस्तु द्वारमागम्य किष्किन्धाया महाबलः ।

ननर्द कम्पयन् भूमिं दुन्दुभिर्दुन्दुभिर्यथा ॥ २६ ॥

'यह महाबली दुन्दुभि किष्किन्धापुराक द्वारपर आकर भूमिको काँगाता हुआ जोर-जोरसे गजना करने लगा मानों दुन्दुभिका गम्भीर नाद हो रहा हो ॥ २६ ॥

सभीषणान् हुमान् भङ्गान् वसुधां वारयन् खुरैः ।

जिषाणेनोत्थितस्त्वनं दर्पान् तद्वहारे द्विन्दो यथा ॥ २७ ॥

'यह आसपासक वृक्षाको तोड़ता, धरतीको खुगोंसे क्षोदता और जमड़ों आकर पुरीके दरवाजोंको सींगोंसे खींचता हुआ युद्धके लिये हट गया ॥ २७ ॥

अस्मःपुगातो वाली श्रुत्वा शब्दममर्षणः ।

निधपस्त सप्त स्त्रीभिस्ताराभिर्विक्रान्द्रमा ॥ २८ ॥

'वाली ३५ समय अन्तःपुरमें था । उस दानवको गर्जन सुनकर सप्त अमात्य घर गया और ताराभि घिरे हुए चन्द्रमाकी भाँति स्त्रियोंसे घिरा हुआ नगरके बाहर निकल आया ॥

यित्ते व्यस्ताक्षरपदे तमुवाच स दुन्दुभिम् ।

हरीणाम्भीश्वरो वाली सर्वेषां चनन्नागिणाम् ॥ २९ ॥

'समस्त वनचारा जानाके राजा वालोंने वहाँ सुन्पष्ट अक्षरों तथा पदोंमें युक्त परिमित वाणीमें उस दुन्दुभिसे कहा— ॥ २९ ॥

किमर्थं नगरद्वारमिदं कृत्वा विनदं मे ।

दुन्दुभे विदितो मेऽसि रक्ष प्राणान् महाबल ॥ ३० ॥

'महाबली दुन्दुभे ! मैं तुम्हें अच्छी तरह जानता हूँ । तुम इस नगरद्वारको रोककर क्यों गरज रहे हो ? अपने प्राणोंकी रक्षा करो ॥ ३० ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा वानरेन्द्रस्य धीमतः ।

प्रवाच दुन्दुभिर्वाक्यं क्रोधात् सरत्कलोचनः ॥ ३१ ॥

'बुद्धिसाल् वानराज वालोंक यह वचन सुनकर दुन्दुभिकी भाँति आधर लाल हो गयीं । वह क्रमसे इस प्रकार बोला— ॥

न त्वं स्त्रीसंनिधौ घोर वचनं वक्तुमर्हसि ।

यय गुह्यं प्रयच्छास्य ततो ज्ञास्यामि ते बलम् ॥ ३२ ॥

'घोर ! तुम स्त्रियोंके समाप ऐसा बात नहीं कहने चाहिये । मुझे गुह्यका अवसर दो, तब मैं तुम्हारा बल समझूँगा ॥ ३२ ॥

अथवा चारायष्यामि क्रोधमद्य निशामियाम् ।

गृहातामृतघः स्त्रीरं कामभोगेषु वानर ॥ ३३ ॥

'अथवा वानर ! मैं आजकी रातमें अपने क्रोधको रोक रहेगा । तुम स्वेच्छानुसार कामभोगके लिये सूर्योदयतक समय मुझसे ले लो ॥ ३३ ॥

दीयतां सम्प्रदानं च परिश्रन्य च वानरान् ।

सर्वपाराशामुगेन्द्रस्त्वे संसादय सुहजनम् ॥ ३४ ॥

'वानरोंको हृदयसे लगाकर जिसे जो कुछ देना हो दे दो, तुम समस्त कपियोंके राजा हो न ! अपने सुहृदों

मिल लो, सलाह कर लो ॥ ३४ ॥

सुदृष्टां कुरु किष्किन्धां कुरुष्वात्मसमं पुरे ।

क्रोडस्य च समं स्त्रीभिरहं ते दर्पशासनः ॥ ३५ ॥

'किष्किन्धापुरीको अच्छी तरह देख लो ! अपने समान पुर आदिको इस नगरोंके गज्यपर अभिषिक्त कर दो और स्त्रियोंके साथ आज जीभाकर क्रोडी कर लो । इसके बाद मैं तुम्हारा समझ चूर कर दूँगा ॥ ३५ ॥

यो हि मम प्रमत्तं वा भयं वा रहितं कृशम् ।

हन्यात् स भ्रूणहा लोके त्वद्विधं मदमोहितम् ॥ ३६ ॥

जो मधुपानसे मत्त, प्रमत्त (असावधान), युद्धमें भरो हुए, अस्मरहित दुर्बल तुम्हारे-जैसे स्त्रियोंसे घिरे हुए तथा मदमोहित पुरुषका बध करना है वह जगत्में गर्भ-हत्याक कहा जाता है ॥ ३६ ॥

स ग्रहस्थात्रवीन्धर्दं क्रोधात् तमसुरेश्वरम् ।

विसृज्य ताः स्त्रियः सर्वास्ताराप्रभृतिकास्तदा ॥ ३७ ॥

'यह सुनकर वाली मन्द-मन्द मुसकराकर उन तारा आदि सब स्त्रियोंको दूर हटा उस असुरराजसे क्रोधपूर्वक बोला—

मत्तोऽयमिति मा मस्या यद्यभीतोऽसि संयुगे ।

मदोऽयं सम्प्रहारेऽस्मिन् वीरपानं समर्थ्यताम् ॥ ३८ ॥

'यदि तुम युद्धके लिये निर्भय होकर खड़े हो तो यह न समझो कि यह वाली मधु पीकर मत्तवाला हो गया है । मैं इस मदको तुम युद्धस्थलमें उत्साहवृद्धिके लिये वीरोंद्वारा किया जानेवाला औषधविशेषक पान समझो ॥ ३८ ॥

तमेवमुक्त्वा सकृद्धो मालामुत्क्षिप्य काञ्चनीम् ।

पित्रा क्तां महेन्द्रेण युद्धाय व्यवतिष्ठत ॥ ३९ ॥

'उससे ऐसा कहकर पिता इन्द्रकी दी हुई विजयदायिनी सुवर्णमालाको गर्लमें डालकर वाली कुपित हो युद्धके लिये खड़ा हो गया ॥ ३९ ॥

विषाणयोर्गृहीत्वा तं दुन्दुभिं गिरिसंनिधम् ।

आविध्यत तथा वाली विनदन् कपिकुञ्जरः ॥ ४० ॥

'कपिश्रेष्ठ वालोंने पर्वताकार दुन्दुभिके दोनों सींग पकड़कर उस समय गर्जना करने हुए उस वार-वार घुमाया ।

बलाद् व्यापादयाञ्चकं ननर्द च महास्वनम् ।

श्रोत्राध्यामथ रक्तं तु तस्य सुत्वाव पात्यतः ॥ ४१ ॥

'फिर बलपूर्वक उसे घसीटते दे मारा और लड़े जोरसे मिड़नाद किया । पृथ्वीपर गिराये जाने समय उसके दोनों कानोंसे खूनको धाराएँ बहने लगीं ॥ ४१ ॥

तयोस्तु क्रोधसंरम्भात् परस्परजय्यपिणोः ।

युद्धं समभवद् घोरं दुन्दुभेर्वालिनस्तथा ॥ ४२ ॥

'क्रोधके आवेशसे युक्त हो एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छावाले उन दोनों दुन्दुभि और वालीमें घोर युद्ध होने लगा ।

अयुध्यत तदा वाली शक्रतुल्यधराक्रमः ।

मुष्टिभिर्जानुभिः पट्टिः शिलाभिः पादपैस्तथा ॥ ४३ ॥

‘उस समय इन्द्रके तुल्य पराक्रमी वालों दुन्दुभिपर मुकों, लातों, धुटनों, शिखरों तथा वृक्षोंसे प्रहार करने लगा ॥

परस्परं घ्नतोस्तत्र वानरासुरयोस्तदा ।

आसीद्धीनोऽसुरो युद्धे शक्रसुनुर्व्यवर्धन ॥ ४४ ॥

‘उस युद्धस्थलमें परस्पर प्रहार करते हुए वानर और असुर दोनों योद्धाओंमें असुरकी शक्ति तो घटने लगी और इन्द्रकुमार बालीका बल बढ़ने लगा ॥ ४४ ॥

तं तु कुन्दुभिमुद्यम्य धरण्यापभ्यपातयत् ।

युद्धे प्राणाहरे तात्पर्यान्निष्ठो दुन्दुभिस्तादा ॥ ४५ ॥

‘उन दोनोंमें यहाँ प्राणान्तकारी युद्ध छिड़ गया । उस समय वान्सीने दुन्दुभिको तडाकर पृथ्वीपर दे मारा, साथ ही अपने शरीरमें उगका दवा दिया जिसमें दुन्दुभिस मिस गया ।

स्त्रोतोभ्यो बहु रक्तं तु तस्य सुस्त्राव पातयतः ।

धपात च महाच्छाह, क्षितौ पञ्चत्वमागतः ॥ ४६ ॥

‘गिरते समय उसके शरीरके सम्पन्न छिटांस बहुत-सा रक्त बहने लगा । वह महाच्छाह असुर पृथ्वीपर गिरा और मर गया ॥ ४६ ॥

तं तौलयित्वा बाहुभ्यो गतसत्त्वमचेतनम् ।

चिक्षेप वेगवान् बाली वेगेनैकेन योजनम् ॥ ४७ ॥

‘जब उसके प्राण निकल गये और चेतना लुप्त हो गयी, तब वेगवान् बालीने उसे दोनों हाथोंमें उठाकर एक साधारण वेगसे एक योजन दूर फेंक दिया ॥ ४७ ॥

तस्य वेगप्रविद्धस्य वक्त्रान् क्षतजखिन्नवः ।

प्रपेन्नास्ततोत्क्षिप्त्वा मत्तङ्गस्याश्रयं प्रति ॥ ४८ ॥

‘वेगपूर्वक फेंक गया तब असुरके मुखमें निकले रुई रक्तकी बहुत-सी धीरे हवाके साथ तड़कर मत्तगर्भनिक आश्रममें पड़ गयी ॥ ४८ ॥

तान् वृष्टा पतितान्स्तर भुनिः शोणितविभ्रुवः ।

सुहृत्स्यस्य महाभाग छिन्नपामास को न्ययम् ॥ ४९ ॥

‘महाभाग । वहाँ पड़े हुए तब रक्त-चिन्दुओंका देखकर मत्तगर्भन वृषित हो उठे और इस विचारमें पड़ गये कि यह कौन है, जो यहाँ रखेके छूटे ढाल गया है ? ॥ ४९ ॥

येनाहं सहसा स्पृष्टः शोणितेन दुरात्मना ।

कोऽयं दुरात्मा दुर्बुद्धिरकृतात्मा च बालिशः ॥ ५० ॥

‘जिस लुप्त सहाया में शरीरमें रक्तका स्पर्श करा दिया, यह दुरात्मा दुर्बुद्ध, अजितकाम और गुलब कौन है ? ॥ ५० ॥

इत्युक्त्वा स चिनिष्कम्य दृष्टो भुनिसत्तमः ।

महिषं पर्वताकारं गतासु पतित भुनिः ॥ ५१ ॥

‘ऐसा कहकर भुनिकर मत्तगर्भने बाहर निकलकर देखा तो उन्हें एक पर्वतानुसार भेसा पृथ्वीपर प्राणहीन होकर पड़ा दिवायी दिया ॥ ५१ ॥

स तु विज्ञाय तपसा वानरेण कृते हि तत् ।

वत्ससर्ज महाशयं क्षेपारं वानरं प्रति ॥ ५२ ॥

‘उन्होंने अपने तपोबलसे यह जान लिया कि यह एक वानरकी कर्मन है । अब उस लाशको फेंकनेवाले वानरके प्रति उन्होंने बड़ा भारी शाप दिया— ॥ ५२ ॥

इह तेनाप्रवेष्टव्यं प्रविष्टस्य वधो भवेत् ।

वने पत्संश्रयं येन दूषितं रुधिरस्त्रयैः ॥ ५३ ॥

‘जिसने लुप्तके छूटे ढालकर मेरे निवासस्थान इस वनको अपवित्र कर दिया है, वह आजमें इस वनमें प्रवेश न करे । यदि इसमें प्रवेश करेगा तो उसका वध हो जायगा ॥ ५३ ॥

क्षिपता घादपाश्र्वे सध्वप्राश्चासुरीं तनुम् ।

समन्तादाश्रयं पूर्णं योजनं मामकं यदि ॥ ५४ ॥

आगमिष्यति दुर्बुद्धिर्यत् स न भविष्यति ।

इस असुरके शरीरको इधर फेंककर जिसने इन वृक्षोंको नाड डाला है, वह दुर्बुद्ध यदि मेरे आश्रमके चारों ओर पूरे एक योजनतकको भूमिमें फै रखेगा तो अवश्य ही अपन प्राणोंसे हाथ धो बैठेगा ॥ ५४ ॥

ये चास्य सचिवाः केचित् सश्रिता मामकं वनम् ॥ ५५ ॥

न च तैर्हि वस्तव्यं श्रुत्वा यान्तु यथासुखम् ।

नेऽपि वा यदि तिष्ठन्ति शपिष्ये तानपि ध्रुवम् ॥ ५६ ॥

‘उस बालीके ओ कोई सचिव भी मेरे इस वनमें रहते हों, उन्हें अब यहाँकर निवास त्याग देना चाहिये । वे मेरी आज्ञा सुनकर सुखपूर्वक वहाँसे चले जायें । यदि वे रहेगे तो उन्हें भी निश्चय ही शाप दे दूँगा ॥ ५५-५६ ॥

वनेऽस्मिन् मामके नित्यं पुत्रवत् परिरक्षिते ।

पन्नाहुरविनाशाय फलमूलाभवाय च ॥ ५७ ॥

‘मैंने अपने इस वनकी सदा पुत्रकी भाँति रक्षा की है । जो हमके पुत्र और अहूँकी विनाश तथा फल-मूलका अधाव करनेके लिये यहाँ रहेंगे, वे अवश्य शापके भागी होंगे ॥ ५७ ॥

दिवसश्चाद्य मयांदा यं दृष्टा शोऽस्मि वानरम् ।

बहुवधंसहस्राणि स वै शूलो भविष्यति ॥ ५८ ॥

‘आजकर दिन तब सबके आने-जाने या रहनेकी अन्तिम अवधि है—आजभरके लिये मैं उन सबको छुट्टी देता हूँ, कल्पमें जो कोई वानर यहाँ मेरी दृष्टिमें पड़ जायगा, वह कई हजार वर्षके लिये पत्थर हो जायगा ॥ ५८ ॥

ततस्तं वानराः श्रुत्वा गिरं भुनिसमीरिताम् ।

निश्चक्रमुर्वनात् तस्मात् तान् दृष्ट्वा बालिरब्रवीत् ॥ ५९ ॥

‘भुनिके इन वचनको सुनकर वे सभी वानर मत्तगर्भनसे निकल गये । उन्हें देखकर बालीने पूछा— ॥ ५९ ॥

किं भवन्तः समस्ताश्च मत्तङ्गवनवासिनः ।

मत्समीपमनुग्राप्ता अपि स्वस्ति वनीकसाम् ॥ ६० ॥

‘मत्तगर्भनमें निवास करनेवाले आप सभी वानर मेरे पास क्यों चले आये ? वनवासियोंका कुशल तो है न ? ॥ ६० ॥

ततस्ते कार्पां सर्वं तथा शापं च बालिनः ।

शशंमुवांनराः सर्वे बालिने हेममालिने ॥ ६१ ॥

तव उन सभी वानरोंने सुवर्णमालाधारी बालीसे अपने
आनेका सब कारण बताया तथा जो बालीको शाप हुआ था,
उसे भी कह सुनया ॥ ६१ ॥

एतच्छ्रुत्वा तदा बाली वचनं वानरेणितम् ।
स महर्षिं समासाद्य याचते स्म कृताञ्जलिः ॥ ६२ ॥

‘वानरोंकी कही हुई यह बात सुनकर बाली महर्षि मतंगके
पास गया और हाथ जोड़कर क्षमा-याचना करने लगा ॥ ६२ ॥

महर्षिस्तमनादृत्य प्रसियेशाश्रमं प्रति ।
शापधारणाभीतस्तु बाली विह्वलतां गतः ॥ ६३ ॥

किंतु महर्षिने उसका आदर नहीं किया । वे चुपचाप
अपने आश्रममें चले गए । इधर बाली शाप प्राप्त होतम
भयभीत हो बहुत ही व्याकुल हो गया ॥ ६३ ॥

ततः शापभयाद् भीतो ब्रह्मभूकं महागिरिम् ।
प्रवेष्टुं नेच्छति हरिर्ग्रष्टुं चापि नरेश्वर ॥ ६४ ॥

‘नरेश्वर ! तबसे उस पापके भयसे डरा हुआ बाली इस
गहान् पर्वत ब्रह्मभूकके स्थानमें न तो कभी प्रवेश करना
चाहता है और न इस पर्वतको देखना ही चाहता है ॥ ६४ ॥

तस्याप्रवेशं ज्ञात्वाहमिदं राम महावनम् ।
विचरामि सहामात्यो विधादेन विवर्जितः ॥ ६५ ॥

‘श्रीराम ! यहाँ उसका प्रवेश होना असम्भव है यह
जानकर मैं अपने बान्धवोंके साथ इस महान् वनमें विचर-
तुन्य होकर विचरता हूँ ॥ ६५ ॥

एतोऽस्मिन्नियसस्य दुग्धधेः सम्प्रकाशने ।
सौर्योत्सेकाग्निस्तम्य गिरिकूटनिभां महान् ॥ ६६ ॥

‘यह रात दुग्धभक्त हाँदुधोका डर, जो एक महान्
पर्वतगिराके समान जग पड़ता है । बालीने अपने
बलवत्त बगलमें आकर दुग्धभक्त शीतलके इतनी दूर
फेंका था ॥ ६६ ॥

इयं च विपुलाः सालाः सप्त शाखावलम्बिनः ।
धर्मेकं घटतं बाली निष्प्रयिनुरागजसा ॥ ६७ ॥

‘ये सात सालाक विनाल एव घाटे वृक्ष हैं, जो अनेक
उत्तम शाखाओंसे सुशोभित होते हैं । बाली इनमेंसे एक-
एकको बलपूर्वक हिलाकर पत्रजान कर सकता है ॥ ६७ ॥

एतदस्यास्य चोद्यं सदा राम प्रकाशितम् ।
कथं स बालिनं हन्तुं समरे दक्ष्यसे नृप ॥ ६८ ॥

‘श्रीराम ! यह मैंने बालीके अन्तर्गम पराक्रमको प्रकाशित
किया है । नरेश्वर ! आप उसे बालीको समस्तक्षणमें कैसे
मारा सबेजे’ ॥ ६८ ॥

मथा ब्रुवाणं सुग्रीवं प्रहसन्लक्ष्मणोऽब्रवीत् ।
कास्मिन् कर्मणि निर्वृते श्रद्धया बालिनो वधम् ॥ ६९ ॥

सुग्रीवने ऐसा कहनपर लक्ष्मणको बोली हैंमों आयी । वे
मंसते हुए ही बाली—‘कौन-सा काम कर देनेपर तुम्हें विश्वास
लागा कि श्रीरामचन्द्रजी बालीका वध कर सकेंगे’ ॥ ६९ ॥

तमुवाचाथ सुग्रीवः सप्त सालानिमान् पुरा ।
एवमेकैकशो बालीं विव्याधाथ स चामकृत् ॥ ७० ॥

गमो निर्दारयेदेषां बाणेनैकेन च हृषम् ।
बालिनं निहनं मन्ये नृप राघवस्य विक्रमम् ॥ ७१ ॥

तब सुग्रीवने उनसे कहा— ‘पूर्वकालमें बालीने सालाके
इन सातों वृक्षोंको एक एक करके कई बार बाँध डाला है
अन श्रीरामचन्द्रजी भी यदि इनमेंसे किसी एक वृक्षको एक
ही बाणसे छेद डालेंगे तो इनका पराक्रम देखकर मुझे
बालीके बारे जानकर विश्वास हो जायगा ॥ ७०-७१ ॥

हतस्य महिव्यास्थि पादेनैकेन लक्षणम् ।
उद्यम्य प्रक्षिपेद्यापि तरसा ते धनुःशते ॥ ७२ ॥

लक्ष्मण ! यदि इस महिवरूपधारी दुग्धधिकी हड्डीको
एक ही पैरमें उड़ाकर बलपूर्वक दो सौ धनुषकी दूरीपर फेंक
सके तो भी मैं यह मान लूँगा कि इनके हाथमें बालीका वध
हो सकता है’ ॥ ७२ ॥

एवमुक्त्वा तु सुग्रीवो रामं स्तान्तलोचनम् ।
ध्यात्वा मुहूर्तं काकुत्स्थं पुनरेव वचोऽब्रवीत् ॥ ७३ ॥

जिनके नेत्रशान्त कुछ-कुछ लाल थे, उन श्रीरामसे
ऐसा कहकर सुग्रीव दो घड़ीतक कुछ सोच-विचारमें
पड़े रहे । इसके बाद वे ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामसे
फिर बोले— ॥ ७३ ॥

शूरश्च शूर्यानी च प्रख्यातबलपौरुषः ।
बलवान् वानरो बाली संयुगेषुपराजितः ॥ ७४ ॥

बाली शूर है और स्वयं भी उसे अपने शौर्यपर अधिमान
है । उसके बल और पुरुषार्थ विख्यात हैं, वह बलवान् वानर
भवतकके युद्धोंमें कभी पराजित नहीं हुआ है ॥ ७४ ॥

दृश्यन्ते सास्य कर्माणि दुष्कराणि सुरैरपि ।
यानि संविन्य भीतोऽहमृष्यभूकमुपाश्रितः ॥ ७५ ॥

‘इसके ऐसे-ऐसे कर्म देखे जाते हैं, जो देवताओंके लिये
दुष्कर हैं और जिनका चिन्तन करके भयभीत हो मैंने इस
ब्रह्मभूक पर्वतको शरण ली है ॥ ७५ ॥

तपजय्यमधृष्यं च वानरेन्द्रममर्षणम् ।
विचिन्तयन्न मुञ्चापि ब्रह्मभूकममुं त्वहम् ॥ ७६ ॥

वानरगज बालीको जीतना दूसरोंके लिये असम्भव है
उसपर आक्रमण अथवा उसका निरस्कार भी नहीं किया जा
सकता वह शत्रुकी ललकारको यहाँ सह सकता । जब मैं
उन्के प्रभावका चिन्तन करता हूँ, तब इस ब्रह्मभूक पर्वतको
एक क्षणके लिये भी छोड़ नहीं पाता हूँ ॥ ७६ ॥

उद्विग्नः शङ्कितश्चाहं विचरामि महावने ।
अनुरक्तः महाभार्यहनुमत्प्रमुखैर्वरैः ॥ ७७ ॥

‘ये हनुमान् आदि मेरे श्रेष्ठ सचिव मुझमें अनुराग
रखनेवाले हैं । इनके साथ रहकर भी मैं इस विशाल वनमें
बालीसे उद्विग्न और शङ्कित होकर ही विचरता हूँ ॥ ७७ ॥

उपलब्धं च मे इलाध्यं सन्निधे मित्रवत्सल ।

त्वापहं पुरुषव्याघ्र हियवन्तमिवाश्रितः ॥ ७८ ॥

‘मित्रवत्सल आप मुझे परम स्पर्शनीय श्रेष्ठ मित्र मिल गये हैं। पुरुषसिंह। आप मेरे लिये हिमालयके समान हैं और मैं आपका आश्रय ले चुका हूँ। (इमलिये अब मुझे मित्रिय हो जाना चाहिये) ॥ ७८ ॥

किं तु तस्य बलशोऽहं दुर्भर्तुर्बलशालिनः ।

अप्रत्यक्षं तु मे वीर्यं समरे तव राघव ॥ ७९ ॥

‘नितु रघुनन्दन। मैं इस बलशाली दुष्ट भातके बल-पराक्रमको जानता हूँ और समरभूमिमें आपका पराक्रम मैंने प्रत्यक्ष नहीं देखा है ॥ ७९ ॥

न शक्यते त्वां तुल्ये नात्मन्ये न भीमये ।

कर्मोन्मत्तस्य भीमश्च कान्त्यै जनितं मम ॥ ८० ॥

‘प्रणो। अवश्य ही मैं तालीमें आपको तुल्य नहीं करता हूँ। न तो क्षाणको हराता हूँ और न आपको क्षामान ही करता हूँ। क्योंकि गगनरु कर्मणि हो में हृदयमें कायरता उत्पन्न कर दी है ॥ ८० ॥

कामं राघव ते वाणी प्रयाणं धर्ममाकृतिः ।

सूत्रयस्ति परं तेजो धर्मच्छत्रमिवानलम् ॥ ८१ ॥

‘रघुनन्दन। निश्चय ही आपका वाणी मेरे लिये प्रमाण-भूत है—विश्वसनीय है, क्योंकि आपका धर्म और आपकी यह दिव्य आधुनिक आदि गुण राखसे ठीक मुझे आपकी समान भावक उद्भूत तेजको सूचन कर रहे हैं ॥ ८१ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा सुग्रीवस्य महातमः ।

रिमन्पूषाणो रामः प्रत्युवाच हरिं प्रति ॥ ८२ ॥

‘राधाया समीपकी यह बात सुनकर महाबान् श्रीराम पहल तो पस-कराये फिर उगे वानरकी बालका उतर गये हुए उससे बोले— ॥ ८२ ॥

यदि न प्रत्ययोऽस्मात्सु विजये तव वानर ।

प्रत्ययं समरे इलाध्यमहगुत्यादयाभि ते ॥ ८३ ॥

‘वामर। यदि तुम्हें इस समय पराक्रमके विषयमें हम लोगोंपर विश्वास नहीं जाता तो युद्धमें समय हम तुम्हें उसका उत्तम विधान करा देंगे ॥ ८३ ॥

एवमुक्त्वा तु सुग्रीवं सान्त्वयित्वा लक्ष्मणाग्रजः ।

राघवो दुन्दुभेः कार्यं पादाङ्गुष्ठेन लीलया ॥ ८४ ॥

तोलयित्वा महाबाहुर्लक्ष्मण दशपोदनम् ।

असुरस्य तनुं शुष्कां पादाङ्गुष्ठेन वीर्यवान् ॥ ८५ ॥

ऐसा कहकर सुग्रीवकी मानवता देते हुए लक्ष्मणके बड़े हाथ महाबाहु बलवान् श्रीरघुनाथजीने बलकाइमें ही दुन्दुभिके शरीरको अपने पैरके अंगुठसे रोंग लिया और उस असुरके इस मुखे हुए कङ्कालको पैरके अंगुठसे ही दम योजन दूर फेंक दिया ॥ ८४-८५ ॥

क्षिप्तं दृष्ट्वा ततः कार्यं सुग्रीवः पुनरब्रवीत् ।

लक्ष्मणस्याग्रतो रामं तपन्तमिव भास्करम् ।

हरीणामग्रतो वीरमिदं वचनमर्थवत् ॥ ८६ ॥

उसके शरीरको फेंका गया देख सुग्रीवने लक्ष्मण और वानरोंके सामने हो तपते हुए सूर्यके समान तेजस्वी वीर श्रीरामचन्द्रजीसे पुनः यह अर्थभरी बात कही— ॥ ८६ ॥

आर्द्रः समांसः प्रत्यग्रः क्षिप्तः कायः पुरा सखे ।

परिजानेन मतेन भ्रात्रा मे घालिना तदा ॥ ८७ ॥

‘सखे। मेरा भाई वाला उस समय मदमत्त और युद्धसे थका हुआ था और दुन्दुभिका यह शरीर खूनसे गीला हुआ, मांसयुक्त तथा नया था। इस दृशमें उसने इस शरीरको पूर्वकालमें दूर फेंका था ॥ ८७ ॥

लघुः सम्प्रति निर्मासस्तृणभूतश्च राघव ।

क्षिप्त एवं प्रहर्षेण भवता रघुनन्दन ॥ ८८ ॥

‘परतु रघुनन्दन। इस समय यह मांसहीन होनेके कारण तिनकेके समान हल्का हो गया है और आपने हर्ष एवं उत्साहसे युक्त होकर इसे फेंका है ॥ ८८ ॥

नात्र शक्यं बलं ज्ञातुं तव वा तस्य घाधिकम् ।

आर्द्रं शुष्कमिति ह्येनत् सुमहद् राघवान्तरम् ॥ ८९ ॥

अतः श्रीराम। इस स्पर्शको फेंकनेपर भी यह नहीं जाना जा सकता कि आपका बल अधिक है या उसका, क्योंकि वह गीला था और यह सूखा यह इन दोनों अवस्थाओंमें महान् अन्तर है ॥ ८९ ॥

स एव सशयस्तात तव तस्य च यद्बलम् ।

सालमेकं विनिर्धिय भवेद् व्यक्तिर्वलाबले ॥ ९० ॥

‘तान। आपके और उसके बलमें वही संशय अवतक बना रह गया अब इस एक सालवृक्षको विदीर्ण कर देने-पर दोनोंके बलाबलका स्पष्टीकरण हो जायगा ॥ ९० ॥

कृत्वन्तं कार्मुकं सज्यं हस्तिहस्तमिवाततम् ।

आकर्णपूर्णपायस्य विसृजस्व महाशरम् ॥ ९१ ॥

आपका यह धनुष हाथोंको फैलो हुई सैङ्कके समान विशाल है। आप इसपर प्रत्यक्षा चढ़ाइये और इसे काननक खींचकर सालवृक्षको लक्ष्य करके एक विशाल बाण छोड़िये ॥ ९१ ॥

इमे हि सालं प्रहितस्त्वया शरो

न संशयोऽप्राप्ति विदारयिष्यति ।

अलं विमर्शेन मम प्रियं ध्रुव

कुरुष्व राजन् प्रतिशापितो मया ॥ ९२ ॥

‘उममें संदेह नहीं कि आपका छोड़ा हुआ बाण इस सालवृक्षको विदीर्ण कर देगा। राजन्! अब विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है। मैं अपनी शपथ दितकर कहता हूँ, आप मेरा यह प्रिय कार्य अवश्य कीजिये ॥ ९२ ॥

यथा हि तेजःसु वरः सदारवि-

र्यथा हि शैलो हिमवान् महाद्रिषु ।

यथा चतुष्पात्सु च केसरी वर-

स्तथा नराणामसि विक्रमे वरः ॥ १३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे एकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीवाम्नीकिनिर्मित आरण्यमायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें प्यारहवां सर्ग पूरा हुआ ॥ ११ ॥

द्वादशः सर्गः

श्रीरामके द्वारा सात साल-वृक्षोंका भेदन, श्रीरामकी आज्ञासे सुग्रीवका किष्किन्धामें आकर वालोंको ललकारना और युद्धमें उससे पराजित होकर मतंगवनमें भाग जाना, वहाँ श्रीरामका उन्हें आश्वासन देना और गलेमें पहचानके लिये राजपुष्पीलता डालकर उन्हें पुनः युद्धके लिये भेजना

एतच्च वचनं श्रुत्वा सुग्रीवस्य सुभाषितम् ।

प्रापपाश्वं महामेजा रामो जग्राह कार्मुकम् ॥ १ ॥

सुग्रीवके सुन्दर ढंगसे कहे हुए इस वचनको सुनकर महामेजाश्री श्रीरामने उन्हें विश्वास दिखानेके लिये धनुष हाथमें लिया ॥ १ ॥

स गृहीत्वा धनुर्घोरे शरमेकं च भानदः ।

सालपुद्गिर्य चिक्षेप पूरयन् स रवेर्दिशः ॥ २ ॥

दुसरांको मान देनेवाले श्रीरघुनाथजीने वह भयंकर धनुष और एक बाण लेकर धनुस्की टेंकारसे सम्पूर्ण दिशतोंको गूँजाते हुए उस बाणको सालवृक्षों और छोड़ दिया ॥ २ ॥

स विसृष्टो घलवता बाणः स्वर्णपरिष्कृतः ।

भिन्ना सालान् गिरिप्रस्थ सप्तभूमिं विवेश ह ॥ ३ ॥

उन घलवान् घीरशिरोमणिके द्वारा छेड़ा गया वह सुनर्णभूषित बाण उन सात सालवृक्षोंको एक ही साथ नीचेकर पर्वत तथा पृथ्वीके माता तलाकों छेदता हुआ जगहमें गिर गया ॥ ३ ॥

साधकस्तु मुहूर्तेन सालान् भित्त्वा महाजवः ।

निधत्य च पुनस्तूणं तमेव प्रविवेश ह ॥ ४ ॥

इस प्रकार एक ही मुहूर्तमें उन सबका भेदन करके वह महान् वीरशाली बाण पुनः वहाँसे निकलकर उनके तबकसमें ही प्रविष्ट हो गया ॥ ४ ॥

तान् दुष्टा सप्त निर्भिन्नान् सालान् वानरपुङ्गवः ।

रामस्य शरवंगेन विस्मर्य धरयं गतः ॥ ५ ॥

श्रीरामके बाणके वगसे उन सात सालवृक्षोंको बिदीर्ण हुआ देख वानरशिरोमणि सुग्रीवको बड़ा निश्चय हुआ ॥ ५ ॥

स मूर्धा न्यपतद् भूमौ प्रलम्बीकृतभूषणः ।

सुग्रीवः परमप्रीतो राघवाय कृताञ्जलिः ॥ ६ ॥

साथ ही उन्हें मन-ही-मन बड़ी प्रसन्नता हुई। सुग्रीवने हाथ जोड़कर धरतीपर भाग्य देक दिया और श्रीरघुनाथजीका साष्टाङ्ग प्रणाम किया। प्रणामके लिये झुकते समय उनका

जैसे सम्पूर्ण तेजोंमें सदा सूर्यदेव ही श्रेष्ठ है, जैसे बड़े-बड़े पर्वतोंमें गिरिगज हिमवान् श्रेष्ठ है और जैसे चौपायोंमें सिंह श्रेष्ठ है उसी प्रकार परक्रमके विषयमें सब मनुष्योंमें आप ही श्रेष्ठ हैं ॥ १३ ॥

कण्ठहाण्ड भूषण रुटकते हुए दिखायी देते थे ॥ ६ ॥

इदं श्लोकाच्च धर्मज्ञं कर्मणा तेन हर्षितः ।

रामं सर्वास्त्रविदुषां श्रेष्ठं शूरमवस्थितम् ॥ ७ ॥

श्रीरामके उस महान् कर्मसे अत्यन्त प्रसन्न हो उन्होंने आपने खड़े हुए सम्पूर्ण अस्त्र-वनाओंमें श्रेष्ठ धर्मज्ञ, शूरवीर श्रीरामचन्द्रजीसे इस प्रकार कहा— ॥ ७ ॥

सेन्नानपि सुरान् सर्वास्त्रं बाणैः पुरुषध्वजः ।

समर्थः समरे हन्तुं किं पुनर्वीर्यं प्रभो ॥ ८ ॥

‘पुरुषप्रवर ! भगवन् ! आप तो अपने बाणोंसे समराङ्गणमें इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंका वध भी करनेमें समर्थ हैं, फिर वालोंको मारना आपके लिये कौन बड़ी बात है ? ॥ ८ ॥

येन सप्त महामाला गिरिभूमिश्च दारिताः ।

बाणैर्नैकेन काकुत्स्थ स्थाता ते को रणाग्रतः ॥ ९ ॥

‘काकुत्स्थ ! जिन्होंने सात बड़े-बड़े सालवृक्ष, पर्वत और पृथ्वीका भी एक ही बाणसे बिदीर्ण कर डाला, उनका आपके सम्क्ष युद्धक मुहानेपर कौन ठहर सकता है ॥ ९ ॥

अद्य मे विगतः शोकः प्रीतिरद्य परा मम ।

सुहृदं त्वां समासाद्य पहेन्द्रवरुणोपमम् ॥ १० ॥

‘माहेन्द्र और वरुणके समान पराक्रमी आपको सुहृदके रूपमें पाकर आज मेरा शोक दूर हो गया। आज मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है ॥ १० ॥

तमर्घ्यं प्रियायै मे वीरिणं भ्रातृरुघिणम् ।

वालिनं जहि काकुत्स्थ यया बद्धोऽयमञ्जलिः ॥ ११ ॥

‘काकुत्स्थकुलभूषण ! मैं हाथ जोड़ता हूँ। आप आज ही मेरा प्रिय करनेके लिये उस वालोंका, जो भाईके रूपमें मेरा शत्रु है, बध कर डालिये ॥ ११ ॥

ततो रामः परिपुन्य सुग्रीवं प्रियदर्शनम् ।

प्रत्युवाच महाप्राज्ञो लक्ष्मणानुगतं वचः ॥ १२ ॥

सुग्रीव श्रीरामचन्द्रजीको लक्ष्मणके समान प्रिय हो गये थे। उनकी बात सुनकर महाप्राज्ञ श्रीरामने अपने उस प्रिय

सुहृदको हृदयसे लगा लिया और इस प्रकार उत्तर दिया— ॥

अस्माकृच्छाम किष्किन्धां क्षिप्रं गच्छ त्वमग्रतः ।

गत्वा चाह्वय सुग्रीव वालिनं भ्रातृगन्धिनम् ॥ १३ ॥

‘सुग्रीव ! हमलोग शीघ्र ही इस स्थानसे किष्किन्धाको चलते हैं । तू आगे जाओ और जाकर व्यर्थ हो भाई कहलवानेवाले वालीको बुझके लिये ललकारो’ ॥ १३ ॥

सर्वे ते त्वरितं गत्वा किष्किन्धां वालिनः पुरोम् ।

वृक्षगतमानमावृत्य ह्यतिष्ठन् गगने वने ॥ १४ ॥

तदनन्तर वे सब लगे वालिकों उलझनों किष्किन्धापुरीमें गये और वहाँ गगन वनके भीतर वृक्षोंको आड़में अपनका छिपकर खड़े हो गये ॥ १४ ॥

सुग्रीवोऽप्यनदद् धोरं वालिनो ह्वानकारणात् ।

गाहं परिहृत्वा वेगात्तर्दभिन्दन्निवाम्बरम् ॥ १५ ॥

सुग्रीवने लैगानमें अपनी कमर खुल कर लो और वाणीको बालिकोंके लिये भयंकर गड़ना का वाणवृक्ष लिये हुए उस सिननादसे मानो वे आकाशका फाड़ डालते थे ॥

नै श्रुत्वा निनदं भ्रातुः क्रुद्धो वाली महाबलः ।

निधमात सुमेत्यो भास्करोऽस्ततटादिव ॥ १६ ॥

घाईका सिननाद सुनकर महाबली वालीको बड़ा क्रोध हुआ । वह अमर्षमें भरकर अस्तावस्से नौचे जलनेवाले सूर्यके समान लड़के बंगले धरने निकला ॥ १६ ॥

ततः सुनुमत् युद्धं वालिसुग्रीवयोरभूत् ।

गगने ग्रहयोर्धरि युद्याङ्गारकयोरिव ॥ १७ ॥

फिर तो वाली और सुग्रीवमें बड़ा भयंकर युद्ध छिड़ गया मानो आकाशमें वृद्ध और गंगाल इन दोनों प्रहामों में संग्राम हो रहा हो ॥ १७ ॥

तस्मिन्प्रानिक्तार्पेण वज्रकल्पेण मुष्टिभिः ।

अग्रतः सारान्ध्रान्यं भ्रातरो क्रोधमुच्छिर्तौ ॥ १८ ॥

वे दोनों भाई क्रोधमें पविष्ट हो एक-दूसरेपर वज्र और जैशानिके समान तगावों और धूमांकर प्रहार करने लगे ॥

ततो रामो धनुष्याणिस्त्रावुर्भौ समुदक्षत ।

अन्योन्यसदृशी त्रीगवुर्भौ हेवाविस्त्राशिनौ ॥ १९ ॥

उसी समय श्रीगमचन्द्रजीने धनुष हाथमें लिया और उन दोनोंकी ओर देखा । वे दोनों वीर अर्धवर्षकुमारोंके भीत परस्पर मिलते-जुलते दिशावी दिये ॥ १९ ॥

यन्नावगच्छत् सुग्रीवं वालिनं चापि राघवः ।

ततो न कृतधानं घृद्धि मौक्तुमन्तरकरं शरम् ॥ २० ॥

श्रीगमचन्द्रजीको यह पता न चले कि इनमें कौन सुग्रीव है और कौन वाली, इसलिये उन्होंने अपना वह छाननामकरो बाण छोड़नेका विचार स्थापित कर दिया ॥ २० ॥

तस्मिन्नन्तरे धप्रः सुग्रीवस्तेन वालिना ।

अपश्यन् राघवं राघपुण्यमूकं प्रदुद्वे ॥ २१ ॥

इसी बीचमें वालीने सुग्रीवके पाँव उल्टाई दिये । वे

अपने गलेक श्रौंगधुनाधजाको न देखकर ऋष्यमूक पर्वतकी ओर भागे ॥ २१ ॥

ह्रान्तो रुधिरसिक्ताङ्गः प्रहारेजर्जरीकृतः ।

वालिनाभिदुतः क्रोधान् प्रविवेश महावनम् ॥ २२ ॥

वे बहुत शक गये थे । उनका सारा शरीर लहलुहान और प्रतापीमें जर्जर हो रहा था । इतनेपर भी वालीने क्रोधपूर्वक उनका पीछा किया । किंतु वे मतंगमुनिके मङ्गान् वनमें घुस गये ॥ २२ ॥

तं प्रविष्टं वनं दृष्ट्वा वाली शापभयात् ततः ।

मुक्तो हासि त्वमित्युक्त्वा स निवृत्तो महाबलः ॥ २३ ॥

सुग्रीवको उस वनमें प्रविष्ट हुआ देख महाबली वाली शापके भयसे वहाँ नहीं गया और ‘जाओ तू मर गये’ ऐसा कहकर वहाँसे लौट आया ॥ २३ ॥

राघवोऽपि सह भ्रात्रा सह चैव हनुमता ।

तदेव वनमागच्छत् सुग्रीवो धप्रं वानरः ॥ २४ ॥

इधर श्रौंगधुनाधजी भी अपने भाई लक्ष्मण तथा श्रौंगधुनाधजाके साथ उसी समय वनमें आ गये जहाँ वानर सुग्रीव निधमान थे ॥ २४ ॥

तं समीक्ष्यगतं रामं सुग्रीवः सहलक्ष्मणम् ।

ह्रीपान् दीनपुत्रावेतं वसुधामवलोकयन् ॥ २५ ॥

लक्ष्मणमहित श्रौंगधुनाधजी आया देख सुग्रीवको बड़ी लज्जा हुई और वे पुत्रोंको ओर देखते हुए दीन बाणीमें उनसे बोले— ॥ २५ ॥

आह्वयैवैति मामुक्त्वा दर्शयित्वा च विक्रमम् ।

वेरिणा घालयित्वा च किमिदानीं त्वया कृतम् ॥ २६ ॥

नामैव खेलां वक्तव्यं त्वया राघव तत्त्वतः ।

वालिनं न निहर्षीति ततो नाहमितो ब्रजे ॥ २७ ॥

‘रघुनन्दन ! आपने अपना पराक्रम दिखाया और मुझे यह कहकर भेज दिया कि जाओ, वालिकों युद्धके लिये ललकारो, यह सब हो जानेपर आपने शत्रुसे पिटकाया और स्वयं छिप गये । बताइये, इस समय आपने ऐसा क्यों किया ? आपको ठीक समय मर-मर बना देना चाहिये था कि मैं वालीको नहीं मारूँगा । ऐसी दशामें मैं यशसि उसका पास जाना हो मझे ॥ २६-२७ ॥

तस्य चैव ब्रुवाणस्य सुग्रीवस्य महात्मनः ।

कस्य दीपया वारुण राघवः पुनरब्रवीत् ॥ २८ ॥

महात्मा सुग्रीव जब दोन बाणीद्वारा इस प्रकार करुणा जनक जन कहने लगे, तब श्रीगम फिर उनसे बोले— ॥ २८ ॥

सुग्रीव श्रूयतां तात क्रोधश्च व्यपनीयताम् ।

कारणं येन बाणोऽयं स मया न विसर्जितः ॥ २९ ॥

‘तात सुग्रीव ! मेरे बात सुनो, क्रोधको अपने मनसे निकाल दो । मैंने क्यों नहीं बाण चलाया, इसका कारण वनजाना है ॥ २९ ॥

अलंकारेण चेयेण प्रमाणेन गतेन च ।

त्वं च सुग्रीव खाली च सदृशौ स्थः परस्परम् ॥ ३० ॥

सुग्रीव । बेइभूषा, कट और चाल-चालम तुम और खाली दोनों एक दूसरेसे मिलते-जुलते हो ॥ ३० ॥

स्वरेण कर्चसा चंच प्रेक्षितेन च खानर ।

विक्रमेण च वाक्यैश्च व्यक्तिं वा नोपलक्षये ॥ ३१ ॥

'स्वर, कर्चन, दृष्टि, पराक्रम और चालचालक हाथ धो गुह्ये तुम दोनोंमें कोई कमर नहीं दिखायी देना । ३१ ।

नतोऽहं रूपसादृश्यान्मोहिनो खानरोत्तम ।

नोत्सृजामि पद्मखेरी शरं शत्रुनिग्रहणम् ॥ ३२ ॥

'खानरश्रेष्ठ । तुम दोनोंके रूपकी इननी समसता देखकर मैं मोहमें पड़ गया—तुम्हें गढ़वाते न सका; इमालिये मैंने अपना महान् खगशाली शत्रुसंहारक हाथ नहीं छोड़ा । ३२ ॥

जीवितान्तकरं धारं सादृश्यात् तु विशाङ्गिनः ।

मूलघातो न जी म्याद्वि ह्योगिनि कृनो मया । ३३ ॥

मैंने जान भयंकर हाथ डालके प्राण लयवाला था इमालिये तुम दोनोंको समानतामें खंडनमें पड़कर मने तम नापाया नहीं छोड़ा । सोचा, कहे एन न हो एक हम दोनोंके मूल उद्देश्यका ही बिनाश हो जाय ॥ ..

त्वाय वीर विपन्नं हि अजानान्त्वगध्वानमया ।

पीतव्यं च यम दान्त्यं च त्वयापि न स्यात् कपीश्वर ॥ ३४ ॥

साह ! खानरराज ! यदि अनजानमें या जल्दबाजके कारण भरे दान्त्यं नन्ही मारे जान तो यमो दान्त्यं निन 'परम' और मुक्ता ही मिट्ट होनी ॥ ३४ ॥

इत्ताभयवधो माम पातक महदद्भुतम् ।

आहं च लक्ष्मणश्चैव सीता च वग्वर्णिनी ॥ ३५ ॥

खडधीना वधे सर्वे वनेऽस्मिभ्यश्चरणं भवान् ।

तस्मात् पृथग्वै भूयस्व मा माशङ्कांश्च खानर । ३६ ॥

शत्रुको अभय दान दे दिया गया हो उनका अथ करनेकी सहा भारं पर नैक = दान एक अद्भुत पातक ॥

इस समय मैं लक्ष्मण और सुन्दरी सीता सब तुम्हारे अधीन हैं इस वरमें तुम्हें तमलंगक अश्रय हो; इमालिये खानरराज शङ्का न करो; पुनः चलकर बुद्ध प्रारम्भ करो ।

एन-मुहूर्ते तु मया पश्य वालिनमाहवे ।

निरस्तमिषुर्णकेन चेष्टमानं महीतले ॥ ३७ ॥

'तुम इसी मुहूर्तमें कालीको घेर एक ही बाणका निशाना बनकर घसीपर लोटना देखोगे ॥ ३७ ॥

अभिज्ञानं कुम्भं त्वयात्मनो खानरेश्वर ।

येन त्वामभिजानीयां हृन्मयुद्धमुपागमम् ॥ ३८ ॥

'ज्ञानेश्वर ! अपनी पहचानके लिये तुम कोई विह्व धारण कर ला । जयम हृन्मयुद्धम प्रवृत्त जानपर मैं तुम्हें पहचान सकूँ ॥

गजपुष्पीमिमां फुल्लामुत्पाद्य शुभलक्षणाम् ।

कुरु लक्ष्मण कण्ठेऽस्य सुग्रीवस्य महात्मनः ॥ ३९ ॥

(सुग्रीवसे ऐसा कहकर श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणसे बोले) 'लक्ष्मण ! यह उनमें लक्ष्मणसे युक्त गजपुष्पी लता फूल रही है । इसे उखाड़कर तुम महामना सुग्रीवके गलेमें पहना दो ।

नतो गिरितटे ज्ञातामुत्पाद्य कुसुमायुताम् ।

लक्ष्मणो गजपुष्पीं तां तस्य कण्ठे व्यमर्जयन् ॥ ४० ॥

यह आशा पाकर लक्ष्मणने पर्वतके किनारे उत्पन्न हुई फूलोंसे भरी वह गजपुष्पी लता उखाड़कर सुग्रीवके गलेमें डाल दिया । ४० ॥

स त्वया शृगुधे श्रीर्मान्तिनया कण्ठसक्तया ।

मालमेव खलाकानां ससंध्य इव तोयदः ॥ ४१ ॥

तन्मय पड़ो हुई उस लतामें श्रीमान् सुग्रीव वक्रपंक्तिमें अलंकृत संभ्रातृकालके मेषकी भाँति शोभा पाने लग्य ॥ ४१ ॥

विभ्राजमानो वपुषा रामवाक्यमयाहितः ।

जगाम सह रामेण किष्किन्धौ पुनराथ सः ॥ ४२ ॥

श्रीरामके वचनमें आश्वासन पाकर अपने सुन्दर शरीरसे शोभा पानेवाले सुग्रीव औरधुनाथजीके साथ फिर किष्किन्धापुरीमें जा पड़े ॥ ४२ ॥

इत्यारं श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रायन आरंभयोग आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें द्वादशवां सर्ग पूरा हुआ । १२ ॥



त्रयोदशः सर्गः

श्रीराम आदिक्ता मार्गमें वृक्षों, विविध जन्तुओं, जलाशयों तथा सप्तजन आश्रयका दूरसे दर्शन करने हुए पुनः किष्किन्धापुरीमें पहुँचना

वृक्षमृकान् स घर्षात्वा किष्किन्धा लक्ष्मणश्रवतः ।

जगाम सह सुग्रीवा चान्तिविक्रमपालिनाम् ॥ १ ॥

लक्ष्मणके सहै भाई असोन्ना श्रीराम सुग्रीवका साथ निकल पुरे लक्ष्मणकसे उस = लक्ष्मण हो और चले जा न हो ॥ १ ॥ जयम सुग्रीव

समुद्राय महदाय रामः काञ्चनभूषितम् ।

शरांश्चादित्यसंकाशान् गृहीत्वा रणमाधकान् ॥ २ ॥

अपने सुवर्णभूषित विशाल धनुषका उठाकर और युद्धमें मजबूत दिव्यनिशाने सुवर्णल तेजस्वी बाणोंको लेकर श्रीराम वरुण प्रसन्न हुए ॥ २ ॥

अप्रतस्तु ययौ तस्य राघवस्य महात्मनः ।

सुग्रीवः संहतग्रीवो लक्ष्मणश्च महाबलः ॥ ३ ॥

महात्मा रघुनाथजीके आगे-आगे सुग्रीव लक्ष्मण लक्ष्मण सुग्रीव और महाबली लक्ष्मण चल रहे थे ॥ ३ ॥

पृष्ठतो हनुमान् पीरो नलो नीलश्च वीर्यवान् ।

तारक्षीव महातेजा हरियूथपयूथपः ॥ ४ ॥

और उनके पीछे बोर हनुमान्, नील, पयूथपों के भी यूथपति महातेजस्वी तार चल रहे थे ॥

ते वीक्षमाणा वृक्षांश्च पुष्पभारावलम्बिनः ।

प्रसन्नाभ्युवहाश्चैव सरितः सागरंगमाः ॥ ५ ॥

ऊन्दराणि च शैलाश्च निर्दराणि गृहास्तथा ।

शिखराणि च मुख्यानि दरीश्च प्रियदर्शनाः ॥ ६ ॥

वे सब लोग फूलों के भार से झुके हुए वृक्षों, लम्बे जल-वाली समुद्रगामिनी नदियाँ, ऊन्दराओं, पर्वतों शिखरों, गुफाओं, मुख्य-मुख्य शिखरों और सुन्दर दिखायी देनेवाली गहन गुफाओं का दृश्यन हुए आगे बढ़ते लगे ॥ ५-६ ॥

वेदूर्यधिभलैस्तोयैः पर्यक्षाकांशकृद्भलैः ।

शोभिमान् सज्जान् मार्गे तटाकांशावलोकयन् ॥ ७ ॥

उन्होंने बाँधों में देखे सज्जल सरोवरों को भी देखा, जो वेदूर्यधियों के समान रंगवाले, निर्मल जल तथा कम किले हुए, गुरुत्वयुक्त कमलों से सुशोभित थे ॥ ७ ॥

काण्डे सारसैर्मयैर्बलैर्जलकृद्भलैः ।

चक्रवाकैस्तथा सारथैः शकुनैः प्रतिवादितान् ॥ ८ ॥

आरगुल, आरम, वस, वसु, जलधुरी, चक्रवाक तथा अन्य पक्षी दल सारथों के आवाज़ें रह थे । उन सबको प्रति-वादि वहाँ गूँज रही थी ॥ ८ ॥

मृदुशराजुराहारात्रिभयान् वनगोचरान् ।

ध्वजः सन्तः पश्यन् स्थलीयं त्रिगणान् स्थितान् ॥ ९ ॥

स्थलीयों सब ओर हरी हरी कामल घासक अद्भुतका आहार करनेवाले जनचांग लागे कर्तों निरीचे होकर खड़े थे और वहाँ खड़े दिखायी देने थे (उन सबको देखते हुए श्रोगम आदि क्रान्तिकारकों और जा रहे थे) ॥ ९ ॥

तटाकवैरिणश्चापि शूकवन्तविभूषितान् ।

घोर्गर्भकचरान् वन्यान् द्विरद्वान् कूलघातिनः ॥ १० ॥

पक्षान् गिरितोत्कृष्टान् पर्वतानि च जङ्गमान् ।

मानान् द्विरद्वान् पर्वतानि च जङ्गमान् ॥ ११ ॥

वने वनचरोश्चान्यान् स्वेचराश्च विहगमान् ।

पश्यन्तस्करिता जम्पुः सुग्रीववशवर्तिनः ॥ १२ ॥

जो सफेद शिताम सुशोभित थे, दैत्यनर्म भयंकर थे अकेले विचरते थे और किनारों को स्नान कर नष्ट कर देने के कारण सरोवरों के शत्रु समझे जाते थे, ऐसे दो दलोंवाले भद्रमत्त जङ्गलों की चली चलते फिरते पर्वतों के समान जाते दिखायी देने थे । उन्होंने अपने दलों में ध्वजों के तटस्थानों

विदीर्ण कर दिया था । कहीं कहीं-जैसे विशालकाय धानर दृष्टिगोचर होते थे, जो घरों को धूल से नहा डेते थे । इनके मिठा उस वन में और भी बहुत-से जंगली जीव-जन्तु तथा आकाशचांग पक्षी विचरते देखे जाते थे । इन सबको देखते हुए श्रोगम आदि सब लोग सुग्रीव वशवर्ती हो तीव्र गति से आगे बढ़ते लगे ॥ १०-१२ ॥

तेषां तु गच्छतां तत्र त्वरितं रघुनन्दनः ।

दुष्पण्डवनं दृष्ट्वा रामः सुग्रीवमब्रवीत् ॥ १३ ॥

उन यात्रा करनेवाले लोगों में वहाँ रघुकुलनन्दन श्रोगमने वृक्षसमूहों में घूमने वनको देखकर सुग्रीवसे पूछा— ॥ १३ ॥

एष मेघ इवाकाशे वृक्षपण्डः प्रकाशते ।

मेघमधानविपुलः पर्यन्तकदलीवृतः ॥ १४ ॥

'वनराम ! आकाश में मेघ की भाँति जो यह वृक्षाका समूह प्रकाशित हो रहा है, क्या है ? यह इतना विस्तृत है कि मेघों के घटा के समान छा रहा है । इसके किनारे-किनारे कलक वृक्ष लगे हुए हैं, जिनसे यह सारा वृक्ष-समूह घिर गया है ॥ १४ ॥

किमेतज्ज्ञातुमिच्छामि सरले कीर्तुहलं यमः ।

कीर्तुहलापनयनं कर्तुमिच्छाम्यहं त्वया ॥ १५ ॥

'मझे यह कीर्तना-मा वन है, यह मैं जानना चाहता हूँ । इससे जितने मेरे मन में बड़ा कीर्तुहल है । मैं चाहता हूँ कि तुमसे ज्ञात हो मेरे इस कीर्तुहल का निवारण हो ॥ १५ ॥

तस्य तादृशने स्तुत्वा राघवस्य महात्मनः ।

गच्छन्नेवाच वृक्षैश्च सुग्रीवस्तन्महद् वनम् ॥ १६ ॥

महात्मा रघुनाथजीकी यह बात सुनकर सुग्रीवने चलते-चलते ही उस विशाल वन के विषय में कहना आरम्भ किया ॥

एतद् राघव विस्तीर्णमाश्रमं श्रमनाशनम् ।

उद्यानवनसम्पन्नं स्वादुपुलफलोदकम् ॥ १७ ॥

'रघुनन्दन ! यह एक विस्तृत आश्रम है, जो सबके श्रमका निवारण करनेवाला है । यह उद्यानों और उपवनो में युक्त है । यहाँ स्वादुपुल फल-पुल और जल सुलभ हात है ॥

अत्र सप्तजना नाम मुनयः संशितव्रताः ।

सप्तवासत्रय-शीर्षा नियते जलशायिनः ॥ १८ ॥

'इस आश्रम में सप्तजन नामसे प्रसिद्ध सात ही मुनि रहते थे, जो कठोर व्रतों के पालन में तत्पर थे । वे नीचे बिर करके तपस्या करते थे । नियमपूर्वक रहकर जल में शयन करनेवाले थे ॥ १८ ॥

सप्तरात्रे कृताहारा वायुनाचलवासिनः ।

दिव्यं वर्षशतैर्याताः सप्तभिः सकलेवराः ॥ १९ ॥

'सात दिन और सात रात व्यतीत करके वे केवल वायुका आहार करते थे तथा एक स्थान पर निश्चल धावस रहते थे । इस प्रकार सात ही वर्षों तक तपस्या करके वे सशरीर स्वर्ग-लोकों चले गये ॥ १९ ॥

तेषामेतत्प्रभावेण द्रुमप्राकारसंवृतम् ।

आश्रमं सुदुराधर्षमपि सेन्द्रेः सुरासुरैः ॥ २० ॥

‘उन्हाकि प्रभावसे संघन वृक्षोंकी चहारदीवारीसे घिरा हुआ यह आश्रम इन्द्रमहित सम्पूर्ण देवताओं और अमुनोंके लिये भी अत्यन्त दुर्धर्ष बना हुआ है ॥ २० ॥

पक्षिणो वर्जयन्त्येनत् तथान्ये वनचारिणः ।

विशन्ति मोहाद् येऽप्यत्र न निवर्तन्ति ते पुनः ॥ २१ ॥

‘पक्षी तथा दूसरे वनचर जीव इसे दूरसे ही स्पष्ट देखते हैं। जो मोहवश इसका भीतर प्रवेश करते हैं, वे फिर कभी नहीं लौटते हैं ॥ २१ ॥

विभूषणरक्षाश्चात्र श्रूयन्ते सकलाक्षराः ।

तुर्ध्वगीतस्त्वनश्चापि गन्धो दिव्यश्च राघव ॥ २२ ॥

‘रघुनन्दन ! यहाँ मधुर अक्षरवाल्मीकि वाणीके साथ-साथ आभूषणोंकी श्रवणकार भी सुनें जाती है। वाद्य और गीतकी मधुर ध्वनि भी कानोंमें पड़ती है और दिव्य सुगन्धका भी अनुभव होता है ॥ २२ ॥

त्रेतामयोऽपि दीप्यन्ते भूजो ह्येष प्रदृश्यते ।

वष्टपत्रिष्व वृक्षाणाम् कपोताङ्गारुणो घनः ॥ २३ ॥

‘यहाँ आश्वमेधीय आदि त्रिविध अग्निर्वा भी प्रज्वलित होता है। यह कयूतरक अंगोंकी भूमि दूसरे रक्तवाला घना भूत तट्टा दिग्वायी देता है, जो वृक्षाकी शिराओंका आवेशित-सा कर रहा है ॥ २३ ॥

एते वृक्षाः प्रकाशन्ते धूमसंसक्तमस्तकाः ।

मेघजालप्रतिच्छन्ना वैदुर्ध्वगिरयो यथा ॥ २४ ॥

‘जिनके शिराओंपर होम-धूम छा रहे हैं, वे ये वृक्ष मलयगुह्यसे आच्छादित हुए नैऋत्यके पर्वतोंकी भाँति प्रकाशित हो रहे हैं ॥ २४ ॥

कुरु प्रणामं धर्मात्मस्तोषामुद्दिश्य शश्वत् ।

लक्ष्मणोऽपि सह भ्रात्रा प्रयतः संहनाञ्जलिः ॥ २५ ॥

इत्यर्थे श्रीमन्नारायणो वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे त्रयोदशः सर्गः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आभयरायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें तेरहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १३ ॥

चतुर्दशः सर्गः

बाली-सदृशके लिये श्रीरामका आश्वासन पाकर सुग्रीवकी विकट गर्जना

सर्वे ते लारितं गत्वा किष्किन्धां बालिनः पुरीम् ।

वृक्षरात्पानपायस्य चरिष्वन् गहने वने ॥ १ ॥

वे सब रोग शोभतापूर्वक बालीकी किष्किन्धापुरीमें पहुँचकर एक गहनवनमें वृक्षाकी ओटमें अपने-आपका शिवाकर खड़े हो गये ॥ १ ॥

विस्मयं भवतो दृष्टिं कानने काननप्रियः ।

सुग्रीवो विप्लवग्रीवः क्रोधमाहारवद् भृशम् ॥ २ ॥

उनके प्रेमी विशाल ग्रीवावाले मुग्रीवने उन वनमें चले और

‘धर्मात्मा रघुनन्दन ! आप मनको एकाग्र करने के लिये हाथ जोड़कर भाई लक्ष्मणके साथ उन मुनियोंके उद्देश्यसे प्रणाम कीजिये ॥ २५ ॥

प्रणमन्ति हि ये तेषामृषीणां भावितात्मनाम् ।

न तेषामशुभं किञ्चिच्छरीरे राम विद्यते ॥ २६ ॥

श्रीगम ! जो उन पवित्र अन्न-करणवाले ऋषियोंको प्रणाम करते हैं उनके शरीरमें किञ्चिन्मात्र भी अशुभ नहीं रह जाता है ॥ २६ ॥

ततो रामः सह भ्रात्रा लक्ष्मणेन कृत्वाञ्जलिः ।

समुद्दिश्य महात्मानस्तानृषीन्भ्यवादयत् ॥ २७ ॥

तब भाई लक्ष्मणसहित श्रीरामने हाथ जोड़कर उन महान्या ऋषियोंके उद्देश्यसे प्रणाम किया ॥ २७ ॥

अभिवक्ष्ये च धर्मात्मा रामो भ्रात्रा च लक्ष्मणः ।

सुग्रीवो बानराश्चैव जग्मुः संहृष्टमानसाः ॥ २८ ॥

धर्मात्मा श्रीराम, उनके छोटे भाई लक्ष्मण सुग्रीव तथा अन्य सभी बानर उन ऋषियोंको प्रणाम करके प्रसन्नचित्त हो आगे बढ़े ॥ २८ ॥

ते गत्वा दूरमध्वानं तस्मात् सप्तजनाश्रमात् ।

ददृशुस्तां दुराधर्षां किष्किन्धां बालिपालिताम् ॥ २९ ॥

उस सप्तजनाश्रमसे दूरतकका मार्ग तय कर लेनेके पश्चात् उन सबने बालीद्वारा सुरक्षित किष्किन्धापुरीको देखा ॥ २९ ॥

ततस्तु रामानुजरायबानराः

प्रगृह्य क्षत्राण्युदितोऽग्रतेजसः ।

पुरीं सुरशात्पजवीर्यपालितां

बधाय शत्रोः पुनरागतास्त्रिवह ॥ ३० ॥

तदनन्तर श्रीरामके छोटे भाई लक्ष्मण, श्रीराम तथा बानर जिनका उग्रतज उदित हुआ था, हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लेकर इन्द्रकुमार बालीके पराक्रमसे पालित किष्किन्धापुरीमें शत्रुवधक निर्मित पुनः आ पहुँचे ॥ ३० ॥

तदनन्तर श्रीरामके छोटे भाई लक्ष्मण, श्रीराम तथा बानर जिनका उग्रतज उदित हुआ था, हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लेकर इन्द्रकुमार बालीके पराक्रमसे पालित किष्किन्धापुरीमें शत्रुवधक निर्मित पुनः आ पहुँचे ॥ ३० ॥

तदनन्तर श्रीरामके छोटे भाई लक्ष्मण, श्रीराम तथा बानर जिनका उग्रतज उदित हुआ था, हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लेकर इन्द्रकुमार बालीके पराक्रमसे पालित किष्किन्धापुरीमें शत्रुवधक निर्मित पुनः आ पहुँचे ॥ ३० ॥

तदनन्तर श्रीरामके छोटे भाई लक्ष्मण, श्रीराम तथा बानर जिनका उग्रतज उदित हुआ था, हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लेकर इन्द्रकुमार बालीके पराक्रमसे पालित किष्किन्धापुरीमें शत्रुवधक निर्मित पुनः आ पहुँचे ॥ ३० ॥

तदनन्तर श्रीरामके छोटे भाई लक्ष्मण, श्रीराम तथा बानर जिनका उग्रतज उदित हुआ था, हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लेकर इन्द्रकुमार बालीके पराक्रमसे पालित किष्किन्धापुरीमें शत्रुवधक निर्मित पुनः आ पहुँचे ॥ ३० ॥

तदनन्तर श्रीरामके छोटे भाई लक्ष्मण, श्रीराम तथा बानर जिनका उग्रतज उदित हुआ था, हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लेकर इन्द्रकुमार बालीके पराक्रमसे पालित किष्किन्धापुरीमें शत्रुवधक निर्मित पुनः आ पहुँचे ॥ ३० ॥

तदनन्तर श्रीरामके छोटे भाई लक्ष्मण, श्रीराम तथा बानर जिनका उग्रतज उदित हुआ था, हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लेकर इन्द्रकुमार बालीके पराक्रमसे पालित किष्किन्धापुरीमें शत्रुवधक निर्मित पुनः आ पहुँचे ॥ ३० ॥

तदनन्तर श्रीरामके छोटे भाई लक्ष्मण, श्रीराम तथा बानर जिनका उग्रतज उदित हुआ था, हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लेकर इन्द्रकुमार बालीके पराक्रमसे पालित किष्किन्धापुरीमें शत्रुवधक निर्मित पुनः आ पहुँचे ॥ ३० ॥

तदनन्तर श्रीरामके छोटे भाई लक्ष्मण, श्रीराम तथा बानर जिनका उग्रतज उदित हुआ था, हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लेकर इन्द्रकुमार बालीके पराक्रमसे पालित किष्किन्धापुरीमें शत्रुवधक निर्मित पुनः आ पहुँचे ॥ ३० ॥

तदनन्तर श्रीरामके छोटे भाई लक्ष्मण, श्रीराम तथा बानर जिनका उग्रतज उदित हुआ था, हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लेकर इन्द्रकुमार बालीके पराक्रमसे पालित किष्किन्धापुरीमें शत्रुवधक निर्मित पुनः आ पहुँचे ॥ ३० ॥

तदनन्तर श्रीरामके छोटे भाई लक्ष्मण, श्रीराम तथा बानर जिनका उग्रतज उदित हुआ था, हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लेकर इन्द्रकुमार बालीके पराक्रमसे पालित किष्किन्धापुरीमें शत्रुवधक निर्मित पुनः आ पहुँचे ॥ ३० ॥

तदनन्तर श्रीरामके छोटे भाई लक्ष्मण, श्रीराम तथा बानर जिनका उग्रतज उदित हुआ था, हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लेकर इन्द्रकुमार बालीके पराक्रमसे पालित किष्किन्धापुरीमें शत्रुवधक निर्मित पुनः आ पहुँचे ॥ ३० ॥

तदनन्तर श्रीरामके छोटे भाई लक्ष्मण, श्रीराम तथा बानर जिनका उग्रतज उदित हुआ था, हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लेकर इन्द्रकुमार बालीके पराक्रमसे पालित किष्किन्धापुरीमें शत्रुवधक निर्मित पुनः आ पहुँचे ॥ ३० ॥

तदनन्तर श्रीरामके छोटे भाई लक्ष्मण, श्रीराम तथा बानर जिनका उग्रतज उदित हुआ था, हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लेकर इन्द्रकुमार बालीके पराक्रमसे पालित किष्किन्धापुरीमें शत्रुवधक निर्मित पुनः आ पहुँचे ॥ ३० ॥

तदनन्तर श्रीरामके छोटे भाई लक्ष्मण, श्रीराम तथा बानर जिनका उग्रतज उदित हुआ था, हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लेकर इन्द्रकुमार बालीके पराक्रमसे पालित किष्किन्धापुरीमें शत्रुवधक निर्मित पुनः आ पहुँचे ॥ ३० ॥

तदनन्तर श्रीरामके छोटे भाई लक्ष्मण, श्रीराम तथा बानर जिनका उग्रतज उदित हुआ था, हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लेकर इन्द्रकुमार बालीके पराक्रमसे पालित किष्किन्धापुरीमें शत्रुवधक निर्मित पुनः आ पहुँचे ॥ ३० ॥

तदनन्तर श्रीरामके छोटे भाई लक्ष्मण, श्रीराम तथा बानर जिनका उग्रतज उदित हुआ था, हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लेकर इन्द्रकुमार बालीके पराक्रमसे पालित किष्किन्धापुरीमें शत्रुवधक निर्मित पुनः आ पहुँचे ॥ ३० ॥

उस समय सुश्रेष्ठ वायुके वेगके साथ गर्जन हुए महामघके समान आन पड़न थे। अपनी अद्भुतकान्ति और प्रतापके द्वारा प्रातःकालके सूर्यको धीरे प्रकाशित होते थे। उनकी चाल दर्पणों में एक समान प्रतीत होती थी ॥ ४ ॥

दुष्टा राम क्रियादक्षं सूर्याखो वाक्यमब्रवीत् ।

हरिबागुरया व्याघ्रां तप्तकाञ्चनतोरणाम् ॥ ५ ॥

प्राप्ताः स ध्वजयन्त्राद्व्यां किष्किन्धा वालिनः पूर्णम् ।

प्रतिज्ञा या कृता वीर त्वया वालिवधे पुरा ॥ ६ ॥

मफलो कुरु तो शिष्टं त्वां काल इवागतः ।

कायकुशल श्रीरामचन्द्रजाकी ओर देखकर सुभाषन कहा—‘मफलन् । वास्तविक यह किष्किन्धापुरी तथापि हुए सुवर्णके द्वारा गोर्धन वागुत्तम मणिकर है । इसमें यह आ

धान्यशेखर जाति-सा बिआ मुआ है तथा यह ध्वजों और चक्रोंमें सम्पन्न है । तब मात्र तब ही तुमों आ गले है वीर आपन ॥ ५ ॥ वालि-वधके लिये जो प्रतिज्ञा की थी, उसे अब शीघ्र तत्काल काजिए, तब तक मैं नहीं आया हुआ अनुकूल समय लताओं फल-पूलों सजाकर देता है ॥ ५-६ ॥

एवमुक्तास्तु धर्मात्मा सुग्रीवश्च स राघवः ॥ ७ ॥

तमन्वावाच वचनं सुश्रावं शत्रुमुदनः ।

सुग्रीवके गता क्रमशः शत्रुपक्ष वालिवा आशुताश्रयन फिर अपनी सुश्रेष्ठ बातकी सुनते हुए तो सुग्रीवने कहा— ।

कृताभिज्ञानचिह्नस्त्वमवया गजस्राह्वया ॥ ८ ॥

लक्ष्मणेन समुत्पाट्य एषा कण्ठे कृता तव ।

शोधसंज्ञाभिर्गन्धर्वीर लजया कण्ठसक्तया ॥ ९ ॥

विपरीत इवाकाशे सूर्या नक्षत्रमालया ।

‘वीर ! तब तो इस गजपुष्पो लताके द्वारा गुमन अपनी पहचानके लिये निह्न भाषण कर ही लिये है । लक्ष्मणने इसे उत्खाड़कर मुझ करवा करवा हो दिया है । तब कण्ठमें धारण की हुई इस लताके द्वारा अच्छी शोभा पा रहे हो । यदि भाकाशमें यह विपरीत घटना हो कि सूर्यमण्डल नक्षत्र-मालासे फिर जाय, तभी इस कण्ठ-लक्ष्मणी लतासे सुशोभित होनेवाले तुम्हारे इस मुखमें नुस्खा हो सकने ॥ ८ ॥

अद्य वालिसमृन्धते भयं सर्वं च वानर ॥ १० ॥

एकेनाहं प्रभोक्ष्यामि बाणमाक्षेण संयुगे ।

वानरराज ! आज मैं वालिसमें उत्पन्न हुए तुम्हारे भय और वीर दोनोंके युद्धव्यवस्था एक ही बार बाण छेड़कर मिटा दूंगा ॥

मम दर्शय सूर्याखं वरिणो भ्रातृरूपिणम् ॥ ११ ॥

वाली विनिहतो यावदने पांसुषु चेष्टते ।

‘सुग्रीव ! तुम मुझे अपने उस भ्रातारूपी इत्रुका दिखा तो दो । फिर वाली मारा जाकर वनके भीतर घुलने लोटता दिखायी देगा ॥ ११ ॥

यदि दृष्टिपथं प्राप्तां जीवन् स विनिवर्तते ॥ १२ ॥

ततो दोषेण यागच्छेत् सद्यो गर्ह्यं वा भवान् ।

‘यदि मेरी दृष्टिमें पड़ जानपर भी वह जीवित लौट जाय तो तुम मुझे दोषों समझना और तत्काल जी धरकर मेरी निन्दा करना ॥ १२ ॥

प्रत्यक्षं सप्त ते साला भया बाणेन दारिताः ।

तेनावेहि बलेनाद्य वालिनं निहतं रणे ।

‘तुम्हारे आँखोंके सामने मैंने अपने एक ही बाणसे सात सालाक वृक्ष विदीर्ण किए थे, मैं ठमो बलसे आज समराङ्गणमें (एक बाणसे तो) तुम वालाको मारा गया मगड़ो ॥ १३ ॥

अनृतं नोक्तपूर्वं मे धिरं कृच्छ्रेऽपि निष्ठता ॥ १४ ॥

धर्मलोभपरीतेन न च बहये कथंचन ।

मफलो ह्य कश्चिद्यापि प्रतिज्ञां जहि संभ्रमम् ॥ १५ ॥

‘बहुत समयसे संकट झेलते रहनेपर भी मैं कभी झूठ नहीं वाला हूँ । मेरा मनमें धर्मका लोभ है । इसलिए किसी तरह मैं झुठ तो चलेगा हो नहीं सार्थ हो अपनी प्रतिज्ञाका भी अवश्य मफल करूँगा । अतः तुम भय और धराश्रयको अपने हृदयसे निकाल दो ॥ १४-१५ ॥

प्रसूतं कलमक्षेत्रं वर्षेणैव शतक्रतुः ।

तदाह्वाननिमित्तं च वालिनो हेममालिनः ॥ १६ ॥

सुग्रीव कुरु ते शब्दं निष्पतेद् येन वानरः ।

जैसे इन्द्र वरों करके ठगे हुए धानके खेतको फलसे सम्पन्न करता है, उसी तरह मैं भी बाणका प्रयोग करके वालाके वधद्वारा तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करूँगा । इसलिए सुग्रीव ! तब सुभाषण-वाक्यों वालाके मुखवाक्य लिये इस समय एको मज्जा कम जिसमें तुम्हारा सम्मान करने के लिये वह खाने नमरसे बाहर निकल आये ॥ १६ ॥

जितकाशी जयश्लाघां त्वया चाधर्षितः पुरा ॥ १७ ॥

निष्पतिष्यत्यमहेन वाली स प्रियमयुधः ।

वह अम्क युद्धोंमें विजय पाकर विजयश्रीमें सुशोभित हुआ है । यद्यपि विजय पानेको इच्छा रखना है और उसने कहा तुममें हम वरों खाया है । अम्क अन्तर्गत युद्धमें उसकी बड़ा प्रेम है, अतः वाला कदों भी अम्क न हाँकर नगरक बाहर अवश्य निकलेगा ॥ १७ ॥

रिपूणां धर्षितं श्रुत्वा भयंयन्ति न संयुगे ॥ १८ ॥

जानन्नस्तु स्वकं चीर्य स्त्रीसमक्षं विशेषतः ।

‘क्योंकि अपने पराक्रमका जाननेवाले वीर पुरुष, विशेषतः स्त्रियोंके सामने, युद्धके लिये शत्रुओंके तिरस्कारपूर्ण शब्द सुनकर कदापि सहन नहीं करते हैं ॥ १८ ॥

स तु रामवचः श्रुत्वा सूर्याखो हेमपिङ्गलः ॥ १९ ॥

नन्द कुरनाटेन विनिर्भिन्दिप्रवाष्परम् ।

श्रीरामचन्द्रजाको यह बात सुनकर सुवर्णके समान पिङ्गलवर्णवाले सुभाषने आकाशका विदीर्ण-सा करत हुए कजोर स्वयं चढ़ी भयकर गर्जना की ॥ १९ ॥

तत्र शब्देन विव्रस्ता गावो यान्ति हतप्रभाः ॥ २० ॥
राजदोषपरामृष्टाः कुलस्त्रिय इयाकुलाः ।

उस सिंहनादसे घबराई हो बड़े-बड़े बैल शान्तहीन हो
राजाके दोषसे परपुरुषोंद्वारा पकड़ी जानेवाली कुल-इत्यादि ओके
समान व्याकुलचित्त हो सब और भाग चले ॥ २० ॥

इवन्ति च भृगाः शीघ्रं भग्ना इव रणे हयाः ।
एतन्ति च खगा भूमौ क्षीणपुण्या इव ग्रहाः ॥ २१ ॥

भृगु बुद्धस्थलमें अस्त्र-शस्त्रोंकी चोट खाकर भागे हुए
घोड़ोंके समान तीव्र गतिसे भागने लगे और पक्षी जिनके पुण्य नष्ट
हो गये हैं, ऐसे ग्रहोंके समान आकाशसे पृथ्वीपर गिरने लगे ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीवाम्नीकिनिर्मित भार्यारामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें चौदहवां सर्ग पूरा हुआ ॥ १४ ॥

पञ्चदशः सर्गः

सुग्रीवकी गर्जना सुनकर वालीका युद्धके लिये निकलना और ताराका उसे रोककर सुग्रीव और
श्रीरामके साथ मैत्री कर लेनेके लिये समझाना

अथ तस्य निनादं तं सुग्रीवस्य महात्मनः ।
शशावान्तःपुरगतो वाली भ्रातुरमर्षणः ॥ १ ॥

उस समय अमर्षशाल वाला अपने अन्तःपुरमें था । उसने
अपने भाई महात्मना सुग्रीवका वह सिंहनाद शरीरमें सुना ।

भुत्वा तु तस्य निनादं सर्वभूतप्रकम्पनम् ।
मदश्रीकपदे नष्टः क्रोधश्चापरादिनो महान् ॥ २ ॥

रामका प्राणियोंका कम्पित कर देनेवाली ठनकाई वह
गर्जना सुनकर डरकर भाग मंद सहसा इनर गया और उसने
महान् क्रोध उत्पन्न हुआ ॥ २ ॥

ततो रोधपरीताहो वाली स कनकप्रभः ।
उपरक्त इन्द्रादित्यः सद्यो निष्पद्यतां गतः ॥ ३ ॥

फिर तो सुवर्णक समान पील रंगवाला वालाका सारा
शरीर क्रोधसे तमनमा ठहरा । वह राहुग्रस्त सूर्यके समान
तलकाल श्रीहीन दिखायी देने लगा ॥ ३ ॥

वाली हृष्टकरालस्तु क्रोधान् दीप्ताग्निर्लोचनः ।
धात्युत्पतितपद्माभः समृणाल इव हृदः ॥ ४ ॥

आलोंकी टाँही विकराल थी, नेत्र क्रोधके कारण प्रज्वालित
अग्निके समान उदीप्त हो रहे थे । वह उस तालाबके समान
शान्तहीन दिखायी देता था, जिसमें कमलपुष्पोंकी उगमा तो नष्ट
हो गयी हो और केवल मृणाल रह गये हों ॥ ४ ॥

शब्दं दुर्मर्षणे क्षुत्वा निष्पद्यत ततो हरिः ।
वेगेन च पद्म्यासंदारयन्निव मेदिनीम् ॥ ५ ॥

वह दुःसाह शब्द सुनकर वाली अपने पैरोंकी धमकते
पृथ्वीकी लटोर्ण-सी करता हुआ बड़े वेगसे निकला ॥ ५ ॥

तं तु तारा परिभ्रुज्य खेहाद् दार्शित्यसोहृदा ।
उवाच व्रतसम्भ्रान्ता हितोदकमिदं खद्यः ॥ ६ ॥

ततः स जीमूतकृतप्रणादो
नादं ह्यमुञ्चत् त्वरया प्रतीतः ।

सुधांत्मजः शौर्यविवृद्धतेजाः
सरित्पतिर्नानिल्वञ्चलोर्मिः ॥ २२ ॥

तदनन्तर जिनका सिंहनाद मेघकी गर्जनाके समान गम्भीर
था और शौर्यके द्वारा जिनका तेज बढ़ा हुआ था, वे
सुखस्थित सूर्यकुमार सुग्रीव बड़ी उतावलोंके साथ बारबार
गर्जना करने लग गये वायुके वेगसे चञ्चल हुई उनाल
तरङ्ग-मालाओंसे सुशोभित सरिताओंका स्वामी समुद्र
कोलाहल कर रहा हो ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीवाम्नीकिनिर्मित भार्यारामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें चौदहवां सर्ग पूरा हुआ ॥ १४ ॥

उस समय आलोंकी पत्नी तारा भयभीत हो घबरा उठी ।
उसने आलोंको अपनी दोनों भुजाओंमें धर लिया और
खंशसे सहादका परिचय दत हुए परिणाममें हित करनेवाली
यह बात कही ॥ ६ ॥

साधुः क्रोधमिदं वीर नदीवेगमिवागतम् ।
शयनादुन्मिथ, काल्यं त्यज भुक्तापि च खजम् ॥ ७ ॥

'वीर ! मेरे अच्छी बात सुनिये और सहसा आये हुए
नदीके वेगकी भाँति इस बड़ हुए क्रोधको त्याग दीजिये । जैसे
प्रातःकाल शय्यासे उठा हुआ पुरुष रातको उपभोगमें लीची
गयी पुष्पनालाका त्याग कर देता है, उसी प्रकार इस क्रोधका
परित्याग कीजिये ॥ ७ ॥

काल्यपतेन संग्रामं करिष्यामि च धानर ।
वीर ते शत्रुबाहुल्यं फल्गुता वा न विद्यते ॥ ८ ॥

सहसा तव निष्क्रामो मम तावन्न रोचते ।
श्रूयतामभिधास्यामि यन्निमित्तं निवार्यते ॥ ९ ॥

'धानरवीर ! कल प्रातःकाल सुग्रीवके साथ युद्ध
काजियेगा (इस समय रुक आइये) यद्यपि युद्धमें कोई शत्रु
आपसे बढ़कर नहीं है और आप किसीसे छोटे नहीं हैं
तथापि इस समय सहसा आपका घरसे बाहर निकलना भूले
अच्छ नहीं लगता है, आपको रोकनेका एक विशेष कारण
भी है । उसे बताती हूँ, सुनिये ॥ ८-९ ॥

पूर्वयापतितः क्रोधान् स स्वमाह्वयते बुद्धिः ।
निष्पद्य च निरस्तास्ते हन्यमानो दिशो गतः ॥ १० ॥

'सुग्रीव पहले भी यहाँ आये थे और क्रोधपूर्वक
उन्होंने आपके युद्धके लिये ललकाया था । उस समय
अपने नगरसे निकलकर उन्हें प्यास किया और वे आपकी

मार खाकर सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर भागते हुए पतङ्ग वनमें चले गये थे ॥ १० ॥

त्वया तस्य निरस्तस्य पीडितस्य विशेषतः ।

इहैव पुनरागमनं शङ्कां जनयतीव मे ॥ ११ ॥

‘इस प्रकार आपके द्वारा पराजित और विद्वेष पीडित होने-पर भी वे पुनः यहाँ आकर आपको युद्धके लिये ललकार रहे हैं । उनका यह पुनरागमन मेरे मनमें शङ्का-सी उत्पन्न कर रहा है ।

हर्षश्च व्यवसायश्च यादृशास्तस्य नर्दतः ।

निनादस्य च संरम्भो नैतदल्पं हि कारणम् ॥ १२ ॥

इस समय गर्जते हुए सुग्रीवका हर्ष और उद्योग जैसा निम्नायी देता है तथा उनकी गजनाम जा उनजना आने पड़ती है, इसका कोई छोटा-मोटा कारण नहीं होना चाहिये ॥ १२ ॥

नासहस्यमत्र मन्ये सुग्रीवं तमिहागतम् ।

अवष्टब्धमहायुधं यमाश्रित्यैव गर्जन्ति ॥ १३ ॥

मैं समझती हूँ सुग्रीव किसी प्रबल सहायकक किता शत्रुकी दार मर्ल नही आये हैं । किन्तु मजबूत सहायकको साथ लेकर ही आये हैं, जिसके बलपर वे इस तरह गरज रहे हैं ॥

प्रकृत्वा निपुणश्चैव युद्धमाश्रित्य वानरः ।

नापरीक्षितर्षेण सुग्रीवः सख्यमेष्यति ॥ १४ ॥

वानर सुग्रीव स्वाभावसे ही कार्यकुशल और युद्धमान हैं । वे किन्तु ऐसे पुरुषोंके साथ मैत्री नहीं करेंगे जिसके बल और गराक्रमकी अच्छी तरह परख न लिये हो ॥ १४ ॥

पूर्वमेव मया वीर भूतं कथयतो वचः ।

अङ्गदस्य कुमारस्य वक्ष्याम्यद्य हि न वचः ॥ १५ ॥

‘वचः ! मैंने पहले ही कुमार अङ्गदके मुँहसे यह बात सुन ली है । इसलिए आज मैं आपके हितको बात बताती हूँ ॥

अङ्गदस्तु कुमारोऽयं सनान्तमुपनिर्गतः ।

प्रवृत्तिस्तेन कथिता चारैरासीन्निधेदिता ॥ १६ ॥

‘एक दिन कुमार अङ्गद वनमें गये थे । वहाँ गुप्तचरोंने उन्हें एक समाचार बताया, जो उन्होंने यहाँ आकर मुझमें भी कहा था ॥ १६ ॥

अयोध्याधिपतेः पुत्रो शूरो समरदुर्जयौ ।

इक्ष्वाकुणा कुलं जातौ प्रथितौ रामलक्ष्मणौ ॥ १७ ॥

‘जह समाचार इस प्रकार है—अयोध्यामेंशके दो शूर वीर पुत्र, जिन्हें युद्धमें जीतना अत्यन्त कठिन है, जिसका जन्म इक्ष्वाकुकुलमें हुआ है तथा जो श्रीराम और लक्ष्मणके नामसे प्रसिद्ध हैं, वहाँ वनमें आये हुए हैं ॥ १७ ॥

सुग्रीवप्रियकामाश्चैव आप्नी तत्र दुरासदौ ।

स ते भ्रातृहिं विख्यातः सहायो रणकर्मणि ॥ १८ ॥

रामः परबलामदीं युगान्ताग्रिखोलितः ।

निवासवृक्षः साधूनामापन्नानां परा गतिः ॥ १९ ॥

‘वे दोनों दुर्जय वीर सुग्रीवका प्रिय कर्मके लिये उनके पास पहुँच गये हैं । उन दोनोंमेंसे जो आपके भाईके युद्ध

कर्ममें सहायक बताये गये हैं, वे श्रीराम शत्रुसेनाका संहार करनेवाले तथा प्रलयकालमें प्रज्वालित हुई अग्निके समान तेजस्वी हैं । वे साधु पुरुषोंके आश्रयदाता कल्पवृक्ष हैं और सक्लमें पड़े हुए प्राणियोंके लिये सबसे बड़ा सहाय हैं ।

आतांनो सश्रयश्चैव यशसश्चैकभाजनम् ।

ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो निदेशो निरतः पितुः ॥ २० ॥

‘आतं पुरुषोंके आश्रय, यशके एकमात्र भाजन, ज्ञान-विज्ञानमें सम्पन्न तथा पिताकी आज्ञामें स्थित रहनेवाले हैं ।

धातूनामिव शैलेन्द्रो गुणानामाकरो महान् ।

तत् क्षमो न विरोधस्ते सह तेन महात्मना ॥ २१ ॥

दुर्जयनाश्रमयेण रामेण रणकर्मसु ।

‘जैसे पिरियज हिमालय नाना धातुओंको खान है, उसी प्रकार श्रीराम उनमें गुणाक बहुत बड़े भंडार हैं । अतः उन महात्मा रामके साथ आपका विरोध करना कदापि उचित नहीं है । क्योंकि वे युद्धको कल्पमें अपना मानो नहीं रखते हैं । उनपर विजय पाना अत्यन्त कठिन है ॥ २१ ॥

शूर वक्ष्यामि ते किञ्चिन्न चेच्छाम्यभ्यसूयितुम् ॥ २२ ॥

भूपतां क्रियतां चैव तव वक्ष्यामि यद्विदितम् ।

‘शूरवार ! मैं आपके गुणोंमें दोष देखना नहीं चाहती । अतः आपमें कुछ कहती हूँ । आपके लिये जो हितकर है, वही बता रही हूँ । आप उसे सुनिये और वीरता ही कोजिये ।

यावदगज्येन सुग्रीवे तूणी माध्वभिषेचय ॥ २३ ॥

विग्रहं मा कृथा वीर भ्रात्रा राजन् यवीयसा ।

अच्छ यही होगा कि आप सुग्रीवका शीघ्र ही युधराजके पदपर अभ्यर्क कर मीजिये । वीर वानरराज ! सुग्रीव आपके छोटे भाई हैं, उनके साथ युद्ध न कोजिये ॥ २३ ॥

अहं हि ते भ्रमं मन्ये तेन रामेण सौहृदम् ॥ २४ ॥

सुग्रीवेण च सम्प्रोति वैरमुत्सृज्य दूरतः ।

‘मैं आपके लिये यहाँ उचित समझता हूँ कि आप वैरभावको दूर हटाकर श्रीरामके साथ मोहार्त और सुग्रीवके साथ प्रेमका सम्बन्ध स्थापित कीजिये ॥ २४ ॥

लालनीयो हि ते भ्राता यवीयानेष वानरः ॥ २५ ॥

तत्र वा सन्निहस्थो वा सर्वथा बन्धुरेव ते ।

यहि तेन समं बन्धुं भुवि पश्यामि केचन ॥ २६ ॥

‘वानर सुग्रीव आपके छोटे भाई हैं । अतः आपका लाह-प्यार पानेके योग्य है । वे ऋष्यमुकपर रहें या किञ्चिन्नाम—सर्वथा आपके बन्धु ही हैं । मैं इस भूतलपर उनके मनान बन्धु और किन्हींको नहीं देखती हूँ । २५-२६ ॥

दानमानादिसत्कारैः कुरुष्व प्रत्यन्तरम् ।

वैरमेतत् समुत्सृज्य तव पार्श्वे स तिष्ठतु ॥ २७ ॥

‘आप दान-मान आदि सत्कारोंके द्वारा उन्हें अपना अत्यन्त अन्तरङ्ग बना लीजिये, जिससे वे इस वैरभावको छोड़कर आपके पास रह सकें ॥ २७ ॥

सुग्रीवो विपुलग्रीवो महाबन्धुर्मतस्तव ।
भ्रातृसौहृदमालम्ब्य नान्या गतिरिहास्ति ते ॥ २८ ॥

‘पुष्ट ग्रीवावाले सुग्रीव आपके अत्यन्त प्रेमी बन्यु हैं, ऐसा मेरा मत है । इस समय भ्रातृप्रमत्ता महाराज लेने-देने मित्र आपके लिये यहाँ दूसरी कोई गति नहीं है ॥ २८ ॥

यदि ते मत्प्रियं कार्यं यदि चावेष्टि मां हिताम् ।
शान्द्यमानः प्रियत्वेन साधु वाक्यं कुरुष्व मे ॥ २९ ॥

यदि आपका मेरा प्रिय करना हो तथा आप मुझे अपने-
स्तोत्रारिणी समझते हों तो मैं प्रमाणिक वाचना करता हूँ ।
आप मेरी बात नेक सलाह मान लीजिये ॥ २९ ॥

प्रसीद पथ्यं शृणु जल्पितं हि मे
न रोषमेवानुविशानुमर्हसि ।

क्षमो हि ते कोशलराजसूनुना
न विग्रहः शक्रसमानतेजसा ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे षोडशः सर्गः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिजीने अपने श्रीमद्रामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डके षोडशों सर्ग पूरा हुआ ॥ १५ ॥

★—

षोडशः सर्गः

बालीका ताराको डाँटकर लाँटाना और सुग्रीवसे जूझना तथा श्रीरामके
बाणसे घायल होकर पृथ्वीपर गिरना

मामेवं ब्रुवन्ती तारा ताराधिपनिभाननाम् ।
बालीः निर्धर्तृत्यावासं तत्तनं चंदमब्रवीत् ॥ १ ॥

तारापति बन्धुभाके समान मुक्तबाली ताराको ऐसी बोलते
सखी दुख बालीय तारा फटकारा और इस प्रकार बोलता— ॥

गजनाडस्य सुग्रीवस्य भ्रातुः शत्रोर्विशेषतः ।
मार्थियाभ्यामि केनापि कारणेन सरानने ॥ २ ॥

‘सरानने । इस गजनाड हुए भाईको, जो विशेषतः मेरा शत्रु
है, यह उराजनापूर्ण घात मैं किस कारणसे सहन करूँगा ॥

अधर्षितानां क्षुराणां समरेष्टानिर्वर्तिनाम् ।
धनगाम्यर्षाणां भीरु धरणादनिर्विच्यते ॥ ३ ॥

‘भीरु । जो कभी परास्त नहीं हुए और निर्वर्तन युद्धके
अपराधापर कभी पीड़ा नहीं दिखायी, उन शूरवीरोंके लिये शत्रुको
रक्तकार सह लेना मृत्युसे भी बड़ा दुःखदायी होता है ॥ ३ ॥

मार्हं न च समर्थोऽहं युद्धकामस्य संयुगे ।
मृग्रावस्य च संगर्षं ह्रीनश्रीवस्य गजितम् ॥ ४ ॥

‘यह ह्रीन ग्रीवावाले सुग्रीव साम्प्रभूषण मेरे साथ
युद्धको इच्छा रखता है । मैं इसके रणक्षेत्र और गजना-
डको सहन करनेमें असमर्थ हूँ ॥ ४ ॥

न च काचो विषादस्ते राघव प्रति भत्कृते ।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च कथं पापं करिष्यति ॥ ५ ॥

‘श्रीरामचन्द्रजीको बात साचकर भी तुम्हें मर लिये
रगाद नहीं करना चाहिये । क्योंकि ये घमके जाना तथा

‘स्वामिन् ! आप प्रसन्न होइये । मैं आपके हितकी बात
कहता हूँ । आप इसे ध्यान देकर सुनिये । केवल रोषका ही
अनुसरण न कीजिये । कांसलराजकुमार श्रीराम इन्द्रके समान
तेजस्वी हैं । उनके साथ वैर बाँधना या युद्ध छेड़ना आपके
लिये कदापि उचित नहीं है ॥ ३० ॥

नदा हि तारा हिनमेव वाक्यं
तं बालिनं पथ्यामिदं वधाये ।

न रोचते तद् वचनं हि तस्य
कालाभिपन्नस्य विनाशकाले ॥ ३१ ॥

उस समय ताराने बालीसे उसके हितकी ही बात
कही थी और यह लाभदायक भी थी । किंतु उसकी
बात उसे नहीं रुची । क्योंकि उसके विनाशका
समय निकट था और वह कालके पाशमें बँध चुका
था ॥ ३१ ॥

कर्तव्याकर्तव्यको समझनवाले हैं । अतः आप कैसे करेंगे ।
निवर्तस्व सह स्त्रीभिः कथं भूयोऽनुगच्छसि ।

सौहृदं दर्शितं तावन्मयि भक्तिस्त्वया कृता ॥ ६ ॥

प्रतियोत्स्याम्यहं गत्वा सुग्रीवं जहि सम्भ्रमम् ।
दर्पं चास्य विनोदयामि न च प्रार्णवितोक्ष्यते ॥ ७ ॥

तुम इन स्त्रियोंके साथ लौट जाओ । क्यों मेरे पीछे
बार-बार आ रही हो । तुमने मेरे प्रति अपना स्नेह दिखाया
भक्तिका भी परिचय दे दिया । अब जाओ बावगलट छोड़ो ।
मैं आप बड़कर मृगेवकी सामना करूँगा । उसका समानको
चुर-चुर कर डालूँगा । किंतु प्राण नहीं लूँगा ॥ ६-७ ॥

अहं ह्याजिस्थितस्यास्य करिष्यामि यदीप्सितम् ।
वृक्षमृष्टिप्रहारश्च पीडितः प्रतियास्यति ॥ ८ ॥

युद्धके मैदानमें खड़े हुए मृगीवकी जो-जो इच्छा है, उसे
मैं पूरा करूँगा । वृक्षा और मुँकाको मारने पीड़ित होकर वह
स्वयं ही भाग जायगा ॥ ८ ॥

न मे गर्वितमाद्यस्ते सहिष्यति दुरात्मवान् ।
कृत्वा तारे सहायत्वं दर्शितं सौहृदं पथि ॥ ९ ॥

‘मे दुरात्मा सुग्रीव मेरे युद्धविषयके दर्प और आग्राम
(उधम) को नहीं सह सकता । तुमने मेरी बौद्धिक सहायता
अच्छे तरह कर दी और मेरे प्रति अपना सौहार्द भी दिखा दिया ॥

शापितामि मम प्रार्णनिर्वर्तस्व जननं च ।
अलं जित्वा निवर्तिष्ये तमहं भ्रातरं रणे ॥ १० ॥

‘मैं आपका श्राप करूँगा । मैं आपका निवर्तन करूँगा ।
अतः जित्वा निवर्तिष्ये तमहं भ्रातरं रणे ॥ १० ॥

‘अब मैं प्राणोंकी सौगन्ध दिलाकर कहत हूँ कि अब तू इन स्त्रियोंके साथ लौट जाओ अब अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है, मैं युद्धमें अपने उम्र भाइँको जातकर लौट आऊँगा’ ॥ १० ॥

तं तु तारा परिभूज्य वालिनं प्रियवादिनी ।
चकार रुदती मन्दं दक्षिणा सा प्रदक्षिणाम् ॥ ११ ॥

यह सुनकर अन्यन्त उदार स्वभाववाली ताराने वालिकी आलिङ्गन करके मन्द स्वरमें गेत गेत उमरको गान्धिका की तनः स्वरस्ययनं कृत्वा मन्त्रविद् विजयविणी ।

अन्तःपुर सह स्त्रीभिः प्रविष्टा शोकमोहिता ॥ १२ ॥

यह पानकी विजय चाहती थी और उस मन्त्रका भी ज्ञान था । इसलिये उगन वालिकी मङ्गल कामनामें स्वास्नवाचन किया और शोकसे मोहित हो वह अन्य स्त्रियोंके साथ अन्तःपुरकी चली गयी ॥ १२ ॥

प्रविष्टायां तु नागयां सह स्त्रीभिः स्वपालयम् ।
नगर्यां निर्ययी क्रुद्धो महासर्प इव श्रमन् ॥ १३ ॥

विश्वामित्रित ताराने अपने महलमें चले जानेपर वाली क्रोधसे भरे हुए महान् सर्पकी भाँति लम्बी गर्द रगड़ना हुआ नगरसे बाहर निकल ॥ १३ ॥

स निःश्वस्य महारोषो वाली परमवेगवान् ।
सर्वतश्चारयन् दृष्टिं शत्रुदर्शनकाङ्क्षया ॥ १४ ॥

महान् रोषसे युक्त और असन्त जगदाली वाली लम्बी सास छोड़कर शय्या दण्डकी इच्छामें खारी और अपना दृष्टि चौड़ाने लगा ॥ १४ ॥

स दृष्ट्वा ततः श्रीमान् सुग्रीवं हेमपिङ्गलम् ।
सुर्यवेदितवधपृथ्वी दीप्यमानमिवानलम् ॥ १५ ॥

इतलहीमें श्रीमान् जगदाल सुवर्णके समान पिङ्गल वर्णवाले पृथिवीकी देवा, जो लँगोठ बाँधकर युद्धके लिये उत्तर खड़े थे और प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥

तं स दृष्ट्वा महाबाहुः सुग्रीवं पर्यवस्थितम् ।
गाढं परितोषे वासो वाली परमकोपनः ॥ १६ ॥

सुग्रीवकी खड़ा देव महाबाहु वालिकी अयन कृपित हो उठा । उसने अपना लँगोठ भी दृढ़ताक साथ बाँध लिया ॥

स वाली गाढसंवीनो मुष्टिमुद्यम्य वीर्यवान् ।
सुग्रीवमेवाधिमुखो ययौ योद्धुं कृतक्षणाः ॥ १७ ॥

लँगोठकी मजबूतीके साथ क्रमकर परक्रमी वाली प्रहारका अवसर देखना हुआ मुक्ता तानकर सुग्रीवकी ओर चला ।

शिलष्टं मुष्टिं समुद्यम्य संरक्षतरमागतः ।
सुग्रीवोऽपि समुद्दिश्य वालिनं हेमपालिनम् ॥ १८ ॥

सुग्रीव भी मुखमालाधारी वालिके उद्दिश्यमें बैधा हुआ मुक्ता ताने वड़े आवेशके साथ उसकी ओर बढ़े ॥ १८ ॥

तं वाली क्रोधताम्राक्षः सुग्रीवं रणकोविदम् ।
आपनन्तं महावेगमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १९ ॥

युद्धकलाके पण्डित महावेगशाली सुग्रीवकी अपनी ओर आते देखे वालिकी आँखें क्रोधमें लल हो गयीं और वह इस प्रकार बोले— ॥ १९ ॥

एष मुष्टिर्महान् बद्धो गाढं सुनियताङ्गुलिः ।
पया वंगविमुक्तस्ते प्राणानादाय यास्यति ॥ २० ॥

‘सुग्रीव ! देख ले । यह बड़ा भारी मुक्ता खूब कसकर बाँधा हुआ है । इसमें सगरे अङ्गुलियाँ सुनियन्त्रितरूपसे परस्पर सजी हुई हैं । मेरे द्वारा वंगपूर्वक चलाया हुआ यह मुक्ता तेरे प्राण लेकर ही जायगा’ ॥ २० ॥

एवमुक्तस्तु सुग्रीवः क्रुद्धो वालिनमब्रवीत् ।
तव चैष हन् प्रणान् मुष्टिः पतन् मूर्धनि ॥ २१ ॥

वालीके ऐसा कहनेपर सुग्रीव क्रोधपूर्वक उससे बोले—
‘मेरा यह मुक्ता भी तेरे प्राण लेकर लिये तो मन्त्रकपर गिर’

ताडितस्तेन तं क्रुद्धः समभिक्रम्य वेगतः ।
अभवच्छोणितोद्गरी सापीड इव पर्वतः ॥ २२ ॥

इतलहीमें वालिके वंगपूर्वक आक्रमण करके सुग्रीवपर मुक्ताका प्रहार किया । उस क्षणमें घायल एवं कुपित हुए सुग्रीव उमराने युक्त पर्वतकी भाँति मैदम रक्त वमन करने लगा ।

सुग्रीवेण तु निःशङ्कं सालमुत्पाद्य तेजसा ।
गात्रेऽबुधिमौ वाली वज्रेणैव महागिरिः ॥ २३ ॥

तत्पश्चात् सुग्रीवेन भी निःशङ्क होकर बलपूर्वक एक सालवृक्षकी डगड लिया और उसे वालिके शरीरपर तं मार, माना इन्द्रन किमो विशाल पर्वतपर वज्रका प्रहार किया हो ॥ २३ ॥

स तु वृक्षेण निर्भ्रंशः सालताडनविह्वलः ।
गुरुभारभराकान्ता नीः ससार्थैव सागरे ॥ २४ ॥

उस वृक्षकी चोटसे वालिके शरीरमें घाव हो गया । उस आघातमें विह्वल हुआ वृक्षी व्यर्थपरिके समुद्रके चट्टानमें भारी भारके दूना टूटकर समुद्रमें डगमगाने हुई नीकाक समान कपिने लगा ॥ २४ ॥

तौ धीमवलविक्रान्तौ सुपर्णसमवेगितौ ।
प्रवृद्धौ घोरवपुषौ चन्द्रसूर्याखिवाध्वरे ॥ २५ ॥

उन दोनों भयंकर बल और परक्रम भयंकर थे दोनोंके ही वेग गरुड़के समान था व दोनों भयंकर रूप धारण करके बड़े जगमें जुड़ गये और प्राणभाक आकाशमें चन्द्रमा और सूर्यके समान दिखायी देते थे ॥ २५ ॥

परस्परमभिघ्नौ छिद्रान्वेषणतत्परी ।
ततोऽवर्धत वाली तु बलवीर्यसमन्वितः ॥ २६ ॥

सूर्यपुत्रो महावीर्यः सुग्रीवः परिहीयत ।
त्रे शत्रुमूढन वीर अप्पे विपश्रीकी मर डालनेको इच्छासे एक-दूसरेकी दुर्बलता दृढ़ गत थे परन्तु उस युद्धमें बल-विक्रममम्पन्न वालिके बढ़ने लगा और महामक्रमी सूर्यपुत्र सुग्रीवकी शक्ति क्षीण होने लगा ॥ २६ ॥

वालिना भग्नदपंस्तु सुग्रीवो मन्दविक्रमः ॥ २७ ॥
वालिने प्रलि सप्तर्षो दशायामस राघवम् ।

वालीने सुग्रीवका धमण्ड चूर्ण कर दिया । उनका पराक्रम मन्द पड़ने लगा । तब वालिके प्रांत अभयम भर हुए सुग्रीवन श्रोगमचन्द्रजीका अपनी अवस्थाका लक्ष्य कराया ॥ २७ ॥

वृक्षैः सशरैः शिखरवृक्षकोटिनिर्भरैः ॥ २८ ॥
मुष्टिभिर्जानुभिः पद्भिर्बाहुभिश्च पुनः पुनः ।

तथोयुद्धमभूदधोरं वृत्रवासवचारिव ॥ २९ ॥
इसके बाद डालियामहिन वृक्षों, पर्वतक शिखरों, वृक्ष

समान भयकर नखा, मुक्ता, घुटना पटना और हाथोंके मारने से दोनामे इन्द्र और वृत्रामृको प्रांत भयकर समान होने लगा ॥

नौ शोणिमार्त्ता युध्येता वानरौ वनचारिणौ ।
मेघाविव महाशब्दस्तर्जमानौ परस्परम् ॥ ३० ॥

वे दोनों वनचारों वानर सन्तुलन हाकर लड़ रहे थे और दो कदलोंको तरह अत्यन्त भयकर गर्जना करते हुए एक-दूसरेको छोट रहे थे ॥ ३० ॥

हीयमानमथापश्यन् सुग्रीव वानरेश्वरम् ।
प्रेक्षमाणं दिशश्चैव राघवः स मुहूर्तः ॥ ३१ ॥

श्रीरघुनाथजीने देखा, वानरराज सुग्रीव कमजोर पड़ रहे हैं और बानवार इधर-उधर दृष्टि दौड़ा रहे हैं ॥ ३१ ॥

ततो रामो महान्जा आसी दृष्ट्वा हरीधरम् ।
स हारं वीक्षते वीरौ वालिनो कथकाङ्क्षया ॥ ३२ ॥

वानरराजको चौहिन देखा महानजर्मी आरामने वालिके नश्वरों इच्छासे अपने बाणपर दृष्टिपान किया ॥ ३२ ॥

ततो धनुषि संधाय शरमाशीविषोपमम् ।
पुष्पामास तथापि कालञ्जकमिवानलकः ॥ ३३ ॥

उन्होंने अपने धनुषपर विषधर सपक समान भयकर बाण रखा और उसे जेरमे खोला, मानों शम्भुजीने कालञ्जक बना लिया हो ॥ ३३ ॥

मय्य ज्यामलघोषेण ब्रम्भाः पप्रथध्वजः ।
पतुर्बुधुर्मुगाश्वेव युगान्म इव माहिनाः ॥ ३४ ॥

जलक प्रयत्नाकें रङ्गध्वजमें ध्वजों से बहने लगे । वृक्षों और पृथु भाग गाड़ हुए । प्रयत्नाकें समान भयकर हुए हाथोंके मारने । वृक्षनक्षत्रोंके से गये ॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे सप्तदशः सर्गः ॥ १६ ॥

इति सप्तदशः सर्गः श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे सप्तदशः सर्गः पूरा हुआ ॥ १६ ॥

सप्तदशः सर्गः

वालीका श्रीरामचन्द्रजीको फटकारना

ततः शङ्गाभिहतो राघवा शणककंशः ।
पपात सहसा वाल्मी निकृन्त इव पाटप ॥ १ ॥

युद्धमें कटारवा दिये मारना वाला श्रीरामकें प्रयत्न

वायल से कटे वृक्षको प्रांत सहसा पृथ्वीपर गिर पड़ा । १ ॥
स भूर्मा न्यस्तसर्वाङ्गस्तप्तकाञ्चनभूषणः ।

अपतद् देवराजस्य भुक्तरिश्मरिव ध्वज ॥ २ ॥

उसका सारा शरीर पृथ्वीपर पड़ा हुआ था। तपाये हुए सुवर्णके आभूषण अब भी उसको शोभा बढ़ा रहे थे। वह देवराज इन्द्रके बन्धनगहिन ध्वजकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा था ॥ ३ ॥

अस्मिन् निपतिते भूमी हर्यक्षाणां गणेश्वरे ।

नष्टचन्द्रमिव ध्याय न खराजन मेदिनी ॥ ३ ॥

बानरों और भालुओंके युथपति बालोंके धराशायी हो जाना यह पृथ्वी चन्द्रगहिन अन्काशकी भाँति शोभा-
हीन हो गयी । ३ ॥

भूमी निपतिनस्यापि तस्य देहं महात्मनः ।

न क्षीर्नहाति न प्राणा न तेजो न पराक्रमः ॥ ४ ॥

पृथ्वीपर पड़े होनेपर भी महामना वालोंके शरीरोंके शोभा,
प्राण, तेज और पराक्रम नहीं छोड़ सके थे ॥ ४ ॥

शक्रदत्ता दरा माला काञ्चनी रत्नभूषिता ।

दधार हरिभुजस्य प्राणास्तेजः श्रिय च सा ॥ ५ ॥

इन्द्रकी दी हुई रत्नगहिन श्रेष्ठ सुवर्णमाला उस बानरराजके
प्राण, तेज और शोभाका धारण किये हुए थी ॥ ५ ॥

ए तया मालया वीरो ह्रियया हरियूथपः ।

संध्यानुगतपर्यन्तः पथोधर इवाभवत् ॥ ६ ॥

उस सुवर्णमालासे विभूषित हुआ बानरयूथपति चार
घण्टों संध्याको लालीस तक हुए प्रबल गंगाकाद मन्दस्पर्शक
ममान शोभी भी रहा था ॥ ६ ॥

तस्य माला च देहश्च मर्मधाली च यः शरः ।

त्रिधैव रचिता लक्ष्मीः पतिनस्यापि शोभते ॥ ७ ॥

पृथ्वीपर गिर होनेपर भी वालोंकी वह सुवर्णमाला,
उसकी शरीर तथा मर्मस्थलोंकी विटर्ण करमाला वह
बाण—ये तीनों पृथक् पृथक् तीन भागोंमें विभक्त की हुई
लक्ष्मीके समान शोभा पा रहे थे ॥ ७ ॥

तत्तत् तस्य वीरस्य स्वर्गमार्गप्रभावनम् ।

शमयाशासनक्षिप्तपावहन् परमो गनिम् ॥ ८ ॥

वीरवार श्रीरामके भनारम बलाय गये उस अस्त्रन वालोंके
लिये स्वर्गकी मार्ग प्रकाशित कर दिया और उसे परमपदको
पहुँचा दिया ॥ ८ ॥

ए तया पतितं संख्ये गतार्चिषधिवानलम् ।

यथातिमिव पुण्यान्ते देवलोकादिह व्युतम् ॥ ९ ॥

आदित्यमिव कालेन युगान्ते भुवि पातितम् ।

महेन्द्रमिव दुर्धर्षधुपेन्द्रमिव दुःसहम् ॥ १० ॥

महेंद्रपुरी पतिते वसिल्ले हैमपालिनम् ।

व्यूहोरस्क महाबाहु दीप्रास्य हरिलोचनम् ॥ ११ ॥

इस प्रकार युद्धस्थलमें गिरा हुआ इन्द्रपुत्र बालों
ज्वालागहिन अग्निके समान, पुण्योक्त क्षय होनेपर
पुण्यलोकसे इस पृथ्वीपर गिर हुए राजा यथातिक्रम समान तथा
महाप्रलयके समय कालद्वारा पृथ्वीपर गिराये गये सूर्यके

समान जल पड़ता था। उसके गलेमें मोनेकी माला शोभा दे
रही थी। वह महेन्द्रके समान दुर्जय और भगवान् विष्णुके
समान दुस्सह था। उसको छातों कीड़ी भुजाएँ बड़ी-बड़ी
मुख दीप्तिमान् और नेत्र कपिलवर्णके थे ॥ ९—११ ॥

लक्ष्मणानुचरो रामो ददर्शोपसर्प च ।

तं तथा पतितं वीरे गतार्चिषधिवानलम् ॥ १२ ॥

बहुमान्य च तं वीरं लोक्षमाणं शनैरिव ।

उपपातो महावीर्यो भ्रान्तो रामलक्ष्मणौ ॥ १३ ॥

लक्ष्मणकी साथ लिये श्रीरामने बालोंको इस अवस्थामें
देखा और वे उसके समीप गये। इस प्रकार ज्वालागहिन
अग्निकी भाँति वहाँ गिरा हुआ वह वीर धीरे धीरे देख रहा
था। महापराक्रमी दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण उस वीरका
विशेष सम्मान करते हुए उसके पास गये ॥ १२-१३ ॥

तं दृष्ट्वा राघवं वालो लक्ष्मणो च महाबलम् ।

अब्रवीत् परुषं वाक्यं प्रश्रितं धर्मसंहितम् ॥ १४ ॥

उन श्रीराम तथा महाबली लक्ष्मणको देखकर वाली धर्म
और विनयसे मुक्त कंठों बाणोंमें बोला— ॥ १४ ॥

स धूमावल्पतेजोऽसुनिहतो नष्टचेतनः ।

अर्थसंहितया धात्रा गवितं रणगवितम् ॥ १५ ॥

अब ठममें तेज और प्राण स्वल्पमात्रमें ही रह गये थे
वह बाणमें धायल होकर पृथ्वीपर पड़ा था और उसकी चेष्टा
धीरे धीरे लुप्त होती जा रही थी। उसने युद्धमें गर्वयुक्त
पराक्रम प्रकट करनेवाले गवलि श्रीरामसे कंठों बाणोंमें इस
प्रकार कहना आरम्भ किया— ॥ १५ ॥

त्वं नराधिपतेः पुत्रः प्रथितः प्रियदर्शनः ।

पराङ्मुखं वधे कृत्वा कोऽत्र प्राप्तस्त्वया गुणः ।

यदहं युद्धमरब्धस्त्वत्कृते निधनं गतः ॥ १६ ॥

गधुनन्दन ! आप राजा दशरथके सुविख्यात पुत्र हैं।
आपका दर्शन सबको प्रिय है। मैं आपसे युद्ध करने नहीं
अच्छा था। मैं तो दूसरेके साथ युद्धमें उलझा हुआ था। उस
युद्धमें आपने मेरा वध करके यहाँ कौन सा गुण प्राप्त किया
है—किस महान् यशका उपार्जन किया है ? क्योंकि मैं
युद्धके लिये दूसम्भर रोष प्रकट कर रहा था किंतु आपके
कर्मण बाँचने ही मृत्युको प्राप्त हुआ ॥ १६ ॥

कुलीनः सत्त्वसम्पन्नस्तेजस्वी चरितव्रतः ।

रामः करुणावेदी च प्रजानी च हिते रतः ॥ १७ ॥

सानुक्रोशो महोत्साहः समयज्ञो दृढव्रतः ।

इत्येनत् सर्वभूतानि कथयन्ति यशो भुवि ॥ १८ ॥

इस भूतलपर सब प्राणी आपके यशका वर्णन करते हुए
कहते हैं— श्रीरामचन्द्रजी कुलीन, सत्त्वगुणसम्पन्न, तेजस्वी,
उत्तम व्रतका आचरण करनेवाले, करुणाका अनुभव
करनेवाले, प्रजाके हितपो, दयानु, महान् उत्साही, समयोचित
कार्य एवं सदाचारके ज्ञाता और दृढ़व्रति हैं ॥ १७-१८ ॥

दयः क्षमा धर्मो धृतिः सत्यं पराक्रमः ।

पार्थिवानां गुणा राजन् दण्डश्चाप्यपकारिणु ॥ १९ ॥

'राजन् इन्द्रियनिग्रह, मनका संयम, क्षमा, धर्म, धैर्य, सत्य, पराक्रम तथा अपराधियोंको दण्ड देना—ये राजाके गुण हैं ॥

तान् गुणान् सम्प्रधार्याहमग्र्यं चाभिजने तव ।

नारदा प्रतिपिबुः सन् सुग्रीवेण समागतः ॥ २० ॥

'मैं आपमें इन सभी सद्गुणोंको विधास करके आपको उत्तम कुलको यादकर नाराके मन करानेपर भी सुग्रीवक साथ रहने आ गया ॥ २० ॥

न पापान्येन संरक्ष्ये प्रमत्तं बन्धुमर्हसि ।

इति मे बुद्धिरुत्पन्ना बभूवादशने तव ॥ २१ ॥

जबतक मैंने आपको नहीं देखा था, तबतक मेरे मनमें यही विचार उठता था कि दुश्मनक साथ रखपुनः दुश्मने हुए मुझको आप असावधान अवस्थामें अपने बाणसे छेदना उचित नहीं समझेंगे ॥ २१ ॥

स स्त्री विनिहतात्परं धर्मध्वजयधार्मिकम् ।

जाने पापसमाचारे तृणीः कूपमिवावृणम् ॥ २२ ॥

'परन्तु आज मुझे मालूम हुआ कि आपको बुद्धि मारो गयी है। आप धर्मध्वजा हैं। दिखानेके लिये धर्मका चोल पहने हुए हैं। कालधर्म अधर्मों हैं। आपका आचार-व्यवहार ग्राह्यपूर्ण है। आप घास-फूससे ढके हुए कूपक समान घोंखा इनकारे हैं ॥ २२ ॥

सतां वेषधरे पापं प्रच्छन्नमिव पावकम् ।

नाहं त्वार्पायजानामि धर्मच्छायाभिसंवृतम् ॥ २३ ॥

'आपने साधु पुरुषोंका-सा वेश धारण कर रखा है, परन्तु मैं पापी। राक्षसों तकों हुई आगक समान आपका असली रूप साधु-वेषमें छिप गया है। मैं नहीं जानता था कि आपने लोगोंको छलनेके लिये ही धर्मको आवृण रखा है ॥ २३ ॥

विषये वा पुरे वा ते यदा पापं करोम्यहम् ।

न स स्वामवजानेऽहं कस्मान् तं हस्यकिन्त्वियम् ॥ २४ ॥

'जब मैं आगक राजा या नगरमें कोई उपद्रव नहीं कर रहा था तथा आपका भी निरस्कार नहीं करता था, तब आपने मुझ निरपराधको क्यों मारा ? ॥ २४ ॥

फलमुत्पादने निषेधं चानरं वनगोचरम् ।

पार्थिवप्रतिपुत्र्यन्तमन्येन स समागतम् ॥ २५ ॥

'मैं सदा फल-मूलका धाजन करनेवाला और वनमें ही विचरनेवाला चानर हूँ। मैं यहाँ आपसे युद्ध नहीं करता था, दूसरेके साथ मैत्री लड़ाई ही रही थी। फिर बिना अपराधके आपने मुझे क्यों मारा ? ॥ २५ ॥

स नराधिपतेः पुत्रः प्रतीतः प्रियदर्शनः ।

लिङ्गमप्यस्ति ते राजन् दृश्यते धर्ममहितम् ॥ २६ ॥

'राजन्! आप एक सम्माननायक नरेशके पुत्र हैं। विश्वाम्बके योग्य हैं और राजानों भी प्रिय हैं। आपमें धर्मका साधनभूत चिह्न

(जटा) चल्कल धारण आदि भी प्रत्यक्ष दिखायी देता है ॥ २६ ॥

कः क्षत्रियकुले जातः श्रुतवान् नष्टसंशयः ।

धर्मलिङ्गप्रतिच्छन्नः कूरं कर्म समाचरेत् ॥ २७ ॥

क्षत्रियकुलमें उत्पन्न शास्त्रका ज्ञाता, संशयरहित तथा धर्मिक वश भूषामें आच्छन्न होकर भी कौन मनुष्य ऐसा कृत्यापूर्ण कर्म कर सकता है ॥ २७ ॥

त्वं राघवकुले जानो धर्मवानिति विश्रुतः ।

अपत्यो भव्यरूपेण किमर्थं परिधावसे ॥ २८ ॥

महाराज! रघुके कुलमें आपका प्रादुर्भाव हुआ है आप धर्मन्माके रूपमें प्रसिद्ध हैं तो भी इतने अधव्य (कूर) निकले! यदि यहाँ आपका असली रूप है तो फिर किस लिये ऊपनसे भव्य (विनीत एवं दयालु) साधु पुरुषका-सा रूप धारण करके चाने और छीड़ने-फिरते हैं ? ॥ २८ ॥

सामं हाने क्षमा धर्मः सत्यं धृतिपराक्रमौ ।

पार्थिवानां गुणा राजन् दण्डश्चाप्यपकारिणु ॥ २९ ॥

'राजन्! साम, दान, क्षमा, धर्म, सत्य, धृति, पराक्रम और अपराधियोंको दण्ड देना—ये भूपालक गुण हैं ॥

वयं वनचरा राम मृगा मूलफलाशिनः ।

एषा प्रकृतिरस्माकं पुरुषस्त्वं नरेश्वर ॥ ३० ॥

'नरेश्वर राम! हम फल-मूल खानेवाले वनचारी मृग हैं यही हमारी प्रकृति है; किन्तु आप तो पुरुष (मनुष्य) हैं (अन- हमारे और आपमें बँस्का कोई कारण नहीं है)।

धूर्वाहिंसयं रूपं च विग्रहे कारणानि च ।

तत्र कस्ते वने लोभो मदीयेषु फलेषु वा ॥ ३१ ॥

'पृथ्वी सोना और चाँदी—इन्हीं वस्तुओंके लिये राजाओंमें परस्पर युद्ध होते हैं। ये ही तीन कलहक मूल कारण हैं। परन्तु यहाँ ये भी नहीं हैं। इस दिशामें इस वनमें या हमारे फलोंमें आपका क्या लोभ हो सकता है ? ॥ ३१ ॥

नयश्च विनयश्चोर्ध्वं निग्रहानुग्रहावपि ।

राजाधूमिरसंकीर्णा न नृपाः कामयन्तयः ॥ ३२ ॥

नम्रता और विनय, दण्ड और अनुग्रह—ये राजधर्म हैं, किन्तु इनके उपयोगके भिन्न-भिन्न अवसर हैं (इनका अधिकतमवर्क उपयोग करना उचित नहीं है)। राजाओंको वंशधरों नहीं होना चाहिये ॥ ३२ ॥

त्वं तु कामप्रधानश्च कोपनश्चानवस्थितः ।

राजवृत्तेषु संकीर्णाः शरासनपरायणः ॥ ३३ ॥

'परन्तु आप तो कामके गुलाम, क्रोध और मर्यादाके स्थित न रहनेवाले—उद्धत हैं। नय-विनय आदि जो राजाओंके धर्म हैं, उनके अवसरका विचार किये बिना ही क्रियाका कहीं भी प्रयोग कर देते हैं। जहाँ कहीं भी बाण उगाने-फिरते हैं ॥ ३३ ॥

न तेऽस्यपक्षितिर्धर्मं नार्थं बुद्धिर्वास्थिता ।

इन्द्रियैः कामवृत्तः सन् कृष्यसे मनुजेश्वर ॥ ३४ ॥

‘आपका घमके विषयमें आदर नहीं है और न अर्थसाधनमें ही आपको बुद्धि स्थिर है। नरेश्वर ! आप स्वच्छाचारों हैं। इसीलिये आपकी इन्द्रियाँ आपको कहीं भी खींच ले जाती हैं ॥ ३४ ॥

हृत्वा बाणेन काकुत्स्थ मामिहानपराधिनम् ।

किं वक्ष्यसि सतां पथ्ये कर्म कृत्वा जुगुप्सितम् ॥ ३५ ॥

‘काकुत्स्थ ! मैं सर्वथा निरपराध था तो भी यहाँ मुझे बाणसे मारनेका घृणित कर्म करके सत्पुरुषोंके बीचमें आप का कहेंगे ॥ ३५ ॥

राजह्वा ब्रह्मह्वा गोघ्नश्चोरः प्राणिवधे रतः ।

नास्तिकः परिवेत्ता च सर्वे निरयर्गाग्निनः ॥ ३६ ॥

‘राजाका वध करनेवाला, ब्रह्म-हत्यारा, गोघाती, चार, प्राणियोंकी हिंसामें तत्पर रहनेवाला, नास्तिक और पांशुता (नई भाँके आँवनाहित रहते अपना किनाह करनेवाला छोटा भाँ) ये सब-के-सब नरकगामी होते हैं ॥ ३६ ॥

भुजकक्ष कन्दर्यश्च मित्रघ्नो गुरुत्वाल्पगः ।

लोकं पापात्मनामेते गच्छन्ते नात्र सशयः ॥ ३७ ॥

‘तुमलोग स्वामेवात्मा, लोभो, मित्र-हत्यारा तथा गुरुपक्षो-गाधी—ये पापात्माओंके लोकमें जाते हैं— इसमें संशय नहीं है ॥ ३७ ॥

अधर्यं चर्म मे सज्जी रोमाज्जस्थि च वर्जितम् ।

अधक्ष्याणि च पीसानि त्वद्विधिधर्मचारिभिः ॥ ३८ ॥

‘हम चारोंका चमड़ा भी तो सत्पुरुषोंके धारण करने-योग्य नहीं होगा। हमारे रोम और हड्डियों भी वर्जित हैं (छूने योग्य नहीं हैं)। आप जैसे धर्मोपायों पुरुषोंके लिये मोक्ष का सदा ही आधार है, फिर किस लोभसे आपने मुझ वानरको अपने बाणोंका शिकार बनाया है ? ॥ ३८ ॥

पञ्च पञ्चवणा भक्ष्या ब्राह्मक्षत्रेण राघव ।

शतन्यक्तः साविधो गोधा शशः कूर्यश्च पञ्चमः ॥ ३९ ॥

‘रघुनन्दन ! त्रैलोक्यमें जिनको किसी कारणसे मोसाहार (जैसे निन्दनीय कर्म) में प्रवृत्ति हो गयी है, उनके लिये भी पाँच नरकागोष्ठी जीवोंमेंसे पाँच ही भक्षणार्थ योग्य बताये गये हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—गोघ्न, साही, गोह, कुरहा और पाँचवाँ कछुआ ॥ ३९ ॥

चर्म चार्जस्थि च मे राम न स्पृशन्ति मनीषिणः ।

अधक्ष्याणि च पीसानि सोऽहं पञ्चनखो हतः ॥ ४० ॥

‘श्रीराम ! मनीषी पुरुष मेरे (वानरके) चमड़े और हड्डियों का स्पर्श नहीं करते हैं। वानरके मांस भी सर्पोंके लिये अपाक्ष्य रहने हैं। इस तरह जिसका सब कुछ निन्दित है, ऐसा पाँच नरकात्म में आज आपके हाथसे मारा गया है ॥

तापया वाक्पमुक्तोऽहं सत्यं सर्वज्ञया हितम् ।

तदतिक्रम्य माहेन कालस्य वशमागतः ॥ ४१ ॥

‘मेरी वही ताप सर्वज्ञ है। उसने मुझे सत्य और हितकी

जान बनायी थी किन्तु माहवश उसका उल्लङ्घन करके मैं कालके अधीन हो गया ॥ ४१ ॥

त्वया नाथेन काकुत्स्थ न सनाथा वसुंधरा ।

प्रमदा शीलसम्पूर्णा पत्येव च विधर्मणा ॥ ४२ ॥

‘काकुत्स्थ ! जैसे मुझेला युवती पापात्मा पतिसे सुरक्षित नहीं हो पाती, उसी प्रकार आप-जैसे स्वामीको पाकर यह वसुंधरा सनाथ नहीं हो सकती ॥ ४२ ॥

शठो नैकृतिकः क्षुद्रो विध्याप्रश्रितमानसः ।

कथं दशरथेन स्वं जातः पापो महात्मना ॥ ४३ ॥

‘अप्य शठ (छिपे रहकर दूसरोंको अप्रिय करनेवाले), अपकारी, क्षुद्र और झूठ हो शान्तिचित्त बन रहनेवाले हैं महात्मा राजा दशरथने आप-जैसे पणोंको कैसे उत्पन्न किया ॥

छिन्नचारित्र्यकक्ष्येण सतां क्षर्माविवर्तिता ।

त्यक्तधर्माद्भुशेनाहं निहतो रामहस्तिना ॥ ४४ ॥

‘हाय ! जिसने सदाचारको रस्सा तोड़ डाला है, सत्पुरुषोंका धर्म एवं मर्यादाका उल्लङ्घन किया है तथा जिसने धर्मरूपी अह्मताको भी अवहलना कर दी है, उस रामरूपी हाथोंके द्वारा आज मैं मारा गया ॥ ४४ ॥

अशुभं चाप्यपुक्तं च सतां चैव विगर्हितम् ।

वक्ष्यरं घेनुशं कृत्वा सद्भिः सह समागतः ॥ ४५ ॥

ऐसा अशुभ, अनुचित और सत्पुरुषोंद्वारा निन्दित कर्म करके आप श्रेष्ठ पुरुषोंमें मिस्रमेंसे उनके सामने क्या कहेंगे।

उदासीनेषु योऽस्मासु विक्रमोऽयं प्रकाशितः ।

अपकारिषु ते राम नैव पश्यामि विक्रमम् ॥ ४६ ॥

‘श्रीराम ! हम उदासीन प्राणियोंपर आपने जो यह पराक्रम प्रकट किया है, ऐसा बल-पराक्रम आप अपना अपकार करनेवालोंपर प्रकट कर रहे हैं, ऐसा मुझे नहीं दिखायी देता ॥ ४६ ॥

दृश्यमानस्तु युध्येथा मया युधि नृपात्मज ।

अत्र वैवस्वने देवं पश्येस्त्वं निहतो मया ॥ ४७ ॥

‘राजकुमार ! यदि आप युद्धस्थलमें मेरी दृष्टिके सामने आकर मेरे साथ युद्ध करते तो आज मेरे द्वारा मारे जाकर सूर्यपुत्र यम देवताका दर्शन करते होते ॥ ४७ ॥

त्वयादृश्येन तु रणे निहतोऽहं दुरासदः ।

प्रसुप्तः पन्नगेनैव नरः पापवर्शं गतः ॥ ४८ ॥

‘जैसे किसी सोये हुए पुरुषको सर्प आकर डैस ले और वह मर जाय उसी प्रकार रणभूमिमें मुझ दृज्य वानरको आपने छिपे रहकर मारा है तथा ऐसा करके आप पापके भागी हुए हैं ॥

सुग्रीवप्रियकामेन यदहं निहतस्त्वया ।

मापेव यदि पूर्वं त्वमेतदर्थमचोदयः ।

मैथिलीमहमेकाहा तव चानीतवान् भवेः ॥ ४९ ॥

‘जिस उद्देश्यको लेकर सुग्रीवका प्रिय करनेको कामनासे आपने मग वध किया है, उन्हीं उद्देश्यको सिद्धिके लिये यदि

आपने पहले मुझसे ही कहा होता तो मैं मिथिलेशकुमारों
जानकीको एक ही दिनमें दूँदकर आपके पास रख देता ।

राक्षसं च दुरात्मानं तव भार्यापहारिणम् ।

कण्ठे बद्ध्वा प्रदद्यां तेऽनिहतं रावणं रणे ॥ ५० ॥

‘आपको पत्नीका अपहरण करवाले दुरात्मा राक्षस
रावणको मैं युद्धमें मार बिना ही उसके गलेमें रस्सी बाँधकर
पकड़ लाता और उसे आपके हकले कर देता ॥ ५० ॥

न्यस्तां सागरतोये वा पातालं वापि मैथिलीम् ।

आनयेयं नवलेशाघटकेतामश्ननीमिव ॥ ५१ ॥

‘जैसे मधुकटभट्टारा अपकृत हुई चैतायतने धुनिक
भागवान् हयग्रीवने इन्द्रा किया था, उसी प्रकार मैं
आपके आठवसे मिथिलेशकुमारों सीताको यदि वे
गामुद्रके जलमें या पातालमें गयीं मरी हों तो भी चर्याम
का दना ॥ ५१ ॥

युक्तं चत्वार्युपाद् राज्यं सुप्रीवः स्वर्गते मयि ।

अयुक्तं चतुर्धर्मेण त्वयाहं निहतो रणे ॥ ५२ ॥

मैं स्वर्गवासियों को जानकर सुप्रीव को यह राज्य प्राप्त

इत्यर्थं श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाण्डे किष्किन्धाकाण्डे सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

इति पञ्चाशद्विंशतिविधित आनराधायण आदिकाण्डे किष्किन्धाकाण्डे सप्तदशः सर्गः पूरा हुआ ॥ १७ ॥

—★—

अष्टादशः सर्गः

श्रीरामका वालीकी बातका उत्तर देने हुए उसे दिये गये दण्डका औचित्य बताना, वालीका निरुत्तर
होकर भगवान्से अपने अपराधक लिये क्षमा माँगते हुए अङ्गदकी रक्षाके लिये प्रार्थना

करना और श्रीरामका उसे आश्वासन देना

इत्युक्तं प्रभितं वाक्यं धर्माध्वंसहिते हितम् ।

पतये वालिवा राघो निहतेन विचेतमा ॥ १ ॥

न निग्रथमिवाहितं धुक्ततोयमिवाभ्युदम् ।

अन्तर्वाक्यं हरिश्चेष्टमुपशान्तामिवानलम् ॥ २ ॥

धर्माध्वगुणसम्पन्नं हरीश्वरमनुत्तमम् ।

अर्धशिक्षप्रस्तुता रामः पश्चाद् वालिनमब्रवीत् ॥ ३ ॥

‘वहाँ पार जानकर अन्त हुआ, वालिने जब इस प्रकार
क्षिणवाधाम, धार्मिक, अधिवास और हिनाधामसे युक्त
जाना जाने कहे, आश्रय किया, तब उन वालिका कहकर
भीन हुए आनन्दसे वालिसे आग्रहचन्द्रावीन धर्म, अर्थ और
शान्ति गुणोंसे युक्त परम उत्तम बात कही । उस समय वालि
प्रधानसीन सूर्य, जलज्ज्ञान आदिक और खुशी हुई आगके समान
श्रीराम प्रणीत प्राणा था । १—३ ॥

धर्माध्वं च कार्यं च सधर्मं चापि लौकिकम् ।

अविज्ञातं कथं वाल्यान्ध्यामिहाद्य विगर्हसे ॥ ४ ॥

(श्रीराम बोले—) ‘कानर ! धर्म, अर्थ, काम और लौकिक
सत्यकागर्ह तो तुम स्वयं ही नहीं जानते हो । फिर वाल्यान्ध्र
और अज्ञानों का क्या प्रतीति है ? ॥ ४ ॥

करोगे, वह तो उचित ही है । अनुचित इतना ही हुआ है कि
आपने मुझे रणभूमिमें अधर्मपूर्वक मारा है ॥ ५२ ॥

कामधर्मविधौ लोकः कालेन विनियुज्यते ।

क्षमं चेद्वक्ता प्राप्तमुत्तरं साधु चिन्त्यताम् ॥ ५३ ॥

‘यह जगत् कभी-न-कभी कालके अधीन होता ही है
इसका ऐसा स्वभाव ही है । अतः पाने ही मेरी मृत्यु हो जाय ।
इसके लिये मुझे खेद नहीं है, परन्तु मेरे इस तरह मारे जानका
यदि आपने उचित उत्तर दूँद निकाला हो तो उसे अच्छी तरह
सोच विचारकर कहिये ॥ ५३ ॥

इत्येवमुक्त्वा पशुशुक्लवक्त्रं

शराभिघातद् व्यधिनो महात्मा ।

समीक्ष्य रामं रविमनिकाशं

तूष्णीं बभूव वानरराजसूनुः ॥ ५४ ॥

‘ऐसा कहकर महामन्त्री वानरराजकुमार वाली सूर्यके
समान नेत्रों श्रीरामचन्द्रजीकी ओर देखकर चुप हो गया ।
इसका मंह मूक गया था और आणक आग्रहसे उसकी बड़ी
पीड़ा हो रही थी ॥ ५४ ॥

इत्यर्थं श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाण्डे किष्किन्धाकाण्डे सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

इति पञ्चाशद्विंशतिविधित आनराधायण आदिकाण्डे किष्किन्धाकाण्डे सप्तदशः सर्गः पूरा हुआ ॥ १७ ॥

—★—

अष्टादशः सर्गः

श्रीरामका वालीकी बातका उत्तर देने हुए उसे दिये गये दण्डका औचित्य बताना, वालीका निरुत्तर
होकर भगवान्से अपने अपराधक लिये क्षमा माँगते हुए अङ्गदकी रक्षाके लिये प्रार्थना

करना और श्रीरामका उसे आश्वासन देना

इत्युक्तं प्रभितं वाक्यं धर्माध्वंसहिते हितम् ।

पतये वालिवा राघो निहतेन विचेतमा ॥ १ ॥

न निग्रथमिवाहितं धुक्ततोयमिवाभ्युदम् ।

अन्तर्वाक्यं हरिश्चेष्टमुपशान्तामिवानलम् ॥ २ ॥

धर्माध्वगुणसम्पन्नं हरीश्वरमनुत्तमम् ।

अर्धशिक्षप्रस्तुता रामः पश्चाद् वालिनमब्रवीत् ॥ ३ ॥

‘वहाँ पार जानकर अन्त हुआ, वालिने जब इस प्रकार
क्षिणवाधाम, धार्मिक, अधिवास और हिनाधामसे युक्त
जाना जाने कहे, आश्रय किया, तब उन वालिका कहकर
भीन हुए आनन्दसे वालिसे आग्रहचन्द्रावीन धर्म, अर्थ और
शान्ति गुणोंसे युक्त परम उत्तम बात कही । उस समय वालि
प्रधानसीन सूर्य, जलज्ज्ञान आदिक और खुशी हुई आगके समान
श्रीराम प्रणीत प्राणा था । १—३ ॥

धर्माध्वं च कार्यं च सधर्मं चापि लौकिकम् ।

अविज्ञातं कथं वाल्यान्ध्यामिहाद्य विगर्हसे ॥ ४ ॥

(श्रीराम बोले—) ‘कानर ! धर्म, अर्थ, काम और लौकिक
सत्यकागर्ह तो तुम स्वयं ही नहीं जानते हो । फिर वाल्यान्ध्र
और अज्ञानों का क्या प्रतीति है ? ॥ ४ ॥

अपृष्टा बुद्धिमत्पन्नान् बुद्धानाचार्यसम्पत्तान् ।

सौम्य वानरवापल्यान् त्वं मां वक्तुमिहेच्छसि ॥ ५ ॥

‘सौम्य ! तुम आचार्यद्वारा सम्मानित बुद्धिमान्
बुद्ध पुरुषोंमें पूछे बिना ही—उससे धर्मक स्वरूपका
टंक-टोक समझ बिना ही जानसोचित चपलतावश पूछे
यहाँ दण्ड देना चाहते हो ? अथवा मुझपर आश्रय
करनेकी इच्छा रखते हो ॥ ५ ॥

इक्ष्वाकुणापियं भूमिः सशैलवनकानना ।

मृगपक्षिपनुष्याणां निग्रहानुग्रहेषुपि ॥ ६ ॥

‘पर्वत, वन और काननासे युक्त यह सारी पृथ्वी इक्ष्वाकु-
वंशी राजाओंकी है; अतः वे यहाँ पशु-पक्षी और मनुष्योंपर
दया करने और उन्हें दण्ड देनेका भी अधिकारी हैं ॥ ६ ॥

तो पालयति धर्मात्मा भरतः सत्यवानुजुः ।

धर्मकाधार्थतन्त्रजो निग्रहानुग्रहे रतः ॥ ७ ॥

‘धर्मात्मा राजा भरत इस पृथ्वीका पालन करते हैं ।
वे सत्यव्रत सत्य तथा धर्म अर्थ और कामके तत्वको
जान-करते हैं अतः दुष्टोंके निग्रह तथा साधु पुरुषोंके प्रति
अनुग्रह करनेमें तत्पर रहते हैं ॥ ७ ॥

नयश्च विनयश्चोभौ भस्मिन् सत्यं च सुस्थितम् ।

विक्रमश्च यथा दृष्टः स राजा देशकालवित् ॥ ८ ॥

‘जिसमें नीति, विनय, सत्य और पराक्रम आदि सभी राजोचित गुण यथावन्-रूपसे स्थित देखे जायें, वह देश-काल-तत्त्वको जाननेवाला राजा होता है (भरतमें ये सभी गुण विद्यमान हैं) ॥ ८ ॥

तस्य धर्मकृतादेशा वयमन्ये च पार्थिवः ।

धरामो वसुधां कृत्वा धर्मसन्तानमिच्छवः ॥ ९ ॥

‘भरतको भारसे हमें तथा दूसरे राजाओंको यह आदेश पड़ा है कि जगत्का धर्मका पालन और प्रसारक तब यत्र किया जाय। इसलिये हमलोग धर्मका प्रचार करनेकी इच्छामें सारी पृथ्वीपर विचरते रहते हैं ॥ ९ ॥

तस्मिन् नृपतिर्भार्य्ये भरते धर्मवत्सले ।

पालयन्धर्मिणो पृथ्वीं कश्चरेत् धर्मविप्रियम् ॥ १० ॥

‘राजाओंमें से प्रभु भरत धर्मपर अनुराग रखनेवाले हैं। वे सभी पृथ्वीका पालन कर रहे हैं। उनका रहन स्था इस पृथ्वीपर धर्म पाली धर्ममें निरुद्ध आचरण कर सकना है ? ॥ १० ॥

ते चर्य मार्गविभ्रष्ट स्वधर्म परमे स्थिताः ।

भरताज्ञो पुरस्कृत्य निगृहीतो यथाविधि ॥ ११ ॥

‘हम सब लोग अपने प्रभु धर्ममें दृढ़तापूर्वक स्थित रहकर भरतकी आज्ञाको समान रखते हुए धर्ममार्गमें भ्रष्ट पुरुषको निषिद्धक दण्ड देते हैं ॥ ११ ॥

त्वं तु संक्रिष्टधर्मश्च कर्मणा च विगर्हितः ।

कामनत्रप्रधानश्च न रिधो राजकर्षणि ॥ १२ ॥

‘तुम्हें अपने जीवनमें कर्ममें ही प्रधानता दे रखी थी। राजाओंके मार्गपर तुम कभी स्थिर नहीं रहे। तुम्हें सदा ही धर्मका बाधा पहुँचायी और कुं कर्मोंके कारण सम्पुण्याङ्गुला यत्ना तुम्हारे निन्दा की गयी ॥ १२ ॥

न्येष्टो धाता पिता चापि यश्च विद्यां प्रयच्छति ।

अधस्ते पितरो ज्ञेया धर्म च पथि धर्मिनः ॥ १३ ॥

‘सब भाई, पिता तथा जो शिक्षा देता है, वह गुरु—ये तीनों धर्ममार्गपर स्थित रहनवाले पुरुषोंके लिये पिताक नृत्य माननीय है, ऐसा समझना चाहिये ॥ १३ ॥

यत्नीयानात्मनः पुत्रः शिष्यश्चापि गुणोदितः ।

पुत्रवत्ते त्रयस्त्रिंशत् धर्मल्लेखात्र कारणम् ॥ १४ ॥

‘इसी प्रकार छात्र भाई, पुत्र और गुणवान् शिष्य—ये तीन पुत्रके तुल्य समझे जाने योग्य हैं। उनके प्रति ऐसा भाव रखनेमें धर्म ही कारण है ॥ १४ ॥

सूक्ष्मः परमदुर्ज्ञेयः सतां धर्मः प्रवङ्गम ।

हविस्थः सर्वभूतानामात्मा वेद शुभाशुभम् ॥ १५ ॥

‘वानर। सज्जनोका धर्म सूक्ष्म होता है, वह परम दुर्ज्ञेय है—इसे समझना अत्यन्त कठिन है। समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें विराजमान जो परमात्मा है, वे ही सबके शुभ

और अशुभको जानते हैं ॥ १५ ॥

चपलश्चपलैः सार्धं वानरैरकृतात्मभिः ।

जात्यन्य इव जात्यन्यैर्मन्यन् प्रेक्षसे नु किम् ॥ १६ ॥

‘तुम स्वयं भी चपल हो और चञ्चल चित्तवाले अजितात्मा वानरोंके साथ रहते हो; अतः जैसे कोई जन्मान्ध पुरुष जन्मान्धोंमें ही रास्ता पूछे, उसी प्रकार तुम उन चपल वानरोंके साथ परामर्श करते हो फिर तुम धर्मका विचार क्या कर सकते हो ?—उनके स्वरूपको कैसे समझ सकते हो ? ॥ १६ ॥

अहं तु व्यक्ततामस्य वचनस्य ब्रवीमि ते ।

नहि मां केवलं रोषात् त्वं विगर्हितुमर्हसि ॥ १७ ॥

‘मैंने यहाँ जो कुछ कहा है, उसका अभिप्राय तुम्हें स्पष्ट करके बताना है। तुम्हें केवल रोषवश मेरी निन्दा नहीं बननी चाहिये ॥ १७ ॥

तदेतत् कारणं धर्म्यं यदर्थं त्वं मया हतः ।

भ्रातृवर्तसि भार्यायां त्यक्त्वा धर्मं सनातनम् ॥ १८ ॥

‘मैंने तुम्हें क्यों मारा है ? इसका कारण सुनो और समझो। तुम सनातन धर्मका त्याग करके अपने छोटे भाईकी स्त्रोसे सहवास करते हो ॥ १८ ॥

अस्य त्वं धरमाणस्य सुग्रीवस्य महात्मनः ।

रुमायो वर्तसे कायात् सुधायां पापकर्मकृत् ॥ १९ ॥

‘इस महामना सुग्रीवके जेते-जो इसकी पत्नी रुमाकी, जो तुम्हारी पुत्रवधूक समान है, कामवश उपभोग करते हो। अतः पापाचारी हो ॥ १९ ॥

नहं व्यनीतस्य ते धर्मात् कामवृत्तस्य वानर ।

भ्रातृभार्याभिमर्शोऽस्मिन् दण्डोऽयं प्रतिपादितः ॥ २० ॥

‘वानर। इस तरह तुम धर्मसे भ्रष्ट हो स्वेच्छाचारी हो गये हो और अपने भाईकी स्त्रोको गले लगाते हो। तुम्हारे प्रसी अपराधके कारण तुम्हें यह दण्ड दिया गया है ॥ २० ॥

नहि लोकविन्दुस्य लोकवृत्तादपेयुषः ।

दण्डादन्यत्र पश्यामि निग्रहं हरिदूयध ॥ २१ ॥

‘वानरराज। जो लोकचरसे भ्रष्ट होकर लोकविरुद्ध आचरण करता है, उसे रोकने या रक्तपर लानेके लिये मैं दण्डके सिवा और कोई उपाय नहीं देखता ॥ २१ ॥

न च ते मर्षये पार्य क्षत्रियोऽहं कुलोद्भूतः ।

औरसी भगिनी चापि भार्या वाप्यनुजस्य यः ॥ २२ ॥

प्रचरेत नरः कामात् तस्य दण्डो वधः स्मृतः ।

‘मैं उनमें कुलमें उत्पन्न क्षत्रिय हूँ; अतः मैं तुम्हारे पापको क्षमा नहीं कर सकता। जो पुरुष अपनी कन्या, बहिन अथवा छोटे भाईकी स्त्रोके पास काम-बुद्धिसे जाता है, उसका वध करना ही उसके लिये उपयुक्त दण्ड माना गया है ॥ २२ ॥

भरतस्तु महीपालो वयं त्वत्देशवर्तिनः ॥ २३ ॥

त्वं च धर्मादतिक्रान्तः कथं शक्यमुपेक्षितुम् ।

‘हमारे राजा भरत हैं। हमलोग तो केवल उनके

आदेशका पालन करनेवाले हैं। तुम धर्ममें गिर गये हो, अतः तुम्हारी उपेक्षा कैसे की जा सकती थी ॥ २३ ॥

गुरुधर्मव्यतिक्रान्तं प्राज्ञो धर्मेण पालयन् ॥ २४ ॥
भरतः कामयुक्तानां निग्रहे पर्यवस्थितः ।

'विद्वान् राजा भरत महान् धर्मसे ग्रह हुए पुरुषको दण्ड देते और धर्मात्मा पुरुषका धर्मपूर्वक पालन करने हुए कामान्नक स्वेच्छावासी पुरुषोंके निग्रहमें तत्पर रहते हैं ॥ २४ ॥

अथ नु भरतादेशाद्यधिं कृत्वा हरिश्चर ।
त्वहिधान् भिश्रमर्षात्तान् निग्रहीतुं व्यवास्थिताः ॥ २५ ॥

'हरिश्चर । हमलोग तो भरतको आज्ञाको ही प्रमाण मानकर धर्मागवादाका उल्लङ्घन करनेवाले तुम्हारे-जैसे लोगोंको दण्ड देनेके लिये सदा तैयार रहते हैं ॥ २५ ॥

सुग्रीवण च मे सख्य लक्ष्मणेन यथा तथा ।
दारराज्यानिधितं च निःश्रेयस्करः स मे ॥ २६ ॥
प्रतिज्ञा च यथा क्त्वा तदा वानरसन्निधौ ।

प्रतिज्ञा च कथं शक्या मद्भिद्येनानवक्षिणुम् ॥ २७ ॥

सुग्रीवक साथ मेरी मित्रता चली है उनके प्रति मेरा बड़ी भाव है, जो लक्ष्मणके प्रति है वे अपनी स्त्री और राज्यकी प्राप्तिके लिये मेरी भलाई करनेके लिये भी कटिबद्ध हैं मैंने वानरोंके समीप इन्हें रखा और राज्य दिलवानेके लिये प्रतिज्ञा भी कर ली है। ऐसी दशामें मेरे-जैसा मनुष्य अपनी प्रतिज्ञाकी ओरसे कैसे दृष्टि हटा सकता है ॥ २६-२७ ॥

देविः कारणैः सर्वधर्माभिर्धर्मसंभ्रितः ।
शासनं तव यद् युक्तं तद् भवाननुमन्यताम् ॥ २८ ॥

ये सभी धर्मानुकूल महान् कारण एक साथ उपस्थित हो गये, जिनमें विवश होकर तुम्हें उचित दण्ड देना पड़ा है। तुम भी इसका अनुपादन करो ॥ २८ ॥

सर्वथा धर्म इत्येष ब्रह्मव्यस्तव निग्रहः ।
अथस्यायोपकर्मण्यं धर्ममेवानुपश्यता ॥ २९ ॥

'धर्मपर दृष्टि रखनेवाले मनुष्यके लिये मित्रका उपकार करना धर्म ही माना गया है, अतः तुम्हें जो यह दण्ड दिया गया है, वह धर्मके अनुकूल है। ऐसा हो तुम्हें समझना चाहिये

शक्यं स्वयापि तत्कार्यं धर्ममेवानुवर्तता ।
श्रूयते भवता गीतो ब्रह्मलोकौ चारित्र्यवत्सली ।

गृहीतो धर्मकुशलस्तथा तच्चरितं मया ॥ ३० ॥
'यदि राजा हाँकर तुम धर्मका अनुसरण करते तो तुम्हें भी

वही काम करना पड़ता, जो मैंने किया है। मनुने राजाचित्त मन्त्राचार्यकर प्रतिपादन करनेवाले दो ब्रह्मलोक कहे हैं, जो स्मृतियोंमें सुने जाते हैं और जिन्हें धर्मपालनमें कुशल पुरुषोंने स्मर स्वीकार किया। उन्होंने अनुसार इस समय यह मेरा कर्तव्य हुआ है (वे ब्रह्मलोक इस प्रकार हैं—) ॥ ३० ॥

राजभिर्धनदण्डाश्च कृत्वा पापानि मानवाः ।
निर्मला स्वर्गमाप्नान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥ ३१ ॥
शासनम् वापि मोक्षाद् वा स्तेनः पापान् प्रमुच्यते ।

राजा त्वशासन् पापस्य तदवाप्नोति किंत्विषम् ॥ ३२ ॥

'मनुष्य पाप करके यदि राजाके दिये हुए दण्डको भोग लेते हैं तो वे दुःख होकर पुण्यात्मा साधु पुरुषोंकी भाँति स्वर्गलोकमें जाते हैं। (चोर आदि पापी जब राजाके सामन उपस्थित हो उस समय उन्हें) राजा दण्ड दे अथवा दया करके छोड़ दे। चोर आदि पापी पुरुष अपने पापसे मुक्त हो जाता है, किन्तु यदि राजा पापीको उचित दण्ड नहीं देता तो उसे स्वयं उसके पापका फल भोगना पड़ता है * ॥ ३१-३२ ॥

आर्येण मम मान्यान्ना व्यसनं घोरमीप्सितम् ।
श्रमणेन कृते पापे यथा पापं कृतं स्वया ॥ ३३ ॥

'तुमने जैसा पाप किया है, वैसा ही पाप आर्यीन कालमें एक श्रमणने किया था। उसे मेरे पूर्वज महाराज मान्यात्मान दण्ड कटोरे दण्ड दिया था, जो शास्त्रके अनुसार अभीष्ट था। ॥ ३३ ॥

अन्यरपि कृतं पापं प्रमत्तैर्वसुधाधिपैः ।
प्रायश्चित्तं च कुर्वन्ति तेन तच्छास्यते राजः ॥ ३४ ॥

'यदि राजा दण्ड देनेमें प्रमाद कर आर्य तो उन्हें दूसरोंके किये हुए पाप भी भोगने पड़ते हैं तथा उनके लिये जब वे प्रार्थनित करने हैं तभी उनका दोष शाक्त होता है।

तदलं परितापेन धर्मतः परिकल्पितः ।
अथो वानरशार्दूल न वयं स्ववशे स्थिताः ॥ ३५ ॥

'अतः वानरश्रेष्ठ । पश्चात्ताप करनेमें कोई लाभ नहीं है। मनुष्य धर्मके अनुसार ही तुम्हारा वध किया गया है क्योंकि हमलोग अपने वशमें नहीं हैं (शास्त्रके ही अधीन हैं)।

शृणु चाप्यपरं भूयः कारणं हरिपुंगव ।
तच्छ्रुत्वा हि महद् वीर न मन्युं कर्तुमर्हसि ॥ ३६ ॥

'वानरशिरोमणे । तुम्हारे वधका जो दूसरा कारण है, उसे भी सुन लो। वीर । इस महान् कारणको सुनकर तुम्हें मेरे प्रति क्रोध नहीं करना चाहिये ॥ ३६ ॥

* मनुस्मृतिके ये दोनो ब्रह्मलोक किंचिन् गायन्तस्तु सायं इस प्रकार मिलते हैं—

राजाधः कृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः ।

निर्मलाः स्वर्गमाप्नान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥

शासनम् वा विमोक्षाद् वा स्तेनः स्तेनाद् विमुच्यते ।

अज्ञातित्वा तु ते राज्यं स्तनस्याप्नोति किंत्विषम् ॥

न मे तत्र मनस्तापो न मन्युर्हरिपुंगव ।
वागुराभिश्च पाशैश्च कूटैश्च विविर्धनराः ॥ ३७ ॥
प्रतिच्छत्राश्च दृश्याश्च गृह्णन्ति सुबहून् मृगान् ।
प्रधावितान् वा वित्रस्तान् विलब्धानतिविष्टितान् ॥ ३८ ॥

‘वानरश्रेष्ठ ! इस कार्यके लिये मेरे मनमें न तो संताप होता है और न खेद ही । मनुष्य (राजा आदि) बड़े-बड़े जाल बिछाकर फेंद फैलाकर और नाना प्रकारक कूट उपाय (गुप्त गड़बड़के निर्माण आदि) करके छिपे रहकर सामने आकर बहुत से मृगोंको धकड़ें करते हैं, धकेलें हैं वे भयभीत होकर भागते हैं या विवश होकर अत्यन्त निकट चले जाते हैं ।

प्रमत्तान्प्रमत्तान् वा नरा मांसाशिनो भृशम् ।
विध्यन्ति सिमुखांश्चापि न च दोषोऽत्र विद्यते ॥ ३९ ॥

‘मांसाहारो मनुष्य (क्षत्रिय) सावधान, असस्वभान अथवा विपुल होकर भोगनवास्तु पदार्थोंको भी अन्वय्य चागल कर दते हैं, किन्तु उनका लिय इस मृगयामें दोष नहीं होता ।

यान्ति राजर्षयश्चात्र मृगयां धर्मकांविदाः ।
तस्मात् त्वं निहतो युद्धे मया बाधेन खानर ।
असुध्यन् प्रतिपुध्यन् वा यस्माच्छाखाभृगो ह्यसि ॥ ४० ॥

‘यानर ! धर्मज्ञ राजर्षी भी इस जगत्में मृगयाक लिये जाते हैं और विशेष अनुष्ठानोंका बंध करते हैं, दुर्गन्धय मीन तुम्हें सूझमें आने बाणको निशान बनाया है, नुम मुझमें मुहु काल ध या नहीं काल ध, तुम्हारी बध्नात काल अन्ध नहीं आता, क्योंकि तुम शास्त्रानुग हैं (और मृगया करनेका अधिकार है) ॥ ४० ॥

दुर्लभस्य च धर्मस्य जातिवत्स्य शुभस्य च ।
राजानो वानरश्रेष्ठ प्रदानारो न संशयः ॥ ४१ ॥

‘वानरश्रेष्ठ ! राजालेख दुर्लभ धर्म, जावन और लैविक आधुनिकके देवताके होते हैं, दुर्लभ मन्द्य नहीं है ॥ ४१ ॥

तान् न हिम्यात् साक्रोशश्चाक्षिपन्नाप्रियं वदन् ।
देवा मानुषरूपेण चरन्त्येते महीतले ॥ ४२ ॥

अतः उनकी हिमा न करे, उनकी निन्दा न करे, उनके प्रति आक्षेप भी न करे और न उनसे अप्रिय वचन हो बोले, क्योंकि वे जगत्में देवता हैं जो मनुष्यरूपमें इस पृथ्वीपर विचरते रहते हैं ॥ ४२ ॥

त्वं तु धर्मप्रविज्ञाय केवलं रोषमास्थितः ।
विमृशयति मां धर्मं विमृषेतामहे स्थितम् ॥ ४३ ॥

‘तुम तो धर्मक स्वरूपको न समझकर केवल रोषक वशीभूत हो गये हो इसलिये पिता-पितामहोंके धर्मपर स्थित रहनेवाले मया निन्दा कर रहे हो ॥ ४३ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण वाली प्रव्यथितो भृशम् ।
न दोषं राघवे दृष्ट्वा धर्मोऽधिगतनिश्चयः ॥ ४४ ॥

श्रीरामक ऐसा कहनाम वालाक मनमें बड़ी व्यथा हुई । इस धर्मके तत्त्वका निश्चय हो गया । उसने श्रीरामचन्द्रजीके

दोषका चिन्तन त्याग दिया ॥ ४४ ॥

प्रत्युवाच ततो रामं प्राञ्जलिर्वानरेश्वरः ।

यत् त्वमास्य नरश्रेष्ठ तत् तथैव न संशयः ॥ ४५ ॥

इसके बाद वानरराज खालीने श्रीरामचन्द्रजीसे हाथ जोड़कर कहा—‘नरश्रेष्ठ ! आप जो कुछ कहते हैं, विलकुल ठीक है, इसमें संशय नहीं है ॥ ४५ ॥

प्रतिवक्तुं प्रकृष्टे हि नापकृष्टस्तु चाकृष्यात् ।

यद्युक्तं मया पूर्वं प्रमादाद् वाक्यमप्रियम् ॥ ४६ ॥

तत्रापि खलु मां दोषं कर्तुं नाहंसि राघव ।

त्वं हि दृष्टार्थमव्यक्तः प्रजानां च हिते रतः ।

कार्यकारणमिद्धो च प्रसन्ना बुद्धिरभ्यया ॥ ४७ ॥

‘आप-जैसे श्रेष्ठ पुष्पको मुझ-जैसा निम्न श्रेणीका प्राणी उचित उत्तर नहीं दे सकता; अतः मैंने प्रमादवश पहलें जो अनुचित बात कह डाली है उसमें भी आपको मेरा अपराध नहीं मानना चाहिये । रामचन्द्र ! आप परमार्थ तत्वके यथार्थ ज्ञाता और प्रजाजनकोंके हितमें तत्पर रहनेवाले हैं । आपको बुद्धि कार्य-कारणक विषयमें निर्घात एवं निर्मल है ॥

मामप्यवगतं धर्माद् व्यक्तिकान्तपुरस्कृतम् ।

धर्मसंहितया वाचा धर्मज्ञ परिपालय ॥ ४८ ॥

‘धर्मज्ञ ! मैं धर्मधष्ट प्राणियोंमें अग्रगण्य हूँ और इसी रूपमें मेने गर्वध प्रविष्टि है तो भी आज आपकी शरणमें आया हूँ अपना धर्मतन्त्रको आपोमें आज मेने भी रक्षा कीजिये ।

वाच्यसंस्कृष्टकण्ठस्तु वाली सार्तरवः शर्नः ।

उवाच रामं सम्प्रेक्ष्य पङ्कलग्न इव द्विषः ॥ ४९ ॥

इसके कहते-कहते आसुआम वालाका गला भर आया और वह काँधड़में फँस हुए हाथोंकी तरह आर्तनाद करके श्रीरामकी ओर देखता हुआ धीरे-धीरे बोला ॥ ४९ ॥

न चात्मानमहं शोचं न तारो नापि बान्धवान् ।

यथा पुत्रे गुणज्येष्ठमङ्गदं कनकाङ्गदम् ॥ ५० ॥

‘भगवन् ! मुझे अपने लिये, ताराके लिये तथा बन्धु-बान्धवोंके लिये भी अपना शोक नहीं होता है, जितना स्वर्णका अङ्गद धारण करनेवाले श्रेष्ठ गुणसम्पन्न पुत्र अङ्गदके लिये हो रहा है ॥ ५० ॥

स मयादर्शनाद् दीनो बाल्यान् प्रभृति स्खलितः ।

तदाक इव पीताम्बुलपशोर्बं गमिष्यति ॥ ५१ ॥

‘मैंने बचपनसे ही उसका बड़ा दुल्हर किया है, अब मुझे न देखकर वह बहुत दुःखी होगा और जिम्मेका जल पी लिया गया हो, उस कलत्रकी तरह सुख जायगा ॥ ५१ ॥

बालश्चाकृतबुद्धिश्च एकपुत्रश्च मे प्रियः ।

तारय्यो राम भवता रक्षणीयो महाबलः ॥ ५२ ॥

श्रीराम ! वह अभी बालक है । उसकी बुद्धि परिपक्व नहीं हुई है । मग इकलौता बेटा होनेके कारण ताराकुमार अङ्गद मुझे बड़ा प्रिय है । आप मेरे उस महाबल पुत्रको रक्षा कीजियेगा ॥

सुग्रीवे चाद्भुदे र्वं विधत्स्व मतिमुत्तमाम् ।

त्वं हि गोप्ता च शास्ता च कार्याकार्यविधौ स्थितः ॥ ५३ ॥

‘सुग्रीव और अद्भुद दोनोंके प्रति आप सन्दाय रहें। अब आप ही इन लोगोंके रसक तथा इन्हें कर्तव्य-अकर्तव्यकी शिक्षा देनेवाले हैं ॥ ५३ ॥

या से नरपते क्षुत्तिर्भरते लक्ष्मणो च या ।

सुग्रीवे चाद्भुदे राजंस्तां चिन्तयितुमर्हसि ॥ ५४ ॥

‘राजन् ! नरेश्वर ! भरत और लक्ष्मणके प्रति आपका जैसा वर्तव्य है, वही सुग्रीव तथा अद्भुदक प्रति भी होना चाहिये। आप तारी भावसे इन दोनोंका स्मरण करें ॥ ५४ ॥

महोदकतरोवौ तौ यथा तारां सपस्विनीम् ।

सुग्रीवा मावमन्येत तथावस्थानुमर्हसि ॥ ५५ ॥

‘बेचारी तथाकी बड़ी शोकनीय अवस्था हो गयी है। मैं ही अपराधसे उसे भी अपराधिनो समझकर सुग्रीव उसका निराकार न करे, इस बातकी भी व्यवस्था कीजियेगा ॥ ५५ ॥

त्वया ह्यनुगृहीतेन शक्यं राज्यमुपार्जितम् ।

त्वद्गो वर्तमानेन तव चिन्तानुवर्तिना ॥ ५६ ॥

वाक्ये हि तं वार्जयितुं यत्सुधा चापि शास्त्रिणम् ।

‘सुग्रीव आपका कृपापात्र होकर ही इस राज्यका यथार्थ भावसे पोषण कर सकता है। आपके अधीन रहकर आपके चिन्तक अनुसरण करनेवाला पूरा राजा और पृथ्वीका भी राज्य प्राप्त करना और उसका अक्षरी तरह पालन कर सकता है ॥ ५६ ॥

त्वयोऽहं बधमाकाङ्क्षन् चार्जमाणोऽपि तारया ॥ ५७ ॥

सुग्रीवेण सह भ्रात्रा ह्यनुपुष्टमुपागतः ।

‘मैं चाहता था कि आपके हाथसे मेरा बध हो, इमलिये तागके मना करनेपर भी मैं अपने भाई सुग्रीवके साथ ह्यनुपुष्ट करनेके लिये आया आया’ ॥ ५७ ॥

इत्युक्त्वा चानरो राम विरराम हरेश्वरः ॥ ५८ ॥

स तस्मात्प्रसवद् रामो वालिनं व्यक्तदर्शनम् ।

साधुसम्ममथा वाचा धर्मतत्त्वार्थयुक्तया ॥ ५९ ॥

न संतापस्त्वया कार्य एतदर्थं प्रवक्ष्मि ।

न त्वयं भवता विख्या नाप्यात्मा हरिसनम ।

त्वयं धर्माद्विशेषेण धर्मतः कृतनिश्चयः ॥ ६० ॥

श्रीरामचन्द्रजीसे ऐसा कहकर चानरगण वालो चुप हो गया। उस समय उसके ज्ञानदर्शित्वका विकास हो गया था। श्रीरामचन्द्रजीने धर्मक यथार्थ स्वरूपको प्रकट करनेवाला साधु पुरुषोंद्वारा प्रशंसित वाणीसे उससे कहा—‘चानरभट्ट ! तुम्हें इसके लिये संताप नहीं करना चाहिये। कषिप्रवर ! तुम्हें हमारे और अपने लिये भी चिन्त करनको आवश्यकता नहीं है; क्योंकि हमलोग तुम्हारे अपेक्षा विशेषज्ञ हैं, इमलिये

हमने धर्मानुकूल कार्य करनेका ही निश्चय कर रखा है ॥

दण्ड्ये यः पातयेद् दण्डं दण्ड्यो यश्चापि दण्डयते ।

कार्यकारणसिद्धार्थावुभौ तौ नावसीदतः ॥ ६१ ॥

‘जो दण्डनीय पुरुषको दण्ड देता है तथा जो दण्डका अधिकारी होकर दण्ड भोगक है, उनमेंसे दण्डनीय व्यक्ति अपने अपराधके फलरूपमें शासकका दिया हुआ दण्ड भोगकर तथा दण्ड देनेवाला शासक उसके उस फलभोगमें कारण—निमित्त बनकर कृतार्थ हो जाते हैं—अपना-अपना कर्तव्य पूरा कर लेनेके कारण कर्मरूप सृणसे मुक्त हो जाते हैं। अतः वे दुःखी नहीं होते।

तद् भवन् दण्डसंयोगादस्माद् विगतकल्मषः ।

गतः स्वा प्रकृति धर्म्या दण्डदिष्टेन चर्तना ॥ ६२ ॥

‘तुम इस दण्डको पाकर पापरहित हुए और इस दण्डका विधान करनेवाले शासकद्वारा कथित दण्डग्रहणरूप मार्गसे हो चलकर तुम्हें धर्मानुकूल शुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति हो गयी।

त्वज्ज शोकं च मोहं च भयं च हृदये स्थितम् ।

त्वया विधाने हर्यश्य न शक्यमनियर्तितम् ॥ ६३ ॥

‘अब तुम अपने हृदयमें स्थित शोक, मोह और भयका त्याग कर दो। चानरभट्ट तुम दैविक विधानको नहीं लांघ सकते ॥

यथा त्वय्यङ्गुले नित्यं वर्तते चानरेश्वर ।

तथा वर्तत सुग्रीवे मयि चापि न संशयः ॥ ६४ ॥

‘चानरेश्वर ! कुमार अद्भुद तुम्हारे जीवित रहनेपर जैसा था, उसी प्रकार सुग्रीवके और मेरे पास भी सुग्रीवसे रहेगा, इसमें संशय नहीं है’ ॥ ६४ ॥

स तस्य वाक्ये मधुरं महात्मनः

समाहितं धर्मपथानुवर्तितम् ।

निशम्य रामस्य रणावमर्दिनो

वचः सुयुक्तं निजगाद चानरः ॥ ६५ ॥

‘तुझमें शत्रुका मानमदन करनेवाले महात्मा श्रीरामचन्द्रजीका धर्ममार्गके अनुकूल और मानसिक शाङ्काओंका समाधान करने-वाला मधुर वचन सुनकर चानर वालोने यह सुन्दर युक्तियुक्त वचन कहा— ॥ ६५ ॥

शराभितप्तेन विचेतसा मया

प्रभाषितस्यै यदजानता विभो ।

इदं भवेन्श्रोत्रमधीमविक्रम

प्रसादितस्त्वं क्षम मे नरेश्वर ॥ ६६ ॥

‘प्रभो ! देवराज इन्द्रके समान धर्मकर पराक्रम प्रकट करनेवाले नरेश्वर ! मैं आपके वाणसे पीड़ित होनेके कारण अचेत हो गया था। इमलिये अनजानमें मैंने जो आपके प्रति कठोर बात कह डाली है, उसे आप क्षमा कीजियेगा इसके लिये मैं प्रार्थनापूर्वक आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायण बाल्योकांये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे अष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीमाल्योकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें अठारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १८ ॥



एकोनविंशः सर्गः

अङ्गदसहित ताराका भागे हुए खानरोसे बात करके वालीके समीप
आना और उसकी दुर्दशा देखकर रोना

स खानरमहाराजः शयानः शरयोडितः ।
प्रत्युक्तो हेतुमहावर्षेर्नोत्तरं प्रत्यपद्यत ॥ १ ॥

खानरोक महाराज वाली बाणसे घोंड़ित होकर भूमिपर
पड़ा था । श्रीरामचन्द्रजीके युक्तियुक्त चर्चनोंद्वारा अपनी
आत्माका उत्तर पाकर उसे फिर कोई जवाब न सूझा ॥ १ ॥

अधमधिः परिभिन्नाङ्गः पादपराहतो मृगम् ।
रामघातेन काकान्तो जीवितान्ते मुमोह सः ॥ २ ॥

अधमधिकाँ मार गट्टने उसके अङ्ग टूट-फूट गये थे ।
मृगोंके आपातसे भी वह बहुत डायल हो गया था और
श्रीरामके बाणसे भ्रातृवत् होकर तो वह जीवितक अन्तवत्सलमे
ही पहुँच गया था । उस समय वह भूचिन्तित हो गया ॥ २ ॥

तं भार्या घाताक्षेण रामदत्तेन सयुगे ।
हता भ्रवगशार्दूलं तारा शुभाश चालिनम् ॥ ३ ॥

तसकी पत्नी भागने सुना कि युद्धस्थलमें खानरश्रेष्ठ वाली
श्रीरामके चरकागे हुए बाणसे मारे गये ॥ ३ ॥

सा सपुत्राश्रित्य भुत्वा वर्षे धनुः सदानगम् ।
निष्पत्तान् भृशं तस्माद्विप्रा गिरिकन्दरात् ॥ ४ ॥

भागने स्वार्थिके बंधक अत्यन्त भयकर एवं अप्रिय
समाचार सुनकर वह बहुत तन्निव हो गयी और अपने पुत्र
अङ्गदको साथ ले उस पर्यंत की कन्दराय जाकर निकली ।
वै त्वङ्गदपरीवारा खानरा हि महाबलाः ।
ते संक्राम्युक्तमालोक्य रामं ब्रूता प्रमुहुः ॥ ५ ॥

अङ्गदकी चारों ओरसे घेरकर उनकी रक्षा करनेवाले आ
गढ़वाली चार थे, वे श्रीरामचन्द्रजीको घनुष लिये देख
गकपीन हाकर भाग चले ॥ ५ ॥

सा दर्शं ततस्त्रस्तान्, हरीनापततो द्रुतम् ।
पुष्पादेव परिभ्रष्टान् मृगान् निहतयुधधान् ॥ ६ ॥

ताराय वंगसे भागकर भागे हुए तब भयभीत खानरोकी
तारा । वे जानबे धूधपति मारे गये हैं, उन मृगभ्रातृ मृगोंके
समान जान पड़ते थे ॥ ६ ॥

तानुवाच समामाद्य दुःस्वितान् दुःस्विता सती ।
शपथिभामितान् सर्वा निनुजानिखंधुधिः ॥ ७ ॥

वै सत्य खानर श्रीरामसे इस प्रकार हरे हुए थे, मानो उनके
बाण इनके पीछे आ रहे हों । उन दुःस्त्री खानरोके पास
गढ़वाकर रत्नों-साम्पत्ती तारा और भी दुःस्त्री हो गयी तथा
उनसे इस प्रकार बोली— ॥ ७ ॥

खानरा राजसिंहस्य यस्य यूयं पुरःसराः ।
ते विहाय सुविप्रस्ताः कस्माद् द्रवन् दुर्गताः ॥ ८ ॥

‘खानरो ! तुम तो इन राजसिंह वालीके आगे-आगे
चलनेवाले थे । अब उन्हें छोड़कर अत्यन्त भयभीत हो
दुर्गतिमें पड़कर क्यों भागे जा रहे हो ? ॥ ८ ॥

राज्यहेतोः स चेद् भ्राता भ्रात्रा क्रूरेण पातितः ।
रामेण प्रहितैर्दूरान्पार्श्वेणैर्दूरपातिभिः ॥ ९ ॥

‘यदि राज्यक लाभसे उस क्रूर भाई सुप्रोवने श्रीरामको
प्रेषित करके उनके द्वारा दूरसे चलाये हुए और दूरतक
जानेवाले बाणोंद्वारा अपने भाईको मरवा दिया है तो तुमलोग
क्यों भागे जा रहे हो ? ॥ ९ ॥

कपिपत्न्या वचः श्रुत्वा कथयः कामरूपिणः ।
प्राप्तकालमविशिल्लपुत्रवृन्दमङ्गनाम् ॥ १० ॥

वालीकी पत्नीका वह वचन सुनकर इच्छानुसार रूप धारण
करनेवाले इन खानरोके कन्याणमयी तारा देवीको सम्भाषित करके
सर्वसम्पत्तिसे सहा शब्दाये वह समयोचित बात कही— ॥

जीवपुत्रे निवर्तस्व पुत्रं रक्षस्व चाङ्गदम् ।
अन्तको रामरूपेण हत्वा नयति चालिनम् ॥ ११ ॥

‘देख ! अभी तुम्हारा पुत्र जोवित है । तुम लौट चलो
और अपने पुत्र अङ्गदकी रक्षा करो । श्रीरामका रूप धारण
करके स्वये समगज आ पहुँचा है, जो वालीका मारकर अपने
साथ ल जा रहा है ॥ ११ ॥

क्षिप्रान् वृक्षान् समाश्रित्य विपुलाश्च तथा शिलाः ।
वाली वज्रसमैर्बाणैर्वज्रेणैव निपतितः ॥ १२ ॥

‘वालीके चारों ओरसे घेरकर उनकी रक्षा करनेवाले आ
गढ़वाली चार थे, वे श्रीरामचन्द्रजीको घनुष लिये देख
गकपीन हाकर भाग चले ॥ ५ ॥

अभिभूतमिदं सर्वं विवृतं खानरं बलम् ।
अस्मिन् भ्रवगशार्दूले हने शक्तसमप्रभे ॥ १३ ॥

इन्के समान तेजस्वी इन खानरश्रेष्ठ वालीके मारे जानपर
यह सारी खानर-सेना श्रीरामसे पराजित-सी होकर भाग
चुकी हुई है ॥ १३ ॥

रक्षयतां नगरं शूरैरङ्गदश्चाभिषिष्यताम् ।
पदस्थं चालिनः पुत्रं भजिष्यन्ति भ्रवंगमाः ॥ १४ ॥

‘तुम शूरवीरद्वारा इस नगरकी रक्षा करो । कुमार अङ्गदका
विक्रिन्धाक गज्यपर अभिषेक कर दो । राजसिंहसमनपर बैठे हुए
वालिकुमार अङ्गदको सभी खानर सेवा करेंगे ॥ १४ ॥

अश्वचारुचित् स्थानमिह ते रुचिगनने ।
आविशन्ति च दुर्गाणि क्षिप्रमर्ह्य खानराः ॥ १५ ॥

अभार्याः सहभार्याश्च सन्त्यत्र खनचाग्निः ।
लुब्धभ्यो विप्रलब्धेभ्यस्तेभ्यो नः सुमहद्वयम् ॥ १६ ॥

‘तुम शूरवीरद्वारा इस नगरकी रक्षा करो । कुमार अङ्गदका
विक्रिन्धाक गज्यपर अभिषेक कर दो । राजसिंहसमनपर बैठे हुए
वालिकुमार अङ्गदको सभी खानर सेवा करेंगे ॥ १४ ॥

अश्वचारुचित् स्थानमिह ते रुचिगनने ।
आविशन्ति च दुर्गाणि क्षिप्रमर्ह्य खानराः ॥ १५ ॥

अभार्याः सहभार्याश्च सन्त्यत्र खनचाग्निः ।
लुब्धभ्यो विप्रलब्धेभ्यस्तेभ्यो नः सुमहद्वयम् ॥ १६ ॥

‘तुम शूरवीरद्वारा इस नगरकी रक्षा करो । कुमार अङ्गदका
विक्रिन्धाक गज्यपर अभिषेक कर दो । राजसिंहसमनपर बैठे हुए
वालिकुमार अङ्गदको सभी खानर सेवा करेंगे ॥ १४ ॥

अश्वचारुचित् स्थानमिह ते रुचिगनने ।
आविशन्ति च दुर्गाणि क्षिप्रमर्ह्य खानराः ॥ १५ ॥

अभार्याः सहभार्याश्च सन्त्यत्र खनचाग्निः ।
लुब्धभ्यो विप्रलब्धेभ्यस्तेभ्यो नः सुमहद्वयम् ॥ १६ ॥

‘तुम शूरवीरद्वारा इस नगरकी रक्षा करो । कुमार अङ्गदका
विक्रिन्धाक गज्यपर अभिषेक कर दो । राजसिंहसमनपर बैठे हुए
वालिकुमार अङ्गदको सभी खानर सेवा करेंगे ॥ १४ ॥

अश्वचारुचित् स्थानमिह ते रुचिगनने ।
आविशन्ति च दुर्गाणि क्षिप्रमर्ह्य खानराः ॥ १५ ॥

अभार्याः सहभार्याश्च सन्त्यत्र खनचाग्निः ।
लुब्धभ्यो विप्रलब्धेभ्यस्तेभ्यो नः सुमहद्वयम् ॥ १६ ॥

‘तुम शूरवीरद्वारा इस नगरकी रक्षा करो । कुमार अङ्गदका
विक्रिन्धाक गज्यपर अभिषेक कर दो । राजसिंहसमनपर बैठे हुए
वालिकुमार अङ्गदको सभी खानर सेवा करेंगे ॥ १४ ॥

'अथवा सुमुखि ! अब इस नगरमें तुम्हारा रहना हमें अच्छा नहीं जान पड़ता, क्योंकि किष्किन्धाके दुर्गमें स्थानामें अभी सूर्यावपक्षाय वानर गोध्र प्रवेश करंगे । वहाँ बहुत-से ऐसे वनचारी वानर हैं, जिनमें कुछ तो अपनी त्रियोंके साथ हैं और कुछ स्त्रियोंसे विछुड़ हुए हैं । उनमें राज्यविषयक लोभ पैदा हो गया है और पतले हमलोंमें दूसरा राज्य-भूखसे बर्धित किया गया है । अब इस समय उन सब हमलोंवाले महान् भय प्राप्त हो सकना हैं' ॥ १५-१६ ॥

अल्पान्तरगतानां तु भूत्वा वचनमङ्गना ।

आत्मनः प्रतिरूपं मा बभ्राये चारुतासिनौ ॥ १७ ॥

अभी थोड़ी ही दूर तक आये हुए उन वानरोंकी यह बात सुनकर मनोहर हंसवाली कल्याणी तरुने उन्हें अपने अनुस्व उत्तर दिया— ॥ १७ ॥

पुत्रेण यम किं कार्यं राज्यं नापि किमात्मना ।

कार्पासितं महाभाग तस्मिन् भर्तारि नश्यति ॥ १८ ॥

'वानरों ! जब मेरे महाभाग पण्डित कार्पासित काली हो जाते हैं, तब मुझे भूखसे, राज्यसे तथा अपने इस जोखिमसे भी क्या प्रयोगन है ?' ॥ १८ ॥

पादभूलं गमिष्यामि मध्ये जाहं महात्मनः ।

योऽग्रे रामप्रयुक्तं न शोणे विनिपातितः ॥ १९ ॥

'मैं तो, जिनके श्रीरामके चलाये हुए बाणों में मार गिराया है, उन महात्मा वालोंके चरणोंके समीप ही जाऊँगी' ॥ १९ ॥

गणसङ्ख्यां प्रदृष्ट्वा रुदनी शोकमुच्छिन्ता ।

शिरःशोरश्वं ग्राह्युगो दुःखेन सधभिघ्ननी ॥ २० ॥

ऐसा कहकर शोकसे व्याकुल हुई तारा रोती और अपने गतौ हाथोंसे दुःखपूर्वक गिर एवं छाती पीटती हुई बले बोधसे लौटती ॥ २० ॥

गा व्रजन्ती हृदगांथं पतिं निपतिते भुवि ।

हस्तादे दानयेन्द्राणां समग्नेधुनिवर्तिनाम् ॥ २१ ॥

आगे बढ़ती हुई तारने देखा, जो युद्धमें कभी पीठ न दिखानेवाले दानयराजोंका भी वध करनमें समर्थ थे, वे भी पति गानरगत काली पृथ्वीपर पड़ चुके हैं ॥ २१ ॥

क्षेपार्थं धर्मतेन्द्राणां वज्राणाधिव बालसम् ।

महानाससमाविष्टं महामेघीधनिःस्वनम् ॥ २२ ॥

शक्ततुल्यपराक्रान्तं बृहद्वीर्यं च नमः ।

नर्दन्ते नर्दन्तां भीमं हारं शूरेण पातितम् ॥ २३ ॥

शार्दूलैर्नामिषस्यार्थे पृथगराजमिवाहतम् ॥ २३ ॥

वह चलानेवाले इन्द्रके समान जो रणभूमिमें बड़े-बड़े वीरोंकी सत्ताकर फैलते थे, जिनके कंगोंमें प्रचण्ड अधिका

समावेश था, जिनका सिंहनाद महान् मेघोंकी गम्भीर गर्जनाकी भी तिरस्कृत कर देता था तथा जो इन्द्रके तुल्य पराक्रमी थे, वे ही इस समय वर्षा करके शान्त हुए बादलोंके समान चंद्रामें घिरे हो गये हैं । जो स्वयं गर्जना करके गर्जनेवाले वीरोंके मनमें भय उत्पन्न कर देते थे, वे शूरवीर काली एक दूसरे शूरवीरोंके द्वारा मार गिराये गये हैं । जैसे धामके लिये एक मिहने दूसरे मिहकी मार डाली हो, उसी प्रकार राज्यके लिये अपने भाईके द्वारा ही इनका वध किया गया है ॥ २२-२३ ॥

अर्चितं सर्वलोकस्य सपत्नाकं सचेदिकम् ।

नागहेतोः सुपर्णेन धेत्यमुन्मथितं यथा ॥ २४ ॥

जो सब लोकोंके द्वारा पूजित हो, जहाँ पत्ताका फहराया गया हो तथा जिनके पास दवनाकी बड़ी शोभा पाली हो, उस चंचल वृक्ष या देवानलयको वहाँ छिपे हुए किसी नागको पकड़नेके लिये यदि गरुड़ने मथ डाला हो—नष्ट-भष्ट कर दिया हो तो उसको जैसी दुःखस्था देखी जाती है, वैसी ही दया आज कालीकी हो रही है (यह सब तारने देखा) ॥ २४ ॥

अवष्टभ्याकलिहन्तं ददर्श धनुरुर्जिमम् ।

राधे रामानुजं चैव धर्तुश्चैव तथानुजम् ॥ २५ ॥

आगे जानेपर उसने देखा, अपने सेजस्वी धनुषको धरते-पर टंककर उसके सहाय श्रीरामचन्द्रजी खड़े हैं । साथ ही उनके छोटे भाई लक्ष्मण हैं और वहाँ पतिके छोटे भाई सुग्रीव भी मौजूद हैं ॥ २५ ॥

तान्तीत्य समासाद्य भर्तारं निहतं रणे ।

समीक्ष्य व्यथिता भूमौ सम्भ्रान्ता निपपात ह ॥ २६ ॥

उन सबको धर करके वह रणभूमिमें घायल पड़े हुए अपने पतिके पास पहुँची । उन्हें देखकर उसके मनमें बड़ी श्रद्धा हुई और वह अत्यन्त व्याकुल होकर पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ २६ ॥

युप्तेव पुनरुत्थाद्य आर्यपुत्रेति चादिनी ।

रुरोद सा पतिं दृष्ट्वा संवीतं मृत्युदामभिः ॥ २७ ॥

फिर याने वह मोकर उठी हो, इस प्रकार 'हा आर्य-पुत्र कतकर मृत्युपाशसे बंधे हुए पतिको ओर देखती हुई रोने लगी ॥ २७ ॥

तामवेक्ष्य तु सुग्रीवः क्रोशस्तीं कुररीमिव ।

विषादमगमन् कष्टं दृष्ट्वा चाङ्गदमागतम् ॥ २८ ॥

उस समय कुररीके समान करुण क्रन्दन करती हुई तारा तथा उसके साथ आये हुए अङ्गदको देखकर सुग्रीवको बड़ा कष्ट हुआ । वे विषादमें डूब गये ॥ २८ ॥

इत्यादि श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे एकोनविंशः सर्गः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिर्माते आर्यरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १९ ॥

विंशः सर्गः

ताराका विलाप

राधचापविसृष्टेन शरेणान्तकरणेन तम् ।

दृष्ट्वा विनिहतं धूमौ तारा ताराधिपानना ॥ १ ॥

सा समासाद्य भर्तारं पर्यपूजत भाषिणी ।

इषुपाभिहतं दृष्ट्वा चालिनं कुञ्जरोपमम् ॥ २ ॥

वानरे पर्वतिन्द्राभ शोकसंतप्तमानसा ।

तारा तस्मिन्वोन्मूलं पर्यदिष्यतातुरा ॥ ३ ॥

चन्द्रगुप्तो ताराने देखा, मेरे स्वामी वानराज वालो श्रीर भक्तगोपी धनुषसे छूट हुए प्राणान्तकारी बाणसे घायल होकर धरतीपर पड़ा है, उस अवस्थामें उनका पास पहुँचकर वह भाषिणी उनको शरीरसे लिपट गयी । जो अपने शरीरमें गजराज कीव गिरिगङ्गाको भी मान बरते थे उस वानराजाको बाणसे आहत होकर उड़के उड़के हुए युधका भाँति धरापायी हुआ देख तागाथा हृदय शोकसे संतप्त हो उठा और वह आगुर होकर विलाप करने लगी— ॥ १—३ ॥

रणे वासुधामिक्रान्त प्रधीर प्रवतां वर ।

किमिदानीं पुरोभागामद्य त्वं नाभिधायसे ॥ ४ ॥

‘रणमें भयानक पराक्रम प्रकट करनेवाले महान् वीर वानराज ! आज इस समय मुझे अपने सामने पकर भी आप वाक्य बर्ण नहीं हैं ? ॥ ४ ॥

तस्मिन् हरिशार्दूल भजस्व शयनोत्तमम् ।

तेजोविद्यः शोभते त्वि भूमौ नृपतिसतम् ॥ ५ ॥

कणिश्रेष्ठ ! अत्ये और तलम शाय्याकर आश्रय स्वीजिये ।

आप-जैरा श्रेष्ठ भूपाल पृथ्वीपर नहीं सोते हैं ॥ ५ ॥

अनील तप्तु मे कान्ता वसुधा वसुधाधिप ।

गतासुरापि तां गार्ज्वाय विहाय विषेवसे ॥ ६ ॥

‘पृथ्वीनाथ ! निश्चय ही मैं पृथ्वी आपको अत्यन्त प्यारी हूँ, सभी तो निद्राण होनेपर भी आप आज मुझे छोड़कर अपने अज्ञानसे इस भूमिनाथ की अतिद्वन्द्व किये जा रहे हैं ।

व्यक्तमद्य त्वया वीर धर्मतः सम्प्रवर्तना ।

विशिष्टग्रेष्व पुरी रम्या स्वर्गमार्गे विनिर्मिता ॥ ७ ॥

वीरवर ! आपने धर्मयुक्त युद्ध करके स्वर्गके मार्गमें भी प्रवेश ही किया—आपकी भाँति कहाँ सम्पन्न पुरी बना ली है, वह बात आज साह हो गयी (अन्वया आप किष्किन्धाको छोड़कर यहाँ क्यों सोते) ॥ ७ ॥

यान्यस्माभिस्त्वया सार्धं वनेषु मधुगन्धिषु ।

विहृतानि त्वया काले तेषामुपरमः कृतः ॥ ८ ॥

‘आपके साथ मधुर सुगन्धयुक्त वनोंमें हमने जो-जो विहार किये हैं, उन सबको इस समय आपने स्मृति लिखे समाप्त कर दिया ॥ ८ ॥

निरावन्दा निराशाहं निमग्ना शोकसागरे ।

त्वयि यञ्जत्वमापन्ने यद्वायुपयूथये ॥ ९ ॥

‘नाथ ! आप बड़े बड़े वृथपानियाँ भी स्वामी थे । आज आपके मारे जानेसे मेरा साथ आनन्द लुप्त गया । मैं सब प्रकारमें निराश होकर शोकके समुद्रमें डूब गयी हूँ ॥ ९ ॥

हृदयं सुस्थितं मह्यं दृष्ट्वा निपतितं भुवि ।

यत्र शोकाभिसंतप्तं स्फुटतेऽद्य सहस्रधा ॥ १० ॥

‘निश्चय ही मेरा हृदय बड़ा कठोर है, जो आज आपको पृथ्वीपर पड़ा देखकर भी शोकसे संतप्त हो पड़ नहीं जाता—इसके हजारों टुकड़े नहीं हो जाते ॥ १० ॥

सुग्रीवस्य त्वया भार्या हुता स च विधासितः ।

यत् तत् तस्य त्वया व्युष्टिः प्राप्तेयं प्रवगाधिप ॥ ११ ॥

वानराज ! आपने जो सुग्रीवकी स्त्री छीन ली और उन्हें घरमें बाहर निकाल दिया, इसीका यह फल आपको प्राप्त हुआ है ॥ ११ ॥

निःश्वसपरा मोहात् त्वया चाहं विगर्हिता ।

यथाश्रुत्वं हितं वाक्यं वानरेन्द्र हितेधिणी ॥ १२ ॥

‘वानरेन्द्र ! मैं आपका हित चाहती थी और आपके कल्याण-साधनमें ही लगी रहती थीं तो भी मैंने आपसे जो हितकर बात कही थीं उसे मोहकश आपने नहीं माना और उल्टे मेरी ही निन्दा की ॥ १२ ॥

रूपधावनदृप्तानी दक्षिणानां च भानद ।

नूनमप्सरसामार्यं चिन्तानि प्रपथिष्यसि ॥ १३ ॥

दुरासका नाम देनेवाले आर्यपुत्र निश्चय ही आप स्वर्गमें जाकर रूप और जीवनके अधिमानसे मग रहनेवाली कलिकाश्रम निपुण अप्सराओंके मनको अपने दिव्य मोन्दर्यमें मग डालेंगे ॥ १३ ॥

कालो निःसशयो नूनं जीवितान्तकरस्तव ।

बलाद् येनवपत्रोऽसि सुग्रीवस्यावशो वशम् ॥ १४ ॥

‘निश्चय ही आज आपका जीवनका अन्त कर देनेवाला मंदायगहन काल यहाँ आ पहुँचा था जिसने किसीके भी वशमें न आनेवाले आपको बलपूर्वक सुग्रीवके वशमें डाल दिया ॥ १४ ॥

अस्थाने चालिने हत्वा युध्यमानं परेण च ।

न संतप्यति काकुत्स्थः कृत्वा कर्मसुगर्हितम् ॥ १५ ॥

(अब श्रीरामको सुनाकर बोली)—‘ककुत्स्थ-कुलमें अवलम्बी हुए श्रीरामचन्द्रजीने दूसरेके साथ युद्ध करते हुए वालोंको मारकर अत्यन्त निन्दित कर्म किया है । इस कुत्सित कर्मका करके भी जो ये संतप्त नहीं हो रहे हैं, यह सर्वथा अनुचित है ॥ १५ ॥

वेधल्यं शोकसंतापं कृपणाकृपणा सती ।

अदुःखोपचिता पूर्वं वर्तयिष्याम्यनाथवत् ॥ १६ ॥

(फिर वालोंसे बोली)—‘मैंने कभी दीनतापूर्ण जीवन

आकाशमें चढ़कर गिरिमतलका ओर अत्रुनपुष्पकी मालाओंमें
सूर्यदेवकी अलंकृत करना सरल-सा हो गया है ॥ ४ ॥

संध्यारागोत्थिनिस्तार्प्रेरन्तेषुपि च पाण्डुभिः ।

स्त्रिगैरभ्रपटच्छेदयद्गुणमिषाम्बरम् ॥ ५ ॥

'संध्याकालकी लाली प्रकट होनेमें बीचमें लाल तथा
किनारोंके भागमें भूत गन्ध स्त्रिगैर प्रत्येक शान्त्यान्त मेघखण्डोंमें
आच्छादित हुआ आकाश ऐसा जान पड़ता है माने हमने अपने
घाबमें स्तराङ्गित संकेत कपड़ोंकी पट्टी धाँध रखी है ॥ ५ ॥

मन्दमारुतिनिःश्वासं संध्याचन्दनरञ्जितम् ।

आपाण्डुजलदं भाति कामानुरमिषाम्बरम् ॥ ६ ॥

'मन्द-मन्द हुआ निःश्वास-सी प्रतीत होती है, संध्या-
कालकी लाली लाल चन्दन बनकर ललाट आदि अङ्गोंको
अनुराजित कर रही है तथा मेघरूपी कपोल कुछ-कुछ
पाण्डुवर्णका प्रतीत होता है इस तरह यह आकाश कामानुर
पुनष्पक समान जान पड़ता है ॥ ६ ॥

एषा धर्मपरिहृष्टा नववारिपरिप्लुता ।

सीतेव शोकसंतप्ता मही बाष्पं विमुञ्चति ॥ ७ ॥

जो प्रीत्य-क्षेत्रमें घामसे नष्ट गयी थी, वह पृथ्वी
वर्षावतलमें नूतन जलमें धोकर (सूर्य-किरणोंमें तपी और
आँसुओंसे धीमी हुई) शोकमनन सीताको भाँति बाष्प विमोचन
(उष्णताका त्याग अथवा अधुना) कर रही है ॥ ७ ॥

मेघोदरविनिमुक्ताः कपटलशानिलाः ।

शक्यमञ्जलिभिः^१ पानुं वानाः केतकगन्धिनः ॥ ८ ॥

'मेघक पटाए निकलें, कपूरक डल्लोंके समान ठंडी
तथा बखड़ेको सुगन्धसे भरे हुई इस बससाता वायुको धानो
अञ्जलियोंमें भरकर पीया जा सकता है ॥ ८ ॥

एष फुल्लार्जुनः शैलः केतकैरभिवासितः ।

सुगन्ध इव शान्तारिधाराभिरभिचिद्यते ॥ ९ ॥

यह पर्वत जिगाए अर्जुनके वृक्षों पर हुए हैं तथा जो
केतकोंमें मुकुटारत हो रहा है, ऐसा ही पर्वत सुगन्धकी
भाँति जलकी सरसोंमें अभिगन्त हो रहा है ॥ ९ ॥

मेघकृष्णाग्निधरा भारगजोपवीतिनः ।

मालापूर्तिगुहाः प्रार्थिता इव पर्वताः ॥ १० ॥

मेघरूपी काल भुगन्ध तथा वरगर्ज घराकप यज्ञोपवीत
धारण किये जामुने पूर्ति गुफा (या गुह्य) वाले ये पर्वत
अज्ञानारिणीकी भाँति यानो वेदाध्ययन आरम्भ कर रहे हैं ।

कशाभिरिव ह्यर्थाभिरिन्दुजिह्वभिनाडितम् ।

अन्तःस्रितनिर्घोषं सखेदनमिषाम्बरम् ॥ ११ ॥

ये किजालियाँ मानक बने हुए कोड़ोंके समान जान
पड़ती हैं । इनकी गार साकर मानो अर्थात् हुआ आकाश
अपने भीतर व्यक्त हुई मेघोंकी गम्भीर गर्जनके रूपमें

आर्तनाद-सा कर रहा है ॥ ११ ॥

नीलमेघाश्रिता विद्युत् स्फुरन्ती प्रतिभाति मे ।

स्फुरन्ती रावणस्याङ्गे वैदेहीव तपस्विनी ॥ १२ ॥

नील मेघका आश्रय लेकर प्रकाशित होती हुई यह
विद्युत् मुझे रावणके अङ्गमें छटपटाती हुई तपस्विनी सीताके
समान प्रतीत होती है ॥ १२ ॥

इमास्ता धन्वद्यवता हिताः प्रतिवृता दिशः ।

अनुलिप्ता इव घनैर्नष्टप्रहनिशाकराः ॥ १३ ॥

बादलोंका लेप लग जानेसे जिनमें यह, भस्त्र और
चन्द्रमा भट्टरथ हो गये हैं, अतएव जो नष्ट-सी हो गयी
है, जिनके पूर्व पश्चिम आदि भद्रका शिखर लुप्त हो
गया है, वे दिशाएँ, इन कामियोंको, जिन्हें प्रेयसीका
संयोगसुख सुलभ है, हितकर प्रतीत होती है ॥ १३ ॥

कचिद् ब्राह्मणसंस्कृतान् तर्पाणमसमुत्सुकान् ।

कुटजान् पश्य समिन्ने पुष्पितान् गिरिसानुषु ।

मम शोकाधिभूतस्य कायसंदीपनान् स्थितान् ॥ १४ ॥

'सुमित्रानन्दन । देखो, इस पर्वतके शिखरापर खिले हुए
कुटज कैसी शोभा पाते हैं ? कहीं तो पड़ती बार वर्षा होनेपर
भूमिमें भिक्ते हुए भापमें ये व्याप्त हो रहे हैं और कहीं वर्षाक
आगमनसे अत्यन्त उत्सुक (हर्षोत्फुल्ल) दिखायी देते हैं । मैं
ता प्रिया विरहके शोकमें रोड़ित हूँ और ये कुटज पुष्प मेरी
प्रार्थनाको उत्तेज कर रहे हैं ॥ १४ ॥

रजः प्रशान्तं सहिपोऽद्य वायु-

निर्दाघदोषप्रसराः प्रशान्ताः ।

स्थिता हि यात्रा वसुधाधिपानां

प्रवासिनो यान्ति नराः स्वदेशान् ॥ १५ ॥

'धरतीको घुल शाश्वत हो गयी । अब वायुमें शान्तलता आ
गयी । गर्मकि दण्डका प्रसार बंद हो गया । भूगर्भाकी युद्धयात्रा
रुक्त गयी और परदेशी मनुष्य अवन-अवन दण्डका लौट रहे हैं ।

सम्प्रस्थिता मानसदासलुब्धाः

प्रियान्विताः सम्प्रति चक्रवाकाः ।

अभीक्ष्णवर्षादकविक्षतेषु

धानानि मार्गेषु न सम्पतन्ति ॥ १६ ॥

मानसरोवरमें निवासके लोभी हम चक्रकि किये प्रस्थित
हो गये । इस समय चक्रव अगनों प्रियाओंसे मिल रहे हैं
निरन्तर होनवाली वर्षाके जलसे मार्ग दूढ़-फूट गये हैं,
इसलिये उनपर रथ आदि नहीं चल रहे हैं ॥ १६ ॥

कचित् प्रकाशं कचिदप्रकाशं

वधः प्रकीर्णाधुधरं विभाति ।

कचिद्वक्त्रकचित् पर्वतसंनिरुद्धं

रूपं यथा शान्तमहार्णवस्य ॥ १७ ॥

रहकर अपने शुभ और अशुभ — सभी कर्मोंका फल भोगता है ॥

शोच्या शोचसि कं शोच्यं दीनं दीनानुकम्पसे ।

कश्च कस्यानुशोच्योऽस्ति देहेऽस्मिन् बुद्धुदोषमे ॥ ३ ॥

‘तुम स्वयं शोचनीया हो, फिर दूसरे किसको शोचनीय समझकर शोक कर रही हो ? स्वयं दीन होकर दूसरे किस दीन पर दया करती हो ? पानीके बुलबुलके समान इस शरीरमें रहकर कौन जीव किस जीवके लिये शोचनीय है ? ॥ ३ ॥

अद्भुदस्तु कुमारोऽयं द्रष्टव्यो जीवपुत्रया ।

आयत्या च विधेरानि समर्थान्यस्य चिन्तय ॥ ४ ॥

‘तुम्हारे पुत्र कुमार अद्भुत बोंवित है । अब तुम्हें इसीको और दखना चाहिये और इनके लिये भविष्यमें जो उन्नतिके साधक श्रेष्ठ कर्म हैं, उनका विचार करना चाहिये । ॥ ४ ॥

जानास्यानयतामयं भूतानामागतिं गतिम् ।

तस्मान्नुप हि कर्तव्यं पाण्डिते नह्यर्त्ताधिकम् ॥ ५ ॥

देखि ! तुम विदुषो हो, अतः जानती हो कि प्राणियोंके जन्म और मृत्युकी भाँति निश्चित समय नहीं है । इसलिये शुभ (पारलोकिक लिये सुखद) कर्म हो करना चाहिये । अधिक गाना-धाना आदि जो लौकिक कर्म (व्यवहार) हैं, उसमें नहीं करना चाहिये ॥ ५ ॥

यस्मिन् हरिसदृशाण शतानि निपुतानि च ।

वर्तमानि कृताशानि सोऽयं द्रष्टव्यमागमः ॥ ६ ॥

‘सैकड़ों, हजारों और लाखों बानर जिनपर आज्ञा लगाये जायें निर्वाह करते हैं, वे ही वे वानरराज आज्ञा अपनी भारव्यनिमित्त आयुकी अवधि पूरी कर चुके ॥ ६ ॥

यदयं व्यायदुष्टार्थः रामस्तानक्षमापरः ।

मत्तो धर्मजितो भूयि नैव शोचिन्महर्षि ॥ ७ ॥

‘इन्होंने मोक्षसाधनेके अनुग्रह अर्थकर साधन — राज्य-कार्यका संग्राह्य किया है । ये उपयुक्त साधनपर काम हो और क्षमाका व्यवहार करते आये हैं । अतः धर्मानुसार प्राप्त होनेवाले लाभमें मर्त्य हैं । इनके लिये कुछ शोक नहीं करना चाहिये । ॥ ७ ॥

सर्वे च हरिशर्दूलाः पुत्रशायं तच्चाद्भुतः ।

हर्षक्षयतिराज्यं च त्वत्सनाथमनिन्दिते ॥ ८ ॥

‘सभी साधु देखि । ये सभी श्रेष्ठ बानर, ये तुम्हारे पुत्र अद्भुत तथा बानर और धार्मिकोंका यह राज्य सब तुमसे ही संग्राह्य है । तुमसे इन सबको स्वायत्ती हो ॥ ८ ॥

तस्मिन् शोकसतप्तो जनेः प्रेरय भार्गवि ।

त्यया परिगृहीनोऽयमद्भुतः शास्तु मेदिनीम् ॥ ९ ॥

‘भार्गवि ! ये अद्भुत और सुग्रीव दोनों ही शोकसे संतप्त हो रहे हैं । तुम इन्हें मार्गी करके लिये प्रेरित करो । तुम्हारे अधीन रहकर अद्भुत इस पृथ्वीका शासन करे ॥ ९ ॥

संततिश्च यथा दृष्टा कृत्यं यथापि साम्प्रतम् ।

राजस्तन् क्रियतां सर्वमेष कालस्य निश्चयः ॥ १० ॥

‘शास्त्रमें सतत होकर जो प्रयोजन बतलाया गया है तथा इस समय राजा बतलाके पारलौकिक कल्याणके लिये जो कुछ कर्तव्य है वही करो — यही समयकी निश्चित प्रेरणा है । ॥ १० ॥

संस्कारां हरिराजस्तु अद्भुदश्चाभिषिच्यताम् ।

सिंहासनगतं पुत्रं पश्यन्ती शान्तिमेष्यसि ॥ ११ ॥

‘वानरराजका अन्त्येष्टि-संस्कार और कुमार अद्भुतका राज्याभिषेक किया जाय । बैठेको राजसिंहासनपर बैठा देखकर तुम्हें शान्ति मिलेगी ॥ ११ ॥

सा तस्य वचनं श्रुत्वा भर्तृव्यसनपीडिता ।

अप्रवीक्षुतं तारा हनुमन्तमवस्थितम् ॥ १२ ॥

‘तारा अपने स्वामीके विरह शोकसे पीड़ित थी वह उपर्युक्त वचन सुनकर समझे कड़े हुए हनुमान्जामें बोली — ॥

अद्भुदप्रतिरूपाणां पुत्राणामेकतः शतम् ।

हस्तस्याप्यस्य सौरभ्यं गात्रसंश्लेषणं वरम् ॥ १३ ॥

‘अद्भुतके समान सौ पुत्र एक ओर और मरे होनेपर भी इस तारार स्वामीका आन्तिङ्गन करके सनी होना दूसरी ओर — इन दोनोंमेंसे अपने को पतिके शरीरका आन्तिङ्गन ही मुझे श्रेष्ठ जान पड़ता है ॥ १३ ॥

न चाहं हरिराज्यस्य प्रभवाप्यद्भुदस्य वा ।

पितृव्यस्तस्य सुग्रीवः सर्वकार्येष्वनन्तरः ॥ १४ ॥

‘मैं न तो बानरोंके राज्यकी स्वामिनी हूँ और न मुझे अद्भुतके लिये ही कुछ करनेका अधिकार है । इसके चाचा सुग्रीव ही समस्त कर्षार्थके लिये समर्थ हैं और वे ही मेरी अपेक्षा इसके निकटवर्ती भी हैं ॥ १४ ॥

नहोवा बुद्धिगस्थेया हनुमन्नद्भुदं प्रति ।

पिता हि बन्धुः पुत्रस्य न माता हरिसन्तपः ॥ १५ ॥

‘कपिश्रेष्ठ हनुमान्जो ! अद्भुतके विषयमें आपकी यह सलाह मेरे लिये काममें लाने योग्य नहीं है । आपको यह समझना चाहिये कि पुत्रके बान्धविक बन्धु (सहायक) पिता और चाचा ही हैं । माता नहीं ॥ १५ ॥

नहि मम हरिराजसम्रथान्

क्षमतमस्ति परत्र चेह वा ।

अपिपुत्रहन्वीरसेविने

शयनमिदं मम संवितुं क्षमम् ॥ १६ ॥

‘मैं लिये वानरराज बान्धविक अनुगमन करनेसे बढ़कर इस लोक या पारलोकमें कोई भी कार्य शक्ति नहीं है । युद्धमें शत्रुसे जड़कर मरे हुए अपने बान्धव स्वामीके द्वारा माँवत बिना आदिकी शय्यापर शयन करना ही मेरे लिये सर्वथा योग्य है ॥ १६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्ध्याकाण्डे एकविंशः सर्गः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्याभारत आदिकाव्यके किष्किन्ध्याकाण्डमें इकाविंशः सर्ग पूरा हुआ ॥ २१ ॥

द्वाविंशः सर्गः

बालीका सुग्रीव और अङ्गदसे अपने मनकी बात कहकर प्राणोंको त्याग देना

वीक्षमाणस्तु मन्दारसुः सर्वतो भन्दमुच्छ्वसन् ।

आदावेव तु सुग्रीवं वदशानुजमग्रतः ॥ १ ॥

सर्वत्रके प्राणाधारे गति दिग्धिल पड़ गयो थी । वह धीरे-धीरे ऊँचे सिस केना हुआ सब ओर देखने लगा । सबसे पहल उतने अपने सामने खड़े हुए छोटे भाई सुग्रीवको देखा ॥ १ ॥

तं प्रामथियज्यं बाली सुग्रीवं प्रवगेश्वरम् ।

आधाप्य व्यक्तया याजा सस्नेहमिहप्रव्रवीत् ॥ २ ॥

गुरुराज जिन्हें किजय प्राप्त हुई थी, इन वानराज सुग्रीवको सम्बोधित करके वाक्पते बड़े स्नेहके साथ आधाप्यवाणीमकरा ॥

सुग्रीव शेषेण न मां गन्तुमर्हसि किल्बिषात् ।

कृष्यमाणो भविष्यण बुद्धिमोहेन मां बलान् ॥ ३ ॥

सुग्रीव । पूर्वात्मक किसे पापम अरुणाम्भातं बुद्धिमाहने में नलपूर्वक आकृष्ट कर लिया था इसीलिये मैं तुम्हें इस समयसे उगा था और इस कारण मैं द्वारा जा तुम्हारे प्रति अपराध हुए, उसके लिये तुम्हें मैंने दोष-दुष्टि नहीं करनी चाहिये ॥

युगपाद् विहितं तत न मन्ये सुखभावयोः ।

सीमादं भ्रातृयुक्तं हि तदिदं जातमन्यथा ॥ ४ ॥

जात । मैं समझता हूँ हम दोनोंके लिये एक साथ रहकर सुख पागना नहीं बड़ा था, इसीलिये ही भाइयोंमें जो प्रेम होना चाहिये, वह न होकर हमलोगोंमें उसके विपरान वैभाव उत्पन्न हो गया ॥ ४ ॥

प्रतिपद्य स्वमर्ह्यं राज्यधेवं वर्नीकमाय् ।

धामप्यष्टैव गच्छन्ते विद्धि वैवस्वतक्षयम् ॥ ५ ॥

'गाई तुम आज ही यह वानरीका राज्य स्वीकार करो तथा मुझे अर्थात् गमगजके घर जानेको तैयार समझो ॥ ५ ॥

जीविने च हि राज्यं च श्रियं च विपुला तथा ।

प्रजहाम्येष वै पूर्णमहं चार्गाहं यशः ॥ ६ ॥

मैं अपने जीवन, राज्य, विपुल सम्पत्ति और प्रशस्ति यशका भी तुरत ही त्याग कर रहा हूँ ॥ ६ ॥

अस्यां स्वतयवस्थायां धीर वक्ष्यामि यद् वचः ।

यद्यप्यसुखं राजन् कर्तुमेव स्वमर्हसि ॥ ७ ॥

धीर । राजन् ! इस अवस्थामें मैं जो कुछ कहूँगा, वह ग्राहि करनेमें बर्तन है, तथापि तुम उसे अवश्य करना सुनौ । सुखसदृह बालमेनमबालिशम् ।

यावत्पूर्णमुग्धं पश्य भूमौ पतितमङ्गदम् ॥ ८ ॥

देखो, मेरा नेटा अङ्गद धूम्रपत्र पड़ा है इसका मुँह अर्धुओगे धोगा है यह मरुतम पला है अरु मुँह धोमनक हो काय है । बालक होनेपर भी यह मुँह नहीं है ॥ ८ ॥

मम प्राणैः प्रियतरं पुत्रं पुत्रमिवास्मम् ।

मया हीनमहीनार्थं सर्वतः परिपालय ॥ ९ ॥

'यह मुझे प्राणोंसे भी बहुकर प्रिय है । मैं न रहनेपर तुम

इसे सगे पुत्रकी भाँति मानना । इसके लिये किसी भी सुख-सुविधाकी कमी न होने देना और सदा सब जगह इसको रक्षा करते रहना ॥ ९ ॥

त्वमप्यस्य पिता दाता परिजाला च सर्वदाः ।

भयेषु भयदक्षैव यथाहं प्रवगेश्वर ॥ १० ॥

'वनराज ! मैं ही समान तुम भी इसके पिता, दाता, सब प्रकारसे रक्षक और भयके अवसरोपर अधव देनेवाले हो ॥

एष तारात्मजः श्रीपांस्त्वया तुल्यपराक्रमः ।

रक्षसा च धये शेषामग्रतस्ते भविष्यति ॥ ११ ॥

'ताराकर यह तेजस्वी पुत्र तुम्हारे समान ही पराक्रमी है । उन राक्षसोंके बधके समय यह सदा तुम्हारे आगे रहेगा ।

अनुरूपानि कर्माणि विक्रम्य बलवान् रणे ।

करिष्यत्येष तारेयस्तेजस्वी तरुणोऽङ्गदः ॥ १२ ॥

'यह बलवान् तेजस्वी तरुण ताराकुमार अङ्गद रणभूमिमें पराक्रम प्रकट करते हुए अपने योग्य कर्म करेगा ॥ १२ ॥

सुपेणदुहिना ज्ञेयमर्थमुष्मविनिश्चये ।

औत्पातिके च विविधे सर्वतः परिनिष्ठिता ॥ १३ ॥

'गुणवती पुत्री यह तारा सुक्ष्म विषयोंके निर्णय करने तथा नाक प्रकारके उत्पातोंके चिह्नोंको समझनेमें सर्वथा निपुण है ।

यदेवा साध्विति ब्रूयात् कार्यं तन्मुक्तसंशयम् ।

नहि तारापते किंचिदस्यथा परिवर्तते ॥ १४ ॥

जिस कार्यके अच्छा बताये, उसे संदेहहित होकर करना । ताराकी किसी भी सम्पत्तिके परिणाम उल्टा नहीं होता ॥ १४ ॥

राघवस्य च ते कार्यं कर्तव्यमविशङ्कया ।

स्यादधर्मो ह्यकरणे त्वां च हिंस्यादमानितः ॥ १५ ॥

श्रीरामचन्द्रजीका काम तुम्हें निःशङ्क होकर करना चाहिये । उसको न करनेमें तुम्हें पाप लगेगा और अपमानित होनेपर श्रीरामचन्द्रजी तुम्हें मार डालेंगे ॥ १५ ॥

इमां च मालामाघत्व दिव्यां सुग्रीव काञ्चनीम् ।

उदारं श्री. स्थिता ह्यस्यां सम्प्रजगाम्भृते धियः ॥ १६ ॥

सुग्रीव । मेरी यह सोनेकी दिव्यमाला तुम धारण कर लो । इसमें उदार लक्ष्मीका वास है । मेरे मर जानेपर इसकी श्री नष्ट हो जायगी । अतः अभीसे पहन लो ॥ १६ ॥

इत्येवमुक्तः सुग्रीवो बालिना भ्रान्तसौहृदात् ।

हर्षं त्यक्त्वा पुनर्हीनो ग्रहग्रस्त इषोडुराट् ॥ १७ ॥

बालान भ्रान्तहक कारण जब ऐसी बातें कहीं, तब उसके अधक कारण जो हर्ष हुआ था, उसे त्यागकर सुग्रीव फिर दुःखी हो गये मानो चन्द्रमापर ग्रहण लग गया हो ॥

तत्रालिखचनाच्छान्तः कुर्वन् युक्तमतन्द्रितः ।

जग्राह सोऽध्यनुज्ञातो मालां तां चैव काञ्चनीम् ॥ १८ ॥

बालोंके उम बचनसे सुग्रीवका वैरभाव शान्त हो गया ।

वे सावधान होकर उचित बर्ताव करने लगे । उन्होंने भाईको आज्ञासे वह सोनेकी माला ग्रहण कर ली ॥ १८ ॥

तां मालां काञ्चनीं दत्त्वा दृष्ट्वा चैवात्मजं स्थितम् ।

संसिद्धः प्रेत्यभावाय स्नेहादद्भुतमब्रवीत् ॥ १९ ॥

सुगोचको वह सुवर्णमयी माला देनेके पश्चात् चालीने मरनेका निश्चय कर लिया । फिर अपने मामने खड़े हुए पुत्र अङ्गदकी ओर देखकर स्नेहके साथ कहा— ॥ १९ ॥

देशकालौ भजस्वाद्य क्षपमाणः प्रियाप्रिये ।

सुखदुःखसतः काले सुप्रीववशगो भव ॥ २० ॥

‘बेटा ! अब देश कालकी आज्ञा—बख और कहाँ नेसा चलान करना चाहिये, इसका निश्चय करके चला ही आचरण करो । समयानुसार प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख—जो कुछ भी पड़े तमको सहे । अपने हृदयमें क्षमाभाव रहो और सदा सुप्रीवकी आज्ञाक अधीन रहो ॥ २० ॥

यथा हि त्वं महाबाहो लालितः सततं यया ।

म तथा वर्तमानं त्वां मुप्रीवा बहु मन्यते ॥ २१ ॥

‘महाबाहो ! सदा मेरा दुलार पाकर जिस प्रकार तुम रहते आये हो, यदि ऐसा ही वर्तक ठाक भी करोगे तो सुप्रीव लम्बाया विशेष आदर नहीं करेगा ॥ २१ ॥

वास्याभिर्गते गच्छेर्मा शत्रुधिररिदम् ।

धर्तुरर्थपरो दान्तः सुप्रीववशगो भव ॥ २२ ॥

‘शत्रुगण आह्वान । तुम इनके शत्रुओंका साथ मन दो । जो इनके मित्र न हों, उनसे भी न मित्रों और अपनी शत्रुओंको कष्टमें रखकर सदा अपने स्वामी सुप्रीवके काग-साधनमें संलग्न रहते हुए तन्मूर्ति अधीन रहो ॥ २२ ॥

न चानिप्रणयः कार्यः कर्तव्योऽप्रणयश्च ते ।

इभयं हि गगानोपे तस्मादन्तरतुर्ग भव ॥ २३ ॥

‘किन्तोंक साथ अन्वयन पेम न करो और प्रेमका मतभवा अधान भी न जानो दा; कर्तव्य से जानो ही महान् दाव है । अतः मध्यम स्थानपर ही दृष्ट रहो ॥ २३ ॥

इत्युक्त्याथ विपुनाक्षः शरसम्पीडिता भुजम् ।

शिवतैर्दशैर्भीमैर्बभूवोत्कान्तजीवितः ॥ २४ ॥

ऐसा कहकर नागक आघातमें अन्वयन पाचल हुए चालीको आँखें झूमने लगी । तसक भयकर दाँत खुल गये और प्राण-पखेक डढ़ गये ॥ २४ ॥

ततो धिचक्रुशुस्तत्र वानरा हतयुधयाः ।

परिवेद्यमानास्तैः सर्वैः प्रवसस्तथाः ॥ २५ ॥

उस समय अपने युधपतिकों मृत्यु हो जानेसे सभी श्रेष्ठ वानर जोर-जोरसे रोने और विलाप करने लगे— ॥ २५ ॥

किष्किन्धा ह्यद्य शून्या च स्वर्गते वानरेश्वरे ।

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकारव्ये किष्किन्धाकाण्डे द्वाविंशः सर्गः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आषरामायण आदिनाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें द्वाविंश सर्ग पूरा हुआ ॥ २२ ॥

उद्यानानि च शून्यानि पर्वताः काननानि च ॥ २६ ॥

‘हाय ! आज वानरराज चालीक स्वर्गलोक चले जानेसे सारे किष्किन्धापुरा सुनै हो गये । उद्यान, पर्वत और वन भी सून हो गये ॥ २६ ॥

हते प्रवगशार्दूलं निष्प्रभा वानराः कृताः ।

यस्य वेगेन महता काननानि वनानि च ॥ २७ ॥

पुष्पोद्येणानुबद्धान्ते करिष्यति तदद्य कः ।

‘वानरश्रेष्ठ चालीके मारे जानेसे सारे वानर श्रीहीन हो गये । जिनके महान् वेग (प्रताप) से समस्त कानन और वन पुष्पसमूहास सदा संयुक्त बने रहते थे, आज उनके न रहनेमें कौन ऐसा चमत्कारपूर्ण कार्य करेगा ? ॥ २७ ॥

येन हतं महद् युद्धं गन्धर्वस्य महात्मनः ॥ २८ ॥

गोलभस्य महाबाहोर्दश वर्षाणि पञ्च च ।

नेत्र रात्री न दिवसे तद् युद्धमुपशम्यति ॥ २९ ॥

उक्तान महामना महाबाहु गोलभ नामक गन्धर्वको महान् युद्धका अवसर दिया था । वह युद्ध पंद्रह वर्षोंतक लगातार चलता रहा । न दिनमें बंद होना था, न रातमें ॥ २९ ॥

ततः षोडशमे वर्षे गोलभो विनिपातितः ।

तं हत्वा दुर्विनीतं तु बाली दंष्ट्राकरालधान् ।

सर्वाभयकरोऽम्भकं कथमेव निपातितः ॥ ३० ॥

‘तदनन्तर सान्द्रवर्षा वर्ष आरम्भ होनेपर गोलभ चालीके हृदयमें मारा गया । उस दुष्ट गन्धर्वको बंध करके जिन विकराल दाढ़ावाले चालीने हथ सबको अभय दान दिया था वे ही ये हमारे स्वामी वानरराज स्वयं कैसे मार गिराये गये ?’ ॥ ३० ॥

हते तु चोरे प्रवगाधिपे तदा

प्रवङ्गमास्तत्र न शर्म लेभिरे ।

वनचराः सिंहयुगे महाघने

यथा हि गावो निहते गवां पत्नी ॥ ३१ ॥

उस समय चोर वानरराज चालीके मारे जानेपर वनोंमें विकरलवाले वानर वहाँ खेन न पा सके । जैसे सिंहसे युक्त विजाल कन्ने माँडुके मारे जानेपर गोरे दुःखी हो जाती हैं वही दशा उन वानरोंका हुई ॥ ३१ ॥

ततस्तु ताग व्यसनार्णवप्लुता

मृतस्य भर्तुर्वदनं समीक्ष्य सा ।

जगाम भूमिं परिरभ्य बालिनं

महादुर्मं छिन्नमिवाश्रिता लता ॥ ३२ ॥

तदनन्तर ओकके समुद्रमें डूबी हुई तायने अब अपने मारे हुए स्वामीकी ओर दृष्टिपात किया, तब वह चालीका आँखें बन्द करके बट्ट हुए महान् वृक्षसे लिपटी हुई लताकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ३२ ॥

त्रयोविंशः सर्गः

ताराका विलाप

ततः सम्पुजिघ्रन्तो कपिराजस्य तम्पुत्रम् ।
पतिं लोकधुना तारा मृतं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

उस समय धानरराजका मुख सूँधी हुई लाकाँकल्यान
नागने रोकर अपने मृत पतिसे इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

शेखे त्वं विद्यमे दुःखमकृत्वा खल्वनं मम ।
उपलोपचिते वीर सुदुःखे वसुधातले ॥ २ ॥

‘वीर ! दुःखकी बात है कि आपने मेरी जान नहीं पाई
और अब आप भ्रमरसे पूर्ण अत्यन्त दुःखदायक और क्लेश-
नाच भूतलपर शयन कर रहे हैं ॥ २ ॥

पतिः प्रियतरा नूनं धानरन्द्र मतो तव ।
शेखे हि तौ परिष्वज्य मां च न प्रतिभाषसे ॥ ३ ॥

धानरराज ! निश्चय ही यह पृथ्वी आपका मुझसे भी
बहुतर प्रिय है, तभी तो आप इसका आलिंगन करके या
रहे हैं और मुझसे बातचीत नहीं करते ॥ ३ ॥

सुग्रीवस्य वीरं प्राप्ता विधिरेव भवत्यहो ।
सुग्रीव एव विक्रान्तो वीर सार्धमिकप्रिय ॥ ४ ॥

‘वीर ! सातसपूर्ण कार्यास प्रमत्तस्वभावने जानराज ! यह
श्रीगुरुदेवों विद्याता सुग्रीवके वशमें हो गया है (—आपके
नहीं) यह बड़े आश्चर्यकी बात है, भन्ना अब इस मुख्यपर
मुश्किल हो चरक्रमों राजाके रूपमें आसीन होंगे ॥ ४ ॥

क्रक्षयाननमुख्यास्त्रा वल्लिनं पर्युपासते ।
तेषां विलपिते कृच्छ्रमद्भुतं च शोचतः ॥ ५ ॥

मम चेमा गिरः श्रुत्वा किं त्वं न शनिवृष्यसे ।

‘शरणार्थी ! प्रधान-प्रधान भालू और जानर जो आप
गाह्योतरकी सेवामें रहा करते थे, इस समय बड़े दुःखमें विचाराप
कर रहे हैं । वेदा अद्भुत भावोंमें पड़ा है इन जानराजों
दुःखमय विलाप आह्वानों शोचने पर यह सब यह अनन्त
विनमयी वाणी सुनकर भी आप आगने क्यों नहीं हैं ? ॥ ५ ॥

इदं तद् वीरशयनं तत्र शेखे हतो युधि ॥ ६ ॥
शायिता निहता यत्र त्वयैव रिषवः पुरा ।

मतो बहु वीर-शय्या है, जिसपर पूर्वकालमें आगने हो
बहुत से शत्रुआतमें मारकर सुलाया था, किन्तु आज स्वयं हो
युद्धमें मार जाकर आप इसपर शयन कर रहे हैं ॥ ६ ॥
विशुद्धस्वस्वाभिजन प्रिययुद्ध मम प्रिय ॥ ७ ॥

मायनार्था विहार्यका गतस्वमसि मानद ।

विशुद्ध बलशाली कुलम् उत्पन्न युद्धप्रमो तथा दूसरोंको
मान देनेवाले मेरे प्रियतम ! तुम मुझ अनाथको अकेली
आइए कहाँ चले गये ? ॥ ७ ॥
शूराय न प्रदातव्या कन्या खलु विपश्चिता ॥ ८ ॥

शूरभार्या कदा पश्य सद्यः मां विधवां कृतम् ।

‘निश्चय ही कुटुम्बमान् पुरुषको बाहिय कि वह अपनी

कन्या किसी शूरवीरके हाथमें न दे । देखो, मैं शूरवीरकी पत्नी
होनेका कारण तत्काल विधवा बना दी गयी और इस प्रकार
मर्त्यथा मारी गयी ॥ ८ ॥

अवभ्रष्ट मे मानो भ्रष्टा मे शाश्वती गतिः ॥ ९ ॥
अगाधे च निमग्रास्मि विपुले शोकसागरे ।

‘यजराजो होनेका जो मेरा अभिमान था, वह भङ्ग हो
गया । नित्य-निरन्तर सुख पानकी मेरी आशा नष्ट हो गयी
तथा मैं अगाध एवं विशाल शोकसमुद्रमें डूब गयी हूँ ।
अश्मसारमयं नूनमिदं मे हृदये दृढम् ॥ १० ॥
भर्तारं निहतं दृष्ट्वा धनराज्यं क्षतधा कृतम् ।

‘निश्चय ही यह मेरा कठार हृदय लोतेका बना हुआ है,
तभी तो अपने स्वामीको पाया गया देखकर हमके सैकड़ों
दुकाड़े नहीं हो जाते ॥ १० ॥

सुहृद्वै च भर्ता च प्रकृत्या च मम प्रियः ॥ ११ ॥
प्रहारे च पराक्रान्तः शूरः पञ्चत्वमागतः ।

‘हृय ! जो मेरे सुहृद्, स्वामी और स्वभावसे ही प्रिय थे
तथा संग्राममें यह पञ्चक्रम प्रकट करनेवाले शूरवीर थे, वे
संसारसे चल बस ॥ ११ ॥

पतिहीना तु या नारी कामं भवतु पुत्रिणी ॥ १२ ॥
धनधान्यसमृद्धापि विधवेत्युच्यते जनैः ।

पतिहीन नारी भले ही पुत्रवती एवं धन-धान्यसे समृद्ध
भी हो, किन्तु लोग उसे विधवा ही कहते हैं ॥ १२ ॥
स्वगात्रप्रभवे वीर शेखे संधिरमण्डले ॥ १३ ॥

कृषिगणपरिस्तोमे स्वकीये शयने यथा ।

‘वीर ! अपने ही शरीरसे प्रकट हुई रक्तशयिमें आप ठसी
पहर शयन करते हैं, जैसे पहले इन्द्रगोप नामक कीड़ेक-से
रगवाले बिछीनेसे मुक्त अपने पलंगपर सोया करते थे ॥

रेणुशोणितसंवीते गात्रं तव समन्ततः ॥ १४ ॥
परिरक्षुं न शक्नोमि पुत्रार्थां प्रवर्गर्षभ ।

‘धानरश्रेष्ठ ! आपका सारा शरीर धूल और रक्तसे
लथपथ हो रहा है, इसलिये मैं अपनी दोनों भुजाओंमें
आपका आलिंगन नहीं कर पाती ॥ १४ ॥
कृतकृत्योऽष्ट सुग्रीवो वैरेऽस्मिन्ननिदारणे ॥ १५ ॥

यस्य रामविमुक्तेन हतमेकैषुणा भयम् ।

इस अत्यन्त भयंकर वीरमें आज सुग्रीव कृतकृत्य
हो गये । श्रीरामके छोड़े हुए एक ही बाणने इनका सारा
भय हर लिया ॥ १५ ॥
शरेण यदि लग्नेन गात्रसंस्पर्शने तव ॥ १६ ॥

वार्यामि त्वां निरीक्षन्ती त्वयि पञ्चत्वमागते ।

आपकी छतरीमें जो बाण धँसा हुआ है, वह मुझे आपके
शरीरका आलिंगन करनेसे रोक रहा है, इस कारण

आपकी मृत्यु हो जानेपर भी मैं चुपचाप देख रही हूँ (आपको हृदयसे लगा नहीं पाती) ॥ १६ ॥

उदुबर्ह शरं नीलस्तस्य गात्रगतं तदा ॥ १७ ॥
गिरिगङ्गासंलीने दीप्तमाशिविषं यथा ।

उस समय नीलने वालोंके शरीरमें जैसे हुए उस बाणकी निकाल, मानो पर्वतकी चन्द्ररामें छिपे हुए प्रज्वलित मुखवाले बिषधर सर्पको वहाँसे निकाला गया हो ॥ १७ ॥

तस्य निष्कृष्यमाणस्य बाणस्यापि क्षणौ क्षुतिः ॥ १८ ॥
अस्त्रपल्लवसंरुद्धरश्मेर्दिनकरादिव ।

वाल्मीकी शरीरसे निकाल जाते हुए उस बाणकी क्रांति अस्त्रपल्लवके शिखरपर अरुद्ध किरणोंवाले सूर्यकी प्रभाके समान जान पड़ती थी ॥ १८ ॥

तेतुः क्षतान्गारास्तु प्रणोप्यस्तस्य सर्वशः ॥ १९ ॥
तान्मेरिक्सम्पृक्ता घारा इव धराधरात् ।

बाणोंके निकाल लिये जानपर वाल्मीकी शरीरके सभी भागोंमें खुलके भागों गिरे लगे, मानो किरणों पर्वतमें लाल गेल्लमिश्रित गलती भागों बह रही हो ॥ १९ ॥

अत्यर्काणी विमार्जन्तो धर्तारं रणरेणुना ॥ २० ॥
शान्तेनयनजीः शूरं सिधेवास्त्रसमाहतम् ॥ २१ ॥

वाल्मीकी शरीर रणभूमिमें धूलसे भर गया था । उस समय लाल बाणोंसे आहत हुए अंगों शरीर स्वामी के उस शरीरवाले जीवने हुए उनके शरीरके अधुनकसे गौंधने लगी ।

अधिरक्षितसर्वाङ्गं दुष्टा विनिहतं धर्तारम् ॥ २२ ॥
इवाव तारा पिङ्गाक्षं पुत्रमङ्गदमङ्गना ।

अपने मारे गये धर्तारके सारे अङ्गोंके रक्तसे भागा हुआ ऐसा धर्तार-पत्नी ताराने अपने मारे नरोंवाले पुत्र अङ्गदसे कहा— ॥ २२ ॥

आपस्थां पश्यामीं पश्य पितुः पुत्र सुदारुणाम् ॥ २३ ॥
सम्प्राप्तस्य वीरस्य गतोऽन्तः पापकर्मणा ।

रोटा । देखो, तुम्हारे पिताकी अन्तिम अवस्था कितनी भयानक है । मैं इस समय पूर्ण पापके कारण प्राप्त हुए वीरसे गाव हो चुके हैं ॥ २३ ॥

पालसूर्योष्णजलानुं प्रयातं यमसदृशम् ॥ २४ ॥
अभिवादय राजानं पितरं पुत्र मान्दम् ।

गत्स । आत-करल्लके सूर्यकी भांति अरुण गौर शरीर-वाले तुम्हारे पिता रुक्म वाल्मी अब यमलोकको जा पहुँचे । मैं तुम्हें बड़ा आदर देता हूँ, तुम इनके चरणोंमें प्रणाम करो ॥ २४ ॥

एवमुक्तः समुत्थाय जग्राह चरणौ पितुः ॥ २५ ॥
भृजाभ्यां पीनवृक्षाभ्यामङ्गुलीभ्यामिति मुखम् ।

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे त्रयोविंशः सर्गः ॥ २३ ॥

इस ५५५५ श्रीमद्वाल्मीकीनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें तेईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २३ ॥

माताके ऐसा कहनेपर अङ्गदने उठकर अपनी मोटी अङ्गुलीका धुजाओंद्वारा पिताके दोनों पैर पकड़ लिये और प्रणाम करते हुए कहा— 'पिताजी ! मैं अङ्गद हूँ ॥

अभिवादयमानं स्वामङ्गदं त्वं यथा पुरा ॥ २५ ॥
दीर्घायुर्भव पुत्रेति किमर्थं नाभिभाषसे ।

तब तारा फिर कहने लगी— 'प्रणनाथ ! कुमार अङ्गद पहलेंकी ही भाँति आज भी आपके चरणोंमें प्रणाम करता है किन्तु आप इस 'चिरजीवी रहो बेटा' ऐसा कहकर आशीर्वाद क्यों नहीं देते हैं ? ॥ २५ ॥

अहं पुत्रसहाया स्वामुपासे गतचेतनम् ।
सिंहेन पातितं सद्यो गौः सवत्सेव गोवृषम् ॥ २६ ॥

'जैसे कोई बछड़ेसहित गाय सिंहके द्वारा तत्काल मार गिराये हुए साँडेके पास खड़ी हो, वसी प्रकार पुत्रसहित मैं प्राणहीन हुए आपकी सेवामें बैठी हूँ ॥ २६ ॥

इष्ट्वा संप्राप्तयज्ञेन रामप्रहरणाभ्यसा ।
तस्मिन्नवभुधे स्वातः कथं पत्न्या मया विना ॥ २७ ॥

'आपने युद्धरूपी यज्ञके अनुष्ठान करनेके श्रीरामके बाणरूपी अलसे मुझ पत्नीके बिना अकेले ही अवभृथस्नान कैसे कर लिया ? ॥ २७ ॥

या दत्ता देवराजेन तव तृष्टेन संयुगे ।
शतकौर्मिं प्रियां मालां तां ते पश्यामि नेह किम् ॥ २८ ॥

'युद्धमें आपसे संयुक्त हुए देवराज इन्द्रने आपको जो सोरेकी प्रिय माला दे रखी थी, वैसे मैं इस समय आपके गलेमें क्यों नहीं देखती हूँ ? ॥ २८ ॥

राज्यभीर्न जहाति स्त्री गतासुर्मापि मानद ।
सूर्यस्यायतमानस्य शैलराजमिव प्रभा ॥ २९ ॥

'दूसरोंको भान देनेवाले धनराज ! प्राणहीन हो जानेपर भी आपको राज्यलक्ष्मी उन्नी प्रकार नहीं छोड़ रही है, जैसे चारों ओर चक्कर लगानेवाले सूर्यदेवकी प्रभा गिरिराज मेरुको कभी नहीं छोड़ती है ॥ २९ ॥

न मे वचः पथ्यमिदं त्वया कृतं
न चास्मि शक्ता हि निवारणे तव ।

हता सपुत्रास्मि हतेन संयुगे
सह त्वया भीर्विजहाति मायपि ॥ ३० ॥

'मैंने आपके हितकी बात कही थी; परंतु आपने उसे नहीं स्वीकार किया । मैं भी आपको रोक रखनेमें समर्थ न हो सकी । इसका फल यह हुआ कि आप युद्धमें मारे गये । आपके मारे जानेसे मैं भी अपने पुत्रसहित मारी गयी । अब लक्ष्मी आपके साथ ही मुझे और मेरे पुत्रको भी छोड़ रही है ॥ ३० ॥

चतुर्विंशः सर्गः

सुग्रीविका शोकमग्न होकर श्रीरामसे प्राणत्यागके लिये आज्ञा पाँगना, ताराका श्रीरामसे अपने बधके लिये प्रार्थना करना और श्रीरामका उसे समझाना

तामारा वरेण दुरासदेन
त्वभिप्रातां शोकमहार्णवेन ।
पश्यंस्तदा वाल्यनुजस्तरस्यौ
भानुर्वधेनाप्रतिघेन सेवे ॥ १ ॥

आम्यन्न संगशाली और दुःमह शोकसमुद्रमें डूबी हुई
ताराको क्षार दृष्टिपात करके जालोंके छाने भाई संगवान्
गुग्रीवको नमः समस्त अपन भाईके बधमें बड़ा गंवार हुआ ॥

तदा वाल्यपूर्णं मुखेन पश्यन्
क्षणं निर्विण्णमना मनस्यौ ।
जगाम रामस्य शनः समीप
भृत्यैर्वृतः सम्परिद्वयमानः ॥ २ ॥

उनके मुखपर अश्रुओंकी धारा बह चली । उनका मन खिन्न
हो गया और तो शीतल-ई-शीतल कटुका अनुभव करते हुए अपन
भृत्योंके साथ घनि-घनि श्रीरामचन्द्रजीके पास गये ॥ २ ॥

स ते समासाद्य गृहीतचाप-
मुदत्तपाशोविषतुल्यवाणाम् ।
यशस्विनं लक्षणाक्षिताङ्ग-
मवस्थितं राघवमित्युवाच ॥ ३ ॥

जिनका धनुष रीं रक्त था, जिनमें शीतलदात नायकका
स्वभाव विद्यमान था, जिनके बाण विषप्रसूत समस्त ममान भयंकर
थे, जिनका प्रायक अक्त सामुद्रिक शास्त्रक अनुसार उत्तम
लक्षणाक्षे लोक्षत था तथा जो परम वशस्वी थे, वहाँ खड़े हुए
तब श्रीरामनाथजीके पास जाकर, मुग्रीव इस प्रकार बोल— ॥

यथा प्रतिज्ञातमिह नरेन्द्र
कृतं त्वया दृष्टफलं च कर्म ।
ममाद्य भोगेषु नरेन्द्रमृतो
मनो निवृतं हतजीवितेन ॥ ४ ॥

'नरेन्द्र । आपने जैसी प्रतिज्ञा की थी, उसके अनुसार यह
क्षम कर दियाया । इस कामका राज्य-लाभकर्म फल भी प्रत्यक्ष
हो रहा है । किन्तु राजकुमार दुःमह का जीवन निन्दनीय हो गया है
भोतः भव मेरा मन सभी भोगोंसे निवृत्त हो गया ॥ ४ ॥

अपरा महिष्या नु भुञ्जे नृदस्यां
पुरतिविक्राशति दुःखतमे ।
हते नृपे संगयितेऽङ्गदे च
न राघु राज्यं रणते मनो मे ॥ ५ ॥

'श्रीराम । राजा वाल्यके भाई जानसे ये महासनी संग
अत्यन्त विरह कर रही हैं, साथ नगर दुःखसे संताप होकर
वीर्य रहा है तथा कुमार अङ्गदेका जीवन भी संशयमें पड़ गया
है । इन सब कारणोंसे अब राज्यमें मेरा मन नहीं लगता है ॥

क्रोधादमर्षादतिविप्रधर्षाद्
भानुर्वधो मेऽनुमतः पुरस्तात् ।
हते त्विदानीं हरियूथपेऽस्मिन्
सुतीक्ष्णमिक्ष्वाकुवर प्रतप्ये ॥ ६ ॥

इक्ष्वाकुवंशके गौरव और धुनधर्षा । भाई मेरा बहुत
अधिक तिरस्कार किया था, इमार्णसे क्रोध और अमर्षके
कारण पहले मैंने दुःखके बधके लिये अनुमति दे दी थी, परंतु
अब जानर युधर्षन वाल्यके मारे जानपर मुझ बड़ा मनाप हो
रहा है । सम्भवतः जीवनभर यह संताप बना ही रहेगा ॥ ६ ॥

श्रेयोऽद्य मन्ये मम शैलपुत्र्ये
तस्मिन् हि वासश्चिरमृष्यमृके ।
यथा तथा वर्तयतः स्ववृत्त्या
नेमं निहत्य त्रिदिवस्य लाभः ॥ ७ ॥

'अपनी क्षतोष वृत्तिके अनुसार जैसे जैसे जीवन-निर्वाह
करते हुए उस श्रेष्ठ पर्वत कृत्यमृकपर चिरकालतक रहना ही
आज मैं अपने लिये कल्याणकारि समझता हूँ, किन्तु अपने
इस भाईका बध करके अब मुझे स्वर्गका भी राज्य मिल
जाय तो मैं उसे अपने लिये श्रेयस्कर नहीं मानता हूँ ॥ ७ ॥

न त्वा जिघांसामि चरेति यन्धा-
मयं महात्मा मतिमानुवाच ।
तस्यैव तद् राम खजोऽनुरूप-
मिदं वचः कर्म च मेऽनुरूपम् ॥ ८ ॥

बुद्धिमान् महात्मा वालोंने बुद्धके समय मुझसे कहा था
कि 'तुम चले जाओ, मैं तुम्हारे प्राण लेना नहीं चाहता' ।
श्रीराम । उनका यह बात छद्मके योग्य थी और मैंने जो
आशय कहाकर उनका बध करवाया मेरा वह कृत्यपूर्ण वचन
और कर्म मेरे ही अनुरूप है ॥ ८ ॥

भ्राता कथं नाम महागुणस्य
भानुर्वधं राम विरोधयेत ।
राज्यस्य दुःखस्य च वीर सारं
विचिन्तयन् कामपुरस्कृतोऽपि ॥ ९ ॥

'वीर रघुनन्दन ! कोई कितना ही स्वार्थी क्यों न हो ? यदि
राज्यके मन्त्र तथा भानु-वधसे होनवाले दुःखकी प्रवृत्ततापर
विचार करेगा तो वह भाई होकर अपने महान् गुणवान्
भाईका बध कैसे अच्छा समझेगा ? ॥ ९ ॥

वधो हि मे मनो नास्मीन् स्वमाहात्म्यव्यतिक्रमान् ।
ममासीद् बुद्धिदोषात्थान् प्राणहारी व्यतिक्रमः ॥ १० ॥
'जालोंके मनमें मेरे बधका विचार नहीं था, क्योंकि इससे
उन्हें अपनी मान-प्रतिष्ठामें बड़ा लगनेका डर था । मेरी ही

बुद्धिमें दुष्टता भर दी, जिसके कारण मैंने अपने भाईके प्रति
ऐसा अपराध कर डाला, जो उनके लिये घातक सिद्ध हुआ।

हमशाखावभ्रमोऽहं भुहर्तुं परिनिहन् ।

सान्त्वयित्वा त्वेनेनोक्तो न पुनः कर्तुमर्हसि ॥ ११ ॥

‘जब बालीने मुझे एक वृक्षकी शाखासे घायल कर
दिया और मैं दो घड़ितक कण्हना रहा, तब उन्होंने मुझे
सान्त्वना देकर कहा— ‘जाओ, फिर मेरे साथ युद्ध करनेकी
इच्छा न करना’ ॥ ११ ॥

भ्रातृत्वमार्गभाषश्च धर्मज्ञानेन रक्षितः ।

मया क्रोधश्च कामश्च कपित्वं च प्रदर्शितम् ॥ १२ ॥

‘उन्होंने भ्रातृभाव, आर्यभाव और धर्मको भी रक्षा की है,
परन्तु मैंने कथन, काम, क्रोध और वानरांचित चपलताका भी
परिचय दिया है ॥ १२ ॥

अभिन्तनीयं परिवर्जनीय-

धनोपनीयं स्वनवेक्षणीयम् ।

प्राप्नोर्गन्धं पाप्मानमिदं वषाय

भ्रातृवधात् स्नातृवधादिवेन्द्रः ॥ १३ ॥

विश्व । जैसे वृक्षामुक्त बंध करनेसे इन्द्र पापके भागी
हूए थे वही प्रकार मैं भाईका वध करके ऐसे पापका भागी
हूँ, जिसको करना तो दूर रहा साधना भी अनुचित है।
श्रेष्ठ पुरुषोंके लिये जो सर्वथा स्नातृ, अस्नातृनीय तथा
स्नानके भी अयोग्य है ॥ १३ ॥

पाप्मानमिन्द्रस्य मही जलं च

युक्षाश्च कामे जगृहः क्षिपश्च ।

को नाम पाप्मानमिदं सहेत

शारणमृगस्य प्रतिपत्तुमिच्छेत् ॥ १४ ॥

इन्द्रके पापको तो पृथ्वी, जल, धूल और स्त्रियोंने
संभ्रमसे ग्रहण कर लिया था; परन्तु मुझे जैसे जाननेके इस
पापको कौन लेना चाहेगा ? अथवा कौन ले सकेगा ? ॥

नार्हसि सम्मानमिदं प्रजानां

न वीरवर्यं कुत एव राज्यम् ।

अधर्मापूतं कुलनाशयुक्त-

मेवेतिथं राघव कर्म कृत्वा ॥ १५ ॥

‘रघुनाथजी । अपने कुलका नाश करनेवाला ऐसा
पापपूर्ण कर्म करनेके मैं प्रजाके सम्मानका पात्र नहीं रहा।
राज्य पाना तो दुर्लभ बात है, भुझमें युवराज होनेकी भी
सोचता नहीं है ॥ १५ ॥

पापस्य कर्तास्मि विगर्तिस्य

क्षुद्रस्य लोकापकृतस्य लोकैः ।

शोको महान् मामभिबर्ततेऽयं

वृष्टेर्घृणा निभ्रमिवाम्बुवेगः ॥ १६ ॥

‘मैंने वह लोकनिन्दित पापकर्म किया है, जो नीच
पुरुषोंके योग्य तथा सम्पूर्ण जगत्को हानि पहुंचानेवाला है।

जैसे जबकि जलका वेग नौवों भूमिकी ओर जाता है, उसी
प्रकार यह भ्रातृ वधजनित महान् शोक सब ओरसे मुझपर
ही अभ्रमण कर रहा है ॥ १६ ॥

सोदर्यघातापरगात्रवालः

संतापहस्ताक्षिशिरोविषाणः ।

एनोमयो मामभिहन्ति हस्ती

दृमो नदीकूलमिव प्रवृद्धः ॥ १७ ॥

‘भाईका वध हो जिसके शरीरका पिछला भाग और पृच्छ
है तथा उससे होनेवाला संताप हां जिसकी सृङ्ग, नेत्र, मस्तक
और दाँत है वह पावरूपी महान् मदमत्त गजराज नदीतटकी
भाँति मुझपर ही आघात कर रहा है ॥ १७ ॥

अहो ज्ञतेदं नृवराविषयां

निवर्तते मे हृदि साधुवृत्तम् ।

अग्री विवर्णं परितप्यमानं

किं दृष्ट्वा राघव जातरूपम् ॥ १८ ॥

‘नरेश्वर ! रघुनन्दन ! मैंने जो दुःसह पाप किया है, यह
पर हृदयस्थित सदाचारको भी नष्ट कर रहा है। ठीक उसी
तरह, जैसे आगमें लगीया जानवाला मक्खन सुवर्ण अपने
भोंतरके मलको नष्ट कर देता है ॥ १८ ॥

महाबलानां हरियूथपाना-

मिदं कुलं राघव मन्त्रिमितम् ।

अस्याङ्गदस्यापि च शोकतापा-

वर्धस्थितप्राणमितीव मन्ये ॥ १९ ॥

‘रघुनाथजी । मेरे ही कारण बालीका वध हुआ जिससे
इस अङ्गदका भी शोक-संताप बढ़ गया और इसीलिए मैं
महाबली वानर-यूथपनियोंका समुदाय अधमरा-सा जान
पड़ता है ॥ १९ ॥

सुतः सुलभ्यः सुजनः सुवश्यः

कुतस्तु पुत्रः सदृशोऽङ्गदेन ।

न घापि विद्येत स वीर देशो

यस्मिन् भवेत् सोदरसन्निकर्षः ॥ २० ॥

‘वीरवर ! सुजन और वशमें रहनेवाला पुत्र तो मिल सकता
है परन्तु अङ्गदके सम्मान बैठ कहाँ मिलेगा ? तथा ऐसा कोई
देश नहीं है जहाँ मुझे अपने भाईका सामीप्य मिल सके।

अद्याङ्गदो वीरवरो न जीवे-

जीवेत माता परिपालनार्थम् ।

विना तु पुत्रं परितापदीना

सा नैव जीवेदिति निश्चितं मे ॥ २१ ॥

‘अब वीरवर अङ्गद भी जीवित नहीं रह सकता। यदि जी
सकता तो उसकी रक्षाके लिये इसकी माता भी जीवन धारण
करती। वह बेचारो तो यों ही संतापसे दान हो रही है, यदि
पुत्र भी न रहा तो उसके जीवनका अन्त हो जायगा—यह
बिलकुल निश्चित जान है ॥ २१ ॥

सोऽहं प्रवेक्ष्याम्यतिदीप्तमग्निं
भ्रात्रा च पुत्रेण च सख्यमिच्छन् ।
इमे विद्येष्मन्ति हरिप्रवीराः
सीतां निदेशे परिवर्गमानाः ॥ २२ ॥
'अतः मैं अपने भाई और पुत्रका साथ देनेको इच्छासे
प्रज्वलित अग्निमें प्रवेश करूँगा । वे वानर वीर आपका
आश्रममें रहकर सीताको खोज करेंगे ॥ २२ ॥
कृच्छ्रं तू ते सेत्स्यति कार्यमेत-
न्मय्यप्यतीते मनुजेन्द्रपुत्र ।
कुलस्य हन्तारमजीवनाहं
रामानुजानीहि कृतागसं माम् ॥ २३ ॥
'राजकुमार ! मेरी मृत्यु हो जानपर भी आपका साथ साथ
मिटु हो जायगा । मैं कुलकी हत्या करनेवाला और अपराधी
हूँ । अतः ससारमें जीवन धारण करनेके योग्य नहीं हूँ ।
इक्ष्वाक्यश्रीराम ! मुझे प्राणत्याग करनेको आज्ञा दीजिये ॥
इत्येवमार्तस्य रघुप्रवीरः
श्रुत्वा बभौ बालिजघन्यजस्य ।
संजगतवाप्यः परवीरहन्ता
रामो मुहूर्तं विधना बभूव ॥ २४ ॥
दुःखसे आतुर हुए सुग्रीवके जो बालीके छेद भई थे
एसे वन्दन सुनकर इक्ष्वाक्यका सत्कार करनेमें समर्थ,
रघुकुलक वीर भगवान् श्रीरामके नेत्रसे आँसू करने लगे । वे
जो छेदोंतक मन-ही-मन दुःखका अनुभव करते रहे ॥ २४ ॥
तस्मिन् क्षणेऽभीक्ष्णमवेक्षमाणः
क्षितिक्षयावान् भुवनस्य गोप्ता ।
रामो रुदन्तीं व्यसने निमग्नां
समुत्सुकः सोऽथ ददर्श ताराम् ॥ २५ ॥
श्रीरामनाथजी धृष्टांक समान क्षमाशील और सम्पूर्ण
जगतकी रक्षा करनेवाले हैं । उन्होंने इस समय अधिक
तनाव होकर जब इधर उधर बारबार दृष्टि दौड़ायी तब
शोकमग्ना तारा उन्हें दिखायी दी, जो अपने स्वामीके लिये
रही रहीं थी ॥ २५ ॥
तौ धारुणेत्रौ कपिसिंहनाथा
पतिं समादिलब्ध तदा शयानाम् ।
उत्थापयामासुरदीनमत्नी
मन्त्रिप्रधाना कपिगजपतीम् ॥ २६ ॥
कपिपति सिंहक समान वीर बाली जिनके स्वामी एवं
संरक्षक थे, जो वानरराज बालीकी रानी थी, जिसका इष्ट
हृदार और नेत्र मनाहर थे, वह तारा इस समय अपने मृत
पतिके आलिङ्गन करके पड़ी थी । श्रीरामको आत देख
प्रधान-प्रधान मन्त्रियोंने ताराको वरामे उठाया ॥ २६ ॥
मा विस्फुरन्ती परिरथ्यमाणा
भर्तुः समीपतृपनीयमाना ।

ददर्श रामं शरच्चापपाणिं
स्वतेजसा सूर्यमिव ज्वलन्तम् ॥ २७ ॥
तारा जब पतिके समीपसे हटायी जाने लगी तब बारबार
उमक आलिङ्गन करती हुई वह अपनेको छुड़ाने और
छटपटाने लगी । इतनेहीमें उसने अपने सामने धनुष-बाण
धारण क्रिय श्रमणको तब देखा जो अपने नेत्रसे सूर्यदेवके
समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ २७ ॥
सुसंयुते पार्थिवलक्षणैश्च
तं धारुणेत्रं मृगशावनेना ।
अदृष्टपूर्वं पुरुषप्रधान-
मयं स काकुत्स्थ इति प्रजज्ञे ॥ २८ ॥
वे सुसंयुक्त शुभ लक्षणासे सम्पन्न थे । उनके नेत्र बड़े
मनोरम थे । उन पुरुषप्रधान आगमका जो पुरुष कभी देखना
नहीं आये थे, देखकर मृगशावकनेयनी तारा समझ गयी कि
ये ही ककुत्स्थकुलभूषण श्रीराम हैं ॥ २८ ॥
तस्येन्द्रकल्पस्य दुरासदस्य
महानुभावस्य समीपमार्था ।
आतर्जिततूर्णं व्यसने प्रपन्ना
जगाम तारा परिविह्वलन्ती ॥ २९ ॥
उस समय घोर संकटमें पड़ी हुई शोकपीड़ित आर्या तारा
अत्यन्त विह्वल हो गिरती-पड़ती तीव्र गतिसे महेंद्रतुल्य
दुर्जय वीर महानुभाव भगवान् श्रीरामके समीप गयी ॥ २९ ॥
त सा समासाद्य विशुद्धसत्त्वं
शोकेन सम्भ्रान्तशरीरभावा ।
मनस्विनी वाक्यमुवाच तारा
रामं रणोत्कर्षणलब्धलक्ष्यम् ॥ ३० ॥
इतकके कारण वह अपने शरीरकी भी सुध-बुध खो बैठी
थी । भगवान् श्रीराम विरुद्ध अन्न-करणवाले तथा युद्धमयलमें
स्वस अधिक निपुणताके कारण लक्ष्य बंधनमें अचूक थे, उनके
एक पल-चञ्चल वह मनस्विनी तारा इस प्रकार बोली— ॥ ३० ॥
त्वमग्रमेयश्च दुरासदश्च
जितेन्द्रियश्चोत्तमधर्मकश्च ।
अक्षीणकीर्तिश्च विषक्षणाश्च
क्षितिक्षयावान् क्षतजोपमाश्चः ॥ ३१ ॥
रघुनन्दन ! आप अग्रमेय (देश, काल और वस्तुकी
सोपास रहित) हैं । आपको पाना बहुत कठिन है । आप
जितेन्द्रिय तथा इसमें धर्मका पालन करनेवाले हैं । आपकी
कीर्ति कभी नष्ट नहीं होती । आप दुर्दृष्टी एवं पृथ्वीके समान
क्षमाशील हैं । आपको अग्नि कुछ-कुछ लाल है ॥ ३१ ॥
त्वमात्तबाणामनबाणपाणि-
र्महाबलः संहननोपपन्नः ।
मनुष्यदेहाभ्युदयं विहाय
दिव्येन देहाभ्युदयेन युक्तः ॥ ३२ ॥

‘आपके हाथमें धनुष और बाण शोभा पा रहे हैं। आपका बल महान् है। आप सुदृढ़ शरीरसे सम्पन्न हैं और धनुष्य-शरीरसे आप होनेवाले लौकिक सूक्तका परित्याग करके भी दिव्य शरीरके ऐश्वर्यसे युक्त हैं ॥ ३२ ॥

येनैव बाणेन हतः प्रियो मे

तेनैव बाणेन हि मां जहीहि ।

हता गमिष्यामि समीपमस्य

न मां विना वीर रमेत घाली ॥ ३३ ॥

(‘अब मैं प्रार्थना करती हूँ कि) आपन जिस बाणसे गर प्रियताम पतिका बध किया है, उसी बाणसे आप मुझे भी मार डालिये। मैं मरकर उनके समीप चली जाऊँगी। वीर ! मेरे बिना तब्यों कहीं भी सुखी नहीं रह सकेंगे ॥ ३३ ॥

स्वर्गेऽपि पद्यामलपत्रनेत्र

समेत्य सम्प्रेक्ष्य च मामपश्यन् ।

न ह्येष उच्चासवतामवृद्धा

विविचित्रवेणुषामरसोऽभ्यतिथ्यत् ॥ ३४ ॥

‘अमलकमलदललोचन राम ! स्वर्गमें जाकर भी जब घाली मर और दुष्टि हालकर मुझ नहीं देखेंगे, तब उनका मन कहीं वरदापि नहीं लगता, माना प्रकारक लाल फूलोंमें विभूषित लोगे भाषण करनेवालों तथा विचित्र वेशभूषणों यनोंकर प्रतीत होनेवाले स्वर्गके अप्सराओंके ये कभी स्वीकार नहीं करेंगे ॥ ३४ ॥

स्वर्गेऽपि शोक च विवर्णता च

यथा विना प्राप्यति वीर घाली ।

रथे नगेन्द्रस्य मदावकाशे

विदेहकन्यागहितो यथा त्वम् ॥ ३५ ॥

वीरवर ! स्वर्गमें भी नास्ती थी बिना शोककष अनुभव भोगे जीरे उनके शरीरकी कानि स्त्रीको पड जायगी। वे हगौ मता दूसरी गढ़न जैसे निरिगज आगमूकक मरम्भ तद-भान्तर्ग विदेहनान्दनी सानाके निम्न आप कष्टका अनुभव करते हैं ॥ ३५ ॥

त्वं चेन्म तावद् धनितारविहीनः

प्राप्नोति दुःखं पुरुषः कुमारः ।

तत् त्वं प्रजानञ्जलि मां न घाली

दुःखं ममादृशंजो यजेत ॥ ३६ ॥

स्त्रीक बिना युवा पुरुषका जो दुःख उठाना पड़ता है, उसे आप अस्त्री सगुह जानते हैं। इस तत्त्वको समझकर आप मेरा बध करिये, जिससे बालीको मेरे विरहकर दुःख न भोगना पड़े ॥ ३६ ॥

यसापि मन्धेन भवान् महात्मा

स्त्रीघातदोषस्तु भवेन्न महाम् ।

आत्मेयमस्येति हि मां जहि त्वं

न स्त्रीबधः स्यान्नुजेन्द्रपुत्र ॥ ३७ ॥

‘महाराजकुमार ! आप महात्मा हैं, इसलिये यदि ऐसा चाहते हैं कि मुझे स्त्री-हत्याकर पाप न लगे तो ‘यह बालीको आत्म है’ ऐसा समझकर मेरा बध कीजिये। इससे आपको स्त्री-हत्याकर पाप नहीं लगगा ॥ ३७ ॥

शास्त्रप्रयोगाद् विविधाश्च वेदा-

दनन्यरूपाः पुरुषस्य दाराः ।

दारप्रदानाद्धि न दानमन्यत्

प्रदृश्यते ज्ञानवतां हि लोके ॥ ३८ ॥

‘शास्त्राक्त यज्ञ यागादि कर्मोंमें पति और पत्नी दोनोंका संगुक्त अधिकार होता है—पत्नीको साथ लिये बिना पुरुष यज्ञकर्मका अनुष्ठान नहीं कर सकता। इसके सिवा नाना प्रकारकी वैदिक श्रुतियाँ भी पत्नीको पतिका आधा शरीर बनानती हैं। दूसरे स्त्रियोंका अपन पतिसे अभिन्न होना सिद्ध होता है। (अब मुझे मार्गमें आपको स्त्रीबधका दोष नहीं लग सकता और बालीको स्त्रीकी प्राप्ति हो जायगी, क्योंकि) यस्मात्मे ज्ञाने पुरुषोंकी दृष्टिमें स्त्रीदानमें बहूँकर दृग्ग कोई दान नहीं है ॥ ३८ ॥

त्वं चापि मां तस्य मम प्रियस्य

प्रदास्यसे धर्ममवेक्ष्य वीर ।

अनेन दानेन न लप्स्यसे त्व-

मधर्मयोगे मम वीर घातात् ॥ ३९ ॥

‘वीरशरीरमें। यदि धर्मको ओर दृष्टि रखते हुए आप भी मुझे मेरे प्रियतम बालीको समर्पित कर देंगे तो इस दानके प्रकाशमें मेरी हत्या करनेपर भी आपको पाप नहीं लगेगा ॥

आर्तामनाथामपनीयमाना-

मेवंगतां नाहंमि पामहन्तुम् ।

अहं हि भातद्भक्तिसर्गाभिना

प्रवंगमानामुषधेण धीमता ।

विना यराहंतिमहेमपालिना

चिरं न शक्यामि नरेन्द्र जीवितुम् ॥ ४० ॥

‘मैं दु गिनी और अनाथा हूँ पतिसे दूर कर दी गयी हूँ। तबसे दशम मुझ काचित छोड़ना आपको लिये उचित नहीं है। नरेन्द्र मैं युन्त एव बहुमूल्य अंष्ट मुखर्णमालामे अलंकृत तथा मकराजक सम्पन्न विलम्बयुक्त गतिसे चलनेवाले वृद्धिमान् वानरश्रेष्ठ बालीक बिना अधिक कालतक जीवित नहीं रह सकूँगी ॥ ४० ॥

इत्येवमुक्तस्तु विभुर्महात्मा

तारी समाम्नास्य हितं बधाये ।

या वीरभार्ये विपति कुरुष्व

लोको हि सर्वो विहितो विधात्रा ॥ ४१ ॥

ताराक ऐसा करनेपर महात्मा भगवान् श्रीरामने उसे आश्रय देकर हितकर बात कही—‘वीरपत्नी तुम मृत्यु-विषयक विषयोंमें विचारका त्याग करो; क्योंकि विधाताने

इस सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि की है ॥ ४१ ॥

तं धैव सर्वं सुखदुःखयोगं

लोकोऽब्रवीत् तेन कृते विधाया ।

प्रयोऽपि लोका विहितं विधानं

नातिक्रमन्ते वशगा हि नम्य ॥ ४२ ॥

विधाताने जो इस सारे जगत्को सुख-दुःखसे संयुक्त किया है । यह बात माधुराणलोक भी कहने और जानने में भी लोकोके प्राणी विधाता के विधानका दन्तद्वय नहीं कर सकते, क्योंकि सभी उसके अधीन हैं ॥ ४२ ॥

प्रीतिं परां प्राप्स्यसि मां तर्ध्व

पुत्रश्च ते प्राप्स्यति धीवराज्यम् ।

धामा तिष्ठानं विहितं तर्ध्व

न शूरपन्धः परिद्वयन्ति ॥ ४३ ॥

इत्यार्षे श्रीमन्नारायणं बाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे चतुर्विंशः सर्गः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीव्यासमहर्षिनिर्मित आपराधायज आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें चौबीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २४ ॥

पञ्चविंशः सर्गः

लक्ष्मणसहित श्रीरामका सुग्रीव, तारा और अङ्गदको सम्झाना तथा वालीके दाह-संस्कारके लिये

आज्ञा प्रदान करना, फिर तारा आदिसहित सब वानरोका वालीके शवको श्मशानभूमिमें

ले जाकर अङ्गदके द्वारा उसका दाह-संस्कार कराना और उसे जलाझुल्लि देना

स सुग्रीवं च तारां च साङ्गद्य सहलक्ष्मणाः ।

समानशोकः काकुत्स्थ सान्त्वयन्निदमब्रवीत् ॥ १ ॥

लक्ष्मणसहित श्रीरामरङ्गजी सुग्रीव आदिके शोकमें उनके समान ही दुःखी थे । उन्होंने सुग्रीव, अङ्गद और ताराओं को सन्त्वना देते हुए इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

न शोकपरितापेन श्रेयसा युज्यते मृतः ।

यदज्ञानकारे कार्यं तत् समाधानुपहृत्य ॥ २ ॥

शोक सताप करनेसे मरे हुए जीवकी कोई बलाई नहीं होगी । अतः अब जागे जो कुछ करनीय है, उसको तुम्हें निमित्तपूर्वक सम्यक् करना चाहिये ॥ २ ॥

लोककुलमनुष्ठेयं कृतं वो श्राव्यपोशणम् ।

न कालानुगरे किञ्चित् कर्मशक्यमुपार्जितम् ॥ ३ ॥

'तुम सब लग्न बहुत क्षीन वृद्धा चुक । अब उसकी आवश्यकता नहीं है । लोक-आचारका भी पालन शाना चाहिये । समय बिताने, कोई भी विहित कर्म नहीं किया जा सकता (क्योंकि उचित समयपर न किया जाय तो उस कर्मका कोई फल नहीं होगा) ॥ ३ ॥

निधतिः कारणं लोके नियतिः कर्मसाधनम् ।

निर्यातिः सर्वभूतानां नियोगेष्टिह कारणम् ॥ ४ ॥

'जगन्में नियति (काल) ही सबका कारण है । वही समय समस्त जमाका साधन है और काल ही समस्त प्राणियोंको निधन कर्मों में नियुक्त करनेका कारण है (क्योंकि वही

'तुम्हें पहलेकी ही भाँति अत्यन्त सुख एवं आनन्दकी प्राप्ति होगी तथा तुम्हारा पुत्र भुवराजपद प्राप्त करेगा । श्मशानका ऐसा ही विधान है । शूचियोंकी स्त्रियाँ इस प्रकार विलाप नहीं करती हैं । (अतः तुम भी शोक छोड़कर उन्नत हो जाओ)' ॥ ४३ ॥

आश्वासिता तेन महत्पत्न्या तु

प्रभावयुक्तेन परतपेन ।

सा वीरपत्नी ध्वनता मुखेन

सुवेचरूपा विरराम तारा ॥ ४४ ॥

शत्रुओंको सताप देनेवाले परम प्रभावशाली महात्मा श्रीरामके इस प्रकार सान्त्वना देनेपर सुन्दर वेश और रूपवाली वीरपत्नी तारा जिसके मुखमें विलापकी ध्वनि निकलती रहती थी चुप हो गयी — उसने रीति-रिवाज छोड़ दिया ॥ ४४ ॥

मत्तत्र प्रवर्तक है) ॥ ४ ॥

न कर्ता कस्यचित् कश्चिन्नियोगे नापि चेश्वरः ।

स्वभावे वर्तते लोकस्तस्य कालः परायणम् ॥ ५ ॥

कोई भी पुरुष न तो स्वतन्त्रतापूर्वक किसी कामको कर सकता है और न किसी दूसरेको ही उसमें लगानेकी शक्ति रखता है । सारा जगत् स्वभावके अधीन है और स्वभावका आधार काल है ॥ ५ ॥

न कालः कालमत्येति न कालः परिहीयते ।

स्वभावं च समासाद्य न कश्चिदतिवर्तते ॥ ६ ॥

'काल भी कालकाल (अपनी की हुई व्यवस्थाका) उत्पन्न नहीं कर सकता । वह काल कभी क्षीण नहीं होता । स्वभाव (प्रारब्धकर्म) का पाकर कोई भी उसका उत्पन्न नहीं करता ॥ ६ ॥

न कालस्यास्ति बन्धुत्वं न हेतुर्न पराक्रमः ।

न मित्रज्ञातिसम्बन्धः कारणं नात्मनो वशः ॥ ७ ॥

'कालका किसीके साथ भाई-बारेका, मित्रताका अथवा जाति-विरादरीका सम्बन्ध नहीं है । उसको वशमें करनेका कोई उपाय नहीं है तथा उसपर किसीका पराक्रम नहीं चल सकता । कारणस्वरूप भगवान् काल जीवके भी वशमें नहीं है ॥ ७ ॥

किं तु कालपरोमाणो द्रष्टव्यः साधु धश्यता ।

धर्मशार्थश्च कामश्च कालक्रमसमाहिताः ॥ ८ ॥

'अतः साधुदर्शं विवेकीं पुरुषकोऽसौ कुल कालका ही परिणाम समझना चाहिये। धर्म, अर्थ और काम भी कालक्रमसे ही प्राप्त होते हैं ॥ ८ ॥

इतः स्वी प्रकृतिं बाली गतः प्राप्नः क्रियाफलम् ।

सामदानार्थसंयोगैः पवित्रं पूजयेत्तरः ॥ ९ ॥

। (मारे द्वारा मारे जानेके कारण) वानराज बाली शरीरसे मुक्त हो अपने शुद्ध स्वरूपको प्राप्त हुए हैं। नानिशाखके अनुकूल साम, दान और अर्थके समुचित प्रयोगसे मिलनेवाले जो पवित्र कर्म हैं, वे सभी उन्हें प्राप्त हो गये ॥ ९ ॥

स्वधर्मास्य च संयोगाजितस्तेन महात्मना ।

स्वर्गः परिगृहीतश्च प्राणानपरिरक्षता ॥ १० ॥

'महात्मा बालीने पहले अपने धर्मके संयोगसे जिसपर विजय पायी थी, उसी स्वर्गको इस समय मृद्धमें प्राणोंकी रक्षा न करके उन्होंने अपने हाथमें कर लिया है ॥ १० ॥

पृथा ये नियतिः श्रेष्ठा यां गतो हरियुधः ।

तदलं परित्यापेन प्राप्तकलमुपास्यताम् ॥ ११ ॥

'यही सर्वश्रेष्ठ गति है, जिसे वानरोंके सरदार बालीने प्राप्त किया है। अतः अब उनके लिये शाक करना व्यर्थ है। इस समय तुम्हारे सामने जो कर्तव्य उपस्थित है, उसे पूरा करो ॥ ११ ॥

तत्त्वान्ते तु रामस्य लक्ष्मणः परवीरहा ।

अवदत् प्रभित् वाक्यं सुग्रीवं गतचेतसम् ॥ १२ ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी बात समाप्त होनेपर शत्रुवीरका संहार करनेवाले लक्ष्मणों जिन्की विषयशक्ति नष्ट हो गयी थी, उन सुग्रीवसे नम्रतापूर्वक इस प्रकार कृत— ॥ १२ ॥

कुलं त्वमस्य सुग्रीवं प्रेतकार्यमनन्तरम् ।

ताराङ्गदाय्या सहितो बालिनो दहनं प्रति ॥ १३ ॥

'सुग्रीव ! अब तुम अङ्गद और ताराके साथ रहकर बालीके दाह-संस्कार-सम्बन्धी प्रेतकार्य करो ॥ १३ ॥

समाधापय काष्ठानि शुष्काणि च बहुनि च ।

चन्दनानि च दिव्यानि बालिसंस्कारकारणात् ॥ १४ ॥

वानरोंको आज्ञा दो—वे बालीके दाह-संस्कारके निमित्त प्रभु गङ्गा की सुखी लकड़ियाँ और दिव्य चन्दन ले आवें ।

समाधापय दीने स्वपद्मे दीनचेतसम् ।

मा भुवलिङ्गबुद्धिस्त्वं त्वदधीनमिदं पुनम् ॥ १५ ॥

'अङ्गदका वित्त बहुत दुःखी हो गया है। इन्हें धैर्य देनाओ। तुम अपने मनमें मृदुता न लाओ—किंकर्तव्यविमुक्त न बनो, क्योंकि यह सारा नगर तुम्हारे ही अधीन है। ॥ १५ ॥

अङ्गदस्त्वानयेन्मार्गं वस्त्राणि विविधानि च ।

घृते तैलमथो गन्धान् यज्ञात्र समनन्तरम् ॥ १६ ॥

'अङ्गद पुष्पमाला, नाना प्रकारके वस्त्र, धी, तैल, सुगन्धित पदार्थ तथा अन्य सामान, जिनकी अभी आवश्यकता है, स्वयं ले आवें ॥ १६ ॥

त्वं तार शिबिकां शीघ्रमादायागच्छसम्प्रभात् ।

त्वं गुणवती युक्ता हस्मिन् काले विशेषतः ॥ १७ ॥

'तार ! तुम शीघ्र जाकर वेगपूर्वक एक पालकी ले आओ, क्योंकि इस समय अधिक फुर्ती दिखानी चाहिये। ऐसे अवसरपर वही लाभदायक होती है ॥ १७ ॥

सजीभवन्तु प्रवगाः शिबिकावाहनोचिताः ।

समर्था बलिनश्चैव निर्हीरष्यन्ति बालिनम् ॥ १८ ॥

पालकीको उठाकर ले चलनेके लिये योग्य जो बलवान् एवं समर्थ वानर हों, वे तैयार हो जायें। वे ही बालीको यहाँसे हमेशाभूमिमें ले चलेगें ॥ १८ ॥

एवमुक्त्वा तु सुग्रीवं सुमिश्रानन्दवर्धनः ।

तस्मै भ्रातृसमीपस्थो लक्ष्मणः परवीरहा ॥ १९ ॥

सुग्रीवसे ऐसा कहकर शत्रुवीरका संहार करनेवाले सुमिश्रानन्दन लक्ष्मण अपने भाईके पास जाकर खड़े हो गये।

लक्ष्मणस्य वक्षः श्रुत्वा तारः सम्भ्रान्तमानसः ।

प्रविवेश गुहां शीघ्रं शिबिकासक्तमानसः ॥ २० ॥

लक्ष्मणकी बात सुनकर तारके मनमें हड़बड़ी मच गयी। वह शिबिका ले आनेके लिये शीघ्रतापूर्वक किष्किन्धा नामक गुफामें गया ॥ २० ॥

आदाय शिबिकां तारः स तु पर्यापतत् पुनः ।

बानरैरुत्तमानां तां शूरैरुद्धनोजितैः ॥ २१ ॥

वहाँसे शिबिका ढोनेके योग्य शूरवीर बानरोंद्वारा कंधोंपर उठायी हुई उस शिबिकाको साथ लेकर तार फिर तुरंत ही लौट आया ॥ २१ ॥

दिक्षां भद्रासनयुतां शिबिकां स्यन्दनोपमां ।

पक्षिकर्मभिराचित्रां हूपकर्मविभूषिताम् ॥ २२ ॥

वह दिव्य पालकी रथके समान बनी हुई थी। उसके दोनोंमें राजाके बैठने योग्य उत्तम आसन था। उसमें शिल्पियोंद्वारा कृत्रिम पक्षी और वृक्ष बनाये गये थे, जो उस पालकीको विचित्र शोभासे सम्पन्न बना रहे थे ॥ २२ ॥

आचितां चित्रपत्तीभिः सुनिविष्टां समन्ततः ।

विमानमिव सिद्धानां जालवातायनायुताम् ॥ २३ ॥

वह शिबिका चित्रक रूपमें बने हुए पैदल सिपाहियोंसे भरी प्रतीत होती थी। उसकी निर्माणकला सब ओरसे बड़ी सुन्दर दिखायी देती थी। देखनेमें वह सिद्धोंके विमान-सी प्रतीत होती थी। उसमें कई खिड़कियाँ बनी थीं, जिनमें जालियाँ लगी हुई थीं ॥ २३ ॥

सुनियुक्तां विशालां च सुकृतां शिल्पिभिः कृताम् ।

दारुपर्वतकोपेनां चारुकर्मपरिष्कृताम् ॥ २४ ॥

कशरारोंने उस पालकीको बहुत सुन्दर बनानेका प्रयत्न किया था। उसका एक-एक भाग बड़ा सुधड़ बनाया गया था। आकारमें वह बहुत बड़ी थी। उसमें लकड़ियोंके क्रीडा-पर्वत बने हुए थे। वह मनोहर शिल्प-कर्मसे सुशोभित थी ॥ २४ ॥

वाराधरणहर्षश्च चित्रमाल्योपशोभिताम् ।
गुहागहनसंछन्नां रक्तचन्दनभूषिताम् ॥ २५ ॥

सुन्दर आभूषण और हारोंसे उसको सजका गया था ।
विचित्र फूलोंसे उसकी शोभा बढ़ायी गयी थी । शिखरमण्डप
निर्मित गुफा और वनसे वह संयुक्त थी तथा लाल चन्दनद्वारा
उसे विभूषित किया गया था ॥ २५ ॥

पुष्पाधैः सपभिच्छन्नां पद्ममालाभिरेव च ।
नरुणादित्यवर्णाभिर्भ्राजमानाभिगवृताम् ॥ २६ ॥

नाना प्रकारके पुष्पममृशद्वाग वर मय आगसे आच्छादित
थी तथा प्रातःकालके सूर्यको भाँति अरुण कान्तिकाल
हंसिगनी पद्ममालाओंसे अलंकृत थी ॥ २६ ॥

ईदृशीं शिखिकां वृष्ट्वा रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ।
क्षिप्रं विनीयतां वाली प्रेतकार्यं विधीयनाम् ॥ २७ ॥

एसी पालकीका अमलमकर करके श्रोतमण्डपजने
लक्ष्मणकी ओर देखाते हुए कहा—‘अब वालीको शोध हो
यहाँसे शमशानभूमिमें ले जाया जाय और उनका प्रेत-
कार्य किया जाय’ ॥ २७ ॥

ततो वालिनमुद्यम्य सुग्रीवः शिखिकां तदा ।
आरोपयन् विक्रोशप्रह्वदेन सहेव तु ॥ २८ ॥

तब अङ्गुलके साथ कण-कन्दन करते हुए सुग्रीवने
वालीक शवका तडाकर उस शिखिकामें रखा ॥ २८ ॥

आरोप्य शिखिकां चैव वालिने गतजीविनम् ।
अलंकारेण विविधमाल्यैर्वर्त्मनः भूषितम् ॥ २९ ॥

मृत वालीको शिखिकामें चढ़ाकर उन्हें नाना प्रकारके
शालक्यों, फूलोंके गजनों और आग-धनिक इन्धन
विभूषित किया ॥ २९ ॥

आज्ञापयन् तदा राजा सुग्रीवः पूषणेश्वरः ।
और्ध्वदेहिकगार्धयः कियतामनुकूलनः ॥ ३० ॥

तदनन्तर जानकाके स्वामी राजा सुग्रीवने आज्ञा दी कि
‘हो खड़े भार्गव ! जो अश्वत्थ वस्त्रों द्वारा अनुकूलन किष्किन्ध्या
समग्र किया जाय ॥ ३० ॥

विश्राणयन्तो रत्नानि विविधानि बहूनि च ।
अग्रतः पूषणा यान्तु शिखिका तदनन्तरम् ॥ ३१ ॥

आगे आगे बहुत-से खानर नाना प्रकारके बहुसंख्यक
रत्न छुटाते हुए चले, उनका पीछे शिखिका चले ॥ ३१ ॥

राज्ञामुत्थिषिषां हि दृश्यन्ते भुवि वादृशाः ।
तादृशीरिह कुर्वन्तु खानरा भर्तृसत्क्रियाम् ॥ ३२ ॥

‘इस भूतलपर राजाओंके और्ध्वदेहिक संस्कार उनकी
बढ़ी हुई समृद्धिक अनुसार जैन धर्मधाममें हाते देखे जाने
नै, उनी प्रकार अधिक धन लगाकर सब जानर अपने स्वामी

महाराज वालीक अन्त्येष्टि-संस्कार करें ॥ ३२ ॥

तादृशं वालिनः क्षिप्रं प्राकुर्वन्नाँर्ध्वदेहिकम् ।

अङ्गुलं परिरभ्याशु ताराप्रभृतयस्तथा ॥ ३३ ॥

क्रोशन्तः प्रययुः सर्वे खानरा हतवान्यथाः ।

तब तारा आदि खानरोंने वालीक और्ध्वदेहिक संस्कारका
शोध रीति हो आयोजन किया । जिनके श्राव्य वाली मारे
गये थे, वे सब-के-सब खानर अङ्गुलको हृदयमें लगाकर
शोधनापूर्वक वहाँमें रेत हुए शवके साथ चले ॥ ३३ ॥

ततः प्रणिहिताः सर्वा खानर्योऽस्य वशानुगाः ॥ ३४ ॥

चुकुशुर्वोरवीरिणि भूयः क्रोशन्ति ताः प्रियम् ।

उनके पीछे वालीक अधीन रहनेवाली सभी खानर-पत्नियाँ
सन्तप अकर ‘हा खीर हा खीर’ कहती हुई अपने प्रियतमको
पुकार-पुकारकर बारबार रोने-चिल्लाते लगीं ॥ ३४ ॥

ताराप्रभृतयः सर्वा खानर्यो हतवान्यथाः ॥ ३५ ॥

अनुजग्मुश्च भर्तारं क्रोशन्त्यः करुणस्वनाः ।

जिनके जीवनधनका वध किया गया था, वे तारा आदि
मय खानरियाँ करुणस्वरसे विनाप करती हुई अपने स्वामीके
पीछे-पीछे चलने लगीं ॥ ३५ ॥

तासां रुदितशब्देन खानरीणां वनान्तरे ॥ ३६ ॥

वनानि गिर्यश्चैव विक्रोशन्तीव सर्वतः ।

वनके भीतर रोती हुई उन खानर वधुओंके रोदन-शब्दसे
जंगल हुए वन और पर्वत भी सब ओर रोते हुए-से प्रतीत
होते थे ॥ ३६ ॥

पुलिने गिरिनद्यास्तु विविक्ते जलसंघृते ॥ ३७ ॥

चितां चक्रुः सुबहवो खानरा वनचारिणः ।

पहाड़ों की नदी तुल्यधाराके एकान्त तटपर जो जलसे
‘धन था, पहुँचकर बहुत से वनचारी खानरोंने एक चिता
नेवार की ॥ ३७ ॥

अखरोप्य तत स्कन्धाच्छिखिकां खानरोत्तमाः ॥ ३८ ॥

तत्पुष्पकान्तमाश्रित्य सर्वे शोकपरायणाः ।

तदनन्तर पालकी छोड़कर श्रेष्ठ खानरोंने उसे अपने कंधेसे
उठाया और वे सब शोकमग्न हो एकान्त स्थानमें जा बैठे ॥ ३८ ॥

ततस्ताग धनि दृष्ट्वा शिखिकाललायिनम् ॥ ३९ ॥

आरोप्याङ्के शिखिस्तस्य विललाप सुदुःखिता ।

तत्पश्चात् तासने शिखिकामें सुलावे हुए अपने धनिके
शवको देखकर उनके धनिकको अपनी गोदमें ले लिया और
अत्यन्त दुःखी होकर वह विलपन करने लगी ॥ ३९ ॥

हा खानरमहाराज हा नाथ मम वत्सल ॥ ४० ॥

हा महार्ह महाबाहो हा मम प्रिय पश्य माम् ।

जनं न पश्यामीमं त्वं कस्माच्छोकाभिपीडितम् ॥ ४१ ॥

‘हा वनरोंके महाराज ! हा मेरे दयालु प्राणनाथ ! हा परम पूजनोय महाबाहु वीर ! हा मेरे प्रियतम ! एक चार मेरों ओर देखो तो सही । इस शोकपीड़ित दासोंके ओर तुम दृष्टिपात क्यों नहीं करते हो ॥ ४०-४१ ॥

प्रहृष्टमिह ते वक्त्रं गतासोरपि मान्द ।
अस्तार्कसमवर्णं च दृश्यते जीवतो यथा ॥ ४२ ॥

दुसरोको मान देनेवाले प्राणवल्लभ ! प्राणोंके निकल जानेपर भी तुम्हारा मुख जंकित अवस्थाको भाँति अस्ताचलवर्ती सूर्यके समान अरुण प्रभासे युक्त एवं प्रगल्भ ही दिखायो देता है ॥ ४२ ॥

एष त्वां शमरूपेण कातुः कर्षति वानर ।
येन स्प विधत्ताः सर्वाः कृता एकेयुगा रणे ॥ ४३ ॥

‘वामराज ! श्रीरामके रूपमें यह कातु ही तुम्हें स्वाँचकर लिये ला रहा है, जिसने युद्धके मैदानमें एक ही बाण मारकर हम सबको विधवा बना दिया ॥ ४३ ॥

इमास्तास्तव राजेन्द्र वानर्योऽप्यगस्तव ।
पार्थिविकुलमध्वानमागताः किं न वृध्यसे ॥ ४४ ॥

‘महाराज ! ये तुम्हारी प्यारी वानरियों, जो वानरोंके भाँति उछलकर चलना नहीं जानती हैं, तुम्हारे पीछे पड़ कर दूरक मार्गपर पैदल हो चली आयी हैं । इन वानरोंके क्या तुम नहीं जानते ? ॥ ४४ ॥

तवेष्टा वनू चैवेष्टा भार्याश्चन्द्रनिभाननाः ।
इदानीं नेक्षसे कस्मात् सुयोधं प्रपगेश्वर ॥ ४५ ॥

‘वामराज ! जो तुम्हें परम प्रिय थीं वे तुम्हारी सभी चन्द्रमुरी भार्याएँ यहाँ उपस्थित हैं । तुम इन सबको तथा आपने भाई सुग्रीवको भी इस समय क्यों नहीं देख रहे हो ? ॥ ४५ ॥

एते हि सचिवा राजस्तारप्रभृतयस्तव ।
पुरवारिजनश्चार्थं परिवार्य विवीक्षति ॥ ४६ ॥

‘राजन् ! ये तार आदि तुम्हारे सचिव तथा ये पुरवासोजन तुम्हें चारों ओरसे घेरकर सुखी हो रहे हैं ॥ ४६ ॥

विसर्जयन्तान् सचिवान् पश्चात्पुनर्मदिम ।
ततः क्रीडामहे सर्वा घनेषु भदनोत्कटाः ॥ ४७ ॥

‘शत्रुदमन ! आप पक्षरेखी भाँति इन मन्त्रियोंको बिटा कर दीजिये । फिर हम सब प्रेमोन्मत्त होकर इन वनोंमें आपके साथ लीला करंगी ॥ ४७ ॥

एवं विलपन्ती तारां पतिशोकपरीवृताम् ।

उत्थापयन्ति स्म तदा वानर्यः शोककर्शिताः ॥ ४८ ॥

पतिके शाकमें डूबो हुई तारको इस प्रकार विलाप करती देख उस समय शाकमें डूबकर हुई अन्य वानरियोंने उस उठाया ।

सुग्रीवेण ततः सार्धं सोऽद्भुतः पितरं रुदन् ।
चिन्तामारोपयामास शोकेनाभिप्लुतेन्द्रियः ॥ ४९ ॥

इसके बाद संतापपीड़ित इन्द्रियोंवाले अद्भुतने रोते रोते सुग्रीवको सहायतासे पिताको चितापर रखा ॥ ४९ ॥

ततोऽग्निं विधिवद् दत्त्वा सोऽपसव्यं अकार ह ।
पितरं दीर्घमध्वानं प्रस्थितं व्याकुलेन्द्रियः ॥ ५० ॥

फिर शास्त्रीय विधिके अनुसार उसमें आग लगाकर उन्होंने उसको प्रदक्षिणा की, इसके बाद यह सोचकर कि मेरे पिता लंबों यात्राके लिये प्रस्थित हुए हैं अद्भुतकी सारी इन्द्रियाँ शोकसे व्याकुल हो उठीं ॥ ५० ॥

संस्कृत्य वालिनं ते तु विधिवत् प्रवगर्षभाः ।
आजग्मुस्तदं कर्तुं नदी शुभजलां शिवाम् ॥ ५१ ॥

इस प्रकार विधिवत् वालिका दाह-संस्कार करके सभी वानर जलाञ्जलि देनेके लिये पवित्र जलसे भरी हुई कल्याण-मयी तुङ्गभद्रा नदीक तटपर आये ॥ ५१ ॥

ततस्ते सहितस्तत्र ह्यद्भुतं स्थाप्य चाग्रतः ।
सुग्रीवतारासहिता सिषिचुर्वानरा जलम् ॥ ५२ ॥

वहाँ अद्भुतको आगे रखकर सुग्रीव और तारासहित सभी वानरने वालिक के लिये एक साथ जलाञ्जलि दी ॥ ५२ ॥

सुग्रीवेणैव दीनेन दीनो भूत्वा महाबलः ।
समानशोकः काकुत्स्थः प्रेतकार्याण्यकारयत् ॥ ५३ ॥

दुखी हुए सुग्रीवके साथ ही उनके समान शोक-ग्रस्त एवं दुखी हो महाबली श्रीरामने वालिकके समस्त प्रेतकार्य करवाये ॥ ५३ ॥

ततोऽद्य ते वालिनमग्रघोररुधं
प्रकाशमिक्ष्वाकुवरेणुणा हतम् ।

प्रदीप्य दीप्ताग्निसमौजसे तदा
सलक्ष्मणं राममुपेयिवान् हरिः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार इक्ष्वाकुवंशशिरोमणि श्रीरामके बाणसे मारे गये श्रेष्ठ पराक्रमी और प्रख्यात अग्निके समान तेजस्वी सुविख्यात वालिकका दाह-संस्कार करके सुग्रीव उस समय लक्ष्मणमहित श्रीरामके पास आये ॥ ५४ ॥

इत्यार्षे श्रीपद्माल्पीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे पञ्चविंश सर्गः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आनंदरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें पचीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २५ ॥

षड्विंशः सर्गः

हनुमान्जीका सुग्रीवके अभिषेकके लिये श्रीरामचन्द्रजीसे किष्किन्धामें पधारनेकी प्रार्थना, श्रीरामका पुरीमें न जाकर केवल अनुमति देना, तत्पश्चात् सुग्रीव और अङ्गदका अभिषेक

ततः शोकाभिसंतप्तं सुग्रीवं क्षिप्रवाससम् ।
शाखामुगमहामात्राः परिवार्योपतस्थिरे ॥ १ ॥
अभिगम्य महाबाहुं राममङ्गिष्ठकारिणम् ।
स्थिताः प्राञ्जलयः सर्वे पितामहपितृवर्धनः ॥ २ ॥

हनुमान्तर वाबरसेनाके प्रधान-प्रधान बंदे (हनुमान् आदि) भीम वरुणात् इलाक-मैला सुग्रीवके चागे आगये घेकर उनके साथ लिये अनायास ही महान् कर्म करनेवाले महाबाहु श्रीरामकी गैरागें उपस्थित हुए । श्रीरामके पास आकर वे सभी बाजार उनके सामने हाथ जोड़कर खड़े हो गये जेग ब्रह्माजीके सम्मुख स्तुतिर्गण करते रहते हैं ॥ १-२ ॥

ततः काञ्चनशीलाभस्तरुणार्कनिधाननः ।
अब्रवीत् प्राञ्जलित्वैव हनुमन् मास्नात्यजः ॥ ३ ॥
तत्पश्चात् सुवर्णभयं मेरु पर्वतके समान सुन्दर एवं विशाल शरीरवाले कावप्रभु हनुमान्जी जिनका मुख प्रातः-कालके सूर्यज्ज्वालांति अरुण प्रभामें प्रकाशित हो रहा था, दोनों हाथ जोड़कर बोले— ॥ ३ ॥

भवत्प्रसादान् काकुत्स्थ पितृपितामहं अहम् ।
जानराणां सुदृष्टाणां सम्यग्रवलशास्त्रिणाम् ॥ ४ ॥
महात्मनां सुदुष्पारं प्राप्तं राज्यमिदं प्रभो ।
भवता समनुज्ञातः प्रविश्य नगरं शुभम् ॥ ५ ॥
सविधास्यति कार्याणि सर्वाणि ससुहृदणः ।

‘काकुत्स्थकुलमन्दन । आपको कृपासे सुग्रीवके सुन्दर दाढ़वाले गुणवत्तुलाकी और महामनस्के वावरा का यह विशाल मायाज्य प्राप्त हुआ, जो इनके वाप-दादके समयसे चला आ रहा है प्रभो यद्यपि इसका मिलना बहुत ही कठिन था ना भी आपसे प्रसादसे यह इन्हें मुक्त हो गया अब यदि आप आज्ञा दें ना तो अपने सुन्दर नगरमें प्रवेश करके मरुतके साथ अपना मय राजकाय सँभालें ॥ ४-५ ॥

स्वानोदयं विधिर्धर्मोन्धरोपधेश्च यथाविधि ॥ ६ ॥
अर्घ्यिष्यति भक्त्यैश्च रत्नैश्च त्वां विशेषतः ।
इमां गिरिगुहां रम्यामभिगन्तुं त्वमर्हसि ॥ ७ ॥
कुरुषु स्वामिमन्त्र्यं जानरान् सम्राट्पथय ।

ये राजाविधिके आचार्य नाम प्रकारके सुगन्धित पदार्थ और औषधियोसहित जलमें शज्यपर अभिषिक्ति होकर मालाओं तथा रत्नोंदाय आपकी विशाल पूजा करेंगे । अतः आप इस रमणीय पर्वत-गुफा किष्किन्धामें पधारनेकी कृपा करें और इन्हें इस राज्यका स्वामी बनाकर जानरोंका हर्ष बढ़ावें ॥

एवमुक्ते हनुमता राघवः परवीरता ॥ ८ ॥
प्रत्युवाच हनुमन्तं बुद्धिमान् वाक्यकोविदः ।

हनुमान्जीके ऐसा कहनेपर शत्रुवारोंका संहार करनेवाले तथा बलवीर्यमें कुशल बुद्धिमान् श्रीरामनाथजीने उन्हें यों उत्तर दिया— ॥ ८ ॥

चतुर्दश समाः सौम्यं प्रथं वा यदि वा पुरम् ॥ ९ ॥
न प्रवेक्ष्यामि हनुमन् पितुर्निर्दिशपालकः ।

‘हनुमन् । सौम्य । मैं पिताकी आज्ञाका पालन कर रहा हूँ अतः चौदह वर्षोंके पूर्ण होनेतक किसी ग्राम या नगरमें प्रवेश नहीं करूँगा ॥ ९ ॥

सुसमुद्धां गुहां दिव्यां सुग्रीवो ज्ञानरर्षभ ॥ १० ॥
प्रविष्टो विधित्वा वीरः क्षिप्रं राज्येऽभिषिच्यताम् ।

‘ज्ञानरभृष्ट वीर सुग्रीव इस समृद्धिशालिनी दिव्य गुफामें प्रवेश करें और वहाँ ओझ ही इनका विधिपूर्वक राज्याभिषेक कर दिया जावे ॥ १० ॥

एवमुक्त्वा हनुमन्तं राघः सुग्रीवमब्रवीत् ॥ ११ ॥
वृत्तजो वृत्तसम्पन्नमुदारबलविक्रमम् ।
इममप्यङ्गुलं वीरं यौवराज्येऽभिषेचय ॥ १२ ॥

हनुमान्से ऐसा कहकर श्रीरामचन्द्रजी सुग्रीवसे बोले—
‘मित्र । तुम स्थैर्य और शालीय सभी व्यवहार जानते हो । कुमार अङ्गद सदचरसम्पन्न तथा महान् बल-पराक्रमसे परिपूर्ण हैं इनमें वीरता कूट-कूटकर भरी है अतः तुम इनके भी भूवराजके पदपर अभिषिक्त करो ॥ ११-१२ ॥

ज्येष्ठस्य हि सुतो ज्येष्ठः सदृशो विक्रमेण च ।
अङ्गदोऽयमदीनात्मा यौवराज्यस्य भाजनम् ॥ १३ ॥

‘ये तुम्हारे बड़े भाईके ज्येष्ठ पुत्र हैं । पराक्रममें भी उन्होंने समान हैं तथा इनका हृदय उदार है । अतः अङ्गद युवराज-पदके सर्वथा अधिकारी हैं ॥ १३ ॥

पूर्वोऽयं वार्षिको मासः श्रावणः सलिलागमः ।
प्रवृत्ताः सौम्य चत्वारो मासा वार्षिक संज्ञिताः ॥ १४ ॥

‘सौम्य । वर्षी कहलानेवाले चार मास या चौमासे आ गये । इनमें पहला मास यह श्रावण, जो जलकी प्राप्ति करनेवाला है, आरम्भ हो गया ॥ १४ ॥

नायमुद्योगसमयः प्रविशत् त्वं पुरीं शुभात् ।
अस्मिन् वत्स्याम्यहं सौम्य पर्वते सहलक्ष्यणः ॥ १५ ॥

‘सौम्य । यह किसीपर चढ़ाई करनेका समय नहीं है । इसलिये तुम अपनी सुन्दर नगरमें जाओ । मैं लक्ष्मणके साथ इन पर्वतपर निवास करूँगा ॥ १५ ॥

इयं गिरिगुहा रम्या विशाला युक्तमास्ता ।
प्रभूतसलिला सौम्य प्रभूतकमलोत्पला ॥ १६ ॥

सौम्य सुग्रीव । यह पर्वतीय गुफा बड़ी रमणीय वीर

विशाल है। इसमें आकृष्टकतक अनुत्पन्न हवा भी मिल जाती है। यहाँ पर्याप्त जल भी सुलभ है और कमल तथा उत्पल भी बहुत हैं ॥ १६ ॥

कार्तिके समनुप्राते त्वं राखणवधे यत ।

एव नः समयः सौम्य प्रविश त्वं स्वपालयम् ॥ १७ ॥

अभिविज्ञस्व राज्ये च सुहृदः सम्यहर्षय ।

‘सखे ! कार्तिक आनेपर तू राखणके वधक लिये प्रयत्न करना। यही हमलोगोंका निश्चय रहा। अब तू अपने महलमें प्रवेश कर और राज्यका अभिविज्ञ होकर सुहृदोंके आनन्दित करो’ ॥ १७ ॥

इति रामाभ्यनुज्ञातः सुग्रीवो वानरर्षभः ॥ १८ ॥

प्रतिवेश पूर्वं त्वया किञ्चिन्त्यां वालिपालिताम् ।

श्रीगणचक्राङ्गीको यह आज्ञा पाकर वाजरथ मुग्रीब उभर मणोय किञ्चिन्त्यापुरांमें गये, जिसकी रक्षा वालिने की थी ॥

तौ वानरसहस्राणि प्रविष्टं वानरेश्वरम् ॥ १९ ॥

अभिवार्यं प्रविष्टानि सर्वतः प्रवर्गेश्वरम् ।

उस समय गुफामें प्रविष्ट हुए उन वानरगणका साथ औरसे धीरेकर हजारों वानर उनके साथ ही गुहामें गये ॥

ततः प्रकृतयः सर्वा दृष्टा हरिगणेश्वरम् ॥ २० ॥

प्रणम्य भुग्रां पतिता जगुर्धायं समाहिताः ।

वानरराजको देवदेव प्रसा आदि समस्त प्रकृतियोंन एकाग्रचित्त हो धूर्वागर माथा टेककर उनके प्रणाम किया ॥

सुग्रीवः प्रकृतीः सर्वाः सम्प्राप्योत्थाप्य वीर्यवान् ॥ २१ ॥

भ्रातुस्तःपुरं सौम्यं प्रविशंश महाबलः ।

भगवन्श्री भगवन्सौ सुग्रीवने उन सबको उठानके आज्ञा दी और रा मखण वानरागण करके स भाईक सौम्य अन्न पुरमें प्रविष्ट हुए ॥ २१ ॥

प्रविष्टं श्रीमविज्ञानं सुग्रीवं वानरर्षभम् ॥ २२ ॥

अभ्यविज्ञन्त सुहृदः सहस्राक्षपिपायराः ।

गयेकर पशुक्रम प्रकट करनकाल वानरश्रेष्ठ मुग्रीवके अन्न पुरमें आया देख उनके सुग्रीवों उनके उभे प्रकार अभिप्रकृतिया जैय उवाताओंने सहस्र केपारों इन्द्रका किया था ॥

तस्य पाण्डुरमाजहुरुक्षत्रं हेमपाङ्क्तम् ॥ २३ ॥

शुक्लं च बालव्यजने हेमदण्डे यशस्करे ।

तथा रत्नानि सर्वाणि सर्ववीजौषधानि च ॥ २४ ॥

सक्षीराणां च वृक्षाणां प्ररोहान् कुसुमानि च ।

शुक्रानि चैव वस्त्राणि क्षेत्रं चैवानुलेपनम् ॥ २५ ॥

सुगन्धीनि च माल्यानि स्थलजान्यम्बुजानि च ।

चन्दनानि च दिव्यानि गन्धाश्च विविधान्बहून् ॥ २६ ॥

अक्षतं जातरूपं च त्रिवर्गं मधुसर्पिणी ।

दधि चर्म च वैद्याश्च पराधी चाप्युपानहै ॥ २७ ॥

समालम्बनपादाय गंगोचरं मनःशिलाम् ।

आजम्बुस्तत्र मुद्रिता वराः कन्याश्च षोडश ॥ २८ ॥

पहले तब वे सब लोग उनके लिये सुवर्णभूषित श्वेत छत्र, सोनेकी झड़ोवाले दो सफेद चैवर, सब प्रकारके रत्न, बीज और ओषधियाँ दूधवाने वृक्षोंकी नीचे लटकनेवाली अटाएँ, श्वेत पुष्प, श्वेत वस्त्र, श्वेत अनुलेपन, जल और थलमें होनेवाले सुगन्धित फूलोंकी मालाएँ, दिव्य चन्दन, नाना प्रकारके बहुत-से सुगन्धित पदार्थ, अक्षत, सोना, त्रिवर्ग (कगनों) मधु, घी, दही, व्याघ्रचर्म, सुन्दर एवं बहुमूल्य जूत अङ्ग-राम, गंगोचर और मनमिल आदि मामग्रा लेकर वहाँ उपस्थित हुए, माथे हा हर्षमें भरी हुई सोलह सुन्दरी कन्याएँ भी सुग्रीवके पास आयीं ॥ २३—२८ ॥

ततस्ते वानरश्रेष्ठमभिषेक्तुं यथाविधि ।

रत्नैर्वस्त्रैश्च भक्ष्यैश्च तोषयित्वा द्विजर्षभान् ॥ २९ ॥

तदनन्तर उन सबने श्रेष्ठ वानरोंको नाना प्रकारके रत्न वस्त्र और भक्ष्य पदार्थोंसे सज्ज करके वानरश्रेष्ठ सुग्रीवका विधिपूर्वक अभिषेक-कार्य आरम्भ किया ॥ २९ ॥

ततः कुशपरिस्त्रीणीं समिद्धं जातवेदसम् ।

मन्त्रपूतेन हविषा हुत्वा मन्त्रविदो जनाः ॥ ३० ॥

मन्त्रवेणी पुरुषोंने वेदोपर अग्निकी स्थापना करके उसे प्रज्वलित किया और अग्निवेदके चारों ओर कुश बिछाये। फिर अग्निका संस्कार करके मन्त्रपूत हविष्यके द्वारा प्रज्वलित अग्निमें आहुति दी ॥ ३० ॥

ततो हेमप्रतिष्ठाने वरास्तरणसंवृते ।

प्रासादशिखरे रम्ये चित्रमाल्योपशोभिते ॥ ३१ ॥

प्राङ्मुखं विधिवन्मन्त्रं स्थापयित्वा वरासने ।

तन्पश्चात् शत विगो पुर्यमालाओंसे सुशोभित रमणीय अट्टालिकापर एक सोनका सिंहासन रखा गया और उसपर मुन्दर चित्रांना चित्रकर उभरके ऊपर सुग्रीवको पूर्वाभिमुख करके विधिवत् मन्त्रोच्चारण करते हुए बिठाया गया ।

नदीनदोभ्यः सहस्रं तीर्थेभ्यश्च समन्ततः ॥ ३२ ॥

आहत्य च समुद्रेभ्यः सर्वेभ्यो वानरर्षभाः ।

अपः कनककुम्भेषु निधाय विपले जलम् ॥ ३३ ॥

शुभेर्लक्ष्यमूर्द्धेश्च कलशैश्चैव काञ्चनैः ।

शास्त्रदृष्टेन विधिना महर्षिर्विहितेन च ॥ ३४ ॥

गजो गवाक्षो गवयः शरधो गन्धमादनः ।

मैन्दश्च द्विविदश्चैव हनुमान्नाम्बवास्तथा ॥ ३५ ॥

अभ्यविज्ञन्त सुग्रीवं प्रसन्नेन सुगन्धिना ।

सलिलेन सहस्राक्षं वसवो वासवं यथा ॥ ३६ ॥

इसके बाद श्रेष्ठ वानरोंने नदियों, नदों, सम्पूर्ण दिशाओंके तीर्थों और समस्त समुद्रोंसे लाये हुए निर्मल जलको एकत्र करके ठामे सोनके कलशोंमें रखा। फिर गज, गवाक्ष, गवय, शरध, गन्धमादन, मैन्द, द्विविद, हनुमान् और जाम्बवान्ने महर्षियोंको बताये हुई शास्त्रोंके विधिक अनुसार सुवर्णमय कलशोंमें रखे हुए स्वच्छ और सुगन्धित जलसे सौहके

सींगीद्वारा सुग्रीवका ठमो प्रकार अभिषेक किया, जैसे वसुअंनि इन्द्रका अभिषेक किया था ॥ ३२—३६ ॥

अभिषिक्ते तु सुग्रीवे सर्वे वानरपुङ्गवाः ।

प्रचक्षुर्गुह्यहात्मानो हृष्टाः शनसहस्रशः ॥ ३७ ॥

सुग्रीवका अभिषेक हो जानेपर वहाँ लाखों संख्याय एकत्र हुए समस्त महापुरुषों श्रेष्ठ वानर इष्ये भरकर जगमोष करने लगे ॥ ३७ ॥

रामस्य तु वचः कुर्वन् सुग्रीवो वानरेश्वरः ।

अद्भुतं सम्परिभुज्य यौवराज्योऽध्यपेक्षयन् ॥ ३८ ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञाका पालन करते हुए वानरराज सुग्रीवने अद्भुतको हृदयसे लगाकर ठहरे भी युवराजक पदपर अभिषिक्त कर दिया ॥ ३८ ॥

अद्भुदे चाभिषिक्ते तु सानुक्रोशाः प्लवंगमाः ।

साधु साध्विति सुग्रीवे महात्मानो हृपुञ्जयन् ॥ ३९ ॥

अद्भुतका अभिषेक हो जानेपर महापुरुष दयालु वानर साधु-साधु कहकर सुग्रीवको मरादना करने लगे ॥ ३९ ॥

रामं चैव महात्मानं लक्ष्मणं च पुनः पुनः ।

प्रीताश्च गृध्रवुः सर्वे लादृशे तत्र वर्तिनि ॥ ४० ॥

इत्यार्ये श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे सप्तविंशः सर्गः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित रामायण आदिकाव्यक किष्किन्धाकाण्डमें उक्तोक्त सर्ग पूरा हुआ ॥ २६ ॥

सप्तविंशः सर्गः

प्रस्रवणगिरिपर श्रीराम और लक्ष्मणकी परस्पर बातचीत

अभिषिक्ते तु सुग्रीवे प्रविष्टे वानरे गुह्याम् ।

आजगाम सह भ्रात्रा रामः प्रस्रवणं गिरिम् ॥ १ ॥

जब वानर सुग्रीवका रक्ष्याभिषेक हो गया और वे किष्किन्धामें जाकर रहने लगे, उस समय अपने भाई लक्ष्मणके साथ श्रीरामजी प्रस्रवणगिरिपर चले गये ॥ १ ॥

शार्तूलमृगसधुष्टं सिंहैर्भीमस्वैर्वृतम् ।

नानागुल्मलतागुवं बहुपादपसंकुलम् ॥ २ ॥

वहाँ चीतों और मृगोंकी आवाज गूँजते रहती थी भयंकर गर्जना करनवाले सिंहोंसे वह स्थान घरा था। नाना प्रकारकी झाड़ियाँ और लताएँ टग पर्वतकी आच्छादित किये हुए थी और घने वृक्षोंके द्वारा यह सब ओरसे व्याप्त था ॥

कैशवाभरणोपुच्छैर्घाजरिक्ष नियवितम् ।

मेघराशिनिर्गता शैले नित्यं शुधिकं शिवम् ॥ ३ ॥

गैर, वानर, लंगूर और खिल्लाव आदि जन्तु वहाँ निवास करते थे। यह पर्वत मेघोंके समूह-सा जान पड़ता था। दर्शन करनेवाले लोगोंने लिये यह सदा ही महत्त्वमय और शक्तिशाली था ॥ ३ ॥

तस्य शैलस्य शिखरे महतीमायता गुह्याम् ।

प्रत्यगृह्येत वासार्थं रामः सौमित्रिणा सह ॥ ४ ॥

इस प्रकार अभिषेक होकर किष्किन्धामें सुग्रीव और अद्भुतके विराजमान होनेपर समस्त वानर परम प्रसन्न हो महात्मा श्रीराम और लक्ष्मणकी धारधार स्तुति करने लगे ॥ ४० ॥

हृष्टपुष्टजनाकीर्णा पताकाध्वजशोभिता ।

वभूव नगरी रम्या किष्किन्धा गिरिगह्वरे ॥ ४१ ॥

उस समय पर्वतके गुफायें घसी हुई किष्किन्धापुरी हृष्ट-पुष्ट पुरुषाधिक्यसे व्याप्त तथा ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित होनेके कारण बड़ी रमणीय प्रतीत होती थी।

निवेद्य रामाय तदा महात्माने

महाभिषेकं कपिवाहिनीपतिः ।

रूपो च भार्यामुपलभ्य वीर्यवा-

नवाप राज्यं त्रिदशाधिपो यथा ॥ ४२ ॥

वानरसेनाके स्वामी पराक्रमी सुग्रीवने महाशय श्रीरामचन्द्रजीके पास जाकर अपने महाभिषेकका समाचार निवेदन किया और अपना यत्नी रूपको पाकर उन्होंने ठमो प्रकार खानेका साम्राज्य प्राप्त किया, जैसे देवराज इन्द्रने त्रिलोकिका ॥ ४२ ॥

उस पर्वतके शिखरपर एक बहुत बड़ी और विस्तृत गुफा थी। लक्ष्मणमहित श्रीरामने ठमोका अपने रहनेक लिये आश्रय लिया ॥ ४ ॥

कृत्वा च समयं रामः सुग्रीवेण सहानघः ।

कालयुक्तं महद्वाक्यमुवाच स्थुनन्दनः ॥ ५ ॥

विनीते भ्रातरं भ्राता लक्ष्मणं लक्ष्म्यवर्धनम् ।

रघुकुलका आनन्द कहनेवाले निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी कर्षका अन्न होनेपर सुग्रीवक साथ रावणपर चढ़ाई करनेका निश्चय करके वहाँ आये थे। उन्होंने लक्ष्मीकी वृद्धि करनेवाला अपने विनययुक्त भ्राता लक्ष्मणम यज्ञ भूम्योन्धित बात कही ॥ ५ ॥

इयं गिरिगुहा रम्या विशाला युक्तभास्वता ॥ ६ ॥

अस्यां वस्त्याम सौमित्रे वर्षरात्रमरिदम् ।

'इत्युदमन सुमित्राकुमार! यह पर्वतकी गुफा बड़ा ही सुन्दर और विशाल है। यहाँ हवाके आने-जानेका भी मार्ग है। हममोग कर्षोंकी रातमें इसी गुफाके भीतर निवास करेंगे ॥ ६ ॥

गिरिशृङ्गमिदं रम्यमुत्तमं पार्थिवात्मज ॥ ७ ॥

श्वेताधिः कृष्णानाम्नाभिः शिलाभिरुपशोभितम् ।

‘राजकुमार ! पर्वतका यह शिखर बहुत ही उत्तम और स्थानीय है। सफेद काले और लाल हर तरहके प्रस्तर-खण्ड इसकी शोभा बढ़ा रहे हैं ॥ ७३ ॥

नानाधातुसमाकीर्ण नदीदुर्गसंयुतम् ॥ ८ ॥

विदिधैवृक्षपण्डैश्च चारुचित्रलतायुतम् ।

नानाविहगसंघुष्टं मयूरधरनादितम् ॥ ९ ॥

‘यहाँ नाना प्रकारके धातुओंकी खानें हैं। पास ही नदी घाटी है। उसमें रहनेवाले मछली यहाँ भी रहनेवाले कुदने वाले आते हैं। नाना प्रकारके वृक्ष समूह इसकी शोभा बढ़ाते हैं। सुन्दर और विविध रंग-रंगों का शाल दिग्वा हवा भरा दिखायी देता है। शान्ति-भाँतिके पक्षी यहाँ चरकर रहे हैं तथा सुन्दर मोरोंको माँझों मोझों गुँज रहे हैं ॥ ८-९ ॥

मासमीकुन्तगुल्मश्च सिन्धुवारं शिरीषकं ।

कन्दमूलान्नमनैश्च पुष्पितैस्त्वशोभितम् ॥ १० ॥

‘मासमी और कुन्दकी झाड़ियाँ, सिन्धुवार, शिरीष, कन्दमूल, अर्जुन और सतक पृष्णे हुए वृक्ष इस स्थानकी शोभा बढ़ा रहे हैं ॥ १० ॥

इयं च नलिनी रम्या फुल्लपत्रजमण्डिता ।

नातिदूरे गुहाया नो भविष्यति नृपात्मज ॥ ११ ॥

‘राजकुमार ! यह पक्षियोंकी स्थिति हुए वृक्षोंमें अत्यन्त ही अच्छी रमणीय दिखायी देती है। यह हमलाओंकी गुहासे अधिक दूर नहीं होगी ॥ ११ ॥

घातुल्लङ्घणे देवो गृहा साधु भविष्यति ।

पश्चाद्वाग्रता रोग्य निवातय भविष्यति ॥ १२ ॥

‘सौम्य ! यहाँका स्थान ईशानकोणकी ओरसे नीचा है। अतः, यहाँ यह गुफा हमारे निवासके लिये बहुत अच्छी रहेगी। पश्चिम-दक्षिणके कोणकी ओरसे ऊँची यह गुफा हवा और नमीसे बचानेके लिये अच्छी होगी* ॥ १२ ॥

गृहद्वारे च सांभिजे शिला समतला शिवा ।

कृणा चैवायता चैव भिन्नान्नचयोपमा ॥ १३ ॥

‘गुनिज्ञानम्बन ! इस गुफाके द्वारपर समतल शिला है, जो घाट की ओरके लिये गुनिज्ञानक द्वारके कारण मुन्दरगिनी है। यह ऊँचा-चोटी लानके साथ ही स्थानमें कामकर निकाल हुए कोयलोंकी शानिके समान काली है ॥ १३ ॥

गिरिभूषणभित्तं ततः पश्य चोत्तरतः शुभम् ।

भिन्नान्नचयकारमम्बोधरमिवोदितम् ॥ १४ ॥

‘ततः ! देखो, यह सुन्दर पर्वत शिखर उत्तरकी ओरसे काटे हुए कोयलोंकी शानि तथा घुमड़े हुए मैलोंकी धटाके समान काला दिखायी देता है ॥ १४ ॥

दक्षिणस्यामपि दिशि स्थितं क्षेत्रमिषाम्बरम् ।

कैलासशिखरप्रख्यं नानाधातुविराजितम् ॥ १५ ॥

‘इसी तरह दक्षिण दिशामें भी इम्का जो शिखर है, वह क्षेत्र वस्त्र और कैलास-भूजक समान क्षेत्र दिखायी देता है नाना प्रकारके धातुएँ उसकी शोभा बढ़ाती हैं ॥ १५ ॥

प्राचीनवाहिनी चैव नदी भृशभकर्मभाम् ।

गुहायाः परतः पश्य त्रिकूटे जाह्नवीमिव ॥ १६ ॥

‘यह देखो, इस गुफाके दूसरी ओर त्रिकूट पर्वतके समीप बहनेवाली मन्दाकिनीके समान तुल्लभश नदी बह रही है। उसकी धारा पश्चिमसे पूर्वकी ओर जा रही है। उसमें कोंचड़का नाम भी नहीं है ॥ १६ ॥

चन्दनैस्तिलकैः सालैस्तथालरतिमुत्तकैः ।

पद्मकैः सरलैश्चैव अशोकैश्चैव शोभिताम् ॥ १७ ॥

‘चन्दन, तिलक, साल, समाल, अतिमुत्तक, पद्मक, सरल और शोक आदि नाना प्रकारके वृक्षोंमें उस नदीकी कैसी शोभा हो रही है ? ॥ १७ ॥

धानीरेस्तिमिदंश्चैव वकुलैः केतकैरपि ।

हिन्तालैस्तिनिशैर्नपिबेतसं कृत्तमालकैः ॥ १८ ॥

नीरजैः शोभिता भवति नानारूपैस्ततस्ततः ।

वसनाभरणोपेना प्रपदेवाभ्यलंकृता ॥ १९ ॥

‘जलध्वं, तिमिद, वकुल, केतक, हिन्ताल, तिनिश, नीप, स्थलध्वं, कृत्तमाल (अमिलतास) आदि भाँति-भाँतिके तटवर्ती वृक्षोंमें जहाँ-जहाँ सुजाँधित हुई यह नदी वस्त्राभूषणोंसे विभूषण भूषणरसजित युवनी स्त्रीके समान जान पड़ती है ॥ १८-१९ ॥

शतशः पक्षिसङ्घैश्च नानानादिविनादिता ।

एकैकमनुरक्तैश्च चक्रवार्कैरलंकृता ॥ २० ॥

‘सैकड़ों पक्षिमण्डलोंमें संयुक्त हुई यह नदी उनके नाना प्रकारके कलकलान् गूँजती रहती है। परस्पर अनुरक्त हुए चक्रवाक इस सरिताकी शोभा बढ़ाते हैं ॥ २० ॥

पुलिनैरतिरम्यैश्च हंससारससेविता ।

प्रहसन्येव भात्येषा नानारत्नसमन्विता ॥ २१ ॥

‘अत्यन्त रमणीय तटोंसे अलंकृत, नाना प्रकारके रत्नोंसे सम्पन्न तथा हंस और सारसोंसे सेवित यह नदी अपनी शत्यच्छटा बिखेरती हुई-सी जान पड़ती है ॥ २१ ॥

कचिर्त्रालोत्पलैश्छत्रा भातिरक्तान्यलैः कचिन् ।

कचिदाभाति शुक्लैश्च दिव्यैः कुमुदकुड्मलैः ॥ २२ ॥

‘कहीं तो यह नील कमलोंसे ढकी हुई है, कहीं लाल कमलोंमें सुजाँधित होती है और कहीं क्षेत्र एवं दिव्य

* ईशानकोणकी ओर नीची तथा नैऋत्यकोणकी ओरसे ऊँची होनेसे उसका द्वार नैऋत्यकोणकी ओर था—यह प्रतीत होता है, इससे उसमें पूर्वी तथा और उधरसे आनेवाले वर्षाका प्रवेश नहीं था

कुमुद-कालिकाओंसे शोभा पाती है ॥ २२ ॥

मारिप्लवशतैर्जुष्टा बहिकौञ्चविनादिता ।

रमणीया नदी सौम्य मुनिसङ्घनिषेविता ॥ २३ ॥

‘सैकड़ों जल-पक्षियोंसे सेवित तथा घोर एवं क्रौञ्चकें कलरवास मुखरित हुई यह सौम्य नदी बड़ी रमणीय प्रतीत होती है मुनियोंके समुदाय इसके जलका संयन करने है ।

पश्य चन्दनवृक्षाणां पङ्क्तिः सुकविरा इव ।

ककुभानां च दृश्यन्ते मनसोविदिताः समम् ॥ २४ ॥

‘वह देखो, अर्जुन और चन्दन वृक्षोंकी पंक्तियाँ किन्तो गुन्दर दिखायी देती हैं मगलूम होना है ये मनक संकल्पके साथ ही प्रकट हो गयी हैं ॥ २४ ॥

अहो सुरमणीयोऽयं देशः शत्रुनिषूदन ।

दृढं रस्याव सौमित्रे साध्वत्र निवसावहे ॥ २५ ॥

शत्रुसूदन सुमित्राकुमार ! यह स्थान अत्यन्त रमणीय और अदुर्लभ है यहाँ हमलागोंका मन खूब लगेगा । अतः यहाँ रहना ठीक होगा ॥ २५ ॥

इतस्तु नातिदूरे सा किष्किन्धा चित्रकानना ।

सुग्रीवस्य पुरी रम्या भविष्यति नृपात्मज ॥ २६ ॥

‘राजकुमार ! विचित्र काननोंस सुशोधित सुग्रीवकी रमणीय किष्किन्धापुरी भी यहाँसे अधिक दूर नहीं होगी ॥ गीतवादित्रनिर्घोषः श्रूयते अयतां वर ।

नवतां जानराणां च पृदङ्गाङ्घ्र्यैः सह ॥ २७ ॥

विजयी चोरोमें श्रेष्ठ लक्ष्मण ! मृदङ्गकों मधुर ध्वनिकें साथ गजते हुए जानरांके गीत और वाद्यका गम्भीर घाघ यहाँसे सुनायी देता है ॥ २७ ॥

लक्ष्मणा भार्या कर्पिवरः प्राप्य राज्यं सुहृद्वृतः ।

ध्रुवं नन्दति सुग्रीवः सम्प्राप्य महतीं श्रियम् ॥ २८ ॥

‘निश्चय ही कर्पिश्रेष्ठ सुग्रीव अपनी पत्नीको लेकर, राज्यको हस्तगत करके और बड़ी भारी लक्ष्मणपर अधिकार प्राप्त करके सुहृदोंके साथ आनन्दोत्सव मन रहे हैं ॥ २८ ॥

इत्युक्त्वा न्यवसान् तत्र राघवः सहलक्ष्मणः ।

बहूनुपघतरीकुञ्जे तरिमान् प्रस्रवणे गिरौ ॥ २९ ॥

ऐसा कहकर श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणके साथ उस प्रस्रवण गगनतार जगई धातु गी कन्दुगआ और कुञ्जके दर्शन होने में निवास करने लगे ॥ २९ ॥

सूक्ष्मे हि बहुद्रव्यं तस्मिन् हि धरणीधरे ।

पसतस्तस्य तपस्य रतिसत्त्वापि नाधवत् ॥ ३० ॥

इतां हि भार्या स्मरतः प्राणेष्वोऽपि गरीयसीम् ।

यद्यपि उस पर्वतपर परम सुख प्रदान करनेवाले बहूनु-सं फल फूल आदि आवश्यक पदार्थ हैं, तथापि लक्ष्मणद्वारा हरी मयी प्राणोंसे भी बड़कर आदरणीय संताक स्मरण करते हुए भगवान् श्रीरामको यहाँ तक भी मुक्त नहीं मिलता था । ३० ॥

उदयाभ्युदितं दृष्ट्वा शशाङ्कं च विशेषतः ॥ ३१ ॥

आविवेश न तं निद्रा निद्रासु शयनं गतम् ।

विशेषतः उदयाचलपर उदित हुए चन्द्रदेवका दर्शन करके गतमें शय्यापर लेट जानेपर भी उन्हें नींद नहीं आती थी ।

तत्समुत्थेन शोकं च काव्योपहतचेतनम् ॥ ३२ ॥

तं शोचमानं काकुत्स्थं नित्यं शोकपरायणम् ।

मुत्थदुःखोऽज्रवीद्भ्रान्त लक्ष्मणोऽनुनयं यच्च ॥ ३३ ॥

मानके क्रियोगातन्त्रित शोकमें आश्रु काते हुए वे अर्धत हो जाते थे । श्रीरामको निरन्तर शोकमग्न रहकर चिन्ता करते देख उनके दुःखमें समानरूपसे घाम लेनेवाले भाई लक्ष्मणने उनसे विनयपूर्वक कहा— ॥ ३२-३३ ॥

अस्ते वीर व्यथी गत्वा न त्वं शोचितुमर्हसि ।

शोचनो ह्यवसीदन्ति सर्वार्था विदित हि ते ॥ ३४ ॥

‘वीर ! इस प्रकार व्यथित होनेसे कोई लाभ नहीं है अतः आपको शोक नहीं करना चाहिये; क्योंकि शोक करनेवाले पुरुषके सभी मनोरथ नष्ट हो जाते हैं, यह बात आपसे छिपी नहीं है ॥ ३४ ॥

भवान् क्रियापसे लोके भवान् देवपरायणः ।

आस्तिको धर्मशीलश्च व्यवसायी च राघव ॥ ३५ ॥

‘रघुनन्दन ! आप बगलमें कर्मठ वीर तथा देवताओंका ममाटर करनेवाले हैं । आस्तिक, धर्मार्ता और उद्योगी हैं । न ह्यव्यवसितः शत्रुं राक्षसं तं विशेषतः ।

समर्थस्त्वं तपो हन्तुं विक्रमे जिह्मकारिणम् ॥ ३६ ॥

यदि आप शोकवश उद्यम छोड़ बैठते हैं तो पराक्रमक स्थानस्वरूप समसङ्गणमें कुटिल कर्म करनेवाले उस शत्रुका तो विशेषतः राक्षस है, वध करनेमें समर्थ न हो सकेंगे । समुन्मूल्य शोकं त्वं व्यवसायं स्थिरीकुरु ।

ततः सपरिवारं तं राक्षसं हन्तुमर्हसि ॥ ३७ ॥

‘अतः आप अपने शोकको जड़से उखाड़ फेंकिये और उद्योगके विचारकों सुस्मिर कीजिये । तभी आप परिवार-साहित उस राक्षसका विनाश कर सकते हैं ॥ ३७ ॥

पृथिवीमपि काकुत्स्थः ससागरवनाजलाम् ।

परिवर्तयितुं शक्तः किं पुनस्तं हि रावणम् ॥ ३८ ॥

काकुत्स्थ ! आप तो समुद्र, वन और पर्वतोंमहित समूचों पृथ्वीका भी उलट सकते हैं फिर उस रावणका संहार करना आपके लिये कौन बड़ी बात है ? ॥ ३८ ॥

शरत्कालं प्रतीक्षन् प्रायुदकालोऽप्यभागतः ।

ततः सराष्ट्रं सगणं रावणं ते वधिष्यसि ॥ ३९ ॥

‘यह वर्षाकाल आ गया है । अब शरद्-ऋतुकी प्रतीक्षा कीजिये । फिर राज्य और सेनासाहित रावणका वध कीजियेगा ॥ अहं तु खलु ते वीर्यं प्रमुपं प्रतिबोधये ।

दीप्तगहुनिधिः काले भस्मच्छत्रमिवानलम् ॥ ४० ॥

‘जैसे राक्षस छिपे हुई आगको हवनकालमें आहुतियों-

द्वारा प्रज्वलित किया जाता है। उमरे प्रकार मैं आपके मोये हुए पराक्रमको जगा रहा हूँ। भूजे हुए बल विक्रमको बाद दिन्ना रहा हूँ ॥ ४० ॥

लक्ष्मणस्य हि तद् वाक्यं प्रतिपूज्य हितं शुभम् ।

राधवः सुहृदं मिग्धमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ४१ ॥

लक्ष्मणके इस शब्द एवं हितकर वचनकी मशहूरता केके श्रीरामनाथजीने अपने गंही मुदत् मुनिश्राकुमारस इस प्रकार कही— ॥ ४१ ॥

आत्मीयं पदपुङ्क्तं च मिग्धं च हितं च ।

सत्यविक्रमयुक्तेन तदुक्तं लक्ष्मण स्वया ॥ ४२ ॥

'लक्ष्मण ! अनुरागी, खेही, हितमी और सत्यपराक्रमी औरवा वैसी शब्द कहेना चाहिये ऐसी ही तुमने कहा है ॥

एष शोकः परित्यक्तः सर्वकार्यावसादकः ।

विक्रमेषुप्रतिहत तेजः प्रोत्साहयाम्यहम् ॥ ४३ ॥

'हो, सब तरहक काम बिगाड़नेवाले शोकको मैंने त्याग दिया। अब मैं पराक्रमविधायक दुर्धर्ष तेजको प्रान्साहित करता हूँ (बढ़ाता हूँ) ॥ ४३ ॥

शरत्काले प्रतांशिक्ष्ये स्थनोऽस्मि वचने तव ।

सुग्रीवस्य नदीनां च प्रसादपनुपालयन् ॥ ४४ ॥

'तुम्हासे बात मान लना है। सुग्रीवके प्रसन्न होकर सहायता करने और नदियोंके जलके स्वच्छ होनेकी बात देखना हुआ मैं शरत्-कालके प्रतांक्ष करूँगा ॥ ४४ ॥

उपकारेण वीरस्तु प्रतिकारेण धुज्यते ।

अधृतशोऽशतिकृतो हन्ति सत्त्वचना मनः ॥ ४५ ॥

ओ और पुरुष बिसोंके उपकरणे उपकृत होता है, वह धनुषका काक रस + रक्त + अश्रु + रस + है किन्तु वह काक

उपकारका न मानकर जो धुलाकर प्रचुपकामसे मुँह मोंड़ लेता है वह शक्तिशाली शत्रु धनुषक मनको ठस पहुँचाता है ॥ ४५ ॥

तदेव युक्तं प्रणिधाय लक्ष्मणः

कृताञ्जलिस्तन् प्रतिपूज्य भावितम् ।

उवाच गमं स्वधिगमदर्शनं

प्रदर्शयन् दर्शनपात्मनः शुभम् ॥ ४६ ॥

'श्रीरामजीके उस कथनको ही युक्तियुक्त मानकर लक्ष्मणन ठसकी भुँ-भुँ प्रशंसा की और दोनों साथ जुड़कर अपने शुभ दुःप्रका परस्पर देखे हुए वे नयनाभिराम श्रीरामसे इस प्रकार बोले— ॥ ४६ ॥

यथोक्तमेतत् तव सर्वमोप्सितं

नरेन्द्र कर्ता नचिरात् तु खानरः ।

शरत्प्रतीक्षः क्षमतामिदं भवान्

जलप्रपातं रिपुनिग्रहे धृतः ॥ ४७ ॥

'नरेश्वर ! जैसा कि आपने कहा है, खानराज सुग्रीव शीघ्र ही आपका यह सारा मनोग्ध सिद्ध करेंगे। अतः आप शत्रुके महार करनेका दृढ़ निश्चय लिये शरत्कालको प्रतीक्षा कीजिये और इस वर्षाकालके विलम्बको सहन कीजिये ॥ ४७ ॥

नियम्य कोपं परिपालयतां शरत्

क्षयस्व मासांश्चतुरो भया सह ।

वसाचलेऽस्मिन् मृगगजसेविने

संवर्तयञ्जुवधे समर्थः ॥ ४८ ॥

'क्रोधको काधुमें रखकर शरत्कालको रह देखिये। शरत्कालके चार महानात्क ओ सो कहते हो, उसे सहन कीजिये तथा शत्रुवधमें समर्थ बनकर या इस वर्षाकालको व्यतीत करने हुए मेरे साथ इस सिद्धसेविन पर्वतपर निवास कीजिये ॥ ४८ ॥

इत्यर्थे श्रीमहातायण वाल्मीकीय आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे सप्तविंश सर्गः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीकल्कीकीर्णित अष्टापायण अष्टिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे सप्तविंश सर्ग पूरा हुआ ॥ २७ ॥

अष्टाविंशः सर्गः

श्रीरामके द्वारा वर्षा-शत्रुका वर्णन

स तदा वालिनं हत्वा सुग्रीवमभिषिञ्च्य च ।

वसनं मान्ययतः पृष्ठं गमो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ १ ॥

इस प्रकार वालिका वध और सुग्रीवका राज्याभिषेक करनके अन्तर मान्ययान पर्वतके पृष्ठभागमें निवास करत हुए श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणसे कहने लगे— ॥ १ ॥

अयं स कालः सम्प्राप्तः समयोऽद्य जलागमः ।

सम्पश्य त्वं नभो मेघे सधृत गिरिमन्त्रिभ्यः ॥ २ ॥

'सुमित्रानन्दन ! अब यह जलकी प्राप्ति करनेवाला वह प्रसिद्ध वर्षाकाल आ गया। देखो, पर्वतके समान प्रतीत

होनेवाले मेघोंमें आकाशमण्डल आच्छन्न हो गया है ॥ १ ॥

नवमासधृतं गर्भं भास्करस्य गभस्तिभिः ।

पीत्वा रम्यं मपूडाणां द्यौः प्रमृते रसायनम् ॥ ३ ॥

यह आकाशान्वल्लो नवमास मृगका विष्णुद्वारा ममूद्राका रस पीकर कर्तक आदि में मान्ययान धारण किये हुए गर्भके रूपमें जलरूपी रसायनको जन्म दे रही है ॥ ३ ॥

शक्यमम्बरधान्हा मेघमोषानपत्तिभिः ।

कुटजाजुनपालाधिरलंकृतं दिवाकरः ॥ ४ ॥

इस समय मेघरूपी मोषानपत्तियों (मोड़ियों) द्वारा

आकाशमें चढ़कर गिरिर्मालिका और अजुनपुष्पको मानाओंमें
मूर्यदवको अम्बुत करना सरल-सा हो गया है ॥ ४ ॥

संध्यारागोत्थितस्ताम्ररन्तेष्वपि च पाण्डुभिः ।

स्त्रिधैरभ्रपटच्छेदैर्बद्धव्रणमिवाम्बरम् ॥ ५ ॥

संध्याकालकी लाली प्रकट होनेसे खोले लाल तथा
किनारेके भागोंमें क्षेत्र एवं स्त्रिध प्रनाम हानकाल पंचमण्डपोंमें
आच्छादित हुआ आकाश ऐसी जान पड़ता है, मानां कुमन अपने
पादोंमें स्फुरित सफेद कपड़ोंको पट्टी बांध रखी हो ॥ ५ ॥

मन्दमारुतिनिःश्वासं संध्याचन्दनरञ्जितम् ।

आपापकुजलदं भाति कामानुरमिवाम्बरम् ॥ ६ ॥

मन्द मन्द हवा निःश्वास-सी प्रतीत होती है, संध्या-
कालकी लाली लाल चन्दन वनकर लम्बद आदि अङ्गोंको
अनुरञ्जित कर रही है तथा मेघरूपी कपोल कुछ-कुछ
पाण्डुवर्णका प्रतीत होता है इस तरह यह आकाश कामानुर
पुरुषके समान जान पड़ता है ॥ ६ ॥

एषा धर्मपरिक्रिष्टा नक्षत्रारिपरिप्लवा ।

सीतेव शोकसंतप्ता यही बाष्प विमुञ्चति ॥ ७ ॥

'जा रंज-अनुमं घामसं मय गयो थी, चह पृथ्वी
वर्षाकालमें नूतन जलसे भोगकर (सूर्य-किरणोंसे तपों और
आँसुओंसे भीगी हुई) शोकसंतप्त सीताकी भाँति बाष्प विमोचन
(उष्णताका लक्षण अथवा अश्रुपात) कर रहें हैं ॥ ७ ॥

मेघोदरविनिर्मुक्ताः कर्पूरदलशोभिताः ।

शक्यमञ्जलिभिः^१ पातुं वाताः केतवर्गाश्चनः ॥ ८ ॥

'मेघकं लहरमें निकली, कपूरको इल्लोक समान ठेक
तथा केकड़ोंके सुगन्धसे भरी हुई इस बरसाती वायुको मानों
अञ्जलिधर्मोंमें भरकर पोया जा सकता है ॥ ८ ॥

एष फुल्लसार्जुनः शैलः केतवैरधिवासितः ।

सुप्रीव इव शान्तारिघांराधिरभिव्यस्यते ॥ ९ ॥

'यह पर्वत, जिसपर अर्जुनक वृक्ष दिखत हुए हैं तथा जा
फाड़ोंमें सुगन्धित हो रहा है शान्त हूँ शक्याले सुप्रीवको
भाँति जलकी धाराओंमें अधिवासित हो रहा है ॥ ९ ॥

मेघकृष्णार्जुनधरा धारायज्ञोपवीतिनः ।

धारुतापूरितगुहाः प्रार्थिता इव पर्वताः ॥ १० ॥

मण्डली काले पृथ्वी तथा वरकों धारायज्ञ यज्ञोपवीत
धारण करने वायुसे पूरित गुफा (या हृदय) जलें ये पर्वत
प्रार्थारिघांकी भाँति मानों वेदाध्ययन आगम्य कर रहे हैं ॥

कक्षाभिरिव हेभीर्भायंघुदिरभिताहितम् ।

आन सतचित्तनिर्घोषं सखेदनमिवाम्बरम् ॥ ११ ॥

ये त्वजालिग्यां सनक वन हुए काढ़ांक समान जान
पड़ती हैं । इनको मार खाकर मानों व्यथित हुआ आकाश
आन धीनव अन्ध हूँ प्रेक्षाको गम्भीर गर्जनाके रूपमें

आतनाद-सा कर रहा है ॥ ११ ॥

नीलमेघाश्रिता विद्युत् स्फुरन्ती प्रतिभाति ये ।

स्फुरन्ती रावणस्याङ्गे र्धेहीव तपस्विनी ॥ १२ ॥

'नील मेघका आश्रय लेकर प्रकाशित होती हुई यह
विद्युत् मृग रावणक अङ्गमें छटपटाती हुई तपस्विनी सीताके
समान प्रतीत होती है ॥ १२ ॥

इमास्मा मन्मथवती हिताः प्रतिहता दिशः ।

अनुलिप्ता इव घर्नेर्नष्टग्रहनिशाकराः ॥ १३ ॥

वाटलोंका रूप लग जानेसे जिनमें ग्रह, नक्षत्र और
चन्द्रमा अदृश्य हो गये हैं, अनएव जो नष्ट-सी हो गयी
है—जिनके पूर्व, पश्चिम आदि भेदोंका प्रत्येक लुप्त-सा हो
गया है, वे दिशाएँ, उन कामियाकों, जिन्हें प्रेयसीका
मयोगमुख मुग्ध है, हितकर प्रतीत होती हैं ॥ १३ ॥

क्वचिद् बाष्पाभिसंस्त्रुतान् वर्षागमसमुत्सुकान् ।

कुटजान् पश्य सौमित्रे पुष्पितान् गिरिसानुषु ।

यस्य शोकाभिभूतस्य कामसंदीपनान् स्थितान् ॥ १४ ॥

'सुमित्रानन्दन ! देखो, इस पर्वतके शिखरोंपर खिले हुए
कुटज वृक्षोंके शोभा पान हैं ? कहीं तो पहली बार वर्षा होनेपर
सौमित्र निकल हुए भापमें ये व्याप्त हो रहे हैं और कहीं वर्षाके
आगमनमें अत्यन्त उत्सुक (हर्षोत्फुल्ल) दिखायी देते हैं । मैं
तो प्रिया-विरहके शोकसे पीड़ित हूँ और ये कुटज पुष्प मेरी
प्रेमाग्नि को उद्गम कर रहे हैं ॥ १४ ॥

रजः प्रशान्तं सहिमोऽद्य वायु-

निदाधदोषप्रसराः प्रशान्ताः ।

स्थिता हि वात्रा असुधाधिपानां

प्रवासिनो यान्ति नराः स्वदेशान् ॥ १५ ॥

धरतीकी धूल शान्त हो गयी । अब वायुमें शान्तलता आ
गयी । गर्मके दोषोंका प्रसार बंद हो गया । भूपालोंकी युद्धयात्रा
रुन गयी और पट्टशे मनुष्य अपने-अपने देशोंको लौट रहे हैं ,

सम्प्रस्थिता मानसवासलुब्धाः

प्रियान्विताः सम्प्रति चक्रवाकाः ।

अधोक्ष्णवर्षादकविक्षनेषु

यानानि भार्गव न सम्यतन्ति ॥ १६ ॥

'मानसगर्वमें निवासके लोभी हम चक्रवि लिये प्रस्थित
हो गये । इस समय चक्रवे अपनी प्रियाओंसे मिल रहे हैं
निरन्तर होनेवाले वर्षाके जलसे मार्ग टूट-फूट गये हैं,
इमलिये उनपर रथ आदि नहीं चल रहे हैं ॥ १६ ॥

क्वचित् प्रकाशं क्वचिदप्रकाशं

नभः प्रकीर्णाम्बुधरं विधाति ।

क्वचित्क्वचित् पर्वतसंनिरुद्धं

रूपं यथा शान्तपहार्णवस्य ॥ १७ ॥

१ 'शक्या अञ्जलिभिः' इति स्वच्छः पाठः ।

‘आकाशमें सब आर बादल छिटके हुए हैं। कहीं तो उन बादलोंसे ढक जानेके कारण आकाश दिखायी नहीं देता है और कहीं उनके फट जानेपर वह स्पष्ट दिखायी देने लगता है। ठीक उसी तरह जैसे ज़िम्की तरङ्गमालाएँ शान्त हो गयीं हों, उस महासागरका रूप कहीं तो पर्वतमालाओंसे छिप जानेके कारण नहीं दिखायी देता है और कहीं पर्वतोंका आवरण न होनेसे दिखायी देता है ॥ १७ ॥

व्यामिश्रितं सर्जकदम्बपुष्पै-

नखं जलं पर्वतधातुताम्रम् ।

मयूरकेकाभिसनुप्रगातं

शीलापगाः शीघ्रतरं वहन्ति ॥ १८ ॥

‘इस समय पहाड़ी नाँदियाँ वर्षाके नूतन जलको बड़े वेगसे बहा रही हैं। वह जल सर्ज और कदम्बके फूलोंसे मिश्रित है, पर्वतोंके गेर आदि धातुओंसे लाल रंगका हो गया है तथा मयूरगर्भों केनाभयनि उस जलके कलकलनादका अनुसरण कर रही हैं ॥ १८ ॥

रसाकुलं पदपदसंनिकाशं

प्रभुज्यते जम्बुफलं प्रकाशम् ।

अनेकवर्णी पचनावधूतं

भूमौ पतन्त्याम्रफलं विपक्वम् ॥ १९ ॥

‘काले वृक्षे भीमस्य समान प्रतीत होनेवाले जामुनके सरस फल आजकाल साग जी धगकर खाते हैं और जहाँके वेगसे हिले हुए आमक एक हुए अद्वैती फल पृथ्वीपर गिरन रहते हैं ॥ १९ ॥

विष्णुत्पत्ताकाः सखलाकमालाः

शैलान्द्रुकटाकुनिसंनिकाशाः ।

गर्जन्ति मेघाः सपुनरुर्णनादा

यत्ता गजेन्द्रा इव सयुगस्थाः ॥ २० ॥

‘जैसे युद्धस्थलमें खड़े हुए मत्तवाले मजरा उधम्वरसे चिन्घाहते हैं, उसी प्रकार गिराराजक शिखराकी-सो आकाशवाले मेघ गार गारम गजना कर रहे हैं। घमकनी हुई विजलियाँ इन मेघरूपी गजगजोंपर पनाकाश्रितके समान फहरा रही हैं और बगुल्योकी पत्तियाँ मानाके समान शोभा देती हैं ॥ २० ॥

वर्षादिकाप्यायितशाहलानि

प्रवृत्तानामोत्सववर्हिणानि ।

वनानि निर्वृष्टबलाहकानि

पद्यापराह्णेपृथिकं विभान्ति ॥ २१ ॥

‘देखो, अमराहकालमें इन वनोंकी शोभा अधिक बढ़ जाती है। वर्षाके जलसे इनमें हरी हरी घासें बढ़ गयी हैं। शूङ्ग क शूङ्ग मारन अपना पुन्यत्वव आरम्भ कर दिया है और मेघोंने इनमें निरन्तर जल बरसाया है ॥ २१ ॥

समुद्रहन्तः सलिलातिभारं

बलाकिनो वारिधरा नदन्तः ।

महत्सु मृद्गेषु महोदराणां

विश्रम्य विश्रम्य पुनः प्रयान्ति ॥ २२ ॥

‘बक-पक्षियोंसे सुशोभित ये जलधर मेघ जलका अधिक भार झेँते और गजते हुए बड़े बड़े पर्वतशिखरोंपर मनो विश्राम ले-लेकर आगे बढ़ते हैं ॥ २२ ॥

मेघाभिकाभा परिसम्पतन्ती

सम्पदिता भाति बलाकपंक्तिः ।

कातावधूता वरपीण्डरीकी

लम्बेव माला रुचिराम्बरस्य ॥ २३ ॥

‘गर्भ धारणके लिये मेघोंकी कामना रखकर आकाशमें उड़ती हुई आनन्दमग्न बलाकाओंकी पंक्ति ऐसी जान पड़ती है मानो आकाशके गलेमें हवामें हिलती हुई श्वेत कमलोंको सुन्दर माला लटक रही हो ॥ २३ ॥

बालेन्द्रगोपान्तरविभ्रितेन

विभाति भूमिर्नवशाहलेन ।

गात्रानुपूत्तेन शुकप्रभेण

नारीव लाक्षोक्षितकम्बलेन ॥ २४ ॥

‘छोटे-छोटे इन्द्रगोप (बोरबहूटी) नामक कीड़ोंसे बाँच-बाँचमें चित्रित हुई नूतन घाससे आच्छादित भूमि उस नारीके समान शोभा पाती है जिसने अपने अङ्गोंपर तोतेके समान रंगवारता एक ऐसा कम्बल ओढ़ रखा हो, जिसको बाँच बाँचमें मन्नावरके रंगमें रंगकर विचित्र शोभासे सम्पन्न कर दिया गया हो ॥ २४ ॥

निद्रा शनैः केशवमभ्युपैति

हुतं नदी सागरमभ्युपैति ।

हृष्टा बलाका धनमभ्युपैति

कान्ता सकामा प्रियमभ्युपैति ॥ २५ ॥

‘चामासके इस आरम्भकालमें निद्रा धीरे-धीरे भगवान् केशवके समीप जा रही है। नदी तीव्र वेगसे समुद्रके निकट पहुँच रही है। हर्षभरी बलाका उड़कर मेघकी ओर जा रही है और प्रियतमा सकामभावसे अपने प्रियतमकी सेवामें उपस्थित हो रही है ॥ २५ ॥

जाता वनान्ताः शिखिसुप्रनृता

जाताः कदम्बाः सकदम्बशाखाः ।

जाता वृषा गोषु समानकामा

जाना मही सख्यवनाभिरामा ॥ २६ ॥

‘वनप्रान्न मोरोंके सुन्दर नृत्यसे सुशोभित हो गये हैं कदम्बवृक्ष फूलों और शाखाओंसे सम्पन्न हो गये हैं। सौँद मोरोंके प्रति उन्हींके समान कामभावसे आसक्त है और पृथ्वी हरों-हरों खेती तथा हरे-धरे वनोंसे अत्यन्त रमणीय प्रतीत होने लगती है ॥ २६ ॥

वहन्ति वर्षन्ति नदन्ति भान्ति

ध्यायन्ति नृत्यन्ति समाश्रयन्ति ।

नद्यो घना मत्तगजा वनान्ताः

प्रियाविहीनाः शिखिनः प्रवंगमाः ॥ २७ ॥

'नदियाँ बह रही हैं, कादल पानी बरमा रहे हैं, मतवाले हाथी चिगघाड़ रहे हैं, वनप्रान्न शोभा पा रहे हैं, प्रियतमाओं से योग्यता वांछित हुए धियोन्म प्राणा चिन्तामय हो रहे हैं मोर नाच रहे हैं और वानर निक्षिन्न एवं मुली हो रहे हैं ॥ २७ ॥

प्रहर्षिताः केतकिपुष्पगन्ध-

माघाय मत्ता वनभिङ्गिषु ।

प्रपातशब्दाकुलिता गजेन्द्राः

साधे मयूरैः समन्ता नदन्ति ॥ २८ ॥

'वनके झरनोंके समीप क्रांदासे उल्लसित हुए मदवर्षों गजराज केवल्यहोंके फूलकी सुगन्धकी सौधकर मतवाले हो उठे हैं और झरनके जलक गिरनेमें जो शब्द होना है, उसमें आकुल हो ये मोरोंके बोलनेके साथ-साथ स्वयं भी गजराज करत हैं ॥ २८ ॥

धारानिपातैरभिहन्यमानाः

कटम्बशरङ्गामु विलम्बमानाः ।

क्षणार्जितं पुष्परसावमाहं

दर्शनेर्मदं वदधरणास्त्यजन्ति ॥ २९ ॥

'फूलकी घास गिस्सेमें आहत होने और कटम्बकी धारियोंपर लटकते हुए, प्रभर तत्काल ग्रहण किये पुष्परससे जलात गन्ध मदको धीरे-धीरे स्वाग रहे हैं ॥ २९ ॥

अङ्गारधुणोत्करसेनिकाशी-

फलं सूपयाग्नसैः समुद्धैः ।

जम्बूद्वीपाणां प्रविशन्ति शस्त्रा

निपीयमाना इव वदपदीषेः ॥ ३० ॥

'कागजोंकी चूणपरिष्क समान काल और प्रचुर रससे भी हुए, बड़े बड़े कसोंमें लगे हुए जम्बू वृक्षकी शम्भ्राई भोजन जन पकत हैं मानो प्रभोज समुन्माद्य उद्यम मदकर उनके रस पी रहे हैं ॥ ३० ॥

तीक्ष्णताकाधिरलंकृताना-

मृदीर्णागम्भीरमहारवाणाम् ।

विभ्रान्ति रुपाणि बलाहकानां

रणोत्सुकानामिव धारणानाम् ॥ ३१ ॥

विभ्रुत, कर्पी पताकाओंसे अलंकृत एवं जार-जारमें गम्भीर गर्जना करनेवाले इन बादलोंके रूप युद्धके लिये उत्सुक हुए गजराजोंके समान प्रतीत होते हैं ॥ ३१ ॥

मार्गानुगः शैलवनानुसारो

सम्प्रस्थितो मेघरथं निशप्य ।

शुद्धाभिकामः प्रतिनादशङ्को

भक्तो गजेन्द्रः प्रतिसंनिवृत्तः ॥ ३२ ॥

'पंचतीर्थ वनोंमें विचरण करनेवाला तथा अपने प्रतिद्वन्द्वीके साथ युद्धको इच्छा रखनेवाला मदमत गजराज जो अपने मार्गका अनुसरण करके आगे बढ़ा जा रहा था, पोंछमें मेघकी गर्जना सुनकर प्रतिपक्षी हाथीके गर्जनकी आशङ्क करके सहसा पोंछेकर लौट पड़ा ॥ ३२ ॥

कचिन् प्रगीता इव वदपदीषे-

कचिन् प्रनुना इव नीलकण्ठः ।

कचिन् प्रमत्ता इव धारणेन्द्र-

विंभास्यनेकाश्रयिणो वनान्ताः ॥ ३३ ॥

'कहीं प्रभरोंके समूह गीत गा रहे हैं, कहीं मोर नाच रहे हैं और कहीं गजराज मदमत होकर विचार रहे हैं। इस प्रकार ये वनप्रान्न अनेक भावोंके आश्रय बनकर शोभा पा रहे हैं ॥ ३३ ॥

कटम्बसर्जार्जुनकन्दलादृषा

वनान्तभूमिर्मधुवारिपूर्णा ।

मयूरपत्ताभिरुतप्रनृतै-

रापानभूमिप्रतिष्ठा विभ्रान्ति ॥ ३४ ॥

'कटम्ब, सर्ज, अर्जुन और स्थल-कमलसे सम्पन्न वनके भीतरकी भूमि मधु-जलसे परिपूर्ण हो मोरोंके मदयुक्त कलरवों और नृत्योंसे उपलक्षित होकर आपानभूमि (मधुशब्द) के समान प्रतीत होती है ॥ ३४ ॥

मुक्तामयमधं सलिलं पतद् र्वं

सुनिर्मलं यत्रपुटेषु लयम् ।

हृष्टा विवर्णच्छदना विहंगाः

सुरेन्द्रदत्तं तृपिताः पिबन्ति ॥ ३५ ॥

आकाशसे गिरता हुआ मोताके समान स्वच्छ एवं निर्मल जल पत्ताक दोनामें संचित हुआ देख प्यासे पक्षी पोंछे होंसे भरकर देवराज इन्द्रके दिये हुए उस जलको पीने हैं। वर्षासे भोग जाननेके कारण उनको परिवर्ण विविध रंगकी दिम्बायी देती हैं ॥ ३५ ॥

वदपादतन्त्रीमधुराभिधानं

प्रवंगमोदीरितकण्ठतालम् ।

आविष्कृतं मेघमृदङ्गनादै-

र्वनेषु संगीतमिव प्रवृत्तम् ॥ ३६ ॥

प्रभरूप वीणाकी मधुर झंकार हो रही है मेढकोंकी आवाज कण्ठताल-मो जान पड़ती है। मेघोंकी गर्जनाके रूपमें मृदङ्ग बज रहा है इस प्रकार वनोंमें संगीतोत्सवका आगम-सा हो रहा है ॥ ३६ ॥

कचिन् प्रनृतैः कचिदुन्नदभिः

कचिच्च वृक्षाप्रनिवण्णकार्यैः ।

ज्यालम्बवहांभरणीर्मयूरै-

र्वनेषु संगीतमिव प्रवृत्तम् ॥ ३७ ॥

'विशाल पंखरूपी आभुषणोंसे विभूषित मोर वनोंमें कहीं

‘आकाशमें सब और बादल छिटके हुए हैं। कहां तो उन बादलोंसे ढक जानेक कारण आकाश दिखायी नहीं देता है और कहीं उनके फट जानेपर वह स्पष्ट दिखायी देने लगता है। ठीक उसी तरह जैसे जिम्की सरहमालाएँ दाल हो गयीं हैं उस महानागका रूप कहीं तो पर्वतमालाओंमें दिये जानेके कारण नहीं दिखायी देता है और कहीं पर्वतोंका आवरण न हटकर दिखायी देता है ॥ १७ ॥

व्यागिभिरं सजंकदम्बपुष्प-

नक्ष जल पर्वतधातुताम्रम् ।

मयूरकेकाभिरनुप्रयात

शिलापगाः शोघतरं वहन्ति ॥ १८ ॥

‘इस समय पहाड़ी नदियाँ अपना नूतन जलको बहुत तेजसे बहा रही हैं। वह जल सर्ज और कदम्बके फूलोंसे मिश्रित है, पर्वतक गठ और धातुओंसे लाल रंगका हो गया है तथा मयूरोंकी कलाध्वनि रस जलके कलकलनादका अनुसरण कर रही है ॥ १८ ॥

रसाकुलं वटपदसंनिकाशं

प्रभुज्यते जम्बूफलं प्रकामम् ।

अनेकवर्णा पचनावधूतं

भूर्मा पतत्याप्रफलं विपक्रम् ॥ १९ ॥

‘इस काल भूर्मिक समान प्रतीत होनेवाले जाम्बूतके सरस फल आककल लोच जो भरकर खाते हैं और हवाके खगम हिल हुए आनन्द प्रक हुए बहती फल पृथ्वीपर गिरने रहते हैं ॥ १९ ॥

विद्यूषताकाः मद्यलाकमाला

शोलेन्द्रकटाकुनिरसंनिकाशाः ।

गजंति मघाः समुत्तीर्णनादः

मघा गजन्ता डुव संयुगस्थाः ॥ २० ॥

‘वेधे युद्धस्थलमें खड़े हुए मयूरोंके गजानन उल्लसत्में निगमाहृत हैं, उसी प्रकार गिराजक शिशवीकों-से भागी गज धेनु और जंगम गजना कर रहे हैं चपकता हुई विजृम्भियाँ इन सचकपी गजगजापर पताकाओंके समान फटती रही हैं और मयूरोंके पंखोंका धावने समान शोभा देती हैं ॥ २० ॥

प्रषोदकाप्यायितशाहलानि

प्रवृत्तनृत्तोत्सववर्हिणानि ।

वनानि निर्वृष्टबलाहकानि

पश्यापराहेषूधिकं विभानि ॥ २१ ॥

‘देखो, अपराहकालमें इन वनोंकी शोभा अधिक बढ़ जाती है। वर्षाके जलमें इनमें हरी-हरी धासे बढ़ गयी हैं। झुड़ के झुड़ मोरोंने अपना नृत्योत्सव आरम्भ कर दिया है और मेघोंने इनमें मिश्रित जल बरसाया है ॥ २१ ॥

समुद्रहन्तः सलिलानिभारं

बलाकिनो वारिधरा नदन्तः ।

महत्सु मृद्वेषु महीधराणां

विश्रम्य विश्रम्य पुनः प्रयान्ति ॥ २२ ॥

‘बक-पंक्तियोंसे सुशोभित ये बलधर मेष जलका अधिक भार द्रोत और गजने हुए बड़े-बड़े पर्वतशिखरोंपर मानो विश्राम ले-लेकर आगे बढ़ते हैं ॥ २२ ॥

मैघाधिकामा परिसम्पतन्ती

सम्पदिता भानि बलाकपंक्तिः ।

वातावधूता वरपौण्डरीकी

लम्बेव घाला रुचिराम्बरस्य ॥ २३ ॥

‘गर्भ धागणक लिये मैघोंकी कामना रखकर आकाशमें उड़ती हुई आनन्दमग्न बलाकाओंकी पंक्ति ऐसी जान पड़ती है मानो आकाशक गलेमें प्रवाह्य शिकनो हुई क्षेत्र कमलोंकी सुन्दर माला लटक रही हो ॥ २३ ॥

बालेन्द्रगोपान्तरचित्रिनेन

विभाति भूमिर्नवशाहलेन ।

गात्रानुपूत्तेन शुक्रप्रपेण

नारीव लाक्षोक्षितकण्वलेन ॥ २४ ॥

‘छोटे-छोटे इन्द्रगोप (विरवहूटी) नामक कीड़ोंमें बीच-बीचमें चित्रित हुई नूतन धासमें आच्छादित भूमि उन नारोंके समान शोभा पाती है, जिसने अपने अङ्गोंपर तोंतेव समान रंगवाला एक ऐसा कण्वल ओढ़ रखा हो, जिसका बीच-बीचमें महावरके रंगसे रंगकर विचित्र शोभासे सम्पन्न कर दिया गया हो ॥ २४ ॥

निद्रा शर्नः केशवमभ्युपति

हुतं नदी सागरमभ्युपति ।

हृष्टा बलाका घनमभ्युपति

कान्ता सकामा प्रियमभ्युपति ॥ २५ ॥

‘चोमासेके इस आरम्भकालमें निद्रा धीरे-धीरे भगवान् केशवके समीप जा रही है नदी शीघ्र वेगसे समुद्रके निकट पहुँच गयी है हृष्टभरी बलाका उड़कर मैघकी ओर जा रही है और प्रियतमा सकामभावसे अपने प्रियतमकी सेवा-उपस्थित हो रही है ॥ २५ ॥

जाता वनान्ताः शिखिसुप्रनृता

जानाः कदम्बाः सकदम्बशाखाः ।

जाना वृषा गोषु समानकामा

जाना मही सस्यवनाभिरामा ॥ २६ ॥

‘वनप्रान्त मोरोंके सुन्दर नृत्यसे सुशोभित हो गये हैं कदम्बवृक्ष फूलों और शम्भुओंसे सम्पन्न हो गये हैं, सबे गौओंके प्रति उन्नीके सपान कामभावसे आसक्त हैं और पृथ्वी हरी-हरी खेतों तथा हरे-भरे वनोंसे अत्यन्त रमणीय प्रतीत होने लगी है ॥ २६ ॥

बहन्ति वर्षन्ति नदन्ति भान्ति

ध्यायन्ति नृत्यन्ति समाश्रयन्ति ।

नद्यो घना भक्तगजा वनान्ताः

प्रियाविहीनाः शिखिनः प्लवंगमाः ॥ २७ ॥

‘नदियाँ बह रही हैं, बादल पानी बरसा रहे हैं, पनखाले हाथों चिग्याइ रहे हैं, वनप्रान्त उभे भा पड़े हैं, प्रियतमाक मयोंगसे वञ्चित हुए वियोंगे प्राणों चिन्तामय हो रहे हैं भोर नाच रहे हैं और वानर निश्चित एवं सुखी हो रहे हैं ॥ २७ ॥

प्रहर्षिताः केतकिपुष्पगन्धः-

भाभाय भक्ता वननिर्झरिषु ।

प्रपातशब्दाकुलिता गजेन्द्राः

साधे मयूरैः समदा नदन्ति ॥ २८ ॥

‘वनके झरनोंके समीप क्रोडासे उल्लसित हुए मयूरों गजराज केवटके फुल्लका मृगधकों मृगज मन्थाले हो उठे हैं और शरनेके जलक गिरनेसे जो शब्द होता है, उससे आकुल हो वे मोरोंके धोलनेके साथ-साथ स्वयं भी गर्जना करते हैं ॥ २८ ॥

धाराणिगानैरभिहन्यमाना

कदम्बशाखास्तु विलम्बमानाः ।

क्षणार्जिते पुष्परसावगाहं

शनैर्मदं वदस्वरास्त्यजन्ति ॥ २९ ॥

जालकी धारा गिरनेसे आवन होते और कदम्बकी शाखाओंपर लटकते हुए प्रभर वनका र प्रहण किये पुष्पधर्मसे उत्पन्न गाढ़ मदको धीरे-धीरे त्याग रहे हैं ॥ २९ ॥

अङ्गारचूर्णाङ्करसन्निकाशीः

फलैः सुपर्णाग्रसैः समृद्धैः ।

जम्बूतृपाणां प्रविभान्ति शाखा

निपीयमाना इव वदपदीधैः ॥ ३० ॥

‘कोपलोंकी शृंगराशिक समान काले और प्रचुर रससे भरे हुए लड़े-लड़े फलोंसे लदी हुई जामुन-बुखकी शाखाएँ ऐसी जान पड़ती हैं, मानों धमरोंके समुदाय उनमें सरकर इनके रस पी रहे हैं ॥ ३० ॥

सहित्यताकाभिरलंकृताना-

भृष्टीर्गङ्गापीरमङ्गरवाणाम् ।

विभान्ति स्तराणि बलाहकाना

रणोत्सुकानमिव वारणानाम् ॥ ३१ ॥

विद्युत्-रूपी पताकाओंसे अलंकृत एवं जोर-जोरसे गन्धों गजराज करमेंवाले इस बादलोंके रूप सुदृढ़के लिये उत्सुक हुए गजराजाक मगज प्रवीत होत हैं ॥ ३१ ॥

मार्गानुगः शैलवनानुसारी

सम्प्रस्थितो मेघरवं निशम्य ।

युद्धाभिकामः प्रतिनादशङ्की

मनो गजेन्द्रः प्रतिसंनिवृत्तः ॥ ३२ ॥

‘पर्वतीय वनोमें विचरण करनेवाला तथा अपने प्रतिद्वन्द्वाके साथ युद्धका इच्छा रखनेवाला मदमत्त गजराज, जो अपने भागका अनुसरण करके आगे बढ़ा जा रहा था पोंछेमें मेघकों गर्जना सुनकर प्रतिपक्षी हाथोंके गर्जनेको आशङ्क करके सहसा पोंछेको लौट पड़ा ॥ ३२ ॥

कचित् प्रगीता इव वदपदीधैः

कचित् प्रनृता इव नीलकण्ठैः ।

कचित् प्रपन्ता इव वारणेन्द्रै-

र्विभान्त्यनेकाश्रयिणो वनान्ताः ॥ ३३ ॥

‘कहीं प्रभरोके समूह गीत गा रहे हैं, कहीं मोर नाच रहे हैं और कहीं गजराज मदमत्त होकर विचार रहे हैं। इस प्रकार ये वनप्रान्त अनेक भावाक आश्रय अनकर उभे पड़े हैं ॥ ३३ ॥

कदम्बसर्जार्जुनकन्दलाकृषा

वनान्तभूमिर्मधुवारिपूर्णा

मयूरमत्ताभिरुतप्रनृतै-

रापानभूमिप्रतिभा विभाति ॥ ३४ ॥

‘कदम्ब, सर्ज, अर्जुन और स्थल-कमलसे सम्यक्त वनके भीतरकी भूमि मधु-जलसे परिपूर्ण हो मोरोंके मदयुक्त कन्धकों और नृत्योंसे उपलक्षित होकर आपानभूमि (मधुश्रवण) के समान प्रतीत होती है ॥ ३४ ॥

मुक्तासमापं सलिलं पतद् व

सुनिर्मलं पत्रपुटेषु लग्नम् ।

गृष्टा विवर्णच्छदना विहगाः

सुरेन्द्रवत् सृष्टिताः पिबन्ति ॥ ३५ ॥

‘आकाशसे गिरता हुआ मोतीके समान स्वच्छ एवं निर्मल जल पताके टानोंमें संचित हुआ देख प्यासे पक्षी पपाहं हृषसे भरकर देवराज इन्द्रके टिये हुए उस जलको पीते हैं। वनोंमें भीम जानके कारण उनकी पांखें विविध रंगकी दिखायी देती हैं ॥ ३५ ॥

वदपादतन्त्रीमधुराभिधानं

प्लवंगपोदीरितकण्ठतालम् ।

आविष्कृतं मेघमृदङ्गनादै-

र्वनेषु संगीतमिव प्रवृत्तम् ॥ ३६ ॥

‘प्रभररूप वंणाकी मधुर झंकार हो रही है। मेघकोंकी आवाज कण्ठताल-सी जान पड़ती है। मेघोंकी गर्जनाके रूपमें मृदङ्ग बज रहे हैं। इस प्रकार वनोंमें संगीतोन्मत्तका आरम्भ-या हो रहा है ॥ ३६ ॥

कचित् प्रनृतैः कचिदुग्रदङ्गिः

कचिच्च सुक्षाग्रनिषण्णकार्यैः ।

व्यालप्लवहांधरणैर्मयूरै-

र्वनेषु संगीतमिव प्रवृत्तम् ॥ ३७ ॥

विशाल पंखरूपी आभूषणोंसे विभूषित मोर वनोमें कहीं

नाच रहे हैं, कहीं जोर-जोरसे मोटी बालें बोल रहे हैं और कहीं वृक्षोंकी शाखाओंपर अपने सारे शरीरकर बाँझ डालकर बैठे हुए हैं। इस प्रकार उन्होंने संगीत (नाच-गान) का आयोजन-सा कर रखा है ॥ ३७ ॥

स्वनैर्घनानां प्लवगाः प्रबुद्धा

विहाय निद्रां चिरसंनिरुद्धाम् ।

अनेकरूपाकृतिवर्णनादा

नखाम्बुधाराभिहता नदन्ति ॥ ३८ ॥

‘मेषोंकी गर्जना सुनकर चिरकालसे रोकें हुई निद्राको त्यागकर जागे हुए अनेक प्रकारके रूप, आकार, वर्ण और आलीशान गहक नृतन जलकी धारासे अभिहत होकर जोर-जोरसे बोल रहे हैं ॥ ३८ ॥

नद्यः समुद्राहितचक्रवाका-

स्तदानि शीर्णान्यपवाहयित्वा ।

दुता नखप्रावृतपूर्णभोगा-

दृष्टं स्वभर्तामुपोषयन्ति ॥ ३९ ॥

(कगभातुर धूर्ततयोंकी भाँति) दर्पभसे नदियाँ अपने प्रभुग (सगजोंके गहनग) चक्रवाकियों को अपने करती हैं और भर्तादामे रखनेवाले जोगी-जोगी कुत्सकगारोंकी लोड़-फोड़ एवं दूर बहाकर नृतन पृथ्वी भादिक उपश्रम पूरा भागव लिये सागर खींचकर अपने स्वागत गगदक संगीत संगपुर्वक चली आ रही हैं ॥ ३९ ॥

नीलेषु नीला नखवारिपूणां

मेघेषु मेघाः श्रमिभान्ति सक्ताः ।

दवाप्रिवक्षेषु दवाप्रिवग्धा-

शीलेषु शीला इव बद्धमूलाः ॥ ४० ॥

नीले मेषोंमें सहे हुए नृतन जलमें परिपूर्ण नीले मेष ऐसे पराजित होते हैं, सारा दवागालन जल हुए पर्वतोंमें दवागालनमें साथ हुए दूसरे पर्वत बद्धमूल होकर सहे गये हैं ॥ ४० ॥

प्रपन्नमनादितबर्हिणानि

सशक्रगोपाकुलशादृतानि ।

धर्गन्ति नीपार्जुनवासितानि

गजाः सुरम्याणि घनान्तराणि ॥ ४१ ॥

‘जहाँ मतवाले मीन कलनाद कर रहे हैं, जहाँकी हरी-हरी घास शीतलहृदिका मण्डरायन व्याप्त हो रहा है तथा जो नीचे और अर्जुन-वृक्षोंके फूलोंको मुगधन्य मुकामित है उन परम रमणीय घनप्रान्तोंमें बहुत-से हाथी विचरा करते हैं ॥ ४१ ॥

नखाम्बुधाराहतकेसराणि

द्रुतं परित्वज्य सरोरुहाणि ।

कदम्बपुष्पाणि सकेसराणि

नवानि हृष्टा भ्रमराः पिवन्ति ॥ ४२ ॥

भ्रमरीक समुद्राव नृतन जलकी धारासे नष्ट हुए केसरवाले कमल-पुष्पोंको मुक्त त्यागकर केसरशोभित नवीन

कदम्ब-पुष्पोंकर रस बड़े हर्षक साथ पी रहे हैं ॥ ४२ ॥

सक्ता गजेन्द्रा मुदिता गवेन्द्रा

वनेषु विक्रान्ततरा मृगेन्द्राः ।

रथ्या नगेन्द्राः निभृता नरेन्द्राः

प्रकीडितो वाग्धिरेः सुरेन्द्रः ॥ ४३ ॥

‘गजेन्द्र (हाथी) मतवाले हो रहे हैं। गवेन्द्र (वृषभ) आनन्दमं मग्न हैं, मृगेन्द्र (सिंह) वनामें अत्यन्त पराक्रम प्रकट करते हैं, नगेन्द्र (बड़े-बड़े पर्वत) रमणीय दिखायी देने हैं, भन्द्र (गजालंग) मीन हैं— मुद्राविषयक उत्साह लोड़ घंटे हैं और मृगेन्द्र (उन्मदक) जलधर्मेक साथ क्रीड़ा कर रहे हैं ॥ ४३ ॥

मेघाः समुद्रतसमुद्रनादा

महाजलीर्धर्गगनावलम्बाः ।

नदीस्तटाकानि सरांसि बापी-

महो च कृत्स्नामपवाहयन्ति ॥ ४४ ॥

‘आकाशमें लटकें हुए ये मेष अपनी गर्जनासे समुद्रके साराहलकों तिरस्कृत करके अपने जलक महान् प्रवाहसे नदी, तालाब, सरायर, बावली तथा समुची पृथ्वीको आग्रावत कर रहे हैं ॥ ४४ ॥

वर्षप्रवेगा विपुलाः पतन्ति

प्रवाति वाताः समुदीर्णवेगाः ।

प्रणष्टकुलाः प्रवहन्ति शीघ्रं

नद्यो जलं विप्रतिपन्नमार्गाः ॥ ४५ ॥

‘बड़े वेगमें वर्षा हो रही है, जोगोंकी हवा चल रही है और नदियाँ अपने कगारोंका काटकर अत्यन्त ताव गतिमें जल बहा गयी हैं। उन्होंने मार्ग रोक दिये हैं ॥ ४५ ॥

नरेन्द्रा इव पर्वतेन्द्राः

सुरेन्द्रतैः पवनोपनीतैः ।

घनान्बुकुष्पैरधिधिच्यमाना

रुधं श्रियं स्वामिव दर्शयन्ति ॥ ४६ ॥

‘जैसे मनुष्य जलक कलशोंमें नरेशोंका अभिषेक करते हैं, उसी प्रकार इन्द्रके दिव और वायुदेवके द्वारा साथ गये मेषरूपी जल-कलशोंमें जिनका अभिषेक हो रहा है, वे पर्वतराज अपने शिरोरूप तथा शोभा सम्पन्निका दर्शन-मा कर रहे हैं ॥ ४६ ॥

घनोपगुहं गगनं न तारा

न धास्करो दर्शनमभ्युपैति ।

नर्वजर्लाधैर्धरणी विवृष्टा

नमोविलिप्ता न दिशः प्रकाशाः ॥ ४७ ॥

‘मेषोंकी घटामे समस्त आकाश आच्छादित हो गया है। न रातमें तारे दिखायी देते हैं, न दिनमें सूर्य। नृतन जलराशि पाकर पृथ्वी पूर्ण तृप्त हो गयी है। दिशाएँ अन्धकारसे आच्छाद हो गयी हैं, अतएव प्रकाशित नहीं होती हैं—उनका स्पष्ट ज्ञान नहीं हो पाता है ॥ ४७ ॥

महान्ति कूटानि महाधराणां
धागविधीतान्यधिक विभान्ति ।

महाप्रमाणैर्विपुलैः प्रपातैः-

मुक्ताकलापैरिव लम्बमानैः ॥ ४८ ॥

जलकी धाराओंसे घुलने हुए पर्वतोंके विशाल शिखर
मोतिलरक्त लट्कते हुए हावोंकी भाँति एवं बह्मसंख्यक झरनोंके
कारण अधिक शोभा पाते हैं ॥ ४८ ॥

शीलोपलम्बप्रखलमानवेगा-

शीलोत्तमानो विपुलाः प्रपाताः ।

गुहासु संनादितवर्हिणासु

हारा विकीर्यन्त इवावभान्ति ॥ ४९ ॥

पततीये प्रस्तरमालाया सिद्धमो जलको वेग दृढ़ गया है
वे श्रेष्ठ पर्वतोंके अन्तरांतर पदमोंकी ओरसे गुजरते हुई
गुहाओंमें दृढ़कर किलबिले हुए मोतिलरक्त हावोंके समान प्रखल
पाते हैं ॥ ४९ ॥

शीघ्रप्रवेगा विपुलाः प्रपाता

निर्धौतशृङ्गोपतला गिरीणाम् ।

मुक्ताकलापप्रतिमा पतन्तो

महागुहोत्तरङ्गलैर्ध्रियन्ते ॥ ५० ॥

जिनके वेग शीघ्रागम्य हैं, जिनके मस्या अधिक है
जिनोंने पततीये शिखरोंके निम्न घटकोंको छोड़कर मन्थन बना
दिया है तथा जो दर्रोंमें मुक्तामालाओंके समान प्रतीत होते
हैं पतन्तों का झरना हुए झरनाका छोड़े छोड़े मुक्ताओं अर्थात्
गोदमें धारण कर लेती हैं ॥ ५० ॥

सुरतामर्दविचित्राः स्वर्गलोहारमार्तिकाः ।

पन्नानि आतुला दिक्षु तोयधाराः समन्ततः ॥ ५१ ॥

सुगत कौटुक समय हावेंवाले अद्भुत अगाधनम दृढ़ हुए
देखागुलाओंके त्रिकिक दृढ़ोंके समान प्रखल जेवरकी जलज
अनुपम धाराएँ सम्पूर्ण दिशाओंमें सब ओर गिर रही हैं ॥ ५१ ॥

विलीयमानैर्विहर्गनिर्वाण्डिश्च पङ्कजैः ।

विकसन्त्या च मालत्या गताऽस्तं जायते रविः ॥ ५२ ॥

५१॥ अपन घोमलोंमें छिप रहे हैं कमल सकुचित हैं
वे हैं और मालती विलसने लगी हैं, इसमें जान पड़ता है कि
सूर्यदेव उगत हो गये ॥ ५२ ॥

पूना धारा नन्दानां सेना पथ्येव वर्तते ।

वैराणि चैव मार्गाश्च सन्तिलेन समीकृताः ॥ ५३ ॥

राजाओंकी युद्ध-धारा रुक गयी। प्रस्थित हुई सन्त भी
रासेमें ही पड़ाव डाले पड़ी हैं; क्योंकि जलने राजाओंके वैरा
ज्ञान कर दिये हैं और मार्ग भी रोक दिये हैं। इस प्रकार वैरा
और मार्ग दोनों एक ही अवस्था कर दी हैं ॥ ५३ ॥

मांसि प्रीष्टपदे ब्रह्म ब्राह्मणानां विवक्षताम् ।

अयमध्यायसमयः सामगानामुपस्थितः ॥ ५४ ॥

भार्ताका महीना आ गया। यह वेदोंके अध्यायकी

इच्छा रखनेवाले ब्राह्मणोंके लिये उपाक्रमक समय
उपस्थित हुआ है। सामगान करनेवाले विद्वानोंके स्वाध्यायका
भी यहाँ समय है ॥ ५४ ॥

विवृतकर्मायननो नून सञ्चितसंचयः ।

आषाढीमध्यपगनो भरतः कोसलाधिपः ॥ ५५ ॥

कोसलाधिपक राजा भानन बार महीनेके लिये
आश्वयुक्त वस्त्र आका सम्राट करके गत आषाढ़का पूर्णिमाको
निश्चय हो किमो उनमें जनकी दीक्षा ली होगी ॥ ५५ ॥

नूनमापूर्यमाणतयाः सरख्या वर्धते रयः ।

पौ समीक्ष्य सभाथान्तमयोध्याया इव स्वनः ॥ ५६ ॥

मुझे सनकी ओर अतः देख जिस प्रकार अयोध्यापुरीके
ज्योत्स्ना आर्तनाद बढ़ गया था, उसी प्रकार इस समय
राजके जलम सम्पूर्ण लोगों हुई समस्त नदीका वेग अवश्य हो
कर रहा होगा ॥ ५६ ॥

इमाः स्फूर्तगुणा वर्षाः सुग्रीवः सुखमश्रुते ।

विजितारिः सदाश्च राज्ये महति च स्थितः ॥ ५७ ॥

‘यह वर्षा अनेक गुणोंसे सम्पन्न है। इस समय सुग्रीव
अपने शत्रुको परास्त करके विशाल खानर-राज्यपर प्रतिष्ठित
हैं और अपनी स्त्रियोंके साथ रहकर सुख भोग रहे हैं ॥ ५७ ॥

अहं तु इतदारश्च राज्याच्च महतश्च्युतः ।

नदीकूलमिव क्लिन्नमवसीदामि लक्ष्मण ॥ ५८ ॥

किन्तु लक्ष्मण ! मैं अपने महान् राज्यसे तो भ्रष्ट हो हो
गया है, मेरी स्त्री भी हर ली गयी है, इमलिय धानीस मरल
हुए नदीके तटकी भाँति कहूँ पा रहा हूँ ॥ ५८ ॥

शोकश्च मम विस्तीर्णो वर्षाश्च भृशदुर्गमाः ।

रावणश्च महाअश्रुस्फारः प्रतिभाति मे ॥ ५९ ॥

मेरा शोक बहुत गया है। मेरे लिये वर्षाओंके दिनाका
घिनान अत्यन्त कष्टित हो गया है और मेरा महान् शत्रु रावण
भी मुझे अजय-सा प्रतीत होगा है ॥ ५९ ॥

अयात्रां चैव दृष्ट्वा मार्गाश्च भृशदुर्गमान् ।

प्रणते चैव सुग्रीवे न मया किञ्चिदीरितम् ॥ ६० ॥

एक तो यह यात्राका समय नहीं है, दूसरे मार्ग भी
अत्यन्त दुर्गम है। इमलिय सुग्रीवके नतमस्तक होनेपर भी
मैं उनमें कुछ कहना नहीं चाहता हूँ ॥ ६० ॥

अपि चापि परिक्रिष्टं चिराद् दारैः सपागनम् ।

आत्मकायगरीयस्त्वाद् अनु नेच्छामि खानरम् ॥ ६१ ॥

‘खानर सुधाव बहुत दिनोंमें कुछ भागने थे और
दोषकालके पश्चात् अब अपनी पत्नीमें मिले हैं। इधर मेरा
कार्य बड़ा भारी है (थाड़े दिनोंमें सिद्ध होनवाला नहीं है);
इमलिय मैं इस समय उससे कुछ कहना नहीं चाहता हूँ।

स्वयमेव हि विश्रम्य ज्ञत्वा कालमुपागतम् ।

उपकारं च सुग्रीवो धेत्स्यते नात्र संशयः ॥ ६२ ॥

‘कुछ दिनोंके विश्राम करके उपयुक्त समय आया हुआ

जान वे स्वयं हो में उपकारको समझग इसमें संशय नहीं है ।
तस्मात् कालप्रतीक्षोऽहं स्थितोऽस्मि शुभलक्षणः ।

सुग्रीवस्य नदीनां च प्रसादमधिकाङ्क्षयन् ॥ ६३ ॥

‘अतः शुभलक्षण लक्ष्मण । मैं सुग्रीवकी प्रसन्नता और नदियोंके जलकी स्वच्छता चाहता हुआ शरत्कालकी प्रतीक्षामें चुपचाप बैठा हुआ हूँ ॥ ६३ ॥

अपकारेण वीरो हि प्रतीकारेण युज्यते ।

अकृतज्ञोऽप्रतिकृतो हन्ति मन्त्रवृत्तानां मनः ॥ ६४ ॥

‘जो वीर पुरुष किसीके उपकारसे उपकृत होता है, वह मन्त्र और वृत्तों के द्वारा अकृतज्ञ प्रकृत होता है, किन्तु यदि वाई उपकारका न मानकर या भुलकर प्रत्युपकारसे मुँह मोड़ लेता है, वह शक्तिवाली श्रेष्ठ वृत्तोंके मनको डेन पहुँचाता है ।

अर्श्वकपुनः प्राणिधाय लक्ष्मणः ।

कृताञ्जलिस्तत् प्रणिपूज्य भाषितम् ।

इत्यार्ष श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डेऽष्टाविंशः सर्गः ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें अष्टाविंश सर्ग पूरा हुआ ॥ २८ ॥

एकोनविंशः सर्गः

हनुमान्जीके समझानेसे सुग्रीवका नीलको बानर-सैनिकोंको एकत्र करनेका आदेश देना

समीक्ष्य विमले व्योम गतविद्युद्बलाहकम् ।

सारसाकुलसंघुष्टं सम्यज्ज्योत्स्नानुलेपनम् ॥ १ ॥

सम्पृद्धान् च सुग्रीवं चन्द्रधर्मार्थमंग्रहम् ।

अन्यर्थं चासतां मार्गमिकान्तगतमानसम् ॥ २ ॥

निवृत्तकार्यं सिद्धार्थं प्रपदाभिगन्तं सदा ।

प्राप्तवन्तमभिप्रेतान् सवन्निव मनोरथान् ॥ ३ ॥

स्वां च पत्नीमभिप्रेतो तारो चापि सभोषिताम् ।

विहरन्महोरात्रं कृताश्वं विगतज्वरम् ॥ ४ ॥

क्रौडन्तमिव दंष्ट्रो गन्धवांस्पर्शं गर्णीः ।

मन्त्रिषु म्यस्तकार्यं च मन्त्रिणामनवशकम् ॥ ५ ॥

उन्निष्ठन्नराज्यसंदहं कामवृत्तमिव स्थितम् ।

निश्चिन्ताश्वार्थतत्त्वज्ञः कालधर्मविशेषवित् ॥ ६ ॥

प्रसाद्य वाक्यैर्विविधैर्हनुमद्विर्मनोर्मः ।

वाक्यायिद् वाक्यमन्त्रजं हरीशं मातृतात्पजः ॥ ७ ॥

हितं तथ्यं च पथ्यं च सामथर्म्यार्थनीतियत् ।

प्रणयप्रोत्तिसयुक्तं विश्वासकृतनिश्चयम् ॥ ८ ॥

हरीश्वरमुपागम्य हनुमान् वाक्यमब्रवीत् ।

पवनकुमार हनुमान् शास्त्रके निश्चित सिद्धान्तको

जाननेवाले थे । क्या कर्त्तव्य चाहिये और क्या नहीं—इन

सभी बातोंको उन्हें यथार्थ ज्ञान था । किस समय किस विशेष

धर्मका पालन करना चाहिये—इसको भी वे ठीक-ठीक

समझते थे । उन्हें बातचीत करनेकी कलाका भी अच्छा ज्ञान

था । उन्होंने देखा, आकाश निर्मल हो गया है । अब उसमें

उवाच राम स्वभिगमदर्शनं

प्रदर्शयन् दर्शनमात्मनः शुभम् ॥ ६५ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर लक्ष्मणने सोच-विचारकर उसको भूँर भूँर प्रशंसा की और दोनों साथ जाकर अपनी शुभ दृष्टिका परिचय देने हुए वे नयनाभिराम श्रीरामसे इस प्रकार बोले ॥ ६५ ॥

यदुक्तमेतत् तव सर्वभोषितं

नरेन्द्र कर्ता नचिरादुरीश्वरः ।

शरत्प्रतीक्षः क्षयतापिदं भवान्

जलप्रपाते गिपुनिधे घृतः ॥ ६६ ॥

‘नान्धर । जैसा कि आपने कहा है, बानरराज सुग्रीव शीघ्र ही आपका यह साग मसंग्रह मिट्ट करेगा । अतः आप शत्रुके संहार करनेका दृढ़ निश्चय लिये शरत्कालकी प्रतीक्षा कीजिये और इस वर्षाकालके विलम्बको सहन कीजिये’ ॥ ६६ ॥

न तो बिजली चमकती है और न बादल ही दिखायी देने हैं ।

अन्तरिक्षमें सब आर सारस उड़ रहे हैं और उनकी ज़ोली

मुनायी देती है । (चन्द्रोदय होनेपर) आकाश ऐसा जान

पड़ता है, मानो उसपर श्वेत चन्दनसदृश रमणीय चूँदनोंका

रूप चढ़ा दिया गया हो । सुग्रीवका प्रयोजन सिद्ध हो जानेके

कारण अब वे धर्म और अर्थके संग्रहमें शिथिलता दिखाने

लगे हैं । अमाधु पुरुषोंके मार्ग (काममन्त्र) का ही अधिक

आश्रय ले रहे हैं । एकमत हो (जहाँ स्त्रियोंके सङ्गमें कोई

बाधा न पड़े) उनका मन लगता है । उनका काम पूरा हो

गया है । उनके अगाध प्रयोजनकी सिद्धि हो चुकी है । अब

वे मदा युवती स्त्रियोंके साथ क्रौडा-वित्सारमें ही लगे रहते

हैं । उन्होंने अपने सारे अभिलषित मनोरथोंको प्राप्त कर लिया

है । अपनी मन्त्रोच्चैः पत्नी रुमा तथा अभीष्ट सुन्दरी

नाराकी भी प्राप्त करके अब वे कृतकृत्य एवं निश्चिन्त होकर

दिन-रात भोग-वित्सारमें लगे रहते हैं । जैसे देवराज इन्द्र

मन्त्रियों और अप्सराओंके समुदायके साथ क्रौडामें तत्पर

रहते हैं, उसी प्रकार सुग्रीव भी अपने मन्त्रियोंपर राजकार्यका

भार रखकर क्रौडा-वित्सारमें तत्पर हैं । मन्त्रियोंके कार्योंकी

देखभाल वे कभी नहीं करते हैं । मन्त्रियोंकी सज्जनताके

कारण यद्यपि राज्यको किसी प्रकारकी हानि पहुँचनेका संदेह

नहीं है, तथापि स्वयं सुग्रीव श्री स्वच्छाचारी-से हो रहे हैं । यह

सब सोचकर हनुमान्जी बानरराज सुग्रीवके पास गये और

उन्हें युक्तियुक्त विविध एवं मनोगत वचनोंके द्वारा प्रसन्न करके

जातचौतका भर्मा सम्पद्नेवाले उन सुभाषसं हितकर, साथ, लाभदायक, साम, धर्म और अर्थ-मोर्तिसं युक्त, शास्त्रावस्थासी पुरुषोंक सुदृढ़ निश्चयसं सम्पन्न तथा प्रेम और प्रमत्तनासं भर खचन बाल ॥ ६—८ ॥

राज्यं प्राप्तं यशश्चैव कोली श्रीरभिवर्धना ॥ ९ ॥
मित्राणां संग्रहः शेषस्तद् भवान् कर्तुमर्हति ।

‘राजन् ! आपने राज्य और यश प्राप्त कर लिया तथा कुलपरम्परासं आया हुई लक्ष्मीको भी बढ़ाया किन्तु अभी मित्रोंको अपनानेका कार्य शेष रह गया है, उसे आपको इस समय पूर्ण करना चाहिये ॥ ९ ॥

यो हि मित्रेषु कालज्ञः सततं साधु वर्तते ॥ १० ॥
तस्य राज्यं च कीर्तिश्च प्रतापश्चापि वर्धते ।

‘जो राजा ‘कब प्रत्यापकत्त करना चाहिये’ इस बातकी जानकर मित्रोंके प्रति सदा नाधुन्यपूर्ण कर्तव्य करता है, उसके राज्य, यश और प्रतापकी वृद्धि होती है ॥ १० ॥

यस्य कोशश्च दण्डश्च मित्राण्यात्मा च भूमिपः ।
सगन्धेतानि सर्वाणि स राज्यं महदश्नुते ॥ ११ ॥

‘पृथ्वीनाथ ! जिस राजाक कोश, दण्ड (सेना), मित्र और अपना शरीर—ये सब-कुं-सब समान रूपसं उसके कदम रहते हैं, वह जिसका राज्यका पालन एवं उपभोग करता है ॥ ११ ॥

तत् भवान् वृत्तसम्पन्नः स्थितः पथि निरस्यये ।
मित्रार्थमभिनीमाथी यद्यावन् कर्तुमर्हति ॥ १२ ॥

‘आप सदाञ्जलमे सम्पन्न और निरस्य सनातन धर्मके मार्गपर स्थित हैं, अतः मित्रक कार्यको सफल बनानेके लिये जो प्रतिज्ञा की है, उसे यथाचितरूपसे पूर्ण कीजिये ॥ १२ ॥

सन्त्यज्य सर्वकर्मणि मित्रार्थं यो न वर्तते ।
सम्भ्रमाद् विकृभोत्साह संश्लेषेनावरुध्यते ॥ १३ ॥

‘जो अपने सब कार्योंको छोड़कर मित्रका कार्य सिद्ध करनेके लिये विशेष उत्साहपूर्वक शोध्यनेके साथ नहीं लग जाता है, उसे अनर्थका भागो होना पड़ना है ॥ १३ ॥

यो हि कालव्यतीतेषु मित्रकार्येषु वर्तते ।
स कृत्वा महतोऽप्यर्थांश्च मित्रार्थेन पुज्यते ॥ १४ ॥

‘कार्यसाधनका उपयुक्त अवसर बोन जानेके बाद जो मित्रक कार्योंमें लगना है, वह बड़े-से-बड़े कार्योंको सिद्ध करके भी मित्रक प्रयोजनको सिद्ध करनेवाला नहीं माना जाता है ॥ १४ ॥

सर्वित् मित्रकार्यं नः कालान्तीतपरिदयः ।
क्रियतां राघवस्यैतद् वदंहा परिमार्गणम् ॥ १५ ॥

‘शत्रुदमन ! भगवान् श्रीराम हमारे परम सुहृद् हैं, उनके इस कार्यका समय बीता जा रहा है, अतः विंदरकुमारा सीताकी खोज आरम्भ कर देनी चाहिये ॥ १५ ॥

न च कालमतीतं ते निवेदयति कालवित् ।
स्वग्याणोऽपि स प्राज्ञस्तत्र राजन् वशानुगः ॥ १६ ॥

‘राजन् ! परम बुद्धिमान् श्रीराम समयकर ज्ञान रखते हैं और उन्हें अपने कर्तव्यकी सिद्धिके लिये जल्दी लगो हुई है तो भी वे आपके अधीन बन दुर हैं। मकोचवश आपमें नहीं कहते कि मेरे कार्यका समय खान रहा है ॥ १६ ॥

कुलस्य हेतुः स्फीतस्य दीर्घबन्धुश्च राघवः ।
अप्रमेयप्रभावश्च स्वयं चाप्रतिभो गुणैः ॥ १७ ॥
तस्य त्वं कुरु वै कार्यं पूर्वं तेन कृतं तव ।

हरीश्वर कपिश्रेष्ठानाज्ञापयितुमर्हसि ॥ १८ ॥

‘बानरराज ! भगवान् श्रीराम चिरकालतक मित्रता निधानेवाले हैं, वे आपके समानुद्दिशाकी पुत्रोंके अभ्युदयके हेतु हैं। उनका प्रभाव अनुलक्षण है। वे गुणोंमें अपना शरीर नहीं रखते हैं। अब आप उनका कार्य सिद्ध कीजिये, क्योंकि उन्होंने आपको काम पहले ही सिद्ध कर दिया है। आप प्रधान-प्रधान बानरोंको इस कार्यके लिये आज्ञा दीजिये ॥ नहि तावद् भवेत् कालो व्यतीतश्चोदनादृते ।

चोदितस्य हि कार्यस्य भवेत् कालव्यतिक्रमः ॥ १९ ॥

‘श्रीरामचन्द्रजीक कहनेके पहले ही यदि हमलोग कार्य आरम्भ कर दे तो समय बीता हुआ नहीं माना जायगा; किन्तु यदि उन्हें इसक लिये प्रेरणा करना पड़ी तो यही समझा जायगा कि हमने समय बिता दिया है— उनके कार्यमें बहुत विलम्ब कर दिया है ॥ १९ ॥

अकर्तुरपि कार्यस्य भवान् कर्ता हरीश्वर ।
किं पुनः प्रतिकर्तुंस्ते राज्येन च यत्नेन च ॥ २० ॥

‘बानरराज ! जिसने आपका कोई उपकार नहीं किया हो, उसका कार्य भी आप सिद्ध करनेवाले हैं। फिर जिन्होंने वार्षिका वध तथा राज्य प्रदान करके आपको उपकार किया है, उनका कार्य आप शोध सिद्ध करें, इसके लिये तो कहना ही क्या है ॥ २० ॥

शक्तिमानतिविक्रान्तो बानरक्षगणेश्वर ।
कर्तुं दाशरथेः प्रीतिपात्रायां किं न संजसे ॥ २१ ॥

‘बानर और चालू-समुदायके स्वामी सुदीर्घ ! आप शक्तिमान् और अत्यन्त पराक्रमी हैं, फिर भी दाशरथनन्दन श्रीरामका प्रिय कार्य करनेके लिये बानरोंकी आज्ञा दनमें क्यों विलम्ब करने हैं ? ॥ २१ ॥

कामं हल्लु शरैः शक्तः सुगसुरमहोरगान् ।
वशे दाशरथिः कर्तुं स्वल्पनिजामवेक्षते ॥ २२ ॥

‘हममें संदेह नहीं कि दाशरथकुमार भगवान् श्रीराम अपने आश्रममें समस्त देवताओं अमरों और बड़े बड़े नागोंको भी अपने वशमें कर सकते हैं, तथापि आपने जो उनके कार्यको सिद्ध करनेकी प्रतिज्ञा की है, उसकेको वे सह देख रहे हैं।

प्राणत्यागाविशङ्केन कृतं तेन भवत् प्रियम् ।
तस्य भार्गाव छेदेही पृथिव्यामपि चाम्भरे ॥ २३ ॥

‘उन्हें आपके लिये बालीके प्राणतक लेनेमें हिचक नहीं

हुई । वे आपको बहुत बड़ा प्रिय कार्य कर चुके हैं, अतः अब हमलोग उनको पत्नी विदेहकुमारी सीताका इस भूतलपर और आकाशमें भी पता लगावे ॥ २३ ॥

देवदानवगन्धर्वा असुराः समरुद्रणाः ।

न च यक्षा मयं तस्य कुर्युः किमिव राक्षसाः ॥ २४ ॥

‘देवता, दानव, गन्धर्व, असुर, मरुद्गण तथा यक्ष भी श्रीरामको भय नहीं पहुँचा सकते, फिर राक्षसोंकी तो विमान हो क्या है ॥ २४ ॥

तदेवं शक्तियुक्तस्य पूर्वं प्रतिकृतस्तथा ।

रामस्यार्हसि पिङ्गेश कर्तुं सर्वात्मना प्रियम् ॥ २५ ॥

‘वानरराज ! ऐसे शक्तिशाली तथा पहले ही उपकार करनेवाले भाग्यवान् श्रीरामका प्रिय कार्य आपको अपनी सारी शक्ति लगाकर करना चाहिये ॥ २५ ॥

नाथस्मान्मर्त्तवी नाप्सु गतिर्नोपरि चाम्बरे ।

कस्यचित् राजनेऽरमाकं कपीश्वर तवाज्ञया ॥ २६ ॥

‘कपीश्वर ! आपकी आज्ञा हो जाय तो जल्दमें, धूलमें, पीछे (पालासमें) तथा ऊपर आकाशमें—कहाँ भी हम लोगोंकी गति रुक नहीं सकती ॥ २६ ॥

तदाज्ञापय कः किं ते कुतो वापि व्यवस्थतु ।

हरयो ह्यप्रधृष्यास्ते सन्ति कोट्यग्रनोऽनघ ॥ २७ ॥

‘निष्पाप कपिश्वर ! अतः आप आज्ञा दीजिये कि कौन कहाँसे आपकी किस आज्ञाका पालन करनेके लिये दण्डोग करो । आपके अधीन करोड़ों भी अधिक ऐसे वानर मौजूद हैं, जिन्हें कोई परास्त नहीं कर सकता’ ॥ २७ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा काले साधु निरूपितम् ।

सुग्रीवः सत्त्वमप्यज्ञश्रुत्वा भतिमुत्तमाप् ॥ २८ ॥

सुग्रीव सत्त्वगुणसे सम्पन्न थे उन्होंने हनुमानजीके द्वारा दीक समयपर अच्छे वगसे कही हुई उपर्युक्त बातें सुनकर भगवान् श्रीरामका कार्य सिद्ध करनेके लिये अत्यन्त उत्तम निश्चय किया ॥ २८ ॥

इत्यायं श्रीमद्वाल्मीकीय आदिवाल्मीकीय आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे एकोनत्रिंशः सर्गः ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २९ ॥

त्रिंशः सर्गः

शरद्-ऋतुका वर्णन तथा श्रीरामका लक्ष्मणको सुग्रीवके पास जानेका आदेश देना

गृहं प्रविष्टे सुग्रीवे विमुक्ते गगने घनैः ।

वर्षरात्रे स्थितो रामः कायश्लोकाभिपीडितः ॥ १ ॥

पूज्योक्त आदेश देकर सुग्रीव तो अपने महलमें चले गये और उधर श्रीरामचन्द्रजी, जो वर्षोंकी रानामें प्रसन्नवर्णगिरिपर निवास करते थे, अकस्मात्के मेघासे मुक्त एवं निर्मल हो जानपर सीतासे मिलनेकी इच्छासे लिये उनके विरहजन्य शोकसे अत्यन्त पीडाका अनुभव करने लगे ॥ १ ॥

संदिदेशातिमतिमान् नीलं नित्यकृतोद्यमम् ।

दिक्षु सर्वांसु सर्वेषां सैन्यानामुपसंग्रहे ॥ २ ॥

यथा सेना समग्रा ये युधपालाश्च सर्वशः ।

समागच्छन्त्यसङ्गेन सेनाप्रयेण तथा कुरु ॥ ३ ॥

वे परम बुद्धिमान् थे । अतः नित्य उद्यमशील नील : वानरको उन्होंने समस्त दिशाओंमें सम्पूर्ण वानर सेनाएँ एकत्र करनेके लिये आज्ञा दी और कहा—‘तुम ऐसा करो, जिससे मेरी सारी सेना यहाँ इकट्ठी हो जाय और युधपति अपनी सेना एवं सेनापतियोंके साथ अवि उपस्थित हो जाय ॥ २९-३० ॥

ये त्वन्सपालाः प्रवगाः शीघ्रगा व्यवस्राधिनः ।

सम्मानयन्तु ते शीघ्रं स्वस्ताः शासनाभ्यम् ।

स्वयं चानन्तरं कार्यं भवानेवानुपश्यतु ॥ ३ ॥

‘राज्य-सीमाको रक्षा करनेवाले जो-जो उद्योगी शीघ्रगामी वानर हैं, वे सब मेरी आज्ञासे शीघ्र यहाँ जायें । उसके बाद जो कुछ कर्तव्य हो, उसपर तुम स्व ध्यान दो ॥ ३१ ॥

त्रिपञ्चरात्रादूर्ध्वं यः प्राप्नुयादिह वानरः ।

तस्य प्राणान्तिको दण्डो नात्र कार्याविचारणा ॥ ३ ॥

‘जो वानर पंद्रह दिनोंके बाद यहाँ पहुँचेगा, प्राणात्त दण्ड दिया जायगा । इसमें कोई अन्यथा वि नहीं करना चाहिये ॥ ३२ ॥

हरींश्च धृष्टानुपयानु साङ्गद्ये

भवान् ममाशामधिकृत्य निश्चितम् ।

इति व्यवस्थां हरिपुंगवेष्वरो

विधाय वेश्म प्रविवेश वीर्यवान् ॥ ३ ॥

‘यह मेरी निश्चित आज्ञा है । इसके अनुसार व्यवस्थाका अधिकार लेकर अङ्गदके साथ तुम स्वयं : वृद्ध वानरोंके पास जाओ ।’ ऐसा प्रबन्ध करके भगवान् वानरराज सुग्रीव अपने महलमें चले गये ॥ ३३ ॥

पाण्डुरं रगनं दृष्ट्वा विमलं चन्द्रमण्डलम् ।

शारदीं रजनीं खेवं दृष्ट्वा ज्योत्स्नानुलेपनाम् ॥ १ ॥

उन्होंने देखा, अत्यन्त श्वेत वर्णका ही रहा चन्द्रमण्डल स्वच्छ दिखायी देता है तथा शरद्-ऋतु रजनोंके अङ्गोपर चाँदनोंका अङ्गराग लगा हुआ यह सब देखकर वे सीतासे मिलनेके लिये व्याकुल हो उठे ॥ २ ॥

कामवृत्तं च सुग्रीवं नष्टां च जनकात्मजाम् ।

दृष्ट्वा कालमतीतं च मुमोह परमानुरः ॥ ३ ॥

उन्होंने सोचा 'सुग्रीव काममें आसक्त हो रहा है, जनककुमारी सीताका अबतक कुछ पता नहीं लगा है और रावणपर चढ़ाई करनेका समय भी बीता जा रहा है। यह सब देखकर अत्यन्त आनुर हुए श्रीरामका हृदय व्याकुल हो उठा ॥ ३ ॥

स तु सज्जामुपागम्य धुतुर्ताम्रतिथान् नृपः ।

मनः स्थमपि खँदेही चिन्तयामास राघवः ॥ ४ ॥

तो धड़के बाद जब उनका मन कुछ स्थिर हुआ, तब वे बुद्धिमान् नरेश श्रीरघुनाथजी अपने मनमें बसें हुईं चिन्तितुन्दिनी सीताका चिन्तन करने लगे ॥ ४ ॥

दृष्ट्वा च विमलं प्याम गतविद्युद्बलाहकम् ।

सारसारावसेद्युष्टं विललापार्णया गिरि ॥ ५ ॥

तन्होंने देखा, आकाश निर्मल है। न कहीं विजल्लंकार गङ्गादाहृत है न तेंवोंकी घन। घनी सब ओर सारसोंकी धाली सुनायी देती है। यह सब देखकर वे आनवर्णामें विलाप करने लगे ॥ ५ ॥

आसीनः पर्वतस्थाग्रे हेमधानुविभूषिते ।

शारद गगनं दृष्ट्वा जगाम मनसा प्रियाम् ॥ ६ ॥

सुतहरे रंगकी धातुओंमें विभूषित पर्वतशिखरपर बैठे हुए श्रीरामचन्द्रजी शरत्कालक स्वच्छ आकाशकी ओर दृष्टिगत करके मन-हो-मन अपनी प्यारी पत्नी सेतुका ध्यान करने लगे ॥ ६ ॥

सारसारावसेनादैः सारसारावनादिनी ।

याऽऽश्रमे रमते बाला साद्य मे रमते कथम् ॥ ७ ॥

वे बाले—'विभक्ती वाली सारसोंकी आवाजके समान गीतों की तथा जो मेरे आश्रमपर सारसोंद्वारा परस्पर एक-दूसरेकी बुलानोंके लिये किये गये मधुर शब्दोंसे मन कहल्यता थी, वह मेरी भाएरीभाली बड़ी सीता आज किस तरह मनोरञ्जन करती होगी ? ॥ ७ ॥

पुष्पितांशासनान् दृष्ट्वा काञ्चनानिव निर्मलान् ।

क्रुद्धे सा रमते बाला पश्यन्ती मामपश्यन्ती ॥ ८ ॥

भूतगोमय वृक्षांके समान निर्मल और खिले हुए असन-नामक वृक्षांकी देखकर बार-बार उनसे निहारती हुई भीली-भाली सीता जब मुझे अपने पास नहीं देखती होगी, तब कैसे उसका मन लगना होगा ? ॥ ८ ॥

या पुरा कलहसानां कलेन कलभाषिणी ।

बुध्यते आरुस्वर्वाङ्गी साद्य मे रमते कथम् ॥ ९ ॥

जिमक संगी अङ्ग मनोहर है तथा जो स्वभावसे ही मधुर भाषण करनेवाली है, वह सीता पहले कलहसांके मधुर शब्दसे जागा करती थी; किन्तु आज वह मेरी प्रिय जहाँ कैसे प्रसन्न रहती होगी ? ॥ ९ ॥

निःस्वनं चक्रवाकानां निशम्य सहचारिणाम् ।

पुण्डरीकविशालाक्षी कथमेवा भविष्यति ॥ १० ॥

'जिन्नक विशाल नेत्र प्रफुल्ल कमलदलके समान शोभा करने हैं वह मेरी प्रिया अब साथ विचरनेवाले चक्रवाकोंकी बान्दी सुनती होगी, तब उसकी कैसी दशा हो जाती होगी ? ॥ १० ॥ सरासि सरितो वापीः काननानि वनानि च ।

तां विना मृगशावक्षीं धरन्नाद्य सुखं लभे ॥ ११ ॥

'हाय ! मैं नदी, तालाब, कावली, कानन और वन सब संग्रह भ्रमना हूँ परन्तु कहा भी उस मृगशावकनयनी सीताके बिना अब मुझे सुख नहीं मिलेगा है ॥ ११ ॥

अपि तां भद्रिद्योगाच्च सांकुपार्याद्य भाषिणीम् ।

सुदूरं पीडयेन् कामः शरदगुणनिरन्तरः ॥ १२ ॥

'कहीं ऐसा तो नहीं होगा कि शरद-ऋतुके गुणोंसे निरन्तर बुद्धिको प्राप्त होनेवाला काम भाषिणी सीताको अत्यन्त पीड़ित कर दे; क्योंकि ऐसी सम्भावनाके दो कारण हैं—एक तो उस मेरे विद्योगका जघ है, दूसरे वह अत्यन्त सुकुमारी होनेके कारण इस कष्टको सहन नहीं कर पाती होगी' ॥ १२ ॥

एवमादि नरश्रेष्ठो विललाप नृपात्मजः ।

विहंग इव सारङ्गः सलिलं त्रिदशेश्वरात् ॥ १३ ॥

इन्द्रसे पानांकी याचना करनेवाले प्यासे पपोहेकी भाँति नरश्रेष्ठ नरन्द्रकुमार श्रीरामने इस तरहकी बहुत-सी बातें कहकर विलाप किया ॥ १३ ॥

ततश्चक्षुर्य रम्येषु फलार्थी गिरिसानुषु ।

ददर्श पर्युपावृत्तो लक्ष्मीवर्तिलक्ष्मणोऽग्रजम् ॥ १४ ॥

उस समय शोभाशाली लक्ष्मण फल लेनेके लिये गये थे। वे पतताङ्ग भण्णाय दिश्वगेपर घूम फिरकर जब लौटे तब उन्होंने अपने बड़े भाईके अवस्थापर दृष्टिपात किया ॥ १४ ॥

स चिन्तया दुस्सहया परीतं

विसंज्ञमेकं विजने मनस्वी ।

प्रातुर्विषाटात् त्वरितोऽतिदीनः

समीक्ष्य सीमित्रिरुवाच दीनम् ॥ १५ ॥

वे दुस्सह चिन्तामें मग्न होकर अचेत-से हो गये थे और एकान्तमें अकेले ही दुःखों होकर बैठे थे उस समय मनस्वी नृमित्राकुमार लक्ष्मणने जब उन्हें देखा तब वे तुरत ही भाईके विषादसे अत्यन्त दुःखी हो गये और उनसे इस प्रकार बोले— ॥ १५ ॥

किमार्य कामस्य वशगतेन

किपात्मपीरुष्यपराधमेव ।

अयं हि या संहियते सपाधिः

किमत्र योगेन निवर्तते न ॥ १६ ॥

'आर्य ! इस प्रकार कामके अधीन होकर अपने पीरुषका तिरस्कार करनेसे—पराक्रमको भूल जानेसे क्या लाभ होगा ? इस लज्जाजनक शोकके कारण आपको चिन्तकी

एकाग्रता नष्ट हो रही है, क्या इस समय योगका सहारा लेनेसे - मनको एकाग्र करनेसे यह सारी चिन्ता दूर नहीं हो सकती ? ।

क्रियाभियोमं मनसः प्रसादं

समाधियोगानुगतं च कालम् ।

सहायसापश्र्चमदीनसत्त्वः

स्वकर्महितं च कुरुषु तात ॥ १७ ॥

‘तात ! आप आवश्यक कर्मोंके अनुष्ठानमें पूर्णरूपसे लग जाइये, मनको प्रसन्न कीजिये और हर समय चिन्ताको एकाग्रता बनाये रखिये । साथ ही, अन्तःकरणमें दीनताका स्थान न देने हुए अपना पराक्रमको वृद्धि के लिये सहायता और शक्तिको बढ़ानेका प्रयत्न कीजिये ॥ १७ ॥

न जानकी मानववंशनाथ

त्वया सनाथा सुलभा परेण ।

न चाग्निचूडं ज्वलितामुपेत्य

न दहते कीर वराहं कश्चित् ॥ १८ ॥

‘मानववंशके नाथ तथा श्रेष्ठ पुरुषोंके भी पूजनाय का रचनन्दन ! जिनके स्वामी आप हैं, वे जनकनन्दिनी सोता किन्हीं भी दूसरे पुरुषोंके लिये मूलभ नहीं हैं, क्योंकि जल्दी हुई आगकी लपटके पास जाकर झाई भी दग्न हुए बिना नहीं रह सकती ॥ १८ ॥

सलक्षणं लक्षणमप्रधुष्यं

स्वभावजं वाक्यमुवाच रामः ।

हितं च पश्ये च नयप्रसक्तं

ससामर्थमार्थसमाहितं च ॥ १९ ॥

निरसंशयं कार्यमवेक्षितव्यं

क्रियाविशेषोऽयनुवर्तितव्यः ।

न तु प्रवृद्धस्य दुरासदस्य

कुमार वीर्यस्य फले च चिन्त्यम् ॥ २० ॥

लक्षणा उत्तम लक्षणोंसे सम्पन्न थे । उन्हें कोई परामर्श नहीं कर सकता था । भगवान् श्रीगमने इनमें यह स्वाभाविक बात कही — ‘कुमार ! तुमने जो बात कही है, वह वर्तमान समयमें हितकर, भविष्यमें भी सुख पहुँचानेवाली, राजनीतिक सर्वथा अनुकूल तथा सामके साथ-साथ धर्म और अर्थस्य भी समुक्त है । विश्रय हो मीतोंके अनुबन्धन कार्यपर ध्यान देना चाहिये तथा उसके लिये विशेष कार्य या उपायका भी अनुसरण करना चाहिये; किन्तु प्रयत्न छान्दक पूर्णरूपसे बड़े हुए दुर्लभ एवं बलवान् कर्मके फलपर हो दृष्टि रखना उचित नहीं है ॥ १९-२० ॥

अथ पद्मपलाशाक्षीं मैथिलीमनुचिन्तयन् ।

उवाच लक्ष्मणं रामो मुखेन परिशुष्यता ॥ २१ ॥

तदनन्तर प्रफुल्ल कमलदलके समान नेत्रकर्म मिथिलेशकुमारों सोताका बार-बार चिन्तन करते हुए श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणको सम्बोधित करके मुखे हुए

(उदास) मुँहसे बोले — ॥ २१ ॥

तर्पयित्वा सहस्राक्षः सलिलेन वसुंधराम् ।

निर्वर्तयित्वा सस्यानि कृतकर्मा व्यवस्थितः ॥ २२ ॥

‘सुमित्रानन्दन ! सहस्रनेत्रधारी इन्द्र इस पृथ्वीको जलसे तृप्त करके यहाँके अनाजोंको पकाकर अब कृत-कृत्य हो गये हैं ॥ २२ ॥

दीर्घगम्भीरनिर्घोषाः शीलद्रुमपुरोगमाः ।

विसृज्य सलिलं मेघाः परिशान्ता नृपात्मज ॥ २३ ॥

‘एककुमार ! देखो, जो अत्यन्त गम्भीर स्वरसे गर्जना किया करते और पक्षों नगरे तथा वृक्षोंके ऊपरस होकर निकलते थे वे मेघ अपना सारा जल बरसाकर शान्त हो गये हैं ॥ २३ ॥

नीलोत्पलदलश्यामाः श्यामीकृत्वा दिशो दश ।

विषदा इव पातङ्गाः शान्तवेगाः पयोधराः ॥ २४ ॥

‘नील कमलदलके समान श्यामवर्णवाले मेघ दसों दिशाओंके श्याम बनाकर मदरहित गजराजाके समान वेगशून्य हो गये हैं, उनका वेग शान्त हो गया है ॥ २४ ॥

जलगर्भा महावेगाः कुटजार्जुनगन्धिनः ।

चरित्वा क्षिरता सौम्य वृष्टिवाताः समुद्यताः ॥ २५ ॥

‘सौम्य ! जिनके भीतर जल विद्यमान था तथा जिनमें कुटज और अर्जुनके फूलोंकी सुगन्ध भरी हुई थी, वे अत्यन्त वेगशाली झंझावात उमड़ घुमड़कर सम्पूर्ण दिशाओंमें विखरण करके अब शान्त हो गये हैं ॥ २५ ॥

धनानां कारणानां च भयूरणां च लक्ष्मण ।

नादः प्रस्रवणानां च प्रशान्तः सहमानघ ॥ २६ ॥

‘निष्पाप लक्ष्मण ! बादलों, हाथियों, मोरों और झरनोंके शब्द इस समय सत्रसा शांत हो गये हैं ॥ २६ ॥

अभिवृष्टा महामेघैर्निर्मलाश्चिप्रसानवः ।

अनुलिप्ता इवाभान्ति गिरयश्चन्द्ररश्मिभिः ॥ २७ ॥

‘गहान् मेघाद्वारा जगमाये हुए जलमें घुल जानेके कारण ये चिन्त्र दिग्बरोवाले पर्वत अत्यन्त निर्मल हो गये हैं । इन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता है, मानो चन्द्रमाकी किरणोंद्वारा इनके ऊपर सफेदी कर दी गयी है ॥ २७ ॥

शाखासु सप्तच्छदपादपानां

प्रभासु तारार्कनिशाकराणाम् ।

लीलासु चैवोत्तमवाराणाम्

श्रियं विभज्याद्य शरत्प्रवृत्ता ॥ २८ ॥

‘आज शरद्-ऋतु सप्तच्छद (छितवन) की डालियोंमें, सूर्य, चन्द्रमा और तारोंकी प्रभामें तथा श्रेष्ठ गजराजोंकी लल्लल्लोमें अपनी शोभा बँटकर आयी है ॥ २८ ॥

सम्यत्यनेकाश्रयचित्रशोभा

लक्ष्मीः शरत्कालगुणोपपन्ना ।

सूर्याग्रहस्तप्रतिबोधिनेषु

पद्माकरेषुभ्यधिकं विभाति ॥ २९ ॥

‘इस समय शरत्कालके गुणोंसे सम्पन्न हुई लक्ष्मी यद्यपि अनेक आश्रयोंमें विभक्त होकर विचित्र शोभा धारण करती है, तथापि सूर्यकी प्रथम किरणोंसे विकसित हुए कमल-वनोंमें वे सबसे अधिक सुशोभित होती हैं ॥ २९ ॥

सप्तच्छदानां कुसुमोपगन्धी
चटपादवृन्दैरनुगीयमानः ।
मत्तद्विधानां धवनानुसारी
दर्पं विनेष्यन्नधिकं विधाति ॥ ३० ॥

‘छितवनके फूलोंकी सुगन्ध धारण करनेवाला शरत्काल स्वभावसे वायुका अनुसरण कर रहा है। भ्रमरोंके मार्ग उसके गुणगान कर रहा है। वह मार्गके जलको सोखता और मतवाले हाथियोंके दर्पको खड़ाता हुआ अधिक शोभा पा रहा है ॥ ३० ॥

अभ्यागर्तश्चारुविशालपक्षैः
स्पर्शप्रियैः पद्मरजोऽवकीर्णैः ।
महामदीनां पुलिनोपचारैः
क्रीडन्ति हंसाः सह चक्रवार्कैः ॥ ३१ ॥

जिनके पंख सुन्दर और विशाल हैं, जिन्हें कामक्रीड़ा अधिक प्रिय है, जिनके ऊपर कमलोंके पदम बिखरे हुए हैं, जो बड़ी-बड़ी नदियोंके तटोंपर उतरे हैं और मानसरोवरमें साथ ही आये हैं, उन चक्रवार्कोंके साथ हंस क्रीड़ा कर रहे हैं ॥ ३१ ॥

मदप्रगल्भेषु च वारणेषु
गवां सपूहेषु च दर्पितेषु ।
प्रसन्नतोयासु च निम्नगासु
विधाति लक्ष्मीयंहुधा विभक्ता ॥ ३२ ॥

‘मदमत्त गजरजोंमें, दर्प-पूर कूपोंके समूहोंमें तथा स्पर्श जलवालों सरिताओंमें नाना रूपोंमें विभक्त हुई लक्ष्मी विशेष शोभा पा रही है ॥ ३२ ॥

नभः समीक्ष्याम्युर्ध्वं विमुक्तं
विमुक्तबर्हाभरणा खनेषु ।
प्रियास्वरक्ता विनिवृत्तशोभा
गतोत्सवा ध्यानपरा भयूराः ॥ ३३ ॥

आकाशको खाद-शेमें शून्य हुआ दृढ़ वनोंमें पंखरूपी आभूषणोंका परित्याग करनेवाले मार अपनी प्रियतमाओंमें विरक्त हो गये हैं। उनकी शोभा नष्ट हो गयी है और वे आनन्दशून्य हो ध्यानमग्न होकर बैठे हैं ॥ ३३ ॥

मनोज्ञगन्धैः प्रियकरनल्पैः
पुष्पातिधारावनताग्रशालैः ।
सुवर्णगौरैर्नयनाभिरार्यै
रुद्योतितानीय वनान्तराणि ॥ ३४ ॥

‘वनके भीतर बहुत-से भ्रमर नामक वृक्ष खड़े हैं जिनकी डालियोंके अग्रभाग फूलोंके अधिक भारसे झुक गये हैं

ऊपर मनोहर सुगन्ध छा रहा है। वे सभी वृक्ष सुवर्णके समान गौर तथा नेत्रोंको आनन्द प्रदान करनेवाले हैं। उनके द्वारा वनप्राप्त प्रकाशित-से हो रहे हैं ॥ ३४ ॥

प्रियान्वितानां नलिनीप्रियाणां
खने प्रियाणां कुसुमोद्गतानाम् ।
मदोत्कटानां मदलालसानां
गमोजमानां गतयोऽष्ट मन्दाः ॥ ३५ ॥

‘जो अपनी प्रियतमाओंके साथ विचरते हैं, जिन्हें कमलोंके पुष्प तथा वन अधिक प्रिय हैं, जो छितवनके फूलोंको मृदुकर उत्पन्न हो उठे हैं जिनमें अधिक मद है तथा जिन्हें मदजनित कामभोगोंकी आत्मा चनी हुई है उन गजरजोंकी गति आज मन्द हो गयी है ॥ ३५ ॥

व्यक्तं नभः शस्त्रविधीनघर्णं
कुशप्रवाहानि नदीजलानि ।
कल्लारशीताः धवनाः प्रकान्ति
तप्तो विमुक्ताश्च दिशः प्रकाशाः ॥ ३६ ॥

‘इस समय आकाशका रंग शान्तपर चढ़े हुए शस्त्रोंके धारके समान स्पष्ट दिखायी देता है, नदियोंके जल मन्द-गतिसे प्रवाहित हो रहे हैं, श्वेत कमलोंका सुगन्ध लेकर शीतल मन्द वायु चल रही है, दिशाओंका अन्धकार दूर हो गया है और अब उनमें पूर्ण प्रकाश छा रहा है ॥ ३६ ॥

सूर्यातिपक्वामणनष्टपङ्का
धूमिश्चिरोद्घाटितसान्द्रेणुः ।
अन्योन्यवैरेण समासुताना-
मुद्योगकालोऽष्ट नराधिपानाम् ॥ ३७ ॥

‘घाम लगानेमें धरतीका कौचड़ सूख गया है। अब उसपर बहुत दिनोंके बाद धनी घृत प्रकट हुई है परस्पर वैर रखनेवाले राजाओंके लिये युद्धके निमित्त उद्योग करनेका समय अब आ गया है ॥ ३७ ॥

शरद्गुणप्याप्यधितरूपशोभाः
ग्रहर्षिताः पौंसुसमुत्थिताङ्गाः ।
मदोत्कटाः सम्प्रति युद्धलुब्धा
सृषा गवां मध्यगता नदन्ति ॥ ३८ ॥

‘शरद्-ऋतुके गुणोंमें जिनके रूप और शोभाको बढ़ा दिया है जिनके मार अङ्गोंपर धूल छा रही है जिनके मद-की अधिक वृद्धि हुई है तथा जो युद्धके लिये लुभाये हुए हैं, वे सब इस समय गौओंके बीचमें खड़े होकर अत्यन्त हर्षपूर्वक हैंकड़ रहे हैं ॥ ३८ ॥

समन्वधा तीव्रतरानुसगा
कुलान्विता मन्दगतिः करेणुः ।
मदान्वितं सम्प्रिवार्य यान्तं
खनेषु भर्तारमनुप्रयाति ॥ ३९ ॥

‘जिसमें कामभावका उदय हुआ है, इसीलिये जो अत्यन्त

तीव्र अनुरागसे युक्त है और अच्छे कुलमें उत्पन्न हुई है, वह मन्दगतिसे चलनेवाला हथियों वनोंमें जाते हुए अपने मन्दगमन स्वामीको घेरकर उसका अनुगमन करती है ॥ ३९ ॥

त्यक्त्वा वराण्यात्मविभूषितानि

वर्हाणि तीरोपगता नदीनाम् ।

निर्भर्त्स्यमाना इव सारमार्धं

प्रयान्ति दीना विपना मयूराः ॥ ४० ॥

'अपने आभूषणरूप श्रेष्ठ पंखोंको त्यागकर नदियोंके तटोंपर आये हुए मोर मानो सारस समूहोंकी फटकार सुनकर दुःखी और विप्रचित्त हो पीछे लौट जाते हैं ॥ ४० ॥

विप्रास्य कारण्डवचकवाकान्

महारवर्धिमप्रकट्य गजेन्द्राः ।

सरस्सुबद्धाम्बुजभूषणेषु

विक्षोभ्य विक्षोभ्य जलं पिबन्ति ॥ ४१ ॥

जिनके गण्डस्थलसे फटकी घारा बह रही है, वे गजराज अपनी महती गर्जनसे कारण्डवों तथा चक्रवाकोंको ध्वस्त करके विकसित कमलोंसे विभूषित सरोवरोंमें जलको हिलोहर हिलारकर पी रहे हैं ॥ ४१ ॥

व्यापेतपद्मासु सवालुकासु

प्रसन्नतोयासु सगोकुलासु ।

ससारसारावविनादिनासु

नदीषु हंसा निपतन्ति हृष्टाः ॥ ४२ ॥

'जिनके कोंचड़ टूट हो गये हैं। जो वालुकाओंमें मुशोभित हैं, जिनका जल बहने ही म्बच्छ है तथा गौओंके समुदाय जिनके जलका सेवन करते हैं, सारसोंके कलरवोंसे गूँजती हुई उन सरिताओंमें हंस बड़े हर्षके साथ उतर रहे हैं ॥ ४२ ॥

नदीघनप्रलवणोदकावा-

मतिप्रवृद्धानिलवर्हिणानाम् ।

पूर्वगमानां च गतोत्सवानां

ध्रुवं रवाः सम्प्रति सम्प्रणष्टाः ॥ ४३ ॥

'नदी, मेष, झरनोंके जल, प्रवण्ड वायु, मोर और हर्ष-रहित मेटकोंके शब्द निश्चय ही इस समय शान्त हो गये हैं ।

अनेकवर्णाः सविनष्टकाया

नवीदितेष्वुधरेषु नष्टाः ।

क्षुषार्दिता घोरविषा बिलेभ्य-

श्चिरांशिता विप्रसरन्ति सर्पाः ॥ ४४ ॥

'नूतन मेधाके उदित होनपर जो चिरकालसे बिलोंमें छिपे बैठे थे, जिनकी शरीरगत नष्टप्राय हो गयी थी और इस प्रकार जो मृतवत् हो रहे थे, वे भयंकर विषवाले बहुगुणे सर्प भूखसे पीड़ित होकर अब बिलोंसे बाहर निकल रहे हैं ॥

यश्चन्द्रकरस्पर्शहयोन्यीलिततारका

अहो रागवती संध्या जहाति स्वयमम्बरम् ॥ ४५ ॥

'शोभाशाली चन्द्रमाकी किरणोंके स्पर्शसे होनेवाले हर्षक कारण जिसके तारे किंचित् प्रकाशित हो रहे हैं (अथवा प्रियतमके कर्मभंडांजनित हर्षमें जिसके नत्राकी पुतली किंचित् खिल उठी है) वह रागयुक्त संध्या (अथवा अनुरागभरी नायिका) स्वयं ही अम्बर (आकाश अथवा वस्त्र) का त्याग कर रही है, यह कैसे आश्चर्यकी बात है ! * ॥ ४५ ॥

रात्रिः शशाङ्कोदितसौम्यवक्त्रा

तारागणान्यीलितचारुनेत्रा

ज्योत्स्नाशुकप्रावरणा विधाति

नारीव शृङ्गोशुकसंवृताङ्गी ॥ ४६ ॥

'चाँदनीकरे चांदर ओंठें हुए शरत्कालकी यह रात्रि श्वेत साङ्गस हँसें हुए अङ्गुलीयों एक सुन्दरी नारीके समान शोभा पानी है। उदित हुआ चन्द्रमा ही उसकी सौम्य मुख है और तारे ही उसकी सुन्दरी हुई मनोहर आँखें हैं ॥ ४६ ॥

विपक्षशालिप्रसवानि भुक्त्वा

प्रहर्षिता सारसचालपङ्क्तिः ।

नभः समाक्रामति शोधवेंगा

वातावधूता ग्रथितेव माला ॥ ४७ ॥

'पके हुए धानकी बालोंको साकर हर्षसे भरी हुई और तीव्र वेगमें चलनेवाली नारियोंकी वह सुन्दर पंक्ति वायुक्रमित गुँथी हुई पुष्पमालाकी भाँति आकाशमें उड़ रही है ॥ ४७ ॥

सुप्तैकहंसं कुमुदरूपेणं

महाहृदस्थं सलिलं विधाति ।

घर्नैर्विमुक्तं निशि पूर्णचन्द्रे

तारागणाकीर्णमिवान्तरिक्षम् ॥ ४८ ॥

'कुमुदके फूलोंसे भरा हुआ उस महान् तालाबका जल जिसमें एक हंस सोया हुआ है, ऐसा जान पड़ता है माना रातके समय बादलोंके आवरणसे रहित आकाश सब ओर छिटके हुए तारोंसे व्याप्त होकर पूर्ण चन्द्रमाके साथ शोभा पा रहा हो ॥ ४८ ॥

प्रकीर्णहंसाकुलपेरबलानां

प्रकुट्टपयोत्पलमालिनीनाम् ।

वाष्पुतमानामधिकाद्य लक्ष्मी-

वराङ्गनानामिव भूषितानाम् ॥ ४९ ॥

'सब ओर ध्वस्त हुए हंस की जिनके फेंका हुई मेखल (करधानी) हैं, जो खिले हुए कमलों और उत्पलियोंकी मालाएँ धारण करती हैं। उन उनमें चार्कडियोंकी शोभा आज ब्रह्माभूषणोंमें विभूषित हुई सुन्दरी वनिताओंके समान हो रही है ॥ ४९ ॥

वेणुस्वरव्यञ्जिततूर्यमिश्रः

प्रत्यूषकालेऽनिलसम्पवून

सम्पूर्छितो

गर्गरगोवृषाणा-

मन्योन्यमापूरयतीव

शब्दः ॥ ५० ॥

वेणुके स्वरके रूपमें व्यक्त हुए वाद्यध्वंसों में मिश्रित और प्रातःकालको वायुमें बँदना और लहर लहर और फैला हुआ दाहिने मध्यमक बड़-बड़े भावों और मँडोंका शब्द, मानो एक-दूसरेका पूरक ही रहा है ॥ ५० ॥

नवैर्नदीनां

कुसुमप्रहारे

व्याधुयमानैर्मृदुमारुतेन

धीतामलक्ष्मीपटप्रकाशे

कूलानि

काशैरूपशोभितानि ॥ ५१ ॥

'नदियोंके तट मन्द-मन्द वायुमें कम्पित, पुष्परूपों हाससे सुशोभित और धुल हुए निर्मल रेशमों वस्त्रोंके समान प्रकाशित होनेवाले नूतन कालोंमें खड़ी शोभा पा रहे हैं ॥ ५१ ॥

वनप्रचण्डा

मधुपानशीष्ठाः

प्रियान्विता, षट्चरणा, प्रहृष्टाः ।

वनेषु

पत्ता-

पवनानुयात्रां

कुर्वन्ति

पद्मासनरेणुगीराः ॥ ५२ ॥

'वनमें टिठाईके साथ घूमनेवाले तथा कम्पित और अमनके परागोंमें गौरवर्णकों प्राप्त हुए पतझड़े भ्रमर, जे, पुष्पोंके मकरन्दकी पान करनेमें बड़े चतुर हैं, अपना प्रियार्थके साथ हाथों में धरकर खानेमें (गन्धक लोभक) वायुके फाँट-फाँट जा रहे हैं ॥ ५२ ॥

जले

प्रसन्नं

कुसुमप्रहारे

क्रोञ्चस्वनं

शालिवनं

विपकम् ।

मृदुश्च

वायुर्धिमलश्च

चन्द्रः

शोभन्ति

वर्षाव्यपनीतकालम् ॥ ५३ ॥

'जल स्वच्छ हो गया है धानकी खेती चक गया है, शत्रु पक्षगातियों से खाली रह गये हैं और चन्द्रमा अन्धकार निवृत्त दिव्यरूपी देता है—ये सब लक्षण इस शान्तात्मक आगमन की सूचना देते हैं। जिसमें वनकी समाप्ति हो जाती है क्रोञ्च पक्षी बोलने लगते हैं और फूल इस शत्रुके शत्रुकी भाँति खिल उठते हैं ॥ ५३ ॥

धीनोपसंदर्शितमेखलानां

नदीवधूनां

गनयोऽष्टमन्दाः ।

कान्तोपभुक्तालसर्गाभिनीषां

प्रभातकालावृत्त

कार्मिनीनाम् ॥ ५४ ॥

गनकों प्रियतमके उपशान्त्ये आकर प्रातःकाल अलमारी गतिसे चलनवाली कार्मिनीयोंकी भाँति उन नदीस्वरूपा वधुओंकी गति भी अट्टम मन्द हो गयी है, जो मछलियोंकी मेखला-में घासण किये हुए हैं ॥ ५४ ॥

सचक्रवाकानि

सर्शवलानि

काशैर्दुकूलैरिव

संवृतानि ।

सपत्ररेखाणि

सरोजनानि

वधूपुरानीव

नदीपुराणि ॥ ५५ ॥

'नदियोंके मुख नव वधुओंके मुँहके समान शोभा पाते हैं। उनमें जो चक्रवाक हैं, वे गोंगंचनद्वारा निर्मित निलम्बके समान प्रतीत होते हैं जो सज्जन हैं। वे वधुके मुखपर खनी हुई पत्रभङ्गोंके समान जान पड़ते हैं तथा जो काश हैं वे ही मानो श्वेत दुकूल बनकर नदीनारिणी वधुके मुखकी दृक्क हुए हैं ।

प्रफुल्लखाणासनचित्रिणेषु

प्रहृष्टपादनिक्कजितेषु

गृहीतछापोद्यनटपङ्कजेषु

प्रचण्डछापोऽष्ट घनेषु कामः ॥ ५६ ॥

'फूलों हुए सरकण्डों और अमनके वृक्षोंमें जिनको विचित्र शोभा हो रही है तथा जिनमें तपधरे भ्रमरोंकी आवाज गूँजती रहती है, उन वनोंमें आज प्रचण्ड धनुर्धर कामदेव प्रकट हुआ है, जो धनुष हाथमें लेकर विरही जनकोंको दण्ड देनेके लिये उद्यत हो अन्धकार कोपका परिकल्प दे रहा है ॥ ५६ ॥

लोकं सुवृष्ट्या परितोषयित्वा

नदीस्तटाकानि च पूरयित्वा ।

निष्पन्नसस्यां वसुधां च कृत्वा

त्यक्त्वा नभस्तोषधराः प्रणष्टाः ॥ ५७ ॥

अच्छों वर्षासे लोगोंकी संतुष्ट करके नदियों और नल्लवृक्षोंकी पत्तियोंमें धक्कर तथा धूललक्ष्मण परियक धानकी खेतीमें सम्पन्न करके वादल अस्काश छाड़कर अदृश्य हो गये ॥ ५७ ॥

दशायन्ति शरन्नद्यः पुलिनानि शनैः शनैः ।

नवसंगममञ्जरीषा जघनानीव यावत् ॥ ५८ ॥

'शरद-शत्रुकी नदियाँ धीरे-धीरे जलके हटनेसे अपने नम्र नटाको दिखा रही हैं। नौक उभों तरह जैसे प्रथम समागमके समय लज्जानी युवतियाँ शनैः-शनैः अपने जघन-स्थलकों दिखानेके लिये विवश होती हैं ॥ ५८ ॥

प्रसन्नमल्लिकाः सौम्य कुरराभिखिनादिताः ।

चक्रवाकगणाकीर्णा विधानि सलिलाशयाः ॥ ५९ ॥

'सौम्य ! सौम्य ! प्रणम्योके जल स्वच्छ हो गये हैं, वहाँ कुरर पक्षियोंके कलनाद गूँज रहे हैं और चक्रवाकोंके ममुदाय संगों और चिखरे हुए हैं। इस प्रकार उन जलजगहोंकी खड़ी शोभा हो रही है ॥ ५९ ॥

अन्योन्यवद्धर्षराणां जिगीषुणो नृपात्मज ।

उद्योगमपयः सौम्य पार्थिवानामुपस्थितः ॥ ६० ॥

'सौम्य ! शत्रुकुमार ! जिनमें परस्पर वैर बँधा हुआ है और जो एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छा रखते हैं, उन भूमि-पालोंके लिये यह युद्धके निमित्त उद्योग करनेका समय उपस्थित हुआ है ॥ ६० ॥

इयं सा प्रथमा यात्रा पार्थिवानां नृपात्मज ।

न च पश्यामि सुग्रीवमुद्योगं च तथाविधम् ॥ ६१ ॥

'नरेश्वरन्दन । राजाओंकी विजय-यात्राका यह प्रथम अवसर है, किन्तु न तो मैं सुग्रीवको वहाँ उपस्थित देखता हूँ और न उनका कोई वैसा उद्योग ही दृष्टिगत होता है ॥

असनाः सप्तपर्णाश्च कोविदाराश्च पुष्पिताः ।

दृश्यन्ते बन्धुजीवाश्च श्यामाश्च गिरिसानुषु ॥ ६२ ॥

'श्वेतके शिखरोपर असन, छिन्नवन, कोविदार, सन्धु-जीव तथा श्याम समस्त स्त्रिले दिखायी देते हैं ॥ ६२ ॥

हंससारसचक्राह्वः कुरीश्च समन्ततः ।

पुलिनान्यधकीर्णानि नदीनां पश्य लक्ष्मण ॥ ६३ ॥

'लक्ष्मण ! देखो तो सही, नदियोंके तटोंपर सब ओर हंस, भास्, चक्रवाक और कुर नामक पक्षी फैले हुए हैं ।

छत्वारो वार्षिक्य भासा गता वर्षशनोपमाः ।

मय शोकाभितप्तस्य तथा सीतामपश्यतः ॥ ६४ ॥

'मैं सीताको न देखनेके कारण शोकसे मग्न हो रहा हूँ; अतः वे वर्षिकी चार महोत्सवों में लिये सी वर्षिक समान होती हैं ॥ ६४ ॥

चक्रवाकोऽथ भर्तारं पृष्ठतोऽनुगता वनम् ।

विषमं दण्डकारण्यमुद्यानमिव चाङ्गना ॥ ६५ ॥

'जैसे चक्रवाती अपने स्वामीका अनुसरण करती है, उसी प्रकार कल्याणी सीता इस भयंकर एवं दुर्गम दण्डकारण्यको उद्यान-सा समझकर मेरे पीछे यज्ञतिक सती आयी थी ॥

प्रियाविहीने दुःखार्ते हृतराज्ये विवासिते ।

कृपां न कुरुते राजा सुग्रीवो भवि लक्ष्मण ॥ ६६ ॥

'लक्ष्मण ! मैं अपनी प्रियतमासे विछुड़ा हुआ हूँ मेरा राज्य छीन लिया गया है और मैं देशसे निकाल दिया गया हूँ । इस अवस्थामें भी राजा सुग्रीव मुझपर कृपा नहीं कर रहा है ॥ ६६ ॥

अनाथो हृतराज्योऽहं रावणेन च धर्षितः ।

दीनो दूरगृह कामी मां खेव शरणं गतः ॥ ६७ ॥

इत्येतेः करणः सौम्य सुग्रीवस्य दुरात्मनः ।

अहं वानराजस्य परिभूतः परंतपः ॥ ६८ ॥

'सौम्यलक्ष्मण ! मैं अनाथ हूँ । राज्यसे छट्ट हो गया हूँ । रावणने मेरा तिरस्कार किया है । मैं दीन हूँ । मेरा घर यहाँसे बहुत दूर है । मैं कामना लेकर यहाँ आया हूँ तथा सुग्रीव यह भी समझता है कि राम मेरी शरणमें आये हैं । इन्हीं सब कारणोंसे वानरीका राजा दुरात्म सुग्रीव मेरा तिरस्कार कर रहा है किन्तु उसे पता नहीं है कि मैं मया शत्रुओंको संताप देनेमें समर्थ हूँ ॥ ६७-६८ ॥

स काले परिसंस्थाय सीतायाः परिमार्गणे ।

कृतार्थः समर्थः कृता दुर्मतिर्नावबुध्यते ॥ ६९ ॥

'उसने सीताकी खोजके लिये समय निश्चित कर दिया

था; किन्तु उसका तो अब काम निकल गया है, इसीलिये वह दुर्बुद्ध वानर प्रतिज्ञा करके भी उसका कुछ ख्याल नहीं कर रहा है ॥ ६९ ॥

य किञ्चिन्मया प्रविश्य त्वं ब्रूहि वानरपुङ्गवम् ।

मूर्खं प्राण्यमुखे सक्तं सुग्रीवं वचनान्मय ॥ ७० ॥

'अतः लक्ष्मण ! तुम मेरी आज्ञासे किञ्चिन्मयापुरीमें जाओ और किञ्चिन्मया फँसे हुए मूर्ख वानराज सुग्रीवसे इस प्रकार कहो— ॥ ७० ॥

अर्थिनापुनपन्नानां पूर्वं चाप्युपकारिणाम् ।

आशां संश्रुत्य यो हन्ति स शोके पुरुषोत्तमः ॥ ७१ ॥

'जो बल-पराक्रमसे सम्पन्न तथा पहले ही उपकार करने-वाले कार्यार्थी पुरुषोंको प्रतिज्ञापूर्वक आशा देकर पीछे उसे गड़ देता है, वह हंसारके सभी पुरुषोंमें श्रेष्ठ है ॥ ७१ ॥

शुभं वा यदि वा पापं यो हि वाक्यमुदीरतिम् ।

सत्येन परिगृह्णाति स शौरः पुरुषोत्तमः ॥ ७२ ॥

'जो अपने मुखसे प्रतिज्ञाके रूपमें निकले हुए भले या बुरे सभी तरहके वचनोंको अवश्य पालनार्थ समझकर शत्रुकी शक्तिके उद्देश्यसे उनका पालन करता है, वह शौर सम्पन्न पुरुषोंमें श्रेष्ठ माना जाता है ॥ ७२ ॥

कृतार्था ह्यकृतार्थानां मित्राणां न भवन्ति ये ।

तान् भूतानपि कृष्यादाः कृतघ्नान् नोपभुङ्गते ॥ ७३ ॥

'जो अपना स्वार्थ सिद्ध हो जानपर, जिनके कार्य नहीं पूरे हुए हैं । इन मित्रोंका स्थापक नहीं मानता— उनके कार्यका सिद्ध करनेकी चेष्टा नहीं करते, उन कृतघ्न पुरुषोंके मानपर माताप्राप्त जन्तु भी उनका भोग नहीं खाते हैं ॥ ७३ ॥

नूनं काञ्चनपृष्ठस्य विकृष्टस्य मया रणे ।

द्रष्टुमिच्छसि चापस्य रूपं विद्युद्गणोपमम् ॥ ७४ ॥

'सुग्रीव ! निश्चय ही तुम युद्धमें मरदाए जाँचे गये मोनकी पीठकाल धनुषका कीचली हुई विजयद्रोह समान रूप देखना चाहते हो ॥ ७४ ॥

घोरे जगतलनिर्घोषे कुहस्य मय संयुगे ।

निर्घोषमिव वज्रस्य धुनः स्मश्रोतुमिच्छसि ॥ ७५ ॥

'संग्राममें कुपित होकर मेरे द्वारा खींची गयी प्रत्यक्षाकी धक्का-टक्का जो वज्रकी गड़गड़हटकी भी मग्न करके खाली है, अब फिर तुम्हें सुननेकी इच्छा हो रही है ॥ ७५ ॥

काम्यमेवंगानेऽप्यस्य परिजाने पराक्रमे ।

त्वत्सहायस्य मे वीर न चिन्ता स्यादृषात्मज ॥ ७६ ॥

'शौर राजकुमार ! सुग्रीवकी तुम-जैसा सहायकके साथ रहनेवाला मेरा पराक्रमकी जान हो चुका है, ऐसा दृष्टामें भी यदि उसे यह चिन्तक न हो कि वे बालीका भर्ता मुझ मार मराने हैं तो यह आश्चर्यकी ही बात है ॥ ७६ ॥

वदर्थमयमारम्भः कृतं धरपुरुजय ।

समर्थं नाभिजानानि कृतार्थः प्रवर्गेश्वरः ॥ ७७ ॥

'शत्रु-नगरीपर विजय पानेवाले लक्ष्मण ! जिसके लिये यह मित्रता आदिका सारा अभ्योजन किया गया, मोताकी राजाविषयक उस प्रतिज्ञाको इस समय खानखान सुग्रीव भूल गया है—उसे याद नहीं कर रहा है—अर्थात् उसका अपना काम सिद्ध हो चुका ॥ ७७ ॥

वर्षाः समयकालं तु प्रतिज्ञाय हरीश्वरः ।

व्यतीतांश्चतुरे मासान् विहरन् नावबुध्यते ॥ ७८ ॥

'सुग्रीवने यह प्रतिज्ञा की थी कि वर्षाका अन्त होत ही सीताकी खोज आरम्भ कर दी जायगी, किन्तु वह क्रीडा-विहारमें इतना लम्बय हो गया है कि इन बीते हुए आठ महिनोंका उसे कुछ पता ही नहीं है ॥ ७८ ॥

सामात्यपरिवत्कीडन् पानमेवोपसंवते ।

शोकदीनेषु नास्मासु सुग्रीवः कुम्भे दयाम् ॥ ७९ ॥

'सुग्रीव मन्त्रियो तथा परिजनोन्महित क्रोडाजनित आमाद-प्रमोदमें कैमकर विविध पेय पदार्थोंका ही सेवन कर रहा है। हमलोग शोकमें व्याकुल हो रहे हैं। तो भी वह हमपर दया नहीं करता है ॥ ७९ ॥

उच्यतां गच्छ सुग्रीवम्वया खीर महाबल ।

मम रोषस्य चतुर्यं ब्रूयाश्चैनमिदं वचः ॥ ८० ॥

महायन्त्री खीर लक्ष्मण ! तुम जाओ। सुग्रीवमें बात करो। मेरे रोषका जो स्वरूप है, वह उसे बताओ और मेरा यह संदेश भी कह सुनाओ ॥ ८० ॥

न स संकुचितः पन्था येन वाली हनो गतः ।

ममये तिष्ठ सुग्रीव मा वालिपथमन्वगाः ॥ ८१ ॥

सुग्रीव ! वाली मारा जाकर जिस रास्तेसे गया है, वह आगे भी थोड़ा नहीं हुआ है—इन्तद्वये तुम अपनी प्रतिज्ञाका डटे रहो। वालीके मार्गका अनुसरण न करो ॥ ८१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे त्रिंशः सर्गः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यभट्टायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें तीसरा सर्ग पूरा हुआ ॥ ३० ॥

एकत्रिंशः सर्गः

सुग्रीवपर लक्ष्मणका रोष, श्रीरामका उन्हें समझाना, लक्ष्मणका किष्किन्धाके द्वारपर जाकर अङ्गदको सुग्रीवके पास भेजना, खानखाना भय तथा प्रभु और प्रभावका सुग्रीवको कर्तव्यका उपदेश देना

स कापिनं दीनमदीनसत्त्वं

शोकाभिपन्नं समुदीर्णकोपम् ।

नरेन्द्रसुनुर्नरेवपुत्रं

रामानुजः पूर्वजमित्युवाच ॥ १ ॥

श्रीरामके छोटे भाई नरेन्द्रकुमार लक्ष्मणने उस समय सीताकी कामनासे युक्त, दुःस्वी, उदरहृदय, शोकग्रस्त तथा कड़े हुए रोषवाले ज्येष्ठ भ्राता महाराजपुत्र श्रीरामसे इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

एक एव रणे वाली शरेण निहतो मया ।

त्वां तु सत्पादतिक्रान्ते हनिष्यामि सखान्वयम् ॥ ८२ ॥

वाली तो रणक्षेत्रमें अकेला ही मेरे बाणसे मारा गया था, परन्तु यदि तुम सत्यसे विचलित हुए तो मैं तुम्हें खन्धु-बान्धवोंसहित कालके गालमें डाल दूँगा ॥ ८२ ॥

यदेवं विहिते कार्ये यद्वितं पुरुषवर्ध ।

तत् तद् ब्रूहि नरश्रेष्ठ त्वर कालव्यतिक्रमः ॥ ८३ ॥

'पुरुषप्रवर ! नरश्रेष्ठ लक्ष्मण ! जब इस तरह कार्य बिगाड़ने लगे, ऐसे अवसरपर और भी ज़े-जो बतें कहनी उचित हों—जिनके कहनेसे अपना हित होता हो, वे सब बातें कहना। जल्दी करो; क्योंकि कार्य आरम्भ करनेका समय बीता आ रहा है ॥

कुरुष्व सत्यं यम खानेश्वर

प्रतिश्रुतं धर्मपवेक्ष्य शाश्वतम् ।

मा वालिनं प्रेयगतो यमक्षये

त्वमद्य पश्येयंमं चोदितः शरैः ॥ ८४ ॥

'सुग्रीवसे कहो—'खानराज ! तुम सनातन धर्मपर दृष्टि रखकर अपनी की हुई प्रतिज्ञाको सत्य कर दिखाओ, अन्यथा ऐसा न हो कि तुम्हें आज ही मेरे बाणोंसे प्रेरित हो प्रतभावको प्राप्त होकर यमलोकमें वालोंका दर्शन करना पड़े ॥ ८४ ॥

स पूर्वजं तीव्रविवृद्धकोपं

लालप्यमानं प्रसमीक्ष्य दीनम् ।

चकार तीव्रां मतिमुग्रतेजा

हरीश्वरे मानववंशधर्षनः ॥ ८५ ॥

मानव-वंशको वृद्ध करनेवाले उग्र तेजस्वी लक्ष्मणने जब अपने बड़े भाईको दुःस्वी बड़ हुए तीव्र रोषमें युक्त तथा अधिक क्रोधित देखा मग खानराज सुग्रीवके प्रति कड़ीर भाव धागण कर लिया ॥ ८५ ॥

न खानरः स्थास्यति साधुवृत्ते

न मन्यते कर्मफलानुषङ्गान् ।

न भोक्ष्यते खानरराज्यलक्ष्मीं

तथा हि नातिक्रमतेऽस्य बुद्धिः ॥ २ ॥

आर्य ! सुग्रीव खानर है, वह श्रेष्ठ पुरुषोंके लिये उचित सदाचारपर स्थिर नहीं रह सकेगा। सुग्रीव इस बातको भी नहीं मानता है कि अधिको मारकी देकर श्रीरघुनाथजीके साथ मित्रता स्थापनरूप जो सन्-कर्म किया गया है, उसीके

फलसे मुझे निष्कण्टक राज्यभोग प्राप्त हुए हैं। अतः वह जानरोंकी राज्य-लक्ष्मीका भालन एवं उपभोग नहीं कर सकेगा; क्योंकि उसकी बुद्धि मिश्रधर्मके भालनके लिये अधिक आगे नहीं बढ़ रही है ॥ २ ॥

मतिक्षयाद् ग्राम्यसुखेषु सक्त-

स्तव प्रसादात् प्रतिकारबुद्धिः ।

हतोऽग्रजं पश्यतु वीरवालिने

न राज्यमेवं विगुणस्य देयम् ॥ ३ ॥

'सुग्रीवकी बुद्धि मारी गयी है, इसलिए वह विषयभोगोंमें आसक्त हो गया है। आपको कृपामें जो उसे राज्य आदिका लाभ हुआ है, उस उपकारका बदला चुकानकी उसकी नीयत नहीं है। अतः अब वह भी मारा जाकर अपने बड़े भाई वीरवर वालीका दर्शन को। ऐसे गुणहीन पुरुषका राज्य नहीं देना चाहिये ॥ ३ ॥

न मारये कोपमुदीर्णवेगं

निहन्ति सुग्रीवमसत्यमद्य ।

हरिप्रवीरैः सह वालिपुत्रो

नरेन्द्रपुत्रा विचर्य करोतु ॥ ४ ॥

'मेरे क्रोधका वेग बड़ा हुआ है। मैं इसे रोक नहीं सकता। असत्यवादी सुग्रीवकी आज ही मार डालता हूँ। अब वालिकुमार अद्भुत हो राजा होकर प्रधान जानर वीरोंके साथ राजकुमारों सीताकी खोज करें ॥ ४ ॥

तमात्तबाणासनमुत्पतन्तं

निवेदितार्थं रणजण्डकोपम् ।

उवाच रामः परवीरहन्ता

स्ववीक्षितं सानुनयं च वाक्यम् ॥ ५ ॥

यों कहकर लक्ष्मण धनुष-बाण हाथमें ले बड़े वेगसे चल पड़े। उन्होंने अपने जानेका प्रयोजन स्पष्ट शब्दोंमें निवेदन कर दिया था। सुद्धके लिये उनका प्रचण्ड कोप बड़ा हुआ था तथा वे क्या करने जा रहे हैं। इसपर उन्होंने अच्छी तरह विचार नहीं किया था। उस समय विपत्ती वीरोंका संहार करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीने उन्हें शान्त करनेके लिये यह अनुनययुक्त बात कही— ॥ ५ ॥

नहि वै त्वद्भिद्यो लोके पापमेवं समाचरेत् ।

कोपमार्येण यो हन्ति स वीरः पुरुषोत्तमः ॥ ६ ॥

'सुमित्रानन्दन! तुम-जैसे श्रेष्ठ पुरुषको संसारमें ऐसा (मिश्रधर्मरूप) निषिद्ध आचरण नहीं करना चाहिये। जो उत्तम विवेकके द्वारा अपने क्रोधको मार देता है, वह वीर समस्त पुरुषोंमें श्रेष्ठ है ॥ ६ ॥

नेदमत्र त्वया ग्राह्यं साधुवृत्तेन लक्ष्मण ।

तां प्रीतिपनुवर्तस्व पूर्ववृत्तं च संगतम् ॥ ७ ॥

लक्ष्मण! तुम सदाचारी हो। तुम्हें इस प्रकार सुग्रीवके मारनेका निश्चय नहीं करना चाहिये। उसके प्रति जो तुम्हारा

प्रेम था, उसका अनुसरण करो और उसके साथ पहले जे मित्रता की गयी है, उसे निवाहो ॥ ७ ॥

सामोपहितया वाचा रुक्षाणि परिकर्जयन् ।

वक्तुमर्हसि सुग्रीवं व्यतीतं कालपर्यये ॥ ८ ॥

'तुम्हें सान्त्वनापूर्ण वक्ताईकरा कटु वचनोंका परित्याग करते हुए सुग्रीवसे इतना ही कहना चाहिये कि तुमने सीताकी खोजके लिये जो समय निवृत किया था, वह बीत गया (फिर भी चुप क्यों बैठे हो) ॥ ८ ॥

सोऽग्रजेनानुशिष्टार्थो यथावत् पुरुषवर्षधः ।

प्रविवेश पुरीं वीरो लक्ष्मणः परवीरहा ॥ ९ ॥

अपने बड़े भाईके इस प्रकार यथोचित रूपमें समझाने-पर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले पुरुषप्रधर वीर लक्ष्मणम् किष्किन्धापुरीमें प्रवेश (कर्मका विचार) किया ॥ ९ ॥

ततः शुभमतिः प्राप्नो भ्रातुः प्रियहिते रतः ।

लक्ष्मणः प्रतिसंरब्धो जगाम भवनं कपेः ॥ १० ॥

भाईके प्रिय और हितमें तत्पर रहनेवाले शुभ बुद्धिसे युक्त बुद्धिमान् लक्ष्मण रोषमें भर हुए हाँ जानरराज सुग्रीवक भवनकी ओर चले ॥ १० ॥

शक्रबाणासनप्रस्थं धनुः कालान्मकोपमम् ।

प्रगृह्य गिरिशृङ्गाभं मन्दरः सानुमानिव ॥ ११ ॥

उस समय वे इन्द्रधनुषके समान तेजस्वी, काल और अन्तकके समान भयकर तथा पर्वत-शिखरके समान विशाल धनुषको हाथमें लेकर शृङ्गसहित मन्दराचलके समान जान पड़ते थे ॥ ११ ॥

यथोक्तकारी वचनमुत्तरं चैव सोत्तरम् ।

बृहस्पतिसमो बुद्ध्या मत्वा रामानुजस्तदा ॥ १२ ॥

श्रीरामके अनुज लक्ष्मण अपने बड़े भाईकी आज्ञाका यथोक्तरूपसे पालन करनेवाले तथा बृहस्पतिके समान बुद्धिमान् थे। वे सुग्रीवसे जो बात कहते, सुग्रीव ठसकर जो कुछ उत्तर देते और उम उत्तरका भी वे जो कुछ उत्तर देते, उन सबको अच्छी तरह समझ बूझकर वहाँसे प्रस्थित हुए थे ॥ १२ ॥

कामक्रोधसमुत्थेन भ्रातुः क्रोधाग्निना वृतः ।

प्रभञ्जन इवाग्नीतः प्रययौ लक्ष्मणस्ततः ॥ १३ ॥

सीताकी खोजविषयक जो श्रीरामकी कामना थी और सुग्रीवकी अस्मावधानोंके कारण उममें बाधा पड़नेसे जो उन्हें क्रोध हुआ था, उन दोनोंके कारण लक्ष्मणकी भी क्रोधाग्नि भड़क उठी थी। उस क्रोधाग्निसे घिरे हुए लक्ष्मण सुग्रीवके प्रति प्रसन्न नहीं थे। वे उसी अवस्थामें वायुक समान वेगसे चले ॥

साल्तालाश्वकर्णाश्च तरसा पातयन् बलात् ।

पर्यस्यन् गिरिकूटानि ह्यमानन्यांश्च वेगितः ॥ १४ ॥

उनका वेग ऐसा बड़ा हुआ था कि वे मार्गमें मिलनेवाले साल; ताल और अश्वकर्ण नामक वृक्षोंकी ठसी वेगसे बलपूर्वक गिराने तथा पर्वतशिखरों एवं अन्य वृक्षोंका

उठा-उठाकर दूर फेंकते जाते थे ॥ १४ ॥

शिलाश्च शकलीकुर्वन् पद्भ्यां गज इवाशुगः ।

दूरमेकपदे त्यक्त्वा ययौ कार्यवशाद् द्रुतम् ॥ १५ ॥

शौघगामौ हाथोंके समान अपने पैरोंकी ठोकस शिलाओंको चूर-चूर करत और लखो-लखी डंगे भरते हुए वे कार्यवश जड़ों तेजोंक साथ चले ॥ १५ ॥

नामपहसद् बलाकीर्णा हरिराजमहापुंगव ।

दुर्गामिक्ष्वाकुशार्दूल किष्किन्धां गिरिसंकटे ॥ १६ ॥

इक्ष्वाकुकुलक सिंह लक्ष्मणने निकट जाकर वानरराज सुग्रीवकी विशाल पुंगे किष्किन्धा देखी जो पहाड़क बीचम बसी हुई थी । वानरमेनासे व्याप्त होनेके कारण वह पुंगे दूसरोंके लिये दुर्गम थी ॥ १६ ॥

रोधात् प्रस्फुरमाणोष्ठः सुग्रीवं प्रति लक्ष्मणः ।

ददर्श वानरान् भीमान् किष्किन्धायां वहिश्चरान् ॥ १७ ॥

उस समय लक्ष्मणके ओष्ठ सुग्रीवक प्रति रोषसे फट्क रहे थे । उन्होंने किष्किन्धाके पास बहुतसे भयंकर वानरोंको देखा जो नगरक बाहर विचर रहे थे ॥ १७ ॥

तं दृष्ट्वा वानराः सर्वे लक्ष्मणं पुनर्वचसम् ।

शैलशृङ्गाणि क्षातशः प्रवृद्धांश्च महोरुहान् ।

सगुहः कुञ्जरप्रस्थो वानराः पर्वतान्तरे ॥ १८ ॥

उन वानरोंके शरीर हाथियोंके समान विशाल थे । उन समस्त वानरोंने पुरुषप्रवर लक्ष्मणको देखते ही पर्वतके अंदर विद्यमान सैकड़ों शैल-शृङ्गपर और बड़े-बड़े गुहा उठा लिये ।

तान् गृहीतप्रहरणान् सर्वान् दृष्ट्वा तु लक्ष्मणः ।

बभूव द्विगुणं क्रुद्धो बह्विन्धन इवानलः ॥ १९ ॥

उन सबको द्विधारा उठाते देख लक्ष्मण दूने क्रोधसे जल उठे, मानों जलनी आगमें बहुत सा मुक्का लकड़ियाँ डाल दी गयी हो ॥ १९ ॥

तं ते मयपरीतद्वा क्षुब्धं दृष्ट्वा प्रवंगमाः ।

कालमृत्युयुगान्तार्धं शतगो विवृता दिशः ॥ २० ॥

क्षुब्ध हुए लक्ष्मण काल, मृत्यु तथा प्रलयकालसे अधिक समान भयंकर दिखायी देने लगे । उन्हें देखकर उन वानरोंके शरीर भयसे कांपने लगे और वे सैकड़ोंकी श्रेण्यामें चारों दिशाओंमें भाग गये ॥ २० ॥

ततः सुग्रीवध्वनं प्रविश्य हरिपुंगवाः ।

क्रोधमागमनं चैव लक्ष्मणस्य न्यवेदयन् ॥ २१ ॥

तदनन्तर कई श्रेष्ठ वानरोंने सुग्रीवके महलमें जाकर लक्ष्मणके आगमन और क्रोधका समाचार निवेदन किया ॥

तारया सहितः कामी सक्तः कपिवृक्षस्तदा ।

न तेषां कपिसिंहानां शृङ्गाव वचनं तदा ॥ २२ ॥

उस समय कामके अधीन हुए वानरराज सुग्रीव भोगमत्त हो तारके साथ थे । इसलिये उन्होंने उन श्रेष्ठ वानरोंका खत नहीं सुनी ॥ २२ ॥

ततः सचिवसंदिष्टा हरयो रोमहर्षणाः ।

गिरिकुञ्जरमेघाभा नगरात्रिर्ययुस्तदा ॥ २३ ॥

तब सचिवकी आज्ञासे पर्वत, हाथी और मेघके सामन विशालकाय वानर जो रौंगटे खड़े कर देनेवाले थे, नगरसे बाहर निकले ॥ २३ ॥

नखदंष्ट्रायुधाः सर्वे वीरा विकृतदर्शनाः ।

सर्वे शार्दूलदंष्ट्राश्च सर्वे विकृतदर्शनाः ॥ २४ ॥

वे सब के-सब वीर थे । नख और दाँत ही उनके आयुध थे । वे बड़े विकराल दिखायी देते थे । उन सबकी दाढ़ें व्याघ्रोंकी दाढ़ोंके समान थी और सबके नेत्र खुले हुए थे (अथवा उन सबका वर्ण सफ़ेद दर्शन होता था—कोई छिपे नहीं थे) ॥ २४ ॥

दशनागबलाः केचित् केचिद् दशगुणोत्तराः ।

केचित्रागमहस्रस्य बभूवुमुन्यवर्धसः ॥ २५ ॥

किन्हींमें दस हाथियोंके बराबर बल था तो कोई सौ हाथियोंके समान बलशाली थे तथा किन्हीं-किन्हींका तेज (बल और पराक्रम) एक हजार हाथियोंके तुल्य था ॥ २५ ॥

ततस्तैः कपिधिर्व्याप्तो हुमहसैर्यहावलैः ।

अपश्यत्लक्ष्मणः क्रुद्ध किष्किन्धां तां दुरासदाम् ॥ २६ ॥

हाथमें बृक्ष लिये उन महवली वानरोंने व्याप्त हुई किष्किन्धापुंगे अत्यन्त दुर्जय दिखायी देती थी । लक्ष्मणने कृपित होकर उस पुंगेकी ओर देखा ॥ २६ ॥

ततस्ते हरयः सर्वे प्राकाशपरिव्रान्तरात् ।

निष्क्रम्योदग्रसत्त्वास्तु तस्थुराविष्कृतं तदा ॥ २७ ॥

तदनन्तर वे सभी महावली वानर पुंगेकी चहारदिशारी और खड़ेके भीतरसे निकलकर प्रकटरूपसे सामने आकर खड़े हो गये ॥ २७ ॥

सुग्रीवस्य प्रयादं च पूर्वजस्यार्धमात्मवान् ।

दृष्ट्वा क्रोधवशी वीरः पुनरेव जगाम सः ॥ २८ ॥

आत्मसयमी वीर लक्ष्मण सुग्रीवके प्रयाद तथा अपने बड़े भाइक महत्त्वपूर्ण कार्यपर दृष्टिपात करके पुन वानरराजके प्रति क्रोधके वशीभूत हो गये ॥ २८ ॥

स दीर्घाव्यामहोच्छ्वासः कोपसंरक्तलोचनः ।

बभूव नरशार्दूलः सधूम इव पावकः ॥ २९ ॥

वे अधिक श्वास और लंबी साँस सींचने लगे । उनके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये । उस समय पुरुषसिंह लक्ष्मण धूमयुक्त अग्निक समान प्रतीत हो रहे थे ॥ २९ ॥

वाणशल्यस्फुरज्जिह्वः साधकासनभोगवान् ।

स्वनेजोविषमम्भूतः पञ्चास्य इव पत्रगः ॥ ३० ॥

इतना ही नहीं, वे पाँच मुखवाले सर्पके समान दिखायी देने लगे । वाणकर फल ही उस सर्पकी लपलपाती हुई जिह्वा कम पड़ता था, धनुष ही उसका विशाल शरीर था तथा वे स्पर्शसे लक्ष्मण अपने तेजोमय विषसे व्याप्त हो रहे थे ।

तं दीप्तमिव कालाग्निं नागेन्द्रमिव कोपितम् ।

समासाद्याद्भुत्स्वासाद् विषादमगमत् परम् ॥ ३१ ॥

उस अवसरपर कुमार अद्भुत प्रज्वलित प्रत्याग्नितथा क्रोधमें भरे हुए नागराज शेषके भक्ति दृष्टिगोचर होनेवाले लक्ष्मणके पास डरते डरते गये। वे अत्यन्त विषादमें पड़ गये थे ॥ ३१ ॥

सोऽद्भुतं रोधनाप्राक्षः संदिदेश महायशः ।

सुग्रीवः कथ्यतां वत्स समागमनमित्युत ॥ ३२ ॥

एष रामानुजः प्राप्तस्त्वत्सकाशमरिदम् ।

भ्रातुर्व्यसनसंतप्तो द्वारि निष्ठति लक्ष्मणः ॥ ३३ ॥

तस्य वाक्यं यदि रुचिः क्रियतां सायु वानरः ।

इत्युक्त्वा शीघ्रमागच्छ वत्स वाक्यमरिदम् ॥ ३४ ॥

महायशस्वी लक्ष्मणने क्रोधसे लाल आँखें करके अद्भुतकी आँश दिया—'बेटा! सुग्रीवकी मेरे आँखों सूखना हो। उनसे कहना—'शत्रुदमन श्री श्रीरामचन्द्रजीके छोटे भाई लक्ष्मण अपने भ्राताके दुःखमें दुःखी होकर आपके पास आये हैं और नगर-द्वारपर खड़े हैं। वानरराज यदि आपकी इच्छा हो तो उनकी आज्ञाकर अच्छी तरह पालन कीजिये। शत्रुदमन वत्स अद्भुत। वत्स इतना ही कहकर तुम शीघ्र मेरे पास लौट आओ' ॥ ३२—३४ ॥

लक्ष्मणस्य वचः श्रुत्वा शोकाविष्टोऽद्भुतोऽग्रवीत् ।

पितुः समीपमागत्य सीमित्रिरथमागतः ॥ ३५ ॥

लक्ष्मणकी बात सुनकर शोकाकुल अद्भुतने पिता सुग्रीवके समीप आकर कहा—'तात! वे सुमित्रानन्दन लक्ष्मण यहाँ पधारे हैं ॥ ३५ ॥

अथाद्भुतस्तस्य सुतीव्रवाचा

सम्भ्रान्तभावः परिदीनवक्त्राः ।

निर्गत्य धूर्तं नृपतेस्तस्वी

ततो रुमायाश्चरणौ ववन्दे ॥ ३६ ॥

(अब इसी बातको कुछ विस्तारक साथ कहते हैं—)

लक्ष्मणकी कड़ार वाणीसे अद्भुतके मनमें बड़ी प्रवगाहट हुई उनके मुखपर अत्यन्त दीनता छा गयी। उन वेंगशाली कुमारने वहाँमें निकलकर पहले वानरराज सुग्रीवके फिर तथा रुमाके चरणोंमें प्रणाम किया ॥ ३६ ॥

संगृह्य पादौ पितुरुग्रनेजा

जग्राह मातुः पुनरेव पादौ ।

पादौ रुमायाश्च निपीडयित्वा

निवेदयामास ततस्तदर्थम् ॥ ३७ ॥

उग्र तेजवाले अद्भुतने पहले तो पितृके दोनों पैर पकड़े फिर अपनी माता कराके दोनों चरणोंमें स्पर्श किया। तदनन्तर रुमाके दोनों पैर दबाये। इसके बाद पूर्वोक्त बात कही ॥ ३७ ॥

स निद्राक्लान्तसंवीतो वानरो न विबुद्धवान् ।

बभूव मदपन्नश्च मदनेन च मोहितः ॥ ३८ ॥

किन्तु सुग्रीव मदमत्त एवं काममें मोहित होकर पड़े थे। निद्रामें उनके ऊपर पूरा अधिकार जमा लिया था। इसलिये वे जाग न सक ॥ ३८ ॥

ततः किलकिल्लं चकुर्लक्ष्मणं प्रेक्ष्य वानराः ।

प्रसादयन्तस्तं कुन्दं भयमोहितचेतसः ॥ ३९ ॥

इतनेमें बाहर क्रोधमें भरे हुए लक्ष्मणको देखकर भयसे मोहितचित्त हुए वानर उन्हें प्रसन्न करनेके लिये दीनतासूचक वाणीमें किलकिल्लाने लगे ॥ ३९ ॥

ते महीधनिधं दृष्ट्वा चक्राशनिसमस्वनम् ।

सिंहनादं समं चकुर्लक्ष्मणस्य समीपतः ॥ ४० ॥

लक्ष्मणपर दृष्टि पड़ते ही उन वानरोंने सुग्रीवके निकटवर्ती स्थानमें एक साथ ही महान् जलप्रवाह तथा यज्ञकी गड़गड़ाहटके समान जोर-जोरसे सिंहनाद किया (जिससे सुग्रीव जाग उठे) ॥ ४० ॥

तेन शब्देन महता प्रत्यबुध्यत वानरः ।

मदविह्वलताप्राक्षो व्याकुलः स्रग्विभूषणः ॥ ४१ ॥

वानरोंकी उस भयंकर गजनास कपिराज सुग्रीवकी नोंद खुल गयी उस समय उनके नेत्र पदमें चञ्चल और लाल हो रहे थे। मन भी स्वस्थ नहीं था। उनके गलेमें सुन्दर पुष्पमाला शोभा दे रही थी ॥ ४१ ॥

अथाद्भुतवचः श्रुत्वा तेनैव च समागतौ ।

मन्त्रिणौ वानरेन्द्रस्य सम्मतोदारदर्शनौ ॥ ४२ ॥

प्रक्षश्चैव प्रभावश्च मन्त्रिणावर्थधर्मयोः ।

वक्तुमुद्यावथं प्राप्ते लक्ष्मणं तौ शशंसतुः ॥ ४३ ॥

अद्भुतकी पूर्वोक्त बात सुनकर उन्तकि साथ आये हुए श्री मन्त्री प्रक्ष और प्रभावने भी जो वानरराजके सम्मानपात्र और उदार दृष्टिवाले थे तथा राजाकी अर्थ और धर्मके विषयमें ऊँच नीच समझानेके लिये नियुक्त थे, लक्ष्मणके आगमनकी सूचना दी ॥ ४२-४३ ॥

प्रसादयित्वा सुग्रीवं वचनैः सार्थनिश्चितैः ।

आसीनं पर्युपासीनीं यथा शक्तं मस्त्यतिम् ॥ ४४ ॥

सत्यसंधौ महाभागौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।

धनुष्यभावं सम्प्राप्तौ राज्याहौ राज्यदायिनी ॥ ४५ ॥

राजाके निकट खड़े हुए उन दोनों मन्त्रियोंने देवराज इन्द्रके समान बैठे हुए सुग्रीवको खूब सोच-विचार कर निश्चित किया हुए सार्थक वचनोंद्वारा प्रसन्न किया और इस प्रकार कहा—'राजन्! महाभाग श्रीराम और लक्ष्मण—दोनों भाई सत्यप्रतिज्ञ हैं। (वे वाम्बुधर्म पगवत्स्वरूप हैं) उन्होंने स्वच्छासे धनुष्य-शरीर धारण किया है। वे दोनों समयसम त्रिकोकीकृत राज्य चत्त्रनेक योग्य हैं। वे ही आपके राज्यदाता हैं ॥ ४४-४५ ॥

तयोरेको धनुष्याणिद्वारि निष्ठति लक्ष्मणः ।

यस्य भ्राता प्रवेपन्तो नन्दान् मुञ्चन्ति वानराः ॥ ४६ ॥

‘उनमेंसे एक बार लक्ष्मण हाथमें धनुष लिये किष्किन्धाके दरवाजेपर खड़े हैं जिनके भयसे कर्पते हुए खानर जंग-जंग से चीख रहे हैं ॥ ४६ ॥

स एष राघवभ्राता लक्ष्मणो वाक्यसारथिः ।

व्यवसायरथः प्राप्तस्तस्य राघव्य शासनान् ॥ ४७ ॥

‘श्रीराघवका आदेशवाक्य ही जिनका सारथि और कर्तव्यका निश्चय ही जिनका रथ है, वे लक्ष्मण श्रीराघवको आज्ञामें यहाँ पधारें हैं ॥ ४७ ॥

अथ च तनयो राजंस्ताराया दयितोऽङ्गदः ।

लक्ष्मणेन सकाशं ते प्रेषितस्त्वययानघ ॥ ४८ ॥

‘राजन् ! निष्पाप खानरराज ! लक्ष्मणने तारादेवोंके पुत्र प्रिय पुत्र अङ्गदको आपके निकट बड़ी उतावलोंके साथ भेजा है ॥

सोऽयं रोषपरीताक्षो द्वारि निष्ठति सीयंवान् ।

खानरान् खानरपते चक्षुषा निर्दहन्निव ॥ ४९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायण खाल्मोकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे एकत्रिंशः सर्गः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीखाल्मोकिनिर्मित आश्वमेधायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें इकतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशः सर्गः

हनुमान्जीका चिन्तित हुए सुग्रीवको समझाना

अङ्गदस्य वचः श्रुत्वा सुग्रीवः सचिर्यः सह ।

लक्ष्मणं कुपितं श्रुत्वा मुमोक्षासनमान्मथान् ॥ १ ॥

मन्त्रियोंसहित अङ्गदका वचन सुनकर और लक्ष्मणके कुपित होनका समाचार पाकर मनको बरसमें रखनखाले सुग्रीव आसन छोड़कर खड़े हो गये ॥ १ ॥

स च तानब्रवीद् वाक्यं निश्चित्य गुरुलाघवम् ।

मन्त्रज्ञान् मन्त्रकुशलो मन्त्रेषु परिनिष्ठिनः ॥ २ ॥

वे मन्त्रज्ञ (कर्तव्यविषयक विचार) के परिनिष्ठित विद्वान् जिनके कारण मन्त्रप्रयोगमें अन्यन्त कुशल थे, उनके श्रीरामचन्द्रजीको भदना और अपना लघुताका विचार ब्र-क मन्त्रज्ञ मन्त्रियोंसे कहा ॥ २ ॥

न मे दुर्धर्माहं किंचिन्नापि मे दुरनुष्ठितम् ।

लक्ष्मणो राघवभ्राता क्रुद्धः किमिति चिन्तये ॥ ३ ॥

‘मैंने न तो कोई अनुष्ठित काम मुझमें निकाली है और न कोई बुरा काम ही किया है। फिर श्रीगुणनाथजीके भ्राता लक्ष्मण मुझपर कुपित क्यों हुए हैं ? इस खानपर में बान्धव विचार करना है ॥ ३ ॥

असुहृद्भिर्ममामिश्रीर्नित्यमन्तरदर्शिभिः ।

मम दोषानसम्भूताञ्चात्रिनो राघवानुजः ॥ ४ ॥

‘जो सदा मेरे छिद्र देखनखाले हैं तथा जिनका हृदय मेरे प्रति क्रुद्ध नहीं है, उन शत्रुओंने निश्चय ही श्रीगणेशजीके छोटे भाई लक्ष्मणसे मेरे ऐसे दोष सुनाये हैं जो मेरे धोतर कभी प्रकट नहीं हुए थे ॥ ४ ॥

‘खानपते ! पराक्रमी लक्ष्मण क्रोधसे लाल आँखें किये नगरद्वारपर उपस्थित हैं और खानरोकी ओर इस तरह देख रहे हैं, मानो वे अपनी नेत्राग्निसे उन्हें दग्ध कर डालेंगे ॥ ४९ ॥

तस्य भूर्धा प्रणामं त्वं सपुत्रः सहबान्धवः ।

गच्छ शीघ्रं महाराज रोषो ह्यद्योपशम्यताम् ॥ ५० ॥

‘महाराज ! आप शीघ्र चले तथा पुत्र और बन्धु-बान्धवोंके साथ उनका रागणोंमें ममक नवावे और इस प्रकार आज उनका रोष शान्त करें ॥ ५० ॥

यथा हि रामो धर्मात्मा तत्कुरुषु समारहितः ।

राजंस्तिष्ठ स्वमपये भव सत्यप्रतिश्रवः ॥ ५१ ॥

‘राजन् ! धर्मात्मा श्रीगणेश जीसा कहते हैं, साधधामीके साथ हमका पालन काँजिये। आप अपनी ही हुई बातपर अटल रहिये और सत्यप्रतिज्ञ बिनिये ॥ ५१ ॥

अत्र तावद् यथानुद्धिः सर्वैरिव यथाविधि ।

भावस्य निश्चयस्तावद् विज्ञेयो निपुणं शनैः ॥ ५ ॥

‘लक्ष्मणके कोपके विषयमें पहले तुम सब लोगोको धीरे-धीरे कुशलतापूर्वक उनके मनोभावका विधिवत् निश्चय कर लेना चाहिये, जिसमें उनके कोपके कारणका यथार्थ रूपमें ज्ञान हो जाय ॥ ५ ॥

न खल्वस्मि मम त्रासोलक्ष्मणाभ्रापि राघवात् ।

मित्रं स्वस्थानकुपितं जनयत्येव सम्भ्रमम् ॥ ६ ॥

‘अवश्य ही मुझे लक्ष्मणसे तथा श्रीगुणनाथजीसे कोई भय नहीं है तथापि बिना अपराधक कुपित हुआ मित्र हृदयमें घबराव उत्पन्न कर ही देता है ॥ ६ ॥

सर्वथा सुकरं मित्रं दुष्करं प्रतिपालनम् ।

अनित्यत्वान् तु चिन्तानां प्रातिगल्भेऽभिद्यते ॥ ७ ॥

‘किसीको मित्र बना लेना सर्वथा सुकर है, परन्तु उस मैत्राँको पालना या निपाना बहुत ही कठिन है, क्योंकि मनका भाव सदा एक-सा नहीं रहता। किसीके द्वारा धोड़ी-सो भी चुगली कर दी जानेपर प्रेममें अनार आ जाता है ॥ ७ ॥

अतोनिमित्तं ब्रह्मोऽहं रामेण तु महात्मना ।

यन्ममोपकृतं शक्यं प्रतिकर्तुं न सम्पया ॥ ८ ॥

‘इसी कारण मैं और भी डर गया हूँ, क्योंकि महात्मा श्रीगणेशसे मेरा जो उपकार किया है, उसका बदला चुकानेका मुझमें शक्ति नहीं है ॥ ८ ॥

सुग्रीवेणैवमुक्ते तु हनुमान् हरिपुंगवः ।

उवाच स्वेन तर्केण मध्ये वानरमन्त्रिणाम् ॥ ९ ॥

सुग्रीवके ऐसा कहनेपर वानरोंमें श्रेष्ठ हनुमान्जी अपनी युक्तिका सहारा लेकर वानरमन्त्रियोंके बीचमें बोले— ॥ ९ ॥

सर्वथा नैतदाश्रयं धत् त्वं हरिगणेश्वर ।

न विस्मरसि सुस्त्रिंशमुपकारं कृते शुभम् ॥ १० ॥

‘कपिराज ! मित्रके द्वारा अत्यन्त खेदपूर्वक किये गये उत्तम उपकारको जो आप भूल नहीं रहे हैं, इसमें सर्वथा कोई आश्रयकी बात नहीं है (क्योंकि अच्छे पुरुषोंका ऐसा स्वभाव ही होता है) ॥ १० ॥

राघवेण तु वीरेण भयमुत्सृज्य दूरतः ।

त्वत्प्रियार्थं हतो वाली शक्तुल्यपराक्रमः ॥ ११ ॥

सर्वथा प्रणयात् कुब्जो राघवो नात्र संशयः ।

भ्रातरं सम्प्रहितवालिलक्ष्मणं लक्ष्मिवर्धनम् ॥ १२ ॥

‘वीरवर श्रीरघुनाथजीने तो लोकापवादके भयको दूर हटाकर आपका प्रिय करनेके लिये इन्द्रतुल्य पराक्रमी वालीका वध किया है, अतः वे नि संदेह आपपर कुपित नहीं हैं । श्रीरामचन्द्रजीने शोभा-सम्पन्निकी कृद्धि करनेवाले अपने भाई लक्ष्मणको जो आपके पास भेजा है इसमें सर्वथा आपके प्रति उनका प्रेम ही कारण है ॥ ११-१२ ॥

त्वं प्रमत्तो न जानीषे कालं कालविदां वर ।

फुल्लसप्तच्छदश्यामा प्रवृत्ता तु शरच्छुभा ॥ १३ ॥

‘समयका ज्ञान रखनेवालोंमें श्रेष्ठ कपिराज ! आपने सीताकी खोज करनेके लिये जो समय निश्चित किया था उसे आप इन दिनों प्रमादमें पड़ जानेके कारण भूल गये हैं । देखिये न, यह सुन्दर शरद-ऋतु आरम्भ हो गयी है जो खिले हुए छितवनके फूलोंमें श्यामवर्णकी प्रतीति होती है ।

निर्मलग्रहनक्षत्रा ह्यौः प्रणष्टबलाहका ।

प्रसन्नाश्च दिशः सर्वाः सरितश्च सरांसि च ॥ १४ ॥

‘आकाशमें अब बादल नहीं रहे । ग्रह, नक्षत्र निर्मल दिशायाँ देते हैं । सम्पूर्ण दिशाओंमें प्रकाश छा गया है तथा नदियों और सराओंके जल पूर्णतः स्वच्छ हो गये हैं ॥ १४ ॥

प्राप्तमुद्योगकालं तु नार्यपि हरिपुंगव ।

त्वं प्रपन्न इति व्यक्तं लक्ष्मणोऽयमिहागतः ॥ १५ ॥

‘वानरराज ! राजाओके लिये विजय-यात्राकी तैयारी करनेका समय आ गया है, किन्तु आपको कुछ पता ही नहीं है । इसमें स्पष्ट प्रतीति होता है कि आप प्रमादमें पड़ गये हैं । इसीलिये लक्ष्मण यहाँ आये हैं ॥ १५ ॥

आर्तस्य हृतदारस्य परुषं पुरुषान्तरात् ।

वचनं वर्धणीयं ते राघवस्य महात्मनः ॥ १६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किञ्चिन्धाकाण्डे द्वात्रिंशः सर्गः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके किञ्चिन्धाकाण्डमें कृतोसर्वां सर्ग पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

‘महात्मा श्रीरामचन्द्रजीकी पत्नीका अपहरण हुआ है, इसलिये वे बहुत दुःखी हैं । अतः यदि लक्ष्मणके मुखसे उनका कठोर वचन भी सुनना पड़े तो आपको चुपचाप सह लेना चाहिये ॥ १६ ॥

कृतापराधस्य हि ते नान्यत् पश्याम्यहं क्षमम् ।

अन्नरेणाञ्जलिं बद्ध्वा लक्ष्मणस्य प्रसादनात् ॥ १७ ॥

‘आपकी ओरसे अपराध हुआ है । अतः हाथ जोड़कर लक्ष्मणको प्रसन्न करनेके सिवा आपके लिये और कोई उचित कर्तव्य मैं नहीं देखता ॥ १७ ॥

नियुक्तैर्मन्त्रिभिर्वाच्यो ह्यवश्यं पार्थिवो हितम् ।

इत एव भयं त्यक्त्वा प्रवीम्यध्वनं वचः ॥ १८ ॥

‘राज्यकी भलाईके कामपर नियुक्त हुए मन्त्रियोंका यह कर्तव्य है कि राजाको उसके हितकी बात अवश्य बतावे । अतएव मैं भय छोड़कर अपना निश्चित विचार बतला रहा हूँ ॥ १८ ॥

अभिकुब्जः समर्थो हि चापमुद्यम्य राघवः ।

सदेवासुरगन्धर्वं वशं स्थापयितुं जगत् ॥ १९ ॥

‘भगवान् श्रीराम यदि क्रोध करके धनुष हाथमें ले लें तो देवता-असुर गन्धर्वोंसहित सम्पूर्ण जगत्को अपने वशमें कर सकने हैं ॥ १९ ॥

न स क्षमः कोपयितुं यः प्रसाद्यः पुनर्भवेत् ।

पूर्वापकारं स्मरता कृतज्ञेन विशेषतः ॥ २० ॥

‘जिन पाछे हाथ जोड़कर मनाना पड़े, ऐसे पुरुषको क्रोध दिलाना कदापि उचित नहीं है । विशेषतः वह पुरुष जो मित्रके किये हुए पारले उपकारको याद रखता हो और कृतज्ञ हो, इस बातका अधिक ध्यान रखे ॥ २० ॥

तस्य भूर्मा प्रणम्य त्वं सपुत्रः ससुहजनः ।

राजंस्तिष्ठ स्वसमये धर्तुर्भार्येव सदृशे ॥ २१ ॥

‘राजन् इसलिये आप पुत्र और मित्रोंके साथ मस्तक झुकाकर उन्हे प्रणाम कीजिये और अपनी प्रतिज्ञापर अटल रहिये । जैसे पत्नी अपने पतिके वशमें रहती है, उसी प्रकार आप सदा श्रीरामचन्द्रजीके अधीन रहिये ॥ २१ ॥

न रामरामानुजशासनं स्वया

कपीन्द्रयुक्तं मनसाप्यपोहितम् ।

मनो हि ते ज्ञास्यति मानुषं बलं

सराधवस्यास्य सुरेन्द्रवर्चसः ॥ २२ ॥

‘वानरराज ! श्रीराम और लक्ष्मणके आदेशकी आपको मनसे भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये । देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी लक्ष्मणसहित श्रीरघुनाथजीके अलौकिक बलका ज्ञान तो आपके मनमें है ही ॥ २२ ॥

त्रयस्त्रिंशः सर्गः

लक्ष्मणका किष्किन्धापुरीकी शोभा देखने हुए सुग्रीवके महलमें प्रवेश करके क्रोधपूर्वक धनुषको टंकारना, भयभीत सुग्रीवका ताराको उन्हें शान्त करनेके लिये भेजना तथा ताराका समझा-बुझाकर उन्हें अन्तःपुरमें ले आना

अथ प्रतिसमादिष्टो लक्ष्मणः पर्वतराज ।

प्रविवेश गुहां रम्यो किष्किन्धां रामशामनाम् ॥ १ ॥

इधर गुफामें प्रवेश करनेके लिये अङ्गदके प्रार्थना करनेपर शत्रुवरोका संहार करनेवाले लक्ष्मणने श्रीरामको आज्ञाके अनुसार किष्किन्धानामक रमणीय गुफामें प्रवेश किया ॥ १ ॥

शारस्था हरयस्तत्र महाकाया महाबलाः ।

बभूवुर्लक्ष्मणं दृष्ट्वा सर्वे प्राञ्जलयः स्थिताः ॥ २ ॥

किष्किन्धाके द्वारपर जो विशाल शरीरवाले महाबली वानर थे, वे सब लक्ष्मणको देख हाथ जोड़कर सड़के हो गये ॥ २ ॥

निःशसन्तं तु ते दृष्ट्वा कृच्छं दशरथात्पजम् ।

बभूवुर्हृदयस्तत्र न खनं पर्यवारयन् ॥ ३ ॥

दशरथनन्दन लक्ष्मणको क्रोधपूर्वक लंबो लाम खींचने देख वे सब वानर अत्यन्त भयभीत हो गये थे । इमलिये वे उन्हें चारों ओरमें घेरकर उनके साथ-साथ नहीं चल सके ॥

स तां रत्नमयीं दिव्यो र्ध्वापान् पुष्पिनकाननाम् ।

रम्यां रत्नसमाकीर्णां ददर्श पहनीं गुह्याम् ॥ ४ ॥

श्रामान् लक्ष्मणने द्वारके भीतर प्रवेश करके देख किष्किन्धापुरी एक बहुत बड़ी रमणीय गुफाके रूपमें घनी हुई है । वह रमणीय पुर नामा प्रकारक रत्नोंमें भरी-पूरी ऐन्द्र-कारण दिव्य शोभासे सम्पन्न है । वहाँकि वन-उपवन फूलोंसे सुशोभित दिग्बायो दिये ॥ ४ ॥

हर्म्यप्रासादसम्प्राधां वानरलोपशोभिताम् ।

सर्वकामफलैर्वृक्षैः पुष्पिर्नरुपशोभिताम् ॥ ५ ॥

हर्म्या (घनियकी अङ्गुलिकाओं) तथा प्रासादों (देवमन्दिरों और राजभवनों) से वह पुरी अत्यन्त घनी दिग्बायो देती थी । वहाँ प्रकारके रत्न वृक्षोंकी शोभा बढ़ाने थे । सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्ण करनेवाले फलोंसे युक्त खिले हुए वृक्षोंसे वह पुरी सुशोभित थी ॥ ५ ॥

देवगन्धर्वपुत्रैश्च वानरैः कामरूपिभिः ।

दिव्यमाल्याम्बरधरैः शोभिती प्रियदर्शकैः ॥ ६ ॥

वहाँ दिव्य माला और दिव्य वस्त्र धारण करनेवाले वन्य सुन्दर वानर, जो देवताओं और गन्धर्वकि पुत्र तथा इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले थे, निवास करने हुए उस नगरीकी शोभा बढ़ाने थे ॥ ६ ॥

चन्दनागुण्डधानां गर्भैः सुरभिगन्धिनाम् ।

भैरवाणां मधूनां च सम्प्रादितमहापथाम् ॥ ७ ॥

वहाँ चन्दन, आम्र और कमलोंकी मनोहर गुण्ड छा रहें थीं । उस पुरीके लंबों-चौडों सड़के भी भैरव तथा मधुक

आम्रदमें पटक रही थीं ॥ ७ ॥

विश्वमेरुगिरिप्रख्यः प्रासादैर्नकभूमिभिः ।

ददर्श गिरिनद्यश्च विमलाम्बुज राघवः ॥ ८ ॥

उस पुरीमें विश्वमेरु तथा मेरुके समान ऊँचे ऊँचे महल बने थे, जो कई मंजलके थे । लक्ष्मणने उस गुफाके निकट ही निर्मल जलसे भरी हुई पहाड़ों नदियाँ देखीं ॥ ८ ॥

अङ्गदस्य गृहं रम्यं रघुस्य द्विविदस्य च ।

गवयस्य गवाक्षस्य गजस्य शरभस्य च ॥ ९ ॥

विद्युन्मालेश्च सम्पातैः सूर्याक्षस्य हनुमतः ।

वीरबाहोः सुबाहोश्च नलस्य च महात्मनः ॥ १० ॥

कुमुदस्य सुपेणस्य तारजाध्वजोस्तथा ।

दधिवक्त्रस्य नीलस्य सुपाटलसुनेत्रयोः ॥ ११ ॥

एतेषां काचिपुण्यानां राजमार्गे महत्पथनाम् ।

ददर्श गृहपुराणानि भद्रासाराणि लक्ष्मणः ॥ १२ ॥

उन्हीं राजमार्गपर अङ्गदका रमणीय भवन देखा । साथ ही वहाँ नन्द द्विविद गवय गवाक्ष गज शरभ विद्युन्माली, सम्पाति, सूर्याक्ष, हनुमान्, वीरबाहु, सुबाहु, महात्मा नल, कुमुद सुपेण तार जाम्बवान्, दधिवक्त्र नाम सुपाटल और सुनेत्र — इन महात्मनों के आनन्दशामणियोंके भी अत्यन्त सुन्दर श्रेष्ठ भवन लक्ष्मणकी दृष्टिगोचर हुए । वे सब-के-सब राजमार्गपर ही बने हुए थे ॥ ९—१२ ॥

पाण्डुराभप्रकाशानि गन्धमाल्ययुतानि च ।

प्रभूतधनधान्यानि स्त्रीरत्नैः शोभितानि च ॥ १३ ॥

वे सभी भवन क्षेत्र बाटलोक समान प्रकाशित हो रहे थे । उन्हे सुगन्धित पुष्पमालाओंसे सजाया गया था । वे प्रभु धन-धान्यसे सम्पन्न तथा रत्नस्वरूपा रमणियोंसे सुशोभित थे ।

पाण्डुरेण तु ईलेन परिक्षिप्ते दुरासदम् ।

वानरेन्द्रगृहं रम्यं महेन्द्रसदसोपमम् ॥ १४ ॥

वानरराज सुशोभक सुन्दर भवन इन्द्रसदनके समान रमणीय दिग्बायो देता था । उसमें प्रवेश करना किताक लिये भी अत्यन्त कठिन था । वह क्षेत्र पर्वतको संहारदीवारीसे घिरा हुआ था ।

शुक्रः प्रासादशिखरैः कैलासशिखरोपमैः ।

सर्वकामफलैर्वृक्षैः पुष्पिर्नरुपशोभिताम् ॥ १५ ॥

कैलास-शिखरके समान छत प्रासाद-शिखर तथा समस्त मनोरथोंका पूर्ण करनेवाले फलोंसे युक्त पुष्पित दिव्य वृक्ष उस राजभवनकी शोभा बढ़ाते थे ॥ १५ ॥

महेन्द्रदत्तः श्रीमद्भिनीलजीमूतसंनिभैः ।

दिव्यपुष्पफलैर्वृक्षैः शीतच्छायैर्मनोरमैः ॥ १६ ॥

वहाँ इन्द्रकं दिये हुए दिव्य फल-फूलोंसे सम्पन्न मनोरम वृक्ष लगाये गये थे, जो परम सुन्दर, नौले मेघकं समान श्याम तथा शीतल छायासे युक्त थे ॥ १६ ॥

हरिभिः संवृण्णहारं बलिभिः शस्त्रपाणिभिः ।

दिव्यमाल्यावृतं शुभ्रं तप्तकाञ्चनतोरणम् ॥ १७ ॥

अनेक बलवान् वानर हथोंमें हथियार लिये उसकी ड्योढ़ीपर पहरा दे रहे थे । वह सुन्दर मङ्गल दिव्य मालाओंसे अलंकृत था और उसका बाहरी फाटक पके सोनेका बना हुआ था ॥ १७ ॥

सुग्रीवस्य गृहं रम्यं प्रविवेश महाबलः ।

अवार्यमाणः सौमित्रिर्महाभ्रमिव चास्करः ॥ १८ ॥

महाबली सुमित्राकुमार लक्ष्मणने सुग्रीवके उस रमणीय भवनमें प्रवेश किया । मानों सूर्यदेव महान् मेघके भीतर प्रविष्ट हुए हो । उस समय किसीने रोक टोक नहीं की ॥ १८ ॥

स सप्त कक्ष्या धर्मात्मा धानासनसमावृताः ।

ददर्श सुमहद्गुप्तं ददर्शान्तःपुरं महत् ॥ १९ ॥

धर्मात्मा लक्ष्मणने सवारियों तथा विविध आसनोंसे सुशोभित उस भवनकी सात ड्योढ़ीयाँको पार करके बहुत ही गुप्त और विशाल अन्तःपुरके देखा ॥ १९ ॥

हैमराजतपर्यङ्कैर्बहुभिश्च वरासनैः ।

महार्हास्तरणोपेतैस्तत्र तत्र समावृतम् ॥ २० ॥

उसमें जहाँ-तहाँ चौड़ी और सोनेके बहुत-से पलंग तथा अनेकानेक श्रेष्ठ आसन रखे हुए थे और उन सबपर बहुमूल्य बिछौने बिछे थे । उन सबमें वह अन्तःपुर सुसज्जित दिखायी देता था ॥ २० ॥

प्रविशन्नेव सततं शृण्वन् मधुरस्वनम् ।

तन्त्रीगीतसमाकीर्णं सधत्ताल्पदाक्षरम् ॥ २१ ॥

उसमें प्रवेश करते ही लक्ष्मणके कानोंमें संगीतकी मीठी तान सुनायी पड़ी, जो वहाँ निरन्तर गूँज रही थी । कीणाक लयपर कोई कोमल कण्ठमें गा रहा था । प्रत्येक पद और अक्षरका उच्चारण सम^१ तालका प्रदर्शन करते हुए हो रहा था ॥ २१ ॥

बह्वीश्च विविधाकारा रूपयीवनगर्विताः ।

स्त्रियः सुग्रीवभक्त्यै ददर्श स महाबलः ॥ २२ ॥

महाबली लक्ष्मणने सुग्रीवके उस अन्तःपुरमें अनेक रूपरंगकी बहुत-सी सुन्दरी स्त्रियाँ देखीं, जो रूप और जीवनके गर्वसे भरी हुई थीं ॥ २२ ॥

दृष्ट्वाभिजनसम्पन्नास्तत्र माल्यकृतस्नजः ।

वरमाल्यकृतव्यग्रा भूषणोलमभूयिताः ॥ २३ ॥

नतृप्तान् नाति चाव्यग्रान् नानुदात्तपरिच्छिदान् ।

सुग्रीवानुधरांश्चापि लक्ष्यामास लक्ष्मणः ॥ २४ ॥

वे सब-करी-सब उत्तम कुलमें उत्पन्न हुई थीं, फूलोंके गजोंसे अलंकृत थीं, उनमें पुष्पहारोंके निर्माणमें लगी हुई थीं और सुन्दर आभूषणोंमें विभूषित थीं । उन सबको देखकर लक्ष्मणने सुग्रीवके सेवकोंपर भी दृष्टिपात किया, जो अतृप्त या असंतुष्ट नहीं थे । स्वामीके कार्य सिद्ध करनेके लिये अत्यन्त फुलोंकी भी उनमें कमी नहीं थी तथा उनके वस्त्र और आभूषण भी निम्न श्रेणीके नहीं थे ॥ २३-२४ ॥

कृजितं नूपुराणां च काञ्चीनां निःस्वनं तथा ।

स निशम्य ततः श्रीमान् सौमित्रिर्लज्जितोऽभवत् ॥ २५ ॥

नूपुरोंकी झनकार और करधनोंकी खनखनाहट सुनकर श्रीमान् सुमित्राकुमार लज्जित हो गये (परायी स्त्रियोंपर दृष्टि पड़नेके कारण उन्हें स्वभावतः संकोच हुआ) ॥ २५ ॥

रोषवेगप्रकुपितः श्रुत्वा चाधरणस्वनम् ।

धकार ज्यास्वनं वीरो दिशः शब्देन पुरयन् ॥ २६ ॥

तत्पश्चात् पुनः आभूषणोंकी झनकार सुनकर वीर लक्ष्मण रोषके आवेगसे और भी कुपित हो उठे और उन्होंने अपने धनुषपर टंकार दी, जिसकी ध्वनिसे समस्त दिशाएँ गूँज उठीं ।

धारिश्रेण महाबाहुपकृष्टः स लक्ष्मणः ।

तस्याद्येकान्तमाश्रित्य रामकोपसमन्वितः ॥ २७ ॥

रघुकुलोचित सदाचारका खयाल करके महाबाहु लक्ष्मण कुछ पीछे हट गये और एकान्तमें जाकर खड़े हो गये श्रीरामचन्द्रजीके कार्यकी सिद्धिके लिये वहाँ कोई प्रयत्न होना न देख वे मन-ही-मन कुपित हो रहे थे ॥ २७ ॥

तेन आपस्वनेनाथ सुग्रीवः प्रवगाधिपः ।

विज्ञायागमनं प्रस्तः स चचाल वरासनात् ॥ २८ ॥

धनुषकी टंकार सुनकर खानरगाज सुग्रीव समझ गये कि लक्ष्मण यहाँतक आ पहुँचे हैं फिर तो वे भयसे संतप्त होकर अपना मिहासन छोड़कर खड़े हो गये ॥ २८ ॥

अद्भुदेन यथा माहं पुरस्तात् प्रतिवेदितम् ।

सुख्यक्तमेष सम्प्राप्तः सौमित्रिर्भ्रातृवत्सलः ॥ २९ ॥

वे मन-ही-मन सोचने लगे कि अद्भुतने पहले मुझे जैय बताया था, उसके अनुसार ये भ्रातृवत्सल सुमित्राकुम्भ लक्ष्मण अवश्य ही यहाँ आ गये ॥ २९ ॥

अद्भुदेन समाख्यातो ज्यास्वनेन च धानरः ।

बुबुधे लक्ष्मणं प्राप्तं मुखं चास्य व्यशुष्यत् ॥ ३० ॥

अद्भुतके द्वारा उनके आगमनका समाचार तो उन्हें पत्र

१ संगीतमें वह स्थान जहाँ गाने बजानेवालेका मिर या हाथ आप से आप हिल जाता है । यह स्थान तालके अनुसार निर्दिष्ट होता है । जैसे तितालेमें हमारे तालपर और चौतालमें पहले तालपर सम होता है । इसी प्रकार भिन्न भिन्न तालोंमें भिन्न-भिन्न स्थानों पर सम होता है । काद्याकर आरम्भ और गीतो तथा काद्योक्ता अन्त इसी समपर होता है । परन्तु गाने बजानेके बीच-बीचमें भी सम बतल जाता रहता है ।

हो मिल गया था । अब धनुषकी टंकारसे बानर सुग्रीवको उस बातका प्रत्यक्ष अनुभव हो गया कि लक्ष्मणने अवश्य सर्प पदार्पण किया है । फिर तो उनका मुख सूख गया ॥ ३० ॥
ततस्तारां हरिश्रेष्ठः सुग्रीवः प्रियदर्शनाम् ।

उवाच हितमव्यग्रस्त्राससम्भ्रान्तमानसः ॥ ३१ ॥

भयके कारण वे मन-हो-मन चला उठे । (लक्ष्मणके सामने जानका उन्हें साहस न हुआ ।) तथापि किसी तरह धैर्य धारण करके बानरश्रेष्ठ सुग्रीव परम सुन्दरी तारामें हिनको बात बोल — ॥ ३१ ॥

किं नु ह्यकारणं सुभु प्रकृत्या मृदुमानसः ।
सरोष इव सम्भ्रातो येनायं राघवानुजः ॥ ३२ ॥

‘सुन्दरी ! इनके रोषका क्या कारण हो सकता है ? जिससे स्वभावतः कामल चित्त होनेपर भाये श्रेष्ठपुत्राधजाके छोटे भाई रुद्र-से होकर यहाँ घाँस है ॥ ३२ ॥

किं पश्यसि कुमारस्य रोषस्थानमनिन्दिते ।
न स्वस्वकारणे कोपमाहरेन्नरपुंगवः ॥ ३३ ॥

‘अनिन्दिते ! तुम्हारे देखनमें कुमार लक्ष्मणके रोषका आधार क्या है ? वे मनुष्यायें श्रेष्ठ हैं । अतः बिना किसी कारणके निश्चय हो क्रोध नहीं कर सकते ॥ ३३ ॥

यद्यस्य कृतमप्याभिवृध्यसे किञ्चिदप्रियम् ।
मदबुद्ध्या सम्प्रधार्याशु क्षिप्रमेवाभिर्यायनाम् ॥ ३४ ॥

‘यदि हमलोगोंने इनका कोई अपराध किया हो और तुम्हें उसका पता हो तो अपनी बुद्धिसे विचारकर शीघ्र ही चलओ ॥ ३४ ॥

अथवा स्वयमेवेन द्रुमहीमि भामिनि ।
वधनेः सान्त्वयुक्तं प्रसादयिनुमहीमि ॥ ३५ ॥

अथवा भामिनि ! तुम स्वयं ही जाकर लक्ष्मणकी टंकी और सान्त्वनायुक्त बाने कहकर उन्हें प्रमत्त करनेका प्रयत्न करो । त्वहर्शने विशुद्धात्मा न त्वं कोपं करिष्यति ।

नहि स्त्रीषु महात्मानः कचिन् कुर्वन्ति दासणाम् ॥ ३६ ॥

उनका हृदय शुद्ध है । तुम्हारे सामने वे क्रोध नहीं करेंगे, क्योंकि महात्मा पुरुष स्त्रियोंके प्रति कभी कटोप बर्ताव नहीं करते हैं ॥ ३६ ॥

त्वया सान्त्वय्यकान्ते प्रमत्तंन्द्रियमानसम् ।
ततः कमलपत्राक्षं द्रक्ष्याम्यहमर्दिमम् ॥ ३७ ॥

‘जब तुम उनके पास जाकर मँडे वचनोंसे उन्हें शान्त कर दोगे और जब उनका मन स्वस्थ एवं इन्द्रियाँ प्रमत्त हो जावेंगी, तब समय में उन शत्रुमन कमलचयन लक्ष्मणका दर्शन करूँगा’ ॥ ३७ ॥

मा प्रमथलन्ती मदविह्वलाक्षी
प्रलम्बकाञ्छागुणहेमसूत्रा

मलक्षणा लक्ष्मण मनिधानं
जगाम तारा नमिताङ्गयष्टिः ॥ ३८ ॥

सुग्रीवके ऐसा कहनेपर द्रुमलक्षणा तारा लक्ष्मणके पास गयी । उसका पतल शरीर स्वाभाविक संकोच एवं विनयसे झुका हुआ था । उसके नेत्र मदसे खल्ल हो रहे थे, पैर लड़खड़ा रहे थे और उसकी वरघनीक मुवणमय सूत्र लटक रहे थे ॥ ३८ ॥

स तां समीक्ष्यैव हरीशपत्नी
तस्याबुदासीनतया महात्मा ।

अवाहपुत्रोऽभून्मनुजेन्द्रपुत्रः ।
स्त्रीसन्निकर्षाद् विनिवृत्तकोपः ॥ ३९ ॥

बानरराजकी पत्नी तारापर दृष्टि पड़ते ही राजकुमार महात्मा लक्ष्मण अपनी पीठ नाचा करके उदासीन भावमें खड़े हो गये । स्त्रीक समीप होनेसे उनका क्रोध दूर हो गया ।

सा पानयोगाच्च निवृत्तलज्जा
दृष्टिं प्रसादाच्च नरेन्द्रसुनोः ।

उवाच तारा प्रणयप्रगल्भं
वाक्यं भगव्यं परिसान्त्वयम् ॥ ४० ॥

मधुपानके कारण ताराके नारीमुखमें लज्जा निवृत्त हो गयी थी । उसे राजकुमार लक्ष्मणकी दृष्टिमें कुछ प्रसन्नताका आभास मिला । इसीसे उसने श्रेष्ठजनित निर्भीकताके साथ महान् अर्थसे युक्त यह सान्त्वनापूर्ण बात कही — ॥ ४० ॥

किं कोपमूलं मनुजेन्द्रपुत्र
कस्ते न संतिष्ठति चाङ्गनिदेशे ।

कः शुष्कवृक्षे वनमापतन्ते
दावाप्रिमासीदति निर्विंशङ्कः ॥ ४१ ॥

‘राजकुमार ! आपके क्रोधका क्या कारण है ? कौन आपका आज्ञाके अधीन नहीं है ? कौन निद्रा होकर सुने वृक्षोंमें भँगे हुए वनके भीतर चले आर फैलते हुए दावानलमें प्रवेश कर रहा है ?’ ॥ ४१ ॥

स तस्या वचने श्रुत्वा सान्त्वपूर्वमशङ्कितः ।
भूयः प्रणयदृष्टार्थं लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत् ॥ ४२ ॥

ताराके इस वचनमें सान्त्वना भरी थी । उसमें अधिक प्रेमपूर्वक हृदयक भाव प्रकट किया गया था । उसे सुनकर लक्ष्मणके हृदयको आशङ्का जानी रही । वे कहने लगे — ॥

किमयं कामवृत्तस्ते लुप्रधर्मार्थसंग्रहः ।
धर्ता भर्त्सिते युक्ते न चैनमवबुध्यसे ॥ ४३ ॥

‘अपने स्वार्थके हितमें संलग्न रहनेवाली तारा ! तुम्हारा यह पति विषय-भोगमें आसक्त होकर धर्म और अर्थके संग्रहका लोप कर रहा है । क्या तुम्हें इसकी इस अवस्थाका पता नहीं है ? तुम इसे समझती क्यों नहीं ?’ ॥ ४३ ॥

न चिन्तयति राज्यार्थं सोऽस्माज्जोकपरायणान् ।
सामात्यपरिषद् तारे काममेवोपसेवते ॥ ४४ ॥

‘तारे ! सुग्रीव अपने राज्यकी स्थिरताके लिये ही प्रयास करता है । हमलोग शोकमें डूबे हुए हैं, परन्तु हमारी इसे

तनिक भी चिन्ता नहीं होती है। यह अपने मन्त्रियों तथा राज-सभाके सदस्योंमहित केवल विषय-धोंगोंका ही सेवन कर रहा है ॥ ४४ ॥

स भासांश्चतुरः कृत्वा प्रमाणं प्लवगेश्वरः ।

स्यतीतांस्तान् भद्रेदप्रो विहरन् नावबुध्यते ॥ ४५ ॥

वानरराज सुग्रीवने चार महीनोंकी अवधि निश्चित की थी। वे कभी बीत गये, परन्तु वह मधुपानके मदसे अत्यन्त उत्पन्न होकर स्त्रियोंके साथ क्रोडा-विहार कर रहा है। उसे बीते हुए समयका पता ही नहीं है ॥ ४५ ॥

नहि धर्मार्थसिद्धयर्थं पानमेवं प्रशस्यते ।

पानादर्थश्च कामश्च धर्मश्च परिहीयते ॥ ४६ ॥

'धर्म और अर्थकी सिद्धिके निमित्त प्रयत्न करनेवाले पुरुषके लिये इस तरह मद्यपान अच्छा नहीं माना जाता है, क्योंकि मद्यपानसे अर्थ धर्म और काम तीनोंका नश हो जाता है ॥ ४६ ॥

धर्मलोपो महांस्तावत् कृते ह्यप्रतिकुर्वतः ।

अर्थलोपश्च मित्रस्य नाशे गुणवानो महान् ॥ ४७ ॥

मित्रके किये हुए उपकरणका यदि अक्सर आनेपर भी बदला न चुकाया जाय तो धर्मका हानि तो होती ही है। गुणवान् मित्रक साथ मित्रताका नाश दूट आनेपर अपने अर्थको भी बहुत बड़ी हानि उठाने पड़ती है ॥ ४७ ॥

मित्रे ह्यर्थगुणश्रेष्ठे सत्यधर्मपरायणम् ।

तद्व्ययं तु परित्यक्तं न तु धर्मं व्यवस्थितम् ॥ ४८ ॥

मित्र दो प्रकारके होते हैं—एक तो अपने मित्रक अर्थमाधनमें तत्पर होता है और दूसरा सत्य एवं धर्मक ही आश्रित रहता है। तुम्हारे स्वामीने मित्रक दोनों ही गुणोंका परित्याग कर दिया है। यह न तो मित्रका कार्य सिद्ध करना है और न स्वयं ही धर्ममें स्थित है ॥ ४८ ॥

तदेवं प्रसूते कार्ये कार्यमस्माभिस्तरम् ।

तत् कार्यं कार्यतत्त्वज्ञे त्वमुदाहर्तुमर्हसि ॥ ४९ ॥

ऐसी स्थितिमें प्रसून कार्यको सिद्धिके लिये हमलोगोंको मविष्यमें क्या करना चाहिये ? हमारे लिये जो समुचित कतअर्थ हो उस तुम्हों बताओ, क्योंकि तुम कार्यक तत्त्वको जानती हो ॥

सा तस्य धर्मार्थसमाधियुक्तं

निशम्य वाक्यं मधुरस्वभावम् ।

तारा गतार्थं मनुजेन्द्रकार्यं

विश्वासयुक्तं तमुवाच धृयः ॥ ५० ॥

लक्ष्मणका वचन धर्म और अर्थके निश्चयसे संयुक्त था। उससे उनके मधुर स्वभावका परिचय मिल रहा था। उसे सुनकर तारा भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके कार्यके विषयमें, जिसका प्रयोजन उस ज्ञात हो चुका था, पुनः लक्ष्मणम विश्वासक योग्य बात बोली— ॥ ५० ॥

न कोपकालः क्षितिपालपुत्र

न चापि कोपः स्वजने विधेयः ।

त्वदर्थकामस्य जनस्य तस्य

प्रभादमप्यर्हसि वीर सोढुम् ॥ ५१ ॥

'वीर राजकुमार ! यह क्रोध करनेका समय नहीं है। अत्योंय ज्योंपर क्रोध करना भी नहीं चाहिये। सुग्रीवक मनमें सदा आपका कार्य सिद्ध करनेकी इच्छा बनी रहती है। अतः यदि उनसे कोई झूट भी हो जाय तो उसे आपको क्षमा करना चाहिये ॥

कोपं कथं नाम गुणप्रकृष्टः

कुमार कुर्यादपकृष्टसत्त्वे ।

कस्त्वद्विधः कोपवशं हि गच्छेत्

सत्त्वावरुद्धस्तपसः प्रसूतिः ॥ ५२ ॥

'कुमार गुणोंमें श्रेष्ठ पुरुष किसी हीन गुणवाले प्राणीपर क्रोध कैसे कर सकता है ? जो सत्त्वगुणसे अवरुद्ध होमके कारण शास्त्र विपरीत व्यापारमें लग नहीं सकता, अतएव जो मनुविचारको जन्म देनेवाला है वह आप-जैसा कौन पुरुष क्रोधके बशोभूत हो सकता है ? ॥ ५२ ॥

जानामि कोपं हरिवीरबन्धो-

जानामि कार्यस्य च कालसङ्गम् ।

जानामि कार्यं त्वयि यत्कृतं न-

स्तथापि जानामि यदत्र कार्यम् ॥ ५३ ॥

'वानरवीर सुग्रीवके मित्र भगवान् श्रीरामके क्रोधका कारण मैं जानती हूँ। उनके कार्यमें जो विलम्ब हुआ है, उसमें भी मैं अपरिचित नहीं हूँ। सुग्रीवका जो कार्य आपके अधीन था और जिसे आपलगातार पुरा किया है, उसका भी मुझे पता है तथा इस समय जो आपका कार्य प्रस्तुत है, उसके विषयमें हमलोगोंका क्या कर्तव्य है, इसका भी मुझे अच्छी तरह ज्ञान है ॥ ५३ ॥

तथापि जानामि तथाविधहो

बले नरश्रेष्ठ शरीरजस्य ।

जानामि यस्मिंश्च जनेऽवबद्धं

कामेन सुग्रीवमसक्तमद्य ॥ ५४ ॥

'नरश्रेष्ठ ! इस शरीरमें उत्पन्न हुए कामका जो असह्य बल है, उसको भी मैं जानती हूँ तथा उस कामद्वारा आवद्ध होकर सुग्रीव जहाँ आसक्त हो रह है, वह भी मुझे मालूम है साथ ही उस बातसे भी मैं परिचित हूँ कि कामासक्तिके कारण ही इन दिनों सुग्रीवका मन दूसरे किसी काममें नहीं लगता ।

न कामतन्त्रे तव बुद्धिरस्ति

त्वं वै यथा मन्युवशं प्रपन्नः ।

न देशकालौ हि यथार्थधर्मा-

ववेक्षते कामरतिर्मनुष्यः ॥ ५५ ॥

'आप जो क्रोधके बशोभूत हो गये हैं, इससे ज्ञान पड़ता है कि कामके अधीन हुए पुरुषकी स्थितिका आपको बिलकुन्द ज्ञान नहीं है, वानरको तो बात ही क्या है ? कामासक्त मनुष्यके भी देश, काल, अर्थ और धर्मका ज्ञान नहीं रह जाता—उनके

ओर उसको दृष्टि नहीं जाती है ॥ ५५ ॥

ते कामवृत्तं मम संनिकृष्टं

कामाभियोगाच्च विमुक्तलज्जम् ।

क्षमस्व तावत् परवीरहन्त-

स्वदुश्चारांश्चानरचंशनाद्यम् ॥ ५६ ॥

विपक्षी श्रीरंका बिनाश करनेवाले राजकुमार !
वानरराज सुग्रीव विषय-भोगमें आसक्त होकर इस समय
मेरे ही पास थे । कामके आलस्यसे उन्होंने अपनी लज्जाका
परित्याग कर दिया है, तो मैं उन्हें क्षमा माई सम्झकर
क्षमा कीजिये ॥ ५६ ॥

महर्षयो धर्मतपोऽधिरामाः

कामानुकामाः प्रतिबद्धमोहाः ।

अये प्रकृत्या सपलः कपिस्तु

कथं न सज्जेत सुखेषु राजा ॥ ५७ ॥

'जो निरन्तर धर्म और तपस्थाने ही संलग्न रहते हैं
जिन्होंने मोहको अवरुद्ध कर दिया है—अधिकेवक्तो दूर
भगा दिया है, वे महर्षि भी कभी-कभी त्रिषयाभिलाषी हो
जाते हैं; फिर जो स्वभावसे ही चञ्चल वानर हैं, वह क्या
सुग्रीव सुख-भोगमें क्यों न आसक्त हों ?' ॥ ५७ ॥

इत्येवमुक्त्वा वचनं महार्थं

सा वानरी लक्ष्मणप्रभेयम् ।

पुनः सखेवं मदविह्वलाक्षी

भर्तुर्हितं सावयमिदं वच्मावे ॥ ५८ ॥

अग्रमेव शक्तिशाली लक्ष्मणसे इस प्रकार भवान्
अर्थसे युक्त बात कहकर मदमें चञ्चल नेत्रवाली वानर-
पत्नी तारामे पुनः खेदपूर्वक स्वामाके लिये यह हिमकर
वचन कहा— ॥ ५८ ॥

उद्योगस्तु बिरजज्ञप्तः सुग्रीवेण नरोत्तम ।

कामस्यापि विधेयेन तत्कार्यप्रतिसाधने ॥ ५९ ॥

नरश्रेष्ठ ! यद्यपि सुग्रीव इस समय कामके भुलान
हो रहे हैं, तथापि इन्होंने आपका कार्य सिद्ध करनेके
लिये बहुत पहलसे ही उद्योग आरम्भ करनेकी आज्ञा
दे रखी है ॥ ५९ ॥

आगता हि महावीर्या हरयः कामरूपिणः ।

कोटीः शतसहस्राणि नानानग्निसासिनः ॥ ६० ॥

हमके फलस्वरूप इस समय विभिन्न चरनेवाले निवान
करनेवाले लाखों और करोड़ों वानर, जो इच्छानुसार रूप
धारण करनेमें समर्थ एवं महान् पराक्रमी हैं, वहाँ उपस्थित
हूए हैं ॥ ६० ॥

तदागच्छ महाबाहो चारित्रं रक्षितं स्वया ।

अच्छलं मित्रभावेन सतां दारावलोकनम् ॥ ६१ ॥

महाबाहो ! (दूसरेको स्त्रियोंको देखना अनुचित समझ
कर जो आप भीतर नहीं आये, बाहर ही खड़े रह गये—
इसके द्वारा) आपने मदाचारकी रक्षा की है; अतः अब भीतर
आइये । मित्रभावसे स्त्रियाँको ओर देखना (उनके प्रति
मान-चढ़ाने आदिका भाव रखकर दृष्टि डालना) सत्पुरुषोंके
लिये अधर्म नहीं है' ॥ ६१ ॥

तारया चाभ्यनुज्ञातस्त्वगया वापि चोदितः ।

प्रथिवेश महाबाहुरभ्यन्तरमरिदमः ॥ ६२ ॥

तारके अभ्यह और कर्णको अल्नीसे प्रेरित होकर
शत्रुदमन महाबाहु लक्ष्मण सुग्रीवके महलके भीतर गये ।
ततः सुग्रीवमासीनं काञ्चने परमासने ।

महार्हास्तरणोपते ददर्शादित्यसंनिभम् ॥ ६३ ॥

वहाँ जाकर उन्होंने देखा, एक सोनके सिंहासनपर
बहुमूल्य विडम्बना विराजित है और वानरराज सुग्रीव सुग्रीव
तजन्वी रूप धारण किये उसके ऊपर विराजमान हैं ॥ ६३ ॥

दिव्याभरणाचिब्राह्मं दिव्यस्वर्यं यशस्विनम् ।

दिव्यमाल्याम्बरधरं महेन्द्रमिव दुर्जयम् ॥ ६४ ॥

उस समय दिव्य आभूषणोंके कारण उनके शरीरकी
विचित्र रोशनी में जो भी दिव्यरूपधारी यदस्वी सुग्रीव
दिव्य मालाएँ और दिव्य धस्व धारण करके दुर्जय श्री
देवराज इन्द्रके समान दिवायी दे रहे थे ॥ ६४ ॥

दिव्याभरणमाल्याभिः प्रमदाभिः समावृतम् ।

संख्यतररक्ताक्षो बभूवान्नकसंनिभः ॥ ६५ ॥

दिव्य आभूषणों और मालाओंसे अत्यन्त युवती
स्त्रियाँ उन्हें चारों ओरसे घेरकर खड़ी थीं । उन्हें इस
अवस्थामें देख लक्ष्मणके नेत्र रोषावेदक कारण लाल
हो गये । वे उस समय यमराजके समान धरंकर प्रतीत
होने लगे ॥ ६५ ॥

क्यां तु वीरः परिरभ्य गाढं

वरासनस्थो बरहेमवर्णः ।

ददर्श सौमित्रिपदीनसत्त्वं

विशालनेत्रः स विशालनेत्रम् ॥ ६६ ॥

सुन्दर सुवर्णके समान कान्ति और विशाल नेत्रवाले
श्री सुग्रीव अपनी पत्नी कमाको गाढ़ आलिंगन-पाशमें
बाँधे हुए एक श्रेष्ठ आमनपर विराजमान थे । उसी अवस्थामें
उन्होंने उत्तर हृदय और विशाल नेत्रवाले सुमित्राकुमार
लक्ष्मणको देखा ॥ ६६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें तैत्तिरीयसर्ग पूरा हुआ ॥ ३३ ॥

चतुस्त्रिंशः सर्गः

सुग्रीवका लक्ष्मणके पास जाना और लक्ष्मणका उन्हें फटकारना

तमप्रतिहतं क्रुद्धं प्रविष्टं पुरुषर्षभम् ।

सुग्रीवो लक्ष्मणं दृष्ट्वा बभूव व्यथितेन्द्रियः ॥ १ ॥

लक्ष्मण बेरोक-टोक भीतर धुस आये थे। उन पुरुष-शिरोमणिको क्रोधसे भरा देख सुग्रीवको सारे इन्द्रिया व्यथित हो उठीं ॥ १ ॥

क्रुद्धं निःश्वसमानं ते प्रदीप्तमिव तेजसा ।

भ्रातुर्व्यसनसन्तप्तं दृष्ट्वा दशरथात्मजम् ॥ २ ॥

उत्पपात हरिश्रेष्ठो हित्वा सौवर्णमासनम् ।

महान् महेन्द्रस्य यथा स्वर्लकृत इव ध्वजः ॥ ३ ॥

दशरथपुत्र लक्ष्मण रोषपूर्वक लंबी साँस साँच रहे थे और तेजसे प्रखलित-से जान पड़ते थे। अपने भाईके कष्टसे उनके मनमें बड़ा संताप था। उन्हें सामने आया देख घानरश्रेष्ठ सुग्रीव सुवर्णका मिहासन छोड़कर कूद पड़े, मानो देवराज इन्द्रका भलीभाँति सजाया हुआ महान् ध्वज आकाशसे पृथ्वीपर उतर आया हो ॥ २-३ ॥

उत्पतन्तमनूत्पेतु रुमाप्रभृतयः स्त्रियः ।

सुग्रीवं गगने पूर्णं चन्द्रं तारागणा इव ॥ ४ ॥

सुग्रीवके उतरते ही रुमा आदि स्त्रियाँ भी उनके पीछे उस मिहासनसे उतरकर खड़ी हो गयीं जैसे आकाशमें पूर्ण चन्द्रमाका उदय होनेपर तारोंके समुदाय भी उदित हो गये हैं ॥

संरक्तनयनः श्रीमान् संवचार कृताञ्जलिः ।

बभूवावस्थितस्तत्र कल्पवृक्षो महानिव ॥ ५ ॥

श्रीमान् सुग्रीवके नेत्र मदसे लाल हो रहे थे। वे टहलते हुए लक्ष्मणके पास आये और हाथ जोड़कर खड़े हो गये लक्ष्मण वहाँ महान् कल्पवृक्षके समान स्थित थे ॥ ५ ॥

रुमाद्विनीथं सुग्रीवं नारीधध्यगते स्थितम् ।

अब्रवीन्लक्ष्मणः क्रुद्धः सतारं शशिनं यथा ॥ ६ ॥

सुग्रीवके साथ उनकी पत्नी रुमा भी थी। वे स्त्रियोंके बीचमें खड़े होकर तारिकाओंमें घिरे हुए चन्द्रमाकी भाँति शोभा पाते थे। उन्हें देखकर लक्ष्मणने क्रोधपूर्वक कहा— ॥ ६ ॥

स्वत्वाधिजनसम्पन्नः सानुकोशो जितेन्द्रियः ।

कृतज्ञः सत्यवादी च राजा त्रेके महीयते ॥ ७ ॥

घानराज ! धैर्यवान्, कुल्लेन, दयालु, जितेन्द्रिय और सत्यवादी राजाका ही संसारमें आदर होता है ॥ ७ ॥

यस्तु राजा स्थितोऽधर्मे मित्राणामुपकारिणाम् ।

मिथ्या प्रतिज्ञां कुरुते को नृशंसतरस्ततः ॥ ८ ॥

‘जो राजा अधर्ममें स्थित होकर उपकारी मित्रोंके सामने कोई हुई अपनी प्रतिज्ञाको झूठी कर देना है उससे बढ़कर अत्यन्त क्रूर कौन होगा ? ॥ ८ ॥

शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं तु गवानृते ।

आत्मानं स्वजनं हन्ति पुरुषः पुस्वानृते ॥ ९ ॥

‘अश्वदानकी प्रतिज्ञा करके उसकी पूर्ति न करनेपर ‘अश्वानृत’ (अश्वविषयक असत्य) नामक पाप होता है। यन् पाप बन जानेपर मनुष्य सौ अश्वोंकी हत्याके पापका भागी होता है। इसी प्रकार गोदानविषयक प्रतिज्ञाको मिथ्या कर देनेपर सहस्र गौओंके बधकर पाप लगता है तथा किसी पुरुषके सम्पत्ति उसका कार्य पूर्ण कर देनेकी प्रतिज्ञा करके जो उसकी पूर्ति नहीं करता है, वह पुरुष आत्मघात और स्वजन-बधक पापका भागी होता है (फिर जो परम पुरुष श्रीरामके सम्पत्ति को हुई प्रतिज्ञाको मिथ्या करता है, उसके पापकी कोई इयत्ता नहीं हो सकती) ॥ ९ ॥

पूर्वं कृतार्थो मित्राणां न तत्प्रतिकरोति यः ।

कृतघ्नः सर्वभूतानां स बध्यः प्रवर्गेश्वर ॥ १० ॥

‘घानराज ! जो पहले मित्रोंके द्वारा अपना कार्य सिद्ध करके बदलमें उन मित्रोंका कोई उपकार नहीं करता है वह कृतघ्न एवं सब प्राणियोंके लिये बध्य है ॥ १० ॥

गीतोऽयं ब्रह्मणा श्लोकः सर्वलोकनमस्कृतः ।

दृष्ट्वा कृतघ्नं क्रुद्धेन तन्निबोध प्रवर्गम ॥ ११ ॥

‘कपिराज ! किन्हीं कृतघ्नोंको देखकर क्रुपित हुए ब्रह्माजीने सब स्त्रियोंके लिये आदरणीय यह एक श्लोक कहा है, इसे सुनो ॥ ११ ॥

गोप्ते चैव सुगप्ते च चोरे भग्नघ्नते तथा ।

निष्कृतिर्विहिता सद्धिः कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ॥ १२ ॥

‘गोहत्यारे, शरावों, चोर और वन भग करनेवाले पुरुषके लिये सन्तुल्यनि प्रार्थक्षितका विधान किया है, किन्तु कृतघ्नके उद्धारका कोई उपाय नहीं है ॥ १२ ॥

अनार्यस्त्वं कृतघ्नश्च मिथ्यावादी च घानर ।

पूर्वं कृतार्थो रामस्य न तत्प्रतिकरोषि यत् ॥ १३ ॥

‘घानर ! तुम अनार्य, कृतघ्न और मिथ्यावादी हो, क्योंकि श्रीरामचन्द्रजीको सहायतासे तुमने पहले अपना काम तो बन लिया, किन्तु जब उनके लिये सहायता करनेका अवसर आया, तब तुम कुछ नहीं करते ॥ १३ ॥

ननु नाम कृतार्थेन स्वया रामस्य घानर ।

सीताया मार्गणे यत्नः कर्तव्यः कृतमिच्छना ॥ १४ ॥

‘घानर ! तुम्हारा मनोरथ सिद्ध हो चुका है; अतः अब तुम्हें प्रत्युपकारकी इच्छासे श्रीरामकी पत्नी सीताको खोजनेके लिये प्रयत्न करना चाहिये ॥ १४ ॥

स त्वं ग्राम्येषु धोगेषु सत्तो मिथ्याप्रतिश्रवः ।

न त्वां रामो विजानीते सर्पं मण्डूकराविणम् ॥ १५ ॥

‘परन्तु तुम्हारी दृष्टा यह है कि अपनी प्रतिज्ञाको झूठ करके ग्राम्यभागोंमें आसक्त हो रहे हो। श्रीरामचन्द्रजी यह नहीं जानते हैं कि तुम मण्डूककी-सी बोलती बोलनेवाले मूढ़

हो (जैसे साँप अपने मुँहमें किसी मेंढकको जब दबा लेता है तब केवल मेंढक ही घोंसला है दूरके लोग उसे मेंढक ही समझते हैं परंतु वह वास्तवमें सर्प होता है । वही दशा तुम्हारी है तुम्हारे धर्म कुछ और है और स्वरूप कुछ और) ॥ १८ ॥

महाभागेन रामेण पापः करुणसेविना ।

हरीणां प्रापितो राज्यं त्वं दुर्गत्वा महात्मना ॥ १९ ॥

‘महाभाग श्रीरामचन्द्रजी परम महान्या तथा दयासे द्रवित हो जानेवाले हैं; अतएव उन्होंने तुम-जैसे पापी और दुरात्माको भी वानरोंके राज्यपर बिठा दिया ॥ १९ ॥

कृतं चेन्नातिजानीषे राघवस्य महात्मनः ।

सद्यस्त्वं निशिर्नैर्वाणैर्हतो दृक्ष्यसि वालिनम् ॥ २० ॥

यदि तुम महान्या राघुनाथजीके किये हुए उपकारको नहीं समझोगे तो शीघ्र ही उनके तोखे बाणोंमें भारे जाकर वालीका दर्शन करोगे ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे चतुस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें चौतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३४ ॥

पञ्चत्रिंशः सर्गः

ताराका लक्ष्मणको युक्तियुक्त वचनोंद्वारा शान्त करना

तथा ब्रूवाणं सौमित्रि प्रदीप्तमिव तेजसा ।

अब्रवीत्लक्ष्मणो तारा ताराधिपनिधानना ॥ १ ॥

सुमित्राकुमार लक्ष्मण अपने तेजके कारण प्रज्वलित-में हो रहे थे । वे जब उपर्युक्त बात कह चुके, तब चन्द्रमुखो तारा उनसे खेल्ती— ॥ १ ॥

नैव लक्ष्मण वक्तव्यो नायं परुषमर्हति ।

हरीणामीश्वरः श्रोतुं तव वक्त्राद् विशेषनः ॥ २ ॥

‘कुमार लक्ष्मण ! आपको सुग्रीवमें ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये । ये वानरोंके राजा हैं; अतः इनके प्रति कठोर वचन आटना उचित नहीं है । विशेषण आप जैसे मुन्दक मुखमें तो ये कदापि कटु वचन सुनकर अधिकारमें नहीं है ।

नैवाकृतज्ञः सुग्रीवो न शठो नापि दारुणः ।

नैवानुनक्तथो घोरं न जिह्वाश्च कपीश्वरः ॥ ३ ॥

‘कोर ! कपिराज सुग्रीव न कृतज्ञ है, न शठ है, न क्रूर है, न असत्यवादी है और न कुटिल ही है ॥ ३ ॥

उपकारं कृतं वीरो नाप्ययं विस्मृतः कपिः ।

रामेण वीर सुग्रीवो धर्मेर्न दुष्करं रणे ॥ ४ ॥

वीर लक्ष्मण ! श्रीरामचन्द्रजीने इन्को जो उपकार किया है, वह युद्धमें दुस्मरोंके लिये दुष्कर है । उसे इन वीर कपिराजने कभी भुलाना नहीं है ॥ ४ ॥

न स संकुचितः धन्या येन बाली हनो गतः ।

समये तिष्ठ सुग्रीव मा वालिपथमन्वगाः ॥ १८ ॥

‘सुग्रीव ! बाली मारा जाकर जिस रास्तेसे गया है, वह आज भी बंद नहीं हुआ है । इसलिये तुम अपनी प्रतिज्ञापर डटे रहो । बालीके मार्गका अनुसरण न करो ॥ १८ ॥

न नूनमिक्ष्वाकुवरस्य कार्मुका-

छर्राश्च तान् पश्यसि वज्रसंनिधान् ।

ततः सुखं नाम विधेवसे सुखी

न रामकार्यं मनसाप्यवेक्षसे ॥ १९ ॥

‘क्ष्वाकुवर्गजैर्मया श्रीरामचन्द्रजीके धनुषसे मृटे हुए उन वज्रनुम्य बाणोंको ओर निक्षेप हो तुम्हारी दृष्टि नहीं जा रहे है । इसीलिये तुम द्राम्य सुखका सेवन कर रहे हो और इसीमें सुख मानकर श्रीरामचन्द्रजीके कार्यका मनसे भी विचार नहीं करते हो’ ॥ १९ ॥

रामप्रसादात् कीर्तिं च कपिराज्यं च शाश्वतम् ।

प्राप्तवानिह सुग्रीवो कृपां मां च परंतप ॥ ५ ॥

‘शत्रुओंको संतप्त देनेवाले सुमित्रानन्दन ! श्रीरामचन्द्रजीके कृपा-प्रसादसे ही सुग्रीवने वानरोंके अक्षय्य राज्यको, यशको, कृपाको तथा मुझको भी प्राप्त किया है ॥ ५ ॥

सुदुःखशयितः पूर्वं प्राप्येदं सुखमुत्तमम् ।

प्राप्तकालं न जानीते विश्वामित्रो यथा मुनिः ॥ ६ ॥

‘पहले इन्होंने बहुत दुःख उठाया है । अब इस उत्तम सुखको पाकर ये इसमें ऐसे रम गये कि इन्हें प्राप्त हुए समयका ज्ञान ही नहीं रहा । ठीक उसी तरह, जैसे विश्वामित्र मुनिको वनवासमें आसक्त हो जानेके कारण समयकी सुध-बुध नहीं रह गयी थी * ॥ ६ ॥

घृताच्यां किल संसक्तो दश वर्षाणि लक्ष्मण ।

अहोऽमन्यत धर्मात्मा विश्वामित्रो महापुनिः ॥ ७ ॥

लक्ष्मण ! काले है धर्मात्मा महापुनि विश्वामित्रने घृताच्यां (मनका) नामक अप्सरामें आसक्त होनेके कारण दस वर्षोंके समयको एक दिन ही माना था ॥ ७ ॥

स हि प्राप्तं न जानीते कालं कालविदो वरः ।

विश्वामित्रो महातेजाः किं पुनर्यः पृथग्जनः ॥ ८ ॥

‘कालवत् ज्ञान रखनेवालोंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी विश्वामित्रको

भी जब भोगासक्त होनेपर कालका ज्ञान नहीं रह गया, तब फिर दूसरे साधारण प्राणोंको कैसे रह सकता है ? ॥ ८ ॥

देहधर्मगतस्थास्य परिभ्रान्तस्य लक्ष्मण ।

अवितृप्तस्य कामेषु रामः क्षन्तुमिहाहंनि ॥ ९ ॥

‘कुमार लक्ष्मण ! आहार, निद्रा और मैथुन आदि जो देहके धर्म हैं, (जो पशुओंमें भी समानरूपसे पाये जाते हैं) उनमें स्थित हुए ये सुग्रीव पहले तो चिक्कलतक दुःख भोगनेके कारण थके-मर्दि एवं खिन्न थे। अब भगवान् श्रीरामको कृपासे इन्हें जो काम भोग प्राप्त हुए हैं, उनसे अभीतक इनको तृप्ति नहीं हुई (इसीलिये इनसे कुछ असावधानी हो गयी), अतः परम कृपालु श्रीरघुनाथजीको यहाँ इनका अपराध क्षमा करना चाहिये ॥ ९ ॥

न च रोषवशं तात गन्तुमर्हसि लक्ष्मण ।

निश्चयार्थमविज्ञाय सहसा प्राकृतो यथा ॥ १० ॥

‘तात लक्ष्मण ! आपको यथार्थ बात जाने बिना साधारण मनुष्यकी भाँति सहसा क्रोधक अभ्रान्त नहीं होना चाहिये ॥ १० ॥

सावयुक्ता हि पुरुषास्त्वद्दिधाः पुस्तवर्षध ।

अविप्रश्य न रोषस्य सहसा यान्ति वश्यताम् ॥ ११ ॥

‘पुरुषप्रवर ! आप-जैसे सत्त्वगुणसम्पन्न पुरुष विचार किये बिना ही सहसा रोषक वशीभूत नहीं होते हैं ॥ ११ ॥

प्रसादये त्वां धर्मज्ञ सुग्रीवार्थं सप्ताहिता ।

महान् रोषसमुत्पन्नः संरब्धस्त्यज्यतामयम् ॥ १२ ॥

‘धर्मज्ञ ! मैं एकाग्र हृदयसे सुग्रीवके लिये आपसे कृपाकी याचना करता हूँ। आप क्रोधसे उत्पन्न हुए इस महान् क्षोभका परिहारा कीजिये ॥ १२ ॥

रुधो धो चाङ्गुलं राज्यं धनधान्यपशुनि च ।

रामप्रियार्थं सुग्रीवस्त्यजेदिति यतिर्मम ॥ १३ ॥

‘मेरा तो ऐसा विश्वास है कि सुग्रीव श्रीरामचन्द्रजीका प्रिय करनेके लिये रुपाका, मेरा कुमार अङ्गुलका तथा धन-धान्य और पशुओंमहित सम्पूर्ण राज्यका भी परिन्याग कर सकते हैं ॥ १३ ॥

समानेष्वति सुग्रीवः सीतया सह राघवम् ।

शशाङ्कमिव रोहिण्या हत्वा तं राक्षसाद्यमम् ॥ १४ ॥

‘सुग्रीव उस अधम राक्षसका वध करके श्रीरामको सीतासे उसी तरह मिलायेगा, जैसे चन्द्रमाका रोहिणीके साथ संयोग हुआ हो ॥ १४ ॥

शतकोटिसहस्राणि रुद्धायां किल रक्षसाम् ।

अयुतानि च षट्त्रिंशत्सहस्राणि शतानि च ॥ १५ ॥

‘कहते हैं कि रुद्धामें सौ हजार करोड़, छत्तीस अयुत, छत्तीस हजार और छत्तीस सौ राक्षस रहते हैं * ॥ १५ ॥

अहत्या तांश्च दुर्धर्षान् राक्षसान् कामरूपिणः ।

न शक्यो रावणो हन्तुं येन सा मैथिली हुता ॥ १६ ॥

‘ये सब-के-सब राक्षस इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले तथा दुर्जय हैं। उन सबका संहार किये बिना रावणका, जिमने मिथिलेशकुमारी सीताका अपहरण किया है, वध नहीं हो सकता ॥ १६ ॥

ते न शक्या रणे हन्तुमसहायेन लक्ष्मण ।

रावणः क्रूरकर्मा च सुग्रीवेण विशेषतः ॥ १७ ॥

‘लक्ष्मण ! किसोकी सहायता लिये बिना अकेले किसी वीरके द्वारा न तो उन राक्षसोंका संग्राममें वध किया जा सकता है और न क्रूरकर्मा रावणका ही। इसलिये सुग्रीवसे सहायता लेनेकी विशेष आवश्यकता है ॥ १७ ॥

एवमाख्यातवान् बाली स ह्यभिज्ञो हरीश्वरः ।

आगमस्तु न मे व्यक्तं भवात् तस्य ब्रवीम्यहम् ॥ १८ ॥

‘बानरराज बाली लङ्काके राक्षसोंकी इस संख्यासे परिचित थे, उन्होंने मुझे उनकी इस तरह गणना बताया थी। रावणने इतनी सेनाका संग्रह कैसे किया ? यह तो मुझे नहीं मालूम है। किन्तु इस संख्याको मैंने उनके मुँहसे सुना था। वह इस समय मैं आपको बता रही हूँ ॥ १८ ॥

त्वत्सहायनिमित्तं हि प्रेषिता हरिपुङ्गवाः ।

आनेतुं बानरान् युद्धे सुबहून् हरिपुङ्गवान् ॥ १९ ॥

‘आपको सहायताके लिये सुग्रीवने बाहुनेरे श्रेष्ठ बानरोंको युद्धके निमित्त अयस्य बानर वीरोंकी सेना एकत्र करनेके लिये भेज रक्का है ॥ १९ ॥

तांश्च प्रतीक्षमाणोऽयं धिक्कान्तान् सुमहाबलान् ।

राघवस्यार्थसिद्धयर्थं न निर्याति हरीश्वरः ॥ २० ॥

‘बानरराज सुग्रीव उन महाबली और पराक्रमी वीरोंके आनेकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। अतएव भगवान् श्रीरामका कार्य सिद्ध करनेके लिये अभी नगरसे बाहर नहीं निकल सके हैं ॥ २० ॥

कृता सुमंस्था सौमित्रे सुग्रीवेण पुरा यथा ।

अद्य तैर्वावरैः सर्वैरागन्तव्यं महाबलैः ॥ २१ ॥

‘सुमित्रानन्दन ! सुग्रीवने उन सबके एकत्र होनेके लिये पहलेसे ही जो अवधि निश्चित कर रखी है, उसके अनुसार उन समस्त महाबली बानरोंको आज ही यहाँ उपस्थित हो जाना चाहिये ॥ २१ ॥

अथकोटिसहस्राणि गोलाङ्गुलशतानि च ।

अद्य त्वामुपयास्यन्ति जहि कोपमर्दिदम् ।

कोट्योऽनेकास्तु काकुन्ध कपीनां दीप्ततेजसाम् ॥ २२ ॥

‘शत्रुदमन लक्ष्मण ! अब आपको सवायें कोटि सहस्र (दस अस्त्र) रीछ, सौ करोड़ (एक अस्त्र) लंगूर तथा और भी बढ़े हुए तेजवाले कई करोड़ बानर उपस्थित होंगे। इसलिये आप क्रोधको त्याग दीजिये ॥ २२ ॥

तव हि मुखमिदं निरीक्ष्य कोषान्
क्षतजसमे नयने निरीक्षमाणाः ।
हरिवरवनिता न यान्ति शान्तिं

प्रथमभयस्य हि शङ्किताः स्म सर्वाः ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे षट्त्रिंशः सर्गः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें पैतृसर्ग पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशः सर्गः

सुग्रीवका अपनी लघुता तथा श्रीरामकी महत्ता बताते हुए लक्ष्मणसे क्षमा माँगना और लक्ष्मणका उनकी प्रशंसा करके उन्हें अपने साथ चलनेके लिये कहना

इत्युक्तस्तारया वाक्यं प्रश्रितं धर्मसहितम् ।

मृदुस्वभावः सौमित्रिः प्रतिजग्राह तद्वचः ॥ १ ॥

ताराने जब इस प्रकार धर्मके अनुकूल विनययुक्त बात कही तब कोमल स्वभाववाले सुमित्रकुमार लक्ष्मणन उस मान लिया (क्रोधको त्याग दिया) ॥ १ ॥

तस्मिन् प्रतिगृहीते तु वाक्ये हरिगणेश्वरः ।

लक्ष्मणात् सुमहत्प्राप्ते वस्त्रं क्षिप्रमिवारुह्यत ॥ २ ॥

उनके द्वारा तागकी बात मान ली जानेपर जानरयूथपति सुग्रीवने लक्ष्मणसे प्राप्त होनवाले महान् भयको भोगे हुए वस्त्रकी भाँति त्याग दिया ॥ २ ॥

ततः कण्ठगतं माल्यं धित्रं बहुगुणं महत् ।

चिच्छेत् विपदशामीन् सुग्रीवो वानरेश्वरः ॥ ३ ॥

तदनन्तर वानरराज सुग्रीवने अपने कण्ठमें पड़े हुए फूलोंकी विचित्र विशाल एवं बहुगुणमय्यत्र माला नाँड़ डाली और वे पदसे रहित हो गये ॥ ३ ॥

स लक्ष्मणं धीमत्तलं सर्ववानरस्तथः ।

आब्रवीत् प्रश्रितं वाक्यं सुग्रीवः सम्प्रहर्षयन् ॥ ४ ॥

फिर समस्त वानरोंने शिरामणि सुग्रीवने भयंकर बलशाली लक्ष्मणका कथं बताने हुए उनसे यह विस्मययुक्त बात कही— ॥ ४ ॥

प्रणाष्टा श्रीश्च कीर्तिश्च कपिराज्यं च शाश्वतम् ।

रामप्रसादात् सौमित्रे पुनश्चाप्रमिदं भया ॥ ५ ॥

'सुमित्राकुमार ! मेरी श्री, कीर्ति तथा सदासे चली आता हुआ वानरोंकी राज्य—ये सब नष्ट हो चुके थे। भगवान् श्रीरामकी कृपासे ही मुझे पुनः इन सबको प्राप्त हुई है । ॥ ५ ॥

कः शक्तस्तस्य देवस्य स्थानस्य स्वेन कर्मणा ।

तादृशं प्रतिकुर्वीत अंशेनापि नृपात्पुत्र ॥ ६ ॥

'राजकुमार ! वे भगवान् श्रीराम अपने कर्मोंने ही सर्वत्र विख्यात हैं। उनके उपकारक वैसा ही बदला अंशमात्रमें भी कौन चुका सकता है ? ॥ ६ ॥

सीतां प्राप्स्यति धर्मात्मा वधिष्यति च रावणम् ।

सहायपात्रेण मया राधवः स्वेन तेजसा ॥ ७ ॥

'आपका मुख क्रोधसे तमतमा ठठा है और आँखें रोवसे लाल हो गयी हैं। यह सब देखकर हम वानरराजकी स्त्रियोंको शान्ति नहीं मिल रही है। हम सबको प्रथम भय (वालिबध) के समान ही किसी अनिष्टको आशङ्क हो रही है' ॥ २३ ॥

'धर्मात्मा श्रीराम अपने ही तेजसे रावणका वध करेंगे और सीताको प्राप्त कर लेंगे। मैं तो उनका एक तुच्छ सहायकमात्र रहूँगा ॥ ७ ॥

सहायकृत्यं किं तस्य येन सप्त महादुमाः ।

गिरिश्च वसुधा चैव बाणेनैकेन दारिताः ॥ ८ ॥

जिनोंने एक ही बाणसे सात बड़े-बड़े ताल धुक्ष, पर्वत पृथ्वी, पानाल और वहाँ रहनेवाले दैत्योंको भी विदीर्ण कर दिया था उनको दूसरे किसी सहायककी आवश्यकता भी क्या है ? ॥ ८ ॥

धनुर्विस्फारमाणस्य यस्य शब्देन लक्ष्मणः ।

सशीला कम्पिता भूमिः सहायैः किं नु तस्य वै ॥ ९ ॥

'लक्ष्मण ! जिनके धनुष खींचते समय उसकी टेंकारसे पर्वतासहित पृथ्वी काँप उठी थी, उन्हें सहायकोंसे क्या लेना है ? ॥ ९ ॥

अनुयात्रां नरेन्द्रस्य करिष्येऽहं नरर्षभ ।

गच्छतो रावणो हन्तुं वैरिणं सपुरस्सरम् ॥ १० ॥

'नम्रश्रेष्ठ ! मैं तो वीर रावणका वध करनेके लिये अग्रगामी सैनिकोंसहित यात्रा करनेवाले महाराज श्रीरामके पीछे-पीछे चलेगा ॥ १० ॥

यदि किञ्चिदतिक्रान्तं विश्वासात् प्रणयेन वा ।

प्रेष्यस्य क्षयिनर्क्यं ये न काश्चिन्प्रापगाध्यति ॥ ११ ॥

'विश्वाम अथवा प्रेमके कारण यदि कोई अपराध बन गया हो तो मुझ दासके उस अपराधको क्षमा कर देना चाहिये क्योंकि ऐसा कोई सेवक नहीं है जिससे कभी कोई अपराध होता ही न हो' ॥ ११ ॥

इति तस्य हुवाणस्य सुग्रीवस्य महात्मनः ।

अधवल्लक्ष्मणः प्रीतः प्रेम्णा चेटमुवाच ह ॥ १२ ॥

महात्मा सुग्रीवके ऐसा कहनेपर लक्ष्मण प्रसन्न हो गये और बड़े प्रेमसे इस प्रकार बोले— ॥ १२ ॥

सर्वथा हि मम भ्राता सनाथो वानरेश्वरः ।

त्वया नाथेन सुग्रीवः प्रश्रितेन विशेषतः ॥ १३ ॥

'वानरराज सुग्रीव ! विशेषतः तुम-जैसे विनयशील

सहायकको पाकर मेरे भाई श्रीराम सर्वथा सनाथ हैं ॥ १३ ॥

यस्ते प्रभावः सुग्रीव चक्ष ते शौचमीदृशम् ।

अहस्त्वं कपिराज्यस्य श्रियं भोक्तुमनुत्तमाम् ॥ १४ ॥

‘सुग्रीव ! तुम्हारा जो प्रभाव है और तुम्हारे हृदयमें जो इतना शुद्ध भाव है, इससे तुम खानराज्यकी परम उत्तम लक्ष्मीका सदा ही उपभोग करनेके अधिकारी हो ॥ १४ ॥

सहायेन च सुग्रीव त्वया रामः प्रतापवान् ।

वधिष्यति रणे शत्रून्धिराभ्रात्र संशयः ॥ १५ ॥

‘सुग्रीव ! तुम्हें सहायकके रूपमें पाकर प्रतापी श्रीराम रणभूमिमें अपने शत्रुओंका शोध हो बंध कर डालेंगे, इसमें संशय नहीं है ॥ १५ ॥

धर्मज्ञस्य कृतज्ञस्य संग्रामेषु निवर्तिनः ।

उपपन्नं च युक्तं च सुग्रीव तव भाषितम् ॥ १६ ॥

सुग्रीव ! तुम धर्मज्ञ, कृतज्ञ तथा युद्धमें कभी पीठ न दिया जानेवाले हो । तुम्हारा यह भाषण सर्वथा युक्तिमंगत और उचित है ॥ १६ ॥

दोषज्ञः सति सामर्थ्ये कोऽन्यो भाषितुमर्हति ।

वर्जयित्वा भयं ज्येष्ठं त्वं च खानरस्तमम् ॥ १७ ॥

‘खानरशिरोमणि ! तुमको और मेरे बड़े भाईको छोड़कर दूसरा कौन ऐसा विद्वान् है, जो अपनेमें सामर्थ्य होते हुए भी ऐसा नम्रतापूर्ण वचन कह सके ॥ १७ ॥

सदृशश्चासि रामेण विक्रमेण बलेन च ।

सहायो देवतैर्दत्तश्चिराय हरिपुंगव ॥ १८ ॥

‘कपिराज ! तुम बल और पराक्रममें भगवान् श्रीरामके बराबर हो । देवताओं ही जमें दीर्घकालके लिये तुम-जैसा सहायक प्रदान किया है ॥ १८ ॥

किं तु शौघापितो वीर निष्क्रम त्वं यथा सह ।

सान्त्वयस्व वयस्यं च भार्याहरणदुःखितम् ॥ १९ ॥

‘किंतु वीर ! अब तुम शौघ ही मेरे साथ इस पुरीसे बाहर निकलो । तुम्हारे मित्र अपना पत्नीके अपहरणमें बहुत दुःखी है । उन्हें चलाकर सान्त्वना दो ॥ १९ ॥

यच्च शोकाभिभूतस्य भ्रुत्वा रामस्य भाषितम् ।

यथा त्वं परुषाण्युक्तस्तत् क्षमस्व सरस्व भयम् ॥ २० ॥

‘मखे ! शोकमग्न श्रीरामके बचनोंके सुनकर जो मैंने तुम्हारे प्रति कठोर बातें कह दी हैं, उनके लिये मुझे क्षमा करो ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे षट्त्रिंशः सर्गः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें छत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशः सर्गः

सुग्रीवका हनुमान्जीको खानरसेनाके संग्रहके लिये दोबारा दूत भेजनेकी आज्ञा देना, उन दूतोंसे राजाकी आज्ञा सुनकर समस्त खानरोंका किष्किन्धाके लिये प्रस्थान और दूतोंका लौटकर सुग्रीवको भेंट देनेके साथ ही खानरोंके आगमनका समाचार सुनाना

एवमुक्तस्तु सुग्रीवो लक्ष्मणेन महात्मना ।

हनुमन्तं स्थितं पार्श्वं वचनं चेदमब्रवीत् ॥ १ ॥

महात्मा लक्ष्मणने जब ऐसा कहा, तब सुग्रीव अपने पास हो खड़े हुए हनुमान्जीसे यों बोले— ॥ १ ॥

महेन्द्रहिमवद्विन्ध्यकैलासशिखरं च ।

मन्दरे पाण्डुशिखरे पञ्चशैलेषु ये स्थिताः ॥ २ ॥

तरुणादित्यवर्णेषु भ्राजमानेषु नित्यशः ।

पर्वतेषु समुद्रान्ते पश्चिमस्यां तु ये दिशि ॥ ३ ॥

आदित्यभवने चैव गिरी संध्याभ्रमनिभे ।

पद्माचलवने भीमाः संश्रिता हरिपुंगवाः ॥ ४ ॥

अञ्जनाम्बुदसंकाशाः कुञ्जरेन्द्रमहोजयः ।

अञ्जने पर्वते चैव ये वसन्ति प्लवंगमाः ॥ ५ ॥

महाशैलगुहाघासा खानराः कनकप्रभाः ।

मेरुपार्श्वगताश्च ये च धूम्रगिरि श्रिताः ॥ ६ ॥

तरुणादित्यवर्णाश्च पर्वते ये महारुणे ।

पिबन्तो मधु मेरेयं धीमवेगाः प्लवंगमाः ॥ ७ ॥

वनेषु च सुगम्येषु सुगन्धिषु महत्सु च ।

तापसाभ्रमरभ्यं च नान्तेषु समन्ततः ॥ ८ ॥

नांस्तांस्त्वमानय क्षिप्रं पृथिव्यां सर्वखानरान् ।

सामदानादिधि कल्पैर्वाङ्गवगन्तरे ॥ ९ ॥

‘महेन्द्र, हिमवान्, विन्ध्य, कैलास तथा मन्दरे शिखरवाले मन्दरचल—इन पाँच पर्वतोंके शिखरोंपर जो श्रेष्ठ खानर रहने हैं, पश्चिम दिशामें समुद्रके पर्वतों तटपर प्रातःकालिक सूर्यके मयान कान्तिमान् और मिन्य प्रकाशमान पर्वतोंपर दिन खानरोंका निवास है, भगवान् सूर्यके निवासस्थान तथा मध्यकालिक मेषसमूहके समान अरुण वर्णवाले उदयाचल पर्व अन्ताचलपर जो खानर वास करते हैं, पद्माचलवर्ती वनका आश्रय लेकर जो भयानक पराक्रमी खानर-शिरोमणि निवास करते हैं, अञ्जनपर्वतपर जो काजल और मेषके समान अनेक तथा गजराजके समान महाबलशाली खानर रहते हैं, बड़े बड़े पर्वतोंकी गुफाओंमें निवास करनेवाले तथा तरुपर्वतके आरुण्यमान रहनेवाले जो सुवर्णकी सी कान्तिवाले

वानर हैं जो घुम्रगिरिका आश्रय लेकर रहने हैं मीघ मधुका पान करने हुए जो मन्त्राण पर्वतपर प्रातः कालके सूर्यको घेरने लगे रंगके भयानक वगइत्यादी वानर निवास करते हैं तथा मुग्धसे परिपूर्ण एवं तपस्वियुक्त आश्रममें मुग्धोपनि बड़े-बड़े रमणीय वनों और वनान्तोंमें चारों ओर जो वानर रहते हैं भूमण्डलके उन सभी वानरोंको तुम शीघ्र यहाँ आओ इन्द्राक्षकी तथा अत्यन्त वेगवान् वानरोंको भेजकर उनका द्वारा साम, दान आदि उपायोंका प्रयोग करो उन सबको यहाँ बुलवाओ ॥ १-२ ॥

प्रेषिताः प्रथमं ये च मयाऽऽज्ञाना महाजवाः ।

त्वरणार्थं तु भूयस्त्वं सम्प्रेषय हरीश्वरान् ॥ १० ॥

मेरी आज्ञासे पहले जो महान् वेगइत्यादी वानर भेजे गये हैं उनको जल्दी करनेके लिये प्रेषणा देनेके निमित्त तुम पुनः दूसरे श्रेष्ठ वानरोंको भेजो ॥ १० ॥

ये प्रसक्ताश्च कामेषु दीर्घसूत्राश्च वानराः ।

इहानयस्व ताज्ज्यांश्चै सवनिव कपीश्वरान् ॥ ११ ॥

जो वानर कामभोगमें फँसे हुए हैं तथा जो दीर्घसूत्र (प्रत्येक कार्यको जिलम्बसे करनेवाले) हैं, उन सभी कपीश्वरोंको शीघ्र यहाँ ले आओ ॥ ११ ॥

अहोभिर्दशभिर्वै च नागच्छन्ति ममाजया ।

हन्तव्यास्ते दुरात्मानो राजशासनदूषकाः ॥ १२ ॥

जो मेरी आज्ञासे दस दिनोंके भीतर यहाँ न आ जायें, राजाज्ञाको कलंकित करनेवाले उन दुरात्मा वानरोंको मार डालना चाहूँगा ॥ १२ ॥

शतान्यथ सहस्राणि कोट्यश्च पप शासनान् ।

प्रयान्तु कपिसिंहानां निदेशे भयं ये स्थिताः ॥ १३ ॥

जो मेरी आज्ञाके अधीन रहते हों, ऐसे सैकड़ों, हजारों तथा करोड़ों वानरसिंह मेरे आदेशसे जायें ॥ १३ ॥

मेघपर्वतसंकाशाश्छादयन्त इवाप्यग्म् ।

घोररूपाः कपिश्रेष्ठा यान्तु भच्छासनादितः ॥ १४ ॥

जो मेघ और पर्वतके समान अपने विशाल शरीरमें आकाशको आच्छादित-सा कर देते हैं, वे घोर रूपधारी श्रेष्ठ वानर मेरा आदेश मानकर यहाँसे यात्रा करें ॥ १४ ॥

ते गतिज्ञा गतिं गत्वा पृथिव्यां सर्ववानराः ।

आनयन्तु हरीन् सर्वांस्त्वरिताः शासनान्ध्रप ॥ १५ ॥

वानरोंके निवासस्थानोंको जाननेवाले सभी वानर तब गतिसे भूमण्डलमें चारों ओर जाकर मेरे आदेशसे उन-उन स्थानोंके सम्पूर्ण वानरगणोंको तुरन्त यहाँ ले आयें ॥ १५ ॥

तस्य वानरराजस्य श्रुत्वा वायुसुतो वचः ।

दिक्षु सर्वासु विक्रान्तान् प्रेषयामास वानरान् ॥ १६ ॥

वानरराज सुग्रीवकी बात सुनकर वायुपुत्र हनुमान्जीने सम्पूर्ण दिशाओंमें बहुत-से पराक्रमी वानरोंको भेजा ॥ १६ ॥

ते पदं विष्णुविक्रान्तं पतन्निज्योतिर्यवगाः ।

प्रयाताः प्रहिता राजा हरयस्तु क्षणेन वै ॥ १७ ॥

राजाको देखकर वे सब वानर तन्वत्क आकाशमें पक्षियों और नक्षत्रोंके मार्गसे चल दिये ॥ १७ ॥

ते समुद्रेषु गिरिषु वनेषु च सरस्तु च ।

वानरा वानरान् सर्वान् शयहेतोरचोदयन् ॥ १८ ॥

उन वानरोंने समुद्रोंके किनारे, पर्वतोंपर, वनोंमें और शयनार्थके जगहोंपर रहनेवाले समस्त वानरोंको श्रमामचन्द्रोंका कार्य करनेके लिये चलनेको कहा ॥ १८ ॥

मृत्युकालोपमस्याज्ञां राजराजस्य वानराः ।

सुग्रीवस्याधयुः श्रुत्वा सुग्रीवधयशङ्किताः ॥ १९ ॥

अपने सम्राट् सुग्रीवकी, जो मृत्यु एवं कालके समान भयानक दण्ड देनेवाले थे, आदेश सुनकर वे सभी वानर उनके भयमें धर्रा उठे और तुरन्त ही किष्किन्धाकी ओर प्रस्थित हुए ॥ १९ ॥

ननस्तेऽञ्जनमकाशा गिरेस्तस्मान्महाबलाः ।

तिस्रः कोट्यः प्रवंगानां निययुर्ग्रज राघवः ॥ २० ॥

नदनन्तर कञ्चल गिरिसे काजलके ही समान काले और महान् बलवान् तीन करोड़ वानर उस स्थानपर जानेके लिये निकले, जहाँ रामधुनाथजी विराजमान थे ॥ २० ॥

अस्तं गच्छति धनार्कस्तस्मिन् गिरिवरे रताः ।

सतप्रहेमवर्णाभास्तस्मात् कोट्यो दश च्युताः ॥ २१ ॥

जहाँ सूर्यदेव अस्त होते हैं, उस श्रेष्ठ पर्वतपर रहनेवाले दस करोड़ वानर, जिनको कर्मान् तपाय हुए सुवर्णके समान थीं, वहाँसे किष्किन्धाके लिये चले ॥ २१ ॥

कैलासशिखरेभ्यश्च सिंहकेसरवर्चसाम् ।

ततः कोटिसहस्राणि वानराणां समागमन् ॥ २२ ॥

कैलासके शिखरोंसे सिंहके अयालकी-सी श्वेत जानिकवाले दस अरब वानर आये ॥ २२ ॥

फलमूलेन जीवन्तो हिमवन्तमुपाश्रिताः ।

तेषां कोटिसहस्राणां सहस्रं समवर्तत ॥ २३ ॥

जो हिमालयपर रहकर फल-मूलसे जीवन-निर्वाह करते थे, वे वानर एक नौलकी संख्यामें वहाँ आये ॥ २३ ॥

अङ्गारकसमानानां भीमानां भीमकर्षणाम् ।

विन्ध्याद् वानर कोटीनां सहस्राण्यपतन् वृतम् ॥ २४ ॥

विन्ध्याचल पर्वतसे मङ्गलके समान लाल रंगवाले भयानक वक्राकार भयकर रूपधारी वानरोंकी दस अरब सेना बड़े वेगसे किष्किन्धामें आयी ॥ २४ ॥

क्षीरोद्वेलानिलयास्तमालवनवामिनः ।

नारिकेलशनाश्चैव तेषां संख्या न विद्यते ॥ २५ ॥

क्षारसमुद्रके किनारे और तमालवनमें नारियल खाकर रहनेवाले वानर इनकी अधिक संख्यामें आये कि उनकी गणना नहीं हो सकती थी ॥ २५ ॥

वनेभ्यो गह्वरेभ्यश्च समिच्छश्च महाबलाः ।

आगच्छद् वानरी सेना पिबन्तीव दिवाकरम् ॥ २६ ॥

वनोमे, गुफाओंसे और नदियोंके किनारोंसे असंख्य महाबली बानर एकत्र हुए। बानरोंकी वह सारी सेना सूर्य-देवको पीतो (आच्छादित करती) हुई-सी आयी ॥ २६ ॥
ये तु त्वारयितुं याता बानराः सर्वबानरान् ।

ते वीरा हिमवच्छेले ददृशुस्तं महादुमम् ॥ २७ ॥

जो बानर समस्त बानरोंको शोध आनेके लिये प्रेरित करनेके निमित्त किष्किन्ध्यामें दुवारा धेजे गये थे उन वीरोंने हिमालय पर्वतपर उस प्रसिद्ध किष्काल वृक्षको देखा (जो भगवान् शंकरकी यज्ञशालामें स्थित था) ॥ २७ ॥

तस्मिन् गिरिवरे पुण्ये यज्ञो माहेश्वरः पुरा ।

सखदेवमनस्तोषो बभूव सुमनोरमः ॥ २८ ॥

उस पवित्र एवं श्रेष्ठ पर्वतपर पूर्वकालमें भगवान् शंकरका यज्ञ हुआ था जो सम्पूर्ण देवताओंके मनको संताप देनेवाला और अन्यन्त मनोरम था ॥ २८ ॥

अन्ननित्यन्दजातानि मूलानि च फलानि च ।

अमृतस्वादुफलानि ददृशुस्तत्र बानराः ॥ २९ ॥

उस पर्वतपर खीर आदि अन्न (होमद्रव्य) से घृत आदिका स्वाद हुआ था उसमें वहाँ अमृतक, मयान आदिष्ट फल और मूल उत्पन्न हुए थे उन फलोंको उन बानराने देखा ॥ २९ ॥

तदन्नसम्भवं दिव्यं फलमूलं मनोहरम् ।

यः कश्चिन् सकृदश्नानि भासं भवति तर्पितः ॥ ३० ॥

उक्त अन्नसे उत्पन्न हुए उस दिव्य एवं मनोहर फल-मूलको जो कोई एक बार खा लेता था, वह एक भासतक उससे तृप्त बना रहता था ॥ ३० ॥

तानि मूलानि दिव्यानि फलानि च फलाशनाः ।

औषधानि च दिव्यानि जगृहूर्होपुण्वाः ॥ ३१ ॥

फलाहार करनेवाले उन बानरशिरोमणियोंने उन दिव्य मूल-फल और दिव्य औषधोंको अपने माथ ले लिया ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्ध्याकाण्डे सप्तत्रिंशः सर्गः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकेनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके किष्किन्ध्याकाण्डमें सैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

अष्टात्रिंशः सर्गः

लक्ष्मणसहित सुग्रीवका भगवान् श्रीरामके पास आकर उनके चरणोंमें प्रणाम करना,

श्रीरामका उन्हें सपझाना, सुग्रीवका अपने किये हुए सैन्यसंग्रहविषयक उद्योगको

बताना और उसे सुनकर श्रीरामका प्रसन्न होना

प्रतिगृह्य च तत् सर्वमुपायनमुपाहृतम् ।

बानरान् सान्त्वयित्वा च सर्वानिव व्यसर्जयत् ॥ १ ॥

उनके लिये हुए उन समस्त उपहारोंको ग्रहण करके सुग्रीवने सम्पूर्ण बानरोंको मधुर वचनोंद्वारा सान्त्वना दी, फिर सबको विदा कर दिया ॥ १ ॥

विसर्जयित्वा स हरीन् सहस्रान् कृतकर्मणः ।

मेने कृतार्थमात्मानं राघवं च महाबलम् ॥ २ ॥

तस्माच्च यज्ञाधतनात् पुष्पाणि सुरभीणि च ।

आनिन्युर्वानरा गत्वा सुग्रीवप्रियकारणान् ॥ ३२ ॥

वहाँ आकर उस यज्ञ-यण्डपसे वे सब बानर सुग्रीवका प्रिय करनेके लिये सुगन्धित पुष्प भी लेते आये ॥ ३२ ॥

ते तु सर्वे हरिवराः पृथिव्यां सर्वबानरान् ।

संचोदयित्वा त्वरितं युधानां जग्मुरग्रतः ॥ ३३ ॥

वे समस्त श्रेष्ठ बानर भूमण्डलके सम्पूर्ण बानरोंको तुरंत चम्पनेका आदेश देकर उनके गूथोंके पहुँचनेके पहले ही सुग्रीवके पास आ गये ॥ ३३ ॥

ते तु तेन मुहूर्तेन कपयः शीघ्रचारिणः ।

किष्किन्ध्यां त्वरया प्राप्ताः सुग्रीवो यत्र बानरः ॥ ३४ ॥

वे शीघ्रगामी बानर उसी मुहूर्तमें चलकर बड़ी उत्पल-शक्ति साथ किष्किन्ध्यापुरीमें जहाँ बानरराज सुग्रीव थे, जा पहुँचे ॥ ३४ ॥

ते गृहीत्वाऽप्यधीः सर्वा, फलमूलं च बानराः ।

ते प्रतिग्राहयामासुर्वचनं धेदयन्नुवन् ॥ ३५ ॥

उस सम्पूर्ण ओषधियों और फल-मूलोंको लेकर उन बानरोंने सुग्रीवकी सेवामें अर्पित कर दिया और इस प्रकार कहा— ॥ ३५ ॥

सर्वे परिसृताः शीलाः सरितश्च वनानि च ।

पृथिव्यां बानराः सर्वे शासनादुपयान्ति ते ॥ ३६ ॥

पशाराज । हमलोग सभी पर्वतों, नदियों और वनोंमें घूम आये। भूमण्डलके समस्त बानर आपको आज्ञासे चर्च आ रहे हैं ॥ ३६ ॥

एवं श्रुत्वा ततो हृष्टः सुग्रीवः ब्रूषगाधिपः ।

प्रतिजग्राह च ग्रीतस्तेषां सर्वमुपायनम् ॥ ३७ ॥

यह सुनकर बानरराज सुग्रीवको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने उनको दो दुई सारी भेट सामग्री सानन्द ग्रहण की ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्ध्याकाण्डे सप्तत्रिंशः सर्गः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकेनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके किष्किन्ध्याकाण्डमें सैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

अष्टात्रिंशः सर्गः

लक्ष्मणसहित सुग्रीवका भगवान् श्रीरामके पास आकर उनके चरणोंमें प्रणाम करना,

श्रीरामका उन्हें सपझाना, सुग्रीवका अपने किये हुए सैन्यसंग्रहविषयक उद्योगको

बताना और उसे सुनकर श्रीरामका प्रसन्न होना

प्रतिगृह्य च तत् सर्वमुपायनमुपाहृतम् ।

बानरान् सान्त्वयित्वा च सर्वानिव व्यसर्जयत् ॥ १ ॥

उनके लिये हुए उन समस्त उपहारोंको ग्रहण करके सुग्रीवने सम्पूर्ण बानरोंको मधुर वचनोंद्वारा सान्त्वना दी, फिर सबको विदा कर दिया ॥ १ ॥

विसर्जयित्वा स हरीन् सहस्रान् कृतकर्मणः ।

मेने कृतार्थमात्मानं राघवं च महाबलम् ॥ २ ॥

कार्य पूरा करके लौटे हुए उन सहस्रों बानरोंको विदा करके सुग्रीवने अपने-आपका कृतार्थ माना और महाबली श्रारधुनाथजीका भी कार्य सिद्ध हुआ ही सपझा ॥ २ ॥

स लक्ष्मणो भीषबलं सर्वबानरसत्तमम् ।

अग्रवीन् प्रश्रितं वाक्यं सुग्रीवं सम्प्रहर्षयन् ॥ ३ ॥

तत्पश्चात् लक्ष्मण समस्त बानरोंमें श्रेष्ठ भयंकर बलशाली सुग्रीवका हर्ष बढ़ाते हुए उनसे यह विनीत वचन बोले— ।

किष्किन्धाया विनिष्क्राम यदि ते सौम्य रोचते ।
तस्य तद् वचनं श्रुत्वा लक्ष्मणस्य सुभाषितम् ॥ ४ ॥
सुग्रीवः परमप्रीतो वाक्यमंतदुवाच ह ।

‘सौम्य ! यदि तुम्हारी रुचि हो तो अब किष्किन्धासे बाहर निकलो ।’ लक्ष्मणका यह सुन्दर बात सुनकर सुग्रीव अत्यन्त प्रसन्न हुए और इस प्रकार बोले— ॥ ४ ॥

एवं भवतु गच्छाम स्वयं त्वच्छासने मया ॥ ५ ॥
तमेवमुक्त्वा सुग्रीवो लक्ष्मणं शुभलक्षणम् ।
विसर्जयामास तदा ताराद्याश्च योनिः ॥ ६ ॥

‘अच्छा, ऐसा ही हो । बलियं, भल । मुझे तो आपका आशाका पालन करना है ।’ शुभ लक्षणासे युक्त लक्ष्मणसे ऐसा कहकर सुग्रीवने तारा आदि सब स्त्रियाँको सत्कल विदा कर दिया ॥ ५-६ ॥

एहीन्युर्ध्वहरिवरान् सुग्रीवः समुदाहरत् ।
तस्य तद् वचनं श्रुत्वा हरयः शीघ्रमाययुः ॥ ७ ॥
बद्धाञ्जलिपुटाः सर्वे ये स्युः स्त्रोदर्शनक्षमाः ।

इसके बाद सुग्रीवने शेष वानरोंको ‘आओ, आओ’ कहकर उल्लस्यसे पुकारा । उनका यह पुकार सुनकर सब वानर जो अन्त पुरखा स्त्रियोंका देखनके अधिकारी थे दाने हाथ जोड़े शीघ्रतापूर्वक उनके पास आये ॥ ७ ॥

तानुवाच ततः प्राप्तान् राजार्कसदृशप्रभः ॥ ८ ॥
तपस्थापयत क्षिप्रं शिबिकां धम वानराः ।

पास आये हुए उन वानरोंमें सूर्यनुन्ध नैजस्वी राजा सुग्रीवने कहा—‘वानरों ! तुम लोग उन्ध मगे शिबिकाका यहाँ ले आओ’ ॥ ८ ॥

श्रुत्वा तु वचनं तस्य हरयः शीघ्रविक्रमाः ॥ ९ ॥
समुपस्थापयासासुः शिबिकां प्रियदर्शनाम् ।

उनका बात सुनकर शीघ्रगामी वानरोंने एक सुन्दर शिबिका (पालकी) कहाँ उपस्थित कर दी ॥ ९ ॥

तामुपस्थापितो दृष्ट्वा शिबिकां वानराधिपः ॥ १० ॥
लक्ष्मणारुह्यतो शीघ्रमिति सौमित्रिमब्रवीत् ।

पालकीको वहाँ उपस्थित देख वानरराज सुग्रीवने सुमित्राकुमारसे कहा—‘कुमार लक्ष्मण ! आप शीघ्र इसपर आरुढ़ हो जायें’ ॥ १० ॥

इत्युक्त्वा काञ्चन यानं सुग्रीवः सूर्यसंनिभम् ॥ ११ ॥
बहुभिर्हरिभिर्युक्तमारुरोह सलक्ष्मणः ।

ऐसा कहकर लक्ष्मणसहित सुग्रीव उन सूर्यकी-सा प्रभावाली सुवर्णमयी पालकीपर, जिसे दोनोके लिये बहुत से वानर लगे थे, आरुढ़ हुए ॥ ११ ॥

पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि ॥ १२ ॥
शुक्लं चालव्यज्जर्नधूययानैः समन्ततः ।

शङ्खभेरीनिनादैश्च बन्दिभिश्चाभिनन्दितः ॥ १३ ॥
निर्ययौ प्राप्य सुग्रीवो राज्यध्रियमनुमयाम् ।

उस समय सुग्रीवके ऊपर धेत छत्र लगाया गया और सब ओरसे सफेद चंदर डुलाये जाने लगे । शङ्ख और भेरीकी ध्वनिके साथ वन्दोजनोंका अभिनन्दन सुनते हुए राजा सुग्रीव परम उत्तम गजलक्ष्मणोंको धाकर किष्किन्धापुरीसे बाहर निकले ॥ १२-१३ ॥

स वानरशर्नस्तीक्ष्णवह्निभिः शस्त्रपाणिभिः ॥ १४ ॥
परिकीर्णो ययौ तत्र यत्र रामो व्यवस्थितः ।

नाथमें उन्नत लिये तीक्ष्ण स्वभाववाले कई सौ वानरोंसे किए हुए राजा सुग्रीव उस स्थानपर गये जहाँ भगवान् श्रीराम निवास करते थे ॥ १४ ॥

स सं देशमनुप्राप्य श्रेष्ठं रायनिषेवितम् ॥ १५ ॥
अवातरन्महानेजाः शिबिकायाः सलक्ष्मणः ।

असामान्य था तनो राम कृताञ्जलिपुटोऽभवत् ॥ १६ ॥
श्रीरामचन्द्रजीसे संघत उस श्रेष्ठ स्थानमें पहुँचकर लक्ष्मणसहित महानेजस्वी सुग्रीव पालकीसे उतरे और श्रीरामके पास जा हाथ जोड़कर खड़े हो गये ॥ १५-१६ ॥

कृताञ्जली स्थिते तस्मिन् वानराश्चाभयस्तथा ।
मटाकमिव तं दृष्ट्वा राम कुडमलपङ्कजम् ॥ १७ ॥

वानरगणो महन् सैन्यं सुग्रीवे प्रीतिमानभूत् ।
वानरराजके हाथ जोड़कर खड़े होनेपर उनके अनुयायी वानर भी उनका भक्ति अञ्जलि अर्पण कर रहे थे । मुकुलित कमलोंमें भरे हुए किशाल मंगलग्रन्थों धाँति वानरोंकी उस यहाँ भारी सेनाकी देखकर श्रीरामचन्द्रजी सुग्रीवपर बहुत प्रसन्न हुए ॥ १७ ॥

पादयोः पतितं मूर्ध्ना तमुत्थाप्य हरीश्वरम् ॥ १८ ॥
प्रेम्णा च बहुयानाञ्च राघवः परिष्वजे ।

वानरराजको चरणोंमें मस्तक रखकर पड़ा हुआ देख श्रीरामनाथजीने हाथसे पकड़कर उठाया और खड़े आदर तथा प्रेमके साथ उन्हें हृदयमें लगाया ॥ १८ ॥

परिचुज्य च धर्मान्मा निर्घातेनि ततोऽब्रवीत् ॥ १९ ॥
निषण्णं ते ततो दृष्ट्वा क्षिप्तो रामोऽब्रवीत् ततः ।

हृदयमें लगाकर धर्मान्मा श्रीरामने उनसे कहा—‘बेटो’ । उन्हें पृथ्वीपर खड़ा देख श्रीराम बोले— ॥ १९ ॥

धर्ममर्थं च कामं च काले यस्तु निषेवते ॥ २० ॥
विधज्य सन्तं वीर स राजा हरिसन्तप ।

हित्वा धर्मं तथार्थं च कामं यस्तु निषेवते ॥ २१ ॥
स वृक्षाग्रे यथा सुप्तः पतितः प्रतिबुध्यते ।

जग । वानरदोषमणे । जो धर्म, अर्थ और कामके लिये समयका विभाग करके मदा उचित समयपर उनका (न्याययुक्त) सेवन करता है, वनो श्रेष्ठ राजा है । किन्तु जो धर्म-अर्थका न्याय करके केवल कामका ही सेवन करता है वह वृक्षका अगली शाखापर सोये हुए मनुष्यके समान है । गिरनेपर ही उसकी अज्ञि खुलता है ॥ २०-२१ ॥

जग । वानरदोषमणे । जो धर्म, अर्थ और कामके लिये समयका विभाग करके मदा उचित समयपर उनका (न्याययुक्त) सेवन करता है, वनो श्रेष्ठ राजा है । किन्तु जो धर्म-अर्थका न्याय करके केवल कामका ही सेवन करता है वह वृक्षका अगली शाखापर सोये हुए मनुष्यके समान है । गिरनेपर ही उसकी अज्ञि खुलता है ॥ २०-२१ ॥

जग । वानरदोषमणे । जो धर्म, अर्थ और कामके लिये समयका विभाग करके मदा उचित समयपर उनका (न्याययुक्त) सेवन करता है, वनो श्रेष्ठ राजा है । किन्तु जो धर्म-अर्थका न्याय करके केवल कामका ही सेवन करता है वह वृक्षका अगली शाखापर सोये हुए मनुष्यके समान है । गिरनेपर ही उसकी अज्ञि खुलता है ॥ २०-२१ ॥

जग । वानरदोषमणे । जो धर्म, अर्थ और कामके लिये समयका विभाग करके मदा उचित समयपर उनका (न्याययुक्त) सेवन करता है, वनो श्रेष्ठ राजा है । किन्तु जो धर्म-अर्थका न्याय करके केवल कामका ही सेवन करता है वह वृक्षका अगली शाखापर सोये हुए मनुष्यके समान है । गिरनेपर ही उसकी अज्ञि खुलता है ॥ २०-२१ ॥

अमित्राणां वधे युक्तो मित्राणां संग्रहे रतः ॥ २२ ॥
त्रिवर्गफलभोक्ता च राजा धर्मेण युज्यते ।

‘जो राजा शत्रुओंके वध और मित्रोंके संग्रहमें संलग्न रहकर योग्य समयपर धर्म, अर्थ और कामका (त्यययुक्त) सेवन करता है, वह धर्मके फलका भागी होता है ॥ २२ ॥
उद्योगसमयस्तेषां प्राप्तः शत्रुनिवृत्तः ॥ २३ ॥
सचिन्त्यतां हि पिङ्गेश हरिभिः सह मन्त्रिभिः ।

‘शत्रुसूदन ! यह हमलोगोंके लिये उद्योगका समय आया है । खानरराज ! तुम इस विषयमें इन खानरों और मन्त्रियोंके साथ विचार करो ॥ २३ ॥

एवमुक्तस्तु सुग्रीवो रामं वचनमब्रवीत् ॥ २४ ॥
प्रणष्टा श्रीश्च कीर्तिश्च कपिराज्यं च शाश्वतम् ।

त्वत्प्रसादान्महाबाहो पुनः प्राप्तमिदं मया ॥ २५ ॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर सुग्रीवने उनसे कहा—
‘महाबाहो ! मेरी श्री, कीर्ति तथा सदासे चल आनेवाला खानरोंका राज्य—ये सब नष्ट हो चुके थे । आपकी कृपासे ही मुझे पुनः इन सबकी प्राप्ति हुई है ॥ २४-२५ ॥

तव देव प्रसादाच्च भ्रातृश्च जयतां वर ।
कृतं न प्रतिकुर्याद् यः पुरुषाणां हि दूषकः ॥ २६ ॥

विजयी बीरोमें श्रेष्ठ देव ! आप और आपके भाईकी कृपासे ही मैं खानर राज्यपर पुनः प्रतिष्ठित हुआ हूँ । जो किये हुए अपकारका बदला नहीं चुकाता है वह पुरुषोंमें धर्मका कलङ्कित करनेवाला माना गया है ॥ २६ ॥

एते खानरमुख्याश्च शतशः शत्रुसूदन ।
प्राप्ताश्चादाय बलिनः पृथिव्यां सर्वखानरान् ॥ २७ ॥

‘शत्रुसूदन ! ये सैकड़ों बलवान् और मुख्य खानर भूमण्डलके सभी बलशाली खानरोंके साथ लेकर यहाँ आये हैं ।

अक्षःश्च खानराः शूरा गोलाङ्गुलाश्च राघव ।
कान्तारवनदुर्गणामभिज्ञा घोरदर्शनाः ॥ २८ ॥

‘रघुनन्दन ! इनमें रौद्र है, खानर है और शौर्यमय्यत्र गोलाङ्गुल (लङ्कुर) हैं । ये सब के सब देखनेमें बड़े भयकर हैं और बीहड़ वनों तथा दुर्गम स्थानोंके जानकार हैं ॥ २८ ॥

देवगन्धर्वपुत्राश्च खानराः कामरूपिणः ।
स्वैः स्वैः परिवृताः सैन्यैर्वर्तन्ते पथि राघव ॥ २९ ॥

‘रघुनाथजी ! जो देवताओं और गन्धर्वोंके पुत्र हैं और इच्छानुसार रूप धारण करनेमें समर्थ हैं, वे श्रेष्ठ खानर अपनी-अपनी सेनाओंके साथ चल पड़े हैं और इस समय मार्गमें हैं ।

शतैः शतसहस्रैश्च वर्तन्ते कोटिधिस्तथा ।
अयुर्नशावृता वार शङ्कुभिश्च परंतप ॥ ३० ॥

‘शत्रुओंको संताप देनेवाले वार ! इनमेंसे किसीके साथ सौ, किसीके साथ लाख, किसीके साथ करोड़, किसीके साथ अयुत (दस हजार) और किसीके साथ एक शङ्कु खानर हैं ॥ ३० ॥

अर्बुदरवृन्दशतैर्मध्यैश्चान्त्यैश्च खानराः ।
समुद्राश्च परार्धाश्च हरयो हरियूथपाः ॥ ३१ ॥

‘कितने ही खानर अर्बुद (दस करोड़), सौ अर्बुद (दस अरब), मध्य (दस पद्म) तथा अन्त्य (एक पद्म) खानर सैनिकोंके साथ आ रहे हैं । कितने ही खानरों तथा खानर-यूथपन्धियोंकी मख्या समुद्र (दस नौल) तथा परार्ध (जंगल) तक पहुँच गयी है ॥ ३१ ॥

आगमिष्यन्ति ते राजन् महेन्द्रसमविक्रमाः ।
मेघपर्वतसंकाशा मेरुविन्ध्यकुतालयाः ॥ ३२ ॥

‘राजन् ! ये देखराज इन्द्रके समान पराक्रमी तथा मेघों और पर्वतोंके समान विशालकाय खानर, जो मेरु और विन्ध्याचलमें निवास करते हैं, यहाँ शोध ही उपस्थित होंगे ॥ ३२ ॥

ते स्वामधिगमिष्यन्ति राक्षसं योद्धुमाहवे ।
निहत्य रावणं युद्धे हानयिष्यन्ति र्मेधिलीम् ॥ ३३ ॥

जो युद्धमें राक्षसका वध करके मिथिलेराक्षसोंकी मृताकी लङ्कासे ला दोगे वे महान् इतिक्रम से खानर संग्राममें उस राक्षसमें युद्ध करनेके लिये अनुरोध आपके पास आयेगा ।

ततः समुद्योगमयेक्ष्य सीर्यखान्
हरिप्रवीरस्य निदेशवर्तिनः ।

वभूव हर्षाद् वसुधाधिपरात्मजः ।
प्रबुद्धनीलोत्पलतुल्यदर्शनः ॥ ३४ ॥

यह सुनकर परम पराक्रमी राजकुमार श्रीराम अपनी आज्ञाके अनुसार चलनेवाले खानरोंके प्रमुख और सुग्रीवका यह रम्य विषयक उद्योग देखकर बड़े प्रसन्न हुए उनके नेत्र हर्षसे खिल उठे और प्रफुल्लित नील कमलके समान दिखायी देने लगे ॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डेऽष्टात्रिंशः सर्गः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें अष्टात्रिंशः सर्ग पूरा हुआ ॥ ३८ ॥



• यहाँ अर्बुद, शङ्कु, अन्त्य और मध्य अर्द्ध संख्या शब्दक उत्पत्तिक आधुनिक गणितके अनुसार मान समझनेके लिये प्राचीन संज्ञाओंका पूर्ण रूपसे उल्लेख किया जाता है और कठिण उम्मेद आधुनिक मान दिया जा रहा है । एक (इकाई), दश (दहाई), शत (सैकड़ा), सहस्र (हजार), अयुत (दस हजार), लक्ष (लाख), प्रयुत (दस लाख), कोटि (करोड़), अर्बुद (दस करोड़), अब्ज (अरब), खर्व (दस अरब), निहर्व (अर्ब), महापद्म (दस खर्व), शङ्कु (नौल), जलपद्म (दस नौल), अन्त्य (पद्म), मध्य (दस पद्म), परार्ध (जंगल) — ये संख्याबोधक संज्ञाएँ उत्तरतर दसगुनी माने गयी हैं । (नारदपुराणसे)

एकोनचत्वारिंशः सर्गः

श्रीरामचन्द्रजीका सुग्रीवके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना तथा विभिन्न

धानर-यूथपतियोंका अपनी सेनाओंके साथ आगमन

इति ह्युवाणं सुग्रीवं रामो धर्मभृता वरः ।

आहुभ्यां सम्परिषृज्य प्रत्युवाच कृताञ्जलिम् ॥ १ ॥

सुग्रीवके ऐसा कहनेपर धर्मोत्पलाओंमें श्रेष्ठ श्रीरामने अपनी दोनों धुजाओंसे उनकी आलिंगन किया और साथ जोड़कर रखे हुए उनसे इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

यदिन्द्रो जयते जयं न तच्चित्रं भविष्यति ।

आदित्योऽसौ सहस्रांशु कुर्याद् वित्तिपिरं नभः ॥ २ ॥

चन्द्रमा रजनीं कुर्यान् प्रथया सौम्य निर्मलाम् ।

त्वद्विधो वापि मित्राणां प्रीतिं कुर्यान् परंतप ॥ ३ ॥

‘सखे ! इन्द्र जो जलकी वर्षा करते हैं, सहायों किरणोंमें शोभा पानेवाले सूर्यदेव जो आकाशकी अन्धकार दूर कर देते हैं तथा सौम्य । चन्द्रमा अपनी प्रभासे जो अँधेरी रातका अँधेरा जल कर देते हैं, इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है क्योंकि यह उनकी स्वाभाविक गुण है । शत्रुओंको मरना देनेवाले सुग्रीव ! इसी तरह तुम्हारे समान पुरुष भी यदि अपने मित्रोंका उपकार करके उन्हें प्रसन्न कर दें तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं मानना चाहिये ॥ २-३ ॥

एवं त्वयि न तच्चित्रं भवेद् यत् सौम्य गोधनम् ।

जानाम्यहं त्वां सुग्रीवं सततं प्रियवादिनम् ॥ ४ ॥

‘सौम्य सुग्रीव ! इसी प्रकार तुम्हें जो मित्रोंका हितसाधनरूप कल्याणकारी गुण है, वह आश्चर्यकी विषय नहीं है क्योंकि मैं जानता हूँ कि तू सदा प्रिय और नज्दाल हो—यह तुम्हारा स्वाभाविक गुण है ॥ ४ ॥

स्वतन्त्राथः सखे संख्ये जेतास्मि सकलानरान् ।

न्ययेव मे सुहृन्पित्रं साहाय्यं कर्तुमर्हसि ॥ ५ ॥

मरने तुम्हारी सहायतामें मैंने शत्रुओं से युद्धमें मरना शत्रुओंका जान लूंगा । तुम्हारा मेरे हितमें मित्र हो और मैं सहायता कर सकूँगा ॥ ५ ॥

जाह्नवात्मविनाशाय चांशुली राक्षसाधमः ।

वज्रघ्नित्वा नु पीलोमीपनुद्वातो यथा शचीम् ॥ ६ ॥

‘राक्षसाधम राखणने अपना नाश करनेके लिये मैं चांशुलीशकुमारोंको योग्य देकर तुम्हारा अपहरण किया है । तब उसी तरह, जैसे अनुद्वातने अपने विनाशके लिये नु पीलोमपुत्री शचीको छलपूर्वक हड़ लिया था * ॥ ६ ॥

नचिरान् तं वधिष्यामि रावणं निशिनः शरैः ।

पीलोम्याः पितरं दृष्टं शतक्रतुरिवारिहा ॥ ७ ॥

‘जैसे शत्रुहन्ता इन्द्रने शचीके धर्मही पिताको मार डाला था, उसी प्रकार मैं भी शत्रु हूँ अपने सखे रावणोंमें राखणका वध कर डालूँगा ॥ ७ ॥

एतस्मिन्नन्तरे चैव रजः समभिवर्तत ।

उष्णानीषां सहस्रांशोऽछादयद् गगने प्रभाम् ॥ ८ ॥

श्रीराम और सुग्रीवने जब इस प्रकार बातें हो रही थीं उसी समय बड़े जोरकी धूलि उठी, जिसने आकाशमें फैलकर सूर्यकी प्रचण्ड प्रभाको ढक दिया ॥ ८ ॥

दिशः पर्याकुलाश्वासस्तमसा तेन दूषिताः ।

खञ्जालं च पक्षी सर्षां सरीलवनकाननम् ॥ ९ ॥

फिर तो उस धूलिजनित अन्धकारमें सम्पूर्ण दिशाएँ दूषित एवं व्याप्त हो गयीं तथा पर्वत, वन और काननोंके साथ समुच्चो पृथ्वी ढगमग होने लगी ॥ ९ ॥

नतो नगेन्द्रसंकाशस्तीक्ष्णदंष्ट्रर्महाबलैः ।

कुक्कुटा सच्छादिता धूमिरसंख्येयैः प्लवगपैः ॥ १० ॥

मदननर पर्वतराजके समान शरीर और तीक्ष्ण दाढ़वाले असंख्य महाबली जानरोंसे वहाँकी सारी धूमि आच्छादित हो गयी ॥ १० ॥

निमेषान्तरभात्रण ततस्तर्होरिवूथपैः ।

कोटीशतपरीवारिखानैर्होरिवूथपैः ॥ ११ ॥

पलक मारते-मारते अस्सी जानरोंसे घिर हुए अनेकामेक युद्धपतियोंने वहाँ आकर सारी भूमिको ढक लिया ॥ ११ ॥

नादयैः पार्वतयैश्च सामुद्रैश्च महाबलैः ।

हर्मिधर्मघनिहृदिरन्यैश्च वनवासिभिः ॥ १२ ॥

नटी पठन वन और समुद्र सभी स्थानोंके निवासी महाबली धानर जुट गये, जो घेड़ोंकी गर्जनके समान उच्च शब्दमें मित्रनाद करते थे ॥ १२ ॥

नरुणादित्यवर्णैश्च शशिगौरैश्च वानरैः ।

पद्मकेसरवर्णैश्च श्वेतेर्हमकुमालयैः ॥ १३ ॥

कई बालमयंक समान लाल रंगके थे तो कोई चन्द्रमाके समान और चणके । किन्तु तो धानर कमलके केसरोंके समान पाले रंगके थे और किन्तु तो शिपाचलवासी धानर सफ़ेद दिशाओं में थे ॥ १३ ॥

कोटीसहस्रदंशभिः श्रीमान् परिवृतस्तदा ।

वीरः शतबलिनाम धानरः प्रत्यदृश्यत ॥ १४ ॥

उस समय धर्म कान्तिमान् शतबलिनामक वीर धानर

* पुन्याम शत्रुओं की कन्या शची इन्द्रदेवके प्रति अनुक्त थीं परन्तु अनुद्वातने उनके पिताको क्रुमलाकर अपने पक्षमें कर लिया और उसकी अनुमतिसे शचीका हा निगा । तब इन्द्रने इसका दण्ड लिया । तब व अनुक्त दानवाले पुन्यामको और अपहरण करनेवाले अनुद्वातका भी मारकर शचीका अपन घर ल आया । यह पुरुषप्रसिद्ध कथा है । (समस्यर्णतिलकसे)।

दस अरब वानरोंके साथ दृष्टिरोचर हुआ ॥ १४ ॥

ततः काञ्चनशैलाभस्ताराया वीर्यवान् पिता ।

अनेकैर्बहुसाहस्रैः कोटिभिः प्रत्यदृश्यत ॥ १५ ॥

तत्पश्चात् सुवर्णशैलक समान सुन्दर एवं विशाल शरीरवाले ताराके भक्तबली पिता कई सहस्र कोटि वानराक साथ वहाँ उपस्थित देखे गये ॥ १५ ॥

तथापरेण कोटीनां सहस्रेण समन्वितः ।

पिता रुमाया सध्यातः सुग्रीवश्चशुरो विभुः ॥ १६ ॥

इसी प्रकार रुमाके पिता और सुग्रीवक चशुर, जो बड़े वैभवशाली थे, वहाँ उपस्थित हुए। उनके साथ भी दस अरब वानर थे ॥ १६ ॥

पद्मकेसरसंकाशस्तरुणार्कनिधाननः ।

बुद्धिमान् वानरश्रेष्ठः सर्ववानरसत्तमः ॥ १७ ॥

अनेकैर्बहुसाहस्रैर्वानराणां समन्वितः ।

पिता हनुमतः श्रीमान् केसरी प्रत्यदृश्यत ॥ १८ ॥

तदनन्तर हनुमान्जोके पिता कर्पिश्रेष्ठ श्रीमान् केसरी दिखायी दिये। उनके शरीरका रंग कमलके केसरोंकी भाँति फीला और मुख जिन काँडेके सूर्यके समान लाल था। वे बड़े बुद्धिमान् और ममस्त वानरोंमें श्रेष्ठ थे। वे कई सहस्र वानरोंके घिरे हुए थे ॥ १७-१८ ॥

गोलाकूलमहाराजो गत्याक्षो भीमविक्रमः ।

वृतः कोटिसहस्रेण वानराणामदृश्यत ॥ १९ ॥

फिर लंगूर-जातिवाले वानरोंके महागज भयंकर पराक्रमी गत्याक्षक दर्शन हुआ। उनके साथ दस अरब वानरोंकी सेना थी ॥ १९ ॥

अश्विणी भीमवेगानी धूम्रः शत्रुनिबर्हणः ।

वृतः कोटिसहस्राभ्यां हाभ्यां समभिवर्तत ॥ २० ॥

शत्रुओंका संहार करनेवाले धूम्र भयंकर वेगशाली घोस अरब रीछोंकी सेना लेकर आये ॥ २० ॥

महाबलनिर्घेघरैः पनसो नाम यूथपः ।

आजगाम महावीर्यस्त्रिभुभिः कोटिभिर्वृतः ॥ २१ ॥

महापराक्रमी यूथपति पनस तीन करोड़ वानरोंके साथ उपस्थित हुए। वे सब के-सब बड़े भयंकर तथा महान् पर्वताकार दिखायी देने थे ॥ २१ ॥

नीलाञ्जनचयाकारो नीलो नार्यश्च यूथपः ।

अदृश्यत महाकायः कोटिभिर्दशभिर्वृतः ॥ २२ ॥

यूथपति नीलकण्ठ शरीर भी बड़ा विशाल था। वे नीले कज्जल गिरिके समान नीलवर्णके थे और दस करोड़ कपियोंसे घिरे हुए थे ॥ २२ ॥

ततः काञ्चनशैलाथो गवयो नाम यूथपः ।

आजगाम महावीर्यः कोटिभिः पञ्चभिर्वृतः ॥ २३ ॥

तदनन्तर यूथपति गवय, जो सुवर्णमय पर्वत पेरुके समान कानिमान् और महापराक्रमी थे, पाँच करोड़ वानरोंके

साथ उपस्थित हुए ॥ २३ ॥

दरीमुखश्च बलवान् यूथपोऽभ्याययौ तदा ।

वृतः कोटिसहस्रेण सुग्रीवं समवस्थितः ॥ २४ ॥

उसी समय वानरोंके बलवान् सरदार दरीमुख भी आ पहुँचे। वे दस अरब वानरोंके साथ सुग्रीवकी सेवामें उपस्थित हुए थे ॥ २४ ॥

मैन्दश्च द्विविदक्षोभाधश्चिपुत्रौ महाबलौ ।

कोटिकोटिसहस्रेण वानराणामदृश्यताम् ॥ २५ ॥

अश्विनोकुमारोंके महाबली पुत्र मैन्द और द्विविद ये दोनों भाई भी दस-दस अरब वानरोंकी सेनाके साथ वहाँ दिखायी दिये ॥ २५ ॥

गजश्च बलवान् वीरस्त्रिभुभिः कोटिभिर्वृतः ।

आजगाम महानेजाः सुग्रीवस्य समीपतः ॥ २६ ॥

तदनन्तर महानेजस्वी बलवान् गोर गज तीन करोड़ वानरोंके साथ सुग्रीवके पास आया ॥ २६ ॥

ऋक्षराजो महानेजा जाम्बवात्राय नाभतः ।

कोटिभिर्दशभिर्वृतः सुग्रीवस्य वशे स्थितः ॥ २७ ॥

रीछोंके राजा जाम्बवान् बड़े तेजस्वी थे। वे दस करोड़ रीछोंके घिरे हुए आये और सुग्रीवके अधीन होकर खड़े हुए ॥ २७ ॥

रुमणो नाम तेजस्वी विक्रान्तैर्वानरैर्वृतः ।

आगतो बलवांस्तूर्ण कोटीशतसमावृतः ॥ २८ ॥

रुमण (रुमणवान्) नामक तेजस्वी और बलवान् वानर एक अरब पराक्रमी वानरोंके साथ लिये बड़ी तीव्र गतिसे वहाँ आया ॥ २८ ॥

ततः कोटिसहस्राणां सहस्रेण शतेन च ।

पृष्ठतोऽनुगतः प्राप्तो हरिभिर्गन्धमादनः ॥ २९ ॥

इसके बाद यूथपति गन्धमादन उपस्थित हुए। उनके पीछे एक पक्ष वानरोंकी सेना आयी थी ॥ २९ ॥

ततः पद्मसहस्रेण वृतः शङ्खुशतेन च ।

युवराजोऽङ्गदः शमः पितृभृत्यपराक्रमः ॥ ३० ॥

तत्पश्चात् युवराज अङ्गद आये। वे अपने पिताके समान ही पराक्रमी थे। इनके साथ एक सहस्र पक्ष और सौ शङ्ख (एक पक्ष) वानरोंकी सेना थी (इनके सैनिकोंको कुरु संख्या दस शत एक पक्ष थी) ॥ ३० ॥

ततस्ताराद्युतिस्तारो हरिभिर्भीमविक्रमैः ।

पञ्चभिर्हरिकोटीभिर्दूरतः पर्यदृश्यत ॥ ३१ ॥

तदनन्तर ताराके समान कानिमान् तार नामक वानर पाँच करोड़ भयंकर पराक्रमी वानर वीरोंके साथ दूरसे आता दिखायी दिया ॥ ३१ ॥

इन्द्रजानुः कविर्वीरो यूथपः प्रत्यदृश्यत ।

एकादशानां कोटीनामीश्वरस्तैश्च संवृतः ॥ ३२ ॥

इन्द्रजानु (इन्द्रभानु) नामक वीर यूथपति, जो बड़े ही

विद्वान् एवं बुद्धिमान् था, ग्याम्ह करोड़ खनरोके साथ
उपस्थित देखा गया । वह उन सबका स्वामी था ॥ ३२ ॥

ततो रम्भस्वनुप्राप्तस्तरुणादित्यसंनिभः ।
अधुनेन वृत्तश्रवण सहस्रेण शतेन च ॥ ३३ ॥

इसके बाद रम्भनामक खानर उपस्थित हुआ, जो
प्राप्त-कालके सूर्यकी भांति लाल रंगका था । उसके साथ
ग्यारह हजार एक सौ खानरोकी सेना थी ॥ ३३ ॥

ततो यूथपतिर्वीरो दुर्मुखो नाम खानरः ।
प्रत्यदृश्यत कोटीभ्यां दुर्भ्यां पश्चिना वली ॥ ३४ ॥

तत्पश्चात् वीर यूथपति दुर्मुख नामक बलवान् खानर उपस्थित
देखा गया, जो दो करोड़ खानर सैनिकासंग घिर हुआ था ॥ ३४ ॥

कैलासशिखराकरैर्खानरैर्भीमविक्रमैः ।
वृतः कोटिसहस्रेण हनुमान् प्रत्यदृश्यत ॥ ३५ ॥

इसके बाद हनुमान्जाने दर्शन दिया । उसके साथ
कैलासशिखरके समान श्वेत शरीरवाले भयंकर पराक्रमी
खानर दस अरबकी संख्यामें मौजूद थे ॥ ३५ ॥

नलश्चापि भहासीर्यः सवृत्तो दुग्वासिभिः ।
कोटीशतेन सम्प्राप्तः महत्वेण शतेन च ॥ ३६ ॥

फिर महापराक्रमी नल उपस्थित हुए, जो एक अरब एक
हजार एक सौ दुग्वासी खानरोंसंग घिर हुए थे ॥ ३६ ॥

ततो वधिमुखः श्रीमान् कोटिभिर्दशभिर्वृतः ।
सम्प्राप्तोऽभिनन्दन्तस्य सुग्रीवस्य महात्मनः ॥ ३७ ॥

तदनन्तर श्रीमान् वधिमुख दस करोड़ खानरोंके साथ गर्जना
करते हुए किष्किन्धामें महात्मा सुग्रीवके पास आय ॥ ३७ ॥

शरभः कुमुदो वह्निर्वानरो रह एव च ।
एते चान्ये च बहवो खानराः कामरूपिणः ॥ ३८ ॥

आवृत्य पृथिवीं सर्वां पर्वतांश्च वनानि च ।
यूथपाः समनुप्राप्ता येषां संख्या न विद्यते ॥ ३९ ॥

इनके सिवा शरभ, कुमुद, वह्नि तथा रह—ये और दूसरे
भी वायुन में इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले खानरयूथपति
प्राप्त पृथ्वी पर्वत और वनोंके आवृत करके वहाँ उपस्थित
हुए, जिनकी कोई गणना नहीं की जा सकती ॥ ३८-३९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे एकादशतारिंशः सर्गः ॥ ३९ ॥

इम प्रकार श्रीवाल्मीकीर्णमत आध्यात्म्येण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें उन्नाल्लेखी सर्ग पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशः सर्गः

श्रीरामकी आज्ञासे सुग्रीवका सीताकी खोजके लिये पूर्व दिशामें खानरोको
भेजना और वहाँके स्थानोंका वर्णन करना

अथ राजा समुद्धार्यः सुग्रीवः प्रवगेश्वरः ।
वथाद्य नरशार्दूलं रामं परबलार्दनम् ॥ १ ॥

तदनन्तर बल-वैभवसे सम्पन्न खानरराज राजा सुग्रीव
शत्रुसैनिका संहार करनेवाले पुरुषसिंह श्रीराममें बोले— ॥

आगताश्च निविष्टाश्च पृथिव्या सर्वखानराः ।
आप्रवन्तः प्रवन्तश्च गर्जन्तश्च प्रवगमाः ॥

अध्यवन्त सुग्रीवं सूर्यमभ्रगणा इव ॥ ४० ॥

वहाँ आये हुए सभी खानर पृथ्वीपर बैठे । वे सूर्य-
के-सक उल्लसते, कूटते और गर्जते हुए वहाँ सुग्रीवके
चारों ओर जम हो गये । जैसे सूर्यको सब ओरसे घेरकर
बादलोंके समूह छा रहें हैं ॥ ४० ॥

कुर्वाणा बहुशब्दाश्च प्रकृष्टा बाहुशालिनः ।
शितोभिर्खानरेन्द्राय सुग्रीवाय न्यवेदयन् ॥ ४१ ॥

अन्यो भुजाओंमें मुद्रास्थित हाथवाले बहुशब्द श्रेष्ठ खानरोंने
(जो थोड़ा-करके सुग्रीवके पासतक न पहुँच सके थे)
अनेक प्रकारकी बोली बोलकर तथा मस्तक झुकाकर
खानरराज सुग्रीवको अपने आगमनकी सूचना दी ॥ ४१ ॥

अपरे खानरश्रेष्ठाः संगम्य च यथोचितम् ।
सुग्रीवेण समागम्य स्थिताः प्राञ्जलयस्तदा ॥ ४२ ॥

बहुत-से श्रेष्ठ खानर उनके पास गये और यथोचितरूपमें
मिलकर लींटे तथा जितने ही खानर सुग्रीवसे मिलनके बाद
उनके पास ही हाथ जोड़कर खड़े हो गये ॥ ४२ ॥

सुग्रीवस्वरितो रामे सर्वास्तान् खानरर्वभान् ।
निवेदयित्वा धर्मज्ञः स्थितः प्राञ्जलिर्ब्रवीत् ॥ ४३ ॥

धर्मके कृत खानरराज सुग्रीवने वहाँ आये हुए उन सब
खानरश्रेष्ठोंमेंसे एक समाचार निवेदन करके श्रीरामचन्द्रजीको
ज्ञोचतापूर्वक उनका परिचय दिया, फिर हाथ जोड़कर वे
उनके सामने खड़े हो गये ॥ ४३ ॥

यथासुखं पर्वतनिर्झरिणु
खनेषु सर्वेषु च खानरेन्द्राः ।

निवेशयित्वा विधिवद् बलानि
बलं बलज्ञः प्रतिपनुमीष्टे ॥ ४४ ॥

उन खानर-यूथपतियोंने वहाँके पर्वतोंमें झरनोंके आस-पास
तथा समस्त वनमें अनेक जगहोंकी रक्षणानिरूपमें सुग्रीवके
उपदेश दिया । नरबलान् सब सेनाओंकी ज्ञाता सुग्रीव उनका पूर्णतः
ज्ञान प्राप्त करनेमें समर्थ हो सके ॥ ४४ ॥

आगता विनिविष्टाश्च बलिनः कामरूपिणः ।
खानरेन्द्रा महेन्द्राश्च ये महिषयवासिनः ॥ २ ॥

'भगवन् ! जो यों राज्यमें निवास करते हैं, वे महेन्द्रके
समान तेजस्वी, इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले और बलवान्

वानर-यूथपति यहाँ आकर पड़ाव डाले बैठ है ॥ २ ॥

त इमे बहुविक्रान्तैर्बलिभिर्भौमविक्रयैः ।

आगता वानरा घोरा दैत्यदानवसन्निभाः ॥ ३ ॥

‘ये अपने साथ ऐसे बलवान् वानर बौद्धाओंके ले आये हैं जो बहुत-से युद्धमन्त्रार्थ अपना पराक्रम प्रकट कर चुके हैं और धन्यकर पुरुषार्थ कर दिखानेवाले हैं। यहाँ ऐसे-ऐसे वानर ठपस्थित हुए हैं, जो दैत्यों और दानवोंके समान भयानक हैं ॥ ३ ॥

ख्यातकर्मापदानाश्च बलवन्तो जितकुमाः ।

पराक्रमेषु विख्याता व्यवसायेषु चोत्तमाः ॥ ४ ॥

अनक युद्धार्थे इन वानर वीरोंकी शू-वीरताका परिचय मिल चुका है। ये बलक धनदार हैं युद्धमें धकने नहीं हैं इनमें धकावटकी जान लिये है। ये अपने पराक्रमके लिये प्रसिद्ध और उद्योग करनेमें श्रेष्ठ हैं ॥ ४ ॥

पृथिव्यम्बुजरा राम नानानगनिवासिनः ।

कोट्योघाश्च इमे प्राप्ता वानराम्बव विकाराः ॥ ५ ॥

‘श्रीराम ! यहाँ आये हुए ये वानरोंके करोड़ों युय विभिन्न पर्वतोंपर निवास करनेवाले हैं। अमल और धन—दान—समानरूपसे चलनेकी शक्ति रखते हैं। ये सब-के-सब आपके विकार (आज्ञापालक) हैं ॥ ५ ॥

निदेशवर्तिनः सर्वे सर्वे गुरुहिने स्थिताः ।

अभिप्रेतमनुष्ठानं तत्र शक्यन्यर्गिष ॥ ६ ॥

शत्रुदमन ! ये सभी आपकी आज्ञाके अनुसार चलनेवाले हैं। आप इनके गुरु—स्वामी हैं। ये आपके हितसाधनमें तत्पर रहकर आपके अभीष्ट मनोऽर्थका सिद्ध कर सकेंगे ॥ ६ ॥

त इमे बहुसाहस्रैर्गर्भैर्भौमविक्रयैः ।

आगता वानरा घोरा दैत्यदानवसन्निभाः ॥ ७ ॥

‘दैत्यों और दानवोंके समान घोर रूपधारी ये सभी वानर-यूथपति अपने साथ धन्यकर पराक्रम करनेवाली कई सज्ज सेनाएँ लेकर आये हैं ॥ ७ ॥

यन्मन्यसे नरव्याघ्र प्राप्ताकालं तदुच्यताम् ।

त्वत्सैन्यं स्वहृदो युक्तमाज्ञापयिनुमर्हसि ॥ ८ ॥

‘पुरुषसिंह ! अब इस समय आप जो कतल्य उचित्र समझते हैं, उसे बताइये। आपकी यह सेना आपके चक्षुमें है आप इस यथाचित्त कार्यके लिये आज्ञा प्रदान करें ॥ ८ ॥

काममेषामिदं कार्यं विदितं मम तत्त्वतः ।

तथापि तु यथायुक्तमाज्ञापयिनुमर्हसि ॥ ९ ॥

‘यद्यपि सीताजीके अन्वेषणका यह कार्य इन सबको तथा मुझे भी अच्छी तरह ज्ञात है, तथापि आप जैसा उचित हो, वैसे कार्यक लिये हमें आज्ञा दें ॥ ९ ॥

तथा ब्रुवाणं सुग्रीवं रामो दशरथात्मजः ।

बाहुभ्यां सम्परिबुज्य हृदं वचनमब्रवीत् ॥ १० ॥

जब सुग्रीवने ऐसा बात कही, तब दशरथजन्म श्रीरामने दोनों भुजाओंसे पकड़कर उन्हें हृदयसे लगा लिया और इस प्रकार कहा— ॥ १० ॥

ज्ञायतां सौम्य वैदेही यदि जीवति वा न वा ।

स च देशो महाप्राज्ञ यस्मिन् वसति रावणः ॥ ११ ॥

‘सौम्य ! महाप्राज्ञ ! पहले यह तो पता लगाओ कि विदेहकुमार सीता जीवित है या नहीं तथा वह देश, जिसमें रावण निवास करता है, कहाँ है ? ॥ ११ ॥

अधिगम्य तु वैदेहीं निलयं रावणस्य च ।

प्राप्तकालं विधास्यामि तस्मिन् काले सह त्वया ॥ १२ ॥

‘जब सीताके जीवित होनेका और रावणके निवास-स्थानका विशिष्ट पता मिल जायगा तब जो समयोचित कतल्य होगा उसका मैं तुम्हारे साथ मिलकर निश्चय करूँगा ॥ १२ ॥

नाहमस्मिन् प्रभुः कार्यं वानरेन्द्र न लक्ष्यणः ।

त्वमस्य हेतुः कार्यस्य प्रभुश्च प्रवगेश्वर ॥ १३ ॥

‘वानरराज ! इस कार्यको सिद्ध करनेमें मैं तो मैं समर्थ हूँ और न लक्ष्यण ही कपाश्च इस कार्यको सिद्धि तुम्हारे ही हाथ है। तुम्हीं इसे पूर्ण करनेमें समर्थ हो ॥ १३ ॥

त्वमवाज्ञापय विधो मम कार्यविनिश्चयम् ।

त्वं हि जानामि मे कार्यं मम वीर न संशयः ॥ १४ ॥

‘प्रभो ! मेरे कार्यका भलीभाँति निश्चय करके तुम्हीं वानरोंको उचित आज्ञा दें। वीर ! मेरा कार्य क्या है ? इसे तुम्हीं ठीक-ठीक जानते हो, इसमें संशय नहीं है ॥ १४ ॥

सुहृद्भिर्नीयो विक्रान्तः प्राज्ञः कालविशेषविन् ।

भवानम्बुद्विजे युक्तः सुहृदामोऽर्थवित्तमः ॥ १५ ॥

लक्ष्यणके बाद तुम्हीं मेरे दुसर मुहूर्त हो। तुम पराक्रमी बुद्धिमान्, समयोचित कतल्यके ज्ञाता, हिनमें सेलस्य रत्नवान्, हितके वन्धु विश्वासपात्र तथा मेरे प्रयोजनको अच्छे तरह समझनेवाले हो ॥ १५ ॥

एवमुक्तस्तु सुग्रीवो विनतं नाम यूथपम् ।

अब्रवीद् रामसान्निध्ये लक्ष्मणस्य च धीमतः ॥ १६ ॥

शैलार्थं मेघनिर्धोषपूजितं प्रवगेश्वरम् ।

सौमसूर्यनिधेः सार्धं वानरैर्वानरोत्तम ॥ १७ ॥

देशकालमन्ययुक्तो विज्ञः कार्यविनिश्चये ।

वृत्तः शतसहस्रेण वानराणां तरस्विनाम् ॥ १८ ॥

अधिगच्छ दिशं पूर्वां सशैलवनकाननाम् ।

तत्र सीतां च वैदेहीं निलयं रावणस्य च ॥ १९ ॥

मार्गध्वं गिरिदुर्गेषु वनेषु च नदीषु च ।

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर सुग्रीवने उनके और बुद्धिमान् लक्ष्मणके समीप ही विनत नामक यूथपतिसे, जो पर्वतके समान विशालकाय मेघके समान गम्भीर गर्जना करनेवाले, बलवान् तथा वानरोंके शालक थे और चन्द्रमा एवं सूर्यके समान कान्तिवाले वानरोंके साथ उपस्थित हुए थे,

कहा—'वानरशिरोमणे । तुम देश और कालके अनुसार नीलिका प्रयोग करनेवाले तथा कस्यका निश्चय करनेमें चतुर हो । तुम एक लाख वेगवान् वानरोंके साथ पर्वत, चन और काननोपहित पूर्व दिशाकी ओर जाओ और वहाँ पट्टाड़ोंके दुर्गम प्रदेशों, वनों तथा सरिताओंमें विदेहकुमारों सीता एवं गवणके निवास-स्थानकी खोज करो ॥ १६—१९ ॥

नदीं भागीरथीं रम्यां सरयू कौशिकीं तथा ॥ २० ॥

कालिन्दीं यमुनां रम्यां यामुनं च महागिरिम् ।

सरस्वतीं च सिन्धुं च शोणं मणिनिभोटकम् ॥ २१ ॥

महीं कालमहीं अपि शैलकाननशोभिताम् ।

'भागीरथी मङ्गल, रमणीय सरयू, कौशिकी, सुरम्य कालिन्दी-नन्दिनी यमुना, महापर्वत यामुन, सरस्वती नदी, सिन्धु, मणिनि-मयान निर्मल जलवाले शोणभट्ट, महीं तथा पर्वतों और वनोंमें सुशोभित कालमही आदि नदियोंके किनारे होंगे ॥ २०-२१ ॥

ब्रह्ममालान् विदेहांश्च मालवान् काशिकोमलान् ॥ २२ ॥

मागधोश्च महापामान् पुण्ड्रास्त्वङ्गास्तथैव च ।

ब्रह्ममाल, विदेह, मालव, काशी, कोमल, मागध देशके बड़े बड़े प्रायः पुण्ड्रदेश तथा ब्रह्म आदि जनपदोंमें खनबीन करो ॥ २२ ॥

भूमिं च कोशकाराणां भूमिं च रजताकराम् ॥ २३ ॥

सर्वं च तद् विचेतव्यं मार्गयद्भिस्ततस्ततः ।

रामस्य दधिता भार्या सीतां दशम्यश्रुताम् ॥ २४ ॥

'रामके कीड़ाकी उत्पत्तिके स्थानों और आदि के स्थानोंमें भी खोज करना चाहिये, उधर-उधर हँसते हुए तुम सब लोगक इन सभी स्थानोंमें राजा दशरथकी पुत्रधृन् तथा आरमचन्द्रजीका प्यारी पत्नी सीताका अन्वेषण करना चाहिये ॥ २३-२४ ॥

समुद्रमवगाढांश्च पर्वतान् पतनानि च ।

मन्दरस्य च ये कोटि सञ्चिताः केचिदालयाः ॥ २५ ॥

'समुद्रके भीतर प्राविष्ट हुए पर्वतोंपर, उसके अन्तर्गतों द्वीपोंके विभिन्न नगरोंमें तथा मन्दराचलकी चोटीपर जो कोई गाँव बसे है, उन सबमें सीताका अनुसन्धान करो ॥ २५ ॥

कर्णप्रावरणाश्चैव तथा चाप्यंगुष्ठाकर्णकाः ।

घोरलोहमुखाश्चैव जलनाशुकपाटकाः ॥ २६ ॥

अक्षया बलवन्तश्च तथैव पुम्बाटकाः ।

किरातास्तीक्ष्णान्द्राश्च हेमाभा प्रियदर्शनाः ॥ २७ ॥

आममीनाशनाश्चापि किराता द्वीपवासिनः ।

अन्नजलचरा घोरा नरव्याघ्रा इति स्मृताः ॥ २८ ॥

एतेषामाश्रयाः सर्वे विचेयाः काननीकसः ।

'जो कर्णप्रावरण (बखरी भोजित पैरतक लटकें हुए कानवाले), अंगुष्ठाकर्णक (ओठतक फैले हुए कानवाले) तथा घोरलोहमुख (लोहके समान काल एवं मध्यकर मुखवाले) हैं, जो एक ही धरके होते हुए भी वेगपूर्वक चलनेवाले हैं, जिनकी संतानधर्म्यता कभी क्षीण नहीं होती

वे पुरुष तथा जो बलवान् नरभक्षी रुक्षस हैं, जो सुन्दोंके अप्रभागको भोजित तीखी चोटीवाले, सुवर्णके समान कान्समान, प्रियदर्शन (सुन्दर), कसौ मछली खानवाले, द्रौपदासी तथा जलके भीतर विचरनेवाले किरात हैं, जिनके बीचका आकार ननुय-जम्बा और ऊपरकी आकृति व्याघ्रके समान है, ऐसे जो भयंकर प्राणी बनाये गये हैं; वानरो ! इन सबके अन्तर्गम्यस्थानोंमें जाकर मुझे सीता तथा रावणकी खोज करना चाहिये ॥ २६—२८ ॥

गिरिभिर्वै च गम्यन्ते भ्रूवनेन भ्रूवेन च ॥ २९ ॥

'जिन द्वीपोंमें पर्वतोंपर होकर जाना पड़ता है, जहाँ समुद्रको तेरकर या नाव आदिके द्वारा पहुँचा जाता है, उन सब स्थानोंमें सीताका ढूँढ़ना चाहिये ॥ २९ ॥

यवद्वीपं यवद्वीपं समराजपशोभितम् ।

सुवर्णमध्यकद्वीपं सुवर्णकर्मण्डितम् ॥ ३० ॥

इसके सिवा तुमलोग यवद्वीप होकर साथ साथसे सुशोभित यवद्वीप (जावा), सुवर्णद्वीप (सुमात्रा) तथा मध्यकद्वीप भी जा मुन्हाणोंके खानाने सुशोभित हैं ढूँढ़नेका प्रयत्न करो ॥ ३० ॥

यवद्वीपमतिक्रम्य शिशिरो नाम पर्वतः ।

दिवं स्पृशति भृङ्गेण देवदानवसेवितः ॥ ३१ ॥

यवद्वीपको लाँघकर आगे जानपर एक शिशिरनामक पर्वत मिलता है, जिसके ऊपर देवता और दानव निवास करते हैं । वह पर्वत अपने उच्च शिखरसे स्वर्गलोकका स्पर्श करता-सा जान पड़ता है ॥ ३१ ॥

एतेषां गिरिदुर्गेषु प्रपातेषु वनेषु च ।

पार्श्वं सहिताः सर्वे रामपत्नीं यशस्विनीम् ॥ ३२ ॥

इन सब द्वीपोंके पर्वतों तथा शिशिर पर्वतके दुर्गम प्रदेशोंमें, झरनेके आसपास और जंगलोंमें तुम सब लोग एक साथ होकर श्रीरामचन्द्रजीकी यशस्विनी पत्नी सीताका अन्वेषण करो ॥ ३२ ॥

ततो रक्तजले प्राप्य शोणारव्य शीघ्रवाहिनम् ।

गत्वा पारे समुद्रस्य सिद्धचारणसेवितम् ॥ ३३ ॥

तस्य तीर्थेषु रम्येषु विचित्रेषु वनेषु च ।

रावणः सह वैदेह्या पार्श्वनिव्यस्ततस्ततः ॥ ३४ ॥

'तदनन्तर समुद्रके उस पार जहाँ सिद्ध और चारण निवास करते हैं, जाकर लाल जलमें घरे हुए शीघ्र प्रवाहित होनेवाले शोण नामक नदीके तटपर पहुँच जाओगे । उसके तटवर्ती रमणीय तीर्थों और विचित्र वनोंमें जहाँ-तहाँ विदेहकुमारी सीताके साथ रावणको खोज करना ॥ ३३-३४ ॥

पर्वतप्रभवा नद्यः सुभीमबहुनिष्कुटाः ।

पार्श्वनिव्या दरीमन्तः पर्वताश्च वनानि च ॥ ३५ ॥

पर्वतोंमें निकली हुई बहुत-सी ऐसी नदियाँ मिलेंगी, जिनके तटोंपर बड़े भयंकर अनेकानेक उपवन प्राप्त होंगे ।

साथ ही वहाँ बहुत-सी गुफाओंवाले पर्वत उपलब्ध होंगे और अनेक घन भी दृष्टिगोचर होंगे। उन सबमें सौताका पता लगाना चाहिये ॥ ३५ ॥

ततः समुद्रद्वीपांश्च सुधीमान् द्रक्षुमर्हथ ।

ऊर्मिमन्तं महारौद्रं क्रोशन्तमनिलोद्धतम् ॥ ३६ ॥

‘तत्पश्चात् पूर्वोक्त देशोंमें पंग जाकर तुम इक्षुसम समुद्र तथा उसके द्वीपोंको देखोगे जो बड़े ही भयंकर प्रतीत होंगे हैं। इक्षुसका वह समुद्र महाभयंकर है उसमें ज्योंके घेरासे उगाल तरंगें उठती रहती हैं तथा बड़े गर्जना करता हुआ-सा जान पड़ता है ॥ ३६ ॥

तत्रासुरा महाकायाश्छायां गृह्णन्ति नित्यशः ।

ब्रह्मणा समनुजाता दीर्घकालं बुभुक्षिताः ॥ ३७ ॥

‘उस समुद्रमें बहुत-से विशालकाय असुर निवास करते हैं। वे बहुत दिनोंके भूखे होते हैं और छपा पकड़कर ही प्राणियोंको अपने पास खींच लेते हैं। यहाँ उनका नित्यका आहार है। इसके लिये उन्हें ब्रह्माजीसे अनुमति मिल चुकी है ॥ ३७ ॥

तं कालमेघप्रतिमं महोरगनिषेवितम् ।

अभिगम्य महानादं तीर्थेनैव महोदधिम् ॥ ३८ ॥

ततो रक्तजले भीमं लोहितं नाम सागरम् ।

गत्वा प्रेक्ष्यथ तां चैव बृहतीं कृत्वात्मलीम् ॥ ३९ ॥

‘इक्षुसका वह समुद्र काले मेघके समान इयाम दिवायी देता है। बड़े-बड़े नाग उसके भीतर निवास करते हैं। उससे बड़ी धारी गर्जना होती रहती है। विशेष उपायोंमें उस महासागरके पार जाकर तुम लाल रंगके जलसे भरे हुए लोहित नामक भयंकर समुद्रके तटपर पहुँच जाओगे और वहाँ शाल्मलीद्वीपके चिह्नभूत कृत्वात्मली नामक विशाल वृक्षका दर्शन करोगे ॥ ३८-३९ ॥

गृहं च वैनतेयस्य नानारत्नविभूषितम् ।

तत्र कैलाससंकाशं विहितं विश्वकर्मणा ॥ ४० ॥

‘उसके पास ही विश्वकर्माका बनाया हुआ किन्नानन्दन गरुड़का एक सुन्दर भवन है, जो नाना प्रकारके रत्नोंमें विभूषित तथा कैलास पर्वतके समान उज्ज्वल एवं विशाल है ॥ ४० ॥

तत्र शैलनिधा भीमा मन्देहा नाम राक्षसाः ।

शैलशृङ्गेषु लम्बन्ते नानारूपा भयावहाः ॥ ४१ ॥

‘उस द्वीपमें पर्वतके समान शरीरवाले भयंकर मन्देहा नामक राक्षस निवास करते हैं, जो मुग समुद्रके मध्यवर्ती शैल शिखरोंपर लटकते रहते हैं, वे अनेक प्रकारके रूप धारण करनेवाले तथा भयदायक हैं ॥ ४१ ॥

ते पतन्ति जले नित्यं सूर्यस्योदयनं प्रति ।

अभितप्ताः स्म सूर्येण लम्बन्ते स्म पुनः पुनः ॥ ४२ ॥

निहता ब्रह्मतेजोभिरहन्यहनि राक्षसाः ।

‘प्रतिदिन सूर्योदयके समय वे राक्षस ऊर्ध्वमुख होकर

सूर्यसे जूझने लगते हैं परन्तु सूर्यमण्डलके तापसे सगम तथा ब्रह्मजसे निहत हो मुग-समुद्रके जलमें गिर पड़ते हैं वहर्मि फिर जीवित हो उन्हीं शैल-शिखरोंपर लटक जाते हैं उनका बारबार ऐसा ही क्रम चला करता है ॥ ४२ ॥

ततः पाण्डुरमेघाभं क्षीरोदं नाम सागरम् ॥ ४३ ॥

‘शाल्मलिद्वीप एवं मुग-समुद्रमें आगे बढ़नेपर (क्रमशः पुन और अधिक समुद्र प्राप्त होंगे वहाँ सौताकी खोज करनेके पक्षान् जब आगे बढ़ोगे, तब) मण्डे वादलोंकी सी आभाकलें क्षीरसमुद्रका दर्शन करोगे ॥ ४३ ॥

गत्वा द्रक्ष्यथ दुर्धर्षा मुक्ताहारमिवोर्मिभिः ।

तस्य मध्ये महाश्वेतो ऋषभो नाम पर्वतः ॥ ४४ ॥

‘दुर्धर्ष नामग। वहाँ पहुँचकर ठठनी हुई लहरोंमें युक्त क्षीरसागरको इस प्रकार देखोगे, मानो उसमें मोतियोंके हार पहन रखे हों। उस सागरके बीचमें ऋषभ नाममें प्रसिद्ध एक बहुत ऊँचा पर्वत है, जो श्वेत वर्णका है ॥ ४४ ॥

दिव्यगन्धैः कुसुमिर्तराचितैश्च नगैर्वृतः ।

सरश्च राजतैः पद्मैर्ज्वलितैर्हैमकेसरैः ॥ ४५ ॥

नाम्ना सुदर्शनं नाम राजहंसैः समाकुलम् ।

‘उस पर्वतपर सब ओर बहुत-से वृक्ष भरे हुए हैं, जो फूलोंमें सुगन्धित तथा दिव्य गन्धसे सुगन्धित हैं। उसके ऊपर सुदर्शन नामका एक सरोवर है, जिसमें चाँदीके समान श्वेत रंगवाले कमल खिले हुए हैं। उन कमलोंके केसर मुवर्णमय होते हैं और सदा दिव्य दीप्तिसे दमकते रहते हैं, वह सरोवर राजहंसोंसे भरा रहता है ॥ ४५ ॥

विबुधाश्चारणा यक्षाः किनराश्चाप्सरोगणाः ॥ ४६ ॥

हृष्टाः समधिगच्छन्ति नलिनीं तां रिरंसवः ।

‘देवता चारण यक्ष किन्नर और अप्सराएँ बड़ी प्रसन्नताके साथ उल्लसित होकर वहाँ आया करती हैं ॥ ४६ ॥

क्षीरोदं समनिक्रम्य तदा द्रक्ष्यथ वानराः ॥ ४७ ॥

जलोदं सागरं शीघ्रं सर्वभूतभयावहम् ।

तत्र तत्कोपजं तेजः कृतं हयमुखं महत् ॥ ४८ ॥

‘जाओगे। क्षीरसागर लॉघकर जब तुमल्लोग आगे बढ़ोगे, तब शीघ्र ही सुखादु जलमें भरे हुए समुद्रको देखोगे। वह महासागर मानस प्राणियोंको भय देनेवाला है उसमें ब्रह्मर्षि औरोंके कायस प्रकट हुआ बडवामुख नामक महान् तेज विद्यमान है ॥ ४७-४८ ॥

अस्थाहुस्तन्महावेगमोदनं सचराचरम् ।

तत्र विक्रोशतां नादो भूतानां सागरीकसाम् ।

भ्रूयन्ते चासमर्थानां दृष्ट्वाभूद् बडवामुखम् ॥ ४९ ॥

‘उस समुद्रमें जो चराचर प्राणियोंसहित महान् वेगशाली जल है, वही उस बडवामुख नामक अग्निका आहार बताया जाता है। वहाँ जो बडवानल प्रकट हुआ है, उसे देखकर उसमें पतनके भयसे चीखते-चिल्लाते हुए समुद्रनिवासी

असमर्थ प्राणियोंका आर्तनाद निरन्तर सुनायी देता है ॥ ४९ ॥
स्वादुदस्योत्तरे तीरे योजनानि त्रयोदश ।
जातरूपशिलो नाम सुमहान् कनकप्रभः ॥ ५० ॥

'स्वादुष्टि' जलसे भरे हुए उस समुद्रके उत्तर तैरते योजनका दूरीपर सुवर्णमय शिला नाम सुशोभित कनकका कमनय कान्ति धारण करनेवाला एक बहुत ऊँचा पर्वत है ॥ ५० ॥

तत्र चन्द्रप्रतीकाशं पद्मं शरणीधरम् ।
पद्मपत्रविशालाक्षं ततो दृश्यथ वानरः ॥ ५१ ॥
आसीनं पर्वतस्याग्रे सर्वदिक्पद्मस्कृतम् ।

सहस्रशिखरं देवमनन्तं नीलवाससम् ॥ ५२ ॥

'वानरो' । उसके शिखरपर इस पृथ्वीको धारण करनेवाले भगवान् अनन्त घंटे दिखायी देंगे । उनका श्रौविग्रह चन्द्रमाके समान गौरवर्णका है च सप्त जलिके हैं पद्म उनका स्वरूप देवताआँखें नुन्य हैं उनके नत्र प्रफुल्ल कमलदलके समान हैं और शरीर नील वस्त्रसे आच्छादित है । उन अनन्तदेवके सत्त्व मयस्क है ॥ ५१-५२ ॥

त्रिशिराः काञ्चनः केतुस्तालस्तस्य महात्मनः ।
स्थापितः पर्वतस्याग्रे विराजति सवेदिकः ॥ ५३ ॥

'पर्वतके' ऊपर उन महात्माको ताड़के चिह्नसे युक्त सुवर्णमयी ध्वजा फहराती रहती है । उस ध्वजाकी तीन शिखाएँ हैं और उसके नीचे आघारभूमिपर बंदो बनों जुड़े हैं । इस तरह उस ध्वजकी बड़ी शोभा होती है ॥ ५३ ॥

पूर्वस्यां दिशि निर्माणं कृतं तत् त्रिदशेश्वरैः ।
ततः परे हेममयः श्रीमानुदयपर्वतः ॥ ५४ ॥

'यही तालध्वज पूर्व दिशाको सोमाके सुक्क-चिह्नके रूपमें देवताओँद्वारा स्थापित किया गया है । उसके बाद सुवर्णमय उदयपर्वत है, जो दिव्य शोभामे सम्पन्न है ॥ ५४ ॥

तस्य कोटिर्दिशं स्पृष्टा शतयोजनमायता ।
जातरूपमयी दिव्या विराजत सवेदिका ॥ ५५ ॥

'उसका गगनचुम्बी शिखर भी योजन लंबा है । उसका आधारभूत पर्वत भी चैत्रा ही है । उसका साथ वह दिव्य सुवर्णशिखर अद्भुत शोभा पाता है ॥ ५५ ॥

सालैस्तालैस्तमालैश्च कर्णिकारैश्च पुष्पितैः ।
जातरूपमयैर्दिव्यैः शोभते सूर्यसन्निभः ॥ ५६ ॥

'यहाँकें साल, ताल, तमाल और फुलोंसे लदे कर्णिकार और पुष्प भी सुवर्णमय ही हैं । उन सूर्यनुन्य नजस्वी दिव्य रूपाँसे उदयगिरिकी बड़ी शोभा होती है ॥ ५६ ॥

तत्र योजनविस्तरमुच्छ्रितं दशयोजनम् ।
भृङ्गं सौमनसं नाम जातरूपमयं ध्रुवम् ॥ ५७ ॥

'उस भी योजन लम्बे उदयगिरिके शिखरपर एक सौमनस नामक सुवर्णमय शिखर है, जिसको चौड़ाई एक योजन और ऊँचाई दस योजन है ॥ ५७ ॥

तत्र पूर्व पदं कृत्वा पुरा धिष्णुस्त्रिविक्रमे ।
द्वितीयं शिखरे मेरोश्चकार पुरुषोत्तमः ॥ ५८ ॥

'पूर्वकालमें यामन अवतारके समय पुरुषोत्तम भगवान् धिष्णुने अपना पहला पैर उस सौमनस नामक शिखरपर रखकर दूसरा पैर मेरु पर्वतके शिखरपर रखा था ॥ ५८ ॥

उत्तरेण परिक्रम्य जम्बूद्वीपं दिवाकरः ।
दृश्यो धवति भूधिष्ठे शिखरं तन्महोच्छ्रयम् ॥ ५९ ॥

'सूर्यदेव उत्तरसे घूमकर जम्बूद्वीपकी परिक्रमा करते हुए जब अन्यन्त ऊँच 'मौमनस' नामक शिखरपर आकर स्थित होने हैं तब जम्बूद्वीपकी आसपासकी उनका अधिक व्यष्टताके साथ दर्शन होता है ॥ ५९ ॥

तत्र वैखानसा नाम बालस्त्रिवल्या महर्षयः ।
प्रकाशमाना दृश्यन्ते सूर्यवर्णास्तपस्विनः ॥ ६० ॥

'उस सौमनस नामक शिखरपर वैखानस महात्मा महर्षि बालाश्रित्यगण प्रकाशित होत दख जाते हैं जो सूर्यके समान कान्तिमान् और तपस्वी हैं ॥ ६० ॥

अयं सुदर्शनो द्वीपः पुरो यम्प्र प्रकाशते ।
तस्मिंस्तेजश्च स्रक्षुश्च सर्वप्राणभृतामपि ॥ ६१ ॥

'यह उदयगिरिके सौमनस शिखरके सामनका द्वीप सुदर्शन नामसे प्रसिद्ध है, क्योंकि उक्त शिखरपर जब भगवान् सूर्य उदित होते हैं, तभी इस द्वीपके सम्स्त प्राणियोंका तेजसे सम्बन्ध होता है और सबके बँकोंके प्रकाश प्राप्त होता है (यही इस द्वीपके 'सुदर्शन' नाम होनेका कारण है) ॥ ६१ ॥

शैलस्य तस्य पृष्ठेषु कन्दरेषु वनेषु च ।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्तनस्ततः ॥ ६२ ॥

'उदयचलके पृष्ठभागमें, कन्दराओंमें तथा वनोंमें भी तुम्हें जहाँ-तहाँ विदेहकुमारों सीतासहित रावणका पता लगाना चाहिये ॥ ६२ ॥

काञ्चनस्य च शैलस्य सूर्यस्य च महात्मनः ।
आविष्टा तेजसा संध्या पूर्वा रक्ता प्रकाशते ॥ ६३ ॥

'उस सुवर्णमय उदयचल तथा महात्मा सूर्यदेवके सजसे व्याप्त हुई उदयकालिक पूर्व संध्या रक्तवर्णकी प्रभासे प्रकाशित होती है ॥ ६३ ॥

पूर्वमेतत् कृतं द्वारं पृथिव्या भुवनस्य च ।
सूर्यस्यादयनं चैव पूर्वा ह्येषा दिगुच्यते ॥ ६४ ॥

'सूर्यक उदयका यह स्थान सबसे पहले ब्रह्माजीने बनाया है; अतः यही पृथ्वी एवं ब्रह्मलोकका द्वार है (ऊपरके लोकमें रहनेवाले प्राणी इसी द्वारमें भूलोकमें प्रवेश करते हैं तथा भूलोकके प्राणी इसी द्वारसे ब्रह्मलोकमें आते हैं) । पहले इसी दिशामें इस द्वारका निर्माण हुआ, इसलिये इसे पूर्व दिशा कहते हैं ॥ ६४ ॥

तस्य शैलस्य पृष्ठेषु निर्झरेषु गुहामु च ।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्तनस्ततः ॥ ६५ ॥

‘उदयाचलको घाटियो, इसनो और गुफाओमें यत्र-तत्र घूमकर तुम्हें बिदेहकुमारी सोतासहित रावणका अन्वेषण करना चाहिये ॥ ६५ ॥

ततः परमगम्या स्वाद् दिक्पूर्वा त्रिदशावृता ।

रक्षिता चन्द्रसूर्याभ्यामदृश्या तमसावृता ॥ ६६ ॥

‘इससे आगे पूर्व दिशा अगम्य है। ऊपर देवता रहते हैं। उस ओर चन्द्रमा और सूर्यका प्रकाश न होनेसे वहाँकी भूमि अन्धकारसे आच्छन्न एवं अदृश्य है ॥ ६६ ॥

शीलेषु तेषु सर्वेषु कन्दरेषु नदीषु च ।

ये च नोक्ता भयोद्देशा विचेया तेषु जानकी ॥ ६७ ॥

‘उदयाचलके आस-पासके जो समस्त पर्वत, कन्दराएँ तथा नदियाँ हैं उनमें तथा जिन स्थानोंका मैंने निर्देश नहीं किया है उनमें भी तुम्हें जानकीको खोज करनी चाहिये ।

एतावद् वानरैः शक्यं गन्तुं घानरपुङ्गवाः ।

अभास्करमयसादं न जानीमस्ततः परम् ॥ ६८ ॥

‘वानरशिरोमणियो । केवल उदयगिरितक ही वानरोंको पहुँच हो सकती है। इससे आगे न तो सूर्यका प्रकाश है और न देश आदिको कोई सीमा हो है। अतः आगेकी

भूमिके बारेमें मुझे कुछ भी मालूम नहीं है ॥ ६८ ॥

अधिगम्य तु वैदेहीं निलयं रावणस्य च ।

मासे पूर्णे निवर्तध्वमुदयं प्राप्य पर्वतम् ॥ ६९ ॥

‘तुमलोग उदयाचलतक जाकर सीता और रावणके स्थानका पता लगाकर और एक मास पूरा होते-होतेतक लौट आना ॥

ऊर्ध्वं मासान्न वस्तव्यं वसन् वध्यो भवेन्मम ।

सिद्धार्थाः संनिवर्तध्वमधिगम्य च मैथिलीम् ॥ ७० ॥

‘एक महीनेमें अधिक न ठहरना। जो अधिक कालतक वहाँ रह जायगा, वह मेरे द्वारा मार जायगा। मिथिलेश-कुमारोंका यत्न लगाकर अन्वेषणका प्रयोजन सिद्ध हो जानेपर अवश्य लौट आना ॥ ७० ॥

महेन्द्रकान्तां वनषण्डपण्डितां

दिशं चरित्वा निपुणेन वानराः ।

अवाप्य सीतां रघुवंशजप्रियां

ततो निवृत्ताः सुखिनो भविष्यथ ॥ ७१ ॥

‘वानरो । वनसमूहसे अलंकृत पूर्वदिशामें अच्छी तरह भ्रमण करके श्रीगमवन्दजोंकी प्यारी पत्नी सीताका समाचार जानकर गुप्त बहसि लौट आओ। इससे तुम सुखी होओगे’ ।

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्ध्याकाण्डे चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आरण्यमायण आदिकाव्यके किष्किन्ध्याकाण्डमें चालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४० ॥

एकचत्वारिंशः सर्गः

सुग्रीवका दक्षिण दिशाके स्थानोंका परिचय देते हुए वहाँ प्रमुख वानर वीरोंको भेजना

ततः प्रस्थाप्य सुग्रीवस्तन्महद्वानरं बलम् ।

दक्षिणां प्रेषयामास वानरानभिलक्षितान् ॥ १ ॥

इस प्रकार वानरोंकी बहुत बड़ी सेनाका पूर्व दिशामें प्रस्थापित करके सुग्रीवने दक्षिण दिशाको ओर चुने हुए वानरोंको, जो भलीभाँति पारख लिये गये थे, भेजा ॥ १ ॥

नीलमग्निसुतं चैव हनुमन्तं च वानरम् ।

पितामहसुतं चैव जाम्बवन्तं महौजसम् ॥ २ ॥

सुहोत्रं च शरारिं च शरगुल्मं तथैव च ।

गजं गवाक्षं गवयं सुषेणं वृषभं तथा ॥ ३ ॥

मैन्दं च द्विविदं चैव सुषेणं गन्धमादनम् ।

उल्कामुखमनङ्गं च हुताशनसुतावुभी ॥ ४ ॥

अङ्गदप्रमुखान् वीरान् वीरः कपिगणेश्वरः ।

वेगविक्रमसम्पन्नान् संदिदेश विशेषवित् ॥ ५ ॥

अग्निपुत्र नील, कपिशर हनुमान्जी, ब्रह्माजीके महाबली पुत्र जाम्बवान्, सुहोत्र, शरारि, शरगुल्म, गज, गवाक्ष, गवय,

सुषेण (प्रथम), वृषभ मैन्द, द्विविद सुषेण (द्वितीय), गन्धमादन, हुताशनके दो पुत्र उल्कामुख और अनङ्ग (असङ्ग) तथा अङ्गद आदि प्रधान-प्रधान वीरोंको, जो महान् वेग और पराक्रमसे सम्पन्न थे विशेषज्ञ वानरराज सुग्रीवने दक्षिणकी ओर जानेकी आज्ञा दी ॥ २—५ ॥

तेषामग्रेसरं चैव बृहद्बलमथाङ्गदम् ।

विधाय हरिवीराणामादिशद् दक्षिणां दिशम् ॥ ६ ॥

महान् बलशाली अङ्गदको उन समस्त वानर वीरोंका आगुआवनकर उन्हें दक्षिण दिशामें सीताको खोजका भार सौंपा ।

ये केचन समुद्देशास्तस्यां दिशि सुदुर्गमाः ।

कपीशः कपिमुख्यानां स तेषां समुदाहरत् ॥ ७ ॥

उस दिशामें जो कोई भी स्थान अत्यन्त दुर्गम थे, उनका भी कपिशर सुग्रीवने उन श्रेष्ठ वानरोंको परिचय दिया^१ ॥ ७ ॥

सहस्रशिरसं विन्ध्यं नानाद्रुपलतायुतम् ।

नर्मदां च नदीं रम्यां बहोरगनियेविताम् ॥ ८ ॥

१. सुषेण दो थे एक तारके पिता और दूसरा उनमें भिन्न वानरपुत्रपति था

२. यहाँ दक्षिण दिशाका विभाग किष्किन्ध्यासे न करके आर्यावर्तसे किया गया है। पूर्व समुद्रसे पश्चिम समुद्र और हिमालयसे विन्ध्यके भागको आर्यावर्त कहते हैं। सुग्रीवने दक्षिण दिशाके जिन स्थानोंका परिचय दिया है उनका संज्ञान आर्यावर्तसे ही दिशाका विभाजन करनेपर लगती है।

ततो गोदावरीं रघ्यां कृष्णवर्णीं महानदीम् ।
वरदां च महाभागां यक्षोरगनिघञ्जिताम् ।
मेखलानुत्कलांश्चैव दशार्णनगराण्यपि ॥ ९ ॥
आम्रवन्तीपवन्तीं च सत्यमेवानुपश्यत ।

व चोत्तर—‘वानरो । तुमलोग भाँति-भाँतिके वृक्षों और लताओंमें नुशोभित महान् दिग्दर्शकले चित्र्यपवन यहें बड़े नागांसें संवित रमणीय नर्मदा नदी, सुरम्य गोदावरी, महानदी, कृष्णवर्णी तथा खड़-खड़ नागांसें संवित महाभाग वरदा आदि भाँदयोक्त तटोंपर और मेखल (मेकल), उत्कल एवं दशार्ण देशक नगरों तथा आम्रवन्ती और अवन्तीपुरोंमें भी सब जगह सीताका खोज करो ॥ ८-९ ॥

विदर्भानुष्टिकांश्चैव रम्यान् माहिषकानपि ॥ १० ॥
तथा खड्गान् कलिङ्गान् च कौशिकांश्च समन्ततः ।
अन्वीक्ष्य दण्डकारण्यं सपर्वतनदीगुहम् ॥ ११ ॥
नदीं गोदावरीं चैव सवंधवानुपश्यत ।
तथैवान्ध्यांश्च पुण्ड्रांश्च श्रौत्वा पाण्ड्याश्च कंरल्यान् ।

‘इमों प्रकार विदर्भ, ऋष्टिक, रम्य माहिषक देश, खड्ग, कलिङ्ग तथा कौशिक आदि देशोंमें सब आठ दिग्भाग करके पर्वत नदी और गुहाओंमें रहने समस्त दण्डकारण्यमें छानबीन करना यहाँ जो गोदावरी नदी है, उसमें सब ओर बारीबारी देखना इमों प्रकार आन्ध्र पुण्ड्र चोळ पाण्ड्य तथा कंरल आदि देशोंमें भी देखना ॥ १०—११ ॥

अयोमुखश्च गन्तव्यः पर्वतो धानुमण्डितः ।
विचित्रशिखर श्रीमांश्चित्रपुष्पितकानन ॥ १३ ॥
सुचन्दनवनोद्देशो धार्गितव्यो महागिरिः ।

‘तदनन्तर अनेक धानुओंमें अलंकृत अयोमुख’ (मलय) पर्वतपर भी जाना, उसका शिखर बड़े विचित्र है। वह शोभाशाली पर्वत फूल हुए विचित्र काननोंसे युक्त है। उसके सभी स्थानोंमें सुन्दर चन्दनके वन हैं। उस महापर्वत मलयपर सीताकी अच्छी तरह खोज करना ॥ १३ ॥
ततस्तामापगां दिव्यां प्रसन्नसलिलाशयाम् ॥ १४ ॥
तत्र द्रक्ष्यथ कावेरीं विहनापप्सरोगणं ।

‘तत्पश्चात् स्वच्छ जलवाली दिव्य नदी कावेरीको देखना जहाँ अप्सराएँ विहार करती हैं ॥ १४ ॥
तस्यासीनं नगस्याग्रे मलयस्य महोजसम् ॥ १५ ॥
द्रक्ष्यथादित्यसंकाशमगस्त्यमुषिसतपम् ।

उस प्रसिद्ध मलयपर्वतके शिखरपर बैठे हुए सूर्यके समान महान् नेत्रसे सम्पन्न मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यका दर्शन करना ॥

ततस्तेनाभ्यनुज्ञाताः प्रसन्नं महात्मना ॥ १६ ॥
नाभ्रपर्णीं ग्राहजुष्टां त्रिष्यथ महानदीम् ।

‘इसके बाद उन प्रसन्नचित्त महात्मासे आज्ञा लेकर ग्राह्यसे संवित महानदी कावर्णियोंको पार करना ॥ १६ ॥

सा चन्दनवर्नेक्षिर्जः प्रच्छन्नद्वीपवारिणी ॥ १७ ॥
कान्तं व युवती कान्तं समुद्रमवगाहते ।

‘उसके द्वीप और जल विचित्र चन्दनवनेसे आच्छादित हैं अतः वह सुन्दर माझ्या विधूषित युवती प्रियसीकी भाँति अपने प्रियतम समुद्रसे मिलती है ॥ १७ ॥

ततो हेममयं दिव्यं मुक्तामणिविधूषितम् ॥ १८ ॥
युक्तं कवाटे पाण्ड्यानां गता द्रक्ष्यथ वानराः ।

‘तानों ! वहाँमें आगे बढ़नेपर तुमलोग पाण्ड्यवंशी राजाओंके नगरद्वारोंमें लगे हुए भूवर्णमय कपाटका दर्शन करो ॥ मुक्तामणियोंमें विधूषित एवं दिव्य है ॥ १८ ॥

ततः समुद्रमासाद्य सम्प्रधार्यार्थनिश्चयम् ॥ १९ ॥
अगस्त्येनान्तरे तत्र सागरे विनिवेशितः ।

विप्रसानुनगः श्रीमान् महेन्द्रः पर्वतोत्तमः ॥ २० ॥
जातरूपमयः श्रीमानवगात्रो महर्षिर्गम् ।

‘तत्पश्चात् समुद्रके तटपर जाकर उसे पार करनेके सम्बन्धमें अपने कर्तव्यका पालनभीति निश्चय करके ठमका पालन करना मर्षि अगस्त्यने समुद्रके भीतर एक सुन्दर भूवर्णमय पर्वतको स्थापित किया है जो महेन्द्रगिरिके नामसे विख्यात है उसका शिखर तथा वहाँके वृक्ष विचित्र शोभासे सम्पन्न हैं। वह शोभाशाली पर्वत श्रेष्ठ समुद्रके भीतर गहराईतक धुसा हुआ है ॥ १९-२० ॥

नानाविधैर्नगैः फुल्लैर्लनाभिश्चोपशोभितम् ॥ २१ ॥
देवर्षिर्दक्षप्रवरैरप्सराभिश्च शोभितम् ।

सिद्धवाणसद्वैश्च प्रकीर्णं सुभनोरमम् ॥ २२ ॥
तमुपेति सहस्राक्षः सदा पर्वसु पर्वसु ।

‘नाना प्रकारके खिले हुए वृक्ष और लताएँ उस पर्वतकी शोभा बढ़ाती हैं। देवता, ऋषि, श्रेष्ठ वृक्ष और अप्सराओंकी उपस्थितिसे उसको शोभा और भी बढ़ जाती है। सिद्धों और चारणोंके समुदाय वहाँ सब ओर फैले रहने हैं। इन सबके कारण महेन्द्रपर्वत अत्यन्त मनोरम बन पड़ता है। सहस्र नेत्रधारी इन्द्र

सिद्धवाणसद्वैश्च प्रकीर्णं सुभनोरमम् ॥ २२ ॥
तमुपेति सहस्राक्षः सदा पर्वसु पर्वसु ।

‘नाना प्रकारके खिले हुए वृक्ष और लताएँ उस पर्वतकी शोभा बढ़ाती हैं। देवता, ऋषि, श्रेष्ठ वृक्ष और अप्सराओंकी उपस्थितिसे उसको शोभा और भी बढ़ जाती है। सिद्धों और चारणोंके समुदाय वहाँ सब ओर फैले रहने हैं। इन सबके कारण महेन्द्रपर्वत अत्यन्त मनोरम बन पड़ता है। सहस्र नेत्रधारी इन्द्र

सिद्धवाणसद्वैश्च प्रकीर्णं सुभनोरमम् ॥ २२ ॥
तमुपेति सहस्राक्षः सदा पर्वसु पर्वसु ।

‘नाना प्रकारके खिले हुए वृक्ष और लताएँ उस पर्वतकी शोभा बढ़ाती हैं। देवता, ऋषि, श्रेष्ठ वृक्ष और अप्सराओंकी उपस्थितिसे उसको शोभा और भी बढ़ जाती है। सिद्धों और चारणोंके समुदाय वहाँ सब ओर फैले रहने हैं। इन सबके कारण महेन्द्रपर्वत अत्यन्त मनोरम बन पड़ता है। सहस्र नेत्रधारी इन्द्र

१. अन्य पाठोंके अनुसार वहाँ मन्त्र दश समझना चाहिये।

२. रामायणान्तर्गत मलय पर्वतके अयोमुखके मलय-पर्वतका नामान्तर मानते हैं। पार्वतपुरके इसे सङ्गपर्वतका पर्याय समझते हैं तथा रामायणशिरापाणिकार अयोमुखको इन दोनोंमें भेद न्यूनतम पर्वत मानते हैं। यहाँ निम्नलिखितके ध्येय अनुसरण किया गया है।

३. यद्यपि पहले पञ्चतंत्रमें उक्त पागमें अगस्त्यके आश्रमका उल्लेख आया है तथापि यहाँ मलयपर्वतपर भी उसका आश्रम था, ऐसा मानना चाहिये। जैसे काल्याणिक मुनिक आश्रम अनेक स्थानोंमें था। उसी तरह इनका भी था अथवा य उन्नी नामके कोई दूसरा ऋषि थे।

४. आयुर्वेद तथा श्रद्धांशु पाण्ड्यादेश सरदाका नगर है। उस नगरमें भी छानबीन करनेके लिये सुभाष चान्दोका आदेश दे रहे हैं।

प्रत्येक पर्वक दिन उस पर्वतपर पदार्पण करते हैं ॥ २१-२२ ॥
द्वीपस्तस्यापरे पारे शतयोजनविस्तृतः ॥ २३ ॥
अगम्यो भानुर्वर्दीप्तस्तं मार्गध्वं समन्ततः ।

तत्र सर्वात्मना सीता मार्गितव्या विशेषतः ॥ २४ ॥

'उस समुद्रके उस पार एक द्वीप है, जिसका विस्तार सौ योजन है, वहाँ मनुष्याकी पहुँच नहीं है। वह जो दक्षिणतः द्वीप है, उसमें चारों ओर पुग प्रयत्न करके तुम्हें मीनकों विशेषरूपसे खोज करनी चाहिये ॥ २३-२४ ॥

स हि देशस्तु बध्यस्य रावणस्य दुरात्मनः ।

राक्षसाधिपतेर्यासः सहस्राक्षसमद्युतेः ॥ २५ ॥

'वही देश इन्द्रके समान तेजस्वी दुष्टका दक्षसराज रावणका, जो हमारा बध्य है, निवासस्थान है ॥ २५ ॥

दक्षिणस्य समुद्रस्य मध्ये तस्य तु राक्षसी ।

अङ्गरकेति विख्याता छायापाक्षिप्य भोजिनी ॥ २६ ॥

उस दक्षिण समुद्रके बीचमें अङ्गरका नामसे प्रसिद्ध एक राक्षसी रहती है जो छाया पकड़कर ही प्राणियोंको खींच लेती और उन्हें खा जाती है ॥ २६ ॥

एवं निःसंशयान् कृत्वा संशयाग्रहर्मशयाः ।

पुगपध्वं नरेन्द्रस्य पत्नीममिततेजसः ॥ २७ ॥

उस लङ्काद्वीपमें जो संदिग्ध स्थान हैं, उन सबमें इस तरह खोज करके जब तुम उन्हें संद्विग्नचित्त समझ लो और तुम्हारे मनका मशय निकाल जाओ तब तुम लङ्काद्वीपका भी लाँघकर आगे बढ़ जाना और अमिततेजस्वी महाराज श्रीरामकी पत्नीका अन्वेषण करना ॥ २७ ॥

तमतिक्रम्य लक्ष्मीवान् समुद्रे शतयोजने ।

गिरिः पुष्पितको नाम सिद्धचारणसेविनः ॥ २८ ॥

लङ्काको लाँघकर आगे बढ़नेपर सौ योजन विस्तृत समुद्रमें एक पुष्पितक नामका पर्वत है, जो परम शेषामें सम्पन्न तथा सिद्धों और चारणोंसे सेवित है ॥ २८ ॥

चन्द्रसूर्याशुसंकाशः सागराम्बुसमाश्रयः ।

प्राजते विपुलैः शृङ्गेरम्बरं विलिखन्निव ॥ २९ ॥

'वह चन्द्रमा और सूर्यके समान प्रकाशमान है तथा समुद्रके जलमें गहराईतक घुसा हुआ है। वह अपने विस्तृत शिखराम आकाशमें रेखा खींचता हुआ-सा सुशोभित होता है ॥ २९ ॥

तस्यैकं काञ्चनं शृङ्गं सेवते यै दिवाकरः ।

शतं राजनयेकं च सेवने यन्निशाकरः ।

न तं कृतघ्नाः पश्यन्ति न नृशंसा न नास्तिकाः ॥ ३० ॥

'उस पर्वतका एक सुवर्णमय शिखर है, जिसका प्रतिदिन सूर्यदेव सेवन करते हैं। उसी प्रकार इसका एक रजतमय शत-शिखर है, जिसका चन्द्रमा सेवन करत है। कृतघ्न, नृशंसा और

नास्तिक पुरुष उस पर्वत-शिखरको नहीं देख पाते हैं ॥ ३० ॥

प्रणम्य शिरसा शैलं तं विमार्गय चानराः ।

तमतिक्रम्य दुर्धर्षं सूर्यवान्नाम पर्वतः ॥ ३१ ॥

'चानरो ! तुमलोग सबके झुकाकर उस पर्वतको प्रणाम करना और वहाँ सब ओर नीताका दौड़ना। उस दुर्धर्ष पर्वतको लाँघकर आगे बढ़नेपर सूर्यवान् नामक पर्वत मिलेगा ॥ ३१ ॥

अध्वना दुर्विगाहेन योजनानि चतुर्दश ।

ततस्तपप्यतिक्रम्य वैद्युतो नाम पर्वतः ॥ ३२ ॥

'वहाँ आनेका मार्ग बड़ा दुर्गम है और वह पुष्पितकसे ऊँचा योजन दस है। सूर्यवान्को लाँघकर जब तुमलोग आगे जाओगे, तब तुम्हें 'वैद्युत' नामक पर्वत मिलेगा ॥ ३२ ॥

सर्वकामफलैर्बुद्धीः सर्वकालमनोहरैः ।

तत्र भुक्त्वा वराहीणि मूलानि च फलानि च ॥ ३३ ॥

मधूनि पीत्वा जुष्टानि परं गच्छत चानराः ।

क्योंकि बुद्धि सम्पूर्ण मनाया बहुत फलामें युक्त और सभी प्रयत्नोंमें मनोहर शोषामें सम्पन्न है। चानरो ! इनमें सुशोभन वैद्युत पर्वतपर उत्तम फल मूल खाकर और सेवन करने योग्य मधु पीकर तुमलोग आगे जाना ॥ ३३ ॥

तत्र नेत्रयनःकान्तः कुञ्जरो नाथ पर्वतः ॥ ३४ ॥

अगस्त्यभवनं यत्र निर्भिन्नं विश्वकर्मणा ।

फिर कुञ्जर नामक पर्वत दिखायी देगा, जो नेत्री और मनको भी अत्यन्त प्रिय लगनेवाला है। इसके ऊपर विश्वकर्माका बनाया हुआ महर्षि अगस्त्यका एक सुन्दर भवन है ॥ ३४ ॥

तत्र योजनविस्तारमुच्छ्रितं दशयोजनम् ॥ ३५ ॥

शरणं काञ्चनं दिव्यं नानारत्नविभूषितम् ।

'कुञ्जर पर्वतपर बना हुआ अगस्त्यका वह दिव्य भवन मुष्णमय तथा नाना प्रकारके रत्नोंमें विभूषित है। उसका विस्तार एक योजनका और ऊँचाई दस योजनकी है ॥

तत्र भोगवती नाम सर्पाणामालयः पुरी ॥ ३६ ॥

विशालरथ्या दुर्धर्षा सर्वतः परिरक्षिता ।

रक्षिता पत्रगैर्घोरिस्तीक्ष्णदंष्ट्रमहाविषैः ॥ ३७ ॥

'उसी पर्वतपर सर्पान्तों निवासभूता एक नगरी है, जिसका नाम भोगवती है (यह पातालकी भोगवती पुरीसे भिन्न है)। यह पुरी दुर्गम है। उसका सड़कें बहुत बड़ी और विस्तृत हैं। वह सब ओरसे सुरक्षित है। तीरसी दाढ़वाले महाविषैले भयंकर सर्प उसकी रक्षा करते हैं ॥ ३६-३७ ॥

सर्पराजो महाघोरो यस्यां वसति वासुकिः ।

निर्याय मार्गितव्या च सा च भोगवती पुरी ॥ ३८ ॥

उस भोगवतीपुरीमें महाभयंकर सर्पराज वासुकि निवास करते हैं (यें योगशक्तिके अनेक रूप धारण करके दोनों

भोगवती पुरियां एक साध रज मकर है । तुम्हें विदेशकृत्यसे उस
भोगवतीपुरीमें प्रवेश करके वहाँ मोताकी राजा के गले चढ़ाये
तत्र जानन्तरोद्देशा ये केचन समावृताः ।

तं च देशमतिक्रम्य महानृषभसंस्थितिः ॥ ३९ ॥

‘उस पुरीमें जो गुह्य एवं व्यवधानरहित स्थान है, उन
सबमें सोनाका अन्वेषण करना चाहिये । उस प्रदेशकी सत्यता
आगे बढ़नेपर तुम्हें ऋषभ नामक महान् पर्वत मिलेगा ॥ ३९ ॥

सर्वरत्नमयः श्रीमानृषभो नाम पर्वतः ।

गोशीर्षकं पश्चकं च हरिश्चाम च चन्दनम् ॥ ४० ॥

दिव्यमुत्पद्यते यत्र तद्यैवाग्निसमप्रथम् ।

न तु तच्चन्दनं दृष्ट्वा स्पष्टव्यं तु कदाचन ॥ ४१ ॥

‘वह शोभाशाली ऋषभ पर्वत सम्पूर्ण रत्नसे भरा हुआ
है । वहाँ गोशीर्षक, पश्चक, हरिश्चाम आदि नामवाला दिव्य
चन्दन उत्पन्न होता है । वह चन्दनबुझ आग्निके समान
प्रज्वलित होता रहता है । उस चन्दनका देखकर कदापि तुम्हें
उसका स्पर्श नहीं करना चाहिये ॥ ४०-४१ ॥

रोहिता नाम गन्धर्वा घोरं रक्षन्ति तद्वनम् ।

तत्र गन्धर्वपतयः पञ्च सूर्यसमप्रभाः ॥ ४२ ॥

‘क्योंकि ‘रोहित’ नामवाले गन्धर्व उस घोर वनको रक्षक करते
हैं । वहाँ सूर्यके समान काम्निमान् पाँच गन्धर्वराज रहते हैं ।

शैलूषो ग्रामणीः शिक्षः शुको बभ्रुस्तथैव च ।

रत्नसोमाग्निध्रुवां निवासः पुण्यकर्मणाम् ॥ ४३ ॥

अन्ते पृथिव्या दुर्धर्वास्ततः स्वर्गजितः स्थिताः ।

‘उनके नाम ये हैं—शैलूष, ग्रामणी, शिक्ष (शिष्य),
शुक और बभ्रु । उस ऋषभसे आगे पृथिवीको अन्तिम
सोमापर सूर्य चन्द्रमा तथा अग्निके पुण्य नक्षत्री पुण्यकर्मों
पुरुषोंका निवास स्थान है । अतः वहाँ दुर्धर्ष स्वर्गजितों
(स्वर्गके अधिकारी) पुरुष ही वास करते हैं ॥ ४३ ॥

ततः परं न चः सेव्यः पितृलोकः सुदारणः ॥ ४४ ॥

राजधानी यमभ्येषा कष्टेन तपसाऽऽवृता ।

‘उससे आगे अस्यन्त ध्यानक पितृलोक है, वहाँ तुम

इत्यादि श्रीमहाभारतके वाल्मीकीय आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे एकचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यभट्टायण आदिकव्यके किष्किन्धाकाण्डमें इकतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४१ ॥

द्विचत्वारिंशः सर्गः

सुग्रीवका पश्चिम दिशाके स्थानोंका परिचय देते हुए सुषेण आदि वानरोंको वहाँ भेजना

अथ प्रस्थाप्य स हरीन् सूर्याचो दक्षिणा दिशम् ।

अन्नवीभेधसंकाशं सुषेणं नाम वानरम् ॥ १ ॥

तगरायः पितरं राजा श्वशुरं धीमविक्रमम् ।

अन्नवीत् प्राञ्जलिर्वाक्यमधिगम्य प्रणम्य च ॥ २ ॥

महर्षिपुत्रं मारीचमर्चिषन्तं महाकपिम् ।

वृत्तं कपिवरः शूर्योद्भूतसदृशद्युतिम् ॥ ३ ॥

‘श्वशुरोंको नहीं जाना चाहिये । यह धूमि यमराजकी राजधानी
है, जो कष्टप्रद अन्धकारसे आच्छादित है ॥ ४४ ॥

एतावदेव युष्माभिर्वीरा वानरपुंगवाः ।

शक्यं सिञ्चतुं गन्तुं वा नातो गतिमतां गतिः ॥ ४५ ॥

‘यों वानरपुङ्गवों ! बस, दक्षिण दिशामें इतनी ही दूरतक
तुम्हें जाना और खोजना है । उससे आगे पहुँचना असम्भव
है; क्योंकि उधर जंगम प्राणियोंकी गति नहीं है ॥ ४५ ॥

सर्वमेतन् समालोक्य यद्यान्यदपि दृश्यते ।

गतिं विदित्वा संदेहाः संनिवर्तितुमर्हथ ॥ ४६ ॥

‘इस सब स्थानोंमें अच्छे तरह देख-पाल करके और भी
तो स्थान अन्वेषणके योग्य दिखायो, वहाँ भी विदेहकुमारीका
पता लगाना; तदनन्तर तुम यहाँको लौट आना चाहिये ॥ ४६ ॥

यश्च मासाग्निवृत्तोऽग्रे दृष्टा सीतति वक्ष्यति ।

पतन्त्यविभक्तो भोगे, सुखं स विहरिष्यति ॥ ४७ ॥

‘जो एक मास पूर्ण होनेपर सबसे पहले यहाँ आकर यह
कहेगा कि ‘मैंने सौताजीका दर्शन किया है’ वह मेरे समान
बंधन सम्पन्न हो धोण्य पदार्थोंका अनुभव करता हुआ
मुक्तपूर्वक विहार करेगा ॥ ४७ ॥

ततः प्रियतरो नास्ति मम प्राणाद् विशेषतः ।

कृतापराधो बहुशो यम बन्धुर्भविष्यति ॥ ४८ ॥

‘उससे बढ़कर प्रिय मैं लिये दूसरा कोई नहीं हूँगा । वह
मेरे लिये प्राणोंमें भी बढ़कर प्यारा होगा तथा अनेक बार
अपराध किया हो तो भी वह मेरा बन्धु होकर रहेगा ॥ ४८ ॥

अमितबलपराक्रमा भवन्तो

विपुलगुणेषु कुलेषु च प्रमूताः ।

यनुजपतिसुतां यथा लभध्वं

नदधिगुणं पुरुषार्थमारभध्वम् ॥ ४९ ॥

‘तुम सबके बल और पराक्रम असीम हैं । तुम विशेष
गुणशाली वीर कुलोंमें उत्पन्न हुए हो । राजकुमारों सौताका
जिस प्रकार भी पता मिल सके, उसके अनुरूप उच्च कौटुम्हिक
पुरुषार्थ आरम्भ करो ॥ ४९ ॥

बुद्धिविक्रमसम्पन्न

वैनतेयमपद्युनिम् ।

मरीचिपुत्रान् मारीचानर्चिर्माल्यान् महाबलान् ॥ ४ ॥

ऋषिपुत्रांश्च तान् सर्वान् प्रतीचीपादिशद् दिशम् ।

द्वाभ्यां शतसहस्राभ्यां कपीनां कपिसन्तमा ॥ ५ ॥

सुषेणप्रमुखा यूयं वैदेहीं परिमार्गश्च

दक्षिण दिशाकी ओर वानरोंको भेजनेके पश्चात् राजा

सुग्रीवने तारुके पिता और अपने वंशधर 'सुषेण' नामक वानरके पास जाकर उन्हें हाथ जोड़कर प्रणाम किया और कुछ कहना आरम्भ किया। सुषेण मेवके समान काले और धवले पराक्रमी थे उनके भिवा, महर्षि मरीचिक पुत्र महाकपि अर्चिष्मान् भी वहाँ उपस्थित थे, जो देवगन्ध इन्द्रके समान तेजस्वी तथा शूरवीर श्रेष्ठ वानरोंमें धिरे हुए थे। उनको कान्ति विनतानन्दन गरुड़के समान थी। वे बुद्धि और पराक्रमसम्पन्न थे। उनके अतिरिक्त मरीचिके पुत्र मारीच नामक वानर भी थे जो महाबली और अर्चिर्माल्य नामसे प्रसिद्ध थे। इनके सिवा और भी बहुत-से श्रेष्ठकुमार थे, जो वानररूपमें वहाँ विराजमान थे, सुषेणके साथ उन सबका सुग्रीवने पश्चिम दिशाकी ओर जानेकी आज्ञा दी और कहा 'कपिवरो! आप सब लोग दो लाख वानरोंके साथ लें सुषेणजीकी प्राधनतामें पश्चिमकी जाइये और विदहनन्दिनी सीताकी खोज कीजिये ॥ १-५ ॥

सौराष्ट्रान् सहस्राङ्गीकाञ्चन्द्रचित्रास्तथैव च ॥ ६ ॥
स्फीताञ्जनपदान् रघ्यान् विपुलानि पुराणि च ।
पुनागगहनं कुक्षिं वकुलोद्दालकाकुलम् ॥ ७ ॥
तथा केतकखण्डेषु मार्गध्वं हरिपुङ्गवाः ।

'श्रेष्ठ वानरो! सौराष्ट्र, बाङ्गोक और चन्द्रचित्र आदि देशों, अन्यान्य समृद्धिशाली एवं रमणीय जनपदों, बड़े-बड़े नगरों तथा पुनाग वकुल और उद्दालक आदि वृक्षोंसे भरे हुए कुक्षिदेशमें एवं केवड़ेके वनोंमें सीताकी खोज करो ॥ ६-७ ॥

प्रत्यक्लोतोवहाश्चैव नद्यः शीतजला शिवाः ॥ ८ ॥
तापसायामरण्यानि कान्तारगिरयश्च ये ।

'पश्चिमकी ओर बहनेवाली शीतल जलसे सुशोभित कल्याणामयी नदियों, तपस्वी जनक वनों तथा दुर्गम पर्वतोंमें भी विदेहकुमारीका पता लगाओ ॥ ८ ॥

तत्र स्थलीर्महाप्राया अत्युद्युशिशिराः शिलाः ॥ ९ ॥
गिरिजालावृता दुर्गा मार्गित्वा पश्चिमां दिशम् ।
ततः पश्चिममागम्य समुद्रं द्रष्टुमर्हथ ॥ १० ॥
तिमिनकाकुलजलं गत्वा द्रक्ष्यथ वानराः ।

'पश्चिम दिशामें प्रायः भरभूमि है। अत्यन्त ऊँची और ठण्डी शिलायें हैं तथा पर्वतमालाओंमें धिरे हुए बहनेवाले दुर्गम प्रदेश हैं। उन सभी स्थानोंमें सीताको खोज करते हुए क्रमशः आगे बढ़कर पश्चिम समुद्रतक जाना और वहाँके प्रत्येक स्थानका निरीक्षण करना। वानरो! समुद्रका जल तिमि नामक मत्स्या तथा बड़े बड़े ग्राहोंमें भरा हुआ है। वहाँ सब ओर देख-भाल करना ॥ ९-१० ॥

ततः केतकखण्डेषु तमालगहनेषु च ॥ ११ ॥
कपयो विहरिष्यन्ति नारिकेलवनेषु च ।

तत्र सीतां च मार्गध्वं निलयं रावणस्य च ॥ १२ ॥

'समुद्रके तटपर केवड़ोंके कुञ्जोंमें, तमालके काननोंमें तथा नारियलके वनोंमें तुम्हारे सैनिक वानर भलीभाँति विचरण करेंगे वहाँ तुम्हारे सीताका खोजना और रावणके निवास-स्थानका पता लगाना ॥ ११-१२ ॥

वेलातलनिविष्टेषु पर्वतेषु वनेषु च ।
मुखोपतनं चैव रम्यं चैव जटापुरम् ॥ १३ ॥
अवन्तीमङ्गलेषां च तथा चालक्षितं वनम् ।

राष्ट्राणि च विशालानि पतनानि ततस्ततः ॥ १४ ॥

समुद्रतटवर्ती पर्वतों और वनोंमें भी उन्हें ढूँढना चाहिये। मुखोपतन (मारवी) तथा रमणाय जटापुरमें, अवन्ती तथा अङ्गलेषापुरोंमें अलक्षित वनमें और बड़े-बड़े राष्ट्राँ एवं नगरोंमें जहाँ-तहाँ घूमकर पता लगाना ॥ १३-१४ ॥

मिथुसागरयोश्चैव संगमे तत्र पर्वतः ।

महान् सोमगिरिर्नाम शतशृङ्गो महाद्रुमः ॥ १५ ॥

तत्र प्रस्थेषु रम्येषु सिंहाः पक्षगमाः स्थिताः ।

तिमिमत्स्यगजाश्चैव नीडान्यारोपयन्ति ते ॥ १६ ॥

'सिंधु-नद और समुद्रके संगमपर सोमगिरिनामक एक महान् पर्वत है, जिसके सौ शिखर हैं। वह पर्वत ऊँचे-ऊँचे वृक्षोंमें भरा है। उसकी रमणीय चोटियोंपर सिंह नामक पक्षी रहते हैं। जो तिमि नामक विशालकाय मत्स्या और हाथियोंके भी अपने घोंसलोंमें ठहरा रहते हैं ॥ १५-१६ ॥

तानि नीडानि सिंहानां गिरिशृङ्गगताश्च ये ।

दुप्रास्तृप्ताश्च मानङ्गास्तोयदस्वननिःस्वनाः ॥ १७ ॥

विचरन्ति विशालेऽस्मिस्तोयपूजे समन्ततः ।

'सिंह नामक पक्षियोंके उन घोंसलोंमें पहुँचकर उस पर्वत शिखरपर उपस्थित हुए जो हाथी हैं वे उस पर्वतघाटी में रहने सम्मानित होनेके कारण गर्वका अनुभव करते और मन-ही-मन सन्तुष्ट रहते हैं। इन्हींमें से मर्घोंको गर्जनाके समान शब्द करने हुए उस पर्वतके शल्यपूर्ण विशाल शिखरपर चारों ओर विचरते रहते हैं ॥ १७ ॥

तस्य शृङ्गं दिवस्पर्शं काञ्चनं चित्रपादपम् ॥ १८ ॥

सर्वपाशु विचेतव्यं कपिभिः कामरूपिभिः ।

'सोमगिरिके गगनचुम्बी शिखर सुवर्णमय है। उसके ऊपर विचित्र वृक्ष शोभा पाते हैं। इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले वानरोंको चाहिये कि वहाँके सब स्थानोंको श्रेष्ठतापूर्वक अच्छी तरह देख लें ॥ १८ ॥

कोटिं तत्र समुद्रस्य काञ्चनीं शतयोजनाम् ॥ १९ ॥
दुर्दर्शा पारियात्रस्य गत्वा द्रक्ष्यथ सानराः ।

‘वहाँसे आगे समुद्रके बीचमें पारियात्र पर्वतका सुवर्णमय शिखर दिखायी देगा, जो सौ योजन विस्तृत है। सानरो ! उसका दर्शन दूसरोंके लिये अत्यन्त कठिन है। वहाँ जाकर तुम्हें सीताकी खोज करनी चाहिये ॥ १९ ॥

कोट्यस्तत्र चतुर्विंशद् गन्धर्वाणां तरस्विनाम् ॥ २० ॥
वसन्त्यग्निनिकाशानां घोराणां कामरूपिणाम् ।

पावकार्चि-प्रतीकाशाः समवेताः समन्ततः ॥ २१ ॥

‘पारियात्र पर्वतके शिखरपर इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले, भयंकर, अग्नितुल्य तेजस्वी तथा वेगशाली चौबीस करोड़ गन्धर्व निवास करते हैं। वे सब-के-सब अग्निकी ज्वालाके समान प्रकाशमान हैं और सब ओरसे आकर उस पर्वतपर एकत्र हुए हैं ॥ २०-२१ ॥

नात्यासाद्यितव्यास्ते जानैर्भीमविक्रमैः ।
नादेयं च फल तस्माद् देशान् किञ्चित् प्रवङ्गमैः ॥ २२ ॥

‘भयंकर पराक्रमी जानकों चाहिये कि वे उन गन्धर्वोंके अधिक निकट न जायें—उनका कोई अपराध न करें और उस पर्वतशिखरमें कोई फल न लें ॥ २२ ॥

दुरासदा हि ते वीराः सत्त्ववन्तो महाबलाः ।
फलमूलानि ते तत्र रक्षन्ते भीमविक्रमाः ॥ २३ ॥

‘कारणिक वे भयंकर बल-विक्रमसे सम्पन्न धैर्यवान् महाबली और गन्धर्व बराकि फल-मूलोंकी रक्षा करते हैं। उनपर विजय पाना बहुत ही कठिन है ॥ २३ ॥

तत्र यत्नश्च कर्तव्यो मार्गितव्या च जानकी ।
नहि तेभ्यो भयं किञ्चित् कपित्वमनुवर्तताम् ॥ २४ ॥

‘वहाँ भी जानकीकी खोज करनी चाहिये और उनका पना लगानेके लिये पूरा प्रयत्न करना चाहिये। प्रकृत बानरके स्वभावका अनुसरण करनेवाले तुम्हारी सम्यक् नीतिकी इन गन्धर्वोंमें कोई भय नहीं है ॥ २४ ॥

तत्र वैदूर्यवर्णाभो वज्रसंस्थानमस्थितः ।
नानाद्रुमलताकीर्णो यज्रो नाम महागिरिः ॥ २५ ॥

‘पारियात्र पर्वतके पास ही समुद्रमें वज्रनामसे प्रसिद्ध एक बहुत ऊँचा पर्वत है, जो नाना प्रकारके वृक्षों और लताओंसे व्याप्त दिखायी देता है। वह वज्रगिरि वैदूर्यमणिके समान नील वर्णका है। वह कज्जलामें वज्रमणि (हीरे) के समान है ॥ २५ ॥

श्रीमान् समुदितस्तत्र योजनानां शतं समम् ।
गुहास्तत्र विचिंतव्याः प्रयत्नेन प्रवङ्गमाः ॥ २६ ॥

‘वह सुन्दर पर्वत वहाँ सौ योजनके घेरमें प्रतिष्ठित है।

इसका लंबाई और चौड़ाई दोनों बराबर हैं। बानरो ! उस पर्वतपर बहुत-सी गुफायें हैं। उन भवमें प्रयत्नपूर्वक सीताका अनुसंधान करना चाहिये ॥ २६ ॥

चतुर्भागे समुद्रस्य चक्रवान् नाम पर्वतः ।
तत्र चक्रं सहस्रारं निर्मितं विश्वकर्मणा ॥ २७ ॥

‘समुद्रके चतुर्थ भागमें चक्रवान् नामक पर्वत है। वहाँ विश्वकर्मणि सहस्रार^१ चक्रका निर्माण किया था ॥ २७ ॥

तत्र पञ्चजनं हत्वा हयग्रीवं च दानवम् ।
आजहार ततश्चक्रं शङ्खं च पुरुषोत्तमः ॥ २८ ॥

‘वहाँसे पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु पञ्चजन और हयग्रीव नामक दानवका वध करके पञ्चजन्य शङ्ख तथा वह सहस्रार सुदर्शन चक्र लाये थे ॥ २८ ॥

तस्य सानुषु रम्येषु विशालासु गुहासु च ।
रावणः सह चंदेह्या मार्गितव्यस्तनस्ततः ॥ २९ ॥

‘चक्रवान् पर्वतके रमणीय शिखरों और विशाल गुफाओंमें भी ऊपर-ऊपर चंदेह्यामार्हित रावणका पना लगाना चाहिये ।

धोजनानि चतु-षष्टिर्वराहो नाम पर्वतः ।
सुवर्णभृङ्गः सुमहानगाद्ये वरुणात्पुत्रे ॥ ३० ॥

‘उसमें आगे समुद्रको अगाध अलगाशमें सुवर्णमय शिखरवाला वराह नामक पर्वत है, जिसका विस्तार चौमठ योजनकी दूरीमें है ॥ ३० ॥

तत्र प्राग्न्यातिषं नाम जातरूपमयं पुरम् ।
यस्मिन् वसति दुष्टात्मा नरको नाम दानवः ॥ ३१ ॥

‘वहाँ प्राग्न्यातिषनामक सुवर्णमय नगर है, जिसमें दुष्टात्मा नरक नामक दानव निवास करता है ॥ ३१ ॥

तत्र सानुषु रम्येषु विशालासु गुहासु च ।
रावणः सह चंदेह्या मार्गितव्यस्तनस्ततः ॥ ३२ ॥

‘उमें पर्वतके रमणीय शिखरपर तथा वहाँकी विशाल गुफाओंमें सीतामार्हित गुप्तगी की तन्त्रज्ञ करनी चाहिये ।

तपतिकथ्य शैलेन्द्रं काञ्चनान्तरदर्शनम् ।
पर्वतः सर्वसौवर्णो धाराप्रवणायुतः ॥ ३३ ॥

‘जिसका भीतरी भाग सुवर्णमय दिखायी देता है, उस पर्वतवाला वराहको स्पर्शकर आगे बहुतपर एक ऐसा पर्वत मिलेगा, जिसका सब कुछ सुवर्णमय है तथा जिसमें लगभग दस महीने रहने हैं ॥ ३३ ॥

तं गजाश्च वराहाश्च भिन्ना व्याघ्राश्च सर्वतः ।
अभिगर्जन्ति सततं तेन शब्देन दर्पिताः ॥ ३४ ॥

‘उसके चारों ओर हाथी, सूअर, सिंह और व्याघ्र सदा गर्जना करते हैं और अपनी ही गर्जनाकी प्रतिध्वनिके शब्दसे दपमें भरकर पुनः दहाड़ने लगते हैं ॥ ३४ ॥

यस्मिन् हरिहयः श्रीमान् महेन्द्रः पाकशासनः ।

अभिषिक्तः सुरैः राजा मेघो नाम स पर्वतः ॥ ३५ ॥

'उस पर्वतका नाम है मेघगिरि । जिसपर देवताओंने हरि नरक अश्ववाले श्रीमान् पाकशासन इन्द्रको राजाके पदपर अभिषिक्त किया था ॥ ३५ ॥

तप्ततिक्रम्य शैलेन्द्रं महेन्द्रपरिपालितम् ।

घट्टि गिरि सहस्राणि काञ्चनानि गमिष्यथ ॥ ३६ ॥

तरुणादित्यवर्णानि भ्राजमानानि सर्वतः ।

जातरूपमयैर्वृक्षैः शोभितानि सुषण्डितः ॥ ३७ ॥

'देवराज इन्द्रद्वारा सुशुद्ध गिरिगज मेघको लक्ष्मिकर जब तुम आगे बढ़ाओ तब तुम्हें मानेके सात हजार पर्वत मिलेंगे जो सब आंगमें सूर्यके समान कान्तिमें दर्शयमान हो रहे हैं और सुन्दर फूलोंसे घरे हुए सुवर्णमय वृक्षोंसे सुशोभित हैं ॥

तेषां मध्ये स्थितो राजा मेरुस्तलपर्वतः ।

आदित्येन प्रसभेन शैलो दलवरः पुरा ॥ ३८ ॥

तेनैवमुक्तः शैलेन्द्रः सर्व एव त्वदाश्रयाः ।

मत्प्रसादाद् भविष्यन्ति दिवा रात्रौ च काञ्चना ॥ ३९ ॥

त्वयि ये चापि वस्यन्ति देवगन्धर्वदानवाः ।

ते भविष्यन्ति भक्ताश्च प्रथया काञ्चनप्रभाः ॥ ४० ॥

'उनके मध्यभागमें पर्वतोंका राजा गिरिशंख मेरु विराजमान है जिस पूर्वकालमें सूर्यदेवने प्रसन्न होकर घर दिया था । उन्होंने उस शैलगजमें कहा था कि 'जो दिन-रात तुम्हारे आश्रयमें रहेंगे, वे मेरे कृपासे सुखमय हो जायेंगे तथा देवता, दानव, गन्धर्व जो भी तुम्हारे ऊपर निवास करेंगे, वे सुखोंके समान कान्तिमान् और मेरे भक्त हो जायेंगे ॥ ३८—४० ॥

विश्वदेवाश्च वसवो यस्तश्च दिव्यकमः ।

आगत्य पश्चिमां संध्यां मेरुपुनःपर्वतम् ॥ ४१ ॥

आदित्यमुपतिष्ठन्ति तैश्च सूर्योऽभिपूजितः ।

अदृश्यः सर्वभूतानामस्तं गच्छति पर्वतम् ॥ ४२ ॥

विश्वदेव, वसु, मरुद्वज तथा अन्य देवता सायंकालमें उल्लस पर्वत मेरुपर आकर सूर्यदेवका उपस्थान करते हैं । उनके द्वारा भलीभाँति पूजित होकर भगवान् सूर्य सब प्राणियोंका आँखोंमें ओझल होकर अस्ताचलको चले जाते हैं ॥

योजनानां सहस्राणि दश तानि दिवाकरः ।

मुहूर्तार्धेन तं शीघ्रमभियानि शिलोद्धयम् ॥ ४३ ॥

'मेरुसे अस्ताचल दस हजार योजनकी दूरीपर है, किन्तु सूर्यदेव आधे मुहूर्तमें ही वहाँ पहुँच जाते हैं ॥ ४३ ॥

शृङ्गे तस्य महद्दिव्यं भवनं सूर्यसंनिभम् ।

प्रासादगणसम्बाधं बिहितं विश्वकर्माणा ॥ ४४ ॥

'उसके शिखरपर विश्वकर्माका बनाया हुआ एक बहुत बड़ा दिव्य भवन है, जो सूर्यके समान दर्शयमान दिखता है । वह अनेक प्रासादोंसे घरा हुआ है ॥ ४४ ॥

शोभितं तरुभिश्चित्रैर्नानापक्षिसमाकुलैः ।

निकेतं पाशहस्तस्य वरुणास्य महात्मनः ॥ ४५ ॥

'नाना प्रकारके पक्षियोंसे व्याप्त विचित्र-विचित्र वृक्ष उसका शोभा बढ़ाते हैं । वह पाशघाते महात्मा वरुणका निवास-स्थान है ॥ ४५ ॥

अन्तरा मेरुमस्तं च तालो दशशिरा महान् ।

जातरूपमयः श्रीमान् भ्राजते चित्रवन्दिक ॥ ४६ ॥

'मेरु और अस्ताचलके बीच एक स्वर्णमय ताड़का वृक्ष है, जो बड़ा ही सुन्दर और बहुत हा ऊँचा है । उसका दल मन्त्र (बड़े शास्त्र) है । उसका नीचकी वेदा बड़ी विचित्र हैं । इस तरह वह वृक्ष बड़ी शोभा पाता है ॥ ४६ ॥

तेषु सर्वेषु दुर्गेषु सरस्सु च सरित्सु च ।

रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्तनस्ततः ॥ ४७ ॥

'वहाँकें उन सभी दुर्गमें स्थानों, सरोंवगे और सरिताओंमें इधर उधर संतापित रावणका अनुसंधान करना चाहिये ।

यत्र तिष्ठति धर्मज्ञस्तपसा स्वेन भावितः ।

मेरुसावर्णिगित्येष स्यातो वै ब्रह्मणा सप्तः ॥ ४८ ॥

'मेरुगिरिपर धर्मके ज्ञाना भवार्थ मेरुसावर्णि रहते हैं, जो अपनी तपस्यासे ऊँची स्थितिका प्राप्त हुए हैं । वे प्रजापति के समान शक्तिज्ञानसे एवं विख्यात ऋषि हैं ॥ ४८ ॥

प्रष्टव्यो मेरुसावर्णिर्महर्षिः सूर्यसंनिधः ।

प्रणम्य शिखरा भूमौ प्रवृत्तिं पथिलीं प्रति ॥ ४९ ॥

'सूर्यनुत्पन्न भजन्ती महर्षि मेरुसावर्णिक घण्टाओंमें पृथ्वीपर भक्तक देवकर प्रणाम करनेके अनन्तर तुमलोग उनसे निर्दिष्टशकुमारोंका समाचार पूछना ॥ ४९ ॥

एतावज्जीवलोकस्य भ्रातरो रजनीक्षये ।

कृत्वा विनिधिरं सर्वमस्तं गच्छति पर्वतम् ॥ ५० ॥

'रात्रिके अन्तमें (शान्तकाल) उदित हुए भगवान् सूर्य जीव-जगत्क इन सभी स्थानोंको अन्धकाररहित (एवं प्रकाशपूर्ण) करके अन्तमें अस्ताचलको चले जाते हैं ॥

एतावद् वानरैः शक्यं गन्तुं वानरपुङ्गवाः ।

अभास्करमपरादिं न जानीयस्ततः परम् ॥ ५१ ॥

'वानरशिशोर्माणये । पश्चिम दिशामें इतनी ही दूरतक वानर जा सकते हैं । उसके आगे न तो सूर्यका प्रकाश है और न किसी देश आदिकों सोचा हो । अतः वहाँसे आगेकी भूमिके विषयमें मुझे कोई जानकारी नहीं है ॥ ५१ ॥

अवगम्य तु वैदेहीं निलयं रावणस्य च ।

अस्त पर्वतमासाद्य घूर्णे भासे निवर्तत ॥ ५२ ॥

'अस्ताचलतक जाकर रावणके स्थान और सीताका पता लगाओं तथा एक मास पूर्ण होते ही यहाँ लौट आओ ॥

ऊर्ध्वं मासात्र वस्तव्यं वसन् वध्यो भवेन्मम ।

सहैव शृगे यष्माभिः श्वशुरो मे गमिष्यति ॥ ५३ ॥

'एक महोनेसे अधिक न रहना । जो ठहरेगा, उसे

मेर हाथमें प्राणदण्ड भिन्ना तुमलोगोंके साथ मेरे पूजनीय
श्वशुरजो भी जायेंगे ॥ ५३ ॥

ओनव्यः सर्वमेतस्य भवद्विदिष्टकारिभिः ।

गुरुरेष महाबाहुः श्वशुरो मे महाबलः ॥ ५४ ॥

‘तुम सब लोग इनकी आज्ञाके अधीन रहकर इनकी
सभी बातें ध्यानमें सुनो; क्योंकि ये महाबाहु महाबल
सुपणजो मेरे श्वशुर एवं गुरुजन हैं (अतः तुम्हारे लिये भी
गुरुकी भाँति ही आदरणीय हैं) ॥ ५४ ॥

भवन्महापि विक्रान्ताः प्रमाणं सर्व एव हि ।

प्रमाणमेव संस्थाप्य पश्चिध्वं पश्चिमां दिशम् ॥ ५५ ॥

तुम सब लोग भी बड़े पराक्रमी तथा कर्तव्याकर्तव्यके
निर्णयमें प्रमाणभूत (विश्वसनीय) हो, तथापि इन्हें अपना
प्रधान बनाकर तुम पश्चिम दिशाको देखभाल आरम्भ करो ॥

दृष्ट्वा तु नरेन्द्रस्य पत्न्यामभितनैजसः ।

कृतकृत्या भविष्यामः कृतस्य प्रतिकर्मणा ॥ ५६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिजीनेमन आर्यरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें चत्वारिंशः सर्ग पूरा हुआ ॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशः सर्गः

सुग्रीवका उत्तर दिशाके स्थानोंका परिचय देते हुए शतबलि आदि खानरोंको वहाँ भेजना

ततः संदिश्य सुग्रीवः श्वशुरं पश्चिमां दिशम् ।

खीरं शतबलिं नाम खानरं खानरेश्वरः ॥ १ ॥

उवाच राजा सर्वज्ञः सर्वखानरमत्तमः ।

वाक्यभात्यहितं चेव रामस्य च हितं तदा ॥ २ ॥

इस प्रकार अपने श्वशुरके पश्चिम दिशाको ओर जानका
सदेश दे सर्वज्ञ भव खानर दिगोमणि खानरेश्वर राजा सुग्रीव
अपने हितभी शतबलि नामके खीर खानरमें श्रीरामचन्द्रजीके
हितकी बात बोले— ॥ १-२ ॥

यतः शतसहस्रेण स्वहृदयानां खनीकसाम् ।

वैवस्वतसुतः सार्धं प्रविष्टः सर्वमन्त्रिभिः ॥ ३ ॥

दिशं ह्युदीचीं विक्रान्त हिमशीलावतंसिकाम् ।

सर्वतः परिभार्गध्वं रामपत्नी यशस्विनीम् ॥ ४ ॥

पराक्रमी खीर ! तुम अपने ही समान एक लाल बचपानों
खानरोंको जो रामराजके घंटे हैं, साथ लेकर अपने समस्त
मन्त्रियोंसहित उस उत्तर दिशामें प्रवेश करो, जो हिमालयपत्नी
आधूषणोंसे विभूषित है और वहाँ सब ओर यशस्विनी
श्रीरामपत्नी सीताका अन्वेषण करो ॥ ३-४ ॥

अस्मिन् कार्ये विनिर्वृते कृते दाशगन्धेः प्रिये ।

अङ्गणाम्पुक्ता भविष्यामः कृतार्थार्थविदां वरा ॥ ५ ॥

अपने मुख्य प्रयाजनका सम्पन्नबाल वीरोंमें श्रेष्ठ
खानरों ! यदि हमलोगोंके द्वारा दशरथचन्दन भगवान्
श्रीरामके यह प्रिय कार्य सम्पन्न हो जाय तो हम उनके

आपित तेजस्वी महाराज श्रीरामकी पत्नीका पता लगा
जानपर हम कृतज्ञ हो जायेंगे क्योंकि उन्होंने जो उपकार
किया है, उसका बदला इसी तरह चुक सकेंगे ॥ ५६ ॥

अतोऽन्यदपि यत्कार्यं कार्यस्यास्य प्रियं भवेत् ।

सम्प्रधार्य भवद्विष्ट देशकालार्थसंहितम् ॥ ५७ ॥

‘अतः इस कार्यके अनुकूल और भी जो कर्तव्य देश
काल और प्रयोजनसे सम्यन्ध रखता हो, उसका विचार करके
आपलोग उसे भी कर’ ॥ ५७ ॥

ततः सुवेणप्रमुखाः प्रवृद्धाः

सुप्रोववाक्यं निपुणं निशम्य ।

आमन्त्र्य सर्वे प्रवगाधिपं ते

जम्बुदिशं तां वरुणाभिगुप्ताम् ॥ ५८ ॥

सुप्रोवकीं बातें अच्छी तरह सुनकर सुवेण आदि सब
जानर उन खानरराजकी अनुमति ले वरुणाद्वारा सुरक्षित पश्चिम
दिशाको ओर चल दिये ॥ ५८ ॥

उपकारके ऋणसे मुक्त और कृतार्थ हो जायेंगे ॥ ५६ ॥

कृते हि प्रियमस्माकं राघवेण महत्तमा ।

तस्य चेत्प्रतिकारोऽस्ति सफलं जीवितं भवेत् ॥ ६ ॥

महात्मा श्रीरघुनाथजीने हमलोगोंका प्रिय कार्य किया
है। उसके यदि कुछ बदला दिया जा सके तो हमारा जीवन
सफल हो जाय ॥ ६ ॥

अर्थिनः कार्यनिर्वृतिमकर्तुमपि यश्चरेत् ।

तस्य स्यात् सफलं जन्म किं पुनः पूर्वकारिणः ॥ ७ ॥

‘जिसने कोई उपकार न किया हो, वह भी यदि किसी
कार्यके लिये प्रार्थी होकर आया हो तो जो पुरुष उसके कार्यको
मिद्ध कर देता है, उसका जन्म भी सफल हो जाता है। फिर
जिसने पराक्रमी उपकारके कार्यको मिद्ध किया हो, उसके
जीवनको सफलताके विषयमें तो कहना ही क्या है ॥ ७ ॥

एतां बुद्धिं समास्थाय दृश्यते जानकी यथा ।

तथा भवद्विः कर्तव्यमस्मत्प्रियहर्तृपिभिः ॥ ८ ॥

इसी विचारका आश्रय लेकर मेरा प्रिय और हित
चाहनेवाले तुम सब खानरोंको ऐसा प्रयत्न करना चाहिये,
जिससे जनकचन्दन सीताका पता लगा जाय ॥ ८ ॥

अयं हि सर्वभूतानां मान्यस्तु नरसत्तमः ।

अस्मासु च गतः प्रीतिं रामः परपुरंजयः ॥ ९ ॥

‘शत्रुओंको नगरीपर विजय देनेवाले ये नरश्रेष्ठ श्रीराम
समस्त प्राणियोंके लिये माननीय हैं। हमलोगोंपर भी

इनका बहुत प्रेम है ॥ ९ ॥

इमानि बहूदुर्गाणि नद्यः शैलान्तराणि च ।

भवन्तः परिधार्गन्तु बुद्धिविक्रमसम्पदा ॥ १० ॥

‘तुम सब लोग बुद्धि और पराक्रमके द्वारा इन अत्यन्त दुर्गम प्रदेशों, पर्वतों और नदियोंके तटोंपर जा-आकर सीताकी खोज करो ॥ १० ॥

तत्र म्लेच्छान् पुलिन्दांश्च शूरसेनांस्तथैव च ।

प्रस्थलान् भरतांश्चैव कुरुंश्च सह मदकैः ॥ ११ ॥

काम्बोजयवनांश्चैव शकानां पत्तनानि च ।

अन्वीक्ष्य दरदांश्चैव हिमवन्तं विचिन्वथ ॥ १२ ॥

‘उत्तरमें म्लेच्छ, पुलिन्द, शूरसेन, प्रस्थल, भरत (इन्द्रप्रस्थ और हस्तिनापुरके आस-पासके प्रान्त), कुरु (दक्षिण कुरु—कुरुक्षेत्रके आस-पासकी भूमि), मक्ष, काम्बोज, यवन, शकोंके देशों एवं नगरोंमें घुम-घूमते अनुसंधान करके दरद देशमें और हिमालय पर्वतपर पहुँचो ।

लोघप्रपञ्चकखण्डेषु देवदारुखनेषु च ।

रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ॥ १३ ॥

‘वहाँ लोघ और पञ्चककी झाड़ियोंमें तथा देवदारुके जंगलोंमें वैदेहीसहित रावणकी खोज करनी चाहिये ॥ १३ ॥

ततः सोमाश्रमं गत्वा देवगन्धर्वसेवितम् ।

कालं नाम महासानुं पर्वतं तं गमिष्यथ ॥ १४ ॥

‘फिर देवताओं और गन्धर्वोंमें सेवित सोमाश्रममें होते हुए ऊँचे शिखरवाले काल नामक पर्वतपर जाओ ॥ १४ ॥

महत्सु तस्य शैलेषु पर्वतेषु गुहासु च ।

विचिन्वत महाभागो रामपत्नीयनिन्दिताम् ॥ १५ ॥

‘उस पर्वतकी शाखाभूत अन्य छोटे-बड़े पर्वतों और उन सबकी गुफाओंमें सनी-साध्वी श्रीरामपत्नी महाभागा सीताका अन्वेषण करो ॥ १५ ॥

तमतिक्रम्य शैलेन्द्रं हेमगर्भं महागिरिम् ।

ततः सुदर्शनं नाम पर्वतं गन्तुमर्हथ ॥ १६ ॥

‘जिसके भीतर सुवर्णकी स्तान है उस गिरिराज कालकी लौधकर तुम्हें सुदर्शन नामक महान् पर्वतपर जाना चाहिये ।

ततो देवसखो नाम पर्वतः पतंगालयः ।

नानापक्षिसमाकीर्णो विविधद्रुमधुवितः ॥ १७ ॥

‘उससे आगे बढ़नेपर देवसख नामकाल पहाड़ मिलेगा, जो पक्षियोंका निवासस्थान है । वह भौंति-भौंतिके विहंगमोंसे व्याप्त तथा नाना प्रकारके वृक्षोंसे विभूषित है ॥ १७ ॥

तस्य काननखण्डेषु निर्झरेषु गुहासु च ।

रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ॥ १८ ॥

‘उसके वनसमूहों, निर्झरों और गुफाओंमें तुम्हें विदेहकुमारी सीतासहित रावणकी खोज करनी चाहिये ।

तमतिक्रम्य चाकाशं सर्वतः शतयोजनम् ।

अपर्वतनदीवृक्षं सर्वसत्त्वविवर्जितम् ॥ १९ ॥

‘वहाँसे आगे बढ़नेपर एक सुनसान मैदान मिलेगा, जो सब ओरसे सौ योजन विस्तृत है । वहाँ नदी, पर्वत, वृक्ष और सब प्रकारके जीव-जन्तुओंका अभाव है ॥ १९ ॥

तत्तु शीघ्रमतिक्रम्य कान्तारं रोमहर्षणम् ।

कैलासं पाण्डुरं प्राप्य हृष्टा सूर्यं मविष्यथ ॥ २० ॥

‘रोगोंसे खड़े कर देनेवाले उस दुर्गम प्रान्तको शीघ्रतापूर्वक लौट जानेपर तुम्हें श्वेतवर्णका कैलास पर्वत मिलेगा । वहाँ पहुँचनेपर तुम सब लोग हर्षसे खिल उठोगे ॥ २० ॥

तत्र पाण्डुरमेधार्मं जाम्बूनदपरिष्कृतम् ।

कुशेरधवनं रम्यं निर्मितं विश्वकर्माणा ॥ २१ ॥

‘वहाँ विश्वकर्माका बनाया हुआ कुशेरका रमणीय भवन है, जो श्वेत यादलोक समान प्रतीत होता है । उस भवनको जाम्बूनद नामक सुवर्णसे विभूषित किया गया है ॥ २१ ॥

विशाला नलिनी यत्र प्रभूतकमलोत्पला ।

हंसकारण्डवाकीर्णा अप्सरोगणसेविता ॥ २२ ॥

‘उसके पास ही एक बहुत बड़ा सरोवर है, जिसमें कमल और उत्पल प्रचुर मात्रामें पाये जाते हैं । उसमें हंस और कारण्डव आदि जन्तुपक्षी भरे रहते हैं तथा अप्सराएँ उसमें जल-क्रीड़ा करती हैं ॥ २२ ॥

तत्र वैभवणो राजा सर्वलोकनमस्कृतः ।

घनदो रमते श्रीमान् गुह्यकैः सह पक्षराट् ॥ २३ ॥

‘वहाँ वक्षोंके स्वामी विश्रवाकुमार श्रीमान् राजा कुशेर जो समस्त विश्वके लिये वन्दनीय और धन देनेवाले है, गुह्यकोंके साथ विहार करते हैं ॥ २३ ॥

तस्य सन्ननिकाशेषु पर्वतेषु गुहासु च ।

रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ॥ २४ ॥

‘उस कैलासके चन्द्रमाकी भाँति उज्ज्वल शाखापर्वतोंपर तथा उनकी गुफाओंमें सब ओर घूम-फिरकर तुम्हें सीतासहित रावणका अनुसंधान करना चाहिये ॥ २४ ॥

क्रौञ्चं तु गिरिमासाद्य विरुं तस्य सुदुर्गमम् ।

अप्रपत्तैः प्रवेष्टव्यं दुष्प्रवेशं हि तत् स्मृतम् ॥ २५ ॥

‘इसके बाद क्रौञ्चगिरिपर जाकर वहाँकी अत्यन्त दुर्गम विवररूप गुफामें (जो स्कन्दजी शक्तिसे पर्वतके विदोर्ण होनेके कारण बन गयी है) तुम्हें सावधानीके साथ प्रवेश करना चाहिये; क्योंकि उसके भीतर प्रवेश करना अत्यन्त कठिन माना गया है ॥ २५ ॥

वसन्ति हि महात्मानस्तत्र सूर्यसमप्रभाः ।

देवैरुप्यर्यिताः सम्यग् देवरूपा महर्षयः ॥ २६ ॥

‘उस गुफामें सूर्यके समान तेजस्वी महात्मा निवास करते हैं । उन देवस्वरूप महर्षियोंकी देवतालोक भी अभ्यर्चना करते हैं ॥ २६ ॥

क्रौञ्चस्य तु गुहाश्चान्याः सानूनि शिखराणि च ।

निर्दराश्च नितम्बाश्च धिक्चेतव्यास्ततस्ततः ॥ २७ ॥

क्रीडा पर्वतकी और भी बहुत-सी गुफाएँ, अनेकानेक चौटियाँ, शिखर, कन्दराएँ तथा निम्ब (बालू प्रदेश) हैं, उन सबमें सब आगे घूम-फिरकर तुम्हें सीता और शिवणका पता लगाना चाहिये ॥ २७ ॥

अवक्षे कामशीले च मानसं विहगालयम् ।

न गतिस्तत्र भूतानां देवानां न च रक्षमाय् ॥ २८ ॥

'वहाँसे आगे वृक्षांस रूढ़त मानस नामक शिखर है, जहाँ शून्य होनेके कारण कभी पक्षीनक नहीं जानते कामदेवको तपस्याका स्थान होनेके कारण वह क्रीडाशिवर कामशीलेके नामसे विख्यात है, वहाँ भूता, देवता आ तथा रक्षमाका भी कभी जाना नहीं होता है ॥ २८ ॥

स च सर्वविचेलब्धः ससानुप्रस्थभूधरः ।

क्रीडा गिरिमनिक्रम्य मैनाको नाम पर्वतः ॥ २९ ॥

शिखरो, घाटियों और शाखापर्वतोंसहित समूचे क्रीडापर्वतकी तुमलोग छानखान करना। क्रीडागिरिको लाँचकर आगे बढ़नेपर मैनाक पर्वत मिलेगा ॥ २९ ॥

मयस्य धवनं तत्र दानवस्य स्वयंकुनय् ।

मैनाकस्तु विचेलब्धः ससानुप्रस्थकन्दरः ॥ ३० ॥

'वहाँ मयदानवका घर है, जिसे उसने स्वयं ही अपने लिये बनाया है। नृगलगाका हिस्सा चौगम मैदानी और कन्दराओसहित मैनाक पर्वतपर धनोधिनि अनेकानेक रख करनी चाहिये ॥ ३० ॥

स्त्रीणामधुमुखीनां तु निकेतस्तत्र तत्र तु ।

तं देशं समनिक्रम्य आश्रमं सिद्धसेविनम् ॥ ३१ ॥

'वहाँ यत्र-तत्र घाड़क-से मुँहवाले किन्नरियोंके निवास-स्थान हैं। उसे प्रदेशको लाँच जानेपर सिद्धसेविन आश्रम मिलेगा ॥ ३१ ॥

सिद्धा वैखानसा यत्र वालखिल्याश्च तापसाः ।

वन्दितव्यास्ततः सिद्धास्तपसा रीतकल्मषाः ॥ ३२ ॥

प्रष्टव्या अपि सीतायाः प्रवृत्तिर्विनयान्वितैः ।

'उसमें सिद्ध, वैखानस तथा वालखिल्य नामक तपस्वी निवास करते हैं। तपस्यासे उनके पाप धुल गये हैं। उन सिद्धोंको तुमलोग प्रणाम करना और विनोदभावसे सीताका समाधार पूछना ॥ ३२ ॥

हेमपुष्करसंछत्रं तत्र वैखानसं सरः ॥ ३३ ॥

तरुणादित्यसंकाशं ह्रींस्वैर्विचरितं शुभैः ।

उस आश्रमके पास 'वैखानस सर' के नामसे प्रसिद्ध एक सरोवर है, जिसका जल सुवर्णमय कमलोंमें आच्छादित रहता है। उसमें प्रातःकाल सूर्यके समान सुन्दर एवं अरुणवर्णवाले सुन्दर हम विचरते रहते हैं ॥ ३३ ॥

औपवाह्यः कुबेरस्य सार्वभौम इति स्मृतः ॥ ३४ ॥

गजः पर्येति तं देशं सदा सह करेणुभिः ।

'कुबेरको सदागम्य काम अनेकाल सार्वभौमनामक गजराज

अपने हाँथियोंके साथ उस देशमें सदा घूमता रहता है ॥

तत् सरः समनिक्रम्य नष्टचन्द्रदिवाकरम् ।

अनक्षत्रगणं व्योम निष्पयोदयनादितम् ॥ ३५ ॥

'उस सरोवरको लाँचकर आगे जानेपर सुना आकाश दिक्तायी देगा। उसमें सूर्य, चन्द्रमा तथा तारोंके दर्शन नहीं होंगे। वहाँ न तो मेषोंकी घटा दिखायी देगी और न उनकी गर्जना हो सुनायी पड़ेगी ॥ ३५ ॥

गम्भीरभिर्वाक्यस्य स तु देशः प्रकाश्यते ।

विश्राम्यद्भिस्तपः सिद्धदेवकल्पैः स्वयंप्रभैः ॥ ३६ ॥

तथापि उस देशमें ऐसा प्रकाश छाया होगा, मानो सूर्यकी किरणोंमें ही वह प्रकाशित हो रहा है। वहाँ अपनी ही प्रभासे प्रकाशित तप सिद्ध देवोंमें महर्षि विश्राम करने हैं। उनकी अमृत्प्रभासे उस देशमें ठण्डा छाया रहता है ॥ ३६ ॥

तं तु देशमनिक्रम्य शैलोदा नाम विप्रगा ।

उभयोस्तीरयोस्तस्याः कीचका नाम जेणवः ॥ ३७ ॥

'उस प्रदेशको लाँचकर आगे बढ़नेपर 'शैलोदा' नामवाली नदीका दर्शन होगा। उसके दोनों तीरोंपर कीचक (वशीकी सी ध्वनि करनेवाले) बाँस हैं, यह बात प्रसिद्ध है ॥ ३७ ॥

ने नयन्ति परं तीरं सिद्धान् प्रत्यानयन्ति च ।

उत्तराः कुरवस्तत्र कृतपुण्यप्रतिभ्रयाः ॥ ३८ ॥

'वे बाँस का (साधन बनकर, सिद्ध पुरुषोंको शैलोदाके उस पार ले जाने और वहाँसे हम पार ले आते हैं। जहाँ कवल पुण्यात्मा पुरुषोंका वास है, वह उत्तर कुरुदेश शैलोदाके तटपर ही है ॥ ३८ ॥

ततः काञ्चनपद्याभिः पद्मिनीभिः कुनोदकाः ।

नीलवदूर्यपद्मका नद्यस्तत्र सहस्रशः ॥ ३९ ॥

'उत्तर कुन्देशमें नील वदूर्यमणिके समान हरे-हरे कमलोंके पत्तोंमें सुशोभित सहस्र नदियाँ बहती हैं जिनके जल सुवर्णमय पदोंमें अलंकृत अनेकानेक पुष्करिणियोंसे मिले हुए हैं ॥ ३९ ॥

रक्तोत्पलवर्नश्चात्र मण्डिताश्च हिरण्ययैः ।

तरुणादित्यसंकाशा भान्ति तत्र जलाशयाः ॥ ४० ॥

वहाँ रक्तोत्पलवाले ताल और सुन्दर कमलमूहोंमें मण्डित होकर प्रातःकाल उदित हुए सूर्यके समान शोभा पाते हैं ॥ ४० ॥

महार्हमणिपरैश्च काञ्चनप्रथकेसरैः ।

नीलोत्पलवर्नश्चित्रैः स देशः सर्वतो वृतः ॥ ४१ ॥

'बहुमूल्य मणियोंके समान पत्तों और सुवर्णके समान कान्तिमान् केसरोंवाले विचित्र-विचित्र नीले कमलोंके द्वारा वहाँका प्रदेश सब आरसे सुशोभित होता है ॥ ४१ ॥

निस्तुलाभिश्च मुक्ताभिर्मणिभिश्च महाधनैः ।

उद्धूतपुलिनास्तत्र जातरूपैश्च निप्रगाः ॥ ४२ ॥

सर्वरत्नमयैश्चित्रैरवगाढा नगोत्तमैः ।

जातरूपमयैश्चापि हुताशनसमप्रभैः ॥ ४३ ॥

‘वहाँकी नदियोंके तट गोल-गोल मोतियों, बहुमूल्य मणियों और सुवर्णोंसे सम्पन्न है। इतना ही नहीं, उन नदियोंके किनारे सम्पूर्ण रत्नोंमें युक्त विचित्र विचित्र पर्वत धा विद्यमान हैं, जो उनके जलके भीतरतक घुसे हुए हैं। उन पर्वतोंमेंसे कितने ही सुवर्णमय हैं, जिनमें अग्निके समान प्रकाश फैलता रहता है ॥ ४२-४३ ॥

नित्यपुष्पफलास्तत्र नगाः पत्ररथाकुलाः ।

दिव्यगन्धरसस्पर्शाः सर्वकामान् स्वर्वास्ति च ॥ ४४ ॥

‘वहाँके वृक्षोंमें सदा ही फल-फल लगे रहते हैं और उनपर पक्षी चहकते रहते हैं। वे वृक्ष दिव्य गन्ध, दिव्य रस और दिव्य स्पर्श प्रदान करते हैं तथा प्राणियोंकी भारी मनचाही वस्तुओंकी वर्षा करते रहते हैं ॥ ४४ ॥

नानाकाराणि वासांसि फलन्त्यन्ये नगोनमाः ।

मुक्तावैदूर्यचित्राणि भूषणानि तथैव च ।

स्त्रीणां यान्यनुरूपाणि पुष्पाणां तथैव च ॥ ४५ ॥

‘इनके सिवा दूसरे-दूसरे श्रेष्ठ वृक्ष फलोंके रूपमें नाना प्रकारके वस्त्र, मोती और वैदूर्यमाणसे जड़ित आभूषण देते हैं जो स्त्रियों तथा पुष्पोंके भी उपयोगमें आने योग्य होते हैं ।

सर्वर्तुसुखसेव्यानि फलन्त्यन्ये नगोनमाः ।

महार्हमणिचित्राणि फलन्त्यन्ये नगोनमाः ॥ ४६ ॥

‘दूसरे उत्तम वृक्ष सभी ऋतुओंमें सुखपूर्वक संवत्सर करने योग्य अच्छे-अच्छे फल देते हैं। अन्योन्य सुन्दर वृक्ष बहुमूल्य मणियोंके समान विचित्र फल उत्पन्न करने हैं ॥

शयनानि प्रसूयन्ते चित्रास्तरणवन्ति च ।

मनःकान्तानि माल्यानि फलन्त्यत्रापरे हुमाः ॥ ४७ ॥

पानानि च महार्हाणि भक्ष्याणि विविधानि च ।

स्त्रियश्च गुणसम्पन्ना रूपयीवनलक्षिणाः ॥ ४८ ॥

‘कितने ही अन्य वृक्ष विचित्र विचित्रानामें युक्त शय्याओंकी ही फलोंके रूपमें प्रकट करते हैं, मनको प्रिय लगनेवाली सुन्दर माल्यार्थ भी प्रस्तुत करते हैं, बहुमूल्य पेय पदार्थ और भोजन-भोजनके भोजन भी देते हैं तथा रूप और यौवनमें प्रकाशित होनेवाली सद्गुणवती युवतियोंको भी जन्म देते हैं ॥ ४७-४८ ॥

गन्धर्वाः किन्नराः सिद्धा नागा विद्याधरास्तथा ।

रमन्ते सततं तत्र नारीभिर्भास्वरप्रभाः ॥ ४९ ॥

‘वहाँ सूर्यके समान कान्तिमान् गन्धर्व, किन्नर, सिद्ध, नाग और विद्याधर सदा नारियोंके साथ क्रोडा विश्रार करते हैं ॥

सर्वे सुकृतकर्माणः सर्वे रतिपरायणाः ।

सर्वे कामार्थसहिता वसन्ति सह योधितः ॥ ५० ॥

‘वहाँके सब लोग पुण्यकर्मा हैं, सभी अर्थ और काममें सम्पन्न हैं तथा सब लोग काम क्रोडापरायण होकर युवती स्त्रियोंके साथ निवास करते हैं ॥ ५० ॥

गीतवादित्रनिर्घोषः सोत्कृष्टहसितस्वनः ।

श्रूयते सततं तत्र सर्वभूतमनोरमः ॥ ५१ ॥

‘यहाँ निरन्तर उत्कृष्ट हस-परिहासकी ध्वनिसे युक्त गीतवाद्यका मधुर घोष सुनायी देता है, जो समस्त प्राणियोंके मनको आनन्द प्रदान करनेवाला है ॥ ५१ ॥

तत्र नाभुदितः कश्चिन्नात्र कश्चिदसन्निधः ।

अहन्यहनि चर्चन्ते गुणास्तत्र मनोरमाः ॥ ५२ ॥

‘वहाँ कोई भी अप्रसन्न नहीं रहता। किसीकी भी श्रेष्ठ कामोंमें प्राप्ति नहीं होती। वहाँ रहनेसे प्रतिदिन मनोरम गुणोंकी वृद्धि होती है ॥ ५२ ॥

समतिक्रम्य तं देशमुत्तरः पयसा निधिः ।

तत्र सोमगिरिर्नाम मध्ये हेममयो महान् ॥ ५३ ॥

‘उस देशको लाँघकर आगे जानेपर उत्तरदिग्वर्ती समुद्र उपलब्ध होगा। उस समुद्रके मध्यभागमें सोमगिरि नामक एक बहुत ऊँचा सुवर्णमय पर्वत है ॥ ५३ ॥

इन्द्रलोकगता ये च ब्रह्मलोकगताश्च ये ।

देवास्तं समवेक्षन्ते गिरिगजं दिवं गताः ॥ ५४ ॥

‘जो लोग स्वर्गलोकमें गये हैं, वे तथा इन्द्रलोक और ब्रह्मलोकमें रहनेवाले देवता उस गिरिगज सोमगिरिको दर्शन करते हैं ॥ ५४ ॥

स तु देशो विमुर्योऽपि तस्य भासा प्रकाशते ।

सूर्यलक्ष्म्याभिविजयेतपतेव विवस्वता ॥ ५५ ॥

‘वह देश सूर्यमें रहित है। सो भी सोमगिरिकी प्रभासे सदा प्रकाशित रहता रहता है। तपते रूप सूर्यकी प्रभासे जो देश प्रकाशित होत है। उन्नीको भाति उस सूर्यदेवकी शोभासे सम्पन्न-भा जानना चाहिये ॥ ५५ ॥

भगवांस्तत्र विश्वात्मा शम्भुरेकादशात्मकः ।

ब्रह्मा वसति देवेशो ब्रह्मर्षिपरिवारितः ॥ ५६ ॥

‘वहाँ विश्वात्मा भगवान् विष्णु, एकादश रुद्रोंके रूपमें प्रकट होनेवाले भगवान् शंकर तथा ब्रह्मर्षियोंमें सिरे हुए देवेश ब्रह्माजी निवास करते हैं ॥ ५६ ॥

न कथञ्चन गन्तव्यं कुरूणामुत्तरेण वः ।

अन्येषामपि भूतानां नानुक्रामति वै गतिः ॥ ५७ ॥

‘तुमलोग उत्तर कुलके मार्गसे सोमगिरिके जाकर उसकी सीमासे आगे किसी तरह बढ़ना। तुम्हारी तरह दूसरे प्राणियोंकी भी वहाँ गति नहीं है ॥ ५७ ॥

स हि सोमगिरिर्नाम देवानामपि दुर्गमः ।

तप्तालोक्य ततः क्षिप्रमुपावर्तिषुपर्हथ ॥ ५८ ॥

‘वह सोमगिरि देवताओंके लिये भी दुर्गम है। अतः उसका दर्शनमात्र करके तुमलोग शीघ्र लौट आना ॥ ५८ ॥

एतावद् धानरैः शक्यं गन्तुं धानरपुंगवाः ।

अभास्कगम्ययथा न जानीमस्ततः परम् ॥ ५९ ॥

‘श्रेष्ठ धानरों। वस्य उत्तर दिशामें इतनी ही दूरतक तुम मात्र जानर जा सकते हो। उसके आगे न तो सूर्यका प्रकाश है और न किसी देश आदिकी सीमा ही। अतः आगेकी

भूमिके सम्बन्धमे र्म कुछ नहीं जानता ॥ ५९ ॥

सर्वमेतद् विचेतव्यं यन्मया परिकीर्तितम् ।

यदन्यदपि नोक्तं च तत्रापि क्रियतां घनिः ॥ ६० ॥

‘धर्म जो-जो स्थान बताये हैं, उन सबमें सीताको खोज करना और जिन स्थानोंका नाम नहीं लिया है, वहाँ भी शूद्रनका हो निश्चित विचार रखना ॥ ६० ॥

ततः कृतं दाशरथ्येर्महत्प्रियं

महत्प्रियं चापि तनो यम प्रियम् ।

कृतं भविष्यत्पनिलानलोपमा

धिदेहजादर्शनजेन कर्मणा ॥ ६१ ॥

‘अग्नि और वायुके समान तेजस्वी तथा बलशाली जानरो ! विदेहर्नन्दनो सीताके दर्शनके लिये तुम जो-जो कार्य या प्रयास करोगे, उन सबके द्वारा दशरथनन्दन भगवान्

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्ध्याकाण्डे त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आरण्यक्यायण आदिकाव्यके किष्किन्ध्याकाण्डमे नैनालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

श्रीरामका हनुमान्जीको अँगूठी देकर भेजना

विशेषेण तु सुग्रीवो हनूमत्पथमुक्तवान् ।

स हि तस्मिन् हरिश्चेष्टे निश्चिन्तार्थोऽर्थसाधने ॥ १ ॥

सुग्रीवने हनुमान्जीके समक्ष विशदरूपमें सीताके अन्वेषणरूप प्रयोजनको उपस्थित किया, क्योंकि उन्हें यह दृढ़ विश्वास था कि जनरश्चेष्ट हनुमान्जी इस कार्यको सिद्ध कर सकेंगे ॥ १ ॥

अग्रवीर्य हनूमन्ते विक्रान्तमनिलात्मजम् ।

सुग्रीवः परमप्रीतः प्रभुः सर्ववनीकसाम् ॥ २ ॥

समस्त जानरोके स्वामी सुग्रीवने अत्यन्त प्रसन्न होकर परम पराक्रमी वायुपुत्र हनुमान्से इस प्रकार कहा— ॥ २ ॥

न भूमौ नान्तरिक्षे वा नाप्यरे नायरालये ।

नाप्सु वा गतिसङ्गं ते पश्यामि हरिपुंगव ॥ ३ ॥

‘कपिश्रेष्ठ ! पृथ्वी, अन्तरिक्ष, आकाश, देवलोक अथवा जलमें भी तुम्हारी गतिका अवरोध मैं कभी नहीं देखता हूँ ॥ ३ ॥

सासुराः सहगन्धर्वाः सनागनरदेवताः ।

विदिताः सर्वलोकास्ते ससागरधराधराः ॥ ४ ॥

‘असुर, गन्धर्व, नाग, मनुष्य, देवता, समुद्र तथा पर्वतोंसहित सम्पूर्ण लोकोंका तुम्हें ज्ञान है ॥ ४ ॥

गतिर्वेगश्च तेजश्च लाघवं च महाकपे ।

पितुस्ते सदृशं चौर मारुतस्य महौजसः ॥ ५ ॥

‘वीर ! महाकपे ! सर्वत्र अवर्धित गति, वेग, तेज और फुर्ती—ये सभी सदगुण तुममें अपने महापराक्रमी पिता वायुके ही समान हैं ॥ ५ ॥

श्रीरामका महान् प्रिय कार्य सम्पन्न होगा तथा ठसोले मेरा भी प्रिय कार्य पूर्ण हो जायगा ॥ ६१ ॥

ततः कृतार्थाः सहिताः सवान्धवा

मयार्चिताः सर्वगुणैर्मनोरमैः ।

चरिष्यथोर्वी प्रति शान्तशम्रवः

सहप्रिया भूतधराः प्लवंगमाः ॥ ६२ ॥

‘जानरो ! श्रीरामचन्द्रजीका प्रिय कार्य करके जब तुम लौटोगे, तब मैं सर्वगुणसम्पन्न एवं मनोऽनुकूल पदार्थोंके द्वारा तुम सब लोगोंका सत्कार करूँगा नन्दश्चान् तुमलोग शत्रुहोन होकर अपने हितैषियों और बन्धु-बान्धवोंसहित कृतार्थ एवं समस्त प्राणियोंके आश्रयदाता होकर अपनी धियनमाओंके साथ सारी पृथ्वीपर भ्रमन्द विधरण करोगे ॥ ६२ ॥

तेजसा चापि ते भूत न सभं भुवि विद्यते ।

तद् यथा लुभ्यते सीता तत्त्वमेवानुचिन्तय ॥ ६ ॥

‘इस भूमण्डलमें कोई भी प्राणी तुम्हारे तेजको समानता करनेवाला नहीं है, अतः जिस प्रकार सीताकी उपलब्धि हो मके, वह उपाय तुम्हीं सोचो ॥ ६ ॥

त्वय्येव हनुमन्नस्ति बलं बुद्धिः पराक्रमः ।

देशकालानुवृत्तिश्च नयश्च नयपण्डित ॥ ७ ॥

‘हनूमन् ! तुम नातिशयके पण्डित हो । एकमात्र तुम्होंने बल, बुद्धि, पराक्रम, देश-कालकी अनुसरण तथा नीतिपूर्ण चर्चाएँ एक साथ देखे जाते हैं ॥ ७ ॥

ततः कार्यसमासङ्गमवगम्य हनूमति ।

विदित्वा हनुमन्ते च विन्मयामास राधवः ॥ ८ ॥

सुग्रीवकी बात सुनकर श्रीरामचन्द्रजीको यह ज्ञात हुआ कि इस कार्यकी सिद्धिका सम्बन्ध—इसे पूर्ण करनेका सारा भार हनुमान्पर ही है । उन्होंने स्वयं भी यह अनुभव किया कि हनुमान् इस कार्यको सफल करनेमें समर्थ है । फिर से इस प्रकार मन-ही-मन विचार करने लगे— ॥ ८ ॥

सर्वथा निश्चिन्तार्थोऽयं हनूमति हरीश्वरः ।

निश्चितार्थतरश्चापि हनुमान् कार्यसाधने ॥ ९ ॥

जानरराज सुग्रीव सर्वथा हनुमान्पर ही यह भरोसा किये बैठे हैं कि ये ही निश्चितरूपसे हमारे इस प्रयोजनको सिद्ध कर सकेंगे हैं । नवय हनुमान् भी अत्यन्त निश्चितरूपसे इस कार्यको सिद्ध करनेका विश्वास रखते हैं ॥ ९ ॥

तदेवं प्रस्थितस्यास्य परिज्ञातस्य कर्मभिः ।

भर्त्रा परिगृहीतस्य युवः कार्यफलोदयः ॥ १० ॥

‘इस प्रकार कार्योद्धार जिनकी परीक्षा कर ली गयी है तथा जो सबसे श्रेष्ठ समझे गये हैं, वे हनुमान् अपने स्वामी सुग्रीवके द्वारा सीताकी खोजके लिये धैर्य जा रहे हैं इनके द्वारा इस कार्यके फलका उदय (सीताका दर्शन) होना निश्चित है’ ॥ १० ॥

तं समीक्ष्य महातेजा व्यवसायोत्तरं हरिम् ।

कृतार्थ इव संहृष्टः ग्रहहेन्द्रियमानसः ॥ ११ ॥

ऐसा विचारकर महातेजस्वी श्रीरामचन्द्रजी कार्यमाधनके उद्योगमें सर्वश्रेष्ठ हनुमान्जीका ओर दृष्टिपात करके अपनेको कृतार्थ सा मानते हुए प्रसन्न हो गये । उनको सारी इन्द्रियाँ और मन हर्षसे खिल उठे ॥ ११ ॥

ददौ तस्य ततः प्रीतः स्वनामाङ्गोपशोभितम् ।

अङ्गुलीयमभिज्ञानं राजपुत्र्या परंतपः ॥ १२ ॥

तदनन्तर शत्रुओंको संताप देनेवाले श्रीरामने प्रसन्नता-पूर्वक अपने नामके अक्षरोंमें सुशोभित एक अंगूठी हनुमान्जीके हाथमें दी जो राजकुमारी सीताको पहचानके रूपमें अर्पण करनेके लिये थी ॥ १२ ॥

अनेन त्वा हरिश्रेष्ठ चिह्नेन जनकात्पजा ।

मत्सकाशादनुप्राप्तमनुद्विग्नानुपश्यति ॥ १३ ॥

अंगूठी देकर वे बोले—‘कपिश्रेष्ठ ! इस चिह्नके द्वारा जनककिशोरी सीताका यह विश्वास हो जायगा कि तुम मेरे पाससे हो गये हो । इससे वह भय त्यागकर तुम्हारी ओर देख सकेगी ॥ १३ ॥

व्यवसायश्च ते वीर सन्धयुक्तश्च विक्रमः ।

सुग्रीवस्य च संदेशः सिद्धिं कथयतीव मे ॥ १४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें चौवालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

विभिन्न दिशाओंमें जाते हुए वानरोंका सुग्रीवके समक्ष अपने उत्साहसूचक वचन सुनाना

सर्वांश्चाहूय सुग्रीवः प्लवगान् प्लवगर्भभः ।

समस्तांश्चाब्रवीद् राजा रामकार्यार्थसिद्धये ॥ १ ॥

तदनन्तर वानरशिरोमणि राजा सुग्रीव अन्य समस्त वानरोंको बुलाकर श्रीरामचन्द्रजीके कार्यको सिद्धिके लिये उन सबसे बोले— ॥ १ ॥

एवमेतद् विचेतव्यं भवद्विद्वानरोत्तमैः ।

तदुपशासनं भर्तुर्विजाय हरिपुंगवाः ॥ २ ॥

शलभा इव संछाद्य घेदिनीं सम्प्रतस्थिरे ।

‘कपिवरो ! जैसा मैंने बताया है, उसके अनुसार तुम सभी श्रेष्ठ वानरोंको इस जगत्में सीताको खोज करना

‘वीरवर ! तुम्हारा उद्योग, धैर्य, प्रयत्न और सुग्रीवका संदेश—ये सब मुझे इस बातकी सूचना—सी दे रहे हैं कि तुम्हारे द्वारा कार्यकी सिद्धि अवश्य होगी’ ॥ १४ ॥

स तद् गृह्य हरिश्रेष्ठः कृत्वा मूर्ध्नि कृताञ्जलिः ।

वन्दित्वा चरणौ चैव प्रस्थितः प्लवगर्भभः ॥ १५ ॥

वानरश्रेष्ठ हनुमान्ने वह अंगूठी लेकर उसे मस्तकपर रखा और फिर हाथ जोड़कर श्रीरामके चरणोंमें प्रणाम करके वे वानरशिरोमणि वहाँसे प्रस्थित हुए ॥ १५ ॥

स तत् प्रकथन् हरिणां महद् बलं

बभूव वीरः पवनान्धजः कपिः ।

गताम्बुदे व्योम्नि विशुद्धमण्डलः

शशीव नक्षत्रगणोपशोभितः ॥ १६ ॥

उस समय वीर-वानर पवनकुमार हनुमान् अपने साथ वानरोंको उस विशाल सेनाको ले जाते हुए उसी तरह शोभा पाने लगे, जैसे मेघरहित आकाशमें विशुद्ध (निर्मल) मण्डलसे उपलक्षित खन्डमा नक्षत्र-समूहोंके साथ सुशोभित होता है ॥ १६ ॥

अतिबलं बलमाश्रितस्तवाहं

हरिवर विक्रम विक्रमैरनल्पैः ।

पवनमुत यथाधिगम्यते सा

जनकसुता हनुमस्तथा कुरुषु ॥ १७ ॥

जाते हुए हनुमान्का सम्वाधन करके श्रीरामचन्द्रजीने फिर कहा—‘अत्यन्त बलशाली कपिश्रेष्ठ मैंने तुम्हारे बलवत् आश्रय लिया है । पवनकुमार हनुमान् ! जिस प्रकार भी जनकनन्दिनी सीता प्राप्त हो सके, तुम अपने महान् बलविक्रमसे वहाँ ही प्रयत्न करो अच्छा अब जाओ’ ॥ १७ ॥

चाहिये ।’ स्वामीकी उस कठोर आज्ञाको भलीभाँति समझकर वे सम्पूर्ण श्रेष्ठ वानर टिड्डियोंके दलकी भाँति पृथ्वीको आच्छादित करके वहाँसे प्रस्थित हुए ॥ १८ ॥

रामः प्रस्रवणे तस्मिन् न्यवसत् सहलक्ष्मणः ॥ ३ ॥

प्रतीक्षमाणस्तं मासं सीताधिगमने कृतः ।

श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणके साथ उस प्रस्रवणगिरिपर ही ठहरे रहे और सीताका समाचार लानेके लिये जो एक मासको अवधि निश्चित की गयी थी, उसकी प्रतीक्षा करने लगे । ॥ ३ ॥

उत्तरां तु दिशं रम्यां गिरिराजसमावृताम् ॥ ४ ॥

प्रतस्थे सहसा चीरो हरिः शतबलिस्तदा ।

उस समय वीर वानर शतचलिने गिरिराज हिमालयमें धिरी हुई रमणीय उत्तर दिशाको ओर शोभतापूर्वक प्रस्थान किया ॥ ४३ ॥

पूर्वी दिशि प्रतिययौ विनतो हरियूथपः ॥ ५ ॥
ताराङ्गदादिसङ्गितः प्रवगः पवनात्मजः ।
अगस्त्याचरितामाशो दक्षिणां हरियूथपः ॥ ६ ॥
पश्चिमां च दिशं धीरां सुषेणः प्रवगेश्वरः ।
प्रतस्थे हरिशार्दूलो दिशं वरुणपालिताम् ॥ ७ ॥

वानर-यूथपति विनत पूर्व दिशाको ओर गये । कपिगणोंके अधिपति पवनकुमार वानर हनुमान्जी नाग और अङ्गद आदिके साथ अगस्त्यसेवित दक्षिण दिशाको ओर प्रस्थित हुए तथा वानरेश्वर कपिश्रेष्ठ मुष्णान वरुणद्वारा सुरक्षित ओर पश्चिम दिशाकी यात्रा करें ॥ ५—७ ॥

ततः सर्वा दिशो राजा शोदयित्वा यथातथम् ।
कपिसेनापतिर्वीरो मुष्णोद सुखितः सुखम् ॥ ८ ॥

वानर सेनाके स्वामी वीर राजा सुश्रव सम्पूर्ण दिशाओंमें यथायोग्य वानरोंको भेजकर बहुत सुखी हुए और मन-ही-मन हर्षका अनुभव करने लगे ॥ ८ ॥

एवं संचोदिताः सर्वे राजा वानरयूथपाः ।
स्वां स्वां दिशामभिप्रेत्य त्वरिताः सम्प्रतस्थिरे ॥ ९ ॥

इस तरह राजाकी आज्ञा पाकर समस्त वानर-यूथपति लड़ी उठावल्लोके साथ अपनी अपनी दिशाको उग्र प्रस्थित हुए ॥ ९ ॥

नदन्तश्चोन्नदन्तश्च गर्जन्तश्च प्रवगमाः ।
क्ष्वेदन्तो धावमानाश्च विनदन्तो महाबला ॥ १० ॥
एवं संचोदिताः सर्वे राजा वानरयूथपाः ।
आनयिष्यामहे सीतां हनिष्यामश्च रावणम् ॥ ११ ॥
अङ्गमेको वधिष्यामि प्राप्तं रावणमाहवे ।
ततश्चोन्मथ्य सहसा हरिष्ये जनकात्मजाम् ॥ १२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें पैतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशः सर्गः

सुग्रीवका श्रीरामचन्द्रजीको अपने भूमण्डल-भ्रमणका वृत्तान्त बताना

गतेषु वानरेन्द्रेषु रामः सुग्रीवमब्रवीन् ।
कथं भवान् विजानीते सर्वं वै मण्डलं भुवः ॥ १ ॥

उन समस्त वानरयूथपतियोंके चले जानपर श्रीरामचन्द्रजीने सुग्रीवसे पूछा—‘सखे ! तुम समस्त भूमण्डलके स्थानोंका परिचय कैसे जानते हो ?’ ॥ १ ॥

सुग्रीवश्च ततो राममुवाच प्रणतात्मवान् ।
श्रूयतां सर्वमाख्यास्ये विस्तरेण क्वचो भय ॥ २ ॥

वेपमानां श्रमेणाद्य भवद्भिः स्थायतामिति ।
एक एवाहरिष्यामि पातालादपि जानकीम् ॥ १३ ॥
विधिष्याम्यहं वृक्षान् दारविष्याम्यहं गिरीन् ।
धरणीं दारविष्यामि क्षोभयिष्यामि सागरान् ॥ १४ ॥
अहं योजनसंख्यायाः प्रवेद्यं नात्र संशयः ।
शतयोजनसंख्यायाः शतं समधिकं ह्यहम् ॥ १५ ॥
भूतले सागरे वापि ईलेषु च खनेषु च ।
पातालस्यापि वा मध्ये न ममाच्छिद्यते गतिः ॥ १६ ॥

वे समस्त महाबली वानर और उनके यूथपति अपने राजाके द्वारा इस प्रकार प्रेरित हो भौत-भौतिक शक्त करते, उच्च स्वरसे गर्जते, दहाड़ते, किलकारियाँ मारते, दौड़ते और कोलाहल करते हुए कहने लगे—‘रजन् ! हम सीताको साथ लायेंगे और रावणका वध कर डालेंगे । युद्धमें यदि रावण में मारने आ जाय तो मैं अकेला ही उसे मार गिराऊँगा । तत्पश्चात् उसकी सारी सेनाका मथकर कह एवं भयसे काँपती हुई जानकीजीको सहसा भर्त्ता उठा लाऊँगा । आपलोग यहीं ठहरे । मैं अकेला ही पातालमें भी जनककिशोरीको निकाल लाऊँगा, वृक्षोंको उखाड़ फेंकूँगा, पर्वताक टुकड़े-टुकड़े कर डालूँगा, पृथ्वीको विदारण कर दूँगा और समुद्रोंको भी विधुव्य कर डालूँगा । मैं मी योजनतक कूद सकता हूँ, इन्में मशय नहीं है मैं मी योजनमें भी अधिक दूरतक जा सकता हूँ । पृथ्वी समुद्र, पर्वत, वन और पातालमें भी मेरी गति नहीं रुकनी’ ॥ १०—१६ ॥

इत्येकैकस्तदा तत्र वानरा बलदर्पिताः ।
ऊचुश्च वचनं तस्य हरिराजस्य संनिधौ ॥ १७ ॥

इस तरह वहाँ वानरराज सुग्रीवक समीप बलके घमड़ेमें भरे हुए वानर उस समय एक एक करके आने और उनके सामने उपर्युक्त बातें कहते थे ॥ १७ ॥

तब सुग्रीवने विनोत होकर श्रीरामचन्द्रजीसे कहा—
‘भगवन् ! मैं सब कुछ विस्तारके साथ बत रहा हूँ । मेरी बातें सुनिये ॥ २ ॥

यदा तु दुन्दुभिं नाय दानवं महिषाकृतिम् ।
प्रतिकाल्यते वाली भल्लयं प्रति पर्यतम् ॥ ३ ॥
तदा विवेश महिषो भल्लयस्य गुह्यं प्रति ।
विवेश वाली तत्रापि भल्लयं तजिघांसया ॥ ४ ॥

‘जब वाली महिरूपधारी दानव दुन्दुभि* (उसके पुत्र मायावी) का पोल्ल कर रहे थे, उस समय वह महिरुप मलयपर्वतकी ओर भागा और उस पर्वतकी कन्दरामें घुस गया। यह देख वालीने उसके वधकी इच्छासे उस गुफाके भीतर भी प्रवेश किया ॥ ३-४ ॥

ततोऽहं तत्र निक्षिप्तो गुहाद्वारि विनीतवत् ।
न च निष्क्रामते वाली तदा संवत्सरे गते ॥ ५ ॥

‘उस समय मैं विनीतभावसे उस गुफाके द्वारपर खड़ा रहा; क्योंकि वालीने मुझे वहाँ रख छोड़ा था। परंतु एक वर्ष व्यतीत हो जानेपर भी वाली उसके भीतरसे नहीं निकले ॥ ५ ॥

ततः क्षतजवेगेन आपुपूरे तदा बिलम् ।
तदहं विस्मितो दृष्ट्वा भ्रातुः शोकविषादितः ॥ ६ ॥

‘तदनन्तर वेगपूर्वक बहते हुए रक्तकी धारासे उस समय वह सारी गुफा भर गयी, यह देखकर मुझे बड़ा विस्मय हुआ तथा मैं भाईके शोकसे व्यथित हो उठा ॥ ६ ॥

अथाहं गतबुद्धिस्तु सुव्यक्तं निहतो गुरुः ।
शिला पर्वतसंकाशा बिलद्वारि मया कृता ॥ ७ ॥

फिर मेरी बुद्धिमें यह बात आयी कि अब मेरे बड़े भाई निश्चय ही मारे गये यह विचार पैदा होत हो मैंने उस गुफाके द्वारपर एक पहाड़-जैसी चट्टान रख दी ॥ ७ ॥

अशक्तवन्निष्क्रमितुं महिषो विनशिष्यति ।
ततोऽहमागो किष्किन्या निराशस्तस्य जीविते ॥ ८ ॥

सोचा—इस शिलासे द्वार बंद हो जानेपर मायावी निकल नहीं सकगा, भीतर ही घुट-घुटकर मर जायगा। हमके खाद भाईके जीवनमें निगदा होकर मैं किष्किन्यापुरीमें लौट आया ॥ ८ ॥

राज्यं च सुपहतं प्राप्य तारां च रुपया सह ।
मित्रैश्च सहितस्तत्र वसामि विगतज्वरः ॥ ९ ॥

‘यहाँ विशाल राज्य तथा रुपायहित ताराको पाकर मित्रोंके साथ मैं निश्चिन्ततापूर्वक रहने लगा ॥ ९ ॥

आजगाम ततो वाली हत्वा तं जानरर्षभः ।
ततोऽहमददां राज्यं गौरवाद् भययन्त्रितः ॥ १० ॥

‘तत्पश्चात् जानरश्रेष्ठ वाली उस दानवका वध करके आ पहुँचे। उनके आते ही मैंने भाईके गौरवसे भयभीत हो वह राज्य उन्हें वापस कर दिया ॥ १० ॥

स मां जिघांसुर्दृष्ट्वा वाली प्रव्यथितेन्द्रियः ।
परिकालयते वाली द्वाधन्तं सचिवैः सह ॥ ११ ॥

परंतु दुष्टात्मा वाल्मी मुझे मार डालना चाहता था, उसकी मारसे इन्द्रियाँ यह सोचकर व्यथित हो उठी थीं कि ‘यह मुझे मारनेके लिये ही गुफाका द्वार बंद करके भाग आया था। मैं अपनी प्राण-रक्षाके लिये मन्त्रियोंके साथ भागा और वाल्मी मेरा पोल्ल करने लगा ॥ ११ ॥

ततोऽहं वालिना तेन सोऽनुबद्धः प्रयावितः ।
नदीश्च विविधाः पश्यन् वनानि नगराणि च ॥ १२ ॥
आदर्शतलसंकाशा ततो र्वे पृथिवी मया ।

अल्लातचक्रप्रतिमा दृष्ट्वा गोप्यदवत् कृता ॥ १३ ॥
‘वाल्मी मेरे पीछे लगा रहा और मैं जंगल-जंगलको भागता गया। उसी समय मैंने विभिन्न नदियों, वनों और नगरोंको देखते हुए मागे पृथ्वीको गायकी खुरोंकी भाँति मानकर उसके परिक्रमा कर डाली। भागते समय मुझे यह पृथ्वी दर्पण और अल्लातचक्रक समान दिखायी दी ॥ १२-१३ ॥

पूर्वा दिशि ततो गत्वा पश्यामि विविधान् द्रुमान् ।
पर्वतान् सदरीन् रथान् सरांसि विविधानि च ॥ १४ ॥

‘तदनन्तर पूर्व दिशामें जाकर मैंने नाना प्रकारके वृक्ष, कन्दगआमन्त्रिन रथान् पर्वत और भीति-भीतिके सरोवर देखे।

उदये तत्र पश्यामि पर्वतं धातुमण्डितम् ।
क्षीरोदं मार्गं चैव नित्यमध्वरसालयम् ॥ १५ ॥

‘यहाँ नाना प्रकारके धातुओंसे मण्डित उदभावल तथा अध्वरसालयके नित्य-निवासस्थान क्षीरोद सागरका भी मैंने दर्शन किया ॥ १५ ॥

परिकाल्यमानस्तदा वालिनाभिहतो हारम् ।
पुनरावृत्य सहसा प्रस्थितोऽहं तदा विभो ॥ १६ ॥

‘उस समय वाल्मी पोल्ल करते रहे और मैं भागता रहा। प्रभा । जब मैं यहाँ फिर लौटकर आया तब वालीके डरसे पुनः सहसा मुझे भागना पड़ा ॥ १६ ॥

दिशस्तस्यास्ततो भूयः प्रस्थितो दक्षिणां दिशम् ।
त्रिन्ध्यपादपसंकीर्णौ चन्दनद्रुमशोभिताम् ॥ १७ ॥

‘उस दिशाको छोड़कर मैं फिर दक्षिण दिशाकी ओर प्रस्थित हुआ जहाँ त्रिन्ध्यपक्षत और नाना प्रकारके वृक्ष भरे हुए हैं तथा चन्दनके वृक्ष जिसकी शोभा बहाते हैं ॥ १७ ॥

द्रुमशैलान्तरे पश्यन् भूयो दक्षिणतोऽपराम् ।
अपरां च दिशं प्राप्नो वालिना समभिद्रुतः ॥ १८ ॥

‘वृक्षों और पर्वतोंकी ओटमें बारंबार वालीको देखकर मैंने दक्षिण दिशाको छोड़ दिया तथा वालीके खदेड़नपर पश्चिम दिशाको शरण ली ॥ १८ ॥

* यहाँ दुन्दुभि और महिर शब्दसे उसके पुत्र मायावी नामक दानवका ही वर्णन हुआ है — ऐसा मानना चाहिये; क्योंकि आगे कही जानेवाली सारी बातें उसीके वृत्तान्तसे सम्बन्ध रखती हैं। पिता धर्मरूप धारण करता था, यही गुण उसके पुत्र मायावीमें भी था। इसलिये उसको भी महिर या महिराकृति कहना अस्मद्गत नहीं है।

स पश्यन् विविधान् देशानस्तं च गिरिसन्तमम् ।
प्राप्य चास्तं गिरिश्रेष्ठपुत्रं सम्प्रधावितः ॥ १९ ॥

‘वहाँ नाना प्रकारके देशोंको देखना हुआ मैं गिरिश्रेष्ठ
अस्ताचलतक आ पहुँचा। वहाँ पहुँचकर मैं पुनः उत्तर
दिशाको ओर भाग ॥ १९ ॥

हिमवन्तं च मेरुं च समुद्रं च तथोत्तरम् ।
यदा न विन्दे शरणं वाल्मीकिः समभिद्रुतः ॥ २० ॥
ततो मां बुद्धिमध्यतो हनुमान् वाक्यप्रबोधनम् ।

‘हिमालय, मेरु और उत्तर समुद्रतक पहुँचकर यदि
जब वाल्मीकि पंछा करनेके कारण मुझे कहीं शरण नहीं
मिले, तब परम बुद्धिमान् हनुमान्जीने मुझसे यह बात
कही— ॥ २० ॥

इदानीं मे स्मृतं राजन् वया वाल्मीकिः ॥ २१ ॥
भक्त्येन तदा शप्तो ह्यस्मिन्नाश्रमपण्डितः ।
प्राविशेद् यदि वै वाल्मीकिः पृथांस्य शनधा भवेत् ॥ २२ ॥

इत्यार्ष श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्ये
इम प्रकार श्रीवाल्मीकिनिमित्त आर्जुनाचार्य आदिकाव्यके

‘राजन् ! इस समय मुझे उस घटनाका स्मरण हो आया
है, जैसा कि महाभूमिने उन दिनों वानरराज वाल्मीकि को शपथ
दिया था कि ‘यदि वाल्मीकि इस आश्रमपण्डितमें प्रवेश करेगा
तो उसके भक्तिके सैकड़ों दुकड़े भी जायेंगे’ ॥ २१-२२ ॥

तत्र वासः सुखोऽस्माकं निरुद्धिषो भविष्यति ।
ततः पर्वतमावाह्य ऋष्यभूकं नृपात्पज ॥ २३ ॥
न विवेश तदा वाल्मीकिः पण्डितस्य भयात् तदा ।

‘अतः वहाँ निवास करना हमलोगोंके लिये सुखद और
निर्भय होगा’ । राजकुमार । इस निश्चयके अनुसार हमलोग
ऋष्यभूक पर्वतपर आकर रहने लगे। उस समय महा
भूमिक भयम वाल्मीकि को प्रवेश नहीं किया ॥ २३ ॥

एवं मया तदा राजन् प्रत्यक्षमुपलक्षितम् ।
पृथिवीमण्डलं सर्वं गुहायस्यागतस्ततः ॥ २४ ॥
‘राजन् ! इस प्रकार मैं उन दिनों समस्त धूमण्डलको
प्रत्यक्ष देखा था। उसके बाद ऋष्यभूककी गुफामें आया था’ ।

इत्यार्ष श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४६ ॥

इम प्रकार श्रीवाल्मीकिनिमित्त आर्जुनाचार्य आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें छियालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४६ ॥

सप्तचत्वारिंशः सर्गः

पूर्व आदि तीन दिशाओंमें गये हुए वानरोका निराश होकर लौट आना

दर्शनाथी तु खंडेहाः सर्वतः कपिकुञ्जराः ।
व्यादिष्टाः कपिराजेन यद्योक्तं जगमुत्तमा ॥ १ ॥

वानरराजके द्वारा समस्त दिशाओंको ओर जानेको आज्ञा
पाकर वे सभी श्रेष्ठ वानर, जिनके लिये अन्न और अन्नका
आदेश मिला था उन्हीं ओर, विदहकुमारी सीताका पना
लगानेके लिये उत्साहपूर्वक चल दिये ॥ १ ॥

ते सरासि सरित्कक्षानाकाशं नगराणि च ।
नदीदुर्गास्तथा देशान् विचिन्वन्ति सप्तततः ॥ २ ॥

वे संगोत्री, सरिताआ, लनामण्डूरी, हनुमन् म्याने और
नगरां तथा नदियोंके कारण दुर्गम प्रदेशोंमें सब ओर
धूम-फिरकर सीताको खोज करने लग ॥ २ ॥

सुग्रीवेण समाख्याताः सर्वे वानरयूथपाः ।
तत्र देशान् विचिन्वन्ति सशूलवनकान्धमान् ॥ ३ ॥

सुग्रीवने जिन्हें आज्ञा दी थी, वे सभी वानर-यूथपति
अपनी-अपनी दिशाओंके पर्वत, वन और कन्योमहित
सम्पूर्ण देशोंको छानबीन करने लगे ॥ ३ ॥

विचिन्त्य दिवसं सर्वे सीताधिगमने धृताः ।
सभायान्ति स्म मेदिन्यां दिशाकालेषु वानराः ॥ ४ ॥

सीताजीका पना लगानेको निश्चित इच्छा मनमें रखे वे
सब धामर दिनभर इधर-उधर अवलोकन करते और रातके
समय किसी निश्चय स्थानपर एकत्र हो जाते थे ॥ ४ ॥

भवर्तुकांश्च देशेषु वानराः सफलदुष्मान् ।

आसाद्य राजनीं शय्यां चक्रुः सर्ववृत्तःसु ते ॥ ५ ॥

सारे दिन भिन्न-भिन्न देशोंमें घूम फिरकर वे वानर सभी
वृत्तुओंमें फल देनेवाले वृक्षोंक फल खाकर रातको वहीं
माया अथवा विश्राम किया करते थे ॥ ५ ॥

तदहः प्रथमं कृत्वा मासे प्रस्रवर्णा गताः ।
कपिराजेन संगम्य निराशाः कपिकुञ्जराः ॥ ६ ॥

क्रमेण दिनोंक पहला दिन मानकर एक मास पूर्ण
होनेतक वे श्रेष्ठ वानर निराश हो लौट आये और कपिराज
सुग्रीवमें मिलकर प्रस्रवर्णागिरिपर ठहर गये ॥ ६ ॥

विचिन्त्य तु दिशं पूर्वी यद्योक्तां सचिवैः सह ।
अद्भुतां विनतः सीतामाजगाम महाकलः ॥ ७ ॥

पताबली विनत अपने भजियोंके साथ फलले बनाये
अन्नार पूर्व दिशामें खोज करके वहाँ सीताको न पाकर
किष्किन्धा लौट आये ॥ ७ ॥

दिशमप्युत्तरां सत्री विविच्य स महाकपिः ।
आगतः सह सन्धेन भोजः शनधलिस्तदा ॥ ८ ॥

महाकपि उत्तरलि मारी उत्तर दिशाको छानबीन करके
मध्यभोज हो नन्काल सेनामहित किष्किन्धा आ गये ॥ ८ ॥

सुषेणः पश्चिमाभाशां विविच्य सह वानराः ।
समेत्य मासे पूर्णे तु सुग्रीवमुपपद्यते ॥ ९ ॥

अनुरोधहित सुषेण भी पश्चिम दिशाका अनुसंधान
करके वहाँ सीताको न पाकर एक मास पूर्ण होनेपर

सुग्रीवके पास चले आये ॥ ९ ॥

तं प्रसन्नवर्णपृष्ठस्थं समासाद्याभिवाद्य च ।

आसीनं सह रामेण सुग्रीवमिदमब्रुवन् ॥ १० ॥

प्रसन्नवर्णगिरिपर श्रीरामचन्द्रजीके साथ बैठ हुए सुग्रीवके पास आकर सब वानरोंने उन्हें प्रणाम किया और इस प्रकार कहा— ॥ १० ॥

विचिताः पर्वताः सर्वे वनानि गहनानि च ।

निप्रगाः सागरान्ताश्च सर्वे जनपदाश्च ये ॥ ११ ॥

गुहाश्च विचिताः सर्वा याश्च ते परिकीर्तिताः ।

विचिताश्च महागुल्मा लताविततमंतताः ॥ १२ ॥

'राजन् ! हमने समस्त पर्वत, घने जंगल, समुद्रपर्यन्त नदियाँ, सम्पूर्ण देश, आणकरी बनायी हुई सारी गुफाएँ तथा लतावितानसे व्याप्त हुई झाड़ियाँ भी खोज डालीं ॥

गहनेषु च देशेषु दुर्गेषु विषमेषु च ।

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें सीताल्लेखर्वा सर्ग पूरा हुआ ॥ ४७ ॥

अष्टचत्वारिंशः सर्गः

दक्षिण दिशामें गये हुए वानरोंका सीताकी खोज आरम्भ करना

सह ताराङ्गदाभ्यां तु सहसा हनुमान् कपिः ।

सुग्रीवेण यथोद्दिष्टं गन्तुं देशं प्रचक्रमे ॥ १ ॥

उधर तार और अङ्गदके साथ हनुमान्जी सहसा सुग्रीवके बताये हुए दक्षिण दिशाके देशोंकी ओर चले ॥ १ ॥

स तु दूरमुपागम्य सर्वैस्तैः कपिस्तर्मैः ।

ततो विचित्र्य विन्ध्यस्य गुहाश्च गहनानि च ॥ २ ॥

पर्वताग्रनदीदुर्गान् सरांसि विपुलशुभान् ।

वृक्षखण्डाश्च विविधान् पर्वतान् वनपादपान् ॥ ३ ॥

अन्वेषमाणस्ते सर्वे वानराः सर्वतोदिशम् ।

न सीतां ददृशुर्वीरा रैथिलीं जनकात्मजाम् ॥ ४ ॥

उन सभी श्रेष्ठ वानरोंके साथ बहुत दूरका रास्ता तै करके तै विन्ध्याचलपर गये और वहाँकी गुफाओं, जंगलों, पर्वत-शिखरों, नदियों, दुर्गम स्थानों सरोवरों, बड़े बड़े वृक्षों झाड़ियों और भाँति-भाँतिके पर्वतों एवं वन्य वृक्षोंमें सब ओर ढूँढ़ने फिरे, परन्तु वहाँ उन समस्त वीर वानरोंने मिथिलेशकुमारी जनकनन्दिनी सीताको कहीं नहीं देखा ॥ २—४ ॥

ते भक्षयन्तो मूलानि फलानि विविधान्यपि ।

अन्वेषमाणा दुर्धर्षा न्यवसंस्तत्र तत्र च ॥ ५ ॥

वे सभी दुर्धर्ष वीर नाना प्रकारके फल-मूलका भोजन करते हुए सीताको खोजते और जहाँ-तहाँ ठहर जाया करने थे ॥

स तु देशो दुरन्वेष्टो गुहागहनवान् महान् ।

निर्जलं निर्जनं शून्यं गहनं घोरदर्शनम् ॥ ६ ॥

विन्ध्यपर्वतके आसपासका महान् देश वर्तन सो गुफाओं

सत्त्वान्यतिप्रमाणानि विचित्रानि हतानि च ।

ये चैव गहना देशा विचितास्ते पुनः पुनः ॥ १३ ॥

'घने वनों, विभिन्न देशों, दुर्गम स्थानों और ऊँची-ऊँची भूमियोंमें भी ढूँढ़ा है चंडे-चंडे प्राणियोंकी भी तलाशी ली और उन्हें भार डाला । जो-जो प्रदेश घने और दुर्गम जान पड़े वहाँ बाग्यार खोज को (किंतु कहीं भी सीताजीका पता न लगा) ॥ १३ ॥

व्यदारसत्त्वाभिजनो हनुमान्

स रैथिलीं श्लास्यति वानरेन्द्र ।

दिशं तु यामेव गता तु सीता

तामास्थितो वायुसुतो हनुमान् ॥ १४ ॥

'वानरराज ! वायुपुत्र हनुमान् परम शक्तिमान् और कुलीन हैं । वे ही मिथिलेशकुमारीका पता लगा सकेंगे, क्योंकि वे उसी दिशामें गये हैं, जिधर सीता गयी हैं ॥ १४ ॥

तथा घने जंगलोंमें भरा था । इससे वहाँ जानकोंको ढूँढ़नेमें बड़ी कठिनाई होना थी । भयंकर दिलायी देनेवाले वहाँके सुनसान जंगलमें न तो पानी मिलता था और न कोई मनुष्य ही दिखायी देता था ॥ ६ ॥

तादृशान्यप्यस्थानानि विचित्र्य भृशपीडिताः ।

स देशश्च दुरन्वेष्टो गुहागहनवान् महान् ॥ ७ ॥

वैसे जंगलोंमें भी खोज करते समय उन वानरोंको अत्यन्त कष्ट सहन करना पड़ा । वह विशाल प्रदेश अनेक गुहाओं और मघन वनानोंमें व्याप्त था । अन वहाँ अन्वेषणका कार्य बहुत कठिन प्रतीत होता था ॥ ७ ॥

न्यक्त्वा तु ते ततो देशं सर्वे च हरियूथपाः ।

देशमभ्यं दुराधर्षं विविशुश्चाकुतोभया ॥ ८ ॥

तदनन्तर वे समस्त वानर-यूथपति उस देशको छोड़कर दूसरे प्रदेशमें घुसे, जहाँ जाना और भी कठिन था तो भी उन्हें कहीं किससे भय नहीं होना था ॥ ८ ॥

यत्र वन्यफला वृक्षा विपुष्याः पर्णवर्जिताः ।

निस्तोयाः सरितो यत्र मूलं यत्र सुदुर्लभम् ॥ ९ ॥

वहाँके वृक्ष कभी फल नहीं देते थे । उनमें फूल भी नहीं लगते थे और उनकी झाड़ियोंमें पत्ते भी नहीं थे । वहाँकी नदियोंमें पानीका नाम नहीं था । कन्द-मूल आदि तो वहाँ सर्वथा दुर्लभ थे ॥ ९ ॥

न सन्ति यहिषा यत्र न मृगा न च हस्तिनः ।

शार्दूलाः पक्षिणो वापि ये चान्ये वनगोचराः ॥ १० ॥

उस प्रदेशमें न घेमे थे न तिर्यग और हाथी, न खर थे न पक्षी तथा वनमें विचरनेवाले अन्य प्राणियोंका भी वहाँ अभाव था ॥ १० ॥

न चात्र वृक्षा नौषध्यो न वल्लव्यो नापि वीरुधः ।

स्निग्धपत्राः स्थले यत्र पशिन्यः फुल्लपङ्कजाः ॥ ११ ॥

प्रेक्षणीयाः सुगन्धाश्च घर्मरैश्च विवर्जिताः ।

वहाँ न पेड़ थे न पौधे, न ओषधियाँ थीं न वल्ल-
वेलें। उस देशकी पौखियोंमें चिकने पत्तों और गिन्ने
हुए फूलोंसे युक्त कमल भी नहीं थे। इसीलिये न तो वे
देखने योग्य थीं, न उनमें सुगन्ध फैल रहा था और न वहाँ
भीरे ही गुंजार करते थे ॥ ११ ॥

कण्डुर्नाम महाभागः सत्यवादी तपोधनः ॥ १२ ॥

महर्षिः परमाधर्मी नियमदुष्प्रवर्णः ।

पहले वहाँ कण्डु नाममें प्रसिद्ध एक महाभाग सत्यवादी
और तपस्याके धनी महर्षि रहते थे, जो सड़े अमर्षदोल
थे—अपने प्रति किये गये अपराधको सहन नहीं करने थे।
शौच-संतोष आदि नियमोंका पालन करनेके कारण उन
महर्षिको कोई निरस्कृत या पराजित नहीं कर सकता था।
तस्य तस्मिन् वने पुत्रो बालको दशवार्षिकः ॥ १३ ॥

प्रणष्टो जीवितान्ताय कुक्षस्तेन महामुनिः ।

उस वनमें उनका एक बालक पुत्र, जिसकी अवस्था
दस वर्षकी थी, किसी कारणसे मर गया इसमें दुर्गम
होकर वे महामुनि उस वनके जीवनका अन्त करनेके लिये
उत्सुक हो गये ॥ १३ ॥

तेन धर्मात्मना शर्म कृत्वा तत्र महहनम् ॥ १४ ॥

अशरण्यं दुर्गाधर्यं युगपक्षिविवर्जितम् ।

उन धर्मात्मा महर्षिने उस समुन्न विद्याल वनको वहाँ शोध
दे दिया, जिसमें वह आश्रयार्थी दुर्गम तथा पशुपक्षियोंमें
शून्य हो गया ॥ १४ ॥

तस्य ते काननान्तोस्तु गिरीणां कन्दगणि च ॥ १५ ॥

प्रभवगणि नदीनां च विचिन्वन्ति समग्रिनाः ।

तत्र चापि महात्मानो नापश्यन्नुनकात्पत्राम् ॥ १६ ॥

हर्तारं रावणं चापि सुग्रीवप्रियकारिणः ।

वहाँ सुग्रीवका प्रिय करनेवाले उन महाभनस्वई वनरोंने
उस वनके सभी प्रदेशों, पर्वतोंकी कन्दगओं तथा नदियोंके
उद्गमस्थानोंमें एकाग्रचिन्त होकर अनुसन्धान किया परन्तु वहाँ
भी उन्हें जनकनादिनी सीता अथवा उनका अपहरण
करनेवाले रावणका कुछ पता नहीं चला १५-१६ ॥

ते प्रविश्य तु तं भीमं ललागुल्मसमायुतम् ॥ १७ ॥

ददृशुर्भीमकर्माणमसुरं सुरनिर्भयम् ।

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डेऽष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें अड़तालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४८ ॥

तत्पश्चात् ललाओं और झाड़ियोंसे व्याप्त हुए दूसरे
किस्सी भयंकर वनमें प्रवेश करके उन हनुमान् आदि
वानरोंने भयानक कर्म करनेवाले एक असुरको देखा, जिसे
देवताओंसे कोई घय नहीं था ॥ १७ ॥

तं दृष्ट्वा वानरा घोरं स्थितं शीलमिवासुरम् ॥ १८ ॥

गाढं परिहिताः सर्वे दृष्ट्वा तं पर्वतोपमम् ।

उस घोर निशाचरको पहाड़के समान सामने खड़ा देख
सभी वानरोंने अपने ढीले ढाले वस्त्रोंको अच्छी तरह कम
लिया और सब के सब उस पर्वतकार असुरसे भिड़नेको
तैयार हो गये ॥ १८ ॥

सौऽपि तान् वानरान् सर्वान् नष्टाः स्थेत्यब्रवीद् बली ॥ १९ ॥

अभ्यधावत संकुक्षो मुष्टिमुद्यम्य संगतम् ।

उधर वह बलवान् असुर भी उन सब वानरोंको देखकर
बोलत—‘अरे, आज तुम सभी मारे गये।’ इतना कहकर
वह अन्यन्त कुपित हो बैठा हुआ मुक्ता तानकर उनकी
आंखें दौड़ा ॥ १९ ॥

तमापतन्तं सहसा वालिपुत्रोऽङ्गदस्तदा ॥ २० ॥

रावणोऽयमिति ज्ञात्वा तलेनाभिजघान ह ।

उमें सहसा आक्रमण करते देख वालिपुत्र अङ्गदने समझा
कि यही रावण है; अतः उन्होंने आगे बढ़कर उमें एक
तमाचा मड़ दिया ॥ २० ॥

स वालिपुत्राभिहतो वक्त्राच्छोणितमुद्वपन् ॥ २१ ॥

असुरो व्यपतद् भूमौ पर्यस्त इव पर्वतः ।

ते तु तस्मिन् निरुच्छ्वासे वानरा जितकाशिनः ॥ २२ ॥

व्यचिन्वन् प्रायशस्तत्र सर्वे ते गिरिगङ्गरम् ।

वालिपुत्रके मारनेपर वह असुर मुहसे रक्त वमन करता
हुआ फलकर गिरे हुए पहाड़की धीरे पृथ्वीपर जा पड़ा और
उसके प्राणपखल उड़ गये। तत्पश्चात् विजयोत्सासमें
मुग्धचित्त होनवाले वानर प्रायः वहाँकी सारी पर्वतीय
गुफाओंमें अनुसन्धान करने लगे ॥ २१-२२ ॥

विचिन्तं तु ततः सर्वे सर्वे ते काननौकसः ॥ २३ ॥

अन्यदेवापरं घोरं विविशुर्गिरिगङ्गरम् ।

जब वहकि सारे प्रदेशमें खोज कर ली गयी, तब उन
समस्त वनवासियों वानरोंने किसी दूसरी पर्वतीय कन्दरामें प्रवेश
किया जो पहलेंका अपेक्षा भी भयानक थी ॥ २३ ॥

ते विचिन्त्य पुनः स्त्रिभ्रा विनिष्पत्य समागताः ।

एकान्ते वृक्षमूले तु निषेदुर्दीनमानसाः ॥ २४ ॥

उसमें भी दूँदूते-दूँदूते वे श्रम गये और निराश होकर
निकल आये। फिर सब-के-सब एकान्त स्थानमें एक वृक्षके
नीचे खिचचित्त होकर बैठ गये ॥ २४ ॥

एकोनपञ्चाशः सर्गः

अङ्गद और गन्धमादनके आश्वासन देनेपर वानरोंका पुनः उत्साहपूर्वक अन्वेषण-कार्यमें प्रवृत्त होना

अथाङ्गदस्तदा सर्वान् वानरानिदमब्रवीत् ।
परिभ्रान्तो महाप्राज्ञः समाश्वास्य शनैर्वचः ॥ १ ॥

तदनन्तर परिश्रमसे थके हुए महावृद्धिमान् अङ्गद सम्पूर्ण वानरोंको आश्वासन देकर धीरे-धीरे इस प्रकार कहने लगे— ॥ १ ॥

वनानि गिरयो नद्यो दुर्गाणि गहनानि च ।
दरी गिरिगुहाश्चैव विचिताः सर्वमन्ततः ॥ २ ॥
तत्र तत्र सहास्यभिर्जानकी न च दृश्यते ।
तथा रक्षोऽपहृता च सीतायाश्चैव दुष्कृता ॥ ३ ॥

‘हमलंगोने वन, पर्वत, नदियाँ, दुर्गम स्थान, घने जंगल, कन्दरा और गुफाएँ भीतर प्रवेश करके अच्छी तरह देख डालीं, परन्तु उन स्थानोंमें हमें न तो जानकीके दर्शन हुए और न उनका अपहरण करनेवाला वह पापी रक्षस ही मिला ॥

कालश्च नो महान् यातः सुग्रीवश्चोपशसनः ।
तस्माद् भयन्तः संहिता विचिन्वन्तु समन्ततः ॥ ४ ॥

‘हमारा समय भी बहुत बीत गया । राजा सुग्रीवका शासन बड़ा भयंकर है । अतः आपलोग मिलकर पुनः सब ओर सीताकी खोज आरम्भ करें ॥ ४ ॥

विहाय तन्त्री शोकं च निद्रां चैव समुत्थिताम् ।
विचिन्ध्वं तथा सीतां पश्यामो जनकात्मजाम् ॥ ५ ॥

‘आलस्य, शोक और आधी हुई निद्राका परित्याग करके इस प्रकार हूँ, जिसमें हमें जनककुमारी सीताकी दर्शन हो सके ॥ ५ ॥

अनिर्वेदं च दाक्ष्यं च मनसश्चापराजघम् ।
कार्यसिद्धिकराण्याहुस्तस्मादेतद् ब्रवीम्यहम् ॥ ६ ॥

‘उत्साह, सामर्थ्य और मनमें हिम्मत न हारना—ये कार्यकी सिद्धि करानेवाले महान् कहे गये हैं इसीलिये मैं आपलोगोंसे यह बात कह रहा हूँ ॥ ६ ॥

अद्यापीदं वने दुर्गे विचिन्वन्तु वनोक्ततः ।
खेदे त्यक्त्वा पुनः सर्वं वनमेव विचिन्वताम् ॥ ७ ॥

‘आज भी सारे वानर खेद छोड़कर इस दुर्गम वनमें खोज आरम्भ करें और सारे वनको ही छान डालें ॥ ७ ॥

अवश्यं कुर्वतां तस्य दृश्यते कर्मणः फलम् ।
परं निर्वेदमागम्य नहि नोन्मीलनं क्षमम् ॥ ८ ॥

‘कर्ममें लगे रहनेवाले लोगोंको ठस कर्मका फल अवश्य होता दिखायी देता है; अतः अत्यन्त खिन्न होकर उद्योगको छोड़ बैठना कदापि उचित नहीं है ॥ ८ ॥

सुग्रीवः क्रोधो राजा तीक्ष्णदण्डश्च वानराः ।
भेतव्यं तस्य सततं रामस्य च महात्मनः ॥ ९ ॥

सुग्रीव क्रोधो राजा है । उनका दण्ड भी चड़ा कठोर होता है । वानरो ! उनसे तथा महात्मा श्रीरामसे आपलोगोंको सदा डरते रहना चाहिये ॥ ९ ॥

हितार्थमेतदुक्तं चः क्रियतां यदि रोचते ।
उच्यतां हि क्षमं यत् तत् सर्वेषामेव वानराः ॥ १० ॥

‘आपलोगोंकी धलाईके लिये ही मैं ये बातें कही हैं । यदि अच्छे लगे तो आप इन्हे स्वीकार करें । अथवा वानरो ! जो सबके लिये उचित हो, वह कार्य आप ही लोग बतावें ॥

अङ्गदस्य वचः श्रुत्वा वचनं गन्धमादनः ।
उवाच व्यक्तया वाचा पिपासाश्रमखिप्रया ॥ ११ ॥

अङ्गदको यह बात सुनकर गन्धमादनने प्यास और थकानसे शिथिल हुई स्पष्ट वाणीमें कहा— ॥ ११ ॥

सदृशं खलु वो वाक्यमङ्गदो यदुवाच ह ।
हितं चैवानुकूलं च क्रियतामस्य भाषितम् ॥ १२ ॥

‘वानरो ! सुकराज अङ्गदने जो बात कही है, वह आप-लोगोंके योग्य हितकर और अनुकूल है । अतः सब लोग इनके कथनानुसार कार्य करें ॥ १२ ॥

पुनर्गामहे शैलान् कन्दरांश्च शिलांस्तथा ।
काननानि च शून्यानि गिरिप्रस्रवणानि च ॥ १३ ॥

‘हमलोग पुनः पर्वतों, कन्दराओं, शिलाओं, निर्जन वनों और पर्वताय झरनेकी खोज करें ॥ १३ ॥

यथोद्दिष्टानि सर्वाणि सुग्रीवेण महात्मना ।
विचिन्वन्तु वनं सर्वे गिरिदुर्गाणि संगताः ॥ १४ ॥

‘महात्मा सुग्रीवने जिन स्थानोंकी चर्चा की थी, उन सबमें वन और पर्वताय दुर्गम प्रदेशोंमें सब वानर एक साथ होकर खोज आरम्भ करें ॥ १४ ॥

ततः समुत्थाय पुनर्वानरास्ते महाबलाः ।
विन्ध्यकाननसंकीर्णा विचेरुर्दक्षिणां दिशम् ॥ १५ ॥

यह सुनकर वे महाबली वानर उठकर खड़े हो गये और विन्ध्य पर्वतके काननोंमें व्याप्त दक्षिण दिशामें विचरने लगे ॥

ते शारदाभ्रप्रतिमं श्रीमद्रजतपर्वतम् ।
शृङ्गवन्तं दरीवन्तमधिरुह्य च वानराः ॥ १६ ॥

सामने शरद् ऋतुके बादलोंके समान शोभाशाली रजत पर्वत दिखायी दिया, जिसमें अनेक शिखर और कन्दराएँ थीं । वे सब वानर उसपर चढ़कर खोजने लगे ॥ १६ ॥

तत्र लोघवनं रम्यं सप्तपर्णवनानि च ।
विचिन्वन्तो हरिवराः सीतादर्शनकाङ्क्षिणः ॥ १७ ॥

माताके दर्शनकर इच्छा रखनेवाले वे सभी श्रेष्ठ वानर वहकि रमणीय लोघवनमें और सप्तपर्ण (छितवन) के

जंगलोंमें उनकी खोज करने लगे ॥ १७ ॥

तस्याग्रमधिरूढास्ते श्रान्ता विपुलविक्रमाः ।

न पश्यन्ति स्म वंदेही राघस्य महिषीं प्रियाम् ॥ १८ ॥

उस पर्वतके शिखरपर चढ़े हुए वे महापराक्रमी वानर
ढूँढ़ते-ढूँढ़ते थक गये, परन्तु श्रीरामचन्द्रजीकी चारों गतों
सोंताकी दर्शन न पा सके ॥ १८ ॥

ते तु दृष्टिगतं दृष्ट्वा सं शैले बहुकन्दरम् ।

अध्यारोहन्त हरयो वीक्षमाणाः समन्ततः ॥ १९ ॥

अनेक कन्दराओवाले उस पर्वतका अच्छे तरह
निरीक्षण करके सब ओर दृष्टिपात करनेवाले वे वानर उसमें
भींचे उतर गये ॥ १९ ॥

अवमल्य ततो भूमिं श्रान्ता विगतचेतसः ।

स्थिता मूर्तं तत्राथ वृक्षमूलमुपाश्रिता ॥ २० ॥

इत्थार्ये श्रीमद्रामायणे आत्मर्थाकांक्ष आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे एकोनपञ्चाशः सर्गः ॥ ४९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनामने आरम्भमायण आदिकाव्यम् किष्किन्धाकाण्डम् उनचासवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४९ ॥

पञ्चाशः सर्गः

भूखे-प्यासे वानरोंका एक गुफामें घुमकर वहाँ दिव्य वृक्ष, दिव्य सरोवर, दिव्य भवन तथा
एक वृद्धा तपस्विनीको देखना और हनुमान्जीका उससे उसका परिचय पूछना

सह ताराङ्गदाभ्यां तु संगम्य हनुमान् कपिः ।

विचिनोति च विन्ध्यस्य गुहाश्च गहनानि च ॥ १ ॥

हनुमान्जी तार और अङ्गदके साथ मिलकर विन्ध्यगिरि
गुफाओं और घने जंगलोंमें सोताजीको ढूँढ़ने लगे ॥ १ ॥

सिंहशार्दूलजुष्टाश्च गुहाश्च परितस्तदा ।

विषयेषु नगेन्द्रस्य महाप्रसवणेषु च ॥ २ ॥

उन्होंने सिंह और बाघादि भगे हुए कन्दराओं तथा उम्क
आस-पासकी भूमिकों की छान डाला । गिरिराज विन्ध्यपर जो
चढ़े-बढ़े झरने और दुर्गम स्थान थे वहाँ भी अन्वेषण किया ॥

आमेदुस्तस्य शैलस्य कोटि दक्षिणपश्चिमाम् ।

तेषां तत्रैव वसतां स कालो व्यत्यवर्तन ॥ ३ ॥

धूमते-फिरते वे तानों वानर उस पर्वतके वैज्रान्यकोणवाले
शिखरपर जा पहुँचे । वहाँ रहते हुए उम्कत वह समय, जो
मुग्धीवने निश्चित किया था, बीत गया ॥ ३ ॥

स हि देशो दुरन्वेष्टो गुहागहनवान् महान् ।

तत्र वायुसुतः सर्वं विचिनोति स्म पर्वतम् ॥ ४ ॥

गुफाओं और जंगलोंमें भरे हुए उस महान् प्रदेशमें
सोंताको ढूँढ़नेका काम बहुत ही कठिन था तो भी वहाँ
वायुपुत्र हनुमान्जी सारे पर्वतकी छानबीन करने लगे ॥ ४ ॥

परस्परेण रहिता अन्योन्यस्याविदूरतः ।

गजो गवाक्षो गवयः शरभो गन्धपादनः ॥ ५ ॥

मैन्दश्च द्विविदश्चैव हनुमान् जाम्बवानपि ।

अङ्गदो युवराजश्च तारश्च वनगोचरः ॥ ६ ॥

पृथ्वीपर उतरकर अधिक बलवानके कारण अचेत हुए
वे सभी वानर वहाँ एक वृक्षके नीचे गये और दो बहोतक
वहाँ बंटे रहे ॥ २० ॥

ते मूर्तं समाश्रिताः किञ्चिद्भ्रमपरिश्रमाः ।

पुनरेवाद्यताः कृत्वा मार्गितुं दक्षिणां दिशम् ॥ २१ ॥

एक मूर्ततक मुग्धा होनेपर जब उनकी थकावट कुछ
कम हो गयी, तब वे पुनः सम्पूर्ण दक्षिण दिशामें खोजके
लिये उद्यत हो गये ॥ २१ ॥

हनुमत्प्रमुखास्तावत् प्रस्थिताः प्रवगर्षभाः ।

विन्ध्यमेवादितः कृत्वा विचरुश्च समन्ततः ॥ २२ ॥

हनुमान् आदि सभी श्रेष्ठ वानर सोंताके अन्वेषणके
लिये प्रस्थित हो पकले विन्ध्य पर्वतके ही चारों ओर
खचरने लगे ॥ २२ ॥

गिरिजालावृतान् देशान् मार्गित्वा दक्षिणां दिशम् ।

विचिन्वन्तस्ततस्तत्र वदशुर्विवृतं श्रिलम् ॥ ७ ॥

फिर अलग-अलग एक-दूसरेसे थोड़ी ही दूरपर
रहकर गज, गवाक्ष, गवय, शरभ, गन्धपादन, मैन्द
द्विविद, हनुमान्, जाम्बवान्, युवराज अङ्गद तथा वनवासों
वानर तार—वे दक्षिण दिशाके देशोंमें जो पर्वत-
माताओंमें घिरे हुए थे, सोंताकी खोज करने लगे ।
खोजने खोजने उन्हें वहाँ एक गुहा दिखायी दी, जिसका
द्वार बंद नहीं था ॥ ५—७ ॥

दुर्गमृक्षविले नाम दानवेनाभिगक्षितम् ।

श्रुत्यपासापरोतास्तु श्रान्तास्तु सलिलार्थिनः ॥ ८ ॥

उसमें प्रवेश करना बहुत कठिन था । वह गुफा ऋक्षविल
नामसे विख्यात थी और एक दानव उसकी रक्षामें रहता था ।
वानरोंको भूख-प्यास सता रही थी । वे बहुत थक गये थे
और पानी पीने चाहते थे ॥ ८ ॥

असर्कोर्णं लतावृक्षैर्दृशुस्ते महाविलम् ।

तत्र क्रीडाश्च हंसाश्च सरसाश्चापि निष्क्रमन् ॥ ९ ॥

अलाट्प्रांश्चकवाकाश्च रक्ताङ्गाः पद्मरेणुभिः ।

अतः लता और वृक्षोंमें आच्छादित विशाल गुफाकी
ओर वे देखने लगे । इतनेमें उसके भीतरसे क्रीडा, हंस,
सारस तथा जलसे घोंगे हुए चक्रवाक पक्षी, जिनके
अङ्ग कमलके पत्रोंमें रक्तवर्णक हो रहे थे, बाहर
निकलते ॥ ९ ॥

ततस्तद् बिलमासाद्य सुगन्धि दुरतिक्रमम् ॥ १० ॥
विस्मयव्यग्रमनसो बभूवुर्वांसरर्षभाः ।

संजातपरिशङ्कास्ते तद् बिले प्रवर्गोत्तमाः ॥ ११ ॥

तब उस सुगन्धित एवं दुर्लब्ध गुफाके पास जाकर उन सभी श्रेष्ठ वानरोंका मन आश्चर्यसे चाकित हो उठा । उस बिलके अंदर उन्हें जल होनेका संदेह हुआ ॥ १०-११ ॥

अभ्यपद्यन्त संहृष्टास्तेजोयन्तो महाबलाः ।

नानासत्त्वसमाकीर्ण दैत्येन्द्रनिलयोपमम् ॥ १२ ॥

दुर्दर्शमिव घोरं च दुर्विगाहं च सर्वशः ।

वे महाबली और तेजस्वी वानर बड़े हयमें भरकर उस गुफाके पास आये, जो नाना प्रकारक जन्तुओंसे भरी हुई तथा दैत्यराजोंके निवासस्थान पातालके समान भगकर प्रतीत होती थी । वह इतनी भयावह थी कि उसकी ओर देखना कठिन जान पड़ता था । उसके भीतर घुसना सर्वथा कष्टसाध्य था ॥

ततः पर्वतकूटाभो हनुमान् मारुतात्मजः ॥ १३ ॥

अग्रवीद् वानरान् घोरान् कान्तारवनकोविदः ।

उस समय पर्वत-शिखरक समान प्रतीत होनेवाले पवनपुत्र हनुमान्जी, जो दुर्गम वनके ज्ञाता थे, उन घोर वानरोंसे बोले— ॥ १३ ॥

गिरिजालावृतान् देशान् मार्गित्वा दक्षिणां दिशम् ॥ १४ ॥

अथ सर्वे परिश्रान्ता न च पश्याम मेधिलीम् ।

‘बन्धुओं ! दक्षिण दिशके देश प्रायः पर्वतमालाओंसे घिरे हुए हैं । इनमें मिथिलेशकुमारों सीताको खोजने खोजने हम सब लोग बहुत थक गये, किन्तु कहीं भी हमें उनके दर्शन नहीं हुए ॥ १४ ॥

अस्माद्यापि बिलाद्धंसाः क्रौञ्चाश्च सह सारसः ॥ १५ ॥

जलाद्राक्षकवाकाश्च विष्यन्ति स्म सर्वशः ।

नूने सलिलवानत्र कूपो वा यदि वा ह्रदः ॥ १६ ॥

तथा क्षेत्रे बिलद्वारे स्निग्धास्तिष्ठन्ति पादपाः ।

‘सापनेकी इस गुफासे हम, क्रौञ्च, सागर और जलस भीगे हुए चकवे सब ओर निकल रहे हैं । अब निश्चय ही इसमें पानीका कुआँ अथवा और कोई जलाशय होना चाहिये । तभी इस गुफाके द्वारवर्ती वृक्ष हरे-भरे हैं ॥ १५-१६ ॥

इत्युक्तास्तद् बिलं सर्वे विविशुस्तिमिरावृतम् ॥ १७ ॥

अध्वन्नसूर्य हरयो ददृशु रोमहर्षणम् ।

हनुमान्जीके ऐसा कहनेपर वे सभी वानर अध्वकारसे भरी हुई गुफामें जहाँ चन्द्रमा और सूर्यकी किरणें भी नहीं पहुँच पाती थीं, घुस गये । भीतर जाकर उन्होंने देखा, वह गुफा रंगटे खड़े कर देनेवाली थी ॥ १७ ॥

निशाप्य तस्मात् सिंहांश्च तांस्तोश्च मृगयक्षिणः ॥ १८ ॥

प्रविष्टा हरिशार्दूला बिलं तिमिरसंवृतम् ।

उस बिलसे निकलते हुए उन-उन सिंहों, मृगों और पक्षियोंका देखकर वे श्रेष्ठ वानर अध्वकारसे आच्छादित हुई

उस गुफामें प्रवेश करने लगे ॥ १८ ॥

न तेषां सज्जते दृष्टिर्न तेजो न पराक्रमः ॥ १९ ॥

वायोरिव गतिस्तेषां दृष्टिस्तपसि वर्तते ।

उनकी दृष्टि कहीं अटकती नहीं थी । उनका तेज और पराक्रम भी अवरुद्ध नहीं होता था । उनकी गति वायुके समान थी । अन्धकारमें भी उनकी दृष्टि काम कर रही थी ॥

ते प्रविष्टास्तु वेगेन तद् बिलं कपिकुञ्जराः ॥ २० ॥

प्रकाशं चाभिरामं च ददृशुर्देशमुत्तमम् ।

वे श्रेष्ठ वानर उस बिलमें वेगपूर्वक घुस गये । भीतर जाकर उन्होंने देखा, चर स्थान बहुत ही उत्तम, प्रकाशमान और मनोहर था ॥ २० ॥

ततस्तस्मिन् बिले भीमे नानापादपसंकुले ॥ २१ ॥

अन्योन्यं सम्परिपृज्य जम्बुयोजनमन्तरम् ।

नाना प्रकारके वृक्षोंमें भरी हुई उस भयंकर गुफामें वे एक-दूसरेको पकड़ें हुए गये ॥ २१ ॥

ते नष्टसंज्ञास्तुपिता सम्प्रान्ताः सलिलार्थिनः ॥ २२ ॥

परिपेतुर्विले तस्मिन् कंचित् कालभतन्निताः ।

प्यासक मार उनकी चेतना लुप्त हो रही थी वे अल पानेके लिये उन्सुक होकर घबरा गये थे और कुछ कालतक आत्मसंयत हो उस बिलमें लगातार आगे बढ़ते गये ।

ते कृशा दीनवदनाः परिश्रान्ताः प्रवृङ्गमाः ॥ २३ ॥

आलोकं ददृशुर्वीरा निराशा जीविने यदा ।

वे वानरवीर जब दुर्बल, श्विन्नवदन और श्रान्त होकर जीवनसे निराश हो गये, तब उन्हें वहाँ प्रकाश दिखायी दिया ॥

ततस्तं देशमगम्य सांभ्या वितिमिरं वनम् ॥ २४ ॥

ददृशुः काञ्चनान् वृक्षान् दीप्तवैश्वानरप्रधान् ।

तदनन्तर उस अन्धकारसे प्रकाशपूर्ण देशमें आकर उन सीन्य वानरोंने वहाँ अन्धकाररहित वन देखा, जहाँकि सभी वृक्ष सुवर्णमय थे और उनमें अग्निके समान प्रकाश निकल रही थी ॥

मालांस्तालांस्त्रिमल्लश्च पुंनागान् वभ्रुलान् ध्रुवान् ॥ २५ ॥

चम्पकान् नागवृक्षांश्च कर्णिकारांश्चपुष्पितान् ।

साल, ताल, तमाल, नागकेसर, अशोक, धव, चम्पा, नागवृक्ष और कनेर—वे सभी वृक्ष फूलोंसे भरे हुए थे ।

स्तवकं काञ्चुर्नक्षित्री रक्तः किसलयमनथा ॥ २६ ॥

आपीडंश्च लताभिश्च हेमाभरणभूषितान् ।

विविध सुवर्णमय गुच्छे और लाल-लाल पल्लव माने उन वृक्षोंके मुकुट थे उनमें लताएँ लिपटी हुई थी तथा वे अपने फलम्बकूप सुवर्णमय आभूषणमें विभूषित थे ॥ २६ ॥

तस्मादित्यसंकाशान् वेदूर्यमयवेदिकान् ॥ २७ ॥

विभ्राजमानान् वपुषा पादपांश्च हिरण्मयान् ।

वे देखनेमें प्रातःकालिक सूर्यके समान जान पड़ते थे । उनका शीर्षे चैतूर्यमाणकी वेदी वनी थी वे सुवर्णमय वृक्ष अपने दीप्तिमान् नवम्बमें ही प्रकाशित हो रहे थे ॥ २७ ॥

नीलवैदूर्यवर्णांश्च पद्मिनीः घतगैर्वृताः ॥ २८ ॥
महद्भिः काञ्चनवर्क्षवृता बालार्कसन्निभः ।
जातरूपमयैर्मत्स्यैर्महद्भिश्चाथ पङ्कजैः ॥ २९ ॥
नलिनीस्तत्र ददृशुः असन्नसलिलायुताः ।

वहाँ नील वैदूर्यमणिकों-सी कान्तिकलत्र पटलताई
दिखायी देती थीं जो पक्षियोंसे भावून थीं कई ऐसे मत्स्य
भी देखनेमें आये, जो बाल सूर्यकी-सी आभावाले विशाल
काञ्चनवृक्षांसे घिरे हुए थे। उनके भीतर सुनहरे रंगके
बड़-बड़ मत्स्य शोभा पाते थे। वे मरोचर सुवर्णमय कमलोंमें
सुशोभित तथा स्वच्छ जलसे भरे हुए थे ॥ २८-२९ ॥

काञ्चनानि विमानानि राजतानि तथैव च ॥ ३० ॥
तपनीयगवाक्षाणि मुक्ताजालावृतानि च ।
हैमराजतभौमानि वैदूर्यमणिमन्त्रिण ॥ ३१ ॥
ददृशुस्तत्र हरयो गृहमुख्यानि सर्वशः ।

वानरोंने वहाँ सब ओर सोने-चाँदीके बने हुए बहुत-से
श्रेष्ठ भवन देखे। जिनका विडम्बित्वा मानोकर जालियाम तक
थीं उन भवनोंमें सोनेक जैगले लगे हुए थे। सोने-चाँदीके
हो विमान भी थे। काँइ घर सोनेक बने थे तो काँइ चाँदीके।
किन्तु भी गुप्त पार्थिव वस्तुओं-(डेट, पत्थर, लकड़ी आदि-)
से निर्मित हुए थे। उस वैदूर्यमणियों भी उड़ा गये थे।

पुष्पितान् फलिनो वृक्षान् प्रवालमणिसंविधान् ॥ ३२ ॥
काञ्चनभ्रमरीश्लेष मधूनि च समन्ततः ।
मणिकाञ्चनचित्राणि शयनान्यासनानि च ॥ ३३ ॥
विविधानि विशालानि ददृशुस्ते समस्ततः ।

हैमराजतकास्थानां प्राजनां च राशयः ॥ ३४ ॥
अगुरुणां च दिव्यानां चन्दनानां च संखयान् ।
शुचीन्यध्यवहाराणि मूलानि च फलानि च ॥ ३५ ॥
महार्हाणि च यानानि मधूनि रसकानि च ।

दिव्यानामम्बगणां च महार्हाणां च संखयान् ॥ ३६ ॥
कम्बलानां च चित्राणामजिनानां च संखयान् ।
तत्र तत्र च विन्यस्तान् दीप्तान् वैश्वानरप्रभान् ॥ ३७ ॥
ददृशुर्कानराः शुभ्रास्त्रारूपस्य संखयान् ।

वहाँकि वृक्षार्थ फूल और फल लगे थे। वे वृक्ष मैंगे और

उत्पार्थ श्रीमद्राघवणे वार्ष्णेयार्थे आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे पञ्चाशः सर्गः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीबाल्मीकिनिर्मित आर्यभट्टायण आदिकाव्यक किष्किन्धाकाण्डमें पचासवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशः सर्गः

हनुमान्जीके पूछनेपर वृद्धा तापसीका अपना तथा उस दिव्य स्थानका परिचय
देकर सब वानरोंको भोजनके लिये कहना

इत्युक्त्वा हनुमान्स्तत्र वीरकृष्णाजिनाम्बराम् ।
अब्रवीत् तां महाभागां तपसीं धर्मचाणिणीम् ॥ १ ॥
इस तरह पूछकर हनुमान्जी ने उस वृद्धा मन्त्रम धारण

मणियोंके समान चमकाले थे। ठनपर सुनहरे रंगके और
मड़ल रहे थे। वहाँकि घरोंमें सब ओर मधु संचित थे। मणि
और सुवर्णमें जटित विचित्र पलंग तथा आसन सब ओर
सजाकर रखे गये थे, जो अनन्क प्रकारके और विशाल थे।
वानरान उन्हें भी देखा। वहाँ हेर-के-हेर सोने, चाँदी और
कास-(फूल-) के पात्र रखे गये थे। अगुरु तथा दिव्य
चन्दनकी राशियाँ मुद्रित थीं। विचित्र भोजनके सामान तथा
फल मूल भी विद्यमान थे। बहुमूल्य सवर्णियाँ, मरस मधु
महामूल्यकान् दिव्य वस्त्रोंके ढेर, विचित्र कम्बल एवं
कम्बलान्की राशियाँ तथा मुगचमकि समूह जहाँ तहाँ रखे हुए
थे। वे सब आँखोंके समान प्रभास उर्ध्व हो रहे थे। वानरान
वहाँ चमकाले सुवर्णके ढेर भी देखे ॥ ३२-३७ ॥

तत्र तत्र विचिन्वन्तो विले तत्र महाप्रभाः ॥ ३८ ॥
ददृशुर्कानराः शूराः स्त्रियं कोविददूरतः ।

तां च ते ददृशुस्तत्र वीरकृष्णाजिनाम्बराम् ॥ ३९ ॥
नापसीं नियताहारां ज्वलन्तीमित्त तेजसा ।
विस्मिता हरयस्तत्र व्यवनिष्ठन्त सर्वशः ।

पप्रच्छ हनुमान्स्तत्र कासि त्वं कस्य वा बिलम् ॥ ४० ॥

उस गुफामें जहाँ तहाँ गोज करत हुए उन महातेजस्वी
शूरांर वानरोंमें थोड़ी ही दूरपर किसी स्त्रीको भी देखा, जो
कम्बल और कासा मुगचम पहनकर नियमित आहार करती
तपस्यामें संलग्न थी और अपने तेजमें एिप रही थी। वानरोंने
वहाँ उसे बड़े ध्यानसे देखा और आश्चर्यचकित होकर सब
आर खड़े रहे। उस समय हनुमान्जीने ठमस पूछा—'देवि ।
तुम कौन हो और यह किसकी गुफा है ?' ॥ ३८-४० ॥

ततो हनुमान् गिरिसंनिकाशः

कृताकुलिस्ताम्रभिवाद्य वृद्धाम् ।

पप्रच्छ का त्वं भवनं विलं च

रक्षानि चेयानि वदस्व कस्य ॥ ४१ ॥

पर्वतके समान विशालकाय हनुमान्जीने हाथ जोड़कर
उस वृद्धा तपस्विनीको प्रणाम किया और पूछा — 'देवि । तुम
कौन हो ? यह गुफा, ये भवन तथा ये रत्न किसके हैं ? यह
हम क्याओं ॥ ४१ ॥

कान्तवर्णः उस धर्ममयगुणा महाभागा तपस्विनीसे वहाँ फिर बोले ।

इदं प्रविष्टा सहसा विलं तिमिरसंवृतम् ।

क्षुत्पिपासापरिश्रान्ता- परिस्त्रिभ्राश्च सर्वशः ॥ २ ॥

महद् धरण्या धिवरं प्रविष्टाः स्म पिपासिताः ।
इमांस्त्वेवंविधान् भावान् विविधान्द्रुतोपमान् ॥ ३ ॥
दृष्ट्वा खयं प्रव्यथिताः सम्भ्रान्ता नष्टचेतसः ।
कस्येते काञ्चना वृक्षास्तरुणादित्यसंनिधाः ॥ ४ ॥

‘देवि ! हम सब लगे भूख-प्यास और चकावटसे कष्ट पा रहे थे । इसलिये सरमा इस अन्धकारपूर्ण गुफामें घुस आये भूतलका यह विवर बहुत बड़ा है । हम प्यासमें पीड़ित होनके कारण यहाँ आये हैं किन्तु यहाँकि इन ऐसे अद्भुत विविध पदार्थोंको देखकर हमारे मनमें बड़ी व्यथा हुई है — हम यह सोचकर चिन्तित हो उठे हैं कि यह अमृतको माया तो नहीं है, इसीलिये हमारे मनमें चकावट हो रही है । हमारा विवेकशक्ति लुप्त हो गयी है । हम जानना चाहते हैं कि ये बाल्मुर्यके समान कान्तिमान् सुवर्णमय वृक्ष किसके हैं ? ॥ ३—४ ॥

शुचीन्यभ्यवहाराणि मूलानि च फलानि च ।
काञ्चनानि विमानानि रजतानि गुहाणि च ॥ ५ ॥
तपनीयगवाक्षाणि घणिजालावुनानि च ।
पुष्पिताः फलवन्तश्च पुण्याः सुरभिगन्धयः ॥ ६ ॥
इमे जाम्बूनदमयाः पादपाः कस्य तेजसा ।

ये भोजनको पवित्र वस्तुएँ, फल-मूल, सोनके विमान, चाँदीके घर, मणियोंकी जालीयें इकी हुई मानकी विद्वत्कियाँ तथा पवित्र मुगधसे युक्त एवं फल फूलोंसे लदे हुए ये सुवर्णमय पावन वृक्ष किसके तेजसे प्रकट हुए हैं ?

काञ्चनानि च घणानि जालानि विमले जले ॥ ७ ॥
कथं मत्स्याश्च सौवर्णा दृश्यन्ते सह कच्छपैः ।
आत्पनस्त्वनुमाश्वाद् वा कस्य चैतत्तपोबलम् ॥ ८ ॥
अजानता नः सर्वेषां सर्वमाख्यातुमर्हसि ।

‘यहाँकि निर्मल जलमें सोनके कमल कैसे उत्पन्न हुए ? इन संसारोंके मत्स्य और कछुए सुवर्णमय कैसे दिखायी देने हैं ? यह सब तुम्हारे अपने प्रभावसे हुआ है या और किसीके ? यह किसके तपोबलका प्रभाव है ? हम सब अनजान हैं, इसलिये पूछते हैं तुम हमें सारी बातें बतानेकी कृपा करो ॥
एवमुक्ता हनुमता तापसो धर्मचारिणो ॥ ९ ॥
प्रत्युवाच हनुमन्तं सर्वभूतहिते रता ।

हनुमान्जीके इस प्रकार पूछनेपर समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाली उस धर्मपरायणा तापवाने उत्तर दिया— ॥
मयो नाम महातेजा मायावी धानरर्षभ ॥ १० ॥
तेनेदं निर्मितं सर्वं मायया काञ्चनं धनम् ।

‘वानरश्रेष्ठ ! मायाविशरद महातेजस्वी भयका नाम तुम्हें सुना होगा । उसोंने अपनी मायाके प्रभावसे इस संपूर्ण स्वर्णमय वनका निर्माण किया था ॥ १० ॥

इत्यर्थे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे एकपञ्चाशः सर्गः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें इक्यावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५१ ॥

पुरा दानवमुस्थानां विश्वकर्मा बभूव ह ॥ ११ ॥
येनेदं काञ्चनं दिव्यं निर्मितं भवनोत्तमम् ।

‘मयामुर पहले दानव-शिरोमणियोंका विश्वकर्मा था, जिसने इस दिव्य सुवर्णमय उत्तम भवनको बनाया है ।

स तु वर्षसहस्राणि तपस्तप्त्वा महद्वने ॥ १२ ॥
पितामहाद् वरं लेभे सर्वप्राशनसं धनम् ।

‘उसने एक सहस्र वर्षोंतक वनमें धोर तपस्या करके ब्रह्माजी-से श्रद्धापूर्वक रूपमें शुक्राचार्यका मार्गदिन्य-क्षेपव प्राप्त किया था विधाय सर्वं बलवान् सर्वकामेश्वरस्तदा ॥ १३ ॥
उत्पास सुखितः कालं कंचिदस्मिन् महावने ।

‘ममपूर्ण कामनाओंके स्वामी बलवान् मयामुरने यहाँका सारी वस्तुओंका निर्माण करके इस महान् वनमें कुछ कालतक सुखपूर्वक निवास किया था ॥ १३ ॥

तमप्सरसि हेमायां सक्तं दानवपुङ्गवम् ॥ १४ ॥
विक्रम्यवाशानि गृह्य जघानेशः पुरंदरः ।

‘आगे चलकर उस दानवराजका हेमा नामकी अप्सराके साथ ममके हो गया । यह जानकर देवश्वर इन्द्रने हाथमें शत्रु ले उमके साथ युद्ध करके उसे मार भगाया ॥ १४ ॥

इदं च ब्राह्मणा दत्तं हेमायै वनपुत्तमम् ॥ १५ ॥
शाश्वतः कामभोगश्च गृहं चेदं हिरण्यधम् ।

‘तत्पश्चात् ब्रह्माजीने यह उत्तम वन, यहाँका अक्षय काम-भोग तथा यह सोनका भवन हेमाको दे दिया ॥

दुहिता मेरुसावर्णोर्गृहं तस्याः स्वयंप्रभा ॥ १६ ॥
इदं रक्षामि भवनं हेमायां वानरोत्तम ।

‘मैं मेरुसावर्णोंकी कन्या हूँ । मेरा नाम स्वयंप्रभा है । वानरश्रेष्ठ मैं इस हेमाक इस भवनको रक्षा करती हूँ ॥

मम प्रियसखी हेमा नृनगीतविशारदा ॥ १७ ॥
तयादत्तवरा चास्मि रक्षामि भवनं महत् ।

‘नृत्य और गीतकी कलामें चतुर हेमा मेरी प्यारी सखी हैं । उसने मुझसे अपने भवनको रक्षाके लिये प्रार्थना की थी इसलिये मैं इस विशाल भवनको संरक्षण करती हूँ ॥

किं कार्यं कस्य वा हेतोः कान्ताराणि प्रपद्यथ ॥ १८ ॥
कथं चेदं वनं दुर्गं युष्माभिरुपलक्षितम् ।

‘तुमलोगोंका यहाँ क्या काम है ? किस उद्देश्यसे तुम इन दुर्गम स्थानोंमें विचरते हो ? इस वनमें आना तो बहुत कठिन है । तुमने कैसे इसे देख लिया ? ॥ १८ ॥

शुचीन्यभ्यवहाराणि मूलानि च फलानि च ।
मुक्त्वा पीत्वा च पानीयं सर्वं मे वक्तुमर्हसि ॥ १९ ॥

‘अच्छ, ये शुद्ध भोजन और फल-मूल प्रस्तुत हैं । इन्हें खाकर पानी पी लो । फिर मुझसे अपना सारा वृत्तान्त कहो ॥

द्विपञ्चाशः सर्गः

तापसी स्वयंप्रभाके पृच्छनेपर धानरोका उसे अपना वृत्तान्त बनाना और उसके प्रभावसे गुफाके बाहर निकलकर समुद्रतटपर पहुँचना

अथ तानब्रवीत् सर्वान् विश्रान्तान् हरियूथपान् ।
इदं वचनमेकात्र तापसी धर्मचारिणी ॥ १ ॥

तत्पश्चात् जब सब धानर-यूथपान् खा-पाकर विश्राम कर चुके, तब धर्मका आचरण करनेवाली वह एकाग्रहृदया तपस्विनी उन सबमें इस प्रकार बोली— ॥ १ ॥

धानरा यदि वः खेदः प्रणष्टः फलभक्षणान् ।
यदि चैतन्मया श्राव्यं श्रोतुमिच्छामि तां कथाम् ॥ २ ॥

‘धानरो ! यदि फल खानसे तुम्हारे धकावट दूर हो गयी हो और यदि तुम्हारा वृत्तान्त मेरे मुँहमें योग्य हो तो मैं उस सुनना चाहती हूँ ॥ २ ॥

तस्मास्तद् वचनं श्रुत्वा हनुमान् मास्ततमजः ।
आर्जवेन यथानस्वमाख्यातुमुपचक्रमे ॥ ३ ॥

उसकी यह बात सुनकर पवनकुमार हनुमान्जी बड़ों मरुताके साथ यथार्थ बात कहने लगे— ॥ ३ ॥

राजा सर्वस्य लोकस्य चन्द्रवस्त्रणोपमः ।
राधो दशरथिः श्रीमान् प्रविष्टो दण्डकावनम् ॥ ४ ॥

‘देखि ! सम्पूर्ण जगत्का राजा दशरथचन्द्रन श्रीमान् भागवान् राम, जो देवराज इन्द्र और वरुणके समान तेजस्वी हैं, दण्डकावनमें पधारे थे ॥ ४ ॥

लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा वंदेष्टा सह भार्यया ।
तस्य भार्या जनस्थानाद् रावणेन हता बलात् ॥ ५ ॥

‘उनके साथ उनके छोटे भाई लक्ष्मण तथा उनका धर्मपत्नी विदेहमन्दिनी सीता भी थीं । जनस्थानमें आकर रावणने उनकी सीता बलपूर्वक अपहरण कर ली ॥ ५ ॥

वीरस्वस्थ सखा राज्ञः सुग्रीवो नाम धानरः ।
राजा धानरमुख्यानां येन प्रस्थापिता वयम् ॥ ६ ॥

अगस्त्यचरितामाशां दक्षिणां यमगश्मिनाम् ।
सहैभिर्वानरैर्मुखैरद्भुतप्रमुखैर्वयम् ॥ ७ ॥

श्रेष्ठ धानरोंके राजा धानरजानाय चोंकर मुखोंव मन्नाराज श्रीगणेशजीके मित्र हैं, जिन्होंने इन अद्भुत आदि प्रधान वानरोंके साथ हमलोगोंको सीताकी खोज करनेके लिये अगस्त्यमाँच और यमराजद्वारा सुरक्षित दक्षिण दिशामें भेजा है ॥ ६-७ ॥

रावणं सहिताः सर्वे राक्षसं कामरूपिणम् ।
सीतया सह वंदेष्टा भार्गवमिति चंडिताः ॥ ८ ॥

‘उन्होंने आज्ञा दी थी कि तुम सब लोग एक साथ रहकर विदेहकुमारों सीतामहिन उस इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले राक्षसराज रावणका पता लगाना ॥ ८ ॥

विचित्य तु वनं सर्वं समुद्रं दक्षिणां दिशम् ।
वयं बुभुक्षिताः सर्वं वृक्षपूल्मुपाश्रिताः ॥ ९ ॥

‘हमने यहाँका सारा जंगल खान डाला । अब दक्षिण दिशामें समुद्रके भीतर टनकर अन्वेषण करना है । अबतक सीताका कुछ पता नहीं लगा और हमलोग भूख-प्याससे पाड़ित हो गये । अन्तमें हम सब के-सब एक वृक्षके नीचे बैठकर बैठ गये ॥ ९ ॥

विवर्णवदनाः सर्वे सर्वे ध्यानपरायणाः ।
नाधिगच्छामहे पारं मन्नाश्चिन्तामहार्णवे ॥ १० ॥

‘हमारे मुखों कान्ति फाँके पड़ गयी । हम सभी चिन्तामें मग्न हो गये । चिन्ताके महासागरमें डूबकर हम उसका पार नहीं पा रहे थे ॥ १० ॥

चारयन्तस्ततश्चक्षुर्दृष्टवन्तो महद् विलम् ।
लतापादपसंछन्नं तिमिरेण समावृतम् ॥ ११ ॥

इन्ना समय चारों ओर दृष्टि टाँझतेपर हमको यह विशाल गुफा दिखायी पड़ी जो लता और वृक्षोंमें ढकी हुई तथा अन्धकारसे आच्छन्न थी ॥ ११ ॥

अस्मद्भुजा जलकिराः पक्षे सलिलरेणुभिः ।
कुरराः सारसाश्चैव निपतन्ति पतत्रिणः ॥ १२ ॥

‘थोड़ी ही देरमें इस गुफामें हंस, कुरर और सारस आदि पक्षी निकल ज़िम्क पंख जलमें धोंगे थे और उनमें काँचड़ लगे हुए थीं ॥ १२ ॥

साध्वत्र प्रविशामेति भया तृक्ताः भूवङ्गमाः ।
तेषामपि हि सर्वेषामनुमानमुपागतम् ॥ १३ ॥

‘तब मैंने धानरोंसे कहा, ‘अच्छा होगा कि हमलोग इसके भीतर प्रवेश करें । इन सब धानरोंके भी यह अनुमान हो गया कि गुफाके भीतर पानी है ॥ १३ ॥

अग्निन् निपतिताः सर्वेऽप्यथ कार्यत्वरान्विताः ।
तनो गाढं निपतिता गृहा हर्तः परस्परम् ॥ १४ ॥

‘हम सब लोग अपने कार्यकी निहितके लिये उतावले थे ही, अतः इस गुफामें कूद पड़े । अपने हाथोंसे एक-दूसरेको दृढ़तापूर्वक पकड़कर हम गुफामें आगे बढ़ने लगे ॥ १४ ॥

इदं प्रविष्टाः सहसा विलं तिमिरसंवृतम् ।
एतन्नः कार्यमेतेन कृत्येन वयमागताः ॥ १५ ॥

‘इस तरह सहसा हमलोगोंने इस अंधेरी गुफामें प्रवेश किया । यही हमारा कार्य है और इसी कार्यसे हम इधर आये हैं ।

त्वां चैवोपगताः सर्वे परिचूना बुभुक्षिताः ।
आतिथ्यधर्मदत्तानि मूलानि च फलानि च ॥ १६ ॥

अस्माभिरुपयुक्तानि बुभुक्षापरिपीडितैः ।
भूखमें व्याकुल एवं दुर्बल होनेके कारण हम सबने तुम्हारे शरण ली । तुमने आतिथ्य-धर्मके अनुसार हमें

फल और मूल अर्पित किये और हमने भी भूमि में पड़ित होनेके कारण ठन्हे भरपेट खाया ॥ १६ ॥

यत् त्वया रक्षिताः सर्वे प्रियमाणा बुभुक्षुः ॥ १७ ॥
ब्रूहि प्रत्युपकारार्थं किं ते कुर्यन्तु वानराः ।

‘देवि ! हम भूखसे मर रहे थे। तुमने हम सब लोगोंके प्राण बचा लिये। अतः बताओ ये वानर तुम्हारे उपवासका बदला चुकानेके लिये क्या सेवा करें ॥ १७ ॥

एवमुक्ता तु सर्वज्ञा वानरस्तः स्वयंप्रभा ॥ १८ ॥
प्रत्युवाच ततः सर्वानिदं वानरयूथपान् ।

स्वयंप्रभा सर्वज्ञ थी। उस वानरोंके ऐसा कहनेपर उसने उन सभी युथपतियोंका इस प्रकार उत्तर दिया — ॥ १८ ॥

सर्वेषां परितुष्टास्मि वानराणां तरस्विनाम् ॥ १९ ॥
अन्त्या मम धर्म्येण न कार्यमिह केनचिन् ।

‘मैं तुम सभी बेगशाली वानरोंपर यों हो बहुत सन्तुष्ट हूँ। धर्मानुष्ठानमें लगी रहनेके कारण मुझे किसीसे कोई प्रयोजन नहीं रह गया है ॥ १९ ॥

एवमुक्तः शुभं वाक्यं तापस्या धर्मसंहितम् ॥ २० ॥
उवाच हनुमान् वाक्यं तापनिन्दितलोचनम् ।

उस तपस्विनीने जब इस प्रकार धर्मयुक्त उत्तम बात कही, तब हनुमान्जीने निराप दर्शित्वा श्री उस स्त्रीसे यों कहा — ॥ २० ॥

शरणं त्वां प्रपन्नाः स्मः सर्वे वै धर्मचारिणीम् ॥ २१ ॥
यः कृतः समयोऽस्मासु सुप्रीवेण महात्मना ।

स तु कालो व्यतिक्रान्तो बिले च परिवर्तनाम् ॥ २२ ॥
‘देवि ! तुम धर्माचरणमें लगी हुई हो। अतः हम सब लोग तुम्हारी शरणमें आये हैं। मनाया सुप्राचने हमलोगोंके लौटनेके लिये जो समय निश्चित किया था, वह इस गुफाके भीतर धुमनेमें ही बीत गया ॥ २१-२२ ॥

सा त्वमस्माद् बिलादस्मानुत्तारयितुमर्हसि ।
तस्मात् सुप्रीववचनादतिक्रान्तान् गतायुषः ॥ २३ ॥
ब्राह्मणमर्हसि नः सर्वान् सुप्रीवधयशङ्कितान् ।

‘अब तुम कृपा करके हमें इस बिलसे बाहर निकाल दो। सुप्रीवके बताये हुए समयको हम लौट चुके हैं। इसलिये अब हमारी आयु पूरी हो चुकी है। हम सबके-सब सुप्रीवके भयसे डरे हुए हैं। अतः तुम हमारा उद्धार करो ॥ २३ ॥

महस्य कार्यमस्माभिः कर्तव्यं धर्मचारिणि ॥ २४ ॥
तद्यपि न कृतं कार्यमस्माधिगृह वसिभिः ।

‘धर्मचारिणि ! हमें जो महान् कार्य करना है, उसे भी हम

इस गुफामें रहनेके कारण नहीं कर सकें हैं ॥ २४ ॥

एवमुक्ता हनुमता तापसी वाक्यमब्रवीत् ॥ २५ ॥
जीवता दुष्करं धन्ये प्रविष्टेन निवर्तितम् ।

तपसः सुप्रभावेण नियमोपाजितेन च ॥ २६ ॥
सर्वानेव बिलादस्मात् तारयिष्यामि वानरान् ।

हनुमान्जीके ऐसा कहनेपर तापसी बोली—‘मैं समझती हूँ जो एक बार इस गुफामें चला आना है, उसका जीते जो यहाँसे लौटना बहुत कठिन हो जाता है। तथापि नियमोंके पालन और तपस्याके, इनमें प्रभावसे मैं तुम सभी वानरोंको इस गुफासे बाहर निकाल दूंगी ॥ २५-२६ ॥

निमीलयत चक्षुषि सर्वे वानरयूथपाः ॥ २७ ॥
नहि निष्क्रमितुं शक्यमनिमीलितलोचनैः ।

श्रेष्ठ वानरो ! तुम सब लोग अपनी-अपनी आँखें बंद कर लो। आँखें बंद किये बिना यहाँसे निकलना असम्भव है ॥ २७ ॥

ततो निमीलिताः सर्वे सुकुमारकुलं करे ॥ २८ ॥
सहसा पिदधुर्दृष्टिं दृष्ट्वा गमनकाङ्क्षया ।

यत्र मुक्ता मयने सुकुमार अर्जुनखाले हाथोंसे आँखें मूंद लीं। गुफासे बाहर निकलनेकी इच्छासे प्रसन्न होकर उन सबने सहसा नेत्र बंद कर लिये ॥ २८ ॥

वानरास्तु महात्मानो हस्तरुद्धमुखास्तदा ॥ २९ ॥
निमेषान्तरमात्रेण बिलादुत्तारितास्तथा ।

इस प्रकार उस समय हाथोंसे मूँह बंद करनेके कारण उन महात्मा वानरोंको स्वयंप्रभा ने पलक मारते-मारते बिलसे बाहर निकाल दिया ॥ २९ ॥

उवाच सर्वास्तांस्तत्र तापसी धर्मचारिणी ॥ ३० ॥
नि सुतान् विषमात् तस्मात् समाश्वास्येदमब्रवीत् ।

तत्पश्चात् वहाँ उस धर्मपरयणा तापसीने उस विषम गुफामें बाहर निकले हुए सम्स्त वानरोंको आश्वासन देकर इस प्रकार कहा— ॥ ३० ॥

एष विन्ध्यो गिरिः श्रीमान् नानाद्रुमलतायुतः ॥ ३१ ॥
एष प्रस्रवणः शैलः सागरोऽयं महोदधिः ।

स्वास्ति वांस्तु गमिष्यामि भवनं वानरर्षभाः ।
इत्युक्त्वा तद् बिलं श्रीमन् प्रविशंश्च स्वयंप्रभा ॥ ३२ ॥

‘श्रेष्ठ वानरो ! यह रहा वानर प्रकारके वृक्षों और लताओंसे खूब लोभाशाली विन्ध्यगिरि। इधर यह प्रस्रवणगिरि है और सामने यह महासागर लहरा रहा है। तुम्हारा कल्याण हो। अब मैं अपने स्थानपर जाती हूँ। ऐसा कहकर स्वयंप्रभा उस सुन्दर गुफामें चली गयी ॥ ३१-३२ ॥

इत्यर्थे श्रीमद्वाल्मीकीय आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे द्विपञ्चाशः सर्गः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यसंस्कृतमहाभारत आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें वावनवां सर्ग पूरा हुआ ॥ ५२ ॥

त्रिपञ्चाशः सर्गः

लौटनेकी अवधि खीन जानेपर भी कार्य सिद्ध न होनेके कारण सुग्रीवके कठोर दण्डसे डरनेवाले अङ्गद आदि वानरोंका उपवास करके प्राण त्याग देनेका निश्चय

ततस्तं यदृशुर्धरे सागरं वरुणालयम् ।
अपारमभिगर्जन्तं घोरैरुमिभिर्गकुलम् ॥ १ ॥

तदनन्तर उन श्रेष्ठ वानराने वरुणको निवासभूमि भयंकर मत्तमागवकी देखा, जिसका कहीं पार नहीं था और जो घबरावक लहरोंमें व्याप्त होकर निरन्तर गर्जना कर रहा था ॥ १ ॥

ययस्य मायाविहितं गिरिदुर्गं विचिन्वताम् ।
तेषां धामो व्यतिक्रान्तो यो राज्ञा समयः कृतः ॥ २ ॥

मयासुरक अपनी मायाद्वारा बनाये हुए पर्वतको दुर्गमें गुफामें सोताकी खोज करते हुए उन वानरोंका वह एक मास खीन गया, जिसे राजा सुग्रीवने लौटनेका समय निश्चित किया था ॥ २ ॥

विन्ध्यस्य तु गिरेः पादे सम्प्रपुष्पिनपादपे ।
उपविश्य महान्मानश्चिन्तामाघण्डिरे तदा ॥ ३ ॥

विन्ध्यागिरिके पार्श्ववर्ती पर्वतपर, जहाँके वृक्ष फुल्लस स्रट थे, बैठकर वे सभी महान्या वानर चिन्ता करने लगे ॥ ३ ॥

ततः पुष्पातिभाराप्रल्लताशतसमायुतान् ।
हृमान् वासन्तिकान् दृष्ट्वा चभूवर्धयशङ्किताः ॥ ४ ॥

जो वसन्त ऋतुमें फलते हैं, उन आप आदि वृक्षोंको डालियोंकी मङ्गरी एवं फूलोंके आघक घायम झुकी हड नय संकड़ों लता वेलोंमें व्याप्त देखे वे सभी सुग्रीवके भयसे धरा उठे (वे शरद-ऋतुमें चले थे और त्रिशिर ऋतु आ गयी थी। इसीलिये उनका भय बढ़ गया था) ॥ ४ ॥

ते वसन्तभनुप्राप्तं प्रतिवेद्य परस्परम् ।
नष्टसंदेशकालार्था निपेतुर्धरणीतले ॥ ५ ॥

वे एक-दूसरोंके यह बताकर कि अब वसन्तका समय आना चाहता है, राजाके आदेशके अनुसार एक भासक भीतर जो काम कर लेना चाहिये था, वह न कर सकने या दमे नष्ट कर देनेका कारण भयक भार पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ५ ॥

ततस्तान् कपिवृद्धांश्च शिष्टांश्च वर्नोकसः ।
षाष्ठा मधुर्याऽऽभाष्य यथावदनुमान्य च ॥ ६ ॥

स तु सिंहवृषस्कन्धः पौनायनभुजः कपिः ।
युवराजो महाप्राज्ञ अङ्गदो वाक्यमब्रवीत् ॥ ७ ॥

तब जिनके कंधे सिंह और बैलके समान भासते थे, भुजाएँ बड़ी-बड़ी और मोटी थीं तथा जो बड़े बुद्धिमान थे, वे युवराज अङ्गद उन श्रेष्ठ वानरों तथा अन्य वनवासों कपियोंको यथावत् सम्मान देने हुए मनुष्य काण्वय सम्बोधन करके बोले - ॥ ६ ७ ॥

शामनात् कपिगजस्य कथं सर्वं विनिर्गताः ।
माम्, पूर्णो विलस्थानां हृद्यः किं न बुध्यत ॥ ८ ॥

वयमाश्रयुजे मासि कालसंख्याव्यवस्थिताः ।
प्रमिश्रताः सोऽपिचार्नीनः किमतः कार्यमुत्तमम् ॥ ९ ॥

वानरों ! हम सब लोग वानरराजकी आज्ञासे आश्रित पास खीनने-खीनते एक मासकी निश्चित अवधि स्वीकार करके सोताकी खोजके लिये निकले थे किन्तु हमारा वह एक मास उस गुफामें ही पूरा हो गया, क्या आपलोग इस बातकी नहीं जानते ? हम जब चले थे, तबसे लौटनेके लिये जो मास निर्धारित हुआ था, वह भी खीन गया; अतः अब आगे क्या करना चाहिये ? ॥ ८-९ ॥

भवन्तः प्रत्यय प्राप्ता नीतिमार्गविशारदाः ।
हिनश्चभिरता भर्तुर्निसृष्टाः सर्वकर्मसु ॥ १० ॥

'आपलोगको राजाका विश्वास प्राप्त है। आप नीति-मार्गमें निपुण हैं और स्वामाके हितमें तत्पर रहते हैं। इसीलिये आपलोग यथाममय सब कार्यमें नियुक्त किये जाते हैं ॥ १० ॥

कर्मस्वप्रतिपाः सर्वे दिक्षु विश्रुतपौरुषाः ।
मा पुरस्कृत्य नियाता पिङ्गाक्षप्रतिचोदिताः ॥ ११ ॥

इदानीमकृताधानां भर्तव्यं नात्र संशयः ।
हरिराजस्य संदेशमकृत्वा कः सुखी भवेत् ॥ १२ ॥

कार्य निष्ठ कर्ममें आपलोगको समानता करनेवाला कोई नहीं है। आप सभी अपने पुरुषार्थके लिये सभी दिशाओंमें विख्यात हैं। इस सम्बन्ध वानरराज सुग्रीवकी आज्ञासे मुक्त आगे करके आपलोग जिस कार्यके लिये निकले थे, उसमें आप और हम सफल न हो सकें ऐसी दृष्टिमें हमलोगको अपने प्राणाय साथ धाना पड़गा, इसमें संशय नहीं है। पन्ध्र वानरराजके आदेशका पालन न करके कौन सुखी रह सकता है ? ॥ ११-१२ ॥

अम्बिघ्ननीते काले तु सुग्रीवेण कृते स्वयम् ।
प्रायोपवेशनं युक्तं सर्वेषां च वर्नोकसाम् ॥ १३ ॥

'स्वयं सुग्रीवने जो समय निश्चित किया था, उसके भीत जानेपर हम सब वानरोंके लिये उपवास करके प्राण त्याग देना ही ठीक जान पड़ता है ॥ १३ ॥

नीक्षणाः प्रकृत्या सुग्रीवः स्वामिभावे व्यवस्थितः ।
न क्षमिष्यति नः सर्वानपराधकृतो गतान् ॥ १४ ॥

'सुग्रीव स्वभावसे ही कठोर हैं। फिर इस समय तो वे हमारे राजाके पक्षपर स्थित हैं। जब हम अपराध करके उनके पास जायेंगे, तब वे कभी हमें क्षमा नहीं करेंगे ॥ १४ ॥

अप्रवृत्तौ च सीतायाः पापमेव करिष्यति ।

तस्मात् क्षममिहाद्यैव गन्तुं प्रायोपवेशनम् ॥ १५ ॥

त्यक्त्वा पुत्राश्च दारांश्च धनानि च गृहाणि च ।

‘उल्टे सीताका समाचार न पानेपर हमारा वध ही कर डालेंगे, अतः हमें आज ही यहाँ खो, पुत्र, धन-सम्पत्ति और घर-द्वारका भोग छोड़कर मरणान्त उपवास आरम्भ कर देना चाहिये ॥ १५ ॥

ध्रुवं नो हिंसते राजा सर्वान् प्रतिगतानि ॥ १६ ॥

धधेनाप्रतिरूपेण श्रेयान् मृत्युर्गृह्येव नः ।

‘यहाँसे लौटनेपर राजा सुग्रीव निश्चय ही हम सबका वध कर डालेंगे। अनुचित वधकी अपेक्षा यहाँ मर जाना हमलोगोंके लिये श्रेयस्कर है ॥ १६ ॥

न चाहं मौवराज्येन सुग्रीवेणाभिधेचितः ॥ १७ ॥

नरेन्द्रेणाभिधितोऽस्मि रामेणाद्विष्टकर्मणा ।

‘सुग्रीवने युवराजपदपर मेरा अभियेक नहीं किया है। अनायाम ही महान् कर्म करनेवाले भगवान् श्रीरामने ही उस पदपर मेरा अभियेक किया है ॥ १७ ॥

स पूर्वं वज्रवैरो मां राजा दृष्ट्वा ध्वनिक्रमम् ॥ १८ ॥

घातयिष्यति दण्डेन तीक्ष्णेन कृतनिश्चयः ।

‘राजा सुग्रीवने तो पहलेसे ही मेरे प्रति वैर बाँध रखा है। इस समय आज्ञा-लङ्घनरूप मेरे अपराधका देखकर पूर्वोक्त निश्चयके अनुसार तोखे दण्डद्वारा मुझे मरवा डालेंगे ॥ १८ ॥

किं मे सुहृद्विष्यसनं पश्यद्विर्जीवितान्तरे ।

इहैव प्रायमासिष्ये पुण्ये सागररोधसि ॥ १९ ॥

‘जोवन-कालमें मेरा व्यसन (राजाके हाथमें मेरा भरण) देखनेवाले मुहर्दीसे मुझे क्या काम है ? यहाँ समुद्रके पावन तटपर मैं मरणान्त उपवास करूँगा’ ॥ १९ ॥

एतच्छ्रुत्वा कुमारेण युवराजेन भाषितम् ।

सर्वे ते वानरश्रेष्ठाः करुणं वाक्यमब्रुवन् ॥ २० ॥

युवराज धालिकुमार अद्भुतकी यह बात सुनकर वे सभी श्रेष्ठ वानर करुणस्वरमें बोले— ॥ २० ॥

तीक्ष्णः प्रकृत्या सुग्रीवः प्रियारक्तश्च राघवः ।

समीक्ष्याकृतकार्यास्तु तस्मिंश्च समये गते ॥ २१ ॥

अदृष्टायां च खेदेष्टां दृष्ट्वा चैव समागतान् ।

राघवप्रियकामाय घातयिष्यत्यसंशयम् ॥ २२ ॥

‘सबमुख सुग्रीवका स्वभाव बड़ा कठोर है। उधर श्रीरामचन्द्रजी अपनी प्रिय पत्नी सीताके प्रति अनुरक्त हैं सीताको खोजकर लौटनेके लिये जो अवधि निश्चित की गयी थी, वह समय व्यतीत हो जानपर भी यदि हम कार्य किये

बिना ही वहाँ उपस्थित होंगे तो उस अवस्थामें हमें देखकर और विदेहकुमारोंका दर्शन किये बिना ही हम लौटा हुआ जानकर श्रीरामचन्द्रजीका प्रिय करनेकी इच्छामें सुग्रीव हमें मरवा डालेंगे, इसमें संशय नहीं है ॥ २१-२२ ॥

न क्षमं चापराध्यानी गमनं स्वामिपार्श्वतः ।

प्रधानभूताश्च धर्यं सुग्रीवस्य समागताः ॥ २३ ॥

‘अतः अपराधी पुरुषोंका स्वामीके पास लौटकर जाना केनापि उचित नहीं है। हम सुग्रीवके प्रधान सहयोगी या सेवक होनेका कारण इधर उनके भेजेनेसे आये थे ॥ २३ ॥

इहैव सीतामन्वीक्ष्य प्रवृत्तिपुपलब्ध्या वा ।

नो चेद् गच्छाम ते वीरं गमिष्यामो यमक्षयम् ॥ २४ ॥

‘यदि यहाँ सीताका दर्शन करके अथवा उनका समाचार जानकर वीर सुग्रीवके पास नहीं जायेंगे तो अवश्य ही हम यमलोकमें जान पड़ेंगे’ ॥ २४ ॥

प्रवृत्तमानां तु ध्यार्दितानां

भ्रुत्वा वचस्तार इदं वधाये ।

अलं विधादेन विलं प्रविश्य

वसाम सर्वे यदि रोधते चः ॥ २५ ॥

भयसे पीड़ित हुए उन वानरोंका यह वचन सुनकर तामने कहा—‘यहाँ बैठकर विपाद करनेसे कोई लाभ नहीं है। यदि अपन्त्यागका ठीक जैसा ना हम सब लोग स्वयंभूतोंको उस गुफामें ही प्रवेश करके निवास करें ॥ २५ ॥

इदं हि मायाविहितं सुदुर्गमं

प्रभूतपुष्पोदकभोज्यपेयम् ।

इहास्ति नो नैव भयं पुरंदरा-

न राधवाद् वानरराजतोऽपि वा ॥ २६ ॥

‘यह गुफा मायामें निर्मित होनेके कारण अत्यन्त दुर्गम है यहाँ फल-फल, जल और खाद्य चीजोंकी दूसरी वस्तुएँ भी प्रचुर मात्रामें उपलब्ध हैं। अतः इसमें हमें न तो देवराज इन्द्रसे, न श्रीरामचन्द्रजीसे और न वानरराज सुग्रीवसे ही भय है’ ॥ २६ ॥

भुत्वाद्भुदम्यापि वचोऽनुकूल-

पृच्छ सर्वे हरयः प्रतीताः ।

यथा न हन्येय तथा विधान-

मसक्तमद्यैव विधीयतां नः ॥ २७ ॥

तारकने कहीं हुई पूर्वोक्त बात, जो अद्भुतके भी अनुकूल थी, सुनकर सभी वानरोंको उसपर विश्वास हो गया। वे सब के-सब बोल उठे—‘बन्धुदो ! हमें वैसा कार्य आज ही अविलम्ब करना चाहिये, जिससे हम मारे न जायें’ ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें त्रिपञ्चाशः सर्ग पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

चतुःपञ्चाशः सर्गः

हनुमान्जीका भेदनीतिके द्वारा वानरोंको अपने पक्षमें करके अङ्गदको अपने साथ चलनेके लिये समझाना

तथा क्षुधति तारे तु ताराधिपनिवर्चसि ।

अथ मेने हते राज्यं हनुमानङ्गदेन तन् ॥ १ ॥

तारापति चन्द्रमाके समान तेजस्वी तारके ऐसा कहनेपर हनुमान्जीने यह माना कि अब अङ्गदने वह राज्य (और अक्षतक सुग्रीवके अधिकारमें था) हर लिया (इस तरह वानरोंमें फूट पड़नसे बहुत से वानर अङ्गदको साथ नग और बलवान् अङ्गद सुग्रीवको राज्यसे खिझत कर देंगे—ऐसा सम्भावनाका हनुमान्जीके मनमें उदय हो गया) ॥ १ ॥

क्षुध्या ह्यष्टाङ्गया युक्तं चतुर्वलसमन्वितम् ।

चतुर्दशगुणं मेने हनुमान् वालिनः सुतम् ॥ २ ॥

हनुमान्जी यह अच्छे तरह जानते थे कि वाल्मीकुपुत्र अङ्गद आठ^१ गुणवाली बुद्धिमें, चार^२ प्रकारके बलसे और चौदह^३ गुणोंसे सम्पन्न है ॥ २ ॥

आपूर्यमाणं शश्वद्य तेजोवलपगक्रमैः ।

शशिनं धृक्पश्चात्तौ वर्धमानपितृ क्रिया ॥ ३ ॥

वे तेज, बल और पराक्रमसे सदा परिपूर्ण हो रहे हैं। शूद्र पक्षक आगम्यमें चन्द्रमाके समान गतिक्रमों अङ्गदको श्री दिनेदिन बढ़ रही हैं ॥ ३ ॥

बृहस्पतिसमं बृहस्पतिविक्रमे सदृशं पितुः ।

शश्रुवमाणं तारस्य शुकर्म्येव पुण्डरम् ॥ ४ ॥

ये बुद्धिमें बृहस्पतिके समान और पराक्रममें अपने पिता वालीके तुल्य हैं। जैसे देवराज इन्द्र बृहस्पतिके मुखमें नीतिकी बातें सुनते हैं, उसी प्रकार ये अङ्गद तारकी बातें सुनते हैं ॥ ४ ॥

भर्तुरर्थं परिश्रान्तं सर्वशास्त्रविशारदः ।

अभिसेधानुमारेभे हनुमानङ्गदे ततः ॥ ५ ॥

अपने स्वामी सुग्रीवका कार्य सिद्ध करनेमें ये परिश्रम (धकावट या शिथिलता) का अनुभव करते हैं। ऐसा विचारकर मागुर्ण शास्त्रोंके ज्ञानमें निगूण हनुमान्जीने अङ्गदका नग आदि वानरोंकी ओरसे फोड़नेका प्रयत्न आगम्य किया ॥ ५ ॥

स चतुर्णांमुपायानां तृतीयभूषणायन् ।

भेदयामास तान् सर्वान् वानरान् वाक्यमम्यदा ॥ ६ ॥

वे साम, दान, भेद और दाण्ड—इन चार उपायोंमेंसे तोंसरोंका खर्च करते हुए अपने युक्तियुक्त वाक्य वैभवके द्वारा उन सभी वानरोंको फोड़ने लगे ॥ ६ ॥

तेषु सर्वेषु पित्रेषु ततोऽधीषयदङ्गदम् ।

प्रायर्णविधिर्धर्माय कोपोपायसमन्वितैः ॥ ७ ॥

अथ वे सब आनर फूट गये, तब उन्होंने दाण्डरूप चीथे इसमें युक्त माना प्रकारके भयदायक वचनोंद्वारा अङ्गदको डगमग आगम्य किया— ॥ ७ ॥

त्वं समर्थतरः पित्रा युक्ते तातेषु वै ध्रुवम् ।

दृढं धारयितुं शक्तः कपिराज्यं यथा पिता ॥ ८ ॥

‘तायनन्दन ! तुम युद्धमें अपने पिताके समान ही अत्यन्त शक्तिशाली हो—वह निश्चितरूपमें सबको विदित है। जैसे तुम्हारे पिता क्षम्यका राज्य मेंभाळते थे उसी प्रकार तुम भी उसे दृढ़तापूर्वक धारण करनेमें समर्थ हो ॥ ८ ॥

नित्यमस्थिरचिन्ता हि कपयो हरिपुंगव ।

नाजायं विषहिष्यन्ति पुत्रद्वारं विना त्वया ॥ ९ ॥

किन्तु वानरहितोमण ! ये कपिलोंग सदा ही चञ्चलचिन्ता होते हैं। अपने ही प्रयोग अलग रहकर तुम्हारी आज्ञाका पालन करना इनके लिये सदा नहीं होगा ॥ ९ ॥

त्वां मेने हनुमन्नेयुः प्रत्यक्षं प्रवदामि ते ।

पथाय जायमान् नील, सुहोत्रश्च महाकपिः ॥ १० ॥

नहाहं ते इमे सर्वे सामदानादिभिर्गुणैः ।

दण्डेन न न्वया शक्याः सुग्रीवाद्यपकर्षितुम् ॥ ११ ॥

मैं तुम्हारे सामने कहता हूँ, ये कोई भी वानर सुग्रीवसे विरोध करके तुम्हारे प्रति अंगुष्ठ नहीं हो सकते। जैसे वे अम्बरकानु, गेरु और मशकपि मुहात्र हैं उसी प्रकार मैं भी हूँ। मैं तथा ये सब लोग साम, दान आदि उपायोंद्वारा सुग्रीवमें अलग नहीं किये जा सकते। तुम दाण्डके द्वारा भी हम सबको वानरराजसे दूर कर सको, यह भी सम्भव नहीं है (अतः सुग्रीव तुम्हारी अपेक्षा प्रबल है) ॥ १०-११ ॥

विगुह्यासनमप्याहुर्दुर्बलेन बलीयसा ।

आत्परक्षाकरस्तस्मात्त्र विगुह्येत दुर्बलः ॥ १२ ॥

१. बुद्धिके आठ गुण ये हैं—सुमेकां इच्छा, सुमेकां मुक्तां ग्रहण करना, ग्रहण करके धारण करना, उहापरह करना, अर्थ या तात्पर्यको बलीभाति समझना तथा मन्त्रज्ञानमें सम्पन्न होना।

२. साम दान भेद और दाण्ड—यह चार शब्दोंके अर्थ हैं। साम दान भेद और दाण्ड—ये चार शब्दोंके अर्थ हैं। साम दान भेद और दाण्ड—ये चार शब्दोंके अर्थ हैं।

३. चौदह गुण यो खलवें गये हैं—दृढ़ता, कालका ज्ञान, दृढ़ता, सब प्रकारके कष्टोंको सहन करनेकी क्षमता, सभी विषयोंका ज्ञान प्राप्त करना, चतुरता, उत्साह या शक्त, मन्त्रशास्त्र गुप्त गन्तव्य, तन्त्र विरोध करने में कहना, शक्ति, अपनी और शत्रुओं की शक्तिका ज्ञान, कृतज्ञता, शिष्टाचार, अतिशय शक्ति तथा अचञ्चलता (स्थिरता या गम्भीरता)।

महाराजोंको, जो धर्मतः उसको माताके समान थी, कुत्सित भावनासे ग्रहण कर लिया था, वह धर्मको जानना है, वह कैसे कहा जा सकता है? जिस दुरात्मन युद्धके लिये जाते हुए भाईके द्वारा विलम्ब रक्षक कार्यमें नियुक्त होनेपर भी पत्थरसे उसका मुँह बंद कर दिया, वह कैसे धर्मज्ञ माना जा सकता है? ॥ ३४ ॥

सत्यात् पाणिगृहीतश्च कृतकर्मा महायशः ।

स्निग्धलो राघवो येन स कस्य सुकृते स्मरेत् ॥ ५ ॥

'जिन्होंने सत्यकी साक्षी लेकर उसका हाथ पकड़ा और पकड़े ही उसका कार्य मिट्ट कर दिया, उन महायशस्वी भगवान् श्रीरामको ही जब उसने धुल्य दिया, तब दूसर किसके उपकारको वह याद रख सकता है? ॥ ५ ॥

लक्ष्मणस्य धयेनह नाधर्मधयभीरुणा ।

आदिष्टा मार्गिन् सीता धर्मस्तस्मिन् कथं भवेत् ॥ ६ ॥

जिसने अधर्मके भयसे डरकर नहीं, लक्ष्मणके ही भयसे भीत हो हमलोगोंको सीताको खोजके लिये भेजा है, उसमें धर्मकी सम्भावना कैसे हो सकती है? ॥ ६ ॥

तस्मिन् पापे कृतघ्ने तु स्मृतिभिन्ने बलाल्पनि ।

आर्यः को विश्वसेजान् मत्कुलीनां विशेषतः ॥ ७ ॥

इस पापी, कृतघ्न, स्मरण-शक्तिसे रहित और चञ्चलचित्त सुग्रीवपर कोई श्रेष्ठ गुण विशेषतः जान मत्कुलीनां विशेषतः हो, कभी भी किस तरह विश्वास कर सकता है? ॥ ७ ॥

राज्ये पुत्रः प्रतिष्ठाप्यः सगुणो निर्गुणोऽपि वा ।

कथं शत्रुकुलीने मां सुग्रीवो ग्रीवयिष्यति ॥ ८ ॥

'अपना पुत्र गुणवान् हो या गुणहीन, उसको राज्यपर विजय का हिस्सा सभी धारणा रखनेवाला सुग्रीव मुझ शत्रुकुलीने उत्पन्न हुए बालकको कैसे जीवित रखने देगा? ॥ ८ ॥

भिन्नमन्त्राऽपराद्धश्च भिन्नशक्तिः कथं हाहम् ।

किष्किन्धां प्राप्य जीवेयमनाथ इव दुर्बलः ॥ ९ ॥

'सुग्रीवसे अलग रहनेका जो मेरा गूढ़ विचार था, वह आज प्रकट हो गया। साथ ही, हमकी आज्ञाका पालन न करनेके कारण मैं अपराधी भी हूँ। इतना ही नहीं, मेरी शक्ति क्षीण हो गया है। मैं अनाथके समान दुर्बल हूँ। ऐसी दशामें किष्किन्धाम जाकर कैसे जीवित रह सकूंगा? ॥ ९ ॥

उपांशुलपट्टेन हि मां बन्धनेनापपादयेत् ।

शठः क्रूरो नृशंसश्च सुग्रीवो राज्यकारणान् ॥ १० ॥

'सुग्रीव शठ, क्रूर और निंद्य है। वह राज्यके लिये मुझे गुमरूपसे दण्ड देगा अथवा सदाके लिये मुझे बन्धनमें डाल देगा ॥ १० ॥

बन्धनाद्यावत्सादान्धे श्रेयः प्रायोपवेशनम् ।

अनुजानन्तु मां सर्वे गृहे गच्छन्तु वानराः ॥ ११ ॥

इस प्रकार बन्धनजनित कष्ट भोगनेकी अपेक्षा उपवास करके प्राण दे देना ही मेरे लिये श्रेयस्कर है।

अतः सब वानर मुझे यहीं रहनेका आज्ञा दें और अपने-अपने घरको चले जायें ॥ ११ ॥

अह वः प्रतिजानामि न गमिष्याम्यहं पुरीम् ।

इहैव प्राथमासिष्ये श्रेयो मरणमेव मे ॥ १२ ॥

मैं आपलोगोंसे प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ कि मैं किष्किन्धापुरीको नहीं जाऊँगा। यहीं मरणान्त उपवास करूँगा। मेरा मर जाना ही अच्छा है ॥ १२ ॥

अभिवादनपूर्वं तु राजा कुशलमेव च ।

अभिवादनपूर्वं तु राघवो बलशालिनौ ॥ १३ ॥

'आपलोग राजा सुग्रीवको प्रणाम करके उनसे मेरा कुशल-समाचार कहियेगा। अपन बलके कारण शोभा पानेवाले दोनों रघुवंशी बन्धुओंसे भी मेरा सादर प्रणाम निवेदन करते हुए कुशल-समाचार कह दीजियेगा ॥ १३ ॥

वाच्यस्तानो यधीयान् मे सुग्रीवो वानरेश्वरः ।

आरोग्यपूर्वं कुशलं वाच्या माता रुमा च मे ॥ १४ ॥

मेरे छोटे पिता वानरराज सुग्रीव और माता रुमासे भी मेरा आरोग्यपूर्वक कुशल-समाचार बताइयेगा ॥ १४ ॥

मातरं चैव मे तारामाश्वासयितुमर्हथ ।

प्रकृत्या प्रियपुत्रा सा सानुक्रोशा तपस्विनी ॥ १५ ॥

मेरी माता तारामें भी धैर्य बँधाइयेगा। वह बेचारी स्वभावसे ही दुःखी और पुत्रपर प्रेम रखनेवाली है ॥ १५ ॥

विनष्टमिह मां क्षुत्वा व्यक्तं हास्यति जीवितम् ।

एतावदुक्त्या बधने वृद्धस्तानभिवाद्य च ॥ १६ ॥

विवेश चाङ्गदो धूर्मा रुदन् दर्भेषु दुर्पनाः ।

यहाँ मेरे नष्ट होनेका समाचार सुनकर वह निश्चय ही अपने प्राण त्याग देगी।' इतना कहकर अङ्गदने उन सभी बड़े-बड़े वानरोंको प्रणाम किया और धरतीपर कुश बिछाकर उदास मुँहमें रोते-रोते वे मरणान्त उपवासके लिये बैठ गये ॥ १६ ॥

तस्य संविशतस्तत्र रुदन्तो वानर्गर्भभाः ॥ १७ ॥

नयनेभ्यः प्रभुमुखमूर्च्छां च वारि दुःखिताः ।

सुग्रीवं चैव निन्दन्तः प्रशंसन्तश्च वालिनम् ॥ १८ ॥

परिवार्याङ्गदं सर्वे व्यवसन् प्राथमासितुम् ।

उन्के इस प्रकार बैठनेपर सभी श्रेष्ठ वानर रोने लगे और दुःखा हो नेत्रांस गरम-गरम आँसू बहाने लगे। सुग्रीवकी निन्दा और वालिकोंकी प्रशंसा करते हुए उन सबने अङ्गदको सब ओरसे घेरकर आभरण उपवास करनेका निश्चय किया ॥

तद् वाक्यं वालिपुत्रस्य विज्ञाय प्लवगर्भभाः ॥ १९ ॥

अपस्पृश्योदकं सर्वे प्राङ्मुखाः समुपाविशन् ।

दक्षिणाग्रेषु दर्भेषु उदक्तीरं समाश्रिताः ॥ २० ॥

भुमूर्खो हरिश्चेष्टा एतत् क्षममिति स्म ह ।

वालि कुमारके बचनेपर विचार करके उन वानर-विगमगोत्राने मरना ही उचित समझा और मृत्युकी इच्छासे

आचमन करके समुद्रके उत्तर तटपर दक्षिणाग्र कुश बिछाकर
ये सब-के-सब पूर्वाभिमुख हो बैठ गये ॥ १९-२० ॥
रामस्य वनवासं च क्षयं दशरथस्य च ॥ २१ ॥
जनस्थानवधं चैव यद्यं चैव जटायुषः ।
हरणी चैव वैदेह्या वालिनश्च यद्यं तथा ।
रामकोपं च वदतां हरीणां ध्वजभाजनम् ॥ २२ ॥

श्रीरामके वनवास, राजा दशरथकी मृत्यु, जनस्थानवासी
रक्षसोंके संहाय, विदेहकुमारों सोनाक अपहरण, जटायुक
भरण, वालोंके वध और श्रीरामके क्रोधकी चर्चा करते हुए

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें पंचपञ्चाशः सर्ग पूरा हुआ ॥ ५५ ॥

षट्पञ्चाशः सर्गः

सम्पातिले वानरोंको भय, उनके मुखसे जटायुके वधकी बात सुनकर सम्पातिका दुःखी होना
और अपनेको नीचे उतारनेके लिये वानरोंसे अनुरोध करना

उपविष्टान्तु ते सर्वे यस्मिन् प्रायं गिरिस्थले ।
हत्यो गृधराजश्च ते देशमुपवक्रमे ॥ १ ॥
सम्पातिर्नाम नाग्नौ तु चिरजीवी विहंगमः ।

भ्राता जटायुषः श्रीमान् विप्रश्चातबलपौरुषः ॥ २ ॥
पर्वतके जिस स्थानपर वे सब रामर अपहरण उपग्रामके
लिये बैठ थे, उस प्रदेशमें चिरजीवी पक्षी श्रीमान् गृधराज
सम्पाति आये। वे जटायुक भाई थे और अपने बल तथा
पुरुषार्थके लिये सर्वत्र प्रसिद्ध थे ॥ १-२ ॥

कन्दरादभिनिष्क्रम्य स विन्यस्य महर्गिरेः ।
उपविष्टान् हरीन् दृष्ट्वा हृष्टात्मा गिरिमव्रवीन् ॥ ३ ॥

मत्तगिरि विन्ध्यको कन्दरासे निकलकर सम्पातिने जब
वहाँ बैठे हुए वानरोंको देखा तब उनका तटय हृषमें विनम्र
होना और वे इस प्रकार बोले— ॥ ३ ॥

विधिः किल नरं लोकं विधानेनानुवर्तते ।
यथायं विहितो भक्ष्यश्चिरान्धमुपागतः ॥ ४ ॥
परम्पराणां भक्षिणो वानराणां मृतं मृतम् ।
उवाचैनद् वचः पक्षी तान् निरीक्ष्य प्लवंगमान् ॥ ५ ॥

'जैसे लोकमें पूर्वजन्मके कर्मानुसार मनुष्यको उसके
कियेका फल स्वतः प्राप्त होता है, उसी प्रकार आज वीरवकाशके
पश्चात् यह भोजन स्वतः मेरे लिये प्राप्त हो गया। अवश्य ही यह
मेरे किसी कर्मका फल है। इन वानरोंमें से जो-जो मरता जायगा,
उसको मैं क्रमशः भक्षण करना जानूँगा' यह बात उस पक्षीने
उन सब वानरोंको देखकर कही ॥ ४-५ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा भक्ष्यलुब्धस्य पक्षिणः ।
अह्मदः परमायसो हनुमन्ममयावधीन् ॥ ६ ॥

भोजनपर लुब्धक हुए उस पक्षीका यह वचन सुनकर
अह्मदकी खड़ी दृष्टि हुआ और वे हनुमानज्यासे बोले

ऊन वानरोंपर एक दूसरा ही भय आ पहुँचा ॥ २१-२२ ॥

स संविशद्विर्बहुभिर्महीधरो
महाद्विकूटप्रतिमैः प्लवंगमैः ।
बभूव संशदितनिर्दराक्षरो
भृशं नदद्विर्जलदैरिवाम्बरम् ॥ २३ ॥

महान् पर्वत-शिखरोंके समान शरीरवाले वहाँ बैठे हुए बहु
मरत्यक वानर भयक मारे जोर-जोरसे शब्द करने लगा जिससे
उस पर्वतकी कन्दर-भौंकी घोंतरी भाग प्रतिध्वनित हो उठा और
गजते हुए मेंघोंसे युक्त आवकाशके समान फनीत होने लगा ॥

पश्य सीतापदेशेन साक्षाद् वैवस्वतो वधः ।
इमं देशमुपप्राप्तो वानराणां विषमये ॥ ७ ॥
'देखिये, सीताके निमित्तसे वानरोंको विषमिये डालनेके
लिये साक्षात् सूर्यपुत्र यम इस देशमें आ पहुँचे ॥ ७ ॥

रामस्य न कृतं कार्यं न कृतं राजशासनम् ।
हर्मेणायियमज्ञाता विपनिः सहमाऽऽगता ॥ ८ ॥
'हमकीगोति न तो श्रीरामचन्द्रजीका कार्य किया और न
राजाकी आज्ञाका पालन ही। इन्हीं बीच वानरोंपर यह सहमा
अज्ञात विपनि आ पड़ी ॥ ८ ॥

वैदेह्याः प्रियकामेन कृतं कर्म जटायुषा ।
गृधराजेन यत् तत्र श्रुतं वन्तदशेषतः ॥ ९ ॥
'विदेहकुमारों सोनाक प्रिय करनेकी इच्छासे गृधराज
जटायुन जी साहसपूर्ण कार्य किया था, वह सब आपलोगोंने
सुना ही होगा ॥ ९ ॥

तथा सर्वाणि भूतानि तिर्यग्योनिगतान्यपि ।
प्रियं कुर्वन्ति रामस्य त्यक्त्वा प्राणान् यथा वयम् ॥ १० ॥
'समस्त प्राणी, वे पशु-पक्षियोंको योनिमें ही क्यों न
उत्पन्न हुए हों हममें तरह प्राण देकर भी श्रीरामचन्द्रजीको
प्रिय कार्य करते हैं ॥ १० ॥

अन्योन्यमुपकुर्वन्ति स्नेहकारुण्यवन्निताः ।
ततस्तस्योपकारार्थं त्यजन्तात्मानमात्मना ॥ ११ ॥
दृष्ट पुरुष म्रग और कृष्णके घटोत्तम हो एक-दूसरेका
उपकार करते हैं, अतः आपलोग भी श्रीरामके उपकारके लिये
स्वयं ही अपने शरीरका परिन्याग करें ॥ ११ ॥

प्रियं कृतं हि रामस्य धर्मज्ञेन जटायुषा ।
राधवार्धं परिश्रान्ता वयं संत्यक्तजीविताः ॥ १२ ॥
कान्तागणि प्रपन्नाः स्म न च पश्याम मेधिलीम् ।

‘धर्मज्ञ जटायुने हों श्रीगमका प्रिय किया है। तबलाग श्रीरघुनाथजीके लिये अपन जीवनका मोह छोड़कर परिश्रम करते हुए इस दुर्गम वनमें आये, किंतु मिथिलेशकुमारोंका दर्शन न कर सकें ॥ १२ ॥

स सुखी गृधराजस्तु राघणेन हतो रणे ।

मुक्तश्च सुग्रीवधयाद् गतश्च परमां गतिम् ॥ १३ ॥

‘गृधराज जटायु ही सुखी है, जो युद्धमें राघवके हाथसे मारे गये और परमगतिकी प्राप्ति हुए। वे सुग्रीवके कर्मसे मुक्त हैं ॥

जटायुषो विनाशेन राज्ञो दशरथस्य च ।

हरणेन च र्वदेहाः संशयं हरथो गताः ॥ १४ ॥

‘राजा दशरथका मृत्यु, जटायुका विनाश और विटहकुमारों सीताका अपहरण—इन घटनाओंमें इस समय वनसाकड़ जीवन संशयमें पड़ गया है ॥ १४ ॥

राभलक्ष्मणयोर्वीरसम्पद्ये सह सांतया ।

राघवस्य च बाणेन वालिनश्च तथा वधः ॥ १५ ॥

राघवकोपादशेषाणां रक्षमां च तथा वधम् ।

कैकेय्या वरदानेन हृदं च विकृते कृतम् ॥ १६ ॥

‘श्रीराम और लक्ष्मणको मौतके साथ वनमें निवास करना पड़ा, श्रीरघुनाथजीके योग्य धार्मिक पद हुआ और अब श्रीगमके कोपसे सम्पन्न राक्षसोंका संगार होगा—ये सारा सुराईयाँ कैकेयोंके दिये गये वरदानसे ही पैदा हुई हैं ॥

तदसुरपनुकीर्तिं वधो

भुवि पतितांश्च निरीक्ष्य वानरान् ।

भृशचकितमनिर्घहाभनिः

कृपणमुदाहृतवान् स गृधराजः ॥ १७ ॥

‘वानरोंके द्वारा आश्चर्य कहे गये इन दुःखमय वचनोंका सुनकर और उन सबको पृथ्वीपर पड़ा हुआ देखकर परम दुःखिमान् सम्पत्तिकी हृदय अत्यन्त शून्य हो गयी और वे तीन बाणोंमें बोलनेको उद्यत हुए ॥ १७ ॥

तत् तु श्रुत्वा तथा वाक्यमङ्गदस्य मुखोद्धतम् ।

अब्रवीद् वचनं गृध्रस्तोक्ष्यातुण्डो महास्वनः ॥ १८ ॥

अङ्गदके मुखसे निकले हुए उसे वचनकी सुनकर तीखों

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आषाढमास्य आदिकाव्यक किष्किन्धाकाण्डमें छपानवां सर्ग पूरा हुआ ॥ ५६ ॥

सप्तपञ्चाशः सर्गः

अङ्गदका सम्पत्तिकी पर्वत-शिखरसे नीचे उतारकर उन्हें जटायुके मारे जानेका वृत्तान्त

बताना तथा राम सुग्रीवकी मित्रता एवं वालिवधका प्रसंग सुनाकर अपने

आमरण उपवासका कारण निवेदन करना

शोकाद् भ्रष्टस्वरमपि श्रुत्वा वानरयुथपाः ।

श्राद्धधुनैव तद्वाक्यं कर्मणा तस्य शङ्किताः ॥ १ ॥

शोकके कारण सम्पत्तिकी स्वर विकृत हो गया। श्राद्धधुन थी ॥ १ ॥

चौचकाले ठस गीधने उच्चस्वरसे इस प्रकार पूछा— ॥ १८ ॥

कोऽयं गिरा घोषयति प्रार्णः प्रियनरस्य मे ।

जटायुषो वधे भ्रातुः कथयत्रिव मे मनः ॥ १९ ॥

‘यह कौन है, जो मेरे प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय भाई जटायुके वधकी बात कह रहा है। इसे सुनकर मेरा हृदय कम्पित-सा होने लगा है ॥ १९ ॥

कथमासीजनस्थानं युद्धे राक्षसगृधयोः ।

नामधेयमिदं भ्रातृशिरस्याद्य मया श्रुतम् ॥ २० ॥

‘जनस्थानमें राक्षसका गृध्रके साथ किस प्रकार युद्ध हुआ था ? अपने भाईका प्यारा नाम आज बहुत दिनोंके बाद मेरे कानमें पड़ा है ॥ २० ॥

इच्छेयं गिरिदुर्गाच्च भवद्विरवतारितुम् ।

यवीयसो गुणज्ञस्य इलाधनीयस्य विक्रमैः ॥ २१ ॥

अतिदीर्घस्य कालस्य पश्चिन्नेऽस्मि कीर्तनात् ।

नदिच्छेयमहं श्रोतुं विनाशं वानरवर्षभाः ॥ २२ ॥

‘जटायु मुझसे छोट, गुणज्ञ और पराक्रमके कारण अत्यन्त प्रशंसक योग्य था। दीर्घकालके पश्चात् आज उसका नाम सुनकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। मैं चाहता हूँ कि पर्वतके इस दुर्गम स्थानसे आपलोग मुझे नीचे उतार दें। श्रेष्ठ वानरों ! मुझे अपने भाईके विनाशकी वृत्तान्त सुननेकी इच्छा है ॥ २१-२२ ॥

भ्रातृजटायुपुत्रस्य जनस्थाननिवासिनः ।

तम्यव च मम भ्रातुः सखा दशरथः कथम् ॥ २३ ॥

यस्य रामः प्रियः पुत्रो ज्येष्ठो गुरुजनप्रियः ।

‘मेरा भाई जटायु तो जनस्थानमें रहता था। गुरुजनोंके प्रेमी श्रीगमशत्रुजीके जीवनके ज्येष्ठ एवं प्रिय पुत्र हैं, वे भद्रराज दशरथ का भाईके मित्र कौन हों ॥ २३ ॥

सूर्याशुदग्धपक्षत्वात् शक्रोऽपि विसर्पितुम् ।

इच्छेयं पर्वतादस्मादवतनुं परितपाः ॥ २४ ॥

‘शक्रुदमन बाँधो ! मैं पक्ष सूर्यकी किरणोंसे जल गये हैं, इसलिये मैं उड़ नहीं सकता; किंतु इस पर्वतसे नीचे उतरना चाहता हूँ ॥ २४ ॥

ते प्रायमुपविष्टास्तु दृष्ट्वा गृध्रं प्रवंगमाः ।

चक्षुर्वृद्धिं तदा रौद्रा सर्वान् नो भक्षयिष्यति ॥ २ ॥

आमरण उपवासके लिये बैठे हुए उन वानरोंने उस समय गीधको देखकर यह भयंकर ध्यान सेन्की, 'यह हम सबको खा तो नहीं जायगा ॥ २ ॥

सर्वथा प्रायभासीनान् यदि नो भक्षयिष्यति ।

कूनकृत्या भविष्याम, क्षिप्रं सिद्धिमितो गताः ॥ ३ ॥

'अच्छा, हम तो सब प्रकारसे मरणाल उपवासका मत लेकर बैठे ही थे। यदि यह पक्षी हमें खा लेगा तो हमारा काम ही बन जायगा। हमें शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त हो जायगी' ॥ ३ ॥

एतां सुखिं ततश्चक्रुः सर्वे ते हरियूथपाः ।

अवनार्य गिरेः शृङ्गाद् गृध्रमाहाङ्गदस्तदा ॥ ४ ॥

फिर तो उन समस्त वानर-यूथपतियोंने यही निश्चय किया। उस समय गीधको उस पर्वत-शिखरमें उतारकर अङ्गदने कहा— ॥ ४ ॥

बभूवर्क्षरजो नाम वानरेन्द्रः प्रतापवान् ।

ममार्यः पार्थिवः पक्षिन् धार्मिको तस्य चात्मजौ ॥ ५ ॥

सुग्रीवश्चैव वाली च पुत्रौ धनञ्जलादुभौ ।

लोकं विश्रुतकर्माभूद् राजा वाली पिता मम ॥ ६ ॥

'पक्षिराज! पहले एक प्रतापी वानरराज हो गये है जिसका नाम था वृक्षरज। राजा वृक्षरज मेरे पितामह लगते थे। उनके दो धर्माला पुत्र हुए—सुग्रीव और वाली। दोनों ही बड़े बलवान् हुए। उनमेंम राजा वानरों मेरे पिता थे। संसारमें अपने धर्मकर्मके कारण उनकी बड़ी ख्याति थी ॥ ५-६ ॥

राजा कुत्तरस्य जगत इक्ष्वाकुणो महारथः ।

रामो दाशरथिः श्रीमान् प्रविष्टो दण्डकावनम् ॥ ७ ॥

लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा सदेहा सह भार्यया ।

पितुर्निदिशानिरतो धर्मं पन्थानमाश्रिनः ॥ ८ ॥

'आजसे कुछ वर्ष पहले इक्ष्वाकुवंशके महारथी वीर दशरथकुमार श्रीमान् रामचन्द्रजी, जो सम्पूर्ण जगत्के राजा हैं, पिताकी आज्ञाके पालनमें तनपर हो धर्म मार्गका आश्रय ले दण्डकारण्यमें आये थे। उनके साथ उनके छोटे भाई लक्ष्मण तथा उनकी धर्मपत्नी विदेहकुमारों सीता भी थीं ॥ ७-८ ॥

तस्य भार्या जनस्थानाद् रावणेन हता बलान् ।

रामस्य तु पितुर्मित्रं जटायुर्नाम गृध्रगद् ॥ ९ ॥

ददर्श सीतां सदेहो हियमाणां विहायसा ।

रावणं विरश्च कृत्वा स्थापयित्वा च मैथिलीम् ।

परिश्रान्तश्च युद्धश्च रावणेन हतो रणे ॥ १० ॥

'जनस्थानमें आपेपर उनकी पत्नी सीताको रावणने बलपूर्वक हर लिया। उस समय गृध्रराज जटायुने, जो

उनके पिताके मित्र थे, देखा—रावण आकाशमार्गसे विदेहकुमारोंको लिये जा रहा है। देखते ही वे रावणपर दृढ़ पड़े और उसके रथको नष्ट-भष्ट करके उन्हेंनि मिथिलकुमारोंको मुक्तिरूपमें भूमिपर खड़ा कर दिया। किन्तु वे युद्ध तो थे ही। युद्ध करते-करते थक गये और अन्ततोगत्वा रणक्षेत्रमें रावणके हाथसे मारे गये ॥ ९-१० ॥

एवं गृध्रो हतस्तेन रावणेन बलीयसा ।

संस्कृतश्चापि रामेण जगाम गतिमुत्तमाम् ॥ ११ ॥

'इस प्रकार महाबली रावणके द्वारा अटायुक्त बंध हुआ। स्वयं श्रीरामचन्द्रजीने उनका दाह-संस्कार किया और वे उत्तम गति (संकेतघातकी) प्राप्त हुए ॥ ११ ॥

ततो मम पितृव्येण सुग्रीवेण महात्मना ।

चकार राघवः सरथ्यं सोऽवधीत् पितरं मम ॥ १२ ॥

'तदनन्तर श्रीरघुनाथजीने मेरे चाचा महात्मा सुग्रीवसे मित्रता की और उनके कहनेसे उन्होंने मेरे पिताका वध कर दिया ॥ १२ ॥

मम पित्रा निरुद्धो हि सुग्रीवः सचिवैः सह ।

निहत्य वालिनं राघस्ततस्तपभिषेचयत् ॥ १३ ॥

मेरे पिताने मन्त्रियोंमिश्रित सुग्रीवको राज्य सुखसे वञ्चित कर दिया था। इसलिये श्रीरामचन्द्रजीने मेरे पिता वालीको मारकर सुग्रीवको अभिवक्त करवाया ॥ १३ ॥

स राज्ये स्थापितस्तेन सुग्रीवो वानरेश्वरः ।

राजा वानरपुरस्थानी तेन प्रस्थापिता वयम् ॥ १४ ॥

'उन्होंने ही सुग्रीवको वालाके राज्यपर स्थापित किया। अब सुग्रीव वानरोंके स्वामी हैं। मुख्य मुख्य वानरोंके भी राजा हैं। उन्होंने हमें सीताकी खोजके लिये भेजा है ॥ १४ ॥

एवं रामप्रयुक्तास्तु भार्गवाणाम्भनस्ततः ।

वन्देही नाधिगच्छामो रात्रौ सूर्यप्रभापिव ॥ १५ ॥

इस तरह श्रीरामसे प्रेरित होकर हमलोग इधर-उधर विदेहकुमारों सीताको खोजने निकले हैं, किन्तु अबतक उनका पता नहीं लगा। जैसे रातमें सूर्यकी प्रभाका दर्शन नहीं होता, उसी प्रकार हमें इस वनमें जानकीका दर्शन नहीं हुआ ॥ १५ ॥

ते वयं दण्डकारण्यं विचित्रं सुसमाहिताः ।

अज्ञानान् तु प्रविष्टाः स्म धरण्या विवृतं बिलम् ॥ १६ ॥

'हमलोग अपने मनको एकाग्र करके दण्डकारण्यमें भलीभाँति खोज करते हुए अज्ञानवश पृथ्वीके एक खुले हुए विवरमें घुस गये ॥ १६ ॥

मयस्य मायाविदिनं तद् बिलं च विचिन्वताम् ।

व्यतीतस्तत्र नो पासो यो राजा समयः कृतः ॥ १७ ॥

'यह बिबर मयासुरकी मायासे निर्मित हुआ है। उसमें खोजने-खोजने हमारा एक मास बीत गया, जिसे राजा सुग्रीवने हमारे लौटनेके लिये अवधि निश्चित किया था ॥ १७ ॥

ते वयं कपिराजस्य सर्वे वचनकारिणः ।

कृता संस्थामतिक्रान्ता भयात् प्रायमुपासिताः ॥ १८ ॥

‘हम सब लोग कपिराज सुग्रीवक आजाकारी हैं, किन्तु उनके द्वारा नियत की हुई अवधिकी लांघ गये हैं। अब उनकी वयसे हम यहाँ आमरण उपवास कर रहे हैं ॥ १८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे षष्ठपञ्चाशः सर्गः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मिते अष्टमोऽध्यायः समाप्तः किष्किन्धाकाण्डे मनावनर्था सर्गः पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

अष्टपञ्चाशः सर्गः

सम्पातिका अपने पंख जलनेकी कथा सुनाना, सीता और रावणका पता खताना तथा वानरोंकी सहायतासे समुद्र तटपर जाकर भाईको जलाझुलि देना

इत्युक्तः करुणं वाक्यं वानरैस्तत्तज्जीवितः ।

सखाष्यो वानरान् गृध्रः प्रत्युवाच महाश्वन ॥ १ ॥

जीवनकी आशा त्यागकर बैठ हुए वानरोंके मुखसे यह कहणाजनक बात सुनकर सम्पातिक नेत्रार्ध आँसू आ गये। उन्होंने उच्चस्वरसे उत्तर दिया— ॥ १ ॥

यर्थाद्यान् स मम भ्राता जटायुर्नाम वानरः ।

यमाख्यात इतं ब्रुद्धे रावणेन बलीयसा ॥ २ ॥

‘वानरो ! तुम जिसे महाबली गवणके द्वारा युद्धमें मारा गया बता रहे हो, वह जटायु मेरा छोटा भाई था ॥ २ ॥

ब्रुद्धभावादपक्षत्वाच्छृण्वन्मदपि पर्यये ।

नहि मे शक्तिरस्त्यद्य भानुर्वरविमोक्षणे ॥ ३ ॥

मैं ब्रुद्धा हुआ। मेरे पंख जल गये। इसलिये अब युद्धमें अपने भाईके बँटका बटलानेकी शक्ति नहीं रह गयी है। यही कारण है कि यह अग्रिम बात सुनकर भी मैं गुपचुप साँह लेता हूँ ॥ ३ ॥

पुरा वृत्रवधे वृते स चाहं च जयेषिणी ।

आदित्यमुपधातां स्वो ज्वलन्तं गडिषमालिनम् ॥ ४ ॥

आवृत्त्याकाशमार्गेण जलेन स्वर्गतौ भृशम् ।

मध्यं प्राप्ते तु सूर्ये तु जटायुरवर्मादति ॥ ५ ॥

‘पहलेकी बात है जब इन्द्रके द्वारा वृत्रामुक्ता वध हो गया, तब इन्द्रकी प्रबल जानकर हम दोनों भाई उन्हें जीतनेकी इच्छासे पहले आकाशमार्गके द्वारा बड़ बेगमें स्वर्गलोकमें गये। इन्द्रकी जोतकर लौटते समय हम दोनों ही स्वर्गको प्रकाशित करनेवाले अंशुमान्त्र सूर्यके पास आये हममेंसे जटायु सूर्यके मध्याह्नकालमें उनके नेत्रसे आश्रय होने लगा ॥ ४-५ ॥

तमहं भ्रातरं दृष्ट्वा सूर्यरश्मिभिरर्दितम् ।

पक्षाभ्यां छादयामास स्नेहात् परमविह्वलम् ॥ ६ ॥

भाईको सूर्यको किरणोंसे पीड़ित और अत्यन्त व्याकुल देखे मैंने सहृदय अपनी जाना पंखोंसे उसे ढक लिया ॥ ६ ॥

कुब्धे तस्मिन्नु काकुन्धे सुग्रीवे च सलक्ष्मणे ।

गतनामपि सर्वथा तत्र नो नास्ति जीविनम् ॥ १९ ॥

‘कुब्धकूलधूषण श्रीराम, लक्ष्मण और सुग्रीव तीनों हमपर कुपित होंगे। ठम दशमे वहाँ लौट जानेके बाद भी हम सबके प्राण नहीं बच सकते’ ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे षष्ठपञ्चाशः सर्गः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मिते अष्टमोऽध्यायः समाप्तः किष्किन्धाकाण्डे मनावनर्था सर्गः पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

निर्दग्धपन्नः पतितो विन्ध्योऽहं वानरर्षभाः ।

अहमस्मिन् वसन् भ्रातुः प्रवृत्तिं नोपलक्षये ॥ ७ ॥

कारणशतेमणियां ! ठम समय मेरे दोनों पंख जल गये और मैं इस विन्ध्य पर्वतपर गिर पड़ा। यहाँ रहकर मैं कभी अपने भाईका समाचार न पा सका। आज पहल पहल तुम-राजक मुखमें उन्क मार जानकी वान मात्तूम हुई है।

जटायुषस्त्वेवमुक्तो भ्रात्रा सम्पातिना तदा ।

युवराजो महाप्रजः प्रत्युवाचाङ्गदस्तदा ॥ ८ ॥

जटायुक भाई सम्पातिक उस समय ऐसा कहनेपर परम युद्धमान् युवराज अङ्गदने उससे इस प्रकार कहा— ॥ ८ ॥

जटायुषो यदि भ्राता भूतं ते गर्दितं मया ।

आख्याहि यदि जानामि निलयं तस्य रक्षसः ॥ ९ ॥

गृध्रराज ! यदि आप जटायुक भाई हैं, यदि आपने मेरी कही हुई बातें सुनी हैं और यदि आप उस राक्षसका निवासस्थान जानते हैं तो हमें बताइये ॥ ९ ॥

अतीघंदशिनं ते वै रावणं राक्षसाध्वयम् ।

अतिकं यदि वा दूरे यदि जानामि शंस नः ॥ १० ॥

वह अदृढदर्शी नाच राक्षस रावण यहाँसे निकट हो या दूर, यदि आप जानते हैं तो हमें उसका पता बता दें ॥ १० ॥

तयोऽब्रवीन्वहातेजा भ्राता ज्येष्ठो जटायुषः ।

आत्मानुरूपं वचनं वानरान् सम्प्रहर्षयन् ॥ ११ ॥

नच जटायुक बड़े भाई महातेजस्वी सम्पातिने वानरोंका हर्ष बढ़ाते हुए अपने अनुरूप बात कही— ॥ ११ ॥

निर्दग्धपक्षो गृध्रोऽहं गतवीर्यः प्रवङ्गभाः ।

वाङ्मात्रेण तु रामस्य करिष्ये साहाय्यतमम् ॥ १२ ॥

वानरो ! मेरे पंख जल गये। अब मैं बेपरका गीब हूँ। मेरी शक्ति जाती रहो (अतः मैं जाँगरसे तुम्हारी कोई सहायता नहीं कर सकता, तथापि) वचनमात्रसे भगवान् श्रीरामका उत्तम सहायता अवश्य करूँगा ॥ १२ ॥

जानामि वारुणल्लोकान् विष्णोर्लोकानपि ।

देवासुगन्धिर्मादृश ह्यमृतस्य चिमन्यनम् ॥ १३ ॥

‘मैं वरुणके लोकोंको जानता हूँ। वामनवतारके समय
धरावासी विष्णुने जहाँ-जहाँ अपने तीन पग रखे थे, उन
स्थानोंका भी मुझे ज्ञान है। अमृत मन्थन तथा देवासुरमथा
भी मेरी देखी और जानी हुई घटनाएँ हैं ॥ १३ ॥

रायस्य यदि कार्यं कर्तव्यं प्रथमं भया ।

जरया च हते तेजः प्राणाश्च शिथिला भव ॥ १४ ॥

‘यद्यपि घृष्टावस्थाने मेरा तेज हर लिया है और मेरी
प्राणशक्ति निर्बल हो गयी है तथापि श्रममग्नियोंका यह
कार्य मुझे सबसे पहले करना है ॥ १४ ॥

तरुणी रूपसम्पन्ना सर्वाभरणभूषिता ।

हियमाणा मया दृष्टा रावणो न दुरात्मना ॥ १५ ॥

‘एक दिन मैंने भी देखा, दुरात्मा रावण मम प्रकाशके मूहोंसे
मैंको हुई एक रूपवती युवतीकी हक लिये आ रहा था ॥ १५ ॥

क्रोशन्ती रापरामेति लक्ष्मणेति च भाषिणी ।

भूषणान्यपविध्यन्ती गात्राणि च विधुन्वती ॥ १६ ॥

‘वह मगिनती देखी ‘हा राम ! हा राम ! हा लक्ष्मण’ की
रह लगी हुई अपने गाने फेंकती और अपने शरीरके
अवयवोंको कम्पित करती हुई छटपट रही थी ॥ १६ ॥

सूर्यप्रभेव ईलाग्रे तस्याः कर्शोयमुत्तमम् ।

अस्मिन् राक्षसे पाति यथा वा तडिदम्बुदे ॥ १७ ॥

‘उसका सुन्दर रेशमी पोशाम्बर ऊँचाधलकं शिखरपर
फैली हुई सूर्यकी प्रभाके समान सुदर्शित होता था। वह उस
काले राक्षसके समीप बादलोंमें चमकती हुई विजलकके
समान प्रकाशित हो रही थी ॥ १७ ॥

तां तु सीतामहं धन्ये रामस्य परिकीर्तनात् ।

श्रूयतां मे कथयन्तो निलये तस्य रक्षसः ॥ १८ ॥

‘श्रीरामका नाम लेनेसे मैं समझता हूँ, वह सीता ही थी।
अब मैं उस राक्षसके घरका पन्ना बताना हूँ, सुनो ॥ १८ ॥

पुत्रो विश्रवसः साक्षाद् भ्राता वैश्रवणस्य च ।

अध्यास्ते नगरीं लङ्कां राक्षणो नाम राक्षस ॥ १९ ॥

‘रावण नामक राक्षस महर्षि विश्रवाका पुत्र और भासात्
कुबेरका भाई है। वह लङ्का नामवाली नगरमें निवास करता है ॥

इतो द्वीपे समुद्रस्य सम्पूर्णं शतयोजने ।

तस्मिन्लङ्का पुनरप्या निर्मिता विश्वकर्मणा ॥ २० ॥

‘यहाँसे पूरे चार सौ कोसके अन्तरपर समुद्रमें एक द्वीप
है, अहाँ विश्वकर्माने अत्यन्त रमणीय लङ्कापुरीका निर्माण
किया है ॥ २० ॥

जाम्बूनदमयद्वारिश्चित्रैः काञ्चनदण्डिकैः ।

शशादहंमयवर्णैश्च महोदः सुमहाकृता ॥ २१ ॥

‘उसके विचित्र दरवाजे और बड़े-बड़े महल सुवर्णके बने
हुए हैं। उनके भीतर सनके चबूतरे या बेदियाँ हैं ॥ २१ ॥

प्राकारेणार्कवर्णेन महता च समन्विता ।

तस्यां वसन्ति वंदेही टीनाः कर्शोयवासिनी ॥ २२ ॥

‘उस नगरीको चतुसदीवारी बहुत बड़ी है और सूर्यकी
भाति चमकती रहती है। उसीके भीतर पौनःपुन्यको रेशमी माड़ी
पहर चिदम्बुकी सीता बटु दुःखमें निवास करती है ॥ २२ ॥

रावणान्तःपुरे कञ्चा राक्षसीभिः सुरक्षिता ।

जनकस्यात्मजीं गजस्तस्यां द्रक्ष्यथ मैथिलीम् ॥ २३ ॥

‘रावणके अन्तःपुरमें नजरबंद है। बहुत-सी राक्षसीयाँ
उनके चहरेपर तैनात हैं। वहाँ पहुँचनेपर तुमलोग राजा
जनककी कन्या मैथिली सीताको देख सकोगे ॥ २३ ॥

लङ्कायाध्वं गुप्तायां सागरेण समन्ततः ।

सम्प्राप्य सागरस्यान्तं सम्पुणं शतयोजनम् ॥ २४ ॥

आसाद्य दक्षिणं तीरं ततो द्रक्ष्यथ रावणम् ।

तत्रैव त्वरिताः क्षिप्रं त्रिक्रमध्वं प्रवङ्ग्याः ॥ २५ ॥

‘लङ्का चारों ओरसे समुद्रके द्वारा सुरक्षित है। पूरे सौ
योजन समुद्रको पार करके उसके दक्षिण तटपर पहुँचनेपर
तुमलोग रावणको देख सकोगे। अतः जानो ! समुद्रको पार
करके ही तुरन्त साँझपूर्वक अपने पराक्रमका परिचय दो ॥

ज्ञानेन खलु पश्यामि दृष्ट्वा प्रत्यागमिष्यथ ।

आद्यः पन्थाः कुलिङ्गानां ये चान्ये धान्यजीविनः ॥ २६ ॥

‘निश्चय ही मैं जलदृष्टिमें देखता हूँ। तुमलोग सीताका
दर्शन करके लौट आओगे। आकाशका पतला मार्ग गँवोंगे
तथा अन्न खानवाले कन्नूर आदि पक्षियोंका है ॥ २६ ॥

द्वितीयो बलिभोजार्थं ये च वृक्षफलाशनः ।

भासास्तृतीयं गच्छन्ति क्रौञ्चाश्च कुररैः सह ॥ २७ ॥

‘उससे ऊपरका दूसरा मार्ग कौओं तथा वृक्षोंके फल
खाकर रहनेवाले दूसरे दूसरे पक्षियोंका है। उससे भी ऊँचा
तीसरा आकाशका तृतीय मार्ग है। उसमें चोल, क्रौञ्च और कुरर
आदि पक्षी जाते हैं ॥ २७ ॥

इयेनाश्चतुर्थं गच्छन्ति गृध्रा गच्छन्ति पञ्चमम् ।

बलवीर्योपपन्नानां रूपयीवनशालिनाम् ॥ २८ ॥

षष्ठस्तु पन्थां हंसानां केननयगतिः परा ।

केनयेयाह नो जम्भ सर्वेषां जानर्गभाः ॥ २९ ॥

‘बाज चौथे और गीघ पाँचवें मार्गसे उड़ते हैं। रूप, बल
और पराक्रमसे सम्पन्न तथा यौवनसे सुगन्धित हंसवाले
हंसोंका छठा मार्ग है। उनसे भी ऊँची उड़ान गरुड़की है।
‘जानर्गशान्तिगणियों’ जम्भ नामका जम्भ गरुड़में ही हुआ है ॥

गर्हितं तु कृतं कर्म येन स्म पिशिताग्निः ।

प्रतिकार्यं च मे तस्य वैरं भ्रातृकृतं भवेत् ॥ ३० ॥

‘परन्तु पूर्वजन्ममें हमसे कई निर्दित कर्म बन गया था,
जिनमें उस समय हम भासाहाग होना पड़ा है। तुमलोगोंकी
सहायता करके मुझे रावणसे अपने भाईके वैरका बदला
लेना है ॥ ३० ॥

इहस्थोऽहं प्रपश्यामि रावणो जानकीं तथा ।

अम्माकमपि सौपर्णं दिव्यं चक्षुर्बलं तथा ॥ ३१ ॥

‘मैं यहाँसे रावण और जानकीको देखता हूँ। हमलोगोंमें भी गरुड़की भाँति दूरतक देखनेकी दिव्य शक्ति है ॥ ३१ ॥

तस्मादाहारवीर्येण निसर्गेण च वानराः ।

आयोजनशक्तात् सायाद् वयं पश्याम निन्दश ॥ ३२ ॥

‘वृमलिये वानरो ! हम भोजनजनित शक्त्य तथा स्वाभाविक शक्तिसे भी सदा सौं योजन और उद्यम आगेनक भी देख सकते हैं ॥ ३२ ॥

अस्माकं विहिता वृत्तिर्निसर्गेण च दूरतः ।

विहिता वृक्षमूले तु वृत्तिश्चण्डयोधिनाम् ॥ ३३ ॥

‘जातीय स्वाभाविक अनुसार इनलगावकी आधिका-वृत्ति दूरसे देखेंगे मयें दूरस्थ भक्ष्य-प्राप्तिके द्वारा नियत क. गया है तथा जो कुकुट आदि पक्षी हैं, उनकी जीवन-वृत्ति वृक्षकी जड़तक ही सीमित है—वे वनोत्पन्न उपलब्ध हानकाली वस्तुसे जीवन-निर्वाह करते हैं ॥ ३३ ॥

उपायो दृश्यतां काश्चिन्नलङ्घने लयणाम्भसः ।

अभिगम्य तु वंदेहीं समुद्रार्था गमिष्यथ ॥ ३४ ॥

‘अब तुम इस खारे पानीके समुद्रके लोचनका कोई

इत्यर्थे श्रीमद्भगवद्गीताके चान्दिकायां आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे अष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार श्रीवान्दिकायाम्भस आदिगमयण आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे अष्टपञ्चाशः सर्गः पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

एकोनषष्ठितमः सर्गः

सम्पातिका अपने पुत्र सुपाश्वके मुखसे सुनी हुई सीता और रावणको देखनेकी घटनाका वृत्तान्त बताना

ततस्तदमृतास्वाद गृधराजेन भाषितम् ।

निशम्य खट्वा हृष्टास्तौ वनः प्रव्रजसंभाः ॥ १ ॥

उस समय कर्तालप करते हुए गृधराजक द्वारा कहे गये उस अमृतके समान स्वादिष्ट मधुर वचनको सुनकर सब वानरश्रेष्ठ हर्षमे खिल उठे ॥ १ ॥

जाम्बवान् वानरश्रेष्ठः सह सर्वैः प्रवृज्यते ।

भूतलात् सहस्रोत्थाय गृधराजानमब्रवीत् ॥ २ ॥

वानरो और भानुओंमें श्रेष्ठ जाम्बवान् सब वानरोंके साथ मगसा भूतलसे उठकर खड़े हो गये और गृधराजसे इन प्रकार पूछने लगे— ॥ २ ॥

क सीता केन वा दुष्टा को वा हरति पथिलीम् ।

तदाख्यातु भवान् सर्वं गतिर्भव वर्माकम्पाय ॥ ३ ॥

‘पक्षिराज ! सीता कहीं हैं ? किन्ने उन्हें देना है ? और कौन उन मिथिलशकुमारकी हत्या में मगसा है ? यह सब ज्ञान बताइये और हम सब वनवासी वानरोंके आश्रयदाना इच्छा ॥

को दाशरथिबाणानीं वज्रवेगनिपातिनाम् ।

स्वयं लक्ष्मणमुक्तानां न चित्तयति विक्रमम् ॥ ४ ॥

‘कौन ऐसा घृष्ट है, जो वज्रके समान संगमरुत्तक चोट करनेवाले दशरथनन्दन श्रीरामके बाणी तथा स्वयं लक्ष्मणके

उपाय सोंचें। विदेहकुमारों सीताके पास जा सफलमनोरथ होकर किष्किन्धापुगेको लौटोगे ॥ ३४ ॥

समुद्रं नेतुमिच्छामि भवद्विर्वरुणालयम् ।

प्रदास्याम्युदकं भानुः स्वर्गतस्य महात्मनः ॥ ३५ ॥

‘अब मैं तुम्हारी सहायतासे समुद्रके किनारे चलना चाहता हूँ, वह अपने स्वर्गवासी भाई महान्या जटायुका जलाशयलि प्रदान करेगा ॥ ३५ ॥

ततो नीत्वा तु ते देशं तीरे नदनदीपतेः ।

निर्दग्धपक्षं सम्पाति वानराः सुमहोजसः ॥ ३६ ॥

तं पुनः प्रापयित्वा च ते देशं पतंगेश्वरम् ।

वधूतुर्वानरा हृष्टाः प्रवृत्तिमुपलभ्य ते ॥ ३७ ॥

यह सुनकर महापराक्रमी वानरोंने जले पंखवाले पक्षियोंके सम्पातिकों उठाकर समुद्रके किनारे पहुँचा दिया और जलज्जलि देनेके पश्चात् वे पुनः उनका वहाँसे उठाकर उनके रहनेके स्थानपर ले आये। उनका मुक्तसे सीताका समाचार जानकर उन सभी वानरोंको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ३६-३७ ॥

उत्तरायण मध्यकांके पराक्रमका कुछ रस ममझना है ।

स हरीन् प्रनिसम्पुक्तान् सीताश्रुतिसमाहितान् ।

पुनराश्वासयन् प्रात इदं वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥

उस समय उपवास छोड़कर बैठ और सीताजीका वृत्तान्त सुननेके लिये एकाग्र हुए वानरोंको प्रमत्ततापूर्वक पुनः आश्वासन देने हुए सम्पातिन उनसे यह बात कही— ॥ ५ ॥

श्रूयतामिह वंदेह्या यथा मे हरणं श्रुतम् ।

येन चापि भमारुह्याने यत्र स्थायतलोचना ॥ ६ ॥

‘वानरो ! विदेहकुमारों सीताका जिस प्रकार अपहरण हुआ है विदेहकुमारों की भाँति इस समय वनों में और जिनमें मुझसे यह सब वृत्तान्त कहा है वह जिस तरह सीता मुना है, वह सब बताता हूँ, सुने— ॥ ६ ॥

अहमस्मिन् गिरौ दुर्यो बहुयोजनमायते ।

चिरान्निपतिनो वृद्धः क्षीणप्रणपराक्रमः ॥ ७ ॥

‘यह दुर्यो पर्वत कई योजनोंतक फैला है, दीपकाल हुआ, अब मैं इस पर्वतपर गिरा था। मेरी प्राणशक्ति क्षीण हो गयी थी और मैं वृद्ध था ॥ ७ ॥

ते धामेखगतं पुत्रः सुपाश्वो नाम नामतः ।

आहारेण यथाकालं विधर्ति पततां वरः ॥ ८ ॥

‘इस अवस्थामें मेरा पुत्र पक्षिप्रवर सुपार्श्व ही यथासमय
आहार देकर प्रतिदिन मेरा भरण-पोषण करता है ॥ ८ ॥

तीक्ष्णकामास्तु गन्धर्वास्तीक्ष्णकोपा भुजङ्गमाः ।

भृगाणां तु भयं तीक्ष्णं ततस्तीक्ष्णक्षुधा वयम् ॥ ९ ॥

‘जैसे गन्धर्वाका कामभाव तीव्र होता है, सर्पोंका क्रोध
तेज होता है और भृगोंको भय अधिक होता है, उसी प्रकार
हमारी जातिके साँकोंकी भुख बड़ी तीव्र होती है ॥ ९ ॥

स कदाचित् क्षुधार्तस्य ममाहाराभिकाङ्क्षिणः ।

गतसूर्येऽहनि प्राप्नो मम पुत्रो ह्यनामिषः ॥ १० ॥

एक दिनकी बात है मैं भुखमे पीड़ित होकर आहार ग्रहण
करना चाहता था मेरा पुत्र मेरे लिये भाजनकी तलाशमें
निकला था किन्तु सूर्यास्त होनेके बाद वह खाली हाथ लौट
आया, उसे कहीं मांस नहीं मिला ॥ १० ॥

स मयाऽऽहारसंरोधात् पीडितः प्रीतिवर्धनः ।

अनुमान्य यथातत्त्वमिदं सत्त्वनमस्मावीन् ॥ ११ ॥

‘भोजन न मिलनेसे मैंने कठोर बातें सुनकर अपनी प्रीति
बढ़ानेवाले उस पुत्रको बहुत पीड़ा दी किन्तु उसने नम्रतापूर्वक
मुझे आदर देते हुए यह यथार्थ बात कही— ॥ ११ ॥

अहं तात यथाकालमापिषार्थी स्वमाप्नुतः ।

महेन्द्रस्य गिरेर्द्वारमावृत्य सुसमाश्रितः ॥ १२ ॥

‘तात ! मैं यथासमय मांस प्राप्त करनेकी इच्छामें उत्कण्ठामें
रहा और महेन्द्र पर्वतके द्वारको रोककर रुड़ा हो गया ॥ १२ ॥

तत्र सत्त्वसहस्राणां सागरान्तस्धारिणाम् ।

पन्थानमेकोऽध्यवसं संनिरोद्धुमवाङ्मुखः ॥ १३ ॥

‘वहाँ अपनी चौंच नौची करके मैं समुद्रके भीतर
विचरनेवाले सहस्रों जन्तुओंके मार्गका रोकनेके लिये
अकेला ठहर गया ॥ १३ ॥

तत्र कश्चिन्मया दृष्टः सूर्योदयसमप्रधाम् ।

स्त्रियमादाय गच्छन् सै धिन्नाञ्जनचयोपमः ॥ १४ ॥

‘उस समय मैंने देखा खानसे काटकर निकाले हुए
कोयलेकी राशिके समान काला कोई पुरुष एक स्त्रीको लेकर
जा रहा है उस स्त्रीकी कान्ति सूर्योदयकालकी प्रभाके समान
प्रकाशित हो रही थी ॥ १४ ॥

सोऽहमभ्यवहारार्थं तौ दृष्ट्वा कृतनिश्चयः ।

तेन साप्रा विनीतेन पन्थानमनुयाचिनः ॥ १५ ॥

‘उस स्त्री और उस पुरुषको देखकर मैंने उन्हें आपके
आहारके लिये लानेका निश्चय किया किन्तु उस पुरुषने
नम्रतापूर्वक मधुर वाणीमें मुझमें मार्गकी याचना की ॥ १५ ॥

नहि सामोपपन्नानां प्रहर्षा विद्यन्ते भुवि ।

भीक्ष्वेषुपि जनः कश्चित् किमङ्गुलं यत्तद्विधः ॥ १६ ॥

‘पिताजी ! भूतलभर नीच पुरुषोंमें भी कोई ऐसा नहीं है,
जो विनयपूर्वक मोठे वचन बोलनेवालोंपर प्रहार करे फिर
मुझ-जैसा कुलीन पुरुष कैसे कर सकता है ? ॥ १६ ॥

स यातस्तेजसा व्योम संक्षिपन्निव सेवितः ।

अथाहं संचरैर्धूर्नैरभिगम्य सभाजितः ॥ १७ ॥

फिर तो वह तेजसे आकाशको व्याप्त करता हुआ-सा
वेगपूर्वक चला गया । उमके चले जानेपर आकाशचारी प्राणी
सिद्ध चारण आदिने भाकर मेरा बड़ा सम्मान किया ॥ १७ ॥

दिष्ट्वा जीवति सीतेति ह्यब्रुवन् मां महर्षयः ।

कथंचित् सकलजोऽसौ गतस्ते स्वस्त्यसंशयम् ॥ १८ ॥

‘तुमहारी मुझमें बोले— ‘सीतामयीकी जान है कि सीता
जीवित है । तुम्हारी दृष्टि पड़नेपर भी स्त्रीके साथ आया
हुआ वह पुरुष किसी तरह सकुशल बच गया; अतः
अबश्य तुम्हारा कल्याण हो’ ॥ १८ ॥

एवमुक्तस्ततोऽहं तैः सिद्धैः परमशोभनैः ।

स च मे रावणो राजा रक्षसां प्रतिवेदितः ॥ १९ ॥

‘उन परम शोभायमान सिद्ध पुरुषोंने मुझसे ऐसा कहा,
तत्कालात् उन्होंने यह भी बताया कि ‘यह काला पुरुष
राक्षसोंका राजा रावण था’ ॥ १९ ॥

पश्यन् दाशरथ्यंभार्यां रामस्य जनकात्मजाम् ।

भ्रष्टाभरणकौशेयां शोकवेगपराजिताम् ॥ २० ॥

रामलक्ष्मणयोर्नाम क्रोशन्ती मुक्तमूर्धजाम् ।

एष कालात्ययस्तात इति वाक्यचिदां धरः ॥ २१ ॥

एतदर्थं समर्थं मे सुपार्श्वः प्रत्यवेदयत् ।

तच्छ्रुत्वापि हि मे बुद्धिर्नासित् काचित् पराक्रमे ॥ २२ ॥

‘तात ! दाशरथ्यनन्दन श्रीरामकी पत्नी जनककिशोरी सीता
शावक वेगसे पराजित हो गयी थीं उनके आभूषण गिर रहे थे
और रेशमों वस्त्र भी गिरसे खिसक गया था उनके केश खुले
हुए थे और वे श्रीराम तथा लक्ष्मणका नाम री-लेकर उन्हें
पुकार रही थीं । मैं उनको इस दयनीय दशाको देखता रह गया ।
यहां मैंने विलम्बन भ्रान्तका कारण है । इस प्रकार जानचीतकी
कल्ला जाननेवालोंमें श्रेष्ठ सुपार्श्वने मेरे सामने इन भारी बातोंका
वर्णन किया । यह सब सुनकर भी मेरे हृदयमें पराक्रम कर
दिखानेका कोई विचार नहीं उभर ॥ २०—२२ ॥

अपक्षो हि कथं पक्षी कर्म किंचित् समारभेत् ।

यत् तु शक्यं मया कर्तुं वाग्यबुद्धिगुणवर्तिना ॥ २३ ॥

श्रूयतां तत्र वक्ष्यामि भवतां पौरुषाश्रयम् ।

‘बिना पक्षक पक्षी कैसे कोई पराक्रम कर सकता है ?
अपनी वाणा और बुद्धिके द्वारा साध्य जो उपकाररूप गुण है,
उमें करना मेरा स्वभाव बन गया है, ऐसे स्वभावसे मैं जो
कुछ कर सकता हूँ, वह कार्य तुम्हें बतला रहा हूँ सुनो । वह
कार्य तुमलोगोंके पुरुषार्थसे ही सिद्ध होनेवाला है ॥ २३ ॥

वाङ्मनिभ्यां हि सर्वथां कणिष्यामि प्रियं हि वः ॥ २४ ॥

यद्धि दाशरथेः कार्यं मम तत्रात्र संशयः ।

‘मैं वाणी और बुद्धिके द्वारा तुम सब लोगोंका प्रिय कार्य
अबश्य करूँगा क्योंकि दाशरथ्यनन्दन श्रीरामका जो कार्य है,

वह येरा ही है—इसमें संशय नहीं है ॥ २४ ॥

तद् भवन्तो मतिश्रेष्ठा बलवन्तो मनस्विनः ॥ २५ ॥

प्रहिताः कपिराजेन देवैरपि दुरासदाः ।

'सुमल्लोभ भी उत्तम बुद्धिमें युक्त, बलवान्, मनस्वी तथा देवताओंके लिये भी दुर्जय हा इसीलिये कनकाक्ष मुर्खजन तुम्हें इस कार्यके लिये भेजा है ॥ २५ ॥

रामलक्ष्मणबाणाश्च विहिता कद्रूपत्रिणः ॥ २६ ॥

प्रयाणामपि लोकानां पर्याप्तास्त्राणनिग्रहे ।

'श्रीराम और लक्ष्मणके कद्रूपत्रये युक्त जो बाण हैं, वे साक्षान् विधाताके सन्ताने हुए हैं । वे तैना संकाका नक्षत्र और दमन करनेके लिये पर्याप्त शक्ति रखते हैं ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे एकोनषष्ठितमः सर्गः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यभट्टायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें उनसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २६ ॥

षष्ठितमः सर्गः

सम्पातिकी आत्मकथा

ततः कुतोदकं स्वातं तं गृध्रं हरियूथपाः ।

उपविष्टा गिरौ रम्ये पग्विवायं समन्ततः ॥ १ ॥

गृध्रराज सम्पाति अपने भाईको जलशुक्ति देखकर जब खान कर चुके, तब उस रमणीय पर्वतपर वे समस्त वानर-गृध्रपति उन्हें चारों ओरसे घेरकर बैठ गये ॥ १ ॥

तमङ्गदमुपासीनं तैः सर्वैर्हरिर्धिवृन्तम् ।

जनितप्रत्ययो हर्षात् सम्पातिः पुनरब्रवीन् ॥ २ ॥

उन समस्त वानरोंसे घिरे हुए अङ्गद उनके पास बैठे थे । सम्पातिने सबके हृदयमें अपनी ओरसे विश्वास पैदा कर दिया था । वे हर्षोत्फुरन्त होकर फिर इस प्रकार कहन लग- ॥

कृत्वा निःशब्दमेकाग्राः शृण्वन्तु हरयो मम ।

तथ्यं संकीर्तयिष्यामि यथा जानामि पृथिलीम् ॥ ३ ॥

'सब वानर एकाग्रचित्त एवं मौन होकर मेरी बात सुनो । मैं मिथिलशकुमारोंको जिस प्रकार जानता हूँ, वैसे वानर प्रसङ्ग ठीक-ठीक बता रहा हूँ ॥ ३ ॥

अस्य विन्ध्यस्य शिखरे पतितोऽस्मि पुनरपि ।

सूर्यतापपरोताङ्गो निदग्धः सूर्यरश्मिभिः ॥ ४ ॥

'निष्पाप अङ्गद ! प्राचीन कालमें मैं सूर्यको किष्किन्धा दुलसकर इस विन्ध्यपर्वतके शिखरपर गिरा था । उस समय मेरे सारे अङ्ग सूर्यके प्रचण्ड तापसे सन्तप्त हो रहे थे ॥ ४ ॥

लब्धसंज्ञस्तु बड़ाशब्द विवशो विह्वलचित्तः ।

वीक्षमाणो दिशः सर्वा नाभिजानामि किञ्चन ॥ ५ ॥

'छः राते बीतनेपर जब मुझे हाँस हुआ और मैं विवश एवं विह्वल-सा होकर सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर देखने लगा, तब महत्मा किमी भी वस्तुको मैं पहचान न सका ॥ ५ ॥

कामं खलु दशग्रीवस्तेजोबलसमन्वितः ।

भवतां तु समर्थानां न किञ्चिदपि दुष्करम् ॥ २७ ॥

मुन्दाय त्रिपक्षो दशग्रीव रावण भले ही तेजस्वी और बलवान् है किन्तु तुम जैसे सामर्थ्यशाली वीरोंके लिये उसे परास्त करना आदि कोई भी कार्य दुष्कर नहीं है ॥ २७ ॥

तदलं कालसङ्गेन क्रियतां बुद्धिनिश्चयः ।

नहि कर्मसु सज्जनं बुद्धिमन्तो भवद्विधाः ॥ २८ ॥

'अतः अब आंधक समय क्षितिकी आवश्यकता नहीं है । अपना बुद्धि ही ठीक ठीक निश्चय करने सोचने दर्शनके लिये उद्योग करो क्योंकि तुम जैसे बुद्धिमान लोग कार्यकी निहितमें विन्ध्य नहीं करते हैं ॥ २८ ॥

ततस्तु सागराज्शीलान् नदीः सर्वाः सरांसि च ।

वनानि च प्रदेशाश्च निरीक्ष्य भतिरागता ॥ ६ ॥

'तदनन्तर धीरे-धीरे समुद्र, पर्वत, समस्त नदी, सरोवर, वन और यहाँके विभिन्न प्रदेशोंपर दृष्टि डाली, तब मेरी स्मरण-शक्ति लौटी ॥ ६ ॥

हृष्टपक्षिगणाकीर्णः कन्दरोदरकुटवान् ।

दक्षिणस्थोदधेस्त्रीरे विन्ध्योऽयमिति निश्चितः ॥ ७ ॥

फिर मैंने निश्चय किया कि यह दक्षिण समुद्रके तटपर स्थित विन्ध्यपर्वत है । जो वहाँसे निकल विष्णुमोक्ष समुद्रायमें व्याप्त है । यहाँ बहुत-सी कन्दरगण, गुफाएँ और शिखर हैं ॥ ७ ॥

आसीत्ताम्राश्रयं पुण्यं सुरैरपि सुपूजितम् ।

श्रुतिर्निशाकरो नाथ यस्मिन्भुवनपाऽभवत् ॥ ८ ॥

पूज्यकालमें यहाँ एक पवित्र आश्रम था, जिसका देवता भी बड़ा सम्मान करते थे । उस आश्रममें निशाकर (चन्द्रमा) नामधारी एक ऋषि रहते थे, जो बड़े ही उग्र तपस्वी थे ॥ ८ ॥

अष्टौ वर्षसहस्राणि तेनास्मिन्नुषिणा गिरौ ।

वसतो मम धर्मज्ञे स्वर्गते तु निशाकरे ॥ ९ ॥

'वे धर्मज्ञ निशाकर मुनि अब स्वर्गवासी हो चुके हैं । उन महर्षिके चित्त इस पर्वतपर रहते हुए मेरे आठ हजार वर्ष बीत गये ॥ ९ ॥

अवतीर्य च विन्ध्याग्रान् कृच्छ्रेण विषमाच्छनैः ।

तीक्ष्णदर्शी वसुमतीं दुःखेन पुनरागतः ॥ १० ॥

होशमें आनेके बाद मैं इस पर्वतके नीचे-ऊँचे शिखरोंसे धीरे-धीरे बड़े-बड़े कष्टके साथ भूमिपर उतरा, उस समय ऐसे स्थानपर आ पहुँचा, जहाँ तीखे कुश उगें हुए थे । फिर वहाँसे भी कुछ सहन करता हुआ आगे बढ़ा ॥ १० ॥

तमृषिं द्रष्टुकामोऽस्मि दुःखेनाभ्यागतो भृशम् ।

जटायुषा मया चैव बहुशोऽधिगतो हि सः ॥ ११ ॥

‘मैं उन महर्षि का दर्शन करना चाहता था, इसीलिये अत्यन्त कष्ट उठाकर वहाँ गया था। इसके पहले मैं और जटायु दोनों कई बार उनसे मिल चुके थे ॥ ११ ॥

तस्याश्रमपदाभ्याशे ववुर्वाताः सुगन्धिनः ।

वृक्षो नापुष्पिनः कश्चिदफलो वा न दृश्यते ॥ १२ ॥

‘उनके आश्रमके समीप सदा सुगन्धित वायु चलता थी। वहाँका कोई भी वृक्ष फल अथवा फूलसे रहित नहीं देखा जाता था ॥ १२ ॥

उपेत्य आश्रमं पुण्यं वृक्षमूलमुपाश्रितः ।

द्रष्टुकामः प्रतीक्षे च भगवन्तं निशाकरम् ॥ १३ ॥

‘उस पवित्र आश्रमपर पहुँचकर मैं एक वृक्षक मूल पर बैठ गया और भगवान् निशाकरके दर्शनकी इच्छामें उनका आनकी प्रतीक्षा करने लगा ॥ १३ ॥

अथ पश्यामि दूरस्थमृषिं ज्वलिततेजसम् ।

कुनाधिपेकं दुर्धर्ममुपावृत्तमुदङ्मुखम् ॥ १४ ॥

‘थोड़ी ही दूरी पर धर्षी मुझे दूरमें अन्त दिग्वासी दिय। वे अपने तेजमें दिप रहे थे और स्नान करके इनकी ओर लौट आ रहे थे। उनका तिरस्कृत करना किसीके लिये भी कठिन था ॥

तपुक्षाः सुभरा व्याघ्राः सिंहा नानासरीसृपाः ।

परिवार्योपगच्छन्ति दानतरे प्राणिनो यथा ॥ १५ ॥

‘अनेकानेक रीछ, हरिन, भिड़, बाघ और नाना प्रकारके सर्प उन्हें इस प्रकार घेरे आ रहे थे, जैसे यात्रा करनेवाले प्राणी दानाको घेरकर चलते हैं ॥ १५ ॥

ततः प्राप्तमृषिं ज्ञात्वा तानि सत्त्वानि वै ययुः ।

प्रविष्टे रजनि यथा सर्वं सापान्यकं बलम् ॥ १६ ॥

‘ऋषिकी आश्रमपर आया जान वे सभी प्राणी लौट गये।

इत्यार्षे श्रीमद्राणायणं ब्राह्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे षष्ठितमः सर्गः ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीब्राह्मीकीर्निर्मित आर्षरागायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें साठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६० ॥

एकषष्ठितमः सर्गः

सम्पातिका निशाकर मुनिको अपने पंखके जलनेका कारण बताना

ततस्ताद् दारुणं कर्म दुष्करं सहसा कृतम् ।

आचक्षुस्ते मुनेः सर्वं सुथानुगमने तथा ॥ १ ॥

‘उनके इस प्रकार पृच्छनपर मैंने बिना सोचे-समझे सुर्यका अनुगमनरूप जो दुष्कर एवं दारुण कार्य किया था वह सब उन्हें बताया ॥ १ ॥

भगवन् ब्रणयुक्तत्वाल्लज्जया आकुलेन्द्रियः ।

परिश्रान्तो न शक्नोमि वचनं परिभाषितुम् ॥ २ ॥

‘मैंने कहा—‘भगवन् ! मेरे शरीरमें घाव हो गया है तथा मेरी इन्द्रियाँ लज्जासे व्याकुल हैं, इसलिये अधिक कष्ट

होकर ठसते तरह, जैसे राजा अपने महलमें चले जानेपर मन्त्रीमण्डित साथी सेना अपने-अपने विश्रामस्थानको लौट जाती है ॥ १६ ॥

ऋषिस्तु दृष्ट्वा मां तुष्टः प्रविष्टश्चाश्रमं पुनः ।

मुहूर्तमात्रात्रिगम्य ततः कार्यमपृच्छत ॥ १७ ॥

‘ऋषि मुझे देखकर बड़े प्रसन्न हुए और अपने आश्रममें प्रवेश करके पुनः दो ही घड़ीमें बाहर निकल आये। फिर पास आकर उन्होंने मेरे आनका प्रयोगान पूछा— ॥ १७ ॥

सौम्य वीकल्यतो दृष्ट्वा सौम्यां ते नावगम्यते ।

अप्रितग्धाविमौ पक्षौ प्राणाश्चापि शरीरके ॥ १८ ॥

‘वे बोले—‘सौम्य ! तुम्हारे दोपै गिर गये और दोनों पंख ढल गये हैं। इसका कारण नहीं जान पड़ता। इतनेपर भी तुम्हारे शरीरमें प्राण टिके हुए हैं ॥ १८ ॥

गृध्रौ हौ दृष्टपूर्वौ मे मातरिश्वसमौ जवे ।

गृध्राणां चैव राजानौ भ्रातरो कामरूपिणौ ॥ १९ ॥

‘मैंने पहले वायूक, समान वेगवाली दो गोधोंको देखा है। वे दोनों परस्पर भाई और इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले थे। साथ ही वे गोधोंके राजा भी थे ॥ १९ ॥

ज्येष्ठोऽवितर्क्य सम्याते जटायुर्नुजस्तव ।

पानुषं रूपमास्थाय गृहीतां चरणौ धम ॥ २० ॥

‘सम्याते ! मैं तुम्हें पहचान गया। तुम उन दो भाइयोंमेंसे बड़े हो। जटायु कुम्भार छाटा भाई था। तुम दोनों मनुष्यरूप धारण करके मेरा चरण-स्पर्श किया करते थे ॥ २० ॥

किं ते व्याधिसमुत्थानं पक्षयोः पतनं कथम् ।

दण्डो वायं धृत्, केन सर्वमास्थायि पृच्छतः ॥ २१ ॥

‘यह तुम्हें कीन-सा रोग लग गया है। तुम्हारे दोनों पंख कैसे गिर गये / किसेने दण्ड तो नहीं दिया है ? मैं जो कुछ पूछता हूँ, वह सब तुम स्पष्टरूपसे कहो ॥ २१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्राणायणं ब्राह्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे षष्ठितमः सर्गः ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीब्राह्मीकीर्निर्मित आर्षरागायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें साठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६० ॥

एकषष्ठितमः सर्गः

सम्पातिका निशाकर मुनिको अपने पंखके जलनेका कारण बताना

ततस्ताद् दारुणं कर्म दुष्करं सहसा कृतम् ।

आचक्षुस्ते मुनेः सर्वं सुथानुगमने तथा ॥ १ ॥

‘उनके इस प्रकार पृच्छनपर मैंने बिना सोचे-समझे सुर्यका अनुगमनरूप जो दुष्कर एवं दारुण कार्य किया था वह सब उन्हें बताया ॥ १ ॥

भगवन् ब्रणयुक्तत्वाल्लज्जया आकुलेन्द्रियः ।

परिश्रान्तो न शक्नोमि वचनं परिभाषितुम् ॥ २ ॥

‘मैंने कहा—‘भगवन् ! मेरे शरीरमें घाव हो गया है तथा मेरी इन्द्रियाँ लज्जासे व्याकुल हैं, इसलिये अधिक कष्ट

पानेके कारण मैं अच्छी तरह बात भी नहीं कर सकता ॥ २ ॥

अहं चैव जटायुश्च संघर्षाद् गर्वमोहितौ ।

आकाश पतितौ दूराजिज्ञासन्तौ पराक्रमम् ॥ ३ ॥

‘मैं और जटायु दोनों ही गर्वसे मोहित हो रहे थे; अतः अपने पराक्रमको धाह लगानेके लिये हम दोनों दूरतक पहुँचनेक उद्देश्यसे उड़ने लगे ॥ ३ ॥

कैलासशिखरे बद्ध्वा मुनीनामग्रतः पणम् ।

रविः स्यादनुयातव्यो यावदस्तं महागिरिम् ॥ ४ ॥

‘कैलास पर्वतके शिखरपर मुनियोंके सामने हम दोनोंने

यह शर्त बटो थी कि सूर्य जबतक अन्नाचलपर जाये उसके पहले ही हम दोनोंको उनके पास पहुँच जाना चाहिये ॥ ४ ॥

अप्यावां युगपत् प्राप्तावपश्याव महीतले ।

स्थवक्रप्रमाणानि नगराणि पृथक् पृथक् ॥ ५ ॥

'यह निश्चय करके हम साथ ही आकाशमें जा पहुँच । वहाँसि पृथ्वीके भिन्न-भिन्न नगरों हम ग्यहक पर्वतोंके बराबर दिखायी देते थे ॥ ५ ॥

कचिद् वादिप्रधोषश्च कचिद् भूषणनिःस्वनः ।

गायन्तीः स्पाङ्गना बह्वी पश्याको रक्तवाससः ॥ ६ ॥

'ऊपरके लोकोंमें कहीं वाद्योंका मधुर घोष हो रहा था कहीं आभूषणोंकी झनकारें सुनायी पड़नें थीं और कहीं गाय रंगकी भाँड़ी गहन बहुत भी मन्दरियाँ गीत गा रही थीं जिनके हम दोनोंने अपनी आँखों देखा था ॥ ६ ॥

तूर्णमुत्पत्य आकाशमादित्यपदमास्थितौ ।

आवामालोकयावस्तद् स्वनं शाद्वलसंस्थितम् ॥ ७ ॥

'तमसे भी ऊँचे उड़कर हम तुरन्त सूर्यके मार्गपर जा पहुँच । वहाँसि नीचे दृष्टि डालकर जब दोनोंने देखा तब यहाँके जंगल षष्ठे-हठे धामकी तरह दिखायी दान थे । ७ ।

उपलैरिव संछन्ना दृश्यते भूः शिलोर्ध्वः ।

आपगाभिश्च संवीता सूर्यरिव वसुंधरा ॥ ८ ॥

'पर्वताक कारण यह भूमि ऐसी जान पड़ती थी, मानो इसपर पत्थर बिछाये गये हैं और नीचेधाम डूबी हुई भूमि ऐसी लगती थी, मानो उसमें सुनके धागे लपेटे गये हैं ॥

हिमधोऽर्ध्व विन्ध्यश्च मेरुश्च सुमहागिरिः ।

भूतले सम्यक्काशने नागा इव जलाशये ॥ ९ ॥

तीव्रः स्वेदश्च स्वेदश्च भयं चासीत् तदासयोः ।

समाविशत मोहश्च तनो मूर्च्छा च दारुणा ॥ १० ॥

भूतलपर हिमालय, मेरु और विन्ध्य आदि बड़े-छड़े पर्वत नालाबमें खड़े हुए हाथियोंके समान घनोत्त होने लगे । धूप बड़ी थकावट भालूम हुई । फिर तो हमारे ऊपर भय, मोह और भयानक मूर्च्छाएँ अधिकार जमा लिया ॥

न च दिग् ज्ञायते धाम्या न आग्रेयी न वारुणी ।

युगान्ते नियतो लोको हतो दग्ध इवाग्रिना ॥ ११ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे एकषष्टितमः सर्गः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें इकसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

द्विषष्टितमः सर्गः

निशाकर मुनिका सम्पातिको सान्त्वना देते हुए उन्हें भावी श्रीरामचन्द्रजीके कार्यमें सहायता देनेके लिये जीवित रहनेका आदेश देना

एवमुक्त्वा मुनिश्रेष्ठमस्वदं भृशदुःखितः ।

अथ ध्यात्वा मुहूर्तं च भगवानिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

'उस समय न दक्षिण दिशाका ज्ञान होता था, न अग्रिकोण अथवा पश्चिम आदि दिशाका ही । यद्यपि यह जगत् नियमितरूपसे स्थित था, तथापि उस समय मानो युगान्तकालमें अग्निसे दग्ध हो गया हो, इस प्रकार नष्टभाव दिखायी देना था ॥ ११ ॥

यनश्च मे हतं भूयश्चक्षुः प्राप्य तु संश्रयम् ।

यत्नेन महता हस्मिन् यनः संधाय चक्षुषी ॥ १२ ॥

यत्नेन महता भूयो भास्करः प्रतिलोकितः ।

तुल्यपृथ्वीप्रमाणेन भास्करः प्रतिभाति नौ ॥ १३ ॥

मेरा यन नेत्ररूपी आश्रयको पाकर उसके साथ ही हतप्राय हो गया—सूर्यके तेजसे उसके दर्शन-शक्ति सुप्त हो गयी । तदनन्तर महान् प्रयास करके मैंने पुनः यन और नेत्रोंको भूयद्वयमें लगाया । इस प्रकार विज्ञाप प्रयत्न करनेपर फिर सूर्य-दम्बका दर्शन हुआ । वे हम पृथ्वीके बराबर हो जान पड़ने लगे ॥

जटायुर्मापनापुच्छश्च निपपात महीं ततः ।

तं दृष्ट्वा तूर्णमाकाशादात्पानं मुक्तधानहम् ॥ १४ ॥

'जटायु मुझसे फूले बिना ही पृथ्वीपर उतर पड़ा । उसे नीचे जान देख मैंने भी तुरन्त अपने-आपको आकाशसे नीचेकी ओर छोड़ दिया ॥ १४ ॥

पक्षाभ्यां च मया गुप्तो जटायुर्न प्रदह्यत ।

प्रमादान् तत्र निदग्धः पतन् वायुपथादहम् ॥ १५ ॥

आशङ्के तं निपतितं जनस्थाने जटायुषम् ।

अहं नु पतितो विन्ध्यं दग्धपक्षो जडीकृतः ॥ १६ ॥

मैंने अपने दोनों पंखोंसे जटायुको ठक लिया था इसलिए वह जल न मका । मैं ही अमाश्रयानोंके कारण वहाँ जल गया । वायुके पथसे नीचे गिरते समय मुझे ऐसा संदेह हुआ कि जटायु जनस्थानमें गिरा है; परंतु मैं इस शिन्धुपर्वतपर गिरा था । मैंने दोनों पंख जल गये थे इसलिए यहाँ जड़वत् हो गया ॥ १५-१६ ॥

राज्याद्य हीनो भ्रात्रा च पक्षाभ्यां विक्रमेण च ।

सर्वथा मर्तुमेवेच्छन् पतिष्ये शिखराद् गिरेः ॥ १७ ॥

'राज्यसे छूट हुआ, भाईसे बिकड़ गया और पंख तथा पराक्रमसे भी हाथ धो बैठा । अब मैं सर्वथा मरनेकी ही इच्छासे इस पर्वतशिखरसे नीचे गिरूँगा ॥ १७ ॥

'कनरो ! उन मुनिश्रेष्ठसँ ऐसा कहकर मैं बहुत दुःखी हो जिलाप करने लगा । मेरी बात सुनकर छोड़ी देरतक ध्यान

करनेके बाद महर्षि भगवान् निशाकर बोले— ॥ १ ॥

पक्षौ च ते प्रपक्षौ च पुनरन्यौ भविष्यतः ।

चक्षुषी चैव प्राणाश्च विक्रमश्च क्षलं च ते ॥ २ ॥

‘सम्पाते ! चित्ता न करो । तुम्हारे छंटे और बड़े दोनों तरहके पंख फिर नये निकल आयेंगे । आँखें भी टोंक हो जायेंगी तथा गोंथों हुई प्राणशक्ति, वज्र और पगक्रम—सब लौट आयेंगे ॥ २ ॥

पुराणे सुमहत्कार्यं भविष्यं हि मया श्रुतम् ।

दृष्टं मे तपसा चैव श्रुत्वा च विदितं मम ॥ ३ ॥

‘मैंने पुराणमें आगे होनेवाले अनेक बड़े बड़े कार्योंकी बात सुनी है सुनकर तपस्याक द्वारा भी मैंने उन सब बातोंका प्रत्यक्ष किया और जाना है ॥ ३ ॥

राजा दशरथो नाम कश्चिद्विश्वाकुवर्धनः ।

तस्य पुत्रो महातेजा रामो नाम भविष्यति ॥ ४ ॥

इश्वराकुवर्धकी कीर्ति बढानेकाल कोई दशरथ नामसे प्रसिद्ध राजा होंगे । उनका एक महानजन्मा पुत्र राम जिनकी श्रीरामके नामसे प्रसिद्ध होगी ॥ ४ ॥

अरण्यं च सह भ्रात्रा लक्ष्मणेन भविष्यति ।

तस्मिन्नर्थे नियुक्तः सन् पित्रा सत्यपराक्रमः ॥ ५ ॥

‘सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्रजी अपना पत्नी सौम्य और भाई लक्ष्मणके साथ सममें जायेंगे; इनके लिये उन्हें पिताको ओरसे आज्ञा प्राप्त होगी ॥ ५ ॥

मैत्रेयस्यो रावणो नाम तस्य भार्या हरिष्यति ।

राक्षसेन्द्रो जनस्थाने अवध्यः सुरदानवैः ॥ ६ ॥

‘वनवास-कालमें जनस्थानमें रहने समय उनकी पत्नी सौम्याको राक्षसोंका राजा रावण नामक असुर हर ले जायगा । वह देवताओं और दानवोंके लिये भी अवध्य होगा ॥ ६ ॥

सा च कामैः प्रलोभ्यन्ती भर्तृभोज्यं च मेधिली ।

न भोक्ष्यति महाभारा दुःखमप्रा यशस्विनी ॥ ७ ॥

‘मिथिलेशकुमारी सोता बड़ी हो यशस्विनी और मीथामयवती होगी । यद्यपि राक्षसराजकी ओरसे उसको तरह-तुहके भोगों और भक्ष्य-भोज्य आदि पदार्थोंका प्रलोभन दिया जायगा, तथापि वह उन्हें स्वीकार नहीं करेगी और निरन्तर अपने पतिके लिये चिन्तित होकर दुःखमें डूबी रहेगी ॥ ७ ॥

परमात्रे च वैदेह्या ज्ञात्वा दास्यति यासवः ।

यदन्नममृतप्रस्थं सुराणामपि दुर्लभम् ॥ ८ ॥

‘सौता शकुन्तला अन्न नहीं ग्रहण करती—यह मालूम होनेपर देवराज इन्द्र उसके लिये अमृतके समान खीर, आँ

देवताओंको दुर्लभ है, निवेदन करेंगे ॥ ८ ॥

तदन्नं मेधिली प्राप्य विज्ञयेन्द्रादिदं त्विति ।

अन्नमुद्धृत्य रामाय धूतले निर्वपिष्यति ॥ ९ ॥

‘उस अन्नको इन्द्रका दिया हुआ जानकर जानकी उसे स्वीकार कर लेगी और सबसे पहले उसमेंसे अन्नभाग निकालकर श्रीरामचन्द्रजीके उदंठयसे पृथ्वीपर रखकर अर्पण करेंगी ॥ ९ ॥

यदि जीवति मे भर्ता लक्ष्मणो वापि देवराः ।

देवत्वं गच्छतोर्वापि तयोरन्नमिदं त्विति ॥ १० ॥

‘उस समय वह इस प्रकार कहेंगी—‘मेरे पति भगवान् श्रीराम तथा देवर लक्ष्मण यदि जीवित हों अथवा देवभावको प्राप्त हो गये हों, यह अन्न उनके लिये समर्पित है’ ॥ १० ॥

एष्यन्ति प्रेषितास्तत्र रामदूताः प्रवृद्धमाः ।

आख्यंया राममहिषी त्वया तेभ्यो विहङ्गमः ॥ ११ ॥

‘सम्पाते ! रघुनाथजीके भेजे हुए उनके दूत वानर यहाँ माताका पता लगाने हुए आयेंगे । उन्हें तुम श्रीरामकी महारानी सोताका पता बनाना ॥ ११ ॥

सर्वथा तु न गन्तव्यमीदृशः क्व गमिष्यसि ।

देशकालौ प्रतीक्षस्व पक्षौ त्वं प्रतिपत्स्यसे ॥ १२ ॥

‘यहसि किसी तरह कभी दूसरी जगह न जाना । ऐसी दशामें तुम जाआगे भी कार्य दश और कालकी प्रतीक्षा करो । तुम्हें फिर नये पंख प्राप्त हो जायेंगे ॥ १२ ॥

उत्सहेयमहं कर्तुमर्हस्य स्वी सपक्षकम् ।

इहस्थस्त्वं हि लोकानां हिनं कार्यं करिष्यसि ॥ १३ ॥

‘यद्यपि मैं आज ही तुम्हें पंखयुक्त कर सकता हूँ, फिर भी इच्छित्वे मेधा नहीं करता कि यहाँ रहनपर तुम मेम्मारके लिये हिनकर कार्य कर सकोगे ॥ १३ ॥

त्वयापि खलु तत् कार्यं तयोश्च नृपपुत्रयोः ।

ब्राह्मणानां पुरुषाणां च मुनीनां यासवस्य च ॥ १४ ॥

‘तुम भी उन दोनों राजकुमारोंके कार्यमें सहायता करना । वह कार्य केवल उन्होंने नहीं, समस्त ब्राह्मणों, गुरुजनों, मुनियों और देवराज इन्द्रका भी है ॥ १४ ॥

इच्छाम्यहमपि द्रष्टुं भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।

नेच्छे चिरं धारयितुं प्राणांस्यक्षये कलेवरम् ।

महर्षिस्त्वन्नर्वादेवं दृष्टतत्त्वार्थदर्शनः ॥ १५ ॥

‘यद्यपि मैं भी उन दोनों भाइयोंका दर्शन करना चाहता हूँ, परंतु अधिक कालतक इन प्राणोंको धारण करनेकी इच्छा नहीं है । अतः वह समय आनेसे पहले ही मैं प्राणोंको त्याग दूँगा’ ऐसा उन तत्त्वदर्शी महर्षिने मुझे कहा था ॥ १५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे द्विषष्टितमः सर्गः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मिते आर्यरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें बामठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६२ ॥

त्रिषष्टितमः सर्गः

सम्पातिका पंखयुक्त होकर वानरोंको उत्साहित करके उड़ जाना और वानरोंका वहाँसे दक्षिण दिशाकी ओर प्रस्थान करना

एतस्मैश्च बहुधियाव्यवर्थाव्यतिशारदः ।
 मां प्रशम्याध्वनुज्ञाप्य प्रविष्टः स स्वमालयम् ॥ १ ॥
 बातचीतकी कलामें खनुर भरारि निशाकरने के तथा और भी बहुत सी बातें कहकर मुझे सम्झाया और श्रीगमकवर्यमें माहात्म्य वसनेक कारण में सौभाग्यकी मलहना की। तत्पश्चात् मेरी अभ्युत्थिति लेकर वे अपने आश्रमक भीतर चले गये ॥ १ ॥
 कन्दरात् तु विमर्षित्वा पर्वतस्य शानैः कर्मैः ।
 अहं विन्यस्य समारुह्य भवतः प्रतिपालये ॥ २ ॥
 'तदनन्तर कन्दरासे धीरे-धीरे निकलकर मैं विन्ध्य पर्वतके शिखरपर चढ़ आया और तबसे तुम लोगोंके आनन्दको बाट देगा रहा हूँ ॥ २ ॥
 अद्य स्वेतस्य कालस्य धर्ष साप्रशान्तं गतम् ।
 देशकालप्रतीक्षोऽस्मि हृदि कृत्वा मुनेर्वचः ॥ ३ ॥
 'मुनिसे कनचीतके बाद आजतक जो समय बीता है इसमें आठ' हजारमें अधिक वर्ष निकल गये। मुनिके कथनको हृदयमें धारण करके मैं देश-कालका प्रतीक्षा कर रहा हूँ ॥
 महाप्रस्थानमासाद्य स्वगतिं तु निशाकरे ।
 मां निर्देहति संतापो वितर्कबहुभिर्वृतम् ॥ ४ ॥
 'निशाकर मुनि महाप्रस्थान करके जब स्वर्गलोकका चले गये, तबसे मैं अनेक प्रकारके तर्क-वितर्कमें स्थिर गया। संतापकी आग मुझे सत-दिन बलती रहती है ॥ ४ ॥
 उदितो मरणे बुद्धिं मुनिवाक्यैर्निवर्तये ।
 बुद्धिर्षा तेन मे दत्ता प्राणानां रक्षणे मम ॥ ५ ॥
 सा मेऽपनयते दुःखं क्षीप्तेवाग्निशिक्षा तपः ।
 मे धनमे कर्षी वा प्राण स्वाग्नेर्वा इच्छा हुई, किन्तु मुनिके वचनोंको श्रवण करके मैं उस मन्त्रालोक की इच्छा आया हूँ। उन्होंने मुझे प्राणिक रक्षणके लिये जो बुद्धि (सम्पत्ति) दी थी, वह मेरे दुःखको उसी प्रकार दूर कर देती है, जैसे जलती हुई अग्निशिक्षा अन्धकारको ॥ ५ ॥
 बुध्यता च धर्षा वीर्यं रावणस्य दुरात्मनः ॥ ६ ॥
 पुत्रः संतर्जितो वाग्भिर्भ्राता मेधिली कथम् ।
 'दुष्टमा रावणार्थं कियत बल है, इसे मैं जानता हूँ। इमालिये मैंने कठोर वचनोंद्वारा अपने पुत्रको डाँटा था कि तू मेरे मित्रलक्ष्मणकी रक्षा क्या नहीं करे ॥ ६ ॥
 तस्या विलपित श्रुत्वा तौ च सीताविद्योजितौ ॥ ७ ॥
 न मे दशरथसंज्ञात् पुत्रेणोत्पादितं प्रियम् ।

मोनाका विलाप सुनकर और उनमें बिफूड़े हुए श्रीराम तथा लक्ष्मणका परिचय पाकर रावणराजा दशरथके प्रति मेरे श्रेष्ठका स्मरण करके भी पर पुत्र ज' सीताको रक्षा नहीं करे, अपने इस वर्तमान में उसने मुझे प्रसन्न नहीं किया—मेरा प्रिय कार्य नहीं होने दिया' ।
 तस्य त्वेवं भुवाणस्य संहर्तृर्वाचरः सह ॥ ८ ॥
 उभेननुस्तेदा पक्षौ समक्षं खनचारिणाम् ।
 वहाँ एकज होकर बैठ हुए वानरोंके साथ सम्पाति इस प्रकार बातें कर ही रहे थे कि उन वनचारी वानरोंके समक्ष उभरी समक्ष उनके दो नये पंख निकल आये ॥ ८ ॥
 स दृष्ट्वा स्वीं तनुं पक्षैरुत्तैररुणच्छदेः ॥ ९ ॥
 प्रहर्षमनुलं लेभे वानराश्चेदमन्वधीत् ।
 अपने शरीरको नये निकले हुए लाल रंगके पंखोंसे संयुक्त हुआ देख सम्पातिको अत्यन्त हर्ष प्राप्त हुआ। वे वानरोंसे इस प्रकार बोले— ॥ ९ ॥
 निशाकरस्य राजर्षेः प्रसादाद्रपितौजसः ॥ १० ॥
 आदित्यरश्मिनिर्दग्धौ पक्षौ पुनस्तपश्चितौ ।
 कविचरो । अमितनेत्रस्वी राजर्षि निशाकरके प्रसादसे सूर्यकिरणोंद्वारा दग्ध हुए मेरे दोनों पंख फिर उत्पन्न हो गये ॥
 यौधने वर्तमानस्य पयासीद् वः पगवत्सः ॥ ११ ॥
 तमेवाद्यावगच्छामि बलं पौरुषमेव च ।
 'युवास्थामें मेरा जैसा पराक्रम और बल था, वैसे ही बल और पुरुषार्थका इस समय मैं अनुभव कर रहा हूँ ॥ ११ ॥
 तथैवा कियता बलः सीताभधिगमिष्यथ ॥ १२ ॥
 पक्षलाभो ममायं वः सिद्धिप्रत्ययकारकः ।
 'वानरों ! तुम सब प्रकारसे बल करो। निश्चय ही तुम्हें सीताका दर्शन प्राप्त होगा। मुझे पंखोंका प्राप्त होना तुमलोगोंकी कार्य-सिद्धिका विश्वाम दिलानेवाला है ॥
 इत्युक्त्वा तान् हरीन् सार्धान् सम्पातिः पतगानम् ॥ १३ ॥
 उन्पतत गिरेः शृङ्गजिज्ञासुः स्वगमो गतिम् ।
 उन समस्त वानरोंसे ऐसा कहकर पक्षियोंमें श्रेष्ठ सम्पाति अपने आकाश-गमनकी शक्तिको परिचय देनेके लिये उस पर्वतशिखरसे उड़ गये ॥ १३ ॥
 तस्य तद् वचनं श्रुत्वा प्रतिसंहृष्टमानसाः ।
 वधुबुहिरिशार्दूला विक्रमाभ्युद्यन्मुखाः ॥ १४ ॥
 उनको वह बात सुनकर उन श्रेष्ठ वानरोंका हृदय असन्तोषसे तिल उठा। वे पराक्रममाध्य अभ्युद्यन्के लिये उत्थित हो गये ॥

अथ पवनसमानविक्रमाः

प्लवगवराः प्रतिलब्धपौरुषाः ।

अभिजिदधिमुखा दिशं यमु-

र्जनकसुतापरिमार्गणोन्मुखाः ॥ १५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे त्रिषष्टितमः सर्गः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यगमायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें त्रिषष्टितम सर्ग पूरा हुआ ॥ ६३ ॥

चतुःषष्टितमः सर्गः

समुद्रकी विशालता देखकर विषादमें पड़े हुए वानरोंको आश्वासन दे अङ्गदका उनसे पृथक्-पृथक् समुद्र-लङ्घनके लिये उनकी शक्ति पूछना

आख्याता गुधराजेन समुत्प्लुत्य प्लवङ्गमाः ।

संगताः प्रीतिसंयुक्ता विवेदुः सिंहविक्रमाः ॥ १ ॥

गुधराज सम्पातिके इस प्रकार कहनपर सिंहके समान पराक्रमी सभी वानर बड़े प्रसन्न हुए और परस्पर मिलकर उछल-उछलकर गर्जने लगे ॥ १ ॥

सम्पातेर्वचनं श्रुत्वा हरयो रावणक्षयम् ।

हृष्टाः सागरमाजगमुः सोतादर्शनकाङ्क्षिणः ॥ २ ॥

सम्पातिकी वार्तासे रावणके निवासस्थान तथा उसके भावी विनाशके सूचना मिली थी। उन्हें सुनकर हर्षसे भरे हुए वे सभी वानर सोतार्जके दर्शनकी इच्छा मनमें लिये समुद्रके तटपर आये ॥ २ ॥

अभिगम्य तु तं देशं ददृशुर्भीमविक्रमाः ।

कृत्स्नं लोकस्य महतः प्रतिविम्बप्रवस्थितम् ॥ ३ ॥

उन भयकर पराक्रमी वानरोंने उस देशमें पहुँचकर समुद्रको देखा जो इस विराट् विश्वके सम्पूर्ण प्रतिविम्बको भाँति स्थित था ॥ ३ ॥

दक्षिणस्य समुद्रस्य समासाद्योत्तरा दिशम् ।

संनिवेशं ततश्चक्रुर्हरिबीरा महाबलाः ॥ ४ ॥

दक्षिण समुद्रके उत्तर तटपर जाकर उन महाबली वानर बीरोंने हेरा झाला ॥ ४ ॥

प्रसुप्तमिव चान्यत्र क्रीडन्तमिव चान्यतः ।

कचित् पर्वतमात्रेण जलराशिभिरावृतम् ॥ ५ ॥

वह समुद्र कहीं तो तटहीन एवं शान्त होनेके कारण सोया हुआ-सा जान पड़ता था। अन्यत्र जहाँ थोड़ी-थोड़ी लहरें उठ रही थीं, वहाँ वह क्रीड़ा करना या प्रवीण होना था और दूसरे स्थानोंमें जहाँ उन्नाल-तट्टें उठती थीं, वहाँ पर्वतके बराबर जलराशियोंसे आवृत दिखायी देता था ॥ ५ ॥

संकुले दानवेन्द्रेण पातालतलवासिभिः ।

रोमहर्षकरं दृष्ट्वा विषेदुः कपिकुञ्जराः ॥ ६ ॥

वह साथ समुद्र पातालनिवासी दानवराजासे व्याप्त था। उस रोमाञ्जकारी महासागरको देखकर वे समस्त श्रेष्ठ वानर बड़े विषादमें पड़ गये ॥ ६ ॥

तदनन्तर वायुके समान पराक्रमी वे श्रेष्ठ वानर अपने भूले हुए पुरुषार्थके फिरोसे पा गये और जनकजन्दिनी सीताकी स्वाजक लिये उन्मुक्त हो अभिजित् नक्षत्रसे युक्त दक्षिण दिशाकी ओर चल दिये ॥ १५ ॥

आकाशमिव तुषारं सागरं प्रेक्ष्य वानराः ।

विषेदुः सहिताः सर्वे कथं कार्यमिति ब्रुवन् ॥ ७ ॥

आकाशके समान दुर्लभ समुद्रपर दृष्टिपात करके वे सब वानर 'अब कैसे करना चाहिये' ऐसा कहने हुए एक साथ बैठकर चिन्ता करने लगे ॥ ७ ॥

विषण्णां चाहिनीं दृष्ट्वा सागरस्य निरीक्षणात् ।

आश्वासयामास हरीन् भयातान् हरिसत्तमः ॥ ८ ॥

उस महासागरका दर्शन करके सभी वानर-सेनाको विषादमें डूबा हुई देख करपश्रेष्ठ अङ्गद उन भयातुर वानरोंको आश्वासन देने हुए बोले— ॥ ८ ॥

न विषादे मनः कार्यं विषादो दोषवत्तरः ।

विषादो हन्ति पुरुषं बालं कृद्ध इवोरगः ॥ ९ ॥

'बच्चो ! तुम्हें अपने मनको विषादमें नहीं डालना चाहिये— क्योंकि विषादमें बहुत बड़ा दोष है। जैसे क्रोधमें भग्न हुआ सर्प अपने पास आये हुए बालकको काट खाता है, उसी प्रकार विषाद पुरुषको नाश कर डालता है ॥ ९ ॥

यो विषादं प्रसहते विक्रमे समुपस्थिते ।

नेजसा तस्य हीनस्य पुरुषार्थो न सिद्ध्यति ॥ १० ॥

जो पराक्रमका अवसर आनेपर विषादग्रस्त हो जाता है, उसके नेजका नाश होता है। उस नेजाहीन पुरुषका पुरुषार्थ नहीं सिद्ध होता है ॥ १० ॥

तस्यो राज्यो व्यतीतायामङ्गदो वानरैः सह ।

हरिवृद्धैः समागम्य पुनर्मन्त्रममन्त्रयत् ॥ ११ ॥

उस राजाके व्यतीत होनेपर वानरोंके साथ मिलकर अङ्गदने पुनः विचार आरम्भ किया ॥ ११ ॥

या वानराणां ध्वजिनी परिवार्थाद्भूदं बभौ ।

वासवं परिवार्यैव मम्लां चाहिनी स्थिता ॥ १२ ॥

उस समय अङ्गदको घेरकर बैठे हुई वानरोंकी वह सेना इन्द्रको घेरकर स्थित हुई देवताओंकी विशाल बाहिनीके समान शाश्वत होती थी ॥ १२ ॥

कोऽन्यस्तां वानरीं सेनां शक्तः सम्भवितुं भवेत् ।

अन्यत्र दालितनयादन्यत्र च हनूमतः ॥ १३ ॥

वाल्लिमुत्र अद्भुत तथा ध्वनकुमार हनुमान्जीको छोड़कर
दूसरे कौन वीर उस खानरसेनाको सुस्थिर रस सक्ता था ॥

ततस्तान् हरिवृत्तांश्च तच्च सैन्यमरिदम् ॥

अनुमान्याद्भुतः श्रीमान् वाक्यमर्थवदब्रवीत् ॥ १४ ॥

शत्रुजोरोंका दमन करनेवाले श्रीमान् अद्भुतने उन बड़े-बड़े
खानरोंको सम्मान करके उनसे यह अर्थयुक्त बात कही— ॥

क इदानीं महातेजा लङ्घयिष्यति सागरम् ।

कः करिष्यति सुग्रीवं सत्यसंधमरिदमम् ॥ १५ ॥

सज्जनों ! तुमलोगों में कौन ऐसा महानेज्ज्वाली वीर है जो
इस समय समुद्रका लंघन करने और शत्रुदमन सुदृढ़
सत्यप्रतिज्ञ बनायेगा ॥ १५ ॥

को वीरो योजनशक्तं लङ्घयंत प्रवङ्गमः ।

इमांश्च यूथपान् सर्वान् मोक्षयेत् का महाप्रधान् ॥ १६ ॥

कौन वीर खानर भी योजन समुद्रको लंघन सकेगा ?
और कौन इन समस्त यूथपतियोंको महान् भयसे मुक्त
कर देगा ? ॥ १६ ॥

कस्य प्रसादाद् दारांश्च पुत्रांश्चैव गृहाणि च ।

इतो निवृत्ताः पश्यन्म सिद्धार्था सुखिनो वयम् ॥ १७ ॥

‘किसके प्रसादसे हमलोग सफलमनोरथ एवं मुक्तों
होकर यहाँसे लौटेंगे और घर द्वार तथा स्त्री-पुत्रोंका
मुँह देख सकेंगे’ ॥ १७ ॥

कस्य प्रसादाद् रामं च लक्ष्मणं च महाबलम् ।

अभिगच्छेम सहृष्टाः सुग्रीवं च धनौकसम् ॥ १८ ॥

इत्यादि श्रीमद्रामायणं वाल्मीकीय आदिकाव्यं किष्किन्धाकाण्डे सप्त षष्ठितमः सर्गः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्माण आरामायण आदिकाव्यक किष्किन्धाकाण्डम चमत्कर्तृत्वं पूर्ण हुआ ॥ ६४ ॥

पञ्चषष्ठितमः सर्गः

बारी-बारीसे खानर-वीरोंके द्वारा अपनी-अपनी गमनशक्तिका वर्णन, जाय्यवान् और अद्भुतकी
घातचीत तथा जाम्बवान्का हनुमान्जीको प्रेरित करनेके लिये उनके पास जाना

अथाद्भुतवचः श्रुत्वा ते सर्वे खानरवंधाः ।

स्वं स्वं गतो मयुत्साहमूचुस्तत्र धथाक्रमम् ॥ १ ॥

अद्भुतकी यह बात सुनकर वे सभी श्रेष्ठ खानर लम्बी
छलाँग मारनेके सम्बन्धमें अपने-अपने दम्भाहका—
शक्तिका क्रमशः परिचय देने लगे ॥ १ ॥

गजो गवाक्षो गन्धः शरभो गन्धमादनः ।

मेन्दश्च द्विषिदश्चैव सुषेणो जाम्बवास्तथा ॥ २ ॥

गज, गवाक्ष, गन्ध, शरभ, गन्धमादन, मेन्द, द्विषिद,
सुषेण और जाम्बवान्—इन सबने अपनी-अपनी शक्तिका
वर्णन किया ॥ २ ॥

आबुभाषे गजस्तत्र पूर्वयं दशयोजनम् ।

गवाक्षो योजनान्याह गमिष्यामीति विशतिम् ॥ ३ ॥

इनमेंसे गजने कहा—‘मैं दस योजनकी छलाँग मार सकता

हूँ’ ॥ गवाक्षने कहा—‘मैं बीस योजनकी छलाँग मार सकूँगा’ ॥ ३ ॥

शरभो खानरस्तत्र खानरोस्तानुवाच ॥

त्रिशते नु गमिष्यामि योजनानो प्रवङ्गमा ॥ ४ ॥

इसके बाद वहाँ शरभ नामक खानरने उन कपिलरोंमें
कहा—‘खानरों ! मैं तीस योजनकी एक छलाँगमें
चना जाऊँगा’ ॥ ४ ॥

अत्रापि खानरस्तत्र खानरानुवाच ॥

सत्वारिशद् गमिष्यामि योजनानो न संशयः ॥ ५ ॥

तदनन्तर कपिलर ऋषभने उन खानरोंसे कहा—‘मैं
चात्तीस योजनकी छलाँग मार सकूँगा, इसमें संशय नहीं है’ ॥
खानरान्ते महानेजा अब्रवीद् गन्धमादनः ।

योजनानां गमिष्यामि यच्छाशनु न संशयः ॥ ६ ॥

नन्दिनी ने कहा—‘मैं दस योजनकी छलाँग मार सकूँगी’ ॥ ६ ॥

अत्रापि खानरस्तत्र खानरानुवाच ॥

सत्वारिशद् गमिष्यामि योजनानो न संशयः ॥ ७ ॥

तदनन्तर कपिलर ऋषभने उन खानरोंसे कहा—‘मैं
चात्तीस योजनकी छलाँग मार सकूँगा, इसमें संशय नहीं है’ ॥
खानरान्ते महानेजा अब्रवीद् गन्धमादनः ।

योजनानां गमिष्यामि यच्छाशनु न संशयः ॥ ८ ॥

नन्दिनी ने कहा—‘मैं दस योजनकी छलाँग मार सकूँगी’ ॥ ८ ॥

अत्रापि खानरस्तत्र खानरानुवाच ॥

सत्वारिशद् गमिष्यामि योजनानो न संशयः ॥ ९ ॥

तदनन्तर कपिलर ऋषभने उन खानरोंसे कहा—‘मैं
चात्तीस योजनकी छलाँग मार सकूँगा, इसमें संशय नहीं है’ ॥
खानरान्ते महानेजा अब्रवीद् गन्धमादनः ।

योजनानां गमिष्यामि यच्छाशनु न संशयः ॥ १० ॥

नन्दिनी ने कहा—‘मैं दस योजनकी छलाँग मार सकूँगी’ ॥ १० ॥

अत्रापि खानरस्तत्र खानरानुवाच ॥

सत्वारिशद् गमिष्यामि योजनानो न संशयः ॥ ११ ॥

तदनन्तर कपिलर ऋषभने उन खानरोंसे कहा—‘मैं
चात्तीस योजनकी छलाँग मार सकूँगा, इसमें संशय नहीं है’ ॥
खानरान्ते महानेजा अब्रवीद् गन्धमादनः ।

योजनानां गमिष्यामि यच्छाशनु न संशयः ॥ १२ ॥

नन्दिनी ने कहा—‘मैं दस योजनकी छलाँग मार सकूँगी’ ॥ १२ ॥

अत्रापि खानरस्तत्र खानरानुवाच ॥

सत्वारिशद् गमिष्यामि योजनानो न संशयः ॥ १३ ॥

तदनन्तर कपिलर ऋषभने उन खानरोंसे कहा—‘मैं
चात्तीस योजनकी छलाँग मार सकूँगा, इसमें संशय नहीं है’ ॥
खानरान्ते महानेजा अब्रवीद् गन्धमादनः ।

योजनानां गमिष्यामि यच्छाशनु न संशयः ॥ १४ ॥

नन्दिनी ने कहा—‘मैं दस योजनकी छलाँग मार सकूँगी’ ॥ १४ ॥

अत्रापि खानरस्तत्र खानरानुवाच ॥

सत्वारिशद् गमिष्यामि योजनानो न संशयः ॥ १५ ॥

तदनन्तर कपिलर ऋषभने उन खानरोंसे कहा—‘मैं
चात्तीस योजनकी छलाँग मार सकूँगा, इसमें संशय नहीं है’ ॥
खानरान्ते महानेजा अब्रवीद् गन्धमादनः ।

योजनानां गमिष्यामि यच्छाशनु न संशयः ॥ १६ ॥

नन्दिनी ने कहा—‘मैं दस योजनकी छलाँग मार सकूँगी’ ॥ १६ ॥

अत्रापि खानरस्तत्र खानरानुवाच ॥

सत्वारिशद् गमिष्यामि योजनानो न संशयः ॥ १७ ॥

तदनन्तर कपिलर ऋषभने उन खानरोंसे कहा—‘मैं
चात्तीस योजनकी छलाँग मार सकूँगा, इसमें संशय नहीं है’ ॥
खानरान्ते महानेजा अब्रवीद् गन्धमादनः ।

योजनानां गमिष्यामि यच्छाशनु न संशयः ॥ १८ ॥

नन्दिनी ने कहा—‘मैं दस योजनकी छलाँग मार सकूँगी’ ॥ १८ ॥

इसमें संदेह नहीं कि मैं पचास योजनतक एक छलांगमें चला जाऊँगा ॥ ६ ॥

मैन्दस्तु चानरस्तत्र चानरास्तानुवाच ह ।
योजनानां परं बहिर्गमं प्रवितुमुत्सहे ॥ ७ ॥

इसके बाद चर्ह चानर-चौर मैन्द उन चानरोंमें बोले—
मैं साठ योजनतक एक छलांगमें कूट जानका उन्मार
रखता हूँ ॥ ७ ॥

ततस्तत्र महातेजा द्विविदः प्रत्यभाषत ।
गमिष्यामि न संदेहः सप्तति योजनान्यहम् ॥ ८ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी द्विविद बोले—‘मैं मत्तर योजनतक
चला जाऊँगा, इसमें संदेह नहीं है’ ॥ ८ ॥

सुषेणस्तु महातेजाः सत्त्ववान् कपिसत्तमः ।
अशीतिं प्रतिजानेऽहं योजनानां पराक्रमे ॥ ९ ॥

इसके बाद धैर्यशाली कपिश्रेष्ठ महातेजस्वी सुषेण बोले—
‘मैं एक छलांगमें असी योजनतक जानकी प्रतिज्ञा करता हूँ ।

तेषां कथयतां तत्र सर्वास्ताननुमान्य च ।
ततो बृद्धतमस्तेषां जाम्बवान् प्रत्यभाषत ॥ १० ॥

इस प्रकार कहनेवाले सब चानरोंका सम्मान करके
ऋक्षराज जाम्बवान्, जो सबसे बड़े थे, बोले— ॥ १० ॥

पूर्वमस्माकमप्यासीत् कश्चिद् गतिपराक्रमः ।
ते खयं खयसः पारमनुग्रहाः स्म साम्प्रतम् ॥ ११ ॥

किं तु नैवं गते शक्यमिदं कार्यमुपेक्षिमुष् ।
यदर्थं कपिराजश्च रामश्च कृतनिश्चयी ॥ १२ ॥

साम्प्रतं कालमस्माकं या गतिस्तां निबोधत ।
नवति योजनानां तु गमिष्यामि न संशयः ॥ १३ ॥

‘पहले युवावस्थामें मेरे अंदर भी दूरतक छलांग मारनेकी
कुछ शक्ति थी । यद्यपि अब मैं उस अवस्थान्ने पार कर
चुका हूँ तो भी जिस कार्यके लिये चानराज सुषेण तथा

भगवान् श्रीराम दृढ़ निश्चय कर चुके हैं उसकी मेरे द्वारा
उपेक्षा नहीं की जा सकती । इस समय मेरी जो गति है, उसे
आपलोग मुर्ने । मैं एक छलांगमें नब्बे योजनतक चला
जाऊँगा, इसमें संशय नहीं है’ ॥ ११—१३ ॥

तांश्च सर्वान् हरिश्रेष्ठाञ्जाम्बवानिदमब्रवीत् ।
न स्वत्वेनावदेवासीद् गमने मे पराक्रमः ॥ १४ ॥

मया वैरोधने यज्ञे प्रभविष्णुः सनातनः ।
प्रदक्षिणीकृतः पूर्वं क्रमभाणस्त्रिविक्रमम् ॥ १५ ॥

ऐसा कहकर जाम्बवान् उन समस्त श्रेष्ठ चानरोंसे पुनः इस
प्रकार बोले—‘पूर्वकालमें मेरे अंदर इतनी ही दूरतक
चलनेकी शक्ति नहीं थी । पहले राजा बालिके यज्ञमें

मर्त्यव्यापी एवं सबके कारणभूत ममानन भगवान् त्रिषु उग्र
तीन पग भूमि नापनके लिये अपने पैर बढ़ा रहे थे, उस
समय मैंने उनके उस विराट् स्वरूपकी छोड़े ही समयमें
पाँचक्रमा कर ली थी ॥ १४-१५ ॥

स इदानीमहं वृद्धः पृथगे मन्दविक्रमः ।
यौवने च तदासीमे बलमप्रतिमे परम् ॥ १६ ॥

‘इस समय तो मैं वृद्ध हो गया, अतः छलांग मारनकी
मेरी शक्ति बहुत कम हो गयी है किन्तु युवावस्थामें मेरे भीतर
वह महान् बल था जिसकी कहीं तुलना नहीं है ॥ १६ ॥

सम्पत्तेनावदेवाद्य शक्यं मे गमने स्वतः ।
नैतावता च संसिद्धिः कार्यस्यास्य भविष्यति ॥ १७ ॥

‘आजकल तो मुझमें स्वतः चलनेकी इतनी ही शक्ति है,
परन्तु इतनी ही गतिमें सम्पत्तिलानरूप इस वर्तमान कार्यकी
सिद्धि नहीं हो सकती’ ॥ १७ ॥

अथोत्तरमुदारार्थपन्नवीदद्भट्टस्तदा ।
अनुमान्य तदा प्राज्ञो जाम्बवन्तं महाकपिः ॥ १८ ॥

तदनन्तर बुद्धिमान् महाकपि अङ्गदने उस समय जाम्बवान्-
की विशेष आदर करके यह उदारतापूर्ण बात कही— ॥ १८ ॥

अहमेतद् गमिष्यामि योजनानां दानं महत् ।
निवर्तने तु मे शक्तिः स्यान्न येन न निश्चितम् ॥ १९ ॥

‘मैं इस महामागरके सौ योजनकी विशाल दूरीको लौघ
जाऊँगा किन्तु उधरमें लौटनेमें मेरी ऐसी ही शक्ति रहेगी या
नहीं, यह निश्चितरूपसे नहीं कहा जा सकता’ ॥ १९ ॥

तमुवाच हरिश्रेष्ठ जाम्बवान् वाक्यकोषिदः ।
ज्ञायते गमने शक्तिस्तव हर्षक्षसत्तम ॥ २० ॥

तब बातचीतकी कलामें चतुर जाम्बवान्ने कपिश्रेष्ठ
अङ्गदसे कहा—‘रोछों और चानरोंमें श्रेष्ठ युवराज ! तुम्हारी
गमनशक्तिसे हमलोग भलीभाँति परिचित हैं ॥ २० ॥

कामं शतमहश्च या नहोच विधिरुच्यते ।
योजनानां भवाञ्शक्तो गन्तुं प्रतिनिवर्तिमुम् ॥ २१ ॥

‘मल ही, तुम एक लाख योजनतक चले जाओ, तथापि
तुम मरनेके स्वामी हो । अन तुम्हें भजना हमारे लिये उचित नहीं
है । तुम लाखों योजन जाने और वहाँसे लौटनेमें समर्थ हो ॥

नहि प्रेषयिता तात स्वामी प्रेष्यः कथञ्चन ।
धवतार्थं जनः सर्वः प्रेष्यः पूवगमत्तम ॥ २२ ॥

‘किन्तु तात ! चानरशिरोमणे ! जो सबको भेजनेवाला
स्वामी है वह किसी तरह प्रेष्य (आज्ञापालक) नहीं हो सकता
ये सब लोग तुम्हारा सेवक हैं । तुम इन्हींमेंमें किशकि भेजो ।

भवान् कलत्रमस्याकं स्वामिभावं व्यवस्थितः ।
स्वामी कलत्रं सैन्यस्य गतिरेषा परतप ॥ २३ ॥

‘तुम कलत्र (स्त्रीकी भाँति रक्षणीय) हो, (जैसे नारी पतिके
हृदयकी रक्षामित्री होती है) उसी प्रकार । तुम हमारे स्वामीके पदपर
प्रतिष्ठित हो । परतप ! स्वामी मनाके लिये कलत्र (स्त्री) के
समान संरक्षणार्थ होता है । यहाँ लोचकों मान्यता है ॥ २३ ॥

अपि च तस्य कार्यस्य भवान् भूलपरिदय ।
नस्मान् कलत्रवन् तात प्रतिपाल्यः सदा भवान् ॥ २४ ॥

‘शत्रुदमन ! तब ! तुम्हीं उस कार्यके मूल हो, अतः सदा

‘शत्रुदमन ! तब ! तुम्हीं उस कार्यके मूल हो, अतः सदा

‘शत्रुदमन ! तब ! तुम्हीं उस कार्यके मूल हो, अतः सदा

‘शत्रुदमन ! तब ! तुम्हीं उस कार्यके मूल हो, अतः सदा

‘शत्रुदमन ! तब ! तुम्हीं उस कार्यके मूल हो, अतः सदा

कलत्रकां धाँनि नुम्हारे पालने करना उचित है ॥ २४ ॥
 मूलमर्थस्य सरस्यमेव कार्यविदां नयः ।
 मूलं हि सति सिद्धान्ति गुणाः सर्वे फलोदयाः ॥ २५ ॥
 कार्यके मूलको रखा कसने चाहिये । यही कट्यक
 तत्वको जाननेवाले विद्वानोंको नोंति है; क्योंकि मूलके रहनेपर
 ही सभी गुण मफल सिद्ध होते हैं ॥ २५ ॥
 तद् भवानस्य कार्यस्य साधनं सत्यविक्रमः ।
 बुद्धिविक्रमसम्पन्नो हेतुवत् परंतपः ॥ २६ ॥
 'अतः सत्यपराक्रमो शत्रुदमन धीर ! तुम्हों इस कार्यके
 साधन तथा बुद्धि और पराक्रमसे सम्पन्न हेतु हो ॥ २६ ॥
 गुरुश्च गुरुपुत्रश्च त्वं हि नः कपिभनमः ।
 भवन्तमाश्रित्य सर्वं समर्था ह्यर्थसाधने ॥ २७ ॥
 कपिश्रेष्ठ ! तुम्हों हमारे गुरु और गुरुपुत्र हो । तुम्हारा आश्रय
 लेकर ही हम सब लोग कार्यसाधनमें समर्थ हो सकने हैं ॥ २७ ॥
 उक्तवाक्यं महाप्राज्ञं जाम्बवान् भग्नकपिः ।
 प्रत्युवाचान्तरं वाक्यं बालिमनुरथाह्वतः ॥ २८ ॥
 जब परम बुद्धिमान् जाम्बवान् पूर्वोक्त बात कह चुके, तब
 महाकपि बालिकुमार अह्वदने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया— ॥
 यदि नाहं शमिष्यामि नान्यो वानरपुङ्गवः ।
 पुनः खल्विदमस्माभिः कार्यं प्रायापवेशनम् ॥ २९ ॥
 'यदि मैं नहीं जाऊँगा और दूसरा कोई भी श्रेष्ठ वानर
 जानेको तैयार न होगा, तब फिर हमलोगोंको निश्चिन्तकप्य
 धरणात्त उपवास ही करना चाहिये ॥ २९ ॥
 महाकृत्वा हरिपते संदेशं तस्य धीमतः ।
 तत्रापि गत्वा प्राणानां न पश्ये परिरक्षणम् ॥ ३० ॥
 बुद्धिमान् वानरराज सुग्रीवके आदेशका पालन किय बिना
 यदि हमलोग किष्किन्धाको छोड़ चले तो वहाँ जाकर भी हमें
 अपने प्राणोंको रक्षाका कोई उपाय नहीं मिलेगा, दुःखः ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे षट्षष्टितमः सर्गः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीवैष्णवाचार्यजीने आरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें षट्षष्टीतमः सर्ग पूरा हुआ ॥ ६५ ॥

षट्षष्टितमः सर्गः

जाम्बवान्का हनुमान्जीको उनकी उत्पत्तिकथा सुनाकर समुद्रलङ्घनके लिये उत्साहित करना

अनेकशतसाहस्रीं विषण्णां हरिवाहिनीम् ।
 जाम्बवान् समुद्रीक्ष्य च हनुमन्तमथावधीन् ॥ १ ॥
 लाखों वानरोंकी सेनाको इस तरह विषादमें पड़ों देख
 जाम्बवान् हनुमान्जीमें कहा— ॥ १ ॥
 धीर वानरगणकस्य भवशास्त्रविदां वरः ।
 तूष्णीमेकान्तमाश्रित्य हनुमन् किं न जल्पसि ॥ २ ॥
 वानरदमनके वर श्रेष्ठ सम्पूर्ण शस्त्रज्ञोंमें श्रेष्ठ
 हनुमान् ! तू एकान्तमें आकर चुपचाप क्या बट हा ? कुछ
 बोलते क्यों नहीं ? ॥ २ ॥

स हि प्रमादे चात्यर्थकोपे च हरिरीश्वरः ।
 अतीत्य तस्य संदेशं विनाशो भवेत् ॥ ३१ ॥
 वे हमपर कृपा करने और अत्यन्त कुपित होकर हमें
 दण्ड देनेमें भी समर्थ हैं । उनको आज्ञाका डल्लङ्घन करके
 जानपर हमारा विनाश अवश्यम्भावी है ॥ ३१ ॥
 तत्तथा ह्यस्य कार्यस्य न भवत्यन्यथा गतिः ।
 तद् भवानेव दृष्टार्थः संचिन्तयितुमर्हति ॥ ३२ ॥
 अतः जिस उपायसे इस सोता दर्शनरूपी कार्यकी
 सिद्धिमें कोई रुकावट न पड़े, उसका आप ही विचार करे,
 क्योंकि अन्यको सब बातोंका अनुभव है ॥ ३२ ॥
 सोऽद्भुतं तदा धीरः प्रत्युक्तः प्रवगर्षधः ।
 जाम्बवानुत्तमं वाक्यं प्रोवाचेत ततोऽद्भुतम् ॥ ३३ ॥
 उस समय अद्भुतके ऐसा कहनेपर धीर वानरगणोंमें
 जाम्बवान्ने उनसे यह ठनव बात कही— ॥ ३३ ॥
 तस्य ते धीर कार्यस्य न किञ्चित् परिहास्यते ।
 एष सखोदयाम्येनं यः कार्यं साधयिष्यति ॥ ३४ ॥
 धीर ! तुम्हारे इस कार्यमें कोई किञ्चित् भी झुटि नहीं
 आन पायगा । अब मैं ऐसा श्रावक प्रणि बन रहा हूँ, जो इस
 कार्यको सिद्ध कर सकगा ॥ ३४ ॥
 ततः प्रतीते प्रवतां अगिष्ठ-
 भेकान्तमाश्रित्य सुखोपविष्टम् ।
 संबोदयामास हरिप्रवीरो
 हरिप्रवीरं हनुमन्तमेव ॥ ३५ ॥
 ऐसा कहकर वानरों और भानुओंके धीर सुश्रुति
 जाम्बवान्ने वानरसेनाके श्रेष्ठ धीर हनुमान्जीको ही प्रोत्ति
 किया, जो एकान्तमें आकर मौजमें बैठ हुए थे । उन्हें किसी
 वानरों विन्ना नहीं थी और वे दुर्गमको दुर्गाग धारणवालोंमें
 मध्यम श्रेष्ठ थे ॥ ३५ ॥

हनुमन्हरिगजस्य सुग्रीवस्य सप्तो ह्यसि ।
 रामलक्ष्मणयोश्चापि तेजसा च बलेन च ॥ ३ ॥
 हनुमन् ! तू ही वानरराज सुग्रीवके समान पराक्रमों हो
 तथा तेज और बलमें श्रीराम और लक्ष्मणके तुल्य हो ॥ ३ ॥
 अगिष्ठनामनः पुत्रो वनतेयो महाबलः ।
 गस्त्र्यानिव विख्यात उत्तमः सर्वपक्षिणाम् ॥ ४ ॥
 कट्यपर्जाके भग्नबली पुत्र और समस्त पक्षियोंमें श्रेष्ठ
 जे विनतमन्दन गरुड़ है, उसीके समान तू भी विख्यात
 शक्तिशाली एवं नीचमामो हो ॥ ४ ॥

बहुशो हि मया दृष्टः सागरे स महाबलः ।

भुजङ्गानुद्धरन् पक्षी महाबाहुर्महाबलः ॥ ५ ॥

‘महाबली महाबाहु पक्षिराज गरुड़को मैंने समुद्रमें कई बार देखा है, जो बड़े बड़े सर्पोंको वहाँमें निकाल लाते हैं ।

पक्षयोर्व्यद् बलं तस्य भुजवीर्यबलं तव ।

विक्रमश्चापि वेगश्च न ते भेनापहीयते ॥ ६ ॥

‘उनके दोनों पंखोंमें जो बल है, वही बल, चली पराक्रम तुम्हारी इन दोनों भुजाओंमें भी है । इसीलिये तुम्हारा वेग और विक्रम भी उनसे कम नहीं है ॥ ६ ॥

बलं बुद्धिश्च तेजश्च सत्त्वं च हरिपुङ्गव ।

विशिष्टं सर्वभूतेषु किमात्मानं न सज्जसे ॥ ७ ॥

‘वानरशिरोमणे ! तुम्हारा बल, बुद्धि, तेज और धैर्य भी समस्त प्राणियोंमें सबसे बढ़कर है । फिर तुम अपने-आपको ही समुद्र लांघनेके लिये क्यों नहीं तैयार करते ? ॥ ७ ॥

अप्सरऽप्सरसां श्रेष्ठा विख्याता पुष्पिकस्थला ।

अञ्जनेति परिख्याता पत्नी केसरिणो हरेः ॥ ८ ॥

विख्याता त्रिषु लोकेषु रूपेणाप्रतिभा भुवि ।

अभिशापादभून् तात कपित्वे कामरूपिणी ॥ ९ ॥

दुहिता वानरेन्द्रस्य कुञ्जरस्य महात्मनः ।

‘(वीरवर ! तुम्हारे प्रादुर्भावकी कथा इस प्रकार है—)

पुष्पिकस्थला नामसे विख्यात जो अप्सरा है, वह समस्त अप्सराओंमें अग्रगण्य है । तात ! एक समय शापवश वह कपियोनिमें अवतीर्ण हुई, उस समय वह वानरराज महामानस्वी कुञ्जरकी पुत्री इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली थी । इस धूलपर उसके रूपको समानता करनेवाली दूसरी कोई स्त्री नहीं थी । वह तीनों लोकोंमें विख्यात थी उसका नाम अञ्जना था । वह वानरराज केसरीकी पत्नी हुई ॥

मानुषं विग्रहं कृत्वा रूपर्यावनशालिनी ॥ १० ॥

विचित्रमाल्याभरणा कदाचित् क्षौमधारिणी ।

अचरन् पर्वतस्याग्रे प्रावृद्धप्लुतसंनिधे ॥ ११ ॥

‘एक दिनकी बात है, रूप और रीतिसे सुशोभित होनेवाली अञ्जना मानवी स्त्रीके शरीर धारण करके वर्षा-कालके मेघकी भाँति श्याम करानिकाले एक पर्वत-शिखरपर विचर रही थी । उसके अङ्गोपर मेड़मो मण्डों शोभा पाती थी वह फूलोंके विचित्र आभूषणोंसे विभूषित थी ॥ १०-११ ॥

तस्या बलं विशालाक्ष्याः पीतं तत्तदंशं शुभम् ।

स्थितायाः पर्वतस्याग्रे मारुतोऽप्याहरच्छनैः ॥ १२ ॥

‘उस विशालालेखना बालिका सुन्दर बल तो पीले रंगका था, किंतु उसके किनारेका रंग लाल था । वह पर्वतके शिखरपर खड़ी थी । उसी समय वायुदेवताने उसके उस

बलको धीरेसे हर लिया ॥ १२ ॥

स ददर्श ततस्तस्या वृत्ताधूरु सुसंहनौ ।

स्तनौ च पीनौ सहितौ सुजातं चारु चाननम् ॥ १३ ॥

‘तत्पश्चात् उन्होंने उसको परस्पर सटी हुई गोल-गोल जाँघों, एक-दूसरेसे लगे हुए पीन उरोजों तथा मनोहर मुखको भी देखा ॥ १३ ॥

तां बलादायतश्रोणीं तनुमध्यां यशस्विनीम् ।

दृष्ट्वैव शुभसर्वाङ्गीं पवनः काममोहितः ॥ १४ ॥

उसके नितम्ब ऊँचे और विस्तृत थे । कटिभाग बहुत ही पतला था । उसके सारे अङ्ग परम सुन्दर थे । इस प्रकार बलपूर्वक यशस्विनी अञ्जनाक अङ्गोंका अवलोकन करके पवन देवता कामसे मोहित हो गये ॥ १४ ॥

स तां भुजाभ्यां दीर्घाभ्यां पर्यङ्कजत मारुतः ।

मन्यथाविष्टमर्वाङ्गो गतात्मा तामनिन्दिताम् ॥ १५ ॥

‘उनके सम्पूर्ण अङ्गोंमें कामभावका आवेश हो गया । मन अञ्जनामें ही लगा गया उन्होंने उस अनिन्द्य सुन्दरीको अपनी दोनों विशाल भुजाओंमें भरकर हृदयसे लगा लिया । १५ ।

सा तु तत्रैव सम्भ्रान्ता मुघ्रना वाक्यमब्रवीत् ।

एकपत्नीव्रतमिदं को नाशयितुमिच्छति ॥ १६ ॥

‘अञ्जना इसमें ब्रतका पालन करनेवाली सती नारी थी । अब उस अवस्थामें पहुँचकर वह कहीं घबरा उठी और बोली—‘कौन मेरे इस धार्मिकत्वका नाश करना चाहता है ? ॥ १६ ॥

अञ्जनाया वचः श्रुत्वा मारुतः प्रत्यभाषत ।

न त्वां हिसामि सुश्रोणिं या धून् ते मनसो भयम् ॥ १७ ॥

अञ्जनाकी बात सुनकर पवनदेवने उत्तर दिया— ‘सुश्रोणि ! मैं तुम्हारे एकपत्नी व्रतका नाश नहीं कर रहा हूँ । अतः तुम्हारे मनसे यह भय दूर हो जाना चाहिये ॥ १७ ॥

मनसास्मि गतो यत् त्वां परिषृज्य यशस्विनि ।

वीर्यवान् बुद्धिमप्यन्नस्तव पुत्रो भविष्यति ॥ १८ ॥

‘यशस्विनि ! मैंने अव्यक्तरूपसे तुम्हारा आलिङ्गन करके मानसिक संकल्पके द्वारा तुम्हारे साथ समागम किया है । इसमें तुम्हें बल पराक्रमसे सम्पन्न एवं बुद्धिमान पुत्र प्राप्त होगा ॥ १८ ॥

महासन्धो महानेजा महाबलपराक्रमः ।

लङ्घने प्लवने चैव भविष्यति मया समः ॥ १९ ॥

‘वह महान् धैर्यवान्, महानेजस्वी, महाबली, महापराक्रमी तथा लांघने और छल्लाने मारनेमें मेरे समान होगा ॥ १९ ॥

एवमुक्ता ततस्तुष्टा जननी ते महाकपे ।

गुहायां स्नां महाबाहो प्रजज्ञे प्लवगर्वभ ॥ २० ॥

‘महाकपे ! वायुदेवके ऐसा कहनेपर तुम्हारी माता प्रसन्न हो गयीं । महाबाहो ! जानश्चेष्ट ! फिर उन्होंने तुम्हें एक गुफामें जन्म दिया ॥ २० ॥

अभ्युत्थितं ततः सूर्ये कालो दृष्टा महाबले ।

फलं चेति जिघृक्षुस्त्वपुन्युत्थाभ्युत्पत्तौ दिवम् ॥ २१ ॥

‘वात्स्यावस्थामें एक विशाल खनके भोंवर एक दिन उदित हुए सूर्यको देखकर तुमने समझा कि यह भी कोई फल है, अतः उससे लेनेके लिये तुम सहसा आकाशमें उछल पड़े ॥ २१ ॥

शतानि प्रीणि गत्वाथ योजनानां महाकपे ।

तेजसा तस्य निर्धूतो न विषादं गतस्मानः ॥ २२ ॥

‘महाकपे ! तीन सौ योजन ऊँचे जानके बाद मुरके तेजसे आकाश होनेपर भी तुम्हारे मनमें खेद या चिन्ता नहीं हुई ॥ २२ ॥

त्वामप्युपगतं तूर्णमन्तरिक्षे महाकपे ।

क्षिप्रमिन्द्रेण ते वज्रं क्रोपाविष्टं तेजसा ॥ २३ ॥

कपिप्रवर ! अन्तरिक्षमें जाकर जब तुम्हें ही तुम सूर्यके पास पहुँच गये, तब इन्द्रने क्रुपित होकर तुम्हारे ऊपर वज्रसे प्रकाशित वज्रका प्रहार किया ॥ २३ ॥

तदा ईलापशिखरे कामो हनुरभ्यजम् ।

ततो हि नामधेयं ते हनुमानिति कौर्त्तिनम् ॥ २४ ॥

‘तब समय उदयगिरिके शिखरपर तुम्हारे हनु (ठाँड़ी) का कार्य भाग कइकी खाँटसे खण्डित हो गया । तभीसे तुम्हारा नाम हनुमान् पड़ गया ॥ २४ ॥

ततस्त्वो निहतं दृष्ट्वा वायुर्गन्धर्वहः स्वयम् ।

त्रैलोक्यं भृशमक्रुद्धो न तवौ र्वं प्रभञ्जनः ॥ २५ ॥

‘तुमपर प्रहार किया गया है, यह देखकर गन्धर्वदेव वायुदेवताको बड़ा क्रोध हुआ । उन प्रभञ्जनदेवने तीन लोकोंमें प्रवाहित होना छोड़ दिया ॥ २५ ॥

सम्भ्रान्ताश्च सुराः सर्वे त्रैलोक्ये क्षुभिते सति ।

प्रसादयन्ति संकुलं मास्तं भुवनेश्वराः ॥ २६ ॥

‘इससे सम्पूर्ण देवता घबरा गये; क्योंकि वायुके अवरुद्ध हो जानेसे तानों लोकोंमें खलबली मच गयी थी । उस समय समस्त लोकपाल कुपित हुए वायुदेवको मनाने लगे ॥ २६ ॥

प्रसादिते च घवने ब्रह्मा तुभ्यं वरं ददौ ।

अशस्त्रवध्यतां तात समरे सत्यविक्रम ॥ २७ ॥

‘सत्यपराक्रमी तात ! पवनदेवके प्रसन्न होनेपर ब्रह्मजीने तुम्हारे लिये यह वर दिया कि तुम अमरावृणमें किसी भी अस्त्र-शस्त्रके द्वारा मारे नहीं जा सकोगे ॥ २७ ॥

वज्रस्य च निपातेन विरुजं त्वां समीक्ष्य च ।

सहस्रनेत्रः प्रीतात्मा ददौ ते वरमुत्तमम् ॥ २८ ॥

स्वच्छन्दतश्च मरणं तव स्यादिति वै प्रभो ।

‘प्रभो ! सज्जके प्रहारसे भी तुम्हें पीड़ित न देखकर सहस्र नेत्रधारी इन्द्रके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने तुम्हारे लिये यह उत्तम वर दिया—‘मृत्यु तुम्हारी इच्छाके अधीन होगी—तुम जब चाहोगे, तभी मर सकोगे, अन्यथा नहीं’ ॥ २८ ॥

स त्वं केसरिणः पुत्र, क्षेत्रजो भीमविक्रमः ॥ २९ ॥

मारुतस्यौरसः पुत्रस्तेजसा चापि तत्समः ।

‘इस प्रकार तुम केसरीके संग्रज पुत्र हो । तुम्हारा पराक्रम

राष्ट्रप्राके लिये भयकर है । तुम वायुदेवके औरम पुत्र हो,

इत्यस्मिन् तेजकी दृष्टिमें भी इन्तोंकि समान हो ॥ २९ ॥

त्वं हि वायुसुतो वत्स प्रवने चापि तत्समः ॥ ३० ॥

वयमद्य गतप्राणा भवानस्मासु साम्प्रतम् ।

दाक्षयविक्रमसम्पन्नः कपिराज इवापरः ॥ ३१ ॥

‘वत्स ! तुम पवनके पुत्र हो, अतः छल्लिंग मारनेमें भी उन्तोंकि तुम्हें हो । हमारे प्राणशक्ति अब चली गयी । इस समय तुम्हीं हमलोगमें तुम्हारे धान्यराजकी भाँति चानुर्य एवं पीरुथसे सम्पन्न हो ॥ ३०-३१ ॥

त्रिविक्रमे घवां तान सरीलवनकानना ।

त्रि सप्तकृत्व पृथिवी परिक्रान्ता प्रदक्षिणम् ॥ ३२ ॥

‘तान । भगवान् कामने त्रिलोकोको नापनेके लिये जब वे ब्रह्मा थे तब समय तीन पर्वत वन और काननोंमें त्रि सप्तकृत्व पृथ्वीकी इकोस बार प्रदक्षिणा की थी ॥ ३२ ॥

तथा आधधयोऽस्माधिः संचिता देवशासनात् ।

निर्मथ्ययमुने धापिस्तदानीं नो परदूलम् ॥ ३३ ॥

‘समुद्र-मन्थनके समय देवताओंकी आज्ञामें हमने उन अधिष्ठाता संचय किया था तिनके द्वारा अमृतको मथकर निकालना था । उन दिनों हममें महान् बल था ॥ ३३ ॥

स इदानीमहं वृक्षः परिहीनपराक्रमः ।

साम्प्रतं कालमस्माकं घवान् सर्वगुणान्वितः ॥ ३४ ॥

‘अब तो मैं वृक्ष हो गया हूँ । मेरा पराक्रम घट गया है । इस समय हमलोगमें तुम्हों सब प्रकारके गुणोंसे सम्पन्न हो ।

तद् विजृम्भस्व विक्रान्त प्रवतामुत्तमो ह्यसि ।

त्वदीयं द्रष्टुकामा हि सर्वा वानरवाहिनी ॥ ३५ ॥

‘अतः पराक्रमी वीर ! तुम अपने असीम बलका विस्तार करो । छल्लिंग मारनेवालोंमें तुम सबसे श्रेष्ठ हो । यह सारी वानरसेना तुम्हारे बल-पराक्रमकी देखना चाहती है ॥ ३५ ॥

उत्तिष्ठ हरिशार्दूल लङ्घयस्व महार्णवम् ।

परा हि सर्वभूतानां हनुमन् या गतिस्तव ॥ ३६ ॥

‘वानरश्रेष्ठ ! उठो और इस महासागरको लाँघ जाओ; क्योंकि तुम्हारी गति सभी प्राणियोंसे बढ़कर है ॥ ३६ ॥

विषण्णा हरयः सर्वे हनुमन् किमुपेक्षसे ।

विक्रमस्व महावेग विष्णुस्त्रीन् विक्रमानिष ॥ ३७ ॥

‘हनुमन् ! समस्त वानर चिन्तामें पड़े हैं । तुम क्यों इनकी उपेक्षा करते हो ? महान् वेगशाली वीर ! जैसे भगवान् विष्णुने त्रिलोकीको नापनेके लिये तीन पग बढ़ाये थे, उसी प्रकार तुम भी अपने पैर बढ़ाओ ॥ ३७ ॥

ततः कपीनामृषभेण चोदितः

प्रतीतवेगः पवनात्मजः कपिः ।

प्रहर्षयंस्तां हरिवीरवाहिनीं

चकार रूपं महदात्मनस्तदा ॥ ३८ ॥

इस प्रकार वानरों और भालुओंमें श्रेष्ठ जाम्बवान्की प्रेरणा पाकर कपिवर पवनकुमार हनुमान्को अपने महान् वेगपर विश्वास हो आया । उन्होंने वानर वीरोंको उस सेनाका हर्ष बढ़ाते हुए उस समय अपना विराटरूप प्रकट किया ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे षट्षष्टितमः सर्गः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें छल्लठर्वाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६६ ॥



सप्तषष्टितमः सर्गः

हनुमान्जीका समुद्र लाँघनेके लिये उत्साह प्रकट करना, जाम्बवान्के द्वारा उनकी प्रशंसा तथा वेगपूर्वक छलाँग मारनेके लिये हनुमान्जीका महेन्द्र पर्वतपर चढ़ना

तं दृष्ट्वा जुम्भमाणं ते क्रमितुं शतयोजनम् ।

वेगेनापूर्यमाणं च सहसा वानरोत्तमम् ॥ १ ॥

सहसा शोकमत्सज्य प्रहर्षेण समन्विताः ।

विनेदुस्तुष्टुवुश्चापि हनुमन्तं महाबलम् ॥ २ ॥

सौ योजनके समुद्रको लाँघनेके लिये वानरश्रेष्ठ हनुमान्जीको सहसा बढ़ते और वेगसे परिपूर्ण होते देख सब वानर तुरंत शोक छोड़कर अत्यन्त हर्षसे भर गये और महाबली हनुमान्जीको स्तुति करते हुए जोर-जोरसे गर्जना करने लगे ॥ १-२ ॥

प्रहृष्टा विस्मिताश्चापि ते वीक्षन्ते समन्ततः ।

त्रिविक्रमं कृतोत्साहं नारायणमिव प्रजाः ॥ ३ ॥

वे उनके चारों ओर खड़े हो प्रसन्न एवं चकित होकर उन्हें इस प्रकार देखने लगे, जैसे उत्साहयुक्त नारायणावतार वामनजीको समस्त प्रजाने देखा था ॥ ३ ॥

संस्तूयमानो हनुमान् व्यवर्धत महाबलः ।

समाविद्ध च लाङ्गुलं हर्षाद् बलमुपेयिवान् ॥ ४ ॥

अपनी प्रशंसा सुनकर महाबली हनुमान्ने शरीरको और भी बढ़ाना आरम्भ किया । साथ ही हर्षके साथ अपनी पूँछको खरम्बार घुमाकर अपने महान् बलका स्मरण किया ॥ ४ ॥

तस्य संस्तूयमानस्य वृद्धैर्वानरपुङ्गवैः ।

तेजसाऽऽपूर्यमाणस्य रूपमासीदनुत्तमम् ॥ ५ ॥

बड़े-बड़े वानरशिरोमणियोंके मुखसे अपनी प्रशंसा सुनते और तेजसे परिपूर्ण होते हुए हनुमान्जीका रूप उस समय बढ़ा हो उत्तम प्रतीत होता था ॥ ५ ॥

यथा विजुम्भते सिंहो विवृते गिरिगह्वरे ।

मारुतस्फोरसः पुत्रस्तथा सम्प्रति जुम्भते ॥ ६ ॥

जैसे पर्वतकी विसृत कन्दरामें सिंह अँगड़ाई लेता है, उसी प्रकार वायुदेवताके औरस पुत्रने उस समय अपने शरीरको अँगड़ाई ले-लेकर बढ़ाया ॥ ६ ॥

अशोभत मुखं तस्य जुम्भमाणस्य धीमतः ।

अम्बरीषोपमं दीप्तं विधूम इव पावकः ॥ ७ ॥

जैभाई लेते समय बुद्धिमान् हनुमान्जीका दीप्तिमान् मुख जलते हुए भाड़ तथा धूमरहित अग्निके समान शोभा पा रहा था ॥

हरीणामुत्थितो मध्यात् सम्प्रहृष्टतनूहः ।

अभिवाद्य हरीन् वृद्धान् हनुमानिदमब्रवीत् ॥ ८ ॥

वे वानरोंके बीचसे उठकर खड़े हो गये । उनके सम्पूर्ण शरीरमें रोमाञ्च हो आया । उस अवस्थामें हनुमान्जीने बड़े-बड़े वानरोंको प्रणाम करके इस प्रकार कहा— ॥ ८ ॥

आरुञ्जन् पर्वताग्राणि हुताशनसखोऽनिलः ।

बलवान्प्रमेयश्च वायुराकाशगोचरः ॥ ९ ॥

‘आकाशमें विचरनेवाले वायुदेवता बड़े बलवान् हैं । उनकी शक्तिकी कोई सीमा नहीं है । वे अग्निदेवके सखा हैं और अपने वेगसे बड़े-बड़े पर्वत-शिखरोंको भी तोड़ डालते हैं ॥

तस्याहं शीघ्रवेगस्य शीघ्रगस्य महात्मनः ।

मारुतस्फोरसः पुत्रः प्लवनेनास्मि तत्समः ॥ १० ॥

‘अत्यन्त शीघ्र वेगसे चलनेवाले उन शीघ्रगामी महात्मा वायुका मैं औरस पुत्र हूँ और छलाँग मारनेमें उन्हींके समान हूँ ॥

उत्सहेयं हि विस्तीर्णमालिखन्तमिवाम्बरम् ।

मेरुं गिरिमसङ्गेन परिगन्तुं सहस्रशः ॥ ११ ॥

‘कई सहस्र योजनोत्तक फैले हुए मेरुगिरिकों, जो आकाशके बहुत बड़े भागको ढके हुए हैं और उसमें रेखा खींचता-सा जान पड़ता है, मैं बिना विश्राम लिये सहस्रों बार परिक्रमा कर सकता हूँ ॥ ११ ॥

बाहुवेगप्रणुनेन सागरेणातमुत्सहे ।

समाप्लावयितुं लोकं सपर्वतनदीहृदम् ॥ १२ ॥

‘अपनी भुजाओंके वेगसे समुद्रको विक्षुब्ध करके उसके जलसे मैं पर्वत, नदी और जलशयोसहित सम्पूर्ण जगत्को आप्लावित कर सकता हूँ ॥ १२ ॥

ममोरुजहावेगेन भविष्यति समुत्थितः ।

समुत्थितमहाप्राहः समुद्रो वरुणालयः ॥ १३ ॥

‘वरुणका निवासस्थान यह महासागर मेरी जाँधों और पिडलियोंके वेगसे विक्षुब्ध हो उठेगा और इसके भीतर रहनेवाले बड़े-बड़े प्राह ऊपर आ जायेंगे ॥ १३ ॥

पद्मगाशनमाकाशे पतन्तं पक्षिसेवितम् ।

वैनतेयमहं शक्तः परिगन्तुं सहस्रशः ॥ १४ ॥

‘समस्त पक्षी जिनकी सेवा करते हैं, वे सर्पभोजी विनतानन्दन गरुड़ आकाशमें उड़ते हो तो भी मैं हजारों बार उनके चारों ओर घूम सकता हूँ ॥ १४ ॥

उदयात् प्रस्थितं वापि ज्वलन्तं रश्मिपालिनम् ।

अनस्तमितमादित्यमहं गन्तुं समुत्सहे ॥ १५ ॥

ततो भूमिमसंपृष्टा पुनरागन्तुमुत्सहे ।

प्रवेगेनैव महता भीमेन प्रवर्गवर्भाः ॥ १६ ॥

‘श्रेष्ठ वानरों ! उदयाचलसे चल्कर अपने तेजसे प्रज्वलित होते हुए सूर्यदेवको मैं अस्त होनेसे पहले ही छू सकता हूँ और वहाँसे पृथ्वीतक आकर यहाँ पर रखे बिना ही पुनः उनके पासतक बड़े धर्यकर वेगसे जा सकता हूँ ॥ १५-१६ ॥

उत्सहेयपतिक्रान्तुं सर्वनाकाशगोचरान् ।

सागराञ्च शोषयिष्यामि दारयिष्यामि मेदिनीम् ॥ १७ ॥

पर्वतोक्षुर्णयिष्यामि प्रवमानः प्रवङ्गमः ।

हरिष्याम्युरुवेगेन प्रवमानो महार्णवम् ॥ १८ ॥

‘आकाशचारी समस्त ग्रह-नक्षत्र आदिको लार्धिकर आगे बढ़ जानेका उत्साह रखता हूँ । मैं चाहूँ तो समुद्रको सोख लूँगा, पृथ्वीको बिदीर्ण कर दूँगा और कूट-कूटकर पर्वतोंको चूर-चूर कर डालूँगा; क्योंकि मैं दूरतककी छल्लोंग मारनेवाला वानर हूँ । महान् वेगसे महासागरको फाँदता हुआ मैं अवश्य उसके पार पहुँच जाऊँगा ॥ १७-१८ ॥

लस्तानी विविधं पुष्पं पादपानां च सर्वशः ।

अनुयास्यति पामद्य प्रवमानं विहायसा ॥ १९ ॥

‘आज आकाशमें वेगपूर्वक जाते समय लताओं और वृक्षोंके नाना प्रकारके फूल मेरे साथ-साथ उड़ते जायेंगे ॥

भविष्यति हि मे पन्थाः स्वातेः पन्था इवाम्बरे ।

चरन्तं घोरमाकाशमुत्पतिष्यन्तमेव च ॥ २० ॥

द्रक्ष्यन्ति निपतन्तं च सर्वभूतानि वानराः ।

‘बहुत-से फूल बिखरे होनेके कारण मेरा मार्ग आकाशमें अनेक नक्षत्रपुञ्जोंसे सुशोभित स्वातिमार्ग (छायापथ) के समान प्रतीत होगा । वानरों ! आज समस्त प्राणी मुझे धर्यकर आकाशमें सोधे जाते हुए, ऊपर उछलते हुए और नीचे उतरते हुए देखेंगे ॥

महामेरुप्रतीकाशं मां द्रक्ष्यध्वं प्रवङ्गमाः ॥ २१ ॥

दिवमावृत्य गच्छन्तं प्रसमानमिवाम्बरम् ।

विधमिष्यामि जीमूतान् कम्पयिष्यामि पर्वतान् ।

सागरे शोषयिष्यामि ध्वलमानः सभाहितः ॥ २२ ॥

‘कपिवरों ! तुम देखोगे, मैं महागिरि मेरुके समान विशाल शरीर धारण करके स्वर्गको ढकता और आकाशको निगलता हुआ-सा आगे बढ़ूँगा, बादलोंको छिन्न-भिन्न कर डालूँगा, पर्वतोंको हिला दूँगा और एकचित्त हो छल्लोंग मारकर आगे बढ़नेपर समुद्रको भी सुखा दूँगा ॥ २१-२२ ॥

वैनतेयस्य वा शक्तिर्मम वा मारुतस्य वा ।

ऋते सुपर्णराजाने मारुतं वा महाबलम् ।

न तद् भूतं प्रपश्यामि यन्मां पुनमनुव्रजेत् ॥ २३ ॥

‘विनतानन्दन गरुड़ने, मुझसे अथवा वायुदेवतामें ही समुद्रको लार्धिकर जानेकी शक्ति है । पक्षिराज गरुड़ अथवा महाबली वायुदेवताके सिवा और किसी प्राणीको मैं ऐसा नहीं देखता, जो यहाँसे छल्लोंग मारनेपर मेरे साथ जा सके ॥ २३ ॥

निमेषान्तरमात्रेण निरालम्बनमम्बरम् ।

सहसा निपतिष्यामि घनाद् विद्युदिवोत्थिता ॥ २४ ॥

‘मेघसे उत्पन्न हुई विद्युत्की भाँति मैं पलक मारते-मारते सहसा निराधार आकाशमें उड़ जाऊँगा ॥ २४ ॥

भविष्यति हि मे रूपं प्रवमानस्य सागरम् ।

विष्योः प्रक्रममाणस्य तदा त्रीन् विक्रमानिव ॥ २५ ॥

‘समुद्रको लार्धिते समय मेरा वही रूप प्रकट होगा, जो तानों पगोंको बढ़ते समय कामनरूपधारी भगवान् विष्णुका हुआ था ॥ २५ ॥

बुद्ध्या चाहं प्रपश्यामि यन्श्रेष्ठ च मे तथा ।

अहं द्रक्ष्यामि सदैर्ही प्रमोदध्वं प्रवङ्गमाः ॥ २६ ॥

‘वानरों ! मैं बुद्धिसे वैसे देखता था सोचता हूँ, मेरे मनकी चेष्टा भी उसके अनुरूप ही होती है । मुझे निश्चय ज्ञान पड़ता है कि मैं विन्दहकुमारोंके दर्शन करूँगा, अतः अब तुमलोग खुशियाँ मनाओ ॥ २६ ॥

मारुतस्य समो वेगे गरुडस्य समो जवे ।

अयुतं योजनानां तु गमिष्यामीति मे मतिः ॥ २७ ॥

‘मैं वेगमें वायुदेवता तथा गरुडके समान हूँ। मेरा तो ऐसा विश्वास है कि इस समय मैं दस हजार योजनतक जा सकता हूँ ॥

वासवस्य सखप्रस्य ब्रह्मणो वा स्वयम्भुवः ।

विक्रम्य सहसा हस्तादमृतं तदिहानये ॥ २८ ॥

लङ्कां वापि समुत्क्षिप्य गच्छेयमिति मे मतिः ।

‘वज्रधारी इन्द्र अथवा स्वयम्भू ब्रह्माजोंके हाथसे भी मैं बलपूर्वक अमृत छीनकर सहसा यहाँ ला सकता हूँ। समूची लङ्काको भी भूमिसे उखाड़कर हाथपर उठाये चल सकता हूँ। ऐसा मेरा विश्वास है’ ॥ २८ ॥

तमेव वानरश्रेष्ठ गर्जन्तममितप्रथम् ॥ २९ ॥

प्रहृष्टा हरयस्तत्र समुदक्षन्त विस्मिताः ।

अमिततेजस्वी वानरश्रेष्ठ हनुमान्जों जब इस प्रकार गर्जना कर रहे थे, उस समय सम्पूर्ण वानर अत्यन्त हर्षमें भरकर चकितभावसे उनकी ओर देख रहे थे ॥ २९ ॥

तद्यास्य वचनं श्रुत्वा ज्ञातीनां शोकनाशनम् ॥ ३० ॥

उवाच परिसंहृष्टो जाम्बवान् प्रवगेध्वरः ।

हनुमान्जोंकी आते भाई-बन्धुओंके शोकको नष्ट करनेवाली थीं। उन्हें सुनकर वानर-सेनापति जाम्बवान्को बड़ी प्रसन्नता हुई। वे बोले— ॥ ३० ॥

वीर केसरिणः पुत्र वेगवन् मारुतात्मज ॥ ३१ ॥

ज्ञातीनां विपुलः शोकस्त्वया तात प्रणाशितः ।

‘वीर ! केसरीके सुपुत्र ! वेगशाली पवनकुमार ! तात ! तुमने अपने बन्धुओंका महान् शोक नष्ट कर दिया ॥ ३१ ॥

तव कल्याणरुचयः कपिमुख्याः समागताः ॥ ३२ ॥

मङ्गलान्यर्थसिद्ध्यर्थं करिष्यन्ति समाहिताः ।

‘यहाँ आये हुए सभी श्रेष्ठ वानर तुम्हारे कल्याणकी कामना करते हैं। अब वे कार्यकी सिद्धिके उद्देश्यसे एकाग्रचित्त हो तुम्हारे लिये मङ्गलकृत्य—स्वस्तिवाचन आदिका अनुष्ठान करेंगे ॥ ३२ ॥

ऋषीणां च प्रसादेन कपिवृद्धमतेन च ॥ ३३ ॥

गुरुणां च प्रसादेन सम्प्रव त्वं महार्णवम् ।

‘ऋषियोंके प्रसाद, वृद्ध वानरोंकी अनुमति तथा गुरुजनोंकी कृपासे तुम इस महासागरके पार हो जाओ ॥

स्थास्यामश्चैकपादेन यावदागमने तव ॥ ३४ ॥

त्वद्गतानि च सर्वेषां जीवनानि वनौकसाम् ।

‘जबतक तुम लौटकर यहाँ आओगे, तबतक हम तुम्हारे प्रतीक्षामें एक पैरसे खड़े रहेंगे; क्योंकि हम सब वानरोंका जीवन तुम्हारे ही अधीन है ॥ ३४ ॥

ततश्च हरिशार्दूलस्तानुवाच वनौकसः ॥ ३५ ॥

कोऽपि लोके न मे वेगं प्रवने धारयिष्यति ।

तदनन्तर कपिश्रेष्ठ हनुमान्ने उन वनवासी वानरोंसे कहा—‘जब मैं यहाँसे छलांग मारूँगा, उस समय संसारमें कोई भी मेरे वेगको धारण नहीं कर सकेगा ॥ ३५ ॥

एतानीह नगस्यास्य शिलासंकटशालिनः ॥ ३६ ॥

शिखराणि महेन्द्रस्य स्थिराणि च महान्ति च ।

येषु वेगं गमिष्यामि महेन्द्रशिखरेष्वहम् ॥ ३७ ॥

नानाद्रुमविकीर्णेषु धातुनिष्पन्दशोभिषु ।

‘शिलाओंके समूहसे शोभा पानेवाले केवल इस महेन्द्रपर्वतके ये शिखर ही ऊँचे-ऊँचे और स्थिर हैं, जिनपर नाना प्रकारके वृक्ष फैले हुए हैं तथा गैरिक आदि धातुओंके समुदाय शोभा दे रहे हैं। इन महेन्द्र-शिखरोंपर ही वेगपूर्वक पैर रखकर मैं यहाँसे छलांग मारूँगा ॥ ३६-३७ ॥

एतानि मम वेगं हि शिखराणि महान्ति च ॥ ३८ ॥

प्रवतो धारयिष्यन्ति योजनानामितः शतम् ।

‘यहाँसे सौ योजनके लिये छलांग मारते समय महेन्द्रपर्वतके ये महान् शिखर ही मेरे वेगको धारण कर सकेंगे ॥ ३८ ॥

ततस्तु मारुतप्रख्यः स हरिर्मास्तात्मजः ।

आरुरोह नगश्रेष्ठ महेन्द्रमरिमर्दनः ॥ ३९ ॥

यों कहकर वायुके समान महापराक्रमी शत्रुमर्दन पवनकुमार हनुमान्जों पर्वतोंमें श्रेष्ठ महेन्द्रपर चढ़ गये ॥ ३९ ॥

वृते नानाविधैः पुष्पैर्मृगसेवितशाह्वलम् ।

लताकुसुमसम्बाधं नित्यपुष्पफलद्रुमम् ॥ ४० ॥

वह पर्वत नाना प्रकारके पुष्पयुक्त वृक्षोंसे भरा हुआ था, वन्य पशु वहाँकी हरी-हरी घास चर रहे थे, लताओं और फूलोंसे वह सघन जान पड़ता था और वहाँकी वृक्षोंमें सदा ही फल-फूल लगे रहते थे ॥ ४० ॥

सिंहशार्दूलसहितं मत्तमातङ्गसेवितम् ।

मत्तद्विजगणोदधुष्टं सलिलोत्पीडसंकुलम् ॥ ४१ ॥

महेन्द्र पर्वतके वनोंमें सिंह और बाघ भी निवास करते थे, मत्तवाले गजराज विचरते थे, मत्तमत्त पक्षियोंके समूह सदा कलरव किया करते थे तथा जलके लोतों और झरनोंसे वह पर्वत व्याप्त दिखायी देता था ॥ ४१ ॥

महद्भिरुच्छ्रितं शृङ्गैर्महेन्द्रं स महाबलः ।

विचचार हरिश्रेष्ठो महेन्द्रसमविक्रमः ॥ ४२ ॥

बड़े-बड़े शिखरोंसे ऊँचे प्रतीत होनेवाले महेन्द्रपर्वतपर आरुढ़ हो इन्द्रतुल्य पराक्रमी महाबली कपिश्रेष्ठ हनुमान् वहाँ इधर-उधर टहलने लगे ॥ ४२ ॥

पादाभ्यां पीडितस्तेन महाशैलो महात्मना ।

ररास सिंहाभिहतो महान् भक्त उव द्विपः ॥ ४३ ॥

महाकाय हनुमान्जीके दोनों पैरोंसे दबा हुआ वह महान् पर्वत सिंहसे आक्रान्त हुए महान् मदमत्त गजराजको भाँति चीत्कार-सा करने लगा (वहाँ रहनेवाले प्राणियोंका शब्द ही मानो उसका आर्त चीत्कार था) ॥ ४३ ॥

मुपोच सलिलोत्पीडान् विप्रकीर्णशिलोद्ययः ।

वित्रस्तमृगापातङ्गः प्रकम्पितमहाद्रुमः ॥ ४४ ॥

उसके शिलासमूह इधर-उधर बिखर गये । उससे नये-नये झरने फूट निकले । वहाँ रहनेवाले मृग और हाथी भयसे थरथर उठे और बड़े-बड़े वृक्ष झोंके खाकर झुमने लगे ॥ ४४ ॥

नानागन्धर्वमिथुनैः पानसंसर्गकिर्करीः ।

उत्पतद्भिर्विहंगैश्च विद्याधरगणैरपि ॥ ४५ ॥

तस्यज्यमानमहासानुः संनिलीनमहोरगः ।

शैलभृङ्गशिलोत्पातस्तदाभूत् स महागिरिः ॥ ४६ ॥

मधुपानके संसर्गसे ठूँसत चित्तवाले अनेकानेक गन्धर्वकिर्करी, विद्याधरोंके समुदाय और उड़ते हुए पक्षी भी उस पर्वतके विशाल शिखरोंको छोड़कर जाने लगे । बड़े-बड़े सर्प बिलोंमें छिप गये तथा उस पर्वतके शिखरोंसे बड़ी-बड़ी शिलाएँ टूट-टूटकर गिरने लगीं । इस प्रकार वह

महान् पर्वत बड़ी दुरवस्थामें पड़ गया ॥ ४५-४६ ॥

निःश्वसद्भिस्तदा तैस्तु भुजगैरर्धनिःसृतैः ।

सपताक इवाभाति स तदा धरणीधरः ॥ ४७ ॥

बिलोंसे अपने आधे शरीरको बाहर निकालकर लम्बों साँस खींचते हुए सर्पोंसे उपलक्षित होनेवाला वह महान् पर्वत उस समय अनेकानेक पताकाओंसे अलंकृत-सा प्रतीत होता था ॥

ऋषिभिस्त्राससम्भ्रान्तैस्त्यज्यमानः शिलोद्ययः ।

सीदन् महति कान्तारे सार्थहीन इवाध्वगः ॥ ४८ ॥

भयसे ध्वगये हुए ऋषि-मुनि भी उस पर्वतको छोड़ने लगे । जैसे विशाल दुर्गम वनमें अपने साधियोंसे बिछुड़ा हुआ एक रहस्य भारी विपत्तिमें फँस जाता है, वही दशा उस महान् पर्वत महेंद्रवरी हो रही थी ॥ ४८ ॥

स वेगवान् वेगसमाहितात्मा

हस्तिप्रवीरः परवीरहन्ता ।

मनः समाधाय महानुभावो

जगाम लङ्कां मनसा मनस्वी ॥ ४९ ॥

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले बानरसेनाके श्रेष्ठ वीर वेगशाली महामनस्वी महानुभाव हनुमान्जीका मन वेगपूर्वक छलाँग धारनेकी योजनामें लगा हुआ था । उन्होंने चित्तको एकाग्र करके मन-ही-मन लङ्काका स्मरण किया ॥ ४९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे सप्तवर्षितमः सर्गः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्यरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें सरसठवीं सर्ग पूरा हुआ ॥ ६७ ॥

किष्किन्धाकाण्डे सम्पूर्णम्